ॐ

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ६] ❀ [अङ्क ३

इस अंक के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु   व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

पौष २०१०, जनवरी १९५४
दयानन्दाब्द १२९
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५३

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
बनारस नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
,, ,, विदेश में ६)
इस अंक का ॥)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है।

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरंभ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १-से तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहिये। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। उनको प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जावेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सम्बन्धी धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें।

८—ग्राहक महानुभाव पत्रव्यवहार या मनियार्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—**वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस ६**

[पृष्ठ ५ का शेषांश]

है। अतः उसकी अन्तिम पराकाष्ठा ही सर्वव्यापक कहला सकती है। ब्रह्म सूक्ष्म से सूक्ष्म और इसी हेतु महान् से महान् है। वह अल्प नहीं, विशाल है। अणु नहीं, विभु है। स्थूल नहीं, सूक्ष्म है। अंगुष्ठ मात्र नहीं, भूमा है।

हमें अपने कार्यों में यज्ञ, तप और दान को प्रमुख स्थान देना चाहिये। इन्हीं के द्वारा हम त्यागी तथा ज्ञानी बनते हुए उस परम अक्षर तत्त्व को प्राप्त कर सकेंगे। यहां आकर हम सबका लक्ष्य ब्रह्म को जानने वाले ब्राह्मणत्व की प्राप्ति ही होना चाहिये। अपने मूल को पाकर ही हम मूलों के मूल ब्रह्म को साक्षात् कर सकेंगे।

हमारे अन्दर जो अयाजक है, अवैदिक है, वह अब्राह्मण है। वैदिक और याजक ही ब्राह्मण होता है। प्रभु के सनातन काव्य वेद और सनातन क्रिया यज्ञ को अपना कर ही हम ब्राह्मण बन सकेंगे और ब्राह्मण बनकर ही हम अपना कल्याण कर सकेंगे।

सत् ही तत् है, तत् ही ओ३म् है। और ओ३म् ही ब्रह्म है। असत् एतत् है, एतत् व्यय है और व्यय ही अल्पता अथवा विनाश है। हमें अपनी समस्त शक्ति सत्, तत् और ओ३म् पर केन्द्रित कर देनी चाहिये। इसी में महानता है, ब्रह्मत्व है। यही सत्य का निर्देश हुआ।

ओ३म्

वेदवाणी

स श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि ।

अथर्व० १, १, ४ ॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों ।

वर्ष ६ | काशी, पौष सं० २०१० वि०, जनवरी १९५४ ई० | अङ्क ३

आर्याभिविनय से—

हमारा बन्धु और विधाता

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ यजुः ३२।१० ॥

व्याख्या—(स) वह परमेश्वर (नः) हमारा (बन्धुः) दुःखनाशक और सहायक है तथा (जनिता) सब जगत् तथा सब लोकों का भी पालन करने वाला पिता तथा हम लोगों के सम्पूर्ण कामों की सिद्धि का (विधाता) करने वाला (सः) वही है । सब जगत् का भी विधाता=रचने और धारण करने वाला एक परमात्मा ही है अन्य कोई नहीं । (धामानि वेद भुवनानि विश्वा) सब धाम अर्थात् लोक लोकान्तरों को रच के अनन्त सर्वज्ञता से यथार्थ जानता है । वह कौन परमेश्वर है कि जिसे देव अर्थात् विद्वान् लोग (विद्वाꣳसो हि देवाः । श० ३।७।३।१०) (अमृतम्) मरण दुःख रहित मोक्ष पद में सब दुःखों से छूट के सर्वव्यापी पूर्णानन्द स्वरूप परमात्मा को प्राप्त होके परमानन्द में सदैव रहते हैं । (तृतीये धामन्) एक स्थूल जगत् पृथिव्यादि, दूसरा—सूक्ष्म आदि कारण, तीसरे—जो सर्वदोषरहित अनन्त आनन्दस्वरूप परब्रह्मरूपी धाम में (अध्यैरयन्त) धर्मात्मा विद्वान् लोग स्वच्छन्द स्वेच्छा से वर्तते हैं । सब बाधाओं से छूट के विज्ञानवान् शुद्ध होके देश काल वस्तु का परिच्छेद रहित सर्वगत आधार स्वरूप परमात्मा में सदा रहते हैं । उससे जन्ममरणादि दुःख सागर में कभी नहीं गिरते ।

धर्मतत्त्व

लेखक—श्री पं० लालचन्द जी, मेरठ

[आपका लेख वेदाङ्क के लिये प्राप्त हुआ था, परन्तु खेद है कि हम उसे वेदाङ्क में प्रकाशित न कर सके। सम्पादक]

धर्म का तत्त्व क्या है ? धर्म वे जीवनचर्या और आपस के जीवन-व्यवहार के नियम हैं जिनको आचरण में लाने से मानवता का पूर्ण-विकास हो अर्थात् मनुष्यों का पूर्ण अभ्युदय हो, उन्हें सब प्रकार का ऐश्वर्य प्राप्त हो, वे साधन संपन्न हों, किसी प्रकार की भी उनमें न्यूनता न रहे और साथ ही उनका परम कल्याण भी हो। धर्माचरण में यह विशेषता है कि इससे ऐश्वर्य और श्रेय साथ-साथ प्राप्त होता है। धर्माचरण से अक्षय ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। धर्माचरण से मनुष्यों में धन धान्य संपद् समृद्धि सभी विपुल मात्रा में प्राप्त होते हैं। धर्माचरण से मनुष्य में पुरुषार्थ करने की रुचि होती है। धर्माचरण करता हुआ मनुष्य कर्तव्य परायण होता है और कर्तव्यों को निभाने से मनुष्य की शक्ति बढ़ती है।

वास्तव में धर्म और कर्तव्य एक ही कर्म के दो नाम हैं। जो मानव कर्तव्य है वही धर्म है। कर्तव्य करने योग्य कर्म की संज्ञा है धर्म। धर्म भी धारण किया जाता है और आचरण में लाया हुवा धर्म और किया हुआ कर्तव्य सदा मनुष्य को भरपूर कर देते हैं। कर्तव्य परायण मनुष्यों के मुखमंडल पर एक विशेष प्रकार का तेज होता है, जिससे उनका जनता पर प्रभाव पड़ता है। धर्माचरण करने वाले कर्मठ जनों से ही इतिहास के पन्ने शोभा पा रहे हैं। जो कर्तव्यशील हैं वे ही धर्मशील हैं।

मनुष्य का कर्तव्य उसकी आयु और स्थिति के अनुसार बदलता रहता है। विद्यार्थी का कर्तव्य और है और अध्यापक का कर्तव्य और है, किन्तु मानव धर्म निभाना दोनों के लिए साझा है, इसी प्रकार पति का कर्तव्य पत्नी के कर्तव्य से अलग है। पुत्रवधु का सास के प्रति, अपने ससुर के प्रति कुछ कर्तव्य हैं और सास ससुर का भी पुत्रवधु के प्रति कर्तव्य है। कन्या का माता, भाई, पिता बन्धु अन्य बन्धु बांधवों के प्रति कुछ कर्तव्य है और उनका भी कन्या के प्रति कर्तव्य है। मित्रों का आपस में एक दूसरे की उन्नति में सहायक होना कर्तव्य है, बन्धु बांधवों का आपस में, एक पड़ोसी का दूसरे पड़ोसी के प्रति, यहां तक कि मार्ग में चलते हुए एक दूसरे पथिक के प्रति भी कर्तव्य है। संक्षेपतः मनुष्य कर्तव्य करके ही अपनी शोभा बढ़ाता है। कर्तव्यहीन मनुष्य आदर तो क्या, साधारण सत्कार भी नहीं पाया करता। यश और कीर्ति कर्तव्य पालन पर निर्भर हैं। कर्तव्य निभाकर ही नेता अपना नेतृत्व स्थिर रख सकता है और जनता भी कर्तव्य पालन करके ही अपनी उन्नति करने में समर्थ होती है। कर्तव्य पालन में शोभा है कर्तव्य पालन में श्री है कर्तव्य पालन ही श्रेयस्कर है। कर्तव्य और धर्म एक ही हैं।

ये दोनों भाव अपनी पूर्ति के लिए ऋत और सत्य पर निर्भर है। नैतिकता के बिना

धर्माचरण हो ही नहीं सकता। मनुष्य अकेला उन्नत नहीं हो सकता। उसे स्वयं उन्नत होना है और अन्य जनों की उन्नति में सहायक होना है। यही यज्ञमय जीवन है जिसमें सर्वोदय है। "*धर्म अथवा ऋत और सत्य की प्रक्रिया यज्ञ है।*" *यज्ञ ऋत और सत्य तथा धर्म*, वे व्यापक मानवीय नियम हैं, वे मर्यादाएं हैं जिन्हें निभाने से सभी मनुष्यों का अभ्युदय और कल्याण निश्चित रूप में हुआ करता है। धर्म व्यापक है। यज्ञ तो है ही विष्णु। यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म है जिससे मानवों की समुन्नति होती है। धर्म यज्ञ और ऋत तथा सत्य असीम है। इनमें संकीर्णता लाना मनुष्यों के लिए न केवल हानिकर है अपितु इन शुभकर्मों में संकीर्णता और उदासीनता से देश और जाति दोनों की अवनति हुई है। धारण किया हुआ, आचरण में लाया हुआ धर्म मनुष्यों में सर्वांग उन्नति करता है। धर्माचरण में ही मानवों का सर्वोदय है। धर्म से विमुख होकर तो ह्रास तथा अन्ततः विनाश ही है। धर्म मनुष्य की सारी आयुभर तथा प्रत्येक परिस्थिति में सहायता करता है। धर्म की व्यापकता को भूलकर लोगों ने केवल कतिपय दैनिक कर्मों को ही धर्म मानकर मनुष्यों के जीवन व्यवहार से धर्म का अधिकार हटा दिया। परिणाम वही हुआ जो होना था देश और जाति में आपस के व्यवहार और बर्ताव में अनैतिकता फैल गई, भ्रष्टाचार आरंभ हुआ, और अत्याचार करते हुए मनुष्य लज्जित तक न हुए। शक्ति अत्याचार में और दुराचार में व्यय हुई और ऐश्वर्य विलासिता की भेंट हुआ। इस प्रकार आयु घटी और समाज में अशान्ति बढ़ी। धर्माचरण से ही भ्रष्टाचार दूर होगा सदाचार से ही अनाचार दूर होगा, सद्व्यवहार से ही व्यभिचार हटेगा। जिस प्रकार अन्धकार केवल ज्योति से ही दूर होता है चाहे वह ज्योति सूर्य की हो, विद्युत् की हो *अथवा अग्नि की, उसी प्रकार ऋत द्वारा ही अनृत और अनैतिकता दूर हो सकेगी।*

धर्म व्यापक है धर्म में मानवों के सभी व्यवहारों का समावेश है। व्यवहार से धर्म हटते ही मानव तथा पशु में अन्तर ही नहीं रहता। शासन में धर्म नैतिकता का रूप धारण करता है शासन में जब नैतिकता का ह्रास होने लगता है तो शासन दुर्बल हो जाता है आपाधापी छा जाती है और स्वार्थ प्रबल होने से शासन में सत्त्व नहीं रहता। निःसत्त्व शासन दुर्बल होता है उसमें सत्ता की कमी खटकती रहती है और ऐसा शासन नष्ट हो जाता है। धर्म की व्यापकता को स्वीकार करते हुए हम राजधर्म अथवा राजनीति को धर्म से कैसे अलग कर सकते हैं? राज्यशासन यदि धर्म पर निर्भर नहीं तो ऐसे शासन में न्याय नहीं हो सकता और अन्याय शासन को खोखला कर देता है। राजनीति सफल तभी तक रहती है जब तक उसमें धर्म काम में आता है। धर्म की ओर उदासीन होने से राज्य में अधर्म पनपने लगता है और प्रजा दुःखी और त्रस्त रहती है। ऐसी स्थिति में विप्लव हुआ करता है और क्रान्ति राज्य प्रबंध को मलिया मेट करके पुनः प्रजा के हित में धर्म की स्थापना किया करती है। धर्म एक अनिवार्य परम आवश्यक तत्त्व है किसके बिना हमारा अस्तित्व तक संभव नहीं॥

ब्रह्म

लेखकः—डॉ० मुंशीराम शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी साहित्यालङ्कार, अध्यक्ष-हिन्दी विभाग,
दयानन्द कालेज, कानपुर

गीता के सत्रहवें अध्याय के अन्त में ब्रह्म के निर्देशक तीन शब्द आये हैं:—ओ३म्, तत् और सत्। इन्हीं तीनों से क्रमशः ब्राह्मण, वेद और यज्ञ की उत्पत्ति हुई।

सापेक्ष शब्दों द्वारा कहा जा सकता है कि ब्रह्म सत् है, असत् नहीं, सत् तत् है, एतत् नहीं, तत् ओ३म् है—अव्यय है—मूल है—रक्षक है। ओ३म् ब्रह्म है। उलट कर विचार कीजिये तो ब्रह्म ओ३म् है, सबका मूल है, अव्यय है अथवा अविनाशी मूल है और रक्षक है। ओ३म् तत् है और तत् सत् है। ब्रह्म का धाम ओ३म् है—ब्रह्म ओ३म् में निवास करता है। ओ३म् का धाम, निवासस्थान, तत् है और तत् का निवासस्थान सत् है। सत् तत् में, तत् ओ३म् में और ओ३म् ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। ब्रह्म ओ३म् अक्षर द्वारा प्रगट होता है। ओ३म् तत् द्वारा प्रगट होता है और तत् सत् द्वारा।

ब्राह्मण, वेद और यज्ञ का क्रमशः निर्माण हुआ है। पिता से पुत्र का निर्माण होता है अथवा पिता ही पुत्र रूप में प्रगट होता है। इसी हेतु एक के ज्ञान से दूसरे का ज्ञान हो जाता है। जिसने अविनश्वर अक्षर ब्रह्म को जान लिया वह ब्राह्मण है, तत् वेद अर्थात् ज्ञान है और सत् यज्ञ है। जो यज्ञ करता है, वह यज्ञ के मूल सत् की ओर प्रयाण करता है। जो सत् की खोज करता है वह सत् के मूल तत् अर्थात् ज्ञान की ओर चलता है। जो तत् को अपनाता है, वेद अर्थात् ज्ञान को पकड़ता है, वह अक्षर ब्रह्म पर जा टिकता है और जो अविनाशी तत्त्व को हृदयंगम कर सकता है, वह ब्रह्म को जान लेता है।

ओ३म् मूल है, इसलिये प्रत्येक कार्य के मूल में ओ३म् का उच्चारण करना चाहिये। कार्य अर्थात् करणीय कर्म तीन हैं, यज्ञ, तप और दान। दान करने से सत् की अनुभूति होती है, तप से ज्ञान का उदय होता है और यज्ञ करने से ब्रह्म भावना जागृति होती है।

संसार की प्रत्येक सत्ता में सत् विद्यमान है। विश्व में जो कुछ स्थिर है, टिकाऊ है, अस्तित्ववाला है, वह सत् के कारण है। यहाँ जो कुछ शुभ है, साधु है, भला है, वह भी सत् है। प्रशस्त अर्थात् प्रशंसनीय कर्म भी सत् है। यज्ञ, तप और दान में जो स्थिति है, प्रतिष्ठा है, ठहरना है, वह सत् है और इनके लिये जो कर्मरूपी साधन सम्पादन करना पड़ता है वह भी सत् है, परन्तु इसमें श्रद्धा होनी चाहिये। अश्रद्धा से जिनमें आहुति दी जाती है ऐसे यज्ञ, तपे हुए तप और दिये हुए दान असत् हैं। न वे इस लोक में सफल होते हैं, न परलोक में। यह सत् की परिभाषा है।

तत् अर्थात् वह, यह का विपरीत है। जो कुछ सामने है, प्रत्यक्ष है, थोड़ी देर या अधिक देर ठहरने वाला है—यह है। इसके विपरीत जो प्रत्यक् है, परोक्ष है, सदा स्थिर रहने वाला है—तत् है। यज्ञ, तप और दान यदि फल

की आकांक्षा से किये जाते हैं तो वे इसी लोक से संबद्ध हो जाते हैं। जिस फल की कामना की जाती है, उस फल को भोगने के लिये जीव को एक योनि से दूसरी योनि में जाना पड़ता है। आवागमन का क्लेशकारी चक्र सहन करना पड़ता है। अतः फल की भावना छोड़कर जो यज्ञ, तप और दान किया जाता है, वही यहां से वहां पहुंचा सकता है, विविध योनियों के जन्म-मरण रूपी क्लेश-चक्र से पार कर सकता है। निष्काम होकर भी जो यज्ञ, तप और दान किये जायें वे भी विधि-विधान के अनुकूल होने चाहियें। इन कार्यों में मनमानी घर जानी नहीं चलती। ऋषियों ने अपनी तपोपूत दृष्टि द्वारा जो नियम देखे और जिनका विधान उन्होंने यज्ञादि के लिये स्थिर किया, उन्हीं के अनुकूल यज्ञादि करने चाहिये, विधान-विपरीत नहीं। इन दो भावनाओं से संवलित यज्ञ, तप और दान तत् अर्थात् उस तक पहुंचाने वाले हैं। मोक्ष की आकांक्षा रखने वाले सत् पुरुष इसी पथ पर चलते हैं। यह तत् की व्याख्या है।

विधि-विधानों के अनुकूल जो यज्ञ, तप और दान ब्रह्मवादियों के द्वारा किये जाते हैं, उनके प्रारम्भ में ओ३म् का उच्चारण करना चाहिये। यह सृष्टि ओंकार से ही प्रारम्भ हुई है। ओ३म् अव्यय है जिसके अन्य शब्दों की भांति रूप नहीं चलते, जो सभी विभक्तियों और कालों में एक समान रहता है। यह मूल अक्षर है। इसी से अन्य समस्त वर्ण प्रादुर्भूत हुए हैं। निरक्षर का वाङ्मय मानों इसी मूल अक्षर की क्रीड़ा है। यही एक विविध वर्णों में मानों बहु हो गया है। यह बहु अन्त में उसी एक में समा जाता है। ऐसा विचार करके प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में ओ३म् का उच्चारण करना चाहिये।

ओ३म् अक्षर ही ब्रह्म है, यही सबसे श्रेष्ठ है, इसी का अवलम्बन लेना श्रेयस्कर है, इससे बढ़कर अन्य कोई भी आश्रय नहीं है। सब वेद इसी ओ३म् की व्याख्या करते हैं, तपस्वी इसी के लिये तप करते हैं, ब्रह्मचारी इसी की कामना से ब्रह्मचर्य धारण करते हैं। जो इस अक्षर अविनाशी ओ३म् को जान लेता है उसकी कामनायें पूरी होती हैं। इसके ज्ञान के सहारे साधक ब्रह्मलोक में महिमामय बनता है। यह ओ३म् की महिमा है।

ओ३म् सृष्टि का मूल है, तो ब्राह्मण मानवता का मूल है। सूक्ष्म ओ३म् से ही स्थूल ब्राह्मण उत्पन्न हुआ है। तत् परोक्ष का निर्देश करता है, अतः वेद या ज्ञान का पिता है। सत् अस्तित्व को प्रगट करता है जो यज्ञ भावना का जनक है। बिना यज्ञ किये यहां कोई भी अपने अस्तित्व को सार्थक नहीं कर सकता।

ओ३म्, तत्, सत् ही उलटकर सत्, चित्, आनन्द के द्योतक हैं अथवा प्रकृति, जीव और परमात्मा के वाचक हैं। सत्, ऋत और अभीद्ध तप भी यही हैं। हमें अपने प्रत्यक्ष असत् से सत् की ओर चलना चाहिये। यह से वह की ओर जाना चाहिये। वह ही ओ३म् द्वारा अभिव्यक्त हुआ है। वह ही ओ३म् और ओ३म् ही ब्रह्म है।

ब्रह्म का अर्थ है—बड़ा। जो स्थूल हैं वह बड़ा नहीं हो सकता। अपनी लम्बाई, चौड़ाई और छुटाई में वह सीमित है, सीमाबद्ध है। जो सूक्ष्म है, वही स्थूल में व्याप्त हो सकता

[शेष टाइटिल पेज २ पर]

आध्यात्मिकत्वम्

लेखक—श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज, संचालक, आर्ष गुरुकुल, एटा

[यह लेख वेदाङ्क के लिये प्राप्त हुआ था, परन्तु स्थानाभाव से उसमें प्रकाशित न हो सका। सम्पा०]

आध्यात्मिक—शब्द का अर्थ तो जीवात्मा और प्रकृति दोनों में व्यापक अद्वैत ब्रह्मतत्त्व परमेश्वर है अर्थात् जीवात्मा और परमाणु व्याप्य और परमेश्वर व्यापक है।

ओ३म् ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। यजु० अ० ४० मं. १

अर्थात् जड़ और चेतन जीवात्मा व्याप्य ईश्वर चेतन व्यापक है सब में बस रहा है। व्यापक शब्द तब बनता है जब व्याप्य हो, व्याप्य के विना व्यापक नहीं।

अधिकदेशवृत्तित्वं व्यापकत्वम्। न्यूनदेशवृत्तित्वं व्याप्यत्वम्। अर्थात् एक देशी परिच्छिन्न व्याप्य और सर्वदेशीय अपरिच्छिन्न व्यापक है, यह समवाय सम्बन्धवत् संयोग सम्बन्ध जीव-ब्रह्म प्रकृति का सदैव से है और सदैव रहेगा।

सम्भूति—असम्भूति अर्थात् कार्य कारण जगत् को जिस विद्या से जाना जाता है वह अपरा विद्या कहाती है। और जिससे अद्वैत ब्रह्मतत्त्व परमेश्वर जाना जाये वह परा विद्या—ब्रह्म विद्या आध्यात्मिक विद्या कहाती है, जैसा—

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥
गीता अ० १० श्लो० ३२

विद्याओं में अध्यात्म विद्या सबसे बड़ी ब्रह्म-विद्या है।

तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च॥
मुण्डकोपनिषद् खण्ड १ मं. ४

शौनक ऋषि को अङ्गिरा ने कहा कि दो विद्यायें हैं एक परा दूसरी अपरा।

तत्र—अपरा ऋग्वेद से लेकर ज्योतिष पर्यन्त और (अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते) हे शौनक। जिस विद्या विज्ञान से अविनाशी ब्रह्म जाना जाता है वह परा विद्या है।

पाठक! विचार करें कि वह ब्रह्म विद्या कौन-सी है चार वेदों से बढ़कर ऐसी कौन-सी पुस्तक है जो ब्रह्म विद्या परा विद्या कहाती है। वह है: वेदान्त। वेदानामन्तम्—वेदान्तम् अर्थात् वेदों का अन्त वेदान्त हुआ। वेदों का अन्त क्या है।

चतुर्षु वेदेषु यदन्तविभागत्वं तद् वेदान्तत्वम्

अर्थात् चारों वेदों का अन्त का विभाग वेदान्त है। वेद की आदि ऋग्वेद के अग्निमिळे पुरोहितं से लेकर यजुर्वेद के ३९ अध्याय तक वेद और ईशा वास्यमिदं इस मन्त्र से लेकर हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखमित्यादि १७ मन्त्र, ४०वाँ अध्याय वेदान्त है इसी को लेकर ईशोपनिषद् की रचना की गई और ईशोपनिषद् को लेकर सारी उपनिषदें हैं, अतः उपनिषदों को ही वेदान्त ब्रह्म विद्या अध्यात्म विद्या कहते हैं। एक अद्भुत विचित्र रचना संसार की देखता है जीवात्मा तब अनेक प्रकार की कल्पनायें करता है यह कोई नयी कल्पना नहीं। अर्थात् यह दृष्टि=दर्शन कोई नया नहीं, यह तो प्रवाह से अनादि काल से चला आया है और चला जायेगा।

यह संसार कब-किसने-क्यों-किसके लिए रचा गया। यह प्रश्न स्वाभाविक होता है। इसका उत्तर **भोगापवर्गार्थं दृश्यम्। यो० पा० २ सू० १८** महर्षि पतञ्जलि देते हैं—भोगार्थम्। सुख दुःख रूप बुद्धिरेव भोगः, तदर्थम्। अर्थात् यह दृश्यरूप जड़ जगत् भोगार्थ बनाया। तथा अपवर्गार्थम् मोक्षार्थम्। ईश्वरीय-आनन्दार्थं मोक्षार्थम्। अर्थात् दूसरा प्रयोजन ईश्वर के आनन्द के लिए दृश्य की रचना हुई है। किसके लिए—किसने की संसार की रचना यह प्रश्न भी स्वाभाविक ही है। कार्य को देखकर कर्त्ता का ज्ञान तो होता है क्योंकि **यत्र यत्र कार्यत्वम् तत्र तत्र कर्तृजन्यत्वम्** यह न्याय है अतः संसार का "कर्त्ता" परमेश्वर है। अब एक प्रश्न और होता है कि ईश्वर को किसने बनाया, माया और जीव ईश्वर ने किससे बनाये। उत्तर सीधा यही है कि जीव-ब्रह्म-प्रकृति-स्वरूप से

नित्य अनादि अनन्त है। ईश्वर ने जीव प्रकृति को बनाया नहीं, किन्तु प्रकृति को कार्य रूप में लाना जीवात्माओं के भोगार्थ यही कर्तृत्व ईश्वर का है। परमाणुओं का संयोग वियोग मिलना और पृथक् करना ईश्वर का काम है। **जन्माद्यस्य यतः। वेदा. अ. १ पा. १ सू. २।** उत्पत्ति-रक्षा-प्रलय करना यह धर्म ईश्वर का है यथा आप अपने घर को ईंट मिट्टी से बनाते हैं अपने बच्चों आदि के लिए बनाते हैं रक्षा भी करते हैं और जब मकान जीर्ण हो जाता है तो गिरा भी देते हो और नवीन बनाते हो। इसी प्रकार परमेश्वर अपने (जीवाः—ईश्वर पुत्राः) पुत्रों के लिये सृष्टि बनाता है। जहाँ भोग का साधन जगत् है वहाँ अपवर्ग—मोक्ष का भी है जब भोगों की समाप्ति हो जाये और तत्त्वज्ञान हो जाये तो मोक्ष में प्रभु मिल जायेगा। यह प्रवाह सदैव से है और सदैव रहेगा। जीवात्माओं के शरीर को ईश्वर बनाता है जीव को नहीं।

प्रश्न—श्री स्वा० शंकराचार्य जी ने प्रस्थान त्रयी में = १—वेदान्त दर्शन २—गीता ३—उपनिषदों के भाष्य में एक अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि की है जीव ही ब्रह्म है जगत्—मिथ्या है।

उत्तर—प्रस्थानत्रयी में जगत् को मिथ्या जीवात्मा को परमेश्वर कहीं नहीं कहा। वेदान्त में "ज्ञान" **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। वेदा. अ.१ पा. १ सू. १** गीता में "कर्म" **कर्मण्येवाधिकारस्ते।** गीता अ० २ श्लोक ४७। **कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। गीता अ० ३ श्लोक २०।** और उपनिषदों में "उपासना" तथा उप नाम समीप में निषद् का अर्थ निश्चय कर सद्। सत् का अर्थ है अस्तीति सत् सत्य स्वरूप भगवान् की प्राप्ति उपनिषद् कराती है। ज्ञान—कर्म—उपासना का ही वर्णन प्रस्थान त्रयी में है और जो अभिन्ननिमित्तोपादन कारण परमेश्वर को कहा है वह इस प्रकार है—

यः पृथिव्यां तिष्ठिन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवीशरीरम्। यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः। यस्य आत्मा (जीवात्मा) शरीरम्। बृहदार. ३।८।३।

परमात्मा के यह पञ्चभूत. और जीवात्मा सब शरीर है, इनसे कभी पृथक् नहीं होता अतः अभिन्न-निमित्तोपादानकारण कहा। यथा पिता के शरीर से पुत्र का स्थूल शरीर बना है इसी प्रकार जगत् तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। कारण में था कि कार्य्य बना उसी समय कारण के साथ ही प्रविष्ट हो गया।

यदि कहो ऐसा नहीं तो मैं पूँछता हूं कि—गुण-गुणी—कारण कार्य धर्म धर्मी अर्थात् परमात्मा गुणी और जीव प्रकृति उसके गुण है परमात्मा कारण और जीव प्रकृति उसके कार्य है परमात्मा धर्मी और जीव प्रकृति उसके धर्म हैं क्या परमात्मा समुद्र जलरूप है तो जीव प्रकृति एक बिन्दु है परमात्मा एक सूर्य ज्योति है तो क्या जीव प्रकृति दीपक एक स्फुलिंग है। परमात्मा एक महाकाश है तो क्या जीव प्रकृति घटाकाश मठाकाश है परमात्मा एक अंशी है तो क्या जीव प्रकृति उसके अंश हैं क्या जीवात्मा और प्रकृति परमात्मा के कार्य हैं जो सदैव बनते बिगड़ते रहते हैं अर्थात् उत्पत्ति विनाश इत्यादि होते रहते हैं। आज संसार इस आध्यात्मिकतत्त्व परमेश्वर को भूला हुआ है। उपासना का फल तो उपास्य के गुण कर्म स्वभाव उपासक में आने चाहिये।

ब्राह्मणानन्वावर्त्ते ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणा वर्चसम्। अथर्ववेद।

ब्रह्माभ्यावर्त्ते तन्मे द्रविणमिच्छतु तन्मे ब्रह्मवर्चसम्। अथर्ववेद।

अर्थात् शिष्य गुरु की उपासना करता है, गुरु के गुण, कर्म स्वभाव अपने में धारण करता है किसलिए गुरु बनने के लिए। ब्रह्म-(परमेश्वर) की उपासना करता है ब्रह्मतेज अपने में धारण करता है जिससे मैं भी ब्रह्म बन जाऊं। इत्यादि।

यो ह वै परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। नास्याब्रह्मवित् कुले भवति। मुण्डकोपनिषत्। अर्थात् जो उस परम ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म हो जाता है इस मन्त्र में ब्रह्म बन जाता है कब जब परम ब्रह्म को जानता है किन्तु वह परम ब्रह्म नहीं बनता अर्थात् जो अब्रह्मवित् है उनमें वह ब्रह्म—बड़ा बन जाता है यथा—

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥
ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।
कृतबुद्धिषु कर्त्तारः कर्त्तृषु ब्रह्मवेदिनः । मनु०

अर्थात् ब्रह्मज्ञानी को सर्वश्रेष्ठ माना है इसी प्रकार जो परम ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म बड़ा कहाता है।

प्रश्न—मोक्ष में तो परमेश्वर में लय हो जाता आनन्दस्वरूप बन जाता है। विमुक्तिप्रशंसानन्दानाम् सां० अ० ५ सूत्र ६८। अर्थात् परमेश्वर के आनन्द का अनुभव करता है। स्वरूप में स्थित ही रहता है। उत्तर—जो यह कहते हैं कि आनन्द स्वरूप बन जाता है वे मन्द धी हैं। देखो सम्पद्याविर्भावः स्वेनशब्दात्। वेदान्त अ० ४ पा० ४ सूत्र १ अर्थात् परमेश्वर को प्राप्त कर अपने स्वरूप से रहता है। परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेण निष्पद्यते। छां० ८-१२-३। इस छान्दोग्य की श्रुति से भी स्पष्ट है कि परम ज्योति को प्राप्त होकर स्वरूप से रहता है। प्रश्न—निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति। उपनिषदों कहा है। उत्तर—सत्य हि कहा है। भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च। वेदा० अ० ४ पा० ४ सू० २१। भोगमात्र अर्थात् ईश्वर नित्यानन्द भोगी है उसका आनन्द मुक्त जीव को प्राप्त होता है आनन्द भी कैसे प्राप्त होता है, सुनो यथा आप मेरे बड़े प्रेमी मित्र है मुझे मिल गए तो मैं आप को देखकर बड़ा ही प्रसन्न होता हूँ और आप मुझको देख कर प्रसन्न होते हैं, क्या मैं तुम और तुम मैं हो गया। प्रश्न—यह आपने क्या कहा कि तुम मैं और मैं तुम बन गए, तत्त्वमसि आदि अद्वैत को प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों से विरोध होगा। उत्तर—यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घास्या अहम्। स्युष्टे सत्या इहाशिषः। ऋ० मं० ८ सू० ४४ मं० २३।

अर्थ :—हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन् यदि मैं तू हो जाऊँ और तू मैं हो जाऊँ तो तेरा आशीर्वाद संसार में सत् हो जाये। जीवात्मा का यह कथन कि तू मैं अर्थात् तू जीव होजा और मैं परमात्मा हो जाऊँ यह तो एक विलक्षण बात हुई जो सर्वथा असम्भव है। पुनः इस का अर्थ क्या है सुनो—मैं तू हो जाऊँ का अर्थ तो ऊपर के मन्त्र में अग्ने सख्यस्य बोधिनः इससे पूर्व २० वें मन्त्र में सख्यं वृणीमहे। अर्थात् मित्रता की भावना की याचना है परमेश्वर को मित्र की दृष्टि से देखना चाहिये। समझ में आगया होगा अर्थात् हे परमेश्वर जैसा तू त्रिविध दुःखातीत है वैसा मैं आध्यात्मिकादि तीनों दुःखों से रहित हो जाऊँ और तू मैं होजा अर्थात् तू मुझ में मुझे साक्षात्कार होजा सयुजा सखाया इत्यादि सखा भाव, तेरा आशीर्वाद संसार में सत्य हो जायेगा अर्थात् जो तत्त्व ज्ञान का फल होना चाहिये वह हो गया मैं मुक्त हो गया। तू मैं का यहाँ जो झगड़ा था वह समाप्त हो गया अर्थात् मुझे यथार्थ पता चल गया कि यह जड़ जगत् कार्य कारण अनित्य और तू मैं नित्य एक रस, कभी भी मैं तू कार्य कारण रूप में परिवर्तित नहीं होते। इत्योम्। इसी प्रकार श्री स्वा० शंकराचार्य जी ने माना है। उत्पत्त्यसम्भवात्। वेदा० अ० २ पा० २ सू० ४२। इस सूत्र के भाष्य में भागवत मत का खण्डन किया है कि वासुदेव परमात्मा से संकर्षण नाम जीव की उत्पत्ति होती है। न वासुदेवसंज्ञकात् परमात्मनः संकर्षणसंज्ञकस्य जीवस्योत्पत्तिः संभवति। अनित्यत्वादिदोषप्रसंगात्। उत्पत्तिमत्त्वे हि जीवस्यानित्यत्वादयो दोषाः प्रसज्येरन्। ततश्च नैवास्य भगवत्प्राप्तिर्मोक्षः स्यात्। कारणप्राप्तौ कार्य्यस्य प्रविलयप्रसंगात्। प्रतिषेधिष्यति चाचार्यो जीवस्योत्पत्तिम्। नात्मश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः वेदा० अ० २ पा० ३ सू० २७। तस्मादसंगतैषाकल्पना। पाठक। विचार करें। जीवात्मा मोक्ष में अपने स्वरूप से रहता है। लय का अर्थ तो 'लयस्तु सूक्ष्मीभावेन तिष्ठति नतु नाशः। नाशः कारणलयः' सांख्यदर्शन। कार्य का कारण में लय होने का नाम नाश है। किन्तु जीवात्मा परमात्मा का कार्य्य नहीं जो परमात्मा में लय हो जाये। अतः पाठक समझ गए होंगे आध्यात्मिक का अर्थ केवल प्रभु है जो सब में व्यापक है। उसकी ओर चलने से संसार में सुख और शान्ति फैलेगी इत्योम्।

वेद सम्मेलन (खुरजा) के सभापति का भाषण

निवेदन

माननीय विद्वन्मण्डल तथा आर्य-बन्धुओं !

आप महानुभावों ने मुझे इस वेद-सम्मेलन का सभापति निर्वाचित किया है, इसके लिए मैं आप सबका आभारी हूँ। प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि वह हमारी बुद्धियों में इस पवित्र कार्य की सफलता के लिए विमलता, उदारता और सहनशीलता की भावना का सञ्चार करे !! धियो यो नः प्रचोदयात् !!!

परमदेव परमात्मा को कोटिशः धन्यवाद है जो इस गये-बीते युग में, भोजन वस्त्र आदि की चिन्ताओं में ही निमग्न रहते, देश में त्राहि त्राहि की ध्वनि होते, स्वतन्त्रता के परिणामस्वरूप सैकड़ों नहीं लाखों पीड़ित बहिन और भाइयों के आर्तनाद के होते हुए भी आज हम वेद जैसे गहन विषय पर विचार करने के लिए यहाँ एकत्रित हुए हैं।

आर्य-समाज खुर्जा के धर्मानुरागी सदस्यों ने साहस करके इस वेदसम्मेलन को खुर्जा में बुलाने का उपक्रम किया है, जिसके लिए वे हमारे सब के हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं। उनके इस उपक्रम का फल आर्य-समाज के लिये कहाँ तक स्थिर लाभप्रद हो सकेगा, यह सम्प्रति भविष्य के गर्भ का विषय है।

वेद के विषय में आवश्यक और गम्भीर विषयों में परस्पर विचार-विनिमय वा ऊहापोह कर निश्चित धाराओं पर पहुँचने के उद्देश्य से ही ये सब माननीय विद्वान् यहाँ पधारे हैं। कोई समझे या न समझे, इस वेद-सम्मेलन का बड़ा भारी महत्त्व है, जो आर्य-विद्वानों के परमत्याग का द्योतक है। सैकड़ों मीलों से इतनी दूर पर अपना सब कार्य छोड़कर अर्थात् अपनी जीविका की हानि करके, इतना ही नहीं लक्ष्मी द्वारा कुपित यह विद्वद्वर्ग स्वयं अपना किराया खर्च करके भी खुर्जा पहुँचा है, जिसकी कई सज्जनों को आशा नहीं थी, क्योंकि आर्थिक समस्या ही इस समय देश की भारी समस्या है। इन सब कारणों से आर्य विद्वानों का अभीष्ट संख्या में पहुँचना कठिन ही नहीं, अपितु अत्यन्त कठिन था। इसलिए जितनी भी संख्या में आर्य-विद्वान् यहाँ पधारे हैं, मैं उनके सामने नतमस्तक हूँ और उनका स्वागत करता हूँ। उनकी इस कृपा के लिए उनका आभारी भी हूँ। मैं जानता हूँ इनमें ऐसे भी विद्वान् हैं जो अपने बालबच्चों का पेट (भोजन) काट कर भी यहाँ पहुँचे हैं। मैं चाहता था और अब भी चाहता हूँ कि देश का धनी समुदाय आर्य-विद्वानों के इस आर्थिक सङ्कट को दूर करता और करे। उनके लिए कम से कम मार्ग-व्यय का प्रबन्ध तो होना ही चाहिए था, अब भी हो सके तो मुझे अत्यन्त, प्रसन्नता होगी। इस सम्मेलन को मैं उपर्युक्त कारणों से बहुत महत्त्व देता हूँ। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह वेद-सम्मेलन बिना किसी बाह्य प्रदर्शनों के केवल वेद के लिए किया गया है। तीसरी भारी बात जो इस वेदसम्मेलन के महत्त्व की है, वह यह है कि हमें इन दिनों में परस्पर बैठकर निश्चय करना है कि वेद सम्बन्धी विचार के लिए वेदसम्मेलन का कोई स्थायी रूप बने, जिससे यह पवित्र कार्य आर्यसमाज की भावनानुसार भविष्य में भी निरन्तर निर्बाध चलता रहे। जिससे आर्य जनता की चिरकाल से चली आ रही आशालता सफल हो सके और वैदिकसाहित्य के निर्माण का बीज आरोपित हो सके। मैं आशा करता हूँ कि माननीय विद्वन्महानुभाव इस विषय में उदारता, समन्वय-बुद्धि, दूरदर्शिता और गम्भीरता तथा परस्पर सहयोग अर्थात् एक दूसरे की योग्यता से लाभ उठाने की भावना से इस पवित्रकार्य का सम्पादन करेंगे।

आर्य-जनता से भी निवेदन है कि वह शान्ति और गम्भीरता से विद्वानों की कार्यवाही को देखे, सुने (जहाँ उनके लिए आर्यसमाज खुर्जा द्वारा सम्मिलित होने की स्वीकृति रहे) और पकती हुई खिचड़ी को खाने की शीघ्रता न करें, अपितु पकने पर ही (अर्थात् विचार करते समय नहीं, अपितु जब विचार होकर निश्चित धारणा बन जावे) तभी खाने का यत्न करें। उससे पहले किसी के सम्बन्ध में कोई धारणा बनाने का कष्ट न करें, अन्यथा विचार करने में बाधा उपस्थित हो सकती है ॥

प्रभु सबको सुमति और बल प्रदान करें !! अब मैं अपना वक्तव्य प्रारम्भ करता हूँ—

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ वेद ॥

अन्तर्यामिन् प्रभो ! आप निर्मल हो (मानव तो कुछ न कुछ मलिन भी रहता है) तुम ही दिव्य (अनेकविध गुणों के आगार) हो, (अपनी मलिनताओं, कमियों को दूर करने के लिए) आपका ही ध्यान, स्मरण (आश्रयण) हम करते हैं। परमदेव आप हमारी बुद्धियों, विचारधाराओं, मनोगतियों को ठीक ठीक दिशाओं में प्रेरित करो !!!

वेद उस ज्ञान का नाम है, जो सृष्टि के आदि में परमपिता परमात्मा द्वारा जीवों की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति, ऐहिक और पारलौकिक सुख कल्याण की प्राप्ति के लिए प्रदान किया गया और किया जाता है। जिसका स्वर वर्णानुपूर्वी नित्य है, उसके आधार पर ही आगे ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों की रचना हुई। वह वेद सर्वज्ञानमय (सब सत्य विद्याओं का भण्डार) है, मानव संबंधी समस्त आवश्यक ज्ञान बीज रूप से इसमें है। यह धारणा समस्त ऋषि-मुनियों की है, अतएव ऋषि दयानन्द और आर्य-समाज ने भी इसी धारणा को आधारभूत मानी है। आर्य-सनातन-वैदिक (आजकल हिन्दु कहे जाने वाले) धर्म का यत्किञ्चित् भी क्रिया-कलाप वेद के बिना नहीं चल सकता। जन्म से मरणपर्यन्त वेद का ही आश्रय लेना अनिवार्य है। भारत के राष्ट्रपति और प्रधान-मन्त्री (चाहे वह अपने आपको सैक्यूलर कहें या नास्तिक) के यहाँ भी विवाह आदि कोई शुभ कार्य वेद की ध्वनि के बिना नहीं हो सकता। अतएव वेद आर्यजाति का प्राण है। इसमें यत्किञ्चित् भी अत्युक्ति नहीं। भारतीय-संस्कृति, सभ्यता और साहित्य का मूलाधार वेद है। प्राण और मूलधार एकार्थवाचक हैं। इसीलिए मनु महाराज ने कहा—

स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥

अर्थात् वेद में सब ज्ञान, विद्याएँ वर्णित हैं क्योंकि वेद सर्वज्ञानमय हैं !

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥

महाभारत शां० २३।१४२

अर्थात् स्वयंभु परमेश्वर ने वेदमयी दिव्य, नित्य जिसका आदि-अन्त नहीं होता, ऐसी वाणी प्रदान की। जिससे आगे संसार के समस्त व्यवहार चले। ऋग्वेद के दशम मण्डल के ७१ वें सूक्त में भी इसी बात को कहा गया है।

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः ।

अर्थात् वेदवाणी प्रथम अर्थात् सृष्टि के आदि में दी जाती है वही सब भाषाओं की मूल है। उसी से सब पदार्थों के नामादि का व्यवहार चलता है। वह सर्वश्रेष्ठ सर्वदेशी होती है और उत्कृष्ट आत्माओं द्वारा प्रकाशित होती है। मनु ने भी इसी बात को आगे के श्लोक में कहा है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ मनु ॥

वेद का महत्त्व सदा से ऐसा ही माना जाता रहा, यही हमारा कहना है ॥

वेद-सम्बन्धी मिथ्या धारणाएँ

वेद का अभ्यास शताब्दियों से छूट जाने के कारण वेद के सम्बन्ध में मिथ्या धारणाएँ चल पड़ीं। इनका प्रारम्भ तभी से हुआ जब वेद को केवल यज्ञ में ही सीमित कर दिया गया। वेदों के आध्यात्मिक और आधिदैविक अर्थों का लोप हो गया, जिसकी परम्परा आज से १४००–१५०० वर्ष पूर्व तक विद्यमान रही। इतना ही नहीं यास्कमुनि को भी यही अभीष्ट था। जिसका सप्रमाण वर्णन हम अपने पूर्व वेदसम्मेलनों के भाषणों में विस्तार से कर चुके हैं। इस उत्कृष्ट परम्परा को या तो सायणाचार्य ने नष्ट कर दिया, या उसकी अपनी समझ में नहीं आयी। और इस कारण उसने इसे छोड़ दिया। यह बात हम इसलिये कहते हैं कि सायणाचार्य ने यहाँ तक लिख दिया कि संहिता और ब्राह्मण केवल यज्ञ का ही प्रतिपादन करते हैं। तद्यथा—

"तस्मिंश्च वेदे द्वौ काण्डौ। कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च। बृहदारण्यकाख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डस्तद्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोर्ग्रन्थयोः कर्मकाण्डत्वम्। तत्रोभयत्राधानाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपाद्यत्वात्।" (काण्व संहिता सायण भाष्य भूमिका)

अर्थात् वेद में दो काण्ड हैं, कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड। बृहदारण्यक (अर्थात् उपनिषद् सामान्य ले०) ग्रन्थ तो ब्रह्मकाण्ड है और उससे शेष शतपथब्राह्मण और संहिता इन दोनों ग्रन्थों का विषय कर्मकाण्ड है। इन दोनों (शतपथ ब्राह्मण और संहिता) में अग्निहोत्र दर्शपूर्णमासादि कर्मों का ही प्रतिपादन है। यहां "एव" "ही" पद विशेष ध्यान देने योग्य है।

सायणाचार्य की उत्पन्न की हुई यह उपर्युक्त भ्रान्ति वेद-सम्बन्धी समस्त मिथ्या भ्रान्तियों का मूल आधार है। इसने वेदसम्बन्धी सब गौरव और मानव जीवन में वेद की उपादेयता का सर्वथा नाश कर दिया। सायणाचार्य संवत् १३७२ से १४४४ में हुए। उनके पश्चात् इन ५००-६०० वर्षों के काल में वेद का स्वरूप और महत्त्व लगभग सर्वथा लोप हो गया। वेद के अर्थ समझने की प्रवृत्ति लुप्त हो गई और वेद की पुस्तक वर्ष में एक बार नवरात्रों के दिनों में धूप में रक्खी जाती रही या अधिक हुआ तो वेद की सवारी (एक रथ में सजाकर सारे नगर में घुमा देना) निकाली जाती रही, जो हम बाल्यकाल में देखा करते थे।

वेद का पठन-पाठन केवल कण्ठस्थ करने तक ही रहा। अर्थ-सहित पठन-पाठन में वेद प्रायः लुप्त हो गया।

वेद सम्बन्धी उक्त भूल के दुष्परिणाम

यह भूल सायणाचार्य तक ही रह जाती, अथवा भारत तक ही सीमित रही होती, तब भी इतनी हानि नहीं थी। इसके परिणाम बड़े भयंकर हुए। यह ठीक है कि महात्मा बुद्ध के काल में भी यज्ञयागादि की प्रधानता रही और वेद का अर्थ केवल यज्ञ परक ही होता है, इस मान्यता से ही यह भ्रान्ति उत्पन्न हुई। और बुद्ध जैसे महापुरुष पवित्र-हृदय महात्मा यह कहने पर बाधित हुए कि मैं ऐसे वेद को मानने को तैयार नहीं, जिसमें पशुहिंसा का विधान हो। यह बात निश्चय ही सायणाचार्य से पूर्व की है। अर्थात् सायणाचार्य से पूर्व यज्ञों में मांसादि का विधान चल चुका था। सायणाचार्य इस सबसे बच न सके, उन्होंने इतनी ही भूल की (जो बड़ी भारी भूल थी) कि वेद ब्राह्मण और संहिता में केवल यज्ञ का ही प्रतिपादन है, ऐसा लिखकर वेदार्थ-सम्बन्धी चली आने वाली आध्यात्मिक, आधिदैविक प्रक्रियाओं की परम्परा का नाश कर दिया॥

विदेशीय विद्वानों को वेदविषय में सायणभाष्य ही एक मात्र आश्रय मिला। वह उनके अनुकूल निकला, क्योंकि वे तो चाहते ही थे कि भारतीयों को अपनी प्राचीन संस्कृति, सभ्यता और साहित्य के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर उन्हें मार्ग-भ्रष्ट किया जाये और हमारा राज्य भारत में चिरस्थायी रह सके और इसी कारण बहुत दिन रहा भी।

इसमें संदेह नहीं कि हम विदेशी विद्वानों का आभार मानते हैं, जो उन्होंने अभारतीय होते हुए भी संस्कृतसाहित्य विशेषकर वैदिकसाहित्य में अनुपम प्रशंसनीय तथा अनुकरणीय उद्योग किया। निस्संदेह उन्होंने वैदिकसाहित्य की खोज (Research) का उपक्रम करके हम भारतीयों के सामने अपने साहित्य की रक्षा का उत्तम मार्ग दर्शाया, जिस किसी विदेशी विद्वान् (स्कालर) ने संस्कृत साहित्य के जिस किसी ग्रन्थ का सम्पादन किया, सर्वसाधारण की दृष्टि से वह उनके अत्यन्त परिश्रम, निरन्तर धैर्य और गम्भीर विवेचना का परिचय देता है। यह दूसरी बात है कि उनका ज्ञान शास्त्र विषय में गहरा नहीं था और उनकी भावना विपरीत थी।

सायणाचार्य की वेदार्थ विषय की इस मिथ्या धारणा का क्या दुष्परिणाम हुआ यह हमको कहना है। सोचने की बात है कि इन विदेशी विद्वानों को यदि सायणाचार्य की अपेक्षा कोई और उत्तम भाष्य मिला होता, तो इनके अंग्रेजी-जर्मन-फ्रैंच आदि विदेशी भाषाओं में किये अनुवादों का स्वरूप निश्चय ही भिन्न होता, जो अब सायण से आगे कोई न बढ़ सका॥

ऋषि दयानन्द और वेद

वेद का अर्थ केवल यज्ञपरक ही होता है और यज्ञ पशुबलि का विधान है यह मिथ्यावाद घोर रूप में प्रचलित था। उपर्युक्त सब अनर्थ वेद और शास्त्र के नाम पर हो रहे थे। अपने उन विषयों के लिये ब्राह्मण-श्रौत-गृह्य आदि ग्रन्थों के प्रमाण उपस्थित किये जाते थे। हमने काशी में देखा कि मांस, मद्य आदि से अत्यन्त घृणा करनेवाले व्यक्ति भी यज्ञ में अज (बकरे) का मांस खाने को बाधित हुए क्योंकि वह मानते थे कि यज्ञ में मांस डालने का शास्त्रीय विधान है। क्योंकि उनके हृदय में यह बैठ चुका है कि इसके लिये शास्त्र की आज्ञा है, इसका पालन न करने में प्रत्यवाय (पाप) लगेगा। इन्होंने घृणा के कारण आगे-पीछे कभी कोई मांस नहीं खाया।

ऐसी दुरवस्था में परमपिता परमात्माकी असीम कृपा से महापुरुष दयानन्द का प्रादुर्भाव हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वनियन्ता अन्तर्यामी जगदीश्वर पर पूर्ण आस्थावान् होने के कारण ही दयानन्द को दैवी अन्तःप्रेरणा हुई कि वेदार्थ लुप्त हो चुका है तुम उसका उद्धार करो और वेद के सच्चे अर्थ संसार के सामने रखो, जिससे शताब्दियों से इस विषय में फैली हुई भ्रान्ति दूर हो और संसार का कल्याण हो। दयानन्द ने पर्वत के शिखर पर खड़े होकर देखा कि संसार मेरे विरुद्ध है, और उसमें शास्त्रों को प्रमाणरूप में उपस्थित किया जाता है। सर्व साधारण की दृष्टि में शास्त्र दयानन्द का साथ नहीं देते। उस समय का विद्वन्मण्डल

चकित रह गया जब दयानन्द ने घोषणा की—"वेद प्रभु की पवित्र वाणी है जो सृष्टि के प्रारम्भ में मानव कल्याण के लिये संसार के अन्य भोग्य पदार्थों की भाँति यथावत् व्यवस्था के ज्ञानार्थ तथा उसके अनुसार आचरण करने के लिये प्रभु की ओर से ऋषियों द्वारा प्रदान की गई है और यह वाणी नित्य है। सदा से प्रदान की जाती रही और की जाती रहेगी। यह मानव या मानवों के समुदाय की कृति नहीं है, अपितु सम्पूर्ण विश्व के रचयिता परमपिता परमात्मा की ही रचना है। कल्प-कल्पान्तरों में इनमें किसी प्रकार की न्यूनाधिकता नहीं होती। इसमें किन्हीं व्यक्तिविशेषों का इतिहास नहीं, न पशुबलि आदि का ही विधान है। और यह मानव मात्र के लिये है, शूद्र वा स्त्री आदि किसी मानव देहधारी को इससे वंचित नहीं रखा गया। वेद के मन्त्रों के केवल यज्ञपरक ही अर्थ नहीं होते, अपितु मानव-जीवन की प्रत्येक समस्या के हल करने का उपाय बीज रूप से वेद में विद्यमान है इत्यादि इत्यादि।"

यह धारणा वेद के सम्बन्ध में वैदिक धर्मियों की है, जिसका विशद निरूपण हमें ऋषि दयानन्द कृत समस्त ग्रन्थों में, विशेषकर ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में मिलता है। ऋषि का छोटे से छोटा ग्रन्थ हो, या बड़े से बड़ा, उसकी प्रत्येक पंक्ति में, नहीं नहीं प्रत्येक पृष्ठ में, ईश्वर और वेद का निरूपण किसी न किसी प्रकार से अवश्य मिलेगा। इसीलिये सामवेद का भाष्य करने वाले श्रीरामानन्दसम्प्रदाय के आचार्य स्वामी भगवदाचार्यजी ने स्वामी दयानन्द को आस्तिकशिरोमणि लिखा।

उपर्युक्त धारणा को हम वैदिकधर्मियों ने ठीक होने से अङ्गीकार किया और उसके पुनरुद्धार का भार अपने ऊपर लिया है।

वेद के इस स्वरूप को निर्धारित करने में वीतराग तपस्वी दयानन्द को कहाँ तक कष्ट उठाना पड़ा, वह भी उस अवस्था में, जब कि वेदों का पठन-पाठन लुप्तप्रायः हो हो रहा था, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। शास्त्रसम्बन्धी विविध रूढ़ियों, प्रचलित रीतियों और शास्त्रकारों के कहे जाने वाले परस्पर विरोध के भँवरों, विविधवादों तथा मतमतान्तरों के तूफान में, दयानन्द पर्वत के समान अचल रहे, डिगे नहीं। अपने आपको न केवल सँभाले रहे, अपितु इन्होंने एकदम उन सबके विरुद्ध घोषणा कर दी—"वेद प्रभु की वाणी है। नित्य स्वतःप्रमाण है। इसमें किसी का इतिहास नहीं। अन्य सब ऋषियों के बनाये ग्रन्थ परतःप्रमाण हैं। अर्थात् वेदानुकूलतया ही प्रमाण हैं"। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यह घोषणा कल्पनामात्र से ही नहीं की, अपितु उन्हीं ऋषि मुनि कृत ग्रन्थों के आधार पर की, जिनके प्रमाण से वे लोग अपनी बातें सिद्ध करते थे। दूसरे शब्दों में महान् दयानन्द ने ऋषि-मुनियों के उन ग्रन्थों के शुद्ध अर्थ ही उन्हें बताये।

आर्यसमाज और वेद

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना सुनना, सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।" आर्यसमाज का तीसरा नियम बनाकर ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना ईश्वर के आधार पर की, "संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है"। इससे सार्वजनिक, सार्वभौमिक उपकार वा कल्याण का उद्देश्य स्थिर किया, और साधनरूप वेद का पढ़ना-पढ़ाना परमधर्म (तीसरा नियम) बनाकर जहाँ भारत का सिर ऊँचा किया, वहाँ संसार को भी सच्चा मार्ग दिखाया।

हम समझते हैं, आर्यसमाज प्रारंभ काल में इस उद्देश्य में पूर्ण श्रद्धा, भक्ति और बहुत उत्साह से प्रवृत्त हुआ। देश को वेद की ओर लाने में आर्यसमाज ने अपनी शक्ति भर बहुत प्रयत्न किया। क्योंकि हमें स्मरण है जब मैंने बाल्यावस्था में हिन्दी अक्षरों का अभ्यास किया, तो हमारे घर के लोग कहा करते थे, कि हमारा लड़का "शास्त्री" (पंजाब में हिन्दी को शास्त्री कहते हैं) पढ़ता है, और हिन्दी पढ़ना मैंने आर्यसमाज की ही प्रेरणा से आरंभ किया था। उन दिनों उर्दू की इतनी भरमार थी कि कोई सोच भी नहीं सकता था कि कभी हिन्दी भी हमारे देश की भाषा हो सकेगी। अब तो स्टेशनों पर भी हिन्दी के ही बोर्ड लिखे मिलते हैं। उर्दू भाषा अभी हिन्दू परिवारों में नष्ट नहीं हुई। इसको देखना हो तो देहली में जाकर देख सकते हैं, जहाँ अभी भी उर्दू वाले सिसकती हिन्दी लिखते हैं और कई एक लिखते समय सिसकियाँ भी लेते दिखाई देते हैं। "सविनय नमस्ते" को "स्वनय नमस्ते," "स्वागतम्" को "सवागतम्", आदि अब भी लिखते देखे जाते हैं।

कल ही मेरे पास एक पत्र आर्यसमाज, लारेंसरोड के प्रधानजी का आया है, उसमें—

आनन्द के स्थान पर = अनन्द नवम्बर के स्थान में = नवम्र
प्रसन्न ,, ,, = प्रसन्न जनता ,, ,, = जृनता
कृतार्थ ,, ,, = कर्त्तार्थ सकती ,, ,, = स्कती
शीघ्र ,, ,, = शीग्रह कृपया ,, ,, = कृप्या

१२ पंक्तियों में ८ अशुद्धियाँ हैं, यद्यपि यह दुःख की बात है कि आर्यसमाज के उपदेशक इन मन्त्री, प्रधानों को

बाधित नहीं करते कि वे हिन्दी तो शुद्ध लिख पढ़ सकें। परन्तु प्रधान जी मन्त्री जी रुष्ट हो जायेंगे, हमारा खीर-हलुवा जाता रहेगा, सो कुछ नहीं कहते।

कहना यह है कि आर्यसमाज ने हिन्दी के प्रचार का कितना महान् कार्य किया है, यह बात पंजाब प्रान्त निवासी ही ठीक-ठीक समझ सकते हैं।

मेरा कहना यह है कि आर्यसमाज ने भारत में अपने-अपने ग्राम और नगर में हिन्दी का प्रचार तो किया ही है, वेद की ध्वनि भी अवश्य पहुँचाई है, सोई हुई जनता को वेद का सन्देश अवश्य पहुँचाया है। चाहे वह किसी रूप में भी रहा हो। कहीं तो चिरायते की तरह सीधा काढ़ा दिया गया, कहीं खाँड़लिपटी कुनीन की गोली के समान वेद का सन्देश दिया गया। वेद प्रचार की योजना भी बनाई गई। आर्थिक दृष्टि से बहुत ही साधारण कोटि के इस समुदाय 'आर्यसमाज' ने सैकड़ों उपदेशक वैदिक-धर्म के प्रचार के लिए देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में रक्खे, जिनके द्वारा वैदिक-धर्म का प्रचार (उन उपदेशकों की योग्यता और परिस्थिति के अनुसार) हो रहा है।

हमारा कहना यह है कि भारत का कुछ समुदाय (चाहे वह अभी आटे में नमक के बराबर हो) आर्य-समाज के प्रचार से वेद का सन्देश सुन पाया है, इसीका फल है जो आर्यसमाज की गुरुकुल काङ्गड़ी, गुरुकुल वृन्दावन-महाविद्यालय ज्वालापुर, डी. ए. वी. कालेज लाहौर, कन्या महाविद्यालय जालंधर, कन्या गुरुकुल देहरादून, कन्या गुरुकुल हाथरस तथा सैकड़ों की संख्या में अन्य गुरुकुल और विद्यालय अपनी-अपनी विचारधारा के अनुसार सफलता-पूर्वक चल रहे हैं। चाहे उनमें कितनी भी विघ्न-बाधाएँ रहीं हों। ये बराबर चलते रहे। जनता ने सहयोग दिया तभी तो चलते रहे और चल रहे हैं। यदि यह सब मिलकर शिक्षा-विषय में एक निश्चित धारणा आर्यसमाज की दृष्टि से बनाकर चलें, तो एक पृथक यूनिवर्सिटी का रूप बन सकता है। जिसको सफलतापूर्वक चलते देखकर भारत सरकार को (चाहे वह किसी विचार की भी हो) आर्य-समाज के इस कार्य में विवश होकर आर्यसमाज का सिद्धान्त मानकर सहायता देनी पड़ेगी। क्योंकि आर्यसमाज ही प्राचीन भारतीय संस्कृति का परम पुजारी है, इसकी अवहेलना कोई भी न कर सकेगा। वर्त्तमान जैसा न होगा कि दे दिया गुरुकुल काङ्गड़ी को एक लाख वा ३० हजार रुपया, जैसे भूखे को रोटी फेंक दी जाती है। क्यों न सभी गुरुकुलों को उनके व्यय का आधा सरकार दे।

यदि आर्यसमाज का सङ्गठन दृढ़ हो जावे तो सरकार आर्यसमाज के पीछे-पीछे फिरेगी, आर्यसमाज सरकार के पीछे-पीछे नहीं फिरेगा। तभी वेद की रक्षा, वैदिक संस्कृति का प्रचार हो सकेगा। तभी हम आर्यसमाजकी विजय समझेंगे, नहीं तो समझेंगे कि पहले आर्यसमाज अपनी संस्थाओं के चलाने के लिए अंग्रेजी सरकार की जी-हजूरी करता रहा (गुरुकुल-काङ्गड़ी-वृन्दावन-डी. ए. वी. कालेज लाहौर आदि कुछ संस्थाओं को छोड़कर) और अब कांग्रेस सरकार की जी-हजूरी कर रहा है। यदि सरकारी पढ़ाई ही चलानी है तो सब संस्थाएँ आर्यसमाज को एकदम से बन्द कर देनी चाहिए। हम धार्मिक शिक्षा भी नहीं दे सकते तो ऐसी संस्थाओं से लाभ ही क्या? केवल मन्त्री, प्रधानों के हाथ में कुछ सत्ता (अध्यापकों पर राज्य) आना है, जिसका मूल्य व्यक्तिगत स्वार्थ के अतिरिक्त कुछ नहीं। आर्य-अध्यापक, अध्यापिकाएँ ही तैय्यार करने की कोई योजना आर्यसमाज ने बनाई होती, तो भी ठीक था। सो भी नहीं, अनार्य अध्यापक अध्यापिकाओं की भरमार प्रायः सर्वत्र है।

क्यों नहीं इन संस्थाओं में संस्कृत, वेद और ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों को अनिवार्य कर दिया [illegible] क्यों नहीं हर एक जगह वेद और संस्कृत की पढ़ाई [illegible] प्रबन्ध किया जाता। कम से कम प्रिन्सिपल तो आर्य हो और नहीं तो। ये बातें अब बहुत गम्भीरता से सोचनी होंगी। हाँ, साम्प्रदायिक भावना के स्थान में हमें सार्वजनिक धर्म जिसका कोई भी विरोधी न हो सके, इसकी शिक्षा इन संस्थाओं में देनी चाहिए, यह ठीक है। कहना यह है कि आर्यसमाज ने हिन्दी का प्रचार देश में अद्भुत किया। आर्यसमाज ने वेद का सन्देश घर-घर पहुँचाने में बहुत कुछ उद्योग किया है। जिसके लिए भारतीय जनता को आर्य-समाज का आभारी होना चाहिए।

ऋषि दयानन्द की सबसे बड़ी देन

ऋषि दयानन्द की सबसे बड़ी देन संसार को, विशेषकर भारत को, यही है कि उन्होंने वेद शास्त्र का शुद्धस्वरूप संसार के सामने रखा और साथ ही सबसे कठिन समझे जानेवाले वेद को इन्होंने सर्वसाधारण तक पहुँचाने के लिए उनका अर्थ आर्यभाषा में भी किया। इतना ही नहीं, व्याकरण जैसे दुरूह विषय को भी उन्होंने आर्यभाषा में लिखा। अष्टाध्यायी के भाष्य की रचना भी संस्कृत और आर्यभाषा दोनों में की। सन्ध्या के अर्थ-व्याख्या संस्कारविधि की सब विधियाँ आर्य-भाषा में लिख दीं। ऋषि दयानन्द

का यह साहसपूर्ण कार्य भारत के इतिहास में चिरस्थायी रहेगा। पहले पहले तो लोगों ने इस बात पर ऋषि दयानन्द की बहुत हँसी उड़ाई कि "उन्होंने हिंदी में लिखा है।" आर्यसमाज के बहुत से पुराने विद्वानों ने भी ऋषि के आर्य-भाषा में अपने ग्रन्थों को लिखने के महत्त्व को पूर्णतया नहीं समझा। 'संस्कृत में ही रहना चाहिये' ऐसी ध्वनि कभी कभी सुनाई देती रही, विशेषकर व्याकरण के ग्रन्थों के विषय में, यह सब भ्रांति की बात थी। ऋषि से पहले वेदमन्त्रों के पढ़ने और उनके अर्थ करने का द्वार उस समय के पंडितों ने वैश्यों क्षत्रियों तक के लिये बन्द कर रखा था, शूद्र और स्त्रियों के लिये तो कहना ही क्या !!

मेरा तो हृदय गद्गद् हो उठता है, जब मैं आर्यपरिवारों में नित्य के सन्ध्याहवन में, बड़े बड़े यज्ञों, समाज के उत्सवादि वा समारोहों में सहस्रों की संख्या में एक साथ वेद के मंत्र उच्चारण करते सुनता हूँ। छोटे-छोटे बच्चों को सन्ध्या के अर्थ बोलते सुनता हूँ। इस विषय में अब हमारा परम कर्त्तव्य है कि हम स्वर की बात अभी छोड़ दें, क्योंकि यह विद्वानों के विचार का विषय है, शुद्धपाठ पर सर्वत्र विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है, विद्वानों को इसका पूरा ध्यान रखना चाहिए। मुझे स्मरण हो० उठता है कि काशी में इस समय तक भी काशी के रूढ़िवादी और पौराणिक विद्वान् ही नहीं, अपितु हिन्दू-विश्वविद्यालय बनारस तक में स्त्री और शूद्रों के लिए वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है। उन्होंने वेद पर से स्वर ही हटा दिया है। वे कहते हैं कि वेद बिना स्वर के पढ़ लो, स्वर हम नहीं पढ़ायेंगे। स्वर सहित ही वेद होगा, स्वर रहित तो पाठमात्र है !! भला इस मूर्खता का भी कोई ठिकाना है !!! ऐसी अवस्था में संसार को ऋषिदयानन्द की अपूर्व मेधा और तपश्चर्या का लोहा मानना पड़ता है। अब भारत के स्वतंत्र हो जाने पर यह वेदध्वनि जब तक भारत के ग्राम २ में एक-एक पुत्र और पुत्री के मुख से न निकले, तब तक आर्यसमाज की आवश्यकता बनी रहेगी। इसको कौन करेगा ? क्या सैक्यूलर-धर्मनिरपेक्ष, नहीं नहीं, धर्म विरोधी, यह कांग्रेस का राज्य !!!

यह करेगा तो आर्यसमाज ही करेगा। कौन कहता है कि आर्यसमाज की आवश्यकता नहीं। आर्यसमाज प्रकाशस्तम्भ के रूप में भारत में सदा जीवित रहेगा। हमें अपनी कमियों को पूर्ण करना है और अपने कर्त्तव्य पर कटिबद्ध हो जाना है। बस यही एक मुख्य समस्या है।

सर्वसाधारण को वेद के प्रति आस्था हम तभी पैदा कर सकते हैं, जब हम अपने में, कार्यकर्त्ताओं में, वेद के प्रति उत्कृष्ट भावनाएं पूर्ण रीति से भरें। हम अपने में भरेंगे, तभी दूसरों में भर सकेंगे।

भारतीयों की वेद के प्रति अनास्था क्यों ?

वेद का अर्थ केवल यज्ञ परक होने लगा और यज्ञ में पशु-हिंसा का विधान चल पड़ा। सायण, उव्वट, महीधर आदि ने इन पर मुहर लगा दी। महीधर ने जहाँ वेद का अत्यन्त बीभत्स अर्थ किया, वहाँ सायण ने 'यज्ञ' 'एव' 'यज्ञ ही' वेदों का अर्थ बताया जिसमें वेदों के प्रति बहुत काल से अनास्था चल पड़ी। यह हम ऊपर लिख चुके हैं। मैं तो कहता हूँ महीधर भाष्य को भी छोड़ दें (जो अत्यन्त बीभत्स है), तो भी यदि वेद का सायणभाष्य ही हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू वा अन्य किसी भाषा में अनुवाद करके हिन्दी शिक्षणालयों के पाठ्यक्रम में रख दिया जावे, तो निश्चय ही समझना चाहिये, कुछ श्रद्धालुओं को छोड़कर, सबकी एक ही ध्वनि उठेगी कि यह वेद जंगलियों की बड़बड़ाहट वा अन्टसन्ट कृतियाँ हैं, जिनसे मानव-समाज को कुछ लाभ नहीं हो सकता। पंजाब यूनिवर्सिटी की शास्त्री-परीक्षा में जितना अंश सायणभाष्य का है, उससे सायण की छाप के कारण ये शास्त्री लोग प्रायः वेद से विमुख हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें वेद के वास्तविक स्वरूप का तो दर्शन भी नहीं हो पाता।

आर्यसमाज ने वेद के विषय में बहुत कुछ ज्ञान देने का प्रयत्न तो किया, जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं। पुनरपि हमें वेद के प्रति अनास्था क्यों दिखाई देती है, एक विचारशील भारतीय स्वभावतः यह सोचने लगता है कि—

इस अनास्था के अन्य कारण

वेद के विषय में हमारी आर्यसंस्कृति में प्राचीन काल से चली आ रही इतनी उत्कृष्ट भावना के होते हुए भी क्या कारण है कि भारतीयों में वेद के प्रति सम्प्रति इतनी अनास्था हो गई, वे इससे एकदम दूर हो गये ? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। हम विचारशील सज्जनों के समक्ष इस विषय में अपने विचार उपस्थित करते हैं। वेद के प्रति अनास्था रखनेवालों की कई कोटियाँ हैं, हम उन पर क्रमशः विचार करेंगे—

(१) प्रथम कोटि उन लोगों की है, जिन्हें दुर्भाग्यवश अपने घर (भारतीय संस्कृति, साहित्य, सभ्यता) का कुछ भी संस्कार व ज्ञान बाल्यकाल से नहीं मिला। वे या तो विदेश में पढ़े या उन्होंने भारत में विदेशी राज्य द्वारा चलाई

गई विदेशी पाठ्य-पद्धति से ही अध्ययन किया। संस्कृत साहित्य से शून्य न रहना तो दूर की बात है, वेदशास्त्रों के हिन्दी में प्राप्त होने वाले अनुवाद वा भाषार्थ को भी उन्होंने कभी नहीं पढ़ा। ऐसे लोग वेद वा शास्त्र के विषय में कोई बात (जो उन्होंने अंग्रेजी की पुस्तकों में पढ़ी होती है।) कहने लगते हैं, उनसे वह स्वयं तो सर्वथा अनभिज्ञ होते ही हैं, जिनकी पुस्तकों के आधार पर वह बोल रहे होते हैं, वे भी प्रायः प्राचीन वैदिक साहित्य से कोरे होते हैं, या उन्होंने भी वे बातें अपने विदेशी गुरुओं वा विदेशी पद्धति से पढ़े हुए विद्वानों से ही ली होतीं हैं। उसमें उनका अपना ज्ञान बहुत थोड़ा होता है। ऐसे व्यक्तियों द्वारा यह कहना कि वेद-शास्त्र में क्या रक्खा है स्वाभाविक है। भला इनकी ऐसी बात का क्या मूल्य हो सकता है! इसे, अज्ञानमूलक होने से किसी पागल का प्रलापमात्र ही तो कहा जायगा।

(२) दूसरी कोटि उन विद्वान् समझे जानेवालों की है, जो एम. ए. तथा शास्त्री आदि पढ़े होते हैं या हमारी आर्य-समाज की संस्थाओं की परीक्षायें पास किये होते हैं। ये महानुभाव जब वेद-शास्त्रों के विषय में अपनी अनास्था प्रकट करते हैं; तो जनता में महान् क्षोभ उत्पन्न हो जाता है कि ये संस्कृत के विद्वान् हैं, इतने वर्ष आर्यसमाज की वा अन्य संस्थाओं में पढ़े हैं, इनका कथन अतथ्य कैसे हो सकता है? इस विषय में मेरी इस प्रकार के कई महानुभावों से बातचीत हुई, तो पता लगा कि इनकी अपनी कोई स्थिति—धारणा वा ठिकाना (खूँटा) नहीं होता। यहीं तक नहीं, ये महानुभाव स्पष्ट कहने लगते हैं कि हमें तो ईश्वर के अस्तित्व में भी विश्वास नहीं। कर्मवाद के सिद्धान्त में भी उन्हें कोई आस्था नहीं होती। वह समझने लगते हैं कि ज्ञान तो बढ़ता ही रहता है। संसार ऋषि-मुनियों से बहुत आगे निकल चुका है। इस प्रकार उनकी बुद्धि भ्रान्त हो चुकी होती है और वे ईश्वर, वेद, धर्म, कर्मवाद, संस्कृति, सभ्यता के विषय में बहकी बहकी बातें करते हैं। ऐसे व्यक्तियों की—किन्हीं निर्बलताओं के कारण ईश्वर की सत्ता से भी आस्था उठ गई होती है। जिस का कारण बहुत गहराई में जाने से ही पता लग सकता है। एक बार एक सज्जन ने बताया "मैं आज से कुछ वर्ष पहले आर्यसमाज का अत्यन्त श्रद्धालु और कार्यकर्त्ता युवक था। विदेश में कुछ वर्ष रहा। हजारों रुपया मुझे वहाँ पढ़ने के लिए छात्रवृत्ति मिली। मैं वेद-शास्त्र का ही विश्वासी था। विदेश में रहने से मेरा विचार एकदम बदल गया और मुझे तो अब निश्चय हो गया है कि संसार का जितना ज्ञान है वह अमेरिका, इंगलैंड आदि में ही है। मैं अपना भाग्य समझता हूँ कि वेद-शास्त्र के चक्र से निकल आया। मैं तो सत्य का उपासक हूँ; जो भी सत्य होगा, मैं उसे मानूँगा। हमारे वेद-शास्त्रों में कुछ नहीं। भारतीय संस्कृति, सभ्यता-साहित्य में कुछ नहीं रखा, यों ही अण्ट-सण्ट लिखा है। संसार उन्नत होकर बहुत आगे बढ़ चुका है। भारतवासी उसी प्राचीन वेद-शास्त्र को लिए जा रहे हैं। जिसमें कुछ भी नहीं। भौतिक उन्नति सुख और शान्ति का परम साधन है, इत्यादि २।"

आर्यसमाज के संपर्क में कुछ समय रहे इस व्यक्ति के विचारों को सुनकर प्रथम तो मैं कुछ देर स्तब्ध-सा रहा, सोचने लगा कि इसको हो क्या गया है। अन्त में मैं पूछ बैठा, कहिए! आप ईश्वर की सत्ता को तो मानते हैं, वा अनुभव करते हैं, या नहीं। उसने कहा—मेरा ईश्वर की सत्ता और कर्मवाद में विश्वास नहीं। जब उसने यह कहा, तब समझ में आ गया कि इन ऊलजलूल विचारों का कारण क्या है। जो व्यक्ति ईश्वर की सत्ता को ही अनुभव नहीं कर पाता, उसमें जिसकी आस्था नहीं, भला वह उसके (ईश्वर के) बनाये वेद में कैसे आस्था कर सकता है? अन्य शास्त्र और भारतीय संस्कृति के प्रति तो उसकी भावना हो ही कैसे सकती है। भौतिकोन्नति को देखकर बुद्धि भ्रान्त हो जाती है तो आध्यात्मिकता का कोई मूल्य उनको जँचता नहीं। ऐसे लोगों की बुद्धियाँ भ्रांत होकर न जाने कितनी आत्माओं को मार्गच्युत कर देती हैं। विशेष कर उस अवस्था में, जब कि वे शिक्षक होते हैं।

अंगरेजी और संस्कृत के पढ़े ही इस कोटि में आते हैं, सो बात नहीं। केवल संस्कृत के पढ़े भी जब ईश्वर में अनास्था करने लगते हैं, तो उनकी भी यही दशा होती है; जो ऊपर वर्णित की गई है। इनके द्वारा जनता में वेद-शास्त्रों के प्रति और भी अनास्था उत्पन्न होती है। ऐसे व्यक्तियों में या तो वे होते हैं, जिनकी ज्ञानधारा वा संस्कार किन्हीं कारणों से विपरीत दिशा में बहने लगते हैं। उस विपरीत ज्ञान से वे तब तक विरत नहीं होते, जब तक उन्हें जीवन में कोई भारी धक्का नहीं लगता। या वे होते हैं, जिन्हें अपनी बुद्धि पर बहुत अधिक मात्रा में विश्वास होने लगता है, और वे समझने लगते हैं कि यह ईश्वर का न्याय क्या हुआ जो मूर्ख (बिना पढ़े और कम पढ़े) तो संसार में सुख पा रहे हैं, हम इतना परिश्रम

करते हैं, हम दुःखी रहते हैं। वे भूल जाते हैं कि कर्मवाद के सिद्धान्त से सबको अपने कर्मों का यथावत् फल मिलता है। यह अवस्था मानव के ज्ञान से बाहर की वस्तु होती है। बहुत-सा दुःख तो मनुष्य अपने अज्ञान से, अपनी आवश्यकताओं को बढ़ा कर भी उत्पन्न कर लेता है। ऐसे व्यक्ति दुःखी होकर ईश्वर वा वेदशास्त्र के प्रति भी अनास्था के भाव प्रकट करने लग जाते हैं, जिसका मूल कारण उनकी अपनी निर्बलता होती है।

(३) तीसरी कोटि उनकी है, जिनकी ईश्वर, कर्मवाद आदि में विश्वास वा आस्था तो है, पर कभी-कभी बुद्धि डगमगाने लगती है। इस अवस्था में कभी कभी तो बहुत ऊँची भावनाएँ उनके मन में उत्पन्न होती हैं; और कभी कभी अस्त-व्यस्त विचार भी मन के सामने आने लगते हैं। इस कोटि के महानुभाव अपने को पूर्णप्रज्ञ समझने लग जाते हैं, यही भूल है। वे समझते हैं कि हम ही दूसरों को सिखा सकते हैं, कोई दूसरा हमें नहीं सिखा सकता। अपनी भूल के लिए मार्जन भी रखना इन्हें इष्ट नहीं होता।

ऐसी अवस्था में इनके द्वारा की गई रिसर्च वा वेद विषयक धारणाएँ इनके लिए ही हर्षदायक व लाभदायक हुआ करती हैं, संसार के लिए नहीं। ऐसे व्यक्ति जनता का सहयोग प्राप्त करने के लक्ष्य से या तो अपनी रिसर्च का विषय ही ऐसा बना लेते हैं, जिसमें सूचियाँ बनाना हो, या फिर गोलमाल लिखते रहते हैं, जिसमें दोनों प्रकार के विचार जनता के सामने आते रहते हैं। साधारण जनता यह समझ भी नहीं पाती कि इनका अपना सिद्धान्त क्या है। ऐसे महानुभाव वेद-शास्त्र के विषय में जब अनास्था की बात करते हैं, तो जनता में क्षोभ होने लगता है। हमारी संस्थाओं में से निकल कर बहुत से नवयुवक भी इसी सरणि का अवलम्बन करने लगते हैं। उसमें हमारी भी कमी होती है, जो हम उन्हें अध्ययन काल में पूरी सामग्री नहीं दे पाते। चाहे उसका कारण कुछ भी हो। हम इसमें किसी को दोषी व बुरा नहीं कहते, हमने तो वस्तुस्थिति का निर्देश किया है, जैसा देखने में आता है। हमें कहना यह है कि ऐसे महानुभावों की अनास्था का कारण भी ईश्वर-कर्मवाद आदि मूलभूत सिद्धान्तों में सन्देह-संशय वा पूर्णास्था का अभाव ही होता है। हाँ! इस कोटि में ऐसे महानुभाव भी हैं जिन्हें ईश्वर पर विश्वास है, पर वेद को ईश्वर-ज्ञान न मानकर ऋषियों की कृति मानते हैं। ऐसा मानते हुए भी वे वेदों को बहुत अच्छी दृष्टि वा परम श्रद्धा से देखते हैं। उनमें उन्हें अनेक ऊंची भावनाएँ मिलती हैं। मानव समाज के लिए वे वेद को परम आवश्यक व परम साधन मानते हैं। ऐसे शुद्ध भावनापूर्ण महानुभावों का हमें सादर स्वागत करना चाहिए और उनकी उत्कृष्ट खोज वा ऊहापोह से लाभ उठाना चाहिये। निश्चय ही ऐसे महानुभावों की ईश्वरविषयक वह धारणा नहीं, जो ऋषि दयानन्द की आर्यसमाज के दूसरे नियम में वर्णित है। ऐसे महानुभाव वेदशास्त्रों के प्रति कभी अनास्था की बात नहीं कहते, पर मूलाधार में संदेह होने से संशयात्मक तो बने रहते हैं।

(४) अब हम चौथी कोटि पर विचार करते हैं। यह कोटि भारत में उनकी है जो ९० प्रतिशत अनपढ़ और हिंदी भाषा तक से भी शून्य हैं। ऐसे लोगों को वेद शास्त्र में अनास्था हो, सो बात नहीं। हाँ, अज्ञान अवश्य है, जिसके कारण उनकी आस्था में कमी है। इनको जिसने जब जैसा बता दिया, बस उसी को पकड़ लिया। बतानेवालों ने ठीक बता दिया तो ठीक समझ लिया, विपरीत बता दिया तो विपरीत मानने लगे। इतना तो है, ऐसे लोगों को वेदशास्त्रों के तथ्यों से अवगत करा दिया जावे, उन्हें इस विषय में निरन्तर शिक्षा दी जावे, तो सरल हृदय होने के कारण, ये उन तथ्यों को शीघ्र समझते हैं, ऐसा अनुभव से देखा गया है। श्वेत वस्त्र पर रंग अच्छा आता है, मलिन पर नहीं। ये लोग ईश्वर में आस्थावान् होने से शीघ्र समझ जाते हैं।

(५) पाँचवीं कोटि हम उनकी समझते हैं, जो पठित हैं और जिनको ईश्वर-वेद-शास्त्र-कर्मवाद आदि वेद प्रतिपादित सिद्धान्तों पर पूर्ण विश्वास है। नई नई शङ्काएँ सामने आने पर इन्हें सन्देह होने लगता है। मेरे विचार में ऐसे महानुभावों के समाधान, सन्देहनिवृत्ति, वा आत्म-सन्तोष के लिए पूर्ण प्रयत्न करना हमारा परम कर्त्तव्य है। शेष कोटि के महानुभावों के प्रति भी हमें हार्दिक प्रेम, सहानुभूति और सद्भावना से ही उनकी आत्मशान्ति, सन्देहनिवृत्ति का यत्न करते रहना चाहिये।

वेद के प्रति सर्वसाधारण की अनास्था का एक बड़ा भारी कारण यह भी हो गया है कि जन्म-विवाह-मरण आदि के समय पर ही कुछ थोड़ा बहुत वेदशास्त्रों का स्वरूप परिवारों के सम्मुख आता है, वह भी नाममात्र ही और वह भी कभी कभी ही। जो आता भी है, उसमें भी उन मन्त्रों से अर्थ व अभिप्राय का संस्कार आदि करानेवाले तक को कुछ पता नहीं होता, वह यजमान को बतावे क्या। यह भी कारण हुआ वेदशास्त्रों के प्रति सर्वसाधारण

की अनास्था होने को। उनकी समझ में आवे तबतो कुछ आस्था उनमें उत्पन्न हो। जब कोरे बिना अर्थ के शब्दों का ही श्रवण हो, तो उससे जनता क्या समझ सकती है। और उससे जनता में आस्था पैदा भी कैसे हो सकती है।

इन विविध कोटियों के वर्णन का यहाँ इतना ही अभिप्राय है कि आर्य-समाज ने वेद का झण्डा उठाया है, इसके सामने इतने प्रकार की विचारधाराएँ हैं, जिन्हें हमें सन्मार्ग पर लाना है, और वह भी सद्भावना प्रेम-आदर और हित-साधन की दृष्टि से।

ये हैं वेद के प्रति जनता में अनास्था होने के मुख्य कारण। अब हम यह दर्शाना चाहते हैं कि वर्तमान में देश में वेद के पठन-पाठन की स्थिति क्या है। आर्थिक समस्या भी एक बड़ा कारण है। पर जो कर्त्तव्य वा धर्म समझकर वेद के अध्ययन की ओर प्रवृत्त होना चाहते हैं, वे भी वेद विषय को छोड़ अन्य विषयों में प्रवृत्त होते हैं। इस विषय की स्थिति भी सज्जनों के समक्ष रखना अनुचित न होगा।

वर्तमान में वेद का पठन-पाठन

काशी भारत में सबसे अधिक संस्कृत का केन्द्र समझा जाता रहा और इस समय भी समझा जाता है, जो ठीक ही है। लगभग एक सौ पचास वर्ष में जब से कि अष्टाध्यायी-महाभाष्य आदि आर्ष ग्रन्थों का पठन-पाठन देश से लुप्त हो गया और उलटे मार्ग पर ले चलनेवाले लघुकौमुदी-सिद्धान्त-कौमुदी आदि अनार्ष ग्रन्थ प्रवृत्त हो गये, तब से काशी में भी केवल व्याकरण प्रधान हो गया। पिछले वर्षों में १५००० छात्रों में १४००० केवल व्याकरण की ही परीक्षा देते रहे। शेष १००० छात्रों ने अन्य सब विषय में परीक्षा दी, जिनमें भी साहित्य में ९०० छात्र परीक्षा दिये होंगे। शेष १०० छात्रों में वेद-दर्शन-ज्योतिष-धर्म-शास्त्र तथा शेष सब विषयों में समझने चाहियें। अर्थात् ९५ प्रतिशत छात्र व्याकरण ही पढ़ते हैं। १९५१ में काशी की परीक्षाओं में लगभग १०,००० छात्रों में केवल २७ छात्रों ने मध्यमा-शास्त्री-आचार्य की वेद विषय में परीक्षा दी, जिसमें आचार्य में तीन छात्र ही बैठे। वेद-नैरुक्त-प्रक्रिया में सब मिलाकर सात छात्र बैठे। इस प्रकार प्रति सहस्र केवल ३ छात्र वेदविषय में बैठे, ऐसा ही कहना पड़ेगा। यह है वेदाध्ययन की वर्तमान स्थिति, जो संस्कृत विद्यालयों में वर्तमान में चल रही है।

काशी की विशेष घटना

इस समय काशी में कुछ एक को छोड़कर विद्वानों में प्रत्येक विषय का पठन-पाठन पिछले तीस वर्ष में अत्यन्त ही निर्बल हो रहा है। व्याकरण वहाँ प्रधान है और वह भी उनके ढंग से विनष्ट हो रहा है। जब से भारत के व्याकरण के सूर्य स्व० पूज्य पं० देवनारायण तिवारी जी का निधन हुआ है, तब से काशी में एक दो विद्वानों को छोड़कर पातञ्जल महाभाष्य के पढ़ानेवाले विद्वान लुप्त हो गये। अन्य दर्शन आदि विषयों में भी प्रायः यही अवस्था है। काशी की एक मनोरञ्जक (पर दुःखप्रद) घटना यहाँ उपस्थित करते हैं। गवर्मेण्ट संस्कृत कालेज में एकबार एक पण्डित जी की नियुक्ति की घोषणा सरकारी गजट द्वारा हुई। लगभग तीन चार सौ प्रार्थनापत्र आये। जब इण्टरव्यू (साक्षात् परीक्षण) के लिये बुलाए गये, तो उनमें जो विद्वान् आये, उनमें से काशी के एक विद्वान् भी थे, जो अच्छे विद्वान् समझे जाते थे। निरुक्त का विषय उन्हें पढ़ाना था। जब पब्लिक सर्विस कमीशन् में बैठे विद्वानों ने उनसे प्रश्न किया—

प्रश्न—कहिये पण्डित जी! आप निरुक्त पढ़ा सकते हैं?

उत्तर—जी हाँ! पढ़ा सकता हूँ।

प्रश्न—आप ने निरुक्त कहाँ पढ़ा है?

उत्तर—पढ़ा तो नहीं।

प्रश्न—क्या आपने देखा है कि यह कितना बड़ा ग्रन्थ है?

उत्तर—नहीं! देखा भी नहीं।

सज्जनों! आप विचारें कि जब एक व्यक्ति ने किसी ग्रन्थ को देखा तक नहीं, तो वह उसे भला पढ़ायेगा क्या? काशी की यह दोषपूर्ण प्रथा है कि विद्यार्थी जिस किसी विद्वान् के पास किसी विषय का भी ग्रन्थ ले जाता है—चाहे वह उसके विषय में कुछ भी न जानता हो, पढ़ा भी न हो, नहीं नहीं, चाहे उसने उस ग्रन्थ को देखा भी न हो—वह पढ़ाने का मिथ्या प्रपंच अवश्य करेगा। इतना भी नहीं कि वह कह दे कि अच्छा मैं इस ग्रन्थ को पाँच सात दिन देख लूँ, पीछे पढ़ाऊँगा। यह बात हमने पूज्य तिवारीजी में देखी। वह जो बात पढ़ाते समय भी अपने को ही सन्दिग्ध प्रतीत हुई, झट कह देते थे कि अच्छा इसे कल विचार कर कहेंगे। काशी के एक महामहोपाध्याय वेदाचार्य ने निरुक्त में आये हुए मन्त्र "उताधीतं विनश्यति" इसका अर्थ "पढ़ा लिखा भूल जाता है" ऐसा पढ़ाया, जिसका वास्तविक अर्थ यह है कि मनुष्य का चित्त चंचल होने से उसकी अच्छी प्रकार से सोची हुई बात भी कालान्तर में बदल जाती है, दूसरे के चित्त का क्या ठिकाना कि कब बदल जावे।

इतने से ही सज्जन समझ सकते हैं कि जब निरुक्त का दर्शन नहीं तो वेद का अर्थ करने या वेद के सम्बन्ध में

बताने की बात तो दूर रही । काशी में प्रायः ऐसा ही है । केवल मूल वेदाध्ययन करनेवाले भी वर्त्तमान में आर्थिक कठिनाइयों से त्रस्त होकर अपने पुत्रों को अंग्रेजी शिक्षा में लगा रहे हैं। पण्डितों के पुत्र संस्कृत छोड़ अंग्रेजी पढ़ने में लग रहे हैं जो अति शोचनीय है।

प्राचीन संस्कृतिप्रेमी भारतीयों के सामने यह बहुत बड़ी समस्या उपस्थित है। राज्य की ओर से जब तक वेद या संस्कृत का संरक्षण न होगा, काम न चलेगा। इस बात को असेम्बलियों में बड़े बलपूर्वक उपस्थित करना होगा।

हमारा कहना इतना ही है कि वर्तमान में वेद के अध्ययन अध्यापन की अवस्था कहाँ तक ह्रास को प्राप्त हो चुकी है। काशी जैसे विद्यास्थान में यह हाल है तो अन्यत्र का तो कहना ही क्या? जो लोग यह कहते हैं कि सर्व-साधारण में वेदाध्ययन कभी नहीं रहा, उनकी जानकारी के लिये हम दर्शाते हैं:—

रामायण बालकाण्ड सर्ग १८ में लिखा है—

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे लोकहिते रताः।
ते चापि मनुजव्याघ्रा वैदिकाध्ययनेऽरताः ॥

इससे स्पष्ट है कि वेदाध्ययन की परम्परा उस काल में विद्यमान थी। महाभारत द्रोणपर्व ७-१ तथा वनपर्व ५८-७० में लिखा है—

"वेद षडङ्गं वेदाहं···।" "योऽधीते चतुरो वेदान् ॥"

अर्थात् 'मैं षडङ्ग वेद को जानता हूँ। जो चारों 'वेदों' का अध्ययन करता है'। इन वचनों से स्पष्ट है कि उस समय वेद का अध्ययन सर्व साधारण में होता था। अब नहीं हो सकता सो बात नहीं। राज्य-व्यवस्था द्वारा ही ऐसे कार्य सम्पन्न हुआ करते हैं, ऐसी अवस्था हमें लानी होगी।

जिस आर्यसमाज ने वेद का पढ़ना, पढ़ाना, सुनना सुनाना परमधर्म माना है, जिसका लक्ष्य संसार में 'वेद का प्रचार करना है' वह भी वर्त्तमान में कहाँ तक और किस प्रकार प्रवाह में बह रहा है, जिससे आर्यसमाज की रक्षा करना प्रत्येक वैदिक धर्मी आर्यपुरुष का कर्त्तव्य है। अब हम इस विषय में अपने विचार उपस्थित करते हैं—

आर्य समाज की संस्थाओं में आजकल वेद का पठनपाठन

स्कूल-कालेजों में धर्मशिक्षा का घण्टा रहता था, वह भी समाप्त हुआ। जबसे कांग्रेस सरकार आयी, उसने धर्म का नाम काट (तिलाञ्जलि) ही दिया। इतना भी नहीं सोचा, या सोचने का यत्न किया कि भला वेद किस देश या जाति की बपौती है। वेद में कोई बात ऐसी नहीं, जो किसी जाति या देश के विरोध में हो। हाँ! देव और असुरों का वर्णन अवश्य है। देव भले मनुष्यों को कहते हैं, असुर पापी अत्याचारी परपीड़न करनेवालों को कहते हैं, जो कोई भी हों, जहाँ कहीं भी हों। किन्हीं देशविशेष या जातिविशेष के साथ इन शब्दों का सम्बन्ध नहीं। सार्वभौमिक नियमों का नाम धर्म है, जिसका कोई विरोधी नहीं। यह बात सरकार को क्यों नहीं बताई जाती? "आर्यसमाज को साम्प्रदायिक कहना सर्वथा मिथ्या है। हमारी संस्थाएँ जो पहले अंग्रेजी सरकार की कृपा पर जीवित रहती थीं, अब इन्होंने कांग्रेस सरकार को अपना जीवन का आधार बना लिया है। राज्य की सहायता के बिना इनका निर्वाह नहीं। इन्होंने अपने इन कांग्रेसी प्रभुओं को उनके कहने से पहले ही धर्मशिक्षा की घण्टी निकाल दी! हां! अभी दयानन्द या आर्य शब्द को नहीं निकाला, सो भी आगे निकलता ही दिखाई देता है। कह तो यह रहे थे कि इनमें धर्मशिक्षा की घण्टी भी प्रायः लुप्त हो गई। उनमें सन्ध्या या हवन के मन्त्र तो बच्चों को सिखा देते थे और नहीं तो वेद कितने हैं, चार हैं। कौन-कौन से?— ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद। चलो वेदों के नाम तो बच्चों को आ जाते थे। सो भी गये। अच्छा देश स्वतन्त्र हुआ!!!

सो इस प्रकार प्राईमरी, मिडिल, हाईस्कूल, इण्टर, बी०ए०, एम० ए० के स्कूलों और कालेजों से चाहे वे पुत्रों के हों या पुत्रियों के, वेद का नाम गया। हां! एम. ए. में संस्कृत लेनेवालों को कुछ नाममात्र वेद पढ़ाया जाता है। सो उनमें भी वही सायण और उनके अंग्रेजी अनुवादों के आधार पर पढ़ाया जाता है। जिससे आर्य-परिवार के दृढ़ विचार का युवक भी (ठीक अर्थ की व्यवस्था न होने और उक्त ग्रन्थ ही पढ़ाई में होने के कारण, क्योंकि आर्यसमाज ने तो अभी कोई ग्रन्थ वेद-विषयक तैयार नहीं कराया) पथ-विचलित हो जाता है।

अब लेदेकर हमारे गुरुकुल हैं जो इस दिशा में बहुत-कुछ यत्न कर रहे हैं। संसार का ~~प्रवाह~~ इतना प्रबल है कि इनमें भी अब वेद-शिरोमणि या वेद-वाचस्पति या वेदभास्कर प्रतिवर्ष एक दो ही बनते होंगे। स्वर्गीय महात्मा स्वा० श्रद्धानन्द जी महाराज के समय में जो बन गये सो बन गये। अब तो आयुर्वेद की ही प्रधानता हो रही है। वेद के नाम पर स्थापित की गई हमारी इन संस्थाओं की यह अवस्था आर्य-समाज के लिये विचार का विषय बन रही

है। वहाँ के आचार्य चाहते हुए भी अपनी विवशता ही प्रकट करते हैं। अर्थात् वेदवालों को वृत्ति देने पर भी छात्र वेद विषय न लेकर आयुर्वेद ही प्रायः लेते हैं जब कि आयुर्वेद विषय में वृत्तियाँ भी नहीं दी जातीं। अब आर्य जनता को यह बात विचारनी होगी।

यह हमारा कहना है। वेद के अध्ययन अध्यापन की मुख्यता हमें लानी ही होगी, जिसके लिये आर्य-जनता आशा लगाये बैठी है। वेद विषय को प्रौढ़ता पूर्वक पढ़ाने की व्यवस्था करनी होगी और ऋषि दयानन्द और आर्य-समाज की दृष्टि से वैदिक साहित्य की खोज और विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों की रचना करनी, करानी होगी।

वेद-सम्मेलन को इस विषय में गम्भीरता पूर्वक विचार करना होगा।

वेद-सम्बन्धी कार्य की महती आवश्यकता

हमारे उपर्युक्त सब लिखने का अभिप्राय इतना ही है कि आर्य-समाज को वेद के लिये बहुत कुछ कार्य करना होगा। पौराणिकों ने तो वेद को केवल यज्ञपरक कह कर छुट्टी पा ली, पर आर्यसमाज ऐसा नहीं कर सकता। क्योंकि आर्यसमाज ने तो 'वेद सब सत्य विद्याओंका पुस्तक है', की घोषणा की हुई है, जिसके लिये वह मनु के 'सर्वज्ञानमयो हि सः' वेद सब ज्ञान का भण्डार है, यह प्रमाण उपस्थित करता है। सर्वविधज्ञान का भण्डार वेद है, इस बात को वर्त्तमान प्रत्यक्षवादी संसार के सामने प्रमाणित करना वा हृदय में बिठा देना कितना महान् कार्य है, जो आर्यसमाज के सामने है। इस कार्य में सैकड़ों त्यागी आत्माओं की आहुति पड़े, विपुल साधन जुटें, और सुदीर्घ काल तक व्यवस्था बने, तब कहीं आर्यसमाज का यह स्वप्न पूरा हो सकता है। हमें तो यह कार्य असम्भव प्रतीत नहीं होता, हाँ, वीर तप त्याग और परिश्रमसाध्य प्रतीत होता है। आवश्यकता है कि पचास योग्य विद्वानों को सर्वथा निश्चिन्त कर दिया जावे और उनको एक साथ कम से कम बीस वर्ष के लिये ग्रन्थ आदि सर्वसामग्री सहित एक मकान में बिठाने की व्यवस्था की जावे। इसका प्रारम्भ दस वर्ष के लिये दस विद्वानों को एक स्थान में पूरे पुस्तक संग्रह आदि साधनों सहित बिठाया जावे। कार्य की रूपरेखा पहले अति गम्भीरता से सोचनी होगी, विद्वान् भी वही लेने होंगे, जिनकी वेद विषय में पूर्णनिष्ठा, उत्कृष्ट मेधा और तीव्र रुचि हो। किन्हीं व्यक्तियों की जीविका का प्रबन्ध कर देना मात्र ही लक्ष्य न हो। योग्यतम व्यक्तियों को लगाया जावे, जो परस्पर एक दूसरे के सहयोगी और एक दूसरे के विद्या ज्ञान को बढ़ाने की भावनावाले हों। यदि ५० विद्वानों का प्रबन्ध हो, तब विज्ञानादि सभी आवश्यक विषयों के विशेषज्ञ भी लिये जा सकते हैं। दस विद्वानों के लिये दस वर्ष तक पाँच लाख रुपये से काम चल सकता है, आगे फिर बढ़ाया भी जा सकता है। क्या आर्य-पुरुष ५ लाख का भी प्रबन्ध नहीं कर सकते?

वेदसम्मेलन के स्थायी सङ्गठन की आवश्यकता

हमारा विचार है कि यदि आर्य विद्वान् वेद विषयक समस्याओं के हल करने, तथा परस्पर एक दूसरे से वेद-सम्बन्धी भिन्न-भिन्न दृष्टियों को लेने तथा इसकी कमी उससे पूरी हुई, और उसकी इससे, इस भावना से, अधिक नहीं तो, वर्ष में दो बार भी, एकत्रित हो परस्पर सहयोग द्वारा कार्य आरम्भ करें, और प्रतिवर्ष नहीं तो हर दो वर्ष पीछे वेद के गहन विषयों पर तैय्यारी करके लेख लिखें। कोई न कोई गहरी और नवीन खोज विद्वानों के सामने लावें और इसको स्थायी रूप देवें तो वेद के उपर्युक्त महान् और पवित्र कार्य की ओर हमारा यह प्रथम पग होगा। आगे किसी बड़ी योजना को चलाने में भी हम समर्थ हो सकेंगे। सहयोग की भावना इसका मुख्य परीक्षण है। मैं तो यहाँ तक भी कहता हूँ कि यदि खूँटा एक हो तो नौकाएँ घूम-फिर कर भी एक स्थान पर आ सकती हैं। कार्य का विभाग कर लिया जावे। जिन जिन का परस्पर सहयोग मनोयोग है वा हो सकता है, वे एक विभाग का कार्य अपने ऊपर ले लें। दूसरे दूसरा ले लें। यदि वे कोई उपयोगी कार्य करेंगे, जो किसी भी प्रकार की कमी को पूरा करता होगा तो भला उसे कौन न चाहेगा। विषमता तो तब होती है जब हम कुछ न करते हुए एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिये चेष्टा करने लगते हैं। हम एक लकीर (पंक्ति) को मिटा कर छोटा करने के स्थान में अपनी योग्यता वा परिश्रम से उससे बड़ी लकीर (पंक्ति) खींच दें, वह स्वयं छोटी हो जायेगी। यदि हमारे व्यवहार में सरलता, सद्भावना नहीं तो हम अपने कार्य में सफल नहीं हो सकते। कागज की नौका सदा नहीं चलती। जनता हमारे कार्य-कलापों से ही हमारे विषय में अपनी धारणा बनायेगी, लम्बी-चौड़ी बातों वा हमारे दावों से ही नहीं। जनता जान लेती है कौन कैसा है। चाहे वह लोकलाज से वा व्यर्थ झगड़े में क्यों पड़ा जावे, इस विचार से कोई बात न कहे, पर जनता

जो जैसा है उसे खूब जानती है। जो ऐसा नहीं समझता वह स्वयं अपने को धोखे में रख रहा है। हम एक दूसरे का सम्मान नहीं करेंगे, एक दूसरे के प्रति शुद्ध भावना रखते हुए प्रवृत्त न होंगे, तो कोई भी कार्य हम कैसे कर सकेंगे। सिद्धान्त विषय में हम जब ऋषि दयानन्द को प्रमाण मान कर चलेंगे और साथ ही अपनी सम्मति को अन्तिम सत्य न समझ कर उसमें मार्जन रखेंगे, तो किसी भी प्रकार की विषमता उत्पन्न नहीं हो सकती। विषमता उत्पन्न करना ही ध्येय हो तो दूसरी बात है।

इन भावों से प्रेरित होकर हमें वेद-सम्मेलन को एक स्थायी सङ्गठन का रूप देना चाहिये। तभी वेद विषय में किसी भी प्रकार की उन्नति का सम्भव वा प्रारम्भ हो सकता है। ऐसे सङ्गठन की आवश्यकता को प्रत्येक आर्य विद्वान् ही नहीं, सर्वसाधारण भी स्वीकार करता है और करेगा।

क्या आर्यसमाज में विद्वान् नहीं ?

मैं यह बात नहीं मान सकता। क्योंकि मैं जानता हूँ आर्यसमाज से बाहर काशी आदि में विद्वानों की क्या स्थिति है। आर्यसमाज में कुछ विद्वान् तो निस्सन्देह उच्च कोटि के हैं, चाहे उनकी संख्या थोड़ी ही हो। अपनी-अपनी दृष्टि से वेद-सम्बन्धी स्वाध्याय, अनुशीलन और गम्भीर विचार में लगे रहने वालों की संख्या कम नहीं है। बहुत से तो ऐसे छिपे रत्न हैं जिनको हमलोग वा आर्यजनता जानती भी नहीं। कभी-कभी ऐसे योग्य महानुभावों के दर्शन होने पर बड़ी प्रसन्नता होती है। १९५१ में वेदसम्मेलन मेरठ के लिये मैंने गाड़ी में चलते-चलते जब आर्यसमाज के वेद-विषय के विद्वानों की सूची केवल अपनी स्मृति से तय्यार की, तो १२० के लगभग संख्या पहुँची जिसमें निश्चय ही बहुत से नाम छूट गये होंगे। उनमें से कई एक तो अपने-अपने विषय के प्रौढ़ विद्वान् हैं। मेरा तो यहाँ तक अनुभव और विचार है कि किसी को छोटा मत समझो, न जाने किस समय किसको क्या बात सूझ जावे, कोई नहीं कह सकता। अतः किसी का निरादर मत करो। उसकी बात को सुनो। जो ग्राह्य हो सो ले लो, शेष छोड़ दो। इस आदान-प्रदान प्रक्रिया से ही विद्या बढ़ सकती है। आर्यसमाज में विद्वानों की कमी नहीं यह मैंने बताया। अब मैं केवल उन विद्वानों के नाम उपस्थित करता हूँ, जिन्हें यदि अनुकूल स्थान, निर्वाह, पुस्तकालय आदि की सुविधा दी जावे और उनकी आवश्यकता के अनुसार प्रबन्ध करके, परिवार की चिन्ताओं से मुक्त कर दिया जावे, और कम से-कम ५ वर्ष के लिये ही—स्वयं स्वीकृत कारागार में रख दिया जावे और वह अपना-अपना कार्य विद्वानों की समिति के ही समक्ष उपस्थित करें तो ५ ही वर्ष में न जाने कितना कार्य हो जावे।

यहाँ मैं उन विद्वानों के नाम उपस्थित करता हूँ जो निजी रूप से अपनी पूरी शक्ति से अपने-अपने ढंग से कार्य में लगे हैं। चाहे वह मुख्यतया जीविकोपार्जनार्थ ही वा दूसरे प्रकार का हो, जिनकी शक्ति का बहुत-सा भाग ठीक व्यवस्था न होने के कारण व्यर्थ जा रहा है, उनमें श्री पं. ईश्वरचन्द्रजी दर्शनाचार्य बम्बई में जैनियों के यहाँ पढ़ाकर अपनी जीविकोपार्जन करते हैं। यदि ऐसे विद्वान वैदिक साहित्य के कार्य में लगें, तो कितना महान् कार्य हो। श्री० पं० उदयवीर जी शास्त्री हैं, जो चाहते तो वैद्यक द्वारा सैकड़ों रुपया प्रति मास कमा सकते थे (किसी को बिच्छू लड़ता है और किसी को साँप) इन को वेद लड़ गया हुआ है) क्या ऐसे विद्वान् ढूँढ़ने से भी मिल सकते हैं। श्री०पं० चन्द्रमणि जी वेद के विषय में महान् कार्य कर सकते थे, पर पहले दूद्धों की दूकान खोली, पीछे छापेखाने के चक्कर में पड़ गये। देखें, कब छूटते हैं? श्री. पं. बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार जैसे महाविद्वान् भला एक छोटा-सा आश्रम चलाने के लिये धन माँगते फिरें, क्या यह हम सब के दुर्भाग्य और लज्जा की बात नहीं है? भला यह क्यों अपना समय नष्ट करें, एक जगह बैठकर वेद की समस्याएँ हल करने में ही समय लगावें। इनकी ऊहा (यदि ठीक चलती रहे) अत्यन्त उपयोगी हो सकती है। श्री० पं० भगवद्दत्त जी जैसा अद्भुत प्राचीन संस्कृति और इतिहास का मर्मज्ञ भारत में स्यात् ही कोई हो। डी० ए० वी० कालेज की पूरी लाइब्रेरी इन्होंने ही बनाई जो पीछे इनसे छीन ली गई। इस वीर-पुरुष ने अपने स्वाध्याय को नहीं छोड़ा लाइब्रेरी छिन जाने पर भी। इतनाही नहीं पाकिस्तान में आपकी प्रायः बहुमूल्य पुस्तकें रह गई। एक व्यक्ति इतना बड़ा संकट आने पर भी अपने स्वाध्याय को चालू रख सकता है। यह देखकर मैं तो स्तब्ध रह जाता हूँ। मेरी पुस्तकें रह जातीं तो मैं तो सम्भव है पुस्तकें छूता भी न। इनकी वैदिक साहित्य की दृष्टियाँ इतनी गम्भीर और मूल्यवती होती हैं कि यदि हमारे आर्यविद्वान् उन दृष्टिकोणों को इनसे लेने का यत्न करें तो उनके स्वाध्याय में चार चाँद लगेंगे। इसमें आशा ही नहीं अपितु दृढ़ निश्चय है। यह भी स्वयं स्वबल पर ही तो वैदिक साहित्य का इतना बड़ा कार्य कर रहे हैं॥

श्री० पं० अयोध्याप्रसादजी अद्भुत शक्ति हैं, इनकी विद्या-त्याग-तपस्या का क्या ठिकाना है। श्री० पं० विश्वनाथजी की सारी आयु वेद और वैदिक साहित्य के अनुशीलन वा अध्यापनादि में व्यतीत हुई। चाहते तो ये भी मन्त्री बन सकते थे। कहाँ तक कहा जावे—श्री० स्वा० ब्रह्ममुनिजी—पं० शंकरदेवजी—पं० वैद्यनाथजी शास्त्री—पं० बुद्धदेवजी मीरपुरी—स्वा० भूमानन्दजी—श्री० शिवस्वामीजी—पं० विद्यानन्दजी विदेह—पं० इन्द्रदेवजी आदि-आदि एक से एक बढ़कर विद्वत्‌रत्न हमारे में हैं जो अपने-अपने ढंग पर वेद का अनुशीलन वा कार्य कर रहे हैं। इनसे अतिरिक्त (जिनकी संख्या १००-१२५ तक पहुँचती है) बहुत से विद्वान् आर्यसमाज में वेदविषय में लगे हैं। (जिनके विषय में लिखने लगें तो एक ग्रन्थ बन जावे)। मैंने तो ऊपर केवल कुछ विद्वानों के नाम गिनाये जो निजी रूप में, जीविका की व्यवस्था न होने पर भी, वेद सम्बन्धी कार्य में लगे हुए हैं। जिनमें कुछ को छोड़कर, सबके लिये वेदसम्बन्धी महान् कार्य की एक कोई उत्तम व्यवस्था की जानी चाहिये, जो एक प्रकार खाली से हैं। क्या आर्यसमाज में ५ लाख रुपये भी लगा सकने वाला कोई नहीं है?

कहने का तात्पर्य हमारा यही है कि हमें अपने विद्वानों से कार्य लेने का कोई क्रम बनाना चाहिए। मैं कह सकता हूँ, यदि अवसर दिया जावे तो आर्यविद्वान् भारत का राज्य भी चला सकते हैं। इन गान्धी-टोपी वालों की जगह एक बार इनकी नियुक्ति करके देखा जा सकता है। इतना तो मुझे विश्वास है कि वर्तमान मिनिस्टरों से तो ये पीछे कभी नहीं रहेंगे। आजकल तो कुर्सी पर बैठकर ही बुद्धि आ जाती है, यही पिछले ६ वर्ष का अनुभव बतलाता है। पर वेद का कार्य उससे कहीं महत्त्व का है हमें तो वह करना है॥

वेदसम्मेलन की स्थायी योजना

उद्देश्य—वेदसम्बन्धी अनुशीलन-खोज तथा साहित्य का निर्माण।

कर्तव्य (क)—१. वेद-सम्मेलन अखिल भारतवर्षीय, तथा तत्तत्प्रान्तों में प्रतिवर्ष वा प्रति दो वर्ष पीछे चलाना।

२. इस कार्य के संचालनार्थ सदस्यों की नियुक्ति, प्रतिनिधियों वा कार्यकारिणी की व्यवस्था करना।

३. विद्वानों से लेखों का प्राप्त करना, उन पर विचार करना और पीछे प्रकाशित करना।

४. उक्त सब कार्यों के लिये आर्थिक प्रबन्ध करना।

५. आ[...] उच्च परीक्षाएँ च[...]

(ख) १. आर्यस[...] ग्रन्थों को पाठ्यक्रम में ग[...] प्रयास करना और इसके लि[...] भी करना।

२. भारत के भिन्न-भिन्न वि[...] दयानन्दकृत वेदभाष्य, ऋग्वेदादि भाष्य[...]था आर्यसमाज वा आर्य विद्वानों द्वारा प्रकाशित ग्र[...]थों को पाठ्यक्रम में रखवाना।

३. पारितोषकादि द्वारा वैदिक साहित्य के निर्माण का प्रयत्न करना।

४. सब आर्यसमाजों में तथा पुत्र-पुत्रियों के विद्यालयों में संस्कृत के पठन-पाठन की सरल उपाय द्वारा व्यवस्था करना। इसके लिये देश के भिन्न-भिन्न नगरों में समय-समय पर संस्कृत शिविरों की स्थायी व्यवस्था करना।

५. एम० ए० और बी० ए०, शास्त्री, आचार्य आदि परीक्षाओं में पढ़ाए जाने वाले वेदसम्बन्धी पाठ्यक्रम के पुस्तकों का निर्माण ऋषि दयानन्द की दृष्टि से तय्यार कराना।

६. इतिहास, आर्यभाषा आदि में जिन-जिन पाठ्य-पुस्तकों में वैदिक सिद्धान्त, भारतीय संस्कृति और भारतीय इतिहास के विरुद्ध बातें पढ़ाई जाती हैं। उन्हें पाठ्यक्रम से निकलवाने का पूरा प्रयत्न करना।

७. इसके लिये सम्मेलन की ओर से एक स्थायी विद्वत् समिति तीन वा पाँच विद्वानों की नियुक्त करना।

सदस्य—(i) आर्यसमाज के १० नियमों, ५१ सिद्धान्तों को ऋषिदयानन्द कृत ग्रन्थों में की गई उनकी व्याख्या को प्रमाण माननेवाले सज्जन हों, जिनकी आयु २५ वर्ष से अधिक हो, इस वेद-सम्मेलन के सदस्य हो सकेंगे।

(ii) उपर्युक्त रीति से ऋषि दयानन्द को आप्त मानते हुए किन्हीं विषयों वा सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कोई भी सदस्य विचारार्थ पूर्वपक्ष रख सकता है। उस पर प्रेमपूर्वक विचार किया जावेगा।

(iii) ईश्वर-वेद अपौरुषेयवाद—ऋषियों को आप्त प्रमाण न माननेवाले महानुभाव इस वेदसम्मेलन के सदस्य न हो सकेंगे॥

(iv) वेद में पूर्ण श्रद्धावान् और वेद को ऋषियों की कृति मानता हो, वह इस सम्मेलन का सहायक सदस्य हो सकता है। ऐसे विद्वान् का अविरोधी लेख सम्मेल

की स्वीकृति से पढ़ा जा सकता है। ऐसा लेख अन्त में पढ़ा जायगा। सम्मेलन की स्वीकृति से ऐसा लेख छापा भी जा सकेगा।"

(v) सम्मेलन विशेष शास्त्रीय विषय के गम्भीर विचारार्थ आवश्यकता पड़ने पर भारत के सब प्रान्तों से विद्वानों को भी बुला सकेगा, जो आर्यसमाज के क्षेत्र से बाहर होंगे।

(vi) हर एक जिले से समाजों वा संस्थाओं की ओर से कम से कम दो विद्वान् प्रतिनिधि रहें। उनका मार्ग-व्यय जिला समाज वा उक्त संस्थाएँ दें। आर्यप्रतिनिधि सभाओं—सार्वदेशिक सभा—तथा परोपकारिणी सभा के दो-दो प्रतिनिधि रहें। जिला समाजों वा संस्थाओं से दो-दो प्रतिनिधि रहें। दस विद्वान् विशेष निमन्त्रित हों। सब विद्वानों को अपने-अपने हाँ से मार्गव्यय अवश्य मिले। उक्त विशिष्ट विद्वानों को जो कहीं से प्रतिनिधि न हों, सम्मेलन की ओर से मार्ग-व्यय दिया जावे।

(vii) सदस्य शुल्क ५) रु० हो।

(viii) सम्मेलन कम से कम ७ दिन हो। जिसमें एक-एक दिन में एक-एक विशेष विषय पर विचार हो। (१) वेद (२) वेदाङ्ग (३) दर्शन (४) आयुर्वेद (५) विज्ञान (६) इतिहासादि ये विषय रहें।

इन सब विषयों के सभापति पृथक्-पृथक् रहें। सामान्य सभापति भी रहे।

(ix) सम्मेलन कम से कम हर दो वर्ष पीछे हो। आगामी सम्मेलन का स्थान, तिथियों तथा सभापति का निश्चय सम्मेलन की समाप्ति में ही हो जाया करे।

लेखों-सम्बन्धी व्यवस्था

(१) लेखक मौलिक-वेदार्थ वा वैदिक साहित्य अर्थात् वेदाङ्ग उपाङ्गादि सम्बन्धी किसी समस्या का हल करने वाले, पूर्व अप्रकाशित, नवीन अनुसन्धान से पूर्ण होने चाहियें।

(२) सब लेखों का संक्षेप संयोजक के पास सम्मेलन की तिथियों से तीन मास पूर्व पहुँच जाय। वह उस-उस विषय के आगामी मनोनीत सभापति के पास अपनी सम्मति सहित भेज दें। वह उसे पढ़कर स्वीकृति दें। यदि कोई लेख योग्यतापूर्ण न समझा जाय तो उसकी स्वीकृति नहीं दी जायगी। संक्षेप लेख सब छाप कर सब विद्वानों के पास (जिनकी सूची बनी रहेगी) एक मास पूर्व भेज दिये जायेंगे। ताकि वह उस उस विषय को विचार कर आ सकें।

(३) सम्पूर्ण लेख सम्मेलन की तिथियों से १५ दिन पूर्व अवश्य पहुँच जावें। यदि कोई विद्वान् अनिवार्य कारण से स्वयं न पहुँच सकें तो उसके लेख किसी अन्य विद्वान् द्वारा सम्मेलन में पढ़ दिये जावें।

(४) सम्मेलन में प्रत्येक लेख के पढ़ने के पीछे उस पर आलोचना प्रत्यालोचना आध घण्टे से एक घण्टे तक हो सकती है। आवश्यक समझने पर सभापति इसमें न्यूनाधिकता भी कर सकते हैं॥

आलोचना—प्रत्यालोचना के पश्चात् यदि लेखक अपने लेख में कोई परिवर्तन करना चाहें तो वह परिशिष्ट रूप में लिखा जा सकता है।

(५) सम्मेलन में पढ़े गये लेख प्रकाशित होंगे।

(६) ५) देने वाले सदस्यों को ये प्रकाशन बिना मूल्य दिये जावेंगे।

(७) प्रत्येक लेख सम्मेलन में पढ़ने योग्य है या नहीं इसका निर्णय संयोजक सभापति तथा एक अन्य विद्वान् (जिसकी नियुक्ति सम्मेलन द्वारा होगी) करेंगे।

(८) हर लेखक को अपने लेख की २० प्रतियाँ दी जावेंगी।

(९) सदस्यों से अतिरिक्त को भी प्रकाशन मूल्य पर मिल सकेंगे।

ओरियण्टल कान्फ्रेन्स और वेदसम्मेलन में भेद

कुछ सज्जनों को यह भी विचार हो सकता है कि जब देश में ओरियण्टल-कान्फ्रेन्स अंग्रेजी राज्य से ही होती चल आ रही है, उसमें वेद-विभाग भी है जिसमें वेद के सम्बन्ध में निबन्ध पढ़े जाते हैं। उन पर विचार होता है, और लेख छापे जाते हैं, उनका सारांश कान्फ्रेन्स से पहले विद्वानों के पास भेजा जाता है। नये वेदसम्मेलन की क्या आवश्यकता है?

यह ओरियण्टल कान्फ्रेन्स अंगरेजी राज्य में प्रान्तों के गवर्नरों के सभापतित्व में होती थी जिसमें प्रान्तीय सरकार उसका सारा व्यय-भार उठाती थी। राजाओं धनीमानियों से भी गवर्नरों वा कलक्टर आदि द्वारा पर्याप्त धन सहायतार्थ लिया जाता था। सब प्रान्तीय सरकारों की ओर से भी सम्भवतः दो दो हजार रुपये प्रति अधिवेशन मिलता था। उसमें विदेशों से तथा समस्त भारत के अंगरेजी पढ़े लिखे संस्कृत विद्वान् स्कालर प्रान्तीय सरकारों वा सब सब यूनिवर्सिटियों वा कालेजों की ओर से प्रतिनिधि होकर आते थे। जिनका मार्ग आदि का व्यय उन-उनकी ओर से दिया जाता था।

अब भी ओरियण्ट कान्फ्रेन्स का ढंग लगभग वैसा ही चल रहा है, बहुत से अपने पास से भी व्यय कर के आते थे और अब भी आते हैं।

ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के सिद्धान्तों और मन्तव्यों को देखते हुए ओरियण्टल कान्फ्रेन्स में प्रायः सब लेख पूर्वपक्ष के ही होते हैं। जिनके समाधान का भार भी आर्यसमाज पर है।

ऐसी अवस्था में जब तक आर्यविद्वान् पहले सम्मेलन द्वारा अपने सिद्धान्तों में परस्पर सहयोग एकमत न हो जावें, वा सिद्धान्त उत्तर के लिये परस्पर मिलकर शक्ति का सम्पादन न कर लें, उन्हें सफलता कदापि न होगी, समाधान ठीक रीति से न दे सकेंगे। अतः आर्यविद्वानों को पहले एक दूसरे की योग्यता बढ़ाने और एक दूसरे से ग्रहण करने की भावना को तीव्रता से लाना होगा, तभी हम अपने उद्देश्य में सफल हो सकेंगे।

जब हमारा संगठन दृढ़ हो जायगा, हमारी शक्ति दृढ़ हो जायगी, तभी हम ओरियण्टल कान्फ्रेन्स में जाकर उसके अंग्रेजियत पूर्ण ढंग को बदल कर भारतीय ढंग पर ला सकेंगे। यह काम योग्यता से ही सम्पादन हो सकता है। केवल व्याख्यान देने से नहीं। हमारी योग्यता की धाक जब उन पर बैठेगी तभी वे हमारी बात मानेंगे। कभी-कभी हमें उस कान्फ्रेन्स में अपने विचारों को योग्यता और सहृदयता से उपस्थित भी करना चाहिये।

वेदसम्मेलन की आर्थिक व्यवस्था

अन्त में हम वेद-सम्मेलन की आर्थिक व्यवस्था पर भी अपने कुछ विचार उपस्थित करते हैं।

इसका व्यय प्रारम्भ में लगभग इस प्रकार समझना चाहिये—

५००) रुपया २० विशिष्ट विद्वानों का मार्ग-व्यय।
७००) रुपया एक सप्ताह का सब विद्वानों का भोजनादि व्यय।
१००) लेखों के संक्षेप ५०० प्रतियाँ छापने में।
१०००) लेख छापने में २० फार्म १००० प्रतियाँ छापने में।
२५०) सम्मेलन पर पिण्डालादि में।
२५०) डाकादिव्यय वर्ष भर का।
५००) कार्यालय लेखक का दो वर्ष का व्यय।
२५०) फुटकर व्यय।

३५००) व्यय का जोड़
५) वाले विद्वान् सदस्य १०० = ५००)
,, अन्य सदस्य तथा समाजें ४०० = २०००)
२५००)
१०००) किसी विशेष दानी की सहायता प्राप्त की जाये।

विशेष

वेदसम्मेलन सम्बन्धी ये नियमादि हमने विचार की सुगमता के लिये सुझाव रूप में यहाँ लिखे हैं। इन पर विचार सम्मेलन में ही होगा। सब नियमादि उसी में निश्चित होंगे।

इस प्रकार हमने सन् १९५१ के वेदसम्मेलन मेरठ के निश्चयानुसार आज के इस वेदसम्मेलन में भावी वेद-सम्मेलन की स्थायी योजना की रूपरेखा का निश्चय करना है।

प्रभु कृपा करें हम सब इस कार्य में सफल हो सकें।

खुर्जा
आश्विनशुक्ल १ सं. २०१०
९ अक्तूबर १९५३

वैदिक धर्म तथा विद्वानों का सेवक
ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
मोतीझील बनारस ६

इस मन्त्र में पिछले सूक्त के अनुषङ्गी (इन्द्र) (अश्वि) और (... सूक्त के अर्थों के साथ इस सूक्त के अर्थ की सङ्गति जाननी चाहिये ।

यह पहिले अष्टक में दूसरे अध्याय में इकत्तीसवां वर्ग तथा पहिले मण्डल ... और तीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

---

(३१)

अथाष्टादशर्चस्यैकत्रिंशत्तमस्य सूक्तस्याङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः । अग्निर्देवता । १–७, ९–१५, १७ जगतीछन्दो[1] निषादः स्वरः । ८, १६, १८ त्रिष्टुप् च छन्दः, धैवतः स्वरः ॥

अब इकत्तीसवें सूक्त का प्रारम्भ है । उसके पहिले मन्त्र में ईश्वर का प्रकाश किया है ॥

त्वम॑ग्ने प्रथ॒मो अङ्गि॑रा॒ ऋषि॑र्दे॒वो दे॒वाना॑मभवः शि॒वः सखा॑ ।
तव॑ व्र॒ते क॒वयो॑ विद्म॒नाप॑सोऽजायन्त म॒रुतो॒ भ्राज॑दृष्टयः ॥ १ ॥

पदार्थ—हे (अग्ने) स्वयं प्रकाश और विज्ञान स्वरूप जगदीश्वर ! जिस कारण (त्वम्) आप (प्रथमः) अनादि स्वरूप अर्थात् जगत्कल्प की आदि में सदा वर्तमान (अङ्गिराः) ब्रह्माण्ड के पृथिवी आदि और शरीर के हस्त पाद आदि अङ्गों के रस रूप अर्थात् अन्तर्यामी (ऋषिः) सर्व विद्या से परिपूर्ण वेद के उपदेश करने और (देवानाम्) विद्वानों के (देवः) आनन्द उत्पन्न करने (शिवः) मंगलमय तथा प्राणियों के मंगलकारी तथा (सखा) उन के सब दुःख दूर करने से सहायकारी (अभवः) होते हो और जो (विद्मनापसः) विज्ञान के निमित्तभूत कर्मों से युक्त (मरुतः) धर्म को प्राप्त मनुष्य (तव) आप के (व्रते) धर्माचरण और आज्ञापालन रूपी नियम[2] में रहते हैं इस से वे ही (भ्राजदृष्टयः) प्रकाशित विद्यावाले अर्थात् ज्ञानवाले (कवयः) कवि = विद्वान् (अजायन्त) होते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जो ईश्वर की आज्ञापालन, धर्म और विद्वानों के संग के सिवाय और कुछ काम नहीं करते हैं, उनकी परमेश्वर के साथ मित्रता होती है । फिर उस मित्रता से उन के आत्मा में सद्विद्या का प्रकाश होता है, और वे विद्वान् होकर उत्तम काम का अनुष्ठान करके सब प्राणियों के सुख करने के लिये प्रसिद्ध होते हैं ॥ १ ॥

फिर वह कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

त्वम॑ग्ने प्रथ॒मो अङ्गि॑रस्तमः क॒विर्दे॒वानां॒ परि॑ भूषसि व्र॒तम् ।
वि॒भुर्विश्व॑स्मै॒ भुव॑नाय॒ मेधि॑रो द्विमा॒ता श॒युः क॑ति॒धा चि॑दा॒यवे॑ ॥ २ ॥

---

१. इस सूक्त के अवान्तर भेद से छन्द—१, ५, ६, १५, १७ विराड् जगती; २, ७, ११, १४ निचृज्जगती; ३, ४, १०, १३ भुरिक् त्रिष्टुप्; ८ विराट् त्रिष्टुप्; ९, १२, त्रिष्टुप्; १६ भुरिक् पङ्क्ति; १८ निचृत् त्रिष्टुप् । जगती का निषाद स्वर, त्रिष्टुप् का धैवत और पङ्क्ति का पञ्चम स्वर होता है ।

२. संस्कृत पदार्थ में 'धर्माचारपालनाशानियमे' पाठ है वह कुछ विकृत होगया प्रतीत होता है ।

इस मन्त्र में पिछले सूक्त के अनुषङ्गी (इन्द्र) (अश्वि) और (उषा) के वर्णन से पिछले सूक्त के अर्थों के साथ इस सूक्त के अर्थ की सङ्गति जाननी चाहिये।

यह पहिले अष्टक में दूसरे अध्याय में इकत्तीसवां वर्ग तथा पहिले मण्डल में छठा अनुवाक और तीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

(३१)

अथाष्टादशर्चस्यैकत्रिंशत्तमस्य सूक्तस्याङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। अग्निर्देवता। १–७, ९–१५, १७ जगतीछन्दो[1] निषादः स्वरः। ८, १६, १८ त्रिष्टुप् च छन्दः, धैवतः स्वरः ॥

अब इकत्तीसवें सूक्त का प्रारम्भ है। उसके पहिले मन्त्र में ईश्वर का प्रकाश किया है ॥

त्वम॑ग्ने प्रथ॒मो अङ्गि॑रा॒ ऋषि॑र्दे॒वो दे॒वाना॑मभवः शि॒वः सखा॑।
तव॑ व्र॒ते क॒वयो॑ विद्म॒नाप॒सोऽजा॑यन्त म॒रुतो॒ भ्राज॑दृष्टयः ॥ १ ॥

पदार्थ—हे (अग्ने) स्वयं प्रकाश और विज्ञान स्वरूप जगदीश्वर ! जिस कारण (त्वम्) आप (प्रथमः) अनादि स्वरूप अर्थात् जगत्कल्प की आदि में सदा वर्तमान (अङ्गिराः) ब्रह्माण्ड के पृथिवी आदि और शरीर के हस्त पाद आदि अङ्गों के रस रूप अर्थात् अन्तर्यामी (ऋषिः) सर्व विद्या से परिपूर्ण वेद के उपदेश करने और (देवानाम्) विद्वानों के (देवः) आनन्द उत्पन्न करने (शिवः) मंगलमय तथा प्राणियों के मंगलकारी तथा (सखा) उन के सब दुःख दूर करने से सहायकारी (अभवः) होते हो और जो (विद्मनापसः) विज्ञान के निमित्तभूत कर्मों से युक्त (मरुतः) धर्म को प्राप्त मनुष्य (तव) आप के (व्रते) धर्माचरण और आज्ञापालन रूपी नियम[2] में रहते हैं इस से वे ही (भ्राजदृष्टयः) प्रकाशित विद्यावाले अर्थात् ज्ञानवाले (कवयः) कवि = विद्वान् (अजायन्त) होते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जो ईश्वर की आज्ञापालन, धर्म और विद्वानों के संग के सिवाय और कुछ काम नहीं करते हैं, उनकी परमेश्वर के साथ मित्रता होती है। फिर उस मित्रता से उन के आत्मा में सद्विद्या का प्रकाश होता है, और वे विद्वान् होकर उत्तम काम का अनुष्ठान करके सब प्राणियों के सुख करने के लिये प्रसिद्ध होते हैं ॥ १ ॥

फिर वह कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

त्वम॑ग्ने प्रथ॒मो अङ्गि॑रस्तमः क॒विर्दे॒वानां॒ परि॑ भूषसि व्र॒तम्।
वि॒भुर्विश्व॑स्मै॒ भुव॑नाय॒ मेधि॑रो द्विमा॒ता श॒युः क॑ति॒धा चि॑दा॒यवे॑ ॥ २ ॥

---

१. इस सूक्त के अवान्तर भेद से छन्द—१, ५, ६, १५, १७ विराड् जगती; २, ७, ११, १४ निचृज्जगती; ३, ४, १०, १३ भुरिक् त्रिष्टुप्; ८ विराट् त्रिष्टुप्; ९, १२, त्रिष्टुप्; १६ भुरिक् पङ्क्ति; १८ निचृत् त्रिष्टुप्। जगती का निषाद स्वर, त्रिष्टुप् का धैवत और पङ्क्ति का पञ्चम स्वर होता है।

२. संस्कृत पदार्थ में 'धर्माचारपालनाज्ञानियमे' पाठ है वह कुछ विकृत होगया प्रतीत होता है।

पदार्थ—हे (अग्ने) सब दुःखों के नाश करने और सब दुष्ट शत्रुओं के दाह करने वाले जगदीश्वर ! वा सभासेनाध्यक्ष ! जिस कारण (त्वम्) आप (प्रथमः) अनादिस्वरूप वा पहिले मानने योग्य (शयुः) प्रलय में सब प्राणियों को अथवा युद्ध में सब शत्रुओं को सुलाने (मेधिरः) सृष्टि वा शान्ति के समय में सब को चिताने (द्विमाता) प्रकाशवान् वा अप्रकाशवान् लोकों के निर्माण अर्थात् सिद्ध करने वा मित्र और शत्रु को जानने वाले (अङ्गिरस्तमः) जीव = प्राण से और अन्य मनुष्यों से अत्यन्त उत्तम (विभुः) सर्वव्यापक, वा सभा सेना के अङ्गों से शत्रु बलों में व्याप्त होने वाले और (कविः) सब को जानने वाले हैं (चित्) उसी कारण से (आयवे) मनुष्य वा (विश्वस्मै) सब (भुवनाय) संसार के लिये (देवानाम्) विद्वान् वा सूर्य और पृथिवी आदि लोकों के (व्रतम्) धर्मयुक्त कर्मों वा नियमों को (परिभूषसि) सुशोभित करते हो ॥ २॥

भावार्थ—इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। परमेश्वर वेदद्वारा और विद्वान् वेद पढ़ाने से मनुष्यों के विद्या धर्म रूपी व्रत वा लोकों के नियमरूपी व्रत को सुशोभित करता है। जिस ईश्वर ने सूर्य आदि प्रकाशवान् वा वायु पृथिवी आदि अप्रकाशवान् लोकसमूह रचा है, वह सर्वव्यापी है और जो ईश्वर और उस की रची हुई सृष्टि की विद्या को प्रकाशित करता है वह विद्वान् होता है। उस विभु ईश्वर वा विद्वानों के विना कोई यथार्थ विद्या वा कारण से कार्यरूप सब लोकों के रचने धारण करने और जानने को समर्थ नहीं होसकता ॥ २ ॥

फिर वे दोनों किस प्रकार के हैं, इस का प्रकाश अगले मन्त्र में किया है ॥

त्वम॑ग्ने प्रथ॒मो मा॑त॒रिश्व॑न आ॒विर्भ॑व सुक्रतू॒या वि॒वस्व॑ते ।
अरे॑जेतां॒ रोद॑सी होतृ॒वूर्येऽस॑घ्नोर्भा॒रमय॑जो म॒हो व॑सो ॥ ३ ॥

पदार्थ—हे (अग्ने) परमात्मन् वा विद्वन् ![2] (प्रथमः) अनादि स्वरूप वा समस्त कार्यों में अग्रगंता (त्वम्) आप जिस (सुक्रतुया) श्रेष्ठ बुद्धि और कर्मों को सिद्ध कराने वाले पवन से (होतृवूर्ये) होताओं को ग्रहण करने योग्य (रोदसी) विद्युत् और पृथिवी (अरेजेताम्) अपनी कक्षा में घूमा करते हैं उस (मातरिश्वने) अपनी आकाश रूपी माता में सोने वाले पवन वा (विवस्वते) सूर्यलोक के लिए उनको (आविः भव) प्रकट कराइये। हे (वसो) सब को निवास कराने हारे आप शत्रुओं को (असघ्नोः) विनाश कीजिये, जिन से (महः) बड़े-बड़े (भारम्) भार युक्त यान को (अयजः) देश देशान्तर में पहुंचाते हो उन का बोध हम को कराइये ॥ ३ ॥

---

१. संस्कृत पदार्थ ईश्वर और सभासेनाध्यक्ष परक है, परन्तु संस्कृत भावार्थ ईश्वर और विद्वान् परक है। अगले मन्त्र की टिप्पणी भी देखें।

२. इस मन्त्र के अर्थ में परमात्मा, भौतिक अग्नि, विद्वान्, और सभाध्यक्ष इन चारों का सम्मिश्रण हो रहा है। मन्त्र की भूमिका में 'फिर वे दोनों' लिखा है। पूर्व मन्त्र में ईश्वर के साथ सभासेनाध्यक्ष और विद्वान् का सांकर्य है, अतः 'दोनों' पद विचारणीय है। संस्कृत पदार्थ के 'त्वम्' के अर्थ में 'ईश्वरः सभाध्यक्षो वा' स्पष्ट लिखा है। और 'प्रथमः' के पदार्थ में 'कारणरूपेणानादिर्वा कार्येष्वादिमः' से भौतिक अग्नि का संकेत किया है। संस्कृत अन्वय में 'जगदीश्वर विद्वन् वा' लिखा है। इतने पर भी इस मन्त्र में श्लेषालंकार नहीं दर्शाया। भावार्थ विशुद्ध भौतिक अग्नि परक लिखा है। इन सब कारणों से हमने यहाँ अजमेर मुद्रित भाषार्थ ही रहने दिया है।

भावार्थ—जो कारणरूप अग्नि अपने कारण और वायु के निमित्त से सूर्य रूप से प्रसिद्ध होकर अन्धकार का विनाश करके पृथिवी वा प्रकाश को धारण करता है, वह यज्ञ वा शिल्पविद्या के निमित्त से कला यंत्रों में संयुक्त किया हुआ बड़े-बड़े भारयुक्त विमान आदि यानों को शीघ्र ही देश देशान्तरों में पहुंचाता है ॥ ३ ॥

फिर वह ईश्वर कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

त्वम॑ग्ने॒ मन॑वे॒ द्याम॑वाशयः पुरू॒रव॑से सु॒कृते॑ सु॒कृत्त॑रः ।
श्वा॒त्रेण॒ यत्पि॒त्रोर्मुच्य॑से॒ पर्या त्वा॒ पूर्व॑मनय॒न्नाप॑रं॒ पुनः॑ ॥ ४ ॥

पदार्थ—हे (अग्ने) जगदीश्वर ! (सुकृत्तरः) अत्यन्त सुकृत् कर्म करने वाले (त्वम्) सर्वप्रकाशक आप (पुरुरवसे) जिसके बहुत से उत्तम उत्तम विद्यायुक्त वचन हैं और (सुकृते) अच्छे अच्छे कामों को करने वाला है उस (मनवे) ज्ञानवान् विद्वान् के लिए (द्याम्) उत्तम सूर्यलोक को (अवाशयः) प्रकाशित किए हुए हैं। (श्वात्रेण) धन और विज्ञान के साथ वर्तमान आप को विद्वान् लोग (पूर्वम्) पूर्व कल्प या पूर्व जन्म में प्राप्त होने योग्य और (अपरम्) इसके आगे जन्म मरण आदि से अलग प्रतीत होने वाले आप को (पुनः) बार-बार (अनयन्) प्राप्त होते हैं ॥

हे जीव तू जिस परमेश्वर को वेद और विद्वान् लोग उपदेश से प्रतीत कराते हैं जो तुझे (श्वात्रेण) धन और विज्ञान के साथ वर्तमान (पूर्वम्) पिछले और (अपरम्) अगले देह को प्राप्त करता है और जिसके उत्तम ज्ञान से मुक्त दशा में (पर्यामुच्यसे) सब प्रकार के दुःखों से छूट जाता तथा जिसके नियम से मुक्ति से महाकल्प के अन्त में (पित्रोः) माता पिता के द्वारा फिर संसार में आता है, उस परमेश्वर का विज्ञान वा सेवन तू (आ) अच्छे प्रकार कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस जगदीश्वर ने सूर्य आदि जगत् रचा वा जिस विद्वान् से सुशिक्षा का ग्रहण किया जाता है उस परमेश्वर वा विद्वान् की प्राप्ति अच्छे कर्मों से होती है, तथा चक्रवर्त्ति राज्य आदि धन का सुख भी वैसे ही होता है ॥ ४ ॥

फिर अगले मन्त्र में उसी का प्रकाश किया है ॥

त्वम॑ग्ने वृष॒भः पु॑ष्टि॒वर्ध॑न॒ उद्य॑तस्रुचे भवसि श्र॒वाय्यः॑ ।
य आहु॑तिं॒ परि॒ वेदा॒ वष॑ट्कृति॒मेका॑यु॒रग्रे॒ विश॑ आ॒विवा॑सति ॥ ५ ॥ [३२]

पदार्थ—हे (अग्ने) सर्वज्ञ ईश्वर ! जो (त्वम्) आप (अग्रे) प्रथम[1] (उद्यतस्रुचे) स्रुक् अर्थात् होम करने के पात्र को अच्छे प्रकार ग्रहण करने वाले अर्थात् यज्ञानुष्ठाता के लिए (श्रवाय्यः) सुनने सुनाने योग्य और (वृषभः) सुख वर्षाने वाले (एकायुः) एक सत्य गुण कर्म स्वभाव रूप आयु से युक्त करने वाले तथा (पुष्टिवर्द्धनः) पुष्टि की वृद्धि करने वाले (भवसि) होते हैं और जो आप

१. यहाँ संस्कृत पदार्थ में 'अग्रे' के स्थान में 'अग्ने' और 'प्रथमम्' के स्थान में 'वेदविद्याभिज्ञापक' छपा है। लेखक तथा मुद्रक आदि के प्रमाद से कैसी कैसी भयङ्कर अशुद्धियाँ होती हैं, इसका यह प्रत्यक्ष दृष्टान्त है।

(वषट्कृतिम्) जिससे कि उत्तम उत्तम क्रिया की जायें तथा (आहुतिम्) जिससे धर्मयुक्त व्यवहार ग्रहण किये जायें। उस का ज्ञान कराते हैं (विशः) प्रजा लोग पुष्टि की वृद्धि के साथ उनका आपका और सुखों का (पर्याविवासति) अच्छे प्रकार से सेवन करते हैं ॥ ५॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि महिले जगत् का कारण, ब्रह्मज्ञान और यज्ञ की विद्या में जो क्रिया और जिस जिस प्रकार के होम करने योग्य पदार्थ हैं, उन को अच्छे प्रकार जानकर उनके प्रयोग के विज्ञान से वायु और वर्षा जल की शुद्धि के निमित्त जो शुद्ध पदार्थ हैं, उनका होम अग्नि में करने और [ब्रह्म का] सेवन करने से इस जगत् में बड़े-बड़े उत्तम-उत्तम सुख बढ़ते हैं और उनसे सब प्रजा आनन्द युक्त होती है ॥ ५ ॥

अब ईश्वर का उपासक वा प्रजा पालने हारा पुरुष क्या-क्या कृत्य करे,
इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

त्वम॑ग्ने वृजि॒नव॑र्तनिं॒ नरं॒ सक्म॑न् पिपर्षि वि॒दथे॑ विचर्षणे ।
यः शूर॑साता॒ परि॑तक्म्ये॒ धने॑ द॒भ्रेभि॑श्चि॒त् सम॑ृता हंसि॒ भूय॑सः ॥ ६ ॥

पदार्थ—हे (सक्मन्) सब पदार्थों का सम्बन्ध कराने (विचर्षणे) अनेक प्रकार के पदार्थों को अच्छे प्रकार देखने वाले (अग्ने) प्रजा के पालन में लगे हुए सेनापते ! (यः) जो न्यायरूपी विद्या से प्रकाशमान (त्वम्) आप (विदथे) धर्मयुक्त यज्ञरूपी (शूरसाता) संग्राम में (दभ्रेभिः) थोड़े से ही युद्ध साधनों से (वृजिनवर्तनिम्) अधर्म मार्ग[1] में चलने वाले (नरम्) मनुष्य और (भूयसः) बहुत शत्रुओं को (हंसि) हनन करते हैं और (समृता) अच्छे प्रकार सत्य कर्मों को (पिपर्षि) पालन करते हैं, वह आप (परितक्म्ये) सब ओर से हर्ष के देने वाले (धने) सुवर्ण, विद्या और चक्रवर्त्ति राज्य आदि धन की रक्षा करने के निमित्त हमारे सेनापति हूजिये ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर का स्वभाव यह है कि जो पुरुष अधर्म छोड़ धर्म करने की इच्छा करते हैं, उन को अपनी कृपा से शीघ्र ही धर्म में स्थिर करता है, तथा जो धर्म से युद्ध वा धन को सिद्ध कराना चाहते हैं, उनकी रक्षा कर उनके कर्मों के अनुसार उन के लिए धन देता है और जो खोटे आचरण करते हैं उन को उनके कर्मों के अनुसार दंड देता है और जो ईश्वर की आज्ञा में वर्तमान धर्मात्मा थोड़े ही युद्ध के साधनों से युद्ध करने को प्रवृत्त होते हैं, ईश्वर उन्हीं को विजय देता है, औरों को नहीं ॥ ६ ॥

फिर वह ईश्वर जीवों के लिए क्या करता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

त्वं तम॑ग्ने अमृत॒त्व उ॑त्त॒मे मर्तं॑ दधासि॒ श्रव॑से दि॒वेदि॑वे ।
यस्ता॑तृषा॒ण उ॒भया॑य॒ जन्म॑ने॒ मयः॑ कृ॒णोषि॒ प्रय॒ आ च॑ सू॒रये॑ ॥ ७ ॥

---

१. संस्कृत पदार्थ में 'वृजिनवर्तनिम्' का अर्थ 'वृजिनस्य बलस्य वर्तनिर्मार्गो यस्य तम्' अर्थात् 'बलका जिसका मार्ग है' किया है। और 'वृजिनमिति बलनामसु पठितम्। नि०२।९।' उद्धरण दिया है। निघण्टु में बलनाम में वृजन शब्द पढ़ा है न कि वृजिन। अतः यहां कुछ भूल हुई प्रतीत होती है। अजमेर मुद्रित भाषार्थ में 'अधर्म मार्ग' ही अर्थ किया है और भावार्थ भी इसी के अनुकूल है। वृजिन पद लोक में भी अधर्म अर्थ में प्रसिद्ध है।

पदार्थ--हे (अग्ने) मोक्षादि सुख के देने वाले जगदीश्वर ! (त्वम्) आप (यः) जो बुद्धिमान् मनुष्य (दिवेदिवे) प्रतिदिन (श्रवसे) सुनने के योग्य आप के लिए होकर अर्थात् अपने को आपके प्रति समर्पित करके मोक्ष को चाहता है (तम्) उस (मर्तम्) मनुष्य को (उत्तमे) अत्युत्तम (अमृतत्वे) मोक्षपद में (दधासि) स्थापन करते हो और जो बुद्धिमान् मोक्ष सुखभोग कर फिर (उभयाय) पूर्व और पर (जन्मने) जन्म के लिए (तातृषाण) चाहना करता हुआ उस मोक्षपद से निवृत्त होता है, उस (सूरये) बुद्धिमान् सज्जन के लिए (मयः) सुख और (प्रयः) प्रसन्नता को (आ कृणोषि) सिद्ध करते हो ॥ ७ ॥

भावार्थ--जो ज्ञानी धर्मात्मा मनुष्य मोक्षपद को प्राप्त होते हैं, उनका उस समय ईश्वर ही आधार है। जो जन्म हो चुका वह पहिला, और जो मृत्यु होके होगा वह दूसरा, जो है वह तीसरा और जो विद्या वा आचार्य से होता है वह चौथा जन्म है। ये चार जन्म मिल के एक जन्म और जो मोक्ष के पश्चात् होता है वह दूसरा जन्म है! इन दोनों जन्मों के धारण करने के लिए सब जीव प्रवृत्त हो रहे हैं। मोक्षपद से छूट कर संसार की प्राप्ति होती है, यह भी व्यवस्था ईश्वर के आधीन है ॥ ७ ॥

फिर परमात्मा का उपासक प्रजा के लिये कैसा हो, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

त्वं नो॑ अग्ने स॒नये॒ धना॑नां य॒शसं॑ का॒रुं कृ॑णुहि॒ स्तवा॑नः ।
ऋ॒ध्याम॒ कर्मा॒पसा॒ नवे॑न दे॒वैर्द्या॑वापृथिवी॒ प्राव॑तं नः ॥ ८ ॥

पदार्थ--हे (अग्ने) कीर्ति और उत्साह के प्राप्त कराने वाले जगदीश्वर[1] वा परमेश्वरोपासक ! (त्वम्) आप (स्तवानः) स्तुति को प्राप्त होते हुए (नः) हम लोगों के (धनानाम्) विद्या सुवर्ण चक्रवर्ति राज्य प्रसिद्ध धनों के (सनये) यथायोग्य कार्यों में व्यय करने के लिए (यशसम्) कीर्तियुक्त (कारुम्) उत्साह से उत्तम कर्म करने वाले उद्योगी मनुष्य को नियुक्त (कृणुहि) कीजिये, जिससे हमलोग पुरुषार्थी होकर (नवेन) नवीन (अपसा) पुरुषार्थ के साथ (कर्म) कर्म करके (ऋध्याम) नित्य वृद्धि युक्त होवें और विद्या की प्राप्ति के लिये (देवैः) विद्वानों के साथ आप दोनों (नः) हम लोगों की और (द्यावापृथिवी) सूर्य प्रकाश और भूमि की (प्रावतम्) रक्षा कीजिये ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को परमेश्वर की इसलिए प्रार्थना करनी चाहिये कि हे परमेश्वर ! कृपा करके हम लोगों में उत्तम धन देने वाली सब शिल्पविद्या के जानने वाले उत्तम विद्वानों को उत्पन्न कीजिये, जिस से हम लोग उन के साथ नवीन-नवीन पुरुषार्थ करके पृथिवी के राज्य और सब पदार्थों से यथायोग्य उपकार ग्रहण करें ॥ ८ ॥

---

१. संस्कृत पदार्थ में 'त्वम्' का अर्थ 'ईश्वरोपासक' किया है और 'अग्ने' का 'कीर्तिउत्साहप्रापक' संस्कृत अन्वय में दोनों का सम्मिश्रण कर दिया है ।

फिर वह कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

त्वं नो अग्ने पित्रोरुपस्थ आ देवो देवेष्वनवद्य जागृविः ।
तनूकृद् बोधि प्रमतिश्च कारवे त्वं कल्याण वसु विश्वमोपिषे ॥ ९ ॥

पदार्थ—हे (अनवद्य) उत्तम कर्मयुक्त (अग्ने) सब पदार्थों के जानने वाले सभापते ! (जागृविः) धर्मयुक्त पुरुषार्थ में जागने (देवः) सब न्याय के प्रकाश करने (च) और (तनूकृत्) बड़े-बड़े पृथिवी आदि बड़े लोकों में ठहरने हारे आप (देवेषु) विद्वान् वा अग्नि आदि तेजस्वी दिव्य-गुण युक्त लोकों में (पित्रोः) माता पिता के (उपस्थे) समीपस्थ व्यवहार में (नः) हम लोगों को (आ-ऊपिषे) बार-बार नियुक्त कीजिये। हे (कल्याण) अत्यन्त सुख देने वाले राजन् ! (प्रमतिः) उत्तम ज्ञान देते हुए (त्वम्) आप (कारवे) कारीगरी के चाहने वाले मुझको (विश्वम्) समस्त (वसु) विद्या चक्रवर्ति राज्य आदि पदार्थों से सिद्ध होने वाले धन का (आबोधि) अच्छे प्रकार बोध कराइये ॥ ९ ॥

भावार्थ—फिर ईश्वर की इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये कि हे भगवन् जब आप जन्म दें तब-तब श्रेष्ठ विद्वानों के सम्पर्क में जन्म दें और वहाँ हम लोगों को सर्वविद्यायुक्त कीजिये, जिससे हम लोग सब धनों को प्राप्त होकर सदा सुखी हों ॥ ९ ॥

फिर वह कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

त्वमग्ने प्रमतिस्त्वं पितासि नस्त्वं वयस्कृत् तव जामयो वयम् ।
सं त्वा रायः शतिनः सं सहस्रिणः सुवीरं यन्ति व्रतपामदाभ्य ॥ १० ॥ [३३]

पदार्थ—हे (अदाभ्य) उत्तम कर्मयुक्त (अग्ने) यथायोग्य रचना कर्म जानने वाले सभाध्यक्ष ! (प्रमतिः) अत्यन्त ज्ञान को प्राप्त हुए (त्वम्) समस्त सुख के प्रकट करने हारे आप (नः) हम लोगों के (पिता) पालने वाले (असि) हैं तथा (त्वम्) आयु के बढ़ाने हारे आप हम लोगों को (वयःकृत्) बुढ़ापे तक विद्या सुख में आयु व्यतीत कराने हारे हैं (तव) सुख उत्पन्न करने वाले आपकी कृपा से हम लोग जैसे (जामयः) ज्ञानवान् संतान युक्त हों (त्वम्) आप वैसा प्रबन्ध कीजिये और जैसे (शतिनः) सैकड़ों वा (सहस्रिणः) हजारों प्रशंसित पदार्थविद्या वा कर्म युक्त विद्वान् लोग (व्रतपाम्) सत्य पालने वाले (सुवीरम्) अच्छे-अच्छे वीर युक्त (त्वम्) आपको प्राप्त होकर (रायः) धन को (संयन्ति) अच्छे प्रकार प्राप्त होते हैं, वैसे आपका आश्रय किये हुए हम लोग भी उन धनों को प्राप्त होवें ॥ १० ॥

भावार्थ—जैसे पिता सन्तानों से मान और सत्कार के योग्य है, वैसे प्रजाजनों से सभापति राजा मान और सत्कार योग्य है ॥ १० ॥

फिर वह कैसा है, और क्या करे, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

त्वामग्ने प्रथममायुमायवे देवा अकृण्वन् नहुषस्य विश्पतिम् ।
इळामकृण्वन् मनुषस्य शासनीं पितुर्यत्पुत्रो ममकस्य जायते ॥ ११ ॥

पदार्थ—हे (अग्ने) विज्ञानयुक्त सभाध्यक्ष ! (देवाः) विद्वानों ने [(त्वाम्) प्रजापालन करनेहारे (प्रथमम्) सबके अग्रगन्ता (आयुम्) न्याय से प्रजा का नियन्त्रण करने हारे आपको (विश्पतिम्) प्रजाओं का स्वामी (अकृण्वन्) बनाया है, तथा][1] (मनुषस्य) मनुष्य की (आयवे) विज्ञान वृद्धि के लिये इस (इळाम्) वेद वाणी को प्रकाशित किया तथा मनुष्यमात्र की (शासनीम्) सत्य नीति को प्रकाशित किया और (यत्) जैसे (ममकस्य) हम लोग (पितुः) पिता होते हैं, उनका (पुत्रः) पुत्र अपने शील से पितृवर्ग को पवित्र करने वाला (जायते) उत्पन्न होता है, वैसे राजवर्गों के प्रजाजन होते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—ईश्वरोक्त व्यवस्था करनेवाले वेद शास्त्र और राजनीति के बिना प्रजा पालनेहारा सभापति राजा प्रजा नहीं पाल सकता है और प्रजा राजा के अज्ञ संतान के तुल्य होती है, इस से सभापति राजा अज्ञ पुत्र के समान प्रजा को शिक्षा देवे ॥ ११ ॥

अगले मन्त्र में भी सभापति का उपदेश किया है ॥

त्वं नो॑ अग्ने॒ तव॑ देव पा॒युभि॑र्म॒घोनो॑ रक्ष त॒न्व॑श्च वन्द्य ।
त्रा॒ता तो॒कस्य॒ तन॑ये॒ गवा॑म॒स्यनि॑मेषं॒ रक्ष॑माण॒स्तव॑ व्र॒ते ॥ १२ ॥

पदार्थ—हे (देव) सब सुख देने और (वन्द्य) स्तुति करने योग्य तथा (अग्ने) यथोचित सबकी रक्षा करने वाले सभेश्वर ! (तव) सर्वाधिपति आपके (व्रते) सत्य पालन आदि नियम में प्रवृत्त और (मघोनः) प्रशंसनीय धनयुक्त (नः) हम लोगों को अथवा हमारे (तन्वः) शरीरों को (पायुभिः) उत्तम रक्षादि व्यवहारों से (अनिमेषम्) प्रतिक्षण (रक्ष) पालिये । तथा (रक्षमाणः) रक्षा करते हुए आप जो कि आपके उक्त नियम में वर्तमान (तोकस्य) छोटे-छोटे बालक वा (गवाम्) मन आदि इन्द्रियों और जो गाय बैल आदि पशु हैं उनके तथा सब चराचर जगत् के प्रतिक्षण (त्राता) रक्षक अर्थात् अत्यन्त आनन्द देने वाले (असि) हूजिये ॥ १२ ॥

भावार्थ—सभापति राजा ईश्वर के जो संसार की धारणा और पालना आदि गुण हैं उनके तुल्य उत्तम गुणों से अपने राज्य के नियम में प्रवृत्त जनों की निरन्तर रक्षा करे ॥ १२ ॥

अब अगले मन्त्र में भौतिक अग्नि के समान-गुणवाले सभापति का उपदेश किया है ॥

त्वम॑ग्ने॒ यज्य॑वे पा॒युरन्त॑रोऽनिष॒ङ्गाय॑ चतुर॒क्ष इ॑ध्यसे ।
यो रा॒तह॑व्योऽवृ॒काय॒ धाय॑से की॒रेश्चि॒न्मन्त्रं॒ मन॑सा व॒नोषि॒ तम् ॥ १३ ॥

पदार्थ—हे (अग्ने) अग्नि के समान देदीप्यमान[2] सभापते ! (यः) विद्वान् शुभ लक्षणों से

१. इस मन्त्र के (त्वाम् , प्रथमम् , आयुम् , विश्पतिम् , अकृण्वन्) पद संस्कृत अन्वय में छूट गये हैं । हमने उनको तथा उनके भाषार्थ को यथास्थान रखने का प्रयत्न किया है ।

२. इस मन्त्र के संस्कृत अन्वय में (अग्ने, यः, मन्त्रम् , पायुम् , तम्) पद छूटे हुए हैं । 'अग्ने' तथा 'यम्' पद और उनका पदार्थ हमने यथास्थान जोड़ा है । 'मन्त्रम्—पायुम्' पद और इनके पदार्थ अजमेर मुद्रित भाषार्थ में विद्यमान हैं । 'तम्' पद अन्वय में कहीं भी अन्वित नहीं होता ।

युक्त आप (मनसा) विज्ञान से (मन्त्रम्) विचार वा वेदमन्त्र को सेवने वाले के (चित्) सदृश (रातहव्यः) हव्य अर्थात् लेने देने के योग्य पदार्थों का दाता (पायुः) पालना का हेतु (अन्तरः) मध्य में रहने वाला और (चतुरक्षः) सेना के चार अङ्ग अर्थात् हाथी घोड़े और रथ के आश्रय से युद्ध करने वाले और पैदल योद्धाओं में अच्छे प्रकार चित्त देते हुए (अनिषङ्गाय) पक्षपात रहित न्याययुक्त (अवृकाय) चोरी आदि दोष से सर्वथा रहित और (धायसे) उत्तम गुणों के धारण तथा (यज्यवे) यज्ञ वा शिल्प विद्या सिद्ध करने वाले मनुष्य के लिये (इध्यसे) तेजस्वी होकर अपना प्रताप दिखाते हो और जिसको (वनोषि) सेवन करते हो, उस (कीरेः) प्रशंसनीय वचन कहने वाले विद्वान् से विनय को प्राप्त होके प्रजा का पालन किया करें ॥ १३ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालंकार[1] है जैसे विद्यार्थी लोग अध्यापक अर्थात् पढ़ाने वालों से उत्तम विचार के साथ उत्तम-उत्तम विद्याओं का सेवन करते हैं, वैसे आप भी धार्मिक विद्वानों के उपदेश के अनुकूल होके राजधर्म का सेवन करें ॥ १३ ॥

अगले मन्त्र में भी उसी अर्थ का प्रकाश किया है ॥

त्वम॑ग्न उरुशंसा॑य वा॒घते॑ स्पा॒र्हं यद् रेक्ण॑: पर॒मं व॒नोषि॒ तत् ।
आ॒ध्रस्य॑ चि॒त् प्रम॑तिरुच्यसे पि॒ता प्र पाकं॒ शास्सि॒ प्र दिशो॑ वि॒दुष्ट॑रः ॥१४॥

पदार्थ—हे (अग्ने) विज्ञानप्रिय न्यायाधीश ! (यत्) जिस कारण (प्रमतिः) उत्तम ज्ञानयुक्त (विदुष्टरः) नाना प्रकार के दुःखों से तारने वाले आप (उरुशंसाय) बहुत प्रकार की स्तुति करने वाले (वाघते) ऋत्विक् मनुष्य के लिये (स्पार्हम्) चाहने योग्य (परमम्) अत्युत्तम (रेक्णः) धन (पाकम्) पवित्र धर्म्य व्यवहार और (दिशः) उत्तम विद्वानों को (वनोषि) अच्छे प्रकार चाहते हैं और धर्म से (आध्रस्य) धारण किये हुए राज्य के (पिता) पिता के (चित्) तुल्य सबको (प्रशास्सि) शिक्षा करते हैं (तत्) इसी से आप सबके माननीय हैं[2] ॥१४॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालंकार है[3] ॥ जैसे पिता अपने सन्तानों की पालना वा उनको धन देना वा धारण वा शिक्षा आदि करता है, वैसे ही राजा को भी चाहिये कि सब प्रजा का पालक होने से सब जीवों को सम्पूर्ण धन के यथायोग्य विभाग से उनके कर्मों के अनुसार सुख दुःख देता रहे ॥ १४ ॥

फिर वह क्या करता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

त्वम॑ग्ने॒ प्रय॑तदक्षिणं॒ नरं॒ वर्मे॑व स्यू॒तं परि॑ पासि वि॒श्वत॑: ।
स्वा॒दु॒क्षद्मा॒ यो व॑स॒तौ स्यो॑न॒कृज्जी॑वया॒जं यज॑ते॒ सोप॒मा दि॒वः ॥ १५ ॥ [३५]

---

१. यहाँ भी 'चित्' पद उपमावाची है ।

२. इस मन्त्र के संस्कृत अन्वय में 'प्र उच्यसे' पद छूट गये हैं । वे इस अन्वय में कहीं अन्वित नहीं होते । संस्कृत पदार्थ में 'तत्' पद का अर्थ 'धनम्' किया है, वह भी इस अन्वय में संबद्ध नहीं होता ।

३. मन्त्र में 'चित्' शब्द उपमावाची है ।

वेदवाणी के ग्राहकों को आवश्यक सूचना

वेदवाणी पत्रिका के संचालक श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर का वार्षिक अधिवेशन ता० २६ नवम्बर १९५३ को अमृतसर तेजवाटिका में हुआ। उसमें अनेक महत्त्वपूर्ण निश्चयों के साथ यह निश्चय हुआ कि—

वेदवाणी का वार्षिक शुल्क (चन्दा) ५) रुपया कर दिया जावे और विशेषाङ्क सब ग्राहकों को पोस्टल सार्टिफिकेट द्वारा भेजा जावे। इस पर भी यदि किसी ग्राहक को विशेषाङ्क न पहुँचे तो उचित समय के भीतर सूचना देने वाले को पुनः भेजा जावे।

प्रधान—रामलाल कपूर ट्रस्ट

पाणिनि महाविद्यालय सम्बन्धी सूचनाएँ

(१) पूर्व सूचनानुसार पाणिनि महाविद्यालय लाहौरी टोला से हटकर मोतीझील (डाकखाने के ऊपर) में लगता है।

(२) गत अक्टूबर मास के अन्त में देहली में अखिल भारतवर्षीय संस्कृत साहित्य महासम्मेलन के तत्त्वावधान में पाणिनि महाविद्यालय के अध्यक्ष द्वारा १० दिन तक दो स्थानों में सरलता पूर्वक संस्कृत सिखाने के लिये शिविर लगा जिसमें लगभग २५ पठनार्थी आते रहे। जिनमें कई एक सज्जन एम. ए., बी. ए. तथा रिटायर्ड डिप्टी कलक्टर (६२ वर्ष के) थे। इनको ८ दिन में "पुरुषः" और "पठति" की सिद्धि सब सूत्रों सहित बिना रटे समझा दी गई। इतने से उन्हें संस्कृत अति सरल है और बिना रटे आ जाती है, इसका प्रत्यक्ष ज्ञान हो गया। यह शिविर सायं ५ से ७ बजे तक लगता रहा।

इन्हीं दिनों में प्रातः दो घण्टे ३१ यू० बी० जवाहर नगर (सब्जीमण्डी) देहली में दो श्रेणियाँ लगती रहीं। जिनमें लगभग २५ पठनार्थी आते रहे। ये सब बहुत शीघ्र संस्कृत सीख जायेंगे।

(३) अमृतसर में अष्टाध्यायी की संस्कृत श्रेणी १५ नवम्बर से ३० नवम्बर तक श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु द्वारा चलती रही। जिसकी एक श्रेणी तेजवाटिका (माडलटौन) अमृतसर में चल रही है। दूसरी श्रेणी अमृतसर के प्रसिद्ध विद्वान् श्री पं० दौलतरामजी शास्त्री द्वारा चलेगी।

अध्यक्ष—पाणिनि महाविद्यालय, काशी।

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर

का

सस्ता और सुन्दर प्रकाशन

आर्य जगत् को यह जानकर महती प्रसन्नता होगी कि रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर ने अपना प्रकाशन कार्य कुछ वर्षों से पुनः पूर्ववत् भले प्रकार प्रारम्भ कर दिया है। निम्न पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं—

१—सन्ध्योपासनविधि—ऋषि दयानन्दकृत भाषार्थ, दैनिक हवन और भजनों के सहित। यह अब तक ३०५००० तीन लाख पाँच हजार छप चुकी है— घटाया हुआ मूल्य -)।

२—व्यवहारभानु—ऋषि दयानन्दकृत। बालकों को व्यवहार की उचित शिक्षा देनेवाला अपूर्व ग्रन्थ। यह ग्रन्थ प्रत्येक आर्य बालक-बालिकाओं के विद्यालयों में पाठ्य पुस्तक रखने योग्य है। मूल्य ≠)॥

३—ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्मचरित्र—ऋषि दयानन्द ने अमेरिका निवासी अल्काट महोदय की प्रेरणा से अपना कुछ वृत्तान्त लिखकर उन्हें भेजा था, जिसका अंग्रेजी अनुवाद उन्होंने थियोसोफिकल नामक अपने पत्र में छापा था। ऋषि दयानन्द के प्रथम चरित्र-लेखक श्री पं० लेखरामजी ने उक्त आत्मचरित्र के कुछ अंश की मूल कापी भी प्राप्त की थी। वह अंश उनके द्वारा संकलित ऋषि के उर्दू जीवनचरित्र में छपा है। आर्यसमाज के उद्भट विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्तजी ने उपर्युक्त सामग्री के आधार पर इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। ऋषि दयानन्द के प्रसिद्धि में आने से पूर्व की घटनाओं का यही एकमात्र प्रामाणिक लेख है। मूल्य।≠)

४—हवन-मन्त्र—प्रार्थना, स्वस्तिवाचन, शान्तिप्रकरण, बृहद् हवन और भजनों से युक्त मू० -)

५—आर्याभिविनय—ऋषि दयानन्दकृत (प्रथम और द्वितीय संस्करण से मिलाकर अत्यन्त शुद्ध और सुन्दर छापा गया है। संदिग्ध स्थलों पर टिप्पणियाँ दी गई हैं)। मूल्य।≠)

६—आर्योद्देश्यरत्नमाला—ऋषिदयानन्दकृत। (शुद्ध, सुन्दर, तथा सटिप्पण संस्करण) मूल्य -)

७—पञ्चमहायज्ञविधि—ऋषि दयानन्दकृत। ,, ,, ,, मूल्य ≈)

८—उरुज्योति अर्थात् वैदिक अध्यात्म सुधा—श्री डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल लिखित वैदिक अध्यात्म विषयक उच्चकोटि के २५ लेखों का सुन्दर संग्रह। सजिल्द ३)

९—वेदाङ्क—यह वेदवाणी के इस वर्ष का विशाल विशेषांक है। इसमें २५ उच्चकोटि के गवेषणात्मक वेदविषयक मौलिक लेखों का संग्रह है। दूसरे शब्दों में इसे वेदविषयक २५ ट्रेक्टों या निबन्धों का संग्रह कह सकते हैं मूल्य १॥), एक साथ प्रचारार्थ १० प्रति मँगवाने पर १) रु० प्रति दिया जायेगा।

१०—वेदवाणी की पुरानी फाइलें—वर्ष २ अंक १० मूल्य २॥), वर्ष ३ अङ्क ११ मूल्य २॥), व० ४ अंक १० मूल्य ३), वर्ष ५ वेदाङ्क सहित ५), डाक व्यय पृथक होगा। थोड़ी प्रतियाँ शेष हैं, शीघ्रता करें।

रामलाल कपूर एण्ड सन्स पेपर मर्चेण्ट

गुरु बाजार, अमृतसर। नई सड़क, देहली। त्रिरहाना रोड, कानपुर।

वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस ६ ॥

मुद्रक और प्रकाशक—पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा ज्योतिष प्रकाश प्रेस, विश्वेश्वरगंज, बनारस में छपा।

ओ३म्

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ६] ❀ [अङ्क ४

इस अंक के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

माघ २०१०, फरवरी, १९५४
दयानन्दाब्द १२९
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५३

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
बनारस नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
" " विदेश में ६)
इस अंक का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनियार्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ॥) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है।

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १ से तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख **'सम्पादक वेदवाणी'** के नाम से आने चाहिये। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जावेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सम्बन्धी धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र **'व्यवस्थापक वेदवाणी'** के पते से भेजें।

८—ग्राहक महानुभाव पत्रव्यवहार या मनियार्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—**वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस ६**

ओ३म्

वेदवाणी

सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि ।

अथर्व० १, १, ४ ॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों !

वर्ष ६ } काशी, माघ सं० २०१० वि०, फरवरी १९५४ ई० { अङ्क ४

आर्याभिविनय से—

टिप्पणीकर्त्ता—विन्ध्यवासिनीप्रसाद अग्रवाल

हम लोग परमानन्द का भोग करें

ओ३म् सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥ ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥
तैत्तिरीयारण्यक प्रपा० १० । अनु० १ ।

दण्डान्वय टीका ।

ओ३म् रक्षक—पालक ईश्वर
नौ हम दोनों की
सह साथ-साथ
अवतु उन्नति करें
नौ हम दोनों पर
सह साथ-साथ
भुनक्तु शासन करें

सह (हम दोनों) साथ-साथ
वीर्यम् आध्यात्मिक, आधिदैविक आधिभौतिक शक्ति

करवावहै उत्पन्न करें
नौ हम दोनों का
अधीतम् पढ़ना-पढ़ाना
तेजस्वि प्रभावशाली और चमकानेवाला
अस्तु हो ।

मा विद्विषावहै (हम दोनों) एक दूसरे के अप्रिय और विरुद्ध आचरण न करें ।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः दुःखनिवारक परमात्मन् आप आध्यात्मिक आधिदैविक तथा आधिभौतिक कष्टों को दूर करने वाले हो ।

ऋषि व्याख्यान—

"ओ३म् सहनाववतु" हे सहनशीलेश्वर ! आप और हम लोग परस्पर, प्रसन्नता से रक्षक हों। आपकी कृपा से हम लोग सदैव आपकी ही स्तुति प्रार्थना और उपासना[८] करें तथा आपको ही पिता, माता, बन्धु, राजा, स्वामी, सहायक, सुखद, सुहृद् परम गुर्वादि[९] जानें। क्षणमात्र भी आपको भूलके न रहें। आपके तुल्य वा अधिक किसी को कभी न जानें। आपके अनुग्रह से हम सब लोग परस्पर प्रीतिमान्[८] रक्षक, सहायक, परम पुरुषार्थी हों। एक दूसरे का दुःख न देख सकें। स्वदेशस्थादि मनुष्यों को अत्यन्त परस्पर निर्वैर प्रीतिमान् पाखण्ड[१०] रहित करें। **"सह नौ भुनक्तु"** तथा आप, और हम लोग परस्पर[११] परमानन्द का भोग करें।

हम लोग परस्पर हित से[१२] आनन्द भोगें कि[१३] आप हमको अपने अनन्त परमानन्द के भागी करें, उस आनन्द से हम लोगों को क्षणमात्र भी अलग न रखें।

"सह वीर्यं करवावहै" आपके सहाय से परम वीर्य्य[१४] जो सत्य विद्यादि उसको परस्पर, परम पुरुषार्थ से प्राप्त करें[१५]।

"तेजस्विनावधीतमस्तु" हे अनन्त विद्यामय भगवन् ! आपकी कृपादृष्टि से हम लोगों का पठन-पाठन परम विद्यायुक्त[१६] हो और संसार में सबसे अधिक प्रकाशित[१७] हों और अन्यान्य प्रीति से[१८] परम वीर्य पराक्रम से, [१९] निष्कण्टक[२०] चक्रवर्त्ती राज्य[२१] भोगें। हममें सब नीतिमान्[२२] सज्जन पुरुष हों, और आप हमलोगों पर अत्यन्त कृपा करें कि हमलोग नाना पाखण्ड, असत्य, वेदविरुद्ध मतों[२३] को शीघ्र छोड़के एक सत्य सनातन मतस्थ[२४] हों, जिससे सब विद्वेष के मूल जो पाखण्डमत [२५] हैं वे सब सद्यः[२६] प्रलय को प्राप्त हों[२७]।

"माविद्विषावहै" और हे जगदीश्वर ! आपके सामर्थ्य से हमलोगों में कोई परस्पर विद्वेष, विरोध न करें, किन्तु सब (हमलोग) तन मन धन, विद्या इसको परस्पर सबके[२८] सुखोपकार में[२९] परम प्रीति से लगावें।

"ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः" हे भगवन् ! तीन प्रकार के सन्ताप जगत् में हैं—एक आध्यात्मिक (शारीरिक) जो ज्वरादि पीड़ा होने से होता है। दूसरा आधिभौतिक ताप जो शत्रु, सर्प, व्याघ्र चौरादिकों से सन्ताप होता है और तीसरा जो मन, इन्द्रिय, अग्नि, वायु, अतिवृष्टि, अनवृष्टि, अतिशीत, अत्युष्णतेत्यादि से होता है वह आधिदैविक ताप है। हे कृपासागर ! आप इन तीनों तापों की शीघ्र निवृत्ति करें, जिससे हमलोग अत्यन्त आनंद में और आपकी अखण्ड उपासना में[३०] सदा लगे रहें।

हे विश्वगुरो ! मुझको असत्य मिथ्या और अनित्य पदार्थ तथा असत्[३१] काम से छुड़ाके, सत्य[३२] तथा नित्य पदार्थ[३३] और श्रेष्ठ व्यवहार[३४] में स्थिर कर। हे जगन्मङ्गलमय[३५]! सब दुखों से मुझे छुड़ाके सब सुखों को प्राप्त कर। (**सर्वदुःखेभ्यो मोचयित्वा सर्वसुखानि प्रापय**) (**हे प्रजापते ! सुप्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन परमैश्वर्येण संयोजय**) हे प्रजापते ! मुझको अच्छी प्रजा पुत्रादि, हस्त्यश्वगवादि उत्तम पशु, सर्वोत्कृष्ट विद्या[३६] और चक्रवर्त्ती राज्यादि परमैश्वर्य जो स्थिर परम सुखकारक[३७] उसको शीघ्र प्राप्त कर। **हे परमवैद्य[३८]! सर्वरोगात्पृथक्कृत्य नैरोग्यम् देहि—सर्वथा**[३९] मुझको सर्वरोगों से छुड़ाके परम नैरोग्य दे। **हे महाराजाधिराज ! मनसा वाचा कर्मणा अज्ञानेन प्रमादेन वा यद्यत्पापम् कृतं मया, तत्त-**

त्संवं कृपया क्षमस्व ज्ञानपूर्वकपापकरणान्निवर्तयतु माम्—मन से वाणी से और कर्म से, अज्ञान वा प्रमाद से मैंने जो पाप किया हो, किंवा करने का हो, उस उस मेरे पाप को क्षमा कर,[४०] और ज्ञानपूर्वक पाप करने से भी मुझको रोक दे, जिससे मैं शुद्ध होके आपकी सेवा में स्थिर होऊँ। हे न्यायाधीश! कुकाम[४१] कुलोभ कुमोह भय शोकालस्येर्ष्याद्वेषप्रमादविषयतृष्णानैष्टुर्याभिमानदुष्टभावादिभ्यो निवारय, एतेभ्यो विरुद्धेषूत्तमेषु गुणेषु संस्थापय माम् [अर्थात्] हे ईश्वर! कुकाम कुलोभादि पूर्वोक्त दुष्ट दोषों को स्वकृपा से छुड़ाके श्रेष्ठ काम आदि में यथावत् मुझको स्थिर कर। मैं अत्यन्त दीन होकर यही माँगता हूँ कि मैं आपकी आज्ञा से भिन्न पदार्थ में कभी प्रीति न करूँ। हे प्राणपते[४२], प्राणप्रिय, प्राणपितः[४३], प्राणाधार[४४], प्राणजीवन[४५], स्वराज्यप्रद[४६], मेरे प्राणपति आदि आप ही हो, मेरा सहायक आपके सिवाय कोई नहीं। हे राजाधिराज! जैसा सत्य न्याययुक्त अखण्डित आपका राज्य है, वैसा न्याय राज्य[४७] हम लोगों का भी आपकी ओर से ही[४८] स्थिर हो[४९]। आपके राज्य के अधिकारी[५०] किङ्कर, अपने कृपाकटाक्ष से हमको शीघ्र ही कर। हे न्यायप्रिय! हमको भी न्यायप्रिय यथावत् कर। हे धर्माधीश[५१]! हमको धर्म में स्थिर रख[५२]। हे करुणामय पिता! जैसे माता और पिता अपने सन्तानों का पालन करते हैं वैसे ही आप हमारा पालन करो।

अर्थबोधक टिप्पणी—

१. अवति रक्षादिकं करोतीति ओम्। प्रणव आरम्भोऽनुमतिर्वा। उ० १।१४२॥

२. अव, रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगमप्रवेशश्रवणस्वाम्यर्थयाचनक्रियेच्छादीप्त्यवाप्त्यालिंगनहिंसादानभागवृद्धिषु।

३. भुज पालनाभ्यवहारयोः।

४. तिज, निशाने (to sharpen)

५. शमु, उपशमे।

६. स्तुति प्रार्थना उपासना = प्रशंसा, प्राप्त करना और अनुकूल होना।

७. परम गुर्वादि = सबसे बड़ा उपदेशक, स्वामी आदि।

८. अनुग्रह = कृपा

९. प्रीतिमान् = प्रीति करनेवाले।

१०. पाखंड = दुष्टता, उलटा व्यवहार

११. परस्पर = अन्योन्य की संनिकटता से

१२. परस्परहित से = एक दूसरे की भलाई करने से।

१३. कि = जिसमें

१४. परमवीर्य = उत्कृष्ट शक्ति देनेवाली वस्तु।

१५. परस्पर प्राप्त करें = एक दूसरे को देवें।

१६. परम विद्या युक्त = वेदविद्या से युक्त।

१७. प्रकाशित = प्रचरित (followed-practised)

१८. अन्योन्य प्रीति से = एक दूसरे की प्रेमवश सेवा द्वारा।

१९. उत्कृष्ट वेदज्ञानरूपी शक्ति की प्राप्ति द्वारा और उस शक्ति का दूसरों के उपकार में प्रयोग द्वारा।

२०. निष्कंटक = बाधारहित।

२१. चक्रवर्ती राज्य = one world Government का सुख।

२२. नीतिमान् = बुद्धिमान्, चतुर।

२३. मतों को = विचारों को। Truth belongs to god and ideas to man—Radhakrishnan

२४. सत्यसनातनमतस्थ हों = सृष्टि के आदि से रहनेवाले और सदैव से चले आनेवाले विचारों में दृढ़ हो।

२५. पाखण्डमत = केवल मनुष्यप्रेरित स्वार्थप्रेरित विचार।

२६. सद्यः = तत्काल ही।

२७. प्रलय को प्राप्त हो = नष्ट हो।

२८. परस्पर सबके = एक दूसरे के।

२९. सुखोपकार में = सुख पहुँचाने में।

३०. अखण्ड उपासना में = सदा चलनेवाली अनुकूलता में।

अशिष्ट व्यवहार से सब को दुख होता है इस लिए सब से हमें शिष्टता से ही बर्ताव करना चाहिये। यदि हम लोगों से घृणा करेंगे तो हम कैसे यह आशा कर सकते हैं कि लोग हम से घृणा न करें अथवा हमें उन्नत होते देख कर वे ईर्ष्यालु न हों। मनुष्य जैसा वर्ताव अन्य जनों से चाहता है वैसा व्यवहार स्वयं भी अन्य जनों से करे तो आपस में नैतिकता का व्यवहार होने लगे। हो यह रहा है कि मनुष्य दूसरों की निन्दा कर रहा है और स्वयं यह चाहता है कि कोई उसके प्रति एक भी अप-शब्द न कह सके। यह कैसे संभव है। मनुष्य अपने भावों संकल्पों और विचारों तथा कर्मों से अपने लिए स्वर्ग या नरक बना रहा है। सुख परिणाम है अन्य कर्मों का, और दुःख होता है अन्य कृत्यों के कारण।

जबतक हम यह पूर्ण निश्चय न कर लेंगे कि भगवान् दयालु न्यायकारी प्रेममय परम सुहृद् परम हितैषी हैं और सदा हमारे साथ रहते हुए न्याययुक्त दया और दयायुक्त न्याय कर रहे हैं तब तक हमें आस्तिक होने का दम नहीं भरना चाहिये। कर्म का अर्थ कर्तव्य है जो मनुष्य कर्तव्यरत है वह अपने सुकर्म से अपना भविष्य तथा वर्तमान सुन्दर बना रहा है तथा जो व्यक्ति कर्तव्यच्युत है वह धीरे-धीरे मानवता से भी गिर जाता है और अपना व्यक्तित्व क्या अपना अस्तित्व भी खो बैठता है। परमात्मा किसी मनुष्य पर अन्याय नहीं करता। वह यदि हमें दंड भी देता है तो हमारी ही भलाई के लिए। लोग प्रायः अपने कुकृत्यों का फल भोगते हुए भगवान् को कोसते हैं, यह आस्तिक भावना नहीं। धर्मशील मनुष्य तो अपने कर्तव्य भी भगवान् को समर्पित करता हुआ उन्हें सुन्दर विधि से संपन्न करता है और स्वतंत्रता अनुभव करता है। यह है सच्ची आस्तिक भावना और धर्मपरायणता।

धर्म तत्त्व इतना गुह्य नहीं है जितना कि मनुष्यों की रजोगुणी और तमोगुणी प्रवृत्तियों ने उनमें स्वार्थ बढ़ाकर उसे जटिल कर दिया है। लोग अपनी इन्द्रिय लोलुपता के कारण दुःख शोक और रोग में फँसे हुए इसी जीवन-यापन को ही साधारण जीवन समझे बैठे हैं और सत्त्वगुण प्रधान जीवनचर्या को असंभव सी समझने लगे हैं। वास्तविकता यह है कि जब तक सात्त्विक जीवनचर्या नहीं होती और आपस का जीवन व्यवहार सात्त्विक नहीं होता, मनुष्य सच्चे अर्थों में सदाचारी हो ही नहीं सकता। यह ममता मोह और राग को प्रेम समझता रहेगा और इन के चक्कर में उद्विग्न तो रहेगा पर इन्हें छोड़ेगा नहीं, और सत्य तो यह है कि तमोगुणी जीवनचर्या में मोह और रजोगुणी जीवन चर्या में ममता और राग का होना अनिवार्य है और ये संबन्ध दुःखद हैं। प्रेम सात्त्विक है उसका और आनन्द का निकट-तम संबन्ध है उनकी उपज आत्मा से है मोह ममता और राग तो मन और इन्द्रियों के हेर-फेर ही हैं। अपनी निज की जीवनचर्या में मनुष्य आत्मप्रेरणा को बर्ताव में कम लाता है। मन और इन्द्रियोंको अपना काम करने देता है बुद्धि की विवेचात्मक शक्ति भी कम ही वर्तने में आती है परिणाम होता है जीवन का ह्रास, जो हम देख ही रहे हैं।

लोग प्रायः भोजन जीभ (जिह्वा) की सम्मति से करते हैं। जो वस्तु स्वाद युक्त लगती है

वह पेट में ढकेल देते हैं, चाहे पेट उसका स्वागत करे या न करे। यदि मनुष्य भोजन मुख में डालते समय अपने पेट से ही पूछ लिया करें तो भी इतना अनर्थ न हो। आजकल तो लोग वैद्य और डाक्टर अपनी कमाई के लिए बनते हैं कोई लोकहित के लिए यह ज्ञान थोड़ा ही प्राप्त करते हैं। यदि लोग स्वस्थ रहना सीख जायँ तो डाक्टरी का पेशा इतना आमदनी का न रहे। जो लोग स्वस्थ रहना तक नहीं सीख सकते, यदि उन्हें धर्मतत्त्व समझने में कठिनाई हो तो अचंभा ही क्या है ?

धर्म का तत्त्व गहन नहीं है। सीधा, सरल, ऋजु मार्ग सबके सामने खुला है पर लोग जान-बूझकर पगडंडियों पर चल कर मार्ग-च्युत हो रहे हैं। जितना स्वस्थ रहना सुगम है उतना रोगी होना नहीं। स्वस्थ रहने के लिए शुद्ध वायुसेवन, शुद्ध जल, सूर्य की किरणें और शुद्ध सुपक भोजन पर्याप्त है और कपड़ा ऐसा हो जिसे पहन कर समाज में प्रतिष्ठा बनी रहे और ऋतु अनुकूल हो। रोगी होने के लिए नाना प्रकार के व्यंजन, बन्द हवा के कमरे, सिनेमाघर, भीड़-भाड़, मेलोंकी धकापेल, चटपटे भोजन, बासी भोजन, बिना भूख आहार, बहुमूल्य वस्त्र, व्यायाम का अभाव, अश्लील मनोरंजन आदि हों तभी मनुष्य रोगी हो। ऐसे लोग धर्म से कोसों दूर हो जाते हैं और धर्म भी इनसे दूर हो जाता है। धर्म को धारण करने से धर्म सहायक होता है, और धर्म के प्रति उपेक्षा होने से धर्म घातक हो जाता है। इस प्रकार आजकल के फैशनेबल लोग अपनी सोसाइटी की लाइफ को धर्म जीवन से श्रेयस्कर समझते हुए प्रेममार्ग पर अन्धाधुन्ध बढ़े चले जा रहे हैं। इनकी रोक-थाम कैसे हो ? यह काम आर्यसमाज का है। क्या यह काम केवल प्रवचनों और भाषणों से सम्पन्न हो सकेगा ?

जब हम यह भली प्रकार जानते हैं कि जीवन से जीवन का विकास होता है, ज्ञानी जनों से ही ज्ञान फैलता है, प्रेमीजनों द्वारा ही प्रेम का रहस्य खुलता है और पवित्रता का फैलाव भी पवित्रात्माओं द्वारा ही संभव है तो धर्म का प्रचार केवल भाषणों और लेखों द्वारा कैसे संभव हो सकता है ? धर्मशील मनुष्यों द्वारा ही धर्म का प्रसार होना है। आर्यजन ही आर्यत्व का प्रसार कर सकेंगे।

धर्म का तत्त्व है सीधा, सरल, ऋजु जीवन, जिसमें ऋत हो और सत्य हो। यज्ञ ही धर्म की प्रक्रिया है। यज्ञ का मुख्य अंग ही संगतिकरण है। समन्वय को हम यज्ञ कह सकते हैं जहाँ सामंजस्य है ज्ञानपूर्वक आपसका मेल है वहाँ हम कह सकते हैं कि धर्मयुक्त व्यवहार है। यदि प्रीतियुक्त व्यवहार में धर्ममर्यादा न हो तो वह राग हो सकता है। धर्ममर्यादा ही आपस के व्यवहार में नैतिकता और ऋजुता लाती है। धर्ममर्यादाओं में रहने से ही मनुष्य मर्यादापुरुषोत्तम कहाता है। आर्यत्व और धर्माचरण में भेद नहीं है। जो मनुष्य सोच-समझकर ज्ञानपूर्वक पाँच महायज्ञों को कर्तव्य समझकर कर रहा है वह अवश्य धर्मज्ञ है वह अपने व्यक्तित्व का भी विकास कर रहा है और अपने आपको समर्पित करके समाज की सेवा करता हुआ जहाँ स्वयं यशस्वी होता है समाज को भी उन्नत करता है। उन्नत व्यक्तियों का संगठन उन्नत समाज है। धर्म-

३१. असत्=वास्तविकता से रहित और न टिकनेवाला।

३२. सत्य=सदैव हितकारी।

३३. नित्यपदार्थ=जैसे पुत्रादिकों की मोहरहित सेवा और उससे स्वात्मा की उन्नति।

३४. श्रेष्ठ व्यवहार=ऐसे ही प्रशंसायुक्त कार्यों में

३५. जगन्मङ्गलमय=संसार का कल्याण करना ही जिसका स्वभाव है।

३६. सर्वोत्कृष्ट विद्या=ब्रह्मवर्चस=वेदविद्या।

३७. चक्रवर्ती राज्यादि परमैश्वर्य जो स्थिर और परम सुखकारक=one world Government जो सुदृढ़ नियमों पर अवलम्बित परस्पर विरोध के अभाव में अत्यन्त सुखदायक।

३८. परम वैद्य=ईश्वर भी एक काय चिकित्सक है। आवश्यकता उसको तद्रूप आह्वान करने मात्र की है। बदले में उसने कोई पुरस्कार नहीं लेना है।

३९. सर्वथा=पूर्णतया।

४०. क्षमा कर=सहन करो, अधिक कष्ट न दो।

४१. कुकाम=बुरी इच्छा।

४२. प्राणपते=हमारे अस्तित्व के स्वामी।

४३. प्राणपितः=प्राण के कारण।

४४. प्राणाधार=अर्थात् आपकी नाराजगी से मेरा यह प्राण ही नहीं टिकेगा।

४५. प्राणजीवन=प्राण में गति • कार्यक्षमता आपके ही कारण है।

४६. स्वराज्यप्रद=सुख का शासन देनेवाले।

४७. न्याय राज्य=Just Government.

४८. आपकी ओर से ही=हमारे शासक अपने को आपका वास्तविक प्रतिनिधि समझें

४९. स्थिर हो=दृढ़ हो

५०. अधिकारी=योग्य सेवक

५१. धर्माधीश=अभ्युदय के स्वामी

५२. धर्म में स्थिर रख=अभ्युदय निःश्रेयस का यथानुगामी बना।

धर्मतत्त्व

लेखक—श्री लालचन्दजी, मेरठ

[गताङ्क से आगे (२)]

धर्मका मर्म समझना चाहिये। जो न्याय-युक्त आचरण हैं, जिस व्यवहार में सर्वहित निहित है, वह धर्म है। जो मनुष्य सब के हित में निज हित जानकर सब से हित करता है और भरसक यत्न करके परोपकार में कर्तव्य भावना स्थिर रखता है अर्थात् परोपकार को कर्तव्य समझ कर करता है, जो किसी से द्रोह नहीं करता। जो मनुष्य न करने योग्य कार्य को नहीं करता और करने योग्य कर्तव्य से कभी मुँह नहीं मोड़ता उसने धर्म का मर्म समझा है। जो मनुष्य वाणी से धर्म कहता है किन्तु आचरण में धर्म नहीं अपनाता वह मिथ्या-चारी धर्मध्वजी है। ऐसे मिथ्याचारी धर्मध्वजी लोग जिस समाज में अधिक संख्या में हों यह मानव समाज कभी उन्नत नहीं हो सकता। धर्म का तत्त्व अलोभ में निहित है मनुष्य सत्य-शील हो क्षमावान् भी हो और हो लोभी, तो उसकी इन्द्रियलोलुपता उसे कभी उन्नत नहीं होने देगी। जो दूसरों की उन्नति सहन नहीं कर सकता और उन्नत लोगों को देखकर उनसे ईर्ष्या करता है उसने धर्म का तत्त्व नहीं जाना धर्म का तत्त्व यह है कि किसी के साथ वैसा वर्ताव मत करो जो तुम चाहते हो कि वैसा कोई तुम से न करे अर्थात् जैसा तुम चाहते हो कि लोग तुमसे शिष्ट वर्ताव करें वैसा तुम भी सब से शिष्ट व्यवहार ही किया करो।

शील आस्तिक सज्जन वेद में श्रद्धावान् मनुष्यों का संगठन आर्यसमाज है। आर्यसमाज में आर्यत्व होना अनिवार्य है यदि आर्यसमाज में आर्यत्व का अभाव दीख पड़े तो वह केवल जनसमूह ही रह जायगा। मुझे तो निश्चय हो चुका है कि यज्ञ और सत्य तथा धर्म एक हैं और यज्ञ ऋत सत्य तथा धर्म की प्रक्रिया है। धर्माचरण और यज्ञमय जीवन एक ही है इसी प्रकार ऋतवान् होना ही धर्मशील होना है। कोई भी मनुष्य बिना सात्त्विक जीवन व्यवहार करने के धर्मशील हो ही नहीं सकता।

आर्यसमाज में हमें ऐसा वातावरण बनाना है कि यहाँ आकर लोगों का व्यक्तित्व विकसित हो, लोग यहाँ आकर आर्य बनें अत एव आर्य-सदस्योंके लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि उनमें आर्यत्व के गुण दिखाई दें।

संक्षेपतः चेतनता, सावधानता, स्फूर्ति, तेज, ओज, बल, पराक्रम, सत्यप्रेम, स्थिरता, दृढ़ता, धर्म आदि दिव्य गुण हैं जिन्हें धारण करने से मनुष्य चरित्रवान् कहा जा सकता है और येही गुण उसका भगवान् से सामीप्य स्थिर करने में सहायक होते हैं, इन गुणों को धारण करने से मनुष्य में आत्म-विश्वास होता है, उसमें आत्मप्रेरणा होने लगती है और जिसमें आत्मप्रेरणा होती है वही परमात्मप्रेरणा का अधिकारी है। यही हम गायत्री मन्त्र में भगवान् से चाहते है। धर्म का मर्म, पूर्ण आस्तिकता और नैतिकता में स्पष्ट हैं। धर्म का तत्त्व कहीं छिपा नहीं हैं। आत्मवान् मनुष्य धर्म का मर्म जानता है और तदनुसार आचरण करता हैं, हम सर्व सच्चे आस्तिक होकर ऋतवान् हों तो अवश्य हम धर्मशील होंगे।

नैतिक जीवन

आत्मविश्वास

लेखक—श्री रघुनाथ प्रसाद पाठक, देहली

महात्मा राम ने महारानी सीता की खोज और लंका पर आक्रमण करने के लिये न तो अयोध्या से सैनिक सहायता प्राप्त की थी और न मिथिला से। वे चाहते तो दोनों राज्यों की सेनाएँ उनकी सहायता के लिये उनके निर्णय पर रह सकती थी। इस जिज्ञासा का समाधान भले ही कुछ क्यों न हो, इतना निश्चित है कि राम में आत्मविश्वास कूट-कूट कर भरा था। उनका हृदय आत्म-विश्वास-जनित आशावाद से परिपूर्ण था। वे वीर थे, धीर थे, चरित्रवान् और बुद्धिमान् थे। उन्हें अपने शारीरिक एवं मानसिक विशेषताओं पर विश्वास था। वे परमात्मा के प्यारे थे। परमात्मा के प्यारे कर्तव्य-परायण व्यक्तियों को बाह्य सहायता की बहुत कम आवश्यकता होती है और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें यह सहायता सहज ही प्राप्त भी हो जाती है। आत्मविश्वास के कारण उनका मार्ग प्रायः प्रशस्त रहता है, जिन्हें अपनी शक्ति पर और अपने कार्य की उत्तमता पर भरोसा होता है उन्हें असफलता का बहुत कम मुँह देखना पड़ता है। किसी कार्य को हाथ में लेने से पूर्व ही उनके इस विश्वास से

कि वे उसमें सफल होंगे, सफलता सुनिश्चित हो जाती है। यह विश्वास अपने आभ्यन्तर पर निरन्तर दृष्टि रखने से उत्पन्न होता है।

आभ्यन्तर पर दृष्टि रखने का फल यह होता है कि मनुष्य को अपनी सुषुप्त शक्तियों का परिज्ञान होने लग जाता है और उसको यह अनुभव होने लगता है कि वह उन अनेक कार्यों को कर सकने में समर्थ हो सकता है जिनको वह भाग्य के आधीन समझकर छोड़ देने की भूल कर बैठता है। अतः मनुष्य का यह परम कर्तव्य होना चाहिए कि वह कर्तव्य कर्मों के अनुष्ठान के लिये अपनी शक्तियों को पहचाने और उन्हें क्रिया में लाए।

हम दूसरों के साहाय्य से काम निकाल सकते हैं परन्तु हमें उसमें आनन्द और स्फूर्ति की अनुभूति नहीं हो सकती जो अपनी सहायता से काम के होने पर होती है। दूसरों की सहायता लेना बुरा नहीं है और जीवन में ऐसे अवसर प्रायः उपस्थित होते हैं जब कि बिना बाह्य सहायता के काम नहीं चलता। परन्तु उस सहायता के लिये जिसकी अपने उद्योग, परिश्रम और विवेक के बल पर हमें आवश्यकता नहीं हो सकती, दूसरों पर निर्भर रहना बुरा है। अतएव मनुष्य को यह नियम बना लेना चाहिए कि जिस काम को वह अपने बाहु और बुद्धिबल से सम्पन्न कर सकता है उसके लिये दूसरों पर निर्भर न रहे। मनुष्य का आत्मा असीम शक्तियों का केन्द्र है। आत्मा की शक्तियों का विकास होने पर उसमें इतना अधिक बल आ जाता है कि वह अकेला संसार को हिला सकता है। जो व्यक्ति एकान्त में अपनी नैसर्गिक क्षमताओं का आनन्दानुभव नहीं करता, जिसका मन उस आनन्द की मूक प्रेरणाओं से आह्लादित नहीं रहता और जो उन क्षमताओं के आचरण से उनके पारितोषिक से लाभ नहीं उठाता, वह बड़ा अभागा होता है।

परमात्मा ने हमारे सुख और उपभोग के लिये नाना प्रकार के पदार्थों की सृष्टि की हुई है, परन्तु उनकी प्राप्ति बिना प्रयास के संभव नहीं हो सकती। परमात्मा छोटे से छोटे पक्षी के लिये खाने का प्रबन्ध करता है, परन्तु वह उसको पक्षी के घोंसले में नहीं फेंक देता है।

आत्मविश्वास की भावना मनुष्य की वास्तविक उन्नति का मूल कारण होती है क्योंकि सामर्थ्य से ही विश्वास का उद्भव होता है। समर्थ व्यक्ति ही उन्नति की चोटी पर चढ़ने में समर्थ हुआ करते हैं। परमुखापेक्षी व्यक्ति और समाज पग-पग पर अपमानित होने के अतिरिक्त परतन्त्र रहते और स्वतन्त्रता एवं आत्मनिर्भरता के प्रसादों से वंचित रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों और समाज पर यह बात भलीभाँति अंकित होनी चाहिए कि जो व्यक्ति केवल नकल करता है वह न तो कवि बन सकता है और न चित्रकार। जो व्यक्ति सदैव तूंबों के सहारे तैरता है वह तैराक नहीं बन सकता। इसी भाँति जो व्यक्ति या समाज दूसरों की दया और अनावश्यक सहायता पर निर्भर रहता है वह दुःखी और परतन्त्र रहता है। संसार के श्रेष्ठ एवं सर्वसाधारण जन स्वावलम्बी व्यक्ति का ही आदर करते हैं

जो व्यक्ति सुख और हर्ष की ओर ले जानेवाली प्रत्येक वस्तु के लिये अपने पर निर्भर रहता और दूसरों पर निर्भर नहीं रहता तो समझो उसने सुखी जीवन की उत्तम योजना बना ली है। इस प्रकार का व्यक्ति बुद्धिमान्, चरित्रवान् और संयमी होता है। ऐसा व्यक्ति अपने पर और परमात्मा पर निर्भर रहता है। हो सकता है मनुष्य की इच्छाओं की पूर्ति कराने में परमात्मा उसकी सहायता न करे परन्तु कठिनाइयों का सामना करने में उसे परमात्मा की सहायता निश्चित रूप से प्राप्त रहती है। वह

गिरता है, उठता है, परन्तु अपने आत्मा को गिरने नहीं देता। अपने पर विश्वास रखता है, सन्देह नहीं करता। आत्मविश्वास के कारण वह सहायता के स्रोतों को अपने निर्णय पर समझता हुआ उन पर सहज ही अधिकार कर लेता है। आत्म अविश्वास ही हमारी बहुतसी असफलताओं का कारण होता है। सफलता के प्रथम सोपान पर चढ़ने के लिये आवश्यक है कि मनुष्य इस आत्म अविश्वास को अपने पास न फटकने दे। यदि हम अपने को कमजोर समझने लग जायँ तो कमजोर बन जायँगे। यदि अपने को बलवान् समझने लग जायँ तो बलवान् बन जायँगे। आत्मविश्वासी जन संसार को अपने लिये नन्दनवन बनाकर उसका अच्छे से अच्छा उपभोग करके अपनी जीवनयात्रा सुख और हर्षमय बना लेते हैं।

पीछे की ओर लौटो

लेखक—भारतेन्दु 'भारत' व्याकरणाचार्य सागपाड़ा, डूँगरपुर (राजस्थान)

हमारे सामने प्रायः यह प्रश्न आया करते हैं,—क्या प्राचीन काल के लोग हमसे अधिक सुखी थे? क्या उनका बल-पुरुषार्थ आजकल के मानव से अधिक था? क्या प्राचीन काल का वैभव आजकल के वैभव से सैकड़ों गुना अधिक बढ़ा-चढ़ा था? क्या उस समय देवताओं का आधिक्य था? क्या घी दूध की नदियाँ बहा करती थीं? क्या वैदिक-सूर्य अपने मध्याह्न-स्तर पर था? क्या संसार धन-धान्य से परिपूर्ण था? क्या सभी प्रकार की विद्याओं का अध्यायनाध्यापन होता था? क्या भारत जगद्गुरु, कृषि-प्रधान एवं सोने की चिड़िया था? क्या संसार दैवी-आपत्तियों से रहित था? इत्यादि २। उक्त प्रश्नों के उत्तर बड़े ही महत्त्वपूर्ण किन्तु हाँ (हकारात्मक) हो सकते हैं। आइये, अब हम इन प्रश्नों पर विचार करें।

प्राचीन राजाओं की दिनचर्या पर थोड़ी दृष्टि दौड़ाइये। राजा ब्राह्म मुहूर्त में नाना गीत-वाद्य से उठाया जाता है। वह उठकर शौच-स्नानादि से निवृत्त हो जाता है। बड़े प्रेम से सन्ध्या-वन्दन करता है। प्रासाद के मुख्य-द्वार पर बहुत बड़ी यज्ञशाला बनी हुई है जो नाना धार्मिक उपकरणों से सुशोभित है। गीत-वाद्य के द्वारा ईश-प्रार्थना, राज-यशोगान एवं राजस्वागतगान होते हैं। राजा अपने राजगुरु, ऋषि-मुनि, पुरोहित, सचिवों तथा अन्य राज्याधिकारियों सहित यज्ञ-मण्डप पर आकर यथास्थान सुशोभित होता है। थोड़ी ही देर में वेद-मन्त्रों से आकाश गूँज उठता है। यज्ञ-धूम्र आकाश में प्रवाहित होता हुआ, चतुर्दिक यज्ञ-सूचना देता हुआ, सुगन्धित अञ्जलि से उदयमान बाल-रवि का अभिनन्दन करता है।

उधर प्रजापुरुषों पर दृष्टि दौड़ाइये। इस समय प्रत्येक गृह, प्रत्येक मन्दिर, प्रत्येक आश्रम व मठ से वेद-ध्वनि का मधुर निनाद सुनाई दे रहा है। क्या ऋषि, क्या मुनि, क्या नर, क्या नारी, क्या बाल, क्या वृद्ध, सभी अग्नि-होत्र की धूम मचा रहे हैं। अहा! सचमुच स्वर्ग यहीं है।

वस्तुतः जहाँ प्राचीन काल के आर्यों का जीवन पूर्ण यज्ञमय था, वहाँ धन-धान्य, सुख-वैभव एवं स्वच्छ वातावरण का क्या अभाव? यह तो एक वैज्ञानिक सत्य है कि हवन से जलवायु की शुद्धि, वर्षा एवं रोग के कीटाणुओं का नाश होता है तथा यह तो आनुभविक तथ्य है कि हवन से निर्माण व नाश दोनों कार्य सम्पादित होते हैं अर्थात् उससे मानव-जीवन के मित्रों का निर्माण होता है और शत्रुओं का विनाश। मानव-जीवन के मुख्यतः दो ही मित्र हैं—(१) सद्बुद्धि (२) स्वास्थ्य। उसी भाँति इसके विपरीत दो ही शत्रु हैं अर्थात् (१) कुबुद्धि एवं (२) अस्वस्थता। संसार की सारी समुन्नतियाँ सद्बुद्धि अथवा कुशाग्रबुद्धि पर ही

निर्भर है। मित्र-वृद्धि के प्राचीन आर्यों के पास चार ही मुख्य साधन थे—

(१) वेद-वेदाङ्गों की ब्रह्मचर्य-पूर्वक शिक्षा।
(२) यज्ञमय जीवन।
(३) योगाभ्यास।
(४) गोपालन।

प्राचीन शिक्षा-प्रणाली गुरुकुल-प्रणाली थी। मध्य-युग में नालन्दा और तक्षशिला, भारत में, दो विश्व-विख्यात शिक्षा-केन्द्र थे, जहाँ सहस्रों अध्यापक और लाखों विद्यार्थी संसार के कोने-कोने से अपने चरित्र की शिक्षा लेने के लिये आते थे, जैसा कि मनु महाराज कहते हैं—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

अर्थात् इस देश के उत्पन्न हुए विद्वानों के पास पृथ्वीभर के सारे मानव अपने-अपने चरित्र की शिक्षा के लिये आया करते थे। शिक्षा निःशुल्क थी। ब्रह्मचारी भिक्षा-याचना कर अपने व अपने गुरुओं का भरण-पोषण करते थे। गुरुकुलों का व्यय-भार जनता व राज्य वहन करते थे। गुरुकुल बस्ती से बाहर कोस दो कोस की दूरी पर हुआ करते थे। ब्रह्मचारी की वेश-भूषा सादी होती थी। ब्रह्मचर्य के नियमों का उससे पूर्णरूपेण पालन कराया जाता था। अपने गुरुकुल-वास में वह गुरु-मुख से वेदों का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन कर ३३३३ दिन पूरे निवास कर ही गृहस्थ बनता था। गुरुकुलों से ही विद्या, स्वास्थ्य एवं ब्रह्मचर्यरूपी तीनों धनों का स्वामी बन कर जब वह तेजस्वी ब्रह्मचारी घर पर आता था तब राजा व प्रजा दोनों उसका स्वागत करते थे। फिर उसकी विभिन्न कार्यों में नियुक्ति की जाती थी।

अब हम उन्नति के द्वितीय साधन 'यज्ञमय जीवन' पर विचार करते हैं। यज्ञ शब्द, 'यज देव-पूजासंगतिकरणदानेषु' धातु से बना है, जिसके अनुसार प्रत्येक द्विज 'यजमान' की उपाधि से अलंकृत होता था। सद्गृहस्थ का सम्पूर्ण जीवन यज्ञमय होता था जिससे वह विद्वानों, पितरों, आचार्यों व अतिथियों का आदर करता था, जिससे वह समाज के प्रत्येक मनुष्य के साथ मेल-मिलाप, सद्व्यवहार, प्रेम-भाव, पारस्परिक सौहार्द व साहाय्य तथा परोपकारादि सद्गुणों द्वारा सामाजिक संगठन को सुदृढ़ करता था; जिससे वह अपरिग्रही बनकर अधिकाधिक गौओं, हाथियों, घोड़ों, भूमियों, धान्यों, विद्याओं व धनों का श्रद्धापूर्वक दरिद्रों को दान देता था। उस समय दरिद्र आटे में नोन के बराबर हुआ करते थे, अतः भिखारियों की संख्या न्यूनातिन्यून होती थी।

एक सद्गृहस्थ अपने नित्यकर्मानुसार, साधारणतः ब्राह्म-मुहूर्त में उठ, परमेश्वर का धन्यवाद कर, शौच-स्नानादि से निवृत्त हो, सन्ध्या-हवन, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और बलिवैश्वदेव यज्ञ कर अभ्यागतों व अतिथियों का स्वागत-सत्कार कर, उनसे नाना उपदेश ग्रहण करता था।

प्राचीन काल के आर्यों का जीवन परम धार्मिक, पवित्र एवं यज्ञमय होता था, जिसके परिणामानुसार ठीक समय पर वृष्टि होती थी। पृथ्वी शस्य-श्यामला बन जाती थी। धन-धान्यों का अभाव न होता था। मानव एक दूसरे के सहायक बनते थे। लोगों की नीयत साफ़ होती थी। समय-समय पर बड़े यज्ञ, पक्षेष्टि, मासेष्टि एवं हरएक त्यौहार पर विशेष यज्ञ हुआ करते थे, जिनमें लोगों के विभिन्न वर्ग मिलकर एक सुदृढ़ सामाजिक संगठन स्थापित करते थे। विशेष पर्वों पर राजा भी महोत्सवों में भाग लेता था, जिससे राजा और प्रजा के मध्य एक प्रेम-तन्तु पारस्परिक आदरपूर्वक बँधा रहता था। यज्ञों के कारण जलवायु की शुद्धि होने से राजा व प्रजा के स्वास्थ्य में वृद्धि होती थी जिससे दवाइयों का अधिकाधिक व्यय बच जाता था। सम्राट् राजसूय यज्ञ करता था जिसमें संसार भर के राजाओं को सम्मिलित होने के लिये आमन्त्रित किया जाता था और जिसमें वे आमन्त्रित राजा लोग सम्राट् की सेवा में नाना प्रकार की तत्तद्देशीय सैकड़ों, सहस्रों व लाखों रुपयों के मूल्य के विचित्र उपहार समर्पित करते थे। सम्राट् अश्वमेध यज्ञ रचता था, जिसमें एक सजा हुआ अश्व, बड़े-बड़े महारथियों की सेनाओं सहित, दिग्विजय के लिये चतुर्दिक भेजा जाता था—जो राजा उस अश्व को, युद्ध के द्वारा रोकता था, उसे परास्त किया जाता था। विजयादशमी के अवसर पर, अस्त्र-शस्त्रों की शुद्धि के अनन्तर, राजा की अपने अधिकारियों, चतुरङ्गिणी के सैनिकों व विभिन्न राजकीय सेवकों सहित सवारियाँ निकला करती थीं जो राजकीय

वैभव का प्रदर्शन करती थीं। भावी राजा का चुनाव पूर्व राजा के राजपुत्रों में से योग्यतम, धार्मिक, सदाचारी व परोपकारी के रूप में होता था जिसे विद्यासभा, धर्मसभा व राजसभा, जिनका निर्माण तत्तद्देशीय जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा होता था, करती थीं। राजा सभाधीन एवं राजा व सभा प्रजाधीन होते थे। उस समय छोटे-छोटे अपराधों के लिये कठोर दण्ड दिये जाते थे, जिससे प्रजाएँ प्रायः शान्ति व सुख से रहती थीं। प्राचीन काल में भी वायुयान थे जिनका समय पड़ने पर यात्राओं के अतिरिक्त युद्धों के लिये भी प्रयोग होता था। लोग विद्युद्रथों का प्रयोग जल, स्थल व नभ के लिये भी किया करते थे। स्वयंचालित पंखे भी थे—उदाहरण के तौर पर हम वायु-युद्ध के लिये शाल्वनरेश व श्रीकृष्ण के मध्य हुए वैमानिक युद्ध, पाताल (अमेरिका) जाने के लिये श्रीकृष्ण व अर्जुन का अश्वतरी के उपयोग और राजा भोज के समय प्रचलित हुए स्वयंचालित पंखे के उपयोग, को ठीक समझते हैं। राजा भोज के समय एक लकड़ी का अश्व इस प्रकार का बनाया गया था जो स्थल और नभ में २७ कोस प्रति घंटे की चाल से दौड़ता था। प्राचीन काल में शल्य-क्रिया के लिये प्रयुज्यमान अस्त्र इतने तीक्ष्ण होते थे कि जिनसे शरीर के पतले से पतले बाल को भी कई भागों में लम्बा ही चीरा जा सकता था। उस समय के हाथ से बुने हुए वस्त्र भी इतने बारीक होते थे कि अङ्गूठी वा दियासलाई के एक खाली बॉक्स में भी पूरा का पूरा थान समा सकता था। उस समय के देव व मनुष्य किरीटों व कुण्डलों का प्रयोग करते थे। स्त्रियाँ अत्यन्त विदुषी व सदाचारिणी हुआ करती थीं। नियमानुसार समाज में नियोग की प्रथा प्रचलित थी, जिससे व्यभिचार व निस्सन्तानत्व का बहिष्कार किया जाता था।

स्वदेशोन्नति के तृतीय साधन 'योगाभ्यास' का वर्णन संक्षेपतः करते हुए हम इतना ही कहते हैं कि योग का ईश्वर की उपासना के लिये, आदि सृष्टि से ही उपयोग होता आ रहा है। उपासना को उस समय जीवनाधार समझा जाता था। योग के आठ अङ्गों अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—का क्रमिक विकास किया जाता था। सामाजिक सङ्गठन अर्थात् सभा-समितियों के लिये ही 'सभा-मन्दिरों' का निर्माण कराया जाता था। मूर्ति-पूजा का कतई उपयोग नहीं था। शाकाहार व संयम से शरीर को पुष्ट तथा मन व आत्मा को योगाभ्यास से परिपुष्ट किया जाता था। धर्म के दोनों अङ्गों अर्थात् अभ्युदय व निःश्रेयस का क्रमिक पालन किया जाता था। अभ्युदय के अनुसार उस समय इस देश का व्यापार इतना बढ़ा चढ़ा था कि इसे 'सोने की चिड़िया' कहते थे और निःश्रेयस अर्थात् पारलौकिक उन्नति में यह देश इतना प्रधान था कि इसे 'जगद्गुरु' कहते थे। विविध यज्ञों धार्मिक विशेषताओं, आध्यात्मिक शक्तियों तथा वैज्ञानिक सदुपयोगों के कारण यह देश दैवी-आपत्तियों से रहित होकर उस समय संसार में शिरोमणि रूप में सुशोभित हो रहा था।

अब हम उन्नति के चतुर्थ साधन 'गोपालन' पर आते हैं। वेद कहता है—**'गावो विश्वस्य मातरः'** अर्थात् गौएँ विश्व की माताएँ हैं। जिस प्रकार एक प्रशस्त एवं पुष्ट माता अपने शिशु को दुग्धादि से परिपुष्ट करती है एवमेव गौ, जो सारे संसार की माता है, दूध, दधि, घृतादि से हम सबको पुष्ट करती है, अतः उसे गोमाता कहकर समादृत करना चाहिये। प्राचीन काल में गोपालन एक राष्ट्रीय, प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जाता था और इसीलिये हमारे पूर्वज अत्यन्त सुखी, मेधावी, दृढ़ एवं ऐश्वर्यसम्पन्न थे। सर्व प्रकार के धनों में से गोधन की प्राथमिक सुरक्षा की जाती थी। महाभारत के कर्णधार हमारे योगिराज भगवान् श्रीकृष्ण तो आजीवन गोपालन के महत्त्वपूर्ण कार्य में इतने रत हो गए कि संसार को उन्हें 'गोपाल' की महोपाधि से समलंकृत करना पड़ा। इस महापुरुष ने गोपालन को महत्त्व देकर संसार को एक ठोस चेतावनी दी है कि यदि संसार गोपालन करना त्याग देगा तो निश्चय ही उसका उत्तरोत्तर ह्रास होता जायगा। अंग्रेजी भाषा के एक विद्वान् ने क्या ही अच्छा कहा है—

A healthy mind lives in a healthy body,

अर्थात् स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का वास होता है। उस समय घी और दूध की इतनी प्रचुरता थी कि वस्तुतः उनका उपयोग जल की भाँति

होने से हम एक प्रकार 'घी और दूध की नदियाँ' बहना ही कह सकते हैं। योगिराज श्रीकृष्ण, ग्वाल-बालों की टोलियाँ बनाकर "दधि-मक्खन खाने के लिये हैं, बेचने के लिये नहीं" के सत्याग्रह-स्वरूप गोप-गोपिकाएँ, जो दूध, दधि व मक्खन बेचने के लिये जाते थे, रास्ते में ही रोक कर उन्हें लूट कर चट कर जाते थे। प्राचीन काल में तो गौओं की इतनी भरमार होती थी कि राजा-महाराजा धन-धान्यों के दानों से गोदान को विशेष महत्त्व देते थे और सहस्रों व लाखों गौओं का दान एक-एक व्यक्ति को करते थे। प्राचीन काल में, जब कि काल को भी गोदोहन, गोधूलि आदि विशेषण दिये जाते थे और गोचर-भूमि, गोदान, गोरक्षा, गोशाला, आदि के कार्यों को महत्त्वपूर्ण दृष्टि से देखा जाता था, तब गोदुग्ध, गोघृत और नवनीतादि की अधिकाधिक वृद्धि से बल-पुरुषार्थ, एवं वृषभादिकों की वृद्धि से धनधान्य तथा सुखैश्वर्य का साम्राज्य क्योंकर न होता?

उपर्युक्त विवरण सर्वथा सत्य है; प्राचीन काल में के लोग हमसे अधिक सुखी, बली, धनी, व विद्वान् केवल इसलिये थे कि उस समय वेद वेदाङ्गों की ब्रह्मचर्यपूर्वक शिक्षा-पद्धति का प्रचार था, समाज का जीवन यज्ञमय था, योगाभ्यास को निःश्रेयस का आत्मा माना जाता था और गोपालन को मानव-जाति के अभ्युदय का सर्वश्रेष्ठ साधन समझा जाता था। हे बीसवी शताब्दी के मानवो! आओ, इधर उधर भटक कर अपने अमूल्य जीवन को चकनाचूर मत करो और संसार की सर्वतोमुखी उन्नति के लिये, पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिये, प्राचीन शिक्षा-पद्धति, यज्ञ, योगाभ्यास व गोपालन—इन चतुः साधनों का चतुर्दिक प्रचार व प्रसार करते हुए पीछे की ओर लौटो। यही सच्ची उन्नति का सोपान है।

त्रैतवाद का महावाक्य

लेखक—श्री पं० बुद्धदेवजी विद्यालंकार

जिस प्रकार शाङ्कर मत अद्वैतवादी है। इसी प्रकार हम आर्य लोग त्रैतवादी हैं, यह सकल लोक विदित ही है। द्वैतवादियों तथा अद्वैतवादियों के सिद्धान्त में विवाद का मन्त्र प्रायः द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया रहता है। जिस प्रकार तत्त्वमसि यह अद्वैतवादियों का महावाक्य है इसी प्रकार द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया यह द्वैतवादियों का महावाक्य है परन्तु आज हम एक ऋग्वेद का मंत्र उपस्थित करते है जो स्पष्ट त्रैतवाद का प्रतिपादन करता है। मंत्र इस प्रकार है—

त्रयः केशिनः ऋतुथा वि चक्षते
संवत्सरे वपत एक एषाम्।
विश्वमेको अभि चष्टे शचीभि-
र्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्॥

१, १६४, ४४,

इस संसार में तीन केशोंवाले ऋतुक्रम से अपनी अपनी कहानी कहते हैं इनमें से दूसरा संवत्सर संवत्सर में बीज बोता है एक अपनी शक्ति से विश्व का साक्षी बनता है तीसरा ऐसा है जिसका ध्राजि अर्थात् चढ़ना ही दृष्टिगोचर होता है असली रूप नहीं।

इनमें बीज बोनेवाला जीवात्मा है उसका एक जीवन एक संवत्सर है जिसमें जो बीज वह बोता है उसका फल विश्व साक्षी भगवान् अपनी शक्तियों से देता है। अब तसीरा वह है जिसका असली स्वरूप जिसमें सत्त्व रजस् तमस की साम्यावस्था होती है कोई नहीं देख पाता परन्तु जब गति द्वारा यह साम्य विक्षुब्ध हो जाता है तो फिर उसमें रूप रस गन्ध स्पर्श शब्द की नाना प्रकार की लहरें उत्पन्न होती है जिनके कम्पन को ही हम देखते हैं अर्थात् अनुभव करते हैं असली रूप प्रकृति का क्या है हम नहीं जान सकते। मंत्र में और सब शब्द तो स्पष्ट हैं केवल दो शब्दों की व्याख्या हमें करनी है। वे दो शब्द हैं केशिनः

और भ्राजिः केश का अर्थ है तार. यह शब्द क्लिश. धातुसे बना है (क्लिशेरन्‌लो लोपश्च.उणा.५.३३.) जो सूक्ष्म होने के कारण चुभ जाय.वह केश कहलाता है। रङ्ग क्या है पदार्थ में से जो सूक्ष्म तार के समान लहर उत्पन्न होती है वह आंख पर जो प्रभाव उत्पन्न करती है वह रूप है। त्वचा पर जो शीतोष्णादि प्रभाव उत्पन्न करती है वह स्पर्श है। जो गन्ध की लहर नासिका पर प्रभाव उत्पन्न करती है वह गन्ध है। जो जिह्वा पर लहर उत्पन्न होती है वह रस है जो आकाश में लहर उत्पन्न होती है वह शब्द है जिसका प्रभाव कान पर पड़ता है। वेद में रुद्र को हरिकेश तथा पुराण में व्योमकेश कहा है जिससे स्पष्ट है कि पदार्थों में जो शब्दादि की लहरें उठती हैं उन्हीं को वेद केश कहता है। वह एक प्रकार के तार हैं। उन्हें हरि इस लिये कहा कि वे रूप शब्दादि की लहरों को हरण करते हैं अर्थात् पहुंचाते हैं इसी लिये संस्कृत में दिशाओं को हरित कहते है क्योंकि यह लहरों के केश चारों ओर फैल जाते हैं फिर जीवात्मा और परमात्मा अपनी=अपनी शक्तिसे प्रकृति में लहर उत्पन्न करते हैं इस लिये वे भी केशी हैं इसीलिये वैष्णव लोग परमात्मा को केशव कहते। कृष्ण महाराज ने अपने युग में सारे देश में नई नई लहरें उत्पन्न की। गोहत्या को बन्द किया, महाभारत साम्राज्य स्थापन किया इस लिये वे भी केशव कहलाये।

परन्तु तीनों केशवों में से एक संवत्सर में कुछ बोता है। यहाँ सायण ने वप का अर्थ 'उस्तरे से बाल मूँडना' इस प्रकार किया है परन्तु उसका संवत्सर से कुछ सम्बन्ध नहीं। इसलिये वप का अर्थ बीज बोना यही ठीक है वह एक जीवन रूप संवत्सर में जो बीज बोता है वही संवत्सर अर्थात् जीवन के अन्त में उसकी फसल होती है। उसके जीवन के नाना प्रकार के उतार चढ़ाव इस संवत्सर की ऋतुएं हैं। सब ऋतुओं का चक्र जब पूरा हो जाता है तो उनका संवत्सर अर्थात् एक साथ बसना (Sumtatal) संवत्सर कहलाता है। एक जीवन के पश्चात् नया जन्म हुआ सो नई फसल बोनी आरम्भ हुई। यही वपते का युक्तिसङ्गत अर्थ है।

अब दूसरा शब्द भ्राजि लीजिये, भ्रज् धातु गत्यर्थक है किन्तु यह बाज पक्षी के समान वेग से उड़ने की गति का नाम है। इसमें प्रमाण स्वयं वेद है। वेद में दो स्थान पर श्येनस्येव भ्रजतः यह पाठ है, (ऋ. १.१६५.२ ऋ.४.४०.३) इसलिये भ्राजि का अर्थ हुआ बाज पक्षी के समान प्रबल वेगवाली सीधी उड़ान।

हमने त्रैतवाद के सम्बन्ध में यह मंत्र उपस्थित किया है। आशा है विद्वज्जन इससे प्रसन्न होंगे।

महर्षि दयानन्द जी की दृष्टि में "यज्ञ"

लेखक—श्री पं० शिवपूजनसिंहजी कुशवाहा विद्यावाचस्पति, साहित्यालंकार, कानपुर

वेदों पर श्री स्कन्दस्वामी उद्गीथ वेंकटमाधव, आत्मानन्द, देवस्वामी, मुद्गल, हरिस्वामी, आनन्दबोध, देवयाज्ञिक, देवपाल, भवस्वामी, भट्ट भास्कर, भरत स्वामी आदि आचार्यों के भाष्य हस्तलेख रूप में प्राप्त हैं श्री सायण, उव्वट, महीधर ने भी वेदभाष्य किए, परन्तु ये रूढ़िवाद में पड़कर वेदों के वास्तविक अर्थ से दूर रहे। इन्होंने वेदों के अश्लील तथा दूषित अर्थ किए। अश्व महिषी संगम, गोमांस आदि खाने तक के सम्पूर्ण वाममार्ग के सिद्धान्तों को प्रदर्शित किया जिससे वेदों की महिमा जाती रही। इनके भाष्य पर बंगाल के वेदों के सुप्रसिद्ध पंडित आचार्य सत्यव्रतजी सामश्रमी लिखते हैं:—

"वस्तुतो ध्वान्ताच्छन्नविज्ञानकालिकानामशेषशेमुषीमतामपि तेषां सायणमहीधरादीनामधिदेवतार्थतोपि मन्त्राभिप्रेतं प्रकृतविज्ञानं नैव स्फुरितं सम्यगिति तच्छोच्यमेवाभवत्[1]।"

अर्थात्—"अन्धकार से आच्छन्न समय में होने के कारण परम विद्वान् होते हुए भी सायण, महीधरादि वैदिक विज्ञान न जान सके यह शोक है।"

वेदभाष्यकारों के विषय में वैदिक गवेषक श्री पं० भगवद्दत्तजी देहली ने भी विस्तृत विवेचन किया है।[2] आर्यसमाज के संस्थापक योगिराज महर्षि दयानन्दजी महाराज ने भी अपनी लेखनी उठाकर वेदार्थ में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। आपने वेदों को प्रभु की वाणी, नित्य और स्वतःप्रमाण कहा है और अपने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' 'सत्यार्थ प्रकाश' आदि ग्रन्थों में भी लिखा है। आपका अर्थ त्रिविध प्रक्रिया के अनुसार है जिस प्रक्रिया को श्री स्कन्दस्वामी ने भी अपने निरुक्त भाष्य में स्पष्ट स्वीकार किया है। इनके भाष्य की प्रशंसा बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों ने मुक्त कंठ से की है। इसका पूर्ण विवेचन हमने अपने ग्रन्थ महर्षि दयानन्दजी कृत वेदभाष्यनुशीलन में[3] किया है जो पाठकों को अवश्य देखना चाहिए।

आधुनिक काल के योगिराज परलोकवासी श्री अरविन्द घोष जी ने स्पष्ट लिखा है:—

"There is nothing fantastic in Dayanand's idea that Veda contains other truths of science as well as Religion. I will add my own conviction that Veda contains other truths of science which the modern world does not possess at all. Immediately the character of the Veda is fixed in the sense Dayanand gave to it, the merely ritual mythological and polytheistic interpretation of Sayanacharya collapses, and the merely Naturalistic and materiological interpretation of Europeans also collapses. We have instead, one of the world's Sacred Books and the Divine worth of lofty and noble religion."[4]

अर्थात्—"ऋषि दयानन्द की इस धारणा में कि वेद धर्म और पदार्थ विद्या के भंडार हैं कोई अयुक्त वा अनहोनी बात नहीं है। मैं उनकी उत्तम धारणा में अपना विश्वास और जोड़ना चाहता हूँ कि वेदों में पदार्थ विद्या की अन्य ऐसी सचाइयाँ भी हैं जिनको आजकल का संसार यत्किंचित् भी नहीं जान पाया है। एक बार वेदों की स्थिति स्वामी दयानन्द के अभिमतानुसार समासीन हो जाने दो तो फिर देखोगे कि सायणाचार्य का केवल रूढ़िपरक और कपोलकल्पित अनेक ईश्वरवाद पर आश्रित वेदों के भाष्य का भवन अपने आप गिर जायगा और उसी के साथ-साथ पाश्चात्य विद्वानों का केवल भौतिक पदार्थ और प्राकृतिक पूजनपरक भाष्य भी धराशायी हो जायगा और वेद एक उच्च तथा गौरवास्पद ईश्वरीय ज्ञान पुस्तक के रूप में हमारे पास शोभनीय होगा।

---

१. "ऐतरेयालोचनम्" पृष्ठ १८९ (द्वितीयसंस्करण, संवत् १९२३ वि. कलकत्ता)।

२. "वैदिक वाङ्मय का इतिहास" भाग प्रथम, खण्ड द्वितीय, प्रथम संस्करण।

३. मेसर्स जयदेव ब्रदर्स, आत्माराम पथ, बड़ोदा से प्रकाशित।

४. अर्द्धमासिक पत्रिका "सुधा" लखनऊ का 'दयानन्द अङ्क" वर्ष ७, खण्ड १, अक्टूबर १६, सन् १९३३ ई०, संख्या ६, पृष्ठ ४९५।

'यज्ञ' शब्द के विषय में बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वान् 'यज्ञ' शब्द से केवल 'अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त श्रौत कर्मों' का ही ग्रहण करते हैं।

काशी के पौराणिक पंडित वेणीराम शर्मा गौड़, वेदाचार्य, काव्यतीर्थ, ने 'यज्ञ-मीमांसा' नामक एक उत्तम पुस्तक लिखी है पर पौराणिक दृष्टिकोण से लिखी जाने के कारण हम पूर्णतः सहमत नहीं हैं।

'यज्ञ' का अर्थ 'यज्, देवपूजा, संगतिकरण, दानेषु' इस धात्वर्थ के आधारपर है।

महर्षि दयानन्द जी महाराज अपने वेदभाष्य में 'यज्ञ' शब्द का अर्थ 'अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त श्रौत कर्म' के अतिरिक्त 'अनेक शुभ कर्मों' का ग्रहण करते हैं।

वैदिक और प्राचीन साहित्य में 'यज्ञ' शब्द का ऐसे ही व्यापक अर्थ में प्रयोग है और प्रत्येक श्रेष्ठ कर्म का उसमें अन्तर्भाव हो सकता है। यथाः—

अध्वरो वै यज्ञः (शतपथ ब्रा० १।२।४।५ : १।४।१।३८)

यज्ञो वै नमः (शतपथ ब्रा० ७।४।१।३०)

यज्ञो वै भुज्युः (यजुर्वेद अ० १८ मं० ४२)

यज्ञो हि सर्वाणि भूतानि भुनक्ति (शतपथ ब्रा० ९।४।१।११)

यज्ञो भगः (शतपथ ब्रा० ६।३।१।१९)

यज्ञो वै मधु सारघम् (शतपथ ब्रा. ३।४।३।१३)

यज्ञो वै स्वः (यजु १।११)

यज्ञो वै सुम्नम् (शतपथ ब्रा० ७।२।२।४)

यज्ञो वै विशो यज्ञे हि सर्वाणि भूतानि विष्टानि। (शतपथ ब्रा० ८।७।३।२१)

ब्रह्म हि यज्ञः (३।१।४।१५)

यज्ञो वै भुवनज्येष्ठः (कौ० ब्रा० २५।११)

यज्ञो वै भुवनस्य नाभिः (तैत्तिरीय ब्रा०३।९।५।५)

रेतो वा अत्र यज्ञः (शतपथ ब्रा० ७।३।२।९)

यज्ञो वा अवति (तांड्य ब्रा० ६।४।५)

ऋतु संधिषु वै व्याधिर्जायते (गोपथ ब्रा० उ० १।१९ : कौ० ब्रा० ५।१)

आत्मा वै यज्ञः (शतपथ ब्रा० ६।२।१।७)

स्वर्गो वै लोको यज्ञः (कौ० १४।१)

यज्ञो विकंकतः (शतपथ ब्रा० १४।१।२।५)

यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म (शतपथ ब्रा० १।७।१।८)

यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म (तैत्तिरीय ब्रा० ३।२।१।४)

यज्ञो वै महिमा (शतपथ ब्रा० ६।३।१।१८)

पुरुषो वै यज्ञः (कौषीतकी ब्रा० १७।७)

यज्ञो वै भुवनम् (तै० ३।३।७।५)

यज्ञो वा अविः ऋतस्य योनिः (शतपथ ब्रा० १।३।४।१६)

इन वचनों से महर्षि के अर्थों की पुष्टि होती है। इन वाक्यों में लोकोपकारक सब श्रेष्ठ कर्मों को यज्ञ नाम से कहा गया है।

अब महर्षि दयानन्दजी महाराज के वेदभाष्य से कतिपय उदाहरण दिए जाते हैं:—

(१) यजुर्वेद अ० १ मन्त्र २१ के भावार्थ में "विद्वत्संग विद्योन्नतिहोमशिल्पाख्यैर्यज्ञैर्वायुवृष्टिजलशुद्धयश्च सदैव कार्या इति"—विद्वानों का संग तथा विद्या की उन्नति सेवा होम शिल्प कार्य रूपी यज्ञों से वायु और वर्षा जल की शुद्धि सदा करनी चाहिए।

(२) यजु० अ० ५ मन्त्र २. में 'उर्वशी' शब्द का यौगिक अर्थ करते हैं:—

'उर्वशी ययोरूणि बहूनि सुखान्यश्नुवते सा यज्ञ-क्रिया'—बहुत सुखों को प्राप्त करानेवाली यज्ञ क्रिया है।

पौराणिक भाष्यकार यहाँ 'उर्वशी' से 'अप्सरा' का ग्रहण करते हैं जो भ्रममात्र है।

देखिए ऋग्वेद ७।३३।१० में 'उर्वशी' को 'विद्युतो-ज्योतिः'—'विद्युत् की ज्योति' कहा है।

ऋग्वेद १०।९५।१७ में 'उर्वशी' को वाणी कहा है।

(निरुक्तसमुच्चय ४।१४) में 'उर्वशी' को विद्युत् बतलाया है।

'विद्युत् उर्वशी' इति दुर्गाचार्यः (निरुक्त भाष्य ५।१४)

महीधर ने यजु० ५।२ का अश्लील अर्थ करते हुए लिखा है:—'यथोर्वशी पुरूरवसो नृपस्य भोगायाधस्ता-च्छेते...'

अर्थात्—जैसे उर्वशी, पुरूरवा राजा के भोग के लिए नीचे सोती है।

इनका अर्थ सर्वथा ही त्याज्य है क्योंकि महीधर वाममार्गी थे।

(३) यजु० अ० ५ मन्त्र ३ में यज्ञ शब्द का अर्थ—'अध्ययनाध्यापनाख्यं कर्म'—पढ़ने-पढ़ाने रूप यज्ञ। राजर्षि मनु जी ने भी लिखा है—'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः' (मनुस्मृति ३।७०) इसकी व्याख्या करते हुए श्री कुल्लूक भट्ट लिखते हैं—'अध्यापनशब्देनाध्ययनमपि गृह्यते जपोऽहुत इति वक्ष्यमाणत्वात्। अतोऽध्यापनमध्ययनं च ब्रह्मयज्ञः।'

इससे महर्षि दयानन्द जी कृत—'अध्ययनाध्यापनरूप' अर्थ का स्पष्ट समर्थन होता है।

(४) यजु० ७।३५ में 'सोम' शब्द का अर्थ—'सकलगुणैश्वर्यकल्याणकर्माध्ययनाध्यापनाख्यं यज्ञम्'—समस्त अच्छे गुण ऐश्वर्य और सुख करने वाले पठन-पाठन रूपी यज्ञ को।

इसी प्रकार इसी मन्त्र में 'सुयज्ञाः' शब्द का अर्थ—'शोभनोऽध्ययनाध्यापनाख्यो यज्ञो येषां ते'—'अच्छे पढ़ने-पढ़ाने वाले विद्वानों के समान।'

(५) यजु० ११।७ तथा में तथा ९।१ में 'यज्ञं'—'सर्वेषां सुखजनकं राजधर्मम्'—सबको सुख देनेवाले राजधर्म का' (यजु० ९।१ में)। और 'यज्ञम्'—'सुखानां संगमकं व्यवहारम्'—सुखों के प्राप्त कराने हारे व्यवहार वह सब यज्ञ है' (य० ११।७ में)

(६) यजु० अ० ११ मन्त्र ८ में 'यज्ञम्'—'विद्या और धर्म का संयोग कराने हारे यज्ञ को।'

(७) 'यज्ञेन'—'विद्यैश्वर्योन्नतिकरणेन'—'यज्ञ उस साधन को कहते हैं, जिससे विद्या और ऐश्वर्य की उन्नति हो।'

(८) यजु० अ० १८ मन्त्र ९ में 'यज्ञेन'—'सर्वरस-पदार्थवर्धकेन कर्मणा'—'यज्ञ उस कर्म को कहते हैं जो सर्व रसों और पदार्थों को बढ़ावे।'

(९) यजु० अ० १८ मन्त्र २६ में 'यज्ञेन पशुपालन-विधिना'—'जिस विधि से पशुपालन हो उस विधि का नाम यज्ञ है।'

(१०) यजु० अ० १८ मन्त्र २७ 'यज्ञेन'—'पशु-शिक्षाख्येन'—'पशु शिक्षा भी यज्ञ है।'

(११) यजु० अ० १८ मन्त्र ६२ में 'यज्ञम्' 'अध्ययना-ध्यापनाख्यम्'—अध्ययनाध्यापन कर्म का नाम यज्ञ है।

(१२) यजु० अ० २२ मन्त्र २३ में 'यज्ञ' शब्द बहुत बार आया है। इस मन्त्र में 'यज्ञ' शब्द से अनेक अर्थों का ग्रहण किया है। विद्यादान को भी यज्ञ कहा है। योगाभ्यास आदि कर्म भी यज्ञ है। श्रेष्ठ काम वा उत्तम काम यज्ञ है। यज्ञ का अर्थ यज्ञादि सत्कर्म करके प्रकट किया है कि जिन कर्मों को यज्ञ शब्द से ही प्रकट कर सकते हैं। उनसे अतिरिक्त कर्मों का ग्रहण भी 'यज्ञ' शब्द से करना युक्त है।

व्यापक परमात्मा और जीवात्मा दोनों यज्ञ हैं।

(१३) यजु० अ० २३ मन्त्र ५७ में 'यज्ञ' शब्द का अर्थ 'जगत् वा संसार' किया है।

(१४) यजु० अ० २३ मन्त्र ६२ में 'यज्ञ' शब्द से 'जगदीश्वर' अर्थ लिया है।

(१५) यजु० अ० २५ मन्त्र २७ में 'यज्ञ' शब्द का अर्थ 'सत्कार' किया है।

(१६) यजु० अ० २५ मन्त्र २८ में 'यज्ञ' शब्द का अर्थ 'संगत' किया है।

(१७) यजु० अ० २५ मन्त्र ४६ में 'यज्ञ' शब्द का अर्थ 'विद्वानों के सत्कार आदि उत्तम काम' किया है।

(१८) यजु० अ० २६ मन्त्र १९ में 'यज्ञम्' का अर्थ 'धर्म्यं व्यवहारम्'—'धर्मयुक्त व्यवहार' ऐसा किया है।

(१९) यजु० अ० २६ मन्त्र १ में 'यज्ञम्' का अर्थ 'प्रशस्तव्यवहारम्'—'उत्तम व्यवहार' किया है।

(२०) यजु० अ० २७ मन्त्र ११ में 'यज्ञ' का अर्थ 'सङ्गतव्यवहार' किया है।

(२१) यजु० अ० २७ मन्त्र २६ में 'यज्ञ' का अर्थ 'सङ्गतसंसार' किया है।

(२२) यजु० अ० २९ मन्त्र ३६ में 'यज्ञ' का अर्थ 'अनेक विध व्यवहार' ऐसा किया है।

(२३) यजु० अ० ३० मन्त्र १में 'यज्ञ' शब्द का अर्थ—'राजधर्माख्यम्'—'अर्थात् राजधर्म रूप यज्ञ को' ऐसा किया है।

(२४) यजुर्वेद अध्याय ३७ मन्त्र ८ में 'मखाय' शब्द का अर्थ 'ब्रह्मचर्य आश्रम रूप यज्ञ के' किया है। इस अर्थ में 'ब्रह्मचर्य आश्रम' को यज्ञ कहा है।

(२५) यजु० अ० ३१ मन्त्र 'यज्ञ' का अर्थ—'पूजनीयतम' किया है।

(२६) यजु० अ० ३१ मन्त्र १४ में 'यज्ञ' शब्द का अर्थ 'मानस ज्ञानमय यज्ञ' किया है।

(२७) यजु० अ० ३१ मन्त्र १६ में 'यज्ञ' का अर्थ 'ज्ञान पूजनीय सर्वरक्षक अग्निवत् तेजस्वी ईश्वर' किया है।

(२८) यजु० अ० ३३ मन्त्र ३३ में 'यज्ञ' शब्द का अर्थ 'यात्रा संग्राम वा हवन रूप यज्ञ' लिखा है।

(२९) यजु० अ० ३४ मन्त्र २ में 'यज्ञ' का अर्थ 'अग्निहोत्रादि वा धर्म संयुक्त व्यवहार ऐसा वा योग यज्ञ' किया है।

(३०) यजु० अ० ३४ मन्त्र ४ में 'यज्ञ' का अर्थ 'अग्निष्टोमादि वा विज्ञान रूप व्यवहार' ऐसा किया है।

(३१) यजु० अ० ३८ मन्त्र ११ में 'यज्ञ' का अर्थ 'विद्वानों के सङ्ग' किया है।

[शेष टाइटल पेज ३ पर]

वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन

लेखक—युधिष्ठिर मीमांसक, मोतीझील काशी।

यह निर्विवाद है कि जब से वेद[1] का प्रादुर्भाव हुआ तभी से वेदार्थ के समझने समझाने का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ। आरम्भ में वेदार्थ का बोध वेद से ही करा दिया जाता था। तदन्तर जब मतिमान्द्यादि के कारण वेद से वेद का अर्थ समझना समझाना दुरूह हो गया, तब ऋषियों ने वेदार्थ का ज्ञान करने कराने के लिए वेदाङ्गों की रचना और उनके अभ्यास द्वारा वेदार्थ-बोध कराने का उपक्रम किया[2]। इसी काल में परम्परा से परिज्ञात वेदार्थ को सुरक्षित रखने और उसे सुगमता से हृदयङ्गम कराने के लिए यज्ञों[3] और उपाख्यानों[4] की प्रकल्पना हुई।

आरम्भ[5] से अद्य यावत् काल को हम वेदार्थ की दृष्टि से स्थूलरूप में चार विभागों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम काल—कृतयुग के अन्त तक, दूसरा—त्रेता से द्वापर के अन्त तक, तीसरा—कलि के प्रारम्भ से विक्रम की १९ वीं शताब्दी तक। इसके पश्चात् वेदार्थ के चतुर्थ काल का आरम्भ होता है।

इस कालविभाग का निर्देश हम इस प्रकार भी कर सकते हैं—प्राग्याज्ञिक काल, पूर्वयाज्ञिक काल, अपर याज्ञिक काल और आधुनिक काल।

इतने सुदीर्घकाल में देश, काल और परिस्थिति के

---

१. 'वेद' शब्द मूलतः मन्त्र-संहिताओं का वाचक है। 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' परिभाषा औत्तरकालिक तथा एकदेशी है। देखो हमारा "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् इत्यत्र कश्चिदभिनवो विचारः" नामक 'अखिल भारतीय प्राच्यविद्यासम्मेलन' के लखनऊ अधिवेशन (सं० २००८) में पढ़ा गया संस्कृत निबन्ध। यह निबन्ध भाषानुवाद सहित वेदवाणी वर्ष ४ अङ्क ८ में तथा पृथक् पुस्तक रूप में भी प्रकाशित हो चुका है।

२. साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च। निरुक्त १।२०॥

निरुक्त के इस सन्दर्भ की व्याख्या निरुक्तवार्तिककार ने इस प्रकार की है—

असाक्षात्कृतधर्मभ्यस्ते परेभ्यो यथाविधि। उपदेशेन सम्प्रादुर्मन्त्रान् ब्राह्मणमेव च॥
अशक्तास्तूपदेशेन ग्रहीतुमपरे तथा। वेदमभ्यस्तवन्तस्ते वेदाङ्गानि च यत्नतः॥

मण्डनमिश्रकृतस्फोटसिद्धि की गोपालिका टीका में उद्धृत।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (प्रश्नोत्तर विषय, पृष्ठ ३६८ संस्क० ३) में लगभग ऐसी ही व्याख्या की है। निरुक्त के उक्त संदर्भ की दुर्ग स्कन्दस्वामी तथा आधुनिक व्याख्याकारों की व्याख्याएँ अशुद्ध हैं।

३. यज्ञों की उत्पत्ति क्यों और कब हुई, इसकी विवेचना आगे की जायेगी।

४. ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता। निरुक्त १०।१०, ४६॥ इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। महाभारत आदि० १।२६७॥

५. हमने इस लेख में जो ऐतिहासिक काल लिखे हैं, वे हमारे अपने मन्तव्य के अनुसार हैं। उस मन्तव्य का संक्षेप इस प्रकार है—

पृथिवी की उत्पत्ति से अबतक लगभग दो अरब सौर वर्ष व्यतीत हुए हैं। इस सुदीर्घ काल में अनेक बार खण्ड प्रलय हुए, उनसे अनेक बार मनुष्यसृष्टि का क्रम-भङ्ग हुआ। आज से लगभग १७ सहस्र सौर वर्ष पूर्व भी एक ऐसा ही जलौघ आया था (इसका संकेत संसार की समस्त प्राचीन धर्म पुस्तकों में है)। जिससे पूर्व मनुष्य सृष्टि का क्रम भङ्ग हुआ और नये रूप से मनुष्य सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ। वर्तमान मनुष्य सृष्टि को प्रादुर्भूत हुए लगभग १६ सहस्र वर्ष हुए हैं। इन वर्षों की गणना इस प्रकार है—कृत ४८००, त्रेता ३६००, द्वापर २४०० और कलि १२०० दिव्य वर्ष

परिवर्तन के साथ-साथ वेदार्थप्रक्रिया के दृष्टिकोण में भी समय समय पर परिवर्तन होता रहा। उसमें अनेक वाद उत्पन्न हुए। उन्हीं सब वादों का हम यहां भारतीय ऐतिहासिक दृष्टिकोण से संक्षिप्त अनुशीलन करेंगे। यहां यह भी ध्यान रहे कि हम इस ऐतिहासिक प्रक्रिया में से अपने मन्तव्य के अनुसार ही कालगणना और ग्रन्थ-रचना काल का निर्देश करेंगे।

१—प्राग्याज्ञिक काल (=कृतयुग) का वेदार्थ

हम आगे लिखेंगे कि यज्ञों का प्रादुर्भाव कृतयुग के अन्त या त्रेता के प्रारम्भ (अर्थात् सन्धिकाल) में हुआ। अतः कृतयुग के आरम्भ से लेकर उसके अन्त तक वेदार्थ की क्या परिस्थिति रही, इसका परिज्ञान इस समय पूर्णतया नहीं हो सकता। क्योंकि इस समय जितना वैदिक वाङ्मय उपलब्ध होता है, वह प्रायः सब भारत युद्ध से ५०० वर्ष पूर्व से लेकर ३०० वर्ष पश्चात् तक रचा गया है।[1] प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में एकमात्र मनुस्मृति ही ऐसा ग्रन्थ है, जिसका मूल रूप से प्रणयन कृतयुग के अन्तिम चरण में और भृगु द्वारा प्रवचन त्रेता के प्रारम्भ में हुआ। इसी समय में नारद ने मानव धर्मशास्त्र के राजधर्म अंश का पृथक् रूप से प्रवचन किया। कृतयुग के द्वितीय चरण में ब्रह्मा द्वारा विभिन्न शास्त्रों का अति विस्तृत शासन हुआ। उसके पश्चात् ऋषियों ने ब्रह्मा द्वारा शासित सुदीर्घ शास्त्रों का क्रमशः संक्षिप्त, संक्षिप्ततर और संक्षिप्ततम प्रवचन किया (इसीलिये ऋषियों द्वारा किये गये शास्त्रों के समस्त प्रवचन "अनुशासन" कहाते हैं)। वर्तमान काल में विभिन्न शास्त्रों के जितने आर्ष ग्रन्थ उपलब्ध हो रहे हैं, वे सब उन उन विषयों के अन्तिम संक्षिप्ततम आर्ष संस्करण हैं।[2] इसलिये देश काल और परिस्थिति वश उत्तरोत्तर परिवर्तन होने पर भी इन परम्परागत आर्ष तन्त्रों में प्राचीन आद्यकालीन वेदार्थ सम्बन्धी कतिपय निर्देश सुरक्षित रह गये हैं। अतः हम मनुस्मृति तथा अन्य आर्ष वाङ्मय के आधार पर प्राग्याज्ञिक काल के वेदार्थ पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

मनुस्मृति के १२ वें अध्याय में लिखा है—

सेनापत्यं[3] च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥१००॥

अर्थात् सब मिलाकर १२००० सहस्र दिव्य वर्ष हुए (ऐतिहासिक काल गणना में दिव्य वर्ष का अर्थ सौर वर्ष है, मानव वर्ष से ३६० गुने बड़े नहीं)। भारत युद्ध के ३६ वर्ष के अनन्तर कलि का आरम्भ हुआ और वह भारत युद्ध के १२३६ वर्ष के (३६+१२००) के अनन्तर समाप्त हो गया। कलि समाप्ति के समय प्रसिद्ध, कृतयुग के शुभ लक्षण दिखाई न पड़ने और उत्तरोत्तर कलि के अशुभ लक्षणों की वृद्धि के कारण कलिकाल की वृद्धि मानी गई। यथा—"तदा नन्दात् प्रभृत्येव कलिर्वृद्धिं गमिष्यति' तथा 'शूद्राः कलियुगस्यान्ते भविष्यन्ति न संशयः' (जर्नल आफ दि बिहार एण्ड ओरिसा रिसर्च सोसाइटी जि० ३, पृष्ठ २४६ में उद्धृत)। प्रत्येक युग के २८ अवान्तर विभाग होते हैं (पुराणों में इसका बहुत्र उल्लेख है)। इस प्रकार उक्त कलिवृद्धि भी कलि के २८ वें अवान्तर कलि की हुई। इसीलिए संकल्प में पढ़ा जाता है—"अष्टाविंशतितमे कलियुगे"। जिस प्रकार हमारे यहाँ २८ वें अवान्तर कलि के काल की वृद्धि मानी गई, उसी प्रकार मुसलमानों में १४ वीं शताब्दी की इयत्ता नहीं मानी जाती। मुसलमानों में मानी गई १४ शताब्दियाँ, भारतीय १४ मन्वन्तर गणना का विकृत रूप हैं।

आज कलि को प्रारम्भ हुए ५०५४ वर्ष हुए हैं। उनमें से १२०० वर्ष मुख्य कलि के न्यून करके ३८५४ वर्षों में चतुर्युगी के पूर्वोक्त १२००० वर्ष मिलाने पर १५८५४ सौर वर्ष इस वर्तमान मनुष्य सृष्टि को उत्पन्न हुए हुए हैं। इतने वर्षों का प्रायः शृंखलाबद्ध इतिहास भारतीय वाङ्मय में सुरक्षित है।

इन सब विषयों पर हमने "भारतीय प्राचीन इतिहास की कालगणना" पुस्तक में विस्तार से विवेचना की है। यह पुस्तक लिखी जा रही है।

१—सम्प्रति उपलभ्यमान ब्राह्मण ग्रन्थों में 'ऐतरेय ब्राह्मण' सबसे प्राचीन है। हमारा विचार है कि उसका ऐतरेय द्वारा प्रोक्त भाग अर्थात् ३० अध्यायों (अन्तिम १० अध्याय शौनक प्रोक्त हैं) का मूलप्रवचन भारत युद्ध से लगभग १५०० डेढ़ सहस्र वर्ष प्राचीन है, परन्तु इन का भी वर्तमानरूप शौनक द्वारा प्रोक्त है।

२—देखो हमारा 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' भाग १ पृष्ठ ७ तथा उसी पृष्ठ की टि० १।

३—'सेनापत्यम्' पाठ ही प्राचीन है। 'सैनापत्यम्' पाठ पाणिनीय व्याकरणानुसार कल्पित अर्थात् अर्वाचीन है

अर्थात्—संग्राम में सेना का संचालन, राज्यपालन, प्रजा के संरक्षण के लिये उचित दण्डव्यवस्था और सार्वभौम आधिपत्य या सर्वलोक = पृथिवी, जल और अन्तरिक्ष पर प्रभुत्व पाने के लिये वेदरूपी शास्त्र का जानने वाला ही समर्थ हो सकता है।

आगे पुनः कहा है—

ऋग्वेदविद् यजुर्विच्च सामवेदविदेव च।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥११२॥

अर्थात्—प्रत्येक देश काल में व्यवहर्तव्य 'धर्म' = कर्तव्य कर्म[1] के संशय के निर्णय के लिये ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के ज्ञाता तीन विद्वानों की परिषद् बनावे।

इसी प्रसङ्ग में और लिखा है—

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति ॥९७॥
बिभर्त्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ॥९८॥

अर्थात्—चारों वर्णों और चारों आश्रमों के भूत वर्तमान और भविष्य[2] तीनों कालों में कर्तव्य कर्मों का पूर्ण ज्ञान वेद से होता है। सारे प्राणियों की रक्षा करने वाला सनातन वेद ही है।

मनुस्मृति के राजधर्म (७।४३) प्रकरण में लिखा है—

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां च वार्तारम्भांश्च लोकतः ॥

अर्थात्—राजा त्रैविद्य = तीनों विद्याओं के जानने वालों से (१) दण्डनीति = राजनीति, (२) आन्वीक्षिकी = पदार्थविज्ञान[3] तथा (३) अध्यात्म = शरीर, आत्मा और परमात्मा सम्बन्धी तीन विद्याओं को और लोक से

१—'धर्म' शब्द का मूल अर्थ है—"धरति लोकं, धार्यते वा जगद् येन सः" जिससे संसार की सम्यक्रूप से स्थिति बनी रहे। इस प्रकार धर्म शब्द मानवीय कर्तव्य कर्मों का वाचक है। इसीलिये वेद में श्रेष्ठतम यज्ञरूप कर्मों के लिये (यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। शत० १।७।१।५) धर्मशब्द का व्यवहार मिलता है—"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्" (यजु० ३१।१६)।

२—अनेक विद्वान् हिन्दी भाषा में प्रयुक्त 'भविष्य' शब्द को संस्कृत के 'भविष्यत्' शब्द का अपभ्रंश अर्थात् 'तद्भव' मानते हैं, परन्तु यह मन्तव्य अयुक्त है। प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में 'भविष्य' शब्द का प्रयोग बहुधा मिलता है।

३—आन्वीक्षिकी के मुख्य ग्रन्थ हैं—गौतमीय न्यायशास्त्र तथा कणादीय वैशेषिक। इन दोनों का प्रतिपाद्य विषय है पदार्थों का स्वरूप और उनके गुणों का वर्णन। प्रमाण आदि का प्रतिपादन प्रमेयविज्ञान = पदार्थ विज्ञान के लिये किया है अर्थात् प्रमाणज्ञान प्रमेयज्ञान का साधन है। प्रमेय का ज्ञान कराना इन शास्त्रों का मुख्य प्रयोजन है। अतएव हमने आन्वीक्षिकी का अर्थ पदार्थविज्ञान किया है। कौटिल्यने 'सांख्यं योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी' में सांख्य और योग को भी आन्वीक्षिकी में गिना है, वह भी हमारे मत का पोषक है, क्योंकि सांख्य सृष्टयुत्पत्ति का वर्णन करता है और योग का सम्बन्ध शरीरविज्ञान से है।

४. तीन विद्याओं के जानने वाले को त्रैविद्य कहते हैं। ये तीन विद्याएँ दण्डनीति, आन्वीक्षिकी और अध्यात्म विद्याएँ हैं। वेद में इन तीनों का प्राधान्येन वर्णन होने से चारों वेद त्रिविद्या या त्रयी कहाते हैं। ऋक्, यजुः और साम का क्रमशः पद्य, गद्य और गीति (गान) अर्थ करके चारों वेदों के लिये त्रयी शब्द का व्यवहार उत्तरकालीन है। उससे भी उत्तरकालीन आचार्यों ने ऋक् यजुः और साम के पद्य गद्य और गीति अर्थों की उपेक्षा करके त्रयी शब्द से केवल ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद का ग्रहण मानकर अथर्ववेद को त्रयी से पृथक् कर दिया है। इसी भाव से आचार्य कौटिल्य ने लिखा है—"सामर्ग्यजुर्वेदास्त्रयी, अथर्ववेदेतिहासवेदौ च वेदाः" (१।३)। त्रयी के इसी अवरकालीन अर्थ को मुख्य मानकर पाश्चात्य विद्वान् ऋक्, यजुः और साम, इन तीन को ही प्राचीन वेद मानते हैं और अथर्ववेद को अर्वाचीन कहते हैं। कौटिल्य ने स्वमत में त्रयी को आन्वीक्षिकी और दण्डनीति से पृथक् माना है—'आन्वीक्षिकी त्रयी, वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः' (१।२) और मानवों के मत में त्रयी, वार्ता और दण्डनीति ये तीन विद्याएँ कही हैं—'त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति मानवाः, त्रयीविशेषो ह्यान्वीक्षिकी' (१।२)। यदि यहाँ कौटिल्य का मानवों से अभिप्राय भृगुप्रोक्त मनुस्मृति के अनुयायियों से है, तब उसे अशुद्ध कहना होगा, क्योंकि मनु के उपर्युक्त श्लोक में दण्डनीति आन्वीक्षिकी और अध्यात्म तीनों विद्याओं को या तो त्रयी के अन्तर्गत माना जा सकता है (जैसा कि हमने माना है) या तीनों को त्रयी से पृथक् मानना होगा (जैसा कि मनु के टीकाकार मानते हैं)। यह नहीं हो सकता कि समान कोटि में पढ़ी हुई दण्डनीति आन्वीक्षिकी और अध्यात्म विद्याओं में से दण्डनीति को त्रयी से पृथक् माना जाये और आन्वीक्षिकी का त्रयी में अन्तर्भाव कहा जाये तथा अध्यात्मविद्या की सर्वथा उपेक्षा की

वार्तारम्भ = शिष्टाचार[1] को सीखे।

इन श्लोकों से स्पष्ट है कि भगवान् मनु के मतानुसार वेदों में (१) संग्राम में सेना का संचालन, (२) राज्य का पालन, (३) दण्डव्यवस्था = प्रजा को दुःख देने वालों का दमन, (४) आधिभौतिक तथा आधिदैविक पदार्थों का विज्ञान (५) अध्यात्म[2] विद्या अर्थात् शरीर का नैरोग्य, आत्मा के स्वरूपज्ञान से सांसारिक दुःखों से निवृत्ति और परमात्मा के ज्ञान से आनन्द की प्राप्ति आदि आदि अनेक विद्याओं का वर्णन है अर्थात् वेद में इन विद्याओं का वर्णन होने से मनु के मत में वेद का अर्थ इन विद्याओं परक करना चाहिये।

इसीलिये मनु ने वेद के विषय में अन्यत्र भी लिखा है—

सर्वज्ञानमयो हि सः। २।७॥

अर्थात्—वेद समस्त विद्याओं का आकर है।[3]

मनु के उपर्युक्त सिद्धान्त की पुष्टि एक अन्य दिशा से भी होती है जो कि अत्यन्त प्रबल है। इस समय संस्कृत वाङ्मय में जितने विषयों के ग्रन्थ उपलब्ध हैं वे सब अपने अपने विषयों को वेदमूलक कहते हैं अर्थात् उनके मतानुसार वेद में उन उन विद्याओं का वर्णन है। इस दृष्टि से वेद में—

शिक्षा, कल्प, व्याकरण[4], निरुक्त, छन्दः, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, पदार्थ-विज्ञान, साहित्य, कला, शिल्प, राजनीति, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद = संगीत तथा नाट्य, कर्म, ज्ञान और उपासना……

आदि आदि अनेक विषयों का प्रतिपादन मानना होगा। तभी उन उन विषयों की वेदमूलकता स्वीकार की जा सकती है। दूसरे शब्दों में वेद का अर्थ इन सभी विद्याओं के दृष्टिकोण से करना चाहिये, तभी तत्तद्ग्रन्थकारों का उन उन विषयों की वेदमूलकता का कथन उपपन्न हो सकता है।

जाये। अतः सम्भव है यहाँ कौटिल्य को मानवों से स्वायम्भुव के अनुयायी अभिप्रेत न हों। पुराकाल में वैवस्वत मनु तथा प्राचेतस मनु के भी धर्मशास्त्र विद्यमान थे। इनके अनेक उद्धरण धर्मशास्त्रों की प्राचीन टीकाओं में उपलब्ध होते हैं।

यदि मनुस्मृति के उपर्युक्त श्लोक में दण्डनीति आन्वीक्षिकी और अध्यात्मविद्या को 'तिस्रो विद्याः' से पृथक् माना जाये, तो उक्त श्लोक के अर्थ में एक महान् दोष उत्पन्न हो जाता है, वह यह है—त्रयी विद्या को त्रैविद्यों (= वेदों के जानने वालों) से सीखने और वार्तारम्भ को लोक से सीखने का निर्देश श्लोकमें मिल जाता है, परन्तु दण्डनीति आन्वीक्षिकी और अध्यात्म विद्याएँ किससे सीखी जायें इसका कोई निर्देश नहीं मिलता। अतः दण्डनीति आन्वीक्षिकी और अध्यात्म विद्या को 'तिस्रो विद्याः' से पृथक् करना भ्रान्ति है।

इस प्रसङ्ग में हमें कौटिल्य की एक बात विशेष रूप से खटकती है और वह है विद्या प्रसङ्ग में अध्यात्मविद्या का उल्लेख न करना। क्या राजाओं के लिये अध्यात्म विद्या आवश्यक नहीं है? यदि नहीं है, तो मनु ने दण्डनीति के समान ही अध्यात्म विद्या सीखने का आदेश राजा के लिये क्यों दिया? कौटिल्य के लेख से तो यही विदित होता है कि वह अध्यात्म विद्या को केवल संन्यासियों के लिये ही आवश्यक समझता है। इत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्तेन।

१—टीकाकारों ने 'वार्तारम्भ' का अर्थ कृषि वाणिज्य तथा पशुपालन आदि लिखा है। हमें वह ठीक नहीं जँचता, क्योंकि प्राचीनकाल में इन विद्याओं के भी शास्त्र विद्यमान थे। अतः इन विद्याओं को भी अन्य विद्याओं के समान तत्तत् शास्त्रों से सीखा जा सकता है, लोक को कारण अनावश्यक है। वार्ता शब्द का अर्थ बोलचाल भी होता है। स्वयं हिन्दी का बात शब्द भी वार्ता का अपभ्रंश है। अतः वार्तारम्भ का सीधा अर्थ 'बातचीत आरम्भ करने का ढंग' अर्थात् शिष्टाचार है। शिष्टाचार की मर्यादा देशभेद से भिन्न-भिन्न होती है। अतः विभिन्न शिष्टाचारों का वास्तविक ज्ञान लोक-व्यवहार से ही हो सकता है। शास्त्र से तो साधारण शिष्टाचार का ही शासन होता है। राजा को लोकव्यवहार में अवश्य प्रवीण होना चाहिये, अतएव मनुने 'वार्ता' को लोक से सीखने का आदेश दिया है।

२—आत्मा शब्द शरीर, जीव और ईश्वर तीनों के लिये प्रयुक्त होता है। आत्मा का जीव और ईश्वर अर्थ सर्व प्रसिद्ध है। 'हन्ति आत्मानमात्मना' तथा 'तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वद्' (अथर्व १०।२।३२) आदि में आत्माशब्द शरीर अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।

३—मेधातिथि गोविन्दराज आदि की प्राचीन टीकाएँ।

४—व्याकरण की वेदमूलकता के लिये देखो हमारा 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास', भाग १ पृष्ठ ४२।

महर्षि कणाद वेद की प्रमाणिकता का उपपादन पदार्थ-विज्ञान की दृष्टि से करते हैं। उनके वचन हैं—

अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः।
यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।
तद्वचनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यम्।
धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। वैशे० १।१।१–४॥

अर्थात्–अब हम यहां से आगे धर्म का व्याख्यान करेंगे। जिससे लौकिक तथा पारलौकिक सुख की प्राप्ति हो वह धर्म है। उसी धर्म का प्रतिपादन करने से वेद का प्रामाण्य है (अपौरुषेय या ईश्वरवचन होने से नहीं)। द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, विशेष और समवाय इन छ पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य द्वारा धर्मविशेष के ज्ञान से उत्पन्न तत्त्वज्ञान से पारलौकिक सुख की सिद्धि होती है।

वैशेषिक के इन सूत्रों में 'धर्म' शब्द का अभिप्राय पदार्थों के गुणों से है, किसी पुण्य या अदृष्ट से नहीं; क्योंकि सम्पूर्ण ग्रन्थ का प्रतिपाद्यविषय पदार्थों के गुणों की मीमांसा करना ही है। यदि यहां धर्म से अभिप्राय अदृष्ट का होता, तो ग्रन्थकार "दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय" (१०।२।९) सूत्र के अनन्तर पुनः "तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्" सूत्र न बनाते।

महर्षि कणाद के उपर्युक्त सूत्रों से स्पष्ट है कि वे वेद में न केवल पदार्थविज्ञान का ही प्रतिपादन मानते हैं, अपितु वेदप्रतिपादित पदार्थविज्ञान[1] की सत्यता के आधार पर ही वेद का प्रामाण्य भी सिद्ध करते हैं।

न्यायसूत्रकार भगवान् गौतम भी मन्त्रान्तर्गत (= मन्त्र-प्रतिपादित) आयुर्वेद (= चिकित्साविज्ञान) के प्रामाण्य द्वारा वेद का प्रामाण्य सिद्ध करते हैं। उनका इस विषय का प्रसिद्ध सूत्र है—

मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्। २।१।६८।

अर्थात्—वेदमन्त्रों में जिस आयुर्वेद = चिकित्साविज्ञान का प्रतिपादन है वह लोक में सत्यघटित होता है। इसलिये मन्त्रायुर्वेदरूपी एक देश के प्रत्यक्ष से वेद के उस भाग का भी प्रामाण्य समझना चाहिये जिसमें आयुर्वेद का प्रतिपादन नहीं है, क्योंकि वेदोक्त आयुर्वैदिक प्रत्यक्ष विज्ञान द्वारा वेद के रचयिता का आप्तत्व सिद्ध है, वही आप्त उस भाग का भी रचयिता है जिसमें आयुर्वेद का साक्षात् प्रतिपादन नहीं है।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में क्रमशः अर्थशास्त्र, धनुःशास्त्र, संगीतशास्त्र और चिकित्साशास्त्र[2] का विशेषरूप से प्रतिपादन है इसीलिये ये शास्त्र क्रमशः चारों वेदों के उपवेद माने जाते हैं।

इन सब संकेतों से स्पष्ट है कि अति प्राचीन काल के महर्षि "वेद में लोकोपयोगी समस्त विद्याओं, आधिदैविक तथा आधिभौतिक पदार्थों के विज्ञानों और आध्यात्मिक तत्त्वों की विस्तार से विवेचना की है" ऐसा समझते थे। भारतयुद्धकालीन विविधरूपेण परिवर्तित, परिवर्धित तथा मूल उद्देश्य से बहुत दूर गई हुई याज्ञिक प्रक्रिया[3] के अनुसार लिखे गये ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित वेदार्थ से इन विषयों पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता।

त्रिविध वेदार्थ-प्रक्रिया

कृतयुग के तृतीय चरण में मनुष्य समाज में क्रमशः सत्त्वगुणों की न्यूनता और रजोगुण की वृद्धि के साथ साथ मनुष्यों की मेधाशक्ति घटने लगी[4]। इस प्रकार जब मेधाशक्ति के ह्रास के कारण प्राचीन विविध ज्ञानविज्ञानपरिगुम्फित

१. वेद के मन्त्रों में बहुत्र पदार्थविज्ञान के स्पष्ट संकेत हैं। यथा—'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' (यजु २३।१०, ४६) 'अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्' (अथर्व १।४।४) 'क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम्। अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे' (अथर्व ४।१७।६) सौर और चान्द्र वर्ष का मलमास द्वारा मिलाना—'वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः। वेदा य उप जायते (ऋ० १।२५।८) इत्यादि इत्यादि।

२. कई आचार्य चिकित्साशास्त्र को ऋग्वेद का उपवेद मानते हैं (देखो—चरणव्यूह, सत्यार्थप्रकाश समु० ३), परन्तु सुश्रुत (सूत्रस्थान १।३) काश्यप (विमान स्थान पृष्ठ ४२) आदि संहिताओं में आयुर्वेद को अथर्ववेद का ही उपवेद कहा है।

३. याज्ञिक प्रक्रिया का मूल उद्देश्य तथा उसमें किस प्रकार परिवर्तन हुए, इनका वर्णन अनुपद ही किया जायेगा।

४. पुरा खलु अपरिमित शक्तिप्रभाप्रभाववीर्य······धर्मसत्त्वशुद्धतेजसः पुरुषा बभूवुः। तेषां क्रमादपचीयमानसत्त्वानाम् उपचीयमानरजस्तमस्कानां······तेजोऽन्लदधे। पराशरकृत ज्योतिषसंहिता का भट्ट उत्पलकृत बृहत्संहिता की टीका (पृ.१५) में उद्धृत तथा श्री पं: सूरमचन्द्रजी वैद्यवाचस्पतिकृत 'आयुर्वेद का इतिहास' (पृष्ठ १९८ में) निर्दिष्ट।

वेदार्थ भूलने लगा, तब ऋषियों ने विविध प्रक्रियानुसारी बहुविध प्राचीन वेदार्थ को "सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः" न्याय के अनुसार आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक इन तीन प्रक्रियाओं के अन्तर्गत सीमित कर दिया। तदनुसार पदार्थविज्ञान का समावेश आधिभौतिक प्रक्रिया में, ग्रह नक्षत्रों की स्थिति, गति और उनका चराचर जगत् पर होने वाले प्रभाव अर्थात् ज्योतिषविज्ञान, कालविज्ञान, ऋतुविज्ञान आदि बहुविध विज्ञानों का समावेश आधिदैविक प्रक्रिया में तथा शरीरविज्ञान, जीवविज्ञान, और ईशविज्ञान का समावेश आध्यात्मिक प्रक्रिया में किया गया।

कृतयुग के चतुर्थ चरण में उत्तरोत्तर मेधाशक्ति के ह्रास के कारण पूर्वोक्त चहुंमुखी त्रिविध वेदार्थप्रक्रिया भी दुरूह होने लगी। इसी समय में मनुष्यों में रजोगुण की वृद्धि और तमोगुण की उत्पत्ति के कारण लोभ का प्रादुर्भाव हुआ।[1] बलवान् और साधन सम्पन्न व्यक्ति लोभ के वशीभूत होकर प्रजा को सताने लगे।[2] इस मात्स्यन्याय से प्रजा का त्राण करने के लिये ऋषियों ने वर्णव्यवस्था और राजव्यवस्था के साथ साथ पदार्थविज्ञान के अध्ययनाध्यापन तथा उनके प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगा दिये।[3] इस प्रकार पदार्थविज्ञान के क्षेत्र के संकोच के साथ साथ वेदार्थ का क्षेत्र भी बहुत संकुचित हो गया।

दो नये वादों का प्रादुर्भाव

इसी समय में अर्थात् कृतयुग के अन्त में या त्रेता के प्रारम्भ में वेदार्थप्रक्रिया में दो नये वादों ने जन्म लिया। जिनमें एक था देवतावाद और दूसरा याज्ञिकवाद। इन वादों का उत्तरकालीन वेदार्थप्रक्रिया पर भारी प्रभाव पड़ा। नये दैवतवाद ने प्राचीन आधिभौतिक और आधिदैविक दोनों प्रक्रियाओं का सम्मिलित प्रतिनिधित्व किया। तदनुसार अग्नि जल वायु विद्युत् सूर्य चन्द्र आदि पदार्थों को को देवता का रूप दिया गया। इस देवतावाद की शनैः शनैः अधिष्ठातृवाद में परिसमाप्ति हुई।

यज्ञों की उत्पत्ति क्यों और कब हुई, उनमें किस प्रकार उत्तरोत्तर परिवर्तन तथा परिवर्धन हुए और उनका उत्तरोत्तर वेदार्थप्रक्रिया पर क्या प्रभाव पड़ा, इन की विवेचना हम अनुपद करेंगे।

२—याज्ञिक-प्रक्रियानुसारी वेदार्थ

हम पूर्व लिख चुके हैं कि कृतयुग के अन्तिम चरण में आधिभौतिक वेदार्थ लुप्त होने लगा, आधिदैविक वेदार्थ की दिशा परिवर्तित हो गई तथा काम क्रोध लोभ मोह आदि दोषों के कारण आध्यात्मिक भावना न्यून हो गई। उस काल में आधियाज्ञिक प्रक्रिया का प्रादुर्भाव हुआ। इसने न केवल मृतप्राय आधिभौतिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ का स्थान ही लिया, अपितु प्रारम्भ में आधिदैविक और आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ की रक्षा में भी हाथ बँटाया।

यज्ञों की कल्पना का प्रयोजन

सृष्टि के आरम्भ में सत्त्वगुणविशिष्ट योगजशक्तिसम्पन्न परावरज्ञ ऋषि लोग अपनी दिव्य मानसिक शक्ति से इस चराचर जगत् के परमाणु से लेकर परममहत् तत्त्व पर्यन्त समस्त पदार्थों का हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष कर लेते थे, उनके लिये कोई भी पदार्थ अप्रत्यक्ष नहीं था। उत्तरोत्तर सत्त्वगुण की न्यूनता, रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि के कारण काम क्रोध लोभ और मोह आदि उत्पन्न हुए। उनके वशीभूत होकर मानवी प्रजा ने सुख विशेष की इच्छा से प्राजापत्य शाश्वत नियमों का उल्लंघन करके कृत्रिम जीवनयापन करना प्रारम्भ किया। ज्यों ज्यों आवश्यकताएँ बढ़ती गईं, त्यों त्यों जीवनयापन के साधनों में भी कृत्रिमता बढ़ने लगी। इसके साथ ही साथ मानव की मानसिक दिव्य शक्तियों का भी ह्रास होने लगा। उनके ह्रास के कारण सूक्ष्म, दूरस्थ और व्यवहित पदार्थ अज्ञेय बन गये। अतः ब्रह्माण्ड और पिण्ड (अध्यात्म = शरीर) की रचना कैसी है यह जानना जटिल समस्या बन गई। इस कारण आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ भी दुरूह हो गया। ऐसे काल में तात्कालिक साक्षात्कृतधर्मा परावरज्ञ ऋषियों ने ब्रह्माण्ड तथा अध्यात्म की रचना का ज्ञान कराने और तत्परक प्राचीन वेदार्थ को सुरक्षित करने कराने के लिये यज्ञरूपी नाटकों की

---

१. भ्रश्यति तु कृतयुगे...लोभः प्रादुरासीत् ॥ २८ ॥ ततस्त्रेतायां लोभादभिद्रोहः, अभिद्रोहाद् अनृतवचनम्, अनृतवचनात् कामक्रोधमानद्वेषपारुष्याभिघातभयतापशोकचिन्तोद्वेगादयः प्रवृत्ताः ॥२९॥ चरक संहिता विमानस्थान अ० ३।

२. जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलं बलवत्तराः। अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम्। परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान् ॥ महा० शान्ति० अ० ६७ श्लोक १६, १७ ॥

३. पुराकाल में भयानक जनसंहारक अस्त्रों के निर्माण और प्रयोग पर विशेष प्रतिबन्ध था, यह पुराने इतिहास से स्पष्ट है। बेकारी के बढ़ाने और ग्रामों की आत्मनिर्भरता के नाशक होने से मनुस्मृति ११,६३ में 'महायन्त्र-प्रवर्तन' को भी उपपातकों में गिना है।

कल्पना की। यज्ञ का प्रयोजन दैवत और अध्यात्म का ज्ञान कराना है इस बात की ओर आचार्य यास्क ने निरुक्त १।१९ में सङ्केत किया है—**याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा**। तदनुसार यज्ञ और देवता का ज्ञान क्रमशः पुष्प और फल स्थानीय है अर्थात् जैसे पुष्प-फल-निष्पत्ति में कारण होता है, वैसे ही याज्ञिक प्रक्रिया का ज्ञान दैवत (=ब्रह्माण्ड) के ज्ञान में कारण होता है। जब दैवतज्ञान हो जाता है तब वह याज्ञिकप्रक्रिया की दृष्टि से फलस्थानीय होता हुआ भी अध्यात्मज्ञान की दृष्टि से पुष्पस्थानीय होता है अर्थात् अध्यात्म में दैवत ज्ञान कारण बनता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में याज्ञिक प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए अनेक स्थानों में **'इत्यधियज्ञम्'** कह कर **'अथाधिदैवतम्, अथाध्यात्मम्'** के निर्देश द्वारा तीनों की परस्पर समानता दर्शाई है। इसी प्रकार मीमांसाशास्त्र के भी तीन विभाग हैं। पूर्वोत्तर मीमांसा तो लोक में प्रसिद्ध हैं ही, परन्तु दोनों के मध्य में दैवत मीमांसा का भाग भी था, जो इस समय लुप्त प्रायः है। तदनुसार १२ अध्याय जैमिनि प्रोक्त **कर्ममीमांसा**, ४ चार अध्याय **दैवतमीमांसा**[1] और अन्त के ४ चार अध्याय कृष्ण द्वैपायन व्यास प्रोक्त **ब्रह्ममीमांसा**। इस प्रकार २० बीस अध्यायात्मक मीमांसा शास्त्र में भी क्रमशः यज्ञ दैवत और ब्रह्म का विचार किया है। इन सब निर्देशों से व्यक्त है कि यज्ञों की कल्पना ब्रह्माण्ड और पिण्ड की सूक्ष्म रचना का ज्ञान कराने के लिये ही की गई है अर्थात् भौगोलिक मानचित्रों के समान यज्ञ साधन मात्र हैं, साध्य नहीं।

यज्ञों की कल्पना का आधार

विराट् पुरुष (ब्रह्म) ने अपने सखा[2] शरीर पुरुष (जीव) के शरीर की रचना में अपने ही विराट् शरीर (ब्रह्माण्ड) की रचना का पूरा पूरा अनुकरण किया है अर्थात् यह मानव शरीर इस ब्रह्माण्ड की ही एक लघु प्रतिकृति है। परावरज्ञ ऋषियों ने अपनी दिव्य योगज-शक्ति से इसी रचना-साम्य का अनुभव करके उसी के आधार पर दोनों के प्रतिनिधि-रूप यज्ञों की कल्पना की। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि जिस प्रकार भूमण्डल और नक्षत्रमण्डल के विभिन्न अवयवों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराने के लिये उनके मानचित्रों की या प्राचीन काल की किसी परोक्ष घटना का प्रत्यक्ष ज्ञान कराने के लिये नाटक की कल्पना की जाती है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्माण्ड और पिण्ड की रचना का ज्ञान कराने के लिये यज्ञों की कल्पना की गई, अर्थात् यज्ञों की कल्पना भी भूगोल आदि के मानचित्रों के समान सत्य वैज्ञानिक आधार पर की गई है। अतएव जिस प्रकार नगर, जिला, प्रान्त, देश और महादेश आदि के क्रम से भूगोल का क्रमिक ज्ञान कराने के लिये विभिन्न छोटे बड़े प्रदेशों के मान चित्र तैयार किये जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड और पिण्ड की स्थूल, सूक्ष्म रचना का क्रमशः ज्ञान कराने के लिये अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास और चातुर्मास्य आदि विभिन्न छोटे मोटे यज्ञों की कल्पना की गई। इसी कल्पना के कारण यज्ञों का एक नाम कल्प भी है—**कल्पनात् कल्पः**। अतएव यज्ञों के व्याख्यान[3] करनेवाले सूत्रग्रन्थ कल्पसूत्र कहाते हैं।

उपर्युक्त साम्यता के आधार पर प्रारम्भ में जब यज्ञों की कल्पना की गई उस समय यज्ञ की प्रत्येक क्रिया और पदार्थ आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् की क्रियाओं और पदार्थों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते थे। इसी नियम पर प्रारम्भ में प्रकल्पित अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास और चातुर्मास्य आदि यज्ञों में उत्तरोत्तर बहुत कुछ परिवर्तन होने पर आज भी इनकी क्रियाओं और पदार्थों का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् की क्रियाओं और पदार्थों से अत्यधिक सादृश्य उपलब्ध होता है।

यद्यपि इस प्रकार के वैज्ञानिक आधार पर प्रकल्पित यज्ञों की समस्त क्रियाओं और पदार्थों का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् के साथ क्या सादृश्य है, इसका साक्षात् विस्तृत उल्लेख वर्तमान में उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में नहीं मिलता, तथापि ब्राह्मण ग्रन्थों में याज्ञिक क्रियाओं तथा पदार्थों के निर्देश के साथ-साथ यत्र तत्र उल्लिखित **'इत्यधिदैवतम्'** तथा **'इत्यध्यात्मम्'** आदि निर्देशों से उक्त सादृश्य का अनुमान किया जा सकता है। सौभाग्यवश दर्शपौर्णमास की सभी मुख्य-मुख्य क्रियाओं और पदार्थों की आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् के साथ दर्शाई गई तुलना शतपथ ब्राह्मण (११।२।४।१ से ११।२।७।३३ तक) में सुरक्षित है। उसके अनुशीलन से यज्ञों की कल्पना के मूलभूत आधार का ज्ञान भले प्रकार हो जाता है।

---

१. दैवतमीमांसा के चार अध्यायों के प्रवक्ता के विषय में मतभेद है। कोई इन्हें काशकृत्स्न प्रोक्त मानता है तो कोई जैमिनिप्रोक्त। देखो हमारा 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' पृष्ठ ७९ तथा 'प्रपञ्चहृदय' पृष्ठ ३८, ३९।

२. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया। ऋ० १।१६४।२०॥

३. यज्ञं व्याख्यास्यामः। का०श्रौ० १।२।१॥

यज्ञों के प्रादुर्भाव का काल

यज्ञों का प्रादुर्भाव कृतयुग और त्रेतायुग के सन्धिकाल में हुआ। इसलिये कहीं पर यज्ञों की उत्पत्ति कृतयुग के अन्त में और कहीं पर त्रेतायुग के आरम्भ में कही है।[1] प्रारम्भ में केवल एकाग्नि साध्य[2] अग्निहोत्रादि होमों की ही कल्पना हुई, तदन्तर महाराज पुरुरवा ऐल के काल में तीन अग्निसाध्य दर्शपौर्णमास आदि इष्टियों की और तदन्तर पञ्चाग्निसाध्य विविध क्रिया कलाप की।

प्रारम्भिक यज्ञ

यतः प्रारम्भ में यज्ञों की कल्पना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण से वैज्ञानिक आधार पर की गई थी, अतः प्रारम्भ में कल्पित यज्ञों का आधिदैविक जगत् के साथ साक्षात् सम्बन्ध था। यथा अग्निहोत्र का अहोरात्र के साथ, दर्श और पौर्णमास का कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष के साथ तथा चातुर्मास्य का तीनों ऋतुओं के साथ। अग्निहोत्र और दर्श-पौर्णमास की आधिदैविक व्याख्या शतपथ के ११ वें काण्ड में लिखी है। चातुर्मास्य के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा है—

भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि। तस्मादृतु-सन्धिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसन्धिषु हि व्याधिर्जायते। कौषीतकि ब्रा० ५।१॥

इसी प्रकार गोपथ उत्तरार्ध १।१९ में भी कहा है।

महाभारत शान्तिपर्व २६९।२० में अग्निहोत्र, दर्श पौर्णमास और चातुर्मास्य इन तीन यज्ञों को ही प्राचीन यज्ञ कहा है। यथा—

दर्शं च पौर्णमासं च अग्निहोत्रं च धीमतः।
चातुर्मास्यानि चैवासन् तेषु धर्मः सनातनः॥

प्रारम्भिक यज्ञों की सादगी तथा सात्त्विकता

प्रारम्भ में जिन यज्ञों की कल्पना की गई वे यज्ञ अत्यन्त सादे तथा सात्त्विक थे। उनमें बाह्य आडम्बर (दिखावा) तथा मांस मदिरा आदि तामसिक पदार्थों का किञ्चिन्मात्र सम्बन्ध नहीं था। इसके लिये हम केवल दो प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—यज्ञो हि वा अनः। तस्मादनस एव यजूंषि सन्ति न, कौष्ठस्य, न कुम्भ्यै। भस्त्रायै ह स्मर्षयो गृह्णन्ति। तद्वृषीन् प्रति भस्त्रायै यजूंष्यासुः। तान्ये-तर्हि प्राकृतानि। शत० १।१।२।७॥

अर्थात्—शकट (गाड़ी) से ही हवि का ग्रहण करे। **शकट ही यज्ञ है। इसलिये हविग्रहण के** याजुष मन्त्र शकट **सम्बन्धी ही हैं, कोष्ठ** (अन्न रखने का कोठा = कुसूल) **या भस्त्रा** (चमड़े की थैली, जैसी आटा आदि रखने के लिये पहाड़ी वर्तते हैं) सम्बन्धी नहीं हैं। पुराने ऋषि भस्त्रा **से हवि का ग्रहण** करते थे। उन ऋषियों के लिये ये ही **हविग्रहण के** याजुष मन्त्र भस्त्रा सम्बन्धी थे। इसलिये ये **याजुष मन्त्र** सामान्य हैं (कहीं पर भी इनका विनियोग हो सकता है)।

इस उद्धरण से दो बाते स्पष्ट हैं। एक—याज्ञिक क्रियाओं में उत्तरोत्तर परिवर्तन हुआ है।[3] द्वितीय—पुरा-काल में यज्ञों में बाह्याडम्बर नहीं था, उत्तरोत्तर उस आडम्बर में वृद्धि हुई।

पौर्णमासेष्टि में तीन प्रधानाहुतियों के लिये केवल १२ मुट्ठी जौ या व्रीहि (धान) की आवश्यकता होती है।[4] इतने थोड़े से अन्न के लिये यज्ञस्थान में गाड़ी भरकर अन्न लाने का क्या प्रयोजन? इसे बाह्य आडम्बर (अपनी सम्पन्नता का दिखावा) ही तो कहा जायेगा। इसीलिये प्राचीन ऋषि अपनी अनाज रखने की चमड़े की थैली से ही हविग्रहण करते थे। उत्तरकालीन याज्ञिक शकट से हविग्रहण का प्रयोजन केवल अदृष्ट की उत्पत्ति समझ कर एक वितस्ति (बिलांत) प्रमाण की गाड़ी बनाकर उससे हविर्द्रव्य का स्पर्शमात्र करके कार्य चलाने लगे।[5]

---

१. इदं कृत युगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तितः। अहिंस्या यज्ञपशवो युगेऽस्मिन्न तदन्यथा। महा० शान्ति० ३४०।८२॥ इस श्लोक में कृतयुग में यज्ञों की विद्यमानता कही है। त्रेतादौ केवला वेदा यज्ञा वर्णाश्रमास्तथा। महा० शान्ति० २३८।१४॥ त्रेता युगे विधिस्त्वेष यज्ञानां न कृते युगे। महा० शान्ति० २३२।३२॥ यथा त्रेतायुगमुखे यज्ञस्यासीत् प्रवर्तनम्। वायु० ५७।८९॥ तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि। मुण्डक उप० १।२।१॥ इत्यादि की पारस्परिक संगति से उपर्युक्त परिणाम निकलता है।

२. गन्धर्वेभ्यो वरं लब्ध्वा त्रेताग्निं समकारयत्। एकोऽग्निः पूर्वमासीत् ऐलस्त्रेतामकारयत्॥ हरिवंश १।२६।४७॥०

३. निरुक्त ७।२३ में "असावादित्यः (वैश्वानरः) इति पूर्वे याज्ञिकाः" लिखकर अगले खण्ड (२४) में पूर्वयाज्ञिकों की क्रिया का उल्लेख किया है। यहां 'पूर्व' विशेषण से स्पष्ट है कि उक्त याज्ञिक क्रिया यास्क के समय निर्दिष्ट-रूप में नहीं होती थी। ४. प्रत्येक आहुति के लिये चतुर्मुष्टि अन्न की आवश्यकता होती है—चतुरो मुष्टीन् निर्वपति।

५. तुलना करो—'अद्यत्वे तु पूर्वकृतस्य मण्डपस्य यागकाले स्पर्शमात्रं क्रियते। का० श्रौ० ८।३।२२ टीका।

पदार्थ—हे (अग्ने) सत्य न्यायरूपी राजधर्म से प्रकाशमान सभापते ! आप (वर्मेव) कवच के समान (यः) जो (स्वादुक्षद्मा) शुद्ध अन्न जल का भोक्ता (स्योनकृत्) सब को सुखकारी मनुष्य (वसतौ) निवासदेश में नाना साधन युक्त यज्ञों से (यजते) यज्ञ करता है उस (प्रयतदक्षिणम्) अच्छे प्रकार विद्या धर्म के उपदेश करने (जीवयाजम्) और जीवों को यज्ञ कराने वाले (स्यूतम्) अनेक साधनों से कारीगरी में चतुर (नरम्) नम्र मनुष्य को (विश्वतः) सब प्रकार से (परिपासि) पालते हो । (सः) ऐसे धर्मात्मा परोपकारी विद्वान् आप (दिवः) सूर्य के प्रकाश की (उपमा) उपमा पाते हो ॥ १५ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालङ्कार है । जो सब के सुख करने वाले पुरुषार्थी मनुष्य यत्न के साथ यज्ञों को करते हैं, वे जैसे सूर्य सब को प्रकाशित करके सुख देता है, वैसे ही सब को सुख देने वाले होते हैं । जैसे युद्ध में प्रवृत्त हुए वीरों को शस्त्रों के घावों से कवच (= बख्तर) बचाता है, वैसे ही सभापति राजा और राजजन सब धार्मिक सज्जनों की सब दुःखों से रक्षा करते हैं ॥ १५ ॥

अगले मन्त्र में भी उसी अर्थ का प्रकाश किया है ॥

इमामग्ने शरणिं मीमृषो न इममध्वानं यमगाम दूरात् ।
आपिः पिता प्रमतिः सोम्यानां भृमिरस्यृषिकृन्मर्त्यानाम् ॥ १६ ॥

पदार्थ—हे (अग्ने) सबको सहने वाले सर्वोत्तम विद्वन् ! आप (सोम्यानाम्) शान्त्यादि गुणयुक्त (मर्त्यानाम्) मनुष्यों को (आपिः) प्रीति से प्राप्त और (पिता) सर्व पालक (प्रमतिः) उत्तमविद्यायुक्त (भृमिः) नित्य भ्रमण करने और (ऋषिकृत्) वेदार्थ का बोध कराने वाले हैं, तथा (नः) हमारी (इमाम्) इस (शरणिम्) विद्यानाशक अविद्या को (मीमृषः) अत्यन्त दूर करते हैं, हम लोग (यम्) जिस अधर्म मार्ग को (दूरात्) दूर से उल्लंघन कर के (इमम्) इस (अध्वानम्) धर्म मार्ग को (अगाम) नित्य जानें या प्राप्त होवें, उसका आप और हम सब सेवन करें ॥ १६ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य सत्य भाव से अच्छे मार्ग को प्राप्त होना चाहते हैं, तब जगदीश्वर उन को उत्तम ज्ञान का प्रकाश करने वाले विद्वानों का संग करने के लिये प्रीति और जिज्ञासा अर्थात् इनके उपदेश के जानने की इच्छा उत्पन्न करता है । इससे वे श्रद्धालु हुए अत्यन्त दूर भी बसने वाले सत्यवादी योगी विद्वानों के समीप जाकर उनका संग कर अभीष्ट बोध को प्राप्त होकर धर्मात्मा होते हैं ॥ १६ ॥

फिर उसी का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

मनुष्वदग्ने अङ्गिरस्वदङ्गिरो ययातिवत् सदने पूर्ववच्छुचे ।
अच्छ याह्या वहा दैव्यं जनमा सादय बर्हिषि यक्षि च प्रियम् ॥ १७ ॥

पदार्थ—हे (शुचे) पवित्र (अङ्गिरः) प्राण के समान पृथिव्यादि को धारण करने वाले (अग्ने) विद्याओं से सर्वत्र व्याप्त सभाध्यक्ष ! आप (मनुष्वत्) मनुष्यों के जाने आने के समान

(३२)

अथ पञ्चदशर्चस्य द्वात्रिंशस्य सूक्तस्याङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः[1] । धैवतः स्वरः ।

अब बत्तीसवें सूक्त का प्रारम्भ है । उसके पहिले मन्त्र में इन्द्र शब्द से सूर्यलोक के दृष्टान्त से राजा के गुणों का प्रकाश किया है ॥

इन्द्र॑स्य॒ नु वी॒र्या॑णि॒ प्र वो॑चं॒ यानि॑ च॒कार॑ प्रथ॒मानि॑ व॒ज्री ।
अह॒न्नहि॒मन्व॒पस्त॑तर्द॒ प्र व॒क्षणा॑ अभिन॒त् पर्व॑तानाम् ॥ १ ॥

पदार्थ—हे विद्वन् मनुष्यो ! तुम लोग जैसे (इन्द्रस्य) सूर्य के (यानि) जिन (प्रथमानि) प्रसिद्ध (वीर्याणि) पराक्रमों को कहते हो, उन को मैं भी (नु) शीघ्र (प्रवोचम्) कहूँ । जैसे वह (वज्री) सब पदार्थों के छेदन करने वाले किरणों से युक्त सूर्य (अहिम्) मेघ को (अहन्) हनन करता है और (अनु) पश्चात् उस मेघ के अवयव रूप (अपः) जलों को नीचे ऊपर (चकार) करता, उस को (ततर्द) पृथिवी पर गिराता और (पर्वतानाम्) उन मेघों के सकाश से (प्रवक्षणाः) नदियों को (अभिनत्) छिन्नभिन्न करके बहाता है । वैसे मैं शत्रुओं को मारूं, उन को इधर-उधर फेंकूं तथा युद्ध करने के लिये आई सेनाओं को किले आदि के द्वारा छिन्न भिन्न करूं ॥ १ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालंकार है । ईश्वर का उत्पन्न किया हुआ यह अग्निमय सूर्यलोक जैसे अपने स्वाभाविक गुणों से युक्त अनादि प्रकाश आकर्षण दाह छेदन और वर्षा की उत्पत्ति के निमित्त कामों को दिन रात करता है, वैसे जो प्रजा के पालन में तत्पर राजपुरुष हैं उन को भी नित्य करने चाहिये ॥ १ ॥

फिर वह सूर्य तथा सभापति क्या करता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

अह॒न्नहि॒ं पर्व॑ते शिश्रिया॒णं त्वष्टा॑स्मै॒ वज्रं॑ स्व॒र्यं॑ ततक्ष ।
वा॒श्रा इ॑व धे॒नवः॒ स्यन्द॑माना॒ अञ्जः॑ समु॒द्रमव॑ जग्मु॒रापः॑ ॥ २ ॥

पदार्थ—जैसे यह (त्वष्टा) सूर्यलोक (पर्वते) मेघमण्डल में (शिश्रियाणम्) रहने वाले (स्वर्यम्) गर्जनशील (अहिम्) मेघ को (अहन्) मारता है और (अस्मै) इस मेघ के लिये (वज्रम्) काटने के स्वभाव वाले किरणों को (ततक्ष) छोड़ता है । इस कर्म से (वाश्रा धेनव इव) बछड़ों को प्राप्त करने की उत्कण्ठा पूर्वक रंभाती हुई गौओं के समान (स्यन्दमानाः) मेघ से गिरते हुए (अञ्जः) प्रकट हुए (आपः) जल (समुद्रम्) जल से पूर्ण समुद्र को (अवजग्मुः) नदियों के द्वारा जाते हैं ।[1] वैसे ही सभाध्यक्ष राजा को चाहिये कि किले में रहने वाले दुष्ट शत्रु को मारे । शत्रु के लिये उत्तम शस्त्र छोड़े उनसे बछड़ों को चाहने वाली गौओं के समान चलते हुए शत्रुओं के प्राणों को अन्तरिक्ष में पहुँचा दे अर्थात् उन कण्टक शत्रुओं को मार के प्रजा को सुख देवे ॥ २ ॥

---

१. वेदभाष्य की मूल प्रेसकापी में—"१, ३, ५, विराट् त्रिष्टुप् २, ४, ७—१०, १२, १३, १५, निचृत् ६, ११, १४, त्रिष्टुप्" पाठ है ।

१. संस्कृत पदार्थ के अनुसार श्लेषालंकार है । तदनुसार यहां सभापति परक अर्थ स्वतन्त्र होना चाहिये ।

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालंकार[1] है। जैसे सूर्य अपनी किरणों से अन्तरिक्ष में रहने वाले मेघ को भूमि पर गिराकर जगत् को जिलाता है, वैसे ही सेनापति किला पर्वत आदि में रहने वाले शत्रु को पृथिवी में गिरा कर प्रजा को निरन्तर सुखी करता है ॥ २ ॥

फिर वह कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

वृषायमाणोऽवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत् सुतस्य ।
आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम् ॥ ३ ॥

पदार्थ—जो (वृषायमाणः) वीर्यवृद्धि का आचरण करता हुआ सूर्यलोक मेघ के समान (सुतस्य) इस उत्पन्न हुए जगत् के (त्रिकद्रुकेषु) जिनकी उत्पत्ति स्थिरता और विनाश ये तीन कला हैं उन कार्य पदार्थों में (सोमम्) उत्पन्न हुए रस को (अवृणीत) स्वीकार करता और (अपिबत्) उस को अपने ताप से पीता हैं और (मघवा) यह बहुत किरणों वाला सूर्य (सायकम्) शस्त्ररूप (वज्रम्) किरण समूह को (आदत्त) लेते हुए के समान (अहीनाम्) मेघों में (प्रथमजाम्) प्रथम प्रकट हुए (एनम्) इस मेघ को (अहन्) मारता है, वैसे गुण कर्म स्वभाव युक्त पुरुष सेनापति का अधिकार पाने योग्य होता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालंकार है। जैसे बैल वीर्य को बढ़ा बलवान् हो सुखी होता है, वैसे सेनापति दूध आदि पीकर बलवान् हो के सुखी होता है, और जैसे सूर्य अपनी किरणों से जलको खींचकर अन्तरिक्ष में स्थापन कर अच्छे प्रकार बरसाता है, वैसे सेनापति शत्रुओं के बलको नष्ट कर अपना बल बढ़ाके प्रजा में सुखों की वृष्टि करे ॥ ३ ॥

फिर वह किस प्रकार का है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

यदिन्द्राहन् प्रथमजामहीनामान्मायिनाममिनाः प्रोत मायाः ।
आत् सूर्यं जनयन् द्यामुषासं तादीत्ना शत्रुं न किला विवित्से ॥ ४ ॥

पदार्थ—हे सेनापते ! जैसे (इन्द्रः) सब पदार्थों को विदीर्ण करनेवाला सूर्यलोक (अहीनाम्) छोटे-छोटे मेघों के मध्य में (प्रथमजाम्) संसार के उत्पन्न होने के समय में उत्पन्न हुए मेघ को (अहन्) हनन करता है। जिनकी (मायिनाम्) सूर्य के प्रकाश का आवरण करनेवाली बड़ी-बड़ी घटाएँ उठती हैं उन मेघों की (मायाः) उक्त अन्धकार रूप घटाओं को (प्रमिणाः) अच्छे प्रकार हरता है (तादीत्ना) तब (यत्) जिस (सूर्यम्) किरणसमूह (उषसम्) प्रातःकाल और (द्याम्) अपने प्रकाश को (प्रजनयन्) प्रगट करता हुआ दिन को उत्पन्न करता है (न) वैसे ही तू शत्रुओं

---

१. संस्कृत अन्वय के अनुसार यहाँ लुप्तोपमा और उपमा दोनों अलंकार हैं (जैसे अगले ५ वें मन्त्र में हैं)। संस्कृत पदार्थानुसार श्लेषालंकार भी है। यहाँ इसी सूक्त के ७ वें मन्त्र की टिप्पणी भी देखें।

को (विवित्से) प्राप्त होता हुआ उन की छल कपट आदि मायाओं को हनन कर और उस समय सूर्यरूप न्याय को प्रसिद्ध करके सत्य विद्या के व्यवहाररूप सूर्य का प्रकाश किया कर[1] ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालंकार है। जैसे कोई राजपुरुष[2] अपने शत्रुओं के बल और छल का निवारण कर और उन को जीत के अपने राज्य में सुख तथा न्याय का प्रकाश करता है, वैसे ही सूर्य भी मेघ की घटाओं की घनता और अपने प्रकाश के ढांपने वाले मेघ को निवारण कर अपनी किरणों को फैला, मेघ को छिन्न-भिन्न और अन्धकार को दूर कर, अपनी दीप्ति को प्रसिद्ध करता है ॥ ४ ॥

फिर वह सूर्य उस मेघ को कैसा करता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन।
स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः ॥ ५ ॥ [३६]

पदार्थ—हे महावीर सेनापते! आप जैसे (इन्द्रः) सूर्य वा बिजुली (महता) अतिविस्तार युक्त (कुलिशेन) अत्यन्त धारवाली तलवार रूप (वज्रेण) पदार्थों के छिन्न-भिन्न करने वाले अतिताप युक्त किरणसमूह से (विवृक्णा) कटे हुए (स्कन्धासीव) कंधों के समान (व्यंसम्) छिन्न-भिन्न अङ्ग जैसे हों वैसे (वृत्रतरम्) अत्यन्त सघन (वृत्रम्) मेघ को (अहन्) मारता है अर्थात् छिन्न-भिन्न कर पृथिवी पर बरसता है और वह (वधेन) सूर्य की किरणों से मृतकवत् होकर (अहिः) मेघ (पृथिव्याः) पृथिवी के (उपपृक्) ऊपर (शयते) सोता है वैसे ही वैरियों का हनन कीजिये ॥ ५ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा और उपमालङ्कार है। जैसे कोई अतितीक्ष्ण तलवार आदि शस्त्रों से शत्रुओं के शरीर को छेदन कर भूमि में गिरा देता है और वह मरा हुआ शत्रु पृथिवी पर सोजाता है वैसे ही यह सूर्य और बिजुली मेघ के अङ्गों को छेदन कर भूमि में गिरा देती है। और वह भूमि में गिर कर सोते हुए के समान दीख पड़ता है ॥ ५ ॥

फिर वे कैसे युद्ध करते हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

अयोद्धेव दुर्मद आ हि जुह्वे महावीरं तुविबाधमृजीषम्।
नातारीदस्य समृतिं वधानां सं रुजानाः पिपिष इन्द्रशत्रुः ॥ ६ ॥

पदार्थ—जैसे (दुर्मदः) दुष्ट अभिमानी (अयोद्धेव) युद्ध की इच्छा न करने वाले पुरुष के समान मेघ (ऋजीषम्) पदार्थों के रस को इकट्ठे करने और (तुविबाधम्) बहुत शत्रुओं को मारने

---

१. इस मन्त्र का संस्कृत अन्वय बहुत अव्यवस्थित है। अतः हमने यहाँ अजमेर मुद्रित भाषार्थ ही रहने दिया है।

२. पदार्थ में सूर्य कर्म उपमान है, और सभापति कर्म उपदेय है। भावार्थ में सभापति कर्म उपमना है और सूर्य कर्म उपमेय है।

हारे के तुल्य (महावीरम्) अत्यन्त बल युक्त शूरवीर के समान सूर्यलोक को (आजुह्वे) ईर्ष्या से पुकारते हुए के सदृश वर्तता है। जब उस को रोते हुए के सदृश सूर्य ने मारा तब वह मारा हुआ (इन्द्रशत्रुः) सूर्य का शत्रु मेघ (संपिपिषे) सूर्य से पिसजाता है और वह (अस्य) इस सूर्य की (बधानाम्) ताड़नाओं के (समृतिम्) समूह को (नातारीत्) सह नहीं सकता और (हि) निश्चय है कि इस मेघ के शरीर से उत्पन्न हुई (रुजानाः) नदियां पर्वत और पृथिवी के बड़े-बड़े कूलों को छिन्न-भिन्न करती हुई बहती हैं वैसे ही सेनाओं में विराजमान सेनाध्यक्ष शत्रुओं में चेष्टा क्रिया करे ॥ ६ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालंकार है[1]। जैसे मेघ संसार के प्रकाश के लिये प्रवृत्त हुए सूर्य के प्रकाश को अकस्मात् उठ और रोककर उसके साथ युद्ध करते हुए के समान वर्तता है तो भी वह मेघ सूर्य के सामर्थ्य का पार नहीं पाता। जब यह सूर्य मेघ को मारकर भूमि में गिरा देता है, तब उसके शरीर के अवयवों से निकले हुए जलों से नदी पूर्ण होकर समुद्र में जा मिलती है, वैसे राजा को उचित है कि शत्रुओं को मार कर निर्मूल करता रहे ॥ ६ ॥

फिर वह कैसा होकर पृथिवी पर गिरता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधि सानौ जघान।
वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन् पुरुत्रा वृत्रो अशयद् व्यस्तः ॥ ७ ॥

पदार्थ—हे सब सेनाओं के स्वामी आप जैसे (वृत्रः) मेघ (वृष्णः) वीर्यसींचने वाले पुरुष की (प्रतिमानम्) समानता को (बुभूषन्) चाहता हुआ (वध्रिः) निर्बल = नपुंसक के समान जिस (इन्द्रम्) सूर्यलोक के प्रति (अपृतन्यत्) युद्ध के लिये इच्छा करने वाले (अस्य) इस मेघ के (सानौ अधि) पर्वत के शिखरों के समान बादलों पर सूर्य लोक (वज्रम्) अपने किरण रूपी वज्र को (आजघान) छोड़ता है। उससे मरा हुआ मेघ (अपादहस्तः) हाथ पैर कटे हुए मनुष्य के तुल्य (व्यस्तः) अनेक प्रकार फैला पड़ा हुआ (पुरुत्रा) अनेक स्थानों में (अशयत्) सोतासा मालूम देता है, वैसे ही इस प्रकार के शत्रुओं को छिन्न-भिन्न कर सदा जीता कीजिये ॥ ७ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है। जैसे कोई निर्बल पुरुष बड़े बलवान् के साथ युद्ध करने में प्रवृत्त हो वैसे ही वृत्र मेघ सूर्य के साथ प्रवृत्त होता है और जैसे अन्त में वह मेघ सूर्य से छिन्न-भिन्न होकर पराजित हुए के समान पृथिवि पर गिर पड़ता है, वैसे जो धर्मात्मा बलवान् राजा के साथ लड़ाई को प्रवृत्त होता है, उसकी भी ऐसी ही दशा होती है ॥ ७ ॥

---

१. यहाँ लुप्तोपमा और उपमा दोनों अलंकार हैं। मन्त्र के 'अयोद्धेव' पद में वर्तमान इव पद से उपमा और संस्कृत अन्वय में 'यथा तथा' के प्रयोग से लुप्तोपमालंकार जानना चाहिये।

फिर वे दोनों परस्पर क्या करते हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

नदं न भिन्नममुया शयानं मनो रुहाणा अति यन्त्यापः ।
याश्चिद् वृत्रो महिना पर्यतिष्ठत् तासामहिः पत्सुतःशीर्बभूव ॥ ८ ॥

पदार्थ—हे राजाधिराज! आप जैसे यह (वृत्रः) मेघ (महिना) अपनी महिमा से (पर्यतिष्ठत्) सब ओर से प्रकाश को रोकने वाला होकर सर्वत्र वर्तमान (अहिः) सूर्य के ताप से नष्ट किया हुआ (तासाम्) उन जलों के बीच में स्थित (पत्सुतःशीः) पादों के तले सोनेवाला-सा (बभूव) होता है, उस मेघ का शरीर (मनः) मननशील अन्तःकरण के सदृश (रुहाणाः) उत्पन्न होकर चलने वाली नदियाँ जो कि अन्तरिक्ष में रहने वाले (चित्) ही (याः आपः) जल (शयानम्) सोते हुए के (न) तुल्य (भिन्नम्) किनारों को तोड़नेवाले (नदम्) महाप्रवाहयुक्त नद को (अतियन्ति) जाती हैं। और वे जल (अमुया) इस पृथिवी के साथ होते हैं, वैसे सब शत्रुओं को बांध के वश में कीजिये[1] ॥ ८ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा और उपमालंकार है। जितना जल सूर्य से छिन्न-भिन्न होकर पवन के साथ मेघमण्डल को जाता है, वह सब जल मेघरूप ही हो जाता है। जब मेघ के जल का समूह अत्यन्त बढ़ता है, तब मेघ घनी-घनी घटाओं से उमड़-उमड़ कर सर्य के प्रकाश को ढांप लेता है, इसको सूर्य अपनी किरणों से जब छिन्न-भिन्न करता है, तब इधर-उधर गिरे हुए जल बड़े-बड़े नद ताल और समुद्र आदि स्थानों को प्राप्त होकर सोते हैं। वह मेघ भी पृथिवी को प्राप्त होकर जहाँ तहाँ मनुष्य आदि प्राणियों के पैरों में सोता-सा होता है। वैसे अधार्मिक मनुष्य भी प्रथम बढ़ कर शीघ्र नष्ट होजाता है ॥ ८ ॥

फिर वह कैसा होता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

नीचावया अभवद् वृत्रपुत्रेन्द्रो अस्या अव वधर्जभार ।
उत्तरा सूरधरः पुत्र आसीद् दानुः शये सहवत्सा न धेनुः ॥ ९ ॥

पदार्थ—हे सभापते! आप जैसे (वृत्रपुत्रा) जिसका मेघ लड़के के समान है वह मेघ की माता (सूः) पृथिवी और (उत्तरा) ऊपर की अन्तरिक्ष नामावली (अभवत्) है (अस्याः) इसके पुत्र मेघ के (वधः) वध अर्थात् ताड़न को (इन्द्रः) सूर्य (अवजभार) करता है, इससे इसका (पुत्रः) मेघ (नीचावयाः) निकृष्ट स्थान को प्राप्त हुआ (अधरः) नीचे (आसीत्) गिर पड़ता है और जो (दानुः) सब पदार्थों की देनेवाली भूमि जैसे (सहवत्सा) बछड़े के साथ (धेनुः) गाय हो (न) वैसे अपने पुत्र के साथ (शये) सोती-सी दीखती है। वैसे आप अपने शत्रुओं को भूमि के साथ सोते के सदृश किया कीजिये ॥ ९ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालङ्कार है।[2] मेघ की दो माता हैं एक पृथिवी दूसरी अन्तरिक्ष, इन्हीं दोनों से मेघ उत्पन्न होता है। जैसे कोई गाय अपने बछड़े के साथ रहती है

---

१. यहाँ संस्कृत अन्वय अस्पष्ट है। हमने भाषार्थ को कथंचित् स्पष्ट किया है।

२. यहाँ भी पूर्ववत् लुप्तोपमा तथा उपमा अलङ्कार हैं।

वैसे ही जब जल का समूह मेघ अन्तरिक्ष में जाकर ठहरता है, तब उसकी माता अन्तरिक्ष अपने पुत्र मेघ के साथ और जब वह वर्षा से भूमि को आता है, तब भूमि उस अपने पुत्र मेघ के साथ सोती-सी दीखती है। इस मेघ को उत्पन्न करनेवाला सूर्य है, इसलिये वह पिता के स्थान में समझा जाता है। उस सूर्य की भूमि वा अन्तरिक्ष दो स्त्री के समान हैं। वह पदार्थों से जल को वायु के द्वारा खींचकर जब अन्तरिक्ष में चढ़ाता है, जब वह पुत्र मेघ प्रमत्त के सदृश बढ़कर उठता और सूर्य के प्रकाश को ढँक लेता है, तब सूर्य उसको मार कर भूमि में गिरा देता है। इसी प्रकार यह मेघ कभी ऊपर, कभी नीचे होता है, वैसे ही राजपुरुषों को उचित है कि कण्टकरूप शत्रुओं को इधर-उधर निर्बीज करके प्रजा का पालन करें ॥९॥

फिर उस मेघ का शरीर कैसा और कहाँ स्थित होता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम् ।
वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः ॥१०॥ [३७]

पदार्थ—हे सभास्वामिन् ! आपको चाहिये कि जैसे (वृत्रस्य) मेघ के (अनिवेशनानाम्) जिनको स्थिरता नहीं होती (अतिष्ठन्तीनाम्) जो सदा बहने वाले हैं, उन जलों के बीच (निण्यम्) निश्चय करके स्थिर (शरीरम्) जिसका छेदन होता है ऐसा शरीर है वह (काष्ठानाम्) सब दिशाओं के (मध्ये) बीच (निहितम्) स्थित होता है। तथा जिसके शरीर रूप (आपः) जल (दीर्घम्) बड़े (तमः) अन्धकार रूप घटाओं में (विचरन्ति) इधर उधर आते जाते हैं वह (इन्द्रशत्रुः) मेघ उन जलों में इकट्ठा वा अलग-अलग छोटा-छोटा बादल रूप होके (आशयत्) सोता है। वैसे ही प्रजा के द्रोही शत्रुओं को उनके साथियों के सहित बाँधकर सब दिशाओं में सुलाना चाहिये ॥ १० ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है। सभापति को योग्य है कि जैसे यह मेघ अन्तरिक्ष में ठहरने वाले जलों में सूक्ष्मपन से नहीं दीखता, फिर जब घनाकार वर्षा के द्वारा जल का समुदाय रूप होता है तब वह देखने में आता है और जैसे ये जल एक क्षणभर भी स्थिति को नहीं पाते हैं किन्तु सब काल में ऊपर जाना वा नीचे आना इस प्रकार घूमते ही रहते हैं और जो मेघ के शरीर रूप हैं वे अन्तरिक्ष में रहते हुए अति सूक्ष्म होने से नहीं दीख पड़ते, वैसे बड़े-बड़े बल वाले शत्रुओं को भी अल्प बल वाले करके वशीभूत किया करे ॥ १० ॥

फिर सूर्य उस मेघ के प्रति क्या करता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः ।
अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद् ववार ॥ ११ ॥

[पृष्ठ १६ का शेषांश]

(३२) ऋग्वेद मंडल १ सूक्त ३ मन्त्र १० में 'यज्ञम्' का अर्थ—'शिल्पविद्यामहिमानं कर्म च'—'शिल्प विद्या की महिमा और कर्मरूप यज्ञ को।'

(३३) ऋ० १।४।७ में 'यज्ञश्रियम्' की व्याख्या करते हुए 'यज्ञ' शब्द का अर्थ 'महिमा' किया है। इस प्रकार 'यज्ञश्रियम्' का अर्थ लिखा है 'चक्रवर्त्ती राज्य की महिमा की शोभा को।'

'राष्ट्रं वा अश्वमेध' इस 'शतपथ ब्राह्मण' के प्रमाण से महर्षि दयानन्दजी कहते हैं कि 'यज्ञ' शब्द से 'राष्ट्र' का ग्रहण किया जाता है। यहाँ भी 'यज्ञो वै महिमा' शतपथ का प्रमा दिया है।

इस प्रकार राष्ट्र का संघटन करना वा राष्ट्रोन्नति के सहायक सब कर्म यज्ञ कहलाते हैं।

(३४) ऋग्वेद १।१०।४ में 'यज्ञ' का अर्थ 'क्रिया-कौशल अर्थात् होम ज्ञान और शिल्प विद्यारूप क्रिया' किया है।

(३५) ऋग्वेद १।११।१ में 'यज्ञ' का अर्थ 'शिल्प विद्या' किया है।

(३६) ऋ० १।१५।७ में 'यज्ञ' शब्द का अर्थ 'अग्नि-होत्र आदि अश्वमेध पर्यन्त यज्ञ वा शिल्प विद्यालय यज्ञ' किया है।

(३७) ऋ० १।२०।२ में 'यज्ञम्' का अर्थ 'पुरुषार्थ साध्यम्' किया है। इस प्रकार 'जो पुरुषार्थ साध्य है उस सबको महर्षि दयानन्दजी यज्ञ कहते हैं।"

(३७) ऋ० १।२१।२ में 'यज्ञेषु' का अर्थ 'पठन-पाठनेषु शिल्पमयादिषु यज्ञेषु' का किया है। इससे स्पष्ट है, पठन-पाठन कार्य और शिल्पमयादि कार्य भी यज्ञ हैं।

(३८) ऋ० १।२२।३ में 'यज्ञम्' का अर्थ—'सुशिक्षोपदेशाख्यम् यज्ञम्' ऐसा कहा है। इससे स्पष्ट है कि श्रेष्ठ शिक्षा का नाम भी यज्ञ है।

(३९) ऋ० १।२७।१० में 'यज्ञियाय' का अर्थ—'यज्ञ कर्मार्हतीति यज्ञियो योद्धा तस्मै'—'यज्ञ कर्म के योग्य जो हो उसे यज्ञिय कहते हैं। 'यज्ञिय' शब्द से 'योद्धा' का ग्रहण करने से 'यज्ञ' का अर्थ 'युद्ध' है ऐसा स्पष्ट होता है।

(४०) ऋ० १।४१।५ में 'यज्ञम्' का अर्थ 'शत्रु नाशक श्रेष्ठपालनाख्यराजव्यवहारम्' किया है। शत्रु का नाश और श्रेष्ठ का पालन जिससे हो ऐसे राजव्यवहार को 'यज्ञ' कहा है।

(४१) ऋ० १।४४।३ में 'यज्ञानाम्'—'अग्निहोत्रा-द्यश्वमेधान्तानां योगज्ञानशिल्पोपासनाज्ञानानाम्' लिखा है।

आपने अपने 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' के 'वेद विषय विचार' में लिखा है—'अग्निहोत्रमारभ्याश्वमेधपर्यन्तेषु यज्ञेषु' इससे कतिपय व्यक्ति यह समझते हैं कि अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त कर्मों का नाम ही 'यज्ञ' है।

परन्तु यह धारणा भ्रमपूर्ण है क्यों कि उनके भाष्य को पढ़ने से अन्यान्य अर्थ भी होते हैं जैसा कि ऊपर थोड़े से प्रदर्शित किए गए हैं। जितने श्रेष्ठ कर्म हैं सब आपकी दृष्टि में 'यज्ञ' है अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त कर्म भी श्रेष्ठ कर्म हैं अतः ये कर्म भी यज्ञ हैं न कि ये ही कर्म यज्ञ हैं।

ऐसी विशाल अपूर्व व्याख्या अन्य किसी भाष्यकार ने नहीं की, महर्षि दयानन्दजी के इस कार्य से सभी आर्य ऋणी हैं क्योंकि उन्होंने अपनी १८ घंटे की समाधि को त्याग कर यह महान कार्य किया।

मुद्रक और प्रकाशक—पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा ज्योतिष प्रकाश प्रेस, विश्वेश्वरगंज, बनारस में छपा।

ॐ

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ६] [अङ्क ५

इस अंक के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु **व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक**

फाल्गुन २०१०, मार्च १९५४
दयानन्दाब्द १२९
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५२

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
बनारस नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
" " विदेश में ६)
इस अंक का ॥)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रति मास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनियार्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है।

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १ से तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहिये। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जावेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सम्बन्धी धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें।

८—ग्राहक महानुभाव पत्रव्यवहार वा मनियार्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—**वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस ६**

[पृष्ठ १ का शेष]

जो प्रियस्वरूप है, इससे ईश्वर का नाम वायु है। पूर्वोक्त प्रमाण से **'तदु चन्द्रमाः'** जो आनन्दस्वरूप और स्वसेवकों को परमानन्द देनेवाला है, इससे पूर्वोक्त प्रकार से चन्द्रमा परमात्मा को जानना। **'तदेव शुक्रम्'** वह चेतनस्वरूप ब्रह्म सब जगत् का कर्ता है। **'तद् ब्रह्म'** सो अनन्त चेतन सबसे बड़ा है और धर्मात्मा स्वभक्तों को अत्यन्त सुख विद्यादि सद्गुणों से बढ़ानेवाला है। **'ता आपः'** उसको सर्वज्ञ चेतन सर्वत्र व्याप्त होनेसे 'आप' नामक जानना। **'स प्रजापतिः'** सो ही सब जगत् का पति-स्वामी और पालन करनेवाला है, अन्य कोई नहीं। उसी को हमलोग इष्टदेव तथा पालक मानें, अन्य को नहीं॥

ऋषि व्याख्यान पर टिप्पणी—

१. अञ्चति गच्छति प्राप्नोति जानाति वा सोऽग्निः। वह्निः। प्रसिद्धो वा। उ० ४।५०

२. दो अवखण्डने (दिवादि) न विद्यते दितिर्विनाशो यस्य स अदितिः। अदितिरेव आदित्यः। सत्यार्थ० प्रथम० समु०।

३. यः चराचरं जगत् धरति, बलिनां बलिष्ठः सः वायुः। सत्यार्थ० प्रथम समु०। वा गतिगंधनयोः (अदादि)।

४. चदि आह्लादने दीप्तौ च (भ्वादि)। चन्द्रम आनन्दं मिमीतेऽसौ चन्द्रमाः। उ० ४।२२८॥

५. शुच्यते पवित्रीभवतीति शुक्रम्। ब्रह्म अग्निः आषाढः प्राणिबीजम् नेत्ररोगो वा। उ० २।२८॥

६. बृंहति वर्धते तद् ब्रह्म। उ० ४।१४६। बृह बृहि वृद्धौ (भ्वादि०) यो ऽखिलम् जगत् निर्माणेन बृंहति वर्द्धयति सः ब्रह्म। सत्यार्थ० प्रथम समु०।

७. आप्लृ व्याप्तौ (स्वादि०) आप्लृ लंभने (चुरादि०)

८. कारण = आदि कारण।

९. ज्ञानस्वरूप = ज्ञान का भण्डार।

ओ३म्

वेदवाणी

सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४ ॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों !

वर्ष ६ } काशी, फाल्गुन सं० २०१० वि०, मार्च १९५४ ई० { अङ्क ५

आर्याभिविनय से—

टिप्पणीकर्त्ता—विन्ध्यवासिनीप्रसाद अग्रवाल

अनेक नामों से प्रभु की भक्ति

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ यजुः ३२।१ ।

तत् एव — वही
अग्निः[1] — जगत् का चालक और परम पूजनीय (है)।
तत् — वह
आदित्यः[2] — नाशरहित और प्रकाशमान (है)।
तत् — वह
वायुः[3] — बलवान् (है)।
तत् — वह
उ — निश्चय से
चन्द्रमाः[4] — आनन्दस्वरूप और परमानन्द का देनेवाला (है)।
तत् एव — वही
शुक्रम्[5] — सम्पूर्ण विश्व का रचक (है)।
तत् — वह
ब्रह्म[6] — सबसे बड़ा (है)
ता आपः[7] — वही सब जगह व्याप्त (है)।
सः — वह
प्रजापतिः — (सकल) सृष्टि का स्वामी (है)।

ऋषि व्याख्यान—

'तदेवाग्निः' जो सब जगत् का कारण[8] एक परमेश्वर है उसी का नाम अग्नि है। 'ब्रह्म ह्यग्निः' शतपथे। सर्वोत्तम ज्ञानस्वरूप,[9] और जानने के योग्य प्रापणीय स्वरूप और पूज्यतम इत्यादि अग्नि शब्द के अर्थ हैं। आदित्यो वै ब्रह्म, वायुर्वै ब्रह्म, चन्द्रमा वै ब्रह्म, शुक्रं हि ब्रह्म, सर्वजगत्कर्तृ ब्रह्म, ब्रह्म वै बृहत्, आपो वै ब्रह्म इत्यादि शतपथ तथा ऐतरेय ब्राह्मण के प्रमाण हैं। 'तदादित्यः' जिसका कभी नाश न हो और स्वप्रकाश स्वरूप हो, इससे परमात्मा का नाम आदित्य है। 'तद्वायुः' सब जगत् का धारण करनेवाला, अनन्त बलवान्, प्राणों से भी

[शेष सामने टाइटल पेज २ पर]

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते !

देश जाति और धर्म की उन्नति के छ (६) वैदिक उपाय

लेखक—न्यायवेदान्तवाचस्पति श्री पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री, सरवनपुरा अमृतसर

[श्री पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री आर्यसमाज के एक सुयोग्य और विचारशील विद्वान् हैं। अंगरेजी राज्य के सुचेतगढ़ डकैती केस में यह लगभग २० वर्ष फरार रहे। मध्यभारतादि अनेक प्रान्तों में छिपकर रहे। इससे पहिले यह आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा में महोपदेशक का कार्य कर रहे थे। अब भारत स्वतन्त्र होने पर यह पुनः कार्यक्षेत्र में उतर रहे हैं। ऐसे योग्य व्यक्ति से आर्यसमाज बहुत लाभ उठा सकता है। इनकी भाषणशैली और लेखशैली बड़ी प्रशस्त है। वेदवाणी में इनके लेख निकलते रहेंगे। आप अरबी-फारसी-पाली और इङ्गलिश के ज्ञाता तथा हिन्दी संस्कृत के धाराबाहिक व्याख्यानदाता तथा लेखक हैं—सम्पादक]

वेद की शिक्षाओं में एक बड़ी विशेषता यह है कि वे प्रत्येक देश और प्रत्येक परिस्थिति के लिये समान रूप में सहायक सिद्ध होती हैं, किसी भी देश को समुन्नत करने और किसी भी परिस्थिति को अनुकूल करने के लिये किन साधनों की आवश्यकता है—इस तत्त्व को कोई जानना चाहे तो वेद का स्वाध्याय करे।

पतितों को उठाना, अवनतिगर्त में गिरे हुओं को समुन्नति के शिखर पर पहुंचाना—वेद का ही काम है भारत में इस सत्यता की कई बार परीक्षा हो चुकी है तथा अन्य देशों में भी इसकी सत्यता को अनुभव किया गया है, आज भी संसार को विशेषतः भारत को वेद की सहायता की आवश्यकता है, मानवजाति के आदि पुरुष मनु ने तो स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि—**सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति**, अर्थात् जिसको जिस विषय में ज्ञान की इच्छा हो वह वेद से प्राप्त कर सकता है क्योंकि—**सर्वज्ञानमयो हि सः**—अर्थात् वेद सब प्रकार के उत्तमोत्तम ज्ञान विज्ञान का भंडार है।

कोई भी देश कब उन्नत कहलाता है, उन्नति के साधन क्या है और उन्नति की प्राप्ति कैसे होती है इत्यादि बातों का ज्ञान प्राप्त करना हो तो परम कृपालु वेद भगवान् की शरण में चलना चाहिये, अथवा वेद का यह मन्त्र इस प्रकार शिक्षा देता है कि—

**उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय।
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय॥** अ. १९-६३-१

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते ! यदि पतितावस्था का ज्ञान हो चुका है और उस दीनहीन अवस्था से घृणा उत्पन्न हो चुकी है तो उत्तिष्ठ—उठकर खड़े हो जावो, त्यागो आलस्य को और प्रमाद को।

आलस्य और प्रमाद को त्यागने के पश्चात् आगे बढ़ने की आवश्यकता है, उसी स्थान पर खड़े रहने से उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती—बिना पग बढ़ाये अभीष्ट स्थान तक पहुंचना असम्भव है, आगे बढ़कर वेद का आश्रय लेना होगा, वैदिकज्ञान के बल को प्राप्त करके ही उन्नति के हिमालय पर चढ़ जा सकता है, अतः उठो और उठकर ज्ञानोपार्जन करने में जुट जावो, इतना ज्ञान उपार्जन करो कि ब्रह्मणस्पति पूर्ण वेदज्ञ बन जावो, ब्रह्मणस्पति—वेदविद्या के पति बनो, पति पति में महान् अन्तर है, एक

पति तो नाम मात्र का होता है—वह क्लीव और पौरुषत्व हीन होने के कारण पत्नी के सौन्दर्य से लाभ नहीं उठा सकता और न ही पत्नी से योग्य सन्तति का सुख प्राप्त कर सकता है, पत्नी की सुरक्षा का प्रबन्ध भी उस क्लीव से नहीं हो सकता, वह अपमान की घटनाओं को देखता सुनता तो है परन्तु उनका प्रतीकार नहीं कर सकता, ऐसे व्यक्ति के पति कहलाने पर धिक्कार है, जो पत्नी की रक्षा न कर सके और पत्नी से सेवा शुश्रूषा तथा सुयोग्य सन्तति की प्राप्ति न कर सके, एक दूसरा व्यक्ति है, वह भी पति है, वह अपनी पत्नी की सर्व प्रकार से रक्षा करता है, उसकी सहायता से सुख सम्पत्ति और सुयोग्य सन्तति को प्राप्त करके जीवन को सुखी बनाता है—यह ही सच्चा पति कहलाने के योग्य है, निरुक्त और महाभाष्य के परम प्रमाण मन्त्रों में यही भाव स्पष्ट रीति से इस प्रकार कहे गये हैं—

उत त्वः पश्यन्नददर्श वाचं
उत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे
जायेव पत्य उशती सुवासा । ऋक्.

देखो, एक व्यक्ति तो वह है जो वेदवाणी को आँखों से देखता हुआ भी ठीक ठीक नहीं देख पाता कान हैं, सुन भी रहा है—परन्तु वाग् देवी के शब्दों को ठीक ठीक सुन नहीं पाता और देखो एक व्यक्ति वह है जिसको सच्चे शब्दों में पति कहना चाहिये—उसकी सेवा के लिए वेदवाणी आगे आती और अपनी सकल विभूतियों को निःसंकोच होकर ब्रह्मणस्पति के आगे धर देती है—जैसे कोई प्राणप्रिया श्रृंगार करके अपने प्राण वल्लभ से मिल रही हो ।

ज्ञान विज्ञान के उपार्जन करने के पश्चात् ब्रह्मणस्पति का एक महान् कर्तव्य है, उस कर्तव्य को पूर्ण कर लेने पर जहाँ वह स्वयम् सामर्थ्यवान् बन सकता है, वहाँ देवताओं को भी अपना सहयोगी बना सकता है और यह कार्य ऐसा है कि जिसके बिना उद्देश्य की पूर्ति कभी नहीं हो सकती अतः—

देवान् यज्ञेन बोधय—देवों को यज्ञ के द्वारा जागृत करो। अपने और देश के उद्धार के लिये देवों को साथ मिलाना और देवों को साथ लेकर आगे बढ़ना सब प्रकार की उन्नति का मूल मन्त्र है।

आध्यात्मिक उन्नति के लिये इन्द्रिय और अन्तःकरण रूपी देवों का उद्बोधन करना आवश्यक है, आधिदैविक उन्नति के लिये वायु आदि देवों की सहायता प्राप्त करना आवश्यक है और आधिभौतिक उन्नति के लिये अपने देशवासी-देवों का सहयोग प्राप्त करना परमावश्यक है।

बोधय—जगा दे। सोये हुए और जागे हुए में महान् अन्तर होता है, यदि कोई धनिक धनाढ्य व्यक्ति सोया पड़ा हो और उसकी जेब तथा पेटी धन सम्पत्ति से परिपूर्ण भी हो—तो उस धन से न तो सोये हुए धनाढ्य व्यक्ति को कुछ लाभ पहुँचता है और न ही वह सुप्त व्यक्ति किसी निर्धन की आवश्यकता पूर्ण कर सकता है, शस्त्रधारी योद्धा यदि सोया पड़ा है तो उसके शस्त्र अस्त्र न तो उस सुप्त योद्धा की प्राण रक्षा कर सकते हैं और न ही वह सुषुप्त व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति की अथवा स्वदेश सीमा की रक्षा कर सकता है।

सोये हुए शासक का किसी पर शासन नहीं चलता और सोये हुए विद्वान् अध्यापक से कोई विद्या ग्रहण नहीं कर सकता, जब जागने से ही सामर्थ्य का प्रकाश होता है, तो सामर्थ्यवान् बनने के लिए जागृत होना, सावधान रहना परम आवश्यक है। अत एव सोये हुए देवों को सावधान करना चाहिये और देवों के जागृत हो जाने से उनका

दिव्यशक्तियों को धारण करने का पुरुषार्थ करना चाहिये। उपनिषद् में कहा है—**देवधारणो भूयासम्** अर्थात् मैं देवों की दिव्य शक्तियों को अपने अन्दर धारण करने वाला बन जाऊँ। मन्त्र ने बताया कि देवों को जगाओ—**देवान् बोधय**।

यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि—जगाना देवों को है। कहीं ऐसा न हो कि देवों को जगाते जगाते असुरों की निद्रा भंग हो जाय और प्राणघाती राक्षस मंडल जाग कर जगाने वाले का ही नाश कर डालें। सुप्त और गुप्त, भक्ति श्रद्धा ब्रह्मचर्य आदि दिव्य शक्ति को जगाना है धर्मपरायण वैदिक धर्मियों को जगाना है, इनके जाग जाने पर जगाने वाले का कल्याण होता है।

यदि भूल चूक से असुरों को जगा दिया तो जैसे जिन्ना लियाकत आदि ने जागकर पाकिस्तान खड़ा करके भारतीय जनता को सदा के लिए शंकित और भयभीत कर दिया है, वैसे ही विलासिता, नास्तिकता और लम्पटता जैसी आसुरी वृत्तियों के जाग जाने पर सदा अनिष्ट ही अनिष्ट हुआ करेगा। अतः सावधान! सावधान! सावधान हो कर देवों को ही जगाना। जगाना किस रीति से—इस का भी मार्ग बताया है, **यज्ञेन**—अर्थात् यज्ञ के द्वारा देवों को जगावो। जो वस्तु जिसको प्रिय होती है, उसी के द्वारा उससे सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। देवों को यज्ञ से ही प्रेम है और यज्ञ—**यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म** अर्थात् **अत्यंत श्रेष्ठ कर्म ही यज्ञ कहाते हैं। कोई भी श्रेष्ठ कर्म क्यों न हो वह अवश्यमेव यज्ञ ही है**। ऐसे शुभ कर्म रूपी यज्ञों को करते हुए, देवों को अपना सहयोगी बनाओ, देवों का सहयोग प्राप्त होते ही उन्नति का श्रीगणेश होने लगता है।

मन्त्र के पूर्वार्ध का सांकेतिक व्याख्यान हो चुका, इतने मात्र से हमें पता लग जाता है कि—जो व्यक्ति उन्नति चाहता है उसको आलस्य प्रमाद को त्यागना आवश्यक है। आलस्य और प्रमाद को त्यागकर ज्ञान विज्ञान का उपार्जन करके ब्रह्मणस्पति बनना और भी आवश्यक है। और ब्रह्मणस्पति बनने के अनन्तर देवों का सहयोग प्राप्त करना उससे भी अधिक आवश्यक है। इसके साथ ही यह कभी न भूलना चाहिये कि देवों को यज्ञों से ही प्रेम है, जब तक यज्ञ पर दृढ़तया स्थित रहोगे तब तक देवता साथ देते रहेंगे और सब प्रकार की उन्नति होती रहेगी और देवतागण सुख शान्ति की वर्षा करते रहेंगे।

वह सुख शान्ति और सब प्रकार की उन्नति कैसे होती हैं—इसका दिग्दर्शन कराने के लिये मन्त्र का उत्तरार्ध भाग आता है, यज्ञादि शुभकर्म करने वाले ब्रह्मणस्पति अर्थात् वैदिक धर्मी को दिव्य सहयोग प्राप्त हो जाने से कई दुर्लभ रत्नों की प्राप्ति होती है। मन्त्र गिनाता है—

आयुः—जहाँ देवों की सहायता मिलती है और यज्ञादि शुभ कर्म होते हैं, वहाँ वैदिक धर्मियों की आयुः लम्बी होती है। उस देश के लोग दीर्घायु और चिरंजीवी होते हैं। कोई समय था जब भारत वासियों की साधारण आयुः १०० वर्ष की हुआ करती थी—किम्वदन्ती प्रसिद्ध थी कि **शतायुर्वै पुरुषः**। साठा सो पाठा अर्थात् साठ वर्ष तक का व्यक्ति तो जवान पट्ठा कहलाता था, माता पिता के सामने सन्तान की मृत्यु नहीं हुआ करती थी, यदि ऐसी अकाल मृत्यु की दुर्घटना हो जाती थी तो महाराजा रामचन्द्र जैसे धार्मिक राजा को भी जनता के सामने अपना अपराध स्वीकार करना पड़ता था यह उस समय की बात है जब इस देश के विद्वान् लोग ब्रह्मणस्पति बनकर कर्तव्यनिष्ठ थे और आयुः वृद्धि के शतशः उपाय सोचा करते थे। प्रत्येक घर से—**जीवेम शरदः शतम्** की और **भूयश्च शरदः**

शतात् की दिव्य ध्वनि निकला करती थी। प्रत्येक वृद्ध अपने पास आने वाले बालकों और युवकों को डांट कर चेतावनी देते हुए कहा करता था—**मा पुरा जरसो मृथाः** अर्थात् वृद्धावस्था के आने से पहले मत मर जाना।

दूसरा रत्न है—प्राण।

प्राणम्—प्राण नाम इन्द्रियों के बल का है। 'दीर्घायुष्ट्वाय 'शतशारदाय' के लिए इन्द्रियों के बलवान् होने की बड़ी आवश्यकता है। ज्ञानेन्द्रियां केवल अपने अपने गोलकों में ही निवास न करती रहें, किन्तु अपने अपने कार्यभार को सम्भालने वाली भी हों। उनमें देखने सुनने तथा चलने और पकड़ने आदि की शक्तियें सदा वर्तमान रहें। जीवन के चिरकाल तक स्थिर रहने के लिए प्राणधारण की तथा मनः चक्षुः आदि इन्द्रियों के बल की बड़ी भारी आवश्यकता है। निर्बल मन और निस्तेज इन्द्रियों के साथ दीर्घ आयुः भी किसी काम की नहीं मानी जा सकती, अपितु ऐसा जीवन भी भार रूप प्रतीत होता है।

तीसरा रत्न है—प्रजा।

प्रजाम्—ब्रह्मणस्पति को प्रजा की ओर भी ध्यान देना चाहिये, प्रजा नाम है सन्तान का, शिष्य वर्ग का और अनुयायी वर्ग का। पितृ ऋण से उऋण होने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को उद्योग करना चाहिये। प्राचीन समय में ऐसा नियम था कि जब ब्रह्मचारी गुरुकुल से दीक्षित होकर माता पिता के पास जाने लगता था, उस समय गुरुकुल का प्रधान आचार्य, दीक्षा लेनेवाले ब्रह्मचारी को उपदेश देता था—**प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः** अर्थात् आज तक चले आने वाले प्रजा तन्तु को मत तोड डालना, किन्तु सन्तान उत्पत्ति द्वारा इस तन्तु को आगे बढ़ाने का ध्यान रखना। अध्यापकगण अपने शिष्यों को भली प्रकार समझा दिया करते थे कि अधिकारी को यह विद्या अवश्य सिखा देना। इस प्रकार देश की जनशक्ति उत्तरोत्तर प्रभावशाली बनती जाती थी और विद्या के प्रचार से अविद्यान्धकार विनष्ट हुआ करता था। प्रचारक गण स्थान स्थान पर जाकर धर्मोपदेश देकर वहाँ की जनता को वैदिक धर्म की दीक्षा दिया करते थे। आज भी ऐसी सत् प्रजा की वृद्धि की ओर ध्यान आकर्षित होना चाहिये।

उन्नति के लिए चौथा उपाय है—पशु।

पशून् पाहि—पशुओं की रक्षा करो। **गां मा हिंसीः**—गौ की हिंसा मत करना। पशुरक्षा और पशुपालन के उद्देश्य से भगवान् बुद्ध कहा करते थे—

गावो मे परमं वित्तं गावो मे परमं धनम्—गौ ही मेरी परम सम्पत्ति है गौ ही मेरा सर्वोत्कृष्ट धन है, महाराज युधिष्ठिर की गोशालाओं में ४० करोड़ गौओं का पालन होता था। तभी तो देश में घी दूध की नदियें बहा करती थीं और पवित्र घी दूध के कारण लोगों की आयु लम्बी, भावनायें शुद्ध और स्वास्थ्य उत्तम होता था। गोपाल कृष्ण इसी गोपालन और पशुसंवर्धन विद्या के द्वारा अपने युग के आदर्श पुरुष कहलाये थे।

पांचवां अंग है—कीर्तिः।

कीर्तिं वर्धय—कीर्ति की वृद्धि करो। संसार के सभी सुख प्राप्त होने पर भी जिस व्यक्ति की या जिस धर्म की या जिस देश की कीर्ति नहीं फैलती—स्थान स्थान पर जिसकी निन्दा है, वह अपयश को प्राप्त होता है और सुखी नहीं रह सकता। वेद ने इसीलिये कीर्ति को महत्त्व दिया है अतः पुरुषार्थ के द्वारा शुभकर्म करते हुए प्रत्येक व्यक्तिको कीर्तिसंवर्धन और यशःसम्पादन करना चाहिये, महाराज दिलीप कह रहे थे—**यशःशरीरे भव मे दयालुः** अर्थात् मेरा शरीर खा ले और गुरु

[शेष टाइटल पेज ४ पर]

आर्य-समाज के इतिहास में दो बड़ी भूलें

आर्य-समाज स्थापना दिवस तथा परोपकारिणी सभा स्थापना दिवस सम्बन्धी

सार्वदेशिक सभा और परोपकारिणी सभा के अधिकारियों की भयङ्कर उपेक्षा

लेखक—युधिष्ठिर मीमांसक, मोतीझील, काशी

आर्यसमाज और परोपकारिणी सभा के स्थापना दिवस के सम्बन्ध में जो भयङ्कर भूलें हो रही हैं उनकी ओर २६ जनवरी १९४६ में प्रथमवार आ. प्र. सभा राजस्थान के मुखपत्र **आर्यमार्तण्ड** द्वारा सार्वदेशिकसभा और परोपकारिणी सभा के अधिकारियों का ध्यान आकृष्ट किया था। उसका कुछ फल न निकलने पर १७ चैत्र सं० २००३ (मार्च सन् १९४७) में आर्यप्रतिनिधि सभा पञ्जाब (लाहौर) के मुखपत्र **आर्य** में पुनः इसी विषय पर लिखा। उसका भी कुछ फल न निकला। आज ७ वर्ष के अनन्तर पुनः उसी विषय पर संक्षेप से पाठकों का तथा दोनों सभाओं के अधिकारियों का ध्यान आकृष्ट करता हूँ।

आर्य समाज स्थापना दिवस

चैत्र शुक्ला ५ सं० १९३२ = १० अप्रैल सन् १८७५

श्री पं० लेखरामजी और श्री पं देवेन्द्रनाथजी दोनों ने ऋषिजीवन के अन्वेषण के लिये जो कार्य किया उसके फलस्वरूप ऋषि दयानन्द के जो दो महत्त्वपूर्ण जीवन-चरित्र प्रकाशित हुए, उन दोनों में आर्यसमाज गिरगांव बम्बई की स्थापना चैत्र शुक्ला ५ शनिवार सं० १९३२ लिखा है। जहां तक मुझे स्मरण है, सन् १९३१ तक सार्वदेशिक सभा द्वारा भी प्रतिवर्ष चैत्र शुक्ला ५ को ही आर्यसमाज स्थापना दिवस मनाने की घोषणा होती थी। सन् १९३९ के हैदराबाद सत्याग्रह के दिनों में श्री माननीय स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी जब बम्बई पधारे तब उन्होंने बम्बई आर्य समाज भवन पर लगे शिलालेख को देखकर चैत्र शु० १ को आर्यसमाज स्थापना दिवस मनाने का प्रस्ताव सार्वदेशिक सभा में उपस्थित किया। तब से सार्वदेशिक सभा प्रतिवर्ष चैत्र शु० १ को आर्य समाज स्थापना दिवस मनाने की घोषणा करती है।

मैंने अपने दोनों लेखों में जीवन-चरित्रों के निर्देशों के साथ ऋषि दयानन्द का चैत्र शुक्ला ६ रविवार के एक पत्र (जो कि आर्यसमाज की स्थापना के दूसरे दिन ही लिखा गया था) की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया था। उस पत्र में "आगे मुम्बई में चैत्र शुद्ध ५ शनिवार के दिन संध्या साढ़े पांच बजते आर्यसमाज का आनन्दपूर्वक आरम्भ हुआ"[1] लेख स्पष्ट है।

शिलालेख की अप्रामाणिकता

बम्बई आर्य समाज के भवन पर जो शिलालेख लगा है, वह हमारे विचार में काल्पनिक होने से सर्वथा अप्रामाणिक है। उसके काल्पनिक होने में निम्न प्रधान हेतु हैं—

१—जिस आर्यसमाज भवन पर उक्त शिलालेख लगा है वह आर्यसमाज स्थापना के ६ वर्ष पश्चात् निर्मित हुआ था, यह उसी भवन पर लगे दूसरे दो शिलालेखों से व्यक्त है।

२—उक्त शिलालेख भवननिर्माण के साथ ही लगाया गया या पीछे से इसका भी कोई प्रमाण नहीं है।

३—सबसे प्रथम ऋषिचरित्र के अन्वेषण में पं० लेखरामजी बम्बई पधारे थे। (सम्भवतः सन् १८९३ में)। उस समय तक यदि उक्त शिलालेख समाज पर लगा होता या वहां के लोगों में चैत्र शु० १ की प्रसिद्धि होती तो श्री पं० लेखरामजी कभी आर्यसमाज स्थापन तिथि चैत्र

१. यह पत्र श्री माननीय पं० भगवद्दत्त जी ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन के भाग ३ पृष्ठ १—२ पर सन् १९२७ में छाप चुके थे। परन्तु सन् १९२९ में सार्वदेशिक सभा के अधिकारियों ने आर्यसमाज स्थापना दिवस के सम्बन्ध में परिवर्तन करते समय इस पत्र पर कुछ ध्यान नहीं दिया (सम्भव है उनमें से किसी को इस पुस्तक के छपने का भी ज्ञान न रहा होगा)। यह उनकी अक्षम्य भूल थी। तत्पश्चात् यह पत्र रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' नामक बृहत् संग्रह में पृष्ठ ३२ पर छपा है। यह बृहत्संग्रह देश विभाजन काल में लाहौर में जला दिया गया। अब इसका परिवर्धित तथा परिष्कृत द्वितीय संस्करण पुनः छप रहा है। आशा है ६,७ महीने तक प्रकाशित हो जायेगा।

१९३९ के पत्र[1] में लिखा है—"गत पञ्चमी मंगलवार के दिन सायंकाल ७ बजे बड़े बड़े सर्दार तथा कामदारों की सभा बुला के स्वीकार पत्र···"। इससे स्पष्ट है कि स्वीकार-पत्र फाल्गुन कृष्णा ५ सं० १९३९ को ही हुई थी, फाल्गुन शुक्ला ५ को नहीं। अंग्रेजी तारीख २७ फरवरी ठीक है।

उपसंहार

इस प्रकार अनेक सुपुष्ट प्रमाणों से स्पष्ट है कि आर्यसमाज बम्बई की स्थापना "चैत्र शुक्ला ५ शनिवार" सं० १९३२ को हुई थी, चैत्र शु० १ बुधवार को नहीं। इसी प्रकार परोपकारिणी सभा की स्थापना "फाल्गुन कृष्णा ५ मंगलवार" को हुई थी फाल्गुन शु० ५ को नहीं।

आशा है सार्वदेशिक सभा और परोपकारिणी सभा के अधिकारी इस भूल की ओर अवश्य ध्यान देंगे और उसे सुधारने का प्रयत्न करेंगे। यदि सभा के अधिकारी चाहें तो मैं उन्हें इस विषय में पूर्ण सहयोग दे सकता हूँ—

वेद और भक्तिमार्ग

[लेखक—श्री लालचन्दजी मेरठ]

मन से सुविचार और हृदय से भक्ति करते हुए, या यों कहिये कि मन के परिष्कृत विचार और हृदय के विशुद्ध प्रेम के भावों का एकीकरण होने पर मनुष्य जब सर्वमंगल के कार्यों को पूरी लगन से सब मिलकर सर्वहित में निजहित निहित समझ कर पूरी लगन और तत्परता से संपन्न करते हैं तो उसमें जो सह = ओज अर्थात् संगठित और सुव्यवस्थित शक्ति उत्पन्न होकर स्थिर होती है। उसी में जनार्दन पूजा अर्थात् निस्स्वार्थ जन सेवा की क्षमता हुआ करती है। निस्स्वार्थ जनसेवा ही भक्तिका क्रियात्मक रूप है और यह कार्य भगवान् को ही आदर्श मानकर किया जाता है। जिस प्रकार प्रजापालक परमात्मा सब में है उसी प्रकार जब मनुष्य के जीवन व्यवहार में व्यापकता आ जाती है तो वह भक्त कहा जाता है। उसने अपने व्यक्तित्व को सब में बाँट दिया है और अपने भगवान् का ही अनुकरण करता हुआ वह संकोच और संकीर्णता रहित सब में रमता हुआ प्रसन्न है यही भक्ति का व्यावहारिक रूप है।

भगवान् अनंत ऐश्वर्यों और पुष्टियों के स्वामी हैं हम भी (**तस्य ते भक्तिवांसः स्याम**। अथर्व ६।७९।३) सब में मिलकर अपने अपने भाग के भागी होवें। हम सब मिलकर सब के साथ मिल बांट कर भोजन करें (**सह भक्षा स्याम्**—अथर्व ६।४।७१) मिलना, मिलकर उन्नति करना और अपना-अपना कर्तव्य करते हुए आपस में प्रेम से रहना और उन्नत होना भक्ति का रहस्य है। इस प्रकार के परस्पर के व्यवहार में सभी का उत्कर्ष

१. यह पत्र रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' के बृहत्संग्रह के लाहौर संस्करण में पृष्ठ ३९८–४०० तक छपा है।

होता है। भक्तियुक्त जीवन एक संतुलन का जीवन है, इसमें ऋत भी है और सत्य भी। अतः भक्त की जीवन-चर्या धर्ममर्यादा युक्त कही जाती है और इसमें अभ्युदय और निःश्रेयस् एक साथ ही प्राप्त होते हैं, भक्ति में जीवन की सार्थकता है अतएव जीवन की पूर्णता है।

जनार्दन-पूजा में तत्पर रहता हुआ भक्त, विभाजन के तत्त्वज्ञान को सम्यक् जानकर वेद की **अभि-राष्ट्रेण वर्धताम्** (अथर्व ६।७८।२) आज्ञा को राष्ट्र की उन्नति के साथ अपनी उन्नति करता हुआ निभाता है। जिसने अपने कर्तव्य को प्रसन्नता से निभाना सीखा है, वह भक्त है, क्योंकि उसने भगवान् की आज्ञा का पालन किया है। पहले दिव्य जन जैसे अपने नियत कर्तव्य को प्राणपण से निभाते रहे हैं **देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते** (ऋ १०।१९१।२) वैसा हे मानव, तू भी करता रह, इसी में अक्षय ऐश्वर्य और परम सुख की उपलब्धि है। भक्त कभी भी किसी के धन का लालच न करता हुआ वेद की आज्ञा—**मा गृधः कस्यस्वि-द्धनम्** (यजु ४०।१) का पालन करता है। भक्त अपने दायित्व को समझने वाला, निभाने वाला श्रेष्ठ मानव है।

भक्त वेद के इस तथ्य को जानता है कि जो साहस नहीं छोड़ता वह सफलता पाता है **अप्रतीतो जयति संधनानि।** (ऋ० ४।५०।९) भक्त साधन हीन नहीं होता, वह कभी ऐश्वर्यहीन भी नहीं होता क्योंकि वह भली प्रकार वेदनाएँ जानता है **वयं स्याम पतयो रयीणाम्** (ऋ० १०।१२१।१०), **चोदयस्व महते धनाय** (ऋ० १।१०४।७), **रयिं सर्ववीरं दधातन** (ऋ० १०।१५।११), **सुवीरासो वयं धना जयेम** (ऋ० ९।९२।२३) हम सब प्रकार के धन ऐश्वर्य के स्वामी हों, महान् धनार्जन के लिए हमें प्रवृत्त कर, सब प्रकार के वीर्य के साथ हमें धन प्राप्त हो, पराक्रमी होकर हमें धन प्राप्त करना चाहिये। वेद के अनुसार भक्त अकिंचन और दरिद्री निर्धन नहीं है। वेद तो कहता है **ददामीत्येव ब्रूयात्**— अथर्व १२।४।१ मैं देता हूँ यही कहे। परमेश्वर के भक्त को तो ऐश्वर्यवान् होना ही चाहिये क्योंकि उसका आराध्य देव जिसकी वह आराधना करता है परम ऐश्वर्यवान् है। भक्त का निर्धन होना अवैदिक है। वेद तो मनुष्य को आर्य अर्थात् परम श्रेष्ठ मानव बनाना चाहता है, जिसमें अर्य नाम भगवान् के गुण व्यवहार में दीखें। वेद की प्रार्थना है कि हे प्रकाश स्वरूप, मुझे ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए सुपथ पर चला— **अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्** (यजु० ४०।१६) सुपथ पर, कल्याणमार्ग, धर्ममार्ग पर चलने से मनुष्य अवश्य सुसम्पन्न शक्तिशाली और आस्तिक ईश्वर भक्त होता है।

अवैदिक रूढ़ियों को हटाना आर्यसमाज का कर्तव्य है। बहुत-सी वेद-विरुद्ध प्रथाएँ चल रही हैं उनमें से भगवान् के भक्त का निर्धन होना, उसमें ऐश्वर्यवान् होने की रुचि न होना, धन संपद से उपेक्षा, ये भी अवैदिक भावना है जिसका उन्मूलन आवश्यक है। यदि हम सशक्त और ऐश्वर्ययुक्त होते हुए ईश्वर भक्त रहना चाहते हुए अपना राष्ट्र ऐश्वर्य-शाली बनाना चाहते हैं वेद की शिक्षा का अनुसरण करना चाहिये। वेद की शिक्षा सजीव है उसमें जीवन की कल्पना ही नहीं, जीवन की विपुलता है। हमारा ध्येय शान्ति, तृप्ति, विपुलता, पूर्णता और आनन्द है इसी आकांक्षा को लेकर हम '**शन्नो देवी**' मन्त्र से संध्योपासना आरम्भ करते हैं। हमें कभी भी संकीर्णता को अपने निकट नहीं आने देना चाहिये। भारत के उत्कर्ष के दिनों में न यहाँ कोई चोर था न कोई कृपण था और न कोई व्यभिचारी ही था।

सभी जन अपने अपने वर्ण-आश्रम का कर्तव्य निभाते हुए धन-धान्य समृद्ध से पूर्ण थे और पंचमहायज्ञ नित्य करते हुए सर्वांग उन्नति करते थे। मिल कर और बाँटकर खाना वेद की आज्ञा है।

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

दुर्बुद्धि मनुष्य व्यर्थ ही भोग सामग्री को पाता है। सच कहता हूँ कि वह भोग सामग्री उस मनुष्य के लिए मृत्यु रूप है, उसका नाश करनेवाली ही होती है। ऐसा दुर्बुद्धि मनुष्य न तो श्रेष्ठ कार्यकर्ताओं और न हीं इष्ट मित्रों को आश्रय देता है। सचमुच वह अकेला खाने=भोग करनेवाला मनुष्य केवल पाप को ही भोगने वाला होता है।

भज धातु जिससे भक्ति शब्द बनता है, उसका अर्थ विशेषतः बाँटना, सेवा करना, सम्मान करना है। जो मनुष्य विभाजन के स्वर्णनियम को समझ गया है उससे कभी विभाजन में अन्याय नहीं होगा, वह जहाँ आत्मसम्मान की रक्षा करेगा वहाँ दूसरों को भी सम्मान देगा और यथाशक्ति सेवा करके सबको सन्तुष्ट और प्रसन्न रखेगा। जनता-जनार्दन की निस्वार्थ सेवा उत्तम भक्ति है। चरित्रवान मनुष्य ही सेवा कर सकता है। सेवा करना हँसी-खेल नहीं। सेवा धर्म बहुत गहन है इसमें अतप्ततनू जो मनुष्य तपस्वी संयमी नहीं वह फिसल जाता है, उसका नैतिक पतन होता है। भक्त कहलाना और भक्त होना अलग है। हमें भक्त होना चाहिये। भक्त होने के लिए सशक्त और सम्पन्न होना आवश्यक है। मिल बाँटकर भोग तभी किया जायगा जब भोग्य सामग्री भी हो। वेद में ऐश्वर्य धन संपद् की उपेक्षा नहीं है। वेद की स्पष्ट आज्ञा है 'द्रविणं च धत्तम्' (ऋ० ८।३५।१०) द्रव्य पास रखो। धनहीन मनुष्य दीन हीन रहता है, वह साधन सम्पन्न नहीं होता, अतएव वह उन्नति नहीं करता। वेद के अनुसार हमें पूर्ण आयु अदीन रहना है अदीनाः स्याम शरदः शतम् (यजु ३६।२)। हीनता और दीनता का परस्पर संबंध है। वेद के अनुसार मनुष्य अपनी हीनता संकीर्णता छोड़े और स्वतंत्र रहे। सर्वेश्वर प्रभु का भक्त परतंत्र क्यों हो?

वेद का आदर्श निम्न मंत्र से स्पष्ट होता है—

बुध्येम शरदः शतम्। रोहेम शरदः शतम्। पूषेम शरदः शतम्। भवेम शरदः शतम्। भूयेम शरदः शतम्। भूयसी शरदः शतात्॥

अथर्व १०।६७।३–८॥

सौ वर्षों तक ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, ज्ञान बढ़ाना चाहिये, शरीर पुष्ट करना चाहिये, सम्पत्तिवान होना चाहिये, उन्नत होना चाहिये, यही नहीं, हमें सौ वर्षों से भी अधिक बराबर उत्कर्ष प्राप्त करना चाहिये।

वैदिक आर्यों की यह महत्त्वाकांक्षा प्रत्येक आर्य को अब भी अपने हृदय पटल पर अंकित करनी चाहिये। हमारी नैतिकता व्यापक हो हम सत्य की पालना में दृढ़ हों और विनयशील ज्ञानी हों तभी हम दीर्घायु होकर अनुभव प्राप्त कर सकेंगे और भक्ति के नियम निभा सकें।

भक्त के लिए निर्भय होना आवश्यक है और उसे धीर होना चाहिये। निर्भयता और धैर्य से चरित्र बनता है और चरित्रवान् ही अभय और धीर होता है। हमारे हृदय में भय का नाम भी न होना चाहिये; सदाचारी ही अभय हो सकता है जब वह भगवान् की निकटता का अनुभव करता है। जिस सदाचारी मनुष्य का यह अनुभव है कि सर्वशक्तिमान् भगवान् उसके अतिनिकट है उसी के अपने हृदय में परिपूर्ण है वह भयभीत नहीं होता, क्योंकि वह भगवान् का निरन्तर साथ अनुभव करता है।

वेद के अनुसार भगवान् की भक्ति, पूजा, अर्चना, समर्पण द्वारा होती है। भगवान् की स्तुति अति उत्तम और विस्तृत हिरण्यगर्भ (ऋ० १०।१२१) सूक्त में दी गई हैं उसमें समर्पण का भी आदेश है (कस्मै देवाय हविषा विधेम) हम आनन्दस्वरूप परमात्मा की पूजा समर्पण द्वारा करें। समर्पण में पवित्रता निहित है। शुद्ध भाव से, पवित्र हृदय से ही समर्पण होता है और समर्पित किये हुए भाव विचार संकल्प और कर्म भी पवित्र ही होते हैं इस प्रकार समर्पण एक बहुत ही उपयोगी विधि है जिससे चित्त प्रसन्न रहता है और हृदय विमल खिला रहता है। समर्पण से हृदय निश्चल होता है और मनुष्य विनय शील हो जाता है। सच कहा गया है कि समर्पण में ही जीवन की पूर्णता है।

वेदका आदेश है कि उपासक स्तुति के साथ भगवान् की वन्दना अवश्य करे। वन्दना रहित स्तुति अधूरी है।

यदा कदा च मीढुषे स्तोता जरेत मर्त्यः।
आदिद्वन्देत वरुणं विपा गिरा धर्तारं विव्रतानाम्॥

साम० ३।६।६०

स्तोता मनुष्य धर्म अर्थ काम मोक्ष के वर्षक परमेश्वर के लिए जब कभी स्तुति करे तभी अनेक कर्मों के धारण करनेवाले, वरने योग्य सर्वश्रेष्ठ परमात्मा की अपनी वाणी से वन्दना भी करे।

परमात्मा की स्तुति के साथ वन्दना भी आवश्यक है। वन्दना से मनुष्य में विनय आता है मनुष्य के जीवन में नम्रता और माधुर्य आता है। मनुष्य में मानवता का विकास हुआ तभी समझना चाहिये जब उसका जीवन व्यवहार सौरस युक्त हो। मनुष्य की जीवनचर्या सुगन्धियुक्त सुन्दर हो, तभी यह जाना जाता है कि वह सत्यं शिवम् सुन्दरम् भगवान् का भक्त है। भक्त प्रसन्नवदन और कर्मठ हो, तभी यह समझना चाहिये कि वह सच्चिदानन्द भगवान् का प्रेम भाजन है। जिसे भगवान् स्वीकार कर लेते हैं उसके जीवन व्यवहार में परिवर्तन आ जाता है। भगवान् सुव्यवस्था से विश्वयज्ञ कर रहे हैं भगवान् के भक्त के जीवन में भी सुव्यवस्था सुनियम और सौन्दर्य दीखना चाहिये। भगवान् के भजन के अन्दर मानवता का पूर्ण विकास हुआ हुआ दीखना ही चाहिये।

मनुष्य कभी भी वन्दना रहित स्तुति न करे। वन्दना और स्तुति दोनों करे। वन्दना से मनुष्य में शालीनता और शिष्टाचार का उदय होता है और सभी शुभ गुणों का विकास होता है। स्तुति करने से भक्त में भगवान् के दिव्य गुण अपने अन्दर धारण करने की रुचि बढ़ती है। स्तुति और वन्दना से, नित्य भगवान् का धन्यवाद करने से, मनुष्य का परम कल्याण होता है।

भक्ति में भगवान् के सुन्दर नाम, जप का बड़ा माहात्म्य है। भगवान् का परम पवित्र नाम ओ३म् है। भगवान् रक्षक है यह मुख्य भाव इस नाम का है। अति समीप रहने से ही भगवान् रक्षक होता है। भगवान् सब के निकटतम हैं। हम सबमें भगवान् हैं और हम भगवान् में हैं, ऐसा नित्य का संबन्ध हमारा भगवान् से है इस अनुभव से मनुष्य का उत्साह बढ़ा रहता है और वह साहसी और निर्भय रहता हुआ विघ्न बाधाओं पर विजय पाता हुआ कर्तव्य रत रहता है।

अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम॥ ऋ० १।२४।२॥

हम सब अमर देवों में प्रथम देव जीवनदाता अग्निदेव के सुन्दर नाम का जप करते हैं नाम जप से मन वाणी हृदय अन्तःकरण पवित्र होते हैं। हम

अमर देव का जप द्वारा स्मरण करने से अपने अमरत्व को भी जान जाते हैं और भगवान् से नित्य का सम्बन्ध पहचान लेते हैं और इस प्रकार जीवन-सार्थकता का ज्ञान लाभ करके श्रेष्ठतम कर्म करके कृत्यकृत्य हो जाते हैं। प्रभु का ध्यान उसके परम सुन्दर ओ३म् नाम द्वारा किया जाता है।

वेद के अनुसार ईश्वर भक्ति यज्ञ द्वारा की जाती है। यज्ञ वह कर्तव्य कर्म है जो मिलकर किया जाता है और जिससे सब का मंगल होता है। यज्ञ के आरम्भ में, यज्ञ के मध्य में, तथा यज्ञ के अन्त में परमात्मा का स्मरण किया जाता है। जिस प्रशस्त कर्म में निरन्तर भगवान् का स्मरण किया जाय उस कर्म में दिव्य शक्तियाँ आ जाती हैं।

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि स इद्देवेषु गच्छति ॥ ऋ० १।१।४॥

जिस अहिंसामय यज्ञको, हे जीवनदाता, आप सब ओर से घेरे हुए हो, वही कर्म दिव्य शक्तियों के पास ले जाता है।

मनुष्य में दिव्य शक्तियों का अभ्युदय यज्ञ द्वारा ही संभव है यदि यज्ञ में भगवान् का स्मरण होता रहे। जिस यज्ञ में भगवान् का स्मरण नहीं होता, भगवान् के चारु नाम को भुला दिया जाता है, वह सर्व हित का काम मंगलमय ही नहीं रहता। भक्त इस रहस्य को जानता है और अपने जीवन सर्वस्व भगवान् को, अपने प्रियतम भगवान् को कभी नही भुलाता। निरंतर भगवान् की देखरेख में रह सके, यही भक्त की प्रार्थना होती है।

दृते दृंह मा ज्योक्ते संदृशि जीव्यासम्। ज्योक्ते संदृशि जीव्यासम् यजु० ३६।१९

हे शक्तिमन् ईश्वर! मुझे आत्मिक बल दे, ताकि मैं तुझे सर्वत्र साक्षात् देखता हुआ बहुत समय तक उत्तम जीवन व्यतीत करूँ।

भगवान् के सामने जीने और सुन्दर जीवन व्यतीत करने के लिए मनो बल चाहिये। जब तक मनुष्य में आत्मशक्ति का अनुभव नहीं होता तब तक वह भगवान् का साक्षात् नहीं कर सकता। आत्मज्योति में ही परमात्मा का साक्षात्कार होता है। निरन्तर भगवान् दीखते रहें और भक्त कर्तव्य पालन करता रहे, यही जीवन लक्ष्य है, जो भक्त प्राप्त करता है।

भगवान् उनका भी तिरस्कार नहीं करते जो पीछे रह गए हैं, जिनकी जीवनचर्या प्रशस्त नहीं रही। भगवान् किसी से भी घृणा नहीं करते। अनुताप करने से और आगे के लिए पवित्र कर्म ही करने का पूर्ण निश्चय करने से तथा भगवान् से व्रत पूर्ण होने के लिए सहायता चाहने से, जो गिर गया है जो कर्मच्युत होगया है, वह भी अपना जीवन सुन्दर बना सकता है—

नहि वश्चरमं चन वसिष्ठः परिमंसते।
अस्माकमद्य मरुतः सुते सचा विश्वे पिबत कामिनः। साम० ३।१।९। ऋ० ७।७९।३।

परमेश्वर सब से पिछड़े हुए का भी अनादर नहीं करता। हे मनुष्यो! हम में से जो परम रस के अभिलाषी हैं वे सब प्रकार समाहित होकर आनन्द रस का दान करें॥ ओम् शम्।

वेदप्रमाणक वाङ्मय में पदार्थों के संयोग-वियोग की शैली

लेखक—श्री पं० आत्मानन्दजी विद्यालङ्कार, देहली।

[यह लेख वेदाङ्क के लिये आया था, परंन्तु स्थान की कमी के कारण उसमें नहीं छप सका, इसका हमें खेद है। सम्पा०]

१. अङ्गाङ्गि-भाव—

वेदप्रमाणक वाङ्मय को स्थूल दृष्टि से भी पढ़ते २ पदार्थों के संयोग वियोग की शैली अपनी ही प्रतीत होती है। कृत्स्न पदार्थ और उसके अंश, सकल और उसकी कलाएँ, अङ्गी और अङ्ग, समष्टि और व्यष्टि, ब्रह्माण्ड और पिण्ड, एक और नाना (अनेक), लोक और पुरुष, राष्ट्र और नर तथा प्रकृति और विकृति ऐसे नामों से विभाग किये जाते हैं। यह प्रवृत्ति शास्त्र और व्यवहार दोनों क्षेत्रों में है। आधुनिक विज्ञान में भी Synthesis और Analysis (संश्लेषण और विश्लेषण) का प्रयोग पदे पदे होता है। एक ही वस्तु के विभाग करके उन विभक्त अङ्गों से अङ्गी और कृत्स्न को फिर बना लिया जाता है। अन्वय और व्यतिरेक से यह निश्चय हो जाता है कि कृत्स्न के ये ही उपादान तत्त्व हैं और इन उपादान तत्त्वों से फिर यह कृत्स्न बन जाता है। प्रतिदिन घरों में बच्चे खिलौनों को तोड़ते और बनाते हैं। ज्ञानी लोग कहते हैं कि भगवान् भी सृष्टि और प्रलय और प्रलय और सृष्टि का चक्र चलाकर इस प्रकृति-विकृति-प्रकृति से लीला करते हैं और इधर हम जीवों के कर्मों के भोग के लिये क्षेत्र भी बन जाता है।

२. प्रस्तुत पदार्थों के संग्रह के आयतन और प्रमाणस्थान—

वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, विद्याओं की शाखाओं, मनुस्मृति, निरुक्त, चरक, गीता, महाभारत आदि में और प्रचलित कई संग्रह ग्रन्थों या आकार ग्रन्थों में (सत्यार्थ प्रकाश, संस्कारविधि, गीतारहस्य, डा० भगवानदास के ग्रन्थों में) अनेक विभाग आसानी से मिल जाते हैं। पाठक कुछ अपने प्रयास से आगे दिये संयोग विभाग के स्थानों, आयतनों और प्रमाणों को ढूण्ढ लेवें। विद्वानों को प्रायः ये विदित ही हैं।

३. विभाग के प्रकार—

विभाग कहीं इक्षुदण्ड के पर्वों की तरह दीखेगा, कहीं खरबूजे की फाकों की तरह, कहीं प्याज के छिलकों की तरह, कहीं अनार के दानों की तरह, कहीं मधुमक्खियों के छत्ते के छिद्रों की तरह, कहीं वस्त्र में तानाबाना के सूत्र के तारों की तरह, कहीं नमकीन जल में नमक और जल की तरह और कहीं वैशेषिक दर्शन में गिनाये संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्त संवेत समवाय, समवाय, समवेत समवाय शब्दों से गिना सकते हैं। तप्त जल में ताप और जल का संयोग भी एक प्रकार है। कहीं विभाग समष्टि, व्यष्टि, ब्रह्माण्ड, पिण्ड, लोक, पुरुष, राष्ट्र और नर तथा बिम्ब, प्रतिबिम्ब भाव से हो रहा होता है। कहीं समूचे में से रस निकालकर अलग कर रहे हैं।

४. एक चक्र या कोष्ठक नीचे दिया जाता है। इसमें नीचे से ऊपर को पढ़ना या देखना चाहिये। जैसे एक एक मकान की एक भूमिका के ऊपर दूसरी, उस पर तीसरी, जैसे सात लोक एक एक के ऊपर गिनाते और समझाते हैं। एक ही पंक्ति में न आने के कारण उन्हीं तीन पृथ्वी स्थान, अन्तरिक्ष स्थान और द्युस्थान को तीन बार दोहराया है।

म्	स्वर्	आदित्य	तृतीय-सवन	द्यु-स्थान	रसादान	व्यान	मही भारती	शिरस्	सामवेद	उपासना
उ	भुवर्	वायु इन्द्र	मध्यंदिन-सवन	अन्तरिक्षस्थान	रसानु-प्रदान	अपान	सरस्वती	उदर	यजुर्वेद	कर्म
अ	भूर्	अग्नि	प्रातः-सवन	पृथ्वीस्थान	हविर्वहन	प्राण	इडा	पाद	ऋग्वेद	ज्ञान
सुषुप्ति	आदित्य	उपासना	उपासना	द्युस्थान	आहवनीय	धियो योनः प्रचोदयात्	उद्गाता	आचार्य	द्यौः	पृष्ठ
स्वप्न	रुद्र	कर्म	प्रार्थना (याच्ञा)	अन्तरिक्षस्थान	गार्हपत्य	भर्गोदेवस्य धीमहि	अध्वर्यु	पिता	अन्तरिक्ष	उदर
जागरण	वायु	ज्ञान	स्तुति	पृथ्वीस्थान	दक्षिणाग्नि	तत्सवितुर्वरेण्यम्	होता	माता	पृथ्वी	पाद

प्राणः	सामवेदः	प्राणः प्रजाः	द्युस्थान
मनः	यजुर्वेदः	मनः पिता	अन्तरिक्षस्थान
वाग्	ऋग्वेदः	वाङ् माता	पृथ्वीस्थान

५. अब प्रत्येक भूमिका में रही कोठरियों की तरह एक ही भूमिका पर क्या क्या वर्त्तमान है उसका कुछ संग्रह है।

द्यु-स्थान—तृतीय सवन, वर्षा, जगती, सप्तदशस्तोम:, वैरूपसाम, देवा, देवस्त्रियः, सूर्या, वृषाकपायी सरण्यूः, रसादानम्, प्रवह्लितकर्म, शिशिर, अतिछन्दाः, त्रयस्त्रिंशत-स्तोम, रैवतसाम।

अन्तरिक्षस्थान—मध्यंदिनसवन, ग्रीष्म, त्रिष्टुभ्, पञ्चदशस्तोम, बृहत्साम, रसानुप्रदान, वृत्रवध, बलकर्म, हेमन्त, पङ्क्ति त्रिणवस्तोम, शाक्वरसाम।

पृथ्वी स्थान—अग्नि, प्रातःसवन, वसन्त, गायत्री, त्रिवृत्स्तोम, रथन्तरंसाम, आग्नेयः, अक्ष, ग्रावा, अभीशु, अग्नायी, पृथिवी, इळा, वहनं हविषाम्, शरद्, अनुष्टुप्, एकविंश स्तोम वैराजसाम।

बृहदारण्यकोपनिषद् षष्ठ अध्याय, तृतीय ब्राह्मण खण्ड ६ में—

धियो यो नः प्रचोदयात्। मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमां अस्तु सूर्यः माध्वीर्गावो भवन्तु नः। स्वः स्वाहा।

भर्गो देवस्य धीमहि। मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः मधु द्यौरस्तु नः पिता। भुवः स्वाहा।

तत् सवितुर्वरेण्यम्। मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धव, माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। भूः स्वाहा।

पहले कोष्ठकों में बाना, दूसरे में ताना की तरह पढ़ना।

(६) अर्थ के अनुलोम और अर्थ के प्रतिलोम करने में उपसर्गों का बँटवारा। प्रायिकः प्रवृत्ति है कभी मित्रदशा में दीखेंगे कभी शत्रु दशा में।

अनुलोम—अनु, सम्, आ, नि, अधि, अपि, अति, सु, परि, उप, अभि। अर्थ में अनुकूल परिवर्तन होता है।

प्रतिलोम—प्र, परा, अप, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, उत्, प्रति। अर्थ में प्रतिकूल परिवर्त्तन करते हैं।

(७) एक ही वस्तु है उसका आन्तर या सूक्ष्मरूप अथवा बाह्य या स्थूलरूप दीखे। मूलतः उपादान तत्त्व एक ही है।

धी—(अन्तर बुद्धि)—(बाह्यकर्म)

ऋत—(अन्तर सत्य बौद्धिक) (बाह्य-स्थूल-यज्ञ)

श्रवस्—(मानस–आन्तर–तृप्तिकारक–स्तुति)—(बाह्य तृप्तिकारक-अन्न)।

क्रतु—(मानस-आन्तर-संकल्प) (बाह्य-कर्म-यज्ञ)

वाज—(सूक्ष्म वेग बल) (स्थूल-अन्न)

देवता—(मानस सूक्त भाग) (भौतिक हविर्भाग) (जिसे वाणी द्वारा या हवि द्वारा हम पूजते हैं) यदि दृष्टि में पाटव, जागरूकता, सूक्ष्मता और व्यापकता हो तो जिज्ञासु परिपृच्छा, परिदर्शन-परिक्रमा, मनसापरिक्रमा, प्रदक्षिणा द्वारा अङ्गों के सब अङ्गों को और पक्षों को देखकर उनका एकीकरण भी कर लेता है। इस रीति से उसे अङ्गों का भी साक्षात्कार हो जाता है और अङ्गी का भी।

ऋग्वेद का सार, 'तत् सवितुर्वरेण्यम्' में। इसका सार भूर् में, इसका सार अ में

यजुर्वेद का सार, 'भर्गो देवस्य धीमहि' में। इसका सार भुवर् में इसका सार उ में

सामवेद का सार, धियो यो नः प्रचोदयात् में। इसका सार स्वर में, इसका सार म् में

(९) प्राची दिक्—अग्निः अधिपतिः, असितः रक्षिता, आदित्याः इषवः।

दक्षिणा दिक्—इन्द्रः अधिपतिः, तिरश्चिराजी रक्षिता पितरः इषवः।

प्रतीची दिक्—वरुणो अधिपतिः, पृदाकुः रक्षिता, अन्नम् इषवः।

उदीची दिक्—सोमो अधिपतिः, स्वजो रक्षिता, अशनिः इषवः।

ध्रुवा दिक्—विष्णुरधिपतिः, कल्माषग्रीवो रक्षिता, वीरुध इषवः।

ऊर्ध्वा दिग्—बृहस्पतिरधिपतिः, श्वित्रो रक्षिता, वर्षम् इषवः।

(१०) नाना शास्त्रों में बिखरे पड़े अनेक तत्त्व हैं। जिनका संयोग विभाग अन्वय व्यतिरेक से और आरोह, अवरोह क्रम से व्यवहार को दृढ़ मूल बना देता है। वक्ता और श्रोता दोनों के सामने विषय स्पष्ट और परिमित हो जाता है।

(११) वेदार्थ करने में एक सम्प्रदाय के विद्वान् एक अर्थ करते हैं, दूसरे के दूसरे।

(अ) वैय्याकरण, याज्ञिक, नैरुक्त, अधिभूतविद्, आत्मप्रवाद।

(आ) एकदेव, त्रिदेव, नानादेव

(इ) एकदेव, अध्यर्द्ध (१½) देव, ३ देव, ६ देव, ३३ देव, ३३०३ देव (बृहदारण्यक अध्याय ३ ब्राह्मण ९)

(ई) अध्यात्म, अधिदेव, अधियज्ञ

(उ) षड्भाव विकाराः (जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षीयते, विनश्यति)

(ऊ) पदजात Parts of speech (नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात) (गति, कर्मप्रवचनीयाः)

(ऋ) वेदार्थ के प्रकार—विधि, अर्थवाद, याञ्चा, आशीः, स्तुति, प्रैष, प्रवह्लिका, प्रश्न, व्याकरण, तर्क, पूर्ववृत्तान्त कीर्तन, अवधारण, उपनिषद् ।

(ॠ) उद्देश (सूत्रम्), निर्देश (वृत्ति) प्रतिनिर्देश (वार्त्तिकम्) (निरुक्त दुर्ग टीका में)

(ऌ) प्रत्यक्ष वृत्ति (पद), परोक्ष वृत्ति (पद) अति परोक्ष वृत्ति (पद)

(ए) यौगिक, योगरूढ, रूढ,

(ऐ) आध्यात्मिक, अधिदैविक, अधिभौतिक (सुख दुःख सांख्य में)

(ओ) योग्यता, आकांक्षा, आसत्ति (अलङ्कार शास्त्रों में)

(औ) श्रवण, मनन, निदिध्यासन, दर्शन (उपनिषद् वेदान्त में)

(क) आगमकाल, स्वाध्यायकाल, प्रवचनकाल, व्यवहार काल (महाभाष्य में)

(ख) अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना (अलङ्कार शास्त्र में)

(ग) पदच्छेद, पदार्थोक्ति, विग्रह, वाक्ययोजना, आक्षेप समाधानम् (पञ्चलक्षणकाख्यानम्)

(घ प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन (न्याय तर्क शास्त्र में)

(ङ) विषय, विशय, पूर्वपक्ष, उत्तर, सिद्धान्त

(च) उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद, उपपत्ति (तात्पर्यनिर्णय में लिङ्गः)

(छ) विधि, नियम, परिसंख्या (पूर्वमीमांसा शास्त्र में)

(ज) व्युत्पत्ति निमित्त, प्रवृत्ति निमित्त

(झ) तत्त्व, पर्याय, भेद, संख्या, संदिग्ध उदाहरण, निर्वचन (निरुक्त व्याख्यान शैली)

(ञ) शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊहापोह, अर्थविज्ञान, (धीगुणाः)

(ट) आध्यात्मिक्यः ऋचः (उत्तम पुरुष में) प्रत्यक्षकृतः ऋचः (मध्यम पुरुष में), परोक्षकृतः ऋचः (प्रथम पुरुष में)

(ठ) विषय, प्रयोजन, अधिकारी, सम्बन्ध (प्रत्येक शास्त्र का अनुबन्ध चतुष्टय)

(ड) उदात्त में—(निषाद-गान्धार)

अनुदात्त में—(ऋषभ-धैवत)

स्वरित में—(षड्ज, मध्यम, पञ्चम) (शिक्षा और गान्धर्व वेद में)

(ण) आचार्यात् पादमादत्ते, पादम् शिष्यः स्वमेधया। पादम् सब्रह्मचारिभ्यः, पादः कालेन पच्यते।

(त) सत्त्व, रजस्, तमस् ।

(थ) तपः, ज्ञान, यज्ञ, दान ।

(द) अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय (पञ्चकोश वेदान्त और तैत्तरीयशाखा में)

(ध) श्रुति, स्मृति, सदाचार, आत्मप्रिय (मनुस्मृति में)

(न) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (पुरुषार्थ चतुष्टय)

(प) प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, सम्भव, ऐतिह्य, अभाव प्रातिभ, चेष्टा (प्रमाण-प्रमा-यथार्थ ज्ञान के साधन)

(फ) (वर्णचतुष्टय-आश्रमचतुष्टय) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ; ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वनी, सन्यासी

(ब) अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (यम) शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान (नियम)

(भ) ईश्वर, जीव, प्रकृति (सब दर्शनों का विचार विषय)

(म) भूर्, भुवर्, स्वर्, महर्, जनर्, तपस्, सत्य (सप्तलोक या सप्त व्याहृति)

(य) प्रपितामह, पितामह, पिता, स्व, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र (सप्त कुल, सप्तलोक)

(र) कलि (प्रसुप्त) द्वापर, (जाग्रत्), त्रेता (अभ्युत्थित) कृत (चरत्) (युगों का स्वभाव से नाम)

(ल) अभ्युदय-निःश्रेयस ।

(व) कर्म, अकर्म, विकर्म

(श) परा, पश्यन्ती, मध्यमा, बैखरी (बाणी भेद व्याकरण में)

(ष) प्रभु-संमितवचन, मित्र-संमितवचन, कान्तासंमित वचन

(स) प्रेषणा (छोटे को कहना) अध्येषणा (बड़े को) अनुज्ञा (बराबर वाले को)

(ह) जारयुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज (उत्पत्ति के प्रकार)

(i) द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय

(ii) चेतन, जड़

(iii) उद्देश, लक्ष्य, परीक्षा

(iv) साम, दान, भेद, दण्ड

(v) प्रभु शक्ति, उत्साहशक्ति, मन्त्रशक्ति

(vi) रस, ध्वनि, अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति (वर्ण्य विषय में आह्लाद और चमत्कार लाने के साधन)

(१२) ध्यान रहे प्रायः सभी शास्त्र अपने विषय वर्णन और प्रतिपादन शैली में वस्तुओं का विभाग और संयोग संख्यापूर्वक और क्रमपूर्वक करते हैं। कुछ शास्त्र को चन्द्रों में या कोष्ठकों में समझाया जा सकता है। ऐसा करने से सारा प्रमेय पदार्थ आँखों के सामने आ जाता है। यह प्रमेय, सूत्र श्लोक, कारिका आदि में बद्ध होकर स्मरणीय भी हो जाता है और सुगमता से सम्प्रदाय मार्ग से आगे २ परम्परा में दिया जा सकता है। शरीर में अस्थि-पञ्जर का जो स्थान है ऐसे परिगणन और क्रमरचना का वही स्थान शास्त्रों में है। वैदिक संस्कृत शास्त्रों की रक्षा इस साधन के अवलम्बन से भी हुई है। आधुनिक विज्ञान में स्थूल तत्त्वों के संयोग-विभाग से सैकड़ों नये पदार्थ बना लिये हैं। ऐसे ही बौद्धिक तत्त्वों के संयोग विभाग से नई नई वस्तुएं बन सकती हैं। नये ढंग के पढ़ेलिखे लोगों के सामने भावदारिद्र्य, विचारदारिद्र्य और शब्ददारिद्र्य इसलिये भी आ उपस्थित होता है, क्योंकि वे अपने ज्ञानकोश में वर्त्तमान ऐसे तत्त्वों का न संग्रह करते हैं न उपयोग। किं दौर्भाग्यमतः परम्।

(१३) यह शास्त्रीय शब्दराशि प्रायः यौगिक है। धातु-प्रत्यय, उपसर्ग और समास को जानकर पद का अर्थ व्यापक हो जाता है। एक २ पद के अन्दर कितना अर्थ और प्रमेय गर्भित हो जाता है। इन पदों और वेद मन्त्रों के यौगिक अर्थ की अनुभूति, ज्ञान और इसके लिये आत्मा, बुद्धि, मन, हृदय, इन्द्रिय, शरीर में शक्ति, सामर्थ्य और कर्मठता की आवश्यकता है। व्याकरण और निरुक्त इसमें बड़े सहायक हैं। लगभग २००० धातुओं से सम्पन्न, नाम और आख्यात (सुबन्त कृदन्त और तिङन्त) हमारे शब्दकोश को कितना विशाल बना देते हैं। यौगिक अर्थ के बल से व्यवहार में भी हम गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से वस्तु को गौरव, लाघव प्रदान करते है, केवल परम्परा, लोकप्रवाह के आधार पर नहीं। वेद में नित्य इतिहास की ग्रन्थि भी सुलझती है। संस्कृत भाषा, वैदिक भाषा में यौगिक या व्युत्पन्न शब्दों की पूर्ण अनुभूति के लिये स्मृति, मेधा संयम, तपस्या, गवेषणा, देशदेशान्तर भ्रमण, युग-युगान्तर सम्पर्क अनुभव तथा विनय और जिज्ञासा भी आवश्यक है। हमारे सर्वतोमुखी पतन ने हमें कूर्मी वृत्ति सिखा दी है इसलिये व्यवहार में हम रूढ़िप्रिय संकोचप्रिय, हो गये है। शब्द का यौगिक, व्यापक अर्थ भी नहीं लेते और किसी काल में जग में फैली संस्कृत भाषा और वैदिक भाषा के व्यापक यथार्थ स्वरूप को भी भूल गये हैं। न मालूम तद्भव रूपमें [illegible] अपभ्रंश रूपमें ही या विकृत रूपमें ही हमारे सैकड़ों नाम और आख्यात, उपसर्ग और निपात संसार की वर्त्तमान जनपद-भाषाओं और प्राकृत भाषाओं में बिखरे पड़े हैं। उन देशों को संस्कृत-वैदिक विषय पढ़ाने में उनके तद्भव विकृत शब्दों के तत्सूत्र, मूल, और प्रकृति-शब्दों को ढूंढना चाहिये और उन्हें प्रयोग में लाना चाहिये। लंका, वर्मा, थाईलैण्ड, भूटान, सिक्किम, कम्बोज, तिब्बत नैपाल, बाली, जावा, सुमात्रा आदि में अब भी हमारे सैकड़ों शब्द तत्सम या तद्भव रूप में विद्यमान हैं। अफगानिस्तान, फारस और यूरोपीय देशों में भी तद्भव सैकड़ों मिलते हैं। भारतीय भाषाओं को शास्त्रीय दृष्टि से समृद्ध करने के लिये और आधुनिक जगत् की दौड़ में साथ चलने के लिये भी हमारी शास्त्रीय शब्दराशि और यौगिक शैली अत्यन्त आवश्यक है। स्थिर, ध्रुव, दृढमूल शब्दराशि जब अपने ज्ञानकोश से मिल रही हो तो दूसरों का मुंह ताकने, नकल करने और दीन बनने की क्या आवश्यकता है? जिन ब्राह्मण, सन्यासी तथा साधकों और देशभक्तों ने इस शास्त्रीय परम्परा के रक्षण में घोर तपस्यापूर्वक कार्य किया है उनका भी उपकार मानना चाहिये। आज भी इस शब्दराशि के ज्ञाता और व्यवहर्ता लाखों की संख्या में वर्त्तमान हैं।

(१४) इस लेख में स्थाली पुलाकन्याय से कुछेक शब्द और संयोग और विभाग की शैली सुझाई है। इस रीति से संग्रह करने पर अपने आपमें एक आकर-ग्रन्थ ग्रथित किया जा सकता है।

(१५) छान्दोग्योपनिषद्, प्रपाठक ८, खण्ड ३ में हमारी इस विषय में स्थिति को उत्तम शब्दों में कहा है। "तद् यथापि हिरण्यनिधिनिहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः प्रजाः अहरहर्गच्छन्त्यः एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः" ॥

वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन

लेखक—युधिष्ठिर मीमांसक, मोतीझील काशी।

[गताङ्क से आगे (२)]

१—आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञप्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नाभागेक्ष्वाकुनृगशर्यात्यादीनां च क्रतुषु 'पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात्' पशवः प्रोक्षणमापुः। अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजता पशूनामभावाद् गवालम्भः प्रवर्तितः······अतिसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे। चरक चिकित्सा० १९।४॥

अर्थात् आदि काल (कृतयुग के अन्तिम चरण[1]) में यज्ञों में पशु इकट्ठे किये जाते थे, मारे नहीं जाते थे[2]। उसके पश्चात् दक्षयज्ञ के अनन्तर (त्रेता के प्रारम्भ में)[3] मनु के नरिष्यन्, नाभाग, इक्ष्वाकु, शर्याति आदि पुत्रों के यज्ञों में "वेदों में पशु मारने का आदेश है" ऐसा मानकर पशुओं का प्रोक्षण (वध आलम्भ) प्रारम्भ हुआ। उसके अनन्तर दीर्घकालीन यज्ञ करते हुए पृषध्र (नहुष[4]) ने पशुओं की न्यूनता के कारण यज्ञ में गौ का आलम्भ (वध) प्रारम्भ[5] किया। ·········उससे पृषध्र के यज्ञ में सर्व प्रथम अतिसार की उत्पत्ति हुई।

अति पुरातन काल में यज्ञों में पश्वालम्भ नहीं होता था।[6] इसका उल्लेख महाभारत तथा पुराणों में वर्णित उपरिचर वसु की कथा में भी मिलता है।[7]

१. तुलना करो—इदं कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तितः। अहिंस्या यज्ञपशवो युगेऽस्मिन् न तदन्यथा। महा० शान्ति० ३४०।८२॥

२. चरक के इस पाठ में 'समालभनीया' और 'आलम्भाय' पदों के प्रयोगों से स्पष्ट है कि आङ्पूर्वक 'लभ' का अर्थ 'प्राप्त करना' और आङ्पूर्वक 'लम्भ' का अर्थ 'मारना' है। 'आलम्भ्या वडवा' तथा 'ज्योतिष्टोम आलम्भ्यः' इत्यादि (काशिका ७।१।६५ में निर्दिष्ट) प्रयोगों की तुलना से भी यही विदित होता है। वस्तुतः 'लम्भ' स्वतन्त्र धातु है। वह 'लभ' का ही रूपान्तर नहीं है। अन्यथा 'समालभनीया' और 'अग्निष्टोम आलभ्यः' इत्यादि प्रयोगों में पाणिनीय शब्दानुशासन (७।१।६४,६५) से नुम् का आगम होकर 'समालम्भनीया' और 'अग्निष्टोम आलम्भ्यः' प्रयोग बनने चाहियें (इसी प्रकार अन्वयव्यतिरेक से प्रकृत्यन्तर का निश्चय होता है। देखो, महाभाष्य ६।४। २४ 'वृहिः प्रकृत्यन्तरम्' प्रकरण)। अतः जो लोग 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते' (तै० ब्रा० ३।४।१) इत्यादि प्रकरणों में 'आलभते' का अर्थ संज्ञपन (मारना) कहते हैं, वह अशुद्ध है। इस विषय के विस्तार के लिये देखो "यज्ञे पश्वालम्भः" शीर्षक हमारा लेख। उत्तरकाल में एक ही धातु से दोनों प्रकार के प्रयोग मानने के कारण 'आलभ' तथा 'आलम्भ' के अर्थों में सांकर्य हो गया।

३. तुलना करो—ततस्त्रेतायुगं नाम त्रयी यत्र भविष्यति। प्रोक्षिता यत्र पशवो वधं प्राप्स्यन्ति वै मखे। महा० शान्ति० ३४०।८३,८४॥

यह वैवस्वत मनु त्रेता के आरम्भ में हुआ था। देखो महाभारत शान्ति पर्व ३४८।५१—त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान् मनवे ददौ। मनुश्च लोकभूत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ॥

४. एक 'पृषध्र' मनु का पुत्र नाभाग इक्ष्वाकु आदि का भाई था। चरक वर्णित पृषध्र उससे अर्वाचीन है, यह चरक के इसी वचन से स्पष्ट है। महाभारत शान्ति पर्व अ० २६८ श्लोक ६ में नहुष को प्रथम गवालम्भ-प्रवर्तयिता लिखा है—नहुषः पूर्वमालेभे त्वष्टुर्गामिति नः श्रुतम्। महाभारत शान्तिपर्व (अ० २६२ श्लोक ४७) के नीलकण्ठ टीकाकार द्वारा उद्धृत पाठान्तर 'महाकाराकुशलं पृषध्रो गां लभन्निव' का अगले ४८–५० श्लोकों के साथ सम्बन्ध जोड़ने से पृषध्र नहुष का ही नामान्तर प्रतीत होता है (नीलकण्ठ की टीका अशुद्ध है)। वायु पुराण ८६।११ में मानव पृषध्र को गोहिंसक कहा है; वह ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि मानव पृषध्र तो नाभाग और इक्ष्वाकु का समकालिक था। चरक में पृषध्र को नाभाग इक्ष्वाकु आदि से अवरकालिक लिखा है। वायु पुराण में नामैक्य से भ्रम हुआ होगा। नहुष नाम के दो राजा हैं। एक चन्द्रवंश में, दूसरा सूर्यवंश में (वाल्मीकीय रामायणनुसार)। महाभारत के 'नहुषः पूर्वमालेभे त्वष्टुर्गामिति नः श्रुतम्' (शान्ति० २६८।६) श्लोक में श्रुत 'त्वष्टा' द्वादश आदित्यों में एकतम है। अतः उसके साथ स्मृत नहुष चन्द्रवंश का नहुष (पुरुरवा का पौत्र) ही है, यह निश्चित है। सूर्यवंश का नहुष बहुत उत्तरकालीन है। वह त्वष्टा का समकालिक नहीं हो सकता।

५. महाभारत शान्ति पर्व अ० २६२ श्लोक ४९ में नहुषद्वारा प्रवर्तित गवालम्भ से १०१ रोगों की उत्पत्ति का उल्लेख है। उस से भी हमारे पूर्व लिखित 'पृषध्र नहुष का पर्याय है' मत की पुष्टि होती है।

६. इस विषय के विस्तार के लिये देखो हमारा 'यज्ञे पश्वालम्भः' लेख।

७. महाभारत शान्ति पर्व अ० ३३७। वायु पुराण अ० ५७। श्लोक ९१–१२५।

याज्ञिक-प्रक्रिया में परिवर्तन तथा नये-नये यज्ञों की कल्पना

संसार का नियम है कि जिस विषय में जन साधारण की रुचि होजाती है, व्यवहार कुशल समझे जाने वाले व्यक्ति उस जनरुचि का सदा अनुचित लाभ उठाया करते हैं। उनकी सदा यही चेष्टा रहती है कि जन साधारण की वह रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती जाये, जिससे उनका काम बनता रहे। इसी नियम के अनुसार जब जन साधारण की रुचि यज्ञों के प्रति बढ़ने लगी, तब लोभ आदि के वशीभूत[1] होकर याज्ञिक लोगों ने भी यज्ञों की रोचकता बढ़ाने के लिये उनमें उत्तरोत्तर बाह्य आडम्बर की वृद्धि की और शुभ या अशुभ प्रत्येक अवसर पर करने योग्य विविध नये-नये यज्ञ होम आदि की सृष्टि रची। इस प्रकार यज्ञों में उत्तरोत्तर सादगी और सात्त्विकता की हानि, तथा बाह्याडम्बर की वृद्धि हुई और नये यज्ञों की कल्पना से अन्त में याज्ञिककल्पना का प्रारम्भिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण आंखों से सर्वथा ओझल हो गया। अतः इस काल में कल्पित अधिकांश यज्ञों की क्रियाओं तथा पदार्थों का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् के साथ कुछ भी संबन्ध नहीं रहा। हमारे विचार में प्रायः समस्त काम्येष्टियां इसी कोटि की हैं।

याज्ञिकप्रक्रिया और वेदार्थ

भारतीय इतिहास से स्पष्ट है कि वेदों का प्रादुर्भाव सृष्टि के आदि अर्थात् कृतयुग के प्रारम्भ में हुआ और यज्ञों की कल्पना का उदय कृतयुग और त्रेतायुग के सन्धि-काल में हुआ। यज्ञों की कल्पना से पूर्व वेद का अर्थ किस प्रकार सर्वविद्याविषयक किया जाता था, उसका किस प्रकार उत्तरोत्तर ह्रास हुआ तथा यज्ञों की कल्पना क्यों और कब हुई इनका संक्षिप्त वर्णन हम पूर्व कर चुके हैं। अब हम इस बात पर प्रकाश डालेंगे कि वेद का यज्ञों के साथ सम्बन्ध कैसे हुआ।

जब प्रारम्भ में आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् की साम्यता के आधार पर यज्ञों की कल्पना की गई, तब आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् की क्रियाओं तथा पदार्थों का वर्णन करने वाले वेदमन्त्रों का अभिप्राय समझाने के लिये उन उन मन्त्रों का सम्बन्ध यज्ञों की तत्तत् क्रियाओं के साथ किया गया। जिस प्रकार नाटक करने वाले व्यक्ति किसी पूर्वकालीन ऐतिहासिक घटना का प्रदर्शन करते हुए उन-उन ऐतिहासिक व्यक्तियों के मध्य हुए संवाद का अनुकरण करते हैं, उस संवाद के साथ उन नटों का कोई साक्षात् संबन्ध नहीं होता, ठीक इसी प्रकार आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् का वर्णन करने वाले वेद मन्त्रों का उन उन की प्रतिनिधिभूत याज्ञिक क्रियाओं तथा पदार्थों के साथ कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। दूसरे शब्दों में, याज्ञिकप्रक्रियानुसार किया गया वेदार्थ वेद का मुख्य अर्थ नहीं है, वह तो आधिदैविक तथा आध्यात्मिक वेदार्थ को समझाने का निमित्तमात्र है।

यज्ञों के आरम्भिक काल में याज्ञिकप्रक्रियानुसारी वेदार्थ की यही स्थिति थी, इसलिये उस समय याज्ञिक क्रियाकलापों में वे ही मन्त्र विनियुक्त किये जाते थे जो आधिदैविक तथा आध्यात्मिक अर्थ के साथ-साथ उनके प्रतिनिधिरूप याज्ञिक क्रियाओं का भी शब्दशः वर्णन करने में समर्थ थे।[2] उत्तरकाल में जैसे-जैसे यज्ञों की प्रधानता होती गई, वैसे-वैसे वेद का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी मुख्य वेदार्थ गौण बनता गया और याज्ञिक-प्रक्रियानुसारी वेदार्थ की प्रधानता बढ़ती गई। इसका परिणाम यह हुआ कि सारा वेदार्थ याज्ञिकप्रक्रिया तक ही सीमित हो गया अर्थात् "यज्ञार्थं वेदाः प्रवृत्ताः"[3] का वाद प्रवृत्त हो गया।

काल्पनिक विनियोग

उत्तरकाल में जब देश में यज्ञों का मान तथा प्रभाव बढ़ा और प्रत्येक कामना की सिद्धि के लिये यज्ञों की सृष्टि हुई, तब उन समस्त यज्ञों की विविध क्रियाओं के अनुरूप वेद मन्त्र उपलब्ध न होने पर मन्त्रार्थ की उपेक्षा करके याज्ञिक-क्रियाओं के साथ उनका सम्बन्ध जोड़ना अर्थात् मन्त्रार्थ के विपरीत विनियोग का आरम्भ हुआ। ब्राह्मण ग्रन्थों और श्रौत सूत्रों में इस प्रकार के अनेक काल्पनिक विनियोग उपलब्ध होते हैं। यथा—

मैत्रायणी संहिता ३।२।४ में लिखा है—

निवेशनः संगमनो वसूनाम् इत्यैन्द्र्या गार्हपत्य-मुपतिष्ठते।

अर्थात् अग्निचयन में 'निवेशनः संगमनो वसूनाम्'

---

१. तुलना करो—लोभाद् वास आदिस्समाना औदुम्बरीं कृत्स्नां वेष्टितवन्तः। शाबरभाष्य मीमांसा १।२।४॥

२. एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति। गोपथ २।२।६॥ तुलना करो—ऐ० ब्रा० १।४॥

३. वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः (वेदाङ्गज्योतिष के अन्त में)। आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्……। मीमांसा १।२।१॥

(मै० सं० १।७।१२ (१५१) इस इन्द्रदेवतावाली ऋचा से गार्हपत्याग्नि का उपस्थान करे।[1]

याज्ञिकों के मत में जब इन्द्र से महेन्द्र, वृत्रहा इन्द्र, पुरन्दर इन्द्र आदि सब भिन्न-भिन्न देवता हैं[2] तब इन्द्र और अग्नि के भिन्न-भिन्न देवता होने में कोई सन्देह ही नहीं रहता। ऐसी अवस्था में इन्द्र देवतावाली ऋचा से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान भला अभिधावृत्ति से कैसे हो सकता है? यहाँ निश्चय ही इन्द्र शब्द के मुख्यार्थ का त्याग करके गौणी कल्पना करनी पड़ेगी।[3] इससे स्पष्ट है कि इस प्रकार के विनियोग 'यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाऽभिवदति' रूपी विनियोग की परिभाषा की दृष्टि से काल्पनिक ही कहे जायेंगे।

इसी प्रकार श्रौत सूत्रों में लिखा है—

दधिक्राव्णो अकारिषम् इति वा संभुभूषन् दधिभक्षम्। शांख्या० श्रौत ४।१३।२॥

दधिक्राव्णो अकारिषम् इति अग्नीध्रीये दधिद्रप्सान् प्राश्न। आश्व० श्रौत ६।१३॥

अर्थात् 'दधिक्राव्णो अकारिषम्' से दही का भक्षण करे। 'दधिक्रावा' पद अश्व का वाची है देखो निघण्टु १।१४॥ 'दधिक्रावा' पदान्तर्गत 'दधि' अवयव का 'दही' वाचक 'दधि' शब्द के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव यास्क ने दधिक्रावा सदृश तथा समानार्थक 'दधिक्राः' पद का निर्वचन 'दधत् क्रामतीति वा, दधत् क्रन्दतीति वा, दधद् आकारी भवतीति वा' (निरुक्त २।२८) दर्शाया है। तदनुसार 'दधि' शब्द 'कि' या 'किन्' (अष्टा० ३।२।१७१)। प्रत्ययान्त है औत्तरकालिक याज्ञिकों ने न केवल 'दधिक्रावा' पद के अपितु सम्पूर्ण मन्त्र के अर्थ की उपेक्षा करके दहीवाचक 'दधि' शब्द के साथ अक्षरवर्ण-सादृश्य-मात्र के आधार पर इस मन्त्र का 'दधिप्राशन' में विनियोग कर दिया।[4]

निरुक्त ७।२० में भी लिखा है—"ऋग्वेद की समस्त शाखाओं में 'जातवेदाः' देवतावाला एक ही 'गायत्र तृच' है, यज्ञों में 'जातवेदाः' देवतावाली अनेक गायत्रीछन्दस्क ऋचाओं की आवश्यकता होती है। इसलिये 'जातवेदाः' देवतावाली ऋचाओं के स्थान में जो कोई 'अग्नि' देवतावाली गायत्रीछन्दस्क ऋचाएँ होती हैं वे विनियुक्त हो जाती हैं।"[5]

निरुक्त १२।४० में पुनः लिखा है—"ऋग्वेद की समस्त शाखाओं में 'विश्वेदेव' देवतावाला एक ही

१—मीमांसा ३।३।१४ के समस्त व्याख्याग्रन्थों में श्रुति और लिङ्ग के विप्रतिषेध में 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' वचन उद्धृत है और ऐन्द्री ऋचा से अभिप्राय 'कदाचन स्तरीरसि' (ऋ० ८।५१।७) मन्त्र से है यह व्यक्त किया है। 'कदाचन स्तरीरसि' इस ऐन्द्र मन्त्र से गार्हपत्य का उपस्थान करना चाहिये, ऐसा साक्षात् वचन हमें उपलब्ध संहिता तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में कहीं नहीं मिला। तैत्तिरीय संहिता १।५।६ के सायणभाष्य में यह मन्त्र आहवनीयाग्नि के उपस्थान में विनियुक्त है। तैत्तिरीय संहिता के इस अनुवाक में निर्दिष्ट मन्त्रों के विनियोग के विषय में सायण और भट्टभास्कर में पर्याप्त मतभेद है, वह भी द्रष्टव्य है।

२—तुलना करो—तस्मादेवतान्तरमिन्द्रान्महेन्द्रः। शाबरभाष्य मीमांसा २।१।१६॥ अथोताभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति—इन्द्राय वृत्रघ्ने, इन्द्राय वृत्रतुरे, इन्द्रायांहोमुचे। निरुक्त ७।१३॥

३—मीमांसा ३।२।४ सूत्रस्थ शाबरभाष्य में इसी वचन पर विचार करते हुए लिखा है—'गुणसंयोगाद् गौणमिदमभिधानं भविष्यति। भवति हि गुणादप्यभिधानम्। यथा सिंहो देवदत्तः, अग्निर्माणवक इति। एवमिहाप्यनिन्द्रे गार्हपत्ये इन्द्र शब्दो भविष्यति।

४—इसी विनियोग से भ्रान्त होकर पाश्चात्य विद्वानों ने इस मन्त्र के आधार पर दो कल्पनाएँ की हैं। क—आर्य लोग पहले दूध दही के लिये घोड़ियाँ पालते थे। ख—घोड़ियों के लिये उपयुक्त लम्बी-लम्बी घास के मैदान मध्य एशिया के आसपास हैं, अतः पहले आर्य लोग वहीं निवास करते थे।

५—तदेतदेकमेव जातवेदसं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते, यत्तु किञ्चिदाग्नेयं तज्जातवेदसानां स्थाने विनियुज्यते।

गायत्र तृच उपलब्ध होता है। अतः उनके स्थान में जो कोई 'बहुदेवता' वाली गायत्र ऋचाएँ हैं वे विनियुक्त होती हैं। शाकपूणि 'विश्वेदेव' देवतावाली ऋचाओं के स्थान में 'विश्व' पद घटित ऋचाओं का विनियोग मानता है।"[1]

निरुक्त के इन उद्धरणों से 'काल्पनिक विनियोग क्यों प्रारम्भ हुए' इस विषय पर भले प्रकार प्रकाश पड़ता है।

उपलब्ध ब्राह्मणों में ऐतरेय ब्राह्मण सब से प्राचीन है।[2] उसमें यज्ञ में क्रियमाण तत्तत् क्रियाकलाप को साक्षात् कहने वाले मन्त्र विनियोग को यज्ञ की समृद्धि (श्रेष्ठता) कहा है।[3] इससे स्पष्ट है कि उसके काल में तत्तत् यज्ञीय क्रियाकलाप को साक्षात् या परम्परा से कथंचित् भी प्रतिपादन न करनेवाले मन्त्रों का पद या अक्षरवर्ण के सादृश्य से विनियोग[4] करने की परिपाटी का आरम्भ हो चुका था और ऐसा असम्बद्ध विनियोग भी प्रामाणिक माना जाने लग गया था। अतएव ऐतरेय ब्राह्मणकार उसे स्पष्ट शब्दों में अयुक्त घोषित न कर सके।

भारतीय कालगणना के अनुसार महीदास ऐतरेय का काल याज्ञिक प्रक्रिया के उद्भव के ३५०० वर्ष पश्चात् और भारतयुद्ध से लगभग १५०० वर्ष पूर्व है।[5] अतः पद, अक्षर वर्णमात्र के सादृश्य से काल्पनिक विनियोगों का आरम्भ निश्चय ही भारत युद्ध से २००० वर्ष पूर्व हो चुका था, परन्तु उस काल तक उनकी आधिक्यता नहीं थी, यह ऐतरेय के वचन से स्पष्ट है।

काल्पनिक मन्त्र

जब विभिन्न प्रकार के यज्ञों की मात्रा बहुत बढ़ी, तब उन सब यज्ञों में क्रियमाण विविध क्रियाकलाप के अनुरूप (जो अर्थतः उस क्रिया को कह सकते हों) मन्त्रों के उपलब्ध न होने पर मन्त्रकल्पना का आरम्भ हुआ। इस प्रकार के अनेक काल्पनिक मन्त्र ब्राह्मण आरण्यक और श्रौतसूत्र आदि में उपलब्ध होते हैं। गृह्यसूत्रों में तो इस प्रकार के काल्पनिक मन्त्रों की बहुतायत है (उत्तर काल में ऐसे काल्पनिक मन्त्रों को लुप्त शाखाओं में पठित समझा जाने लगा)।

हमारे विचारानुसार काल्पनिक मन्त्रों की रचना का आरम्भ भारत युद्ध से लगभग दो ढाई सहस्र वर्ष पूर्व हुआ था।[6] आरम्भ में वेद मन्त्रों को अपने अपने कर्मों के अनुरूप बनाने के लिये उनमें साधारण परिवर्तन किया

---

१. तदेतदेकमेव वैश्वदेवं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते, यत्तु किञ्चिद् बहुदैवतं तद्वैश्वदेवानां स्थाने विनियुज्यते। यदेव विश्वलिङ्गमिति शाकपूणिः।

२. ऐतरेय ब्राह्मण को पुराण प्रोक्त मानकर 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (अष्टा० ४।३।१०५) पाणिनीय नियमानुसार 'ऐतरेयिणः' पद निष्पन्न होता है (द्र० महाभाष्य तथा काशिकादि)। इस विषय पर हमने 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ (पृष्ठ १७३) में विस्तार से लिखा है। ऐतरेय ब्राह्मण के प्रारम्भिक ३० अध्याय मूलतः महीदास ऐतरेय प्रोक्त हैं, और अन्तिम १० अध्याय आचार्य शौनक प्रोक्त। परन्तु आचार्य शौनक ने महीदास ऐतरेय के ३० अध्यायों का भी प्रवचन करते हुए उनमें कुछ परिवर्तन किया है। इसी प्रकार ऐतरेय आरण्यक के प्रथम तीन आरण्यकों का प्रवचन ऐतरेय ने किया था, चतुर्थ आरण्यक का आश्वलायन ने और पञ्चम आरण्यक का शौनक ने। देखो वैदिक वाङ्मय का इतिहास ब्राह्मण आरण्यक भाग पृष्ठ २२६।

३. एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृगभिवदति। १।४, १३, १६ इत्यादि।

४. पदसादृश्य से, यथा—'दधिक्राव्णो अकारिषमिति......दधिभक्षम्' (शां० श्रौत ४।१३।२)। अक्षरवर्ण, सादृश्य से, यथा—'शन्नोदेवी' का शनैश्चर की पूजा में, 'उद्बुध्यस्व' का बुध की पूजा में। अग्निवेश्य गृह्य अ० ५। वैखानस गृह्य अ० ४ खण्ड १३, १४ इत्यादि।

५. इस पर हमने विशेष विचार 'भारतीय प्राचीन इतिहास की काल गणना' पुस्तक में किया है। वह अभी लिखी जा रही है।

६. यज्ञों की अत्यधिक कल्पना द्वापर में हुई—"संरोधादायुषस्त्वेते व्यस्यन्ते द्वापरे युगे" (महा० शा० २३८।१४)। यज्ञों की विविध कल्पना होने पर ही मन्त्रों की कल्पना करने की आवश्यकता हुई। अतः मन्त्रकल्पना का आरम्भ द्वापर के प्रारम्भ में या उससे कुछ पूर्व मानना होगा।

कहीं मन्त्रों के अर्थ उपलब्ध होते हैं वे सब प्रायः आनुषङ्गिक हैं, अर्थात् मन्त्रार्थ के परिज्ञान के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना नहीं हुई। अतः इन ब्राह्मण ग्रन्थों (शतपथ को छोड़कर) से वेद के याज्ञिक अर्थ का भी बोध नहीं होता। केवल ब्राह्मण प्रदर्शित विनियोग के आधार पर याज्ञिकप्रक्रियानुसारी वेदार्थ की कल्पना की जाती है।

मन्त्रानर्थक्यवाद का खण्डन

कौत्स आदि याज्ञिकों द्वारा पल्लवित मन्त्रानर्थक्यवाद का प्रतिवाद जैमिनि[1] और यास्क[2] ने बड़े प्रयत्न से किया है। सम्भवतः इसी से प्रभावित होकर अथवा स्वयं तर्कजीवी[3] होने के कारण याज्ञवल्क्य ने शतपथ ब्राह्मण में याजुष मन्त्रों का विनियोग दर्शाते हुए शुक्ल यजुर्वेद के लगभग १८ अध्यायों के मन्त्रों का याज्ञिक अर्थ भी दर्शाया है।

अति प्राचीन काल के वेदार्थ के संकेत

वेदों के केवल यज्ञ के लिये पर्यवसित होने जाने पर तथा प्राचीन वैज्ञानिक यज्ञों में उत्तरोत्तर पर्याप्त परिवर्तन और नये नये यज्ञों के उद्भव के कारण वेदमन्त्रों के अनर्थक बन जाने पर भी भारत युद्धकाल तक वेदार्थ के प्रारम्भिक दृष्टिकोण का सर्वथा लोप नहीं हुआ था। इसलिये तात्कालिक वैदिक शाखा, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् ग्रन्थों में प्राचीन वेदार्थ के कुछ सङ्केत सुरक्षित रह गये हैं। यदि उन संकेतों को ध्यान में रखकर आज भी वेदार्थ करने का प्रयत्न किया जाये तो अनेक रहस्यों का उद्घाटन हो सकता है। इसी प्रकार यदि यज्ञों की सूक्ष्म विवेचना द्वारा उनकी प्रकल्पना के पौर्वापर्य क्रम का ज्ञान हो जाये तो प्राचीन वैज्ञानिक आधार पर प्रकल्पित यज्ञों के द्वारा आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रकियानुसारी वेदार्थ के समझने समझाने में हम समर्थ हो सकते हैं।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि याज्ञिक प्रक्रियाओं में हुए उत्तरोत्तर परिवर्तन और परिवर्धन का वेदार्थ पर भी गहरा प्रभाव पड़ा और जो याज्ञिकप्रक्रिया प्रारम्भ में वेदार्थ का ज्ञान कराने के लिये कल्पित की गई थी, उसने अन्त में वेद को भी अर्थरहित बना दिया। यास्क, जैमिनि और याज्ञवल्क्य के प्रभाव से मन्त्रानर्थक्यवाद का यद्यपि कुछ प्रतिवाद हुआ तथापि उससे प्राचीन या तत्समकालीन ग्रन्थों में मन्त्रार्थ से असम्बद्ध जो याज्ञिक मन्त्रविनियोग हो चुका था, उसका पारिमार्जन न हुआ अर्थात् उसका खण्डन नहीं किया गया। अतः याज्ञिक लोग उसी प्रकार मन्त्रार्थ से असम्बद्ध नये नये विनिनोग उत्तर काल में भी करते रहे। हमारा विचार है—यदि यास्क, जैमिनि और याज्ञवल्क्य आदि मन्त्रानर्थक्यवाद का प्रबल खण्डन न करते तो जो कुछ याज्ञिकप्रक्रियानुसारी टूटा फूटा वेदार्थ उपलब्ध होता है वह भी न मिलता और वेद मन्त्र सर्वथा तान्त्रिक मन्त्रों के समान निरर्थक समझे जाते। अस्तु।

३—आधिदैविक-प्रक्रियानुसारी वेदार्थ

याज्ञिक प्रक्रिया के अनन्तर आधिदैविक प्रक्रिया का स्थान है। याज्ञिक प्रक्रिया का इस प्रक्रिया के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यास्क के शब्दों में याज्ञिकप्रक्रियानुसारी वेदार्थ पुष्प स्थानीय है और आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ फल स्थानीय।[4] इससे स्पष्ट है कि याज्ञिक वेदार्थ की अपेक्षा आधिदैविक वेदार्थ प्रधान है।

आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ का अभिप्राय समझने से पूर्व 'देव' शब्द का अर्थ जान लेना आवश्यक है। जब यज्ञों की प्रकल्पना नहीं हुई थी तब वेदार्थ की आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक ये तीन प्रक्रियाएं विद्यमान थीं। उस समय की आधिदैविक प्रक्रिया और यज्ञप्रकल्पना के अनन्तर काल की आधिदैविक प्रक्रिया में पर्याप्त अन्तर है। प्राग्यज्ञप्रकल्पना काल में ब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थों को द्यु और पृथिवी इन दो विभागों में बांटा गया था, उन्हें ही

१—पूर्वमीमांसा अध्याय १, पाद २, अधिकरण १।　　२—निरुक्त १।१६॥

३—याज्ञवल्क्य अपने समय के तर्कजीवी व्यक्ति हैं। उन्होंने अनेक प्राचीन याज्ञिक मतों का तर्क के आधार पर खण्डन किया है। यथा—'तदु ह चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमेवाग्रेऽभिघारयन्ति प्राणाः पृषदाज्यमिति वदन्तः, तदु ह याज्ञवल्क्यं चरकाध्वर्युरनुव्याजहारानैवं कुर्वन्तं प्राणं वा अयमन्तरगादध्वर्युः प्राण एनं हास्यतीति। स (याज्ञवल्क्यः) ह स्म बाहू अन्वेक्ष्याह—इमौ पलितौ बाहू, क्वस्विद् ब्राह्मणस्य वचो बभूव, इति न तदाद्रियेत'। शत० ३।८।२।२४,२५॥ इसी प्रकार—'अवसभा अह देवानां पत्नीः करोति, परः पुंसो हास्य पत्नी भवतीति, तदु होवाच याज्ञवल्क्यो यथादिष्टं पत्न्या अस्तु, कस्तदाद्रियेत यत्परः पुंसो वा पत्नी स्यादिति'। शत० १।३।४।२१॥

४—अर्थं वाचः (वेदवाण्याः) पुष्पफलमाह—याज्ञदैवते पुष्पफले। निरुक्त १।२०॥

तात्स्थ्य उपाधि से देव और भूत कहा जाता था।[1] तदनुसार समस्त पार्थिव पदार्थों का वर्णन आधिभौतिक प्रक्रिया का अङ्ग था और पृथिवी से ऊपर के समस्त पदार्थों का वर्णन आधिदैविक प्रक्रिया का। उस समय देव शब्द का अर्थ 'देवो द्युस्थानो भवति' इतना ही समझा जाता था। उत्तर काल में यज्ञप्रकल्पना के साथ साथ नये दैवतवाद का भी उदय हुआ और देव शब्द के प्राचीन अर्थ 'देवो द्युस्थानो भवति' के साथ 'दानाद्वा द्योतनाद्वा'[2] अंश और जोड़ा गया। तदनुसार अग्नि जल वायु नदी पर्वत वृक्ष ओषधि वनस्पति आदि पदार्थों की भी गणना देवों में की गई, क्योंकि मनुष्य इन पदार्थों से कुछ न कुछ लाभ उठाता ही है। अतः प्राग्याज्ञिक काल के आधिभौतिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ का बहुत सा अंश नूतन परिबृंहित आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ के अन्तर्गत हो गया और आधिभौतिक प्रक्रिया की स्वतन्त्र सत्ता लुप्त हो गई, परन्तु याज्ञिक प्रक्रिया के उद्भव के कारण वेदार्थ-प्रक्रिया का त्रिविधत्व बना रहा।

आरम्भ में (त्रेता के पूर्वार्ध तक) इस आधिदैविक प्रक्रिया का अभिप्राय ब्रह्माण्ड की किसी क्रिया या पदार्थ का वर्णन करना समझा जाता था। इसके संकेत निरुक्त[3] और ब्राह्मण[4] ग्रन्थों में यत्र तत्र मिलते हैं। उत्तर काल (त्रेता के उत्तरार्ध) में आधिदैविक प्रक्रिया में अधिष्ठातृवाद की उत्पत्ति हुई, तदनुसार अग्नि वायु सूर्य चन्द्र ओषधि वनस्पति आदि समस्त पदार्थों में चेतन स्वरूप देव विशेषों की कल्पना की गई। उस समय आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ का प्रयोजन अग्नि वायु सूर्य आदि देवों से स्व-अभिलषित पदार्थों की प्राप्ति के लिये उनकी प्रार्थना करना मात्र रह गया[5]। दूसरे शब्दों में **चारण भाट आदि के स्तुति वचनों के समान वेदमन्त्रों की स्थिति बन गई।** प्राचीन काल में आधिदैविक प्रक्रिया के अनुसार वेद का जो वैज्ञानिक अर्थ किया जाता था, उत्तर काल में वह सब लुप्त हो गया।

देवता के स्वरूप में किस प्रकार परिवर्तन हुआ और उसमें कौन-कौन से वाद उत्पन्न हुए, इनका संक्षिप्त निदर्शन यास्क ने दैवतमीमांसा प्रकरण (निरु० अ० ७) में कराया है।

आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ को समझने के लिए इस समय एकमात्र सहारा यास्कीय निरुक्त ही है। हां ब्राह्मण ग्रन्थों से भी इस विषय में कुछ सहायता मिल सकती है।

नैरुक्तप्रक्रिया के सम्बन्ध में एक भ्रान्ति

यास्कीय निरुक्त में मन्त्रों की आधिदैविक व्याख्या उपलब्ध होने से लोक में नैरुक्त-प्रक्रिया का अभिप्राय आधिदैविक-प्रक्रिया ही समझा जाता है, परन्तु यह एक भारी भ्रम है। वस्तुतः निरुक्त शब्द निर्वचन का पर्याय है।[6] तदनुसार निर्वचन को प्रधानता देकर जो भी मन्त्रव्याख्या की जायगी, चाहे वह याज्ञिक हो, चाहे आधिदैविक, या चाहे आध्यात्मिक; सभी व्याख्या नैरुक्तप्रक्रियानुसारी समझी जायेगी। यास्कीय निरुक्त के दैवत प्रकरण से विदित होता है कि कुछ प्राचीन निरुक्त याज्ञिक प्रक्रियानुसार भी मन्त्र व्याख्या करते थे।[7] इसी प्रकार निरुक्त के परिशिष्ट प्रकरण से विदित होता है कि कतिपय निरुक्त आध्यात्मिक प्रक्रिया को दृष्टि में रखकर लिखे गये थे।[8] अतः नैरुक्त प्रक्रिया का अर्थ केवल आधिदैविक प्रक्रिया समझना भूल है।

---

१. देवो द्युस्थानो भवतीति वा। निरुक्त ७।१५॥ अयं वै (पृथिवी) लोको भूतम्। तै० ब्रा० ३।८।१८।५॥

२. निरुक्त ७।१५॥

३. यथा ३।१२ द्वा सुपर्णा मन्त्र की व्याख्या।

४. ब्राह्मणों में अनेकत्र।

५. यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति। निरुक्त ७।१॥

६. वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥ काशिका ६।३।१०९ में उद्धृत।

७. यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति (७।४) अथोताभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति इन्द्राय वृत्रघ्ने, इन्द्राय वृत्रतुरे, इन्द्रायांहोमुचे, तानप्येके समामनन्ति (७।१३)। इन्द्र से वृत्रहा इन्द्र, वृत्रतुर इन्द्र, अंहोमुक् इन्द्र को पृथक् मानकर इन विशेषण युक्त पदों का निघण्टु में परिगणन करना याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार ही उपपन्न होता है। क्योंकि याज्ञिक प्रक्रिया में विभिन्न विशेषण विशिष्ट देवता पृथक् पृथक् माने जाते हैं। देखो—तस्माद्देवतान्तरमिन्द्राग्निमहेन्द्रः (शाबरभाष्य मीमांसा २।१।१६)।

८. निरुक्त अ० १३, १४ में आध्यात्मिक अर्थ की प्रधानता है। अध्यात्मस्तुतियों की ही प्राचीन संज्ञा 'अतिस्तुति' है। अतिस्तुतिरूप से व्याख्या करने वाले नैरुक्त भी देवता प्रकरण में अग्नि का ही प्रथम निर्देश करते थे (अ० १३ खण्ड १)। अध्याय १४ में स्पष्टतया लिखा है—'अथात्मनो महतः प्रथमं भूतनामधेयान्यनुक्रमिष्यामः' (खण्ड २३), 'अथैतं महान्तमात्मानमेतानि सूक्तानि, एता ऋचोऽनुप्रवदन्ति' (खण्ड २४)। तुलना करो—'अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः' (शत० १४।५।४।१०)।

आधिदैविक-प्रक्रिया पर याज्ञिक प्रक्रिया का प्रभुत्व

भारतयुद्ध काल तक वेदार्थ की आधिदैविक प्रक्रिया याज्ञिकप्रक्रिय से अभिभूत होकर भी कथंचित् जीवित रही, परन्तु उसके अनन्तर याज्ञिक प्रक्रिया ने उसे सर्वथा समाप्त कर दिया। याज्ञिकप्रक्रिया का इतना प्रभाव हुआ कि यास्कीय निरुक्त के आधिदैविक प्रक्रियानुसारी होने पर भी दुर्ग और स्कन्द ने निरुक्तान्तर्गत मन्त्रों की व्याख्या भी याज्ञिकविनियोगों का निदर्शन कराते हुए याज्ञिकप्रक्रियानुसार ही की है। यही अवस्था निरुक्तसमुच्चयकार आचार्य वररुचि की है। इतना होने पर भी वररुचि दुर्ग और स्कन्द की व्याख्याओं में विशुद्ध आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ के संकेत अवश्य उपलब्ध होते हैं।

इस प्रकार यास्कीय निरुक्त, उसकी व्याख्याओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में यत्र तत्र उल्लिखित 'इत्यधिदैवतम्' आदि के संकेतों के आधार पर वेदमन्त्रों का आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ समझा जा सकता है। इसमें प्राचीन यज्ञों की प्रक्रिया से भारी सहायता मिल सकती है। वर्तमान भौतिक विज्ञान तथा ज्योतिष विज्ञान से भी पर्याप्त सहायता प्राप्त हो सकती है।

४—आध्यात्मिक-प्रक्रियानुसारी वेदार्थ

वेदार्थ की आधिदैविक प्रक्रिया के अनन्तर आध्यात्मिक प्रक्रिया का स्थान है। यास्क के मतानुसार आधिदैविक वेदार्थ पुष्प स्थानीय है और आध्यात्मिक वेदार्थ फल स्थानीय।[1] अर्थात् याज्ञिकप्रक्रियानुसारी वेदार्थ से आधिदैविक वेदार्थ श्रेष्ठ है और आधिदैविक वेदार्थ से आध्यात्मिक वेदार्थ। दूसरे शब्दों में अध्यात्म का ज्ञान करना वेद का मुख्य अर्थात् अन्तिम प्रयोजन है।

वेदार्थ की आध्यात्मिक प्रक्रिया का वास्तविक अभिप्राय समझने के लिए प्रथम अध्यात्म शब्द का अर्थ समझ लेना आवश्यक है। आत्मा शब्द का अर्थ है—शरीर,[2] जीव और ईश्वर। जो आत्मा के विषय में कहा जाय, वह अध्यात्म कहाता है[3]। इस प्रकार आध्यात्मिक-प्रक्रियानुसारी वेदार्थ में शरीर, जीव और ईश्वर सम्बन्धी सभी विज्ञान का अन्तर्भाव हो जाता है। शरीरविज्ञान आयुर्वेद का एक अवान्तर विषय है। आयुर्वेद का वेद के साथ सीधा संबन्ध है, यह हम पूर्व प्रतिपादन कर चुके हैं। अतः वेद को शरीरविज्ञान का प्रतिपादन करना ही चाहिये। वेद का सम्पूर्ण ज्ञान है ही जीव के निःश्रेयस और अभ्युदय के लिए, अतः वेद के साथ जीव का साक्षात् या परम्परा से संबन्ध होना अवश्यंभावी है। अब रहा ईश्वर का सम्बन्ध, सो जिस प्रकार वेद में संसार के विविध पदार्थों का विज्ञान दर्शाया है उसी प्रकार वेद में ईश्वर सम्बन्धी विज्ञान का निर्देश होना भी आवश्यक है। इतना ही नहीं, प्राचीन भारतीय सम्प्रदाय के अनुसार वैदिक विज्ञान ईश्वरप्रदत्त माना गया है,[4] अतः वेद का ईश्वर के साथ अत्यन्त घनिष्ठ संबन्ध है। इसलिए अनेक आचार्यों का कहना है कि वेद के किसी भी मन्त्र में ईश्वर का सर्वथा त्याग नहीं हो सकता।[5] इस प्रकार वेद के आध्यात्मिक-प्रक्रियानुसारी अर्थ का अभिप्राय है शरीर, जीव तथा ईश्वर सम्बन्धी किसी न किसी विज्ञान का प्रतिपादन करना।[6]

अति प्राचीन काल में वेद का आध्यात्मिक अर्थ किस प्रकार का किया जाता था, वह इस समय निश्चयात्मक रीति से नहीं बताया जा सकता, क्योंकि इस समय जितना भी वैदिक वाङ्मय उपलब्ध हो रहा है, वह सब भारत युद्धकाल के आस पास का है। इसके अतिरिक्त कोई ऐसा प्राचीन आर्ष ग्रन्थ भी नहीं मिलता, जिसमें किसी वेद के किसी भी भाग का अनुपूर्वी से आध्यात्मिक अर्थ दर्शाया हो। इतना होने पर भी उपलभ्यमान आर्ष वाङ्मय में आध्यात्मिक अर्थ के अनेक ऐसे संकेत उपलब्ध होते हैं, जिनसे इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

निरुक्त ७।४ में लिखा है—

महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।

---

१. अर्थं वाचः पुष्पफलमाह, याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा। निरु० १।२०॥

२. द्वावात्मानौ, अन्तरात्मा, शरीरात्मा च। महाभाष्य १।३।६७॥ अथर्व १०।२।३२ तथा १०।८।४३ में यक्ष = जीव के लिए प्रयुक्त 'आत्मन्वत्' विशेषण में आत्माशब्द का अर्थ शरीर ही है।

३. आत्मानमधिकृत्य इत्यध्यात्मम्, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः।

४. शास्त्रयोनित्वात्। वेदान्त १।१।३॥ अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः...। शत० १४।५।४।६॥

५. नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तं त्यागो भवति। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ ३६३, संस्क० ३।

६. यास्क ने निरुक्त ७।१, २ में ऋचाओं के त्रिविधत्व का प्रतिपादन करते हुए परोक्षकृत और प्रत्यक्षकृत के साथ जो आध्यात्मिक का निर्देश किया है, वह इस आध्यात्मिक से सर्वथा भिन्न है।

पदार्थ—हे सभापते ! जैसे (पाणिनेव) गाय आदि पशुओं के पालने और (गावः) गौओं को यथायोग्य स्थानों में रोकने वाले के समान (दासपत्नीः) अति बल देने वाला मेघ जिनका पति के समान और (अहिगोपाः) रक्षा करने वाला जिस वृत्र से (निरुद्धाः) रोके हुए (आपः) (अतिष्ठन्) स्थित होते हैं और उन (अपाम्) जलों का (यत्) जो (बिलम्) गर्त अर्थात् बहने का मार्ग (अपहितम्) ढांपसा (आसीत्) रक्खा है, उस (वृत्रम्) मेघ को सूर्य (जघन्वान्) मारकर (तत्) उस जल के गमन के मार्गको (अपववार) खोल देता है, वैसे आप दुष्टाचारणवाले शत्रुओं को नष्टकर न्याय अर्थात् धर्ममार्ग को प्रकाशित रखिये ॥ ११ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालंकार हैं। जैसे गोपाल अपनी गौओं को अपने अनुकूल स्थान में रोक रखता और फिर उस स्थान का दरवाजा खोल के निकाल देता है और जैसे मेघ अपने मंडल में जलों का द्वार रोक के उन जलों को वश में रखता है, जैसे सूर्य उस मेघ को ताड़ना देता और उस जल की रुकावट को तोड़ के अच्छे प्रकार उसे वरसाता है वैसे ही राजपुरुषों को चाहिये कि शत्रुओं को रोक कर प्रजा का यथायोग्य पालन किया करें ॥ ११ ॥

फिर वे दोनों परस्पर क्या करते हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

अश्व्यो वारो अभवस्तदिन्द्र सृके यत्वा प्रत्यहन् देव एकः ।
अजयो गा अजयः शूरसोममवासृजः सर्तवे सप्त सिन्धून् ॥ १२ ॥

पदार्थ—हे (शूर) वीर के तुल्य भयरहित (इन्द्र) शत्रुओं को विदीर्ण करनेहारे सेना के स्वामिन् ! आप जैसे (यत्) जो (अश्व्यः) अश्व अर्थात् वेग आदि गुणों[1] में निपुण (वारः) स्वीकार करने योग्य (एकः) असहाय और (देवः) उत्तम उत्तम गुण देनेवाला मेघ सूर्य के साथ युद्ध करने हारा (अभवः) होता है, (सृके) किरणरूपी वज्र में अपने घने जाल को (प्रत्यहन्) छोड़ता है अर्थात् किरणों को उस घनजाल से रोकता है, सूर्य उस मेघ को जीत कर (गाः) उससे अपनी किरणों को[2] (अजयः) अलग करता अर्थात् एक देश से दूसरे देश में पहुँचता और (सोमम्) पदार्थों के रस को (अजयः) जीतता है। इस प्रकार करता हुआ वह सूर्यलोक जलों को (सर्तवे) ऊपर नीचे जाने आने के लिए सब लोकों में स्थिर होने वाले (सप्त सिन्धून्) पृथिवी परके बड़े-बड़े जलाशय = समुद्र, नदी, कुँआ और साधारण तालाब ये चार और अन्तरिक्ष के समीप मध्य और दूर देश में रहने वाले तीन, इन सात जलाशयों को (अवासृजः) उत्पन्न करता है, वैसे शत्रुओं में चेष्टा करते हो (तत्) इसी कारण (त्वा) आप को युद्धों में हम लोग अधिष्ठाता स्वीकार करते हैं ॥ १२ ॥

---

१. काशकृत्स्न धातुपाठ में अश्व धातु शीघ्रगति अर्थ में पढ़ी है। उससे भाव में घञ् प्रत्यय होकर वेग अर्थ का वाचक अश्व शब्द निष्पन्न होता है। उससे "तत्र साधु" (अ० ४।४) से यत् होकर अश्व्य शब्द बनता है। पाणिनीय शब्दानुशासन के अनुसार अश्व शब्द से अश्वस्थ गुणों में लक्षणा करनी होगी। उसमें कुछ गौरव है।

२. संस्कृत पदार्थ में (गाः) का अर्थ 'पृथिवीः' किया है। निघण्टु में पृथिवी मध्यस्थानीय देवतानामों में पढ़ा है। अतः यहाँ पृथिवी शब्द से मेघ अर्थ लिया जाय तो अधिक युक्त होगा। पृथिवी शब्द का मूल अर्थ है फैलनेवाली। मेघ भी इसी गुणवाला है।

(यत्) जो (भीः) भय (अगच्छत्) प्राप्त होता है, विद्वान् लोग उस मेघ के (यातारम्) देश देशान्तर में पहुँचाने वाले सूर्य को छोड़ और (कम्) किस को देखें। सूर्य से ताड़ना को प्राप्त हुआ मेघ (भीतः) डरे हुए (श्येनः न) बाज के समान (च) भूमि में गिर के (नवनवतिम्) अनेक (स्रवन्तीः) जल बहाने वाली नदी वा नाड़ियों को पूरित करता है। (यत्) जिस कारण सूर्य अपने प्रकाश आकर्षण और छेदन आदि गुणों से बड़ा है इसीसे (रजांसि) सब लोकों को (अतरः) तरता अर्थात् प्रकाशित करता है। इसके समान आप (हृदि) अपने मन में जिसको शत्रु (अपश्यः) देखो, उसी को मारा करो ॥ १४ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥ राजसेना के वीर पुरुषों को योग्य है कि जैसे किसी से पीड़ा को पाकर डरा हुआ श्येन पक्षी इधर से उधर गिरता-पड़ता उड़ता है वैसे ही सूर्य से नष्ट किया गया और आकर्षित होकर मेघ इधर-उधर गिरता हुआ अपने शरीर रूपी जल से अनेक नदी वा नाड़ियों को पूर्ण करता है। इस मेघ की उत्पत्ति का सूर्य से भिन्न कोई निमित्त नहीं है। और जैसे अन्धकार में प्राणियों को भय होता है वैसे ही मेघ के बिजली और गर्जना आदि गुणों से भय होता है। उस भय का दूर करने वाला भी सूर्य ही है, तथा सब लोगों के व्यवहारों को अपने प्रकाश और आकर्षण आदि गुणों से व्यवहार का हेतु है, वैसे ही दुष्ट शत्रुओं को जीता करें।

इस मन्त्र में (नवनवतिम्) यह पद संख्या का उपलक्षण होने से असंख्यात अर्थ में है ॥ १४ ॥

फिर उक्त सूर्य कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

इन्द्रो॑ या॒तोऽव॑सितस्य॒ राजा॒ शम॑स्य च शृ॒ङ्गिणो॒ वज्र॑बाहुः ।
सेदु॒ राजा॑ क्षयति चर्षणी॒नाम॒रान्न ने॒मिः परि॒ ता ब॑भूव ॥ १५ ॥ [३८]

पदार्थ—सूर्य के समान (वज्रबाहुः) जिसके हाथ में शस्त्र-अस्त्र हैं ऐसा (इन्द्रः) दुष्टों का निवारणकर्ता (यातः) गमन आदि व्यवहार को वर्त्तानेवाला सभापति (अवसितस्य) निश्चित चराचर जगत्, (शमस्य) शान्तियुक्त मनुष्य आदि प्राणियों, (शृङ्गिणः) सींगोंवाले गाय आदि पशुओं और (चर्षणीनाम्) मनुष्यों के बीच (अरान्) पहियों को धारने वाले (नेमिः न) धुरी के समान (राजा) प्रकाशमान होकर (ता) उत्तम तथा नीच कर्मों के कर्त्ताओं को, सुख-दुःखों को तथा (रजांसि[1]) जगत् के दुष्टकर्मों तथा लोकों को (परिक्षयति) नष्ट करता और निवास कराता है, (उ इत्) वैसे ही (सः) वह सभी के (राजा) न्याय का प्रकाश करने वाला (बभूव) होवे ॥ १५ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥ यहाँ पूर्व मन्त्र से (रजांसि) इस पद की अनुवृत्ति आती है। राजा को चाहिये कि जैसे रथ का पहिया धुरियों को धारण करके उनको चलाता और जैसे यह सूर्य चराचर शांत और अशांत संसार में प्रकाशमान होकर सब लोकों को धारण कर उन सभों को अपनी-अपनी कक्षा में चलाता है। सूर्य के बिना किसी निकट में रहनेवाले मूर्तिमान् लोक के धारण, आकर्षण, प्रकाश और मेघ की वर्षा आदि काम सम्भव नहीं हो सकते हैं, वैसे धर्म से प्रजा का पालन किया करे ॥ १५ ॥

---

१. इस पद की पूर्व मन्त्र से अनुवृत्ति आती है, देखो भावार्थ।

इस सूक्त में सूर्य और मेघ के युद्ध का वर्णन अलंकार से होने के कारण इस सूक्त की पिछले सूक्त में प्रकाशित किये अग्नि शब्द के अर्थ के साथ संगति जाननी चाहिये।

यह पहिले अष्टक के दूसरे अध्याय में अड़तीसवां वर्ग और पहिले मण्डल के सातवें अनुवाक में बत्तीसवां सूक्त और दूसरा अध्याय भी समाप्त हुआ ॥ ३२ ॥

इति श्रीमत्परिव्राजकाचार्यश्रीविरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां
शिष्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते
संस्कृतभाषार्यभाषाभ्यां विभूषिते
सुप्रमाणयुक्ते वेदभाष्ये
द्वितीयोऽध्यायः
पूर्तिमगमत् ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः प्रारभ्यते ॥

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव। यद्भ॒द्रं तन्न॒ आ सु॑व ॥ १ ॥

अथ पञ्चदशर्चस्य त्रयस्त्रिंशस्य सूक्तस्याङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। इन्द्रो देवता। १, २, ४, ८, ९. १२, १३, निचृत्त्रिष्टुप्; ३, ६, १०, त्रिष्टुप्; ५, ७, ११, विराट्त्रिष्टुप्; धैवतः स्वरश्च। १४, १५, भुरिक्पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

अब तैंतीसवें सूक्त का प्रारम्भ होता है। उसके पहिले मन्त्र में इन्द्र शब्द से ईश्वर और सभापति का प्रकाश किया है॥

एताया॒मोप॑ ग॒व्यन्त॒ इन्द्र॑म॒स्माकं॒ सु प्रम॑तिं वावृधाति।
अ॒ना॒मृ॒णः कु॒विदा॒द॒स्य रा॒यो गवां॒ केतं॒ पर॑मा॒वर्ज॑ते नः ॥ १ ॥

पदार्थ—हे मनुष्यो! जैसे (गव्यन्तः) अपने गौ आदि पशु और शुद्ध इन्द्रियों की इच्छा करने वाले हम लोग, जो (अस्माकम्) हम लोगों और (अस्य) इस जगत् के (कुवित्) अनेक प्रकार के (रायः) उत्तम धनों को (वावृधाति) बढ़ाता और जो (आत्) इसके अनन्तर (नः) हम लोगों के लिये (अनामृणः) हिंसा, वैर, पक्षपात रहित होकर (गवाम्) मन आदि इन्द्रिय, पृथिवी, आदि लोक तथा गौ आदि पशुओं के (परम्) उत्तम (केतम्) ज्ञान को बढ़ाता और अज्ञान का (आवर्जते) नाश करता है, उस (सुप्रमतिम्) उत्तम ज्ञान युक्त (इन्द्रम्) परमेश्वर और न्यायकर्त्ता को (उपायाम) प्राप्त होते हैं, वैसे तुम लोग भी (इत) प्राप्त होओ ॥ १ ॥

भावार्थ—यहां श्लेषालंकार है[1]॥ मनुष्यों को योग्य है कि जो पुरुष संसार में अविद्याका नाश तथा विद्या के दान से उत्तम-उत्तम धनों को बढ़ाता है, परमेश्वर की आज्ञा का पालन और उपासना करके उसीके शरीर तथा आत्मा का बल नित्य बढावे और इसकी सहायता के बिना कोई भी मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी फल प्राप्त होने को समर्थ नहीं हो सकता ॥ १ ॥

फिर वह कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है॥

उपेद॒हं ध॑न॒दामप्र॑तीतं॒ जुष्टां॒ न श्ये॒नो व॑स॒तिं प॑तामि।
इन्द्रं॑ नम॒स्यन्नु॑प॒मेभि॑र॒र्कैर्यः स्तो॒तृभ्यो॒ हव्यो॒ अस्ति॒ याम॑न् ॥ २ ॥

पदार्थ—(यः) जो (हव्यः) ग्रहण करने योग्य ईश्वर (स्तोतृभ्यः) अपनी स्तुति करने वालों के लिये धनका देने वाला (अस्ति) है, उस (अप्रतीतम्) चक्षु आदि इन्द्रियों से अगोचर (धनदाम्) धन देने वाले (इन्द्रम्) परमेश्वर को (नमस्यन्) नमस्कार करता हुआ (अहम्) मैं (न) जैसे (जुष्टाम्) पूर्व काल में सेवन किये हुए (वसतिम्) घोंसले को (श्येनः) बाज पक्षी

[1] संस्कृत अन्वय के अनुसार यहां 'लुप्तोपमालंकार' होना चाहिये। श्लेषालंकार तो संस्कृतपदार्थ और अन्वय से व्यक्त नहीं होता।

प्राप्त होता है, वैसे (यामन्) गमनशील अर्थात् चलायमान इस संसार में (उपमेभिः) उपमा देने के योग्य (अर्कैः) अनेक सूर्य आदि के दृष्टान्तों से[1] उस परमेश्वर को (इत्) ही (उपपताभि) प्राप्त होता हूँ [अर्थात् संसार की रचना देखकर उसके द्वारा जगद्रचियता इन्द्रको प्राप्त होता हूँ][1] ॥ २ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥ जैसे श्येन अर्थात् बाज पक्षी अपने पहिले सेवन किये हुए, सुख देने वाले स्थान को स्थानान्तर से वेग से चल कर प्राप्त होता है, वैसे ही परमेश्वर को नमस्कार करते हुए मनुष्य इस संसार में उसीके बनाये हुए सूर्य आदि लोकों के दृष्टान्तों से ईश्वर का निश्चय करके उसीकी उपासना करें, क्योंकि इस संसार में जितने रचे हुए पदार्थ हैं, वे सब रचने-वाले ईश्वर का निश्चय कराते हैं। रचने वाले के विना किसी जड़ पदार्थ की रचना कभी नहीं हो सकती। जैसे मनुष्यों से रचनीय व्यवहार में रचने वाले के विना कुछ भी पदार्थ अपने आप नहीं बन सकता, वैसे ही ईश्वर की सृष्टि में भी जानना चाहिये। बड़ा आश्चर्य है कि ऐसे निश्चय हो जाने पर भी जो ईश्वर का अनादर करके नास्तिक हो जाते हैं, उनको यह बड़ा अज्ञान कहाँ से प्राप्त हुआ ? ॥ २ ॥

इस मन्त्र में अध्यापक विलसन ने श्येन शब्द से प्रसिद्ध (बाज) पक्षी का ग्रहण न करके गाय का दृष्टान्त लिया है। इसलिये उसने मन्त्र का अर्थ अशुद्ध किया है। अतः उसका व्याख्यान अनादरणीय है।

अब अगले मन्त्र में इन्द्र शब्द से शूरवीर के गुण प्रकाशित किये हैं ॥

नि सर्वसेन इषुधीँरसक्त समर्यो गा अजति यस्य वष्टि।
चोष्कूयमाण इन्द्र भूरि वामं मा पणिर्भूरस्मदधि प्रवृद्ध ॥ ३ ॥

पदार्थ—हे (अधि प्रवृद्ध) महोत्तमगुणयुक्त (इन्द्र) शत्रुओं को विदीर्ण करने वाले ! (सर्वसेनः) जिसके सब सेना हो, (पणिः) सत्य व्यवहारी (चोष्कूयमाणः) सब शत्रुओं को भगाने वाले, आप (भूरि) बहुत (इषुधीन्) जिसमें बाण रक्खे जाते हैं, उसके घर को जैसे (अर्यः) वैश्य (गाः) पशुओं को (समजति) प्राप्त करके रक्षा करता है, वैसे धारण करके (न्यसक्त) शत्रुओं को दृढ़बन्धनों से बांधने के लिये तैयार हों, और (अस्मत्) हम से (वामम्) विरुद्ध (मा भूः) मत हो। जिससे (यस्य) आपका प्रताप (वष्टि) प्रकाशित और विजयी हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में लुप्तोपमालंकार है ॥ जैसे वैश्य गौओं का पालन तथा चराकर दुग्धादिकों से व्यवहार सिद्ध करता है और जैसे ईश्वर से उत्पन्न किये महान् सूर्यलोक की किरणें बाण के समान छेदक होकर सब पदार्थों में प्रवेश करके उनको वायु से ऊपर-नीचे चलाकर सब पदार्थोंको रस सहित करके प्राणियों को सुखी करती हैं, इसी प्रकार राजा प्रजा का पालन करे ॥ ३ ॥

अगले मन्त्र में इन्द्र शब्द से उसी शूरवीर के गुणों का उपदेश किया है ॥

वधीर्हि दस्युं धनिनं घनेनँ एकश्चरन्नुपशाकेभिरिन्द्र।
धनोरधि विषुणक्ते व्यायन्नयज्वानः सनकाः प्रेतिमीयुः ॥ ४ ॥

---

१. इस कोष्ठान्तर्गत पाठ का मूल संस्कृत में नहीं है। भाव को व्यक्त करने के लिये लिखा है।

पदार्थ—हे (इन्द्र) ऐश्वर्ययुक्त शूरवीर ! जैसे ईश्वर वा सूर्यलोक (उपशाकेभिः) सामर्थ्यरूपी कर्मों से (एकः) एक ही (चरन्) जानता हुआ अथवा प्राप्त होता हुआ दुष्टों को मारता है, वैसे आप एकाकी (घनेन) वज्ररूपी शस्त्र से (दस्युम्) बल और अन्याय से दूसरे के धन को हरने वाले दुष्ट को (वधीः) नाश कीजिये और (विषुणक्) अधर्म से धर्मात्माओं को दुःख देने-वालों के नाश करनेवाले आप (धनोः) धनुष् के (अधि) ऊपर बाणों को चढ़ा कर दुष्टों को निवारण करके (धनिनम्) धार्मिक धनाढ्य की वृद्धि करें। जैसे ईश्वर की निन्दा करनेवाले तथा सूर्यलोक के शत्रु मेघावयव सामर्थ्य वा किरणसमूह से नाश को (व्यायन्) प्राप्त होते हैं वैसे (ही) निश्चय करके (ते) आपके (अयज्वानः) यज्ञ का न करने तथा (सनकाः) अधर्म से औरों के पदार्थों का सेवन करनेवाले मनुष्य (प्रेतिम्) मरण को (ईयुः) प्राप्त हों, वैसा यत्न कीजिये ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है ॥ जैसे ईश्वर शत्रुओं से रहित है तथा सूर्यलोक भी मेघों से रहित हो जाता है, वैसे ही मनुष्यों को चाहिये कि चोर, डाकू वा शत्रुओं को मार और धनवाले धर्मात्माओं की रक्षा करके शत्रुओं से रहित होना अवश्य चाहिये ॥ ४ ॥

अब अगले मन्त्र में इन्द्र शब्द से शूरवीर के काम का उपदेश किया है ॥

परा चिच्छीर्षा ववृजुस्त इन्द्रायज्वानो यज्वभिः स्पर्धमानाः ।
प्र यद्दिवो हरिवः स्थातरुग्र निरव्रताँ अधमो रोदस्योः ॥ ५ ॥ [१]

पदार्थ—हे (हरिवः) सेना आदि के प्रशंसित साधन घोड़े-हाथियों से युक्त (प्रस्थातः) युद्ध में स्थित होने और (उग्र) दुष्टों के प्रति तीक्ष्ण व्रत धारण करने वाले (इन्द्र) सेनापते ! (चित्) जैसे हरण, आकर्षण गुण युक्त किरणों से युक्त युद्ध में स्थित होने और मेघों को अत्यन्त तपादेने-वाला सूर्यलोक (रोदस्योः) अन्तरिक्ष और पृथ्वी का प्रकाश तथा आकर्षण करता हुआ मेघ के अवयवों को छिन्न-भिन्न कर उसका (परा) निवारण करता है, वैसे आप (यत्) जो (अयज्वानः) यज्ञ के न करनेवाले (यज्वभिः) यज्ञ के करनेवालों से (स्पर्धमानः) ईर्षा करते हैं (ते) वे जैसे (शीर्षाः) अपने शिरों को तुम्हारे सकाश से (ववृजुः) छोड़ने वाले अर्थात् नष्ट हों, वैसे इन (अव्रतान्) सत्याचरण आदि व्रतों से रहित मनुष्यों को (निरधमः) अच्छे प्रकार दण्ड देकर शिक्षा कीजिये[१] ॥ ५ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥ जैसे सूर्य, दिन और पृथिवी आदि लोक और प्रकाश को धारण कर तथा मेघ रूप अन्धकार को निवारण करके वृष्टि द्वारा सब प्राणियों को सुख युक्त करता है, वैसे ही मनुष्यों को उत्तम उत्तम गुणों का धारण, खोटे गुणों को छोड़, अधर्म्मी दुष्ट मनुष्यों को दंड देकर विद्या उत्तम शिक्षा और धर्मोपदेश की वर्षा से सब प्राणियों को सुख देके सत्य के राज्य का प्रचार करना चाहिये ॥ ५ ॥

१. इस मन्त्र के संस्कृत अन्वय में मन्त्र का 'दिवः' पद छूट गया है, वह कहीं जुड़ता नहीं ।

फिर उसका क्या कार्य है, यह उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

अयुयुत्सन्ननवद्यस्य सेनामयातयन्त क्षितयो नवग्वाः ।
वृषायुधो न वध्रयो निरष्टाः प्रवद्भिरिन्द्राच्चितयन्त आयन् ॥ ६ ॥

पदार्थ—हे (नवग्वाः) नवीन-नवीन शिक्षा वा विद्या के प्राप्त करने और कराने (वृषायुधः) अतिप्रबल शत्रु के साथ युद्ध करने (चितयन्तः) युद्धविद्या से युक्त (क्षितयः) मनुष्य लोगो ! आप जिस (अनवद्यस्य) उत्तम गुणों से प्रशंसनीय सेनाध्यक्ष की (सेनाम्) सेना को (आयतयन्त) उत्तम शिक्षा से यत्नवाली करके शत्रुओं के साथ (अयुयुत्सन्) युद्ध की इच्छा करते हो। जिस (इन्द्रात्) सेनाध्यक्ष से (वध्रयः) निर्बल नपुंसकों के (न) समान शत्रुलोग (निरष्टाः) दूर-दूर भागते हुए (प्रवद्भिः) पलायन योग्य मार्गों से (आयन्) भाग जावें, उस पुरुष को सेनापति स्वीकार कीजिये ॥ ६ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालंकार है॥ जो मनुष्य शरीर और आत्मबलवाले शूरवीर धार्मिक मनुष्य को सेनाध्यक्ष बनाकर सर्वथा उत्तम सेना को संपादन करके जब दुष्टों के साथ युद्ध करते हैं तब जैसे सिंह के समीप में बकरी, वीर मनुष्य के समीप से भीरु मनुष्य और सूर्य के ताप से मेघ के अवयव नष्ट होते हैं, वैसे ही उक्त वीरों के शत्रु लोग सुख से रहित और पीठ दिखाकर इधर-उधर भाग जाते हैं। इससे सब मनुष्यों को इस प्रकार का सामर्थ्य संपादन कर के राज्य का भोग सदा करना चाहिये ॥ ६ ॥

फिर अगले मन्त्र में इन्द्र शब्द से शूरवीर के काम का उपदेश किया है ॥

त्वमेतान् रुदतो जक्षतश्चायोधयो रजस इन्द्र पारे ।
अवादहो दिव आ दस्युमुच्चा प्र सुन्वतः स्तुवतः शंसमावः ॥ ७ ॥

पदार्थ—हे (इन्द्र) राज्य के ऐश्वर्य से युक्त सेनाध्यक्ष ! (त्वम्) आप (एतान्) इन दूसरों को पीड़ा देने दुष्टकर्म करने वाले (रुदतः) रोते हुए शत्रुओं वा जीवों (च) और (दस्युम्) डाकुओं को दण्ड दीजिये, तथा (जक्षतः) अनेक प्रकार के भोजन देकर तथा हर्षित करके अपने भृत्यों [= सेनास्थ पुरुषों] का उनके साथ (अयोधयः) अच्छे प्रकार युद्ध कराइये, और इन धर्म के शत्रुओं को (रजसः) पृथिवी लोक के (पारे) परभाग में करके अर्थात् भगाकर (अवादहः) भस्म कीजिये। इसी प्रकार (दिवः) उत्तम शिक्षा से ईश्वर, धर्म, शिल्प, युद्धविद्या और परोपकार आदि के प्रकाशन से (उच्चा) उत्तम उत्तम कर्म वा सुखों को (प्रसुन्वतः) सिद्ध करने तथा (आस्तुवतः) गुणस्तुति करनेवालों की (प्रावः) रक्षा कीजिये और उनकी (शंसम्) प्रशंसा को प्राप्त होइये ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को युद्ध के लिये अनेक प्रकार के कर्म करने चाहियें। पहिला—अपनी सेना के मनुष्यों की पुष्टि, आनन्द तथा दूसरा—दुष्टों का बल वा उत्साहभंग नित्य करना चाहिये। जैसे सूर्य अपनी किरणों से सबको प्रकाशित करके मेघ के अंधकार के निवारण के लिये प्रवृत्त होता है, वैसे सब काल में उत्तम कर्म वा गुणों के प्रकाश और दुष्ट कर्म दोषों की निवृत्ति के लिये यत्न करना चाहिये ॥ ७ ॥

रजिस्टर्ड नं० ए० ६४९

देहली निवासी जो महानुभाव संस्कृत पढ़ना चाहें उन्हें नीचे लिखे पते पर पत्र लिख कर प्रवेश-पत्र मंगाकर भरकर भेजना चाहिये, पढ़ाई निःशुल्क होगी।

संस्कृत सिखाने वाले अध्यापकों का कैम्प

यदि कम से कम २० अध्यापक संस्कृत सिखाने के लिए अष्टाध्यायी की इस सरल पद्धति से सिखाने का ढंग (शिक्षण) सीखना चाहें, उनके लिए १ मास का शिविर देहली में खोला जा रहा है। इस में देहली वा देहली से बाहर के भी विद्वान् आकर लाभ उठा सकते हैं। इसके लिये पाणिनि महाविद्यालय काशी के अध्यक्ष (अष्टाध्यायी की बिना रटे इस सरल पद्धति के प्रवर्तक) स्वयं एक मास देहली में समय देंगे। इस में वे सज्जन आ सकेंगे जिन्हें संस्कृत का ज्ञान है, चाहे वह किसी भी पद्धति से हो जो या तो संस्कृत पढ़ाते हों या पढ़ाते रहे हों या अब संस्कृत पढ़ाने का कार्य करना चाहते हों, वे ही आ सकेंगे। इसके लिए काशी के [illegible] से पत्र व्यवहार करना चाहिये। कम से कम २० [illegible] के प्रार्थना पत्र आने पर ही इस [illegible] (शिक्षण शिविर) की तिथियाँ निश्चित हो सकेंगी। इसमें भी पढ़ाई निःशुल्क होगी। भोजन और स्थान का प्रबन्ध आने वालों को स्वयं करना होगा। यदि [illegible] मण्डी की २-३ आर्य समाजों में से किसी ने स्थान का प्रबन्ध कर दिया (जिस के लिये प्रयत्न किया जा रहा है) तो भोजन व्यय का प्रश्न ही रहेगा। उसे आने वालों को स्वयं ही करना होगा।

दोनों प्रकार के प्रार्थना पत्र निम्न पते पर आने चाहियें—

पत्र व्यवहार का पता—

(१) ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, मोतीझील, बनारस ६

(२) ला. गणेशदास जी, ३१ यू. बी. प्रयाग निकेतन, जवाहर नगर, देहली।

[पृष्ठ ५ का शेषांश]

[illegible] दया कर, मेरी कीर्ति को फैला दो। भारत की कीर्ति कभी चतुर्दिक् फैली हुई थी और राजर्षि मनु के आदेशानुसार डिंडिमध्वनि से देशदेशान्तर को सूचित किया करते थे—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्याः सर्वमानवाः॥

पृथिवी के सभी मनुष्य भारत भूमि में आयें और भारत के सुपुत्र ब्राह्मणों के चरणों में बैठकर सदाचार की शिक्षा ग्रहण करें, और सचमुच देश देशान्तर से शिष्य गण जिज्ञासु बनकर आया करते थे। ह्वेनसांग आया, फाहियान आया, मेगेस्थनीज आया और अलबेरूनी आया, ईसाइयों का माननीय ईसा आया, और भी समय समय पर आये और सदाचार तथा अनेक विद्याओं और कला कौशल की शिक्षाओं से झोलियाँ भर भर जाते रहे।

उन्नति के लिए एक और भी परम आवश्यक तत्त्व है, वह है—यजमान।

यजमानं च वर्धय—यज्ञादि शुभ कर्मों के अनुष्ठान करने वाले की वृद्धि करो। ब्रह्मणस्पते! ऐसा कार्य कर, जिससे देश में यजमानों की संख्या अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त हो, ऐसा प्रयत्न करो कि घर घर में वैदिक शिक्षाओं का प्रचार हो, वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान हो, सर्वत्र वेद का यशस् फैल जावे और सारा विश्व आर्य बन जावे। यजमानों की वृद्धि को अत्यन्त आवश्यक समझ कर मन्त्र के अन्त में इसी लिये दिया गया है कि यजमान के बिना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता।

ये छः साधन हैं जिनके द्वारा कोई भी व्यक्ति और कोई भी देश उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है, भारत ने ऐसी उन्नति कई बार प्राप्त की है और दूसरे देशों को प्राप्त कराई है। आज भी यदि भारतीयों को प्राचीन उन्नति को प्राप्त करने की इच्छा हो तो इस मन्त्र में वर्णित किये हुए साधनों का प्रयोग करके सुख और शान्ति प्राप्त की जा सकती है। ओं शम्।

मुद्रक और प्रकाशक—पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा ज्योतिष प्रकाश प्रेस, विश्वेश्वरगंज, बनारस में छपा।

ॐ

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ६] ❀ [अङ्क ६

इस अंक के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

चैत्र २०१०, अप्रैल १९५४
दयानन्दाब्द १३०
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५३

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
बनारस नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
„ „ विदेश में ६)
इस अंक का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनियार्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है।

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं; परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १ से तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहिये। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सफलता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सम्बन्धी धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें।

८—ग्राहक महानुभाव पत्रव्यवहार या मनियार्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—**वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस ६**

ओ३म्

वेदवाणी

सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष ६ } काशी, चैत्र सं० २०१० वि०, अप्रैल १९५४ ई० { अङ्क ६

आर्याभिविनय से

श्री विन्ध्यवासिनीप्रसाद अग्रवाल

हम सबको मित्र की दृष्टि से देखें।

दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ यजु० ॥३६।१८॥

हे दृते[1]	हे दुष्ट स्वभाव को नाश करनेवाले परमात्मन्!	समीक्षन्ताम्	देखें
मा	मुझको	अहम्	मैं
दृंह[2]	बढ़ा।	मित्रस्य	लाभ पहुंचाने वाले की
सर्वाणि	सब	चक्षुषा	आँख से
भूतानि	प्राणिमात्र	सर्वाणि	सबको
मा	मुझको	समीक्षे	देखूं। (हम सब एक दूसरे को)
मित्रस्य[3]	लाभ पहुँचानेवाले की	मित्रस्य	लाभदाता के
चक्षुषा	आँख से	चक्षुषा	नेत्र से
		समीक्षामहे	देखते रहें।

ऋषि व्याख्यान—

हे अनन्तबल महावीर ईश्वर! हे "दृते" दुष्टस्वभावनाशक! विदीर्ण कर्म अर्थात् विज्ञानादि[4] शुभ गुणों का नाश-कर्म करनेवाला मुझको मत रखो—मत करो, किन्तु उससे मेरे आत्मादि को उठा के विद्या सत्य धर्मादि शुभ गुणों से, सदैव स्वकृपासामर्थ्य ही से स्थिर करो[5]। "दृंह मा" हे परमैश्वर्यवन्! धर्मार्थकाममोक्षादि तथा विद्या-विज्ञानादि-दान से अत्यन्त मुझको बढ़ा। "मित्रस्य चक्षुषा

सर्वाणि भूतानि समीक्षान्ताम्'[1] हे सर्वसुहृदीश्वर[6] सर्वान्तर्यामिन्[7]! सब भूत प्राणिमात्र, मित्र की दृष्टि से, यथावत्[8] मुझको देखें। सब मेरे मित्र ही हो जायें; कोई मुझसे किंचिन्मात्र भी वैरदृष्टि न करे[9]। "मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे" हे परमात्मन्! आपकी कृपा से मैं भी निर्वैर होके सब भूत-प्राणी और अप्राणी चराचर जगत्–को मित्र की दृष्टि से स्वआत्मवत् स्वप्राणवत् प्रिय जानूं अर्थात् "मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे" पक्षपात छोड़के सब जीव देहधारी मात्र अत्यन्त प्रेम से परस्पर वर्तमान करें। अन्याय से युक्त होके किसी पर कभी हमलोग न वर्तें। यह परमधर्म[10] का सब मनुष्यों के लिये परमात्मा ने उपदेश किया है, सबको यही मान्य होने के योग्य है।

टिप्पणी—

१. दृ = विदारणे (क्र्यादि०) दृ हिंसायाम् (स्वा०)।

२. दृह दृहि = वृद्धौ (भ्वा०)।

३. मेद्यति स्नेहयति इति मित्रम् (मिद् + त्र)।

४. विज्ञान = विवेकयुक्तज्ञान। यह ज्ञान की परिपक्वता, जब मनुष्य राजा जनक की तरह अपने को संसार से अलिप्त अनुभव करता है।

५. स्थिर करो = युक्त करो।

६. सुहृद् = हृदय से प्यार करने वाले।

७. सर्वान्तर्यामिन् = प्राणी अप्राणी को वश में रखने वाले।

८. यथावत् = पूर्णतया उचित रूप में।

९. वैर दृष्टि न करे = शत्रु की आँख से न देखे।

१०. परमधर्म का = सर्वोत्कृष्ट कर्त्तव्य अर्थात् परमात्मा के इस स्वभाव के अपनाने का।

विश्वशान्ति का मूल स्रोत

लेखक—श्री स्वामी गंगागिरि जी महाराज आचार्य गुरुकुल रायकोट।

आज का अशान्त मानव शान्ति की सतत तलाश करता हुआ भी अशान्त पथावलम्बी बना हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है। सर्वसाधारण का विचार है कि बुद्धिवाद या विज्ञानवाद से ही शान्ति की स्थापना हो सकती है। परन्तु सब प्रकार की वैज्ञानिक उन्नति होते हुए भी आज प्रजा में उत्तरोत्तर अशान्ति बढ़ती जा रही है। इस वैज्ञानिक युग में पिछले ३० वर्षों में युद्ध द्वारा जितना धन व जन का नाश हुआ उतना पहले कभी नहीं हुआ। प्रजा युद्धों की विभीषिका से भयभीत है। इसलिए आज की वैज्ञानिक उन्नति ही में सच्ची शान्ति लाने की क्षमता नहीं है। आओ आज हम अपने सुखसाधनों की वर्तमान व्यवस्था में कुछ परिवर्तन करें। सर्वप्रथम मनुष्य में मनुष्यता आनी चाहिये। इसका मूल स्रोत वेदज्ञान है। इसीलिए महर्षि दयानन्द ने आर्य-समाज के तीसरे नियम में बताया कि—**वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।** वेद में लिखा है कि—

ओम् अचिक्रदत् स्वपा इह भुवदग्ने व्यचस्व रोदसी उरूची। युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आमुं नय नमसा रातहव्यम् ॥ अथर्व० ३-३-१ ॥

अर्थात्—(अचिक्रदत्) परमेश्वर की आज्ञा है कि (इह) यहाँ पर प्राणी (स्वपा) अपने जनों का पालनेवाला व उत्तम कर्म करनेवाला (भुवत्) होवे। (अग्ने) हे अग्नितुल्य तेजस्वी राजन् (उरूची) बहुत पदार्थों को प्राप्त करने वाले (रोदसी) सूर्य और पृथ्वी में (वि) विविध प्रकार से (अचस्व) गति कर। (विश्ववेदसः) सब प्रकार के ज्ञान व ध्यान वाले (मरुतः) देवता और विद्वान् पुरुष (त्वा) तुझसे

(युञ्जन्तु) मिलें। हे राजन् (रातहव्यम्) भेंट व भक्ति का दान करने वाले (अमुम्) उस प्रजाजन को (नमसा) अन्न व सत्कार के साथ (आनय) अपने समीप लाएं अर्थात् राजा और विद्वान् लोग जब परस्पर मिलकर सहयोगपूर्वक चलते हैं तभी प्रजामें शांति-स्थापना होती है। इसी भाव को भगवान् यजुर्वेद में—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।' इस मन्त्र में दर्शाया है कि मनुष्य सत्कर्म करता हुआ सहयोगपूर्वक १०० वर्ष तक जीवे। इस प्रकार राजा निपुणता पूर्वक व परमेश्वर की आज्ञापूर्वक स्व-प्रजा का पालन करे। सूर्य, पृथ्वी सम्बन्धी पदार्थ-विद्या का ज्ञान रखे। विज्ञानवान् होवे। शूरवीरों व विद्वानों का सहयोग प्राप्त कर भक्त प्रजाजन का पालन-पोषण करे। इस प्रकार राजा व प्रजा को दृढ़ ईश्वर-विश्वासी होना चाहिये। हर समय ईश्वर की सत्ता को अनुभव करते हुए अपने जीवन को कर्ममय बनावें। वेदविहित कर्म ही संसार में शान्ति ला सकते हैं। निषिद्ध कर्मों से अशान्ति पैदा होती है। मनुष्य अपने कर्तव्यकर्म को भूलकर संसार में अशान्ति का कारण बन जाता है। आज भौतिक विज्ञान के बढ़ने से मनुष्य भोगवादी बन गया है। जिसका परिणाम वर्तमान दुःख है। वेद में मनुष्य के लिए विहित कर्मों का कितना सुन्दर वर्णन किया है। यथा—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरि-ग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणि-धान।

प्रथम अहिंसा है। इसका स्वरूप प्रतिपादन करते हुए महर्षि पतंजलि योगदर्शन में लिखते हैं कि—"सर्वदा सर्वकाले सर्वभूतानामनभिद्रोहः" अर्थात् सर्वदा सर्वकाल में सर्वप्राणियों के प्रति मन, वचन और कर्म से द्रोह की भावना न रखना अहिंसा होती है। आज के समुन्नत विज्ञान-युग में इस अहिंसा का सर्वथा अभाव है। आज तो नित्यप्रति अणु बम व हाइड्रोजन बम आदि संहार-अस्त्र द्वारा प्राणिमात्र के विनाश के लिए सरल से सरल उपाय सोचे व खोजे जा रहे हैं। सभी देश अपनी आय का बड़ा भाग सैनिक शक्ति संवर्धन पर व्यय कर रहे हैं। एक दूसरे के प्रति विश्वास की भावना उठ चुकी है। विश्वशान्ति के नाम पर बड़े-बड़े सम्मेलनों का ढोंग रचा जा रहा है। आज की दुनियाँ में सत्य व अस्तेय का भी सर्वथा अभाव है। इसीलिए स्थान स्थान पर चोरी डाके भ्रष्टाचार बढ़ते जा रहे हैं, जिनमें पढ़े लिखे लोग भी शामिल हैं। चौथे दिन प्रति दिन ब्रह्मचर्य के अभाव में मनुष्यों की शारीरिक दशा बिगड़ती जा रही है। निर्बलता भी अशान्ति पैदा करके क्रोध को पैदा करती है। पाँचवें अपरिग्रह के पालन न करने से दुनियाँ में लोभ लालच बढ़ता जाता है। कथनमात्र में तो पूंजीवाद का विरोध करते हैं, परन्तु आचरण इसके सर्वथा विरुद्ध है। विहित कर्म का छठा भाग शौच है। मनुष्यता को पैदा करने के लिए शुद्धि भी परमावश्यक है। शुद्धि चार प्रकार की होती है। शारीरिक, मानसिक, आत्मिक तथा बौद्धिक। इन चारों शुद्धियों के लिए क्रमशः जल, सत्य, विद्यातप व वेदज्ञान की आवश्य-कता है। इसके विपरीत आधुनिक विज्ञान व बुद्धि-वाद अशान्ति का कारण बना हुआ है। वैदिक ज्ञान के प्रकाश से प्रजा में शान्ति हो सकती है। सातवाँ विहित कर्म सन्तोष है। अपने पुरुषार्थ से जो धन पैदा किया जाये उसी में सन्तोष रहना तथा परधन को मिट्टी समान तुच्छ समझना सन्तोष है। आठवाँ विहित कर्म तप है। अपने-अपने आश्रम वर्ण के धर्म का पालन करना ही तप है। महाभारत में युधिष्ठिर महाराज के शब्दों से भी इसकी पुष्टि होती है। यथा—तपः स्वधर्मवर्तित्वम्। अर्थात्

अपने-अपने धर्म-कर्तव्य पर दृढ़ रहना ही तप है। नवमाँ विहित कर्म वेदादि सत्यशास्त्रों का **स्वाध्याय** करना। दसवाँ भाग **ईश्वरप्रणिधान** है अर्थात् सब समय ईश्वर को अपने सम्मुख समझना। नास्तिकता से दूर रहना। जिस समय राजा और प्रजा दोनों मिलकर विद्वानों के सहयोग से सदाचार की वृद्धि करेंगे। दण्ड व उपदेश द्वारा अनाचार को दूर करने का यत्न करेंगे, तभी दुनियां शान्ति का दर्शन कर सकेगी। जब प्रजा में वैदिक अध्यात्मज्ञान का प्रचार होगा तथा भौतिक विज्ञान अध्यात्मज्ञान का अनुसरण करता हुआ बढ़ेगा तभी संसार सुखमय बन जायगा। ऐसे स्वर्णमय युगमें मनुष्य का जीवन यज्ञमय बन जायगा। राजा और वेदवेत्ता विद्वानों की संगति से प्रजा में सहयोग की भावना बढ़ेगी। परस्पर दुःख-सुख में साथी बनेंगे। बलिदान की भावना बढ़ेगी। ऐसे स्वर्णमय युग को लाने के लिए वैदिक अध्यात्मज्ञान की परम आवश्यकता है। यही वैदिक अध्यात्मज्ञान विश्वशान्ति का मूल स्रोत है।

[पृष्ठ ८ का शेषांश]

अभिमान से साधक को बचना चाहिये और वन्दना सहित भगवान् की स्तुति करते रहने से वह अबाध उन्नति कर सकेगा ऐसा अनुभव में आया है।

साधक के लिए न तो भावना ही पर्याप्त है और न अकेले तर्क से उसका काम चलेगा। वेद के आदेश अनुसार उसे अपने हृदय और मस्तिष्क का समन्वय करना होगा। "परमेश्वर मेरा सुहृद् है वह सदा मेरा सहायक रहा है अब भी सहायता कर रहा और भविष्य में भी मेरी सहायता अवश्य करेगा, यह धारणा मनुष्य के अन्दर विश्वास दृढ़ करती है। श्रद्धा और विश्वास के सहारे मनुष्य की लगन बनी रहती है। योगी को स्वस्थ रहना चाहिये। पथ्यापथ्य पर विचार करके भोजन करना चाहिये। युक्त आहार-विहार, युक्त कर्मचेष्टा और समय में सोना और जागना ये योगसाधन करनेवाले के लिए आवश्यक हैं। योग काल में योग्य कार्य अवश्य करना चाहिये। अब का कर्तव्य अब ही करना चाहिये। प्रमाद और आलस्य योगी के लिए हानिकर हैं। योगी की जीवनचर्या ऐसी होनी चाहिये, जिससे उसकी दीर्घायु हो। उत्साह सावधानता स्फूर्ति जागृति, स्वसंरक्षण की भावना और योजना से उन्नति का साधन सफल होता है इस अमृतमय भगवान् के दिये शरीर की अवहेलना नहीं करनी चाहिये। शारीरिक स्वास्थ्य बिना मनोबल संभव नहीं और यदि मन स्वस्थ नहीं तो शरीर भी स्वस्थ नहीं रह सकता। इसलिए योग की स्थिति पाने के लिए हृदय और मूर्धा का एकीकरण परम आवश्यक है—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः॥

अ० १०।२।२६

स्थिर चित्त योगी अपने मस्तिष्क के साथ हृदय को सीता है और सिर के, मस्तिष्क के ऊपर अपने पवमान प्राण को भेज देता है। प्राण को सहस्रार दल कमल में भेजने का हमें अनुभव नहीं, इसलिए नहीं लिखा जा सकता। किन्तु सिर और हृदय के समन्वय से भी योग का साधक बहुत लाभ पाता है। वेद अनुसार योगसाधन सीधा सरल है। यदि जीवन में ऋजुता हो और जीवन-पथ में नैतिकता निभाई जा रही हो॥ ओ३म् शम्॥

वेद और योग साधन

लेखक—श्री लालचन्दजी, मेरठ

योगी को वेद में 'ब्रह्मयुज' कहा है। यह शब्द सार्थक है। जो ब्रह्म के साथ मिला हुआ है, जिसका ब्रह्म के साथ निरन्तर का संबन्ध है, जो परमात्मा के साथ अपना सनातन संबन्ध अनुभव कर रहा है वह "ब्रह्मयुज" है, वही योगी है क्योंकि उसका भगवान् से अपने प्रेम मिलन का अनुभव है। वह भगवान् का साथ अनुभव करता है। योगी नाना प्रकार की दिव्य शक्तियों से संपन्न रहता है। अपना संबन्ध भगवान् से अनुभव करना ही तो जीवन लक्ष्य है योंगी को वह प्राप्त है। इसलिए योगी आत्म-तृप्त अतएव प्रसन्न रहता है। सच्चिदानन्द परमात्मा के साथ मेल रखने वाला नित्यानन्द रहना ही चाहिये। योगी परम सुख अनुभव करता है, क्योंकि वह आनन्द स्रोत परमात्मा से जुड़ा हुआ है। योगी को ज्ञानरस प्रेमरस और आनन्दरस तीनों रस प्राप्त होते हैं और वह उन रसों को पान करके ही तृप्त रहता है। यही उसकी आत्मतृप्ति का रहस्य है। योगी का ज्ञान जाग्रत रहता है, योगी का विवेक कभी मन्द नहीं होता, ऐसा चेतन मनुष्य ज्ञान और प्रेम के समन्वय से सदा आनन्द पाता है इसलिए प्रसन्नवदन रहता है और अपने मोक्ष सुख में स्वतंत्र रहता है। ज्ञानमय भक्ति भाव युक्त जीवन उसके आपस के बर्ताव में झलकता है। ऐसे प्रेमी सज्जन का व्यवहार मृदु होता है। उसके बैठने उठने और बोलने चालने में माधुर्य रहता है। इस लिए योगी लोकप्रिय हो जाता है।

आ त्वा सहस्रमा शतं युक्ता रथे हिरण्यये।
ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये॥

सास. ३।२।३। ऋ० ८।१।२४॥

हे इन्द्र परमेश्वर! ब्रह्म को समाहित चित्त से सक्षात् करने वाले, ज्ञान तंतुओं को सशक्त धारण करने वाले, सैकड़ों हजारों दिव्य शक्तियों से युक्त, तेजोमय शरीरधारी, प्राण शक्ति संपन्न जन, प्रेम रसका पान करने के लिए तुझे धारण करें।

इस मन्त्र में योगी की पहचान कह दी गई है। योगी समाहित चित्त, सशक्त दिव्य शक्तियों से युक्त, सुन्दर, तेजोमय शरीरधारी, प्राण शक्ति संपन्न होना चाहिये, उसके ज्ञान तंतु सशक्त होने चाहिये उसमें मनोबल प्राणबल होना चाहिये। ऐसा सज्जन तेज वीर्य बल ओज उत्साह और सहन शक्ति युक्त गंभीर और धीर होता है। ये गुण उसके अपने आत्म-साक्षात् करने के कारण ही होते हैं और शक्ति के स्रोत परमात्मा से मिले रहने के लिए योगी की शक्ति बढ़ती रहती है, कभी भी क्षीण नहीं होती।

योगी की प्रार्थना—

सोमस्य त्विषिरसि तवेव मे त्विषिर्भूयात्।
मृत्योः पाहि, ओजोऽसि, सहोऽसि, अमृतमसि॥

यजु १०।१५॥

हे परमात्मन्! तू इस संसार को दीप्त करने वाला है, तेरे सदृश मेरी दीप्ति हो, तू ओजस्वरूप और तेजस्वरूप है, सर्व सामर्थ्यवान् अमृत का धाम है, अतः मुझे मृत्यु से बचा।

योगी को अपने भगवान् पर पूर्ण विश्वास है और भगवान् की कृपा से उसमें स्वयं भी आत्म-विश्वास है। इसीलिए योगी सदा दीर्घायुभर स्वस्थ रहते हुए पूरी लगन से अनेकों सर्वहित के कार्य करते रहते हैं। योगीजन मृत्युञ्जय हो जाते हैं, वे

…त डरते नहीं। भगवान् के साथ के अनुभव के कारण भय तो उनमें रहता ही नहीं। वे ऋतवान् होते हैं और अनृत के घोर विरोधी रहते हुए अमर यश प्राप्त करते हैं।

योगी का एकाग्र मन

आ ते वत्सो मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात्।
अग्ने त्वां कामया गिरा॥

यजु० १२।११५॥

हे प्रकाश स्वरूप परमात्मन्! मैं तेरा भक्त तुझको स्तुति द्वारा प्राप्त करना चाहता हूँ और इसीलिए दूरतम स्थान से भी मन को हटाकर तुझमें एकाग्र करता हूँ। मैं केवल तुझे ही चाहता हूँ योगी का मन निश्चल हो जाता है, वह समग्र स्थिर अवस्था प्राप्त करता है और ध्रुव अवस्था से उर्ध्व अवस्था में पहुँच कर उसे परमज्योति का साक्षात्कार होता है। योगी की स्तुति केवल वाणी द्वारा ही नहीं होती, वह तो भगवान् के गुण गाता ही इस लिए है कि वह उन्हें अपने में धारण करेगा। योगी भगवान् के दिव्य गुण धारण करता हुआ स्वयं दिव्य जन हो जाता है और भगवान् ऐसे को प्रसन्न होकर स्वीकार करते हैं और अक्षय ऐश्वर्य से भर पूर करते हैं। योगी एक निष्ठ ब्रह्मचारी है उसका जीवन उसके ऋतज्ञान के अनुकूल है और उसका आचरण वेदानुकूल होता हुआ वह ब्रह्म मार्ग का यात्री है, जिसे वह धर्म और यज्ञ द्वारा प्राप्त करता है। योगी अपना जीवन लक्ष्य समझता है और उसे पाता है। योगी का जीवन लक्ष्य "सत्यं शिवं सुन्दरम्" भगवान् से मिलन है और मिलन होने पर भगवान् से प्राप्त नवजीवन का संसार में वितरण करना वह कर्तव्य समझता है और अपने आपको इसी उद्देश्य पूर्ति मे समर्पित कर देता है।

योगीका ज्ञान और अनुभव

योगी जानता है कि—

अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य।
सम्राडेको विराजति॥

यजु १२।११७॥

सर्वहितैषी जगन्नायक परमेश्वर उत्पन्न हुए तथा उत्पन्न होने वाले जनों की कामनाओं को पूर्ण करने वाला केवल एक ही सम्राट् होता हुआ सब का एक ही अधीश्वर जगदीश्वर होता हुआ सब प्रिय स्थानों में विराजता है।

सर्वेश्वर प्रभु परमात्मा है वह आत्मा में, हृदय में है, कण्ठकूप में है, स्वर दिव्यचक्रों में है, शरीर की नसनस में है. वह वीर्य में, तेज में, ओज में, वर्च में मनुष्य की कान्ति में, संदर्भ में, मनुष्य के माधुर्य में, बालक की मधुर मुस्कान में, आपस के निष्कपट व्यवहार में, सभी प्रिय धामों में, विशुद्ध प्रेम व्यवहार में विराजता है, यह अनुभव योगी का है। ईश्वर सब में है सब जगह है और सब चराचर उसी एक व्यापक प्रभु में आश्रित हैं, यह वैदिक ज्ञान है और यह अनुभव योगी को है। योगी का आत्मा-परमात्मा को अनुभव करता है। योगी ही प्रेमरस और आनन्द रस का पान करता है और ज्ञान को साक्षात् करता हुआ ऋत और सत्य को प्राप्त करके सृष्टि की रचना, रक्षण, संचालन का रहस्य जान जाता है और सब के साथ सच्चे प्रेम का व्यवहार करता हुआ नित्य प्रसन्न रहता है, क्योंकि आनन्दकन्द परमात्मा के साथ का उसे अनुभव हो चुका है।

योगी का कार्य

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याऽऽभरत्॥

यजुः ११।१

सूर्य जिस प्रकार अपने किरणों को फैलाकर

अपने भीतरी अग्नितत्त्व की दीप्ति को एकत्र करके पृथिवी पर पहुँचाता है उसी प्रकार परमात्मा से मेल अनुभव करनेवाला योगी सबसे प्रथम अपनी मनन शक्ति और ध्यान तथा धारण करने की शक्तियों का विस्तार करके तत्त्वज्ञान के लिए समाहित चित्त करता हुआ अपने मन को निश्चल एकाग्र तथा सशक्त करता हुआ ज्ञानमय ज्योतिःस्वरूप परमेश्वर की परम ज्योति का ज्ञान करके इस भूलोक में अन्य यहाँ के वासियों को ज्ञान प्राप्त कराता है।

यही कार्य श्रद्धेय पूज्य ऋषि दयानन्द ने भी किया था। वह चाहता तो योग समाधि का आनन्द अकेला ही लेता रहता। पर ऋषि दयानन्द को वेद की यह आज्ञा स्मरण थी, उसने सत् ज्ञान का फैलाना तथा उस ज्ञान द्वारा मोह अन्धकार दूर करके श्रेष्ठ आस्तिक वेदभक्तों का एक संगठन बनाने का निश्चय किया और आर्यसमाज का आन्दोलन आरम्भ कर दिया और उसके ऐसे सुदृढ़ और व्यापक नियम बनाए जिनका सभी सज्जन आदर करते हैं। योगी में ही वह क्षमता है, योगी में ही वह सम्यक् दृष्टि है जो अपने सद्विवेक से तथ्य को जानकर अन्य जनों के उद्धार करने में समर्थ होता है! आर्यत्व का प्रसार हँसी खेल नहीं। स्वयं आर्य होकर ही आर्यत्व का प्रसार संभव हो सकेगा। आज मानव समाज में आर्यत्व का अभाव सा है। इसीलिए समाज में जीवन की कमी स्पष्ट दीख रही है। जीवन और शक्ति के सनातन स्रोत भगवान् से संबंध जोड़े बिना ऋषि दयानन्द की आकांक्षा की पूर्ति होनी संभव नहीं। हमें योग-साधन करना होगा। ऐसी जीवनचर्या बनानी होगी, जिससे हमारी कर्तव्यनिष्ठा में उन्नति होती रहे। यदि आलस्य और प्रमाद के कारण हमारा कर्तव्य पालन करने से भी उकता रहा हो तो अवश्य ही यह स्थिति शोचनीय है और हमें ईश्वर भक्त आस्तिक कर्मठ लोगों की संगति प्राप्त करनी चाहिये जिनके विषय में हमें पूर्ण निश्चय हो कि वे स्वयं धर्ममार्ग पर चल रहे हैं। वेद में कहा भी है—

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताघ्नता जानता संगमेमहि॥

ऋ० ६।६१।१६

हम सूर्य चन्द्र के समान स्वस्ति पथ, कल्याण मार्ग पर चलें और बार बार उदार अहिंसा शील और ज्ञानी जनों की संगति करें। उदार अहिंसा शील ज्ञानी जनों की संगति से मनुष्य का आचरण सुधरता है और उसमें भी वैसा बनने की रुचि होती है। महामना लोग परमात्मा की उपासना से और सुनियमित जीवनचर्या रखने से ही धर्मशील बनते हैं। वे साधन जिनसे मनुष्य में भगवान् का उपासक बनने की, भगवान् के निकट होने की, भगवान् से मेल बना रखने की उत्कट इच्छा जाग्रत होकर स्थिर रहती है वे साधन मोक्ष साधन कहलाते हैं।

योग साधन में सुमर्यादित जीवनचर्या की प्रतिष्ठा है। मनुष्य यह जानकर कि वह समाज का अंग है, अपना परस्पर का व्यवहार शुद्ध रखे, तो वह अवश्य यशस्वी होता है और उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। ब्रह्मयज्ञ से व्यक्तित्व बनता है और अन्य चार महायज्ञों के करने से मनुष्य का व्यक्तित्व समाज में विकसित होता है और मनुष्य आदर पाता है। भगवान् की उपासना के बिना मनुष्य के जीवन में व्यापकता नहीं आती और उसका हृदय कमल नहीं खिलता। मनुष्य का स्वार्थ पर सम्यक् नियंत्रण हो, उसका अपने पर स्व-अनुशासन हो तभी मनुष्य उन्नति करता है। हमें ऐसी उन्नति करनी है जो स्थायी हो और हम पुनः अवनत न हों। हमारा सदा उत्कर्ष ही रहे और कभी भी अपकर्ष न हो, यह सभी की आकांक्षा है। यह इच्छा योगसाधन द्वारा पूरी होनी है।

युक्तमन अथवा योगसाधन

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे ।
स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ यजु० ११।२ ॥

हम सब लोग योगद्वारा समाहित, एकाग्र स्थिर चित्त से सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक परमदेव परमेश्वर के उत्पादित जगत् में अपनी शक्ति से परम सुख लाभ के लिए उस परम ज्ञान को प्राप्त करें। वह परम ज्ञान क्या है? वह परम ज्ञान इस बात की अनुभूति है कि मनुष्य के हृदय में सर्व शक्तिमान् परमात्मा अपनी संपूर्ण शक्तियों सहित परिपूर्ण है। इस ज्ञान को जीवनचर्या में लाना और अपने आप सदा परमेश्वर के साथ अनुभव करना, यह स्थिति जिन जीवन के नियमों द्वारा संभव होती है, उन्हें हम योगसाधन कहते हैं। परमात्मा हमारे अन्दर हैं हम सब उसी एक व्यापक प्रभु में हैं अर्थात् उन्हीं के आश्रय में हैं, यह सत्य है और इस बात का ज्ञान भी बहुत से लोगों को है, किन्तु यह सत्य जिन साधनों से अनुभव में आता है उन्हें योगसाधन कहा जाता है। वे साधन सभी मनुष्यों को करने चाहिये।

पहली बात यह है कि मनुष्य अपनी स्थिति को जाने। क्या वह इस समय तमोगुण रजोगुण अथवा सत्त्वगुण प्रधान स्थिति में है। यदि आलस्य प्रमाद है और कार्य में अरुचि है तो तमोगुण का अन्दर आधिपत्य है। यदि कार्य आरंभ करने को तो मन चाहता है पर तत्परता से कार्य में लगे रहने की रुचि नहीं, तो स्थिति राजसिक है और यदि एकाग्र भाव से समाहित चित्त से कार्यारंभ से कार्य के संपन्न होने तक एक सी ही रुचि है और पूरी लग्न से कार्य चल रहा है तो अवश्य स्थिति सात्त्विक है। सात्त्विक स्थिति ही योगसाधन में सहायक है।

मनुष्य के अन्दर उत्साह बना रहे और वह सावधान रहे तो उन्नति में बाधा नहीं पड़ती और यदि विघ्न आते भी हैं तो वह सावधानी से उन्हें दूर करने में अपने को समर्थ पाता है—वेद (अ० ५।३०।१०) में कहा है—

ऋषी बोधप्रतिबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः ।
तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम् ॥

स्फूर्ति और जागृति ये दो ऋषि हैं। ये दोनों तेरे प्राण की रक्षा करते हुए दिन रात जागते रहें। (बोध) स्फूर्ति और (प्रतिबोध) जागृति ये दो चेतन शक्तियाँ हैं। बोध से उत्साह को प्रेरणा मिलती है है और जागृति से मनुष्य सावधान रहता है। चेतना की ये दो शक्तियाँ हैं। उत्साह और सावधानता की प्रत्येक उन्नति के आकांक्षी को अपेक्षा है। इन दोनों की उपेक्षा की नहीं और पतन आरंभ हुआ। उत्साह और व्रत दृढ़संकल्प का परिणाम है। केवल उत्साह और साहस ही पर्याप्त नहीं, मनुष्य को अपने विवेक को जाग्रत रखते हुए सावधान रहना चाहिये। जो साधक रहकर जागरूक रहकर साधन की उन्नति को ठीक ठीक जाँचता है और अभिमान से बचता है वही योगसाधन में अग्रसर हो सकता है। दिव्य गुण धारण करने की क्षमता प्राणायाम और नामजप से सुगमता से आ जाती है, किंतु

[शेष पृष्ठ ४ पर]

वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन

(लेखक—युधिष्ठिर मीमांसक, मोतीझील, काशी)

[गताङ्क से आगे (३)]

अर्थात् देवता के अत्यन्त ऐश्वर्यशाली होने से एक ही देवता की बहुत प्रकार से स्तुति होती है।

अब प्रश्न होता है कि वह एक देवता कौन सी है? इसका उत्तर निरुक्त के परिशिष्ट (जिसमें मुख्यतया वेदार्थ की आध्यात्मिक प्रक्रिया दर्शाई है[१]) में इस प्रकार दिया है—

अथैष महानात्मा सत्त्वलक्षणः, तत्परं, तद् ब्रह्म।

अर्थात् यह महानात्मा पर (=परमात्मा) है, वह ब्रह्म है—

कात्यायन के मत में इस महानात्मा का नाम सूर्य है।[२] वेद की दृष्टि में इस महानात्मा का नाम अग्नि है—

"अग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः।"[३] ऋ३।२६।७॥

इसी एक अग्निरूपी महानात्मा के अत्यन्त ऐश्वर्ययुक्त होने से अध्यात्म-चिन्तक उसे अनेक नामों से स्मरण करते हैं। इसका निर्देश भगवती श्रुति में भी उपलब्ध होता है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।[४] ऋ० १।१६४।४६॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताः आपः स प्रजापतिः॥
शु० यजुः ३२।१॥

इन श्रौत प्रमाणों के अनुसार वेद में इन्द्र वरुण आदि जितने नाम प्रयुक्त हुए हैं, वे सब आध्यात्मिक-प्रक्रियानुसार एक ही महानात्मा के वाचक हैं।[५] इसलिये वेद में जितने भी देवतावाचक पद हैं, आध्यात्मिक प्रक्रियानुसार उन सबका अर्थ ब्रह्म ही होगा।

याज्ञिकप्रक्रियानुसारी वेदार्थ से पराहत बुद्धि वाले समझते हैं कि वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यज्ञ (कर्मकाण्ड) ही है, अध्यात्म विषय तो उपनिषदों का है[६] (ईशावास्य अध्याय की भी उपनिषद् संज्ञा होने से उसे उपनिषदों में ही गिनते हैं)। यह धारणा सर्वथा मिथ्या है। आध्यात्मिक-प्रक्रियानुसार सम्पूर्ण वेद का प्रतिपाद्य विषय एक मात्र ब्रह्म है। इस विषय में हम कतिपय प्रमाण उपस्थित करते हैं—

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि च सर्वाणि यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥ कठो० २।१५॥

इससे स्पष्ट है कि सम्पूर्ण वेद का एक मात्र प्रतिपाद्य विषय 'ओम्' है। इसी कठ श्रुति की प्रतिध्वनि गीता के निम्न श्लोक में सुनाई पड़ती है—

यदक्षरं ब्रह्मविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥
८।११॥

भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास अपने पुत्र शुकदेव को अध्यात्म विद्या का उपदेश करके अन्त में कहते हैं—

दशेदमृक्सहस्राणि निमथ्यामृतमुद्धृतम्।
नवनीतं यथा दध्नः काष्ठादग्निर्यथैव च।
तथैव विदुषां ज्ञानं पुत्रहेतोः समुद्धृतम्॥
महाभारत शान्ति० २४६।१४, १५॥

१. व्याख्यातं दैवतं यज्ञाङ्गं च। अथात ऊर्ध्वगतिं व्याख्यास्यामः। निरुक्त १४।१॥

२. एकैव वा महानात्मा देवता, स सूर्य इत्याचक्षते, स हि सर्वभूतात्मा। ऋक्सर्वानुक्रमणी।

३. इसीलिये ऋग्वेद के आरम्भ में 'अग्नि' पद का ही निर्देश किया है।

४. इस मन्त्र में इन्द्र मित्र आदि पद एक बार प्रयुक्त हुए हैं और अग्नि पद दो बार। इससे स्पष्ट है कि अग्नि पद में उद्देश्यता है और इन्द्र मित्र आदि में विधेयता। कात्यायन ने एक महानात्मा का नाम 'सूर्य' लिखकर उसी की विभूतियाँ अन्य देव हैं, इसके प्रतिपादन के लिये यही मन्त्र उद्धृत किया है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि इस मन्त्र में साक्षात् 'सूर्य' का निर्देश ही नहीं है। यदि 'सुपर्ण' को सूर्य का वाचक मान भी लें, तब भी उसमें मन्त्र निर्देशानुसार उद्देश्यता नहीं है, विधेयता है। आधुनिक अद्वैतवादी इस मन्त्र के 'सत्' शब्द में उद्देश्यता और इन्द्र आदि के समान अग्नि में भी विधेयता मानते हैं, वह भी ठीक नहीं है। अग्नि पद का दो बार प्रयोग होने से उसमें विधेयता किसी प्रकार नहीं मानी जा सकती। अतः 'एकं सद् अग्निं विप्रा बहुधा वदन्ति' यही अन्वय होगा।

५. मनुस्मृति में स्पष्ट लिखा है—'एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्।' १२।१२३॥

६. तस्मिंश्च वेदे द्वौ काण्डौ—कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च। बृहदारण्याख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डः, तद्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोर्ग्रन्थयोः कर्मकाण्डत्वम्। तत्रोभयत्राग्निहोत्रदर्शपौर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपादितत्वात्। काण्वसंहिता सायणभाष्योपक्रमणिका (काशी संस्क० पृष्ठ १०९)। इस लेख में सायण ने सम्पूर्ण यजुर्वेद में कर्मकाण्ड का ही प्रतिपादन माना है। इसी प्रकार अन्य वेदों के लिये भी समझना चाहिये। यह निदर्शनमात्र है।

अर्थात् जैसे दही को मथकर मक्खन निकाला जाता है, या लकड़ियों को रगड़ कर अग्नि प्रकट किया जाता है, उसी प्रकार दश सहस्र ऋचाओं को मथकर मैंने यह अध्यात्म ज्ञान निकाला है।

व्यास जी ने यहाँ जो दो उपमाएँ दी हैं, वे विशेष ध्यान देने योग्य हैं। इन उपमाओं से स्पष्ट है कि जैसे दहि के प्रत्येक भाग में नवनीत सूक्ष्म रूप से विद्यमान है और जैसे काष्ठ के प्रत्येक अवयव में अग्नि सूक्ष्म रूप से विद्यमान है, वैसे ही दश सहस्र ऋचाओं (के समूह ऋग्वेद) की प्रत्येक ऋचा में सूक्ष्मरूप से अध्यात्म ज्ञान निहित है। अन्यथा दोनों उपमाएँ व्यर्थ हो जाती हैं।

ऋक्सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन ने भी लिखा है—

ओङ्कारः सर्वदैवत्यः पारमेष्ठ्यो वा ब्राह्मो दैव आध्यात्मिकः।

अर्थात् अध्यात्म में सब ऋचाओं का ओङ्कार देवता है, या परमेष्ठी या ब्रह्म।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्यों के मत में वेद के प्रत्येक मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ हो सकता है। इसी भाव को स्कन्दस्वामी ने निरुक्तटीका में यास्क का प्रमाण देकर इस प्रकार दर्शाया है—

सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः? स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्। निरुक्त टीका ७।५ ॥

अर्थात्—अध्यात्म, नैरुक्त तथा याज्ञिक तीनों प्रक्रियाओं में सब मन्त्रों की योजना करनी चाहिये, क्योंकि भाष्यकार (यास्क) ने स्वयं सब मन्त्रों का विषय तीन प्रकार का है यह दर्शाने के लिये यज्ञ दैवत और अध्यात्म को वेदवाणीके पुष्प और फल कहा है।

आचार्य भर्तृहरिने भी महाभाष्यकी व्याख्या में प्रसङ्गवश लिखा है—

यथा इदं विष्णुर्विचक्रमे इत्यत्र एक एव विष्णुशब्दोऽनेकशक्तिः सन् अधिदैवतमध्यात्ममधियज्ञं चात्मनि नारायणे चषाले च तया शक्त्या प्रवर्तते। महाभाष्यदीपिका पृष्ठ २६८, हमारा हस्तलेख।

अर्थात् 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' इस मन्त्र में एक विष्णु शब्द ही अनेक अर्थोंका वाचक होने से अधिदैवत प्रक्रिया में आत्मा (=सूर्य, 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च') अध्यात्म में नारायण और अधियज्ञ में चषाल (=यूप के ऊपर का ढकन) को कहता है।

इससे स्पष्ट है कि वेदके समस्त देवतावाचक पद विविध प्रक्रियाओं में विविध अर्थोंको कहने में पूर्ण समर्थ हैं। अतः वेद के प्रत्येक देवतावाचक पद का अध्यात्मप्रक्रियापरक अर्थ हो सकता है।

इतना ही नहीं, वेदके अनेक मन्त्रों में अग्नि आदि के कतिपय ऐसे विशिष्ट विशेषण प्रयुक्त हैं, जो अभिधावृत्ति से केवल अध्यात्म प्रक्रिया में ही उपपन्न हो सकते हैं। यथा—'कविमग्निमुपस्तुहि' (ऋ० १।१२।७) में अग्नि का कवि विशेषण। भौतिक अग्नि का कवि विशेषण विना लक्षणा के कभी उपपन्न नहीं हो सकता।

अनेक अध्यात्मदर्शनविहीन पण्डितम्मन्य आशंका करते हैं कि भला अन्त्येष्टि में विनियुक्त मन्त्रोंका आध्यात्मिक अर्थ कैसे होगा? ओषधि आदि भौतिक पदार्थों के वाचक पद अध्यात्मप्रक्रिया में कैसे संगत होंगे?

इस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इस प्रकार की शंका करने वाले महानुभावों को अध्यात्म शब्द का वास्तविक अर्थ ही ज्ञात नहीं है। ये लोग अध्यात्म का अर्थ केवल ब्रह्म का प्रतिपादन मात्र समझ बैठे हैं। हम प्रारम्भ में ही कह चुके हैं कि अध्यात्म शब्द का अर्थ है शरीर, जीव और ईश्वर सम्बन्धी विज्ञान का प्रतिपादन। इस दृष्टि से विचार करने पर अन्त्येष्टि मन्त्रों में शरीर और जीव का साक्षात् वर्णन होने से उनका प्रतिपाद्य विषय तो अध्यात्म के अतिरिक्त कुछ और है ही नहीं। संसार के समस्त पदार्थ जीवों के सुख के लिये रचे गये हैं, अतः सांसारिक पदार्थों के गुणवर्णन द्वारा उनके सदुपयोग का विधान करना भी आत्मकल्याणार्थ ही है। औषधियों का तो शरीर के साथ साक्षात् सम्बन्ध है, उनके सेवन द्वारा शरीर नीरोग होता है और उस नैरोग्य से आत्मा को सुख मिलता है। इसलिये ओषधि विज्ञान के मन्त्रों का शरीर से साक्षात् और आत्मा के साथ परम्परा से सम्बन्ध विस्पष्ट है। इस प्रकार वेद के सभी मन्त्रों का शरीर, आत्मा और परमात्मा के साथ साक्षात् या परम्परा से सम्बन्ध होने से उनका आध्यात्मिक अर्थ होने में कोई कठिनाई ही नहीं है। **कठिनाई तो तब होती है, जब अध्यात्मिक का अर्थ केवल परमात्मा सम्बन्धी समझा जाये।**

इतना ही नहीं, जिन मन्त्रों का यज्ञ में विनियोग है, उनका तो आध्यात्मिक अर्थ अवश्य स्वीकार करना होगा, क्योंकि प्राचीन वैदिक परम्परा के अनुसार यज्ञ ब्रह्माण्ड और पिण्ड के प्रतिनिधि हैं, यह हम पूर्व कह चुके हैं। शतपथ-

कार याज्ञवल्क्य ने भी दर्शपौर्णमासकी आध्यात्मिक व्याख्या करके अन्त में लिखा है—

तदाहुः—आत्मयाजी श्रेया३न् देवयाजी३ इति। आत्मयाजीति ब्रूयात्। स ह वा आत्मयाजी यो वेदेदं मेऽङ्गेनाङ्गं संस्क्रियते, इदं मेऽनेनाङ्गमुपधीयत इति। शत० ११।२।६।१३॥

अर्थात् देवयाजी और आत्मयाजी में आत्मयाजी श्रेष्ठ है। आत्मयाजी उसको कहते हैं जो यज्ञ करते हुए जानता है कि यज्ञ की किस क्रिया से मेरे शरीर का कौन सा अङ्ग संस्कृत हो रहा है या वृद्धिको प्राप्त हो रहा है।

इससे स्पष्ट है कि यज्ञों में विनियुक्त तत्तन्मन्त्रों का सम्बन्ध अध्यात्म प्रक्रिया में शरीर के विभिन्न अङ्गों के साथ है। इसलिये जब यज्ञक्रिया का ही अध्यात्म में पर्यवसान हो जाता है, तब यज्ञों में विनियुक्त मन्त्रों के अर्थों का भी अध्यात्म-प्रक्रिया में पर्यवसान होना अवश्यंभावी है।

इस विवेचना से यह भी व्यक्त है कि **जो लोग वेद को केवल यज्ञ कर्म के लिये ही मानते हैं[१], वे वस्तुतः यज्ञ कर्म के भी मर्म को नहीं जानते।**

आध्यात्मिक प्रक्रिया में परिवर्तन

जिस प्रकार याज्ञिक प्रक्रिया में उत्तरोत्तर अनेक परिवर्तन हुए, उसी प्रकार वेदार्थ की आध्यात्मिक प्रक्रिया में भी महान् परिवर्तन हुए।

सबसे प्रथम अध्यात्म प्रक्रिया से शरीर विज्ञान का सम्बन्ध छूटा, तदनन्तर आत्मविज्ञान का नाता टूटा और अध्यात्म का अर्थ केवल परमात्मचिन्तन रह गया। इस परिवर्तन का प्रभाव उपनिषदों में भी स्पष्ट लक्षित होता है। ईश कठ आदि उपनिषदों में शरीर, आत्मा और परमात्मा तीनों का वर्णन मिलता है, मुण्डक में आत्मा और परमात्मा दो का ही उल्लेख है और माण्डूक्य में अकेले ब्रह्म का ही प्रतिपादन है[२]। हमारे विचार में यही एकाङ्गी ब्रह्मविचार उत्तरकाल में अद्वैतवाद के रूप परिणत हो गया।

इस परिवर्तन का प्रभाव वेदार्थ की आध्यात्मिक प्रक्रिया पर भी पड़ा। उत्तरकाल में 'मन्त्र के अर्थ में येनकेन प्रकारेण ईश्वर का सम्बन्ध जोड़ देना' ही आध्यात्मिक अर्थ समझा जाने लगा। मध्वाचार्य तथा उनके सम्प्रदाय के विद्वानों के किये वेदभाष्य इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इसी प्रकार अनेक आर्यसामाजिक विद्वान् भी मन्त्रार्थ के प्रारम्भ में 'हे ईश्वर' ऐसा सम्बोधनमात्र करके अपने को वेद के आध्यात्मिक भाष्यकार समझते हैं।

वेद का कर्मकाण्ड के साथ विशेष संबन्ध हो जाने से अथवा 'वेद केवल यज्ञों के लिये प्रवृत्त हुए हैं' ऐसी मिथ्या धारण बन जाने से शनैः शनैः वेद का अध्यात्मविद्या से सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया, और जैसे याज्ञिक प्रक्रिया में शनैः शनैः वेद की मुख्यता नष्ट होकर ब्राह्मणग्रन्थ मुख्य बन गये, उसी प्रकार अध्यात्म विद्या का वेद से सम्बन्ध छूट जाने पर उपनिषदें ही अध्यात्म विद्या के मुख्य ग्रन्थ बन गये। इसी कारण उत्तरकाल (द्वापर के चतुर्थ चरण) में वेद की अपरा विद्या में गणना होने लगी[३]। तदनन्तर उपनिषदों की प्रधानता से लाभ उठाकर उनके नाम पर अनेक ऐसी पुस्तकों की रचना हुई, जिनमें अध्यात्म विद्या का लेश भी नहीं है। रामतापिनी गोपालतापिनी आदि शतशः नामधारी उपनिषदें इसी प्रकार की हैं।

जिस प्रकार याज्ञिक प्रक्रिया में शनैः शनैः वेद मन्त्र अनर्थक=अर्थ रहित बन गये उसी प्रकार आध्यात्मिक प्रक्रिया में भी मन्त्र अनर्थक समझे जाने लगे। इसी कारण मन्त्र के जपमात्र को प्रधानता प्राप्त हुई अर्थात् मन्त्र का अभिप्राय समझो या मत समझो, केवल उसके जप से ही कल्याण हो जायगा, ऐसी भावना का उदय हुआ। उत्तरकाल में वैदिक मन्त्रों का जप भी छूट गया, उनका स्थान 'राधाकृष्णाभ्यां नमः' 'सीतारामाभ्यां नमः' आदि साम्प्रदायिक मन्त्राभासों तथा राम कृष्ण आदि नामों के जप ने ले लिया। अन्त में नाम जप का माहात्म्य इतना बढ़ा कि उलटे नाम के जप से भी कल्याण समझा जाने लगा। लोक में प्रसिद्धि है कि वाल्मीकि राम राम के स्थान पर मरा मरा जप कर

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ ९ की टिप्पणी ६ में सायण का लेख। इस विषय में जो सायण का मत है, वही सभी याज्ञिकों का है।

२. यदि इस उपनिषद् में ब्रह्म शब्द से जीव का भी ग्रहण माना जाये तो इसमें जीव और ईश्वर दोनों का निर्देश होगा।

३. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते। मुण्डक १।१।५॥

ही प्रभु के भक्त बन गये[1]। इसी प्रकार वेद के 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया[2]' आदि मन्त्रों में जीव और ब्रह्म के जिस नाम साम्यरूपी समान ख्यानत्व[3] का उल्लेख हुआ है, उसका भाव न समझकर वल्लभ आदि सम्प्रदायों की गोपी कृष्ण आदि की रासलीला का उदय हुआ।

इस प्रकार अत्यन्त उच्चकोटि के अध्यात्म विचार का परिवर्तन होते होते उसका कितना निकृष्ट स्वरूप बन गया यह इस विवेचन से स्पष्ट है।

५—ऐतिहासिक-प्रक्रियानुसारी वेदार्थ

जिस समय वेदार्थ की आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियाओं का लोप हो रहा था, उस समय वेदार्थ की एक नई प्रक्रिया का उदय हुआ। उसका नाम है—ऐतिहासिक प्रक्रिया।

ऐतिहासिक प्रक्रिया की उत्पत्ति का कारण

जब रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि के कारण मनुष्यों की बुद्धि मन्द होने लगी, वे वेद के आधिदैविक तथा आध्यात्मिक गूढ़ तत्त्व साक्षात् समझने में असमर्थ होने लगे, तब ऋषियों ने मन्त्रगत गूढ़ तत्त्वों को समझाने के लिये मन्त्रगत पदोंके आश्रय से तद्विषयक आख्यायिकाओं की कल्पना की। यास्क ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन निरुक्त में दो बार किया है—

ऋषेदृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता ।१०।१०,४६।

अर्थात्—अर्थ के साक्षात् कर्ता ऋषि की आख्यान से संयुक्त करके [कहने की] प्रीति होती है।

इस प्रकार इस ऐतिहासिक प्रक्रिया के उद्भव का मूल आधार आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियाएँ ही हैं।

इतिहास शब्द का अर्थ

इतिहास शब्द का मूल अर्थ है—**इति + ह + आस**[१] अर्थात् ऐसा ही था। इस प्रकार इतिहास शब्द भूतकाल की सत्य घटना के वर्णन का वाचक है, परन्तु गौणी वृत्ति से इस इतिहास शब्द का व्यवहार उन कल्पनिक आख्यायिकाओं के लिए भी होता है, जिनका वर्णन भूतकालिक घटनाओंके रूप में किया जाता है। इस प्रकार की काल्पनिक कहानियों के लिए इतिहास शब्द का प्रयोग रामायण महाभारत आदि ग्रन्थों में बहुत पाया जाता है। इसलिए किसी भी ग्रन्थ में इतिहास पद के उपलब्ध होने मात्र से उसे भूतकाल की वास्तविक घटना नहीं समझ लेना चाहिये। सबसे प्रथम यह विचारना चाहिये कि यह इतिहास शब्द वहाँ पर मुख्यार्थ में प्रयुक्त हुआ है या गौणार्थ में ?

वेद और इतिहास

समस्त प्राचीन संस्कृत वाङ्मय चाहे वह वैदिक हो, या दार्शनिक, वैज्ञानिक हो या लौकिक, सभी एक स्वर से वेद को अपौरुषेय अथवा महाभूत[4] निःश्वसित कहते हैं, परन्तु इन्हीं ग्रन्थों में वेदार्थ से सम्बन्धित इतिहास आख्यान आदि पदों का असकृत् निर्देश उपलब्ध होता है। निरुक्त में कई स्थानों पर मन्त्रार्थ दर्शाने से पूर्व **"तत्रैतिहासमाचक्षते"** का प्रयोग मिलता है[5]। भगवान् वेद व्यासने तो स्पष्ट घोषणा ही कर दी है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् । आदिपर्व १।२६७॥

इसलिए यह विचारणीय हो जाता है कि वेदार्थ विषयक 'इतिहास' पद का क्या अर्थ है ? क्या वस्तुतः वेद में ऐतिहासिक व्यक्तियों, नगरों, नदियों, पर्वतों का वर्णन है या एतद्विषयक इतिहास पद गौणी वृत्ति से मन्त्र के किन्हीं पदों के आधार पर कल्पित आख्यायिकाओं के वाचक हैं ! इस बात का निर्णय करने के लिए हमें इन्हीं ग्रन्थों को टटोलना होगा और उन्हीं के आधार पर इस 'इतिहास' पद के वास्तविक अभिप्राय को समझने की चेष्टा करनी होगी।

यास्कीय निरुक्त में 'इतिहास' और "आख्यान' दो पदों का एकार्थ में प्रयोग उपलब्ध होता है। निरुक्त

---

१. उलटे नाम जपत जग जाना, बाल्मीकि भये ब्रह्मसमाना।   २. ऋग्वेद १।१६४।२०॥

३. सखा शब्द का अर्थ है समान-ख्यान (निरुक्त ७।३०) अर्थात् समान नाम वाले। आत्मा, ब्रह्म, यक्ष, हंस आदि अनेक नाम जीव और ईश्वर दोनों के समान हैं। इसलिये जीव से ईश्वर को पृथक् करने के लिये इन्हीं में परम बृहद्, महत्, ख, व्योमन् आदि विशेषण लगाये जाते हैं।

४. महाभूत शब्द ज्येष्ठ ब्रह्म परमात्मा का वाचक है। एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो……। शत० १४।५।४।१०॥

५. यथा २।१०॥२।२४॥ इत्यादि।

के अनुशीलन से विदित होता है कि उसमें प्रयुक्त 'इतिहास' और 'आख्यान' पद वास्तविक (सत्य) इतिहास के वाचक नहीं हैं।

निरुक्तकार यास्क ने 'त्वष्टा दुहित्रे' (ऋ० १०।१७।१) मन्त्र के उपक्रम में 'तत्रेतिहासमाचक्षते' लिखकर मन्त्रार्थ का उपसंहार "महतो जाया विवस्वतो ननाश, रात्रिरादित्यस्य, आदित्योदये अन्तर्धीयते" पदों से की है। इससे स्पष्ट है कि यास्क द्वारा यहाँ प्रयुक्त इतिहास पद किसी वास्तविक ऐतिहासिक घटना का वाचक नहीं है, अपितु मन्त्रप्रतिपादित अहोरात्र विज्ञान को सुगमता से समझाने के लिए मन्त्रार्थ से पूर्व लिखी गई काल्पनिक आख्यायिका का वाचक है। अन्यथा उपक्रम और उपसंहार में एक वाक्यता नहीं बन सकती।

यास्क ने मन्त्रार्थ से पूर्व इस प्रकार के काल्पनिक इतिहास या आख्यायिका के लिखने का प्रयोजन दो स्थानों पर इस प्रकार स्पष्ट किया है—

ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता।
निरुक्त १०।१०,४५॥

अर्थात् मन्त्रार्थ द्रष्टा ऋषिकी स्वदृष्ट मन्त्रार्थ को समझाने के लिए उसे कथा से संयुक्त करके कहने में प्रीति होती है।

मनुष्य का स्वभाव है कि जब उसे किसी विषय का अपूर्व ज्ञान होता है, तब उसे दूसरों पर प्रकट करने के लिए उसके मन में एक प्रकार की व्याकुलता उत्पन्न होती है। जब तक वह उस अपूर्वज्ञान को दूसरों पर प्रकट नहीं कर देता, तब तक उसके मन को शान्ति नहीं होती। इसी मनुष्य स्वभाव के अनुसार जब किसी ऋषि को किसी मन्त्र के अपूर्व अर्थ का प्रतिभान होता है, तब वह उसे प्रकट करने के लिए आतुर हो जाता है। यतः वह विज्ञान अतिशय गूढ़ होता है, उसे सीधे साधे शब्दों में कहने मात्र से वह साधारण व्यक्ति को हृदयङ्गम नहीं हो सकता, अतः उसे हृदयङ्गम कराने के लिए उसमें नमक मिर्च मसाला लगाकर अर्थात् आख्यायिका का रूप देकर कहने की इच्छा होती है। इसी भाव से भगवान् वेदव्यास ने भी 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' में 'समुपबृंहयेत्' पद का निर्देश किया है। अर्थात् वेद के गूढ़ अभिप्राय को हृदयङ्गम कराने के लिए वेदार्थानुकूल किसी आख्यायिका का आश्रयण लेना ही होगा और उस वेदार्थानुकूल आख्यायिका की कल्पना बिना पुरातन इतिहास जाने नहीं हो सकती और उसके बिना मन्त्रार्थ में रोचकता तथा सरलता नहीं आ सकती। अतः वेदार्थ का बोध कराने के लिये पुरातन इतिहास का जानना अत्यन्त आवश्यक है।

वेद में अनेक ऐसे वर्णन उपलब्ध होते हैं, जो आपाततः ऐतिहासिक प्रतीत होते हैं, परन्तु वास्तव में वह ऐतिहसिक रूप के नहीं होते। यथा वेद का इन्द्र वृत्रयुद्ध।

यास्क ने निरुक्त २।१६ में इन्द्र वृत्र युद्ध प्रतिपादक एक मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—

अपां ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते, तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति।

अर्थात् मेघस्थ जल के साथ विद्युत् का सम्बन्ध होने से वृष्टि होती है, वेद में एतद्विषयक जो इन्द्र वृत्र युद्ध का वर्णन है वह उपमारूप से है। अर्थात् इन्द्रनाम विद्युत् का है और वृत्र नाम मेघ का। विद्युत् का मेघ पर प्रहार होने से वह छिन्न भिन्न होता है और उससे वृष्टि होती है।

इसके आगे यास्क ने इसी मत को स्पष्ट करने के लिये लिखा है—

अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च। विवृद्धया शरीरस्य स्रोतांसि निवारयाञ्चकार। तस्मिन् हते प्रसस्यन्दिर आपः। तदभिवादिन्येषर्भवति दासपत्नीरहिगोपा······।

अर्थात् इन्द्र वृत्र का वर्णन मन्त्रों और ब्राह्मणों में अहि = मेघ के समान उपलब्ध होता है। अहि (मेघ) शरीर को बढ़ाकर जल के स्रोतों को रोक देता है। उसके हत होने = नष्ट होने पर जल गिर पड़ते हैं। इसी अर्थ को कहने वाली अगली 'दासपत्नीरहिगोपाः ऋचा होती है।

इस प्रसङ्ग से स्पष्ट है कि यास्क के मत में मन्त्र प्रतिपादित इन्द्रवृत्र युद्ध वस्तुतः ऐतिहासिक घटना नहीं है, अपि तु वह इस जगत् में सदा होने वाली वर्षा की घटना है। युद्ध का वर्णन तो औपमिक है।

मन्त्रों में इतिहास की कल्पना का एक उदाहरण

मन्त्रों में किसी प्रकार का इतिहास न होते हुए भी उत्तर कालीन आचार्यों ने प्ररोचना के लिये किस प्रकार इतिहास की कल्पना की, इसका हम एक विस्पष्ट उदाहरण नीचे देते हैं—

ऋग्वेद ८-३-२१ का मन्त्रांश है—"पाकस्थामा कौरयाणः"। इसमें 'कौरयाण' पद विवेचनीय है। निघण्टु के प्रवक्ता (चाहे वह यास्क हो, चाहे अन्य प्राचीन व्यक्ति) ने इस मन्त्र के 'कौरयाण' पद को अनवगत संस्कार

(जिसके प्रकृतिप्रत्यय विभाग का सरलता से ज्ञान न हो) समझकर निघण्टु के चतुर्थ अध्याय में पढ़ा है।[1] यास्क ने इस अनवगतसंस्कार पद का अर्थ "कृतयान" किया है[2] अर्थात् जिसने शत्रु के ऊपर चढ़ाई की हो ऐसा व्यक्ति। इस से स्पष्ट है कि निरुक्तकार यास्क 'कौरयाण' का अर्थ 'कुरयाणस्यापत्यम्' नहीं समझता। यदि निघण्टु का प्रवक्ता यास्क से भिन्न कोई व्यक्ति हो तो मानना होगा कि वह भी 'कौरयाण' पद का अर्थ 'कुरयाणस्यापत्यम्' नहीं समझता था, क्योंकि 'कुरयाणस्यापत्यम्' अर्थ मानने पर 'कौरयाण' पद अन्य औपगव आदि अपत्य प्रत्ययान्तों के समान विस्पष्ट अपत्यार्थ का बोधक होगा, अनवगत संस्कार नहीं रहेगा। अस्तु, निघण्टु और निरुक्त के पाठ से यह स्पष्ट है कि इन दोनों के प्रवक्ता 'कौरयाण' पद का ऐतिहासिक व्यक्ति परक 'कुरयाणस्यापत्यम्' अर्थ नहीं समझते थे, दूसरे शब्दों में इनके प्रवचन काल तक इस पद का ऐतिहासिक अर्थ नहीं किया जाता था।

निरुक्त के पश्चाद्वर्ती आचार्य शौनक ने बृहद्देवता (६।४५) में लिखा है—

पाकस्थाम्नस्तु भोजस्य चतुर्भिर्यमिति स्तुतम्।

अर्थात् ऋ० मं० ८, सू० ३, मं० २१-२४ तक का देवता 'पाकस्थामा भोज' की दानस्तुति है।

आचार्य शौनक ने 'पाकस्थामा' पद को तो व्यक्ति परक बना दिया, परन्तु 'कौरयाण' पद को नहीं छुआ। सम्भव है, उसे यास्क का 'कृतयान' अर्थ स्मरण रहा हो। अतएव उसे 'कौरयाण' पद में अपत्यार्थ की गन्ध नहीं आई। यदि वह 'कौरयाण' पद को अपत्यप्रत्ययान्त समझता तो वह स्पष्ट लिखता कि इन मन्त्रों में 'कुरयाण के पुत्र पाकस्थामा के दिये दान का वर्णन' है।

शौनक की इतिहास कल्पना में रही सही न्यूनता की पूर्ति शौनक के शिष्य[3] कात्यायन ने कर दी। उसने स्पष्ट लिख दिया—

अन्त्याः कौरयाणस्य पाकस्थाम्नो दानस्तुतिः। ऋक्सर्वा०।

अर्थात्—अन्त्य की चार ऋचाएं कुरयाण के पुत्र पाकस्थामा नाम के राजा की दानस्तुतियां हैं।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि निघण्टु के प्रवक्ता तथा निरुक्त के प्रवक्ता यास्क के मत में 'पाकस्थामा कौरयाणः' मन्त्र में कोई पद व्यक्तिविशेष का वाचक नहीं है; परन्तु यास्क से उत्तरवर्ती बृहद्देवताकार शौनक ने 'पाकस्थामा' पद को व्यक्तिविशेष वाचक बना दिया। उससे भी उत्तरवर्ती कात्यायन ने पाकस्थामा के साथ साथ 'कौरयाण' पद को भी अपत्यार्थवाचक बनाकर पूरा ऐतिहासिक प्रासाद खड़ा कर दिया और उसके पश्चात् यह समझा जाने लगा कि इन मन्त्रों में किसी कुरयाण के पुत्र पाकस्थामा नाम के राजा के दिये दान की स्तुति मेधातिथि काण्व ने की है।

कौरयाण पद वस्तुतः अपत्यप्रत्ययान्त नहीं है

निघण्टु में 'कौरयाण' पद के साथ 'तौरयाण' 'अह्रयाण' और 'हरयाण' ये तीन अनवगत संस्कारपद और पढ़े हैं। चारों में 'यान' उत्तरपद समान है और चारों में बहुव्रीहि समास का पूर्वपदप्रकृतिस्वर विद्यमान है[4]। इसलिये यास्क ने इन चारों का अर्थ क्रमशः 'कृतयान' 'तूर्णयान' 'अह्रीतयान' और 'हरमाणयान' किया है। यदि कथंचित् कौरयाण पद में अपत्यार्थ की कल्पना की भी जाये तो भी वह ठीक नहीं होगी, क्योंकि कौरयाण के सर्वथा समान 'तौरयाण' पद जिस मन्त्र[5] में आया है, उसमें अपत्यार्थ (तुरयाण का पुत्र) कथंचित् भी उपपन्न नहीं हो सकता। कौरयाण और तौरयाण पद समस्त उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में एक ही स्थान पर प्रयुक्त हैं, अतः स्थान भेद से भी अर्थ भेद की कल्पना उपपन्न नहीं हो सकती।

१. यान्यनेकार्थान्येकशब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामोऽनवगतसंस्कारांश्च निगमान्। निरुक्त ४।१॥

२. कौरयाणः कृतयानः—पाकस्थामा कौरयाण इत्यपि निगमो भवति। निरुक्त ५।१५॥

३. ननु एको हि शौनकाचार्यशिष्यो भगवान् कात्यायनः, कथं बहुवचनम्। ऋक्सर्वा० टीका, षड्गुरुशिष्य।

४. निरुक्त ५।१५ में 'तौरयाण' पद का जो निगम उद्धृत किया है, उसमें तौरयाण पद पूर्वपद अन्तोदात्त उपलब्ध होता है। परन्तु निघण्टु में 'तौरयाण' पद पूर्वपदाद्युदात्त पढ़ा है और दुर्गटीका के पाठ में सर्वत्र पूर्वपद आद्युदात्त ही मिलता है। अतः निश्चय ही मूल निरुक्त के मन्त्र पाठ के स्वर में अशुद्धि हुई है। कौरयाण पद भी पूर्वपदाद्युदात्त है। इससे भी तौरयाण पद के पूर्वपदाद्युदात्त स्वर की पुष्टि होती है।

५. जातं यत्त्वा परि देवा अभूषन्महे भराय पुरुहूत विश्वे। स तौरयाण उप याहि यज्ञं मरुद्भिरिन्द्र सखिभिः सजोषाः। दुर्गटीका ५।१५ में उद्धृत।

इससे व्यक्त है कि 'कौरयाण' पद का मूल अर्थ 'कुरयाण का अपत्य' नहीं है। यह अर्थ पुरोचना के लिये पीछे से कल्पित किया गया है।[1]

इस प्रकार यह विस्पष्ट है कि प्रारम्भिक काल में वेदार्थ की ऐतिहासिक प्रक्रिया के मूल में किन्हीं वास्तविक ऐतिहासिक घटनाओं का सम्बन्ध नहीं समझा जाता था। शनैः शनैः इस ऐतिहासिक प्रक्रिया में भी परिवर्तन हुआ। वेदार्थ को समझाने के लिये उद्भावित सर्वथा काल्पनिक आख्यानों में लौकिक ऐतिह्य का विशेष रूप से सम्मिश्रण होने लगा। उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक ऐसे निर्देश मिलते हैं, जिनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस काल में अनेक आचार्य वेद का अर्थ लौकिक ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर करने लग गये थे। निरुक्त में 'तत्रेतिहासमाचक्षते' का जिस ढंग से प्रयोग उपलब्ध होता है उससे भी यही जाना जाता है कि निरुक्त के प्रवचन काल में यह काल्पनिक वाद सत्य ऐतिहासिकवाद का रूप ग्रहण कर चुका था। जैमिनि ने विशेषरूप से और यास्क ने सामान्य रूप से इस सत्य ऐतिहासिक वाद का खण्डन किया है। देखो पूर्वमीमांसा १।१।२७-३२ तथा निरुक्त २।१६॥

शतपथ ब्राह्मण में भी एक स्थान पर वेद के देवासुर संग्राम को लौकिक ऐतिहासिक देवासुर संग्राम से भिन्न कहा है। यथा—

तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यते इतिहासे त्वत्। शतपथ ११।१।६।९॥

अर्थात् ऊपर प्रतियाक्त्रि देवासुर संग्राम वह नहीं है जो अन्वाख्यान में कहा जाता है या इतिहास में कहा जाता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में कुछ ऐसे भी प्राचीन संकेत उपलब्ध होते हैं, जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि वेद के जो अनेक शब्द उत्तर काल में व्यक्तिविशेष के वाचक समझे जाने लगे, वे प्राचीन काल में व्यक्ति विशेष के वाचक नहीं समझे जाते थे। यथा—

१—यजुः १३।५४ में श्रूयमाण 'वसिष्ठ' पद के व्याख्यान में—प्राणो वै वसिष्ठः। शत० ८।१।१।६॥

२—यजुः १३।५६ में श्रूयमाण 'जमदग्नि' पद के व्याख्यान में—चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेनेन जगत् पश्यति अथो मनुते। शत० ८।१।२।३॥

३—यजुः १३।५७ में श्रूयमाण 'विश्वामित्र' पद के व्याख्यान में—'श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिर्यदेनेन सर्वतः शृणोति, यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति। शत० ८।१।२।३॥

अर्थात् यजुर्वेद के इन मन्त्रोंमें प्रयुक्त वसिष्ठ जमदग्नि और विश्वामित्र पद क्रमशः प्राण, चक्षु और श्रोत्र के वाचक हैं[2]।

यद्यपि यास्क, जैमिनि और याज्ञवल्क्यने वेद में सत्य इतिहास मानने का प्रतिवाद किया है, तथापि उत्तर काल में यह वाद बहुत प्रबल हो गया। अत एव जिस प्रकार याज्ञिक प्रक्रिया से पराभूत हो कर दुर्ग स्कन्द आदि नैरुक्त आचार्यों ने निरुक्तान्तर्गत मन्त्रों की व्याख्या याज्ञिक प्रक्रियानुसार की, उसी प्रकार इस इतिहासवाद से पराभूत होकर इन्हीं निरुक्तटीकाकारों ने सिद्धान्तरूप से ऐतिह्यवाद का खण्डन करते हुए भी मन्त्रों की व्याख्या इस इतिहासवाद को मान कर ही की है। यही दशा याज्ञिकप्रक्रियानुगामी स्कन्द, वेङ्कट माधव, भट्टभास्कर और सायणादि भाष्यकारों की हुई। उन्होंने भी पदे पदे याज्ञिक प्रक्रिया का उल्लङ्घन करके मन्त्रों की ऐतिहासिक व्याख्या की है।

जिस प्रकार वेदार्थ की अन्य प्रक्रियाओं की अन्त में दुर्गति हुई, उसी प्रकार इस ऐतिहासिक प्रक्रिया की भी महती दुर्गति हुई। मन्त्रों में शाब्दिक समानता को लेकर वेद में विभिन्न व्यक्तियों के चरित्रों की खोज होने लगी, और नाम मात्र की समानता से अनेक काल्पनिक इतिहास लिखे गये। इस प्रकार की ऐतिहासिक प्रक्रिया के उत्कृष्ट उदाहरण 'मन्त्ररामायण' और 'मन्त्रभागवत' ग्रन्थ हैं।

आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों को पौरुषेय ग्रन्थ मानकर उनसे प्राचीन भौगोलिक तथा मानवीय इतिहास खोजने का बड़ा भारी प्रयत्न किया है। हम समझते हैं कि प्राचीन कालमें वेद में वास्तविक इतिहास मानने वाले व्यक्तियों ने भी इस विषय में इतना महान् प्रयास नहीं किया था, क्योंकि उस समय का सत्य इतिहासवाद भी प्राचीन काल्पनिक इतिहासवाद का एक परिवर्तित रूप था। यदि उस समय सत्य इतिहासवाद की इतनी प्रबलता होती, जितनी कि आज है, तो वेद के अपौरुषेय वाद के खण्डन में बौद्ध और जैन विद्वान् इस वाद का विशेषरूप से आश्रयण करते, परन्तु बौद्ध और जैन दार्शनिक ग्रन्थों में इस

---

१. इस दानस्तुति पर तथा एतत् सदृश अन्य कतिपय दानस्तुतियों पर हमने 'ऋग्वेद की कतिपय दानस्तुतियों पर विचार' नामक निबन्धमें किया है। देखो वेदवाणी वर्ष अंक ५। यह पृथक् भी पुस्तक रूप में छप चुका है।

२. तुलना करो—बृहदारण्यक २।२।४ में इन्द्रियों लिये प्रयुक्त गोतम भरद्वाज आदि पदों के साथ।

वाद का उपयोग उसी साधारण रूप में किया है, जिस रूप में जैमिनि ने इस का पूर्वपक्ष में निर्देश किया है।

ऐतिहासिक पदों का सामान्य अर्थ करने की शैली

वेद की समस्त शाखाएं वेद के रूपान्तर हैं। वर्तमान में उपलब्ध शाखाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि इन शाखाओं के रूपान्तरीकरण में दो प्रधान कारण थे। एक–अप्रसिद्धार्थ पद के स्थान में प्रसिद्धार्थ पद का निर्देश करके अर्थ बोध कराना और दूसरा–याज्ञिक कर्मकाण्ड के लिये सुविधा उत्पन्न करना।

इन शाखाओं के विभिन्न मन्त्रों की तुलना से यह भी स्पष्ट विदित होता है कि कई स्थानों में उनमें मन्त्र के सामान्यार्थवाचक शब्द के स्थान में याज्ञिक प्रक्रिया आदि की सुगमता के लिये व्यक्ति, जाति, देश विशेष वाचक शब्द भी रख दिये जाते हैं। हम अपने भाव को प्रकट करने के लिये एक मन्त्र के उपलब्ध शाखाओं के पाठान्तर नीचे दर्शाते हैं—

एष वोऽमी राजा	माध्यन्दिन
एष वः कुरवो राजैष पञ्चाला राजा	काण्व
एष वो भरता राजा	तैत्तिरीय
एष ते जनते राजा	काठक
एष ते जनते राजा	मैत्रा०

इन पाठों को आपाततः देखने से ही स्पष्ट विदित होता है कि माध्यन्दिनी संहिता का पाठ प्राचीन है। यहां सर्वनाम 'अमी' शब्द का व्यवहार किया गया है, जिसका किसी जाति या देश विशेष से सम्बन्ध नहीं है। अन्य संहिताओं में 'कुरवः' 'भरताः' 'पंचालाः' आदि जाति विशेष वाचक पद प्रयुक्त हुए हैं। इन शब्दों से स्पष्ट है कि जिस शाखा का जिस देश में विशेष प्रचार था, उस उस देश के निवासियों को सम्बोधन करके अभिषिक्त राजाका निर्देश किया है। काठक और मैत्रायणी में यद्यपि जातिविशेष का वाचक पद नहीं है, तथापि 'जनते' का निर्देश यह स्पष्ट करता है कि जिन देशों में वास्तविक रूपमें कोई व्यक्ति विशेष आजन्म राजा नहीं होता था अर्थात् प्रजातन्त्रराज्य[1] था, वहां 'जनता' को ही संबोधन किया गया है।

ऐसे विशिष्ट पदों का अर्थ भी प्राचीन आचार्य सामान्य ही किया करते थे अर्थात् जैसे 'एष वोऽमी राजा' मन्त्र का राज्याभिषेक में उच्चारण करते हुए 'एष' पद के स्थान में अभिषिक्त राजविशेष के नाम का उच्चारण किया जाता है (युधिष्ठिरो वो भरता राजा) और वह नाम विशेष मन्त्र का अवयव नहीं बनता। ऐसे ही 'अमी' सर्वनामपद के स्थान में प्रयुक्त 'कुरवः' 'भरताः' 'पंचालाः' आदि पद भी उस मन्त्र के अवयव नहीं हैं। राजा के नाम प्रति राज्याभिषेक में बदलते रहते हैं, परन्तु जातियां चिरस्थायी होती हैं, अतः शाखाकारों ने राजनाम-स्थानापन्न 'एष'-सर्वनाम पद ही रहने दिया, परन्तु 'अमी' के स्थान में 'पञ्चालाः' आदि जातिवाचक पद रख दिये। इस से स्पष्ट है कि जैसे 'युधिष्ठिरो वो भरता राजा' में युधिष्ठिर व्यक्ति विशेष का मन्त्रार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही 'कुरवः, भरताः, पञ्चालाः' पदों का भी मन्त्रार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः या तो इन पदों को उपलक्षणार्थ मानकर इनका सामान्य अर्थ किया जाये या इनके धात्वर्थ को लेकर इन्हें सामान्यार्थ का वाचक समझा जावे, ये दो ही मार्ग हो सकते हैं। भारतीय आचार्यों ने शाखाओं में रूपान्तरित हुए मन्त्रों के ऐतिहासिक जाति, व्यक्ति और देश परक नामों का धात्वर्थ के आधार पर सामान्यार्थ कल्पना का मार्ग स्वीकार है। इसीलिये भारतीय आचार्य मन्त्रों में पाठान्तर होने पर भी अर्थभेद स्वीकार नहीं करते। भगवान् पतञ्जलि ने स्पष्ट लिखा है—

यद्यप्यर्थो नित्यो या त्वसौ वर्णानुपूर्वी सानित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकं, कालापकं, मौदकं, पैप्पलादकम् इति।

अर्थात् छन्दों = शाखाओं में वर्णानुपूर्वी के भेद होने पर भी अर्थ नित्य है अर्थात् एक है, अर्थ में भेद नहीं है। केवल वर्णानुपूर्वी का भेद होने से ही उनमें मौदकं पैप्पलादकम् आदि व्यवहार होता।

इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन वायुपुराण में इस प्रकार किया है—

सर्वास्ता हि चतुष्पादा सर्वाश्चैकार्थवाचिकाः।
पाठान्तरे पृथक् भूता वेदशाखा यथा तथा ॥६१।५९॥

अर्थात् उस चतुष्पाद् एक पुराण की ही प्रवचन भेद से अनेक संहिताएं बनीं, उनमें पाठान्तरों के अतिरिक्त कोई भेद नहीं था, सब का एक ही अर्थ था, जैसे की वेद की शाखाओं में पाठान्तर होने पर भी अर्थ एक ही होता है।

इसी विषय में आगे पुनः कहा है—

---

[1] काठक और मैत्रायणी के पाठ से यह स्पष्ट है कि भारत में अति प्राचीन काल में प्रजातन्त्र राज्य स्थापित हो चुके थे। प्रजातन्त्रराज्य पाश्चात्य देशों की ही देन है यह समझना सर्वथा मिथ्या है।

सम्पादकीय

भारत का रेलवे विभाग उन्नति की ओर

(१) हमें यह लिखते हुए हर्ष हो रहा है कि जब से भारत स्वतन्त्र हुआ है तब से भारत-राज्य के अन्य विभागों में उन्नति हुई या नहीं, या कहाँ तक हुई है, यह एक विवेचनीय विषय है। पर भारत के रेलवे-विभाग में बराबर उन्नति हो रही है। ऐसा प्रत्येक भारतीय अनुभव करने लगा है। यह हम अपने निजी अनुभव के आधार पर भी कह सकते हैं, जो यात्रा करने में सुनाई देता है। हमें स्मरण है कि अगस्त सन् १९४७ के पश्चात् लगभग १ वर्ष तक रेलवे-विभाग में आपा धापी और भ्रष्टाचार की भरमार रही। स्टेशन पर टिकट लेने में भी प्रायः यात्री से कुछ न कुछ पैसे घूँस के रूप में लिये जाते थे, जिसकी कोई सुनवाई न थी। कोई गाड़ी ठीक समय से न चलती थी न पहुँचती थी। सर्वत्र अराजकता सी प्रतीत होती थी। यह सब चक्र तो अब समाप्त हो चुका है। यात्रा में प्रत्येक यात्री अब यह अनुभव करता हुआ दृष्टिगोचर होता है कि रेलवे के डिब्बे ठीक ढंग से बनाये जा रहे हैं। नये डिब्बों में शौचालय बड़े ही सुखदायक, शुद्ध, पानी का प्रबन्ध, प्रत्येक आवश्यक सुविधासहित लगाये गये हैं। पहले जैसे भद्दे और गन्दे नहीं हैं। इतना ही नहीं, बड़े स्टेशनों पर तो उनके धोने और कम्पार्टमेण्ट (कमरे) की सफाई देहली से मुगलसराय तक या मुगलसराय से अमृतसर या बम्बई या कलकत्ता जाने में अनेक स्टेशनों पर होती है। लम्बी यात्रा करने वालों को ऊपर सीट बना देने से पर्याप्त सुविधा मिल रही है। पंखे पर्याप्त लग रहे हैं। पानी का प्रबन्ध भी पहले से अच्छा है दूसरे शब्दों में तीसरी श्रेणी के यात्रियों को पूरी सुविधा देने का भरसक प्रयत्न किया जा रहा है। जनता-गाड़ियों से बड़ा लाभ हुआ है। यह थोड़ी बात नहीं है। ऐसा प्रतीत होने लगा है कि अंग्रेजों ने तो तीसरे दर्जे के यात्रियों को न जाने मनुष्य भी समझा था या नहीं। पर अब रेल में यात्रा करने से प्रत्येक यात्री पर प्रायः यह प्रभाव पड़ता है कि भारत सचमुच स्वतन्त्र हो गया। नहीं तो अंगरेज तो समझते थे कि ये भारतवासी हमारे भारत छोड़ देने पर थोड़े ही दिनों में हरएक विभाग में कार्य ठीक न चला सकेंगे और असफल होकर अन्त में हाथ जोड़कर हमें इंगलैण्ड से वापिस बुलाने के लिये बाधित होंगे। प्रभुकृपा से हमारे देशवासियों ने ऐसा तो नहीं होने दिया, यह बड़े ही हर्ष और गर्व की बात है। भ्रष्टाचार जहाँ तक सब विभागों में न्यूनाधिक चल रहा है, वहाँ रेलवे-विभाग में भी कहीं कम कहीं अधिक भ्रष्टाचार अवश्य चल रहा है, जिस पर हम पुनः कभी प्रकाश डालेंगे। इस समय हमें इतना ही कहना है कि हमारा रेलवे-विभाग उन्नति की ओर अवश्य जा रहा है। हमें अपने रेलवे अधिकारियों के प्रति कृतज्ञता, प्रेम और सहयोग की सद्भावना अवश्य रखनी चाहिये। जिससे यात्री और रेलवे-कर्मचारी अपने को एक ही परिवार के अंग अनुभव करने लगें।

२—सरकारी वस्तु की रक्षा करना प्रत्येक भारतीय का कर्त्तव्य है।

हमें रेलवे की प्रत्येक वस्तु चाहे वह कितनी भी छोटी से छोटी हो, उसके लिये 'यह हमारी है, यदि यह बिगड़ेगी तो मेरे देश की इतनी हानि हो जायेगी' यह भावना मन में लानी चाहिये। मैं इसके लिये उदाहरण (चाहे वे बहुत ही छोटे हैं) उपस्थित करता हूँ। मैं बनारस मोतीझील में रहता हूँ, प्रातःकाल भ्रमणार्थ मण्डुआडीह स्टेशन के पास से लाइन के साथ-साथ प्रतिदिन जाता हूँ। एक दिन बाहर वाला सिगनल झुका हुआ था, जो आने वाली गाड़ी के लिये झुका करता है। इधर स्टेशन से आने वाली गाड़ी का भी समय हो रहा था। मेरे मन में भय उत्पन्न हुआ कि कहीं स्टेशन से गाड़ी चल पड़े और उधर सामने से गाड़ी आ जाय तो भिड़न्त न हो जाय। मैं भागा और स्टेशन पर पहुँचकर सूचना दी कि बाहर से गाड़ी आ रही है। तब स्टेशनवालों ने बताया कि नहीं वह सिगनल ही खराब है वह खींचने पर भी ढीला होकर लटक जाता है। मैंने उन्हें ठीक करने को कहा, जो बहुत दिनों में ठीक हो पाया।

एक और उदाहरण लिखता हूँ। उसी मण्डुआडीह स्टेशन के इलाहाबाद की ओर पहले फाटक के पास

एक इञ्जिन छोटी लाइन का शण्टिंग करता रहता है। मैं प्रायः प्रातःकाल देखता हूँ कि इञ्जिन वाला जान-बूझ कर राख निकालते समय पत्थर का अच्छा कोयला भी बहुत-सा गिरा देता है। उठानेवाले टोकरी लिये तैयार रहते हैं, बुझाकर उठा ले जाते हैं। उसमें बहुत-सा कोयला काम योग्य होता है उसे चुन लिया जाता है। यहाँ तक तो कोई बुरी बात नहीं। फालतू को काम में ले लेना चाहिये। पर इञ्जिनवाले अच्छा कोयला भी गिरा देते हैं। सुना जाता है कि इस गिराने में ठेकेदारों से इनका कुछ बँधा रहता है। क्या यह रेलवे की चोरी नहीं? ऐसी चोरी पकड़ना बड़ा ही कठिन काम है।

तीसरा एक उदाहरण और लीजिये। मालगाड़ी या सवारीगाड़ी की बुकिंग यदि मंगल बृहस्पति शनि को होती है तो कहने को तो ये दिन बता दिये जाते हैं या लिखकर भी दे दिये जाते हैं। पर चुपके से यह भी कह दिया जाता है कि जरूरी नहीं कि वह माल ले ही लिया जावे। यह घूंस लेने का एक प्रकार है, घूस दे तो माल बुक हो। हमारा यह कहना है कि जब तक जनता में यह भावना जागृत न होगी कि सरकार हम भारतीयों की है, यह रेल विभाग हमारा है, इसका हानिलाभ हमारा हानि लाभ है। उससे हमें उतना ही दुःख वा हर्ष होना चाहिये, जितना हमें घर के किसी हानि लाभ से होता है। तभी हम सच्चे भारतीय कहला सकते हैं। जनता के हार्दिक सहयोग के बिना रेलवे विभाग व और अन्य सब विभागों में भ्रष्टाचार दूर नहीं हो सकता, जिसके हुए बिना देश कभी पनप नहीं सकता। सरकारी कोई भी बड़ी से बड़ी वा छोटी से छोटी वस्तु बिगड़ रही हो, उसकी सूचना प्रत्येक भारतीय को तत्तद् अधिकारी को दे देनी चाहिये। और स्वयं भी जहाँ तक हो सके उसे बिगड़ने न दे। स्वतन्त्र भारत के प्रत्येक निवासी का यह परम कर्त्तव्य है।

हमारा विचार है कि यदि देश के सब पत्र-पत्रिकायें इस बात को एक साथ उठायें और एक दो पृष्ठ लोगों की सच्ची शिकायतों के छापने में नियत कर दें और अधिकारियों तक वे सूचनायें भेजी जावें, अधिकारी उनकी खोज करें, यदि यह क्रम चलाया जावे, तो देश से भ्रष्टाचार बहुत कम हो सकता है।

हम अपने भारतीय रेलवे विभाग के सत्कार्यों का वर्णन कर रहे थे, उसी पर आते हैं। यह ठीक है कि रेलवे विभाग ने किराया तीन गुना कर दिया हुआ है इससे आमदनी बहुत हो रही है। यात्रियों की सुविधा में बहुत सा रुपया खर्च भी किया जा रहा है, पर जब तक किराया वर्तमान से कम से कम आधा नहीं हो जाता, हम रेलवे विभाग की पूरी सफलता नहीं मान सकते।

इन बातों का वेदवाणी के साथ क्या सम्बन्ध है सो सुनिये—वेद कहता है कि "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्" यजुर्वेद अ० ४० मं० १। इसका अर्थ है— "(ऐ मानव) प्रभु ने जो कुछ तुम्हें दिया है तू उसीका भोग कर, किसी दूसरे के धन की इच्छा भी मत कर।" "संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।" (ऋग्वेद) ऐ मनुष्यो! तुम मिलकर चलो, मिलकर वार्त्तालाप करो, तुम्हारे मन समान दिशा में प्रवृत्त हों।

संसार, देश और जाति की उन्नति के ये परम साधन हैं, इसलिये हमारा विचार है कि वेदवाणी में हम इन प्रसङ्गों को भी समय-समय पर उठावेंगे। जिससे हमारे व्यावहारिक तथा नैतिक जीवन में शुद्धता सत्यता पवित्रता आवे। और हमारा भारत संसार में एक आदर्श देश बन सके। इस भावना से हम ये विचार उपस्थित कर रहे हैं॥

३—कुम्भ मेला पर रेलवे विभाग का प्रशंसनीय कार्य

जहाँ हमें अपने भारत के सब विभागों की समय समय पर सच्ची और हित बुद्धि से समालोचना करते रहना चाहिए, वहाँ हमें अपने देश के सभी विभागों के सत्कार्यों की प्रशंसा और कृतज्ञता भी अवश्य प्रकाशित करते रहना चाहिए।

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यानां च व्यतिक्रमः।
त्रीणि तत्र प्रवर्त्तन्ते दुर्भिक्षं मरणं भयम्॥

अर्थात् जो सत्कार के योग्य नहीं होते, उनका जहाँ पर सत्कार होता है, और जो सत्कार के योग्य होते हैं, उनका सत्कार नहीं होता, वहाँ तीन बातें होती हैं या तो अकाल पड़ता है, या उस देश वा जाति में भयानक स्थिति उत्पन्न हो जाती है, या उसका सर्वनाश हो जाता है॥

हमें जहाँ तक ज्ञात हुआ है बनारस से इलाहाबाद जानेवाली गाड़ियों की व्यवस्था कुम्भ मेले पर बहुत प्रशंसनीय रही। रेलगाड़ियाँ २४ घण्टे में १४ ही चल सकती थीं, पर २४ घण्टे में २४ गाड़ियाँ चलानी पड़ीं, जो एक प्रकार से बड़े भारी खतरे का काम था, और बहुत ही कठिन काम था। डी० टी० ऐस वा रेलवे के सबके सब कार्यकर्त्ता कन्ट्रोलर-स्टेशनमास्टर-ड्राइवर-गार्ड-प्वाइन्टमैन आदि सभी ने अपनी सच्ची भारतीय भावना का पूरा-पूरा परिचय दिया। हमें विश्वस्तसूत्रों से पता लगा है कि ये लोग २४ घण्टे में केवल दो घण्टे सोते थे। डी० टी० ऐस तथा उनके साथी कन्ट्रोलर आदि ७२ घण्टे एक साथ काम करते रहे और बीच में प्रति दिन जैसे-तैसे समय निकाल कर दो घण्टे विश्राम करते थे और वह भी कुर्सी पर ही। प्रभु की कृपा से रेलवे दुर्घटना इस अवसर पर कोई नहीं हुई, यह अच्छा हुआ॥

बनारस डिवीजन के रेलवे विभाग के अधिकारी और कार्यकर्त्ता जनता के अत्यन्त धन्यवाद के पात्र हैं, हमें यही कहना पड़ता है। हम समझते हैं कि अन्य डिवीजनों के रेलवे कर्मचारियों ने भी ऐसा ही कार्य किया होगा, जितना हमारी समझ में आया, उतना हम लिख रहे हैं।

यह भी विदित रहे कि २६ जनवरी तक लौटने वाली पूरी गाड़ी में कभी-कभी एक आदमी ही बैठा होता था, अर्थात् गाड़ी पूरी की पूरी खाली वापिस लानी पड़ती थी॥

यदि सरकार पहिले से ही टीके के विषय में छूट देती, तो बहुत अच्छा होता। यात्रियों से रेलवे टैक्स भी नहीं लेना चाहिए था। पर इसमें रेलवे अधिकारियों का कोई दोष नहीं कहा जा सकता, सरकार की आज्ञा से उन्हें वसूल करना पड़ा।

जनता के अनुशासन-अभाव के कई उदाहरण उपस्थित किए जा सकते हैं, यहाँ केवल एक ही उदाहरण लिखना पर्याप्त होगा। छोटी लाइन (एन. ई. आर) के सरयू नदी के पुल पर जब गाड़ियाँ पहुँचती थीं, तो लोग छतों पर असीम संख्या में बैठे होते थे, पुल ऊँचा न होने से छत पर बैठे व्यक्तियों के आहत होने तथा गिर जाने का भारी खतरा रहता था। कई बार तो कई-कई घण्टे गाड़ी लेट करनी पड़ी कि लोग छत पर से हट जायें, या फिर छत पर लेट जावें तो गाड़ी पुल पार कर सके। इसमें पुलिस द्वारा बहुत कठोरता करने पर भी लोग नहीं हटते थे। ऐसा न मानने पर पुल से टकरा कर कुछ एक व्यक्तियों की मृत्यु भी हो गई। जिसमें पुलिस या रेलवे अधिकारियों का दोष नहीं कहा जा सकता। जनता को ऐसी अवस्था में पूरा सहयोग देना चाहिए था।

भारत को छोड़कर संसार के अन्य देशों में ऐसे अनुशासन-भंग के उदाहरण मिलने कठिन ही होंगे। जनता में ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है, जिससे स्वतन्त्रभारत का गौरव बढ़े। प्रत्येक भारतीय को अनुशासन का पालन करना चाहिए, तभी देश उन्नत हो सकता है। बिना पूछे स्वेच्छा से डिब्बों में भर जाते थे, अन्त में रेलवे अधिकारियों को वे डिब्बे ही काट देने पड़ते थे॥

अन्ततो गत्वा यही कहना पड़ता है कि रेलवे का प्रबन्ध कुम्भ के मेले में पर्याप्त अच्छा रहा। कहीं-कहीं कोई त्रुटियां भी हुई होंगी, जो इतने बड़े ५० लाख के मेले में हो जाना अनिवार्य ही है। उनमें भी हम यदि गहराई से देखें तो हमें रेलवे अधिकारियों की विवशता अधिक मात्रा में ज्ञात होगी॥

हम रेलवे के सभी कार्यकर्त्ताओं को उनके कर्त्तव्य पालन करने और कष्ट उठाने के लिए धन्यवाद देते हैं। इसका श्रेय सब रेलवे अधिकारियों का होते हुए भी मुख्यतया केन्द्रीय सरकार के रेलवे मन्त्री श्री माननीय लालबहादुर शास्त्रीजी का कहा जा सकता है। अन्य विभागों का ज्ञान हमें न होने से नहीं लिख सकते, जिन्हें ज्ञान हो वे लिखें॥

प्रयाग कुम्भ की दुर्घटना—
नेता अपनी भूल स्वीकार करें

यह बात अब सूर्य के प्रकाश की भाँति स्पष्ट हो चुकी है कि प्रयाग में सैकड़ों व्यक्तियों के प्राण, भीड़ की अव्यवस्था के कारण गये, उसमें मुख्य कारण पुलिसवालों का घटनास्थल पर न रहना, गड्ढों का पूरा न किया जाना, दलदल की ओर ध्यान न जाना, बान्ध का ठीक न करना, उस पर फिसलन दूर करने के लिये पराली या रेतादि का प्रबन्ध न करना, एव

छोड़ेवाली पुलिस द्वारा जनता को भय उत्पन्न करना और नागों के जुलूस के लिये पृथक् मार्ग का पहले ही निश्चय न करना, आने जाने की पृथक व्यवस्था न रखना आदि २ कारण कहे जा सकते हैं। यह बात निर्विवाद है कि पुलिस बड़े लोगों को रक्षा, सेवा और प्रबन्ध में लगी थी। जनता को सम्भालने के लिये सिपाही बहुत ही कम मात्रा में थे। यह सब हमारे प्रबन्ध की त्रुटियाँ थी। अधिकारियों ने मेले का प्रबन्ध तो अपनी ओर से बहुत-कुछ किया था यह तो मानना ही पड़ेगा। भूल यह रही कि जनता की ओर ध्यान न देकर, बड़े लोगों को ही प्रसन्न करने की प्रधानता उक्त समय पर रही।

यहाँ हम यह भी कह देना चाहते हैं कि चाय-पार्टी और रात्रि के नाच-रङ्ग आदि का कार्यक्रम स्थगित न करना एक बहुत भारी भूल थी, जिसके कारण जनता के हृदय में अपने बड़े-बड़े नेताओं के श्रद्धा और आस्था के प्रति धक्का अवश्य लगा। मानवता के नाते ऐसे अवसर पर व्यावहारिक दृष्टि से भी नेताओं से ऐसी भूल की आशा न थी। ऐसी भूल को अवश्य स्वीकार करना उचित है। जनता की भावना को जो ठेस लगी है, उसे शान्त अवश्य करना चाहिये। जो लोग राजनैतिक दृष्टि से ऐसी घटनाओं से अनुचित लाभ उठाना चाहते हैं उसे भी हम ठीक नहीं समझते। ऐसी भूल स्वीकार करने से ही ये बातें दूर होकर जनता जनार्दन की आत्मा शान्त हो सकती है, केवल अनुचित लाभ वाली बात कह कर भी जनता का हृदय नहीं जीता जा सकता। पार्टी करनेवाले तथा उसमें सम्मिलित होने वाले नेताओं का (चाहे वे कितने भी बड़े से बड़े हों या छोटे से छोटे) कर्तव्य है कि वह जनता की भावना को समझें और अपनी भूल स्वीकार कर उदारता का परिचय दें। हमें पता नहीं लगा या देरी से पता लगा इत्यादि असत्य समाधानों से जनता में उत्पन्न हुए क्षोभ को चिरस्थायी न बनावें, यही हमारा नम्र निवेदन हैं। महात्मा गांधी के अनुयायी होने के नाते हमें सत्य का अपलाप नहीं करना चाहिये। 'धियो यो नः प्रचोदयात्', हमारी बुद्धियाँ सुमार्ग में चलें, तभी देश का कल्याण है॥

५. रेलवे अन्नपूर्णा (भोजन) उपहार-गृह

एक अत्यन्त उपयोगी और प्रशंसनीय संस्था

पिछले दिनों ८ दिसम्बर को हमें लखनऊ जाने पर एकदम ध्यान आया कि आज रेलवे-स्टेशन पर प्लेटफार्म नं० १ मध्यम श्रेणी प्रतीक्षालय-गृह के पास चलाये जाने वाले (भोजनालय वा हौटलरूप) अन्नपूर्णा-भोजन-उपहार-गृह में जाकर वहाँ की व्यवस्था देखना चाहिये। भीतर जाने पर पता लगा कि सबसे कम दाम का भोजन ॥≈) थाली मिलता है। इसमें एक दाल और दो शाक होते हैं। रोटी (चपाती) सुन्दर अच्छी बनी हुई होती है। विशेष मक्खन, शाक, रायता आदि कोई लेना चाहे तो उसके दाम पृथक् देने पड़ते हैं। चौदह आने में एक थाली अच्छा भोजन मिल जाता है। अधिक विशेष वस्तु ले तो अधिक दाम देना पड़ता है।

यहाँ के कार्यकर्ताओं का व्यवहार हमने बहुत ही अच्छा शिष्टतापूर्ण और प्रेमपूर्वक पाया। खाते हुए व्यक्ति का पूरा ध्यान रखा जाता है। एक कार्यकर्ता त्रिलोकीसिंह का व्यवहार विशेष सन्तोषजनक था।

जहाँ तक हमें ज्ञात हुआ कि मांस-मदिरा का वहाँपर व्यवहार नहीं था। यह अच्छी बात थी। हम समझते हैं बड़े २ रेलवे-स्टेशनों पर भी ऐसी व्यवस्था होना आवश्यक और लाभकर है। यदि सामिश और निरामिश भोजन का प्रबन्ध सर्वथा पृथक् (एक ही पाकशाला में नहीं अपितु पृथक्-पृथक्) गाड़ी के साथ भी हो, तो बहुत लाभ और जनता को आराम मिल सकता है। आजकल जिस जगह मांस बनता है उसीमें निरामिश (वेजीटेरियन) भोजन बनने के कारण प्रायः निरामिशप्रेमी लोग नहीं खाते। इसपर विशेष ध्यान देने की आवश्यता है।

एक अत्यावश्यक सुझाव

इस अन्नपूर्णा के सञ्चालकों के समक्ष हम एक आवश्यक सुझाव उपस्थित करते हैं। वह यह है कि वहाँ केवल वनस्पति तेल (जिसे घृत का नाम दिया जा रहा है) का ही प्रयोग होता है, यह ठीक नहीं। जब डेयरी का शुद्ध मक्खन इन स्थानों में जितना चाहे मिल सकता है और दिया जाता है, तब ऐसा क्यों नहीं करते कि इस मक्खन अर्थात् शुद्ध घी से भी शाक और दाल तैय्यार हों? जो वनस्पति नहीं

खाना चाहते उन्हें शुद्ध मक्खन घी की बनी शाक भाजी मिल सकती है। उसका दाम कुछ अधिक बढ़ाया जा सकता है। ऐसे हो जाने पर प्रत्येक भारतवासी ऐसे उत्तम भोजनालयों से बहुत लाभ और आराम पा सकता है। इस थोड़े से परिवर्त्तन से जनता को बहुत आराम मिल सकता है, सञ्चालकों को इस बात पर ध्यान देना चाहिये।

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
पाणिनि महाविद्यालय
मोतीझील, बनारस।

आदर्श-विवाह की ओर प्रशंसनीय पग

इसमें सन्देह नहीं, कहना सदा सुगम होता है, करना बहुत कठिन है। आदर्श-विवाह की परिभाषा भी बहुत ऊँची है। जब वर और वधू किसी गुरुकुल (गुरु के कुल में, न कि मास्टरों के कुल में) में ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों का यथावत् पालन करते हुए पूर्ण विद्वान् या कम से कम एक वेद का सांगोपांग अध्ययन कर स्वयंवर विधि से परस्पर परीक्षा कर कराके गुण-कर्म-स्वभावानुसार विवाह करें, करावें वही आदर्श-विवाह कहा जा सकता है। पुनरपि ऐसे गये-बीते युग में भी जो सज्जन आर्यसामाज—ऋषि दयानन्द या आर्य संस्कृति की भावना से प्रेरित होकर जाति-पाति के मिथ्या बन्धनों, दहेज की घृणित प्रथा को छोड़कर सच्चे हृदय से बिना दिखावे के अपने पुत्र-पुत्रियों के विवाह-संस्कार ठीक आयु में करते कराते हैं, वैदिक रीति इसीका नाम है। १२ वर्ष की लड़की और १८ वर्ष के लड़के का, या दहेज लेकर या देकर १६ और २४ वर्ष की आयु के कन्या और वर का विवाह-संस्कार करना या कराना भी वैदिक रीति नहीं कहा या माना जा सकता। अपितु निश्चय अवैदिक ही कहा जायगा। पुत्र-पुत्री की हृदय से स्वीकृति का न होना भी उस संस्कार की अवैदिकता का ही द्योतक है।

अमृतसर में एक अनुकरणीय विवाह

गतवर्ष अमृतसर में एक आदर्श कहा जा सकने वाला विवाह हमारी उपस्थिति में हुआ। जो अमृतसर निवासी महाशय लालचन्द्रजी की पुत्री और फीरोजपुर (पंजाब) निवासी श्री० म० सहन्तरामजी आर्य के पुत्र का हुआ। जिसमें वर पक्ष ने केवल १) रुपया लिया। कोई देना-लेना परस्पर निश्चित नहीं हुआ, और नहीं दिया-लिया गया। हाँ, पीछे से पुत्री के आने-जाने पर अपनी शक्ति के अनुसार माता-पिता ने जो चाहा सो दिया। मैंने संस्कार के समय स्पष्ट कह दिया था कि "देखेंगे आप दोनों के आर्यत्व की ठीक-ठीक परीक्षा तो १ वर्ष पीछे होगी। बड़े ही हर्ष और सन्तोष का विषय है कि उक्त वधू और वर दोनों ही अत्यन्त प्रसन्न और सफल गृहस्थ सिद्ध हुए। इतना ही नहीं, अपितु सास और ससुर भी बहू से अत्यन्त प्रसन्न हैं, बहू उनसे अत्यन्त प्रसन्न है। सचमुच वह अपने सास श्वसुर की सच्ची पुत्री सिद्ध हुई, और वे माता पिता सिद्ध हुए। बच्ची से पता लेने पर वह अत्यन्त सन्तुष्ट और सुखी विदित हुई। ऐसे संस्कार या सम्बन्धों को मैं वैदिक रीति या आर्य संस्कार या आर्य सम्बन्ध समझता हूँ॥

देहली में आदर्श विवाह की ओर प्रशंसनीय पग

गत जनवरी मास (१९५४) में देहली जवाहर नगर-प्रयाग निकेतन के श्री गणेशदासजी, जो यज्ञ में निष्ठावान् हैं, जिनके यहाँ अपने गुरुदेव पूज्य महात्मा प्रभु आश्रित जी महाराज के आदेश और प्रेरणा से प्रतिदिन प्रातः यज्ञ और सत्संग निरन्तर वर्षों से चल रहा है। पिछले दिनों उन म० गणेशदासजी की पुत्री तथा पुत्र दोनों का विवाह-संस्कार था। १३ जनवरी ५४ को प्रयाग निकेतन जवाहर नगर में पुत्री का संस्कार हुआ, जिसमें कन्या पक्ष की ओर से दहेज में १) रुपया, हवन का सामान और कुछ पुस्तकें दी गईं। वर के पिता ला० योधाराम और इनके परिवार की ओर से कुछ भी माँग नहीं की गई। आज तक वर पक्षवालों ने सबके पूछने पर यही कहा कि हमें बहुत कुछ दिया गया है, हम दिखाने को तैयार नहीं हैं। उधर ला० गणेशदासजी के पुत्र का विवाह १४ जनवरी को करनाल में था। बारात में ५ ही व्यक्ति थे, ६ नहीं थे। गायत्री मन्त्र का उच्चारण करते हुए जब यह बारात करनाल में कन्या गृहपर पहुँची, वह दृश्य भी देखने योग्य था। ला० गणेशदासजी ने कन्या पक्षवालों से १) रु० ही लिया। जब १५ जनवरी को बरात के सभी सदस्य प्रातः ५ बजे तक स्नान-सन्ध्यादि से निवृत्त होकर आर्य-समाज मन्दिर करनाल में सत्संग यज्ञादि करने के लिये ५॥ बजे प्रातः पहुँचे और वहाँ दैनिक सत्संग

में सम्मिलित होकर यज्ञ-भजन-स्वाध्यायादि का अपना दैनिक कार्यक्रम पूरा किया और इन पंक्तियों के लेखक तथा श्री० पू० आनन्द स्वामी जी महाराज का उपदेश हुआ, उस समय यह सब दृश्य एक सच्चे आर्य-परिवार की सात्विक धर्म-भावना का द्योतक था और देखने योग्य था।

मैं तो समझता था कि ला० गणेशदास सम्भव है अपने आदर्श पर दृढ़ न रह सकें। प्रत्येक परिचित यही आशा करता था कि हमें विवाह पर निमन्त्रित कर बारात के साथ ले जायेंगे। कुछ सज्जनों को उनका बारात में न ले जाना बुरा भी लगा, पर ला० गणेश दास जी अपने आदर्श पर अडिग रहे। इनकी पुत्री वेदकुमारी और जामाता शिवप्रताप दोनों योग्य यज्ञप्रेमी और आर्य हैं। उधर इनका पुत्र हरिदेव और उसकी धर्मपत्नी दोनों ही सुशील यज्ञप्रेमी और उत्साही आर्य हैं।

यह भी विदित रहे कि कई सज्जनों का विचार था कि छिपाकर बहुत कुछ धन आदि दिया गया होगा, सो भी नहीं। इस क्षण (१० मार्च तक) ला० गणेशदासजी ने न तो अपनी पुत्री को दहेज के रूप में कुछ दिया है, न ही अपने पुत्र के ससुराल से दहेज रूप में कुछ लिया है। लोग चकित होरहे हैं।

यह ज्ञात रहे कि वह अपनी पुत्री को देंगे अवश्य, जो अपनी इच्छानुसार, बिना किसीको दिखाये देंगे। आदर्श यही रखना चाहते हैं कि वर पक्षवाले माँगें नहीं। वह जो सामर्थ्यानुसार देना चाहें बिना दिखाये ही स्वयं दे दें।

हम समझते हैं दोनों पक्षवाले पूज्य महात्मा प्रभु-आश्रितजी वैदिक भक्ति साधन आश्रम रोहतक के पुराने शिष्य हैं। यह सब उक्त महात्माजी के आशीर्वाद और शुभ प्रेरणाओं का ही फल है, अतः यह श्रेय प्रथमतः उनको है। पीछे इन दोनों परिवारों को भी है। यह देख कर मुझे और भी प्रसन्नता हुई कि यह सब काम दिखावे के रूप में न होकर गम्भीरता और सद्भावना और सरलता को लिये हुए था, जिसकी कम से कम मुझे इतनी आशा नहीं थी। ऐसे अवसर पर लोग अपनी विवेक-बुद्धि खो बैठते हैं और लोकलज्जा या जनापवाद के प्रवाह में बहते हुए अपनी असमर्थता प्रकट करने लगते हैं। कोई-कोई ही बच पाता है।

हम वर और वधू दोनों को हार्दिक आशीर्वाद देते हैं, दोनों परिवारों को बधाई देते हैं और आशा करते हैं कि प्रत्येक आर्य-परिवार वर और कन्या के गुण-कर्म-स्वभावानुसार उचित आयु में (१६ तथा २५) बिना किसी भी प्रकार के दहेज के वर-कन्या की प्रसन्नतापूर्वक स्वीकृति या अनुमति से सम्बन्ध करेंगे और कन्या पक्ष अपनी शक्ति के अनुसार जो उचित समझें दे दें। वर पक्ष किसी वस्तु की माँग किसी समय न करे। वर्तमान समय में ऐसे विवाह ही आदर्श-विवाह कहे जा सकते हैं। पाठकों को विदित रहे कि दोनों ही संस्कार वैदिक भक्ति साधनाश्रम-रोहतक की यज्ञवेदी पर अपने गुरुदेव के सामने बस १) रुपया दे लेकर होने थे ऐसा होता तो और भी अच्छा होता, पर एक विशेष मृत्यु घटना के कारण ऐसा न हो सका। आर्यसमाज की यज्ञ वेदीपर इस प्रकार संस्कार होने लगेंतो आर्य परिवारों की बहुत सी कठिनाई दूर हो सकती है।

आर्य समाज के प्रत्येक सभासद् का कर्त्तव्य है कि वह अपने पुत्र के विवाह पर कभी किसी रूप में कुछ भी माँग न करे, न मुख से माँगे और न प्रकारान्तर से कन्या पक्षवालों को बाधित करे यह भी अनार्यता है। हाँ, माता-पिता अपनी शक्ति भर अपनी प्यारी पुत्री को सब कुछ दें, जो वह दे सकते हैं। इसी का नाम आर्य विवाह या वैदिक रीति है॥

'वर घर की खोज' पुस्तक बाँटी गई।

ला० गणेशदासजी की पुत्री वेदकुमारी के शुभ विवाह पर उपर्युक्त पुस्तक सामान्य जनता में तथा वर पक्ष वालों में विशेषतया बाँटी गई। हमने यह पुस्तक सारी पढ़ी। यह पुस्तक आर्य परिवारों के लिये विशेष शिक्षादायक है। आर्यत्व नाम में नहीं, अपितु कर्म में है। आर्य व्यवहार करनेवाला अपने को सनातन धर्मी कहने वाला भी आर्य है, अपने को आर्य कहने वाला, मानवता के व्यवहार से शून्य आर्य नहीं माना जा सकता। और एक आर्य पुत्री पौराणिक वातावरण में जाकर किस प्रकार अपने सच्चे व्यवहार और योग्यता से सारे परिवार की कायापलट करती है, इसको सरल परन्तु रोचक शब्दों में इस पुस्तक में दर्शाया गया है। हर आर्य परिवार को यह पुस्तक पढ़नी चाहिये। मिलने का पता—ला० गणेशदास—३१ यू.बी. प्रयाग-निकेतन जवाहर नगर—देहली।

देहली में पाणिनि महाविद्यालय की स्थापना।

बिना रटे ६ मास में संस्कृत सीखें।

१८ अप्रैल १९५४ रविवार तदनुसार ६ वैशाख सं० २०११ से प्रारम्भ ।

हर्ष का विषय है कि अब १८ अप्रैल १९५४ तदनुसार ६ वैशाख सं० २०११ रविवार से, बहुत दिनों की प्रतीक्षा के पश्चात् देहली में बिना रटे ६ मास में संस्कृत सिखाने के लिये पाणिनि महाविद्यालय का प्रारम्भ हो रहा है। इसकी श्रेणियाँ दो स्थानों में प्रातः सायं कम से कम दो-दो घण्टे चलेंगी। पढ़नेवालों को निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना होगा।

१—सबसे पहिले विद्यालय का प्रवेश-पत्र भर कर आचार्य की स्वीकृति प्राप्त करनी होगी, और उन्हें अपनी योग्यतादि सम्बन्धी परिचय मिल कर भी देना होगा।

२—अपनी प्रतिदिन अनुपस्थिति की सूचना पहिले देनी होगी।

३—घर पर प्रतिदिन नियत समय इस कार्य में लगाना होगा।

४—अष्टाध्यायी मूल (निर्णयसागर बम्बई की छपी, तदभावे कहीं की भी छपी), धातुपाठ-वर्णोच्चारण शिक्षा-सन्धिविषय-नामिक-आख्यातिक (ये सब वैदिक यन्त्रालय अजमेर के छपे), अष्टाध्यायी भाष्य दो भाग अजमेर के छपे—काशिका, संशोधित हितोपदेश या पञ्चतन्त्र ये पुस्तकें धीरे-धीरे प्राप्त करनी होंगी।

५—स्वयं पढ़ने के पश्चात् अपने-अपने केन्द्र वा मुहल्ले में इसी ढंग पर स्वयं संस्कृत पढ़ाने का कार्य अपनी प्रसन्नता से करना होगा। यही इस विद्यालय की दक्षिणा या शुल्क समझा जायगा।

६—समयादि का ठीक पता फोन नं० २३७९४ (प्रातः १० बजे से सायं ७ बजे तक) से लें।

पढ़ाई के स्थान—

(१) सब्जीमण्डी………………….,अथवा आर्यसमाज मन्दिर करौलबाग……………….

(२) आर्यसमाज-हनुमानरोड-नई देहली।

गत अक्टूबर मास के शिविर का परिचय

अखिल भारतवर्षीय संस्कृत साहित्यसम्मेलन (मुख्य कार्यालय सब्जी मण्डी देहली) की ओर से काशी पाणिनि महाविद्यालय के अध्यक्ष द्वारा गत अक्तूबर मास में कुछ दिन तक संस्कृत पठनार्थियों की दो श्रेणियाँ सत्यनारायण मन्दिर (लाल किले के सामने) तथा ३१ यू० बी० प्रयाग निकेतन जवाहर नगर सब्जीमण्डी में चलती रहीं।

इनमें अष्टाध्यायी पद्धति से बिना रटे ८ दिन में कई बी० ए०, एम० ए०, प्रोफेसर, डिप्टीकलक्टर (६२ वर्ष तक के) आदि सज्जनों को ८ दिन में पुरुष और पठति के सब रूप पूरे सूत्रों की सिद्धि सहित बिना रटे समझा कर पढ़ा दिये गये। जब एक वृद्ध सज्जन ने तीसरे ही दिन सूत्रों के अर्थ बिना रटे मूल अष्टाध्यायी हाथ में लेकर स्वयं ही किये, तब एक व्याकरणाचार्य और अन्य कई एक विद्वान् देखकर चकित रह गये।

इसी शैली से पढ़ने वाले सुल्तानपुर पाणिनि विद्यालय के १२ वर्षीय छात्र मीर आसफअली ने जब अखिल भारतवर्षीय संस्कृत साहित्यसम्मेलन की बैठक में भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों से आये संस्कृत के बड़े-बड़े विद्वानों श्री महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्माजी चतुर्वेदी काशी, श्री पं० केदारनाथ जी शर्मा सारस्वत काशी, श्री पं० गोपाल शास्त्री जी दर्शनकेसरी काशी, श्री पं० इन्द्र जी विद्या-वाचस्पति गवर्नर गुरुकुल कांगड़ी, श्री पं० चूड़ामणि जी शास्त्री, श्री पं० सुरेन्द्रनाथ जी शर्मा

शास्त्री एम० ए० देहली यूनिवर्सिटी, श्री पं० नरेन्द्र चौधरी जी एम० ए० देहली यूनिवर्सिटी, श्री सर पं० हरगोविन्द जी मिश्र (अध्यक्ष संस्कृत साहित्यसम्मेलन, कानपुर) श्री पं० प्रभातमिश्र जी व्याकरणाचार्य इलाहाबाद, श्री पं० लीलाधर जी शास्त्री तथा देहली के अन्य योग्य विद्वान् शास्त्री आदि आदि दिग्गज विद्वानों ने जब मीर आसफअली से पूछा "स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ" सूत्र में कितने उदाहरण हैं, तब उसने कहा कि धातु-अङ्ग-कृत-तद्धित-अव्यय-सुप्-तिङ् और पद इन आठ के स्थान में होने वाला आदेश स्थानिवत् होता है, तब उक्त विद्वानों ने पूछा कि अच्छा अंग का आदेश अंगवत् कैसे होता है सो कहो, तब मीर आसफ अली ने 'केन' शब्द की सिद्धि में सारे सूत्र लगाते हुए घटा कर बताया कि अंग का आदेश अंगवत् कैसे हुआ। दूसरी बार अन्यत्र पूछने पर बताया कि 'अल्विधि' में कितने प्रकार का समास है और अल्विधि में स्थानिवत् कैसे नहीं होता।

यह सब देख कर महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा जी ने विद्वानों से कहा—कहिये, "जादू है या नहीं ?" (विदित रहे कि सुल्तानपुर में १२ लड़के मुसलमानों के भी अष्टाध्यायी पढ़ रहे हैं)।

उनकी प्रेरणा तथा देहली-निवासियों की प्रबल इच्छा से देहली में संस्कृत की इस सरल (बिना रटे) पद्धति से संस्कृत सिखाने के लिये—

१८ अप्रैल १९५४, ६ वैशाख २०११ रविवार

के दिन पाणिनि महा विद्यालय का आरम्भ हो रहा है। (जो अनेक बाधाओं के कारण गत दिसम्बर मास में नहीं हो सका था)। जिसके लिये २००) दो सौ रुपये मासिक का व्यय (१ वर्षार्थ) श्री० ला० गणेशदासजी ३१ यू. बी, प्रयाग निकेतन जवाहर नगर देहली ने स्वीकार किया है।

इसकी दो श्रेणियाँ चलेंगी। एक तो नई देहली हनुमान रोड आर्य समाज मन्दिर में, दूसरी श्रेणी सब्जी मण्डी में जिसकी निश्चित सूचना पीछे दी जा सकेगी) चलेगी। देहली निवासी जो महानुभाव संस्कृत पढ़ना चाहें उन्हें नीचे लिखे पते पर पत्र लिख कर प्रवेश-पत्र मंगाकर भरकर भेजना चाहिये। पढ़ाई निःशुल्क होगी।

संस्कृत सिखाने वाले अध्यापकों का कैम्प देहली में

यदि कम से कम २० अध्यापक संस्कृत सिखाने के लिए अष्टाध्यायी की इस सरल पद्धति से सिखाने का ढंग (शिक्षण) सीखना चाहें, उनके लिए १ मास का शिविर देहली में खोला जा रहा है। इसमें देहली या देहली से बाहर के भी विद्वान् आकर लाभ उठा सकते हैं। इसके लिये पाणिनि महाविद्यालय काशी के अध्यक्ष (अष्टाध्यायी की बिना रटे इस सरल पद्धति के प्रवर्तक) स्वयं एक मास देहली में समय देंगे। इसमें वे सज्जन आ सकेंगे जिन्हें संस्कृत का ज्ञान है, चाहे वह किसी भी पद्धति से हो, जो या तो संस्कृत पढ़ाते हों या पढ़ाते रहे हों या आगे संस्कृत पढ़ाने का कार्य करना चाहते हों, वे ही आ सकेंगे। इसके लिए काशी के ही पते से पत्र व्यवहार करना चाहिये। कम से कम २० अध्यापकों के प्रार्थना पत्र आने पर ही इस ट्रेनिंग श्रेणी (शिक्षण शिविर) की तिथियाँ निश्चित हो सकेंगी। इसमें भी पढ़ाई निःशुल्क होगी। भोजन और स्थान का प्रबन्ध आने वालों को स्वयं करना होगा। यदि सब्जी मण्डी के २-३ आर्य समाजो में से किसी ने स्थान का प्रबन्ध कर दिया (जिस के लिये प्रयत्न किया जा रहा है) तो भोजन व्यय का प्रश्न ही रहेगा। सो आने वालों को स्वयं ही करना होगा।

दोनों प्रकार के प्रार्थना-पत्र निम्न पते पर आने चाहियें—

पत्र व्यवहार का पता—

(१) ब्रह्मदत्त जिज्ञासु मोतीझील, बनारस ६

(२) या ८।० रामलाल कपूर एण्ड सन्स-ईसड़क-देहली (फ़ोन नं० २३७९४)

(३) ला. गणेशदास जी, ३१ यू. बी. प्रयाग निकेतन, जवाहर नगर, देहली।

फिर अगले मन्त्र में इन्द्र के कृत्य का उपदेश किया है।

चक्राणासः परीणहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः ।
न हिन्वानासस्तितिरुस्त इन्द्रं परि स्पशो अदधात् सूर्येण ॥ ८ ॥

पदार्थ—जैसे जिनको सूर्य (पर्यदधात्) सब ओर से धारण करता है (ते) वे मेघ के अवयव हलके बादल सूर्यके प्रकाश को (स्पशः) रोकनेवाले (पृथिव्याः) पृथिवी को (परीणहम्) चारों ओरसे घेरे हुए के समान (चक्राणासः) युद्ध करते हुए (हिरण्येन) सुवर्णादिधातुमय (मणिना) आभूषण के तुल्य (सूर्येण) सूर्यके तेजसे (शुम्भमानाः) शोभायमान (हिन्वानासः) सुखों को संपादन करते हुए (इन्द्रम्) सूर्यलोक को (न) नहीं (तितिरुः) उल्लंघन कर सकते हैं अर्थात् सूर्य के प्रकाश को रोकने में समर्थ नहीं हो सकते, वैसे ही अपने धार्मिक न्याय के प्रकाश से शोभा युक्त शूरवीर सेनाध्यक्ष को शत्रुजन जैसे जीतने को समर्थ न हों, वैसा प्रयत्न सब लोग किया करें ॥ ८ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है ॥ जैसे परमेश्वर ने सूर्य के साथ प्रकाश और आकर्षणादि कर्मों का निबन्ध किया है। वैसे ही विद्या, धर्म, न्याय और शूरवीरों की सेनादि सामग्री को प्राप्त हुए पुरुष के साथ इस पृथिवी के राज्य को नियुक्त किया है ॥

फिर अगले मन्त्र में इन्द्र के कृत्य का उपदेश किया है।

परि यदिन्द्र रोदसी उभे अबुभोजीर्महिना विश्वतः सीम् ।
अमन्यमानाँ अभि मन्यमानैर्निर्ब्रह्मभिरधमो दस्युमिन्द्र ॥ ९ ॥

पदार्थ—हे (इन्द्र) ऐश्वर्य का योग करने वाले राजन्! आप को योग्य है कि जैसे सूर्यलोक (महिना) अपनी महिमा से (उभे) दोनों (रोदसी) प्रकाश और भूमि की जीवों के (सीम्) सुख की प्राप्ति के लिये (विश्वतः) सब ओर से (पर्यबोभुजीः) अच्छी प्रकार आकर्षण से पालन करता है और (मन्यमानैः) ज्ञानसंपादक[1] (ब्रह्मभिः) बड़ी आकर्षणादि बलयुक्त किरणों से (दस्युम्) मेघ और (अमन्यमानान्) सूर्यप्रकाश के रोकने वाले मेघ के अवयवों को (निरधमः) चारों ओर से अपने तापरूप अग्नि द्वारा निवारण करता है, वैसे (विश्वतः) सब प्रकार (महिना) अपनी महिमा से प्राणियों के सुख के लिये (उभे) दोनों (रोदसी) प्रकाश और पृथिवी का (पर्यबुभोजीः) भोग कीजिये। इसी प्रकार हे (इन्द्र[2]) राज्य के ऐश्वर्य से युक्त सेनाध्यक्ष शूरवीर पुरुष! आप (मन्यमानैः[2]) विद्या की नम्रता से युक्त हठ दुराग्रह आदि से रहित (ब्रह्मभिः) वेद के जानने वाले विद्वानों से (अमन्यमानान्[2]) अज्ञानी दुराग्रही मनुष्यों को (अभिनिरधमः[2]) अच्छे प्रकार शिक्षित कीजिये ॥ ९ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है ॥ जैसे सूर्यलोक सब पृथिव्यादि मूर्त्तिमान् लोकों का प्रकाश और आकर्षण से धारण और पालन करनेवाला होकर मेघ और रात्रि के अंधकार को निवारण करता है, वैसे ही हे मनुष्यो! आप लोग उत्तम शिक्षित विद्वानों से मूर्खों की मूढ़ता छुड़ा और दुष्ट शत्रुओं को शिक्षा देकर इस राज्य के महत् सुख का भोग नित्य कीजिये ॥ ९ ॥

१. सूर्य की किरणों के द्वारा प्रकाश होता है और उस प्रकाश से घट पट आदि पदार्थों का ज्ञान होता है।
२. मन्त्र में ये पद एक बार ही आये हैं। अलंकार निःसृत अर्थ के स्पष्टीकरणार्थ पुनः पढ़े हैं।

फिर अगले मन्त्र में इन्द्र के कर्मों का उपदेश किया है ।

न ये दिवः पृथिव्या अन्तमापुर्न मायाभिर्धनदां पर्यभूवन् ।
युजं वज्रं वृषभश्चक्र इन्द्रो निर्ज्योतिषा तमसो गा अदुक्षत् ॥१०॥ [२.]

पदार्थ—हे सभा के स्वामिन् ! आप जैसे इस मेघ के (ये) जो हलके बादलादि अवयव (दिवः) सूर्य के प्रकाश और (पृथिव्याः) अन्तरिक्ष की (अन्तम्) मर्यादा को (नापुः) नहीं प्राप्त होते, (मायाभिः) अपनी गर्जना, अन्धकार और बिजली आदि माया से (धनदाम्) पृथिवी का (न पर्यभूवन्) अच्छे प्रकार आच्छादन नहीं कर सकते हैं, उन पर (वृषभः) वृष्टिकर्त्ता (इन्द्रः) छेदन करने हारा सूर्य (युजम्) प्रहार करने योग्य (वज्रम्) किरण समूह को फेंक के (ज्योतिषा) अपने तेज प्रकाश से (तमसः) अन्धेरे को (निश्चक्रे) दूर कर देता है और (गाः) पृथिवी लोकों को वर्षा से (अधुक्षत) पूर्ण कर देता है, वैसे जिस प्रकार शत्रुजन न्याय के प्रकाश और भूमि के राज्य का अन्त न कर पावें; धन देनेवाली राजनीति का नाश न कर सकें, उस प्रकार उन वैरियों को नष्ट कर विद्यादान से अविद्या की निवृत्ति और प्रजा को सुखों से पूर्ण किया कीजिये ॥ १० ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है ॥ मनुष्यों को योग्य है कि सूर्य के तेजरूप स्वभाव और प्रकाश के सदृश कर्म कर और सब शत्रुओं के अन्यायरूप अन्धकार का नाश करके धर्म के राज्य का सेवन करें । क्योंकि छली-कपटी लोगों का राज्य स्थिर कभी नहीं होता । इससे सबको छलादि दोषरहित विद्वान् होके शत्रुओं की माया का निवारण करके राज्य का पालन करने के लिये अवश्य उद्योग करना चाहिये ॥ १० ॥

फिर अगले मन्त्र में इन्द्र के कर्मों का उपदेश किया है ॥

अनु स्वधामक्षरन्नापो अस्यावर्धत मध्य आ नाव्यानाम् ।
सध्रीचीनेन मनसा तमिन्द्र ओजिष्ठेन हन्मनाहन्नभि द्यून् ॥ ११ ॥

पदार्थ—हे सेना के अध्यक्ष ! आप जैसे (अस्य) इस मेघ का शरीर (नाव्यानाम्) नौका से पार होने योग्य नदी, तड़ाग और समुद्रों के जलों के मध्य में (आवर्धत) बढ़ता है । जैसे इस मेघ में स्थित हुए (आपः) जल सूर्य से छिन्न भिन्न होकर (अनुस्वधाम्) अन्न अन्न के प्रति (अक्षरन्) बरसते हैं, और जैसे यह मेघ (सध्रीचीनेन) साथ चलनेवाले (ओजिष्ठेन) अत्यन्त बलयुक्त (हन्मना) हनन करने के साधन (मनसा) मन के सदृश वेग से इस सूर्य के (अभिद्यून्) प्रकाशयुक्त दिनों को (अहन्) अन्धकार से ढाँप लेता और जैसे (इन्द्रः) सूर्य अपने साथ चलने वाले किरणसमूह के बल वा वेग से (तम्) उस मेघ को मारता और अपने प्रकाश युक्त दिनों का प्रकाश करता है, वैसे नदी, तड़ाग और समुद्र के बीच नौका आदि साधन के सहित अपनी सेना को बढ़ा तथा इस युद्ध में प्राण आदि सब इन्द्रियों को अन्नादि पदार्थों से पुष्ट करके अपनी सेना से उस शत्रु को मारा कीजिये ॥ ११ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोमालंकार है ॥ जैसे बिजुली से मेघ को नष्ट कर पृथिवी पर गेरी हुई वृष्टि यव आदि अन्न और नदी, तड़ाग समुद्र के जल को बढ़ाती है, वैसे ही मनुष्यों को चाहिये कि सब प्रकार शुभ गुणों की सब ओर वर्षा करके प्रजा को सुखी कर शत्रुओं को मारकर और विद्या और उत्तम गुणों का प्रकाश करके धर्म का सेवन सदैव करें ॥ ११ ॥

फिर अगले मन्त्र में इन्द्र के कृत्य का उपदेश किया है ॥

न्यविध्यदिलीबिशस्य दृळ्हा वि शृङ्गिणमभिनच्छुष्णमिन्द्रः ।
यावत्तरो मघवन् यावदोजो वज्रेण शत्रुमवधीः पृतन्युम् ॥ १२ ॥

पदार्थ—हे (मघवन्) अत्यन्त धनदाता, महाधनयुक्त वीर ! आप जैसे (इन्द्रः) बिजुली (इलीबिशस्य) पृथिवी के गढ़ों में सोने वाले मेघ के सम्बन्धी (दृढा) दृढ़ बादलादिकों को (अभिनत्) भिन्न-भिन्न करता है और अपना (यावत्) जितना (तरः) बल और (यावत्) जितना (ओजः) पराक्रम है उससे युक्त हुए (वज्रेण) छेदक ताप से (शृंगिणम्) सींगों के समान ऊँचे विद्युद् गर्जना के कारण भूत घने (शुष्णम्) ऊपर चढ़ते हुए पदार्थों को सुखाने वाले मेघ को (न्यविध्यत्) नष्ट करता है और (पृतन्युम्) सेना की इच्छा करते हुए (शत्रुम्) शत्रु के समान मेघ का (अवधीः) हनन करता है, वैसे शत्रुओं में चेष्टा किया करें ॥ १२ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है ॥ जैसे बिजुली मेघ के अवयवों को भिन्न-भिन्न करके जल को वर्षा कर सबको सुखयुक्त करती है, वैसे ही सब मनुष्यों को उचित है कि उत्तम-उत्तम शिक्षायुक्त सेना से दुष्टगुणवाले दुष्ट मनुष्यों को उपदेश दे और भयंकर अस्त्रों शस्त्र की वृष्टि से शत्रुओं को निवारण कर प्रजा में सुखों की वृष्टि निरन्तर किया करें ॥ १२ ॥

फिर वह कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

अभि सिध्मो अजिगादस्य शत्रून् वि तिग्मेन वृषभेणा पुरोऽभेत् ।
सं वज्रेणासृजद् वृत्रमिन्द्रः प्र स्वां मतिमतिरच्छाशदानः ॥ १३ ॥

पदार्थ—जैसे (अस्य) इस विद्युत् का (सिध्मः) विजय प्राप्त कराने वाला वेग (तिग्मेन) तीक्ष्ण (वृषभेण) वृष्टि करने वाले तेज से (शत्रून्) मेघ के अवयवों को (अभ्यजिगात्) प्राप्त होता है, और इस मेघ के (पुरः) नगरों के सदृश समुदायों को (व्यभेत्) भेदन करता है, जैसे (शाशदानः) अत्यन्त छेदन करनेवाली (इन्द्रः) बिजुली (वृत्रम्) मेघ को (वज्रेण) अत्यन्त गतिशील तेज से (समसृजत्) संयुक्त करती है, और (स्वाम्) अपने (मतिम्) ज्ञान करानेवाले प्रकाश को (प्रातिरत्) अच्छे प्रकार फैलाती है, वैसे ही इस सेनाध्यक्ष को होना चाहिये ॥ १३ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है ॥ जैसे बिजुली मेघ के अवयव बादलों को तीक्ष्णवेग से छिन्न-भिन्न कर और भूमि में गेर कर जीतती है, वैसे ही सभासेनाध्यक्ष को चाहिये कि बुद्धि, शरीर, बल वा सेना के वेग से शत्रुओं को छिन्न-भिन्न और शस्त्रों के अच्छे प्रकार प्रहार से पृथिवी पर गिरा कर अपनी संमति (=वश) में लावें ॥ १३ ॥

फिर अगले मन्त्र में इन्द्र के कर्म का उपदेश किया है ॥

आवः कुत्सीमिन्द्र यस्मिञ्चाकन् प्रावो युध्यन्तं वृषभं दर्शद्युम् ।
शफच्युतो रेणुर्नक्षत द्यामुच्छ्वैत्रेयो नृषाह्याय तस्थौ ॥ १४ ॥

पदार्थ—हे (इन्द्र) सभापते ! जैसे सूर्यलोक (यस्मिन्) जिस युद्ध में (युध्यन्तम्) युद्ध करते हुए (वृषभम्) वृष्टि के करानेवाले (दशद्युम्) दश दिशाओं में प्रकाशमान मेघ के प्रति (कुत्सम्) वज्र का प्रहार करके [वर्षा के द्वारा नीचे गिराकर] जगत् की (प्रावः) रक्षा करता है, और (श्वैत्रेयः) भूमि के पुत्र मेघ तथा (शफच्युतः) गौ आदि पशुओं के खुरों से उड़ी हुई (रेणुः) धूलि (द्याम्) प्रकाश युक्त लोक को (नक्षत) प्राप्त होती है, उसको (नृषाह्याय) मनुष्यों के लिये (चाकन्) वह कान्ति वाला (उत्तस्थौ) उठता और सुखों को (आवः) देता है[1] वैसे सभासहित आपको प्रजा के पालन में यत्न करना चाहिये ॥ १४ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है ॥ जैसे सूर्यलोक अपनी किरणों से मेघ को पृथ्वी पर गिरा कर सब प्राणियों को सुखयुक्त करता है, वैसे ही हे सभाध्यक्ष ! आप भी सेना, शिक्षा और शस्त्रबल से शत्रुओं को अस्त-व्यस्त कर नीचे गिरा के प्रजा की रक्षा निरन्तर किया करें ॥ १४ ॥

फिर इन्द्र का क्या कर्म है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

आवः शमं वृषभं तुग्र्यासु क्षेत्रजेषे मघवञ्छ्वित्र्यं गाम् ।
ज्योक् चिदत्र तस्थिवांसो अक्रञ्छत्रूयतामधरा वेदनाकः ॥ १५ ॥ [३]

पदार्थ—हे (मघवन्) बड़े धन के हेतु सभा के स्वामिन् ! आप, जैसे सूर्यलोक (क्षेत्रजेषे) अन्नादि सहित पृथिवी के राज्य को प्राप्त कराने के लिये (श्वित्र्यम्) भूमि के ढाँप लेने में कुशल (वृषभम्) वर्षण स्वभाव वाले मेघ के (तुग्र्यासु) जलों में (गाम्) किरण समूह को (आवः) प्रवेश कराता हुआ (शत्रूयताम्) शत्रु के समान आचरण करने वाले उन मेघावयवों के (अधरा) नीचे के (वेदना) दुष्टों को वेदनारूप पापफलों को (तस्थिवांसः) स्थापित हुए किरणें छेदन (ज्योक्) निरन्तर (अक्रन्) करते हैं और फिर (अत्र) इस भूमि में वह मेघ (अकः) गमन करता है, उसके (चित्) समान शत्रुओं का निवारण और प्रजा को सुख दिया कीजिये[2] ॥ १५ ॥

---

१. 'और (श्वैत्रेय)······सुख को देता है' इतना अंश संस्कृत अन्वय के अस्पष्ट होने से अस्पष्टार्थ है ।
२. संस्कृत अन्वय के अस्पष्ट होने से यहाँ अजमेर मुद्रित भाषार्थ ही रहने दिया है ।

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥ जैसे सूर्य अन्तरिक्ष से मेघ के जल को भूमि पर गिरा के सब प्राणियों के लिये सुख देता है, वैसे सेनाध्यक्षादि लोग दुष्ट मनुष्य शत्रुओं को बाँधकर धार्मिक मनुष्यों की रक्षा करके सुखों का भोग करें और करावें ॥ १५ ॥

इस सूक्त में उपमान उपमेय अलंकार से सूर्य तथा मेघ के युद्ध द्वारा मनुष्यों के लिये युद्ध-विद्या का उपदेश करने से पिछले सूक्त के अर्थ के साथ इस सूक्त के अर्थ की संगति जाननी चाहिये ॥ यह तीसरा वर्ग तेतीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥ ३३ ॥

(३४)

अथास्य द्वादशर्चस्य चतुस्त्रिंशस्य सूक्तस्य हिरण्यस्तूप आङ्गिरस ऋषिः । अश्विनौ देवते ।
१, ६ विराड् जगती; २, ७, ८ निचृज्जगती; ३, ५, १०, ११ जगती छन्दः ।
निषादः स्वरः । ४ भुरिक् त्रिष्टुप्; १२ निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः ।
धैवतः स्वरः । ९ भुरिक् पंक्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

अब चौतीसवें सूक्त का आरम्भ है । उसके पहिले मन्त्र में अश्वियों के दृष्टान्त से कारीगरों के गुणों का उपदेश किया है ॥

त्रिश्चिन्नो अद्या भवतं नवेदसा विभुर्वां याम उत रातिरश्विना ।
युवोर्हि यन्त्रं हिम्येव वाससोऽभ्यायंसेन्या भवतं मनीषिभिः ॥ १ ॥

पदार्थ—हे परस्पर उपकारक और मित्र (अभ्यायंसेन्या) साक्षात् कार्यसिद्धि के लिये मिले हुए (नवेदसा) सब विद्याओं के जानने वाले (अश्विना) अपने प्रकाश से व्याप्त सूर्य चन्द्रमा के समान सब विद्याओं में व्याप्त कारीगर लोगों ! आप (मनीषिभिः) सब विद्वानों के साथ (हिम्याइव) शीतकाल की रात्रियों के समान (नः) हम लोगों के (अद्य) इस वर्तमान दिवस में शिल्पकार्य के साधक (भवतम्) हूजिये (हि) जिस कारण (युवोः) आपके सकाश से (यन्त्रम्) कलायन्त्र को सिद्ध कर यानसमूह को चलाया करें, जिससे (नः) हम लोगों को (वाससः) दिन या रात्रि के बीच (रातिः) वेगादि गुणों से दूर देश की प्राप्ति होवे (उत) और (वाम्) आपके सकाश से प्राप्त हुआ (विभुः) सब मार्गों में चलने वाला (यामः) रथ हम लोगों को देशान्तर को सुख से (त्रिः) तीन बार पहुँचावें,[1] इसलिये आपका संग हम लोग करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥ मनुष्यों को चाहिये जैसे रात्रि वा दिन की क्रम से संगति होती है, वैसे कला-यन्त्रों की क्रम से संगति करें । जैसे विद्वान् लोग पृथिवी विकारों से यान, कला, कील और यन्त्रादिकों को रचकर उनके घुमाने और उसमें अग्न्यादि के संयोग से भूमि, समुद्र वा आकाश में जाने-आने के लिये यानों को सिद्ध करते हैं । वैसे ही मुझको भी विमानादि यान

---

१. यहाँ 'दिन या रात्रि के बीच······तीन बार पहुँचावें' यह अभिप्राय विशेष मननीय है । इसके लिए अगले मन्त्र की टिप्पणी भी देखें ।

सिद्ध करने चाहिये। क्योंकि इस विद्या के विना किसी के दारिद्र्य का नाश वा लक्ष्मी की वृद्धि कभी नहीं हो सकती। इससे इस विद्या में सब मनुष्यों को अत्यन्त प्रयत्न करना चाहिये। जैसे मनुष्य लोग हेमन्त ऋतु में वस्त्रों को अच्छे प्रकार धारण करते हैं, वैसे ही सब प्रकार कील कला यन्त्रादिकों से यानों को संयुक्त रखना चाहिये ॥ १ ॥

फिर उससे क्या-क्या सिद्ध करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

त्रयः॑ पुवयो॑ मधुवाह॒ने र॒थे सोम॑स्य वे॒नामनु॒ विश्व॒ इद्वि॑दुः ।
त्रयः॑ स्क॒म्भास॑: स्कभि॒तास॑ आ॒रभे॒ त्रिर्नक्तं॑ या॒थस्त्रिर्वश्विना॒ दिवा॑ ॥ २ ॥

पदार्थ—हे (अश्विना) अश्वि अर्थात् वायु और बिजुली के समान संपूर्ण शिल्प विद्याओं में यथावत् व्याप्त होनेवाले विद्वान् लोगों ! आप जिस (मधुवाहने) मधुर गुणयुक्त द्रव्यों की प्राप्ति होने के हेतु (रथे) विमान में (त्रयः) तीन (पवयः) वज्र के समान कला घूमने के चक्र और (त्रयः) तीन (स्कम्भासः) बन्धन के लिये खंभ (स्कभितासः) स्थापित और धारण किये जाते हैं उसमें बैठकर (त्रिः) तीन बार (नक्तम्) रात्रि और (त्रिः) तीन बार (दिवा) दिन में इच्छा किये हुए स्थान को (उपयाथः) पहुँचते हो, वहाँ भी आपके विना कार्यसिद्धि कदापि नहीं होती। मनुष्य लोग जिसमें बैठ के (सोमस्य) ऐश्वर्य की (वेनाम्) चाहने योग्य कामना वा चन्द्रलोक की कान्ति को प्राप्त होते हैं, और जिसके (आरभे) आरम्भ करने योग्य गमनागमन व्यवहार को (विश्वे) सब विद्वान् (इत्) ही (विदुः) जानते हैं, उस (उ) अद्भुत रथ को ठीक-ठीक सिद्ध कर अभीष्ट स्थानों में शीघ्र जाया करो[1] ॥ २ ॥

भावार्थ—भूमि, समुद्र और अन्तरिक्ष में जाने की इच्छा करने वाले मनुष्यों को योग्य है कि तीन-तीन चक्र युक्त अग्नि के घर और स्तंभयुक्त यान को रचें, जिसमें बैठकर एक दिन-रात में भूगोल, समुद्र, अन्तरिक्ष मार्ग से तीन-तीन बार जाने को समर्थ हो सकें। उस यान में इस प्रकार के खम्भ रचने चाहियें कि जिसमें कलावयव अर्थात् काष्ठ लोष्ठ आदि खम्भों के अवयव स्थित हों। फिर वहाँ अग्नि जल का संप्रयोग कर उनको चलावें। क्योंकि इनके विना कोई मनुष्य शीघ्र भूमि, समुद्र और अन्तरिक्ष में जाने-आने को समर्थ नहीं हो सकता। इससे इनकी सिद्धि के लिये सब मनुष्यों को बड़े-बड़े यत्न अवश्य करने चाहियें ॥ २ ॥

---

१. इस मन्त्र के अर्थ में ऋषि दयानन्द ने दो महत्त्वपूर्ण बातें लिखी हैं। पहली—एक दिन और एक रात में तीन बार पृथिवी की परिक्रमा करने योग्य विमान का निर्माण। दूसरी—चन्द्रलोक की प्राप्ति का साधनीभूत यान। आज से लगभग ७६ वर्ष पूर्व जब कि इस प्रकार के शीघ्रगामी यानों की सम्भावना भी पाश्चात्य वैज्ञानिकों के मस्तिष्क में नहीं थी, उस समय इस प्रकार के यानों का वर्णन करना अत्यन्त महत्त्व का विषय है। जो लोग ऋषि के वेदभाष्य पर पाश्चात्य देशों की सुनी हुई बातों को वेदभाष्य में लिखने का आरोप करते हैं, उन्हें इस लेख पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

फिर उनसे सिद्ध किये हुए यानों से क्या-क्या सिद्ध करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

समाने अहन् त्रिरवद्यगोहना त्रिरद्य यज्ञं मधुना मिमिक्षतम् ।
त्रिर्वाजवतीरिषो अश्विना युवं दोषा अस्मभ्यमुषसश्च पिन्वतम् ॥ ३ ॥

पदार्थ—हे (अश्विना) अग्नि जल के समान यानों को सिद्ध करके प्रेरणा करने और चलाने तथा (अवद्यगोहना) निंदित दुष्ट कर्मों को दूर करने वाले विद्वान् मनुष्यों ! (युवम्) तुम दोनों (समाने) एक (अहन्) दिन में (मधुना) जल से (यज्ञम्) ग्रहण करने योग्य शिल्पादि विद्या सिद्ध करने वाले यज्ञ को (त्रिः) तीन बार (मिमिक्षितम्) सींचने की इच्छा करो और (अद्य) आज (अस्मभ्यम्) शिल्पक्रियाओं को सिद्ध करने कराने वाले हम लोगों के लिये (दोषः) रात्रियों और (उषसः) प्रकाश को प्राप्त हुए दिनों में (त्रिः) तीन वार यानों का (पिन्वतम्) सेवन करो और (वाजवतीः) उत्तम-उत्तम सुखदायक (इषः) इच्छा सिद्धि करने वाले नौकादि यानों को (त्रिः) तीन बार (पिन्वतम्) प्रीति से सेवन करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—शिल्पविद्या को जानने और कलायन्त्रों से यान को चलाने वाले प्रतिदिन शिल्पविद्या से यानों को सिद्ध कर तीन प्रकार अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और मानसिक सुख के लिये धन आदि अनेक उत्तम-उत्तम पदार्थों को इकट्ठा कर सब प्राणियों को सुखयुक्त करें, जिससे दिन रात में सब लोग अपने पुरुषार्थ से इस विद्या की उन्नति कर और आलस्य को छोड़ के उत्साह से उसकी रक्षा में निरंतर प्रयत्न करें ॥ ३ ॥

फिर उनसे क्या कार्य करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

त्रिर्वर्तिर्यातं त्रिरनुव्रते जने त्रिः सुप्राव्ये त्रेधेव शिक्षतम् ।
त्रिर्नान्द्यं वहतमश्विना युवं त्रिः पृक्षो अस्मे अक्षरेव पिन्वतम् ॥ ४ ॥

पदार्थ—हे (अश्विना) विद्या देने वा ग्रहण करने वाले विद्वान् मनुष्यों ! (युवम्) आप दोनों (अस्मे) हम लोगों के (वर्तिः) मार्ग को (त्रिः) तीन बार (यातम्) प्राप्त हुआ करो तथा (सुप्राव्ये) अच्छे प्रकार प्रवेश करने योग्य (अनुव्रते) जिसके अनुकूल सत्याचरण व्रत है उस (जने) बुद्धि के उत्पादन करने वाले मनुष्य के प्रति (त्रिः) तीन बार (यातम्) प्राप्त हूजिये और शिष्य के लिये (त्रेधेव) तीन प्रकार अर्थात् हस्तक्रिया रक्षा और यान-चालन के ज्ञान की शिक्षा करते हुए अध्यापक के समान हम लोगों को (त्रिः) तीन बार (शिक्षतम्) शिक्षा कीजिये और (नान्द्यम्) समृद्धि होने योग्य शिल्प ज्ञान को (त्रिः) तीन बार (वहतम्) प्राप्त कराओ और (अक्षरेव) जैसे नदी, तालाब और समुद्र आदि जलाशय मेघ के सकाश से जल को प्राप्त होते हैं वैसे हम लोगों के लिये (पृक्षः) विद्यासंपर्क को (त्रिः) तीन बार (पिन्वतम्) प्राप्त कराओ ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में दो उपमालंकार हैं ॥ शिल्प-विद्या के जाननेवाले मनुष्यों को योग्य है कि विद्या की इच्छा करने वाले अनुकूल बुद्धिमान् मनुष्यों को पदार्थ विद्या पढ़ा और उत्तम-उत्तम शिक्षा बार-बार देकर कार्यों को सिद्ध करने में समर्थ करें, और उनको भी चाहिये कि इस विद्या को संपादन करके यथावत् चतुराई और पुरुषार्थ से सुखों के उपकारों को ग्रहण करें ॥ ४ ॥

फिर वे किस कार्य के साधक हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

त्रिर्नो र॒यिं व॑हतमश्विना यु॒वं त्रिर्दे॒वता॑ता त्रिरु॒ताव॑तं॒ धियः॑ ।
त्रिः सौ॑भग॒त्वं त्रिरु॒त श्रवां॑सि नस्त्रि॒ष्ठं वां॒ सूरे॑ दुहि॒ता रु॑ह॒द्रथ॑म् ॥ ५ ॥

पदार्थ—हे (देवताता) शिल्प-क्रिया और यज्ञ-संपत्ति के मुख्य कारण वा विद्वान् तथा शुभगुणों के बढ़ाने और (अश्विना) आकाश पृथिवी के तुल्य प्राणियों को सुख देने वाले विद्वान् लोगो ! (युवम्) आप (नः) हम लोगों के लिये (रयिम्) उत्तम धन (त्रिः) तीन बार अर्थात् विद्या, राज्य, श्री की प्राप्ति और रक्षण क्रियारूप ऐश्वर्य को (वहतम्) प्राप्त कराइये (नः) हम लोगों की (धियः) बुद्धियों (उत) और बल को (त्रिः) तीन बार अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और मानसिक रूप से (अवतम्) रक्षा करिये (नः) हम लोगों के लिये (त्रिष्ठम्) तीन अर्थात् शरीर, आत्मा और मन के सुख में रहनेवाले और (सौभगत्वम्) उत्तम ऐश्वर्य के उत्पन्न करने वाले पुरुषार्थ को (त्रिः) तीनवार अर्थात् भृत्य, सेना और स्वात्म भार्यादि रूप से प्राप्त कराइये (उत) और (श्रवांसि) वेदादि शास्त्र को (त्रिः) तीन बार अर्थात् श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप से प्राप्त कराइये (वाम्) जिन अश्वियों के सकाश से (सूरेः) सूर्य की (दुहिता) पुत्री = कान्ति = प्रकाश के समान (नः) हम लोगों के अच्छे प्रकार विद्या से सिद्ध किये (रथम्) विमानादि यानसमूह (त्रिः) तीन अर्थात् प्रेरक, साधक और चालन क्रिया से (आरुहत्) ऊपर उड़ते हैं, उन दोनों अश्वियों = अग्नि और जल को हम लोग शिल्प कार्यों में अच्छे प्रकार युक्त करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि अश्वियों [= अग्नि और जल] की सहायता से कार्यों को सिद्ध कर, बुद्धि बढ़ा, सौभाग्य और उत्तम अन्नादि पदार्थों को प्राप्त होवें तथा इसे उनसे सिद्ध हुए यानों में बैठ के देश देशान्तरों को जाकर व्यवहार = व्यापार द्वारा धन को बढ़ा कर सब काल में आनन्द में रहें ॥ ५ ॥

फिर उनसे क्या करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

त्रिर्नो॑ अश्विना दि॒व्यानि॑ भेष॒जा त्रिः पार्थि॑वानि॒ त्रिरु॑ दत्तम॒द्भ्यः ।
ओ॒मानं॑ शं॒योर्मम॑काय सू॒नवे॑ त्रि॒धातु॒ शर्म॑ वहतं शुभस्पती ॥ ६ ॥ [४]

पदार्थ—हे (शुभस्पती) कल्याणकारक मनुष्यों के कर्मों की पालना करने और (अश्विना) विद्या की ज्योति को बढ़ानेवाले शिल्पि लोगो ! आप दोनों (नः) हम लोगोंके लिये (अद्भ्यः) जलों से (दिव्यानि) विद्यादि उत्तम गुणों के प्रकाश करने वाले (भेषजा) रसमय सोमादि ओषधियों

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर

का

सस्ता और सुन्दर प्रकाशन

आर्य जगत् को यह जानकर महती प्रसन्नता होगी कि रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर ने अपना प्रकाशन गये कुछ वर्षों से पुनः पूर्ववत् भले प्रकार आरम्भ कर दिया है। निम्न पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं—

१—**सन्ध्योपासनविधि**—ऋषि दयानन्दकृत भावार्थ, दैनिक हवन और भजनों के सहित। यह अब तक ३०५००० तीन लाख पाँच हजार छप चुकी है— घटाया हुआ मूल्य -)॥

२—**व्यवहारभानु**—ऋषि दयानन्दकृत। बालकों को व्यवहार की उचित शिक्षा देनेवाला अपूर्व ग्रन्थ। यह ग्रन्थ प्रत्येक आर्य बालक-बालिकाओं के विद्यालयों में पाठ्य पुस्तक रखने योग्य है। मूल्य =)॥

३—**ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्मचरित्र**—ऋषि दयानन्द ने अमेरिका निवासी अल्काट महोदय की प्रेरणा से अपना कुछ वृत्तान्त लिखकर उन्हें भेजा था, जिसका अंग्रेजी अनुवाद उन्होंने थियोसोफिकल नामक अपने पत्र में छापा। ऋषि दयानन्द के प्रथम चरित्र-लेखक श्री पं० लेखरामजी ने उक्त आत्मचरित्र के कुछ अंश की मूल कापी भी प्राप्त की थी। वह अंश उनके द्वारा संकलित ऋषि के उर्दू जीवनचरित्र में छपा है। आर्यसमाज के उद्भट विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्तजी ने उपर्युक्त सामग्री के आधार पर इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। ऋषि दयानन्द के प्रसिद्धि में आने से पूर्व की घटनाओं का यही एकमात्र प्रामाणिक लेख है। मूल्य ।=)

४—**हवन-मन्त्र**—प्रार्थना, स्वस्तिवाचन, शान्तिप्रकरण, बृहद् हवन और भजनों से युक्त मू० -)

५—**आर्याभिविनय**—ऋषि दयानन्दकृत (प्रथम और द्वितीय संस्करण से मिलाकर अत्यन्त शुद्ध और सुन्दर छापा गया है। संदिग्ध स्थलों पर टिप्पणियाँ दी गई हैं)। मूल्य ।=)

६—**आर्योद्देश्यरत्नमाला**—ऋषिदयानन्दकृत। (शुद्ध, सुन्दर, तथा सटिप्पण संस्करण) मूल्य -)

७—**पञ्चमहायज्ञविधि**—ऋषि दयानन्दकृत। ,, ,, ,, मूल्य =)

८—**उरुज्योति अर्थात् वैदिक अध्यात्म सुधा**—श्री डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल लिखित वैदिक अध्यात्म विषयक उच्चकोटि का श्रेष्ठ ग्रन्थ। कागज छपाई श्रेष्ठ और सुन्दर। सजिल्द ३)

९—**वेदाङ्क**—यह वेदवाणी के इस वर्ष का विशाल विशेषांक है। इसमें ३० उच्चकोटि के गवेषणात्मक वेदविषयक मौलिक लेखों का संग्रह है। दूसरे शब्दों में इसे वेदविषयक ३० ट्रेक्टों या निबन्धों का संग्रह कह सकते हैं मूल्य १॥); एक साथ प्रचारार्थ १० प्रति मँगवाने पर १) रु० प्रति दिया जायेगा।

१०—**वेदवाणी की पुरानी फाइलें**—वर्ष २ अंक १० मूल्य २॥), वर्ष ३ अङ्क ११ मूल्य २॥), वर्ष ४ अंक ० मूल्य ३), वर्ष ५ वेदाङ्क सहित ५), डाक व्यय पृथक् होगा। थोड़ी प्रतियाँ शेष हैं, शीघ्रता करें।

रामलाल कपूर एण्ड सन्स पेपर मर्चेण्ट

गुरु बाजार, अमृतसर। नई सड़क, देहली। बिरहाना रोड, कानपुर।

वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस ६।

मुद्रक और प्रकाशक—पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा ज्योतिष प्रकाश प्रेस, विश्वेश्वरगंज, बनारस में छपा।

ओ३म्

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ६] ❀ [अङ्क ७

इस अंक के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

वैशाख २०११, मई १९५४
दयानन्दाब्द १३०,
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५४

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अज़मतगढ़ पैलेस,
बनारस नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
,, ,, विदेश में ६)
इस अंक का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनियार्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ॥) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है।

३—वेदवाणी के नये वर्ष का आरम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १ से तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षित, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जावेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सम्बन्धी धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें।

८—ग्राहक महानुभाव पत्रव्यवहार या मनियार्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—**वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस ६**

[पृष्ठ १६ का शेषांश]

वस्तुतः संस्कृति वैदिक ही है और शेष नाममात्र की संस्कृतियाँ अथवा उसका अपभ्रंश हैं।

जवाहरलाल जी ने तो अपनी कन्या को भी इङ्गलैंड में रखकर केवल अङ्गरेजी का ही अधिक अभ्यास कराया है। न वे आप संस्कृत पढ़े और न उन्होंने अपनी एकमात्र कन्या को संस्कृत पढ़ाई। वे संस्कृत के प्रति अपने कर्तव्य को अथवा संस्कृति के आनन्द को क्या जानें। मनु ने सत्य कहा है—

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते॥

यह पुरानी भारतीय संस्कृति ही है जो संसार को फिर शान्ति दे सकती है, जो मानव के शरीर और मन को नीरोग कर सकती है। जिन लोगों का मन कलुषित पाश्चात्य विचारों की दासता में पड़ा हुआ है, वे प्राचीन संस्कृति को क्या समझेंगे।

(प्रश्न) आर्य संस्कृति यदि संसार-उपकारिणी होती, तो उसका ह्रास क्यों होता। प्रतीत होता है कि इस संस्कृति की कोई उपादेयता नहीं थी, अतः यह क्षीण हो गई। अब यह जाग्रत नहीं होगी।

(उत्तर) यह बात हास्यास्पद है। क्या तुम कभी रोगी नहीं हुए। स्वास्थ्य अनुपकारी होता है कि रोग आ जाता है। नहीं। हम किसी ज्ञात अथवा अज्ञात भूल से स्वास्थ्य खो बैठते हैं। परन्तु रोगी होने पर हम चिकित्सा अवश्य करते हैं। क्या तुम रोगी होने पर अपनी चिकित्सा नहीं करते। इसी प्रकार सत्य समझो कि अनेक कारणों से आर्यसंस्कृति रोगग्रस्त हो गई थी। इसका रोग साध्य है असाध्य नहीं। अतः इस संस्कृति के समझने वालों का यह प्रधान कर्तव्य है कि वे इस संस्कृति को रोगमुक्त करें। ऋषि दयानन्द सरस्वती का जन्म ही इस बात के लिए हुआ था। यदि इस आज्ञानान्धकार के युग में ऋषि ऐसा एक सतयुगीन पुरुष जन्म धारण कर सकता है, तो निश्चय है कि उसके चलाए हुए मार्ग को समझकर और सहस्रों व्यक्ति भी उसी काम में लगेंगे। ऋषि की कृपा से सैकड़ों लोग इस काम में लग रहे हैं। अतः यह संस्कृति निश्चित ही फिर फैलेगी।

ओ३म्

वेदवाणी

सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष ६ } काशी, वैशाख सं० २०११ वि०, मई १९५४ ई० { अङ्क ७

आर्याभिविनय से

संसार के समस्त पदार्थ कल्याण कारक हों

शं नो भगः शमु नः शंसो अस्तु शं नः पुरंधिः शमु सन्तु रायः।
शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शं नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु॥

ऋ० ५।३।२८।२॥

व्याख्यान—

हे ईश्वर! (भगः) आप और आपका दिया हुआ ऐश्वर्य (शं नः) हमारे लिये सुखकारक हो। (शमु न शंसो अस्तु) आपकी कृपा से हमारी सुखकारक प्रशंसा सदैव हो। (पुरन्धिः शमु सन्तु रायः) संसार के धारण करने वाले आप तथा वायु, प्राण और सब धन आपकी कृपा से आनन्ददायक हों। (शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः) सत्य यथार्थ धर्म सुसंयम और जितेन्द्रियादिलक्षणयुक्त की जो प्रशंसा पुण्यस्तुति सब संसार में प्रसिद्ध है वह परमानन्द और शान्तियुक्त हमारे लिये हो। (शं नो अर्यमा) न्यायकारी आप (पुरुजातः) अनन्त सामर्थ्ययुक्त हमारे कल्याणकारक होओ॥

मोक्ष से पुनरावृत्ति

लेखक—श्री पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार

ऋषि दयानन्द के बहुत से सिद्धान्त ऐसे हैं जिन्हें लोग बिलकुल नया और कपोल कल्पित कहते हैं। इनमें से एक सिद्धान्त मोक्ष से पुनरावृत्ति है। मुझे ऋषि दयानन्द के सब सिद्धान्तों में से यही सिद्धान्त सबसे प्यारा है। यदि मैं यह मानने लगूँ कि इस सिद्धान्त को ऋषि दयानन्द से पहिले किसी ने नहीं जाना और नहीं माना तो मैं ऋषि दयानन्द को संसार का सबसे बड़ा ऋषि, मानव समाज का सबसे बड़ा उपकारी और भारत का तो एक मात्र उद्धारक मानने लगूँगा।

मोक्ष से न लौटने का सिद्धान्त तर्क विरुद्ध तो स्पष्ट है। जब भी मनुष्य मोक्ष प्राप्त करेगा तो बिना ईश्वरेच्छा से तो प्राप्त नहीं कर सकेगा क्योंकि यदि ऐसा होने लगे तो सिवाय कुछ परोपकारी महात्माओं के और तो कोई बन्धन में आएगा ही नहीं और जब परोपकार का कोई क्षेत्र न रहेगा तो परोपकारी भी क्यों आएँगे। इसलिये यह तो स्पष्ट है कि बिना ईश्वराज्ञा के मोक्ष नहीं हो सकता और बिना पुण्य कर्मों के मनुष्य को मोक्ष रूप फल मिल नहीं सकता और पुण्य कर्म सान्त हैं। इसलिये उनका फल भी सान्त होगा, अनन्त नहीं।

किन्तु तर्क विरुद्ध होते हुए भी मोक्ष से न लौटने का सिद्धान्त कानों को बहुत मीठा लगता है। सुनते हैं एक समय एक बीमार के पास बहुत से वैद्य इकट्ठे हुए। किसी ने उसे काढ़ा बताया किसी ने कड़वा चूर्ण बताया किसी ने लम्बा उपवास बताया किन्तु एक वैद्य ने कहा कि मेरी सम्मति में इसे हलवा खिलाना चाहिये, बीमार चिल्ला उठा देखो सबकी सुनी जाती है। उस हलवे वाले वैद्य की कोई नहीं सुनता। बस यही मनुष्य का स्वभाव है वह अदरय तथा तर्क विरुद्ध बात भी सुनने के लिये सदा उत्सुक रहता है। इसीलिये लोग मोक्ष से न लौटने जैसे थोथे तर्क विरुद्ध सिद्धान्त की ओर दौड़ते हैं। शास्त्रों में कुछ वचन ऐसे अवश्य हैं जिनसे ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है, वस्तुतः उनपर विचार करने से पहिले हम इस झूठे सिद्धान्त के प्रचार के दुष्परिणामों पर विचार करना चाहते हैं।

इस सिद्धान्त के प्रचार से बड़ा दुष्परिणाम यह होता है कि मोक्ष के लिये लोग पागल हो उठते हैं। यदि मनुष्यों को पता हो कि मोक्ष से लौट कर फिर इसी धरती पर आना है तो लोग इस धरती को सुन्दर निष्पाप तथा दोष रहित बनाते हैं। परन्तु जब लोगों को यह पता लगे कि एक बार मोक्ष मिल जाय तो फिर बस छुट्टी ही छुट्टी है तो सब के सब मोक्ष की ही ओर दौड़ते हैं। ऐसे समय झूठे विज्ञापन बाजों की बन जाती है। यही कारण है कि हमारे देश में पाप पुण्य का फल देने वाले भगवान् तो बेचारे छिप गये और मोक्ष दिलाने वालों की सेना खड़ी हो गई। पीपल, तुलसी, गङ्गाजल, नर्मदा का जल, राम नाम, नारायण नाम, शिव नाम, कृष्ण नाम, भैरव नाम, मांस, मदिरा, काली चण्डी, चामुण्डा, महासू, पहासू, शिवलिङ्ग, शालभूमि, पेड़, पहाड़, झरने न जाने कितने मोक्ष दिलाने वाले हो गए। जब बाजार में माल इतना बढ़ जाय तो फिर भाव का गिरना स्वाभाविक है।

कहाँ तो गीता (६-४५) में लिखा है:—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति पराङ्गतिम्

अर्थात् अनेक जन्म तक पुरुषार्थ करके तब कहीं मनुष्य परम गति को प्राप्त होता है।

फिर दूसरे स्थान गीता—७—३ पर लिखा है:—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

किन्तु यह मोक्ष के बाजार में मोक्ष का भाव गिरता सो भी कहाँ पहुँचा देखिये।

सांकेत्यं परिहास्यं वा स्तोभञ्जल्पनमेव वा
मुरारिनामग्रहणम् निःशेषाघहरं विदुः

अर्थात् इशारे में, हँसी खेल में, ताने में, बकवाद में किसी प्रकार भी नारायण का नाम मुख से निकल जाय बस उससे सब पाप दूर हो जाते हैं और अजामिल जैसा पापी प्रभु का भक्त हो जाता है।

इस मोक्षवाद का ही यह परिणाम हुआ कि इस संसार में अपने कर्त्तव्य भुला कर लोग पराधीन हुए। गीता (८–३१) में लिखा है:—

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम

जो यज्ञ नहीं करता उसका यही लोक नहीं सुधरता तो परलोक क्या सुधरेगा। परन्तु इस मोक्षवाद की कृपा से लोगों ने इस लोक के सुधार की चिन्ता ही छोड़ दी, परलोक ही परलोक रटने लगे।

बस ऋषि दयानन्द ने मोक्ष से लौटने का सिद्धांत सामने लाकर ब्रह्मविद्या की काया ही पलट दी।

यहाँ कई लोग शास्त्रों के **'न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते, अनावृत्तिः शब्दात्' 'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम, आब्रह्म भुवना ल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन। मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते'** आदि वचन सामने रखकर कहते हैं देखो मोक्ष से न लौटने का कैसा स्पष्ट वर्णन है।

परन्तु इन वाक्यों में ब्रह्मलोक से न लौटने का वर्णन है मोक्ष से न लौटने का नहीं। इस पर प्रश्न होगा कि मोक्ष और ब्रह्मलोक क्या दो वस्तु हैं? हमारा उत्तर है कि हाँ।

बस अब हमें यही दिखाना है कि मोक्ष और ब्रह्मलोक में क्या भेद है।

यह समझना भी कुछ कठिन नहीं। आज फ़िल्म की अभिनेत्रियों को फ़िल्म स्टार अर्थात् फ़िल्म लोक के सितारे कहा जाता है। इसी प्रकार ऋषि दयानन्द ने अपने गुरु विरजानन्द जी की मृत्यु पर कहा कि आज व्याकरणसूर्य अस्त हो गया। यह व्याकरण लोक की कल्पना हुई। जो मनुष्य रात दिन गाने बजाने में चूर रहता है, उसे हम कह देते हैं कि यह गन्धर्वलोक के वासी हैं। मीरा बहन ने भारत के पशु धन की उन्नति के लिये स्थान बनाया उसका नाम पशुलोक रक्खा। इसी प्रकार जो मनुष्य रात दिन ब्रह्म प्रेम तथा ब्रह्म की धुन में रहता है, उसे हम कह सकते हैं कि यह ब्रह्मलोक के वासी हैं।

अब ब्रह्मलोकवासी कब तक मोक्ष में रहता है और कब उसे मोक्ष मिलता है यह तो कर्मानुसार ईश्वरेच्छा के आधीन है परन्तु प्रभु से प्रेम करना और प्रभु प्रेममय बने रहना तो अपने अधीन है। सो निष्काम कर्म करने वाले प्रभु आज्ञा से मोक्ष से तो लौट आते हैं, परन्तु ब्रह्मलोक से नहीं लौटते। कृष्ण महाराज प्रभु के सच्चे सेवक हैं वे अर्जुन को उपदेश देते हैं:—**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति तमेव शरणं गच्छ** गीता—१८–६–१

हे अर्जुन तो बस ईश्वर की शरण में जा।

वे स्वयं इसी पर आचरण करते हैं। वे कहते हैं:—

वर्त्त एव च कर्मणि गीता—३-२३

हे अर्जुन मैं अपने किसी कर्त्तव्य से च्युत नहीं हुआ पूर्णतया नित्य शुभ कर्म्म करता हूँ।

हाँ मेरे कर्म 'ब्रह्मार्पितं ब्रह्महवि' हैं

परन्तु यह कर्म्म सकाम नहीं।

नानवाप्तमवाप्तव्यम् गीता—३-२२

मुझे कोई ऐसी वस्तु नहीं जो प्राप्त करने की इच्छा हो और प्राप्त न हो। मैं प्राप्तकाम हूँ। हे

अर्जुन ! यदि मैं धन लोभ से ब्रह्मलोक में जाऊँ तो धन न मिलने पर ब्रह्मलोक छोड़ दूँगा। यदि कीर्ति लोभ से जाऊँ तो कीर्ति न मिलने पर ब्रह्म लोक छोड़ दूँगा। यदि मोक्ष लोभ से जाऊँ तो मोक्ष न मिलने पर ब्रह्मलोक छोड़ दूँगा परन्तु मुझे तो मोक्ष का लोभ नहीं। जब प्रभु की इच्छा मोक्ष में भेजने की हो तो जाने से इन्कार भी नहीं। **न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति** १४–२२

इसलिये हे अर्जुन ! मैं तो ब्रह्म के प्रेम के कारण उसके गुणों पर मुग्ध होकर ब्रह्मलोक में रहता हूँ। न उसके गुण समाप्त हों न गुण-प्रेम समाप्त हो न मेरा ब्रह्मलोक निवास। मैं ब्रह्मलोक से क्यों हटूँ। **यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम।**

मैं तो उस धाम में पहुँच गया हूँ जहाँ पहुँच कर लौटते नहीं। इस धाम पर पहुँचे हुओं को कर्त्तव्य पथ से कौन हटा सकता है। कौन निवृत्त कर सकता है। इस प्रसङ्ग में भगवान् पतञ्जलि का एक सूत्र ध्यान देने योग्य है। उन्होंने योग दर्शन में लिखा है:—

भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।

दृश्य अर्थात् प्रकृति के दो काम हैं। एक भोग एक मोक्ष। अब यहाँ यह स्पष्ट है जिस क्षण मनुष्य का मोक्ष हुआ, उससे पहिले क्षण तक तो मनुष्य किसी न किसी प्रकार का कर्म भोग रहा है, तो प्रकृति भोग के काम आई। अब बताइये कि मोक्षार्थम् अथवा अपवर्गार्थम् का स्थान कहाँ है। सो स्पष्ट है कि मुक्त जीव जब मोक्ष से लौटते हैं, तो संसार के लोगों को मोक्ष का उपदेश देने के लिये लौटते हैं। वह उनका जन्म मोक्षार्थ है। अर्थात् दूसरों को मोक्ष दिलाने के लिये। इस पर आप कहेंगे कि एक बार मोक्ष में जाकर कौन लौटना चाहेगा। इसमें विचारणीय यह है कि प्रथम तो मोक्ष में रहना और मोक्ष से लौटना दोनों अपने चाहने पर तो निर्भर नहीं। यह दोनों तो ईश्वरेच्छा पर निर्भर हैं। फिर दूसरी बात यह है कि क्या सच्चे सैनिक लोग सेनापति से युद्ध क्षेत्र में जाकर मरने की आज्ञा की प्रतीक्षा नहीं करते और आज्ञा मिलने पर उछलते हुए रण क्षेत्र में जाते हैं। कुछ ऐसी ही अवस्था उस वेद मन्त्र में वर्णन की है, जो ऋषि दयानन्द ने इस विषय के प्रमाण रूप में उपस्थित किया है। **कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य। नाम को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च।**

ऋ. मं १. सू—२४–मं १

हम लोग किसका नाम पवित्र जानें, कौन नाश रहित पदार्थों के मध्य वर्त्तमान देव सदा प्रकाश स्वरूप है। हमको मुक्ति का सुख भुक्ता कर पुनः इस संसार में जन्म देता और माता पिता का दर्शन कराता है।

यह उस वीर का वर्णन है जो संसार के जीवों को मोक्ष सुख का सन्देश देने तथा मोक्ष मार्ग का उपदेश देने के लिये, फिर माता के गर्भ में आने का अवसर पाने के लिये वीरतापूर्वक परमेश्वर रूप सेनापति की आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहा है। बस अब वैदिक मोक्ष का लक्ष्य समझ में आ गया। वैदिक मन्त्र परमात्मा से मोक्ष भी नहीं माँगता, क्यों मांगे वह कोई भिखारी थोड़े हैं। वह तो इस संसार की सेवा में लगा हुआ है। जब जगत् जननी ने मोक्ष धाम में विश्राम के लिये भेज दिया, जब लौटा तो फिर सेवा में लग गया। वह तो अपने प्रभु के विषय में कहता है।

खा के बल कहने लगे, वो एक अदाए नाज से।
हम खुदा के घर भी जायेंगे, इसी अन्दाज से।

यह है वैदिक मोक्ष।

वैदिक ईश्वर पूजा

लेखक—श्री लालचन्दजी, मेरठ

कई सहस्र वर्ष से भारतीय जनता वेदपथ से विपथ हो जाने के कारण अपनी सनातन शाश्वत वैदिक संस्कृति भूल चुकी है। अतएव वैदिक-ईश्वर-पूजा से भी अनभिज्ञ हो गई है। ऋषि दयानन्द ने बहुत परिश्रम किया था केवल ३ घंटे आराम कर के २१ घंटे प्रतिदिन और रात अनथक लोक सेवा की थी और परिणामतः वेद के उद्धार के लिए सैकड़ों व्याख्यान दिये, सत्यार्थप्रकाश में अपने पहले के दिए हुए व्याख्यानों का संकलन किया और उन का संपादन किया। वेद क्या है उनमें क्या कहा गया है इस सत्य को प्रकट करने के लिए ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका लिखी। भारतीय लोग संस्कार भूल चुके थे। इस लिए संस्कारविधि रची। संस्कृत के पुनः प्रसार के लिए पाणिनि की अष्टाध्यायी पर टीका लिखी और वेदभाष्य आरंभ कर दिया। और यजुर्वेद का भाष्य संस्कृत में कर गए हिन्दी प्रायः पंडितो ने की अतः हिन्दी भाष्य संस्कृत के अनुकूल सर्वथा न हो सका। इसके पुनः संपादन की आवश्यकता है जो कि भाषाभाष्य ऋषि दयानन्द के संस्कृत भाष्य के पूर्णतया अनुकूल हो। ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेद के भी ७ मंडलों का संस्कृत भाष्य किया, हिन्दी इसमें भी पंडितो ने ही की। अब श्री पंडित युधिष्ठिरजी संस्कृत के अनुकूल हिन्दी भाष्य वेदवाणी में निकाल रहे हैं। यजुर्वेद का ऋषि दयानन्द के अनुकूल भाष्य १० अध्यायों का श्री पंडित ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु ने छपवाया था, जो अब उपलब्ध नहीं है। ऋग्वेद के भाषा भाष्य के समान ही पूरा यजुर्वेद का भाष्य भी छपना चाहिये।

ऋषि दयानन्द के महान् और अनुपम त्याग साहस उत्साह और सच्ची लग्न के परिणाम रूप देश में पुनः जागृति हुई। आर्यसमाज स्थापित हुए। कुछ कार्य भी हुआ, किन्तु पराये राज्य की आर्य-समाज के पुनरुत्थान के कार्य की ओर कड़ी दृष्टि होने के कारण यह पुनीत कार्य वेग से न बढ़ सका और साथ ही जब शिक्षा के अभाव को दूर करने के लिए आर्यसमाज ने भी अंग्रेजी के चलाए हुए स्कूलों जैसे ही अपने भी स्कूल चलाए तो सारी शक्ति स्कूलों में अनाथालयों आदि संस्थाओं में लग गई और वेद के प्रसार के कार्य की प्रगति रुक गई।

वेद प्रसार देववाणी संस्कृत के प्रसार पर अवलंबित है। ऋषि दयानंद ने तो अपने जीवन काल में जगह जगह पर संस्कृत पाठशालाएं खुलवाई थीं वह भी प्रायः अब तक नष्टप्राय हुईं। गुरुकुल कांगड़ी की योजना महात्मा मुंशीरामजी (पश्चात् श्री स्वामी श्रद्धानन्दजी) ने बनाई और कार्यान्वित की, पर वैदिक परंपरा का पुनरुद्धार करने में वह भी अभी सफल नहीं हुई। गुरुकुल वृन्दावन भी इसी प्रकार चल रहा है। उत्तर प्रदेश की प्रतिनिधि सभा ने यजुर्वेद का भाषाभाष्य छपवाया। श्री पंडित क्षेमकरणदासजी अथर्ववेद का भाष्य कर गए तथा श्री पंडित तुलसीरामजी सामवेद का भाष्य कर गए—ये दोनों भाष्य अब नहीं मिल रहे। श्री पंडित सातवलेकरजी ने औंध (जि० सतारा) और अब पारडी जि० सूरत से वेद के प्रसार के लिए सराहनीय कार्य किया है और कर रहे हैं।

उनके श्रम से अब चारों वेद सुन्दर छपे हुए मिल जाते हैं और भाष्य भी क्रमशः छप रहा है। आर्यसमाज ने संगठित रूप से वेद प्रचार में वेद साहित्य बनवाकर अभी योग्य कार्य नहीं किया, हाँ वेद के लिए वातावरण बनाने में अवश्य सहायक हुआ है। श्री पं० जयदेवजी का चारों वेद का भाषा भाष्य सराहनीय कार्य है। आर्यसमाज को एक उत्तम वेद भाष्य भाषा में छापना चाहिए।

आज वैदिक ईश्वर पूजा पर कुछ लिखने का प्रयास कर रहा हूँ। भारत में अभी तक पौराणिक परंपरा ही चल रही है जो लोगों को सत्य से दूर ले जा रही है और लोगों की आयु का अमूल्य समय व्यर्थ जा रहा है। यह देखकर एक वेदानुयायी अवश्य मन में दुख अनुभव करता है। आज एक घर में पौराणिक पूजा का कीतन जो मैंने मार्ग से आते आते सुना तो मैं चकित रह गया। उसमें जीवन को उन्नत करने अथवा भगवान् के निकट होने का कोई ढंग ही न था। मुझे तो वह बहुत अखरा और इसी लिए मैं आज वैदिक पूजा पर लिख रहा हूँ।

अनैतिकता को दूर करने के लिए सदाचार के फैलाने के लिए और जनता को ईश्वर के समीप ले आने के लिए तथा एक सशक्त और समर्थ समाज बनाने के लिए वैदिक ईश्वर पूजा अत्यन्त आवश्यक है। ऋषिदयानन्द ने यह विधि संध्योपासना में बतलाई है। जो कुछ पौराणिक ढंग है अथवा अन्य संप्रदायों के पूजा के ढंग है उनसे मनुष्य ईश्वर की निकटता अनुभव नहीं कर सकता। इसी प्रकार वैदिक प्रार्थना में प्रार्थी का भी कुछ दायित्व है। प्रार्थना केवल भगवान् से सहायता मांगना ही नहीं है। वैदिक प्रार्थना कुछ कर्तव्य की भी अपेक्षा रखती है। संध्या में सम्यक् ध्यान की विशेषता है। निश्चलता, स्थिरता और एकाग्रता सम्यक् ध्यान के लिए अत्यंत आवश्यक है। ध्यान एक समय साध्य है जिसकी साधना संयम, युक्त आहार विहार, युक्त कर्म चेष्टा और युक्त सोना जागना है और वही ध्यान ठीक होने से आगे ही आध्यात्मिक उन्नति के लिए साधन बन जाता है और संयम तथा आत्मप्रेरणा और आत्मशक्ति तथा आत्मज्योति के विकास में सहायक होता है। आत्मप्रेरणा जब होने लगे, जब मनुष्य अपने अन्दर स्वयं अपने आत्मा का अपने आप का अमरत्व अनुभव करने लगे तो वह जागृत आत्मशक्ति ही परमात्मा से निरंतर मिलन का अनुभव करती है और इस स्थिति में भगवान् की प्रेरणा होने लगती है। यही हमारी गायत्री मंत्र द्वारा आकांक्षा है जो भगवान् पूरी कर देते हैं। भगवान् की कृपा तो अनवरत रूप में बरस रही है। साधक अपनी क्षमता अनुसार भगवान् की कृपा को अपने अन्तःकरण में अपनी जागृत स्व-आत्मज्योति में अनुभव करने लगता है। यह है मधुर मिलन आत्मा का और परमात्मा का जिसके वर्णन करने में वाणी अशक्य है और शब्दों में भी वह क्षमता नहीं यह अनुभव की बात है जो भगवान् के उपासकों को होता है।

ऋषि दयानन्द ने अपनी संध्योपासना का संकलन ऐसी उत्तम रीति से किया है कि उस द्वारा साधन करने से भगवान् का उपस्थान—भगवान् की निकटता—भगवान् का सामीप्य सुलभ है। सामीप्य से पहले साक्षात्कार तो होना ही चाहिये। जब हम भगवान् का सामीप्य अनुभव करते हैं। और उस देवों के देव महादेव को प्राप्त हुए हैं, ऐसा अनुभव करते हैं तब तो सारी सृष्टि ही हमें भगवान् की ही ओर संकेत करती दिखाई देती है और वह सर्वाधार होता है हमारा हृदयाधार, ऐसा अनुभव होता है।

उसके अति सामीप्य में ही दीर्घायु संभव है। भगवान् के उपासक सभी पूर्णायु से भी आगे दीर्घायु प्राप्त करते है। जिसको हम हृदय में अपना साथी अनुभव करते हैं उसी का ध्यान करते हैं यही गायत्री मंत्र का भाव है और पश्चात् हम सर्वभाव से नमन करके आत्मसमर्पण करते हैं। यह है वैदिक ईश्वर पूजा, जिसे करके मनुष्य सब के हृदयों में भगवान् के दर्शन करता है अर्थात् प्रत्येक प्राणी में ईश्वर का अनुभव करता है और अहिंसा और सत्य तथा अस्तेय को निभाता हुआ अपना श्रेष्ठ आचरण रखता हुआ अपरिग्रह की साधना करता है और समाज में सर्वहित में तत्पर रहता हुआ सर्वप्रिय होकर सफल मनोरथ होता है। यह है ईश्वर पूजा की स्वीकृति। ईश्वर पूजक को अवसाद नहीं होना चाहिये। ईश्वर पूजक की दृष्टि सदा अपनी उन्नति की ओर तथा सब की उन्नति में सहयोग देने की हो जाती है। ईश्वर भक्त ही का जीवन यज्ञरूप होता है क्योंकि वह सब में ईश्वर के होने का अनुभव करके सिवाय अनृत के किसी से भी विरोध नहीं करता। ईश्वर भक्त की जीवनचर्या भगवान् से स्वीकृत हो जाने पर भगवान् के गुण अपने में धारण करते करते ऐसी शोभनीय हो जाती है कि उसके सभी शुभ कार्य अनायास सम्पन्न हो जाते हैं यह है भगवान् की पूजा का प्रसाद, जो भगवान् अपने प्यारे भक्त को नित्य दिया करते हैं।

वैदिक ईश्वर पूजा जब निष्ठा विश्वास और श्रद्धा से की जाती है तो सर्वमंगल होता है भगवान् का उपासक कभी अशुभ कार्य नहीं करता उसके शुभ कर्मों की सफलता के लिए सदा भगवान् की आशिष, भगवान् का आशीर्वाद मिलता रहता है। वैदिक ईश्वर पूजा में आडम्बर नहीं, वह तो अपने आचार विचार संकल्प संक्षेपतः अपना जीवन व्यवहार ईश्वर को सौंपने से संपन्न होती है। जब मनुष्य अपने आपको अपने सारे कर्मों को भगवान् को अर्पण कर देता है तो उससे अनाचार होता ही नहीं। भला कोई भद्दी वस्तु किसी को भेंट करता है। जब जीवन ईश्वरार्पण हो गया तो वही विचार तथा कार्य होगा जो भगवान् को अर्चना में दिया जा सके। अतएव भावना शुद्ध होगी विचार पवित्र होंगे और स्वार्थ का मैल धुलते-धुलते मनुष्य का अन्तःकरण पूर्णतः शुद्ध हो जायगा। शुद्ध अन्तःकरण में दर्पण समान भगवान् का साक्षात् होता है और उसके अति सामीप्य में साधक परम प्रसन्न रहता है। यह है पूजा की वैदिक विधि जो सरल है, सीधी है। मैं इस लेख को वेद के मंत्र देकर बढ़ाना नहीं चाहता केवल यही नम्र निवेदन करूँगा कि हमें ऋषिकृत संध्या = उपासना विधिपूर्वक करनी सीखनी चाहिये और जो अनुभव हो वह आपस में एक दूसरे से मिलकर जाँचना चाहिये। वैदिक स्तुति प्रार्थना संध्योपासना में ईश्वर का अति सामीप्य होने से जीवन का विकास और सामर्थ्य बढ़ता है मनुष्य दीर्घायु होता है सदा चेतन रहता है और जगत् में महान् कार्यों को सफलता से संपन्न कर सकने से यशस्वी होता है।

वैदिक ईश्वर पूजा से मनुष्य बहुत शीघ्र ही अपना आप सम्यक् रूप से जान जाता है और भगवान् की प्रसन्नता प्राप्त करके उनकी प्रेरणा का भागी होता है। हमें ऋषि प्रोक्त आदेश मानकर मनन करके स्वीकार करना और धारण करना चाहिये इसी में सर्वोदय है सबका अभ्युदय और सबका कल्याण है॥

महर्षि दयानन्द की वेदार्थविषयक क्रान्ति और उसका निष्पक्ष विद्वानों पर प्रभाव

(लेखक—श्री पं० धर्मदेव सिद्धान्तालंकार विद्यावाचस्पति मन्त्री सार्वदेशिक धर्मार्य सभा देहली)

वेदवाणी के द्वितीय वेदाङ्क में इस विषय के लेख में मैंने लिखा था कि 'अनेक निष्पक्ष पाश्चात्य विद्वानों पर भी महर्षि दयानन्द की इस वेदार्थ विषयक क्रान्ति का प्रभाव पड़ा, इसे अनेक उदाहरणों द्वारा सिद्ध किया जा सकता है किन्तु उसके लिये दूसरे लेख की आवश्यकता होगी। इस लेख में मैं पाश्चात्य विद्वानों के ग्रन्थों से कुछ उद्धरण देना चाहता हूँ जिनसे उन पर महर्षि दयानन्द की छाप स्पष्ट प्रतीत होती है।

सबसे पहले मैं प्रो० मैक्समूलर को लेता हूँ जिसकी महर्षि दयानन्द की ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका के पश्चात् लिखी Six systems of Philosophy नामक पुस्तक का मैंने प्रथम लेख में निर्देश किया था। "India what can it teach us" Lecture III में प्रो० मैक्समूलर ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका का उल्लेख निम्न शब्दों में किया।

'We can divide the whole of Sanskrit literature beginning with the Rigveda and ending with Dayanand's introduction to this edition of Rigveda; his by no means uninteresting Rigveda Bhumika in two great periods."

अर्थात् हम संस्कृत साहित्य को जो ऋग्वेद से प्रारम्भ होता है और स्वामी दयानन्द की मनोरञ्जक ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पर समाप्त होता है दो बड़े कालों में विभक्त कर सकते हैं।

ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका को प्रो० मैक्समूलर ने 'By no means uninteresting' अर्थात् जो किसी प्रकार भी अमनोरञ्जक नहीं है इस रूप में स्मरण किया। इस पुस्तक में महर्षि ने स्थान-स्थान पर प्रो० मैक्समूलर (भट्ट मोक्षमूलर) के वेदादि विषयक विचारों की सप्रमाण आलोचना की थी। "ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः।" इस वैदिक सूक्ति के अनुसार कि सत्य का शब्द इतना तेजस्वी होता है कि वह बहरे के कानों पर भी अपना प्रभाव उत्पन्न किये बिना नहीं रहता, प्रो० मैक्समूलर पर भी उनका प्रभाव अवश्य पड़ा। जिस प्रो० मैक्समूलर ने अपने पूर्व लिखित ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि वेदों में अनेकेश्वरवाद (Polytheism) का प्रतिपादन है और जिसने वैदिक एकेश्वरवाद को स्वीकार न करते हुए Heno-theism अथवा Ratheno-theism इन नवीन शब्दों को घड़ा था उसे ही महर्षि दयानन्द के ग्रन्थ पढ़ने के पश्चात् अपने ग्रन्थ Six System of philosophy में यह लिखने को विवश होना पड़ा कि "What ever is the age when the collection of our Rigveda Sanhita was finished, it was before that age that the conception had been formed that there is but One, One being, neither male nor female, a Being raised high above all the condition and limitlations of personality and of human nature, and nevertheless the Being that was really meant by all such names as Indra, Agni, Matarishvan and the name Prajapati—Lord of creatures, In fact, Vedic poets had arrived at a conception of God-lord which was reached once more by some or the christian philosophers of Alexandria, but which even at present is beyond the reach of many who call themselves christians."

सारांश यह है कि ऋग्वेद संहिता की समाप्ति का जो कोई भी काल हो उससे पूर्व ही यह विचार बनाया जा चुका था कि एक परमेश्वर है जो एक ही है और न वह पुरुष है न स्त्री, जो व्यक्तित्व तथा मानव प्रकृति सभी सीमाओं और अवस्थाओं से अतीत है किन्तु इन्द्र, अग्नि, मातरिश्वा और प्रजापति आदि नामों से वस्तुतः वैदिक कवि परमेश्वर के उस उच्च स्वरूप को जान चुके थे जिसे पीछे जाकर अलेक्झेन्ड्रिया के कुछ तत्त्वज्ञानियों ने प्राप्त किया, किन्तु जो अब भी उनमें से बहुतों की पहुँच से परे है जो अपने को ईसाई कहते हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद के नासदीय सूक्त के (१०।१२९) के विषय में विचार करते हुए Six Systems of Philosophy में उसे मानवीय बुद्धि से परे की वस्तु वा ईश्वरीय तक माना है।

महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में तथा अन्यत्र वैदिक एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करते हुए ऋग्वेद के "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति, अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः" इस मन्त्र को विशेष रूप से उद्धृत करते हुए उसके श्री सायणाचार्य कृत अर्थ को अशुद्ध बताया था। सुप्रसिद्ध अंग्रेज विचारक Earnest Wood ने 'Mother India' उत्तर में लिखे हुए "An" Englishman defends mother India" नामक ग्रन्थ में इसके सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है

'In the eyes of the Hindus, there is but One supreme God, this was stated long ago in the Rigveda in the following words. "Ekam sad vipra bahudha vadanti." Which may be translated as 'The sages name the One Being variously.' (P. 128)

मि० अर्नस्ट वुड के इस लेख पर महर्षि दयानन्द की छाप स्पष्ट प्रतीत होती है।

कोलब्रुक (Colebrook) नामक पौरस्त्य-शास्त्र विशारद अंग्रेज महानुभाव ने भी Asiatic Researches Vol VIII P. 315 में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि—"The Ancient Hindu Religion as faunded on the Hindu Scripture (The Vedas) recognises but One God." अर्थात् हिन्दू धर्मशास्त्र (वेद) पर आश्रित प्राचीन हिन्दू धर्म एक ही ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है।

इसी प्रकार W. D. Brown नामक सुप्रसिद्ध अंग्रेज ने The Superionts of the Vedic Religion" नामकी अपनी पुस्तक में वैदिक धर्म के विषय में स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य लेख लिखा कि

"It recognises but One God. It is a thoroughly Scientific religion where religion and science meet hand in hand. Here theology is based upon science and Philosophy."

अर्थात् वैदिक धर्म एक ईश्वर की सत्ता को ही स्वीकार करता है। वह एक पूर्णतया वैज्ञानिक धर्म है जहाँ धर्म और विज्ञान हाथ में हाथ मिलाकर चलते हैं। यहाँ धार्मिक मन्तव्य विज्ञान और तत्त्वज्ञान पर आश्रित हैं।

इस पर महर्षि दयानन्द की गहरी छाप स्पष्टतया प्रतीत होती है। अन्यथा बहुत से पाश्चात्य विद्वान् गडरियों के गीत अथवा बच्चों की खिलखिलाहट ही कहा करते थे। रूस के सुप्रसिद्ध Count Byoursjerne ने अपनी "Theofony of the Hindus" नामक पुस्तक में वेदमन्त्रों के उद्धरण देकर जो यह लिखा कि—

'These timly sublime ideas can not fail to convince us that the Vedas recognise Only One God, who is Almighty, Infinite, Eternal, Self-edistent, the Light and Lord of the universe."

अर्थात् इन वस्तुतः अत्यन्त उत्कृष्ट विचारों से हम यह विश्वास किये बिना नहीं रह सकते कि वेद केवल एक परमेश्वर की सत्ता स्वीकार करते हैं जो सर्वशक्तिमान्, अनन्त, नित्य, स्वयम्भू और जगत् का प्रकाशक और स्वामी है।

जर्मनी के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्लीगल (Schlegal) ने अपनी "Wisdom of the Ancient Indians" नामक पुस्तक में प्राचीन भारतीयों के ईश्वर विषयक विचार के विषय में स्पष्ट लिखा कि 'It can not be denied that the early Indians possessed a knowledge of the true God. All their writings are replete with sentiments and expressions; noble, clear, lonely, grand, as deeply concived as in any human language in which men have spoken of their god."

[शेष टाइटल पेज ३ पर]

सायण का वेदार्थ

लेखक—श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु, मोतीझील काशी ।

याज्ञिक प्रक्रिया का शुद्ध स्वरूप बना रहता, तब तो कुछ भी हानि नहीं थी, त्रिविध प्रक्रिया में याज्ञिक प्रक्रिया भी एक है ही, तदनुसार भी मन्त्र का अर्थ होना ही चाहिये। पर सायणाचार्य ने तो अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों की प्रक्रिया को न जाने कैसे छोड़ कर केवल याज्ञिक प्रक्रिया-परक ही वेदमन्त्रों का अर्थ किया और वह भी अधूरा। अधूरा इसलिये कि सायण का वेदभाष्य केवल श्रौतयज्ञों की प्रक्रिया को लक्ष्य में रख कर ही किया हुआ है। गृह्यसूत्रों में विनियुक्त मन्त्रों के विषय में सायण का भाष्य कुछ एक स्थलों को छोड़ कर प्रायः कुछ भी नहीं कहता। गृह्य अर्थात् स्मार्त्त प्रक्रिया में भी तो वेद मन्त्रों का अर्थ होना ही चाहिये। इस प्रक्रिया के लिये हमें गृह्यसूत्रों के भाष्यकारों के किये वेदार्थ से वेदमन्त्रों के अर्थ देखने होंगे। ऐसी दशा में सायण भाष्य को याज्ञिक प्रक्रिया में अधूरा ही कहेंगे। इतना ही नहीं श्रौतप्रक्रिया के विषय में भी सायण कहाँ तक प्रामाणिक है, यह अभी साध्यकोटि में ही है। श्रौत विषय में भी सायण की अनेक भूलें हैं, जो कालान्तर या स्थानान्तर में दिखाई जा सकती हैं।

इसमें तो कुछ भी सन्देह नहीं कि सायणाचार्य ने अपने समय में वैदिक साहित्य में महान् प्रयास किया। वेदों के भाष्य तथा ब्राह्मणग्रन्थों और आरण्यकों के भाष्य बनाये। अन्य अनेक विषयों में भी बहुत से प्रौढ़तापूर्ण ग्रन्थ लिखे, चाहे वे सब उनकी अपनी कृति न हों, उनके संरक्षण में बने हों, पर उनका उत्तरदायित्व तो उन पर ही है। सायणाचार्य के इस प्रयास के लिये प्रत्येक वेदप्रेमी को उनका अनुगृहीत होना चाहिये। उनके वेदभाष्य में व्याकरण और निरुक्तादि का प्रयोग भी हमें पर्याप्त मात्रा में मिलता है। परन्तु मूलभूत धारणा के अनिश्चित वा भ्रान्त होने के कारण उनका मूल्य कुछ भी नहीं है और कई स्थानों में विरुद्ध भी है॥

जब सायणाचार्य के मन में यह मिथ्याधारणा निश्चित हो चुकी थी कि वेदमन्त्र यज्ञप्रक्रिया का ही प्रतिपादन करते हैं, ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक ही था कि वह अपना समस्त बल या प्रामाणादि सामग्री यज्ञप्रक्रिया के लिये ही समर्पित करते। जब ऐनक ही हरी पहन ली तो सब पदार्थ हरे दिखाई देने में आश्चर्य ही क्या हो सकता है !!! उपर्युक्त धारणा के कारण उसका वेदार्थ में अनेक अनावश्यक और आधाररहित सिद्धान्तों तथा परिणामों पर पहुँचना अनिवार्य था। उदाहरणार्थ पाठक देखें—

(१) सायण के वेदभाष्य में प्रायः सर्वत्र जहाँ-जहाँ मूलमन्त्र में 'जन' 'मनुष्य' 'जन्तु' 'नर' 'विट्' 'मर्त्त' आदि सामान्य मनुष्यवाचक शब्द आये हैं, वहाँ सर्वत्र निर्वचन के आधार को छोड़कर, वाच्यवाचक सम्बन्ध के सामान्य नियम की अवहेलना करके, सामान्य 'मनुष्य' अर्थ न करके 'यजमानादि' ही किया है।

जैसा कि—ऋ० १।६०।४ में **'मानुषेषु यजमानेषु'** ॥ ऋ० १।६८।४ में **मनोरपत्ये यजमानरूपायां प्रजायाम्'** ॥ **'मनुषः मनुष्यस्याध्वर्योः'** ऋ० १।१२८।१॥ **'जनान् यजमानान्'** ऋ० १।१४०।१२॥ **'जनानां यजमानानाम्'** ऋ० ५।१६।२॥ **'विशां यजमानरूपाणां प्रजानाम्'** ऋ० १।३१।१५॥ **'नरः कर्मणां नेतारोऽध्वर्य्वादयः'** ऋ० ३।८।६॥

भला बताइये इन मनुष्य-जन्तु-नर आदि शब्दों के अर्थ 'यजमान' ही हों, इसमें क्या नियामक है ? कारण क्या ? कारण यही कि यज्ञप्रक्रिया की ऐनक चढ़ी है। प्रत्येक मनुष्य यजमान या ऋत्विक् ही दिखाई दे रहा है। भला नेता या मननशील जो कोई भी हो, यह अर्थ क्यों नहीं लेते ? सायण होते तो उनसे पूछा जाता !!!

यह तो हमने अति स्थूल उदाहरण उपस्थित किया है। वह प्रायः करके अपनी उपर्युक्त मिथ्या धारणा के कारण अपने परिणामों पर पहुँचने के लिये सामान्य वैदिक परिभाषाओं की और नियत वैदिकनियमों तक की अपनी व्याख्या में आश्चर्यजनक असंगति दर्शाता है। आध्यात्मिक प्रक्रिया में मनुष्य का अर्थ मननशील कैसा सुन्दर बैठता है। इस वैदिक नियम को न जान कर सायण का किया हुआ अर्थ हृदयग्राही नहीं बैठता। सायण के वेदार्थ की मूल त्रुटि ही यह है कि वह सदा अपने वेदार्थ में (कर्मकाण्ड के भँवर) में ही फँसा रहता है और इसीलिये वेद के आशय को निरन्तर बलपूर्वक कर्मकाण्ड के संकुचित साँचे में ढालकर वैसा ही रूप देने का यत्न करता है। इसीलिये वह बहुत से मूलभूत सिद्धान्तों की अवहेलना कर

देता है, या उसे करनी पड़ती है जिससे प्रभु की पवित्र वेदवाणी के ऊँचे से ऊँचे, अर्थ में बाधा पड़ती है। उदाहरणार्थ—

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।
तवेत्तत् सत्यमङ्गिरः॥ ऋ० १।१।६॥

प्रियतम देव! शरणागत का कल्याण करना तुम्हारा सत्य व्रत है!!!

कैसा सुन्दर हृदयग्राही सन्तप्त हृदयों की आन्तरिक ज्वाला को एकदम शान्त करनेवाला, आत्मसमर्पण का, प्रभुप्रेम या प्रभुभक्ति में असीम निष्ठा का अद्भुत दृश्य है!!! चित्तवृत्तियों के निरोध और उससे आत्मस्वरूप में अवस्थिति का साधनभूत यह मन्त्र हमारे समक्ष है। 'ईश्वरप्रणिधानाद् वा' (यो० १।२३) योग दर्शन के इस सिद्धान्तानुसार केवल इस मन्त्र के अनुसार ही योग की प्राप्ति हो जाती है। ईश्वरप्रणिधानमात्र से भी चित्त-वृत्ति का सम्पूर्ण निरोध होता है। शास्त्र का यह वचन और उपर्युक्त मन्त्र का अभिप्राय सर्वथा एक ही है। मन्त्रगत भाव को ही महामुनि पतञ्जलि ने उपर्युक्त सूत्र में दर्शाया है॥

इस मन्त्र का उपर्युक्त भावनापूर्ण अर्थ महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के भाष्य में ही मिलेगा। पाठक उनके भाष्य में इस मन्त्र के अर्थ को देखें। सायणाचार्य ने इस मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार किया है—

'अङ्ग अग्ने त्वं दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय तत्प्रीत्यर्थं यद् भद्रं वित्तगृहप्रजापशुरूपं कल्याणं करिष्यसि। तद्भद्रं तवेत् तवैव...एतच्च सत्यं (व्रतं), नात्र विसंवादोऽस्ति। यजमानस्य वित्तादिसम्पत्तौ सत्यामुत्तरक्रत्वनुष्ठानेनाग्नेरेव सुखं भवति...'॥

अर्थात् हे अग्ने! तुम हविः प्रदान करनेवाले यजमान के लिये उसकी प्रीति के निमित्त धन गृह-प्रजा-पशु प्राप्ति रूप कल्याण करनेवाले हो। यह तुम्हारा सत्यव्रत है। इसमें कुछ भी विपरीतता नहीं.......इत्यादि॥

सायणाचार्य यदि जानते होते कि इस मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ भी है, तब वह इसका अर्थ वही न करते, जो किया है। उनके अर्थ का स्वरूप ही कुछ अन्य होता। सायण के अर्थ में—

(क) भौतिक अग्नि से ही सम्बोधन किया गया है॥

(ख) भौतिक अग्नि ही सब कल्याण का देनेवाला है॥

(ग) संसार में सबसे बड़ी कामना, या सबसे बड़ा कल्याण धन, ऊँची अट्टालिका, सन्तान और पशु भूमि आदि ही सायण के मत में हैं॥

(घ) आत्मिकसम्पत्ति का इसमें निर्देश तक नहीं, जैसे उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं॥

(ङ) हविः देने वाले यजमान का ही कल्याण होगा, जो शुभ कर्म अनुष्ठान करे उसका नहीं? हविः देने का स्वरूप क्या है? आहुति डालना मात्र ही तो!!!

भला बताइये जहाँ धन-गगनचुम्बीभवन-सन्तान और पशुओं की ही कामना की गई हो, वहाँ आत्मिक सम्पत्ति की कामना का नाम तक न आना स्वाभाविक है। कारण क्या? कारण यही कि सायण स्वयं आध्यात्मिकता से शून्य थे या भ्रम-वश वह यह नहीं समझ सके कि वेद में आध्यात्मिकता का भी निरूपण है॥

हविः देनेवाले का ही कल्याण 'अग्नि' करता है। गीता (४।२४, २५) में बताये गये आध्यात्मिक यज्ञ को भी भूल गये। हविःप्रदान का स्वरूप क्या है, इसपर तो कुछ प्रकाश डाला होता। ज्ञान ही न था तो डालते कहाँ से? ब्राह्मणों में (शत० ११।२।४।८ पृ० ५५६) बताये यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप का ही कुछ निर्देश कर दिया होता॥

इस सब में मौलिक भूल ही सर्वत्र अपना वैभव दिखा रही है कि वेद मन्त्र केवल याज्ञिक अर्थ को ही कहते हैं। यह बात हम अनुमान या अपनी ही कल्पना से कहते हों, यह बात नहीं। स्वयं सायणाचार्य ने ही ऋग्वेदभाष्य के उपोद्घात के प्रारम्भ में लिखा है—

आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा।
यजुर्वेदोऽथ हौत्रार्थमृग्वेदो व्याक्रियते॥
(सायण ऋ० भा० उपोद्घातारम्भे)॥

अर्थात् यज्ञों में अध्वर्यु के कर्मों की प्रधानता होने के कारण मैंने (अर्थात् सायण ने) प्रथम यजुर्वेद का व्याख्यान किया, इसके अनन्तर हौत्रकर्म के लिये ऋग्वेद का व्याख्यान किया जायगा॥

यहाँ पर सायणाचार्य ने स्पष्ट ही कहा है कि मैं यज्ञों में अध्वर्यु और हौत्रादि के कर्मों को बताने के लिये वेद का भाष्य कर रहा हूँ। सायण के सामने जैसे और कुछ था ही नहीं जिसके लिये कि वेदभाष्य करने की आवश्यकता हो॥

यदि वह यहाँ पर यह भी कह देते कि भाई! मैं तो केवल यज्ञपरक व्याख्यान कर रहा हूँ, शेष आध्यात्मिकादि अर्थों के लिये अन्य भाष्य को देखें जिसकी परम्परा सहस्रों

वर्षों से चली आ रही थी। तब भी वेदार्थ प्रक्रिया का लोप कदापि न होता ॥

आरम्भ से उठा कर अन्त तक देखा जाय तो सायण के सम्पूर्ण भाष्य में यही मौलिक भ्रान्ति सर्वांश में मिलेगी। इसका परिणाम यही हुआ और होना ही चाहिये था कि सायण भाष्य को पढ़कर किसी को भी वेद में श्रद्धा उत्पन्न नहीं हो सकती, और पढ़ने वाला कभी नहीं मान सकता कि वेद परमात्मा की बुद्धिपूर्वक कृति है या इसमें किन्हीं उच्चतम सिद्धान्तों, मानवसमाज सम्बन्धी उत्कृष्ट भावनाओं या आवश्यकीय विविध ज्ञान का प्रतिपादन है। जिज्ञासु एकदम निराश होकर ऐसे वेद से ही विमुख होने लगता है यह है सायणभाष्य की देन ॥

सायणाचार्य ने ऋषियों को, उनके विचारों को, उनकी संस्कृति को, उनकी अभीष्ट भावनाओं को ऐसे सारहीन संकुचित दरिद्रतापूर्ण रीति से उपस्थित किया है, कि यदि उसे स्वीकार कर लिया जाय, तो वह वेद के सम्बन्ध में भारतीयों की पवित्र उच्च भावना को, वेद की पवित्र प्रामाणिकता को, नहीं-नहीं वेद की दिव्य ज्योति को हेय बना देता है, और प्रत्येक व्यक्ति को यह प्रतीत होने लगता है कि सायण के भाष्यानुसार वेद उस समय की एक अन्धी और प्रश्न उठाये जाने के अयोग्य परम्परा है। जिसका कारण सायण की अपनी ही मिथ्या धारणा है ॥

इस विषय में हम एक अन्य दृष्टि से भी विचार करते हैं। हम देखते हैं कि सायण वेद में आये शब्दों के सूक्ष्म सङ्केत और उनके सूक्ष्म अन्तर को सर्वथा मिटा देता है। वेद में आये शब्दों के अधिक से अधिक स्थूल और सामान्य जो अर्थ होता है, वही कर देता है और उसके सब विशेषण जो उसके साथ लगे होते हैं जिनका लगाया जाना किसी गम्भीर सूक्ष्म कारण का निर्देश करता है, उनको वह एकदम भुला देता है या दूसरे शब्दों में यज्ञ-विषयक उपर्युक्त मिथ्या धारणा सायण को उन शब्दों के वास्तविक स्वरूप तक पहुँचने ही नहीं देती ॥

ऐसा प्रतीत होता है कि सायण का ध्यान वेद में आये शब्दों के विशेष्यविशेषणभाव की प्रक्रिया पर गया ही नहीं। एक ही मन्त्र में 'उर्वी पृथिवी' या 'पृथिवी, मही' में दो शब्द एक साथ आये हैं, दोनों ही पृथिवी के नाम हैं। एक ही शब्द पृथिवी अर्थ को कह रहा है दूसरे की क्या आवश्यकता है। दो शब्द पढ़ने से वेद में पुनरुक्त दोष आवेगा, इसलिये महाभाष्य के सिद्धान्तानुसार 'व्यर्थं सज्ज्ञापयति' व्यर्थ होकर इस बात को सिद्ध करता है कि इन दोनों में एक विशेष्य है एक विशेषण। यह निश्चय मन्त्रगत शेष पदों के अर्थ के समन्वय पर होगा ॥

दुःख से कहना पड़ता है कि इन अनिवार्य सूक्ष्मेक्षिकाओं के न होने से वेद के अर्थ का स्वरूप ही संसार से ओझल हो गया, और सायणभाष्य वेद की अन्तिम प्रामाणिक भित्ति बन गया ॥

इस विषय में हम कुछ अन्य उदाहरण भी उपस्थित करते हैं—

ऋ० १। ७७। १ में "नृणां नृतमोऽसि" ऋ० १। २७। १ में "अग्निं विप्रम्" ॥ ऋ० १। ६०। १ में "वह्निं द्विजन्मानम्" ॥ ऋ० १। १। १ में "अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्" ॥ ऋ० १। ४। ४ में "इन्द्रं विपश्चितम्" ॥ ऋ० १। ११। ४ में "युवा कविरमितौजाः······इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्त्ता"। ऋ० १। २४। ८ में "उरुं हि राजा वरुणश्चकार" ॥ ऋ० १। ४४। १० में "अग्ने··· असि ग्रामेष्वविता पुरोहितोऽसि यज्ञेषु मानुषः"

इन मन्त्रों में पाठक 'अग्नि' 'इन्द्र' आदि पदों के विशेषणों पर ध्यान दें। रूढिवाद की प्रक्रिया के अनुसार ये विशेषण आपाततः चैतन्यविशिष्ट आध्यात्मिक अर्थ को ही प्रकट कर रहे हैं, फिर भी घसीट कर भौतिक अर्थ में ही इन मन्त्रों के अर्थों की समाप्ति कर देना वेदार्थ का लोप करना या यौगिकप्रक्रिया के विषय में अपनी असीम अनभिज्ञता प्रकट करना नहीं, तो और क्या है? हमारे मत में तो यौगिकवाद को मान कर त्रिविधप्रक्रिया के आधार पर ये विशेषण तीनों में घट जाते हैं ॥

अग्ने॒ पूर्वा॒ अनू॒षसो॑ विभावसो दी॒देथ॑ वि॒श्वद॑र्शतः। असि॒ ग्रामे॑ष्ववि॒ता पु॒रोहि॑तो॒ऽसि॑ य॒ज्ञेषु॒ मानु॑षः ॥ ऋ० १। ४४। १० ॥

इस मन्त्र में अग्नि को विभावसु-विश्वदर्शनीय-ग्रामों में रक्षक-यज्ञों में पुरोहित-मानुष आदि कहा गया है। ये विशेषण भौतिक अग्नि में कैसे घट सकते हैं? मुख्य वृत्ति से तो ये सब विशेषण किसी चेतन में घट सकते हैं ॥

त्वम॑ग्ने॒ प्रम॑ति॒स्त्वं पि॒तासि॑ न॒स्त्वं व॑य॒स्कृत्तव॑ जा॒मयो॑ व॒यम्। सं त्वा॒ रायः॑ श॒तिनः॒ सं स॑ह॒स्रिणः॑ सु॒वीरं॑ यन्ति व्रत॒पाम॑दाभ्य ॥

ऋ० १।३१।१०॥

इस मन्त्र में अग्नि को प्रकृष्टमति-उत्कृष्टज्ञानवान् पिता–जिसकी सन्तान हम अपने आपको कह सकें–सुवीर–व्रतपा और असंख्य धनवाला इत्यादि गुणविशिष्ट कहा गया है। भला ये सब विशेषण रूढिवाद के अनुसार आपाततः भौतिक अग्नि में कभी घट सकते हैं ? ॥

भला इन मन्त्रों से ठोक-पीट कर या जबरदस्ती (बलात्) यज्ञ की बोली बुलवाना कहाँ तक सुसङ्गत है ? जब कि ऋग्वेद में आये बहुत से मन्त्रों का विनियोग ही नहीं। ऋग्वेद के मन्त्रों का विनियोग हौत्रकर्म में ही होना चाहिये। सम्पूर्ण दस हज़ार से अधिक मन्त्रों का विनियोग वाचस्तोमादि में करना अगतिकगति है। यह तो वैसा ही है, जैसे सम्पूर्ण चारों वेद की संहिताओं से स्वाहाकारान्त होम करना। उसे मुख्य विनियोग नहीं कहा जा सकता। सायण ने अपने भाष्य में अनेक मन्त्रों का विनियोग लैङ्गिक माना है। तथा बहुत से मन्त्रों का विनियोग स्मार्त कर्म में खोजने को कहा (देखो सायण भाष्य ऋ० १। १५, १७, १९, ३२, ३८, ३९, ४० इत्यादि अनेक स्थल हैं)। इस विनियोग के विषय में हम वेदवाणी वर्ष ६ के वेदाङ्क में विस्तार से कह चुके हैं। यहाँ तो हम इतना ही कहना चाहते हैं कि सब मन्त्रों को केवल यज्ञपरक अर्थ में घसीटना सायण भाष्य की यह दुर्भाग्यपूर्ण देन है। इससे वेद सभी सम्भव अर्थों से हट कर इस निम्नतम यज्ञपरक अर्थ के साथ बन्ध गया। सायण भाष्य का यह सबसे दुर्भाग्य पूर्ण परिणाम हुआ। दूसरा परिणाम यह हुआ कि सायण के भाष्य ने पुरानी मिथ्या धारणाओं पर प्रामाणिकता की मोहर लगा दी जो बहुत समय तक, जब तक कि बड़ा भारी प्रयास न किया जावे, दूर नहीं हो सकती ॥

वेदार्थ के विषय में भ्रान्ति उत्पन्न करने में सायण का भाष्य मुख्य कहा जा सकता है। सायणाचार्य से पूर्व और भी वेदभाष्यकार हो चुके थे (जिनका वर्णन हम पूर्व कर चुके हैं) जिन्होंने "वेद का अर्थ यज्ञपरक ही होता है" इस मिथ्याधारणा के फलस्वरूप अपने भाष्य यज्ञपरक ही किये हैं। यद्यपि ये लोग भी वेदार्थ की यथार्थ प्रक्रिया के लोप के उतने ही कारण कहे जा सकते हैं जितना कि सायण। तथापि उनके भाष्यों में वेदार्थ-प्रक्रिया के किन्हीं सिद्धान्तों का निर्देश कहीं-कहीं मिलता तो है, जैसा कि हम अन्यत्र दर्शा चुके हैं। परन्तु सायण ने तो उन निर्देशों का भी लोप ही कर दिया, जिससे वेदार्थ का स्वरूप शताब्दियों के लिये लुप्त हो गया ॥

सायण भाष्य की इस मौलिक मिथ्याधारणा का क्या परिणाम हुआ, सो हम अभी कभी दर्शावेंगे। इस समय हम यह दर्शाना चाहते हैं कि सायण की उपर्युक्त मिथ्याधारणा का मिथ्यात्व कहाँ तक ठीक है ॥

सायणाचार्य वेदार्थ तक नहीं पहुँचा

हमारा पूर्वोक्त विवेचन ही इस बात के सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। सब मन्त्रों का तीन प्रकार का अर्थ होता है। इतने से ही सायण का सारा वेदार्थ तीसरा भाग रह जाता है। शेष दो भाग (आध्यात्मिक तथा आधिदैविक) में उसकी अनभिज्ञता वा अपूर्णता स्पष्ट सिद्ध है ॥

त्रिविधप्रक्रिया की अवहेलना ही वेदार्थ में एक ऐसी हिमालय जैसी भूल है, जो कदापि क्षन्तव्य नहीं हो सकती। सायण की भूल की समाप्ति यहीं पर नहीं हो गई। उनकी अन्य मौलिक भूलों का निर्देश भी करना हम आवश्यक समझते हैं—

(१) यज्ञ में अध्वर्यु आदि के कर्मों को बताने के लिये ही वेदभाष्य करता हूँ, ऐसा सायण ने कहा है। (देखो सायण ऋग्वेद भाष्य के उपोद्घात के प्रारम्भ में) ॥

(२) सायण सामवेदभाष्य भूमिका के प्रारम्भ में—

"यज्ञो ब्रह्म च वेदेषु द्वावर्थौ काण्डयोर्द्वयोः।
अध्वर्युमुख्यैर्ऋत्विग्भिश्चतुर्भिर्यज्ञसम्पदः॥ ६॥

इसमें वेद के मन्त्रों का अर्थ यज्ञपरक तथा ब्रह्मपरक माना। हमें तो सायण के इस लेख से अति प्रसन्नता हुई कि चलो ब्रह्मपरक अर्थ नहीं किया तो न सही, ब्रह्मपरक अर्थ का निर्देश तो कर ही दिया है। पर हमारी यह प्रसन्नता अधिक देर न रह सकी, जब हमने काण्व-संहिता भाष्य की भूमिका में सायण का यह लेख देखा—

"तस्मिंश्च वेदे द्वौ काण्डौ कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च। बृहदारण्यकाख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डस्तद्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोर्ग्रन्थयोः कर्मकाण्डत्वम्, तत्रोभयत्राधानाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपाद्यत्वात्" ॥

यहां पर सायण शतपथब्राह्मण ही नहीं, अपितु 'संहिता' में भी "दर्शपूर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपाद्यत्वात्" इस वचन से केवल दर्शपूर्णमासादि यज्ञ कर्मों का ही प्रतिपादन मात्र मानता है। पाठक विचार करें कि स्कन्दस्वामी की त्रिविधप्रक्रिया जिसे वह यास्काभिमत मानता है, उपस्थित होने पर भी, सायण 'नहि स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति' या 'पश्यन्नपि न पश्यति' देखता हुआ भी नहीं देखता, यही तो कहना पड़ेगा। क्या सायण ने स्कन्द का भाष्य देखा ही नहीं होगा, यह कभी हो सकता है ? जब कि इस समय भी सैकड़ों वर्ष पीछे सायण को

जन्मभूमि दक्षिण प्रान्त में ही स्कन्द की निरुक्त टीका मिली है ॥

कुछ भी हो सायण वेदार्थ की दीवार बन गया। इतनी ऊंची, और इतनी दृढ़ कि किसी को लांघने का साहस नहीं होता था, पर प्रभु की असीम कृपा से आचार्य दयानन्द उस दीवार को लांघ गये, और उनकी कृपा से आज हम शास्त्र के आधार पर लांघ रहे हैं ॥

(३) सायण ने ऋग्भूमिका में मीमांसा के सिद्धान्तानुसार वेद में अनित्य इतिहास या व्यक्तिविशेषों के इतिहास का निषेध करके भी अपने वेदभाष्य में यत्र तत्र सर्वत्र अनित्य व्यक्तियों का इतिहास स्पष्ट दर्शाया है ॥

(४) देखिये सायण ऋग्भूमिका में—

(क) "शतंहिमा इत्येतद् व्याख्येयमन्त्रस्य प्रतीकम्, अवशिष्टं तु तस्य तात्पर्यव्याख्यानम्" ॥

(ख) "शतपथब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वाद् व्याख्येयमन्त्रप्रतिपादकः संहिताग्रन्थः पूर्वभावित्वात् प्रथमो भवति" ॥ सायण काण्वभूमिका ॥

इन दोनों स्थलों में शतपथ को मन्त्र का व्याख्यान मान कर भी "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" (ऋगादिभाष्यभूमिका) की ही रट लगाई है ॥

इतिहास तथा वेदलक्षणविषय के परस्पर विरोध को देख कर भला कौन थोड़ासा ज्ञान रखनेवाला भी सायण की विद्वत्ता का प्रशंसक हो सकता है ? इन विषयों में वास्तव में सायण के मन में सन्देह ही बना रहा, आध्यात्मिक भावना थी नहीं, नहीं तो आचार्य दयानन्द की भांति १८-१८ घण्टे समाधि द्वारा वेदार्थ के इन परमावश्यक मौलिक सिद्धान्तों का निर्णय आत्मा में करता, तब लिखता तो ठीक था ॥

जैसा कि आजकल भी बहुत से व्यक्ति वेद का स्वाध्याय आरम्भ करते हैं, तो साथ ही उस विषय में ग्रन्थ छापना भी आरम्भ कर देते हैं। "स्वयं नष्टः परान् नाशयति" जो स्वयं ही अनिश्चित है, वह भला दूसरों को निश्चित ज्ञान कैसे दे सकता है ?

यदि यह अनिश्चयात्मकता सायण के हृदय में न होती, यथावत् व्यवसायात्मक बुद्धि से वेदभाष्य करता तो संसार का महान् उपकार होता। इस अनिश्चयात्मकता के कारण ही उसके "तस्मात् सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते। यद्यपि इन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैवेन्द्रादिरूपेणावस्थानात्"...सायण ऋग्भाष्य भूमिका॥ अर्थात् परमेश्वर के ही इन्द्रादि रूप में होने से यह सब ईश्वर की ही स्तुति है। सायणाचार्य अपनी इस बात पर भी दृढ़ न रह सका। यह बात हम आचार्य दयानन्द में ही पाते हैं। जो बात लिखी निश्चयात्मकता से लिखी। संसार को सन्देह में नहीं डाल गये। किसी विषय पर न लिखा हो, यह दूसरी बात है ॥

इस प्रकार की अन्य भी अनेक बातें दर्शाई जा सकती हैं, जिनसे प्रत्येक निष्पक्ष विद्वान् को इसी परिणाम पर पहुँचना होगा और हम इस विवेचना से इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि सायण वेद के मौलिक अर्थों तक नहीं पहुँच सका। सायण की हिमालय जैसी ये मौलिक भूलें कदापि क्षन्तव्य नहीं हो सकतीं ॥

सायण का वेदार्थ वेदार्थ की कसौटियों पर ठीक नहीं ठहरता, पाठक यह बात स्वयं अपनी दृष्टि से देखें ॥

सायण की भूल के दुष्परिणाम

यह भूल सायण तक ही रह जाती या शताब्दियों तक भारत तक ही यह भूल रह गई होती, तब भी कोई बात नहीं थी। इसके परिणाम बड़े भयङ्कर हुए। यह ठीक है कि महात्मा बुद्ध के काल में भी यज्ञयागादि की इस प्रधानता ने ही बुद्ध जैसे महापुरुष, पवित्रहृदय महात्मा को यह कहने पर बाधित कर दिया था कि मैं ऐसे वेदों को मानने को तत्पर नहीं, जिनमें पशुहिंसा का विधान हो ॥

विदेशीय राज्य की रक्षा को लक्ष्य में रख कर या पीछे से भाषाविज्ञान में विशेष जानकारी प्राप्त करने के विचार से संस्कृतभाषा में सामान्यतया और वेदविषय में विशेषतया लगने वाले योरुप-अमेरिकादि देशों के अनेक विद्वानों को भी (और कोई वेदार्थ उपलब्ध न होने से) सायण का ही अनुगामी बनना पड़ा और जो-जो सायण के भाष्य में पुरानी मिथ्या बातों वा मिथ्या धारणाओं पर प्रामाणिकता की मोहर लग चुकी थी, उसीके पीछे विदेशी विद्वानों का समूह चला। ऐतिहासिकवाद के विषय में सायण से पूर्व आचार्य स्कन्द स्वामी का "एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या। औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयः" यह सिद्धान्त चला आता था और जो प्रत्येक मन्त्र का तीन प्रकार का अर्थ होता है, यह धारणा परम्परा से स्कन्द के काल तक चली आई थी। सायण ने उनका उल्लेख भी अपने भाष्य में किया होता, तब भी वेदार्थ की मौलिक धारणायें किसी प्रकार जीवित रह जातीं। तब इन विदेशीय स्कालरों को

[शेष टाइटल पेज ३ पर]

आर्ष-ग्रन्थ और आर्य-संस्कृति

लेखक—श्री पं० भगवद्दत्तजी रिसर्च स्कालर, देहली

आर्ष-ग्रन्थों के सम्बन्ध में तो आर्यसमाज बहुत ही उदासीन है। आर्यसमाज ने अनेक गुरुकुल चलाए, पर आर्ष ग्रन्थों द्वारा साङ्गोपाङ्ग वेद-शिक्षा का प्रबन्ध कहीं भी नहीं किया। यह सत्य है कि आर्ष-ग्रन्थों के श्रेष्ठ अध्यापकों का इस समय अभाव-सा है, परन्तु श्रेष्ठ अध्यापक विपुल धन-व्यय से ही बनेंगे। उन्हें, यदि वे गृहस्थ हैं, और सारा जीवन वेद के अध्ययन में अर्पण कर रहे हैं तो वेतन भी ३०० या ४०० रुपये मासिक से कम नहीं देना होगा। फिर उन्हें स्वतन्त्र स्वाध्याय के लिये समय भी बहुत मिलना चाहिए। वे तो सारे दिन में दो घण्टे ही अध्यापन कार्य करेंगे।

प्रश्न—इतना धन कहाँ से आएगा?

उत्तर—हम पहले ही लिख चुके हैं कि आर्यसमाज को प्रधानता से अंग्रेजी शिक्षा देने वाली सब संस्थाएँ बन्द करनी पड़ेंगी। उनका सारा रुपया अथवा जिस शक्ति से उनके लिए रुपया आता था, वह रुपया और वह शक्ति संस्कृत विद्यालयों के सञ्चालन में लगानी होगी। ऐसे विद्यालय एक-एक प्रान्त में एक-दो से अधिक नहीं होने चाहियें। फिर सब काम चल सकेगा। वेद और आर्ष-ग्रन्थों का भूरि प्रचार होगा।

प्रश्न—प्रत्येक नगर या ग्राम के आर्य-समाज की यह इच्छा होती है कि उनके अधिकार में भी कोई संस्था रहे।

उत्तर—यह इच्छा स्वार्थवश हुई है। अनेक लोग उन संस्थाओं के सञ्चालक बन कर अपना स्वार्थ पूरा करते हैं। उनको ऋषि दयानन्द सरस्वती के ध्येय का कोई ध्यान नहीं। और कोई भोले लोग तो देखा-देखी ऐसा कर रहे हैं। उनका दोष अधिक नहीं। आर्य-समाज को ही अपनी पूर्ण रुचि वेदादि शास्त्रों की ओर करनी पड़ेगी।

ऋषि दयानन्द सरस्वती ने अपने स्वीकारपत्र में यह स्पष्ट लिखा है कि परोपकारिणी सभा को आर्ष-ग्रन्थों का प्रकाशन करना चाहिए।[1] इस विषय में इस सभा ने अभी तक कोई स्तुत्य कार्य नहीं किया। ऋषि दयानन्द सरस्वती सदा आर्ष-ग्रन्थों को पढ़ते रहते थे। उन्हें उनकी आवश्यकता प्रतीत होती थी। पर परोपकारिणी सभा के अधिकांश सदस्य इस विषय में कोरे हैं, उन्हें अब कौन समझाए।

प्रश्न—संस्कृति किसे कहते हैं।

उत्तर—किसी जाति के सर्वोच्च और दिव्य-पुरुषों के सर्वपुनीत और श्रेष्ठतम विचार या उनका ज्ञान-समूह जब मनुष्यों के व्यवहार में आता है तो उसे संस्कृति कहते हैं। संसार और आर्यजाति का श्रेष्ठतम ज्ञान वेद है। वह ज्ञान मनुष्य के मस्तिष्क की उपज नहीं। वह सर्वज्ञ सर्वात्मा ईश्वर का ज्ञान है और शब्द, अर्थ, सम्बन्ध रूप से अनादि है। उसका मान प्रत्येक मनुष्य को होना चाहिए। इस समय उस ज्ञान की प्रतिनिधि-आर्यजाति है।

वेदज्ञान से उतरकर आर्ष-ज्ञान का स्थान है। ऋषि अर्थात् 'क्रान्तदर्शी' त्रिकालज्ञ लोग ईश्वर तो नहीं, पर मनुष्यों से सर्वथा ऊपर होते हैं। वात्स्यायन मुनि न्यायभाष्य में लिखते हैं—ऋष्यार्यम्लेच्छानां अर्थात् ऋषि, आर्य और म्लेच्छों का। इससे ज्ञात होता है कि भूतल पर ऋषि एक पृथक् ही श्रेणी है। वे आर्य और म्लेच्छों से बहुत उच्च हैं। ऐसे ऋषि ब्रह्मा, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, स्वायम्भुव मनु, कपिल और हिरण्यगर्भ आदि इस सतयुग के आरम्भ से होते आए हैं। उन्होंने भी वेद से ही सारे ज्ञान लिए। उनकी योगज शक्ति उनकी सहायक थी। उन ऋषियों ने वेद के आश्रय पर जो ज्ञान और व्यवहार मनुष्यमात्र को सिखाया, वही वस्तुतः संसार की वास्तविक संस्कृति है। उसी संस्कृति का पुनरुद्धार करनेवाले भगवान् दयानन्द सरस्वती थे।

प्रश्न—श्री जवाहरलाल जी कहते हैं—अब पुरानी बातों को, पुरानी संस्कृति को छोड़ो। अब एक नई संस्कृति उत्पन्न की जाएगी।

उत्तर—वे अपने अल्पज्ञान के कारण ही ऐसा कहते हैं। उन्होंने केवल पाश्चात्य-विचार का ही

१. तथा देखो, ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पूर्णसंख्या ४३६, उपदेश ५।

थोड़ा-सा अध्ययन किया है। प्राचीन भारतीय इतिहास जो यहाँ की संस्कृति का परिचायक है, उन्होंने नहीं पढ़ा। वे तो आर्यों को भारत का आदि-वासी ही नहीं समझते। उन्हें वेद के महत्त्व का अणुमात्र भी ज्ञान नहीं है। अतः उनका ऐसा कथन विद्वानों के सम्मुख उपहासास्पद है। जवाहर-लाल जी ने आज तक एक भी स्वोपज्ञ विचार प्रकट नहीं किया। उन्होंने तो सोवियट रूस आदि का ही अनुकरण करके कुछ बातें कही हैं। मौलिक विचार रखने के अभाव में वे नवीन संस्कृति उत्पन्न करने का स्वप्नमात्र देखते हैं।

प्रश्न—आर्य संस्कृति में आर्षग्रन्थों का इतना आदर क्यों है?

उत्तर—ऋषियों का ज्ञान बाह्य इन्द्रियों की सीमाओं से परे हो जाता है। वे क्रान्तदर्शी और प्रायः त्रिकालज्ञ हो जाते हैं। उनका सारा उपदेश मानव के हितार्थ होता है। वह वेद का व्याख्यान-मात्र ही होता है। उसमें भ्रान्ति नहीं होती। वह इस लोक और परलोक से सम्बन्ध रखता है। वर्तमान मनुष्य का विचार अनुभव और प्रयोग का फल है। इसीलिए उसमें पद पद पर भ्रान्ति है। परन्तु ऋषि इससे ऊपर हैं। जो कोई आर्य संस्कृति को पहचानेगा, उसे ऋषि दयानन्द सरस्वती के कथन की सत्यता ज्ञात हो जाएगी। ऋषियों के पश्चात् मुनियों के ग्रन्थ हैं। मुनियों के ग्रन्थ उपादेय तो होते हैं, परन्तु उनमें यत्रतत्र भूल रह सकती है। वे क्रान्तदर्शी नहीं होते। इसके पश्चात् मनुष्यरचित ग्रन्थों का स्थान है। वर्तमान सारा संसार केवल इन्हीं के आश्रय पर चलता है, अतः दुःख पा पा रहा है।

प्रश्न—वेद और आर्ष-ग्रन्थों का मान गत २० वर्षों से भारत में बहुत ही न्यून हो गया है। इसका क्या कारण है

उत्तर—इसका एक कारण अंग्रेजी शिक्षा है। आज भाषा-साहित्य पर भी अंग्रेजी की गहरी छाप पड़ चुकी है। अंग्रेजी अथवा भाषा का कोई ग्रन्थ उठाओ, उसमें आपको कहीं न कहीं यह भाव अवश्य मिलेगा कि मनुष्य उन्नति कर रहा है। वह पहले युगों में थोड़ा उन्नत था और अब दिन-दिन अधिक उन्नति कर रहा है। प्रारम्भ से इस विचार में पले हुए लोग सत्य से बहुत दूर हो गये हैं। इसीलिए उनके हृदय में पुरातन ज्ञान का आदर न्यून हो रहा है"।

इसका दूसरा कारण है गान्धीवाद। आर्यजाति सदा से शब्दप्रमाण को माननेवाली रही है। गान्धीजी ने अंग्रेजी शिक्षा से प्रभावित होने के कारण शब्द प्रमाण की अवहेलना की है। गान्धीजी विकास-सिद्धान्त को माननेवाले हैं। वे लिखते हैं—

सम्पूर्ण अन्य बातों की तरह महजबी विचार भी उसी विकास-सिद्धान्त के अधीन हैं, जो कि इस सृष्टि की हर एक वस्तु पर लागू है।

(यङ्ग इण्डिया, ४ सितम्बर सन् १९२४।) इस असत्य को मानने के कारण ही गान्धीजी ने अनेक भूलें की हैं। सामूहिक रूप से तो संसार वस्तुतः ह्रास की ओर जा ही रहा है। गत दो सौ वर्षों में जो कतिपय यन्त्र बने हैं, ये पुरातन-ज्ञान का एक अंशमात्र भी नहीं हैं। इन्हें देख-सुनकर केवल पाश्चात्य शिक्षा में पला व्यक्ति आश्चर्यचकित हो जाता है। वह विकास-सिद्धान्त को मानने लगता है। उसे संसार के सहस्रों वर्ष पुराने ज्ञान का पता ही नहीं है। वह युग-युग के ह्रास से सर्वथा अपरिचित है। यही हेतु है कि प्राचीन ज्ञान को न जानने के कारण गान्धीजी ने उसकी प्रामाणिकता नष्ट करने का पूरा प्रयत्न किया है। जब आर्य लोग आर्य इतिहास को भले प्रकार पढ़ेंगे, तो उन्हें गान्धी जी का मत सर्वथा निःसार प्रतीत होगा। वे समझेंगे कि गान्धीजी ने यह भारी अनिष्ट किया था। साधारण व्यवहार तो मनुष्यबुद्धि से चल सकता है, पर उच्च सत्य के जानने में मनुष्यबुद्धि प्रमाण नहीं है। वह तो वेद और आर्षज्ञान द्वारा ही जाना जा सकता है।

[शेष टाइटल पेज २ पर]

वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन

(लेखक—युधिष्ठिर मीमांसक, मोतीझील, काशी)

[गताङ्क से आगे (४)]

प्राजापत्या श्रुतिर्नित्या तद्विकल्पास्त्विमे स्मृताः। ६१।७१

अर्थात् प्रजापति से प्राप्त श्रुति पाठ नित्य है। शाखाभेद से विभिन्न पाठ उसी प्राजापत्य नित्य श्रुति के विकल्प = पाठान्तर मात्र है।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि शाखाओं के विभिन्न पाठान्तरों का अर्थ समान है। इस दृष्टि से शाखामन्त्रों में जहां जहां ऐतिहासिक नाम आये हैं मन्त्रार्थ की दृष्टि से उनका तात्पर्य भी सामान्य ही लेना होगा, अन्यथा 'कुरवः, भरताः पञ्चालाः' का एक अर्थ कैसे हो सकता है? एकार्थ की उपपत्ति के लिये इनका धात्वर्थ के अनुसार अर्थ किया जावे तो ये मनुष्यसामान्य के वाचक बन जायेंगे। इस का यह अभिप्राय नहीं कि शाखामन्त्रों में पाठान्तर रूप में आये ऐतिहासिक पदों का कोई मूल्य नहीं। ऐतिहासिक दृष्टि से उनका बड़ाभारी मूल्य है, परन्तु वेदार्थ की दृष्टि से इन ऐतिहासिक व्यक्ति जाति वाचक पदों का कोई मूल्य नहीं है।

उत्तर काल में जब शाखाएं ब्राह्मणग्रन्थ और उपनिषदें ये सब वेद माने जाने लगे और इन्हें भी अपौरुषेय वा महाभूतनिःश्वसित समझा जाने लगा, तब शाखामन्त्रों में पाठान्तररूप से आये ऐतिहासिक पदों के समान ब्राह्मण भाग में श्रुत ऐतिहासिक पदों का भी सामान्य अर्थ किया जाने लगा। मीमांसा के व्याख्याता शबर स्वामी आदि ने 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' (तै० सं० ७।१।१०।२) इत्यादि पदों का इसी प्रकार का अर्थ दर्शाया है[1]। अर्थात् जो सिद्धान्त प्राचीन काल में केवल शाखामन्त्रों के विशिष्ट पदों के अर्थ करने में स्वीकार किया जाता था, उस का अतिदेश उन्हों ने ब्राह्मण वचनों में भी कर दिया, जो कि न केवल अनुचित ही है, अपि तु याज्ञिक प्रक्रिया के इतिहास के विरुद्ध भी है।

६—भाषाविज्ञान-प्रक्रियानुसारी वेदार्थ

वेदार्थ की अन्तिम महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है भाषाविज्ञान। इस प्रक्रिया के अनुसार वेद के विभिन्न सन्दिग्ध पदों का अर्थ करने के लिये विभिन्न देशों की भाषाओं की शाब्दिक, आर्थिक और व्याकरण सम्बन्धी साम्यता को मुख्य आधार स्वीकार किया जाता है। यद्यपि इस प्रक्रिया का उद्भव विक्रम की २० वीं शताब्दी में माना जाता है, परन्तु यह प्रक्रिया एतद्देशीय विद्वानों के लिये नवीन नहीं है, यह अनुपद ही व्यक्त हो जायेगा। हां, मध्यकाल में जब भारतीय भाषा परिवार से भिन्न म्लेच्छभाषा के अध्ययनाध्यापन पर धार्मिक प्रतिबन्ध लगा दिया गया,[2] तब यह प्रक्रिया लुप्त होगई।

सम्प्रति जिसे भाषाविज्ञान कहा जाता है, इस का पुरातन नाम "निरुक्त शास्त्र" है। निरुक्त शास्त्र का मुख्य प्रयोजन वैदिक शब्दों के निश्चित अर्थों का[3] ज्ञान कराना है। दूसरे शब्दों में अमुक शब्द का अमुक अर्थ क्यों होगया, इसकी उपपत्ति दर्शाना ही निरुक्त शास्त्र का प्रयोजन है।[4] शब्दों की वर्णानुपूर्वी समान होने पर भी उनके अर्थों में महद् अन्तर होता है, इसलिये उनके विभिन्न अर्थों के मूल कारणों को व्यक्त करने के लिये ही निरुक्त शास्त्र में एक शब्द की अनेक व्युत्पत्तियां दर्शाई हैं।[5]

१—मीमांसाभाष्य १।१।३१॥ २—न वदेद् यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि।

३—अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते। निरुक्त १। १५॥

४—यथा—'पाद' शब्द का प्रयोग मनुष्य-पशु-पक्षी आदि का पैर, मनुष्य आदि के पैर का मिट्टी में पड़ा चिह्न ('सोमक्रयिण्याः सप्तमं पदं गृह्णाति' मी० शा० भाष्य ४।१।२५ में उद्धृत), चतुर्थभाग और भागमात्र (मी० दर्शन के अ० ३, ६, १० में ८ पाद हैं) अर्थों में होता है। इन विभिन्न अर्थों का कारण निरुक्तकार ने इस प्रकार दर्शाया है—'पादः पद्यतेः, तन्निधानात् पदम्, पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः, प्रभागपादसामान्यादितराणि पदानि।

५—निरुक्तकार ने जहां अनेक प्रकार से व्युत्पत्तियां दर्शाई हैं वहां उसने 'वा' शब्द का भी प्रयोग किया है। उसे देख कर आधुनिक विद्वान् कहते हैं कि निरुक्तकार को जहां पदों का वास्तविक निर्वचन ज्ञात नहीं था, वहां उसने अटकलपच्चू निर्वचन करके अपने सन्देह को व्यक्त करने के लिये 'वा' पद का प्रयोग कर दिया। आधुनिक विद्वानों का यह मत नितान्त अयुक्त है। निरुक्तकार ने अनेक धातुओं से व्युत्पत्ति वहीं दर्शाई है, जहां उन अर्थों के मूल कारण पृथक् पृथक् थे। उन पृथक् पृथक् कारणों को बतलाने के लिये यास्क यदि व्युत्पत्त्यन्तर न दिखता तो और क्या करता। इस बात को स्पष्ट करने के लिये हम हिन्दी के दो शब्द उपस्थित करते हैं—काम, घण्टी। हिन्दी में काम शब्द के अर्थ हैं-कामना = विषयवासना और कर्म = क्रिया। इन दो अर्थों का मूल कारण बताने के लिये 'कमु कान्तौ' और 'डुकृञ् करणे' इन दो धातुओं से व्युत्पत्ति दर्शानी ही होगी, क्योंकि हिन्दी के काम शब्द के दो मूल हैं। एक संस्कृत का 'कमु कान्तौ' धातु से निष्पन्न 'काम' शब्द और दूसरा 'डुकृञ् करणे' से निष्पन्न 'कर्म' शब्द। संस्कृत का एक 'काम' शब्द विना किसी परिवर्तन के हिन्दी में पहुँच गया और दूसरा संस्कृत का 'कर्म' शब्द

यास्कीय निरुक्त के 'अथ निर्वचनम्' प्रकरण (२।१-४) की तुलना आधुनिक भाषाविज्ञान के नियमों से करने पर स्पष्ट विदित होता है कि यास्क ने साम्प्रतिक भाषाविज्ञान के न केवल उन सभी नियमों का आश्रयण किया है जिन्हें विक्रम की २० वीं शताब्दी की उपज समझा जाता है, अपितु ध्वनिविकार के कई ऐसे नियम दिए हैं, जिन्हें आधुनिक भाषाशास्त्री अभी तक स्वीकार नहीं कर पाये, किंतु भाषा में वे ध्वनिविकार स्पष्ट देखे जाते हैं[1]। जहाँ तक हमने आधुनिक भाषाविज्ञान के नियमों का अनुशीलन किया है, उसके अनुसार कहा जा सकता है कि यास्क के भाषाविज्ञान-निर्वचन शास्त्र के नियम अधिक व्यापक और पूर्ण हैं। भारतीय विचारक उनको गहराई से न देखें, तो यह हम लोगों का दोष है।

अर्वाचीन और प्राचीन भाषाविज्ञान में एक मौलिक भेद है। आधुनिक भाषाविज्ञानवादी अति पुरातन काल में अर्थात् किसी समय भी समस्त मानव जाति की एक भाषा स्वीकार नहीं करते। उन्होंने आधुनिक समस्त भाषाओं को भारतयोरोपीय, सेमिटिक, हैमिटिक आदि अनेक विभागों में बाँटकर उसकी मूलभूत अनेक विभिन्न भाषाओं की कल्पना की है। भारतीय प्राचीन भाषातत्त्वविदों का मत है कि समस्त मानव जाति का मूल एक है। एक स्थान से ही समस्त विश्व में मानव जाति का विस्तार हुआ है। इसलिए समस्त मानव जाति की आदि मूल भाषा एक है और वह है प्राजापत्या दैवी वाक् अर्थात् संस्कृत भाषा। उसी दैवी वाक् में राजसिक तामसिक पदार्थों के अतिसेवन तथा देशकाल के परिवर्तन के कारण जिह्वाशक्ति में विकलता आ जाने से तथा वर्णोच्चारण शास्त्र पर विशेष ध्यान न देने के कारण ध्वनि में परिवर्तन होकर "म्लेच्छ" भाषा की उत्पत्ति हुई। म्लेच्छ शब्द का मूल अर्थ अव्यक्तोच्चारण ही है—"म्लेच्छ अव्यक्ते शब्दे"। इसी अव्यक्तोच्चारण के कारण अव्यक्तोच्चारण करनेवाले भी म्लेच्छ कहाये। अतएव भारतीय वाङ्मय के सर्वातिप्राचीन ग्रंथ मनुस्मृति में भाषा के केवल दो ही विभाग लिखे हैं—आर्यवाक् और म्लेच्छवाक्[2]। इस दृष्टि से समस्त संसार की भाषाएँ प्राजापत्या दैवी वाक् के अपभ्रंश = म्लेच्छ = क्लिष्ट उच्चारण से उत्पन्न हुई हैं। अतः सब भाषाओं में शाब्दिक आर्थिक और व्याकरण सम्बंधी नियमों की कुछ साम्यता होनी अवश्यंभावी है। पाश्चात्य भाषाविज्ञानवित् जिन सेमेटिक भाषाओं का मूल भारतयोरोपीय भाषाओं के मूल से पृथक् मानते हैं, उनमें से अरबी भाषा में संस्कृत भाषा के साथ एक ऐसी

प्राकृत में 'कम्म' होकर 'काम' रूपमें परिवर्तित हुआ (प्राकृत का 'कम्म' हिन्दी के 'निकम्मा' शब्द में तथा पंजाबी में अभी तक प्रयुक्त होता है)। इसी प्रकार हिन्दी में 'घण्टी' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—छोटी लुटिया तथा शब्द करने का छोटा साधन। इन दोनों अर्थों का मूल पृथक् पृथक् है। लुटिया अर्थ वाला घण्टी शब्द संस्कृत के घट शब्द के अल्पार्थवाची घटी (छोटा घड़ा) शब्द में णकार का उपजन होकर बना है। अतः इसका निर्वचन 'घट' धातु से करना होगा। और शब्दार्थक घण्टी शब्द का मूल है बृहद्गुणविशिष्ट 'घण्टा'। संस्कृत में 'घण्टा' शब्द स्त्रीलिंग है परन्तु हिन्दी में यह पुलिङ्ग है। संस्कृत में ह्रस्वार्थ में प्रयुक्त होने वाला 'ई' प्रत्यय जोड़ने से घण्टा से घण्टी शब्द निष्पन्न हुआ है। अतः इसका निर्वचन शब्दार्थक 'घटि' = 'घण्ट' धातु से करना होगा। इस प्रकार जब समान वर्णानुपूर्वी वाले शब्द के विभिन्न अर्थ हों तो वहां अनेक धातुओं से निर्वचन करना अवश्यंभावी है। यास्क ने स्वयं अपनी इस शैली का प्रतिपादन किया है। वह लिखता है—"एवमन्येषामपि सत्वानां सन्देहा विद्यन्ते, तानि चेत् समानकर्माणि समाननिर्वचनानि, नानाकर्माणि चेन्नानानिर्वचनानि, यथार्थं निर्वक्तव्यानि"। २।१०॥ उन नाननिर्वचनों का समुच्चय दर्शाने के लिये निरुक्तकार ने 'वा' शब्द का प्रयोग किया है। 'वा' शब्द संस्कृत में समुच्चयार्थक भी है, केवल विकल्पार्थक ही नहीं है।

१. यथा—अथाप्याद्यन्तव्यापत्तिर्भवति—ओघः मेघः नाधः बधूः मधु इति (नि० २।१, २)। यहाँ सब उदाहरणों में यास्क ने 'ह' को 'घ' और 'ध' होना लिखा है। यास्क के मत में ये शब्द क्रमशः उह, मिह, णह् = नह, गाहू, वह, मह धातु से बने हैं। नैरुक्तों के मतानुसार ऋ० १।११।३ में धनवाची 'मघ' शब्द की निरुक्ति 'मंह' धातु से दर्शाई है—"स्तोतृभ्यो मंहते मघम्"। पाश्चात्यभाषाविज्ञानवादी 'ह' के स्थान में वर्गीय द्वितीय और चतुर्थ वर्ण की व्यापत्ति (परिवर्तन) स्वीकार नहीं करते। देखो श्री डा० मंगलदेवजी शास्त्री कृत भाषा विज्ञान प्र० सं० पृष्ठ १८२। हमने इस पाश्चात्य मत का सप्रमाण खण्डन अपने 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास" ग्रन्थ पृष्ठ १८५ पर किया है।

२. म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः। १०।४५॥

समानता मिलती है जो भारतयोरोपीय भाषा परिवार की किसी भाषा में उपलब्ध नहीं होती। वह समानता है—एकवचन, द्विवचन और बहुवचन तीन वचनों की। संस्कृत से विकृत प्राकृत तथा आधुनिक प्रान्तीय भाषाओं से भी द्विवचन नष्ट हो गया है। इसके अतिरिक्त अरबी और संस्कृत के व्याकरण के नियमों में भी कई समानताएँ हैं। इन समानताओं के कारण मानना होगा कि सेमेटिक परिवार की अरबी भाषा और भारतयोरोपीय परिवार की संस्कृत भाषा का परस्पर कुछ न कुछ संबन्ध अवश्य है। चाहे वह सम्बन्ध प्रकृति विकृत रूप हो, चाहे दोनों का मूल कोई अन्य भाषा हो।

अतः प्राचीन भारतीय विद्वान् सप्तद्वीपा वसुमती की मूल भाषा संस्कृत ही मानते थे[1], इसलिए स्वदेश में अप्रचलित वैदिक शब्दों का अर्थ करने के लिए म्लेच्छ प्रसिद्ध अर्थों को भी स्वीकार करते थे। इसी दृष्टि से जैमिनि ने अपने मीमांसा-शास्त्र में "म्लेच्छप्रसिद्धार्थप्रामाण्य" नामक एक अधिकरण रचा है[2]। यास्क ने भी निरुक्त के "अथ निर्वचनम्" (निर्वचननियमप्रदर्शक) प्रकरण (२।१-४) में स्वदेश में अव्यवहृत, किन्तु देशान्तर में प्रसिद्ध धातुओं से स्वदेशीय शब्दों के निर्वचन करने का विधान किया है। यथा—

अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाषन्ते, विकृतय एकेषु। शवतिगतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते, विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति···(२।२)।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्य वर्तमान भाषाविज्ञान के मूलभूत सिद्धान्तों का वेदार्थ में उपयोग करना जानते थे। इतना ही नहीं, अपितु समस्त विश्व की मूल भाषा एकमात्र प्राजापत्या दैवी वाक् संस्कृत को मानने के कारण उनके शब्दार्थ साम्यता का क्षेत्र साम्प्रतिक भाषाविज्ञानवादियों की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत था, क्योंकि आधुनिक भाषा-विज्ञानवादी संस्कृतभाषा का सेमिटिक आदि अन्य परिवार की भाषाओं के साथ कोई सम्बन्ध नहीं मानते। पाश्चात्य भाषाविज्ञानवादियों ने अनेक निराधार कल्पनाओं के कारण भाषाविज्ञान का स्वरूप बहुत विकृत कर दिया है। इस कारण जहाँ इस विज्ञान के यथार्थ प्रयोग से वेदार्थ में सहायता हो सकती थी, वहाँ इसके दुरुपयोग से वेदार्थ का नाश हो रहा है। श्रेष्ठ पर्याय 'आर्य' शब्द का लिथोनियन भाषा के आधार[3] पर 'कृषक' अर्थ करना, "कस्मै देवाय हविषा विधेम[4]" में 'कस्मै' पद को प्रश्नार्थक बनाना[5], "उषो वाजेन वाजिनि" (ऋ० ३।६१।१) का The Goddess of Dawn haveing flet horses[6] अर्थ करना इसी प्रकार का है।

वेदार्थ की अन्य प्रक्रियाएँ

इन प्रक्रियाओं के अतिरिक्त वेदार्थ की कुछ अन्य प्रक्रियाओं का भी निर्देश यास्कीय निरुक्त में उपलब्ध होता है। यथा—

१—आख्यान समयः (७।७)
२—नैदानाः (७।१२)
३—नैरुक्ताः (बहुत्र)
४—परिव्राजकाः (२।८)

इनमें से आख्यान समय का ऐतिहासिक प्रक्रिया में, परिव्राजकों का अध्यात्म-प्रक्रिया में अन्तर्भाव हो जाता है। नैदान और नैरुक्त दोनों निर्वचन प्रधान हैं (दोनों में साधारण अन्तर है)। इनकी प्रक्रिया कोई वेदार्थ की मूल-भूत स्वतन्त्र प्रक्रिया नहीं है। शब्दनिर्वचन द्वारा इस प्रक्रिया का संबन्ध आधियाज्ञिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक आदि सभी प्रक्रियाओं के साथ है।

७—वेद के समस्त पद यौगिक हैं

वेदार्थ प्रक्रिया में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है—वेदार्थ की जितनी प्रक्रियाएं है, उनमें केवल ऐतिहासिक प्रक्रिया को छोड़ कर अन्य सभी प्रक्रियाओं में समस्त वैदिक नामों = प्रतिपदिकों को धातुज = यौगिक माना जाता है। इसीलिये नैदान और समस्त नैरुक्त आचार्य सभी नाम पदों को यौगिक मानते है। अति पुरातन काल में जब यदृच्छा शब्दों की उत्पत्ति नहीं हुई थी[7] तब समस्त लौकिक नाम

१. सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदा···आदि प्रकरण। महाभाष्य १।१ प्रथमाह्निक।

२. अ० १ पाद ३ अधि० १०। इसका दूसरा नाम 'पिकनेमाधिकरण' भी है। इस अधिकरण पर हमने 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ (पृ० ३६) में विशेष विचार किया है।

३. लिथोनियन भाषा में 'ऋ' (= अर्) कृष्यर्थ में प्रयुक्त होती है।

४. ऋ० १०।१२१ में असकृत्॥

५. भण्डारकर अभिनन्दन ग्रन्थ पूना सन् १९१७।

६. देखो श्री. डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल कृत 'उरुज्योति' ग्रन्थ पृष्ठ ५९ में उद्धृत।

७. यदृच्छा शब्द संस्कृत भाषा के अङ्ग हैं या नहीं, इस विषय में वैयाकरणों में मतभेद है, कई उन्हें अपशब्द कहते हैं। देखो ऌलृक् सूत्र का महाभाष्य "न सन्ति यदृच्छा शब्दाः"।

पद भी यौगिक माने जाते थे। इस प्रक्रिया को शाकटायन ने अपने व्याकरण में सुरक्षित रक्खा था।[२] उत्तर कालमें अपभ्रंश शब्दों के देखा-देखी संस्कृतभाषा में भी जब यदृच्छा शब्द सम्मिलित हो गये,[१] तब उनको अव्युत्पन्न मानना पड़ा। क्योंकि उनके यदृच्छोत्पन्न होने के कारण उनमें धात्वर्थ की कल्पना नहीं की जा सकती थी। इसके अनन्तर जब संस्कृतभाषा के कतिपय मूल शब्द भी अर्थ विशेष में रूढ़ हो गये और उनके यौगिक अर्थ की प्रतीति नष्ट होगई, तब संस्कृत भाषा के उन मूलभूत शब्दों को भी यदृच्छा शब्दवत् रूढ़ मान लिया गया। प्राचीन वैयाकरणों ने ऐसे रूढ़ शब्दों के भी मूल अर्थ का स्मरण कराने के लिये उनको सामान्य कृदन्त=धातुज शब्दों से पृथक् उणादिगण में पढ़ा है। उणादिसूत्रों के व्याख्याकार औणादिक शब्दों को रूढ़ ही मानते हैं।[३] इससे भी उत्तर काल में जब वृक्ष अश्व पुरुष आदि नामों के समान पाचक याचक शब्द भी विशेषार्थ में रूढ़ हो गये,[४] उनके भी धात्वर्थ की प्रतीति नष्ट होगई तब समस्त कृदन्त को रूढ़ मान लिया गया और उनकी धातु से कल्पना करना निष्प्रयोजन समझा गया अर्थात् कृदन्त भाग को व्याकरण में से निकाल दिया गया। इस भाव को कालाप (कातन्त्र) व्याकरण के व्याख्याता दुर्गसिंह ने बड़े स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है—

वृक्षादिवदमी रूढा कृतिना न कृता कृतः।
कात्यायनेन ते सृष्टा विबुधप्रतिपत्तये॥

अर्थात् कृदन्त शब्द भी वृक्ष आदि के समान रूढ हैं। इसलिये कालाप व्याकरण के रचयिता (शर्ववर्मा) ने कृदन्त प्रकरण की रचना नहीं की। विद्वानों के ज्ञान के लिये (साधारण पुरुषों को अर्थमात्र से प्रयोजन होता है प्रकृति प्रत्यय से नहीं) कात्यायन (विक्रम-समकालिक) ने यह कृदन्त प्रकरण रचा है।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा के समस्त नाम पद आदिकाल में यौगिक अर्थात् धातुज माने जाते थे। उत्तरोत्तर उनमें अर्थ विशेष में सीमित हो जाने पर उनमें रूढत्व बुद्धि का प्रसार हुआ और अन्त में समस्त कृदन्त शब्द रूढ़ मान लिये गये। अतः वेद का प्रादुर्भाव भारतीय परम्परा के अनुसार सृष्टि के आदि में हुआ अतः उनमें कोई भी शब्द रूढ नहीं है। इस कारण वेद के समस्त शब्दों का अर्थ यौगिक=धातु के अर्थ के अनुकूल करना चाहिये। प्रकरणादि से उसका अर्थ विशेष में पर्यवसान होगा।

८—वेदों के भाष्य

प्राचीन भारतीय भाष्य

सम्प्रति सायण, महीधर, उव्वट, भट्टभास्कर, राघव, वेङ्कटमाधव, स्कन्द और उद्गीथ आदि आदि के जितने भी वेदभाष्य उपलब्ध हो रहे हैं, वे सब याज्ञिक प्रक्रियानुसारी हैं। उनके ऊपर कल्पसूत्र, ब्राह्मण ग्रन्थ और अपने समय की परिस्थिति का अत्यधिक प्रभाव है। उनका मस्तिष्क इनके भार से इतना दबा हुआ है कि वे स्वतन्त्रता से कुछ नहीं लिख सकते। अतएव ये भाष्यकार सिद्धान्तरूप से किसी बात को स्वीकार करके भी उसको निभा नहीं सके। इन सब विद्वानों ने अपने भाष्य 'वेदाः यज्ञार्थं प्रवृत्ताः' इस को केन्द्र बना कर रचे हैं। मध्वाचार्य तथा उनके कतिपय अनुयायियों ने ऋग्वेद के प्रारम्भिक ढाई अध्याय (४० सूक्तों) की आध्यात्मिक प्रक्रिया से टीका टिप्पणी करने का प्रयास किया है। यह प्रयास स्तुत्य होते हुए भी सम्प्रदाय विशेष के दृष्टिकोण से किया होने के कारण उसमें वह प्रौढ़ता नहीं है, जो स्वतन्त्र विचारक की कृति में हुआ करती है। आत्मानन्द का अस्यवामीय सूक्त (ऋ० १। १६४) का अध्यात्मभाष्य भी इसी कोटि का है। ये सब टीका टिप्पणीकार अध्यात्म शब्द का प्राचीन आर्ष विस्तृत दृष्टिकोण भी नहीं समझते थे। मन्त्र में कथंचित् भी विष्णु का सम्बन्ध जोड़ देना, इनके आध्यात्मिकत्व का लक्षण था। अतः इन के लिये आध्यात्मिक शब्द का व्यवहार करना भी अनुचित है। इसके अतिरिक्त इन वेदभाष्यकारों ने वेद का सब से महत्त्वपूर्ण अर्थ जिससे मनुष्यों को ज्ञानविज्ञान और उसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति हो सकती थी,

---

२—तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। निरुक्त १। १२॥ नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्। महाभाष्य ३। ३। १॥

३—उणादिप्रत्ययान्ताः संज्ञाशब्दाः। तेन तेषामत्र स्वरूपसंवेदनस्वरवर्णानुपूर्वीमात्रफलमन्वाख्यानम्। श्वेतवनवासी उणादिवृत्ति १, १, पृष्ठ १।

४—सम्प्रति लोकमें पाकक्रियाके प्रत्येक कर्त्ता को पाचक नहीं कहते। पाचक शब्द पाककर्मार्थ रक्खे गये भृत्य मात्र में रूढ़ हो गया है। इसी प्रकार याजक शब्द भी ऋत्विक् मात्र में रूढ़ समझा जाता है।

उसकी ओर किञ्चिन्मात्र भी ध्यान नहीं दिया। इसलिये इन प्राचीन वेदभाष्यों के अनुसार वेद या तो केवल शुष्क[1] कर्म काण्ड के विषय बन गये या मूड़मुड़ाये लोगों के लिये हरिस्मरण के।

योरोपियन भाष्य

विक्रम की २० वीं शताब्दी में योरोपदेशवासियों ने वेद पर अनुसन्धान करना आरम्भ किया। अनेकों ने जर्मन और इंगलिश भाषा में वेद के अनुवाद किए। इनके लिए संस्कृत भाषा विदेशी भाषा थी, इसलिए उनका उसमें अप्रतिहतगति प्राप्त करना असम्भव था, परन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने अपने दृढ़ अध्यवसाय के बल पर वैदिक साहित्य पर गत डेढ़ शताब्दी में जितना कार्य किया है, उसका दशांश भी भारतीयों ने नहीं किया। पाश्चात्य विद्वानों के इतने दृढ़ अध्यवसायी होने पर भी वे तीन कारणों से वेद की गहराई तक नहीं पहुँच सके। प्रथम—उन्हें वेदार्थ समझने के लिए एकमात्र सायणभाष्य का ही आश्रय मिला, जो स्वयं वेद के ऊपर ऊपर डोलता है। दूसरा—पाश्चात्य विद्वानों का ईसाइयत का पक्षपात[2]। तीसरा—बिना सिर पैर के मिथ्यावादों की कल्पना। इन तीन प्रमुख कारणों से योरोपीय विद्वानों से किये गये वेद के अनुवाद कैसे होंगे, इसका अनुमान सहज ही हो सकता है। हम यहाँ निदर्शनार्थ दो छोटे से उदाहरण उपस्थित करते हैं—

१. इन्द्र के लिए प्रयुक्त "वृषभो रोरवीति" (ऋ० ३।५५। १७) का अर्थ Indra The Great Roaring Bull किया है।[3]

२. "उषो वाजेन वाजिनि" (ऋ. ३।६१।१) का अर्थ The Goddess of Dawn Having Fleet horses किया है।[4]

अतः योरोपीय विद्वानों से यह आशा रखना कि वे वेद के वास्तविक अर्थ को प्रकट करेंगे, सर्वथा दुराशा है। इसी प्रकार जो भारतीय विद्वान् पाश्चात्यों के पदचिन्हों पर चलकर वेद में परिश्रम कर रहे हैं, उनसे भी किसी प्रकार की आशा रखना अनुचित है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती का वेदभाष्य

जिस समय योरोपीय देशों में वेदार्थ जानने के लिए प्रयत्न हो रहा था, उसी समय भारत में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने एक नये दृष्टिकोण से वेदार्थ करने का उपक्रम किया। स्वामी दयानन्द का वेदार्थ इन दोनों प्रकार के वेदार्थों से भिन्न था। स्वामी दयानन्द ने वेदार्थ की प्राचीन और अर्वाचीन सभी प्रक्रियाओं का भारतीय ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अनुशीलन किया और इस बात का निर्णय किया कि वेद और उसके अर्थ की वह स्थिति नहीं है, जो यज्ञों के प्रादुर्भाव के पीछे उत्तरोत्तर परिवर्तन होकर बन गई है। अपितु जिस समय यज्ञों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, उस समय वेदों की जो स्थिति थी और जिस आधार पर वेद का अर्थ किया जाता था, वही उसका वास्तविक अर्थ था। इसके लिए उन्होंने समस्त वैदिक और लौकिक, आर्ष और अनार्ष, सर्वविध संस्कृत वाङ्मय का आलोडन किया। मनुस्मृति, षड्दर्शन, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और महाभारत आदि ग्रन्थों में जहाँ कहीं भी उन्हें प्रसंग प्राप्त प्राचीन वेदार्थ सम्बन्धी संकेत उपलब्ध हुए उनके अनुसार प्राग्यज्ञकालीन वेदार्थ की दृष्टि से वेदार्थ करने के जो नियम स्वामी दयानन्द सरस्वती ने निर्धारित किए, वे इस प्रकार हैं—

१. वेद अपौरुषेय या मनीषी स्वयंभू कवि का काव्य या देवाधिदेव की दैवी वाक् या ज्येष्ठ ब्रह्म की ब्राह्मी वाक् या प्रजापति की श्रुति या महाभूत का निःश्वास होने से अजर अमर अर्थात् नित्य है। अतएव

२. वेद में किसी देश जाति और व्यक्ति का इतिवृत्त नहीं है। इस कारण

३. वेद के समस्त नाम पद (=प्रातिपदिक) यौगिक (=धातुज) हैं, रूढ नहीं। अतएव उनके सर्वविधप्रक्रियानुगामी होने से

४. वेद सब सत्य विद्याओं के पुस्तक हैं। इसलिए

५. वेद में आधिभौतिक तथा आधिदैविक समस्त पदार्थ विज्ञान का सूत्र रूप से वर्णन है। इसके साथ ही आध्यात्मिक दृष्टि से

६. वेद के किसी भी मन्त्र में ईश्वर का परित्याग नहीं होता अर्थात् संपूर्ण वेद का वास्तविक तात्पर्य अध्यात्म में है। अतएव

७. वेद के अग्नि वायु इन्द्र आदि समस्त देवता वाचक पद उपासना प्रकरण (=अध्यात्म) में परमेश्वर के वाचक होते हैं और अन्यत्र भौतिक पदार्थ के। याज्ञिक क्रिया का पर्यवसाय अध्यात्म में होने से

---

१. अर्थात् पूर्व प्रदर्शित यज्ञोत्पत्ति के मूल प्रयोजन से रहित, अदृष्टमात्र विषयक।

२. देखो श्री. पं. भगवद्दत्त जी कृत "भारतवर्ष का बृहद् इतिहास" भाग १ पृष्ठ ३५-४८। इतिहास प्रेमियों का इस ग्रंथ को तृतीय अध्याय अवश्य पढ़ना चाहिये।

३. देखो 'उरु ज्योति' (श्री. डा. वासुदेवशरणजी अग्रवाल कृत) पृष्ठ ५७। ४. उरु ज्योति पृष्ठ ५९।

८. युक्ति प्रमाणसिद्ध याज्ञिक क्रिया कलाप, मन्त्रार्थानुसृत विनियोग और तदनुसारी याज्ञिक अर्थ भी ग्राह्य है, अन्य नहीं।

९. वेद मनीषी स्वयंभू कवि का काव्य होने से उसकी वाक्यरचना बुद्धिपूर्वक हुई है। अतएव

१०. वेद में भौतिक जड़ पदार्थों से अभिलषित पदार्थों की याचना, अश्लीलता, वर्ग-द्वेष और पशु-हिंसा आदि आदि असम्भव तथा अनर्थकारी बातों का उल्लेख नहीं है।

११. वेद स्वतः प्रमाण हैं, अन्य समस्त वैदिक, लौकिक, आर्ष और अनार्ष वाङ्मय परतः प्रमाण अर्थात् वेदानुकूल होने से मान्य है। अतएव

१२. वेद की व्याख्या करने में व्याकरण, निरुक्त, छन्दः, ज्योतिष, पदपाठ, प्रातिशाख्य, आयुर्वेदादि उपवेद, मीमांसा वेदान्त आदि दर्शन, कल्प (श्रौत, गृह्य, धर्म) सूत्र, ब्राह्मण और उपनिषद् आदि आदि आदि समस्त वैदिक, लौकिक, आर्ष और अनार्ष वाङ्मय से सहायता ली जा सकती है (क्योंकि इनमें प्राचीन वेदार्थ सम्बन्धी अनेक रहस्यों के संकेत विद्यमान हैं), परन्तु कोई भी मन्त्र-व्याख्या इन ग्रन्थों के अनुकूल न होने या विपरीत होने मात्र से अमान्य नहीं हो सकती, जब तक वह स्वयं वेद से विपरीत न हो।

इन नियमों के अनुसार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद के साढ़े छ मण्डल और सम्पूर्ण यजुर्वेद का भाष्य रचा। उन्होंने अपने भाष्य में इन मूलभूत सिद्धान्तों का सर्वत्र अनुगमन किया है। जैसे सायण और स्कन्द स्वामी आदि भाष्यकारों ने सिद्धान्तरूप से वेद का नित्यत्व और उसमें अनित्येतिहास के अभाव का प्रतिपादन करके भी अपने वेद-भाष्यों में इन मूल सिद्धान्तों का अनुगमन करने में असमर्थ रहे, ऐसा दोष स्वामी दयानन्द के भाष्य में कहीं नहीं है।

उपसंहार

इस प्रकार वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक दृष्टि से अनुशीलन करने से स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञों के प्रादुर्भाव से पूर्व वेदार्थ की क्या स्थिति थी और किन प्रक्रियाओं के आधार पर वेदार्थ समझा या समझाया जाता था, यज्ञों के प्रादुर्भाव के अनन्तर उसका वेदार्थ पर क्या प्रभाव पड़ा, याज्ञिक तथा अन्य प्रक्रियाओं में किस प्रकार शनैः शनैः परिवर्तन हुए और उन परिवर्तनों का वेद और उसके अर्थ पर अन्त में क्या प्रभाव हुआ।

आज से लगभग ११-१२ सहस्रवर्ष पूर्व से वेदार्थ की वास्तविक प्रक्रिया में परिवर्तन तथा ह्रास का आरम्भ हुआ (यही काल यज्ञों के प्रादुर्भाव का है) और वेदार्थ उत्तरोत्तर विकृत होता चला गया। इतने सुदीर्घ काल में स्वामी दयानन्द सरस्वती के अतिरिक्त किसी भी अन्य आचार्य ने इस ओर ध्यान नहीं दिया कि जब तक यज्ञों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था तब (यज्ञों से पूर्व) भी वेद का कोई अर्थ समझा-समझाया जाता था या नहीं ? (वेद का प्रादुर्भाव सृष्टि के आरम्भ में और यज्ञों का त्रेता के आदि में माना जाता है), यदि समझा जाता था तो उस वेदार्थ की क्या प्रक्रिया थी ? इस सुदीर्घ काल में जितने भी पुरातन आचार्यों ने वेदार्थ के विषय में जो कुछ लिखा है उन सब पर अपने-अपने समय की वेदार्थ प्रक्रिया का कितना भारी प्रभाव था, यह भी इस विवेचना से स्पष्ट है।

वेदार्थ प्रक्रियाओं की इस ऐतिहासिक विवेचना से यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय दृष्टिकोण से वेद और उसके अर्थ की यही वास्तविक स्थिति है, जो यज्ञों की प्रकल्पना से पूर्व समझी जाती थी और जिसके कतिपय संकेत मनुस्मृति आदि प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। स्वायम्भुव मनु के पश्चात् सम्भवतः स्वामी दयानन्द ही एकमात्र ऐसा व्यक्ति हुआ जिसने वेद के विषय में स्वायम्भुव मनु "सर्वज्ञानमयो हि सः"[1] के समान "वेद सब सत्य-विद्याओं का पुस्तक है" ऐसी स्पष्ट घोषणा की[2] और इसी सर्वप्राचीन दृष्टिकोण से ऋग्वेद के साढ़े छ मण्डल और सम्पूर्ण यजुर्वेद का भाष्य करके दर्शा दिया कि वेद वास्तविक रूप में सब सत्य विद्याओं के पुस्तक हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती की प्रति मन्त्र व्याख्या के संबन्ध में

१. मनुस्मृति २।७ मेधातिथि गोविन्दराज आदि की प्राचीन टीकाओं के अनुसार।

२. देखो आर्यसमाज का तृतीय नियम—"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।" यद्यपि स्वामी शंकराचार्य ने भी "शास्त्रयोनित्वात्" (१।१।३) ब्रह्म-सूत्र के भाष्य में "ऋग्वेदादेः शास्त्रस्य अनेकविद्योपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म" लिखा है, परन्तु यहाँ ये सब विशेषण ऋग्वेदादि वेदचतुष्टय के ही नहीं हैं, अपि तु समस्त शास्त्रों की अपेक्षा से लिखे गये हैं। क्योंकि इस भाष्य और उक्त ब्रह्मसूत्र का मूल बृहदारण्यक की "एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य-निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि अस्यैवैतानि निःश्वसितानि" (२।४।१०) श्रुति है। स्वयं शंकराचार्यजीने भी उक्त प्रसङ्ग में इस श्रुति का निर्देश किया है।

चाहे कितना ही मतभेद क्यों न हो, परन्तु उन्होंने जिस दृष्टिकोण से वेद का अर्थ किया है, भारतीय ऐतिहासिक दृष्टि से उनकी वह वेदार्थ प्रक्रिया या वेदार्थ का दृष्टिकोण सर्वथा ठीक है, यह तो स्वीकार करना ही होगा। और इससे यह भी मानना होगा कि स्वामी दयानन्द सरस्वती की मेधा अत्यन्त विमल और सूक्ष्म थी, उसके लिये न देश का व्यवधान था और न काल का, न उस पर किसी प्राचीन ऋषि मुनि या सम्प्रदाय का प्रभाव था और न अपने समय का। अतएव उस महापुरुष ने वेदार्थ की समस्त काल्पनिक प्रक्रियाओं का उल्लङ्घन करके अति पुरातन काल की वेदार्थ प्रक्रिया का आश्रयण कर वेद और वेदार्थ को प्रक्रिया का विशुद्ध स्वरूप संसार के सामने उपस्थित किया।

यद्यपि काम क्रोध लोभ मोह, मद, अहंकार और अविद्या से ग्रस्त संसार अभी तक स्वामी दयानन्द सरस्वती के इस महत्तम कार्य का मूल्यांकन नहीं कर पाया, तथापि जब उसकी बुद्धि विमल होगी और मन पवित्र होगा, तब वीतराग योगिराज अरविन्द के समान भगवान् दयानन्द के अवर्णनीय तपःप्रभाव-निर्धारित वेदार्थप्रक्रिया के महत्त्व को समझेगा[1] और एक स्वर से कहेगा—

नमः परमर्षये ! नमः परमर्षये !!

---

१. योगिराज अरविन्द ने स्वामी दयानन्द सरस्वती की वेदार्थ प्रक्रिया के विषय में इस प्रकार लिखा है—

"मैं दयानन्द के वेदभाष्य के आधार रूप उन प्रसिद्ध नियमों का उल्लेख करूँगा, जो मुझे समझ आये हैं।

सायण भाष्य को ठीक समझने वाले लोग दयानन्द सरस्वती के भाष्य के विषय में कुछ नहीं कह सकते। महाविद्वान् सायण का भाष्य ऊपर से महत्त्व वाला दिखाई देता हुआ भी वेद का यथार्थ और सीधा अर्थ नहीं है, उसमें पूर्व कल्पित सिद्धान्तों के साथ मन्त्रों की खींचातानी से संगति लगाने की चेष्टा की गई है। पाश्चात्य विद्वान् भी स्वामी दयानन्द के भाष्य के विषय में कुछ नहीं कह सकते। उनका परिचय शुभेच्छा, अनुसंधान शक्ति से एक शताब्दी में किया गया अर्थ भी ठीक नहीं, क्योंकि इसमें पूर्वापर सम्बन्ध का अभाव है, और संदिग्ध विषयों को प्रमाणभूत मानकर अर्थ किया गया है।

वेदार्थ तो वेद से ही होना चाहिये। इस विषय में दयानन्द सरस्वती का विचार सुस्पष्ट है, उसकी आधार-शिला अभेद्य है। वेद के सूक्त भिन्न भिन्न नामों से एक ईश्वर को ही संबोधन करके गाये गये हैं। विप्र अर्थात् ऋषि एक परमात्मा को ही अग्नि, इन्द्र, यम, मातरिश्वा और वायु आदि नामों से बहुत प्रकार से कहते हैं। वैदिक ऋषि अपने धर्म के विषय में मैक्समूलर या राथ की अपेक्षा अधिक जानते थे। अतः वेद स्पष्ट कहता है कि एक ईश्वर के ही अनेक नाम हैं।

हम जानते हैं, आधुनिक विद्वान् किस प्रकार इस बात को खींचतान करके उलटते हैं। वे कहते हैं, यह सूक्त नये काल का है, ऐसा ऊँचा विचार बहुत प्राचीन आर्य लोगों के मन में नहीं आ सकता था। इसके विपरीत हम देखते हैं कि वेद में सूक्तों पर सूक्त इसी भाव को बताते हैं। अग्नि में ही सब दूसरी दैवी शक्तियाँ हैं इत्यादि। देवताओं के ऐसे विशेषण हैं जो सिवाय ईश्वर के और किसी के हो ही नहीं सकते। पाश्चात्य इस बात से घबराते हैं। अहो ! वेद का ऐसा अर्थ नहीं होना चाहिये। क्या सत्य अपने को छिपाले, बुद्धिमैदान छोड़कर भाग जाये ताकि एक सिद्धान्त (क्रमिक विकास का) फल फूल सके ? मैं पूछता हूँ, इस बात में दयानन्द सरस्वती वेद का सीधा अर्थ करता है या पाश्चात्य विद्वान्।

बस एक के समझने से दयानन्द के इस मौलिक सिद्धान्त को मानने से, नहीं, वैदिक ऋषियों के इस विश्वास के जानने से कि सब देवता एक महान् आत्मा के नाम हैं हम वेद का वास्तविक भाव जान लेते हैं। फिर बस वेद का वही तात्पर्य निकलता है जो दयानन्द सरस्वती ने इस से निकाला। केवल याज्ञिक अर्थ या सायण का बहुदेवतावाद का अर्थ भस्मीभूत हो जाता है। पश्चात्यों का केवल आन्तरिक्ष आदि लोकों के देवताओं के सम्बन्ध में किया हुआ अर्थ मटियामेट हो जाता है। इनके स्थान में वेद एक वास्तविक धर्म ग्रन्थ, संसार का एक पवित्र पुस्तक और एक श्रेष्ठ और उच्च धर्म का दैवी शब्द हो जाता है।"

वैदिक मैगजीन सन् १९१६ के अरविन्द के लेख का भाव मात्र।

को (त्रिः) तीन ताप-निवारणार्थ (दत्तम्) दीजिये (उ) और (पार्थिवानि) पृथिवी के विकार-युक्त ओषधी (त्रिः) तीन प्रकार से दीजिये, और (ममकाय) मेरे (सूनवे) औरस अथवा विद्यापुत्र के लिये (शंयोः) सुख तथा (ओमानम्) विद्या में प्रवेश और क्रिया के बोध कराने वाले रक्षक व्यवहार को (त्रिः) तीन बार कीजिये और (त्रिधातु) लोहा, ताँबा, पीतल इन धातुओं के सहित भू, जल और अन्तरिक्ष में जाने वाले (शर्म) गृहस्वरूप यान को मेरे पुत्र के लिये (त्रिः) तीन बार (वहतम्) पहुँचाइये ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि जो जल और पृथिवी में उत्पन्न हुई रोग नष्ट करने वाली औषधियाँ हैं उनको तीन प्रकार के तापों (=वात, पित्त, कफ से उत्पन्न रोगों) के निवारण के लिये सेवन किया करें, और अनेक धातुओं से युक्त काष्ठमय, घर के समान यान को बना, उसमें उत्तम उत्तम जौ आदि ओषधी स्थापन कर अग्नि के स्थान में अग्नि को काष्ठों से प्रज्वलित कर जल के स्थान में जलों को स्थापन कर भाप के बल से यानों को चला के व्यवहार (=व्यापार) के लिये देश-देशान्तरों को जा और वहाँ से लौटकर जल्दी अपने देश को प्राप्त हों। इस प्रकार के व्यवहार से बड़े-बड़े सुख प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

फिर वे कैसे हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

त्रिर्नो॑ अश्विना यज॒ता दि॒वेदि॑वे॒ परि॑ त्रि॒धातु॑ पृथि॒वीम॑शायतम् ।
ति॒स्रो ना॑सत्या रथ्या परा॒वत॑ आ॒त्मेव॒ वातः॒ स्वस॑राणि गच्छतम् ॥ ७ ॥

पदार्थ—हे (नासत्या) असत्य व्यवहार रहित (यजता) मेल करने तथा (रथ्या) विमानादि यानों को प्राप्त कराने वाले (अश्विना) जल और अग्नि के समान कारीगर लोगो ! आप दोनों (पृथिवी) भूमि वा अन्तरिक्ष को प्राप्त होकर (त्रिः) तीन बार (पर्य्यशायतम्) शयन करो।[1] (आत्मेव) जैसे जीवात्मा और (वातः) वायु (स्वसराणि) अपने कार्यों में प्रवृत्त करने वाले (दिवेदिवे) प्रतिदिन=नित्य प्राप्त होते हैं[2] वैसे (गच्छतम्) देशान्तरों को [प्रतिदिन] प्राप्त हुआ करो, और जो (नः) हम लोगों के (त्रिधातु) सोना, चाँदी आदि धातुओं से बनाये हुए यान हैं उनको (परावतः) दूर मार्गों के प्रति [आवश्यकतानुसार] (तिस्रः) ऊँची (=तेज) नीची (=धीमी) और सम चाल से चलाओ ॥ ७ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥ संसारसुख की इच्छा करने वाले पुरुष ! जैसे जीव अन्तरिक्ष आदि मार्गों से दूसरे शरीरों को शीघ्र प्राप्त होता और जैसे वायु शीघ्रगामी है वैसे ही पृथिव्यादि विकारों से कलायन्त्र युक्त यानों को रच और उनमें अग्नि जल आदि का अच्छे प्रकार प्रयोग करके चाहे हुए दूर देशों को शीघ्र पहुँचा करें। इन शीघ्रगामी यानों की रचनारूपी कर्म के विना सांसारिक सुख प्राप्त नहीं हो सकता है ॥ ७ ॥

---

१. इसका भाव अस्पष्ट है।

२. इसका भाव भावार्थ में इस प्रकार स्पष्ट किया है—'जैसे जीव अन्तरिक्ष मार्ग से शीघ्र दूसरे शरीरों को प्राप्त होता है और वायु शीघ्रगामी है।

फिर वे कैसे हैं और उनसे क्या-क्या सिद्ध करना चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

त्रिर॑श्विना सिन्धु॑भिः स॒प्तमा॑तृभि॒स्त्रय॑ आहा॒वास्त्रे॒धा ह॒विष्कृ॒तम् ।
ति॒स्रः पृ॑थि॒वीरु॒परि॑ प्र॒वा दि॒वो नाकं॑ रक्षेथे द्यु॒भिर॒क्तुभि॒र्हि॒तम् ॥ ८ ॥

पदार्थ—हे (प्रवा) गमन कराने वाले (अश्विना) सूर्य और वायु के समान कारीगर लोगो ! आप (सप्तमातृभिः) जिनकी सप्त अर्थात् पृथिवी, अग्नि, सूर्य, वायु, बिजली, जल और आकाश सात माता के तुल्य उत्पन्न करने वाले हैं, उन (सिन्धुभिः) नदियों और (द्युभिः) दिन तथा (अक्तुभिः) रात्रि के साथ जिसके (त्रयः) ऊपर नीचे और मध्य में जाने के (आहावाः) मार्ग हैं उस (त्रेधा) तीन प्रकार से (हविष्कृतम्) ग्रहण करने योग्य शोधे हुए (नाकम्) सब दुःखों से रहित (हितम्) स्थित द्रव्य को (उपरि) ऊपर चढ़ा के (तिस्रः) स्थूल, त्रसरेणु और परमाणु नाम वाली तीन प्रकार की (पृथिवीः) विस्तारयुक्त पृथिवी और (दिवः) प्रकाशस्वरूप किरणों को प्राप्त करा के अर्थात् उनके साथ सम्बन्ध जोड़कर और उसको इधर-उधर गति देकर और नीचे बरसा के सब जगत् की (त्रिः) तीन बार (रक्षेथे) रक्षा कीजिये ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि जो सूर्य और वायु के छेदन, आकर्षण और वृष्टि कराने वाले गुणों से नदी चलती हैं, तथा हवन किया हुआ द्रव्य दुर्गन्धादि दोषों को निवारण कर सब दुःखों से रहित सुखों को सिद्ध करता है, और जिससे दिन रात सुख बढ़ता है, जिसके बिना कोई प्राणी जीने को समर्थ नहीं हो सकता, इससे इन [सूर्य और वायु] की शुद्धि के लिये यज्ञरूप कर्म नित्य करें ॥ ८ ॥

फिर उनसे क्या करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

क्व॒ त्री च॒क्रा त्रि॒वृतो॒ रथ॑स्य॒ क्व॑ त्र॒यो व॒न्धुरो॒ ये सनी॑ळाः ।
क॒दा योगो॑ वा॒जिनो॒ रास॑भस्य॒ येन॑ य॒ज्ञं ना॑सत्योप॒याथः॑ ॥ ९ ॥

पदार्थ—हे (नासत्या) सत्य गुण और स्वभाव वाले कारीगर लोगो ! आप दोनों (येन) जिस दिव्यगुण युक्त विमान आदि यान से (यज्ञम्) जाने-आने योग्य मार्ग को (कदा) कब (उपयाथ) दूरस्थ देश को समीपवत् शीघ्र प्राप्त कराते हो, उस (रासभस्य) शब्द करनेवाले (वाजिनः) प्रशंसनीय वेग से युक्त (त्रिवृतः) रचन चालन और सामग्री से पूर्ण और (रथस्य) भूमि, जल, अन्तरिक्ष मार्ग में रमण करानेवाले विमान में (क्व) कहाँ (त्री) तीन (चक्रा) चक्र रचने चाहिये और (क्व) कहाँ इस विमानादि यान में (ये) जो (त्रयः) तीन (सनीडाः) बराबर बन्धनों के स्थान वा अग्नि रहने का घर (बन्धुरः) नियमपूर्वक चलाने के हेतु कोष्ठ होते हैं उनका (योगः) योग करना चाहिये, ये तीन प्रश्न हैं ? ॥ ९ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में कहे हुए तीन प्रश्नों[1] के ये उत्तर जानने चाहियें—विभूति की इच्छा रखनेवाले पुरुषों को उचित है कि रथ के आदि, मध्य और अन्त में सब कलाओं के बन्धनों के

---

१. एक—कब दूरस्थ देश को समीपस्थ देश के समान शीघ्र प्राप्त कराते हैं। दूसरा—तीन चक्र कहाँ रचने चाहिये। तीसरा—तीन अग्नि स्थान कहाँ रचने चाहिये।

आधार के लिये तीन बन्धन विशेष सम्पादन करें, तथा तीन कला घूमने-घुमाने के लिये संपादन करें। तीन स्थान एक मनुष्यों के बैठने, दूसरा अग्नि की स्थिति और तीसरा जल की स्थिति के लिये करके जब-जब जाने = चलने की इच्छा हो तब-तब यथायोग्य काष्ठों (= अग्नि प्रज्वालन के साधनों) को स्थापन तथा अग्नि को युक्त कर और कला के वायु से प्रदीप्त करके भाप के वेग से चलाये हुए यान से शीघ्र दूर स्थान को भी निकट के समान जाने को समर्थ होवें। क्योंकि इस प्रकार किये बिना निर्विघ्नता से स्थानान्तर को कोई मनुष्य शीघ्र नहीं जा सकता ॥ ९ ॥

फिर उनसे क्या सिद्ध करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

आ नासत्या गच्छतं हूयते हविर्मध्वः पिबतं मधुपेभिरासभिः ।
युवोर्हि पूर्वं सवितोषसो रथमृताय चित्रं घृतवन्तमिष्यति ॥ १० ॥

पदार्थ—हे शिल्पिलोगो ! आप दोनों (नासत्या) जल और अग्नि के सदृश जिस (हविः) सामग्री का (हूयते) हवन करते हो। उस हवि से शुद्ध हुए (मध्वः) मीठे जल (मधुपेभिः) मीठे मीठे जल पीनेवाले (आसभिः) अपने मुखों से (पिबतम्) पियो और हम लोगों को आनन्द देने के लिये (घृतवन्तम्) बहुत जल की कलाओं से युक्त (चित्रम्) वेगादि आश्चर्य गुणयुक्त (रथम्) विमानादि यानों से देशान्तरों को शीघ्र (आगच्छतम्) प्राप्त होवो।[1] (युवोः) तुम्हारा जो रथ (उषसः) प्रातःकाल से (पूर्वम्) पहिले (सविता) सूर्यलोक के समान प्रकाशमान (इष्यति) शीघ्र चलता है उसे (हि) ही (ऋताय) सत्य सुख के लिये हमें ग्रहण करना चाहिये ॥ १० ॥

भावार्थ—जब यानों में जल और अग्नि को प्रदीप्त करके चलाते हैं तब ये यान स्थानान्तरों को शीघ्र प्राप्त कराते हैं। उन में जल और बाष्प के निकलने का एक ऐसा स्थान बनावें कि जिस में होकर बाष्प के निकलने से वेग की वृद्धि होवे। इस विद्या का जानने वाला ही अच्छे प्रकार सुखों को प्राप्त होता है ॥ १० ॥

फिर उनसे क्या-क्या सिद्ध करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यातं मधुपेयमश्विना ।
प्रायुस्तारिष्टं नी रपांसि मृक्षतं सेधतं द्वेषो भवतं सचाभुवा ॥ ११ ॥

पदार्थ—हे शिल्पी लोगो ! आप दोनों (नासत्या) सत्यगुण स्वभाव युक्त (सचाभुवा) मेल कराने वाले (अश्विना) जल और अग्नि के समान (देवेभिः) विद्वानों के साथ (इह) इन उत्तम यानों में बैठ के (त्रिभिः) तीन दिन और तीन रात्रियों में महासमुद्र के पार और (एकादशभिः) ग्यारह दिन और ग्यारह रात्रियों में भूगोल पृथिवी के अन्त को (आयातम्) पहुंचो, (द्वेषः) शत्रु और (रपांसि) पापों को (निर्मृक्षतम्) अच्छे प्रकार दूर करो, (मधुपेयम्) मधुर गुण युक्त पीने योग्य द्रव्य और (आयुः) उमर को (प्रतारिष्टम्) प्रयत्न से बढ़ाओ, उत्तम सुखों को (सेधतम्) सिद्ध करो और शत्रुओं को जीतने वाले (भवतम्) होओ ॥ ११ ॥

१—इस वाक्य का संस्कृत अन्वय अस्पष्ट है।

भावार्थ—जब मनुष्य ऐसे यानों में बैठके उनको चलाते हैं तब तीन दिन और तीन रात्रियों में सुख से समुद्र के पार तथा ग्यारह दिन और ग्यारह रात्रियों में पृथिवी के चारों ओर जाने को समर्थ हो सकते हैं। इसी प्रकार यानों की रचना करते हुए विद्वान् लोग सुखयुक्त पूर्ण आयु को प्राप्त हो दुःखों को दूर और शत्रुओं को जीत कर चक्रवर्त्तिराज्य भोगने वाले होते हैं॥ ११॥

फिर इनसे क्या सिद्ध करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है॥

आ नो॑ अश्विना त्रि॒वृता॒ रथे॑ना॒र्वाञ्चं॑ र॒यिं व॑हतं सु॒वीर॑म्।
शृ॒ण्वन्ता॑ वा॒मव॑से जोहवीमि वृ॒धे च॑ नो भवतं॒ वाज॑सातौ॥ १२॥ [५]

पदार्थ—हे कारीगरी में चतुरजनो! (शृण्वन्ता) श्रवण कराने वाले (अश्विना) जल और पवन के समान दृढ़ विद्या बल युक्त आप दोनों (त्रिवृता) तीन अर्थात् स्थल, जल और अन्तरिक्ष में पूर्णगति से जाने के लिये वर्तमान (रथेन) विमान आदि यान से (नः) हम लोगों को (अर्वाञ्चम्) ऊपर से नीचे अभीष्ट स्थान को प्राप्त होने वाले (सुवीरम्) उत्तम वीर युक्त (रयिम्) चक्रवर्त्ति राज्य से सिद्ध हुए धन को (आवहतम्) अच्छे प्रकार प्राप्त कराइये (च) और (नः) हम लोगों के (वाजसातौ) सङ्ग्राम में (वृधे) वृद्धि के अर्थ विजय को प्राप्त कराने वाले (भवतम्) हूजिये। जैसे मैं (अवसे) रक्षादि के लिये (वाम्) आप दोनों को (जोहवीमि) वारंवार ग्रहण करता हूँ वैसे आप मुझ को ग्रहण कीजिये अर्थात् जैसे रक्षा के लिये मैं आप दोनों को स्वीकार करता हूँ, वैसे ही आप दोनों मुझे स्वीकार करें॥ १२॥

भावार्थ—जल और अग्नि से प्रयुक्त किये हुए रथ के विना कोई मनुष्य स्थल, जल और अन्तरिक्ष मार्गों में शीघ्र जाने को समर्थ नहीं हो सकता। इस से राज्य श्री, उत्तम सेना और वीर पुरुषों को प्राप्त होके ऐसे विमानादि यानों से युद्ध में विजय को पा सकते हैं। इस कारण इस विद्या में मनुष्य सदा युक्त हों॥ १२॥

पूर्व सूक्त से इस विद्या के सिद्ध करने वाले इन्द्र शब्द के अर्थ का प्रतिपादन किया तथा इस सूक्त से इस विद्या के साधक अश्वि अर्थात् द्यावा पृथिवी आदि अर्थ प्रतिपादन किये हैं, इससे इस सूक्त के अर्थ की पूर्व सूक्त के अर्थ के साथ संगति जाननी चाहिये॥ ३४॥

यह पांचवां वर्ग और चौंतीसवां सूक्त समाप्त हुआ

अथैकादशर्चस्य पञ्चत्रिंशस्य सूक्तस्याङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः।
आदिमस्य मन्त्रस्याग्निर्मित्रावरुणौ रात्रिः सविता च;
२-११ सविता च देवताः। १ विराड्जगती, ९ निचृज्-
गती छन्दः निषादः स्वरः। २, ५, १०, ७ ११
विराट् त्रिष्टुप् ७ ३७ ४, ६ त्रिष्टुप् छन्दः।
धैवतः स्वरः। ७, ८ भुरिक् पंक्ति-
श्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

अब पैंतीसवें सूक्त का आरम्भ है। उसके पहिले मन्त्र से अग्नि आदि के गुणों को जान के सब प्रयोजनों को सिद्ध करे, इस विषय का वर्णन किया है॥

ह्वया॑म्य॒ग्निं प्र॑थ॒मं स्व॒स्तये॒ ह्वया॑मि मि॒त्रावरु॑णावि॒हाव॑से।
ह्वया॑मि॒ रात्रीं॒ जग॑तो नि॒वेश॑नीं॒ ह्वया॑मि दे॒वं स॑वि॒तार॑मू॒तये॑॥ १॥

पदार्थः—मैं (इह) इस शरीर धारणादि व्यवहार में (स्वस्तये) उत्तम सुख होने के लिये (प्रथमम्) शरीर धारण के आदि साधन (अग्निम्) रूपगुणयुक्त अग्नि को (ह्वयामि) स्वीकार करता हूँ। तथा (अवसे) रक्षादि के लिये (मित्रावरुणौ) प्राण वा उदान वायु को (ह्वयामि) स्वीकार करता हूँ। (जगतः) संसार को (निवेशनीम्) निद्रा में निवेश कराने वाली (रात्रीम्) सूर्य के अभाव से अन्धकार रूप रात्रि को (ह्वयामि) प्राप्त होता हूँ। (ऊतये) क्रियासिद्धि की इच्छा के लिये (देवम्) द्योतनात्मक (सवितारम्) सूर्य लोक को (ह्वयामि) ग्रहण करता हूँ॥ १॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि दिन रात सुख के लिये अग्नि वायु और सूर्य के सकाश से उपकार को ग्रहण कर के सब सुखों को प्राप्त होवें, क्योंकि इस विद्या के विना कभी किसी पुरुष को पूर्ण सुख का संभव नहीं होसकता॥ १॥

अब अगले मन्त्र में सूर्यलोक के गुणों का उपदेश किया है॥

आ कृ॒ष्णेन॒ रज॑सा॒ वर्त॑मानो निवे॒शय॑न्न॒मृतं॒ मर्त्यं॑ च।
हि॒र॒ण्यये॑न सवि॒ता रथे॒नाऽऽदे॒वो या॑ति॒ भुव॑नानि॒ पश्य॑न्॥ २॥

पदार्थ—यह (सविता) सब जगत् को उत्पन्न करने वाला (देवः) सब से अधिक प्रकाशयुक्त परमेश्वर (आकृष्णेन) अपनी आकर्षण शक्ति से (रजसा) सब सूर्यादि लोकों के साथ व्यापक (वर्तमानः) हुआ (अमृतम्) अन्तर्यामिरूप वा वेद द्वारा मोक्षसाधक सत्य ज्ञान (च) और (मर्त्यम्) कर्मों और प्रलय की व्यवस्था से मरण युक्त जीवको (निवेशयन्) अच्छे प्रकार स्थापन करता हुआ (हिरण्ययेन) यशोमय (रथेन) ज्ञानस्वरूप रथ से युक्त (भुवनानि) लोकों को (पश्यन्) देखता हुआ (आयाति) अच्छे प्रकार सब पदार्थों को प्राप्त होता है॥ १॥

यह (सविता) प्रकाश वृष्टि और रसों का उत्पन्न करने वाला (कृष्णेन) प्रकाशरहित (रजसा) पृथिवी आदि लोकों के साथ (आवर्तमानः) अपनी आकर्षण शक्ति से वर्तमान इस जगत् में (अमृतम्) वृष्टि द्वारा अमृतस्वरूप रस (च) तथा (मर्त्यम्) काल व्यवस्था से मरण को (निवेशयन्) अपने-अपने सामर्थ्य में स्थापन करता हुआ (हिरण्ययेन) प्रकाशस्वरूप (रथेन) गमन शक्ति से (भुवनानि) लोकों को (पश्यन्) दिखाता हुआ (आयाति) अच्छे प्रकार वर्षा, आदि रूपों की अलग-अलग प्राप्ति करता है॥ २॥

भावार्थ—इस मन्त्र में श्लेषालंकार है॥ जैसे सब पृथिवी आदि लोक मनुष्यादि प्राणियों को धारण करते हैं, सूर्यलोक अपने आकर्षण से पृथिवी आदि लोकों को धारण करते हैं और ईश्वर अपनी सत्ता से सूर्यादि सब लोकों को धारण करता है। ऐसे क्रम से सब लोकों का धारण होता है। इसके विना अन्तरिक्ष में किसी अत्यन्त भार युक्त लोक का अपनी परिधि में स्थित होने का संभव

नहीं होता और लोकों के घूमने के विना क्षण, मुहूर्त, प्रहर, दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु और संवत्सर आदि कालों के अवयव उत्पन्न नहीं हो सकते हैं॥ २॥

अब वायु और सूर्य के दृष्टान्त से अगले मन्त्र में शूरवीर के गुणों का उपदेश किया है ॥

यातिं देवः प्रवता यात्युद्वता यातिं शुभ्राभ्यां यजतो हरिभ्याम् ।
आ देवो याति सविता परावतोऽप विश्वा दुरिता बाधमानः ॥ ३ ॥

पदार्थ—हे राजपुरुषो ! आप लोग जैसे (विश्वा) सब (दुरिता) दुष्ट दुःखों को (अप बाधमानः) दूर करता हुआ (यजतः) संगम करने योग्य (देवः) श्रवण आदि ज्ञान का प्रकाशक वायु (प्रवता) नीचे मार्ग से (याति) जाता आता और (उद्वता) ऊर्ध्व मार्ग से (याति) आता है और जैसे सब दुःख देने वाले अन्धकारादिकों को दूर करता हुआ संगत होने योग्य (सविता) प्रकाशक सूर्यलोक (शुभ्राभ्याम्) शुद्ध (हरिभ्याम्) दिन-रात अथवा कृष्ण वा शुक्लपक्षों से (परावतः) दूरस्थ पदार्थों को अपनी किरणों से प्राप्त होकर पृथिव्यादि लोकों को (आयाति) सब प्रकार प्राप्त होता है, वैसे शूरवीरादि लोग ऊँच-नीच मार्ग से आ-जा कर प्रजा को निरन्तर सुखी किया करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥ जैसे ईश्वरकी उत्पन्न की हुई सृष्टि में वायु नीचे ऊपर वा समगति से चलता हुआ नीचे के पदार्थों को ऊपर और ऊपर के पदार्थों को नीचे करता है और जैसे दिन-रात वा आकर्षण धारण गुण वाले अपने किरण-समूह से युक्त सूर्यलोक अन्धकारादिकों को दूर करके दुःखों का विनाश कर सुख और सुखों का विनाश कर दुःखों को प्रगट करता है वैसे ही सभापति आदि को सेना आदि सामग्री सहित ऊंचे-नीचे मार्ग में जा आ के शत्रुओं को जीतकर प्रजा की रक्षा का अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ३ ॥

फिर अगले मन्त्र में उन दोनों के दृष्टान्त से राजकार्य का उपदेश किया है ॥

अभीवृतं कृशनैर्विश्वरूपं हिरण्यशम्यं यजतो बृहन्तम् ।
आस्थाद् रथं सविता चित्रभानुः कृष्णा रजांसि तविषीं दधानः ॥ ४ ॥

पदार्थ—हे सभा के स्वामी राजन् ! आप जैसे (यजतः) संगति करने वा प्रकाश का देने वाला (चित्रभानुः) चित्र विचित्र दीप्ति युक्त (सविता) ऐश्वर्य युक्त राजा, सूर्यलोक वा वायु (कृशनैः) सूक्ष्म करने वाले किरण वा विविध रूपों से (बृहन्तम्) बड़े (हिरण्यशम्यम्) जिसमें सुवर्ण वा ज्योति शान्त करने योग्य हो (अभीवृतम्) चारों ओर से वर्त्तमान (विश्वरूपम्) जिसके प्रकाश वा चाल में बहुत रूप हैं उस (रथम्) रमणीय रथ (कृष्णा) आकर्षण वा कृष्णवर्ण युक्त (रजांसि) पृथिव्यादि लोकों और (तविषीम्) बल को (दधानः) धारण करता हुआ (आस्थात्) अच्छे प्रकार स्थित होता है, वैसे अपना बर्ताव कीजिये ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में श्लेष और वाचकलुप्तोपमालंकार हैं ॥ जैसे सूर्य आदि की उत्पत्ति का निमित्त, सूर्य आदि लोक का धारण करने वाला, बलवान् सब लोकों और आकर्षणरूपी बल को

धारण करता हुआ वायु विचरता है, और जैसे सूर्यलोक अपने समीपस्थलोंको धारण और सब रूप विषय को प्रकट करता हुआ बल वा आकर्षण शक्ति से सब को धारण करता है और इन दोनों के विना किसी स्थूल वा सूक्ष्म वस्तु के धारण का संभव नहीं होता, वैसे ही राजा को उत्तम गुणों से युक्त होकर राज्य का धारण करना चाहिये ॥ ४ ॥

फिर वे[1] कैसे हैं इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

वि जनाञ्छ्यावाः शितिपादो अख्यन् रथं हिरण्यप्रउगं वहन्तः ।
शश्वद्विशः सवितुर्दैव्यस्योपस्थे विश्वा भुवनानि तस्थुः ॥ ५ ॥

पदार्थ—हे सज्जन पुरुष ! आप जैसे इस (दैव्यस्य) दिव्य पदार्थों में उत्पन्न होने वाले (सवितुः) सूर्यलोक को (उपस्थे) गोद अर्थात् आकर्षण शक्ति में (विश्वा) सब (भुवनानि) पृथिवी आदि लोक (तस्थुः) स्थित होते हैं, उस के (शितिपादः) अपने श्वेत अवयवों से युक्त (श्यावाः) प्राप्त होने वाली किरणें (जनान्) विद्वानों, (हिरण्यप्रउगम्) जिस में ज्योतिरूप अग्नि के सुखकारी स्थान हैं उस (रथम्) विमान आदि यान और (शश्वत्) अनादि रूप (विशः) प्रजाओं को (वहन्तः) धारण करते हुए (व्यख्यन्) अनेक प्रकार प्रगट होती हैं, वैसे तेरे समीप विद्वान् लोग रहें और तू भी विद्या तथा धर्म का प्रचार कर ॥ ५ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! तुम, जैसे सूर्यलोक के प्रकाश वा आकर्षण आदि गुण सब जगत् को धारणपूर्वक यथायोग्य प्रकट करते हैं। और जो सूर्य के समीप लोक हैं वे सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। जो अनादि रूप प्रजा है उसका भी वायु धारण करता है, इस प्रकार सब लोक अपनी अपनी परिधि में स्थित होते हैं, वैसे तुम सद्गुणों का धारण करो और अपने अपने अधिकारों में स्थित होकर न्याय मार्ग में स्थापन किया करो ॥ ५ ॥

फिर भी वायु[1] और सूर्य के गुणों का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ एका यमस्य भुवने विराषाट् ।
आणिं न रथ्यममृताधि तस्थुरिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत् ॥ ६ ॥ [६]

पदार्थ—हे विद्वान् ! (रथ्यम्) रथ आदि के चलाने योग्य (आणिम्) संग्राम को जीतने वाले राज भृत्यों के (न) समान इस (सवितुः) सूर्यलोक के प्रकाश में जो (तिस्रः) तीन (द्यावः) सूर्य, अग्नि और विद्युत् रूप के साधनों से युक्त (अधितस्थुः) स्थित होते हैं उन में से (द्वौ) दो प्रकाश वा भूगोल सूर्य मण्डल के (उपस्था) समीप में रहते हैं और (एका) एक (विराषाट्) शूर-

१. पूर्व सूर्य और वायु का वर्णन चल रहा है उसीकी ओर 'वे' शब्द से संकेत किया है। भावार्थ में भी सूर्य और वायु दोनों का निर्देश है। परन्तु संस्कृत और भाषा पदार्थ में केवल सूर्यका वर्णन है, वायुका निर्देश या संकेत भी नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि संस्कृत पदार्थ और भाषा पदार्थ में संशोधनकाल के वायु का प्रसंग हटा दिया और मंत्र-संगति तथा भावार्थ में रह गया है।

वीर, ज्ञानवान् , प्राप्ति स्वभाव वाले जीवों को सहने वाली बिजुली रूप दीप्ति (यमस्य) नियम करने वाले वायु के (भुवने) अन्तरिक्ष में ही रहती है और जो (अमृता) कारणरूप से नाशरहित चन्द्र तारे आदि लोक हैं वे इस सूर्य लोक में प्रकाशित होकर स्थित होते हैं। (इह) संसार में (यः) जो मनुष्य (उ) वादविवाद से इन को (चिकेतत्) जाने और (सत्) उस ज्ञान को (ब्रवीतु) अच्छे प्रकार उपदेश करे उसी के समान हो के हम को सद्गुणों का उपदेश किया कर[1] ॥ ६ ॥

भावार्थ—इस मंत्र में उपमालंकार है ॥ ईश्वर ने अग्निरूप कारण से सूर्य, अग्नि और बिजुली रूप तीन प्रकार की दीप्ति रची है, उनके द्वारा सब कार्य सिद्ध होते हैं। जब कोई ऐसा पूछे कि जीव अपने शरीरों को छोड़ के जिस यम के स्थान को प्राप्त होते हैं वह कौन है ? तब उत्तर देने वाला 'अन्तरिक्ष में रहने वाले वायु को प्राप्त होते हैं' ऐसा कहे। जैसे युद्ध में रथ, भृत्य आदि सेना के अङ्गों में स्थित होते हैं[2] वैसे मरे और जीते हुए जीव वायु के अवलंब से स्थित होते हैं। पृथिवी, चन्द्रमा और नक्षत्रादि लोक सूर्य प्रकाश के आश्रय से स्थित होते हैं। जो विद्वान् हो वही प्रश्नों के उत्तर कह सकता है, मूर्ख नहीं। मनुष्यों को मूर्ख अर्थात् अनाप्तों के कहने में विश्वास और विद्वानों के कथन में अश्रद्धा कभी न करनी चाहिये ॥ ६ ॥

फिर इस सूर्यलोक के गुणों का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

वि सुपर्णो अन्तरिक्षाण्यख्यद् गभीरवेपा असुरः सुनीथः ।
क्वेदानीं सूर्यः कश्चिकेत कतमां द्यां रश्मिरस्या ततान ॥ ७ ॥

पदार्थः—हे विद्वज्जन ! जैसे[3] यह सूर्यलोक (असुरः) जो सबके लिये प्राणदाता अर्थात् रात्रि में सोये हुओं को उदय के समय चेतनता देने (गभीरवेपाः) जिसका कंपन गंभीर अर्थात् सूक्ष्म होने से साधारण पुरुषों के मन में नहीं बैठता (सुनीथः) उत्तम प्रकार से पदार्थों की प्राप्ति कराने और (सुपर्णः) उत्तम पतन स्वभाव वाली किरणों से युक्त (अन्तरिक्षाणि) अन्तरिक्ष में ठहरे हुए सब लोकों को (व्यख्यत्) प्रकाशित करता है, वह (इदानीम्) इस वर्त्तमान समय रात्रि में (क्व) कहाँ है ? इस बात को (कः) कौन (चिकेत) जानता है ? तथा (कतमाम्) बहुत सी पृथिवीयों में से किस (द्याम्) प्रकाशित होने वाली पृथिवी को (अस्य) इस सूर्य की (रश्मिः) किरण (आततान) व्याप्त हो रही है। इस बात को भी कौन जानता है अर्थात् कोई कोई जो विद्वान् हैं वे ही जानते हैं, सब साधारण पुरुष नहीं। इसलिये आप इसके तत्त्व को जानें ॥ ७ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥ जब यह भूगोल अपने भ्रमण से सूर्य के प्रकाश का आच्छादन कर अन्धकार करता है तब साधारण मनुष्य पूछते हैं कि अब वह सूर्य कहाँ

---

१. इस मन्त्र का पदार्थ अस्पष्ट है।

२. यह वाक्य संस्कृतभावार्थ में भी अस्पष्ट है।

३. संस्कृत अन्वय में 'यथा' पद है, परन्तु 'तथा' पद उपलब्ध नहीं होता और नाहीं कहीं सम्बद्ध होता है। इसी प्रकार भाषा में 'जैसे' पद तो है परन्तु 'वैसे' नहीं आया। भावार्थ में वाचकलुप्तोपमालंकार लिखा है। वह बिना तथा या वैसे पद के नहीं बनता। यहाँ निश्चय ही पाठ कुछ भ्रष्ट हुआ है।

[पृष्ठ १४ का शेषांश]

भी वेदार्थ के विषय में सोचने का अवसर होता कि आध्यात्मिक और आधिदैविक अर्थ तो अभी शेष हैं, सायण के भाष्य में ही वेदार्थ की परिसमाप्ति नहीं हो जाती और इतिहास का सारा वर्णन औपचारिक (Simile) के रूप में है, न कि वास्तविक घटना। तब महान् उपकार होता। विदेशीय विद्वान् हमारी सारी संस्कृति, सभ्यता, और साहित्य को उलटे रूप में सब के सामने न रख सकते॥

मैं तो कहता हूँ यदि सायणभाष्य का ही हिन्दी अंग्रेजी वा उर्दू वा अन्य जिस किसी भाषा में अनुवाद करके किन्हीं शिक्षणालयों में रख दिया जावे तो निश्चय ही समझना चाहिये कि कुछ श्रद्धालुओं को छोड़कर सबकी एक ही ध्वनि उठेगी कि ये वेद जङ्गलियों की यों ही बड़बड़ाहट या अण्ट सण्ट कृतियां हैं जिनका मानवसमाज को कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। पञ्जाब यूनिवर्सिटी की शास्त्री परीक्षा में जितना अंश सायणभाष्य का है, उससे सायण की छाप के कारण शास्त्री प्रायः वेद से विमुख ही हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें वेद के वास्तविक स्वरूप का तो दर्शन भी नहीं हो पाता। इस सारे अनर्थ का मूल सायणाचार्य का वेदार्थ ही है। यहां हम यह भी कह देना चाहते हैं कि 'मुख्येन व्यपदेशः' नियमानुसार सेना जा रही हो तो भी मुख्यता से यही कहा जाता है कि 'राजा जा रहा है'। इसी प्रकार याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार भाष्य करनेवाले अन्य सभी भाष्यकार इसी कोटि में आ जाते हैं। उनके पृथक् निर्देश की यहां आवश्यकता नहीं। सब 'यथा हरिस्तथा हरः' के अनुसार ही समझने चाहियें। सायण का नाम इसलिये भी बार २ आता है कि वेदों तथा ब्राह्मणग्रन्थों पर सब से अधिक भाष्य सायणाचार्य के ही हैं जिनको लेकर आगे लोगों ने अनुवादादि किये। सायण के भाष्य को पढ़कर कोई भी समझदार वेद के उस स्वरूप तक नहीं पहुँच सकता जो ऋषि मुनि मानते हैं, जिसका निरूपण स्वायम्भुव मनु ने किया है—

"स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः" (मनु० २। ७४)॥

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥
महाभारत शान्तिपर्व अ० २३२। २४॥

वेद समस्त विद्याओं का स्रोत है, सम्पूर्ण ज्ञान वेद से ही मानवसमाज को प्राप्त हुआ। सार्वभौमिक नियमों का प्रतिपादन वेद में है, इत्यादि सब बातें सायणभाष्य को पढ़कर कभी मन में नहीं बैठ सकतीं॥

[पृष्ठ ९ का शेषांश]

अर्थात् इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्राचीन भारतीयों को सच्चे ईश्वर का ज्ञान था। उनके सब लेख ईश्वर के विषय में उतने ही उत्कृष्ट, स्पष्ट, प्रेममय और अत्यन्त उन्नत तथा गम्भीर भावों से भरपूर हैं, जितने किसी भी भाषा में संभव हैं। मैटरलिंक नामक बेल्जियम देशवासी दार्शनिक (जिसे लगभग १½ लाख का नोबल पुरस्कार प्राप्त हुआ था) का निम्न लेख भी वेदों के महत्त्व को सूचित करता और विकासवाद का निराकरण करता हुआ महर्षि दयानन्द के प्रभाव को द्योतित करता है।

"Only the glare or the clairvoyant, directed upon the mysteries of the past, may reveal the rivalled wisdom which lies hidden behind these writings (Vedas)..........Whence did our pre-historic ancestors in their supposed terrible state of ignorence and abandonment derive these extra ordinary intuitions—that knowledge and assurance which we ourselves are re-conquering." भावार्थ यह कि एक सूक्ष्मक्रान्तिदर्शी का रहस्यों पर पड़ता हुआ प्रकाश ही उस अनुपम बुद्धिमत्ता पूर्ण ज्ञान को प्रकट कर सकता है जो वेदों में छिपा हुआ है। हमारे प्रागैतिहासिक काल के पूर्वज तथाकथित अज्ञान और निस्सहायता की अवस्था में इतना उत्कृष्ट ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकते थे? इत्यादि।

मुद्रक और प्रकाशक—पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा ज्योतिष प्रकाश प्रेस, विश्वेश्वरगंज, बनारस में छपा।

ॐ

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ६] [अङ्क ८

इस अंक के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

ज्येष्ठ २०११, जून १९५४
दयानन्दाब्द १३०
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५४

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
बनारस नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
" " विदेश में ६)
इस अंक का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनियार्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ॥) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है।

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क **विशाल विशेषाङ्क** के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १ से तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख **'सम्पादक वेदवाणी'** के नाम से आने चाहिये। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जावेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। **विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है।** विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सम्बन्धी धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र **'व्यवस्थापक वेदवाणी'** के पते से भेजें।

८—ग्राहक महानुभाव पत्रव्यवहार या मनिआर्डर भेजते समय अपना **ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें अन्यथा भूल हो सकती है।**

व्यवस्थापक—**वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस ६**

[टाइटल पेज ३ का शेष]

शु० १ को शनिवार नहीं था बुधवार था। तिथि बदलने पर भी शनिवार वैसा का वैसे ही पड़ा रहा।

इस रिपोर्ट की भूल से यह भी व्यक्त हो जाता है कि आर्यसमाज मन्दिर पर जो स्थापना दिवससम्बन्धी शिलालेख लगा है वह सं० १९४५ के बाद लगाया गया है क्योंकि उसमें चैत्र शु० १, ७ अप्रेल को स्पष्ट बुधवार लिखा है। शिलालेख में दिन में भी परिवर्तन कर देने पर रिपोर्ट में पुनः अशुद्धि नहीं हो सकती थी।

इस प्रकार निम्न कारणों से यह स्पष्ट है कि आर्यसमाज की स्थापना चैत्र शु० ५ सं० १९३१ (गुज०) ७ अप्रेल १८७५ शनिवार को सायंकाल हुई। इसमें तीन अकाट्य प्रमाण हैं—

१—ऋषि दयानन्द का चैत्र शु० ६ रविवार सं० १९३१ (गुज०) का पत्र।

२—आर्यसमाज स्थापना के अनन्तर ११ मास की छपी रिपोर्ट (इसका वर्णन हम मार्च के अंक में कर चुके हैं)।

३—पं० लेखरामजी और पं० देवेन्द्रनाथ जी के अनुसन्धान।

सं० १९३१ से १९४५ तक की ऊपर उद्धत गुजराती रिपोर्ट में चैत्र शु० १ को शनिवार लिखा जाना उस काल में **"आर्यसमाज की शनिवार को स्थापना हुई"** इस प्रसिद्धि का विस्पष्ट प्रमाण है।

इस प्रकार की साधारण सी भूलों से भी कभी-कभी अनेक ऐतिहासिक गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं इसका यह स्पष्ट प्रमाण है। इसी प्रकार की एक साधारण-सी भूल से हमें ऋषि "दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास" ग्रन्थ में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका और संशोधित पंचमहायज्ञ विधि के लिखने के पौर्वापर्य कालज्ञान में महती सुविधा हुई। देखो—ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास पृष्ठ ५२–५४॥

आशा है आर्यसमाज के नेता और सार्वदेशिक सभा के अधिकारी इन प्रमाणों के प्रकाश में आर्यसमाज स्थापना दिवस पर पुनः गम्भीरता से विचार करेंगे।

अब केवल एक कार्य शेष रह गया है और वह है स्वयं बम्बई जाकर पुरानी लिखित रिपोर्टों की जाँच करना। यह कार्य कोई ऐतिहासिक बुद्धि और लगनवाला व्यक्ति ही कर सकता है। सर्वसाधारण के बाहर की बात है। इसमें कुछ समय और धन व्यय करना होगा। यह इस समय मेरे वश से बाहर की बात है, अतः मैं असमर्थ हूँ।

दूर बैठकर मेरे से जहाँ तक इस विषय का अनुसंधान हो सका, उसे करके उपस्थित कर दिया है। इसका उपयोग करना न करना सार्वदेशिक सभा के अधिकारियों का कर्तव्य है। यदि सार्वदेशिक सभा इस विषय में कुछ सहयोग चाहेगी तो मैं उसे सहर्ष प्रदान करूँगा।

ओ३म्

वेदवाणी

सं श्रुतेन॑ गमेमहि, मा श्रुतेन॒ वि रा॑धिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों !

वर्ष ६ } काशी, ज्येष्ठ सं० २०११ वि०, जून १९५४ ई० { अङ्क ८

आर्याभिविनय से

हमारा व्यवहार ऋजु=सरल हो

ऋ॒जु॒नी॒ती नो॒ वरु॑णो मि॒त्रो न॑यतु वि॒द्वान् । अ॒र्य॒मा दे॒वैः स॒जोषाः॑ ॥ ऋ० १।६।१७।१ ॥

व्याख्यान

हे महाराजाधिराज परमेश्वर ! आप हमको "ऋजुनीति" सरल (शुद्ध) कोमलत्वादिगुणविशिष्ट चक्रवर्ती राजाओं की नीति को "नयतु" कृपादृष्टि से प्राप्त कराओ। आप "वरुणः" सर्वोत्कृष्ट होने से वरुण हो, सो हमको वरराज्य, वरविद्या वरनीति देओ, तथा ["मित्रः"] सबके मित्र शत्रुतारहित हो, हमको भी आप मित्रगुणयुक्त न्यायाधीश कीजिये, तथा आप सर्वोत्कृष्ट विद्वान् हो, हमको भी सत्यविद्या से युक्त सुनीति दे के साम्राज्याधिकारी सद्यः कीजिये, तथा आप "अर्यमा" (यमराज) प्रियाप्रिय को छोड़ के न्याय में वर्तमान हो, सब संसार के जीवों के पाप और पुण्यों की यथायोग्य व्यवस्था करने वाले हो, सो हमको भी आप तादृश करें, जिससे "देवैः सजोषाः" आपकी कृपा से विद्वानों वा दिव्यगुणों के साथ उत्तम प्रीतियुक्त आप में रमण और आपका सेवन करने वाले हों। हे कृपासिन्धो भगवन् ! हम पर सहाय करो, जिससे सुनीतियुक्त हो के हमारा स्वराज्य अत्यन्त बढ़े॥

सामवेद की स्पष्टोक्तियाँ

लेखक—श्रीभीमसेनजी विद्यालंकार, अम्बाला छावनी

जिस प्रकार दृश्यमान प्राकृत जड़ जगत् के कई दृश्यस्थान होते हैं जिन्हें साधारण से साधारण योग्यतावाला मनुष्य, चेतन प्राणी देखकर, आनन्द-विभोर होकर उनके साथ एकरस हो जाता है और इसी जड़ जगत् में कई ऐसे दृश्य होते हैं जिनके रहस्य को केवलमात्र सूक्ष्मदर्शी, योगी व प्रकृतिलय सांख्यवादी वैज्ञानिक ही समझ सकता है; उसी प्रकार से वेदसंहिताओं में भी कई ऐसे स्थल हैं जो सूर्य-चन्द्र की भाँति स्वयं प्रकाशित हैं और कई ऐसे मन्त्रभाग हैं जिन्हें ऋषि योगी समाविष्ट होकर ही जान सकते हैं।

ऐसा सरल स्पष्टार्थ भागों का परिचय उसी समय होता है जब स्वाध्यायशील व्यक्ति भाष्य-टिप्पणियों को एक तरफ रखकर, मूलमन्त्र पाठ को पढ़ता जाता है और स्पष्टार्थ मंत्र भागों को रेखांकित करता जाता है। इससे मन को सात्त्विक स्वाभाविक शान्ति प्राप्त होती है। जिस प्रकार प्राकृत जगत् में चहचहाती चिड़ियों के गाने. श्रोता के लिये आनन्ददायी ध्वनि को ध्वनित करते हैं उसी प्रकार यह स्पष्टार्थ मन्त्रभाग सहसा अनायास बिना पांडित्य की सहायता से पाठक के आत्मा मे विशेष ध्वनि को पैदा करते हैं।

इसी क्रम में मैंने गत वर्ष सामवेद का पारायण किया था। उस पारायण में निम्नलिखित मन्त्रभाग स्वयं स्फुट स्पष्टार्थ के द्योतक प्रतीत हुए और उन्हें मैंने तत्काल रेखांकित कर दिया था। श्री जिज्ञासुजी की आज्ञानुसार यह मन्त्रभाग संकलित किया जा रहा है। आशा है वेदवाणी के पाठकों को इससे कुछ न कुछ आध्यात्मिक भोजन या रसास्वाद प्राप्त होगा और वेद के स्वाध्याय के लिये प्रवृत्त होंगे।

१. **"इन्द्रो मुनीनां सखा"** मननशील विचारकों का मित्र ही ऐश्वर्यशाली बन सकता है। इसीलिये वैदिक मतानुयायी दशरथादि राजा लोग अपने मंत्रि-मंडल में मुनियों को ही रखा करते थे।

२. **सत्यमित्था वृषेदसि।** परमात्मा सत्य-स्वरूप है।

३. **दीर्घं सुतं वाताप्याय।** प्राणायाम करनेवाले (वातापि) व्यक्ति का जीवन दीर्घ होता है।

४. **अरं शक्र परेमन्ति।** हे शक्तिपुंज परमात्मन्! हम परान्त काल मोक्ष में लीन रहें।

५. **मित्रस्यान्त्यद्रुहः।** किसी के साथ द्रोह न करनेवाले अजातशत्रु व्यक्ति को; सबका मित्र परमात्मा उसे अपने अन्तिक (समीप) लाकर रक्षा करता है।

६. **न त्वामिन्द्रातिरिच्यते।** हे इन्द्र परमात्मन्! इस संसार में आपसे बड़ा कोई नहीं है।

७. **कपोत इव गर्भधिम्।** जिस प्रकार कबूतर कबूतरी के पास जाता है उसी प्रकार भक्त परमात्मा के पास जाता है। गुरुग्रन्थ साहब में पहला महला, दूसरा महला शब्दों में इसी पति-पत्नी भाव का संकेत है।

९. **इन्द्र वृत्रहन् अस्माकमर्धमागहि।**

हे विघ्नों के नाशक इन्द्र! हमें ऋद्धि-ऐश्वर्य प्राप्त कराइए।

१०. **यं रक्षन्ति प्रचेतसो वरुणो मित्रो अर्यमा। नकिः स दभ्यते जनः॥**

मित्र, वरुण, अर्यमा, प्रचेतस आदि नामों से निर्दिष्ट आध्यात्मिक शक्तियाँ जिसकी रक्षा करती हैं या जो व्यक्ति इन आध्यात्मिक-दिव्य शक्तियों का संचय करता है उसे कोई नहीं मार सकता।

११. जुहूमसि द्यवि द्यवि। हम परमात्मा का प्रतिदिन आह्वान करें।

१२. अहं सूर्य इवाजनि। मैं सूर्य की भाँति प्रतिदिन तेजस्विता को धारण किये हुए जन्म लिया करूँ या आविर्भूत (प्रकट) हुआ करूँ।

ऋग्वेद मूलसंहिता का पारायण करते हुए निम्नलिखित मंत्र-स्पष्टोक्तियों ने हृदय में विशेष भावनाओं को पैदा किया।

१३. मा भेम शवसस्पते। ऋ. मं. १. सूक्त ११. हे इन्द्र! कभी किसी से न डरें॥

१४. दक्षिणा पात्वंहसः। ऋ. मं. १ सू. १८ मन्त्र ५—पाप से बचने के लिये दान देने का अभ्यास करना चाहिए।

१५. सत्यमंत्राः ऋजूयवः। ऋ. मं. १. सूक्त २०. मंत्र ४—सरल स्वभाव आत्मा ही सत्य भाषण कर सकते हैं। सत्यवादी ही सरल स्वभाव हो सकता है।

१६. साम्राज्याय सुक्रतुः। ऋ. मं. १. सू. २५ मन्त्र १०.

अच्छे संकल्पों और कर्मोंवाले ही साम्राज्य की स्थापना कर सकते हैं।

१७. ऋध्याम कर्मापसा नवेन। ऋ. मं. १ सूक्त ३१. मंत्र ८।

नित्य नये कर्म करनेवाले व्यक्ति ही ऋद्धि, ऐश्वर्य को प्राप्त कर सकते हैं। पुरानी लकीर के फ़कीर ऐश्वर्यशाली नहीं बन सकते।

१८. आस्थापयन्त युवतिं युवानः। ऋ. मं. १ सू. १६७ मं. ६

युवा युवती का ही विवाह होना चाहिए। बाल युवती, वृद्ध-युवती के विवाह सम्बन्ध स्थिर नहीं रहते। वियोग, विच्छेद से युक्त होते हैं।

१९. इन्द्र त्वं मरुद्भिः संवदस्वाध प्राशान ऋतुथा हवींषि। ऋ. मं. १ सू. १७०. मंत्र ५.

आत्मा को उन्नत करने के लिये मरुद्-प्राणों के साथ संवाद करना चाहिए। अर्थात् आत्मिक शक्ति को बढ़ाने के लिये प्राणायाम (रामायण की विश्वामित्र द्वारा राम लक्ष्मण को सिखाई गई बला अति-बला विद्या) एकमात्र साधन है। साथ ही शारीरिक तथा मानसिक उन्नति के लिये ऋतु-अनुसार भोजन तथा हवियों को सेवन करना चाहिए।

२०. ऊर्ध्वान्नः कर्त जीवसे। ऋ. मं. १ सू. १७२. मंत्र ३.

हे सृष्टिकर्ता परमात्मन् हम निरन्तर ऊर्ध्व दिशा की ओर गति करते हुए जीवन व्यतीत करें।

२१. ते बाहुभ्यां धमितमग्निमश्मनि। ऋ. मं. २ सू. २४. मं. ७.

बाहुओं से पत्थर को रगड़ कर अग्नि प्रदीप्त की जाती है। अरणि-पत्थर काष्ठ का संकेत है।

२२. पर ऋणा सावीरधा मत्कृतानि।

ऋ. मं. २। सू. २८ मं. ९

मैं ऋण लेकर जीवनयात्रा न करूँ।

२३. माहं राजन्नन्य कृतेन भोजम्। ऋ. मं. २. सूक्त २८. मंत्र ९.

हे राजन्! मैं दूसरे की कमाई से भोग न करूँ? स्वयं अपने हाथों परिश्रम करके स्वयं कमाकर जीवन निर्वाह करूँ।

२४. व्रज गामश्वं जनयन्त ओषधीर्वनस्पतीन् पृथिवीं पर्वताँ अपः। सूर्यं दिवि रोहयन्तः सुदानव आर्या व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि। ऋ. मं. १०। सू. ६५। मंत्र ११.

आर्य लोगों को व्रत धारण करना चाहिए कि वह

[शेष पृष्ठ १२ पर]

धर्मशील

लेखक—श्री लालचन्दजी, मेरठ

धर्मशील मनुष्यों में भय और सन्देह नहीं होता, उनमें परस्पर आदर, विश्वास और सौजन्य होता है। प्रायः जितने भेदभाव हैं वे एक दूसरे को सम्यक् रूप से न जानने के कारण होते हैं। यह सत्य है कि संसार में संघर्ष भी स्थायी शान्ति के लिए ही होते हैं। आपस की जानकारी, एक-दूसरे के स्वभाव का ज्ञान हुए बिना जो कथित मैत्री हो जाती है वह स्थिर नहीं रह सकती। एक-दूसरे को भली प्रकार जानना और संशयरहित भावना से परस्पर का मेल चाहना और करना तथा चिरकाल तक निभाना हृदय की सरलता और मन की पवित्रता पर निर्भर है। मनुष्यों में जो एक दूसरे पर कीचड़ उछालने की प्रवृत्ति है, वह त्याज्य है, इसका कारण सन्देह है। मलिन मन में ही संदेह उत्पन्न होता है। पवित्र मन में तो सन्देह के लिए स्थान ही नहीं। हम आपस के संबन्ध पवित्रता, श्रद्धा और विश्वास पर दृढ़ करें, तब ही सौहार्द संभव है। वही हृदय सुन्दर है, जिसमें आपस के बन्धुत्व की भावना जागृत है। जब हम एक-दूसरे से प्रेम के संबन्ध स्थापित करते हैं तो अवश्य परस्पर हृदय-कमल खिलते हैं। ऐसे शुद्ध और सरल व्यवहार करनेवाले मनुष्य ही धर्मशील कहे जाते हैं और उनमें ऐश्वर्य और शान्ति होती है, उनमें अभ्युदय भी होता है और वे कल्याण-पथ के पथिक रहते हुए अपना तथा अन्यों का सच्चा कल्याण करने में समर्थ होते हैं।

धर्मशील मनुष्य अपने सदाचार और आपस के सरल व्यवहार के कारण लोकप्रिय हो जाते हैं। मनुष्य की प्रवृत्ति में संघर्ष नहीं। मनुष्य स्वभावतः स्वयं शान्ति में रहना चाहता है और दूसरों से भी शान्ति की ही आशा करता है। स्वयं जिये और दूसरों को जीने दे, यह सिद्धान्त मानवता का है। इसके विपरीत अपने बल और शान्ति से दूसरों को उनके अधिकारों से वंचित करना और उनकी शान्ति में बाधा डालना दानवता है, यही आसुरी प्रवृत्ति है। जब कि एक मनुष्य अथवा मनुष्य समूह दूसरों के विकास में रुकावट डालकर प्रसन्न होते हैं और इसे अपनी विजय-कामना कहते हैं। दुर्बल होना, अशक्त होना एक पाप है पर साथ ही यह भी पूरी आसुरी प्रवृत्ति ही है जो कि शान्ति से रहते हुए एक राज्य पर दूसरा राज्य केवल इसलिए आक्रमण करके हर्ष मनाए कि वह दलबल में उससे अधिक है और वह उसे अपने साम्राज्य में मिलाना चाहता है। यह तो स्पष्ट लुटेरापन है। शान्तिपूर्वक निवास करते हुए नागरिकों पर यदि कोई डाकू लूट-मार करता है तो उसे घृणित समझा जाता है और वह दोषी ठहराया जाता है तो क्यों न वह आक्रमणकारी राज्य विश्व-न्यायालय की दृष्टि में डाकू या लुटेरा समझा जाय और तदनुकूल ही उसे दंड दिया जाय? लोकमत अभी स्पष्ट नहीं हुआ, वरना साम्राज्य-वर्धन एक दंडनीय कार्यवाही मानी जाय। मानवता

के पूर्ण विकास में सभी मनुष्यों को अपनी उन्नति करने के पूर्ण अवसर मिलने चाहियें। किसी की उन्नति में कोई अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह बाधा न डाल सके। जब इस प्रकार लोक-मत जागरूक और निश्चित होगा तो संसार में विषमता न रहेगी सभी अपने कर्तव्य करते हुए अपने अधिकार स्वच्छंद और स्वतन्त्ररूप में भोगेंगे। जब तक कि समूचे समाज को उनके जीवन व्यवहार से हानि न हो और सामाजिक जीवन में रुकावट न हो।

मनुष्य की जीवन-चर्या में दो प्रकार के कार्य करने होते हैं। एक तो स्वास्थ्य और जीवन-निर्वाह के लिए व्यक्तिगत विकास, दूसरे उसका दायित्व समाज के लिए भी है और उसे कोई भी ऐसा कार्य न करना चाहिये जिससे सामाजिक जीवन में संकट की संभावना हो। इसीलिए आर्यसमाज के नियम नं० १० में कहा है कि "सब मनुष्यों को सामाजिक, सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें"। अभिप्राय यह है कि व्यक्तित्व का विकास इस प्रकार हो कि सामाजिक जीवन की प्रगति में किसी प्रकार की रुकावट न हो। प्रत्येक व्यक्ति समाज की शक्ति बढ़ाए और समाज द्वारा उसकी भी शक्ति बढ़े। व्यक्ति और समाज का सामंजस्य हो, दोनों का समन्वय हो, दोनों एक-दूसरे के पूरक हों तभी सच्ची उन्नति होती रहेगी और सभी सुखी और समृद्ध होंगे।

प्रत्येक व्यक्ति समाज के लिए अपने आपको, अपनी सभी शक्ति को समर्पित करे तो उसमें एक विलक्षण ओज आ जाता है, यही ओज ब्रह्मवर्चस कहा जाता है। ब्रह्मवर्चस वह महान् तेज है जो जनार्दन-पूजा से, निःस्वार्थ जन-सेवा से विकसित होता है। तेज, ओज, प्रेम और आनन्द का स्रोत मनुष्य के अन्तरात्मा में है जब मनुष्य कर्तव्यरूप से समाजसेवा करता है तो उसका उत्साह बढ़ता है, उसमें आत्मविश्वास स्थिर होता है और वह दृढ़ता से अपने में भरोसा करता हुआ दूसरे जनों में भी विश्वास धारण करता है और इस प्रकार लोकप्रेम होकर सफल होता है। ऐसे समाज में विपुल अन्न, धन, संपद् हर प्रकार का ऐश्वर्य होता है और जनता में स्वज्ञा, अपने अन्दर से उत्पन्न हुई शक्ति बढ़ती है। शक्तिमान्, बुद्धिमान्, ज्ञानवान् मनुष्य ही विनयशील और नम्र होता है और उसका विनय उसे जनता के हृदय में स्थायी स्थान देता है और वह उनका हृदय-सम्राट् हो जाता है। यह है धर्मशील होकर नेता बनने की विधि।

धर्म का मर्म कठिन नहीं है। सीधा, सरल, ऋजुमार्ग धर्म-मार्ग है। उस मार्ग में कठिनाइयाँ आती हैं पर भगवान् पर विश्वास रखने से और आत्म-विश्वास तथा आपस के सहयोग से जीवन-मार्ग कल्याण-पथ के पथिक के लिए अवश्य चलने योग्य हो जाता है। धर्म वीर आर्यजन कठिनाइयों में, दुखों में और आपत्तियों में घबराते नहीं उन्हें अपने आप में और अपने भगवान् में तथा जनता में विश्वास होता है इसलिए वे सफल होते हैं और भगवान् के दिव्य गुण धारण करते हुए भगवान् का अतिसामीप्य प्राप्त करके अजेय हो जाते हैं। धर्म का तत्त्व ऋत और सत्य में निहित है। धर्मशील सदा धैर्यवान् और निष्ठावान् होता है और वह अपने ज्ञान की वृद्धि

में ही आनन्द का अनुभव करता है पर कभी अपने ज्ञान-विज्ञान का अभिमान नहीं करता। उसमें अहंकार अवश्य होता है, वह अपने आपको अमर सत्य समझता है और अनुभव करता है सर्वशक्ति के स्रोत, पूर्ण भगवान् से अपने आपको जुड़ा हुआ अनुभव करता हुआ नित्य ही उस अक्षय भण्डार 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' महाप्रभु का प्रेमपात्र होकर उससे संयुक्त नित्य नयी शक्ति, नया जीवन और नया उत्साह पाता रहता है। वह जनसेवा के दुष्कर-व्रत में सफल होता और सफलता को भी अपने प्रियतम भगवान् को ही समर्पित कर देता है। इस प्रकार धर्मशील मनुष्य विनयशील और नम्र रहता है और सदा विजयी होता है।

धर्माचरण में अनन्तशक्ति है, विपुल बल है जो बल संयम में है, जो बल सदाचार में है, वह विलासिता, दुराचार, अनाचार और व्यभिचार में कहाँ? धर्मशील का आचार-व्यवहार आदर्श होता है। उसमें शालीनता और शिष्टाचार तो होता ही है वह सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तात्र करता है और कभी भी केवल अपनी ही उन्नति में संतुष्ट नहीं रहता प्रत्युत सबकी उन्नति में ही अपनी उन्नति समझता हुआ सबकी उन्नति में सहयोग देता रहता है। यही भाव आर्यसमाज के नियम नं० ७ और ८ का है।

ऋषि दयानन्द आर्यसमाज द्वारा धर्मशील मनुष्य बनाना चाहता था, उनकी आर्य संज्ञा होती। पर अब बन गए आर्यसमाजी, जिनमें प्रायः आर्यत्व में रुचि नहीं देखी जा रही। यह एक दुःखद सत्य है। आर्यसमाजी कैसे आर्य होवें, यह समस्या नेताओं के सामने है, इसमें उदासीनता हानिकर होरही है। इस ओर उपेक्षा करना अपने दायित्व को न समझना है। संसार का उपकार करना तो दूर की बात है पहले आर्यसमाजी लोग, आर्यसमाज के नेता परस्पर एक-दूसरे में सौहार्द और सच्चा प्रेम स्थिर करके आपस की उन्नति ही निश्चित कर लें तो बहुत है। आर्यवीर जब आपस का संगठन करेंगे तभी वह संगठन सच्चे अर्थों में आर्यों अर्थात् श्रेष्ठ आस्तिक जनों का समाज—आर्यसमाज होगा। ऐसे आर्यसमाज में निश्चित रूप से एक-दूसरे का कर्तव्यरूप में उपकार करने की क्षमता होगी। हमें आर्यसमाज को अविलंब सशक्त और सुसंगठित करना चाहिये। यह काम धर्मशील भगवद्-भक्त ही संपन्न कर सकेंगे। आर्यसमाज में शक्तिमान्, विद्वान्, कर्मण्य, पुरुषार्थी यशस्वी, लोगों की वृद्धि की ओर नेताओं को विशेषरूप से ध्यान देना चाहिये। धर्मशील आर्यजन ही जनता में शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति के लिए योग्य वातावरण तैयार करने में समर्थ होंगे। आर्यसमाज द्वारा देश और जाति का कल्याण अवश्य होगा। इस मङ्गल भावना को लिए हुए प्रत्येक आर्यसमाज के सदस्य स्वयं धर्मशील ईश्वरभक्त होवें और पड़ोस में अपने जीवन द्वारा आर्यत्व का प्रसार करें तो ऋषि दयानन्द की कामना जो आर्यसमाज के नियम नं० ६ में अंकित है, पूरी हो सकेगी।

आर्यसमाज के नेता और जिम्मेदार लोग इस परम आवश्यक कार्य को करें तो आर्यसमाज लोकप्रिय होगा और आर्यसमाज द्वारा देश, जाति में सदाचार फैलेगा और ईश्वर की सच्ची उपासना द्वारा सभी शक्तिमान्-विनयशील और नम्र होते हुए मिलकर इस परम पवित्र कार्य को संपन्न कर सकेंगे।

वसन्त का वैदिक स्वरूप

लेखक—श्री पन्नालाल जी परिहार बी० ए० एल० एल० बी० जोधपुर

[इस लेख को हम उचित समय में नहीं छाप सके, इसका हमें खेद है। लेख उपादेय है इसलिये विलम्ब हो जाने पर भी हम इसे प्रकाशित कर रहे हैं—सम्पादक]

वसन्त ऋतु में दिव्य आश्रय लोक त्रिपुट अर्थात् तिगुने रूप से अति प्रबलता से प्रकट होते हैं। इस ऋतु में प्राण बल द्वारा तथा अग्नि के उत्तरोत्तर तेज प्रभाव से जीवात्मा और समस्त प्राणी जगत् में अन्न, आयु और बल धारण किये जाते हैं और क्रमशः बढ़ाये जाते हैं। यह क्रिया तीव्र होती जाती है, जैसे जैसे मकर सौर संक्रान्ति के उपरान्त सूर्य उत्तरायण अभिमुख होता हुआ उत्तरोत्तर तेजस्वी होता है। यह सृष्टि का रथन्तर है जो प्रति वर्ष प्रादुर्भूत होता रहता है। पृथिवी अपनी धुरी पर घूमती है जिससे रात-दिन उत्पन्न होते हैं। पृथिवी की दूसरी गति वह है जिससे यह एक परिधि पथ पर सूर्य के चारों ओर चक्र लगाती है। यह क्रिया स्वाभाविक ऋतु शक्ति के कारण होती रहती है और मानवी एक वर्ष में समाप्त हो जाती है। बारह मास में बारह संक्रान्तियाँ आती हैं और इनके दो-दो मास के विभाग करने पर छ ऋतुएँ बनती हैं। जब सूर्य छ मास तक दक्षिणायन रहता है तब हमारा उत्तरायण खंड प्रायः शांतिमय होता है। और जब मकर संक्रान्ति के पश्चात् अर्थात् मकर के दारुण शीत के उपरान्त सूर्य देव उत्तरायण की ओर देवयान अभिमुख होता है, तब हमारे यहाँ मधु माधव संज्ञक वसन्त का सुहावना ऋतु आता है। मधु मास में समस्त वनस्पतिवर्ग और प्राणीजगत् में मधु रस का संचार होने से सृष्टि में स्वतः ही स्वाभाविक मधुरता आती है। माधुर्य सम्पन्न होने पर वृक्ष-लतादि वनस्पति औषधियों में किसलय नवकुसुम फूल पत्तियाँ व कोंपलें फूट निकलती हैं। इससे हमारा धरातल का वातावरण शीतल, मन्द, सुगन्ध, सुरभि से सौम्य तथा फलोत्पादक बनता है। यह माधव है। यजुर्वेद के शब्दों में यह दो मास वसन्त ऋतु के दो स्वरूप हैं। यही संवत्सर अग्नि के रूप अन्तश्लेष कहलाते हैं। यह रथन्तर क्रिया चक्र की भांति कल्पादि से प्रलय तक निरन्तर होती रहती हैं। वसन्त नामक समय विभाग काल-चक्र का प्रमुख आरा है।

वसन्त ऋतुमुख है। यह संवत्सर का शिर कहलाता है। गीता के शब्दों में यह 'ऋतूनां कुसुमाकरः' है। यही ऋतुराज प्रथम ऋतु और प्रकृति का राजा है। इसे कल्पपर्व भी कहते हैं क्योंकि सर्ग-सृष्टि इसी काल में प्रारम्भ हुआ करती है। वसन्त सृष्टि बसानेवाला तत्त्व प्रादुर्भूत होता है। प्राणी-जगत् के अविर्भाव का यही मुख्य काल माना जाता है। इसीमें प्रकृति के पदार्थ यौवन को धारण करते हैं और समस्त संसार स्फूर्ति, चेतना और प्रगति को प्रकट करता है। औषधियां बलवती होती हैं और उनमें भर्गःज्योति उत्पन्न होती है। आदि-काल से ही विप्र कवियों ने इस ऋतु के गुण बखाने हैं। यह वसन्तकाल पौराणिक समय में मदनोत्सव के रूप में मनाया जाता था। इसके आधार पर योगीराज शिव द्वारा कामदेव को भस्म करने की कथा प्रचलित हुई। कामदेव का साथी यही ऋतुराज था। 'सर्वप्रियं चातुरं वसन्ते। विहरति हरिहरो सरस वसन्ते' आदि उक्तियों का मूल वसन्त ही है।

वेद में एक अनूठे ढंग से वसन्त का सुन्दर वर्णन किया है। यजुर्वेद के अध्याय २१ का २३ वां सुप्रसिद्ध मंत्र देखिये।

वसन्तेन ऋतुना देवा वसवस्त्रिवृता स्तुताः।
रथन्तरेण तेजसा हविरिन्द्रे वयो दधुः॥

इस सारगर्भित मन्त्र पर विचार करने से पूर्व हम इसके कतिपय सुप्रसिद्ध भाष्यों को उद्धृत करते हैं।

दयानन्दभाष्य—

जो वसु पृथिवी आदि ८ वसु अथवा प्रथम कक्षा वाले विद्वान् लोग दिव्य गुणों से युक्त स्तुति को प्राप्त हुए तीनों कालों में जिसमें विद्यमान रहते हैं, उस प्राप्त होने योग्य वसन्त ऋतु के साथ वर्तमान हुए जहाँ रथ से तैरते हैं उस तीक्ष्ण स्वरूप से सूर्य के प्रकाश में देने योग्य आयु बढ़ानेहारे वस्तु को धारण करे। भावार्थ—उनको स्वरूप से जान कर संगति करो। मनुष्य लोग रहने के हेतु दिव्य पृथिवी

आदि लोकों वा विद्वानों की वसन्त में संगति करे, वे वसन्त सम्बन्धी सुख को प्राप्त होवें।

वैदिक संस्थान मथुरा का भाष्य—

पृथिव्यादि आठ वसु वसन्त ऋतु में त्रिवृत् स्तोम और रथन्तर साम से प्रशंसित होते हुए तेज के द्वारा जीवात्मा में हविष्य पदार्थ आयु को धारण करते हैं।

जयदेव भाष्य—

वसु नामक देव विद्वान् वसन्त ऋतु में त्रिवृत् स्तोम और रथन्तर साम से और तेज पराक्रम से राजा या राष्ट्र में अन्न, बल, दीर्घ जीवन को धारण कराते और स्वयं धारण करते हैं।

महीधर सायण के आधार पर मिश्र भाष्य—

त्रिवृत् स्तोम रथन्तर स्तुति को प्राप्त हुए वसन्त ऋतु सहित आठों वसु तेज के साथ आयु को स्थापित करते हैं।

उपरोक्त भाष्यों से ज्ञात होगा कि वेद के सारगर्भित सूक्ति पर प्रकाश तो डाला गया है अवश्य, परन्तु सर्व-साधारण के लिये इसका पूर्णतया समझना कठिन है। इन भाष्यों की भी विशद व्याख्या वांछनीय है क्योंकि वेद-मंत्र में आये हुए पारिभाषिक शब्द इन भाष्यों में दोहरा दिये हैं। प्रत्येक शब्द पर विस्तार से विचार करने पर ही 'अनन्ता वै वेदाः' का रहस्य खुल सकता है। इस कारण से ही वेद-रूप देव-काव्य मानव-मस्तिष्क से परे की वस्तु बन गया है। ऋषि दयानन्द ने जिस गुत्थी को सुलझाने का बीड़ा उठाया था और वेदाध्ययन एवं प्रचार का मुख्य भार आर्य-समाज पर उत्तराधिकार के रूप में पड़ा था उसपर अब तक बहुत कम ध्यान दिया गया है। आर्यसमाज कई एक गौण विषयों में उलझ गया। नियम तीन का ध्यान नहीं रहा। ऋषि के बाद ७० वर्ष बीत गये परन्तु वेद का उद्धार नहीं हो सका। वेद के प्रत्येक मंत्र पर व्याख्या रूप ग्रन्थ लिखे जाने चाहिये तब जनता वेद को जान सकती है। उदाहरण रूप में उपरोक्त मंत्र हमारे सामने है। जो विद्वान् इसे पढ़कर भाष्यों को देखते हैं उन्हें प्रत्येक शब्द में एक विचारधारा मिलती है। अस्तु चलिए हम भी वसन्त का गुणगान इस मन्त्र के आधार पर करें यद्यपि यह केवल दुःसाहस ही है! हमारी धारणा है कि वेद का पूर्ण अनुवाद किसी मानवी भाषा में होना कठिन है। हाँ, वेद का व्याख्यान या प्रवचन तो थोड़ा-बहुत अधूरा हो सकता है वेद तो देव-काव्य है। उसकी रचना में, उसके शब्दों में तो मानों गागरमें सागर भरा है। मानव भाषा में सर्वार्थ सर्वांगपूर्ण अभिप्राय कैसे व्यक्त हो सकता है। जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट है यह मन्त्र यजुर्वेद का है। इसका ऋषि आत्रेय है और देवता लिंगोक्त। अर्थात् इस मन्त्र के भावार्थ को साक्षात्कार करने वाले आत्रेय ऋषि हुए हैं और अब भी जो विद्वान् इसे समझने का प्रयत्न करते हैं उनकी संज्ञा या उपाधि आत्रेय है। अद् धातु से अत्रि मुख्यरूप है। खाद्यपदार्थ सम्बन्धी ज्ञान इसमें निर्दिष्ट है। अत्रि रेतः, वीर्य अथवा वाक् को भी कहते हैं। इस मन्त्र का विषय देवता भी लिंगोक्त है अर्थात् इसमें ऋतु सम्बन्धी, सृष्टि रचना, राष्ट्रवाद और शिक्षापरक कुछ मूल-सिद्धान्त मुख्य रूप से झलकते हैं। मन्त्रार्थ के कुछ दृष्टिकोण यहाँ रखे जाते हैं—

ऋतुपरक भावार्थ—

वसन्त ऋतु में दिव्य अष्ट वसु लोक त्रिवृत् तिगुने अर्थात् प्रबल रूप से प्रकट होते हैं। निवास योग्य पृथिव्यादि लोकों में नवीन जागृति उत्पन्न होती है। रथन्तर अर्थात् उत्तरोत्तर प्रबलता को धारण करते हुए सूर्य के प्रकाश से हवि अर्थात् अन्नादि की खेती पकती है और इन्द्र अर्थात् प्राणी वर्ग में वय, आयु और बल धारण किया जाता है। वसन्त में सूर्य ताप के प्रभाव से अन्नादि पकते, प्राणों में बल आता, मन प्रफुल्लित होता और बलदायक नवान्न, होला आदि पौष्टिक अन्न और औषधियों के सेवन से वीर्य में बल आता है। इन्द्र, सूर्य का अनुपम प्रभाव प्राणी एवं वनस्पति जगत् पर इस ऋतु में पड़ता हुआ दिखाई देता है। पृथिव्यादि सब प्राकृत देव दैविक शक्तियाँ और लोक प्रफुल्लित हो उठते हैं उनमें प्रकाश मोद और काम्यता बढ़ जाती है जीवित त्रिदेव माता पिता आचार्य और विद्वान् सभी प्रशंसित होते हैं। हमारे देव दैविक इन्द्रियाँ भी रंजित व प्रसन्न हो उठती हैं। सत्य यज्ञादि व्रतों से दिव्य विद्वान् विप्रों का आदर किया जाता है, जिसके फलस्वरूप हमें ज्ञान का प्रकाश दान मिलता है। और विश्व आनन्द-विभोर हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो विश्वपति के आनन्द सागर में हम गोता लगा रहे हैं। हमारे

वसु अर्थात् त्रिवृत् नामी प्राण अपान और व्यान भी प्रफुल्लित होते हैं। हमें त्रिवृत् तीन प्रकार का सुख-आधिभौतिक आधिदैविक, और आध्यात्मिक अनुभव होता है। त्रिवृत् त्रिताप शान्त होते हैं। तीनों प्रकार के शरीर (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) में आनंद की लहर त्रिवृत् प्रबल रूप से दौड़ती है। त्रिदोष शमन हो जाते हैं। यजन याजन में मन आकृष्ट होता और यज्ञ के त्रिवृत् रूप देव पूजा संगतिकरण और दान से हम कृतार्थ होते हैं। वर्तमान समय के इस भूखे भारत में भी किसान और मजदूर सभी समुदायों में वसन्तकालीन सहसा आनन्द उमड़ आता है। लहलहाते खेतों में श्रमजीवी स्त्री-पुरुष आ-बाल वृद्ध गुन-गुनाते लगते हैं। यह प्रकृति का सुखद प्रभाव है। आधा भूखा और नंगा व्यक्ति भी शान्ति की सांस लेता हुआ अपनी व्यथाएँ भूल जाता है। इसमें न तो अतिशयोक्ति है और न कवि की कल्पना। धन-धान्यसम्पन्न प्राचीन भारत का तो क्या पूछना? आदर्शरूप वसन्तोत्सव का समय हमें पुनः भारत में लाना है। तभी स्वराज्य सुराज्य बनेगा। आर्थिक स्वतन्त्रता मिलने पर ही हम कह सकेंगे कि "हविरिन्द्रे वयो दधुः"। अभी तो हवि अन्नादि की कमी और मँहगाई के मारे नाक में दम है। जो कुछ उपजता है वह सेठ-साहूकारों के गोदामों और चोरबाजार में चला जाता है। यह हमारे नैतिक पतन की सीमा है। आग्नेय (खाद्य मंत्री) क्या करे? भगवान् करे हमारे राष्ट्र में यजुर्वेद के शब्दों में 'आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्' आदि की राष्ट्रीय व्यवस्था हो। यह वैदिक साम्यवाद रूसी विचारों से बहुत ऊँचा है। इसीसे वसु लोक त्रिवृत् प्रशंसित होंगे। प्रभुके प्रताप से हमारी वसुन्धरा धन-धान्य से पूर्ण हो और हमारा प्राण-बल बढ़े तथा हम दीर्घायु बनकर अपना जीवन स्तर देवतुल्य बनावें। अभी तो हम आसुरी सम्पत्ति में फँसे हुए मानव से दानव बन रहे हैं। वसन्त ऋतु की पुकार है कि सावधान हो जाओ।

सृष्टि उत्पत्ति का भावार्थ—

वसन्त नामी बसने योग्य सर्ग में प्राणियों का निवास युग वह है जब भगवान् की ऋतु शक्ति द्वारा पृथिवी आदि आठ वसुगण लोक तथा ३३ दिव्य पदार्थ प्रकट होते हैं। ये दिव्य वसु त्रिवृत् होते हैं और इनके तीन विभाग होते हैं अर्थात् पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ इनमें ग्यारह-ग्यारह देव बसते हैं। इस ३३ देवों में त्रिगुण रूप होता है। यही इनका त्रिवृत् है। सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों से आवृत और त्रिशक्ति (उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय रूप) में वे ओत-प्रोत रहते हैं। प्रभुने जितनी और जिस प्रकार की शक्ति जिस पदार्थ में निहित की है, वह उसी प्रकार और उसी सीमा तक क्रियाशील है। कोई परमाणु सत्यरूप इस निर्धारित नियम का उल्लंघन नहीं कर सकता। ऋतुके आधीन अन्य सब सत्य नियम चल रहे हैं। यह भगवान् की लीला है। अनादि रथन्तर चक्र घूम रहा है। कल्प, संवत्सर और महारात्री के आरे चल रहे हैं। श्वेताश्वेतर पुकारता है "देवस्य एष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्"। समस्त प्रकृति 'त्रिवृत्' है और तीन रूप और त्रिकाल में बंधी है। प्रभु की ऋत शक्ति के आधार पर सत्य रूप भौतिक नियमों से परमाणु काल से प्रलय पर्यन्त अटल वृत्त में चल रहे हैं। वसन्त तो मानो इस संवत्सर चक्र का एक आरा है जो प्रति वर्ष आता है और चला जाता है विश्वपति, विश्वात्मा, विश्वनायक के इस प्रवाह से अनादि रथन्तर का कोई छोर नहीं है। चेतन सृष्टि में प्राण बल का यही स्रोत है। इनके तेज से जीवन आता है। प्राण-शक्ति और अग्नि-तत्व का मिश्रण ही हमारे जीवन का आधार है। 'हविरिन्द्रे वयो दधुः' का शाब्दिक चमत्कार देखें। अश्विनौ नामक युग्म शक्ति से जीवन मिल रहा है। हमारा प्राणवायु विश्वायु अनिल (कारण वायु) पर निर्भर है। इन्द्र जीवात्मा को आयु बल सब कुछ हवि अन्न से मिल रहे हैं। यह क्रम कल्पान्त पर विश्राम लेगा।

राष्ट्र परक भावार्थ—

वसन्त अर्थात् प्राणियों के सुख से निवास करने योग्य समय आने पर मानव-समाज में वेद अर्थात् विद्वान् और वसुगण (विभागों के अध्यक्ष) त्रिपुट तीन संघों में विभाजित होते हैं। धर्म-कर्तव्य-विधान सभा, कार्यकारिणी समिति, और न्यायविभाग स्तुत प्रकट होकर सामाजिक व्यवस्था बाँधते हैं। पुनः रथन्तर अर्थात् सेना बल अपने तेज पराक्रम और प्रभाव से राष्ट्र में शान्ति धारण कराता है। इन्द्र राष्ट्रपति में हवि खाद्य-साधनों द्वारा राष्ट्रीय स्थिरता

आती है। राज्य की शक्ति अपने साधनों पर निर्भर होती है। यह तभी संभव है जब राष्ट्र में देव विशिष्ट विद्वान् अपने ज्ञान-तप और विद्या के प्रकाश से निष्काम सदा यज्ञ परोपकार की भावना रखते और राज्य के अधिकारी वसुगण भी प्रजा रंजक प्रजा को बसानेवाले सुखवर्षक होते हैं। यह भाव देव और वसु का है। जब राष्ट्रपति, अमात्य और सेनापति इनका त्रिपुट त्रिवृत् बंधता है तभी पूर्ण शान्ति का राज्य स्थापित समझो। वेद ने ठीक ही कहा है—"यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यंचौ चरतः सह। तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवा सहाग्निना।" अर्थात् ब्रह्म शक्ति क्षात्रशक्ति और निर्देशन शक्ति (देव) इन तीनों का पूर्ण सहयोग होने से राष्ट्र उन्नत होता है।

शिक्षापरक भावार्थ—

प्राचीन वैदिक काल में यह परिपाटी प्रचलित थी कि वसन्त ऋतु में देव विद्वान् आचार्य अपने गुरुकुल संस्थानों में एकत्रित होते थे। सम्मेलन के दीक्षान्त समारोह में कृताध्ययन स्नातक ब्रह्मचारियों को त्रिवृत् उपाधियाँ वसु, रुद्र और आदित्य नामक वितीर्ण की जाती थीं। यह क्रम अथवा पुरोगम त्रिवृत् तीन वेद-विषयों के अध्ययन की योग्यतानुसार सम्पन्न होता था। इस प्रकार स्नातकों की स्तुति प्रशंसा होती थी। ऐसे अवसरों पर बृहद् यज्ञ होता था जो त्रिवृत् कहलाता था। उसमें रथन्तर नाम के सामगान के स्तोम (त्रिऋचा समूह) गाये जाते थे। इस भव्य दिव्य सामगान में रथन्तर होते थे अर्थात् यथाक्रम यथाविधि सम, विलंबित, द्रुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, मन्द्र, मध्यम, तार, स्वर, ताल, लय आदि शास्त्रीय शिक्षानुरूप होते थे। इस आध्यात्मिक सात्त्विक उपासना योग से सभा का तेज शोभा बढ़ जाती थी। इसी अवसर पर इन्द्र राष्ट्रपति अपने इन्द्रासन को सुशोभित करता हुआ हवि रूप उपाधियाँ वितीर्ण करके स्नातकों को मान्यता प्रदान किया करता था। यह अभिप्राय काल्पनिक नहीं है। उपरोक्त भाष्यों में इस ओर स्पष्ट संकेत है। विचार के देखें। यह इतिहास का भी विषय नहीं है बल्कि ऐसा सिद्धान्त है जिसपर पहले भी आचरण हुआ अब भी होता है और आगे भी होता रहेगा। वेद तो सिद्धान्त-ग्रन्थ है, इतिहास नहीं।

उपरोक्त वासन्त मंत्र के अन्य दृष्टिकोण भी हैं जो मंत्रद्रष्टा ऋषियों का काम है। वैसे उपनिषद्-कार ने पांच प्रकार के वेदार्थ माने हैं। वसन्त की यह महिमा है जिसे वेद ने सुन्दरता से साररूप वर्णन कर दिया।

इन्द्र-महिमा

ले०—श्री पं० हरिदत्त जी शास्त्री नवतीर्थ, एम० ए० (आगरा)

इन्द्राय हि द्यौरसुरो अनम्नतेन्द्राय मही पृथिवी वरीमभिर्द्युम्नसाता वरीमभिः। इन्द्रं विश्वे सजोषसो देवासो दधिरे पुरः। इन्द्राय विश्वा सवनानि मानुषा रातानि सन्तु मानुषा॥ ऋ० १।१३१।१॥

उक्त मन्त्र में ऋग्वेद का वह अंश संकेतित है जो कि ऋग्वेद के लगभग २५० सूक्तों में वर्णित है। इन्द्र और वृत्र दोनों ही वैदिक गाथाओं में बड़े प्रबल शत्रु कहे गये हैं, इन्द्र का तथा अन्य देवताओं का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में वेद में पाया ही जाता है यही कारण है कि १०२८ सूक्तों में से है एक चौथाई सूक्तों में इन्द्र ही वर्णित है। वैदिक गाथा भाग केवल गाथा नहीं, न उसमें ऐतिहासिकता है, किन्तु वेद का यह स्वभाव है कि वह साधारण सी बातों को भी कुछ गुप्त रूप में कहा करते हैं। अतएव निरुक्त के दैवत काण्ड में यह वाक्य आता है कि—

परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः

कुछ विशेष गुणों का वर्णन करने के लिये देवताओं का स्वरूप भी वैसा ही विचित्र चित्रित किया जाता है। अतएव देवताओं को कुछ लोग पुरुषाकृति वाले मानते हैं। तथा कुछ अपुरुषाकृति वाले। ऋग्वेद में इन्द्र की तीन विशेषतायें दृष्टिगोचर होती हैं। एक तो यह कि उसकी शक्ति सर्वतोमुखी है। दूसरे वह युद्धप्रियों का नेता है। तीसरे वह दैत्य या राक्षसों का स्वाभाविक शत्रु है। इन्द्र चरित्र का विश्लेषण करने के लिये उक्त तीनों ही प्रकारों का मन में ध्यान रखना चाहिये। वृत्र और इन्द्र का युद्ध तो पद पद पर दृष्टिगोचर होता है। ऐतिहासिक दृष्टि के अनुसार वृत्र एक असुर है जो वृष्टि का अवरोधक है तथा जिसके मारने के लिये इन्द्र अपना वज्र पैनाता है। जैसे अमरूद या आम काटने के लिये चाकू पैनाता है। देखिये ऋग्वेद—

"दाद्दहाणो वज्रमिंद्रो गभस्त्योः क्षद्मेव तिग्ममसनाय सं श्यत् अहिहत्याय सं श्यत्। ऋ० १-१३०-४।

इसी प्रकार कहीं इन्द्र धनुष बाण लिये तैयार हैं तो कहीं हजारों नोकवाले वज्र लिये खड़े हैं तथा यह सब विशेषणकलाप यदि इन्द्र को वृष्टि देवता मान लिया जाय तो मुश्किल से ही समन्वय या संगति पा सकेगा। यह वृत्र शब्द अवेस्ता भाषा में बहुधा प्रयुक्त हुआ है, पर वहाँ इसका अर्थ जलावरोधक दैत्य विशेष नहीं है। इन्द्र वृत्रासुर युद्ध के संबन्ध में वैदिक मन्त्रों में अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है, जैसे अपिधान, ग्रस्त, वध, रुद्ध आदि। ऋग्वेद में आता है कि—

"अपां बिलमपिहितं यदासीत्" इति निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।

हिली ब्राण्ट (Hille braunt) नामक पाश्चात्य वैदिक विद्वान ने यह सिद्ध किया है कि इन्द्र कोई वृष्टि या देवता नहीं था। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये वर्षाकाल के मंत्रों में तीन नामों का विशेष संबन्ध दिखाई देता है १—त्रित का, २—पर्जन्य का ३—इन्द्र का। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति ने सारे देवता उत्पन्न किये पर इन्द्र को नहीं किया। ऋग्वेद के १-५२-२ मन्त्र[1] को देखने से स्पष्ट विदित होता है कि त्रित ही पहले जलावरोधक दैत्यों का संहार करता था, बाद में इन्द्र ने इस कार्य को अपने हाथों में लिया। हिलीब्राण्ट के मतानुसार यह भी मानना उचित नहीं कि जो भी घटना हुई है यह भौगोलिक दृष्टि से केवल भारत से ही संबद्ध है—किन्तु भारत से बाहर के भी भूभागों से संबद्ध माननी चाहिये। यह जो वर्णन मिलता है कि वृत्र

१-५२-२ स पर्वतो न धरुणेष्वच्युतः सहस्रमूतिस्तविषीषु वावृधे।
इन्द्रो यद् वृत्रमवधीन्नदीवृतमुब्जन्नर्णांसि जर्हृषाणो अन्धसा॥

जलों का अवरोध करके पड़ा रहा यह वर्णन ऋतु विशेष का निर्देश कर रहा है। जो उत्तर पश्चिमीय पर्वतों पर ग्लेशियरों के पिघलने की ओर निर्देश करता है। अतः वृत्र एक शिशिर ऋतु में जन्म लेनेवाला दैत्य है। इस प्रकार जलावरोधक शिशिर ऋतु है, बादल नहीं, और न वायु विशेष ही है इन्द्र सूर्य ही है जो कि ग्रीष्म ऋतु में प्रचण्ड किरणों से ग्लेशियरों को बहा कर जल का प्रवाह बहाना आरंभ कर देता है जब कि गंगा नदी में बर्फीला गदला जल बहा चला जाता है।

वैदिक देवताओं में मनुष्य की आकृति और प्रकृति से इन्द्र ही अत्यधिक मिलता जुलता है। उसका वर्णन ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल सूक्त १६ मंत्र २ में, व ८-८५-३ में, व १-७-२ में मिलता है। उसके कपोल बड़े सुन्दर हैं। उसके बाल भूरे हैं। इस प्रकार का वर्णन हमारी दृष्टि के समक्ष एक दृढ़, सुन्दर आर्य की आकृति उपस्थित कर देता है। उसकी उत्पत्ति भी माता के पार्श्व मार्ग से बतलाई गई है। इन्द्र ने अपनी माता को विधवा बना दिया इसका वर्णन भी मण्डल ३—सूक्त ४८—मंत्र ४ में आता है। इन्द्र में यदि कोई कमी है तो यही कि वह सोम का अत्यधिक रसिक है। सोम पान के लिये वह उचित अनुचित कुछ नहीं विचारता। मं० ९ सूक्त ३३ मंत्र १७ में बतलाया गया है कि इन्द्र को कन्या वर्ग की गीति सुनने का बड़ा शौक है तथा वह अविवाहित कन्याओं की भलाई में बड़ी रुचि लेता है। ७-९-२ में बतलाया गया है कि इन्द्र एक असुर कन्या की प्रीति का पात्र हो गया। इतना ही नहीं, एक वैदिक संदर्भ में इन्द्र को असुर कन्या के प्रेम पाश में बँधने के कारण उनके गिरोह में ही जाकर रहना पड़ा, उस दानवी का नाम "विलिष्टेङ्गा" था।

"वृषाकपि" नाम से भी इन्द्र का ग्रहण किया गया है। "मरुत्" इन्द्र के सहकारी हैं। इसीलिये इन्द्र का नाम मरुत्वान् भी पड़ा है। "इन्द्र ज्येष्ठ" पद से भी मरुत्वानों का ही ग्रहण किया गया है। इन्द्र को अनेक रूपों में भ्रमण करनेवाला भी बतलाया गया है।—देखिये ऋग्वेद १-५१-९, ३-५३-८। विशेषकर इन्द्र को शक्ति का प्रतीक माना जाता है तथा उसे "महावृषभ" से उपमित किया जाता है। देखिये ऋग्वेद की १-१६५-११, ५-३१-५, ८-१-१ इत्यादि ऋचायें। शक्र, शुष्मन्, तुग्ग, शचीवत् शतक्रतु, मनुष्वान् इत्यादि शब्द उसकी उच्च गुणातिशयता को दिखलाते हैं। जब इन्द्र विजय करता हुआ आगे बढ़ता जाता है तब वरुण उसके विजित देशों में नियम और व्यवस्था करता जाता है। उसका यह श्लोगान (नारा) था कि "इन्द्र जीतता चले और वरुण अधिकार और नियम व्यवस्था करता चले"। देखिये ऋग्वेद की ऋचा ७-८३-९।

इन्द्र का साथ जहाँ वरुण से अधिक दीखता है वहाँ बृहस्पति और "ब्रह्मणस्पति" के साथ और भी अधिक दीखता है किन्तु यह सब धार्मिक जगत् की कल्पना है। वस्तुतः आर्यसमाज की दृष्टि से यह सब क्या है? तो प्रतीत होगा कि "इन्द्र" प्राण है, "वरुण" इन्द्रियाँ हैं, असुर युद्ध, आसुरी वृत्तियों को पराजित करना है।

[पृष्ठ ३ का शेषांश]

सूर्य लोक की यात्रा करते हुए ज्ञान, गौ अश्वादि उपयोगी पशुओं और ओषधियों, वनस्पतियों से पृथिवी पहाड़ों तथा जल स्थलों को भरपूर करते हुए मानव समाज की सेवा करें।

यदि इन स्पष्टोक्तियों से किसी एक भी पाठक के हृदय में नित्य वेदसंहिता पारायण करने की भावना पैदा हुई तो मैं अपने यत्न को सफल समझूँगा।

वेदों की प्राचीनता

ले०—श्री पं० वीरेन्द्रजी शास्त्री एम० ए०, काव्यतीर्थ, फतेहगढ़

इस पृथिवी की प्राचीनता का प्रश्न अभी तक रहस्य-मय बना हुआ है। प्राचीनकाल से ही इस विषय में विचार होता चला आया है। यद्यपि अनेक मत जो इस सम्बन्ध में प्रचलित हुए अब मान्य नहीं रहे, तथापि जिन-जिन विद्वानों ने इस विषय में विचार किया वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

हिब्रू बाइबिल के अनुसार पृथिवी अपने वर्तमान रूप में ईसा से ४००४ वर्ष पूर्व आई। शरद में अथवा शिशिर ऋतु में यह सन्दिग्ध है। इस मत के अनुसार इस समय तक ४००४ + १९५३ = ५९५७ वर्ष पृथिवी को बने हुए। कुछ विद्वान् आदम से इब्राहीम तक ३५७२ वर्ष और इब्राहीम से अबतक २८५२ वर्ष इस प्रकार कुल ७४२४ वर्ष मानते हैं। किन्तु ये मत आधुकि ज्ञान तथा विज्ञान के आगे किंचिन्मात्र भी मान्य नहीं समझे जा सकते।

इसके विपरीत प्राचीन भारतीय विचारकों (ऋषि मुनियों तथा शास्त्रों) ने पृथ्वी की आयु के विषय में जो गणनायें की हैं वे आधुनिक वैज्ञानिक साधनों से निश्चित की हुई आयु से लगभग पूर्णतया मेल खाती हैं।

संसार के पुस्तकालय की सबसे अधिक प्राचीन पुस्तक वेदों में काल का अच्छा वर्णन किया गया है। वर्ष, ऋतु, नक्षत्र, मास आदि के वर्णन के अतिरिक्त अथर्ववेद (कांड ८ सूक्त २ मन्त्र २१) में पृथिवी की पूरी आयु भी वर्णन की गई है।

"शतं तेऽयुतं हायनान्द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः।"

अर्थात सौ अयुत (दस हजार) से युक्त २, ३, ४ अर्थात् अंकों को बाँई ओर लिखने के नियम से ४३२००००००० (चार अरब बत्तीस करोड़) वर्षों का पृथिवी का समय मनुष्यों के लिये किया गया है।

आदित्यपुराण में भी काल का उल्लेख निश्चित रीति से किया गया है। ब्रह्मगुप्त ने पृथिवी की पूरी आयु को ब्रह्म दिन के नाम से वर्णन किया है जो १००० चतुर्युगियों का बताया गया है। इतनी ही बड़ी ब्रह्मरात्रि भी बताई गई है जो वस्तुतः प्रलय की अवस्था है। इसी प्रकार की गणना श्रीमद्भगवत ८ वें अध्याय के १७ वें श्लोक में वर्णन की गई है। मनुस्मृति ने भी अ. १ श्लोक ६९-७२ में पृथिवी की आयु का विस्तृत वर्णन दिया है जो इस प्रकार है।

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम्।
तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथा विधः॥

अ० १ श्लोक ६९

इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु।
एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च॥१।७०॥
यदेतेन परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्।
एतद् द्वादश साहस्रं देवानां युगमुच्यते॥१।७१॥
दैविकानां युगानां तु सहस्रपरिसंख्यया।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिमेव च॥१।७२॥

युग		दिव्य वर्ष	सन्ध्या	सन्ध्यांश
कृत = सत्ययुग		४००० +	४०० +	४००
त्रेता	,,	३००० +	३०० +	३००
द्वापर	,,	२००० +	२०९ +	२००
कलियुग	,,	१००० +	१०० +	१००

योग १ दिव्य वर्ष ३६० सामान्य वर्ष।

दिव्य वर्ष = ४८०० × ३६० = १७२८००० वर्ष
,, = ३६०० × ३६० = १२९६००० ,,
,, = २४०० × ३६० = ८६४००० ,,
,, = १२०० × ३६० = ४३२००० ,,

योग एक चतुर्युगी = १२००० दिव्यवर्ष × ३६० = ४३२०००० (तितालीस लाख बतिसहजार) सामान्य वर्ष।

इस प्रकार की १००० चतुर्युगियों का। अर्थात् ४३२०००० × १००० = ४३२००००००० (चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षों का) एक ब्रह्म का दिन होता है और वही पृथिवी का आयु है। अब इसी को मनुस्मृति और सूर्य सिद्धान्त में भी वर्णित दूसरे प्रकार से भी समझ लेना चाहिये, जिसका व्यवहार भारतवर्ष में सृष्टि के आरम्भकाल से ही प्रतिदिन संकल्प पाठ के रूप में भी प्रचलित है सूर्य सिद्धान्त में लिखा है—

युगानां सप्ततिः सैका मन्वन्तरमिहोच्यते।
कृताब्दसंख्या तस्यान्ते सन्धिः प्रोक्तो जलप्लवः॥

अ० १। श्लोक १८॥

ससन्धयस्ते मनवः कल्पज्ञेयाश्चतुर्दश।
कृतप्रमाणः कल्पादौ सन्धिः पंचदश स्मृतः॥१।१९॥

इत्थं युगसहस्रेण भूतसंहारकारकः।
कल्पो ब्राह्ममहः प्रोक्तः शर्वरी तस्य तावती ॥१।२०॥

अर्थात् १२००० वर्षों के दैविक युग (अर्थात् ४३२०००० सामान्य वर्षों की चतुर्युगी) ७१ बार बीतने पर एक मन्वन्तर होता है। इस प्रकार के १४ मन्वन्तरों की पृथ्वी की आयु होती है। प्रत्येक मन्वन्तर के अन्त में १ सत्युग के वर्षों के बराबर की सन्धि होती है जो जल प्रलय के रुप में होती है और १४ मन्वन्तरों के पहले भी, सृष्टि के प्रारम्भ में भी १ सत्युग के वर्षों के बराबर समय की सन्धि होती है।

एक चतुर्युगी × ७१ बार = १ मन्वन्तर ÷ सत्ययुग के बराबर १ सन्धि = योग १ मन्वन्तर

४३२०००० × ७१ = ३०६७२०००० + १७२८०००
= ३०८४४८००० वर्ष का एक मन्वन्तर सन्धि सहित

ससन्धि १ मन्वन्तर × १४ मन्वन्तर = योग + सृष्टि के आरम्भ की सन्धि सत्युग के बराबर ३०८४४८००० × १४ = ४३१८२७२००० + १७२८००० =

सन्धि सहित १४ मन्वन्तरों (पूरी पृथ्वी की आयु) का महायोग ४३२०००००० वर्ष। चार अरब बतीस करोड़ वर्ष।

१४ मन्वन्तरों के नाम इस प्रकार बताये जाते है—

१. स्वायम्भुव २. स्वारोचिष ३. औत्तमि ४. तामस ५. रैवत ६. चाक्षुष ७. वैवस्वत ८. सावर्णि ९. दक्ष सावर्णि १०. ब्रह्म सावर्णि ११. धारेण सावर्णि १२. रुद्र सावर्णि १३. रौच्य सावर्णि १४. इन्द्र सावर्णि। जिनमें ६ बीत चुके ७ वाँ मन्वन्तर चल रहा है और अन्तिम सात अभी आगे आने शेष हैं।

भारत में प्राचीन काल से ही प्रतिदिन पढ़ा जानेवाला संकल्प इस प्रकार है—

ॐ तत् सत् श्री ब्रह्मणो द्वितीयपरार्द्धे वैवस्वतमन्वन्तरे ऽष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे आर्यावर्तान्तर्गतैकदेशे अमुक नगरे अमुक संवत्सरायनर्तुमास पक्षदिन नक्षत्र मुहूर्तेऽत्रेदं कार्यं कृतं क्रियते वा।"

अर्थात् ब्रह्मा के दिन पूरी सृष्टि के उत्तरार्ध के प्रारम्भ में ७ वें वैवस्वत मन्वन्तर में २७ बार चतुर्युगियों के बीत जाने पर २८ वीं चतुर्युगी के सत्ययुग, त्रेता, द्वापर के पश्चात् कलियुग के प्रथम चरण (पहली चौथाई।) में आर्यावर्त के अन्दर अमुक नगर में अमुक संवत्सर अमुक ऋतु मास पक्ष तिथि दिन नक्षत्र मुहूर्त में यहाँ यह कार्य मैंने किया अथवा मैं करता हूँ।

इस प्रकार पृथिवी के आरम्भ से अब सं० २०१० वि० सन् १९५४ ई० तक एक अरब सतानवे करोड़ उनतीस लाख उंचास हजार चौवन १९७२९४९०५४ वर्ष व्यतीत होगये जिनकी गणना इस प्रकार है।

सृष्टि के प्रारम्भ की एक संधि	१७२८०००	सत्ययुग के बराबर
सन्धि सहित मन्वन्तर ३०८४४८०००६	१८५०६८८०००	वर्ष ६ मन्वन्तरों का योग।
७ वें मन्वन्तर में २७ चतुर्युगियाँ ४३२०००० २७	११६६४००००	वर्ष
२८ वीं चतुर्युगी के		
सत्ययुग के वर्ष	१७२८०००	
त्रेता ,, ,,	१२९६०००	
द्वापर ,, ,,	८६४०००	
८ कलियुग के व्यतीत वर्ष	५०५४	
	१९७२९४९०५४	

एक अरब ९ सतानवे करोड़ उनतीस लाख उंचास हजार चौअन वर्ष हुये।

अब यह देखना है किस प्रकार यह संख्या सामान्यतः वर्तमान वैज्ञानिकों के द्वारा किये गये निश्चयों के लगभग अनुकूल पड़ती है।

१. इस समस्या पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समुद्रक्षार के आधार पर विचार का आरम्भ १७१५ ई० में एडमन्ड हैले ने किया। उसकी मान्यता थी कि समुद्रों में पहले नमक नहीं था और प्रति वर्ष नदियों द्वारा बहुतसा नमक समुद्रों तक ले जाने के कारण ही उनकी यह अवस्था हुई है। अब यदि समुद्रों में वर्तमान नमक का और प्रतिवर्ष नदियों द्वारा समुद्र को पहुँचाये जाने वाले नमक का परिमाण विदित हो जावे तो हमें समुद्रों की आयु विदित हो सकती है यदि यह भी मान लिया जावे कि प्रतिवर्ष बराबर परिमाण में ही नमक पहुँचा है। हैले की यह पद्धति ठीक नहीं थी, किन्तु पृथिवी की आयु निश्चयार्थ यह प्रथम वैज्ञानिक उपाय था। इस रीति से पृथिवी की आयु १०००००००० दस करोड़ वर्ष की प्रसिद्ध की गई थी।

२. इस विषय में जो दूसरा सिद्धान्त समुद्रगर्भ स्थित चटानों के घनत्व के आधार पर शुशर्ट (chucheset) के द्वारा प्रस्तुत किया गया वह यह है कि यदि हम समुद्री चटानों के घनत्व का योग जान सकें और यह भी जान

सकें इस प्रकार की एक फुट चटान के बनने में और एकत्र होने में कितना समय लगता है तो हम पृथ्वी की आयु जान सकते हैं। यह जान लिया गया है कि समुद्रगर्भस्थ चट्टानों के घनत्व का योग २५९००० फीट है और सैन्ड स्टोन, शेल, और लाइम स्टोन के एक फुट एकत्र होने में क्रमशः ४५०,९०० और २२५० वर्ष लगते है। इस आधार पर पृथ्वी की आयु लगभग पाँच अरब ५००००००००० वर्ष सिद्ध होती है। किन्तु यह गणना भी ठीक नहीं मानी गई।

पृथ्वी की आयु जानने का तीसरा उपाय भूताप के ज्ञान के आधार पर, यह मानकर कि पृथ्वी क्रमशः शीतल होती गई है, लार्ड काल्विन ने किया। जैसे जैसे हम पृथ्वी के अन्दर जाते हैं वैसे-वैसे तापकी वृद्धि की गणना करने और ताप की चालकता के निश्चय करने से काल्विन ने पृथ्वी की ऊपरी पर्त की आयु २० से लेकर ४० मिलियन (२ करोड़ से ४ करोड़) वर्ष अनुमानित की। किन्तु आगामी ३५ वर्षों में लार्ड काल्विन ने कई बार अपने मत में परिवर्तन किया।"

परस्पर विरोधी मत

(४) खगोल शास्त्र (ऐस्टोनामी) और भौतिक विज्ञान (फिजिक्स) की उन्नति होने से इस विषय में नये दृष्टिकोण से अधिक विश्वसनीय अनुमान लगाये जा सके हैं। शनिग्रह के परिभ्रमण (eccentricity) आधार पर सूर्य मण्डल की आयु १०००० मिलियन (दस हजार करोड़) वर्षों की अपेक्षा १००० मिलियन वर्षों के लगभग अधिक उचित अनुमानित की गई है। पृथ्वी से चन्द्रमा के अलग होने (recession) के ज्वार भाटा (Tidal) सिद्धान्त के आधार पर सूर्य मंडल की आयु ४००० मिलियन (चार सौ करोड़) वर्षों से कम की ठहरती है। बार्टबाक (Bart Bok) और वाटसन नामक विद्वानों ने पृथ्वी की आयु निश्चय करने के समस्त आधारों की आलोचना की और १९४६ ई० में उन्होंने कहा कि सूर्य मण्डल की आयु निश्चितरूप से १०००० मिलियन (एक हजार करोड़) वर्षों से अधिक है। किन्तु यह कहना कठिन है कि वह ४०००० मिलियन (चार सौ करोड़) वर्षों के निकट है अथवा ७००० मिलियन (सात सौ करोड़) वर्षों से अधिक।

शुक्र (वीनस Venus) की परिभ्रमण गति (Eccentricity) के आधार पर जेफ्रेज (Jeffreys) ने सूर्यमण्डल की आयु २५०० मिलियन (ढाई सौ करोड़) वर्षों के निकट स्थापित की है और "सूर्यमण्डल नीहारिका (मिल्की वे) से उत्पन्न हुआ और अपने जन्मकाल से अबतक यह दोलक (पेंडुलम) के समान गति कर रहा है" इस आधार पर इसकी आयु २५०० मिलियन (ढाई सौ करोड़) से ३००० मिलियन (तीन सौ करोड़) वर्षों तक की अनुमानित की गई है।

पुच्छल तारों से सभी परिचित हैं। आकाश के मध्य में घूमते हुए जब वे पृथिवी के आकर्षण क्षेत्र के अन्दर आ जाते हैं तो वे पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। एफ. ए. पानेथ ने १९४२ ई० तक इन पुच्छल तारों पर अनेक अनुसन्धान करके इनकी आयु ६८०० मिलियन (छः सौ अस्सी करोड़) वर्ष निश्चित की है। इस आधार पर सूर्यमण्डल की आयु ७००० मिलियन (सात सौ करोड़) वर्षों की ठहरती है।

रेडार (Radar) के सिद्धान्त

इस समस्या पर विचार करने के लिये एक अन्य साधन रेडियो ऐक्टिविटी है। अणु बम (Atom Bomb) और उद्जन बम्ब (Hydrogen Bomb) के इस युग में रहते हुए हमें रेडियो ऐक्टिविटी के विषय में भी अवश्य जानना चाहिये। १८९५ ई० में रान्टगेन (Rontgen) ने एक किरणों का अविष्कार करके हमारे इस विषय के ज्ञान का आधार उपस्थित किया। क्यूरी (Curie) के द्वारा रेडियम के अनुसन्धान से इस ज्ञान में अभिवृद्धि हुई। यह पता लगाया है कि चट्टानों में यूरेनियम (Uranium) और थोरियम (Thorium) तत्त्व थोड़ी-थोड़ी मात्रा में वर्तमान हैं। ये दोनों रेडियो ऐक्टिव हैं, अतएव अस्थिर हैं।

उनकी अस्थिरता इसी साधारण बात से प्रमाणित होती हैं कि वे लगातार तीन प्रकार की किरणें—अल्फा, बीटा, गरमा—निकालते रहते हैं। अल्फा किरण वास्तव में हीलियम का मूल केन्द्र (necleus) है जिसका आणविक भार १ है। लगातार किरणों के निकलने से उनका भार कम हो जाता है और यूरेनियम २३८ और २३५ आणविक भार से और थोरियम २३२ आणुविक भार से हटकर एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है जहाँ उनको आणविक भार सीसे (Lead) के बराबर अर्थात् २०८ हो जाता है। ग्रेजर काउन्टर (Greiger Counter) नामक विस्तृत वैज्ञानिक यन्त्र द्वारा यह पता लगा लिया गया है कि यूरेनियम का एक ग्राम (Gram) एक वर्ष में सीसे के १।७६००००००००० ग्राम के रूप में और उतने ही समय में थोरियम की उतनी

हो मात्रा सीसे के १२८००००.००००० ग्राम के रूप में परिवर्तित हो जाती है। अतएव यह स्पष्ट है कि यूरेनियम की किसी मात्रा में ४५०००००००० वर्षों में और थोरियम की किसी मात्रा में १६५०००००००० वर्षों में उसके भार का आधा भार रह जाता है यह अवधि रेडियो ऐक्टिव के अर्ध जीवन (half life) के रूप में प्रसिद्ध है।

यदि हमें विदित हो जावे कि इस विधि से चट्टान में निर्मित सीसे का परिमाण कितना है तो हम उसकी रचना काल की अवधि की गणना कर सकते हैं और यही उस चट्टान के ठोस होने की आयु होगी। इसी उपाय से पता लगाया गया है कि फिनलैंड में कारेलिया (Karelia) की चट्टानें १८५०००००० (एक अरब पचासी करोड़) वर्ष और डकोटा (Dakota) की ब्लेक हिल (Black Hill) नामक चटानें १४६०००००० (एक अरब छयालीस करोड़) वर्ष पुरानी अनुमानित की गई हैं। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि चट्टानों की रेडियो. ऐक्टिविटी पृथ्वी की आयु को २००० मिलियन (दो अरब) वर्ष के निकट का सिद्ध करती है। यह मत प्राचीन मत से लगभग मेल खाता है।

पोटैशियम (potassium) ४० भी रेडियो ऐक्टिव है और आरगन (Argon) ४० तथा कैलशियम (Calcium) ४० के रूप में परिवर्तित हो जाती है। इस तत्व की रेडियो ऐक्टिविटी की योग्यता के आधार पर डा० तातेल (dr- Tatel) ने पृथ्वी की आयु २१०० से ३३०० मिलियन (दो अरब दस करोड़ से तीन अरब तीस करोड़) वर्षों तक की अनुमानित की है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि पृथ्वी की आयु की समस्या बड़ी जटिल तथा मनोहर है। जितनी मत-विभिन्नता इस विषय में वैज्ञानिकों में रही है उतनी कदाचित् अन्य किसी विषय में न रही होगी। अब जब कि बड़े से बड़े दूर दर्शक यन्त्र बनाये जा रहे हैं और इस समस्या के समाधान के लिये रेडार के सिद्धान्त प्रयुक्त किये जा रहे हैं वह दिन दूर नहीं जब कि इस समस्या का सच्चा समाधान होगा और मनुष्यों को सन्तोष होगा। यह जानकर वस्तुतः प्रसन्नता होती है कि रेडियो ऐक्टिविटी के आधार पर पृथ्वी की आयु के सम्बन्ध में किये गये अनुमान-प्राचीन भारतीय मतों से लगभग मेल खाते हैं और हमें विश्वास होने लगता है कि वैज्ञानिक भी इसी निष्कर्ष पर पहुँच जावेंगे कि मनुस्मृति सूर्यसिद्धान्त श्रीमद्भागवत आदि में वर्णित १९७२९४९०५४ (एक अरब सतान्वे करोड़ उन्तीस लाख उँचास हजार चौवन) वर्ष की आयु ही आज तक की पृथ्वी की निश्चित आयु है। जितना समय पृथ्वी को बने हुए हुआ, उतना ही समय पृथ्वी पर मनुष्यों की उत्पत्ति और मनुष्यों को ईश्वर द्वारा दिये गये वेदों के आविर्भाव को हुआ है, क्योंकि पृथ्वी के आविर्भाव हो जाने पर वहाँ मनुष्यों की उत्पत्ति का होना स्वतः सिद्ध है और मनुष्यों को न्याय-कारी परमात्मा, बिना ज्ञान के मूढ़ नहीं रख सकता, अतः मनुष्यों की उत्पत्ति के साथ ही ईश्वर को मनुष्यों के लिये ज्ञान देना आवश्यक होता है जिससे मनुष्य ज्ञानी बनकर कर्तव्य तथा अकर्तव्य का निश्चय कर सकें और तदनुसार कर्म करके सांसारिक सुख और मोक्ष प्राप्त कर सकें।

वैदिक परिभाषा में शरीर की संज्ञाएँ[1]

लेखक—श्री डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल, प्राध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी ।

वैदिक साहित्य भारतीय ज्ञान के अक्षय कोष हैं। उनमें क्रान्तदर्शी ऋषियों के अध्यात्म अनुभवों का बहुत ही उत्कृष्ट काव्यमय वर्णन पाया जाता है। उस काव्य की परिभाषाएँ अनेक उपाख्यान और सुन्दर रूपकालङ्कारों के द्वारा प्रकट की गई हैं। अध्यात्म-ज्ञानी लोग प्रायः सर्वत्र ही रहस्यपूर्ण अनुभवों को शब्दों में व्यक्त करने के लिये इसी विलक्षण व्यञ्जनाप्रधान शैली का आश्रय लिया करते हैं। लौकिक काव्य के निर्माता सन्त कवियों ने भी शरीर को चादर, चर्खा, सरोवर आदि अनेक नाम देकर मनोहर रूपकों के द्वारा उसका वर्णन किया है। कबीरदासजी ने अपने अध्यात्म अनुभवों को व्यक्त करते हुए निम्नलिखित भजन में इसी शैली का अवलम्बन किया था—

झिनि झिनी झिनि झिनी बीनी चदरिया ॥ आठ कमल दस चरखा डोलै पाँच तत्त गुण तीनी चदरिया। साँई को सियत मास दस लागे ठोंक ठोंक कर बीनी चदरिया ॥ सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी ओढ़ि के मैली कीन्हीं चदरिया। दास कबीर जतन सों ओढ़ी ज्यों की त्यों धर दीन्ही चदरिया ॥

यहाँ शरीर का रूपक चादर की दृष्टि से बाँधा गया है। यह देह एक वस्त्र है, जिसके निर्माण में विधाता के बहुत बड़े कौशल का परिचय मिलता है। गीता आदि शास्त्रों में भी इस मानवी देह की तुलना वस्त्रों से की गई है। इस परिभाषा को ठीक न जानकर कबीर के उपर्युक्त पद का कोई भी ठीक अर्थ नहीं जान सकता। उसके तथा अन्य कवियों के सैकड़ों परिभाषात्मक शब्द इसी प्रकार के हैं।

वेद, ब्राह्मण और उपनिषदों में तो इस प्रकार के रूपक और भी अधिक संख्या में पाए जाते हैं। वहाँ परिभाषाओं के अज्ञान से अर्थों में बहुत अव्यवस्था उत्पन्न हो सकती है, यही कारण है कि अनेक यूरोपीय विद्वान तथा उनके अर्थ को मान कर चलने वाले भारतीय पण्डित भी वैदिक मन्त्रों के वास्तविक अभिप्राय से कोसों दूर रहते हैं। उदाहरण के लिए 'क्षेत्र' शब्द को ले सकते हैं। अध्यात्म विद्या के ग्रन्थों में 'क्षेत्र' शब्द शरीर का पर्यायवाची माना जाता है। भगवद्गीता में इसी परिभाषा को स्पष्ट कर दिया है—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ अ० १३।१॥

अर्थात् हे अर्जुन ! यह शरीर क्षेत्र कहलाता है। जो इसे जानते हैं, उन्हें तत्वज्ञानी क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥
तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥
महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ।

अर्थात्—हे भारत ! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही समझ। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, वही मेरा (परमेश्वर का) ज्ञान माना गया है।

क्षेत्र क्या है, वह किस प्रकार का है, उसके कौन-कौन विकार हैं, (उसमें भी) किससे क्या होता है, ऐसे ही वह अर्थात् क्षेत्रज्ञ कौन है और उसका प्रभाव क्या है। उसे मैं संक्षेप से बतलाता हूँ, सुन।

ऋषियों ने अनेक प्रकार से छन्दों में इसी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का गान किया है। और ब्रह्मसूत्रों में भी हेतुवाद की दृष्टि से इसी विचार का निश्चय किया गया है।

पृथ्वी आदि पाँच स्थूल महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि (महत्तत्त्व), अव्यक्त (प्रकृति), दस (सूक्ष्म) इन्द्रियाँ और एक मन; तथा इन्द्रियों के पाँच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना, अर्थात् प्राण-व्यापार और धृति, इस समुदाय को सविकार क्षेत्र कहते हैं।

इस प्रकार गीता-शास्त्र में युक्ति और विस्तार से शरीर की क्षेत्र-संज्ञा का निरूपण किया है। लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि "क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का यह विचार वस्तुतः इससे भी बहुत पूर्वकाल का था—'ब्रह्म-सूत्र' के दूसरे अध्याय के तीसरे पाद के पहले १६ सूत्रों में क्षेत्र का विचार और फिर उस पाद के अन्त तक क्षेत्रज्ञ का विचार किया गया

१. श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा नव प्रकाशित "उरु-ज्योति" अर्थात् "वैदिक अध्यात्म-सुधा" का एक प्रकरण ।

है। ब्रह्म-सूत्र में यह विचार है, इस लिए उन्हें 'शारीरिक सूत्र' अर्थात्—शरीर या क्षेत्र का विचार करने वाले सूत्र भी कहते हैं।" (गीता-रहस्य पृ० ७८३)।

वैदिक मन्त्रों में भी 'क्षेत्र' शब्द इस अध्यात्म अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अथर्व वेद में कहा है—

स्वे क्षेत्रे अनमीवा वि राज। अथर्व० ११।१।२२॥

अर्थात्—अपने क्षेत्र में अनामय होकर रहो। यह क्षेत्र किसी भी दैहिक, या आध्यात्मिक व्याधि से क्लिष्ट न हो। दैहिक, दैविक, भौतिक ताप ही अमीव या व्याधियाँ हैं, जिनसे क्षेत्रज्ञ या प्राणी संतप्त रहते हैं। तुलसीदासजी ने कहा है—

दैहिक दैविक भौतिक तापा।
रामराज नहिं काहुहिं व्यापा॥

इस व्याधिशून्य स्थिति को जब मनुष्य प्राप्त कर लेता है, तभी वह अनमीव क्षेत्र में समाधि की ओर अग्रसर होता है।

एक अन्य स्थान पर कहा है—

शन्नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः। अथर्व १९।१०।१०॥

अर्थात्—हमारे क्षेत्र का स्वामी या क्षेत्रपति शम्भु या कल्याणकर हो।

यह क्षेत्रपति क्षेत्रज्ञ ही है। सब मनुष्यों का नित्यप्रति यही शिव-संकल्प होना चाहिये कि हमारा क्षेत्रपति शम्भु हो और हमारा क्षेत्र निरामय और निर्विकार रहे।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में क्षेत्र शब्द अपने अध्यात्म अर्थ में बहुत ही स्पष्टता के साथ प्रयुक्त हुआ है।

अक्षेत्रवित् क्षेत्रविदं ह्यप्राट् स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः। एतद्वै भद्रमनुशासनस्योत स्रुतिं विन्दत्यञ्जसीनाम्॥ १०।३२।७॥

अर्थात्—अक्षेत्रविद् क्षेत्रविद् से अध्यात्मज्ञान के विषय में प्रश्न करता है। वह ज्ञानी क्षेत्रज्ञ उस आत्म-विद्या में उसका अनुशासन करता है। उसका उपदेश उभयथा कल्याणकारी होता है, जिससे सर्वत्र उनकी प्रशंसा होती है।

गीता (१३।१) का क्षेत्रज्ञ ही ऋग्वेद का क्षेत्रविद् है—

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥

बौद्ध-ग्रन्थों में आया है कि भगवान् बुद्ध ने भी एक बार भारद्वाज ब्राह्मण से, जो खेती करता था, आध्यात्मिक कृषि का निरूपण किया था। उसमें श्रद्धा बीज, तप वृष्टि और प्रज्ञा हल है। कार्य संयम, वाक् संयम और आहार संयम कृषि-क्षेत्र की मर्यादाएँ हैं। पुरुषार्थ बैल है, मन जोत है। इस प्रकार की कृषि से अमृतत्व का फल मिलता है—

एवमेसा कसी कट्ठा सा होति अमतप्फला। एतं कसी कसित्वान सब्ब दुक्खापमुच्चति॥

पाणिनि के 'क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः' (५।२।९२) सूत्र में परक्षेत्र का अर्थ जन्मान्तर या शरीरान्तर किया गया है। कालिदासादि कवियों ने भी 'क्षेत्र' शब्द को अध्यात्म अर्थ में प्रयुक्त किया है—

योगिनो यं विचिन्वन्ति क्षेत्राभ्यन्तरवर्तिनम्।
अनावृत्तिमयं यस्य पदमाहुर्मनीषिणः॥

अथवा—

यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम्। कुमारसम्भव, ३।५०॥

रथ

वैदिक साहित्य में शरीर की एक संज्ञा 'रथ' भी है। यजुर्वेद के मन्त्रों में देवरथ का वर्णन किया गया है—

इन्द्रस्य वज्रो मरुतामनीकं
मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः।
सेमां नो हव्यदातिं जुषाणो
देवरथ प्रति हव्या गृभाय॥१९।५४॥

अर्थात्—हे दिव्य रथ! तुम इन्द्र के वज्र, मरुद्गण या प्राणों के मुख, मित्र के गर्भ और वरुण की नाभि हो। तुम प्रीतिपूर्वक हमारी हवियों को स्वीकार करो।

दूसरे मन्त्रों में रथ के रूपक का और भी स्पष्टता से वर्णन है—

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो
यत्र यत्र कामयते सुषारथिः।
अभीशूनां महिमानं पनायत
मनः पश्चादनुयच्छन्ति रश्मयः॥ यजु० २९।४३॥

अर्थात्—सुन्दर सारथि रथ में बैठकर जहाँ-जहाँ चाहता है, घोड़ों को हाँक ले जाता है। उन बागडोरों की महिमा को देखो, जिनको पीछे से संकल्पवान् मन प्रेरित कर रहा है।

यजुर्वेदीय कठोपनिषद् में शरीर और रथ के रूपक की इस प्रकार व्याख्या पायी जाती है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

कठोप० १।३।३, ४॥

अर्थात्—शरीर-रूपी रथ में आत्मा रथी है, बुद्धि सारथि है, मन लगाम है; इन्द्रियाँ घोड़े और विषय उनके विचरने के मार्ग हैं। इन्द्रिय और मन की सहायता से आत्मा भोग करनेवाला है। जो प्रज्ञासम्पन्न होकर संकल्पवान् मन से स्थिर इन्द्रियों को सुमार्ग में प्रेरित करता है, वही मार्ग के अन्त तक पहुँचता है, जहाँ से फिर आने-जाने का प्रपंच नहीं रहता।

विज्ञानवान् होने के लिए वेद के शब्दों में सदा यही शुभकामना करनी उचित है कि हे इन्द्र! सदा हमारे रथी विजय-शील होवें—

अस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु ॥ऋ० ६।४७।३१॥

रथ में बैठनेवालों की कभी पराजय न हो।

इन्द्रियों के देवासुर संग्राम में उनके विजय की दुन्दुभी बजती रहे।

देवपुरी

अथर्ववेद में इस शरीर को देवपुरी कहा गया है—

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययःकोशःस्वर्गो ज्योतिषावृतः॥१०।२।३१

अर्थात्—यह शरीर जिसमें आठ चक्र और नौ (इन्द्रिय) द्वार हैं[1], देवपुरी अयोध्या है। इसमें ज्योति से पूर्ण स्वर्ण का कोष (= मस्तिष्क) है, जिसे स्वर्ग कहते हैं।

मस्तिष्क को घट या स्वर्ग कहा गया है। मस्तिष्क ही सोम-पूरित द्रोण-कलश या अमृत-कुम्भ है। कालिदास ने भी मन को नवद्वारों वाला कहा है—

मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मान्यवलोकयन्तम्॥

कुमारसम्भव ३।५०

अर्थात्—शिवजी नवों इन्द्रिय-द्वारों से बाहर विचरने वाली चित्त-वृत्तियों का निरोध करके समाधिवश्य मन की स्थिति से अक्षर ब्रह्म का आत्मा में ही दर्शन कर रहे थे।

इन नौ द्वारों में एक और विदृति-द्वार जोड़ देने से कहीं-कहीं पर दस द्वारों की गणना की जाती है—

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत।
सैषा विदृतिर्नाम द्वाः। ऐ० उ० १।३।१२

अर्थात्—कपालों के ऊपर जो जोड़ है, वही सीमा है; उस सीमा को विदीर्ण करके आत्मा ने शरीर में प्रवेश किया, इसी लिए वह द्वार विदृति-द्वार कहलाया।

जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में लिखा है—

तं वागेव भूत्वाऽग्निः प्राविशन्मनो भूत्वा चन्द्रमाश्चक्षुर्भूत्वाऽऽदित्यश्श्रोत्रम्भूत्वा दिशः प्राणो भूत्वा वायुः। एषा दैवी परिषद्, दैवी सभा, दैवी संसत्। जै० उ० २।११।१२-१३॥

(१) दैवी परिषद्
(२) दैवी सभा
(३) दैवी संसद्

क्योंकि इसमें निम्न देवताओं का वास है—

अग्नि—	वाक्	मुख
चन्द्रमा—	मन	हृदय
आदित्य—	चक्षु	अक्षि
दिशाएँ—	श्रोत्र	कर्ण
वायु —	प्राण	नासिका

ऐतरेय उपनिषद् के अनुसार इतने देवता और हैं—

ओषधिवनस्पति—लोम		त्वचा
मृत्यु—	अपान	नाभि
जल—	रेत	शिश्न

इन देवताओं और उनके स्थानों की संज्ञा लोकपाल और लोक भी है। समस्त देवों का वास-स्थान मनुष्य के मस्तिष्क रूपी स्वर्ग में है। अथर्ववेद के अनुसार मस्तिष्क का विलक्षण नाड़ीजाल अश्वत्थ वृक्ष है, जिस पर देवों का वास है—

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि।

अथर्व ६।९५।१

मस्तिष्क ही स्वर्ग या ज्योतिषावृत द्युलोक है। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक की गणना में द्युलोक तीसरा है। उसमें देव-सदन अश्वत्थ है। जितनी इन्द्रियाँ हैं, सब के संज्ञा-केन्द्र मस्तिष्क में ही हैं। उस अश्वत्थ के प्रत्येक पत्ते पर देवों का वास है। मस्तिष्क में सर्वत्र संज्ञान केन्द्र (Sensory and motor centres) फैले हुए हैं।

देवपुरी के साथ ही इस को ब्रह्मपुरी भी कहा गया है। अथर्ववेद के ब्रह्मप्रकाशी सूक्त (१०।२) में शरीर की रचना का और अध्यात्मशास्त्र में उसकी विविध परिभाषाओं का बहुत ही सुन्दर विवेचन है। एक मन्त्र में सिर की संज्ञा देवकोष है—

[1] दो आँखें, दो कान, दो नासिका, एक मुख, एक गुदा, एक उपस्थ। तुलना करो—नवद्वारे पुरे देही। श्वेता०। उ० ३। १९॥ गीता ५। १३॥

तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत् प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमथो मनः॥
१०।२।२७

ग्रिफिथ के अनुसार मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

"That is indeed Atharvan' head, the well closed casket of fhe gods. Spirit and Food and Vital Air protect that head from injury"

अर्थात्—इस देह में अथर्वा निर्मित मस्तिष्क रूपी देव-कोष है। मन, प्राण, वाक् (अन्न) उसकी रक्षा करते हैं।

मन, प्राण, वाक् अथर्वा ये सब भी वैदिक परिभाषाएँ हैं, जिन के अर्थ का विस्तार शतपथादि ब्राह्मणों में पाया जाता है। संक्षेप में मन अव्यय पुरुष, प्राण अक्षर पुरुष और वाक् या अन्न क्षर पुरुष की संज्ञाएँ हैं, जिनका समन्वय मनुष्य-देह में पाया जाता है।

इसी सूक्त के अन्य मन्त्र भी उल्लेख-योग्य हैं—

पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥ २८॥
यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरीम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥२९॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥३०॥

प्राची, प्रतीची, दक्षिणा, उदीची, ऊर्ध्वा, ध्रुवादिक जितनी दिशाएँ हैं, सब पुरुष के भीतर हैं, यह ब्रह्मपुरी है, इसमें वास करने के कारण वह ब्रह्म पुरुष (=पुरिशय) कहलाता है। अमृत से घिरी हुई यह ब्रह्मपुरी है (इस मर्त्य-पिण्ड को सब ओर से अमृत ने व्याप्त कर रक्खा है)। जो इसे जानता है, उसके चक्षु और प्राणों की कभी हानि नहीं होती।

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्माविवेशापराजिताम्॥३३॥

चारों ओर जिसका यश वितत है, अतिशय भ्राजमान और तेजोमयी जो पुरी है, उस अपराजिता नगरी में ब्रह्म ने प्रवेश किया है।

इन अलङ्कार-प्रधान वर्णनों के आभ्यन्तर भारतीय अध्यात्मज्ञान के रहस्य छिपे हुए हैं। साहित्य में रहस्य-वर्णन की शैली का पुराकाल से ऐतिहासिक अन्वेषण करने के लिए इन वैदिक परिभाषाओं का ज्ञान परमावश्यक है, क्योंकि परवर्ती कवियों ने इन परम्पराओं का अपने काव्यों में सन्निवेश किया है। अध्यात्म कवियों की काव्य-परिपाटी को सहृदयता के साथ समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम स्थूल वर्णनों के मूल में निहित परोक्ष अर्थों को यथार्थ रीति से जानें। ध्रुव-लोक, कैलास, मानसरोवर, गङ्गा-यमुना त्रिकुटी, संगम, हंस, षट्कमल, मेरु, गगन-मण्डल, तीन लोक, सप्तसागर आदि अनेक शब्दों का स्वच्छन्द प्रयोग हिन्दी के अध्यात्मप्रधान काव्य-ग्रन्थों में अनेक बार किया गया है। यदि हम इन शब्दों के स्थूल अर्थों को ग्रहण करने का आग्रह करें तो कवि का रहस्य अर्थ कभी नहीं मालूम हो सकता और न कविता का ही सुसंगत अर्थ लग सकता है। जायसी ने कहा है—

चौदह भुवन जो तर उपराहीं।
ये सब मानुष के तन माहीं॥

दैवी वीणा

हिन्दी कवियों ने जहाँ मनुष्य की वाक् की मुरली-ध्वनि से उपमा दी है, वहाँ वैदिक साहित्य में इसका रूपक देव-वीणा से बाँधा गया है। यह शरीर सामान्य वीणा नहीं है। यह दैवी वीणा है। इसके स्वरों में देवों का सङ्गीत है। जो कुशलता से इस वीणा को बजाता है। उसके कल्याण-प्रद स्वर दूर-दूर तक व्याप्त हो जाते हैं। उसके माधुर्य से सब मुग्ध हो जाते हैं। ऋग्वेद के शांखायन आरण्यक में इस रूपक का विस्तार के साथ वर्णन पाया जाता है—

अथ इयं दैवी वीणा भवति,
तदनुकृतिरसौ मानुषी वीणा भवति।
शां. आ. ८।९

कवि दोनों में निम्नलिखित सादृश्य देखता है—

दैवी वीणा	मानुषी वीणा
शिर	सिरे का भाग
पृष्ठ वंश	पृष्ठ दण्ड
उदर	अम्भण या नीचे का भाग
मुख, नासिका, चक्षु	छिद्राणि
अँगुलियाँ	तन्त्री
जिह्वा	वादन
स्वर	स्वर

आगे कवि ने कहा है—

सा एषा दैवी वीणा भवति। स य एवमेतां दैवीं वीणां वेद श्रतवदनतमो भवति, भूमौ चास्य कीर्ति-

भवति, शुश्रूषन्ते ह्यस्य परिषत्सु भाष्यमाणस्य-'इदमस्तु, यदयमीहते'। यत्रार्या वाचं वदन्ति विदुरेनं तत्र ॥

अथातः ताण्डविन्दवस्य वचः। तद्यथा—इयम-कुशलेन वादयित्रा वीणाऽऽरब्धा न तत्कृत्स्नं वीणार्थं साधयत्येवमेव अकुशलेन वक्त्रा वागारब्धा न तत्कृत्स्नं वागर्थं साधयति। तद्यथा हैवेयं कुशलेन वादयित्रा वीणारब्धा कृत्स्नं वीणार्थं साधयत्येवमेव कुशलेन वक्त्रा वागारब्धा कृत्स्नं वागर्थं साधयति।

शांखायन आरण्यक ८।९,१०

अर्थात् जो इस दैवी वीणा को बजाता है, उसकी वीणा के स्वर सुनने-योग्य होते हैं। जब परिषदों में वह बोलने के लिए खड़ा होता है, सब लोग उसे सुनने के लिए सावधान हो जाते हैं, और कहते हैं कि जो इसका संकल्प है वही हमें भी स्वीकार है। जहाँ आर्य लोग तत्त्वों का विचार करने बैठते हैं, वहीं उसका स्मरण होता है।

ताण्डविन्दव आचार्य का अनुभव है कि जैसे कुशल वादक वीणा में से अनन्त स्वर-माधुर्य को उत्पन्न करता है, वैसे ही वाक् रूपी वीणा का कुशल प्रयोक्ता वाणी के द्वारा अनन्त अर्थों की सिद्धि करता है। उसके स्वर-सामञ्जस्य से सब मुग्ध हो जाते हैं, वह जिस नवीन संगीत की तान छेड़ता है सारा राष्ट्र चकित होकर उसको सुनता है। सच-मुच लोकमान्य महात्माओं की वाक् की महिमा की कोई इयत्ता नहीं है।

दैवी नाव

भव-सागर को पार करने के लिए मानुषी शरीर एक सुघटित नाव है। कितने इसी पर चढ़ कर दुस्तर भवसागर के पार चले जाते हैं, कितने बीच में ही रह जाते हैं। निम्न-लिखित सुन्दर मन्त्र में इसी दैवी नाव का वर्णन है—

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं
सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसो
अस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये ॥ अथर्व० ७।६।३

अर्थात्—हम लोग स्वस्ति तक पहुँचने के लिए इस दैवी नाव पर आरूढ़ हैं। यह नाव अस्रवन्ती है, कहीं से रिसती नहीं। स्वरित्रा है, उसमें इन्द्रियरूप बड़े सुन्दर डाँड लगे हुए हैं। सुप्रणीति अर्थात् सुघटित है, इसके निर्माण-कौशल का क्या ठिकाना है। यह अदिति है, अखंडनीया तथा देवों की जननी है। सुशर्मा अर्थात् सुप्रतिष्ठित प्राण से सम्पन्न है। सुत्रामा इन्द्र की यह नाव है। इसमें पृथिवी से द्युलोक तक की समस्त रचना है।

ऐसी नाव पर चढ़ने वाले यात्री का अनागस अर्थात् समस्त पापों से रहित होना सबसे बड़ी शर्त है। शुनःशेप ने वरुण से यह प्रार्थना की है—

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मद्-
अवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवा-
नागसो अदितये स्याम ऋ० १।२४।१५॥

हे वरुण, हमारे समस्त उत्तम, मध्यम, अधम पाशों को शिथिल करो। हे आदित्य, तुम्हारे व्रत में अनागस (पाप रहित) रहकर हम अदिति स्थिति को प्राप्त होवें।

इस प्रकार वैदिक परिभाषाओं का निर्वचन करते हुए हमने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्राचीन ऋषियों ने क्षेत्र, रथ, दैवी पुरी, ब्रह्म पुरी, देव-परिषद् देव-संसद्, दैवी वीणा, देवरथ, दैवी नाव आदि अलौकिक रूपकों के द्वारा मनुष्य शरीर का ही अध्यात्म प्रसंग से वर्णन किया है।

[पृष्ठ २४ का शेषांक]

२० ऋषि दयानन्द दो तीन घंटों में गायत्री छन्द के २४, त्रिष्टुप् छन्द के १२, और जगती छन्द के १० मन्त्रों का भाष्य रच लेते थे। देखो पृष्ठ ४१९।

ऋषि के लिखे हुए कुछ अप्राप्य ग्रन्थ

२१. ऋषि दयानन्द के जो छपे हुए ग्रन्थ मिलते हैं उनसे अतिरिक्त भी ऋषि ने कई छोटे मोटे ग्रन्थ लिखे थे। जिनमें से कुछ छप भी गये थे, परन्तु आज उपलब्ध नहीं होते। उनका नाम इस पत्र व्यवहार से ज्ञात होता यथा—

(१) गोतम अहल्या की कथा। पृष्ठ ३७२।
(२) जालन्धर की बहस। पृष्ठ ३३९।
(३) पोपलीला। पृष्ठ ३३९।
(४) प्रश्नोत्तर हलधर। पृष्ठ १००।

निम्न पुस्तकें अभी तक नहीं छपीं परोपकारिणी सभा के संग्रह में विद्यमान हैं।

(५) हिन्दी कुरान। देखो पृष्ठ १५३, १९९।
(६) निरुक्त ब्राह्मणादि की शब्द सूची। देखो पृष्ठ ३८८

ऋषि के पत्र और विज्ञापनों से जो महत्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं उनका हमने ऊपर दिग्दर्शन मात्र करा दिया है। ऋषि दयानन्द के कार्य और उनके विचारों को समझने के लिये पत्रव्यवहार अत्यन्त महत्व पूर्ण साधन है। अतः प्रत्येक आर्य को चाहिये कि वह ऋषि के वास्तविक भावों को समझने के लिये उनके पत्रव्यवहार का विशेष रूप से अध्ययन करें और ऋषि के कार्य क्रम पर न चलने के कारण आर्य समाज में जो त्रुटियाँ आ गई हैं उनका निराकरण करें।

ऋषि दयानन्द के पत्रों और विज्ञापनों का महत्त्व

लेखक—युधिष्ठिर मीमांसक, मोतीझील, काशी।

ऋषि दयानन्द इस युग के एक महापुरुष हुए हैं। आर्यावर्त देश और उसके निवासी आर्यों को अवनति के गर्त से निकालने के लिये उन्होंने महान् प्रयत्न किया। धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक प्रत्येक क्षेत्र में उनके कार्य इतने महान् हैं कि यदि उनके एक-एक कार्य की भले प्रकार आलोचना की जाय तो उन पर अनेक ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। ऋषि दयानन्द का वास्तविक कार्य-काल विक्रम संवत् १९३१-१९४० तक केवल १० वर्ष का है। दस वर्ष के इस अल्प काल में उन्होंने केवल लेखन कार्य ही इतना अधिक किया है कि उसे देख कर आश्चर्य-चकित होना पड़ता है। ऋषि का केवल ग्रन्थ-लेखन-कार्य फुलसकेप आकार के लगभग २० सहस्र पृष्ठों में परिसमाप्त हुआ है।[१] इस महान् लेखन-कार्य के अतिरिक्त प्रचारार्थ भ्रमण करते हुए प्रतिदिन शतशः समागतों का शंका-समाधान, विभिन्नमतावलम्बियों से शास्त्रार्थ और समागत पत्रों का उत्तर देना आदि कार्य पृथक् हैं।

ऋषि दयानन्द के कार्य की व्यापकता और उपलब्ध पत्रव्यवहार को देखने से विदित होता है कि उन्होंने अपने जीवन में और विशेषकर अन्तिम दस वर्षों में विभिन्न व्यक्तियों को सहस्रों पत्र लिखे थे। उनका पत्र-व्यवहार केवल भारत तक ही सीमित नहीं था। अमेरिका, इङ्गलैण्ड और जर्मनी आदि देशों के अनेक विद्वानों के साथ उनका पत्र-व्यवहार होता था।

पत्रव्यवहार व्यक्ति के जीवन-चरित्र का महत्त्वपूर्ण भाग होता है। उससे जहाँ उस व्यक्ति के जीवन-चरित्र की अनेक घटनाओं का ज्ञान होता है, वहाँ उस व्यक्ति के विचारों का द्योतन भी होता है। अतः महापुरुषों के पत्र-व्यवहार केवल सामयिक वस्तु नहीं होते। उनका मूल्य उनके रचे हुए ग्रन्थों से किसी प्रकार कम नहीं होता। वह साहित्य की ठोस वस्तु होती है। ऋषि दयानन्द के पत्रों का सबसे प्रथम संग्रह श्री पं० लेखराम जी ने किया था। उन्हें जितने पत्र प्राप्त हुए उनमें से बहुतों का मुद्रण उनके द्वारा संगृहीत ऋषि दयानन्द के उर्दू जीवन-चरित्र में हो चुका है। उसके अनन्तर श्री महात्मा मुन्शीराम जी (श्री स्वा० श्रद्धानन्द जी) ने ऋषि दयानन्द के कुछ पत्र प्रकाशित किये थे। तत्पश्चात् ऋषि-पत्रों का संग्रह ऋषि के अनन्य भक्त पं० देवेन्द्रनाथ जी ने ऋषि का जीवन-चरित्र लिखने के लिये किया था। उनका अकाल में स्वर्गवास हो जाने से उनका मुद्रण नहीं हो सका। तदनन्तर आर्य समाज के प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्त जी रिसर्चस्कालर ने पत्र-व्यवहार के संग्रह में महान् प्रयत्न किया। उन्होंने १७ वर्ष के सतत परिश्रम से ऋषि के लगभग ५०० पत्र और विज्ञापन संगृहीत किये। और उन सबका तिथिक्रम से सम्पादन किया। उनके इस कार्य में श्री महाशय मामराज जी का प्रमुख हाथ है। यदि यह कहा जाय कि उनके बिना पत्रों का इतना विशाल संग्रह नहीं हो सकता था, तो कोई अत्युक्ति न होगी। पत्रों का यह महान् संग्रह श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अनारकली लाहौर) द्वारा सन् १९४६ के अन्त में प्रकाशित हुआ था। उसकी स्वल्प कापियाँ ही बिक सकी थी कि १२ अगस्त १९४७ को लाहौर में आततायियों द्वारा ट्रस्ट के पुस्तक भण्डार के साथ जला दिया गया।

अब इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का पुनः संस्करण छप रहा है। इस बार लगभग ५० नये पत्र और विज्ञापन बढ़े हैं। यह इस वर्ष के अन्त तक छप कर तैयार हो जायगा।

ऋषि दयानन्द के इन पत्रों का ऐतिहासिक मूल्य बहुत अधिक है। जिन्होंने इनका ध्यानपूर्वक अध्ययन किया है वे इसके मूल्य को भले प्रकार आँक सकते हैं। इन पत्रों और विज्ञापनों में ऋषि दयानन्द के जीवनचरित्र, कार्यक्रम और उनके विचारों पर प्रकाश डालनेवाली सामग्री अत्य-धिक है। श्री मा० पं० भगवद्दत्त जी ने पत्रव्यवहार की भूमिका में ऋषि के पत्रों में लिखे हुए कुछ विचारों पर अत्यन्त विद्वत्ता से महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। आर्यसमाज के प्रत्येक नेता, अधिकारी, सदस्य तथा सेवक प्रत्येक आर्य-व्यक्ति को इन पत्रों और उसकी भूमिका में प्रदर्शित विचारों पर शान्त होकर मनन करना चाहिये। आर्य समाज के कार्यक्रम में आयी हुई अनेक महत्त्वपूर्ण त्रुटियाँ इस पत्र-व्यवहार के मनन से दूर हो सकती हैं ऐसा हमारा विचार है।

अब मैं इस लेख में ऋषि के पत्र और विज्ञापन से विदित होने वाली कुछ महत्त्वपूर्ण बातों का अत्यन्त संक्षेप

१ ऋषि दयानन्द ने जितने ग्रन्थ लिखे उनका क्रमबद्ध प्रामाणिक इतिहास जानने के लिये हमारा "ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास" नामक ग्रन्थ देखें। प्रचारार्थ इसका मूल्य बहुत घटा दिया है।

से उल्लेख करता हूँ। जिससे सर्व-साधारण को इस पत्र-व्यवहार की उपयोगिता का अनुभव हो और इसके अध्ययन के लिये विशेष रुचि उत्पन्न हो।

ऋषि के जीवन चरित्र पर प्रकाश

१. इस पत्रव्यवहार से ऋषि के जीवन की अनेक ऐसी घटनाओं का वृत्त ज्ञात होता है जो कि उनके किसी जीवन-चरित्र में उल्लिखित नहीं।

२. कई स्थानों में ऋषि के पहुँचने और प्रस्थान करने की तिथियों का उल्लेख जीवन-चरित्रों में नहीं है, उनमें से कई तिथियों का ज्ञान पत्रव्यवहार से हो जाता है।

३. ऋषि के जीवन चरित्रों में दी गई तिथियों की बहुत-सी अशुद्धियाँ इस पत्र-संग्रह से दूर हो जाती हैं।

भविष्य में ऋषि के जीवनचरित्र लिखनेवाले व्यक्ति के लिये यह संग्रह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन तीनों बातों का निदर्शन विद्वान् सम्पादक ने अपनी भूमिका में कराया है। यहाँ विस्तारभय से नहीं लिखते। देखो भूमिका पृष्ठ १५,१६ *।

ऋषि के महत्त्वपूर्ण कुछ विचार

४. ऋषि दयानन्द का मन्तव्य था कि भारत की मातृ-भाषा संस्कृत है और उसीकी उन्नति से ही भारत का कल्याण हो सकता है। देखो—पत्र-व्यवहार पृष्ठ २५, २८।

५. ऋषि दयानन्द चाहते थे कि भारत में संस्कृत भाषा की उन्नति हो। उनकी दृष्टि में अङ्गरेजी, फारसी आदि के लिये स्कूल कालिज खोलना देश के लिये हानिकारक था। वे इसके लिये आर्यसमाजियों को निषेध करते रहे। देखो—पत्र-व्यवहार पृष्ठ २९७, २९८, ४१६, ४२९।

इस विषय में ऋषि के कुछ शब्द नीचे उद्धृत करते हैं—

"आप लोगों की पाठशाला में आर्य भाषा संस्कृत का प्रचार बहुत कम है और अन्य भाषा अर्थात् अङ्गरेजी व उर्दू, फारसी अधिक पढ़ाई जाती है। इससे वह अभीष्ट, जिसके लिये यह पाठशाला खोली गई है, सिद्ध होता नहीं दीखता है। वरन् आपका यह हजारह मुद्रा का व्यय संस्कृत की ओर से निष्फल होता भासता है।......आप लोग देखते हैं कि बहुत काल से आर्यावर्त में संस्कृत विद्या का अभाव हो रहा है। वरन संस्कृत रूपी मातृभाषा की जगह अङ्गरेजी लोगों की मातृभाषा हो चली है।......हमारी अति प्राचीन मातृभाषा संस्कृत जिसका सहायक वर्तमान में कोई नहीं है।......" पृष्ठ २९५।

"इस पाठशाला में मुख्य संस्कृत जो मातृभाषा है उसको ही वृद्धि देना चाहिये।" पृष्ठ २९८।

"तुम्हारी पाठशाला में अलिफ, बे और कैट, बैट का भमीर है जो कि आर्य समाजों का विशेष कर्तव्य नहीं।" पृष्ठ ४१६।

ऋषि दयानन्द के ये शब्द अत्यन्त विस्पष्ट हैं। इस पर किसी प्रकार की टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। आर्य समाज के नेताओं ने स्कूल-कालिज खोलकर देश और धर्म की उन्नति की है या अवनति इस पर प्रत्येक आर्यसमाजी को भले प्रकार विचार करना चाहिये।

६. ऋषि दयानन्द चाहते थे कि देशी राज्यों में सब राजकार्य आर्यभाषा और संस्कृत में हो अङ्गरेजी में नहीं। देखो पृष्ठ ४२९, ४९८।

ऋषि दयानन्द का यह स्वप्न उनके निर्वाण के लगभग ७० वर्ष के अनन्तर आधा चरितार्थ हुआ। देश के स्वतन्त्र होने पर आर्य भाषा राष्ट्रभाषा स्वीकार कर ली गई। अभी ऋषि दयानन्द का आधा स्वप्न संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनाने का बाकी है। इस ओर आर्य-समाज को विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

इन विषयों पर इस ग्रन्थ के विद्वान् सम्पादक महोदय ने अपनी भूमिका में अत्यन्त विषद प्रकाश डाला है। देखो—पृष्ठ २३–२६।

ऋषि के महत्त्वपूर्ण कुछ कार्य

७. ऋषि ने गोरक्षा के लिये महान् आन्दोलन किया था। उनका दो करोड़ हस्ताक्षरों से युक्त एक प्रार्थना पत्र साम्राज्ञी विक्टोरिया के पास भेजने का विचार था। उसके लिये उन्होंने प्रबल प्रयत्न किया। इस प्रार्थना पत्र पर देश के सब राजा महाराजाओं के हस्ताक्षर कराने का विचार था। महाराणा सज्जनसिंह के द्वारा जोधपुर, जयपुर, कोटा, इन्दौर आदि अनेक राज्यों के राजा महाराजाओं ने इस प्रार्थना पत्र पर हस्ताक्षर किये थे। इस महान् आंदोलन का वृत्त इन पत्रों से ही ज्ञात होता है। देखो—पृष्ठ २१७, ३१९, ३२०, ३२२, ३३८, ३६४, ३६५, ३६६, ३७०, ३९५, ४७४।

भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर भी ऋषि का यह कार्य अभी तक पूर्ण नहीं हुआ। इस ओर सम्प्रति विशेष प्रयत्न हो रहा है। आशा है शीघ्र पूर्ण होगा।

* यह पृष्ठ संख्या सन् १९७३ के छपे संस्करण की है।

८. ऋषि दयानन्द आज से लगभग ७० वर्ष पूर्व जान गये थे कि अङ्गरेजी शिक्षा से पढ़े-लिखे लोगों में महती बेकारी फैलेगी। अतः उन्होंने इसके लिये शिल्प विद्यालय खोलने की योजना तैयार की थी। और जर्मनी के विशेषज्ञों से इस विषय में पत्र-व्यवहार भी किया। देखो—पृष्ठ २१९, २२२, २२९, २६२।

९. देशी राजाओं को पाश्चात्य भोगविलास के वातावरण से बचाने के लिये ऋषि ने **राजकुमार छात्र पाठशाला** खोलने का उपक्रम किया था। देखो—पृष्ठ ३२३, ४५२, ४७८।

१०. ऋषि दयानन्द ने अपनी पाठविधि में प्राचीन आर्ष ग्रन्थ पढ़ने-पढ़ाने पर बल दिया है। उनका पढ़ना-पढ़ाना तभी हो सकता है जब आर्ष ग्रन्थों का प्रकाशन हो। ऋषि ने अपने स्वीकार पत्र में आर्ष-ग्रन्थों के छपवाने की स्पष्ट आज्ञा दी है। पृष्ठ ४७८, ५२९।

ऋषि की स्थानापन्न श्रीमती परोपकारिणी सभा ने इस ओर कुछ कार्य नहीं किया। उसे शीघ्र ही इस ओर ध्यान देना चाहिये। बिना आर्ष ग्रन्थों की रक्षा और प्रचार के आर्य समाज जीवित नहीं रह सकता।

आर्यसमाज स्थापना तिथि और सार्वदेशिक सभा का भ्रम

११. आज से १४ वर्ष पूर्व आर्य समाज की स्थापना तिथि चैत्र सुदी ५ पंचमी मानी जाती थी, परन्तु लगभग १४ वर्ष हुये सार्वदेशिक सभा ने घोषणा कर दी कि आर्य समाज स्थापना दिवस चैत्र सुदी ५ ठीक नहीं है, शुद्ध तिथि चैत्र सुदी १ प्रतिपदा है। इस घोषणा का आधार एक मात्र आर्यसमाज गिरगाँव बम्बई में लगा हुआ काल्पनिक शिला लेख है जो आर्य समाज की स्थापना के १२ वर्ष बाद लगाया गया है। ऋषि दयानन्द ने पं० गोपालराव हरिदेश मुख को एक पत्र में लिखा है—

आगे मुम्बई में चैत्र सुदि ५ शनिवार के दिन संध्या के साढ़े पाँच बजते आर्य समाज का आनन्द पूर्वक आरम्भ हुआ। पृष्ठ ३२।

ऋषि ने यह पत्र आर्य समाज की स्थापना के अगले दिन अर्थात् चैत्र सुदी ६ रविवार को लिखा है। अतः इस पत्र का साक्ष्य अत्यन्त महत्त्व पूर्ण है इसमें किसी प्रकार की भूल चूक का कोई स्थान नहीं है। इस पत्र के अन्त में सं० १९३२ के बदले १९३१ लिखा है वह गुजराती पंचांग के अनुसार है। गुजरात में चैत्र सुदी १ के बदले कार्तिक सुदी १ से वर्ष परिवर्तन माना जाता है।

ऋषि का यह पत्र आज से २२ वर्ष पूर्व आर्य प्रादेशिक सभा लाहौर द्वारा प्रकाशित हो चुका था, परन्तु सार्वदेशिक सभा के अधिकारियों को उसका कोई ज्ञान नहीं था, अन्यथा वे ऐसा अशुद्ध निर्णय न करते। यह है हमारी प्रामाणिक मानी जाने वाली संस्थाओं के अधिकारियों की स्वाध्याय प्रवृत्ति।

इस विषय में मैंने २७ जनवरी १९४६ के आर्यमार्तण्ड (अजमेर), ४ आषाढ़ सं० २००८ के आर्य (लाहौर) तथा फरवरी १९५४ की वेदवाणी में विस्तार से लिखा है इस अंक में भी टाइटल पेज ३ पर नई सामग्री उपस्थित की है।

ऋषि के सहायक पण्डित

१२. ऋषि के साथ कार्य करने वाले भीमसेन और ज्वालादत्त आदि पण्डित कितने अल्पज्ञ और नीच वृत्ति के थे, यह इस पत्र व्यवहार के अध्ययन से स्पष्ट होता है। देखो पृष्ठ ३४५, ३९६, ४०५, ३७२, ३७४, ३७१, ४०५। इन्होंने कई स्थानों में संस्कृत का अनुवाद कुछ का कुछ कर दिया है। देखो पृष्ठ ४६०, ४८५।

ऋषि के ग्रन्थों के सम्बन्ध में

१३. ऋषि के बनाये हुए वेदान्तिध्वान्तनिवारण वेदविरुद्धमतखण्डन आदि पर ऋषि का नाम छपा हुआ नहीं मिलता। इससे अनेक विद्वानों को भ्रम होता है। इसी भ्रम के कारण वेदान्तिध्वान्तनिवारण का प्रकाशन दयानन्द ग्रन्थमाला में नहीं हो सका। इस पत्रव्यवहार से ज्ञात होता है कि ये ग्रन्थ भी ऋषि के बनाये हुए हैं। देखो पृष्ठ ११०।

१४. वेदाङ्गप्रकाश प्रायः पण्डितों से बनवाये श्री स्वामी जी से शोधे गये हैं। देखो पृष्ठ ३३८, ३७१, ३७४, ३७६।

१५. संशोधित सत्यार्थप्रकाश की हस्तलिखित रफ कापी आश्विन सुदी ३ सं० १९३९ से पूर्व तैयार हो गई थी। पृष्ठ ३८०।

१६. चौदहवें समुल्लास में अल्लोपनिषद् की समीक्षा वाला भाग श्रावण सुदी ६ सं. १९४० के बाद ऋषि ने स्वयं बढ़ाया था। पृष्ठ ४६८।

१७. संशोधित संस्कारविधि भाद्रपद ३० सं० १९४० तक तैयार हो गई थी। देखो पृष्ठ ४८६।

१८. वेदभाष्य आदि में पण्डितों की असावधानता से बहुत सी अशुद्धियाँ रह गई। देखो पृष्ठ ३७४, ४०४, ४०६।

१९. पण्डितों ने कई स्थानों में ऋषि के संस्कृतभाष्य से विपरीत भाषानुवाद किया है। देखो पृष्ठ ४६०, ४८५।

[शेष पृष्ठ २१ पर]

गया, उस प्रश्न का उत्तर से समाधान करे कि पृथ्वी के दूसरे पृष्ठ में है, जिसका[1] चलना अति सूक्ष्म है, इसलिये वह मूर्ख मनुष्यों से जाना नहीं जाता। वैसे ही महाशय मनुष्यों का आशय भी अविद्वान् लोग नहीं जान सकते ॥ ७ ॥

फिर इस सूर्य के कृत्य का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

अ॒ष्टौ व्य॑ख्यत् क॒कुभः॑ पृथि॒व्यास्त्री धन्व॒ योज॑ना स॒प्त सिन्धू॑न् ।
हि॒र॒ण्या॒क्षः स॑वि॒ता दे॒व आगा॒द्दध॒द्रत्ना॑ दा॒शुषे॒ वार्या॑णि ॥ ८ ॥

पदार्थ—हे सभेश ! जैसे जो (हिरण्याक्षः) जिसकी सुवर्ण के समान ज्योति है वह (सविता) वृष्टि उत्पन्न करने वाला (देवः) द्योतनात्मक सूर्यलोक (पृथिव्याः) पृथिवी से संबन्ध रखने वाली (अष्टौ) आठ (ककुभः) दिशा अर्थात् चार दिशा और चार उपदिशाओं (त्री) तीन भूमि अन्तरिक्ष और प्रकाश के अर्थात् ऊपर नीचे और मध्य में ठहरने वाले (धन्व) प्राप्त होने योग्य (योजना) सब वस्तु के आधार तीन लोकों और (सप्त) सात (सिंधून्) भूमि, अन्तरिक्ष वा ऊपर स्थित हुए जलसमुदायों को (व्यख्यत्) प्रकाशित करता है, वह (दाशुषे) सर्वोपकारक विद्यादि उत्तम पदार्थ देने वाले यजमान के लिये (वार्याणि) स्वीकार करने योग्य (रत्ना) पृथिवी आदि वा सुवर्ण आदि रमणीय रत्नों को (दधत्) धारण करता हुआ (आगात्) अच्छे प्रकार प्राप्त होता है, वैसे तुम भी वर्त्तो ॥ ८ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है ॥ जैसे यह सूर्यलोक सब मूर्त्तिमान् पदार्थों को प्रकाशित करके [और उष्णता से] छेदन करके वायुद्वारा अन्तरिक्ष में प्राप्त करो और वहाँ से नीचे गिरा कर सब रमणीय सुखों को जीवों के लिये प्राप्त कराता है और पृथिवी में स्थिति, और उनचास क्रोश पर्यन्त अन्तरिक्ष में स्थूल, सूक्ष्म, लघु और गुरु रूप से स्थित हुए जलों को अर्थात् जिनका सप्तसिन्धु नाम है, आकर्षणशक्ति से धारण करता है, वैसे सब विद्वान् लोग विद्या और धर्म से सब प्रजा को धारण करके सबको आनन्द में रक्खें ॥ ८ ॥

फिर वह क्या करता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

हिर॑ण्यपाणिः सवि॒ता विच॑र्षणिरु॒भे द्यावा॑पृथि॒वी अ॒न्तरी॑यते ।
अपामी॑वां॒ बाध॑ते॒ वेति॒ सूर्य॑म॒भि कृ॒ष्णेन॒ रज॑सा॒ द्याम्॑णोति ॥ ९ ॥

पदार्थ—हे सभाध्यक्ष ! जैसे (हिरण्यपाणिः) जिसके हिरण्यरूप ज्योति हाथों के समान ग्रहण के साधन हैं, (विचर्षणिः) पदार्थों को छिन्न-भिन्न करने के स्वभाव वाला और (सविता) रसों की उत्पन्न करने वाला सूर्यलोक (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी) प्रकाशभूमि को (अन्तः) अन्तरिक्ष के मध्य में (ईयते) प्राप्त होता है। (अमीवाम्) रोग पीड़ा का (अपबाधते) निवारण करता है, (सूर्यम्) सबको प्राप्त होने वाले अपने किरणसमूह को (अभिवेति) साक्षात् प्रगट करता

१. संस्कृत में भी 'यस्य' पाठ है, परन्तु वहाँ 'अस्याः' चाहिये। इसी प्रकार यहाँ 'इस पृथ्वीका' ऐसा पाठ होना चाहिये। श्रीस्वामीजी भी सूर्य का पृथ्वी के चारों ओर घूमना नहीं मानते हैं।

है, और (कृष्णेन) पृथिवी आदि प्रकाश रहित (रजसा) लोकसमूह के साथ अपने (धाम) प्रकाश को (ऋणोति) प्राप्त करता है, वैसे तुझको भी होना चाहिये ॥ ९ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है ॥ हे सभापते ! जैसे यह सूर्यलोक बहुत लोकों के साथ आकर्षण संबंध से वर्त्तमान, सब वस्तुमात्र को प्रकाशित करता हुआ प्रकाश तथा पृथिवी लोक का मेल करता है, वैसे स्वभावयुक्त आप हूजिये ॥ ९ ॥

अब अगले मन्त्र में वायु के गुणों का उपदेश किया है ॥

हिरण्यहस्तो असुरः सुनीथः सुमृळीकः स्ववाँ यात्वर्वाङ् ।
अपसेधन् रक्षसो यातुधानानस्थाद्देवः प्रतिदोषं गृणानः ॥ १० ॥

पदार्थ—हे सभापते ! आप, जैसे यह (हिरण्यहस्तः) जिसका चलना हाथ के समान है (असुरः) प्राणों की रक्षा करने वाला अथवा रूपगुणरहित (सुनीथः) सुन्दर रीति से सबको प्राप्त होने (सुमृडीकः) उत्तम व्यवहारों से सुखयुक्त करने और (स्ववान्) उत्तम-उत्तम स्पर्श आदि गुण वाला (अर्वाङ्) अपने नीचे ऊपर टेढ़े जाने वाले वेगों को प्राप्त होता हुआ वायु चारों ओर से (यातु) चलता है इस प्रकार (प्रतिदोषम्) रात्रि[1]-रात्रि के प्रति (गृणानः) गुण कथन से स्तुति करने योग्य (देवः) सुखदायक वायु दुःखों को निवृत्त और सुखों को प्राप्त करके (अस्थात्) स्थित होता है वैसे (यातुधानान्) जिनसे पीड़ा आदि दुःख होते हैं उन डाकुओं (रक्षसः) दुष्ट कर्म करनेवाले को (अपसेधन्) निवारण करते हुए श्रेष्ठों को प्राप्त हूजिये ॥ १० ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है ॥ हे सभापते ! जैसे यह वायु अपने आकर्षण और बल आदि गुणों से सब पदार्थों को व्यवस्था में रखता है और जैसे दिन में चोर प्रबल नहीं हो सकते हैं, वैसे आप भी हूजिये । जिस जगदीश्वर ने बहुत गुणयुक्त सुख प्राप्त कराने वाले वायु आदि पदार्थ रचे हैं, उसी को सब धन्यवाद देने चाहिये ॥ १० ॥

अब अगले मन्त्र में इन्द्र[2] शब्द से ईश्वर का उपदेश किया है ॥

ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे ।
तेभिर्नो अद्य पथिभिः सुगेभी रक्षा च नो अधि च ब्रूहि देव ॥ ११ ॥ [७]

पदार्थ—हे (सवितः) सकल जगत् के रचने और (देव) सुख देने वाले जगदीश्वर ! (ये) जो (ते) आपके (अरेणवः) जिनमें कुछ भी धूलि के अंशों के समान विघ्नरूप मल नहीं

---

१. रात्रिशब्द यहाँ उपलक्षणार्थ है । इससे दिन का भी ग्रहण समझना चाहिये ।

२. संस्कृत की मन्त्रसंगति में भी 'इन्द्र शब्देन' ऐसा ही पाठ है, परन्तु मन्त्र में इन्द्रपद नहीं है । और सम्पूर्ण सूक्त का भी इन्द्र से कोई सम्बन्ध नहीं है । मन्त्र में साक्षात् 'सवितः' पद पढ़ा है और उसका अर्थ 'सकलजगदुत्पादकेश्वर' किया है । अतः यहाँ 'इन्द्र' पद के स्थान में 'सविता' पद होना चाहिये ।

हैं तथा (पूर्व्यासः) जो हमारी अपेक्षा से प्राचीनों ने सिद्ध और सेवन किये हैं। (सुकृताः) अच्छे प्रकार सिद्ध किये हुए (पन्थाः) मार्ग (अन्तरिक्षे) अपने व्यापकता रूप ब्रह्माण्ड में वर्त्तमान हैं (तेभिः) उन (सुगेभिः) सुखपूर्वक सेवने योग्य (पथिभिः) मार्गों से (नः) हम लोगों की (अद्य) आज (रक्ष) रक्षा कीजिये। (च) और (नः) हम लोगों के लिये सब विद्याओं का (अधिब्रूहि) उपदेश (च) भी कीजिये ॥ ११ ॥

भावार्थ—हे ईश्वर! आपने जो सूर्य आदि लोकों के घूमने और प्राणियों के सुख के लिये आकाश वा अपने महिमारूप संसार में शुद्ध मार्ग रचे हैं, जिन में सूर्यादि लोक यथा नियम से घूमते और सब प्राणी विचरते हैं, उन पदार्थों के मार्गों तथा गुणों का हमको उपदेश कीजिये कि जिससे हम लोग इधर उधर चलायमान न होवें ॥ ११ ॥

इस सूक्त में सूर्य लोक, वायु और ईश्वर के गुणों का प्रतिपादन करने से चौंतीसवें सूक्त के साथ इस सूक्त की संगति जाननी चाहिये ॥

यह सातवाँ वर्ग ७ सातवाँ अनुवाक ७ और पैंतीसवाँ सूक्त समाप्त हुआ ॥ ३५ ॥

---

(३६)

अथ विंशत्यृचस्य षट्त्रिंशस्य सूक्तस्य घौरः कण्व ऋषिः। अग्निर्देवता। १, १३ भुरिगनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः। २, ४ निचृत्सतः पङ्क्तिः ; १०, १४ निचृद्विष्टारपङ्क्तिः ; १८ विष्टारपङ्क्तिः ; २० सतः पङ्क्तिश्छन्दः पञ्चमः स्वरः। ३, ११ निचृत्पथ्या बृहती ; ५, १६ निचृद् बृहती ; ६ भुरिग् बृहती ; ७ बृहती; ८ स्वराड् बृहती, ९ निचृदुपरिष्टाद् बृहती ; १२ उपरिष्टाद् बृहती ; १५ विराट् पथ्या बृहती ; १७ विराडुपरिष्टाद् बृहती ; १९ पथ्या बृहती च छन्दः। मध्यमः स्वरः ॥

अब छत्तीसवें सूक्त का आरम्भ है, उसके पहिले मन्त्र में अग्निशब्द से ईश्वर के गुणों का उपदेश किया है ॥

प्र वो॑ य॒ह्वं पु॑रू॒णां वि॒शां दे॑वय॒तीना॑म्।
अ॒ग्निं सू॒क्तेभि॒र्वचो॑भिरीमहे॒ यं सी॒मिद॒न्य ईळ॑ते ॥ १ ॥

पदार्थ—हम लोग, जैसे (अन्ये) अन्य परोपकारी धर्मात्मा विद्वान् लोग (सूक्तेभिः) जिनमें अच्छे प्रकार विद्या कही हैं उन (वचोभिः) वेद के अर्थ ज्ञानयुक्त वचनों से (देवयतीनाम्) अपने लिये देवत्व दिव्यभोग वा दिव्यगुणों की इच्छा करने वाले (पुरूणाम्) बहुत (वः) तुम (विशाम्) प्रजा लोगों के सुख के लिये (यम्) जिस (यह्वम्) अनन्तगुण युक्त (अग्निम्) परमेश्वर की (सीम् ईळते) सब प्रकार स्तुति करते हैं वैसे उस (इत्) ही की (ईमहे) अच्छे प्रकार याचना और गुणों का प्रकाश करें ॥ १ ॥

भावार्थ—इस मंत्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है ॥ हे मनुष्यो! पूर्ण विद्यायुक्त विद्वान् लोग प्रजा के सुख की संपत्ति के लिये सर्वव्यापी परमेश्वर का निश्चय तथा उपदेश करके प्रयत्न से जनाते और स्तुति कराते हैं, वैसे ही हम लोग भी उसके गुण प्रकाशित करें। जैसे ईश्वर अग्नि आदि

पदार्थों के रचने और पालने से जीवों में सब सुखों को धारण कराता है, वैसे हम लोग भी सब प्राणियों के लिये सदा सुख वा विद्या को सिद्ध करते रहें, ऐसा तुम लोग जानो ॥ १ ॥

फिर भी अगले मन्त्र में उक्त विषय का उपदेश किया है ॥

जनासो अग्निं दधिरे सहोवृधं हविष्मन्तो विधेम ते ।
स त्वं नो अद्य सुमना इहाविता भवा वाजेषु सन्त्य ॥ २ ॥

पदार्थ—हे (सन्त्य) सब वस्तु देने वाले ईश्वर ! जैसे (हविष्मन्तः) उत्तम देने-लेने योग्य वस्तु वाले (जनासः) विद्या में प्रसिद्ध हुए विद्वान् लोग जिस (ते) आपके आश्रय का (दधिरे) धारण करते हैं वैसे उन (सहोवृधम्) बल को बढ़ाने वाले (अग्निम्) सबके रक्षक आपको हम लोग (विधेम) सेवन करें। (सः) सो (सुमनाः) उत्तम ज्ञान वाले (त्वम्) आप (अद्य) आज (नः) हम लोगों के (इह) इस संसार और (वाजेषु) युद्धों में (अविता) रक्षक और सब विद्याओं में प्रवेश कराने वाले (भव) हूजिये ॥ २१ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को एक अद्वितीय परमेश्वर की उपासना से ही संतुष्ट रहना चाहिये, क्योंकि विद्वान् लोग परमेश्वर के स्थान में अन्य वस्तु को उपासना भाव से स्वीकार कभी नहीं करते। इसी कारण उनका युद्ध वा इस संसार में पराजय कभी दीख नहीं पड़ता, क्योंकि वे धार्मिक ही होते हैं, और इसीसे ईश्वर की उपासना न करने वाले उनके जीतने को समर्थ नहीं होते, क्योंकि ईश्वर जिनकी रक्षा करने वाला है, उनका कैसे पराजय हो सकता है ॥ २ ॥

अब अगले मन्त्र में भौतिक अग्नि के दृष्टान्त से राजदूत के गुणों का उपदेश किया है ॥

प्र त्वा दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ।
महस्ते सतो विचरन्त्यर्चयो दिवि स्पृशन्ति भानवः ॥ ३ ॥

पदार्थ—हे विद्वन् राजदूत ! जैसे हम लोग (विश्ववेदसम्) सब शिल्पविद्या का हेतु (होतारम्) ग्रहण करने और (दूतम्) सब पदार्थों को तपाने वाले अग्नि को (वृणीमहे) स्वीकार करते हैं, वैसे सब प्रजा का समाचार जानने तथा इधर-उधर भ्रमण करके दुष्टों को संतप्त करने वाले (त्वा) तुझको भी ग्रहण करते हैं। और जैसे (महः) महागुणविशिष्ट (सतः) कारणरूप से नित्य अग्नि की (भानवः) किरणें सब पदार्थों से (स्पृशन्ति) सम्बन्ध करती और (अर्चयः) प्रकाशरूप ज्वालाएँ (दिवि) द्योतनात्मक सूर्य के प्रकाश में (विचरन्ति) विशेष करके प्राप्त होती हैं, वैसे ही महागुणविशिष्ट तुम्हारा प्रभाव और न्यायप्रकाशक नीतियाँ प्रजा-सम्बन्धी व्यवहारों में व्यवहृत होनी चाहिये ॥ ३ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है[1] ॥ हे अपने काम में प्रवीण राजदूत ! जैसे सब मनुष्य महाप्रकाशादिगुणयुक्त अग्नि को पदार्थों को प्राप्ति वा अप्राप्ति करानेवाला होने के कारण

१. संस्कृत पदार्थ में 'दूतम्, विश्ववेदसम्, महः, सतः, अर्चयः, दिवि, भानवः' पदों का भौतिक अग्नि और राजदूतपरक अर्थ दर्शाया है। उसीको संस्कृत अन्वय तथा भाषा पदार्थ में प्रकारान्तर से लिखा है। अतः यहाँ श्लेषालंकार भी समझना चाहिये।

दूत बनाकर शिल्पकार्यों को सिद्ध करके हवन किये हुए द्रव्यों को आकाश में पहुँचाकर सुखों को स्वीकार करते हैं और जैसे इस बिजुली रूप अग्नि की दीप्ति सब जगह वर्तती है और प्रसिद्ध [=भौतिक] अग्नि की ज्वाला हलकी होने तथा वायु के छेदक होने से अवकाश करने वाली होकर ऊपर जाती है वैसे तू भी अपने कामों में प्रवृत्त हो ॥ ३ ॥

फिर वह दूत कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

देवासस्त्वा वरुणो मित्रो अर्यमा सं दूतं प्रत्नमिन्धते ।
विश्वं सो अग्ने जयति त्वया धनं यस्ते ददाश मर्त्यः ॥ ४ ॥

पदार्थ—हे (अग्ने) धर्म, विद्या, श्रेष्ठ गुणों से प्रकाशमान सभापते ! (यः) जो (ते) तेरा (दूतः) साम, दान आदि से शत्रुओं को नष्ट करनेवाला दूतरूपी (मर्त्यः) मनुष्य आपके लिये (धनम्) विद्या, राज्य, सुवर्णादि श्री को (ददाश) देता है, तथा जो (त्वया), आपके साथ शत्रुओं को (जयति) जीतता है, (मित्रः) सबका सुहृद् (वरुणः) सबसे उत्तम (अर्यमा) न्यायकारी ये सब (देवासः) सभ्य विद्वान् मनुष्य जिसको (समिन्धते) अच्छे प्रकार प्रशंसित जानकर शुभगुणों से प्रकाशित करते हैं जो (त्वा) आप तथा और सब प्रजा को प्रसन्न रक्खे (सः) वह दूत (प्रत्नम्) प्राचीन काल से चले आये (विश्वम्) राज्य को सुरक्षित रखने के योग्य होता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—कोई भी मनुष्य सब शास्त्रों में प्रवीण, राजधर्म को ठीक-ठीक जानने, पर अवर अर्थात् प्राचीन और अर्वाचीन [इतिहासों[1]] के वेत्ता, धर्मात्मा, निर्भयता से सब विषयों के वक्ता, शूरवीर दूतों और उत्तम राजा से युक्त सभासदों के बिना राज्य को पाने, पालने, बढ़ाने और परोपकार में लगाने को समर्थ नहीं हो सकते। इससे पूर्वोक्त प्रकार ही से राज्य की प्राप्ति आदि का विधान सब लोग सदा किया करें ॥ ४ ॥

फिर वह कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

मन्द्रो होता गृहपतिरग्ने दूतो विशामसि ।
त्वे विश्वा संगतानि व्रता ध्रुवा यानि देवा अकृण्वत ॥५॥ [८]

पदार्थ—हे (अग्ने) शरीर और आत्मा के बल से देदीप्यमान ! जिससे आप (मन्द्रः) पदार्थों की प्राप्ति कराने से सुख के हेतु (होता) सुखों के देने (गृहपतिः) गृहकार्यों के पालन (दूतः) दुष्ट शत्रुओं को जलाने और छेदन करने वाले (विशाम्) प्रजाओं के रक्षक (असि) हैं, इससे सब प्रजाएँ (यानि) जिन (विश्वा) सब (ध्रुवा) निश्चल (संगतानि) सम्यक् धर्म और समयानुकूल प्राप्त हुए (व्रता) सत्याचरण आदि कर्मों को (देवाः) धार्मिक विद्वान् लोग (अकृण्वत) करते हैं, उनका सेवन (त्वे) आपके रक्षक होने से सदा कर सकती हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो प्रशस्त राजा, दूत और सभासद् होते हैं, वे ही राज्य का पालन कर सकते हैं। इनसे विपरीत मनुष्य नहीं कर सकते हैं ॥ ५ ॥

१. कोष्ठान्तर्गत पद संस्कृत भावार्थ में नहीं है, परन्तु राजदूत प्रकरण में अत्यन्त उपयुक्त होने के कारण अजमेर मुद्रित भाषाभावार्थ में छपा हुआ रहने दिया है।

अब अग्नि के दृष्टान्त से राजपुरुषों के गुणों का उपदेश अगले मन्त्र में किया है।

त्वे इदग्ने सुभगे यविष्ठ्य विश्वमा हूयते हविः ।
स त्वं नो अद्य सुमना उतापरं यक्षि देवान्त्सुवीर्या ॥ ६ ॥

पदार्थ—हे (यविष्ठ्य) बल से पदार्थों के मेल करने वा मिले हुओं का भेदन करने वाले (अग्ने) सुख देने वाले सभापते ! जैसे होता से अग्नि में (विश्वम्) सब (हविः) उत्तमता से संस्कार किया हुआ पदार्थ (आहूयते) डाला जाता है, वैसे जिस (सुभगे) उत्तम ऐश्वर्य युक्त (त्वे) आपमें सब न्याय करने का काम स्थापित करते हैं, (सः) वह (सुमनाः) अच्छे मनवाले (त्वम्) आप (अद्य) आज (उत) और (अपरम्) दूसरे दिन में भी (नः) हम लोगों को (सुवीर्या) उत्तम पराक्रम युक्त तथा (देवान्) विद्वान् (इत्) ही (यक्षि) कीजिये ॥ ६ ॥

पदार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है ॥ जैसे विद्वान् लोग अग्नि में पवित्र होम करने के योग्य घृतादि पदार्थों का होम करके संसार के लिये सुख उत्पन्न करते हैं, वैसे ही राजपुरुषों को चाहिये कि दुष्टों को बन्दीघर में डाल कर सज्जनों को सदा आनन्द दिया करें ॥ ६ ॥

फिर उसी अर्थ का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

तं घेमित्था नमस्विन उप स्वराजमासते ।
होत्राभिरग्निं मनुषः समिन्धते तितिर्वांसो अति स्रिधः ॥७॥

पदार्थ—जो (नमस्विनः) उत्तम शस्त्रों वाले (मनुषः) मनुष्य (होत्राभिः) सत्य क्रियाओं से (ईम्) [सुख] देने वाले (स्वराजम्) अपने राजा (अग्निम्) ज्ञानवान् सभाध्यक्ष के (घ) ही (उपासते) समीप बैठते हैं और (तम्) उसी सभाध्यक्ष राजा का (समिन्धते) अच्छे प्रकार प्रकाश करते हैं, (इत्था) इस प्रकार वे मनुष्य (स्रिधः) हिंसा या नाश करने वाले शत्रुओं को (अति तितिर्वांसः) अच्छे प्रकार जीतकर पार हो सकते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—कोई भी मनुष्य सभाध्यक्ष की उपासना करने वाले[1] भृत्य और सभासदों के बिना अपने राज्य की सिद्धि को प्राप्त होकर शत्रुओं को जीतने में समर्थ नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

फिर भी पूर्वोक्त विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

घ्नन्तो वृत्रमतरन् रोदसी अप उरु क्षयाय चक्रिरे ।
भुवत्कण्वे वृषा द्युम्न्याहुतः क्रन्ददश्वो गविष्टिषु ॥ ८ ॥

पदार्थ—राजपुरुष जैसे बिजली, सूर्य और उसकी किरणें (वृत्रम्) मेघ का (घ्नन्तः) छेदन करते हुए वर्षा से (रोदसी) आकाश और पृथिवी लोक को जल से (अतरन्) प्लावित कर देते हैं

१. अर्थात् सभाध्यक्ष की आज्ञानुकूल चलने वाले। युद्ध काल में जो जाति या समूह अपने अध्यक्ष की आज्ञा शिरोधार्य करते हैं, वे ही विजयी होते हैं।

वैसे ही शत्रु-दलों को नष्ट करने के (अपः) कर्म (चक्रिरे) किया करें और (गविष्टिषु) पृथिवी की प्राप्ति कराने वाले संग्रामों में (अश्वः) अश्व के समान (क्रन्दत्) शब्द करते हुए (आहुतः) सभाध्यक्ष रूप से स्वीकृत होकर (वृषा) सुख की वर्षा करते हुए (उरुक्षयाय) चिरकाल तक निवास के लिये (कण्वे) शिल्पविद्या के जानने वाले बुद्धिमान् पुरुष के लिये (द्युम्नी) बहुत ऐश्वर्य को धारण करते हुए सुखी (भुवत्) होवे[1] ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे बिजुली, भौतिक अग्नि और सूर्य ये तीन प्रकार के अग्नि मेघ को छिन्न-भिन्न कर सब लोकों को जल से पूर्ण करते हैं। उनका यह कर्म सब प्राणियों के चिरकालीन सुख के लिये होता है, वैसे ही समाध्यक्षादि राजपुरुषों को चाहिये कि कण्टकरूप शत्रुओं को मार के प्रजा को निरन्तर तृप्त = सुखी करें ॥ ८ ॥

अब अगले मन्त्र में सभापति के गुणों का उपदेश किया है ॥

सं सीदस्व महाँ असि शोचस्व देववीतमः ।
वि धूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम् ॥९॥

पदार्थ—हे तेजस्विन् विद्याविनययुक्त (मियेध्य) प्राज्ञ (अग्ने) विद्वन् सभापते! जो आप (महान्) बड़े-बड़े गुणों से युक्त (असि) हैं सो (देववीतमः) विद्वानों को व्याप्त होने वाले आप न्याय-धर्म में स्थित होकर (संसीदस्व) सब दोषों का अच्छे प्रकार नाश कीजिये और (शोचस्व) प्रकाशित हूजिये। हे (प्रशस्त) प्रशंसा करने योग्य राजन्! आप (विधूमम्) धूम सदृश मल से रहित (दर्शतम्) देखने योग्य (अरुषम्) रूप को (सृज) उत्पन्न कीजिये ॥ ९ ॥

भावार्थ—प्रशंसित बुद्धिमान् राजपुरुषों को चाहिये कि अग्नि के समान तेजस्वी और बड़े बड़े गुणों से युक्त होकर श्रेष्ठ गुणवाले पृथिवी आदि भूतों के तत्त्व को जान के प्रकाशमान होते हुए निर्मल देखने योग्य रूप को उत्पन्न करें अर्थात् स्वयं दर्शनीय बन जावें ॥ ९ ॥

मनुष्य किस प्रकार के पुरुष समाध्यक्ष करें, इस विषय का
उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

यं त्वा देवासो मनवे दधुरिह यजिष्ठं हव्यवाहन ।
यं कण्वो मेध्यातिथिर्धनस्पृतं यं वृषा यमुपस्तुतः ॥ १० ॥ [९]

पदार्थ—हे (हव्यवाहन) ग्रहण करने योग्य वस्तुओं की प्राप्ति कराने वाले सभ्यजन! (यम्) जिस विचारशील (यजिष्ठम्) अत्यन्त यज्ञ करने वाले (त्वा) आपको (देवासः) विद्वान् लोग (मनवे) विचारने योग्य राज्य के शासन के लिये (इह) इस पृथिवी में (दधुः) धारण करते हैं, (यम्) जिस शिक्षा पाये हुए (धनस्पृतम्) विद्या, सुवर्ण आदि धन से युक्त आपको (मेध्यातिथिः) पवित्र अतिथियों से युक्त अध्यापक (कण्वः) विद्वान् पुरुष स्वीकार करता है (यम्) जिस सुख की

---

१ इस मन्त्र का संस्कृत अन्वय तथा अजमेर मुद्रित भाषापदार्थ अस्पष्ट है। हमने संस्कृत अन्वय और संस्कृत पदार्थ को ध्यान में रखकर भावार्थ को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

वृष्टि करनेवाले (त्वा) आपको (वृषा) सुखों का फैलानेवाला धारण करता है और (यम्) जिस स्तुति के योग्य आपको (उपस्तुतः) समीप जाकर स्तुति करने वाला विद्वान् धारण करता है, उस आपको हमलोग सभापति रूप से स्वीकार करते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—इस सृष्टि में सब मनुष्यों को चाहिये कि विद्वान् और अन्य सब श्रेष्ठ चतुर पुरुष मिल कर जिस विचारशील, ग्रहण के योग्य वस्तुओं के प्राप्त करानेवाले शुभ गुणों से भूषित विद्या-सुवर्णादिधनयुक्त सभा के योग्य पुरुष को राज्यशासन के लिये नियुक्त करें और उसीको पिता के तुल्य पालन करने वाला राजा मानें ॥ १० ॥

फिर सभाध्यक्षादि लोग अग्नि आदि पदार्थों से कैसे उपकार लेवें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

यमग्निं मेध्यातिथिः कण्व ईध ऋतादधि ।
तस्य प्रेषो दीदियुस्तमिमा ऋचस्तमग्निं वर्धयामसि ॥ ११ ॥

पदार्थ—(मेध्यातिथिः) पवित्र सेवक शिष्यवर्गों से युक्त (कण्वः) विद्या और क्रिया में कुशल विद्वान् (ऋतादधि) मेघमण्डल के ऊपर के जल के लिये (यम्) जिस (अग्निम्) दाहयुक्त सब पदार्थों के छेदन करने वाले अग्नि को (ईधे) प्रदीप्त करता है (तस्य) उस अग्नि की (इषः) घृतादि पदार्थों को मेघमण्डल में प्राप्त करने वाली किरणें (प्र) अत्यन्त (दीदियुः) प्रज्वलित होती हैं और (इमाः) ये (ऋचः) वेद के मन्त्र जिस विद्युत् रूप सर्वव्यापक अग्नि के गुणों का प्रकाश करते हैं (तम्) उसी (अग्निम्) अग्नि को सभाध्यक्षादि राजपुरुष हमलोग शिल्प क्रियासिद्धि के लिये (वर्धयामसि) बढ़ाते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—सभाध्यक्षादि राजपुरुषों को चाहिये कि होता आदि विद्वान् लोग वायु, वृष्टि के शोधन के लिये हवन करने के लिये जिस अग्नि को प्रकाशित करते हैं, जिसकी किरणें ऊपर को प्रकाशित होती हैं और जिसके गुणों को वेदमन्त्र कहते हैं, उसी अग्नि को राज्य-व्यवहार साधक शिल्प क्रियासिद्धि के लिये बढ़ावें ॥ ११ ॥

फिर भी अगले मन्त्र में उन्हीं राजपुरुषों के गुणों का उपदेश किया है ॥

रायस्पूर्धि स्वधावोऽस्ति हि तेऽग्ने देवेष्वाप्यम् ।
त्वं वाजस्य श्रुत्यस्य राजसि स नो मृड महाँ असि ॥ १२ ॥

पदार्थ—हे (स्वधावः) भोगने योग्य अन्नादि पदार्थों से युक्त (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्वी सभाध्यक्ष ! (हि) जिस कारण (ते) आपकी (देवेषु) विद्वानों के बीच में (आप्यम्) ग्रहण करने योग्य मित्रता (अस्ति) है; इसलिये आप (रायः) विद्या, सुवर्ण और चक्रवर्त्ति राज्यादि धनों को (पूर्धि) पूर्ण कीजिये । जो आप (महान्) बड़े-बड़े गुणों से युक्त (असि) हैं और (श्रुत्यस्य) युद्ध के बीच में (राजसि) प्रकाशित होते हैं (सः) सो (त्वम्) आप पुत्र के तुल्य प्रजा की रक्षा करने वाले (नः) हमलोगों को (मृड) सुखयुक्त कीजिये ॥ १२ ॥

आर्य समाज स्थापना दिवस सम्बन्धी नई सामग्री

लेखक—युधिष्ठिर मीमांसक, मोतीझील, काशी।

आर्यसमाज स्थापना दिवस के सम्बन्ध में मेरा एक लेख वेदवाणी वर्ष ६ अंक ५ (मार्च १९५४) में प्रकाशित हुआ था। उसे पढ़कर मेरे मित्र श्री पं० पद्मदत्त जी (बम्बई) ने ४-३-५४ को मुझे एकपत्र लिखा और दूसरा पत्र उनका १६ मार्च का मिला। जिनमें उन्होंने आर्यसमाज स्थापना दिवस के विषय की कुछ नई सामग्री लिखी। उसे पाठकों के ज्ञानार्थ नीचे उपस्थित करता हूँ—

१—ऋषि दयानन्द के अनन्य भक्त श्री सेवकलाल कृष्णदास जी द्वारा सं० १९३१ (उत्तर भारतीय १९३२) चैत्र सुदी १ से १९४४ फाल्गुन अमावस्या तक की एक हिसाब की रिपोर्ट छपी है (आ० स० बम्बई में है)। उसमें निम्न लेख है—

"…अने अंते ज्यारे समाज स्थापन थतो न थी, एवं केटलाक सुज्ञ गृहस्थोए जाण्युं त्यारे अमने अने रा० रा० पानाचंद आणंदजी पारेख ते नियम घड़ी कहाड़वा ते ओए सोप्युं एटले तेना नियमो अमे तैयार करी रा० रा० पानाचंदजी ने वंचावी स्वर्गवासी रा० रा० गिरधरलाल दयालदास कोठारी बी० ए० एल० एल० बी० जे ओ समाज स्थापन थई त्यारे लोकापवाद ना भय राख्याबगर मेंदान पड़ी प्रमुख थया हता ते ओ पासे सोधावो तैयार कर्या अने संवत् १९३१ ना **चैत्र शुद्ध १ शनिवार ता० ७ मार्च शके १८७५** ने दीने सांजमां गिरगाम मां डाक्टर मांणेकजीनी बाड़ी मां आर्यसमाज स्थापन करवा सारु जे जाहेर सभा बोलाव्यामां आवी हती तेमा, रजु कीधां अने ते सर्वानुमते बहाल रह्या अने तेज दहाड़े आर्यसमाज नी स्थापना थई, अने तेना अधिकारियो पण तेम्यामां आव्या अने त्यार थी प्रति शनिवारे सायंकाले समाज थवा लागी परन्तु थोड़ा महिना बाद ते दिवस समाजस्थो ने अनुकूल न आव्या थी ते फेरवी स्वीकार राख्यो जे हजी सुधी कायम छे।"

२—श्री सेवकलाल कृष्णदासजी द्वारा सं० १९५० (१८९४) की रिपोर्ट पृष्ठ २८ पर इस प्रकार लिखा है—

"अने एज धोरण थी प्रथम सं० १९३१ ना चैत्र सुदी १ ने दिने मुम्बई मां आर्यसमाज स्थापन थयो"

३—ता० १३ अप्रैल १८८८ को दो बजकर ५५ मिनट पर आर्यसमाज ट्रस्ट सम्बन्धी जो डीड रजिस्टर्ड हुआ उसमें निम्न लेख है—

Where as in or about the christian year 1875 a certain inhabitant of Bombay being desirous of establishing a samaj in Bombay with the object and for the purpose of carrying out Religious, Social and Moral reforms on the authority of the VEDAS as explained and taught by the late revered Pandit DAYANAND Saraswati Swami, A meeting of the promoters of the intended institution was held at Bombay on the Seventh day of MARCH 1875 under the presidency of the said Pandit DAYA NAND Saraswati Swami and at such meeting the following principals were adopted.

इन तीनों में आर्यसमाज ट्रस्ट की डीड (संख्या ३) सबसे पुरानी है इसमें "७ अप्रैल १८७५" को आर्यसमाज की स्थापना का उल्लेख है। परन्तु इसमें वार का निर्देश नहीं है अर्थात् ७ अप्रैल १८७५ को कौन वार था।

इसी प्रकार संख्या २ की रिपोर्ट में भी "सं० १९३१ चैत्र शुद्ध १" तो लिखा है परन्तु वार का निर्देश वहाँ भी नहीं है।

संख्या एक की गुजराती रिपोर्ट में चैत्र शुक्ल १ सं० १९३१ (गुज०) शनिवार के दिन आर्यसमाज की स्थापना हुई ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। यह रिपोर्ट आर्यसमाज ट्रस्ट की रजिस्ट्री के कुछ मास ही बाद की है। इसमें चैत्र शुद्ध १ को शनिवार लिखना बहुत महत्त्व रखता है।

चैत्र शुक्ल १ (७ अप्रैल १८७५) को बुधवार था, शनिवार नहीं था, यह पुराने पंचागों से स्पष्ट है। शनिवार को चैत्र शु० ५ भी थी। इस भूल से यह सूर्य की भांति स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः जिस दिन समाज स्थापित हुआ उस दिन शनिवार था और शनिवार को सायंकाल समाज की स्थापना हुई। यही दिन और समय ऋषि दयानन्द के चैत्र शुक्ल ६ रविवार के पत्र में लिखा है चैत्र

[शेषांश टाइटिल पेज २ पर]

मुद्रक और प्रकाशक—पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा ज्योतिष प्रकाश प्रेस, विश्वेश्वरगंज, बनारस में छपा।

ओ३म्

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ६] ❀ [अङ्क ९

इस अंक के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

आषाढ़ २०११ जुलाई १९५४
दयानन्दाब्द २१९
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५३

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
बनारस नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
„ „ विदेश में ६)
इस अंक का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है।

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १ तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहिए। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहिये। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जावेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सम्बन्धी धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें।

८—ग्राहक महानुभाव पत्रव्यवहार या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—**वेदवाणी कार्यालय**, पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस ६

ओ३म्

वेदवाणी

सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४ ॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों !

वर्ष ६ } काशी, आषाढ़ सं० २०११ वि०, जुलाई १९५४ ई० { अङ्क ९

आत्मसमर्पण

स्तुति विषय

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि ।
तवेत्तत् सत्यमङ्गिरः ॥ ६ ॥ ऋ० १।१।२।१

हे अङ्ग[1]	हे वास्तविक प्यार की वस्तु, जीवन का सहारा		एक मात्र उपास्य
		त्वम्	आप
हे अग्ने[2]	हे सकल विश्व में पूज्य और	दाशुषे[3]	सर्वापण करनेवाले पर

अर्थबोधक टिप्पणी

१. (a) अनक्ति व्यक्तीकरोतीति अङ्ग । fr. अम् = गत्यादिषु (भ्वा०) उ० ४।२१६ । अङ्गं अङ्गनात् अञ्चनात् वा । निरुक्त० । a constituent part.
(b) a vocative particle used in (धन वा):— क्षिप्रे च पुनरर्थे च संगमासूययोस्तथा ।
हर्षे संबोधने चैव ह्यङ्ग शब्दः प्रयुज्यते ॥ (– ap.)

२. योऽञ्चति अच्यतेऽगत्यङ्गत्येति वा सोऽयमग्निः । (सत्यार्थ०१ समु०)

३. दाश् = दाने (भ्वा०)

यत्	जो	तत्	यह (तो)
भद्रम्[४]	सांसारिक सुख और परमानंद	तव	आपका
करिष्यसि	प्रदान करते हो	इत्	निश्चित रूप से
हे अङ्गिरः[५]	हे अत्यधिक जीवनहेतु अतएव प्राणों से प्रिय	सत्यम् (व्रतम् अस्ति)	अटल प्रतिज्ञा है

ऋषि व्याख्यान ।

हे "अङ्ग" मित्र ! "दाशुषे" जो आपको आत्मादि दान करता है उसको "त्वमग्ने" "भद्रं" व्यावहारिक और पारमार्थिक सुख "करिष्यसि" अवश्य देते हो । "तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः" हे प्राणप्रिय ! यह आपका सत्यव्रत है कि स्वभक्तों को परमानन्द देना । यही आपका स्वभाव[६] हमको अत्यन्त सुखकारक है । आप मुझको ऐहिक[७] और पारमार्थिक इन दोनों सुखों का दान शीघ्र दीजिये, जिससे सब दुःख दूर हों; हमको सदा सुख ही रहे ॥

---

४. भद्रम् = भन्दते कल्याणम् करोतीति भद्रं । उ० २।२८

५. अङ्गति प्राप्नोति जानाति वा स अङ्गिराः । ईश्वरोग्निर्ऋषिभेदो वा । उ० ४।२३६.

६. यही आपका स्वभाव = परमात्मा का देने का स्वभाव ही भले बुरे सब प्रकार के प्राणियों के सुख का कारण है नहीं तो किसी का कहीं पता न लगे ।

७. ऐहिक = सांसारिक ।

[पृष्ठ ८ का शेषांश]

सबको स्थायी समझा । तूनें इस भ्रम में अपने आपको डाल दिया कि ये सारे सम्बन्ध, ये सारे वैभव, यह धन, यह सम्पत्ति और यह सौन्दर्य सर्वदा बना रहेगा, तू इन्हींको अपना देवता समझ बैठा और सार वस्तु की ओर ध्यान न दिया—

किस संग कीजे मित्रता, सब जग चालनहार ।
निश्चल केवल है प्रभू, सबसे करे प्यार ॥
अब यौवन यों जायगा, जा विधि उड़त कपूर ।
नारायण गोविंद भज, क्यों चाटे जग धूर ॥

तो क्या ये सारे सम्बन्ध झूठे हैं ? कौन कहता है कि ये झूठे हैं ? झूठे तो नहीं, हैं तो ठीक । परन्तु सदा नहीं । बस, यही बात समझ लेनी है । फिर संसार के सारे सम्बन्धों, सारे रिश्तों, सारे वैभवों, सारे कष्टों, सुखों, दुःखों के प्रति जो जो कर्तव्य हैं, उन्हें, पूरा करते हुए सार वस्तु को प्राप्त करने का यत्न करना है ॥

जीवन संगीतकम्

(लेखक—श्री० डा० मंगलदेव जी शास्त्री एम० ए० डी० फि०
भूतपूर्व प्रिंसिपल-गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस)

: १ :

आशा सर्वोत्तमं ज्योतिः

आशा सर्वोत्कृष्ट प्रकाश है

"अस्माकं सन्त्वाशिषः
सत्या नः सन्त्वाशिषः ॥" [यजु० २।१०]

अर्थात्, हम आशावादी बनें। हमारी आशाएँ सफल हों।

भारतीय विचार-धारा में इधर चिरकाल से 'संसार असार है', 'जीवन क्षणभंगुर और मिथ्या है' इस प्रकार की निराशावाद की भावनाओं का साम्राज्य रहा है। हमारी जाति के जीवन को शक्तिहीन, उत्साहहीन और आदर्शहीन बनाने में निराशावाद का बहुत बड़ा हाथ रहा है, यह कौन नहीं जानता? पर भारतीय संस्कृति की सूत्रात्मा में आशावाद सदा से ओत-प्रोत रहा है। उसी आशावाद के स्वरूप और महिमा का वर्णन नीचे किया जाता है:—

निराशायाः समं पापं मानवस्य न विद्यते।
तां समूलं समुत्सार्य ह्याशावादपरो भव ॥१॥

मनुष्य के लिए निराशा के समान दूसरा पाप नहीं है। इसलिए तुम्हें उस पाप-रूपिणी निराशा को समूल हटाकर आशावादी बनना चाहिए।

मानवस्योन्नतिः सर्वा साफल्यं जीवनस्य च।
चारितार्थ्यं तथा सृष्टेराशावादे प्रतिष्ठितम् ॥२॥

मनुष्य की सारी उन्नति, जीवन की सफलता और सृष्टि की चरितार्थता आशावाद में ही प्रतिष्ठित है।

आशा सर्वोत्तमं ज्योतिर्निराशा परमं तमः।
तस्माद् गमय तज्ज्योतिस्तमसो मामिति श्रुतिः[1] ॥३॥

आशा सर्वोत्कृष्ट प्रकाश है। निराशा घोर अन्धकार है। इसलिए "भगवन्! मुझको अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलिए" ऐसा श्रुति का वचन है।

आस्तिक्यमात्मविश्वासः कारुण्यं सत्यनिष्ठता।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षो नूनमाशावतामिह ॥४॥

आस्तिकता (=जीवन में आदर्श-भावना), आत्मविश्वास, कारुण्य, सत्यपरायणता और उत्तरोत्तर समुन्नति—संसार में इनका सद्भाव आशावादियों में ही हो सकता है।

निराशावादिनो मन्दा निष्ठुराः संशयालवः।
अन्धे तमसि मग्नास्ते श्रुतावात्महनो मताः ॥५॥

निराशावादी लोग स्वभाव से ही मन्द (उदात्त भावनाओं से विहीन), निष्ठुर (असंवेदनशील) और संशयालु होते हैं। वेद[2] में ऐसे ही लोगों को किसी भी प्रकार की प्रेरणा से विहीन अज्ञानान्धकार में निमग्न, तथा आत्मविस्मृति-रूप आत्महत्या करने वाला कहा गया है।

: २ :

जीवनस्य रहस्यम्

जीवन का रहस्य

"लोका यत्र ज्योतिष्मन्त-
स्तत्र माममृतं कृधि।" [ऋग्० ९।११३।९]

अर्थात्, भगवान्! मुझे ज्योतिर्मय लोकों में अमृत पद (=शाश्वत जीवन) प्राप्त कराइये।

'जीवन निःसार और मिथ्या है', 'जीवन बन्धन या कारागार के समान है और उससे छुटकारा (मोक्ष) पाना ही हमारा परम कर्तव्य है' ऐसी मिथ्या-भावनाओं ने हमारे जातीय जीवन को चिरकाल से नष्ट-भ्रष्ट कर रखा है। इनके कारण ही, जेल के कैदी के समान, हम स्वभावतः न केवल अपने ही, किन्तु जाति, राष्ट्र या मानव के विकास

---

१. तु० "तमसो मा ज्योतिर्गमय" (बृहदारण्यकोपनिषद् १।३।२८)।

२. तु० "असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥" (यजु० ४०।३)

अर्थात्, आत्मत्व या आत्म-चेतना की विस्मृति-रूप आत्महत्या (अर्थात्, जीवन में आदर्शभावना का अभाव) न केवल व्यक्तियों के लिए, किन्तु जातियों और राष्ट्रों के लिए भी, किसी भी प्रकार की प्रेरणा से विहीन अज्ञानान्धकार में गिराकर सर्वनाश का हेतु होती है।

और समुत्थान से भी प्रायः उदासीन रहे हैं।

परन्तु नीचे जीवन के विषय में एक नयी दृष्टि का प्रतिपादन किया गया है। उसके अनुसार जीवन मिथ्या होने के स्थान में परमात्मा का एक महान् प्रसाद है। इस अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड में अनन्त विकास और समुन्नति का साधन जीवन ही है। वास्तव में तो हमारा जीवन शाश्वत है। हमारा यह जीवन उसी शाश्वत अनन्त जीवन की प्राप्ति का एक अनिवार्य और अमूल्य साधन है। इसी लिए उसमें आस्था की अनिवार्य-रूप से आवश्यकता है:—

जीवनं परमोत्कृष्टः प्रसादो जगतीपतेः।
तस्य तत्त्वं रहस्यं च ये विदुस्ते मनीषिणः ॥१॥

जीवन जगदीश्वर का सर्वोत्कृष्ट प्रसाद है। मनीषी लोग ही उसके वास्तविक स्वरूप और रहस्य को समझते हैं।

जीवनस्य भयं मृत्योर्मरणान्तं च जीवितम्।
आ जन्मनः क्रमेणायुर्ह्रासो मृत्युपथानुगः[1] ॥२॥
इत्येवं नैकधानर्थमूलं मिथ्यामतिर्नृणाम्।
जीवनास्थाविहीनांस्तान् विदधाति भयार्दितान् ।३

'जीवन को मृत्यु का भय है', 'मृत्यु-पर्यन्त ही जीवन है', तथा 'जन्म से ही आयु घटने लगती है और बराबर मृत्यु के पास पहुँचती जाती है' इस प्रकार के अनेकानेक अनर्थों के मूल परम्परागत मिथ्या विचार मनुष्यों को जीवन में आस्था से रहित और भय से व्याकुल बनाते हैं।

निराशावादिनो मन्दा मोहावर्तेऽत्र दुस्तरे।
निमग्ना अवसीदन्ति पङ्के गावो यथावशाः ॥४॥

प्रगति की भावना से विहीन निराशावादी लोग मोह के दुस्तर भँवर में पड़े हुए दलदल में फँसी बेबस गौओं के समान दुःख को पाते हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थमभिधत्तेऽसकृच्छ्रुतिः।
"कुर्वन्नेवेह कर्माणि",[2]"जीवा ज्योतिरशीमहि"[3] ।५।

उनके प्रति अनुकम्पा के भाव से ही वेद में "मनुष्य को सौ वर्ष तक कर्म करते हुए ही जीने की इच्छा करनी चाहिए", "हम बराबर प्रकाशमय, आशामय जीवन को प्राप्त करें" इस प्रकार बार-बार कहा गया है।

कर्मैव जीवनं तस्माद्, विकासस्तस्य भास्वरः।
उत्तरोत्तरलोकेषु कर्तव्यत्वेन मन्यताम् ॥६॥

इसलिए कर्म का ही नाम जीवन है। उत्तरोत्तर लोकों में उसके प्रकाशमान विकास को ही हमें अपना ध्येय समझना चाहिए।

उत्तरोत्तरमुत्कर्षि जीवनं शाश्वतं हि नः।
अस्पृष्टं तमसा चापि मोहरूपेण सर्वथा ॥७॥

वास्तव में हमारा जीवन उत्तरोत्तर समुन्नतिशील और शाश्वत (—ह्रास रहनेवाला) है। उसका स्वरूप अज्ञान-रूपी अन्धकार से सर्वथा अस्पृष्ट है।

: ३ :

संयतस्व जीवनाय

जीवन के लिये बराबर यत्न करो।

"उदायुषा स्वायुषोदस्थाम् ॥" [यजु० ४।२८]

अर्थात्, हम दीर्घ और शुभ जीवन के लिए उद्योग-शील रहें।

प्राप्य मानवीयजन्म पुण्यकर्मसंचयेन।
दीनदुःखिरक्षणेन संयतस्व जीवनाय ॥१॥

मनुष्य-जन्म को पाकर, पवित्र कर्मों का संचय और दीन-दुखियों की रक्षा-सेवा करते हुए जीने का यत्न करो।

सत्पथानुवर्तनेन भव्यभावभावनेन।
लोकशंप्रसारणेन संयतस्व जीवनाय ॥२॥

सदाचार के मार्ग पर चलते हुए, सुन्दर-समुन्नत विचारों को रखते हुए, और लोक-कल्याण का प्रसार

---

१. तु० "मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः" (रघुवंश ८।८७)। तथा "संसारः स्वप्नमात्रश्च चलाः प्राणा धनं तथा। सुखं तत्र न पश्यामि दुःखं तत्र दिने दिने॥"

अर्थात्, मनुष्य के लिए स्वाभाविक और जीवन अस्वाभाविक है एवं संसार स्वप्नमात्र है, प्राण और धन चलायमान हैं। संसार में सुख के स्थान में बराबर दुःख ही दुःख दीख पड़ता है।

२. तु० "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः" (यजु० ४०।१)।

३. तु० "जीवा ज्योतिरशीमहि" (ऋग्० ७।३२।२६)।

करते हुए जीने का यत्न करो।

दैन्यभावभञ्जनेन धैर्यधर्मधारणेन।
वीरतासमाश्रयेण संयतस्व जीवनाय ॥३॥

दीनता के भाव का भञ्जन करते हुए, धैर्य-रूपी धर्म को धारण करते हुए, वीरता-पूर्वक जीने का यत्न करो।

जीवनं त्विदं मृषेति पामरा जना वदन्ति।
नैव तत्तथा, ततोऽत्र संयतस्व जीवनाय ॥४॥

यह जीवन मिथ्या है, ऐसा मूर्ख-पामर लोग कहते हैं। पर जीवन मिथ्या नहीं है। इसलिए इस संसार में जीने का यत्न करो।

: ४ :

जयन्ति के जनाभुवि !

संसार में जय किन लोगों की होती है।

भद्रादभि श्रेयः प्रेहि" [ऐतरेयब्राह्मण १।१३]

अर्थात्, तुम भद्र से भद्रतर जीवन को प्राप्त करो।

परोपकारतत्पराः स्वदेशभक्तिवत्सलाः।
अमत्सरास्तथापि ये जयन्ति ते जना भुवि ॥१॥

परोपकार-परायण और अपने देश की भक्ति में तत्पर होते हुए भी जो अभिमान से रहित होते हैं, संसार में उन्हींकी जय होती है।

उदात्तकर्मशालिनो न दैन्यभावधारिणः।
तथापि सन्ति प्रश्रिता जयन्ति ते जना भुवि ॥२॥

उदात्त कर्मों को करनेवाले और दीनता के भाव से दूर रहनेवाले होते हुए भी जो नम्र होते हैं, संसार में उन्हींकी जय होती है।

विहातुमुद्यताः सदा परार्थमात्मनो हितम्।
अथाभिमानवर्जिता जयन्ति ते जना भुवि ॥३॥

दूसरों के निमित्त अपने हित को छोड़ने के लिए सदा उद्यत होते हुए भी जो स्वयं अभिमान से रहित होते हैं, संसार में उन्हींकी जय होती है।

विसृष्टकीर्तिकामनाः स्वधर्मपालने रताः।
तथापि ये यशस्विनो जयन्ति ते जना भुवि ॥४॥

कीर्ति की कामना को छोड़कर स्वधर्म के पालन में तत्पर होते हुए भी जो यशस्वी होते हैं, संसार में उन्हींकी जय होती है।

विरागमूर्तयोऽपि ये स्वदेशरागशोभिताः।
अरण्यवासनिःस्पृहा जयन्ति ते जना भुवि ॥५॥

स्वयं वैराग्य की मूर्ति होते हुए भी जो स्वदेश के राग (=प्रेम) से शोभित हैं और अपने कर्तव्य से भागकर वनवास के लिए उत्सुक नहीं हैं, संसार में उन्हींकी जय होती है।

अमायिनो दृढव्रतास्तपस्विनो जितेन्द्रियाः।
सदाशया महाशया जयन्ति ते जना भुवि ॥६॥

जो छल-कपट से रहित, दृढव्रत, तपस्वी, जितेन्द्रिय और शुभ तथा उच्च विचारोंवाले होते हैं, संसार में उन्हींकी जय होती है॥

[यह लेख श्री० माननीय डा० मङ्गल जी शास्त्रीकृत "जीवन सन्देश गीताञ्जलि (रश्मिमाला)" में मुद्रित हो चुका है जो हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की ओर से प्रकाशित हुई है। इसमें विद्वान् लेखक ने मानव जीवन सम्बन्धी अनेक समस्याओं का उपयोग वेद मन्त्रों के आधार पर उत्कृष्ट-उदात्त-सात्त्विक और गम्भीर भावनाओं के रूप में दर्शाया है जिससे प्रत्येक व्यक्ति दिव्य प्रेरणा प्राप्त कर सकता है। मन्त्रों के साथ उनके भावों को अति सुन्दर-रोचक और विद्वत्तापूर्ण ढङ्ग से स्वनिर्मित संस्कृत पद्यों में दर्शाया गया है। ऐसे सात्त्विकभावपूर्ण लेखों से वेद और भारतीय संस्कृति का गौरव बढ़ता है, और मनन के लिये उत्तम सामग्री प्राप्त होती है। संसार को हेय समझ कर उसकी उपादेयता का निरूपण किया गया है—सम्पादक]॥

हृदय की पुकार

[ले० श्री महात्मा आनन्द स्वामी जी महाराज]

वासनाक्षय और मन

दीपक जल रहा है। यदि वायु का झोंका इसे बुझा न दे, तो वह जलता रहेगा। हाँ, तब तक जलता रहेगा, जब तक इसका तेल तथा बत्ती समाप्त नहीं हो जाती। जब तेल, बत्ती दोनों का अभाव हो जायगा तो दीपक का भी अभाव हो जायगा। परन्तु यह न समझिये कि इनका नाश हो गया है। अपितु यह समझिये कि इनका रूपान्तर हो गया।

यदि साधक अपने चित्त में कोई नई वासना न आने दे, तो चित्त की वासनाओं का दीपक समय आने पर स्वतः शान्त हो जायगा। जन्म-जन्मान्तरों की एकत्रित वासनाओं का तेल जलते जलते एक दिन तो समाप्त हो ही जायगा। हाँ, वासनाओं का नया तेल इस दीपक में नहीं डालना चाहिये। नया तेल पड़े नहीं, पुराना तेल जलता जाय, तो वासना का दीपक अवश्य शान्त हो जायगा। इसीको वासनाक्षय कहते हैं।

इसी अवस्था के सम्बंध में यम ने नचिकेता को कहा था कि:—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

कठ० ६–१४

जब सारी कामनाएँ, जो इसके हृदय में हैं, छूट जाती हैं, तो मनुष्य अमृत हो जाता है—इस अवस्था में ब्रह्म को प्राप्त होता है।

परन्तु वासना तब तक पीछा नहीं छोड़ती जब तक मन अपना संसार निर्माण करता रहता है, और मनुष्य है मननशील। यह मन सोते-जागते, उठते-बैठते हर समय नई से नई दुनिया बनाता ही रहता है। तब वासनाक्षय कैसे हो सकेगा? और मन तो ऐसा कपि-स्वभाव है कि एक क्षण के लिए भी निश्चल नहीं होता। सत्य तो यह है कि मनुष्य इस मन का बँधा ही बार-बार जन्म-मृत्यु के चक्र में भ्रमण करता और कष्ट सहन करता है—कि जिनके विचार से भी शरीर कंपित हो उठता है। फिर यह मन ही एक ऐसा साधन है, जिससे संसार के सारे कार्य सिद्ध भी होते हैं और बिगड़ते भी हैं। वेद भगवान् ने तो कहा भी है:—

"यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते।

यजु० ३४–३

"जिसके बिना कोई कर्म नहीं किया जाता।"
फिर वेद ने यह भी आदेश दे दिया कि:—

"कथं न रमते मनः"

अथर्व० १०–७–३७

'मन तो कभी दम लेता ही नहीं।'
और जिस मन के सम्बन्ध में वेद ने यह भी घोषणा कर रखी है:—

स्थिरं मनश्चकृषे जात इन्द्र वेषीदेको युधये भूयसश्चित्

ऋ० ५–३०–४

"भगवान् इंद्र की इच्छा करने वाले! यदि तू समर्थ होकर मन को स्थिर करे तो तू अकेला ही बहुतों (अनेक विघ्न-बाधाओं तथा विषयों) को भी युद्ध में जीत सकता है।"

मन से मन का दमन

परन्तु इसका स्थिर होना ही तो बहुत बड़ी समस्या है।

पुनः मन में जो संकल्प-विकल्प तरंगवत् उठा करते हैं उनका तो अन्त ही नहीं होता। उनके द्वारा जीव कितनी विपत्तियों में फँसा रहता है, इसका तो अनुमान भी कठिन है। योगवासिष्ठ उत्पत्ति प्रकरण सर्ग १११ में कहा है:—

"भीमाः संभ्रमदायिन्यः संकल्पकदनादिमाः।
विपदः संप्रसूयन्ते मृगतृष्णा मराविव ॥ ३९ ॥

संकल्परूपी क्लेश से भयंकर अनेक संभ्रम को देनेवाली विपत्ति इस प्रकार उत्पन्न होती है, जैसे मरुस्थल में मृगतृष्णा की नदियाँ।

भगवान् राम ने कितनी आतुरता से ऋषि से यह कहा था:—

"कथमस्यातिलोलस्य वेगो वेगैककारणम्।
चलतो मनसो ब्रह्मन् बलतो विनिवार्यते॥"

उत्पत्ति प्रकरण सं० ११२–४

"हे भगवन्! अति चंचल जो यह मन है, उसका वेग संपूर्ण तीव्र वेगों का मुख्य कारण है, वह बल से भी कैसे निवारण किया जाय?"

तब गुरु वसिष्ठजी ने कहा था कि:—

"नेह चंचलताहीनं मनः क्वचन दृश्यते।
चंचलत्वं मनोधर्मो वह्नेर्धर्मो यथोष्णता॥"

हे रामजी! इस ब्रह्माण्ड में चंचलता से शून्य मन तो कहीं भी नहीं दीख पड़ता। चंचलता मन का ऐसा धर्म है, जैसे अग्नि का धर्म उष्णत्व है।

यहाँ तक ही नहीं, योगवासिष्ठ ने तो यह भी कह डाला कि:—

"अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरुन्मूलनादपि।
अपि वह्न्यशनात् साधो विषमश्चित्तनिग्रहः॥"

समुद्र को पी डालने से, सुमेरु को उखाड़ डालने से, या फिर दहकते हुए अंगारों को सटक लेने से भी हे साधो! इस चित्त का निग्रह कर लेना कहीं कठिन है।

योगवासिष्ठ की यह बात सुनकर कहीं निराश ही न हो जाना। इसने भी तो मनोनिग्रह को महाकठिन कहा है; परन्तु असम्भव नहीं कहा। मन का स्थिर करना निस्सन्देह कठिन है। यदि असंभव होता, तो वेद यह कभी न कहता कि:—

"युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्राः।

ऋ० ५-८१-१

बुद्धिमान्, योगीजन मन को युक्त समाहित करते हैं और धारणाओं एवं वृत्तियों को युक्त समाहित करते हैं। अतएव उदास, निराश, हताश होने की आवश्यकता नहीं। हाँ सावधान होने की अवश्य जरूरत है। यदि मनुष्य-जन्म पाकर भी हम सावधान न हुए तो फिर निस्सन्देह यह मन नाना योनियों में घूमता फिरेगा।

"अतः सर्वस्य जीवस्य बन्धकृन्मानसं जगत्॥"

(पंचदशी)

यह ही निश्चय करना पड़ता है कि जीवका मानस जगत् ही सबको बंधन में डालता है।

शुकदेवने जब जनकजी से पूछा कि यह संसार-रूपी आडम्बर कैसे उत्पन्न हुआ? तो जीवन्मुक्त जनकजी ने यही उत्तर दिया कि मन के विकल्प[1] से यह संसार उत्पन्न होता है और विकल्प के क्षय होने पर यह नष्ट हो जाया करता है।

श्रीमद्भागवत में भी कहा है:—

मनः सृजति वै देहान् गुणान् कर्माणि चात्मनः।
तन्मनः सृजते माया ततो जीवस्य संसृतिः॥

(१२–५–६)

एकमात्र मन[2] ही इस आत्मा के लिए देह, गुण तथा कर्मादि की रचना करता है और उस मन को माया रचती है, उस माया रूप उपाधि के कारण ही जीव को जन्ममरण रूपी संसार प्राप्त होता है।

भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में यह कहा है:—

नायं जनो मे सुखदुःखहेतुर्न देवतात्मा ग्रहकर्मकाल।
मनः परं कारणमामनंति संसारचक्रं परिवर्तयेद्यत्"

(२३–४३)

मेरे सुखदुःख का कारण यह लोग नहीं हैं। देवता और आत्मा भी नहीं है। ग्रह, कर्म, काल भी नहीं हैं। जो संसारचक्र चलाता है उस मन को ही सुखदुःख का कारण कहते हैं। यह मन ही सबको संसार में लिये फिरने का साधन है। यदि मन को संकल्प-विकल्प रहित कर दिया जाय तब संसार की वासनाएँ कहाँ टिकेंगी? मन का दमन करने की युक्ति गुरु वसिष्ठ ने यह बतलाई है:—

"मन एव समर्थं वो मनसो दृढनिग्रहे।"

---

१. अज्ञानोपहत अन्तःकरण में नानाप्रकार के संसार की कल्पना का नाम विकल्प है। २. अर्थात् आत्मा के पास मन ही वह हथियार है जिसके द्वारा जीवात्मा कर्म करता है।

हे रामजी! तुम्हारा मन ही मन को दमन करने में समर्थ है।" यहाँ मन का प्रयोजन केवल मन से नहीं, अपितु बुद्धि तथा चित्त से मिला हुआ मन अभिप्रेत है। मन बेचारा अकेला तो कुछ भी नहीं है। इसका काम तो केवल ग्रहण करना और छोड़ना है। जब मन किसी इंद्रिय द्वारा किसी वस्तु या विषय का ग्रहण करता है तो उसे तत्काल बुद्धि के पास पहुँचा देता है। वह वस्तु अच्छी है या बुरी, सेवन करने योग्य है या अयोग्य, धर्म-मर्यादा के अनुसार है अथवा विपरीत, उचित है अथवा अनुचित इसका निश्चय मन नहीं करता, बुद्धि करती है। यदि बुद्धि का निश्चय यह हो कि यह वस्तु ठीक है तो उसे चित्त धारण कर लेता है और तब संसार बनने लगता है। अब राग की उत्पत्ति हो गई। उस वस्तु में एक प्रकार की ममता आने लगी। उसे प्राप्त करने के लिए अनेक योजनाएँ बुद्धि ने बनानी आरंभ कर दीं। यदि उसका मिलना कठिन प्रतीत हुआ तब क्रोध की ज्वाला भड़की। क्रोध की अग्नि प्रज्वलित होते ही बुद्धि के अत्यंत सूक्ष्म तंतु भस्म होने लगते हैं। वह फिर अपना कार्य भलीभाँति नहीं कर सकती। यदि तमोगुण प्रधान है तो क्रोध बुद्धि का सर्वथा नाश कर देता है और मनुष्य से ऐसे घृणित कर्म करा देता है कि तत्पश्चात् उसे स्वयं लज्जा आने लगती है। यदि रजोगुण प्रधान है तो हानि तो बहुत पहुँचाता है परन्तु मात्रा अधिक नहीं बढ़ती। यदि सत्वगुण प्रधान हो तो पहले तो क्रोध आता ही नहीं, यदि आ भी जाय, तो बिना हानि पहुँचाये ही शान्त हो जाता है। परंतु अपनी रेखा चित्त पर छोड़ जाता है।

अब आप देखिए कि मन ने तो केवल किसी एक इंद्रिय द्वारा किसी वस्तु का ग्रहण मात्र किया, और यहाँ संसार बनना प्रारंभ हो गया। वासनाएँ इसी प्रकार से बनती हैं। मन ने ग्रहण करने से रुकना नहीं और वासनाओं का अंत होना नहीं। तो फिर क्या निराश हो जायँ? नहीं, ऐसी बात नहीं है।

न्यायदर्शन का आदेश

न्यायदर्शन में एक बहुत आशाजनक तथ्य बतलाया गया है। वह यह कि मन[१] एक समय में एक ही काम कर सकता है, दो नहीं। चरकसंहिता शरीर स्थान में भी मन का यही लक्षण किया गया है—

"लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव वा।"

ज्ञान होना और ज्ञान न होना मन का लक्षण है। अर्थात् एक काल में एक वस्तु का ज्ञान होना और दूसरी का न होना या यों कहिये कि दोनों का ज्ञान एक ही काल में उत्पन्न न होना मन का लक्षण है।

मन ने किसी न किसी वस्तु को एक ही समय में पकड़ना ही है। तब इस मन से कहो—भैया! तुमने तो किसी वस्तु को ग्रहण करना है, तब नाशवान् संसारी वस्तुएँ क्यों पकड़ते हो? उस अविनाशी शुद्ध-बुद्ध, निर्मल, ब्रह्मतत्व को क्यों न ग्रहण कर लो, जिसके ग्रहण कर लेने से फिर शेष कुछ भी ग्रहण करने योग्य नहीं रहता। इस परिवर्तनशील संसार में सार वस्तु केवल आत्मा ही है, बाकी सारा आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी ही का पसारा है और यह सब नाश होनेवाला है। जिस सुंदर रूप पर तू मुग्ध हो रहा है, जिस स्वादिष्ट भोजन के पीछे तू राल टपका रहा है, जिस मधुर सुरीली स्वर-लहरी पर कान रखे है, जिस कोमलता के लिए तू हस्तीवत् उन्मत्त हो रहा है, जो सुगन्धि तुझे भँवरे की भाँति मृत्यु का ग्रास बनाना चाहती है, यह सब कुछ पाँच भूतों की सृष्टि है और कुछ भी नहीं। यह अभी है, अभी इसका रूपान्तर हो जायगा।

क्या सारे संबंध झूठे हैं?

प्यारे भाई से मुझे कितना स्नेह था! मेरे पतिदेव मेरे ऊपर प्राण न्योछावर करते थे! पत्नी कितनी धर्मपरायण, कितनी सच्ची, सेविका, कितनी रूपवती और कितनी मीठी थी! मेरे पिता कितने अच्छे थे! मेरे पुत्र कितने आज्ञाकारी थे! मेरा मित्र मेरे लिए सब कुछ बलिदान करता था, मेरी सहेली मुझे कितना प्यार करती थी! मेरा भवन कितना विशाल था! ओह, ये सब कहाँ चले गये! क्यों चले गये! क्या ये सम्बन्ध, ये रिश्ते यह मित्रता, यह स्नेह, यह प्रेम, यह मोह-ममता इसीलिए था कि सदा के लिए जीवित को जलाते रहें? नहीं, यह तो जलाने, वेदना उत्पन्न करने और तड़पाने के लिए नहीं थे। तूहीं धोखा खा गया। तूने इन

[शेष पृष्ठ २ पर]

१. युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्। न्याय० १-१-१६

अध्यात्मविद्या का मूलमन्त्र

(न्याय-वेदान्तवाचस्पति श्री पं० जगदीशचन्द्र शास्त्री, सरवनपुरा, अमृतसर)

अनादि काल से लोगों की यह प्रवृत्ति चली आ रही है कि आत्मा के विषय में अन्वेषण किया जावे और पता लगाया जावे कि आत्मा का क्या स्वरूप है। संसार के कई भागों में तो यह जिज्ञासा उठने का आज तक समय भी नहीं आ सका और जिन देशों में आया भी तो वहाँ के स्वार्थी, अज्ञानी और दम्भी नेताओं ने इस लता को विकसित और पल्लवित होने का अवसर तक नहीं दिया।

सौभाग्य से यह दशा भारत की नहीं थी। यहाँ पर प्राचीनकाल से आत्मतत्व का अन्वेषण होता चला आया है और वेद के प्रकाश में ऋषि-मुनियों ने कठोर परिश्रम करके बहुत कुछ निश्चय कर लिया था। उनके अनुभवपूर्ण निर्णयों से दर्शनशास्त्र और उपनिषदें भरी पड़ी हैं जो जिज्ञासु चाहें उन ग्रन्थों का अध्ययन करके अपनी ज्ञानपिपासा शान्त कर सकते हैं।

अध्यात्म विद्या—जिस विद्या के द्वारा आत्मा और उसके साथ शरीर के सम्बन्ध का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सके उसका नाम अध्यात्म विद्या है। अध्यात्मम् का अर्थ ही—आत्मानमधिकृत्य इति अध्यात्मम् है। अर्थात् आत्मा को मुख्य रखकर जो कहा जावे या विचारा जावे अथवा जाना जावे उसको अध्यात्म कहते हैं। बड़ी विचित्र बात तो यह है कि आत्मा की किसी भी बात का ज्ञान शरीर के बिना नहीं हो सकता, अतः जीवित, जागृत शरीर ही आत्मा का अन्वेषण स्थान है, आत्मा की शक्तियों का उपलब्धि स्थान है। यदि शरीर जीवित नहीं जीवनी शक्ति से सम्पन्न नहीं है, तो आप आत्मा का ज्ञान भी प्राप्त नहीं कर सकते और न ही किसी प्रकार का आध्यात्मिक परीक्षण कर सकते हैं। यह केवल आत्मा के विषय में ही नहीं कि आत्मा का ज्ञान शरीर के आधीन है किन्तु दूसरी आश्चर्यजनक यह बात भी बड़ी ही विचित्र है कि शरीर का ज्ञान भी बिना आत्मा के नहीं होता। शरीर-तत्व-वेत्ता जो विज्ञान physiology के द्वारा हमें सुनाते हैं और शरीर के अंगों की जो जो अद्भुत कार्यप्रणाली हमें बताते और सुझाते हैं वह सारी की सारी आत्मावाले शरीर में ही घटित होती है—आत्माहीन शरीर में नहीं। इस प्रकार शरीर का आत्मा से और आत्मा का शरीर से विचित्र सम्बन्ध सिद्ध होता है। अतः शरीर को जीवन देनेवाले आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक जिज्ञासु का परम कर्तव्य है।

यह शरीर और आत्मा क्या कोई दो पृथक् तत्व हैं अथवा एक शरीर ही तत्व है और आत्मा नामक कोई तत्व नहीं है—यह विचिकित्सा और जिज्ञासा भी बहुत प्राचीनकाल से चली आ रही है। ऐसी जिज्ञासा को शान्त करना और विचिकित्सा को दूर करना अध्यात्मविद्या का काम है और अध्यात्मविद्या का सांगोपांग उपदेश करना वेद का उद्देश्य है। वैसे तो अध्यात्मविद्या पर प्रकाश डालनेवाले वेदों में अनेकों मन्त्र हैं तथापि एक मन्त्र अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उस पर विचार किया जाता है। आप इसको अध्यात्मविद्या का मूलमन्त्र कह सकते हैं क्योंकि अध्यात्मविषयक मुख्य बातें प्रायः इसमें बीजरूप से वर्णन कर दी गई हैं। वह मन्त्र यह है—

> अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतः—
> अमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
> ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता—
> न्यन्यं चिक्युः न निचिक्युरन्यम्॥

अपाङ् एति— अत्यन्त नीचगति को प्राप्त करता है। आत्मा निकृष्ट कर्म करने से और नीच वासनाओं से प्रेम करने के कारण कीट, मशक और पशु-पक्षी आदि योनियों को प्राप्त होकर अनेक प्रकार के कष्ट उठाता है।

प्राङ् एति—अत्यन्त उत्कृष्ट गति को भी प्राप्त कर लेता है। जब इस आत्मा के निकृष्ट कर्म फल देकर समाप्त हो जाते हैं और नीच वासनाओं से प्रेम हट जाता है तो कालान्तर में इसको उत्कर्ष प्राप्त करने का दुर्लभ योग्य अवसर हाथ आता है और यह आत्मा प्रकर्ष गति की ओर चलने लग पड़ता है। साधारण मनुष्य से विशेष मनुष्य और विशेष मनुष्य

से विप्र और विप्र से ब्राह्मण, ऋषि, मुनि तथा ब्रह्मर्षि, महर्षि हो देवकोटि में प्रविष्ट होकर उत्तरोत्तर उत्कर्ष को प्राप्त हो जाता और अन्त में मुक्त हो जाता है।

यदि आप पूछें कि चौरासी लाख योनियों अथवा अनेक प्रकार के जन्मों को कौन धारण करता है और इन जन्मों के पश्चात् अधोगति से उठकर ऊर्ध्वगति अर्थात् उत्कर्ष की ओर कौन जाता है? शरीर तो नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। क्या शरीर से व्यतिरिक्त कोई और तत्व है जो नष्ट-भ्रष्ट होने से बच रहता है—तो मन्त्र उत्तर देता है कि हाँ, एक तत्व बच रहता है और वह है अमर्त्य—अमर आत्मा।

अमर्त्यः—जिसको मृत्यु मार नहीं सकता, जो सदा अमर रहता है। मृत्यु का कार्य छिन्न-भिन्न करना है और छिन्न-भिन्न वह वस्तु होती है जिसमें कोई अन्य तत्व संयुक्त हो। जो केवल मात्र एक तत्व है जिसके व्यक्तित्व में किसी अन्य तत्व का संमिश्रण नहीं है—उसकी मृत्यु कैसी और उसका छिन्न-भिन्न होना कैसा? आत्मा अविनाशी है और सदा अमर है। तो फिर मृत्यु किसकी होती है और उसके साथ आत्मा का क्या सम्बन्ध है—यह जानने की इच्छा हो तो आगे पढ़िये।

मर्त्येन सयोनिः—मरणधर्मा शरीर के साथ सम्बन्धवाला है।

(१) अमर आत्मा का सम्बन्ध शरीर के साथ है और शरीर सदा मृत्यु का ग्रास है। यह भी क्या विचित्र बात है कि अविनाशी आत्मा ने अपना साथी भी कैसा चुना है। निर्वाचन और वरण-पद्धति के इतिहास में ऐसा एक भी दृष्टान्त नहीं पाया जाता जैसा आत्मा और शरीर का है। निर्वाचन करनेवाला अपना साथी ऐसे व्यक्ति को बनाता है जो उस से अच्छा हो अथवा उस जैसी योग्यता रखता हो। आत्मा ने शरीरको साथी बनाते समय इस परमोपयोगी नियम का भी ध्यान नहीं रखा, आत्मा अविनाशी और शरीर नाश होनेवाला है। आत्मा का जन्म, मरण नहीं, शरीर जन्म-मरणवाला है। आत्मा चेतन परन्तु शरीर जड़ है। आत्मा ज्ञानस्वरूप और शरीर सर्वथा ज्ञानशून्य है। आत्मा पवित्र परन्तु शरीर सदा अपवित्र है। आत्मा अनादि और अनन्त है शरीर सादि, सान्त है। आत्मा परिवर्तनरहित है परन्तु शरीर सदा परिवर्तनशील है। आत्मा का कोई रंगरूप नहीं, शरीर अनेक प्रकार के रंगरूपवाला है। आत्मा स्वरूप से एक है परन्तु शरीर के अंग-अंग में अनेकता कूट-कूट कर भरी पड़ी है। आत्मा छोटा बड़ा नहीं, शरीर छोटा-बड़ा है इत्यादि। इन बातों पर विचार करने से यह सिद्ध हो गया कि दो पदार्थ हैं एक आत्मा और दूसरा शरीर। आत्मा अमर और शरीर नाशवान् है।

(२) इसके साथ ही यह भी कहा जाता है कि अमर आत्मा की प्रतीति मरणधर्मा शरीर में ही होती है। शरीर की मृत्यु होने पर यह तत्व और भी स्पष्ट हो जाता है कि शरीर को जीवनदान देनेवाला शरीर से अतिरिक्त कोई अवश्य था जिसके निकल जानेसे नगर सूना हो जाता है।

(३) 'सयोनि' शब्द से यह भी सिद्ध होता है कि जब से शरीर की रचना और वृद्धि प्रारम्भ होती है तभी से उसका अमर आत्मा से सम्बन्ध होता है—इसलिये यह नहीं माना जा सकता कि गर्भस्थापना के कुछ दिन अथवा कुछ मास के पश्चात् गर्भ में आत्मा का प्रवेश होता है।

(४) जिज्ञासु को वैराग्य दिलाने के उद्देश्य से भी 'सयोनि' शब्द का प्रयोग हुआ है। जिज्ञासु को स्मरण रखना चाहिये कि जिस शरीर पर वह इतना आसक्त है उस शरीर की रचना योनि के अन्दर हुई है उसके अंगों की वृद्धि भी उसी मलमूत्र के स्थान में हुई है, तथा जब शरीर बाहर आता है तो भी योनिद्वार से ही आता है।

शरीर और आत्मा के परस्पर भिन्न होने में दूसरी युक्ति और भी है जो मन्त्र में छिपी पड़ी है, और वह है:—

स्वधया गृभीतः—आत्मा जब शरीर से निकलता है तो अपनी स्वाभाविक शक्तियों को लेकर ही निकलता है।

आप देख सकते हैं जिन आत्मशक्तियों से शरीर में जीवन-संचार होता था वे सब शक्तियाँ आत्मा के निकलते ही आत्मा के साथ चली जाती हैं। मृत्यु के समय आत्मा सचमुच बहुत सावधान और बुद्धिमान् बन जाता है—अपनीएक-एक शक्ति को चुन-चुन कर ले जाता है और किसी भी शक्ति को छोड़ने की भूल नहीं करता। महर्षि पिप्पलाद कहते हैं—जिस प्रकार अस्त होते समय सूर्य अपनी समस्त किरणों को ले

जाता है और उदयकाल के समय अपनी समस्त किरणों को पुनः ले आता है वैसे ही आत्मा अपनी समस्त जीवनी शक्तियों को ले जाता और ले आता है।

जो लोग शरीर को चेतन मानकर आत्मा की सत्ता का तिरादर किया करते हैं उन लोगों को मन्त्र समझाता है कि जिस द्रव्य का जो गुण स्वाभाविक होता है वह उसको छोड़कर नहीं रहता। यदि चैतन्य और जीवन, शरीर का अपना स्वाभाविक धर्म होता तो मृतक शरीरों में भी अवश्य रहता—इस प्रकार शरीर सदा चेतन और अमर बने रहते। परन्तु शरीरों में अपने स्वाभाविक गुण—रूप, रस, गंध, स्पर्श, आकार, प्रकार और भार आदि तो निरन्तर विद्यमान देखे जाते हैं और चैतन्य नहीं रहता। अतः सिद्ध हुआ कि चैतन्य और जीवन आत्मा का विशेष गुण है शरीर का निजी गुण नहीं। मंत्र पर विचार करके महर्षि गौतम ने न्यायसूत्रों में यही भाव स्पष्ट किया है—

यावच्छरीरभावित्वाद्रूपादीनाम्—न्याय० ३-२-५३

स्वधा—आत्मा की अपनी शक्ति का नाम है जिसके कारण शरीर के अंग-प्रत्यंग में अनेक प्रकार के ज्ञान और कर्मों का प्रकाश होता है और आत्मा के निकलते ही शरीर में किसी प्रकार का ज्ञान और प्रयत्न अर्थात् कर्म का लेशमात्र नहीं रहता।

तौ शश्वन्तौ—शरीर और आत्मा सदा से एक दूसरे के साथ रहते हैं। एक शरीर छूटता है तो दूसरा शरीर मिल जाता है दूसरा छूटता है तो तीसरा प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार एक के पश्चात् दूसरा शरीर प्राप्त होता रहता है और होता रहा है तथा भविष्य में भी प्राप्त होता रहेगा। किसको? आत्मा को। वह आत्मा एक ही रहता चला आया है और रहता चला जायगा। शरीर के समान आत्मा का परिवर्तन नहीं अर्थात् आत्मा वही रहता है शरीर बदलते रहते हैं।

विषूचीनौ—शरीर और आत्मा परस्पर विरुद्ध गतिवाले हैं। शरीर जड़ है आत्मा चेतन है। शरीर उत्पत्तिमान् है आत्मा अजन्मा है इत्यादि।

वियन्तौ—शरीर और आत्मा का वियोग भी होता है। मृत्युकाल में दोनों का वियोग होता है—एक दूसरे से पृथक् हो जाते हैं। इस प्रकार विचार करने से निश्चय होता है जैसा कि महर्षि कपिल ने सांख्य-सूत्रों में कहा है कि—

शरीरादि व्यतिरिक्तः पुमान्—सांख्यसूत्रम्—६

शरीर आदि से आत्मा सर्वथा पृथक् तत्व है। शरीर को आत्मा नहीं माना जा सकता और न ही आत्मा की पृथक् सत्ता का निराकरण किया जा सकता है।

अन्यं निचिक्युः—शरीर को तो लोग अच्छी प्रकार से जानते हैं और शरीर के तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करने को विज्ञान मानते हैं तथा शारीरिक भोगों को प्राप्त करने का पुरुषार्थ भी करते हैं। परन्तु—

अन्यं न निचिक्युः—शरीर से पृथक् आत्मा को सर्वथा नहीं जानते हैं और आत्मतत्व का ज्ञान प्राप्त करने का कुछ भी पुरुषार्थ नहीं करते और न ही आत्मिक आनन्द का महत्व ही समझते हैं।

सर्वसाधारण बुद्धि से परे, आत्मतत्व को जानने का पुरुषार्थ नहीं करते यदि प्रयत्न करें तो आत्मा का यथार्थ स्वरूप जान सकते हैं—यही इस मन्त्र का आशय है।

इन्द्र

[ले०—श्री० डा० वासुदेव शरण जी अग्रवाल एम० ए०, काशी]

तैत्तिरीय ब्राह्मण[1] की कथा है कि भरद्वाज ऋषि ने आयुपर्यन्त तप किया। तब इन्द्र ने प्रकट होकर पूछा—'हे भरद्वाज! यदि तुम्हें एक जन्म और प्राप्त हो, तो तुम क्या करोगे?' भरद्वाज ने उत्तर दिया—मैं इस जीवन की तरह ही तप करता हुआ वेदों का स्वाध्याय करूँगा।' इन्द्र ने फिर पूछा—'भरद्वाज! यदि तुम्हें तीसरा जन्म और प्राप्त हो, तब तुम क्या करोगे?' भरद्वाज ने उसी प्रकार कहा—'मैं तीसरे जन्म में भी वेदाभ्यास करता रहूँगा।' इस समय भरद्वाज के सामने तीन पर्वत प्रकट हुए। इन्द्र ने इन तीनों में से एक-एक मुट्ठी भर कर कहा—'हे भरद्वाज! तुमने जो कुछ पढ़ा और जान पाया है तथा जन्मान्तरों में भी जो कुछ जान पाओगे, वह इन पर्वतों की तुलना में इस मुट्ठी के समान है। वेद तो अनन्त हैं—

अनन्ता वै वेदाः[2]

इन अनन्त वेदों के मूल में एक सूत्र ऐसा है, जिसे पकड़ लेने से मनुष्य एक जन्म क्या, एक क्षण में ही समस्त वेदों का ज्ञाता बन सकता है। वह है इन्द्र का अपने आपको जानना। इन्द्र नाम आत्मा का है। आत्मा का अपने आपको जान लेना, सब वेदों का सार है। वह सब से बड़ा धर्म है—

इज्याचारदमाहिंसातपःस्वाध्यायकर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥

[याज्ञवल्क्य-स्मृति]

यह याज्ञवल्क्य का अनुभव वाक्य है कि सब धर्मों से बढ़कर आत्मदर्शन का धर्म है। इन्द्र ने भी भरद्वाज को वेदों की अनन्तता बताकर आत्मा को जानने का ही उपदेश दिया था। जिस समय वेदों को लेकर उसके नाना प्रपञ्चात्मक अर्थ करके वेदवाद-रत लोग अनेक मोहजालों की सृष्टि से जनता को विभ्रान्त कर रहे थे, उस समय कृष्ण ने भी वेदों के उक्त मूल-मंत्र की ओर देश का ध्यान आकृष्ट किया था। कृष्ण का सन्देश था—

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः[3]

तथा—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति ... तत् ... ओम्[4] ॥

अर्थात्—सारे वेद मेरा ही ज्ञान कराते हैं। ब्रह्म या इन्द्र का विज्ञानसंयुक्त ज्ञान कराने के अतिरिक्त वेदों का और प्रयोजन नहीं। अनेक रीतियों से वे उस अक्षर, पद, प्रणव-वाच्य भगवान् का निरूपण करते हैं। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में इन्द्र की महिमा का वर्णन है।

बृहद्दिव आथर्वण ऋषि ने अपना अनुभव कहा है—

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेष नृम्णः।

ऋ० १०।१२०।१

अर्थात्—वह सब भुवनों में ज्येष्ठ था, जिससे उग्र और बलीयान् इन्द्र का जन्म हुआ।

इसी प्रकार गृत्समद ऋषि ने कहा है—

'सज्जनो! इन्द्र वह है, जिसने उत्पन्न होते ही सब देवों को क्रतु-सम्पन्न कर दिया है।'

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत।
यस्य शुष्माद् रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः

ऋ० २।१२।१॥

इन्द्रियाँ ही शरीर में देवों की प्रतिनिधि हैं। इन्द्र की शक्ति से ही बल-सम्पन्न होकर ये इन्द्रियाँ कहलाती हैं। यह इन्द्र आत्मा है, जो देवों पर शासन करता है। उस इन्द्र के साम्राज्य में देवता निर्विघ्न बसते हैं। वह देवाधिदेव, महादेव या सुरपति है। ऐतरेय-ब्राह्मण में लिखा है—

स (इन्द्र) वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतमः। ऐ० ७।१६।

सब देवों में इन्द्र सबसे अधिक ओजस्वी, बलवान् और साहसी है, वह सबसे दूर तक पार लगानेवाला है।

वस्तुतः ब्रह्माण्ड में आत्मा ही सबसे श्रेष्ठ और ज्येष्ठ है, वही असत् वस्तुओं के मध्य में एकमात्र सत् है। इन्द्र की महिमा के रूप में ऋषियों ने आत्मा के गुणों का गान किया है। उपनिषत्काल में आत्मा का जैसा विशद वर्णन मिलता है, वेदों में वैसा ही व्यापक और तेजस्वी वर्णन इन्द्र का आलङ्कारिक रूप में किया गया है। प्रायः इन्द्र के आध्यात्मिकरूप को न जानकर लोगों ने इन्द्र के सम्बन्ध में बड़ी विकृत कल्पनाओं की सृष्टि कर डाली है।

१. तै. ब्रा० ३।१०।११॥ २. तै० ब्रा० ३।१०।११।४॥ ३. गीता १५।१५॥ ४. कठ उ० २।१५॥

इन्द्र सोम पान करता है। वह सोम-सुत् है। यज्ञ का देवता है। यज्ञों में सोम पीता है। शरीरस्थ विधानों की पूर्ति एक यज्ञ है।

कृष्ण ने कहा है—

अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर। गी० ८। ४।

इस देह में व्याप्त आत्मप्रक्रियाएँ ही अधियज्ञ हैं। देहस्थ समस्त कर्मों के द्वारा आत्मा की ही उपासना की जाती है। आत्मा के लिए सब कर्म होते हैं। इस यज्ञ में सोम क्या है, और उसका भाग इन्द्र को कैसे पहुँचता है?

वैदिक भाषा में ब्रह्माण्ड या मस्तिष्क स्वर्ग है। इन्द्र की इन्द्रिय-शक्ति का निवास ब्रह्माण्ड (cerebrum) में ही रहता है। यहीं सब इन्द्रियों के केन्द्र हैं, जहां से इन्द्र प्राणों का संचालन करता है। बाह्य संस्पर्शों के आदान-प्रदान की शक्तियां (sensory and motor functions) प्राण हैं। उनका नियन्ता इन्द्र, ब्रह्माण्ड या स्वर्ग का अधिपति है। वह इन्द्र सोम पीकर अमरत्व लाभ करता है। यह सोम क्या वस्तु है?

कोई सोम को एक बाह्य वनस्पति, लता या वल्ली समझते हैं और उससे अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करते हैं। किसी एक वल्ली को सोम मान कर बैठ जाना, सोम के विराट् अर्थ को पङ्गु कर देना है। सोम भौतिकरूप में एक लता भी हो; पर कहना यह है कि विशुद्ध वैदिक परिभाषा में सोम का अर्थ बहुत व्यापक है। समस्त लताएँ, वनस्पतियां और अन्न का नाम सोम है। शतपथ के अनुसार अन्न सोम है—

अन्नं वै सोमः। शत० २। ९। १८॥

इस अन्न के पाचन से जो शक्ति उत्पन्न होती है, वह भी सोम है। शतपथ, कौषीतकी, ताण्ड्य आदि ब्राह्मणों में लिखा है कि प्राण का नाम सोम है। अन्न खाने के अनन्तर, स्थूल भाग के परिवर्तन से जो सूक्ष्म विद्युत् स्वरूप वाली शक्ति देह में उत्पन्न होती है, उसकी संज्ञा प्राण है, वही सोम है। और भी शक्ति का सबसे विशुद्ध और सब धातुओं के द्वारा अभिषुत उत्कृष्ट सार जो वीर्य या रेत है वह भी सोम है। इसलिए सब ब्राह्मणकारों ने लिखा है—

रेतो वै सोमः। शत० १। ९। २। ९।

ब्रह्माण्ड या मस्तिष्क को शक्ति देने के लिए इस सोम या रेत से बढ़कर और दिव्य पदार्थ नहीं है। रेत जल का परिणामरूप है। पृथिवीस्थ जल, सूर्य ताप से, द्युलोक-गामी बनता है। इसी प्रकार तप के द्वारा स्वाधिष्ठान-चक्र के क्षेत्र में स्थित जल-शक्ति ब्रह्माण्ड, मस्तिष्क या स्वर्ग में पहुँचती है। वहां दिव्यस्थ होकर ही सोम या रेत समस्त शरीर में प्राणों और इन्द्रियों का प्रीणन करता है। मनश्चक्र-रूपी इन्द्र को यही सोम अतिशय प्रिय है। इसीका नाम अमृत है। वीर्य-रूपी सोम की रक्षा अमरत्व देती है, उसका क्षय ही मृत्यु है। सोम की कलाओं की वृद्धि से अमृत की वृद्धि होती है। उन कलाओं के क्षय से मनश्चक्र क्षय की ओर उन्मुख होता है। चन्द्रमा के घटने-बढ़ने की पौराणिक कथा में इसी अध्यात्मतत्त्व का संकेत है। देवता अपने सोम का संवर्धन करते हैं। असुर उनका पान कर जाते हैं। आयु के जिस भाग में सोम की वृद्धि हो, वह शुक्ल पक्ष है। जिस भाग में क्षयोन्मुख हो, वह कृष्ण पक्ष है। इन्हीं दो भागों से मनुष्य की आयु क्या, समस्त प्रकृति बनी है। कभी वृद्धि होती है, कभी ह्रास होता है। समस्त जीव, पशु, वनस्पति, अमृत और मृत्यु के इस चक्र में पड़े हुए हैं। वनस्पतियों की सोम-वृद्धि और सोम-क्षय प्राकृतिक विधान के अनुकूल होते हैं; पर मनुष्य अनेक प्रकार से प्रकृति का विरोध करता है। वह सचेतन और संज्ञान प्राणी है। ऋषियों ने सोम को जीवन का मूल प्राण जानकर उसीकी रक्षा और अभिवृद्धि के लिए अनेक प्रकार से उपदेश दिया है। सोम का संवर्धन ही ब्रह्मचर्य की सिद्धि है। वस्तुतः आत्मा को जानने के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य साधन है। 'आत्मा की सत्ता को मान कर भी जो व्यभिचार करता है, वह मानो सूर्य के सामने अन्धकार के अस्तित्व को स्वीकार करता है (महात्मा गांधी)।' तपोवनों और आश्रमों में रहनेवाले ऋषियों ने आत्म-ज्ञान के लिए कहा है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। ‡

अर्थात्—यह आत्मा सत्य, तप, सम्यग् ज्ञान और नित्य ब्रह्मचर्य से ही मिल सकता है।

जिन महर्षियों ने पूर्व काल में ध्यान-योग के द्वारा यह संकल्प किया कि समस्त प्राणियों का भद्र या कल्याण हो, उन्होंने भी पहले तप और दीक्षा का ही आश्रय लिया। तभी राष्ट्र, बल, ओज आदि की उत्पत्ति हुई—

'भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥
अथर्व० १९।४१।१

‡ मुण्डक ०।३।१।५॥

उन आश्रमस्थ ऋषियों के अतिरिक्त शरीर में भी सप्त ऋषि हैं। ये सप्तर्षि सात शीर्षण्य प्राण हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है—

प्राणा वा ऋषयः। बृ० उ० २।२।३॥

सप्त प्राण ही सप्त ऋषि हैं। और आगे चल कर इन सातों के नाम भी स्पष्ट कर दिए हैं। गोतम, भरद्वाज—दो कान। विश्वामित्र, जमदग्नि—दो आंख। वशिष्ठ और कश्यप—दो नासिका-रन्ध्र। अत्रि—वाक्। ये सातों ऋषि स्वः अर्थात् स्वर्ग या मस्तिष्क (cerebrum or higher brain) के वेत्ता हैं। ये पहले तप करते हैं। उत्पन्न होते ही इन्द्रियों में दीक्षा और तप का भाव रहता है। उनकी वृत्तियां ऋषियों के समान पवित्र और संयत रहती हैं। तभी बल, ओज आता है और राष्ट्र की उत्पत्ति होती है, वैसा शरीर राष्ट्र, जिसमें सचमुच प्रजाएं बिना विद्रोह के, आत्मा को सम्राट् मानकर बसती हैं। बड़े होने पर इन्द्रियां उच्छृङ्खल होने लगती हैं। तभी राष्ट्र में विद्रोह पैदा होता है। उसमें समन्वय स्थापित करने के लिए सप्तर्षियों ने स्वेच्छा से दीक्षित होकर तप का आश्रय लिया। तप से ही राष्ट्रों का जन्म होता है, भोग से राष्ट्र अस्त हो जाते हैं। चाहे शरीर-रूपी राष्ट्र हो, चाहे विराट् रूप में देशव्यापी राष्ट्र हो। तप प्रत्येक व्यक्ति में आना चाहिए, इसीका संकल्प ऊपर के मन्त्र में है।

इस प्रकार विधि-पूर्वक किये गये तप और ब्रह्मचर्य से, आयु के प्रथम आश्रम में, वीर्य का संरक्षण करना, इस मानवी जीवन की एक बहुत बड़ी विजय और सिद्धि है। वही एक मूल-मन्त्र है, जिसके सम्यक् सिद्ध करने से जीवन सफल हो सकता है। यह अवसर भी कई बार प्राप्त नहीं होता। प्रथम आश्रम में भूल हो जाने से उसका प्रतिकार फिर नहीं हो सकता। अर्थशास्त्रों के बहुत बड़े भाग में प्रथम आश्रम के ब्रह्मचर्य को ही सफल करने के विधि-विधानों का वर्णन है। इसी बीज से समस्त शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय उन्नति और विकास के अङ्कुर प्रस्फुटित होते हैं। कुमारसंभव काव्य की यह पंक्ति कितनी तेजोमयी है, जिसमें ब्रह्मचारी का वेष धारण किये हुए शिव ने तप करती हुई पार्वती से कहा है—

ममापि पूर्वाश्रमसंचितं तपः।

अर्थात्—आयु के पहले आश्रम में संचित तप मेरे पास है। हे पार्वती! तुम चाहो तो उसके प्रभाव से अपना मनोरथ पूर्ण करो।

आज कितने युवक विश्वास के साथ, इस प्रकार की घोषणा कर सकते हैं—

ममापि पूर्वाश्रमसंचितं तपः।

यह तप इन्द्रियों के लिए स्वेच्छा से करने की वस्तु है। मन्त्र में इसी व्यापक नियम की ओर संकेत है। ऋषियों ने भद्र की कामना से स्वयं ही अपने आपको तप में दीक्षित किया। बाह्य निरोध से तपःप्रवृत्ति अत्यन्त दुष्कर है। यदि उस प्रकार का नियन्त्रण किया भी जाता है, तो भी प्रतिक्रिया बड़ी भयङ्कर उच्छृङ्खलता को जन्म देती है।

इस प्रकार इन्द्र के सोम-पान में भारतीय ब्रह्मचर्य-शास्त्र का गूढ़ तत्त्व समाया हुआ है। शरीर की शक्ति को शरीर में ही पचा लेने के रहस्य का नाम सोम-पान है। यह शक्ति अनेक प्रकार की है। स्थूल भौतिक सोम शुक्र है, जिसके शुभ्र या तेज से रोम-रोम चमक उठता है। रेत के भस्म होने से जो कान्ति उत्पन्न होती है, उसका नाम भस्म है। उस प्रकार की भस्म का रमाना सब को आवश्यक है। शिव परम योगी थे, उन्होंने अखंड ऊर्ध्वरेता बनने के लिए काम को भस्म कर दिया था। इसलिए उनके सदृश कान्ति-मती भस्म से भासित तनु और किसी का नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति के ब्रह्माण्ड-रूपी कैलास में शिव का वास है। मस्तिष्क की इस शिवात्मक शक्ति को यदि इस प्रकार प्रबोधित किया जाय कि उसमें काम-भावना बिलकुल तिरोहित हो जाय, तो वही फल प्राप्त होते हैं, जो इन्द्र के सोम-पान करने से सिद्ध होता है। एक ही महार्घ तत्त्व को द्विविध रूप में कहा गया है। शिवजी काम को भस्म करके षट्चक्रों की शक्ति को देह में ही संचित कर लेते हैं। इन्द्र या ब्रह्माण्ड स्थित महाप्राणाधिपति देवता शरीर के रेत या सोम का पान करके अमृतत्व की वृद्धि करता है। वैदिक परिभाषाओं की व्यापकता को जाननेवाले विद्वानों के लिये इस प्रकार के कल्पना-भेदों का तारतम्य बहुत सुगम है।

इसी तत्त्व का वर्णन गायत्री के सोमाहरण की कथा में है। ऐतरेय[1]-ब्राह्मण में इस विद्या का विस्तृत वर्णन है कि किस प्रकार गायत्री ने सुपर्ण बन कर स्वर्ग की यात्रा की और वहां से सोम का आहरण किया। गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती—जीवन के तीन भागों के नाम अनेक बार वेदों और ब्राह्मणों में दिये हैं[2]।

गायत्री—ब्रह्मचर्यकालीन आयु का बसन्त समय, त्रिष्टुप्—यौवन, आयु का ग्रीष्मकाल। जगती—जरावस्था,

१. ऐ०ब्रा०४।२०॥६।१४॥ २. छा०उ०३।१६॥

आयु का शरत्काल। संवत्सर में जो ऋतुओं का क्रम है, वही मनुष्यायु में वृद्धि, यौवन और परिहाणि का स्वाभाविक क्रम है। मनुष्य की आयु एक सत्र (session) है, संवत्सर उसका प्रतिनिधि-रूप भाग है। सृष्टि, स्थिति और प्रलय का जो क्रम ब्रह्माण्ड या विराट्काल या संवत्सर में है, वही मनुष्य की आयु में है। प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल के तीन भागों में यही चक्र प्रतिदिन हमारे सामने घूम जाता है। प्रकृति जो कुछ बड़े पैमाने पर कल्प-कल्प में करती है, उसे ही हमारे समक्ष नित्य-नित्य प्रदर्शित करती है। वस्तुतः इस जगत् में कोई परिमाणु ऐसा नहीं है, जिनमें सर्ग, स्थिति और प्रलय का अलङ्घ्य नियम दृष्टिगोचर न होता हो। ये ही यज्ञ के तीन सवन हैं—प्रातः, माध्यन्दिन और तृतीय। यज्ञ के सवनों की संज्ञाएँ सृष्टि, स्थिति, नाश के ही नामान्तर हैं। ये ही विष्णु के तीन चरण हैं, जिन्होंने त्रिलोकी के समस्त पदार्थों को परिच्छिन्न कर लिया है। वेद के "इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदं"[1] मन्त्र में एक अत्यन्त व्यापक और सरलता में अनुपमेय वैज्ञानिक नियम का वर्णन है। सूर्य प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल, तीन पदों द्वारा अपना प्रकाश फैलाकर अस्त हो जाता है। यही हाल आत्मा का है। बाल्य, यौवन और जरा के सौ वर्ष पूरे करके, आत्म-रूपी सूर्य लोकान्तर में चला जाता है। मृत्यु विनाश का नाम नहीं है। वह सूर्य के समान अदर्शन मात्र है। जिसने आत्मा को जान लिया है, वह जरामर्य के चक्र और आत्मा की उससे श्रेष्ठता को भली-भांति जान लेता है। इसीलिए ऐतरेय-ब्राह्मण ने बिलकुल निर्भ्रान्त शब्दों में आत्मा के अमृतत्व का निदर्शन, सूर्य की उपमा के रूप से किया है।

स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति। तं यदस्तमेतीति मन्यतेऽह्न एव तदन्तमित्वाऽथात्मानं विपर्यस्यते, रात्रीमेवावस्तात् कुरुतेऽहः परस्तात्। अथ यदेनं प्रातरुदेति इति मन्यते रात्रेरेवं तदन्तमित्वाऽथात्मानं विपर्यस्यतेऽहरेवावस्तात्कुरुते रात्री परस्तात्। स वा एष न कदाचन निम्रोचति, न ह वै कदाचन निम्रोचति, न ह वै कदाचन निम्रोचति, एतस्य ह सायुज्य सरूपतां सलोकतामश्नुते एवं वेद, य वेद।

(ऐ. ब्रा. ३।४४)

अर्थात्—आयुर्यज्ञ की समाप्ति तृतीय सवन या जरा में होती है। उसके बाद आयु का अग्निष्टोम या सूर्य छिप जाता है। पर यह अस्त होना एक उपाधि मात्र है। यह मत समझो कि सूर्य वस्तुतः कभी अस्त या उदय की उपाधियों से ग्रसित होता है। सूर्य सतत प्रकाशरूप है। यह सूर्य ही आत्मा है। आत्मा एक शरीर से अस्त होकर दूसरे शरीर में उदय होती है। जो वहां तृतीय सवन है उसीकी सन्धि पर प्रातःसवन रक्खा हुआ है। सन्ध्याकाल का ही उत्तराधिकारी लोकान्तर में प्रातःसवन है। इसी तरह दूसरे लोक में जो मृत्यु या आयु-रूपी दिवस का अवसान है, वही हमारे मर्त्यलोक में आत्म-सूर्य का उदय या अन्त है। यह मत समझो कि आत्मा का कभी निम्लोचन या अस्त हो सकता है। इस प्रकार यज्ञ के बहाने से जो मनुष्य जन्म और मृत्यु के रहस्य को जान लेता है, वही आत्म-सूर्य के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। जीवन और मृत्यु के नाटक का अभिनय सूर्य नित्य हमारे सामने करता है। उसीका ज्ञान अग्निष्टोम यज्ञ के द्वारा हमें होता है। अतीन्द्रिय रहस्यों को विज्ञान की रीति से प्रयोग-गम्य करने का कौशल ही यज्ञों में उद्दिष्ट है।

इस तरह आयु के तीन भागों का जो स्वाभाविक क्रम है, उसके साथ-साथ चलने से जीवन-यज्ञ आनन्द के साथ समाप्त होता है। यज्ञ का बीच में खण्डित होना आसुरी है। तीनों भागों का आवश्यक महत्त्व है। किसी भी भाग में अनियम करने से यजमान मृत्यु के उन्मुख होता है। जीवन का पूर्व भाग, जिसकी संज्ञा गायत्री है, सारी शक्ति का मूल है। उसकी सफलता ब्रह्मचर्य की सिद्धि है। इस कला का नाम गायत्री का सोमाहरण है। पूर्व आश्रम का संगीत गायत्री छन्द है। वह छन्द सुपर्ण या गरुत्मा बनकर स्वर्ग से सोम-रूप अमृत लाता है। वीर्य या रेत के सूक्ष्मातिसूक्ष्म पवित्र अंश की संज्ञा सोम है। उसका निवास मस्तिष्क-चक्र में रहता है। वही मस्तिष्क के कोषों को वापी रस (ventricular fluid) बन कर स्वास्थ्य देता है। पहले आश्रम में धारण किये हुए ब्रह्मचर्य-व्रत से ही सोम का लाना सम्भव है। इसीलिए कथा में कहा गया है कि त्रिष्टुप् और जगती सोम लाने के लिए उड़े, पर स्वर्ग तक न जाकर बीच ही से लौट आये। तात्पर्य यह है कि यौवन और बुढ़ापे में भी ब्रह्मचर्य की आवश्यकता के प्रति सचेत होने से लाभ होता है; पर जो लाभ प्रथम आश्रम में ही जागरूक होने से मिल सकता है, फिर बाद में संभव नहीं।

आर्य-शास्त्रों में अनेक प्रकार से एक ही तत्त्व का वर्णन और उपदेश किया जाता है। शिव का मदन-दहन, गायत्री का सोमाहरण और इन्द्र का सोम-पान, ये तीनों

[1] ऋ. १।२२।१७॥

बातें मूल में एक ही रहस्य का संकेत करती हैं।

वेदों में इन्द्र के सोम पीने के सम्बन्ध में अनेक सूक्त हैं। इन्द्र सोम पीने के कारण अन्य देवों पर साम्राज्य करता है। बिना इन्द्र के अन्य देव मूर्छित या अनाथ रहते हैं। पाणिनि के अनुसार भी इन्द्ररूप आत्मा की शक्ति से शक्तिमान् होने के कारण ही इन्द्रियों का नाम चरितार्थ होता है।

इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गम्, इन्द्रदृष्टम्, इन्द्रसृष्टम्, इन्द्रजुष्टम्, इन्द्रदत्तमिति वा। अ० ५।२।९३

इन्द्र शतक्रतु है। प्रसिद्ध है कि सौ यज्ञ करने से इन्द्र-पद की प्राप्ति होती है। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य की देह में आत्मा श्रेष्ठ और ज्येष्ठ है। वह शतवीर्य या शतक्रतु है। अन्य सब इन्द्रियों का तेज आत्म-तेज से घट कर रहता है। इसलिए ईशोपनिषद् में कहा है—

नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत्।

देव या इन्द्रियां जन्म से लेकर अपनी यात्रा आरम्भ कर देती हैं। वे अपने-अपने रास्तों में दौड़ने लगती हैं; परन्तु जिस समय आत्मा को ज्ञान होता है, उस समय पहले भागी हुई इन्द्रियां बहुत पीछे छूट जाती हैं। कोई व्यक्ति कितना ही कामी क्यों न रहा हो, उसने अपनी काम-वृत्ति को चाहे जितनी छूट दी हो; पर जिस समय भी आत्मा का अनुभव हो जाता है, काम-वासना बहुत पीछे रह जाती है। तुलसीदासजी के जीवन में यही हुआ। पहले से भागते हुए देव अनेजत् निष्कम्प इन्द्र का मुकाबला नहीं कर सकते। यही इन्द्र की शतवीर्यता है। आत्मा अनन्तवीर्य है। उसकी अपेक्षा देह में सब इन्द्रियां हीन हैं। कोई अन्यवृत्ति निन्यानवे से आगे नहीं जा सकती; इसलिए पुराणों का वर्णन है कि स्वर्ग की अभिलाषा से अनेक राजा लोग निन्यानवे यज्ञ ही कर पाये; कोई भी शतक्रतु न बन सका। कालिदास ने ठीक ही कहा है—

तथा विदुर्मां मुनयः शतक्रतुं द्वितीयगामी नहि शब्द एष नः।
(रघुवंश)

शतक्रतु तो केवल इन्द्र ही है। यह सृष्टि का अलङ्घ्य विधान है कि इन्द्र के अतिरिक्त अन्य कोई देव शतवीर्य नहीं बन सकता। अध्यात्म-पक्ष में इन्द्र आत्मा है। वह सब इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। अधिभूत अर्थ में इन्द्र राजा है। राज्य-संचालन के अधिकार से अधिकृत अन्य कोई अधिकारी शतक्रतु नहीं हो सकता। इसकी कल्पना ही असत्य है। यदि वह ऐसा यत्न करता है, तो राष्ट्र के भीतर अन्य राष्ट्र (state within the state) की सृष्टि हो जाती है। इसी प्रकार प्रत्येक सङ्गठन में इन्द्र की शतक्रतुता अक्षुण्ण रहनी चाहिए। इस देह में देवों की सभा है। शरीर को देव-संसद् या देव-ग्राम भी कहते हैं। उसका अधिपति इन्द्र है।

ऐतरेय-आरण्यक में विस्तृत रूप में देवता और उनके शरीरस्थ प्रतिनिधियों का वर्णन किया है।

—:०:—

सांख्य के मूल उपादान तत्त्वों का 'गुण' नामकरण क्यों ?

[श्री पं० उदयवीर शास्त्री विद्याभास्कर, आचार्य गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर]

दृश्यादृश्य जगत् का मूल उपादान—सत्त्व रजस् तमस् हैं। सांख्यसूत्रों में इनको 'गुण' पद से व्यवहृत किया गया है। अन्य समस्त साहित्य में भी इनके लिये इसी नाम का प्रयोग हुआ है। इस नामकरण का कारण क्या है यह विवेचन आवश्यक है। आवश्यक इसलिए कि पद का प्रयोग-विषय अति विस्तृत है। विभिन्न शास्त्रों में इस पद का प्रयोग अन्य अनेक अर्थों को प्रकट करने की भावना से हुआ है। कहीं-कहीं तो यह केवल पारिभाषिक हो उठा है। जैसे पाणिनीय व्याकरण में 'गुण' पद 'अ ए ओ' इन तीनों वर्णों को प्रस्तुत करता है। गुण पद के किसी भी अर्थ के साथ इनका सामञ्जस्य स्थापित कर सकना कठिन है। राजनीति शास्त्र में सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैधीभाव इन छः का नाम 'गुण' है, जो परराष्ट्र-नीति सम्बन्धी व्यवहार के स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं। इस विषय में भी कोई ऐसी मनलगती व्याख्या स्पष्ट नहीं है, जो इनके साथ 'गुण' नाम का समन्वय प्रकट करती हो, न्याय और वैशेषिक दर्शन में—जो सांख्यदर्शन के समान छः वैदिक दर्शनों में से हैं—चौबीस गुणों का उल्लेख है। यहां पर 'गुण' पद का प्रयोग वस्तु की 'योग्यता' के अर्थ में हुआ है। समाज-शास्त्र तथा लोकव्यवहार में भी 'गुण' पद का प्रयोग, वस्तु अथवा व्यक्ति की 'योग्यता' को प्रकट करने के लिये किया जाता है। इस अर्थ में 'गुण' पद का प्रयोग सर्वविदित है। विशेष पारिभाषिक स्थलों को छोड़कर कहीं भी जब हम आज 'गुण' पद का प्रयोग देखते हैं, तो सर्वप्रथम मस्तिष्क में इसी अर्थ का प्रादुर्भाव हो आता है।

आयुर्वेद में शरीर की रचना और स्थिति के आधार-भूत—वात, पित्त और श्लेष्म इन—तीन तत्त्वों का वर्णन किया गया है। इनको विकृत अवस्था में दोष और समीकृत अवस्था में 'गुण' कहा जाता है। विकृत होकर ये शरीर को रोगी बनाते हैं, और समीकृत रहकर उसे नीरोग रखते हैं। शरीर को स्वस्थ रखने के लिये जितनी जिस तत्त्व की आवश्यकता है, उसी सीमा में रहने पर समीकृत तथा न्यूनाधिक होने पर विकृत अवस्था समझी जाती है। आयुर्वेद के आचार्यों का यह त्रित्व कल्पना-मूलक विवेचन बहुत कुछ सांख्य के आधिभौतिक सिद्धान्तों पर आश्रित है, बहुत कुछ क्या, आयुर्वेद के ग्रन्थों में तो सांख्य के त्रिगुण के साथ इन तत्त्वों की स्पष्ट तुलना की गई है। इस विषय में क्या किसी ऐसे आधार की संभावना की जा सकती है, जो इस प्रकार की विवेचनाओं के किसी समान मूलभूत सिद्धान्त की ओर संकेत करता हो? मूलतत्त्वों का 'गुण' नाम क्यों रक्खा गया है? कदाचित् इस प्रश्न का उत्तर उस सिद्धान्त द्वारा प्रकट किया जा सके।

विचारपूर्वक यह कहा जा सकता है, कि मूल तत्त्वों के 'गुण' नामकरण का आधार, सांख्य का एक सिद्धान्त है, जो जगद्रचना की वास्तविक प्रक्रिया के अनुसार निर्णीत किया गया है। वह सिद्धान्त है—जगत्सर्ग में मूलतत्त्वों की अन्योन्य मिथुन वृत्तिता का स्वभाव। जब जगत् की रचना होने लगती है, अथवा मूलतत्त्व विकारोन्मुख होते हैं, तब वे एक दूसरे में गुथे हुए रहकर ही अपना कार्य चालू रखते हैं, यह उनका स्वभाव है। उनका स्वभाव कहने से हम इतना ही स्पष्ट करना चाहते हैं, कि सर्ग-रचनाकाल में उनकी किसी अन्य स्थिति की संभावना नहीं की जा सकती। चाहे वह स्थिति उनकी स्वतः हो, अथवा किसी अन्य की प्रेरणा से हो, इसका विवेचन इस समय हमारा लक्ष्य नहीं है। यह अन्योन्य मिथुनवृत्तिता अर्थात् मूलभूत तत्त्वों का एक दूसरे में गुंथे हुए रहकर ही विकार के लिये अग्रसर होना, उनके 'गुण' नामकरण का मूल आधार कहा जा सकता है। कपिल ने मूलतत्त्वों के स्वरूप का निरूपण प्रीति, अप्रीति और विषाद पदों से किया है। ये मूलतत्त्व जगद्रचना काल में एक दूसरे के साथ गुथे रहते हैं। जब हम सन अथवा इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं के रेशों (अंशुओं, फिर तन्तुओं) को इकट्ठा कर लपेट के साथ उन्हें दुहरा तिहरा कर देते हैं, उनकी इस अवस्था को 'गुणित' अथवा 'गुणीकृत' या 'गुणीभूत' कहा जाता है। यही स्थिति रचनाकाल में मूलतत्त्वों की रहती है। कदाचित् इसी आधार पर रस्सी का नाम 'गुण' है।

रचना या विकार का प्रारम्भ होने से पूर्व समस्त मूलतत्त्वों की स्थिति एक समान रहती है, तब किसी प्रकार की विशेषता का अस्तित्व नहीं रहता। मूलतत्त्वों के

अन्योन्य मिथुन अथवा गुणीकृत होने पर किसी भी प्रकार की विशेषता का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव होता है। कदाचित् इसी कारण आगे चलकर 'गुण' पद की शक्ति, वस्तु अथवा व्यक्ति की विशेषता या योग्यता के प्रकट करने में समन्वित हो गई है। पर रचनाकाल की मूलतत्त्व की अपनी स्थिति में उस समय तक कभी कोई अन्तर नहीं आता, जब तक कि समस्त जगत् फिर अपने मूलकारणरूप में अवस्थित न हो जाय। इसलिये मूलतत्त्व सदा 'गुण' बना ही रहता है। यद्यपि मूलतत्त्व की यह अन्योन्य-मिथुनवृत्ति, उसके विकारोन्मुख होने अथवा विकाररूप में परिणत हो जाने की अवस्था को ही प्रकट करती है, फिर भी हम उनकी इस विकृत अवस्था के आधार पर रक्खे हुए नाम का प्रत्येक अवस्था को प्रकट करने के लिए प्रयोग करते हैं, और ऐसा ही किया जा सकता है, क्योंकि समस्त व्यवहार सर्गकाल का ही संभव है।

यह कह देना यहां अप्रासंगिक न होगा, कि अथर्ववेद में मूलतत्त्वों के लिये इस पद का प्रयोग हुआ है— **'त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्'** [१०।८।४३], इस पद के व्याख्यान में सत्त्व, रजस् तमस् के अन्योन्यमिथुनवृत्ति होने की ध्वनि प्रस्फुटित होती है। पर ऋग्वेद में आधिभौतिक जगत् के मूलतत्त्वों का संकेत 'त्रिधातु' पद से किया गया है। सांख्य के इस सिद्धान्त के संकेत व स्पष्ट उल्लेख भी उपनिषद् तथा पुराण आदि के अनेक स्थलों में उपलब्ध होते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के छठें अध्याय का प्रारम्भिक भाग इस प्रसंग की पुष्कल सामग्री प्रस्तुत करता है। इस प्रसंग के उपयोगी अंश का यहां उल्लेख किया जाता है।

सर्वशक्तिमती अनादि चेतनसत्ता के आदि सर्गकालीन संकल्प का संकेत करते हुए उपनिषत्कार नामरूपात्मक जगत् की रचना का विवरण प्रस्तुत करता है। पर यह जगद्रचना उस समय तक सर्वथा व्यर्थ है, जब तक इसके भोक्ता जीवात्मा का यहां प्रवेश न हो। वस्तुतः जीवात्माओं के भोगापवर्ग को सिद्ध करने के लिए ही जगत्सर्ग है। साधारणतया संसार के उपभोग के लिए जीवात्माओं की यहां उपस्थिति तीन रूप में होती है—आण्डज, जीवज और उद्भिज्ज। उपनिषद् के तृतीय खण्ड का प्रारम्भ यहीं से होता है। जिन प्राणियों के कानों के खोल बाहर को उभरे हुए नहीं रहते वे आण्डज प्राणियों की श्रेणी में आते हैं। इसमें प्रायः समस्त नभचर, जलचर और सरीसृप जाति के प्राणियों का समावेश हो जाता है। वृक्ष, लता, ओषधि, वनस्पति आदि समस्त वीरुध उद्भिज्ज हैं, शेष सब प्राणी जीवज। इनमें समस्त ग्राम्य तथा वन्य पशु और मानव आदि का समावेश होता है, ब्राह्म, प्राजापत्य आदि देवयोनियां भी जीवज में अन्तर्हित हैं। सांख्य में भी भौतिक सर्ग को संक्षेप से तीन भागों में विभक्त किया है—दैव, तैर्यक और मानव। दैव सर्ग आठ प्रकार का है—ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस, पैशाच। तैर्यक पांच प्रकार का—पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप, स्थावर। पशु से ग्राम्य पशु, मृग से समस्त वन्य पशु, पक्षी से समस्त नभचर, सरीसृप से भूमि पर अथवा जल में सरककर गति करनेवाले अर्थात् स्थल एवं जल में रेंगनेवाले समस्त प्राणी गृहीत हो जाते हैं। तीसरा सर्ग मानव है, जो एक ही प्रकार का है। सांख्य का यह सर्गविभाग मुख्यतया फलोपभोग की दृष्टि से किया गया है, रचना की दृष्टि से नहीं। इस कारण उपनिषद् के वर्णन से मूलरूप में इसका कोई विरोध न समझना चाहिये। बात में बात आ गई, इसलिये यह उल्लेख कर दिया है।

उपनिषत्कार जगद्रचना का वर्णन प्रस्तुत करने से पहले जगत् में जीवात्माओं की स्थिति का स्वरूप बताकर अनादि चेतना शक्ति के सर्ग-संकल्प का निर्देश करता है—

'सेयं देवतैक्षत—हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति।'

पहले निर्दिष्ट इस देवता ने ईक्षण किया। इसी अध्याय के पहले और दूसरे खण्ड में उस देवता का 'सत्' पद से निर्देश किया गया है। वहां लिखा है—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'। उद्दालक आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को सम्बोधन करके कहता है—हे सोम्य! [अग्रे] सर्ग रचना के पूर्व यह सत् ही था, [एकम्] अकेला [एव] केवल [अद्वितीयम्] अद्वितीय। 'सत्' के विशेषण रूप इन अन्तिम तीन पदों के आधार पर, सदात्मक ईश्वर को स्वगत, सजातीय तथा विजातीय भेद से शून्य वर्णित किया जाता है। ईश्वर के सम्बन्ध का ऐसा वर्णन तो ठीक है, पर उसकी जो व्याख्या की जाती है, वह विचारणीय है। भगवान् शङ्कराचार्य तथा उनके अनुयायी अन्य विद्वानों ने इन पदों के आधार पर ईश्वर सम्बन्धी जो वर्णन प्रस्तुत किये हैं, उनका फलितार्थ यह है कि एक ईश्वर० सत्ता के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार के अस्तित्व की उस समय अथवा त्रिकाल में भी कल्पना नहीं की जा सकती। पर गम्भीरता से देखा जाय, तो उपनिषद् के प्रस्तुत प्रकरण के साथ ही इस विचारधारा का विरोध स्पष्ट प्रतीत होने लगता है।

इस स्पष्टीकरण से पूर्व 'सत्' के उक्त विशेषणों का अभिमत व्याख्यान कर देना उपयुक्त होगा। 'सत्' पद से सर्वशक्तिमती अनादि चेतनसत्ता का बोध होता है, जिसे ईश्वर अथवा ब्रह्म कहा जाता है। उक्त वर्णन ईश्वरसम्बन्धी विशेषता को ही प्रस्तुत करता है। वह ईश्वर के केवल एकमात्र अस्तित्व को दृढ़ करता है, ईश्वर से अतिरिक्त अन्य तत्त्वों के अस्तित्व का निषेध नहीं करता। ईश्वर स्वगत भेदशून्य है, इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि उसके एक व्यक्तित्व में किसी प्रकार के अवयवों की कल्पना नहीं की जा सकती। वह एक ईश्वर अनेक अवयवों से बना है; अथवा अनेक अवयवरूप है, यह कल्पना सम्भव नहीं। स्पष्ट ही उसमें अवयव-भेद की कल्पना नहीं की जा सकती, इसलिये उसका एकमात्र अस्तित्व स्वगतभेद से शून्य है। ईश्वर केवल एक है, उस जैसा कोई भी अन्य ईश्वर नहीं है, इसलिये वह सजातीय भेद से भी शून्य है। यदि उसके समान कोई अन्य ईश्वर नहीं है, तो उससे विलक्षण प्रकार का कोई दूसरा ईश्वर होगा, यह भी सम्भव नहीं। ईश्वर केवल एकमात्र सत्ता है, अतः वह विजातीय भेद से भी शून्य है। इस प्रकार उक्त वर्णन केवल ईश्वर की एकमात्र सत्ता को दृढ़ करता है। इसका तात्पर्य ईश्वर से अतिरिक्त अन्य सत्ताओं के निषेध में कदापि नहीं है।

इस स्थापना की पुष्टि उपनिषद् के प्रस्तुत प्रसंग से ही हो जाती है। द्वितीय खण्ड में आता है—"तदैक्षत—बहु स्यां प्रजायेय" उस सत् ने ईक्षण किया—'मैं बहुत हो जाऊँ, मैं बहुत रूप से उत्पन्न होऊँ।' 'तत्तेजोऽसृजत' उसने तेज को सृजा, 'तदपोऽसृजत' उसने अप् को सृजा, 'ता अन्नमसृजन्त' उन्होंने अन्न को सृजा। यदि इन सब वाक्यों के मुख्यार्थ को यहाँ इसी रूप में स्वीकार किया जाता है, तब यह निश्चित है, कि—त्रिकाल में एक ही सत्ता रहती है—यह बात असत्य हो जायगी, क्योंकि एक ही सत्ता के सदा स्वीकार किये जाने पर 'बहु स्याम्' तथा 'प्रजायेय' को अवकाश नहीं मिल सकता। तब इन पदों के मुख्यार्थ को छोड़कर गौण की कल्पना करनी पड़ेगी। इस आधार पर कहा जा सकेगा, कि एकमात्र सत्ता का यह बहुभवन अथवा बहुप्रजनन कल्पनामात्र है, वास्तविक नहीं। पर इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि किसी गौणी कल्पना के लिये मुख्य आधार की अपेक्षा होती है। उस एकमात्र सत्ता के बहुभवन अथवा बहुप्रजनन को गौण मानने पर इनके वास्तविक अस्तित्व को कहीं स्वीकार करना होगा, जिसका प्रतिपादन एकमात्र सत्ता को माननेवालों के लिये अशक्य है। फिर 'तत्तेजोऽसृजत' 'तदपोऽसृजत' इत्यादि वाक्यों में इस अर्थ का निर्देश नहीं है, कि उस 'सत्' ने तेज, अप्, अन्न का किस सामग्री से सृजन किया। कहा जायगा, कि उसने अपने स्वरूप से ही इनका सृजन किया। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वह 'सत्' ही तेज, अप्, अन्न रूप में परिणत हो जाता है। उस 'सत्' को परिणामी मानने पर उसकी त्रिकालाबाध्यता नष्ट हो जाती है, और उसके सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदशून्यता का डिण्डिम घोष स्वतः शून्य में पर्यवसित हो जाता है।

इन आपत्तियों से बचने के लिये भगवान् शंकराचार्य और उनके अनुयायियों ने अनेक पारिभाषिकताओं का आश्रय लिया है, जिनमें से वेदान्त का विवर्त्तवाद भी एक है। पर वह विवर्त्तवाद ब्रह्म के साथ से माया के अस्तित्व को मेट नहीं सका। स्पष्ट ही वेदान्त के इस रूप ने माया के बहाने प्रकृति को स्वीकार करने में अपने घुटने टेक दिये हैं। इसीलिये उक्त वाक्यों में यदि मुख्यार्थ को छोड़कर अमुख्यार्थ की कल्पना करनी है, तो उसकी और भी दिशाएँ सम्भव हो सकती हैं, जो अधिक युक्तियुक्त व प्रामाणिक हैं। हम देखते हैं कि द्वितीय खंड में तेज, अप्, अन्न की सृष्टि का कथन है। जब इनकी सृष्टि हो गई, तब नामरूपात्मक जगत् तो बन ही गया, फिर तृतीय खंड में 'नाम रूपे व्याकरवाणि' इस प्रकार 'सत्' के ईक्षण का वर्णन व्यर्थ है। कहा जा सकता है कि तेज आदि की सृष्टि हो जाने पर भी जीव-सृष्टि का होना शेष है, जिसका वर्णन तृतीय खंड के इस अंश में किया गया है। पर यह कथन भी चिंतनीय है। पहली बात तो यह, कि जीवात्माओं की सृष्टि होती ही नहीं, उनके शरीरों की सृष्टि होती है, जो तेज, अप्, अन्न की सृष्टि के वर्णन में अन्तर्निविष्ट है। फिर भी तृतीय खंड के अन्तिम अंश में जीवसृष्टि के भी अनन्तर तेज, अप्, अन्न के त्रिवृत्करण का वर्णन असंघटित होता है। क्योंकि जब तेज आदि की सृष्टि के अनन्तर जीवसृष्टि भी हो चुकी, फिर तेज आदि का त्रिवृत्करण कैसा ?

ऐसी स्थिति में कल्पना का द्वार खुला होने पर प्रकरणसंगत कल्पना अधिक बलवती व युक्तियुक्त कही जा सकती है। इस प्रकार उक्त वाक्यों में अमुख्यार्थ की कल्पना को लेकर दूसरी बात यह है कि 'तत्तेजोऽसृजत' इत्यादि वाक्यों में 'असृजत' क्रियापद का मुख्य अर्थ 'सृजन करना' या 'उत्पन्न करना' छोड़कर 'सर्गोन्मुख करना' किया जाना चाहिये। सर्ग से पहले प्रलयकाल में केवल ईश्वर एक ऐसी सत्ता है, जो अपने कार्य में लगी है। उसका कार्य है—जगत् की उत्पत्ति,

स्थिति और प्रलय। इसलिये वह तो प्रलय अवस्था में भी अपने कार्य पर आरूढ़ है। जगत् के मूल उपादान तत्त्व उस समय अपने कारणरूप में पड़े हैं। चेतन जीवात्मा भी साधन के अभाव में निश्चेष्ट सुप्तवत् पड़े हैं। अकेला ईश्वर जाग्रत व कार्यरत है। यह उसकी एकाकी अवस्था है। वह अब बहुत होना चाहता है। प्रलय के अनन्तर यह सर्ग का अवसर आता है। इसी स्थिति का उपनिषत्कार ने उक्त रूप में वर्णन किया है। वह सर्वप्रथम मूल उपादान तत्त्वों को सर्गोन्मुख करता है। ये तत्त्व कार्यरूप में परिणत होनेवाले हैं। पर जबतक चेतन जीवात्मा इनके साथ नहीं आते, तबतक इनका कार्यरूप में परिणत होना व्यर्थ है। क्योंकि यह समस्त जगत्सर्ग जीवात्माओं के भोगापवर्ग को सम्पन्न करने के लिये है। अभी तक ईश्वर अकेला अपने कार्य में रत था, वह तो अब भी उसी तरह है, पर अब और भी अनेक, इस प्रकार अपने कार्य में तत्पर हो गये हैं, यही उस 'सत्' का 'बहुभवन है, और यही 'बहु प्रजनन'। जो प्रलयकाल में मूल उपादान और सुप्तवत् जीवात्माओं का नियन्त्रण कर रहा था, वही अब सर्ग में अनन्त विविध सृष्टि एवं प्राणि-प्रजाओं का पति होकर सबका नियन्त्रण कर रहा है। यह 'प्रजायेय' का वास्तविक स्वरूप है।

यहां तक आ जाने पर द्वितीय खंड में वर्णित तेज, अप्, अन्न की वास्तविकता की ओर भी हमें ध्यान देना होगा। यद्यपि तेज आदि का यहां ऐसा वर्णन हुआ है, जैसे ये कार्यरूप से भौतिक जगत् में विद्यमान हैं। जहां तक वर्णन का प्रश्न है, मूलतत्त्व के स्वरूप को इतना उघाड़ कर रखना कठिन है। इसलिये कार्यरूप का वर्णन वस्तुतः अपने मूल उपादान तत्त्वों को प्रस्तुत करता है। इस प्रकार यदि यहां तेज, अप्, अन्न को रजस्, सत्त्व और तमस् का प्रतिनिधि कहा जाय, तो अप्रासंगिक न होगा। अब उपनिषद् के मूल पदों पर आइये—

'सत्' ने ईक्षण किया—मैं बहुत और विविध प्रजाओं का नियन्ता हो जाऊँ। उसने रजस्, सत्त्व तथा तमस् इन मूल उपादान तत्त्वों को सर्गोन्मुख प्रवृत्ति के लिये प्रेरित किया। पर जीवात्माओं के बिना यह समस्त प्रवृत्ति व्यर्थ होती, इसलिये उसने देखा—जीवात्मा के द्वारा अनुप्रवेश के अनन्तर इन तीन देवताओं को नामरूप से व्याकृत करूँ। प्रलयकाल में तथा सर्गोन्मुख प्रवृत्ति होने पर भी मूल उपादान अव्यक्त अवस्था में रहता है। जब वह अभिव्यक्त अवस्था में आता है, तब जीवात्मा उसमें अनुप्रविष्ट रहता है। जीवात्माओं को एक ओर छोड़कर या उनकी उपेक्षा करके जगत्सर्ग की संभावना शक्य नहीं। इस प्रसंग में 'अनुप्रविश्य' पद की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। यह 'अनुप्रवेश' पद इस बात को स्पष्ट करता है, कि उक्त तीनों देवताओं में पहले और भी किसी का प्रवेश है। यह स्पष्ट है कि इन तीन देवताओं के नामरूपात्मक सर्ग व्याकरण या अभिव्यञ्जन के लिये इनमें ईश्वर का प्रवेश आवश्यक है। वह इनमें अन्तर्यामी होकर इनको प्रेरित व अभिव्यक्त करता है। पर यह अभिव्यक्ति जीवात्माओं की सर्वथा उपेक्षा करके संभव नहीं, क्योंकि यह सर्ग उन्हींके भोगापवर्ग के लिये है। इसलिये इसकी रचना व अभिव्यक्ति में उसका भी हाथ होना चाहिये। शास्त्रकारों ने जगद्रचना में अन्य निमित्तों के साथ जीवात्म-कर्मों को भी निमित्त माना है [सां० सू० ६।४१], उक्त तीन देवताओं की नामरूपात्मक अभिव्यक्ति में यही जीवात्माओं का अनुप्रवेश है।

यदि शंकर आदि आचार्यों के अनुसार उपनिषद् के इन वाक्यों का यह अर्थ समझा जाय, कि—'सत्' ने यह ईक्षण किया कि मैं स्वयं जीवात्मारूप से इन तीन देवताओं में अनुप्रविष्ट होकर इनको नामरूप से अभिव्यक्त करूँ—तो यह कथन आचार्य शंकर के मतानुसार ही असंगत हो जाता है। उस प्रक्रिया के अनुसार 'सत्' ईक्षिता एक अद्वितीय आत्मा, उस समय जीवात्मा कहा जाता है, जब वह अंतःकरण उपाधि से उपहित व विशिष्ट हो। अभी—जब कि नामरूपात्मक जगत् बना ही नहीं, प्रत्युत उसके लिये केवल संकल्प किया जा रहा है—अंतःकरण का अस्तित्व ही नहीं है। जब अंतःकरण ही नहीं, तो जीवात्मा की कल्पना कैसी? पर उपनिषत्कार की प्रतिपादनशैली से यह स्पष्ट हो रहा है कि जब तक जगत् नामरूपात्मक अभिव्यक्ति में नहीं आया, उस समय भी 'सत्' ईक्षिता से अतिरिक्त जीवात्मा का अस्तित्व बराबर बना हुआ है, और वह उन तीन देवताओं [रजस्, सत्त्व, तमस्] की नामरूपात्मक अभिव्यक्ति में इनका सहयोग भी स्वीकार करना है।

छान्दोग्य के छठे अध्याय के प्रारम्भ से जो अर्थ प्रस्तुत किया गया है, उसको लेकर हम यहां तक पहुँचे, कि उस 'सत्' अर्थात् अनादि चेतन सत्ता को छोड़कर केवल परिणामी तत्त्व के आधार पर जगत् की रचना संभव नहीं। वह 'सत्' सर्गावसर आने पर जगत् के मूल उपादान तत्त्वों को सर्गोन्मुख प्रवृत्ति के लिये प्रेरित करता है। जीवात्म-कर्मों की अपेक्षा करते हुए वह उन तीन देवताओं—तीन प्रकार के

मूल उपादान तत्त्वों [सत्त्व, रजस्, तमस्] को कार्यरूप में परिणत करने के लिये संकल्प करता है। अब इसके आगे तृतीय खंड के अंतिम भाग में उस प्रक्रिया का संकेत किया गया है, जिसके अनुसार ये तीन देवता 'नाम और रूप' बन जाते हैं। वह है, इन तीनों देवताओं का त्रिवृत्करण। उपनिषद् के पद इस प्रकार हैं—

"तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ।"

इन तीन देवताओं में से प्रत्येक को त्रिवृत् त्रिवृत् करूँ, यह संकल्प करके उस 'सत्' ईक्षिता ने इस जीवात्मा से अनुप्रविष्ट इन तीनों देवताओं को त्रिवृत् कर नामरूप से अभिव्यक्त किया। खंड के अंतिम संदर्भ से उपनिषत्कार के शब्दों में प्रसंग का उपसंहार करते हुए उद्दालक आरुणि श्वेतकेतु से कहता है—इस प्रकार सर्ग के आदिकाल में उस 'सत्' ने तीन देवताओं को त्रिवृत् कर दिया। हे सोम्य ! जिस प्रकार यह त्रिवृत् होता है, वह मैं तुम्हें समझाता हूँ, सुनो—। तृतीय खण्ड यहीं समाप्त हो जाता है।

इतने वर्णन से यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है, कि तीन देवताओं के त्रिवृत्करण से पूर्व नामरूपात्मक जगत् की अभिव्यक्ति नहीं होती। ये तीन देवता कौन हैं, यह भी इस वर्णन से स्पष्ट हो गया है। मूल में 'तेज, अप्, अन्न' ये पद हैं। यदि इसी क्रम से इनको रक्खा जाय, तो ये देवता होते हैं—रजस्, सत्त्व और तमस्। इनका अन्योन्य-मिथुनवृत्ति किया जाना ही त्रिवृत्करण है। इनके त्रिवृत्करण की प्रक्रिया और स्वरूप का निर्देश 'प्रकृति' नामक प्रकरण के 'प्रीति, अप्रीति, विषाद' पदों की व्याख्या के प्रसंग में कर दिया गया है।

आगे उपनिषद् के चतुर्थ खंड में इन तीनों को सत्य बताया है, जो जगत् के मूल उपादान हैं। अग्नि, सूर्य, चंद्र, पृथ्वी, सोना-चांदी आदि जितने भी पदार्थ हैं, ये सब विकार हैं। जब तक इनमें अग्निपन, सूर्यपन या चंद्रपन आदि बना रहता है, तब तक ये सब विकार हैं। यह नामरूपात्मक लोक-व्यवहार तब तक ही चलता है। ये विकार व्यवहार-मात्र के प्रयोजक हैं। पर अंत में वे तीन रूप सत्य हैं, जो इस समस्त विकार के मूल उपादान हैं। मूलतत्त्व की अवस्था में—अग्नि, सूर्य, चंद्र, सोना-चांदी आदि समस्त विकारदशा की विशेषताएँ—अन्तर्हित हो जाती हैं। पर सत्त्व, रजस्, तमस् का भाव सदा बना रहता है, इसीलिये इनको सत्य माना है। इनके त्रिवृत्करण पर ही समस्त विकार का विस्तार आश्रित है। उद्दालक कहता है—मूलतत्त्व संबंधी त्रिवृत्करण की इस व्यवस्था को जान लेने पर अब कोई यह न कह सकेगा कि हमारे कुल में कुछ अज्ञात या अश्रुत रह गया है। कारण यह है कि समस्त जगत् का, मूलतत्त्व पर्यंत वास्तविक ज्ञान हो जाने पर चेतनाचेतन के विवेक का साक्षात्कार अनायास ही हो जाता है और यह ऐसी अवस्था है, जब कुछ ज्ञातव्य शेष नहीं रह जाता। इस प्रकार मूल उपादान के त्रिवृत्करण की व्यवस्था उसके 'गुण' नामकरण का प्रयोजक कही जाती है।

अन्य उपनिषदों में भी इस प्रकार के प्रसंग उपलब्ध होते हैं। प्रश्नोपनिषद् के पांचवें प्रश्न में छठीं और सातवीं संख्या पर किसी प्राचीन रचना से उद्धृत हुए दो श्लोक उपलब्ध होते हैं। इनमें से पहले में तीन मात्रा और दूसरे में ओङ्कार का वर्णन है। पहले श्लोक में ओङ्कार का कोई संकेत नहीं, और दूसरे श्लोक में मात्राओं का कोई उल्लेख नहीं। यह ठीक है कि प्रश्न उपनिषद् के इस प्रसंग में प्रथम ओङ्कार और उसकी एक-दो-तीन मात्राओं का वर्णन किया गया है। उसीकी पुष्टि के लिये उपनिषत्कार ने इन दोनों श्लोकों को किसी प्राचीन रचना से यहां उद्धृत किया है। पर पहले श्लोक में ओङ्कार की मात्राओं का कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता। संभवतः उपनिषत्कार ने श्लोक में मात्रा, पद की समानता को देखकर ओङ्कार की मात्राओं के वर्णन-प्रसंग से इस श्लोक को उद्धृत किया हो। मूलरचना में इसका मुख्य प्रसंग क्या होगा, इसका निश्चय किया जाना कठिन है। पर श्लोक के पदों से जो भाव प्रस्फुटित होते हैं, उन्हें देखते हुए ओङ्कार की तीन मात्राओं के वर्णन की अपेक्षा जगत् के मूल उपादानभूत सत्त्व, रजस्, तमस्, नामक तीन मात्राओं के वर्णन में श्लोक अधिक संघटित होता है। श्लोक है—

तिस्रो मात्रामृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः ।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥

मृत्युमती = परिणामशील तीन मात्रा – सत्त्व, रजस्, तमस् सदा प्रयोग में आती हैं। जब ये अन्योन्यसक्त होती हैं, एक दूसरे में मिथुनीभूत हो जाती हैं, तब एक निश्चित रूप से ये विविध कार्यों में प्रयुक्त होती रहती हैं। यह इनकी वैषम्य अवस्था है, जब मूलकारण कार्यरूप में परिणत हो जाता है। बाह्य, आभ्यन्तर और मध्यम सम्बन्धी क्रियाओं में इनका यथायथ प्रयोग होने पर आत्मज्ञानी विचलित नहीं होता। अथवा इनके सतत प्रवृत्तिशील रहने पर भी चेतन

आत्मा सदा अपरिवर्तित रहता है, उसमें किसी प्रकार के विकार अथवा परिणाम की संभावना नहीं की जा सकती।

श्लोक में 'बाह्य' पद पिण्ड अर्थात् शरीर से अतिरिक्त अन्य समस्त ब्रह्माण्ड का द्योतक है। 'आभ्यन्तर' पद पिण्ड में आध्यात्मिक सृष्टि की ओर संकेत करता है। शरीर में बुद्धि से लगाकर इन्द्रिय पर्यन्त आध्यात्मिक सृष्टि है। 'मध्यम' पद साक्षात् पिण्ड अर्थात् स्थूल शरीर का बोध कराता है। जगत् में समस्त क्रियाओं के ये ही आधार हैं। जो भी कर्म, गति, चेष्टा या परिणति है, वह तीन से बाहर संभव नहीं। इनके यथार्थ प्रयोग में आत्मज्ञानी कभी विचलित नहीं होता। वह इनकी वास्तविकता से परिचित रहता है, इसलिये इन मात्राओं का प्रयोग उसपर अपना प्रभाव नहीं रखता। यह भी कहा जा सकता है, कि जब ये मात्राएँ यथार्थरूप से जगत् की रचना करने और उसके चालू रखने में सतत गतिशील अथवा परिणतिशील रहती हैं, चेतन आत्मा तब भी अविचलित अर्थात् अपरिणामी बना रहता है। उसके स्वरूप में किसी प्रकार के विकार की संभावना अशक्य है।

उपनिषद् के व्याख्याकारों ने बाह्य आदि पदों का अर्थ यथाक्रम जाग्रत, सुषुप्ति और स्वप्न किया है। हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं। इन अवस्थाओं में भी—वस्तुस्थिति को देखते हुए—होनेवाली समस्त क्रियाओं में आत्मा सदा एक रूप बना रहता है। पर थोड़ी गहराई से विचारने पर यह स्पष्ट हो जाता है, कि श्लोक के पद ओंकार की मात्राओं के वर्णन में इतने अधिक संगत नहीं हो पाते। मृत्युमती विशेषण ओंकार की मात्राओं के किसी असाधारण अथवा अबोधगम्य भाव को प्रस्फुटित नहीं करता। इसके विपरीत मूल उपादान-तत्त्वों की वास्तविक स्थिति को अधिक स्पष्ट करता है। अगले दो विशेषण भी ऐसे ही हैं। ओंकार की मात्राओं का परस्पर सक्त होना कौन से अर्थ को प्रकट करता है, यह स्पष्ट नहीं। ओम् में जो 'अ उ म्' वर्ण हैं, क्या इन्हीं को मात्रा कहा गया है? या उच्चारण के आधार पर काल के अनुसार एक दो तीन मात्राओं का कथन है? दोनों ही अवस्थाओं में अन्योन्य-सक्तता संभव नहीं होती। वर्णों का एक दूसरे में सक्त न होना तो स्पष्ट है, अन्यथा 'ओम्' का उच्चारण ही अशक्य होगा। तब मात्रा पद से यहां उच्चारण-भेद को ही अपेक्षित माना जा सकेगा। उपनिषद् का पूर्वप्रसंग भी इसीकी पुष्टि करता है। यदि उच्चारणमूलक मात्रा अन्योन्य में सक्त है, तो उच्चारण के भेद का अस्तित्व संभव नहीं होगा, और तब वे मात्राएँ अपने रूप को ही खो बैठेंगी। 'अनविप्रयुक्ता' का अर्थ आचार्य शंकर ने—विशेषरूप से एक ही विषय में प्रयुक्त होनेवाली—किया है। यदि इस प्रकार विभेद को प्राप्त हुई वे मात्राएँ पृथक् पृथक् एक-एक विषय में प्रयुक्त होती हैं, तो फिर इनके अन्योन्यसक्त होने की संभावना कैसे की जा सकती है। इसके अतिरिक्त—विशेषरूप से एक ही एक विषय में प्रयुक्त होने का क्या स्वारस्य है? यह भी स्पष्ट नहीं किया गया। इस प्रकार ओंकार की मात्राओं के वर्णन में ये विशेषण पहले तो ठीक संघटित नहीं होते, फिर व्याख्याकारों ने उसके लिए जो यत्न किया है; उसे देखते ये परस्पर विरोधी हो जाते हैं।

'बाह्य' आदि पदों का अर्थ आचार्य शंकर ने जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति किया है। सुषुप्ति एक ऐसी अवस्था मानी गई है, जहां ओंकार के जप, उपासना सम्बन्धी वृत्ति अथवा अन्य किसी प्रकार की वृत्ति का भी अस्तित्व नहीं रहता, तब वहां ओंकार की मात्राओं का क्या व्यावहारिक प्रयोग होगा, यह स्पष्ट नहीं हो पाता। स्वप्नावस्था में चाहे अनेक प्रकार की वृत्तियों का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है, पर ओङ्कार के जप अथवा उपासना आदि सम्बन्धी वृत्ति का इस रूप में वहां भी स्वीकार किया जाना कठिन होगा। इस प्रकार इन अवस्थाओं में ओङ्कार की मात्राओं के प्रयोग का व्यावहारिक रूप क्या होगा, यह बात अधिक स्पष्ट नहीं हो पाती। भले ही उस प्रयोग के करनेवाले योगीजन हों, क्योंकि योगी और अयोगी दोनों के लिये इन अवस्थाओं में कोई भेद नहीं रहता। फलतः यही कहा जा सकता है, कि उपनिषत्कार ने ओङ्कार की व्याख्या अथवा ओङ्कार की मात्राओं के वर्णन के प्रसंग में इस श्लोक को उद्धृत किया है, इसलिये यथाकथंचित् उसका भी निर्वाह करना ही चाहिये। कतिपय अन्य सन्दर्भों [ऋ० ४।५८।३] का भी विविध अर्थों के प्रतिपादन में प्रामाणिक उपयोग देखा जाता है। इस प्रकार प्रश्नोपनिषद् में उद्धृत यह प्राचीन श्लोक भी सांख्य के उक्त सिद्धान्त को पुष्ट करता है।

पुराणों के भी अनेक स्थलों में सांख्य के इस सिद्धान्त का वर्णन उपलब्ध होता है। देवी भागवत के तृतीय स्कन्ध के अष्टमाध्याय में लेख है—

अन्योन्याभिभवाश्चैते विरुध्यन्ति परस्परम्।
तथाऽन्योन्याश्रयाः सर्वे न तिष्ठन्ति निराश्रयाः॥

यथा स्त्रीपुरुषश्चैव मिथुनत्व परस्परम् ।
तथा गुणाः समायान्ति युग्मभावं परस्परम् ॥
रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः ।
उभे ते सत्त्वरजसी तमसो मिथुने विदुः ॥
उभयोः सत्त्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते ।
नैषामादिः सम्प्रयोगो वियोगो वोपलभ्यते ॥

सत्त्व, रजस् , तमस् एक दूसरे का अभिभव करने पर आपाततः परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, फिर भी ये सब एक दूसरे के आश्रय से ही रहते हैं । परस्पर आश्रयरहित होकर सर्गकाल में इनका ठहरना शक्य नहीं । स्त्रीपुरुष का मिथुन जिस प्रजनन का प्रयोजक होता है, इसी प्रकार ये गुण भी सर्गोत्पादन के लिये मिथुनभाव को प्राप्त होते हैं । रजस्सत्त्व से, सत्त्व रजस् से, सत्त्व रजस् तमस् से, तथा तमस् सत्त्व रजस्से मिथुनीभूत होकर सर्ग रचना में प्रवृत्त होते हैं । इनका यह क्रम अनादि अनन्त है । सर्ग के अनन्तर प्रलय और प्रलय के अनन्तर सर्ग चलता ही रहता है इसका न कभी प्रारम्भ हुआ, और न कभी अन्त होगा । इसी प्रकार कूर्मपुराण [पृ० ४।२३–२४] में भी तीन प्रकार के मूल उपादान तत्त्वों की अन्योन्यमिथुनवृत्तिता का वर्णन उपलब्ध होता है । इस विषय में भगवद्गीता के [१४।९–१०] श्लोक भी द्रष्टव्य हैं । इतने लेख से यह स्पष्ट हो जाता है, कि सांख्य का यह सिद्धान्त प्रायः सर्वमान्य रहा है । यही सिद्धांत मूल उपादान तत्त्वों के 'गुण' नामकरण का प्रयोजक है । इसलिये सांख्य में 'गुण' पद को केवल संज्ञा या पारिभाषिक-मात्र न समझाना चाहिये ।

प्रसंगवश पाणिनि की 'गुण' संज्ञा के संबंध में एक बात कही जा सकती है । वहां—'अ, ए, ओ' ये तीन वर्ण अथवा तीन ध्वनि 'गुण' हैं । इनमें सबसे पहली सर्वथा मूल-भूत ध्वनि है । अगली दोनों ध्वनियां संमिश्रित हैं । यह एक आश्चर्य की बात है कि वे दोनों ध्वनि, पहली मूलध्वनि के साथ अन्य दो मूल ध्वनियों के ही संमिश्रण से बनी हैं । 'ए' में अ+इ का संमिश्रण है तथा 'ओ' में अ+उ का । ये तीनों मूलभूत ध्वनि हैं । स्वर नाम से कही जानेवाली अन्य निरपेक्ष ध्वनियों में कदाचित् ये तीन ही ध्वनि मूलभूत हैं । इनका सर्वप्रथम विजातीय संमिश्रण मूल ध्वनि के साथ जिन ध्वनियों को उत्पन्न करता है, पाणिनि ने उनका ही नाम 'गुण' रक्खा है । मूल ध्वनियों की तीन संख्या और उनके सर्वप्रथम विजातीय संमिश्रण का 'गुण' नाम, सांख्य के उक्त सिद्धांत की ओर आकृष्ट करने के लिये मानों हमें संकेत कर रहा है । संभव है, इन वर्णों की 'गुण' संज्ञा का निर्देश करते समय पाणिनि के मस्तिष्क में कपिल का उक्त सिद्धांत कुछ उथल-पुथल मचा रहा होगा ।

—:o:—

पाणिनि महाविद्यालय की प्रगति

देहली में अपूर्व उत्साह

एक श्रेणी में ८०–८५ की उपस्थिति

गत अक्तूबर १९५३ के अन्त में अष्टाध्यायी पद्धति से सरल संस्कृत सिखाने के लिये देहली (सत्यनारायण मन्दिर किले के सामने तथा प्रयाग निकेतन जवाहर नगर) में १० दिन का शिविर लगाया गया था । जिसमें देहली निवासी अनेक सज्जनों ने बहुत उत्साह दिखाया और आग्रह किया कि देहली में भी उपर्युक्त पद्धति से स्थायी श्रेणियाँ आरम्भ की जावें । ये श्रेणियाँ अनेक कारणों से दिसम्बर में न खुल कर अप्रैल १९५४ में खुल सकीं । १८ अप्रैल ५४ को आर्यसमाज हनुमान रोड (नई देहली) में देश के त्यागी और तपस्वी नेता श्री माननीय पुरुषोत्तमदास जी टण्डन के सभापतित्व में भारत सरकार के गृहमन्त्री श्री माननीय डा० कैलाशनाथ जी काटजू द्वारा इस श्रेणी का उद्घाटन हुआ ।

इस अवसर पर अनेक भाषण हुए, जिनका अतिसंक्षेप पृथक् इसी अङ्क में दिया जा रहा है । पाठकों को यह जानकर हर्ष होगा कि इस समय देहली में तीन स्थानों में भिन्न २ समयों पर इस सरल संस्कृत (अष्टाध्यायी) पद्धति से तीन श्रेणियाँ निःशुल्क चल रही हैं । पहिली प्रातः ६। बजे से ८ बजे तक आर्यसमाज करौलबाग (देहली) में लगती है । जिसमें पठनार्थियों की संख्या ८०–८५ तक रहती है, जिसमें सभी आयु के पठनार्थी

पढ़ते हैं। बीच-बीच में उनके पढ़े हुए विषय की परीक्षा भी ली जाती है, जिससे पढ़ने और पढ़ानेवालों का उत्साह पर्याप्त बढ़ रहा है। इसी प्रकार इसी उत्साह से दूसरी श्रेणी सायंकाल ६॥ बजे से ८ बजे तक आर्य-समाज हनुमान रोड (नई देहली) में लगती है। उसमें भी ४०-५० के लगभग प्रौढ़ पठनार्थी आते हैं जिनमें ७०-७५वर्ष तक के वृद्ध सज्जन भी नवयुवकों का उत्साह लेकर पढ़ने आते हैं और सन्तुष्टहोकर जाते हैं।

तीसरी श्रेणी जवाहर नगर सब्जी मण्डी (प्रयाग निकेतन ३१ यू. बी.) में चल रही है। अभी इसकी संख्या कम है। सम्भवतः अगले मास से इसमें भी पठनार्थियों की संख्या पर्याप्त हो जायगी।

श्रेणियों की कठिनाई और उसका हल

इन श्रेणियों में एक कठिनाई यह है कि सबकी धारणाशक्ति, स्मृतिशक्ति, ज्ञान और पुरुषार्थ एक जैसा नहीं होता। इनमें एक तो मोटर की गति से चलनेवाला व्यक्ति होता है, दूसरा गड्डे (बैलगाड़ी) की चाल से चलनेवाला होता है, इसमें दोनों को ही कठिनाई होती है। दोनों को ही कुछ त्याग करना पड़ता है। पढ़ानेवाले को भी यह कठिनाई बहुत तंग करती है। सो अभी तो आचार्य अर्थात् पढ़ानेवाले विद्वान् देहली में एक ही हैं। उनको जाने-आने में ही कम से कम दो घण्टे प्रति श्रेणी लग जाते हैं, यदि बस से भी जायें तो भी बस का यह हाल है कि मिले तो बस, नहीं तो बेबस— समय बहुत ही नष्ट होता है। यह बात 'न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते' स्वअनुभव का ही विषय है, भुक्तभोगी बस के अड्डे पर खड़े रहनेवाले ही इस कठिनाई का अनुभव कर सकते हैं। देहली में साईकिल से जाना-आना खतरनाक तो है ही, उसमें प्रश्न समय का भी है। आचार्य जी को तीन श्रेणियों में ४-५ घण्टे पढ़ाना पड़ता है। ५ घण्टे जाने-आने में ही समाप्त हो जाते हैं, आधी शक्ति तो यूँ ही नष्ट हो जाती है। एक बड़ी (८०-९० व्यक्ति की) श्रेणी को समझा-समझाकर पढ़ाते हुए एक व्यक्ति थक कर चूर हो जाता है।

इस सबका एक उपाय है कि एक और सहायक अध्यापक साथ पढ़ाने में लगे और श्रेणियों का विभाग कर दिया जाये। तीनों स्थानों में दो-दो घण्टे की श्रेणी लगे और एक-एक घण्टे की एक-एक श्रेणी बारी-बारी से एक-एक अध्यापक से पढ़े, तो सारी कठिनाई का हल हो जाता है।

संस्कृत प्रेमी गम्भीरता से विचार करें

यह तो हुई योजना (स्कीम) की बात, जो सोचने से हल हो जाती है। आगे प्रश्न है दूसरे अध्यापक के आर्थिक प्रबन्ध का। मेरे विचार में यदि एक वर्ष के लिये १५०) रु० मासिक का प्रबन्ध और हो एवं शीघ्र हो तो यह सब कठिनाई देहली की श्रेणियों की दूर हो जावे। या देहली में एक ही श्रेणी एक ही जगह चले, तब तो एक ही अध्यापक भी कार्य चला सकता है। पर यह बात किसी को भी मान्य वा अनुकूल नहीं हो सकती। सो कोई एक सज्जन (सभा-समाजों से निभना कठिन है) एक वर्ष के लिये २०००) दो हजार रुपये अर्थात् १५०) रु० मासिक का प्रबन्ध एक वर्ष के लिये कर दें तो यह सब कठिनाई दूर हो सकती है। यदि श्रेणी २। घण्टे चले तो पौन-पौन घण्टे की भिन्न-भिन्न योग्यता और भिन्न २ परिस्थितिवालों की भिन्न २ तीन श्रेणियाँ भी चल सकती हैं, (देहली निवासी कोई भी सज्जन स्वयं आगे आकर इस भार को उठा सकता है।

हमें तो काम करना है जिसको सौ बार आवश्यकता हो वह प्रबन्ध करे, न किसीका हमारे पर एहसान (उपकार) न हमारा किसी पर। हमें तो अपना कर्तव्य पालन करना है। शक्ति भर प्रयत्न करते ही जायेंगे।

बड़ी-बड़ी अपीलों, धुवाँधार भाषणों में हमारा विश्वास नहीं। प्रभु का काम है, भारत माता का सुनाम है, इसका सुन्दर परिणाम है। संस्कृतकी उन्नति के लिये चिल्लानेमात्र से कुछ न होगा। मैट्रिक, एफ्-ए आदि में अनिवार्य संस्कृत रख देने मात्र से काम न चलेगा, जब तक उसके लिये वैसा पग न उठाया जायगा। आशा है संस्कृतप्रेमी सज्जन इस बात पर गम्भीरता से विचार करेंगे।

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
(अध्यक्ष-पाणिनि महाविद्यालय)

इस मन्त्र के (आप्यम्) पद की व्याख्या में सायणाचार्य ने प्रमाद से अकार उपधा में न होने पर भी "पोरदुपधात्" (अ० ३।१) से कर्म में यत् प्रत्यय और "यतोऽनावः" (अ० ६।१।२१३) से आद्युदात्त अथवा ण्यत् प्रत्यय में छान्दस आद्युदात्त लिखा है, सो अशुद्ध है क्योंकि उणादिकोश में 'यत्' प्रत्यय विधान है वही आप्लृ धातु से होकर आप्य आद्युदात्त पद बन जायगा ॥

भावार्थः—वेदों को जाननेवाले उत्तम विद्वानों में मित्रता रखते हुए सभाध्यक्षादि राजपुरुषों को उचित है कि अन्न-धन आदि पदार्थों के कोशों को निरन्तर भर और प्रसिद्ध डाकुओं के साथा युद्ध करने को समर्थ होके प्रजा के लिए बड़े २ सुख देने वाले होवें ॥ १२ ॥

फिर वह सभाध्यक्ष कैसा होता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

ऊर्ध्व ऊ षु णं ऊतये तिष्ठा देवो न सविता ।
ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे ॥ १३ ॥

पदार्थः—हे सभापते ! आप (देवः) सबको प्रकाशित करनेहारे (सविता) सूर्य लोक के (न) समान (नः) हम लोगों की (ऊतये) रक्षा आदि के लिये (ऊर्ध्वः) ऊँचे आसमान पर (सुतिष्ठ) सुशोभित हूजिये। (उ) और (ऊर्ध्वः) उन्नति को प्राप्त होकर (वाजस्य) युद्ध के (सनिता) सेवने वाले हूजिये, इसलिये हम लोग (अञ्जिभिः) यज्ञ के साधनों को प्रसिद्ध करने तथा (वाघद्भिः) मधावी विद्वानों के साथ (विह्वयामहे) विविधप्रकार के शब्दों से आपकी स्तुति करते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थः—सूर्य के समान अतितेजस्वी सभापति को चाहिये कि संग्राम द्वारा दुष्ट शत्रुओं को हटा के सब प्राणियों की रक्षा के लिये यज्ञों के सिद्ध करने वाले विद्वानों के साथ सभा के बीच में ऊँचे आसन पर बैठे ॥ १३ ॥

फिर वह सभापति कैसा होवे, यह अगले मन्त्र में कहा है ॥

ऊर्ध्वो नः पाह्यंहसो नि केतुना विश्वं समत्रिणं दह ।
कृधी न ऊर्ध्वान् चरथाय जीवसे विदा देवेषु नो दुवः ॥ १४ ॥

पदार्थः—हे सभापते ! आप (केतुना) उत्तम बुद्धि के दान से (नः) हमलोगों की (अंहसः) दूसरे का पदार्थ हरणरूप पाप से (निपाहि) निरन्तर रक्षा कीजिये। (विश्वम्) सब (अत्रिणम्) अन्याय से दूसरे के पदार्थों को खानेवाले शत्रुमात्र को (संदह) अच्छे प्रकार जलाइये, और (ऊर्ध्वः) सबसे उत्कृष्ट आप (चरथाय) ज्ञान और सुख की प्राप्ति के लिये (नः) हम लोगों को (ऊर्ध्वान्) उत्तम गुण [कर्म, स्वभाव[१]] और सुखों से युक्त (कृधि) कीजिये तथा (देवेषु) धार्मिक विद्वानों में (जीवसे) पूर्ण अवस्था तक जीने के लिये (नः) हमारी (दुवः) सेवा को (विदाः) प्राप्त कराइये ॥ १४ ॥

भावार्थः—अच्छे गुण कर्म और स्वभाव वाले सभाध्यक्ष राजा को चाहिये कि राज्य के नियम और दण्ड के भय से मनुष्य को पाप से हटा सब शत्रुओं को मार और विद्वानों की सब प्रकार सेवा

१. कोष्ठान्तर्गत पद संस्कृत में नहीं हैं। अजमेर मुद्रित भाषार्थ में हैं।

करके प्रजा में ज्ञान सुख और जीवन [अवस्था] बढ़ाने के लिये सब प्राणियों को शुभ गुणयुक्त सदा किया करे ॥ १४ ॥

फिर उस सभाध्यक्ष राजा से प्रजा और सेना के जन क्या-क्या प्रार्थना करें,
इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पाहि नो॑ अग्ने र॒क्षसः॑ पा॒हि धू॒र्तेररा॑व्णः ।
पा॒हि रीष॑त उ॒त वा॒ जिघां॑सतो॒ बृह॑द्भानो॒ यवि॑ष्ठ्य ॥ १५ ॥

पदार्थः—हे (बृहद्भानो) महान् विद्यादि ऐश्वर्य्य रूपी तेजवाले (यविष्ठ्य) अत्यन्त तरुणावस्थायुक्त (अग्ने) सबसे मुख्य, सबकी रक्षा करने वाले सभाध्यक्ष महाराज ! आप (धूर्तेः) कपटी अधर्मी (अराव्णः) दान धर्म से रहित = कृपण (रक्षसः) हिंसक दुष्ट मनुष्य से (नः) हमको (पाहि) बचाइये (रिषतः) सबको दुःख देनेवाले सिंह आदि को दुष्ट जीव और दुष्टाचारी मनुष्य से हम (पाहि) पृथक् रखिये, (उत) और (वा) भी (जिघांसतः) मारने की इच्छा करते हुए शत्रु से हमारी (पाहि) रक्षा कीजिये ॥ १५ ॥

भावार्थः—सब मनुष्यों को चाहिये कि सब प्रकार की रक्षा के लिये सर्वरक्षक धर्मोन्नति की इच्छा करनेवाले दयालु सभाध्यक्ष की सर्वदा प्रार्थना करें और अपने आप भी दुष्ट स्वभाववाले मनुष्य आदि प्राणियों और सब पापों से मन, वाणी और शरीर से दूर रहें, क्योंकि इस प्रकार रहने के विना कोई मनुष्य सर्वदा सुखी नहीं रह सकता ॥ १५ ॥

फिर भी अगले मन्त्र में उसी विषय का उपदेश किया है ॥

घ॒नेव॒ विष्व॒ग्वि ज॒ह्यरा॑व्ण॒स्तपु॑र्जम्भ॒ यो अ॑स्म॒ध्रुक् ।
यो मर्त्यः॒ शिशी॑ते॒ अत्य॒क्तुभि॒र्मा नः॒ स रि॒पुरी॑शत ॥ १६ ॥

पदार्थः—हे (तपुर्जम्भ) शत्रुओं को सताने और नाश करनेवाले के शस्त्रों को बाँधनेवाले सेनापते ! आप (अराव्णः) दान-धर्मरहित शत्रुओं को (विष्वक्) सब ओर से (घनेव) जैसे लाठी से घड़े को तोड़ते हैं वैसे (विजहि) अच्छे प्रकार नष्ट कर, और (यः) जो (अस्मद्ध्रुक्) हमारा द्रोही (मर्त्यः) मनुष्य (अक्तुभिः) जिनसे मृत्यु को प्राप्त कराते हैं, उन मारक शस्त्रों से (अतिशिशीते) अति हिंसा करता हो (सः) वह (रिपुः) वैरी (नः) हम लोगों को पीड़ा देने में (मेशत) समर्थ न होवे ॥ १६ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमा अलंकार है ॥ जैसे लोहे के घन से लोहे और पाषाणादिकों को तोड़ते हैं, वैसे ही सेनाध्यक्षादि लोग अधर्मी दुष्ट शत्रुओं के अङ्गों को छिन्न-भिन्न कर दिन-रात धर्म्मात्मा प्रजाजनों के पालन में तत्पर हों, जिससे शत्रुजन इन प्रजाओं को दुःख देने को समर्थ न हो सकें ॥१६॥

फिर भी इन सभाध्यक्षादि राजपुरुषों के गुण अग्नि के दृष्टान्त से अगले मन्त्र में कहे हैं ॥

अ॒ग्निर्व॑व्ने सु॒वीर्य॑म॒ग्निः कण्वा॑य॒ सौभ॑गम् ।
अ॒ग्निः प्राव॑न् मि॒त्रोत मेध्या॑तिथिम॒ग्निः सा॒ता उ॑पस्तु॒तम् ॥ १७ ॥

पदार्थः—जो विद्वान् (अग्निः) विद्युद्रूपी अग्नि के समान (सातौ) युद्ध वा शिल्पक्रिया में (उपस्तुतम्) बहुत स्तुति करने योग्य (सुवीर्यम्) शरीर और आत्मा के उत्कृष्ट, बल, पराक्रम को और (अग्निः) भौतिक अग्नि के समान ऐश्वर्यप्रद (कण्वाय) धर्मात्मा बुद्धिमान् शिल्पी के लिये (सौभगम्) अच्छे ऐश्वर्य को (वव्ने[१]) याचना किया हुआ देता है (अग्निः) पावक के समान सबका मित्र (मित्रा) अपने मित्रों की (आवत्) पालना करता है (उत) और (अग्निः) जठराग्निवत् सबका रक्षक (मेध्यातिथिम्[१]) पवित्र संगमनीय अग्निरूपी अतिथि जिसके हैं ऐसे शिल्पी विद्वान् की सेवा करे, वही पुरुष राजा होने योग्य है ।

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है ॥ जैसे यह भौतिक अग्नि विद्वानों से अच्छे प्रकार सेवन किया हुआ उनके लिये बल, पराक्रम और सौभाग्य को देकर शिल्पविद्या में प्रवीण पुरुषों और उसके मित्रों की सदा रक्षा करता है, वैसे ही प्रजा और सेना के भद्रपुरुषों से प्रार्थना किया हुआ यह सभाध्यक्ष राजा उनके लिये बल, पराक्रम, उत्साह और ऐश्वर्य शक्ति को देकर युद्धविद्या में प्रवीण पुरुषों और उनके मित्रों को सब प्रकार पाले ॥ १७ ॥

सब मनुष्य सभाध्यक्ष से मिल के दुष्टों को कैसे मारें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

अ॒ग्निना॑ तु॒र्वशं॒ यदुं॑ परा॒वत॑ उ॒ग्रादे॑वं हवामहे ।
अ॒ग्निर्न॑यन्नव॑वास्त्वं बृ॒हद्र॑थं तु॒र्वीतिं॒ दस्य॑वे॒ सहः॑ ॥ १८ ॥

पदार्थः—हमलोग जिस (अग्निना) अग्नि के समान तेजस्वी सभाध्यक्ष राजाके साथ मिल के (उग्रादेवम्) तेज स्वभाववालों को जीतने की इच्छा करने तथा (तुर्वशम्) शीघ्रही दूसरे के पदार्थों को ग्रहण करनेवाले (यदुम्) दूसरे का धन मारने के लिये यत्न करते हुए डाकू पुरुष को (परावतः) दूसरे देश से (हवामहे) युद्ध के लिये बुलावें, वह (दस्यवे) अपने विशेष बल से दूसरे का पदार्थ हरनेवाले डाकू के (सहः) तिरस्कार करने योग्य बल को (अग्निः) सबका नेता राजा (नववास्त्वम्) एकान्त में नवीन घर बनाने (बृहद्रथम्) बड़े बड़े रमण के साधन रथों वाले (तुर्वीतिम्) हिंसक दुष्टपुरुषों को यहाँ (नयत्) बन्धन में रक्खें ॥ १८ ॥

भावार्थः—सब धार्मिक पुरुषों को चाहिये कि तेजस्वी सभाध्यक्ष राजा के साथ मिल के बल से अन्य के पदार्थों को हरने, खोटे स्वभावयुक्त और अपने विजय की इच्छा करनेवाले डाकुओं को बुला उनके पर्वतादि एकान्त स्थानों में बने हुए घरों को नष्ट कर और उनको बाँधकर कैद में रक्खें ॥ १८ ॥

•सायणाचार्य ने यह मन्त्र नवीन पुराण नामक मिथ्या ग्रन्थों की रीति का अवलम्बन करके भ्रम से कुछ का कुछ वर्णन किया है ।

फिर उन राजपुरुषों का सहायक जगदीश्वर कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

नि त्वाम॑ग्ने॒ मनु॑र्दधे॒ ज्योति॒र्जना॑य॒ शश्व॑ते ।
दी॒देथ॒ कण्व॑ ऋ॒तजा॑त उ॒क्षितो॒ यं न॑म॒स्यन्ति॑ कृ॒ष्टयः॑ ॥ १९ ॥

---

१. संस्कृत अन्वय तथा संस्कृत पदार्थ कुछ अस्पष्ट है, अतः स्पष्ट करने के लिए इस पद का अर्थ संस्कृत पदार्थ से कुछ भिन्न करना पड़ा है ।

पदार्थः—हे (अग्ने) जगदीश्वर ! (यम्) जिस (त्वाम्) आप परमात्मा को (शश्वते) अनादि स्वरूप (जनाय) जीवों की रक्षा के लिये (कृष्टयः) सब विद्वान् मनुष्य (नमस्यन्ति) पूजा करते हैं और हे विद्वान् लोगो ! जिसको आप (दीदेथ) प्रकाशित करते हैं उस (ज्योतिः) ज्ञान के प्रकाश करनेवाले परब्रह्म को (ऋतजातः) सत्याचरण से प्रसिद्ध (उक्षितः) आनन्दित (मनुः) न्याय विज्ञान से सब प्रजा का पालक मैं (कण्वे) बुद्धिमान् मनुष्य में (निदधे) स्थापित करता हूं अर्थात् प्रतीति कराता हूं । उसकी सब मनुष्य लोग उपासना करें ॥ १९ ॥

भावार्थः—सबके पूजने योग्य परमात्मा की कृपा से प्रजा की रक्षा के लिये राज्य के अधिकारी सब मनुष्यों को योग्य है कि सत्यव्यवहार की प्रसिद्धि से धर्मात्माओं को आनन्द और दुष्टों को ताड़ना देवें और बुद्धिमान् मनुष्यों में विद्या को स्थापित करें ॥ १९ ॥

अब उस सभापति के प्रति क्या क्या उपदेश करे, इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

त्वेषासो अग्नेरमवन्तो अर्चयो भीमासो न प्रतीतये ।
रक्षस्विनः सदमिद्यातुमावतो विश्वं समत्रिणं दह ॥ २० ॥ [११]

पदार्थः—हे तेजस्वी सभास्वामिन् ! आप (अग्नेः) सूर्य, विद्युत् और प्रसिद्ध रूप अग्नि की (त्वेषासः) प्रकाशस्वरूप (भीमासः) भयकारक (अर्चयः) ज्वाला के (न) समान जो (अमवन्तः) निन्दित रोग करनेवाले (रक्षस्विनः) राक्षस अर्थात् निन्दित पुरुष के व्यवहारों और (अत्रिणम्) बल से दूसरे के पदार्थों को हरनेवाले शत्रु को (इत्) ही (संदह) अच्छे प्रकार भस्म कीजिये और (प्रतीतये) विज्ञान वा उत्तम सुख की प्रतीति होने के लिये (विश्वम्) सब (सदम्) संसार तथा (यातुमावतः) मेरे समान होनेवालों की रक्षा कीजिये ॥ २० ॥

इस मन्त्र में सायणाचार्य ने यातु पूर्वपद और मावान् उत्तरपद को न जानकर (यातुमा) इस पूर्वपद से मतुप् प्रत्यय माना है, सो पदपाठ से विरुद्ध होने के कारण अशुद्ध है ।

भावार्थः—सभाध्यक्ष आदि राजपुरुषों और प्रजा के मनुष्यों को चाहिये कि जिस प्रकार अग्नि आदि पदार्थ वन आदि को भस्म कर देते हैं, वैसे दुःख देनेवाले शत्रुजनों का विनाश करना चाहिये इस प्रकार प्रयत्न करते हुए प्रजा की सदा रक्षा करें ॥ २० ॥

इस सूक्त में दूत के दृष्टान्त से सबकी रक्षा करनेवाले परमेश्वर और भौतिक अग्नि के गुणों का वर्णन, दूत के गुणों का उपदेश, अग्नि के दृष्टान्त से राजपुरुषों के गुणों का वर्णन, सभापति का कृत्य, सभापति होने के अधिकारी का कथन, अग्नि आदि पदार्थों से उपयोग लेने की रीति, मनुष्यों की सभापति से प्रार्थना, सब मनुष्यों को सभाध्यक्ष के साथ मिलकर दुष्टों का मारना और राजपुरुषों के सहायक जगदीश्वर का उपदेश करने से इस सूक्त के अर्थ की पूर्वसूक्त के अर्थ के साथ संगति है ऐसा जानना चाहिये ॥

यह छत्तीसवां सूक्त और ग्यारहवां वर्ग समाप्त हुआ ॥ ३६ ॥

अथास्य पञ्चदशर्चस्य सप्तत्रिंशस्य सूक्तस्य घोरः कण्व ऋषिः । मरुतो देवताः । १, २, ४, ६, ८, १२ गायत्री, ३, ९, ११, १४ निचृद्गायत्री, ५ विराड्गायत्री, १०, १५ पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री, १३ पादनिचृद्गायत्री च छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अब सैंतीसवें सूक्त का आरम्भ है। इस सूक्त भर का मोक्षमूलर आदि साहिबों का किया हुआ व्याख्यान असंगत है, उसमें एक-दो मन्त्र से उनकी असंगति जाननी चाहिये।

इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में विद्वानों को वायु के गुणों से क्या क्या उपकार लेना चाहिये, इस विषय का उपदेश किया है।

क्रीळं वः शर्धो मारुतमनर्वाणं रथे शुभम्।
कण्वा अभि प्र गायत ॥ १ ॥

पदार्थः—हे (कण्वाः) मेधावी विद्वान् मनुष्यो ! तुम जो (वः) आप लोगों के (अनर्वाणम्) घोड़ों के योग से रहित (रथे) विमानादि यानों में (क्रीडम्) क्रीड़ा का हेतु क्रिया में (शुभम्) शोभनीय (मारुतम्) पवनों का समूहरूप (शर्धः) बल है उसको (अभि प्रगायत) अच्छे प्रकार सुनो वा उपदेश करो ॥ १ ॥

सायणाचार्य ने (मारुतम्) इस पद को पवनों का सम्बन्धि (तस्येदम् ४।३।१२०) इस सूत्र से अण् प्रत्यय और व्यत्यय से आद्युदात्त स्वर अशुद्ध मानकर व्याख्यान किया है।

भावार्थः—बुद्धिमान् पुरुषों को चाहिये कि जो पवन प्राणियों के चेष्टा, बल, वेग, यान और मंगल आदि व्यवहारों को सिद्ध करते हैं, इससे इनके गुणोंकी परीक्षा करके इन पवनों से यथायोग्य उपकार ग्रहण करें ॥ १ ॥

मोक्षमूलर साहिब ने अर्व शब्द से अश्व के ग्रहण का निषेध कियाहै, सो भ्रममूल होने से अशुद्ध ही है और फिर 'अर्व शब्द से सब जगह अश्व का ग्रहण होता है,' ऐसा कहा है यह भी प्रमाण रहित होने से अशुद्ध ही है। इस मन्त्र में अश्वरहित विमान आदि रथ की विवक्षा होने से उन यानों में कलाओं से चलाये हुए पवन तथा अग्नि के प्रदीप्त होने से जल की बाफ के वेग से यानों के गमन का संभव है। इससे यहाँ कुछ पशुरूप अश्व नहीं लिये हैं ॥ १ ॥

फिर उन विद्वानों को कैसा होना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है॥

ये पृषतीभिर्ऋष्टिभिः साकं वाशीभिरञ्जिभिः।
अजायन्त स्वभानवः ॥ २ ॥

पदार्थः—(ये) जो (पृषतीभिः) धर्मरूपी वृक्ष का सेचन करनेवाली (ऋष्टिभिः) कलायन्त्रादि व्यवहारों को जनानेवाली और (अञ्जिभिः) पदार्थों के गुणों को प्रगट करनेवाली (वाशीभिः) वाणियों के (साकम्) साथ क्रियाओं कौशलों में प्रयत्न करते हैं, वे (स्वभानवः) अपने ऐश्वर्य के प्रकाश से प्रकाशित (अजायन्त) होते हैं ॥ २ ॥

भावार्थः—हे विद्वान् मनुष्यो ! तुम लोगों को उचित है कि ईश्वरकी रची हुई इस कार्य सृष्टि में अपने अपने स्वभाव के प्रकाश करनेवाले वायु के सकाश से जल की वृष्टि, चेष्टा का करना, अग्नि आदि की प्रसिद्धि और वाणी के व्यवहार अर्थात् कहना, सुनना, स्पर्श करना आदि सिद्ध होते हैं, उनसे विद्या और धर्मादि शुभगुणों का प्रचार करो ॥ २ ॥

मोक्षमूलर साहिब कहते हैं कि 'जो वे पवन चित्र विचित्र हरिण लोह की शक्ति तलवारों और

प्रकाशित आभूषणों के साथ उत्पन्न हुए हैं' यह असम्भव है, क्योंकि पवन निश्चय करके वृष्टि कराने-
वाली क्रिया तथा स्पर्शादि गुणों के योग और सब चेष्टा के हेतु होने से वाणी और अग्नि के प्रगट
करने के हेतु हुए अपने आपका प्रकाश करनेवाले हैं और जो उन्होंने कहा है कि 'सायणाचार्य ने
वाशी शब्द का व्याख्यान यथार्थ किया है' सो भी असंगत है क्योंकि वह भी मन्त्र, पद और वाक्यार्थ
से विरुद्ध है। और जो मेरे भाष्य में प्रकरण, पद, वाक्य और भावार्थ के अनुकूल अर्थ है उसको
विद्वान् लोग स्वयं विचार लेंगे कि ठीक है वा नहीं ॥ २ ॥

फिर वे विद्वान् लोग इन पवनों से क्या-क्या उपकार लेवें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

इहेव शृण्व एषां कशा हस्तेषु यद्वदान् ।
नियामंश्चित्रमृञ्जते ॥ ३ ॥

पदार्थः—मैं (यत्) जिस कारण १ (एषाम्) इन पवनों की (कशाः) चेष्टा के साधन रज्जु
के समान नियम करनेवाली क्रिया (हस्ते) हस्त आदि अंगों में हैं, और जिससे प्राणी व्यवहार
संबंधी वचन को (वदान्) बोलते हैं उस [दूरस्थ] को (इहेव) जैसे इस स्थान में स्थित होकर
[सुनाता हो] वैसे (शृण्वे) श्रवण करता हूं और जिससे सब प्राणी और अप्राणी (यामन्) सुख
हेतु व्यवहारों के प्राप्त करनेवाले मार्ग में (चित्रम्) आश्चर्यरूप कर्म को (न्यृञ्जते)- निरन्तर सिद्ध
करते हैं, उसके करने को मैं भी समर्थ होता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमालंकार है। जड़ और चेतन जितने कर्म करते हैं उन सभी कर्मों
का हेतु पवन है। यदि वायु न हो तो कोई कुछ भी कर्म करने को समर्थ न हो सके और वायु की चेष्टा
के बिना दूरस्थित मनुष्य से उच्चारण किये हुए शब्द निकट के उच्चारण के समान कोई भी सुन न सके
और न कह सके। वीर लोग युद्धादि कार्यों में जितने बल वा पराक्रमयुक्त कर्म करते हैं, वे सब वायु
ही के योग से होते हैं। वायु के बिना कोई नेत्र के चलाने को भी समर्थ नहीं हो सकता। इसलिये
पदार्थ विद्या के चाहनेवाले विद्वानों को चाहिये कि इसके शुभगुणों की खोज सर्वदा किया करें ॥

मोक्षमूलर साहिब कहते हैं कि "मैं सारथियों के कशा अर्थात् चाबुक के शब्दों को सुनता हूं
तथा अति समीप हाथों में उनका प्रहार करते हैं वे अपने मार्ग में अत्यन्त शोभा को प्राप्त होते हैं।
यामन् यह मार्ग का नाम है जिस मार्ग से देव जाते हैं वा जिस मार्ग से बलिदानों को प्राप्त होते हैं।
जैसे हम लोगों के प्रकरण में मेघ के अवयवों का भी ग्रहण होता है।" यह सब अशुद्ध है, क्योंकि इस
मन्त्र में कशा शब्द से वायु जिनका हेतु है उन सब क्रिया और यामन् शब्द से सब व्यवहार सुख
प्राप्त करने वाले कर्मों का ग्रहण है ॥ ३ ॥

फिर वे विद्वान् लोग वायु से किस किस प्रयोजन के लिये क्या क्या करें,
इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

प्र वः शर्धाय घृष्वये त्वेषद्युम्नाय शुष्मिणे ।
देवत्तं ब्रह्म गायत ॥ ४ ॥

१. संस्कृत पदार्थ में 'यत्' का अर्थ 'व्यावहारिकं वचः' किया है। यह भावार्थ संस्कृत अन्वयानुसार है। इस
मन्त्र का संस्कृत अन्वय अस्पष्ट होने से भावार्थ भी अस्पष्ट है। हमने कथंचित् स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

पदार्थः—हे विद्वान् मनुष्यो ! जो ये पवन (वः) तुम लोगों के (शर्धाय) बल प्राप्त कर वाले (घृष्वये) जिसके लिये परस्पर लड़ते-भिड़ते हैं उस (शुष्मिणे) अत्यंत प्रशंसित बल व्यवहार वाले (त्वेषद्युम्नाय) प्रकाशमान यश के लिये हैं, तुम लोग उनके नियोग से (देवत्तम् ईश्वर ने दिये वा विद्वानों ने पढ़ाये हुए (ब्रह्म) वेद को (प्रगायत) अच्छे प्रकार षड्जादि स्व से स्तुतिपूर्वक गाया करो ॥ ४ ॥

भावार्थः—विद्वान् मनुष्यों को चाहिये कि ईश्वर के कहे हुए वेदों को पढ़ वायु के गुणों पढ़ वायु के गुणों को जान और यश वा बल के कर्मों का नित्य अनुष्ठान करके सब प्राणियों के लि सुख देवें ॥

मोक्षमूलर साहिब का अर्थ–"जिनके घरों में वायु देवता आते हैं, हे बुद्धिमान् मनुष्यो ! उनके आगे उन देवताओं की स्तुति करो। तथा वे देवता कैसी हैं कि उन्मत्त विजय करने वा बलवाले इसमें चौथे मण्डल, सत्रहवें सूक्त, दूसरे मन्त्र का प्रमाण है।" सो यह प्रमाणरहित होने से अशुद्ध तथा जिस मन्त्र का प्रमाण दिया है वहाँ भी उनका अभीष्ट अर्थ इनके अर्थ के साथ नहीं है ॥ ४ ॥

फिर इनके योग से क्या-क्या होता है, यह अगले मन्त्र में उपदेश किया है ॥

प्रशंसा गोष्वघ्न्यं क्रीळं यच्छर्धो मारुतम् ।
जम्भे रसस्य वावृधे ॥ ५ ॥　　[१

पदार्थः—हे विद्वान् मनुष्यो ! तुम (यत्) जो (गोषु) पृथिवी आदि भूत वा वाणी इन्द्रिय तथा गौ आदि पशुओं में (क्रीडम्) क्रीड़ा का निमित्त (अघ्न्यम्) नहीं हनन करने योग्य इन्द्रियों के लिये हितकारी (मारुतम्) पवनों का विकाररूप (जम्भे) जिससे गात्रों का संचल उस मुख में प्राप्त हो के (रसस्य) भोजन किये हुए अन्नादि पदार्थों से उत्पन्न शरीर में स्थित (श बल (ववृधे) वृद्धि को प्राप्त होता है, उसको मेरे लिये नित्य (प्रशंस) शिक्षा करो ॥ ५ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि जो वायुसम्बन्धी शरीर आदि में क्रीड़ा और बल का है उसको नित्य उन्नति देवें और जितना रस आदि उत्पन्न होता है वह सब वायु के संयोग से होता इससे इस प्रकार परस्पर सब शिक्षा करनी चाहिये, जिससे सब लोगों को वायु के गुणों की विदित हो जावे ॥

मोक्षमूलर साहिब का कथन कि "यह प्रसिद्ध वृषभ गौओं के अर्थात् वायु पवनों के दलों के उपाधि से बढ़कर जैसे उस पवन ने मेघावयवों को खाया है, क्योंकि इसने पवनों का आदर इससे।" सो यह अशुद्ध है क्योंकि जो इस मन्त्र में इन्द्रियों के मध्य में पवनों का बल कहा है, उ प्रशंसा करनी और जो प्राणि लोग सुख से खाते हैं, वह भी पवनों का बल है। इस मन्त्र में शब्द के अर्थ में विलसन और मोक्षमूलर साहिब का वादविवाद निष्फल है ॥ ५ ॥

फिर इन पवनों से राजा प्रजा को क्या क्या करना वा जानना चाहिये,
इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

को वो वर्षिष्ठ आ नरो दिवश्च ग्मश्च धूतयः ।
यत्सीमन्तं न धूनुथ ॥ ६ ॥

पदार्थः—हे विद्वान् मनुष्यो ! जो ये पवन (वः) तुम लोगों के (शर्धाय) बल प्राप्त करनेवाले (घृष्वये) जिसके लिये परस्पर लड़ते-भिड़ते हैं उस (शुष्मिणे) अत्यंत प्रशंसित बलयुक्त व्यवहार वाले (त्वेषद्युम्नाय) प्रकाशमान यश के लिये हैं, तुम लोग उनके नियोग से (देवत्तम्) ईश्वर ने दिये वा विद्वानों ने पढ़ाये हुए (ब्रह्म) वेद को (प्रगायत) अच्छे प्रकार षड्जादि स्वरों से स्तुतिपूर्वक गाया करो ॥ ४ ॥

भावार्थः—विद्वान् मनुष्यों को चाहिये कि ईश्वर के कहे हुए वेदों को पढ़ वायु के गुणों को पढ़ वायु के गुणों को जान और यश वा बल के कर्मों का नित्य अनुष्ठान करके सब प्राणियों के लिये सुख देवें ॥

मोक्षमूलर साहिब का अर्थ—"जिनके घरों में वायु देवता आते हैं, हे बुद्धिमान् मनुष्यो ! तुम उनके आगे उन देवताओं की स्तुति करो । तथा वे देवता कैसी हैं कि उन्मत्त विजय करने वा बलवाले । इसमें चौथे मण्डल, सत्रहवें सूक्त, दूसरे मन्त्र का प्रमाण है ।" सो यह प्रमाणरहित होने से अशुद्ध है तथा जिस मन्त्र का प्रमाण दिया है वहाँ भी उनका अभीष्ट अर्थ इनके अर्थ के साथ नहीं है ॥ ४ ॥

फिर इनके योग से क्या-क्या होता है, यह अगले मन्त्र में उपदेश किया है ॥

प्रशंसा गोष्वघ्न्यं क्रीळं यच्छर्धो मारुतम् ।
जम्भे रसस्य वावृधे ॥ ५ ॥ [१२]

पदार्थः—हे विद्वान् मनुष्यो ! तुम (यत्) जो (गोषु) पृथिवी आदि भूत वा वाणी आदि इन्द्रिय तथा गौ आदि पशुओं में (क्रीडम्) क्रीड़ा का निमित्त (अघ्न्यम्) नहीं हनन करने योग्य वा इन्द्रियों के लिये हितकारी (मारुतम्) पवनों का विकाररूप (जम्भे) जिससे गात्रों का संचलन हो उस मुख में प्राप्त हो के (रसस्य) भोजन किये हुए अन्नादि पदार्थों से उत्पन्न शरीर में स्थित (शर्द्धः) बल (वावृधे) वृद्धि को प्राप्त होता है, उसको मेरे लिये नित्य (प्रशंस) शिक्षा करो ॥ ५ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि जो वायुसम्बन्धी शरीर आदि में क्रीड़ा और बल का बढ़ना है उसको नित्य उन्नति देवें और जितना रस आदि उत्पन्न होता है वह सब वायु के संयोग से होता है । इससे इस प्रकार परस्पर सब शिक्षा करनी चाहिये, जिससे सब लोगों को वायु के गुणों की विद्या विदित हो जावे ॥

मोक्षमूलर साहिब का कथन कि "यह प्रसिद्ध वृषभ गौओं के अर्थात् वायु पवनों के दलों के मध्य उपाधि से बढ़कर जैसे उस पवन ने मेघावयवों को खाया है, क्योंकि इसने पवनों का आदर दिया इससे ।" सो यह अशुद्ध है क्योंकि जो इस मन्त्र में इन्द्रियों के मध्य में पवनों का बल कहा है, उसकी प्रशंसा करनी और जो प्राणि लोग सुख से खाते हैं, वह भी पवनों का बल है । इस मन्त्र में जम्भ शब्द के अर्थ में विलसन और मोक्षमूलर साहिब का वादविवाद निष्फल है ॥ ५ ॥

फिर इन पवनों से राजा प्रजा को क्या क्या करना वा जानना चाहिये,
इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

को वो वर्षिष्ठ आ नरो दिवश्च ग्मश्च धूतयः ।
यत्सीमन्तं न धूनुथ ॥ ६ ॥

पदार्थः—हे (धूतयः) शत्रुओं को कँपानेवाले (नरः) विद्वान् मनुष्यो ! (यत्) ये तुम लोग (दिवः) प्रकाशवाले सूर्य आदि (च) और उनके संबन्धी और (ग्मः) पृथिवी (च) और उनके संबन्धी अन्य प्रकाशरहित लोकों को (सीम्) सब ओर से अर्थात् तृण-वृक्ष आदि, अवयवों के सहित कँपाते हुए वायुओं के (न) समान शत्रुओं का (अन्तम्) नाश कर दुष्टों को जब (आधूनुथ) अच्छे प्रकार कँपाओ तब (वः) तुम लोगों के बीच में (कः) कौन (वर्षिष्ठः) यथावत् श्रेष्ठ विद्वान् प्रसिद्ध न हो ॥ ६ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥ विद्वान् राजपुरुषों को चाहिये कि जैसे कोई बलवान् मनुष्य निर्बल मनुष्य के केशों का ग्रहण करके कँपाता और जैसे वायु सब लोकों को धारण कर तथा चलायमान करके अपनी अपनी परिधि में प्राप्त कराता है। वैसे ही सब शत्रुओं को कँपा और उनके स्थानों से चलायमान करके प्रजा की रक्षा करें ॥ ६ ॥

मोक्षमूलर साहिब का अर्थ कि "हे मनुष्यो ! तुम्हारे बीच में बड़ा कौन है तथा तुम आकाश वा पृथ्वी लोक को कम्पाने वाले हो। जब तुम धारण किये हुए वस्त्र के प्रान्त भाग को कम्पाने समान उनको कंपित करते हो। सायणाचार्य के कहे हुए अन्त शब्द के अर्थ को मैं स्वीकार नहीं करता, किन्तु विलसन आदि के कहे हुए को स्वीकार करता हूं।" यह अशुद्ध और विपरीत है क्योंकि इस मन्त्र में उपमालंकार होने से जैसे राजपुरुष शत्रुओं और अन्य मनुष्य, तृण-काष्ठ आदि को ग्रहण करके कँपाते हैं वैसे वायु भी अग्नि, पृथिवी आदि को कँपाते हैं, इस अर्थ का विद्वानों के सकाश से निश्चय करना चाहिये" ऐसा कहा है। जैसा सायणाचार्य का किया हुआ अर्थ व्यर्थ है, वैसा ही मोक्षमूलर साहिब का किया हुआ अर्थ अनर्थ है ऐसा हम सब लोग जानते हैं ॥ ६ ॥

फिर वे राजा और प्रजाजन कैसे होने चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

नि वो यामा॑य मानु॑षो द॒ध्र उ॒ग्राय॑ म॒न्यवे॑ ।
जिही॑त॒ पर्व॑तो गि॒रिः ॥ ७ ॥

पदार्थः—हे प्रजातथा सेना के मनुष्यों ! जिस सभापति राजा के भय से जैसे वायु के बल से (गिरिः) जल को रोकने गर्जना करनेवाले (पर्वतः) मेघ भागते हैं वैसे शत्रु लोग (जीहीत) भागते हैं, वह (मानुषः) सभाध्यक्ष राजा (वः) तुम लोगों के (यामाय) यथार्थ व्यवहार चलाने और (मन्यवे) क्रोधरूप (उग्राय) तीव्र दण्ड देने के लिये राजव्यवस्था को (दध्रे) धारण कर सकता है ऐसा तुम लोग जानो ॥ ७ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है ॥ हे प्रजा सेनास्थ मनुष्यो ! तुम लोगों के सब व्यवहार वायु के समान राजव्यवस्था ही से ठीक ठीक चल सकते हैं। अपने नियमों से विचलित हुए तुमको सभाध्यक्ष राजा वायु के समान शीघ्र दण्ड देवें, जिसके भय से शत्रुजन वायु से मेघों के समान पलायमान होते हैं, उसको तुम लोग पिता के समान जानो ॥ ७ ॥

मोक्षमूलर कहते हैं कि "हे पवनो ! आपके आने से मनुष्य का पुत्र अपने आप ही नम्र होता है, तथा तुम्हारे क्रोध से डरकर भागता है" यह उनका कथन व्यर्थ है क्योंकि इस मन्त्र में गिरि और पर्वत शब्द से मेघ का ग्रहण किया है। तथा मानुष शब्द का अर्थ धारणक्रिया का कर्त्ता है, इसलिये इस मन्त्र में बालक के शिर के नमन होने का ग्रहण नहीं है। जैसा कि सायणाचार्य का अर्थ व्यर्थ

संस्कृत अध्ययन से ही देश की सांस्कृतिक एकता की रक्षा

पाणिनि महाविद्यालय के उद्‌घाटन पर माननीय डा० कैलाशनाथ काटजू का भाषण

अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन से प्रसारित संस्कृत की सरल शिक्षा "जिज्ञासु प्रणाली" के विद्यालय का उद्‌घाटन समारोह हनुमान रोड, आर्य समाज में केंद्रीय सरकार के गृहमन्त्री माननीय श्री कैलाशनाथ काटजू ने १८ अप्रेल को नई दिल्ली में किया।

इस अवसर पर डा. काटजू ने कहा कि एक ओर भारत सरकार, प्रांतीय भाषाओं को भी प्रोत्साहन दे रही है, और दूसरी ओर एक राष्ट्रभाषा की बात भी कहती है। यह एक विवाद की ही जड़ है। ऐसी अवस्था में संस्कृत ही एक ऐसी भाषा है, जिसे समस्त भारत के लोग भली-भांति पढ़ और समझ सकते हैं. यह मेरा निजी अनुभव है। इस प्रांतवाद और वर्गवाद को मिटाकर एकता स्थापित करने के लिए संस्कृत भाषा जितनी समर्थ हो सकती है, उतनी कोई भाषा नहीं। संस्कृत भाषा के ही प्रचार और उसके माध्यम ही से हम राष्ट्रभाषा हिंदी का भी प्रसार और प्रचार कर सकते हैं। जो लोग हिंदी का व्यापक प्रचार चाहते हैं, उन्हें संस्कृत के प्रचार में सहयोग देना चाहिये। मैं तो चाहता हूं कि देश के बड़े-बड़े अंगरेज़ी समाचार-पत्रों के स्थान पर उसी रूप में संस्कृत के दैनिक समाचारपत्र हों, इस भाषा के बल पर ही हम फिर से भारत में दो हजार वर्ष पूर्व का जमाना ला सकते हैं। और भारत फिर से विश्वगुरु बन सकता है।

अन्त में आपने अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन द्वारा खोले जा रहे इस विद्यालय से अष्टाध्यायी की इस नवीन "जिज्ञासु प्रणाली" से अधिक से अधिक लाभ उठाने की जनता से अपील की और विद्यालय के प्रति शुभ कामना प्रकट की।

इसके पूर्व अ. भा. संस्कृत साहित्य सम्मेलन के प्रधान-मन्त्री श्री केदारनाथ शर्मा सारस्वत ने इस समय संस्कृत भाषा के प्रति दिखाए जा रहे "हौवा" को सर्वथा भ्रममात्र बताते हुए "जिज्ञासु प्रणाली" की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए जनता से उसे अपनाकर सफल बनाने की अपील की।

पाणिनी महाविद्यालय के अध्यक्ष श्री पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने बताया कि मैंने पूर्ण अनुभव और दृढ़ विश्वास के साथ इस कार्य को आरम्भ किया है। पाश्चात्य संस्कृति के भारत स्थित केंद्र दिल्ली में भी लोग संस्कृत भाषा का मर्म प्राप्त कर उसका ज्ञान प्राप्त कर सकें, उससे कुछ अपनी संस्कृति का भी प्रकाश प्राप्तकर सकें, इस दृष्टि से दिल्ली में भी इसके विद्यालय चलाए जा रहे हैं। इन विद्यालयों में किसी प्रकार का शुल्क नहीं लगता और न कोई जाति-पांति या आयु का प्रतिबन्ध है। इसलिए देहली के अधिक से अधिक नर-नारियों को इससे लाभ उठाना चाहिये।

माननीय टंडन जी की चेतावनी

उद्‌घाटन समारोह के अध्यक्ष माननीय श्री पुरुषोत्तम दास जी टंडन ने कहा कि संस्कृत भाषा सम्बन्धी भाषण या सभा जहां होती है, वहां मेरा हृदय पहले पहुंच जाता है। हिंदी के नाते भी संस्कृत का सम्मान और उसके प्रति श्रद्धा का होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि संस्कृत हिंदी का सम्बन्ध जननी और पुत्री का है। जननी के गौरव के अनुसार ही उसकी पुत्री का सम्मान होता है। आपने कहा कि हिंदी भाषा के समर्थन में मेरा एक प्रबल तर्क यह भी है कि हिन्दी की रक्षा से भी संस्कृत भाषा की रक्षाऔर प्रचार स्वभावतः और प्रचार संभव है। यदि देश में संस्कृत और हिन्दी के सम्बन्ध में कुछ काम करना है तो वह इन मन्त्रियों या विशेषरूप से वर्तमान शिक्षा-विभाग से आशा नहीं करनी चाहिए। उनकी गति इस समय सर्वथा विपरीत है। आपने आगे कहा कि जिस संस्कृत साहित्य में इतने धातु और प्रत्यय विद्यमान हैं, आज केंद्रीय सरकार या हिन्दुस्तानी कोष के निर्माणकर्ता उर्दू और फारसी की शरण में दौड़ते हुए दिखाई दे रहे हैं, जब कि इन संस्कृत के हजारों धातुओं और प्रत्ययों ही के सहारे हम लाखों शब्दों का निर्माण कर सकते हैं।

आपने चेतावनी देते हुए कहा कि भारत सरकार का शिक्षा-मंत्रालय जो कार्य कर रहा है, उससे हर समय जनता को सावधान रहने की आवश्यकता है। अन्यथा हिन्दी के सामने भीषण खतरा उपस्थित है।

आपने अन्त में आशा प्रकट की कि देवभाषा संस्कृत का ही लालित्य वैभव प्राप्त कर हिंदी भी पूर्ण और समृद्ध होगी। आपने "जिज्ञासु प्रणाली" की सफलता की कामना की और जनता से भी उसे अपनाने का अनुरोध किया।

इस समारोह में इनके अतिरिक्त श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति, श्री भगवद्दत्त बी. ए., श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जी, श्री गोपाल शास्त्री दर्शनकेसरी श्री देव प्रकाश पातंजल के भी भाषण हुए॥

(प्रधान मंत्री सं० सा० स०)

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट

अमृतसर का

नया श्रेष्ठ प्रकाशन

उरु ज्योति

वैदिक अध्यात्म-सुधा

यह वैदिक अध्यात्म विषयक उत्कृष्ट कोटि का ग्रन्थ है। इस पुस्तक के अध्ययन और मनन से अनेक आध्यात्मिक गुत्थियाँ खुल जाती हैं और पाठक के मन पर यह धारणा जम जाती है कि वेद निश्चय ही अद्भुत ज्ञान विज्ञान के भण्डार हैं। इस श्रेष्ठ ग्रन्थ के लेखक श्री डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल अनेक विषयों के उद्भट विद्वान् और आध्यात्मिकवृत्तिप्रधान अत्यन्त सात्त्विक तथा सूक्ष्म तत्त्वचिन्तक व्यक्ति हैं। यह पुस्तक आपके अनेक वर्षों के गहरे अध्ययन और मनन का फल है।

वेदवाणी के ग्राहकों को सुविधा

पुस्तक की छपाई तथा कागज श्रेष्ठ और सुन्दर है। सुन्दर जिल्द सहित का मूल्य ३) रुपया मात्र। वी० पी० से डाक व्यय लगभग १) रुपया।

१—जो वेदवाणी के ग्राहक हैं या बनेंगे उनसे डाक व्यय आधा लिया जायेगा अर्थात् ३।।) रुपया का मनिआर्डर भेजने से उन्हें पुस्तक घर बैठे पहुँचा दी जायेगी।

२—वेदवाणी के जो ग्राहक इसी वर्ष बने हैं या जो ग्राहक पिछला ऋग्वेदभाष्य पृथक् रूप से लेना चाहते हैं, उन्हें पिछले दो वर्षों में प्रकाशित वेदभाष्य डाकव्यय सहित २।।) रुपये में दिया जायेगा।

पुस्तक मिलने का पता—

रामलाल कपूर एण्ड संस पेपर मर्चेण्ट

नई सड़क दिल्ली	गुरु बाजार अमृतसर	बिरहाना रोड कानपुर

वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस ६

संपादक, प्रकाशक व मुद्रक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, आर्यविजय प्रेस, बीबीहटिया, बनारस।

ओ३म्

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ६] ❀ [अङ्क १०

इस अंक के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

श्रावण २०११ अगस्त १९५४
दयानन्दाब्द १२९
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५३

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
बनारस नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
" " विदेश में ६)
इस अंक का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास **प्रथम** तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के छः ।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। **पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा।**

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १ तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख **'सम्पादक वेदवाणी'** के नाम से आने चाहिए। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहिये। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। **विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है।** विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं है।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सम्बन्धी धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना **ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें** अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—**वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस ६**

वेदवाणी के ग्राहकों को विशेष सूचना

चन्दे का रुपया मनिआर्डर से भेजें—पोस्टल आर्डर से न भेजें

अनेक ग्राहक चन्दे का रुपया मनिआर्डर से न भेजकर पोस्टल आर्डर से क्रास करके भेजते हैं। पोस्ट अजमतगढ़ पैलेस शहर की सीमा से बाहर होने के कारण बैंक वाले पोस्टल आर्डर के भुनवाने का लगभग २) रुपया चार्ज करते हैं। इस प्रकार ग्राहकों के तो थोड़े से पैसे बचते हैं परन्तु वेदवाणी कार्यालय को बैंक में भेजने तथा बैङ्क फीस मिलाकर प्रति पोस्टल आर्डर २।।) की हानि होती है। अतः प्रत्येक ग्राहक से विशेष करके विदेश के ग्राहकों से निवेदन है कि वे कभी भूलकर भी पोस्टल आर्डर न भेजें अन्यथा हम लौटा देंगे।

व्यवस्थापक, वेदवाणी कार्यालय

ओ३म्

वेदवाणी

सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४ ॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों !

वर्ष ६ } काशी, श्रावण सं० २०११ वि०, अगस्त १९५४ ई० { अङ्क १०

मेरा जीवन वेदानुकूल हो

ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये ।
वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ ॥ ५ । यजुः ३६ । १ ॥

ऋचम्	ऋग्वेद प्रतिपादित	साम	सामवेद के सहारे
वाचम्	ज्ञान का	प्राणम्	सुख के कार्य को-जीवात्मा को
प्रपद्ये	शरण लेता हूँ	प्रपद्ये	नियन्त्रित करता हूँ
यजुः	यजुर्वेदानुकूल	श्रोत्रम्[2]	अथर्ववेदानुकूल
मनः	मन के कार्य को	चक्षुः[3]	जीवात्मा को
प्रपद्ये[1]	सम्पादन करता हूँ	प्रपद्ये	(परमात्मा के समीप) ले जाता हूँ

अर्थबोधक टिप्पणी

१. to take shelter–to deal–to obtain–to draw near (–apte.)

२. Veda (–apte)

३. चष्टे ऽनेन तत् चक्षुः [दया० भा० यजुः ६।५]

मयि[4]	विकारों को परे करने वाले में	प्राणापानौ	सुख-प्राप्ति और दुख-अज्ञान-निवृत्ति का बल
वागोजः[5]	ज्ञान का बल		
सहौजो[6]	कार्य सम्पादन का बल	(सन्तु)	होवे

ऋषि-व्याख्यान

हे करुणाकर[7] परमात्मन् ! "ऋचं वाचम् प्रपद्ये" आपकी कृपा से मैं ऋग्वेदादिज्ञानयुक्त श्रवणयुक्त होके उसका वक्ता होऊँ, "मनो यजुः प्रपद्ये" यजुर्वेदाभिप्रायार्थ सहित, सत्यार्थ मननयुक्त[8] मन को प्राप्त होऊँ। "साम प्राणम् प्रपद्ये" ऐसे ही सामवेदार्थ निश्चय[9] निदिध्यासन[10] सहित प्राण को सदैव प्राप्त होऊँ।' [चक्षुः श्रोत्रम् प्रपद्ये]। "वागोजः" "वाग्बल वक्तृत्वबल, मनोविज्ञानबल मुझको आप देवें। अन्तर्यामिन् ![11] [आप] की कृपा से मैं यथावत् [इनको] प्राप्त होऊँ। शरीरबल नैरोग्य दृढ़[12]त्वादिगुणयुक्त को मैं आपके अनुग्रह से सदैव प्राप्त होऊँ। "मयि प्राणापानौ" हे सर्वजगज्जीवनाधार[13] ! प्राण जिससे कि ऊर्ध्व चेष्टा होती है और अपनी अर्थात् जिससे नीचे की चेष्टा होती है, ये दोनों मेरे शरीर में सब इन्द्रिय, सब धातुओं[15] की शुद्धि करनेवाले[16], वैराग्य बल पुष्टि सरल गति करने वाले[17] स्थिर[18], आयुवर्धक मर्म[19] रक्षक हों। उनके अनुकूल[20] प्राणादि को प्राप्त होके, आपकी कृपा से, हे ईश्वर ! सदैव सुखी होके आपकी आज्ञा और उपासना में तत्पर रहूँ ॥

---

४. अस्यति प्रक्षिपति अन्यम् इति अस्मद् तस्मिन् उ० ३।१३९.
५. अजति कोमलो भवतीति ओजः। पराक्रमी वा। उ० ४।१९२.
६. सह चार्थे। सहते यत्रेति सहः। उ० ४।१८९। सह इति बलनामसु पठितम्। निघ.।२।९.
७. करुणाकर = दया के सागर.
८. सत्यार्थ मननयुक्त = उन्नतिकारी और वास्तविक तथ्य के विचारों से भरा हुआ।
९. सामवेदार्थनिश्चय = सामवेद का ज्ञान.
१०. निदिध्यासन = profound and repeated repetition—पुनः २ गहराई में जाना.
११. अन्तर्यामी = जीवात्मा को वश में रखनेवाले.
१२. नैरोग्यदृढत्व = स्व एव शरीर और धर्म में आत्मा की दृढ़ता को.
१३. जीवनाधार = प्राणशक्ति के कारण.
१४. ऊर्ध्व = ऊपर की.
१५. धातु = रसासृङ् मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः। अर्थात् रस, रक्त, मांस, चर्बी, हड्डी के भीतर का द्रव्य और वीर्य ये सात धातु हैं।
१६. शुद्धि करनेवाले = स्वस्थ और पवित्र रखनेवाले.
१७. सरल गति करनेवाले = अङ्गों में कड़ापन दूर करनेवाले.
१८. स्थिर = sure-strong-constant.
१९. मर्म = functional organs.
२०. उनके अनुकूल = इन अवयवों को शुद्ध और बली रखनेवाले।

प्रभु हमें उबारो !

(ले० श्री० पं० श्यामबिहारी लाल जी वानप्रस्थ)

अग्ने जरतिर्विश्पतिस्तेपानो देव रक्षसः ।
अप्रोषिवान् गृहपतिर्महाँ असि दिवस्पायुर्दुरोणयुः ॥

ऋ० ८।६०।१९

अन्वयः—हे जरितः ! देव ! गृहपते ! अग्ने ! त्वम् विश्पतिः, रक्षसः तेपानः, अप्रोषिवान्, दिवः पायुः, दुरोणयुः, च महान् असि ।

पदार्थ :—(जरितः) हे स्तुत्य और सब पदार्थों के *गुण बतानेवाले (देव) सब कुछ देनेवाले (गृहपते) संसाररूपी गृह के स्वामी (अग्ने) प्रकाश* स्वरूप परमात्मन् ! आप (विश्पतिः) प्रजाओं के रक्षक (रक्षसः तेपानः) राक्षसों के तपानेवाले (अप्रोषिवान्) कभी प्रवास न करनेवाले (दिवः पायुः) द्युलोक के रक्षक (दुरोणयुः) घर-घर में व्यापक और (महान्) पूजनीय (असि) हो ।

ऋग्वेद के इस पवित्र मंत्र द्वारा कोई ऐसा ऋषि कह रहा है *जिसने योग द्वारा प्रभु का* साक्षात्कार कर *लिया है। सम्बोधन के रूप में* ईश्वर के चार विशेषण (जरितः), देव, गृहपते व अग्ने हैं। आगे छः (६) विशेषण स्तुति रूप में हैं। क्रिया केवल एक (असि) इस पुनीत ऋचा में है। प्रथम स्तुति का शब्द (जरितः) है। इस से दो भावनायें स्फुट हो सकती हैं। एक तो यह कि भगवान् स्तुत्य है। दूसरी यह कि वह पदार्थों के गुण बताता है कि जीव उनको जान कर मोक्ष और भोग में उनका उचित उपयोग करें। अज्ञान में भूल न हो। हानि से बच जावें। यह तो भगवान् की महती कृपा है कि सब पदार्थों का प्रयोग बता दिया। उपासनीय तो केवल वही है। प्रकृति तो कालान्तर में हेय है। (देव) कह कर वह आगे पुकारा गया है। क्या कुछ है जो उसने नहीं दिया।

और दानी तो उसी की बनाई वस्तुओं का दान करते हैं। साथ ही वह स्वयं प्रकाशवान् है। और प्रकाश का दाता भी है। फिर उसे (गृहपते) के रूप में ऋषि स्मरण करते हैं। गृह तीन हो सकते हैं। बड़ा घर तो संसार है। उसमें बसे जीव उसके पुत्रवत् हैं। अतः वह सब से बड़ा गृहपति है। दूसरा घर शरीर है। उसमें वह व्यापक है ही, तीस[रा] जीवात्मा है। जीवात्मा तो परमात्मा का घर है[।] नारायण शब्द की व्युत्पत्ति में महर्षि दया[नन्द ने] सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम समुल्लास में बता[या है।] अन्तिम सम्बोधन (अग्ने) है। वह ज्ञानस्व[रूप है।] भक्त कहता है कि ऐसे प्रभो ! आप (विश्[पतिः)] प्रजाओं के स्वामी, रक्षक पालक हो। प्रभो ! [आपकी] अनन्त प्रजा है उसे आप पालते व रक्षा करते [हो।] *सब का सब से बड़ा रक्षक तू है।*

आप स्वयं अपनी प्रजा की रक्षा करते हो। [कभी] भी उसमें असफल नहीं होते। चूँकि आप वि[भु] हो, अतः (रक्षसः तेपानः) राक्षसों को नष्ट [करते,] दग्ध कर देते हो। भस्मीभूत कर डालते [हो।] प्रजाओं के पीडक तीन राक्षस हैं। एक तो लुटेरे हिंसक मनुष्य, उनके कुकर्मों का बुरा [फल] देकर उनसे प्रजाओं को बचाते। दूसरे रोग[कारक] *कीटाणु हैं उन्हें भी आप सूर्यप्रकाश व यज्ञ वि[धि]* *करके समाप्त करते हो। तीसरी श्रेणी के काम* मोह लोभ अहङ्कार ईर्ष्यादि अन्तःकरणस्थित [महा]शत्रु हैं। ज्ञान देकर आप उनका निवारण करते [हो।] आप (अप्रोषिवान्) कभी प्रवास नहीं क[रते।] कभी जीव का साथ नहीं त्यागते। सदैव उ[सके] साथ रहते हो। कहीं जीव प्रवास कर भी जा[य तो] आप उसके प्रवास में भी उसके साथ रहते [हो।] आप प्रवास करके कहाँ जा सकते हो। प्रवास अणुधर्मा जीव कर सकता है। आप विभु[...] अतः प्रवास की सम्भावना आपमें नहीं। (दिवः पा[युः)] कह कर प्रेमी आपको पुकारता है। प्रका[श]... सूर्यादि लोकों की रक्षा आप करते हो। ज्ञानि[यों के] रक्षक भी आप ही हो। (दुरोणयुः) आप प्र[त्येक] घरमें व्यापक हो। अन्तिम शब्द (महान्) [है।] आप पूजनीय उपासनीय सत्करणीय हो। आ[पकी] आज्ञा शिरोधार्य होनी चाहिये। इस प्रकार [भक्त] के उद्गार प्रभु के गुणों पर हैं। जिनके हृदय में [ऐसी] भावनायें तरङ्गित हों वे धन्य हैं। संसार के [सब] ऐसे बनें तो बेड़ा पार हो। जगत् का उद्धार [हो,] चरम शान्ति हो। कोई दुःखी न रहे। ओम् श[ान्तिः]

पगडण्डी का मोड़

जीवन के दो मार्गों का तत्त्व

(ले०—श्री महात्मा आनन्द स्वामी जी महाराज)

जीवन के दो मार्ग

जीवन-यात्रा करते हुए कई बार यात्री ऐसे स्थान पर पहुँच जाता है, जहाँ एक के स्थान पर कितने ही मार्ग इधर उधर जाते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। तब यात्री निश्चय नहीं कर पाता कि किस पथ पर चलूँ। एक मार्ग बड़ा सुन्दर, वृक्षों, लताओं, पुष्पों से सुशोभित दिखलाई देता है, दूसरा ऊबड़ खाबड़, शुष्क और भयानक प्रतीत होता है, परन्तु उस पर लिखा है, इसी मार्ग पर चलकर अपने प्रियतम के निकट पहुँच सकोगे। पहले मार्ग पर लिखा है आगे भय, नाश और मृत्यु है। अब किधर जायें?

आगे पग उठाने से पूर्व

आगे पग उठाने से पूर्व विचार करो कि नाश, मृत्यु की ओर जाना है या प्रियतम के द्वार पर पहुँचना है। यह निश्चय करने के लिये एक बार संसार के सारे सुन्दर दृश्यों के पीछे और अपने शरीर के अन्दर छिपी गन्दगी को देख लो और समझ लो कि जो कुछ जगत् में दिखलाई दे रहा है और लोक जिन तत्वों का बना है, मानव शरीर भी उन्हीं तत्वों से बना है। लोक से यह शरीर कोई पृथक् धातु का नहीं बना हुआ, अपितु लोक तथा शरीर में बड़ी भारी समानता है।

महर्षि स्वामी दयानन्द ऋग्वेदादि भा० भू० के उपासना विषय में लिखते हैं:—"हृदय देश में जितना आकाश है, वह सब अन्तर्यामी परमेश्वर ही से भर रहा है और उसी हृदयाकाश के बीच में सूर्य आदि प्रकाश, तथा परलोक, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, बिजली और सब नक्षत्र लोक भी रह रहे हैं। जितने दीखने वाले और नहीं दीखने वाले पदार्थ हैं, वे सब उसी की सत्ता के बीच में स्थिर हो रहे हैं।"

जो लोक में वही शरीर में

और आयुर्वेद के ग्रन्थ ने तो पूरे विस्तार से इसके सम्बन्ध में चरक संहिता, शरीरस्थान अध्याय ६ में लिखा है—यह मनुष्य शरीर लोक संमित है-अर्थात् जो लोकमें है वही शरीर में है।

धातु समुदित होकर लोक बनता है:—

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और छटा ब्रह्म या परमात्मा छः ही मनुष्य शरीर में हैं:—

शरीर में पृथिवी = मनुष्य का आकार है।
शरीर में जल = क्लेद इत्यादि है।
शरीर में तेज = अभिसंताप है।
शरीर में वायु = प्राण है।
शरीर में आकाश = नाना छिद्र हैं।
शरीर में ब्रह्मस्थानी = जीवात्मा है।

इसी प्रकार अन्य वस्तुओं की भी तुलना कीजिये। भगवान् पुनर्वसु कहते हैं कि:—

लोक, ब्रह्माण्ड में इन्द्र है और मनुष्य में अहंकार है।

लोक में आदित्य, मनुष्य में आदान।

लोक में रुद्र, मनुष्य में दोष है। लोक में वसु मनुष्य में सुख है।

लोक में मरुत्, मनुष्य में उत्साह है।
लोक में अश्विनीकुमार, मनुष्य में कांति है।
लोक में विश्वेदेवा, मनुष्य में सम्पूर्ण इन्द्रिय हैं।
लोक में तम, मनुष्य में मोह है।
लोक में ज्योति, मनुष्य में ज्ञान है।

इससे ही युगों का वर्णन भगवान् पुनर्वसु ने इस प्रकार किया है:—

जैसा कृतयुग या सतयुग है, वैसा शरीर में बाल्य अवस्था है।

जैसा त्रेतायुग है, वैसा शरीर में यौवन है।
जैसा द्वापर है, वैसा शरीर में स्थविरता है।
जैसा कलियुग है, वैसा शरीर में वृद्ध अवस्था है।
जैसे युगान्त है, वैसे शरीर में मरण है।

ब्रह्माण्ड और पिण्ड की तुलना का प्रयोजन

यह तुलना तो समझ ली, परन्तु इस तुलना का प्रयोजन क्या है ? भगवान् पुनर्वसु से उनके शिष्य अग्निवेश ने पूछा कि इस सामान्य उपदेश का प्रयोजन क्या है ? तब भगवान् पुनर्वसु ने यह उत्तर दिया कि—अग्निवेश ! सब लोक को अपने में और अपने को सब लोक में देखने से आत्म-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है और वह अनुभव करता है कि आत्मा ही सुख दुख का कर्ता है, अन्य नहीं और जब ज्ञान से जान लिया कि जैसे परमात्मा सारे तत्त्वों से अलिप्त रह कर आनन्द रूप ही रहता है, वैसे मैं भी पाँच तत्त्वों से अयुक्त रह कर अपवर्ग को प्राप्त हो सकूँगा—इसी ज्ञान से अपवर्ग का मार्ग खुल जाता है और वह स्पष्ट देखता है कि सुख दुःख इत्यादि का मूल उपप्लवों की प्रवृत्ति, निवृत्ति और उपराम है। प्रवृत्ति दुख का कारण बनती है और निवृत्ति सुख का कारण। यह जो ज्ञान उत्पन्न होता है, यह सत्य है। यही प्रयोजन है-लोक तथा शरीर के सामान्य उपदेश का।

प्रवृत्ति और निवृत्ति

यह उपदेश सुन कर अग्निवेश ने पूछा कि प्रवृत्ति का मूल क्या है और निवृत्ति का उपाय क्या है ? पुनर्वसु जी ने जो उत्तर दिया उसका सारांश यह है कि:—

मोह, स्वार्थ, इच्छा, द्वेष, कर्म तो प्रवृत्ति के मूल हैं और इन्हीं से फिर अहंकार संग, संदेह और नाना प्रकार के विकारों की शाखाओं वाला बड़ा भारी वृक्ष मनुष्य को ढक लेता है, तब दुख ही व्यापने लगते हैं—क्योंकि दुख पाप ही होते हैं और प्रवृत्ति पाप का मूल है। निवृत्ति अपवर्ग है, जहाँ तक हो सके, सांसारिक प्रपंचों से मन को अलिप्त रखे।

इस प्रवृत्ति तथा निवृत्ति ही को प्रेय तथा श्रेय मार्ग कहा गया है। अब निश्चय कीजिये किस पथ पर चलना है ?

गुलबर्गा जेल में श्रेय प्रेय मार्ग

गुलबर्गा (हैदराबाद दक्षिण) के जेल में जब आर्य समाज की ओर से चलाये सत्याग्रह आन्दोलन में मैं बन्दी था, तो मुझे उसी कोठरी में रखा गया, जहाँ श्री पूज्य महात्मा नारायण स्वामी जी बन्दी थे, एक दिन इसी प्रवृत्ति निवृत्ति या प्रेय श्रेय मार्ग का प्रसंग छिड़ गया, तो इनके सम्बन्ध में महात्मा नारायण स्वामी जी ने जो व्याख्या की, वह विशेष महत्त्व रखती है, अपनी नोट बुक की सहायता से महात्मा जी का वह आदेश यहाँ लिखता हूँ।

महात्मा जी ने बतलाया कि आत्मा की दो वृत्तियाँ हैं—एक अन्तर्मुखी, दूसरी बहिर्मुखी।

जब वृत्ति अन्तर्मुखी होती है, तो केवल आत्मा परमात्मा के अनुभव में ही रत रहने को चित्त चाहता है। सुन्दर सुन्दर गाथा, सत्संग प्रभु भजन और फिर मनन तथा निदिध्यासन में ही वृत्ति टिकी रहती है—यह श्रेय मार्ग है। देखने को बड़ा शुष्क, बेढंगा, बिखड़ा, टेढ़ा-न पुष्प, न लता, न वृक्ष, न छाया। कौन चलेगा इस पर ? वही जिसका आत्मा अन्दर की ओर देखता है, जिसे बाहर के लुभाने वाले दृश्य अपनी ओर नहीं खेंच सकते, जो इस पंच भौतिक चमत्कार की वास्तविकता को पहचान चुका है और इसकी असारता को भी भाँप चुका है।

तब वह गरीबदास के शब्दों में कहता है:-

> यह मन भंजन कीजिये रे नर ! बारम्बार।
> साईं से कर मित्रता, बिसर जाय संसार ॥

और नरसी महता की तरह (जब उसकी पत्नी पुत्र सब मर गये तो) पुकार उठता है:—

> भलुं थयुं भांगी जंजाल।
> सुखे भजीशुं श्री गोपाल ॥

अच्छा हुआ जंजाल छूट गया, अब सुख से श्री गोपाल का भजन करूँगा।

एवं जिसकी वृत्ति बहिर्मुखी है, उसके अन्दर क्या क्रिया होती है उसका क्रम यह है—आत्मा बुद्धि को प्रेरणा करती है, बुद्धि मन को, मन ज्ञानेन्द्रियों को गति देता है, तब इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त हो जाती हैं और इन विषयों के जाल में फँस कर जन्म मृत्यु के चक्कर ही में घूमना पड़ता है। यही प्रेय मार्ग है, इसी को प्रवृत्ति कहते हैं। प्रवृत्ति मार्ग के यात्री के सम्बन्ध में कठोपनिषद् ने यह कहा है:—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं,
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति
मानी, पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥

(कठ० १—२—६)

अज्ञानी पुरुषों को जो प्रमादग्रस्त और भोग, धन के मोह से मूढ़ हो रहे हैं, परलोक की बात पसन्द नहीं आती, ऐसे पुरुष तो केवल इसी लोक को मानने वाले (प्रवृत्ति-मार्गगामी) हैं, उन्हें बार बार मृत्यु का ग्रास बनना पड़ता है ॥

स्वार्थमय संसार में तीन मार्ग

परन्तु प्रवृत्ति मार्ग पर चलने वाले भी तीन प्रकार के यात्री होते हैं। यह तो स्पष्ट है कि यह जगत् स्वार्थमय है, इस स्वार्थ ही के कारण सारे सम्बन्ध सारी मित्रता, और सारे कार्य हैं। जब कोई सम्बन्धी पिता, पुत्र, पत्नी, पति, माता भाई मर जाता है, तो रुदन होने लगता है। इसका कारण यह नहीं कि मरने वाला प्राणी उन्हें बहुत प्यारा था, अपितु कारण यह है कि मरने वाले के साथ परिवार वालों के स्वार्थ जुड़े थे और वियोग स्वार्थ सिद्धि में बाधक होता है—यह स्वार्थ हानि ही रुदन का कारण बनी। संसार में प्रतिदिन सहस्रों प्राणी मरते हैं, परन्तु उनके मरने पर हमें ध्यान भी नहीं आता। क्यों? उनके साथ कोई स्वार्थ तन, मन या धन का जुड़ा हुआ नहीं था। इससे प्रकट होता है कि जगत् स्वार्थमय ही है।

परन्तु स्वार्थ भी तीन प्रकार का है और यात्री भी इन विभिन्न स्वार्थों के कारण तीन प्रकार के हैं:—स्वार्थ का अर्थ है अपनी कामना या "अपनी गरज"। इसके तीन भेद यह हैं:—(१) उत्कृष्ट (२) मध्यम (३) निकृष्ट ॥

(१) उत्कृष्ट स्वार्थ वह है जिसमें आत्मा स्वच्छ रूप में रह कर अपने अर्थ की ओर प्रवृत्त होता है, इसमें सत्त्व गुण प्रधान होता है, इन्द्रियों के विषयों से अलिप्त रह कर, केवल आत्मा के अर्थ की सिद्धि में मनुष्य तत्पर रहता है, जिस प्रकार से आत्मा उन्नत हो सके, पर-सेवा, परोपकार, दान, दया, यज्ञ, तप-त्याग-एकान्त, वास इत्यादि का जीवन इस पहली कक्षा में आता है।

(२) मध्यम स्वार्थ वह है, जिसमें आत्मा मन और दूसरे इन्द्रियों से युक्त होकर सम्मिलित अर्थ की सिद्धि करता है। मन की बात भी सुनी तथा मानी जाती है, इन्द्रियों को भी सन्तुष्ट करने का यत्न होता है परन्तु साथ ही आत्मा की आवाज भी सुनी जाती है, आत्मा को भुला नहीं दिया जाता, आत्मा भूखा नहीं मारा जाता, इसका भोजन अर्थात् आत्म-चिन्तन, आत्म निरीक्षण, आत्मविश्वास, उसे दिया जाता है। इस अवस्था में रजोगुण भी सत्त्वगुण के साथ साथ चलता है।

(३) निकृष्ट स्वार्थ वह है, जिसमें आत्मा मन और इन्द्रियों से युक्त होकर ममता के वशीभूत हो कर मन तथा इन्द्रियों ही के अर्थ की सिद्धि करता है। अब तमोगुण रजोगुण के साथ मिल जाता है, सत्वगुण दब जाता है और मानव, मन तथा इन्द्रियों के अधीन हुआ इस प्रेय मार्ग पर चलता हुआ अनेक कर्म ऐसे कर बैठता है कि मानव-शरीर ही से वंचित हो जाता है।

इस स्वार्थमय जगत् में भी उत्कृष्ट स्वार्थ तो अन्त में निवृत्ति मार्ग पर ही पहुँचा देता है, और मध्यम-स्वार्थ भी बहुत हानि पहुँचाये बिना, आज नहीं तो कल, मानव जीवन के उद्देश्य के निकट पहुँचा ही देता है, परन्तु निकृष्ट स्वार्थ को अपनाने वालों के लिये तो कोई आशा रह ही नहीं जाती। वे तो घोर तम वाले लोकों ही में जायेंगे और वहीं उन का सुधार हो सकेगा।

कठोपनिषद् के दो मार्ग

कठोपनिषद् में भी मानव जीवन के दो मार्गों का वर्णन आया है।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत-
स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते,
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥

कठ० अध्याय १—व० २

श्रय और प्रेय दोनों मनुष्य को प्राप्त होते हैं। धीरे धीरे उन दोनों को भली भाँति समझ कर अलग अलग करता है, धीर प्रेय की अपेक्षा श्रेय को ले लेता है—अपना लेता है। मन्द पुरुष योग क्षेम से प्रेय को अपनाता है। इससे अगले मन्त्र में यम नचिकेता से कहता है—"तूने हे नचिकेता! प्रियप्रिय-रूप विषयों को विवेचन करते हुए छोड़ दिया—इस भोग सम्पत्ति-मय श्रृङ्खला को तूने स्वीकार नहीं किया, जिस में बहुत मनुष्य मग्न हो जाते हैं—फँस जाते हैं।"

जैसा कि इस अध्याय के आरम्भ में कहा गया है कि प्रेय मार्ग तो बड़ा सुहावना नजर आता है, इस मार्ग पर इन्द्रियों का अपने विषयों से मिलाप होता है। कुछ समय के लिये संतुष्टि भी होती है। इस लिये यह हरा भरा आराम देनेवाला प्रतीत होता है। और श्रेय सूखी पगडण्डी है, न सज धज, न रौनक, न चहल पहल, न चमक दमक, न तड़क भड़क सूना मार्ग। प्रलोभनों से निरन्तर युद्ध छिड़े रहने का मार्ग है, प्रिय प्रतीत होने वाले पदार्थों के परित्याग का मार्ग है। यह संयम और अनासक्ति का मार्ग है। प्रेय मार्ग पर चलने वाले अपने आपको बड़ा भाग्यवान और सुखी समझते हैं, परन्तु अन्त में सांख्य के सौभरि मुनि की तरह यही कहने पर बाधित होते हैं कि इस मार्ग पर चलने वालों के लिये कोई सन्तुष्टि नहीं, कोई शान्ति नहीं और कोई विश्राम नहीं।

सोलोमन (solomon) के जीवन से भी ऐसा ही पता मिलता है-इस सोलोमन का समूचा जीवन राजकीय विलासता का जीवन था, इस की सात सौ स्त्रियाँ थीं, अब विचार कर लीजिये कि इस के पास धन, दौलत, राज्य शक्ति कितनी महान् होगी, परन्तु सोलोमन के अन्तिम शब्द ये थे:—Vanity of all vanities all is vanity.

ऐसे ही वयोवृद्ध ययाति राजा का अनुभव भी यही है कि:-

न जातु कामाः कामानां उपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

भोग द्वारा काम की शान्ति नहीं होती, भोगों से तो वह वैसे ही बढ़ता है, जैसे घी डालने से अग्नि प्रबल हो उठती है।

भगवान् मनु का आदेश

मनुस्मृति में भी प्रवृत्ति और निवृत्ति दो प्रकार के जीवनों का वर्णन आता है, भगवान मनु कहते हैं:-

सुखाऽभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च ।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥

वैदिक कर्म के दो भेद हैं, प्रवृत्ति और निवृत्ति, पहला सांसारिक सुख का हेतु है और दूसरा मोक्ष का।

मानव जीवन में एक बात प्रत्यक्ष देखी जा सकती है, कि यदि मनुष्य में सत्व गुण प्रधान हो तो परमार्थ के काम, पवित्र काम और दूसरों के कल्याण के कार्य करने की रुचि होती है और ऐसे व्यक्ति का अन्तरात्मा भी उस का उत्साह बढ़ाता है। इसके विपरीत गुण वालों का अनुभव दूसरा होता है।

परमात्मा की आवाज सुनो

महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने सत्यार्थ प्रकाश के सातवें समुल्लास में एक अद्भुत रहस्य बतलाया है। श्रेय या प्रेय मार्ग पर चलने वालों को परमात्मा भी सावधान करता रहता है। वह कैसे? महर्षि का आदेश पढ़िये:-

"उसी क्षण (जब मनुष्य कोई कर्म करने लगता है) आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय शङ्का और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय निःशंकता और और आनन्द, उत्साह उठता है। यह जीवात्मा की ओर से नहीं, किन्तु परमात्मा की ओर से है। और जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है, उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं।"

महर्षि ने स्पष्ट बतला दिया है कि प्रत्येक व्यक्ति को परमात्मा अपना आदेश देता है, परन्तु स्वार्थी सुनता हुआ भी नहीं सुनता और कुमार्ग पर चलने लगता है, फिर भी अन्तरात्मा से आवाज आती है—"क्या कर रहे हो? संभलो, पतित न हो जाओ, गिरो नहीं, उठो।"

यह आवाज जो सुन लेता है और उसके अनुसार चलता है, वह कुकर्म से बच जाता है और फिसल कर, गिर कर भी पुनः उठकर, संभल कर सन्मार्ग पर चलने लगता है। कोई भी पग उठाने—

कोई भी कार्य करने से पूर्व परमात्मा से पूछो—"करूँ कि न करूँ"—अन्तरात्मा से जो ध्वनि उठे, उसे परमात्मा की आवाज समझो—इसी को आकाश-वाणी कहते हैं।

इस ध्वनि को आकाश-वाणी इसलिये कहा जाता है कि यह हृदया-काश में विराजमान परमात्मा की ओर से आती है। जो मनुष्य इस आकाश-वाणी को या परमात्मा के आदेश को सुनता है और साथ ही लोक और शरीर के तत्त्वों की समानता को भी भली प्रकार हृदयंगम कर लेता है वह फिर वास्तविकता को समझ जाता है। और इन तत्त्वों से ऊपर उठने का यत्न करता है। तथा निकृष्ट स्वार्थ से बचे रहने का निरन्तर अभ्यासी भी हो जाता है।

विषयों का चिन्तन ही न करो

यहाँ एक प्रश्न सामने आ जाता है कि प्रवृत्ति-मार्ग पर चले बिना संसारी लोगों का कार्य चल नहीं सकता, तो फिर उत्कृष्ट तथा मध्यम स्वार्थ ही से कार्य क्यों नहीं ले लिया जाता ? यह निकृष्ट स्वार्थ अपनाया ही क्यों जाता है ? परमात्मा की सामर्थ्य से प्रकृति में जो क्रिया हुई, उसके अन्दर से यह काम, क्रोध, मोह, ईर्षा, द्वेष तो कहीं पैदा हुए नहीं, फिर ये आ कहाँ से गये ? इसका कुछ उत्तर तो कठोपनिषद् के वाक्य में आ गया है, अधिक स्पष्ट रूप से गीता में श्री कृष्ण भगवान् ने बतला दिया है कि ये सारे अनिष्टकारी पदार्थ कहाँ से आ जाते हैं:—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥६२॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३

(गीता अ० २)

मन के द्वारा विषयों का चिन्तन या ध्यान होता है। विषयों का चिन्तन करने से उन विषयों में आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है। कामना पूर्ति में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मूढ़भाव उत्पन्न होता है। तब स्मरण-शक्ति भ्रमित हो जाती है। स्मृति के भ्रमित होने से बुद्धि का नाश हो जाता है। बुद्धि नाश होने पर नष्ट हो जाता है। मन या चित्त ने तो विषयों का केवल ध्यान या चिन्तन किया और उसका परिणाम सर्वनाश निकल आया ! यदि मन विकारी न हो, विषयों का ध्यान न करे, तो ये विषय मनुष्य के पास आ ही नहीं सकते।

कसौटी आपके हाथ में

पूरा मनन करके शरीर तथा लोक के तत्वों, और उनके गुणों को भली प्रकार हृदयंगम कर लेना चाहिये।

सारी सृष्टि का जिसे ब्रह्माण्ड कहते हैं, अधिष्ठाता परमात्मा है। इस मानव शरीर या पिण्ड का अधिष्ठाता आत्मा है।

प्रश्न यह है कि इस आत्मा ने प्रकृति के पाँच भूतों और उन गुणों में फँसा रहना है या इनसे छुटकारा पाकर परमात्मा से मिलना है। यदि प्रभु मिलन की चाह है, तब तो श्रेय मार्ग पर चलना होगा, या उत्कृष्ट प्रेय मार्ग पर और यह तभी होगा, जब मानव जीवन की यात्रा में प्रति दिन आने वाली घटनाओं को देख कर, उसके श्रेय और प्रेय दोनों मार्गों को यथार्थ जान लें। इस अध्याय में वह कसौटी आपको दे दी गई है, जिससे आप स्वयम् देख सकते हैं कि हमारे पग किधर उठ रहे हैं ? साथ ही यह भी आप जान सकते हैं कि धीरे-धीरे किस प्रकार अपने आप को श्रेय मार्ग वा उत्कृष्ट प्रेय मार्ग का यात्री बनाया जा सकता है।

मन के दोष और उनका प्रशमन

आयुर्वेद-शास्त्र में शरीर तथा मन के दोषों का वर्णन किया गया है और दोषों के प्रशमन का उपाय भी बतलाया गया है।

रजस्तमश्च मानसौ दोषौ, तयोर्विकाराः कामक्रोध-लोभमोहेर्ष्यामानमदशोकचित्तोद्वेगभयहर्षादयः ॥

(चरक–विमानस्थान-अ० ६-६)

रजोगुण और तमोगुण मन के दोष हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्षा, अभिमान, मद, शोक, चित्त का उद्वेग, भय और हर्षादिक ये मन के दोषों के विकार अर्थात् मन के रोग हैं।

वातपित्तश्लेष्माणस्तु शरीरदोषास्तेषामपि च विकारा ज्वरातीसारशोथ मेह कुष्ठादय इति ॥७॥

वात पित्त और कफ ये शरीर में रहनेवाले दोष हैं। ज्वर, अतिसार, शोथ, शोष, प्रमेह, कुष्ठ, आदिक उन दोषों के विकार हैं।

इन 'दोषों के प्रशमन का उपाय चरक सूत्र स्थान के पहले ही अध्याय में बतलाया है:—

प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो द्रव्ययुक्तिव्यपाश्रयैः।
मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ॥५६॥

'शारीरिक रोग द्रव्यों की युक्तियों से सम्बन्ध रखने वाले औषधों द्वारा शांत होते हैं और मानसिक रोग ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, समाधि आदि से शांत होते हैं।'

ज्ञान का तात्पर्य अनात्म और आत्म वस्तुओं का ज्ञान है। विज्ञान सृष्टि उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय तथा सृष्टि क्रम ही है। और पूरे धैर्य से ज्ञान विज्ञान प्राप्त करके फिर धैर्य से समाधि अवस्था में जाकर इस ज्ञान विज्ञान का साक्षात्कार करने ही से पूरी शान्ति मिलती है।

शारीरिक तथा मानसिक रोगों से बचने के लिये और अपने आपको निवृत्ति मार्ग या श्रेय मार्ग का यात्री बनाने के लिये अथवा प्रेय मार्ग पर भी चलें तो उत्कृष्ट स्वार्थ वाले ही बनें—इसके लिये शारीरिक तथा मानसिक तत्त्वों और लोक तत्त्वों का कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है। इन तत्त्वों के सम्बन्ध में सुश्रुत से अच्छा प्रकाश मिलता है।

आयुर्वेद-शास्त्र सुश्रुत में पंच महाभूत और आत्मा के संयोग को पुरुष कहा गया है। और इसी को 'कर्म पुरुष' का नाम दिया गया है। तथा इस कर्म पुरुष के १६ गुण बतलाये गये हैं जो ये हैं:—(१) सुख (२) दुख (३) इच्छा (४) द्वेष (५) प्रयत्न (६) प्राण, श्वास लेना (७) अपान (अधोवायुनिःसारण) (८) उन्मेष, निमेष नेत्रों का खोलना बन्द करना (९) बुद्धि (१०) मन (इन्द्रियों की प्रेरण शक्ति) (११) संकल्प (१२) विचारणा (१३) स्मृति (१४) विज्ञान (चातुर्य) (१५) अध्यवसाय (१६) विषयोपलब्धि, शब्द, स्पर्श, रूप आदि का ग्रहण करना। परन्तु चूँकि पंच भूत सत्त्व, रजस् तमस् गुण वाले हैं, इसलिये क[illegible] पुरुष इनसे अवश्य प्रभावित होता है। तब जीवों [illegible] मन के गुण भिन्न-भिन्न हो जाते हैं, जिनकी व्याख्[illegible] इस प्रकार की गई है:—

सत्त्वगुण प्रधान जीव के मन के गुण:—

(१) आनृशंस्य—निर्दयता न होना (दयावान्) ([illegible] संविभागरुचिता (औरों को अवश्य देना चाहे अप[illegible] लिये पदार्थ रहे या न रहे) (३) तितिक्षा, हर प्रक[illegible] का कष्ट सहन कर लेना (४) सत्यता (५) धर्माचरण [illegible] आस्तिकता (६) ज्ञान (विचार शक्ति) (७) बुद्[illegible] मेधा (धारण शक्ति) (८) स्मृति (९) धृति (धैर्य[illegible] (१०) अनभिषंग (बिना किसी लोभ या फल की इच्[illegible] के शुभ कर्म करना)।

रजोगुण प्रधान मन के गुण—(१) विशे[illegible] दुख बाहुलता दुःखी रहना (२) पर्यटनशीलता (ए[illegible] जगह स्थिरप्राय न होना अर्थात् बहुत भ्रमण करना[illegible] (३) अधृति (धैर्य न होना) (४) अहंकार (अभिम[illegible] करना) (५) झूठ बोलना (६) दया न रखना ([illegible] दम्भ (दम्भ पाखण्ड करना) (८) मान (मान[illegible] पीछे भागना) (९) हर्ष (जरा सी बात से अ[illegible] प्रसन्न हो जाना) (१०) काम (कामनाओं की पूर्ति [illegible] में लगे रहना) (११) क्रोध (झट क्रोध में आ जाना)

तमोगुण प्रधान मन के गुण—(१) विष[illegible] रखना (२) नास्तिकता (ईश्वर वेद में विश्वास [illegible] करना) (३) अधर्मशील होना (४) बुद्धि का ठी[illegible] कार्य न करना बुद्धि का रुके रहना) (५) अज्ञा[illegible] (धारणाशक्ति अच्छी न होना) (६) अकर्मशीलता, को[illegible] काम करने को चित्त न चाहना (आलस्य तथा प्रमा[illegible] (८) निद्रा का अधिक आना।

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण जीवों के मन [illegible] गुण जान लेने के पश्चात् पंच भूतों के गुण भी जा[illegible] लेने चाहिये:—

आकाश में सत्त्वगुण की विशेषता है।

वायु में रजोगुण की विशेषता है।

अग्नि में सत्त्व तथा रजोगुण दोनों की विशेषता है[illegible]

जल में सत्त्वगुण और तमोगुण की मिली हु[illegible] विशेषता है।

पृथिवी में केवल तमोगुण की विशेषता है।

इन पंच भूतों में हर एक भूत और तत्त्व अति-सूक्ष्म रूप से विद्यमान है।

जिस जीव के मन में जो गुण प्रधान है, वह उसी प्रकार का व्यवहार करेगा, इसीलिये भगवान् कृष्ण ने दो प्रकार के मनुष्यों का वर्णन किया है, एक दैवी सम्पदा वाले और दूसरे आसुरी सम्पदा वाले। आप देख लीजिए कि आप में कौनसा गुण प्रधान है? फिर उसके अनुसार अपने जीवन को क्रमशः उन्नत करने का यत्न कीजिये। यदि सत्त्व गुण प्रधान है, तब तो आपका इसी जीवन में मोक्ष हो सकता है और यदि रजोगुण या तमोगुण ने घेर रखा है, तो इनसे छुटकारा पाने का यत्न प्रारम्भ कर दीजिये। उसका साधन यही है कि मनुष्य के सामने जो दो मार्ग खुलते हैं, उनके सम्बन्ध में निश्चय कीजिये कि आप श्रेय मार्ग का यात्री बनना अपने लिये अच्छा समझते हैं, या प्रेय मार्ग का। और यदि प्रेय मार्ग ही पर चलना है, तो इस मार्ग पर चलते हुए उत्कृष्ट स्वार्थ भला प्रतीत होता है, या निष्कृष्ट। इस अध्याय में उन सारे तत्त्वों का वर्णन आ गया है, जो आपको सत्त्व-गुण प्रधान बनने में पूरी सहायता दे सकते हैं। इस अध्याय का बार-बार मनन करने से पर्याप्त लाभ होगा।

वैदिक-वाग्दर्शन

(वेद एवं दैवी वाणी का विवेचन)

[लेखक—श्री पं० वैद्यनाथ जी शास्त्री साहित्याचार्य-पोरबन्दर]

इस वर्ष वेदवाणी के वेदाङ्क, छटे वर्ष के अङ्क १, २ में विद्वद्प्रवर, प्रसिद्ध अनुसंधानक श्री पं० भगवद्दत्त जी वैदिक रिसर्चस्कालर 'दैवी वाक्' के विषय में एक गवेषणापूर्ण लेख निकला था। कई आर्यविद्वानों से उनका अनुरोध था कि लोग अपना विचार इस विषय पर प्रकट करें और लेख की समालोचना करें जिससे वैदिक विज्ञान की उन्नति हो। मैंने लेख आद्योपान्त पढ़ा और तत्सम्बन्धी विषय पर अपना विचार लिख रहा हूँ। जो वस्तुतः मेरे विचार में उस लेख के विचारों से समन्वय लानेवाला होगा। मैंने "वैदिकं वाग्विज्ञानम्" शीर्षक से एक बृहत् लेख बहुत समयपूर्व संस्कृत में लिखा था। वह "सारस्वती सुषमा" में चैत्र पूर्णिमा को सप्तम वर्ष के प्रथम अङ्क में प्रकाशित हो चुका है। पुनः उस विचार को और पल्लवन के साथ लिख रहा हूँ। वस्तुतः दैवीवाक् कहें या वेदवाक् कहें परिणाम अन्त में एक ही स्थान पर पहुँचता है। हां दैवीवाक् कहने से वैज्ञानिक दृष्टि पर बल अधिक पड़ता है—याज्ञिक और आध्यात्मिक दृष्टियां उसमें संकीर्ण नहीं होतीं। मानव चेतना विचारों की शृंखला बनाती है। वह चेतन स्वभाव होते हुए कभी भी विचार से पृथक् नहीं हो सकती। चेतना के व्यापार में विचार समाविष्ट रहते हैं। ये विचार बुद्धितत्त्व के गोचरीभूत होकर ज्ञान की कोटि में आ जाते हैं। बाह्य जगत् में कर्मेन्द्रियाँ जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों का अनुसरण करती हैं वैसे अन्दर भी आन्तरिक इन्द्रियां अन्तःकरण भी आन्तरिक कार्यों का संपादन करते हैं। और ये आत्मा का अनुसरण करते हैं। तान्त्रिकी शास्त्रीय परिभाषा में अन्तःकरण चार हैं और वे हैं मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार। इन चारों में मन सारी कल्पनाओं का सर्जन करता है। चित्त इन्हें मूर्त्तरूप देकर विवेचनार्थ बुद्धि के पास भेज देता है। बुद्धि उसका सम्यक् निश्चय करती है। व्यवस्था हो जाने पर आत्मा उपादेय का ग्रहण और अनुपादेय का परित्याग करता है। बुद्धितत्त्व का गोचरीभूत विषय ज्ञान जब तक मानव मस्तिष्क में ठहरता है तब तक वह विचार के संस्कार के रूप में रहता है। जब उसे ज्ञानमय आत्मा अन्यों पर प्रकट करना चाहता है तब वह व्यक्तभाषा के माध्यम से ऐसा करने में समर्थ होता है। इस प्रकार बुद्धि का गोचरीभूत विषय मस्तिष्क में विचार संज्ञा को प्राप्त

हुआ बाह्य जगत् में प्रकटीकरण के द्वारा भाषा के रूप को धारण कर लेता है। भाषा निश्चय ही बाह्य-विचार और विचार आन्तरिक भाषा है, अतः दोनों की एकरूपता है। व्यक्तरूप से प्रयुज्यमान वाणी ही हमारे द्वारा बाह्य जगत् में व्यक्त की जाती है। आन्तरिक जगत् में अव्यक्त रूप में कार्य करनेवाली वाणियोंके भी तीन अवस्थान पाये जाते हैं। ऋग्वेदीय मन्त्र १।१६४।४५[1] इस विषय पर अच्छा प्रकाश डालता है। इसके अनुसार वाणी के चार अवस्थान हैं। इनमें तीन का ज्ञान मनस्वी लोगों को ही होता है। दूसरों को नहीं। ये तीनों आभ्यन्तर जगत् में गुप्त एवं अव्यक्तरूप से अन्तर्हित हैं। वाणी का चौथा अवस्थान मनुष्य के व्यक्तभाषण अथवा श्रवण में आता है। शब्दान्तर से पारिभाषिक रूप में इन्हें—परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी नाम दिया जाता है। यह वैखरी वाणी अन्तराल में हुए वेपनों से सारी दिशाओं में बिखरती और विस्तार को प्राप्त होती है अतः इसे वैखरी कहा जाता है। इससे भिन्न तीनों वाणियाँ आन्तरिक जगत् में अव्यक्त हैं। ये तीनों क्रमशः सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम रूप होने से मध्यमा, पश्यन्ती परा नाम से विख्यात हैं। इन वाणियों के नाम भी सार्थक हैं और ये हैं भी वैज्ञानिक। वाणी का किस प्रकार क्रमिक विकास होता है, इसके परिज्ञान के लिये विचारकों को पाणिनीय शिक्षा के वचन[2] पर ध्यान देना चाहिये। जब आत्मा बुद्धि के माध्यम से ज्ञातव्य मूर्त विषय के प्रति आकृष्ट होती है तो वह सुषुम्णाकेन्द्र में स्थित मन को माध्यम रूप से नियुक्त करता है। उस समय उसकी प्रेरणा प्राण सम्बन्धी ऊष्मा (animal Heat) को ताड़ित करती है। इससे मारुती वायु प्रकट होती है। वह उर में विचारती हुई उदान-प्राण के रूप में बाहर आती हुई कण्ठ में लगकर स्वरतंत्रियों (vocal cards) को संघर्षण करती हुई मन्द्र स्वरों को उत्पन्न करती है। यह स्वर झंकार के रूप में जिह्वा अथवा तालु के विविध भागों को स्पर्श करता हुआ शब्द रूप में परिवर्त्तित हो जाता है। यहां प्रसङ्ग से शब्दोत्पादन के हेतुभूत मारुत के विषय में थोड़ा सा विचार करना अनुपयुक्त न होगा। अथर्व ५।३०।१० में[3] लिखा है कि बोध और प्रतिबोध दो ऋषी प्राणों के रक्षक हैं और शरीर में कार्य करते हैं। ये रात्रि दिन जागते हैं और सावधानी से कार्य का सम्पादन करते हैं। "मारुत" को लोक में "अदिजन" कहा जाता है। प्राण और उदान ही बोध प्रतिबोध हैं। प्राण वैदिक भाषा में वरुण और आयुर्वेद में "विष्णुपदामृत" नाम से प्रसिद्ध है। इस विषय में शार्ङ्गधर संहिता के[4] पंचमाध्याय से अच्छा प्रकाश मिलता है। नाभिदेश पर्यन्त विचार करनेवाला प्राण हृदयकमल को स्पर्श करता हुआ कण्ठ द्वारा बाहर निकलता है। इस कारण से कि वह विष्णुपदामृत का पान कर सके। वह पुनः अन्तर्लोक (ftherial space) से प्राणदायक अमृत को ग्रहण कर वेग से वापस आता है। वह जाठराग्नि को रससीकरों से सजीव करता हुआ समस्त मानव शरीरों को तृप्त करता है। विचार, ज्ञान और भाषा ये तीनों परस्पर सम्बद्ध हैं। एक दूसरे के साहाय्य के बिना इनमें कोई भी कार्यक्षम नहीं। यह पाश्चात्य भाषाविज्ञान विशारदों को भी सम्मत है।[5]

१—चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
त्रीणि गुहा निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥ ऋ० १।१६४।४५

२—आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्। मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्॥

३—ऋषी बोधप्रतिबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः। तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवानक्तं च जागृताम्॥

४—नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम्। कण्ठाद्बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम्॥
पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः। प्रीणयन् देहमखिलं जीवयन् जठरानलम्॥

५—We never meet with articulate sounds except as wedded to determinate ideas,, nor do we ever meet with determinate ideas i except embodied forth in articulate sounds.
I, therefore declare my conviction as explicitly as possible that thought in the sense of reasoning is not porsible without language. (maxmuller in science of language).

इन पूर्वोक्त वाणियों में 'मध्यमा' वाणी अन्तर्मुखी है और किसी के भौतिक कर्ण माध्यम से नहीं सुनी जा सकती। और अन्यों पर इसका प्रकटीकरण भी शक्य नहीं। इसका उद्गम स्थान सुषुम्णा केन्द्र है। शरीर विज्ञान के विचारक मस्तिष्क से लेकर सुषुम्णा के पुच्छ तक का विचार करते हैं। ग्रीवा के अन्तिम कशेरुक के ऊपर सुषुम्णा का शिखर है। वहाँ पर मस्तिष्ककल्प एवं आज्ञाचक्र की स्थिति है। इस शिखर से नीचे, मूलाधार कटिभाग से ऊपर, सौरचक्र से थोड़ा नीचे छोड़कर सुषुम्णा के ऊपर भाग में गुहा के अन्दर बिना स्वर और घोष के स्वर और व्यंजन से परिपूर्ण जो शब्दराशि पैदा होती है, वही मध्यमा वाक् है। प्रवचन साहित्य में उपनिषदों में 'गुहा'[1] शब्द का प्रयोग बहुधा गुप्तहृदय के अर्थ में देखा जाता है। यह गुप्तहृदय आज कल लघुमस्तिष्क नाम से पुकारा जाता है। जिस प्रकार योगी पर्वत गुहा में योग-साधना करते हैं उसी प्रकार अन्तर्जगत् में साधना करने वालों ने आन्तरिक पर्वत और गुहा का अन्वेषण किया। मेरुदण्ड की सार्थकता भी आन्तरिक पर्वत के मानने पर है अन्यथा नहीं। मानव-शरीर में समस्त पृष्ठवंश पर पाश्चात्य लोगों के मत से २७ और भारतीयों के मत से ३३ पर्व (vertibrus) स्वीकार किये गये हैं। इन्हीं को कशेरुक कहा जाता है। इसी मेरुदण्ड में सुषुम्णा की स्थिति है। यह सूत्र के समान दिखलायी पड़ने वाली बहुत सी शाखाओं को घेर कर स्थित है। आचार्यों ने इसकी शाखाओं की गणना भी की है[2]। पांच पर्वो वाली यह शाखाओं में विभक्त हुई तीन लाख की संख्या तक पहुँचती है। शरीर विज्ञान-वेत्ता इसकी पचास सहस्र शाखायें तक मानते हैं। शिवस्वरोदय[3] में इसकी ७२ हजार शाखायें गिनाई गयी हैं। ये सब शाखा प्रशाखा के भेद से दाहिने पार्श्व से बायें तक समस्त शरीर में फैली हैं। इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा-ये तीनों प्रधान नाड़ियाँ हैं। मेरुदण्ड के बायें इडा की दाहिने पिङ्गला की और मध्य में सुषुम्णा की स्थिति है। एक गान्धारी नाम की भी नाड़ी है जो बायीं आँख में जाकर समाप्त होती है। इडा, सुषुम्णा और पिंगला ये तीनों ही जीवन की स्थापना में सहायक हैं। मानव शरीर में जो इडा है वही लोक में गंगा है। पिङ्गला को यमुना कहा जाता है। सुषुम्णा को सरस्वती नाम से व्यवहार में लाया जाता है। वेद में दिखलायी पड़नेवाली गंगा आदि नदियाँ नाडी अर्थ को देने वाली मालूम पड़ती हैं। तीनों का जहाँ संगम होता है उसे योगी लोग प्रयाग कहते हैं। इडा क्रिया सूत्र की (active nerves) की केन्द्रभूत और पिङ्गला ज्ञानसूत्र (sensitive nerves) की केन्द्रभूत है। सुषुम्णा दोनों के कार्यकलापों का संचालन करती है। हम जो कुछ भी मन में मंत्रात्मक, वाक्यात्मक, शब्दात्मक, उच्चारित करते हैं—ये सब मस्तिष्क और सुषुम्णा के मध्य होने वाले क्रियासूत्र के वेपनमात्र हैं। हमें इन वेपनों की अनुभूति स्पष्ट होती है परन्तु ये कर्णगोचर नहीं हैं। इनके सुनने में कर्ण असमर्थ हैं। इन वेपनों का स्वरतंत्रों से कोई सम्बन्ध नहीं। ये वेपन केवल लघुमस्तिष्क तक ही रहते हैं। वरण नामी बृहत् मस्तिष्क इन्हें ग्रहण करता है। ये वेपन ही वेद में मध्यमा वाक् कहे जाते हैं। प्रसिद्ध "अजपाजाप" इसका ही संकेत करता है। सभी आस्तिक संप्रदायों में अपने अनुसार जो मौन प्रार्थना देखी जाती है—वही

* without language it is uonpossible to concieve philosophical, may, even any human contciousness. Mr. sheeling.

१—अस्यज्योतिर्निहितं गुहायाम्—कठ ३।२।१९; गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्—क १।२।१२, गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तम्। क० २।१।६; गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति। मु० ३।२।९; यो वेद निहितं गुहायाम् परमे व्योमन् तै० बा० २।१ यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह—ग्रन्थयः। क० ३।६।१५. स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। तै० ५।१; अपगूढं गुहाहितम्। ऋ० १।२३।१४; पश्वा न तायुं गुहां चरन्तम् नमो युजानं नमो वहन्तम्—ऋ० १।६५।१; गुहा चरन्ती मनुषयो न योषा सभावती विदथ्येव संवाक्। ऋ० १।१६७।३; सम्यक् स्रवन्ति सरिता न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः ऋ० ४।५८।६; वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहासद् यत्र विश्वम् भवत्येकनीडम्—यजु० ३२।८।

२—मध्यस्थायाः सुषुम्णायाः पर्वपञ्चसंभवः। शाखोपशाखतां प्राप्ताः शिरालक्षत्रयात्मकम्। अर्धलक्षमिति प्राहुः शरीरार्थविचारकाः॥ (अथर्ववेदभाष्ये)

३—नाभिस्थानकन्दोर्ध्वमंकुरादेवनिर्गताः। द्विसप्ततिसहस्राणि देहमध्ये व्यवस्थिताः॥ ३२॥ इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्णा च तृतीयका॥ ३६॥ इडा वामे स्थिताभागे पिङ्गला दक्षिणे स्मृता। सुषुम्णा मध्यदेशे तु गान्धारी माय-

एतन्मूलक ही है। इस भाव को ऋग्वेद १०।४७।७[1] में इस प्रकार व्यक्त किया गया है। हमारे स्तुतिवचन हृदयस्पर्शी, मन से कहे गये ही दूत रूप होकर परमेश्वर को प्राप्त होते हैं। मन में हुआ व्यापार वाणी को उच्चारण की ओर प्रेरित करता है। इसलिए यह मध्यमा वाक् वैखरी की जन्मदात्री है। संकल्प मन का विशुद्ध व्यापार है—ऐसा छन्दोग लोग मानते हैं।[2] जब कोई संकल्प करता है तब मन से करता है। और तभी वाणी का उच्चारण करता है। जिस प्रकार वह जड़ प्रकृति व्यक्त और अव्यक्त भेद से दो रूपों में आती है उसी प्रकार यह मध्यमावाणी भी। सूक्ष्मवस्था को प्राप्त हुई प्रकृति आकाश में व्याप्त होकर परमाणुरूप में स्थित होती। इसी प्रकार अव्यक्त वाक्तत्व भी सूक्ष्म वेपनों के रूप में अन्तरिक्ष में व्याप्त होकर स्थित रहता है। जब प्रकृति अव्यक्तावस्था को त्यागकर कार्यावस्था में परिणत होने लगती हैं तब उसमें क्रिया हो जाने से परमाणु नाचने से लगते हैं। ऋग्वेद १०।७२।६[3] में इसी स्थिति का वर्णन मिलता है। इस अवस्था में प्रकृति न व्यक्तभूत कही जा सकती है और न अव्यक्त भूत ही। मध्यमा कहना ही ठीक होगा। यही अवस्था मध्यमा वाणी की भी है। अव्यक्तावस्था में वह अन्तरिक्ष में व्याप्त रहती है। जब इसमें सूक्ष्म वेपन प्रकट होते हैं तब यह पश्यन्ती होकर आत्मदृष्ट हो जाती है। वही फिर वेपनों के स्पष्ट होने पर मध्यमावस्था में सुषुम्णा के शिखर में रहती हुई मन में ध्वनित होती है। यद्यपि मध्यमा की ध्वनि कर्णों को गोचर नहीं होती तब भी उसकी अनुभूति स्पष्ट है। मध्यमा अव्यक्तावस्था में वेपन रहित और व्यक्तावस्था में वेपनयुक्त रहती है। यह ही जब कारण-रूप में अव्यक्त है तब इसे 'परा' कह देते हैं। परा ही मूल कारण है और वह मध्यमा की प्रकृतिवत् अति सूक्ष्मावस्था है।

अव्यक्त प्रकृति की भाँति अव्यक्त वाक् सर्वज्ञ परमेश्वर की प्रेरणा को प्राप्त हुई, सर्गारम्भ में सूक्ष्म वेपनों से समाहितचित्त योगियों के द्वारा देखी जाती है। इसी लिये यह पश्यन्ती है। इसी में आदिकालिक साक्षात्धर्मा ऋषियों को मन्त्रों के ज्ञान की अनुभूति होती है। यही कारण है कि वे मन्त्रद्रष्टा कहे जाते हैं। मध्यमा वाणी में वेपनों की अभिव्यक्ति अनुभवगम्य है किन्तु पश्यन्ती के वेपन सर्वथा अव्यक्त होते हैं। शब्दार्थ-सम्बन्ध की भाँति मध्यमा और पश्यन्ती का भी व्यक्त अव्यक्त भाव से नित्य सम्बन्ध है। एक दूसरे के बिना एक दूसरी अपनी सत्ता को नहीं स्पष्ट कर सकती है। वाणीविस्तार के पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी—ये तीन क्रम इस प्रकार हुये। ये ही क्रमशः—ज्ञान, अनुभूति और क्रिया में भी सार्थक हो रही है। यहाँ यह स्मरण रहे कि प्रकृति की अव्यक्तावस्था सलिलावस्था तक[4] एवं अपोवस्था तक वाणी का साथ बराबर बना रहता है। स्वरूप में सूक्ष्मता एवं स्थूलता का क्रम भले ही रहता है। पश्यन्ती की अवस्था में आत्मदृष्टि द्वारा ज्ञान गोचर होता है। मध्यमा की अवस्था में गोचरभूत ज्ञान मन में अनुभूत होता है। वैखरी अवस्था में वही उदान प्राण के द्वारा स्वरतन्त्री में प्रेरित हुआ स्वरव्यंजन वर्णों के रूप में प्रकट हुआ बाहर स्पष्ट होता है। यही [illegible] लोगों के द्वारा श्रवण एवं लिपि संकेत से जानी जाती है। आगमतंत्रों ने चन्द्रमा की १६ वीं कला को "अमृता" कहा गया है। स्फोटज्ञानवाले इसे ही पश्यन्ती कहते हैं। तन्त्रदर्शन में इसका ही पारिभाषिक नाम "आत्मदृष्टिः" है। मन्त्रशास्त्र में कदाचित् यही मंत्र देवता है। चन्द्रमा की १६ वीं कला नित्या, अमृता और अखण्ड है। पश्यन्ती नामी आत्मदृष्टया देखा हुआ मन्त्र, निगम, अथवा वेद नित्य और अनिधन है। विज्ञानवान् साधक वैखरी से अन्तर्मुख होकर मध्यमा के मूलोद्गम को प्राप्त करता है। मध्यमा से पुनः अन्तदृष्टि हो पश्यन्ती तक पहुँचता है। मध्यमा पर्यन्त सर्व साधारण की

चक्षुषि ॥ ३८ ॥ इडा, पिङ्गल्य सुषुम्णा प्राणमार्गव्यवस्थिताः॥ ॥ ४१ ॥ इडा गङ्गेति विज्ञेया पिङ्गला यमुन मत्तारमध्ये सरस्वतीज्ञ्याप्रयागादिसमस्तथा ॥ २०४ ॥

१—वनीवानो मम दूतास इन्द्रं स्तोमाश्चरन्ति सुमतीरियानाः। हृदिस्पृशो मनसा वच्यमाना अस्मभ्य चित्रंवृषणं रयिंदाः ॥ ऋ. १०।४५।७

२—संकल्पो वाव मनसो भूयान्, यदा वै संकल्पयतेऽथ मनस्यति अथ वाचमीरयति ॥ छान्दोग्य ७।४।१

३—यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत। अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रोरेणु रपायत ॥ ऋ १०।७२।६॥

४—सोऽपोऽसृजत। वाच एव लोकाद्व गेवास्य सासृज्यत—श. ६।१।१।७ सोऽकामयत। आभ्यो उद्भ्यो अधिप्रजायेति सो अनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्......अस्तु इत्येव तदब्रवीद् ततो ब्रह्मैव प्रथमंमसृज्यत त्रय्येव विद्या। श. ६।१।१।१०॥

गति है किन्तु पश्यन्ती तक पहुँच, अन्तर्दृष्टि, समाधि से निर्धूत कल्मषवाले ऋषियों की ही है अन्य की नहीं। मध्यमा वाक् ही अन्तरिक्ष और तत्र स्थित देवों में विद्यमान हुई दैवी वाक् है। यही वाणी है जिसको व्यक्तवाक् और सभी प्राणी बोलते हैं जब वह वैखरी रूप में परिणत होती है।

आर्षवाङ्मय में शब्दों की नित्यता स्पष्ट है। वैज्ञानिक रूप में भी यह सत्य है। वेद में भी वेदवाणी की नित्यता का वर्णन है। वेद के ज्ञानमय होने से उनका शब्दमयत्व भी ठीक ही है। शब्द की नित्यता को स्वीकार करनेवालों ने वेद की नित्यता को भी स्वीकार किया है। वेद की नित्यता किस प्रकार की है—औत्पत्तिक सम्बन्ध[1] से। वेद शब्दों का लोकगत पदार्थों के साथ औत्पत्तिक सम्बन्ध है अर्थात् वेद शब्दों से ही दृष्टिगत पदार्थों की रचना हुई है। इसलिये वेद के शब्द नित्य हैं। वेदव्यास, पतञ्जलि, मनु आदि ऋषियों ने वेद शब्दों से जगत् की उत्पत्ति मानकर वेदों की नित्यता सिद्ध की है। औत्पत्तिक शब्द का अर्थ कुछ लोग अन्यथा ही लेते हैं। वस्तुतः वेद के शब्दों का दृष्टिगत अर्थों के साथ उत्पत्तिविषयक सम्बन्ध लेकर अर्थ करना ही उचित। नित्य अर्थ की प्राप्ति व्यजना वृत्ति से है। शब्दों का अर्थों के साथ नित्य सम्बन्ध है—यह अर्थ केवल इस जगत् रचना वेद के शब्दों से है—इस भाव को लेकर ही है। मीमांसा में ऋषि जैमिनि और वेदान्त में व्यास ने बहुत युक्तिसंगत ढंग से इसका प्रतिपादन किया है। कणाद ने भी "संज्ञायाः अनादित्वात्" प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात्संज्ञाकर्मणः इत्यादि सूत्रों से वेद के नित्यत्व की धारणा को ही पुष्ट किया है। जो आधुनिक लोग शास्त्रों की परिभाषा को बिना समझे शब्द की नित्यता और अनित्यता पर विवाद करते हैं—वे ठीक नहीं करते। प्राचीन आचार्यों की इस विषय में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। यह भेद नवीनों का खड़ा किया है। शब्दों की नित्यता और अनित्यता दोनों ही सम्मत है। वैदिक शब्दों का सृष्टि के पदार्थों के साथ औत्पत्तिक सम्बन्ध होने और परमात्मज्ञान में "परा" वाणी के रूप में मिलकर स्थित होने से नित्यत्व है। लौकिक शब्द जो हमारे हैं, वे सर्वथा अनित्य हैं। व्याकरणशास्त्र के प्रवक्ता पाणिनि और महाभाष्यकार पातंजलि अपने सिद्धान्त की प्रक्रिया से लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों का विचार करते हैं अतः वे नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों मानते हैं। नैयायिक बहुधा लौकिक शब्दों का ही विचार करते हैं, अतः वे शब्दों का अनित्यत्व दिखलाते हैं। मीमांसक अपने दर्शन में वैदिक शब्दों का विचार करते हैं अतः शब्दों की नित्यता बतलाते हैं। इनमें कोई भी सिद्धान्त का भेद नहीं। सभी का विचार अपनी प्रक्रियानुसार ठीक ही है। असमीचीन वस्तु तो वह है जो नवीनों ने खड़ी की है। यहाँ पर यह विशेष स्मरण रखने की बात है कि वेद संहितारूप में नित्य है। उनकी वर्णानुपूर्वी भी तभी नित्य है जैसा कि महाभाष्यकार ने माना है। शाखायें और पद पाठ आदि अनित्य हैं क्योंकि उनमें अस्मदादि के शब्द आ जाते हैं।

नित्या और वह भी अत्यन्त अव्यक्ता वाग् परा कही जाती है। वह पराबाक् ब्रह्म[2] में स्थित है। योगीजन ही उसका ग्रहण कर सकते हैं। वह भी संपूर्णता के साथ नहीं। यह वाणी उतनी है जितना ब्रह्म है। यह तीस धामों[1] में विराजमान ब्रह्म से ही प्रसिद्धि में आती है। यह परमात्मतत्त्व ही इस वाणी का परम आकाश है। यह सर्वत्र व्याप्त हुई कभी भी नष्ट नहीं होती है।

१—औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः ॥ जैमिनीयमीमांसायाम् प्रथमाध्याये प्रथमपादे अतः प्रभवात्'''अत एवच नित्यत्वम्—वेदान्तसूत्राणि १।३।२८—२९ सर्वेषान्तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ मनुः १।२१—शब्दादेव जगतः प्रभवादुत्पत्तेः प्रलयकालेऽपि सूक्ष्मरूपेण परमात्मनि वेदराशिः स्थितः। स इह कल्पादौ हिरण्यगर्भस्य परमात्मन एव प्रथमदेहिमूर्तैमनस्यवस्थान्तरमापन्नः सुप्तप्रबुद्धस्येव प्रादुर्भवति ॥ मनुस्मृतौ कुल्लुकभट्टः ॥ तस्मैनूनमभिद्यवे वाचा विरूप नित्यया—ऋ. ८।७५।६ पातंजले योगसूत्रे १।२७ व्यासेनोक्तम् यत्—स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह सम्बन्धः। संकेतस्त्वीश्वररूपस्थितमेवार्थमभिनयति। सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते। संप्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसम्बन्धइति आगमिनः प्रतिजानते ॥

२—यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्—ऋ. १०।११४।८; त्रिंशद्धाम् विराजतिवाक् पतङ्गाय धीयते। ऋ. १०।१८९।३; ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम। ऋ. १।१६४।३६; वाग्धि हिपब्रह्म—ऐत० ब्रा० २।१५; ब्रह्मैव वाचः परमं व्योम—तैत्तिरीय ब्रा० ३।९।५।५; वाग्वै विराट—श० ३।५।१।३४; वागिति द्यौः। जै० उ० ४।२२।११; वाक् सावित्री। गो० पू० १।३३; वाग्वै समुद्रो न वै वाक्क्षीयते न समुद्रः क्षीयते—ऐत० ५।१६

आकाशवद् व्यापिनी यह ब्रह्म की प्रतीक है। न कभी आकाश नष्ट होता है और न यह परा वाणी ही। यह परा वाणी वेदों की मौलिक शब्द राशि के रूप में अव्यक्तावस्था में नित्यरूप से ब्रह्म में स्थित रहती है। यह ही सर्गकाल में पश्यन्ती होकर साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों से साक्षात् की हुई मध्यमा रूप से प्रकट होती है। मध्यमा का ही विस्तार फिर बैखरी होती है। योग १।२७ पर व्यास देव का यह वचन—संकेतस्तु ईश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति। सर्गान्तरेषु अपि वाच्यवाचक शक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते। संप्रतिपत्ति-नित्यतया नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः—इस पक्ष के ही ज्ञापक हैं। इस मध्यमा वाणी को सरस्वती[१] नाम भी दिया गया है। यह आन्तरिक जगत् में सुषुम्णा केन्द्र में स्थित होकर बैखरी को प्रकट करती है और दैवतजगत् में अन्तरिक्ष में अव्यक्त हुई रहकर वेपनो द्वारा मनुष्य और प्राणियों की वाणी को प्रकट कराती है। सरस्वती का अर्थ उदकवती है। वाणी पहले अव्यक्त रहती है फिर अन्तरिक्ष में व्यापक होकर जल के साथ मेघादिकों में स्थित होकर तद्वती होती है। यही मध्यम देवों के स्थान में रहने वाली मध्यमा वाक् है। यही मध्यम देवों के वेपनों में आकर गर्जनरूप में होकर जलादिकों को उत्पन्न करती है। यही वाक् वस्तुतः इस अवस्था इष, अर्ज = ज्ञान और अन्न आदि की देने वाली है। द्युलोकस्था वाक् परा का भाग होने से माध्यमिकी की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होने से ज्ञात नहीं होती परन्तु है यह इस मध्यमा वाणी में भी मूल रूप में स्थित। किन्तु मध्यमा वाणी सब प्राणियों के अन्तर्गत सब के सब अर्थों को व्यक्त कराने वाली होती है। अन्तरिक्ष-स्थानी देव गण जिस मध्यमावाणी को तरङ्गित करते हैं उसीको व्यक्तवाक् और अव्यक्तवाक् सभी प्राणी बोलते हैं। परा और पश्यन्ती व्यवहार योग्य नहीं किन्तु मध्यमा वेपनो द्वारा व्यवहार योग्य होती है। वाक् अर्थ में लगाती है अतः सभी पदार्थ उसके अर्थ हैं। वृत्र मेघ है और वह अन्तरिक्ष स्थानी है अतः उसके वध के समय महान् शब्द होने अथवा ऋचाओं के तरङ्गित की बात का आधार भी स्यात यही है। वाणी के[२] चार पद माने जाते हैं, पाँचवां नहीं। इनमें तीन पद बुद्धिगम्य हैं और अर्थ का प्रकटी करण नहीं करते। चतुर्थ पद को मनुष्य परिज्ञान के लिए बोलते हैं। परन्तु इन चारों पदों में चौथा पद व्यावहारिकी वाणी का है, जो मनुष्य बोलते हैं और वह सर्वदा पृथक् ही रहा है। ऐसा नहीं कि वह कभी पश्यन्ती आदि में संकीर्ण हुआ हो। वैदिकी आर्षाभिधायिनी दृष्टियों में वाणी के चार पद-ओंकार, भूः, भुवः और स्वः हैं। व्याकरणविदों के अनुसार ये चार पद नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात हैं। इनमें साधारण जन निपातवत् ही वचन बोलते हैं। याज्ञिक लोग—मंत्र, कल्प, ब्राह्मण और चतुर्थ व्यावहारिक को चार पद मानते हैं। नैरुक्त मत में ऋग्, यजुः, साम और चौथी व्यावहारिकी वाणी—ये चार पद हैं। भूत विदों के मत में सर्पों की वाणी, पक्षियों की वाणी, सरीसृपों की वाणी और चौथी व्यावहारिकी—ये चार पद हैं। आत्मविद् लोग तूणव, पशु और मृग, तथा आत्मा में वाणी के चार भाग मानते हैं। इस विस्तार में यद्यपि कुछ बातें विचारणीय हैं परन्तु यह निश्चित है कि मनुष्य तुरीय वाणी अर्थात् वाणी के चतुर्थ भाग व्यावहारिकी का ही प्रयोग बोलने में करता है। वह वेद की वाणी को यज्ञ के अतिरिक्त कभी बोलता नहीं था। वेद की भाषा उसकी व्यवहार की भाषा नहीं। यह व्यवहार की भाषा वैदिक भाषा से परिमार्जन और विकास का फल नहीं अपितु वैदिक भाषा के संकोच और रूढ़ बनाने का फल है। वेदवाणी से लौकिक संस्कृत बनी। कुछ संकोच करके और अधिकतर शब्दों को जो वेद से इसमें आये हैं रूढ़ बनाकर व्यवहारिक संस्कृत बनी। वेद की भाषा धरा पर कभी मानव की भाषा नहीं रही। आर्ष दृष्टि में 'ओ३म्' भूः' 'भुवः' और 'स्वः' में केवल "भुवः" प्रयोग का प्रतीक है। यद्यपि यह पश्यन्ती की दृष्टि से है परन्तु पश्यन्ती में भी 'भुवः" की स्थिति वह है जिसमें व्यवहारी दृष्टि मानी गयी है। व्यवहारी भाषा इससे विस्तार पाती है। तीन भाग व्यवहार में नहीं आते हैं। वहाँ सूक्ष्मता की दृष्टि है साधारणेय सी स्थूल दृष्टि नहीं। याज्ञिक लोगों के मत में तीन व्यावहारिक नहीं क्योंकि ये पश्यन्ती के भाग हैं। नैरुक्त मत में तो स्पष्ट ही है। ऋग्, यजु, साम कभी व्यावहारिकी भाषा नहीं। वैयाकरणों के मत पर थोड़ा विवाद हो सकता है क्योंकि वह स्पष्ट नहीं। वहाँ व्यावहारिकी वाक् का स्पष्ट कथन नहीं है। परन्तु यह सबको विदित है कि वैयाकरण लौकिक और

२—पावका नः सरस्वती—ऋ० १।३।१०; यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानाम् निषसाद मन्द्रा—ऋ. ८।१००।१०; देवीं वाचमजनयन्त देवास्ताम् विश्वरूपाः पशवो वदन्ति। ऋ. ८।१००।११

१—निरुक्त१२।१।८

वैदिक दोनों वाणियों का विचार करते हैं। वैदिक में भी व्याकरण करने पर चार प्रकार के पद पाये जायँगे। अन्तर लौकिक और वैदिक में रूढ़ता का है। निपात बहुधा अर्थ को सीधे ज्ञापन नहीं कराते हैं। साधारण मनुष्य की वाणी अर्थ को बिना जाने निपातवत् ही होती है। यहाँ भी यही समझना चाहिए कि वैदिक पदों के नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात् को मेधावी ऋषि जन जानते हैं। वह व्यवहार में नहीं आते परन्तु लौकिक को मनुष्य बोलते हैं। भूतविदों की तीन मध्यमा के वैखरी बनने की अवस्था के पूर्व के हैं। वे मध्यमा ही हैं। व्यावहारिक वाणी अलग है। आत्मविदों की प्रक्रिया में तीन भाग मध्यमा के अव्यक्त रूप के हैं और चौथा आत्मा में स्थित भाग वह है जो बाद में व्यवहार में आता है। अतः इन सभी विचारों में यह निश्चित है कि व्यावहारिकी वाणी पृथक् है और उसी को मनुष्य बोलता है। ये सब विभिन्न मतों में दिखलाये गये प्रकार—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के पल्लवन को दिखलाने के लिये दिखलाये गये हैं। वस्तुतः ये व्याकृत वाणी के रूप हैं। वाणी दो प्रकार की है व्याकृत और अव्याकृत। प्रथम वाक् अव्याकृत थी बाद में इन्द्र ने व्याकृत किया। इसी को तै० सं ६।४।७[1] में स्पष्ट रूप में वर्णित किया गया है। तैत्तिरीय का यह भाव मेरे पूर्व लिखे गये मध्यमा वाणी के वैखरी तक आने के विचार से समन्वय खाता है। वाणी जब समष्टि रूप में थी तब भेद नहीं हो सकता था। भेद तो व्याकृत करने पर प्रकट होता है। अतः पूर्वोक्त भेद इस व्याकृति की दृष्टि से हैं। शतपथ ४।१।३।[2] १६ के देखने से पूर्वोक्त बात और भी स्पष्ट हो जाती है। वहाँ लिखा है कि यह वाणी का चौथा "निरुक्त" रूप है जिसको मनुष्य बोलते हैं और उसी अनिरुक्त रूप—पशु, पक्षी और क्षुद्र सरीसृप बोलते हैं। वाणी इसी प्रकार सृष्टा और असृष्टा रूप की है। सृष्टा वाक्[3] चार विभाग को प्राप्त होती है। तीनों लोकों और पशुओं में उसकी स्थिति होती है। जो वाणी पृथ्वी में है। वही अग्नि और रथन्तर साम में है। जो अन्तरिक्ष में है वही वायु में और वही वामदेव्य साम में है। जो द्युलोक में है वही स्तनयित्नु में और बृहत् साम तथा पशुओं में है। इससे जो बच जाती है वह ब्राह्मण में स्थान पाती है। इस लिए ब्राह्मण दोनों वाणियाँ बोलते हैं। कर्मकाण्ड समय में वैदिकी और व्यवहारकाल में लौकिकी। इस प्रकार वाणी तीनों लोकों में व्याप्त है। जो इन लोकों में है वही तीनों सामों में है। इनसे अतिरिक्त पशुओं में है। वही जब विस्पष्ट होती है तब उसे मनुष्य बोलते हैं। यही वैखरी एवं व्यावहारिकी वाणी है। इन सभी वाणियों का कार्य कारण भाव देखा जाता है। परा वाक् ओङ्कार रूपा है। ओ३म् ही सारी वाणियों का मूल है। शाकपूणि ने कहा भी है कि[4] ओ३म् ही यह वाक् है—जो नाना देवतावाले मंत्रों तथा सब प्राणियों में व्याप्त है। यही अक्षर शब्द से कहा जाता है। क्योंकि यह वाणियों का अक्ष है। जैसे सारी वाणियां अक्षभूत इस अक्षर में स्थित हैं वैसे ही इनके अर्थभूत पदार्थ और वैदिक देव भी इसी में स्थित हैं। यही सब वाणियों और ऋचाओं का उद्गम-स्थान है। इस अक्षर का ज्ञान ही पारविद्या है और सारा विश्व इसी का व्याख्यान है। वाक् अर्थ में बलवती है अतः स्वभाव से उसकी अर्थवत्ता है। सारी वेदराशि वाङ्मयात्मक है। उसके अभिधेय अर्थ देवता हैं। अर्थ ही वाणी का पुष्प और फल है। वह पुष्पफल देवता, अध्यात्म अथवा यज्ञ है। इस प्रकार तीनों अर्थों के अभिधान में ही वेदवाणी की सफलता है। ओम् जैसे सारी वाणियों में व्याप्त है वैसे ही सब पदार्थों में भी व्याप्त है। लौकिक व्यवहारों में विचरनेवाले अस्मादृशों को यह भली प्रकार ज्ञात नहीं होता। हमारा जो कुछ भी ज्ञान है वह देश काल से परिच्छिन्न है। दूसरी बात यह है कि हमारा ज्ञान शब्द,[5] अर्थ और ज्ञान तीनों से संकीर्ण है। "गौ" ऐसा व्यवहार करने पर गौ शब्द, गौ अर्थ, और गौ ज्ञान—ये तीनों मिले हुये हैं। वस्तु शब्द धर्म

१—वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते। तै० सं. ६।४।७।

२—तदेतत्तुरीयं वाचो। निरुक्तं यन्मनुष्या वदन्त्यथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यत्पशवो वदन्त्यथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यद्वयांसि वदन्त्यथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यदिदं क्षुद्रं सरीसृपं वदति। श० ४।१।३।१६।

३—सा वै वाक्सृष्टा चतुर्धा व्यभवदेष्वेव लोकेषु त्रीणि पशुषु तुरीयं या पृथिव्याम् साग्नौ सा रथन्तरे। यान्तरिक्षे सा वायौ सा वामदेव्ये। या दिवि सा दित्ये सा बृहति सा स्तनयित्नौ अथ पशुषु। या वागत्यरिच्यत सा ब्राह्मणे दधुस्तस्माद्ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति या च देवानाम् या च मनुष्याणाम् इति॥

४—ओमित्येषा वागिति शाकपूणिः। निरु १३।११।

५—पातंजल योगदर्शन व्यासभाष्य १।४२

और है, अर्थ धर्म और है और ज्ञान धर्म और है। इनका पार्थक्य ज्ञान समाधिके बिना संभव न हीं। ऋषि साक्षात्कृद्धर्मा होते हैं, वे इसे जान सकते हैं। उनको कोई संशय नहीं होता और वे ऋतम्भरा प्रज्ञा से, वाणी, उसके अर्थ, और ज्ञान पृथक् करके देखते हैं। दूसरों की यहां कोई गति नहीं है। इस प्रकार यह वाणी का वैदिक विचार है। इसका एक स्वतन्त्र विज्ञान और दर्शन है। वेदवाणी में सारे देवों का निवास है और वह उनमें व्याप्त[1] है। ऋग्वेद १०।७१।१ मन्त्र[2] भी इस विषय में अच्छा प्रकाश डालता है। वैदिकवाणी के विषय में—प्रथमम्; वाचोऽग्रम् नामधेयं दधानाः, श्रेष्ठम्, अरिप्रम्; प्रेणा, गुहानिहितम—आदि पदों से उसके महत्व को दिखलाया गया है। यह वाक् सर्गावस्था के पूर्व परमात्मा के ज्ञान में परारूप में स्थित रहती है और सर्गकाल में पश्यन्ती के रूप में प्रकट होती है। इसलिए "प्रथमम्" का प्रयोग है। वही सभी वैखरी वाणियों का मूल है। अतः कहा गया है "वाचो अग्रम्।" "सर्वेषां तु नामानि" इस नियम से सर्गारम्भ में पदार्थों के नाम रखे जाते हैं अतः इस भाव को व्यक्त करने के लिए "नामधेयं दधानाः" का व्यवहार है। ऋग्वेद में परमात्मा को "नामधा" भी कहा गया है। व्याकरण आदि नियमों से परिपूर्ण भी वह वाणी लौकिक व्याकरण के संकुचित नियमों में न आने से वह—"श्रेष्ठम्" = श्रेष्ठ है। वह किसी देश-विदेश की भाषा नहीं, यद्यपि सारी लौकिक भाषाओं की मूल है, इसमें कोई दोष नहीं जो लौकिक भाषाओं में होते हैं—इसलिए वह "अरिप्रम्" निर्दोष है। क्योंकि वह प्रेरणा द्वारा प्राप्त होती है—इसलिए 'प्रेणा' शब्द का प्रयोग किया गया। सर्ग की आदि में वह साक्षात्कार द्वारा गुहा में निहित हुई प्रकट होती है इसलिए "गुहानिहितम्" कहा गया है। ब्राह्मी, सौरी, ससर्परीवाक् सूर्यगृह से आना विश्वामित्रों का संशायुक्त होना भी इसी प्रकार समाहित हो सकता है। यज्ञ में वाणी के मंत्ररूप में बोली जाती है जिसका ब्रह्माण्डगत वाणी समन्वय होता है। सौरी वाक् वह है जो परा का अंश हो द्युलोक में स्थित है। अन्तरिक्ष मध्यमा का स्थान है। इस यज्ञ मन्त्रवाणी जो पश्यन्ती है जब तक ब्रह्माण्डगत परा से युक्त न हो तब तक यज्ञ कर्त्ता चेतना हीन और यज्ञ असफल है। अतः यज्ञ में उच्चरित वाणी का मूल द्युलोकस्थ वाणी में मिलना चाहिए। साम = सा + अम् – का भाव भी ऐसा ही है। इसलिए तीनों लोकों की वाणियों का तीनों सामों से भी साथ है। जमदग्नियों ने उस यज्ञ द्युलोकस्थ वाणी का अपने तपोबल और अध्यात्मबल से यज्ञवाणी के साथ समन्वय कर दिया—इसलिए विश्वामित्र लोग चेतना युक्त हो गये। इससे यह समझना चाहिए कि यज्ञ के ऋत्विज पवित्र होने चाहिए। तभी यज्ञ सफल होता है। मैंने "देवीवाक्" लेख के सृष्टिप्रकरण सम्बन्धी भाग को छोड़ दिया है। उसपर बहुत सामग्री ब्राह्मणों में है जो लिखूंगा। श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट के कार्यकर्ताजनों को चाहिए कि वे मान्यवर श्री पं० भगवद् जी महोदय के उस विचार पूर्ण लेख, इस मेरे लेख और इस विषय पर आनेवाले अन्य विद्वानों के लेखों को एक स्थान पर पुस्तिका रूप में छपा दें। आज-कल अधूरेभाषा-विज्ञान की डींग मारनेवालों को यह विचारने का अवसर देगा और इससे बहुत बड़ा कार्य सिद्ध होगा।

१—प्रनूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्। यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा ओकांसि चक्रिरे ॥ ऋ० १।४०।५

२—बृहस्पते प्रथमं वाचोऽग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥ १०।७१।१।

सत्यार्थप्रकाश की सार्वभौमता

(संसार की भिन्न-भिन्न भाषाओं में सत्यार्थ प्रकाश के अनुवाद)

संग्रहीता

पं० धर्मदेवजी विद्यावाचस्पति स० मन्त्री सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि

सभा देहली

सत्यार्थ प्रकाश की रचना का उद्देश्य

[महर्षि दयानन्द जी के अमर दिव्य शब्दों में]

मेरा इस ग्रन्थ के बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य सत्य अर्थ का प्रकाश करना है अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहाता जो सत्य के स्थान में असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाए। किन्तु जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना लिखना और मानना सत्य कहाता है। जो मनुष्य पक्षपाती होता है वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मत वाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है इसलिये वह सत्य मत को प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिये विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश व लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित करदें। पश्चात् वे स्वयं अपना हिताहित समझ कर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनन्द में रहें। मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और ईर्ष्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है। परन्तु इस ग्रन्थ में ऐसी बात नहीं रखी है और न किसी का मन दुखाना वा किसी की हानि पर तात्पर्य है। किन्तु जिससे मनुष्य जाति की उन्नति और उपकार हो, सत्यासत्य को मनुष्य लोग जानकर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करें क्योंकि सत्योपदेश के बिना अन्य कोई भी मनुष्य जाति की उन्नति का कारण नहीं है।................इसमें यह अभिप्राय रक्खा गया है कि जो जो सब मतों में सत्य सत्य बातें हैं वे वे सब में अविरुद्ध होने से उनको स्वीकार करके जो जो मतमतान्तरों में मिथ्या बातें हैं उन २ का खण्डन किया है। इस में यह भी अभिप्राय रक्खा है कि जब मत मतान्तरों की गुप्त वा प्रकट बुरी बात का प्रकाश कर विद्वान् अविद्वान् सब साधारण मनुष्यों के सामने रक्खा है जिससे सब से सबका विचार होकर परस्पर प्रेमी हो के एक सत्य मतस्थ होवें।' ...."जो मिथ्या बात न रोकी जाए तो संसार में बहुत से अनर्थ प्रवृत्त हो जाएँ।..........."इन मतों के थोड़े २ ही दोष प्रकाशित किये हैं जिनको देखकर मनुष्य लोग सत्यासत्य मत का निर्णय कर सकें और सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करने कराने में समर्थ होवें क्योंकि एक मनुष्य जाति में बहका कर विरुद्ध बुद्धि कराके, एक दूसरे को शत्रु बना, लड़ा मारना विद्वानों के स्वभाव से बहिः है।......किसी का पक्षपात न करके सत्यार्थ का प्रकाश करना मेरा व सब महाशयों का मुख्य कर्तव्य काम है॥"

(सत्यार्थ प्रकाश की प्रारम्भिक भूमिका से)

सत्यार्थप्रकाश की सार्वभौमता

सूचक तालिका

[विविध प्रकाशों से आप्त सूचनाओं के आधार पर संगृहीत]

मूल सत्यार्थप्रकाश (हिन्दी)

भाषा	संस्करण	सन्	प्रकाशक	प्रतियाँ
हिन्दी	१	१८७५	वैदिक यन्त्रालय अजमेर	१०००
”	२	१८८४	”	२०००
”	३	१८८७	”	३०००
”	४	१८९२	”	५०००
”	५	१८९७	”	५०००
”	६	१९०२	”	५०००
”	७	१९०५	”	५०००
”	८	१९०८	”	५०००
”	९	१९०९	”	६०००
”	१०	१९११	”	६०००
”	११	१९१३	”	६०००
”	१२	१९१४	”	६०००
”	१३	१९१६	”	४०००
”	१४	१९१७	”	६०००
”	१५	१९२२	”	५०००
”	१६	१९२४	”	५०००
”	१७	१९२४	”	१००००
”	१८	१९२५	”	५०००
”	१९	१९२६	”	१५०००
”	२०	१९२६	”	२००००
”	२१	१९२७	”	२००००
”	२२	१९२८	”	२५०००
”	२३	१९३३	”	२००००
”	२४	१९३४	”	२००००
”	२५	१९३५	”	२००००
”	२६	१९४२	”	२००००
”	२७	१९४४	”	२००००
”	१	१९२४	श्री गोविन्दराम हासानन्द जी	६०००
”	२	१९३२	”	५०००
”	३	१९३४	”	२०००

,,	४	१९३६	,,	२०००
,,	५	१९३७	,,	२०००
,,	६	१९३९	,,	२०००
,,	७	१९४१	,,	२०००
,,	१	१९३३	आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर	२५०००
,,	२	१९३९	,,	२१०००
,,	३	१९३९	,,	२१०००
,,	१	१९३६	सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा	१०००५
			सर्वयोग	३१६०००
संस्कृत	१	१९२५	पं० शङ्करदेव जी पाठक द्वारा अनुदित सा० आ० प्र० सभा द्वारा प्रकाशित	३०००
अंग्रेजी	१	१९०६	श्री डाक्टर चिरंजीव जी भरद्वाज द्वारा अनूदित	३०००
,,	२	१९१५	आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त द्वारा प्रकाशित	५०००
,,	३	१९२०	डा० सत्यकाम भरद्वाज	२०००
,,	१	१९३२	आर्य समाज, मद्रास	२०००
,,	,,	१९०८	अनुवा० श्री मास्टर दुर्गा प्रसाद लाहौर विरजानन्द प्रेस लाहौर	१८००
				१३८००

उर्दू अनुवाद

भाषा	संस्करण	सन्	अनुवादक	प्रकाशक	प्रतियां
उर्दू	१	१८९९	श्री पं० पसूपति जी, एम. ए. आ० प्र० स० पंजाब		७०००
,,	२	१९०१	,,	,,	५०००
,,	३	१९०८	,,	,,	५०००
,,	४		,,	मास्टर लक्ष्मण जी	१००००
,,	५	१९२३	,,	म० राजपाल	५०००
,,	६	१९२५	,,	,,	५०००
,,	७	१९२७	,,	,,	५०००
,,	८	१९२८	,,	,,	५०००
,,	९	१९२९	,,	,,	५०००
,,	१०	१९३०	,,	,,	१००००
,,	११	१९३९	,,	,,	१००००
,,	१२	१९४३	,,	आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब	२०००
			,,	,,	५०००
					७४०००

इनके अतिरिक्त ला० जीवनदास पेन्शनर—डा० नौनिहाल जी श्री लाजपतराय साहनी और महता राधाकृष्ण जी के उर्दू संस्करण २५ हजार की तादाद में प्रकाशित हुए। २५०००

,,	१	१९४३	आर्य प्रदेशिक सभा द्वारा	५०००
,,	२	१९४४	,, ,,	५०००
			सर्व योग	१०९०००

बंगाली अनुवाद

भाषा	संस्करण	सन्	अनुवादक	प्रकाशक	प्रतियाँ
बंगाला	१	—	अजमेर निवासी एक बंगाली सज्जन	वैदिक यन्त्रालय अजमेर	२०००
,,	२	१९११	पं० शङ्करनाथ जी प्र० आर्य समाज	भरतसिंह प्रेस कलकत्ता	१०००
,,	३	१९२६		आर्य समाज कलकत्ता	३०००
				श्रीधर प्रेस	
,,	४	१९३४	श्री दीनबन्धु वेदशास्त्री	श्री गोविन्दराम जी	१५००
				हासानन्द	७५००
सिन्धी	१	१९१२	वि० श्री जीवनलाल जी आर्य	,,	२०००
,,	२	१९३७	सिन्ध आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा	,,	३०००
					५०००

मराठी अनुवाद

मराठी	१	१९०४	अनुवाद पं० दामोदर जी सातवलेकर		२०००
,,	२	१९२५		आ० स० कौल्हापुर	२०००
,,	३	१९३३	,,	,,	५०००
,,	४	१९३७	,,	,,	७६००
				योग	१६५००

गुजराती अनुवाद

संस्करण	सन्	अनुवादक	प्रतियाँ
१म		पं० मयाशङ्कर शर्मा	
२य		,,	
३य	१९२६	,,	५०००
४र्थ	१९२७	,,	१०००
५म	१९२८	,,	५००
६ष्ठ	१९३७	,,	२००००
७म	१९३८	,,	१०००

कर्णाटक अनुवाद

१म	१९३९	पं० भास्कर पन्त सुब्बनरसिंह शास्त्री प्रकाशक–आर्य समाज बंगलौर सिटी	२०००

मलयालम

१म	१९३३	आर्य समाज कालीकट द्वारा प्रकाशित	२०००

तालिम अनुवाद

१म	१९२७	श्री जम्बूनाथ मद्रास	२०००

२य	१९२७	आर्य समाज मद्रास	२०००

तिलगु

१म		पं० लोभनाभ राव जी द्वारा अनूदित	२०००
२य		,,	२०००

उड़िया

१म	१९२७		२०००
२य	१९३७		२०००

गुरुमुखी

१म		आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब	२०००
२य	१९१२	आर्य प्र० सा० पंजाब द्वारा प्रकाशित	२५००

फ्रेंच अनुवाद

१म	१९३८	डा० सत्यकेतु जी विद्यालङ्कार के निरीक्षण में आर्य प्रति० सा० पंजाब द्वारा प्रकाशित	२०००

जर्मन अनुवाद

१म	१९४०	डा० दौलत रामदेव द्वारा अनूदित	२०००

हिन्दी पद्यानुवाद

सत्यसागर श्री गदाधर प्रसाद जी वैद्यकृत ४ संस्करण ८०००

संग्रहीता धर्मदेव विद्यावाचस्पति स० मन्त्री सार्व देशिक आ० प्र० सभा बलिदान, भवन, देहली ।

[इस प्रकार १६ भाषाओं में छपा यह अद्भुत ग्रन्थ हिन्दी में ३१६००० + संस्कृत तथा अंग्रेजी में १३८०० + उर्दू में १९९००० + बंगाला में ७५०० + सिन्धी में ५००० + मराठी में १६००० + गुजराती में ४२००० + कर्णाटकी में ३००० + मलयालय में २००० + तामिल में ४००० + उडिया में ४००० + गुरुमुखी में ४५०० + फ्रैंच में २००० + जर्मन में २००० + हिन्दी पद्यानुवाद ८००० = ५४२३०० पाँच लाख बयालिस हज़ार तीन सौ जोड़ हुआ और १६ भाषाओं में छपा—अल्प साधन युक्त आर्य समाज का यह महान् कार्य है। केवल भारत में एक करोड़ के पीछे एक लाख तो चाहिये, अतः ३५ लाख और छपना आवश्यक है, जो असम्भव नहीं, हाँ परिश्रम साध्य है। हम तो समझते हैं जिसने पवित्र वेद—भगवद्गीता और सत्यार्थ प्रकाश नहीं पढ़ा, वह भारतीय कदापि नहीं कहा जा सकता। जिसके हाथ सत्यार्थ प्रकाश एक बार पड़ गया चाहे कैसे भी, वह इसे बिना पढ़े छोड़ नहीं सकता, और पढ़ने पर इसे पूर्णतया न माननेवालों को भी अद्भुत लाभ होता है। प्रत्येक भारतीय को एक बार तो इस ग्रन्थ-रत्न को अवश्य ही पढ़ना चाहिये।]—सम्पादक

महात्मा गांधी की दृष्टि में सच्चा कांग्रेसी

(ले०—आनन्द टी० हिङ्गोरानी, सम्पादक 'गांधी सिरीज' प्रकाशन, इलाहाबाद)

जब मैं 'यङ्ग इण्डिया' की पुरानी फाइलों को देख रहा था तो मेरी दृष्टि गांधी जी के 'सच्चा कांग्रेसी' शीर्षकस्थ
एक लेख पर पड़ी। यद्यपि यह लेख १९२५ में लिखा गया, जब हम स्वातन्त्र्य संघर्ष कर रहे थे, तथापि जो विचार गांधी
जी ने इस में व्यक्त किये हैं वे वर्तमान स्थिति में इतने दुरुस्त हैं कि, यदि अधिक नहीं तो, सारे लेख को उतने ही
औचित्य से प्रस्तुत किया जा सकता है। परन्तु मैं केवल ऐसे स्थलों को ही उद्धृत कर के सन्तोष करूँगा जो सच्चे कांग्रेसी
के सम्बन्ध में गांधी जी के विचार को व्यक्त करते हैं। हम में से प्रत्येक को अपने दिल को टटोलना तथा खोजना है कि
हम कांग्रेसी वस्तुतः उनके वर्णित आदर्श का कहाँ तक निर्वाह करते हैं।

गांधी जी कहते हैं:—"सच्चा कांग्रेसी सच्चा सेवक है। वह सदा सेवा करता है, कराता कभी नहीं। जहाँ तक
उसके अपने सुख का सम्बन्ध है, वह सरलता से सन्तुष्ट हो जाता है। वह पिछली सीट पर बैठ कर ही सन्तुष्ट हो जाता
है। वह कभी सम्प्रदाय या प्रांतीयता के दलदल में नहीं फँसता। अपने देश की सेवा करना ही उसका सर्वोत्तम विचार
है। वह निर्दोष होता है क्यों कि वह पार्थिव लालसा तथा स्वयं मृत्यु के भय का भी परित्याग कर चुका है। वह उदार
होता है क्योंकि वह निर्भीक होता है। वह दयालु होता है क्योंकि वह विनम्र होता है और अपनी निजी असफलताओं
तथा सीमाओं से अभिज्ञ है।" **गांधी जी शोक से लिखते हैं** कि "हमारे पास इतने सच्चे कांग्रेसी नहीं हैं जितने कि हम
चाहते हैं," **परन्तु आगे लिखते हैं** कि "नाम हीन कांग्रेसी जो निःसन्देह आज कम हैं परन्तु प्रतिदिनउनकी संख्या बढ़
रही है, जो भी हैं उन सभी कसौटियों पर पूरे उतरते हैं जो मैंने वर्णित की हैं। वे अप्रसिद्ध हैं और ऐसा होना है भी
अच्छा।" क्योंकि जैसा कि वे (गांधी जी) कहते हैं—"यदि उन्होंने तीव्र प्रकाश में आना चाहा और कांग्रेसी सन्देशों
में सम्मानित उल्लेख की आशा की, तो कार्य असम्भव हो जायेगा। वे लोग भी जो 'विक्टोरिया क्रास' प्राप्त करते हैं तथा
सर्वश्रेष्ठ वीर होते हैं कदापि मानव प्रेमी नहीं होते। संसार के वास्तविक वीर तो अन्त समय तक अज्ञात रहते हैं। उनके
कार्य अमर हो जाते हैं। वे स्वयं ही अपने पारितोषिक होते हैं, ऐसे लोग सच्चे शोधक हैं जिनके बिना पृथ्वी रहने के
अयोग्य दुःखस्थल बन जाती है।"

आगे गांधी जी कहते हैं—"निःसन्देह आज पदलोलुपता तथा कांग्रेस पर अधिकार करने के लिये अवाञ्छनीय
प्रतिद्वन्द्वता है। यह एक रोग है जो ऊपरी तल पर आ चुका है और कुछ समय पश्चात् इस का कुप्रभाव स्वस्थता पर
पड़ना अवश्यम्भावी है। वह तभी रुक सकता है जब कांग्रेस परिश्रमी, ईमानदार तथा निःस्वार्थ श्रम की संस्था के अति-
रिक्त और कुछ न हो।" वे अपने लेख को निम्नप्रेरक टिप्पणी पर समाप्त करते हैं "कांग्रेस सदा ऐसी प्रजातन्त्रवादी रहे
कि लोगों की सेवा प्राप्त कर सके, परन्तु वह प्रजातन्त्र आत्मश्लाघामात्र ही न हो। यदि पञ्चों का वचन ईश्वर वाक्य बनना
है तो इसे (कांग्रेस को) ईमानदारी, वीरता, भद्रता, नम्रता तथा पूर्ण आत्मसमर्पण की आवाज बनना होगा। हम कांग्रेसी
स्त्री पुरुष अपने आप को नम्र बनावें, अपने हृदयों को शुद्ध करें और लाखों मूकों के सुयोग्य प्रतिनिधि बनें।"

काश ! हम में से प्रत्येक निजी जीवन में गांधी जी की उच्च आशाओं, जो उन्होंने हम से की थी, को ईमानदारी
से करने का प्रयास करे।

[हिन्दुस्तान टाइम्स से अनूदित]

यह है चित्र एक कांग्रेसी का—जो आज से लगभग ३० वर्ष पहिले महात्मा गांधी जी ने अपने मन में खैंचा।
यदि महात्मा जी जीवित रहते, तो वर्तमान कांग्रेस का चित्र देख कर उनकी दशा क्या होती, यह प्रत्येक भारतीय विरो-
धतया कांग्रेसी कार्य कर्ता स्वयं सोच सकता है। प्रत्येक असैम्बलियों या पार्लियामैण्ट के प्रत्येक कांग्रेसी सदस्य तथा मन्त्रि-
मण्डलों के प्रत्येक मन्त्री तथा कार्यकर्ता को हृदय पर हाथ रख कर महात्मा जी के उपर्युक्त शब्दों पर सत्यता और गंभीरता
पूर्वक विचार करना आवश्यक है। तभी कांग्रेस जीवित रह सकती है, नहीं तो आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों
कांग्रेस का विनाश अवश्यम्भावी है।—सम्पादक]

प्राप्ति स्वीकार

स्वाध्याय उपयोगी नई पुस्तकें

(१) वेदोद्यान के चुने हुए फूल—लेखक श्री० पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति, आचार्य गुरुकुल काङ्गड़ी। प्रकाशक—गुरुकुल विश्वविद्यालय, काङ्गड़ी, हरिद्वार। साइज $\frac{१८ \times २२}{८}$ पृष्ठ संख्या २५२। (बहुत ही उत्तम पुस्तक है।) मूल्य सजिल्द ४)

(२) वेद रहस्य (तृतीय खण्ड)—लेखक स्वर्गीय श्री० अरविन्द, पाण्डीचरी। अनुवादक तथा सम्पादक—आचार्य अभयदेव विद्यालङ्कार। प्रकाशक—प्रताप निधि। प्राप्ति स्थान श्रीअरविन्द निकेतन, बरथावल, मुजफ्फर नगर, उत्तर प्रदेश। साइज़ पृष्ठ संख्या १५६। मूल्य अजिल्द ४), सजिल्द ५)

(३) आत्म समर्पण—लेखक श्री० पं० भगवद्दत्तजी वेदालङ्कार एम० ए०। प्रकाशक—गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगड़ी, हरिद्वार। साइज़ $\frac{२० \times ३०}{१६}$ पृष्ठ संख्या १८८। मूल्य १॥)

(४) वेद के सम्बन्ध में क्या जानो और क्या भूलो—लेखक श्री० पं० बुद्धदेवजी विद्यालङ्कार। प्रकाशक—प्रभात आश्रम, पो० जानी, जि० मेरठ। साइज़ ... पृष्ठ संख्या ४०। मूल्य ।)

(५) गोमेध यज्ञ पद्धति—लेखक श्री० स्वा० आत्मानन्द जी महाराज। प्राप्तिस्थान—वैदिक साधन आश्रम, जमुना नगर, जि० अम्बाला (पंजाब) साइज़ $\frac{२० \times ३०}{१६}$। पृष्ठ संख्या ५६। मूल्य ।-)

(६) विश्वशान्ति का वैदिक सन्देश (प्रथम भाग)—लेखक श्री० पं० शिवकुमार शास्त्री महोपदेशक आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब। प्रकाशक—धर्मचन्द्र आर्य, बनूड़ (पेप्सू)। साइज़ $\frac{२० \times ३०}{१६}$। पृष्ठ संख्या १३२। मूल्य १॥)

(७) दयानन्द दिग्दर्शन—लेखक श्री० स्वामी ब्रह्ममुनि जी परिव्राजक। प्राप्तिस्थान—सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, श्रद्धानन्द बलिदान भवन, देहली। साइज़ $\frac{२० \times ३०}{१६}$ पृष्ठ संख्या ८०। मूल्य ।।।)

(८) संस्कार महत्त्व—लेखक तथा प्रकाशक श्री० पं० मदनमोहन जी विद्यासागर। प्राप्तिस्थान—प्रेम मन्दिर प्रकाशक, तेनाली, दक्षिण भारत। साइज़ $\frac{२० \times ३०}{१६}$। पृष्ठ संख्या ९६। मूल्य ॥)

(९) आर्य समाज का ज्ञानदर्पण—लेखक श्री डा० गोपालसिंह वर्मा, भूतपूर्व प्रधान, आर्य समाज, सागर। प्रकाशक—श्री० एन० एल० वर्मा, जनरल मरचेन्ट, नया बाज़ार, सागर। साइज़ $\frac{२० \times ३०}{१६}$। पृष्ठ संख्या ३३२। मूल्य ३)

(१०) सन्ध्या रहस्य—लेखक तथा प्रकाशक श्री० दीनदयालु जी सोनी एम० एस० सी०, आर्य स्वाध्याय सदन, कमला नगर, देहली। साइज़ $\frac{२० \times ३०}{१६}$। पृष्ठ संख्या १८०। मूल्य १)

(११) यजुर्वेद ४०वाँ अध्याय (पद्य तथा अङ्गरेजी अनुवाद)—लेखक तथा प्रकाशक श्री० पं० वीरेन्द्र शास्त्री एम० ए० साहित्याचार्य। प्राप्तिस्थान—आर्य साहित्य मण्डल, दालमण्डी, फतहगढ़ (उत्तर प्रदेश)। साइज़ $\frac{२० \times ३०}{१६}$ पृष्ठ संख्या १६। मूल्य ≡)

(१२) ईशोपनिषत् काव्यम् (संस्कृत-हिन्दी)—लेखक श्री० पं० मेधाव्रत जी कविरत्न। प्राप्ति-स्थान श्री शरच्चन्द्र सत्यव्रत तीर्थ, पो० येवला, जिला नासिक। साइज़ $\frac{२० \times ३०}{१६}$। पृष्ठ संख्या २०। मूल्य ।=)

(१३) ईशोपनिषद् (हिन्दी भाष्य तथा पंजाबी कविता)—लेखक श्री० पं० रामगोपाल शास्त्री वैद्यभूषण। प्रकाशक—आर्य समाज, बेयर्ड रोड, नई देहली। साइज़ $\frac{२० \times ३०}{१६}$। पृष्ठ संख्या ३२। मूल्य ≡)

(१४) उपनिषदों की उत्कृष्टता—लेखक श्री० शिवपूजन सिंह जी कुशवाहा, सिद्धान्त वाचस्पति, साहित्यालंकार। प्रकाशक—दयानन्द वैदिक शोध संस्थान, श्रद्धानन्द

[शेष आवरण पृष्ठ ३ पर]

है वैसा ही मोक्षमूलर का भी जानना चाहिये। वेद का रचनेवाला ईश्वर ही है और मनुष्य नहीं, इतना भी मोक्षमूलर साहिब ने स्वीकार नहीं किया फिर वेदार्थज्ञान की तो कथा ही क्या है ॥ ७ ॥

फिर उन पवनों के योग से क्या होता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

येषामज्मेषु पृथिवी जुजुर्वाँ इव विश्पतिः ।
भिया यामेषु रेजते ॥ ८ ॥

पदार्थः—हे विद्वान् लोगो ! (येषाम्) जिन पवनों के (अज्मेषु) पहुँचाने और फेंकने आदि गुणों से (जुजुर्वानिव) जैसे वृद्धावस्था को प्राप्त हुआ (विश्पतिः) प्रजा की पालना करनेवाला राजा (भिया) भय से शत्रुओं से काँपता है वैसे (पृथिवी) पृथिवी आदि लोक (यामेषु) अपने-अपने चलनेरूप परिधि मार्गों में (रेजते) चलायमान होते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥ जैसे कोई राजा जीर्ण अवस्था को प्राप्त हुआ, रोग वा शत्रुओं के भय से काँपता है, वैसे पवनों से सब प्रकार धारण की हुई पृथिवी तथा सब लोक-लोकान्तर अपनी-अपनी परिधि में प्रतिक्षण घूमते हैं और सूत्र के समान बँधे हुए वायु के विना किसी लोक की स्थिति वा भ्रमण का सम्भव कभी नहीं हो सकता ॥

मोक्षमूलर साहिब का कथन कि—"जिन पवनों के दौड़ने में पृथिवी निर्बल राजा के समान भय से मार्गों में कम्पित होती है। संस्कृत की रीति से यह बड़ा दोष है कि जो स्त्रीलिङ्ग उपमेय के साथ पुल्लिङ्गवाची उपमान दिया है।" सो यह मोक्षमूलर का कथन मिथ्या है, क्योंकि वायु के योग ही से पृथिवी के धारण वा भ्रमण का सम्भव होकर उसके भय से पृथिवी आदि लोकों के स्वरूप की स्थिति होती है। तथा लिङ्ग व्यत्यय से उपमालंकार में दोष नहीं हो सकता। जैसे मन के तुल्य वायु और वायु के समान मन चलता है, श्येनपक्षी के समान मैना चलती है, स्त्री के समान पुरुष वा पुरुष के समान स्त्री, हाथी के समान भैंसी वा हथिनी के समान [भैंसा], चन्द्रमा के समान मुख, सूर्यप्रकाश के समान राजनीति। इस प्रकार उपमालंकार में लिङ्गभेद से कोई भी दोष नहीं आ सकता ॥ ८ ॥

फिर वे वायु कैसे गुण वाले हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

स्थिरं हि जानमेषां वयो मातुर्निरेतवे ।
यत्सीमनु द्विता शवः ॥ ९ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (एषाम्) इन पवनों का (यत्) जो (स्थिरम्) निश्चल (जानम्) जन्मस्थान आकाश, (शवः) बल और जिसमें (द्विता) शब्द और स्पर्श गुण का योग[1] है, जिसके आश्रय से (हि) ही (वयः) पक्षी (मातुः) अन्तरिक्ष के बीच में (सीम्) सब ओर (निरेतवे) निरन्तर जाने आने को समर्थ होते हैं, उन वायुओं को आप लोग (अनु) क्रमशः जानिये अर्थात् उत्तरोत्तर वायु का विज्ञान बढ़ाइये।

भावार्थः—जो ये कार्यरूप पवन आकाश में उत्पन्न होकर इधर उधर जाते आते हैं (अतः)

१. यह संस्कृत पदार्थ के अनुसार है। तदनुसार संस्कृत अन्वय "शवो बलं यत्र च द्विता वर्तते" ऐसा होना चाहिये। संस्कृत अन्वयानुसार भाषा पदार्थ इस प्रकार होता है—"(शवः) बल (द्विता) ये दो गुण हैं" दोनों ही ठीक हैं।

जहाँ-जहाँ अवकाश है वहाँ-वहाँ सर्वत्र उनके गमन का संभव है। और जिनकी अनुकूलता से सब प्राणी जीवन को प्राप्त होकर बलवाले होते हैं, उन पवनों को युक्ति के साथ तुम लोग सेवन किया करो ॥

मोक्षमूलर की उक्ति है कि "सत्य ही है कि पवनों की उत्पत्ति तथा उनका सामर्थ्य आकाश से आता है, उनका सामर्थ्य द्विगुण है।" सो यह निष्प्रयोजन है क्योंकि सब द्रव्यों की उत्पत्ति अपने-अपने कारण के अनुकूल बलवाली होती है, उनके कार्यों में कारण के गुण आते ही हैं[1] और वयः शब्द से पक्षियों का ग्रहण है ॥ ९ ॥

फिर वे[2] कैसे काम को करें इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

उदु त्ये सूनवो गिरः काष्ठा अज्मेष्वत्नत ।
वाश्रा अभिज्ञु यातवे ॥ १० ॥ [१३]

पदार्थः—हे राजा और प्रजा के मनुष्यो! आप लोग (त्ये) ये अन्तरिक्ष में रहनेवाले (सूनवः) प्राणियों के गर्भ छुड़ानेवाले पवन (अभिज्ञु) जिनकी दोनों जंघाएँ समान हों अर्थात् चौकड़ी भरती हुई हों और (वाश्राः) शब्द करती गायें जैसे बछड़ों को प्राप्त होती हैं तद्वत् (गिरः) वाणी वा (काष्ठाः) जलों[3] को (अज्मेषुः) जाने के मार्गों में (उ) निश्चय ही (यातवे) प्राप्त कराने के लिये फैलती उनके समान सुख का (उदत्नत) अच्छे प्रकार विस्तार कीजिये ॥ १० ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में लुप्तोपमालंकार है ॥ राजा और प्रजा के मनुष्यों को चाहिये कि जैसे ये वायु ही वाणी और जलों को चलाकर विस्तृत करके अच्छे प्रकार शब्दों को श्रवण करते हुए जाना आना जन्म वृद्धि और नाश के हेतु हैं वैसे ही इनके द्वारा शुभ-शुभकर्मों का अनुष्ठान करें!

मोक्षमूलर की उक्ति है कि "जो गान करानेवाले पुत्र अपनी गति में गौओं के स्थानों को विस्तार युक्त करते हैं, तथा गौ जाँघ के बल से आती हैं" सो यह व्यर्थ है; क्योंकि इस मन्त्र में 'सूनु' शब्द से प्रिय वाणी को उच्चारण करानेवाले वायु[4] का ग्रहण है। जैसे गौ बछड़ों को चाटने के लिये पृथिवी में जंघाओं को स्थापन करके बछड़ों को प्रसन्न करती है उसी प्रकार वायु भी सुखकारी होते हैं इस अर्थ की विवक्षा होने से ॥ १० ॥ यह तेरहवाँ वर्ग समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

फिर ये राजपुरुष क्या करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

---

१. संस्कृत भाग में कुछ पाठ खण्डित प्रतीत होता है। अतएव अगला अजमेर मुद्रित भाषा वाक्य भी तदनुसार नहीं है।

२. यहां "वे" शब्द से पूर्व मन्त्र के अन्वय में संबोधित "मनुष्यों" का ग्रहण अभिप्रेत है, पूर्व मन्त्र भूमिका में उल्लिखित वायु अभिप्रेत नहीं है।

३. अजमेर मुद्रित भावार्थ में "काष्ठाः" शब्द का 'जल' अर्थ किया है, वह संस्कृत पदार्थ के भूतपूर्व पाठ के अनुसार प्रतीत होता है। तदनुसार ही वर्तमान संस्कृत भावार्थ है। संस्कृत पदार्थ के वर्तमान पाठ में "काष्ठाः" का अर्थ "दिशाएँ" किया है, जो कि अन्वित नहीं होता। अतः हमने यहां अजमेर मुद्रित भावार्थ ही स्वीकार किया है।

४. यहां संस्कृत पाठ में "बालकाः" छपा है वह अशुद्ध है। संस्कृत पदार्थ और उत्तर वाक्य के अनुसार 'वायवो' पाठ होना चाहिये।

त्यं चिद्घा दीर्घं पृथुं मिहो नपातममृध्रम् ।
प्र च्यावयन्ति यामभिः ॥ ११ ॥

पदार्थः—हे राजपुरुषो ! तुम लोग जैसे (मिहः) वर्षा जल से सींचने वाले पवन (यामभिः) अपने जाने आने के मार्गों से (घ) ही (त्यम्) उस (नपातम्) जलको न गिराने और (अमृध्रम्) गीला न करनेवाले (पृथुम्) बड़े (दीर्घम्) स्थूल मेघ को (चित्) भी (प्रच्यावयन्ति) भूमि पर गिरा देते हैं, वैसे शत्रुओं को गिरा के प्रजाको आनन्दित करो ॥ ११ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है ॥ राजपुरुषों को चाहिये कि जैसे पवन ही मेघ के निमित्त बहुत जल को ऊपर पहुंचा कर परस्पर के घर्षण से बिजुली को उत्पन्न कर, उस न गिरने तथा गीला न करने बड़े आकार वाले मेघ को भूमि में गिराते हैं, वैसे ही धर्म विरोधी सब व्यवहारों को छुड़ावें ॥

मोक्षमूलर की उक्ति है कि "वे पवन इस बहुत काल वर्षा कराते हुए अप्रतिबद्ध मेघ के और मार्ग के ऊपर गिराने के निमित्त हैं" यह कुछ अशुद्ध है। क्योंकि (मिहः) यह पद पवनों का विशेषण है और इन्होंने मेघ का विशेषण किया है ॥ ११ ॥

फिर वे राजप्रजाजन वायु के समान कर्म करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

मरुतो यद्ध वो बलं जनाँ अचुच्यवीतन ।
गिरीँरचुच्यवीतन ॥ १२ ॥

पदार्थः—हे (मरुतः) पवनों के समान वर्तमान सेनाध्यक्षादि राजपुरुषो ! तुम लोग (यत्) जिस कारण (वः) तुम्हारा (ह) प्रसिद्ध (बलम्) सेना आदि दृढ़ बल है, इसलिये जैसे वायु (गिरीन्) मेघों को (अचुच्यवीतन) इधर उधर आकाश में घुमाया करते हैं, वैसे (जनान्) प्रजा के मनुष्यों को (अचुच्यवीतन) अपने अपने उत्तम व्यवहारों में प्रेरित किया करो ॥ १२ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में लुप्तोपमालंकार है ॥ सभाध्यक्षादि राजपुरुषों को चाहिये कि जैसे वायु मेघों को इधर उधर घुमा के वर्षाते हैं, वैसे ही प्रजा के सब मनुष्यों को न्याय की व्यवस्था से अपने अपने कर्मों में आलस्य छोड़ के सदा नियुक्त करते रहें ॥ १२ ॥

मोक्षमूलर की उक्ति है "—हे पवनो ऐसे बल के साथ जैसी आप की शक्ति है और तुम पुरुष वा पर्वतों को गिराने के निमित्त हो।" यह अशुद्ध है, क्योंकि 'गिरि' शब्द से इस मन्त्र में मेघ का ग्रहण है पर्वतों का नहीं, और 'जन' शब्द से सामान्य गति वाले[१] का ग्रहण है पतनमात्र का नहीं है ॥ १२ ॥

फिर वे वायुओं से क्या-क्या उपकार लेवें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

---

१. यह पाठ संस्कृत के अनुसार है। वस्तुतः यहां संस्कृत पाठ 'च्युङ् धातुना समान्यगतेर्ग्रहणम्' होना चाहिये, तदनुसार भाषार्थ भी 'च्युङ्' धातु से सामान्य गति का ग्रहण होना चाहिये। क्योंकि श्री स्वामी जी और मोक्षमूलर दोनों 'जन' शब्द का अर्थ 'पुरुष' करते हैं।

यद्ध यान्ति मरुतः सं ह ब्रुवतेऽध्वन्ना ।
शृणोति कश्चिदेषाम् ॥ १३ ॥

पदार्थः—जैसे (यत्) जे (मरुतः) पवन इधर उधर (ह) स्पष्ट रूप से (यान्ति) आते जाते हैं, वैसे (अध्वन्) विद्यामार्ग में कारीगर विद्वान् लोग (ह) स्पष्ट (समाब्रुवते) मिल के अच्छे प्रकार परस्पर उपदेश करते हैं । (एषाम्) इन वायुओं की विद्या को (कश्चित्) कोई विद्वान् पुरुष (शृणोति) सुनता और जानता है, सब साधारण पुरुष नहीं ॥ १३ ॥

भावार्थः—[इस मंत्र में लुप्तोपमालंकार है ॥[1]] इस वायुविद्या को कोई, विद्या और क्रिया कुशल विद्वान् ही जान सकता है, जड़बुद्धि नहीं जान सकता ॥ १३ ॥

मोक्षमूलर की उक्ति है कि "जब निश्चय करके पवन परस्पर साथ साथ जाते हैं, अपने मार्गों के ऊपर बोलते हैं, तब कोई मनुष्य क्या श्रवण करता है अर्थात् नहीं" यह अशुद्ध है क्योंकि पवनों के जड़ होने से वार्ता करना असम्भव है और बोलने वाले चेतन जीवों के बोलने और सुनने में हेतु तो होते हैं ॥ १३ ॥

फिर मनुष्यों को वायुओं से क्या क्या कार्य लेना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

प्र यात शीभमाशुभिः सन्ति कण्वेषु वो दुवः ।
तत्रो षु मादयाध्वै ॥ १४ ॥

पदार्थः—हे राजपुरुषो ! तुम लोग (आशुभिः) शीघ्र गमनागमन करानेवाले यानों से वायु के समान (शीभं) शीघ्र (प्रयात) अच्छे प्रकार अभीष्ट स्थान को प्राप्त हुआ करो । जिन (कण्वेषु) बुद्धिमान् विद्वानों में (वः) तुम लोगों की (दुवः) सत् क्रिया (सन्ति) हैं (तत्रो) उन विद्वानों में तुम लोग (सुमादयाध्वै) सुन्दर रीति से प्रसन्न रहो ॥ १४ ॥

भावार्थः— । के विद्वानों को चाहिये कि वायु के समान अभीष्ट स्थानों को शीघ्र जाने आने के लिये विमानादि यान बना के अपने कार्यों को निरन्तर सिद्ध करें और धर्मात्माओं की सेवा तथा दुष्टों को ताड़ने में सदैव आनन्दित रहें ॥ १४ ॥

मोक्षमूलर की उक्ति है कि "तुम तीव्र गति वाले घोड़ों के ऊपर स्थित होकर जल्दी आओ, वहाँ आपके पूजारी कण्वों के मध्य में हैं, तुम उन में आनन्दित होओ" सो यह अशुद्ध है क्योंकि बड़े बड़े वेगआदि गुण ही वायु के घोड़े हैं, वे गुण उन में समवाय संबन्ध से रहते हैं, उन के ऊपर इन पवनों की स्थिति होने का ही संभव नहीं । और कण्व शब्द से विद्वानों का ग्रहण है, उन में निवास करने से विद्या की प्राप्ति और आनन्द का प्रकाश होता है ॥ १४ ॥

फिर वे वायु किस किस प्रयोजन के लिये हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

अस्ति हि ष्मा मदाय वः स्मसि ष्मा वयमेषाम् ।
विश्वं चिदायुर्जीवसे ॥ १५ ॥ [१४]

१—यद्यपि इस कोष्ठान्तर्गत पाठ का मूल संस्कृत में नहीं है, तथापि संस्कृत अन्वय में 'यथा तथा' शब्दों का प्रयोग होने से आवश्यक है ॥

पदार्थः—हे विद्वान् मनुष्यो ! (एषाम्) जानी है विद्या जिनकी उन पवनों से (हि) जिस कारण (स्म) निश्चय करके (वः) तुम लोगों के (मदाय) आनन्दपूर्वक (जीवसे) जीने के लिये (विश्वम्) सब (आयुः) अवस्था है, इसी प्रकार (वयम्) आप से उपदेश को प्राप्त हुए हम लोग (चित्) भी (स्मसि स्म) निरन्तर होवें ॥ १५ ॥

भावार्थः—जैसे योगाभ्यास करके प्राणविद्या और वायु के विकारों को ठीक-ठीक जाननेवाले पथ्यकारी विद्वान् लोग आनन्दपूर्वक पूर्ण आयु भोगते हैं, वैसे अन्य मनुष्यों को भी उन विद्वानों के प्रकाश से उस वायुविद्या को जान के संपूर्ण आयु भोगनी चाहिये।

मोक्षमूलर की उक्ति है कि "निश्चय करके वहाँ तुम्हारी प्रसन्नता बहुत है, हम लोग सब दिन तुम्हारे भृत्य हैं, जो भी हम संपूर्ण आयु भर जीते हैं," यह अशुद्ध है। क्योंकि यहाँ प्राणरूप वायु से जीवन होता है, हम लोग इस विद्या को जानते हैं ऐसा कहने के कारण ॥ १५ ॥

जैसे यहाँ मोक्षमूलर साहेब ने अपनी कपोल कल्पना से मन्त्रों के अर्थ विरुद्ध वर्णन किये हैं वैसे आगे भी इन की उक्ति अन्यथा ही है ऐसा सबको जानना चाहिये। जब पक्षपात को छोड़ कर मेरे रचे हुए मन्त्रार्थ भाष्य वा मोक्षमूलरादिकों के कहे हुए की अच्छे प्रकार परीक्षा करके विवेचना करेंगे, तब इनके किये हुए ग्रन्थों की अशुद्धि जान पड़ेगी, इस प्रकार बहुत को थोड़े ही लिखने से जान लेवें, आगे अब बहुत लिखने से क्या है।

इस सूक्त में अग्नि के प्रकाश करनेवाले सब चेष्टा बल और आयु के निमित्त वायु और उस वायुविद्या को जाननेवाले राजा प्रजा के विद्वानों के गुण वर्णन से इस सूक्तार्थ की पूर्व सूक्तार्थ के साथ संगति जाननी चाहिये ॥

यह चौदहवाँ वर्ग और सैंतीसवाँ सूक्त समाप्त हुआ ॥ ३७ ॥

अथास्य पंचदशर्चस्याष्टत्रिंशस्य सूक्तस्य घौरः कण्व ऋषिः। मरुतो देवताः। १, ८, ११, १३, गायत्री; २, ६, ७, ९, १० निचृद्गायत्री; ३ पादनिचृद् गायत्री, १२ पिपीलिका मध्या निचृद्गायत्री १४ यवमध्याविराड्गायत्रीछन्दः। षड्जः स्वरः ॥　[४ आर्च्युष्णिक् छन्दः ऋषभः स्वरः][1]

अब अड़तीसवें सूक्त का आरम्भ है। उसके पहिले मन्त्र में वायु के समान मनुष्यों को होना चाहिये, इस विषय का वर्णन अगले मन्त्र में किया है ॥

कद्ध॑ नू॒नं क॑धप्रियः पि॒ता पु॒त्रं न हस्त॑योः ।
द॒धि॒ध्वे वृ॒क्तब॑र्हिषः ॥ १ ॥

पदार्थः—हे (कधप्रियः) सत्य कथाओं से प्रीति करानेवाले (वृक्तबर्हिषः) विद्वान् ऋत्विक् लोगो ! (न) जैसे (पिता) उत्पन्न करनेवाला जनक (पुत्रम्) पुत्र को (हस्तयोः) हाथों से धारण करता है, और जैसे पवन लोकों को धारण कर रहे हैं, वैसे (कद्ध) कब (नूनम्) निश्चय करके यज्ञ कर्म को (दधिध्वे) धारण करोगे ॥ १ ॥

---

१. चौथे मन्त्र का छन्द और स्वर भाष्य में छूट गया है। हमने ऋ० १।५।२ के भाष्यानुसार छन्द और स्वर लिखे हैं। उस मन्त्र में भी इतने ही अक्षर हैं ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालंकार हैं ॥ जैसे पिता हाथों से अपने पुत्र को ग्रहण कर शिक्षापूर्वक पालन तथा अच्छे कार्यों में नियुक्त करके सुखी होता और जैसे पवन सब लोकों को धारण करते हैं, वैसे विद्या से यज्ञ का ग्रहण कर युक्ति से अच्छे प्रकार सेवन करते हैं, वे ही सुखी होते हैं[1] ॥ १ ॥

फिर मनुष्यों को परस्पर किस प्रकार प्रश्नोत्तर करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

क्व॑ नू॒नं क॑द्वो॒ अर्थं॒ गन्ता॑ दि॒वो न पृ॑थि॒व्याः ।
क्व॑ वो॒ गावो॒ न र॑ण्यन्ति ॥ २ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम (न) जैसे (दिवः) प्रकाश कर्मवाले सूर्य की (पृथिव्याः) पृथिवी के (अर्थम्) पदार्थों को (गन्त) प्राप्त होती हैं, वैसे (कत्) कब (नूनम्) निश्चयसे (क) कहाँ (वः) तुम्हारे अर्थ को प्राप्त होते हो (न) जैसे (वः) तुम्हारी (गावः) गौ आदि पशु अपने बछड़ों के प्रति (रण्यन्ति) शब्द करते हैं, वैसे वायु कहाँ शब्द करते हैं[2] ॥ २ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में दो उपमालङ्कार हैं ॥ हे मनुष्यो ! जैसे सूर्य की किरणें पृथिवी में स्थिर हुए पदार्थों को प्रकाशित करती हैं, वैसे तुम भी विद्वानों के समीप जाकर, कहाँ पवनों को नियुक्त करना चाहिए, ऐसा पूछ कर अर्थों को प्रकाशित करो । और जैसे गौ अपने बछड़ों के प्रति शब्द करके दौड़ती हैं, वैसे तुम भी विद्वानों के संग करने को शीघ्र प्राप्त हो । तथा हम लोगों की इन्द्रियाँ वायु के समान कहाँ स्थिर होकर अर्थों को प्राप्त होती हैं, ऐसा पूछकर निश्चय करो ॥ २ ॥

फिर भी उक्त विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

क्व॑ वः सु॒म्ना नव्या॑सि॒ मरु॑तः॒ क्व॑ सुवि॒ता ।
क्वो॑३ विश्वा॑नि॒ सौभ॑गा ॥ ३ ॥

पदार्थः—हे (मरुतः) वायु के समान शीघ्र गमन करनेवाले मनुष्यो ! तुम लोग विद्वानों के समीप प्राप्त होकर (वः) आप लोगों के (विश्वानि) सब (नव्यांसि) नवीन (सुम्ना) सुख (क) कहाँ, सब (सुविता) प्रेरणा करनेवाले गुण (क) कहाँ और कब नवीन (सौभागा) सौभाग्य प्राप्ति करनावाले कर्म (क्वो) कहाँ हैं, ऐसा पूछो ॥ ३ ॥

भावार्थः—हे शुभ कर्मों में वायु के समान शीघ्र चलनेवाले मनुष्यो ! तुम लोगों को चाहिये कि विद्वानों के प्रति पूछकर जिस प्रकार नवीन क्रिया की सिद्धि के निमित्त कर्म प्राप्त होवें, वैसा अच्छे प्रकार निरन्तर यत्न किया करो ॥ ३ ॥

फिर वे राजपुरुष[3] कैसे होने चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

---

१. इस मन्त्र के संस्कृत भावार्थ की उत्तरार्थ वाक्यरचना अस्पष्ट है ।

२. इस मन्त्र का संस्कृत अन्वय अस्पष्ट है, मन्त्र पद भी छूटा है । हमने यथासम्भव स्पष्ट करने का यत्न किया है ।

३. राजपुरुष का सम्बन्ध कैसे जोड़ा गया, यह अज्ञात है ।

यद्यूयं पृश्निमातरो मर्तासः स्यातन ।
स्तोता वो अमृतः स्यात् ॥ ४ ॥

पदार्थः—हे (पृश्निमातरः) जिनकी माता आकाश है उन वायुओं के सदृश (मर्त्तासः) मरणधर्म युक्त राजा के पुरुषो ! आप (यत्) अपने-अपने कामों में पुरुषार्थ युक्त (स्यातन) हों तो (वः) तुम्हारी (स्तोता) स्तुति करनेवाला सभाध्यक्ष राजा (अमृतः) शत्रुओं से न मारा जानेवाला (स्यात्) होवे ॥ ४ ॥

भावार्थः—राजा और प्रजा पुरुषों को उचित है कि आलस्य छोड़ वायु के समान अपने-अपने कामों में नियुक्त होवें, जिससे सबका रक्षक सभाध्यक्ष राजा शत्रुओं से मारा नहीं जा सकता ॥ ४ ॥

उन वायुओं के सम्बन्ध से जीव को क्या होता है इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

मा वो मृगो न यवसे जरिता भूदजोष्यः ।
पथा यमस्य गादुप ॥ ५ ॥

[१५]

पदार्थः—हे राजा और प्रजा के जनो ! आप लोग (न) जैसे (मृगः) हिरन (यवसे) खाने योग्य घास के खाने में प्रवृत्त होता है, वैसे (वः) तुम्हारा (जरिता) विद्याओं का दाता (अजोष्यः) असेवनीय अर्थात् पृथक् (मा भूत्) न होवे तथा (यमस्य) निग्रह करनेवाले वायु के (पथा) मार्ग से (मोपगात्) कभी अल्पायु होकर मृत्यु को प्राप्त न होवे, वैसा काम किया करो अर्थात् सदा विद्या पढ़ें पढ़ावें कभी विद्यार्थी और आचार्य वियुक्त न हों और प्रमाद करके अल्पायु में न मर जाय ॥ ५ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥ जैसे हिरन निरन्तर घास खाकर सुखी होते हैं, वैसे प्राण वायु की विद्या को जाननेवाला मनुष्य युक्ति के साथ आहार विहार कर यम के मार्ग अर्थात् मृत्यु को प्राप्त नहीं होता और संपूर्ण अवस्था को भोग के सुख से शरीर को छोड़ता है ।

फिर भी पूर्वोक्त विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

मो षु णः परापरा निर्ऋतिर्दुर्हणा वधीत् ।
पदीष्ट तृष्णया सह ॥ ६ ॥

पदार्थः—हे अध्यापक लोगो ! आप जैसे (पराऽपरा) उत्तम और निकृष्ट (दुर्हणा) दुःख से हटने योग्य (निर्ऋतिः) पवनों की रोग करने वा दुःख देने वाली गति (तृष्णया) प्यास वा लोभ गति के (सह) साथ (नः) हम लोगों को (मोपदीष्ट) कभी न प्राप्त हो और (मा वधीत्) बीच में हमें न मारें, किन्तु जो इन पवनों की (सु) सुख देनेवाली गति है वह हम लोगों को नित्य प्राप्त होवे, वैसा प्रयत्न किया कीजिये ॥ ६ ॥

भावार्थः—पवनों की दो प्रकार की गति होती है एक सुखकारक और दूसरी दुःख करनेवाली, उनमें से जो उत्तम नियमों से सेवन की हुई रोगों का हनन करती हुई शरीर आदि के सुख का हेतु है वह प्रथम, और जो खोटे नियम और प्रमाद से उत्पन्न हुई क्लेश दुःख और रोगों की देनेवाली है वह

दूसरी। इन दोनों के मध्य में से मनुष्यों को अति उचित है कि परमेश्वर के अनुग्रह विद्वानों के संग और अपने पुरुषार्थ से पहिली गति को उत्पन्न करके, दूसरी गति का नाश करके सुख की उन्नति करें और जो पिपासा आदि धर्म हैं वह वायु के निमित्त से तथा जो लोभ का वेग है वह अज्ञान से ही उत्पन्न होता है, ऐसा जानना चाहिये ॥ ६ ॥

फिर वे कैसे हों, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

सत्यं त्वेषा अमवन्तो धन्वञ्चिदा रुद्रियासः ।
मिहं कृण्वन्त्यवाताम् ॥ ७ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग (चित्) जैसे (धन्वन्) अन्तरिक्ष में (त्वेषाः) बाहर भीतर के घर्षण से उत्पन्न हुई बिजुली से प्रदीप्त (अमवन्तः) जिनका रोगों और गमनागमन रूपवालों के साथ सम्बन्ध है (रुद्रियासः) प्राणियों के जीने के निमित्त वायु (अवाताम्) वायु रहित (मिहम्) सींचनेवाली वृष्टि को (आकृण्वन्ति) अच्छे प्रकार संपादन करते हैं और इनका (सत्यम्) सत्य कर्म है, वैसेही सत्य कर्म का अनुष्ठान किया करो ॥ ७ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥[1] मनुष्यों को चाहिये कि जैसे अन्तरिक्ष में रहने तथा सत्यगुण और स्वभाववाले पवन वृष्टि के हेतु हैं, वे ही युक्ति से सेवन किये हुए अनुकूल होकर सुख देते और युक्ति रहित सेवन किये प्रतिकूल होकर दुःखदायक होते हैं, वैसे युक्ति से धर्मानुकूल कर्मों का सेवन करें ॥ ७ ॥

वे मनुष्य किसके समान क्या करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

वाश्रेव विद्युन्मिमाति वत्सं न माता सिषक्ति ।
यदेषां वृष्टिरसर्जि ॥ ८ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! आप लोग (यत्) जो (एषाम्) इन वायुओं के योग से उत्पन्न हुई (विद्युत्) बिजुली (वाश्रेव) जैसे गौ अपने (वत्सम्) बछड़े की इच्छा करती है, वैसे (मिहम्) वृष्टि को (मिमाति) उत्पन्न करती है और इच्छा करती हुई (माता) मान्य देनेवाली माता पुत्र को दूध से (न) जैसे (सिषक्ति) सींचती है वैसे पदार्थों को सेवन करती है। जिसके द्वारा वर्षा (असर्जि) उत्पन्न होती है वैसे ही शुभगुण कर्मों से एक दूसरों के सुख करनेहारे हूजिये ॥ ८ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में दो उपमालंकार हैं ॥ हे विद्वान् मनुष्यो ! तुम लोगों को उचित है कि जैसे अपने-अपने बछड़ों को सेवन करने के लिये इच्छा करने के लिये इच्छा करती हुई गौ, और अपने छोटे बालक को सेवनेहारी माता ऊँचे स्वर से शब्द करके उनकी ओर दौड़ती हैं, वैसे ही बिजली बड़े बड़े शब्दों को करती हुई मेघ के अवयवों के सेवन के लिये दौड़ती है, ॥ ८ ॥

फिर वे वायु क्या करते हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

---

१. इसका मूल संस्कृत में नहीं है। मन्त्र में उपमावाचक चित् शब्द होने तथा पदार्थ में (चित्) उपमार्थ का निर्देश होने से आवश्यक है।

पार्क, कानपुर। साइज़ $\frac{२० \times ३०}{१६}$ । पृष्ठ संख्या २०।

मूल्य =)

(१५) आर्य सिद्धान्त दीप—लेखक श्री० पं० मदन मोहन विद्यासागर। प्रकाशक—श्री० गोविन्दराम हासानन्द, आर्य साहित्य भवन, नई सड़क, देहली। साइज़ $\frac{२० \times ३०}{१६}$ पृष्ठ संख्या १३२। मूल्य ११)

(१६) आर्य स्तोत्र—लेखक पूर्ववत्। प्राप्तिस्थान—प्रेम मन्दिर प्रकाशन, तेनाली, दक्षिण। साइज़ $\frac{२० \times ३०}{१६}$ । पृष्ठ संख्या ६०। मूल्य ॥)

(१७) सामाजिक पद्धतियाँ—लेखक श्री० मदनजित जी आर्य, वैदिकधर्म विशारद। प्रकाशक—श्री० मन्त्री आर्य प्रतिनिधि सभा, आर्य कार्यालय, निकलसन रोड, अम्बाला छावनी। साइज़ $\frac{२० \times ३०}{१६}$ । पृष्ठ संख्या ८०।

मूल्य ।)

(१८) अमृत वाणी (ऋषि की अमर कहानी)—लेखक तथा प्रकाशक श्री० महाशय बाबूराम जी गुप्त। चौड़ा बाज़ार, लुधियाना (पंजाब)। साइज़ $\frac{२० \times ३०}{१६}$ सचित्र। पृष्ठ संख्या १६४। मूल्य १॥)

(१९) ब्रह्म पारायण यज्ञ की शास्त्रीयता—लेखक श्री० पं० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति तथा श्री० पं० वैद्यनाथ जी शास्त्री साहित्याचार्य। प्रकाशक—श्री० प्रताप सिंह शूरजी वल्लभदास, कच्छ कैसल, बम्बई ४। प्राप्तिस्थान, सार्वदेशिक प्रकाशन मण्डल लि०, दरियागंज—देहली। साइज $\frac{२० \times ३०}{१६}$ पृष्ठ संख्या ५६। मूल्य ।)

(२०) ऋषि दयानन्द और अन्य भारतीय धर्माचार्य—लेखक श्री० भवानीलाल भारतीय बी० टी० सिद्धांत शास्त्री। प्रकाशक—नगर आर्य समाज, जोधपुर। पृष्ठ संख्या २४। मूल्य =)

(२१) मांस मदिरा निषेध—लेखक श्री० स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज। प्रकाशक—आर्य प्रकाशन मण्डल, लाजपतराय मार्केट, देहली। साइज़ $\frac{२० \times ३०}{१६}$ पृष्ठ संख्या ३२। मूल्य ङ)

(२२) हिन्दू नहीं आर्य—लेखक श्री० बलवन्तार्य, सिद्धान्तशास्त्री। प्रकाशक—सत्यधर्म प्रचार सदन, शेरकोट, बिजनौर। साइज़ $\frac{२० \times ३०}{१६}$ पृष्ठ संख्या २०।

मूल्य =)

(२३) कर्तव्य किरण—लेखक श्री० स्वामी व्रतानन्द जी आचार्य। प्राप्तिस्थान, गुरुकुल, चित्तौड़। साइज़ $\frac{२० \times ३०}{३२}$ पृष्ठ संख्या ४०। मूल्य ।)

(२४) दो शास्त्रार्थ—(राजधनवार बिहार)—सम्पादक तथा प्रकाशक—श्री० पं० रामानन्द जी शास्त्री, आर्य प्रतिनिधि सभा, बिहार, पटना। साइज़ $\frac{२० \times ३०}{१६}$ पृष्ठ संख्या ६०। मूल्य ॥)

(२५) साम्यवाद और आर्य समाज—लेखक श्री० मनुदेव जी 'अभय', वैदिक मिशनरी। प्रकाशक—इन्दु साहित्य प्रकाशन मन्दिर, अभय निवास, ६६, गणेशगंज, इन्दौर। साइज $\frac{२० \times ३०}{१६}$ । मूल्य -)॥

(२६) भक्त गीता—लेखक श्री० पं० लोकनाथ जी तर्क वाचस्पति। प्रकाशक—ब्रह्मानुराग कार्यालय—कमरा नं० ४, दीवान हाल, देहली। साइज़ $\frac{२० \times ३०}{१६}$ पृ० १५०। मूल्य १)

(२७) ध्यान गीता—पूर्ववत्। मूल्य ?

(२८) महर्षि अभिनन्दन—लेखक श्री० राजपाल आर्य, प्राप्तिस्थान—आर्य समाज, रंगवासा (मध्यभारत)। पृष्ठ संख्या १२। मूल्य ।)

(२९) सिखमत खण्डन—(पद्य)—ले० श्री हरनाम दास आर्य मुसाफिर, आर्य समाज, गोरखपुर—पृष्ठ सं० ३२। मूल्य ।)

(३०) वैदिक संध्या गायन—सम्पादक तथा प्रकाशक—श्री स्वामी योगानन्द दण्डी। प्राप्तिस्थान—संगीत कार्यालय, हाथरस (उ० प्र०)। मूल्य (लिखा नहीं)

(३१) स्वतन्त्र भारत में शुद्धि—श्री० प्रधान दयानन्द साल्वेशन मिशन, होशियारपुर। मूल्य =)

(३२) भारत में ईसाई मत—पूर्ववत्। मूल्य -)

(३३) गोहत्या या राष्ट्रहत्या—लेखक श्री० पं० प्रकाशवीर शास्त्री, प्रकाशक—राम मोहन बी० काम०, श्रद्धा प्रकाशन—चन्दौसी (उ० प्र०)। साइज़ $\frac{२० \times ३०}{१६}$ । पृष्ठ संख्या १०४। मूल्य १)

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट

अमृतसर का

नया श्रेष्ठ प्रकाशन

उरु ज्योति

वैदिक अध्यात्म-सुधा

यह वैदिक अध्यात्म विषयक उत्कृष्ट कोटि का ग्रन्थ है। इस पुस्तक के अध्ययन और मनन से अनेक आध्यात्मिक गुत्थियाँ खुल जाती हैं और पाठक के मन पर यह धारणा जम जाती है कि वेद निश्चय ही अद्भुत ज्ञान-विज्ञान के भण्डार हैं। इस श्रेष्ठ ग्रन्थ के लेखक श्री डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल अनेक विषयों के उद्भट विद्वान् और आध्यात्मिकवृत्तिप्रधान अत्यन्त सात्त्विक तथा सूक्ष्म तत्त्वचिन्तक व्यक्ति हैं। यह पुस्तक आपके अनेक वर्षों के गहरे अध्ययन और मनन का फल है।

वेदवाणी के ग्राहकों को सुविधा

पुस्तक की छपाई तथा कागज श्रेष्ठ और सुन्दर है। सुन्दर जिल्द सहित का मूल्य ३) रुपया मात्र। वी० पी० से डाक व्यय लगभग १) रुपया।

१—जो वेदवाणी के ग्राहक हैं या बनेंगे उनसे डाक व्यय आधा लिया जायेगा अर्थात् ३।।) रुपया का मनिआर्डर भेजने से उन्हें पुस्तक घर बैठे पहुँचा दी जायेगी।

२—वेदवाणी के जो ग्राहक इसी वर्ष बने हैं या जो ग्राहक पिछला ऋग्वेदभाष्य पृथक् रूप से लेना चाहते हैं, उन्हें पिछले दो वर्षों में प्रकाशित वेदभाष्य डाकव्यय सहित २।।) रुपये में दिया जायेगा।

पुस्तक मिलने का पता—

रामलाल कपूर एण्ड सन्स पेपर मर्चेण्ट

नई सड़क दिल्ली ｝ गुरू बाजार अमृतसर ｛ बिरहाना रोड कानपुर

वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस

संपादक, प्रकाशक व मुद्रक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, आर्य विजय प्रेस, बीबीहटिया, बनारस।

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ६] ❀ [अङ्क ११

इस अंक के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

भाद्रपद २०११ सितम्बर १९५४
दयानन्दाब्द १३०
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५४

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
बनारस नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
" " विदेश में ६)
इस अंक का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा।

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विस्तृत विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १ तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहिए। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहिये। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सम्बन्धी धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस ६

ओ३म्

वेदवाणी

सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४ ॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों !

वर्ष ६ } काशी, भाद्रपद सं० २०११ वि०, सितम्बर १९५४ ई० { अङ्क ११

आर्याभिविनय से

टिप्पणीकर्ता—विन्ध्यवासिनी प्रसाद जी

आत्मसमर्पण

स्तुति विषय

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः ।
देवो देवेभिरागमत् ॥ ५ ॥ ऋ० १।१।५

अग्निः[1]	सकल विश्व का निरीक्षक, (supervisor)	कविः[3]	परमविद्वान्, भूत ,भविष्य वर्त्तमान् का ज्ञाता, सदैव सन्मार्ग दर्शक
होता[2]	सृष्टिकर्ता, पालनकर्त्ता मुक्तात्माओं को स्वकीय आनंद में रखने वाला	क्रतुः[4]	कार्यक्रम का ज्ञाता
		सत्य[5]	वेदविद्या, सृष्टिक्रम, विद्वानों द्वारा-

अर्थबोधक टिप्पणी

१. अग्निरग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते । अङ्गम् नयति सन्नममानः। (निरुक्त ७।१४) शिरोऽग्निः।श०६।२।२।२४॥
२. जुहोतीति होता। उ० २।९५.
३. कौति शब्दयत्युपदिशति सः कविः। मेधावी विद्वान् क्रान्तदर्शनो वा। उ० ४।१३९ सर्वज्ञः सकलविद्यायुक्तः (दया० यजुर्वेदभाष्ये)
४. प्रज्ञाकर्म क्रमदर्शनम् वा यस्य (दया० यजुर्वेदभाष्ये)
५. सते हितम् यत्।

	सुनिश्चित, व्यक्तिहित एवं सर्वहित के आधार पर विवेचन तथा निर्णय शक्तिदाता
चित्रश्रवस्तमः[6]	अद्भुत ज्ञान, गुण, शक्ति और ख्याति से युक्त
देवः[7]	सुखमय ज्ञान-कर्म-पूर्ण, ज्ञान-कर्म-दाता, प्राप्त करने योग्य परमात्मा
देवेभिः	अनेक प्रकार के दातृभाव से प्रेरित होकर
आगमत्	(हमारे हृदयों और सकल विश्व में) प्रकाशित हो (be manifested) जिसमें व्यक्ति और समूह का कार्य-कलाप आपके अनुकूल चलता रहे और सब सुख-प्राप्ति करते रहें।

ऋषि व्याख्यान

"अग्नि" हे सर्वदृक्! सब के देखने वाले "होता कविः" [ ] "क्रतुः" सब जगत् के जनक "सत्य" अविनाशी अर्थात् कभी जिसका नाश नहीं होता "चित्रश्रवस्तमः" आश्चर्य श्रवणादि, आश्चर्य गुण आश्चर्यशक्ति, आश्चर्यस्वरूपबल और अत्यन्त उत्तम आप हो, जिन आपके तुल्य वा आपसे बड़ा कोई नहीं है। हे जगदीश! "देवो देवेभिः आगमत्" दिव्य गुणों के सह वर्त्तमान हमारे हृदय में आप प्रकट हों, सब जगत् में भी प्रकाशित हो जिससे हम और हमारा राज्य[8] दिव्य गुण[9]युक्त हो। वह राज्य आपका ही[10] है, हम तो केवल आपके पुत्र तथा भृत्यवत् हैं।

(b) तत् यत् सत्यं त्रयी सा विद्या। श० ९।५।१।१८। यो वै धर्मः सत्यं वै तत्। तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मम् वदतीति। धर्मम् वा वदन्तम् सत्यं वदतीति। श० १४।४।२।२६ (R. K. T. Yo. Bh.pp.)

६. Ear-fame-glory-wealth-Veda-study.

७. देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा। नि० ७।१५.

८. राज्य = शासन्—administration.

९. पक्षपात रहित स्वहित और परहित की भावना से युक्त।

१०. इसकी स्पष्टि सत्यार्थ प्रकाश षष्ठ समु० के अन्त में ऋषि ने इस प्रकार की है कि "वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम यजु० १८।२९ [अर्थात्] हम प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्रजा और परमात्मा हमारा राजा; हम उसके किंकर भृत्यवत् हैं। वह कृपा करके अपनी सृष्टि में हमको राज्याधिकारी करे और हमारे हाथ से अपने सत्य न्याय की प्रवृत्ति करावे।

जीवन संगीतकम्

(लेखक—श्री० डा० मंगलदेव जी शास्त्री एम० ए० डी० फि०,
भूतपूर्व प्रिंसिपल—गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस)

: ५ :

गन्तव्यं शिखरं महत्

गन्तव्य महान् शिखर

"कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे।" (ऋग्० १।३६।१४)

अर्थात्, भगवन्! हमें उद्योगशील जीवन के लिए समुन्नत कीजिए।

१९५३ के जून मास में एवरेस्ट-शिखर पर तेनसिंह के पहुँचने पर उनके प्रति साधु-वाद की गूँज संसार भर में व्याप्त हो रही थी। उसी से प्रभावित होकर २३।६।५३ को नीचे के पद्य लिखे गए थे। इनका अभिप्राय यही है कि तेनसिंह के समान ही प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन के आदर्श-रूपी महान् शिखर पर पहुँचने का प्राणपण से प्रयत्न करना चाहिए।

जीवनेऽस्मिन् मनुष्येण स्वाभीष्टशिखरं महत्।
गन्तव्यं विद्यते, कृत्वा सर्वा बाधा अधस्पदम्॥१॥

प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन में—समस्त बाधाओं को पैरों तले रौंदते हुए अपने अभीष्ट आदर्श-रूपी महान् शिखर पर पहुँचना ही है—ऐसा विचार रखना चाहिए।

नीचे जीवन के स्वाभीष्ट शिखर पर पहुँचने के उपाय का वर्णन करते हैं—

येयं भगवती शक्तिर् लोकान् संव्याप्य तिष्ठति।
सिद्धिरूपेण तां नित्यमाश्रयेत् शिखरंगमी॥२॥

समस्त लोक-लोकान्तरों में व्याप्त हो कर उनका नियन्त्रण करने वाली निश्चय ही एक महती शक्ति है। सब प्रकार की सिद्धि की वही अधिष्ठातृ-देवता है। जो अपने जीवन के अभीष्ट शिखर पर (या आदर्श तक) पहुँचना चाहता है उसे उसी भगवती शक्ति का सिद्धि के रूप में आश्रय लेना चाहिए।

तस्या एव प्रभावेण महिम्ना च महीयते।
प्रत्यूहराक्षसान् हत्वा मानवोऽत्र न संशयः॥३॥

उसी भगवती महाशक्ति के प्रभाव और महिमा से मनुष्य स्वकीय अभीष्ट की सिद्धि में बाधक विघ्न-रूपी राक्षसों का हनन कर के निस्संदेह महत्त्व को प्राप्त हो सकता है।

नीचे प्रतीकात्मक शैली से उस भगवती महाशक्ति के स्वरूप और स्वभाव का वर्णन करते हैं—

सिंहारूढा त्रिनेत्रा च धनुर्बाणधरा शुभा।
सुप्रसन्ना महाविद्या या, तां देवीं नमाम्यहम्॥४॥

मैं उस महाशक्ति देवी को प्रणाम करता हूँ जो सिंहारूढ़ है (अर्थात्, महाभयंकर बाधाओं पर विजय प्राप्त करने वाली है), जो त्रिनेत्रा है (अर्थात्, अलौकिक दिव्य दृष्टि से युक्त है), जो धनुष् और बाण को धारण करने वाली है (अर्थात्, सर्वदा जागरूक और संनद्ध रहने वाली है), जो कल्याण करने वाली और सदा प्रसन्न रहने वाली है, (अर्थात्, धनुर्बाण-धरा होने पर भी उसमें क्रूरता और क्रोध नहीं है) और जो महाविद्या है।

अभिप्राय यही है कि समस्त विश्व की संचालिका महाशक्ति को इस प्रकार मूर्त-रूप में सदा अपना सहायक समझते हुए मनुष्य को पूर्ण अध्यवसाय और विश्वास से अपने उच्च आदर्शों की प्राप्ति के लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

जीवन का दूसरा नाम संघर्ष है। अपने आदर्शों की प्राप्ति में मनुष्य को अनेक प्रकार के, बाह्य तथा आभ्यन्तर, शत्रुओं या बाधक शक्तियों का प्रतिरोध करना पड़ता है। इसी दृष्टि से उपर्युक्त सिद्धिदात्री भगवती शक्तिदेवी की प्रार्थना नीचे दी जाती है—

ऋषभं मा समानानां सपत्नानां भयङ्करम्।
हन्तारं कुरु शत्रूणां[१] देवि! दारिद्र्यनाशिनि॥५॥

१. तु० "ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम्। हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम्॥" (ऋग्० १०।१६६।१)

सब प्रकार के दारिद्र्य या अपूर्णता को नाश करने वाली हे भगवति शक्तिदेवि! मैं अपनी अपूर्णताओं को दूर करके पूर्णता की ओर बढ़ने को उत्सुक हूँ। तुम मुझे जो मेरे समान हैं उनमें श्रेष्ठ, जो मेरे प्रतिस्पर्धी हैं उनके लिए भयंकर, जो मेरे बाधक हैं उनके लिए विनाशकारी बनाओ। अर्थात्, अपने अभीष्ट की प्राप्ति में सब प्रकार की बाधाओं को पैर तले कुचलते हुए मैं बराबर आगे ही बढ़ता चलूँ।

: ६ :

इन्द्रोऽहमिन्द्रकर्माहम्

मैं ही इन्द्र तथा इन्द्रकर्मा हूँ

'अहमिन्द्रो न परा जिग्ये।' (ऋग्० १०।४८।५)

अर्थात्, मैं इन्द्र हूँ, मेरा पराजय नहीं हो सकता।

अज्ञानोपहत मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप से अपरिचित है। संस्कृति और सभ्यता के महान् उत्कर्ष, विशाल संस्थायें और संघटन, महापुरुषों के लोकोत्तर चरित्र और कार्य, एक प्रकार से, मानव के महत्त्व की ही व्याख्या करते हैं, यह वह नहीं जानता। अन्त में, विश्व की संचालिका दिव्य महाशक्ति उसमें ही मूर्तिमती होकर प्रस्फुटित या अवतीर्ण होती है, या हो सकती है, इसका भी उसको भान नहीं होता। इसीलिए मनुष्य के वास्तविक स्वरूप का गुणगान नीचे के पद्यों में किया गया है।

इन्द्रोऽहमिन्द्रकर्माहम् अरातीनां वधोऽस्म्यहम्।
तेषां बाधास्तिरस्कृत्य पदं मूर्ध्नि दधाम्यहम्॥१॥

मैं सर्वैश्वर्य-शाली इन्द्र हूँ, मैं इन्द्र-कर्मा हूँ। मैं शत्रुओं का विनाश हूँ। शत्रुओं की बाधाओं को ध्वस्त करके मैं ही उनको आक्रान्त करता हूँ।

ऐश्वर्याणि समग्राणि वर्त्तन्ते यानि कानिचित्।
वर्तेऽधिदेवता तेषां भोक्ता चापि न संशयः॥२॥

जो भी ऐश्वर्य दृष्टि-गोचर होते हैं उन सब का अधिष्ठातृ-देवता तथा भोक्ता निस्सन्देह मैं ही हूँ। अर्थात्, समस्त ऐश्वर्यों की प्राप्ति मनुष्य द्वारा ही होती है और उनका ऐश्वर्यत्व इसी में है कि मनुष्य उनका उपभोग करता है।

इन्द्रियेष्वस्ति या शक्तिर्याश्च तेषां प्रवृत्तयः।
तासामहमधिष्ठाता स्रष्टा द्रष्टा च वस्तुतः॥३॥

आभ्यन्तर जगत् की दृष्टि से भी मनुष्य में इन्द्रत्व की व्याख्या इस पद्य में की गयी है।

आँख, हस्त-पादादि इन्द्रियों में जो शक्ति विद्यमान है, या जो भी उनकी प्रवृत्तियाँ हैं, उन सब का अधिष्ठाता (= नियन्त्रण करने वाला), स्रष्टा (= जनक या उद्गम) तथा द्रष्टा (= उपभोक्ता) वास्तव में मैं ही हूँ।

अत एवेन्द्रशब्देन व्युत्पत्तिः क्रियते बुधैः।
इन्द्रियेत्यस्य शब्दस्य शब्दशास्त्रविशारदैः[1]॥४॥

मनुष्य के वास्तविक स्वरूप में इन्द्रत्व को मान कर ही शब्द-शास्त्र-विशारद महामुनि पाणिनि जैसे वैयाकरणों ने 'इन्द्रिय' इस शब्द की व्युत्पत्ति 'इन्द्र' शब्द से की है।

: ७ :

अन्तर्यामिन्! ममैवात्मन्!

मेरे ही अन्तर्यामिन् आत्मन्!

"योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्"
(यजु० ४०।१७)

अर्थात्, यह जो आदित्य-मण्डल में पुरुष है, वह मैं ही हूँ।

अपने वास्तविक स्वरूप के अनुसन्धान में अन्तर्मुखता को प्राप्त हुआ मनुष्य विश्व-प्रपञ्च की नियामिका महाशक्ति या अन्तर्यामी महान् आत्मा के साथ प्रायेण अपने ऐक्य का अनुभव करता है। उस अवस्था में उसे अपना ही आत्मा से अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड के असंख्येय सूर्यों के समान प्रकाशमान प्रतीत होता है। अन्त में वही उसके भाग्य-विधाता तथा सिद्धिदायक इष्टदेव का रूप ग्रहण कर लेता है। नीचे के पद्य में इसी दृष्टि से अपने आत्मा से ही प्रार्थना की गयी है।

साधारण दृष्टि से भी आत्म-विश्वासी मनुष्य यही अनुभव करता है कि वह स्वयं ही अपने भाग्य का विधाता है। उसको अपना आत्मा समस्त-विश्व-नियामिका शक्ति से

१. तु० "इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा" (पाणिनिकृत अष्टाध्यायी ५।२।९३)। इस सूत्र द्वारा 'इन्द्र' शब्द से ही 'इन्द्रिय' शब्द बनाया गया है। स्पष्टतः यहाँ 'इन्द्र' शब्द से अभिप्राय जीवात्मा का है।

अभिन्न, अतएव असंख्येय सूर्यों के समान प्रकाशमान और समस्त शक्तियों का केन्द्र प्रतीत होता है। इस दृष्टि से प्रत्येक आत्म-विश्वासी मनुष्य नीचे की प्रार्थना कर सकता है—

अन्तर्यामिन् ! ममैवात्मन् ! सूर्यकोटिसमप्रभ !
निर्विघ्नं कुरु मे देव ! सर्वकार्येषु सर्वदा ॥१॥

करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाश से युक्त हे अन्तर्यामिन् ! मेरे ही आत्मन् ! मेरे समस्त कार्यों में आने वाले विघ्नों का वारण करो।

: ८ :

सत्त्ववन्तो महान्तः

उदात्तचरित्र महान् पुरुष

"अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्"
(अथर्व० १२।१।५४)

अर्थात्, मैं विरोधी शक्तियों पर विजय प्राप्त कर पृथिवी पर उत्कृष्ट पद को प्राप्त करने वाला हूँ।

महतामथ क्षुद्राणामन्तराय उपस्थिते।
कृशानौ कनकस्येव परीक्षा जायते ध्रुवम् ॥१॥

अग्नि में जैसे स्वर्ण की परीक्षा हो जाती है, इसी प्रकार विघ्न या बाधा के उपस्थित होने पर निश्चय ही महान् और क्षुद्र लोगों की परीक्षा हो जाती है।

वातेरिताः प्रकम्पन्ते वृक्षा एव, न पर्वताः।
आपत्तिसमये वृत्तं क्षुद्राणां महतां तथा ॥२॥

तेज वायु या आँधी के चलने पर वृक्ष ही काँपने लगते हैं, पर्वत नहीं। आपत्ति के आने पर क्षुद्र और महान् लोगों की ऐसी ही दशा होती है, अर्थात् आपत्ति के समय क्षुद्र लोग ही घबड़ाते हैं, महान् पुरुष अविचल ही रहते हैं।

तस्मादापत्तिकाले ये महान्तोऽन्तरवेक्षिणः।
तिष्ठन्ति निश्चला धैर्यमूर्त्तयो न विकुर्वते ॥३॥

इसलिए आपत्ति के समय जो अन्तरवेक्षी (विचारशील, या आत्मपरीक्षक) महान् पुरुष होते हैं वे धैर्य-मूर्त्ति-रूप से निश्चल ही रहते हैं और किसी प्रकार के विकार को नहीं प्राप्त होते।

यथा सोपानमारोहन् क्रमशः सपरिश्रमम्।
प्रासादस्योत्तमं खण्डमासादयति मानवः ॥४॥
तथा सोपानरूपास्ताः संकटानां परम्पराः।
समाक्रम्य समुत्कृष्टं पदमाप्नोति सत्त्ववान् ॥५॥

॥ इति रश्मिमालायां जीवनसंगीतकं नाम प्रथमो रश्मिः ॥

जैसे किसी सीढ़ी पर परिश्रम-पूर्वक चढ़ता हुआ मनुष्य क्रमशः किसी प्रासाद के सब से ऊँचे खण्ड पर पहुँच जाता है, इसी प्रकार उत्साही धैर्यशील चरित्रवान् मनुष्य बराबर आने वाले संकटों को सीढ़ी के समान आक्रान्त करता हुआ अन्त में अत्युत्कृष्ट पद को प्राप्त कर लेता है।

१. तु० "उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् । आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥" (भगवद्गीता ६।५)

ऋत और अनृत

(लेखक—श्री लालचन्द जी मेरठ)

"ऋत" और "अनृत" को समझने के लिए, सत् और असत् को जानने के लिए, अनृतजीवनचर्या क्या है, यह स्पष्ट करना आवश्यक है। अनृतजीवनचर्या में बनावटीपन, केवल शरीर की सजावट होती है, उसमें प्राण, मन, बुद्धि तथा आत्मा को भोजन नहीं प्राप्त हुआ करता, केवल शरीर की ही पालना होती है। देखा तो यह भी गया है कि यद्यपि ऐसे लोग स्वास्थ्य की दुहाई देते रहते हैं, पर इन्हें स्वास्थ्य नहीं प्राप्त होता। स्वस्थता तो प्राण की शक्ति, मन की स्थिरता और अपनी दक्षता और योग्यता ही कही जा सकती है, जिसमें बुद्धि भी निर्मल हो और मनुष्य सचेत हो। ऐसा मनुष्य स्वस्थ कहा जाता है जो अपने आप में स्थिर है, जिसमें आत्मविश्वास है। केवल रोग रहित होना भी स्वास्थ्य नहीं कहला सकता। रोग से निवृत्त होकर मनुष्य स्वास्थ्य प्राप्त करता है। स्वास्थ्य प्राप्तव्य स्थिति है। रोग एक त्याज्य बंधन है। केवल बंधन रहित हो जाना ही प्रगति नहीं। प्रगति तो बंधन रहित होकर सम्यक्तया गमन करने का नाम है। इसी प्रकार रोग रूपी बंधन से मुक्त होकर हम स्वास्थ्य की ओर प्रगति करते हैं और योग्य प्रयत्न करने से हमें स्वास्थ्य प्राप्त हो जाता है। स्वास्थ्य स्थिर रहे और हम अन्दर प्रकाश और दीप्ति अनुभव करने लगें, यह स्थिति साधन-साध्य है। सम्यक् ध्यान धारणा समाधि से मनुष्य के अन्दर निरंतर ऋत का प्रकाश रह सकता है। साधक जन एक विलक्षण ऋत की ज्योति अनुभव करते हैं जो उन्हें निरंतर उन्नत होने में सहायक होती है और वे अपने उद्देश्य सत्यं शिवम् सुन्दरम् का अति सामीप्य का सायुज्य तक अनुभव करने लगते हैं; यही ब्राह्मी स्थिति है जो ऋताचार से सुलभ है। ऋत और सत्य का व्यवहार मनुष्य को अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों एक साथ प्राप्त कराता है, इसीलिए यह धर्म है, यही कर्तव्य है। इसे निभाता हुआ ही मनुष्य कृतकार्य होता है अन्यथा जीवन व्यर्थ जाता है और मनुष्य पछताता है और अपने भाग्य को कोसता रहता है।

कर्म कर्तव्य है, कर्म भाग्य नहीं, कर्म, भाग्य का निर्माता है। कर्तव्य निभाता हुआ मनुष्य अवश्य दीर्घायु होता है और सफल मनोरथ होता है। जो लोग भाग्य के भरोसे केवल अवसर देखते रहते हैं वे कभी भी कृतकार्य न होने के कारण असफल रहते हैं। जीवन की सफलता की कुंजी श्रम और तप हैं।

सात्विक जीवनचर्या में ऋत की प्रधानता रहती है। सात्विक मनुष्य प्रेम का रहस्य जान चुका है, वह सब से धर्मयुक्त अर्थात् ऋतयुक्त प्रेम करता है और सब के सच्चे सुख का कारण बनता है। हम सब उन्नत हों और एक दूसरे की उन्नति में सहायक हों तो सभी सुखी रहेंगे और सभी उन्नत होंगे और इस प्रकार हमारा सारा समाज उन्नत और प्रगतिशील हो जायगा। ऋत का जीवन ही जीवन है अन्यथा तो मनुष्य अपने आपको मनुष्यपन से नीचे गिराकर केवल दिन काटता है। वह जीवनचर्या क्या हुई जिसमें मनुष्य की सर्वांग संतुलित उन्नति न हो रही हो। यदि मनुष्य केवल अपने शरीर के लिए ही जीता है तो ऐसा व्यक्ति अवश्य गिरेगा क्योंकि उसने अभी तक मानवता को नहीं समझा। शरीर, प्राण, मन, बुद्धि सभी के समन्वय से मनुष्य का जीवन निर्वाह होता है। केवल शारीरिक सजावट हो, शरीर निरोग भी न हो और मन अशक्त दुर्बल हो तथा बुद्धि अस्थिर हो तो ऐसा मनुष्य जीवन-मार्ग में सफल न हो सकेगा। निरोग शरीर, सबल प्राण, सशक्त मन, निर्मल बुद्धि इन सब के समन्वय से ही मनुष्य का जीवनमार्ग सफल होता है और उसे उद्देश्य की प्राप्ति सुलभ हो जाती है।

जो लोग शरीर की अवहेलना करते हैं वे भूल में हैं किन्तु उनसे भारी भूल वे कर रहे हैं जो केवल शरीर के ही लिए जी रहे हैं। शरीर एक आवश्यक साधन है। जिसका शरीर रोग रहित है वह स्वास्थ्य प्राप्त करता है और प्राण, शक्ति, मनोबल तथा प्रज्ञा से अपना जीवन मार्ग सुगम बना लेता है। प्रज्ञा वह बुद्धि की निर्मलता की अवस्था है जिसमें मनुष्य ने पूरी देखभाल करके अनृत को त्याग कर ऋत को अपनाया है। उसने अपना विवेक जाग्रत रखा है और विवेक की मूकवाणी को ध्यान से सुना है और उसके अनुसार जीवन-व्यवहार किया है।

अनृत जीवन क्षुद्र है, हीन है इससे मनुष्य बंधन में फँसता है और मोह अन्धकार में पड़ा झींकता रहता है, उसे शान्ति नहीं, उसे स्थायी सुख नहीं, वह भटकता रहता है और संयम न करने के कारण उसके जीवन में क्षोभ अवसाद

विषाद रहा करते हैं। यदि हमारी यह अभिलाषा है कि हम शोच और दुख से अलग रहें तो हमें अनृत जीवन को छोड़-कर ऋत और सत्य का अवलंबन करना ही होगा। अनृत जीवन में सुख का आभास मात्र है, अनृतजीवन में सुख की झलक तक नहीं। अनृत से हम ऋत की ओर आवें, असत् से हम सत् की ओर आवें, अन्धकार से हम ज्योति की ओर आवें, और इस प्रकार मृत्युपथ से हटकर हम अमृत को प्राप्त हों। मनुष्य मर्त्य है सही, किन्तु मरणशील उसका शरीर ही है। वह स्वयं एक विलक्षण अमरसत्ता है जो अविनाशी है। शरीर ही नाशवान है। अपने शरीर को भी हम सात्विक, पवित्र ऋतयुक्त जीवनचर्या से दीर्घ समय तक निरोग रख सकेंगे यदि हम अपने जीवन में अनृत को स्थान न देंगे। अनृत जीवन से ही लोग अल्पायु होते हैं। ऋत के जीवन से मनुष्य दीर्घायु होता है। मननशील, विचारशील व्यक्ति की मनुष्य संज्ञा है। हम श्रेय को समझें और श्रेय को ही चाहें तो हम अवश्य ही ऐश्वर्यवान्, श्रीमान्, स्वस्थ और ओजस्वी रहते हुए दीर्घायु प्राप्त करेंगे।

"विश्व का नियमन करनेवाले सर्वव्यापी नियमों की संज्ञा ऋत है। ऋत के कारण ही सृष्टि रचना में और इस असीम जगती के संचालन में सुव्यवस्था दीख रही है। ऋत और सत्य का अटूट संबंध है। ऋत और सत्य का साथ सृष्टि के आदि से है और सदा रहेगा। ऋत और सत्य सनातन और शाश्वत नियम हैं जिनसे जीवन का विकास होता है। जीवन में समन्वय और सामंजस्य ऋत और सत्य के ही कारण है। जहाँ जीवन है और उन्नति है, जहाँ प्रगति है और सुव्यवस्था है वहाँ अवश्य ऋत और सत्य है। ऋत को यज्ञ कहा गया है, वह भी समन्वय के ही कारण है। ऋत के कारण ही समाज में मेल, परस्पर प्रीति और सौहार्द है। यज्ञ का मुख्य अंग संगतिकरण ही है।

ऋत और सत्य परम प्रज्ज्वलित तपोमय, ज्योतिर्मय तेज से उत्पन्न हुए हैं। ये दोनों अटल शाश्वत नियम जगती को धारण कर रहे हैं इसीलिये ये धर्म कहे जाते हैं। इन ऋत और सत्य को जो व्यक्ति और समाज धारण करता है वह व्यक्ति धर्मात्मा कहा जाता है और वह समाज धार्मिक अथवा धर्मावलंबी कहा जाता है। धर्म को धारण करने वाला व्यक्ति अवश्य प्रगतिशील होता है वह उन्नत होता है। ऐसे मनुष्यों का सुव्यवस्थित समाज भी उन्नत समाज समझा जाता है। आर्य परम श्रेष्ठ मानव की संज्ञा है क्योंकि उसमें अर्य भगवान् के दिव्य गुण चरितार्थ होते हैं, इसलिये श्रेष्ठ धर्मात्मा मनुष्यों के समाज को ही आर्यसमाज कह सकते हैं। आर्य वह मनुष्य है जिसमें श्रेष्ठ गुण चरितार्थ है। जो मनुष्य दुरितों को त्याग चुका है जिसने भद्र को अंगीकार किया है वही आर्य है। आर्य में ऋत और सत्य चरितार्थ होने चाहिये।

ज्योति स्वरुप प्रकाशमय भगवान् ऋत और सत्य को निरंतर धारण कर रहा है तथा इनके द्वारा ही सारी जगती में सुव्यवस्था कर रहा है। यद्यपि वह अदृश्य है, बाह्य नेत्रों से दीखता नहीं तथापि उसकी सुव्यवस्था से उसका सर्वज्ञ चेतन-सत्ता होना निश्चित है। उसका कार्य-जगत् सुव्यवस्थित और परम सुन्दर है इसलिये वह अवश्य ही परम सुन्दर होना चाहिये। मानव में सत्य और शिव है। मानव का शरीर मर्त्य है मानव स्वयं अमरसत्ता है और चेतनसत्ता है। मानव सत्, चित्, है, परमात्मा सत्, चित्, आनन्द है। मानव अल्पज्ञ है परमात्मा सर्वज्ञ है। मानव पूर्ण नहीं है भगवान् पूर्ण है उसकी सृष्टि भी पूर्ण है। मानव के कार्य सीमित हैं परमात्मा के कार्य असीम हैं क्योंकि वह स्वयं असीम और अनंत है। मानव भगवान् का सामीप्य अनुभव करके और अपने साथ भगवान् का आत्मीय संबंध अनुभव करके तृप्ति, पूर्णता और आनंद का आकांक्षी है। यही मानव का उद्देश्य है जो उसे भगवान् को ही अपना जीवन आदर्श जानते हुये प्राप्त करना है। ऋत उसकी प्राप्ति का साधन है। सत्य से यह साधन निर्विघ्न संपन्न होता है। यह ऋत का जीवन है, जिसमें आपस में ऋत का बर्ताव होता है, ऋत का ही व्यवहार होता है।

अनृत जीवन वह जीवनचर्या है जिसमें ऋत चरितार्थ न हो रहा हो। ऐसे लोग मिथ्याचारी, ढोंगी होते हैं। ऐसे लोग एक दूसरे पर सन्देह किया करते हैं, इनमें आपस के जीवन-व्यवहार में तथा निजी आचरण में नियम नहीं होता। इनके घरों में सुव्यवस्था नहीं होती। वस्तुओं के रखने का स्थान निश्चित नहीं होता, कार्य करने का समय भी निश्चित नहीं होता, ऐसे लोगों के जीवन में उच्छृंखलता दीखती है जिसे वे स्वयं स्वतंत्रता कहते हैं पर जानने वाले योग्य मनुष्य उसे अव्यवस्थित अनृत जीवन ही समझते हैं। जिस राष्ट्र में ऐसे लोगों की संख्या अधिक हो जाती है, वहाँ अकर्मण्यता आराम कही जाती है, आलस्य और प्रमाद को सुस्ताना कहा जाता है और इस प्रकार ऐसे लोग अनियमित जीवनचर्या करते हुये रोगी, स्फूर्ति-हीन रुढ़ियों के दास हो जाते हैं और गिरे हुए रहते हुए अपने भाग्यको कोसा करते हैं तथा कर्मठ पुरुषार्थी सुनियमित जीवनचर्या वाले मनुष्यों को उन्नत होता

हुआ देखकर अपने अन्दर ही कुढ़ा करते हैं। उनकी ईर्ष्या उन्हें ही जलाती है पर ऐसे तमोगुणी तथा रजोगुणी लोगों द्वारा सामाजिक तथा व्यक्तिगत अपराध होते रहते हैं।

ऐसे लोगों में भगवान् के प्रति श्रद्धा नहीं होती। इनकी दृष्टि मन्द होती है और अन्तःदृष्टि तो इनमें होती ही नहीं। ये लोग भला यह क्या जानें, कि इस जगती भर में ऋत कार्य कर रहा है और ये अकर्मण्य रहते हुए अथवा कुकर्म करते हुए भगवान् के अटल नियमों का उल्लंघन करते हुए वरुण के दृढ़ पाशों में जकड़े हुए हैं। वैसे तो वरुण के नियमों में सभी बँधे हैं, कोई सज्जन सुनियमित ऋतयुक्त जीवन में बँधे हुए वास्तव में स्वतंत्र हैं, और कोई मूढ़जन अनियमित अनृत जीवनचर्या करते हुए अपने आपको स्वतंत्र समझते हुए भी फंसे हुए हैं।

हम देखते हैं ऋतुओं का ठीक समय समय पर बार-बार आना, यह ऋत के कारण ही हो रहा है। ऋत के साक्षात दर्शन भगवान् की रचना में, सुनियमता में उसके प्रेम भरे अनुशासन में और नैसर्गिक सौंदर्य में है। यह नैसर्गिक सौन्दर्य और निरंतर विलय और पुनः नव सृजन ऋत का कार्य है। ऋत का कभी लोप नहीं होता। ऋत नित्य है। जिस मनुष्य के जीवन में ऋत चरितार्थ हो रहा हो, उसमें सुनियमित रहन-सहन, स्वप्न जागरण, सम्यक् कर्म-चेष्टा और मिताहार और विहार होता है तथा इनके कारण उसमें स्वास्थ्य, शक्ति और सामर्थ्य दीखता है। जहाँ शक्ति, उत्साह, साहस और सामर्थ्य की कमी है वहाँ निश्चित है कि ऋत चरितार्थ नहीं हो रहा है।

दिखावे का शिष्टाचार और हृदय में कुटिलता के कारण मनुष्य कभी भी स्वस्थ नहीं रहता, उसका चित्त चंचल रहता है और शान्त चित्त न होने के कारण वह उत्साहहीन रहता है। उदास रहना और कर्त्तव्य में प्रमाद करना ऋत का अभाव प्रकट करता है। उदासीनता और कर्त्तव्य के प्रति अवहेलना अनृत जीवन-व्यवहार है। ऐसे लोग अवश्य अल्पायु होते हैं। जहाँ ऋत है, वहाँ सदाचार है, वहाँ मन, वचन, कर्म में साम्य है। वास्तविकता ही सत्याचरण है। बनावटी जीवन व्यवहार से तो भाण्डा फूटने पर मनुष्य लज्जित होता है। सत्य प्रकट तो हो ही जाता है। मन, वचन, कर्म में समता ऋताचार है। मन, वचन, कर्म में विषमता अनृत व्यवहार है। अनृत जीवन में मनुष्य का विकास असंभव है। अनृत जीवन में तो ह्रास ही होता देखा है। अनृत जीवन में मनुष्य आपस में छल-कपट करते हैं और एक दूसरे को धोखा देते हुये अपने आपको चतुर समझते हैं। इस प्रकार इनका नैतिक पतन होता है और ये लोग भय और सन्देह के जाल में फँसे रहते हैं। जो मनुष्य दूसरे व्यक्ति को धोखा देता हुआ स्वयं को चतुर समझता है वह वास्तव में अपने-आप को धोखा दे रहा है। अपना नाश अपने हाथों करता हुआ वह मूढ़ व्यक्ति अन्धकार में रहता है। पाप-कर्म अन्धकार में हुआ करते हैं। पापवासना हृदय की ज्योति को मन्द कर देती है। अनृतजीवन में कुटिलता है जिससे मनुष्य का नैतिक पतन होता रहता है। कुटिलता और आपस का द्रोह अक्षम्य पाप हैं, ये ही अनृत-जीवन के विशेष अङ्ग हैं।

दिव्यजनों के संसर्ग से मनुष्य में आत्मनिरीक्षण का स्वभाव बन जाता है और जब वह अपने आपको सम्यक् रूप से देखने लगता है तो उसकी रुचि आत्म-सुधार की ओर होती है और ऋत का अवलंबन करके परम सुख लाभ करता है॥

इन्द्र

[ले०—श्री० डा० वासुदेव शरण जी अग्रवाल एम० ए०, काशी]

(अंक ९ से आगे)

"अग्नि वाक् होकर मुख में आई; वायु प्राण रूप से नासिका में ठहरी; आदित्य चक्षु होकर नेत्रों में स्थित हुआ; दिशाएँ श्रोत्र होकर कानों में प्रविष्ट हुईं; ओषधि—वनस्पतियाँ लोम-रूप से त्वचा में प्रविष्ट हुईं, चन्द्रमा मनोरूप से हृदय में स्थित हुआ, मृत्यु अपान के रूप में, नाभि-देश में स्थित हुई; जल रेत बन कर गुह्य प्रदेश में ठहरा[1]।"

बाह्य प्रकृति के अनुकूल और अनुसार ही पार्थिव शरीर के संगठित होने का यह बहुत यथार्थ वर्णन है।

देवों का ही नामान्तर लोकपाल है, और जिन इन्द्रिय-द्वारों में उन्होंने वास किया, उनका नाम लोक है। इन लोकों और लोकपालों को रचने के बाद उस आत्म-सम्राट् के मन में तीन प्रश्न उत्पन्न हुए। उसने सोचा—मेरे बिना यह सब ठाठ चलेगा कैसे? उसने सोचा—सब तो अपने-अपने मार्गों से चले गये, मैं किधर से जाऊँ? उसने सोचा—यह सब देव स्वतन्त्र होकर अपना-अपना काम कर ले गये, तो मैं कौन ठहरा, मेरी क्या महिमा रही? 'अथ कोऽहमिति?'—यह सोचकर वह अन्य किसी देव के मार्ग से न आकर स्वयं विदृति नामक एक नया द्वार कल्पित करके इस नर-देह में प्रविष्ट हुआ। उसने आकर चारों ओर देखा और कहा—यहाँ अपने से दूसरा किसे कहूँ? उसने ब्रह्म को ही चारों ओर फैला हुआ देखा। इस प्रकार जिसने देखा, वह इन्द्र कहलाया[2]।

इस कथा द्वारा शरीर में प्राणों के विविध रूपों का वर्णन करके इन्द्र या आत्मा के अखण्ड आधिपत्य या ऐश्वर्य का वर्णन है। विविध देव या लोकपाल एक प्राण के ही अनेक रूप हैं। उस प्राण से श्रेष्ठ और ज्येष्ठ इन्द्र है। प्राण की सहायता से इन्द्र सब काम करता है, या यों कहें कि इन्द्र के ही आश्रय से प्राण में प्राण-शक्ति है। प्राण ही विश्व-व्यापिनी शक्ति है। प्रत्येक पदार्थ के मूल में शक्ति के सूक्ष्म रूप की वैदिक संज्ञा प्राण है। यह महाविद्युत् चराचर का अन्तिम रूप है। अर्वाचीन विज्ञान प्राण के ही नाना रूपों का अनुसन्धान करने में व्यस्त है। वैज्ञानिक कहते हैं कि भिन्न पदार्थ के मूल में विद्युत् (Electricity) है। शब्द, ताप, प्रकाश आदि उसी के रूप हैं। वह विद्युत् प्राण है। विद्युत् मूल में द्वैत सम्पन्न है। वैज्ञानिक शब्दों में, उसे ऋण और धन कहा जाता है। इसी द्वन्द्व के अनेक वैदिक संकेत हैं—

धन	ऋण
पुरुष	स्त्री
ब्रह्म	क्षत्र
ज्ञान	कर्म
ऋक्	यजुः
अन्नाद	अन्न
अमृत	मर्त्य
सत्	असत्
अहः	रात्रि
प्राण	अपान
अग्नि	सोम
मित्र	वरुण
गायत्री	त्रिष्टुप
रथन्तर	बृहत्
अनिरुक्त	निरुक्त

इस प्रकार ब्रह्माण्डव्यापी द्वैत से विशिष्ट प्राण सब पार्थिव या भौतिक पदार्थों का आदि मूल है। परन्तु उस महाप्राण को ही सर्वोपरि चैतन्य मान बैठना भूल है। असुर या भौतिक प्रकृति की उपासना करने वाले (materia-lists) लोग प्राण को ही सर्वश्रेष्ठ शक्ति मान लेते हैं। आज वैज्ञानिक संसार में यही हो रहा है। प्राण या विद्युत् से प्रशस्यतर सत्ता की उपासना विज्ञान को इष्ट नहीं है। वैदिक अध्यात्मशास्त्र में प्राण के भी प्राण चैतन्य का वर्णन है। वेदों और ब्राह्मणों में सर्वत्र उस आत्म-तत्त्व की महिमा का बखान है, जिसके प्रताप से प्राण और अपान का कार्य सम्भव होता है—

यत्प्राणेन प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते[3]॥

केवल जड़ प्रकृति की मूल शक्ति या विद्युत् की ही पूजा करने वालों को यह उपदेश है कि सृष्टि और प्रकृति का मूल कारण, जिसकी तुम खोज में हो, वह प्राण नहीं है; बल्कि इस प्राण को भी प्राणित करने वाला ब्रह्म है।

१. ऐ० आ० २।४।२॥ ऐ० उ० १।२॥ २. ऐ० आ० २।४।३॥ ऐ० उ० १।३॥ ३. केनो० १।८।

इसी दुर्द्धर्ष सिद्धान्त की घोषणा ऋग्वेद के 'स जनास इन्द्रः' नामक सूक्त में [मण्डल २, सूक्त १२,] गृत्समद ऋषि ने की है। यह सूक्त बहुत ही महिमाशाली है। कथा यों है—असुर सदा इन्द्र की खोज में रहते थे। एक बार इन्द्र गृत्समद के यज्ञ में गये। यह समाचार सुनकर असुरों ने गृत्समद का घर घेर लिया। इन्द्र यह हाल जानकर गृत्समद का वेष बनाकर वहाँ से निकल गए। असुरों ने गृत्समद समझ कर उन्हें जाने दिया। थोड़ी देर में असली गृत्समद भी निकले। तब असुरों ने उन्हें पकड़ा। गृत्समद के बहुत कहने पर भी असुर यही समझे कि यही इन्द्र है, जो कपट-वेष बनाकर निकल जाना चाहता है। इस पर गृत्समद ने एक सूक्त गाया, जिसमें कहा 'सज्जनो, मैं इन्द्र नहीं हूँ; इन्द्र तो वह है, जिसने अमुक प्रकार के पराक्रम किये हैं; जिसने द्यावा-पृथिवी को स्तम्भित कर दिया है; जिसने उत्पन्न होते ही सब देवों को क्रतु या शक्ति सम्पन्न बना दिया जिसने अहि-वृत्र का संहार करके सप्त सिन्धुओं के मार्ग को उन्मुक्त किया; जिसके बिना मनुष्यों की विजय नहीं होती; जिसने सोम का पान किया; जो अच्युत है; जिसने शम्बर आदि असुरों का नाश किया है। सज्जनो, इन्द्र तो वह है, मैं इन्द्र नहीं हूँ।'

स जनास इन्द्रः

इस सूक्त का गृत्समद ऋषि कौन है? ऐतरेय आरण्यक ने इस समस्त सूक्त को समझने की कुञ्जी दी है। उसके अनुसार गृत्समद प्राण का नाम है। गृत्समद शब्द में गृत्स नाम प्राण का है और मद नाम अपान का है। गृत्समद प्राणापान का संयुक्त रूप महाप्राण है[1]। वह स्वयं कहता है—मैं आत्मा या इन्द्र नहीं हूँ। यद्यपि मेरी शक्ति भी अवर्णनीय है; पर इन्द्र मुझ से भी बड़ा है। इन्द्र के पराक्रम विश्व-विदित हैं, उनके प्रताप को जानने वाला पुरुष गृत्समद को इन्द्र अर्थात् प्राण को आत्मा समझने की भूल नहीं कर सकता।

ऊपर के सूक्त में इन्द्र[2] को एक स्थान पर सप्तरश्मि, तुविष्मान्, अर्थात् बलवान् वृषभ कहा गया है। शरीर के सात प्राण ही सप्तरश्मियाँ हैं। ये ही सप्त अर्चियां, सप्त होम, सप्त लोक, सप्त समिधाएँ और सप्तर्षि हैं, (मुण्डक उपनिषद् २।१।८ तथा यजुः ३४।५५)। ये ही आत्मा की सात परिधियाँ हैं। शरीर के भीतर रक्खी हुई अग्नि की ये सात चितियाँ हैं। द्युलोक (Cerebrum), अन्तरिक्ष (medula oblongata, middle region) और पृथ्वी (Spinal region) में बँट कर ये सात अर्चियां या समिधाएँ सप्तत्रिक इक्कीस प्रकार की हो जाती हैं। वेदों में त्रिःसप्त संख्या का अनेक स्थानों में वर्णन है। उसका अभिप्राय इन्हीं सप्त प्राणों की पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश में फैली हुई तीन प्रकार की शक्तियों से है। ये तीन लोक शरीरस्थ केन्द्रीय नाड़ी-जाल (Central nervous system) के ही विभाग हैं। सुषुम्णा के ३३ पर्व पृथिवी लोक है, ऊर्ध्व मस्तिष्क द्युलोक या स्वर्ग है, इनके बीच का भाग (Spinal Bulb) ही अन्तरिक्ष है। पञ्चक्रों की सब चेतनाएँ और संज्ञाएँ अन्तरिक्ष में होकर ही मस्तिष्क में पहुँचती हैं, जहाँ से सातों प्राणों का नियमन होता है। नाभि से नीचे जङ्घाएँ, पैर आदि पाताल लोक हैं, वहाँ अन्धकार रहता है। ज्ञान का अलौकिक स्थान तो स्वर्ग या मस्तिष्क है, वहाँ मननात्मक देव रहते हैं। इन्द्र सातों प्राणों का नियामक है। आत्मज्ञान के लिए सप्त इन्द्रिय-द्वारों का संयम परम आवश्यक है।

महाभारत की कथा के अनुसार काशिराज की पुत्री, सत्या के विवाह की शर्त सात बैलों का नाथना था। कृष्ण ने उन्हें एक रस्सी में बांध कर सत्या को पाया था।

इस कथा में इन्द्र के सप्तरश्मि वृषभत्व का ही संकेत है। इन्द्र में ही यह सामर्थ्य है कि अपनी-अपनी तरफ रस्सी तुड़ा कर भागने वाले इन सातों प्राणों को एक रश्मि में नाथ कर उन्हें अपने शासन में चलाता है। ऋग्वेद के इन्द्र-मरुत् संवाद सूक्त में सात मरुत् ही सप्त प्राण हैं, जो इन्द्र की सहायता करने का वचन देते हैं। उनके बल को अनुकूल पाकर इन्द्र वृत्रादि असुरों को वश में करता है।

वेदों, ब्राह्मणों और पुराणों में इन्द्र के देवासुर-संग्राम का बहुत वर्णन है। निरुक्ताचार्य यास्क ने आध्यात्मिक तत्त्वों को देवासुर-संग्राम के वर्णन द्वारा समझाने की शैली को इतिहास कहा है। वस्तुतः आधुनिक इतिहास के रूढ़ि अर्थ में देवासुर-संग्राम कोई घटना कभी नहीं हुई। वह तो शाश्वत-संग्राम है, जो सहस्रों बार हो चुका है और प्रतिक्षण निरन्तर होता रहता है। प्रत्येक व्यक्ति की दैवी और आसुरी वृत्तियों में संघर्ष चला करता है। प्राण ही देव और प्राण ही असुर हैं। प्राण की ही भली बुरी वृत्तियाँ दैवी और आसुरी कहलाती हैं—

१. द्र० ऐ० आ० २।२।१॥ २. ऋ० २।१२॥

देवाश्च वा असुराश्च प्रजापतेर्द्वया पुत्रा आसन्
ताण्ड्य ब्रा० १७।१।२

प्राण प्रजापति है—

प्राणः प्रजापतिः । शतपथ ६ । ३ । १ । ९

उसी के रूप देवासुर हैं। जब दैवी वृत्तियों की विजय होती है, तब इन्द्र स्वर्ग का अधिपति रहता है, अर्थात् स्वर्ग या मस्तिष्क या बुद्धि से संयुक्त उसका निवास रहता है। असुरों की विजय से इन्द्र स्वर्गच्युत हो जाता है अर्थात् आत्म-विवेक का लोप हो जाता है। शतपथ ब्राह्मण (११।१।६) में आलङ्कारिक ढंग से कहा है कि प्रजापति ने अपने शरीर में ही गर्भ धारण करके देवों और असुरों को बनाया। देवों को बनाने से उजाला और असुरों से अन्धेरा हो गया। इसलिए अन्धकार में असुरों का बल बढ़ता है। दिन देवों का है, रात्रि असुरों की है।

देवता पुण्यमय थे; इसलिए वे विजयी हुए। असुर पाप से बिन्धे थे, इसलिए वे हार गये, अर्थात् देवासुर-संग्राम के बहाने से पुण्य पाप वृत्तियों के संघर्ष और जय-पराजय का वर्णन सर्वत्र किया जाता है। इस सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण की निम्नलिखित पंक्तियाँ सोने के अक्षरों में लिखने योग्य हैं—

नैतदस्ति यद्दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वत् उद्यते इतिहासे त्वत्। ततो ह्येवैतान् प्रजापतिः पाप्मना अविध्यत् ते तत एव पराभवन् इति। तस्मादेतत् ऋषिणाऽभ्यनूक्तम्।
न त्वं युयुत्से कतमच्चनाहर्न तेऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुः नाद्य शत्रुं ननु पुरा युयुत्सः॥
शत० ११।१।६।१७

अर्थात्—इतिहास और आख्यानों में जो देवासुर-संग्राम की कथाएँ लोग कहते हैं, वे ठीक नहीं हैं। असुरों को बनाने से अँधेरा हो गया, तब प्रजापति ने जाना—अरे, मैंने पाप बना दिया, जिससे मेरे लिए तम हो गया। बस, असुरों को उसने पाप से बींध दिया, जिससे वे पराभूत हो गये। इसी बात को ध्यान में रखकर ऋषि ने यह बात कही है कि इन्द्र, तुम एक भी दिन नहीं लड़े, न तुम्हारा कोई शत्रु है। तुम्हारे युद्धों का बखान सब माया है। न आज तुम्हारा कोई शत्रु है, और न पहले तुम से लड़ने वाला अर्थात् प्रतिद्वन्द्वी कोई था। (Illusion is what they say concerning thy battles.)
(Eggeling.)

वृत्र, शम्बर, नमुचि, बल, अहि, रौहिण, दनु, गोत्र आदि असुरों के साथ इन्द्र के संग्रामों का वर्णन करने वाले जो इतिहास और आख्यान हैं, वे माया हैं।

माया = Finitising principle, that which envelops Indra; the veiling principle.

इस देश-काल या ऋत-सत्य के ताने-बाने ने इन्द्र को आवृत कर लिया है। 'शं' अर्थात् आत्मा को आवृत करने वाला शम्बर या वृत्रासुर है। इन्द्र को जब तक अपना ज्ञान नहीं है, तभी तक वह वृत्र आदि असुरों से हारता रहता है। जिस क्षण इन्द्र को अपने शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव का ज्ञान हो जाता है, वह असुरों पर विजय पा लेता है। माया का आवरण स्वयं छिन्न-भिन्न हो जाता है। कौषीतकी उपनिषद् अर्थात् ऋग्वेदीय शांखायन आरण्यक के उपनिषद् भाग (४ । २०) में इसी बात को बड़े निश्चित शब्दों में कहा है—

"स यावद् वा इन्द्र एतमात्मानम् न विजज्ञौ तावदेनमसुरा अभिबभूवुः। स यदा विजज्ञावथ हत्वाऽसुरान्विजित्य सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यम् पर्येति"।

अर्थात्—उस इन्द्र ने जब तक अपने को नहीं जाना, तब तक असुर उससे हारते रहे। जब इन्द्र ने आत्म-दर्शन कर लिया, तब उसने असुरों को जीत लिया, और वह सब भूतों से श्रेष्ठ बन कर स्वराज्य की प्राप्ति कर सब का अधिपति बना। यह नहीं कि पहले युगों में कभी ऐसा हो गया हो। अध्यात्म-शास्त्र के नियम तो त्रिकाल में सत्य रहते हैं। इसीलिए ऋषि ने आगे कह दिया—

एवं विद्वान् सर्वेषां भूतानाम् श्रैष्ठ्यं स्वराज्यमाधिपत्यम् पर्येति य एवं वेद, य एवं वेद।

अर्थात्—अध्यात्म-विद्या के इन्द्र-विजयाख्य रहस्य को जानने के बाद जो आत्म-विज्ञानी होता है, वह भी सब भूतों में श्रेष्ठ, ज्येष्ठ और स्वराज्य-सम्पन्न बनता है। आधुनिक विज्ञान में जो स्थान देशकाल (Space-Time) का है, वही आर्ष-विज्ञान में ऋत-सत्य का है। "सृष्टि प्रक्रिया में सर्व-प्रथम ऋत-सत्य का विकास होता है।

ऋत-सत्य

ऋत-सत्य के आवरण से सब भूत आवृत या परिच्छिन्न हैं। इन्होंने ही अनन्त को सान्त किया है। ये ही मापने वाले या माया हैं। इन्हीं के नामान्तर शान्ति और क्षोभ (Static and Dynamic Principles) हैं। ऋत के कारण देश में वस्तुओं की स्थिति होती है। सत्य के दबाव से काल में उनका अग्रगामी विपरिणाम या विकास

होता है। इन दोनों से ऊपर अनेजत् निष्कम्प इन्द्र या आत्मा है। समस्त च्युत पदार्थों के मध्य में आत्मा केवल अच्युत है। गृत्समद ऋषि ने इन्द्र को अच्युत-च्युत कहा है।[1] अन्यत्र भी इन्द्र को "च्यवनमच्युतानाम्"[2] की उपाधि दी है, अर्थात् जो देश और काल सब को चलायमान कर देते हैं, किसी को स्थिर नहीं रहने देते, उनको भी चलायमान करने वाला, उनसे अतीत सत्ता वाला इन्द्र है। बुद्ध भगवान् ने इन्हीं तत्त्वों को धर्म और कर्म के नाम से पुकारा था। धर्म्म सब को धारण करने वाला (Static) है, कर्म्म सब को आगे बढ़ाने वाला (Dynamic) है। विश्व का प्रत्येक परमाणु ऋत-सत्य से ओत-प्रोत है।

ब्राह्मणों और उपनिषदों में इस माया को नाम-रूप भी कहा गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है—

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तत् नाम रूपाभ्यामेव व्याक्रियते असौ नाम इदं रूपम्। बृ० १।४।७॥

अर्थात् नाम और रूप के द्वारा अव्याकृत (Undifferentiated) ब्रह्म व्यक्त हुआ।

शतपथ-ब्राह्मण में अन्यत्र (११।२।३) भी ब्रह्म की व्याकृति का नाम-रूप द्वारा विशेष वर्णन है—

अथ ब्रह्मैव परार्द्धमगच्छत्। तत्परार्द्धं गत्वा ऐक्षत कथन्विमाँल्लोकान् प्रत्यवेयमिति। तद् द्वाभ्यामेव प्रत्यवैत् रूपेण चैव नाम्ना च।"[3]

अर्थात्—ब्रह्म का त्रिपाद् अमृत या परार्ध भाग तीन लोकों से अतीत है। उसने सोचा—किस प्रकार मैं इन लोकों में प्रविष्ट होऊँ? तब वह नाम और रूप से इन लोकों में प्रविष्ट हुआ। उपनिषदों के आधार पर लिखते हुए शङ्कराचार्य ने सहस्रों बार इस नाम रूपात्मक माया के आवरण का वर्णन किया है। आत्म-दर्शन से ही इस बन्धन, परिच्छिन्नता या माया की ग्रन्थि शिथिल होती है। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् सब के मतानुसार स्वात्मानुभव ही सब से बड़ी विजय या सिद्धि है। यही महती सम्प्राप्ति है। इसी सूत्र में अनेक वर्णनों, उपाख्यानों, इतिहासों और दर्शनों का सार है। यद्यपि वेद अनन्त है, पर इन्द्र ने भरद्वाज को जो आत्म-ज्ञान का मूल-मन्त्र बताया था, उसे जान लेने से सब वेदों के सारभूत अक्षर पद ओ३म् का ज्ञान हो जाता है, तब इस अनन्तता से मनुष्य व्यथित नहीं होता। मूल सूत्र पर अधिकार होने से उसको विशेष आनन्द की प्राप्ति होती है।

इस विश्व में उस महान् अज्ञात यक्ष को, जो अपने विराट् और अणु रूप में प्रकट हुआ है, जान लेना अग्नि, वायु आदि देवों के वश की बात नहीं है। उसे तो इन्द्र ही जान सकता है। अग्नि ने अहङ्कार से कहा—'मैं जातवेदा हूँ, चाहे जिसको जला सकता हूँ।' पर उस यक्ष के दिये हुए एक तिनके को न जला सका। वायु ने कहा—'मैं मातरिश्वा हूँ, चाहे जिसको उड़ा सकता हूँ।' यक्ष ने उसके आगे एक तिनका रख दिया। वायु ने बहुतेरा जोर लगाया, पर तिनके को न हिला सका। यह देवों की शक्ति की सीमा है। इन्द्र ही उमा नाम्नी सात्त्विकी बुद्धि की सहायता से उस यक्ष को जान पाया[4], अथवा उस यक्ष ने इन्द्र के प्रति ही अपने रूप को विवृत किया। वह इन्द्र एक है, अपनी माया से अनेक रूपों वाला होकर दिखाई पड़ता है—

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते[5]।

वह इन्द्र सुत्रामा है। उस सुत्रामन् इन्द्र की प्रसन्नता के लिए जो साधनाएँ अथवा यज्ञ किये जाते हैं, वे सौत्रामणि यज्ञ हैं। इन्द्रियों की प्राण-शक्ति की संज्ञा सुरा है। सुरा और सोम दोनों एक शक्ति के दो रूप हैं। शक्ति के ब्रह्म (Static) रूप का नाम सोम है। उसी के क्षत्र (Dynamic) रूप का नाम सुरा है। सोम सुरा दोनों का अस्तित्व आवश्यक है। कुशासन पर समाधिस्थ ऋषि में प्राण की सोम-शक्ति है। सिंहासनस्थ, प्रजा-पालन में तत्पर राजा में प्राण की सुरा-शक्ति है। इन्द्र के साम्राज्य में ज्ञान और कर्म दोनों हैं। ब्रह्म और क्षत्र के समन्वय से शरीर या राष्ट्र के कार्य का संचालन होता है। Legislative और Executive शक्तियों के सामञ्जस्य से ही राष्ट्रों में आनन्द की अभिवृद्धि होती है। इसलिए इन्द्र के साथ सोम और सुरा, दोनों का सम्बन्ध है। सोम क्रतुओं में वह सोम का पान करता है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार वाक्, प्राण, चक्षु, मन, श्रोत्र, आत्मा—ये सोम पीने के ग्रह या पात्र हैं। इन्हीं[6] के परिभाषिक नाम ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण और आश्विन ग्रह हैं। इन्हीं में भर-भर कर सब लोग अपने-अपने सोम को पी रहे हैं, या बखेर रहे हैं। इन्द्र सोम को पीकर अमृतत्व लाभ करता है। सौत्रामणि यज्ञ, जो सुत्रामन्

१. ऋ. २।१२।९॥ २. ऋ. ८।९६।४॥ ३. शत. ११।२।३।३॥ ४. केनो० खण्ड ३,४॥ ५. ऋ० ६।४७।१८॥
६. तुलना करो शत० १४।६।२।१९॥

संज्ञक इन्द्र की महिमा के लिए किया जाता है, सुरा अर्थात् क्षत्र-शक्ति के सञ्चय का रहस्य बताता है। राष्ट्रों की अभिवृद्धि के लिए जिस प्रकार ब्राह्मधर्म की आवश्यकता है, उसी प्रकार क्षात्र धर्म भी आवश्यक है। मनु ने कहा है— क्षत्र-विरहित ब्रह्म अथवा ब्रह्म-विरहित क्षत्र अभिवृद्धि को प्राप्त नहीं होता। जिस स्थिति में ब्रह्म और क्षत्र समन्वित होकर विचरते हैं, उसी पुण्य प्रशस्त लोक की कामना आर्य ऋषियों ने की है। 'सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्' इस लोक-प्रचलित वाक्य में, ऐतरेय ब्राह्मण में निर्दिष्ट सौत्रामणि यज्ञ और सुरा के उत्कृष्ट मर्म की ओर ही संकेत है, जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। राष्ट्र अथवा शरीर में क्षत्र-शक्ति की उपासना सौत्रमणि यागानुकूल कर्म है, क्योंकि उसके द्वारा इन्द्र रक्षयित्री शक्ति से सम्पन्न किया जाता है। एक ही अन्न से सोम और सुरा दोनों उत्पन्न होते हैं। सोम न हो, तो मनुष्य विवेक-शून्य होगा। सुरा नहीं, तो निर्वीर्य होगा। समुदीर्ण असु-शक्ति का वैदिक नाम सुरा है। बिना उत्कृष्ट प्राणों के मनुष्य कर्मण्य नहीं बनता। बिना कर्म के वह अपना या पराया कल्याण नहीं कर सकता। ब्राह्मण ग्रन्थों ने बड़े विस्तार के साथ वैदिक विज्ञान के सार्वभौम और सार्वकालिक रहस्यों का वर्णन किया है। जहाँ तक सृष्टि का विस्तार है, वहीं तक ब्रह्म-क्षत्र या सुरा-सोम का उपर्युक्त समन्वय चरितार्थ होता है। आज भी वह ध्रुव सत्य बना हुआ है। शब्दों के भेद से मूल वस्तु का भेद नहीं होता। आज पश्चिमी विज्ञान में क्षत्र-ब्रह्म के नामान्तर लैजिस्लेचर और एग्जीक्यूटिव हो गये हैं, पर दोनों का मूल भाव एक ही है।

ऊपर इन्द्र के आध्यात्मिक स्वरूप का कुछ विवेचन किया गया है। ऋग्वेद के प्रायः एक चौथाई सूक्तों में इन्द्र की महिमा का वर्णन है। मन्त्र-गान करने वाले ऋषियों को इससे बढ़कर और आनन्द नहीं होता कि, वे अनेक प्रकार से इन्द्र की श्रेष्ठता, ज्येष्ठता का वर्णन करते रहें। उनकी वीणा से एक ही स्वर निकलता है—

आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।[1]

रस-विशेष से अनभिज्ञ जन इस राग से ऊब जाते हैं; परन्तु 'तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं'[2] का प्रत्यक्ष करने वालों की दृष्टि में इन्द्र की महिमा को गाने वाले संगीत से मधुरतर संगीत विश्व में नहीं है। धन्य इन्द्र ! जहाँ तक तुम गए वहाँ तक कोई देव नहीं गया; तुमने निकटतम जा कर पहले ब्रह्म को पहचाना—

इन्द्रोऽतितरामिव अन्यान् देवान्, स हि एनत् नेदिष्ठं पस्पर्श, स हि एनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति[3]।

---

१. बृ० उ० ४।५।६॥ २. ऋ० १०।१२०।१॥ ३. केनो० ४।३॥

सिक्ख मत प्रवर्तक गुरुओं की दृष्टि में

हवन (देवयज्ञ)

(लेखक—श्री पूज्य स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी महाराज, दयानन्द मठ, दीनानगर)

वैदिक सिद्धान्त में ब्रह्मयज्ञ के पश्चात् देवयज्ञ है। इसमें घृत और सुगन्धित सामग्री अग्नि में डाले जाते हैं। यह भी सन्ध्या के साथ साथ अर्थात् प्रातःकाल प्रथम सन्ध्या पश्चात् हवन और सायं काल प्रथम हवन पश्चात् सन्ध्या करनी होती है। आहुति देते समय वेद मन्त्रों का पाठ होता है।

सत्यार्थप्रकाश में लिखा है—

"सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त से पूर्व अग्निहोत्र करने का समय है। उसके लिये एक किसी धातु या मिट्टी के ऊपर १२ या १६ अंगुल चौकोन उतनी ही गहरी और नीचे ३ या ४ अंगुल के परिमाण से वेदी इस प्रकार बना ले अर्थात् ऊपर जितनी चौड़ी हो उसकी चतुर्थांश नीचे चौड़ी रहे। इसमें चन्दन, पलाश वा आम्रादि के श्रेष्ठ काष्ठों के टुकड़े उसी वेदी के परिमाण से बड़े छोटे करके उसमें रक्खें, उसके मध्य में अग्नि रखकर पुनः उस पर समिधा अर्थात् पूर्वोक्त इंधन रख दे, एक प्रोक्षणी पात्र दूसरा प्रणीता पात्र और एक आज्य स्थाली अर्थात् घृत रखने का पात्र और चमसा, सोने, चांदी वा काष्ठ का बनवा कर प्रणीता और प्रोक्षणी में जल तथा घृतपात्र में घृत रख कर घृत को तपा लेवें। प्रणीता जल रखने के लिये और प्रोक्षणी इसलिये है कि उससे हाथ धोने को जल लेना सुगम है। पश्चात् उस घी को अच्छे प्रकार देख लेवें। फिर इन मन्त्रों से होम करें—

ओ३म् भूरग्नये प्राणाय स्वाहा।
ओ३म् भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा।
ओ३म् स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा।
ओ३म् भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा।

इत्यादि अग्निहोत्र के प्रत्येक मन्त्र को पढ़कर एक एक आहुति देवे और जो अधिक आहुति देनी हो तो—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद् भद्रं तन्न आसुव।

यजु० अध्याय० ३०।३।

इस मन्त्र और पूर्वोक्त गायत्री मन्त्र से आहुति देवे। ओ३म् भूः और प्राणः आदि ये सब नाम परमेश्वर के हैं। इनके अर्थ कह चुके हैं। स्वाहा शब्द का अर्थ यह है कि जैसा ज्ञान आत्मा में हो वैसा ही जीभ से बोले, विपरीत नहीं। जैसे परमेश्वर ने सब प्राणियों के सुख के अर्थ इस सब जगत् के पदार्थ रचे हैं, वैसे मनुष्य को भी परोपकार करना चाहिये।

प्रश्न—होम से क्या उपकार होता है?

उत्तर—सब लोग जानते हैं कि दुर्गन्धयुक्त वायु और जल से रोग, रोग से प्राणियों को दुःख और सुगन्धित वायु तथा जल से आरोग्य और रोग के नष्ट होने से सुख प्राप्त होता है।

प्रश्न—चन्दन आदि घिस कर किसी के लगावे या घृतादि खाने को देवे तो बड़ा उपकार हो। अग्नि में डालकर व्यर्थ नष्ट करना बुद्धिमानों का काम नहीं।

उत्तर—जो तुम पदार्थविद्या को जानते तो कभी ऐसी बात न करते, क्योंकि किसी द्रव्य का अभाव नहीं होता। देखो जहाँ होम होता है, वहाँ से दूर देश में स्थित पुरुष के नासिका से सुगन्ध का ग्रहण होता है, वैसे दुर्गन्ध का भी। इतने से ही समझ लो कि अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म होकर फैलकर वायु के साथ दूर देश में जाकर दुर्गन्ध की निवृत्ति करता है।

प्रश्न—जब ऐसा ही है, तो केशर, कस्तूरी, सुगन्धित पुष्प और अतर आदि के घर में रखने से सुगन्धित वायु होकर सुखकारक होगा?

उत्तर—इस सुगन्ध का वह सामर्थ्य नहीं है कि गृहस्थ वायु को बाहर निकाल कर शुद्ध वायु का प्रवेश करा सके क्योंकि उसमें भेदक शक्ति नहीं है, और अग्नि का ही सामर्थ्य है कि उस वायु और दुर्गन्ध युक्त पदार्थों को छिन्न-भिन्न और हलका करके बाहर निकाल कर पवित्र वायु का प्रवेश करा देता है।

प्रश्न—तो मन्त्र पढ़कर होम करने का क्या प्रयोजन है?

उत्तर—मन्त्रों में वह व्याख्यान है कि जिससे होम करने के लाभ विदित हो जायँ और मन्त्रों की आवृत्ति होने से कण्ठस्थ रहें, वेद पुस्तकों का पठन-पाठन और रक्षा भी होवे।

प्रश्न—क्या इस होम करने के विना पाप होता है ?

उत्तर—हाँ, क्योंकि जिस मनुष्य के शरीर से जितना दुर्गन्ध उत्पन्न होकर वायु और जल को विगाड़ कर रोगोत्पत्ति का निमित्त होने से प्राणियों को दुःख प्राप्त करता है, उतना ही पाप उस मनुष्य को होता है। इसलिये उस पाप के निवारणार्थ उतना सुगन्ध वा उससे अधिक वायु और जल में फैलाना चाहिए। और खिलाने पिलाने से उसी एक व्यक्ति को सुख विशेष होता है। जितना घृत और सुगन्धादि पदार्थ एक मनुष्य खाता है, उतने द्रव्य के होम से लाखों मनुष्यों का उपकार होता है। परन्तु जो मनुष्य लोग घृतादि उत्तम पदार्थ न खावें तो उनके शरीर और आत्मा के बल की उन्नति न हो सके, इससे अच्छे पदार्थ खिलाना पिलाना भी चाहिये। परन्तु उससे अधिक होम करना उचित है, इसलिये होम करना अत्यावश्यक है।

प्रश्न—प्रत्येक मनुष्य कितनी आहुति करे, और एक एक आहुति का कितना परिमाण है ?

उत्तर—प्रत्येक मनुष्य को सोलह सोलह आहुति और ६।६ मासे घृतादि एक एक आहुति का परिमाण न्यून से न्यून चाहिये, और जो इससे अधिक करे तो बहुत अच्छा है। इसलिये आर्यवर शिरोमणि महाशय ऋषि महर्षि राजे महाराजे लोग बहुत सा होम करते और कराते थे। जब तक इस होम करने का प्रचार रहा, तब तक आर्यावर्त देश रोगों से रहित और सुखों से पूरित था। अब भी प्रचार हो तो वैसा ही हो जाय।"

—सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास ३

इस प्रकार ऋषि दयानन्दजी ने वेदमर्यादानुसार दो काल हवन करने का आदेश दिया है।

आगे श्रीगुरु ग्रन्थ साहिब का पाठ लिखकर सिक्ख इतिहास का कुछ पाठ लिखूँगा।

(१) तित घिउ होम जग सद पूजा पइऐ कारज सोहै।

—माझ वार महला १।२६

(२) होम जप उरध तप पूजा।
कोटि तीरथ इसनान कीजा।
चरन कमल निमिषरिदे धारे।
गोविन्द जपत सभ कारज सारे।

—राग प्रभाती महला ५ अष्टपदियाँ ३

गुरु गोविंदसिंहजी ने जो हवन किया था, उसके विषय में ज्ञानी ज्ञानसिंहजी ने इस प्रकार लिखा है—

जग होम बेशक करावें।

इह तो धरम हमारा सार।
करत रहे नृप मुनि अवतार॥
सो तो हम भी करना चैहें।
जिससे सभ सृष्टि सुख पैहें॥
इक तो अब दुरभिख अतिभारी।
है पड़ रहिओ न बरसत बारी॥
दूसर भारतवर्ष मझारे।
महामरी पड़ रही अपारे॥
त्रितीए जो नरनारी आये।
होइ रहे निज धरमो खारज॥
पाप कुकरमन मे सभ लागे।
इसी हेत रहे बन रहे अभागे॥
जग्य हवन लों सुकृत जे हैं।
हाकम तुरक करन ना देहैं॥
हम जब हवन जग्य करवैहें।
खुश होइ घन जल बहु बरसैहें॥
दुरभिख नासे अन्न बहु पैहें।
धरती रस सभ विधि प्रगटैहें॥
पवन हवन से शुद्ध भये है।
रोग सोग सब दूर नसैहें॥
बुद्धि शुद्ध नर नारी लैहैं।
सुकृत सब करने लग जैहें॥
नसे अविद्या विद्या पैहैं।
सूर वीरता दृढ़ प्रगटैहें॥
वर्णाश्रमी जन हैं जेते।
कादरता पूरन कर तेते॥
भेड़ बकरिआं सम होइ रहे।
वाछित काम तुरक सबल है॥
इने हवन की पवन लगे जब।
शेर बधिआइनसे हैहैं तब॥

सूर वीरता उर में जग हैं।
धरम पुरातन करने लग है ॥
प्रभता देह अरोग कराती।
विजय गिआन संतत सुखदाती ॥
निरभयता जस गुण देवी सब।
होई प्रापत गुरु वर मे तब ॥
बालक भाग्यवान प्रगटैहैं।
रोग सीतला आदि नसैहैं ॥
कामादिक सब आसुरी संपति।
जग्य होम को पिखके कंपत ।।
उत्तम गुण सत आदिक जै हैं।
बावन कहे वेद रिग में हैं ॥
सो अवश्य जग में करते हैं।
जग्य हवन विधिवत जब ह्वै हैं ॥

—पंथ प्रकाश, निवास २५ पृष्ठ २०१–२–२

ज्ञानीजी ने गुरुमुख से हवन के गुण कहलवाए हैं। आगे पंडितजी इसे ठीक कहते हैं। यथा—

आप हवन के नफे जो गाए। होई अवश्यमेव सब भाए ॥
पर उपकार जगत पर भारी। होई आपका जग सुखकारी ॥

—पंथ प्रकाश, निवास २५ पृ० २०२

आगे हवन का वर्णन है। यथा—

आनन्दपुर तट सतलुजे गुर के बाग मझार।
हवन होन लागिओ तहां पिख स्थान उदार ॥
सत्रां सै चुटंजा सेत नवरात्रा के मांही।
लगन महूरत सोध भले सब हवन अरंभयो वांही ॥
केशव हवन करावन. बैठे गुरु आहुति देते।
दरनी करनी और विप्रन ठानी सांती हेते ॥
सामग्रीयुत पर नारे सम धारा घृत पवे है।
चार मास तहि हवन भयो जब वर्षा लागी अते है॥
फिर नैणा देवी टिले पर असथल पेख सुहावन।
जाइ हवन करने गुर लागे दिजवर बैठ करावन ॥

—पंथ प्रकाश, निवास २६ पृष्ठ २०४

पूर्णाहुति

तब गुर सरब सामग्री हवन कुण्ड के मांही।
एकहि बेर जब पावसी चानण भए महाहि ॥

—पंथ प्रकाश पृष्ठ २०५

लोक चर्चा हुई

अब तुरकन के जुलम ते छुट जैहै हिन्दवान।
मुसलिआं को गुरु मार है ठान बने घमसान ॥

या विधि कर सतगुरु निज कार्य।
आनन्द पुर दिन आये आर्य ॥

—पंथ प्रकाश पृ० २०५

यज्ञ का फल, जो उस समय प्रगट हुआ।

जा दिन ते जग्य होम करयो गुरु,
पूर रहयो जस भूर उदारे।
चोर जिते जग्य होमन के फल,
बेद भने वरते जग सारे।
बारस होन लगी मनवांछित,
रोग विसूचिक लौं सब टारे।
लोगन केर स्वभाव स्वते सिथ,
थे बदले सब काज विचारे ॥ ३ ॥

फैल रहे फल फूल युक्तेतरु
औ उगले धरनी रस सारे।
तेज लगो तुरके घटनो चमके,
हिन्दवाहन वांग सितारे।
मैं मिटियो सत ईतन के सभ,
और उपद्रव ईस निवारे।
देन लगी बहु दूध गऊ महि,
होन लगे अन्न वास अपारे ॥ ४ ॥

लोग सिआने कहे मिलयौं इह,
होम सु जग्य गुरे वडिआई।
भारत भूमि विखै अति आनन्द,
होई गयो सत जुग निधआई ॥
मन्द स्वभाव कुकरम कलेश,
गये उठ यों रवि ते तम जाई।
होत विचार घरो घर यों गुर,
कीरति फूलो मनो फल बाई ॥

—पंथ प्रकाश, निवास २६, पृष्ठ २०८।२०९

रोग कटावन होम महा सकती निदतावन की सुनके
संगत देश विदेसन ते बहु आने लगी गुर पैगुन के।
इस में धन भूर गुरे खरचिओ इन सोच चढ़ावहि दुगुन के ॥

—पंथ प्रकाश पृ० २०९

इस सारे लेख का भाव यही है। गुरु गोविन्द सिंह जी ने यज्ञ करना श्रेष्ठ पुरुषों का कर्त्तव्य बताया और उसके फल रोग निवृत्ति समय समय पर वर्षा होना, दुर्भिक्ष का मिटना, जनता में सुख होना, लोगों में सद्भावना आदि आना माना।

पुनः उन्होंने कई मास यज्ञ किया, पण्डित केशव जी ब्रह्मा थे, अन्य ब्राह्मण अन्य कार्य करते थे। गुरु जी स्वयं यजमान रूप से आहुति देते थे।

यज्ञ समाप्त हुआ, लोगों में नाना प्रकार के वाद चले और देश में उस यज्ञ के अच्छे फल हुए। उससे गुरु जी की ख्याति भी बढ़ी। इस प्रकार इस लेख से सिद्ध है, गुरु गोविन्द सिंह जी ने स्वयं हवन किया, वह हवन के विरोधी न थे, पोषक ही थे।

इस समय भी सिख पंथ में एक नामधारी नाम का दल है। उसके प्रवर्त्तक सतगुरु रामसिंह जी भैणी राइयां जिला लुध्याना वाले हैं। इस समय उस गद्दी पर गुरु प्रताप सिंह जी सुशोभित हैं, उनमें अब भी हवन का प्रचार है। उनके उत्तम कार्य करने वाले श्रीमान् निधानसिंह जी आलिम हैं। उन्होंने हवन प्रकाश नाम की एक पुस्तक लिखी है। मैं आगे उसका थोड़ा सा पाठ लिखता हूँ। ताकि पाठकों को उनका पक्ष भी ज्ञात हो जाय।

"स्री सतगुरु रामसिंघ जी ने अपने धरम प्रचार दे प्रोग्राम विच यग्य होम नूं विशेष रूप विच प्रचारिआ है। हर दीवान दो समापति दे समे होम कीता जांदा है। हवन दी मरयादा जो श्री सतगुरु रामसिंघ जी ने उचारन कीती इउ है। पहला चौका देणा होम दी जगह, लकड़ी होम विच पलाश दी पौणी जा बेरी दी पौणी, फूंक नहीं मारनी होम दी अग नूं पक्खे नाल झलणा पंजा आदमीयां ने होम विच पोथीआं तो बाणी पढ़नी चौपाई जपु जाप चण्डी दी वार, उग्र दन्ती, चण्डी चरित्र, अकाल उस्तुति। छयां आदमी आहुति पावे, सतवां नाल नाल जलदा छिटा देवे थोड़ा थोड़ा।

बवेरे वा कवी हवन करने वाले सत सिंघ इश्नान कर के सुध देही, सुध वसत्र पहन के तयार वर तयार हो जाण। हवन वाले थां नूं लिंपण पोचण वाली मिटी विच गोहा नहीं रलौणा बेरी जां कपाह दी आं लकड़ आं निकीआं निकीआं करके हवन कुण्ड विच जोड़ देणीआं ते विच सावत नलेर (नारियल) रखके बसंत्र जगाणी। उपरंत (पश्चात्) अरदास करके बाणी आं पढनी आं। बाणी आं दी समापती ते फेर अरदास करके जैकारा गजादेणा (घोस करना)।

हवन प्रकाश पृष्ठ १६—१७

इस समय घृतादि सुलभ नहीं है। इस कारण हवन करने में असुविधा है। शतपथ ब्राह्मण में ऐसे समय के लिये ही लिखा है।

❀ शतपथ ब्राह्मण में राजा जनक और याज्ञवल्क्य का संवाद है यदि घृत न होवे तो हवन कैसे करे, दुग्ध से, दुग्ध न हो तो यवादि औषधियों से हवन करे। यदि वह भी न हो तो अन्य अन्न से, उसके अभाव से जंगल की वनस्पतियों से, यज्ञीय वनस्पति न हो तो जल से हवन कर ले। श्रद्धा से ही करले। सर्वाभाव में श्रद्धा से वेद मंत्रों का पाठ कर लिया जाय।

इस प्रकार देवयज्ञ अर्थात् हवन नित्य कर्म होने से मनुष्य को यथाशक्ति करने का प्रयत्न करना चाहिये। क्यों कि मनु जी ने लिखा है "यथाशक्ति न हापयेत्" अर्थात् यथाशक्ति इसे न छोड़े।

❀ तद्धैतज्जनको वैदेहः। याज्ञवल्क्यम्पप्रच्छ वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्य ३ इति, वेद सम्राडिति, किमिति पय एवेति। २। यत्पयो न स्यात्। केन जुहुया दिति, व्रीहियवाभ्यामिति, यद् व्रीहियवौ न स्यातां केन जुहुया इति, या आरण्या ओषधय इति, यदारण्या ओषधयो न स्युः केन जुहुया इति, वानस्पत्येनेति यद्वानस्पत्यन्न स्यात् केन जुहुयाद् इत्यद्भिरिति यदापो न स्युः केन जुहुयाद् इति। ३। स होवाच न वा इह तर्हि किञ्चनासीदथैतद् हूयतैव सत्ये श्रद्धायामिति वेत्थाग्निहोत्र-याज्ञवल्क्य धेनुशतं ददामीति होवाच ॥ ४ ॥

शतपथ कांड ११ अध्याय ३ ब्राह्मण १।

आर्यसमाज स्थापना दिवस

भूल संशोधन तथा आवश्यक निर्देश

(ले०—युधिष्ठिर मीमांसक, काशी)

मेरे आर्यसमाज स्थापना दिवस सम्बन्धी दो लेख वेदवाणी के वर्ष ६ अङ्क ५, ८ में प्रकाशित हुए। जिनके शीर्षक थे—"आर्यसमाज के इतिहास में दो बड़ी भूलें" और "आर्यसमाज स्थापना-दिवस सम्बन्धी नयी सामग्री"।

द्वितीय लेख अंक ८ के टाइटल पेज ३ पर छपा है। उसमें कुछ भूल रह गई। इस भूल की ओर हमारे वेदवाणी के अनन्य प्रेमी श्री फूलचन्द जी आर्य देवरिया निवासी ने अपने ता० ४-७-५४ के पत्र में ध्यान आकृष्ट किया है, उसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

अंक ८ टाइटल पेज ३ कालम २ में उद्धरण संख्या ३ के अन्त में लिखा है—

"इन तीनों में आर्यसमाज ट्रस्ट की डीड (संख्या २) सब से पुरानी है। उसमें ७ अप्रेल १८७५ को आर्य समाज की स्थापना का उल्लेख है, परन्तु इसमें वार का निर्देश नहीं है अर्थात् ७ अप्रेल को कौन वार था।"

इस मीमांसा में मैंने डीड में लिखे "दि सेवेन्थ डे आफ मार्च १८७५" वाक्य में ७ मार्च का प्रत्यक्ष उल्लेख होने पर भी भ्रान्ति से ७ अप्रेल लिख दिया। वहाँ ७ मार्च चाहिये, पाठक सुधार लें।

आवश्यक निर्देश

अङ्क ८ टाइटल पेज ३ पर जो मेरा लेख छपा है उसके संख्या १ के उद्धरण में—

"संवत् १९३१ ना चैत्र शुद्ध १ शनिवार ता० ७मी मार्च शके १८७५ ने दिन·········आर्यसमाज स्थापना करवा"

पाठ है। इसी प्रकार संख्या २ के आर्यसमाज ट्रस्ट की डीड के अंग्रेजी उद्धरण में भी—

"दि सेवेन्थ डे आफ मार्च १८७५" स्पष्ट निर्देश है।

उक्त लेख लिखते समय मेरा ध्यान ७ मार्च की ओर गया ही नहीं। मैं ७ अप्रेल ही समझता रहा और ७ अप्रेल मान कर ही सारी समीक्षा लिखी। अब इस ओर ध्यान दिलाने पर एक नये रहस्य का उद्घाटन हुआ। वह इस प्रकार है—

१—आर्यसमाज स्थापना दिवस ऋषि दयानन्द के पत्र-व्यवहार, आर्यसमाज बम्बई के प्रारम्भिक ११ मास की रिपोर्ट तथा पं० लेखराम और पं० देवेन्द्रनाथ, संकलित जीवन-चरित्रों में—

"चैत्र शुक्ला ५ शनिवार सं० १९३१" (गुजराती, उत्तरभारतीय १९३२) लिखा है।

२—१३ अप्रेल १८८८ के रजिस्टर्ड आर्यसमाज ट्रस्ट के डीड में—

"दि सेवेन्थ डे आफ मार्च १८७५" (७ मार्च १८७५) लिखा है।

३—सं० १९३१ (उ० पं० १९३२) चैत्र सु० १ से सं० १९४४ तक की हिसाब की रिपोर्ट में—

"संवत् १९३१ ना चैत्र शुद्ध १ शनिवार ता० ७ मार्च शके १८७५ ने दीने······आर्यसमाज स्थापन करवा·········" पाठ है।

४—सं० १९५० में प्रकाशित रिपोर्ट में—

"अने एज धारेण की प्रथम संवत् १९३१ ना चैत्र सुदी १ ने दिन मुम्बई मा आर्यसमाज स्थापन थयो।" लिखा है।

चारों उद्धरणों की मीमांसा

उद्धरण १ में लिखा समय तिथि दिन और संवत् सब प्राचीन पञ्चाङ्गों के अनुसार ठीक हैं। चैत्र सुदी ५ सं० १९३१ (गुज०) के अनुसार १० अप्रेल शनिवार सन् १८७५ था।

उद्धरण २ में ७ मार्च १८७५ लिखा है उस दिन माघ कृष्णा अमावस्या (उ० भा० पञ्चाङ्गानुसार फाल्गुन कृष्णा अमावस्या) रविवार सं० १९३१ था। अतः डीड में ७ मार्च लिखना निश्चय ही भूल है, क्यों कि माघ (गुज०) या फाल्गुन (उ० भा०) की अमावस्या को आर्यसमाज की स्थापना हुई यह कोई नहीं मानता।

उद्धरण ३ में "संवत् १९३१ (गुज०) चैत्र सुदी १ शनिवार ता० ७ मार्च शके १८७५" लिखा है। इसमें ४ अशुद्धियाँ हैं। १—सं० १९३१ (गुज०) चैत्र सुदी १ को शनिवार नहीं था, बुधवार था। २—शनिवार को चैत्र

सुदी १ नहीं थी, ५ पञ्चमी थी। ३—चैत्र सुदी १ को ७ मार्च नहीं थी ७ अप्रेल थी, ७ मार्च को माघ (गुज०) की अमावस्या (उ० भा० फाल्गुन अमावस्या) थी और वार रवि था। ४—सन् को शक लिखा है। शक संवत् से शालिवाहन संवत् का व्यवहार होता है।

उद्धरण ४ में 'धारेण थी' (धारणा थी) पदविशेष द्रष्टव्य है। इसमें भी सं० १९३१ (गुज०) चैत्र सुदी १ को शनिवार लिखा है वह भी अशुद्ध है।

रहस्योद्घाटन

इस मीमांसा से स्पष्ट है कि उद्धरण सं० ३ और ४ के समय तक यह बात सर्वविदित थी कि आर्यसमाज की स्थापना शनिवार के दिन हुई थी। डीड के लेख से विदित होता है कि उस समय चैत्र शुक्ला ५ को हटाकर चैत्र शु० १ स्थापना दिवस बना लिया गया था, अतएव चैत्र शु० १ के ७ अप्रेल के स्थान में ७ मार्च भूल से लिखा गया। इस भूल का प्रभाव उद्धरण ३ पर पड़ा। उस समय पुराने पञ्चाङ्ग देख कर भूल का परिमार्जन तो नहीं किया, अपितु चैत्र शु० १ के साथ शनिवार और ७ मार्च ही डीड के अनुसार लिख दिया।

इससे स्पष्ट है कि चैत्र शुक्ला १ की आर्यसमाज स्थापना तिथि कल्पित है और उसी कल्पना की ओर उद्धरण सं० २-४ स्पष्ट संकेत करते हैं। हाँ उद्धरण सं० २ से यह भी विदित होता है कि चैत्र शु० ५ को हटा कर चैत्र शु० १ की कल्पना सन् १८८८ सं० १९४५ में या उससे पूर्व हुई।

आशा है इस स्पष्टीकरण से मेरी भूल और आर्यसमाज स्थापना तिथि के परिवर्तन तथा उससे उत्पन्न भ्रान्तियों का भी निराकरण हो जायगा।

आर्यसमाज के कर्णधार तथा सार्वदेशिक सभा के प्रधान, मन्त्री और अधिकारी गण इस ओर ध्यान दें और इस भयङ्कर भूल का परिमार्जन करें।

[पृष्ठ २२ का शेषांश]

उनकी भावना पावन थी। जब जब हम उनका स्मरण करते हैं हमारे हृदय से अपवित्रता कूच कर जाती है। उनकी पवित्रता पशु जगत की श्रेष्ठता को स्पष्ट कर देती है।

हनुमान् को कपि का रूप देकर रामायणकार ने मानों मनुष्य मात्र को कहा कि पशु जन्मतः ब्रह्मचारी हैं, तुम भी इनकी देखा-देखी ब्रह्मचारी बने रहो। मनुष्य पशु की ओर ताकेगा तब वह स्वतन्त्र बन कर मर्यादा में रहना सीखेगा। पशुओं में जो विशेषता है उसे पहचानकर मानव संभल जायें।

रामायण और वेद ने हमें पशु-पक्षी के बीच, वन उपवन में जीना सिखाया। हम विदेशियों द्वारा लिखे गये वेद और रामायण सम्बन्धी ग्रन्थों में से उद्धरण लेकर पोथा रचते हैं और लेखक कहलाते हैं। रामायण और वेद को समझने के लिये हमें वनवासी ऋषियों की दिनचर्य्या से परिचित होना चाहिए। जो ऋषियों से द्वेष* करके, उनके प्रदर्शित मार्ग से अन्य पथ पर चलते हैं वे भारतीय नहीं। इस सत्य को सब समझें।

[भारत से बाहर के मारीशस से हमारे बन्धु विद्वान लेखक ने पशुओं से शिक्षा लेने आदि के विषय में मननीय उत्कृष्ट विचार व्यक्त किये हैं। लेख के आरम्भ में जो 'वृक्षों में जीव' इस पक्ष का प्रतिपादन किया गया है, सो यह उनका अपना (निजी) मत है। वेद में वृक्षादि में प्राण का वर्णन तो है, जीव का नहीं। इतने विषय में हम लेखक महोदय से सहमत नहीं। लेख मननीय है—सम्पादक]

---

* स्व० आनन्द कुमार स्वामी ने ठीक लिखा था :—

"It would hardly be an exaggeration to say that a faithful account of Hinduism might well be given in the form of a categorical denial of most of the statements that have been made about it, alike by European scholars and by Indians trained in our modern sceptical and evolutionary modes of thought."

पशुओं की विशेषता

(ले०—प्राध्यापक बा० विष्णुदयालजी एम० ए०, मारीशस)

फ्रांसीसी विचारक देकार्ट के युग तक पश्चिमीयों का दृढ़ विश्वास था कि पशु लोग यन्त्र के सदृश निर्जीव हैं। स्व० जगदीशचन्द्र बसु के आगमन तक यूरप के बड़े बड़े विज्ञानवेत्ता भी मानते थे कि वृक्ष में जीव विद्यमान नहीं हैं।

भारतीय तो मानव, पशु-पक्षी, पेड़-पौदे—सब को जीवधारियों में परिगणित करते आये हैं। बसु के आने से शिक्षित संसार को यहाँ तक स्वीकार करना पड़ा कि पौदे संवेदनशील हैं। जनवरी की "सरस्वती" में इस विषय में श्री दे० अवस्थी ने लिखा है—

"पौदों के प्राणियों की कोटि में आने का निश्चित प्रमाण यह है कि उनमें भी भावनाएँ हैं। अन्य प्राणियों की भाँति वे भी दुःख-सुख का अनुभव करते हैं। वे प्रसन्न होते हैं और कष्ट से व्यथित भी होते हैं। प्राणियों की भाँति उनमें भी संवेदना के स्नायु हैं। लज्जावती की लता तो इतनी संवेदनशील होती है कि वह जरा सा छू देने में ही सिकुड़ जाती है। आचार्य जगदीशचन्द्र बसु के प्रयोगों ने प्रमाणित कर दिया है कि किसी पौदे को विष का इञ्जेक्शन देने से वह मरणासन्न होने लगता है और उस विष का प्रभाव हटते ही उसमें जीवन के लक्षण परिलक्षित होने लगते हैं। यही नहीं, एक पौदे की डाली काटने पर उसे जो व्यथा एवं पीडा होती है, उसे वह अपने ढंग से प्रकट करता है। परन्तु हम उसके व्यथा-प्रदर्शन के ढंग को समझ नहीं पाते। यदि आचार्य बसु विश्व को क्रेस्कोग्राफ जैसा उपयोगी यंत्र न प्रदान करते, तो पौदों की सुकुमार भावनाओं का रहस्य विश्व के लिये अज्ञात ही रहता। इस अद्भुत यंत्र से पौदों की सूक्ष्मतम एवं कोमलतम भावनाएँ भी प्रकट हो जाती हैं। इसके द्वारा हमें ज्ञात हो जाता है कि अमुक पौदा स्वस्थ है अथवा अस्वस्थ। उसके व्यथा-प्रदर्शन का ढंग भी इस यंत्र में अङ्कित हो जाता है और कुछ अनुभव से हम यह भी कह सकते हैं कि कौन सा पौदा किस रोग से पीड़ित है अथवा उसे क्या कष्ट है। इस प्रकार उसके कष्ट का निवारण किया जा सकता है।

इस संबंध में एक बड़ी विलक्षण बात है। जैसा कि अन्य प्राणियों में भी पाया जाता है, पौदे भी परस्पर शत्रुता और मित्रता रखते हैं। जिस प्रकार अन्य प्राणी अपने शत्रु को देखते ही क्रोध एवं घृणा का प्रदर्शन करते हैं तथा मित्रों को देखते ही प्रफुल्लित हो उठते हैं, ठीक वैसा ही व्यवहार पौदों में भी होता है। प्राणियों में हम दो प्रकार की शत्रुता पाते हैं; एक व्यक्तिगत तथा दूसरी जातिगत। साँप और नेवले, कुत्ते और बिल्ली प्रभृति जीवों के बीच एक स्वाभाविक शत्रुता है, जिसे जातिगत शत्रुता कहते हैं। उद्भिद संसार के विभिन्न वर्गों में कुछ ऐसे भी वर्ग हैं, जिनमें आपस में ऐसी ही स्वाभाविक शत्रुता है। ऐसे पौदे एक दूसरे का पास पनपना सहन नहीं कर सकते। वे हर उपाय से एक दूसरे के उत्कर्ष में बाधा पहुँचाते हैं। इसके विपरीत वृक्षों में आपस में मित्रता भी खूब होती है। यह मित्रता अधिकतर एक वर्ग के पौदों में ही पाई जाती है। इस मित्रता का एक अनुपम उदाहरण सीलोन के दो इमली के पेड़ों में पाया गया है। एक ही बाग में दो इमली के पेड़ थोड़े अन्तर पर लगे थे। वे दोनों प्रति वर्ष खूब फलते थे और उनकी फसल से बाग के स्वामी को काफी आय हो जाती थी। किसी कारण उनमें से एक पेड़ कटवा दिया गया। उसकी फसल की कमी से हुई हानि को कम करने के विचार से बाग के स्वामी ने शेष अन्य वृक्षों की अधिक सेवा की। फसल पर देखा गया कि अन्य वृक्ष तो प्रति वर्ष की अपेक्षा अधिक फले हैं; किन्तु वह इमली का पेड़, जिसके पास वाला पेड़ कटवा दिया गया था, बहुत कम फला है। यद्यपि उसकी हिफाजत हर प्रकार से की गई, किन्तु प्रत्येक वर्ष उस वृक्ष में फल क्रमशः कम लगते गए और अन्त में कुछ वर्षों के पश्चात् वह वृक्ष सूख गया।

पशुओं की भाँति पौदों में ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण वेदों में इनकी प्रशंसा की गई है। दोनों के सम्बन्ध में कहा गया है।

"ते जाता ब्रह्मचारिणः
वे (वनस्पतियाँ या पशु) ब्रह्मचारी हो गये हैं।"

पशु हमारी तरह चलता फिरता है, परन्तु बेचारा पौदा तो अचल, स्थावर है। सीमित शक्ति रखते हुए इसने मनुष्य को बहुत कुछ सिखाया।

भारत शिक्षा ग्रहण करने और कराने के लिये संसार का सब से बड़ा केन्द्र रहा है। बीज के रूप में सर्वप्रथम यहीं ज्ञान प्रकट हुआ था। जब ज्ञान का बीज भारतभूमि में पड़ा, वह एक उर्वरा भूमि में गिरा।

भारत लघु संसार है। यदि भारत के साथ अन्याय करके अभारतीय कह उठें कि वेद में भारत सम्बन्धी तथ्य पाये जाते हैं, वे भूल करेंगे। भारत ने ज्ञान को लेकर उसका उपयोग किया। उसने किसी को इसी तरह ज्ञान का उपयोग करने से कब रोका? कोई भी भारतेतर देश पशुओं के प्रति सहानुभूति रखता तो उसके सम्बन्ध में भी कहा जाता कि वह विश्व का लघु रूप है। क्या भारत से भिन्न भू-भाग निम्न सदोपदेश से लाभ नहीं उठा सकता है—

"पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये।
अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः॥

—पृथिवी पर उत्पन्न होने वाले आरण्य और ग्राम में उत्पन्न होने वाले जो पक्षहीन पशु हैं, तथा आकाश में संचार करनेवाले जो पक्षी हैं, वे सब ब्रह्मचारी बने हैं।" अथर्व० ११।५।२१

इस मन्त्र में पृथ्वी पर और जल में बसने वाले पशुओं का उल्लेख है। पंख वाले भी पृथिवी पर ही अपना घर बनाते हैं, लेकिन वे—आकाश में भी उड़ा करते हैं। उनकी विशेष तौर पर चर्चा की गई है। वे दो पंख रखते हैं। इन पंखों पर ही हम नजर डालें तो हम अपने मुख्य कर्तव्य का ज्ञान हासिल कर लेंगे। दक्षिण पूर्व एशिया पर परमाणु बम फेंकने का इरादा किया जा रहा है। अमेरिका रूस को कोस रहा है और रूस अमेरिका को। किसी का भी मुख्य समस्याओं के दोनों पक्षों पर समान रीति से ध्यान देने का इरादा नहीं। पक्षी के दो पक्ष देखकर जो एक साथ फैलते हैं और अपने मालिक को उठाते हैं मानव पक्षपात छोड़ने का संकल्प कर सकता है।

भारत ने औरों से कहीं अधिक आकाशचारी जीवों से शिक्षा ली और पशुओं के साथ न्याय किया। भारत ही के सम्राट् अशोक ने सर्वप्रथम पशुओं की आरोग्यशाला खोली थी। कलिकाल में जब महर्षि दयानन्द का अवतरण हुआ भारत की आत्मा पुकार उठी कि न्याय करना केवल मनुष्यों तक सीमित नहीं रखना चाहिये। महर्षि ने कहा—

"हे धार्मिक सज्जन लोगो! आप इन पशुओं की रक्षा तन, मन और धन से क्यों नहीं करते? हाय!!! बड़े शोक की बात है कि जब हिंसक लोग गाय बकरे आदि पशु और मोर आदि पक्षियों को मारने के लिये जाते हैं, तब वे अनाथ तुम, हमको देख के राजा और प्रजा पर बड़े शोक प्रकाशित करते हैं कि देखो! हमको बिना अपराध बुरे हाल से मारते हो, और हम रक्षा करने तथा मारने वालों को भी दूध आदि अमृत पदार्थ देने के लिये उपस्थित रहना चाहते हैं और मारे जाना नहीं चाहते। देखो हम लोगों का सर्वस्व परोपकार के लिये है और हम इसलिए पुकारते हैं कि हमको आप लोग बचावें। हम तुम्हारी भाषा में अपना दुख नहीं समझा सकते और आप लोग हमारी भाषा नहीं जानते, नहीं तो क्या हम में से किसी को कोई मारता तो हम भी आप लोगों के सदृश अपने मारने वाले को न्याय-व्यवस्था से फाँसी पर न चढ़वा देते? हम इस समय अतीव कष्ट में हैं, क्योंकि कोई भी हम को बचाने में उद्यत नहीं होता, और जो कोई होता भी है तो उससे मांसाहारी द्वेष करते हैं।"

किसे मालूम था कि स्वामी-जी के स्वर्गधाम चले जाने पर जब उनका स्वप्न साकार होगा अर्थात् देश को स्वतन्त्रता प्राप्त होगी उस समय भी "राजा" वेद की शिक्षा की अवहेलना* करके पशुओं पर दया न करके उनके रक्षक, बचाने वाले होने के लिये तैयार न होंगे और वेद-भक्तों को चोट पहुँचायेंगे?

जो प्राचीन काल की संस्कृति से मुख मोड़ेगा वह वेद, शास्त्र, रामायण, महाभारत—सबके साथ अन्याय करेगा।

---

* वे लोग डींग तो मार दिया करते हैं कि हम यूरपीय साहित्य के ज्ञाता हैं। क्या उन्हें मालूम भी है कि पञ्चतन्त्र को पढ़ कर उत्तम कथा रचने वाले फ्रेञ्च कवि ला फोंतेन ने लिखा है कि पशु मानवों के शिक्षक हैं?

इस वेद मन्त्र को समझ कर और उसमें दिये गये आदेशानुसार बर्ताव करके पशुओं को भारत ने, ऋषियों के भारत ने पूजा की दृष्टि से देखा, गौ को माता नाम से संबोधित किया, क्योंकि पशुओं के सद्-गुणों को आँख से ओझल होने न दिया।

रामायण कालीन भारत में स्वयं भगवान् रामचन्द्र ने पशुओं को प्यार करने की शिक्षा दी। रामायाण ने नहीं कहा कि राम जंगली अर्थात् असभ्य हैं, क्योंकि उनके जीवन के चौदह वर्ष वनों में बीते थे।

रामायण ने हनुमान को कपि का रूप देकर हमें सचेत किया है। जब कभी यह मत व्यक्त किया जाता है कि रामायण से वेद का ज्ञान मिलता है मतलब यही होता है कि पात्रों के व्यवहार से यह सीख मिलती है कि वेदों का आदेश मानना चाहिए।

रामायण का विगत शती में फ्राँस आदि यूरपीय देशों में स्वागत हुआ था। सुप्रसिद्ध समालोचक सेंत बेव ने कहा कि तीन होमर को हम चिरकाल से भूल ही गये। हिन्दुओं के कवि वाल्मीकि और व्यास और फार्सियों के फिरदौजी। फ्रेंदेरिक स्लेगेल उन्हीं दिनों में प्रस्ताव रख रहे थे कि रोम नगर की यात्रा करने के स्थान पर भारत यात्रा की जाय।

पश्चिम को सूझने लगा था कि सार्वभौम सिद्धान्तों का जैसे वेदों द्वारा प्रचार होता है वैसे रामायण द्वारा भी प्रचार हुआ। यह देखने में आता है कि कभी कभी एक ही पश्चिमीय अनुवादक ने वेद और रामायण—दोनों का अनुवाद किया। अँगरेजी में ग्रिफिथ ने दोनों को अँगरेजी का जामा पहनाया था।

वेद ने कहा कि जल, थल, वायु में चलने वाले पशु ब्रह्मचारी बनाये गये हैं। ये जन्मत ब्रह्मचारी हैं इनमें ब्रह्मचारी का बल है। जब हमारे द्वार पर चोर आता है और हमारा कुत्ता भूँकने लगता है, चोर चम्पत हो जाता है। चोर पापी है, अत: वह प्रकम्पित हो जाता है। ब्रह्मचारियों की आवाज इसी तरह बड़े से बड़े दुराचारियों को डरा छोड़ती है। जो मनुष्य ब्रह्मचर्य धारण करता है, चाहे वह बालब्रह्मचारी हो या उपकुर्वाण, उसके कण्ठ में उसी तरह बल होता है। सिंह गरजे तो सारा वन थरथरा जाता है, पुरुष सिंह के गरजन से पापियों का संसार कम्पायमान होता है।

पशुओं को एक प्रकार के बन्धन में रखा गया है। यह बन्धन एक वरदान है। यदि पशु मनुष्य की भाँति अति सुन्दर वस्त्र धारण करना जानते, बोलना जानते और अश्लील शब्दों को अपने मुख से निकालते, गंदी किताबें पढ़ते तो ये भी ब्रह्मचारी न रह सकते।

मनुष्य को अधिक स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्रता से जो लाभ उठाते हैं वे ही ब्रह्मचारी बनते हैं। जो स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करके उसे स्वच्छन्दता में परिवर्तित करते हैं वे मानव जीवन को ज़हर बना छोड़ते हैं।

रामायण में यह शिक्षा है कि मानव बनकर हम मर्यादा का उल्लंघन न करें। भगवान् रामचन्द्र के गुणों की उत्तमता को दर्शाने के लिये हम कहते हैं कि वे मर्यादापुरुषोत्तम थे। वे पुरुषों, आत्माओं में उत्तम और परम थे और साथ साथ मर्यादा में रहने-वाले, परिधि से बाहर न जाने वाले।

उन्हें इसलिए मर्यादा में रहने वाले ब्रह्मचारी हनुमान् प्रिय थे।

मर्यादा को मान कर इह लोक में जीवन व्यतीत करनेवाले आरण्य और आरण्य में बसने वाले पशु-पक्षी और मनुष्य को प्यार करते हैं।

वन की उपज हनुमान् को श्रेष्ठ बताया गया और नगरवासी, सोने की लंका के अधिपति की निकृष्टता पर टिप्पणी की गई। दोनों को रामायण के रचयिता ने एक दूसरे के सामने खड़ा किया। दोनों में अन्तर क्या था, इसे प्रदर्शित करने के लिए उन्होंने लिखा कि जब हनुमान जी ने राक्षस रावण को एक घूँसा जमाया, रावण मूर्छित हो गया और उसके मुँह से रक्त बहने लगा।

हनुमान एक स्वतन्त्र मानव था, जिसे वेदों का ज्ञान प्राप्त करने का यश मिल चुका था। रावण ने भी वेदों को पढ़ा था। उसने पशुओं से ब्रह्मचारी हो कर संसार में सुन्दर जीवन बिताना न सीखा, अतः उसकी दुर्दशा हुई। एक ब्रह्मचारी ने जब एक कामी का सामना किया, कामी को अपने कुकर्म का फल चखना पड़ा।

हनुमान के पास सोने की लंका न थी। वह शरीर पर कपड़ा धारण तक नहीं करते थे। परन्तु

(शेष पृष्ठ १९ पर)

प्राप्तिस्वीकृति

[गताङ्क से आगे]

(३४) आर्य संस्कृति के मूल तत्त्व—लेखक श्री० पं० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालङ्कार। प्रकाशक—विजयकृष्ण लखनपाल—'विद्या विहार' बलवीर एवेन्यू, देहरादून। साइज़ $\frac{२० \times ३०}{१६}$। पृ० संख्या २७० मूल्य ४)

(३५) अनुवाद दिवाकर—लेखक श्री० पं० दौलतराम जी शास्त्री—प्रकाशक प्रभात पब्लिशिंग हाऊस—५४ दयानन्द नगर—लारेंस रोड—अमृतसर। साइज़ $\frac{२० \times ३०}{१६}$। पृष्ठ संख्या १००। मूल्य १॥)

(३६) राष्ट्र निर्माण के व्यावहारिक सुझाव—लेखक श्री० किशोरीलाल जी गुप्त। प्रकाशक गोविन्द ब्रादर्स—अलीगढ़। साइज़ $\frac{२० \times ३०}{१६}$ पृष्ठ संख्या ८८। मूल्य ॥=)

(३७) गीता की कथा—लेखक श्री मुन्शीलाल जी गुप्त—प्राप्ति स्थान श्री रामप्रसाद सोहनलाल लोहिया—बुलन्द शहर— मूल्य।)

(३८) प्रश्नोपनिषत् (मराठी अनुवाद)—लेखक स्वर्गीय महात्मा नारायण स्वामीजी प्राप्ति स्थान—श्री० का० बा० तारकर—५० कंलारा चाल—मुंबा देवी—मुंबई २। (बिना मूल्य)

(३९) नारी कर्त्तव्य प्रसार—लेखक श्री० स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज—प्रकाशक—श्री० डा० मेजर सी० डी० पाली—शिमला। प्राप्ति स्थान स्वामी ब्रह्मानन्दजी—दी भारत गलास कम्पनी—सदर बाज़ार—देहली। पृष्ठ संख्या १५०। (बिना मूल्य)

(४०) राष्ट्र पंचामृतम्—(संस्कृत में) लेखक श्री० पं० बलराम मिश्र शास्त्री। प्राप्ति स्थान—सरस्वती सेवा सदन, पी० रोड, कानपुर। मूल्य ॥=)

(४१) हरिजन स्मृति—लेखक काशी के प्रसिद्ध सनातनधर्मी विद्वान् श्री पं० गोपालशास्त्री जी दर्शन-केशरी। प्राप्ति स्थान—$\frac{५९}{३१}$ गार्डन कालोनी, बनारस नं० १—पृष्ठ संख्या ६० मूल्य ॥)

(४२) हितकारी (अखण्ड भारत)—लेखक तथा प्रकाशक—श्री० चाण्डूमल राधा कृष्ण आहूजा परदेशी हीरा बुकसैलर्स, सिन्धु नगर ३, (कल्याण) बम्बई॥

(४३) वेदोपदेश—ले० श्री० पं० चूड़ामणि जी शास्त्री—प्राप्ति स्थान ५५१ गली बैल साहब—गन्दा नाला—मोरी गेट—देहली॥ पृष्ठ संख्या १०४ मूल्य ॥)

यथावकाश और यथावश्यकता इन पुस्तकों की समालोचना की जावेगी।

समालोचना— "आज" (काशी) ने क्या लिखा—

उरु ज्योति

(वैदिक अध्यात्मसुधा—वेद संबंधी आध्यात्मिक निबंधों का संग्रह)

लेखक—श्री वासुदेवशरण, प्रकाशक—मन्त्री श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर मूल्य ३)

'उरु ज्योति' से तात्पर्य उस महान् प्रकाश से है जो मित्र और वरुण, ज्योति और तम के व्यापक द्वन्द्व के अन्तराल से विकीर्ण होता है और वैदिक ऋषियों ने जिसका साक्षात्कार किया था। प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् लेखक ने सप्रश्न, 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति, चरैवेति-चरैवेति, वाजपेय विद्या, पशु और मनुष्य आदि शीर्षकों से वेद की तत्त्वचिन्ता पर प्रकाश डालने वाले उच्च कोटि के २४ निबंध दिये हैं। इन निबन्धों से लेखक की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि और भारतीय ज्ञान-विज्ञान एवं जीवन' चर्या के गहन अध्ययन का आभास मिलता है। संग्रह का प्रत्येक निबन्ध दीर्घकालीन चिंतन एवं मनन का परिणाम है और उससे पाठकों को वेदार्थ के नये-नये अंगों और उन सब को अनुस्यूत करके चलने वाले उस आधारभूत आध्यात्मिक विचार सूत्र की उपलब्धि होती है, जिसके सहारे वह वैदिक साहित्य के तत्त्वान्वेषी अध्ययन की ओर निर्भ्रान्त रूप से अग्रसर हो सकता है। इस प्रकार लेखक ने ऋषि दयानन्द, वेदवारिधि मधुसूदन ओझा, योगिराज अरविंद तथा श्री आनन्दकुमार स्वामी द्वारा प्रवर्तित वेद व्याख्या की धारा को आगे बढ़ाया है।

वेदाध्यन की इस धारा से अब यह सुस्पष्ट हो चुका है कि वेदों के यज्ञानुष्ठान विधियों, कथाओं, रूपकों और परिभाषाओं के बाह्यार्थों के पीछे ऋषियों की एक ऐसी जीवनदृष्टि व्याप्त है, जिसे उन्होंने सत्यान्वेषण की दीर्घ परम्परा और साधना से प्राप्त की थी और कालप्रवाह से जिसका मूल्य कभी कम होने वाला नहीं है। अर्वाचीन काल में मनीषियों ने वेदों की जितनी भी व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं उनका लक्ष्य इसी मूलभूत जीवनदृष्टि का साक्षात्कार करके उक्त बाह्यार्थों में निहित गूढ़ार्थों का उद्घाटन करना रहा है। यह कार्य केवल पश्चिमी विद्वानों के वेदानुवादों एवं व्याख्याओं के आधार पर नहीं किया जा सकता, क्योंकि वातावरण, परिस्थिति और भाषागत भिन्नता के कारण उनकी अपनी सीमाएं रही हैं। उनकी महत्ता और देन का पूरा सम्मान करते हुए भी भारतीय वेदानुसंधाताओं को उनकी इन सीमाओं के प्रति सजग रहना जरूरी है अन्यथा कभी कभी अर्थ का अनर्थ हो जाने की सम्भावना बनी रहेगी। यथा 'वाजपेय विद्या' शीर्षक निबन्ध में ऋग्वेद के उषःसूक्त के अन्तर्गत 'उषो वाजेन वाजिनि' सूक्त की व्याख्या करते हुए दिखाया गया है कि इस सूक्त का अंग्रेजी अनुवाद 'दि गाडेस आव डान हैविंग फ्लीट हार्सेज' अर्थात् 'प्रभात की वह देवी जिसके अश्व अत्यन्त द्रुतगतिवाले हैं' किया गया है। इस अनुवाद मात्र पर निर्भर करने से अर्थ का अनर्थ होना अवश्यम्भावी है। इस अनुवाद में 'वाजिनिवती' का अर्थ वैदिक साहित्य में बहुधा प्रयुक्त 'वाज' शब्द के विभिन्न प्रसंगगत आनुषंगिक अर्थों एवं धात्वर्थ की उपेक्षा करके वर्तमान समय में प्रयुक्त उसका एकमात्र रूढ़ार्थ ही लिया गया है। जब कि 'वाज' के अन्तर्गत हर प्रकार की शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक प्रेरणा तथा शक्ति का भाव आ जाता है। वैदिक ऋषि ने 'वाज' शब्द का प्रयोग इसी व्यापक अर्थ में किया है। 'वीर्यं वै वाजः, अन्नं वै वाजः ऋतवो वै वाजिनः'। अपने प्राकृतिक तेज के संरक्षण की सामर्थ्य के कारण ऋतुओं को भी 'वाजी' कहा गया है। इसी प्रकार इन्द्र, वरुण आदि अनेक शब्द हैं जिनके वास्तविक अर्थों की उपलब्धि के लिए मौलिक अनुसन्धान की आवश्यकता है।

'उरु-ज्योति' भारतीय वेदानुसंधाताओं को मौलिक चिंतन की प्रेरणा देगा, इसमें सन्देह नहीं।

'उरु ज्योति' की दूसरी बड़ी विशेषता यह है कि लेखक ने स्थान स्थान पर शारीरिक तथा मानसिक मनोबैल निर्माण, समाजरचना आदि जीवन के विभिन्न अंगों के संयोजन में वैदिक ऋषियों की ऋताश्रयी दृष्टि की महत्ता वैदिक ऋचाओं के आधार पर प्रतिष्ठित की है। ऐसे प्रकाशनों से हिंदी साहित्य समृद्ध होगा। आशा है हिंदी में वैदिक साहित्य सम्बन्धी ऐसी बहुमूल्य कृतियों की संख्या दिन-दिन बढ़ती जायगी।

—श्री शङ्कर शुक्ल शास्त्री

दिवा चित्तमः कृण्वन्ति पर्जन्येनोदवाहेन ।
यत्पृथिवीं व्युन्दन्ति ॥ ९ ॥

पदार्थ—हे विद्वान् लोगो ! आप (यत्) जो पवन (उदवाहेन) जलों को धारण वा प्राप्त करानेवाले (पर्जन्येन) मेघ से (दिवा) दिन में (तमः) अन्धकाररूप रात्रि के (चित्) समान अन्धकार (कृण्वन्ति) करते हैं और (पृथिवीम्) भूमि को मेघ के जल से (व्युन्दन्ति) आर्द्र करते हैं उनको युक्ति से सेवन करो ॥ ९ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥ पवन ही जलों के अवयवों को कठिन करके घनाकार मेघ को उत्पन्न कर दिन में अन्धकार करके, फिर बिजुली को उत्पन्न करके, उस बिजुली से उन मेघों के अवयवों को छिन्न-भिन्न कर और पृथिवी में गेर कर जलों से स्निग्ध करके, अनेक ओषधी आदि समूहों को उत्पन्न करते हैं । उनका उपदेश विद्वान् लोग अन्य मनुष्यों को सदा किया करें ॥ १९ ॥

फिर इन पवनों के योग से क्या होता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

अध स्वनान्मरुतां विश्वमा सद्म पार्थिवम् ।
अरेजन्त प्र मानुषाः ॥ १० ॥ [१६]

पदार्थ—हे (मानुषाः) मननशील मनुष्यो ! तुम जिन (मरुताम्) पवनों के (स्वनात्) उत्पन्न शब्द के (अध) अनन्तर (विश्वम्) सत्र (पार्थिवम्) पृथिवी में विदित वस्तुमात्र का (सद्म) स्थान कांपता है और प्राणिमात्र (प्रारेजन्त) अच्छे प्रकार कंपित होते हैं, उन पवनों को जानो ॥ १० ॥

भावार्थ—हे ज्योतिष शास्त्र के विद्वान् लोगों ! आप, पवनों के योग ही से सब मूर्तिमान् द्रव्य चेष्टा को प्राप्त होते हैं, प्राणी लोग बिजुली के भयंकर शब्द से भय को प्राप्त होकर कंपित होते और भूगोल आदि प्रतिक्षण भ्रमण किया करते हैं, ऐसा निश्चित समझो ॥ १० ॥

फिर वे मनुष्य पवनों से क्या करते हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

मरुतो वीळुपाणिभिश्चित्रा रोधस्वतीरनु ।
यातेमखिद्रयामभिः ॥ ११ ॥

पदार्थ—हे (मरुतः) योगाभ्यासी वा व्यवहार की सिद्धि चाहनेवाले पुरुषो ! तुम लोग (अखिद्रयामभिः) निरन्तर गमनशील (वीळुपाणिभिः) दृढ़ बलरूप ग्रहण के साधक व्यवहार वाले पवनों के साथ (रोधस्वतीः) बहुत प्रकार के बाँध वा आवरण वाली और (चित्राः) आश्चर्य गुण वाली नदी वा नाड़ियों के (ईम्) ही (अनु) अनुकूल (यात) प्राप्त हों ॥ ११ ॥

भावार्थ—पवनों में गमन, बल और व्यवहार होने के हेतु रूप स्वाभाविक कर्म हैं, और ये निश्चय करके नदियों को चलाने वाले, नाड़ियों के मध्य में गमन करते हुए रुधिर रसादि को शरीर के अवयवों में प्राप्त कराते हैं । इस कारण योगी लोग योगाभ्यास और अन्य मनुष्य बल आदि के साधन-रूप वायुओं से बड़े बड़े उपकार ग्रहण करें ॥ ११ ॥

फिर भी उक्त विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

स्थिरा वः सन्तु नेमयो रथा अश्वास एषाम् ।
सुसंस्कृता अभीशवः ॥ १२ ॥

पदार्थ—हे विद्वान् लोगो ! (वः) तुम्हारे (एषाम्) इन पवनों के सकाश से (सुसंस्कृताः) उत्तम शिल्प विद्या से संस्कार किए हुये (नेमयः) कलाचक्रयुक्त (रथाः) विमान आदि रथ (अभीशवः) मार्गों को व्याप्त करने वाले (अश्वासः) अग्नि आदि वा घोड़ों के सदृश (स्थिराः) दृढ़ बलयुक्त (सन्तु) होवें ॥ १२ ॥

भावार्थ—ईश्वर उपदेश करता है—हे मनुष्यो ! तुम को चाहिये कि अनेक प्रकार के कलाचक्रयुक्त विमान आदि यानों को रच कर उनमें जल्दी चलने वाले अग्नि जल के सम्प्रयोग वा पवनों के योग से सुख पूर्वक जाने आने और शत्रुओं को जीतने आदि सब व्यवहारों को सिद्ध करो ॥ १२ ॥

फिर इस विमानादि विद्या का उपदेशक विद्वान् कैसा होवे, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

अच्छा वदा तना गिरा जरायै ब्रह्मणस्पतिम् ।
अग्निं मित्रं न दर्शतम् ॥ १३ ॥

पदार्थ—हे सब विद्या के जानने वाले विद्वान् ! तू (ब्रह्मणः) वेद के पढ़ाने और उपदेश से (पतिम्) पालने हारे (दर्शतम्) देखने योग्य (अग्निम्) तेजस्वी (मित्रम्) मित्र को (न) जैसे मित्र उपदेश करता है, वैसे (जरायै) गुण ज्ञान के लिये (तना) गुणों के प्रकाश को बढ़ाने हारी (गिरा) अपनी वेदयुक्त वाणी से विमानादि यानविद्या का (अच्छ) अच्छे प्रकार (वद) उपदेश कर ॥१३॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥ विद्वान् मनुष्यो ! जैसे प्रिय मित्र अपने तेजस्वी वेदोपदेशक मित्र को सेवा और गुणों की स्तुति से तृप्त करता है, वैसे सब विद्याओं का विस्तार करने वाली वेदवाणी से विमानादि यानों के रचने की विद्या का उसके गुण ज्ञान के लिए अच्छे प्रकार उपदेश करो ॥ १३ ॥

फिर उस विद्वान् का पढ़ाया शिष्य कैसा होना चाहिये, इसका उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

मिमीहि श्लोकमास्ये पर्जन्यइव ततनः ।
गाय गायत्रमुक्थ्यम् ॥ १४ ॥

पदार्थ—हे विद्वान् मनुष्य ! तू (आस्ये) अपने मुख में (श्लोकम्) वेद की शिक्षा से युक्त वाणी को (मिमीहि) निर्माण कर और उस वाणी को (पर्जन्यइव) जैसे मेघ गर्जना करता हुआ वृष्टि को फैलाता है वैसे (ततनः) फैला, और (उक्थ्यम्) कहने योग्य (गायत्रम्) गायत्री छन्दवाले स्तोत्ररूप वैदिक सूक्तों को (गाय) पढ़ तथा पढ़ा ॥ १४ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥ हे विद्वानों से विद्या पढ़े हुए मनुष्यो ! तुम लोगों

को उचित है कि सब प्रकार प्रयत्न के साथ वेद विद्या से शिक्षा की हुई वेदवाणी से वाणी के वेत्ता के समान वक्ता होकर वायु आदि पदार्थों के गुणों की स्तुति तथा उपदेश किया करो ॥ १४ ॥

फिर वह विद्वान् क्या करे, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

वन्दस्व मारुतं गणं त्वेषं पनस्युमर्किणम्।
अस्मे वृद्धा असन्निह ॥ १५ ॥ [१७]

पदार्थ—हे विद्वन् मनुष्य ! तू जैसे (इह) इस सब व्यवहार में (अस्मे) हम लोगों के मध्य में (वृद्धाः) बड़ी विद्या और आयु से युक्त वृद्ध पुरुष सत्याचारण करने वाले (असन्) होवें, वैसे (अर्किणम्) प्रशंसनीय (त्वेषम्) अग्नि आदि प्रकाशवान् द्रव्यों से युक्त (पनस्युम्) अपने आत्मा के व्यवहार की इच्छा के हेतु (मारुतम्) वायु के इस (गणम्) समूह की (वन्दस्व) कामना कर ॥ १५ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में लुप्तोपमालंकार है ॥ मनुष्यों को चाहिये कि जैसे पवन कार्यों को सिद्ध करने के साधन होने से सुख देने वाले होवें, वैसे विद्या और अपने पुरुषार्थ से प्रयत्न करें ॥ १५ ॥

इस सूक्त में वायु के दृष्टान्त से विद्वानों के गुण वर्णन करने से पूर्व सूक्त के साथ इस सूक्त की संगति जाननी चाहिये ।

यह सत्रहवाँ वर्ग और अड़तीसवाँ सूक्त समाप्त हुआ ॥ ३८ ॥

---

(३९)

अथ दशर्चस्यैकोनचत्वारिंशस्य सूक्तस्य घोरपुत्रः कण्व ऋषिः । मरुतो देवताः । १, ५, ९ पथ्याबृहती; ७ विराडुपरिष्टाद् बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः । २, ६, ८, १० विराड् सतः पङ्क्तिः; ४ निचृत्सतः पंक्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः । ३ अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ।

अत्र सायणाचार्यादिभिर्विलसनमोक्षमूलराख्यादिभिश्चैतत्सूक्तस्था [युजो] मन्त्राः सतोबृहतीछन्दस्का अयुजो बृहतीछन्दस्काश्च छन्दःशास्त्राभिप्रायमविदित्वाऽन्यथा व्याख्याता[१] इति मन्तव्यम् ॥

सायणाचार्य, विलसन और मोक्षमूलर आदि ने इस सूक्त के सम संख्यावाले मन्त्र सतोबृहती छन्द के और विषम संख्यावाले बृहती छन्द के हैं, ऐसा व्याख्यान छन्दःशास्त्र का अभिप्राय न जान कर किया है, ऐसा समझना चाहिए।

अब उनतालीसवें सूक्त का आरम्भ है । फिर वे विद्वान् लोग परस्पर किस-किस प्रकार संवाद करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ।

---

१. छन्दःशास्त्र की "यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः" (ऋ० सर्वा०) परिभाषा के अनुसार जिससे मन्त्राक्षरों का परिमाण ज्ञात हो उसे छन्द कहते हैं । यही छन्दोनिर्देश का प्रधान प्रयोजन है । परन्तु याज्ञिक कार्य में यज्ञक्रिया की सरलता के लिये ऐसे छन्दों का निर्देश भी किया गया है, जिनसे मन्त्रों की वास्तविक अक्षरसंख्या का ज्ञान नहीं होता । ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणि में जो छन्दोनिर्देश है वह इसी प्रकार का है । सायण आदि ने उसी का अनुसरण किया है । अतएव स्वामी जी महाराज ने "छन्दःशास्त्र के अभिप्राय को न जान कर" ऐसा लिखा है । अर्थात् ऋक्सर्वानुक्रमणी के छन्दोनिर्देश से मन्त्राक्षर की वास्तविक संख्या का ज्ञान नहीं होता, जो कि छन्दोनिर्देश का मुख्य प्रयोजन है । विशेष हमारे "वैदिक छन्दःशास्त्र" में देखें ।

प्र यदि॒त्था प॑रा॒वतः॑ शो॒चिर्न मान॒मस्य॑थ ।
कस्य॒ क्रत्वा॑ मरुतः॒ कस्य॒ वर्प॑सा॒ कं या॑थ॒ कं ह॑ धूतयः ॥ १ ॥

पदार्थ—हे (मरुतः) विद्वान् लोगो ! आप (यत्) जो (धूतयः) सब को कँपाने वाले वायु (शोचिर्न) जैसे सूर्य की ज्योति और वायु पृथिवी पर दूर से गिरते हैं इस प्रकार (परावतः) दूर से (कस्य) किसके (मानम्) परिमाण को (प्र+अस्यथ) छोड़ देते हो, (इत्था) इसी हेतु से (कस्य) सुख-स्वरूप परमात्मा के (क्रत्वा) कर्म वा ज्ञान और (वर्पसा) रूप के साथ (कम्) सुखदायक देश को (याथ) प्राप्त होते हो, इन प्रश्नों के उत्तर दीजिये ॥ १ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥ सुख की इच्छा करनेवाले विद्वान् पुरुषों को चाहिये कि जैसे सूर्य की किरणें दूर देश से भूमि को प्राप्त होकर पदार्थों का प्रकाश करती हैं, वैसें ही अभिमान को दूर से त्याग के[1] सब सुख देनेवाले परमात्मा और भाग्यशाली परम विद्वान् के सामीप्य से वायु के गुण कर्म स्वभाव और मार्ग को ठीक-ठीक जान के उन्हीं के रमण करें। ये वायु कारण से उत्पन्न होते, कारणस्वरूप से स्थित और कारण में लीन भी हो जाते हैं[2] ॥ १ ॥

अब ईश्वर इनको उपदेश और आशीर्वाद देकर, तुमको क्या-क्या सिद्ध करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में करता है ॥

स्थि॒रा वः॑ स॒न्त्वायु॑धा परा॒णुदे॑ वी॒ळू उ॒त प्र॑ति॒ष्कभे॑ ।
यु॒ष्माक॑मस्तु॒ तवि॑षी॒ पनी॑यसी॒ मा मर्त्य॑स्य मा॒यिनः॑ ॥ २ ॥

पदार्थ—हे धार्मिक मनुष्यो ! (वः) तुम्हारे (आयुधा) आग्नेय आदि अस्त्र और तलवार धनुष बाण भुसुंडी (बन्दूक) शतध्नी (तोप) आदि अस्त्र-शस्त्र (पराणुदे) शत्रुओं को व्यथा करनेवाले युद्ध (उत) और (प्रतिष्कभे) रोकने, बाँधने और मारने रूप कर्मों के लिये (स्थिरा) स्थिर दृढ़ चिरस्थायी (वीळू) दृढ़ बलकारी हो। तुम धार्मिक वीरों की (तविषी) प्रशस्त बलविद्या-युक्त सेना (पनीयसी) अतिशय करके स्तुति करने योग्य वा व्यवहार को सिद्ध करनेवाली (अस्तु) हो, और पूर्वोक्त पदार्थ (मायिनः) कपट आदि अधर्माचरण युक्त (मर्त्यस्य) दुष्ट मनुष्यों के (मा) कभी मत हों ॥ २ ॥

भावार्थ—धार्मिक मनुष्य ही परमात्मा की कृपा और विजय को प्राप्त होते हैं। परमात्मा भी धार्मिक मनुष्यों ही को आशीर्वाद देता है, पापियों को नहीं। [पुण्यात्मा मनुष्य को उचित है कि] इन उत्तम उत्तम अस्त्र शस्त्रों को रच कर, उनके फेंकने का अभ्यास करके, सेना को उत्तम शिक्षा देकर, शत्रुओं का वध, निरोध वा पराजय करके प्रजा की निरन्तर रक्षा करनी चाहिये। दुष्ट मायावी न इन पदार्थों को प्राप्त हो सकते हैं और न कर सकते हैं ॥ २ ॥

---

१. 'अभिमान को दूर से त्याग के' इसका मूल संस्कृत में त्रुटित है।

२. इस अन्तिम वाक्य का संस्कृत पाठ अत्यन्त व्यस्त है।

अब अगले मन्त्र में विद्वान् मनुष्यों के कार्य का उपदेश किया है ॥

परा ह यत् स्थिरं हथ नरो वर्तयथा गुरु ।
वि याथन वनिनः पृथिव्या व्याशाः पर्वतानाम् ॥ ३ ॥

पदार्थ—हे (नरः) नेता लोगो ! तुम जैसे (वनिनः) सम्यक् विभाग और सेवन करने वाली किरणों से सम्बन्ध रखने वाले वायु (पर्वतानाम्) पहाड़ और मेघों और (पृथिव्याः) भूमि वा अन्तरिक्ष की (व्याशाः) चारों दिशाओं में व्यासवत् व्याप्त होकर (स्थिरम्) दृढ़ और (गुरु) बड़े बड़े पदार्थों को नष्ट कर इधर उधर ले जाते हैं, वैसे स्थिर और महान् बल को संपादन करके शत्रुओं को (पराहथ) अच्छे प्रकार नष्ट करो और (ह) निश्चय से इन शत्रुओं को (विवर्तयथ) तोड़-फोड़ उलट-पलट कर भगा दो तथा विजय के लिये वायु के समान शत्रुओं की सेना और नगरों को (वियाथन) अनेक प्रकार व्याप्त करो[1] ॥ ३ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥ जैसे वेगयुक्त वायु वृक्षादि को उखाड़ तोड़ झंझोड़ देते और पृथिव्यादि को धारण करते हैं, वैसे धार्मिक न्यायाधीश अधर्माचारणों को रोक के धर्मयुक्त न्याय से प्रजा का धारण करें । और सेनापति दृढ़ बलयुक्त हो, उत्तम सेना का धारण कर, शत्रुओं को मार, पृथिवी पर चक्रवर्त्ति राज्य का सेवन कर, सब दिशाओं में अपनी उत्तम कीर्ति का प्रचार करें । जैसे प्राण सब से अधिक प्रिय होते हैं, वैसे राजपुरुष विनय और शील से प्रजा को प्रिय हों ॥ ३ ॥

फिर वे विद्वान् किस प्रकार के हों, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

नहि वः शत्रुर्विविदे अधि द्यवि न भूम्यां रिशादसः ।
युष्माकमस्तु तविषी तना युजा रुद्रासो नू चिदाधृषे ॥ ४ ॥

पदार्थ—हे (रिशादसः) शत्रुओं के नाशकारक (रुद्रासः) अन्यायकारी मनुष्यों को रुलाने वाले वीर पुरुषो ! (चित्) यदि (युष्माकम्) तुम्हारे (आधृषे) प्रगल्भ होने वाले व्यवहार के लिये (तना) विस्तृत (युजा) बलादि सामग्री युक्त (तविषी) सेना (अस्तु) हो तो (अधिद्यवि) न्याय प्रकाश करने में (वः) तुम लोगों को (शत्रुः) विरोधी शत्रु (नु) शीघ्र (नहि) नहीं (विविदे) प्राप्त हो और (भूम्याम्) भूमि के राज्य में भी तुम्हारा कोई मनुष्य विरोधी उत्पन्न (न) न हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे पवन शत्रुरहित हैं उनको रोकने में कोई समर्थ नहीं हैं, वैसे मनुष्य विद्या धर्म बल पराक्रम वाले न्यायधीश होकर सब को शिक्षा दें और दुष्ट शत्रुओं को नष्ट कर शत्रुओं से रहित होवें ॥ ४ ॥

---

१. संस्कृत अन्वय में कुछ अस्पष्टता है, संस्कृत पदार्थ कुछ अंशों में भिन्न भी है। हमने यथासम्भव स्पष्ट करने का यत्न किया है। मन्त्रगत 'यत्' पद का अर्थ संस्कृत पदार्थ और अन्वय के अनुसार नहीं जोड़ सके। वह इस भाषार्थ में छूट गया है।

फिर वे कैसे कर्म करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है।

प्र वेपयन्ति पर्वतान् वि विञ्चन्ति वनस्पतीन् ।
प्रो आरत मरुतो दुर्मदाइव देवासः सर्वया विशा ॥ ५ ॥ [१८]

पदार्थ—हे (मरुतः) वायुवत् बलिष्ठ (देवासः) न्यायाधीश सेनापति सभासद विद्वान् लोगो ! तुम जैसे वायु (वनस्पतीन्) बड़ और पिप्पल आदि वनस्पतियों को (प्रवेपयन्ति) कँपाते हैं और जैसे (पर्वतान्) मेघों को (विविञ्चन्ति) टुकड़े टुकड़े कर देते हैं, वैसे (दुर्मदाइव) मदोन्मत्तों के समान वर्तते हुए शत्रुओं को युद्ध से (प्रोआरत) अच्छे प्रकार प्राप्त हूजिये और (सर्वया) सब (विशा) प्रजा के साथ सुख से वर्त्तिये ॥ ५ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥ जैसे राजधर्म में वर्तने वाले विद्वान् लोग दण्ड से घमण्डी डाकुओं को वश में करके धर्मात्मा प्रजाओं का पालन करते हैं वैसे तुम भी अपनी प्रजा का पालन करो। और जैसे पवन भूगोल के चारों ओर विचरते हैं, वैसे आप लोग भी सर्वत्र जाओ आओ ॥ १८ ॥ यह अठारवाँ वर्ग समाप्त हुआ।

फिर मनुष्यों को किसके साथ इन (वायुओं) को युक्त करके कार्यों को सिद्ध करने चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

उपो रथेषु पृषतीरयुग्ध्वं प्रष्टिर्वहति रोहितः ।
आ वो यामाय पृथिवी चिदश्रोदबीभयन्त मानुषाः ॥ ६ ॥

पदार्थ—हे (मानुषाः) विद्वान् लोगो ! तुम लोग (वः) अपने (यामाय) स्थानान्तर में जाने आने के लिये; (प्रष्टिः) प्रश्नोत्तरादि विद्या व्यवहार से विदित (रोहितः[१]) रक्त गुणयुक्त अग्नि (चित्) ही (पृथिवी[१]) भूमि वा अन्तरिक्ष में गमन के लिये जिनको (उपोआवहति) अच्छे प्रकार चलाता है; जिनके शब्दों को (अश्रोत्) सुनते और (अबीभयन्त) भय को प्राप्त होते हैं उन (रथेषु) स्थल जल और अन्तरिक्ष में रमने के साधनभूत रथों में (पृषतीः) वायुओं को (अयुग्ध्वम्) युक्त करो ॥ ६ ॥

भावार्थ—यदि मनुष्य यानों में जल, अग्नि और वायु को युक्त कर, उनमें बैठ गमनागमन करें तो सुख ही से सर्वत्र जाने आने को समर्थ हों ॥ ६ ॥

फिर वे कैसे हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है॥

आ वो मक्षू तनाय कं रुद्रा अवो वृणीमहे ।
गन्ता नूनं नोऽवसा यथा पुरेत्था कण्वाय बिभ्युषे ॥ ७ ॥

---

१. यहाँ "रोहितः" और "पृथिवी" का भाषार्थ संस्कृत अन्वय के अनुसार है। संस्कृत पदार्थ में कुछ भिन्नता है। इस मन्त्र के मुद्रित संस्कृत पदार्थ में "आ वो यामाय पृथिवी" इन चार पदों का पदार्थ नष्ट है। संस्कृत अन्वय में, उपो आ चित्" ये तीन पद छूटे हुए हैं। इनकी हमने यथास्थान पूर्ति की है।

पदार्थ—हे (रुद्राः) दुष्टों के रोदन कराने वाले ४४ वर्ष पर्यन्त अखण्डित ब्रह्मचर्य सेवन से सकल विद्याओं को प्राप्त विद्वान् लोगों ! (यथा) जैसे हम लोग (वः) आप लोगों के लिये[1] (अवसा) रक्षादि से (मक्षु) शीघ्र (नूनम्) निश्चित (कम्) सुख को (आवृणीमहे) सिद्ध करते हैं (इत्था) ऐसे तुम भी (नः) हमारे लिये (अवः) सुखवर्द्धक रक्षादि कर्म (गन्त) किया करो। और जैसे ईश्वर (बिभ्युषे) दुष्टप्राणी वा दुःखों से भयभीत (तनाय) सब को सद्विद्या और धर्म के उपदेश से सुखकारक (कण्वाय) आप्त विद्वान् के अर्थ (पुरा) भय प्राप्ति से पूर्व ही रक्षा करता है वैसे तुम और हम मिल के सब प्रजा की रक्षा सदा किया करें ॥ ७ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥ जैसे मेधावी विद्वान् लोग वायु आदि द्रव्यों के गुणों के योग से भय को निवारण करके तुरन्त सुखी होते हैं, वैसे हम लोगों को भी होना चाहिये ॥ ७ ॥

फिर तुम को उन से क्या सिद्ध करना चाहिये इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

युष्मेषितो मरुतो मर्त्येषित आ यो नो अभ्व ईषते ।
वि तं युयोत शवसा व्योजसा वि युष्माकाभिरूतिभिः ॥ ८ ॥

पदार्थ—हे (मरुतः) विद्वानो ! तुम (यः) जो (अभ्वः) विरोधी मित्रभावरहित (युष्मेषितः) तुम लोगों को जीतने और (मर्त्येषितः) सेना के मनुष्यों से विजय की इच्छा करने वाला शत्रु (नः) हम लोगों को (ईषते) मारता है, उसको (वि) विशेष (शवसा) बलयुक्त सेना वा (व्योजसा) अनेक प्रकार के पराक्रम और (युष्माकाभिः) तुम्हारी कृपापात्र (ऊतिभिः) रक्षा प्रीति तृप्ति ज्ञान आदिकों से युक्त सेनाओं से (आ) सब ओर से (वियुयोत) दूर कर दीजिये ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि जो स्वार्थी, परोपकार से रहित, दूसरे को पीड़ा देने में रत शत्रु हैं, उन को विद्या वा शिक्षा के द्वारा खोटे कर्मों से निवृत्त कर अथवा उत्तम सेना बल को संवर्द्धन कर युद्ध से जीत और उनका निवारण करके सब के हित का विस्तार करना चाहिये ॥ ८ ॥

फिर उनसे शोधे वा प्रेरे हुए वे क्या क्या करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

असामि हि प्रयज्यवः कण्वं दद प्रचेतसः ।
असामिभिर्मरुत आ न ऊतिभिर्गन्ता वृष्टिं न विद्युतः ॥९॥

पदार्थ—हे (प्रयज्यवः) अच्छे प्रकार परोपकार करने वाले (प्रचेतसः) उत्तम ज्ञानयुक्त (मरुतः) विद्वान् लोगो ! तुम (असामिभिः) नाशरहित (ऊतिभिः) रक्षा सेना आदि से (न) जैसे (विद्युतः) बिजुली आदि (वृष्टिम्) वर्षा करके सुखी करते हैं, वैसे (नः) हम लोगों को (असामि) असामि=सम्पूर्ण सुख (दद) दीजिये। और (हि) निश्चय से दुष्ट शत्रुओं को जीतने के लिये (कण्वम्) आप्त विद्वान् के समीप (आगन्त) अच्छे प्रकार जाया कीजिये ॥ ९ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥ जैसे पवन, सूर्य, बिजुली आदि वर्षा करके सब

---

१. 'वः' पद का यह भाषार्थ संस्कृत अन्वयानुसार है। संस्कृत पदार्थानुसार 'आप लोगों की' भाषार्थ है, परन्तु वह इस अन्वय में युक्त नहीं होता।

प्राणियों के सुख के लिये अनेक प्रकार के फल पत्र पुष्प अन्न आदि को उत्पन्न करते हैं, वैसे विद्वान् लोग भी सब प्राणिमात्र को वेद विद्या देकर उत्तम उत्तम सुखों को निरन्तर संपादन करें ॥ ९ ॥

फिर वे क्या करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

असाम्योजो बिभृथा सुदानवोऽसामि धूतयः शवः ।
ऋषिद्विषे मरुतः परिमन्यव इषुं न सृजत द्विषम् ॥ १० ॥ [१९]

पदार्थ—हे (धूतयः) दुष्टों को कँपाने (सुदानवः) उत्तम दान स्वभाव वाले (मरुतः) विद्वान् लोगो! तुम (न) जैसे (परिमन्यवः) सब प्रकार क्रोधयुक्त शूरवीर मनुष्य (द्विषम्) शत्रु के प्रति (इषुम्) बाण आदि शस्त्र समूहों को छोड़ते हैं, वैसे (ऋषिद्विषे) वेद, वेदों को जानने वाले और ईश्वर के विरोधी दुष्ट मनुष्यों के लिये (असामि) अखिल (ओजः) विद्या पराक्रम और (असामि) संपूर्ण (शवः) बल को (बिभृथ) धारण करो और उस शत्रु के प्रति शस्त्रों वा अस्त्रों को (सृजत) छोड़ो ॥ १० ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥ जैसे धार्मिक क्रुद्ध शूरवीर मनुष्य शस्त्रों के प्रहार से शत्रुओं को जीत निष्कंटक राज्य को प्राप्त होकर प्रजा को सुखी करते हैं, वैसे ही सब मनुष्य वेद, विद्वान् वा ईश्वर के विरोधियों के प्रति सम्पूर्ण बल पराक्रमों से शस्त्र अस्त्रों को छोड़, उनको जीत कर ईश्वर और वेद विद्या के प्रकाश से युक्त राज्य का संपादन करें ॥ १० ॥

इस सूक्त में वायु और विद्वानों के गुण वर्णन करने से पूर्व सूक्तार्थ के साथ इस सूक्त के अर्थ की संगति जाननी चाहिये ।

यह उनतालीसवाँ सूक्त और उन्नीसवाँ वर्ग समाप्त हुआ ॥ ३९ ॥ १९ ॥

(४०)

अथाष्टर्चस्य चत्वारिंशस्य घोरपुत्रः कण्व ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । १, २ निचृदुपरिष्टाद्बृहती १, ५ (विराट्) पथ्या बृहतीछन्दः । मध्यमः स्वरः । ३, ७ आर्ची त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः । ४, ६ सतः पङ्क्तिः ; ८ निचृत् (सतः) पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

फिर मनुष्यों को उचित है कि वेदविद जनों को कैसे उपदेश करें इस विषय का उपदेश अगले मंत्र में किया है ॥

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवयन्तस्त्वेमहे ।
उप प्र यन्तु मरुतः सुदानव इन्द्र प्राशूर्भवा सचा ॥ १ ॥

पदार्थ—हे (ब्रह्मणस्पते) वेद की रक्षा करने वाले (इन्द्र) अखिल विद्यादि परमैश्वर्युक्त विद्वन्! जैसे (सचा) विज्ञान से (देवयन्तः) सत्य विद्याओं की कामना करने (सुदानवः) उत्तम दान स्वभाव वाले (मरुतः) विद्याओं के सिद्धान्तों के प्रचार के अभिलाषी हम लोग (त्वा) आपको (ईमहे) प्राप्त होते हैं और जैसे सब धार्मिक जन (उपप्रयन्तु) समीप आवें, वैसे आप (प्राशूः) सब सुखों के प्राप्त कराने वाले (भव) हूजिये और सब के हितार्थ (उत्तिष्ठ) प्रयत्न कीजिये ॥ १ ॥

१. यहाँ पादाक्षरव्यवस्था के अनुसार प्रथम मन्त्र का "निचृत् पथ्या बृहती" और द्वितीय मन्त्र का "निचृद् बृहती छन्द" समझना चाहिये ।

संपादक, प्रकाशक व मुद्रक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, आर्य विजय प्रेस, धीबीहटिया, बनारस।

ॐ

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ६] ❀ [अङ्क १२

इस अंक के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

आश्विन २०११ अक्टूबर १९५४
दयानन्दाब्द १३०
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५४

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
बनारस नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
" " विदेश में ६)
इस अंक का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास **प्रथम तिथि को** प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० **तारीख तक न पहुँचे** तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। **पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा।**

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क **विशाल विशेषाङ्क** के रूप में **प्रति वर्ष** प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १ तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख **'सम्पादक वेदवाणी'** के नाम से आने चाहिए। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। **विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है।** विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सम्बन्धी धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र **'व्यवस्थापक वेदवाणी'** के पते से भेजें।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय **अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।**

व्यवस्थापक—**वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ पैलेस, बनारस ६**

वेदवाणी का अगला विशालकाय विशेषाङ्क

—— वे दा ङ्क ——

कार्तिक (कृ० १०) २०११—१ नवम्बर १९५४ को प्रकाशित होगा

इस वर्ष का विशेषाङ्क पिछले वर्ष के विशेषाङ्क से भी उत्कृष्ट तथा उच्च गवेषणात्मक, आध्यात्मिक तथा वेद और वैदिक साहित्य सम्बन्धी लेखों से युक्त होगा।

इस विशेषाङ्क में प्रकाशित होने वाले लेखों की उत्कृष्टता का अनुमान आप नीचे लिखे कतिपय उच्चकोटि के विशिष्ट विद्वान् महानुभावों के नामों से कर सकते हैं। जिनके लेख प्रायः प्राप्त हो चुके हैं।

१—श्री स्वा० आनन्द सरस्वतीजी महाराज
२—श्री स्वा० आत्मानन्दजी महाराज (जमनानगर)
३—श्री स्वा० गंगागिरिजी महाराज (रायकोट)
४—श्री महात्मा प्रभु आश्रित महाराज (रोहतक)
५—श्री पं० भगवद्दत्तजी बी० ए० रिसर्चस्कालर (देहली)
६—श्री डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल एम० ए० (हिं०वि० काशी)
७—श्री पं० नरदेवजी शास्त्री एम० एल० ए० (ज्वालापुर)
८—श्री डा० मंगलदेवजी शास्त्री एम० ए० (काशी)
९—श्री पं० रामनाथजी विद्यालङ्कार (गु० कांगड़ी)
१०—श्री डा० फतहसिंहजी एम० ए० (कोटा)
११—श्री प्रो० परमानन्दजी शास्त्री एम०ए० (भटिण्डा)
१२—श्री पं० वैद्यनाथजी शास्त्री (नासिक)
१३—श्री पं० सत्यव्रतजी सिद्धान्तालंकार (देहरादून)
१४—श्री पं० धर्मदेवजी विद्यावाचस्पति (देहली)
१५—श्री पं० द्विजेन्द्रनाथजी वेदशिरोमणि (मेरठ)
१६—श्री पं० सूर्यदेवजी शर्मा एम० ए० डी० लिट्० (अजमेर)
१७—श्री पं० भगवद्दत्तजी वेदालंकार (गु० कांगड़ी)
१८—श्री पं० वीरेन्द्रजी साहित्याचार्य एम. ए. (फतेहगढ़)

अन्य लेख प्राप्त हो रहे हैं।

वेदवाणी का विशेषाङ्क अन्य पत्रिकाओं के विशेषाङ्कों के समान निरर्थक या सामयिक या पिष्टपेषण-वत् नहीं होते। ये विशेषाङ्क वैदिकसाहित्य में अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। इसमें सदा ऐसे उच्च कोटि के अनुसन्धानपूर्ण लेख छपते हैं जो पुराने हो जाने पर भी सदा नवीन बने रहते हैं। इस दृष्टि से वेदवाणी अपने विशेषाङ्कों द्वारा सुन्दर श्रेष्ठ और स्थायी वैदिकसाहित्य उत्पन्न करने का महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही है।

वेदवाणी के ग्राहक बनने से पाठकों को तीन लाभ प्राप्त होंगे—

१—सदा उच्च कोटि के विद्वानों के लेख पढ़ने को मिलेंगे। २—ग्राहक बन कर वेद, वैदिकसाहित्य तथा वैदिक धर्म के प्रचार में सहायक बनेंगे। ३—ग्राहकों को दी गई विशेष सुविधाओं के भागीदार बनेंगे। (सातवें वर्ष के ग्राहकों को दी गई विशेष सुविधाएँ इसी अंक के अगले पृष्ठ में देखें)।

इसलिये आप आज ही ५) रु० वार्षिक चन्दा भेज कर अपना विशेषाङ्क सुरक्षित करा लें। अब की बार विशेषाङ्क थोड़ा छप रहा है।

प्रबन्धकर्त्ता—वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस ६

नये वर्ष के उपलक्ष्य में

वेदवाणी के ग्राहकों को विशेष सुविधाएं

१—निम्न पुस्तकों को इकट्ठा लेने पर डाक व्यय न देना होगा। जो लगभग ।।।=) प्रति पुस्तक होता है। एक लेने पर आधे डाक व्यय की छूट दी जायेगी।

(क) उरुज्योति अर्थात् **वैदिक अध्यात्मसुधा**—लेखक—भारत के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल अध्यापक हिन्दूविश्वविद्यालय काशी। पुस्तक परिचय टाइटल पृ० ३ पर देखें। मूल्य सजिल्द ३)

(ख) ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास—लेखक–पं० युधिष्ठिर मीमांसक। अपने विषय की श्रेष्ठतम पुस्तक। प्रचारार्थ घटाया हुआ मूल्य सजिल्द बढ़िया कागज पर ४), साधारण कागज विना मूल्य ३)

२—पिछले विशेषाङ्कों के मूल्य में कमी—वेदवाणी के वर्ष ५ और ६ के वेदाङ्क की कुछ प्रतियां शेष हैं। प्रचारार्थ १।।) प्रति वेदाङ्क के बदले १) प्रति वेदाङ्क दिया जायगा। डाक व्यय ।) प्रति वेदाङ्क अलग लगेगा। रजिस्ट्री से मंगवाने के लिये ।=) अधिक भेजें।

३—रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित समस्त प्रकाशन पर (उपर्युक्त पुस्तकें तथा विशेषाङ्कों को छोड़कर) **वेदवाणी के ग्राहकों को १५% कमीशन दिया जायगा।** पुस्तकों का सूचीपत्र अन्त में टाइटल पेज पर देखें।

४—जो नये ग्राहक बनेंगे उन्हें गत ३ वर्षों में प्रकाशित ऋग्वेदभाष्य २६४ पृ० तक २।।) रुपया में मिलेगा।

५—हमारे पास पिछले वर्षों की वेदवाणी की कुछ फाइलें बची हैं, उनका **रियायती मूल्य** इस प्रकार है— वर्ष २ अंक १० मूल्य २।।) वर्ष ३ अंक १० मूल्य २।।) वर्ष ४ अंक ११ मूल्य ३) वर्ष ५ अंक १२ मूल्य ४)

वर्ष ५, ६ की पूरी फाइलें बहुत थोड़ी शेष बची हैं।

नोट—क—संख्या २, ३, ४, ५ में वर्णित पुस्तकों, वेदाङ्कों और वेदवाणी की फाइलों का डाक व्यय ग्राहकों को देना होगा।

ख—संख्या १ में वर्णित पुस्तकों पर पूरा या आधा डाक व्यय छूट देने की अवस्था में १५% शत कमीशन नहीं दिया जयेगा।

ग—ट्रस्ट से प्रकाशित और छप रही पुस्तकों का सूचीपत्र अन्यत्र देखें।

ओ३म्

वेदवाणी

सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४ ॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष ६ } काशी, आश्विन सं० २०११ वि०, अक्टूबर १९५४ ई० { अङ्क १२

आर्याभिविनय से

टिप्पणीकर्ता—श्री विन्ध्यवासिनी प्रसाद जी

सर्वकाल में हितैषी प्रभु

अग्निमीळे पुरोहितम् यज्ञस्य देवमृत्विजम्

होतारम् रत्नधातमम् ॥२॥ ऋ० १।१।१।१

(मैं)

पुरोहितम्[1]	प्रधान सञ्चालक, निरन्तर हित करनेवाले	देवम्[3]	उत्कृष्ट
यज्ञस्य[2]	चाहने, प्राप्त करने और अन्यों को लाभ पहुँचानेवाली वस्तुओं में	ऋत्विजम्[4]	समय २ पर सब वस्तुओं को प्राप्त करानेवाले

अर्थबोधक टिप्पणी

१. पुरोहितम् = सर्वेषाम् हितकारिणम् (दया० यजु० ९।२२)। पुरस्तात् दधाति supports from all eternity (Vedic anthology).

२. यज्ञस्य = all righteous and philanthropic deeds. यज् देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु।

३. दिवु = क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु। (दिवा० प०) = परिकूजने (takes an inarticulate sound. (चुरादि) मर्दने (चुरादि) = प्रीणनार्थः (भ्वादि०) देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा नि० ७।१५।

४. ऋत्विजम् = यः ऋतौ २ प्रत्युत्पत्तिकालं संसारं सङ्गतं करोति। सर्वेषु ऋतुषु यजनीयः (V.A.)।

होतारम्[5] सृष्टिकर्त्ता, प्रलयकर्त्ता, और मुक्तात्माओं को अपने आनंद में रखने वाले

रत्नधातमम्[6] प्रसन्नतादायक पृथिवी सूर्यादि, उत्कृष्ट फल फूलादि, हीरादिमणि, स्वर्णादि धातुओं के उत्पन्न करनेवाले

अग्निम्[7] ज्ञानस्वरूप, ज्ञानदाता, सर्वप्रकार के अंधकार निवारक सर्वप्रथम और सर्वोपरि, नेतृत्व करनेवाले परमात्मा का

ईळे यशोगान करता हूं, उससे प्रार्थी हूं कि वह स्वयं और उसके रचित रक्षित सब पदार्थ हमें प्राप्त हों।

ऋषि व्याख्यान

"अग्निमीळे" वन्द्येश्वराग्ने[8] ! आप ज्ञानस्वरूप हो, आपकी मैं स्तुति करता हूं। सब मनुष्यों के प्रति परमात्मा का यह उपदेश है—हे मनुष्य ! तुम लोग इस प्रकार[9] से मेरी स्तुति, प्रार्थना, और उपासनादि करो[10] जैसे पिता वा गुरु अपने पुत्र वा शिष्य को शिक्षा करता है, कि तुम पिता वा गुरु के विषय में इस प्रकार से स्तुति आदि का वर्त्तमान करना[11], वैसे सबके पिता और परम गुरु[12] ईश्वर ने हमको कृपासे सब व्यवहार और [परमार्थ] विद्यादि पदार्थों[13] का उपदेश किया है, जिससे हमको व्यवहार-ज्ञान और परमार्थ ज्ञान होने से अत्यन्त सुख हो। जैसे सबका आदि कारण ईश्वर है, वैसे परमविद्या वेद का भी आदि कारण ईश्वर है।

हे सर्वहितोपकारक ! आप "पुरोहितम्" सब जगत् के हितसाधक हो। हे यज्ञदेव ! "यज्ञस्य देवम्" सब मनुष्यों के पूज्यतम और ज्ञान-यज्ञादि के लिये कमनीयतम हो[14]। "ऋत्विजम्" सब ऋतु बसन्तादि के रचक अर्थात् जिस समय जैसा सुख चाहिये उस समय वैसे सुख के सम्पादक[15] आप ही हो। "होतारम्" सब जगत् को समस्त योग और क्षेम[16] के देने वाले हो और प्रलय समय में कारण में सब जगत् का होम[17] करने वाले हो। "रत्नधातमम्" रत्न[18] अर्थात् रमणीय पृथिव्यादिकों के धारण[19], रचना करने वाले तथा अपने सेवकों के लिये रत्नों के धारण कराने वाले एक आप ही हो। हे सर्व शक्तिमन् परमात्मन् ! इसलिये मैं वारम्वार आपकी स्तुति करता हूं, इसको[20] आप स्वीकार कीजिये, जिससे हमलोग आपके कृपापात्र होके सदैव आनन्द में रहें।

---

५. हु = दानादनयोः आदाने च। (जुहो०)।

६. रमयति हर्षयतीति रत्नम्। जातौ २ यदुत्कृष्टं तद्धि रत्नं प्रचक्षते। उ० ३। ४४। रत्नानि सर्वजनै रमणीयानि प्रकृत्यादि-पृथिव्यन्तानि ज्ञानहीरकसुवर्णादीनि जीवेभ्यो दानार्थम् दधातीति रत्नधाः। अतिशयेन रत्नधाः स रत्नधातमः॥

७. अञ्चति गच्छति प्राप्नोति जानाति वा सो ऽग्निः। उ० ४।४९। अग्निरग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते। अङ्गम् नयति सन्नममानः। (निरुक्त ७।१४)। अग्निर्वै देवानां मुखम् (कौ० ३।६।५।५ शिरो ऽग्निः श० ६।२।२।२४।

८. वन्द्येश्वराग्ने = हे समर्पण के योग्य, शासक; और नेतृत्व करनेवाले ज्ञानदाता परमात्मन् !

९. इस प्रकार से = इस मंत्र के शब्दों के अर्थ विचारपूर्वक।

१०. मेरी स्तुति प्रार्थना और उपासना करो = मेरे लिये सर्वाधिक चाव-कामना उत्पन्न करो। तुम्हारे पास सहायक रूप में ऐसा अनुभव हो और मेरे अनुकूल बन जाओ।

११. वर्त्तमान करना = व्यवहार करना।

१२. परमगुरु = सबसे अधिक शुद्ध, और प्रत्येक समय में ज्ञान देनेवाला।

१३. व्यवहार और परमार्थ विद्यादि पदार्थ वा लोकव्यवहार का ज्ञान और परमोद्देश परमात्मा का ज्ञान और उसकी प्राप्ति

१४. ज्ञानयज्ञादि के लिये कमनीयतम हो = अर्थात् ईश्वर ही सबसे अधिक प्रिय, जानने प्राप्त करने और दूसरे को जनाने की वस्तु है।

१५. सम्पादक = पूरा करने वाले।

१६. योग और क्षेम = प्राप्ति और रक्षा के साधन और शक्ति।

१७. होम = विनाश।

१८. रत्न = उत्कृष्ट वस्तुओं के।

१९. धारण करनेवाले = रखने वाले।

२०. इसको = मेरी प्रार्थना को।

जीवनसंगीतकम्

(लेखक—श्री० डा० मंगलदेव जी शास्त्री एम० ए० डी० फि०,
भूतपूर्व प्रिंसिपल-गवर्नमेंट संस्कृतकालेज, बनारस)

: ६ :

दुःख-मीमांसा

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम् ।
तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षिते'''॥
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि'''॥
(ऋग्० ९।११३।७,११)

भद्रा इन्द्रस्य रातयः ।
(साम० उ० ५।२।१४)

मा भेः, मा संविक्थाः ।
(यजु० १।२३)

द्वितीय रश्मि

दुःख-मीमांसा

हे पवमान देव ! मुझे उस अमृत तथा अक्षय स्थिति में स्थापित कीजिए जहाँ सर्वदा रहने वाली ज्योति और दिव्य सुख विद्यमान हैं।...हे देव ! मुझे उस स्थिति में अमृतत्व प्रदान कीजिए जहाँ आनन्द, आमोद, प्रीति और प्रसन्नता विद्यमान हैं। और जहाँ अभीष्ट लक्ष्य भी प्राप्त हों ।...
(ऋग्० ९।११३।७, ११) ।

परमैश्वर्यशाली भगवान् के प्रदान कल्याणमय हैं ।
(साम० उ० ५।२।१४)

न तो तुम डरो न उद्विग्नता को प्राप्त होओ !
(यजु० १।२३)

दुःख मीमांसा

दुःख के स्वरूप पर विचार

हमारे देश की विचारधारा में इधर चिरकाल से दुःखविषयक विचारों और तन्मूलक विभीषिका ने एक ऐसा वातावरण बना रखा है, जो वैयक्तिक तथा जातीय दोनों दृष्टियों से हमारे लिए प्रायेण घातक सिद्ध हुआ है। 'संसार दुःखमय है, अतएव असार और हेय है', 'जीवन दुःख-रूप है, अतएव बन्ध (= कारागार) है, उससे किसी प्रकार छुटकारा (मोक्ष) पाना ही हमारे जीवन का परम ध्येय है',[१] 'दुःख सब को ही प्रतिकूल और बाधा के रूप में प्रतीत होता है',[२] 'विवेकी मनुष्य को सब कुछ दुःख-रूप में ही देखना चाहिए'[३] इस प्रकार के विषाक्त अनार्य विचारों ने जहाँ एक ओर हमारे जीवन को नीरस, मन्द, उत्साह-हीन, नैराश्यपूर्ण और अकर्मण्य बनाने में बड़ा भाग लिया है, वहाँ दूसरी ओर हमारे करोड़ों भाइयों में जीवन-संघर्ष से मुंह छिपा कर, प्रायः अपरिपक्व दशा में ही, संन्यास की मिथ्याप्रवृत्ति को बराबर प्रोत्साहित किया है ।

दुःख के विषय में उपर्युक्त विचार से यदि कोई आगे बढ़े हैं तो उन्होंने केवल इतना ही कहा है कि कर्मयोगी को सुख-दुःख को समान समझ कर ही जीवन के युद्ध में प्रवृत्त होना चाहिए ।[४]

परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में दुःख के स्वरूप के विषय में हम एक नितरां नवीन दार्शनिक दृष्टिकोण उपस्थित कर रहे हैं ।[५] हमारे परिज्ञान में यह विचार भारतीय वाङ्मय में

१. तु० "अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः" (सांख्यसूत्र १।१) ।

२. तु० "बाधनालक्षणं दुःखम्", "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः" (न्यायसूत्र १।१।२१-२२) ।

३. तु० "दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" (योगसूत्र २।१५) ।

४. तु० "सुखदुःखे समे कृत्वा......ततो युद्धाय युज्यस्व" (भगवद्गीता २।३८) ।

५. इस विषय के विशेष विचार के लिए 'कल्पना' (जनवरी १९५४) में प्रकाशित हमारा "भारतीय संस्कृति में वैदिक धारा की दार्शनिक भूमिका" शीर्षक लेख देखिए ।

कहीं देखने में नहीं आये हैं। दुःखों से उद्विग्न मानव को उनसे एक नया ही प्रकाश मिलेगा, ऐसी हमारी धारणा है।

नीचे के पद्यों में दुःख के विषय में युक्ति और उपपत्ति के साथ जो सिद्धान्त हमने उपस्थित किये हैं वे संक्षेप में मुख्यतः इस प्रकार हैं—

(१) दुःख की प्राप्ति आकस्मिक या अहेतुक नहीं होती।
(२) सृष्टि की योजना में दुःख की प्राप्ति निष्प्रयोजन नहीं हो सकती।
(३) दुःख से लगने वाले भय के मूल में हमारा अज्ञान ही कारण होता है। महान् पुरुष तो दुःख और कष्टों का स्वागत ही करते हैं।
(४) दुःखों को कार्यसिद्धि की आवश्यक भूमिका समझना चाहिए।
(५) स्वेच्छा से स्वीकृत दुःख तप के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। तप से ही समस्त सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।
(६) मनुष्य की समुन्नति में दुःख केवल सीढ़ियों के समान होते हैं।

यहाँ इस लेख को बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। नीचे हम पद्यों का केवल स्पष्टार्थ देते हैं:—

उद्वेगजनकं दुःखं सर्वेषामेव प्राणिनाम्।
सेयमापाततो बुद्धिस् तत्त्वदृष्ट्या विविच्यते ॥१॥

इस संसार में दुःख से सब कोई घबड़ाते हैं; दुःख को उद्वेग-जनक समझते हैं। दुःख के विषय में यह जो आपाततः विचार है, उसका यहाँ हम तात्त्विक दृष्टि से विवेचन करेंगे।

न चैवाकस्मिकं दुःखं न चाप्यस्त्यप्रयोजनम्।
न चैवावश्यकं, दुःखं दुःखमित्येव मन्यताम् ॥२॥

दुःख के विषय में विचार करने पर, न तो हम उसको आकस्मिक अथवा अहेतुक कह सकते हैं, न निष्प्रयोजन। दुःख को दुःखस्वरूप में अनुभव किया जावे, यह भी आवश्यक नहीं है।

दुःख आकस्मिक नहीं हो सकता, इसका समर्थन नीचे करते हैं:—

कार्यकारणसूत्रेण सूत्रधारेण केनचित्।
चाल्यमाने जगत्यस्मिन् कथं दुःखमहेतुकम्?॥३॥

इस जगत् या विश्व के सूत्रधार या नियामक परमात्मा कार्य और कारण के सूत्र अर्थात् नियम द्वारा सारे जगत् का संचालन कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में किसी के ऊपर आने वाला दुःख अहेतुक है, अर्थात्, उसका कोई हेतु नहीं है, ऐसा कैसे हो सकता है?

दुःख निष्प्रयोजन भी नहीं हो सकता, इसका समर्थन नीचे करते हैं:—

गर्भावस्थां समारभ्य या यावस्थाऽनुभूयते।
प्राणिना, तद्धितायैव स्पष्टं तस्याः प्रयोजनम् ॥४॥

जब से प्राणी गर्भावस्था में आता है उसे बराबर नयी नयी दशाओं का अनुभव करना पड़ता है। शास्त्रों में उनका प्रायः भयानक दुःखमय अवस्थाओं के रूप में वर्णन मिलता है। उन दशाओं को हम दुःखमय मानें या न मानें, इतना तो स्पष्ट है कि उनका प्रभाव प्राणी के लिए हितकर ही होता है।

अभिप्राय यह है कि गर्भावस्था के समान प्रत्येक दुःखावस्था मनुष्य के हित के लिए ही होती है। गर्भावस्था के अनुभव के पश्चात् ही राम, कृष्ण, बुद्ध और गांधी जैसे अवतारी पुरुष बनते हैं।

एवं स्थावरलोकेऽपि वृक्षादीनां समुद्भवे।
नानावस्थास्तु बीजस्य जायन्ते सप्रयोजनाः ॥५॥

इसी प्रकार स्थावर जगत् में भी वृक्ष आदि की उत्पत्ति में बोने के पश्चात् बीज की जो सड़ने-गलने आदि की अनेक अवस्थायें होती हैं, वे सब सप्रयोजन होती हैं। बीज बोये जाने के पीछे पहले गलता है, फिर सड़ता है, तब कहीं अन्त में वह अंकुर के रूप में उगता है। इस प्रकार आपाततः दुःख की अवस्थाओं को झेलता हुआ ही वह अन्त में आम, अनार, अङ्गूर जैसे उपयोगी और सुन्दर वृक्षों के रूप में आता है। इसी तरह दुःखावस्था से हमारा अन्त में हित ही होगा, यही समझना चाहिए।

तत्रैवं सति लोकेऽस्मिन् दुःखावस्थेति या मता।
सप्रयोजनता तस्या नूनं, नैवात्र संशयः ॥६॥

इसलिए संसार में जिसको दुःख की अवस्था माना जाता है, उसका ईश्वर की दृष्टि में कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है, यही मानना चाहिए।

सहेतुकत्वमित्येवं सप्रयोजनतां तथा ।
दुःखस्यावेक्ष्य तत्त्वज्ञो न ततो विजुगुप्सते ॥७॥

इस प्रकार दुःख की सहेतुकता और सप्रयोजनता को समझकर, अर्थात्, यह मन में बैठा कर कि ईश्वर की सृष्टि में जो कोई दुःख आता है उसका कोई कारण और प्रयोजन भी अवश्य होता है, तत्त्वज्ञानी मनुष्य दुःखों से कभी नहीं घबड़ाता ।

अन्धकारगतः कश्चिद् यथाकस्माद् भयातुरः ।
भवेत्तथैव दुःखेभ्यो मन्दानां जायते भयम् ॥८॥

जैसे अन्धेरे में खड़ा हुआ मनुष्य वास्तविक स्थिति को नहीं समझता और 'न जाने कहाँ से क्या आपत्ति आ जावे' यह सोच कर भय से व्याकुल हो जाता है। इसी प्रकार अज्ञानी लोग दुःख के कारण और प्रयोजन को न समझते हुए उससे डरते रहते हैं ।

उत्तरोत्तरमुत्कृष्टप्रगतावुत्सुकस्तु यः ।
दुःखानां स्वागतं कुर्वन् तत्त्वज्ञो नावसीदति ॥९॥

पर तत्त्वज्ञानी मनुष्य जो अपने जीवन में उत्तरोत्तर उत्कृष्ट उन्नति के लिए उत्सुक रहता है, दुःखों का स्वागत करता हुआ उनसे विषाद को नहीं प्राप्त होता ।

यथा छात्रस्य कस्यापि तापसस्य धनार्थिनः ।
कष्टानां महतामङ्गीकारो दृष्टः फलार्थिनः ॥१०॥

जैसे अपने अपने अभीष्ट लक्ष्य (क्रम से विद्या, आध्यात्मिक सिद्धि और संपत्ति) की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने वाला एक विद्यार्थी, तपस्वी या धनार्थी प्रसन्नता से बड़े बड़े कष्टों को सहता है, इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी मनुष्य अपने जीवन के लक्ष्य की ओर बढ़ता हुआ दुःखों और कष्टों को सहर्ष स्वीकार करता है ।

विधातुः सर्वलोकस्याभिप्रायोऽप्येष दृश्यते ।
यत्कार्यसिद्धितः पूर्वं कष्टस्वीकरणं मतम् ॥११॥

समस्त संसार की सृष्टि करने वाले प्रजापति का अभिप्राय भी यही दीखता है कि किसी भी कार्य की सिद्धि से पहले कष्ट या दुःख को उठाना ही चाहिए। दूसरे शब्दों में, भगवान् की रची हुई इस सृष्टि में सब के लिए यह स्वाभाविक है कि अपना अभीष्ट सिद्धि के लिए कष्ट या दुःख को उठाया जावे ।

अत एव सिसृक्षुः सन् लोकानेतान् प्रजापतिः ।
"तपोऽतप्यत", नैकत्र श्रूयते ब्राह्मणादिषु[1] ॥१२॥

इसीलिए शतपथ-ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में जहाँ कहीं 'प्रजापति ने इन लोकों की सृष्टि करने की इच्छा की' इस बात का प्रसंग आया है, वहाँ 'प्रजापति ने तप किया' ऐसा कहा गया है ।

अभिप्राय यह है कि औरों की तो बात ही क्या, प्रजापति या ब्रह्मा को भी सृष्टि की रचना से पहले तप करना पड़ता है ।

स्वेच्छा से स्वीकार किये गये दुःख या कष्ट को ही तप कहते है, यह नीचे कहा गया है ।

शिवस्य नीलकण्ठस्य विषपानं यदुच्यते ।
व्याख्यानमस्य तेनापि सिद्धान्तस्य विधीयते ॥१३॥

पुराणों में भगवान् नीलकण्ठ शिव की विष-पान की कथा प्रसिद्ध है। वास्तव में उस कथा से उक्त सिद्धान्त की ही व्याख्या की गयी है। संसार में कौन स्वेच्छया विष-पान करने को तैयार होगा ? फिर भी लोक-कल्याण की इच्छा से शिव जी ने प्रसन्नता-पूर्वक भयंकर विष का पान किया। इसलिए अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए प्रसन्नता-पूर्वक कष्ट को स्वीकार करना चाहिए ।

रामस्य तस्य भीष्मस्य बुद्धस्यापि महात्मनः ।
क्राइस्टस्य जिनस्यापि गान्धिनश्च महात्मनः ॥१४॥
जीवनेषु तथान्येषां लोकोत्तरयशस्विनाम्)
स्वेच्छयैव सुखं त्यक्त्वा कष्टस्वीकरणं मतम् ॥१५॥

उक्त कारण से ही भगवान् राम, सुप्रसिद्ध भीष्म पितामह, महात्मा बुद्ध, महात्मा क्राइस्ट, भगवान् महावीर, महात्मा गांधी तथा अन्य लोकोत्तर यशवाले महापुरुषों के जीवन में देखा जाता है कि उन्होंने महान् आदर्शों के पालन के लिए स्वेच्छा से सुखों को छोड़ कर कष्टों को स्वीकार किया ।

१. तु० "सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत । भूयान् स्यां प्रजायेयेति । सोऽश्राम्यत् । स तपोऽतप्यत ।......" (शतपथ-ब्राह्मण ६।१।१।८) ।

आपेक्षिकी मता तस्माद् भावना सुखदुःखयोः।
नैकान्तिकं तयो रूपमित्येवमत्रधार्यताम् ॥१६॥

इसलिए सुख और दुःख की भावना को आपेक्षिक ही मानना चाहिए। उनमें से किसी का अपना कोई निश्चित या ऐकान्तिक रूप नहीं है।

दुःखं वै दुःखरूपेण तावदेव प्रतीयते।
यावत्परिग्रहस्तस्यानिच्छयैव विधीयते ॥१७॥

दुःख दुःखरूप से तभी तक प्रतीत होता है जब तक कि उसका ग्रहण अनिच्छा से ही किया जाता है।

दुःखं चेत्स्वेच्छया प्राज्ञः प्रसन्नेनान्तरात्मना।
आदत्ते, तत्तपोरूपमाधत्ते, नात्र संशयः ॥१८॥

यदि बुद्धिमान् मनुष्य आये हुए दुःख को स्वेच्छा-पूर्वक प्रसन्न मन से स्वीकार कर लेता है, तो वही दुःख उसके लिए निःसन्देह तप का रूप धारण कर लेता है।

आशय यह है कि मनुष्य को चाहिए कि वह सहसा आये हुए दुःख को अपनी उन्नति की प्राप्ति में सहायक तप मान कर प्रसन्नता से सहे। इस प्रकार वह दुःख उसके लिए कल्याण का ही साधक हो सकता है।

नूनं तपांसि कृच्छ्राणि शास्त्रोक्तानि विधानतः।
आचरन्त्यात्मनः शुद्ध्यै श्रद्धया ये मनीषिणः॥१९॥

यह कौन नहीं जानता कि शास्त्रों में अनेकानेक कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत आदि तपों का विधान किया गया है। जो बुद्धिमान् हैं वे आत्मशुद्धि के लिये उन तपों का श्रद्धा से विधिपूर्वक पालन करते हैं।

तपसा पारमाप्नोति तपसा हन्ति किल्विषम्।
लोकेऽत्र तपसा धीर उन्नतेर्मूर्ध्नि तिष्ठति ॥२०॥

तप की महिमा महान् है। तप द्वारा ही मनुष्य अपने अभीष्ट पद को प्राप्त करता है और पाप या अपूर्णता को दूर कर अपने चरित्र को उज्ज्वल और पवित्र बनाता है। धीर पुरुष संसार में तप द्वारा ही उन्नति के शिखर पर विराजमान होता है।

ततोऽनिवार्यदुःखं यत् प्राप्तं भवति जीवने।
तप इत्येव तद्विद्याद् य इच्छेच्छ्रे य आत्मनः ॥२१॥

इसलिए जो अपना कल्याण चाहता है उसे चाहिए कि जीवन में जो कोई अनिवार्य दुःख प्राप्त हो उसे वह अपनी अभीष्ट-सिद्धि का साधक तए ही समझे और माने।

हिरण्यस्य यथा शुद्धिरग्नितापेन जायते।
तथैव दुःखतप्तानां जायते कल्मषक्षयः ॥२२॥

जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्ण की शुद्धि हो जाती है, इसी प्रकार दुःख-रूपी तप से तपे हुओं के कल्मष या पाप का नाश हो जाता है।

रम्यं प्रासादमारोहन्नत्युच्चशिखरस्थितम्।
कष्टानि सहते धीरः प्रसन्नो लक्ष्यसिद्धये ॥२३॥

किसी पर्वत के अति ऊँचे शिखर पर बने हुए रमणीय प्रासाद तक पहुँचने के निमित्त ऊपर चढ़ने वाला धीर मनुष्य अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रसन्नता-पूर्वक कष्टों को सहता है।

उत्तरोत्तरमुत्कृष्टप्रगतावुत्सुकस्तु यः।
एवं वेदोक्तमार्गेण दुःखादुद्विजते न सः[1] ॥२४॥

इसी प्रकार 'तुम उत्तरोत्तर समुन्नति को प्राप्त करो'[2] इस वैदिक उपदेश के अनुसार जो मनुष्य अपनी उत्तरोत्तर उत्कृष्ट समुन्नति के लिए उत्सुक है, वह दुःख से कभी नहीं घबड़ाता।

देवाधिदेवतत्त्वेन करुणाप्लुतचेतसा।
नूनं सृष्टं जगत्कृत्स्नं भूतानामुद्दिधीर्षया[3] ॥२५॥

इसमें सन्देह नहीं कि उस परमतत्त्व परमात्मा ने, जो देवताओं का भी अधिष्ठातृ-देवता है, करुणा-वश हो कर प्राणियों के उद्धार की इच्छा से ही समस्त जगत् की सृष्टि की है।

१. तु० "आत्मानं नियमैस्तैस्तैः कर्षयित्वा प्रयत्नतः। प्राप्यते निपुणैर्धर्मो न सुखाल्लभते सुखम् ॥" (वाल्मीकिरामायण ०३।९।३१)।

२. तु० "भद्रादभि श्रेयः प्रेहि" (ऐतरेयब्राह्मण १।१३) (अर्थात्, तुम भद्र से भद्रतर जीवन को प्राप्त करो)।

३. तु० "भद्रा इन्द्रस्य रातयः" (साम० उ० ५।२।१४) (अर्थात्, भगवान् के प्रदान कल्याणमय हैं)।

तत्रैवं सति लोकेऽस्मिन् दुःखावस्थेति योच्यते ।
नूनं सास्मद्धितायैव नोद्वेगाय मनीषिणः ॥२६॥

सृष्टि के विषय में उपर्युक्त वस्तुस्थिति के होने से, लोक में जिसको दुःखावस्था कहा जाता है, वह निश्चय ही हमारे कल्याण के लिए ही होती है, ऐसा मानना चाहिए। समझदार लोग उससे उद्विग्न नहीं होते।

कदाचिदेतदेवात्र कारणं येन, विस्मयः ! ।
कुत्रापि वेदमन्त्रेषु दुःखशब्दो न दृश्यते ॥२७॥

॥ इति रश्मिमालायां दुःखमीमांसा नाम द्वितीयो रश्मिः ॥

दुःख के विषय में जो कुछ ऊपर कहा गया है है कदाचित उसी कारण से, यह आश्चर्य की बात है कि, वैदिक संहिताओं के मन्त्रों में कहीं भी 'दुःख' शब्द नहीं पाया जाता ॥

चरैवेति-चरैवेति

[लेखक—श्री० डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल एम० ए०, काशी]

ऐतरेय ब्राह्मण के शुनःशेप उपाख्यान[1] में एक सुन्दर वैदिक गीत दिया हुआ है। इस गीत का अन्तरा है—'चरैवेति-चरैवेति' अर्थात् चलते रहो, चलते रहो। इसकी कथा यों है। राजा हरिश्चन्द्र के कोई पुत्र नहीं था। उसने पर्वत और नारद नाम के ऋषियों से उपाय पूछा। उन्होंने कहा कि तुम वरुण की उपासना करो। वह वरुण के पास गया कि मुझे पुत्र दो। उससे तुम्हारा यजन करूंगा। वरुण ने कहा—तथास्तु। हरिश्चन्द्र के पुत्र उत्पन्न हुआ, उसका नाम रोहित रक्खा गया। वरुण ने कहा—तुम्हारे पुत्र हो गया, इसको मेरी भेंट करो। हरिश्चन्द्र ने कहा—अभी पशु है, दस दिन का भी नहीं हुआ। दस दिन का हो जाय, तब यज्ञीय होगा।

वरुण ने कहा—अच्छा।

वह पुत्र दस दिन का हो गया, वरुण ने आकर कहा—दस दिन का हो चुका, अब यजन करो।

हरिश्चन्द्र ने कहा—अभी दांत भी नहीं निकले, जब दाँत निकल आवेंगे, तब मेध्य होगा। दाँत निकल आने दो, तब यजन कर दूँगा।

वरुण ने कहा—अच्छा।

उसके दाँत निकल आये। तब वरुण फिर आ पहुँचा—अब तो दाँत निकल आये, अब लाओ।

हरिश्चन्द्र ने कहा—अभी निरा पशु है, जब दूध के दाँत गिर जायेंगे, तब यज्ञीय होगा। दाँत गिर जाने दो, तब यजन करूँगा।

वरुण ने कहा—अच्छा।

उसके दूध के दाँत भी गिर गये। वरुण ने फिर माँगा, अब तो दूध के भी दाँत गिर गये, अब लाओ।

हरिश्चन्द्र ने कहा—जब नये दाँत निकल आते हैं तब मेध्य होता है। जरा नये दाँत जम आने दो, फिर यजन करूँगा।

वरुण ने कहा—अच्छा।

उसके नये दाँत भी जम आये। वरुण ने फिर टोका—नये दाँत भी निकल आये, अब लाओ।

हरिश्चन्द्र ने कहा—यह क्षत्रिय का बालक है। क्षत्रिय-पुत्र जब कवच धारण करने लगता है, तब किसी काम के योग्य (मेध्य या यज्ञीय) होता है। बस कवच पहनने लगे, तो तुम्हारे लिये इसका यजन कर दूँ।

वरुण ने कहा—अच्छा।

वह कवच भी धारण करने लगा। तब वरुण ने हरिश्चन्द्र को छेका—अब तो कवच भी पहनने लगा, अब यजन करो।

१. ऐ० ब्रा० ७। १३-९७ ॥

हरिश्चन्द्र ने कहा—अच्छी बात है, कल आना। उसने रातोंरात पुत्र से सलाह की और उसे जङ्गल में भगा दिया। दूसरे दिन जब वरुण पहुँचा, तो कह दिया—वह तो कहीं भाग गया।

अब वरुण के उग्र नियमों ने हरिश्चन्द्र को पकड़ा। उसके जलोदर हो गया। रोहित ने जङ्गल में पिता के कष्ट का समाचार सुना। वह वहाँ से बस्ती की ओर लौटा। तब इन्द्र पुरुष का वेष बनाकर उसके सामने आया और निम्न-लिखित गीत का एक-एक श्लोक एक-एक वर्ष बाद उसे सुनाता रहा। इस प्रकार पाँच वर्षों में यह सञ्चरण-गीत पूरा हुआ और पाँच वर्षों तक रोहित अरण्य में घूमता रहा।

गीत इस प्रकार है—

(१)

चरैवेति-चरैवेति

नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति इति रोहित शुश्रुम।
पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा॥
चरैवेति, चरैवेति।

हे रोहित, सुनते हैं कि श्रम से जो नहीं थका, ऐसे पुरुष को लक्ष्मी नहीं मिलती। बैठे हुए आदमी को पाप धर दबाता है। इन्द्र उसी का मित्र है, जो बराबर चलता रहता है। इसलिए चलते रहो, चलते रहो।

(२)

पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः॥
चरैवेति, चरैवेति।

जो पुरुष चलता रहता है, उसकी जाँघों में फूल फूलते हैं, उसकी आत्मा भूषित होकर फल प्राप्त करती है। चलने वाले के पाप थक कर सोये रहते हैं। इसलिए चलते रहो, चलते रहो।

(३)

आस्ते भग आसीनस्य ऊर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः॥
चरैवेति, चरैवेति।

बैठे हुए का सौभाग्य बैठा रहता है, खड़े होने वाले का सौभाग्य खड़ा हो जाता है, पड़े रहने वाले का सौभाग्य सोता रहता है और उठकर चलने वाले का सौभाग्य चल पड़ता है। इसलिये चलते रहो, चलते रहो।

(४)

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्॥
चरैवेति, चरैवेति।

सोने वाले का नाम कलि है, अङ्गड़ाई लेने वाला द्वापर है, उठकर खड़ा होने वाला त्रेता है और चलने वाला सतयुगी है। इसलिए चलते रहो, चलते रहो।

(५)

चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्॥
चरैवेति, चरैवेति।

चलता हुआ मनुष्य ही मधु पाता है, चलता हुआ ही स्वादिष्ट फल चखता है, सूर्य का परिश्रम देखो, जो नित्य चलता हुआ कभी आलस्य नहीं करता। इसलिए चलते रहो, चलते रहो।

इस सुन्दर गीत में इन्द्र ने रोहित को सदा चलते रहने की शिक्षा दी है। इन्द्र को यह शिक्षा किसी ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण से मिली थी। गीत का वास्तविक अभिप्राय आध्यात्मिक है। चलते रहो चलते रहो, क्योंकि चलने का नाम ही जीवन है। ठहरा हुआ पानी सड़ जाता है, बैठा हुआ मनुष्य पापी होता है। बहते हुए पानी में जिन्दगी रहती है, वही वायु और सूर्य के प्राण-भण्डार में से प्राण को अपनाता है। पड़ाव डालने का नाम जिन्दगी नहीं है। जीवन के रास्ते में थक कर सो जाना, या आलसी बन कर बसेरा ले लेना मूर्च्छा है। जागने का नाम जीवन है। जागृति ही गति है। निद्रा मृत्यु है। अध्यात्म के मार्ग में बराबर आगे कदम बढ़ाते रहो, सदा कानों में 'चलते रहो, चलते रहो' की ही ध्वनि गूँजती रहे। वह देखो अनन्त आकाश को पार करता हुआ और अपरिमित लोकों का भ्रमण करता हुआ सूर्य प्रातःकाल आकर हम में से प्रत्येक के जीवन-द्वार पर यही अलख जगाता है—

'चलते रहो, चलते रहो'

इन्द्र तो चलने वालों का ही सखा है। (इन्द्र इच्चरतः सखा[१]) आत्मा उनका ही स्वयंवर करती है, जो मार्ग में

१. देखो पृ० १०६ गीता १।

चल रहे हों, एक पद के बाद दूसरा पद शीघ्र उठाते हुए अध्यात्म के अनन्त पथ को चीरते चले जाते हैं। उपनिषदों में कहा भी है—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः[1]।

अथवा—

न च प्रमादात् तपसो वाप्यलिङ्गात्[2]।

जिसके संकल्प मजबूत नहीं हैं, जो प्रमादी और मिथ्याचारी है, उसे आत्मदर्शन नहीं हो सकता। ईश्वर उनकी सहायता करता है, जो स्वयं अपनी सहायता करते हैं। कमर कस कर खड़े हो जाने वालों का ही इन्द्र मित्र है। जो वेग से रास्ते को पार करते चले जाते हैं, जो पैर उठा कर पश्चात्पद होना नहीं जानते, जो सोते-जागते सदा जागरूक बने हुए हैं, वे ही सच्चे पथिक हैं। उन्होंने संसार के आतिथ्य धर्म को ठीक समझ लिया है। आत्मा इस देह में एक अतिथि है। **'अतति सन्ततं गच्छति इति अतिथिः'** 'अत सातत्यगमने' धातु से 'इथिन्' प्रत्यय लगाकर अतिथि बनता है। **'अतति सन्ततं गच्छति इति आत्मा'** उसी 'अत सातत्यगमने' धातु से मनिन् प्रत्यय लगाकर आत्मा बनता है। यही सूत्र सदा स्मरणीय है—

अतिथिरात्मा।

आत्मा ही क्षेत्रपति शम्भु है। इस शरीर की संज्ञा क्षेत्र है। आत्मा क्षेत्रज्ञ या क्षेत्रपति है। हम नित्य के शान्तिपाठ में कहते हैं—

शन्नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः[3]।

हमारे क्षेत्रपति आत्मा का अहरहः कल्याण हो, वह संतत स्वस्तिमान् हो। इसी आत्माग्नि को संबोधन करके कहा जाता है—

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्[4]।

समिधाओं से इस अग्नि की उपासना करो और घृत की धाराओं से उस अतिथि को जगाओ। ब्रह्मचर्यकाल या आयु का वसन्तकाल घृत की धाराएँ हैं, इसी समय रसों का परिपाक होता है। यौवन या ग्रीष्म ही समिधाएँ या ईंधन हैं। कहा भी है—

वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः[5]।

अतिथि आत्मा का हित चलते रहने में है। घर बनाकर डेरा डालना उसके स्वभाव के प्रतिकूल है। भोग और विषय दुर्गन्ध से भरे हुए हैं। उनके मध्य में तृप्ति मान लेने वाले को असली माधुर्य का पता ही नहीं लगा। सब विद्याओं से बड़ी मधुविद्या है। आत्मज्ञान या अध्यात्मविद्या का ही नाम मधुविद्या है, जिसे इन्द्र ने दध्यङ् अथर्वा को सिखाया था। यही परम मधु है। इस रस के बराबर और किसी रस में मिठास नहीं है। आत्मा रस-स्वरूप ही है—

रसो वै सः[6]।

एक बार जो इस मधु का स्वाद पा जाते हैं, वे पुनः दूसरे माधुर्य की चाहना नहीं करते। यह मधु चलते रहने से ही मिल सकता है—

चरन् वै मधु विन्दति[7]।

अध्यात्म-मार्ग के दृढ़ पथिक ही इस मधु को चखते हैं, वे ही ऐसे सुवर्ण हैं, जो संसार-रूपी अश्वत्थ वृक्ष के स्वादु या मधुर फल को खाने योग्य (मध्वद) होते हैं।

---

१. मुण्डको० ३।२।४॥ २. मुण्डको० ३।२।४॥ ३. ऋ० ७।३५।१०॥ ४. यजुः ३।१॥
५. यजुः ३१।१४॥ ६. तैत्ति० उ० ब्रह्मा० ७। ७. ऐ० ब्रा० ७।१५, गीत ५।

एक आवश्यकता तथा कार्यक्रम

अथवा

सुख-शान्ति की प्रवेशविधि।

लेखक—प्रो० विन्ध्यवासिनी प्रसाद-भुसावर (भरतपुर)

आर्यसमाज का सदस्य बनने से पूर्व ऋषिदयानन्द यह अपेक्षित समझते थे कि आर्य नरनारी सदाचारी बनकर फिर आर्यसमाज के सभासद् हों। इससे सदाचारी बनाने वाली एक सोसायटी की स्वभावतः आवश्यकता प्रतीत होती है जिसका अभाव खटक रहा है। इसी अभाव की पूर्त्ति के के लिये, सम्प्रति, मैंने निम्न दैनिक कार्यक्रम निश्चित किया है, जिसको कार्यरूप में परिणत करने से अनेक स्थायी कल्याण होने की सम्भावना है।

(१) यजुर्वेद संहिता पाठ यथाक्रम करना (दैनिक पांच मिनिट)

(२) पञ्चमहायज्ञ विधि के मंत्रों का कण्ठस्थ करना, अध्ययन और अनुष्ठान (दैनिक आध घण्टा)

(३) सत्यार्थप्रकाश के प्रथम छः समुल्लासों का रचनात्मक अध्ययन और शनैः २ इनके आश्रय में निवास करना। (दैनिक १० मिनिट)

(४) संस्कार विधि के विधिप्रकरण को सम्पूर्णतया और विचारों और भावों को (स्वयं पढ़कर, अथवा किसी विद्वान् द्वारा सुन समझकर) यथाशक्ति यथावश्यक अपनाने का प्रयत्न करना।

(५) किसी एक पुस्तक अथवा पुस्तकों के आधार पर शारीरिक स्वास्थ्य को ठीक रखने में सतत प्रयत्नशील रहना।

(६) प्रीति से, परस्पर सांसारिक और पारमार्थिक उन्नति को दृष्टि में रखते हुए, सामाजिक व्यवहार-वृद्धि में शिक्षित होना।

मेरी समझ में उपरोक्त छः बातों पर ध्यान देने और उन्हें दैनिक जीवन का अङ्ग बनाने से आर्यत्व की नींव सुदृढ़ हो जाती है। मुसलमानों में एकता और बलिदान भावना का कारण बहुत अंशों में दैनिक कार्यक्रम का निभाना है। दैनिक कार्यक्रम का पालन वैयक्तिक और सामाजिक आपत्ति काल (emergener) में भी बहुत सहायक होता है और धर्मोत्साह को कभी क्षीण नहीं होने देता। "नमाज़ कज़ा कर गया" इस मसोस भरे वाक्य से मुसल्मानों को जीवन में दैनिक कार्यक्रम के महत्त्व का पता लगता है। क़ुरान पाठ तो प्रत्येक साक्षर नरनारी मुसल्मान प्रातः दैनिक करता है यह हम आर्यों को विदित ही है।

यजुर्वेद संहिता पाठ का महत्त्व—यजुर्वेद संहिता के एक पृष्ठ का दैनिक यथाक्रम पाठ वेद से स्थायी प्रेम रखने के लिये साधारणतया पर्याप्त होगा। लाभ उठाना और स्नेह करना ये दो भिन्न वस्तुयें हैं। हम एक मनुष्य से लाभ उठाते हुए भी उससे प्रेम नहीं करते अतएव उस पर निछावर नहीं हो पाते। दूसरी ओर एक मनुष्य से लाभ न उठाते हुए भी उससे प्रेम करने और उसपर बलिदान हो जाते हैं। वेद से प्रेम बनाये रहने के लिये ही प्रत्येक संस्कार में वेदमंत्रों द्वारा संस्कार-विधि सम्पन्न होती है। यही वेद-प्रेम बनाये रहना ऋषिदयानन्द के शब्दों में "वेदों की रक्षा" है। पठित हो या अपठित, वैदिक मंत्रों का सुनना और निश्चित विधि-वाक्यों का संस्कारों में उच्चारण करना यजमान के लिये अनिवार्य है। फिर भी केवल इतने से वेदों से स्थायी प्रेम नहीं हो सकता। अत एव वेद से स्थिर प्रेम स्थापना करने और आर्यों को सम्बद्ध करने के लिये दैनिक वेदपाठ करना आवश्यक है। केवल वेदों के स्मरण और जयघोषने हजारों आर्यों को बिना वेद पढ़े ही बलि वेदी पर चढ़ा दिया, यह किसी आर्य से छिपा नहीं। फिर दैनिक वेद पाठ यदि श्रद्धा से किया जाय तो वह पाठ क्रम स्वयं हृदय और मन में एक स्फूर्त्ति और ज्योति उत्पन्न करेगा और आर्यत्व की गति को प्रशस्त और विश्वव्यापी बनायेगा।

पञ्चमहायज्ञविधि के मंत्रों का अध्ययन—पञ्चमहायज्ञविधि मुख्यतया संध्या के मंत्रों का दैनिक अध्ययन करना (१५ मिनिट) संध्या (the enacting songs of Love Divine and an arsha course in intuitional communion) करने के पूर्व अथवा पश्चात् अतीव कल्याणप्रद सिद्ध होगा। ऐसा नियम बनाने से संध्या करने में निश्चित ही मन लगेगा, प्यार की सर्वोत्तम वस्तु परमात्मा से स्नेह उत्पन्न होगा और स्थिर रूप में यह

समझ में आने लगेगा कि बिना उससे प्रीति लगाये, उसकी सृष्टि की किसी वस्तु में वास्तविक स्वाद-रस मिलना कठिन ही है। बिना सहधर्मिणी से स्नेह रखे, घरकी रोटी में भी बहुधा यथेष्ट स्वाद नहीं मिला करता।

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम छः समुल्लासों का अध्ययन—ऋषि दयानन्द ने हमारे जीवन का ध्येय और मान्य प्रथम समुल्लास में प्रतिपादित कर, इतर पाँच समुल्लासों में लक्ष्य साधन के तत्वों का निरूपण किया है। सप्तम अष्टम और नवम और दशम समुल्लासों में प्रथम छः समुल्लासान्तर्गत विषयों को स्पष्ट रूप में समझाने और साधनो पसाधनों को उपस्थित करने का प्रयत्न करना ही उन्हें अभीष्ट था, जिसमें इन प्रथम छः समुल्लासों के सिद्धान्तों में हमारी अवस्था सुदृढ़ और पक्की हो जाँय और उनके विचार कार्य रूप में आने लगें। एकादश, द्वादश त्रयोदश, और चतुर्दश समुल्लासों के लिखने का प्रयोजन आर्ष परम्परानुसार, केवल शुक्ल पक्ष को समझाने के लिये अंधकार पक्ष का भी उपस्थित करना था। ऐसी विधि अपनाये बिना वास्तव में विद्या हृदयङ्गम कम हो पाती है। इस सिद्धि के लिये ऋषिने प्रचलित मतमतान्तरों के अंधकार पक्ष को उदाहरणरूप में लिया और उनकी असत्य बातों का निराकरण भी किया। विषय खोलने के लिये प्रथम दश समुल्लासों में भी ऋषि ने प्रश्नकर्ता खड़ाकर और स्वयं सिद्धान्ती बनकर आर्ष पक्ष का समर्थन किया है। मेरी समझ में खण्डन करना उन्हें कदापि प्रिय नहीं था। विद्यादान देना मात्र उनका उद्देश था, नहीं तो आंतों के अतीव विकृत हो जाने पर भी "ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो" कहकर प्राण न छोड़ते। खण्डन प्रिय मनुष्य के मुख से यह वाक्य निकल ही नहीं सकता। यही दयानन्द का ऋषित्व, देवत्व और पितृत्व था।

संस्कारविधि का महत्व—संस्कारविधि के विधि प्रकरण को कभी २ पाठ करने और व्याख्या भाग को कुछ २ पढ़ते रहने से जीवन को अनेकविध संस्कृत होने का अवसर मिलेगा। कम से कम १६ संस्कारों का नाम ज्ञान और उनका महत्व सब आर्यों की समझ में आ जाना चाहिये।

शारीरिकोन्नति—शारीरिक स्वास्थ्य पर ध्यान देना दैनिक कार्यक्रम का एक अङ्ग बन ही जाना चाहिये। जिस मंत्र को पढ़कर आचार्य ब्रह्मचारीको यज्ञोपवीत पहिनाता है उसमें "आयुष्यम् अग्रयम्" भी पद हैं जिनका अर्थ है कि मनुष्य अपने शरीर की शक्ति और आयु परिमाणको बढ़ाता रहे और अपने आत्माको विद्या और धर्मानुष्ठान से परिष्कृत करता रहे। शरीर की उपेक्षा का परिणाम यह है कि जहां यूरोप के विभिन्न देशों में मनुष्य की औसत आयु बढ़कर ७० वर्ष करीब हो गई है वहाँ हमारे देश में वह केवल २७ वर्ष मात्र है। ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में लिखा है कि आदित्य ब्रह्मचारी की आयु ४०० वर्ष तक की हो सकती है। यह आयु-आदर्श सामने रखने से, शरीर की उपेक्षा में न्यूनता आने लगेगी और आयु वृद्धि में हम कल्पनातीत सफलता प्राप्त कर सकेंगे।

सामाजिक व्यवहारवृद्धि में शिक्षित होना—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी भी है। उसकी प्रत्येक दिशा में उन्नति दूसरे के सहारे है पशु। (Non-thinking animal) और मनुष्य (Thinking Animal) दोनों भिन्न दिशाओं में गति करते हैं। पशु का जीवन-ध्येय उदर पालन और प्रजनन पर रुक जाता है। यही उसकी श्रेष्ठतम उन्नति (magnum bonum of life) और आनन्द प्राप्ति है। मनुष्य की उत्कृष्टोन्नति अपने और दूसरे के आत्मा को उन्नत करना और अतिशयानन्द अथवा ब्रह्मानंद में मग्न होना है और इस कार्य की सफलता के लिये उसे शरीर और समाज को साधन बनाते हुए समाज के सुख में यथाशक्ति वृद्धि करते हुए आगे बढ़ना है।

इस ब्रह्मानन्द-उद्देश की पूर्ति के लिये और ईश्वर प्रीत्यर्थ उसे स्वमनोवृत्ति और रुचि के अनुसार, सोच समझकर, ज्ञान प्राप्ति करना (ब्राह्मण कार्य) सामाजिक सामञ्जस्य स्थापित करना कराना (क्षत्रिय कार्य) पुष्टिकर और रक्षक पदार्थों की उत्पत्ति करना कराना और वितरण (वैश्यकार्य) आज्ञानुसरण करना कराना और शिल्पकार्य को साधन-लक्ष्य बनाना (शूद्र कार्य) और तदनुकूल व्यवहार करना कराना है और वैसा ही सामाजिक वातावरण भी उत्पन्न करना है। एतदर्थ यह आवश्यक है कि मनुष्य यह जाने कि वह एक दूसरे से कैसे बर्ते, कैसे उससे लाभान्वित होवे और उसे लाभ पहुँचावे और वह भी जाने कि एक दूसरे की त्रुटियों को कब उपेक्षा-दृष्टि से देखे। मेरी सम्मति में इस विद्याका ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक आर्य नरनारी के लिये नितान्त आवश्यक है। इसी ज्ञान के अभाव में सहस्त्रों आर्य असफल निकम्मे और मटियामेट हो गये। अतएव इस विषय का थोड़ा अथवा

विशेष ज्ञान प्राप्त करना इस योजना का आवश्यक अङ्ग होगा।

उपरोक्त कार्यक्रम के यथाशक्ति पालन से मनुष्य इस योग्य बन सकता है कि वह अपनी शक्ति और सम्पत्ति को, स्वपरिवार, स्वदेश एवं विस्तृत विश्व के विकास में लगादेने में एक आनन्द अनुभव करने लगे और चाहे बिना चाहे "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" की ओर पग बढ़ाने के लिये बाध्य हो जाय।

इन्हीं विचारों को मूर्तरूप देना मेरा ध्येय है। मैं अभी केवल पाँच दिन तक एक "आर्यसमाज" में टिकना उचित समझता हूँ और ईश्वर की सहायता से स्वशक्त्यनुसार इस क्रमको चालू करने कराने में सहायक होना चाहता हूँ। यदि शिक्षित जनता से मिलने, विशेषतया कालिज के विद्यार्थियों से सम्पर्क के स्थापित करने, और ऐसे वातावरण के "समाजों" में जाने का अवसर मिलेगा तो अति उत्तम होगा,

पुरोगम।

संध्यांगशिक्षण—प्रातः दो घण्टा

यज्ञ कराना—दोपहर एक घण्टा

जिज्ञासा निवृत्ति—अपराह्न एक घंटा

सत्यार्थ प्रकाश की कथा—सायं २ घंटा

'आर्य' विवेचन

(लेखक—श्री० पं० बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार)

जो योरोपियन विद्वान् वेद के विचित्र अर्थ हमारे सामने रखते रहते हैं, उन की विचित्र सूझ के दो उदाहरण हम दे चुके हैं, आज हम आर्य शब्द को लेते हैं, पण्डित जवाहरलाल नेहरू हमारे देश के रत्न हैं, देश को स्वराज्य दिलाने तथा विदेशी राज्य की दासता से छुड़ाने वालों में वे अग्रगण्य हैं, किन्तु जब हम उन तक को विदेशी विचारों की दासता में जकड़ा पाते हैं तो विचार उठता है कि अभी दिल्ली दूर है हमारे शरीर तो स्वतन्त्र हो गए, परन्तु विचार तो न जाने कब स्वतन्त्र होंगे, अपनी पुस्तक Discovery of India में वे लिखते है कि आर्य शब्द एक धातु से बना है, जिसका अर्थ भूमि जोतना है।

अब संस्कृत साहित्य से, साधारण परिचय रखने वाला मनुष्य भी जानता है, कि संस्कृत साहित्य में खेती करना अथवा भूमि जोतना अर्थ रखने वाली कोई ऐसी धातु नहीं, जिससे आर्य्य शब्द बना हो, आर्य्य शब्द "ऋ धातु" से बना है, जिसका अर्थ है, गति करना, फिर न जाने जवाहरलाल जी ने यह किस प्रकार लिख दिया कि ऋ धातु का अर्थ भूमि जोतना है, उनके इस कथन का आधार कदाचित् यही है कि योरोपियन विद्वानों ने ऐसा लिखा है, उस अवस्था में यह पूछना पड़ेगा कि योरोपियन विद्वानों ने ऐसा किस प्रकार लिख दिया, योरोपियन विद्वानों की इस विचित्र कल्पना का आधार पाणिनि ऋषि का यह सूत्र है।

अर्य्यः स्वामिवैश्ययोः

अर्थात् अर्य्य शब्द का अर्थ है स्वामी अथवा वैश्य।

यह अर्य्य शब्द भी ऋ धातु से बना है।
वैश्य का काम है कृषि, गोरक्षा, वाणिज्यम्।
इस लिये ऋ धातु का अर्थ हुआ, खेती करना।
यह युक्ति ऐसी ही विचित्र है जैसे कोई कहे कि क्यों कि पोलिसमैन की पगड़ी लाल होती है,
इस लिये पोलिस शब्द का अर्थ हुआ लाल पगड़ी।

अर्य्य वैश्य को कहते हैं।
अर्य्य शब्द ऋ धातु से बना है।

यह दोनों ही बातें ठीक हैं, किन्तु इन से जो परिणाम निकाला गया है, वह आमूल-चूल निराधार है, इस से ऋ धातु का अर्थ भूमि जोतना किसी

प्रकार भी नहीं निकाला जा सकता, ऋ धातु का अर्थ वही है जो व्याकरण तथा कोष की पुस्तकों में दिया हुआ है, अर्थात् ऋ गतौ। किन्तु हमें जांचना यह है कि वह कौन सी प्रकार की गति है जो ऋ धातु का वाच्यार्थ है।

इसका पता हमें प्रयोग से लगेगा।

केवल व्याकरण इस में सहायक नहीं हो सकता, उदाहरण के लिये संस्कृत के दो धातु कूज तथा गर्ज लीजिये, दोनों का अर्थ है शब्द करना। किन्तु प्रयोग से पता लगता है कि कूज का अर्थ है, मोर आदि पक्षियों का शब्द तथा गर्ज का अर्थ है, शेर का अथवा मेघ का शब्द, इस से पता लगा कि व्याकरण तो सामान्य अर्थ के जानने में सहायता देता है, विशेष अर्थ का पता लगता है प्रयोग से। यही बात ऋ धातु के सम्बन्ध में है।

व्याकरण से पता लगता है कि ऋ धातु का अर्थ है गति करना किन्तु प्रयोग से पता लगता है कि वह कौन सी विशेष गति है, जिसका वर्णन, ऋ धातु के द्वारा होता है।

अब ऋ धातु के प्रयोगों को लीजिये।

इस धातु से बने हुए शब्दों से एक शब्द ऐसा है जिसका प्रयोग साधारण से साधारण लोग भी भारत में सब प्रान्तो तथा लगभग सब भाषाओं में करते हैं, वह शब्द है ऋतु इस से ऋ धातु के अर्थ पर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है ऋ धातु के अर्थ है नाप कर चलना। सूर्य ने अपनी गति के जो भिन्न भिन्न परिणाम उत्पन्न करने वाले नाप रक्खे हैं वही सूर्य के ऋतु हैं, स्त्रियों का मासिक धर्म नियम पूर्वक २७ दिन के पश्चात् प्रादुर्भूत होता है इसी लिये वह ऋतुधर्म कहलाता है, इसी प्रकार संस्कृत में सत्य को ऋत कहते हैं, सत्य का इस से अच्छा लक्षण नहीं किया जा सकता, जो ज्ञान नाप पर ठीक उतरे न कम हो न अधिक, वही ऋत है उसका उलटा अनृत है।

वेद में युद्ध के सधे हुए घोड़ों को मितद्रवः अर्थात् नपे हुए कदम के साथ दौड़ने वाले कहा है, इनको ही अर्वन्तः (शंनों अर्वन्तः शमु सन्तु गावः) कहा गया है यह शब्द भी ऋ धातु से बना है, ऐसा जान पड़ता है कि अरब शब्द भी संस्कृत भाषा से गया है और अरब देश का अर्थ है नाप के साथ चलने वाले घोड़ों का देश, इस समय में सर्वश्रेष्ठ घोड़े अरब के ही कहलाते हैं! संस्कृत में अर्व शब्द का अर्थ घोड़ा है।

अब यह स्पष्ट हो गया कि ऋ धातु का अर्थ है नाप कर चलना।

स्वामी अथवा वैश्य को भी अर्य्य इसीलिये कहते हैं कि दोनों नाप तोल की बात करते हैं।

जब आप मां से लड्डू मांगते हैं तो वह कभी नहीं कहती कितने तोल दूं।

किन्तु वैश्य के पास जाकर जब मिठाई मांगेंगे तो तुरन्त पूछेगा कितनी तोल दूँ।

इसी प्रकार स्वामी भृत्य को वेतन देते समय उसके कार्य को नापता है, इसी लिये वह अर्य्य कहलाता है, स्वामियों में सब से श्रेष्ठ स्वामी ईश्वर है।

जो उसके गुण कर्म स्वभाव अपने अन्दर धारण करे, उसका सच्चा पुत्र हो वही आर्य्य है।

इस लिये निरुक्त में लिखा है "आर्य्यः ईश्वर-पुत्रः" अर्थात् इस संसार में जो भी ईश्वर का सपूत कहलाने योग्य हो जिसका जीवन सब प्रकार से नपा तुला हो, जो ऋतुमय हो, वही आर्य्य है।

क्या ऊंचा शब्द है?

इस की क्या मट्टी पलीद योरोपियन भाष्यकारों ने की।

परन्तु दुःख तो तब होता है, जब हम धरनी के उज्वलतम रत्न जवाहर को अपनी पुस्तक द्वारा इस अविद्या का प्रचार करते हुए पाते हैं, निस्सन्देह जवाहर लाल जी भारत के महामन्त्री हैं परन्तु 'आर्य्य' इस पवित्रतम शब्द पर अत्याचार करने का उनको भी अधिकार नहीं।

क्या इस शब्द की दर्द भरी पुकार उन के कानों तक पहुँचेगी, पर उस सहृदय शिरोमणि से आशा तो यही है, हां कोई मार्ग में ही गला न घोट दे तो, अस्तु कभी पहुंचेगी।

दिव्यजनों की सुमति

वयं देवानां सुमतौ स्याम यजु० ३४।२७ (हम दिव्यजनों की सुमति में रहें)

(ले०—श्री० लाल चन्द जी, मेरठ)

दिव्यजनों की सुमति क्या है यह जानने से पहले हमें, दिव्य जन कैसे होते हैं, यह जानना आवश्यक है। पहली बात तो यह जान लेनी चाहिये कि दिव्यजन मनुष्य हैं कोई मनुष्येतर प्राणी नहीं। साधारणजनों में और उनमें दिव्यता की विशेषता है। दिव्यता क्या है ?

दिव्यता के कारण योग्य ज्ञानी जनों को देव कहा जाता है। देव में विशेष दिव्य गुण हैं। देव प्रकाशक दाता वीर्यत्व वाले खेलों में प्रवीण विजयशाली व्यवहार चतुर आनंदवृत्ति तेजस्वी गति करने वाला प्रभावशाली, लोगों में आन्दोलन करने में सफल ज्ञानी, सशक्त उदार, ऐश्वर्यवान् दीर्घायु, अनुभवी, समर्थ, शुभ मनोवृत्ति से युक्त, स्वतंत्र नित्य प्रसन्न, आनंदित तथा आनन्द देने वाला, कार्य कुशलयोग्य, क्रियाशील, कर्म का मर्म जाननेवाला, पुरुषार्थी, स्वावलंबी, उद्यमी, उत्साही, साहसी, सम्यक्दृष्टिसंयुक्त, मिलकर परस्पर हित करने वाला, योग्य समय में योग्य रीति से योग्य कार्य कर्तव्य क्रम से करनेवाला, महत्वाकांक्षी, ओजस्वी, पराक्रमी, स्थिर, दृढ़, ज्योतिरूप, आदि गुणोंवाला होता है। इन गुणों को दिव्यगुण कहा जाता है। ऐसा दिव्यगुण संयुक्त व्यक्ति नेता होने की क्षमता रखता है, उसका जीवन संयम का होता है। वह अपनी ज्योति में चमकता है और दान की चाह से दमकता है। दिव्यजन यदि समाज से लेता है तो समाज का कई गुना हित भी करता है। दिव्यजन सदा सबको सुमति ही देते रहते हैं। साधारण जन अपनी योग्यतानुसार उनसे सुमति धारण करते हैं। दिव्य मेधासंपन्न अतएव ऐश्वर्यशाली होते हैं, उनमें उदारता होती है उनमें देने का चाव होता है। वे पराए दुःख से द्रवित होते हैं, वे किसी को दुःखी देख नहीं सकते। दुःख का निवारण करना उनका स्वभाव हो जाता है। ऐसे ही सद्गुण आर्य में होते हैं। मुझे तो आर्यत्व और देवत्व में कोई भेद नहीं दीखता। आर्यत्व में श्रेष्ठत्व है और मैं तो समझता हूं देवत्व भी है। ऋषि-दयानन्द भारतीय लोगों को पुनः आर्य बनाना चाहता था। श्रेष्ठ मनुष्य जिसमें आस्तिक बुद्धि और वेद में श्रद्धा है आर्य है, वह अवश्य विजयशील है।

आर्य को अन्तर्मुख तो होना ही होगा, पर वह अपनी उदय भूमि को कैसे देख सकेगा और बिना देखे वह अपनी उदय भूमि को शुद्ध कैसे करेगा। देव भी अपने आप को पूरे तौर पर जानता है, तभी वह दूसरों को भी सम्यक् रूप से जानता है। हममें ऐसी सुबुद्धि हो कि हम सभी मानवों को ठीक ठीक पहचान सकें। इस पहचान के लिए तीनों गुण सत्व-रज तम की अचूक कसौटी है। हम भोजन की रुचि मात्र से ही पहचान सकते हैं कि अमुक व्यक्ति सत्व गुणी है अथवा रजो गुणी है या तमो गुणी है। कर्म-चेष्टा भी जांचने की एक कसौटी है। वैसे तो दान, तप श्रद्धा आदि भावोंसे भी मनुष्य पहचाना जाता है। स्वार्थ भी एक जांच का ढंग है जो जितना अधिक स्वार्थी है उसी मात्रा में वह उतना ही अधिक असुर है। स्वार्थी लोभी होता है उसे दूसरों की उन्नति नहीं भाती। देव दूसरों की उन्नति में सहायक होता है और दूसरों को उन्नत होता देखकर प्रसन्न होता है। जो तत्वज्ञानी है वह देव है वही विद्वान् तथा बुद्धिमान् है।

भगवान् क्रतुवित्तम है कर्म वा कर्म जानने वालों में सर्वश्रेष्ठ है। भगवान् शतक्रतु है भगवान् अनंत कर्म करने वाला है। भगवान् सविता है, सर्वरक्षक है भगवान् वरेण्यम् है सर्वश्रेष्ठ है। भगवान् सत्चित् आनन्द, सत्यं शिवं सुन्दरम् है भगवान् सत्यं शिवम् शाश्वतम् भगवान् सनातन है, शाश्वत है। पर सदाभुवा नित्य सत्य और परम शक्तिशाली है भगवान् सर्वज्ञ है भगवान् सर्व दिव्य गुण संपन्न है, भगवान् सर्वाधार हृदयाधार है, भगवान् सर्वव्यापक है, स्वच्छ है हृदय-विहारी है भगवान् परम उदार है, वृषभ है वह सब पर सुखों की वर्षा करता है भगवान् अमृत आधार

स्वयं अमर सत्ता है निर्विकार निराकार है भगवान् सत्य है अनन्तं है और सबसे महान् ब्रह्म है, सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म है। ओम् भगवान् आपो ज्योतिरसो अमृत ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम् है ओम् भगवान् व्यापक है ज्योतिर्मय है आनन्दरूप है अमृत है सबसे महान् है और सत् चित् आनन्द जीवनदाता दुःखहरण परमानन्दप्रद है। जो उपासक भगवान् के गुण धारण करता है और सबसे सद्व्यवहार करता है तथा सबसे धर्मयुक्त प्रेम बर्ताव करता है और जनता जनार्दन की निःस्वार्थ भाव से तत्परता से सेवा करता है भगवान् उसे स्वीकार कर लेते हैं और भरपूर कर देते हैं ऐसा मनुष्य पार्थ अथवा देव हो जाता है। उसमें मानवता का पूर्ण विकास होता है और वह दिव्य मानव महामानव हो जाता है। यह स्थिति साधन साध्य है पर भगवत्कृपा की अपेक्षा रखती है बिना भगवान् से स्वीकृत हुए किसी को भी देव पद प्राप्त नहीं होता। देव में जो देवत्व अथवा दिव्यता है वह उसे भगवान् से प्राप्त होती है। देवमें सभी दिव्य गुण चरितार्थ होते हैं, वह उदार और विजयशील होता है उसमें दुर्गुण और दुर्व्यसन जिनसे व्यक्ति अथवा समाज का ह्रास होता है देव में नहीं होते, वह तो सूर्य के समान सब में नवजीवन और स्फूर्ति के प्रसार करने में सफल होता है। भगवान् परमदेव है दिव्यजनों में भगवान् के गुण होने के कारण ही वे देव कहे जाते हैं। जो विद्वान् होकर सुपठित और सुशिक्षित होकर ऋतावान् नहीं वह कैसे सुसंस्कृत कहा जा सकता है; केवल सुपठित होना पर्याप्त नहीं, हमारा जीवनव्यवहार नैतिक पवित्र होना चाहिये। ऐसा जीवन ही वैदिकजीवन का सौन्दर्य है।

वेद में कहा है—

स्वस्तिपन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताघ्नता जानता संगमेमहि

ऋ० ५।५१।१५॥

हम लोग सूर्य और चन्द्रमा के सदृश सुख मार्ग के अनुगामी हों और फिर दान करने वाले और नाश न करने वाले विद्वान् के साथ मिलें।

उदारता अहिंसा और ज्ञान, देवत्व और आर्यत्व के गुण हैं जिनमें ये गुण हैं उन्हीं की संगति सत्संगति कहलाती है। मैं वृथा किसी का अपयश फैलाना भी एक दुष्कर्म समझता हूं। हां, सत्य कहना और हित के भाव से कहना चाहे कटु भी हो निन्दा नहीं कहा जा सकता। सत्य वचन भी जहाँ तक हो प्रिय रूप से ही बोले किंतु असत्य कभी न बोले। इस सनातन मर्यादा रूपी धर्म का कभी उल्लंघन न करे। हम किनके पास बैठें, किनका संग करें? उसका उत्तर वेद ने दिया है कि हम उदारचरित विशालहृदय ज्ञानीजनों के पास ही बैठें और उनकी दी हुई सुमति से अपना सदा हित करें।

ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां
मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य
यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥

ऋ० ७।३५।१५॥

जो यज्ञ करने वाले उत्तम विद्वानों में भी मान और सत्कार करने योग्य हैं, जो मननशील, विद्वान् का सत्संग करने वाले दीर्घायु जीवनयुक्त वर्चसयुक्त अमर यज्ञ प्राप्त किये हुए हैं, जो ऋत के तत्व को जानने वाले हैं, वे आज अति उत्तम ज्ञान का उपदेश करें। हे विद्वज्जनों, आप लोग हमें सदा कल्याणकारी उपायों से सुरक्षित रखें।

दिव्यजन ज्ञानी होने से तथा ऋत और सत्य को धारण करने से तथा अन्य मननशील विद्वानों के सत्संग अथवा जीवन विकसित करते हुए अपने जीवन में यज्ञरूप सर्वहित का ही अनुष्ठान करते हैं, वे ही अपने अनुभव से ज्ञान विज्ञान का रहस्य जानते हुए दूसरों को बहुकीर्तित बहु प्रशंसित और अत्यन्त हितकारी सर्वोत्तम ज्ञान का उपदेश कर सकते हैं और साधारणजनों को दुर्व्यसन दुराचार आदि से सुरक्षित रखने में समर्थ होते हैं। ऐसे धर्मात्मा और महात्मा देव हैं, वे उदारतासे सबके कल्याण निमित्त सदुपदेश करके सबका परम हित किया करते हैं।

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु
विश्वतो ऽदब्धासो ऽअपरीतास ऽउद्भिदः।
देवा नो यथा सदमिद्वृधेऽअसन्न-
प्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे॥

यजु० २५।१४॥

कल्याणकारी अबाधित असीम विविध सुखोत्पादक शुभ संकल्प हमें सब ओर से इस प्रकार प्राप्त होवें, जिस से दिव्यशक्तियाँ सदैव हमारी वृद्धि के प्रतिदिन प्रमाद रहित होकर, रक्षक हो सकें।

हमारे अन्दर उत्तमोत्तम कार्य करने की भावना जागृत हो और वह शिवसंकल्प में दृढ़ होकर श्रेष्ठ तम कर्म यज्ञ में संपन्न हो। हमारे यज्ञ विघ्नबाधाओं रहित हों हमें दिव्य शक्तियों की निरंतर सुरक्षा प्राप्त होवे। हमारी सद् भावनादिव्य कर्म श्रेष्ठतम कर्म जो सर्व हित का कार्य यज्ञ है, उस में परिणत हो और हमारे सभी, सर्वहितकारी और मंगलकारी कार्य सुसंपन्न होवें। यही दिव्य सुमति है कि हम मंगलकारी कार्यों को परम मंगलमय परम कारुणिक सर्वशक्तिमान् के आश्रम में पूरी निष्ठा से करते हुए सुफल हों और हमारा जीवन पूर्णतया विकसित होवे। दिव्यजनों द्वारा ही दिव्य सुमति मिला करती है।

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां
देवानाꣳ रातिरभि नो निवर्ततम् ।
देवानाꣳ सख्यमुपसेदिमा वयं
देवा न ऽआयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥

यजु० २५। १५॥

दिव्यजनों की कल्याणकारिणीकी सुमति हमें सब प्रकार से प्राप्त हो और सरल सन्मार्ग से चलने वाले उदार चरित सज्जनों को दिव्य ज्ञान और दिव्य ऐश्वर्य के दान हमें सब ओर से प्राप्त हों। हमें दिव्यजनों की मित्रता प्राप्त हो, दिव्य दीर्घायु के लिए हमें उत्तम शिक्षा दे, जिस से हमारी सर्वाङ्ग उन्नति हो।

दिव्यजनों की सुमति के अनुसार आपस का व्यवहार तथा अपनी जीवनचर्या ठीक करने से सब का अभ्युदय और कल्याण निश्चित होता है। दिव्यजन सदा नैतिकता की आपस के प्रेम व्यवहार तथा धर्म मर्यादाओं के पालन की और सीधे सरल मार्ग से चलने तथा निष्कपट और निस्स्वार्थ भाव से प्रेम निभाने की ही सुमति दिया करते हैं। इस सुमति में सब का पूर्ण हित है। जो पाखंडी धर्म ध्वजी अपने स्वार्थ के लिए भोले भाले लोगों को फुसलाते हैं वे तो उन्हें धर्मभ्रष्ट बनाते हैं। धन्य हैं ऋषि दयानन्द, जिन्हों ने पाखंड का भंडा फोड़ा और सत्य सनातन वैदिक धर्म का पुनः प्रसार किया। हमें दिव्य जनों को जानना चाहिये। अब भी भले धर्मात्मा लोग हैं, जो वैदिकजीवन चर्या कर रहे हैं और अपनी उन्नति करते हुए जो लोग उनके सम्पर्क में आते हैं उनकी उन्नति में सहायता दे रहे हैं, उन में वास्तव में देवत्व चरितार्थ हो रहा है. वेही सच्चे आर्य हैं, जिन के द्वारा आर्यत्व का फैलाव होगा। जीवन से जीवन फैलता है, अग्नि से अग्नि जलती है, ज्ञानी से ज्ञान फैलता है, सदाचारी ही सत्य का प्रसार कर सकता है। ऋतावान मनुष्य ही ऋत का नैतिकता का अपने सत्याचरण और प्रेम व्यवहार द्वारा प्रचार कर सकता है। प्रेम के सिखाने के लिये सच्चे प्रेमों की आवश्यकता है। मित्रता और सौहार्द भी वही सिखा सकता है, जिसने [illegible] मित्रता निभाई हो। जो स्वयं पवित्र है, वह ही लोगों को पवित्र कर सकेगा।

वेद की शिक्षा आज जीवन में लाने की अत्यन्त आवश्यकता है। इसी प्रकार वेद की निधि की सुरक्षा होगी और वह निधि बढ़ेगी। वेद की शिक्षा सारे विश्व के मानवों के लिये है। वेद में दिव्य मनुष्य बनाने की विधि है। जैसा सुन्दर और श्रेष्ठकर्म और शुद्ध व्यवहार तथा परिणामतः सुन्दर जीवन वेद के अनुसार बन सकता है, वैसा अन्य मतों में देखने में नहीं आया।

बौद्धमत और ईसाईमत तथा जैनमत, में वास्तव में उन समयों के समाज के ढंग की प्रतिक्रियाएं हैं जैसे कि महाभारत के बाद की जीवन चर्या की प्रतिक्रिया उपनिषद् हुए थे। ऋषि दयानन्द का मानवों को सदा उपकार मानना चाहिये कि 'जो उन्होंने जीवन शक्ति अभ्युदय के सच्चे स्रोत वेद भगवान् का पुनः भारतीयों को पता दिया। वेद में दिव्य जीवन की प्रेरणाएं अनेकों हैं तथा दिव्यता के धारण करने और परमदेव प्रभु से निरंतर योग अथवा मेल से कैसे रहा जाय और किस प्रकार जीवन में सर्वांग उन्नति हो, इसका निरूपण जैसा अच्छा वेद में हुआ है ऐसा कहीं और देखने में नहीं आया। महर्षि दयानन्द ने भारतीयों के उद्धार के लिए उनमें नव जीवन नव उल्लास नव साहस और नया चाव तथा जीवन के

विकास के लिए भारतीयों में स्फूर्ति पैदा करने के लिए ही अपने श्रेष्ठ मानव समाज के सदस्यों के लिए वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना परम धर्म रखा था। आर्य श्रेष्ठ मानव है, आर्य वह मनुष्य है जिसमें भगवान् में आस्था है, वेद में श्रद्धा है और अपने आप में विश्वास है, ऐसे उत्साही और सत् लग्न वाले लोगों को संगठित करके आर्य समाज नाम रखा गया था। आर्य समाज एक आन्दोलन है जो कि भद्रजनों के संगठन द्वारा चलाया जा रहा है। प्रत्येक आर्य अपना दायित्व समझे स्वयं भगवान् के दिव्य गुण धारण करके श्रेष्ठ बने पवित्र बने और सशक्त बने तथा दूसरों को आर्य बनने की प्रेरणा करे तो वेद का निम्न वाक्य अवश्य चरितार्थ होगा और सबका कल्याण होगा तथा सच्चे ऐश्वर्य संपन्न होंगे—

मनुर्भव जनया दैव्यम् जनम् ॥

ऋ १०।५२।६

मनुष्य बन, और दिव्य सन्तान उत्पन्न कर॥

सम्पादकीय

वेदवाणी का सप्तम वर्ष

वेदवाणी का उद्देश्य

वेदवाणी का अब षष्ठ वर्ष समाप्त हो रहा है। ट्रस्ट द्वारा संचालन का चतुर्थ वर्ष। "वेदवाणी" के पाठकों को विदित है कि, वेदवाणी का उद्देश्य वा लक्ष्य यह है कि वेदविषयक अनेकविध ज्ञानवृद्धि द्वारा जनता में उत्कट आध्यात्मिक भावनाओं तथा वेदशास्त्र के ऊँचे साहित्य के प्रति श्रद्धा तथा विविध वासनाओं से संतप्त संसार को, विशेष कर भारतीयों को शान्ति वा आत्मतुष्टि प्राप्त हो, तथा वे ऋषि मुनि-महापुरुषों द्वारा समय २ पर उद्बुद्ध की गई प्रेरणाओं को देखें, सुनें और समझ सकें। प्राचीन भारत का सच्चा दर्शन उन्हें हो सके, जो बिना वेद-शास्त्रका ज्ञान प्राप्त किये नहीं हो सकता। छल-छिद्र असत्यतापूर्ण, वासनाओं से पराभूत, स्वार्थ तत्पर-परवञ्चनारत-लोलुप-सिनेमा बनावट कृत्रिमता दिखावा आदि में एकदम निमग्न-यह संसार वेदशास्त्र प्रदर्शित ऊँची भावनाओं से कितना दूर हो चुका है, और अभी भी बड़ी तीव्र गति से पतन की ओर जा रहा है, यह प्रत्यक्ष है। जिसके हटाने के लिये अनेक महापुरुषों की प्रेरणायें-चेतावनियाँ-निर्देश अनेक संस्थाओं के सत्प्रयत्न कभी २ व्यर्थ से सिद्ध होते भासने लगते हैं। निराशा के इन मेघों के प्रचण्डरूप धारण कर लेने पर भी धीर-पुरुष अपना श्रेयमार्ग का आश्रय नहीं छोड़ते और कर्त्तव्य समझ कर यथाशक्ति श्रेयमार्ग में तत्पर रहने का ही पूर्ण यत्न करते रहते हैं। तथा जहां तक उन्हें मार्ग सूझता है, जनता के हितार्थ अपने अनुभव व ज्ञान को प्रकाशित करते रहते हैं। यह जानते हुये कि संसार में एक साथ पूर्णतया शतप्रतिशत धर्म (सत्य अहिंसादि सार्वभौमिक नियम) न सदा रहा, न रह सकता है। कभी शुद्धात्माओं की प्रधानता रहती है, कभी पापात्माओं की। बुराई और भलाई का यह देवासुर संग्राम सदा सर्वकाल में व्यक्ति और समाज के भीतर चलता ही रहता है। दैवी शक्तियाँ जब निर्बल होकर आसुरी शक्तियों के आगे शस्त्र डाल देती हैं झुक जाती हैं, तब पुनः आत्मिक बलकी प्रधानता होने पर आसुरी शक्तियों वा आसुरी भावनाओं को दैवी शक्तियों वा भावनाओं से पराभूत होकर भागना पड़ता है, चाहे वह थोड़े काल के लिये हो या अधिक काल के लिये, यह बात दूसरी है, पर यह चक्र चलता ही रहता है।

इस देवासुर संग्राम में विजयी होकर जिन्हें अभिमान नहीं होता, पराजित होकर जो उत्साह नहीं छोड़ बैठते, वही धीर कहाते हैं। प्रतिदिन आत्मा और मन के सामने मानव की अपनी कमियों-त्रुटियों का आना उन्नति का प्रथम उपाय है। यह निरन्तर आत्मचिन्तन द्वारा हो सकता है। एकान्त स्वच्छ शुद्ध वातावरण परिस्थिति में मन के सब चिंता विक्षेप दूर कर परम-पिता की गोद में बैठकर (अपने को अनुभव कर) अपनी कमियों त्रुटियों भूलों पर विचार करना उन्नति चाहने वाले प्रत्येक मानव का प्रथम कर्त्तव्य है। स्वाध्याय इसका दूसरा उपाय है। सत्संगति भी स्वाध्याय का एक रूप है, यदि उसके द्वारा निरन्तर ज्ञान वृद्धि और त्रुटियों

को दूर करने की क्षमता, निरन्तर अनुभव, और ज्ञान होता रहे।

स्वाध्याय में मुनियों के वचन वा शास्त्र ही मुख्यतः उपादेय हैं। वेद उन ऋषियों मुनियों द्वारा बनाये शास्त्रों का भी चक्षुः है; ऐसा भारतीय प्राचीन समस्त साहित्य एक स्वरसे मानता है। तीसरा स्थान स्वाध्याय के लिये उन पत्र पत्रिकाओं का हो सकता है, जिनका लक्ष्य जनता में आध्यात्मिक भावनाओं का प्रसार करना है, तथा वेदसम्बन्धी खोजपूर्ण लेखों द्वारा जनता में सात्विक पवित्र ऊँचे भाव पहुँचाना जिन का मुख्य उद्देश्य है, और जिन का लक्ष्य निरीह निरपेक्ष ऋषियों मुनियों द्वाराग्रन्थों में केवल मानवहित की दृष्टि से प्रतिपादित उनके अमृतमय विचारों को जनता में बराबर प्रकाशित करना है। जो विचार किसी वर्गविशेष की दृष्टि से ही नहीं अपितु जाति-देश-आयु-संप्रदाय आदिके सभी व्यक्तियों को एक जैसा ज्ञान वा प्रेरणा देने वाले हों।

जिन पत्र पत्रिकाओं का अपनी वा अपने किसी सम्बन्धी की जीविका चलाना मात्र लक्ष्य होता है; वा किसी पार्टी वा वर्ग विशेष के लिये प्रापेगेण्डा (मिथ्या उचितानुचित प्रचार) करना अभीष्ट होता है या किसी संस्था वा व्यक्तिविशेष की (सच्ची झूठी उचितानुचित का भेद न करते हुये) सब प्रकार की प्रशंसा-कीर्ति करना मात्र लक्ष्य रहता है। गन्दी कहानियों वा गन्दे साहित्यद्वारा नवयुवक वा नवयुवतियों को कुमार्ग में जाने के लिये सहायता वा प्रेरणा देने वाले पत्रों की आजकल इतनी भरमार है कि जिसकी कोई सीमा नहीं। ऐसी परिस्थिति का प्रतिरोध करना भी भारतीय संस्कृति सभ्यता और साहित्य की दृष्टि से परमावश्यक है, ऐसा प्रत्येक विचारशील नेता, विद्वान् वा संस्था, प्रत्येक सात्विक भारतीय अनुभव करता है।

ट्रस्ट द्वारा वेदवाणी का प्रकाशन

इसी लक्ष्य को लेकर श्रीरामलाल कपूर ट्रस्ट के संचालकों ने "वेदवाणी" मासिक पत्रिका का आरम्भ किया, जिसका यह षष्ठ वर्ष समाप्त हो रहा है। ट्रस्ट द्वारा संचालन में चतुर्थ वर्ष। इसमें ट्रस्ट ने अभीतक धन का कुछ भी लाभ प्राप्त किया हो सो नहीं। चारों वर्ष घाटा अवश्य डाला है। चाहे इस अन्तिम वर्ष में घाटा पहले की अपेक्षा कम है, पर घाटा अभी भी है अवश्य। कारण ग्राहक-संख्या की कमी ही कहा जा सकता है। यदि कोई कहे कि लोगों की रुचि के अनुकूल लेख छापो; ग्राहक अपने आप बढ़ेंगे। यह बात तो ठीक है। गन्दे सिनेमा आदि के चित्र छाप २ कर दैनिक पत्र वा पत्रिकायें बिना घाटे के चल ही तो रही हैं; इतना ही नहीं लाखों रुपये भी कमाती हैं और कमा भी रही हैं। वेदवाणी का यह लक्ष्य नहीं। लक्ष्य से च्युत होना तो मृत्यु समान है, अतः कुछ भी हो वेदवाणी अपने लक्ष्य पर बराबर चलती रहेगी। अपना कर्तव्य पालने में तत्पर रहेगी। अब धार्मिक सात्विक अर्थात् आध्यात्मिक भावनाओं का देश में प्रचार हो; भ्रष्टाचार और अकर्मण्यता देशवासियों से दूर हो; संसार सुखी हो, शान्त हो; ऐसा चाहने वाले प्रत्येक भारतीय विद्वान् स्त्री पुरुष देश की प्रत्येक धार्मिक संस्था आदि (सनातनधर्म-कांग्रेस-हिन्दूसभा-जनसंघ आदि) का परम कर्तव्य है कि वे ऐसे पत्र और पत्रिकाओं को प्रश्रय दें। प्रत्येक आर्यसमाज का तो मुख्य कर्तव्य है कि वह वेदवाणी तथा इस प्रकार के अन्य पत्र पत्रिकाएँ अपने यहाँ अवश्य मँगाये, और अपने नगर ग्राम-मुहल्ले-स्कूल-कन्या विद्यालय-पुस्तकालय में मँगवाने की प्रेरणा करें, ताकि देशवासियों के सामने पढ़ते समय वेदशास्त्र सम्बन्धी आध्यात्मिक तथा भारतीय संस्कृति सभ्यता साहित्य का दर्शन कराने वाले लेख आवें और उनसे जनता में पवित्रतापूर्ण विचारों का अधिक से अधिक प्रसार हो। वेदवाणी इसके लिये स्थायी सामग्री उपस्थित करती है।

इस प्रकार के अनेकों पत्र पत्रिकाएँ निकलने चाहिए, जिससे देश में भ्रष्टाचार आदि दोषों का निवारण हो सके। और देश आगे बढ़े।

वेदवाणी की सफलता वा कार्य

यह ठीक है कि मनुष्य लक्ष्य वा उद्देश्य सदा ऊँचा रखता है; रखना ही चाहिए, यह स्वाभाविक भी है। उसकी सफलता में प्रायः करके कुछ न कुछ कमी अवश्य प्रतीत होती रहती है। सो यदि आर्थिक दृष्टि से सफलता देखी जावे, तब तो वेदवाणी उसमें अनुत्तीर्ण ही कही जावेगी। हाँ, जिस लक्ष्य से यह आरम्भ की गई है, उसकी पूर्ति में इसने कहां तक पग उठाया अर्थात् लेखों द्वारा जनता में कहां तक सात्विक भावनाएँ लाने वा उनकी प्रेरणा देने में प्रयत्न किया; यदि यह देखा जावे तो वेदवाणी के कार्य में पर्याप्त सफलता प्रतीत होती है। गत चार वर्षों (ट्रस्ट द्वारा संचालित होने पर) में वेदवाणी में तृतीय वर्ष में लगभग १०० सौ लेख प्रकाशित हुए। चतुर्थ वर्ष में १०८, पंचम वर्ष में १२६, षष्ठ वर्ष में ११४। इनमें ५५ लेख ऐसे थे जिन्हें हम केवल आध्यात्मिक लेख कह सकते हैं। इनमें ३५-४० तो निःसन्देह बहुत ऊँची भावनाओं के लेख

थे, जिन्हें हम उच्च कोटि के कह सकते हैं। शेष १५।२० अध्यात्म चिन्तन में अवश्य ही बहुत सहायक हैं। शेष लगभग ५० लेख ऋषि के शब्दों में वेदमन्त्रों द्वारा पवित्र भावनाओं और ऊँची आध्यात्मिक भावनाओं के लेख हैं। यद्यपि उन्हें साधारण पढ़े लिखे भूल से साधारण धार्मिक लेख मान बैठते हैं। हमारी दृष्टि में वेदमन्त्रों के आधार पर लिखे ऐसे लेख वास्तविक आध्यात्मिकता से भरपूर हैं। हमारी दृष्टि में आध्यात्मिक वह है, जिसके द्वारा आत्मा की अनेकविध कमियों त्रुटियों वा भूलों का परिहार हो सके। दूसरे शब्दों में अहिंसा-सत्य-आदि सार्वभौमिक धर्म के अङ्गों में दृढ सङ्कल्प हो कर सफल हो सके। ऐसे विचारों वा प्रेरणाओं को ही हम आध्यात्मिक समझते हैं। यह विदित रहे कि इन आध्यात्मिक प्रेरणाओं वा भावनाओं का स्रोत वेद है अर्थात् पवित्र श्रुतिगत मन्त्र ही हैं। उपनिषदादि उनके पीछे हैं; शेष वैदिक साहित्य इनके पीछे ही है। मनुष्य कृत रचनाओं में यह बात कदापि नहीं आ सकती, सो इस विषय में सब मिलाकर ९८ लेख हैं। वेद सम्बन्धी उत्कृष्ट साहित्य के लेख ६७ गत चार वर्षों में छपे हैं, इन में ४० लेख उच्च कोटि के कहे जा सकते हैं। जिनके पढ़ने से वेद शास्त्र सम्बन्धी उत्कृष्ट ज्ञान और वेद शास्त्र का गौरवपूर्ण परिचय पाठकों को प्राप्त होता है। उन्हें पता लग जाता है कि वेद शास्त्रों में जीवन की अनेकविध समस्याओं का हल कैसा और कितना सुगम रीति से बताया गया है। खोज या रिसर्च अर्थात् वेदशास्त्रों के विषय में जिन २ विद्वानों ने अपना जीवन लगाकर जिन २ विषयों की विशेष योग्यता प्राप्त की है, उनके द्वारा वेदशास्त्र सम्बन्धी ऐसे अनेक लेख खोजपूर्ण सामग्री के रूप में 'वेदवाणी' की एक बड़ी भारी विशेषता है। विशेष कर विदेशी विद्वानों द्वारा फैली वा फैलाई गई अनेक विध मिथ्या भ्रान्तियां वा धारणाएँ इन लेखों से दूर होती हैं। जनता में फैले अनेकविध अज्ञान (भ्रमों) का निराकरण होता है। इतना ही नहीं अनेक विद्वानों के मन में बैठी मिथ्या भ्रान्तियां इन लेखों से दूर होती हैं। उन्हें वेदशास्त्र सम्बन्धी वास्तविक स्थिति का ज्ञान होता है। जिससे वे वर्षों से अनार्ष संस्थाओं में अनार्ष पद्धति से और अनार्ष ग्रंथ पढ़कर वेदशास्त्र के वास्तविक ज्ञान से कोसों दूर पहुँच चुके होते हैं। ऐसे लेखों को पढ़कर उनकी धारणाएँ एकदम बदलती हुई देखी जाती हैं, इस खोज विषय के ६७ लेख वेदवाणी के चार वर्षों में छपे, जो कम कार्य नहीं है। जो उक्त लेखों के विद्वान् लेखकों की असीम कृपा से हम जनता के सामने रख सके हैं। यह काम बड़ी २ सोसाइटियां अनेक विद्वानों द्वारा सहस्रों रुपया व्यय करके भी इतना सुन्दर कार्य नहीं कर पातीं, जो अनायास एक ही जगह ऐसे लेख की सामग्री पाकर विज्ञ पाठक तथा विद्वान्—लोग आश्चर्य-चकित हो रहे हैं।

इस विषय में यदि पाठक सहयोग दें और प्रबलता पूर्वक ऐसे लेखों की मांग करें तो हम इस विषय में और भी अधिक तथा प्रौढ़ सामग्री अपने पाठकों को दे सकते हैं। कभी २ हमारे पास वेदवाणी के किन्हीं २ पाठकों के पत्र आते हैं कि लेख वेदवाणी में कठिन हैं, हमें समझ में नहीं आते, ऐसे सज्जनों का भी हमें ध्यान रखना पड़ता है। उनकी दृष्टि से सुगम सुबोध, साथ ही ऊँचे भी, लेख हम वेदवाणी में लगभग दो वर्ष से दे रहे हैं। ऐसे लेखों की गत दो वर्षों में पर्याप्त संख्या है।

'वेदवाणी' की वेद सम्बन्धी धारणाएँ ऋषि दयानन्द प्रदर्शित वैदिक धारणाएँ हैं। मानव हित की दृष्टि से वेद प्रत्येक के लिये हितकारी है, यह हमारा निश्चय है। अतः मत-मतान्तरों के झगड़ों में न पड़ते हुए हमें वेद सम्बन्धी सर्वमान्य सर्वहितकारी भावनाओं को जनता के सामने रखना है। प्रसंगतः किसी के विचारों का प्रत्याख्यान उस से हो, तो हम विवश हैं। सत्य कहने से असत्य का प्रतिवाद वा प्रत्याख्यान अवश्य होता है, इसे कौन हटा सकता है।

वैदिकधर्म प्रतिपादक लेख गत चार वर्षों में ६२ छपे। जिनमें अधिकांश में लेख ऊँची कोटि के कहे जा सकते हैं। आर्यसमाजों को ऐसे लेखों से बहुत लाभ उठाना चाहिए। नौ लेख उत्कृष्ट वैदिकराजनीति के भी वेदवाणी में छपे, जो प्रायः सभी अत्यन्त उपादेय और मननीय हैं। जो समझते हैं कि वेद में राजनीति नहीं उन्हें ये लेख विशेष रूप से पढ़ने चाहिएँ। दार्शनिक लेख हमें बहुत प्राप्त होते हैं; हो सकते हैं। जनता की कठिनता के भय से हम केवल बारह लेख ही छाप सके हैं। संस्कृत बड़ी कठिन है, इस हौव्वा को उतारने में भी वेदवाणी ने कुछ लेख, सूचनाएँ आदि जनता तक पहुँचाई हैं, जिनसे प्रेरित हो कर भारत के प्रायः सभी प्रांतों से अनेक सज्जनों ने पत्रों द्वारा तथा स्वयं मद्रास, पटना, पञ्जाब, राजस्थान, देहली, आदि से काशी पहुँच कर लाभ उठाया और इस समय भी उठा रहे हैं। जिनमें प्रायः एम० ए०, बी० ए०, वकील, इंजनीयर, डाक्टर, डिप्टीकलक्टर, एम० ए० पी० एच० डी०, शास्त्री, साहित्याचार्य आदि थे और हैं।

इस विषय में भी वेदवाणी में गत तीन वर्षों में २४ लेख तथा सूचना आदि छपीं, जिन से जनता को बहुत लाभ हुआ। चाहे वह लाभ व्यक्त रूप में न हो कर अव्यक्त ही रहा हो। अव्यक्त लाभ निस्सन्देह अधिक महत्व का है।

सम्पादकीय लेख निस्सन्देह जितने होने चाहिये उतने नहीं रहे। चाहते हुए भी इस में अनिवार्य कारणों से बाधा रही। केवल लगभग अठारह ही रहे। आगे इस विषय पर विशेष यत्न किया जायगा। इस बीच में हमने वेदवाणी द्वारा ऋग्वेदभाष्य के २६४ पृष्ठ बढ़िया २८ पौण्ड कागज पर ऋषि दयानन्द कृत ऋग्वेदभाष्य की संस्कृत का सुन्दर सुबोध अनुवादयुक्त ग्रन्थ वेदवाणी के पाठकों को दिया है, जो उनके लिये स्थायी सम्पत्ति के रूप में कहा जा सकता है। सामान्य लेख वा सूचना पृथक् हैं।

इस प्रकार हमने वेदवाणी में गत ४ वर्षों में ४४८ लेख दिये। जिनमें ९८ लेख आध्यात्मिक तथा धार्मिक रहे, ८० लेख वेद सम्बन्धी उत्कृष्ट साहित्य के रहे। ८५ लेख वेदशास्त्र सम्बन्धी खोज(रिसर्च)पूर्ण रहे, शेष का विवरण ऊपर देखें।

हम अभी सन्तुष्ट नहीं

इतने पर भी हम अभी संतुष्ट नहीं। हम सन्तुष्ट तब होंगे, जब वेदवाणी में एक पैसे का भी घाटा न डालना पड़े। और योग्य लेखकों को खोजपूर्ण लेखों के लिये हम आवश्यक पारिश्रमिक की व्यवस्था भी कर सकें, और सभी योग्य विद्वान् हमें सहयोग देते रहें। जिनके लेख उच्च कोटि के होते हैं, वे प्रायः लेख अत्यन्त कठिनाई से भेजते हैं। कुछ एक लेखकों का प्रतिदिन का काम ही लेख लिखना होता है। जो कभी यह भी नहीं देखते कि कहीं हम प्रतिदिन पिष्ट पेषण (पीसे का पीसना) ही तो नहीं कर रहे, जनता को हम नई बात कौनसी दे रहे हैं। ऐसे लेख सुगमता से मिलते हैं। जो विद्वान् हैं वे नून तेल वा संस्थाओं के लिये चन्दा एकत्र करने, वाह वाह प्राप्ति में यत्नशील रहते हैं अथवा वेद को छोड़कर इधर-उधर के साहित्य में लगे रहने आदि से ही अवकाश नहीं मिलता। जिन्हें मिलता है उनके पास या तो पुस्तकें ही नहीं होतीं, या उनका स्वाध्याय वा अध्ययन गहरा नहीं होता, शास्त्र के मर्म तक नहीं पहुँच पाते। वेद का ऊँचा साहित्य कैसे बढ़े। भारतीय संस्कृति से अनभिज्ञ अङ्गरेजी विचार के स्कालरों की मूलधारणा में बहुत भारी त्रुटि है। इस से उन के विचारों से अधिक लाभ जनता को नहीं पहुँच पाता।

यह सब होने पर भी हम निराश नहीं। शनैः शनैः दृढ भावना से भिन्न विचार वालों के विचार भी जनता के समक्ष आने चाहिये, ताकि उनकी उपादेयता वा अनुपादेयता का विचार तो हो सके। हमें किसी के विचारों पर आघात नहीं करना है। वैदिक संस्कृति सभ्यता वा आर्य परम्परा के विरोधी विचारों का हमें समय समय पर प्रेम पूर्वक प्रतिवाद तो करते ही रहना है। इसमें कोई २ दृढ होते हुए भी मूल धारणा में कमी के कारण तिलमिला भी उठते हैं, हमें इसकी चिन्ता नहीं। देश वा आर्य समाज में ऊँचा साहित्य कैसे बढ़े, यह एक बहुत ही विचारणीय समस्या है।

लेखकों का धन्यवाद

वेदवाणी के सभी लेखकों के प्रति हम अपना आभार प्रदर्शित करते हैं। वेदवाणी के पाठक निस्सन्देह उनके ऋणी हैं।

गत छठे वर्ष के वेदाङ्क में "सब विद्याओं का आदि स्रोत वेद है" इस विषय पर आर्यसमाज के प्रसिद्ध योग्य विद्वान् रिसर्च स्कालर श्री पं० परमानन्द जी शास्त्री एम० ए० का उक्त लेख बहुत ही योग्यता पूर्ण लिखा गया था, जिनमें बहुत कुछ बातें उत्कृष्टतापूर्ण ढंग से पाठकों के सामने उन्होंने रक्खी थीं। वह लेख बहुत उपादेय था। श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज का लेख भी विशेष विचारणीय था, आर्य सार्वदेशिक सभा को ऐसे विषयों पर विद्वानों द्वारा विचार करवाना चाहिये। हम उपर्युक्त दोनों महानुभावों के कृतज्ञ हैं। इनका नाम पिछले वर्ष वेदाङ्क में असावधानता से लिखना रह गया था। "वेद का अर्थ यज्ञ परक ही नहीं" इस विषय पर काशी के प्रमुख विद्वान् काशी पण्डितसभा के अध्यक्ष श्री पं० गोपालशास्त्री दर्शनकेसरी का यह लेख बहुत योग्यतापूर्ण और वेद के विद्वानों के लिये माननीय रहा। इस लेख को कई एक सज्जनों ने पुनः छपवा कर बांटा है, जिसकी स्वीकृति उन्होंने लेखक महोदय तथा वेदवाणी से प्राप्त की॥

गत षष्ठ वर्ष के वेदाङ्क के लेखकों के प्रति अपनी कृतज्ञता हम उक्त वेदाङ्क में ही प्रकट कर चुके हैं। शेष गत वर्ष के लेखकों में सर्व श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जी दण्डी—पूज्य स्वामी स्वतन्त्रतानन्द जी—पण्डित धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति—पं० भगवद्दत्त जी रिसर्च स्कालर—पं० बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार—पं० भीमसेन जी विद्यालङ्कार—पं० हरिदत्त जी शास्त्री—श्री पन्नालाल जी परिहार—डा० वासुदेव शरण जी

अग्रवाल एम० ए०—डा० मंगल देव जी शास्त्री—महात्मा आनन्द स्वामी जी—पं० जगदीश चन्द्र जी शास्त्री—पं० उदयवीर जी शास्त्री—पं० वैद्यनाथ जी शास्त्री, श्री प्रो० विन्ध्यवासिनी प्रसाद जी, श्री लालचन्द्र जी, मेरठ—पं० श्यामविहारी लाल जी वानप्रस्थ—प्रो० विष्णुदयाल जी, मारीशस आदि विद्वानों के हम कृतज्ञ हैं, जिन्होंने गत वर्ष वेदाङ्क के पश्चात् वेदवाणी में भी लेख भेजे।

वेदवाणी के सहायक

सब में बड़े सहायक तो वे महानुभाव हैं जिन्होंने इस वर्ष "वेदवाणी" के ग्राहक बनाये। उनके नाम निम्न प्रकार है। इस वर्ष इन महानुभावों ने वेदवाणी के ग्राहक बनाने में विशेष कष्ट उठाया, जहाँ तक हमें ज्ञात है। जिन्हें हम नहीं जान पाये और जिन्होंने वेदवाणी के ग्राहक बनाये, उन सब का हम हृदय से धन्यवाद करते हैं॥

दानी महानुभाव

'वेदवाणी' के लिये इस वर्ष निम्न महानुभावों ने दान देने की कृपा की—

१०१) श्रीमती विद्यावती जी धर्मपत्नी श्री बाबु हंसराज जी कपूर, रामलाल कपूर एण्ड सन्स, अमृतसर।

१०१) श्री लाला राजाराम जी मेहरा, अमृतसर (अत्यन्त शोक से लिखना पड़ता है कि यह धार्मिक आर्य पुरुष अब इस संसार में नहीं रहे)।

२०) श्री मदनलाल जी कपूर, तथा श्रीमती शुक्ला देवी जी, लुधियाना।

२१) श्री डा० सद्गोपाल जी एम० एस-सी० रिसर्च स्कालर, देहरादून।

२८) श्री महाशय मामराज जी, खतौली (वर्तमान रायपुर)।

६) श्री भक्त छत्रसिंह जी साथा, जिला-अलीगढ़।

२६९) जोड़

इन सब महानुभावों को हम वेदवाणी की ओर से धन्यवाद देते हैं और आशा करते हैं कि ये तथा अन्य महानुभाव "वेदवाणी" को अवश्य सहायता प्रदान करने की कृपा करेंगे जिससे वेद सम्बन्धी साहित्यक विचार, आध्यात्मिक प्रेरणायें जीवन को ऊँचा उठाने वाले लेखों द्वारा देश में पवित्रता का संचार वा विस्तार अधिक से अधिक मात्रा में हो सके और वैदिक धर्म का सच्चा स्वरूप संसार के सामने आ सके, मिथ्या भ्रान्तियों का नाश होकर सत्य अर्थ का प्रकाश हो सके।

वेदवाणी की सहायता कैसे कर सकते हैं?

(१) अपने परिवार में पुत्र-पुत्रियों बहिनों भाइयों माता-पिता-बन्धुओं को सात्विक विचार देने के लिये ऐसी पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ने के लिये अवश्य देवें।

(२) अपने ग्राम मुहल्ले अड़ोस पड़ोस के वातावरण को शुद्ध करने के लिये उन्हें ऐसी मासिक पत्रिकायें मँगवाने की प्रेरणा करें और जहाँ अत्यन्त आवश्यक समझें वहाँ स्वयं भी मँगवाकर देवें अथवा मुहल्ले मुहल्ले का संगठन हो और उनके द्वारा मँगवाई जावें।

(३) ग्राम में एक, नगर में अनेक वाचनालय वा पुस्तकालय रहें, उनमें मँगावें ऐसा प्रयत्न करें, ताकि ऐसे विचार सब तक पहुँचें।

(४) नगर या ग्राम के समर्थ व्यक्तियों को स्वयं चाहिये, वा आप उन्हें प्रेरणा करें, कि वे ऐसे पत्र-पत्रिकाओं को मँगावे और पत्र पाठकों को पढ़ने को देवें।

(५) नगर वा ग्राम की प्रत्येक संस्था विद्यालय स्कूल कालेज आदि, चाहे वे पुत्रों की हों या पुत्रियों की, उनमें कोई न कोई सात्विक पत्र-पत्रिका अवश्य आनी चाहिये।

(६) समर्थ सहृदय—दानशील सज्जन, असमर्थ छात्र-छात्राओं पुत्र वा पुत्रियों की संस्थाओं पुस्तकालयों वाचनालयों में अपने पास से शुल्क देकर धार्मिक तथा सामाजिक पत्र-पत्रिकायें मँगा देने की व्यवस्था करें।

ये बहुत उपयोगी दान है। साम्प्रदायिक भावना के नाश भ्रष्टाचार से घृणा, अनुशासन का शुद्ध स्वरूप, भारत के युवक-युवति वर्ग में प्रसार करने के लिये ये बहुत अच्छा साधन हो सकता है॥

वेदवाणी के छठे वर्ष के लेखों की सूची

१—वैदिक विवेचन (खोज)

२—आध्यात्मिक

३—दर्शन इतिहास राजनीति

४—वैदिकसिद्धान्त विमर्श (खोज) सं०

५—संस्कृत-भाषा

६—सम्पादकीय

ग्रन्थादि-समालोचना-परिचय प्राप्ति

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है[1] ॥ सब मनुष्यों को उचित है कि अति पुरुषार्थ से विद्वानों का संग, उनकी सेवा, विद्या, योग, धर्म और सब के उपकार आदि उपायों से समग्र विद्याओं के 'स्वामी' परमात्मा के विज्ञान और प्राप्ति से सब सुखों को प्राप्त हों और सब को सुखी करें ॥ १ ॥

फिर ये लोग आपस में कैसे वर्तें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

त्वामिद्धि सहसस्पुत्र मर्त्य उपब्रूते धने हिते ।
सुवीर्यं मरुत आ स्वश्व्यं दधीत यो व आचके ॥ २ ॥

पदार्थ—हे (सहसस्पुत्र) [ब्रह्मचर्य और विद्यादि गुणों से][2] शरीर और आत्मा के बल से युक्त विद्वान् के पुत्र ! (यः) जो (मर्त्यः) विद्वान् मनुष्य (त्वाम्) तुझको सब विद्या का (उपब्रूते) उपदेश करे और हे (मरुतः) बुद्धिमान् लोगो ! आप जो (वः) आप लोगों को (हिते) सुखसंपादक (धने) विद्यादि गुणों के समूह में (आचके) सब ओर से सुखों से तृप्त करे, उसी के लिये (इत्) ही (हि) निश्चय से (स्वश्व्यम्) विद्या विषयों में श्रेष्ठ (सुवीर्यम्) अत्युत्तम पराक्रम को तुम लोग (दधीत) धारण करो ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य लोग पढ़ने पढ़ाने आदि धर्मयुक्त कर्मों ही से एक दूसरे का उपकार करके सुखी हों ॥ २ ॥

फिर उन लोगों को परस्पर कैसे वर्तना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता ।
अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः ॥ ३ ॥

पदार्थ—हे विद्वन् (ब्रह्मणः) चतुर्वेदवित् के (पतिः) पालन करनेवाले आप जिस (पङ्क्तिराधसम्) धर्मात्मा और वीर पुरुषों के समूह के सिद्धकारक (अच्छ) शुद्ध (वीरम्) पूर्ण शरीर आत्मबल देनेवाले (यज्ञम्) पठन पाठन श्रवण आदि क्रियारूप यज्ञ को (प्रैतु) प्राप्त होते और हे विद्यायुक्त स्त्री (सूनृता) प्रिय सत्याचरण लक्षणवाली वाणी से युक्त (देवी) सब शास्त्रों के बोध से प्रकाशमान होकर आप भी जिस यज्ञ को प्राप्त हो उस यज्ञ को (देवाः) विद्वान् लोग (नः) हम लोगों को (प्रणयन्तु) प्राप्त करावें ॥ ३ ॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को ऐसी इच्छा करनी चाहिये कि जिससे विद्या की वृद्धि होती जाय ॥ ३ ॥

विद्वान् और अन्य मनुष्यों को एक दूसरे के साथ क्या करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

१. यह पङ्क्ति अजमेर मुद्रित भावार्थ में है, संस्कृत में उपलब्ध नहीं होगी। प्रतीत होता है संस्कृत भाग में लेखकादि के प्रमाद से नष्ट हो गई। संस्कृत अन्वय में 'यथा तथा' पदों का निर्देश होने से यह पाठ आवश्यक है।

२. कोष्ठान्तर्गत पाठ का मूल संस्कृत में नहीं है।

यो वाघते ददाति सूनरं वसु स धत्ते अक्षिति श्रवः ।
तस्मा इळां सुवीरामा यजामहे सुप्रतूर्तिमनेहसम् ॥ ४ ॥

पदार्थ--(यः) जो मनुष्य (वाघते) ऋत्विक्=विद्वान् के लिये (सूनरम्) जिससे उत्तम मनुष्य प्राप्त हों उस (वसु) धन को (ददाति) देता है और जिस (अनेहसम्) हिंसा के अयोग्य (सुप्रतूर्तिम्) उत्तमता से शीघ्र प्राप्ति कराने (सुवीराम्) जिससे उत्तम शूरवीर प्राप्त हों (इळाम्) पृथिवी वा वाणी को हम लोग (आयजामहे) अच्छे प्रकार प्राप्त होते हैं, उससे (सः) वह पुरुष (अक्षिति) जो कभी क्षीणता को प्राप्त न हो उस (श्रवः) धन और विद्या के श्रवण को (धत्ते) करता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य शरीर, वाणी और मन से विद्वानों का सेवन करता है वही अक्षय विद्या को प्राप्त होकर पृथिवी के राज्य को भोग कर मुक्ति को प्राप्त होता है। जो पुरुष वाग् विद्या को प्राप्त होते हैं वे विद्वान् दूसरे को भी पण्डित कर सकते हैं, आलसी अविद्वान् पुरुष नहीं ॥ ४ ॥

अब ईश्वर कैसा है, उसका उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम् ।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे ॥ ५ ॥ [२०]

पदार्थ—जो (ब्रह्मणस्पतिः) बड़े भारी जगत् और वेदों का पति स्वामी न्यायधीश ईश्वर (नूनम्) निश्चय करके (उक्थ्यम्) कहने सुनने योग्य वेद में होने वाले (मन्त्रम्) वेदस्थ मन्त्र समूह का (प्रवदति) उपदेश करता है और (यस्मिन्) जिस जगदीश्वर में (इन्द्रः) बिजुली (वरुणः) समुद्र चन्द्र तारे आदि लोकलोकान्तर (मित्रः) प्राण (अर्यमा) वायु और (देवाः) पृथिवी आदि लोक और विद्वान् लोग (ओकांसि) स्थानों को (चक्रिरे) किये हुए हैं, उसी परमेश्वर का हम लोग सत्कार करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि जिस ईश्वर ने वेदों का उपदेश किया है, जो सब जगत् में व्याप्त होकर स्थित है, जिसमें सब पृथिवी आदि लोक रहते और मुक्ति समय में विद्वान् लोग निवास करते हैं, उसी परमेश्वर की उपासना करनी चाहिये, इससे भिन्न किसी की नहीं ॥ ५ ॥

अब सब मनुष्यों के लिये वेदों के पढ़ने का अधिकार है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

तमिद्वोचेमा विदथेषु शम्भुवं मन्त्रं देवा अनेहसम् ।
इमां च वाचं प्रतिहर्यथा नरो विश्वेद्वामा वो अश्नवत् ॥ ६ ॥

पदार्थ—हे (देवाः) विद्वानो ! (वः) तुम लोगों के लिये हम लोग (विदथेषु) जानने योग्य पढ़ने पढ़ाने आदि व्यवहारों में जिस (अनेहसम्) अहिंसनीय, सर्वदा रक्षणीय, दोषरहित (शंभुवम्) कल्याणकारक (मन्त्रम्) गुप्त पदार्थों को मनन कराने वाले मन्त्र अर्थात् श्रुति समूह को

(वोचेम) उपदेश करें (तम्) उस वेद को (इत्) ही तुम लोग ग्रहण करो (च) और हे (नरः) मनुष्यो ! तुम लोग (इत्) जो (इमाम्) इस (वाचम्) वेदवाणी को (प्रतिहर्यथ) बार'बार जानो तो (विश्वा) सब (वामा) प्रशंसनीय वाणी तुम लोगों को (अश्नवत्) प्राप्त होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—विद्वानों को योग्य है कि विद्या के प्रचार के लिये सब मनुष्यों को नित्य अर्थ, अंग[1], उपांग[2], रहस्य[3], स्वर और हस्तक्रिया[4] सहित वेदों का उपदेश करें और [मनुष्यमात्र इन विद्वानों से सब वेद विद्या को साक्षात् करें][5] जो कोई पुरुष सुख चाहे तो वह विद्वानों के संग से वेद विद्या को प्राप्त करे । तथा वेद विद्या के विना किसी को सत्य सुख नहीं होता । इससे पढ़ने पढ़ाने वालों को प्रयत्न से समग्र वेदों को ग्रहण करना वा कराना चाहिये ॥ ६ ॥

कोई ही मनुष्य विद्वान् मनुष्य को प्राप्त होकर विद्या को ग्रहण कर सकता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

को देवयन्तमश्नवज्जनं को वृक्तबर्हिषम् ।
प्रप्र दाश्वान् पस्त्याभिरस्थितान्तर्वावत् क्षयं दधे ॥ ७ ॥

पदार्थ—(कः) कौन मनुष्य (देवयन्तम्) विद्वानों की कामना करने और (कः) कौन (वृक्तबर्हिषम्) सब विद्याओं में कुशल, सब ऋतुओं में यज्ञ करने वाले (जनम्) सकल विद्याओं में प्रकट हुए मनुष्य को (अश्नवत्) प्राप्त होवे तथा कौन (दाश्वान्) दानशील पुरुष (प्रास्थित) प्रतिष्ठा को प्राप्त होवे और कौन (पस्त्याभिः) उत्तम गृह वाली भूमि में (अन्तर्वावत्) सब के अन्तर्गत चलने वाले वायु से युक्त (क्षयम्) निवास करने योग्य घर को (दधे) धारण करे ॥ ७ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य विद्या प्रचार की कामना वाले उत्तम विद्वान् को प्राप्त नहीं होते और न सब दानशील होकर सब ऋतुओं में सुखरूप घर को धारण कर सकते हैं, किन्तु कोई ही भाग्यशाली विद्वान् मनुष्य इन सब को प्राप्त हो सकता है ॥ ७ ॥

ऐसे विद्वान् का कैसा राज्य होता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

उप क्षत्रं पृञ्चीत हन्ति राजभिर्भये चित्सुक्षितिं दधे ।
नास्य वर्ता न तरुता महाधने नार्भे अस्ति वज्रिणः ॥ ८ ॥ [२१]

---

१. शिक्षा, कल्प (=श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र), व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष विषयों के प्रतिपादक ग्रन्थ अंग कहाते हैं ।

२. न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा (वेदान्त) ये ६ शास्त्र उपाङ्ग कहाते हैं ।

३. ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक उपनिषद् ग्रन्थ रहस्य कहाते हैं ।

४. यह पाठ अजमेर मुद्रित भावार्थानुसारी है । संस्कृत में "सस्वरहस्तक्रियाः" पाठ है और यह वेद का विशेषण है । उसका अनुवाद "उदात्तादि स्वरों की हस्तक्रिया सहित" होना चाहिये । यहाँ हस्तक्रिया उपलक्षण है, इससे जहाँ शिरःकम्प और अंगुली से स्वर निर्देश किया जाता है उसका भी ग्रहण समझना चाहिये ।

५. कोष्ठान्तर्गतपाठ का मूल संस्कृत में नहीं है ।

पदार्थ—जो मनुष्य (क्षत्रम्) राज्य को (उपप्रक्षीत) संबन्धित करे, तथा (सुक्षितिम्) उत्तमोत्तम भूमि की प्राप्ति कराने वाले व्यवहार को (दधे) धारण करता है, (अस्य) इस (वज्रिणः) वली सभाध्यक्ष के (राजभिः) राजाओं के साथ (भये) युद्ध में अपने मनुष्यों को कोई भी शत्रु (न) नहीं (हन्ति) मार सकता, (महाधने) महाधन की प्राप्ति के हेतु बड़े युद्ध में (वर्त्ता) विपरीत वर्तनेवाला और (न) नहीं (अस्ति) है (अर्भे) छोटे युद्ध में (चित्) भी (तरुता) बल का उल्लंघन करने वाला न (अस्ति) होता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो राजपुरुष महाधन की प्राप्ति के निमित्त बड़े युद्ध या थोड़े धन की प्राप्ति के निमित्त छोटे युद्ध में शत्रुओं को जीत वा बांध के निवारण करने और धर्म से प्रजा का पालन करने को समर्थ होते हैं, वे इस संसार में आनन्द को भोग कर परलोक में भी बड़े भारी आनन्द को भोगते हैं ॥ ८ ॥

अब उनतालीसवें सूक्त में कहे हुए विद्वानों के कार्यरूप अर्थ के साथ ब्रह्मणस्पति आदि शब्दों के अर्थों के संबंध से पूर्वसूक्त के साथ इस सूक्त की संगति जाननी चाहिये ॥

यह चालीसवां सूक्त और इक्कीसवां वर्ग समाप्त हुआ ॥ ४० ॥

---

(४१)

अथ नवर्चस्यैकचत्वारिंशस्य सूक्तस्य घोरः कण्वऋषिः । १–३; ७–९ वरुणमित्रार्यमणः; ४–६ आदित्याश्च देवताः । १, ४, ५, ८ गायत्री; २ [पिपीलिकामध्या] विराट् गायत्री; ६ [यवमध्या] विराड्गायत्री; ३, ७, ९ निचृद्गायत्री च छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अनेक वीरों से रक्षित होने पर भी राजा कभी शत्रु से पीड़ित होता ही है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

यं रक्षन्ति प्रचेतसो वरुणो मित्रो अर्यमा ।
नू चित् स दभ्यते जनः ॥ १ ॥

पदार्थ—(प्रचेतसः) उत्तम ज्ञानवान् (वरुणः) उत्तम गुण वा श्रेष्ठपन होने से सभाध्यक्ष होने योग्य (मित्रः) सब का मित्र (अर्यमा) पक्षपात छोड़ कर न्याय करने को समर्थ, ये सब (यम्) जिस सभासेनाध्यक्ष मनुष्य की (रक्षन्ति) रक्षा करते हों (सः जनः) वह मनुष्य (चित्) भी (नु) कदाचित् शत्रुओं से (दभ्यते) मारा जाता है [अतः सभासेनाध्यक्षादि की विशेष रूप से रक्षा करनी चाहिये] ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि सब से उत्कृष्ट सेनासभाध्यक्ष, सब का मित्र, दूत, पढ़ाने वा उपदेश करने वाले धार्मिक मनुष्य को न्यायाधीश करें। तथा उन विद्वानों से रक्षा आदि को प्राप्त हो, सब शत्रुओं को शीघ्र मार और चक्रवर्ति राज्य का शासन करके सब के हित को संपादन करें।

किसी को भी मृत्यु से भय करना योग्य नहीं है, क्योंकि जिनका जन्म हुआ है उनकी मृत्यु अवश्य होती है। इसलिये मृत्यु से डरना मूर्खों का काम है ॥ १ ॥

वह रक्षा किया हुआ किसको प्राप्त होता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

यं बाहुतेव पिप्रति पान्ति मर्त्यं रिषः ।
अरिष्टः सर्व एधते ॥ २ ॥

पदार्थ—ये वरुण आदि धार्मिक विद्वान् लोग (बाहुतेव) जैसे शूरवीर बाहुबलों से चोर आदि को निवारण कर दुःखों को दूर करते हैं वैसे (यम्) जिस (मर्त्यम्) मनुष्य को (पिप्रति) सुखों से पूर्ण करते और (रिषः) हिंसा करने वाले शत्रु से (पान्ति) बचाते हैं वे (सर्वः) समस्त मनुष्यमात्र (अरिष्टः) सब विघ्नों से रहित होकर वेद विद्या आदि उत्तम गुणों से नित्य (एधते) वृद्धि को प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥ जैसे सभा और सेनाध्यक्ष के सहित राजपुरुष बाहुबल वा उपाय के द्वारा शत्रु डाकू चोर आदि और दरिद्रपन को निवारण कर मनुष्यों की अच्छे प्रकार रक्षा कर पूर्ण सुखों को संपादन कर सब विघ्नों को दूर कर पुरुषार्थ में संयुक्त कर ब्रह्मचर्य सेवन वा विषयों की लिप्सा छोड़ने से शरीर की वृद्धि और विद्या वा उत्तम शिक्षा से आत्मा की उन्नति करते हैं, वैसे ही प्रजाजन भी किया करें ॥ २ ॥

फिर वे राजपुरुष क्या करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

वि दुर्गा वि द्विषः पुरो घ्नन्ति राजान एषाम् ।
नयन्ति दुरिता तिरः ॥ ३ ॥

पदार्थ—जो (राजानः) उत्तम कर्म वा गुणों से प्रकाशमान राजा लोग (एषाम्) इन शत्रुओं के (दुर्गा) दुःख से जाने योग्य प्रकोटों और (पुरः) नगरों को (विघ्नन्ति) छिन्न भिन्न करते और (द्विषः) शत्रुओं को [(वि) नष्ट करते और प्रजा तथा सेना के श्रेष्ठ पुरुषों के (दुरिता) दुःखों को] (तिरो नयन्ति) कष्ट कर देते हैं, वे चक्रवर्त्ति राज्य को प्राप्त होने को समर्थ होते हैं[1] ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो अन्याय करने वाले मनुष्य धार्मिक मनुष्यों को पीड़ा देकर दुर्ग में चले जाते हैं और फिर आकर दुःखी करते हैं उनको नष्ट करने और श्रेष्ठों के पालन करने के लिये विद्वान् धार्मिक राजा लोगों को चाहिये कि उनके प्रकोट और नगरों का विनाश कर और शत्रुओं को छिन्न भिन्न करके मार और वशीभूत करके धर्म से राज्य का पालन करें ॥ ३ ॥

फिर वे क्या सिद्ध करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

१. इस मन्त्र के संस्कृत अन्वय में 'वि, वि, पुरः, दुरिता' पद छूट गये हैं। अजमेर मुद्रित भाषार्थ में भी कोष्ठान्तर्गत पाठ नहीं है। हमने इन पदों और इन अर्थों को यथास्थान जोड़ा है।

सुगः पन्था अनृक्षर आदित्यास ऋतं यते ।
नात्राविखादो अस्ति वः ॥ ४ ॥

भावार्थ—जहाँ (आदित्यासः) अच्छे प्रकार सेवन किये अड़तालीस वर्ष के ब्रह्मचर्य से शरीर और आत्मा के बल से युक्त होने से सूर्य के समान प्रकाशित हुए अविनाशी धर्म को जानने वाले विद्वान् लोग रक्षा करने वाले होते हैं और जहाँ इन्हों से (अनृक्षरः) कण्टक गड्ढा चोर डाकू अविद्या अधर्माचरण से रहित (सुगः) सुख से जानने योग्य (पन्थाः) जल स्थल अन्तरिक्ष में जाने के लिये वा विद्या धर्म न्याय प्राप्ति के मार्ग का सम्पादन किया हो, उसके लिये और (ऋतम्) ब्रह्म सत्य वा यज्ञ [illegible] प्राप्त होने के लिये तुम लोगों को (अत्र) विद्वानों से प्रचारित और रक्षित मार्ग में (अव- [illegible]) कभी नहीं होता ॥ ४ ॥

[illegible] और अन्तरिक्ष में रथ नौका विमानों के लिये सरल, दृढ़, [illegible]

[illegible] ॥ ७ ॥

पदार्थ—हम लोग (सखायः) सब के मित्र होकर (मित्रस्य) सब के सखा (अर्यम्णः) न्यायाधीश और (वरुणस्य) सब से उत्तम अध्यक्ष के (महि) बड़े (स्तोमम्) गुण स्तुति के समूह को (कथा) किस प्रकार से (राधाम) सिद्ध करें, और किस प्रकार हमको (प्सरः) सुखों का भोग प्राप्त होवे ॥ ७ ॥

भावार्थ—जब कोई मनुष्य किसी को पूछे कि हम लोग किस प्रकार से मित्रता न्याय और उत्तम विद्याओं को प्राप्त होवें। वह उनको ऐसा कहे कि परस्पर विद्यादान और परोपकार ही से यह सब प्राप्त हो सकता है। इसके विना कोई भी मनुष्य किसी सुख को सिद्ध करने को समर्थ नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

सभाध्यक्ष आदि लोग प्रजाजनों के साथ क्या प्रतिज्ञा करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

मा वो घ्नन्तं मा शपन्तं प्रति वोचे देवयन्तम् ।
सुम्नैरिद्व आ विवासे ॥ ८ ॥

पदार्थ—मैं (वः) मित्ररूप तुम को (घ्नन्तम्) मारते हुए जन से (मा प्रतिवोचे) संभाषण भी न करूँ, (वः) तुम को (शपन्तम्) कोसते हुए मनुष्य से (मा प्रतिवोचे) प्रिय न बोलूँ, किन्तु

(सुम्नैः) सुखों से सहित तुम को सुख देने हारे (इत्) ही (देवयन्तम्) दिव्यगुणों की कामना करने हारे की (आविवासे) अच्छे प्रकार सेवा सदा किया करूँ ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य को योग्य है कि न अपने शत्रु और न मित्र के शत्रु, न शत्रु के मित्र में प्रीति कभी करे । मित्र की सदैव रक्षा करे और विद्वान् मित्रों की प्रिय वचन धन भोजन वस्त्र यान आदि से सेवा सदा करनी चाहिये, क्योंकि मित्र रहित पुरुष सुख की वृद्धि नहीं कर सकता । इससे विद्वान् लोग बहुत से धर्मात्माओं को मित्र बनावें ॥ ८ ॥

जो कहे और जिनको आगे कहते हैं, उन चार दुष्टों से नित्य भय करके उनका विश्वास कभी न करे, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

चतुरश्चिद् ददमानाद् बिभीयादा निधातोः ।
न दुरुक्ताय स्पृहयेत् ॥ ९ ॥ [२३]

पदार्थ—मनुष्य (चतुरः) मारने, शाप देने, (ददमानात्) विषादि देने और (निधातोः) अन्याय से दूसरे के पदार्थों को हरने वाले इन (चतुरः) चार प्रकार के मनुष्यों का विश्वास न करे। (चित्) और इनसे (बिभीयात्) नित्य डरे । और (दुरुक्ताय) दुष्ट वचन कहने वाला इन पाचों को मित्र करने की इच्छा कभी न करे ॥ ९॥

भावार्थ—मनुष्य को दुष्ट कर्म करने वा दुष्ट वचन बोलने वाले मनुष्यों का संग और विश्वास कभी नहीं करना चाहिये और मित्र से द्रोह, दूसरे अपमान और विश्वासघात आदि कर्म कभी न करने चाहियें ॥ ९ ॥

इस सूक्त में प्रजा की रक्षा, शत्रुओं को जीतना, मार्ग का शोधना, यान की रचना और उनका चलाना, द्रव्यों की उन्नति करना, श्रेष्ठों के साथ मित्रता, दुष्टों में विश्वास न करना और अधर्माचरण से नित्य डरना आदि के कथन से पूर्व सूक्तार्थ के साथ इस सूक्त के अर्थ की संगति जाननी चाहिये ॥

यह पहिले अष्टक के तीसरे अध्याय में तेईसवाँ वर्ग और पहिले मण्डल में इकतालीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥ ४१ ॥

---

(४२)

अथ दशर्चस्य द्विचत्वारिंशस्य सूक्तस्य घोरः कण्व ऋषिः । पूषा देवता ।
१,९ निचृद्गायत्री; २,३, ५–८,१० [गायत्री; ४ विराड्]
गायत्री च छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अब बयालीसवें सूक्त का आरम्भ है । उसके पहिले मन्त्र में प्रवास करते हुए मनुष्य मार्ग में किस-किस पदार्थ की इच्छा करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ।

सम्पूषन्नध्वनस्तिर व्यंहो विमुचो नपात् ।
सक्ष्वा देव प्र णस्पुरः ॥ १ ॥

उरुज्योति वैदिक अध्यात्म-सुधा

लेखक—डा० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल,
अध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी।
प्रकाशक—मन्त्री श्री रामलाल कपूर
ट्रस्ट, अमृतसर, मूल्य ३) रु०।
पृष्ठ संख्या ११+२०१।

श्री वासुदेवशरण आर्य जगत् के उत्तम प्रसिद्ध विद्वान् हैं। आप पुरातत्त्व विभाग में कई स्थानों पर क्युरेटर रहे हैं। आपके लेख अनुसन्धानपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं में निकलते रहते हैं। आर्य जगत् आप से परिचित है।

वेद और वेद के सम्बन्ध की अनेक सिद्धान्त विषयक चर्चाओं को उक्त पुस्तक में मौलिक रूप में लिखा, प्रकट किया और समझने और समझाने का यत्न किया है। मतभेद और न्यूनाधिकता की बातें तो संभव है परन्तु अध्यापक महोदय की बातें बहुत ही हृदयंगम करने योग्य हैं। और इसी कारण हृदय चाहता है कि आपके तात्विक विचारों को जनता के सामने रखा जाय।

आपका विचार है कि इस युग की सब से बड़ी उलझन वैदिक परिभाषाओं की खोज है। सायण की सहायता के बिना इस महासमुद्र में हम न जाने कहाँ होते? किन्तु यज्ञीय कर्मकाण्ड की व्याख्या के लिये मन्त्रों का विनियोग तो वैदिक अर्थों का एक अंशमात्र था। वेद के पश्चिमी विद्वानों ने सायण के प्रदर्शित मार्ग से वेदों का अनुशीलन किया। उन्होंने भाषाशास्त्र और तुलनात्मक धर्मविज्ञान इन दो नये अस्त्रों से वैदिक अर्थों की जिज्ञासा को आगे बढ़ाया। परन्तु वैदिक अर्थों के प्रज्ञान की समस्या का समाधान अभी नहीं हुआ। उनसे सम्बन्धित अनेकानेक प्रश्नों का मुख अभी तक खुला हुआ है। वह समाधान और युक्तिपूर्ण विवेचन की बाट देख रहा है। भारत में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वैदिक अर्थों के प्रश्नों को आमूल झकझोरा है। उन्होंने निरुक्त और ब्राह्मण ग्रन्थों की प्रतिपादित आर्य-विज्ञान-शैली को प्रतिष्ठा प्रदान की है।

समस्त वेदों का पर्यवसान अध्यात्म विद्या में है, यह दृष्टि कोण ऋषि दयानन्द ने स्वप्रतिभामयी प्रज्ञा से दृढ़ता से रखा। वैदिक अर्थों की प्रधान समस्या ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रदर्शित परिभाषाओं का स्पष्टीकरण है। जैसे गायत्री, सावित्री का क्या अन्तर है? वाक् इन्द्र है, प्राण इन्द्र है, विष्णु दोनों स्पर्धाशील देव हैं, उनका जय, पराजय मानव जीवन की वृद्धि और ह्रास है। इत्यादि सहस्रों गूढ़ संकेत ब्राह्मण ग्रन्थों में विद्यमान हैं।

वैदिक अर्थ विज्ञान की इस शैली को जयपुर के श्री पं० मधुसूदन झा ने सप्रमाण पल्लवित किया। योगिराज अरविन्द ने आध्यात्मिक रूप की व्याख्या में भाग लिया। श्री आनन्द कुमार स्वामी ने वैदिक सृष्टि विद्या के अभिप्रायों की रोचक मार्मिक व्याख्या का मार्ग दिखाया। उनके अनुसार उपनिषदों का कोई ऐसा अर्थ या अभिप्राय अध्यात्म शास्त्र में नहीं, जिसका मूल वेद में नहीं है। उनके मत में वेद अनादि सनातन हैं।

वेद के जिज्ञासु छात्र का मन सर्वतः उन्मुक्त खुला रहता है। उसमें चातुर्दिश दीप्ति पटों से प्रकाश और वायु (ज्ञान और प्राण) को स्वच्छन्द प्रवेश होता है। वह उस महान् ज्योति के लिये अपनी चक्षु खोलता है। वही ज्योति मित्र और वरुण अथवा ऋत और सत्य द्वन्द्व तत्त्व की ज्योति है जो हमारे भीतर और बाहर है। उसी को 'उरु ज्योति' कहा गया है।

उरु ज्योतिश्चक्रथुरार्याय।

मित्र वरुण दोनों आर्य के लिये उस महान् ज्योति को प्रकट करते हैं। इसका यह मतलब नहीं कि अनार्य के लिये वह ज्योति नहीं है। वस्तुतः वह ज्योति उनके लिये है जिनके हृदय उसके प्रति स्फुरित हैं, गतिशील हैं। जिसमें वह स्पन्दन और स्फूर्ति है, वही आर्य है। वही चैतन्य सत्र (ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ) का कर्त्ता ऋत्विग् है। जो जड़ता से मानसिक तन्द्रा में मस्त है, उसके मन की सतरंगी पट्टी पर वह उरु ज्योति कोई प्रभाव नहीं करती।

'अरुन्धती' विषय पर गृहस्थ में स्त्री के कर्तव्य, विवाह, पति-पत्नी के स्वरूप आदि का विस्तृत विवेचन है, जिसके कई लेखांश पाठकों ने मार्तण्ड के अङ्कों में 'अरुन्धती' आदि शीर्षकों में पढ़ लिये हैं। और आगे भी कई अंकों में उक्त पुस्तक के अनेक शास्त्रीय ज्ञातव्य अंश समय २ पर पाठकों के समक्ष आते रहेंगे। परन्तु स्वाध्यायशील वेदप्रेमी को यह पुस्तक मनन करने के लिये अवश्य एक नहीं, कई बार पढ़नी चाहिये।

संपादक, प्रकाशक व मुद्रक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, आर्य विजय प्रेस, बीबीहटिया, बनारस।

ओ३म्

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

(३)

वर्ष ७] [अङ्क १, २

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

कार्तिक, मार्गशीर्ष २०११
नवम्बर, दसम्बर १९५४
दयानन्दाब्द १२९
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५४

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ पैलेस,
बनारस नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
„ „ विदेश में ६)
इस अंक का १)

वेदाङ्क के लेखों की सूची

ओ३म्

वेदवाणी

सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष ७ } काशी, कार्तिक-मार्गशीर्ष सं० २०११ वि०, नवम्बर-दिसम्बर १९५४ ई० { अङ्क १,२

हे जातवेदः! नौका के समान भवसागर से पार करो

जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः॥

ऋ० १।७।७।१॥

व्याख्यान—हे "जातवेदः" परब्रह्मन्! आप जातवेद हो, उत्पन्नमात्र सब जगत् को जाननेवाले हो, सर्वत्रप्राप्त हो, जो विद्वानों से ज्ञात सब में विद्यमान "जात" अर्थात् प्रादुर्भूत अनन्त धनवान् वा अनन्त ज्ञानवान् हो, इससे आपका नाम जातवेदः है, उन आपके लिये "वयं सोमं सुनवाम" जितने सोम प्रियगुणविशिष्टादि हमारे पदार्थ हैं, वे सब आपके ही लिये हैं। सो आप हे कृपालो! "अरातीयतः" दुष्ट शत्रु जो हम धर्मात्माओं का विरोधी उसके "वेदः" धनैश्वर्यादि का "निदहाति" नित्य दहन करो, जिससे वह दुष्टता को छोड़ के श्रेष्ठता को स्वीकार करे। सो "नः" हमको "दुर्गाणि, विश्वा" सम्पूर्ण दुस्सह दुःखों से "पर्षदति" पार करके आप नित्य सुख को प्राप्त कराओ। "नावेव सिन्धुं" जैसे अति कठिन नदी वा समुद्र को पार होने के लिये नौका होती है "दुरितात्यग्निः" वैसे ही हमको सब पापजनित अत्यन्त पीड़ाओं से पृथक् (भिन्न) करके संसार में और मुक्ति में ही परमसुख को शीघ्र प्राप्त कराओ।

[आर्याभिविनय से]

ईश्वर की उपासना कैसे करनी चाहिये ?

उपासना के आठ अङ्गों की व्याख्या

ऋषि दयानन्द सरस्वती

ईश्वर की उपासना किस रीति से करनी चाहिये, सो आगे लिखते हैं—

जब-जब मनुष्य लोग ईश्वर की उपासना करना चाहें, तब-तब इच्छा के अनुकूल एकान्त स्थान में बैठकर अपने मन को शुद्ध और आत्मा को स्थिर करें, तथा सब इन्द्रिय और मनको सच्चिदानन्द आदि लक्षण वाले अन्तर्यामी अर्थात् सब में व्यापक और न्यायकारी परमात्मा की ओर अच्छे प्रकार से लगाकर सम्यक् चिन्तन करके उस में अपने आत्मा को नियुक्त करे। फिर उसी की स्तुति, प्रार्थना और उपासना को वारंवार करके अपने आत्मा को भली-भाँति से उसमें लगा दें। इसकी रीति पतञ्जलि मुनि के किये योग शास्त्र और उन्हीं सूत्रों के वेदव्यास मुनि जी के किये भाष्य के प्रमाणों से लिखते हैं—

१—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ १ । १ । २ ॥

चित्त की वृत्तियों को सब बुराइयों से हटा के शुभ गुणों में स्थिर करके परमेश्वर के समीप में मोक्ष को प्राप्त करने को योग कहते हैं। और वियोग उसको कहते हैं कि परमेश्वर और उसकी आज्ञा से विरुद्ध बुराइयों में फंस के उससे दूर हो जाना।

(प्रश्न) जब वृत्ति बाहर के व्यवहारों से हटा के स्थिर की जाती है, तब कहां पर स्थित होती है ?

(उत्तर) इसका उत्तर यह है कि—

२—तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ १ । १ । ३ ॥

जैसे जल के प्रवाह को एक ओर से दृढ़ बांध के रोक देते हैं, तब वह जिस ओर नीचा होता है उस ओर चलके कहीं स्थिर हो जाता है। इसी प्रकार मनकी वृत्ति भी जब बाहर से रुकती है, तब परमेश्वर में स्थिर हो जाती है। एक तो चित्त की वृत्ति रोकने का यह प्रयोजन है, दूसरा यह है कि—

३—वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ १ । १ । ४ ॥

उपासक योगी और संसारी मनुष्य जब व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं, तब योगी की वृत्ति सदा हर्ष शोक रहित आनन्द से प्रकाशित होकर उत्साह और आनन्द युक्त रहती है, और संसार के मनुष्य की वृत्ति सदा हर्ष शोक रूप दुःखसागर में ही डूबी रहती है। उपासक योगी की तो ज्ञान रूप प्रकाश में सदा बढ़ती रहती है और संसारी मनुष्य की वृत्ति सदा अन्धकार में फंसती जाती है।

४—वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥१ । १।५॥

सब जीवों के मन में पांच प्रकार की वृत्ति उत्पन्न होती है। उसके दो भेद हैं एक क्लिष्ट, दूसरी अक्लिष्ट अर्थात् क्लेशसहित और क्लेशरहित। उन में से जिनकी वृत्ति विषयासक्त, परमेश्वर की उपासना से विमुख होती है, उनकी वृत्ति अविद्यादि क्लेश सहित और जो पूर्वोक्त उपासक हैं उनकी क्लेश रहित शान्त होती है।

वे पांच वृत्ति ये हैं—

५—प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ १ । १ । ६ ॥

पहिली-प्रमाण, दूसरी-विपर्यय, तीसरी-विकल्प, चौथी-निद्रा और पाँचवी-स्मृति।

उनके विभाग और लक्षण ये हैं—

६—प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥१।१।७॥

प्रमाणसंज्ञकवृत्ति प्रत्यक्ष अनुमान और आगम भेद से तीन प्रकार की है।

प्रत्यक्ष उसको कहते हैं जो चक्षु आदि इन्द्रिय और रूप आदि विषयों के सम्बन्ध से सत्यज्ञान उत्पन्न हो। जैसे दूर से देखने में सन्देह हुआ कि यह मनुष्य है वा कुछ और, फिर उसके समीप होने से निश्चय होता है कि यह मनुष्य है, अन्य नहीं।

अनुमान—जो किसी पदार्थ के चिह्न देखने से उसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान हो, वह अनुमान कहाता है। जैसे किसी के पुत्र को देखने से ज्ञात होता है कि इसके माता पिता आदि हैं वा अवश्य थे॥

[आगम शब्द से वेद तथा आप्तोपदेश दोनों का ग्रहण होता है।]

७—विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ १।१।८॥

दूसरी विपर्यय कि जिससे मिथ्या ज्ञान हो अर्थात् जैसे को तैसा न जानना, अथवा अन्य में अन्य की भावना कर लेना। इसको विपर्यय कहते हैं॥

८—शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ १।१।९॥

तीसरी विकल्प वृत्ति—जैसे किसी ने किसी से कहा कि एक देश में हमने आदमी के शिर पर सींग देखे थे। इस बात को सुन के कोई मनुष्य निश्चय करले कि ठीक है सींग वाले मनुष्य भी होते होंगे। ऐसी वृत्ति को विकल्प कहते हैं, सो झूठी बात है। अर्थात् जिसका शब्द तो हो परन्तु किसी प्रकार का अर्थ किसी को न मिल सके, इसी से इसका नाम विकल्प है।

९—अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा।१।१।१०॥

चौथी निद्रा अर्थात् जो वृत्ति अज्ञान और अविद्या के अन्धकार में फंसी हो उस वृत्ति का नाम निद्रा है।

१०—अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः १।१।११॥

पांचवी स्मृति अर्थात् जिस व्यवहार वा वस्तु को प्रत्यक्ष देख लिया हो, उसी का संस्कार ज्ञान में बना रहता है उस विषय को (असंप्रमोष) भूले नहीं, इस प्रकार की वृत्ति को स्मृति कहते हैं।

इन पांच वृत्तियों को बुरे कामों और अनीश्वर के ध्यान से हटाने का उपाय कहते हैं—

११—अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः १।१।१२

जैसा अभ्यास आगे लिखेंगे वैसा करे और वैराग्य अर्थात् सब बुरे कामों और दोषों से अलग रहे। इन दोनों उपायों से पूर्वोक्त पांचों वृत्तियों को रोक के उनको उपासना योग में प्रवृत्त रखे।

उपासना की सिद्धि का परम सहायक साधन क्या है? यह कहते हैं—

१२—ईश्वरप्रणिधानाद् वा ॥१।१।२३॥

ईश्वर में विशेष भक्ति होने से मन का समाधान होके मनुष्य समाधि योग को शीघ्र प्राप्त हो जाता है।

अब ईश्वर का लक्षण कहते हैं—

१३—क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥१।१।२४॥

इसी प्रकरण में आगे लिखे जो अविद्यादि पांच क्लेश और बुरे कर्मों की जो जो वासना इन सबसे सदा अलग और बन्धन रहित है उसी पूर्ण पुरुष को ईश्वर कहते हैं। फिर वह कैसा है? जिस से अधिक वा तुल्य दूसरा पदार्थ कोई नहीं, तथा जो सदा आनन्द ज्ञान स्वरूप सर्वशक्तिमान् है उसी को ईश्वर कहते हैं। क्योंकि—

१४—तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। १।१।२५॥

जिस में नित्य सर्वज्ञ ज्ञान है वही ईश्वर है। जिस के ज्ञानादि गुण अनन्त हैं, जो ज्ञानादि गुणों की पराकाष्ठा है, जिस के सामर्थ्य की अवधि नहीं और जीव के सामर्थ्य की अवधि प्रत्यक्ष देखने में आती है, इसलिये सब जीवों को उचित है कि अपने ज्ञान बढ़ाने के लिये सदैव परमेश्वर की उपासना करते रहें।

१५—स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ १।१।२६॥

[1][वह ईश्वर प्राचीन गुरुओं का भी गुरु है। उस में भूत भविष्यत् और वर्तमान काल का कुछ

१. इस सूत्र का यह अनुवाद हमने जोड़ा है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में छूट गया है।

सम्बन्ध नहीं है। क्यों कि वह अजर अमर नित्य है]

अब उसकी भक्ति किस प्रकार करनी चाहिये, सो आगे लिखते हैं—

१६—तस्य वाचकः प्रणवः ॥ १।१।२७ ॥

जो ईश्वर का ओंकार नाम है सो पिता पुत्र के सम्बन्ध के समान है, और यह नाम ईश्वर को छोड़ के दूसरे अर्थ का वाची नहीं हो सकता।

ईश्वर के जितने नाम हैं, उनमें से ओंकार सब से उत्तम नाम है। इसलिये—

१७—तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥१।१।२८॥

इसी नाम का जप अर्थात् स्मरण और इसी का अर्थ विचार सदा करना चाहिये कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता, प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हो। जिससे उसके हृदय में परमात्मा का प्रकाश और परमेश्वर की प्रेमभक्ति सदा बढ़ती जाये।

फिर उसके उपासकों को यह भी फल होता है कि—

१८—ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥१।१।२९॥

उस अन्तर्यामी परमात्मा की प्राप्ति और उसके अन्तराय अविद्यादि क्लेशों तथा रोगरूप विघ्नों का नाश हो जाता है।

वे विघ्न कौन से हैं और कितने हैं—

१९—व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥१।१।३०॥

चित्त के विक्षेपक ९ अन्तराय = विघ्न हैं।

(१) व्याधि—धातुओं की विषमता से ज्वर आदि पीड़ा का होना।

(२) स्त्यान—सत्यकर्मों में अप्रीति।

(३) संशय—जिस पदार्थ का निश्चय किया चाहे उसका यथावत् ज्ञान न होना।

(४) प्रमाद—समाधि साधनों के ग्रहण में प्रीति और उनका विचार यथावत् न होना।

(५) आलस्य—शरीर और मन में आराम की इच्छा से पुरुषार्थ छोड़ बैठना।

(६) अविरति—विषय सेवा में तृष्णा का होना।

(७) भ्रान्तिदर्शन—उलटे ज्ञान का होना। जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़ बुद्धि करना तथा ईश्वर में अनीश्वर और अनीश्वर में ईश्वर भाव करके पूजा करना।

(८) अलब्धभूमिकत्व—समाधि की प्राप्ति न होना।

(९) अनवस्थितत्व—समाधिकी प्राप्ति होने पर भी उस में चित्त स्थिर न होना।

ये सब चित्त की समाधि होने में विक्षेप अर्थात् उपासना योग के शत्रु हैं। अब इनके फल लिखते हैं—

२०—दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ १।१।३१ ॥

दुःख की प्राप्ति, मन का दुष्ट होना, शरीर के अवयवों का कांपना, श्वास और प्रश्वास के अत्यन्त वेग से चलने में अनेक प्रकार के क्लेशों का होना जो कि चित्त को विक्षिप्त कर देते हैं।

ये सब क्लेश अशान्त चित्त वाले को प्राप्त होते हैं, शान्तचित्त वाले को नहीं और इनके छुड़ाने का मुख्य उपाय यही है कि—

२१—तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ १।१।३२॥

जो केवल एक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व है, उसी में प्रेम और सर्वदा उसी की आज्ञापालन में पुरुषार्थ करना है, यही एक उन विघ्नों के नाश करने को वज्ररूप शस्त्र है, अन्य कोई नहीं। इसलिये सब मनुष्यों को अच्छे प्रकार प्रेमभाव से परमेश्वर के उपासना योग में नित्य पुरुषार्थ करना चाहिये कि जिस से वे सब विघ्न दूर हो जायें।

आगे जिस भावना से उपासना करने वाले को व्यवहार में अपने चित्त को प्रसन्न करना होता है, सो कहते हैं—

२२—मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ १।१।३३ ॥

मैत्री अर्थात् इस संसार में जितने मनुष्य आदि प्राणी सुखी हैं उन सबों के साथ मित्रता करना।

दुःखियों पर कृपादृष्टि रखनी। पुण्यात्माओं के साथ प्रसन्नता। पापियों के साथ उपेक्षा अर्थात् न उन के साथ प्रीति रखना न वैर ही करना, इस प्रकार के वर्तमान से उपासक के आत्मा में सत्यधर्म का प्रकाश और उसका मन स्थिरता को प्राप्त होता है।

२३—प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ १।१।३४ ॥

जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है, वैसे ही भीतर के वायुको बाहर निकाल के सुख पूर्वक जितना बन सके उतना बाहर ही रोक दे, पुनः धीरे-धीरे लेके पुनरपि ऐसे ही करे। इसी प्रकार बार-बार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाता है। इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्दस्वरूप अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिये। जैसे मनुष्य जल में गोता मार कर ऊपर आता है फिर गोता लगा जाता है, इसी प्रकार अपने आत्मा को परमेश्वर के बीच में बार बार करना चाहिये।

२४—योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा-विवेकख्यातेः ॥ १।२।२८ ॥

आगे जो उपासना योग के आठ अंग लिखते हैं उनके अनुष्ठान से अविद्यादि दोषों का क्षय और ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होने से जीव यथावत् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

२५—यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणा-ध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥१।२।२९॥

एक यम, दूसरा नियम, तीसरा आसन, चौथा प्राणायाम, पांचवां प्रत्याहार, छठा धारणा, सातवां ध्यान और आठवां समाधि। ये सब उपासना योग के अङ्ग कहाते हैं और आठ अंगों का सिद्धान्त रूप फल संयम है।

२६—अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। १।२।३० ॥

उन आठ अंगों में पहिला यम है, सो पांच प्रकार का है। एक अहिंसा अर्थात् सब प्रकार से सब काल में सब प्राणियों के साथ वैर छोड़ के प्रेम प्रीति से वर्तना। दूसरा सत्य अर्थात् जैसा अपने ज्ञान में हो वैसा ही सत्य बोले, करे और माने। तीसरा अस्तेय अर्थात् पदार्थ वाले की आज्ञा के बिना किसी पदार्थ की इच्छा भी न करना, इसी को चोरी त्याग कहते हैं। चौथा ब्रह्मचर्य अर्थात् विद्या पढ़ने के लिये बाल्यावस्था से लेकर सर्वथा जितेन्द्रिय होना और पच्चीसवें वर्ष से लेके अड़तालीस वर्ष पर्यन्त विवाह का करना, परस्त्री वेश्या आदि का त्यागना, सदा ऋतुगामी होना, विद्या को ठीक ठीक पढ़ के सदा पढ़ाते रहना और उपस्थेन्द्रिय का सदा नियम करना। पाँचवां अपरिग्रह अर्थात् विषय और अभिमानादि दोषों से रहित होना। इन पांचों का ठीक ठीक अनुष्ठान करने से उपासना का बीज बोया जाता है।

दूसरा अंग उपासना का नियम है जो पांच प्रकार का है—

२७—शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ १।२।३२ ॥

पहिला शौच अर्थात् पवित्रता करनी, सो भी दो प्रकार की है। एक भीतर की और दूसरी बाहर की। भीतर की शुद्धि धर्माचरण सत्यभाषण विद्याभ्यास, सत्संग आदि शुभगुणों के आचरण से होती है और बाहर की पवित्रता जल आदि से, शरीर स्थान मार्ग वस्त्र खाना पीना आदि शुद्ध करने से होती है। दूसरा संतोष, जो सदा धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थ करके प्रसन्न रहना और दुःख में शोकातुर न होना, किन्तु आलस्य का नाम संतोष नहीं है। तीसरा तपः—जैसे सोने को अग्नि में तपा के निर्मल कर देते हैं वैसे ही आत्मा और मन को धर्माचरण और शुभ-गुणों के आचरणरूप तप से निर्मल कर देना। चौथा स्वाध्याय अर्थात् मोक्षविद्याविधायक वेदशास्त्र का पढ़ना पढ़ाना, ओङ्कार के विचार से ईश्वर का निश्चय करना और पाँचवाँ ईश्वरप्रणिधान अर्थात् सब सामर्थ्य सब गुण प्राण आत्मा और मन के प्रेमभाव से आत्मादि सत्य द्रव्यों का ईश्वर के लिये समर्पण करना, ये पाँच नियम उपासना का दूसरा अंग है।

अब पाँच यम और पाँच नियमों के यथावत् अनुष्ठान का फल कहते हैं—

२८—अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः॥ १।२।३५।

जब अहिंसा धर्म का निश्चय हो जाता है, तब उस पुरुष के मन से वैर भाव छूट जाता है, किंतु उसके सामने वा उसके सङ्ग से अन्य पुरुष का भी वैर भाव छूट जाता है।

२९—सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्॥ १।२।३६॥

सत्याचरण का ठीक ठीक फल यह है कि जब मनुष्य निश्चय करके केवल सत्य ही मानता बोलता और करता है, तब वह जो जो योग्य काम करता है और करना चाहता है, वे वे सब सफल हो जाते हैं।

३०—अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्॥ १।२।३७॥

चोरी त्यागसे यह बात होती है कि अस्तेय अर्थात् जब मनुष्य अपने शुद्ध मन से चोरी के छोड़ देने की प्रतिज्ञा कर लेता है, तब उसको सब उत्तम पदार्थ यथायोग्य प्राप्त होने लगते हैं। और चोरी इसका नाम है कि मालिक की आज्ञा के विना अधर्म से उसकी चीज को कपट से वा छिपाकर ले लेना।

३१—ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः॥ १।२।३८॥

ब्रह्मचर्य सेवन से यह बात होती है कि जब मनुष्य बाल्यावस्था में विवाह न करे, उपस्थेन्द्रिय का संयम रक्खे, वेदादि शास्त्रों को पढ़ता पढ़ाता रहे, विवाह के पीछे भी ऋतुगामी बना रहे, परस्त्रीगमन आदि व्यभिचार को मन कर्म वचन से त्याग देवे। तब दो प्रकार का वीर्य अर्थात् बल बढ़ता है, एक शरीर का, दूसरा बुद्धि का। उसके बढ़ने से मनुष्य अत्यन्त आनन्द में रहता है॥

३२—अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोधः॥ १।२।३९॥

अपरिग्रह का फल यह है कि जब मनुष्य विषयासक्ति से बचकर सर्वथा जितेन्द्रिय रहता है, तब मैं कौन हूं कहाँ से आया हूं और मुझको क्या करना चाहिये अर्थात् क्या काम करने से मेरा कल्याण होगा इत्यादि शुभ गुणों का विचार उसके मन में स्थिर होता है, ये ही पाँच यम कहाते हैं। इनका ग्रहण करना उपासकों को अवश्य चाहिये।

परन्तु यमों का नियम सहकारी कारण है, जो कि उपासना का दूसरा अंग कहाता है और जिसका साधन करने से उपासक लोगों का अत्यन्त सहाय होता है। सो भी पाँच प्रकार का है। उनमें से प्रथम शौच का फल लिखा जाता है—

३३—शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः॥ १।२।४०॥

पूर्वोक्त (२७ वें सूत्र की व्याख्या में) दो प्रकार के शौच करने से भी जब अपना शरीर और उसके सब अवयव बाहर भीतर से मलीन ही रहते हैं, तब औरों के शरीर की भी परीक्षा होती है कि सबके शरीर मल आदि से भरे हुए हैं, इस ज्ञान से वह योगी दूसरे से अपना शरीर मिलाने में घृणा अर्थात् संकोच करके सदा अलग रहता है।

३४—सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि॥ १।२।४१॥

शौच से अन्तःकरण की शुद्धि, मनकी प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियों का जय तथा आत्मा के देखने अर्थात् जानने की योग्यता होती है।

३५—सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः॥ १।२।४२॥

पूर्वोक्त संतोष से जो सुख मिलता है, वह सब से उत्तम है और उसी को मोक्ष सुख कहते हैं।

३६—कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः॥ १।२।४३॥

पूर्वोक्त तप से उनके शरीर और इन्द्रियाँ अशुद्धि के क्षय से दृढ़ होके सदा रोगरहित रहती हैं।

३७—स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः॥ १।२।४४॥

पूर्वोक्त स्वाध्याय से इष्ट देवता अर्थात् परमात्मा के साथ सम्प्रयोग अर्थात् मिलाप होता है। फिर परमेश्वर के अनुग्रह का सहाय, अपने आत्मा की शुद्धि, सत्याचरण और प्रेम के सम्प्रयोग से जीव शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त होता है।

३८—समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ १।२।४५ ॥

पूर्वोक्त प्रणिधान से उपासक मनुष्य सुगमता से समाधि को प्राप्त होता है ॥

३९—स्थिरसुखमासनम् ॥ १।२।४६॥

जिसमें सुखपूर्वक शरीर और आत्मा स्थिर हो, उसको आसन कहते हैं, अथवा जैसी रुचि हो वैसा आसन करे।

४०—ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥१।२।४८॥

जब आसन दृढ़ होता है तब उपासना करने में कुछ परिश्रम करना नहीं पड़ता और न सरदी गरमी अधिक बाधा करती है।

४१—तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ १।२।४९ ॥

जो वायु बाहर से भीतर को आता है उसको श्वास और जो भीतर से बाहर जाता है उसको प्रश्वास कहते हैं। उन दोनों के आने जाने को विचार से रोके, नासिका को हाथ से कभी न पकड़े, किन्तु ज्ञान से ही उसके रोकने को प्राणायाम कहते हैं और यह प्राणायाम चार प्रकार से होता है।

४२—बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ १।२।५० ॥

एक बाह्य विषय, दूसरा आभ्यन्तर विषय, तीसरा स्तम्भवृत्ति,।

४३—बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ १।२।५१ ॥

चौथा जो बाहर भीतर रोकने से होता है।

ये चार प्राणायाम इस प्रकार से होते हैं कि जब भीतर से बाहर को प्रश्वास निकले तब उसको बाहर ही रोक दे। इसको प्रथम प्राणायाम कहते हैं। जब बाहर से श्वास भीतर को आवे तब उसको जितना रोक सके उतना भीतर ही रोक दे, इसको दूसरा प्राणायाम कहते हैं। तीसरा स्तम्भवृत्ति है कि न प्राण को बाहर निकाले न बाहर से भीतर ले जाये, किन्तु जितनी देर सुख से हो सके उसको जहां का तहां ज्यों का त्यों एक दम रोक दे और चौथा यह है कि श्वास भीतर से बाहर को आवे तब बाहर ही कुछ कुछ रोकता रहे और जब बाहर से भीतर जावे तब उसको भीतर ही थोड़ा थोड़ा रोकता रहे इसको बाह्याभ्यन्तराक्षेपी कहते हैं। इन चारों का अनुष्ठान इसलिये है कि जिस से चित्त निर्मल होकर उपासना में स्थिर रहे।

४४—ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥१।२।५२॥

इस प्रकार प्राणायामपूर्वक उपासना करने से आत्मा के ज्ञान का आवरण अर्थात् ढांकने वाला जो अज्ञान है वह नित्य प्रति नष्ट होता जाता है और ज्ञान का प्रकाश धीरे धीरे बढ़ता जाता है।

उस अभ्यास से यह भी फल होता है कि—

४५—धारणासु च योग्यता मनसः ॥१।२।५३॥

परमेश्वर के बीच में मन और आत्मा की धारणा होने से मोक्ष पर्यन्त उपासना योग और ज्ञान की योग्यता बढ़ती जाती है तथा उससे व्यवहार और परमार्थ का विवेक भी बढ़ता रहता है इसी प्रकार प्राणायाम करने से भी जान लेना।

प्रत्याहार किस को कहते हैं—

४६—स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥१।२।५४॥

प्रत्याहार उसका नाम है कि जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है, तब इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है। क्यों कि मन ही इन्द्रियों का चलाने वाला है।

४७—ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् ।१।२।५५।

तब वह मनुष्य जितेन्द्रिय हो के जहां अपने मन को ठहराना व चलाना चाहे उसी में ठहरा और चला सकता है, फिर उसको ज्ञान हो जाने से सदा सत्य में ही प्रीति हो जाती है, असत्य में कभी नहीं।

४८—देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १।३।१ ॥

जब उपासना योग के पूर्वोक्त पांचों अंग सिद्ध हो जाते हैं। तब उसका छठा अंग धारणा भी यथावत् प्राप्त होती है।

धारणा उसको कहते हैं कि मन को चञ्चलता से छुड़ा के नाभि हृदय मस्तक नासिका और जीभ के

अग्रभाग आदि देशों में स्थिर करके ओंकार का जप और उसका अर्थ जो परमेश्वर है, उसका विचार करना।

४९—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥१।३।२॥

धारणा के पीछे उसी देश में ध्यान करने और आश्रय लेने योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है उसके प्रकाश और आनन्द में अत्यन्त विचार और प्रेम भक्ति के साथ इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है। उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना, किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना, इसी का नाम ध्यान है। इन सात अंगों का फल समाधि है।

५०—तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ १।३।३ ॥

जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्निरूप हो जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय हो के अपने शरीर को भी भूले हुए के समान जान के आत्मा को परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को समाधि कहते हैं।

ध्यान और समाधि में इतना भेद है कि ध्यान में तो ध्यान करने वाला जिस मन से जिस चीज का ध्यान करता है वे तीनों विद्यमान रहते हैं। परन्तु समाधि में केवल परमेश्वर ही के आनन्दस्वरूप ज्ञान में आत्मा मग्न हो जाता है। वहां तीनों का भेद भाव नहीं रहता। जैसे मनुष्य जल में डुबकी मार के थोड़ा समय भीतर ही रुका रहता है, वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न हो के फिर बाहर को आ जाता है।

५१—त्रयमेकत्र संयमः ॥ १।३।४ ॥

जिस देश में धारणा की जाये, उसी में ध्यान और उसी में समाधि अर्थात् ध्यान करने के योग्य परमेश्वर में मग्न हो जाने को संयम कहते हैं। जो एक ही काल में तीनों का मेल होना है अर्थात् धारणा से संयुक्त ध्यान और ध्यान से संयुक्त समाधि होती है। उन में बहुत सूक्ष्म काल का भेद रहता है, परन्तु जब समाधि होती है, तब आनन्द के बीच में तीनों का फल एक ही हो जाता है॥

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका उपासनाप्रकरण)॥

अब मैं कौन उपाय करूं-भवसागर पार तरूं

लेखक—श्री पू० महात्मा आनन्द स्वामी जी महाराज, श्रीनगर काश्मीर

संसार-सागर के थपेड़ों में, इस की भयंकर तरंगों में, और नाना समुद्रीय प्राणियों में, अपने आप को घिरा पाकर इस सागर में गोते खाने वाला पुकार उठता है कि क्या कभी इस से छुटकारा मिल सकेगा? संसार सागर की गति को देख कर, इस में पड़े जीवों की दयनीय अवस्था को निहार कर, प्राणियों के हाहाकार को सुन कर मानव को यह प्रतीत होने लगता है, कि बहुत बुरी तरह से फंस गये हैं, कैसे यहां से निकलना हो सकेगा? कैसे इस अथाह सागर को पार कर पायेंगे?

सारे दर्शनों के ऋषियों ने केवल इसीलिये दर्शन ग्रन्थ बनाने का कष्ट उठाया, ताकि किसी प्रकार संसार के दुखों से मुक्ति मिल जाये, और दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति हो जावे। परन्तु यह संसार—सागर न तो दुःख-सागर है और नही सुख-सागर है, यह तो परमात्मा की अपार कृपा का एक प्रत्यक्ष उदाहरण है, जिस के द्वारा हर एक प्राणी को सुअवसर मिलता है कि वह भोग भी भोगे, और आनन्द स्वरूप के परम धाम—आनन्द धाम में पहुंच कर आनन्द ही आनन्द, मोद ही मोद, तथा प्रमोद ही प्रमोद को प्राप्त कर ले।

"यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुदः आसते।"
(ऋ० ९—११३—११)

और यह मानव देह तो मिलता ही इसी उद्देश्य को

पूर्ति के लिये हैं, ताकि जन्म जन्मान्तर के किये कर्मों के फल भोगते हुए प्यारे प्रभु से मिलाप का शुभ प्रयत्न हो सके—

इयं ते यज्ञिया तनूः स (यजुः)

तेरा यह तन पूज्य प्रभु से मिलने का साधन है।"

अपने प्रियतम से मिलने का साधन शरीर तो मिल गया, परन्तु मानव तो इसे पाकर अधिक दुःखी हो उठा है, और कितने मानव तो इतने घबरा उठते हैं कि इस पवित्र, दुर्लभ साधन को तोड़ फोड़ कर परे फैंक देना चाहते हैं। कोई तो इसी प्रतीक्षा में रहते हैं कि यह मट्टी में कब मिले, कोई अपने दुःख को भूलने के लिये मादक द्रव्यों का सेवन करने लगते हैं, कोई दो घड़ी के लिये 'गम—गलत' करने के लिये सिनेमा आदि खेलों की शरण लेते हैं, कोई ताश, शतरंज ले बैठते हैं, कोई अभक्ष्य, स्वादु पदार्थों में मन को अटका लेते हैं, और कोई स्पष्ट आत्महत्या करके समझते हैं कि छुटकारा हो गया। स्पष्ट आत्महत्या हो अथवा अस्पष्ट, यह सारे कृत्य आते आत्म—हत्या की संज्ञा ही में हैं, यह आत्महत्यारे यह भूल रहे हैं, कि संसार सागर से पार होने का साधन आत्म—हत्या नहीं। विचार तो सही मानव ! कि इस शरीर को छोड़ कर क्या दुनिया को भी छोड़ सकोगे, और कहीं विश्राम पा सकोगे ? कवि ने ठीक कहा है—

अब तो घबरा के कहते हैं कि मर जायेंगे।
मरकर भी चैन न पाया तो किधर जायेंगे।

छूटने के, पार हो जाने के ये तरीके सर्वथा बन्धन तथा दुःख के हेतु हैं;—दर्शन शास्त्रों के अनुसार जब तक द्रष्टा (जीवात्मा) का दृश्य (प्रकृति से बने जगत्) के साथ सम्बन्ध है, तब तक दुःख—सुख, मरण—जन्म, पाप—पुण्य यह द्वन्द्व बने ही रहेंगे। दुःख—सुख का, अनुभव करने वाला जीवात्मा ही है, परन्तु यह अनुभव तब करता है, जब शरीर, इन्द्रिय और इन्द्रियों के विषयों के साथ आत्मा का सम्बन्ध होता है। इन तीन प्रकार के बन्ध के आत्यन्तिक नाश होने पर ही भव—सागर से पार होने का शुभ अवसर मिलता है।

दुःखों से अत्यन्त निवृत्तिका साधन यही है कि इधर उधर भटकने की अपेक्षा उस परम वैद्य के पास पहुंचें जो दुःखों, कष्टों, क्लेशों से परे, पूर्ण परम आनन्द है, और जिस की सहायता से मानव तीव्र—इच्छा, बुद्धि पूर्वक भरसक

प्रयत्न, तीव्र वैराग्य और पर्याप्त अभ्यास से आनन्द—धाम तक जा पहुंचता है।

वहां तक कौन नहीं पहुँचते :—

जब यह जगत् रचा ही इसी लिये गया, और यह मानव शरीर दिया ही इस लिये गया, ताकि मनुष्य परमानन्द को प्राप्त कर सके, तब वह प्रभु मिलता क्यों नहीं, वह दर्शन देता क्यों नहीं, छिपा क्यों बैठा है वह ? वास्तविक तथ्य तो यह है कि छिपा हुआ वह नहीं, हम ने ही अपनी आंखें बन्द कर रखी हैं, ऋग्वेद के दसवें मण्डल में स्पष्ट बतलाया है कि:—

ओम् न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्
युष्माकमन्तरं बभूव। नीहारेण प्रावृता
जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति।
(ऋ० १०-८२-७)

"जिस (परमात्मा) ने (सब को) जन्म दिया है, वह तुम से अलग है, पर है तुम्हारे अन्दर। तथापि तुम उस को जानते नहीं हो। (क्यों नहीं जानते ? इस लिये कि प्रायः लोग) (१) कुहर—अविद्या—अज्ञान से ढपे हुए हैं (२) व्यर्थ के वादविवाद ही में रत हैं (३) प्राणों के पोषण में तत्पर—पेटू बने हुए हैं, अथवा (४) उक्थ—कोरे भजन—कीर्तन में लगे हुए ही, आयु बिता देते हैं।"—

इस माया के मायाधर को, नानारूप धारण करने वाली प्रकृति के प्रेरक को; इस आभाविहीन जड़ माया में सुन्दरता भरने वाले कारीगर को; चन्द्रमा की चन्द्रिका के स्वामी को; हां इस सारे खेल के सूत्रधार को देखने में मानव क्यों सफल नहीं होता, इस का रहस्य ऊपर के मन्त्र में बतला दिया है। अविद्या या अज्ञान के कुहरे ने जिन मनुष्यों के अन्तःकरण को ढांप रखा है, वह मायापति को कैसे देख पायेंगे, अविद्या ही तो मूल कारण है सारे क्लेशों तथा दुःखों का, इस अविद्या के वशीभूत हुआ मनुष्य अनात्म को आत्मतत्त्व समझ बैठता है, वास्तव में जो विषय और पदार्थ दुःख का कारण हैं उन्हीं में सुख मानने लगता है; अपवित्र को पवित्र समझ कर उसी की पूजा में तत्पर रहता है। परन्तु यह अविद्या या अज्ञान आता कहां से है, क्यों यह कुहरे की तरह मनुष्य के अन्तःकरण पर छा जाती है ? हमारे पूर्वजों ने सूक्ष्म से सूक्ष्म बात की खोज की, और उस का पता भी पा लिया—सुनिये यह अविद्या कहां से आती है ?—सृष्टि-विज्ञान के ज्ञाता जानते

है कि सोई हुई तीनों गुणों—सत्–रज–तम–में सम अवस्था वाली प्रकृति में जब परमात्मा ने अपनी सविता शक्ति द्वारा गति उत्पन्न की तो उस का सब से पहला परिणाम 'महत्तत्त्व' था। यह महत्तत्त्व सतोगुण की विशुद्धता से समष्टि रूप में सत्त्वमय चित्त कहलाता है, इसी से व्यष्टि चित्त बनते हैं, इन व्यष्टि चित्तों में जो लेश मात्र तम होता है, उसी तम में अविद्या रहती है और जब आत्मा द्वारा चित्त प्रति बिम्बित होता है, तो आत्मा अविद्या के कारण यह समझने लगता है कि चित्त मैं ही हूं—बस यहीं से सारे क्लेशों, दुःखों, राग द्वेषों का भान होने लगता है। चित्त में आत्म बुद्धि कर लेना दुःख सागर में डूबे रहना है, यही तो हृदय-ग्रन्थि है, जिसे खोले और तोड़े बिना शान्ति मिलती नहीं। योग मार्ग में इस अविद्या–अज्ञान–हृदय ग्रन्थि को दूर करने का उपाय "विवेकख्याति" बतलाया है, विवेकख्याति उस अवस्था का नाम है जब साधक आत्म अनात्म वस्तुओं को पृथक् २ देख लेता है, इस का क्रम जो अनुभव में आया है वह यह है कि—

यम नियमों को अपने जीवन का अंग बनाते हुए, आसन को दृढ़ कर पहले प्राणायाम द्वारा नाड़ी शुद्धि की जाती है, तब ग्रीवा, पीठ सीधी रख कर, नेत्र मूंद कर ध्यान भृकुटि—आज्ञा चक्र में जमाया जाता है, निरन्तर बार २ यह धारणा करने से कि वहां ओम् अक्षर अथवा ज्योति है, जब यह धारणा परिपक्व हो जाती है तो वहां अभीष्ट पदार्थ अन्तर चक्षु से दिखाई देने लगता है, तब वही ज्योति ललाट चक्र से होती ब्रह्म रन्ध्र—जो विज्ञान का एक केन्द्र है और जहां मन मण्डल, बुद्धि मण्डल तथा इन्द्रियों के सूक्ष्म गोलक हैं—में जा पहुंचती है। इसी को सहस्रार चक्र भी कहते हैं। यहां मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों को भिन्न २ रंगों में देखा जाता है, यहीं दिव्य निर्मल शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का साक्षात्कार होता है, यह ध्यान की पहली परिपक्व अवस्था है। कितने ही मतों वाले इस तमाशे ही को वास्तविक दर्शन समझ बैठे हैं, परन्तु यह तो सब के सब भौतिक पदार्थ हैं, चाहे दिव्य और सूक्ष्म हैं। इन पञ्चतन्मात्राओं से भी अन्तरमुख होना होता है और फिर ध्यान की दूसरी परिपक्व अवस्था में 'अहंकार' का साक्षात्कार होता है, परन्तु यह अहंकार भी तो भौतिक वस्तु है–अतएव इस अहंकार से भी अन्तरमुख होकर ध्यान की तीसरी परिपक्व अवस्था में 'अस्मिता' का साक्षात्कार होता है। यह अस्मिता वही महत्तत्त्व ही तो है, परन्तु है तो भौतिक ही। अब इस अस्मिता से भी अन्तरमुख होकर ध्यान की चौथी परिपक्व अवस्था में 'प्रकृति' का साक्षात्कार होता है—हां उस प्रकृति का जो तीनों गुणों की सम अवस्था वाली है, चाहे यह अत्यन्त सूक्ष्म और अनिर्वचनीय ही है परन्तु है तो भौतिक ही, इस लिये इस प्रकृति को भी भूल कर ध्यान की जब पांचवीं परिपक्व अवस्था आती है तब आत्मा का साक्षात्कार होता है। अब साधक ने अनात्म वस्तुओं के अतिरिक्त आत्म तत्त्व भी देख लिया, वह दोनों के भेद को जान गया उसे विवेकख्याति का स्थान प्राप्त हो गया, जहां पहुंच कर अविद्या अज्ञान का नाश हो जाता है।

जब आत्म-दर्शन पाकर अविद्या का अन्धकार दूर हो गया तो अब वेद मंत्र में बतलाई अगली तीन बातें स्वयमेव हट जाती हैं—साधक व्यर्थ का वाद विवाद क्यों करेगा? अब तो कुछ कहने सुनने के लिये शेष रहा ही नहीं। साधक शारीरिक रक्षा के लिये—इस अन्नमय कोश तथा प्राणमय कोश के लिये केवल आवश्यक सामग्री तो जुटा देगा इस से अधिक नहीं, और यह सामग्री भी इसी लिये एकत्र की जायगी ताकि 'इमम् अमृतं सुखं रथं'—इस अमृत तक पहुंचने में सहायक सुखप्रद रथ पर—स्थित होकर परम धाम को पहुंच सके। तब वह पेटू नहीं बनेगा, इन्द्रियों ही को सन्तुष्ट करने और इन्हीं की पूजा करने वाला विरोचनबुद्धि नहीं बनेगा, न ही वह कोरा कीर्तन करने वाला केवल दिखाने मात्र के लिये भजन करने वाला भी नहीं होगा, क्योंकि वह उस अन्दर वाले अपने प्यारे से मिलने के अलौकिक स्वाद को चख चुका है।

मानव यदि चाहता है कि वह इस सागर से पार हो जाये तो उसे (१) विवेकख्याति द्वारा अविद्या–अज्ञान–दूर करना होगा, (२) बक-बक झक झक से बचना होगा, (हो सकता है मौन साधना का नियम इसी लिये बनाया गया हो) (३) केवल शरीर रक्षार्थ खान पान करते हुए इन्द्रियों के पीछे पागल नहीं बनना होगा। और (४) हृदय में उसी प्यारे को बिठला कर उस का मानसिक जप तथा उस के गुणों का चिन्तन करना होगा, केवल कोरा कीर्तन नहीं। इन के विपरीत चलने वाले आनन्द धाम तक पहुंच नहीं पायेंगे और दुःख सागर की तरंगों में ऊपर नीचे जन्म मरण के चक्र में उलझे रहेंगे—वेद भगवान् ने यह बात भी छिपाकर नहीं रखी कि कौन लोग उसे पाते हैं—सामवेद के ३८ वें मंत्र में स्पष्ट आदेश है:—

त्वे अग्ने स्वाहुत प्रियासः सन्तु सूरयः। यन्तारो ये मघवानो जनानामूर्वं दयन्त गोनाम्॥

"हे सब जीवों के हितकारी अग्ने प्रभु। तुझे प्रिय हों—कौन? (१) (सूरयः) ज्ञानी-विद्वान्-स्वाध्याय-शील लोग, (२) (यन्तारः) मन का वशीकार करने वाले, (३) (ये जनानां मघवानः) जो मनुष्यों में इन्द्र बनते हैं। (४) (गोनां ऊर्वं दयन्ते) इन्द्रियों के समूह को सुरक्षित करते हैं।"

ऊपर ऋग्वेद के मंत्र में यह बतलाया था कि चार अवगुण जिसके अन्दर हों वह परमात्मा का दर्शन पा नहीं सकते और सामवेद के इस मंत्र में वह चार गुण बतलाये हैं जिन के द्वारा साधक परमात्मा का प्यारा बन कर उसी का हो जाता है। इस मंत्र में तीसरा गुण इन्द्र बनना बतलाया है, इन्द्र की डिग्री उस को मिलती है जो हर प्रकार के असुरों पर विजय प्राप्त कर ले, अर्थात् 'जम्भ असुर' हर समय खाने ही की सोचते रहना, जैसे आजकल यह वृत्ति बन रही है कि "खाओ पीओ और ऐश उड़ाओ" या रोटी ही रोटी के नारे लगाते रहना। 'बल असुर'—निर्बलों पर अत्याचार करने की भावना। क्रोध तथा अभिमान में फूले रहना इस प्रकार की सारी वृत्तियां आसुरी वृत्तियां हैं, इन को जो जीत लेता है, वह इन्द्र है। प्रभु-प्रिय बनने के लिये इन्द्र बनना आवश्यक है। ज्ञान के बिना तो एक भी पग प्रभु-दर्शन के मार्ग पर उठाया नहीं जा सकता, परन्तु कोरा ज्ञान भी कुछ नहीं, जब तक साधक का अधिकार मन तथा इन्द्रियों पर नहीं हो जाता। परमात्मा का निवास होता ही उस हृदय में है, जो वासनाओं और अज्ञान के अन्धकार से खाली हो। सामवेद के पहले ही मंत्र में बतला दिया है—

नि होता सत्सि बर्हिषि।

हृदय मन्दिर को जब सर्वथा निर्मल बना लिया जायेगा तभी तो वह परम ज्योति वहां जागेगी। मन को रखूँ मलिन, अन्तःकरण में मल, विक्षेप, तथा आवरण के दोष विद्यमान रहें और फिर भी प्रभु—दर्शन न होने की शिकायत होती रहे तो यह उचित न होगा। मैं तो माया का चेरा बना रहूँ-पूजा करूँ प्रकृति की। विकारों और भोगों के अम्बार एकत्र करता रहूँ। और चाहूँ पहुंचना उस परम उज्वल, निर्विकार, माया से परे, आनन्द धाम के स्वामी के पास; कैसे हो सकेगा यह? हां। यदि सामवेद के आदेशानुसार चार गुण भक्त के हृदय को रंगदें और हृदय में प्रभु ही प्रभु विराजमान हो जाये तो फिर यह संसार जो दुःखों का सागर प्रतीत होता है, सुख सागर दृष्टिगोचर होने लगेगा, क्योंकि अन्तःकरण आनन्दस्वरूप भगवान् के प्रेम से भरपूर हो चुका है। उर्दू के एक कवि ने ठीक कहा है-

उलफ़त में बराबर है। वफ़ा हो कि जफ़ा हो।
हर चीज़ में है लज़्ज़त, गर दिल में मज़ा हो॥

फिर दुःख दुःख ही नहीं रहता, वह तो परम प्यारे का प्रेम कटाक्ष हो जाता है।

डूबन जवें न बात कछु तें जैं लागि लाग।
जहाँ प्रीति काची नहीं, काह पानी काह आग॥

ऐसी मस्ती आते ही प्रभु प्यारे के ओम् नाम की रट हृदय में लग जाती है, एक २ प्राण से उसी की ध्वनि आने लगती है, सचमुच प्रभु—नाम एक ऐसा नशा है जो तीव्र ही होता जाता है—

"सुरा त्वमसि शुष्मिणी॥ (यजु० १९-७)
"बलकारी सुरा तू है।"

अब वह अवस्था आने लगती है जब साधक अनुभव करने लगता है कि वह इस संसार सागर से पार होने के लिये एक दिव्य नय्या पर चढ़ बैठा है:—

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्। दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये॥ (ऋ १०। ६३। १०)

दिव्य नौका पर चढ़ बैठो—यह नय्या रक्षा करने वाली, विस्तृत—विशाल है, अपराध रहित है, उत्तम गति वाली और उत्तम चप्पू हैं इस के। यह दिव्य नौका परमात्मा का दृढ़ विश्वास ही तो है। इसी नौका पर बैठ कर उस प्रभु के पवित्र ओम् नाम की तीव्र बलकारी सुरा पीते चलो, और मन्द-मन्द चलने वाले वायु से नीले २ आकाश से, सर्वत्र व्यापक अग्नि से कहो:-

ओम् उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय। अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनु शोचतु।

(अथर्व ६-१३०—४)

(मरुतः) प्राणो—वायुओ! (उत् मादयत) मुझे मस्ताना बना दो (अन्तरिक्ष उत् मादय) आकाश! मुझे बेसुध कर दे, (अग्ने त्वं उत् मादय) अग्ने! तू भी मुझे

(१) प्रेम (२) अनुकूल (३) प्रतिकूल (४) स्वाद।

प्रेमोन्मत्त कर दे (असौ) वह भी (मां अनुशोचतु) मेरे लिये विकल हो जाय ।"

ठीक ही तो है, जब साधक उसके लिये तड़प उठा है तो वह भी तो विकल हो—कवि ने खूब कहा है:—

उलफ़त का तब मज़ा है दोनों हों बेक़रार।
दोनों तरफ़ हो आग बराबर लगी हुई॥

भक्त या साधक को ऐसा कहने का अधिकार हो जाता है। अब संसार के दुःख उसके लिये प्रयोगशाला के अनुसन्धान हो जाते हैं और साधक दुनिया में, शरीर में रहता हुआ भी अपने आप को इस से सर्वथा पृथक् समझ कर न दुःखी होता है, न सन्तप्त। यही उपाय है भवसागर से पार होने का।

—•—

सोम

[लेखक—श्री० डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल, प्राध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी]

यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः। ऋ० ५।४४।१४

जागरूक अर्थात् प्रज्ञावान् पुरुष के साथ ही सोम सख्य या मैत्री की इच्छा करता है। वेदों में सोम शब्द बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस शब्द के कितने ही अर्थ ब्राह्मणकारों ने दिए हैं, यथा—**रेतो वै सोमः, (कौ०, श०, तै०), अन्नं सोमः (श०), सोमो प्रजापतिः, प्राणो वै सोमः (तां०), हविर्वै देवानां सोमः (श०), यशो वै सोमः (श०), क्षत्रं वै सोमः (कौ०, ऐ०), वर्चः सोमः (श०), रसः सोमः (श०) शुक्रः सोमः (तां०), सोमो वै ब्राह्मणः (तां०) ब्राह्मणानां उ (सोमः) भक्षः (ऐ०)।**

अग्नीषोमाख्य नियम सृष्टिव्यापक विराट् द्वन्द्व है, जिससे समस्त जीवन नियन्त्रित होता है। शतपथ में कहा है यद्वा **आर्द्रं यज्ञस्य तत्सोम्यम्, यच्छुष्कं तदाग्नेयम्**'। अग्नि-षोम ही सृष्टि की वैज्ञानिक व्याख्या है। '**अग्नीषोमात्मकं जगत्**' इस सूत्र में सब कुछ अन्तर्निहित है। मनुष्य एक अग्नीषोमीय पशु है। समस्त यज्ञों में संस्कारार्थ इसी की अपेक्षा है। परंतु यहाँ आज हम सोम के विशेष आध्यात्मिक अर्थ की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं। ऊपर लिखे हुए ब्राह्मण वचन में अत्यन्त स्पष्टता से सोम का अर्थ वीर्य या रेत किया गया है। यज्ञ में हिरण्य देकर सोम लिया जाता है। इसका अर्थ शतपथ (३।३।३।६) में इस प्रकार है। 'शुक्रं ह्येतच्छुक्रेण क्रीणाति यत्सोमं हिरण्येन' (श० ३।३।३।६)। हिरण्य भी रेत की ही संज्ञा है। शुक्र से शुक्र की प्राप्ति होती है। यही यज्ञ के द्वारा यज्ञ करना है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः,
तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। य० ३१।१६

ब्रह्मचर्य आश्रम में रेत के संचय से ही वीर्य प्रजा तेज आदि की संप्राप्ति होती है। प्राण की आहुति से प्राण पुष्ट होते हैं। शरीरस्थ शुक्र जब शरीर में ही पचाया जाता है तब ही शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक निर्मलता, प्रसन्नता और शान्ति प्राप्त होती है।

मनुष्य शरीर में वीर्य रेत सबसे मूल्यवान् पदार्थ है। यह सोम जिन नस नाड़ियों में व्याप्त रहता है वे ही सोम-वल्ली हैं। इनको ही केन्द्रीय नाड़ी जाल कहते हैं। यह नाड़ीजाल मनोमय वाङ्मय पुरुष की प्रतिष्ठा है। मस्तिष्क इसका ही एक भाग है। मस्तिष्क की संज्ञा ही स्वर्ग है।

अष्टा चक्रा नव द्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।
(अथर्व १०।२।३१)

आठ चक्रों और नौ द्वारों से युक्त यह शरीर देवों की

नगरी अयोध्या है; इसी में ज्योति से भरा हुआ सोने का कोष है जो स्वर्ग है। सोने का यह पात्र या खजाने से भरा हुआ संदूक मस्तिष्क ही है। यही नीचे मुँह और ऊपर पेंदी वाला करछुल, चम्मू या घट है, जिसके किनारों पर सप्तऋषि (सप्तशीर्षण्य प्राण-चक्षु, कर्ण, नासा, मुख) स्थित हैं–

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः। तदासत ऋषयः सप्त साकम्। (अथर्व १०।८।९)।

यह शरीर सोम कूटने की ग्रावा है—

बृहन्नद्रिरभवद्यच्छरीरम्। (अथर्व ९।४।५।)

कूटने पीसने छानने के बाद निर्मल सोम से भरा हुआ शीर्षरूपी कलश इस शरीर में रहता है—

सोमेन पूर्णं कलशं बिभर्षि (अथर्व ९।४।६)

अनंत प्रकार से पुष्ट होने वाला जो प्राणतत्त्व है उसे अध्यात्म परिभाषा में ऋषभ कहा गया है। उस प्राणरूपी ऋषभ का रेत ही इस शरीररूपी यज्ञ में पड़ने वाला घृताज्य है। यही अध्यात्म यज्ञ है—

आज्यं बिभर्ति घृतमस्य रेतः साहस्रः पोषस्तमु यज्ञमाहुः। (अथर्व ९।४।७)

सोम इस शिर की रक्षा करता है। **अंशुः⋯⋯रक्षते शिरः** (ऋ० ९।६८।४) और भी

सुत इन्द्राय विष्णवे सोमः कलशे अक्षरत्। चमूषु आ निषीदति। (ऋ० ९।६३।३, २)

मस्तिष्क का प्रतिनिधि ही यज्ञ में द्रोण कलश है, जिसमें सोम छान कर भरा जाता है (**दधानः कलशे रसम्।** ऋ० ६।६३।१३)। उसी में से हम ऐन्द्रवायव (वाक् + प्राण) मैत्रावरुण (चक्षु + मन), और आश्विन(श्रोत्र + आत्मा), इन इन्द्रियरूपी पात्रों या ग्रहों में इस सोम को भर कर पी रहे हैं। सोम इन्द्रियों का रस है (**आत्सोम इन्द्रियो रसो, वज्रः सहस्रसा भुवत।** ऋ० ९।४७।३)।

ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण और आश्विन, ये सब प्राण के ही नामान्तर हैं, क्योंकि प्राण ही दो देवताओं वाला (द्विदेवत्य) और एक पात्र में भरा हुआ सोम है। अथवा प्राण ही दो पात्रों में भरा हुआ किन्तु एक नाम वाला है।

(**प्राणा वै द्विदेवत्याः, एकपात्रा गृह्यन्ते, तस्मात् प्राणा एकनामानो द्विमात्रा हूयन्ते तस्मात्प्राणद्वन्द्वम्।** ऐ० २।२७)

अयं⋯सरांसि धावति। (ऋ० ९।५४।२)

यह सोम छाना हुआ सरोवरों में भर जाता है। मस्तिष्क में जो तीन प्रधान चमू या वापियां (ventricles) हैं वे ही यज्ञ के कलश हैं–

इदं तदद्य नाकस्त्रिषु पात्रेषु रक्षति। (ऋ० १०।१०।१७)

इनको ही आधुनिक शरीरविज्ञान की परिभाषा में (सेरीब्रल वेन्ट्रिकिल्स) कहते हैं। इनकी संख्या चार भी मानी जाती है (**रायः समुद्रांश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः। आ पवस्व सहस्रिणः।**) (ऋ०९।३३।६)

पवमान सोम स्वर्ग से और अन्तरिक्ष से पृथिवी के शृगों (सानुनि)पर आता है(**पवमाना दिवस्पर्यन्तरिक्षादसृक्षत। पृथिव्या अधि सानवि,** ९।६३।२७) ऋ० ९।६४।६ में कहा है कि दिव्य पार्थिव और अन्तरिक्ष सोम को पवित्र करो। फिर, सोम द्युलोक का हेतु या प्रकाश है [**केतुं कृण्वन् दिवस्परि विश्वरूपाभ्यर्षसि** ऋ० ९।६४।८]। सोम द्युलोक का अमृत; वह द्युलोक का शिशु है।

दिवः पीयूषं⋯सोमं [ऋ० ९।५१।२]

दिवः शिशुम्। ऋ० ९। ३३।५

सोम को उदीची दिशा का स्वामी कहा है। सोम इन्द्रियों का रस है। सोम के त्रिविध स्थान को यों समझना चाहिए।

नर्वस सिस्टम के तीन भाग हैं [**त्रिभिः धामभिः पुनीहि,** ९।६७।२६]

द्युलोक—सेरीब्रम (Cerebrum)—सर्वोच्च मस्तिष्क

अन्तरिक्ष—मेडुला ओबलोंगाटा (Meadulla oblongata)—मध्य मस्तिष्क

पृथ्वी—स्पाइनल काल्म (Spinal column) मेरुदण्ड या केन्द्रीय नाड़ी जाल।

सोम को त्रिपृष्ठ कहा जाता है [वृषा, त्रिपृष्ठो ऋ० ९। ७१।७]। पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ—ये तीन स्थान ही सोम के तीन पृष्ठ हैं। सुहुताद गौएं अर्थात् इन्द्रियाँ अपने दुग्ध देने वाले ऊधस् को मूर्धा या मस्तिष्क में मिला कर दूध की वर्षा करते हैं [ऋ० ९।७१।४]। इन्द्रियों का संयम करने से मस्तिष्क के सोम में इन्द्रियरूपी गौओं का दुग्ध या तेल मिलता रहता है। कहा है—

तव शुक्रास अर्चयो: दिवस्पृष्ठे [ऋ० ७।६६।५]।

द्युलोक के स्थान में सोम की प्रकाशमान अर्चियां हैं। यज्ञ का आत्मा सोम है [सुन्वन्ति सोममद्रिभिः। ऋ० ९।३४।३; सुष्वाणो अद्रिभिः; ऋ० ९।६७।२]। आत्मा यज्ञः ऋ० ९।६७।१९]। दश प्राण ही सोम के दश अंशु हैं। कहा है कि सप्त सिन्धु सोम के ही अनुशासन को मानते हैं [तमेवे सप्त सिन्धवः प्रशिषं सोम सिस्रते, ऋ० ९।६६।६]। शरीर में सप्त प्राण धाराएं सप्तसिन्धु हैं। एक मन्त्र में सोम को पांचजन्य पुरोहित कहा है—

अग्निः पवमानः पांचजन्यः पुरोहितः तमीमहे महागयम्।

इंद्रियां ही पंचजन हैं।

सोम इस शरीर रूपी रथ या शकट पर लादा जाता है—

ते त्रिपृष्ठे त्रिवन्धुरे रथे युंजन्ति यातवे।
ऋषीणां सप्त धीतिभिः। [ऋ० ९।६२।१७]

तीन पृष्ठ वाला रथ यह शरीर है। सप्त ऋषियों की धी या स्तुति से यह जुता हुआ है। सोम शरीररूपी ऋत के सदन में सुत होता है [सुता ऋतस्य सादने। ऋ० ९।१२।१]। उसी से ऋतम्भरा प्रज्ञा होती है।

एक स्थान पर सोम के अधिश्रयण या परिपाक का वर्णन है—

सोमो गौरी अधिश्रितः [ऋ० ९।१२।३]

कन्या की संज्ञा गौरी है। विवाह से पूर्व कौमार अवस्था में सोम का गौरी कन्या के शरीर में प्रकृति द्वारा अधिश्रवण या पचन होता है। सोम इस शरीर गुहा में संचित है जहां द्युलोक या मस्तिष्क में ज्ञानी लोग उसे विवेक की आंख से देख पाते हैं—

अध्वर्युभिः गुहा हितं सूरः पश्यति चक्षसा। (ऋ० ९।१०।९)

अप्रेचत अज्ञानी उसकी अवहेलना करते हैं। जो ज्ञानी धीर प्रचेता हैं, वे सोम की उत्पत्ति, उसके परिपाक एवं उसकी अनेक रहस्यमयी शारीरिक और मानसिक प्रक्रियाओं को देखते हैं:—

आ यद् योनिं हिरण्ययमाशुर्ऋतस्य सीदति।
जहाति अप्रचेतसः। [ऋ० ९। ६४। २०]

ऋत की हिरण्मयी योनि मस्तिष्क है। इसे ही अथर्ववेद में हिरण्य का कोष एवं स्वर्ग कहा गया है। यहां सोम जब प्रतिष्ठित होता है, तब अप्रचेत या अज्ञान छूट जाता है।

अभि वेना अनूषतेयक्षन्ति प्रचेतसः।
मज्जन्त्यविचेतसः। [ऋ० ९।६४।२१]

जो आत्मदर्शी हैं वे सोम का गान गाते हैं। जो विवेक शील हैं, वे सोम का यजन करते हैं। जो मूर्ख हैं वे सोम के क्षय से डूबते और नीचे गिरते हैं।

इन्द्रायेन्दो मरुत्वते पवस्व मधुमत्तमः।
ऋतस्य योनिमासदम् [ऋ० ९।६४।२२]

मरुत् संज्ञक प्राणों के मध्य में समिद्ध होनेवाला जो मुख्य प्राण इन्द्र है, उसके लिये हे मधुमान् सोम, तुम अर्पित हो। शरीर का जो मधु भाग है उसको संचित रखने वाले मधुमय रस तुम्हीं हो, ऋत की योनि मस्तिष्क है उसमें सोम का स्थान है।

ऋधक् सोम स्वस्तये संजग्मानो दिवः कविः।
पवस्व सूर्यो दृशे। (ऋ० ९।६४।३०)

क्रान्तदर्शी सोम मस्तिष्क या शीर्षरूपी द्युलोक (स्वर्ग) से स्वस्तिभाव के लिये प्रवाहित होता है। सूर्य के समान तेजस्वी सोम का हम दर्शन करें।

आ पवस्व सहस्रिणं रयिं सोम सुवीर्यम्।
अस्मे श्रवांसि धारय। (ऋ० ९।६३।१)

हे सोम, अपरिमित वीर्य और रयि को हमारे शरीरों में पवित्र करो, जिससे हम सुयशस्वी बनें। सोम सिन्धु मातृक है (सिन्धुमातरम्। ऋ० ९।६१।७) अर्थात् नदीरूप नाड़ियों से सोम रस का क्षरण होता है। सोम को प्रत्न पय (दुहानः प्रत्नमित्पयः। (ऋ० ९।४२।४) या सनातन रस कहा गया है। सोम ही शरीररूपीयज्ञ में प्राचीनतम रस है। सोम ही परम अमृत है। सोम ही रेत, प्राण, वर्च, प्राण, हिरण्य, शुक्र और चान्द्रमस पीयूष है। यह सोम दो ग्रावाओं से अभिषुत होकर शिरः कपालों के मध्य में सम्भृत होता है। इसको पान करने वाला इन्द्र प्राणों का भी प्राण आत्मा है। सोम का अभिषव जन्म से ही होने लगता है, परन्तु हर समय का सोम पृथक् पृथक् है। ऊर्ध्वरेता पुरुष का सोम उत्तरायण मार्ग से देवलोक का सिंचन करता है। शीर्ष ही वह द्युलोक या देवलोक स्वर्ग है। शीर्ष में ही मस्तिष्क प्रतिष्ठित है। वैदिक परिभाषा में मस्तिष्क ही राजा सोम है।

सोमो राजा मस्तिष्कः। (अथर्व ९।७।२)।

इसी दृष्टि से सोम ब्राह्मणों का राजा कहा गया है। जो प्रजा के लिये जीवित रहता है, वही ब्राह्मण है।

जीवनभक्षी दो गीध

[लेखक—श्री प्रोफेसर विश्वनाथजी विद्यालंकार, देहरादून]।

अथर्ववेद ७।९५।१—३, तथा ७।९६।१ में दो गीधों का वर्णन मिलता है। गीध–पक्षियों का काम है मांस भक्षण, मुर्दे के मांस को खाना। अथर्ववेद के इन दो सूक्तों में दो आध्यात्मिक गीधों का वर्णन है। गीधों को इन मन्त्रों में "गृध्रौ" कहा है। ये गृध्र गर्धा के साथ सम्बन्ध रखते हैं। यजुर्वेद अध्याय ४० के प्रथम मन्त्र में कहा है कि "मा गृधः कस्यस्विद् धनम्" इस मन्त्र में "गृधः" पद पठित है। अभिप्राय यह है कि "हे मनुष्य ! तू गर्धा मत कर, उग्र अभिकांक्षा मत कर, लालच-लोभ मत कर"। इस प्रकार गृध् का अर्थ है लोभ, लालच। हमारे जीवनों में लोभ-लालच हमें बहुत तंग करता है। यह लोभ-लालच गृध्र है। आध्यात्मिक दृष्टि से हम देखें तो हमें ज्ञात होगा कि एक तो लोभ का संस्कार होता है, और दूसरा वृत्ति रूप में लोभ होता है। लोभ के संस्कारों को 'नरगृध्र' कहा गया है, और लोभ की वृत्ति को मादा-गृध्र कहा है। संस्कार और वृत्ति में अन्तर यह है कि संस्कार तो मानो दबी हुई आग है, और वृत्ति मानो प्रकट हुई आग है। संस्कार जड़ है वृत्ति की, और वृत्ति अङ्कुर है संस्कार का। अथर्ववेद के वे मन्त्र निम्न लिखित हैं:—

उदस्य श्यावौ विथुरौ गृध्रौ द्यामिव पेततुः।
उच्छोचनप्रशोचनावस्योच्छोचनौ हृदः ॥ १ ॥
अहमेनावुदतिष्ठिपं गावौ श्रान्तसदाविव।
कुर्कुराविव कूजन्तावुदवन्तौ वृकाविव ॥ २ ॥
आतोदिनौ नितोदिनावथो संतोदिनावुत।
अपि नह्याम्यस्य मेढ्रं य इतः स्त्री पुमां जभार ॥३॥
असदन् गावः सदनेऽपप्तद् वसतिं वयः।
आस्थाने पर्वता अस्थुः स्थाम्नि वृक्कावतिष्ठिपम् ॥१॥

इन चार मन्त्रों का अभिप्राय निम्न लिखित है:—

"इस व्यक्ति के दो गृध्र हैं, जो कि काले हैं, और व्यथा देने वाले हैं, वे हृदयाकाश में उड़ते हैं, जैसे कि गीध-पक्षी आकाश में उड़ते हैं। इन के नाम हैं उच्छोचन और प्रशोचन। ये दोनों हृदय में आग लगा देते हैं ॥ १ ॥ मैं इन दोनों को अपने जीवन में से उठा देता हूँ, जैसे कि थक कर बैठी गौओं को उठाया जाता है। ये कुरकुराने वाले पक्षियों की न्याईं कुर-कुर करते रहते हैं, और भेड़ियों की न्याईं इन के मुख से लार टपकती है ॥ २ ॥ ये दोनों सम्पूर्ण जीवन को व्यथा वाला बना देते हैं, निश्चित रूप में व्यथा वाला बना देते हैं, और गहरी व्यथा वाला बना देते हैं। इन की शक्तियों को मैं बान्ध देता हूँ। इन में एक तो नर है और दूसरी मादा है। ये जीवन शक्ति का हरण करते हैं ॥ ३ ॥

गौवें थक कर जैसे गोशाला में आ बैठती हैं, पक्षी थक कर जैसे अपनी वसति में अर्थात् निवास स्थान में उड़ आते हैं, पर्वत जैसे अपने २ स्थानों में स्थित हैं, वैसे ही इन दो गृध्रों को जो कि वृक्क हैं उनके अपने स्थान में स्थित करता हूँ" ॥ १ ॥

(श्यावौ)—इन मन्त्रों में गृध्रों को श्याव कहा गया है। लोभ के संस्कार तथा लोभ से जागतरूपा वृत्ति ये दो गृध्र हैं, गर्धा या लोभ काला है, चूँकि वह तामसिक है, तमोगुण से उत्पन्न होता है। गर्धा वाले या लोभवृत्ति वाले लोग तमोगुणी होते हैं। लोभ रागवर्गी है। राग का ही एक प्रकार लोभ है। गीता में लिखा है कि राग और लोभ रजोगुणी है। यथा—

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १४।१२ ॥

अर्थात् लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का आरम्भ, अशान्ति, चाहना,—ये रजोगुण के परिणाम हैं, गीता की दृष्टि में लोभ रजोगुणी है, तमोगुणी नहीं। तो इन मन्त्रों में लोभ को या गर्धा को श्याव क्यों कहा ?। इस लिये कहा कि राग में जब तमोगुण उचित मात्रा

से अधिक हो जाता है तब लोभ का स्वरूप बनता है। वस्तुतः राग को लोभ में परिवर्तित करने वाला तमोगुण ही है। इस लिये लोभ दबाव है।

(विथुरौ)—लोभ-संस्कार और लोभ-वृत्ति विथुर हैं, व्यथा देने वाले हैं। व्यक्ति लोभ से प्रेरित हो कर उचित समय से अधिक समय के लिये व्यापार में लगा रहता है, धन कमाता रहता है, उस का संग्रह करता रहता है। इस प्रकार धनविभाग में विषमता पैदा हो जाती है। धन पर धन कमाते जाना और अपने गरीब साथियों के भाग को हड़प जाना लोभ का परिणाम है। इस से हमारे सामाजिक, राष्ट्रिय, तथा अन्तर्राष्ट्रिय जीवन व्यथामय बन गए हैं। सम्पत्तिवाद और साम्यवाद, मालिक और धनी मजदूर और गरीब का झगड़ा शान्त हो जाय यदि धन संग्रह की लोभ वृत्ति का बहिष्कार कर दिया जाय। इस प्रकार लोभ-संस्कार और लोभ वृत्ति व्यथा पैदा करने वाले हैं।

(यामित्र)—गीध-पक्षी आकाश में उड़ान लेते हैं और आध्यात्मिक गिध हृदयाकाश में उड़ान लेते हैं।

(उच्छोचनप्रशोचनौ)—लोभ-संस्कार और लोभ-वृत्ति हृदय में अन्तर्दाह उत्पन्न करने वाले हैं। उच्छोचन = उत् + शोचन्। शुच् का अर्थ है दाह या शोक। शोक भी एक प्रकार का अन्तर्दाह है, हृदय की जलन है।

(उद्तिष्ठिपम्)—व्यक्ति जब यह जान जाता है कि लोभ-संस्कार और लोभ-वृत्ति तामसिक रचनाएँ हैं, और ये जीवन में व्यथा देने वाले हैं, तथा हृदय में अन्तर्दाह उत्पन्न करने वाले हैं, तब वह इनको हटाने का संकल्प करता है और वह कहता है कि इन दो गीधों ने जो मुझमें आश्रय रखा है मैं इस आश्रय से इन्हें उठा देता हूँ, उड़ा देता हूँ। इसमें वह दृष्टान्त देता है थक कर बैठी हुई गौओं का। गौएं थक कर जब बैठती हैं तो वे उठना नहीं चाहतीं, इसी प्रकार आध्यात्मिक दो गीध भी हमारे जीवनों में जम कर बैठे हुए हैं। तब भी जैसे थक कर बैठी गौओं को कार्यवश उठा दिया जा सकता है वैसे ही अनुभवी व्यक्ति इन दो गीधों को भी अपने हृदय से उठा देने का संकल्प करता है। वह अनुभव करता है कि ये गीध सदा उसके जीवन में कुरकुराते रहते हैं, सदा उसे चोरी या अन्य अनुचित धन-संग्रह के उपायों में प्रेरित करते रहते हैं। इन दो गीधों को वृक भी कहा है। वृक अर्थात् भेड़ियों की जबान सदा लपलपाती रहती है, इसी प्रकार लोभ-संस्कार और लोभ-वृत्ति भी सदा लपलपाते रहते हैं। उदवन्तौ = उद (उदक) वन्तौ। लोभ के कारण मुख में पानी आ जाना, लार का स्राव हो जाना।

(आतोदिनौ)—ये गीध व्यथा देने वाले हैं, तुद् = व्यथने। ऊपर विथुरौ का भी यही अभिप्राय है। यहाँ व्यथा की गहराई और विस्तार का वर्णन किया है। आतोदिनौ का अर्थ है व्यापक व्यथा देने वाले। आ = व्याप्ति। लोभवृत्ति समग्र जीवन को व्यथामय बना देती है। नितोदिनौ का अर्थ है निश्चित रूप में व्यथा देने वाले, यह नियम है और निश्चित है कि लोभ अवश्य व्यथा देगा। संतोदिनौ का अर्थ है गहरी व्यथा देने वाले। लोभ से जीवन तक को खतरे में डाल दिया जाता है। लोभ के कारण पक्षी जाल में आ फँसते हैं। लोभ के कारण मीन अर्थात् मछली अन्न लगे काँटे तक को निगल जाती है। लोभी व्यक्ति धन-संग्रह के लिये अपने जीवन तक को संकट में डाल देता है।

(स्त्री-पुमान्)—लोभ-संस्कार पुल्लिंग है और लोभ-वृत्ति स्त्रीलिंग है। इसलिये इन्हें स्त्री और पुमान् कहा है। ये शक्तिशाली हैं। ये लोभी के जीवन में अपने ढंग की शक्ति का सेचन कर देते हैं (मेढ्र = मिह् सेचने)। इस शक्तिसेचन से लोभी शक्ति पाकर जगह २ भटकता है और धन-संग्रह करता रहता है।

(असदन्)—समझदार व्यक्ति यह अनुभव करता है कि लोभ दुःखदायी अवश्य है। वह तब तक दुःखदायी है जब तक कि वह असंयत अवस्था में है। संयत अवस्था का लोभ दुःखदायी नहीं रहता। संयत अवस्था में रह कर यह जीवन के लिये सुखदायी रूप धारण कर लेता है। जैसे असंयत अवस्था की काम-वासना व्यभिचार की ओर प्रेरित करती है, परन्तु संयत अवस्था की कामवासना गृहस्थधर्म का रूप धारण करती है। महात्मा बुद्ध, महर्षि दयानन्द, महात्मा गान्धी आदि नररत्न भी तो कामवासना के ही परिणाम हैं। इसी प्रकार लोभ के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि भावनाएँ विधाता की हैं। इनका जीवन में गहरा तात्पर्य है। इनकी जड़ उखाड़ देने के प्रयत्न के स्थान में इनको जीवन में नियन्त्रित अवस्था में रखना यह ही स्वाभाविक स्थिति है। जिसने इस सिद्धान्त को समझ लिया, उसने जीवन की शक्तियों के सदुपयोग का ढंग समझ लिया। फिर ये शक्तियाँ उसके लिये सुखधारा के स्रोत बन जाती हैं। जिसने शक्तियों के सदुपयोग के सिद्धान्त को समझ लिया है वह कहता है कि "मैं लोभ-संस्कार और लोभ-वृत्ति को उसके अपने नियत स्थान (क्षिति) में स्थापित करता हूँ। वह संसार में देखता है कि पशु, पक्षी, तथा जड़ जगत् अपने २ नियत स्थानों में परिस्थित तथा सीमित हैं। इसी प्रकार वह अपने जीवन की शक्तियों को उनके अपने २ स्थान में, अपने २ घेरे और सीमा में नियत कर देने का संकल्प करता है। यही जीवन का दर्शन है, जीवन का तत्त्व है, जीवन की फिलासफी है। मन्त्र ७।९५।२ में लोभ-संस्कार और लोभ वृत्ति को वृकौ कहा है, और मन्त्र ७।९६।१ में वृक्कौ कहा है। दोनों वृक् धातु के रूप हैं। वृक् धातु का अर्थ है 'खाना'। वृक् वृक् अदने। वृकौ पद इसी वृक् धातु से बना है। वृक्कौ में "वृक् + क" इस प्रकार छेद करना चाहिये। वृक् = खाना, + क = करने वाले (कृ धातु)। अर्थात् खाने का काम करने वाले। इसप्रकार वृकौ और वृक्कौ का अभिप्राय एक ही है। लोभ-संस्कार और लोभवृत्ति असंयतावस्था में रह कर जीवन का अशन अर्थात् भक्षण करते हैं, जीवन भक्षी बन जाते हैं। इस प्रकार वृक् धातु का अर्थ सार्थक होता है। मन्त्रों में जो गृध्रौ प्रयोग है वह स्त्री और पुमान् का एक शेष है। इस प्रकार गृध्रौ प्रयोग द्वारा पुमान्-गृध्र और स्त्री-गृध्र इन दोनों का बोध होता है। लोभ-संस्कार पुमान्-गृध्र है और लोभ-वृत्ति स्त्री-गृध्र है। इन्हें ७।९५।३ में स्त्री और पुमान् इसी दृष्टि से कहा है॥

लुप्त वेदार्थ का अनुसन्धान

[ले० श्री० डा० सत्यकाम जी भारद्वाज नई देहली]

पुण्य पवित्र वेदों के विषय में सनातन आर्य विचार यही चला आ रहा है कि विश्व की सर्व सत्य विद्याओं का आदिमूल वेद ही है। इसी धारणा से सब ऋषि मुनि इसे देखते आये हैं और आज कल के युग में महर्षि दयानन्द सरस्वती जी के जीवन से यही प्रकट होता है कि उन्होंने वेदों का पुनरुत्थान ही अपने जीवन का उद्देश्य बना लिया था। उन के जीवन में वेद एक प्रधान स्थान रखता है। आर्यसमाज की स्थापना कर उसके नियम बनाते हुए उन्होंने प्रत्येक आर्य को वेद का पढ़ना पढ़ाना अनिवार्य कर दिया था।

वेद मूल विद्याओं का स्रोत होते हुए भी लुप्त प्रायः है। वास्तव में देखा जाय तो वेदों की विद्या सहस्रों वर्षों से ही लुप्त है। उन्हें पुनः उपलब्ध करने के लिये ऋषियों महर्षियों ने समय २ पर प्रयत्न किये हैं। उपलब्ध वैदिक वाङ्मय द्वापर के अंतिम चरण तथा कलियुग में लिखा हुआ ही मिल रहा है। और जो मिल रहा है वह भारतीय बुद्धि, विचार, और योग्यता के गिरने और देश तथा समाज की बदलती नीति रीति से प्रभावित होकर ही लिखा गया है।

बड़े आश्चर्य की बात है कि अत्यन्त प्राचीन काल में ऋषिओं ने वेद के केवल मंत्रों में अन्तर्हित देवताओं को ही दिखाया। तदनन्तर काल में ऋषिओं ने वेदों के कुछ-कुछ सिद्धान्तों वा भावों को ही लिखा, जो अध्यात्म ज्ञान के लिये उपनिषदों तथा आरण्यकों के रूप में तथा कर्मकाण्डियों के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों के रूप में उपलब्ध हो रहा है। उसके उपरान्त काल में जब वेद अधिक लुप्त होता जा रहा था, तब वेदव्यासादि ने स्वयं तथा अपने शिष्यों तथा प्रशिष्यों द्वारा पुरातन साहित्य का संकलन किया। आश्चर्य यह है कि जब बुद्धि और मेधा शक्ति अधिक थी, तब वेद परक साहित्य लिखने का साहस ऋषिओं को नहीं पड़ा और जैसे-जैसे बुद्धि तथा ज्ञान कम होता गया, वेदों पर अधिक से अधिक लिखना प्रारम्भ हुआ। वेदों पर अधिकतम उपलब्ध भाष्य गत १३०० वर्षों के अन्दर ही लिखे गये हैं और अंतिम मान्य तथा अधिक स्वीकृत भाष्य सायणाचार्य का आज से लगभग ६०० वर्ष पहिले का है और महीधर का यजुर्भाष्य ३६६ वर्ष ही पुराना है। पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं कि इतने अर्वाचीन काल में लिखे वेदभाष्य वा साहित्य में क्या क्या अण्ड बण्ड लिखा हुआ हो सकता है, जब देश के अपने इतिहास, विदेशी प्रभाव तथा जाति के मिश्रण से विचारों में इतना मिश्रण हो चुका था।

पूर्वकालीन उपलब्ध साहित्य में वेदों की त्रैविध्य पर बल दिया हुआ है और वेद के प्रत्येक मंत्र के ३-३ प्रकार के अर्थ, अर्थात् आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक अर्थ किये जाने की शिक्षा मिलती है। परन्तु उस काल (यास्कादि के काल) में भी वेदों में इतिहास मानने वाले थे। जब ज्ञान वा विद्या की और क्षति हुई और वेद के देवतादि न समझ में आने लगे तो वेद को यज्ञ-प्रधान ही मान कर वेदों के आधियाज्ञिक अर्थ ही किये जाने लगे और वेद के देवता हवन कुण्ड के साथ ही बान्ध दिये गये और वह यज्ञ यागों के इष्ट देव ही बन गये। यज्ञों में उन देवताओं की स्तुति स्तवन कर, अपनी २ इष्टापूर्ति के लिये आहुतियें डाल-डाल कर स्वाहा २ कर के ही अपना तथा संसार का भला मानने लगे। इन यज्ञों वा हवनों से इष्टापूर्ति न होकर, यज्ञ और वेद, हमारी सम्मति में अपमानित ही हुए हैं। इसी प्रचलित प्रथा के अनुसार आजकल भी कहीं पुत्रेष्टि यज्ञ, कहीं विश्वशांति यज्ञ किये जाते हैं, जहां वेदों के देवताओं का मंत्रों द्वारा आह्वान किया जाता और कामना की सिद्धि मानी जाती है। पर न तो पुत्र ही होता है और न विश्वशांति ही। अतः वह वेदमंत्रों के देवताओं की शक्ति, परीक्षा में अनुत्तीर्ण ही होती है, और बद-नाम होती है। यही कारण है लोगों की श्रद्धा इन से हटती गई। ऋषि दयानन्दजी ने इन यज्ञों से आध्यात्मिक लाभ तथा वायुमण्डल की शुद्धि, मन्त्रों की आवृत्ति तथा अश्वमेधादि को शिल्प विद्या (Engineering) का स्वरूप दिया और इन रूपों

में यज्ञ हवन करने को बताये हैं। और इन्हें पुनः उज्जीवित करके और उन देवता वा यज्ञों की शिल्पविद्या को समझ और उनके प्रयोग में सिद्धि मानी है।

वर्तमान वैयाकरणों ने व्याकरण के बल से ही वेदों के रहस्यों को समझने वा समझाने का प्रयत्न किया। परन्तु जिस समय व्याकरण बनी उस समय की भाषा संस्कृत थी, अतः व्याकरण भी संस्कृत की ही बनी। भाषा पहिले होती है और व्याकरण उस भाषा को शुद्ध रखने के लिये आने वाली संतान के लिये बनाई जाती है। अतः व्याकरण संस्कृत भाषा की ही समझी गई। चूंकि वेदों की भाषा संस्कृत नहीं, अतः व्याकरण वेद पर सफलतया नहीं लग सकी। वेद व्याकरण में नहीं बंध सके, न उससे सुलझ ही सके। वास्तव में वेद की भाषा से संस्कृत भाषा का निर्माण किया गया है। वेद के पारिभाषिक शब्दों को रुढ़ि अर्थों में प्रयुक्त कर संस्कृत बनी। चूंकि वैदिक शब्द यौगिक होते हुए भी संस्कृत के रुढ़ि अर्थों में भी लग सकते हैं, अतः संस्कृत के धातु वैदिक शब्दों के अर्थ समझने में सहायक होसकते हैं। भाष्यकारों ने केवल संस्कृत के बल तथा व्याकरण के द्वारा ही वेद को समझने का यत्न किया है और जिन्होंने उदार होकर यौगिकवाद माना, उन्होंने भी अर्थ करते समय रुढ़ि विचारों से अर्थ किये। इसी कारण वेदों के रहस्य नहीं खुले। उपनिषदों, ब्राह्मण ग्रंथों तथा पुराणों में भी वेद के देवता वा अन्य पारिभाषिक शब्द वैसे के वैसे प्रयोग किये हुए हैं और उन्हें काल २ की विचार धाराओं वा रीति नीति के अनुसार समझा है और बहुत स्थानों में वैसा का वैसा प्रयोग किया हुआ है। अतः वह पिष्टपेषण न्याय के रूपमें निष्फल रहा।

वेद पर लिखने वाले लेखक अधिकतया प्रमाण-रूप में उपनिषदों वा ब्राह्मण ग्रंथादि से ही इन वैदिक पारिभाषिक शब्दों को उद्धृत करते हैं। और वह शब्द वैसे के वैसे प्रयोग कर दिये जाते हैं। परन्तु जब मूल शब्द ही समझ नहीं आते, तो बात आगे नहीं बढ़ती। वेद के इन्द्र, मित्र, वरुण, यम, प्रजापति, अग्नि, वायु, सूर्य, सोम, आपः द्यावापृथिवी, अश्विनी, गौ इत्यादि जब वैसे के वैसे प्रयोग कर दिये जायें तो लाभ क्या हुआ। इन में से अधिकांश अध्यात्म अर्थों में प्रभुस्तवन में लग जाते हैं और लगाये जाते हैं। तो वेद केवल स्तवन विषयक ही रह गया। अन्य इस का कोई लाभ नहीं।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि चूंकि उपनिषद् वा ब्राह्मण साहित्य उतना हीं पारिभाषिक है जितना वेद, कुछ साहित्य काल विचार वा प्रचलित सामाजिक भावनाओं से प्रेरित होकर लिखा गया, अथवा व्याकरण वा कोषादि संस्कृत काल के बने होने से रुढ़िवादी हैं, तो वेद को समझा कैसे जाय?

इसका उत्तर केवल एक है। हमें वेद समझने के लिये वेद की ही सहायता लेनी पड़ेगी। वेद स्वतःप्रमाण है उसे बाहिर का साहित्य सहायता नहीं दे सकता और यदि इन की सहायता ली भी जाये तो लाभ की अपेक्षा हानि ही होगी जैसे अब तक होती आई है, और वेद आगे नहीं बढ़ सकते। वेद अत्यन्त पारिभाषिक हैं। अतः वेदों की परिभाषा को वेद मूल संहिता से ही जब तक नहीं समझा जायेगा, वेद नहीं समझे जा सकते। किसी भी वैज्ञानिक ग्रंथ को समझने के लिये उस विज्ञान की परिभाषा को पहिले समझना पड़ता है और तब वह ग्रंथ समझ में आ सकता है।

चारों वेदों के मूल मंत्रों के स्वाध्याय से वेदों को हमने अत्यन्त वैज्ञानिक पाया है और वह वैज्ञानिक विषय वेद में देवों के रूप में प्रस्तुत किये हुए हैं। वेदों में कई स्थानों पर ३३ देवों का वर्णन आता है, जैसे "ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन्" (ऋ० ८।२८।१) त्रयस्त्रिंशता स्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापति० यजु० अ० १४ म० ३१, वा "आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिः०" यजु० अ ३४ मं ४७. एवं "यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे०" अथर्व कां १० सूक्त ७ मं २७ इत्यादि स्थलों में ३३ देवों का वर्णन स्पष्ट है. और वह ३३ देव विश्व का काम करते और पालन पोषण करते हैं "यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा०" अथर्व १०-७-२३, सबसे पूर्व इन को ही समझने का यत्न करना चाहिये क्यों कि वेद स्वयं कहता है कि ब्रह्म को जानने के लिये इन का जानना आवश्यक है (तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवानेके ब्रह्मविदो विदुः अथर्व १०-७-२७) शतपथ में इन ३३ देवताओं का नामकरण किया है, उसके, अनुसार ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य और एक इन्द्र एक प्रजापति की ३३ गणना की है। यह पुनः अत्यन्त पारिभाषिक शब्द हैं। उदाहरणार्थ ८ वसुओं को लीजिये। अग्नि, आदित्य, द्यौ, चन्द्र नक्षत्र, वायु अन्तरिक्ष, और पृथिवी वसु हैं। वसु वह इसलिये कहाते हैं "कि सब

पदार्थ इन्हीं में बसते हैं और ये ही सब के निवास करने के स्थान हैं। अब आप विचार करें क्या आदित्य, चन्द्र, पृथिवी यह नक्षत्र में नहीं आगये ? क्या द्यौ में आदित्य नहीं आ गया। एक विचित्र बात यह है कि अनेकों जलचर पानी में वास करते हैं, इस पानी का नाम वसुओं में नहीं ? क्या ऋषि याज्ञवल्क्य को वसुओं को गिनते समय जलचरों का ध्यान नहीं रहा था वा इस में कोई पारिभाषिक रहस्य है। हम उत्तर पक्ष के हैं। और देखिये वसुओं में एक आदित्य देवता गिनाया है और पुन १२ आदित्य अलग गिना दिये। इसमें अर्थकार आदित्य का अर्थ सूर्य लोक और उन १२ आदित्यों को केवल १२ महीने ही समझ सके हैं। इत्यादि २, यह सब वैज्ञानिक शब्द हैं जो रूढ़ि विचारों से आज तक स्वीकार किये आ रहे हैं इन्हें सोचने का प्रयत्न भी नहीं किया गया, वैसा का वैसा परम्परा में चला आया है। इसी प्रकार वेद में इतिहास, आख्यायिकायों संग्रामादि की परिभाषा के नासमझी के कारण प्रचलित संस्कृत के अर्थ लगा २ कर अनर्थ किया गया है।

वेदों की परिभाषा के विषय में, वेद पढ़ने से हमें उस में से एक विशेष शैली शब्दों के विषय में मिली है। वह शैली संस्कृत ने भी अङ्गीकार की। वह शैली यह है कि वेद के यह पारिभाषिक शब्द किसी "वस्तुविशेष" के नहीं, वरञ्च उन वस्तुओं के "वर्गविशेष" के नाम हैं जिन में साधर्म्य है। संस्कृत में भी यही विधि नाम रखने की अपनाई गई। नाम उस वर्ग का उस वस्तु के नाम से रखा जाता है जो अधिक उपयोगी वा सुप्रसिद्ध उनमें हो। दृष्टान्त के रूप में आप गौ शब्द को लें। आजकल संस्कृत में गौ का अर्थ केवल गाय, वस्तु विशेष का ही किया जाता है। गोरक्षा गोवधान्दोलन आदि, केवल गौ के लिये ही प्रयुक्त किया जा रहा है। परन्तु वैदिक परिभाषा के अनुसार पशुओं के दो वर्ग किये गये हैं एक 'गौ' दूसरा वर्ग 'मृग' जैसे "नि गावो गोष्ठे असदन् नि मृगासो अविक्षत" (अथर्व ६—५२—२) जितने भी पालतू पशु हैं वह सब गौ वर्ग के अन्तर्गत हैं और जंगली पशु मृग वर्ग में डाले गये। आजकल मृग हिरण को ही समझा जाता है। परन्तु मृगराज वा मृगेन्द्र, बड़ा हिरण वा हिरणों का राजा होना चाहिये, पर अर्थ किया जाता है सिंह अर्थात् जंगली पशुओं का राजा। एवं 'शाखामृग' शब्द बन्दर के लिये संस्कृत में है, पर कोई हिरण शाखाओं पर तो नहीं भागता वा चढ़ता। अतः मृग शब्द का अर्थ है जंगली पशु। यह पशुविशेष का नाम नहीं, यह पशुओं के एक वर्ग विशेष का नाम है। एवं गौ वर्ग के अन्तर्गत, भैंस, भेड़, बकरी, घोड़ा, ऊंट, हाथी, खच्चर आदि सब पालतू पशु हैं। अंग्रेजी में इन्हें Cattle कहा जाता है, जिसका अर्थ है धन, सम्पत्ति। हमारे यहां पर भी इन पशुओं को पशुधन कहा जाता है। तो गौ का वास्तविक अर्थ है 'वर्गविशेष'। इसी प्रकार अंग्रेजी के Insect शब्द को देखिये। इसके लिये संस्कृत का उपयुक्त क्या शब्द है ? कीट, कीट तो चींटि को भी कहते हैं। insect एक वर्ग विशेष का नाम है, जिन के शरीर में यह साधर्म्य है कि शरीर sections अर्थात् टुकड़ों से बने हैं अतः insect कहाते हैं। संस्कृत में इस वर्ग के लिये उपयुक्त शब्द वैदिक शैली से है षट्पद। षट्पद संस्कृत में भंवरे को कहते हैं, और षट्पदी मधुमक्षिका को। पर यह अर्थ वैदिक शैली के विरुद्ध है। यह जितने insects कहलाते हैं चाहे वह बड़े हैं व छोटे से छोटे हैं हमने इन्हें शीशे के उपल (lens) वा क्षुद्रवीक्षण की सहायता से देखा है। इन सब के ६ पाद ही होते हैं मकड़ी को छोड़कर। अतः हमारे प्राणी शास्त्रज्ञों ने इन सब का अत्यन्त उचित और वैज्ञानिक नाम एक वर्ग विशेष से किया वह था षट्पद, इसमें चींट, चींटीं मक्खियें; पिपीलिकायें; तितलियें आदि सब आगई। अतः इस वैदिक नाम रखने की शैली का नियम यह है कि साधर्म्यवाली वस्तुओं को इकट्ठा ढूंढ उनके वर्ग का एक नाम रख दिया जाता था और नाम उस वर्ग का उस विशेष वस्तु से रखा जाता है, जो उन में मुख्य, अधिक उपयोगी वा अधिक काम में आने वाली हो। ऐसे ही धातुओं को लोह से (द्रवत्वात्सर्वेलोहानाम्), तीव्र गति से भागने वाले पशु चीता सिंहादि को 'श्वपद' से, 'व्याघ्र' से विशेष प्राणशक्ति रखने वालों के लिये (अकेले बघेले के लिए नहीं), शरीर से बह कर निकलने वाले द्रवों (excretion) को मूत्र से (मूत्र प्रस्रवणे) इसी कारण पसीने को अब भी पंजाबी में परसीना, परसेया आदि प्रस्रवण के अपभ्रंशरूप प्रयोग किया जाता है, अतः सब शारीरिक excretion, मूत्र अंतर्गत हैं केवल पेशाब नहीं। 'नीलवर्णों' सब रक्तों के लिये नील रंग कहा है क्योंकि यह विश्व में सब से अधिक है।

इसी प्रकार वेद के इन्द्र, आप औषध द्यावापृथिवी, मित्र, वरुण, गौ, अश्व, आदि शब्द "वर्ग विशेष" के हैं वस्तु विशेष के नहीं। यथा देखिये—

गौ शब्द

गच्छति यो, यया यत्र वा सा गौ: (उणा० २।६८) अब यह गुण जिस २ वस्तु में है वह गौ है। जैसे गौ (बैल) घोड़ा, हाथी, गधा ऊंटादि, अग्नि, engines, motors,electro,magnetic forces किरणें, इन्द्रियें motor organs इत्यादि सधर्मी होने से गौ हैं। एवं जहाँ को जाया जाय, उस रूप में पृथिवी, सब वस्तुएँ इसी की ओर आकर खिंचती हैं, एवं चुम्बक, (electro magnetic force) इत्यादि सब का वर्गीकरण 'गौ' किया।

आपः

टीकाकार इसका अर्थ 'जल' वा 'जलों' करते हैं। वैय्याकरण 'आप्लृ व्याप्तौ' से उसका अर्थ व्यापक होने वाले पदार्थ करते हैं। पानी व्यापक कहाँ है। हाँ इतना व्यापक गुण इसमें है, जो इसका अपना कोई आकार नहीं, अतः इसे जिस भी आकार वाली वस्तु में डाला जाये यह उसके अंदर प्रवेश कर उसमें व्यापक हो जाता है, जो एक ठोस वस्तु नहीं कर पा सकती। पर यदि पानी की एक मात्रा जैसे ४ घन इञ्च पानी लिया जाय तो क्या वह १०-२०-५० १०० घन वाले देश में व्यापक हो सकता है ? नहीं। यह अपना आकार बदल सकता है पर रहेगा ४ घन इञ्च ही। अतः यह अधिक व्यापक नहीं। वेद के अर्थ करने में 'आपः' पानी के अर्थों में ठीक नहीं लगता। संसार में पदार्थ ३ अवस्थाओं में होते हैं। एक ठोस (Solids) दूसरे द्रव (Liquid) तीसरे वायुरूप (gases) जैसे यह पहिली अवस्था से दूसरी और दूसरी से तीसरी अवस्था में बदलते जाते हैं यह अधिक से अधिक व्यापक होते जाते हैं, अतः पानी 'आपः' नहीं, परन्तु जब वह वाष्प रूप हो जाता है तब वह वैदिक परिभाषा के अनुसार 'आपः' है। १५ बूँद पानी (Ic.c.) आपः के रूप में १७०० c.c. अर्थात् १७०० गुणा फैलने की शक्ति रखता है। यह ४ घन इञ्च से सैकड़ों गुणे स्थान में भी व्यापक हो सकता है। (gas) शब्द के लिये संस्कृत में क्या शब्द है ? वायु नहीं। वायु अनेक (gases) का मिश्रण है। अतः (gas) के लिये 'आपः' शब्द हो सकता है। एवं लोहा, पीतल चाँदी, पत्थर, पानी, द्रव, वा अन्य पदार्थ सब (gas) रूप में वा 'आपः' बन सकते हैं। अतः आपः वस्तु विशेष नहीं, वर्ग विशेष का का नाम है।

औषध

इनको वनस्पति वा जड़ी बूटी (अथर्व ६-९५-३) में कहा है। अतः इसका अर्थ दवाई वा अन्न भी (आयुर्वेद के अनुसार फलपाकनिष्ठा औषधयः) किया जाता है। वास्तव में औषध एक वर्ग विशेष का नाम है। जो वस्तुयें अपने में गर्मी धारण किये हुए हैं और उनसे गर्मी निकाली जा सके, जैसे कोयला, लकड़ी, अन्न, (Petrol) तेल घी आदि सब औषध हैं। वेदों में स्थान २ पर 'आपः' और 'औषधि' को इकट्ठा मिलाया है, वहाँ पानी और दवाई अर्थ नहीं हैं, वहाँ तो व्यापक होने वाले पदार्थ (Gaseous form) और गर्मी देने वाले (औषधों) को इकट्ठा किया है, जैसे यजु० ४-१ में गर्मी देने वाले पदार्थों से आपः पदार्थों का हिंसन हो सकता है, ऐसा निर्देश है। अतः औषध (fuel) वस्तुएँ हैं और आपः जो (Vapourise) हो सकते पदार्थ हैं, उनके मेल से रायस्पोषण प्राप्त हो सकते हैं ॥

वायु तथा वाणी शब्द

वेद के वायु शब्द तथा संस्कृत के 'वायु' में भी वही अन्तर है। संस्कृत में केवल पवन है और वेद के अनुसार एक वर्ग का नाम है। 'वायु' में एक विशेष धर्म है जिससे इसका नाम पड़ा है, वह धर्म है बहना। जब वायु बंद हो जाती है और गर्मी अधिक पड़ती है तो लौकिक भाषा में कह देते हैं, "आज तो हवा ही नहीं है"! वायु बिना तो जीना कठिन है, हां, वायु अपना धर्म बहने का छोड़ बैठी है। अतः बहना वा बहाना (impulse impulsive) इस गुण वाली वस्तुओं का नाम है 'वायु'। आयुर्वेद में बहाने वा हिलने वाले भाग (Neuromuscular system) का नाम भी रखा गया है 'वायु' वा 'वात'। वेद में इंगित वायु से भी संसार में जितनी बहने वाली वस्तु हैं, उन वस्तु वर्ग का नाम 'वायु' है, अतः इसी के अंतर्गत है। वस्तुओं में जल का अभाव बहने वाला जल वायु में आगया, अतः उसे पृथक् नहीं कहा गया। संसार के बहने वाले धारारूप पदार्थ हैं द्रव, आप (gases) विद्युत् रश्मियें चुम्बक की लहरें (magnetic waves) इत्यादि यह सब बहने वा बहाने का धर्म रखती हैं, अतः यह सब 'वायु' में आगये। एवं वायु के स्थान में दूसरा शब्द इसी बहने के भाव को प्रकट करने वाला है वाणी। वाणी भी धारा रूप बहती है, स्वयं बहती है, तथा दूसरों में विचार वा भाव उत्पन्न कर चलाती है अतः इन बहने के धर्म रखने

वाली वस्तुओं का वर्ग बनाकर या उसे वायु कहा या वाणी कहा, क्योंकि यह दोनों ही प्रधान हैं। वाणी का अर्थ केवल ध्वनि वा बोलना नहीं हैं। वेद के वाचस्पति का अर्थ भी इन्हीं अर्थों में उपयुक्त लगता है।

वैयाकरण यदि वेद का उत्थान कर सकते हैं तो उन्हें केवल संस्कृत में प्रचलित धातुओं, वा उनके रूप रूपान्तरों के पढ़ाने आदि में ही अपना परिश्रम नष्ट नहीं करना चाहिये। उनके लिये वेदों की परिभाषा के रहस्यों को खोलने में नये २ अनुसंधान के लिये विशाल क्षेत्र है। दृष्टान्त रूप, संस्कृत में गत्यर्थ धातु सैकड़ों हैं। सबको सीधा, ज्ञान गमन प्राप्ति के अर्थ लगा दिया जाता है। प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या इन सब गत्यर्थ धातुओं की गतियें एक ही हैं वा भिन्न २ हैं। वास्तव में भिन्न गतिओं के लिये भिन्न धातु हैं। तो कौन गति गम्लृ से, कौन अज से, कौन इष से कौन ऋ से अभिप्रेत है, यह विचारणीय है। ऋ धातु को लीजिये इस ऋ की गति की क्या विशेषता है? हमारे अनुसंधान के अनुसार ऋ गति गोल २ घूमने वाली गति है। इस धातु से संस्कृत में वा लातिन (latin) वा ग्रीक वा फ्रैंच वा जर्मन भाषा में शब्द इसी गोल २ घूमने के अर्थ में ही बने हैं। वेद वा संस्कृत ऋतु, ऋत, ऋषि, गुण होकर अरा, अरहट अरित्र अरणि आदि शब्द सब गोल २ घूमते हैं। विश्व में सब से अधिक वा प्रारम्भिक गति ऋ अर्थात् गोल २ घूमने की है। प्रभु ने ऋत और सत्य के मेल से विश्व रचा (ऋ० १०-१९०-१)। ऋत ऋतु का अर्थ है घूम २ कर जो आवे (cyclic)। यह ऋत रूपी गति प्रभु ने प्रकृति में अधिष्ठित कर के सृष्टि रची, वही गोल २ घूमने वाली गति परमाणु के अन्दर भी ऋण विद्युत कण (electrons) धन विद्युत् कण (prtons neutrons) के चारों ओर काट रही हैं. उसी सिद्धान्त के अनुसार विशालरूप में धन शक्ति वाले आदित्य के चारों ओर ऋण विद्युत्रूप मंगल, बुध, पृथिवी, बृहस्पति, शुक्र तथा शनिश्चर आदि लोक चक्कर काट रहे हैं। अतः सत्य (प्रकृति) और ऋत cyclic motions के संयोग से यह सृष्टि रची। ऋ गति गोल घूमने के अर्थों में है। इसी ऋ से लातिन का retundo फ्रैंच का retourner अंग्रेजी का return, rotation round आदि शब्द बने हैं, जो सब घूमने के अर्थ रखते हैं। अतः हमारे खोज की यह सब पुष्टि करते हैं कि ऋ धातु की गति गोल घूमने की है। इसी प्रकार ऋ को अ होजाने पर इन विदेशी भाषाओं में चढ़वे से के वैसे बने। जैसे अरित्र शब्द वेद का, संस्कृत अरित्र चप्पू के लिये प्रयोग में आया, वही अरित्र शब्द लातिन में aratum बना अंग्रेजी में oar रह गया। "अरणि" शब्द भी ऋ से बना है। अरणि आज तक सहस्रों वर्षों से एक लकड़ी की छड़ी मानी जाती है जिसे पत्थरादि पर हाथों से मथकर रगड़ से अग्नि निकाल वर्षों में दीपसलाई का काम करती है। अरणि मथने की वस्तु है। मथना भी गोल २ घूमना होता है। सामवेद के इस मंत्र को देखिये "अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युतं जनयत प्रशस्तम्" (सामवेद पू० प्र० १ (२) द २ मं १०)। यहाँ नर अर्थात् चलाने वाली वस्तु (नृ नये), (दीधितिभिः) अर्थात् धारण करने वाली वा दृढ़ता से पकड़ रखने वाली वस्तुओं से (अरणि) अर्थात् घूम २ कर चलने वाली (rotating) के (हस्त) हाथों अर्थात् हरनेवाले भागों से चूती हुई (प्रशस्तम्) प्रशंसनीय अग्नि को (जनयत) उत्पन्न करे। इसके अनुसार गोल घूमने वाली दृढ़ता से बंधी हुई, जिसमें हरने वाले अंग हों और जिसे कोई घुमा रहा हो तो प्रशस्त अग्नि (विद्युत्) उत्पन्न कर सकता है। आज कल मुख्यतया सारी बिजली (प्रशस्त अग्नि) इसी अरणिओं से उत्पन्न की जा रही है। जैसे एबोनाइड दंड (rod) वा शीशे के दण्ड ऊन वा रेशम के कपड़े में गोल २ रगड़े तो उस से विद्युत् उत्पन्न होती है, वा विशाल रूप में पानी के प्रवाह से छोटे २ लट्टू (turbines) घुमा कर उनकी रगड़ से वा विशाल दण्ड (dynamo) के घुमा २ कर रगड़ से विद्युत् उत्पन्न की जा रही है। cycle (बाईसिकल) के पहिये पर एक कीली (अरणि) को घुमा वा रगड़ देकर प्रशंसनीय अग्नि विद्युत् उत्पन्न कर लैम्प में भेजी जाती सब ने देखी होगी। इन dynamo में कीली को दृढ़ बांध उसे रगड़ देकर उस विद्युत् को रहने वाले ब्रुश (Bush) लगे होते हैं, जो विद्युत् को वहां से इकट्ठा कर आगे लैम्प में भेजते रहते हैं। अतः ब्रुश हाथ हैं। इस प्रकार विद्युत् उत्पन्न करने की वही पूरी की पूरी विधि वेद के एक मंत्र के एक भाग में बता रखी है। शोक है कि वेद की परिभाषा लुप्त होने के कारण अरणि हवन यज्ञ के क्षेत्र में ही सहस्रों वर्षों से बंधी पड़ी है। इसी प्रकार के अनेकों शब्द वेद से ही धीरे २ व्यक्त किये जा रहे हैं।

[शेष पृष्ठ १५४ पर देखें]

'ज्ञान-गंगा'

॥ श्री कविचक्रवर्ती पं० हरिशङ्कर शर्मा जी आगरा ॥

प्रथम प्रभात काल प्राची का,
जीवन-ज्योति जगाने आया।
शुचि अध्यात्म-ज्ञान गंगा का,
निर्मल नीर बहाने आया ॥ १ ॥

प्रकृतिवाद का घोर तिमिर जब-
ज्ञान-शक्ति पर छा जाता है,
वैदिक धर्म्म-दिवाकर ही तब-
रम्य रश्मियाँ छिटकाता है ॥ २ ॥

वेदों के पहले का कोई
तत्त्व न कहीं दिखा सकता है,
परवर्ती युग में वेदों के
कारण सब कुछ पा सकता है ॥ ३ ॥

चाहे नाम न लो वेदों का
पर, सब ज्ञान वेद से पाए,
भाषा, भाव, देश के कारण
भिन्न-भिन्न विधि से अपनाए ॥ ४ ॥

जहाँ सत्य है, वहाँ वेद हैं,
जहाँ वेद हैं, वहाँ सचाई।
यह सिद्धान्त अटल-अविचल है,
इसने सदा प्रतिष्ठा पाई ॥ ५ ॥

वेद-धर्म्म की व्यापकता से
विश्व प्रभावित रहा-रहेगा,
वैदिकता का स्रोत जगत् में-
बहा, और अब पुनः बहेगा ॥ ६ ॥

वैदिकता का द्वार खुला है,
सभी श्रान्त जन आ सकते हैं।
जीवन शुद्ध-प्रबुद्ध बनाकर,
इच्छित पुण्य कमा सकते हैं ॥ ७ ॥

जिस के कारण व्यथित विश्व ने
शान्ति कान्ति सद्गति पाई है,
आदि काल से ऋषि-मुनियों ने
जिसकी गुण-गरिमा गाई है, ॥ ८ ॥

जिस वरदा वैदिक देवी ने
सदा त्राण-कल्याण किया है,
जिसने पीड़ित मानवता को
प्रेम-पूर्ण परितोष दिया है, ॥ ९ ॥

आओ, आओ, वह वैदिक वट
सब को छाया दान करेगा,
आधि-व्याधि से ग्रस्त जनों के
सारे दुःख सन्ताप हरेगा ॥१०॥

मानवता—पीयूष—पान कर
मानव-मानव से मिल जाए।
भेद भाव की भीत गिराकर
प्रेम—प्रीति—प्रासाद बनाए ॥११॥

देश-जाति के अन्तर भूलो
समता-ममता को मत त्यागो।
द्वेष-दम्भ का दर्प दबादो
बहुत सो चुके, अब तो जागो ॥१२॥

वसुधा बृहत् कुटुम्ब बने तो
सब संकीर्ण भाव मिट जाएँ।
विमल विश्व बन्धुत्व पसारें,
स्नेह, सत्य शुचिता सरसाएँ ॥१३॥

वैदिक धर्म प्राणि-हित साधक
हम को आश्रय दान करेगा।
सुख-समृद्धि का स्रोत बहाकर,
सच्ची शान्ति प्रदान करेगा ॥१४॥

जो जन श्रद्धा से प्रेरित हो,
वैदिक शिक्षा अपनाएंगे।
वे इस पुण्यमयी माता का
वरद हस्त सिर पर पाएंगे ॥१५॥

पुरुष से असत्-सत् पर्यन्त

लेखक—श्री पं० भगवद्दत्तजी बी० ए० रिसर्चस्कालर, देहली

१—पुरुष = परब्रह्म

विभिन्न अर्थ—१. सृष्टि—विद्या के विषय में अति प्राचीन आर्य-ग्रन्थकार सहमत हैं कि वर्तमान दृश्य जगत् का आरम्भ परम पुरुष, अविनाशी, अक्षर अथवा परब्रह्म से हुआ। इस प्रकार पुरुष शब्द मूलतः पर-ब्रह्म का वाचक है।

२. पुरुष शब्द का प्रयोग कहीं-कहीं हिरण्यगर्भ अथवा प्रजापति के लिये भी हुआ है।

३. पुरुष शब्द का तीसरा मनुष्य-परक अर्थ सुप्रसिद्ध है।

उपस्थित प्रकरण में पुरुष पद का अभिप्राय प्रथम स्थान में उल्लिखित पुरुष से है।

पुरुष और प्रकृति—ज्ञान के परम भण्डार शास्त्रकार ऋषि कहते हैं, पुरुष के साथ प्रकृति का अस्तित्व भी सदा से है। प्रलयावस्था में परम-पुरुष में प्रकृति उसी प्रकार लीन थी, जिस प्रकार बुभुक्षित पारद में सुवर्ण लीन हो जाता है। यह दृष्टान्त यद्यपि भौतिक जगत् का है, और परम-पुरुष भूतों से बहुत परे हैं, तथापि अन्य ऐसा स्पष्ट दृष्टान्त न होने से यह दृष्टान्त दिया गया है।

पुरुष का स्वरूप—कठोपनिषद् में इस पुरुष के विषय में कठ ऋषि का प्रवचन है—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषात् न परं किंचित् स काष्ठा स परा गतिः॥[1]
१।३।१०, ११॥

अर्थात्—अव्यक्त से पुरुष परे है। पुरुष से परे कुछ नहीं। वह अन्तिम स्थान और परे से परे की गति है।

उसे ही अन्यत्र परम-पुरुष कहा है—

"परात् परं पुरुषम् उपैति दिव्यम्। मुण्डक उ० ३।२।८॥[2]

अर्थात्—परे से परे दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है।

उसी के लिये वेद-मन्त्र अलौकिक रूपमें कहता है:—

"आनीदवातं स्वधया तदेकम्। ऋ० १०।१२९।२॥

अर्थात्—प्राण लेता था, वात—रहित स्थान में, स्वधा = प्रकृति से [युक्त], वह एक अद्वितीय।

श्वेताश्वतर का निर्णय—इस दिव्य पुरुष के बिना सृष्टि का प्रादुर्भाव असंभव था। विनीत शिष्यों ने प्रश्न किया—

"कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् १।२॥

अर्थात्—[जगत् की उत्पत्ति में] काल, स्वभाव,[3] नियति, यदृच्छा, पंचभूत, योनि तथा पुरुष में से प्रधान कौन है, वह चिन्त्य है।

उन्हें उत्तर देता हुआ श्वेताश्वतर ऋषि परम-पवित्र ज्ञान कहता है—

काल आदि सात कारणों में से प्रधान-कारण पुरुष है। उसी का सब पर अधिष्ठान है।

वर्तमान वैज्ञानिकों की त्रुटि—वर्तमान वैज्ञानिक-वादों वाला संसार अपने अल्प ज्ञान के कारण कालादिकों अथवा भूतादिकों को ही जगत् का प्रधान कारण मान रहा है।

---

१. तुलना करो भगवद्गीता ३। ४६, ४७॥ महाभारत, शान्ति पर्व २५२। ३, ४ यही श्लोक हैं।

२. तुलना करो—भगवद्गीता ८। ११— स तं परं पुरुषम् उपैति दिव्यम्॥

३. वायु पुराण ९। ६० में इसी का संकेत है— दैवमित्यपरे विप्राः स्वभावं दैवचिन्तकाः॥

पुरुष के अस्तित्व को न समझने और पुरुष-प्रेरणा के विना जगत् की उत्पत्ति मानने के कारण संसार की जो महती हानि हो रही है, वह चिन्त्य है।

पुरुष के अन्य नाम—पुरुष को ही वेद और अन्य शास्त्रों में, क्षेत्रज्ञ, और अज आदि नामों से स्मरण किया है।

क्षेत्रज्ञ—(क) मानव धर्मशास्त्र में १२। १२, १४॥ (ख) उपनिषद् में—आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्र १। २। १२ तथा १। ३। ७, में पैङ्गि रहस्य-ब्राह्मण तथा पैङ्गि उपनिषद् से क्षेत्रज्ञ—विषयक दो श्रुतियां उद्धृत करता है—

"पैंगिरहस्यब्राह्मणे[1]नान्यथा व्याख्यातत्वात्—

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति-इति। सत्त्वम्। अनश्नन् अन्योऽभिचाकशीति। अनश्नन् अन्योऽभिपश्यति ज्ञः। तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ—इति।...... तदेतत् सत्त्वम् येन स्वप्नं पश्यति। अथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञः। तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ-इति। तथा—

यदापि पैंग्युपनिषत्कृतेन व्याख्यानेन...।

(ग) **पञ्चशिख के तन्त्र में**—वर्तमान उपनिषदों से बहुत पूर्व आसुरि मुनि के प्रधान शिष्य चिरंजीवी महामुनि पञ्चशिख (कलि संवत् से १००० वर्ष पूर्व) के तन्त्र में यह शब्द बहुधा प्रयुक्त हुआ है।

(घ) **वेद में**—ऋग्वेद १०। ३२। ७ में भी क्षेत्रविद् = क्षेत्रज्ञ पद का प्रयोग है।

२. प्रधान = प्रकृति

प्रधान के पर्याय—सम्पूर्ण प्राचीन आर्य-शास्त्र सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन पुरुष की इच्छा की अभिव्यक्ति के पश्चात् प्रधान से आरम्भ करते हैं। मन्त्र और ब्राह्मण आदि में प्रधान के लिये अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं। उन में से कुछ एक निम्नलिखित हैं—

१. तमः ऋ० १०। १२९। ३
२. ज्येष्ठ ऋ० १०। १२०। १
३. अव्यक्त कठ उप० १। ३। ११[2]
४. स्वधा ऋ० १०। १२९। २
५. अजा श्वेताश्वतर उप० ४। ५
६. क्षेत्र गीता
७. विधानम् देवल धर्मसूत्र
८. गौः वायु पु० २३। ५५॥

अब इनका अर्थ सप्रमाण स्पष्ट किया जाता है—

१. **तमः**—ऋग्वेद १०। १२९। ३ मन्त्रार्द्ध है—

तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।

इस मन्त्र पर दुर्गाचार्य (विक्रम पंचम शती से पूर्व) निरुक्त वृत्ति में लिखता है—

सांख्यास्तु तमःशब्देन प्रधानम् उपादानम् उच्यमानमिच्छन्ति। ते हि पारमर्षं सूत्रमधीयते—

तम एव खलु इदमग्र आसीत् तस्मिन् तमसि क्षेत्रज्ञ एव प्रथमोऽध्यवर्तत—इति।[3] निरुक्त वृत्ति ७। ३॥

अर्थात्—तम अथवा प्रधान ही पहले था। उस प्रधान में क्षेत्रज्ञ अथवा परम पुरुष ही पहले था।

पञ्चशिख-प्रदर्शित तम शब्द का अर्थ— पंचशिख के तन्त्र में यह सूत्र उपलब्ध होता है। सांख्य सप्तति की ७१ वीं कारिका की माठर वृत्ति में ऐसा ही उल्लेख है।

उसी तम अथवा प्रकृति—से रूपान्तर होते—होते यह जगत् बना।

सलिलम्—जिस में सब लीन हो गया था। जिस प्रकार अब भी जल में लवण आदि गलित हो जाते हैं, उसी प्रकार आपों में सम्पूर्ण धातु लीन थे।

आगे आपः का भी सलिल रूप कहेंगे। वहां सलिल का अर्थ watery नहीं होगा। प्रत्युत वह आपः का विशेषण होगा।

यजुर्वेद में-आदित्यवर्णं **तमसः परस्तात्**—में तमसः का अर्थ है प्रकृति से।

---

१. रहस्यब्राह्मण शब्द उपनिषद् का वाचक है। वेदान्तसूत्र भाष्य ३। ३। २४ के आरम्भ में शंकर लिखता है—"अस्ति ताण्डिनां पैंगिनां च रहस्यब्राह्मणे पुरुष-विद्या। तत्र पुरुषो यज्ञः कल्पितः।" यह पुरुष-विद्या ताण्डि शाखान्तर्गत छान्दोग्य उपनिषद् में उपलब्ध होती है। अतः रहस्यब्राह्मण का अर्थ उपनिषद् है।

२. भगवद्गीता में यही श्लोक उपनिषद् से लेकर रखे गये हैं।

३. सांख्य सप्तति कारिका १ की माठर वृत्ति में परमर्षि कपिल का यही सूत्र स्वल्प पाठान्तर से उद्धृत है—क्षेत्रज्ञो ऽभिवर्तते प्रथमम्।

मनु और वायु पुराण—मनु और वायु पुराण में भी तम शब्द प्रधान के लिये व्यवहृत हुआ है। यथा—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। मनु१।५॥

तथा—

गुणसाम्ये तदा तस्मिन् अविभातं तमोमयम्।
वायु ४।२३॥[1]

२. **ज्येष्ठ**—ज्येष्ठ शब्द है ही प्रधान का पर्याय। निरुक्त १३।३७ में ऋ० १०।१२०।१ के व्याख्यान में यास्क ने लिखा है—

भुवनेषु ज्येष्ठम्–अव्यक्तम्।

अर्थात्—ज्येष्ठ का अर्थ अव्यक्त अथवा प्रधान है।

३. **अव्यक्त**—प्रधान और अव्यक्त भी एक हैं। इस विषय में अन्य अनेक प्रमाणों के अतिरिक्त निम्न लिखित दो स्थान देखने योग्य हैं।

विष्णुपुराण १।२।५४ में–**प्रधानानुग्रहेण** पाठ है। वायु पुराण ४।७४ में इसी का – **अव्यक्तानुग्रहेण च** पाठान्तर है। अतः प्रधान और अव्यक्त पर्याय मात्र हैं।

सत्-असत्-आत्मक—यह अव्यक्त सत्-असत् आत्मक था। वायु पुराण अ० १०३ में लिखा है—

अव्यक्तात् कारणात् तस्मान्नित्यात् सदसदात्मकात्
सृजते स पुनर्लोकानभिमानगुणात्मकान्॥३७॥
स पुत्रः संसवपिता जायते ब्रह्मसंज्ञितः॥३८॥

सत्-असत् का व्याख्यान आगे देखें।

४. **स्वधा**—यह शब्द पहले व्याख्या किया गया है।

५. **अजा**—श्वेताश्वतर उप० ४।५ के जिस "अजामेकां" मन्त्र में यह शब्द प्रयुक्त हुआ, वहां अजा का अर्थ प्रकृति ही है। इस मन्त्र का एक और पाठ वायु पुराण २३।५७ में है।

६. **क्षेत्र**—गीता आदिमें क्षेत्र शब्द प्रकृतिवाची है। क्षेत्र शब्द के निर्वचन-विषय में वायुपुराण, अ० १०२ में एक सुन्दर श्लोक लिखा है—

क्षयणात् कारणाच्चैव क्षतत्राणात् तथैव च।
भोज्यत्वात् विषयत्वाच्च क्षेत्रं क्षेत्रविदो विदुः॥१११॥

७. **विधान**—देवल के धर्मसूत्र में लिखा है—

गुणसाम्यलक्षणमव्यक्तं प्रधानं प्रकृतिर्विधानम् इत्यनर्थान्तरम्।[2]

इसी प्रकार मन्त्र गत **"धाता यथापूर्वम्"** पदों में धाता का प्रयोग है।

इस धाता शब्द के साथ वि उपसर्ग लग कर विधाता, रूप बना है। उससे सम्बन्ध रखने वाले विधान और विधेय शब्द हैं।

८. **गौ**—वायु पुराण २३।५५ में प्रकृति के लिये गौ शब्द का प्रयोग हुआ है—

चतुर्मुखी जगद् योनिः प्रकृतिर्गौः प्रकीर्तिता।

९. **प्रधान**—अब रहा प्रधान शब्द। इसका प्रयोग निम्नलिखित श्रुतियों में मिलता है—

(क) योगदर्शन २।२३ के व्यास-भाष्य में किसी लुप्त ब्राह्मण ग्रन्थ की निम्नलिखित श्रुति उद्धृत है—

प्रधानस्यात्मख्यापनार्था प्रवृत्तिः इति श्रुतेः।

अर्थात्—प्रधान की आत्मख्यापन निमित्त प्रवृत्ति हुई।

(ख) महाभारत, शान्तिपर्व २३८।२६ में इसी प्रसंग की एक अन्य श्रुति उद्धृत है—

त्रिगुणोऽसौ महा ज्ञातः प्रधान इति वै श्रुतिः।

अर्थात्—त्रिगुणात्मक वह महान् है। उसे ही प्रधान कहते हैं। यह श्रुति है। इन दोनों श्रुतियों में प्रधान शब्द का प्रयोग सांख्यशास्त्र-निर्दिष्ट प्रधान अथवा प्रकृति के लिए है।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि पुरातन ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रधान आदि का व्याख्यान था। और ब्राह्मण ग्रन्थों को सांख्य-ज्ञान अभिमत था।

(ग) क्षरं प्रधानम्—श्वे० उप० १।१०॥

लोक में प्रकृति के लिये अन्य शब्द

सत्त्व = प्रकृति—पैङ्गिरहस्य में।

सृजते तु गुणान् सत्त्वं क्षेत्रज्ञस्त्वनुतिष्ठति।
शान्ति २४१।१ पूना।

सत्य. परा और अलिंगा—वायु पुराण में प्रकृति को सत्य और परा भी कहा है। यथा—

सत्य—प्रकृतिं सत्यमित्याहुर्विकारोऽनृतमुच्यते।
१०२।१०७॥

---

१. तुलना करो, ब्रह्माण्ड पु० १।१।३।१२॥

२. अपरार्ककृता याज्ञवल्क्य स्मृति टीका, ३।१०९॥ तथा कृत्यकल्पतरु, मोक्ष काण्ड।

अर्थात्—प्रकृति को सत्य और उसके बहुविध विकार को अनृत कहते हैं।

यह जगत् अनृत है, विकार रूप होने से। नवीन वेदान्तियों ने जगत् के अनृत होने का भाव यहीं से लेकर दूसरे रूप में रख दिया है।

मन्त्र में सत्य पद—ऋग्वेद के भाववृत्तात्मक प्रसिद्ध अघमर्षण मन्त्र—'**ऋतं च सत्यं च**' में सत्य से प्रकृति का भाव ग्रहण हो सकता है।

परा—वायु पुराण में लिखा है—

प्रकृतिश्च परा स्मृता ॥ ५।२० ॥

अर्थात्—प्रकृति ही परा नाम से स्मरण की गई है।

पुलिन विहारी का मत—बंगीय लेखक पु० वि० चक्रवर्ती ने लिखा है—

The term Prakriti is conspicuous by its absence in the ancient prose Upanishads.

अर्थात्—प्रकृति संज्ञा प्राचीन गद्य उपनिषदों में अप्रयुक्त है। यह बात अति स्पष्ट है।

भगवद्दत्त का कथन—कपिल मुनि का सांख्य तन्त्र वर्तमान उपनिषदों से सहस्रों वर्ष पूर्व बना। जब उसमें प्रकृति शब्द था, तो पुलिन विहारी जी के इस मत का कोई मूल्य नहीं।

अलिंगा—महाभारत, शान्तिपर्व ३०३।४७(२९२।४२॥ पूना सं०) में प्रकृति को अलिंगा कहा है—

अलिंगां प्रकृतिं त्वाहुः।

योगसूत्र व्यास भाष्य[2] २।१९ में भी अलिंगा का प्रकृति अर्थ है।

अनिर्वचनीया—प्रकृति अप्रतर्क्या, अविज्ञेया और अलिंगा आदि थी। अतः इसे ही अनिर्वचनीया भी कहते हैं। नवीन वेदान्त में इस पद से कुछ भिन्न भाव समझा जा रहा है।

प्रकृति का अपचय नहीं—महाभारत, शान्तिपर्व २१२। ३९ में एक परम सूक्ष्म सिद्धान्त वर्णित है। यथा—

दीपादन्ये यथा दीपाः प्रवर्तन्ते सहस्रशः।
प्रकृतिः सूयते तद्वद् आनन्त्यान्नापचीयते ॥

निश्चय ही इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के चारों ओर अब भी प्रकृति का अन्तिम घेरा अथवा मण्डल है। सम्पूर्ण लोक-लोकान्तर उस मण्डल के अन्दर-अन्दर हैं।

प्रधान में क्षोभ

प्रधान में क्षोभ आया। रजोगुण प्रधान हुआ। तब सृष्टि-उत्पत्ति आरम्भ हुई। वायु पुराण अध्याय ५ में लिखा है—

गुणसाम्ये लयो ज्ञेयो वैषम्ये सृष्टिरुच्यते ॥ ९ ॥
तिलेषु वा यथा तैलं घृतं पयसि वा स्थितम्।
तथा तमसि सत्त्वे च रजो व्यक्ताश्रितं स्थितम्॥१०॥
क्षोभयामास योगेन परेण परमेश्वरः ॥ ११ ॥
प्रधानं पुरुषं चैव प्रविश्याण्डं महेश्वरः।
प्रधानाद् क्षोभ्यमाणात् तु रजो वै समवर्तत ॥१२॥
रजःप्रवर्तकं तत्र बीजेष्विव यथा जलम्।
गुण[3]-वैषम्यमासाद्य[3] प्रसूयन्ते ह्यधिष्ठिताः॥१३॥

३. महान्—व्यक्त

अब कही जाने वाली अवस्था बन रही थी। अनिर्वचनीय प्रकार दूर हो रहा था। पुरुष-प्रेरणा से प्रधान में वैषम्य उत्पन्न हुआ। प्रकृति में क्षोभ स्वयं नहीं हुआ। अनीश्वरवादी यहीं भूल करते हैं। उस क्षोभ के अनन्तर महान् का प्रादुर्भाव हुआ। वायु पुराण ४।२४ में लिखा है—

गुणभावाद् वाच्यमानो महान् प्रादुर्बभूव ह।

महान् के विभिन्न नाम—जिस प्रकार प्रधान के अनेक नाम हैं। उसी प्रकार महान् भी शास्त्रों में अनेक नामों से गाया गया है। यथा—

1. Origin and Development of the Samkhya System of Thought, Calcutta, 1952.
२. वाचस्पतिमिश्र (विक्रम संवत् ८९८) व्यासभाष्य नाम ग्रन्थकार के नाम से पड़ा, ऐसा मानता है। परन्तु अनेक प्राचीन ग्रन्थकार व्यास भाष्य के वचनों को पतञ्जलि के नाम से उद्धृत करते हैं। उनके अनुसार सूत्र और भाष्य का कर्ता एक ही था। यदि यह पक्ष सत्य सिद्ध हुआ, तो मानना पड़ेगा कि पतञ्जलि ने अपने सूत्रों पर न्यून से न्यून दो भाष्य रचे होंगे, व्यास भाष्य और समास भाष्य। यह विचार गम्भीर अन्वेषण योग्य है।
३. ब्रह्माण्ड का पाठान्तर – गुणा वै०।

मनो महान् मतिर्ब्रह्मा भूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः ।।२७।।
प्रज्ञा चितिः स्मृतिः संविद् विपुरं चोच्यते बुधैः ।।२८।।[१]

मन, महान्, मति, ब्रह्मा, पूः १, भूः, बुद्धि, ख्याति, ईश्वर, प्रज्ञा, चितिः स्मृतिः, संवित्, विपुरं आदि।

इनके अतिरिक्त लिंग और अक्षर प्रधान के दो अन्य पर्याय भी वायु पुराण में उल्लिखित हैं। यथा—

बुद्धिर्मनश्च लिंगश्च महानक्षर एव च।
पर्यायवाचकैः शब्दैस्तमाहुस्तत्त्वचिन्तकाः ।।१०२।२१।।

वायु पुराण में अन्यत्र भी महान् को बुद्धिलक्षण कहा है—

महान् वै बुद्धिलक्षणः। ।।१०२।३०।।

आयुर्वेदीय चरक संहिता (३१०० वर्ष विक्रम से पूर्व) शारीर स्थान में भी कहा है—

जायते बुद्धिरव्यक्तात्। १।६५।।

मनुस्मृति १।१४ में इसी महान् को मन तथा अहंकार का उत्पादक कहा है।

महाभारत, शान्तिपर्वान्तर्गत कपिल—आसुरी संवाद में लिखा है—

महदित्युक्तम् बुद्धिरिति च। सत्ता स्मृतिः, धृतिः, मेधा, व्यवसायः, समाधिप्राप्तिः—इत्येवमादीनि व्यक्त-पर्याये नामानि वदन्त्येवमाह। ३२७।७।।

वैदिक वाङ्मय में—शाखा, ब्राह्मण और उपनिषद् में कहा है—

(क) न हि इन्द्राद् ऋते आहुतिरस्ति। देवा वै पुरा अग्निहोत्रम् अहौषुः। तस्मात् पुरा बृहन् महान् अजनि। काठक० सं० ६।८।। कपि० सं० पृ० ४६।।

अर्थात्—नहीं इन्द्र के विना आहुति है। देव निश्चय ही पहले (आकाश) में अग्निहोत्र को हवियां देते थे। उस से पूर्व बृहत् (अथवा) महान् जन्मा।

(ख) महा भूत्वा प्रजापतिः। महान हि स तद् अभवत्। शत० ब्रा० ७।५।१।२१

(ग) इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः।।
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।।

शांकर वेदान्त भाष्य १।४।१ में इस पक्ष का खण्डन करता है।

(घ) इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतो व्यक्तमुत्तमम्।।
कठ० उप० २।६।७।।

मन्त्रों में भी महान् को मन नाम से स्मरण किया है। युक्तिदीपिका में महान् के पर्याय—सांख्यसप्तति की टीका यु० दी० में भी महान् के लगभग ये ही पर्याय कहे गए हैं। (पृ० १०८)

महान्—सृष्टि कर्ता

वायु पुराण में महान् को सृष्टिकर्ता कहा है। यथा—

महांस्तु सृष्टिं कुरुते नोद्यमानः सिसृक्षया। ४।२७।।
महान् सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानः सिसृक्षया ।४।४६।।

पुरुष-प्रेरणा—महान् का नोदन पुरुष-प्रेरणा का फल है पुराण का 'नोद्यमानः' पद मनु के तमोनुदः (१।७) पद के अनुसरण पर लिखा गया है।

अव्यक्त से आवृत

पूर्व कह चुके हैं कि प्रधान के परिणाम आगे आगे उसके अन्दर अन्दर होते हैं। अर्थात्—प्रत्येक अगला विकार पहले के अन्दर होता है। वायुपुराण में इसका स्पष्टी-करण है—

गुणभावाद् भासमाने महातत्त्वं बभूव ह।। १३।।
सूक्ष्मः स तु महानग्रे अव्यक्तेन समावृतः।। १४।।

इस से स्पष्ट है कि ग्रह चन्द्र और नक्षत्रों सहित सम्पूर्ण जगत् तथा इसके साथी अन्य अनेक जगत् भूतों से आवृत हैं और उन सब का अन्तिम आवरण प्रकृति है।

महान् के भेद—महान् के तीन रूप थे। उन का स्पष्टीकरण अगले वृक्ष से किया जाता है—

महान् आत्मा

वैकारिक — तैजस — भूतादि

इन रूपों पर युक्तिदीपिका पृ० ११४ पर सांख्याचार्य पंचशिख का सूत्र द्रष्टव्य है।
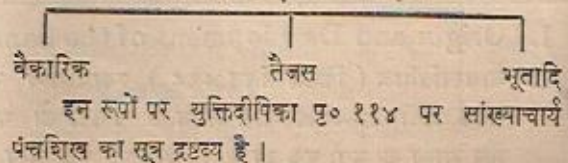
१. वेदान्त सूत्रशाङ्कर भाष्य १।४।१ में यही श्लोक किञ्चित् पाठ भेद से उद्धृत है। तथा देवल धर्मसूत्र में। वेदान्त सूत्र शांकर भाष्य, १।४।१।। में शङ्कर इस पक्ष का खण्डन करता है।

४. अहंकार = काम, अभिमान

महान् से अहंकार उत्पन्न हुआ।

अन्य नाम—(क) भूतादि, अहंकार को ही कहते हैं। अर्थात्—यह जो भूतों का आदि था। वायु पुराण अ० १०२ में लिखा है—

आकाशावरणं यच्च भूतादिर्ग्रसते तु तत्।
भूतादिं ग्रसते चापि महान्वै बुद्धिलक्षणः ॥३०॥

अर्थात्—[प्रलयावस्था में] भूतादि को महान् ग्रसता है। इस के विपरीत उत्पत्ति के क्रम में अहंकार से भूतसर्ग निकलता है। यथा—

भूतसर्गमहंकारात् तृतीयं विद्धि पार्थिव।
शान्तिपर्व ३०२ । २४ ॥

अतः अहंकार को भूतादि कहते हैं।

(ख) काम—ऋग्वेद १०।१२९।४ में इसे ही संभवतः काम नाम से स्मरण किया।

कपिल मुनि का निदर्शन—कपिल मुनि आसुरि को उपदेश देते हैं—

ईर्ष्या, कामः, क्रोध लोभो······एतानि अहंकार-पर्यायनामानि भवन्ति–एवमाह। शान्तिपर्व ३२७।१२॥

अर्थात्—अहंकार के पर्याय नाम अथवा रूपान्तर ही ईर्ष्या, काम, क्रोध, लोभ आदि हैं।

(ग) मन—महान् को गत—प्रकरण में मन कहा है। कहीं कहीं अहंकार भी मन हो सकता है—
मनसस्तु समुद्भूता महाभूता नराधिप।
शान्तिपर्व ॥ ३१० । १९ ॥

५. भूततन्मात्रा = तन्मात्रा सर्ग

वायु पुराण ४।४९ में इन्हें भूत तन्मात्रा कहा है। भूतों की यह पूर्वावस्था है।

अन्य० नाम—तन्मात्राओं को अविशेष और भूतों को विशेष कहा जाता है।

मन्त्र और ब्राह्मणों में तन्मात्राओं की सृष्टि का क्रम सुस्पष्ट रूप से अभी तक हम निर्णीत नहीं कर पाए।

ब्राह्मण में अग्निमात्रा—शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

प्रजापतिः अग्निः। यावान् अग्निः यावती अस्य मात्रा तावत्—९।१।१।१६,२८॥

उपनिषद् में तन्मात्रा—प्रश्न उपनिषद् में तन्मात्राओं का उल्लेख है। यथा—

पृथिवी च पृथिवीमात्रा च। आपश्च-अपोमात्रा च। ४।८॥

तन्मात्राएँ गुण—आकाश आदि के जो गुण हैं, उन्हें ही तन्मात्रा कहते हैं। देखिये—

अपामस्ति गुणो यस्तु ज्योतिषि लीयते रसः।
नश्यन्त्यापस्तदा तत्र रसतन्मात्रसंक्षयात्।
वायु पु० १०२।९॥

अर्थात्—[प्रलयावस्था की ओर जाते हुए] आपों का गुण जो रस है, वह ज्योति में लीन हो जाता है। तब आप नष्ट हो जाते हैं। रस तन्मात्रा के लय होने से।

पुलिन बिहारी का मत–सांख्य सप्तति की युक्ति दीपिका व्याख्या का संपादक सांख्य विषयक अपने स्वतन्त्र ग्रन्थ में लिखता है—

The ancient Upanisads do not mention the tanmatras, but the word bhutamatra occurs in the Kans-up III. 8 and it is difficult to acertain whether the tanmatra doctrine is adambrated there. The Prasna Upanisad speaks of prithivi and prithivimatra doctrine, but it is not regarded to be so old as the other prose Upanisads, viz, the छान्दोग्य[२]—

अर्थात्—पुरातन उपनिषदें तन्मात्राओं का वर्णन नहीं करतीं परन्तु भूततन्मात्रा शब्द कौषीतकि उपनिषद् ३।८ में मिलता है। यह निश्चित करना कठिन है कि तन्मात्रा सिद्धान्त वहां अभिप्रेत है। प्रश्न उपनिषद् में पृथिवी और पृथिवी मात्रा का सिद्धान्त कथित है। यह उपनिषद् उतना पुराना नहीं समझा जाता जितना छान्दोग्य आदि दूसरे गद्य उपनिषद् समझे जाते हैं।

हमारा वक्तव्य—दस उपनिषदों के एतिहासिक काल को अणुमात्र न समझते हुए पुलिन बिहारी जी ने ऐसा लिखा है। उपलब्ध उपनिषदों से पूर्व देवल के धर्म सूत्रों में,

१. देखो, वायु पुराण।

२. P. 13, 14.

और उन से पूर्वकालिक पञ्चशिख के सूत्र ग्रन्थ में तन्मात्रा का उल्लेख मिलता है।

गुणों का पृथक् अस्तित्व—महाभूतों से पूर्व भूत-तन्मात्राएँ उत्पन्न हुईं। यह तन्मात्राएँ गुण थीं। निश्चय ही तब गुणों का पृथक् और स्वतन्त्र अस्तित्व था।

वह अस्तित्व किस प्रकार था, इसका समझना अत्यन्त आवश्यक है।

इसीलिये सम्पूर्ण आर्य दर्शन में गुण को द्रव्य अथवा महाभूतों से पृथक् माना है।

योरुपिअन विज्ञान की त्रुटि

योरुपिअन विज्ञान में गुण और द्रव्य का पार्थक्य न होने से सारा साइन्स अधूरा है। गुण के द्रव्य में प्रवेश से द्रव्य का संघात कैसे बनता है, इसका उल्लेख पुनः करेंगे। तब ज्ञात होगा कि रस के प्रवेश से आपः, गन्ध के प्रवेश से पृथिवी आदि कैसे बने।

इन्द्रियों में आज तक रूप, रस आदि के पहचानने की शक्ति प्रत्यक्ष है। यह शक्ति इन्द्रियों में कैसे आई यह विज्ञान का भारी क्षेत्र है।

इन्द्रिय गण—

युगपत्—सृष्टि—शान्तिपर्व २९१।२५ (पूना)—

वायुर्ज्योतिरथाकाशमापोऽथ पृथिवी तथा।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ॥ २४ ॥
एवं युगपदुत्पन्नं दश वर्गमसंशयम् ॥ २५ ॥

वायु पुराण अ० १०३ का निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

अहंकारस्तु महतस्तस्माद् भूतानि चात्मनः।
युगपत् . संप्रवर्तन्ते भूतान्येवेन्द्रियाणि च ॥३८॥

अर्थात्—इन्द्रियां और भूत [= तन्मात्रा] समकाल में उत्पन्न होते हैं।

इसी लिए पांच ज्ञानेन्द्रियों के साथ पांच ही भूत हैं। इन्द्रियों के प्रत्यक्ष अस्तित्व को मान कर पंच भूतों के स्वतन्त्र अस्तित्व को न मानना, जैसा कि वर्तमान पाश्चात्य साइंस में है, विज्ञान की त्रुटि है।

प्राणी मात्र में जिह्वा क्यों रसना का ज्ञान कराती है, नेत्र क्यों दर्शन का साधन हैं, इस क्यों का उत्तर इसी क्रम में है।

६ महाभूत

तन्मात्राओं के पश्चात् आकाश आदि महाभूतों की सृष्टि आरम्भ होती है। महाभूतों की उत्तरोत्तर—परम्परा में आकाश के पश्चात् दूसरे स्थान पर वायु का अस्तित्व माना गया है।

पञ्च महाभूतों के दो प्रधान रूप—

महाभूतों के असत् और सत् दो भेद वेदादि में वर्णित हैं। उनका उल्लेख आगे किया जाता है।

असत्—सत्

भाववृत्त सूक्त—ऋग्वेदीय १०। १२९ सूक्त भाववृत्त देवता-परक है। भाववृत्त का अर्थ है [सृष्टि] होने का इतिहास। अतः स्पष्ट है कि इस सूक्त में सृष्टि-उत्पत्ति का इतिहास उपनिबद्ध है। इस सूक्त का ऋषि प्रजापति परमेष्ठी है। सूक्त का प्रथम मन्त्र निम्नलिखित है।

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं,
नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः
किमासीद् गहनं गभीरम् ॥

पाश्चात्य पद्धति का अर्थ—इस मन्त्र में दो शब्द प्रधान हैं, असत् और सत्। इन के अर्थ विषय में वर्तमान लेखकों ने अनेक ऊहापोह किए हैं। मैक्समूलर से तारापद चौधरी पर्यन्त पाश्चात्य पद्धति के लेखकों ने असत् का अर्थ—

What[1] is not, non-existent[2], non-being[3], naught[4].

तथा सत् का अर्थ—

That is[1], existent[2], being[3], aught[4].

किया है।

इस अर्थ की अस्पष्टता में हेतु—इस और अन्य ऐसे प्रकरणों में असत् और सत् शब्द पारिभाषिक हैं। ब्राह्मण और उपनिषदों में ऐसा व्याख्यान होने से। मैक्स-मूलर प्रभृति कृत अर्थ उन परिभाषाओं के तथा तर्क के विरुद्ध हैं। अतः वेदार्थ का महत्त्व समझने में सर्वथा असमर्थ है।

अविच्छिन्न परम्परा का अर्थ—इन शब्दों का परम-प्रामाणिक अर्थ शतपथ ब्राह्मण आदि में उपलब्ध होता है। यथा, असत् के विषय में शतपथ ६।१।१ में लिखा है—

असद्वा इदमग्र आसीत्। तदाहुः। किं तद् असद् आसीदिति। ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्तदाहुः। के त ऋषय इति। प्राणा वा ऋषयः। ते यत् पुरा-अस्मात् सर्वस्माद् इदमिच्छन्तः श्रमेण तपसा रिषंस्तस्माद् ऋषयः॥ १॥

अर्थात्-असत् ही पूर्व था। तो (ब्रह्मवादी) कहते हैं। क्या वह असत् था, इति। ऋषि ही वे पूर्व असत् था। ऐसा (ब्रह्मवादी) कहते हैं। कौन वे ऋषि (थे), इति। प्राण (= परम सूक्ष्म वायु के विभिन्न भेद) ही ऋषि (थे)। वे, जो पूर्व इस सम्पूर्ण (जगत् के) इस (जगत् की) इच्छा करते हुए (परम पुरुष के ध्यान से) श्रम द्वारा, तप द्वारा गतिमान् हुए, इस लिए ऋषि हैं?

विशेष आवश्यक—ध्यान करने की बात है। असत् का यह प्रतिपादित अर्थ वाजसनेय याज्ञवल्क्य मुनि तथा उसके शिष्य का स्वकल्पित अर्थ नहीं है। तदाहुः (=विद्वान् ऐसा कहते हैं) पद प्रकट करता है कि अनवच्छिन्न भारतीय परम्परा में यह अर्थ प्राचीनतम समय से चला आ रहा था।

वेद मन्त्रों में विश्वामित्र, वसिष्ठ, जमदग्नि, कश्यप, दक्ष आदि जो अनेक ऋषि नाम मिलते हैं वे इन विभिन्न प्राणों के नाम ही हैं। उनकी पार्थिव ऋषि रूपकल्पना भयंकर भूल है।

शतपथ ब्राह्मण में ही अन्यत्र १४।५।३ में सत् के व्याख्यान द्वारा असत् का स्पष्टीकरण कर दिया है। यथा—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे। मूर्तं चैवामूर्तं च। मर्त्यं चामृतं च। स्थितं च यच्च सच्च त्यं च।॥१॥ तदेतन्मूर्तम्। यदन्यद् वायोश्चान्तरिक्षाच्च। एतन्मर्त्यम्। एतत् स्थितम् एतत् सत्॥ २॥ अथामूर्तम्। वायुश्चान्तरिक्षं च। एतद् अमृतम्। एतद् यत्। एतत् त्यम्।४।

अर्थात् दो ही ब्रह्म=महान् के रूप (हुए)। मूर्त और अमूर्त। मर्त्य और अमृत। स्थित और यत्। सत् और त्यम्॥ १॥ तो यह अमूर्त है। जो दूसरा है वायु से और अन्तरक्ष से। यह मर्त्य है। यह स्थित है। यह सत् है॥ २॥ —— अब अमूर्त। वायु और अन्तरिक्ष (अमूर्त) है। यह अमृत (है)। यह त्यम् (है)।

इस व्याख्या के अनुसार असत् और सत् के लिए निम्नलिखित अन्य पारिभाषिक शब्द भी प्रयुक्त होते हैं।

असत्	सत्
अमूर्त	मूर्त
अमृत	मर्त्य
यत्	स्थित
त्यत्-त्यम्	सत्

काण्व बृहदारण्यक ३।१ में इस का स्वल्प पाठान्तर है। अतः याज्ञवल्क्य-प्रदर्शित इस यथार्थ अर्थ के अनुसार इस मन्त्र का व्याख्यान भूत-सृष्टि अथवा भूतों की तन्मात्रा रूपिणी पूर्वावस्था-परक है। आदि में तन्मात्रा आदि में से कोई न था।

प्राण का परिणाम सत् के सब रूप तथा प्राण ही असत आदि है, यह प्रश्न उपनिषद् में भी लिखा है—

1. *Max Muller, H. A. S. L.* sec. ed. (1860 A. D.) P. 559.
2. A. A. Macdonell, ved. myth. (1897 A. D.) P. 13.
3. (a) मारीस ब्लूमफील्ड ने The Religion of the Veda, 1908 A. D. में पृ० २३५ पर यही अर्थ किया है तथा Adolf kaegi, The Rigveda. (1886 A. D.) P. 90. में भी॥
   (b) History of Philosophy, Eastern and Western, Vol. 1. (1952 A.D.) Article on the Vedas, by Tarapad Chowdhury, P. 47.
4. M. Winternitz, H. I. L. (1927 A. D.) P. 98.

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष।
वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत्॥

अर्थात्—यह (प्राण ही) अग्नि है, (प्राणी ही) तपता है यह सूर्य। यह (प्राण ही) पर्जन्य (तथा) मघवा यह। (प्राण ही) वायु यह (है)। पृथिवी (यही है) रवि और देव। सत्, असत्, अमृत और यत् (है)।

पुनः शतपथ १०। ५। ३। १—३ में लिखा है—

नैव वा इदमग्रेऽसदासीत्। नैव सदासीत्। आसीदिव वा इदमग्रे नेवासीत्। तद्ध तन्मन एवास। तस्मादेतद् ऋषिणाभ्यनूक्तम्—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीमिति।[२]

नैव हि सन्मनो नेवासत्॥ तदिदं मनः सृष्टमाविरबुभूषत्।

अर्थात्—नहीं के समान निश्चय ही यह पहले असत् था। न के समान ही सत् था। होने के समान निश्चय यह पहले नहीं के समान था। तो निश्चय वह मन (= अहंकार) ही था। इस कारण यह ऋषि ने (प्राकृत माया) के अनुसार कहा—

न ही निश्चय से सत् मन (था) न असत्। तो यह मन उत्पन्न हुआ आविर्भाव की इच्छा वाला हुआ।

इसी प्रकार का एक पाठ तैत्तिरीय ब्राह्मण में पढ़ा गया है—

इदं वा अग्रे नैव किंच नासीत्। न
द्यौरासीत्। न पृथिवी। नान्तरिक्षम्।
तद् असदेव सन्मनोऽकुरुत स्यामिति।
तदतप्यत। तस्मात् तेपानाद् धूमोऽजायत।
तद्‌भूयोऽतप्यत। तस्माद् तेपानाद्
अग्निरजायत तदभ्रमिवसमहन्यत॥ २।२।९।१॥

अर्थात्—यह (दृश्य जगत्) निश्चय ही पूर्व कुछ नहीं था। न द्यौ था। न पृथिवी (थी)। न अन्तरिक्ष (था)। वह असत् ही होता हुआ सत् मनन करने लगा, होऊं मैं, इति। वह तपा उस तपे हुये से धूम उत्पन्न हुआ। वह पुनः तपा। उस तपे हुए से अग्नि उत्पन्न हुआ।...... वह अभ्र के समान ठोस हुआ।

यहां धूम मूल वायु के उत्तर की और अग्नि से पूर्व की अवस्था प्रतीत होती है।

तै० ब्रा० में इस से आगे पुनः कहा है—असतोऽधिमनोऽसृज्यत। ॥ २। २। ९। १२॥

छान्दोग्य उपनिषद् में भी ऐसा ही पाठ है।—

सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। एकमेवाद्वितीयम्। तद्धैक आहुः। असदेवेदमग्र
आसीत्। एकमेवाद्वितीयम्। तस्माद्
असतः सद् अजायत॥ छा० उप० ६।२॥

अर्थात्—सत् ही है सौम्य (श्वेतकेतो) पूर्व था। एक ही विना दूसरे के। तो निश्चय एक (ब्रह्मवादी) कहते हैं। असत् ही इस जगत् के पूर्व था। एक ही विना दूसरे के। (वे दोनों सत्य-निष्ठ हैं।) इस लिए असत् से सत् उत्पन्न हुआ।

छान्दोग्य उपनिषद् में अन्यत्र भी ऐसा कथन है—

आदित्यो ब्रह्म इत्यादेशः। तस्योपव्याख्यानम्। असदेवेदमग्र आसीत्।
तत् सदासीत्। तत् समभवत्। तदाण्डं
निरवर्तत। तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत।
तन्निरभिद्यत। ते आण्डकपाले
रजतं च सुवर्णं चाभवताम्।——अथ
यत् तद् अजायत सोऽसावादित्यः।
तं जायमानं घोषा उलूलवो ऽनूदतिष्ठन्त॥
॥ ३। १९। १०३॥

अतः असत् और सत् पारिभाषिक शब्द हैं। इन का अर्थ पूर्व स्पष्ट किया गया है॥

---

१. तुलना करो—ऋषीत्येष गतौ धातुः श्रुतौ सत्ये तपस्यथ। एतत् संनियतस्तस्मिन् ब्रह्मणा स ऋषिः स्मृतः॥ वायु पु० ५९।८०॥
वायुपुराण में ऋष-गतौ से ऋषि शब्द की सिद्धि मानी है। शतपथ के पूर्वोक्त लेख में रिष्-गतौ से सिद्धि दर्शाई है।

२. तुलना करो—महाभारत, शान्तिपर्व ३५१। ८॥

गायत्री की व्याख्या

(ले०—श्री० प्रो० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार, विद्याविहार, देहरादून)

१—भूः भुवः स्वः

गायत्री का प्रारंभ तीन व्याहृतियों से होता है। ये व्याहृतियां हैं—भूः भुवः स्वः। इन व्याहृतियों का क्या अर्थ है?

संसार में सद्वस्तु के तीन रूप होते हैं जिन्हें वेदान्ती 'अस्ति'—'भाति'–'प्रीति'—इन तीन नामों से पुकारते हैं। कोई वस्तु 'है', यह उसका पहला रूप है, परंतु 'है'–से ही काम नहीं चलता, अगर उसे 'है'–की हालत में रहना है तो उसे 'होते रहना' होगा, नहीं तो वह नष्ट हो जायगी, यह 'होते रहना' हर वस्तुका दूसरा रूप है। 'है'—की पहली हालत का 'अस्ति' कहा जाता है, अंग्रेजी में इस पहली हालत को 'Being' कहते हैं। 'होते रहना' या बने रहना'—इस दूसरी अवस्था को 'भाति' कहा जाता है, अंग्रेजी में इसे 'Becoming' कहा जाता है। संसार की हर वस्तु का विकास 'है'–से 'होने' की तरफ है 'अस्ति' से 'भाति' की तरफ है, 'Being' से 'Becoming' की तरफ़ है। जहां यह विकास की दिशा रुकी वहीं मृत्यु है, बीज पौधा बन रहा है, पौधा पेड़ बन रहा है, बच्चा बालक बन रहा है, बालक मनुष्य बन रहा है—बनने की यह अविरल—प्रक्रिया निरन्तर जारी रहती है। परन्तु यह 'बनना'—यह 'भाति'—यह 'Becoming'—इसके विकास की दिशा क्या है? वैदिक विचारकों का कहना था कि 'है' के विकास की दिशा 'होना' और 'होने' के विकास की दिशा 'सुख' है। वेदान्त की परिभाषा में 'अस्ति' के विकास की दिशा 'भाति', और 'भाति' के विकास की दिशा 'प्रीति' है। इसी को अंग्रेजी परिभाषा में यों कह सकते हैं कि 'Being' के विकास की दिशा 'Becoming' और 'Becoming' के विकास की दिशा 'Bliss' है। हर वस्तु, हर गति आगे-आगे बढ़ रही है, विकसित हो रही है, परन्तु यह विकास अपना मुख उठाये किधर कदम बढ़ा रहा है? सुख की खोज और उसे पाने में ही हर वस्तु की सार्थकता है। कोई दुःख को नहीं ढूंढ रहा। प्रत्येक सत्ता, होने के लिये है, प्रत्येक होना, सुख के लिये है—यह सुख ही संसार के कण-कण में हो रहे विकास की तीसरी अवस्था है। 'अस्ति' का लक्ष्य 'भाति' है, 'भाति' का लक्ष्य 'प्रीति' है। 'Being' का लक्ष्य 'Becoming' है, 'Becoming' का लक्ष्य 'Bliss' है। 'अस्ति'—'होना'—'Being' को गायत्री मन्त्र में 'भूः' कहा है—यह प्रत्येक वस्तु के विकास की पहली अवस्था है; 'भाति'—'होते रहना' —'बनते रहना'—'Becoming' को गायत्री मन्त्र में 'भुवः' कहा है यह प्रत्येक वस्तु के विकास की दूसरी अवस्था है, 'प्रीति—सुख'—'Bliss' को गायत्री मन्त्र में 'स्वः' कहा है—यह प्रत्येक वस्तु के विकास की तीसरी अवस्था है। संसार का विकास इन्हीं तीन क्रमों से हो रहा है, 'भूः' का लक्ष्य 'भुवः' और 'भुवः' का लक्ष्य 'स्वः' है। जहां 'भूः' 'भुवः' की तरफ नहीं बढ़ रहा, और 'भुवः' 'स्वः' की तरफ नहीं बढ़ रहा, वहां जीवन नहीं विकास नहीं, प्रगति नहीं, उन्नति नहीं; वहां मृत्यु है, ह्रास है, अवनति है, नाश है।

२—तत्सवितुर्वरेण्यम्

परन्तु इस 'है'—'होना'—'सुखके लिये होना', इस 'अस्ति'—'भाति'—'प्रीति', इस 'Being'— 'Becoming'—'Bliss', इस 'भूः'—'भुवः'–'स्वः' की प्रक्रिया के प्रवाह को चला कौन रहा है? यह स्वयं तो नहीं चल रहा। इस प्रवाह को जो बहा रहा है, यह प्रवाह जो रुक ही नहीं सकता, 'भूः' 'भुवः' की तरफ बढ़ेगा, अवश्य बढ़ेगा, नहीं बढ़ेगा तो 'भूः' ही समाप्त हो जायगा, 'भुवः' 'स्वः' की तरफ़ बढ़ेगा, अवश्य बढ़ेगा, नहीं बढ़ेगा तो 'भुवः' ही समाप्त हो जायगा—यह 'स्वः' की तरफ़ बढ़ता हुआ अखंड, अवश्यंभावी प्रवाह जो बहा रहा है वह कौन है? कौन है जिसने ऐसा विधान रचा है, जिसके कारण प्रत्येक सद्वस्तु तभी तक टिकी हुई है, जब तक वह अपने-आप को

'है' से 'होने', 'भूः' से 'भुवः' 'अस्ति से 'भाति', 'Being' से 'Becoming' की प्रक्रिया में बनाये रखती है, और 'होने' की प्रक्रिया भी एक निश्चित दिशा की तरफ ही मुंह उठाये चली जा रही है, सुखकी, आनन्द की तलाश में यह सारा प्रवाह बह रहा है,—इस सारे प्रवाह को बहाने वाला कौन है ? गायत्री मन्त्र में प्रवाह के उस बहाने वाले को 'सविता' कहा गया है 'सविता' षूञ् प्रसवे धातु से बना है। 'सविता'—अर्थात् प्रसव करने वाला—पैदा करने वाला। उस पैदा करने वाले ने, सविता ने, हरेक वस्तु की रचना करते हुए हर वस्तु में 'भूः' 'भुवः' 'स्वः' का पुट दे दिया है, हर वस्तु में अस्ति, भाति, प्रीति—है, होना, सुख के लिये होना, 'Being', 'Becoming', Bliss—का बीज डाल दिया है। इसीलिये गायत्री के इस भाग में कहा कि हम उस 'सविता' का वरण करते हैं, उस उत्पादक-शक्ति का जिसने प्रत्येक सद्वस्तु का प्रसव करते हुए उसकी रचना ही ऐसी कर दी कि हर वस्तु विकास के मार्ग पर चलती हुई पहले भूः की अवस्था में आती है, फिर जिन्दा रहना हो तो भुवः की अवस्था में चल देती है, और भुवः की अवस्था की सार्थकता भी तभी तक है, जब तक वह 'स्वः' की अवस्था की तरफ पग बढ़ाये जाती है।

३—भर्गो देवस्य धीमहि

हमने देखा 'सविता' क्या है ? परन्तु 'सविता' की उस शक्ति का क्या नाम है जिस से हर वस्तु उस निश्चित प्रक्रिया में से गुजर रही है जिसका अभी वर्णन किया गया ? गायत्री मन्त्र में 'सविता' की उस शक्ति को 'भर्ग' कहा गया है। 'सविता' की वह शक्ति जिसके द्वारा हर वस्तु का विकास 'भूः' 'भुवः' 'स्वः'—इन तीन क्रमों में से हो रहा है 'भर्ग' कहाती है, इस शक्ति को 'भर्ग' क्यों कहा गया है ? 'भर्ग' शब्द भ्रस्ज पाके धातु से बना है 'भर्ग' का अर्थ है—पकाने की शक्ति। जैसे कुम्हार घड़े को पकाता है, घड़ा ज्यों-ज्यों पकता जाता है त्यों-त्यों अपने निर्दिष्ट कार्य के लिये तय्यार होता जाता है, इसी प्रकार 'सविता' संसार की हर वस्तु को पका रहा है, और पकते-पकते हर वस्तु अपने लक्ष्य की तरफ बढ़ती चली जा रही है 'सविता' का 'भर्ग' ही है जिससे हर वस्तु धीरे-धीरे पकती हुई भूः भुवः स्वः—अस्ति, भाति, प्रीति—Being, Becoming Bliss—की प्रक्रिया में से गुजर रही है। इसलिये गायत्री मन्त्र के ऊपर दिये गये तीन चरणों का अर्थ हुआ—हम 'सविता' देव के उस 'भर्ग' का ध्यान करते हैं जो संसार की हर वस्तुको एक खास दिशा में पकाता हुआ ले जा रहा है। किस दिशा में ? भूर्भुवः स्वः की दिशा में अस्ति-भाति-प्रीति की दिशा में Being, Becoming, Bliss की दिशा में, भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि इसका यही अर्थ हुआ।

४—धियो यो नः प्रचोदयात्

बाकी रहा—'धियो यो नः प्रचोदयात्'—इसका अर्थ तो स्पष्ट ही है। सविता का जो 'भर्ग' संसार की हर वस्तु को एक निश्चित 'स्वः' की दिशा में प्रवाहित कर रहा है, वही 'भर्ग' हमारी बुद्धि को भी ऐसी प्रेरणा दे कि हम भी अपने-आप को विकास को इसी प्रक्रिया में से ले चलें, हम अपने को संसार का प्रसव करने वाली सविता-शक्ति के भर्ग के साथ, उस प्रक्रिया के साथ जो हर वस्तु को धीरे-धीरे पकाती हुई निश्चित उद्देश्य तक पहुँचा रही है, ऐसे समन्वय में ले आयें, ताकि हमारे जीवन की दिशा भी वही बन जाय, हम भी विश्व के विकास के एक अंग बन जांय, हम भी अपने-आप को धीरे-धीरे वैसे ही पकाने लगें, जैसे हर वस्तु का सहज-पाक हो रहा है—ऐसा क्रमिक सहज-पाक जिसका वर्णन गायत्री की व्याहृतियों में किया गया है—हम भी भूः भुवः स्वः की इस प्रक्रिया में से गुजरें—वह सविता जैसे हर वस्तुको इसक्रम में से गुजार रहा है, वैसे इसी क्रम में से गुजरने की हमारी बुद्धि को भी प्रेरणा दे। 'सविता' का अर्थ जहां 'षुञ् प्रसवे' धातु से 'उत्पन्न करने वाला' यह होता है, वहां इस का अर्थ 'सूर्य' भी है-वह सूर्य जो हर वस्तु को पकाता है। 'सविता' के सूर्य अर्थ को सामने रख कर ही 'भर्ग' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ 'भ्रस्ज पाके' धातु से 'पकाना' है। सूर्य हर वस्तु को पका रहा है, सविता भी-वह शक्ति जिसने

संसार पैदा किया–हर वस्तु को पका रहा है, यह पकना, यह क्रमिक–विकास ही 'भूर्भुवः स्वः' है 'भूर्भुवः स्वः–ये तीन अधर विश्व–नियन्ता प्रभु द्वारा निर्धारित विकास की एक निश्चित प्रक्रिया का वर्णन करते हैं। ब्रह्मांड की, अर्थात् .भूमि–अन्तरिक्ष–द्यौः की यही प्रक्रिया हमारे पिंड में भी चले–ब्रह्मांड में सूर्य (सविता) इस प्रक्रिया का प्रतिनिधि है, पिंड में बुद्धि (धीः) इस प्रक्रिया की प्रतिनिधि है—यही गायत्री मन्त्र का अर्थ है। तभी कहा कि ब्रह्मांड का 'सविता' जो विश्व को भूः भुवः स्वः में से धीरे–धीरे गुजार रहा है, अस्ति–भाति–प्रीति में से ले जा रहा है, Being, Becoming, Bliss, की प्रक्रिया में डाल कर अपने 'भर्ग', अर्थात् पकाने की शक्ति से पका रहा है, वही हमारे पिंड में हमारी 'धीः', अर्थात् बुद्धि को ऐसी प्रेरणा दे, जिससे हमारे पिंड में हमारी 'धीः' वही काम करे, जो ब्रह्मांड में 'सविता' करता है। 'सविता' जैसे विश्व को, 'धीः' वैसे मनुष्य को अस्ति,–भाति–प्रीति की, भूः भुवः स्वः की, Being, Becoming, Bliss, की प्रक्रिया में से गुजारे, यही गायत्री मन्त्र का रहस्यमय अर्थ है।

चतुष्पाद मनुष्य

[ले०—श्री पू० महात्मा प्रभु आश्रित जी महाराज]

देवस्य वयं सवितुः सवीमनि
श्रेष्ठे स्याम वसुनश्च दावने।
यो विश्वस्य द्विपदो यश्चतुष्पदो
निवेशने प्रसवे चासि भूमनः॥

ऋ० ६–७१–२॥

शब्दार्थ—(यः विश्वस्य द्विपदः) जो तू सब दो पैर वालों तथा (चतुष्पदः) जो तू चार पैर वाले जीवों का (निवेशने असि) आश्रय देने वाला है (भूमनः प्रसवे च [असि] और बड़े भारी संसार को प्रेरणा देने वाला है (सवितुः देवस्य) उस तुझ प्रेरक देव के (श्रेष्ठे सवीमनि) श्रेष्ठ प्राणों में (वयं स्याम) हम होवें (वसुनश्च) तथा तेरे ऐश्वर्य के ([श्रेष्ठे] दावने) श्रेष्ठ दान में हम होवें॥

पाठक गण! जो शब्दार्थ इस मन्त्र का ऊपर दिया है वह तो स्पष्ट ही है परन्तु इसके आध्यात्मिक भाव क्या हैं, यह यहां दिखाना अभीष्ट है अतः सावधानी से पढ़िये!—

मन्त्र का आध्यात्मिक भाव—बाह्य दो पाद वाले मनुष्य और पक्षी हैं चार पाद वाले पशु हैं, परन्तु जीव तो सहस्र पाद वाले भी हैं। इसका आन्तरिक भाव उलटा है। दो पद और चार पद—चार पदार्थ हैं धर्म, अर्थ काम और मोक्ष। वह (चतुष्पदः) मनुष्य के लिये हैं और अर्थ, काम (द्विपदः) यह सब जीव जन्तु के लिये हैं। इनमें भोग और कामनाएं ही हैं। मनुष्य चारों का इच्छुक ग्राहक और आचरण करने वाला है। अन्य जीव अपने भोग में परतन्त्र हैं इसलिये उनकी कामनाएं भी उसी भोग निमित्त सीमित होती हैं। परन्तु मनुष्य स्वतन्त्र है इसलिये उसकी कामनाएँ असीम हैं। वह कामना करने में स्वतन्त्र है जैसी भी कामना करे, पुण्य की अथवा पाप की करे। यदि कामना धर्म के आधीन होगी तो अर्थ भी मोक्ष की ओर ले जाने वाला होगा। यदि कामना धर्मरहित होगी तो अर्थ भी धर्मरहित होकर दुःखदाई और आवागमन के चक्र में डालेगा।

मनुष्य साधक को सर्व प्रथम यह विश्वास और निश्चय पूर्ण होना चाहिये कि वेद मन्त्र जो कहता है वह पूर्णतः सत्य है। हम "विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव......" यह मन्त्र रोज पढ़ते हैं। इस मन्त्र में (विश्वानि दुरितानि) के दूर करने के लिये हमने प्रार्थना की है, किस से? सवितः से। सवितः का अर्थ है प्रेरणा करने वाला। हम यह विश्वास रखें कि हमारे पाप हमारे अपने बल से तथा अपनी बुद्धि से कदापि दूर नहीं हो सकते। प्रभु ही एकमात्र "आत्मदा बलदा" है। जैसा कि कहा है "य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः"।

"यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम"॥

अर्थात्—जो परमात्मा आत्मा और ज्ञानके बलका देने वाला है, जिसकी समस्त संसार उपासना करता है, जिसके न्याय और शासन सब विद्वान् मानते हैं, जिसकी छत्र छाया अर्थात् आश्रय में रहना अमृत सुख-मोक्ष को प्राप्त करना है, जिससे विमुख होना मृत्यु आदि दुःखों का कारण है, ऐसे सुखस्वरूप प्रभु की हम सकल उत्तम सामग्री से विशेष भक्ति किया करें।

तो परमात्मा दो चीजें प्रदान करता है ज्ञान और बल।

भौतिक रूप से देखो, नन्हा बालक है करवट नहीं बदल सकता, चल नहीं सकता। उसमें बल आया अन्न से और वह चला माता की प्रेरणा, संकेत अथवा ज्ञान देने समझाने से। **ऐसे आत्मा का बल और ज्ञान दोनों वही मङ्गलमयी माता ही प्रदान करती है।**

हमें दृढ़ विश्वास हो कि मन्त्र ने कहा (**यस्यच्छाया ऽमृतं यस्य मृत्युः**)—प्रभु की शरण चरण, उसकी भक्ति मोक्ष सुखदायक है और जिसकी भक्ति न करना दुःखों और आवागमन का कारण बनती है।

किनको वह सुख मिलता है और किसे प्रेरणा समझ में आता है? (**यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः**)— जो विद्वान् बुद्धिमान् प्रभु के शासन सत्य और न्याय को मानते हैं, अपने को प्रभु के शासन में रखते हैं उन्हीं के प्रभु देव "विश्वानि दुरितानि" दूर करते हैं, उनका चिन्ह यह होता है कि पाप की वृत्ति जब जगती है तत्काल प्रभु की सत्ता उनके सामने प्रत्यक्ष रूप से आ जाती है और वह कम्पायमान हो जाते हैं। मन थरथराने लगता है मानो पाप वृत्ति थर थर कांप भाग रही होती है और भक्त व्याकुल होकर प्रार्थना करने लग जाता है, अश्रू टप टप करने लग जाते हैं। यह नहीं कि पाप वृत्ति में बहा जाकर क्रीड़ा और आनन्द लेता रहे और फिर सचेत होने पर व्याकुल हो अश्रू टप टप करें।

दुर्गुण दूर करने की विधि

अब भक्त क्या विधि क्रिया में लाए कि जिससे दुर्गुण दूर हों जब उसके अपने सामर्थ्य की बात नहीं।

अवगुण, दुर्गुण दो प्रकार के हैं—एक अवगुण तो मनुष्य को मनुष्यत्व से नीचे ले जाते हैं अर्थात् धर्म से दूर करते हैं, दूसरे दुर्गुण जो परमेश्वर से दूर ले जाते हैं अर्थात् मोक्ष से दूर ले जाते हैं। **स्वार्थ और वैर** तो मनुष्यत्व धर्म से गिराते हैं और **अहंकार और कठोरता** दुर्गुण परमेश्वर, मोक्ष से दूर ले जाते हैं।

प्रार्थना समय इन चार मुख्य सरदार अवगुणों को "विश्वानि दुरितानि" के शब्द बोलने पर स्मरण करना चाहिये। पहिली अवस्था तो शब्द रूप से है, इसका अभ्यास हो जाने पर अर्थ सहित स्मरण करने की है। तीसरी अवस्था ज्ञान भाव से स्मरण करने की है।

पहला स्थूल रूप यह है कि कर्म में हमारे स्वार्थ, वैर, अहंकार, और कठोरता दूर हो। दूसरा रूप है ज्ञान से वह चारों दूर हों, तीसरा रूप है स्वभाव से दूर हों। तब उनके स्थान पर "भद्रं-तन्न आसुव" की प्रार्थना सफल होगी। प्रभु हमारे कर्म में अपना भद्र कर्म, हमारे ज्ञान में अपना भद्र ज्ञान और हमारे स्वभाव में अपना भद्र स्वभाव प्रदान करेंगे।

हम में से बहुत लोग इस समय निष्काम कर्म करते हैं सब ऐसा समझते हैं, परन्तु हमारे स्वभाव में नहीं हमारे ज्ञान में उस कर्म का निष्काम रूप होता है।

कई लोग कहते हैं कि जब कोई भी कार्य बिना प्रभु प्रेरणा के नहीं हो सकता तो पाप कर्म भी तो उसी के आधीन हुवे। वह इस मन्त्र से स्पष्ट हो जाता है कि प्रेरक प्रभु का नाम सवितः है परन्तु वह देव है जिससे हमने प्रार्थना की है। देव का अर्थ है देने वाला। देव क्या देते हैं सुख और प्रकाश, कोई भी देवता अन्धकार और दुःख नहीं देता, तो सवितः देव हमारे अन्दर सुख और प्रकाश के कार्यों की प्रेरणा करते हैं। ऐसा ही मन्त्र के इन दो शब्दों के अर्थ समझ कर विश्वास रखने वाला मनुष्य सवितः की प्रेरणाओं को अर्थात् ज्ञान और बल को प्राप्त करता है।

मनुष्य के चतुष्पद कौन से हैं ?

किसी भी उन्नति का चिह्न है अधिकारी बनना अथवा अधिकार की प्राप्ति। अधिकार मिलता है प्रभु से, श्रम पुरुषार्थ तथा साधन के फलरूप में, परन्तु मनुष्य उसे प्रभु की देन न जानकर अपनी चतुराई, योग्यता समझ लेता है। अहंकार उसे उपजता है, जो उसे पतन की ओर ले जाता है। ब्राह्मणों में अहंकार ने, क्षत्रियों में कठोरता ने, वैश्यों में स्वार्थ ने और शूद्रों में वैर ने वर्ण रूप से सात्विक अधिकार की बजाए तामसिक स्थान ले लिया।

मनुष्य को शरीर मिला। इस शरीर में इन्द्रियां (ज्ञान[1] और कर्म[2] + इन्द्रियां), मन[3] और बुद्धि[4] यह चतुष्पद हैं, हमारे समस्त दुर्गुण अहंकार, कठोरता, स्वार्थ और वैर, प्रथम इन्द्रियों से कर्म रूप में खारिज हों, फिर ज्ञान रूप से बुद्धि से, और फिर स्वभाव रूप से मन से खारिज हों।

यह न समझा जावे कि जो मनुष्य स्वार्थ रहित कर्म करता है, उसका ज्ञान भी और स्वभाव भी स्वार्थ रहित है।

उदाहरण से यों समझिए, पहले जातीय समूह के भाव से, फिर व्यक्ति का रूप जानना, स्वराज्य की प्राप्ति के लिये कांग्रेसियों ने कर्म में कितना त्याग भाव दिखलाया। उनकी चल-अचल सम्पत्ति नीलाम हो गई अथवा सरकार ने जब्त कर ली, पाल-बच्चों से जुदा किए गए। शरीर पर आघात सहे, एक दो बार नहीं, अनेक बार जेलों में सड़े। कोई कह सकता था कि यह त्याग, यह बलि कोई अपने किसी स्वार्थ के लिये कर रहा होगा। सब के सब स्वार्थरहित देश पर मर मिटते जा रहे थे। उनका कर्म सचमुच स्वार्थरहित था। अब देखिये जब स्वराज्य प्राप्त हुआ तो उन्हें अधिकारी बनाया गया राज्य-कार्य चलाने के लिये। अब यदि उनके स्वभाव में स्वार्थ का त्याग होता अथवा ज्ञान में स्वार्थ का त्याग होता तो आज यह दशा क्यों होती। कई एक विरले को छोड़ कर सभी स्वार्थ का शिकार बन गए। यह हुआ स्वार्थ का रूप।

अब दूसरा-रूप देखिये वैर का।

सिखों और यवनों में वैर था ज्ञान में। उनके कर्म और स्वभाव में पहले प्रकट नहीं हुआ। पारस्परिक और अन्य हिन्दुओं के साथ कैसे सम्बन्ध थे। जब मज़हब का प्रश्न आया तो सब कुछ भूल गए। वह ज्ञान बुद्धि में उबला और खूंखार दशा पकड़ ली। जो फल हुआ, वह सबको विदित ही है। असभ्यता उनकी कठोरता में प्रगट हुई। स्त्रियों को नङ्गा कर देना, सतीत्व भंग करना, धर्म स्थानों का निरादर, बच्चों को ऊपर उछाल २ कर भूमि पर पटकना, आग लगाना, जीवित जलाना, किसी का नाक, किसी का कान, किसी का हाथ, किसी की टांग काट डालना, यह लोग कितना सहानुभूति ज्ञान में रखते थे परन्तु समय आने पर मज़हबी ज्ञान का रंग चढ़ा, कर्म और स्वभाव बदल गए। मन, शरीर दोनों बुद्धि ने बदल दिए।

ऋषि विश्वामित्र का तप, त्याग, यज्ञ और विद्या किस पराकाष्ठा पर पहुँची हुई थी जो नई सृष्टि खड़ी कर लिया करता। इतनी सिद्धि और सामर्थ्य थी, (ऐसा पुराणों में लिखा है) उसका कर्म और ज्ञान इतना ऊंचा परन्तु स्वभाव में यज्ञ और त्याग नहीं आया था। मन में मान और प्रतिष्ठा का मोह अहंकार छिपा रहता था। जब भी ऋषि वसिष्ठ के पास जाते, वह झट कह देते आओ! राजर्षि विश्वामित्र जी! तो विश्वामित्र तत्काल आग बबोला हो जाते कि मैंने इतने यज्ञ किये, मुझे ब्रह्मर्षि क्यों नहीं कहता। यह क्रोध स्वभाव में था। जब वह भी यज्ञमय बन गया तब मन का स्वभाव भी बदल गया और ब्रह्मर्षि कहलाया।

संसार का विरोध कैसे दूर हो?

"यद्यपि आजकल बहुत से विद्वान् प्रत्येक मतों में हैं, वे पक्षपात छोड़ "सर्वतन्त्रसिद्धान्त" अर्थात् जो २ बातें सब के अनुकूल सब में सत्य हैं, उनका ग्रहण और जो एक दूसरे से विरुद्ध बातें हैं, उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्त्तें वर्त्तावें तो जगत् का पूर्णहित होवे क्योंकि विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़ कर अनेकविध दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है॥"

दयानन्द सरस्वती (सत्यार्थप्रकाश)

वैदिक श्रमवाद-वर्णाश्रम-कल्पना

(ले०—श्री० डा० फतह सिंह एम० ए०, डी० लिट्०, कोटा)

हमारा शरीर 'अष्टचक्रा नवद्वारा', अयोध्यापुरी है; इसी में निवास करने से आत्मा 'पुरुष' कहलाता है। पुरुष की स्थूलतम अभिव्यक्ति हाड़-मांस के शरीर द्वारा उसके 'श्रम' के रूप में होती है जिसका रुपान्तर समाजापेक्षित विभिन्न 'सेवाओं एवं सामानों' में प्रतिक्षण होता रहता है। समाज भोक्ता-रूप में अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा 'सेवाओं एवं सामग्रियों' की मांग प्रतिक्षण करता रहता है और वह स्वयं ही भोग्य (उत्पादक) रूप में होकर इस मांग की पूर्ति के लिए—आवश्यक 'सेवाओं एवं सामग्रियों' के उत्पादन के लिए अपने श्रम का उपयोग करता है। श्रम की इन्हीं उपजों—'सेवाओं और सामग्रियों'—का उपभोग करके श्रम करने की अपनी क्षमता को परिपुष्ट और परिवृद्ध करता रहता है। इस प्रकार समाज में एक महान् श्रम-यज्ञ चल रहा है। समाज की हाड़-मांस की शरीर-समष्टि ही वेदी है, जिस में चाह (तृष्णा) की प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित हो रही है, अनेक 'सेवाओं एवं सामग्रियों' की आहुतियाँ पड़ रही हैं जो स्वयं उपभुक्त होकर समाज की शक्ति को बढ़ाती हुई 'सेवाओं एवं सामग्रियों' की अन्यान्य आहुतियों को डालने के लिए उसके श्रम-प्रवाह को निरन्तर गतिमान् रखती हैं।

श्रम का महत्त्व

यह श्रम—यज्ञ ही समाज को जीवित रखता है। इसका अंत समाज का अंत है, इसीलिए वेद में श्रम को बहुत बड़ा महत्त्व दिया गया है। श्रम को वहाँ किसी भी लौकिक या पारलौकिक समृद्धि, सिद्धि, या शक्ति के समान बहुमूल्य कहा गया है (अथ० वेद० ११, ९, १७) और श्रम की गणना ऋत, सत्य तथा तप जैसी आध्यात्मिक विभूतियों और राज्य, धर्म एवं कर्म जैसी पार्थिव शक्तियों के साथ की गई है (अथ० वे० ११, ९, १७; ८, ९, ६)। श्रम बड़ी भारी शक्ति है जिसके बिना देवता भी सहायता नहीं कर सकते (ऋ० वे० ४, ३४, ४); श्रम के द्वारा देवत्व, अमरत्व तथा इन्द्र देव की प्राप्ति होती है (ऋ० वे० ३, ६०, २; १, ११०, ३, ६०, ३; १, ११०, ४)। कहा जाता है कि रथ बनाने वाले, चर्म-चीर संधान करने वाले, पशु का चमड़ा निकालने वाले, प्याले अलंकृत करने वाले, लकड़ी का काम करने वाले तथा ऐसे ही श्रमजीवी मर्त्य होते हुए भी अमर हो सकते हैं (ऋ० वे० १, ११०, ८; १, १६१; १—२७४; ३, ६०, २; इत्यादि)।

श्रम का वर्गीकरण

जिस हाड़-मांस की समष्टि द्वारा समाज का यह श्रम-यज्ञ चल रहा है, वह वस्तुतः हमारे अन्ननिर्मित शरीरों की समष्टि है। अतः इसको अन्नमय समष्टि भी कहते हैं जिसका नाम पद्धु, पशु या शु भी है (तु० क० श० ब्रा० ६, २, १, १६; ७, ५, २, ४२; ६, ८, २, ७; ४, ६, ९, १; कौ० ब्रा० ३, ७; ५, ७; २९, ३; प्रभृति) इसी 'शु' (अन्नमय) को द्रुतिमय (गतिशील) बनाने वाला होने से साधारण श्रम 'शूद्र' (शु+द्रम्) भी कहलाया। इसी प्रकार का श्रम तो सभी सरीसृपों, मृगों एवं पक्षियों आदि में भी पाया जाता है और यदि मनुष्य में श्रम का यही रूप रहता तो वह केवल दौड़-धूप करने वाला पशु ही रहता। मानव-समाज का इतने से काम नहीं चल सकता; ऐसा श्रम लेकर तो वह वानर या वन-मानुष की भाँति ही जीवन व्यतीत कर सकता था; परन्तु मानव-समाज वर्षा शीतादि से बचने के लिये मकानों एवं वस्त्रों के रूप में निवेश या वेश का ही निर्माण करता है। इस प्रकार के योग्य श्रम को ही वैदिक समाज शास्त्र में 'विश्' कहा गया है। यद्यपि प्रारम्भ में 'विश्' श्रम का सम्बन्ध वेश (वस्त्र) और निवेश (घर) से ही था और वेश तथा निवेश द्वारा ही अन्नमय—समष्टि की रक्षा उससे होती थी; परन्तु शनैः शनैः उसका सम्बन्ध वसन या वास से आगे बढ़कर अशन आदि से भी होना स्वाभाविक था। अतः 'विश्' श्रम के अन्तर्गत वह सारा श्रम आ सकता है जो समाज के लिये सारे सामानों या सामग्रियों का उत्पादन करता है।

आधुनिक समाज-शास्त्र के अनुसार 'शूद्र' एवं 'विश्' के अन्तर्गत आने वाले श्रम को सामाजिक क्रिया शक्ति (Social Function) कहा जा सकता है। 'विश्' के द्वारा यदि समाज अन्न-वस्त्र आदि भोग्य सामग्री का उत्पादन करता है तो शूद्र श्रम के द्वारा उसका वितरण करता है—एक रसोइया है तो दूसरा परोसने वाला। इसलिये शूद्र श्रम का

वर्णन दानार्थक 'दाश्' या दास् धातु से किया जा सकता है और इसी वर्णन के आधार पर इस श्रम को 'दास वर्ण' कहा जाता है। शूद्र और दास एक ही श्रम के वाचक होते हुए भी एक श्रम के उस स्वरूप की ओर संकेत करता है जो अन्नमय समष्टि को पेड़, फल, फूल नदी जल आदि प्राकृतिक देनों तक पहुँचाता है और दूसरा उस स्वरूप की ओर संकेत करता है जो स्वयं समाज द्वारा निर्मित अशन, वसन और आवास को समाज की पहुँच के भीतर लाता है। अतः शूद्र श्रम का काम 'अन्नमय समष्टि' को गतिमय बनाकर सामाजिक वितरण में योग देना है और इसी गतिशील अन्नमय का पालन करने से ही 'विश्' श्रम को गोप्तृ (गुप्त) कहा जाता है। इसी वर्णन के आधार पर 'विश्' श्रम को वैश्य के साथ साथ गोप्तृ (गुप्त) या गोपा वर्ण भी कहा जा सकता है। 'विश्' द्वारा उत्पादित सामग्री यदि न हो, तो अन्नमय समष्टि की न केवल गति समाप्त हो जाय, अपितु उसका अस्तित्व ही मिट जाय। अतः विश् और शूद्र श्रम का समष्टि से वही सम्बन्ध है जो प्राण एवं शरीर का 'व्यष्टि' में। इसी से 'विश्' को समाज का प्राणगोपा कहा गया है क्योंकि वही सारी अन्नमय समष्टि का गोपन (रक्षण) करता है। इसलिये 'शूद्र' श्रम जहाँ समाज के 'अन्नमय' की अभिव्यक्ति कहा जाता है, वहाँ 'विश्' श्रम समाज के प्राणमय की अभिव्यक्ति कहा जाता है।

इस अन्नमय एवं प्राणमय के मेल से ही समाज का स्थूल शरीर बना है, जिसकी सुरक्षा का उपाय प्राप्त हुए बिना अन्नमय तथा प्राणमय का उक्त श्रम अविच्छिन्न रूप से नहीं चल सकता। इसको अक्षत रखने के लिये समाज एक तीसरे ही प्रकार का श्रम काम में लाता है; क्षतों से त्राण करने के कारण इस श्रम को क्षत्र कहते हैं। इसका काम है शूद्र एवं विश् श्रम में संगठन तथा समन्वय स्थापित करना, क्योंकि संगठन तथा समन्वय का अभेद्य वर्म (कवच) पहने बिना शूद्र एवं विश् सुरक्षित तथा सुचारु नहीं रह सकते। समाज के लिये वर्मवत् होने के कारण ही इसका दूसरा नाम वर्मन् (वर्मा) भी है। यह क्षत्र न केवल राज्य के रूप में समाज के राजनैतिक जीवन को संगठित करता है, अपितु सामरिक, आर्थिक धार्मिक तथा शैक्षिक जीवन का संगठन भी क्षत्र श्रम द्वारा ही होता है। समाज में शूद्र तथा विश् श्रम से क्षत्र का वही सम्बन्ध है जो व्यष्टि में अन्नमय तथा प्राणमय से मन का। अतः क्षत्र श्रम को समाज की 'मनोमय' समष्टि कह सकते हैं। हमारे स्थूल शरीर भी श्वसन, पाचन, संचलन आदि क्रियाओं को मन जिस शक्ति द्वारा संगठित तथा समन्वित करता है उसके अन्तर्गत ज्ञानेन्द्रियों में काम करने वाली संग्राहिका शक्ति, निर्णय करने में सहायक संकल्प विकल्पात्मिका तथा निर्णीत को कार्यान्वित करनेवाली व्यवसायात्मिका शक्ति आती है और इसी लिये उसे क्रिया शक्ति से भिन्न साक्षित्वमयी दर्शन-शक्ति कहा जाता है। अतः समाज के 'मनोमय क्षत्र' को भी उसकी दर्शन-शक्ति मानना ही ठीक होगा। समाज में यह साक्षित्वमयी शक्ति ही सहस्राक्ष इन्द्र है (कौ० १२, ८; तै० ३, ९, १६; श० २, ५, २, २७; २, ५, ४, ८; ३, ९, १ १६; ४, ३, ६;) जिसकी अध्यक्षता में शूद्र (* पूषा) तथा विश् (वसु, मरुत् तथा रुद्र आदि देवों के गण †) निरन्तर काम करते रहते हैं।

अतः आधुनिक समाजशास्त्र की परिभाषा में हम क्षत्र को सामाजिक अध्यवसाय (Social will) कह सकते हैं। शूद्र तथा विश् द्वारा होने वाले सामाजिक कार्य-कलाप की अध्यक्षता करने वाले इस क्षत्र का समाज में वही स्थान है जो एक व्यवस्थापक का एक कार्यालय में। जिस प्रकार कार्यालय में बैठा हुआ व्यवस्थापक एक निर्दिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए कार्यालय के विभिन्न कर्मचारियों के बीच एक निश्चित प्रकार का संगठन एवं समन्वय स्थापित करता है, उसी प्रकार क्षत्र भी एक निश्चित सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए कार्य करता है। इस उद्देश्य और प्रकार को आधुनिक समाज शास्त्र के अनुसार सामाजिक उद्देश्य (Social-Purpose) या सामाजिक-चेतना (Social consciousness) कह सकते हैं और इसको शक्ति देने वाला शूद्र, विश् तथा क्षत्र से भिन्न वह श्रम है जिसको समाज ज्ञान-विज्ञान-शक्ति कह सकते हैं। उक्त मनोमय सृष्टि को प्रेरणा या आदेश देने वाला या श्रम समष्टि में वही स्थान रखता है जो व्यष्टि में 'विज्ञानमय' का। इसलिए इसे समष्टि का 'विज्ञानमय' कह सकते हैं। 'विज्ञानमय' की यह सूक्ष्म ज्ञान-शक्ति ही है जो क्षत्र को संगठन-समन्वयात्मक क्रियाओं के विशाल ढाँचे के अपेक्षाकृत स्थूल रूप में परिवर्तित हो जाती है—सूक्ष्म से स्थूल की ओर बृंहण (वृद्धि) होने के कारण ही इस ज्ञान-शक्ति को 'ब्रह्म' भी कहते हैं। अतएव ब्रह्म को क्षत्र का स्रोत कहा गया है (श० १४,४,२,२३; तै० ब्रा० २,८,८,

* स शौद्रं वर्णमसृजत् पूषणम् (श० १४, ४, २,२५)। † स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुता इति (श० १४, ४, २, २४)।

९; तां० ११,१,२) क्योंकि ब्रह्म 'अभिगन्ता' है, तो क्षत्र कर्ता है (श० ४,१,७,१)। क्षत्र जब तक ब्रह्म के अधीन रहता है, तभी तक समाज का कल्याण होता है (तद्यत्र वै ब्रह्मणः क्षत्रं वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धम् ऐ० ब्रा० ८,९) इसके विपरीत होते ही समाज में अशांति, अराजकता और विप्लव के चिन्ह दिखाई पड़ते हैं। अतः ब्रह्म जब अपने स्थान पर नहीं होता तो क्षत्र का वर्म पहने हुए भी समाज सुख (शर्म) नहीं पाता। शर्म (सुख) का मूल कारण होने से ही ब्रह्म को शर्मन् भी कहते हैं

वर्ण-व्यवस्था

समाज-शरीर के चार स्तरों अन्नमय, प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय में होने वाला क्रमशः शूद्र, विश्, क्षत्र तथा ब्रह्म रूप में चतुर्विध श्रम-यज्ञ वस्तुतः सामाजिक व्यवहार की एक ही संश्लिष्ट इकाई है जिसमें समाज के सभी अन्योन्याश्रित व्यक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष योग दे रहे हैं। अतएव यद्यपि एक दृष्टि से श्रम के चारों रूप एक व्यक्ति में मिल सकते हैं, परन्तु फिर भी दक्षता एवं कुशलता की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति, अपनी योग्यता और सामर्थ्य के अनुसार एक ही प्रायः विशेषीकरण करता है—एक अपने विश्, क्षत्र तथा ब्रह्म को शूद्र श्रम के आधीन करता है, तो दूसरा अपने शूद्र, क्षत्र तथा ब्रह्म को विश् श्रम की सेवा में लगाता है और तीसरा अपने शूद्र, विश् तथा ब्रह्म को क्षत्र के विकास के लिए प्रयुक्त करता है और चौथा शूद्र, विश्, तथा क्षत्र को ब्रह्म के लिए बलिदान कर देता है। इस प्रकार शूद्र, विश्, क्षत्र तथा ब्रह्म की इनके व्यवहार में प्रधानता होने के कारण ये व्यक्ति क्रमशः शूद्र, क्षत्र तथा ब्रह्म वर्ग के कहलायेंगे। व्यक्तियों की भाँति किसी समाज के विभिन्न वर्ग भी इसी प्रकार विशेषीकरण के द्वारा शूद्र, विश्, क्षत्र तथा ब्रह्म वर्ण के कहे जा सकते हैं।

आदर्श समाज व्यवस्था वही हो सकती है, जिसमें श्रम के अन्य तीनों रूप मिलकर 'ब्रह्म' के विकासमें तत्पर हों क्योंकि सारे श्रम का चरम लक्ष्य शर्म (ब्रह्म) ही रहने से समाज स्वस्थ और सशक्त हो सकता है। इसी लिए वेदों में ब्रह्म को सर्व प्रमुख स्थान दिया गया है। पुरुष-सूक्त में ब्रह्म के विशेषज्ञ ब्राह्मण को मुख तथा क्षत्र, विश्, शूद्र को क्रमशः बाहु, उरु तथा पैर कहा गया है। इस सूक्त से जो लोग वैदिक समाज में ऊँच नीच का भेद-भाव ग्रहण करते हैं वे भ्रम में हैं। सामाजिक श्रम के इन चार तत्त्वों का जो विवेचन ऊपर किया गया है उसी से स्पष्ट है कि इन में चारों ही प्रत्येक व्यक्ति में होते हैं और चारों अन्योन्याश्रित हैं, फिर ऊँच नीच का भेद ही कैसा। समाज-शरीर को गति, शक्ति, सुरक्षा एवं तुष्टि प्रदान करने से ही शूद्र, विश्, क्षत्र तथा ब्रह्म श्रमों को क्रमशः पैर, उरु, बाहु तथा मुख (शिर) कहा गया है। चारों ही अपने-अपने स्थान पर महत्व-पूर्ण हैं और इनमें से किसी भी एक के अभाव में समाज-शरीर अपूर्ण एवं अशक्त है। यदि अन्य तीन के द्वारा ब्रह्म का विकास अभिप्रेत है, तो केवल इस लिए कि शूद्र, विश् तथा क्षत्र सहित सारा समाज शर्म (सुख) प्राप्त कर सके।

आश्रमण

उक्त वर्ण-व्यवस्था द्वारा ही शूद्रश्रम, क्षत्रश्रम, विश् श्रम, तथा ब्रह्मश्रम की व्यापक तथा समन्वित समष्टि का विभाजन तथा विशेषीकरण होता है, परन्तु इस उच्च आदर्श की प्राप्ति के लिए वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के पूर्ण नियंत्रण की आवश्यकता थी। मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी है और यदि वह स्वच्छन्द छोड़ दिया जाय तो समाज का अस्तित्व ही मिटा दे। इस लिए वैदिक-संस्कृति में समाज की एक आश्रमण प्रक्रिया के आधार पर अवलम्बित आश्रम व्यवस्था की कल्पना की गई है जिसके विषय में जर्मन विद्वान् डॉसन (Deussen) कहता है "We are free to confess that in our opinion the whole history of mankind has not much that equals the glamour of this thought." (हम यह स्वीकार करने में स्वतंत्र हैं कि सारी मानव-जाति के इतिहास में—हमारी समझ में—ऐसी थोड़ी सामग्री होगी जो इस विचारधारा की गरिमा को पहुँच सके)।

आश्रम शब्द श्रम से निकला है और इसका शाब्दिक अर्थ है 'वह व्यवस्था या अवस्था जिसमें व्यक्ति श्रम कर सके, परन्तु इस शब्द के पीछे इसके शाब्दिक अर्थ से कहीं अधिक महत्वपूर्ण भाव छिपा है। आश्रम-व्यवस्था का उद्देश्य न केवल प्रत्येक व्यक्ति के लिए श्रमको अनिवार्य कर देना है, अपितु इसका लक्ष्य उचित उद्देश्य की पूर्ति के लिए उचित ढंग से श्रमका उपयोग करवाना भी है। हम देख चुके हैं कि वैदिक वर्णव्यवस्था में ब्रह्म के उत्तरोत्तर विकास द्वारा शर्म की प्राप्ति ही लक्ष्य रक्खा गया है; अतएव व्यक्ति के शिक्षण एवं नियमन के लिए, सबसे पहले इसी तथ्य पर

जोर देने के लिए प्रथम आश्रम का नाम ब्रह्मचर्य रखा गया है। ब्रह्मचर्य का शाब्दिक अर्थ है "वह आश्रम जिसमें ब्रह्म आचरणीय हो। यों सारे मानव जीवन में ही ब्रह्म आचरणीय है; परन्तु मनुष्य के प्रारम्भिक जीवन में जब तक इसकी तैय्यारी नहीं होती, तब तक शेष जीवन में इसकी पूर्त्ति असम्भव है; अतएव मानव-जीवन के चरम लक्ष्य की कुञ्जी यही प्रथम आश्रम होने से इसका नाम 'ब्रह्मचर्य' रखा गया है। इसमें न केवल अध्ययन संयम आदि द्वारा ब्रह्मचारी सामाजिक 'ब्रह्म' श्रम के उत्कर्ष में सहायक होता है, अपितु वह गुरुकुल में रहकर समाज के अन्न वस्त्र से पलकर समाज के व्यक्तियों को अपना 'ऋण' चुकाने का एवं स्वयं को समाज से उपकृत होने का भी अवसर देता है। इसके फलस्वरूप जहां समाज में वित्त-वैषम्य का ह्रास होने में सहायता मिलती है, वहां व्यक्ति में समाज के प्रति कर्त्तव्य-भावना का विकास होता है।

गृहस्थाश्रम में मनुष्य को गृही होकर श्रम करना है। यहां इसका श्रम अर्थ-काम-परायण होकर रमण को प्रोत्साहन देता है, जिस प्रकार ब्रह्मचर्य आश्रम का ज्ञान-परायण श्रम 'दमन' को प्रोत्साहन देता है। परन्तु वैदिक गृहस्थ के श्रम की अर्थपरायणता ब्रह्मचर्य आश्रम के होते हुए साध्य न होकर साधन मात्र हो जाती है और सामाजिक सम्पत्ति एवं सभ्यता के उत्सर्ग में सहायक होती हुई न केवल व्यक्ति को, अपितु समाज को भी ब्रह्म की ओर अग्रसर करती है। गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ एवं सन्यासी का पालन करके अपने ऋण का भार हलका करता है और उन तीनों के 'ब्रह्म' विकास-यज्ञ में योग देता है। पंचमहायज्ञ करना उसके लिए अनिवार्य है और अन्य आश्रमों की सेवा इन यज्ञों का प्रसरण मात्र ही है। इसी लिए गृहस्थाश्रम कई स्थानों पर सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

गृहस्थाश्रम की अर्थ-परायणता का अवसान होता है वानप्रस्थ आश्रम की उपरति में और इस उपरति का पर्यवसान होता है सन्यास के 'शम्' में। वस्तुतः इस 'शम्' की प्राप्ति होने पर ही व्यक्ति 'ब्रह्म' के उत्कर्ष में प्रत्यक्ष योग दे सकता है और सामाजिक 'शम्' स्थापित करने में तत्पर हो सकता है। इसी 'शम्' की प्राप्ति ही प्रथम आश्रम के 'ब्रह्मचर्य' श्रम का लक्ष्य है। अतः स्पष्ट है कि आश्रम व्यवस्था द्वारा व्यक्ति के श्रम को उत्तरोत्तर 'शम्' रूप देने का प्रयत्न किया गया है जिससे व्यक्ति न केवल समाज-व्यवस्था के चरमलक्ष्य की प्राप्ति में अपना पूर्ण योग देने की क्षमता प्राप्त कर सके, अपितु वह स्वयं समाज-व्यवस्था को भी सुदृढ़, संयत एवं स्वस्थ रख सके। आश्रम-व्यवस्था जहाँ अपने गृहस्थाश्रम द्वारा वर्ण-व्यवस्था के शूद्र, विश् तथा क्षत्र तत्त्वों में आने वाले साधारण सामाजिक व्यवहार (Social function) को सक्रिय रखता है, वहाँ वह ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा सन्यास द्वारा समाज के ब्रह्म-तत्त्व के पोषण के लिए व्यक्ति के (उसके द्वारा सारे समाज के) जीवन को तैय्यार करता है। इस प्रकार आश्रम-व्यवस्था द्वारा वर्ण-व्यवस्था में श्रम-यज्ञ की वस्तुतः पूर्ति होती है और साधारण श्रम शम् में परिवर्तित होकर शम् प्रदान करता है।

श्रमणवाद

इसका अभिप्राय यह है कि आश्रम-व्यवस्था पर ही वर्ण-व्यवस्था की सफलता अवलम्बित है। संभवतः इसीलिए आश्रम-व्यवस्था ढीला पड़ने पर वर्णव्यवस्था का भी रूप बदलने लगा और बदलते २ उसका आधार गुण-कर्म के स्थान पर जन्म मात्र हो गया, जिसके परिणाम-स्वरूप समाज में विश् श्रम को ही प्रधानता मिल गई और कामार्थपरायणता की घोर आँधी ने शम्, दम आदि को उठा दिया, श्रम की महत्ता तथा पवित्रता जाती रही और लोग दूसरे की कमाई पर मौज उड़ाने के अभ्यस्त होगये, मनुष्य के आध्यात्मिक रूप के स्थान पर उसके भौतिक रूप को महत्त्व मिला और नृशंसता तथा क्रूरता बढ़ने लगी, उद्योग और पौरुष के स्थान पर दैव एवं देव का भरोसा बढ़ने लगा और फलतः बढ़ने लगी मानव के प्रति उपेक्षा। यही अवस्था देखकर श्रमणवाद का जन्म हुआ, जिसने भारतीय संस्कृति के मूल श्रमवाद की पुनः उद्घोषणा करके बौद्ध एवं जैन आचार्यों के रूप में यह बतलाया कि समाज के लिए श्रम की अनिवार्य आवश्यकता है और सभी प्रकार के श्रम (शूद्र, विश्, क्षत्र, ब्रह्म) अपने अपने स्थान पर एकसा महत्त्व रखने के कारण उनके आधार पर प्रचलित ऊँच-नीच का भेदभाव त्याज्य है। श्रमणवाद ने 'शम्' के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए यह भी कहा कि सच्चा 'श्रमण' तो वही है जो अपने श्रम का पर्यवसान 'शम्' में करले।

वस्तुतः जो शक्ति हमारे स्थूल शरीर में 'श्रम' रूप में प्रकट होती है, उसी का सूक्ष्म रूप हमारे सूक्ष्म शरीर में प्रगट है, जिसको वेद में शची कहा गया है। इसी का सूक्ष्मतम रूप हमारे कारणशरीर में है, जिसे वेदों में 'शमी' या

'शम्' कहा गया है। इसीलिये एक दृष्टि से शमी और शमी (शम्) विभिन्न प्रकार के 'श्रम' ही हैं। यदि आज हमें शम् देवत्व देता है या मोक्ष मार्ग बतलाता तो कभी वही हमारे स्थूल शरीर में मनुष्यता प्रदान करता है। यदि हमारे स्थूल-शरीर में हमारा श्रम मनुष्यता के स्थान पर पशुता या असुरता का अधिकारी बनता हो, तो यह निश्चित है कि सूक्ष्म एवं कारणशरीर में जाकर वह कदापि हमें अपना 'शम' नहीं दिखा सकता और न देवत्व या मोक्ष की ओर ले जा सकता है। अतएव सचे श्रमणवाद में हमारे स्थूल शरीर का श्रम शम रूप में आने की महत्त्वाकांक्षा रखता है। अतः जहाँ एक दृष्टि से स्थूल-शरीर से लेकर कारण-शरीर तक के सारे श्रम-यज्ञ ही हैं, वहां दूसरी दृष्टि से वे देवयज्ञ या असुर-यज्ञ में विभाजित किये जा सकते हैं। हमारे भीतर देव और असुर, फरिश्ता और शैतान सदा द्वन्द्व करते रहते हैं—एक प्रतीक है सत्, शान्ति और प्रगति का, दूसरा असत्, अशान्ति और दुर्गति का। वस्तुतः ये दोनों ही श्रम-शक्ति के दो पक्ष हैं, जिनके द्वारा माया-शबलित चैतन्य अपने को अभिव्यक्त करता है; परन्तु दूसरे को अपनाने से माया या अविद्या का पर्दा बढ़ता ही जावेगा, जब कि प्रथम के ग्रहण से चैतन्य अपने शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार कर सकेगा। अतः इस सारे नानात्मक यज्ञ का आध्यात्मिक रूप वस्तुतः एक ही मूल की ओर संकेत करता है और वह है ब्रह्म या पुरुष की चैतन्य-शक्ति॥

विश्वगीत

[अथर्ववेद (१२।१) का पृथिवी सूक्त]

लेखक—श्री० पण्डित मदन मोहनजी विद्यासागर

"वेद का अर्थ वैदिक दृष्टिकोण से करना सर्वोत्तम है। वेद मानव धर्म और मानव संस्कृति के प्रचारक हैं; देशकालातीत हैं। हर समस्या पर सार्वभौमिक दृष्टि से विचार है। इस लिये इन में 'विश्व' को एक शासन की इकाई मान उसके विषय में कुछ उद्गार कहे गये हैं। मेरी सम्मति में यह 'राष्ट्रगीत' (नैशनल एन्थम = जातीयगेय) नहीं; विश्वगीत' (इण्टरनैशनल एन्थम अन्तर्जातीय गेय) है। अब तक के सभी अर्वाचीन और प्राचीन तथा पूर्वीय और पश्चिमीय विद्वानों ने इसे 'मातृभूमि सूक्त' मान इसका 'राष्ट्र गीत' के रूप में दर्शन किया है। मैं समझता हूँ, यह समय की लहर में बहना है। मैंने इसे 'पृथिवी सूक्त' समझ इसे 'विश्वगीत' के रूप में देखा है। उसी आलोक में पाठक भी देखें।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो
ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं
लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥१॥

महान् मौलिक सत्य नियम, उग्र देशकालानुसारी नियम, दीक्षा, तप, सत्य ज्ञान, सत्कर्म पृथिवी (=विश्वराज्य) का धारण करते हैं। यह पृथिवी (=पर फैली शासन व्यवस्था) हमारे अतीत और भविष्य की पालने वाली है। वह हमारे फलने फूलने को विस्तृत स्थान (क्षेत्र स्कोप) बनावे।

असंबाधं बध्यतो मानवानां
यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति
पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः॥२॥

जिसके मानवों के बीच 'अल्पता महत्ता' (=लघुता श्रेष्ठता) होने पर भी बहुत साम्यभाव है; जिसमें 'उच्च नीच सम' प्रदेश होने पर भी मानवों के मध्य कोई (आवागमन की) रुकावट नहीं; बहुबल-दायिनी औषधियों को जो धारण करती है, वह हमें फुलावे फलावे।

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो
यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा
नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥३॥

जिसमें समुद्र लहराते हैं, नदियाँ कल-कल करती हैं और वापी कूप-तड़ाग सदा भरे हैं; जहां खेत सदा शस्य श्यामल रहते हैं और सुसंस्कृत उद्योगी शिल्पी रहते हैं; जिस पर सांस लेता और विचरता हुआ यह चराचर प्रपंच (जीवन यात्रा चलाता हुआ जगत्) तृप्त रहता है, वह भूमि हमें रस का पान करावे ।

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या
यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत्
सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥४॥

जिस पृथिवी की चारों दिशायें अन्तरिक्ष का आलिंगन करती हैं; जिसमें खेतिहर किसान धान्यादि उपजाते हैं; जो साधारण व असाधारण प्राणियों का धारण पोषण करती है; उसके गौ आदि पशु और सब अन्न हमारे लिये हों ।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे
यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा
भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥५॥

जिसमें पहिले भी महापुरुषों ने नानाविध कार्य किये हैं; जिसमें सदा परहितकारियों ने परहित घातियों को दबाया है; जो पशुपक्षियों की भी सुखद अङ्क है; वह पृथिवी हमें सौभाग्य और तेज दे ।

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा
हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी ।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्नि-
मिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु ॥६॥

यह विश्वंभर की पोषिका, धान्य सम्पन्ना, सब की प्रतिष्ठा, सुवर्णमयी और सब जगत् का आश्रय है । यह वैश्वानर का भरण पोषण करती है; सूर्य इस पर वृष्टि करता है; यह हमें ऐश्वर्यों से भरे ।

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं
देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम् ।
सा नो मधु प्रियं
दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥७॥

जिस सब को सब कुछ देने वाली विस्तृत भूमि की सचेत दिव्य जन जागरूक हो रक्षा करते हैं, वह हमें प्रिय मधुर अन्नादि देवे; कान्ति से भिगो दे ।

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद्यां
मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः ।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्-
त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः ।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं
राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥८॥

जो सर्गारम्भ में समुद्र के भीतर द्रवरूप में थी; कुशलता से मनीषी जिसका उपयोग (सेवन) करते आए हैं; जिसका हृदयरूप सूर्य आकाश में सदा सत्य नियमों से नियन्त्रित उदित है, वह भूमि हमारे उत्तम राष्ट्र में तेजोबल को धारण करावे ।

यस्यामापः परिचराः समानी-
रहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति ।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो
दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥९॥

जिसमें समानरूप से सर्वत्र फैलने वाले जल रातदिन विना हानि पहुँचाये बहते रहते हैं; वह सहस्त्र धारा भूमि हमारे लिये दुग्धादि रस दुहे और हमें तेज से परिपुष्ट करे ।

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे ।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः ।
सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥१०॥

पोषक और दोषनाशक शक्तियाँ जिसकी रक्षा के निमित्त मानों घूमती रहती हैं; प्रजासंघ जिसमें

विविध (क्षेम कल्याणकारी) कार्य करता है; सामर्थ्यवान् शासक जिसे शत्रुरहित बनाता है; वह हमारी भूमि पुत्र के लिये माता की तरह हमारे लिये दुग्ध अन्नादि रस की धारायें छोड़े।

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तो-
ऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु ।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां
ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् ।
अजीतो ऽहतो अक्षतो
ऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥११॥

हे पृथिवी ! तेरी छोटी-छोटी पहाड़ियाँ, हिमावृत पर्वत और वन सब सुखद हों; नाना रूपों वाली भूरी काली लाल वीर रक्षिता अडिग तुझ भूमि पर मैं अजित अहत और अक्षत होकर रहूँ ।

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं
यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः ।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता
भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु ॥१२॥

हे पृथिवी ! जो तेरा अन्तस्थल और जो केन्द्र है; जो तेरे शरीर में से अन्न रसादि पोषक तत्त्व उत्पन्न होते हैं; उनमें हमको प्रतिष्ठित कर, हमें सत्कर्म के लिये प्रेरित करे। भूमि माता है, मैं पृथिवी पुत्र हूँ; सूर्य और मेघ पिता है, वह भी हमें पाले पोसे।

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां
यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः ।
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्या
मूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात् ।
सा नो भूमिर्वर्धयद्वर्धमाना ॥१३॥

जिस पृथिवी पर सब प्रकार से कार्यदक्ष लोग वेदी के चारों ओर एकत्रित होते हैं और इष्टतम (उत्तम प्रोजेक्टादि) कार्यों का विस्तार करते हैं; कार्यारम्भ से पूर्व जिसमें उदात्त चरित्र, पुनीत जीवन और मौलिक-विचारक बुद्धिपूर्वक (अपने-अपने कार्यों पर) नियुक्त किये जाते हैं; वह फलती फूलती भूमि हमारी बढ़ती करे।

यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्याद्यो
ऽभिदासान्मनसा यो वधेन ।
तं नो भूमे रन्धय
पूर्वकृत्वरि ॥१४॥

हे पृथिवि ! जो हमसे द्वेष करे, हमसे लड़ाई करे, हमें हिंसा द्वारा या मनसे हमें गुलाम बनावे, पहले ही से सावधान तू उसको मसल दे।

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं
बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः ।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा
येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य
उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥१५॥

मुझसे उत्पन्न हुए सब नश्वर पदार्थ तुझ पर विचरते हैं; तू दोपाये चौपाये का भरण पोषण करती है। हे पृथिवी ! जिन मर्त्यों पर उदीयमान सूर्य अपनी किरणों से जीवनदायिनी अमरज्योति फैलाता है, वे पंचमानव भी तेरे ही हैं।

ता नः प्रजाः सं दुहतां समग्रा वाचो
मधु पृथिवि धेहि मह्यम् ॥१६॥

वे हमारी समस्त प्रजायें सब पदार्थों का (संदोहन=) संग्रह करें। हे पृथिवि ! मेरे लिये वाणी की मधुरता व अन्न दे।

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां
भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम् ।
शिवां स्योनामनु
चरेम विश्वहा ॥१७॥

हम सब जीवन सर्वस्व, ओषधियों को फैलाने वाली, दृढ़, विशाल, न्याय धर्मानुशासित, मंगल स्वरूपिणी सुखमयी भूमि की जीवन भर सेवा करते रहें, सब दिन इस पर सदा हमारे अनुकूल रहें।

महत्सधस्थं महती बभूविथ
महान्वेग एजथुर्वेपथुष्टे ।
महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम् ।
सा नो भूमे प्र रोचय
हिरण्यस्येव संदृशि
मा नो द्विक्षत कश्चन ॥१८॥

तू मिलकर रहने की विशाल स्थली है, तू बड़ी हो गई है; तेरे वेग गति संचलन महान् हैं। महिमा सम्पन्न तेजस्वी अधिनायक प्रमादरहित हो तेरी रक्षा करता है। ऐसी वह तू! सोने सी बनी प्रतीत हो, हमें सोने की तरह चमका; ताकि कोई हमसे द्वेष न करे।

अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु ।
अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः ॥१९॥

भूमि, वनस्पति, पत्थर में आग है; जल विद्युत् रूप से अग्नि को धारता है। पुरुषों में जठराग्नि वा जीवताग्नि अन्तर्निहित है; गौओं व घोड़ों में अग्नि है;······

अग्निर्दिव आ तपत्यग्नेर्देवस्योर्वन्तरिक्षम् ।
अग्निं मर्तास इन्धते हव्यवाहं घृतप्रियम् ॥२०॥

अग्निपिण्ड सूर्य आकाश में आलोकित हो रहा है, विशाल अन्तरिक्ष भी उसके प्रकाश से जगमगा रहा है; इस हव्यवाह और घृतप्रिय अग्नि को मनुष्य विभिन्न प्रयोजनों के निमित्त प्रदीप्त करते हैं;······

अग्निवासाः पृथिव्यसित-
ज्ञूस्त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु ॥२१॥

यह पृथिवी अग्नि से आच्छादित है और इस बन्धन रहित अग्नि का ज्ञान कराने वाली है। यह मुझे कान्तिमान् और तीव्र बनावे।

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरंकृतम् ।
भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः ॥
सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु
जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु ॥२२॥

इस भूमि पर मनुष्य (=जन सामान्य) दिव्य परोपकारी जीवों के लिये जी भर कर भोग्य पदार्थ देते हैं तथा पूजा सत्कारादि करते हैं; मननशील (विशेष) नर (= मनुष्यों के ज्ञान में रहने वाले) आत्मगौरव के साथ अमर हो जाते हैं, मरणधर्मा (सामान्य) जन (=मिट्टी में मिल जाने वाले) अन्न खाते हुए जीते हैं। वह विशाल भूमि हमें जीवनी शक्ति और आयु देने; वृद्धावस्था भोगने तक दीर्घजीवी करे।

यस्ते गन्धः पृथिवि संबभूव
यं बिभ्रत्योषधयो यमापः ।
यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे तेन
मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन ॥२३॥

हे पृथिवी! जो तेरी गन्ध तेरे साथ पैदा होती है, जिसको जल और औषधियाँ धारण करती हैं; जिसको विलासी स्त्री पुरुष सेवन करते हैं, उससे मुझको सुगन्धित कर। हम में कोई भी (द्वेष न करे=) दूर न रहे।···

यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश
यं संजभ्रुः सूर्याया विवाहे ।
अमर्त्याः पृथिवि गन्धमग्रे
तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन ॥२४॥

जो तेरी गन्ध कमल में समाई हुई है, जिसे उषा की (प्रातः काल से) सन्धि वेला में वायु आदि शक्तियाँ धारण करती हैं, उससे मुझको सुवासित बना। कोई भी हमसे (द्वेष न करे) दूर न रहे।···

यस्ते गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगो रुचिः ।
यो अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषूत हस्तिषु ।
कन्यायां वर्चो यद् भूमे तेनास्मां
अपि सं सृज मा नो द्विक्षत कश्चन ॥२५॥

जो तेरी गन्ध नरनारी मात्र में है, वह स्त्रियों में शोभा + सौन्दर्य के रूप में एवं पुरुषों में कान्ति + तेज + रुचि रूप में विद्यमान है; जो गन्ध घोड़ों, वीर सन्तान, मृग और हस्तियों में है; और जो तेरी गन्ध कुमारी कन्या में आकर्षण रूप में है; हे भूमि!

उस वर्चस् रूप गन्ध से हमें भी० संयुक्त कर, ताकि हममें कोई भी किसी से (वैर न करे) दूर न रहे।

शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः ॥२६॥

चट्टान पत्थर और धूलि से सम्यग्मिश्रित भूमि को हम अपनाते हैं; उस सुवर्णमयी पृथिवी को मैं नमस्कार करता हूँ।

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।
पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि ॥२७॥

जिस पर वनस्पति वृक्ष लतादि सदा स्थिर खड़े रहते हैं; उस सबकी धात्री और सबसे पालित पृथिवी की प्रशंसा के गीत गाते रहें!

उदीराणा उतासीना-
स्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां
मा व्यथिष्महि भूम्याम् ॥२८॥

इस भूमि पर उठते, बैठते, खड़े होते, चलते फिरते दायें बायें पैरों से हम कभी (चोट ठोकर) न खावें।

विमृग्वरीं पृथिवीमा वदामि
क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानाम्।
ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं
घृतं त्वाभि नि षीदेम भूमे ॥२९॥

विशेष खोज (=अनुसन्धान) के योग्य, निवास योग्य, ज्ञानियों से अभ्युदित, विशाल भूमि से निवेदन करता हूँ। हे भूमे! बल, पुष्टि, उत्तम अन्न भाग एवं पेय पदार्थों को देने वाली, तुझ पर हम निवास करें।

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु
यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः।
पवित्रेण पृथिवि
मोत्पुनामि ॥३०॥

हमारी देहशुद्धि के लिये शुद्ध जल बहें, मल को अप्रिय स्थान पर डालते हैं। हे पृथिवि! पवित्र चरण से अपने आप को साफ सुथरा रखता हूँ।

यास्ते प्राचीः प्रदिशो या
उदीचीर्यास्ते भूमे अधराद्याश्च पश्चात्।
स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु
मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः ॥३१॥

हे भूमे! पूर्व दिशा (अथवा सामने), उत्तर दिशा (अथवा ऊंचे), दक्षिण दिशा (अथवा निचले) और जो पश्चिम दिशा (अथवा पिछले) हैं; वे सब मुझ कर्मयोगी के लिये सुखदायी हों। संसार में रहता हुआ मैं नीचे न गिरूँ।

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नु-
दिष्ठा मोत्तरादधरादुत।
स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन्परि-
पन्थिनो वरीयो यावया वधम् ॥३२॥

हे भूमि! हमें पीछे से, आगे से, ऊपर से, नीचे से न धकेल। हमारे लिये कल्याणकारिणी हो, चोर डाकू हमें न मिलें। उनके मुखिया को मार कर दूर भगा।

यावत्तेऽभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना।
तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम् ॥३३॥

हे भूमि! जब तक तुझ पर सूर्य का उदयास्त देखता हूँ, तब तक ज्यों-ज्यों वर्ष गुजरते जावें, मेरे नेत्रादि इन्द्रियों की शक्ति बढ़ती जावे।

यच्छयानः पर्यावर्ते दक्षिणं
सव्यमभि भूमे पार्श्वम्।
उत्तानास्त्वा प्रतीचीं
यत्पृष्टीभिरधिशेमहे ॥
मा हिंसीस्तत्र नो भूमे
सर्वस्य प्रतिशीवरि ॥३४॥

जब हे भूमि! सोता हुआ मैं दाहिने-बायें पहलू करवट लूँ और जब पश्चिम की ओर पाँव करके ऊपर मुख किये पीठ के बल तुझ पर सोवें, तो सब को सुलाने वाली हे भूमि! उस अवस्था में हमें क्लेश न पहुँचने दे।

यत्ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु ।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम् ॥३५॥

हे भूमि ! जो तुझ पर से उखाड़ूँ, वह शीघ्र उग आवे। हे अनुसन्धानीय भूमि ! तेरे गर्भ (=जीवनी शक्ति) और हृदय (=सरसता) का कभी विनाश न करूँ। यह भूमि सदा शस्य श्यामला रहे।

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि
शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः ।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे
पृथिवि नो दुहाताम् ॥३६॥

हे भूमि ! ग्रीष्म, वर्षा, शरद् हेमन्त, शिशिर और वसन्त ऋतुयें वर्ष भर में नियमपूर्वक आती रहें। हे पृथिवि ! ये ऋतुयें और दिनरात हमें पूर्ण करें।

याप सर्पं विजमाना विमृग्वरी
यस्यामासन्नग्नयो ये अप्स्व१न्तः ।
परा दस्यून्ददती
देवपीयूनिन्द्रं
वृणाना पृथिवी न वृत्रम् ।
शक्राय दध्रे वृषभाय वृष्णे ॥३७॥

पवित्र करने योग्य (=पावमानी), सर्प (=कुटिल जीव) से दूर रहती हुई, जिसमें जलीय अग्नियाँ विद्यमान हैं, सुकृति-विनाशक दुष्कर्मियों को दूर करती हुई, जग को अन्धकारावृत करने वाले को छोड़ प्रकाशमय व्यक्ति को स्वीकारती हुई पृथिवी अपने आप को वीर्यवान्, सुखदाता तथा सर्वथा शुद्ध व्यक्ति के लिये सौंप देती है।

यस्यां सदोहविर्धाने
यूपो यस्यां निमीयते ।
ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः
साम्ना यजुर्विदः ।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः
सोममिन्द्राय पातवे ॥३८॥

जिस पर घर (=निवास व सभास्थल) तथा खाने-पीने का सामान रखने के स्थान हैं (=अन्न भण्डार); जिस पर यूप (=गोष्ठ या गोष्ठिभवन) बनाये जाते हैं; जिसमें ज्ञान योगी और कर्म योगी ऋचाओं और साम मंत्रों से अर्चना करते हैं; जिसमें राजा (=शासक) को ज्ञान रस पिलाने (सलाह देने) के लिये देशकाल दर्शी विद्वान् लगे रहते हैं;

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः ।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥३९॥

जिस भूमि में पूर्ण लोक संग्रही (=जाति निर्माता) ऋषियों (=विधान निर्माताओं) ने सत्र (अवधि विशेष नियत काल) में समाप्य उत्तम कार्यों के अवसर पर बलपूर्वक अपनी बात ऊँचे स्वर से कही है;......

सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे ।
भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः ॥४०॥

ऐसी वह भूमि, जो धन हम चाहते हैं, उसे देवे; हमें सौभाग्यशाली बनावे अधिनायक हमारा अगुआ (=पुरोहित) होकर चले।

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति
भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः ।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो
यस्यां वदति दुन्दुभिः ।
सा नो भूमिः प्र णुदतां
सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥४१॥

जिस पर आमोदी जन नाचते गाते हैं; जिस पर मनुष्य युद्ध (=संघर्ष, प्रतियोगिता) करते हैं; जिस पर जयघोष होता है और नगाड़ा बजता है, वह भूमि हमारे शत्रुओं को परे धकेले, मुझे शत्रु रहित करे।

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमा पञ्च कृष्टयः ।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥४२॥

जिसमें धान जौ गेहूँ और अन्न है; ये पांच प्रकार की खेतियाँ (=फल, सब्जी, अन्न-धान्य, ओषधि

वनस्पति, तृणादि) जिसकी हैं; वर्षा से प्रसन्न और मेघ द्वारा पालित (पोषित) भूमि के लिये नमस्कार हो।

यस्याः पुरो देवकृताः
क्षेत्रे यस्या विकुर्वते ।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्व-
गर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु॥४३॥

खानों में नाना प्रकार के खजानों को धारती हुई पृथिवी, मुझे धन मणि रत्न और सुवर्ण आदि देवे। आह्लादक, दिव्य, वसुदा और हरी भरी (शस्य श्यामला) हमारे लिये धन देवे।

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु
मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे ।
वसूनि नो वसुदा रासमाना
देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥४४॥

अपनी गुहा (भीतर) में धन वा कोष को अनेक प्रकार रखती हुई पृथिवी मुझे धन, मणि, और सुवर्ण देवे। धन देनेवाली धनों को देती हुई यह देवी (पृथिवी) प्रसन्न होकर हमारा पोषण करे।

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां
ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥४५॥

विभिन्न भाषाभाषी, विविध संस्कृतियों वाले जन समुदाय को देशकालानुसार धारती हुई यह पृथिवी, लातें न मारती हुई चुपचाप खड़ी गौ की तरह धन की सहस्र धारायें मेरे लिये चुआवे।

यस्ते सर्पो वृश्चिकस्तृष्टदंश्मा
हेमन्तजब्धो भृमलो गुहा शये ।
क्रिमिर्जिन्वत्पृथिवि
यद्यदेजति प्रावृषि
तन्नः सर्पन्मोप
सृपद्यच्छिवं तेन नो मृड ॥४६॥

हे पृथिवि ! जो तेरा सांप, बिच्छू, जिसके काटने से प्यास लगती है, ज्वर चढ़ाने वाला, जिसके काटने से घुमेर पैदा हो, जो बिल में सोआ पड़ा है और जो कीड़ा बरसात में जीवन पाकर चलता है; वह रेंगता हुआ कभी हमारे समीप न आवे। जो सुखमय है, उससे हमें आनन्दित कर।

ये ते पन्थानो बहवो जनायना
रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे ।
यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं
पन्थानं जयेमानमित्रम-
तस्करं यच्छिवं तेन नो मृड ॥४७॥

जो तेरे बहुत से जनमार्ग, सड़कें, रथमार्ग, छकड़ों के जाने के रास्ते हैं, जिन पर भले बुरे दोनों मिलकर इधर उधर चलते हैं; उनको शत्रु रहित और ठगचोर रहित बनाकर अपने अधिकार में रक्खें। जो मंगल रूप है, उससे सुखी बना।

मल्वं बिभ्रती गुरुभृद्भद्रपापस्य
निधनं तितिक्षुः ।
वराहेण पृथिवी संविदाना
सूकराय वि जिहीते मृगाय ॥४८॥

गन्दे और अच्छे पदार्थों की धारिका, भले बुरे के निधन को सहारने वाली, सूर्य द्वारा शुद्ध होती हुई, उसी को खोदने वाले (= उसमें बिल खोद गड्ढा बनाने वाले) जंगली जानवर के लिये भी स्थान देती है

ये त आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः
सिंहा व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति ।
उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित ऋक्षीकां
रक्षो अप बाधयास्मत् ॥४९॥

जो तेरे जंगली पशु तथा वनवासी हिरण हैं और जो शेर चीता आदि मनुष्यभक्षी जन्तु विचरते हैं; उनको और गीदड़, भेड़िया, जंगली कुत्ते रीछ और हिंसक जन्तुओं को हे पृथिवि ! हम से दूर मार भगा।

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये
चारायाः किमीदिनः ।

पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि
तान्स्मद्भूमे यावय ॥५०॥

जो भोग-विलासी नर तथा विषय-भोगलिप्त नारियाँ हैं, और जो कंजूस, दूसरों को तुच्छ समझने वाले, मांसभक्षी और राक्षसी स्वभाव वाले हैं, उन सब को हे भूमि! हम से दूर करो।

यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति
हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि।
यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि
कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान्।
वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यर्चिः ॥५१॥

जिस पर दुपाये, पंखों वाले, हंस, गरुड़, चिड़ियाँ और छोटे २ पच्छी इकट्ठे उड़ते हैं और बसेरा करते हैं, जिस पर आकाश संचारी वायु धूलि के गुब्बार (धूलि चक्र) उड़ाती और वृक्षों को उखाड़ती हुई बहती है; जहाँ प्रचण्ड वायु के वेग और निरन्तर प्रवाह के साथ-साथ तू (=आग की ज्वाला) चलती है;······

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते
अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि।
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा
नो दधातु भद्रया प्रिये धामनिधामनि॥५२॥

जिसमें तमावृत और सालोकित रात दिन इकट्ठे हुए क्रम से आते. जाते हैं; वर्ष भर में जो (सूर्य के चारों ओर) चक्र लगाकर लौट आती है वह कल्याण-मयी होकर सर्वत्र हमें धारे।

द्यौश्च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः।
अग्निः सूर्य आपो मेधांविश्वे देवाश्च सं ददुः ॥५३॥

ज्योतिर्मय आकाश, विशाल भूमि, दोनों के मध्य स्थित अन्तरिक्ष मेरे ही फलने फूलने के लिये हैं। अग्नि सूर्य जल और सब भौतिक शक्तियाँ मुझे सदा बुद्धि देती रहें।

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः॥५४॥

मैं सहनशील हूँ, भूमण्डल पर अपने नाम के कारण सर्वश्रेष्ठ हूँ, अन्तर्बाह्य शत्रुओं को दबाने वाला, सर्वदमन और सब दिशाओं में विजयशील हूँ।

अदो यद्देवि प्रथमाना
पुरस्ताद्देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम्।
आ त्वा सुभूतमविशत्तदा-
नीमकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः ॥५५॥

हे भूदेवि! पहले पहल जब तूने व्यवहार-कुशल ज्ञानियों द्वारा विस्तीर्ण और शासित होकर, यह सब महिमा विशेष रूप से बढ़ाई; तभी सुन्दर विभूतियाँ सब ओर से तुझमें भर गई और तूने चारों दिशाओं की (ये) नवीन रचना की।

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥५६॥

ग्राम, शहर, जंगल सभा में, अपने सहकार संघों में और समितियों से तेरी प्रशंसा के गीत गावें।

अश्व इव रजो दुधुवे वि तान्
जनान्य आक्षियन्पृथिवीं यादजायत।
मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा
वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम् ॥५७॥

जब से यह उत्पन्न हुई है, तब से जो इस पर निवास करते हैं, उन जनों को घोड़ा जैसे धूल को झाड़ता है, यह झाड़ती आई है। आनन्दमयी, उन्नत पथगामिनी, भुवनरक्षिका, वनस्पतियों तथा ओष-धियों को गर्भ में रखने वाली है।

यद्वदामि मधुमत्तद्वदामि
यदीक्षे तद्वनन्ति मा।
त्विषीमानस्मि जूतिमान-
वान्यान्हन्मि दोधतः ॥५८॥

जो कहूँ, मीठा कहूँ; जिनसे आँख मिलाऊँ, वे चाहने लगें। अद्भुत पराक्रमी हूँ, अत्यन्त वेगवान हूँ। वेगाने प्रजाशोषकों को मार भगाता हूँ।

शन्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोध्नी पयस्वती ।
भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह ॥५९॥

शान्तिदायिनी, सुगन्धवती, मंगलस्वरूपिणी, रसभरी यह पयस्वती पृथिवी 'दूध ! दूध !' कह (पुकारती) मुझे बुलावे ।

यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मा-
न्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम् ।
भुजिष्यं१ पात्रं निहितं गुहां
यदाविर्भोगे अभवन्मातृमद्भ्यः ॥६०॥

सर्गारम्भ की सलिलावस्था में भौतिक परमाणुमयी जिस पृथिवी को विश्वकर्मा ने सृष्टि के निमित्त चाहा है, वह अव्यक्तदशा में पड़े भुजिष्य पात्र की तरह जन्मधारियों के भोग के लिये साक्षात् रूप से प्रगट हो गई है ।

त्वमस्यावपनी जनानामदितिः
कामदुघा पप्रथाना ।
यत्त ऊनं तत्त आ पूरयाति
प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य ॥६१॥

भूजनों की कर्मस्थली है, तू अखण्डित, इष्टदात्री कामेश्वरी दूर-दूर तक विस्तृत है । जो तेरी न्यूनता है, उसको समयानुकूल नियमों का विधाता सर्वथा पूरा कर देता है ।

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा
अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः ।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना
वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥६२॥

हे पृथिवि ! तेरी गोदी में फलती तेरी सन्ततियाँ हमारे लिये नीरोग अक्षय होवें । हमारी आयु लम्बी हो, जागते हुए हम तेरे लिये अर्घ्य नैवेद्य चढ़ाने वाले हों; तुझ पर बलि जावें ।

भूमे मातर्निधेहि मा
भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।
संविदाना दिवा कवे
श्रियां मा धेहि भूत्याम् ॥६३॥

हे मातः भूमि! भद्रता से मुझे सुप्रतिष्ठित बनाओ। ओ (विश्वगीत गायक) कवि ! यह सूर्य से सुसंगत पृथिवी मुझ-तुझको श्री और भूति देवे ।

"आपका लिखा अथर्व वेद का पृथिवी सूक्त देखा । ...मन्त्र का भावार्थ प्रगट करने में आपने पैनी प्रतिभा का परिचय दिया है । आपका दृष्टिकोण प्रशंसनीय है । मंत्र के पदार्थ को संक्षेप में, पूरा प्रगट किया गया है । देखते समय मेरे सम्मुख और भी दो तीन व्याख्या इस सूक्त की रहीं, पर आपके द्वारा किये गये इस सूक्त के हिन्दी रुपान्तर को मैं विशेष महत्त्व देता हुआ प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ ।"

—उदयवीर शास्त्री (आचार्य म० वि० ज्वालापुर)

'आर्य जगत् के मान्य विद्वान् श्री पं० उदयवीर शास्त्री जी ने कृपापूर्वक जो लिखा है, उनका हार्दिक धन्यवाद ।'

—मदन मोहन विद्यासागर

वेदवाणी के ग्राहकों को विशेष सूचना

यह विशेषांक नवम्बर और दिसम्बर का सम्मिलित अंक १-२ है । अतः दूसरा अंक पृथक् रूप से प्रकाशित न होगा ।

व्यवस्थापक—
युधिष्ठिरमीमांसक

वैदिक धर्म की सार्वभौमिकता

(लेखक—श्री० पं० दा० सातवलेकर जी, स्वाध्यायमण्डल, आनन्दाश्रम, पारडी, जिला सूरत ।)

'वैदिक धर्म' सब भूमण्डल पर था, यह बात निर्विवाद रीति से निम्न स्थान में लिखे हुए स्थानों के नामों से सिद्ध हो सकती है। पाठक इन स्थान-नामों का विचार करें—

स्वीडन में

Vedstena—वेदस्तेन—वेदस्थान
Vaddo—वेदो—वेद
Boda—बोद—वेद
Vetland—वेतलैंड—वेदभूमि
Edsele—एद्सेले—वेदशाला
Vittango—वित्ताङ्ग—वेदांग
Hven—ह्वेन—हवन
Roso—रोसो—ऋषि
Som—सोम—सोम (सरोवर)
Braman—ब्रामन—ब्राह्मण
Hjo—ह्जो—यजुः
Ingaro—इंगरो—अंगिराः
Ume—उमे—उमा (नदी)

नार्वे में

Vedo—वेदो—वेद
Vedheim—वेधेइम—वेदधाम
Bodo—बोदो—वेद
Edo—एदो—वेद
Stensrud—स्टेनश्रुद—(यहां यह उलटा हुआ है)
(Srud-sten—श्रुद-स्तेन—श्रुतिस्थान)
Snehaetta—स्नेहाएत्ता—संहिता
Rise—रिसे—ऋषि
Rissavarre—रिस्सवर—ऋषिवर
Havstein—हवस्टेन—हविस्थान
Mandal—मंडल—मण्डल (ऋग्वेद के विभागों का नाम)
Sotra—सोत्र—सूत्र
Surteberg—सुर्तेबर्ग—श्रुतिपुर
Soroy—सोरय—सूर्य
Voss—वोस—व्यास
Enger—एंगर—अङ्गिराः ।
Otra—ओत्र—अत्रि
Driva—द्रिव—ध्रुव
Ombo—ओम्बो—अम्बा

डेन्मार्क में

Bedsted—वेदस्टेड—वेदस्थल
Wedsted—वेद स्टेड—वेद स्थल
Boto—बोतो—वेद
Vederso—वेदऋषो—वेदऋषि
Vid—विद—वेद (नदी)
Hoven—होविन्—हवन
Norde Rose—नोर्दे रोसे—नारद ऋषि
Darum—दरुम—धर्म
Tarm—तर्म—धर्म
Hojer—होजेर—यजुर्
Kalo—कालो—काल
Emb—एम्ब—अम्बा
Bov—बोव—भव (शिव का नाम)
Harre—हरे—हरि, हर
Mano—मनो—मनु (द्वीप)
Soro—सुरो—सूर्य
Vestero—वेस्टेरो—विष्टर
Veno—वेनो—वेन
Bromme—ब्रम्मे—ब्रह्म

जर्मनी में

Weida—वेइद—वेद
Schwerte—श्वेर्ते—श्रुत
Riesa—रिसा—ऋषि
Enger—एंगर—अंगिरा

तुर्कस्थान में

Angora—अंगोरा—अंगिरा

Ankora—अंकोरा—अंगिरा
Homa—होम—सोम
Soma—सोम—सोम
Kale—काले—काल
Rize—रिझे—ऋषि
Ganos—गनोस—गणेश
Genasa—गनस—गणेश
Kushk—कुश्क—कुशिक
Sukaria—सुकरिया—शुक्र

रूस में

Veta—वेत—वेद
Samoyedes—सामयेदस्—सामवेदः
Sorot—सोरोत—श्रुत
Rusa—रुस—ऋषि
Moksha—मोक्ष—मोक्ष (नदी)
Usa—उसा—उषा
Viaz—वियाझ्—व्यास
Nerekhta—निरेक्त—निरुक्त
Oma—ओमा—उमा
Gori—गोरी—गौरी
Yug—युग्—योग
Sura—सुर—सूर्य, सुर
Polist—पोलिस्त—पुलस्ति
Ussa—उस्सा—उषा

इस तरह अपने नाम युरोप के सभी देशों में हैं। इतने ही हैं ऐसा समझना नहीं चाहिये। वास्तव में हजारों ग्राम नाम, पर्वत नाम, नदी नाम यूरोप के देशों में हैं। यह थोड़े से नमूने के लिये दिये हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन समय में आर्य वैदिक सभ्यता सब देशों में थी। अथवा वैदिक सभ्यता जिनकी थी, ऐसे आर्य लोगों ने इन देशों में जाकर बस्ती की थी।

मनुष्यों के नामों में भी संस्कृत शब्द सहस्रों हैं Hinderson, Underson यह 'इन्द्रसुनु' है Angales आंग्लेस् यह 'आंगिरस्' है। Haris यह 'हरि' है। कृष्ण का करसन तो भारत में भी हुआ है। गुजरातियों में करसनदास नाम कृष्णदास ही है। यही करसन इंग्लंड में जाकर Curzen हुआ। भारत का गवर्नर जनरल लार्ड कर्झन था, वह लार्ड कृष्ण ही था। बहुत वर्षों के पूर्व कोई कृष्ण नामक आर्य यूरोप में गया था, वही इस नाम का जनक है।

Columbia कोलम्बिया अमेरिका में है। यूरोपीयनों ने अपने साथ यह नाम अमेरिका में पहुँचाया। यह 'काल-अम्बा-ईय' (काल) शिव (अम्बा) पार्वती (ईय) द्वीप अर्थात् कोलम्बिया यह शिवपार्वती का देश है।

Ia ईय यह पद द्वीप, दीय, ईय इस तरह द्वीप से बनता है। यूरोप के स्थान नामों में अनेक नाम 'इय' प्रत्ययान्त हैं। यह द्वीपवाचक है।

रूस में नामों के अन्त में 'आव्ह्' आता है। मोलोटोव्ह, वेरेशिलाव्ह् आदि मनुष्य नामों के अन्त में 'आह' है वह शुद्ध संस्कृत है। 'इस नाम का वाचक' इस अर्थ में 'आव्ह्' संस्कृत में प्रयुक्त होता है। वही रूसी भाषा में सैकड़ों मनुष्य-नामों में आज वहाँ प्रयुक्त होता है—

वेरेशीलाव्ह = वीर शीलाव्ह (यह रूसी सेनापति का नाम है) आव्ह प्रत्ययान्त नाम रूस में सैकड़ों मनुष्यों के हैं और यह शुद्ध संस्कृत पद उधर जाकर रहा है।

ये पद अथवा ये शब्द युरोप अमेरिका में कैसे, कब और किस ओर से गये, यह एक विषय अन्वेषणीय है। सब देशों के भूगोल वर्णन सामने रख कर सब देशों के नामों की खोज करनी चाहिये। यह कार्य ५० वर्ष पूर्व पूना के इतिहासाचार्य **राजवाडे** जी ने प्रारम्भ किया था। परन्तु उनकी अकाल मृत्यु से वह कार्य अधूरा ही पड़ा है।

यह कार्य श्री **गोपाळ गणेश आचवल**, (५३१ मेंढुण पुरा, शनिवार पेठ, पूना) इन्होंने गत तीस वर्षों से शुरू किया है। पेन्शन लेकर ये विद्वान् दिन-रात इसी में लगे रहते हैं और सहस्रों नामों के विषय में इन्होंने अच्छी खोज की है। इनका ग्रंथ **"विश्वव्यापी वैदिक संस्कृति"** प्रथम भाग [मूल्य १५) रु०] प्रकाशित हुआ है। इसके ५०० पृष्ठ हैं और मराठी भाषा में यह ग्रंथ है। इसका दूसरा भाग भी छप रहा है।

इसके पूर्व भी अंग्रेजी में कई ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं, उनमें ये दो ग्रंथ उल्लेखनीय हैं—Oriental fragments यह ग्रंथ एडवर्ड मूर का सन् १८३४ में लंदन में छपा है। इसमें ग्रीस, अफ्रिका, इंगलैंड, आयरलैंड, उत्तर अमेरिका, दक्षिण अमेरिका, आइसलैंड, आदि देशों के ग्राम, पर्वत, नदी आदि के नाम संस्कृत ही हैं, यह स्पष्ट

रूप से बताया है। सवा सौ वर्ष पूर्व अंग्रेजी विद्वान् की यह खोज सचमुच वर्णन करने योग्य है। यह ग्रंथ इस तरह की खोज करने वालों के लिये बहुमूल्य है।

श्री ई० पोकाक का India in Greece यह ग्रंथ सन् १८५२ में लंदन में छपा है। आज १०२ वर्ष इसको प्रकाशित हो कर हो गये हैं। भारत के पलाश देश से ग्रीस में जा कर लोग बसे थे यह इस ग्रंथ में पाठक देख सकते हैं। खोज के लिये यह ग्रंथ बड़ा उपयोगी है।

सौ सवासौ वर्षों से युरोपियन लोग भी मानने लगे थे कि युरोप में भारतीय आर्य आ बसे थे। इसी खोज से ये ग्रंथ निर्माण हुए हैं।

निष्पक्ष खोज करने वाले इस कार्य को करेंगे तो बहुत ज्ञान प्राप्त हो सकता है। ऋषियों, देवताओं और प्राचीन आर्य राजाओं के नाम सब देशों के नामों में मिलते हैं। यह खोज जब पूर्ण होगी तब प्राचीन भारत के गौरव पर बहुत ही प्रकाश पड़ेगा। विद्वान् लोग इस खोज का कार्य करने के लिये आगे आ जायँ, इसलिये यह लेख लिखा है। सब देशों में 'वेद' के नाम मिलते हैं। ये क्यों मिलते हैं, ये नाम उन देशों में कैसे गये, कब गये? यह खोज वेद का गौरव बढ़ाने वाली है। यदि इससे यह सिद्ध हुआ कि अति प्राचीन काल में इन देशों में वेद प्रचलित था, अथवा इन देशों का संबंध वेद के साथ था, तो अब वेद को वहाँ तक पहुँचाने का कार्य हमें करना चाहिये, इसका हमें पता लग जायगा।

मनुस्मृति में लिखा है कि ब्राह्मण दूर देशों में जाकर वहाँ वेद धर्म का प्रचार करने का कार्य करते थे, वह कार्य बन्द हुआ, इस कारण अन्य देशों में म्लेच्छ हुए। अर्थात् जगत भर में म्लेच्छ बढ़ जाने का पाप भारतीयों पर है। यह पाप धोने का यत्न होना चाहिये।

भारत में घर-घर वेद का प्रचार हो और तत्पश्चात् भारतीय विद्वान् अन्यान्य देशों में जा कर वहाँ वैदिक धर्म का प्रचार करें, तब यह हो सकता है। परमेश्वर करे और यह शीघ्र हो जाय॥

वर्षा

(ले०—श्री पू० स्वामी स्वतन्त्रतानन्दजी महाराज)

संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसीदावत्सरोऽसीद्वत्सरोऽसि वत्सरोऽसि ॥

यजुः अध्याय २७ मंत्र ॥ ४५ ॥

संवत्सर शब्द वर्ष का वाचक है। इस मन्त्र में संवत्सर परिवत्सर, इदावत्सर, इद्वत्सर, वत्सर, यह पाँच शब्द हैं। क्या इस मंत्र में यह सब शब्द वर्ष के ही वाचक हैं, वा किसी अन्यार्थ के वाचक हैं। यदि वर्ष ही है, तो इन पाँचों में कुछ अन्तर है, वा समान ही हैं। यदि समान ही हैं, तो यह पाँच नाम क्यों, एक ही होना उचित था।

इस पर उवटाचार्य जी का यह पाठ है।

संचितोग्निरनेन वपुषा अभिमृश्यते।
पंच संवत्सरमयं युगाध्यक्षं प्रजातिमिति,
यदुक्तं ज्योतिःशास्त्रे तदिहोच्यते।
हे अग्ने यस्त्वं संवत्सरोसि,
सर्वस्य सारितासि, न च त्वामन्यः सारयति।
यश्च त्वं परिवत्सरोऽसि, यश्च इदा
वत्सरोऽसि, इदा इदानीमिति समानार्थौ,
यश्च इद्वत्सरोऽसि इदिति निपातः।
यश्च वत्सरोऽसि निर्विशेषेण तस्य ते
भवतः उपसः।

इस में पाँच वर्ष का युग मान कर उस में विनियोग किया है, इस से कोई विशेष बोध नहीं होता कि यह क्या है? महीधर जी ने इसी भाव को कुछ साफ कर के लिखा है, अन्य विशेष कुछ नहीं। उनका पाठ यह है।

अग्निदेवत्यं पुनः अत्र यजुषि नव
नवत्यक्षराणि एको व्यूहः ततः शताक्षराभि
कृतिश्छन्दः। चित्याग्नेरभिमर्शने

विनियोगः । पंच संवत्सरमयं युगाध्यक्षं प्रजापतिरिति (ज्यो० १।१) ज्योतिः शास्त्रोक्तमिहोच्यते । हे अग्ने । त्वं संवत्सरोऽसि, परिवत्सरोऽसि, इदावत्सरोऽसि, इद्वत्सरोऽसि, वत्सरोऽसि, निर्विशेषेण पंच संवत्सरात्मकयुगरूपोऽसीत्यर्थः युगं भवेद्वत्सर पंच केनेति ज्योतिः शास्त्रोक्तेः ।

यह भी विनियोग करते हैं और कुछ नहीं, महर्षि दयानन्द जी इस मंत्र के अर्थ इस प्रकार लिखते हैं, हे विद्वान् वा जिज्ञासु पुरुष जिससे तू संवत्सर के तुल्य नियम से वर्तमान है (परिवत्सर) त्याज्य वर्ष के समान दुराचार का त्यागी। (इदावत्सर) निश्चय से अच्छे प्रकार वर्तमान वर्ष के तुल्य है। इद्वत्सर। निश्चित संवत्सर के सदृश है। वत्सर। वर्ष के समान है ॥

इस में भी नियम पूर्वक रहना, दुराचार का त्याग करने आदि का उपदेश है। काल के विषय में अन्य कुछ नहीं है।

यही शब्द अध्याय ३० के मंत्र १५ में भी आए हैं। इस लिये वह भी लिखता हूँ।

संवत्सराय पर्यायिणीं, परिवत्सराय अविजाताम् इदावत्सरायातीत्वरीम्, इद्वत्सरायातिष्कद्वरीम्, वत्सराय विजर्जराम्, संवत्सराय पलिक्नीम्। ३०,१५

इसमें संवत्सर दो बार है।

पशु यूप के साथ बांधने का प्रकरण है।

संवत्सराय, पर्यायिणीम् पर्यायोऽनुक्रमस्तद्वतीमनुक्रमज्ञाम्. आगे सातवें यूप के बांधे जाने वाले।

परिवत्सराय, अविजाताम् अप्रसूताम् इदावत्सराय, अतीत्वरीमत्यन्तकुलटाम् पुंश्चली कलटेत्वरी इद्वत्सराय अतिस्कद्वरीम् अतिस्कन्दति स्रवति इत्यतिस्कद्वरी। वत्सराय, विजर्जराम् शिथिल शरीराम् संवत्सराय पलिक्नीं श्वेतकेशाम्।

यह अध्याय पुरुषमेध का है। ११ यूप हैं, चालीस दिन में पूरा होता है।

महर्षि दयानन्द जी अपने भाष्य में लिखते हैं—

हे जगदीश्वर वा राजन्! आप.........। संवत्सराय, प्रथम संवत्सर के अर्थ पर्यायिणीम् सब ओर से काल के क्रम को जानने वाली को।

परिवत्सराय, दूसरे वर्ष के निर्णय के लिये, अविजाताम्, ब्रह्मचारिणी कुमारी को इदावत्सराय। तीसरे इदावत्सरके कार्य साधने के अर्थ। अतीत्वरीम्, अत्यन्त चलने वाली को इद्वत्सराय पाँचवें इद्वत्सर के ज्ञान के अर्थ अतिस्कद्वरीम् अतिशय कर जानने वाली को वत्सराय, सामान्य संवत्सर के लिये विजर्जराम् वृद्ध स्त्री को।

संवत्सराय, चौथे अनुवत्सर के लिये। पलिक्नीम् श्वेत केशों वाली को.........। उत्पन्न कीजिये।

इन नाम वाले वर्षों के लिये इन को कैसे उत्पन्न किया जाय, यह बात विचारणीय है।

इस अध्याय पर पंडित श्री दा० सातवलेकर जी ने भी लिखा है। उनका साधारण रूप में भाव यह है, कि इस अध्याय में भिन्न २ कामों के लिये भिन्न २ स्वभाव के लोगों को नियत करने का आदेश है, उनका लेख इस प्रकार है।

वत्सराय, पांच वर्षों के एक युग के लिये, विजर्जरा, वृद्धस्त्री को रखो। संवत्सराय प्रथम वर्ष के लिये। पर्यायिणी। कालक्रम जानने वाली स्त्री को रखो। परिवत्सराय द्वितीय वर्ष के लिये, अविजाताम्, ब्रह्मचारिणी कुमारी विदुषी को रखो।

इदावत्सराय, तीसरे वर्ष के लिये, अतीत्वरीम्, शीघ्र उन्नति करने वाली विदुषी को रखो।

संवत्सराय, अनुवत्सराय, चतुर्थ वर्ष के लिये, पलिक्नीम्, सफेद बालों वाली वृद्धा स्त्री को रखो।

इद्वत्सराय, पंच वर्ष के लिये, अतिस्कद्वरीम्, अत्यन्त ज्ञानी स्त्री को रखो।

पांच पांच वर्षों का एक युग होता है। स्त्रियों की उन्नति को ही सोचना चाहिए। इसलिये पांच वर्षों के एक युग के लिये एक ज्ञानी कर्तव्याकर्तव्य जानने वाली स्त्री को अध्यक्ष निश्चित कर के, उसके आधीन कार्य करने के लिये प्रति वर्ष अलग अलग स्त्री को रखना चाहिए। पहले वर्ष पूर्वक्रम को जानने वाली, दूसरे वर्ष विदुषी कुमारिका, तीसरे वर्ष शीघ्र उन्नति करने वाली, चौथे वर्ष वृद्धा, पांचवें वर्ष अत्यन्त ज्ञानी स्त्री को रखना।

महर्षि दयानंन्द जी और पंडित श्री पाद दामोदर सातवलेकर जी के अर्थ पांच वर्ष और भिन्न २ स्वभावयुक्त स्त्री में के समान ही है। पांच वर्ष के युग की कल्पना ब्राह्मण ग्रथों में भी मिलती है। जैसे—

अग्निः संवत्सरः सूर्यः परिवत्सरः
चन्द्रमा इदावत्सरः वायुः अनुवत्सरः

तांड्य ब्राह्मण १७,१३,१७

तथाचोक्तं चान्द्रायणैः। प्रभवादीनां पंचकं पंचकं सम्परीदानूदेत्येतच्छब्दपूर्वास्तु वत्सर इति।

अर्थात् वत्सर के आगे से, परि इदा, अनु, इद शब्द लगाकर पांच वर्ष का युग माना गया है।

तैतिरीय ब्राह्मण का पाठ भी ऐसा ही है।

अग्निर्वाव संवत्सरः। आदित्यः परिवत्सरः।
चन्द्रमा इदावत्सरः। वायुरनुवत्सरः।

तै० ब्रा० १।४।१०

टीका में यह पाठ है।

प्रभवविभवादीनां षष्ठिसंवत्सराणां मध्य एकैक-संवत्सरपंचकमेकैकं युगम्। तस्मिन् युगे वर्तमानानां पंचानां संवत्सराणां क्रमेण संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सरोऽनुवत्सर इद्वत्सर इत्येतानि नामधेयानि। तथा चोक्तम्—

चान्द्राणां प्रभवादीनां पञ्चके पञ्चके युगे।
संपरीदान्विदित्येतच्छब्दपूर्वास्तु वत्सरः॥

चातुर्मास यज्ञों में इनका उल्लेख है, क्योंकि आरंभ में ही टीकाकार ने लिखा है।

नवमे चातुर्मास्यानि विहितानि। अत्र
दशमे तत्र विशेषं विधातुं प्रस्तौति।

दोनों ब्राह्मणों में चातुर्मास्य यज्ञों का आगे वर्णन है। परन्तु सब पाठों के पढ़ने से यह पता नहीं लगता कि संवत्सर, परिवत्सर आदि का नियम क्या है। इन में क्या भेद है? वह भेद भी है अथवा सामान्य वर्ष के वाचक हैं।

इस विषय को पं० प्रियरत्न जी आर्ष ने वैदिक ज्योतिष शास्त्र में स्पष्ट करने का प्रयास किया है, उनका भाव है—

संवत्सर, सावन वर्ष है। परिवत्सर सौर वर्ष है, इदावत्सर, चांद्र वर्ष है। इद्वत्सर, दिव्य वर्ष है, वत्सर नक्षत्र वर्ष है।

आगे ब्राह्मणपाठ की संगति की है।

अग्नि पृथिवी का देवता होने से अग्नि सावन वर्ष है। आदित्य सौर वर्ष है। इदावत्सर चांद्र वर्ष है। इद्वत्सर का देवता वाराही संहिता में महादेव है, अतः वह दिव्य वर्ष है। अनुवत्सर नाक्षत्र वर्ष है। इस प्रकार पाँचों वर्षों की व्यवस्था की है। और इस से कुछ समझ में भी आ जाता है कि भिन्न २ नामों का कोई कारण है।

परन्तु इस में आक्षेप यह होता है। चार वर्ष तो मनुष्य गणना के है इनमें एक इद्वत्सर दिव्य वर्ष क्यों आगया। क्योंकि दिव्य वर्ष तो देवताओं का वर्ष है। उस में तो एक वर्ष का एक दिन होता है। वैसा मानने से ब्राह्मणों में लिखित यज्ञों की व्यवस्था कैसे होगी। इस शंका का आर्ष जी ने कोई समाधान नहीं किया है। संभव है, उनको उस समय यह शंका उत्पन्न ही न हुई हो। इस लिये इस पर और विचार करने की आवश्यकता है।

ज्योतिष के सूर्यसिद्धांत नामक ग्रंथ में भी वर्षों पर विचार किया है। इसलिये आगे उसका पाठ लिखता हूँ। वह वर्षों के भेद पांच से अधिक मानता है।

ब्राह्मं दिव्यं तथा पित्र्यं प्राजापत्यं च गौरवम्।
सौरं च सावनं चांद्रमार्क्षं मानानि वै नव॥

सूर्यसि० अध्याय १४

ब्राह्म, दिव्य, पित्र्य, प्राजापत्य, बृहस्पति, सौर, सावन, चान्द्र, नाक्षत्र, यह नौ काल के मान है।

चतुर्भिर्व्यवहारोऽत्र सौरचान्द्रार्क्ष सावनैः।
बार्हस्पत्येन षष्ठ्यब्दं ज्ञेयं नान्यैस्तु नित्यशः।२।

व्यवहार चार वर्षों का ही होता है सौर, चांद्र, नाक्षत्र सावन। पांचवां बार्हस्पत्य वर्ष है। जो ६० वर्ष का विजयादि भेद से होता है। उस में साठ वर्षों को किस प्रकार गिना जाता है। वह भी सूर्य सिद्धांत में लिखा है। व्यवहार के लिये सूर्य सिद्धांत चार वर्ष मानता है, और इसकी गणना में दिव्य वर्ष भी था। किन्तु उसे सूर्य सिद्धांत मनुष्य व्यवहार में नहीं मानता है। इस प्रकार पं० प्रियरत्न जी आर्ष का दिव्य वर्ष मानना ठीक प्रतीत नहीं होता है।

अब भी यह प्रश्न है। यह जो वर्ष है, इन का अन्तर क्या है। इसलिये वह अन्तर लिखता हूँ।

अब्दो माधवमते पंचधा, सावनः सौरश्चान्द्रो नाक्षत्रो बार्हस्पत्य इति (निर्णय सिंधु)॥

अर्थात् वर्ष पांच प्रकार का होता है। सावन, सौर, चान्द्र, नक्षत्र, बार्हस्पत्य आगे इन के विषय में विस्तार से लिखा है।

वत्सरः पंचधा–चांद्र, सौर, सावनो, नाक्षत्र, बार्हस्पत्य इति (धर्म सिंधु)

इन में अन्तर इस प्रकार है।

चांद्रवर्ष। चतुः पंचाशदधिकशतत्रयदिनैः।

अर्थात् ३५४ दिन का चांद्र वर्ष होता है।

सौरवर्ष। पञ्च षष्ठ्यधिक शतत्रयदिनैः सौरो वत्सरः।

अर्थात् ३६५ दिन का सौर वर्ष होता है।

सावन वर्ष षष्ठ्युत्तर शतत्रयदिनैः सावनः।

३६० दिन का सावन वर्ष होता है।

नाक्षत्रवर्ष। स च चतुर्विंशत्यधिक शतत्रयदिनैः स्यात्।

३२४ दिन का नाक्षत्र वर्ष होता।

बार्हस्पत्यवर्ष स च एकषष्ठ्यधिकशतत्रय संख्यादिनैर्भवति।

३६१ दिन का बार्हस्पत्य वर्ष होता है।

यही बात धर्मसिंधु में विस्तार से लिखी है, विशेष जानने की इच्छा वाले निर्णयसिंधु धर्मसिंधु में देख सकते हैं, अथवा ज्योतिष के ग्रंथ देखें।

अब संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इद्वत्सर, वत्सर जो शब्द वेद में आए हैं, उन को इन के साथ मिलाना चाहिए।

संवत्सर, सावन वर्ष है जो ३६० दिन का होता है। परिवत्सर, सौर वर्ष है, जो ३६५ दिन का होता है। इदावत्सर, चांद्र वर्ष है, जो ३५४ दिन का होता है। इद्वत्सर, बार्हस्पत्य वर्ष है। जो ३६१ दिन का होता है। वत्सर नाक्षत्र वर्ष है। जो ३२४ दिन का होता है। वत्सर का नाम अनुवत्सर भी लिखा है।

इद्वत्सर को यदि दिव्य वर्ष मानें तो वह देवताओं का वर्ष होने से बहुत बड़ा होगा। और सूर्यसिद्धांत ब्राह्मण, दिव्य, पित्र्य, प्राजापत्य वर्षों को व्यवहार में नहीं मानता है। इसी कारण इसे बार्हस्पत्य मानना ठीक है।

ब्राह्मण ग्रंथों में अग्नि, संवत्सर, आदित्यं परिवत्सर चन्द्रमा इदावत्सर, वायु अनुवत्सर लिखा है। इन में अग्नि से सावन वर्ष, आदित्य से सौर वर्ष चन्द्रमा से चांद्र वर्ष, वायु से नाक्षत्र वर्ष लेना चाहिए।

शेष बार्हस्पत्य वर्ष है। चातुर्मास्य यज्ञों में उसकी आवश्यकता नहीं, इसलिये इन्होंने उसे छोड़ दिया है, मैंने अपनी समझ के अनुसार संवत्सर परिवत्सर इदावत्सर, इद्वत्सर और वत्सर शब्दों को कालवाचक मानकर वर्ष भेद से समझाने का यत्न किया है। यदि कोई विद्वान् इसे किसी अन्य रीति से बताने की कृपा करेगा, तो मैं उसे विचार के पश्चात् मानने को उद्यत हूँ। और उसका आभार मानूंगा।

वेदों में विद्युद्विज्ञान

ले०—श्री० पं० द्विजेन्द्रनाथ जी शास्त्री, मेरठ

स्वनामधन्य वेदाचार्य महर्षि दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने "वेदेषु सर्वा विद्याः सन्ति मूलोद्देश्यतः" इस दिव्य तत्त्व की घोषणा की। यद्यपि प्राचीन ऋषि मुनियों की परम्परा तथा लेखों से यह बात पुरातन काल से ही प्रसिद्ध रही है।

"भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति" इत्यादि मनु वाक्य इस के प्रमाण हैं। तथा इस तथ्य की पुष्टि भी स्थल-स्थल पर प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलती है। समाज तन्त्र, राजतन्त्र, अर्थ तन्त्र, यन्त्र तन्त्र, विमान विज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायन तन्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्व वेद, गणित शास्त्र, ज्यामिति, ज्योतिष शास्त्र, खगोल आदि समस्त विज्ञानों के मौलिक सूत्र वेदों में प्रतिपादित हैं। वैदिक विद्वानों की यह धारणा प्राचीन काल से ही चली आती है, जिसे सभी आस्तिक जन अक्षुण्णतया मानते चले आये हैं। उक्त स्थिति से प्रत्येक विचारशील को प्रेरणा मिलती है कि वह वेदों का परिशीलन इसी दृष्टि से करे जिससे वेद के निगूढ़तम विज्ञान रत्नों को प्राप्त कर सके और उनकी भास्वर रश्मियों से मानव जीवन को उद्भासित करने में सहायक हो सके। इसी दृष्टि से किये हुए पर्यालोचन के परिणाम स्वरूप, वेद में प्रतीत हुए विद्युत् विज्ञान पर कुछ लिखने का साहस हुआ है। आशा है वैदिक विद्वान् इस दिशा में अधिक अनुसंधान करेंगे।

साधारण तथा संस्कृत साहित्य में विद्युत् के लिये अनेक शब्द आते हैं। जैसे चला, चञ्चला, चपला, तड़ित, विद्युत् ज्योतिः, इन्द्र, अप्सरा आदि। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि विद्युत् पदार्थ पुरातन काल में अज्ञात नहीं था। चाहे विद्युत् से मेघमाला में चमकने वाली बिजली ही क्यों न हो। मेघमाला के संघर्ष से उत्पन्न होने वाली विद्युल्लता अथवा विद्युद्रेखा का भी उन्हें ज्ञान था। कभी-कभी विद्युत्पात हो जाने का भी उन्हें पूर्ण भान था।

> विना वातं विना वर्षं विद्युत्प्रपतनं विना।
> विना हस्तिकृतान् दोषान् केनेमौ पातितौ द्रुमौ॥

आद्य नाट्यकार महाकवि भास अपने प्रसिद्ध मध्यमव्यायोगनामक नाटक में—विद्युत् का तड़ित् शब्द द्वारा परिचय देते हैं:—

> तरुणरविकिरणप्रकीर्णकेशो
> भ्रुकुटिपटोज्ज्वलपिङ्गलायताक्षः
> सतडिदिवघनः सकण्ठसूत्रो
> युगनिधने प्रतिमाकृतिर्हरस्य॥

यहां 'सतडिदिव घनः' यह पद विवेचनीय है। इसी प्रकार कविकुलगुरु कालिदास ने भी मेघदूत में—

"मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः"

इसमें 'विद्युता विप्रयोगः' यह पद संस्मरणीय है। उपनिषत् साहित्य में भी अनेक स्थलों पर विद्युत् का प्रतिपादन किया गया है 'नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः' इत्यादि। स्वयं वेदों में भी पदे-पदे विद्युत् का प्रयोग किया गया है।

ऋग्वेद में 'अच्छावदेति' दश ऋचाओं वाले सूक्त में—"प्रवाता वान्ति पातयन्ति विद्युतः" में विद्युत् का वर्णन है। यहां विस्तार भय से अधिक विवेचन न कर केवल सङ्केत मात्र देना ही पर्याप्त होगा। इससे भली भाँति यह अवगत हो जाता है कि विद्युत् शब्द एवं तदर्थ से प्राचीन लोग अनभिज्ञ न थे। अब इस दिव्य शक्ति सम्पन्न विद्युत् पर अधिकार कर स्वहस्तगत कर उसका प्रयोग मानवाधीन किस प्रकार किया जा सकता है, इसका दिङ्मात्र उपदेश यजुर्वेद के निम्न मन्त्रों से प्रतिभासित होता है। वे मन्त्र निम्न प्रकार हैं:—

यजुर्वेद के चतुर्थाध्याय के १५वें मन्त्र के अन्तिम भाग से यह अग्नि या विद्युत्प्रकरण आरम्भ होता है—मन्त्र भाग यह है—

"वैश्वानरोऽदब्धस्तनूपाऽअग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात्" [यजु० ४। १५]

इस मन्त्र भाग से यह अग्नि विद्युत् प्रकरण आरम्भ होता है—निम्न मन्त्रों तक।

> त्वमग्ने व्रतपाऽअसि देवऽआ मर्त्येष्वा।
> त्वं यज्ञेष्वीड्यः रास्वेयत्सोमा भूयो भर देवो नः सविता वसोर्दाता वस्वदात्॥ [य० ४-१६]

एषा ते शुक्र तनूरेतद्वर्चस्तया सम्भव भ्राजं गच्छ ।
जूरसि धृता मनसा जुष्टा विष्णवे ॥

[य० ४-१७]

तस्यास्ते सत्यसवसः प्रसवे तन्वो यन्त्रमशीय
स्वाहा शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसि ॥

[य० ४-१८]

चिदसि मनासि धीरसि दक्षिणासि क्षत्रियासि यज्ञियास्यदितिरस्युभयतःशीर्ष्णी । सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि मित्रस्त्वा पदि बध्नीतां पूषाध्वनस्पात्विन्द्रायाध्यक्षाय ।

[य० ४-१९]

इन मन्त्रों का देवता अग्नि तथा वायु विद्युत् है। मन्त्र में प्रतिपादित विषय का नाम ही देवता है। 'या तेनोच्यते सा देवतेति' इस से स्पष्ट हो जाता है कि उक्त मन्त्रों में अग्नि तथा विद्युत् का वर्णन किया है। जिस प्रकार अग्नि व्यापक है, उसी प्रकार विद्युद् भी व्यापक है साधारण सूक्ष्म दृष्टि से देखते हुए अग्नि तथा विद्युत् का साजात्य है विशेष दृष्टि से अवलोकन करने से विद्युत् किञ्चिद् भिन्न है। दाह तथा प्रकाश दोनों में समान गुण हैं केवल आकर्षण विकर्षण विद्युत् के विशेष गुण हैं; यह विश्व पाञ्चभौतिक है। परन्तु इन पञ्चभूतों में प्रधान तत्त्व अग्नि ही है, कारण यही शक्तिशाली एवं व्यापक है। इतर एकदेशी हैं एवं स्थूल हैं। सर्व प्रथम एवं प्रधान अग्नि है, 'अग्निर्वै देवानां प्रथमः" इस दिव्य शक्तिशाली 'विद्युदग्नि' के गुणों तथा कार्यों की झलक उक्त मन्त्र में दी गयी है। इस अग्नि के लिये ऊपर कहा गया है कि वैश्वानर अग्नि सब दुरितों से बचाने वाला है, वह दुष्प्राप्य पदार्थों को प्रदान कर हमारी रक्षा करें।

अब इन मन्त्रों में उक्त अग्नि विद्युत् के गुण धर्म एवं स्वभाव का वर्णन करते हैं (त्वमग्ने व्रतपा असि) हे अग्नि तू व्रत = नियम का पालन करने वाली है अर्थात् अग्नि विद्युत् के कुछ नियम (Laws) हैं। [प्रथम उन्हें समझना चाहिये] (त्वं देव आमर्त्येषु यज्ञेष्वीड्यः) तू इन मर्त्य मरणधर्मा—अनित्य पक्ष भौतिक तत्त्वों में तुम दिव्य हो और सम्पूर्ण श्रेष्ठ कर्मों में ईड्य हो उपयोग करने योग्य हो। स्तुत्य हो।
\+ \+ \+ और (वसोर्दातावस्वदात्) सब प्रकार की सम्पत्ति—शक्ति देनेवाली हो। अर्थात् विद्युदग्नि का प्रयोग कर विविध समृद्धियां प्राप्त की जा सकती हैं।

दूसरे में (एषा ते शुक्र तनूः एतद्वर्चस्तया) तेरी वह शुभ्र प्रकाश युक्त रेखा तथा (वर्च) तेज दहन शक्ति अद्भुत है, [सम्भव भ्राजं गच्छ] अतः तू उत्पन्न हो अर्थात् उद्भूत हो प्रकट हो तेजस्विरश्मियों को प्राप्त हो स्पार्क रूप में प्रकट हो [मनसा धृता जुष्टा च विष्णवे जूरसि] यदि तू बुद्धिमत्ता धृता—पकड़ी जा सके तथा जुष्टा उपयोग करने योग्य बनाई जा सके तब क्या कहना है (जूरसि) तू बड़ी वेगवाली (Powerful) होने से संसार के लिए अति कल्याणकारी हो सकती है।

अब तीसरे मन्त्र में विद्युत् को पकड़ने के ही तरकीब बताते हैं—[तस्यास्ते सत्यसवसः प्रसवे] उक्त गुणों वाली सत्य शक्तिशाली विद्युत् के प्रसव (Production) के लिये [तन्वो यन्त्रमशीय] तन्तुओं का विविध केमिकल्स का कोई यन्त्र बनाना होगा। वह क्या मेधावी वैज्ञानिक लोग अनुसन्धान कर बनावें, कैसा यन्त्र हो उसका भी मन्त्र में सङ्केत है—[सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि] वह विद्युत् तन्तु पूर्व से तथा पश्चिम से अर्थात् आमने सामने से, दो विपरीत दिशाओं से आकर (उभयतः शीर्ष्णी) दोनों तारों के सिरे जड़े—जोड़े जायें [मित्रस्त्वा पदि बध्नीताम्] मीटर को वे दोनों सिरे (बध्नीताम्) बांध लें। तो [इन्द्राय अध्यक्षाय पूषा अध्वनः पातु] विद्युद्विद् अध्यक्ष विद्युन्मार्ग की देख-रेख रखे। आगे चलके इसी प्रकरण में यह भी सङ्केत किया है कि, वह विद्युत् [मा नः आयुः प्रमोषीः) यदि कुछ भी असावधानी हुई तो वे आयु को चुरा लेगी। यह सभी प्रकरण वैदिक विद्वानों के अनुसन्धान का विषय है। वैसे इन मन्त्रों के भाष्य सभी भाष्यकारों ने किये हैं परन्तु किसी का ध्यान वैज्ञानिक पक्ष की तरफ नहीं गया। हाँ, आधुनिक भाष्यकार महर्षि दयानन्द जी महाराज का कुछ दल इस ओर प्रतीत होता है। यद्यपि मुख्यतया तो उन्होंने आध्यात्मिक व्याख्या की, परन्तु उनके भाष्य की पदावलि से यह स्पष्ट भासित हो रहा है कि भाष्य करते समय उनके मस्तिष्क में शिल्प विज्ञान परक तत्त्वों के वर्णन की विचारधारा अवश्य थी इसमें यत्किञ्चित् भी सन्देह को अवकाश नहीं। यह प्रकरण २२वें मन्त्र तक गया है। उन सब मन्त्रों की व्याख्या में तो एक ग्रन्थ बन जायगा। इस लघु लेख में उनका विशद वर्णन नहीं किया जा सकता, सम्प्रति यह वाञ्छनीय भी नहीं है। यह तो केवल विद्वज्जनों का ध्यान इस ओर आकर्षण करने के अभिप्राय से ही लिखा है। अस्तु, उक्त मन्त्रों में निम्न वाक्य ध्यान देने योग्य हैं। यदि इनका इंग्लिश में

भावानुवाद किया जाय जो ठीक वही होगा जो विद्युत् शास्त्र के ग्रन्थों में पाया जाता है उसका यहाँ दिग्दर्शन मात्र कराना अप्रासङ्गिक न होगा।

"उभयतः शीर्ष्णी सुप्रतीची × × भ्राजं गच्छ"

A spark may be obtained when required by connecting the two coatings together with a pair of discharging tongs.

"तन्वो वन्नमशीव × × × मा नः आयुः प्रमोषीः"।

A stream of sparks is readily obtained from the terminals an electrical machine. A fatal shock will be felt if a discharge is made to pass through the body.

"अहं तव वीरं विदेय-मा नः आयुः प्रमोषीः" We must know and recongnise the multifarious powers and faculties of electricity, so that we would not be deprived of life.

इत्यादि से यह स्पष्ट विदित होता है कि इन मन्त्रों में विद्युत् शास्त्र के मौलिक सिद्धान्तों का बीज रूप से वर्णन है। जो वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं, उनके लिये तो यह मन्तव्यत्वेन स्वीकार करना स्वभाविक ही है कि वेदों में जहाँ अन्य विशिष्ट विज्ञानों का मूल मन्त्र रूप से वर्णन हैं वहाँ विद्युद् विज्ञान जैसेलोकोपयोगी बृहद् एवं विशिष्ट विज्ञान का होना अत्यन्त आवश्यक है। तभी मनु भगवान् की 'सर्वज्ञानमयो हि सः' यह सूक्ति चरितार्थ होगी। रहे वे जो वेदों को ऋषिकृत मानते हैं; उनके लिये भी यह एक बड़े श्रेय की वस्तु होगी कि ऋषियों के मस्तिष्क में उन दिव्यद्रष्टाओं की दृष्टि में इस महान् विद्युद्विज्ञान की रम्य रश्मियाँ सुमुद्भासित हो रही थी।

हमने सम्प्रति यह लेख इसी दृष्टि एवं आशा तथा इच्छा से लिखा है कि विद्वानों द्वारा इस विषय पर अधिक अनुसन्धान हो। शमिति॥

आदर्श वैदिक

पिता, आचार्य्य, स्वामी, राष्ट्र-पति

(ले०—श्री किशोरीलाल गुप्त एम० ए० प्रिंसीपल, सिद्धान्त शास्त्री, साहित्य वाचस्पति, काव्यतीर्थ)

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति
य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया स थंरराणस्त्रीणि
ज्योतींथंषि सचते स षोडशी॥

(यजुः-८-३६)

चहुँ ओर दृष्टि डालिये। आज कोई सर्व सुखी नजर न आएगा। जिधर देखिये उधर क्रान्ति, हलचल, असन्तोष और अशान्ति दृष्टिगोचर होगी। इसका कारण अन्य कोई नहीं, हम और केवल हम ही हैं। विगत एक सहस्र वर्ष की दासता भी अपने ही दुष्कर्मों का फल विपाक था। यह उस परम कारुणिक जगन्नियन्ता जगदीश्वरकी अनुकम्पा थी जिसने वेदों और त्यागी तपस्वी ऋषियों की पुण्य भूमि भारत मही को पुनः स्वामी दयानन्द सरस्वती, लोकमान्य तिलक, महात्मा गान्धी और नेताजी सुभाषचन्द्र बोस जैसी मुक्तात्माएँ प्रदान की जिनके अथक परिश्रम, उत्कट त्याग और अपूर्व देश-प्रेम के कारण हमें स्वराज्य जैसी अमूल्य वस्तु प्राप्त हुई।

किन्तु महर्षि का आर्य्य साम्राज्य, और महात्मा का

रामराज्य अभी कोसों दूर है। हजरत मसीह के पृथ्वीपर स्वर्गीय राज्य का भी यही आशय था स्वर्गीय राज अथवा राम-राज का नमूना महात्मा मसीह ने भारतवर्ष में स्वयं नेत्रों से देखा, और उसका प्रचार रोमन साम्राज्य के अन्दर किया। लोग कहते हैं उसकी शिक्षाएँ बौद्धमत की शिक्षाएँ हैं। पर गौतम बुद्ध की शिक्षाओं का तत्त्व गीता और उपनिषदों में निहित है। यह भी अनुमान लगाया गया है कि ईसा मसीह का 'क्राइष्ट' उपनाम 'कृष्ण' का अपभ्रंश मात्र है जैसे बंगला का 'कृष्टो'।

वेदों की उत्कृष्ट शिक्षा का प्रसार सरल एवं आकर्षक भाषा में उपनिषदों और आरण्यकों द्वारा हुआ, जिनका नवनीत रूप मक्खन मथकर और कृष्णार्जुन-उपाख्यान का रूप देकर कृष्ण द्वैपायन (वेदव्यास) ने महाभारत में वर्णन किया, जो आगे चलकर विकृत रूप से विश्व में व्याप्त हुआ। अरब का एकेश्वर वाद भी "एकं ब्रह्म" "शिवं, शान्तं, अद्वैतम्" की प्रतिछाया मात्र है।

आइये अब विश्व के समस्त मतमतान्तरों के उद्गम स्थान वेद के आदर्श दिव्य दैवी महाराष्ट्र के दर्शन करें, जिसका नमूना दिव्य दयानन्द का "आर्य्य साम्राज्य" और विश्ववन्द्य महात्मा गान्धी का "राम-राज्य" हमें भारत में स्थापित करना है।

विश्व के प्राणीमात्र विश्वेश्वर की प्रजा हैं। अतः मंत्र में उसे "प्रजा-पति" के समुचित नाम से याद किया गया है। बेटा, नाती, पोते, गृहपति (पिता) की प्रजा हैं, अतः वह भी 'प्रजापति' है। गुरुकुल, विद्यालय, महाविद्यालय एवं विद्यापीठों (यूनीवर्सिटियों) में पढ़ने वाले ब्रह्मचारी और विद्यार्थी निज-निज कुलपतियों, मुख्याध्यापकों, एवं आचार्यों की प्रजा हैं, अतः वे भी 'प्रजापति' हैं। मिलों, कारखानों, और विभिन्न उद्योगशालाओं में काम करने वाले श्रमिक-जन भी, मिल-मालिकों और उद्योगपतियों की प्रजा हैं, अतः ये पूँजीपति भी 'प्रजापति' हैं। कुम्हार भी 'प्रजापति' (परजापत) कहलाता है क्योंकि वह भी नाना विधि खिलौनों, यहाँ तक कि राम, कृष्ण, हनूमान, गान्धी और जवाहरों की सृष्टि कर डालता है।

कैसा है वह दिव्य 'प्रजापति'? (यस्मात् परः) जिससे बढ़ चढ़कर, (अन्यः जातः न अस्ति) कोई अन्य उत्पन्न ही नहीं हुआ, जो अद्वितीय है। (यः) जो, (विश्वा भुवनानि) सम्पूर्ण लोक-लोकान्तरों में, भूतमात्र के अन्दर, (आ विवेश) सर्वतो व्याप्त है। (सः) वह, (षोड़शी) सोलह आना सम्पूर्ण कलाओं से संयुक्त, सर्वदा किशोर, जरामरण से मुक्त, (प्रजया) अपनी विविध उल्लिखित प्रजा, सृष्टि के साथ, (संरराणः) रमण करता हुआ, नाना विधि आवश्यक पदार्थों द्वारा सन्तुष्ट रखने की सामग्री प्रस्तुत करता हुआ, (त्रीणि ज्योतींषि) तीन दिव्य ज्योतियों, तीन दिव्य प्राण एवं ज्ञान साधनों को, (सचते) स्वप्रजा हितार्थ जुटाता है।

दिव्य दैवी काव्य, वेद, मनीषी मनुष्य के लिये चाहे वह पिता हो, आचार्य हो, उद्योगपति हो, ग्राम सभा का प्रधान हो, नगरपालिका, जिला, धारा सभा आदि किसी भी संस्था का संचालक हो—सब के लिये विश्वेश्वर की पाँच दिव्य विशेषताएँ नमूने के रूप में उपस्थित करता है:—

(१) विश्व का प्रजा-पति 'परात्-पर है'। अतः सांसारिक प्रजापतियों को भी अपने अपने कार्य-क्षेत्र में सर्व-श्रेष्ठ बनने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि कोई दुर्गुण, दुर्व्यसन उनमें घर किए हुए हों, तो उन्हें सत्य सङ्कल्प द्वारा त्याग देना चाहिये। अन्यथा उनकी प्रजा उन्हें आदर्श मान उनका अनुकरण कर नाशोन्मुख होती जायगी।

(२) वह दिव्य 'प्रजापति' (विश्वा भुवनानि आविवेश) विश्व में, समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। संसारी प्रजापतियों को भी अपने सुचरित्रों और सुसेवाओं द्वारा निज निज प्रजाओं के हृदय-मन्दिरों में घर कर लेने का प्रयत्न करना चाहिये।

(३) 'विश्व-पति' (षोडशी) है पूर्ण चन्द्रवत् सोलह कला सम्पन्न है, पूर्ण प्रकाशमय है। मानुषी प्रजापतियों को भी अपने सद्गुण, सदाचार, सद्विचार, सद्विज्ञान का प्रकाश चहुँ ओर प्रकाशित करने का प्रयत्न करना चाहिये।

(४) (प्रजया संरराणः) विश्वेश्वर ने अपनी प्रजा के सुखानन्द की समस्त आवश्यक सामग्री

उत्पन्न कर रक्खी है। मानव प्रजापतियों को भी स्व-प्रजा के हितार्थ समस्त सुख शान्ति के उपाय जुटाते रहना चाहिये।

(५) विश्वाचार्य ने प्रकाश की तीन ज्योतियाँ (त्रीणि ज्योतींषि) चमका रक्खी हैं (सचते)। कौन कौनसी ?—सूर्य, चन्द्र और अग्नि, (भूर्भुवः स्वः) सत्ता बनाए रखने वाली भूमि, चेतनता देने वाली प्राण-दा वायु, सुख प्रदाता, जीवन-प्रद जल-वर्षक द्यौ। इसी प्रकार ज्ञानवान् संसारी प्रजा-पतियों को भी जीवन की समस्त ज्योतिर्मय सामग्री अपनी अपनी प्रजा की सुख समृद्धि के लिये, (सचते) यथा शक्ति जुटाते रहने का सदुद्योग करना चाहिये। लड़ने झगड़ने, तथा सर्वनाश की सामग्री उद्जन बम आदि तयार कराने का नहीं।

सरस्वती का वास किन में है ?

लेखक—श्री पूज्य स्वा० गङ्गागिरि जी महाराज, आचार्य गुरुकुल म० वि०, रायकोट।

पाठक वृन्द ! सरस्वती का वास उन महानुभावों में है जिनका मन सदा प्रसन्न रहता है और जो परमात्मा के उपासक हैं। महात्मा जन कौन हैं ? जिनका जीवन निम्न-लिखित मन्त्रानुसार व्यतीत हो रहा है। मंत्र इस प्रकार है:—

दृते दृꣳ ह मा मित्रस्य मा चक्षुषा
सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि
समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।
यजुः ३६।१८।

अर्थः—(दृते) हे सब दुःखों के नाशक परमेश्वर ! आप हम पर ऐसी कृपा करें कि जिससे हम लोग वैरभाव का परित्याग करके परस्पर मित्र भाव से वर्तें। (मित्रस्य मा०) सब प्राणी अपना मित्र जानकर मुझसे बन्धुवत् वर्तें। ऐसी इच्छा वाले हम लोगों को आप (दृꣳह) सत्य-सुख और शुभ गुणों से बढ़ाईये। (मित्रस्याहं०) इसी प्रकार से मैं भी मनुष्यादि सर्व प्राणि वर्ग को मित्र जानूं—और हानि, लाभ, सुख तथा दुःखानुभूति में अपनी आत्मा के तुल्य ही सब जीवों को मानूं। (मित्रस्य चक्षुषा०) हम सब परस्पर मिलकर, एक दूसरे के सहायक बनकर चलें। बस यही परमात्मा की सच्ची उपासना है। यही मन को प्रसन्नता देने वाली है। इस प्रकार इस मंत्र के अनुसार, परस्पर प्रेम भाव से वर्तने वाले, 'वेद प्रतिपादित ईश्वरीय धर्म को ग्रहण करने वाले, वैदिक रीति से ईश्वर की उपासना करने वाले, मनुष्य ही महात्मा शब्द से व्यवहृत होते हैं। ये ऐसे महात्मा जन सदा प्रसन्न चित रहते हुए, परमात्मा की उपासना में लीन रहते हैं। और इन्हीं में सरस्वती का वास होता है। ठीक इसी आशय को महर्षि पतंजलि ने अपने योग दर्शन के निम्न सूत्र में व्यक्त किया है ऋषि लिखते हैं कि:—"मैत्रीकरुणा-मुदितोपेक्षाणां, सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावना-तश्चित्तप्रसादनम्" योग० अ० १ पाद १ सूत्र ३३।

अर्थात् इस संसार में जितने भी सुखी प्राणी हैं उनसे मित्रता करने, और जो दुःखी हैं उन पर कृपा करने, पुण्या-त्माओं से प्रीति रखने, पापियों से न प्रीति, न विरोध करने, अपितु उनके प्रति उपेक्षावृत्ति रखने के कारण, उपासक की आत्मा में सत्य धर्म का प्रकाश हो जाने से उसका मन स्थिरता को प्राप्त होता है। हम पाठकों के मनोरंजन के लिए ऐसे महापुरुषों की परीक्षार्थ उनके गुणों का प्रतिपादन करते हैं।

गुणः—१—निर्भीकता २—आत्मशुद्धि ३—उपार्जन शुद्धि ४—उदारता ५—भूख और प्यास पर कंट्रोल रखना ६—भक्ति ७—एकान्तवास ८—स्वाध्याय में प्रीति ९—नम्रता १०—ईमानदारी ११—किसी सत्यानुयायी को न सताना १२—क्रोध न करना १३—लालच से रहित होना १४—शान्त और कारुणिक होना १५—दूसरों को घृणा की दृष्टि से न देखना १६—दुःखियों के लिए प्रेम होना १७—हृदय में संतोष होना १८—अर्थ, कामनाओं के वशी-भूत न होना १९—चाल-चलन में गंभीरता, नम्रता-सुशीलता,

और मनुष्यता का होना २०—पवित्रता, शांति व सन्तोष का आगार होना २१—बदले की भावना का न होना २२—अपने को बड़ा न मानना। ये हैं महापुरुषों के लक्षण। ऐसे महापुरुष ही प्रभु भक्त होते हैं—इन्हीं में ही सरस्वती देवी का वास होता है। ऋग्वेद का निम्न मंत्र भी इसी भाव को पुष्ट कर रहा है। मंत्र इस प्रकार है:—

"चोदयित्री सूनृतानां, चेतन्ती सुमतीनां, यज्ञं दधे सरस्वती" ऋ० १–३–११ (सूनृतानां) (चोदयित्री) सच्ची और प्यारी वाणी को प्रेरित करती हुई (सुमतीनां चेतन्ती) अच्छी बुद्धियों को चेताती हुई (सरस्वती) सरस्वती (यज्ञं) यज्ञ को (दधे) धारण किए हुए है। अर्थात् सरस्वती का वास उन उन महानुभावों में है जिन्होंने अपने जीवन को यज्ञमय बनाया हुआ है। इस जीवनरूपी यज्ञ को जहाँ परमेश्वर के अन्य देवों ने धारण किया हुआ है, वहाँ सरस्वती देवी ने भी इसे धारण किया हुआ है। यह देवी दो कार्य करती है "एक तो सुन्दर वाणी को देती है, दूसरे सुमतिः" अच्छी बुद्धि को प्रदान करती है; जिससे संसार शांति का धाम बन जाता है।

सूनृता वाणी—नाम है सच्ची और प्यारी वाणी का। वाणी केवल प्यारी ही न हो, यदि उसके संग सत्य न मिला हो तो वह किसी काम की नहीं है, इसी बात को मनुजी ने लिखा है कि:—

"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
अप्रियं च नानृतं ब्रूयात्, एष धर्मः सनातनः।" मनु०।

भाव स्पष्ट है।

यह सरस्वती देवी सूनृता वाणी को जहाँ प्रेरणा देती है वहाँ सुमतियों को भी उद्बुद्ध करती है। सत्य के साथ २ वाणी में अहिंसा भी रहे तभी वाणी पूर्ण होती है। उसमें प्रेम की पुट होता है, वह शांतिदायक होती है। इस प्रकार से सरस्वती देवी हम लोगों में ऐसी सच्ची और मधुरवाणी को प्रेरित करती रहती है। जिससे हमारा जीवन ज्ञानमय बन जाता है। अभग्न चलता रहता है। इसके अतिरिक्त यह देवी इस यज्ञ के सूक्ष्मांग को भी निबाहती है। हममें निरंतर श्रेष्ठ, सुन्दर और कल्याणप्रद बुद्धि (ज्ञान) को जगाती रहती है। जीवन यज्ञ ठीक २ चलता रहता है। जब कभी हमारे मन में कोई दुर्मति या अनिष्ट चिन्तन उत्पन्न होता है तो समझ लेना चाहिए कि सरस्वती देवी ने............ उसका परित्याग कर दिया है। इसी प्रकार जब कभी हम अनृत-कठोर या हिंसक वचन बोलते हैं तो समझ लेना चाहिए कि सरस्वती देवी हमारी जीवन-यज्ञशाला से कूच कर गई है। अतः सुमति और सूनृता वाणी का संकल्प करके हृदय मंदिर में सरस्वती को बिठाना चाहिए। हम प्रायः यही समझ लेते हैं कि बस पढ़ना लिखना आजाना ही सरस्वती देवी का प्रसाद है। पर यह बात नहीं है। यदि किसी के हृदय में निरन्तर सुमति की धारा बहती रहती है तथा सच्चे और मधुर वचनों का अमृत झरता रहता है तो वह मनुष्य चाहे निरक्षर भी हो तो भी उसमें निश्चय से सरस्वती का वास है, जो कि उसके जीवन यज्ञ को धारे हुए चला रही है। इसी बात को लक्ष्य में रखकर किसी कवि ने क्या ही सुन्दर कहा है:—

**"खल-खंडन, मंडन-सुजन, सरल, सुहृद, सविवेक।
गुण गंभीर, रण सूरमा, मिलत लाख में एक।"**

—: ओम् शम् :—

सर्वज्ञानमयो हि सः। —मनुः

स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। तैत्ति० उप०

वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना, सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है। —ऋषि दयानन्द

सुख-दुःखविवेचनम्

(लेखक—श्री पं० शंकरदेव जी आचार्य)

संसार के सभी मनुष्य चाहे वे आस्तिक हों वा नास्तिक, दरिद्र हों वा सम्पन्न, समाजवादी हों वा साम्राज्यवादी, हिन्दू हों वा मुसल्मान, इसाई हों वा यहूदी, बालक हों वा वृद्ध, स्त्री हों वा पुरुष, किसी भी वर्ग के क्यों न हों सभी सुख चाहते हैं। यही नहीं अपितु प्राणि मात्र सुख की चाह रखता है। इसी लिये देखा जाता है कि मनुष्य प्रायः सर्वत्र ही किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व अपने उपासनीय इष्टदेव की पूजा करते हैं और मङ्गल कामनाएँ करते हैं कि जिससे हमारा कार्य सिद्ध हो और सुख मिले। वैदिक धर्मी तो स्वस्तिवाचन और शान्तिवाचन के पाठद्वारा सभी शुभ-कृत्यों में प्राणिमात्र के लिये स्वस्ति और शान्ति की प्रार्थना करते हैं। जैसे—

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं
धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम्।
पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे
रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥

हे सुख और मोक्ष की इच्छा रखने वाले जनों! हम सब उस परमात्मा को ही (हूमहे) प्राप्त होने के लिये अत्यन्त इच्छा से पुकारते हैं। क्योंकि वह (ईशानम्) सब जगत् का स्वामी है (जगतस्तस्थुषस्पतिं) चर और अचर इन दोनों प्रकार के जगत् का पालन करने वाला है (धियञ्जिन्वम्) विज्ञानमय, विज्ञानप्रद और तृप्तिकारक ईश्वर के तुल्य अन्य कोई नहीं है। उसका अपनी रक्षा के लिये हम (इच्छा) से आह्वान करते हैं। जैसे वह ईश्वर (पूषा) हमारे लिये पोषणप्रद हैं वैसे ही (वेदसाम्) धन और विद्वानों की वृद्धि का (रक्षिता) रक्षक है, तथा (स्वस्तये) निरुपद्रवता के लिये हमारा (पायुः) वही पालक है, और (अदब्धः) हिंसारहित है। इसलिये ईश्वर निराकार सर्वानन्दप्रद है। हे मनुष्यो! उसको मत भूलो उसके बिना कोई सुख का आश्रय नहीं है।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः
स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः
स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

परमैश्वर्य युक्त बहुत कीर्तिवाला ईश्वर हमें स्वस्थता को धारण करावे। पुष्टिकर्त्ता तथा सम्पूर्ण विज्ञान और धन-वाला ईश्वर हमें विज्ञान और धन प्राप्त करावे। प्रकाशस्व-रूप व दुःखनाशक वह परमदेव हमारा कल्याण करे सब का एकमात्र स्वामी ईश्वर हमारे लिये सुख को धारण करे।

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः।
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः ॥
क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये
शिवं शग्मं शंयोः शंयोः ॥

हे पशवादिपते उत्तम महात्मन्! आपकी ही कृपा से उत्तम २ गाय, भैंस, घोड़े, हाथी, बकरी, भेड़ तथा उपलक्षण से अन्य सब सुखदायक पशु और अन्न, सर्वरोगनाशक ओषधियों का उत्कृष्ट रस (नः) हमारे घरों में नित्य स्थिर रहे, जिससे किसी पदार्थ के बिना हमको दुःख न हों। हे विद्वानों! तुम्हारे संग और ईश्वर की कृपा से क्षेम, कुशलता, शान्ति तथा सर्वोपद्रवविनाश के लिये मोक्ष-सुख और (शग्मम्) संसार-सुख होवे। मोक्ष-सुख व प्रजा-सुख इन दोनों की कामना करने वाला जो मैं हूँ उस मेरी दोनों कामनाओं को आप यथावत् शीघ्र पूरी कीजिये। आपका स्वभाव यही है कि स्वभक्तों की कामना का पूरा करना।

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः
शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्ति-
र्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः
शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥

हे सर्वदुःखों की शान्ति करने वाले! सब लोकों के ऊपर जो आकाश है सो सर्वदा हम लोगों के लिये शान्ति निरुपद्रव सुखकारक ही रहे। अन्तरिक्ष = मध्यस्थ लोक और उसमें स्थित वायु आदि पदार्थ, पृथिवीस्थ पदार्थ, जल व जलस्थ पदार्थ, ओषधि व तत्रस्थ गुण, वनस्पतियाँ तत्रस्थ

पदार्थ (विश्वेदेवाः) जगत् के सब विद्वान् तथा विश्वद्योतक वेदमन्त्र, इन्द्रिय, सूर्यादि, उनकी किरणें, तत्रस्थ गुण, ब्रह्म-परमात्मा तथा वेदशास्त्र, स्थूल और सूक्ष्म चराचर जगत् ये सब पदार्थ हमारे लिये हे सर्व शक्तिमान् परमात्मन् ! आपकी कृपा से शान्त, सदा अनुकूल व सुखदायक हों। मुझको भी वह शान्ति प्राप्त हो, जिससे मैं भी आपकी कृपा से शान्त, दुष्ट क्रोधादि उपद्रव रहित होऊँ तथा सब संसारस्थ जीव दुष्ट क्रोधादि उपद्रव रहित ही हों। इत्यादि।

एवं जब मनुष्य दुःख से बचने और सुख की प्राप्ति के लिये ही अहर्निश यत्न करता है और फिर भी सफलमनोरथ नहीं होता है, किन्तु उल्टा विविध प्रकार के दुःखों में फँस जाता है और सुख के दर्शन अन्त तक नहीं होते, तो इस बात को अवश्य मानना पड़ेगा कि उसने न सुख को ही जाना है और न उसकी प्राप्ति के उपाय ही समझे हैं, यदि मनुष्य सुख का पूर्ण ज्ञान रखता और उसके लिये परिश्रम भी यथार्थ रूप से करता तो ऐसा कभी संभव न होता कि वह सुख की प्राप्ति नहीं कर सकता और दुःखों में ही फँसा रहता। इसलिये ये दोनों तत्त्व अवश्य विवेचनीय हैं। इसी-लिये नारद के प्रति सनत्कुमार उपदेश करते हैं कि—

"यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति,ना सुखं
लब्ध्वा करोति, सुखमेव लब्ध्वा करोति
सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्"।

"जब मनुष्य सुख प्राप्ति की आशा करता है तभी यत्न करता है, दुःखप्राप्ति की आशा से नहीं करता। इसलिये सुख क्या वस्तु है इसका ज्ञान अवश्य करना चाहिये।

इसी प्रकार गौतमाचार्य अपने न्यायदर्शन में जहाँ १२ द्वादश प्रमेयों का वर्णन करते हैं यथाः—"आत्मशरीरे-न्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफल दुःखा पव-र्गास्तु प्रमेयम्"

प्रमाण, प्रमेयादि षोडश पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से ही मनुष्य निश्चित कल्याण को प्राप्त होता है, यहाँ पर प्रमेयों में दुःख भी आ गया है। उसके भी यथार्थ ज्ञान से ही मनुष्य दुःखों से बचकर निःश्रेयस की सिद्धि कर सकता है।

न्याय दर्शन और वैशेषिक दर्शन में सुख और दुःख को आत्मा का लिङ्ग वर्णन किया है। जैसे अदृष्ट अग्नि का ज्ञापक धूमज्ञान होता है। ऐसे ही सुख दुःख भी आत्मा का आनुमानिक ज्ञान कराते हैं। तात्पर्य्य यह निकला कि सुख दुःख का नियत सम्बन्ध आत्मा के साथ है। अन्य पदार्थों को सुख दुःख नहीं होता। वैशेषिक दर्शन में जहाँ द्रव्य, गुण, कर्मादि षट्पदार्थों का वर्णन है वहाँ सुख दुःख को गुणपदार्थों में वर्णन किया है। गुण का लक्षण है "द्रव्या-श्रय्यगुणवान्संयोगविभागेषु अकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्"

जो द्रव्यों के आश्रित रहे और जिसमें और गुण न रहे, और जो संयोग विभाग में अनपेक्ष कारण न हो। इस वर्णन से सिद्ध हुआ कि सुख दुःख आत्मा का गुण है और गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध होता है अर्थात् गुण और गुणी एक काल में पृथक् २ नहीं रह सकते। जिस समय में भी सुख दुःख होगा आत्मा में ही होगा अन्यत्र उसकी सत्ता सम्भव नहीं।

सुख दुःख दोनों ही परस्पर विरोधी हैं। जिस काल में आत्मा में दुःख होगा उसी काल में सुख नहीं रह सकता और सुख के समय दुःख नहीं रह सकता। इसी से सिद्ध है कि यह दोनों गुण स्वाभाविक नहीं हैं, नैमित्तिक हैं। और चूंकि ये परस्पर विरोधी हैं, इसलिये इनका निमित्त भी भिन्न २ ही होना चाहिये।

"नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति"

अर्थात् शुभ कर्मों का फल ऐहिक सुख प्राप्ति और अशुभ कर्मों का फल दुःख है।" जैसा कि वेदादि शास्त्रों में वर्णित हैः—"(अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपा-सते। ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥"

"असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

"ये रमणीयाचरणास्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्।
ये कपूयाचरणास्ते कपूयां योनिमापद्येरन्॥"

एतयोः पथोर्न कतरेण चन तानिमानि क्षुद्राण्य-सकृदावर्त्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्व इत्येत-त्तृतीयं स्थानम्॥

इन वचनों का तात्पर्य है कि जो आत्मज्ञान की प्राप्ति न करके प्रकृति की उपासना करते हैं वे योनियों को प्राप्त करके शुभाशुभ कर्मों के अनुसार सुख दुःख की प्राप्ति करते हैं। परन्तु दुःखों का नाश आत्मज्ञान विना नहीं हो सकता, जैसा कि वेद ने कहा है "तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यते अयनाय" इसलिये वेद में प्रार्थना की है किः—

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिल्लोके स्वर्हितम् ।
तस्मिन्मां धेहि पवमानामृते
लोके अक्षिते इन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥

हे ! अविद्यादि क्लेशों को नाश करने वाले पवित्रस्वरूप, सर्वानन्ददायक, परमात्मन् ! जिस आपके स्वरूप में सदा ज्योति है, जिस दर्शनीय आपके स्वरूप में नित्य सुख स्थित है उस नाशरहित अमृतस्वरूप में आप मुझको परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिये स्थापित कीजिये और आनन्द की वर्षा कीजिये ।

श्रुति ने जिसका प्रतिपादन संक्षेप से किया है उसी का दर्शनों में विशद विचार किया है। न्यायसूत्रों में प्रमाणादि षोडश पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति का जो वर्णन किया है सो क्या तत्वज्ञान के अनन्तर ही हो जाती है या किस प्रकार से ? इसका उत्तर द्वितीय सूत्र में इस प्रकार दिया है:-"दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः" तत्वज्ञान से मिथ्याज्ञान नष्ट होता है और मिथ्या ज्ञान के नष्ट होने से दोष । अर्थात् राग, द्वेष, मोह नष्ट हो जाते हैं इनके नष्ट होने से दशविध पाप व पुण्य नष्ट हो जाते हैं। पाप पुण्य के नष्ट हो जाने से जन्म (अर्थात् नाना योनियों में जीव का गमन) नष्ट हो जाता है और जन्म के नष्ट होने से सब प्रकार के दुःख नष्ट हो जाते हैं।

दुःखों का निरूपण कई प्रकार से किया जाता है, कहीं आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक आदि तीन प्रकार से, कहीं-गर्भावस्थाजन्य, जन्मजन्य, नानाविध रोगजन्य, जरावस्थाजन्य व मृत्युअवस्थाजन्य, आदि पाँच प्रकार से। ये सभी दुःख जन्म से ही होते हैं, दुःख का लक्षण गौतमाचार्य इस प्रकार करते हैं—"बाधनालक्षणं दुःखम्" इति। तथा मनु जी भी ऐसा कहते हैं:—

"सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥

अर्थात्—दूसरे के बन्धन में पड़ जाने का नाम दुःख और आत्माधीन स्वतन्त्र होने का नाम सुख है। इसी बात को पतञ्जलि मुनि इस प्रकार कहते हैं:—"द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः" अर्थात् जड़ और चेतन का जो संयोग है वही सभी दुःखों का कारण है। यहाँ यह शङ्का उत्पन्न होती है कि यदि प्रकृति के साथ संयोग बन्धन के छूटने से दुःख का नाश हो जाता है तो सभी प्रकार के सुखों का भी नाश हो जायगा। इसके उत्तर में वात्स्यायन मुनि लिखते हैं "बाधनालक्षणं दुःखमिति" वत्कि प्रत्यात्मवेदनीयस्य सर्वजन्तुप्रत्यक्षस्य सुखस्य प्रत्याख्यानमाहोस्विदन्यः कल्पः" क्या जो बाधनालक्षण दुःख है वह सर्वप्राणियों द्वारा अपने २ आत्माओं में प्रत्यक्ष अनुभूत जो सुख है वह दुःख का अभाव रूप है या दुःख की तरह सुख भी पृथक् वस्तु है "अन्य इत्याह" अन्य वस्तु है सर्वप्राणियों द्वारा अनुभूत जो सुख है उसका खण्डन नहीं हो सकता। किन्तु उस सुख में पुनः २ जन्म मरण परम्परा से अनुभूत जो दुःख उससे छूटने की इच्छावाले पुरुष को सुख में दुःख-बुद्धि करने का उपदेश दुःख से छूटने के लिये किया गया है क्योंकि सर्व शरीर सर्व उत्पत्ति स्थान सभी बार २ जन्म दुःख से युक्त है जैसा कि उपनिषत् भी कहती है **"न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वावसन्तं नाप्रियाप्रिये स्पृशतः"** कोई भी शरीरधारी दुःख सुख से नहीं बच सकता, लोक में भी यह प्रत्यक्ष दीखता है। बड़े २ सम्राट् व दरिद्र सभी जन्ममरणादि दुःखों से ग्रसित देखे जाते हैं **"विविधबाधनायोगाद् दुःखमेव जन्मोत्पत्तिः"** भिन्न २ शरीरों में भिन्न २ प्रकार का हीन, मध्यम अधिक दुःख देखा जाता है जैसे कृमि कीट पतङ्गादि के अधिक, पशु आदि के मध्यम और मनुष्यों की न्यून देवताओं व वीतरागियों को न्यूनतर दुःख होता है। सभी को दुखों में फँसा देखकर सुखों में और सुख के साधन शरीर इन्द्रिय मन विषयादि में भी तृष्णा नष्ट हो जायेगी। जैसे उत्तम भोजन भी विष के मिश्रित होने से विष ही है उस भोजन में विष बुद्धि होने से उसका त्याग करने से मरण दुःख से बच जाता है। 'उपनिषदों में लिखा है':—

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरञ्च
व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः ।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात्
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

ईश्वर व्यक्ताव्यक्त, कार्य्यकारण, प्रकृति और कार्य जगत् को धारण करता है और जीवात्मा, शरीर, इन्द्रिय, मन के द्वारा संसार में आनन्द या सुख भोगने की इच्छा के कारण ही "सर्वं परवशं दुःखं" रूप बन्धन में पड़ जाता है यद्यपि "सुखस्यापि अन्तरालनिष्पत्तेः" यद्यपि दुःख के साथ बीच २ में सुख भी होता है किन्तु "बाधनाऽनिवृत्तेर्वेदयत,

पर्येषण दोषाद्प्रतिषेधः" पर्येषणाय प्रार्थना विषयार्जनतृष्णा" विषयों में सुख समझता हुआ प्रयत्न करता है, कभी इच्छित विषय को प्राप्त नहीं करता कभी करता भी है तो शीघ्र नष्ट हो जाता है अथवा न्यून ही सिद्ध होता है अथवा सिद्ध होने के साथ २ बहुत से विघ्नों से घिरा हुआ होता है जिससे बहुत प्रकार के मानस सन्तापों में फँसे रहना पड़ता है, यदि कोई कामना सिद्ध भी हो जाये तो झट दूसरी कामना आकर घर कर लेती है "न कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति" जैसे अग्नि में घृत की आहुति देने से अग्नि शान्त नहीं होती किन्तु बढ़ती ही है। इसी प्रकार भोग से तृष्णा शान्त नहीं होती किन्तु बढ़ती ही है। व्यास जी लिखते हैं—"या इन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिस्तत् सुखं, या लौल्यादनुपशान्तिः तद् दुःखं, न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्त्तुं शक्यम्" जो इन्द्रियों की तृप्ति से शान्ति, वही सुख है और जो चञ्चलता से अशान्ति वही दुःख है किन्तु इन्द्रियों को भोगाभ्यास से तृष्णारहित नहीं किया जा सकता, क्योंकि "भोगाभ्यासमनुविवर्द्धन्ते रागाः" भोगाभ्यास से तृष्णा बढ़ती ही है और इन्द्रियाँ भोगाभ्यास में कुशल हो जाती हैं "तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाभ्यास इति" इसलिये भोगाभ्यास सुख का उपाय नहीं है। संसार में व्यसनी लोगों के उदाहरण लगभग सभी ने देखे हैं कि घर की धन सम्पत्ति व्यसनों में नष्ट कर दी और पुनरपि पल्ले कुछ नहीं पड़ा। ऐसे लोग धर्म, कर्म, देश, जाति या संसार के उपकार के लिये अवकाश ही नहीं पाते, व्यसनों में जीवन नष्ट कर संसार से चल देते हैं इसी लिये श्वेताश्वेतर उपनिषद् में शरीर का नदी रूप से वर्णन किया है और लिखा है "पञ्चावर्त्तां पञ्चदुःखौघवेगाम्" पाँच इन्द्रियों के पाँच विषय रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ही जिस नदी में बड़े २ भँवर हैं और गर्भावस्थाजन्य, जन्मजन्य, वृद्धावस्थाजन्य, रुग्णावस्थाजन्य तथा मरणावस्थाजन्य, इन पाँच बड़े २ दुःखों के जिसमें वेग हैं, ऐसी वह शरीर रूपी नदी है।

गीता में भी लिखा है, "ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते" जो स्पर्शादि भोग होते हैं वे दुःख के कारण हैं। स्वामी शङ्कराचार्य भी लिखते हैं "विषाद् विषं किं विषयाः समस्ताः दुःखी सदा को विषयानुरागी" विषों में भी बड़ा विष कौन सा है? क्या सांप बिच्छु का या संखिया का, नहीं इन्द्रियों के विषय रूप विष ही वास्तविक विष हैं क्यों कि "उपभुक्तं विषं हन्ति विषयाः स्मरणादपि" शरीर में प्रविष्ट होकर विष एक शरीर को ही नष्ट कर मृत्यु दुःख भुगाता है। किन्तु विषय तो स्मरणमात्र से जन्म, मृत्यु आदि पाँच दुःखों के जिसमें बड़े २ वेग हैं ऐसी अनन्त शरीररूप नदी में डुबा २ कर मारता है। जैसे सुख के अनुभव से सुख के संस्कार और दुःख के अनुभव से दुःख के संस्कार, और किसी संस्कार को जगाने वाली घटना से पुनः स्मृति और स्मृति से पुनः संस्कार; इस प्रकार स्मृति और संस्कार का चक्र चलता है और उसी स्मृति व संस्कारों के अनुसार कर्म अर्थात् पाप पुण्य करता है, तदनुसार जन्म प्राप्त करता है। इस प्रकार यह दुःख रूपी स्रोत विस्तीर्ण होता रहता है। अतः विषय का विष सबसे बड़ा विष है। इसीलिये छान्दोग्योपनिषत् में कहा गया है कि "सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्" और आगे स्पष्ट लिखा है "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति" आनन्दस्वरूप तो परमात्मा है, प्रकृति में सुख नहीं है। कपिल मुनि भी लिखते हैं "न दृष्टात्तत्सिद्धिः निवृत्तेऽपि अनुवृत्तिदर्शनात्" अर्थात् दृष्ट पदार्थों से त्रिविध दुःखों की निवृत्ति नहीं हो सकती। कठोपनिषत् में भी लिखा है "एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।" अपने आत्मा में स्थित आनन्दस्वरूप सब को वश में रखने वाले, एक प्रकृति से विविध प्रकार की सृष्टि आदि के कर्ता को जो ध्यानी लोग देखते हैं उन्हीं को शाश्वत सुख प्राप्त होता है और किन्हीं को नहीं। जो विषय सुख है वह अविद्या है। गीता भी कहती है "सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।" जहाँ पर स्थित होकर यह पुरुष आत्यन्तिक जो सुख है और जो कि पञ्च ज्ञानेन्द्रियों से अग्राह्य है क्योंकि वह रूप स्पर्शादि विषयजन्य नहीं है, केवल मन के द्वारा ही ग्रहण किया जाता है उसको जो जानता है वह पुरुष तत्त्व से यथार्थ मार्ग से विचलित नहीं होता और व्यास जी भी कहते हैं "विषयसुखञ्च अविद्या" विषय जन्य जो सुख है वह अविद्या है और वही सब दुःखों का द्वार है यहाँ पर यह शङ्का सभी को होती है कि जिस सुख का हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं उसको हम अविद्या कैसे मानें। इसका उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष के लक्षण में भी यह कहा गया है कि जो अव्यभिचारी हो—इसका यह अर्थ है कि जो अन्य में अन्य का ज्ञान होता है वह व्यभिचारी और जो वस्तु जैसी हो उसमें वैसा ही ज्ञान हो वह अव्यभिचारी कहलाता है। अब इसको

परीक्षा करनी है कि जो विषयों में सुख प्रतीत होता है वह उनमें है भी वा केवल भ्रममात्र है। योग सूत्र में लिखा है "दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः" "तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः" "दुःखदौर्मनस्यादि,पांचों जिसका मन विषयों में दौड़ रहा है उसी को होते हैं और जिसका मन एकाग्र है उसको नहीं होते, इसलिये मन की चञ्चलता को दूर करने के लिये एक वस्तु में लगाने का अभ्यास करना चाहिये, ऐसा पतञ्जलि मुनि कहते हैं। इसका तात्पर्य यह निकला कि विषय में जितनी देर मन एकाग्र होता है उतनी देर एकाग्रता के कारण सुख प्रतीत होता है उसमें वास्तविक सुख नहीं है। जिस पुरुष को जिस विषय में आनन्द आता हो उसी पुरुष के लिये कोई ऐसी घटना आघटित हो कि उसका मन वहां से हट जावे तो उस पुरुष को वह विषय आनन्द नहीं दे सकता। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि आनन्द तो एकाग्रता में है। मूर्ख समझता है कि विषयमें आनन्द है। विषयभोग तो मनुष्य का धर्म, वीर्य, बुद्धि, तेज, यश आदि का नाश कर देते हैं जैसा कि नचिकेता ने यमाचार्य से कहा है:—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।

विषयों का क्या ठिकाना आज हैं कल नहीं, हे आचार्य! ये विषय मनुष्य की सभी इन्द्रियों के सामर्थ्य को नष्ट कर देते हैं। आज संसार में विषय के लालच में पड़ा हुआ मनुष्य समाज एक दूसरे के नष्ट करने के उपायों की खोज में लगा हुआ है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, आन्तरिक शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय आदि को, आज-कल की सभ्यता में पला हुआ मनुष्य-समाज हीनता की दृष्टि से देखता है। ठगी से, झूठ से, चोरी से, मारकाट से जिस किसी भी उपाय से अपनी विषयवासना की तृप्ति के लिये दूसरों की धनजनादि सम्पत्ति को अपने आधीन करने में जुटा हुआ है। उसे स्वप्न में भी कभी यह ध्यान नहीं आता कि—हम कौन हैं? हमें यह मानव-शरीर क्यों मिला है? आगे क्या होना है? इस प्रकार कुछ भी विचार न करता हुआ शेर,चीते, भेड़िये, आदि पशुओं का भी बड़ा भाई बना हुआ है। जितनी भी विद्या वा विज्ञान है सभी विषय-भोगों के साधन जुटाने के लिये ही है। आज जो संसार में अशांति फैली है उसका कारण अविद्या है। यदि मनुष्यों को यह ज्ञान हो जाये कि वास्तविक सुख अन्तरात्मा में है और यह विषय-सुख ही उसका बाधक है तो आज ही संसार की काया-पलट हो जाय अर्थात् शरीर इन्द्रिय और इन्द्रियों के विषय और मन और परस्पर मनुष्य समाज सच्ची शान्ति के साधन बन जायें, हिंसा, चोरी, झूठ सभी बन्द हो जायें जैसा कि गीता में भी लिखा है:—

"यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः"।

क्योंकि मनुष्य इस झूठे सुख के धोखे में पड़कर ही कर्त्तव्य कर्मों को भूल, क्रूर से क्रूर और बुरे से बुरे कर्म करने में भी लज्जित नहीं होता। यह अवस्था व्यक्ति तक ही सीमित नहीं रहती। देखा जाता है कि एक दूसरे देशवासियों के साथ घोर अनर्थ करने लग जाता है। इस अविद्या को दूर करने में वेद और ऋषि मुनियों की शिक्षा ही समर्थ है जिसकी ओर न राज्य का ध्यान है न जन-समाज ही उधर प्रवृत्त हो रहा है। कोई महान् आत्मा ही प्रकट हो जो राज प्रजावर्ग को उधर प्रवृत्ति करने में समर्थ हो।

वेद और स्वर्ग

(लेखक—वैदिकगवेषक, पं० शिवपूजनसिंह कुशवाहा 'पथिक' विद्यावाचस्पति, साहित्यालङ्कार, कानपुर)

पौराणिकवर्ग इन्द्रलोक को 'स्वर्ग' मानता है जहाँ कल्पवृक्ष, दूध की नदियाँ व इन्द्र की परियाँ हैं। इसी प्रकार यवनों ने बहिश्त की कल्पना की है जहाँ हूर, गिल्में, शराब की नदियाँ हैं। इसी प्रकार अन्यान्य मतावलम्बियों ने भी कल्पनाएँ की हैं।

अथर्ववेद ४। ३४। ५ में "वहिष्ठ" शब्द आया है, बहुत से लोग उसी से "बहिश्त" शब्द की कल्पना करते हैं। वास्तव में 'स्वर्ग' शब्द का क्या तात्पर्य है? वैदिक दृष्टिकोण क्या है? इस पर ऊहापोह से यहाँ विचार किया जाता है।

आर्यसमाज के प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्दजी महाराज लिखते हैं—"स्वर्ग—जो विशेष सुख और सुख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना (है, वह) स्वर्ग कहाता है।"[१]

"नरक—जो विशेष दुःख और दुःख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना है, उसको नरक कहते हैं।"[२]

पुनः "स्वर्ग" नाम सुख विशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का है।"[३] "नरक" जो दुःख विशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति होना है।"[४]

इस लेख से स्पष्ट प्रकट होता है कि पौराणिक व यवन प्रभृति की कल्पना निर्मूल है। वेदों में ५० से भी अधिक स्थलों पर 'स्वर्ग' शब्द आया है परन्तु उनका अर्थ 'इन्द्रलोक' आदि नहीं है जैसा पौराणिक वर्ग मानता है।

सुख की सामग्री 'गृहस्थाश्रम' में ही प्राप्त होती है, अतः इसे ही 'स्वर्ग' कहा जा सकता है।

अथर्ववेद काण्ड ४, सूक्त ३४ में 'स्वर्ग का वर्णन—

"अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः
शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम्।
नैषां शिश्नं प्रदहति जातवेदाः
स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम्॥" मंत्र २.

अर्थ—"(अनस्थाः) ब्रह्मचर्य के कारण जिनके शरीरों में हड्डियाँ नजर नहीं आतीं, (पूताः) शरीर से जो पवित्र रहते हैं, (पवनेन शुद्धाः) प्राणायाम की पवन अर्थात् वायु द्वारा जो शुद्ध हुए हैं, (शुचयः) आत्मा से जो पवित्र हैं, इस प्रकार के लोग (शुचिम् लोकम्) पवित्र गृहस्थ-लोक को (अपि यन्ति) प्राप्त होते हैं। (जातवेदाः) ब्रह्मचर्याश्रम में प्राप्त की हुई वेद विद्या की अग्नि (एषाम्) ऐसे पवित्रात्माओं की (शिश्नम्) कामेन्द्रिय को (न) नहीं (प्रदहति) प्रदग्ध करती, जलाती, (स्वर्गे लोके) सुख देने वाले गृहस्थ लोक में (एषाम्) इनकी (बहुस्त्रैणम्) बहुत स्त्रियाँ होती हैं।"[५]

मंत्र में "स्वर्ग लोक" शब्द के द्वारा गृहस्थ-लोक का वर्णन हुआ है। "स्वः गच्छन्ति अत्र इति स्वर्गः"। अर्थात् सुखी जीवन को जिस आश्रम में प्राप्त करते हैं उसे स्वर्ग लोक कहते हैं। वैदिक आश्रम व्यवस्था में गृहस्थ से अतिरिक्त तीनों आश्रमों में तपोमय जीवन का विधान है। केवल गृहस्थाश्रम में ही तप से मिश्रित सुखी जीवन व्यतीत करने की विधि है। इसलिए वैदिक परिभाषा में गृहस्थाश्रम को 'स्वर्गलोक' कहा गया है।

गृहस्थ लोक में उन्हीं लोगों को प्रवेश करना चाहिए जो कि ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचर्य के कारण हृष्ट-पुष्ट हो चुके हैं। जो अस्थि-पञ्जर हैं, जिनके शरीर पर पुष्ट मांस नहीं है, शरीर को देखते जिनकी हड्डियाँ नजर आती हैं—ऐसे कमजोर व्यक्तियों के लिए गृहस्थलोक में प्रवेश की विधि नहीं है। इस भाव को मन्त्र में "अनस्थाः" शब्द द्वारा दर्शाया गया है।

गृहस्थलोक में प्रवेश करने वाले व्यक्ति ऐसे होने चाहिएँ जो कि सदा स्नान करने वाले हों, जो कि नित्य-स्नान द्वारा अपने शरीरों को पूत बनाते रहें। तथा शुद्ध पवन में रहने वाले हों, और प्राणायाम की पवन द्वारा अपने शरीरों के आभ्यन्तर मलों को दूर कर अपने आप को शुद्ध

१. "आर्योद्देश्यरत्नमाला" सं० १४. २. वही, सं० १५. ३. सत्यार्थप्रकाश, स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः सं० ४२. ४. वही, सं० ४३. ५. "वैदिक गृहस्थाश्रम" प्रथम संस्करण, पृष्ठ २१६–२१७ तुलना करो—चतुर्वेद भाष्यकार पं० जयदेव शर्मा 'विद्यालङ्कार' मीमांसा तीर्थ कृत "अथर्ववेद संहिता" भाषाभाष्य, प्रथम खण्ड, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ४८१–४८२, तथा पं० बुद्धदेव 'विद्यालङ्कार' विद्यामार्तण्ड कृत "स्वर्ग" प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३९–४०

करते रहें। और साथ ही अपनी आत्माओं को भी शुचि बनाते रहें, सात्विक भावनाओं द्वारा आत्मा के मल को भी दूर करते रहें। ऐसे व्यक्ति ही पवित्र गृहस्थलोक में प्रवेश पाने के अधिकारी होते हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम में रहकर जिन लोगों ने वेदविद्या की अग्नि से अपनी कामवासनाओं के मल को भस्म कर दिया है, तथा उस अग्नि की सत्ता से जिनकी कामवासनाओं के मल गृहस्थ में भी भस्मीभूत होते रहते हैं, गृहस्थ में भी आकर जिन लोगों की जननेन्द्रिय कामाग्नि की तीव्रता से प्रदग्ध नहीं होती—ऐसे व्यक्ति गृहस्थ में प्रवेश करके अपनी जननेन्द्रिय का सदुपयोग करते हैं, दुरुपयोग नहीं। वर्तमान समय के भोगमय संसार में, भोगियों की जननेन्द्रियाँ, अति विषय वासना के कारण रुग्ण हो जाती हैं, प्रदग्ध हो जाती हैं।

गृहस्थ-रूपी-स्वर्गलोक में स्त्रियाँ बहुत होती हैं। यहाँ स्त्रियों से अभिप्राय एक पुरुष की नाना पत्नियों का नहीं। गृहस्थलोक में माता है, चाची है, ताई है, बहिनें हैं, पुत्रियाँ हैं, पुत्र-वधुएँ हैं, भाबियाँ हैं,—इस प्रकार नाना स्त्रियाँ हैं। इनके होते हुए भी संयमी व्यक्ति की जननेन्द्रिय कामाग्नि से दग्ध नहीं होती। वेदों का यह स्वर्गलोक कितना पवित्र और सुन्दर है।"[1]

"एष यज्ञानां विततो वहिष्ठो
विष्टारिणं पक्त्वा दिवमा विवेश।
आण्डीकं कुमुदं सं तनोति बिसं
शालूकं शफको मुलाली।
एतास्त्वा धारा उपयन्तु सर्वाः
स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमाना॥
उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः॥"
[अथर्व० ४।३४।५]

अर्थ—"(यज्ञानाम्) नाना प्रकार के यज्ञों में से (एषः) यह विस्तारी यज्ञ अर्थात् गृहस्थ यज्ञ (विततः) बहुत फैला हुआ है, (वहिष्ठः) यह बाहिर का यज्ञ है, मानसिक यज्ञ की न्याईं आभ्यन्तर यज्ञ नहीं है। (विष्टारिणम् पक्त्वा) इस विस्तारी यज्ञ का परिपाक करके व्यक्ति (दिवम् आविवेश) मुक्त होकर द्युलोक में प्रवेश पा जाता है। विस्तारी-यज्ञ को रचाने वाला सद् गृहस्थी (आण्डीकम्) अण्डे की आकृति वाले फूलों को (कुमुदम्) कम्मी के फूलों को, (बिसम्) कँमल की जड़ को तथा कमल-फूलों की (शालूकम्) शोभावाले अन्य फूलों को (संतनोति) सम्यक् प्रकार से तथा विस्तृत रूप में लगाता है, (शफकः) वह शफाकृति अर्थात् खुर की आकृति वाले फूलों की खेती करता है; (मुलाली) मूली आदि मूलों और कन्दों को लगाता है। इन वस्तुओं की धाराएँ अर्थात् नदियाँ (मधुमत् पिन्वमानाः) मधुर पदार्थों से भरपूर होकर (त्वा उपयन्तु) हे सद्गृहस्थी! तुझे प्राप्त हों, (समन्ताः) तथा तेरे घर के प्रान्त-भागों में स्थित (पुष्करिणी) कमलों-वाले-जलाशय (त्वा उपतिष्ठन्तु) तुझे उपस्थित हों, प्राप्त हों। वैदिक गृहस्थ का दृश्य इतना सुन्दर तथा रम्य होना चाहिए कि उसमें धर्म-भावना के साथ-साथ तरह-तरह के फल-फूल हों, और वे बहुमात्रा में हों।"[2]

"घृतह्रदाः मधुकूलाः सुरोदकाः
क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना।
एतास्त्वा धारा उपयन्तु सर्वाः
स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमानाः॥
उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः॥"
[अथर्व० ४।३४।६]

अर्थ—"(घृतह्रदाः) घी के तालाबों वाली, (मधुकूलाः) मधु अर्थात् शहद आदि मधुर पदार्थ जिनके किनारों पर बिखरे पड़े हों, (सुरोदकाः) शुद्ध तथा साफ-सुथरे उदकों वाली (क्षीरेण पूर्णाः) दूध से भरी हुई (एताः त्वा धाराः......) ये सब धाराएँ अर्थात् नदियाँ तुझे उपस्थित हों......।

अभिप्राय यह कि गृहस्थ में घी, मधु, शुद्ध जल, दूध, फल-रस, दही आदि की प्रभूत मात्रा होनी चाहिए। तभी गृहस्थ जीवन स्वर्ग का रूप धारण कर सकता है।"[3]

"चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि
क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना।
एतास्त्वा धारा उपयन्तु सर्वाः
स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमानाः॥
उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः॥"
(अथर्व० ४।३४।७)

अर्थ—(चतुर्धा) चार प्रकार के (चतुरः) चार

१. पं० विश्वनाथ विद्यालङ्कार कृत "वैदिक गृहस्थाश्रम" प्रथम संस्करण, पृष्ठ २९७–२९८।
२. वही, पृष्ठ ३०१–३०२ तुलना करो, पं० जयदेव शर्मा 'विद्यालङ्कार' कृत "अथर्ववेद संहिता, भाषाभाष्य" प्रथम खण्ड, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ४८३,–४८४. ३. वही।

(कुम्भान्) घड़ों को (ददामि) हे सद्गृहस्थी ! मैं तुझे देता हूँ, रखने की आज्ञा देता हूँ । (क्षीरेण) जो कि दूध से (पूर्णाः) भरे हुए हों, (उदकेन) जल तथा रसों से भरे हुए हों, (दध्ना) दही से भरे हुए हों (उदकेन) जल तथा रसों से भरे हुए हों । (एताः त्वा धारा ·········) इन वस्तुओं की धाराएँ अर्थात् नदियाँ तुझे उपस्थित हों······ । यहाँ "कुम्भों" को "धारा" कहा है ।

"इममोदनं नि दधे ब्राह्मणेषु
विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम् ।
स मे मा क्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो
विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु ॥
[अथर्व० ४।३४।८]

अर्थ—(इमम्) इस (ओदनम्) गृहस्थ-रूपी-ओदन को (ब्राह्मणेषु) ब्राह्मण के गुणकर्मों वाले व्यक्तियों में (निदधे) मैं स्थापित करता हूँ, (विष्टारिणम्) जो गृहस्थ रूपी-ओदन विस्तारी यज्ञ-रूप है, (लोकजितम्) जिस द्वारा कि संसार पर विजय पाई जा सकती है, (स्वर्गम्) तथा जिसे कि स्वर्ग कहते हैं । (मे) मेरा (सः) वह स्वर्ग (मा क्षेष्ट) क्षीण न हो । (स्वधया पिन्वमानः) पितरों के सत्कार के योग्य अन्नों द्वारा यह स्वर्ग भरपूर रहे । (विश्वरूपा) विश्व अर्थात् संसार है रूप जिसका, ऐसी (धेनुः) गौ (मे) मेरी (कामदुघा अस्तु) कामनाओं को पूरा करने वाली हो । अभिप्राय यह कि गृहस्थ को विस्तारी यज्ञ तथा स्वर्ग का रूप वे व्यक्ति ही दे सकते हैं जो कि ब्राह्मणों के गुण कर्मों वाले हों । अर्थात् जो कि ब्रह्मवेत्ता हों, त्यागी, तपस्वी, निःस्वार्थी तथा परोपकारी हों ।

ऐसे गृहस्थ द्वारा लोक विजय हो सकती है । ऐसा गृहस्थ स्वर्गधाम है । मुझ द्वारा ऐसा स्वर्ग क्षीणावस्था को प्राप्त न हो । इस स्वर्ग में पितरों का, बुजुर्गों का सत्कार मैं सदा करता रहूँ, उनके योग्य अन्नों का संग्रह कर उन द्वारा मैं उनका पूजन करता रहूँ । इस प्रकार संसार रूपी-गौ मेरे रास्ते में बाधक न हो, अपितु मेरी कामनाओं को पूरा करने वाली हो ।" [1]

इस सूक्त पर आर्य-जगत् के प्रसिद्ध संन्यासी परलोकवासी श्री महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज लिखते हैं, "·········इन मन्त्रों के इसी प्रकार के या इनसे मिलते जुलते अर्थ प्रायः किए जाया करते हैं । परन्तु कुछ एक पश्चिमी लेखकों और उनका अनुकरण करने वाले कतिपय देशी विद्वानों ने भी इनके अर्थ इस प्रकार किए हैं कि स्वर्ग में, घृत, मधु, सुरा, दूध, जल और दही से पूर्ण धाराएँ बहती हैं और मनुष्य वहाँ जाकर अपनी इन्द्रियों से बहुत सी स्त्रियों का सुख भोग करता है । और यह भी कहा जाता है कि मुसलमानों और पुराणकारों ने इन्हीं मन्त्रों के आधार पर अपने २ बहिश्त और स्वर्ग की कल्पना की है और यह भी कि वे मन्त्र में आए बहिष्ठः शब्द ही से फारसी का बहिश्त शब्द बनाया गया है—ऐसा अर्थ करने वाले एक मौलिक नियम का, जो प्राचीन भाषाओं का अर्थ करने के लिए प्रयुक्त हुआ करता है, भूल जाते हैं; और वह नियम यह है, कि प्राचीन ग्रन्थों का अर्थ तत्कालीन साहित्य और उसमें प्रचलित अर्थों के आधार ही पर किया जाया करता है । इसी नियम के आधार पर वेदों का अर्थ वैदिक साहित्य, निरुक्त, निघण्टु और ब्राह्मणादि ग्रन्थों की सहायता ही से करना चाहिए न कि प्रचलित शब्दार्थ के आधार पर । क्लिष्ट कल्पना के तौर पर जो अर्थ आधुनिक विद्वान् करते हैं यदि उसी को स्वीकार कर लिया जावे तब भी कुछ हानि नहीं है । वेद में स्वर्ग शब्द पितृलोक के लिए प्रयुक्त हुआ करता है । पितृलोक वा स्वर्ग में जाना, यह मृत्यु के बाद प्राणियों की दूसरी गति है । इस गति को प्राप्त प्राणी आवागमन से बाहर नहीं होते, किन्तु उसी चक्र में रहते हैं । अन्तर केवल यह है कि मनुष्य योनि में उत्पन्न तो होते हैं परन्तु वे मनुष्य होते हैं जिन्हें पिता कहते हैं और जिन्हें लेशमात्र भी दुःख नहीं भोगना पड़ता । इसलिए मनुष्य योनि में उत्पन्न हो कर यदि कोई स्वर्गाधिकार-मधु, घृत दुग्धादि का बहुतायत से इस्तेमाल करता हुआ गृहस्थ के सुख का भी उपभोग करता है तो इसमें आश्चर्य या अपवाद की कौन सी बात है ? इस पर दो आक्षेप हो सकते हैं (१) सुरापान—मन्त्र में आया 'सुरा' शब्द शराब के लिए नहीं हो सकता, इसलिए कि वेद मन्त्र में "सुरोदकाः" शब्द है जिसके शब्दार्थ 'सुर उदकाः' देवों का जल है । इस के सिवा वेद नशों के पीने का असंदिग्ध शब्दों में, अनेक जगह प्रतिवाद करते हैं । आजकल के कोषों में भी 'सुरा' शब्द के अर्थ जल वा पान पात्र के किए गए हैं फिर सुरा शब्द के अर्थ यहाँ मद्य नहीं हो सकते, देवों का जल सोम रस आदि अनेक पेय ही सकते हैं । (२) दूसरे मन्त्र में स्वर्गगामियों के लिए "अनस्था" शब्द प्रयुक्त हुआ है जिसके अर्थ अस्थि (हड्डी) रहित

1. वही ।

के हैं, फिर उन्हें मामूली मनुष्य योनि में उत्पन्न किस प्रकार कहा जा सकता है ? इसका उत्तर यह है कि अनस्थाः शब्द का अर्थ "विकार रहित" है। अनस्थाः के स्थान पर इसीलिए कई विद्वान् विदेह या विदेही लिखा करते हैं। विदेह का अर्थ यह नहीं है कि शरीर नहीं, किन्तु शरीर के सम्बन्ध से जो विकार उत्पन्न होते हैं उस से रहित होना अभिप्रेत हुआ करता है। जनक को विदेह कहने का भी यही भाव है। इसके सिवा अस्थि या अस्थ शब्द के अर्थ फल की गुठली (The kernal or stone of a fruit) के भी हैं। इसका भी तात्पर्य जहाँ तक फलों के भोज्य होने का सम्बन्ध है, निकम्मी और लाज्य वस्तु ही के हैं। इसीलिए दोनों आक्षेप, इस प्रकार, निवारण हो जाते हैं।

दूसरे मन्त्र में आया शिश्न शब्द कर्मेन्द्रियों के लिए उपलक्षण के तौर पर प्रयुक्त हुआ है। कर्मेन्द्रियों का संबन्ध केवल स्थूल शरीर से होता है अतः मन्त्र का भाव स्पष्ट है कि इस दूसरी गति को प्राप्त प्राणी कर्मेन्द्रिय या स्थूल शरीर सहित होते हैं। मन्त्र में आए घृत, दूध, दही, आदि शब्द भी, यही प्रकट करते हैं कि इनके उपयोग के लिए स्थूल शरीर का होना अनिवार्य है। इसके सिवा शतपथ ब्राह्मण में एक जगह यही बात स्पष्ट शब्दों में लिखी भी गई है:—

स ह सर्वतनूरेव यजमानोऽमुष्मिंल्लोके सम्भवति ॥
श० ४।६।१।१

अर्थात्–यह यजमान समस्त शरीर के साथ उस अगले (स्वर्ग) लोक में उत्पन्न होता है।

यहाँ साफ तौर से कह दिया गया है कि दूसरे (स्वर्ग) लोक में "सर्वतनूरेव" सम्पूर्ण शरीर के साथ यजमान उत्पन्न होता है। इससे साफ जाहिर है कि स्वर्ग लोक में भी प्राणी इसी प्रकार उत्पन्न होते हैं जैसे इस (पृथिवी) लोक में। यदि यह ठीक है कि पुराणी और कुरानियों ने अपने अपने कल्पित स्वर्गों का विचार अथर्ववेद में वर्णित स्वर्ग के उपर्युक्त विवरण ही से लिया है तो उन्होंने नकल करने में एक गलती की और वह गलती यह हुई कि उन्होंने अपने २ स्वर्गों को मोक्षस्थान ठहराया जब कि वेद में वह आवागमन के अन्तर्गत ही एक विशेष (मनुष्य) योनि में उत्पन्न होने की अवस्था है और उससे मोक्ष प्राप्ति का कोई सम्बन्ध नहीं है; मुक्ति उससे सर्वथा भिन्न वस्तु है।[१]

विद्यामार्तण्ड पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार लिखते हैं:—
"तात्पर्य यह कि यदि मनुष्य चाहते हैं कि उनका गृहस्थाश्रम 'स्वर्ग' अर्थात् परम सुख की ओर ले जाने वाला हो तो वह निम्नलिखित साधन करें।

(१) ब्रह्मौदन का अर्थात् ब्रह्मचर्यव्रत का खूब परिपाक करें।
(२) पवित्र भावना से इसमें प्रवेश करें।
(३) पदार्थों का उपयोग इस प्रकार करें कि अगले आश्रमों के लिए भी शक्ति बची रहे।
(४) घर अति सुन्दर हरियावल से युक्त हों।
(५) धन-धान्य तथा घी-दूध की उनके घर में नदियाँ बहती हों।
(६) ब्राह्मणों का अन्नादि से सदा पालन करें।
(७) ब्राह्मण शेष वर्णों के प्रति अति वत्सल हों।
(८) ब्राह्मण प्रकृति के नए-नए तत्त्व खोजकर प्रजा को बताएँ जिससे जहाँ दूध, जल, दधि, घी आदि दुर्लभ हों वहाँ भी उनकी धाराएँ (उपतिष्ठन्तु) उपस्थित हो जावें।

यह है वेद का स्वर्ग।[२]

श्री अमरसिंह जी ने "अमरकोष" में लिखा है—
"स्वरव्ययं स्वर्गनाकत्रिदिवत्रिदशालयाः" यहाँ पर उन्होंने 'स्व' 'स्वर्ग' और 'नाक' इन तीन शब्दों को पर्यायवाची लिखा है।

वेदों में 'नाक'—

"...तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो
नाकमा क्रमतां तृतीयम्।"
[अथर्व० ९।५।१।]

अर्थ "वह आत्मा (बहुधा) बहुत तरह के (महान्ति) बड़े २ (तमांसि) अज्ञानों को, शोक, मोह,

१. "अमृतवर्षा" द्वितीय भाग, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १८३ से १८६ तक तथा साप्ताहिक पत्र "आर्यमित्र" का "ऋष्यङ्क," वर्ष ४४, कार्तिक १९९८ वि० अङ्क ३९+४० पृष्ठ ३ से ५ तक प्रकाशित "अथर्ववेद में वर्णित स्वर्ग" शीर्षक लेख। २. "स्वर्ग" प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४६–४७।

लोभ, काम, क्रोध आदि को (तीर्त्वा) पार करके (अजः) स्वयं अपने को अजन्मा, नित्य जान कर (तृतीयम्) तीर्णतम, इन सब विघ्न बाधाओं से बहुत परे स्थित (नाकम्) सुखमय मोक्षधाम में भी (आ क्रमताम्) जावे ।[1]

'नाकम्—स्वर्गो वै लोको नाकः
[शतपथ ब्राह्म० ६।३।३।१४]

अर्थात्—'नाक' ही स्वर्गलोक है ।

"स उत्तिष्ठेतो अभिनाकमुत्तमं......"
[अथर्व० ४। १४। ९]

अर्थ—"(सः) और वह अजन्मा जीवात्मा (इतः) इस देह से (उत्तमं नाकं अभि) उत्तम आनन्दमय ब्रह्मलोक की ओर चला जाता है।......"[2]

"वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु
प्रयाणमुषसो विराजति ।"
[यजु० १२। ३]

अर्थ—"...(नाकम्) अत्यन्त सुखस्वरूप, स्वर्ग और मोक्ष को भी (वि अख्यत्) विशेष रूप, से प्रकाशित करता, उसका उपदेश करता है।......"[3]

"क्रमध्वमग्निना नाकमुख्य ँ हस्तेषु बिभ्रतः।..."
[यजु० १७। ६५; अथर्व० ४। १४। २]

अर्थ—"हे वीर पुरुषो ! तुम लोग (अग्निना) अपने अग्रणी तेजस्वी, ज्ञानवान् नेता राजा और आचार्य के साथ (नाकम्) सुखप्रद......।"[4]

"...दिवो नाकस्य पृष्ठात्..."
[यजु० १७। ६७; अथर्व० ४। १४। ३]

अर्थ—"...(नाकस्य) सर्व सुखमयः।......"[5]

"अवन्ध्येके ददतः प्रयच्छन्तो
दातुं चेच्छिक्षान्त्स स्वर्ग एव ॥"
[अथर्व० ६। १२२। २]

अर्थ—"...(सः एव स्वर्गः) वही परम त्यागमय निःसंगता ही परम सुखप्रद दशा है।"[6]

"उपैनं जीवान् पितरश्च पुत्रा
एतं स्वर्गं गमयान्तमग्नेः ।"
[अथर्व० १२। ३। ३४]

अर्थ—"......(स्वर्गम्) स्वर्ग के समान सुखमय राज्य को (गमय) प्राप्त करा।..."[7]

"तन्वं स्वर्गो बहुधा विचक्रे
यथा विद आत्मन्नन्यवर्णाम् ।"
[अथर्व० १२। ३। ५४]

अर्थ—"(स्वर्गः) सुखमय लोक, मोक्ष में जाने वाला पुरुष (तन्वं) अपनी देह को (बहुधा) बहुत प्रकार से (विचक्रे) विकृत करता है...।"[8]

"त्रीन्त्समुद्रान्त्समसृपत् स्वर्गानपां-
पतिर्वृषभऽइष्टकानाम् ॥"
[यजु० १३। ३१]

अर्थ—"हे सूर्य ! प्रजापते ! तू (त्रीन्) तीन (स्वर्गान्) सुखदायी (समुद्रान्) समस्त पदार्थों के उत्पादक, तीनों लोकों और तीनों कालों को (सम् असृपत्) व्याप्त होता है।"...[9]

इसी मन्त्र की व्याख्या में "शतपथ ब्राह्मण" काण्ड ७ अध्याय ५, ब्राह्मण १, कण्डिका ९ में लिखा है—"इमे वै त्रयः समुद्राः स्वर्गा लोकाः" ।

"...दिवं गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरैः
स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः ।"
[अथर्व० २। ६४। ५]

अर्थ—......(स्वर्गं) उस पुण्यफल, सुखमय मोक्ष अवस्था को (याहि) प्राप्त कर।"......[10]

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति
विहाय रोगं तन्वः स्वायाः ।
अश्लोणा अङ्गैरह्रुताः स्वर्गे
तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥"
[अथर्व० ६।१२०।३]

---

१. पं० जयदेव शर्मा 'विद्यालङ्कार' कृत "अथर्ववेदसंहिता भाषाभाष्य" द्वितीय खण्ड, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ६२१। २. वही, प्रथम खण्ड, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३९८। ३. पं० जयदेव शर्मा 'विद्यालङ्कार' 'मीमांसातीर्थ' कृत "यजुर्वेद संहिता" भाषाभाष्य प्रथम खण्ड, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ४६३। ४. वही, पृष्ठ ७३९। ५. वही, पृष्ठ ७४०। ६. पं० जयदेव शर्मा 'विद्यालङ्कार' कृत "अथर्ववेद संहिता भाषाभाष्य" द्वितीय खण्ड, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ १९९। ७. वही, तृतीय खण्ड, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३७२। ८. वही, पृष्ठ ३८३। ९. पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार कृत "यजुर्वेद संहिता भाषाभाष्य" प्रथम खण्ड, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ५५१। १०. पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार कृत "अथर्ववेद संहिता भाषाभाष्य" प्रथम खण्ड, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ १८८।

इस मन्त्र का पूर्वार्ध० अथर्व० ३।२८।४ में भी आया है।

अर्थ—"(सुहार्दः) उत्तम हृदयों वाले अर्थात् प्रेम, भक्ति, श्रद्धा, सेवा, परोपकार आदि की भावनाओं वाले, (सुकृतः) तथा उत्तम कामों के करने वाले लोग (स्वायाः) अपने २ (तन्वः) शरीर के (रोगम्) रोगों को (विहाय) छोड़कर, (यत्र स्वर्गे) जिस स्वर्गलोक में अर्थात् गृहस्थलोक में जाते हैं, (मदन्ति) तथा वहाँ जा कर आनन्द प्रसन्न रहते हैं, (अङ्गैः) तथा अङ्गों की दृष्टि से (अश्लोणाः) जो लूले-लङ्गड़े तथा काने-बहरे आदि नहीं हैं, (अहुताः) तथा जीवन में जो कुटिल नहीं हैं—ऐसे लोग जिस स्वर्गलोक में जाते हैं, (तत्र) उस स्वर्गलोक में जा कर हम (पितरौ) माता-पिता को (च) और (पुत्रान्) पुत्रों को (पश्येम) देखें। मन्त्र में वैदिक स्वर्गलोक का वर्णन है। मन्त्र के वर्णन द्वारा ज्ञात हो रहा है कि गृहस्थ आश्रम में वे ही प्रवेश पाने के अधिकारी हैं, जो कि उत्तम हृदयों वाले तथा उत्तम कर्मों वाले हैं, जिनके कि शरीरों में कोई रोग विद्यमान नहीं है जो शरीर के अङ्गों की दृष्टि से ठीक हैं, अर्थात् जिनके अङ्गों में कोई न्यूनता या विषमता नहीं है, तथा जीवन में कुटिल गतियों वाले नहीं हैं। इस स्वर्ग लोक में माता पिता आदि बुजुर्गों तथा सन्तानों के भी दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त है। अतः निश्चय से हम कह सकते हैं कि मन्त्र में गृहस्थाश्रम को ही स्वर्ग कहा गया है।"

पं० बुद्धदेवजी विद्यालङ्कार—"जहाँ उत्तम हृदय तथा परस्पर मैत्री रखने वाले पुण्यकर्मा अपने शरीर के रोगों से आरोग्य लाभ करके आनन्द पाते हैं, उस स्वर्ग-लोक में हम माता पिता तथा पुत्र दोनों का दर्शन करें।

इस प्रकार वेद मन्त्रों के मनन से स्पष्ट प्रकट हो रहा है कि 'स्वर्ग' शब्द पौराणिक स्थल विशेष का द्योतक नहीं अपितु "सुख विशेष" और गृहस्थाश्रम का नाम है।

इत्यलम् !

१. " पं० विश्वनाथ विद्यालङ्कार कृत" वैदिक गृहस्थाश्रम " प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३०४-३०५। २. "स्वर्ग" प्रथम संस्करण, पृष्ठ १० तुलना करो पं० जयदेव शर्मा विद्यालङ्कार कृत "अथर्ववेद संहिता भाषा भाष्य" द्वितीय खण्ड, द्वितीया वृत्ति, पृष्ठ १९६।

अयास्य ऋषि

(आङ्गिरस)

लेखक—श्री पं० भगवद्दत्त जी वेदालंकार एम० ए., गुरुकुलकांगड़ी

महर्षि याज्ञवल्क्य बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखते हैं—

'सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः, प्राणो वा अङ्गानां रसः, प्राणो हि वा अङ्गानां रसस्तस्माद् यस्मात् कस्माच्चाङ्गात् प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यत्येष हि वा अङ्गानां रसः।

बृ० उ० १।३।१९

यह अयास्य आङ्गिरस है। आङ्गिरस अङ्गों के रस को कहते हैं। और इसे ही अङ्गों का प्राण भी कहा जाता है। इस कारण जिस किसी अङ्ग से यह रस अर्थात् प्राण उत्क्रमण कर जाता है, वही अंग शुष्क हो जाता है। अत एव अयास्य अङ्गों का रस भी है, और प्राण भी है।

इस उल्लिखित उद्धरण में कई बातें सूक्ष्म विवेचन की अपेक्षा रखती हैं। इन में सब से पहली बात जिसका कि अयास्य के साथ घनिष्ठतम व निकटतम सम्बन्ध है, वह है अयास्य को आङ्गिरस विशेषण देना। शास्त्रों में आङ्गिरस कई माने गये है, जिन में एक अयास्य भी है। इस अयास्य के पूर्ण स्पष्टीकरण के लिये यह आवश्यक प्रतीत होता है कि आङ्गिरस व अङ्गिरा परभी कुछ दृष्टिपात कर लिया जावे।

उद्धृत उपनिषद् वचन में आङ्गिरस की व्युत्पत्ति अङ्गानां रसः दी है। अर्थात् आङ्गिरस अङ्गों के रसों को कहते हैं। रस शब्द वैदिक साहित्य में सार अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। अन्यत्र कई स्थलों पर धधकते अङ्गारों को

आङ्गिरस कहा है। (ऐ० ब्रा० ३। ३४, श० प० ६। ५। १। ८) एवं कई स्थलों पर अङ्गिरा ऋषि की भी ये सन्तति कहे गये हैं। (ऋ० १०। ६२। ५) अर्थात् जितने भी आङ्गिरस हैं, वे सब अङ्गिरा से उत्पन्न होते हैं। अत एव आङ्गिरस अयास्य के स्वरूप निर्धारण में अङ्गिरा पर भी विचार होना आवश्यक हो जाता है।

दूसरी बात यह विचारणीय है कि अङ्गों के रस से उपनिषद् का क्या भाव है ? क्योंकि अङ्गों से अनेकों रस होते हैं, उनमें अयास्य कौनसा रस है ?

तीसरी बात यह कि इस अङ्गों के रस को तो प्राण कहा गया है, इस से किस प्रकार का प्राण अभीष्ट है ? क्योंकि प्राण भी बहुमुखी व व्यापक शब्द है।

इन उद्धृत समस्याओं पर विशद विवेचन तो यहां न हो सकेगा। केवल अति संक्षिप्त विचार सरणी हम यहां प्रस्तुत करते हैं।

अङ्गिरा–अग्नि

जितने भी आङ्गिरस हैं वे सब अङ्गिरा से उत्पन्न हुए हैं, और अङ्गिरा वेद में अग्नि को कहा गया है।

त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्देवो देवानाम-भवः शिवः सखा। ऋ० १। ३१। १

हे अग्नि ! तू पहिला अङ्गिरा ऋषि है। देव है। देवों का तू कल्याणकारी सखा है।

इस मन्त्रखण्ड में यह स्पष्ट निर्देश कर दिया है कि अङ्गिरा अग्नि है।

ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे। ऋ० १०। ६२। ५

वे आङ्गिरस अङ्गिरा के पुत्र हैं और इस अङ्गिरा नामक अग्नि से पैदा हुए हैं।

इस उद्धृत मन्त्रांश में भी यह स्पष्ट निर्दिष्ट हुआ है कि सब आङ्गिरस अग्नि स्वरूप अङ्गिरा से पैदा हुए हैं। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि अयास्य भी आंगिरस होने से अङ्गिरा नामक अग्नि से पैदा हुआ है तो अब प्रश्न यह है कि क्या अयास्य भी अग्नि है ? क्या अग्नि की ही विकृति बन शरीर का रस व प्राण बना है ? अथवा अग्नि से उत्पन्न होने वाला कोई और तत्त्व है। आयुर्वेदाभिमत सिद्धान्त यह है कि शरीर के सम्पूर्णघटक वात, पित्त (अग्नि), कफ (सोम) इन त्रिदोषों में समाविष्ट किये जाते हैं। इसलिये इस दृष्टि से भी यह विचारणीय है कि अङ्गों का रस यह अयास्य इन तीनों में किस वर्ग में समाविष्ट किया जा सकता है ? शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर एक वाक्य में हम यह कह सकते हैं कि अयास्य इन तीनों ही वर्गों में सुगमतया समाविष्ट हो सकता है।

वायुरूप अयास्य—

उपनिषदों में अयास्य को जो बृहस्पति व ब्रह्मणस्पति माना है, वह वाक् का अधिपति होने से ही माना है। वाक् का अधिपति प्राण है जो कि वायुरूप है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर उपनिषद् में एक स्थल आता है जिसको शंकराचार्य ने अयास्य सम्बन्धी माना है, वह इस प्रकार है— **'प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता तद् योऽयं प्राणः स वायुः स उद्गाता** बृ० उ० ३। १। ५। अर्थात् प्राण ही यज्ञ का उद्गाता है और यह उद्गाता प्राण वायु रूप है। इसी प्रकार श्री शंकराचार्य ने अयास्य प्रकरण में नासिक्य प्राण और अयास्य प्राण की शक्तिमत्ता की तुलना करते हुए अयास्य प्राण को 'वाय्वात्मा' माना है। इस प्रकार अयास्य 'सम्बन्धी प्रकरणों से यही ध्वनित होता है कि अयास्य प्राण वायु रूप है।

अग्निरूप-अयास्य—

अयास्य प्राण अग्निरूप भी है क्योंकि यह अंगिरा नामक अग्नि की सन्तति है। इसपर यदि यह कहा जावे कि यह आवश्यक नहीं है कि अग्नि की उपज अग्नि ही हो। यथा उदराग्नि द्वारा आहारद्रव्यों से रसोत्पत्ति अग्नि से उत्पन्न तो है पर वह स्वयं अग्नि नहीं है। इसी प्रकार अंगिरा नामक अग्नि से उत्पन्न होने वाले अंगिरस आवश्यक नहीं कि अग्नि रूप ही हों। ये आहारद्रव्यों से उत्पन्न शरीर के अनेकविध रस हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में हम यहां और अधिक विस्तार न करते हुए कुछ शास्त्रीय प्रमाण उद्धृत करते है जिनसे यह सिद्ध होता है कि अंगिरस अग्नि रूप भी है।

येऽंगारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्। ऐ० ब्रा०। ३। ३४

अर्थात् जो अंगारे थे वे ही आंगिरस हुए।

अंगारेभ्योऽङ्गिरसः। श० प० ४। ५। १। ८

अंगारों से ही आंगिरस हुए।

इन प्रमाणों से यह सिद्ध है कि आङ्गिरस अङ्गारे हैं, और अंगारे अग्नि रूप है। इसलिये अयास्य भी अग्नि की

कोई विकृति होसकता है और अग्नि वर्ग में गिना जा सकता है।

सोमरूप अयास्य—

अयास्य सोम रूप व रसरूप भी है। अतः आयुर्वेद की दृष्टि से कफवर्ग में परिगणित हो सकता है। ऋ० ९। ४४।१ में अयास्य को इन्दु' कहा गया है। 'इन्दु' सोम को कहते हैं और 'उन्दी' क्लेदने धातु से निष्पन्न होता है। क्लेदन का भाव है, आर्द्र करना, गीला करना। अतः अयास्य शारीरिक दृष्टि से कफ वर्ग में भी आसकता है। इसप्रकार अयास्य वात, पित्त, कफ इन तीनों के धर्मों से युक्त प्राण का नाम है।

अब हम शारीरिक दृष्टि से अङ्गिरा व अयास्य के विशिष्ट रूपों पर विचार करते हैं।

अङ्गिरा (प्रकृति में)

अङ्गिरा केवल अग्नि ही नहीं हैं, यह साथमें वायु भी है। बाह्य प्रकृति में ओपजन (oxygen) ऐसा तत्व है जो कि इन दोनों धर्मों से युक्त है। यह ओपजन वायु भी है और ज्वलनशीलता के कारण अग्नि भी है। परन्तु यह विशेषरूप से ध्यान देने की बात है कि ओपजन अपने स्वरूप में रहता हुआ अङ्गिरा नाम से नहीं कहा जा सकता। अङ्गिरा नाम इसका उस समय होता है जब कि यह ओपजन किसी प्राकृतिक द्रव्यके साथ सम्पर्क करके उसे दग्ध करता है। जिसका स्वरूप **अङ्गारेष्वंगिराः। नि० ३।२७।१, येऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्' ऐ० ब्रा० ३।३ ४, अङ्गारेभ्यो ऽङ्गिरसः। श० प० ४।५।१।८** इन उद्धृत प्रमाणों में स्पष्ट हुआ है। अग्नि दग्ध-ये अग्नि के शोले ही वैदिकपरिभाषा में अङ्गिरा हैं। परन्तु यह स्मरणीय है कि बाह्य प्रकृति में ही ये अङ्गिरा हैं न कि शरीरमें। शरीर की दृष्टि से इन अङ्गारों का कोई मूल्य नहीं है। अतः विचारणीय यह है कि शरीर में अङ्गिरा कौन है? इसके समाधान में हम यह कह सकते है कि जब आहारद्रव्य ओपजन के सम्पर्क से दहन क्रिया द्वारा शरीर का हिस्सा बनते हैं, उस समय ओपजन आहार द्रव्य अर्थात् इनके मिलित रूप का नाम वेद की परिभाषा में अङ्गिरा है। यह हमें ध्यान में रखना चाहिये कि ओपजन और आहार के मिश्रण से प्रथम प्रयोजन शक्त्युत्पादन है। शरीर के जितने भी संस्थान हैं, उन सबकी क्रियाएँ, व उनमें शक्ति का उद्भावन ओपजन व आहार में दहन क्रिया द्वारा जो रस निर्माण होता है, वह अङ्गों का रस (आङ्गिरस) तो है ही, साथ में प्राण भी वही है। अतः हम यह कहसकते हैं कि वात, पित्त तथा कफ ये तीनों मिले हुए जब किसी शरीर संस्थान के कर्म का निर्वाह करते हैं तो उस समय ये अङ्गिरा व आङ्गिरस कहलाते हैं। शरीर के अनेकविध संस्थानों के कारण अनेक रूपों वाले ये भिन्न२ आङ्गिरस हैं। इनके मिलित रूप में जहाँ वात की प्रधानता दिखानी हो, या वात प्रमुख हो तो यह अंगिरा वायु, व प्राण वायु नाम से कहा जाता है। और जहाँ अग्निधर्म प्रमुख हो वहाँ इसे अग्नि कह दिया जाता है और जहाँ अङ्गिरा से सोम का धर्म-रस व आर्द्रता आदि अभिप्रेत हो, तो वहाँ तद् धर्म व तद्गुणविशिष्ट पदों द्वारा उसे विभूषित किया जाता है। स्वामी दयानन्द ने भी अपने भाष्य में अङ्गिरा के ये तीनों ही रूप दिखाये हैं।

अङ्गिरस्वत्—अग्निवत्, प्राणवत्, समस्तौषधि-रसवद्वा। यजु ११।६५।

प्राचीन शास्त्रों में भी अङ्गिरा के ये ही तीनों प्रमुखरूप हमें दृष्टिगोचर होते हैं।

अङ्गिरा वा अग्निः। श० प० ६।४।४।४

प्राणो वा अङ्गिराः। श० प० ६।१।२।२८

ता या अमूः रतेः समुद्रं वृत्वा सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो रसोऽक्षरत्। गो० पू० ९।७

इस प्रकार हमने अङ्गिरा व आङ्गिरस का शरीर की दृष्टि से संक्षिप्त विवेचन किया। इस से पूर्व कि अयास्य पर हम विशेष विचार प्रस्तुत करें, यह निर्देश कर देना उचित है कि शरीर की दृष्टि से आङ्गिरसों का यह अतिस्थूल स्वरूप हमने यहां दिखाया है। इन आङ्गिरसों का मानसिक व आत्मिक दृष्टि से सूक्ष्म रूप भी है। जैसा कि हमने अपनी 'आत्मसमर्पण' नामक पुस्तक में इन्द्र के स्थूल, सूक्ष्म व सूक्ष्मतर रूपों को दिखाते हुए यह लिखा था कि स्थूलता पर ही सूक्ष्मता आविर्भूत होती है। सूक्ष्म का स्थूल आश्रय है, घर है। इसी कारण स्थूल, सूक्ष्म आदि ये भेद न दिखाते हुए ही नाम से कह दिये जाते हैं। इसी प्रकार यहां भी आङ्गिरस अङ्गों के स्थूल रसों के वाचक होते हुए भी मानसिक व आत्मिक अग्नियों आदि के भी वाचक हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् के पूर्व उद्धरण में अयास्य को आङ्गिरस कहा गया था। आङ्गिरस कहने का क्या भाव हो सकता है, यह हमने देखा। अयास्य अङ्गों का रस है,

कोई विकृति हो सकता है और अग्नि वर्ग में गिना जा सकता है।

सोमरूप अयास्य—

अयास्य सोम रूप व रसरूप भी है। अतः आयुर्वेद की दृष्टि से कफवर्ग में परिगणित हो सकता है। ऋ० ९। ४४। १ में अयास्य को इन्दु' कहा गया है। 'इन्दु' सोम को कहते हैं और 'उन्दी' क्लेदने धातु से निष्पन्न होता है। क्लेदन का भाव है, आर्द्र करना, गीला करना। अतः अयास्य शारीरिक दृष्टि से कफ वर्ग में भी आसकता है। इसप्रकार अयास्य वात, पित्त, कफ इन तीनों के धर्मों से युक्त प्राण का नाम है।

अब हम शारीरिक दृष्टि से अङ्गिरा व अयास्य के विशिष्ट रूपों पर विचार करते हैं।

अङ्गिरा (प्रकृति में)

अङ्गिरा केवल अग्नि ही नहीं है, यह साथमें वायु भी है। बाह्य प्रकृति में ओषजन (oxygen) ऐसा तत्व है जो कि इन दोनों धर्मों से युक्त है। यह ओषजन वायु भी है और ज्वलनशीलता के कारण अग्नि भी है। परन्तु यह विशेषरूप से ध्यान देने की बात है कि ओषजन अपने स्वरूप में रहता हुआ अङ्गिरा नाम से नहीं कहा जा सकता। अङ्गिरा नाम इसका उस समय होता है जब कि यह ओषजन किसी प्राकृतिक द्रव्यके साथ सम्पर्क करके उसे दग्ध करता है। जिसका स्वरूप अङ्गारेष्वंगिराः। नि० ३। २७। १, येऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्' ऐ० ब्रा० ३।३ ४, अङ्गारेभ्यो ऽङ्गिरसः। श० प० ४।५।१।८ इन उद्धृत प्रमाणों में स्पष्ट हुआ है। अग्नि दग्ध-ये अग्नि के शोले ही वैदिकपरिभाषा में अङ्गिरा हैं। परन्तु यह स्मरणीय है कि बाह्य प्रकृति में ही ये अङ्गिरा हैं न कि शरीरमें। शरीर की दृष्टि से इन अङ्गारों का कोई मूल्य नहीं है। अतः विचारणीय यह है कि शरीर में अङ्गिरा कौन है? इसके समाधान में हम यह कह सकते है कि जब आहारद्रव्य ओषजन के सम्पर्क से दहन क्रिया द्वारा शरीर का हिस्सा बनते हैं, उस समय ओषजन आहार द्रव्य अर्थात् इनके मिलित रूप का नाम वेद की परिभाषा में अङ्गिरा है। यह हमें ध्यान में रखना चाहिये कि ओषजन और आहार के मिश्रण से प्रथम प्रयोजन शक्त्युत्पादन है। शरीर के जितने भी संस्थान हैं, उन सबकी क्रियाएँ, व उनमें शक्ति का उद्भावन ओषजन व आहार में दहन क्रिया द्वारा जो रस निर्माण होता है, वह अङ्गों का रस (अङ्गिरस) तो है ही, साथ में प्राण भी यही है। अतः हम यह कहसकते हैं कि वात, पित्त तथा कफ ये तीनों मिले हुए जब किसी शरीर संस्थान के कर्म का निर्वाह करते हैं तो उस समय ये अङ्गिरा व आङ्गिरस कहलाते हैं। शरीर के अनेकविध संस्थानों के कारण अनेक रूपों वाले ये भिन्न२ आङ्गिरस हैं। इनके मिलित रूप में जहाँ वात की प्रधानता दिखानी हो, या वात प्रमुख हो तो यह अंगिरा वायु, व प्राण वायु नाम से कहा जाता है। और जहाँ अग्निधर्म प्रमुख हो वहाँ इसे अग्नि कह दिया जाता है और जहाँ अङ्गिरा से सोम का धर्म-रस व आर्द्रता आदि अभिप्रेत हो, तो वहाँ तद् धर्म व तद्गुणविशिष्ट पदों द्वारा उसे विभूषित किया जाता है। स्वामी दयानन्द ने भी अपने भाष्य में अङ्गिरा के ये तीनों ही रूप दिखाये हैं।

अङ्गिरस्वत्—अग्निवत्, प्राणवत्, समस्तौषधि-रसवद्वा। यजु ११। ६५।

प्राचीन शास्त्रों में भी अङ्गिरा के ये ही तीनों प्रमुखरूप हमें दृष्टिगोचर होते हैं।

अङ्गिरा वा अग्निः। श० प० ६। ४। ४। ४

प्राणो वा अङ्गिराः। श० प० ६। १। २। २८

ता या अमूः रेतः समुद्रं वृत्वा सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो रसोऽक्षरत्। गो० पू० ९। ७

इस प्रकार हमने अङ्गिरा व आङ्गिरस का शरीर की दृष्टि से संक्षिप्त विवेचन किया। इस से पूर्व कि अयास्य पर हम विशेष विचार प्रस्तुत करें, यह निर्देश कर देना उचित है कि शरीर की दृष्टि से आङ्गिरसों का यह अतिस्थूल स्वरूप हमने यहां दिखाया है। इन आङ्गिरसों का मानसिक व आत्मिक दृष्टि से सूक्ष्म रूप भी है। जैसा कि हमने अपनी 'आत्मसमर्पण' नामक पुस्तक में इन्द्र के स्थूल, सूक्ष्म व सूक्ष्मतर रूपों को दिखाते हुए यह लिखा था कि स्थूलता पर ही सूक्ष्मता आविभूर्त होती हैं। सूक्ष्म का स्थूल आश्रय है, घर है। इसी कारण स्थूल, सूक्ष्म आदि ये भेद न दिखाते हुए ही नाम से कह दिये जाते हैं। इसी प्रकार यहां भी आङ्गिरस अङ्गों के स्थूल रसों के वाचक होते हुए भी मानसिक व आत्मिक अग्नियों आदि के भी वाचक हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् के पूर्व उद्धरण में अयास्य को आङ्गिरस कहा गया था। आङ्गिरस कहने का क्या भाव हो सकता है, यह हमने देखा। अयास्य अङ्गों का रस है,

प्राण है यह हमें पता चला। अब हम अयास्य के विशिष्ट रूप का भी पर्यालोचन करते हैं।

पञ्चवृत्तिमुख्य प्राण (अयास्य)

सायणाचार्य ने ऋ० १। ६२। ७ मन्त्र के भाष्य में इसे 'पञ्चवृत्तिमुख्यः' प्राणः ऐसा लिखा है। इसका तात्पर्य यह है कि यह अयास्य पांचों ज्ञानेन्द्रियों में रमने वाला प्रमुख प्राण है। अतः यह कहना कि अयास्य केवल मुखस्थ प्राण है, ठीक नहीं। इस से यह भी ध्वनित होता है। कि अयास्य में 'आस्य' शब्द सामान्य मुख का वाचक नहीं है। यह पांचों वृत्तियों का मुख है। और प्राण का जो सम्बन्ध बताया है, वहाँ वाक् सामान्यवाक् नहीं है (बृ० उ० १। ३। २४)। वह आन्तरिक वाक् है। यदि हम एक वाक्य में अयास्य प्राण और उस आन्तरिक वाक् का निर्देश करना चाहें तो यह कह सकते हैं कि मस्तिष्क में विद्यमान द्रवकूपों अर्थात् सोम रस परिपूर्ण ४ सरोवरों में तैरते हुए ब्रह्मरूपी हंस ही वाक् है। (वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना) और यह वाक् जब इन सप्तर्षियों के पास पहुँचायी जाती है जो कि इन सरोवरों के चारों ओर आश्रम बनाकर रह रहे हैं—तो वह अयास्य रूपी वाहन द्वारा ही पहुँचती है। जिस मुख से यह दिव्य वाक् उच्चरित होती है उसी मुख में अयास्य प्राण भी रहता है। ये सप्तर्षि सिर के केन्द्र (Brain centers) है इन केन्द्रों से वह वाक् अयास्य पर आरूढ़ हो इन्द्रियगोलकों व शरीर के अन्तिम छोर पर (End organs) पहुँचती है। औरवहां जो अनुभूति होती है उसे यह अयास्य प्राण मस्तिष्क में ला पहुँचाता है। आधुनिक क्रिया शारीरविदों की परिभाषा में कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि ज्ञानवाहक (Sensory nerves) तथा आज्ञावाहक (Motor nerves) नाड़ियों को वहन करने वाला प्राण ही अयास्य है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि इस प्राण का जो अयास्य नाम दिया गया है। वह उस आस्य अर्थात् मुख के कारण है जिस मुख से ब्रह्म संवलित वाक् सप्तर्षियों को दी जाती है। इन्हीं सप्तर्षियों को शास्त्रों में सप्तहोता सप्तास्य, सप्तरश्मि, आदि अनेकों नामों से सम्बोधित किया गया है। इस प्रकार हमने यहां अयास्य के आङ्गिरस रूप का संक्षिप्त विवेचन किया। वेदमन्त्रों से भी अयास्य के रस स्वरूप की पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ दो एक मन्त्र दिखाकर हम इस प्रकरण को समाप्त करते हैं।

प्र ण इन्दो महे तन ऊर्मिं न बिभ्रदर्षसि।
अभि देवाँ अयास्यः। ऋ० ९। ४४। १

(इन्दो) हे सोम तू (नः) हमारे (महे तने) महान् विस्तार के लिये (अयास्यः) अयास्य प्राण बनकर ऊर्मित तरंग रूप में (बिभ्रत्) ज्ञान व अनुभूति को धारण किये हुए (देवान् अभि) देवों की ओर (अर्षसि) गति करता है।

यह शरीर देवों का निवास स्थान है। इस में चहुँ ओर विराजमान हैं। (देवानां पूरयोध्या) इन देवों का एक दूसरे के प्रति आदेश, प्रत्यादेश व अनुभूति आदि नस नाड़ियों द्वारा आती जाती है। ऐसा प्रतीत होता है मानों तरंग व लहर जारही हो। इस तरंग को वहन करने वाला प्राण ही अयास्य है। अगले मन्त्र में इसी रूप को और विशद किया गया है। मन्त्र इस प्रकार है—

मतीजुष्टो धियाहितः सोमो हिन्वे परावति।
विप्रस्य धारया कविः। ऋ० ९। ४४। २

(सोमः) यह अयास्य रूप सोम (कविः) क्रान्त कर जाने वाला (विप्रस्य) विप्र की (मतीजुष्टः) मति द्वारा सेवित तथा (धिया हितः) धी अर्थात् विचार रूप से रक्खा हुआ (धारया) धारा रूप में (परावति) दूर से दूर प्रदेश में (हिन्वे) प्रेरित किया जाता है।

इस मन्त्र के भावको पूर्णरूप से हृदयङ्गम करने के लिये इसके विशिष्ट पदों पर कुछ विचार करते हैं उनमें एक कवि शब्द है। कवि शब्द का पूर्णार्थ तुकबन्दी व कविता निर्माण में नहीं है। इसका 'पूर्णार्थ तो क्रान्त करने, परोक्ष तथ्यों के दर्शन आदि में है। सोम के अन्दर यह गुण है कि मनुष्य इसके प्रभाव से परोक्ष सत्यों को भी देख लेता है। परन्तु यह सोम अयास्य रूप होना चाहिये। अर्थात् बुद्धिसंवलित दिव्य वाक् को उच्चरित करने वाले दिव्य मुख का सोम होना चाहिये। इसी कारण इस सूक्त का ऋषि स्वयं अयास्य आङ्गिरस है।

मन्त्र में जो यह आता है कि 'मतीजुष्टो धिया हितः। मति से सेवित और धीसे रक्खा हुआ। इसका क्या भाव है, इसका तात्पर्य हमें यह प्रतीत होता है कि यह अयास्य सोम जब मति के क्षेत्र में पहुँचता है तो वहाँ ज्ञान का उद्बोधन होता है 'मति' शब्द मनु अवबोधने' से बना है। अवबोधन, उद्बोधन, जागरण आदि एक ही भाव के द्योतक शब्द हैं।

मति में जब सोम पहुँचता है तब वहाँ ज्ञान और चेतना का उद्बोधन होता है। शरीरविज्ञान की दृष्टि के आधार पर तो वहाँ केवल नस नाड़ियों का स्पन्दन व प्रकम्पन ही है। प्रकम्पन व स्पन्दन में अवबोधन व उद्बोधन का भाव नहीं आता। अवबोधन में ज्ञान व चेतना का आधिक्य है। प्रश्न यह है कि प्रकम्पन में ज्ञान व चेतना का आविर्भाव कैसे होता है। इस सम्बन्ध में वेद यह कहता है कि यह सोम ही ज्ञान व चेतना का आविर्भाव करने वाला है। 'रयिं कृण्वन्ति चेतनम्' ऋ० ९।२१।१। अर्थात् ये सोम रयि को चेतनता में परिवर्तित कर देते हैं। चेतनता में परिवर्तित हो वह सोमस्थ रयि जब धी में पहुँचती है अर्थात् ध्यान व चिन्तन के शिकंजे में कसी जाती है तो यह सोम दूर से भी दूर प्रदेश में पहुँचता है (**सोमो हि त्वे परावति**) क्यों कि चिन्तन के क्षेत्र में अत्यन्त दूर की वस्तुएँ भी आती हैं। इस प्रकार हमने अयास्य के आङ्गिरस स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उस पर संक्षिप्त विवेचन किया। इसके अन्य विशेषणों व कार्यों को देखते हुए इसके स्वरूप का विशद विवेचन पुनः करेंगे ॥

वैदिक दर्शन

[लेखक—विद्याभास्कर, वेदरत्न श्री पं० उदयवीर जी शास्त्री, न्यायतीर्थ, सांख्य-योगतीर्थ, वेदान्ताचार्य, आचार्य—महाविद्यालय, ज्वालापुर]

भारतीय वैदिक साहित्य-वेद वेदाङ्ग और उपाङ्गों के रूप में विभाजित समझा जाता रहा है। वेदों के व्याख्यान रूप में और भी विशाल साहित्य है, जिसमें अनेक संहिता ब्राह्मण तथा उपनिषद् आदि का समावेश होता है। वेदाङ्गों के समान उपाङ्गों की संख्या भी छः मानी गई है, और उन छः उपांगों में वर्त्तमान छः दर्शनों की गणना की जाती है। इनको उपांग कहे जाने से यह समझना युक्त न होगा, कि इनका किसी एक अथवा अनेक वेदांगों से कोई सीधा सम्बन्ध होना चाहिये। वस्तुतः वेदांग ज्ञान की उन प्रणालियों को प्रस्तुत करते हैं; जिनसे वेदों के समझने में सीधी सहायता मिलती है, तथा जो वेदों के कलेवर व रचना के सम्बन्ध में हमें सीधा ज्ञान प्रदान करते हैं। उपांग, वेदों के केवल किन्हीं प्रतिपाद्य अर्थांशों को लेकर प्रवृत्त हुए हैं, वेदों के कलेवर अथवा उनको समझने में इनका ऐसा साक्षात् उपयोग नहीं है, जैसा कि अंगों का, संभवतः इसी कारण इनको 'उपांग' नाम दिया गया हो। इनके उपांग माने जाने पर भी यह कहना सर्वथा युक्तियुक्त होगा, कि इनमें जिन अर्थों का प्रतिपादन व विवेचन किया गया है, उनका मूल वेद में अवश्य होना चाहिये, इनको वेदों का उपांग माना जाना तभी सार्थक कहा जा सकता है।

कतिपय आधुनिक विद्वानों ने ऐसे विचार प्रस्तुत किये हैं, जिनके आधार पर वेद में विभिन्न दर्शनों का प्रदर्शन प्रकट होता है। जिन सूक्तों अथवा ऋचाओं का जो ऋषि है, उसी के नाम से उन सूक्त अथवा ऋचाओं में प्रतिपादित अर्थों को उसका 'दर्शन' बताया है। जैसे मधुच्छन्दाः के सूक्तों को 'मधुच्छन्दा दर्शन', वसिष्ठ के सूक्तों को 'वसिष्ठ दर्शन' प्रियमेध के सूक्तों को 'प्रियमेध दर्शन' भारद्वाज के सूक्तों को 'भारद्वाज दर्शन' आदि। प्रस्तुत लेख में 'वैदिक दर्शन' से हमारा अभिप्राय कदापि ऐसे दर्शनों का वेद में प्रति-पादन किये जाने से नहीं है, वस्तुतः वेद द्वारा प्रतिपादित उन विचारों को वेद का ही रूप कहा जा सकता है। 'दर्शन' पद का अभिप्राय है—ऐसा विचार, जहाँ ऊहापोह पूर्वक विश्व-सम्बन्धी अर्थों का विवेचन व प्रतिपादन किया गया हो। वे विचार जिस व्यक्ति के द्वारा प्रकट किये जाते हैं, उसके नाम पर उसका व्यवहार होता है। जैसे—गौतम दर्शन, जैमिनि दर्शन आदि। जो अर्थ वेद में प्रतिपादित किये गये हैं, उनके लिये उसी रूप में 'दर्शन' पद का प्रयोग ठीक नहीं जँचता। 'वसिष्ठ दर्शन' या 'भारद्वाज दर्शन' आदि पदों से यह भाव प्रकट होता है, कि उन उन सूक्तों में—जिनके ऋषि वसिष्ठ या भारद्वाज हैं—जो विचार प्रकट किये गये हैं, वे वसिष्ठ

या भारद्वाज के अपने विचार हैं, तब सूत्रों की रचना भी उन्हीं के द्वारा की गई होगी। ऐसी स्थिति में हम वेद के स्वरूप को नष्ट कर देते हैं। इसलिये 'वैदिक दर्शन' नाम से हमारा अभिप्राय यह है न्याय सांख्य आदि छः दर्शन प्रसिद्ध हैं, जिनको वैदिक दर्शन माना जाता है। उनमें जिन अर्थों का प्रतिपादन किया गया है, वे कहाँ तक वेदमूलक हैं, जिससे इन दर्शनों के 'वैदिक' नाम की यथार्थता पर कुछ प्रकाश पड़ सके, इसका खोज निकालना ही प्रस्तुत लेख का प्रयोजन है।

छः दर्शनों में प्रतिपादित अर्थों को वेद के आधार पर स्पष्ट करना इतना सरल कार्य नहीं, न इतने विस्तृत विषय का पांच सात पृष्ठों में अंकित किया जाना संभव है। इसलिये अत्यन्त संक्षेप से हम कतिपय विषयों पर ही विचार प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे। इन दर्शनों की रचना विभिन्न कालों में होती रही है। किस समय में कौन सा दर्शन बना, इसका विवेचन या निर्णय करना हमारा लक्ष्य नहीं, इस विषय में विद्वानों का ऐसा विचार है, कि कपिल का सांख्य दर्शन अन्य सब दर्शनों की अपेक्षा अत्यन्त प्राचीन है। प्रसिद्ध कवि भवभूति के—**'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम्'** जो पुराना है, न वह सब श्रेष्ठ है, और न नया सब निन्द्य है, इस वचन के अनुसार प्राचीन और नवीन का विचार न करते हुए हम केवल उन अर्थों पर ध्यान देना चाहते हैं, जिनका प्रतिपादन इन दर्शनों में किया गया है।

संसार के विविध दुःखों से तप्त मानव को परमशान्ति का लाभ कराने के उपायों का वर्णन करने की भावना से ही दर्शन शास्त्र की प्रवृत्ति हुई है। वह परमशान्ति की अवस्था अपवर्ग निःश्रेयस् अथवा मोक्ष मुक्ति आदि पदों के द्वारा प्रकट की गई है, उसकी प्राप्ति का उपाय बताया गया है-यथार्थ तत्त्वज्ञान। वह 'तत्त्व' क्या है, और क्या है उसका यथार्थ ज्ञान, तथा वह किन साधनों से हो पाता है, इन्हीं सबके प्रतिपादन करने में दर्शन का पर्यवसान है। तत्त्व की खोज के लिये जब एक दार्शनिक अपना पग बढ़ाता है, तो वह दूर तक और दूर तक छिड़ा हुआ विश्व ब्रह्माण्ड उसके सामने आजाता है। यह फैली पृथिवी, उसपर लता वीरुध ओषधि वनस्पति, पत्ते पत्ते का न्यारा कटाव, फूल फल विविध रंग रूप रस, पर्वत सागर, ऊपर अन्तरिक्ष, बादल बिजली वर्षा आन्धी सरदी गरमी दिन रात, तब और दृष्टि उठाई, तो अनन्तानन्त लोकालोक दिव्य प्रकाशमय पुञ्ज, जिनकी सीमा कहीं नहीं, लम्बी दौड़, आश्चर्यचकित, थका हारा, तब लौटा दार्शनिक और पैठा अपने ही अन्दर गहरा गोता लगाया, और पाया उसने कि संसार तो यहीं बसा है। सब यहीं से, सब की व्याख्या यहीं से। **"कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्"**। उसने दो प्रकार के तत्त्वों को जाना, एक स्वयं चेतन आत्मा और दूसरा यह अति विस्तृत जड़ जगत्, अपने जैसे अनन्त चेतनों को पहचाना, और जाना इस समस्त विश्व का नियन्त्रण-व्यवस्थापन करने वाली अचिन्त्यशक्ति चेतन सत्ता को, वह कृतकृत्य हुआ, जो जानना देखना था सब जान देखलिया, इतने में दर्शन की व्याख्या पूरी हो जाती है।

संसार का समस्त दर्शन चेतन और अचेतन (जड़) की व्याख्या में ही समाप्त होता है। बाह्य आकार चाहे जैसा हो, पर प्रत्येक दर्शन का मूल आधार इन दोनों या दोनों में से किसी एक का विवेचन अथवा व्याख्यान करना है। छः आर्षदर्शनों में से प्रत्येक ने न्यून या अधिक इन दोनों का वर्णन किया है। न्याय वैशेषिक सांख्य योग में तो स्पष्ट ही आत्मा [चेतन] और अनात्मा [अचेतन] का प्रतिपादन हुआ है। इन दर्शनों का मुख्य विवेच्य विषय ही यह है। पूर्वमीमांसा जो कर्मकाण्ड का व्याख्यान करता है, उसमें भी दोनों का प्रसंगवश अनेकत्र वर्णन हुआ है। इस विषय में मीमांसा के जो सिद्धान्त हैं, उनका प्रतिपादन करने में कोई न्यूनता नहीं रहने दी गई। उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदान्त दर्शन में आचार्य शंकर के विचारानुसार केवल ब्रह्म का प्रतिपादन अभीष्ट है। उनके विचार से समस्त वेदान्तों का तात्पर्य केवल एक ब्रह्म के प्रतिपादन में है; फिर भी माया के वर्णन में वेदान्त का उतना ही भाग व्यय हुआ है। माया की उपेक्षा कर केवल ब्रह्म का प्रतिपादन वेदान्त में मानने पर शांकर विचारधारा अधूरी रह जाती है। आचार्य शंकर के ब्रह्मसूत्र-भाष्य की पहली पंक्ति—**युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमःप्रकाशवद् विरुद्धस्वभावयोः**—से ही जड़ और चेतन का वर्णन प्रारम्भ होता है। चाहे जड़ को मिथ्या और केवल चेतन को यहाँ सत्य माना गया है, पर जड़ भी अपने स्वरूप में त्रिकालाबाध्य है। परिणामी होते हुए भी जड़-माया की स्थिति अपने रूप में सदा अनादि काल से अनन्त काल तक वैसी ही रहती है। उसके अपने परिणामी स्वभाव में किसी प्रकार का अन्तर आने की संभावना नहीं है, इस प्रकार शांकर विचारधारा में वेदान्त जड़ चेतन दोनों का प्रतिपादन करता है। प्राचीन

वेदान्त तो दृश्यादृश्य जड़ जगत् के जड़ उपादान तत्त्व को उसी प्रकार स्वीकार करता है; जिसप्रकार कपिल ने सांख्य में चेतन पुरुष के अतिरिक्त जड़ उपादान प्रकृति का वर्णन किया है।

भारतीय अवैदिक दर्शनों में सब से प्रथम 'चार्वाक दर्शन' का नाम आता है। यह विचारधारा अत्यन्त प्राचीन है, कदाचित् कतिपय वैदिक दर्शनों से भी प्राचीन। बौद्ध दर्शन ने अपनी दार्शनिक विचारधारा को इसी के आधार पर अनुप्राणित किया है। चार्वाक दर्शन में अचेतन तत्त्व को ही समस्त विश्व का मूल आधार माना है, वह किसी आत्मा या परमात्मा जैसे तत्त्व को आरम्भ में नहीं जानता पर अकेले अचेतन के द्वारा अथवा उसके आधार पर जगत् व्यवहार का वर्णन संभव न होने से किसी रूप में जड़ से ही उभरे हुए चेतन के अस्तित्त्व को उसने भी स्वीकार किया है। इसी प्रकार बौद्ध दर्शन में भी 'विज्ञान' नाम से नश्वर चेतन सत्ता को माना गया है। आर्हत दर्शन में 'चेतन' के अस्तित्व का प्रायः उसी रूप में वर्णन किया गया है, जैसे वैशेषिक में। वह कर्मों का कर्त्ता व भोक्ता है, एक शरीर को छोड़कर शरीरान्तरों में जाता आता रहता है, पर इन अवैदिक दर्शनों में परमात्मा या ईश्वर नाम के जैसे किसी चेतन तत्त्व के लिये कोई स्थान नहीं है, कदाचित् इसी आधार पर इन्हें 'अवैदिक' संज्ञा का उपहार मिला हो। यदि यह सत्य है, तो इससे यह भी ध्वनित हो जाता है, कि वेद में जहां भी ऐसे तत्त्वों का वर्णन किया गया हो, वहां ईश्वर या परमात्मा जैसे चेतन तत्त्व का वर्णन अवश्य होना चहिये।

पाश्चात्य देशों के प्राचीन ग्रीक व यूनानी दर्शनों में चेतन तत्त्व का वर्णन लगभग ऐसा ही उपलब्ध होता है, जैसा कि प्रायः भारत के वैदिक दर्शनों में पाया जाता है, यह समय महात्मा ईसा के जन्म से पहले का है। उन देशों में ईसाई धर्म का प्रचार होने पर वहां का दर्शन शास्त्र कुछ सदियों के लिये सुप्त सा होगया। पुनः चर्चा चलने पर उसने पलटा खाया। ईसाई धर्म बौद्ध धर्म की छाया से अधिक आप्लावित रहा है। जब पुनः पाश्चात्य देशों में दर्शन शास्त्र का विकास व प्रकाश होने लगा, तब वह बौद्ध दर्शन की विचार धारा से बहुत अधिक प्रभावित रहा, धीरे २ वहां से स्वतन्त्र चेतन सत्ता अपना स्वत्व खोती चली गई। आज कार्लमार्क्स वादी दर्शन में तो उस प्रकार की चेतन सत्ता का अस्तित्त्व ही नहीं रहा है। वह एक विशेष प्रकार के आधिभौतिक [प्रोटीन] तत्त्वों से उत्पन्न होने वाली क्षणिक एवं नश्वर वस्तु रह गई है। चेतन तत्त्व के सम्बन्ध में यह ठीक ऐसी ही मान्यता है, जैसी भारतीय विचारधाराओं में चार्वाक दर्शन ने प्रस्तुत की है। योरुप के नवीनतम वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर मूल रूप में एक ही कोई सत्ता है, जो आगे चेतन और अचेतन उभय रूप में परिवर्तित होती रहती है। वैज्ञानिक परीक्षणों से यह बात जानी गई है, कि अचेतन चेतन के रूप में अथवा चेतन अचेतन के रूप में परिवर्तित होते रहते हैं। यह मान्यता भी चार्वाक मत के साथ अपनी समानता प्रकट करती है। कतिपय विद्वानों ने इसकी तुलना आचार्य शंकर के दर्शन के साथ की है। यदि शंकर वस्तुतः चेतन का अचेतन अथवा अचेतन का चेतन परिणाम या परिवर्त्तन मानता है, तो वह भी चार्वाक दर्शन से विभिन्न नहीं कहा जासकता। चार्वाक दर्शन का इस रूप में स्मरण करने से हमारा अभिप्राय उसकी किसी प्रकार की तुच्छता निन्दा या अविचाररमणीयता प्रकट करने का नहीं है, केवल उनकी परस्पर तुलना की भावना से ऐसा लिखा है। चार्वाक दर्शन भी अपने रूप में गंभीरतापूर्वक विचारणीय तत्त्वों को प्रस्तुत करता है, उसको तुच्छ या नगण्य समझना भूल है।

इन विचारों का निष्कर्ष इतना ही है, कि जगत् में अनुभूयमान चेतन और अचेतन नाम से कहे जाने वाला तत्त्व वस्तुतः मूल रूप में एक है, उस का नाम चाहे जो रक्खो, वही एक तत्त्व विलक्षण रूपों में परिवर्त्तित अथवा प्रतिभासित होता रहता है। मूलरूप में वह तत्त्व एक ही है, पर उसी को किसी ने अचेतन नाम दे दिया है। वैदिक परम्परा में इस मान्यता को स्वीकार नहीं किया गया। अथवा यह कहना चाहिये, कि इसका मूल वेदों में उपलब्ध नहीं होता। वेदों में इस प्रकार के स्पष्ट सर्वथा विलक्षण और मूल रूप में स्वतन्त्र अस्तित्व रखने वाला कहा है। इस लघुकाय लेख में इस प्रकार के कतिपय प्रसंगों का निर्देश किया जाता है।

चेतन तत्त्व का वर्णन वेदों में अज, आत्मा, अध्यक्ष, ब्रह्म, ईश, पुरुष आदि अनेक पदों के द्वारा किया गया है। इसके अतिरिक्त यह एक सर्ववेदविद् विदित बात है, कि इन्द्र, वरुण, मित्र, अग्नि, यम, मातरिश्वा, आदि पदों से वेद में एक ही सर्व जगन्नियन्ता अन्तर्यामी चेतना सत्ता का प्रतिपादन हुआ है [ऋ० १।१६४। ४६] इसी प्रकार दृश्यादृश्य जगत् के उपादानभूत अचेतन तत्त्व का वृक्ष, स्वधा, अदिति, त्रिधातु, त्रिगुण आदि पदों के द्वारा वेदों में स्पष्ट वर्णन पाया जाता है। इन दोनों प्रकार के

तत्त्वों की एकता का वर्णन वेदों में उपलब्ध नहीं होता, ऋग्वेद की एक प्रसिद्ध ऋचा [१।१६४।२०] है, कि एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं, जो एक दूसरे के समान व मित्र हैं, उनमें से एक उस वृक्ष के फलों का स्वाद लेता है, जब कि दूसरा फलों का भोग न करता हुआ भी सदा एक रस एक रूप प्रकाशित रहता है।

यह स्पष्ट है, कि यहां 'वृक्ष' पद से समस्त विश्व के उपादान अचेतन तत्त्व-प्रकृति का उल्लेख हुआ है। उस वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं, निश्चित है, कि यह दो प्रकार के चेतन तत्त्व का वर्णन है। उनमें से एक जीवात्मा है, जो नाना प्रकार के शरीरों को धारण कर इस संसारमें आता अर्थात् विविध योनियों में संसरण करता और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार अनेकानेक कर्मों का अनुष्ठान करता है, तथा उनके अनुकूल विविध सामग्री से सम्पन्न होकर सुख दुःख आदि फलों को भोगता है। दूसरा चेतन परमात्मा है, जो इस प्रकृतिके साथ सम्पर्क रखता है पर वह देहादि की पकड़ में कभी नहीं आता। कारण यह है, कि अपने स्वाभाविक जगद्रचना आदि के अतिरिक्त उसे अन्य किसी प्रकार के कर्मानुष्ठान की अपेक्षा नहीं, इसीलिये वह इस प्रकृतिरूप वृक्ष के फल सुख दुःखादि की प्राप्ति से सदा मुक्त रहता है, वह प्रकृति का भोक्ता न रह कर केवल नियन्ता है। इस अनन्तानन्त विश्व में अन्तर्यामी होकर वह इसका नियन्त्रण करता है, इस अचिन्त्य चक्र का संचालन उसी शक्ति पर निर्भर है। इस प्रकार यह ऋचा चेतन और अचेतन के विभिन्न स्वरूपों व कार्यों का स्पष्ट वर्णन करती है।

ऋग्वेद के नासदीय-सूक्त की एक ऋचा [१०।१२९।२] में स्वधा के साथ एक नियन्ता चेतन का पृथग् रूप में वर्णन हुआ है। वह इस सूक्त की दूसरी ऋचा है। प्रथम ऋचा में प्रलय काल का वर्णन किया गया है, और वही प्रसंग इस दूसरी ऋचा में चल रहा है। इनका मिलित संक्षिप्त अभिप्राय इतना है—प्रलय काल में सब कुछ शशशृंग के समान अत्यन्त असत् अर्थात् अभावरूप हो जाता है, यह बात नहीं है, किसी रूप में उसकी सत्ता अवश्य रहती है, परन्तु वह ऐसी सत्ता नहीं रहती, जैसी सर्गकाल में देखी जाती है। इसलिये सर्गकाल सदृश सत्ता का प्रयल-काल में न होना स्पष्टरूप से पहली ऋचा में वर्णन किया गया है। जब ऋचा यह कहती है, कि उस समय 'सत्' भी नहीं था; तब वह कैसा 'सत्' नहीं था? इसी का विवरण ऋचा के द्वितीय आदि चरणों से किया गया है ऋचा के पद सन्मुख होने पर हम इस अर्थ को अति स्पष्ट रूप में समझ सकते हैं। ऋचा है—

> नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासी
> द्रजो नो व्योमा परो यत्।
> किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः
> किमासीद् गहनं गभीरम्॥

प्रथम चरण में जो पद हैं—तदानीं नो सत् आसीत्—प्रलयकाल में 'सत्' नहीं था। कैसा 'सत्' नहीं था? इसी का व्याख्यान ऋचा के अगले समस्त भाग में किया गया है। [रजः] लोक लोकान्तर, [व्योम] दूर तक फैला हुआ व्यवहार्य आकाश, [परो यत्] उससे पर-उत्कृष्ट जो आत्मा अर्थात् भोक्ता आत्मा, [आवरीवः] उसके आवरण करने वाले तथा [कुह कस्य शर्मन्] कहीं किसी के सुख आदि उपभोग के साधन-बुद्धि देह प्रभृति [अम्भः] जल पृथिवी आदि, और गंभीर समुद्र यह सब कुछ उस समय में न थे। अर्थात् प्रलय-काल में पदार्थों की, सर्गकाल जैसी सत्ता न थी। अभिप्राय यह है, कि ऋचा में 'सत्' पद, व्यक्त जगत् के लिये प्रयुक्त हुआ है। इसलिये जो व्याख्याकार यहां 'असत्' और 'सत्' का निषेध किये जाने से आपाततः सदसद्विलक्षण तत्त्व की खोज करना चाहते हैं, वह व्यर्थ है। क्योंकि ऐसी व्याख्या, स्वतः ऋचाओं के पूर्वापर प्रसंग से विरुद्ध है। द्वितीय ऋचा के उत्तरार्द्ध द्वारा प्रलयकाल में चेतन और अचेतन के अस्तित्व को स्पष्ट रूप से प्रकट किया गया है!

द्वितीय ऋचा में भी प्रलय वर्णन का प्रसंग चालू है, दूसरी ऋचा इस प्रकार है—

> न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न
> रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
> आनीदवातं स्वधया तदेकं
> तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास॥

न उस समय मृत्यु थी, और न अमृत। आत्मा का देह से वियुक्त होना ही मृत्यु है, जब देह आदि का अस्तित्व ही न था, तब उसके संयोग या वियोग आदि के कारण होने वाला जन्म मरण आदिका व्यवहार कैसे संभव हो सकता है? भोक्ता आत्मा का अस्तित्व देहादि सम्बन्ध होने पर ही स्पष्ट हो पाता है, उसका समस्त भोगापवर्ग व्यवहार देहादि द्वारा सम्पन्न होता है। प्रलय-काल में देहादि के अभाव से

अमृत आत्मा का अस्तित्व भी अस्पष्ट रहता है, इसीलिये कहा, कि उस समय अमृत-भोक्ता आत्मा भी न था। उसके भोक्तृत्व का अभाव होने के कारण ऐसा कहा गया है। रात्रि और दिन का चिह्न भी कोई न था [न राव्या अह्न आसीत् प्रकेतः]। देखना चाहिये, दिन और रात का चिह्न-सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि ही हैं। इसलिये ऋचा के उक्त पदों का केवल इतना अर्थ नहीं है, कि—प्रलय-काल में दिन और रात भी न थे, जैसा कि लोकमान्य तिलक आदि ने किया है। प्रस्तुत इसका अर्थ है—सर्गकाल के जिन पदार्थों के कारण, काल के दिन रात आदि विभाग सिद्ध किये जाते हैं, वे पदार्थ-सूर्य चन्द्रादि-प्रलय काल में न थे, वस्तुतः दिन और रात के 'प्रकेत' वे ही हैं। उन्हीं के कारण दिन और रात अस्तित्व में आते हैं। जब दिन रात के कारण ही न थे, तब दिन और रात के होने की संभावना ही कैसे हो सकती है? इस प्रकार सर्गकाल के विपरीत दशा का ही वर्णन करके प्रलय-काल को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। वस्तुतः प्रलय-काल एक ऐसी अवस्था है, जिसका अस्तित्व में वर्णन करना शक्य नहीं, इसलिये सर्गकाल की अनुभूयमान प्रत्येक वस्तु का उस समय अभाव वर्णन करके उसके स्वरूप का आभास दिया जा सकता है, जो इन ऋचाओं द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

तब क्या यही समझना चाहिये, कि प्रलय-काल में किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं था? ऋचा उत्तर देती है, कि ऐसा नहीं। इसीलिये प्रस्तुत सूक्त के सब से पहले पद हैं—न असत् आसीत्—अर्थात् प्रलय-काल में सब असत ही न था। तब वहां किसका अस्तित्व था ऋचा बताती है—

आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास।

स्वधा के साथ एक निर्दोष चेतनतत्त्व अवस्थित रहता है, जो सब से उत्कृष्ट है, सब से महान् है। उससे उत्कृष्ट अथवा महान् और कोई तत्त्व नहीं। इस प्रसंग में 'स्वधा' पद से प्रकृति का ग्रहण किया जासकता है, जिसका अस्तित्व उस सर्वोत्कृष्ट और महान् चेतन सत्ता से सर्वथा पृथक् है। ऋचा के पदों का सन्निवेश इसी भाव को स्पष्ट करता है। 'स्वधा' पद के साथ तृतीया विभक्ति का प्रयोग, इस अर्थ का साधक है, कि उस महान् चेतन के साथ स्वधा अपना पृथक् अस्तित्व रखती है, और उसकी बराबरी में अप्रधान है। इस प्रकार एक क्रिया के साथ दो पदार्थों का समान सम्बन्ध होने पर अप्रधान पदार्थ में तृतीया विभक्ति हो जाती है। इससे उन पदार्थों का 'दो होना' निश्चित होता है। इससे यह भी सिद्ध होता है, जब कि दूसरा-जिसके साथ तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है—अमुख्य (अप्रधान) अथवा अपकृष्ट है। स्पष्ट है, कि इन दोनों तत्त्वों में चेतन उत्कृष्ट, तथा स्वधा-अचेतन प्रकृति अपकृष्ट है। इसका कारण यही है, कि चेतन, अचेतन प्रकृति पर नियन्त्रण करता है। इस ऋचा के चतुर्थ चरण में चेतन की सर्वोत्कृष्टता को बताकर यही भाव स्पष्ट किया गया है।

आचार्य सायण तथा उसके अनुयायी आधुनिक व्याख्याकारों ने 'स्वधा' पद का-माया, अविद्या अथवा चेतन की शक्ति या सामर्थ्य अर्थ किया है। माया या अविद्या का जो स्वरूप शांकर मतानुयायी वेदान्ती विद्वानों ने प्रदर्शित किया है, सायण 'स्वधा' पद का अर्थ, वही माया समझता है। इस समय इसके सूक्ष्म विवेचन में जाना अनावश्यक है, पर इतना लिख देना उपयुक्त होगा, कि उक्त विद्वानों ने माया का जो स्वरूप स्वीकार किया है, वही स्वरूप उस चेतन सत्ता का नहीं माना, इस प्रकार चेतन ब्रह्म और अनिर्वचनीय माया स्वरूपेण भिन्न तत्त्व हो जाते हैं, इनको एक नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः 'माया' आदि पदों को इस प्रकार के प्रसंगों में 'प्रकृति' का पर्याय ही समझना चाहिये। उसी सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका प्रकृति का 'स्वधा' पद से यहाँ निर्देश किया गया है।

लोकमान्य तिलक ने गीतारहस्य के 'अध्यात्म' प्रकरण में 'स्वधा' पदका 'शक्ति' अर्थ किया है। यदि वह शक्ति चेतन का अपना स्वरूप है, और तिलक महोदय को यही अभिमत है, तो अगली ऋचाओं में प्रतिपादित अर्थ के साथ इसका सामञ्जस्य नहीं हो पाता। पांचवीं ऋचा में पद हैं—'स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्' स्वधा अपकृष्ट है, और 'प्रयतिः' अर्थात् नियन्त्रण करने वाली शक्ति चेतन सत्ता उत्कृष्ट है। यदि चेतन और स्वधा एक ही तत्त्व हों, तो उनमें उत्कर्ष और अपकर्ष का वर्णन असंगत हो जाता है, कोई भी एक तत्त्व अपनी ही अपेक्षा से उत्कृष्ट या अपकृष्ट नहीं कहा जा सकता है। वेद की ऐसी भावना का कहीं पता नहीं लगता, जहां चेतन और अचेतन की एकता का प्रतिपादन किया गया हो। यदि 'शक्ति' चेतन का अपना स्वरूप नहीं है, प्रत्युत उससे भिन्न कोई सत्ता है, तो हम उसी स्थान पर आ जाते हैं, जहाँ यह कहा जा सकता है कि 'प्रकृति' का ही उस चेतन सत्ता की शक्ति या सामर्थ्य के रूप में वर्णन किया है।

अन्य आचार्यों ने भी जहाँ इस प्रकार के वर्णन किये हैं, उन सबको इसी भावना में अन्तर्निहित समझना चाहिये। एक सम्राट् की शक्ति अथवा सामर्थ्य उसकी भूमि, उसकी सेना, उसका कोष और उसके जनपद सब ही कहे जा सकते हैं, वह उन पर नियन्त्रण करता है, और वे सब उससे नियन्त्रित होते हैं, निःसन्देह ये सब उसकी शक्ति है, परन्तु यह भी सर्वथा निश्चित है, कि वह सब, सम्राट् का स्वरूप नहीं है। उनकी सत्ता अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, और सम्राट् से भिन्न है। एक दूसरे का नियन्त्रण होने के कारण, उनमें उत्कर्ष और अपकर्ष का भाव हो सकता है, ठीक इसी प्रकार चेतन और अचेतन सत्ता के सम्बन्ध में समझना चाहिये। प्रस्तुत ऋचा के इस विवेचन से यह परिणाम निकलता है, कि विश्व में दो विभिन्न सत्ता अवस्थित हैं, एक सर्वोत्कृष्ट चेतन सत्ता और दूसरी स्वधा अर्थात् अचेतन सत्ता-प्रकृति।

जगत् के मूल उपादान कारण का 'स्वधा' पद से वेद में अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर उल्लेख हुआ है अस्यवामीय सूक्त की एक ऋचा [ऋ० १। १६४। ३८] इस प्रकार है—

अपाङ् प्राङेति स्वधया
गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता
न्यन्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम् ॥

[अमर्त्यः] वह अमर्त्य जीव चेतन, [स्वधया] स्वधा-प्रकृति से [गृभीतः] गृहीत-सम्बद्ध [मर्त्येन] विनाशी तत्त्वों—बुद्धि, अहंकार पञ्चतन्मात्रा, एकादश इन्द्रियघटित सूक्ष्म शरीर—के साथ [सयोनिः] उन्हीं के समान रहता हुआ [अपाङ् प्राङ् एति] ऊँच नीच लोकों में जाता है। [ता] यद्यपि वे दोनों—जीवन चेतन स्वधा (शश्वन्ता) निरन्तर रहने वाले [विषूचीना] एक दूसरे से सम्बद्ध [वियन्ता] अनन्त काल तक इसी प्रकार चले जाने वाले हैं। तथापि इनमें से [अन्यं] एक को—दृश्यमान कार्य जगत् रूप में स्वधा को [निचिक्युः] अच्छी तरह देख लिया जाता है [अन्यं] दूसरे—चेतन आत्मा को [न निचिक्युः] उतनी अच्छी तरह नहीं देखा जा पाता।

यह स्पष्ट है, कि जीव-चेतन अपने भोग आदि के लिये प्रकृति में प्रवेश करता है, इस प्रकार वह स्वधा अर्थात् प्रकृति से गृहीत है, प्रकृति से सम्बद्ध है। इस सम्बन्ध के निर्वाह के लिये कतिपय विनाशी तत्त्व, सर्गकाल में सदा जीव-चेतन के साथ रहते हैं। वह अठारह तत्त्वों से घटित सूक्ष्म शरीर है। इसी के साथ सदा संबद्ध अथवा इससे परिवेष्टित जीव-चेतन ऊँच नीच योनियों में आता जाता है। स्वधा और अमर्त्य-जीव चेतन, दोनों अनादि अनन्त हैं, इसलिये दोनों का सम्बन्ध भी अनादि अनन्त है। ऐसे सम्बन्ध का यह अभिप्राय नहीं, कि ये सदा ऐसी सम्बद्ध स्थिति में ही रहते हैं। इस अहर्निश आवर्त्तमान चक्र में कभी २ ये परस्पर असंबद्ध भी रहते हैं; परन्तु कालान्तर में फिर उसी स्थिति में आ जाते हैं, इनका सदा सम्बन्ध इसीलिये कहा गया है, कि इनके इस क्रम का कभी अन्त नहीं होता। ये लगातार इसी क्रम में चलते ही चले जाते हैं [—वियन्तौ]। कोई भी स्थिति, इनके इस सम्बन्ध को सदा के लिये तोड़ नहीं सकती। यह संभव है, कि इस लम्बे मार्ग के बीच में, ऐसे अवकाश [प्रलय, मुक्ति आदि] आवें, जब जीव-चेतन प्रकृति के सम्पर्क में आकर भोगों को न भोगे; यह अवकाश पर्याप्त लम्बा भी हो सकता है, परन्तु इस अनादि माया की दृष्टि में वह नगण्य सा ही है। तथा कालान्तर में फिर उनको अपनी उसी स्थिति में आना होता है, इसीलिये प्रकृति-पुरुष सम्बन्ध को अनादि अनन्त कहा गया है।

इन दोनों तत्त्वों में से हम प्रकृति की इस दृश्यमान विभूति को अच्छी तरह देखते हैं, भोगते हैं, जानते हैं; परन्तु अपने आपको अर्थात् चेतन तत्त्व को इतनी स्पष्टता से नहीं जान पाते। हमारे जो ज्ञान के बाह्य साधन हैं, वे वस्तुतः प्रकृति के कार्यों के जानने में पर्यवसित हो जाते हैं, और साधारण तथा संसार इसी के अनुसार चलता रहता है। विरले ही धीर पुरुष ऐसे पाये जाते हैं, जो प्रत्यगात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार कर सकें। इसीलिये श्रुति में वर्णन किया गया है, कि इनमें से एक सरलता से जाना जाता है, दूसरा नहीं।

इसमें सन्देह नहीं, कि यह सर्गकाल की साधारण सांसारिक स्थिति का वर्णन हुआ है। वस्तुतः प्रकृति की कारणरूप अवस्था को जानना भी उससे कम कठिन नहीं, जितना कि आत्मा को जानना। प्रकृति के ये कार्य, हमारे सन्मुख हैं; प्राकृतिक साधनों के आधार पर हम उन्हीं को देखते, जानते तथा उन्हीं में रमे रहते हैं। स्वयं अपनी [आत्म-तत्त्व की] ओर हम नहीं मुड़ पाते। इसी भावना को ऋचा के अन्तिम भाग में स्पष्ट किया गया है। इस वर्णन के आधार पर यह परिणाम निकल आता है, कि वेद में

मूल रूप से चेतन और अचेतन दो प्रकार के तत्त्वों का निरूपण हुआ है, जिसे समस्त दर्शन की आधार-शिला समझना चाहिये। सांख्य आदि दर्शनों में इन तत्त्वों का विशद विवेचन किया गया है।

वेद में जगत् के मूल उपादान अचेतन तत्त्व का 'त्रिगुण' पद से भी निर्देश हुआ है। अथर्ववेद का एक मन्त्र [१० । ८ । ४३] है—

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥

यह नवद्वार शरीर तीन गुणों से आवृत है, उसमें आत्मा के समान जो यक्ष है, उसे निश्चय से ब्रह्म ज्ञानी जान पाते हैं।

प्रस्तुत मन्त्र में 'पुण्डरीक' पद से, मानव-देह का ग्रहण किया गया है, लोक भाषा में 'पुण्डरीक' पद का प्रसिद्ध अर्थ—कमल या साधारण तथा प्रत्येक पुष्प—समझा जाता है। पुष्प की मनोहारिता, कोमलता, सुन्दरता आदि गुणों की, मानव-देह से समानता की भावना से यह प्रयोग किया गया प्रतीत होता है, इस प्रयोग में एक और भी भावना अन्तर्निहित है, जो इस मानव-देह की नश्वरता की ओर संकेत कर रही है, हम देखते हैं, कि जैसे प्रत्येक पुष्प अपनी प्रारम्भिक कली की अवस्था से खिलकर, क्षण के लिये संसार को अपनी ओर आकर्षित कर, अन्त में मुरझा कर गिर जाता है; उसकी वह विभूति, मन्द पवन के संग वह अनोखा इठलाना, हमारे देखते ही देखते काल के गाल में विलीन हो जाता है, ठीक उसी प्रकार इस देह की अवस्था है, यह भी बाल्य से यौवन, और यौवन से जरा-जीर्ण होकर क्षीण हो जाता है, साधारण संसारी पुरुष, अपनी दृष्टि को इस ओर कम ही मोड़ पाता है, बाल्य की क्रीड़ा, यौवन के मद भरे उल्लास, वार्द्धक्य की तृष्णा, पुरुष को उस ओर जाने नहीं देतीं, ऐसे देह के लिये, वेद में 'पुण्डरीक' पद का प्रयोग, इस ओर संकेत कर रहा है, कि ऐ पुरुष ! देह की आकर्षकता में अपने आप को भूल मत; इसकी नश्वरता को समझने के लिये पुष्प की अवस्था को सदा अपने सम्मुख रख, भ्रमर के समान इसके रस को भोग, पर अपने अस्तित्व को बिसार कर इसमें लीन मत हो, इन सब भावनाओं के साथ प्रस्तुत मन्त्र में 'पुण्डरीक' पद को हमने 'देह' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ समझा है।

इस देह की विशेषता को बतलाने के लिये आगे पद है—'नवद्वारं'—अर्थात् इस देह में नौ द्वार हैं। देह के वर्णन में अन्यत्र [अथर्व० १० । २ । ३१ ॥ श्वेता० उप० ३ । १८] भी ऐसे उल्लेख पाये जाते हैं, ये नौ द्वार हैं—दो आंख, दो कान, दो नासा-छिद्र, एक मुख तथा दो अधो-द्वार—गुद और उपस्थ। मन्त्र के द्वितीय चरण में इस देह को तीन गुणों से आवृत बताया गया है, ये तीन गुण—सत्त्व, रजस्, तमस् हैं, यह देह इनसे व्याप्त है, बुद्धि से लेकर स्थूल पर्यन्त समस्त व्यक्त कार्य त्रिगुणात्मक है, देह में इसका अधिष्ठाता—चेतन आत्मा—निवास करता है, और आत्मा के समान एक और 'यक्ष' [सर्वोत्कृष्ट चेतन] इस देह में व्याप्त हो रहा है, उसको ब्रह्म ज्ञानी जान पाते हैं।

यह यक्ष = परमात्म-चेतन हो सकता है, क्योंकि वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् वस्तु में व्याप्त हो रहा है। उपनिषदों में इस अर्थ को अधिक स्पष्ट किया गया है, वहाँ कहा है, कि उस सर्वोत्कृष्ट परमात्म-चेतन का साक्षात्कार, प्रत्येक यत्नशील व्यक्ति अपने हृदय में कर सकता है, साधारण व्यक्ति इस बात को नहीं समझ पाता, कि हमारे इस दृश्यमान देह के अतिरिक्त और भी कोई ऐसी चेतन-सत्ता यहाँ विद्यमान है, जो इस देह में परिमित काल तक निवास करती और अनेक अनुकूल प्रतिकूल भोगों को भोगती है, परन्तु दूसरे, व्यक्ति, जिनको शास्त्र-बुद्धि प्राप्त हो चुकी है, और अध्यात्म दिशा में प्रयत्नशील हैं, वे इस बात को समझ पाते हैं, कि देह के साथ एक दूसरा चेतन-तत्त्व विद्यमान रहता है, जो इसका अधिष्ठाता व भोक्ता है, क्योंकि अचेतन देह स्वयं प्रवृत्ति करने में असमर्थ है, जब तक उस चेतन का देह से सम्बन्ध है, वहाँ अनुकूल प्रतिकूल प्रवृत्तियाँ होती रहती हैं, अथवा जब तक ये प्रवृत्तियाँ होती हैं, तब तक देह के साथ चेतन का सम्बन्ध समझा जाता है।

देह की इस स्थिति से जिस चेतन का सम्बन्ध हम इसके साथ समझते हैं, वह जीव-चेतन है, इस प्रकार देह की आन्तर या बाह्य प्रवृत्तियों के आधार पर हम देह में जीव-चेतन के अस्तित्व को ही समझ पाते हैं, इतने से सर्वोत्कृष्ट चेतन के अस्तित्व का देह में आभास नहीं हो पाता, जीव-चेतन का देह से सम्बन्ध न रहने पर भी—देह की मृत अवस्था में—वहाँ परमात्म—चेतन का सम्बन्ध बराबर बना रहता है, संभवतः इसीलिये मन्त्र में कहा गया है, कि देह में 'यक्ष' के अस्तित्व को ब्रह्मज्ञानी ही जान पाते हैं, वे ब्रह्म-ज्ञानी भी उस ज्ञान को जिन साधनाओं के आधार पर आपादन करते हैं, उनका हृदय-देश तथा मस्तिष्क आदि से विशेष सम्बन्ध रहता है। इसलिये आत्मा

ऐसा मुझे ज्ञात नहीं, परन्तु यह विचार-धारा पर्याप्त पुरानी है। मध्यकालीन भाष्यकारों— स्कन्द, माधव आदि ने भी इस विचार को सिद्धान्त रूप में अपनाया है, यद्यपि वे इसको पूर्णरूप से कार्यान्वित करने में सफल न हो पाए हों।

७. ऋषि के मत पर एक अन्य आक्षेप भी आता है— जिन ऋषियों के नाम वेदमन्त्रों पर अंकित हैं यदि वे ही सर्वप्रथम मन्त्रार्थ द्रष्टा हैं तो क्या वैवस्वत मनु द्वारा दृष्ट सूक्तों का अर्थ पहले छै मन्वन्तरों तक अज्ञात रहा। यह स्थिति स्वामी जी के उस लेख[1] कि "सृष्टि के आरम्भ में चार ऋषियों को वेदज्ञान परमेश्वर ने जनाया और धर्मात्मा योगी महर्षि लोग जब जब जिस-जिसके अर्थ को जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित हो परमेश्वर के स्वरूप में समाधिस्थित हुए तब तब परमात्मा ने अभीष्ट मन्त्रों के अर्थ जनाए···" के विरुद्ध जाती है।

८. वस्तुतः वेद मन्त्रों के सम्बन्ध में अर्थ दर्शक अथवा अर्थ प्रयोक्ता ऋषि तो परमात्मा है[2]। शेष ऋषि नाम न कोई व्यक्तिवाचक पद हैं, न कविनिबद्धप्रवक्ता के रूप में काल्पनिक व्यक्तिवाचक नाम हैं प्रत्युत वे मन्त्रों के 'अर्थ दर्शन = अर्थ दृष्टि = अर्थ ज्ञान = अर्थ' ही के प्रज्ञापक हैं।

९. 'ऋषि' पद का निर्वचन यास्क ने ऋष् से किया है। यद्यपि उन्होंने इसका अर्थ 'दर्शन' किया है परन्तु धातुपाठ में यह 'गत्यर्थक' पढ़ा गया है। निघ० ५।५।१४ के अधिक पाठ में और निघ० ५।६।२५ के सप्त ऋषयः में 'ऋषि' पद नाम हैं। श० १।७।२।३ में ऋषि-ऋण की उत्पत्ति अनूचानत्व (तु० क०—यद्वेवा उ ब्रुवीत) अर्थात्—ऋषियों = वेद मन्त्रों के अर्थ के व्याख्यान और उपदेश से बताई गई है। य० ७।४६ में ऋषिपद के विशेषण 'आर्षेय' से यह ध्वनि निकलती प्रतीत होती है कि ऋषि सम्बन्धी = वेदार्थ ज्ञान सम्बन्धी ऋषि अर्थात् वेदार्थ ज्ञाता ऋषि को दक्षिणा दी जाए। (देखो ऋषि दयानन्द का भाष्य)। अतः स्पष्ट है कि ऋषि पद का अर्थ 'वेदमन्त्रार्थ' भी है। इस अर्थ की पुष्टि इण्डोयूरोपीय नामक कल्पित भाषा के ero eras to flow'[3] से भी होती है। यास्क का 'ऋषिर्दर्शनात्' निर्वचन केवल एक ही अर्थ को प्रकाशित कर रहा है, तथा 'दर्शन' पद यहाँ लाक्षणिक अर्थ का ही प्रकाशन करता है। अतः इस निर्वचन से तथा आधुनिक भाषाविज्ञान के निष्कर्ष से उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।

१०. यदि इस अर्थ को स्वीकार कर लें तो इसका यह अभिप्राय होगा कि मन्त्र का ऋषि मन्त्र के अर्थ का सार है, देवता उसका विषय है और छन्द उसका नियामक है। इन तीनों के युगपत् ज्ञान से मन्त्रार्थ का ज्ञान अपेक्षाकृत सरल हो जाता है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के प्रथम सूक्त का ऋषि मधुच्छन्दा वैश्वामित्र है। देवता अग्नि और छन्द गायत्री। मधु, मित्र, अग्नि और गायत्री शब्दों के अर्थ 'प्राण' हैं। अतः इस सूक्त में प्राणविद्या का वर्णन अवश्य होना चाहिए। अग्नि, मधु और गायत्री का अर्थ 'यज्ञ' है। अतः इस सूक्त में 'यज्ञ' का वर्णन अवश्य होना चाहिए। मधु का अर्थ विद्वान, ब्रह्मचारी, रस, आपः अन्न, आदि हैं, विश्वामित्र के अर्थ श्रोत्र, वाणी और सब का मित्र हैं, छन्दस् के अर्थ प्रीतिकारक आदि हैं, गायत्री के अग्नि, ब्राह्मण, ब्रह्म तेज आदि हैं। अतः इस सूक्त में परमात्मा, विद्वान, ब्रह्मचारी, आग आदि का वर्णन और विवेचन मिलना चाहिए।

११. अनुष्टुप् पद का अर्थ ऊपर दिया जा चुका है। पंक्ति के अर्थ विष्णु की पत्नी, मरुत् देवता, पक्ष, श्रोत्र, ऊर्ध्वा दिक्, अन्न, प्रतिष्ठा, पशु, पुरुष, आत्मा, लोम, त्वचा, मांस, अस्थि, मज्जा आदि हैं। बृहती के अर्थ गो, अश्व, पशु, स्वाराज्य, श्री, स्वर्ग-लोक, आदित्य, अन्तरिक्ष लोक संवत्सर, वाक्, मन, प्राण, व्यान, आत्मा आदि हैं। त्रिष्टुप् के अर्थ वज्र, इन्द्र, वीर्य, बल, ओज, उरः, इन्द्रिय, राजन्य, क्षत्र, मदः, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, द्यौः, पशु, अपान, चक्षुः, आत्मा आदि हैं। अतः इन छन्दों वाले मन्त्रों में इन विषयों का विवेचन होना चाहिए।

१२. ऐसी स्थिति में प्रत्येक वेदमन्त्र के एक से अधिक अर्थ हो जायेंगे। अतः ऋग्वेद ७।५९।१२ में जहाँ 'त्र्यम्बक' का अर्थ रुद्र = परमात्मा है, वहाँ 'नारिकेल' भी है।

---

१. देखो सत्यार्थप्रकाश।

२. देखो भूमिका में ऋषि का निरुक्त वाक्य ७।१—यत्काम ऋषिर्यस्याम् आदि का व्याख्यान।

३. देखो डा० सिद्धेश्वर वर्मा—Etymologies of Yaska पृ० ५५. डाक्टर जी की यास्कीय निर्वचन पर अर्थ विषयक आपत्ति अनावश्यक प्रतीत होती है, क्योंकि दर्शन को गति का लाक्षणिक अर्थ माना जा सकता है।

इसमें 'प्राण विद्या' या 'मृत्युनिवारण विद्या' वर्णित की गई है। लौकिक पक्ष में मृत्यु पद अपेण्डिसाइटिस—और टाइफाइड, पेचिश आदि रोगों का द्योतक है और आध्यात्मिक पक्ष में अज्ञान, जन्म-मरण का बन्धन आदि का परिचायक है। अथर्व १। १४ में प्रजा द्वारा चुने गए तेजस्वी और ओजस्वी राजा का वर्णन है। विचारशील स्वाध्यायी व्यक्तियों और विद्वानों का कर्तव्य है कि वे इस प्रकार के विभिन्न अर्थों को प्रकाशित करें। इन अर्थों की योजना में अव्यवस्था नहीं आ सकती, क्योंकि ऋषि, देवता और छन्द (एक दूसरे पर अंकुश होकर) तीन नियामक बैठे हुए हैं।

१३. ऐसा मानने पर अनेकों कठिनताएँ दूर हो जायेंगी। प्रथम तो जिस मन्त्र में उससे सम्बन्धित ऋषि का वाचक पद आया है, वहाँ पर उनके व्यक्तिवाचक माने जाने का प्रश्न उपस्थित न हो सकेगा। तिर्यक् योनियों अथवा जड़ वस्तुओं के मन्त्र दर्शन का प्रश्न समाप्त हो जायगा। उदाहरणतः—'कपोतो नैर्ऋतः' का अर्थ 'कस्य सुखस्य पोतः, नैर्ऋतः = दुःख रहितः' अर्थ सुखयुक्त प्राणी हो जायेगा। कद्रू का अर्थ 'पृथिवी' और अर्बुदः का अर्थ 'वाक्' दिया है। 'सर्प' का अर्थ 'देव' और 'लोक' हैं। पृथिवी' को सार्पराज्ञी कहा गया है। इसी प्रकार के अर्थ 'मत्स्यः साम्मदः बहवो वा मत्स्या जालनद्धाः, 'देवशुनी सरमा' आदि पदों के अर्थ खोजे या किए जा सकते हैं।

१४. 'अन्ये च दृष्टलिङ्गा ऋषयः' का भी यही भाव है कि जहाँ-जहाँ जो-जो अर्थ दर्शन हो सके वह-वह अर्थ उस-उस मन्त्र से निकाल लें। वैकल्पिक ऋषियों वाले सूक्तों में दोनों ऋषियों के वाचक पदों के अर्थ घटेंगे। अतः वहाँ वास्तव में विकल्प नहीं रह जाता[1]। इसी प्रकार 'संघ' देवताओं की भी संगति लगाई जा सकेगी।

१५. अस्तु। ऋग्वेद आदि वेदों के ऋषि व्यक्तिविशेष नहीं। प्रत्युत वे मन्त्रों के अर्थ के परिचायक सारयुक्त, गुणवाचक, यौगिक पद हैं। उनके साथ प्राप्त वंश क्रम के सूचक पदों का अर्थ भी यौगिक लेना आवश्यक होगा। इस प्रकार वैदिक ऋषियों की जो वंशावली अनुक्रमणिकाओं के आधार पर निर्मित की जाती है, उसका तथा अनुक्रमणिकाओं की अप्रामाणिकता और सम्प्रदाय भंग के आरोपों का मूलाधार ही समाप्त हो जाता है।

१६. जब वैदिक ऋषि व्यक्तिविशेष ही नहीं रहे, तो उनका दर्शन कैसा? अतः व्यक्तिविशेष वैदिक ऋषियों का दर्शन बताना तो सम्भव नहीं। हाँ, अर्थ-ज्ञानवाचक ऋषियों का दर्शन अवश्य विवेचनीय रह जाता है।

१७. जैसा ऊपर कहा गया है कि वेद मन्त्रों के अनेक अर्थ हो सकते हैं। अतः उनका दर्शन भी उन मन्त्रार्थों के ऊपर ही निर्भर होगा, अतः यास्काचार्य ने ठीक ही कहा—

एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति।

१८. जो वेद भाष्य ऊपर की कसौटी पर पूरा उतरे वही वास्तविक वेदभाष्य कहा जा सकता है। इस दृष्टि से विचारने पर केवल महर्षि दयानन्द का भाष्य ही प्रामाणिक ठहरता है[2]। परन्तु वह सम्पूर्ण अर्थों का ज्ञापक है ऐसा समझना भारी और सैद्धान्तिक भूल होगी। श्री अरविन्द घोष का यह विचार परम यथार्थ है कि ऋषि ने वेदार्थ की वास्तविक कुंजी हमें दे कर वेदार्थ करने का प्रकार दिखाया है। वेदार्थ अपार समुद्र है। उसमें मानव जीवन पर्यन्त मग्न रह कर भी उसके अन्त तक नहीं पहुँच सकता। अपनी सीमित शक्ति से जितना जान पाए, उतने से ही अपना और मानव जाति का कल्याण करता रहे, यही वेद और वैदिक ऋषियों का सारभूत दर्शन है—

'रसेन तृप्तोऽसि कुजारसो ऽसि।'

तथा—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा-
स्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त
यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।
ॐ शम्। ॐ

१. इस कथन से मेरे पूर्व लेख Authorship of some of the hymns of the Rigveda, A. I. O. C. 1949 (Bombay) का निराकरण हुआ समझ लेना चाहिए।

२. इसका विस्तृत विवेचन फिर कभी किया जायेगा।

वेदों के ऋषि

लेखक—श्री पं० रामावतार जी शर्मा तीर्थचतुष्टय।

घोरा ऋषयो नमो अस्त्वे-
भ्यश्चक्षुर्यदेषाम्मनसश्च सत्यम्।
बृहस्पतये महिष द्युमन्नमो
विश्वकर्मन्नमस्ते पाह्यस्मान्॥
अ० २। ३५। ४

भूत काल में भारत, संसार का गुरु रहा है। इस तथ्य को सब लोग स्वीकार करते हैं। इस गौरव का कारण "ऋषि परम्परा ही" मुख्य रूप से मानी जा सकती है। इस परम्परा का प्रारम्भ वेद मन्त्रों से होता है और इसको, तप तथा त्याग के द्वारा, मानव जीवन ने, समय समय पर अपना कर अद्भुत चमत्कार दिखाया है। आगे भी इस का अव्याहत गति से प्रवाह चलता रहेगा ऐसी आशा और विश्वास है।

प्रस्तुत लेख में यह विचार किया जायगा कि "वेदों के ऋषि" क्या हैं।

ऋषि शब्द "ऋष गतौ" इस धातु से इन् या "कि" प्रत्यय होकर सिद्ध होता है। इस धातु के ज्ञान, गमन प्राप्ति और मुक्ति आदि अनेक अर्थ होते हैं।

निरुक्त

निरुक्त के विचार के अनुसार ऋषिर्दर्शनात् नि० २। ११। देखने से ऋषि होता है। अर्थात् वेदमन्त्रों अथवा वेदार्थों के दर्शन करने वाले ऋषि कहे जाते हैं। निरुक्त के विचार में द्रष्टा ऋषि होता है। जो द्रष्टा है, वह कर्ता नहीं हो सकता, अर्थापत्ति से यही बात सिद्ध होती है।

निरुक्तकारों का एक ऐसा सम्प्रदाय भी है, जो एक पद में अनेक धातुओं की कल्पना करता है और तदनुसार अर्थ की संगति लगाता है, किन्तु यहाँ ऐसी कोई बात नहीं है। निरुक्त के उपरोक्त प्रमाण से ऐसा लगता है कि धात्वर्थ के प्राप्ति अंश को लक्ष्य में रखकर ऐसी निरुक्ति की गई हो।

विचारक मत

अहर्निश अनुसन्धान-लीन विचारक लोगों, का यह विचार है कि "अतीन्द्रियस्य वेदस्य परमेश्वरानुग्रहेण प्रथमतो दर्शनात्—ऋषित्वम्" ॥

अर्थात् इन्द्रियातीत वेदों के, ईश्वर की कृपा से सर्व प्रथम दर्शन करनेवाले को ऋषित्व पदवी प्राप्त होती है। फलतः जिनको सब से प्रथम वेदों का दर्शन हुआ वे ही ऋषि कहे जा सकते हैं। किसी अन्य को ऋषित्व की प्राप्ति का अधिकार नहीं है।

सर्वानुक्रमणी

ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी के अनुसार "यस्य वाक्यं स ऋषिः"। जिसकी उक्ति हो वह ऋषि है। वचन, वाक्य और उक्ति ये पद समानार्थक हैं। भाव यह है कि सब से प्रथम जिनके द्वारा वेद राशि की उपलब्धि हुई हो वे ऋषि कहे जा सकते हैं।

निरुक्त का विचार सर्वानुक्रमणी के विचार से बराबर मिलता जुलता है।

दोनों के विचारों में साम्य होते हुए भी शब्द में भेद है। निरुक्त तो मन्त्र देखने वाले को ऋषि कहता है, जब कि अनुक्रमणी के विचार से जिसके मुख से वेद कहे गये वही ऋषि है।

वेदों के ऋषि

देखने का अर्थ बनाना कभी नहीं होता है। ऐसा व्यवहार है कि मैंने पहाड़ देखे हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि मैंने पहाड़ बनाये हैं।

ऐसे ही "मैंने सिंह देखे हैं" इस वाक्य का "मैंने सिंह बनाये हैं" ऐसा अर्थबोध कभी नहीं हो सकता।

रही सर्वानुक्रमणी की बात। उसका अभिप्राय यह है कि जैसे नाटकों में कृत्रिम पात्रों के मुख से असली नायक और नायिकाओं के वचन बोलवाये जाते हैं, ऐसे ही जिनके मुख से वेद, अथवा मन्त्र रूप वाक्य बोलवाये जांय वे ऋषि हैं।

नाटकों के पात्र असली नहीं होते। वे तो कृत्रिम होते हैं। ऐसे ही वेदों के अथवा मन्त्रों के ऋषि असली कर्ता नहीं हैं, वे तो केवल बोलने वाले हैं। बनाने वाले नहीं, बनाने वाला तो कवि है। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

इस प्रमाण से भी यही बात सिद्ध होती है कि मन्त्रों का द्रष्टा ऋषि होता है, बनाने वला नहीं।

यदि सर्वानुक्रमणीकार का यह अभिप्राय होता कि "वाक्य का अर्थ है" स्वकृत्रिम वाक्य तो यह आगे चल कर स्वयं क्यों कहता कि—"य आङ्गिरसः शौनहोत्रो भूत्वा भार्गवः शौनको भूत् स गृत्समदो द्वितीयं मण्डलमपश्यत्।

सबसे प्रथम अङ्गिरा गोत्रीय शौनहोत्र होकर भृगुकुलका शौनक हुआ, उसी गृत्समद ने ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल को देखा। इस स्थल पर स्पष्ट रूप से "अपश्यत्" इस क्रिया का प्रयोग मिलता है। इस क्रिया पद के देखना अर्थ छोड़ कर अब तक कहीं भी भिन्न अर्थ देखने अथवा सुनने को नहीं मिलते हैं। न्यून से न्यून इस स्थल में तो देखना ही अर्थ है।

इतना ही नहीं, आगे भी उन्होंने लिखा है कि "वामदेवो गौतमश्चतुर्थं मण्डलमपश्यत्" गौतम गोत्रीय वामदेव ने ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल को देखा।

तृतीय मण्डल के विषय में एक इतिहास लिखकर उसका द्रष्टा विश्वामित्र को बतलाया गया है। यथा—"कुशिकस्त्वैषीरथिरिन्द्रतुल्यं पुत्रमिच्छन् ब्रह्मचर्यं चचार तस्येन्द्र एव गाथीपुत्रो जज्ञे, गाथिनो विश्वामित्रः स तृतीयं मण्डलमपश्यत्" इषीरथ का पुत्र कुशिक ने इन्द्र के समान पुत्र की इच्छा करते हुए चिरकाल तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया तो उसको इन्द्र ही साक्षात् गाथी रूप पुत्र हुआ। गाथी का पुत्र विश्वामित्र हुआ और उसने ऋग्वेद के तृतीय मण्डल को देखा।

आगे भी कहा कि—"बार्हस्पत्यो भरद्वाजः षष्ठ-

मण्डलमपश्यत्॥ बृहस्पति के पुत्र भरद्वाज ने षष्ठ मण्डल को देखा।

सर्वानुक्रमणीकार के इन विचारों को उद्धृत करने का तात्पर्य यह है कि यह कोई साधारण कोटि का मनुष्य नहीं है। कात्यायन मुनि कोटि का ग्रन्थकार अपने विचारों का स्वयं परस्पर विरोध कैसे कर सकता है।

मुनि शब्द स्वयं वेदादिसत्यशास्त्रों के तत्त्व को जानने वाले का अर्थ कहता है। मन्तारो वेदादिसत्यशास्त्र-तत्त्वावगन्तारो मुनयः।

अत एव कात्यायन मुनि के विचारों से भी ऋषि शब्द का द्रष्टा ही अर्थ सिद्ध होता है।

धर्म-शास्त्र

धर्म शास्त्रों में मनुस्मृति सब स्मृतियों से पुरानी और मान्य कोटि की स्मृति कही जाती है। उस में मनुजी कहते हैं कि—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं ऋग्यजुःसामलक्षणम्॥ १। २३॥

अग्नि, वायु और रवि ऋषिने ऋग् यजुः और साम रूप वेदत्रयी का दोहन किया।

इस श्लोक का "अग्नि, वायु और रवि तत्त्वों के परिज्ञान के लिये" ऐसा अर्थ किया जाय अथवा "इन ऋषियों ने सनातन वेदत्रयी का दोहन किया" ऐसा अर्थ किया जाय परन्तु इस स्थल में दोहन से ही केवल तात्पर्य है।

यहां दोहन का पूर्ण करना अर्थ है। एक ग्वाला गाय को दूहता है और दूह कर दूध के पात्र को भर देता है।

"ग्वाला दूध दूहता है" इस वाक्य का यह अर्थ बोध नहीं होता है कि "वह दूधको बनाता है। दूध तो प्रकृति और परमेश्वर के नियम से बना बनाया है, ग्वाला केवल गाय के स्तन से निकाल लिया करता है, न कि बनाता है। बस उसका इतना ही काम है।

अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखने पर भी यदि कोई दुराग्रहवश कहता जाय कि—ग्वाले ने दूध बनाया ही है, तो इस को उन्मत्त प्रलाप ही कहा जा सकता है।

अन्तःपरीक्षा

यहां तक मैंने धात्वर्थ प्रक्रिया, निरुक्तप्रक्रिया, सर्वानुक्रमणी प्रक्रिया और स्मृति प्रक्रिया के अनुसार अति संक्षेप

से ऋषि शब्द के सम्बन्ध में अर्थ निर्देश करने का प्रयत्न किया है।

उपरोक्त प्रमाणों के पर्यालोचन से यह सिद्ध होता है कि मन्त्रद्रष्टा ऋषिशब्दार्थ है।

आगे अन्तःपरीक्षा का प्रारम्भ किया जाता है। अन्तः परीक्षा में यह देखना है कि वेद मन्त्रों में आये हुए, और भिन्न २ विभक्तियों में निर्दिष्ट ऋषि शब्द के अर्थ क्या २ हैं।

१—सब से प्रथम यजुर्वेद का एक प्रमाण उपस्थित किया जाता है।

अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया ॥ य० १५। १०

सब से पुराने, अन्तरिक्ष में विचरने वाले ऋषि लोग, द्युलोक में आकाश की मात्रा से तेरा विस्तार करते हैं।

इस मन्त्र में ऋषियों को, आकाश अथवा अन्तरिक्ष में विचरने वाला कहा गया है।

वैदिक साहित्य के अवगाहन से यह ज्ञात होता है कि वहां आकाश भी एक संसार है, जहां ग्राम, नगर, युद्ध और ऋषि आदि सब कुछ विद्यमान हैं। आकाश में सप्तर्षि मंडल प्रसिद्ध है जो सदा उत्तरीय ध्रुव की परिक्रमा करता है। महाभारत से भी यही बात सिद्ध होती है। यथा—

ब्रह्मराशिर्विशुद्धश्च शुद्धाश्च परमर्षयः।
अर्चिष्मन्तः प्रकाशन्ते ध्रुवं सर्वे प्रदक्षिणाम् ॥
महा आ. अ. ७१

परम पवित्र ब्रह्म पुञ्ज और परमर्षि लोग अपने प्रकाश के साथ आकाश में विचरते हैं और सब ऋषि ध्रुव की प्रदक्षिणा करते हैं।

यद्यपि इस मन्त्र में आये हुए "ऋषयः" पद का भाष्य कारों ने "प्रथमजाः" पद के साहचर्य से उत्तर निकाला कि—प्राण वा ऋषयः प्रथमजाः। तै. सं. ८। ६। १। ५

सब से प्रथम उत्पन्न होने वाले प्राण ऋषि हैं। परन्तु मन्त्र की परिस्थिति का अध्ययन करने से यह सिद्ध नहीं होता कि शरीर सञ्चारी प्राण, आकाश सञ्चारी ऋषि हो सकते हैं। प्राण शब्द का प्रयोग प्रायः शरीर के साथ में पाया जाता है। हां—"सप्त ऋषयः प्रति हिताः शरीरे" इस मन्त्र में निर्दिष्ट ऋषि शब्द के भाष्य के लिये तैत्तिरीय संहिता के प्रमाण को उद्धृत किया जा सकता है। अस्तु

अथर्ववेद के एक मन्त्र से यह ज्ञात होता है कि और भी दूसरे आकाश सञ्चारी ऋषि होते हैं। यथा—

अत्रिवद्वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत्।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥
अ० २। ३२। ३

भाव यह है कि मैं अत्रि, कण्व, जमदग्नि और अगस्त्य के समान क्रिमियों का नाश करता हूँ।

इस मन्त्र से ज्ञात होता है कि अत्रि आदि क्रिमिनाशक हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि ये हैं क्या?

ऋग्वेद के एक मन्त्र से अत्रि शब्द पर प्रकाश पड़ता है—

अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात्। ५। ४०। ८ अत्रि द्युलोक में सूर्य की आंख का आधान करता है।

इस मन्त्र से पूर्व एक और मन्त्र है, उससे इस मन्त्र के अर्थ पर कुछ अधिक प्रकाश पड़ता है। यथा—

मा मामिमं तव सन्तमत्र इरस्या द्रुग्धो भियसा निगारीत् ॥ ऋ० ५। ४०। ७

इस मन्त्र में स्वयं सूर्य ही कहता है कि हे अत्रि! तू मेरा मित्र है, ऐसी दशा में तेरे रहते २ मुझको द्रोही असुर निगल जाय, यह दुःख की बात है।

पहले मन्त्र में अत्रि को सूर्य के साथ रहने वाला बतलाया, और दूसरे मन्त्र में अत्रि को मित्र कह कर सूर्य ने उससे असुर द्रोही को दूर करने की प्रार्थना की है।

इसी वेद में आगे एक मन्त्र आया कि—आयाह्यग्ने अत्रिवत्" ५। ५१। ८ हे अग्नि तू अत्रि के समान आ।

इन प्रमाणों का स्पष्टीकरण अथर्ववेद के एक मन्त्र से होता है। तथाहि—

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः। अ० २। ३२। १

सूर्य उदय होता हुआ और अस्त होता हुआ अपनी किरणों से विभिन्न प्रकार के क्रिमियों का नाश करे।

अब स्पष्ट हो गया कि अत्रि, यदि सूर्य की किरणें हैं, जिन से रोगोत्पादक विभिन्न प्रकार के कीटाणुओं का नाश होता है।

सूर्य का द्रोही बादल अथवा अन्धकार है किरणों के प्रकाश से ही अन्धकार का नाश होता है यह सर्व विदित है।

फलतः पहले प्रमाण से आकाशीय तारायें एवं दूसरे प्रमाणों से सूर्य की किरणें ऋषि हैं।

२—यजुर्वेद का एक दूसरा प्रमाण उपस्थित किया जाता है।

सप्त ऋषयः प्रति हिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदम-प्रमादम्। य० ३४। ५५।

सात ऋषि शरीर में व्यवस्थित किये गये हैं, जो सदा सावधानी से इस शरीर की रक्षा करते हैं। वे सारे शरीर में व्यापक हैं। जब पुरुष सो जाता है, तब भी ये आत्मा के आश्रय में रहते हुए जागते रहते हैं, कभी भी सोते नहीं। वे सात ऋषि कौन २ हैं जिनका शरीर में वास है? उत्तर सीधा है कि वे प्राण हैं। भाष्यकारों ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है। भाव यह हुआ कि प्राण भी ऋषि कहे जाते हैं।

३—यजुर्वेद के एक तीसरे प्रमाण का निरीक्षण करना चाहिये। विश्वकर्मा त ऋषिः। १४। ५ विश्वकर्मा तेरा ऋषि है। इस मन्त्र में विश्वकर्मा को ऋषि कहा गया है। विश्वकर्मा शब्द का निम्न प्रकार से अर्थ होता है। विश्वं कर्म यस्यासौ। अर्थात् जिसका संसार कर्म है, अथवा संसार का जो कर्त्ता है, वह विश्वकर्मा कहाता है। संसार का जो कर्त्ता है, वह विश्वकर्मा कहाता है। संसार का कर्त्ता परमेश्वर है, इस लिये यहां परमेश्वर ही ऋषि सिद्ध होता है।

भाष्यों में विश्वकर्मा को प्रजापति भी कहा गया है, किन्तु अर्थगत कोई भेद प्रतीत नहीं होता। यहां विश्व-कर्मा ऋषि है अर्थात् साक्षी रूप से सबका द्रष्टा है, यही सुसंगत अर्थ है।

४—यजुर्वेद का चतुर्थ प्रमाण उपस्थित किया जाता है। शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः पयः सहस्रसामृषिम्। य० ३। १६

लज्जा रहित होकर दूध दूहने वाले गाय से शुद्ध दूध दूहते हैं। इस मन्त्र में गौ को ऋषि कहा गया है अर्षति दोहन स्थाने गच्छतीति ऋषिः गौः। दूध दूहने की जगह पर जाने के कारण से गाय ऋषि है। यहां गमन रूप धात्वर्थ का अनुसरण किया गया है।

भाव यह हुआ कि पशु रूप गाय को भी ऋषि शब्द से व्यवहार में ले लिया गया है।

५—यजुर्वेद का पञ्चम प्रमाण निम्न प्रकार से है।

ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यमृषिमार्षेयं सुधातु-दक्षिणाम्। य० ७। ४६। सुयोग्य पिता के योग्य पुत्र जिनके पिछली पीढ़ियों में वेदों के अध्ययन और अध्या-पन कराने वाले हों, वेदमन्त्रों की व्याख्या करने वाले हों, ऋषियों में प्रसिद्ध हों और जिनको दक्षिणा में सुवर्ण आदि उत्तम धातुयें प्राप्त होती हों, ऐसे सुयोग्य ज्ञानी मुझको प्राप्त हों।

इस मन्त्र में एक सुयोग्य विद्वान् की प्राप्ति की आशा का वर्णन है। इस मन्त्र में आये हुए "ऋषिम्" पद का अर्थ "ऋषिम् मन्त्राणाम् व्याख्यातारम्" ऐसा किया गया है। इस अर्थ से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेदमन्त्रों की व्याख्या करने वाले ऋषि होते हैं। ये विचार उव्वट और महीधर दोनों व्याख्याकारों के हैं। फलतः वेदों के भाष्यकार भी ऋषि होते हैं। यहां ऋषि का भाष्यकार अथवा व्याख्याकार अर्थ है।

६—यजुर्वेद का षष्ठ प्रमाण भी ध्यान से देखने योग्य है।

"सं त्वामग्ने सूर्यस्य वर्चसागथाः समृषीणाᳬस्तुतेन"। य० ३।१९।

हे अग्ने! तू सूर्य के तेज से और मन्त्रों की स्तुति से भी सुसंगत है। अर्थात् अग्नि में सूर्य के प्रकाश का संयोग है और मन्त्र भी अग्नि की प्रशंसा करते हैं।

इस मन्त्र में "ऋषीणाम्" इस ऋषि शब्द के षष्ठी-कारक के बहुवचन का प्रयोग है। यहाँ ऋषीणाम्-मन्त्राणाम् यह अर्थ समझा जाता है। अर्थात् इस मन्त्र में ऋषि शब्द का मन्त्र अर्थ है। कर्तरि चर्षिदेवतयोः। अ०३।२।१८६ इस सूत्र पर विचार करते हुए भट्टोजिदीक्षित ने भी लिखा है कि "ऋषिर्वेदमन्त्रः"। अर्थात् इस सूत्र में ऋषि शब्द से वेदमन्त्र समझना चाहिये। तदुक्तं ऋषिणेति दर्शनात्। इस वाक्य को प्रमाण रूप से उद्धृत कर उपरोक्त अर्थ किया गया प्रतीत होता है।

वेदों के मन्त्र क्यों ऋषि है, इस प्रश्न पर थोड़ा विचार करना अत्यावश्यक प्रतीत होता है।

सामान्य रीति से इन्द्रियातीत अर्थों को देखने या साक्षात् करने वाला ऋषि कहा जाता है।

जिन द्रव्यों अथवा वस्तुओं को मनुष्य अपनी आँख

आदि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं कर सकता उनको भी देखने वाला ऋषि है।

मन्त्र तो संसार के गूढ़तर और गूढ़तम तत्वों का वर्णन करते हैं। मन्त्र मनुष्यों को उन रहस्यों से अवगत कराते हैं, जिन का ज्ञान होना मनुष्यजीवन का ध्येय हो सकता है। किं बहुना आदि ज्ञान दाता अथवा उपदेष्टा साक्षात् मन्त्र ही हैं, इस लिये इस वेदमन्त्र ने मन्त्र को भी ऋषि की संज्ञा दे दी है।

मनुष्य जीवन का ध्येय, वेदमन्त्र निम्न प्रकार से बतलाते हैं। यथा—"साशनानशने अभि" साशन और अनशन इन दोनों अवस्थाओं को प्राप्त करना मनुष्य जीवन का ध्येय है।

भाव यह है कि मनुष्य का एक जीवन तो वह है जिसमें लौकिक अथवा सांसारिक सुख के लिये अनेक आवश्यक साधन एकत्रित किये जांय, और उनसे प्राप्त होने वाले सुखों का उपभोग किया जाय। साथ ही "लौकिक सुखों की वास्तविकता का परिज्ञान भी यथार्थ रूप से होता जाय" यह प्रयत्न भी अबाध गति से होता रहे।

यदि इस क्षेत्र अथवा दिशा में कुछ स्वतन्त्रता की दृष्टि से असुविधा का अनुभव हो तो, धीरे धीरे इनका परित्याग करता जाय। प्रकारान्तर से जैसे कमल का पत्ता पानी में रहता हुआ भी उससे अलग रहता है, ऐसे ही सांसारिक सुख देने वाले आनन्ददायक साधनों को भगवान् की देन समझ कर उन पर अपना स्वत्व नहीं माने, किन्तु निष्काम भावना से उन प्राप्त वस्तुओं का उपयोग करता हुआ आगे बढ़ने के प्रयत्न करता जाय। इतना भाव साशन पद से निकलता है।

दूसरा मनुष्य जीवन का ध्येय अनशन का है।

अर्थात् केवल खाना, पीना और आनन्द अथवा मौज करना ही मनुष्य अपने जीवन का उद्देश्य बना ले तो, उसका जीना निरर्थक है। कारण कि एक पशु भी खाता, पीता और मौज करता है। इस लिये मनुष्य को एक ऐसा जीवन भी बनाना चाहिये जिसमें इन ऐहिक अथवा सांसारिक सुखों की आवश्यकता ही नहीं रहे। वह जीवन एक ऐसा जीवन हो सकता है जिसका अधिकारी मनुष्य को छोड़कर दूसरा प्राणी नहीं हो सकता। वही जीवन अपवर्ग अथवा मुक्ति का जीवन है जिसमें रोटी खाने, पीने अथवा धोती या पेन्ट पहनने की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। उस जीवन में मनुष्य को पूरी स्वतन्त्रता रहती है। जब जैसा चाहे करे।

बस संक्षेप से यही कहा जा सकता है कि मनुष्य जीवन इन दो ही प्रयोजनों से मिलता है। अर्थात् मनुष्य को ऐसा काम करना चाहिये जिससे लोक और परलोक दोनों का सुधार हो। अथवा यों कहिये कि मनुष्य वही है जिसने इन दोनों ही उद्देश्यों में पूर्ण सफलता प्राप्त की हो।

इस प्रकार की बड़ी से बड़ी बातों का उपदेश मन्त्र ही देते हैं। मन्त्र ही विश्वास दिलाते हैं कि "संसार को नियन्त्रण में रख कर बुद्धिपूर्वक उसका नियम से सञ्चालन करने वाला जगन्नियन्ता जगदीश्वर है"।

इस रीति से ईश्वर जीव और प्रकृति के परस्पर सहयोगिता के आधार पर यह संसार चल रहा है।

इन सारी बातों का स्पष्ट शब्दों में मन्त्र ही उपदेश करते हैं। अतएव मन्त्र भी ऋषि कहे जाते हैं।

७—अब यजुर्वेद के सातवें प्रमाण का अध्ययन करना चाहिये।

ऋषीणाम्पुत्रो अभिशस्तिपावा।
य० ५।४

बुराइयों को दूर करने वाले ऋषियों का पुत्र।

इस मन्त्र भाग में ऋषि शब्द का विद्वान् अर्थ किया गया है, किन्तु विद्वानों में भी जो अग्निहोत्री होते हैं, उन्हीं का अर्थ इस स्थल में सुसंगत प्रतीत होता है।

इस अर्थ के अनुसार अग्निहोत्री भी ऋषि होता है। इस प्रसंग में एक बात पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है कि अग्निहोत्री कहने का तात्पर्य वेदों के ज्ञाता अग्निहोत्री ऋषि होते हैं, ऐसा समझना चाहिये।

८—अब यजुर्वेद के आठवें प्रमाण पर दृष्टि पात करना चाहिये।

त्वामद्य ऋष आर्षेय ऋषीणाम्-नपात्
य० २१।६१

हे मन्त्रों के द्रष्टा ऋषे!

हे आर्षेय-यजमान! (ऋषीणाम् नपात्) हे ऋत्विजों के पुत्र। आज तेरा वरण किया जाता है।

इस मन्त्र भाग में तीन पद अपने२ अर्थ के प्रतिपादन करने वाले पाये जाते हैं। जिनमें ऋषि पद का सन्निवेश है। यथा—

ऋषे, आर्षेय ! ऋषीणाम् । इन तीनों ही पदों का क्रमशः मन्त्र द्रष्टा, यजमान और ऋत्विक् अर्थ मिलता है ।

इस प्रमाण से यजमान और ऋत्विग् भी ऋषि सिद्ध होता है ।

इन आठ प्रमाणों को मैंने केवल यजुर्वेद से उद्धृत किया है । इनके आधार से ऋषि शब्द के अर्थों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है ।

अब आगे ऋग्वेद से भी कुछ प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं ।

ऋषयः पूर्वे ऊतये जुह्विरे ऽवसे महि ।
ऋ० १ । ४८ । १४

पुरातन मन्त्र द्रष्टा ऋषियों ने तेरी स्तुति की है ।

इस मन्त्र में मन्त्रों को साक्षात् करने वाले को ऋषि कहा गया है । यहाँ "पूर्वे" पद का पुरातन अर्थ है । इस भाग से नये और पुराने दो प्रकार के ऋषि होते हैं, ऐसा आभास मिलता है । ऋग्वेद के प्रारम्भ में ही इस अर्थ का अनुमोदन करने वाला एक मन्त्र है । यथा—

१—अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत । १।१।२

नये और पुराने दोनों ही प्रकार के ऋषि अग्नि की परिभाषा करते हैं ।

ऋग्वेद का दूसरा प्रमाण भी इसी अर्थ का प्रति-पादन करता है । जैसे—

२—अन्वेनं विप्रा ऋषयो मदन्ति । १ १६२ । ७

विप्र ऋषि लोग इसका अनुमोदन करते हैं ।

विप्र शब्द का इन्द्रियातीत विषय का साक्षात् करने वाला अर्थ है ।

तात्पर्य यह निकलता है कि मंत्र भी प्रारम्भ में इन्द्रियातीत ही होते हैं और ऐसी अवस्था में उनको साक्षात् करने वाले मनुष्य विशेष ऋषि हैं ।

अब आप ऋग्वेद के तीसरे प्रमाण का अनुशीलन करें ।

३—षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति ।
१ । १६४ । १५

सूर्य की गर्मी अथवा पृथिवी की गति से नियमपूर्वक छः ऋतुएँ उत्पन्न होती हैं ।

ऋग्वेद के इस मन्त्रभाग ने बसन्त आदि ऋतुओं को ऋषि कहा है ।

ऋतुओं को ऋषि कहने का कारण यह है कि प्रति वर्ष नियम पूर्वक इनका आवागमन हुआ करता है । यहाँ यास्कर्य का अनुसरण करते हुए केवल गति अर्थ के आधार से इनको ऋषि कहा गया प्रतीत होता है ।

अब आप ऋग्वेद के चतुर्थ प्रमाण पर विचार करें ।

४—विरूपास इदृषयस्त इद् गम्भीरवेपसः । १०।६२।५

अर्थात् भिन्न भिन्न प्रकार के गहन से गहन क्रियाओं को प्रत्यक्ष करनेवाले ऋषि होते हैं ।

इस मन्त्र भाग का भाव यह है कि गहन से गहन क्रियायों का प्रत्यक्ष करने वाला ऋषि है । भिन्न प्रकार से गहन क्रियाओं को प्रत्यक्ष करने वाले हो सकते हैं ।

१—जिन्होंने प्रारम्भिक अवस्था में नाना प्रकार के नित्य और नैमित्तिक यज्ञों का आविष्कार किया हो ।

२—जिन्होंने विभिन्न प्रकार की औषधों की मात्राओं एवं उनके संयोगों तथा विभागों का आविष्कार किया हो ।

३—जिन्होंने औषधों से रोगों पर लाभ अथवा हानियों का आविष्कार किया हो ।

४—जिन्होंने नाना प्रकार की धातुओं और उन से होने वाले लाभों का आविष्कार किया हो ।

५—जिनके द्वारा सामाजिक,—आर्थिक, और राजनैतिक व्यवस्थाओं का निरूपण किया गया हो ।

६—जिन्होंने प्राकृतिक प्रभावों का प्रत्यक्ष किया हो, आदि आदि ।

फलतः इस मन्त्र से आविष्कारक मात्र को ऋषित्व पदवी की प्राप्ति का संकेत मिलता है ।

अब आप ऋग्वेद के पाँचवे और अन्तिम प्रमाण पर दृष्टि पात करें ।

५—वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः ।

चलने वाली बुद्धि के लिये हित करने वाली और प्रकाश देने वाली सूर्य की किरणें इन्द्र के समीप गईं ।

इस मन्त्रांश में सूर्य की किरणों को ऋषि कहा गया है । इस अर्थ की प्रवृत्ति का निमित्त देखना अथवा देखने का साधन होना मात्र ही प्रतीत होता है । अर्थात् देखने अथवा देखने का साधन होने से सूर्य की किरणें भी ऋषि हैं ।

अब मैं अथर्ववेद के एक दो प्रमाणों को उपस्थित कर इस प्रथम प्रवाह का उपसंहार करना चाहता हूँ ।

इस लेख माला के प्रारम्भ में अथर्ववेद का एक मन्त्र मंगलाचरण के रूप में मैंने उपस्थित किया है। उस मन्त्र में इन्द्रियों को ऋषि कहा गया है। इन्द्रियों को ऋषि कहते हुए मन्त्र ने यह भी कह दिया है कि—"चक्षुर्यदेषा-म्मनसश्च सत्यम्"। इन इन्द्रियों में मन से भी सच्ची आँख है इत्यादि।

मन से बढ़कर आँख को सत्य कहने का तात्पर्य यह कि आँख से साक्षात् हो जाने पर किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता शेष नहीं रह जाती। इस लिये मन्त्र ने मन से बढ़ कर आँख को सत्य के रूप में व्यक्त किया है।

आगे आप अथर्ववेद के एक ही सूक्त पर और ध्यान दें तो, इस अर्थ पर अधिक प्रकाश आजाने की सम्भावना है। तथाहि—

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम् ॥ १ ॥
अपानाय व्यानाय प्राणाय भूरि धायसे।
सरस्वत्या उरुव्यचे विधेम हविषा वयम् ॥ २ ॥

मा नो हासिषु ऋषयो दैव्या
ये तनूपा ये नस्तन्वस्तनूजाः।
अमर्त्या मर्त्यां अभि नः
सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः ॥३॥

अ० ६। ४१।

अथर्ववेद के इस सूक्त में मन चेतना बुद्धि, आकूति चित्त, मति श्रुति—कान, वाणी, प्राण, अपान, व्यान, और सरस्वती आदि सब के सब ऋषि हैं। सूक्त के अन्तिम मन्त्र में यहां तक कह डाला है कि जो दैवी शक्ति के रूप में हमारे शरीरों की रक्षा करने वाले ऋषि हैं और जो हमारे शरीर से ही उत्पन्न होने वाले ऋषि हैं, जिनको हम अमर्त्य = नहीं मरने वाले और मर्त्य = मरने वाले भी कह सकते हैं, वे सब के सब हमारे जीने के लिये आयु प्रदान करें।

इन मन्त्रों में बाह्य और आभ्यन्तर दोनों इन्द्रियों प्राणादि तथा सरस्वती के साथ साथ सम्पूर्ण दैवी शक्तियों को भी ऋषित्व प्रदान किया गया है।

इस दृष्टि से अध्ययन करने पर सूक्तों के द्रष्टा तथा आत्मा भी ऋषि हैं ऐसा लेख मिलता है।

मेरी समझ से ऋषि शब्द के अर्थ पर पर्य्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। यदि इन सम्पूर्ण अर्थों को एकत्रित कर दिया जाय तो इस शब्द के निम्न लिखित अर्थ संगृहीत होते हैं।

१—सृष्टि के प्रारम्भिक काल में वेदों को साक्षात् करने वाले, आदि कालीन महापुरुष ऋषि हैं।
२—आकाश सञ्चारी वायु ऋषि है।
३—शरीर सञ्चारी प्राणादि वायु ऋषि हैं।
४—संसार का अधिष्ठाता जगन्नियन्ता ऋषि है।
५—दूध देने वाली गायें ऋषि हैं।
६—वेद मन्त्रों के व्याख्याता ऋषि हैं।
७—प्राणीमात्र के कर्तव्यों के उपदेष्टा मन्त्र भी ऋषि हैं।
८—वेदों को जानने वाले विद्वान् भी ऋषि होते हैं।
९—यजमान और ऋत्विज् भी ऋषि हैं।
१०—नित्य नूतन आविष्कार करने वाले ऋषि होते हैं।
११—सूर्य की किरणें ऋषि कहलाती हैं।
१२—वसन्त आदि ऋतुएं भी ऋषि हैं।
१३—आकाशीय संसार की वसिष्ठ आदि तारायें ऋषि हैं।
१४—बाह्य और आभ्यन्तर भेद भिन्न इन्द्रियां भी ऋषि हैं।
१५—वेद मन्त्रों के विनियोक्ता ऋषि हैं।
१६—वसिष्ठ आदि नामधारी महात्मा ऋषि होते हैं।
१७—कवि निबद्ध वक्ता भी ऋषि होता है।
१८—वेदों के सूक्तों तथा मंडलों के द्रष्टा भी ऋषि होते हैं।
१९—वेद मन्त्रों के देवता भी ऋषि हैं।

उपरोक्त सम्पूर्ण विचारों का मथितार्थ यह निकलता है कि ऋषि शब्द रूढ़ि नहीं अपितु यौगिक है, और व्यक्तिविशेष, अथवा जाति विशेष का अर्थ कभी भी नहीं करता।

पुरुषों के समान स्त्रियों को भी यह उपाधि प्राप्त हो सकती है।

ऋग्वेद प्रथम मण्डल के १२६ वें सूक्त के भीतर रोमशा ब्रह्मवादिनी भी एक मन्त्र की ऋषिका है। इसी मंडल के १७९ वें सूक्त के अन्दर "लोपामुद्रा" प्रथम और द्वितीय मन्त्र की ऋषिका है।

पञ्चम मंडल के २८ वे सूक्त की ऋषिका विश्ववारा अत्रि ऋषि की कन्या अथवा शिष्या है।

अष्टम मंडल के ३४ वें मन्त्र की ऋषिका अङ्गिरा ऋषि की कन्या शश्वती है।

इसी मंडल के ९१ वें सूक्त की ऋषिका अत्रि ऋषि की कन्या अपाला है।

इसी प्रकार से अदितिः, इन्द्रस्नुषा, वसुक्रपत्नी, घोषा, सूर्या, सावित्री इन्द्राणी, उर्वशी और यमी आदि ऋषिकाओं के नाम मिलते हैं।

ऋषि शब्द के अर्थों पर पूर्वापर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह पद अनेकार्थक है। मन्त्रों की परिस्थिति जैसी होती है, इस पद का वैसा ही अर्थ हो जाया करता है। साथ ही वेदमन्त्रों के पद नित्य अर्थ का ही प्रतिपादन करते हैं, अनित्य अर्थ का नहीं॥

वेद की एक पहेली सरमा दूती

(ले०—श्री पं० चन्द्रमणि जी विद्यालंकार, पालीरत्न, देहरादून)

ऋग्वेद के दशम मण्डल का १०८वाँ सूक्त सरमा-पणिसूक्त है। इसमें सरमा और असुर पणियों (दुष्ट बनियों) का संवाद है। यह संवाद ११ मंत्रों में वर्णित है। १, ३, ५, ७, ९, इन पांच मंत्रों के ऋषि असुरपणि हैं और शेष ६ मंत्रों की ऋषि सरमा देवशुनी है। इसी प्रकार इसके विपरीत १, ३, ५, ७, ९ मंत्रों का देवता तो सरमा, देवशुनी है और शेष के देवता असुरपणि हैं। ऐसे स्थलों में ऋषि का अभिप्राय वक्ता और देवता का अभिप्राय प्रतिपाद्य विषय हुआ करता है। सो प्रस्तुत संवाद में दोनों वक्ता, बारी २ से दूसरे के बारे में कुछ कह—पूछ रहे हैं इसलिए एक जगह जो ऋषि (वक्ता) है दूसरी जगह दूसरा देवता (विषय) है।

सूक्त का संक्षिप्त कथानक इस प्रकार है कि असुर बनिये देवों से गवादि धन को हर ले गये और किसी दूरवर्ती दुर्गम स्थान में छिपा दिया। देवराज इन्द्र ने उनके पास सरमा को देव-दूती बना कर भेजा, तब उन असुर बनियों और सरमा में परस्पर बात चीत होती है, और अन्त में असुरों से धन छीन कर देवों में बाँट दिया जाता है।

संवाद या सूक्त की पहेली को बूझने के लिए देवशुनी सरमा, देवराज इन्द्र और असुरपणि कौन हैं, इनका ज्ञान लेना अत्यावश्यक है। इन तीनों के स्वरूप का निश्चय हो जाने पर ही वेद की उपर्युक्त पहेली खुल सकती है, अन्यथा नहीं।

ब्राह्मण ग्रन्थ में 'वाग् वै सरमा' लिखते हुए सरमा का अर्थ वाक् किया है। यह वाणी राज्य में सर्वत्र प्रसरण करती है, इस लिए राज घोषणा को इस सूक्त में सरमा कहा गया है। आचार्य यास्क ने निरुक्त में सरमा का निर्वचन सरणात् किया है।

'शुनी' दूती का वाचक है, जिसका काम किसी के संदेश को ले जाना है। शुनी और दूती ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक अन्वर्थक 'श्वि' और 'दु' धातुओं से बने हैं। इसी लिए उक्त सूक्त के २, ३, ४ मंत्रों में स्पष्ट तौर पर सरमा को 'दूती' कहा है। सायणादि भाष्यकारों ने वेदोक्त मर्म को न समझ कर शुनी का अर्थ कुतिया करके सरमा को देवों की कुतिया माना है, यह उनकी भयंकर भूल है।

देव कहते हैं श्रेष्ठ को आर्य को। और श्रेष्ठ जनों के राजा के लिए इन्द्र शब्द का प्रयोग होता है। 'इन्धे भूतानि' यह प्राणिमात्र का कल्याण करना तथा उन्हें प्रकाशित बनाना है और मनुष्य मात्र को तत्त्व विद्या के प्रकाश से प्रकाशित करना है। यही कारण है कि प्राचीन काल में आर्य राजाओं को इन्द्र नाम से पुकारा जाता था। यदि सृष्टि त्रिविष्टप (तिब्बत) में हुई थी और वे सब के सब आर्य (श्रेष्ठ) ही थे, इसलिए तिब्बत के आर्य राजाओं को आदि कवि वाल्मीकि के रामायण में इन्द्र कहा है। इसलिए वेदोपदिष्ट आज्ञाओं पर चलने वाले देवजनों के राजा को इन्द्र कहा गया है। जैसे लोक में 'मंचाः क्रोशन्ति' का अर्थ 'मंचस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति' हुआ करता है, इसी प्रकार प्रस्तुत प्रकरण में लक्षणा द्वारा

सरमा (राज घोषणा) का अर्थ राज घोषणा वाहक देवराज इन्द्र का दूत (सरमा- देवशुनी या सरमा देवदूती) है।

असुरपणि वे दुष्ट अनार्य बनिये हैं जो छल से कपट से दम्भ से झूठ से या दूसरों का हक छीन उनका खून चूस कर आर्यों (श्रेष्ठ जनों) का अतुल धन हर लेते हैं, और फिर उस अतुल ऐश्वर्य के मद से राज्य में दुराचार—पापाचार फैला कर राज्य को नष्ट—भ्रष्ट करने का कारण बनते हैं। ऐसों के सम्बन्ध में वेद ने जगह २ पर राजा को आज्ञा दी है कि वह इन दुष्टों से छीन कर आर्य जनों में बाँट दे। जैसे कि ऋग्वेद के ३ मण्डल ५३ सूक्त १४ वें मंत्र में आदिष्ट किया है—

किन्ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो
नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्।
आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो
नैचाशाखं मघवन् रन्धया नः॥

हे इन्द्र राजा! अनार्य देशों में गौएँ तेरा क्या भला करती है? क्योंकि वे अनार्य लोग न तो दूध को दोहते हैं और न अग्निकुण्ड को सन्तप्त करते हुए यज्ञ करते हैं। इसलिए तू उन सदसत्तों से धन को छीन कर हम आर्यों में बाँट दे और ऐसा करके हम में से नीच वंश को चलाने वाले अनार्यों को सब तरह से वश में कर, ताकि राष्ट्र में नीच वंश न बढ़ने पावे।

ऐतरेय ब्राह्मण २,२ में लिखा है—'आसुरी वै दीर्घजिह्वी देवानां प्रातःसवनम् अवालेट्' दुष्ट बनियों की लम्बी जीभ देवों की यज्ञहवि तक को चाट लेती है। यही भाव वेद के 'न तपन्ति घर्मम्'से अभिव्यक्त होता है।

ऋग्वेद के इसी दसवें मण्डल का १०७वाँ सूक्त दक्षिणा सूक्त है, जिसमें दान के महत्त्व को दर्शाते हुए दानी आर्य जनों की प्रशंसा की गयी है। उससे अगला यह सरमा-पणि सूक्त है। इसलिए इसमें कृपण अनार्यों से संपत्ति छीन कर आर्यों में बाँट देने का विधान प्रकरण-संगत ही है। एवं, वेद के कथानककी पहेली खुल गयी। अब यदि पाठक सूक्त के ११ मंत्रों में वर्णित संवाद का रसास्वादन करेंगे, तो अनुभव करेंगे कि यह प्रकरण कितना रोचक, कितना अर्थस्पर्शी, कितना धन को लेकर राज्य में नित्यप्रति उत्पन्न होने वाली अखिल समस्यायों का एकमात्र सही हल है। यह साम्यवाद का सही स्वरूप है। लेख लम्बा न हो इसलिए उपर्युक्त भूमिका के साथ में इसे यहीं रख छोड़ता हूं, पाठकों को रुचिकर जँचा तो दूसरे लेख में मंत्रों की व्याख्या करूँगा॥

वेदार्थ और देवतावाद

ले०—श्री पं० ज्योतिःस्वरूप जी आचार्य, आर्ष गुरुकुल एटा

वेदार्थ ज्ञान के लिये देवता का ज्ञान उसी प्रकार आवश्यक है जैसे कि किसी वक्ता के भाषण को समझने के लिये उसके विषय का परिचय आवश्यक होता है। भाषण के विषय का ज्ञान किये बिना पूर्वापरसङ्गति–दृष्टान्त व उपसंहार का ठीक २ विवेचन नहीं हो सकता। सर्वानुक्रमणीकार ने इस बात को इन शब्दों में कहा है। "या तेनोच्यते सा देवता" २।५ अर्थात् मन्त्र जिस विषय का वर्णन करता है उसे देवता कहते हैं। "स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः" (मनु अध्याय २।७) महाराज मनु के इस प्रमाण के आधार पर, नहीं २ वेद में पदे २ स्पष्ट अनेक विद्याओं का वर्णन होने से, इस बात को प्रत्येक विचारक को मानना पड़ेगा कि वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है इस के अतिरिक्त वेदार्थ–प्रकार–बोधक परम प्रामाणिक आचार्य यास्क ने 'कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे' कहकर सब कर्मों का सम्पादक, अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त तथा शिल्प विद्यादि साधनों का वर्णन करने वाला वेद है, ऐसा निर्देश कर दिया है। इस से सिद्ध होता है कि परमात्मा ने हम जीवों के कल्याणार्थ वेद में अध्यात्म–अधिदैव–अधियज्ञ इन तीन प्रकार के अर्थों का उपदेश अनेक देवताओं के रूप में किया है और यास्क ने निरुक्त अध्याय १, पाद ६ में 'याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा' लिखकर अपने ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर मन्त्रों का व्याख्यान करते हुए इत्यधिदैवतम्, अथाध्यात्मम् कहकर तीनों प्रक्रियाओं का स्पष्ट वर्णन किया है। शांख्यायन गृह्यसूत्रकार ने भी २–१९ में अधिदैवमथाध्यात्ममधियज्ञमिति त्रयम्। मन्त्रेषु ब्राह्मणे चैव श्रुतमित्यभिधीयते॥ सब विषयोंका वर्णन वेद में निरूपित किया है। यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति। निरुक्त ७।११ अर्थात् सर्वद्रष्टा परमेश्वर ने जिस अर्थ को जिस मंत्र में निर्दिष्ट किया है वह उस मन्त्र का देवता है। इस वचन से यास्क ने देवतावाद का सिद्धान्त भी निर्धारित कर दिया है। यह देवता ज्ञान प्रायः मन्त्रों में पढ़े पदों से ही हो जाता है, किन्तु मन्त्र में जहां देवतावाचक पद पठित नहीं होता, वहां किस प्रकार ज्ञान किया जाये, इसके लिये यास्क ने निम्न संदर्भ में उपाय बताया है "यद्दैवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद् देवता भवन्ति, अथान्यत्र यज्ञात् प्राजापत्या इति याज्ञिका नाराशंसा इति नैरुक्ताः। अपि वा सा कामदेवता स्यात् प्रायोदेवता वाऽस्ति ह्याचारो बहुलंलोके देवदेवत्यमतिथिदेवत्यं पितृदेवत्यम्"। अर्थात् जिस यज्ञमें अनादिष्ट देवताक मन्त्र विनियुक्त होता है वही उस मन्त्र का भी देवता होता है, जैसे अग्निष्टोम यज्ञ में कोई मन्त्र विनियुक्त हुआ तो "आग्नेयोऽग्निष्टोमः" इस वचन के अनुसार उस अलिङ्ग देवताक मन्त्र का अग्नि देवता होगा तथा माध्यन्दिन यज्ञाङ्ग में जो मन्त्र विनियुक्त होगा। 'यो माध्यन्दिने स ऐन्द्रः' इस वचन से वह मन्त्र इन्द्र देवताक होगा। यज्ञ से अन्यत्र प्रजापति परमेश्वर देवता होता है तथा जो मन्त्र मनुष्यों के अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, उनके मनुष्य देवता हैं जो सभापति–विद्वान् आदि के नाम से हमें वेद के ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य में प्राप्त होते हैं। मन्त्रद्रष्टा ऋषि की इच्छानुसार उन मन्त्रों के अन्य देवता भी हो सकते हैं। प्रकरणानुसार अग्नि माता–पिता-अतिथि-आचार्य भी देवता होते हैं। इस सन्दर्भ को आगे न ले जाकर इतना कहना अभिप्रेत है, कि जब 'अपि वा सा कामदेवता स्यात्,' यह निर्देश देवता–ज्ञान के लिये कर दिया तब देवता–ज्ञान के अभिमानियों का यह कथन कि सर्वानुक्रमणी तथा बृहद्देवता ने जिन देवताओं का निर्धारण कर दिया है उनसे अतिरिक्त देवता नहीं माने जासकते, सर्वथा निःसार व भ्रमपूर्ण है। इस विषय में यद्यपि अनेकों प्राचीन, अर्वाचीन उदाहरण प्रमाण के लिये प्रस्तुत किये जा सकते हैं कि वेद-भाष्यकारों तथा अन्य विद्वानों ने अनेक मन्त्रों के देवता बृहद्देवता से सर्वथा भिन्न माने हैं किन्तु यहां विस्तार भय से एक उदाहरण ही दिया जाता है। तथा हि—

"चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्तहस्तासोऽस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो
मर्त्यां आविवेश॥ ऋग् ४।५८।३॥

इस मन्त्र में सर्वानुक्रमणीकार ने स्वयं ही विकल्प से अग्नि–सूर्य अपांहुति-घृतस्तुति ये देवता माने हैं। यास्क इस मन्त्र का देवता यज्ञ मानते हैं महाभाष्यकार शब्द कहते हैं। हां! देवताज्ञान के लिये कामदेवता की खुली छुट्टी का तात्पर्य यह कदापि नहीं कि जो चाहे वेद खोले और देवता कल्पित करता चले। इसके लिये महामुनि यास्क ने एक प्रतिबन्ध लगाया है "अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहः श्रुतितोऽपि तर्कतो न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः। न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा, यदेव किञ्चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति" पारोवर्यवित् अनूचान तपस्वी व्यक्ति ही नाना देवताओं की ऊहा आदि कर सकता है, अल्पबुद्धि–पक्षपाती व्यक्ति नहीं। इस उपर्युक्त स्पष्टीकरण और प्रतिबन्ध के आधार पर देवतावाद का यह सिद्धान्त वेदज्ञान को अनन्त सिद्ध करते हुए भी साधारण बुद्धिवालों को भटकने और धूर्तमति वालों को मनमानी कल्पना कर लेने से बलात् हटा देता है। ऋषि बुद्धि ही अनेक देवताओं की ऊहा कर सकती है। इसका विवेचन हो जाने पर यह विचार सामने आता है कि यह देवता चेतन हैं या अचेतन; क्या मनुष्यों के सदृश हाथ पैर वाले किसी एक स्थान पर निज पुत्र कलत्र आदि के साथ निवास करते हुए सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय में भी कारण बनते हैं? वेदार्थ ज्ञान में मन मानी कल्पना करने पर, वेदाङ्ग उपाङ्गों को बिना पढ़े ही वेदवक्ता बनने पर, वेद के स्थान पर अन्य पुराण आदि ग्रन्थों का सम्मान होने पर मध्य युग में अनेक चेतन देवों की कल्पना की गई और उनके भिन्न २ स्थान पदवी कार्य वाहन आदि नियत किये गये। कभी यमराज के और विष्णु के दूतों में विवाद होता है, तो कभी इन्द्र को अन्य व्यक्ति के तप से डर कर अपनी पदवी छिनने की चिन्ता होने लगती है। वेद में अग्नि-वरुण-मित्र-बृहस्पति आदि नामों को देखकर भी विश्वसञ्चालन में अनेक देवताओं का क्रियाकलाप परमात्मा की भांति माना जाने लगा। जड़ पदार्थों में भी अधिष्ठात्री देवता चेतन मानकर यत्र तत्र आवाहन उत्सर्जन आदि क्रियायें की जाने लगीं, इसके अतिरिक्त इन सभी देवताओं को प्रसन्न करने के लिये 'सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्' इत्यादि वचनों से सुरा देवी का अर्पण मूक पशुओं का नहीं नहीं ब्राह्मण को छोड़कर क्षत्रियों और वैश्यों का बलिदान 'वैश्यः पुरुषो राजन्यो वा (कात्यायनश्रौत० अ० १६ कं० १, १७) के प्रमाण के आधार पर अश्वमेध जैसे राष्ट्रिय यज्ञों में कात्यायन० अ० २० कं० ६, १६ में व्यभिचार का बीभत्स रूप वर्णित किया गया। प्राणीमात्र का हित साधन करने वाले यज्ञों के नाम पर किये गये इस सब हत्याकाण्ड और व्यभिचार के पीछे जहाँ वाममार्गी स्वार्थी व्यक्तियों का षड्यन्त्र है, वहाँ अन्धविश्वासी भक्तों की अज्ञानमयी श्रद्धा भी इसके मूल में निहित है। अन्यथा यह बात तो देवताओं की विशद व्याख्या प्रारम्भ करते हुये निरुक्तकार ने अध्याय ७। १। ४ में अपने एक ही वाक्य में स्पष्ट कर दी है तथा हि 'महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते' ऋ० १। २३। १६४। ४६ में 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' वह परमात्मा सर्वशक्तिमत्त्वादि अनेकविध ऐश्वर्यों के होने से एक होते हुये भी अनेक नामों से पूजित किया जाता है यजुर्वेद ३२। १ में 'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः' कह कर परमात्मा ने स्वयं ही इस समस्या को सुलझा दिया है। उपर्युक्तप्रमाणों से सिद्ध है कि विश्वनियन्ता एक प्रभु ही है अध्यात्म विद्या के वेत्ता भिन्न २ शक्तियों के कारण ही उसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, लक्ष्मी आदि नामों से पुकारते हैं अतः ब्रह्मा विष्णु आदि की पृथक् २ सत्ता मानना भ्रम मूलक है।

हाँ आधिदैविक प्रक्रिया में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, वायु, सूर्य विद्युत् वाचक वर्णित किये गये हैं। इन्हीं के स्थान वाहन, स्त्री आदि का वर्णन आलङ्कारिक रूप में है। पौराणिक जगत् में इन देवताओं का भ्रान्त वर्णन केवल वैदिक कोश निघण्टु का अध्ययन न करके लौकिकार्थ के साथ समन्वित कर देने से ही हुआ। वास्तव में यह भूल ही वेदार्थ न समझ कर मतमतान्तरों की सृष्टि व आर्य जाति के सर्व नाश का मूल हुई। यास्क ने विष्णु शब्द को द्युस्थानी देवताओं में पढ़कर अध्याय १२। २। १९ में सूर्य अर्थ किया है। सूर्य सुपर्ण (किरणों) के द्वारा लोक लोकान्तरों में अपना प्रकाश पहुंचाता है, यह किरणें अहि (मेघों) को छिन्न भिन्न कर देती हैं। सूर्य से ही विश्व में लक्ष्मी (शोभा) की वृद्धि होती है सूर्य प्रलय होने पर भी सर्वतः शेष रहने वाले प्रभु के आधार पर 'समुद्रवन्ति यस्मादापः' समुद्र अर्थात् आकाश में वर्तमान रहता है और चारों ओर प्रकाश करता हुआ चतुर्भुजरूप धारण कर 'त्रेधा निदधे पदम्' पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्युलोक में भ्रमण करता है। इस बात को किसी देवताओं के सृजनहार ने विष्णु को चार भुजाओं वाला देव बनाकर इसका सुपर्ण, जिसका लौकिक संस्कृत में गरुड़ अर्थ है अहि (सर्प) भक्षक वाहन बनाया। और क्षीर सागर में शेष

नाग की शय्या पर विराजमान विष्णुजी के लक्ष्मी जी चरण दबा रही हैं ऐसा स्वरूप दिखाया। इसी प्रकार महादेव और ब्रह्मा के स्वरूपों की भी कल्पना की गई वास्तव में आधिदैविक अर्थ की दृष्टि से निरुक्तकार तीन देवताओं का वर्णन करते हैं, अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः, तासां माहाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि वा कर्मपृथक्त्वात्" अग्नि इन्द्र सूर्य के गुण व कर्म के पृथक् २ होने से इनके ही अनेक भेद हो जाते हैं। याज्ञिकों की दृष्टि से व्यवहार रूप में यद्यपि पृथक् २ स्तुति होने से भिन्न २ देवता होते हैं, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से स्थान व भोग के समान होने से एकता ही समझनी चाहिये। जैसे पृथिवी पर मनुष्य पशु अग्नि आदि समान स्थान होने के कारण एक गिने जा सकते हैं, इसी प्रकार अन्तरिक्ष का पार्थिव अग्नि तथा आदित्य अग्नि के साथ सम्भोग होने से एकत्व माना जा सकता है

इसे और अधिक सूक्ष्म दृष्टि से विचारा जाये तो 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' के अनुसार सब चराचर जगत् एक प्रभु की शक्ति से ही अनुप्राणित हो रहा है, इसलिये एक ब्रह्म ही देवता है।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने शतपथ ब्राह्मण काण्ड १४ अ० ६ ब्रा० ९ में शाकल्य को उत्तर देते हुये अनन्त-तेतीस, ६, ३, २ अध्यर्ध और एक देव का वर्णन किया है यह देवताओं का भिन्न २ संख्या संकलन भी उपर्युक्त प्रकार से ही है, इनमें मुख्य वृत्ति से उपास्य इष्ट देव एक प्रभु ही है, अन्य सब गौण वृत्ति से देव कहाते हैं।

इन देवों के विग्रहाविग्रहत्व चेतनाचेतनत्व पर विचार करते हुए यास्क ने बहुत सुन्दर निर्देश किया है "यथो एतच्चेतनावद्धि स्तुतयो भवन्ति अचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते" "यथो एतत्पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्ते" अर्थात् अचेतन पदार्थों में चेतनवत् तथा पुरुषसदृश अङ्ग मान कर वर्णन किया गया है, अतः जड़पदार्थों में चेतन अधिष्ठात्री देवता की कल्पना सारहीन है, हाँ चेतन उपास्य देव परमात्मा के अतिरिक्त माता-पिता-आचार्य-अतिथि विद्वान्-सभापति आदि देवता पुरुषाकार हैं ही, इस बात को अपि वोभयविधा स्युः से प्रतिपादित किया है।

मध्ययुग में देवताओं का निवासस्थान स्वर्ग बताने के साथ२ वेदों को केवल यज्ञसाधक ही सिद्ध किया गया, और इसके लिये अनेक ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इसपर यदि यह कह दिया जाये कि वेदों में केवल याज्ञिक प्रक्रिया के वर्णन ने ही वेदों का महत्व नष्ट कर दिया तो अत्युक्ति न होगी। अज्ञानवश यज्ञ से केवल अदृष्टफल और 'स्वर्गकामो यजेत' का भ्रान्त अर्थ लगाकर याज्ञिक प्रक्रिया का सत्य स्वरूप भी लुप्त कर दिया। उपर्युक्त अधिष्ठात्री देवता भी यज्ञ का वास्तविकस्वरूप न समझने से उलझ गई। यज्ञ शब्द 'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' से व्युत्पन्न होता है। पञ्चमहायज्ञ अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त यज्ञ तथा शिल्पादि क्रियाएँ यज्ञ शब्द से संगृहीत होती हैं और यदि दुर्जनतोषन्याय से केवल अग्निहोत्रादि को ही यज्ञ शब्द मान लिया जाये, तब भी अदृष्ट फल ही मानना बुद्धि सङ्गत न होगा क्योंकि यज्ञ का प्रयोजन वायु शुद्धि तथा "यज्ञात् भवति पर्जन्यः" के अनुसार प्रायः वृष्टि होना प्रत्यक्ष दृष्ट फल हैं और मन्त्रोच्चारण करते समय अर्थ विचार से आत्मिक लाभ तथा प्रत्युपकार की भावना के बिना परोपकार साधन ये अदृष्टफल हैं, हाँ स्वर्गकामो यजेत के आधार पर जो स्थान विशेष की प्राप्ति मानी गई तथा उसका अध्यक्ष इन्द्र महाराज को कल्पित कर अनेक देवताओं का गमनागमन और नारद मुनि का स्वर्ग में पदार्पण आदि आख्यायिकाओं का ग्रन्थन किया गया, यह कहाँ तक सत्य है, यह विचार अवश्य अपेक्षणीय है। देवता-संकलन में यद्यपि इस पर कुछ कहा जा चुका है किन्तु स्थान निर्णय अवशिष्ट है स्वर्ग के सम्बन्ध में मीमांसा अ० ६। १ में "द्रव्याणां कर्मसंयोगे गुणत्वेनाभिसम्बन्धः" सूत्र पर भाष्यकार शबर स्वामी ने अति विस्तृत शास्त्रार्थ लिखते हुए दर्शाया है।

"ननु स्वर्गशब्दो लोके प्रसिद्धो विशिष्टे देशे। यस्मिन्नोष्णं, न शीतं, न क्षुद् न तृष्णा पुण्यकृत एव प्रेत्य तत्र गच्छन्ति नान्ये। अत्रोच्यते। यदि तत्र केचिद् मृत्वा न गच्छन्ति, तत आगच्छन्त्यजनित्वा वा, न तर्हि स प्रत्यक्षो देश एवंजातीयकः। नाप्यनुमानाद् गम्यते। नान्येन। तस्मादेवं जातीयको देश एव नास्ति। ननु च लोकादाख्यानेभ्यो वेदाच्चावगम्यते, देश एवंजातीयकः स्वर्ग इति, तन्न। पुरुषाणामेव विधेन देशेनासम्बन्धाद् प्रमाणं वचः। आख्यानमपि पुरुषप्रणीतत्वादनादरणीयम्। वैदिकमपि स्वर्गाख्यानं विधिपरं नास्त्येव तस्मात्प्रीतिसाधने स्वर्गशब्द इति।

उपर्युक्त प्रश्नोत्तरी से स्पष्ट है कि यज्ञक्रिया का प्रमाणभूत ग्रन्थ मीमांसा स्वर्ग को प्रीतिविशेष सुख विशेष

प्रतिपादित कर रहा है, अतः उसमें रहने वाले इन्द्रादि की कल्पना तथा केवल अदृष्ट फल का वर्णन अनर्थक है। जब स्वर्ग ही नहीं रहा तो इन्द्रादि देव अन्य अधिष्ठात्री देवताओं का आवाहन और उत्सर्जन कहाँ से और क्यों किया जाये।

उपर्युक्त वक्तव्य से यह बात स्पष्ट होती है कि ऋषि बुद्धि वाले व्यक्ति मन्त्रप्रतिपाद्य विषयं देवताओं की ऊहा सर्वानुक्रमणी बृहद्देवतादि ग्रन्थों से भिन्न भी कर सकते हैं। वेदों में आध्यात्मिक-आधिदैविक-अधियज्ञ इन तीनों प्रक्रियाओं का वर्णन होने से वेद सर्वज्ञानमय हैं। ब्रह्मा-विष्णु आदि भिन्न २ देवता न होकर एक प्रभु की भिन्न २ शक्तियों के वाचक हैं, हाँ आधिदैविक जगत् में अग्नि-वायु-विद्युत्-सूर्य आदि भी विष्णु आदि नामों से गृहीत होते हैं। जड़ पदार्थों में अधिष्ठात्री देवता की कल्पना मिथ्या है। यज्ञों के नामपर सुरा-पान, मनुष्य व पशु बलिदान तथा व्यभिचार वाममार्गी स्वार्थी व्यक्तियों की धूर्तता है। देवता चेतन व अचेतन दोनों प्रकार के हैं। अचेतन देवताओं का वर्णन वेद ने अलङ्कार समझाने की दृष्टि से पुरुष सदृश अङ्गों को मान कर किया है। यज्ञ का व्यापक अर्थ होने से दृष्ट व अदृष्ट दोनों फल हैं। स्वर्ग स्थान विशेष नहीं सुख विशेष है।

यद्यपि महामुनि यास्क की देवतावाद की व्याख्या मध्य युग में भी विद्यमान थी और इसकी सङ्गति लगाने व वेदभाष्य में प्रयुक्त करने का स्वल्प साहस स्कन्दादि एक दो व्यक्तियों ने किया भी, किन्तु इसका कोई मूल्य न आँका गया। महर्षि दयानन्द ने उपर्युक्त सभी सिद्धान्तों पर भली प्रकार विवेचन करके हमारे लिये वेद पर विचार करने का, नहीं २ वेद ज्ञानको प्राप्त कर सभी शिल्प विद्या-यज्ञादि सुख साधनों-अनेक आविष्कारों का अध्यात्म विद्या से आनन्द प्राप्त करने का मार्ग दिखला दिया, जिससे हम विश्व के सामने वेद को सार्वभौमिक-सार्वकालिक-सार्वजनिक-शाश्वत अनन्त ईश्वरीय ज्ञान के भंडार के रूप में रखकर अन्य कुरान-बाईबिलादि ग्रन्थों को खुली चुनौती दे सकते हैं। अतः हमें वेदों के पुनरुद्धारक आचार्य दयानन्द के दर्शाये हुए मार्ग को श्रद्धा भक्ति से पूर्णरूपेण पुरुषार्थ कर विश्व के सामने रखना होगा, तभी हम ऋषि के ऋण से उऋण हो सकेंगे और वेदों की ज्ञानधारा से स्वर्ग अमृत पान कर 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का उद्देश्य पूर्ण कर सकेंगे। इत्योम् शम् ॥

वेद कितने हैं ?

(लेखक—श्री पं० परमानन्दजी एम० ए०, शास्त्री अध्यक्ष संस्कृत-हिन्दी-विभाग, गवर्नमैण्ट कालेज, भटिण्डा)

प्राचीन ऋषियों और आचार्यों के अनुसार इस युग के सर्वोत्कृष्ट वेद-विज्ञाता तथा साक्षात्-कृतधर्मा-दयानन्द "वेदों की संख्या चार थी—चार है और चार ही रहेगी" ऐसा मानते हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद-इस रूप में वेद चार हैं। ऋषि की धारणा है कि यह चतुर्विध वेद-विभाग नित्य है और यह मनुष्यकृत नहीं, इन चारों वेदों के क्रम से चार मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं—ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान (देखिए ऋग्वेदादि भा० भूमिका,)। इन चार संहिताओं के चार नामों का अर्थ—(व्याकरणानुसार) इस प्रकार हैः—

(१) ऋक्—ऋचन्ति = स्तुवन्ति पदार्थानां गुणकर्मस्वभावान् अनया सा ऋक्। अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थों के गुण-कर्म-स्वभावों का प्रतिपादन किया जाय, उसे 'ऋक्' कहा जाता है।

(२) यजुः—यजन्ति येन मनुष्याः (ईश्वरं धार्मिकान् विदुषश्च) पूजयन्ति; शिल्प-विज्ञानसंगतिकरणं च कुर्वन्ति—शुभ-विद्यागुणदानं च कुर्वन्ति तत् यजुः। अर्थात् जिसके द्वारा मनुष्य ईश्वर तथा विद्वानों की पूजा करें; वा शिल्प-विज्ञान आदि अनेक सद्गुणों से सम्पर्क पैदा करें; अथवा शुभ विद्याओं और गुणों का प्रसार—दान करें उन्हें 'यजुः' कहते हैं।

(३) साम—स्यति कर्माणि यत् तत्। कार्य-कर्त्तव्यों को चरम सीमा-पराकाष्ठा तक पहुँचाने का मार्ग-दर्शक साम है।

(४) अथर्व—थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः (निरुक्त ११-१८) तथा—चर् संशये (चुरादि) अर्थात् जिसके द्वारा—(ज्ञान तथा अनुष्ठान से) सब संशयों की निवृत्ति हो।

इन शब्दों की इस प्रकार की व्याख्या इस लिए की गई है कि पाठकों को यह स्पष्ट अवगत हो सके कि ऋषि दयानन्द ने जो चार वेदों के चार विषय बतलायें हैं उनका समन्वय तथा समावेश इन संज्ञाओं में हो सके—वे चार विषय हैं—"विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्ड।" इन का तात्पर्य यह है कि ऋग्वेद का प्रतिपाद्य विषय है विज्ञान, यजुर्वेद का धार्मिक, आत्मिक तथा व्यावहारिक सारा कार्य-कलाप, सामवेद का उपासना–भक्ति अर्थात् भगवत्-सायुज्य प्राप्ति, और अथर्ववेद विविध विशेष विज्ञानों में प्रवीणता प्राप्त करवाता है।

क्या प्रारम्भ में एक ही वेद था ?

कई विद्वान् ऐसा मानते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ में वेद एक था—अर्थात् अविभक्त था। दुर्गाचार्य, भट्टभास्कर और महीधर सरीखे विद्वान् ऐसा ही मानते हैं कि प्रारम्भिक एक वेद ही था, जिसका प्रकाश ब्रह्मा को हुआ। इसके अनन्तर द्वापर युग में उसी एक वेद को चार पुस्तकों में विभक्त कर दिया गया। परन्तु यह विचित्र बात है कि इस कपोल-कल्पना के लिए उन्हों ने कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया। यह भी उन्हों ने बतलाया है कि चार भागों में वेद का विभाग वेदव्यास ने किया था, क्योंकि उस महात्मा का वास्तविक नाम कृष्ण द्वैपायन था परन्तु वेद-विभाग-कर्ता होने के कारण—वेदों का व्यास करने के कारण उसे वेद-व्यास कहा जाने लगा।

परन्तु इन विद्वानों की यह धारणा सर्वथा प्रमाण-शून्य होने से अप्रमाण है। हम देखते हैं स्वयं वेदों में (जो सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकाशित हुए) स्पष्ट चार वेदों का पृथक् पृथक् होना कहा गया है। जैसेः—

> तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत
> ऋचः सामानि जज्ञिरे।
> छन्दा ꣳ सि जज्ञिरे तस्मात्
> यजुस्तस्मादजायत ॥

ऋग्वेद १० । ९० । ९ ॥
यजुर्वेद ३१ । ७ ॥

अर्थात् "उस पूजनीय (यज्ञ) तथा सब के द्वारा पुकारे जानेवाले (सर्वहुत), भगवान् से ऋक् और साम उत्पन्न हुए। यजुर्वेद और छन्द (अथर्ववेद) भी उसी से प्रकाशित हुए हैं।"

यह मन्त्र ऋग्वेद और यजुर्वेद में पाया जाता है। अथर्ववेद में भी निम्नलिखित मन्त्र वेदों के चार विभागों का निर्देश स्पष्ट कर रहा हैः—

> यस्मात् ऋचो अपातक्षन्
> यजुर्यस्मादपाकषन्।
> सामानि यस्य लोमानि
> अथर्वाङ्गिरसो मुखम्।

"उस स्कम्भ (सर्वाधार भगवान्) से ऋचाएं उत्पन्न हुईं; उसी से यजुर्वेद उत्पन्न हुआ; सारे साम (सामवेद के मन्त्र) जिसके लोम हैं; अथर्ववेद जिसका मुख है।"

इसके अतिरिक्त अथर्ववेद के निम्ननिर्दिष्ट मन्त्रों में स्पष्ट "वेदाः" ऐसा बहुवचन में पढ़ा गया है—एक वचन में नहीं। यदि वेद एक अविभक्त होता तो एक वचन में "वेदः" ऐसा कहा जाता "वेदाः" ऐसा बहुवचन न होताः—

(१) अथर्ववेद ४। ३५। ६ ॥
(२) ,, १९। ९। १२ ॥

इससे स्पष्ट हो जाता है सृष्टि के प्रारम्भ में ही वेद चार थे—बाद में व्यास के द्वारा चार नहीं किये गये। और देखिए—नीचे लिखे अन्य ग्रन्थों के उद्धरण भी वेदों का चार होना ही व्यक्त करते हैं।—

(१) एव वा अरे महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः।

(शतपथ १४। ५। ४। १०)

अर्थात् उस महान् सत्ता के ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद श्वास प्रश्वास (के समान) हैं।

(२) इसी प्रकार गोपथ (१। ३। १) ब्राह्मण में चारों वेदों का पृथक् पृथक् नाम लेकर बाद में "सर्वांश्च वेदान्" बहुवचन में निर्देश भी किया गया है।

(३) निरुक्त में यास्काचार्य लिखते हैंः—
"यदेनमृग्भिः शंसन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति, सामभिः स्तुवन्ति" (निरुक्त ११। ७) अर्थात् ऋक्, यजुः, और साम से उसी (प्रभु का) कीर्ति गान किया जाता है।

(४) काठक संहिता (४०।७) में भी इसी प्रकार कहा गया है:—

"ऋग्भिः शंसन्ति, यजुर्भिः यजन्ति,
सामभिः स्तुवन्ति, अथर्वभिः जपन्ति ॥"

इसका अर्थ पूर्व के समान है।

(५) मुण्डक उपनिषद् में भी चार वेद अलग अलग कहे गये हैं:—

"तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दोज्योतिषम्"
(मुण्डक १।१।५)

(६) मनुस्मृति के नीचे लिखे श्लोक में भी ऐसा ही कहा गया है:—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थ ऋग्यजुः सामलक्षणम्
(१।२३)

अर्थात्—अग्नि, वायु और रवि से ऋक् यजुः और साम उत्पन्न हुए॥

(७) पतञ्जलिमुनि अपने व्याकरण महाभाष्य में स्पष्ट घोषित कर रहे हैं कि वेद चार ही हैं:—
चत्वारो वेदाः, साङ्गाः, सरहस्याः, इत्यादि॥

(८) रामायण में श्री रामचन्द्र जी हनुमान् की शुद्ध संस्कृत भाषा पर प्रसन्न होकर लक्ष्मण जी से हनुमान् जी के गुण दिखलाते हुए कहते हैं:—

नानृग्वेदविनीतस्य, नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं प्रभाषितुम्॥
(रामायण ४।३।२८)

अर्थात् हनुमान् जी की वक्तृता ऐसी है, जिसे कोई मनुष्य जो ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का विद्वान् नहीं; नहीं बोल सकता॥

ये सब ग्रन्थ वेदव्यास से बहुत पूर्व के हैं। इन में स्पष्ट घोषित किया गया है कि वेद पृथक् पृथक् चार ही थे। और इसके अतिरिक्त जब स्वयं वेद अपने मुख से घोषणा करते हैं कि हम चार और चार ही हैं, तब दुर्गाचार्य और महीधर आदि भ्रान्त विद्वानों की कल्पना कि प्रारम्भ से एक ही चले आ रहे वेद का चार भागों में विभाजन महर्षि व्यास ने किया, कैसे मानी जा सकती है। इसके अतिरिक्त हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि जब वह अत्यन्त साधारणविख्यात धारणा—भी महीधर और दुर्ग आदि को विदित न हो सकी, उनका वेद विषय में कितना अधूरा ज्ञान था, यह स्पष्ट समझ में आ जाता है। यही वेद सम्बन्धी अधूरा ज्ञान महीधर आदि विद्वानों के मिथ्या-भाष्य करने का हेतु बना था। इस लिए—"वेद चार थे—चार ही रहे और चार ही रहेंगे" यह एक अमर भावना सबको माननी और अपनानी चाहिये।

वेदों को तीन या "त्रयी" क्यों कहा जाता है?

अब हमें यहाँ इस विषय पर भी विचार कर लेना चाहिये। कुछ यूरोप के विद्वान् ऐसा मानते हैं कि वेद वास्तव में चार नहीं थे और न हैं। वेद तीन ही हैं। इसी लिए इन्हें "त्रयी" कहा गया है। परन्तु यूरोप के विद्वानों को इस भ्रान्त भावना का कारण भारतीय लोग ही हैं—यद्यपि भारतीयों को इसमें दोषी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इन यूरोप के विद्वानों ने भारतीय परम्परा को ठीक समझने का उचित प्रयत्न ही नहीं किया। इस मिथ्याधारणा का कारण मनु का यह पूर्वोक्त श्लोक ही है:—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं ऋग्यजुः सामलक्षणम्॥
(१।२३)

श्रीयुत म्यूर (Muir) इसका अर्थ करते हैं:—

"From Agni, vayu, and Ravi (Sun) He drew forth for the accomplishment of sacrifice, the eternal triple Veda, distinguished as Rik, Yajur and Sam"

इसका अर्थ स्पष्ट है।

(२) त्रयी वै विद्या ऋचो यजूंषि सामानि।
(शतपथ ४।६।७।१)

अर्थात् विद्या तीन प्रकार की है ऋक्, यजुः और साम। यह शतपथ का वचन है।

(३) य एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्।
(छान्दोग्य)

अर्थात्:—
जिसने इस "त्रयी" विद्या के लिए तप किया॥

ऊपर हम अनेक प्रमाणों से प्रमाणित कर चुके हैं कि वेद चार ही थे। परन्तु इन उल्लिखित वचनों में आये हुए "त्रयी" शब्द को यूरोप के विद्वान् पूरी तरह से—ठीक तरह से—समझ नहीं पाये। मनु तथा अन्य ऋषियों ने इन वचनों में वेदों का तीन होना नहीं कहा। उन्होंने तो

विद्याएँ तीन प्रकार की हैं, ऐसा कहा है। ये तीन विद्याएँ इन चारों वेदों में मिश्रित हैं। ऊपर लिखे **शतपथ और छान्दोग्य उपनिषत्** के वचनों में स्पष्ट कहा गया है कि यहाँ ऋग्-यजुः और साम से तात्पर्य तीन विद्याओं से है—तीन पुस्तकों से नहीं। इस धारणा का समर्थन मीमांसा में स्पष्ट कहा हुआ है। जैसेः—

तेषामृग्-यत्र छन्दोवशेन पाद-व्यवस्था। (२।१।३५)

गीतिषु सामाख्या (२।१।३६)

शेषे यजुः शब्दः (२।१।३७)

अर्थात्:—

जहाँ पाद-व्यवस्था छन्द के आधार पर हो उसे ऋक् कहते हैं।

गीति (संगीत) का नाम साम है।

शेष-सब यजुः है।

अतः यह त्रयी विभाग तीन प्रकार की विद्याओं को प्रकट करता है; जो चारों वेदों में मिश्रित है। यही नहीं कि इस पक्ष को सब भारतीय मानते हैं, प्रो० H. Kern (यूरोप के विद्वान्) भी इसी का समर्थन करते हैं:—

"When the Hindus speak of the three Vedas, that means that there is a triple Veda consisting (1) of recited verses (Rich); (2) of verses sung (Saman) and (3) of formulas in prose (yajus); all these words being comprehended under the name of "Mantras". Aletogether indepedent of three sorts of Mantras is the number of collections of them. Though there were a hundred collections of Mantras, the Veda is and remains threefold············It does not mean to be proved that we must know the principle on which any distinction proceeds before we can deduce any conclusion from numbers."

इसका तात्पर्य यह है किः—

"जब हिन्दु वेदों को तीन (त्रयी) कहते हैं तो उनका भाव यह होता है कि (सम्पूर्ण) वेद तीन प्रकार का है (१) छन्दो बद्ध रचना (ऋक्); (२) ऐसे छन्द जो गाये जा सकें (साम); (३) और तीसरा (यजु) जहाँ गद्यमय रचना हो; ये तीनों प्रकार की रचना को "मन्त्र" कहा जाता है। संहिताओं का विभाग इस आधार पर नहीं किया गया; वह स्वतन्त्र आधार पर है। मन्त्रों की सैकड़ों संहिताएँ बन सकती हैं, परन्तु वेद (की रचना) तीन प्रकार की ही है और रहेगी। (इत्यादि)॥

इस लिए जो लोग वेदों की संख्या तीन मानते हैं या घोषित करते हैं वे भ्रान्ति में है। वेद प्रारम्भ से (अनादि काल से) ही चार हैं। अथर्ववेद उसी प्रकार वेद है जैसा कि अन्य तीन वेद। हम इस विषय में वेद के अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग सहस्रों प्रमाण दे सकते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि अथर्ववेद की प्रतिष्ठा किसी भी अन्य वेद से कम नहीं, इसका प्रतिपाद्य विषय भी बहुत कुछ ऋग्वेद से मिलता जुलता ही है॥

अतः ऋषि दयानन्द का मन्तव्य कि वेद चार हैं—यही सत्य है।

यहां यह संकेत मात्र कर देना उचित ही है कि महाभारत के लेखक कृष्ण द्वैपायन का नाम जो वेदव्यास पड़ा है उसका कारण वेदों का विभाग नहीं; प्रत्युत वेदों की बांट (Distribution) है। अर्थात् पहले तो चारों वेदों का कण्ठस्थ रखना और उसके साथ सम्बन्धित सम्पूर्ण साहित्य का पढ़ना-पढ़ाना ब्राह्मणों का—द्विजों (जिसमें सभी उपनीत वर्ण हैं) का धर्म होता था, तभी वेद की रक्षा हो रही थी। सत्य युग से द्वापर युग के अन्त तक ऐसी ही व्यवस्था रही। परन्तु इसके अनन्तर जब जन-साधारण में बुद्धिमन्दता का दोष बढ़ने लगा; सम्पूर्ण वैदिक साहित्य पर अधिकार प्राप्त करना-समझना-पढ़ना-पढ़ाना प्रत्येक द्विज के लिए कठिन होगया, तब भगवान् व्यास ने वेदों की बाँट कर दी। देश तथा काल के अनुसार जैसा उचित समझा, प्रत्येक परिवार के लिए किसी न किसी वेद का भाग पढ़ना-पढ़ाना व्यास जी ने आवश्यक कर दिया। इस लिए उनका नाम वेद व्यास पड़ा।

ऋषि दयानन्द की कितनी अपार कृपा है कि उसने पुनः यह व्यवस्था दी कि प्रत्येक आर्य के लिए सम्पूर्ण वेद का पढ़ना-पढ़ाना धर्म है।

देखें कब आर्य समाज सीधे मार्ग पर आता है। इस युग में "वेदवाणी" का प्रचार प्रसार करना प्रत्येक आर्य का धर्म है॥

वेदप्रतिपादित समाज की इकाई के योग्यतासूचक विभाग

अथवा

मानव वर्णविभाग

[लेखक—श्री० पं० वैद्यनाथ जी शास्त्री, साहित्याचार्य, पोरबन्दर]

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज की अटूट इकाई है। व्यक्ति ही समाज की इकाई होती है और वही समाज को निर्मित करती है। मनुष्यकी इस व्यक्ति को व्यक्त करने वाला 'अहम्' पद है। इसका व्यवहार इस तथ्य को ही सूचित करता है। 'अहम्' का अर्थ 'अहन्' अर्थात् जो हना या काटा न जावे—है। यह मानव-व्यक्ति का द्योतक 'अहम्' इस भाव का व्यंजक है कि मनुष्य-व्यक्ति समाज की यह यूनिट है जो पुनः बाँटी नहीं जा सकती। मनुष्य में समाज निर्माण की योग्यता है अतः वही इस समाज का व्यक्ति रूप अंग भी हो सकता है। पशुओं के समूह को समाज न कहकर 'समज' कहा जाता है और मनुष्य के संघ को समाज कहा जाता है। कारण यह ही है कि मानव-व्यक्ति समाज के प्रति कुछ कृतज्ञता और कुछ अधिकार दोनों ही रखती है। पशु में ये दोनों बातें नहीं हैं। इस कृतज्ञता और अधिकार के मिश्रण की भावना ने ही समाज के निर्माण की प्रेरणा दी है। राष्ट्र भी समाज का ही एक उदात्त रूप है—अन्य कुछ नहीं। कोई भी समाज एवं राष्ट्र अपने अङ्गों की योग्यता पर ही आधारित है। अंग यदि ठीक हैं तो अङ्गी चल सकेगा अन्यथा विश्लथ हो नष्ट-भ्रष्ट हो जावेगा। वेद में और तत्सम्बन्धी साहित्य में समाज के इकाईभूत मानव को चार भागों में बाँटा गया है। यह विभाग पैतृकता के आधार पर नहीं अपितु इनकी योग्यता—अर्थात् गुण, कर्म, और स्वभाव के अनुसार है। वेद में समाज की कल्पना एक 'पुरुष' एवं विराट् पुरुष के रूप में मिलती है। इस पुरुष अर्थात् समाज के अङ्ग चार प्रकार के व्यक्ति कहे गये हैं। वे चारों अङ्ग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र शब्दों से व्यवहृत हैं। किसी समाज को चार शक्तियों की आवश्यकता है—मस्तिष्क (Mind) बाहुबल = सैन्य (Military or Defence), वैश्य (Trader) और शूद्र (Labour)। इन चारों को बतलाने के लिए पूर्वोक्त चारों शब्दों का प्रयोग है। यजुर्वेद ३१। १०–११[1] मंत्रों में इसका उल्लेख है। यही मंत्र ऋग्वेद १०। ९०। ११–१२ में आये हैं और अथर्व १९। ६। ५–६ में भी थोड़े पाठ-भेद से विद्यमान हैं। प्रथम यह प्रश्न उठाया गया है कि जिस विराट् पुरुष अर्थात् समाज की कल्पना की गई—उसका मुख क्या है, बाहु क्या है और उरु क्या है, तथा पांव क्या है? दूसरे मंत्र में उत्तर दिया गया है—ब्राह्मण इसके मुख के रूप में है, क्षत्रिय बाहु, वैश्य ऊरु और शूद्र पाँव के सदृश है। जिस प्रकार शरीर में चारों अङ्ग आवश्यक हैं वैसे ही समाज में भी इन चारों की आवश्यकता है। शरीर में चारों ही अंग अपने कार्यों की दृष्टि से उपयोगी है और समाज रूपी अङ्गी को भी इन चारों की आवश्यकता है। समाज में मस्तिष्क का कार्य करने वाले, फौजी-रक्षा करने वाले, व्यापारी और श्रमिक वर्ग—इन चारों की ही आवश्यकता है। जो लोग वर्णव्यवस्था नहीं मानते उनके यहाँ भी ये चारों भेद उपस्थित हैं। मनुष्य जब एक हैं तो ये चारों भेद कैसे उठे? इसका वेदों के सिद्धान्तानुसार यही उत्तर हो सकता है कि योग्यता भेद से। वैदिक-ग्रन्थों के ऊहापोह से योग्यता का अर्थ गुण, कर्म और स्वभाव निकलते हैं। सृष्टि में मानव जन्म से छोटा बड़ा नहीं पैदा हुआ। उसमें भेद योग्यता से हुआ। क्योंकि सब की योग्यता एक सी नहीं होती। ऋग्वेद

१. यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

५। ६०। ५[1] में यह बतलाया गया है कि सर्गारम्भ में समयगत ज्येष्ठ और कनिष्ठ भाव से रहित, धन और ऊंच नीच की भावना से रहित युवा मनुष्य पैदा होते हैं। सब भाई-भाई से हैं और अपने-अपने अभ्युदय के लिये प्रयत्न करते हैं। अजर अमर परमेश्वर उनका पिता और पृथ्वी उनकी माता है—यह भावना उनके साथ है। मंत्र में सब से समानता का भाव है यह व्यक्त किया गया है। इस समानता के रहते हुए भी गुण, कर्म और स्वभाव से मानवों में पुनः समाज में भेद हो जाता है। ऐसा भेद क्यों? इसका समाधान भी ऋ० १०। ११७। ९[2] इस प्रकार किया गया है कि दोनों के हाथ समान हैं लेकिन कार्य समान नहीं, एक ही गाय की दो सन्तानें समान दूध नहीं देतीं, एक माता से उत्पन्न युगल सन्तानों में भी समान बल नहीं होता, एक समाज के दो व्यक्तियों की योग्यता और देय शक्ति बराबर नहीं होती। इस प्रकार मनुष्य समान होते हुए भी योग्यता से भेद को प्राप्त हो जाते हैं। भेद कारण को एक दूसरे स्थल पर ऋग्वेद में १। ११३। ६[3] में दूसरे प्रकार से भी दिखलाया गया है। वहां पर ऐसा कहा गया है कि—मनुष्यों में एक को राष्ट्र सम्बन्धी कार्य के लिए एक को बड़े-बड़े यज्ञों और ज्ञानयज्ञों के लिए; एक को अर्थ के लिये और एक को चलने फिरने सेवा करने के लिए प्रवृत्त किया गया है। इससे स्थिति स्पष्ट हो जाती है कि मनुष्य में चार भेद क्यों हुए। वेद मंत्र ने सबकी शक्तियों का भेद बतलाते हुए, ज्ञान, रक्षण, अर्थ, और श्रम की योग्यता के भेद से—ब्राह्मण आदि चार भेद मनुष्यों में बताये हैं। इन्हीं को चार वर्ण का नाम दिया जाता है। यह वर्ण भी इस पूर्वोक्त योग्यता के अनुसार एक चुनाव मात्र है। योग्यता के अनुसार चुनकर श्रेणी बद्ध करना वर्ण बनाना है। ऋग्वेद में मनुष्यों के भेद का एक प्रकार दूसरा भी मिलता है। ऋ०८।१।१३[4] में "पञ्चजना ममहोत्रं जुषध्वम्, तथा ६।४। ४३ में 'पाञ्चजन्यया विशा; और ९। ६६। २० में अग्नि को 'पाञ्चजन्यः पुरोहितः' कहा गया है। इस "पांचजन्य" शब्द के अर्थको लेकर आचार्य लोग मानव के पांच वर्ग करते हैं। इन वर्गों में भी पूर्वोक्त चारों वर्ण आते हैं पांचवा वर्ग वह है जो योग्यता से शून्य है और इस दृष्टि से उसका वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। अर्थात् वह योग्यता की कोटि में नहीं आता। फिर भी उसे यज्ञ आदि करने का अधिकार है। इस 'पाञ्चजन्य पद पर यास्क ३। २। ७ पर कहते हैं किन्हीं आचार्यों के मत में—गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस—में पांचजन्य हैं। परन्तु औपमन्यव के मत में—चार वर्ण और पांचवां निषाद—ये पाञ्चजन्य हैं। यहां पर ऐसा ज्ञात होता है कि प्रथम भेद आश्रम के अनुसार और दूसरा वर्ण के अनुसार है। अन्य आचार्यों ने भी पाञ्चजन्य पद से यह औपमन्यव का ही अर्थ अधिकतर लिया है। कुछ भी हो, चार वर्ण गुण कर्म, स्वभाव से होते हैं—इसकी सिद्धि यहां भी है निषेध नहीं। इस वर्ण के निर्धारण की व्यवस्था राजसभा एवं संसद् करती है। ऋग्वेद १०।१२५।५[5] में इसका वर्णन मिलता है। यह मंत्र वागम्भृणीय सूक्त का है। 'अम्भृण' शब्द का अर्थ है बहुत। अतः वागम्भृणीय से तात्पर्य बहुतों की वाणी अर्थात् सभा से है। मंत्र में सभा की उक्ति दिखलायी गयी है। सभा कहती है कि 'मैं जिसको चाहूं उग्र—अर्थात् गुण कर्म, से ऊंचा बनाऊं और ब्राह्मण तथा ऋषि और विद्वान् की उपाधि दूं। ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ-प्रकाश में लिखा है कि वर्ण व्यवस्था राजसभा द्वारा होनी चाहिए। यह वस्तुतः इस पूर्व मंत्र का ही भावार्थ है। वर्ण शब्द का अर्थ जाति नहीं—जैसा कि आज कल कुछ लोग समझते हैं। वर्ण "योग्यता जनित" चुनाव, विशेषता, अथवा श्रेष्ठता का द्योतक है।

१. अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय। युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः॥
२. समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः सम्मातरा चिन्न समं दुहाते। यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित् सन्तौ न समं पृणीतः॥
३. क्षत्राय त्वं श्रवसे त्वं महीया इष्टये त्वमर्थमिव त्वमित्यै। विसदृशा जीविताभिप्रचक्ष उषा अजीगर्भुवनानि विश्वा॥
४. गंधर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके। चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः।
५. अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः। यं कामये तंतमुग्रं करोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥

ऋग्वेद ३। ३४। ९[1] और २। १२। ४[2] मंत्रों में वर्ण पद मिलता है। जिस से ज्ञात होता है कि यह औपाधिक है और जाति का सूचक नहीं। इन में से पहले मंत्र में "आर्यं वर्णम्" और दूसरे में "अधरं वर्णम्" पद आये हैं। इन में वर्ण पद से "जाति" का अर्थ निकलता नहीं दिखाई पड़ता। तात्पर्यतः यही कहना पड़ेगा कि वेदों में मनुष्य में वर्णविभाग को गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार ही स्थापित किया गया है। अथर्व १२। १। १५ ऋग्वेद १। ७। ९ तथा अथर्व १२।१।४२ में क्रमशः जो "पञ्च मानवाः" पञ्चक्षितीनाम्" और "पञ्च कृष्टयः" पद आये हैं—ये भी पूर्वोक्त 'पाञ्चजन्य' शब्द के अर्थ को ही बताते हैं। वर्णसम्बन्धी भेदों को दिखलाते हुए यजुः १८।४८[3] और अथर्व १९।६२।१[4] में इन में तेज आने की प्रार्थना की गई है। समाज के ये प्रधान अङ्ग हैं अतः इनमें तेजस्विता का होना ठीक ही है अन्यथा समाज का कार्य चल ही कैसे सके। अथर्ववेद वाले मंत्र में इनके प्यारा बनने की प्रार्थना की गयी है। आज कल कई लोग शूद्र को अनार्य कहते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं। शूद्र भी आर्यों में ही हैं और वह चौथा वर्ण है। शूद्र शब्द का अर्थ कहीं कहीं पर अनाड़ी और चोर डाकू है ऐसी स्थिति में वह अर्थ के भेद से शूद्र वर्ण से अन्यतर और आर्येतर अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वेद और स्मृतियों को देखने से जो थोड़ासा भेद कहीं पर पड़ता है वह इस अर्थान्तर के ही कारण है। वेद के इस वर्ण भेद का ही समर्थन स्मृतियों और इतिहास ग्रन्थों में भी मिलता है। यजुर्वेद ३१। ८ के "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" मंत्र के भाव को मनुने १०।४५[5] में दर्शाते हुए इन्हे मुख, बाहू, उपज्ञ आदि शब्दों से व्यवहृत किया है। बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की ११, १२, १३ काण्डिकाओं में वर्णों का उनकी क्रिया की उपयोगिता के आधार पर निर्माण बतलाया गया है। वहां लिखा है[6] कि सृष्टि के आरंभ में एक ब्राह्मण वर्ण ही था। वह अकेला समाज के व्यवहार को सिद्ध करने में समर्थ न हुआ। उसने एक उत्तम वर्ण 'क्षत्रिय' को बनाया। जब दोनों से कार्य न चल सका तो वैश्य वर्ण को बनाया। तीनों के भी कार्य असमर्थ होने पर फिर शूद्र वर्ण को बनाया। इस प्रकार समाज के उपयोगी अङ्ग चारों वर्णों की व्यवस्था की गयी। इस इतिहास पूर्ण प्रमाण का समर्थन महाभारत शान्तिपर्व अ० १८८[7] में किया गया है। महाभारतकार कहते हैं कि पहले एक ही वर्ण था परन्तु कार्य विभाग से चारों वर्णों की स्थापना हुई। बहुत ही नवीन साहित्य भागवत पु० स्क० ९। १४[8] में इसी विषय को दूसरे शब्दों में व्यक्त किया गया है। बतलाया गया है कि पहले वेद ही एक वाङ्मय, ओंकार ही एक जाप, नारायण ही एक देव और विज्ञान का मुख्य अङ्ग एक अग्नि, और एक ही वर्ण था। इन वर्णों के बन जाने पर परस्पर छोटे बड़े की भावना का आखेट न बने इस लिये मनुने मनु० ९। २९७[9] में यह व्यवस्था दी कि "उन उन कार्यों में वह अङ्ग बड़ा और श्रेष्ठ है जिससे जो कार्य सिद्ध होता है। यजुर्वेद ३० ।५[10] में पुनः इन वर्णों के कार्यों का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि "उपदेश" मानव जाति

१. सनानाश्वाँ उत सूर्यं सनानिन्द्रः सनान पुरुभोजसं गाम्। हिरण्ययमुत भोगं ससान हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत् ॥

२. येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहाऽकः। श्वघ्नीव यो जिगीवां लक्षमाददर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः॥

३. रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि। रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥

४. प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु। प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्रे उतार्ये ॥

५. मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः। म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे दस्यवः स्मृताः ॥

६. ब्रह्म वा इदमासीदेकमेव तदेकं सन्नव्यभवत् तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत् क्षत्रम्.........
स नैव व्यभवत् विशमसृजत्.........स नैव व्यभवत् शौद्रं वर्णमसृजत् ॥

७. एकवर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर। कर्मक्रियाभेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम् ॥

८. एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः। देवो नारायणो नान्य एकोऽग्निर्वर्ण एव च ॥

९. तेषु तेषु तु कार्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते। येन यत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिन् श्रेष्ठमुच्यते ॥

१०. ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम्।

की उन्नति के कार्य के लिये ब्राह्मण, क्षत्र के लिये क्षत्रिय और व्यापार के लिये वैश्य तथा तप अर्थात् श्रम के लिये शूद्र को नियुक्त किया गया है। इन वर्णों के कार्यों का योग्यता से भेद करने पर भी वेद में धर्मकृत्य यज्ञ आदि करने और वेद आदि के पढ़ने का विधान सबके लिये है। शूद्र को भी यह करने का अधिकार है। पाँचवाँ भेद निषाद भी यज्ञ कर सकता है। अर्थात् मनुष्य मात्र के लिये इन के करने का विधान है। ऋ० १०। ५३। ५[1] और यजु २६। २[2] में इसका वर्णन मिलता है। इस प्रकार वर्ण विभाग के सिद्ध होने पर थोड़ा सा विचार इस विषय में फैली हुई वर्तमान भ्रान्ति पर भी करना है। वह भ्रान्ति यह है कि कई लोग इस वर्ण भेद को गुण, कर्म स्वभाव से न मानकर जन्म से ही मानते हैं। यद्यपि यह निश्चित है कि जिस वर्ण में जो पैदा हुआ है उसे उस वर्ण का बनने का अवसर अधिक प्राप्त है परन्तु वर्ण विभाग में जन्म की ही कारणता हो यह सिद्धान्त नहीं। वैदिक सिद्धान्त तो गुण, कर्म स्वभाव का ही है। पूर्वोक्त दिये गये प्रमाणों से इस पर पर्याप्त प्रकाश पड़ चुका है। जन्म से वर्ण व्यवस्था मानने वालों के सामने दो प्रश्न बड़े भयंकर खड़े हैं—पहला है कि कन्या का गोत्र-परिवर्तन विवाह के साथ क्यों हो जाता है और दूसरा यह कि धर्म परिवर्तन के साथ वर्ण का परिवर्तन क्यों हो जाता है। यजुर्वेद ३१। ८ का "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" मंत्र भी इस विषय पर अच्छा प्रकाश डालता है। इस मंत्र में ब्राह्मण के साथ "आसीत्" क्रिया लगी है। वह विराट् एवं परमेश्वर का मुख नहीं था अथवा मुख से नहीं पैदा हुआ बल्कि मुख के सदृश था। शतपथादि से ऐसा ही अर्थ लगता है। राजन्य के साथ "कृत:" क्रिया लगी है। शूद्र के साथ "अजायत" क्रिया है। 'आसीत्' और 'कृतः' समानार्थक मालूम पड़ते हैं। 'अजायत' पर ही विचार करना चाहिए। 'अजायत' कहने से तात्पर्य यह निकलता है कि पहले पैदा होने पर सब शूद्रवत् ही पैदा होते हैं पश्चात् गुण, कर्म स्वभाव के कारण क्षत्रिय ब्राह्मण और वैश्य आदि वर्णों में विभक्त होते हैं। यहां पर यह प्रश्न हो सकता है कि पूर्व प्रमाणों में ब्राह्मण को एक वर्ण कहा गया है—उसका कैसे समत्व होगा। इसका समाधान यह है कि वैसे तो अधिकतर प्रमाणों में एक वर्ण पद आया है जिसका इससे कोई विरोध नहीं। एक प्रमाण में ब्राह्मण वर्ण आया है जो अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न मनुष्यों की उत्कृष्टता के कारण कहा गया है। और यहाँ यजुः ३१।८ में वर्ण व्यवस्था का साधारण सिद्धान्त निर्धारित किया गया है। जन्म से वर्ण व्यवस्था मानने वाले एक युक्ति यह देते हैं कि ब्राह्मण और क्षत्रिय शब्द अपने प्रत्ययों से जात्यर्थ में सिद्ध हैं अत: जन्म से ही वर्ण व्यवस्था होनी चाहिए। यहां थोड़ा सा इस पर विचार किया जाता है। "ब्राह्मण" पद को ही लीजिए। अष्टाध्यायी ६।४।१७१ सूत्र "ब्राह्मोऽजातौ" के अनुसार 'ब्राह्म' शब्द अनपत्यार्थ में निपातित है। यहाँ 'अजातौ' कहने से यही तात्पर्य है कि जात्यर्थ में ब्राह्मण बनेगा। ऐसी स्थिति में "ब्रह्म" का अपत्य ब्राह्मण मानकर ब्रह्म शब्द से "तस्यापत्यम्" करके "अण्" प्रत्यय और 'अन्' भाग का अलोप मानकर ब्राह्मण शब्द बनेगा। और यह जात्यर्थ में होगा। इसका उत्तर यह है कि शब्द की सिद्धि कई प्रकारों से हो सकती। यहां का दिखलाया प्रकार ही वेद वर्णित वर्णसूचक ब्राह्मण पद में भी बर्ता जावे ऐसा कोई नियम नहीं। ब्रह्माधीते इति ब्राह्मणः ऐसा मानकर 'तदधीते तद्वेद' अ० ४।२।५९ सूत्र से अण् करके भी सिद्ध किया जासकता है। अथवा 'ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः' ऐसी व्युत्पत्ति करके 'शेषे' अ० ४।२।९२ सूत्र से भी इस पद की सिद्धि हो सकती है। इसमें जात्यर्थ की कोई आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार 'क्षत्रिय' पद की सिद्धि 'क्षत्राद् घः' अ० ४।१।१३८सूत्र से अपत्यार्थ में न करके, क्षतात् त्रायते ऐसा कर के "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्"-अ० ६। ३। १०९ सूत्र से की जासकती है। वैश्य शब्द स्वार्थे ष्यञ् करके बनाया जासकता है। अमरकोष ब्राह्म वर्ग श्लोक ४, क्षत्र वर्ग और वैश्य वर्ग में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य शब्द की सिद्धि इसी प्रकार

१. पञ्चजना मम होत्रं जुषन्ताम्।

२. यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्या ँ् शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय॥यजुः २६।२।

से की है। कर्म से वर्णव्यवस्था की पुष्टि भागवत ७ स्कन्ध के ११ वें अध्याय के ३५७[1] श्लोक से भी होती है। वहाँ कहा गया है कि जिस वर्ण के जो लक्षण कहे गये हैं वे यदि उनसे अतिरिक्त वर्णों में भी पाये जावें तो उन्हें भी वही वर्ण कहा जाना चाहिए। इस पर भाष्य करते हुए श्रीधर स्वामी ने भावार्थदीपिका,[2] वीरराघवाचार्य ने चन्द्रचन्द्रिका[3] और विश्वनाथ चक्रवर्ति ने सारार्थप्रदर्शिनी[4]-टीकाओं में ऐसा ही स्वीकार किया है। इस तथ्य को स्वीकार करने से ही महाभारत और पुराणों में वर्णित वर्ण परिवर्तनों की संगति लग सकती है। ऐसे वर्णनों से एक ही कुल में चारों वर्ण के लोग हुए, पुराण भरे पड़े हैं। महाभारत शान्ति पर्व अ० २९६ श्लोक १४-१६ में लिखा है कि-पराशर ऋषि ने कहा-हे राजन् मेरे नाना ऋषि, कश्यप, वेद, ताण्डव, कृप, कक्षीवान्, कमठ, यवक्रीत, द्रौण, आयु, मातंग द्रुपद, मात्स्य, आदि बहुत से ऋषि नीच कुल में उत्पन्न हुये थे तिसपर भी तप तथा वेदाध्ययन से वे श्रेष्ठता को प्राप्त हुये। वायु पुराण में ऐसा वर्णन मिलता है कि गृत्समद के पुत्र शुनक और उसके पुत्र शौनक के वंश में कर्मों के भेद से-ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र चारों वर्ण पैदा हुये[5]। यही बात विष्णु पुराण[6] में दूसरे ढंग पर लिखी है, हरिवंश पुराण अ० २९[7] और अ० ३२[8] में भी इस घटना को दुहराया गया है। महाभारत अनुशासन अ० १४१ श्लोक ५०—५१ में गुण कर्म से वर्णव्यवस्था का अच्छा वर्णन है। महाभारत अनुशासन पर्व अ० २६६। १४ में भी ऐसा ही वर्णन है। यहाँ यह लिखा गया है कि ब्राह्मणत्व के कारण योनि, आदि, नहीं अपितु आचार है। भविष्य पुराण में म० पु० अ०४४।३२[9] में ऐसा वर्णित है कि शूद्र भी यदि ज्ञान सम्पन्न हो तो वह ब्राह्मण से भी श्रेष्ठ है—आचार भ्रष्ट ब्राह्मण शूद्र से भी नीच है। भविष्य पुराण म० पु० ब्रा० अ० ४० श्लोक ३५[10] में निष्कर्ष निकालकर जन्मगत वर्णव्यवस्था को खण्डित कर दिया गया है। लिखा है कि गौ, और घोड़े के के समान मनुष्य वर्णों में कोई जाति भेद नहीं। केवल कार्य और शक्ति निमित्त से कृत्रिम संकेत मात्र है। इस प्रकार इन प्रमाणों के आधार से भी यह सिद्ध है कि वर्ण निर्माण में गुण, कर्म स्वभाव कारण है—जन्म नहीं। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि विश्वामित्र आदि तप से ऋषि तो बन गये परन्तु उन्हें कहीं ब्राह्मण सूचक शब्द से संबोधित नहीं किया गया है। उत्तर में मैं यहां ऐसे प्रमाण रखता हूं जिन में विश्वामित्र को ऋषि, मुनि, ब्राह्मण, ब्रह्मर्षि, और विप्रेन्द्र तथा परमर्षि कहा गया है। वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड १९।३९ में—महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः" ४२ वें श्लोक में—'विश्वामित्रमृषिम्' श्लोक ५३ में पात्रभूतोऽसि मे ब्रह्मन्" ५६ वें श्लोक में 'ब्रह्मर्षित्वमनुप्राप्तः' ५९ वें श्लोक में विप्रेन्द्र, ६० में "परमऋषिः परमं जगाम हर्षम्" इत्यादि वाक्यों का प्रयोग हुआ है। न्याय-

---

१. यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यंजकम्। यदन्यत्रापि दृश्येत्तत्तेनैव विनिर्दिशत्।

२. शमादिभिरेव ब्राह्मणादिः व्यवहारो मुख्यो न जातिमात्रादित्याह-यस्येति यद्यदि अन्यत्र वर्णान्तरेऽपि दृश्येत तद्वर्णान्तरं तेनैव लक्षणेन निमित्तेनैव वर्णेन विनिर्दिशेत्। न तज्जातिनिमित्तेनेत्यर्थः।

३. पूर्ववत् ही लिखा है।

४. किञ्च यस्य पुंसो वर्णाभिव्यंजकं यल्लक्षणं वर्णं ब्राह्मणादिजातिमभिव्यंजयति यत् तच्च सामान्यतो विहितमेव शमदमादिकं यद्यन्यत्र जात्यन्तरेऽपि दृश्येत् तज्जात्यन्तरमपि तेनैव ब्राह्मणादि शब्देनैव विनिर्दिशेत्॥

५. पुत्रो गृत्समदस्य च शुनको यस्य शौनकः। ब्राह्मणः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शूद्रास्तथैव च। एतस्य वंशे संभूता विचित्रा कर्मभिर्द्विज॥

६. गृत्समदस्य शौनकश्चातुर्वर्ण्यप्रवर्तयिताऽभूत्।

७. पुत्रो गृत्समदस्यापि शुनको यस्य शौनकः। ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शूद्रास्तथैव च॥

८. येते ह्यांगिरसः पुत्रा जाता वंशेऽभार्गवे। ब्राह्मणा क्षत्रियाः वैश्याः शूद्राश्च भरतर्षभ॥

९. शूद्रोऽपि ज्ञानसंपन्नो ब्राह्मणादधिको भवेत्। ब्राह्मणो विगताचारः शूद्रात्प्रत्यवरो भवेत्॥

१०. तस्मान्न गोऽश्ववत् कश्चित् जातिभेदोऽस्ति देहिनाम्। कार्यशक्तिनिमित्तस्तु संकेतः कृत्रिमो भवेत्॥

दर्शन वात्स्यायन भाष्य ४।१।५९[1] में शतपथ १।७।२।१ के 'जायमानो ह वै ब्राह्मणः त्रिभिर्ऋणै-ऋणवान् जायते' इत्यादि वाक्यों से पैदा होते ब्राह्मण में तीन ऋणों का होना और उनकी अदायगी असंभव है क्योंकि उसमें शक्त को ही उस कर्म का अधिकार है अतः वात्स्यायन ने 'जायमान' का अर्थ 'संपद्यमान' और "ब्राह्मण" का अर्थ 'गृहस्थ' कर लिया। वात्स्यायन का यह भाव इस बात का प्रमाण है कि जिस कर्म के करने की जिसमें सामर्थ्य हो उसी को उसका अधिकार है। तो फिर जन्म से वर्ण मानने पर वर्णों के कर्मोंकी समर्थता को तो रखना ही चाहिये। जब तक गुण, कर्म, स्वभाव नहीं तब तक जन्म से होने वाले ब्राह्मण आदि वर्ण किस प्रकार अपने कर्मों को पूरा कर सकेंगे। यजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा ४।८।१[2] और काठक ३०।१[2] में बहुत स्पष्ट शब्दों में इसी लिये वर्ण व्यवस्था का गुण-कर्मानुसार प्रतिपादन किया गया मिलता है। वहाँ वर्णन किया है कि 'ब्राह्मण के माता, पिता को मत पूछो, श्रुत ही इसका पिता और पितामह है। ऋग्वेद ९।११२।३[3] में यह बतलाया गया है कि एक ही कुल में वर्णानुसार भिन्न-भिन्न कार्य करने वाले रह सकते हैं। निरुक्त में इस मंत्र का अर्थ देते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि "मैं कारीगर हूँ, मेरा पिता वैद्य है, मेरी माता चक्की पीसती है—इस प्रकार भिन्न-भिन्न ज्ञान और योग्यतावाले हम गौवों की भांति मिलकर रहते हैं। वर्ण व्यवस्था के गुण कर्म स्वभावानुसार होने का इससे स्पष्ट वर्णन और क्या हो सकता है। आजकल आदिवासी जाति की धारा चलाने वाले यह कहते हैं कि आर्यों से पहले एक जाति यहां विद्यमान थी और आर्यों ने उन्हें पराजित कर उनकी संस्कृति को नष्ट किया। यह वस्तुतः इन लोगों की कल्पना मात्र है। आज जिनको मूल निवासी कहा जाता है वे भी आर्यों में से ही हैं। धर्म आचार आदि के गिर जाने ने वे दलित हो गयीं। विपक्षी लोग ऋग्वेद ३।३।२१[4] मंत्र को उपस्थित कर कहते हैं कि कीकट देश विहार में प्रमगन्द नाम का राजा था जिसके धन को हरण करने की आर्यों ने इस मंत्र में प्रार्थना की है। ऋग्वेदिक इण्डिया के लेखक ने भी इस मंत्र को देकर ऐसा ही भाव व्यक्त किया है। परन्तु यह इनकी थोथी कल्पना है। कीकट का अर्थ यास्क के अनुसार उनसे है जो कर्मविहीन हैं। प्रमगन्द सूदखोर को कहते हैं। जहां गाय आदि के दूध का यज्ञादि कार्यों में व्यवहार न हो और सब कुछ निकम्मा पड़ा हो तथा जो सूदखोर हो उसके धन के हरने की बात कही गयी है। यहां किसी इतिहास की व्यक्ति का वर्णन नहीं। ये पहाड़ी बनवासी आदि जातियां आर्यों में से ही हैं ऐसा एतरेय ७।१९[5] में वर्णन किया गया है। भागवत ९।१६।३३ और विष्णुपुराण ४।३।२३–२६ में भी ऐसा ही वर्णित है। मनु ने १०।४३–४४[6] में भी इन जातियों को क्षत्रियों से पृथक् हुई माना है। ये धर्मोपदेश न मिलने से पथ भ्रष्ट हो गयीं। महाभारत शा० प० अ० ६५।१३–१४[7] में औड़ पुलिन्द आदि को चारों वर्णों से ही पैदा हुई माना है। स्वभाव का

१. जायमान इति गुणशब्दो विपर्ययेऽनधिकारात्। जायमानो ह वै ब्राह्मण इति शब्दो—गृहस्थः संपद्यमानो जायमान इति। यदा अयं गृहस्थो जायते तदा कर्मभिरधिक्रियते। मातृतो जायमानस्यानधिकारात्। यदा तु मातृतो जायते कुमारो न तदा कर्मभिरधिक्रियते अर्थिनः शक्तस्य चाधिकारात्॥

२. किमु ब्राह्मणस्य पितरं किमु पृच्छसि मातरम्। श्रुतं चेदस्मिन् वेद्यं स पिता स पितामहः।

३. कारुरहं ततो भिषक् उपलप्रक्षिणी नना। नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परि स्रव॥

४. किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुहे न तपन्ति घर्मम्। आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचशाखं मघवन्रन्धया नः॥

५. ताननु व्याजहार अन्तान् वः प्रजा भक्षीष्टेत त एतेऽन्ध्रा पुण्ड्राः शबराः पुलिंदा मूतिबा उदन्त्या बहवो भवन्ति वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठाः॥

६. शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः। वृषलत्वं गताः लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः। पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदा खशाः॥

७. यवनाः किराताः गन्धाराश्चीना शबरबर्बराः। शकास्तुषाराः कंकाश्च पह्लवाश्चान्ध्रमन्द्रकाः॥
औड्रा पुलिन्दा रमठा काम्बोजाश्चैव सर्वशः। ब्रह्मक्षत्रप्रसूताश्च वैश्याः शूद्राश्च मानवाः॥

अर्थ कई लोग जन्म गत स्वभाव मानते हैं यह गलत है। स्वभाव से अभिप्रेत है, अभ्यस्त एवं कल्चर्ड होना। अर्थात् गुण कर्म स्वभाव जिनमें जीवन के अङ्ग बन गये हों और वैसा वे स्वभाव में दाखिल हो गये हों वे ही अपने गुणों और कर्मों से वर्ण बन सकते हैं। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था का ऊंचा स्वरूप वेद में मिलता है। 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' में चारों वर्णों की जो उपमा चार अङ्गों से दी गयी है वह भी वैज्ञानिक है। क्षत्रिय को बाहु कहा गया है। आज भी आर्मी शब्द उसी का द्योतक है। ये चारों वर्ण समाज में किस प्रकार जगमगाते हुए हों इसका प्रशस्त वर्णन ऋग्वेद ६। ५०। २[1] में मिलता है। वहां दिखलाया गया है कि द्विजन्माओं को नियमबद्ध, सत्यशील, सुख युक्त यज्ञशील और तेजस्वी वाणी वाला होना चाहिए। यह है वैदिक वर्ण व्यवस्था अर्थात् मानव समाज की इकाई का वैदिक स्वरूप। इति दिक्।

१. द्विजन्मानो य ऋतसापः सत्याः स्वर्वन्तः। यजता अग्निजिह्वाः॥

वैदिक साहित्य के पाश्चात्य लेखक

(लेखक—श्री पं० वीरेन्द्रजी शास्त्री एम० ए० साहित्याचार्य, काव्यतीर्थ, फतेहगढ़ उ० प्र०)

गत १५० वर्षों में यूरोप और अमेरिका के पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक साहित्य पर भी अद्भुत तथा प्रशंसनीय कार्य किया है। इसका विस्तृत वर्णन करने से एक बृहत्काय ग्रन्थ बन जावेगा। यहाँ पर अति संक्षेप से उसका दिग्दर्शन कराया जाता है। वैदिक साहित्य पर कार्य करने वाले विद्वानों की संख्या १०० से ऊपर है। इनमें कुछ विद्वान् तो ऐसे हैं कि जिन्होंने अपनी सम्पूर्ण आयु ही वेदों के अनुशीलन तथा वैदिक साहित्य की रचना में लगा दी थी।

यूरोप में वेदों के अध्ययन का मुख्य कार्य १८०० ई० से प्रारम्भ हुआ। उससे ५० वर्ष पूर्व भी कुछ-कुछ चर्चा चल पड़ी थी। यदि उसे भी सम्मिलित कर लिया जावे तो यह २०० वर्षों का मनोरंजक इतिहास हो जाता है। इन पाश्चात्य वैदिक लेखकों में मुख्यतः जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेज और तत्पश्चात् अमेरिकन लेखक हैं। इटली और रूस के भी कतिपय विद्वान् हैं। नीचे यथासम्भव ऐतिहासिक क्रम से ऐसे विद्वानों की नामावली तथा उनके कार्य का अत्यन्त संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है।

इस लेख के लिखने में अनेक इतिहासों से सहायता ली गई है जिनका कि लेखक आभारी है। इन विद्वानों की रचनाओं में कुछ अप्राप्य, कुछ दुष्प्राप्य और कुछ प्राप्य है। भारतवर्ष में ऐसे पुस्तकालय बहुत कम हैं, जिनमें ये समस्त पुस्तकें उपलब्ध हों। अधिकांश में ये पुस्तकें काशी के राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, गुरुकुल कांगड़ी; डी० ए० वी० कालेज पंजाब आदि में संग्रहीत हैं, किन्तु खेद से कहना पड़ता है कि भारत का कोई भी ऐसा "वैदिक पुस्तकालय" नहीं जिसमें वैदिक साहित्य की समस्त भारतीय तथा पाश्चात्य पुस्तकें संग्रहीत हों।

कुछ पाठकों की जिज्ञासा इन के प्राप्ति स्थान तथा मूल्य के सम्बन्ध में हो सकती है, जिसे शान्त करने के लिये मूल्य यथासम्भव पुस्तकों के नामों के साथ ही लिखने की चेष्टा की जावेगी। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि यह मूल्य उस समय का है जिस समय कि इनका प्रकाशन हुआ था। आजकल तो प्रकाशक तथा विक्रेता गण दुष्प्राप्य पुस्तक का मन माना मूल्य प्राप्त करने के यत्न में रहते हैं। निम्न लिखित पुस्तक विक्रेताओं से इन पाश्चात्य रचनाओं का मिलना कदाचित् सम्भव है—

१—मोतीलाल बनारसीदास, चौक, बनारस।

२—खेलाड़ीलाल एँड सन्स, कचौड़ी गली, बनारस।

३—चौखम्भा संस्कृत पुस्तकालय, बनारस।

४—ओरियण्टल बुक एजेंसी, १५ शुक्रवारपेठ, पूना।
५—गवर्नमेंट सेन्ट्रल बुकडिपो, कलकत्ता।
६—Otto Harrassowitz, Leipzig, Germany.
७—B.H. Blackwell Ltd 50/5, Broad street, oxford, England.
८—W. Heffer and sons Ltd. Cambridge, England.
९—Truhner and co, Oriental Book sellers, London.

१८ वीं शताब्दी

१—फादर पौन्स। १७४० ई० में इस फ्रेंच ईसाई मिशनरी ने स्वदेशियों को अपने लेख द्वारा वेद का कुछ परिचय दिया।

२—राबर्टो डि, नोबिली। १७५० ई० के लगभग इस फ्रेंच मिशनरी ने एक नया नकली यजुर्वेद "Ezour veidam" बनाया जिसमें पुराणों और ईसाई मत की गप्पें भरी हुई थीं। इसका फ्रेंच में अनुवाद हुआ। १७७८ में इस पर बड़े-बड़े लेख निकले। अन्त में मैक्समूलर ने इसका भण्डा फोड़ किया।

३—वालटायर। इस फ्रांसीसी विद्वान ने भी उक्त यजुर्वेदम् की "Essai sur les moers et e' esport des nations" नामक अपने लेख में बड़ी प्रशंसा कर स्वदेशियो की उत्सुकता वेदों की ओर प्रवृत्त की।

४—पादरी कालमेट। १८ वीं शताब्दी में ही वेद का कुछ अंश लेकर इसने—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥"

इस मन्त्र के आधार पर स्वदेशियों को बतलाया कि वेदों में एक परमात्मा का वर्णन है।

१९ वीं शताब्दी

५—हेनरी टामस कोलब्रुक। इंग्लैंड में सर्व प्रथम इस अंग्रेज विद्वान् ने १८०१ में 'हिन्दुओं के धार्मिक संस्कार' (Religious ceremonies of the Hidus) और १८०५ में 'वेदों पर निबन्ध' (essay on the vedas) नामक ग्रन्थ लिखकर पश्चिम को वेदों और वैदिक साहित्य का विस्तृत परिचय दिया। किन्तु उसके ये लेख अधिक उत्साहित करने वाले न थे। उसकी इस पुस्तक "ऐसे आन द वेदाज" ९ भागों का मूल्य ५०)।

६—फ्रीड्रिक रोजेस। यूरोप में सर्व प्रथम इस जर्मन वैदिक महारथी ने १८३० में वेद के कुछ अंश का लैटिन में अनुवाद प्रकाशित किया। ७ वर्ष परिश्रम करके १८३७ में ऋग्वेद के प्रथम अष्टक (१२१ सूक्तों) का लैटिन में शब्दशः अनुवाद रचा। उसकी मृत्यु के १ वर्ष पश्चात् १८३८ में यह पुस्तक Rigveda samhita liber primus, Sanskrite it latine. नाम से छपी मूल्य ३।=)।

इसी पुस्तक से उस समय तुलनात्मक भाषा व्याकरण के लिये बौप, लैसेन, बेनफे, कुहन आदि ने सहायता ली।

७—इउजेन बर्नफ। इन्होंने सर्व प्रथम फ्रेंच में वेदों का व्याख्यान किया। ये फ्रांस के कालेज डि फ्रांस में वेदों के व्याख्याता थे। १८४५ में यह मैक्समूलर, राथ आदि को रोजेन की ऋग्वेद संहिता के आधार पर बड़े उत्साह से वेद पढ़ाया करते थे। गोरेशियो, नेवी, गोल्डस्टकर, सेंट हिलेयर, बार्डेली आदि ने भी इनसे वेदों का अध्ययन किया।

८—एच. एच. विल्सन। इन्होंने ऋग्वेद के सायण भाष्य का सबसे पहला अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया जिसका प्रथम भाग १८५० में छपा और सम्पूर्ण भाष्य १८८८ तक ६ भागों में १२५) रु० मूल्य में प्रकाशित हुआ। यह सायण के समर्थक थे।

९—प्रो. वेसन। यह विल्सन के सहायक थे।

१०—११ डा० स्टीवेन्सन और डा० रोर। १८५० से पूर्व ही ऋग्वेद के प्रथम अष्टक के कुछ अंशो का अंग्रेजी अनुवाद कलकत्ते से छपाया।

१२—एस० ए० लांगलोआ। इस फ्रेंच विद्वान् ने ४ भागों में १८४८ से १८५१ तक फ्रांसीसी भाषा में सम्पूर्ण ऋग्वेद की व्याख्या की। मूल्य २०)

१३—मैक्समूलर। वेदों के प्रसिद्ध विद्वान् यह बर्नफ के सब से छोटे किन्तु मुख्य शिष्य थे,। इन्होंने सायण को 'अन्धे की लाठी' "Blindmans stick" मान कर समर्थन किया। इन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन लग-भग ५० वर्ष से अधिक लगाकर निम्न लिखित ग्रन्थों का सम्पादन तथा निर्माण किया—

(१) ऋग्वेद के सायण भाष्य का सम्पादन प्रथम संस्करण १८४९ से १८७५ तक (२६ वर्ष पर्यन्त) ५

भागों में ३००० से अधिक पृष्ठ हैं। द्वितीय संस्करण १८९०-९२, ४ भाग लंदन से। मूल्य ३००)

(२) ऋग्वेद मूल संहिता (१८७३)।

(३) ऋग्वेद प्रातिशाख्य (१८५६–६९) जर्मन अनुवाद सहित। मूल्य ३९)

(४) वैदिक पुराण विज्ञान (Vedic mythology)

(५) वैदिक हिम्स। (S. B. E. 32 अंग्रेजी में)

(६) कात्यायन कृत सर्वानुक्रमणी, आक्सफोर्ड से १८८६ में।

(७) बृहद्देवता (अंग्रेजी अनुवाद) १९०४ में।

(८) हिस्ट्री आफ एन्श्येंट संस्कृत लिट्रेचर (१८५९) मूल्य १०)।

१४—रुडाल्फ राथ। मैक्समूलर के सहपाठी होते हुए भी सायण के सम्बन्ध में इनकी विचारधारा मैक्समूलर से भिन्न थी। इन्होंने समालोचनात्मक व्याख्याशैली को प्रचलित करते हुए बताया कि ऋग्वेद स्वयं अपनी व्याख्या है। 'Les von sayana' (सायण का बहिष्कार करो) इनका मुख्य सूत्र था। इनका कहना था कि सायण एक राज्य का मुख्यमंत्री होने से इतना कार्यव्यस्त रहता होगा कि हम लोगों की अपेक्षा वेदाध्ययन में अधिक परिश्रमी और योग्य नहीं हो सकता तथा उसके पास आधुनिक तुलनात्मक भाषाशास्त्र, पुराणविज्ञान आदि साधन भी नहीं थे। अतः हमारा भाष्य उसके भाष्य से कहीं अधिक प्रामाणिक हो सकता है। इनकी अर्थ प्रक्रिया विल्सन और मैक्समूलर की अपेक्षा अधिक युक्तियुक्त और महर्षि यास्क तथा दयानन्द के अधिक अनुकूल है। इन जर्मन वैदिक महारथी ने भी अपनी समस्त आयु वैदिक साहित्य में लगादी।

(१) सन् १८५२ से सन् १८७५ तक, लगभग २६ वर्षों में इन्होंने वैदिक शब्दों का एक संस्कृत जर्मन महाकोष Samiskrit worter buch (सेंट पीटर्स बर्ग डिक्शनरी) का निर्माण किया, जो ७ भागों में है और जिसमें १०००० दस हजार से अधिक पृष्ठ हैं। यह एक महान् और अद्भुत ग्रन्थ है, जिसमें यह बताने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है कि प्रत्येक शब्द सम्पूर्ण साहित्य में कहाँ कहाँ किस किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मूल्य १०००) इसकी पुरानी प्रतियों का भी मूल्य एक एक हजार से अधिक लिया जाता रहा है। वेद प्रेमियों को यह ग्रन्थ गवर्नमेण्टसंस्कृत कालेज बनारस अथवा गुरुकुल वृन्दावन के पुस्तकालयों में अथवा जहाँ कहीं प्राप्य हो अवश्य देखना चाहिये।

(२) निरुक्त (१८५२) गार्टिंगन से, मूल्य १७)

(३) वैदिक साहित्य का इतिहास (१८४६)

(४) विहट्ने के साथ मिलाकर शौनकीय अथर्ववेद संहिता का सर्व प्रथम सम्पादन, १८५६ ई० बर्लिन। मूल्य २५)।

१५—ओटो बेह्ट्लिंक। यह जर्मन वैदिक विद्वान् रुडाल्फ राथ के परम सहायक तथा सहयोगी थे। उपरि लिखित महाकोष के सम्पादन में इनका भी बराबर का भाग है। वैदिक कोष के निर्माण में ही जीवन का बहुमूल्य अंश अर्पित कर दिया। सन् १८८९ ई० में इनके प्रकाशित छान्दोग्योपनिषद् ब्राह्मण का मूल्य २०) है।

१६—बारथेलिमी। बर्नफके यह भी एक शिष्य थे। इन्होंने अपने साथी
१७—सेंट हिलेयर के साथ मिलकर सन् १८६०-६१ में जर्नल डेड सवेन्ट्स में वैदिक काल विषयक समालोचना प्रकाशित की।

१८—म्योर। १८५८ ई० में लन्दन से 'ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स' में वेदों के कुछ सूक्तों की व्याख्या प्रकाशित की। मूल्य २१)

१९—ए० वेबर। यह भी जर्मनी के प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् थे। इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थों का सम्पादन तथा निर्माण किया—

(१) यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता। सन् १८४७ ई० में सम्पादित। मूल्य ६५)

(२) यजुर्वेद महीधर भाष्य सहित सन् १८४९—१८५२ में, बर्लिन से। मूल्य २५)

(३) शतपथ ब्राह्मण (१८५५) बर्लिन से। सायण, हरिस्वामी और द्विवेद गंग की टीकाओं के संक्षेप के साथ, सन् १९२४ में प्रकाशित संस्करण का मूल्य २४) है।

(४) अद्भुत ब्राह्मण (१८५८) जर्मन अनुवाद सहित बर्लिन से।

(५) यजुर्वेद काण्वसंहिता, सन् १८५२ ई० में सम्पादित। मूल्य ३०)

(६) तैत्तिरीय संहिता (१८७१–७२)

(७) वंश ब्राह्मण।

(८) कात्यायन श्रौत सूत्र, सन् १८५९ में सम्पादित; मूल्य ३०)

(९) वाजसनेयि-प्रातिशाख्य

(१०) वैदिक छन्द ('इंडिश स्टुडियन' की ८ वें भाग में)।

(११) वैदिक नक्षत्र और ज्यौतिष, सन् १८६२ में

(१२) हिस्ट्री आफ इंडियन लिट्रेचर—दो संस्करण (२य संस्करण १८८२ ई० में जर्मन भाषा में, मूल्य १०॥)

२०—थ्यूडोर आफ्रेख्ट। ये जर्मन दिग्गज विद्वान् थे। मैक्समूलर से पहले ही इन्होंने लगभग १२ वर्ष काम करके रोमन लिपि में १८६१—१८७२ में पहलीवार (१) ऋग्वेद छापा। इसका दूसरा संस्करण १८७७ में 'बान' नगर से निकला। मूल्य ३५)

(२) ऐतरेय ब्राह्मण–सायण भाष्य के उपयोगी अंश सहित १८७९ ई० ई० में प्रकाशित किया। मूल्य १०)

२१—हाग। सन् १८६३ में ऐतरेय ब्राह्मण का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया। दो भाग, मूल्य ९)

२२—जी. स्टेवेन्सन। सन् १८४२ में लण्डन से राणायनीय शाखा की सामवेद संहिता का सर्वप्रथम संस्करण अंग्रेजी अनुवाद सहित निकाला, मूल्य १०)

२३—थ्यूडोर बेन्फे। कौथुमशाखीय साम संहिता का जर्मन अनुवाद सहित सन् १८४८ में लाइबज़िग नगर से प्रकाशन किया। मूल्य २५)

२४—डब्ल्यू० डी० ह्विटनी। (१) अथर्ववेद संहिता १८५६ ई० में बर्लिन से रुडाल्फ राथ के साथ जर्मनी में प्रकाशित। मूल्य २५)

(२) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य। १८७१–७२ मूल्य ३०)

(३) अथर्व प्रातिशाख्य, जर्मन में, मूल्य ३०)

(४) १८७९ ई० में लाइबज़िग से "संस्कृत व्याकरण' (Samskrit Grammar)'

(५) अथर्ववेद का अंग्रेजी अनुवाद ग्रिफिथ के अनुवाद से पहले कर लिया था किन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात् १९०५ में लैनमैन द्वारा प्रकाशित हुआ। मूल्य ४२)

२५—ए० रिंज़े। (ए० रेग्नियर) (Regnier)। ऋग्वेद प्रातिशाख्य के सम्पादन में मैक्समूलर की सहायता की। सन् १८५६ में पेरिस से Etude sur L' idiome des vedas et les origines de la langue sanscrite प्रकाशित किया। वह सायण के पक्षपाती फ्रेंच विद्वान् थे। सन् १८५७ से १८५९ तक "प्रातिशाख्य डयू ऋग्वेद' प्रकाशित हुई। ३ भाग, मूल्य २१)

२६—एच० ग्रासमैन। विल्सन के अंग्रेजी अनुवाद और लांगलोआ के फ्रेंच अनुवाद के पश्चात् इस जर्मन विद्वान् ने सम्पूर्ण ऋग्वेद का जर्मन पद्य में रोमन लिपि में अनुवाद दो भागों में सन् १८७६-७७ ई० में लाइबज़िग नगर से प्रकाशित किया। मूल्य ३०) है। यह राथके शिष्य थे अतः सायण के पक्षपाती न थे। इन्होंने १८७३–७५ में ऋग्वेद का वैदिक कोष भी प्रकाशित किया। मूल्य ५०)

२७—एल्फ्रेड लुद्‌विग। सन् १८७६ से १८८८ तक लगभग १२ वर्षों में सम्पूर्णऋग्वेद की जर्मन गद्य में विस्तृत व्याख्या ६ खण्डों में प्राग नगर से प्रकाशित की। मूल्य २००) है। यह प्राग की जर्मन यूनीवर्सिटी के संस्कृत प्रोफेसर थे। इन्होंने भारतीय शैली का भी उपयोग कर मध्यम मार्ग ग्रहण किया। सन् १८७८ में वैदिक काल विषयक समालोचनात्मक लेख भी लिखे।

२८—२९—कार्ल एफ्० गेल्डनर और ऐडाल्फ काएजी। ये राथ के सिद्धान्तानुयायी थे। काएजीने The Rigveda, the oldest literature of the Indians नामक ग्रन्थ १८८६ ई० में जर्मन में लिखा। दोनों ने सन् १८७५ में टयूबिंगन से ऋग्वेद के ७० सूक्तों का अनुवाद प्रकाशित किया। गेल्डनर ने कुछ सूक्तों का अनुवाद १९०८ ई० में किया। (३) वैदिकधर्म और ब्राह्मण धर्म नामक ग्रन्थ लिखा। (४) जर्मन भाषा में १९१३ ई०में Die Indische Balladendichtung लिखा। ऋग्वेद का नया महत्त्वपूर्ण अनुवाद पूर्ण प्रकाशित होने से पूर्व ही १९२६में मृत्यु हो गई। १९२३ ई० में ४ मंडलों का जर्मन अनुवाद प्रकाशित हुआ। मूल्य ८)

३०—आर० टी० एच० ग्रिफ़िथ। इस प्रसिद्ध अंग्रेज वैदिक विद्वान् ने बनारस के गवर्नमेंट संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल का पद ग्रहण कर अपना १०–१५ वर्षों का समय चारों वेदों के अंग्रेजी पद्य में अनुवाद करने में व्यतीत किये। ये बनारस से प्रकाशित हुए।

(१) ऋग्वेद अंग्रेजी पद्यानुवाद, १८८९—१८९२ ई०, दो भाग। मूल्य १४)

(२) सामवेद अंग्रेजी पद्यानुवाद, १८९३ ई०, मूल्य ४)

(३) अथर्ववेद अंग्रेजी पद्यानुवाद, १८९५—१८९८ ई०, दो भाग। मूल्य १२)

(४) शुक्लयजुर्वेद अंग्रेजी पद्यानुवाद, १८९९ ई०, मूल्य ४)

३१—ए० मैकडानल। इस प्रसिद्ध अंग्रेज वैदिक विद्वान् ने अनेक ग्रन्थों का सम्पादन तथा निर्माण किया—

(१) कात्यायन कृत सर्वानुक्रमणी षड्गुरुशिष्य की टीका, वेदार्थदीपिका सहित सन् १८८६ में आक्सफोर्ड से। मूल्य १८)

(२) शौनक कृत बृहद्देवता का दूसरा संस्करण, अंग्रेजी अनुवाद सहित, १९०४ में। मूल्य २५)

(३) वैदिक रिलीजन।

(४) वैदिक इण्डेक्स। कीथ के साथ मिलकर निर्मित किया, १९१२ ई०। मूल्य ५०)

(५) वैदिक ग्रामर, जर्मनी से सन् १९१० ई० मूल्य ६) यह सर्वोत्तम वैदिक व्याकरण है। १९१६ ई० में आक्सफोर्ड से इसका छात्रोपयोगी संस्करण भी प्रकाशित हुआ।

(६) वैदिक पुराण विज्ञान Vedic mythology, स्ट्रासवर्ग से १८९७ ई० में

(७) ए वैदिक रीडर (सूक्त संग्रह) १९१७ ई० में (आक्सफोर्ड से, अंग्रेजी में) मूल्य ५॥)

(८) संस्कृत साहित्य का इतिहास (१९०० ई०) लन्दन से (Sanskrit literature) मूल्य ७॥)

(९) इंडियाज् पास्ट, १९२७ ई० में (आक्सफोर्ड से)

(१०) हिम्स फ्राम दि ऋग्वेद, अंग्रेजी में।

३२—मारिस फ़िलिप्स। दि टीचिंग्स आफ् दि वेदाज्, और रिलीजन आफ् इंडिया नामक ग्रन्थ लिखे।

३३—जे० वाकरनागेल। गाटिंगन नगर से, जर्मन भाषा में, सन् १८९६ ई० में वैदिक व्याकरण का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा।

३४—एल. वान श्रोडर। इस जर्मन विद्वान् ने लाइपजिग नगर से (१) १८८१-८६ ई० में मैत्रायणी संहिता। चार भागों में, मूल्य ६०)

(२) १८८७ ई० में 'इंडियन्स लिट्रेचर ऐंड कल्चर',

(३) १९००-१९१० में काठक संहिता, चार भागों में, मूल्य ४०)

(४) १९०८ ई० में 'मिस्टीरियम ऐंड दि माइम्स इन ऋग्वेद' प्रकाशित की। मूल्य १५)

३५—आर. पिशेल। गेल्डनर के साथ मिलकर इस जर्मन विद्वान् ने ऋग्वेद की अच्छी छानबीन की। दोनों ने सन् १८७९ ई० से १८९१ ई० तक—लगभग १३ वर्षों में जर्मन भाषा में स्टुटगार्ट नगर से तीन बड़े बड़े खण्डों में वैदिक स्टडी Vedische studien नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया है। मूल्य २४) है। सन् १९०६ में बर्लिन से 'डी इन्डिश्च लिट्रेचर' प्रकाशित किया।

३६ हरमन ओल्डेन बर्ग। जैसे नवीन वेदान्त में शंकराचार्य का नाम प्रसिद्ध है इसी प्रकार वैदिक साहित्य में जर्मनी में इस विद्वान् का कार्य प्रशंसनीय है। इन्होंने बर्लिन से (१) सन् १८८८ ई० में ५०० पृष्ठों में वैदिक छन्द आदि का विवेचन,

(२) १८९४ ई० में Religion des veda (वैदिक धर्म) बर्लिन से।

(३) वैदिक हिम्मस् (अंग्रेजी में S. B. E. 46)

(४) आख्यान सूक्त (ऋग्वेद सम्बन्धी) २० सूक्त और

(५) सन् १९०९ से १९१२ तक बर्लिन से, ऋग्वेद पर अद्वितीय भाष्य जर्मन भाषा में दो भागों में प्रकाशित किया जो ऋग्वेद की सर्वोत्कृष्ट विद्वत्ता गवेषणा तथा विवेचना से पूर्ण व्याख्या मानी जाती है। मूल्य ३५)

(६) "वर्ल्ड व्यू आफ ब्राह्मन्स" जर्मन में, मूल्य २०)

३७—ए. हिलेब्रान्त। इस जर्मन वैदिक विद्वान् ने वैदिक पुराण विज्ञान पर विशेष कार्य किया। निम्न ग्रन्थ लिखेहैं—

(१) शांखायन श्रौतसूत्र (सम्पादित)

(२) Vedische mythologie तुलनात्मक वैदिक पुराण विज्ञान, ३ बड़े बड़े खण्डों में ब्रेसला से जर्मन में लगभग १३ वर्षों में सन् १८९१ से १९०२ ई० तक। मूल्य १८)

(३) वैदिक सूक्तों का जर्मन अनुवाद सन् १९१३ ई० में, गाटिंगन से प्रकाशित "सम ह्वाईम्स फ्राम दि ऋग्वेद" मूल्य १०)

इन्होंने परकालिक कर्मकाण्ड अत्यन्त आवश्यक बताया।

(४) वैदिक डिक्शनरी, ३ भाग, मूल्य ९०)

३८—रैगोजिन। इन्होंने सन् १८९५ ई० में लन्दन में 'वैदिक इंडिया' नामक ग्रन्थ लिखा है। मूल्य ५॥=)

३९—वार्थ। फ्रेंच में पैरिस से सन् १८९९ ई० में वैदिक धर्म का इतिहास नामक पुस्तक प्रकाशित की जिसका अंग्रेजी अनुवाद The religions of India नाम से बोस्टन से प्रकाशित हुआ।

४०-बी. लिण्डनर। इनका सम्पादित कौषीतकि ब्राह्मण जेना नगर में सन् १८८७ ई० में मुद्रित हुआ। मूल्य ८)

४१—ए० सी० बर्नेल। निम्न लिखित सामवेदी ब्राह्मणों का सम्पादन किया—

(१) सामविधान, सन् १८७२ में लन्दन से, सायण भाष्य सहित, मूल्य १२॥)

(२) वंश, देवताध्याय, १८७३ में,

(३) आर्षेय (जैमिनी), १८७३ में, मूल्य १०)

(४) संहितोपनिषद् १८७७ में मैंगलोर से।

४२—डब्ल्यू० कैलेण्ड। (१) जैमिनीय शाखा के सामवेद का सम्पादन किया। मूल्य १३)

(२) आर्षेय ब्राह्मण, मूल्य १०)

(३) सन् १८३६ में वैदिक धर्म विषय पर जर्मन भाषा में ग्रन्थ लिखा;

(४) बौधायन श्रौतसूत्र का सम्पादन किया। मूल्य९) इनके सम्पादित,

(५) काठक गृह्यसूत्र का मूल्य ७॥) है।

(६) काण्व शाखा के शतपथ के अंग्रेजी अनुवाद का मूल्य १०) है।

(७) वैतान सूत्र, मूल्य १०)

(८) १९२२ में सम्पादित जैमिनीय गृह्यसूत्र का मूल्य ६) है।

(९) हालैंड में प्रकाशित अथर्ववेद का मूल्य ६०) है।

४३—स्टेन कोनो। (१) हाल नगर से सन् १८९३ ई० में सामविधान ब्राह्मण का अंग्रेजी अनुवाद।

(२) १९२१ में The Aryan gods of Mitani people' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा। मूल्य ८)

४४—पीटर पीटर्सन। यह एलफिंस्टन कालेज बम्बई में प्रोफेसर थे। इन्होंने छात्रों के लिये सन् १८८८ ई० में सायण भाष्य तथा अंग्रेज़ी अनुवाद सहित एक सूक्त संग्रह Hymns from Rgveda प्रकाशित किया जिसका दूसरा संस्करण १८९७ में प्रकाशित हुआ। भारतीय विश्वविद्यालयों में यह संग्रह अनेक वर्षों तक संस्कृत एम० ए० के पाठ्यग्रन्थों में पढ़ाया जाता रहा। दो भाग, मूल्य १२।=)

४५—जे० लाहोर। इस फ्रेंच विद्वान् ने सन् १८८८ ई० में, पैरिस से, फ्रेंच भाषा में 'हिस्ट्री दि ला लिट्रेचर' नामक वैदिक कालीन इतिहास प्रकाशित किया।

४६—एच० जिमर। इस जर्मन विद्वान् ने ऋग्वेद कालीन सामाजिक अवस्था पर बर्लिन से सन् १८७९ ई० में Altin dishes leben नामक ग्रन्थ लिखा।

४७—एच० ब्रुनहोफर। इस जर्मन विद्वान् ने सन् १८८२ तथा अगले वर्षों में वैदिक विषयों पर पत्रिकाओं में अनेक लेख लिखे। वैदिक कविता की उपमा इसने उषा-कालीन भारद्वाज पक्षी (लार्क) के गाने से दी है।

४८—एबेल बर्गेन। इस फ्रेंच विद्वान् ने वैदिक धर्म विषय पर फ्रेंच भाषा में सन् १८७८ से १८८३ ई० तक ३ खण्डों में अपना 'La religion vedique dapres les hymns du Rgveda' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित किया। जर्मन में 'रिसर्चेज अबाउट ऋग्वेद' २ भाग, मूल्य १२)।

४९—पाल ड्यूसन। सन् १८९४ ई० में, जर्मन भाषा में, लाइपज़िग से वैदिक दर्शन सम्बन्धी 'फिलासफी डेस वेद' नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया।

५०—ई० हार्डी। सन् १८९३ ई० में जर्मन भाषा में वैदिक ब्राह्मण धर्म पर 'Die vedische Brahmanische periode der religion des alten Indiens' नामक ग्रंथ प्रकाशित किया। मूल्य १०)

५१—ई० डब्ल्यू० हापकिन्स। बोस्टन नगर से अंग्रेजी में सन् १८९५ में 'दि रिलीजन्स आफ इंडिया' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रकाशित किया। मूल्य ३५)

५२—एच० डब्ल्यू० वालिस। इस विद्वान् ने सन् १८८७ ई० में अंग्रेजी में लन्दन से प्रकाशित अपने 'कास्मोलाजी आफ दि ऋग्वेद' नामक ग्रन्थ में ऋग्वेद वर्णित सृष्टि मीमांसा पर विचार किया है।

५३—एल० शेरमैन। इस जर्मन विद्वान् ने स्ट्रासबर्ग से सन् १८८७ ई० में जर्मन भाषा में ऋग् और अथर्व वेदों के दार्शनिक सूक्तों की विवेचना 'फिलासफिस्चे हिमेन आण्डस डेर ऋग् उंड अथर्व वेद संहिता' नामक ग्रन्थ में की है।

५४—सिलवेन लेवी। इस फ्रेंच विद्वान् ने ऋग्वेद के २० आख्यान सूक्तों के सम्बन्ध में आल्डेनबर्ग के सिद्धान्त [कि पहले यह सूक्त गद्य-पद्य-मिश्रित थे] का खण्डन करते हुए इन सूक्तों को नाटक का पूर्वरूप बताया। इनका 'ले थ्येटर इंडियन' नामक ग्रन्थ पैरिस से १८९० ई० में प्रकाशित हुआ।

५५—रुडाल्फ मेयर। सन् १८७८ ई० में बेरोलिनी नगर से 'ऋग्विधान' नामक ग्रंथ का सम्पादन किया। इस

ग्रंथ में मंत्रों के उच्चारण से प्राप्त होने वाली शक्ति का वर्णन किया गया है। अनेक वेदसम्बन्धी लेख भी लिखे।

५६—डी० क्यूली कोव्सकिज। इस रूसी विद्वान् ने सन् १८८२ ई० में सोमरस और श्येनाख्यान पर 'राजगेर वेदिज्सकागो मीफी ओ स्कोले ग्रिमे सेम इमटोक सोनी" नामक रूसी भाषा में एक प्रसिद्ध ग्रंथ लिखा है। मूल्य १५)

५७—पी० रेनो। 'ले ऋग्वेद ऐट् लेस् आरिजिंस् डेला मैथालाजी, इंडो यूरोपियन' नामक ग्रन्थ फ्रेंच में सन् १८९२ से १९०० ई० तक प्रकाशित किया। मूल्य २०)

५८—वेन्टले। इस विद्वान् ने वैदिक कालनिर्णय पर सन् १८२३ ई० में 'हिस्टारिकल व्यू आफ दि हिन्दू ऐस्ट्रोनामी' नामक ग्रन्थ लिखा।

५९—हर्मन जैकोबी। सन् १८९३-९४ ई० में अनेक लेखों द्वारा ज्योतिष के आधार पर वैदिक-काल निर्णय किया।

६०—क्रिश्चियन लैसेन। इस जर्मन विद्वान् ने सन् १८४३ से १८६२ ई० तक लगभग २० वर्षों में ४ बड़े बड़े भागों में "Indische altertumskunde नामक वैदिक साहित्य का इतिहास लिखा।

६१—एफ० सैण्डर। इन्होंने "ऋग्वेद अण्ड एड्डा" नामक ग्रन्थ सन् १८९३ ई० में लिखा है। मूल्य ३।≠)

६२—ए. एच. सायसे। इस विद्वान् ने वाशिंगटन से सन् १८९१ ई० में 'प्रिमिटिव होम आफ दि आर्यन्स' नामक ग्रन्थ लिखा।

६३—के० क्लेम। इस विद्वान् द्वारा सम्पादित 'षड्विंश ब्राह्मण' (सन् १८९४) का मूल्य ८) है।

६४—आर. डब्ल्यू. फ्रेजर। लंदन से 'लिट्रेरी हिस्ट्री आफ इंडिया' सन् १८९८ ई० में प्रकाशित कर वैदिक साहित्य का परिचय दिया। मूल्य १०)

६५—वी० हेनरी। इस फ्रैंच विद्वान् ने पेरिस से फ्रैंच भाषा में सन् १८९८ ई० में वेदसम्बन्धी विशिष्ट ग्रन्थ और १९०४ ई० में वैदिक साहित्य का इतिहास फ्रैंच भाषा में प्रकाशित किया। डब्ल्यू० कैलेण्ड के साथ मिलकर जर्मन में लिखित "अग्निस्तोम" का, मूल्य २०) साधारण संस्करण का है।

२० वीं शताब्दी

जिन विद्वानों के ग्रन्थ १९ वीं शताब्दी में प्रकाशित हुए या प्रकाशित होने आरम्भ हो गये थे, उनका वर्णन ऊपर किया गया है। अब उन विद्वानों का उल्लेख किया जायेगा जिनके ग्रन्थ इस २० वीं शताब्दी में प्रकाशित हुए हैं—

६६—एम० विन्टरनीज। इस प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् ने मैक्समूलर के ऋग्वेद के २य संस्करण में उनकी पर्याप्त सहायता की। जर्मन भाषा में इनका वैदिक साहित्य का इतिहास लाइपज़िग से सन् १९०४ ई० में ३ खण्डों में प्रकाशित हुआ। मूल्य ३५)

उसका अंग्रेजी अनुवाद भी "हिस्ट्री आफ इंडियन लिट्रेचर" नाम से भारत में अत्यन्त लोकप्रिय हुआ और कई विश्वविद्यालयों के एम० ए० के पाठ्यक्रम में नियत किया गया। सन् १९२५ ई० में इनका 'एन्श्यंट इंडियन वेलेड प्वेट्री नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। आप के सम्पादित आपस्तम्ब गृह्यसूत्र का मूल्य १२॥) है।

६७—ए० वी० कीथ। यह अंग्रेज विद्वान् मैकडानल का शिष्य था।

(१) सन् १९१४ ई० में इन्होंने कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता का अंग्रेजी अनुवाद और उसकी २०० पृष्ठों की महत्त्वपूर्ण भूमिका लिखी। मूल्य दो भाग २५)

(२,३) सन् १९२० ई० में अमेरिकन सीरीज में १०० पृष्ठों की भूमिका सहित ऐतरेय और कौषीतकि ब्राह्मणों को अंग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशित किया। भाग १०, मूल्य३४)

(४) १९२२ ई० में "कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया" निकला।

(५) सन् १९२५ ई० में, २ खण्डों में, ७१६ बड़े पृष्ठों में इन्होंने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ "रिलीजन ऐंड फिलासफी आफ दि वेदाज ऐंड उपनिषद्स" प्रकाशित किया। मूल्य २५)

(६) मैकडानल के साथ मिल कर "वैदिक इण्डेक्स" नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ रचा। मूल्य ५०)

(७) शांखायन आरण्यक, अंग्रेजी अनुवाद, मूल्य ९)

(८) हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर। मूल्य १८|||)।

६८—आर० गार्बे। सन् १८८१ से १९०२ तक आपस्तम्ब श्रौतसूत्र का सम्पादन किया। दो भाग, मूल्य २५)

ब्लूमफील्ड के साथ अथर्व पैप्पलादीय शाखा का प्रकाशन किया।

६९—डी० गास्ट्रा। सन् १९१९ ई० में लेडन नगर से गोपथ ब्राह्मण प्रकाशित किया। मूल्य २०)

इन्होंने जैमिनीय गृह्यसूत्र का डच (हालैण्डकी) भाषा में १९०६ ई० में अनुवाद किया। मूल्य १०)

७०—एम० (मारिस) ब्लूमफील्ड। इस प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् ने अनेक महत्त्वपूर्ण वैदिक ग्रन्थों का प्रणयन किया। यथा—

(१) सन् १९०१ ई० में 'जर्मनी से, गार्बे के साथ मिलकर शारदा लिपि में वर्तमान, काश्मीर से प्राप्य पैप्पलाद शाखीय अथर्ववेद की हस्तलिखित प्रति का ५४० फोटो प्लेटों में, चार बड़े खण्डों में प्रकाशन, किया मूल्य २५०)

(२) पिप्पलाद शाखा का १९०१ ई० में अंग्रेजी अनुवाद, मूल्य २२)

(३) अथर्ववेदीय कौशिक सूत्र, सन् १८९० ई०, मू० ३८)

(३) वैदिक कान्कार्डेन्स (मन्त्र महासूची)। १९०६ ई० में हार्वड ओरियण्टल सीरिज़ के १० वें खण्ड में ११०२ बड़े आकार के पृष्ठों में रोमन लिपि में प्रकाशित हुई जिसमें ११९ पुस्तकों से अधिक का उपयोग किया गया है। मूल्य ९०)।

(४) सन् १९०८ ई० में अंग्रेजी में 'रिलीजन आफ दि वेद' का प्रकाशन हुआ इस ग्रन्थ की रचना जर्मन भाषा में सन् १८९४ में हुई थी। मूल्य १५)

(५) ऋग्वेदिक रिपिटीशन्स (पुनरुक्त मन्त्र सूची) सन् १९१६ ई० में २ खण्डों में। मूल्य ३४)

७१—एच० एर्टल। सन् १९२१ ई० में जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण अंग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशित किया। मू० १०॥)

७२—ए० एफ० स्टेन्ज़लर। आश्वलायन तथा पारस्कर गृह्यसूत्र आदि का सम्पादन किया। दो भाग १०)

७३—एफ० क्नाउएर। मानव श्रौत सूत्र आदि का सम्पादन किया।

७४—सी० आर० लैनमेन। इस विद्वान् ने व्हिटने के अथर्ववेद के अपूर्ण अंग्रेजी अनुवाद को पूर्णकर, टिप्पणियों के साथ, अमेरिका से, २ खण्डों में सन् १९०५ में प्रकाशित किया। इसमें १५० से अधिक पृष्ठों की महत्त्वपूर्ण भूमिका भी है। मूल्य ४०)

७५—जे० एगलिङ्ग। शतपथ ब्राह्मण का अंग्रेजी अनुवाद, बृहद् भूमिका सहित, ५ खण्डों में रचा। मूल्य ७४)

७६—ई० वी० आर्नाल्ड। सन् १९०५ में "वैदिक मीटर इन इट्स हिस्टारिकल डिवलपमेंट" नामक ग्रन्थ रचकर ऋग्वेद के छन्दों की विस्तृत विवेचना की है। मूल्य १८)

७७—शेफ्टलोविट्ज़। सन् १९०७ ई० में ब्रेसला से ऋग्वेद के खिल सूक्तों का पृथक् संस्करण जर्मन भाषा में अनुवाद सहित प्रकाशित किया।

७८—ई० जे० थामस। लंदन से सन् १९२३ ई० में 'वैदिक हिम्न्स' (सूक्त संग्रह) निकाला।

७९—ई० डब्ल्यू० फ्रे। सन् १९०६ में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में वेदसम्बन्धी लेख लिखे।

८०—डि ला वाली पौसिन। इस फ्रेंच विद्वान् ने १९०९ ई० में 'ला वैदिज्म' नामक ग्रन्थ लिखा।

८१—ह्यूगो विंकलर। इस जर्मन विद्वान् ने सन् १९०७ ई० में एशियामाइनर पर पुरानी ईंटों पर मुद्रित वैदिक देवताओं के नामों के आधार पर वैदिक काल विषयक गवेषणायें की।

८२—ई० अर्बमैन। इस जर्मन विद्वान् ने सन् १९२२ ई० में वैदिक माइथालाजी पर एक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा।

८३—एच० डी० ग्रिसवोल्ड। सन् १९१० ई० में "गाड वरुण इन दि ऋग्वेद" लिखा। सन् १९२३ ई० में "दि रिलिजन आफ दि ऋग्वेद" लिखा। यह ईसाई मत पक्षपाती और वैदिकधर्म का द्वेषी था।

८४—जे० एन० फर्कुहर। लंदन से अंग्रेज़ी में हिन्दू-धर्म, वैदिकधर्म और धार्मिक साहित्य पर सन् १९१२, १९१५ और १९२० ई० में ४ ग्रन्थ लिखे। न्यूयार्क से 'माडर्न रिलीजस मूवमेंट्स इन इंडिया' नामक ग्रन्थ पक्षपात से पूर्ण है।

८५—आर० वी० क्रेटन। मद्रास से इनका लिखा "ऋग्वेद ऐंड वैदिक रिलीजन" नामक ग्रन्थ सन् १९१३ ई० में प्रकाशित हुआ। यह ग्रन्थ भी पक्षपात से पूर्ण है।

८६—जान हर्टेल। सन् १९२१ ई० में जर्मन भाषा में 'इंडिश्चे मार्चेन' नामक ग्रन्थ लिखा।

८७—ई० सीज। इस जर्मन विद्वान् ने सन् १९०२ ई० में जर्मन भाषा में स्टटगार्ट से "Die sageustoffe des Rigveda und die indische Itihasa tradition" नामक ग्रन्थ लिखकर प्रकाशित किया।

८८—जे० कार्पेन्टियर। इन्होंने सन् १९२० ई० में जर्मन भाषा में 'आख्यान सूक्त गेय काव्य हैं' इस विषय पर 'Die superuasage' नामक ग्रन्थ लिखा।

८९—लीबिश। सन् १९१९ ई० में ऋग्वेदीय शाकल्य कृत पदपाठ का विवेचन जर्मन पुस्तक में किया है।

९०—एफ० ईजर्टन। इन्होंने ब्लूमफील्ड के साथ

मिलकर सन् १९३० ई० में वैदिक पाठभेद और पुनरुक्ति पर 'वैदिक वैरियैन्ट्स' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा है। मूल्य ८)

९१—**आर० एन० आलब्राइट**। सन् १९२७ ई० में अंग्रेजी में, फिलाडेल्फिया से आप का वैदिक व्याकरण पर The vedic declension of the typy vrkis ग्रन्थ प्रकाशित हुआ।

९२—**डब्ल्यू बुस्ट**। इस जर्मन विद्वान् ने वैदिक इतिहास सम्बन्धी ग्रंथ Vom Gestaltwandel des rgvedisches Dichtstils सन् १९२६ ई० में लाइपज़िग से प्रकाशित किया।

९३—**वी० जे० रेले**। सन् १९३१ में इस विद्वान् ने "वैदिक गाड्स ऐज़ फिगर्स आफ बायलाजी" नामक ग्रंथ [मूल्य ६॥)] प्रकाशित कर यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि वेद के समस्त देवता मानव शरीर के विशेषतः मस्तिष्क के अंग हैं।

९४—**के० रोतो**। सन् १९२७ ई० में 'त्रित आप्त्य' ग्रंथ प्रकाशित किया। मू० ६)

९५—**आर० सायमन**। (१) जर्मन में पंचविधि सूत्र प्रकाशित, मूल्य ६) (२) सन् १९०८ में जर्मन भाषा में सामवेद पुष्पसूत्र सम्पादित किया। मूल्य १५)

९६—**जी० पट्रेश**। उपलेख सूत्र का सम्पादन किया। मूल्य १०)

९७—**ए० वेन्स**। 'दि इन्सायक्लोपीडिया आफ इंडो आर्यन रिसर्च" लिखा। मूल्य १३)

९८—**नीसेर**। ऋग्वेद कोष का निर्माण किया।

९९—**स्मिट**। वैदिक कोष का निर्माण किया।

१००—**लुइस रेनों**। इन प्रसिद्ध फ्रेंच वैदिक विद्वान् ने फ्रेंच भाषा में पैरिस से सन् १९२५ ई० में "वैदिक सूक्तों में परोक्षभूत का स्थान" विषय पर अपना ग्रंथ लिखा। सन् १९३१ में आपने "बिबलिओग्राफी वैदिका" नामक वैदिक साहित्य का इतिहास सम्बन्धी प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा, जिसका मूल्य उस समय १०० फ्रांक [१८ मार्क या १८ शिलिंग] था। इसमें आपने वैदिक साहित्य पर संसार भर की भाषाओं में लिखे गये ग्रन्थों का परिचय दिया है। इस पुस्तक के नौ भाग का मूल्य १२) है।

१०१—**जे० क्रीस्टे**। हिरण्यकेशी (सत्याषाढ) गृह्य-सूत्र का सम्पादन किया, मूल्य २५)

१०२—**जे० एम० गिलडनर**। इन्होंने मानवश्रौत सूत्र चयन नामक ग्रन्थ सम्पादित किया, मू० ५) है।

१०३—**जे० डब्ल्यू० सोलोमन**। भारद्वाज गृह्यसूत्र का सम्पादन किया, मू० १२) है।

१०४—**एच० एफ० एलसिंग**। सन् १९०८ ई० में इन्होंने 'षड्विंश' ब्राह्मण सम्पादित किया, मू० १२) है।

१०५—**जे० एन० रूटर**। द्राह्यायण-श्रौत-सूत्र का सम्पादन किया। मू० २५)

१०६-१०७—**जी० एस० वालिंग और आई० बी० नेगलिन**। इन्होंने जर्मन भाषा में सन् १९१० ई० में अथर्ववेद के परिशिष्ट ग्रन्थ प्रकाशित किये, मू० ४५) है।

१०८—**जे० ग्रिल**। इनके रचित "हन्ड्रेड लेसन्स ऐण्ड लेक्चर्स आफ अथर्ववेद" का मूल्य ७) है।

१०९—**पी० ई० डूबूसण्ड**। सन् १९२७ ई० में फ्रेंच में "ला अश्वमेध" नामक ग्रंथ लिखा, मूल्य १८) है।

११०—**जी० बुह्लर**। इन्होंने दो भागों में 'दि सैक्रेड लाज़ आफ दि आर्यन्स' ग्रन्थ लिखा। दो भागों का मू० १२॥)

हम सब भारतीय आर्य जनों को इन पाश्चात्य वैदिक विद्वानों के लिये श्रद्धाञ्जलि अर्पित करनी चाहिये। जिन पाश्चात्य वैदिक विद्वानों का नाम उपरिलिखित वर्णन में भूल से छूट गया है, यह तुच्छ लेखक उनके प्रति क्षमा प्रार्थी है।

पाश्चात्य विद्वान् और वेद

(ले०—श्री डा० सूर्यदेवजी, शर्मा एस०ए०,एल०टी०, डी० लिट्, सिद्धान्त वाचस्पति, साहित्यालंकार अजमेर)

वैदिक धर्म एक सार्वभौम धर्म है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेक सहस्र वर्षों तक यही संसार का सर्व प्रधान धर्म रहा। पुरातत्त्व के अन्वेषण से जो परिणाम निकलता है उससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि किसी समय सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, एशिया, मैसोपोटामिया यूरुप (हरिवर्ष) और अमेरिका में यही धर्म प्रचलित था। यहाँ के आचार्य सर्वत्र धर्म और कर्त्तव्य की शिक्षा दिया करते थे। लेकिन आज तो यह सब स्वप्न सा हो रहा है। भारतीय तो केवल नाम के लिये 'वेद' 'वेद' रटा करते हैं—वेदों का स्वाध्याय, उन पर विचार और तत्सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रकाशन तो जितना होना चाहिये उसका शतांश भी यहाँ नहीं होता। लेकिन यूरोप के लोग वैदिक धर्मी न होते हुये भी अपनी बुद्धि और विचारानुसार वेद सम्बन्धी जो कार्य कर रहे हैं, वह वास्तव में आश्चर्य में डालने वाला है।

सबसे प्रथम १८ वीं शताब्दी के मध्यकाल में भारत से एक ईसाई मिशनरी ने एक कल्पित "यजुर्वेदम्" की पुस्तक फ्रांस के प्रसिद्ध लेखक और विद्वान् वाल्टेर को भेजी, जिसने अपने लेख में उसकी बड़ी प्रशंसा की, जिससे यूरोप वालों का चित्त वेद पढ़ने की ओर आकर्षित हुआ और उन्होंने इस विषय में कुछ प्रयत्न करना भी आरम्भ किया।

फिर सन् १८०५ ई० में कोलब्रुक साहब ने "एशियाटिक रिसर्चेज" नामक पत्र में "हिंदुओं के पवित्र ग्रन्थ—वेद" सम्बन्धी लगातार कई लेख प्रकाशित कराये, जिसमें सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का अच्छा परिचय दिया गया था। इन लेखों ने पाश्चात्य विद्वानों के अन्दर वैदिक साहित्य के अनुशीलन के लिये रुचि उत्पन्न करने में अत्यन्त सराहनीय कार्य किया। इसी समय से वेदों की ओर आकृष्ट हुये और सबसे प्रथम जर्मनी के विद्वान् रोजन साहब ने ऋग्वेद का सम्पादन करने का निश्चय किया, लेकिन सन् १८३७ में उनकी असामयिक मृत्यु हो जाने से वह कार्य सम्पूर्ण नहीं हो सका। केवल ऋग्वेद का प्रथमाष्टक ही सन् १८३९ में प्रकाशित हो सका।

उन्हीं दिनों फ्रांस के प्रसिद्ध प्राच्यविद्याविशारद प्रो० बर्नफ पैरिस में संस्कृत के शिक्षक बने, जिनके पढ़ाये हुये शिष्यों ने ही वास्तव में यूरोप में वेदों का कार्य किया। इसलिए यूरोप में वेदाध्ययन की पावन परम्परा के आदि प्रसारक इन्हीं महानुभाव को कहा जाना चाहिये।

जर्मनी के एक और प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० राथ ने सन् १८४६ ई० में "वेद का साहित्य और इतिहास" एक छोटी सी पुस्तक लिखकर यूरोपवासियों का ध्यान इस ओर विशेष रूप से आकृष्ट कर दिया। इन्हीं महोदय ने वेदार्थ की एक स्वतन्त्र शैली को जन्म दिया और अब तक जो विद्वान् केवल सायण आदि का आश्रय लेते थे उनका इन्होंने घोर विरोध किया। "वेद का अर्थ वेद से ही करना" इनका प्रधान नियम था। इन्होंने ही बड़े परिश्रम से "सेंट पिटसबर्ग संस्कृत जर्मन महाकोष" तैयार किया जिसके लिये वेदधर्मानुयायी सदा के लिये उनके आभारी रहेंगे। वैदिक साहित्य का ऐसा शब्दइतिहास का खोजपूर्ण कोश आज तक संसार में तैयार नहीं हुआ।

प्रोफेसर राथ के पुस्तक प्रकाशन के पश्चात् ही यूरोप के कई एक विद्वानों ने वेदानुशीलन ही अपना ध्येय बना लिया। जर्मनी विद्वान् वेबर ने सन् १८५२ ई० में भारतीय साहित्य पर "यूनिवर्सिटी व्याख्यान" नामक एक खोजपूर्ण ग्रन्थ लिखा और तत्सम्बन्धी अनेकों लेख प्रो० औफ्रेक्ट और बिनर्फ ने भी इसी समय ऋग्वेद और सामवेद संहिता का सम्पादन किया।

प्रो० मैक्समूलर का नाम लिये बिना तो यह वृत्त पूर्ण ही नहीं कहा जा सकता। वह भारतीय साहित्य के ज्ञाता विद्वानों के मुकुटमणि थे। "प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास" ग्रन्थ आपने बड़ी विद्वत्ता से

लिखा है। सन् १८४९ से १८७५ ई० तक ऋग्वेद का सम्पादन कर उसका बड़ा और शुद्ध संस्करण सायण-भाष्य सहित निकालना आप का ही काम था, जिसकी भूमिका में आपने लिखाः—

"शार्मण्यदेशजातेन, श्रीगोतीर्थनिवासिना ।
मोक्षमूलरभट्टेन, ग्रन्थोऽयं परिशोधितः ॥"

अर्थात् जर्मन देश में उत्पन्न हुये, और ऑक्सफोर्ड में रहने वाले पण्डित मैक्समूलर ने इस ग्रन्थ का शुद्ध संस्करण किया है। इसी प्रकार के उन्होंने अनेक श्लोक भी लिखे और वैदिक साहित्य पर अनेकों लेख और ग्रंथ लिखे। उनका नाम पाश्चात्य वैदिक साहित्य के इतिहास में सदा अमर रहेगा।

इसी प्रकार प्रो० श्रेडर ने कृष्ण यजुर्वेदीय मैत्रायणी संहिता तथा काठक संहिता का सम्पादन, प्रो० स्टीवेन्सन ने सामवेद संहिता की एक शाखा का अनुवाद, प्रो० ह्विटेन ने शौनक शाखीय अथर्ववेद संहिता का सम्पादन किया। अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखीय संहिता की केवल एक प्रति संसार भर में मौजूद थी, जिसको प्रो० ब्लूमफील्ड काश्मीर से ले गये थे—उन्होंने उसका फोटो खिंवाकर जर्मनी में उसे शारदा लिपि में छपाया है, जिससे वह हमेशा के लिये अमर और सुरक्षित हो गई। यह इन लोगों का अनुकरणीय वेदप्रेम था, जिसके सीखने की हम लोगों को अत्यन्त आवश्यकता है।

इस प्रकार प्रो० हौग, प्रो० लिंडनर, प्रो० एर्टल गास्टा, प्रो० हिलीब्रांड, कैलेण्ड, स्टेन्सलर; प्रो० विल्सन, लुडविग, ग्रिफिथ, ओल्डनवर्ग, प्रो० कीथ, एगलिंग, मैकडालण्ड, और प्रो० अर्नेल्ड आदि अनेकों विद्वानों ने वैदिक साहित्य के अध्ययन, सम्पादन और अनुवाद प्रकाशन तथा ग्रन्थ लेखन में अपने जीवन समर्पण कर दिये हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने अपनी लाइब्रेरियों में वैदिक साहित्य की इतनी अमूल्य पुस्तकें जमा की हैं जिनका भारत में मिलना कठिन हो रहा है। यह हमारा आलस्य, प्रमाद और दुर्भाग्य ही है कि हमारे ही ग्रंथ हमको देखने तक को नसीब नहीं होते और वे आकसफोर्ड, लन्दन, बर्लिन और पैरिस के पुस्तकालयों की शोभा वृद्धि कर रहे हैं। वैदिक रिसर्च और अनुसन्धान सम्बन्धी बीसियों मासिक पत्र पाश्चात्य देशों में निकलते हैं जिन में अनेकों बहुमूल्य लेख प्रतिमास प्रकाशित होते रहते हैं।

वैदिक साहित्य की यह सारी सेवायें पाश्चात्य विद्वान् केवल विद्या प्रेम के कारण ही कर रहे हैं। जो कुछ उन्होंने अनुवाद किये और ग्रन्थ लिखे हैं। वे सब ठीक ही हैं, यह हमारा प्रयोजन नहीं, लेकिन उनके परिश्रम, प्रयत्न और वैदिक साहित्य प्रेम की प्रशंसा किये बिना हम नहीं रह सकते। वे वैदिक धर्मी अथवा आर्यसमाजी न होते हुये भी वैदिक साहित्य के क्षेत्र में किस प्रयत्न से जुटे पड़े हैं। दूसरी ओर वेदों के अनुयायी कहे जाने वाले हिन्दू, सनातन धर्म का ढोल पीटने वाले संघी और "वैदिक बलिवेदी पर हँसते २ प्राण देने वाले आर्य भाई" हैं, जो "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" का दिन रात मंत्र जपते हुये भी वेदों के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कर रहे।

सर एडवर्ड कारपेन्टर जैसे महान विद्वान् तो अपनी पुस्तक "Art of creation" में एक विदेशी और ईसाई मतावलम्बी होते हुये भी वेदों के महत्त्व को कितनी दृढ़ता और निर्भीकता के साथ संसार के सामने रखते हैं, देखियेः—

"A new philosophy we can hardly expect or wish for since the same germinal thoughts of the vedic authors come all the way down history, even too Schopenhauor and Whitman, inspiring philosophy after philosophy and religion after religion." अर्थात् अब तक एक भी नया विचार अथवा दर्शन ऐसा नहीं जिसको हम नया कह सकें। वैदिक ऋषियों के मौलिक विचार इतिहास के प्रारम्भ से लेकर शोपान होवर तथा विटमैन जैसे दार्शनिकों तक क्रमशः एक दर्शन के बाद दूसरे दर्शन को और एक धर्म के बाद दूसरे धर्म को प्रेरणा देते हुये चले आ रहे हैं।

जब यूरोप के विद्वान् इतने उच्च स्वर से वेदोंका गुणगान करते हैं, और सृष्टि के आरम्भ से अब तक के समस्त दर्शनों और धर्मों का उद्गम स्थान वेदों को ही मानते हैं तो हम जो वेदों के अनुयायी अपने को कहते हैं क्यों न वेदों के पठन-पाठन में और

प्रचार में जुट जाएं और "वेदवाणी" जैसी जो पत्रिकाएँ और पत्र जो वेद के प्रचार में निरन्तर संलग्न हैं उनके साथ क्यों न सहयोग करें। प्रभु हमको उत्साह, और वेद प्रेम प्रदान करे ताकि हम एक स्वर से गा सकें:—

वेद भगवन् तुम हमारे पूर्वजों के प्राण हो।
रूप में पुस्तक के हो पर तत्त्व में भगवान् हो॥

अथर्ववेद के साथ किया गया अन्याय

(ले०—श्री प्राध्यापक वा० विष्णुदयाल जी एम० ए० मारीशस)

संस्कृत की ओर खींचे जाने पर यूरोपीय हमारे ग्रन्थों का अनुवाद करने लगे। विगत शती में मूर्धन्य लेखक हमारी प्रशंसा करने लगे। यद्यपि वेदों का भाषान्तर ठीक न था तो भी ये क्रान्तदर्शी विद्वान् समझ गये कि वेद में अद्भुत ज्ञान है, फ्रॉंस में महा कवि विक्टर ह्यूगो ने लिखा कि "वेद एद्ध रोमसिरो" पठनीय हैं। यह वाक्य उन के प्रसिद्ध काव्य "शताब्दियों का उपाख्यान" में आता है। कवि गण लेखकों से मिलकर लिखने लग गये थे कि वेद सब लोगों के लिये है, वह किसी लेखक विशेष का रचा हुआ ग्रन्थ नहीं लगता। "दीवान" की भूमिका में जर्मन कवि गेटे ने लिखा कि संसार के प्रभात काल में परमात्मा मानव को ज्ञान देता है।

उन्नीसवीं शती से पूर्व

उन्नीसवीं शती से पूर्व मालब्रांश नामक के पादरी ने हिन्दुओं के विचार प्रसारित किये और उन्हें "१७ वीं सदी के हिन्दू" नाम मिला।

वे वोल्तेर के समान उद्भट विद्वान् न थे। जन साधारण तक भारतीय विचारों को वोल्तेर ही ने १८ वीं शताब्दी में पहुँचाया। बोस्ये के प्रवचनों की फ्रॉंस में धुन थी। उन्हों ने सिद्ध कर दिया था कि सब ज्ञान यहूदियों की और से मिला। पादरियों के छक्के छुड़ाने वाले वोल्तेर ने बोस्ये को ऐसा उत्तर दिया जो फ्रेंच साहित्य का एक अमर अंग बन गया।

उन से मोदाव नामक फ्रेंच मिले जो कोरोमण्डल में रहते थे। उन्हें यजुर्वेद की एक प्रति सन् १७६० में इसी फ्रांसीसी से मिली थी। जैसे कि अब हमें ज्ञात है, वह जाली यजुर्वेद था; पर पादरियों ने वेद के प्रभाव में आकर उसे इतना उत्तम बना दिया था कि बहुत दिनों तक लोग मानते रहे कि यह मौलिक यजुर्वेद ही था। कइयों का अनुमान है कि मोदाव को यह ग्रन्थ अपने श्वशुर से प्राप्त हुआ था जो करैकल में रहते थे।

ये मोदाव नाम वाले फ्रांसीसी वोल्तेर को यह ग्रन्थ दे कर मारीशस आये। यदि उन दिनों में वेद से दिलचस्पी रखने वाले विद्वान् यहाँ होते हम जान जाते कि-उन्हें अपने श्वशुर से ही या किसी अन्य से यह प्राप्त हुआ था। मोदाव ने ही वोल्तेर को भारत के सम्बन्ध में बहुत कुछ सुनाया था।

वोल्तेर के पास इतनी सामग्री आ गई थी कि वे सिद्ध कर पाये कि ज्ञान का केन्द्र भारत और चीन को मानना चाहिये। उन के युग में ही मान लिया गया था कि भारतीय बर्बरता से रहित थे। वोल्तेर ने सर्वप्रथम बताया कि केवल भारतीयों और चीनियों के धर्म बर्बरता से शून्य हैं। उन्हों ने लिखा कि हिन्दुओं का धर्म तार्किक लोगों का धर्म है। उन्होंने उन पादरियों की पोल खोली जिन्हें भारत में भूत प्रेत पूजा के सिवा कुछ दिखाई ही न देता था।

वोल्तेर युग में बड़े २ विचारक विद्यमान थे, उन्हीं के द्वारा फ्रांस से विश्वकोष रचा गया जिस में जिदरो ने लिखा कि पादरियों की उत्कण्ठा स्तुत्य है, किन्तु यही उत्कण्ठा उन्हें एक ओर या दूसरी ओर हद से ज्यादा झुका देती है।

अथर्ववेद पर प्रहार

पादरियों को वेदों को कलंकित करने का अन्त

में अवसर मिल गया। वे कहते रहे कि भारत में भूत पूजा होती है, अब वे और उन के साथी कहने लगे कि अथर्ववेद में भूत प्रेत की पूजा का स्पष्ट विधान मिलता है।

वे साथ साथ सुनाने लगे कि अथर्ववेद वेद ही नहीं है क्यों कि वेद तो केवल तीन हैं। इतना कह कर वे चुप न रहे। जिन्हें वे वेद बताते हैं उनमें भी अनेक त्रुटियाँ देखने में आने लगीं।

उनका कथन युक्तियुक्त नहीं है। यदि अथर्ववेद में दोष है अन्य तीन वेदों में दोष न होना सिद्ध हो जाता है। या यों कहिये कि यदि भूत प्रेत पूजा का सम्बन्ध अथर्ववेद से है, ऋक्, साम और यजुः में ईश्वर पूजा को उच्च स्थान प्राप्त होना चाहिये। क्योंकि समीक्षक वेद मात्र पर प्रहार करने निकले, वे इन तीनों को मानने लगे।

भारतीय विद्वानों ने सैकडों बार प्रमाण देकर बता तो दिया कि वेद वस्तुतः चार हैं, उन में उल्लिखित विषय तीन हैं। बच्चा बच्चा अब जानता है कि इस विषय में दो रायें हो ही नहीं सकतीं। यदि गीता को ही उठा कर देखा जाय जिसका अनुवाद देश देश में हो गया, यह श्लोक देखने में आयेगा :—

"ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥
XIII. ४

डा० राधाकृष्णन् की गीता में "छन्द" को "वेद" मान कर यह टीका की गई है:—

"The Gita suggests that it is expounding the truths already contained in the vedas......"

गीता तो उपनिषद्रूपी गौ का दुग्ध है। उपनिषद् में चारों वेदों का नाम अधिक स्पष्टता से आता है। छांदोग्योपनिषद् में नारद जी कहते हैं:-ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्-भगवन्! मैं ऋग्वेद को जानता हूं, यजुर्वेद को, सामवेद को चौथे अथर्ववेद को......"

गीता ने "छन्द" शब्द व्यवहृत किया। वेदों में भी अथर्वा के लिये "छन्द" शब्द आता है, यदि इस का प्रमाण किसी को चाहिये तो "आथर्वणायाश्विनादीधने," ऋग्वेद (१।८०।१६) के इस वचन में अथर्ववेद के ऋषि का नाम तक पा सकता है। चारों वेद एक काल में रचे गये क्योंकि जिस ऋग्वेद को प्राचीनतम कह कर और वेदों को कम प्राचीन सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है, उसमें अर्वाचीन माने जाने वाले वेद का उल्लेख है जिस प्रकार ईशोपनिषद् का सम्बन्ध यजुर्वेद के साथ है उसी प्रकार ऋग्, साम तथा अथर्ववेदों से सम्बन्ध रखने वाली उपनिषदें विद्यमान हैं, मुण्डकोपनिषद् अथर्ववेद ही की उपनिषद् है। इस नाम से ही ज्ञात होता है कि इस उपनिषद् में शीर्षस्थानीय, सर्वोच्च विद्या है, अथर्ववेद निकृष्ट नहीं है।

चतुर्थ वेद

एक ही अर्थ में अथर्व वेद को चतुर्थ वेद माना गया है और वह यह है कि इस वेद के ज्ञाता अग्रणी, पुरोहित होते हैं, वे उद्भट विद्वान् होते हैं, उन्हें तीन वेदों का ज्ञान होना चाहिये, नहीं तो वे इस वेद को समझ न सकेंगे।

इस अर्थ में जब हम अथर्व वेद को अन्तिम या चतुर्थ वेद नाम देते हैं हम उसका मूल्य बढ़ाते हैं। ऋग्वेद में यह सब कहा गया, जब उसके दशम मंडल में यह मन्त्र आया:—

"अग्निर्जातो अथर्वणा विदद्विश्वानि काव्या।
भुवद् दूतो विवस्वतो वि वो मदे प्रियो यमस्य
काम्यो विवक्षसे (१०।२१।५)

अथर्ववेद की विद्या में या अथर्ववेद से प्रसिद्ध होकर ज्ञानी अर्थात् पुरोहित सम्पूर्ण परम कवि के वचनों, वेदों तथा कवि के कर्तव्यों को प्राप्त करे, और विचारे, वह विवस्वान् के काल का दूत होता है, और तुम्हारे आनन्दार्थ तथा विशेष कथन के लिये और खास भार उठाने के लिए संयम का विशेष प्रेमी होता है।"

इस वेद को हम वेदान्त कह सकते हैं क्योंकि यह वेद का अन्त है। अन्य तीन वेदों के पाठ के बाद इसका पाठ सुचारु रूप से हो पाता है। इस मूल बात को न समझ कर पश्चिमीयों ने अथर्व वेद को पढ़ा, मनोयोग से इसे पढ़ते तो उनका निर्णय आजकल के उनके निर्णय के बिल्कुल विपरीत होता,

अधिक कठिन होने से इस वेद को उन्होंने कम समझा, उनका जो इस वेद पर प्रहार हुआ वह योग्य समीक्षक की अधिकृत समीक्षा नहीं है।

उपर्युक्त मन्त्र उस मत का स्पष्ट विरोध करता है जिसे अपना कर कुछ भारतीय और अभारतीय विद्वान् कहते रहते हैं कि अथर्ववेद को मान नहीं मिलता था, भारतीयों में प्रोफेसर अर्जुन चौबे काश्यप को गिनना चाहिये जिन्हों ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "आदि भारत" के पृष्ठ ६५ पर लिखा है:—

'अथर्वसंहिता' ही अथर्ववेद है जिसे चौथा वेद कहते हैं, यह वेद मोहन-उच्चाटन-मारण के उपचारों से सम्बन्धित मन्त्रों से भरा है, सम्भवतः इसी कारण इसका प्राचीन काल में उतना सम्मान नहीं था।'

सम्मान न हुआ होता तो ऋग्वेद में अथर्ववेद के सम्बन्ध प्रशंसात्मक विचार क्यों आते? यह प्रशंसा व्यर्थ न हुई थी, आगे चल कर इस लेख में बताया जायेगा कि त्रस्त संसार अथर्ववेद की शरण में आने का इरादा करने लगा है। यह इरादा विचारवानों का इरादा है, अथर्ववेद ने ही ईश्वर को 'स्वस्तिदा', "आयुर्दा" आदि संज्ञायें दे कर जरा, मृत्यु से मुक्त होकर अमर होने का मार्ग दर्शाया है।

हमारे विद्वान्

प्रहार करना सहज हो जाता है क्योंकि कुछ भारतीय भी यूरपीयों के हाँ में हाँ मिलाते रहते हैं, डा० मुल्कराज आनंद का आगमन हमें हर्ष से पूरित करने वाला था, उनके लेखों, कहानियों और उपन्यासों को पढ़ कर पाठक कहने लगे कि भारत में नेहरू जी से अच्छी अंगरेजी लिखने वाले दृग्गोचर होते हैं, डाक्टर जी ने बच्चों के लिये भारत का एक लघु इतिहास अंगरेजी में लिखा, यह नन्हीं सी पुस्तिका सुन्दर है, नेहरू जी के अनेक चित्र उसमें मिलते हैं, यही नहीं, वेद सम्बन्धी विचार जो पाये जाते हैं वे भी नेहरूजी के मत से ही मिलते-जुलते हैं, आनंद जी लिखते हैं:-

"The Aryans sang certain chants and hymns and poens to appease the forces of nature......Also they adopted the Dravidian gods and spirits......"

हम अपने भारतीय शासकों को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते जब हम देखते हैं कि भौतिक स्तर पर उन्हों ने देश रक्षार्थ अस्त्र-शस्त्र को खूब तैयार किया, परन्तु आध्यात्मिक स्तर पर बने हुए काम को भी बिगाड़ते रहने वालों को कैसे बधाई दें?

पादरी को बढ़िया मौका मिल रहा है, भारतीय विद्वान् आध्यात्मिक भारत के पैर पर स्वयं कुल्हाड़ा मार रहे हैं, हिन्दुओं को ईसाई बनाने में इन महानुभावों से ही सहायता मिल रही है।

निष्पक्ष यूरपीय तक अंगरेजी शिक्षित भारतीयों के रुख से असंतुष्ट हैं।

भारत के स्वतन्त्र होने पर हिन्द-चीन के विश्वविद्यालय में एक सारगर्भित भाषण देते हुए श्री दानो ने स्वराज्य दिवस के अवसर पर दिनांक १५ अगस्त १९४९ को भारत को श्रद्धांजलि चढ़ाई, उन्हों ने कहा कि जब भारत का पश्चिम से सम्पर्क हुआ दोनों केन्द्रों के ऐसे लोगों के बीच दरसन हुआ जो अपने अपने केन्द्र के सर्वश्रेष्ठ मानव न थे, भ्रांतियाँ इसीलिये फैलीं, एक दूसरे को समझने की शक्ति उनमें थी ही नहीं; भय, जलन और शर्म से दास वृत्ति उत्पन्न हुई, बहुत से आधुनिक भारतीय मानसिक दास बने हुए हैं, भारत में ऐसी वृत्ति होनी नहीं चाहिए थी; वहाँ तो वर्ण व्यवस्था है जो सब से न्याय करवाती है, जो एक ही आदमी के पास राज्य शक्ति और वित्त बल को जाने नहीं देती, भारत में न्याय है जब कि हमारे यहाँ अर्थात् यूरप में ईसा की पूजा दो हजार साल से होती है जिन्हों ने गैर कानूनी कार्रवाई की थी और जिन्हें "न्यायतः" दण्ड दिया गया था, भारत में न्याय है, अतः सुव्यवस्था है।

अथर्ववेद और वैद्यक

उन्हों ने कहा कि काम्बोड्या में अशोक के वचन की प्रतिध्वनि सुनने में आई जब सप्तम जयवर्मन् के विषय में कहा गया कि वे अपनी प्रजा की व्याधि से अपनी व्याधि से अधिक दुःखी होते थे, वे योद्धाओं से नहीं, वैद्यों से उस शत्रु का नाश करते थे जिसे बीमारी कहते हैं।

अशोक एक महान् भारतीय थे, वेदों में शारीरिक

क्लेश को दूर करने का उपाय बताया न जाता तो वे बौद्ध होते हुए आरोग्यालय का प्रबन्ध सहज में कर न पाते, अस्पताल खोलना परम्परागत था।

और वेदों ही की भाँति अथर्ववेद भी रोगों का उपचार बताता है, वैद्यक या आयुर्वेद का नाम ही वेद है।

जब शारीरिक पीड़ा को दूर करने के लिये औषधि का सेवन नहीं किया जाता, तब भूत-प्रेत पूजा होने लगती है, राक्षस आदि पारिभाषिक शब्द जो अथर्व वेद में आते हैं, नाशकारी कीड़ों के लिये आते हैं, उपनिषद् में जब देवासुर संग्राम का वर्णन आता है "राक्षस" उस प्रवृत्ति के लिए आता है जो मनुष्य को गिरावट की ओर ले जाती है। नेत्र और कर्ण ने जब अभिमान किया कि हमने असुर को जीता, उपनिषद् के ऋषि का मतलब यही था कि आँखों ने उन वस्तुओं को देखकर भी जो शरीर में विकार लाती हैं, अपने को वश में रखा; कर्ण ने ऐसे शब्द को सुन कर के भी जो शरीर को चंचलता देता है, अपने को वशीभूत रखा, पश्चिमीयों को उपनिषद् उत्तम लगे तो वे नहीं कह सकते कि वेद उत्तम न होंगे।

भयाक्रान्त लोगों को भूत की पूजा करना सूझता है, निर्भीक लोगों को नहीं, जो व्याधि के आक्रमण से भयभीत होते हैं वे मृत्यु से भय खाते हैं, मृत्यु से भय खाने वाले तो पश्चिमीय हैं, भारतीय नहीं, भारतीय साहित्यकारों को बम्बई राज्य हिंदी साहित्य-सम्मेलन के तृतीय अधिवेशन के अवसर पर जो पं० लक्ष्मी-नारायण मिश्र ने अपना अध्यक्षीय भाषण करते हुए कहा, वह स्मरणीय है, उन्हों ने भारतीयता के प्रेमियों का सामयिकोपकार किया जब कहा:—

"संस्कृत शब्द "दर्शन" और इसी अर्थ में सामान्यतः प्रयुक्त यूनानी शब्द "फिलोसोफ़िया" का अन्तर भारत और यूनानकी जीवन विधि का अन्तर खोल देता है। यूनानी शब्द "फिलोसोफ़िया" का अर्थ है जीवन और जगत् के प्रति मानवीय चिन्तन या तर्क बुद्धि से सत्य की स्थापना, इस तर्कपद्धति पर अधिक बल देने का फल यह हुआ कि जीव का मूल धर्म जो था वह तो मिला नहीं, मनुष्य और मनुष्येतर प्राणियों की सहज प्रवृत्ति और सब कहीं जीवन की लहरों में व्यापक और अविच्छिन्न संबंध यूनानी "फिलोसोफ़िया" की परिधि के बाहर रहा, जीव का गुण, धर्म और स्वभाव जो जीवन-समुद्र के तल में शेष की कुण्डली मार कर बैठा था, अथवा उपनिषद् की वाणी में गुहानिहित था, तर्ककी कसौटी पर जिसके रंगकी लीक बन नहीं सकती थी यूनानी दर्शन और साहित्य में न आ सका। जीव क्या है? उसका माध्यम यह जीवन क्या है? इस विषय में यूनानी चिन्तन-धारा अन्धी बनी रही, सत्य के दर्शन की बात उन्हें न सूझी, वे अनुमान से सत्य बनाते गये और तब जो था वह छूट गया, जो होना चाहिए उसी की अन्धा-धुन्ध दौड़ मच गई, मनुष्य का इतर प्राणियों के साथ निसर्गजात सूत्र तोड़ दिया गया, आहार, निद्रा, भय और मैथुन सरीखे पशुधर्म बुद्धि की आँच में भस्म हो गये, सृष्टि के अनेकानेक जीवधारियों में मनुष्य भी एक था और किसी न किसी कार्य में उसकी उनसे समानता थी, सृष्टि के मूल नियमों का वशवर्ती उसका जीवन भी था यह तथ्य यूनानी चिन्तन पद्धति में न समा सका···

अब संस्कृत शब्द "दर्शन" की व्याप्ति देखी जाय जिसका बोध हमारी संस्कृति के उपःकाल वेद और उपनिषद् में ही सदैव के लिये स्थिर हो चुका है, जब तक यह सृष्टि है इसका गुण धर्म और स्वभाव बदल नहीं जाता तब तक इस देश का दर्शन बोध सनातन रहेगा। दर्शन शब्द का अर्थ है परम सत्य का साक्षात्कार, भावानुभव से उसमें रम जाना, स्रष्टा के भीतर उसकी सृष्टि का सुख लेना, उसके सम्बन्ध में अपने भेद को मिटा देना, पश्चिम का विचारक जो केवल तर्क करता रहा है सृष्टि के मूल धर्म को न पाकर विचारों का ताना-बाना फैलाता रहा है, जितना ही अधिक मुखर बना है उतना ही अधिक सत्य से दूर फेंक दिया गया है, इस देश के ज्ञानी की दशा दूसरी है, वाणी को रोक कर, आँखें को मूँद कर, इन्द्रियों के क्रियाकलाप को अन्तर्मुखी कर, बाह्यचिन्त के सारे प्रभाव से छूटकर जब की उसे समाधि की दशा मिल गई, उसे परम सत्य के दर्शन का फल मिला, समाधि की दशा को छोड़ कर सत्य के बोध का कोई दूसरा मार्ग यहाँ नहीं है। उपनिषद् के सत्य इसी माध्यम से मिले थे जो हमारे साहित्य और हमारी कला के

आधार बने, इसी माध्यम की प्रतिष्ठा कालिदास की वाणी में भी मिलती है जिसके अभाव में न यहाँ कोई कवि है न कलाकार, मालविका का रूप अग्निमित्र चित्र में देख चुका है जब वह उसकी आँखों के सामने आ जाती है वह अपने सखा विदूषक से कहता है:—

"वयस्य इसके चित्रगत रूप में मुझे शंका हो रही थी कि कदाचित् इतनी सुन्दरी यह न होगी पर अब तो मैं मानता हूं कि चित्रकारने इसका चित्र शिथिल समाधि में बनाया।"

जीवन की किसी भी स्थिति का बोध शिथिल समाधि में सम्भव नहीं है। इतना मान लेने पर अब यह भी मान लेना होगा कि जो दर्शन है वही साहित्य है, वही संगीत है, वही कला है और वही जीवन है। जीवन के दर्शन का अर्थ है उसके मूल का दर्शन जिसे उपनिषत् में ब्रह्म विद्या की अभिधा दी गई है जिसमें जीवन के भीतर से जीव का अनुभव, जीवके भीतर से ब्रह्म का अनुभव है। जीवन की विजय यात्रा का यह मार्ग साहित्य और कला का मार्ग है धर्म और दर्शन का मार्ग है। पश्चिम की तरह दर्शन किसी ओर भागा जा रहा है तो धर्म किसी ओर, जीवन किसी ओर भागा जा रहा है तो साहित्य किसी ओर, यह दशा अपने यहाँ नहीं है। इस मूल भेद को देख लेना हमारे लिये अपने उस जीवन-दर्शन को देखना होगा, जिसे हम विदेशी शासन और साहित्य के विदेशी आतंक में भूल चुके हैं। देश के भाग्य से गाँधी का अवतार हुआ जिन्हें रामायण के पाठ में रस मिला, गीता में अहिंसा मिली, जो जीवन के हर क्षण ईश्वर के हाथ में रहे।

विनोबा के साम्ययोग में इस देश का यही जीवन—दर्शन खिल रहा है जो हमारे साहित्य को फिर प्राणवान कर रहा है.........

मिश्र के पिरेमिड मृत्यु की उपासना है। आगरे का ताज महल भी मृत्यु की उपासना है, होमर के काव्य और यूनान की शोकान्तिकाओं से लेकर शेक्सपियर के बाद तक यूरप का साहित्य मृत्यु की उपासना है। इस देश ने जीवन की उपासना की और पश्चिम ने मृत्यु की। यह तथ्य साहित्य और कला के दोनों रूपों को देखने से खुल जायेगा। समय आ गया जब हम इस तथ्य को देख लें और यह भी देख लें कि हम क्या थे और क्या हो गये हैं ?"

अथर्ववेद की वाणी

पश्चिमीय अपनी ही सभ्यता से ऊब जाते हैं। उन्होंने उस सुख को चखा जिसके आरम्भ में अमृत है और अन्त में विष। श्री दानों ने कहा कि इसके विपरीत भारतीयों को वास्तविक सुख मिलता है। उन्होंने अथर्ववेद के वचन को सुना कर आगे चल कर समझाया कि जिन ऋषियों के मुख से जैसी वाणी निकली वे अपने में पूरा विश्वास करने वाले थे। वे मृत्यु को चुनौती देते थे।

पाठक जानना चाहेंगे कि कौन सा वचन है जिसे दानो जी ने श्रोताओं को सुनाया। वे फ्रेंच में बोल रहे थे और और त्वी रेणु नामक विद्वान् द्वारा किया गया वेद मन्त्रों का अनुवाद पढ़ रहे थे। उन्होंने यह मन्त्र सुनाया :—

आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः
इहैव भव मानुगा मा पूर्वाननु गाः
पितृन् सं बध्नामि ते दृढम् ॥१॥
(अथर्व, ३०)

इस मन्त्र में तो कहा गया कि निकट वाले अर्थात् जीवित लोग पास होते हैं और मृत लोग भी पास ही हैं। हमें क्लेश हो तो बन्धु बान्धव मिल कर उसे दूर कर देते हैं और जो मर गये हैं उनकी शिक्षाओं को, उनके द्वारा उपस्थित किये गये आदर्श को याद कर के हम अपने को क्लेश से मुक्त कर देते हैं। वे मरे हुये समझे जाते हैं; पर हम जो छोड़े गये उदाहरण को कृतज्ञ बन कर भूलते नहीं, मृतों को भी जीवित ही समझते हैं। अथर्ववेद का पाठ करके जीवित जाग्रत रहने वाले अकेले नहीं रहते हैं।

भय उसे आक्रांत करता है जो समझता है कि अकेला हूं। महात्मा गांधी ने जब यह मत उच्चारित किया था कि सत्याग्रही ईश्वर पर पूरा विश्वास करे उनका यही तात्पर्य था कि दुःख सहने वाला वीर कायर न बने, वह यह समझ कर कि मेरे भगवान् मेरे साथ हैं बड़े-से-बड़ा युद्ध करें।

पश्चिम ने ईश्वर को त्यागा; अतः वह अपने को अकेला समझ कर संसार से ऊब जाता है। श्री दानो हिन्दचीन में भाषण कर रहे थे जहाँ आठ साल युद्ध होता रहा। संकट के समय में उन्हें कहीं न कहीं से आश्वासन प्राप्त करने की आवश्यकता हुई। संकट में अथर्ववेद काम आया। उन्हों ने यह मन्त्र भी सुनाया :—

अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः
यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे
स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः॥१७॥
(अथर्व, ३०)

हमें आदेश दिया गया कि हम वृद्धावस्था के आने से पूर्व न मरें। बुढ़ापे से पहले न मरने वाला वही है जो दवाई का सेवन करता है, कर्मण्य रहता और आशावादी बनता है, जीवन को कोसता नहीं। पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र ने भी इस मंत्र का यह टुकड़ा, "मा पुरा जरसो मृथाः" सुनाया था।

याद रहे कि जिस रेणु नामक विद्वान् के अनुवाद को श्री दानो ने पढ़ा वह स्पष्ट कहता है कि अथर्व वेद ऋग्वेद के समान प्राचीन है। इस वेद का आदेश अपेक्षाकृत आधुनिक नहीं है।

अथर्ववेद की वाणी अभय दान देती है, वह सेमिटिक धर्म का ग्रन्थ नहीं लगता जो शैतान की पूजा करने को बाध्य न करे तो उस से भय खाने से रोक भी नहीं पाता।

वेदों ने कभी नहीं माना कि भलाई करने वाला ईश्वर है तो बुराई करने वाला शैतान होता है। पश्चिम में फ्रायड ने भूत भगाना आरंभ किया जब मनोविश्लेषण करने और कराने का सत्परामर्श दिया। लोग समझने लगे कि।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः

वेद ज्ञान का ग्रन्थ है। ज्ञानी लोग यूरप में आकर कुछ बताने लग जायें तो वे इंजिल से लोगों को दूर ले जाकर वेद के पास बैठाते हैं। वास्तव में फ्रायड ने यही किया। उन्होंने कहा कि अपने अन्दर दुःखों का कारण खोजो, भूत-प्रेत का कोई अस्तित्व ही नहीं है। ईसाइयों को अब अपनी मान्यता कि शैतान विद्यमान है, त्यागनी पड़ ही रही है।

अपने अन्दर दुःख का कारण ढूंढने वाले ऋषि वेदमार्ग पर चलते थे, इसलिये वे शारीरिक और मानसिक व्याधियों से मुक्त होते थे। सन् १९१५ से संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन कर के गुरुवर्य श्री पं० भगवद्दत्त ने "भारतवर्ष का इतिहास" की भूमिका में लिखा है:—

"विशाल संस्कृत साहित्य के पारायण का मुझ पर जो प्रभाव पड़ा है वह अनुवाद पढ़ने वालों पर नहीं पड़ सक्ता। सुतरां उन के और मेरे मत में भूतलाकाश का अन्तर हो गया है। मेरी उस वाङ्मय में श्रद्धा बढ़ी है। मेरे हृदय पर उस के तथ्य अंकित हुये हैं, मैं अब मानने लगा हूं कि आर्य्य ऋषि साधारणतया २०० या ४०० वर्ष तक जीते थे।"

ये ऋषि मृत्युंजय थे। मृत्यु को भी व्याधि समझ कर उसे जीत लिया करते थे। वे आत्मा में विश्वास करने वाले थे। डा० राघवन् जी ने अभी लिखा है कि ८६ वर्षीय के विद्वान् प्रा० एफ० डब्ल्यू० थामस से मैं मिला और उन्होंने मुझे कहा:—

"The greatest glory of India which none in other countries or in India itself should forget is the doctrine of the self, Atman, which is not merely philosophically interesting but true."

देश देश में त्राहि-त्राहि मची है तो कारण यह है कि राजा—प्रजा को भयभीत कर छोड़ता है, उसके सारे प्रबंध प्रजा को लाचारी की अवस्था में लाने के लिये हैं। भय के मारे कोई भविष्य निर्माण का कार्य कर ही नहीं सकता। किसी को ज्ञात नहीं कि कब हमारे देश पर अणु बम फेंका जायेगा। एक राष्ट्र दूसरे का मित्र कहलाता है, किन्तु मित्र की क्या नीयत है, यह उसे पता नहीं। सर्वत्र भय अपना राज्य कर के मानव को कुंठित कर रहा है। इस भय से मुक्त होने का उपदेश अथर्ववेद ही ने तो कहा है:—

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवंतु

यूनेस्को बन गया है। विश्व भर के विद्वानों से वह सहयोग देने की याचना कर रहा है। उसने महात्मा गांधी के प्रयत्नों की उपेक्षा न की। उसे अब महात्मा

जी से पूर्व भारत में आये हुये महात्माओं, मुनियों तथा ऋषियों तक जा कर देखना चाहिये कि उन्होंने विश्वकल्याण के लिए क्या किया था। इस ओर उसका ध्यान आया तो अथर्ववेद उपयोगी सिद्ध होगा।

जो निष्पक्ष होकर जानना चाहेगा कि अथर्व वेद के साथ किन लोगों ने अन्याय किया उसे अवश्य बोध होगा कि पादरियों से प्रभावित विद्वान् और ऐसे भारतीय जिनके विचार परिपक्व नहीं हैं अन्याय करते रहे हैं। पादरियों के सम्पर्क में न आने वाले तो भारत को विचारकों में अग्रणी का स्थान देते हैं। इतिहासकार रेने ग्रुसे के देहान्त से श्री दायेलू ने जो काशी में कुछ समय बिता कर भारतीय संगीत, कला, दर्शन आदि के प्रशंसक बने, खेद से लिखा कि यह देहावसान विशेष कर भारत के लिये हानिकारक हुआ क्योंकि भारतीय शासक अपने देश की परम्परा से मुख मोड़ने, ब्राह्मणों से वास्ता न रखने, धार्मिक शिक्षाओं की जगह में रेड्यो की शिक्षायें देने, धर्म ग्रन्थों के पाठ के स्थान पर अखबारों का पाठ रखने में प्रयत्नशील हैं।

इन शासकों की भाँति विलायत के लोग संस्कृत को ठुकराने लगे हैं, संस्कृत पढ़ाई के लिये खोले गये भवनों में अब उल्लू बोलेगा। ऑक्सफर्ड में भारतीय इंस्टिट्यूट के भवन को दफ्तर बना देने का निर्णय हो गया है, कोई संस्कृत विशेषज्ञ अब इण्डिया आफिस में पाया नहीं जाता, रॉयल एशियाटिक सोसाइटी भारतीय भाषाओं की उपेक्षा करती है, उन लोगों की संख्या घटती जा रही है जो भारत से विलायत में संस्कृत का अध्ययन करने के लिये पहुंचते रहते हैं †

इंग्लैंड का संस्कृत प्रेम तब तक कायम रहा जब तक कि भारत का शासन करता था, संस्कृत पढ़ाने वाले अंग्रेज थे और पढ़ने वाले भारतीय, हाँ एक बार परलोकगत संस्कृतज्ञ श्यामजी कृष्णवर्मा ऑक्सफर्ड में पढ़ाने लगे थे।

अपना उल्लू सीधा करता हुआ विलायत भारतीयों को गुमराह करने के लिए संस्कृत पढ़ाई करने की डींग मारता था। उस की भक्ति बगुला भगत की भक्ति थी। व्यापारी रह गया, विलायत संस्कृत न पढ़ावे तो हानि न होगी, हानि तब होगी जब वेदों की सेवा करने पर तुले हुए भारत के इने गिने पण्डित छोटी—मोटी बातों के लिये आपस में द्वेष फैलावें जिस से वेदाध्ययन के मूल्यवान् कार्य को ठेस लग सकती है। विद्वानों की यह मण्डली याद करावे कि जब विदेशी शासक राज्य लौटाने के लिये राजी न होते थे तो आज कल के भारतीय शासकों को ऐसी युक्तियाँ सुनाते थे जो वेद को निकृष्ट बताने वालों की युक्तियों से मिलती जुलती थीं, आश्चर्य की बात है कि एक दिशा में युक्तियों को न मान कर लोग दूसरे क्षेत्र में दी गई वैसी युक्तियों में सार पाते हैं।

† It is disconcerting to learn that a proposal has been made recently, without reference to the terms of the original deeds, or the considered opinion of the Boden professor, that the Indian Institute building be used for the administrative offices of the University and the Indian Department moved to a house or houses outside, where the University intends, in future, to develop a fuller institute for all Eastern studies;·········

Mr Sutton, the helpful librarian of the India office now, is very much interested in building up the collection of microfilms of the rarer msc. There is however no regular Sanskrit specialist now here;·········

The Royal Asiatic Society is now, under its present management, inclined to specialise more in non-Indian fields of oriental studies.······

The bulk of students doing Indian studies in British Universities are still Indians, and the number of those that go to England may grow less in the coming years.

(The Hindu weekly Review, May 10. 1954)

क्या अथर्ववेद जादू टोनों का वेद है ?

"वैदिक एज्" तथा अन्य ग्रन्थ लेखकों की भ्रान्तियों का विवरण

(ले० श्री पं० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति, विद्यामार्तण्ड, मन्त्री सार्वदेशिक धर्मार्य सभा—ज्वालापुर)

वैसे तो सारे ही वेदों के विषय में "वैदिक एज्" नामक भारतीय विद्याभवन बम्बई द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ में बहुत से अशुद्ध विचार प्रकट किये गये हैं, किन्तु अथर्ववेद के विषय में तो उन्होंने बहुत ही अशुद्ध, भ्रान्तिपूर्ण बातें लिखी और इसे जादू टोनों का वेद बताया है। यह बात यद्यपि प्रायः सभी पाश्चात्य विद्वानों और उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों ने लिखी है, तथापि यह सर्वथा अशुद्ध है।

अथर्ववेद के अन्दर ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक अनेक सूक्त विद्यमान हैं। योगविद्या का भी इसके अनेक सूक्तों में प्रतिपादन है। इसलिये अथर्ववेद का एक नाम ही ब्रह्मवेद है, जिसके लिये अनेक प्रमाण प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ गोपथ ब्राह्मण २।१६ में लिखा है:—

चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः।
यहाँ अथर्ववेद के लिये ब्रह्मवेद शब्द आया है।

अथर्ववेद १५।६।८ में स्वयम् अपने लिये 'तम् ऋचः सामानि यजूंषि ब्रह्म चानुचलन्।" इत्यादि मन्त्रों द्वारा ब्रह्म वेद शब्द का प्रयोग है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि केवल ब्रह्मा का मुख्यवेद होने से इसे ब्रह्मवेद नहीं कहते, जैसा कि कई विद्वानों का विचार है। किन्तु ब्रह्मविद्या का प्रतिपादक होने से इसे ब्रह्मवेद कहते हैं। अथर्व काण्ड २ में

'दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक
एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः।
तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव
नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम्॥
(अथर्व २।२।१)

वरुणसूक्त ४।१६ अथर्व ५।११ अथर्व १०।२ केन सूक्त १०।७ स्कम्भ सूक्त १०।८ ब्रह्म सूक्त तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः इत्यादि ११।७ उच्छिष्ट सूक्त इत्यादि में ब्रह्मविद्या का अत्युत्तम प्रतिपादन है इससे कोई निष्पक्षपात व्यक्ति इन्कार नहीं कर सकता। इस बात को श्री ब्लूमफील्ड ने भी Hymns of the Atharva veda की भूमिका में स्वीकार किया और लिखा है।

The Atharvan is a sacred text in more than one respect;······aside from the materials which it shares with the Rig and Yajur veda many of its hymns and practices are benevolent (bheshaj) and in general well regarded, though even these, as we shall see, do not altogether escape the blight or contempt. Many hymns of the Atharva veda are theosophic in Character; on whatsoever ground they found shelter in the Atharvan collection, they cannot have been otherwise than highly esteemed. The class of charms designed to establish harmony in family and village life and reconciliation of enemies (the so called sammanasyani) and the royal ceremonies (Raj karmani) are obviously auspicious in their nature. Even the sorceries of the Atharvan necessarily show a double face, they are useful to one self, harmful to others."

(Hymns of the Atharva veda translated bym. Bloomfield Introduction. P. XXIX.)

लेखक की अप्रकाशित पुस्तक 'वेदभानु' के जिसमें वैदिक एज् तथा तत्सदृश साहित्य में विद्यमान वेदादि विषयक भ्रान्तियों का सप्रमाण निराकरण किया गया है, दशमअध्याय का एक अंश—

इस सन्दर्भ का भाव यह है कि अथर्ववेद एक पवित्र ग्रन्थ है अनेक दृष्टियों से।......ऋग्वेद और यजुर्वेद के समान जो मन्त्र इसके अन्दर हैं उनके अतिरिक्त इस की बहुत सी क्रियाएँ और सूक्त लाभकारक (भेषज) हैं और इनके विषय में लोग आदर का भाव रखते हैं। इस वेदके बहुत से सूक्त ब्रह्मविद्या के साथ सम्बन्ध रखने वाले हैं। परिवार, ग्रामीण जीवन और सांमनस्य तथा राजकर्म विषयक जादू अपनी प्रकृति में मङ्गलस्वरूप हैं। इसकी कृत्या अभिचारादि क्रियाएँ भी दोनों प्रकार की हैं वे करने वाले के लिये तो लाभदायक और दूसरों के लिये हानिप्रद हैं। इत्यादि।

हम आगे दिखाएँगे कि अथर्ववेद उस प्रकार के जादू टोनों का वेद नहीं है जैसा इसको भूल से प्रायः सभी पाश्चात्य और उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों ने समझ रखा है। ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या और योग से सम्बन्ध रखने वाले सूक्त इसके अन्दर बहुत बड़ी संख्या में हैं। अथर्वा शब्द का अर्थ 'थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः' है अर्थात् चंचलता का निषेध व दूसरे शब्दों में चित्तवृत्ति निरोध व स्थित-प्रज्ञता की अवस्था और उसके साधनों का प्रतिपादन होने से इसे अथर्ववेद कहते हैं। इस वेद में चिकित्सा विषयक सूक्त हैं इसलिये अथर्व ११।६।१४ में 'ऋचः सामानि भेषजा यजूंषि के द्वारा इसके लिये भेषजा का प्रयोग है। गोपथ पूर्वार्ध ३।४ में "येऽथर्वाणस्तद् भेषजं तदमृतं यदमृतं तद् ब्रह्म" ऐसा वाक्य आया है, जिससे स्पष्ट होता है कि शारीरिक, मानसिक और आत्मिक सब प्रकार के रोगों की निवृत्ति के उपायों का प्रतिपादन इसके अन्दर है। ताण्ड्य महाब्राह्मण १२।९।१० में अथर्ववेद के सूक्तों के विषय में लिखा है "भेषजं वा आथर्वणानि।"

अर्थात् अथर्ववेद के सूक्त अधिकतर चिकित्सा से सम्बन्ध रखने वाले हैं। वह चिकित्सा शारीरिक, मानसिक आत्मिक सभी प्रकार के रोगों की है।

ताण्ड्य महाब्राह्मण १६।१०।१० में भी यही बात और स्पष्टरूप से कही गई है।

भेषजं वै देवानामथर्वाणः" (अथर्वणा ऋषिणा दृष्टा मन्त्राः) भैषज्यायै वारिष्टयै।"

अर्थात् अथर्वा ऋषि द्वारा दृष्ट ये अथर्ववेद के मन्त्र देवों के लिये भेषजों-औषधों के प्रतिपादक हैं, जिनसे आरोग्य की प्राप्ति हो सकती है।

शारीरिक रोग चिकित्सा होने के कारण आयुर्वेद का मूल इस वेद को बताया गया है। 'इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्य' (सुश्रुत सूत्रस्थान अ० १०)

इसी प्रकार चरक सूत्रस्थान अ० ३०।२० में भी कहा है 'वेदो ह्याथर्वणः......चिकित्सां प्राह ॥ अथर्ववेद चिकित्सा के विषय का प्रतिपादक है।

वस्तुतः वे आयुर्वेदिक और वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक प्रयोग अथर्ववेद में प्रतिपादित हैं जिनको भ्रम से जादू टोने समझ लिया जाता है।

अथर्ववेद में जिस प्रकार की मन्त्रविद्या है उसके ५ विभाग कर सकते हैं।

(१) प्रथम संकल्प वा आवेश
(२) अभिमर्श और मार्जन
(३) आदेश
(४) मणिबन्धन
(५) कृत्या और अभिचार

इनमें से संकल्प वा आवेश के विषय में अधिक लिखने की यहाँ आवश्यकता नहीं।

पाप को हटाने के संकल्प "परोपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।" (अथर्व ६। ४५। १)

सफलता प्राप्ति के संकल्प "कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः॥" (अथर्व ७। ५२। ८)

रोग दूर करने के संकल्प 'अपेहि मनसस्पते ऽपक्राम परश्चर॥' (अ० २०। ९६। २४)

हस्तिबल को अपने अन्दर धारण करने का संकल्प,

'हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद् यशो अदित्या यत् तन्वः संबभूव॥ (अथर्व ३। २२। १) इत्यादि मन्त्रों में स्पष्ट रूप से पाया जाता है।

यह संकल्पशक्ति का विषय मनोविज्ञान के साथ सम्बन्ध रखता है। इसमें जादू टोने की कोई बात नहीं, यह स्पष्ट ही है।

(२) अभिमर्श—यह शरीर में सनसनाहट उत्पन्न करने वाले स्पर्श का नाम है। अभिमर्श से अनेक रोग तथा मानसिक दोष दूर किये जा सकते हैं। पाश्चात्य विद्वान् इस अभिमर्श विद्या को मैस्मरिज़्म (Mesmerism) के नाम से कहते हैं। अभिमर्श विद्या के मूलमन्त्र निम्नलिखित हैं—

अयं मे हस्तो भगवान्, अयं मे भगवत्तरः ।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ॥
हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां, जिह्वा वाचः पुरोगवी ।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभिमृशामसि ॥
(अ० ४ । १३ । ६-७)

अर्थात् यह मेरा हाथ भाग्यवान् यशस्वी है। यह मेरा हाथ समस्त रोगों को शान्त करने वाला औषधरूप है। यह सुख शान्ति के स्पर्श वाला है।

दसों अंगुलियों सहित हाथों से तथा आरोग्यकारक इन हाथों से प्यारे रोगिन्! हम तेरा स्पर्श करते हैं तथा शुद्ध प्रबल वाणी द्वारा तुझे नीरोग होने का आदेश देते हैं!

यह अनुभव सिद्ध बात है कि जब प्रेमयुक्त पवित्र भावना के साथ इस प्रकार रोगी के शरीर के अवयवों का स्पर्श किया जाता है और उसके अन्दर यह भावना भरी जाती है कि उसका रोग और कष्ट क्रमशः दूर होता जा रहा है तो उसका प्रभाव रोगी पर भी अवश्य पड़ता है और वह अपने रोग तथा तज्जन्य कष्ट में कमी अनुभव करने लगता है।

इसी हस्ताभिमर्श के साथ सम्बन्ध रखने वाली वस्तु मार्जन वा पुरश्चरण है जो जल, वस्त्र वा कूर्च (बाल विशेष कर चँवरी गौ की पूँछ के बाल इत्यादि) के साथ किया जाता है। इसका भी सम्बन्ध मनोविज्ञान, आयुर्वेद तथा जीवन-विद्या के साथ है। इसे भी जादू टोना समझ लेना भूल है।

(२) आदेश या संवशीकरण का भी अथर्ववेद के अनेक मन्त्रों में प्रतिपादन है। आदेश से प्रायः सभी रोगों में लाभ होता है किंतु मानसिक और मस्तिष्क सम्बन्धी रोगों में तो विशेष लाभ होता है। किसी पात्र पर प्रभाव डालने के लिए पहले उसके मन को अपनी ओर खींचना चाहिये, जिसे—

यद् वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा ।
तद् व आवर्तयामसि, मयि वो रमतां मनः
(अ० ७।१२।४)

इत्यादि मन्त्रों की भावना के द्वारा किया जाता है, जिनमें कहा है कि तुम्हारा जीवन इधर उधर गया हुआ है उसको मैं अपनी ओर खींचता हूँ। वह मन मेरे में ही रमण करे।

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत । मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥ (अ० ३ । ८ । ६)

इसमें रोगग्रस्त व्यक्तियों को सम्बोधन करते हुए प्रयोजक आदेश देता है कि मैं तुम्हारे मनों और चित्तों को अपने मन और चित्त के साथ मिलाता हूँ। तुम्हारे हृदयों को मैं अपने वश में कर लेता हूँ जिससे तुम मेरे अनुयायी बन कर रहो। इस प्रकार आदेश के द्वारा पात्र को अपना अनुगामी बनाकर प्रयोजक उनकी ईर्ष्या, उन्मादादि को दूर करने का प्रयत्न करता और प्रायः उसमें सफलता प्राप्त करता है। आत्मविश्वास के साथ वह रोगी को सम्बोधित करते हुए कहता है कि:—

अग्निष्टे निशमयतु यदि ते मन उद्युतम् ।
कृणोमि विद्वान् भेषजं यथानुन्मदितोऽससि ॥
(अ० ६ । १११ । २)

अर्थात् हे प्यारे रोगिन्! यदि तेरा मन उच्चाट हो गया या अव्यवस्थित हो गया हो तो अग्नि उसे शान्त कर दे और मैं विद्वान् ऐसे साधन तेरे लिये प्रस्तुत करूँगा जिससे तू उन्मादरहित हो जाये। अग्नि जलाकर उसमें कर्पूर, चन्दन, तुलसीबीज आदि डालकर हवन करने से उन्मादरोगी को लाभ होता है ऐसा मन्त्र में बताया गया है।

यक्ष्म ज्वर वा क्षय रोग को दूर करने के लिए भी वेदों में आदेश निम्न मन्त्रों द्वारा बताया गया है:—

मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा ।
निरवोचमहं यक्ष्मम् अङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव ॥
अङ्गभेदो अङ्गज्वरो यश्च ते हृदयामयः ।
यक्ष्मः श्येनइव प्रापप्तद् वाचा साढः परस्तराम् ॥
(अ० ५ । ३० । ८-९)

अर्थात् तू भयभीत न हो। तुझे मैं दीर्घायु बनाता हूँ। मैं तेरे अङ्ग-अङ्ग से ज्वर को दूर कर देता हूँ। तेरा जो अङ्गों का टूटना, अङ्गों में ज्वर, हृदय रोग इत्यादि हैं उन सब को मैं वाणी तथा हवनादि के प्रभाव से दूर कर देता हूँ। एक और मन्त्र का उल्लेख करके हम मणिबन्धन के विषय पर आते हैं।

उद् यानं ते पुरुष नावयानं,
जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि ।

आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ
जिर्विर्विदथमा वदासि ॥
(अ० ८।१।६)

अर्थात् हे पुरुष ! तेरी सदा उन्नति हो, कभी तेरी अवनति न हो। तेरे उत्तम जीवन के लिये मैं तेरी शक्ति का विस्तार करता हूं। इस अमृतमय शरीर रथ पर तू सवार हो जा और फिर वृद्ध तथा अनुभवी होकर लोगों को ज्ञान का उपदेश कर।

इस प्रकार आदेश क्रिया के मन्त्रों से अथर्व वेद के अनेक सूक्त भरे पड़े हैं। इन्हें जादू टोने का नाम देना कितनी भूल है ?

मणिबन्धनादि विषयक विचार

यह एक ऐसा विषय है जिससे अनेक विद्वानों को भी भ्रम हो जाता है कि सचमुच अथर्ववेद में जादू टोने का तथा गण्डा, तावीज (Talisman) इत्यादि बांधने की सी कई बातें हैं, किन्तु विचार करने पर ज्ञात होता है कि उनका सम्बन्ध आयुर्वेद तथा युद्धविद्यादि से है।

उदाहरणार्थ का० ४ सू० ९ में आञ्जनमणि, ४। १० में शङ्खमणि, अ० १। २९ में अभीवर्तमणि, ८। ५ में प्रतिसरमणि, १०। ३ में वरणमणि, २। ४ तथा १९। ३४-३५ में जङ्गिडमणि, ३। ५ में पर्णमणि, १९। ३६ में शतवार मणि, २। ११ और ८। ५ में स्राक्त्यमणि और १९। ३१ में औदुम्बर मणि का वर्णन पाया जाता है। इन से सम्बद्ध सूक्तों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इनके दो प्रकार के अर्थ हैं और उनको ध्यान में रखने पर ही मन्त्रों का आशय ज्ञात हो सकता है, अन्यथा नहीं। मणि शब्द का अर्थ समझना इसके लिये सबसे अधिक आवश्यक है। मणि शब्द का अर्थः—

मणि शब्द कई धातुओं से बनता है। उणादि कोष ४। १८ के 'सर्वधातुभ्य इन्' इस सूत्र के अनुसार मणि शब्द मण् शब्दे इस धातु से इन् प्रत्यय करने पर बनता है। इस प्रकार उत्तम वक्ता वा नेता को मणि नाम से कह सकते हैं। मणति शब्दयतीति मणिः वाग्मी नेता।

मनु—ज्ञाने (दिवादिः) मन-स्तम्भे, मनु-अवबोधने (तनादि) इन तीन धातुओं से भी मणि शब्द बन सकता है जिसका अर्थ यह होगा जो ज्ञानवान् हो, जो शत्रुओं और रोगों का स्तम्भन (रोकथाम) करे, जो दूसरों को ज्ञान करावे वा बुद्धि दे।

इस अर्थ में भी विद्वान् ज्ञानी नेता मणि वा नर मणि कहे जा सकते हैं किन्तु साथ ही रोगों का स्तम्भन करने वाले औषधादि के लिये भी मणि शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। उपरि निर्दिष्ट सूक्तों को ध्यान पूर्वक पढ़ने से ज्ञात होता है कि उन में इन दोनों अर्थों में मणि शब्द का प्रयोग पाया जाता है। जब ऐसे ज्ञानी वा वीर नेताओं के लिये मणि शब्द का प्रयोग होता है तो उनके बन्धन का अर्थ उन्हें किसी पद पर बाँध देना वा नियुक्त करना होता है।

उदाहरणार्थ स्राक्त्य मणि के सम्बन्ध में यह मन्त्र अ० ८। ५। ८ में आया हैः—

स्राक्त्येन मणिना ऋषिणेव मनीषिणा।
अजैषं सर्वाः पृतना वि मृधो हन्मि रक्षसः ॥

अर्थात् इस स्राक्त्य मणि के द्वारा जो ऋषि वा तत्त्वदर्शी के समान बुद्धिमान् है मैं सारी सेनाओं पर विजय प्राप्त कर लेता और सब हिंसक राक्षसों का नाश कर देता हूँ।

यहाँ जो स्राक्त्य शब्द आया है उसका अर्थ अ० २।११।२ को देखने से स्पष्ट हो जाता है जहां वीर को सम्बोधन करते हुए कहा है कि "स्राक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यभिचरणोऽसि" अर्थात् तू (स्राक्त्यः असि) गतिशील है (प्रतिसरोऽसि) शत्रुओं का मुकाबला करने में तू समर्थ है (प्रतिचरणोऽसि) तू अपने विरुद्ध प्रतिद्वन्द्वी को लक्ष्य करके उन पर आक्रमण करने में समर्थ है। उसी के लिये यह आदेश है कि "प्रति तमभिचर योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः" अर्थात् जो हमारे साथ द्वेष करता है और इस लिये हम जिसके साथ द्वेष करते हैं उस पर तू आक्रमण कर।

ऐसे प्रगतिशील वीर शिरोमणि के लिये मुख्यतया स्राक्त्य मणि शब्द का प्रयोग इस सूक्त में है।

ऐसे ही अन्य अनेक सूक्तों में नर मणि वा वीर शिरोमणि के लिये मणि शब्द का प्रयोग है, किन्तु उसके अतिरिक्त जहाँ उपर्युक्त अर्थ लेने पर सङ्गति न लगे वहाँ निम्न अर्थों का ग्रहण करना उचित है, जिनका आयुर्वेद के ग्रन्थों में भी वेदों के आधार पर प्रतिपादन है

(१) आञ्जनमणि से तात्पर्य अञ्जन वा सुर्मे की बनी गुटिका वा गोली आदि का है जिसका यथोचित प्रयोग

आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ
जिर्विर्विदथमा वदासि ॥
(अ० ८।१।६)

अर्थात् हे पुरुष ! तेरी सदा उन्नति हो, कभी तेरी अवनति न हो। तेरे उत्तम जीवन के लिये मैं तेरी शक्ति का विस्तार करता हूं। इस अमृतमय शरीर रथ पर तू सवार हो जा और फिर वृद्ध तथा अनुभवी होकर लोगों को ज्ञान का उपदेश कर।

इस प्रकार आदेश किया के मन्त्रों से अथर्व वेद के अनेक सूक्त भरे पड़े हैं। इन्हें जादू टोने का नाम देना कितनी भूल है ?

मणिबन्धनादि विषयक विचार

यह एक ऐसा विषय है जिससे अनेक विद्वानों को भी भ्रम हो जाता है कि सचमुच अथर्ववेद में जादू टोने का तथा गण्डा, तावीज (Talisman) इत्यादि बांधने की सी कई बातें हैं, किन्तु विचार करने पर ज्ञात होता है कि उनका सम्बन्ध आयुर्वेद तथा युद्धविद्यादि से है।

उदाहरणार्थ का० ४ सू० ९ में आञ्जनमणि, ४।१० में शङ्खमणि, अ० १।२९ में अभीवर्तमणि, ८।५ में प्रतिसरमणि, १०।३ में वरणमणि, २।४ तथा १९।३४-३५ में जङ्गिड़मणि, ३।५ में पर्णमणि, १९।३६ में शतवार मणि, २।११ और ८।५ में स्राक्त्यमणि और १९।३१ में औदुम्बर मणि का वर्णन पाया जाता है। इन से सम्बद्ध सूक्तों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इनके दो प्रकार के अर्थ हैं और उनको ध्यान में रखने पर ही मन्त्रों का आशय ज्ञात हो सकता है, अन्यथा नहीं। मणि शब्द का अर्थ समझना इसके लिये सबसे अधिक आवश्यक है। मणि शब्द का अर्थ:—

मणि शब्द कई धातुओं से बनता है। उणादि कोष ४।१८ के 'सर्वधातुभ्य इन्' इस सूत्र के अनुसार मणि शब्द मण् शब्दे इस धातु से इन् प्रत्यय करने पर बनता है। इस प्रकार उत्तम वक्ता वा नेता को मणि नाम से कह सकते हैं। मणति शब्दयतीति मणिः वाग्मी नेता।

मनु—ज्ञाने (दिवादिः) मन-स्तम्भे, मनु-अवबोधने (तनादि) इन तीन धातुओं से भी मणि शब्द बन सकता है जिसका अर्थ यह होगा जो ज्ञानवान् हो, जो शत्रुओं और रोगों का स्तम्भन (रोकथाम) करे, जो दूसरों को ज्ञान करावे वा बुद्धि दे।

इस अर्थ में भी विद्वान् ज्ञानी नेता मणि वा नर मणि कहे जा सकते हैं किन्तु साथ ही रोगों का स्तम्भन करने वाले औषधादि के लिये भी मणि शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। उपरि निर्दिष्ट सूक्तों को ध्यान पूर्वक पढ़ने से ज्ञात होता है कि उन में इन दोनों अर्थों में मणि शब्द का प्रयोग पाया जाता है। जब ऐसे ज्ञानी वा वीर नेताओं के लिये मणि शब्द का प्रयोग होता है तो उनके बन्धन का अर्थ उन्हें किसी पद पर बाँध देना वा नियुक्त करना होता है।

उदाहरणार्थ स्राक्त्य मणि के सम्बन्ध में यह मन्त्र अ० ८।५।८ में आया है:—

स्राक्त्येन मणिना ऋषिणेव मनीषिणा।
अजैषं सर्वाः पृतना वि मृधो हन्मि रक्षसः ॥

अर्थात् इस स्राक्त्य मणि के द्वारा जो ऋषि वा तत्त्वदर्शी के समान बुद्धिमान् है मैं सारी सेनाओं पर विजय प्राप्त कर लेता और सब हिंसक राक्षसों का नाश कर देता हूँ।

यहाँ जो स्राक्त्य शब्द आया है उसका अर्थ अ० २।११।२ को देखने से स्पष्ट हो जाता है जहां वीर को सम्बोधन करते हुए कहा है कि "स्राक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यभिचरणोऽसि" अर्थात् तू (स्राक्त्यः असि) गतिशील है (प्रतिसरोऽसि) शत्रुओं का मुकाबला करने में तू समर्थ है (प्रतिचरणोऽसि) तू अपने विरुद्ध प्रतिद्वन्द्वी को लक्ष्य करके उन पर आक्रमण करने में समर्थ है। उसी के लिये यह आदेश है कि "प्रति तमभिचर योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः" अर्थात् जो हमारे साथ द्वेष करता है और इस लिये हम जिसके साथ द्वेष करते हैं उस पर तू आक्रमण कर।

ऐसे प्रगतिशील वीर शिरोमणि के लिये मुख्यतया स्राक्त्य मणि शब्द का प्रयोग इस सूक्त में है।

ऐसे ही अन्य अनेक सूक्तों में नर मणि वा वीर शिरोमणि के लिये मणि शब्द का प्रयोग है, किन्तु उसके अतिरिक्त जहाँ उपर्युक्त अर्थ लेने पर सङ्गति न लगे वहाँ निम्न अर्थों का ग्रहण करना उचित है, जिनका आयुर्वेद के ग्रन्थों में भी वेदों के आधार पर प्रतिपादन है

(१) आञ्जनमणि से तात्पर्य अञ्जन वा सुर्मे की बनी गुटिका वा गोली आदि का है जिसका यथोचित प्रयोग

करने से अनेक रोग दूर होते हैं । इस आञ्जनमणि के विषय में अ० ४ । ९ । ३ में स्पष्ट कहा है कि—

'अथो असि जीवभोजनम् अथो हरितभेषजम् ॥

अर्थात् यह आञ्जनमणि जीवधारियों को पुष्टि देकर धारण करने वाली और हरित रोग (पाण्डुवा कामला की) ओषधि है ।

यहां 'भेषजम्' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि यह आयुर्वेद विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाला विषय है न कि जादू टोना ।

शङ्खमणिः—

इसके विषय में भी अ० ४ । १० । ३ में कहा है कि—"शङ्खो नो विश्वभेषजः कृशनः पात्वंहसः ॥"

अर्थात् यह मोती वाला शङ्ख अनेक रोगों को दूर करने वाला है, वह हमें (अंहसः) रोग तथा पाप जन्य दुःख से बचाए । 'अंहः' शब्द का प्रायः पाप ही अर्थ समझा जाता है किन्तु उणादिकोष ४ ।२१४ "अमेर्हुक् च" के अनुसार उस की निम्न व्युत्पत्ति है "अमन्ति प्राप्नुवन्ति दुःखं येन तत्" जिस से दुःख की प्राप्ति हो, अतः रोग के लिये भी अंहः का प्रयोग हो सकता है जैसे कि इस सूक्त में २ बार हुआ है ।

जङ्गिड मणि—

अ० २।४ तथा १९।३४-३५ में जङ्गिड मणि शब्द सोम के लिये मुख्यतया प्रयुक्त हुआ है । जङ्गिडो नाम कश्चिदोषधिविशेषः । ऐसा चतुर्वेदभाष्यकार सायणाचार्य ने अथर्व १९।३४।१ के भाष्य में लिखा है । अथर्ववेद बृहत्सर्वानुक्रमणी २।४ पर लिखा है—दीर्घायुत्वाय इति चान्द्रमसम् उत जङ्गिड-देवताकम्' । अथर्वबृहत् सर्वानुक्रमणी १९।३४ पर लिखा है—

जङ्गिडोऽसि जङ्गिड इति द्वे प्रथमं दशकं द्वितीयं पञ्चकमङ्गिर उभे मन्त्रोक्तदेवत्ये वा वानस्पत्ये,

इसी प्रकार अथर्वकाण्ड १९ सू० ३४।९ में जङ्गिड को वनस्पति और ओषधि के नाम से पुकारा गया है ।

उग्र इत् ते वनस्पते इन्द्र ओज्मानमा दधौ ।
अमीवाः सर्वाश्चातयन् जहि रक्षांस्योषधे ॥

चन्द्र और सोम पर्यायवाची हैं । चन्द्रवाचक सब नाम सोम ओषधि के भी हैं । चन्द्रमाः—सोमलताभेदे (वैद्यकशब्दसिन्धौ)

अंशुमान् मुंजवांश्चैव, चन्द्रमा रजतप्रभः ।
एते सोमाः समाख्याताः, वेदोक्तैर्नामभिः शुभैः ॥
सुश्रुत चिकित्सास्थान २९।६)

इत्यादि प्रमाणों से यह बात अत्यन्त स्पष्ट होती है । अतः जङ्गिड सोम ओषधि का नाम है यह स्पष्टतया ज्ञात होता है । १९ वें काण्ड के ३४-३५ सूक्तों में

आशरीकं विशरीकं, बलासं पृष्ट्यामयम् ।
तक्मानं विश्वशारदमरसां जङ्गिडस्करत् ॥
१९।३४।१०

इत्यादि मन्त्रों द्वारा सोमरस रूप जङ्गिड को विषदोष नाशक, कृत्रिम विष क्रियाओं का नाशक, शरीर के अङ्ग २ में होने वाले रोग, कफरोग, पार्श्वपीड़ा, ज्वर शरीर की शिथिलता, हृदय रोग, नेत्र रोग, तथा अन्य कठिन रोगों का नाशक और स्वास्थ्य तथा आयुष्य वर्धक कहा है ।

जैसे पूर्वोद्धृत मन्त्र ९ में उस के लिये वनस्पति और (ओषधि) का प्रयोग आया है १९।३५।१ और ५ में उसके लिये भेषज और विश्वभेषज शब्द का प्रयोग है, जिस से यह स्पष्ट है कि वह एक अत्युत्तम औषध है ।

इन्द्रस्य नाम गृह्णन्त ऋषयो जङ्गिडं ददुः ।
देवा यं चक्रुर्भेषजमग्रे विष्कन्धदूषणम् ॥ १ ॥
य ऋष्णवो देवकृता य उतो ववृतेऽन्यः ।
सर्वांस्तान् विश्वभेषजो ऽरसां जङ्गिडस्करत् ॥२॥

ऐसी अवस्था में इस के सेवन का आयुर्वेद वा वैद्यक विद्या से सम्बन्ध है । इस में जादू टोने आदि की कोई बात नहीं, आश्चर्य है कि विद्वान् ओषधि, वनस्पति, भेषज, विश्वभेषज इत्यादि शब्दों का स्पष्ट प्रयोग देखते हुए भी जङ्गिडादि को जादू टोने से सम्बद्ध कैसे मान लेते हैं ।

वेद और वेदान्त

(ले०—श्री० पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय, एम० ए० प्रयाग)

वेद और वेदान्त का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रसिद्ध है। वेदान्त को वेद का निचोड़ कहते हैं, हम इस सम्बन्ध का दार्शनिक विश्लेषण करना नहीं चाहते। यहाँ इतना ही अभीष्ट है कि वेद वेदान्त का मूल अवश्य है।

स्वामी शंकराचार्यजी ने भी इतना तो स्वीकार ही कर लिया है। शास्त्रयोनित्वात् (वेदांत १।१।३) के भाष्य में वह लिखते हैं:—

जगत्कारणत्वप्रदर्शनेन सर्वज्ञं ब्रह्मेति उपक्षिप्तं तदेव द्रढयन्नाह 'शास्त्रयोनित्वात्' इति।

महतः ऋग्वेदादेः शास्त्रस्य अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न हीदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य सर्वगुणान्वितस्य सर्वज्ञात् अन्यतः सम्भवोऽस्ति॥

शांकर-भाष्य

जगत् को ब्रह्म ने बनाया। इस से ज्ञात होता है कि ब्रह्म सर्वज्ञ है। ज्ञान न होता तो ऐसा अद्भुत जगत् कैसे बनाता। परन्तु ब्रह्म की इसी सर्वज्ञता को अधिक प्रमाणित करने के लिये आचार्य ने अगला सूत्र लिखा। अर्थात् ब्रह्म न केवल जगत् का कारण ही है। जगत् के बनाने में जो ज्ञान अभिनिहित है उसका ज्ञान ईश्वर ने अलग से मनुष्य को दिया है। उसका नाम है शास्त्र अर्थात् वेद। इसका मोटा सा उदाहरण यह है कि किसी ने आपके सामने अपनी बनाई घड़ी भी रखदी जिससे आप घड़ीसाज की बुद्धिमत्ता की परीक्षा कर सकें और साथ ही उसने घड़ीसाजी की किताब भी रखदी कि इसके बनाने में अमुक अमुक विद्याओं का समावेश है। मोटे दृष्टान्त से ऐसा ही वेद को समझना चाहिये। अब शंकर स्वामी वेद की प्रशंसा करते हैं। वह कहते हैं कि ऋग्वेदादि में समस्त विद्यायें दी हुई हैं, वह हमारे लिये दीपक के समान हैं। दीपक के दो काम हैं। अन्य पदार्थों को दिखाना और अपने को भी सिद्ध करना। मेज, दीवार आदि देखने के लिये दीपक चाहिये। दीपक को देखने के लिये अन्य दीपक की आवश्यकता नहीं, ऐसे उत्कृष्ट और परम उपयोगी वेदों का आविर्भाव तो उसी सत्ता से हो सकता है, जो सर्वज्ञ हो। और वही सर्वज्ञ सत्ता ब्रह्म है। यह है वेद के विषय में शंकर-स्वामी की सम्मति। यह न केवल व्यास मुनि की ही प्रतिध्वनि है, अपितु समस्त ऋषियों का यही सिद्धान्त रहा है।

परन्तु जिसको शांकर वेदान्त कहते हैं, और जिस के मूल सिद्धान्त यह हैं कि (१) ब्रह्म ही सत्य है, (२) समस्त जगत् मिथ्या है। (३) जीव वस्तुतः ब्रह्म ही है। (४) जीव की भिन्नता अविद्या के कारण है, इस बातका वेद से प्रतिपादन नहीं होता। आप ऋग्वेद को आरंभ से पढ़िये।

अग्निमीळे पुरोहितम्—इत्यादि। यहाँ उपासक ईश्वर की स्तुति करता है। आरंभ से ही उपासक और उपास्य का भेद सिद्ध है। यदि वेद को या वेद के देने वाले को अद्वैत अभीष्ट होता तो सबसे पहली बात यह कही जाती। "अहमेव सत्यं सर्वमन्यन्मिथ्या" मैं ही सत्य हूँ, और सब मिथ्या है। परन्तु ऐसा नहीं कहा गया। दूसरे मन्त्र में और स्पष्ट किया है द्वैतको, न कि अद्वैत को अर्थात्

अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।

अर्थात् इस देवकी पूजा नये पुराने बाल वृद्ध सभी करते आये हैं। सब ने उसको अपना उपास्य देव और अपने को अलग माना है। उन्होंने कहीं यह नहीं कहा कि *"मया अहमेव ईड्यः"। मैं अपनी ही उपासना करता हूँ* क्योंकि मुझ से इतर कोई सत्ता है ही नहीं। यह भी नहीं कहा कि हे जीवो तुम मुझ में हो। तुम ब्रह्म ही हो।

तुम सब एक हो। द्वित्व का अभाव नहीं, इसी सूक्त में आगे देखिये।

नमो भरन्त एमसि

हम सब तुमको नमस्कार करते हैं" हम कौन? एक नहीं, दो नहीं, असंख्य जीव, जो तुम से इतर हैं तुम से छोटे हैं तुम से अल्पज्ञ हैं और तुम्हारे आश्रित हैं। फिर आगे चलिये।

स नः पितेव सूनवे अग्ने सूपायनो भव। अर्थात् हे ईश्वर आप हम पर ऐसी कृपा कीजिये जैसी पिता पुत्रों पर करता है। सारांश यह है कि ऋग्वेद का समस्त पहला सूक्त ब्रह्म जीव के भेद, ब्रह्म की एकता और जीव के नानात्व से परिपूर्ण है।

यही नहीं, ऋग्वेद के उपसंहार में भी तो यही ध्वनि हैः—सङ्गच्छध्वम् तुम सब साथ चलो।

समानी वः आकूतिः—तुम्हारी भावनायें समान हों।

समाना हृदयानि वः—तुम्हारे हृदय समान हों।

(ऋग्वेद मंडल १० सूक्त १९१)

अन्य वेदों में भी ऐसे मंत्र बाहुल्य से मिलेंगे कि जिन में जीव-ब्रह्म के भेद का स्पष्टीकरण सन्देह-शून्य ही है। जैसे

(१) अग्ने नय सुपथा···अस्मान् (यजुर्वेद ४०।१६)
(२) यद् भद्रं तन्न आसुव।···
(३) उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।···
(४) धियो यो नः प्रचोदयात्।
(५) पश्येम शरदः शतम्।

इन मंत्रों में जीवों का नानात्व (अनेकपना) और उपास्य देव का एकत्व दर्शाया गया है।

शायद कुछ लोग कहें कि वेद मंत्रों के ब्रह्म और ईश्वर में भेद है। परन्तु यह भी भेद वेद से सिद्ध नहीं होता। अथर्ववेद के—

'तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः' सूक्त में ब्रह्म को जगत् का उत्पादक वर्णन करके उसको नमस्कार किया गया है। इससे उस ब्रह्म की सिद्धि तो नहीं होती जिस की शंकर स्वामी या उनके अनुगामियों ने बाल की खाल निकाल कर अपने ग्रन्थों में अनेक युक्ति-जगड्वाल द्वारा सिद्धि की है।

एक विचित्र बात यह है कि व्यास मुनि वेदान्त शास्त्र में 'ब्रह्म' की ही जिज्ञासा करते हैं। और ब्रह्म ही को

जन्माद्यस्य यतः (वेदान्त १।१।२)

जगत् के जन्म, पोषण और संहार का कारण बताते हैं। यदि जगत् का मिथ्यात्व अभीष्ट होता तो मिथ्या कार्य्य से सत्य कारण की सिद्धि कभी नहीं करते।

अन्य शास्त्रों में तो भेद स्पष्ट ही है जैसे सांख्य में 'पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः' और वैशेषिक में 'व्यवस्थातो नाना' इत्यादि—

यहां हम केवल संकेत मात्र ही देते हैं। यदि पाठक वर्ग हमारी विचारसरणी को अपना कर अध्ययन करेंगे तो तो विषय की सत्यता अधिक स्पष्ट हो जायगी। इत्यलम्

बृहदारण्यक और वृषभ मांस भक्षण (?)

[श्री पं० दीनानाथ जी शर्मा शास्त्री सारस्वत, विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि, प्रिन्सिपल सं० हिं० महाविद्यालय, रामदल, दरीबा, देहली]

कई पाश्चात्यानुगामी पौरस्त्यों का विचार है कि—"प्राचीन भारत में गोवध होता था। तभी प्रसिद्ध उपनिषद् 'बृहदारण्यक' के "अथ य इच्छेत् पुत्रो मे पण्डितो जायेत... सर्वान् वेदान् अनुब्रुवीत, सर्वमायुरियाद् इति, मांसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयाताम्, ईश्वरौ जनयितवै, औक्षेण वा आर्षभेण वा" (६।४।१८) इस वचन में "बैल के मांस को पका कर खाने से पति पत्नी वेद वक्ता—विद्वान् लड़के को उत्पन्न कर सकते हैं—ऐसा कहा है"

पर इस पर हमारा कथन है कि—हिन्दु धर्म का गोरक्षण एक आवश्यक अङ्ग है; वेद के ऋ० सं. १।६४।२७ आदि बहुत स्थलों में गाय को 'अघ्न्या' तथा बैल को 'अघ्न' कहा है। इसका अर्थ है—हनन न करने योग्य। तब उपनिषद् में भी बैल के मांस का प्रसङ्ग कैसे आ सकता है? बिना हनन के उनका मांस प्राप्त नहीं हो सकता, और हनन करने से 'अघ्न्या' और 'अघ्न्य' इन नामों का व्याकोप

होता है, अतः बृहदारण्यक के उक्त वचन में बैल के मांस के अर्थ का कोई भी प्रसङ्ग नहीं।

इसके अतिरिक्त उक्त वचन में 'औक्षेण वा आर्षभेण वा' यह 'वा'-शब्द इन दोनों पदार्थों को पृथक्-पृथक् बता रहा है; तब आक्षेता गण केवल एक 'बैल' का ही अर्थ कैसे कर सकते हैं? यदि 'उक्षा' भी बैल का नाम है और 'ऋषभ' भी-इसी लिए एक अर्थ किया गया; तो यह नहीं विचारा जाता कि—यहां पर पर्यायवाचक दोनों शब्दों की पुनरुक्ति कैसे की गई? पृथक्ता-वाचक 'वा' शब्द भी यहां है—यह क्यों नहीं सोचा जाता? 'छोटे-बड़े बैलका' अर्थ करके यहां पुनरुक्ति हटाई जावे; तो वह भी ठीक नहीं। छोटे और बड़े बैल के मांस की यहाँ कोई विशेषता भी तो नहीं कही गई। और फिर यहाँ यह अर्थ रखने से 'देहि मे वाजिनं राजन्! गजेन्द्रं वा मदालसम्' की तरह 'दुष्क्रम' दोष भी प्रसक्त हो जाता है। पहले बड़े (आर्षभ) का ग्रहण उचित था; उसकी अप्राप्ति में साधारण (उक्षा) का। और फिर इस अर्थ के उपस्थापक इस बात के विचारने का भी कष्ट नहीं उठाते कि—उक्त कण्डिका के साथ वाली कण्डिकाओं में भी किसी मांस का निरूपण है, या नहीं?

१४ वीं कण्डिका में कहा है—'य इच्छेत्-पुत्रो मे शुक्लो जायेत, वेदमनुब्रुवीत...क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयाताम्' यहां पर शुक्ल वर्ण वाले, एक वेद के वक्ता पुत्रकी उत्पत्ति के लिए दूध में ओदन पकाकर घी के साथ अशन कहा है। १५ वीं कण्डिका में 'पुत्रो मे कपिलो जायेत, द्वौ वेदौ अनुब्रुवीत, दध्योदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयाताम्, यहां कपिलवर्ण वाले और दो वेदों के वक्ता पुत्रकी उत्पत्त्यर्थ दही में ओदन-पकाकर खाना कहा है। १६, वीं कण्डिका 'पुत्रो मे श्यामो जायेत, त्रीन् वेदान् अनुब्रुवीत, उदौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयाताम्, यहां पर श्यामवर्ण वा तीन वेदके वक्ता पुत्रकी उत्पत्ति के लिए जलमें ओदन पका कर खाने के लिए कहा है। यहां दूध, दही, जल इन तीन तरल पदार्थों में ओदन का पकाना कहा है। घी सर्वत्र कहा है।

१७ वीं कण्डिका में 'दुहिता मे पण्डिता जायेत, तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयाताम्' यहां पर 'बुद्धिमती पुत्री की उत्पत्त्यर्थ तिल-तण्डुलको पकाकर खाना कहा है। अब १८ वीं कण्डिका में 'पुत्रो मे पण्डितो भाषिता जायेत, सर्वान् वेदान् अनुब्रुवीत...मांसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयाताम्, औक्षेण वा आर्षभेण वा' यहां बुद्धिमान् एवं सर्ववेद वक्ता पुत्रकी उत्पत्ति के लिए मांस और ओदन पकाकर खाना कहा है। यहां पूर्वोत्तर साहचर्य के देखने पर मांसका ओदन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

पहले एक वेद के वक्ता के लिए ओदन का दूध में, दो वेदों के वक्ता के लिए ओदन का दही में, तीन वेदों के वक्ता के लिए ओदन का गङ्गा आदि के उदक में पकाना कहा है। यह तरल तथा परस्पर-सम्बद्ध वस्तुएँ हैं। १७ वीं कण्डिका में पुत्रीकी पण्डितता—बुद्धिमत्ता (सयानापन) के लिए तिल और तण्डुल का पकाना कहा है। यहाँ पर तिल धान्य विशेष है। तब १८ वीं कण्डिका में पुत्रको पण्डित (बुद्धिमान, सयाना) बनाने के लिए मांस भला प्रकृत कैसे हो सकता है? पहले दूध, दही, तथा जल परस्पर सम्बद्ध थे; पर यहाँ तिलके साथ मांसका क्या सम्बन्ध? मांस भी यहां साहचर्यानुसार कुछ धान्य ही होना चाहिये। 'औक्षेण, आर्षभेण' यह पद तृतीयान्त हैं; इनका विशेष्य मांस यहाँ बन भी नहीं सकता; क्योंकि—यहाँ 'मांस' शब्द में तृतीया नहीं। विशेषण-विशेष्य की विभक्ति समान होनेका नियम होता है, और उस विशेष्य का अन्य पद के साथ समास भी सम्भव नहीं।

अन्य यह भी विचारणीय है कि—"मांसौदनम्" यहां पर समाहार-द्वन्द्व है। 'मांस' का 'मांस' अर्थ करने पर वह समाहार द्वन्द्व नहीं हो सकता। 'तिलौदनम्' में तो 'विभाषा वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जनपशुशकुन्यश्ववडवपूर्वापराधरोत्तराणाम्' (पा० २।४।१२) इस सूत्र से 'व्रीहियवम्' की भांति दोनों के 'धान्य' होने से समाहार द्वन्द्व हुआ है, पर 'मांसौदनम्' में 'मांस' कोई धान्य नहीं, अतः वह समाहार द्वन्द्व नहीं हो सकता। पर यदि यहाँ 'मांस' कोई धान्य विशेष सिद्ध हो जावे, तो ठीक संगति लग जायगी।

वह सङ्गति इस प्रकार है—'अतो माषान्नमेवैतद् मांसार्थे ब्रह्मणा स्मृतम्।...यथा बलिष्ठं मांसत्वाद् माषान्नमपि तत्समम्। सौगन्धिकं च स्वादिष्ठं मधुरं द्रव्यमेदतः' (प्रजापति स्मृति १५२-१५३) इस प्रमाण से 'मांस' का अर्थ 'माष' धान्य भी होता है; क्योंकि—'मांसल' पदार्थ भी 'अर्शआद्यच्' से 'मांस' शब्द से कहे जा सकते हैं। इसीलिए स्वयं 'बृहदारण्यक' में दस ग्राम्यधान्यों की गणना करते हुए 'व्रीहियवाः, तिल-माषाः' (६।३।१३) यहाँ तिलके बाद 'माष' लिया है। पूर्वोक्त समाहारद्वन्द्वकी वैकल्पिकता के कारण यहाँ एक वचन न होकर इतरेतर योगमें बहुवचन

हो गया है। इस प्रकार प्रकृत स्थल 'मांसौदनम्' में भी समझ लेना चाहिये। तब यहां 'मांस' से 'माष' का ग्रहण होने से सब सङ्गतियाँ लग जाती हैं। तब यहां पर 'माषौदनम्' यह पाठ-परिवर्तन कर देना व्यर्थ है। जब उक्त प्रमाण से 'मांस' शब्द का 'माष' धान्य भी अर्थ होता है; तब पाठ बदलने की आवश्यकता नहीं।

तात्पर्य यह है कि—माष और ओदन घृताक्त पकाकर उन्हें उक्षा वा ऋषभक के स्वरस के साथ पति-पत्नी खावें; तो पूर्वोक्त गुण वाला लड़का उत्पन्न होगा। माषकी खीर बड़ी पौष्टिक वा वाजीकरण होती है; तब उसका वर्णन यहाँ पुत्रोत्पत्त्यर्थ प्रकृत भी है।

अब 'उक्षा' और 'ऋषभक' के अर्थ पर भी विचारना चाहिये। "औक्षेण" वा 'आर्षभेण वा" दो बार कहे हुए इस 'वा' शब्द से यह तो सिद्ध ही है कि—यह दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं। 'बैल' अर्थ करने पर सङ्गति नहीं लगती। आयुर्वेद (उपवेद) में उक्षा 'सोम' ओषधि' का नाम है। श्रीसायणाचार्य ने भी ऋग्वेद सं० १।१६४।४३ में लिखा है—'सोम उक्षाऽभवत्'। ऋषभ 'ऋषभक' ओषधि का नाम है। ये दोनों ही ओषधियां वाजीकरण होने से बलवर्धन, वीर्योत्पादन और मेधावी पुत्र के उत्पादन की शक्ति रखती हैं। सो उक्त घृताक्त माषौदन उक्त ओषधियों में से एक के चाहे सोमलताके, वह न मिले तो ऋषभक के स्वरसके साथ देने से वैसा पुत्र हो सकता है—यह उक्त कण्डिका का अर्थ है। इस अर्थ में दुष्क्रम दोष भी नहीं रहता।

सोमरस को इसलिए पूर्व रखा है; क्योंकि—उसका सम्बन्ध यज्ञ से, तथा यज्ञ विषय वाले वेद से है। यहां सर्ववेद वक्ता लड़का उत्पन्न करना था। ऋषभक का गुण 'भावप्रकाश' में 'जीवकर्षभकौ बल्यौ शीतौ शुक्रकफप्रदौ' (पू० १) यह कहा है। बैलका अर्थ यहाँ इष्ट है भी नहीं। उसमें कारण यह है कि—'बृहदारण्यक' का यह वचन 'शतपथ' के चतुर्दश काण्डके आश्रित है। 'शतपथ' 'तद्ध एतत् सर्वाश्यमेव यो धेन्वनडुहयोरश्नीयात् गर्भं निरवधीदिति पापमकद्–इति, तस्माद् धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्' (३।१।२।२१) इस वचन से गो-वृषभ के भक्षकको सर्व भक्षी, पापी, गर्भ हत्यारा कहकर जब निन्दित करता है; तब वही 'शतपथ' इस अवसर पर बैल के मांस की आज्ञा कैसे दे सकता है?

अतः उक्त शब्दों का अर्थ ओषधि विशेष ही शतपथ तथा तदनुसारी बृहदारण्यक को इष्ट है; बैल नहीं। यदि यहां बैल के मांस से ही वेदवक्ता बालककी उत्पत्ति का अर्थ इष्ट होता; तो उसके भक्षक मुसल्मान वा ईसाई ही सर्ववेद वक्ता सिद्ध होते; भारतीय नहीं; परन्तु यह अनुभव से विरुद्ध भी है, अतः यह अर्थ सर्वथा नहीं। आशा है 'वेदवाणी' के वेदाङ्क के पाठकों को इस विवेचना में वास्तविकता प्राप्त हुई होगी। हमने अपनी प्रकाश्यमान 'आलोक' ग्रन्थमाला में एतदादि विषयों पर पर्याप्त विचार किया है, यह ग्रन्थमाला सर्व साधारण से संग्राह्य सिद्ध होगी। भाद्र शु० ११ बुधे २०११।

वेदार्थ प्रक्रिया के मूलभूत सिद्धान्त

[लेखक—श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु, मोतीझील, काशी।]

वेद प्रभु की पवित्र वाणी है जो सृष्टि के आदिमें ऋषियों द्वारा मानव हितार्थ दी गई, जिसमें सब सत्यविद्यायें निहित हैं। जिसका ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक मानव का परम कर्त्तव्य है। ऐसी धारणा प्राचीन आर्य-वैदिक-सनातन संस्कृति-सभ्यता और साहित्य में आस्था रखने वाले प्रत्येक भारतीय की है, जो उचित है और होनी ही चाहिये। काल चक्र से अपनी संस्कृति-सभ्यता और साहित्य के वास्तविक स्वरूप को (चाहे किन्हीं भी कारणों से) भूल कर जो भारतीय वेद से बहुत दूर हो चुके हैं, उनमें अभी तक ऐसे व्यक्तियों की संख्या पर्याप्त है जो इतना तो मानते हैं कि संसार के पुस्तकालय में ऋग्वेद सबसे प्राचीन पुस्तक है। उनका यह विश्वास चाहे विदेशी विद्वानों के कहने के पश्चात् हुआ हो अथवा स्वयं ही ऐसी आस्था रखते हों।

आज हम इस बात पर विचार करना चाहते हैं कि वेद के अर्थ के सम्बन्ध में कौन सी मूलभूत धारणायें हैं, वा कौन से आधारभूत सिद्धान्त हैं, जिनके समझ लेने से वेद और उसके अर्थ का यथार्थ स्वरूप हमारी बुद्धि में बैठ जाता है। अथवा यों भी कह सकते हैं कि वेद और वेदार्थ के विषय में

भारतीयों वा अन्यों के मन में बैठी हुई कुछ भ्रान्तियाँ वा मिथ्या धारणायें हैं, जिन्हें वे अपनी वास्तविक वा गम्भीर शङ्कायें समझते हैं, (और उन्हें समझना ही चाहिये), जब तक उन शंकाओं का निराकरण नहीं होता, वे मिथ्याधारणायें कैसे दूर हो सकती हैं, उनके निराकरण के लिये हमें किन २ मूलभूत कारणों-सिद्धान्तों-वा धारणाओं पर गम्भीरता पूर्वक विचार करना आवश्यक है, यह हम दर्शाते हैं।

१ ईश्वरविश्वास

सबसे प्रथम हमें ईश्वर के सम्बन्ध में विचार करना होगा। जब तक एक व्यक्ति के मन में ईश्वर के विषय में यथार्थ धारणा नहीं बैठ जाती। जब तक उसे यह निश्चय नहीं हो जाता कि इस चराचर जगत् का संचालन नियमन करनेवाली कोई शक्ति अवश्य है, जिसके बिना यह प्राकृतिक सौर्य मण्डलादि विविध जगत् के उत्पत्ति और विनाश का सुव्यस्थित क्रम-ऋतुओं की व्यवस्था-सम्पूर्ण जड़ जगत् की उत्पत्ति-स्थिति और समाप्ति की प्रक्रिया नहीं चल सकती, तथा देहधारी प्राणियों के माता के गर्भ से लेकर मृत्युपर्यन्त सब चेष्टाओं-क्रियाओं तथा सुख दुःख भोग का ठीक २ नियमन आदि जड़ प्रकृति तथा अल्पज्ञ जीव द्वारा नहीं हो सकते। जो शक्ति इन सब का नियमन करती है, वही ईश्वर है। उसी को ब्रह्म-परमात्मा आदि नामों से कहा गया है। जब तक एक व्यक्ति के आत्मा में यह शङ्का बनी रहेगी कि ईश्वर है या नहीं? यह जगत् स्वयं ही चल रहा है। प्रकृति स्वयं अपना संचालन कर रही है। जीव ही इस सबको चला सकता है। अधिक ज्ञान बढ़ जाने पर वही सर्वज्ञ हो जाता है। इस प्रकार की मिथ्या भ्रान्तियां जब तक मनमें बैठी होंगी। तब तक उस व्यक्ति के मनमें वेद (ईश्वरकृत) के विषय में क्या आस्था वा धारणा बन सकती है। कुछ भी नहीं बन सकती, यह बात स्वाभाविक है। हम यहाँ ईश्वरसिद्धि में युक्तियां वा प्रमाण उपस्थित करने नहीं बैठे, हमारा तो यह कहना है कि वेद वा वेदार्थ के विषय में जो भ्रान्तियाँ मन में बैठी होती हैं, उनमें 'ईश्वरा-विश्वास' मुख्य वा प्रथम कारण समझना चाहिये। हमारा यह अनुभव है कि वेदविषय में भ्रान्तियों वाले व्यक्ति का यदि गम्भीरता से अध्ययन किया जावे तो निश्चय ही उनमें "ईश्वराविश्वास" उसके आत्मा वा अन्तःकरण के किसी गहरे तल पर छिपा अवश्य दृष्टिगोचर होगा।

इस से भिन्न दूसरी बात यही हो सकती है कि उसे यदि "ईश्वरविश्वास" है फिर भी 'वेद ईश्वरीय ज्ञान है' इस विषय में उसे भ्रान्ति है, वा संशय है तो यदि गहरी दृष्टि से देखा जावेगा तो यही ज्ञात होगा कि उसे ईश्वर के गुणों के विषय में कुछ भ्रान्ति सन्देह मन में बैठे हुये हैं। वह या तो ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता-नियन्ता औरसंहर्ता नहीं मानता होगा, प्रकृति स्वयं ही सब क्रियायें करती रहती है। अथवा वह ईश्वर से भिन्न जीव और प्रकृति को ही नहीं मानता होगा। वह ईश्वर और जीव में सर्वज्ञ और अल्पज्ञ का भेद नहीं करता होगा। ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप-सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान्-निराकार अनन्त-निर्विकार-अनादि-सर्वान्तर्यामी-सर्वव्यापक और सृष्टि-कर्त्ता है, ऐसा न मानकर अवश्य ही कुछ भिन्न समझता वा मानता होगा। जो व्यक्ति ईश्वर को सत्-चित्-आनन्द स्वरूप मानता है, उसे अवश्य ही प्रकृति को केवल सत् (चेतन और आनन्द युक्त नहीं) और जीव को (सत् और चित् चेतनवान्) मानना पड़ता है, उसके उपर्युक्त विशेषण मान लेने पर ही उसका यथावत् स्वरूप समझ में आ सकता है। नहीं तो ईश्वर को मान लेने पर भी वास्तव में वह ईश्वर की मान्यता से बहुत दूर है, यही कहना पड़ेगा। चाहे वह अपने को पूर्ण ईश्वरविश्वासी ही क्यों न मान रहा हो। ईश्वरविश्वास का यथार्थरूप इन उपर्युक्त गुणों को मानने पर ही ठीक कहा जायगा।

सो ऐसा न मानने वाले व्यक्तियों की वेद वा वेदार्थ के विषय में भ्रान्ति बनी रहना भी स्वाभाविक समझना चाहिये, यह हमारा कहना है।

यह भी विदित रहे कि ईश्वर के उपर्युक्त विशेषण हमारे या किसी अन्य के घड़े हुये नहीं हैं, अपितु ये सब विशेषण वेद और उपनिषदादि में सर्वत्र बाहुल्यता से मिलते हैं। जो ईश्वर को नहीं मानता, वह तो यह कहेगा कि ऋषियों ने पीछे यह सब कल्पनायें की। जो ईश्वरविश्वासी होगा और उसके उपर्युक्त गुणों को मानता होगा, वह तो समझ सकेगा कि जब परमात्मा ने सारी सृष्टि रची और जीवों के सुख दुःख भोगार्थ सब पदार्थ दिये, तो उन्हें बोलना भी तो सिखाना आवश्यक था और यह ज्ञान भी देना अनिवार्य था कि मानव सृष्टि में उत्पन्न किये पदार्थों से जीव यथावत् काम ले सके, अन्यथा उन पदार्थों का उत्पन्न करना ही निरर्थक सिद्ध होगा।

अतः वेद और वेदार्थ के स्वरूप का यथार्थ बोध करने के लिये ईश्वर और उनके गुणों में यथावत् विश्वास होना अनिवार्य है।

२ सृष्ट्युत्पत्ति और प्रलय का सिद्धान्त वा क्रम

जब ईश्वर में एक व्यक्ति का विश्वास निःसंशय है और उसके सृष्टि कर्त्ता नियन्ता-आदि गुणों को वह मानता है, तब वह यह बात तो मान नहीं सकता कि ईश्वर तो है पर सृष्टि अपने आप उत्पन्न हो जाती है क्योंकि जड़ पदार्थ में स्वयं उत्पन्न होने की शक्ति नहीं। एक ईंट या पत्थर स्वयं उठकर दूसरे स्थान तक नहीं पहुँच सकता, क्योंकि वह चेतन नहीं, चिति नाम ज्ञान का है। जड़ में ज्ञान कहाँ। यदि कहो जीव तो चेतन है, यह स्वयं सृष्टि रच लेगा, सो भी नहीं। वह अल्पज्ञ है। उसे तो अपने शरीर का भी पूरा २ ज्ञान नहीं। शरीर सम्बन्धी खोजें (रिसर्चें) जीवों द्वारा ही हो रही हैं, पर यह सब कुछ होने पर भी ये लोग अभी तक शरीर के अन्त तक सब बातों को नहीं जान पाये, न जान पा सकते हैं—हाँ जानने का यत्न करते रहना तो अच्छी बात है। अनन्त प्रभु की अनन्त सृष्टि का ज्ञान सान्त जीव कर ही कैसे सकता है। एक पत्ते का पूरा २ विश्लेषण अभी तक पूर्णतया नहीं हो पाया। जो जीव सृष्टि को समझ नहीं सकता, वह उसको रच लेगा, यह तो एक अत्यन्त हास्यास्पद बात है। अन्ततो गत्वा यही कहना पड़ेगा कि इस सृष्टि का उत्पन्न करने वाला जीव से भिन्न कोई महान्-शक्ति-शाली चेतन ही हो सकता है उसी को ब्रह्म कहते हैं।

जो वस्तु बनी है, उत्पन्न हुई है, वह अवश्य नष्ट होगी। जिसका आरम्भ है उसका अन्त भी है, यह अवश्य मानना पड़ेगा। इस नियम से जब सृष्टि की उत्पत्ति होती है, तो उसका प्रलय होना भी अनिवार्य है। जब प्रलय होगी तो उसकी पुनः उत्पत्ति भी समझ में आ जाती है। क्योंकि हम प्रकृति में देखते हैं कि दिन के पश्चात् रात्रि आती है, और रात्रि के पश्चात् दिन आता है, यह चक्र प्रति दिन हम अपनी आँखों से देख रहे हैं। यही क्रम सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय का समझना चाहिये।

इतने विवेचन से यह बात अब सहज से समझ में आ सकती है, कि वेद ईश्वर का दिया हुआ वह ज्ञान है, जिससे सम्पूर्ण जगत् चल रहा है। ईश्वर के सृष्टि कर्त्ता-सर्वनियन्ता-सर्वव्यापक आदि गुण समझ में आ जाते हैं। यह बात भी समझ में आ जाती है कि सृष्टि उत्पत्ति-स्थिति- प्रलय जीवों के कर्मानुसार ईश्वर की व्यवस्था से होती है, प्रकृति स्वयं सर्व व्यवस्थापिका नहीं हो सकती। विवेचन करने पर यह बात समझ में आ जाती है॥

३ काण्टा बदलने का मुख्य केन्द्रविन्दु विकासवाद का सिद्धान्त

ईश्वर विश्वास और सृष्टि क्रम की व्यवस्था समझ में आने पर भी वेद और वेदार्थ के विषय में भ्रान्ति न पैदा होनी चाहिये, पर फिर भी यह भ्रान्ति उत्पन्न होती देखी जाती है। इसका मूल कारण क्या है, इस पर भी हमें खोज विचार करना है।

हमारी दृष्टि में यहाँ पर ही काण्टा बदले का मुख्य केन्द्र विन्दु है। जहाँ पर कि पहुँच कर अधिकतर विद्वान् समझे जाने वाले व्यक्ति भी विपरीत मार्ग पर चल पड़ते हैं, और आगे दूर २ होते जाते हैं, जैसा रेल का काण्टा बदलने पर आगे २ दो लाइनें दूर २ ही होती जाती हैं। कभी २ तो एक दूसरे की सर्वथा विरुद्ध दिशा में चल पड़ती हैं, एक पूर्व को जाती है, तो दूसरी आगे जाकर पश्चिम की ओर हो जाती है। इतना भेद उन दोनों में पड़ जाता है। इसी प्रकार दो ईश्वर विश्वासियों का काण्टा भी बदल जाता है, तो वे दोनों एक दूसरे की विरुद्ध दिशा में चल पड़ते हैं, फिर उनका केन्द्र विन्दु एक नहीं हो पाता, सिद्धान्त भेद की दो दिशाओं को पकड़े हुये एक दूसरे से दूर २ ही होते जाते हैं।

सो वह केन्द्र विन्दु क्या है? जहाँ से दो मार्ग पृथक् २ चल पड़ते हैं? वह केन्द्र विन्दु ईश्वर विश्वासी होने पर विकासवाद का सिद्धान्त है, जो दोनों में भेद डाल देता है। जिस पर से दोनों एक दूसरे से अत्यन्त दूर हो जाते हैं। सो कैसे?

जब एक व्यक्ति यह समझने लगता है कि ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वस्रष्टा है। उसने ज्ञानपूर्वक संसार के सब पदार्थ उत्पन्न किये, और उस प्रभु ने पदार्थों के साथ २ उनके उपयोग का ज्ञान भी आदिसृष्टि में जीवों को दिया। जब ज्ञान भी दिया, (वह कैसे दिया, यह अलग प्रश्न है, जिस पर कि हम आगे विचार करेंगे) साथ ही उस प्रभुने बोलना भी तो सिखाया, क्योंकि वह भी तो ज्ञान ही है। दूसरे शब्दों में उसने भाषा भी तो सिखाई। तभी आदि परस्पर बोलने-बात चीत करने का व्यवहार संसार में चला। यदि प्रभु नहीं सिखाता या भाषाविषय का ज्ञान नहीं देता या दूसरे शब्दों में कोई सिखाने वाला नहीं होता तो भाषा का व्यवहार ही कदापि न चल पाता। क्योंकि प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि एक नवजात बालक को यदि ६ मास सर्वथा पृथक् रखा जावे, उसके पास किसी भी भाषा को बोलने वाले न जावें वा

उसके सामने न बोलें तो वह बालक कुछ भी नहीं बोल सकेगा। यह बात प्रायः सर्वविदित है। जब वर्तमान में बिना सिखाये बच्चा कोई भाषा नहीं बोल सकता, तो सृष्टि के आदि में मानव अपने आप भाषा का व्यवहार कैसे कर सकता था। इससे विदित हो जाता है कि सृष्टि के आदि में भाषा का ज्ञान भी दिया गया। वह किसके द्वारा दिया गया, यह बात सहज में समझ में आ जाती है कि जिस के द्वारा इस सृष्टिकी उत्पत्ति हुई उसी के द्वारा भाषा का ज्ञान, और सब प्रकार का अन्य ज्ञान भी दिया गया।

हम कहते हैं कि यह ज्ञान उस परमप्रभु के द्वारा दिया गया। ईश्वरविश्वासी को यह बात अनायास समझ में आ जाती है। जो ऐसा समझता है कि "धीरे धीरे प्राणियों ने क्रमिक विकास द्वारा बोलना सीखा, अर्थात् पहिले पहल मानव पशु के समान अव्यक्त (अस्पष्ट) ध्वनि मात्र करता था। शब्द धीरे-धीरे बोलने में आये। उसके आगे लोगोंने विकास के सिद्धान्त पर शब्दों के अर्थों की कल्पना की होगी"। विकासवाद के इस सिद्धान्त के आधार पर यद्यपि ऐसा व्यक्ति अपने आप को ईश्वर विश्वासी कहता है, या जनसमुदाय भी उसे ईश्वरविश्वासी समझता है, पर वास्तविक दृष्टि से देखा जावे तो ऐसे व्यक्ति को या तो ईश्वर द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति में विश्वास नहीं, या उसके मन में विकासवाद का सिद्धान्त चक्कर खा रहा है, वह यही सोचता है कि क्रमशः ही सब पदार्थों का विकास हुआ होगा, भाषा भी इसी में आ गई, अर्थात् भाषा का भी क्रमिक विकास हुआ होगा। हम ऐसे व्यक्ति को ईश्वरविश्वासी नहीं कह सकते। वस्तुस्थिति यही माननी पड़ेगी कि ईश्वर को चाहे वह मुख से तो मान रहा हो, पर हृदय में उसके (ईश्वर के) सृष्टिकर्ता आदि गुणों में उसे विश्वास नहीं, यही कहना पड़ता है। ईश्वरविश्वासी हो और उसे विकासवाद के सिद्धान्त में आस्था हो, दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं, एक साथ नहीं रह सकतीं। अथवा यही कहना पड़ेगा कि उस ईश्वरविश्वासी का विश्वास इतना निर्बल वा क्षीण या ढिलमिल है कि वह विकासवाद के सिद्धान्त से टकराकर चकना चूर हो गया है, वह विश्वास दृढ़ होता तो डिगता नहीं। ईश्वरविश्वासी तो सृष्टि का कर्ता परमेश्वर है, ज्ञान का दाता भी परमेश्वर है, भाषा का ज्ञान भी उसने दिया, उस से ज्ञान प्राप्त कर अर्थात् आदि ऋषियों ने वेद के आधार पर या आश्रय से भाषा शब्द शब्दार्थ सम्बन्ध को समझा, जिसका मूल वेदों ने ही दे दिया गया था अर्थात् भाषा की उत्पत्ति का आधार वेदज्ञान था, ऐसा मानता है।

जिन शब्दों का ज्ञान वेद द्वारा हुआ वे तो सीधे ईश्वर द्वारा वेद के रूप में आदि ऋषियों को विदित हुये, साथ ही वर्तमान में व्यवहार में आने वाले शब्दों को पीछे आने वाले ऋषियों ने प्रकृति प्रत्यय की कल्पना द्वारा सर्वसाधारण को बोध कराया, वेद में भी ऐसे शब्द हैं जिन में बहुतसों के तो धातु (मूल) का प्रयोग केवल क्रियावाची पदों में मिलता है, कईयों का कृदन्त पदों में मिलता है, उन के क्रियावाची पद नहीं। प्रायः सभी धातु किसी न किसी रूप में वेद में वर्त्तमान हैं। आदि ऋषियों को उन एक दो शब्दों को ही देखकर उन के सब शब्दशब्दार्थसम्बन्ध का ज्ञान हुआ। पीछे जब लोगों की शक्तियां क्षीण हो गई तो ऋषियों ने यह परम्परा नष्ट न हो जावे, इस विचार से पीछे वेदाङ्गों की रचना की। ये वेदाङ्ग भी शक्ति के क्षीण होने के कारण उसी अनुपात से अधिक स्पष्ट और अधिक विस्तार से प्रतिपादन करने वाले बनते गये, जैसा कि वर्तमान में पाणिनि मुनि कृत अष्टाध्यायी पर न समझने वालों के लिये कात्यायन कृत वार्तिक बने। ये ह्रासवाद के द्योतक हैं न कि विकासवाद के, क्योंकि आगे चल कर महाभाष्यकार ने उन वार्तिकों की आवश्यकता का प्रत्याख्यान जिस सुन्दरता और प्रौढ़ता से किया, उसका उदाहरण सम्पूर्ण संस्कृतसाहित्य में नहीं मिलता। अगाध बुद्धि पाणिनि की पदे पदे परमपुष्टि की। 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' तो अनार्ष लोगों की मिथ्या कल्पना है।

हमारा कहना यह है कि वर्त्तमान शब्दशब्दार्थसम्बन्ध की परम्परा निश्चय ही आदि सृष्टि के ऋषियों द्वारा वेद के आधार पर निर्धारित शब्दशब्दार्थसम्बन्ध के आधार पर बराबर वैसी की वैसी निरन्तर चली आ रही है। अतः उसे पाणिनि और पतञ्जलि नित्य मानते हैं।

रही लक्ष श्लोकात्मक व्याडिकृत संग्रह नामक ग्रन्थ की बात (जो वर्तमान में मिलता नहीं, सर्वथा लुप्त हो चुका है) सो ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे प्रातिशाख्य ग्रन्थ केवल संग्रहात्मक हैं, इसी प्रकार "व्याडिकृत संग्रह ग्रन्थ भी प्रातिशाख्यों की भान्ति व्याकरण के नियमों का संग्रह (एकत्रित) किया हुआ, मात्र रहा होगा, जो वेद से ही व्याकरण जान लेने और उस शक्ति के क्षीण हो जाने पर वेदाङ्ग के रचनाकाल, इन दोनों कालों के बीच में संक्रमण काल में बना हो। यदि ग्रन्थ सामने होता, तो इस पर और अधिक गम्भीर विचार हो सकता था, अब तो सम्भावना की बात ही कही जा सकती है। इस विवेचन से पता लग जाता है कि

वेद के आधार पर प्रवृत्त और ऋषियों द्वारा भाषा के रूप में प्रसारित शब्दशब्दार्थसम्बन्ध की भिन्नता अवश्य है। गच्छति' का अर्थ 'जाना ही है, 'खाना' नहीं। 'पश्यति' का अर्थ देखना है, सूंघना नहीं। ऐसे ही अश्व का अर्थ घोड़ा (लोक में) है, गधा नहीं।

इस प्रकार भाषा की उत्पत्ति हमें क्रमिक विकास द्वारा मानने की यत्किञ्चित् भी आवश्यकता नहीं। प्रभु के द्वारा दिये वेदज्ञान के आधार पर आगे भाषा का ज्ञान भी प्रभु-द्वारा ही आदि ऋषियों को मिला और उनके द्वारा संसार में प्रवृत्त हुआ।

४ एक भारी शङ्का का समाधान

इस स्थल पर हमारे सामने एक भारी शङ्का उपस्थित की जाती है, उस पर भी हमें विचार कर लेना है। वह यह है कि शब्द दो प्रकार के माने गये हैं। एक नित्य दूसरे अनित्य। जैसा कि ऋषि दयानन्द ने अपनी ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका (वेदनित्यत्वप्रकरण) में कहा है—

"शब्दो द्विविधो नित्यकार्यभेदात्। ये परमात्मज्ञानस्थाः शब्दार्थसम्बन्धाः सन्ति ते नित्या भवितुमर्हन्ति। येऽस्मदादीनां वर्त्तन्ते ते तु कार्याश्च" अर्थात् "शब्द दो प्रकार का होता है, एक नित्य दूसरा कार्य, इनमें से जो शब्द-अर्थ और सम्बन्ध परमेश्वर के ज्ञान में हैं, वे सब नित्य ही होते हैं, और जो हम लोगों की कल्पना से उत्पन्न होते हैं, वे कार्य होते हैं" ॥ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० २७ ॥

ऐसी स्थिति में अस्मदादि मनुष्यों द्वारा निश्चित किया शब्दशब्दार्थसम्बन्ध तो अनित्य ही माना जायगा। इसकी क्या गति होगी?

इसमें हमारा यह कहना है कि प्रथम तो हमें प्राचीन संस्कृतसाहित्य में से ही बहुत से शब्द मिलेंगे जो वर्तमान समय में हमें प्रचलित साहित्य में नहीं मिल रहे क्योंकि—

"उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्। महान् शब्दस्य प्रयोगविषयः। सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्याः, एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः…… वैद्यकमित्येतावान् शब्दस्य प्रयोगविषयः" (महाभाष्यपस्प० पृ० ६४–६५ ॥)

अर्थात् सप्तद्वीपा वसुमती, तीन लोक, चार वेद, अङ्गोपाङ्ग, वेद की शाखायें ११२७- वाकोवाक्य-इतिहास-पुराण वैद्यक इतने महान् साहित्य में शब्दों का प्रयोग है। इन सब में प्रयोगों की खोज करनी चाहिये।

इतना विशाल साहित्य था, यह तो महाभाष्यकार के इस वचन से मानना ही पड़ेगा। इसमें से बचा खुचा जितना भी साहित्य उपलब्ध है, उनमें हमें देखना होगा कि नये प्रचलित शब्दों के अर्थों को देने वाले शब्द उनमें हैं या नहीं। जैसे वर्तमान मिठाइयों में जलेबी-फिरनी-रसगुल्ला गुलाबजामन पदार्थों के वाचक शब्द कुछ न कुछ तो रहे होंगे, हम तो यह भी कहते हैं कि स्वतन्त्र भारत के वर्तमान विधान वा प्रयोग में आनेवाले शब्दों के लिये संस्कृत के शब्द नये घड़ने के स्थान में प्राचीन शब्द बहुत मिलेंगे। जिनकी खोज होना वा कराना भारत सरकार का परम कर्तव्य है। कहना यह है कि बहुत से शब्द तो हमें इस प्रकार मिल जावेंगे। शेष कुछ शब्द बचेंगे अवश्य, जिनका आधार न तो वेद में (स्पष्ट रूप में) मिलेगा, न पश्चाद्वर्त्ती संस्कृत साहित्य में। ऐसे शब्दों के शब्दशब्दार्थसम्बन्ध को हम भी अनित्य मानते हैं। क्या यह विकासवाद नहीं होगा? हम कहते हैं नहीं, क्यों कि एक कुर्त्ता है उसके पचास तरह के डिज़ाइन (रूप) मानव समाज में स्त्री पुरुषों की भिन्न २ रुचि होने के कारण (भिन्नरुचिर्हि लोकः) भिन्न २ देखने में आते हैं। इन रूपों (डिजाइनों) की संख्या और भी बढ़ सकती है। इन पचास प्रकार के कुर्तों को खूण्टी पर लटके हुये एक आदमी उनमें भेद करने के लिये उनके नामों की कल्पना भिन्न २ करता है। जैसे आम बेचने वाला एक ही पदार्थ को १०-२० टोकरों में रखे हुये उन आमों के भिन्न २ नाम, लङ्गड़ा—कपूरी—बम्बई—सिंधूरी आदि शब्दों से व्यवहार करता है। इसी प्रकार नये-नये शब्दों की घड़न्त चलना स्वाभाविक है। ऐसे शब्दों के व्यवहार को, उनके परस्पर सम्बन्धों को हम अनित्य ही मानते हैं। हम इसको विकासवाद का सिद्धान्त नहीं मानते। हम यह समझते हैं कि इस प्रकार शब्दों को व्यवहार में लाने का प्रकार भी आदि ऋषियों द्वारा मनुष्यों को बतला दिया गया था, जिसका ज्ञान उन्हें देर से हुआ। एक बात सोचने की है कि प्रभु ने जितने भी देहधारी प्राणी वा पदार्थ उत्पन्न किये, क्या उन सबका नाम सृष्टि के आदि में नहीं बतलाया होगा, औषध वर्ग को ही ले लें, यह नहीं हो सकता। जब गोधूम=गेहूँ को कहते हैं, यव=नाम जौ का है, सिंह शेर को कहते, गर्दभ गधे का नाम है। तो सब पदार्थों के नामों का व्यवहार भी तो बताया होगा, जब पदार्थ उत्पन्न किये तो उनके नाम भी तो बताये होंगे। जिन शब्दों का उल्लेख वेद में आया वे तो समझ में आ ही जायेंगे, जिनका नाम भी वेद में नहीं

आया तो उनके लिये कैसे व्यवहार होगा, यह ज्ञान भी तो भाषा की उत्पत्ति के साथ २ मानव समाज को मिलना चाहिये। यह सब ज्ञान आदि ऋषियों को वेद के आधार पर था। वे हर एक वस्तु का नाम और गुण जानते थे, जीवों देहधारियों के विभिन्न वर्गों के नामादि का पूरा ज्ञान उन्हें था, यह हमारा कहना है। हमारा कहना यह है कि इन सब के लिये भी विकासवाद का सिद्धान्त मानने की कुछ भी आवश्यकता नहीं, यदि ऐसा होता कि पहिले आम पैदा होता, पीछे लिची पैदा होती, पीछे सन्तरा, तो भी बात थी। एक प्रदेश में एक वस्तु पैदा हुई दूसरे में दूसरी ऐसा तो रहा, जो अब भी है, सो विकासवाद इससे भी सिद्ध नहीं होता। भाषा की उत्पत्ति क्रम का सृष्टि उत्पत्ति क्रम के साथ गहरा वा अटूट सम्बन्ध है। यह दर्शाने का हमने यत्न किया।

अब हम अपने क्रमागत विकासवाद पर कुछ और विचार उपस्थित करते हैं।

५ विकासवाद पर एक सामान्य दृष्टि

ईश्वरविश्वासी की दृष्टि में ईश्वर ने सृष्टि उत्पन्न की, सब प्रकार का ज्ञान जीवों को दिया, भाषा का ज्ञान भी दिया, आगे भाषा में व्यवहार के नियमों का भी बोध वा ज्ञान आदि ऋषियों को दिया, जिस से आगे उसी के आधार पर भाषा लोक व्यवहार में आई। विकासवाद के सिद्धान्त पर भाषा की उत्पत्ति तभी मानी जा सकती है, जब यह मान लिया जाये कि सृष्टि अपने आप उत्पन्न हो गई, इसको उत्पन्न करने वाला कोई न था। ऐसी स्थिति में विकासवाद की बात कोई करता है तो भी कुछ बात है। ईश्वरविश्वासी ऐसी अनर्गल बात को कैसे कह सकता है कि सृष्टि अपने आप उत्पन्न हो गई था हो जाती है, यह कैसे कह देगा। हाँ जिसे ईश्वर में विश्वास नहीं, वह कह सकता है।

अब हम विकासवाद के सिद्धान्त पर एक सामान्य दृष्टि से भी विचार करते हैं—

क्या वानर और मनुष्य साथ २ उत्पन्न हुये या आगे पीछे, यदि विकासवाद का सिद्धान्त मान लिया जावे तो वानर तो मनुष्य बन गये, फिर वानरों की सत्ता ही समाप्त होनी चाहिये यदि कहो कि वानर उत्पन्न होते जाते हैं और मनुष्य बनते जाते हैं, तो इस शरीर को छोड़कर मनुष्य भी बन सकते हैं, अन्य पशुपक्षी भी; फिर क्या विशेषता रही। इसी जन्म में बनते हैं तो फिर आज क्यों नहीं बनते। इसमें भी प्रश्न है कि इसमें संचालक जड़ है या चेतना। विकासवादी को यह बताना होगा कि क्या जड़ प्रकृति में स्वयं चलने और चलाने की सामर्थ्य है? उसके मतमें जो वस्तु बनी है, वह बिगड़ेगी या नहीं? यदि प्रकृति को चेतन मानते हो तो क्या प्रकृति जड़ और चेतन दोनों गुणों से युक्त है या किसी एक से? दुर्जनसन्तोष न्याय से यह मान भी लिया जावे कि प्रकृति चेतन है ज्ञान वाली है, तो भिन्न-भिन्न जीवों का ज्ञान भिन्न-भिन्न क्यों है, इस भिन्नता का नियामक क्या है? यदि जड़ मानते हो तो फिर जगत् में नियम व्यवस्था से पदार्थों की उत्पत्ति विनाश किंकृत है, उसका नियामक कौन है? एक सौर्य मण्डल के नियमपूर्वक सब कार्य होने को देखकर ही नियन्ता का ज्ञान होने लगता है। जो जीव की समझ से भी बहुत कुछ दूर है जिसके अन्त तक पहुँचना भी उसकी शक्ति से सर्वथा बाहर है। नियन्ता मान लेने पर तो विकासवाद को कहीं स्थान भी नहीं। और विचारिये तो पता लगता है कि सृष्टि में तो विकास और ह्रास साथ-साथ चलता है और वह बराबर चलता रहता है। आज हम एक बीज बोते हैं वह उगता है बढ़ता है बढ़कर एक महान् वृक्ष के रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है। फिर वह क्षीण होने लगता है, नष्ट हो जाता है। जब एक वृक्ष बढ़ रहा होता है तो दूसरा वृक्ष क्षीण हो रहा होता है। जब एक क्षीण हो रहा होता तो दूसरा बढ़ रहा होता है। बच्चा बढ़ रहा होता है तो पिता या पितामह क्षीण हो रहा होता है।

इस प्रकार सृष्टि में हम विकास और ह्रास एक साथ हो रहा देखते हैं। यदि विकासवाद का सिद्धान्त ठीक माना जावे तो विकास ही विकास दृष्टिगोचर होना चाहिये सो नहीं होता, यही हमारा कहना है। हम तो यह कहते हैं कि कभी ह्रास होता है तो कभी विकास होता है। भारत मुसलमानों वा अंग्रेजों के राज्य से पहिले क्षीण होता होता अवनति अर्थात् ह्रास की ओर जा रहा था। १४ अगस्त १९४७ तक ह्रास ही ह्रास में गया। १५ अगस्त १९४७ से विकास की ओर चला है। चाहे इस में कुछ प्रान्तों में अभी विकास का स्वरूप किन्हीं की दृष्टि से न भी हो, पर विकास की ओर उनका पग उठ रहा है यह तो मानना ही पड़ेगा। जो भारत पहिले समृद्धिशाली था। वह गत कुछ शतियों में इतना क्षीण रहा कि जिसकी कोई सीमा नहीं। अब पुनः विकसित होना आरम्भ हुआ है। सो समय की परिस्थितियों के कारण विकास और ह्रास सदा होता रहता है। यह हमारा कहना है।

यदि विकासवाद का सिद्धान्त ठीक होता तो वर्त्तमान मनुष्यों की शारीरिक शक्ति आज से १०००-५०० वर्षों की अपेक्षा वृद्धि को प्राप्त हुई होती। इतना तो दूर की बात है हजार-पांच सौ वर्ष पहिले की बात किसने देखी होगी, १०० वर्ष वा इस के लगभग की बात बताने वाले व्यक्ति तो वर्त्तमान में भी मिल रहे हैं जो ये कहते हैं, कि आजकल नवयुवक १०० वर्ष पहिले के बूढ़ों से भी गये बीते हैं। वनस्पति खानेवाली वर्त्तमान पीढ़ी ५० वर्ष पीछे ही बता देगी कि वह कहां तक ह्रास को प्राप्त हो गई। रोगों से युद्ध करने की शक्ति (अर्थात् जीवनी शक्ति) ही वर्त्तमान में अति क्षीणता को प्राप्त होती चली जा रही है, जिस से नये २ रोगों की उत्पत्ति होना स्वाभाविक है। महाभारत काल के मनुष्यों का वर्णन यदि अतिशयोक्ति वा ऐतिहासिकों वा कवियों की निरूपणशैली भी मान लिया जावे तो भी उपर्युक्त रीति से १०० वर्ष की गतिविधि से भी यह बात समझ में आ जाती है कि विकास होना तो कहां रहा, उल्टा ह्रास ही दृष्टिगोचर होता है। जैसे शारीरिक अवस्था में ह्रास दिखाई देता है। वैसे ही बुद्धियों में भी ह्रास ही कहा जा सकता है। यह वर्त्तमान पढ़ाई के क्रम को देख कर समझ में आने लगता है। एक मैट्रिक का ज्ञान गत पचास वर्षों के मिडिल के बराबर भी नहीं। आज का बी० ए० पिछले ५० वर्षों में पढ़े मैट्रिक के बराबर अङ्गरेजी नहीं लिख सकता। संस्कृत साहित्य में तो सर्वथा स्पष्ट है कि पिछले १०० वर्ष की अपेक्षा इस समय का ज्ञान पल्लवग्राही पाण्डित्य के रूप में सामने आ रहा है। प्रौढ़ पाण्डित्य का तो लोप ही होता चला जा रहा है। इस सब का कहने का हमारा तात्पर्य इतना है कि शारीरिक और बौद्धिक शक्तियों का ह्रास ही होता दीखता है। विकास यदि है तो छल कपट—बेईमानी रिश्वत—चोरी—भ्रष्टाचार विश्वासघात आदि का कहा जा सकता है।

इस में एक भारी शंका उठाई जा सकती है, उठाई जाती है कि विज्ञान सम्बन्धी आविष्कार विकासवाद के सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं, निस्सन्देह विज्ञान के आविष्कार एक से एक बढ़ कर इस समय हुये हैं और हो रहे हैं। मानव ज्ञान की यह एक उत्कृष्टता के द्योतक हैं। मानव शक्ति को ये बहुत ऊँचे स्थान तक पहुँचा रहे हैं। उन आविष्कार करने वाले विद्वानों के प्रति संसार को कृतज्ञ होना ही चाहिये उन से मानव हित होता है वा विनाश, यह दूसरी बात है। उन से लाभ उठाया जा सकता है, इस में कोई सन्देह नहीं, सो एक विषय में ह्रास तो दूसरे विषय में विकास। और नहीं तो रोगों में ही विकास हो रहा है।

इस विषय में हमारा यह कहना है कि यह समझ लेना भूल होगी कि इस समय का विज्ञान संसार के इतिहास में सब से बड़ा है। इस जैसा या इस से अधिक भी विज्ञान रहा ही नहीं सो बात नहीं। रामायण और महाभारत काल के युद्ध समय के नियमों से पता लगता है कि उस समय प्रजाजनों का नाश करना युद्ध के नियमों के विपरीत था। यहां तक कि शस्त्र गिरे हुये व्यक्ति पर भी आक्रमण नहीं किया जाता था। स्त्री-बच्चों रोगियों वा आर्तों पर भी प्रहार नहीं किया जाता था। ऐसी दशा में एटमबम्ब जैसे सर्वविनाशक साधनों का आश्रय लेना ही घोर पाप समझा जाता था। यह सब होने पर भी रामायण और महाभारत काल में भारत विज्ञान की चरमसीमा पर पहुँचा हुआ था, यह महाभारत और रामायण के गहरे अनुशीलन से पता लगता है। समराङ्गण सूत्रधार आदि ग्रन्थ जो छपे हुये मिलते हैं, उन से पता लगता है कि राजा भोज के समय तक भी भारत में विज्ञान पर्याप्त मात्रा में था। इस विषय में स्वतन्त्र भारत की सरकार जब इन विषयों में गहरी खोज भारतीय दृष्टिकोण से करायेगी, तब बहुत कुछ रहस्य मिलेंगे। अतः यह वर्त्तमान काल का वैज्ञानिक आविष्कार हमें विकासवाद के सिद्धान्त को मानने के लिये बाधित नहीं कर सकता।

अतः हम यह कह सकते हैं कि विकास और ह्रास सदा ही चलते रहते हैं। न सदा विकास ही विकास होता है, और न सदा ह्रास ही ह्रास होता है, कभी विकास कभी ह्रास, कहीं ह्रास और कहीं विकास—यही बात निश्चित ठहरती है।

६ वेदार्थ किन सिद्धान्तों पर आश्रित है

अब तक हम ने वेदार्थ तक पहुँचने के लिये ईश्वर विश्वास—ईश्वर के गुणों का यथावत् ज्ञान—सृष्टि उत्पत्तिकर्त्ता और सृष्टि उत्पत्ति क्रम पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयास किया और अन्त में विकासवाद के सिद्धान्त को हम ने इस विषय के विवेचन का केन्द्र बिन्दु बतलाया। सो जो व्यक्ति ईश्वर विश्वास, उसके गुणों का यथावत् ज्ञान रखता है और जिस को विकासवाद के सिद्धान्त में आस्था नहीं, वह वेद को जब देखेगा—पढ़ेगा—विचारेगा तो उसका दृष्टिकोण ही दूसरा होगा। जो ईश्वरविश्वासी है और उसके गुणों में उसकी आस्था नहीं, जो विकासवाद में विश्वास रखता है, वह जब

वेद का अध्ययन करेगा तो निश्चय ही दूसरी भिन्न दृष्टि उसके सामने आयेगी । भावना में भेद होने से दृष्टि में भेद होना स्वाभाविक है । यही कारण है कि भारत में वेद के विषय में भिन्न २ दृष्टियाँ सामने आती हैं । इनको कई कोटियों में विभक्त किया जा सकता है । जो हम आगे करेंगे । यहां तो हम अब यह दर्शाना आवश्यक समझते हैं कि ईश्वर विश्वासी—सृष्टि क्रम को ठीक मानने वाला—और विकासवाद के सिद्धान्त को न मानने वाला व्यक्ति वेदार्थ तक कैसे पहुँचे ? वेदार्थ के कौन २ से मूल-भूत सिद्धान्त हैं, जिन से एक व्यक्ति वेदार्थ के शुद्धस्वरूप तक पहुँच सकता है ।

अब हमें इसका निरूपण करना है । दूसरे शब्दों में वे कौन २ स्थल हैं या विषय हैं, जिन पर पहुँच कर एक विद्वान् भी वेदार्थ के सम्बन्ध में भ्रान्त हो जाता है, सो इस विषय का यहां हमने अति संक्षेप से ही प्रतिपादन करना है । वेद जिज्ञासु को निम्न बातों (सिद्धान्तों) का ज्ञान होना अनिवार्य है—

(१) लौकिक और वैदिक शब्दों का भेद,
(२) त्रिविध प्रक्रिया,
(३) वेद में इतिहास,
(४) यौगिकवाद,
(५) धातुओं का अनेकार्थत्व,
(६) पदपाठ
(७) व्यत्यय,
(८) देवतावाद,
(९) सायणाचार्य की मूल में ही भ्रान्ति ।
(१०) दयानन्द भाष्यका वैशिष्ट्य ।

इस समय प्रकृत में हम इतने विषयों पर ही विचार कर सकेंगे।

इन से अतिरिक्त यास्क से पूर्व वेदार्थ का स्वरूप, यास्क का अभिमत वेदार्थ, व्याकरण शास्त्र और वेदार्थ, सायण से पूर्ववर्ती वेदभाष्यकारों के वेदार्थ, सायण के वेदार्थ पर एक दृष्टि, आदि इन सब विषयों पर हम इसी लेख में विचार करना चाहते थे, पर इस समय असम्भव जानकर छोड़ रहे हैं ! पाठक चाहेंगे तो हम पुनः इन विषयों पर विचार उपस्थित कर सकेंगे ।

१—लौकिक और वैदिक शब्दों में भेद,

जो व्यक्ति इस विषय को नहीं जानता अर्थात् लौकिक शब्दों और वैदिक शब्दों में क्या २ भेद है, यह नहीं जानता, वह वेदार्थ तक नहीं पहुँच सकता ! महाभाष्यकारने 'शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्' कह कर आगे 'केषां शब्दानां' के उत्तर में कहा कि 'लौकिकानां, वैदिकानां च' । अर्थात् पतञ्जलि मुनि ने लौकिक और वैदिक दो प्रकार के शब्द माने । यही बात आगे उणादयो बहुलम् (अ० ३ । ३ । १) सूत्र के भाष्य में भी "नैगमरूढिभवं हि सुसाधु । नैगमाश्च रूढिभवाश्च" कह कर शब्द के लौकिक और वैदिक दो भेदों का स्पष्ट निरूपण किया है ।

वेदार्थजिज्ञासु को इन लौकिक और वैदिक शब्दों के भेद को जान लेना परमावश्यक है, लौकिक संस्कृत वा उसके कोशों में 'अहि' सांप को कहते है । 'पर्वत' वा गिरि, पहाड़को कहते हैं । वैदिक निघण्टु में 'अहि'—'पर्वत' और 'गिरि' मेघ नामों में पढ़े हैं, अर्थात् वेद में मेघ के नाम हैं । ऐसे लौकिक संस्कृत में 'पुरीष' मल को कहते हैं, वेद में जलको, 'वराह' सूअर को, वेद में मेघ को । ओदन चावल को और वेद में मेघ को, 'घृत' घी को और वेद में जलको, 'व्योम' आकाश को वेद में जलको । लौकिक शब्दों के समान अमरकोश आदि के आधार पर यदि वेद के अर्थ करने लगेंगे तो कितना अनर्थ हो जायगा । यह बात वेदार्थ जिज्ञासु को तत्काल समझ में आ जाती है । अतः वेदार्थ के लिये लौकिक शब्दों का कुछ भी आश्रय नहीं लेना चाहिये वैदिक कोश निघण्टु और उसकी व्याख्या निरुक्त का आश्रय लेना चाहिये ।

२—त्रिविध प्रक्रिया

वेदार्थ विषय में यह बात भी जान लेना परमावश्यक है कि आध्यात्मिक-आधिदैविक-और आधियाज्ञिक भेद से वेद मन्त्रों का अर्थ तीनों प्रक्रियाओं में होता है । इस बात के लिये हमें सायणाचार्य से प्राचीन वेदभाष्यकारों का वेदार्थ गहराई से देखना चाहिये । इन आध्यात्मिक अर्थ करने वाले वेदभाष्यकारों में बहुत से नाम गिनाये जा सकते हैं जैसे—निरुक्तसमुच्चयकार वररुचि-आत्मानन्द (अस्यवामीय-भाष्य में), आनन्दतीर्थ ऋग्वेद के ४० सूक्तों के भाष्य में जयतीर्थ नरसिंहयति (छलारीटीका), राघवेन्द्रयति (मन्त्रार्थमंजरी), शत्रुघ्नाचार्य (मन्त्रार्थदीपिका) इत्यादि अनेक भाष्यकारों ने, जो सायण से पूर्ववर्ती हैं, जिन्हों ने ऋषि दयानन्द से बहुत पूर्व ही वेद मन्त्रों के आध्यात्मिक अर्थ किये हैं ।

(१) इनमें आत्मानन्द लिखता है—

"अधियज्ञविषयं स्कन्दस्वामिभाष्यम् । निरुक्तमधिदैवतम् । इदं तु भाष्यमध्यात्मविषयमिति, न भिन्न-

विषयाणां विरोधः" ॥ (आत्मानन्द अस्यवामीय भाष्य पृ० ५४)

अर्थात् मन्त्रों के तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ होते हैं और हम अध्यात्मप्रक्रिया में अर्थ करते हैं।

(२) राघवेन्द्र यति लिखता है—'अग्न्यादिदेवतापरत्वेन अध्यात्मपरत्वेन चेत्येवं त्र्यर्थपरतया व्याख्यातानि'

'विष्णुः सर्ववेदप्रतिपाद्यः, सर्ववेदानां विष्णवर्थत्वसिद्धेः" मन्त्रार्थमंजरी पृ० १०४, २ ॥

अर्थात् अध्यात्म आदि तीनों प्रकार का अर्थ वेद मन्त्रों का होता है।

(३) इस विषय में दुर्गाचार्य का मत है—

"तस्मादेतेषु यावन्तो ऽर्था उपपद्येरन् आधिदैवाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्वे एव ते योज्या नात्रापराधोऽस्ति ॥" निरु० २ । ८ टी० पृ० १२६

"मन्त्रार्थपरिज्ञानादेव अग्नेराध्यात्माधिदैवाधिभूताधियज्ञेष्ववस्थानं याथात्म्यतो दृश्यते" ॥

(निरु० ४ । १९, दुर्ग टी०-पृ० ३१५) ॥

अर्थात् "आधिदैविक-आध्यात्मिक-अधियज्ञ प्रक्रियाओं में अर्थ करना चाहिये। इसमें किञ्चिद् भी दोष नहीं।" "अग्नि का अध्यात्म-आधिदैविक-आधिभूत अधियज्ञ सब प्रक्रियाओं में अर्थ यथावत् देखा जाता है"।

आचार्य स्कन्द का लेख त्रिविध प्रक्रिया के विषय में इतना विस्पष्ट है कि उसे देखकर तो इस विषय की कुछ भी शंका नहीं रह जाती कि वेद मन्त्रों का अर्थ तीनों प्रक्रियाओं में होता है। सायणाचार्य से ९०० वर्ष पहिले वेदार्थ की प्रक्रिया इतने विस्पष्ट रूपमें भारत में विद्यमान थी, इसका यथावत् प्रमाण मिल जाता है। आचार्य स्कन्दस्वामी का उक्त स्थल इस प्रकार है—

(४) "सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः ? स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्" ॥

(निरुक्त ७।५ स्कन्द टीका पृ० २६, २७)

अर्थात् "सब मन्त्रों का अर्थ सब प्रक्रियाओं (अध्यात्म-नैरुक्त-याज्ञिक) में करना चाहिये। क्योंकि यास्क का सिद्धान्त है कि सब मन्त्रों का अर्थ सब प्रक्रियाओं में होता है।"

त्रिविध प्रक्रिया में वेदमन्त्रों का अर्थ करना वेदार्थ प्रक्रिया का मूलभूत प्रमुख सिद्धान्त है। इसके समझ में आ जाने से वर्त्तमान सायण आचार्य आदि कृत वेदभाष्य की स्थिति का ज्ञान सहज में हो जाता है कि ये सब केवल यज्ञपरक अर्थ ही करते हैं। आध्यात्मिक और आधिदैविक अर्थ तो शेष बचे रह जाते हैं, यदि उनके यज्ञपरक अर्थ को पूर्णतया ठीक भी मान लिया जावे (यज्ञ परक भी इनका अर्थ पूर्ण नहीं, यह एक अलग विवेचनीय विषय है) तो भी दो तिहाई वेदार्थ सायण भाष्य से अतिरिक्त अभी लुप्त है, यही मानना पड़ेगा।

३—इतिहासवाद

तीसरी बात जो वेदार्थ जिज्ञासु को भ्रान्ति में डालती है वह यह है कि वेदों में यत्र तत्र देवापि शन्तनु-वसिष्ठ-भारद्वाज-कण्व-इन्द्र-अङ्गिरा आदि शब्दों को देख कर भ्रान्ति उत्पन्न होने लगती है या उत्पन्न की जाती है कि ये व्यक्तिविशेषों के नाम हैं। इसमें जब वेदार्थ जिज्ञासु को यह पता लग जाता है कि वेद से ही शब्द ले ले कर नामादि का व्यवहार चला, जैसे कि मनुने कहा—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ मनु०

उधर इन्द्र कण्वादि शब्दों के साथ हमें वेद में 'तरप्' 'तमप्' आदि आतिशायिक प्रत्यय मिलते हैं। तद्यथा—

अभूदुषा इन्द्रतमा मघोन्यजीजनत् सुविताय श्रवांसि।
वि दिवो देवी दुहिता दधात्यङ्गिरस्तमा सुकृते वसूनि ॥

ऋ० ७ । ७९ । ३ ॥

इस एक ही मन्त्र में 'इन्द्रतमा' और 'अङ्गिरस्तमा' दोनों पदों में आतिशायिक प्रत्यय (Superlativr degree) है। इसी प्रकार ऋ० १० । ११५ । ५ में "अग्निः कण्वतमः कण्वसखः" ऐसा मिलता है। इन सबसे यह स्पष्ट सिद्ध है कि ये इन्द्र-अङ्गिरा-कण्व आदि विशेषणवाची (Adjectives) हैं, व्यक्ति विशेषों के नाम (Prope nouns) नहीं।

जो इन्हें व्यक्तिविशेष मानते हैं, वे सर्वथा भूल में हैं। निरुक्तकार यास्क का यह वचन कि 'ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता' कि "मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की इतिहास युक्त कहने में प्रीति होती है, मन्त्रों में इतिहास नहीं"। यास्क के इस वचन से इतिहासवाद की भित्ति ही गिर जाती है। आगे के नैरुक्त आचार्य स्कन्दस्वामी और दुर्गाचार्य भी वेद में इतिहास नहीं मानते। इसके लिये हमने

आचार्य स्कन्दस्वामी का इस विषय का अत्यन्त स्पष्ट और प्रौढ़ प्रमाण उपस्थित करते हैं—

"एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या। एष शास्त्रे सिद्धान्तः··· ···औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयः। परमार्थेन तु नित्यपक्ष इति सिद्धम्।"

अर्थात् "इस प्रकार जिन मन्त्रों में आख्यान (इतिहास) का सा वर्णन किया गया है, उन सब मन्त्रों की योजना यजमान परक वा नित्य पदार्थों में करनी चाहिये, यह निरुक्त शास्त्र का सिद्धान्त है मन्त्रों में आख्यान (इतिहास) का सिद्धान्त औपचारिक (गौण) है। वास्तव में तो नित्य पक्ष ही मन्त्रों का विषय है"॥ स्कन्दस्वामी ने "देवापि" का अर्थ 'विद्युत्' और 'शन्तनु' का अर्थ 'जल' किया, और आगे 'देवापि' 'पुरोहित' कैसे, सो लिखा कि 'पूर्वं हि विद्योतते पश्चादुदकम्, अर्थात् पहिले बिजली चमकती है, पीछे जल बरसता है. इस प्रकार 'देवापि' 'विद्युत्' है। अन्य ऐतिहासिक स्थलों में भी स्कन्द स्वामी की निरुक्तटीका देखने योग्य है। उसने कुछ एक मन्त्रों का अर्थ ऐतिहासिक न करके अध्यात्म या आधिदैविक कर दिया हो, सो बात नहीं। उसने तो वेद में इतिहास है ही नहीं, यही नैरुक्तों का सिद्धान्त है, ऐसा बहुत ही स्पष्ट लिखा है॥

इस उपर्युक्त सन्दर्भ से सर्वथा मिलता जुलता एक उद्धरण हम निरुक्तसमुच्चयकार आचार्य वररुचि का भी उपस्थित करते हैं—

"औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयो नित्यत्वविरोधात्, परमार्थेन तु नित्यपक्ष एवेति नैरुक्तानां सिद्धान्तः"॥ (निरुक्तसमुच्चय पृ० ७१)॥

और स्थल तो बहुत हैं, पर एक स्थल दुर्गाचार्य जी का भी उपस्थित करते हैं—

"स पुनरयमितिहासः सर्वप्रकारो हि नियमविवक्षितस्वार्थः, तदर्थप्रतिपादनामुपदेशपरत्वात्" (निरु० १०। २६, दुर्ग टीका पृ० ७४४)॥

नैरुक्तों के इस सिद्धान्त को देख कर कौन कह सकता है कि यास्क वेद में इतिहास मानते हैं या वेद में व्यक्ति-विशेषों का इतिहास पाया जाता है॥

उद्गीथ अपने ऋग्वेद भाष्य (ऋ० १०। ८२। २) में 'ऋषि' का अर्थ 'रश्मि' करता है। आत्मानन्द 'अश्विनौ' का अर्थ 'गुरुशिष्यौ' करता है।

सुश्रुत सूत्रस्थान ५ अध्याय में—

"यस्त्विन्द्रो लोके पुरुषेऽहङ्कारः सः।···रुद्रो रोषः। सोमः प्रसादः। वसवः सुखम्। अश्विनौ कान्तिः। मरुदुत्साहः। तमो मोहः। ज्योतिर्ज्ञानम्"॥

इस से स्पष्ट है कि वेद में इतिहास नहीं, और यह सिद्धान्त आज से डेढ़ हजार वर्ष पूर्व तक माना जाता था, जो कालचक्र से विलुप्त हो गया, जिस के कारण सायण आदि आचार्यों का किया हुआ वेद का अर्थ वास्तविक वेदार्थ से बहुत दूर हो गया। जिसका आधार लेकर चलने वाले सभी विदेशीय वा भारतीय भ्रान्ति में पड़ गये और वेदार्थ के सामने एक भित्ति के समान आन कर खड़े हो गये हैं। जो भ्रान्ति बड़े परिश्रम और निरन्तर वास्तविक स्थिति का दिग्दर्शन कराने से ही दूर हो सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये विदेशीय शैली से पढ़े भारतीय वा अभारतीय सत्य बात को भी मानने में हिचकिचाते हैं। इस प्रकार के प्रौढ़ प्रमाणों से इन लोगों की अनेकानेक मिथ्या धारणाओं की भित्ति मानो गिरने लगती है। वे इन प्रमाणों को या तो महत्त्व ही नहीं देते या वे इन्हें देखते ही नहीं वा टाल देते हैं। हम चाहते हैं कि ये लोग हमारी इन धारणाओं के विरुद्ध लिखें तो हम भी आगे उनके उत्तर और प्रौढ़ता से दें और भारत के माथे से विदेशीय दासता (मस्तिष्क सम्बन्धी यह गुलामी) दूर होकर भारतीय संस्कृति साहित्य और वेद का वास्तविक स्वरूप संसार के सामने आवे। पहिले इन भारतीयों का मस्तिष्क ठीक हो, पीछे विदेशीय विद्वानों के साथ चर्चा चलाई जावे॥

४—यौगिकवाद

चौथी बात जो वेदार्थ प्रक्रिया के विषय में ध्यान देने की है वह है यौगिकवाद। जब लौकिक वैदिक शब्दों के भेद को एक व्यक्ति समझ लेता है और मन्त्रों के अर्थ आध्यात्मिक-आधिदैविक-अधियज्ञ इन सब प्रक्रियाओं में होते हैं, और वेद में आये इन्द्र-कण्व-अङ्गिरा आदि शब्द व्यक्ति विशेषों के नाम नहीं हैं, अपि तु विशेषणवाची हैं, तो उसे वेदार्थ प्रक्रिया में यौगिकवाद के सिद्धान्त को अनिवार्यतया मानना ही पड़ेगा, क्योंकि इन के बिना उक्त अर्थ इन शब्दों के हो ही नहीं सकते॥

इस यौगिकवाद का निर्देश तो हमें लौकिक और वैदिक शब्दों के भेद समझने से ही मिल जाता है। निरुक्तकार 'नामानि सर्वाण्याख्यातजानि' सब नामों का

आख्यातज (प्रकृति प्रत्यय से निष्पन्न) मानता है। सो यौगिक मानकर ही तो सब आख्यातज होंगे। यही बात महाभाष्यकार ने 'नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्। (अ० ३। ३। १) के भाष्य में कही है। नैरुक्त और वैयाकरणों में शाकटायन सब शब्दों को धातुज मानते हैं। निरुक्तकार ने शब्दों को आख्यातज मानकर उस पर पूर्वपक्ष (शंकाएं) उठाये हैं और उन सब का उत्तर देकर इस सिद्धान्त को प्रौढ़ता पूर्वक स्थापित किया है। निरुक्त (निर्वचन) शास्त्र का आधार ही यौगिकवाद है। निरुक्तकार ने—

"इदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते...तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च" ॥

अर्थात् निरुक्त (निर्वचन) शास्त्र के बिना मन्त्रों का अर्थ नहीं हो सकता.........यह निर्वचन शास्त्र व्याकरण का पूरक है, और अपनी निर्वचन विद्या को भी कहता है। यास्क के इस वचन से भी यही पता लगता है कि जब तक यौगिकवाद (निर्वचन) का आश्रय न लिया जाये, वेदार्थ खुल नहीं सकता।

इस यौगिकवाद का मूल तो हमें ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में ही मिल जाता है। "अग्निमीळे पुरोहितम्" पुरोहित—ऋत्विक्—यज्ञस्य देव होता रत्नधातम ये सब अग्नि के विशेषण हैं, यह सब भाष्यकारों ने माना है, इन सबको समुच्चायक किसी ने भी नहीं माना। जब ऐसी स्थिति है, तो अनिवार्यतया पुरोहित को विशेषण मान कर 'पुरो दधाति इति पुरोहितः' जो बिना आकांक्षा रखे ही सदा हित करता है, हितमार्ग का निर्देश करता है, वह पुरोहित है। सो अग्नि परमेश्वर विद्वान्—भौतिक अग्नि विद्युत् आदि हितकारी हैं, अतः ये पुरोहित हुये। सो यदि पुरोहित का अर्थ रूढ़ 'यजमान का कर्मकाण्ड करानेवाला' पुरोहित ही माना जावे तो विशेषण कैसे बनेगा। यदि विशेषण है, तो यौगिक हुआ। सो अब आगे नैरुक्त तथा अन्य आचार्यों ने भी यौगिकवाद के सिद्धान्त को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है सो हम अतिसंक्षेप में दर्शाते हैं—

"नामानि सर्वाणि सामान्येनाख्यातजानि हि। नैरुक्तसमयत्वात् क्रियायोगमङ्गीकृत्य प्रयोगः" (निरुक्तसमुच्चयकार वररुचि पृ० २")

अर्थात् नाम सब धातुज हैं, नैरुक्तों के इस सिद्धान्त के अनुसार क्रियायोग (प्रकृति प्रत्यय के सम्बन्ध) को मान कर इनका प्रयोग होता है॥

निरुक्तसमुच्चयकार ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'निरुक्तप्रक्रियानुरोधेन निर्वक्तव्याः' कह कर निर्वचन के आधार पर मन्त्र का अर्थ करना बताया। दुर्गाचार्य अपनी निरुक्त की टीका में लिखते हैं—

"स्वभावतो हि शब्दानां क्रियाजत्वेऽपि सति कांचिदेव क्रियामङ्गीकृत्यावस्थितिर्भवति। अथवा क्रियातिशयकृतो नियमः स्यात्। यो हि यदतिशयेन करोति तस्यानेकक्रियावत्त्वेऽपि सति तद्धेतुक एव नामधेयप्रतिलम्भो भवतीत्ययं समाधिः" (निरु० १।१४।दुर्ग टीका पृ० ६)।

इसका भावार्थ यह है कि प्रकृति प्रत्यय के आधार पर शब्दों के वाच्य वाचक सम्बन्ध का निश्चय होता है। सो यह किसी भी क्रिया के सम्बन्ध जुड़ जाने से बन जाता है, अथवा जिस क्रिया का सम्बन्ध सब से अधिक उपपन्न हो, उसी से प्रकृति प्रत्यय का सम्बन्ध लगा लेना चाहिये। आचार्य स्कन्द स्वामी निरु० टी० भाग १ पृ० ९२ पर लिखता है—

"एवमेतत् सर्वेनाम्नामाख्यातजत्वं प्रतिपादितम्। तत् किमर्थम्?। उच्यते— अर्थान्तरे यो रुढिशब्दस्तस्यार्थान्तरे प्रयोगः...... रूढ्यर्थस्याभावात् कर्मनिमित्तो यथा प्रतीयेतेत्येवमर्थम्" ॥

अर्थात् "वेद में रूढि अर्थ तो है नहीं, अतः क्रिया के आधार पर इन शब्दों का अर्थ किया जाता है, इस प्रकार ये रूढि शब्द अर्थान्तर में प्रयुक्त होते हैं"।

मीमांसा भाष्यकार शबर स्वामी लिखता है—

'विद्यमानोऽप्यर्थः प्रमादालस्यादिभिर्नोपलभ्यते। निगमनिरुक्तव्याकरणवशेन धातुतोऽर्थः कल्पयितव्यः'। (मीमांसाभाष्य १। २। ४१)॥

शमयतीति शमिता, यौगिक एव शब्दः प्रकृतेष्वपि कल्पते"(मी० भा० ३। ७। २९)

अर्थात् मीमांसकों के मत में शब्द का अर्थ व्यापक होता है, और वह यौगिकवाद के आधार पर होता है।

सब पदों की व्युत्पत्ति दर्शाने का प्रयोजन क्या है? निरुक्तकार अपने समस्त ग्रन्थों में सर्वत्र व्युत्पत्ति क्यों दिखाते हैं, इसका क्या अभिप्राय वा प्रयोजन है? इस बात को दुर्गाचार्य ने अच्छे शब्दों में स्पष्ट किया है। वह लिखता है—

"आत्मवित्पक्षे तु सर्वमभिधानमात्मार्थमेवेति सर्वावस्थमात्मानं सर्वाभिधानव्युत्पत्तितो निरुच्य यथार्थतः परिज्ञाय सर्वात्मन आत्मनः सर्वावस्थं विभूतिताद्भाव्यमनुभवतीति सर्वपदव्युत्पत्तिप्रयोजनमिति" निरु० दुर्गटीका पृ० ५९१)।

अर्थात् सब पदों की व्युत्पत्ति दर्शाने का प्रयोजन यह है कि आत्मवित् पक्ष में सब अभिधान अभिधेय-वाचकवाच्य-सम्बन्ध आत्मा में अन्वित हो सकें ॥

इस से विदित हो जाता है कि यौगिकवाद का आश्रय लिये बिना वेद का अर्थ कदापि समझ में नहीं आ सकता। जब मन्त्रों के सब प्रक्रियाओं में अर्थ होते हैं, यह सिद्धान्त ठीक बैठ जाता है, तब भला यौगिकवाद के सिद्धान्त को न माना जावे, वा यौगिकवाद का आश्रय न लिया जावे, यह कैसे हो सकता है। यौगिकवाद और त्रिविध प्रक्रिया का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है, यह हमारा कहना है ॥

(६) ऋग्वेद ८। ९६। ४ में 'च्यवनमच्युतानाम्' तथा ऋ० ८। ५। ३१ में "अश्नन्तावश्विनौ" ॥

शतपथ ब्राह्मण ४। १। ५। १६ में—"अश्विनाविमे हीदं सर्वमश्नुवाताम्" ॥ बृहद्देवता ७।१२७ में—"अश्नुवाते हि तौ लोकान् ज्योतिषा च रसेन च" ॥ अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं रसेनान्यो ज्योतिषाऽन्यः ॥ निरु० १२।१

इन मूलमन्त्र, शतपथ ब्राह्मण, बृहद्देवता, निरुक्त सब में 'अश्विनौ' की व्युत्पत्ति दर्शाते हुए यौगिकवाद के सिद्धान्त को माना है।

इसमें हम भर्तृहरि का भी एक वचन उपस्थित करते हैं—

"कैश्चिन्निर्वचनं भिन्नं गिरतेर्गजतेर्गमेः। गवतेर्गदतेर्वाऽपि गौरित्यत्रानुदर्शितम् ॥ गिरतिर्गजति गदति इत्येवमादयः साधारणाः सामान्यशब्दनिबन्धनाः क्रियाविशेषास्तैस्तैराचार्यैर्गोशब्दव्युत्पादनक्रियायां परिगृहीताः' (वाक्यपदीय भर्तृहरि टी० भाग २ पृ० ९२)

यहाँ भर्तृहरि व्युत्पत्ति के आधार पर शब्दों के अनेक अर्थ दर्शा रहे हैं ॥

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि ऋग्वेद शतपथ ब्राह्मण बृहद्देवता और निरुक्त वाक्यपदीय आदि में यौगिकवाद के सिद्धान्त का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है।

अब हम अति संक्षेप से कुछ एक उदाहरण भी ऐसे उपस्थित करते हैं, जिनमें यौगिकवाद का आश्रय लेकर ही भिन्न भिन्न भाष्यकारों ने मन्त्रगत पदों के अर्थ अपने भाष्यों में दर्शाये हैं, जिनसे स्पष्ट विदित हो जाता है कि वेदार्थप्रक्रिया में यौगिकवाद का सिद्धान्त सर्वमान्य कहा जा सकता है, चाहे उनके आश्रय पर उन उनके भाष्य न भी हो पाये हों, यह दूसरी बात है ॥

चित्तिभिः = कर्मभिः (निरु० २।९) ॥
भोगैः = शरीरैः (महाभा० ५।१।९) ॥
विष्णुः = परमात्मा (स्कन्द नि. टी. भा २ पृ० ५५) ॥
सविता = यजमानः (निरु. टी. ११।४८) ॥
मनः = विज्ञानं (भा० १ पृ० १०६) ॥
सिन्धवः = रश्मयः (भा० १ पृ० ६९) ॥
इन्द्रश्चाग्निश्च = ब्राह्मणश्च राजा च (दुर्ग टी० पृ० ८१७)
सोमः = दुग्धम् (पृ० ३५९) ॥
रश्मयः = स्त्रियः (पृ० ३५३) ॥
असुरः = ब्रह्मा उद्गाता वा (पृ० २२८) ॥
गावः = गन्तारो जनाः (भट्टभा०तै०सं०भा०१पृ०१०४) ॥
वसवो रश्मयः (तै० आ० पृ० ६२) ॥
सवितुः = परमेश्वरस्य (य० १० । ६) ॥
इन्द्रः = आत्मा (य० ६ । २०) ॥
अग्निः = परमात्मा (आत्मानन्द पृ० ५४) ॥
सोमः = जगदीश्वरः (पृ० ४४) ॥
सूर्यः = परमात्मा (पृ० ३४) ॥
स्वसारः = ज्ञानेन्द्रियाणि
इन्द्रः = परमेश्वरः (आनन्दतीर्थ पृ० २२) ॥
वायुः = परमेश्वरः (जयतीर्थ पृ० १३) ॥
इन्द्रः = परमेश्वरः (देवपाल पृ० १६३, १९१, २२३) ॥
आदित्यः = परमेश्वरः (पृ० २२८, ३४८) ॥

ऐसे बहुत से स्थल दिखाये जा सकते हैं। संक्षेप के कारण इतने ही पर्याप्त हैं ॥

इस सब विवेचन से पता लग जाता है कि यौगिकवाद का सिद्धान्त वेदार्थप्रक्रिया का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य सिद्धान्त है ॥

५—धातुओं का अनेकार्थत्व

हम ऊपर बहुत से प्रमाणों से दर्शा चुके हैं कि नामों को आख्यातज मान लेने पर एक २ शब्द की व्युत्पत्तियाँ अनेक धातुओं से की जाती हैं जैसा कि हम भर्तृहरि द्वारा अपने ग्रन्थ वाक्यपदीय में 'गो' शब्द की व्युत्पत्ति गिरति, गर्जति, गदति, गिरति, गजति और गवति इतने धातुओं से

दर्शाई है। निरुक्तकार ने २।६ में—गम् और 'गा' दो धातुओं से 'गो' शब्द की व्युत्पत्ति मानी है। निरुक्तकार की बहुत सी व्युत्पत्तियां ऐसी हैं। भिन्न २ धातुओं से व्युत्पत्ति तभी ठीक बैठ सकती हैं, यदि उन धातुओं के अर्थों के साथ उक्त शब्द का समन्वय ठीक बैठ सके। यह समन्वय तभी हो सकता है, यदि इन धातुओं के अर्थ व्यापक माने जावें। इस विषय में महाभाष्यकार का सिद्धान्त सर्वोपरि मानने योग्य है कि—

(१) "बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति" (अ०१।३।१ महाभाष्ये)

यह सिद्धान्त महाभाष्यकार ने अपने ग्रन्थ में अनेकबार दोहराया है कि धातु अनेकार्थ वाले हैं।

(२) कुमारिल भट्ट तन्त्रवार्त्तिक पृ० १५६, १५७ में यही बात लिखते हैं—

"निगमनिरुक्तव्याकरणवशेन धातुतोऽर्थः कल्पयितव्यः"

निगमादिवशाच्चात्र धातुतोऽर्थः प्रकल्पितः। कुमारिलतन्त्रवार्त्तिक पृ० १५६॥

(३) स्कन्द ऋ० भाष्य पृ० १०७—"कृञ् सर्वार्थत्वाद् दानेऽत्र"॥

(४) आत्मानन्द (पृ० ७) "अनेकार्था धातवः"

(५) धातूनामनेकार्थत्वात् ऋञ्जते प्रास्नुवन्ति (जयतीर्थ पृ० २७)

(६) अनेकार्थत्वाद् धातूनामिति वा दसु विभेदन इत्युक्तम् (छलारी टी पृ० ३७)

(७) मन्यतेऽवबुध्यते, यद्वा धातूनामनेकार्थत्वात् क्षमत इत्यर्थः॥ सा० ऋ० १०।१२।६ भाष्ये।

धातूनामनेकार्थत्वाद् रिचिरत्र परिहारार्थे वर्त्तते- (ऋ० १०।१३।४ सायणभाष्ये)॥

(८) यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते॥
वाक्यपदीय १।३४

(९) प्रकरणसामर्थ्याच्छब्दोऽप्यर्थान्तरं भजते।
दुर्ग० पृ० ३४६॥

ये सब प्रमाण धातुओं के अनेकार्थ वा व्यापक अर्थ होते हैं, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं॥

पूर्व से इसका कैसा उपयुक्त समन्वय बैठता है, लौकिक वैदिक शब्दों में भेद होता है, मन्त्रों के अर्थ आध्यात्मिक आदि प्रक्रियाओं में होते हैं, यौगिकवाद के सिद्धान्त पर मन्त्रों के अर्थ हो सकते हैं। इस में धातुओं के अनेकार्थत्व का सिद्धान्त वेदार्थप्रक्रिया का मूलभूत सिद्धान्त है, यह बात साधारण पाठक की समझ में भी आ जाती है।

६—व्यत्यय का सिद्धान्त

निरुक्त व्याकरणशास्त्र का पूरक है अर्थात् वेदविषयक व्याकरण पूरा नहीं हो सकता, जब तक हम निरुक्तशास्त्र का पूरा ज्ञान प्राप्त न करलें। केवल व्याकरण के आधार पर वेदार्थ में प्रवृत्त व्यक्ति कुछ प्राप्त न कर सकेगा। एक २ शब्द के भिन्न २ और विचित्र २ धातुओं से किये गये निर्वचन केवल वैयाकरण की बुद्धि में बैठ नहीं सकते। प्रकृति प्रत्यय के वास्तविक स्वरूप वा अर्थ को ऐसा व्यक्ति समझ नहीं सकता।

वैसे व्याकरण के रचयिता पाणिनि तथा उसके भाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने तो एक दो ही सूत्र लिखकर इस विषय का मर्म समझा दिया है। अनार्ष विधि से अनार्ष ग्रन्थ पढ़नेवाले व्यक्ति इस सिद्धान्त के मर्म से सर्वथा वञ्चित रह जाते हैं। पाणिनि ने "व्यत्ययो बहुलम्" (अ० ३।१।८५) यह सूत्र लिखकर और महाभाष्यकार ने इस सूत्र के भाष्य में लिखकर वास्तव में निरुक्तशास्त्र के सिद्धान्त का निर्देश अपने शास्त्र में प्रतिपादित कर दिया। महाभाष्यकार का उक्त वचन इस प्रकार है—

"सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि
च सिध्यति बाहुलकेन।"

सुप-तिङ्-आत्मनेपद-परस्मैपद-लिङ्ग-विभक्ति वचन-काल-हल्-अच्-स्वर-कारक तथा यङादि इन सबका व्यत्यय वेद में होता है यह पाणिनि और पतञ्जलि का सिद्धान्त है।

आगे "सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः (अ० ७।१।३९) तथा "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" (अ० ६।३।१०९) इत्यादि सूत्र व्यत्यय के सिद्धान्त की पुष्टि में ही समझने चाहियें।

इस का रहस्य निरुक्तकार के (२।१ में) निर्वचन के प्रारम्भ में 'अर्थनित्यः परीक्षेत" की व्याख्या करते हुये दुर्गाचार्य ने लिखा है—" अर्थनित्य इत्युक्ते अर्थप्रधान इति गम्यते।" दुर्ग पृ० ९७॥ 'अर्थप्रधानं निरु-

क्तम्" (दुर्ग पृ० १०२) ॥ तथा आचार्य स्कन्दस्वामी लिखते हैं—"अर्थप्रधानत्वाच्च निरुक्तस्य सर्वत्रैवार्थ-प्रधानस्य पर्दनुयोगो निर्वचनं च, अग्निः कस्मात् जातवेदः कस्मात्" ॥ (निरु० ७ । १९ टी० भाग ३ पृ० ८३) ॥

इन सब का यही अर्थ है कि निरुक्तकार के मत में वेद में अर्थ की प्रधानता है। व्याकरणादि के नियम सब अर्थ के पीछे हैं।

इस प्रकार व्यत्ययवाद का सिद्धान्त भी वेदार्थ प्रक्रिया का मूलभूत सिद्धान्त है, यह समझ में आ जाता है। वैदिक व्याकरण न जानने वाले इस व्यत्ययवाद के सिद्धान्त को नहीं समझ पाते। यह सिद्धान्त उन के गले से नीचे उतरता ही नहीं, कारण वैदिक प्रक्रिया से अनभिज्ञता वा उसको अनावश्यक समझ कर छोड़ देना ॥

७—पदपाठ

पदपाठकार वे ऋषि वा विद्वान् हुये जिन्हों ने वेदमन्त्रों के पदों का विभाग दर्शाया। इसमें एक ही पद को भिन्न २ आचार्यों ने भिन्न २ रूप से माना। इसको बहुत से वेदार्थ जिज्ञासु नहीं समझ पाते, या शंकायें उठाते हैं। सो इस विषय में हम निरुक्तकार का ही प्रमाण उपस्थित कर देना पर्याप्त समझते हैं। निरु० ५।२१ में यास्क ने 'मासकृत्' की व्याख्या में 'मासानां चार्धमासानां च कर्त्ता भवति चन्द्रमाः' ऐसा माना है ॥ आचार्य स्कन्द निरु० टी० भा० २ पृ० ३६६ में लिखता है—"मासकृदिति यस्यैकं पदं तदभिप्रायेणैतदेवं भाष्यकारेण व्याख्यातम्। शाकल्यस्य द्वे एव पदे" ॥

इस प्रकार पदपाठ अर्थ के पीछे है, न कि पदपाठ के पीछे अर्थ, ऐसा नैरुक्तों का सिद्धान्त है, यह हम कह रहे हैं।

यास्क ने निरु० ६। २८ में भी स्पष्ट ही पदपाठ विषय में इसी सिद्धान्त को माना है—

"वेति च य इति च चकार शाकल्यः, उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यदसुसमाप्तश्चार्थः"।

यहाँ यास्कने शाकल्य के पदपाठ को न मान कर पदपाठ का भेद दिखाया है, और शाकल्य का प्रत्याख्यान भी किया है ॥

महाभाष्यकार भी इसी सिद्धान्त को मानते हैं—

"अवग्रहोऽपि, न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्त्यम्, यथालक्षणंपदं कर्त्तव्यम्" (अ० ८। २। १६ भाष्य)

अर्थात् व्याकरण के पीछे पदकारों को चलना पड़ेगा, न कि पदकारों के पीछे व्याकरण को।

इस विषय में हम आचार्य स्कन्द स्वामी का एक वचन उद्धृत करते हैं, जो इस विषय का अत्यन्त ही स्पष्ट प्रमाण है—

"शाकल्यात्रेयप्रभृतिभिर्नावगृहीतम्, पूर्वनिर्वचनाभिप्रायेण। गार्ग्यप्रभृतिभिरवगृहीतं तदेव कारणम्। विचित्राः पदकाराणामभिप्रायाः। कचिदुपसर्गविषये नावगृह्णन्ति, यथा शाकल्येन 'अधीवासम्' नावगृहीतम्। आत्रेयेण तु 'अधि वासम्' इत्यवगृहीतम्। तस्मादवग्रहो ऽनवग्रहः" ॥

(निरु० २।१३ स्कन्द टी० भा० २ पृ० ८१) ॥

इसका अभिप्राय यह है कि शाकल्य-आत्रेय आदिकों ने अवग्रह नहीं किया। पूर्व निर्वचन को लक्ष्य में रखने के कारण, गार्ग्य आदि ने अवग्रह किया है। इसमें कारण वही है। पदकारों के अभिप्राय विचित्र होते हैं। कहीं पर उपसर्ग के विषय में भी अवग्रह नहीं करते, जैसे शाकल्य ने ऋ० १। १६२। १६ में 'अधीवासम्' पद का अवग्रह नहीं किया। आत्रेय ने (तै० संहिता के पदपाठ में) 'अधिऽवासम्' ऐसा अवग्रह किया है। अन्त में स्कन्द स्वामी कहता है "तस्मादवग्रहो ऽनवग्रहः"।

अर्थात् 'इस उपर्युक्त हेतु से अवग्रह ऐच्छिक है', यही समझना चाहिये।

पदपाठ विषय के ये दो ज्वलन्त प्रमाण हैं।

८—देवतावाद

देवतावाद भी वेदार्थ प्रक्रिया का मूलभूत सिद्धान्त है। इस पर बहुत कुछ लिखा जाना चाहिये। यहाँ विस्तरभय से हम अति संक्षेप से ही लिखने के लिये विवश हैं। मन्त्रों के प्रतिपाद्य विषय का नाम देवता है। निरुक्त के सप्तमाध्याय के प्रारम्भ में यही सिद्धान्त यास्क ने निश्चित किया है। सर्वानुक्रमणी आदि भी इसी को मानते हैं।

"यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति" ॥

या तेनोच्यते सा देवता (ऋक् सर्वानुक्रमणी २।१) ॥

देवतावादके निदर्शक सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता दो ग्रन्थ माने जाते हैं। परन्तु इनमें भेद इतना है कि ये सर्वानुक्रमणी

और बृहद्देवता देवतावाद के अन्तिम प्रमाण नहीं हैं, अर्थात् इनसे भिन्न देवता हो ही नहीं सकते, सो बात नहीं, क्योंकि यास्क और पतञ्जलि कुछ मन्त्रोंके देवता सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता से भिन्न मानते हैं। यास्क ने अनादिष्ट देवता वाले मन्त्रों में 'इषे त्वादि' मन्त्र को माना है जिसकी पुष्टि उसके टीकाकार दुर्ग और स्कन्द दोनों से होती है (देखे निरु० ७ । ४ की टीकायें)। इसमें "इषे त्वा" आदि को अनादिष्ट देवता वाला माना है। एक ही मन्त्र ऋ० ५ । ४२ । १४ के सर्वानुक्रमणी से भिन्न, पृथक् २ ऋषियों ने भिन्न २ देवता माने हैं।

उधर यजुःसर्वानुक्रमणी उवट भाष्य के प्रारम्भिक श्लोक से उवट से पीछे की बनी प्रतीत होती है। देखिये यजु० १।१ मन्त्र में इषे त्वोर्जे त्वा का शाखा देवता सर्वानुक्रमणी ने माना है। उधर शतपथ ब्राह्मण में यह लिखा है कि "यस्यै हविर्दीयते सा देवता" (शतपथ ब्राह्मण पृ० ४९२)।

और 'शाखा' को हविः दी नहीं जाती। "इदं शाखायै इदं न मम" कहीं नहीं कहा गया। इससे यह स्पष्ट है कि शाखा देवता नहीं हो सकता। हाँ शाखाछेदनादि में इस मन्त्र का विनियोग भले ही हो सकता है।

यहाँ अतिसंक्षेप से हमने देवतावाद का रहस्य लिख दिया है। जो सज्जन अधिक देखना चाहें, वे यजुर्वेद भाष्य विवरणमें देख सकते हैं। इसी प्रकार छन्दोवाद और विनियोगवाद, ऋषिवाद भी वेदार्थ के विचारणीय वाद हैं। और भी विषय मननीय हैं। जैसे यास्क से पूर्ववर्त्ती वेदार्थ का क्या स्वरूप है, यास्क और वेदार्थ, सायण और दयानन्दभाष्यों की समालोचना भी एक स्वतन्त्र लिखने योग्य विषय है। वेदाङ्गों का उपाङ्गों का वेदार्थ के साथ सम्बन्ध। ये सब अलग विवेचनीय विषय हैं। इन पर फिर किसी समय ही विचार किया जा सकता है।

अब अन्त में हम वेदार्थप्रक्रिया के मूलभूत सिद्धान्तों पर एक बार सिंहावलोकन करना आवश्यक समझते हैं। सो पाठक भी एक बार इस विषय का सिंहावलोकन करें।

हमने वेदार्थ प्रक्रिया के मूलभूत सिद्धान्त बतलाये—

(१) ईश्वर विश्वास (२) ईश्वर के सृष्टिकर्त्ता-नियन्ता-सर्वज्ञादि गुणों पर आस्था (३) सृष्ट्युत्पत्ति क्रम का निश्चय (४) विकासवाद के सिद्धान्त पर अनास्था।

इन विषयों की अनिवार्यता का निरूपण हम अपने लेख में पूर्व विशदरूप में कर चुके हैं। पहिले तीन सिद्धान्त तो प्रत्येक वैदिक धर्मी को मान्य हैं ही, जिनको इन पर आस्था नहीं, उन्हें वेदार्थ का यथावत् ज्ञान नहीं हो सकता। विकासवाद पर कुछ विस्तृत विचार कर लिया जा सकता है। आगे वेदार्थ प्रक्रिया के सीधे वाद हैं, जिन पर पुनः विचार कर लेना आवश्यक है, जो निम्न प्रकार हैं—

५—लौकिक वैदिक शब्दों में भेद, ६—त्रिविधि प्रक्रिया अर्थात् सब मन्त्रों के अर्थ आध्यात्मिक—आधिदैविक—अधियज्ञ प्रक्रियाओं में होते हैं, यह प्राचीन परम्परागत सिद्धान्त है, इस शताब्दी की कल्पनामात्र हो सो बात नहीं; ७—वेद में व्यक्ति विशेषों के नाम वा उनका इतिहास नहीं, अपितु वेद से ले ले कर नाम रखे गये वा रखे जाते हैं। इन्द्र-अङ्गिरा कण्व आदि विशेषणवाची शब्द हैं, न कि ऋषियों वा अन्य व्यक्तिविशेषों के नाम हैं। ८—यौगिकवाद अर्थात् वैदिक शब्द यौगिक होते हैं रूढि नहीं। ९—यौगिक होते हुये जहां एक ही शब्द की अनेक धातुओं से व्युत्पत्ति हो सकती है, वहां एक धातु के अनेक अर्थ भी होते हैं, जो प्रकरणादि के आधार पर समझे जाते हैं। धातुओं के अर्थ केवल उतने ही नहीं जितने धातुपाठ आदि में पढ़े हैं, वे तो निदर्शन मात्र हैं। १०—व्यत्यय का सिद्धान्त भी वेद में सर्वसम्मत है, सब ऋषि मुनियों वेदभाष्यकार आचार्यों ने इसे माना है, व्याकरण और निरुक्त का यह मूलभूत सिद्धान्त है। ११—पदपाठों में भेद हमारे उपर्युक्त सब सिद्धान्तों की पुष्टि करता है, १२—देवतावाद का सिद्धान्त भी वर्त्तमान सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवतादि से हमें आगे सोचने की प्रेरणा करता है। इस से भिन्न भी कुछ आवश्यक विचार हैं जो विस्तार भय से इस समय नहीं लिखे जा सकते। आवश्यक और मूल-भूत सिद्धान्त उपर्युक्त विषयों में ही आ जाते हैं।

९—सायणाचार्य की मूल में ही भ्रान्ति

इन मूल सिद्धान्तों में सब के आधार पर यदि कोई वेदभाष्य कहा जा सकता है, तो ऋषि दयानन्द सरस्वती का भाष्य ही कहा जा सकता है जिसका अन्य सायणादि भाष्यकारों से वैशिष्ट्य हम आगे दर्शाते हैं। सायणादि ने मूल भूत सिद्धान्तों का आश्रयण नहीं किया, यदि कहीं २-४ सिद्धान्तों का आश्रयण किया भी है, तो भी बहुत कम और पूरे दृढ़ विश्वास के साथ नहीं, हाँ स्कन्द—दुर्ग-आत्मानन्द आनन्दतीर्थ जयतीर्थ आदि ने इन मूल भूत सिद्धान्तों में से अधिकतर सिद्धान्तों का अवलम्बन अपने भाष्यों में किया है। तभी ये भाष्य आध्यात्मिक अर्थ कहीं २ दिखाते हैं। विदेशीय स्कॉलर तो सायण के ही अनुगामी हैं, वे उस से आगे तो क्या बढ़ते, उस

के पीछे अवश्य चले हैं। जब सायण ही वेदार्थ तक नहीं पहुँचा, तो वे कैसे पहुँचते, क्योंकि उसे तो यही पता रहा—

"तस्मिन् वेदे द्वौ काण्डौ कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च। बृहदारण्यकाख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डस्तत्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोः कर्मकाण्डत्वम्, तत्रोभयत्रप्रधानाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपाद्यत्वात्"।

अर्थात्—बृहदारण्यक आदि उपनिषद् तो ब्रह्म परक है, ब्रह्म का निरूपण करते हैं, संहिता और ब्राह्मण केवल यज्ञ-कर्म का ही प्रतिपादन करते हैं। सायण इतना ही जान पाये। यहां संस्कृत में एव (ही) शब्द स्पष्ट बता रहा है कि सायण की दृष्टि में वेद यज्ञ परक ही है। ऐसी अवस्था में यदि सायणाचार्य का किया हुआ यज्ञपरक अर्थ सब का सब ठीक भी मान लिया जावे (जो सब का सब ठीक नहीं है, ऐसा अनेक विद्वान् मानते हैं) तो भी आध्यात्मिक और आधिदैविक अर्थ अर्थात् तीन में से वेद का दो तिहाई अर्थ लुप्त है। जो सायणाचार्य नहीं जान पाये। उसे दिखाने वाला यदि कोई भाष्य इस समय तक संसार में है, तो वह केवल ऋषि दयानन्द सरस्वती का ही भाष्य है और कोई नहीं।

उनका किया भाष्य आध्यात्मिकार्थ प्रधान है, किसी भी मन्त्र के अर्थ को विचारें तो उस में सूक्ष्म दृष्टि से दो या या तीनों अर्थ मन्त्रार्थ में कहीं न कहीं अवश्य मिलेंगे। प्रसङ्गवश हम यहां आचार्य दयानन्द कृत भाष्य की कुछ विशेषतायें भी दर्शा रहे हैं।

१०—आचार्यदयानन्दकृत वेदभाष्यकी विशेषतायें

प्रसङ्गतः अति संक्षेप से हम यहां इस विषय को दर्शाते हैं, पाठक विशेष तो उनके भाष्य को पढ़कर स्वयं देखें।

(१) ईश्वर में पूर्ण विश्वासी पूर्ण योगाभ्यासी साक्षात्कृतधर्मा तपस्वी—पक्षपात रहित—ईश्वरके सच्चिदानन्द सर्वज्ञ सृष्टिकर्ता आदि गुणों के प्रतिपादक, प्राचीन ऋषि मुनियों में पूर्ण विश्वासवान्—ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त ऋषियों के सिद्धान्तों को मानने वाले महापुरुष आचार्य दयानन्द सरस्वती द्वारा इस भाष्य का निर्माण हुआ, (जितना भी वह प्राप्त है)।

(२) विकासवाद के सिद्धान्त का खण्डन जहां ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों से होता है, वैसा ही उनके वेदभाष्य से भी पदे पदे होता है।

(३) वेद अपौरुषेय (ईश्वरीय ज्ञान) वाद की धारणा पर यह भाष्य है, इस के विरुद्ध इस में यत्किञ्चित् भी नहीं मिलेगा॥

(४) यास्क—पाणिनि—पतञ्जलि तथा उन से भी पूर्ववर्त्ती ऋषि मुनि आचार्यों के आधार पर वेद के शब्दों को लौकिक शब्दों से भिन्न मान कर भाष्य किया गया है।

(५) वेद के सब शब्दों को धातुज मानकर उनकी व्युत्पत्ति—निर्वचन साधार सप्रमाण दर्शाया गया है, निर्वचन भेद से वैदिक शब्दों के अर्थ इस भाष्य में भिन्न २ दर्शाये गये हैं, यौगिक, और योगरूढिवाद इस भाष्य की आधार शिला है।

(६) सब मन्त्रों के अर्थ (सायणाचार्य से भी ९०० वर्ष पूर्व प्रसिद्ध) त्रिविधप्रक्रिया अर्थात् सब मन्त्रों के अर्थ आध्यात्मिक आधिदैविक और आधियाज्ञिक प्रक्रियाओं में होते हैं, इस सिद्धान्त के आधार पर किये गये हैं।

(७) वेद मन्त्रों के अर्थ वेदमन्त्रों के आधार पर भी किये गये हैं। (यथा य० १। १३)।

(८) अग्नि—वायु—इन्द्र—मित्र—वरुण—यम—रुद्र आदि शब्द केवल भौतिक अग्नि—वायु आदि के ही बोधक वाचक नहीं, अपितु 'अग्नि' शब्द के निर्वचन के आधार पर आध्यात्मिक—आधिदैविक प्रक्रिया में परमेश्वर विद्वान्—राजा—सभाध्यक्ष नेता आदि, विद्युत् प्रकाश तथा जाठराग्नि आदि के भी ग्राहक हैं। अग्नि—वायु आदि शब्द जहां भौतिक पदार्थों के वाचक हैं, वहाँ मुख्यवृत्ति (अभिधावृत्ति) से ईश्वर के वाची हैं, यह प्रक्रिया सम्पूर्ण भाष्य में मिलेगी। इसी को आधार मान कर स्वर्गीय महात्मा श्री अरविन्द ने दयानन्द भाष्य की भूरि—भूरि प्रशंसा की, और इसी बात के आधार पर वेद सम्बन्ध में गम्भीर विवेचनायें की।

(९) सब वेद मन्त्रों के षड्जादि स्वर लिखे, जो किसी भाष्य में भीनहीं मिलते। काव्य के अङ्ग—भूत श्लेषादि अलंकारों का उपयोग इस वैदिक भाष्य में सर्व प्रथम आचार्य दयानन्द ने ही किया है, और इन अलङ्कारों के द्वारा अर्थों में बहुविध वैचित्र्य दर्शाया गया है।

(१०) वेद में अनित्य इतिहास (व्यक्ति विशेषों का इतिहास) कहीं नहीं माना, अपितु ऐसे स्थलों पर बड़ी सुन्दर सप्रमाण व्याख्या की गई है।

(११) पदपाठ के विषय में महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि के सिद्धान्त कि—

न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्त्यम् (महाभाष्य) के आधार पर तथा आचार्य स्कन्द स्वामी के समान 'तस्मादवग्रहोऽनवग्रहः' के अनुसार ऋषि दयानन्द ने कई स्थलों पर भिन्न पदपाठ माना है, जो शास्त्रसम्मत है।

(१२) स्वामी दयानन्द सरस्वती के भाष्य से "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे (वै० ६। १। १) अर्थात् वेद में कोई बात तर्क के विरुद्ध नहीं" इस सिद्धान्त के आधार पर वेदार्थ किया गया है।

(१३) देवतावाद के विषय में सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता आदि से भिन्न भी मन्त्रों के देवता माने जा सकते हैं, यह सिद्धान्त शास्त्रसम्मत है, इस विचार धारा के अनुसार स्वामी दयानन्द सरस्वती का भाष्य देखना चाहिये॥

(१४) मन्त्रों के छन्द भी अनुक्रमणी में कहे छन्दों से कहीं २ सप्रमाण होने से भिन्न माने हैं॥

(१५) "व्यत्ययो बहुलम्" का सिद्धान्त वेदार्थ में परमावश्यक है। यह बात आचार्य दयानन्द के भाष्य में ही सब से उत्तम रीति से मिलेगी॥

(१६) 'वार्थ्यं हि वक्तुरधीनं' के अनुसार वेदार्थ इस भाष्य में मिलेगा।

(१७) 'यज्ञ' शब्द से आचार्य दयानन्द ने त्रिविध यज्ञ का ग्रहण किया है। जहां पर श्री० सायणाचार्य ने केवल भौतिक यज्ञ परक ही माना है, इतने से ही वेदार्थ कहीं का कहीं पहुँचा दिखाई देने लगता है।

(१८) वेद सर्वतन्त्र-सार्वभौमिक सिद्धान्तों का प्रतिपादक है, यह बात इसी भाष्य के वेदार्थ से मिलेगी।

(१९) दयानन्द भाष्य में नैरुक्तशैली के आधार पर अनेक शब्दों के निर्वचन मिलते हैं, जिन के निर्वचन निरुक्त और ब्राह्मणादि ग्रन्थों में भी उपलब्ध नहीं होते, जो सप्रमाण हैं।

(२०) सब से बड़ी और अन्तिम विशेषता दयानन्द भाष्य की यह है कि उस में नैरुक्तशैली के अनुसार संस्कृत पदार्थ मन्त्रगत पदों के क्रम से रखा गया है। और उस में यत्र तत्र मन्त्रों के तीनों प्रकार के अर्थों को लक्ष्य में रख कर निर्वचन तथा अर्थ दर्शाया गया है, जो अन्वय में नहीं हो सकता था। अन्वय को संस्कृतपदार्थ का एक अंश समझना चाहिये, और इस संस्कृत अन्वय का ही भाषार्थ किया गया है, जो भाषार्थ करने वालों से ठीक २ पूरा हो भी नहीं सका। इस भाष्य की इस विशेषता को न समझ-कर बहुत से सज्जन घबराने लगते हैं। एक बार इसका प्रकार समझ लेने से कोई कठिनाई नहीं रहती। यह बात बहुत ही आवश्यक है।

जितना भी कोई विद्वान् विद्या के भिन्न २ अङ्गों का ज्ञाता, तथा योगादि दिव्य शक्ति सम्पन्न होगा, उतना ही उसे वेदार्थ का भान अधिक उत्तम रीति से होगा।

यह बात हम अपने शब्दों में न रखकर नैरुक्त आचार्य दुर्ग के शब्दों में रखते हैं। उनका वचन निम्न प्रकार है—

"नह्येतेष्वर्थस्येयत्तावधारणमस्ति। महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च......एवमेते वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति।"

अर्थात् "इन वेद के शब्दों" में इयत्ता (सीमा की समाप्ति) नहीं, क्योंकि ये शब्द महान् अर्थों वाले हैं और इन का परिज्ञान सहज नहीं......इस प्रकार से वैदिक शब्द वक्ता के योग्य-योग्यतर-और योग्यतम होने पर साधारण मध्यम और उत्तम कोटि के अर्थों का प्रतिपादन करते हैं।

हम समझते हैं वेदार्थ विषय का यह सिद्धान्त सर्वोपरि सिद्धान्त है और अत्यन्त उपादेय है।

हमारा कर्त्तव्य

इस विषय में हमारा कहना यह है कि हमारे दर्शाये वेदार्थ प्रक्रिया के मूल भूत सिद्धान्तों पर सब से पहिले और सब से अधिक भारत के समस्त विद्वानों में विचार विनिमय होना चाहिये, जो अत्यन्त ही प्रेम पूर्वक और सम्मान पूर्वक हो, जो सत्य सिद्ध हो उसी को हम मान लें। हम तो कहते हैं यदि उपर्युक्त सिद्धान्त असत्य सिद्ध हों तो हम उन्हें छोड़ देने को तय्यार हैं। मैं चाहता हूँ काशी के विद्वान् जब चाहें इस विषय पर विचार करें, मैं तय्यार हूं। भारत की प्रत्येक यूनिवर्सिटी (विश्वविद्यालय) के संस्कृत विभाग के सभी विद्वान् जब चाहें इस पर विचार करें। अलग २ प्रान्तों में एकत्रित होकर या भारत के सब प्रान्तों से एकत्रित हों, उन में सभी वेद विषय के प्रमुख विद्वानों को बुलाया जावे और कम से कम एक २ वाद पर एक २ सप्ताह नहीं तो पहिले एक २ दिन ही विचार विनिमय हो। जब भारत में ऐसा हो ले, तब विदेशीय विद्वानों को भी अवश्य बुलाया जावे और वेदार्थ के इन मौलिक सिद्धान्तों वा विषयों पर या अन्य पर भी परस्पर शास्त्र चर्चा-विचार विनिमय-ऊहापोह-

किया जावे। यदि प्रेम पूर्वक शास्त्रार्थ (जिसका स्वरूप बहुत विकृत हो चुका है) शुद्ध भावना से किया जावे तो भी ठीक है। इसी प्रकार संस्कृत साहित्य के अन्य विषयों में भी हो सकता है। वह सब प्रकाशित हो, और सबको मिले।

इन उपर्युक्त वादों के पक्ष विपक्ष में लिखे वा भेजे जाने वाले सभी लेखों को हम "वेदवाणी" में प्रकाशित करने को तय्यार हैं। लेख शिष्टतापूर्वक-मौलिक-सप्रमाण और सहेतुक होने चाहियें। मैं चाहता था कि आर्य सार्वदेशिक सभा-परोपकारिणी सभा-प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभायें या कोई भी बड़ी समाजें इस कार्य का उपक्रम करतीं। पर हमें तो अभी जलसों से अवकाश नहीं, हम मेला चाहते हैं। इस ओर तो ध्यान जाता नहीं, पढ़ें लिखें तो ध्यान जावे भी। केवल समारोह करके शान्त वा सन्तुष्ट हो लेते हैं। ऋषि दयानन्द का वेदार्थ तभी भारतीय वा विदेशी विद्वानों में माननीय हो सकता है, जब हमारी बात उन तक पहुंचे। वेदसम्मेलन भी एक प्रदर्शन मात्र बन कर रह गये। इधर कुछ भी ध्यान नहीं। गम्भीर विचार करने को तो कोई स्थान वा अवकाश नहीं।

वेद और वेदार्थ प्रक्रिया के विषय में भारत और संसार जानने के लिये उत्सुक हो रहा है। हमारे ये विचार हज़ारों की संख्या में भारतीय तथा विदेशीय विद्वानों तक जावें, वे हमारे विचारों को पढ़ें, उस पर अपने विचार लिखें कुछ दें कुछ लें, परस्पर विचार विनिमय हो। तब वैदिक सूर्य का संसार में प्रकाश फैल कर अविद्या अन्धकार दूर हो हो सकता है। इसी ध्येय से आज हम यह लेख उपस्थित कर रहे हैं।

पाठकों का और प्रत्येक भारतीय का कर्त्तव्य है कि वह इस विषय में सोचे और इसके लिये यत्नशील हो कि ये विचार भारत और भारतेतर विद्वानों तक कैसे पहुंचें। वेद से ही मानव समाज का कल्याण है॥

चन्द्र

चन्द्र का अर्थ लौकिक भाषा के चन्द्रमा का ही अर्थ भाष्यकार करते हैं जो नहीं लगता। वेद (अथर्व २-२२-१) का पाठ है चन्द्र यत् ते तपस्तेन तं प्रति तप०"। यहां चन्द्र में तप बताया है। तपका अर्थ कुछ भी किया जाय पर तपका अर्थ तप जलाना (तप० दाहे संतापे) भी है। चन्द्र में सब जानते हैं ताप है ही नहीं, उस में अपनी गर्मी वा प्रकाश ही नहीं। अतः चन्द्र का क्या अर्थ है। याज्ञवल्क्य ने "चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि सहीयन्ते" कहा है। इस से तो यह सिद्ध होता है कि चन्द्र अन्य सब ज्योतिओं को बढ़ाता है। अतः वेद की बात को समझने के लिये वेद का ही आश्रय लेना पड़ेगा।

जिस रूढ़ि विचारों से वेद पढ़े वा पढ़ाये जा रहे हैं उन से वह बन्द के बन्द ही पड़े रहेंगे। अतः साहित्यिक संस्कृत को एक ओर रख कर वैज्ञानिक दृष्टि से इन वैज्ञानिक शब्दों की खोज होनी चाहिये, तब ही वेद की वैज्ञानिक विद्या का पता चलेगा। आजकल के विज्ञानकोविदों के सामने बड़ी २ जटिल तथा उलझी हुई समस्यायें पड़ी हैं। उन्हें विश्व (cosmos) के विषय में ज्ञान नहीं, प्रयत्न शील अवश्य हैं और दिन प्रति दिन वह अधिक सूक्ष्म तत्वों तक पहुंचते जा रहे हैं। हमें विश्वास है कि जैसे अध्यात्म क्षेत्र में वेदविद्या तथा आर्य शिक्षा अद्वितीय है और विदेशी विद्वानों ने भी मुक्त कण्ठ से इस बात को स्वीकार किया है, इसी प्रकार यदि भारतीय विज्ञान वेत्ता वेद का यथार्थ अर्थ करने का परिश्रम वा खोज करें

(पृष्ठ २२ से आगे)

तो शीघ्र ही हम वैदिक विज्ञान को आधिदैविक तथा आधिभौतिक क्षेत्रों में सर्वोच्च सिद्ध कर सकते हैं, क्योंकि वेद में मूल सिद्धान्तों की विद्या भरी पड़ी है और वह भ्रमरहित है। ईश्वर ने विश्व की रचना की। इतनी बड़ी कला का निर्माण कर आवश्यक था कि इस कला स्वरूप, तथा इसके व्यवहार की भी हमें वह शिक्षा देता, जैसे किसी कला केन्द्र से जब कोई कला बन कर आती है तो बनाने वाले उस कला के साथ एक पुस्तिका भी देते हैं जो उस कला तथा उसके व्यवहार का ज्ञान देती है। इसी रूप में हम वेद के आधिभौतिक अर्थ मानते हैं और इस इतनी बड़ी कृति को, इस के विराट् रूपको इसके जरा मरणहीन गुण को (देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति) विचार, उसके कर्ता की अनुभूति (reflective cognizance) कर पाते हैं। इस के कर्ता की सृजन, नियंत्रण तथा पोषण शक्ति को अनुभव करते, उस विश्वकर्मा की लीला में अपनी लीला को एक अंग अनुभव कर सच्चिदानन्द, आनन्दकानन को साक्षात् कर विह्वल हो उठते हैं और अंतकाल के आत्मवित् ऋषि दयानन्द के शब्दों में "तेरी इच्छा पूर्ण हो" की आहुति से स्वयं हुत हो जाते हैं। वेद का यही आध्यात्मिकवाद है।

[सुयोग्य विद्वान् लेखक ने एक उत्कृष्ट विचारसरणि उपस्थित की है। हम चाहते हैं। इस विषय में विद्वान् विशेष ऊहापोह करें, 'वेदवाणी' में इन के तथा अन्य ऐसे लेखों का सहर्ष स्वागत किया जायगा। सम्पादक]

दिव्य दीपावली

(ले० श्री आचार्य अभयदेव जी, पाण्डीचरी)

ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं

ऋग्वेद ६—९—५

(एक नित्य ज्योति है जो कि देखने के लिये अन्दर रखी गयी है)

× × ×

दीवाली आयी। प्रतीक्षा करते हुए और उत्सुक बच्चे (दिन में ही तेल बत्ती से तैय्यार किये) अपने अपने दीपक लाकर सांझ होते ही मां से कहने लगे 'मेरा भी दीपक जला दे, मां, मेरा भी दीपक जला दे'। मां अपने जलते दीपक से उनके भी दीपक जलाने लगी। खूब आनन्द से दीपावली मनाई गई।

मेरे हृदय में रहने वाले 'बालक' ने भी प्रति ध्वनि की 'मां, मेरा दीपक भी जला दे'।

× × ×

हम और बड़े हुवे। प्रतिवर्ष ही कार्त्तिक अमावस पर दीपावली आने लगी और खूब मजे से मनाई जाने लगी। इतने में महात्मा गान्धी की वाणी सुनायी दी 'दीवाली की खुशी कैसी ? हम गुलाम क्या दीवाली मनायें ? दीवाली तो तब मनायी जायगी जब भारत स्वाधीन हो जायगा'। मैंने कार्तिक अमावस को दीपक जलाने छोड़ दिये और भारतमाता से प्रतिवर्ष प्रार्थना करने लगा, 'मां, तू मेरा स्वाधीनता का दीपक जला दे'। "ओह, वह सच्ची दीपावली कब आवेगी जब कि हम स्वाधीन हुये तेरे पुत्र सचमुच आनन्द से दीपक जलाकर तेरी पूजा कर सकेंगे"। तब से रूढ़ि की दीवाली फीकी हो गयी, उस दिन दिये जलाना बुरा लगने लगा।

× × +

और वर्ष बीते। अभी तक १९४७ की दीपावली का दिन नहीं आया था। उसके आने से १०, १२ वर्ष पहले ही एकान्त में एक पवित्र वाणी सुनाई दी 'अरे, बाहर के दीपक में क्या रक्खा है, अन्दर का दीपक जला'। "ये बाहर के दीपक तो सिनेमा घरों में रोज-रोज जलते हैं, वहाँ हर रोज ही दीवाली रहती है। बाहर के दिये तो जिस दिन चाहो, चाहे जितने, जला लो"। मैं अन्दर की तरफ मुड़ा, मैंने जगन्माता से प्रार्थना की 'मेरा अन्दर का दिया जला दे, मां मेरा अन्दर का दिया जला दे'। तब से ये बाहर के सब दिये फीके हो गये। स्वाधीन हो जाने पर मनायी जाने वाली दीपावली भी फीकी हो गयी और मैं प्रतीक्षा करने, प्रतिवर्ष प्रतीक्षा करने लगा कि वह सच्ची दीवाली कब आवेगी, जब मेरा अन्तर का दिया जल उठेगा।

और समय बीता। श्री अरविन्द के हृदय को प्यारी लगने वाली वाणी ने मेरा ध्यान खींचा। 'अन्दर के 'टार्च' जैसे प्रकाश भी किस काम के, कभी-कभी चमकने वाली विद्युत् के प्रकाश भी तेरे मार्ग को आलोकित नहीं कर सकेंगे'। वेद में कहे 'ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं" वचन का नया अर्थ समझ में आया। अन्दर स्थिर ज्योति पा लेने की अभीप्सा तीव्र हो उठी। उस ज्योति की जिसके विषय में उपनिषद् के ऋषि ने 'आत्मज्योतिरयं पुरुषः' की व्याख्या में कहा है कि जब सूर्य अस्त हो जाता है, जब चन्द्र की एक भी कला नहीं रहती, जब अग्नि भी नहीं जलती, जब वाणी भी कुछ प्रकाशित नहीं कर सकती, तब भी जो नित्य ध्रुव ज्योति सब कुछ दिखाती है, उस ज्योति को जिसके विषय में सन्तों ने कहा है—

आप ही जोया, आप ही बाती ।
अखण्ड जरे दिन राती ॥

मैंने दिव्या, भगवती से प्रार्थना की 'मां, मेरे अन्दर स्थिर ध्रुव ज्योति जगा दे'। "मेरे हृदय गुहा में वह दीपक जला दे, जो दिन रात अखण्ड जलता है, जो कभी बुझ नहीं सकता"। असल में मेरी दीवाली तो तभी मनाई जा सकेगी। अन्दर से आने वाली अस्थायी ज्योतियां भी फीकी लगने लगीं और मैं इस दिव्य दीवाली की बाट जोहने लगा, जब कि मेरा हृदय एक नित्य, स्थिर ज्योति से आलोकित रहने लगेगा।

और वह क्या ही दिव्य दीवाली होगी जब कि हृदय-हृदय में उस ध्रुव ज्योति का दिव्य दीपक जग उठेगा और ऐसे सैकड़ों हजारों दीपकभूत पुरुष स्त्रियों का समाज मिलकर पूर्ण सामंजस्य के साथ, इस पृथ्वी पर कार्य कर रहा होगा। ओह, वह देवों के भी देखने योग्य दीवाली होगी।

तब ये सब मनायी गयी अनन्त दिवालियां सार्थक हो जायेंगी। ओह, हम न जाने कब से दीपावली मना रहे हैं। लोग कहते हैं, जब से देवी ने नरकासुर का वध किया था तब से दीवाली मनायी जा रही है। कई कहते हैं श्री रामचन्द्र जी के युग से दीवाली चली आ रही है। कम से कम, हम तो कई बार जन्म ले चुके हैं, कई बार बच्चे, जवान और बुड्ढे हो चुके हैं, तब से दीवाली मानायी जाती रही है। वे सबकी सब मनायी गयी दिवालियां उस दिन सार्थक हो जायेंगी—अपने मनाये जाने के उद्देश्य को प्राप्त कर लेंगी। असल में उसी भविष्य में आने वाली दिव्य दीपावली तक पहुँचने के लिये ही जाने अनजाने हम बच्चे मां से, हम भारतवासी उस भारत माता से, हम जगत्पुत्र उस जगज्जननी से, हम दिव्य अमृतपुत्र उस दिव्या भगवती से प्रार्थना करते आ रहे हैं 'मां, मेरा भी दीपक जला दे', अपनी नित्य, ध्रुव, सत्य ज्योति से मेरा भी दीपक जग मगा दे !!!

वेद मंत्रों की महिमा

(ले०—श्रीमती पण्डित ओमूवती जी शास्त्री एम० ए०)

परमात्मा ने सृष्टि में जीव के हितार्थ अनेक अद्भुत दिव्य पदार्थ रचे हैं। उनमें प्रधानता जन्म दायिनी पृथ्वी, तृषातर्पी जल, प्रकाशस्वरूप सूर्य्य, प्राणसंचारी वायु तथा विश्व व्यापी व्योम की है। बेल बूटे वृक्ष वनस्पति, पशु-पक्षी सभी संसार समाज के सभासद् हैं, किन्तु नर-नारायण की सुमहान् कृति है, सर्वोत्तम प्राणी है किसलिये! कि उसको बुद्धिरूपी निधि प्राप्त है, जिसको विकसित कर वह भगवान् की आराधना कर मोक्ष पाकर मानव जन्म को कृत-कृत्य कर सकता है। सुतरां वह इस संसार का मुखिया, अग्रणी, राजा, जो चाहो कहो, माना जाता है। परन्तु वही मनुष्य प्राणी विना ज्ञाननिधि के तृण तुल्य है। ज्ञान बिना उसे अपनी मनुष्यता भी समझ में नहीं आती। उसी बुद्धि के विकास के लिये देवाधिदेव भगवान् ने अपनी अनंत दया से वेदरूपी निधि का मानवमात्र के हितार्थ प्रकाश किया है। यदि उस वेदवाणी को मनुष्य ठुकराये तो:—

"नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति पुरुषापराधः स भवति"।

जिस प्रकार नेत्रविहीन पुरुष खूंटे से ठोकर खाकर खूंटे को ही दोष देता है, उसी प्रकार वेदार्थ सुज्ञान रहित निरुक्तादि विद्या नेत्र विहीन जन उस विद्या की निरंकुशता निकालते हैं। सरल से सरल वेद मंत्रार्थ भी उसके लिये अस्पष्ट ही रहता है। वेद स्वयं उपदेश कर रहे हैं—

ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥'

ऋचाएं परम अविनाशी शब्दमय अक्षर ब्रह्म में रहती हैं, जिनमें देवताओं का अर्थात् शब्दों के अर्थों का निवास है। जो उस अक्षरार्थ के ज्ञान से वंचित है, वह मंत्रों से क्या लाभ उठावेगा किन्तु जो उस ज्ञान को श्रद्धापूर्वक मनन करता है वह उसमें ओत प्रोत हो जाता है। उसके लिये ज्ञाननिधि के कपाट खुल जाते हैं और साक्षात् ब्रह्म के दर्शन भी प्राप्त कर सकता है।

श्रद्धाहीन दासता की शृङ्खला से जर्जरित भारतीयों का साधारण तथा सामान्य जनता का कहना है कि वेद समझ में नहीं आते। और जिन जनों पर पाश्चात्य छाप है वे उनको जंगलियों के गीत बताते हैं। कई जन मन्त्रों का भाषा रूपान्तर करना चाहते हैं। इस प्रकार कुतर्क से सहस्त्रों युक्तियों द्वारा वितण्डावाद करते हैं। यदि श्रद्धान्वित जन नीरव होकर विचार करे तो कठिनाई तुरन्त सुगम हो जाय। ग्रंथि खुल जाती है। मर्म ज्ञात हो जाता है। श्रद्धा में बड़ी शक्ति है।

वेद सार्वभौम ज्ञान है, उसे किसी भी दृष्टिकोण से देखो सब सत्य ही मिलेगा अर्थात जहां २ सत्य होगा वह वेदान्वित ही होगा, वेद में सत्य में कोई खेद नहीं। मंत्रो द्वारा जगदीश्वर ने सार रूप में सब ज्ञान जगत् के हितार्थ रचा है। मनुष्य ही इच्छा और श्रद्धा से उस ज्ञान को उसी रूप में जान सकता है। कोई कठिनाई नहीं प्रतीत होगी। सैकड़ों वर्षों के यवन सहवास से अरबी फ़ारसी पढ़ी, देवनागरी लिपि तक भूल गये, नमस्ते कहना भी कठोराघात हो गया, उसी के कवि, विद्वान् विज्ञ बन गये। और फिर अंग्रेजों की दासता से साहब बने और संस्कृत को मृत भाषा बना डाला। उसे बोलते पढ़ते लज्जा आने लगी, तब उसके अर्थ क्लिष्ट तो लगने ही थे। तथापि यवन तथा पश्चिमीय जन इनको आदर की दृष्टि से देखते रहे, उनको पढ़ने के लिए अनुवाद करने के लिये उत्सुक रहे। हाँ क्यों न, संसार में जो सत्य शिव, और सुन्दर है वह सब चाहे किसी देश किसी काल, किसी भाषा में हो, वेद निहित है, वहीं से बीज रूप में गया है। वेद केवल भारतीयों की सम्पत्ति नहीं, वे तो सार्वभौम हैं, मनुष्य मात्र के हैं, किंतु 'जाके रही भावना जैसी प्रभु मूरत देखी तिन तैसी' बुद्धि

भेद हो जाने से वे छोटे से छोटे सरल से सरल गूढ़ हृदयग्राही मंत्रों के अर्थों को न जानकर उनकी हँसी उड़ाने लगे उनमें कहानियाँ इतिहास। पशुहिंसा अश्लीलता निकालकर अर्थ का अनर्थ कर डाला। भक्ति भाव से समझकर उनके यौगिक अर्थ निरुक्तादि कुंजियों की सहायता से करते, तब न कठिन लगते।

स्वराज्य प्राप्ति से पुनः देववाणी का पुनरुद्धार होने से वेदवाणी के प्रवेश की आशारूपी ज्योति की झलक सी प्रतीत होती है। आदि जननी फिर से साम्राज्ञी पद पर प्रतिष्ठित की जायगी, अहो भाग्य देशके। लौकिक भाषा हो चाहे वैदिक, कठिनता की दुहाई तो अब रहेगी ही नहीं। राज्य द्वारा सम्मानित निधि तो क्लिष्ट भी सरल ही प्रतीत होती है। वैदिक मंत्र स्वयं ही ध्यान से पढ़ने से अपना अर्थ स्फुट कर देते हैं।

मा प्रगाम पथो वयं, मा यज्ञात् इन्द्र सोमिनः। मा अन्तःस्थुर्नो अरातयः।

(इन्द्र) हे परमेश्वर (वयं) हम (पथो मा प्रगाम) सन्मार्ग को छोड़कर मत चलें (सोमिनः) ऐश्वर्ययुक्त होते हुवे (वयं यज्ञात् मा प्रगाम) हम यज्ञ को छोड़कर मत चलें। (अरातयः) विकार, ईर्षा, द्वेष (नः अन्तः मास्थुः) हमारे अन्दर न ठहरें न निवास करें।

यह छोटा सा वैदिक वाङमय मानों मनुष्य जन्म की सुसङ्गत तालिका है। इसको लक्ष्य बनाकर क्षुद्र जन भी जीवन सफल करता है। यहां किसी मत-मतान्तर का लेशमात्र प्रवेश नहीं।

सब ऐश्वर्य्यों के दाता प्रकाशस्वरूप भगवान् के सन्मुख नतमस्तक मानव याचना करते हैं। हे! संसार के कण २ को आलोकित करने वाले प्रभो! हमारे हृदय तम को अपने ज्ञानालोक से आलोकित कर दो, जिससे हम कभी पथ भ्रष्ट न हों, मार्ग न भूलें। अंधेरे में रास्ता न टटोलें। आपकी प्रेमरूपी विद्युत् दीप्ति हमारी बुद्धि को कुपथ पकड़ते ही चमक कर सचेत करदे। जो जन मोह में, अंधेरे में, अविवेक से उद्भ्रान्त पथिक हुवे हैं, वे पश्चात्ताप रूपी दावानल में दग्ध होने वाले अन्तःस्तलों के कष्ट को अनुभव कर सकते हैं। अतएव सबसे महान् और प्रथम मानव याचना देव के प्रति यही है कि वे ऐसा प्रकाश दें कि हम कभी कुपथ-गामी न बनें। हम विवेकभ्रष्ट न हों क्योंकि:—'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः' हमारा ध्येय 'आचारः परमो धर्मः' ही रहे।

'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' यह शतपथ ब्राह्मण की उक्ति है। अब दूसरी याचना हमारी है कि हम यज्ञ से विचलित न हों। तुरन्त मानव समूह कहेगा कि यह तो आर्य समाजी है, यज्ञ २ कहते ही रहते हैं। किन्तु यदि इसके भी पट खोलकर अन्तःस्थल में प्रवेश करो तो कोई भेद भाव दृष्टि गोचर नहीं होगा। यज्ञ शब्द यँज् धातु से बना है (यज् देव पूजा संगति करणदानेषु) जिसका देवपूजा संगतिकरण और दान अर्थ है। (१) दीव्यतीति देवः स्वप्रकाशस्वरूपः परमेश्वरः, सबका इष्ट देव पूजनीय परमेश्वर है, चाहे उसे अल्ला कहो, चाहे God कहो, चाहे नारायण कहो वा महादेव कहो सब एक ही हैं यदि पूजा की भावना सत्य हो दिखावा न हो (२) पुनः (देवाः विद्वांसः) सत्पुरुष, ऋषि महर्षि उनकी पूजा सत्कार अर्थात् उनके उपदिष्ट अच्छे मार्गों का अवलम्बन करना यही वास्तविक पूजा है। (३) संगति करण-वेद का स्वाध्याय भगवान् की प्रार्थना उपासना ही उनकी संगति है। वे तो सदा नस २ में विद्यमान हैं, हम उनको अनुभव कर पावें यही उनका संगतिकरण है। सत्पुरुषों के उपदेश सुनना उनसे शंका समाधान करना उनकी लिखी हुई पुस्तकों का स्वाध्याय करना, यही उनकी संगति है। सत्संगति की महिमा श्रीभर्तृहरि जी ने कितने मनोहर शब्दों में वर्णन की है:—

> "जाड्यं धियो हरति, सिञ्चति वाचि सत्यं,
> मानोन्नतिं, दिशति, पापमपाकरोति।
> चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिम्,
> सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्" ॥

औरभी "काचः काञ्चनसंसर्गात् धत्ते मारकतिं द्युतिम्"
"कीटोऽपि सुमनः सङ्गादारोहति सतां शिरः"
अनेकों उदाहरण हैं।

अब रहा दान यह अन्तिम तो है, पर इतना अधिक विस्तृत है कि समस्त संसार इसके अंतर्गत है

जगत् में प्रतिपल निरंतर आदान प्रदान चल रहा है। भगवान् अपने सहस्रों रूपों से स्थावर और जङ्गम प्राणी जगत् को उसके सुख की, ज्ञानपूर्ति की सामग्री एक रस प्रदान कर रहे हैं। भेद भाव तनिक नहीं। किन्तु लेने वाला भिन्न २ कर्मानुसार स्वबुद्धिरूप ही ग्रहण करता है।

इस दशा का कितना व्यक्त दर्शन इस वेद मंत्र में है।

"अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो,
मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास उपकक्षास, उ त्वे
ह्रदा इव स्नात्वा दद्दश्रे।"

समान आंख कान वाले जनों में मन और बुद्धि की शक्तियां भिन्न २ होती हैं। कोई तो ऐसे होते हैं मानों मुख तक ज्ञान भरा हुवा है, उससे निम्न श्रेणी के हैं जिन के मानो कांख तक (बगल तक) ही ज्ञान है, किन्तु ऐसे भी हैं जो अथाह ज्ञान से ओत प्रोत हैं। एवं मध्यम, अधम और उत्तम भेद से प्रत्येक मनुष्य ज्ञान में विषम होता है।

यह सृष्टि का सबसे उत्कृष्ट ज्ञानवान् प्राणी मनुष्य इसी आदान प्रदान के चक्र में फिरता रहता है, किसी से लेना किसी को देना, यही क्रम है, पशु पक्षी, वनस्पति, लता, अन्न, फल, फूलों द्वारा दान का क्रम जगत् में शान्त नहीं होता। यह जितने ग्रह उपग्रह पृथ्वी से लेकर सूर्य्य पर्य्यन्त सृष्टि में हैं, इनमें परस्पर दान आदान होता ही रहता है। प्रभु की कोई वस्तु कोई कार्य्य अनर्थक नहीं, क्षुद्र अल्पज्ञ जन उसके मर्म को समझ नहीं पाता।

मंत्र के अन्त में एक छोटा सा वाक्य अभी और है। जैसे इंग्लिश का मुहावरा है 'Last but not the least' किसी अन्त में आने वाली विशेष बात के लिये कहा जाता है वही दशा इसकी है, 'मा अन्तःस्थुर्नो अरातयः'। हमारे हृदय में किसी के प्रति अदान भाव शत्रु भाव न रहें। अर्थात् हम सब के मित्र बन जांय, किसी से द्वेष भाव न रक्खें। हमारा ध्येय 'मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्' हो। हम सायं प्रातः भगवान् से मनसापरिक्रमा के छ मन्त्रों द्वारा द्वेष भाव कुचलने की प्रार्थना करते, हैं। 'योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः। उसी भाव की यह सौंदर्य्यमयी मधुर विकसित कलिका है। इस भावना से भूषित जन सदा 'फुल्लो कुसुमित द्रुम दल शोभी' रहता है और भगवद्गीता के वचनों में !—

"रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति" ॥

ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन

वेदवाणी का वेदाङ्क हजारों की संख्या में बांटा जावे

माननीय आर्यनेता के उद्‌गार

"वेदवाणी का वेदांक मिला। उसे देख कर चित्त प्रसन्न हुआ। ऐसा अंक निकालने पर आपको हार्दिक बधाई पेश करता हूं।

आप धन्य हैं, जो आपने अपना सारा—जीवन वेद के स्वाध्याय और प्रचार में लगा दिया है। क्या अच्छा होता यदि आर्यपुरुषों में वेद के प्रति वही श्रद्धा होती जो आप में है।

वेदवाणी सैंकड़ों नहीं, प्रत्युत हजारों की संख्या में छपता, आर्यपुरुष इस अनुपम पत्र की सहायता के लिये हजारों रुपया देते और यह पत्र 'कल्याण' की तरह वैदिक विचारों का प्रसार करता!

वेदांक की प्रतियां भारत के उन विद्वानों को भेजनी चाहियें, जिनका आर्यसमाज से सम्बन्ध नहीं है, और जिनकी विचार धारा आर्यसमाज से भिन्न है।

परमात्मा से इस प्रार्थना के साथ कि वह आपको चिरायु करे, जिस से आप वास्तविक अर्थों में वेद की सेवा करते रहें, इस पत्रको समाप्त करता हूं।"

(कृष्ण—प्रधान आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुंचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा।

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १ तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहिए। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सम्बन्धी धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस ६

संपादक, प्रकाशक व मुद्रक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, आर्य विजय प्रेस, बीजीदृदिया बनारस।

ॐ

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ७] ❀ [अङ्क ३

इस अंक के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

पौष २०११, जनवरी १९५५
दयानन्दाब्द १२९
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५४

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
बनारस नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
" " विदेश में ६)
इस अंक का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास **प्रथम तिथि को** प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका **१० तारीख तक न पहुँचे** तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। **पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा।**

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १ तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख **'सम्पादक वेदवाणी'** के नाम से आने चाहिएं। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। **विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है।** विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सम्बन्धी धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र **'व्यवस्थापक वेदवाणी'** के पते से भेजें।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय **अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें**, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस ६

ओ३म्

वेदवाणी

सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष ७ { काशी, पौष सं० २०११ वि०, जनवरी १९५५ ई० { अङ्क ३

आर्याभिविनयसे

विन्ध्यवासिनीप्रसाद अग्रवाल

प्रेम और समर्पण

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः। तेषां पाहि श्रुधी हवम्॥ ऋक् १।१।३।१॥

हे वायो[1]	हे वायु की तरह सूक्ष्म, बलवान् और गतिशील-
हे दर्शत	हे सौन्दर्य के भण्डार (परमात्मन्)
आयाहि	आइये।
इमे	ये
सोमाः[2]	अमूल्य उत्तमोत्तम पदार्थ
अरंकृताः[3]	प्रचुर मात्रा में उत्पन्न किये हैं
तेषाम् पाहि[4]	उन्हें अपना लो (मैंने तो केवल आपकी इच्छा को अपनी इच्छा बनाकर इन्हें सम्पादन किया है, अतएव इन्हें आपकी वस्तु समझकर आपको समर्पित करता हूँ)
हवम्[5]	(मेरे) आग्रह को
श्रुधी	= श्रुधि–सुनो (और इन्हें स्वीकार करो)

ऋषिव्याख्यान--

हे "वायो" अनन्तबल परेश वायो, "दर्शत आयाहि" दर्शनीय! आप अपनी कृपा से ही हमको प्राप्त हो। "इमे सोमा अरंकृताः" हम लोगों ने अपनी अल्पशक्ति से सोम (सोमवल्यादि) ओषधियों का उत्तम रस सम्पादन[6] किया है और जो कुछ भी हमारे श्रेष्ठ पदार्थ हैं वे आपके लिये ही "अरङ्कृताः" अलंकृत अर्थात् उत्तम रीति से हमने बनाये हैं, वे सब आप को समर्पण किये गये[7] हैं। "तेषाम् पाहि" उनको आप स्वीकार

[शेष पृष्ठ ५ पर]

अतिथि यज्ञ और गोदान

(अथर्ववेद काण्ड ९ सूक्त ६)

(ले०—श्री माननीय स्वामी आत्मानन्दजी महाराज, वैदिक साधनाश्रम, जमनानगर)

अथर्ववेद के नवम काण्ड का छठा सूक्त अतिथि सूक्त है। इस सूक्त में अतिथि सत्कार को यज्ञ का रूप दिया है, और अतिथि के लिए उपहार के रूप में गोदान का विधान किया है। अतिथि को कैसी गौ देनी चाहिये, इसका भी इस सूक्त में विस्तार से वर्णन है। अर्थ का यथावत् ज्ञान न रहने के कारण मध्यकाल में इस सूक्त में गौ का वध कर उसके मांस आदि को अतिथि को समर्पण करने का विधान मान लिया। मन्त्र के अर्थ का विपरीत ज्ञान हो जाने के कारण इतने अनर्थ हुए, जिन्हें इतिहास के पत्रों में पढ़कर रोमाञ्च हो जाता है। इस लेख में हम इस सूक्त के यथार्थ अर्थों का दिग्दर्शन कराकर मध्य काल में फैलाये गये मिथ्या ज्ञान का निराकरण करेंगे। इस सूक्त का पहिला प्रतिपाद्य विषय है—

अतिथि कौन है ?

जिसकी पालन सामर्थ्य सामग्री के समान, ऋचाएँ अनुवचन के समान, साम रोम के समान, यजुः हृदय के समान और विस्तार यज्ञ कर्म के समान है, ऐसे ज्ञान और कर्म के भण्डार ब्रह्म को जो जानता है, अथवा जानने का यत्न कर रहा है वह ही अतिथि कहलाने का अधिकारी है। (मं. १।२)

अतिथि सत्कार यज्ञ है

जो अतिथि-पालक अतिथि की प्रतीक्षा करता है, वह देवयजन का प्रतीक्षक है। उसका अतिथि को अभिवादन, यज्ञदीक्षा, उसका अतिथि के लिये जलदान, यज्ञिय जल का प्रणयन, उसके लिये तृप्तिकारक पदार्थों का उपहार, हितकारक पशुओं का बन्धन, उसके लिये निवासस्थान का निर्माण, यज्ञवेदी का निर्माण, उसके लिये बिछाया गया बिछौना, यज्ञिय कुशासन, उसके लिये ऊँची शय्या की योजना, यज्ञ के फल स्वर्ग आनन्द की प्राप्ति, उसके लिये दर्शनीय तकिये का लगाना, यज्ञ की मर्यादा, तैलादि मर्दन के पदार्थ और चन्दन आदि लेपन पदार्थ, यज्ञ का घृत, परोसकर लाया हुआ भोजन, यज्ञिय अन्न का पुरोडाश, भोजन बनाने वाले का आह्वान, हवि के निर्माता का आह्वान, परोसे गये जौ और चावल, सूक्ष्म विचारों का प्रस्ताव, जौ और चावल कूटने के ऊखल और मूसल, यज्ञिय सोमवल्ली को रगड़ कर रस निकालने के पाषाण, जौ, चावल आदि शुद्ध करने के साधन शूर्प (छाज) आदि और उनके निर्माण की जलपात्र आदि सामग्री, यज्ञ का कृष्णाजिन है। (मन्त्र ३ से १७ तक)

इस प्रकार रूपक की भाषा में यहाँ अतिथि सत्कार को यज्ञ के अनुष्ठान का पूर्ण रूप दिया है।

सूक्त ६ पर्याय २

अतिथि सत्कार से लाभ

अतिथि का पालक अर्थात् सत्कार करने वाला जब अतिथि के कर्तव्य कर्मों को क्रमशः आचरण में देखता है वह अपने लिये ब्रह्मत्व सम्पत्ति का अनुष्ठान कर रहा है।

जब अतिथिपति यह कहता है कि इस विषय को फिर उद्धृत करें तो वह अपने प्राण को ही समुन्नत बना रहा है। (मन्त्र १।२)

अतिथि को उपहार

अतिथिपति जब अतिथि के लिये सात्त्विक अन्नों का उपहार देता है तो मानो यज्ञ के लिये आहवनीय द्रव्य देता है। उन प्राप्त द्रव्यों की आहुति जब अतिथि अपने उदर की अग्नि में डालता है, इस समय इसका हाथ ही स्रुवा, प्राण ही यूप और स्वाहाकार तथा वषट्कार ही हविः प्रक्षेप के प्रतीक शब्द हैं। (मन्त्र ३।४।५)

फल

ये मधुर, प्रिय तथा सत्य बोलने के कारण प्रिय लगने वाले और दुष्कर्मों के लिये धिक्कार देने के कारण अप्रिय लगने वाले ऋत्विक् रूप अतिथि ही आनन्ददायक उत्तम स्थानों में अर्थात् उत्तम योनियों में पहुँचाते हैं। (मन्त्र ६)

अतिथि किसका उपहार ग्रहण करे ?

उपहार विद्या को जानने वाला अतिथि, असन्तुष्ट होकर प्रेमसे न देने वाले का अन्न न खावे, द्वेषी का अन्न न खावे, सन्दिग्ध का और सन्देह करनेवालेका अन्न न खावे। (मं०७)

अलभ्य लाभ

अतिथि जिसका अन्न खा लेते हैं सदुपदेश से उसे पाप की ओर नहीं जाने देते। (मन्त्र ८)

जिसका अन्न नहीं खाते सदुपदेश न मिलने के कारण वह पापों में फँसा रहता है। (मन्त्र ९)

जो अतिथि को उपहार देता रहता है मानो वह सदा ही यज्ञ करता रहता है। (मन्त्र १०)

जो अतिथियों को उपहार देता रहता है मानो उसने प्राजापत्य अर्थात् ब्रह्मार्पण यज्ञ रचाया हुआ है। (मन्त्र ११)

मानो वह प्रजापति (ब्रह्म) के ही कार्यक्रम को चलाता है जो उपहार देता है। (मन्त्र १२)

जैसे कि घर की अग्नि गार्हपत्य और पचन अग्नि दक्षिणाग्नि है इसी प्रकार अतिथि की अग्नि आह्वनीय है, इसलिये इसमें प्रक्षिप्त यज्ञाग्नि में ही प्रक्षिप्त है। (मन्त्र १३)

अतिथि से पहिले न खावे

हमने इस लेख की अवतरणिका के रूप में इस सूक्त के आरम्भिक मन्त्रों का भाव प्रकट किया है। पाठक इन मन्त्रों के भाव को हृदयङ्गम कर यह समझ सकेंगे कि इस सूक्त में अतिथि-सत्कार की क्रियाओं को यज्ञिय क्रियाएँ माना है। अतिथि के लिए जिन पदार्थों के उपहार का जिन मन्त्रों में वर्णन किया गया है वे सब यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले सात्विक द्रव्य हैं। इस सूक्त में उन द्रव्यों को हविष्य द्रव्य कहा है। जिन द्रव्यों का नाम लिया है वे है, जौ और चावल।

इस सूक्त में अतिथि के लिए गोमांस देने का विधान है ऐसा आक्षेप कुछ लोग करते हैं।

परन्तु पाठक यहाँ तक की सूक्त की विचारधारा का अध्ययन कर इस विचार प्रवाह में स्थान स्थान पर सात्त्विकता की तरङ्ग उठती हुई देखेंगे। जौ और चावल से अधिक सात्त्विक भोजन और क्या होगा। इस भोजन का इस सूक्त में स्पष्ट उल्लेख है। भोजन के लिये इन दोनों वस्तुओं का ही विशेष विधान किया गया है। अतिथि सत्कार को यज्ञ और उसमें प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों को हविष्य पदार्थ कहना इस यज्ञ की सात्त्विकता को और चार चाँद लगा देता है।

हिंसा से प्राप्त होने वाले मांस जैसे तमोगुणी पदार्थों का इस प्रकरण से क्या सम्बन्ध ? परन्तु चूँकि आक्षेप किया गया है, अतः आक्षित मन्त्रों को उद्धृत कर उनके भावों का स्पष्टीकरण हम आगे की पंक्तियों में करेंगे।

सूक्त ६ पर्याय ३
अतिथि से पहिले नहीं खाना

इष्टञ्च वा एष पूर्तञ्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति। (मन्त्र १)

वह अभीष्ट और शुभकर्मों का (अश्नाति) नाश करता है जो अतिथि से पहिले खाता है।

पयश्च वा एष रसञ्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति। (मन्त्र २)

वह घर के दूध और रस को (अश्नाति) नष्ट करता है जो अतिथि से पहिले खाता है।

ऊर्जां च वा एष स्फातिञ्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति। (मन्त्र ३)

वह घर के पराक्रम और वृद्धि को नष्ट करता है जो अतिथि से पहिले खाता है।

प्रजाञ्च वा एष पशूंश्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति। (मन्त्र ४)

वह घर की सन्तति और पशुओं को नष्ट करता है जो अतिथि से पहिले खाता है।

कीर्तिञ्च वा एष यशश्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति। (मन्त्र ५)

वह घर की परम्परागत कीर्ति और यश को नष्ट करता है जो अतिथि से पहिले खाता है।

श्रियं च वा एष संविदं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति। (मन्त्र ६)

वह घर की सम्पत्ति और संविज्ञान को नष्ट करता है जो अतिथि से पहिले खाता है।

एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियः तस्मात्पूर्वो नाश्नीयात्। (मन्त्र ७)

वह मन्त्रवित् ही अतिथि है इसलिये इससे पहिले न खावे।

आशितावत्यतिथावश्नीयाद्यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्याविच्छेदाय तद् व्रतम्। (मन्त्र ८)

यज्ञ की अनुकूलता के लिये और यज्ञ के अविच्छेद (सदा चलते रहने) के लिये अतिथि के खाने के बाद खावे। यह व्रत है।

अतिथि को उदक और मधुपर्क आदि देने के बाद गौ दी जाती है, यह प्रथा वेदकाल से ही चली आ रही है, और महाभारत काल तक मिलती है। अथर्ववेद के इस अतिथि सूक्त में इसका विस्तार से उल्लेख है। इस आठवें मन्त्र तक

के मन्त्रों में अतिथि से पहिले कुछ भी न खाने का विधान है और वे खाद्य पदार्थ उदक मधुपर्क आदि हैं। इसके बाद गोदान का प्रसङ्ग चलता है। गोदान से प्रथम गौ के संबंध में अतिथिपति का क्या कर्तव्य है यह विषय आगामी मन्त्रों में चर्चित है। मन्त्र नीचे पढ़िये—

एतद्वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात्। (मन्त्र ९)

यह ही अच्छा लगने वाला है जो कि गौ के अन्दर दूध और मांस है, उसे नष्ट न करे।

"स्वादीयः" शब्द का अर्थ हमने 'अच्छा लगने वाला' किया है। स्वादु लगने वाला नहीं। यह अर्थ हमने इसलिये किया है कि गौ के अन्दर का दूध और मांस अच्छी लगने वाली ही वस्तुएँ हैं, स्वादु लगने वाली नहीं। हमारे इस विचार का पोषक है इस मन्त्र में पढ़ा गया—

अधिगव शब्द

अधिगव शब्द में अव्ययीभाव समास है। इसकी व्युत्पत्ति है, गवि-इति-अधिगवम्। अर्थात् गौ के अन्दर होने वाला। मांस और दूध अच्छे तो लगते हैं परन्तु वे खाए नहीं जाते, इसलिये स्वादु नहीं कहे जा सकते। जिस गौ के शरीर में अधिक मांस हो उसका शरीर कैसा चिकना और सुन्दर प्रतीत होता है। इसी प्रकार जिस गौ का ऊध दूध से भरा हो वह कैसी सुन्दर लगती है।

ऊपर से अतिथि को उपहार देने का प्रसङ्ग चला आ रहा है। यहाँ भी उसी प्रसङ्ग की अनुवृत्ति है। तात्पर्य यह है कि अतिथि को वे पदार्थ नहीं दिये जाते जिनका कुछ भाग पहिले खा लिया हो। अतिथि के भोजन कर लेने पर ही शेष लोग खा सकते हैं।

हमने इस अन्तिम मन्त्र के "नाश्नीयादेव" वाक्य का अर्थ "नहीं ही खावे" न करके 'नष्ट न करे' किया है। इस प्रकरण में अश् धातु के दोनों ही अर्थ हैं खाना और नष्ट करना। ऊपर के मन्त्रों को पढ़ कर पाठक जान सकेंगे कि इन मन्त्रों के पूर्वार्ध में आये अश् धातु का अर्थ नाश करना, और उत्तर भाग में आये उसी अश् धातु का अर्थ खाना है।

यहाँ अतिथि को गौ का उपहार दिया जा रहा है। इसलिये उसे मोटी ताजी अर्थात् मांसल और अधिक दूध वाली गौ ही देनी चाहिये और इसके लिये यह ही अर्थ सङ्गत हो सकता है कि गौ का मांस नष्ट न किया जावे, अर्थात् उसे निर्बल न होने दिया जावे, और उसका दूध भी कम न होने दिया जावे। दूध भी तो उसी गौ के ऊध में अधिक होगा जिसमें पुष्कल मांस होगा अर्थात् जो मोटी ताजी होगी। महाभारत में प्रह्लाद ने अपने पुत्र विरोचन को सुधन्वा अतिथि के लिये जिन गौओं के उपहार में देने का आदेश दिया था, उनके लिये लिखा गया है—

"श्वेता गाः पीवरीकृताः"

सुधन्वा अतिथि के लिये सफेद रङ्ग की और मोटी ताजी गौवें लाओ। सफेद गौ का दूध सत्वगुणी होता है, और हृष्ट-पुष्ट गौ का दूध अधिक होता है। इसी प्रकार इस प्रकरण में भी ऐसी गौवें देने का ही विधान है, जो निर्बल न हों अर्थात् जिनका मांस नष्ट न हो गया हो।

यह गौ वास्तव में उपहार में ही दी जा रही है, इसके लिये इस सूक्त का चौथा पर्याय आगे पढ़िये।

सूक्त ६ पर्याय ४

स य एवं विद्वान् क्षीरमुपसिच्योपहरति ॥ १ ॥

जो उपहार विद्या का जानने वाला दूध बढ़ा उपहार देता है।

यावदग्निष्टोमेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्धे तावदेनेनावरुन्धे ॥ २ ॥

जितना सुसम्पन्न अग्निष्टोम यज्ञ करके फल प्राप्त होता है उतना ही इससे प्राप्त होता है।

स य एवं विद्वान् सर्पिरुपसिच्योपहरति ॥ ३ ॥

जो उपहार विद्या का जानने वाला घी बढ़ाकर उपहार देता है।

यावदतिरात्रेण सुसमृद्धेनेष्ट्वावरुन्धे तावदेनेनावरुन्धे ॥ ४ ॥

जितना सुसम्पन्न अतिरात्र से यज्ञ करके फल प्राप्त होता है उतना ही इससे प्राप्त होता है।

स य एवं विद्वान् मधूपसिच्योपहरति ॥ ५ ॥

जो उपहार विद्या का जानने वाला दूध में माधुर्य बढ़ाकर भेंट करता है।

स य एवं विद्वान् मांसमुपसिच्योपहरति ॥ ७ ॥

जो उपहार विद्या का जानने वाला मांस बढ़ाकर उपहार देता है।

यावद् द्वादशाहेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्धे तावदेनेनावरुन्धे ॥ ८ ॥

जितना सुसम्पन्न द्वादशाहसे यज्ञ करके फल प्राप्त होता है उतना ही इससे प्राप्त होता है।

स य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥ ९ ॥

जो उपहार विद्या का जानने वाला (उदक) रज, अथवा प्रजन शक्ति बढ़ाकर उपहार देता है।

प्रजानां प्रजननाय, गच्छति प्रतिष्ठां, प्रियः प्रजानां भवति, य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥ १० ॥

सन्तान की उत्पत्ति के लिये, वह सन्तान का प्यारा होता है जो ऐसा जानता हुआ प्रजनन शक्ति को बढ़ाकर उपहार देता है।

सूक्त के इन दस मन्त्रों से स्पष्ट सिद्ध है कि अतिथिपति इस प्रसङ्ग में, गौ के दूध को, उसके घी को, उसके दूध के मिठास को, उसके मांस को, और उसकी प्रजनन शक्ति को बढ़ाकर उस गौ को अतिथि को उपहार में दे रहा है।

इन मन्त्रों में सिच् धातु का प्रयोग है। इस धातु का अर्थ है क्षरण, अर्थात् सिञ्चन करना। परन्तु सिच् धातु के साथ उप-उपसर्ग भी जोड़ा हुआ है। उपसर्ग के बल से धातु का अर्थ अन्य हो जाया करता है।

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनम्, मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः।

जिसके ब्रह्म और क्षत्र दोनों ओदन बन जाते हैं और मृत्यु जिसका भोजन सहकारी हो जाता है, इस प्रकार उसके निवास-स्थान को कौन जान सकता है?

मृत्यु यहाँ सहकारी है, और सहकारी का काम है सहायता देकर बढ़ाना। इसलिये यहाँ उप-उपसर्ग के सम्बन्ध से सिच् धातु का अर्थ बढ़ाना हो जाता है।

इस प्रकरण में बढ़ना अर्थ ही सङ्गत भी होता है। क्योंकि नवम मन्त्र में उदक के सिञ्चन का प्रयोग है। उदक नाम है गौ की प्रजनन शक्ति का, क्योंकि वेद ने ही दशम मन्त्र में इसके सिञ्चन में निमित्त बतलाया है "प्रजानां प्रजननाय" (सन्तान के उत्पादन के लिये) और सन्तान की उत्पादन शक्ति है 'उदक' अर्थात् रज। गौ की इस शक्ति को विशेष खाद्य एवं पेय द्रव्यों से बढ़ाया तो जा सकता है, सींचा नहीं जा सकता। अतः यहाँ उपसिच्य का अर्थ बढ़ाना ही करना पड़ेगा।

अथर्ववेद में अन्यत्र भी उपसर्ग पूर्वक सिच् धातु का बढ़ाना अर्थ माना गया है। उस प्रसङ्ग का एक मन्त्र हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

संसिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम्।
संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ।

(अथर्व कां०२ सूक्त २६ मन्त्र ४)

मैं गौ के दूध को बढ़ाता हूँ। गौ के घी से बल और रस को बढ़ाता हूँ। हमारे वीर बढ़े हैं। मुझ गोपति के पास गौवें सदा रहें।

इन प्रसङ्गों से सिच् धातु का उपसर्ग के सम्बन्ध से बढ़ाना अर्थ सिद्ध है। इसलिये यहाँ गौ के दूध, घी, दूध के माधुर्य, गौ के मांस और उसकी प्रजनन शक्ति को बढ़ाकर अतिथिपति उसे अतिथि को उपहार में दे रहा है।

पाठक समझ गये होंगे कि अतिथि-सत्कार के कैसे सुन्दर प्रकरण से अर्थ न जानने से मध्यकाल में कितने अनर्थ की सृष्टि की गई है। अतिथि सत्कार एक सात्त्विक यज्ञ है। उसमें हिंसा और उससे प्राप्त होने वाले मांस जैसे तमोगुणी पदार्थ के अतिथि को देने का क्या सम्बन्ध? फलतः इस सूक्त में मांसाहार की चर्चा नहीं, गोदान की विधि का व्याख्यान है।

[शेष पृष्ठ १ का शेषांश]

करो (सर्वात्मा से[८] पान करो[९])। "श्रुधि हवम्" हम दीनों की पुकार सुनकर जैसे पिता को पुत्र छोटी चीज समर्पण करता है, उस पर पिता अत्यन्त प्रसन्न होता है, वैसे आप हम पर प्रसन्न होओ॥

अर्थबोधक-टिप्पणी—

१. वाति गच्छति जानाति वेति वायुः पवनः परमेश्वरो वा उ० ११११
२. सोमेन शिल्पविद्यालम्पादितरसेनानन्देन वा (दया० यजु० ११४)
3. Swefly–readily–excessively (ap)
४. पा = पाने (भ्वा०) पा रक्षणे(अदा०) to nourish–to govern (ap)
5. Invocation (ap)
६. सम्पादन = तैयार
७. समर्पण किये गये हैं = सामने रख दिये गये हैं।
८. सर्वात्मा से = thoroughbly.
९. पान करो = अपनाओ।

सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि वेदों के अध्ययन को सार्वभौम महत्त्व प्राप्त हो गया। पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक साहित्य के विषय में जो कार्य किया है वह कितना उपयोगी और महान् है, यह वैदिक विद्वानों से छिपा नहीं है। उसके लिए वे हमारे भूरि-भूरि प्रशंसा के पात्र हैं। परन्तु ऐसा होने पर भी वेदों के विषय में हमारी और पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टियों और उद्देश्यों में इतना मौलिक अन्तर है कि दोनों को तुलना के लिए आवश्यक एक समान धरातल पर ही नहीं रखा जा सकता।

पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि और उद्देश्य उस वैज्ञानिक के समान हैं जो रसायन-शाला में दुग्ध जैसे उपयोगी पदार्थ का केवल परीक्षाणार्थ विश्लेषण कर डालता है, या एक मृत शरीर की चीर-फाड़ करता है, या खुदाई से प्राप्त पुरातत्त्व-संबंधी एक शिलालेख को पढ़ने की चेष्टा करता है। वैज्ञानिक के लिए उन पदार्थों का अपने-अपने रूप में कोई मूल्य नहीं होता।

भारतीय दृष्टि और उद्देश्य ठीक इसके विपरीत हैं। हम वेदों को कोरी उत्सुकता का विषय न समझ कर, ताजे दूध, जीवित मनुष्य या एक मान्य पुस्तक की भाँति, उनको, न केवल भारतीय समाज, अपितु मानव-समाज के लिए एक पथ-प्रदर्शक अजर-अमर साहित्य समझते हैं। इसीलिए जहाँ पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों को भारतीय संस्कृति की जीवित परम्परा से पृथक् करके प्रायेण तुलनात्मक भाषा-शास्त्र, पुराण-विज्ञान (mythology), मत-विज्ञान आदि की दृष्टि से ही उनका अध्ययन किया है, वहाँ हम जीवन के लिए प्रेरणाओं और आदर्शों की दृष्टि से ही वेदों का अध्ययन करना चाहते है।

हमारी दृष्टि—यह स्पष्ट है कि वेदों के विषय में उपर्युक्त दोनों, उत्तर-कालीन भारतीय तथा पाश्चात्य, दृष्टियों से हमें इस लेखमाला के प्रतिपादन में कोई विशेष सहायता नहीं मिल सकती। हमारा लक्ष्य तो यही है कि हम भारतीय संस्कृति की प्रगति की दृष्टि से वैदिक धारा के प्रारम्भिक युग में उसके स्वरूप को, उसके परिस्पन्दन को, तथा जातीय जीवन के लिए उसकी प्रेरणाओं और आदर्शों को समझ सकें।

इस लेखमाला में हमें न तो धर्मशास्त्र आदि में वर्णित वेदों की प्ररोचना-परक महिमा से मतलब है, न याज्ञिकों के शुष्क-कर्मकाण्ड-परक वेद-विषयक गुण-गान से, और न तुलनात्मक विज्ञानों की दृष्टि से वैदिक विवेचन या विश्लेषण से। हम तो यहाँ वेदमन्त्रों के ही शब्दों में उन उदात्त भावनाओं और महान् आदर्शों का दिग्दर्शन कराना चाहते हैं, जिनसे वेदों के मन्त्र ओत-प्रोत हैं। हमारे मत में इसी रूप में वेद भारतीय संस्कृति की शाश्वत निधि हैं और मानवजाति के लिए सार्वभौम तथा सार्वकालिक संदेश के वाहक हैं।

नीचे हम क्रमशः इन्हीं उदात्त भावनाओं और महान् आदर्शों को वेद-मन्त्रों के आधार पर संक्षेप में दिखाते हैं—

ऋत और सत्य की भावना—वैदिक उदात्त भावनाओं का मौलिक आधार ऋत और सत्य के व्यापक सिद्धान्त हैं। जिस प्रकार वैदिक देवता-वाद का लक्ष्य एक-सूत्रीय परमात्म- (या अध्यात्म-) तत्त्व की अनुभूति है, इसी प्रकार ऋत और सत्य के सिद्धान्त का अभिप्राय सारे विश्व-प्रपञ्च में व्याप्त उसके नैतिक आधार से है। इस आधार के दो सिरे या रूप है। बाह्य जगत् की सारी प्रक्रिया विभिन्न प्राकृतिक नियमों के अधीन चल रही है। परन्तु उन सारे नियमों में परस्पर-विरोध न हो कर एक-रूपता या ऐक्य विद्यमान है। इसी को ऋत कहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन के प्रेरक जो भी नैतिक आदर्श हैं, उन सब का आधार सत्य है। अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति सच्चा रहना, यही वास्तविक धर्म है[1]। परन्तु वैदिक आदर्श, इससे भी आगे बढ़ कर, ऋत और सत्य को एक ही मौलिक तथ्य के दो रूप मानता है, इसके अनुसार मनुष्य का कल्याण प्राकृतिक नियमों और आत्मिक नियमों में परस्पर अभिन्नता को समझते हुए उसके साथ अपनी एकरूपता के अनुभव में ही है।

---

१. देखिए—"वस्तुतोऽवस्तुतश्चापि स्वरूपं दृश्यते द्विधा। पदार्थानां, तयोर्मध्ये प्रायेण महदन्तरम्॥ आपाततस्तु यद्रूपं पदार्थस्पर्शि नैव तत्। वस्तुतो वर्तमानं तत्पदार्थानां स्वभावजम्॥ (लेखक की नवीन पुस्तक 'रश्मिमाला' ५।२४१-२)।

यही ऋत और सत्य की भावना है। पुष्प में सुगन्ध के समान, अथवा दुग्ध में मक्खन के समान, वेद में सर्वत्र यह भावना व्याप्त है[1]। स्पष्ट शब्दों में भी ऋत और सत्य की महिमा का हृदयाकर्षक वर्णन वेदों में अनेक स्थलों पर पाया जाता है। उदाहरणार्थ,

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्
ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द
कर्णा बुधानः शुचमान आयोः॥
ऋतस्य दृळ्हा धरुणानि सन्ति
पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि।
ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष
ऋतेन गाव ऋतमा विवेशुः॥

(ऋग्वेद ४।२३।८९)।

अर्थात्,

ऋत[2] अनेक प्रकार की सुख-शान्ति का स्रोत है,
ऋत की भावना पापों को विनष्ट करती है।
मनुष्य को उद्बोधन और प्रकाश देने वाली
ऋत की कीर्ति बहिरे कानों में भी पहुँच चुकी है।
ऋत की जड़ें सुदृढ़ हैं।
विश्व के नाना रमणीय पदार्थों में ऋत मूर्तिमान हो रहा है।
ऋत के आधार पर ही अन्नादि खाद्य पदार्थों की कामना की जाती है,
ऋत के कारण ही सूर्य-रश्मियाँ जल में प्रविष्ट हो उसको ऊपर ले जाती हैं॥

इसी प्रकार सत्य के विषय में भी गहरी और तीव्र आस्था वैदिक साहित्य में सर्वत्र पायी जाती है। जैसे,

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥

(यजुर्वेद १९।७७)।

अर्थात्, सृष्टिकर्ता परमेश्वर ने सत्य और असत्य के रूपों को देख कर पृथक् पृथक् कर दिया है। उनमें से श्रद्धा की पात्रता सत्य में ही है, और अश्रद्धा की अनृत या असत्य में।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

(यजुर्वेद १९।३०)।

अर्थात्, व्रताचरण से ही मनुष्य को दीक्षा अर्थात् उन्नत जीवन की योग्यता प्राप्त होती है। दीक्षा से दक्षिणा अथवा प्रयत्न की सफलता प्राप्त होती है। दक्षिणा से अपने जीवन के आदर्शों में श्रद्धा, और श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है।

वाचः सत्यमशीय (यजु० ३९।१)।

अर्थात्, मैं अपनी वाणी में सत्य को प्राप्त करूँ।

देवा देवैरवन्तु मा।...सत्येन सत्यम्......

(यजु० २०।११-१२)।

अर्थात्, समस्त दैवी शक्तियाँ मेरी रक्षा करें और मुझे सत्य में तत्पर रहने की शक्ति प्रदान करें।

सत्यं च मे श्रद्धा च मे... यज्ञेन कल्पन्ताम्।

(यजु० १८।५)।

अर्थात्, यज्ञ द्वारा मैं सत्य और श्रद्धा को प्राप्त करूँ।

ऋत और सत्य की उपर्युक्त भावना ही वास्तव में अन्य वैदिक उदात्त भावनाओं की जननी है। इस सारे विश्व प्रपञ्च का संचालन शाश्वत नैतिक आधार पर हो रहा है, ऐसी धारणा मनुष्य में स्वभावतः समुज्ज्वल आशावाद, भद्र-भावना और आत्म-विश्वास को उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकती।

आशावाद की भावना—भारतीय विचार-धारा में चिरकाल से 'संसार असार है', 'जीवन क्षण-भंगुर और मिथ्या है', इस प्रकार निराशावादी भावनाओं का साम्राज्य रहा है। हमारी जाति के जीवन को शक्ति-

१. देखिए—"ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।" (ऋ० १०।१९०।१)। "ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा।" (ऋ० १।२।८)। "ऋतेन ऋतं नियतमीडे" (ऋ० ४।३।९)। "ऋतस्य तन्तुर्विततः" (ऋ० ९।७३।९) "ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति" (ऋ० १०।८५।१)। "सा मा सत्योक्तिः परि पातु विश्वतः" (ऋ० १०।३७।२)। "इदमहमनृतात्। सत्यमुपैमि" (यजुर्वेद १।५)। "सत्यं वदन् सत्यकर्मन्" (ऋ० ९।११३।४)। सत्यमुग्रस्य बृहत्"(ऋ० ९।११३।५)।

२. ऋत अर्थात् प्राकृतिक नियम अथवा उनकी समष्टि।

... उत्साह हीन और ... बनाने में निराशावाद का बहुत बड़ा हाथ रहा है, यह कौन नहीं जानता। मनुष्य के जीवन को सब से अधिक नीचे गिराने वाली भावना निराशावाद की भावना है। निराशावाद से अभिभूत मनुष्य जीवन की किसी समस्या को सुलझाने में असमर्थ होता है। इसीलिए इसका बड़ा भारी महत्त्व है कि वैदिक धर्माचरण का सम्पूर्ण आधार ही आशावाद पर है। इसका अभिप्राय यही है कि मनुष्य को अपने जीवन में पूर्ण आस्था रखते हुए उत्तरोत्तर उन्नति का ही लक्ष्य रखना चाहिए और उत्साहपूर्वक समस्त विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए।

वैदिक साहित्य आशावाद की ओजपूर्ण, उत्साहमय तथा उल्लासमय भावना से ओत-प्रोत है। जैसे,

कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे
(ऋ०१।३६।१४)।

अर्थात्, भगवन् ! जीवन-यात्रा में हमें समुन्नत कीजिये।

विश्वदानीं सुमनसः स्याम
पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्।
(ऋ० ६।५२।५)

अर्थात्, हम सदा प्रसन्न-चित्त रहते हुए उदीयमान सूर्य को देखें।

अदीनाः स्याम शरदः शतं
भूयश्च शरदः शतात्।
(यजु० ३६।२४)

अर्थात्, हम सौ वर्ष तक और उससे भी अधिक काल तक दैन्य-भाव से अपने को दूर रखें।

मदेम शतहिमाः सुवीराः। (अथर्व० २०।६३।३)

अर्थात्, हमारी सन्तानें वीर हों और हम अपने पूर्ण जीवन को प्रसन्नतापूर्वक ही व्यतीत करें।

निम्नलिखित मंत्र में एक उत्साहमय ओजपूर्ण जीवन का सुन्दर चित्र दिया गया है—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि,
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि,
बलमसि बलं मयि धेहि,
ओजोऽस्योजो मयि धेहि,
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि,
सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥ (यजु० १९।९)।

अर्थात्,

मेरे आदर्श देव !
आप तेजस्वरूप हैं। मुझ में तेज का धारण कीजिए !
आप वीर्य-रूप हैं, मुझे वीर्यवान् कीजिए !
आप बल-रूप हैं, मुझे बलवान् बनाइए !
आप ओज-स्वरूप हैं, मुझे ओजस्वी बनाइए !
आप मन्यु[1] -रूप हैं, मुझमें मन्यु को धारण कीजिए !
आप सहस्[2] -स्वरूप हैं, मुझे सहस्वान् कीजिए !

जीवन के विषय में जैसी उत्कृष्ट आस्था वेद-मन्त्रों में पायी जाती है, वैसी संसार के किसी भी अन्य साहित्य में नहीं मिलेगी। उदाहरणार्थ नीचे के जीवन-सङ्गीतक को ही देखिए—

जीवेम शरदः शतम्।
बुध्येम शरदः शतम्।
रोहेम शरदः शतम्।
पूषेम शरदः शतम्।
भवेम शरदः शतम्।
भूयेम शरदः शतम्।
भूयसीः शरदः शतात् ॥ (अथर्व १९।६७।२-८)

अर्थात्, हम सौ और सौ से भी अधिक वर्षों तक जीवन-यात्रा करें, अपने ज्ञान को बराबर बढ़ाते रहें, उत्तरोत्तर उत्कृष्ट उन्नति को प्राप्त करते रहें, पुष्टि और दृढ़ता को प्राप्त करते रहें, आनन्दमय जीवन व्यतीत करते रहें, और समृद्धि, ऐश्वर्य तथा गुणों से अपने को भूषित करते रहें।

मनुष्य-जीवन में एक नवीन स्फूर्ति, नवीन विद्युत् का संचार करने वाले ऐसे ही अमृतमय प्राण-संजीवन वचनों से वैदिक साहित्य भरा पड़ा है।

वैदिक साहित्य की उपर्युक्त आशावाद की भावना का वर्णन हम अपने शब्दों में इस प्रकार कर सकते हैं—

१. मन्यु = अनौचित्य को देख कर होने वाला क्रोध।
२. सहस् = विरोधी पर विजय पाने में समर्थ शक्ति और बल।

आशा सर्वोत्तमं ज्योतिः ।
निराशायाः समं पापं मानवस्य न विद्यते ।
तां समूलं समुत्सार्य ह्याशावादपरो भव ॥१॥
मानवस्योन्नतिः सर्वा साफल्यं जीवनस्य च ।
चारितार्थ्यं तथा सृष्टेराशावादे प्रतिष्ठितम् ॥ २ ॥
आशा सर्वोत्तमं ज्योतिर्निराशा परमं तमः ।
तस्माद् गमय तज्ज्योतिस्तमसो मामिति श्रुतिः ॥ ३ ॥
आस्तिक्यमात्मविश्वासः कारुण्यं सत्यनिष्ठता ।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षो नूनमाशावतामिह ॥ ४ ॥
निराशावादिनो मन्दा निष्ठुराः संशयालवः ।
अन्धे तमसि मग्नास्ते श्रुतावात्महनो मताः ॥ ५ ॥
(रश्मिमाला १।६)

अर्थात्, मनुष्य के लिए निराशा के समान दूसरा पाप नहीं है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह पाप-रूपिणी निराशा को समूल हटा कर आशावादी बने ॥ १ ॥ मनुष्य की सारी उन्नति, जीवन की सफलता और सृष्टि की चरितार्थता आशावाद में ही प्रतिष्ठित हैं ॥ २ ॥ आशा सबसे उत्कृष्ट प्रकाश है। निराशा घोर अन्धकार है। इसीलिए श्रुति में कहा गया है—"तमसो मा ज्योतिर्गमय" (बृहदारण्यकोपनिषद् १।३।२८)। अर्थात्, भगवन्! मुझे अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलिए ॥ ३ ॥

जीवन में आदर्श भावना, आत्म-विश्वास, कारुण्य, सत्य-परायणता और उत्तरोत्तर समुन्नति, ये बातें आशावादियों में ही पायी जाती हैं ॥ ४ ॥

परन्तु निराशावादी लोग स्वभाव से ही उदात्त भावनाओं से विहीन, निष्ठुर (=असंवेदन-शील) और संशयालु होते हैं। वेद में ऐसे ही लोगों को प्रेरणा-विहीन अज्ञानान्धकार में निमग्न, तथा आत्म-विस्मृति-रूप आत्म-हत्या करने वाला कहा गया है[1] ॥५॥

पवित्रता की भावना—सामान्य रूप से मनुष्यों की प्रवृत्ति बहिर्मुख हुआ करती है। सामान्य मनुष्य बाह्य लौकिक पदार्थों की प्राप्ति में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेता है। व्यावहारिक जीवन को छोड़कर, यज्ञ, दान, जप आदि के धर्माचरण में भी उसका लक्ष्य प्रायः लोक या परलोक में सुख के उपभोग की सामग्री की प्राप्ति ही हुआ करता है।

ऐसा होने पर भी, मानव के विकास में एक स्थिति ऐसी आती है जब कि वह अपने जीवन की सफलता का मूल्यांकन लौकिक पदार्थों या ऐश्वर्य की प्राप्ति में उतना नहीं करता, जितना कि अपने भावों की पवित्रता और चरित्र की दृढ़ता में करता है। इसके लिए अन्तःसमीक्षण या आत्म-परीक्षण की आवश्यकता होती है। इसकी योग्यता विरले लोगों में ही होती है[2]। पर यह मानी हुई बात है कि **'आत्म-परीक्षणं हि नाम मनुष्यस्य प्रथमं समुन्नतेर्मूलम्'** (प्रबन्ध-प्रकाश, भाग२, पृ० ६९), अर्थात्, आत्म-परीक्षण ही मनुष्य की वास्तविक उन्नति का मूल है।

भगवद्गीता का बड़ा भारी महत्त्व इसी बात में है कि वह मनुष्य के प्रत्येक कर्तव्य-कर्म का परीक्षण भावात्मिक भित्ति के आधार पर ही करती है। उसके अनुसार हमारे प्रत्येक धार्मिक या नैतिक कर्म का महत्त्व हमारे भावों की पवित्रता पर ही निर्भर है। गीता के अनुसार मनुष्य के लिये भाव-संशुद्धि का अद्वितीय मौलिक महत्त्व है[3]।

उपर्युक्त दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्व की बात है कि **वैदिक मंत्रों की एक प्रधान विशेषता पवित्रता की तीव्र भावना है।** पाप (या पाप्मन्) का नाशन, दुरित का क्षय, सच्चरित्रता की प्राप्ति, अथवा पवित्र संकल्पों आदि की प्रार्थना के रूप में पवित्रता की तीव्र भावना शतशः वैदिक मंत्रों में पायी जाती है। उदाहरणार्थ,

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥
(यजु० १९।३९)

अर्थात्, हे सर्वव्यापक देव, आप मुझको पवित्र कीजिये, और ऐसा अनुग्रह कीजिये जिससे समस्त देव-जन, मेरे विचार और कर्म तथा सब अन्य पदार्थ भी मेरी पवित्रता की भावना में मेरे सहायक हो सकें।

...देव सवितः...मां पुनीहि विश्वतः ।
(यजु० १९।४३)

---

१. देखिए—"असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः । तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥" (यजु० ४०।३)। अर्थात्, आत्मतत्त्व या आत्मचेतना की विस्मृति-रूप आत्महत्या (=जीवन में आदर्श-भावना का अभाव) किसी भी प्रकार की प्रेरणा से विहीन अज्ञानान्धकार में गिराकर सर्वनाश का हेतु होती है।

२. देखिए—"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥" (कठ उपनिषद् २।१।१)।

३. देखिए—"भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते" (गीता १७।१६)।

अर्थात्, हे सवितृ-देव! मुझे सब प्रकार से पवित्र कीजिये।

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
अथो अरिष्टतातये ॥ (अथर्व० ६।१९।२)

अर्थात्, हे पवित्रता-संपादक देव! मुझे बुद्धि, शक्ति, जीवन और निरापद् आत्म-रक्षा के लिए पवित्र कीजिये।

इसी प्रकार चरित्र की शुद्धता की भावना अनेकत्र वेद-मन्त्रों में पायी जाती है। उदाहरणार्थ,

परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज। (यजु० ४।२८)

अर्थात्, हे प्रकाश-स्वरूप देव! मुझे दुश्चरित से बचाकर सुचरित में स्थापित कीजिये।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद्भद्रं तन्न आ सुव ॥ (यजु० ३०।३)

अर्थात्, हे देव सवितः! आप हमारे पापाचरण को हम से दूर कीजिये और जो कल्याण हो उसे हमें प्राप्त कराइये।

इसी प्रकार भाव-संशुद्धि या संकल्पों की पवित्रता की प्रार्थना भी अनेकानेक मन्त्रों में पायी जाती है। उदाहरणार्थ,

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्
नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ (यजु० ३४।६)

अर्थात्, निपुण सारथि जैसे रास द्वारा घोड़ों को चलने के लिए बराबर प्रेरित करता और नियन्त्रित भी करता है, वैसे ही मनुष्यों को कार्यों में प्रवृत्त करने वाला और नियन्त्रण में रखने वाला, हृदय में विशेष रूप से प्रतिष्ठित, जरा से रहित और अत्यन्त गति-शील जो मेरा मन है, वह शुभ और शान्त संकल्प वाला हो!

इसी प्रकार, पाप-मोचन, पाप-नाशन, अथवा निष्पाप-भावना की गम्भीर ध्वनि शतशः वैदिक मन्त्रों में प्रतिध्वनित हो रही है। भिन्न-भिन्न देवता या देवताओं को संबोधित करके "स नो मुञ्चत्वंहसः", "तौ नो मुञ्चतमंहसः" "ते नो मुञ्चन्त्वंहसः",

(अर्थात्, वह, वे दोनों, अथवा वे सब हमको पाप से मुक्त करें) इस प्रकार की विनम्र प्रार्थना अथर्ववेद के (४।२३-२९) सूक्तों में तथा अन्य वैदिक मन्त्रों में बराबर पायी जाती है। नीचे हम इसी विषय की एक सुन्दर वैदिक गीतिका को देकर इस विषय को समाप्त करते हैं।

अप नः शोशुचदघम्।

अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिम्।
अप नः शोशुचदघम् ॥ १ ॥
सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे।
अप नः शोशुचदघम् ॥ २ ॥
प्र यद्भन्दिष्ठ एषां प्रास्माकासश्च सूरयः।
अप नः शोशुचदघम् ॥३॥
प्र यत्ते अग्ने! सूरयो जायेमहि प्र ते वयम्।
अप नः शोशुचदघम् ॥ ४ ॥
प्र यदग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति भानवः।
अप नः शोशुचदघम् ॥ ५ ॥
त्वं हि विश्वतोमुख! विश्वतः परिभूरसि।
अप नः शोशुचदघम् ॥ ६ ॥
द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय।
अप नः शोशुचदघम् ॥ ७ ॥
स नः सिन्धुमिव नावयाति पर्षा स्वस्तये।
अप नः शोशुचदघम् ॥ (ऋ० १।९७)।

अर्थात्, भगवन्! हमारे पाप को भस्म कर दीजिए!

१. प्रकाशस्वरूप देव! हमारे पाप को भस्म कर हमारी सद्गुण-संपत्ति को प्रकाशित कीजिए। हम बार-बार प्रार्थना करते हैं कि हमारे पाप को भस्म कर दीजिए।

२. उन्नति के लिए समुचित क्षेत्र, जीवन-यात्रा के लिए सन्मार्ग और विविध ऐश्वर्यों की प्राप्ति की कामना से हम आपकी उपासना करते हैं। आप हमारे पाप को भस्म कर दीजिए।

३. भगवन्! आप हमारे पाप को भस्म कर दीजिए, जिससे कि मैं और साथ ही हमारे तत्त्वदर्शी विद्वान् भी विशेषतः सुख और कल्याण के भाजन बन सकें।

४. प्रकाश-स्वरूप देव ! आप हमारे पाप को भस्म कर दीजिए, जिससे कि हम आपके गुणों का गान करते हुए जीवन में उत्तरोत्तर समुन्नति को प्राप्त कर सकें।

५. भगवन् ! आप विघ्न-बाधाओं को दूर करने वाले हैं। आपके प्रकाश की किरणें सर्वत्र फैल रही हैं। आप हमारे पाप को भस्म कर दीजिए।

६. हे समस्त विश्व के द्रष्टः ! आप ही सब ओर से हमारे रक्षक हैं। हमारे पाप को भस्म कर दीजिए।

७. हे विश्वसाक्षिन् ! जैसे नाव से नदी को पार करते हैं, इसी प्रकार आप हमें विघ्न-बाधाओं और विरोधियों से पार कर विजय प्रदान कीजिए। आप हमारे पाप को भस्म कर दीजिए।

८. उपर्युक्त महिमाशाली भगवन् ! नाव से जैसे नदी को पार किया जाता है इसी प्रकार आप हमें कल्याण-प्राप्ति के लिए वर्तमान परिस्थिति से ऊपर उठने की क्षमता प्रदान कीजिए। हमारे पाप को भस्म कर दीजिए।

पवित्रता या पाप-विनाश की भावना का यह प्रवाह वास्तवमें वैदिक धारा की एक अद्वितीय विशेषता है।

पवित्रता की भावना तथा अपने को निष्पाप करने की उत्कट कामना से परिप्लुत ऐसे ही सैकड़ों वेद-मन्त्र वास्तव में वैदिक धारा की शाश्वत निधि हैं। नैतिक दुर्बलताओं से अभिभूत, मोह-ग्रस्त मनुष्य के लिए वे मार्ग-प्रदर्शक तथा प्राणप्रद सूर्य-प्रकाश के समान हैं।

भद्र-भावना—वैदिक मन्त्रों की एक दूसरी अनोखी विशेषता उनकी भद्र-भावना है।

मनुष्य स्वभाव से सुख के लोभ और दुःख के भय से किसी काम में प्रवृत्त या उससे निवृत्त होता है। परन्तु वास्तविक कर्तव्य या धर्म की भावना में सुख-दुःख की भावना का कोई स्थान नहीं होता। उसमें तो सुख और दुःख के ध्यान को बिलकुल छोड़ कर (सुख-दुःखे समे कृत्वा) विशुद्ध कर्तव्य-बुद्धि से ही काम करना होता है। वास्तविक भद्र भावना या कल्याण-भावना यही है।

यह कल्याण-भावना भोगैश्वर्य-प्रसक्त, इन्द्रिय-लोलुप, या समयानुकूल अपना काम निकालने वाले आदर्शहीन व्यक्तियों की वस्तु नहीं है। इसके स्वरूप को तो वही समझ सकता है, जिसका यह विश्वास है कि उसका सत्य बोलना, संयत जीवन, आपत्तियों के आने पर भी अपने कर्तव्य से मुँह न मोड़ना, उसके स्वभाव, उसके व्यक्तित्व के अन्तस्तम स्वरूप की आवश्यकता है। जैसे एक पुष्प का सौन्दर्य और सुगन्ध, किसी बहिरंग कारण से न हो कर, उसके स्वरूप का अंग है; ऐसे ही एक कल्याण-मार्ग के पथिक का निर-पेक्ष या अनासक्त हो कर कर्तव्य-पालन करना उसके स्वरूप का अंग है; उसके जीवन का सार्थक्य, जीवन की पूर्णाङ्गता ही इसमें है। गीता की सात्त्विक भक्ति और निष्काम कर्म के मूल में यही आशामय, श्रद्धामय, कल्याण-भावना निहित है।

आशावाद-मूलक गीता की कल्याण-भावना और वैदिक भद्र-भावना हमारे मत में, दोनों एक ही पदार्थ हैं। दोनों के मूल में आशावाद है, और दोनों का लक्ष्य मनुष्य को सतत कर्तव्यशील बनाना है।

मानव को परमोच्च देव-पद पर बिठाने वाली यह भद्रभावना वैदिक प्रार्थनाओं में प्रायः देखने में आती है। जैसे—

यद् भद्रं तन्न आ सुव (यजु० ३०।३)

अर्थात्, भगवन् ! जो भद्र या कल्याण है, उसे हमें प्राप्त कराइए।

भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि (ऋ० १०।३७।६)

अर्थात्, भद्र-या कल्याण-मार्ग पर चलते हुए हम पूर्ण जीवन को प्राप्त करें।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः (यजु० २५।२१)

अर्थात्, हे यजनीय देवगण, हम कानों से भद्र को ही सुनें और आँखों से भद्र को देखें।

भद्रं नो अपि वातय मनः (ऋ० १०।२०।१)

अर्थात्, भगवन् ! प्रेरणा कीजिए कि हमारा मन भद्र-मार्ग का ही अनुसरण करे।

भद्रं-भद्रं न आ भर (ऋ० ८।९३।२८)

अर्थात्, भगवन् ! हमें बराबर भद्र की प्राप्ति कराइये।

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः। (यजु० २५।१४)

अर्थात्, हमको ऐसे भद्र अथवा कल्याणकारी संकल्प सब प्रकार से प्राप्त हों जो अविचल हों, जिनको साधारण

मनुष्य नहीं समझते और जो हमें उत्तरोत्तर उन्नति की ओर ले जाने वाले हों।

इत्यादि वैदिक प्रार्थनाएँ भद्र-भावना की ही उदाहरण हैं।

आत्म-विश्वास की भावना—वैदिक स्तोता के स्वरूप को दिखाते हुए हमने पहले ('कल्पना', जनवरी १९५४, पृ० ८) कहा है, "वह जीवन की वास्तविक परिस्थिति को खूब समझता है, पर उससे घबड़ाता नहीं है। उसकी हार्दिक इच्छा यही रहती है कि वह उसका वीरता-पूर्वक सामना करे। वह संसार में परिस्थितियों का स्वामी, न कि दास, होकर जीवन व्यतीत करना चाहता है।"

ऋत और सत्य की भावना और आशावाद की भावना का स्वाभाविक परिणाम आत्म-सम्मान या आत्म-विश्वास की भावना के रूप में होता है। इस सारे विश्व प्रपञ्च का संचालन शाश्वत नैतिक आधार पर हो रहा है, और साथ ही मनुष्य के सामने उसकी अनन्त उन्नति का मार्ग निर्बाध खुला हुआ है, ऐसी धारणा मनुष्य में स्वभावतः आत्म-विश्वास की भावना को उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकती।

यह आत्म-विश्वास की भावना स्पष्टतः अनेकानेक वैदिक मंत्रों में ही नहीं, सूक्तों में भी पायी जाती है। जैसे—

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः॥
(अथर्व० १२।१।५४)

अर्थात्, मैं[1] स्वभावतः विजय-शील हूँ। पृथ्वी पर मेरा उत्कृष्ट पद है। मैं विरोधी शक्तियों को परास्त कर, समस्त विघ्न-बाधाओं को दबाकर प्रत्येक दिशा में सफलता को पाने वाला हूँ।

अहमस्मि सपत्नहा इन्द्र इवारिष्टो अक्षतः।
अधः सपत्ना मे पदोरिमे सर्वे अभिष्ठिताः॥

अर्थात्, मैं[1] शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाला हूँ। इन्द्र के समान मुझे कोई न तो मार सकता है, न पीड़ित कर सकता है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो मेरे समस्त शत्रु यहाँ मेरे पैरों-तले पड़े हुए हैं[2]!

मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः (ऋ० १०।१२८।१)

अर्थात्, मेरे लिए सब दिशाएँ झुक जाएँ। अर्थात्, प्रत्येक दिशा में मुझे सफलता प्राप्त हो।

अहमिन्द्रो न पराजिग्ये (ऋ० १०।४८।५)

अर्थात्, मैं इन्द्र हूँ, मेरा पराजय नहीं हो सकता।

यथा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः
(अथर्व० ६।५८।३)

अर्थात्, जगत् के समस्त पदार्थों में मैं सबसे अधिक यश वाला हूं। अर्थात् मनुष्य का स्थान जगत् के समस्त पदार्थों से ऊँचा है[3]।

अदीनाः स्याम शरदः शतम्। भूयश्च शरदः शतात्।

अर्थात्, हम सौ वर्ष तक और उससे भी अधिक काल तक दैन्य से दूर रहें[4]।

मा भेः, मा संविक्थाः (यजु० १।२३)

अर्थात्, तू न तो भयशील हो, न उद्विग्नता को प्राप्त हो।

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः॥
यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः॥ (अथर्व० २।१५।१,३)

अर्थात्, जैसे द्युलोक और पृथिवी अपने-अपने कर्तव्य के पालन में न तो डरते हैं, न कोई उनको हानि पहुँचा सकता है, इसी प्रकार हे मेरे प्राण! तू भी भय को न प्राप्त हो।

जैसे सूर्य और चन्द्रमा न तो भय को प्राप्त होते हैं, न कोई उनको हानि पहुँचा सकता है, इसी प्रकार हे मेरे प्राण तू भी भय को न प्राप्त हो।

इसी प्रकार आत्म-विश्वास अथवा आत्म-संमान की भावना के परिचायक और परिपोषक शतशः मंत्र और सूक्त वैदिक संहिताओं में पाये जाते हैं। निःसन्देह वे सब वैदिक धारा की एक महान् विशेषता हैं।

---

१. ऐसे सब मन्त्रों में "मैं" से अभिप्राय मानवमात्र का है। २. तु० "इन्द्रोऽहमिन्द्रकर्माहम् अरातीनां वधोऽस्म्यहम्। तेषां बाधास्तिरस्कृत्य पदं मूर्ध्नि दधाम्यहम्॥" (रश्मिमाला १।६।१) ३. इसलाम की परम्परा में मनुष्य को 'अशरफ-उल-मखलूकात्' (=सब प्राणियों में श्रेष्ठ) कहा गया है। वही बात इस मंत्र में कही गयी है।

४. तु० दृष्ट्वाप्यनन्तप्रसरां मानवो गतिमात्मनः। आश्चर्यं मूढतादोषाद् दीनंहीनं च मन्यते॥ (रश्मिमाला ४।१६।१)।

पूषा

बकरी-बकरे का स्वामी, जुलाहा और धोबी

(ले०—श्री पं० रामनाथ जी वेदालङ्कार, गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार)

वेदों में इन्द्र, वरुण, रुद्र, मरुत् आदि कई देवों का वर्णन मिलता है। उन्हीं देवों में एक देव पूषा भी है। इस पूषा के सम्बन्ध में ऋग्वेद १०म मण्डल, २६वें सूक्त का ६ठा मंत्र इस प्रकार है—

आधीषमाणायाः पतिः शुचायाश्च शुचस्य च ।
वासोवायोऽवीनामा वासांसि मर्मृजत् ॥

सायणाचार्य ने इस मंत्र का अर्थ यह किया है—

"वह पूषा (आधीषमाणायाः) अपने लिए नियत की हुई (शुचायाः च) चमकीली बकरी का और (शुचस्य च) चमकीले बकरे का (पतिः) स्वामी है। वह (अवीनाम्) भेड़ के बालों से (वासोवायः) यज्ञ के 'दशा', 'पवित्र' आदि वस्त्रों को बुन कर देने वाला है, और (वासांसि) उन वस्त्रों को (आ मर्मृजत्) चारों ओर प्रकाश और ताप से शुद्ध करता है[1]।"

इतना अर्थ कर सायणाचार्य सन्तुष्ट हो जाते हैं। वे यह बताने की आवश्यकता नहीं समझते कि यह पूषा कौन है और कैसे इन सब कार्यों को करता है। उनके मत से तो इतना समझ लेना पर्याप्त है कि अनेक देवों में से यह पूषा भी एक देव है और वह बकरी-बकरों की सवारी करता है या उन्हें अपने रथ में जोतता है तथा कपड़ों की उत्पत्ति और शोधन में कारण होता है।

परन्तु सायणाचार्य की इस व्याख्या से कोई भी बुद्धिवादी पाठक सन्तुष्ट नहीं हो सकता। इस मंत्र की बुद्धिसंगत व्याख्या के लिए हमें ऋषि दयानन्द की ही शरण में जाना पड़ता है। यद्यपि ऋषि ने इस मंत्र का भाष्य नहीं किया है तो भी उन्होंने वेदव्याख्या की कुञ्जी हमें पकड़ा दी है, जिस कुञ्जी से हम वेदमंत्रों के पेचीदे से पेचीदे तालों को खोल कर रहस्यार्थ का उद्घाटन कर सकते हैं।

पूषा कौन है ?

ऋग्वेद १.२३.१४ के भाष्य में ऋषि लिखते हैं—"यो जगदीश्वरः स्वाभिव्याप्त्या सर्वान् पदार्थान् पोषयति स पूषा", अर्थात् जो अपनी व्याप्ति से सब पदार्थों को पुष्ट करता है वह जगदीश्वर पूषा है। 'पूषा' शब्द पोषणार्थक पुष् धातु से बनता है जो स्वयं सब दृष्टियों से परिपुष्ट है तथा अन्य सब को पुष्टि देता है, उस परमात्मा का नाम पूषा है। प्रस्तुत सूक्त के सातवें मन्त्र में उसे 'पुष्टियों का सखा' कहा भी गया है, "इनः पुष्टीनां सखा, १.२६.७"।

'शुचा' और 'शुच' का पति

अब मन्त्रार्थ पर आते हैं। मन्त्र में पहली बात यह कही है कि वह पूषा परमात्मा 'शुचा' और 'शुच' का पति है। 'शुचा' और 'शुच' शब्द दीप्त्यर्थक शुच् धातु से बने हैं। 'शुचा' का अर्थ है 'चमकीली' और 'शुच' का अर्थ है चमकीला'। संस्कृत में तीन लिंग होते हैं, स्त्रीलिंग 'पुंलिंग और नपुंसकलिंग। 'शुच, शब्द की षष्ठी के एकवचन में स्त्रीलिंग में 'शुचायाः' और पुंलिंग तथा नपुंसकलिंग में 'शुचस्य' बनता है। तो अभिप्राय यह हुआ कि जगत् में जो भी चमकीली स्त्रीलिंगी पुंलिंगी या नपुंसकलिंगी वस्तुएँ हैं उन सब का वह पूषा परमात्मा अधिपति है। चमकीली स्त्रीलिंगी वस्तुएँ विद्युत्, भूमि, मेघमाला, अग्निज्वाला, तारकावलि आदि हैं, पुंलिंगी वस्तुएँ अग्नि, सूर्य, पर्वत, समुद्र, मेघ, चन्द्र आदि हैं, नपुंसकलिंगी वस्तुएँ पुष्प, फल, हिरण्य, रजत, ज्योति, आदि हैं। कोई भी चमकीली वस्तु या तो स्त्रीलिंगी होगी, या पुंलिंगी या नपुंसकलिंगी। अतः 'शुचायाः' और 'शुचस्य' में समस्त चमकीली वस्तुएँ आ जाती हैं। उन सब चमकीली वस्तुओं का वही पूषा प्रभु अधिपति स्वामी या राजा है। सब की चमक का स्रोत वही है, "तस्य भासा सर्वमिदं

---

१. आधिषमाणायाः आत्मार्थं धीयमानायाः शुचायाश्च दीप्ताया अजायाश्च पतिः स्वामी। न केवलं स्त्रीमात्रस्य किन्तु शुचस्य दीप्तस्य पुंपशोश्च पतिरित्यर्थः। एवंभूतः पूषा देवः अवीनाम् उरणानां सम्बन्धिभी रोमभिः वासोवायः दशापवित्रादीनि वस्त्राणि प्रेरयन्, वासांसि रजकशोध्यानि तानि वस्त्राणि आ मर्मृजत्, आ समन्तात् प्रकाशोष्णाभ्यां शोधयन् भवति। —सायणः
सायण के इस अर्थ में कुछ कुछ सूर्यपरक अर्थ की झलक है।

विभाति । कठो० ५।१५।" । मन्त्र में इन चमकीली वस्तुओं का † विशेषण 'आघीषमाण' पठित है । इस विशेषण से यह सूचित होता कि संसार की समस्त चमकीली वस्तुएँ स्वयं स्थित नहीं है, किन्तु अपनी स्थिति के लिए परमात्मा पर निर्भर हैं ।

बकरी-बकरे का स्वामी

सायाणाचार्य ने 'शुचा' के साथ बकरी (अजा) 'शुच' के साथ बकरे (अज) को अपनी तरफ से लाकर जोड़ दिया है और यह अर्थ किया है कि पूषा चमकीली बकरी तथा चमकीले बकरे का स्वामी है, क्योंकि ये उसके वाहन हैं । पर मंत्र में इन बकरी-बकरे का कहीं नाम नहीं है । मन्त्र में तो इतना ही कहा है कि 'पूषा' चमकीली और चमकीले का पति है, और पूर्व व्याख्यानुसार 'चमकीली-चमकीले' में बकरी-बकरे ही नहीं, सभी वस्तुएँ आ जाती हैं । यदि यहाँ बकरी-बकरे का ही ग्रहण अभिप्रेत होता तो मंत्र में 'शुचा' और 'शुच' पद न रख कर स्पष्ट 'अजा' और 'अज' शब्द ही रख दिये गये होते ।

किन्तु, इस मंत्र में बकरी-बकरे का नाम नहीं है, इतना कह देने मात्र से काम नहीं चलेगा, क्योंकि अन्यत्र वेद में पूषा के साथ स्थान २ पर बकरी-बकरे (अजा और अज) का सम्बन्ध मिलता है ‡ । प्रस्तुत सूक्त के ही ८वें मन्त्र में कहा है, "हे पूषन् ! तेरे रथ की धुरी को बकरे (अज) घुमाते हैं" । अतः कहा जा सकता है कि यदि सायणाचार्य ने "शुचा', 'शुच' के साथ 'अजा' और 'अज' का अध्याहार कर लिया है तो कोई अक्षम्य अपराध नहीं कर दिया । इसलिए अब हम सायाणाचार्य के उक्त अध्याहार को मान कर ही विचार करते हैं ।

'अजा', 'अज' का अध्याहार करने पर यह अर्थ होगा कि "वह पूषा परमात्मा चमकीली अजा और चमकीले अज का स्वामी है" । किन्तु यहाँ अजा-अज का अर्थ बकरी-बकरा नहीं है । इनका अर्थ समझने के लिए श्वेताश्वतर उपनिषद् का निम्न मंत्र द्रष्टव्य है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणो ऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः [अ० ४ । मं० ५]

एक लाल-सफेद-काली अजा है, जो अपने जैसी बहुत सी प्रजाओं को उत्पन्न करती है; एक अज है जो इसका भोग करता है, और दूसरा अज है जो पहले अज से भोगी हुई इस अजा का भोग नहीं करता, प्रत्युत त्याग किये रहता है । श्वेताश्वतर उपनिषद् के इस मन्त्र ने अजा-अज की पहेली को हल कर दिया है । अजा या अज शब्द का अर्थ है जो कभी जन्म न ले । अतः प्रकृति, जीव और परमात्मा तीनों अज हैं । रंग-बिरंगी अजा प्रकृति है, उसे भोगने वाला अज जीवात्मा है और उसके भोग से पृथक् रहने वाला दूसरा अज परमात्मा है । अतः स्पष्ट है की पूषा परमात्मा जिन चमकीली अजा और चमकीले अज का स्वामी है वे बकरी-बकरे नहीं किन्तु प्रकृति और जीवात्मा हैं । ऋषि दयानन्द ने कई स्थानों पर अपने भाष्य में 'अजा' का अर्थ जन्मरहिता प्रकृति और अज का अर्थ जन्मरहित जीव किया है ❀ ।

जुलाहा

मन्त्र में दूसरी बात यह कही है कि वह पूषा परमात्मा भेड़ के बालों से कपड़े बुनने वाला जुलाहा है । जैसे अभी हमने देखा कि पूषा परमात्मा के बकरी-बकरे साधारण बकरी-बकरे नहीं हैं, वैसे ही उसकी भेड़ भी साधारण भेड़ नहीं समझनी चाहिए । भेड़ के लिए मन्त्र में 'अवि' शब्द है । यजुः २३.५४ के भाष्य में ऋषि दयानन्द ने 'अवि' का अर्थ 'रक्षिका प्रकृतिः' किया है । अथर्ववेद १०.८.३१ में इस अवि के विषय में कहा है—

अविर्वै नाम देवता—ऋतेनास्ते परीवृता ।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः ॥

अर्थात् "अवि नाम की एक देवी है जो परमात्मा के सत्य नियमों से परिवृत है, उसी के रूप से ये हरे हरे वृक्ष हरित पत्तों की मालायें पहने दिखाई देते हैं ।" इससे भी स्पष्ट है कि यह 'अवि' प्रकृति ही है । इस प्रकृति रूपी भेड़ की बालों से अर्थात् प्रकृति-परमाणुओं से

† यद्यपि 'आघीषमाणायाः' पद स्त्रीलिंगी होने से 'शुचायाः' का ही विशेषण हो सकता है, किन्तु लिंगपरिवर्तन करके इसे 'शुच' का भी विशेषण मानना चाहिये । "आघीषमाणायाः शुचायाश्च, आघीषमाणस्य शुचस्य च पतिः" ।

‡ अजाः पूष्णः । निघं. । अजाश्वेति पूषणमाह,—निरु. ४।६।१।। आजासः पूषणं रथे निश्रृम्भास्ते जनश्रियम् । देवं वहन्तु केतवः ॥ ऋग्. ६।५५।६।

❀ देखो ऋग्भाष्य, १.६४.३ ; यजुर्भाष्य १७.३०;२३.५६ । सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समु० ।

पूषा परमात्मा जगत् रूपी पट को बुनता है। परमात्मा का जुलाहे के रूप में चित्रण वेद में अन्यत्र भी मिलता है— "पुमानेनद् वयत्युद्गृणत्ति, पुमानेतद् विजभाराधि नाके। अथर्व० १०।७।४३", अर्थात् पुरुष परमात्मा ही बुनता है, समेटता है, आकाश में ताना तनता है।

धोबी और अलङ्कर्त्ता

मन्त्र में तीसरी बात यह कही है कि वह पूषा परमात्मा उन बुने हुए वस्त्रों को साफ भी करता रहता है "वासांसि आ मर्मृजत्"। 'आ मर्मृजत्' में 'मृजू शौचालङ्कारयोः' धातु है, जिसके अर्थ शुद्धि और अलङ्कृत करना ये दोनों हैं। तो पूषा परमात्मा जगत् के विविध पदार्थ पटों को बुनकर तैयार भी करता है और उन्हें साफ तथा अलङ्कृत भी करता रहता है। वह स्वयं जुलाहा, धोबी, रंगरेज़, चित्रकार, कढ़ाई करनेवाला सब कुछ है। नहीं तो उस विलक्षण जुलाहे से तैयार किये वस्त्रों को धोने वाला धोबी हमें कहाँ मिले, उस अनोखे बुनकर के वस्त्रों को रंगने वाला रंगरेज़ हमें कौन मिले, उसके वस्त्रों पर चित्र बनाने वाला और बेल-बूटों की कढ़ाई करनेवाला हमें कौन मिले?

देखो, जगत् के वृक्ष-वनस्पति, वन-पर्वत, भूमि-आकाश, ईंट-पत्थर आदि वस्त्रों पर जब धूल आदि की मलिनता चढ़ जाती है तब वह पूषा प्रभु वर्षा की पावन धाराओं से उन्हें धोकर निर्मल कर देता है। जब कभी इनमें किसी प्रकार का कोई विकार उत्पन्न होने लगता है तब वह अपनी सूर्य और वायु की मार्जनी द्वारा उन्हें शुद्ध कर० देता है। वही वृक्षों की हरी-हरी पत्तियों में और रंग-बिरंगे फूलों में तथा अन्य चित्र-विचित्र पदार्थों में रंग भर कर उन्हें अलङ्कृत करता है। वही सन्ध्याकाश की श्याम चादर पर तारों के सलमे-सितारों से सुनहरे सप्तर्षि आदि के चित्र काढ़ता है। वही पशु-पक्षियों के शरीर के त्वग्वस्त्र पर रंग-बिरंगे रोमों से चित्रकारियाँ करता है।

पूषा सूर्य

परमात्मपरक अर्थ के अतिरिक्त इस मन्त्र की अन्य व्याख्याएँ भी हो सकती हैं। ऋषि दयानन्द के अनुसार पूषा के परमात्मा, पोषक प्राण, पुष्टिकर्ता वायु, पुष्टिकर मेघ, भूमण्डल, पोषक वैद्य, सूर्य, चन्द्रमा, सभासेनाध्यक्ष, परिपुष्ट सैन्य, विद्वान् पुष्टिकर्ता शिल्पी, पुष्टिमान् वीर आदि कई अर्थ हैं। इन पक्षों में भी मन्त्र की सुसंगत व्याख्याएँ की जा सकती हैं।

एक व्याख्या के अनुसार पूषा सूर्य है। † वह शुचा और शुच का अधिपति है। शुचा का अर्थ है चमकीली विद्युत्, शुच है चमकीला अग्नि। अन्तरिक्षस्थानीय विद्युत् और पृथिवीस्थानीय अग्नि दोनों का संरक्षक सूर्य ही है। अथवा यदि शुचा-शुच के साथ अजा-अज का ही अध्याहार करना हो तो चमकीली अजा है रंग-बिरंगी पृथिवी। पृथिवी अजा इसलिये है क्योंकि वह गतिशील है, (अज गतिक्षेपणयोः), १८ मील प्रति सेकण्ड के अपरिमित वेग से वह सूर्य के चारों ओर दौड़ रही है। चमकीले अज हैं गतिशील अग्नि या पृथिवी की तरह के दूसरे मंगल, बुध आदि ग्रह। सूर्य इन सबका भी अधिपति है। अथवा चमकीली अजा है गतिशील रात्रि और चमकीला अज है प्रकाशमान दिन। इनका भी सूर्य अधिपति है।

'अवि' का अर्थ भी पृथिवी है ❀। उस पृथिवी के बालों अर्थात् अवयवों से सूर्य अनेक पार्थिव पदार्थ रूपी वस्त्रों को बुनता है; यदि सूर्य न हो तो पृथिवी पर सब पदार्थों की उत्पत्ति रुक जाए। फिर वह सूर्य उन उत्पन्न हुए पार्थिव पदार्थ रूपी वस्त्रों को वर्षा, प्रकाश, ताप, वायु-संचालन आदि के द्वारा शुद्ध भी करता रहता है और अपनी सात रंगों वाली किरणों से सब पदार्थों को विविध रूप प्रदान करता हुआ उन्हें अलङ्कृत भी करता है।

आइये, वेद के साथ हम भी उस विलक्षण अजपाल के, उस विलक्षण जुलाहे के, उस विलक्षण धोबी और अलङ्कर्त्ता के गुणगान करें और ऋषि दयानन्द के चरणों में अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करें, जिसने हमें ऐसी जादू की शक्ति प्रदान की है कि सायणाचार्य की छोटी सी बकरी को हम विशाल प्रकृति, पृथिवी, या रात्रि बना सकते हैं; सायण के बकरे को हम जीवात्मा, अग्नि, मंगल-बुधादि ग्रह, या दिन का रूप दे सकते हैं; सायण की समझ के बकरी-बकरे की सवारी करने वाले, ऊनी कपड़ों को बुनने व धोने वाले अजुगिप्सय पूषा देव को हम परमात्मा, सूर्य आदि के रूप में परिणत कर सकते हैं और वेद के उस गौरव को जो सायण आदि भाष्यकारों के हाथों से लुप्तप्राय हो गया था, पुनरुज्जीवित कर सकते हैं।

---

† अथ यद् रश्मिपोषं पुष्यति तत् पूषा भवति। निरु. १२.१७। असौ वै पूषा योऽसौ (सूर्यः) तपति। कौ० ५।२। "पूषा सूर्यः" यजुः ३३.४४ भाष्ये दयानन्दः।

❀ रक्षणादिकर्त्री पृथिवी। यजुः २३.१२ भाष्ये दयानन्दः। इयं (पृथिवी) वा अविः, इयं हीमाः सर्वाः प्रजा अवति। श० ६.१.२.३३। अवतीत्यविः पृथिवी। यजुः २३.१२ भाष्ये महीधरः।

सैद्धान्तिक-चर्चा—

सत्यार्थप्रकाश-भाष्य

तृतीय समुल्लास*

(ले०—श्री पं० शिवपूजनसिंह जी कुशवाहा 'पथिक', विद्यावाचस्पति, साहित्यालंकार, कानपुर)

"द्विज अपने घर में लड़कों का यज्ञोपवीत और कन्याओं का भी यथायोग्य संस्कार करके यथोक्त आचार्य कुल अपनी २ पाठशाला में भेज दें।"

भाष्य—इस पर आचार्य पं० नरदेव जी शास्त्री, वेद-तीर्थ लिखते हैं:— "कन्याओं का भी यथायोग्य संस्कार" ये ऐसे गोल माल शब्द है कि दोनों अर्थ निकल सकते हैं और युक्ति से परीक्षण किया जाय तो यह समझ में नहीं आता कि जब ब्रह्मचर्य प्रणाली दोनों के लिए, अध्ययनादि दोनों के लिए, गुरुकुल भी दोनों के लिए, तब एक का अर्थात् बालक का तो यज्ञोपवीत संस्कार कराकर भेजे और कन्या को बिना यज्ञोपवीत के ही भेज देवे, ऐसा अर्थ क्यों लिया जाय, पर इस कथन से स्वामी जी **स्वयं क्या चाहते थे यह समझना कठिन है।**

स्मृति ग्रन्थों के देखने से दो प्रकार की स्त्रियों के विधान हैं, सद्योवधू और ब्रह्मवादिनी। सद्योवधू वह जिसका उपनयन संस्कार विवाह-संस्कार के साथ ही हो। ब्रह्मवादिनी वह जिसका बाल्यावस्था में ही यज्ञोपवीत हो और आमरण ब्रह्म-चर्य व्रत में स्थित रहे।

जो कुछ हो। हम तो इस मतके हैं कि कन्याओं का यज्ञोपवीत अवश्य होना चाहिये।"[1]

'यथायोग्य संस्कार' से महर्षि दयानन्दजी का मत स्पष्ट प्रकट नहीं होता है[2] फिर भी वे कन्याओं का यज्ञोपवीत मानते थे।

वेद में स्पष्ट लिखा है—

देवा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्त ऋषयस्तपसे ये निषेदुः।
भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन्॥
(ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त १०९ मन्त्र ४)

यही मन्त्र 'अथर्ववेद कां० ५, सूक्त १७, मंत्र ६ में आया है पर वहाँ "देवा" के बाद 'वा' और "ब्राह्मणस्या-पनीता" शब्द है यही अन्तर है।

इस मंत्र पर विद्वानों के विचार—

श्री स्वामी वेदानन्दजी तीर्थ लिखते हैं:—(देवाः) दिव्य-शक्ति सम्पन्न (पूर्वे) पूर्व नियमानुसार रचित (सप्त ऋषयः) सात ऋषि आँख, नाक, कान आदि इन्द्रियाँ (ये) जो (तपसे) तप ज्ञान के लिए (निषेदुः) निरन्तर गति करते रहते हैं। वे (एतस्यां) इस उपनीत ब्राह्मणी के विषय में मानो (अवदन्त) कह रही हैं, कि (ब्राह्मणस्य) वेदाध्येता की (जाया) जाया (उपनीता) यज्ञोपवीत धारण करके (भीमा) भयङ्कर सबला बन जाती है और (दुर्धाम्) अन्य दुर्धायों को भी अथवा दुष्ट प्रकृतिवालों को भी (परमे) उत्कृष्ट (व्योमन्) सुखमय अवस्था में (दधाति) धारण कर देती है।

पति सुशिक्षित हो पत्नी अशिक्षिता हो तो कलह ही रहता है, किंतु स्त्री सुशिक्षिता हो तो दुष्ट से दुष्ट प्रकृति के पति को सुधार लेती है। सुशिक्षिता स्त्री पापी के लिए अत्यन्त भयंकर होती है। उसकी विद्या, सुशिक्षा का उसकी इन्द्रियें भी साक्ष्य देती हैं। यज्ञोपवीतिनी स्त्री का उठना, बैठना आदि सारी क्रियाएँ अत्यन्त सुव्यस्थित तथा प्रामाणिक होती है।[3]

---

* सत्यार्थप्रकाश के प्रथम दो समुल्लासों का भाष्य श्री पं० वाचस्पति जी एम. ए. सी ने किया था और वह आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा लाहौर द्वारा प्रकाशित हुआ था। अतः श्री पं० शिवपूजनसिंह जी ने 'तृतीय समुल्लास' से भाष्य प्रारम्भ किया है। —सम्पादक

१. "आर्यसमाज का इतिहास" प्रथम भाग, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ११८.

२. आर्य जगत् के विद्वानों से प्रार्थना है कि इसका स्पष्टीकरण करें। (लेखक)

३. "वैदिक धर्म" प्रथम संस्करण, पृष्ठ १४३-१४४। तुलना करो, पं० मनसारामजी "वैदिक-तोप" कृत "पौराणिक-पोल प्रकाश" प्रथम भाग, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ४६१.

पं० धर्मदेवजी सिद्धान्तालङ्कार विद्यावाचस्पति, मंत्री धर्मार्यसभा, लिखते हैं:—

"ऋ० में 'भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन्।' इस मन्त्र द्वारा ब्राह्मण स्त्री के लिए उपनीता विशेषण का प्रयोग स्पष्ट है। उपनयन वेदाधिकार का सूचक संस्कार है, इसमें सन्देह नहीं हो सकता।"[१]

पं० रामावतारजी 'तीर्थचतुष्टय' इसका अर्थ करते हैं:—

"भीमा पापा नाम भयंकरी पापियों को भय देने वाली (ब्राह्मणस्य) विद्वान् की (जाया) स्त्री का (उपनीता) उपनयन संस्कार हुआ है।"[२]

निखिलशास्त्रनिष्णात स्वामी हरिप्रसाद जी वैदिक मुनि (उदासीन) लिखते हैं:—

"ब्राह्मण की स्त्री जिसका उपनयन हुआ है, भयङ्कर होती है।"[३]

श्री जगत्कुमारजी शास्त्री लिखते हैं:—"दिव्यशक्ति सम्पन्न पूर्व नियमानुसार रचित सात ऋषि यानी आंख, नाक, कान आदि इन्द्रिएँ जो तप अर्थात् ज्ञान के लिए निरन्तर गति करती हैं वह इस ब्राह्मणी के विषय में मानों कह रही हैं कि वेद अध्येता की पत्नी यज्ञोपवीत धारण करके भयंकरशीला बन जाती है और दुष्टप्रकृतिवालों को भी ऊँची सुखमय अवस्था में धारण कर देती है।"[४]

ब्रह्मचारी पं० उषर्बुध जी इस मंत्र का अर्थ अपने एक पत्र[५] में लिखते हैं:—

"(ये) जो (सप्त ऋषयः) सात प्रकार के ऋषि पदवी प्राप्त (देवाः) विद्वान् (तपसे निषेदुः) ब्रह्मचर्यादि साधक हैं वे (एतस्यां) इस विषय में (न्यवदन्त) उपदेश करते हैं कि (ब्राह्मणस्य) सत्य के इच्छुकों की (भीमा) बहुत शक्तियुक्त (जाया) मातृशक्ति (उपनीता) उपनयन की हुई ही (परमे व्योमन्) उत्तम कार्यों में, सहायता देती हुई उन कार्यों को (दुर्धां दधाति) सुगम कर देती है।"

कन्याओं के यज्ञोपवीत के विषय में महर्षि दयानन्द जी की स्पष्टोक्ति—

"कन्या भी सुन्दर वस्त्र से शरीर को आच्छादित और यज्ञोपवीत धारण करके विवाहशाला में आवे।"[६]

"स्त्री-लोग आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर रहती थीं और साधारण स्त्रियों के भी उपनयन और गुरुगृह में वास इत्यादि संस्कार होते थे, यह सब को विदित ही है। गार्गी, सुलभा, मैत्रेयी, कात्यायन्यादि बड़ी-बड़ी सुशिक्षिता स्त्रियाँ होकर बड़े-बड़े ऋषि मुनियों की शङ्काओं का समाधान करती थीं।"[७]

"पुरुषों को विद्यारम्भ के समय उत्साह हो इस उद्देश्य से व्रतबन्ध विषय में विशेष नियम ठहराये हैं। स्त्रियों को भी विद्यासम्पादन का अधिकार पहिले था और उसके अनुकूल उनका भी व्रतबन्ध संस्कार पूर्व में करते थे।"[८]

डा० भगवानदासजी एम. ए. काशी लिखते हैं:—"प्राचीनकाल में स्त्रियों को भी विधिवत् उपनयनादि करके वेदाध्ययन रूप ब्रह्मचर्य कराया जाता था, पर समय बदलने से यह प्रथा बन्द हो गयी है। यदि पुनः बदलकर प्राचीन अवस्था के सदृश अवस्था पुनः उत्पन्न हो जाय, तो वह प्रथा भी पुनः प्रचलित करनी पड़ेगी, जैसा पश्चिम में देख पड़ता है कि लड़कियों की भी विधिवत् शिक्षा होती है। भारतवर्ष में भी इस ओर समाज का ध्यान बढ़ रहा है।"[९]

"....और मन में (ओ३म्) इसका जप करता जाय।"....

भाष्य—'ओ३म्' यह परमात्मा का सर्व श्रेष्ठ नाम है। इसका जप, स्मरण करना उत्तम बतलाया गया है। वेद भगवान् का आदेश है कि—

"ओ३म् क्रतो स्मर..." (यजु० ४०।१५)

अर्थात्-हे सङ्कल्पमय जीव! तू ओ३म् का स्मरण कर।

"ओ३म् खम्ब्रह्म" (यजु० ४०।१७)

१. मासिकपत्र "आर्य" लाहौर, भाग १४ सितम्बर १९३२ ई., अङ्क ५, पृष्ठ २१५ कोलम् २. में प्रकाशित "वेदाधिकार" शीर्षक लेख। २. दिनाङ्क ११।११। ९४२ ई. में श्रीमती आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा लाहौर के कार्यालय में यह अर्थ पण्डितजी ने लिखाया था। —लेखक। ३. "स्वाध्यायसंहिता" प्रथमावृत्ति, अध्याय १ कालम २, पृष्ठ १०५. ४. "वैदिक डिप्लोमा" उर्दू, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १८, कालम २. ५. वानप्रस्थाश्रम, ज्वालापुर से दिनाङ्क १८।५।१९४७ को लेखक के नाम पत्र। ६. "संस्कार-विधि" पृष्ठ १०७ पंक्ति ८, (संवत् १९२२ वि. में मुद्रित)। ७. "उपदेश-मञ्जरी" पूना में तृतीय व्याख्यान, पृष्ठ २७-२८ (सन् १९११ ई. वर्कली संस्करण)। ८. वही, पृष्ठ १२१. ९. "समन्वय" द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १२६.

वह भूमण्डल का रक्षक आकाश के सदृश व्यापक, अनन्त और आनन्दमय है और वही ब्रह्म गुण, कर्म, स्वभाव में सबसे बड़ा है।

"ओ३म् प्रतिष्ठ" (यजु० २।१३)

हे ईश्वर आप मेरे हृदय में प्रतिष्ठित हों।

"तस्य वाचकः प्रणवः" (योग दर्शन १।२७)

उस ईश्वर का बोधक शब्द (प्रणव) ओ३म् है।

"तज्जपस्तदर्थभावनम्" (योग दर्शन १।२८)

(तज्जपः) उस ओ३म् नाम द्वारा ईश्वर के यथार्थ स्वरूप को जानकर इस 'ओ३म्' शब्द का जाप करे और (तदर्थभावनम्) इसके अर्थ का विचार करे।

अर्थ के बिना ओ३म् का जप करना व्यर्थ है।[1]

"आचमन" उतने जल को हथेली में लेके उसके मूल और मध्यदेश में ओष्ठ लगाके करे कि वह जल कण्ठ के नीचे तक पहुँचे, न उससे अधिक न न्यून। उससे कण्ठस्थ कफ और पित्त की निवृत्ति थोड़ी सी होती है।"

भाष्य—आचमन क्यों किया जाता हैं, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य ऋषि लिखते हैं—

"तद् यदप उपस्पृशति तेन हि पूतिरन्तरतः,पवित्रं वा आपः" —(शतपथ ब्राह्मण १।१।१।१

अर्थात् 'जो यह जल का आचमन किया जाता है उससे आन्तरिक पवित्रता होती है, क्योंकि जल पवित्र करने वाला है।'

पं० चमूपति जी एम. ए. लिखते हैं—"कफ आदि की निवृत्ति—जो सज्जन सभा, समाजों में आते जाते हैं और भजनीकों तथा वक्ताओं के आलाप सुनते हैं, उनको ज्ञात होगा कि जब वक्ता तथा भजनीक बोलता २ थक जाता है। तो वह पानी का एक आध घूँट पी लेता है। कभी आदि में ही यह क्रिया कर लेता है। इसका कारण क्या है? यही कि बोलने से गला बैठ जाता है, और जल उसको फिर से साफ करके बोलने योग्य बना देता है। संध्या में भी आचमन का एक प्रयोजन है।......[2]

पं० नित्यानन्द जी वेदालङ्कार लिखते हैं—"शीतल जल का आचमन राजसिक और तामसिक वृत्तियों का अभिभव करके सात्त्विक वृत्तियों को जाग्रत कर देता है। सात्त्विक वृत्तियों का जागरण ब्रह्मप्राप्ति प्रतिबंधक निखिल अन्तरायों की निवृत्ति, तथा शान्ति की निराली अवस्था पैदा कर देता है। सन्ध्या समय में साधक को शारीरिक, मानसिक, और आत्मिक त्रिविध शान्ति चाहिए। इसलिए तीन आचमन करने का विधान है। शीतल जल का आचमन शारीरिक तापों को मिटाकर शरीर को शान्त, शीतल तथा स्फूर्ति सम्पन्न बना देगा, मानसिक आवेगों और विकारों को मिटाकर मन को शान्त, पवित्र तथा अन्तर्मुख बना देगा, तथा आत्मा की प्रतीत होने वाली चंचालता को मिटाकर आत्मा में चैतन्यता और प्रभु परायण वृत्ति जगा देगा। तीन आचमन का तात्पर्य यही त्रिविध शान्ति है।"[3]

सामवेदभाष्यकार पं० तुलसीरामजी स्वामी लिखते हैं—

"कण्ठस्थ कफ की निवृत्ति कण्ठ में थोड़ा जल पहुँचने से अवश्य होती है। स्वर स्पष्ट हो जाता है। जल कफ रोग को बढ़ाता है परन्तु यह किसी रोग का तो इलाज नहीं, किन्तु सामान्य प्रकार से कण्ठ में जो कफ रहता और मन्त्रोच्चारणादि में वहाँ का कफ बाधक होता है वह निवृत्ति हो जाता है। यदि जल तर होने से कफ रोग को उत्पन्न करता है यह नियम हो तो जितने वैद्यक के प्रयोगों में मिश्री, गुड़, शहद, गुड़ूची अदि तर वस्तु खाँसी के रोग में प्रयुक्त की हैं, सब व्यर्थ हो जावें। यथार्थ में तरी के द्वारा दोष का नाश नहीं करना है किन्तु उसे शान्त रखना अभिष्ट है ...।"[4]

"यह सन्ध्योपासन एकान्त देश में एकाग्र चित्त से करे।

अपां समीपे नियतो नैत्यिकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः॥

[मनु० अ० २।१०४] यह मनुस्मृति का वचन है

जंगल में अर्थात् एकान्त देश में जा, सावधान हो के, जल के समीप स्थित हो के नित्यकर्म को करता हुआ सावित्री अर्थात् गायत्री मन्त्र का उच्चारण,

१. 'ओ३म्' के विषय में अधिक जानने के लिए पाठकों को श्री पं० शिवशङ्कर शर्मा 'काव्यतीर्थ' कृत "ओङ्कारनिर्णय" तथा श्री स्वामी सर्वदानन्द जी कृत "प्रणव-परिचय" पुस्तकें देखनी चाहिएं।

२. "सन्ध्यारहस्य" सप्तम संस्करण, पृष्ठ ४४।

३. "सन्ध्यासुमन" प्रथम संस्करण, पृष्ठ ८-९।

४. "भास्करप्रकाश" चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ३८।

अर्थज्ञान और उसके अनुसार अपने चाल चलन को करे, परन्तु यह जप मन से करना उत्तम है । ..."

भाष्य—सन्ध्या के लिये उपयोगी स्थानः—

सन्ध्या एकान्त में, जहाँ की वायु शुद्ध हो, करनी उचित है । वेद भगवान् की आज्ञा है—

"उपह्वरे गिरीणा ँ सङ्गमे च नदीनाम् । धिया विप्रो अजायत ॥" (यजु० २६।१५)

"(गिरीणाम्) पर्वतों के (उपह्वरे) समीप में (नदीनां च सङ्गमे) और नदियों के संगम स्थान में, रहकर (धिया) ध्यान, धारणा, कर्म और विद्याभ्यास करके (विप्रः) विविध विद्याओं से सम्पूर्ण, निष्पाप होकर विद्वान् सोम और सूर्य के समान जन (अजायत) उन्नति को प्राप्त करते हैं ।"

अर्थात् धारणा, ध्यान, सन्ध्यादि के लिये पहाड़ों के सुंदर स्थान, तथा नदियों के मनोहर संगम बहुत उपयोगी है । शक्तिपाने के लिये हृदय से पुकार उठती है । परन्तु बड़े २ नगरों में सन्ध्यादि के लिये प्रतिदिन बाहर जाना कठिन है । ऐसी अवस्था में यदि अपने घर के चारों ओर बाग, उद्यान व पुष्पवाटिका हो तो अत्युत्तम है । परिस्थिति के वशात् न हो, तो, नगर के अन्दर कोई ऐसा रम्य स्थान हो, उसका उपयोग करना चाहिये । इनके अभाव में अपने घर का कमरा संध्या के लिये सजाना चाहिये, क्योंकि जहाँ इच्छा हो बैठकर जिस किसी समय में सन्ध्या के मंत्र पढ़ने से सन्ध्या का वास्तविक आनन्द उपलब्ध नहीं हो सकता ।

इस कमरे की दीवारों की सजावट के लिए वेद मंत्रों के उत्तम वाक्य, तथा साधु महात्माओं के उपदेश वाक्य सुन्दर अक्षरों में लिख कर लगाना चाहिये ।

"सन्ध्या और अग्निहोत्र सायं प्रातः दो ही काल में करे । दो ही रात दिन की सन्धिवेला हैं, अन्य नहीं । न्यून से न्यून एक घंटा ध्यान अवश्य करे ।"

भाष्य—संन्ध्या शब्द की व्युत्पत्ति—"सम्यग् ध्यायन्ति अस्याम् । ध्यै चिंतायाम् भ्वादिगण परस्मैपद अनिट् धातु संख्या ९३३ । ते प्राग्धातोः १।४।८० सं उपसर्ग ९ संध्यै भया । **आदेच उपदेशेऽशिति** । ६।१।४५। ध्यै को ध्या । संध्या हुआ ॥ **आतश्चोपसर्गे** । ३।३।१०६ सूत्र से अङ् प्रत्यय, सन्ध्या अङ् हुआ, **आतो लोप इटि च** ६।४।६४ ध्याके आकार का लोप । संध्य् अ मिलकर संध्य । **अजाद्यतष्टाप्** ४।१।४ संध्य टाप् है । चुटू १।३।७ ट् इत् हलन्त्यम् १।१।३ प् इत् । संध्य आ हुआ । **अकः सवर्णे दीर्घः** ६।१।१०१ सन्ध्या सिद्ध हुआ ।

"**सन्ध्या नदीकालभिदोश्चिन्तामर्यादयोरपि । प्रतिज्ञायां च संधाने संध्या च कुसुमान्तरे ॥**"— (विश्वकोष श्लो० १३६७, पृ० ६९) "संध्या पितृप्रसूनक्षत्रान्तरपोयुगसंधिषु ॥६०॥"— (शब्दरत्नावली मेदिनी कोष यद्विकम् श्लो० ६०) ।

'संध्या' शब्द दो शब्दों के मेल से बना है । एक 'सं' दूसरा 'ध्यैङ्' । 'सं' उपसर्ग है और 'ध्यैङ्' धातु है । 'सं' उपसर्ग का अर्थ है उत्तम प्रकार से और 'ध्यैङ्' धातु का अर्थ है ध्यान करना (Meditation, reflection, thinking about), सन्ध्या का दूसरा अर्थ सन्धि, मेल व योग है । सन्ध्या के समय साधक का प्रभुके साथ सम्बन्ध, मेल व योग होता है । इस आशय का प्रकाश यह दूसरा अर्थ कर रहा है ।

महर्षि दयानन्दजी ने 'सन्ध्या' का अर्थ किया है-"**सन्ध्यायन्ति सन्ध्यायते वा परब्रह्म यस्यां सा सन्ध्या**" ।[1]

भली-भाँति ध्यान करते हैं वा ध्यान किया जाय परमेश्वर का जिसमें, वह सन्ध्या है । इस प्रकार महर्षि ने संध्या का प्रयोजन निश्चित किया है "परब्रह्म का ध्यान" ।

'सन्ध्या' का अर्थ याज्ञवल्क्य ऋषि ने यों किया है—**अहोरात्रयोः सन्धौ (सन्धिकाले) या क्रिया विधीयते सा सन्ध्या**" दिन और रात का जो सन्धिकाल है उस समय जो कर्म किया जाता है उसको 'सन्ध्या' कहते हैं ।

वेदव्यास ने लिखा है—"**उपास्ते सन्धिवेलायां निशाया दिवसस्य च । तमेव सन्ध्यां तस्मात्तु प्रवदन्ति मनीषिणः ।**"　　— (व्यास स्मृति)

रात्रि और दिवस की संधिवेला में इसकी उपासना की जाती है, इसलिए विद्वान् लोग उसे संध्या कहते हैं ।

श्रीदत्त पण्डित ने कहा है—"**अहोरात्रस्य यः सन्धिः सूर्यनक्षत्रवर्जितः । सा च सन्ध्या समाख्याता मुनिभिस्तत्त्ववादिभिः ॥**" दिन एवं रात्रि की जो सन्धि है, जिसमें यानी प्रातःकालरूप प्रथम सन्धि में सूर्यदर्शन न हो एवं सायंकालरूप द्वितीय सन्धि में नक्षत्र दर्शन न हो, उसको तत्त्ववादी मुनि लोग सन्ध्या कहते हैं ।

---

१. पञ्चमहायज्ञविधि ।

सन्ध्या दो ही काल करना चाहिए—पौराणिक लोग त्रिकाल सन्ध्या करते हैं, परन्तु यह वैदिक नहीं है। वेदादि सच्छास्त्रों में दो ही काल (प्रातः सायं) सन्ध्या करने का विधान है। यथाः—

"उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि।" (ऋ. १।१।७ यजु. ३।२२) सामवेद १।१।२४)

हे अग्ने ईश्वर! (दिवे दिवे) प्रतिदिन (दोषावस्तः) सायंप्रातः [वस्त इत्यहर्वाचीति-महर्षिदयानन्दः, सायणोऽपि] (धिया) भक्ति से (नमः) नमस्कार (भरन्तः) करते हुए (वयम्) हम (उप त्वा) आपके समीप, आपकी शरण में (आ इमसि) आते हैं।

"यो अस्मै घ्रंस उत वा य ऊधनि सोमं सुनोति भवति द्युमां अह। अपाप शक्रस्ततनुष्टिमूहति तनूशुभ्रं मघवा यः कवासखः।"

—(ऋ. ५।३४।३; निरुक्त नैगम कां. ४ १९।८५)

यास्काचार्यः—"घ्रंस इत्यहर्नाम, ग्रस्यन्तेऽस्मिन् रसाः। गोरूध उद्धततरो भवति, उपोन्नद्धमिति वा। स्नेहानुप्रदानसामान्याद्राविरप्यूध उच्यते। स योऽस्मा अहन्यपि वा रात्रौ सोमं सुनोति, भवत्यह द्योतनवान्। अपोहत्यपोहति शक्रस्तितनिषुं धर्मसन्तानादपेतम् अलङ्करिष्णुमयज्वानं तनूशुभ्रं तनूशोभयितारं मघवा, यः कवासखो यस्य कपूयाः सखायः।"

पं० चन्द्रमणि जी विद्यालंकार पालीरत्न कृत भाषानुवाद—(यः अस्मै घ्रंसे उत वा यः ऊधनि सोमं सुनोति) जो मनुष्य इस परमेश्वर के लिये दिन में और जो रात्रि में भक्ति-रस का सम्पादन करता है (अह द्युमान् भवति) वह निश्चय से तेजस्वी होता है। (शक्रः मघवा) परन्तु सर्वशक्तिमान् और ऐश्वर्यवान् प्रभु (ततनुष्टिं तनूशुभ्रं) धर्म कर्म से रहित धन कमाने वाले और सदा शरीर की सजावट में लगे रहने वाले नीच मनुष्य को (अपोहति अप) नष्ट करता है, अवश्य नष्ट करता है। (यः कवासखः) और, जो कुसंगति में रहने वाला है, उसे भी नष्ट करता है। (निरुक्त हिन्दी भाष्य से)

"स घा नो देवः सविता साविषदमृतानि भूरि। उभे सुष्टुती सुगातवे॥"–(ऋ० ७.४५.३.अथर्व ६.१.३.) (स घ) वह परमात्मा ही (देवः) एक ऐसा है जो (सविता) सबका उत्पादक है। वही (भूरि) नाना, बहुत से (अमृतानि) अमृतमय मोक्ष के साधन, दीर्घ जीवन और अन्न (नः साविषत्) हमें देता है। (उभे) दोनों प्रकार की (सु-स्तुति)उत्तम स्तुतियाँ (सुगातवे) उसी के लिए हैं।

"यहाँ 'दोनों उत्तम स्तुतियाँ' द्वारा प्रतिदिन दो समय की, दो सन्धिकालों में की जाने वाली, सन्ध्या की ओर निर्देश किया गया है।"

"सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता। वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम॥" — (अथर्व० १९।५५।३)

महर्षि दयानन्द जी–"(सायं सायम्) यह हमारा गृहपति अर्थात् घर और आत्मा का रक्षक भौतिक अग्नि और परमेश्वर प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल श्रेष्ठ उपासना को प्राप्त होके (सौमनसस्य दाता) जैसे आरोग्य और आनन्दका देने वाला है, इसी से परमेश्वर (वसुदानः) वसु अर्थात् धन का देने वाला प्रसिद्ध है। हे परमेश्वर! इस प्रकार आप मेरे राज्य आदि व्यवहार और चित्त में प्रकाशित रहिए।.........[1]

"सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं
प्रातः सौमनसो वो अस्तु॥" (अ० ३।३०।७)

इसका अर्थ परलोकगत, सामवेद, दर्शन, उपनिषदादि ग्रन्थों के भाष्यकार विद्वद्वर्य पं० तुलसीराम जी स्वामी, मेरठ अपनी मासिक पत्रिका "वेदप्रकाश" वर्ष ४ (आषाढ़ संवत् १९५७) सन् १९०० ई० मास ६ के पृष्ठ ११९-२० में लिखते हैं :—"जैसे वेदपाठी विद्वान् मोक्षमार्ग की रक्षा करते हैं वैसे तुम भी प्रातःकाल और सायंकाल शुद्ध चित्त से सन्ध्योपासन किया करो। मैं तुम्हारे सब के कर्मानुसार विभाग करके तुम सबको एक दूसरे के अविरुद्ध चाल चलन वाला और शुद्ध चित्तवाला और एक स्तुति बनाता हूँ।"

"नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः। यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत्स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम्॥"

— (अथर्व० १०।७।३१)

१. पञ्चमहायज्ञविधि।

इसका अर्थ श्री स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ लिखते हैं :—

"(यः) जो (अजः) प्रगतिशील आत्मा (उषसः पुरा) उषःकाल से पूर्व तथा (सूर्यात्पुरा) सूर्यास्त से पूर्व नाम) नमस्कार करने योग्य प्रभु को (नाम्ना) ओंकार आदि नामों से (जोहवीति) स्मरण करता है। (सः अजः) वह महात्मा (तत् स्वराज्यं इयाय) उस स्वराज्य को प्राप्त करता है, (यस्मात् परं अन्यत् न अस्ति) जिससे श्रेष्ठ दूसरा कोई पदार्थ नहीं है और (यत् प्रथमं संबभूव) जो स्वराज्य पहले भी था, अथवा जो सब से मुख्य है।

भगवद्भक्त लोग स्वराज्य = आत्मराज्य = मुक्ति के अधिकारी होते हैं। मुक्ति से बढ़कर जीवात्मा के लिए कोई भी वस्तु नहीं है, यह मुक्ति जीव को पहले भी प्राप्त थी।

'सूर्यात् पुरा, का अर्थ हमने 'सूर्यास्त से पूर्व, किया है, 'सूर्य से पूर्व, नहीं किया, क्योंकि उस भाव को 'उषसः पुरा' ने व्यक्त कर दिया है। इस प्रकार इस मंत्र ने प्रातः और सायं दो समय सन्ध्योपासना के लिए विधान किए हैं।"[1]

तस्माद् ब्राह्मणोऽहोरात्रस्य संयोगे सन्ध्यामुपास्ते। सज्योतिष्या ज्योतिषो दर्शनात्सोऽस्याः कालः सा सन्ध्या तत् सन्ध्यायाः सन्ध्यात्वम् ॥'—(षड्विंश ब्रा० प्रपा० ४। खं. ५ ॥)

महर्षि दयानन्दजी–ब्रह्म का उपासक मनुष्य रात्रि और दिवस के सन्धि समय में नित्य उपासना करे, जो प्रकाश और अप्रकाश का संयोग है, वही सन्ध्या का काल जानना और उस समय में जो सन्ध्योपासन की ध्यान क्रिया करनी होती है वही सन्ध्या है, और जो एक ईश्वर को छोड़ के दूसरे की उपासना न करनी तथा सन्ध्योपासन कभी न छोड़ देना इसी को सन्ध्योपासन कहते हैं। [पं० म० विधि]

'यत् सायं च प्रातश्च सन्ध्यामुपास्ते…'(षड्विंश ब्रा०४।५)

'ब्रह्मवादिनो वदन्ति कस्माद् ब्राह्मणः सायमासीनः सन्ध्यामुपास्ते कस्मात् प्रातस्तिष्ठन् ॥' (षड्विंश ब्रा०४।५)

उद्यन्तमस्तं यन्तमादित्यमभिध्यायन् कुर्वन् ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते ॥ तैत्तिरीयारण्यक प्रपा० २। अनु० २ ॥

जब सूर्य के उदय और अस्त का समय आवे उसमें नित्य प्रकाश स्वरूप आदित्य परमेश्वर की उपासना करता हुआ ब्रह्मोपासक ही मनुष्य सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है इससे सब मनुष्यों को उचित है कि दो समय में परमेश्वर की नित्य उपासना किया करे।

"पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात्।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥"
[मनुस्मृति० २।१०१]

दो घड़ी रात्रि से लेके सूर्योदय पर्यन्त प्रातः सन्ध्या और सूर्यास्त से लेकर तारों के दर्शन पर्यन्त सायंकाल में सविता अर्थात् सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले परमेश्वर की उपासना गायत्र्यादि मंत्रों के अर्थ विचार पूर्वक नित्य करें ॥

"तस्मात्सायं प्रातः सन्ध्यामुपासीत"

— [गोभिलपरिशिष्ट सन्ध्यासूत्र १।१७]

प्रातः और सायंकाल सन्ध्या उपासना करे।

'एतद्वै सन्धिं ब्रह्मविद उपासत इति जाबालोपनिषत्।'

अर्थात्– इस सन्धिकाल (प्रातः सायं) में ब्रह्म को जानने वाले उपासना करते हैं, यह जाबालोपनिषद् में है।

'सायम्प्रातस्तु यः सन्ध्यां प्रमादादतिक्रमेत्सकृत्।
गायत्र्यास्तु सहस्रं हि जपेत् स्नात्वा समाहितः।'

— (अत्रि स्मृति अ. १–६३)

जो मनुष्य असावधानता से एकबार प्रातःकाल वा सन्ध्या काल की सन्ध्या न करे तो दूसरे दिन स्नान करके उपरान्त एकाग्रचित हो एक सहस्र बार गायत्री का जप करे।

"पूर्वां सन्ध्यां सनक्षत्रामुपासीत यथाविधि।
गायत्रीमभ्यसेत्तावद् यावदादित्यदर्शनम् ॥ १८ ॥
उपास्य पश्चिमां सन्ध्यामादित्यञ्च यथाविधि।
गायत्रीमभ्यसेत्तावद् यावत्तारां न पश्यति" ॥१९॥

— (हारीत स्मृति अ० ४)

भली-भाँति से नक्षत्र दीखते हों उस समय प्रातःकाल की सन्ध्या करे और जब तक सूर्य भगवान् का दर्शन भली-भाँति से न हो जाय तब तक गायत्री का जप करता रहे ॥ १८ ॥ और सूर्यास्त के पूर्व विधि से सन्ध्या प्रारंभ करके जब तक तारों का कुछ कुछ दर्शन न हो तब तक गायत्री का जप करता रहे ॥ १९ ॥

१. "वैदिकधर्म" पुस्तक, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ६८-६९।

"सायं प्रातर्द्विजः सन्ध्यामुपासीत समाहितः।
कामाल्लोभाद्भयान्मोहात् कदा न पतितो भवेत् ॥"
(औशनस संहिता अ० १-१५-१६)

जो द्विज दत्तचित्त हो, सायं प्रातः सन्ध्योपासन करते हैं वे काम, लोभ, भय, मोह से कभी पतित नहीं होते हैं।

"सन्ध्यां प्रातः सनक्षत्रामुपासीत यथाविधि।
सादित्यां पश्चिमां सन्ध्यामर्द्धस्तिमितभास्करे।"
(संवर्त स्मृति श्लोक ६)

नक्षत्रों के बिना छिपे हुए प्रातःकाल की संध्या करे, और सूर्यदेव के आधे अस्त हो जाने पर सायंकाल को सन्ध्या करे।

"प्रातः सतारकां सन्ध्यां सायं सन्ध्यां सभास्कराम्।
स्नानुकर्मणि तन्मध्यामुपासीत यथाविधि।"
(भारद्वाज स्मृति अ. २४)

प्रातः काल की सन्ध्या तारों के रहते और सायं काल की सन्ध्या सूर्य के रहते ही स्नान करके यथाविधि से करे।

"सायं प्रातश्च सन्ध्यां यो ब्राह्मणोऽभ्युपसेवते।
प्रजपन् पावनीं देवीं गायत्रीं वेदमातरम्।"

(महाभारतान्तर्गत वनपर्वणि युधिष्ठिरं प्रति मार्कण्डेय-वाक्यम्; अ० १९९-८१)

जो ब्राह्मण पवित्र करने वाली, वेदमाता गायत्री देवी को जपता हुआ सायं प्रातः सन्ध्या को करता है।

महर्षि दयानन्द जी की सम्मतिः—

"एक मनुष्य ने पूछा कि सन्ध्या सायं वा प्रातः दोनों काल करनी चाहिये या तीन वार, स्वामी जी ने उत्तर दिया दो बार। इस पर उसने कहा कि एक स्थान पर ऐसा लिखा है कि राजा कर्ण दोपहर को सन्ध्या करके भोजन किया करते थे, स्वामी जी ने कहा कि यह ठीक नहीं, देखो महाभारत में महाराज श्रीकृष्ण जी जब द्वारिका से हस्तिनापुर को गए तो मार्ग में दो काल सन्ध्या करते थे।"[1]

इस पर पौराणिक पं० विद्यावारिधि श्री ज्वालाप्रसाद मिश्र जी ने अपनी पुस्तक "दयानन्द-तिमिर-भास्कर" पृ. ३० पंक्ति २२ में आक्षेप किया है—"स्वामी जी ने दो ही काल में सन्ध्या अग्निहोत्र करना लिखा है सो क्या अधिक करने में कोई पाप है? परमेश्वर का नाम जितना अधिक लिया जाय श्रेयस्कर है। इसलिये स्वामी जी का दो ही काल में सन्ध्या अग्निहोत्र का विधान ठीक नहीं।"

इस आक्षेप का निराकरण सामवेद-भाष्यकार अ० ग्रन्थों के प्रणेता, विद्वद्वरेण्य श्री तुलसीराम जी स्वामी मेरठ ने अपनी पुस्तक "भास्कर-प्रकाश" चतुर्थ संस्करण के पृष्ठ ४० में इस प्रकार किया है:—"जब आप को त्रिकाल सन्ध्या का कोई प्रमाण न मिला तो धन्य! यही लिख दिया कि परमेश्वर का नाम श्रेयस्कर है। हम भी तो कहते हैं कि परमेश्वर का जितना अधिक स्मरण करो अच्छा है, परन्तु प्रसंग तो यह है कि जिस सन्ध्योपासन के बिना किये द्विज पतित हो जाता है उसका विधान तो स्वामी जी के लेखानुसार ही शास्त्र से केवल दो काल में सिद्ध है। यूं तो "अधिकस्याधिकं फलम्" के अनुसार त्रिकाल सन्ध्या की अपेक्षा भी समस्त दिन उसकी उपासना करो तो क्या पाप है?"

पाश्चात्य पण्डितों की सम्मतियाँः—

सुप्रसिद्ध प्रोफेसर बेन एम. ए. एल-एल. डी. (Alexander Bain, M. A. LL. D.) अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "मन और शरीर" (Mind and body) में लिखते हैं:—

"प्रातः और सायंकाल का ही समय उत्तम तथा गहन विचारों के लिये है।"

अमेरिका का नामी योगी डा० इन्ड्रोजैक्सन डेविस (Dr. A. J. Davis) अपनी पुस्तक 'ग्रेट हारमोनिया' (Great Harmonia) में लिखते हैं—

"The twilight hour being the interlude between the states of action and rest is the properest season for reverential meditation. This is the time to disengage yourselves from the outer world of objects. The man of genius devotes this season to himself, and withdraws from outer things for the sake of contemplation....The mind is in its finest mood at the twilight hour, when the front brain is not surcharged with either blood or thought. But the case is quite different with the brain when the sun sends down its rays to earth. The heat and light thereof render the cerebrum positive fill it

1. 'आर्यधर्मेन्द्रजीवन' पृष्ठ ६१.

with blood, and prevent it, to a great extent, from exercising its powers of imagination. But when the sun has passed away the front brain is thrown partially into a negative state, thus permitting the higher faculties to play more restrainedly in the empire of thought. The mind cannot think as clear when the sun shines as in the twilight hour. Because that portion of the brain which controls all agents of superior thought, is the chief ruler of all that takes place in the physical economy. It directs all muscular action, guides the body in the discharge of its voluntary functions and dispenses energy to all the various physical dependencies. Consequently it is too much engrossed with cares of the body to do much thinking; and, besides this,—the sun renders the brain too positive for deep, clear, and pleasurable contemplation. The man of genius glowingly conceives his best thoughts, arranges them with the greatest facility and realizes the most happiness. When the heavens are tranquil and the vesper star is seen above the clouds, when all the vast landscape glimmers on the sight, the mind sees burning thoughts and words so eagle like, that it cannot but be exalted and serene. This is the period for religious contemplations. Because the front brain is less positively charged with blood and nervous energy then and the whole internal being is abandoned to a most luxurious exercise of its various affections and faculties."

अर्थात्—"दो काल की सन्ध्या का घण्टा क्रिया और विश्राम की मध्यवर्त्ती दशाओं का रूप होने से अत्यन्त गंभीर विचार करने के लिये है। यह वह काल है जब कि तुम्हें अपने आपको बाह्य संसार से पृथक् करना चाहिए। बुद्धिमान् पुरुष यह काल अपने सुधार के लिए उपयुक्त करता और विचार करने के लिए बाह्य पदार्थों से मन को हटाता है। प्रातः और सायंकाल के समय मन अपनी सब से स्वस्थ्य दशा में होता है। इस काल में माथे (सिर के पूर्व भाग) में रक्त वा विचारों की अधिकता नहीं होती। वह दुरवस्था मस्तिष्क की नहीं रहती जब कि सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणें भूगोल पर भेजने लगता है। सूर्य का ताप और प्रकाश उस समय आगे के अर्धकपाल को तेजप्रधान बनाकर उसमें रक्त संचार करा देता है और बहुत करके उसकी चिन्तन करने की शक्तियों के व्यवहार को रोक देता है। फिर जब सूर्यास्त होने का काल आता है तो मस्तिष्क के अगले भाग में तेज की अप्रधानता हो जाती है और इस प्रकार से एक बार फिर उच्च शक्तियों को मर्य्यादा से विचार के साम्राज्य में क्रीड़ा करने का समय मिलता है। जितना उत्तम चिन्तन मन दो काल सन्ध्याओं के घण्टों में कर सकता है, उतना सूर्य के प्रचण्ड तेज में नहीं कर सकता। कारण यह कि मस्तिष्क का वह भाग जो उच्च विचार के सर्व साधनों का शासक है, वही मुख्य नियंता उन सब मुख्य क्रियाओं का है जो शारीरिक विभाग में होती हैं। वह पट्ठों के सिकुड़ने फैलने की गति का चालक है तथा इच्छापूर्वक क्रियाओं के पूर्ण करने में शरीर का नेता बनता और नाना प्रकार के शारीरिक उपांगों में बल संचार करता है। अतः यह शरीर के रक्षण में इतना लग जाता है कि बहुत चिन्तन नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त सूर्य का ताप मस्तिष्क में इतना तेज भर देता है कि गंभीर, निर्मल और आनन्ददायक विचार करने के योग्य नहीं रहता। बुद्धिमान् मनुष्य अपने उत्तम विचार उत्तमता से धारण कर, उनको अत्यन्त सुगमता के साथ व्यवस्थित कर, अत्यन्त आनन्द का अनुभव कर सकता है। जब नभोमण्डल शान्त हो और सांझ का शुक्र तारा बादलों पर से ऊपर चमक रहा हो, जब की सर्व महान्-भू-दृश्य उज्ज्वल रूप में दृष्टिगत हो तो उस समय मन में प्रकाशमान विचार और दूरदर्शिता के शब्द भर जाते हैं। ऐसे काल में मन उन्नत और शान्त अवस्था प्राप्त किए बिना नहीं रह सकता। धर्म सम्बन्धी तत्त्वों के विचार करने का यही सन्धि-काल है। कारण कि मस्तिष्क के अगले भाग में तेज रक्त और विद्युतमय प्राण-शक्ति की अधिकता नहीं होती और सर्व अन्तरीय करणों को नाना प्रकार के अनुराग और शक्तियों के व्यवहार का पूर्ण अवसर मिलता है।" [शेष अग्राङ्के]

पदार्थ—हे (पूषन्) विद्या के द्वारा जगत् का पोषण करने वाले (नपात्) नाशरहित (देव) दिव्य गुण संपन्न विद्वन् ! दुःख के (अध्वनः) मार्ग से हमको (वितिर) पार कीजिये, (अंहः) रोगरूपी दुःखों के वेग को (विमुचः) दूर कीजिये और (पुरः) पहिले (नः) हम लोगों को (प्रसक्ष्व) उत्तम उत्तम गुणों में प्रसक्त कीजिये[1] ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य को चाहिये कि जैसे परमेश्वर की उपासना और उसकी आज्ञा के पालन से सब दुःखों को पार करके सब सुखों को प्राप्त करें, इसी प्रकार धर्मात्मा, सब के मित्र, परोपकार करने वाले विद्वानों की समीपता और उनके उपदेश से अविद्या जालरूपी मार्ग से पार होकर विद्यारूपी सूर्य को प्राप्त करें ॥ १ ॥

जो धर्म और राज्य के मार्गों में विघ्न करते हैं, उनका निवारण करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

यो नः पूषन्नघो वृको दुःशेव आदिदेशति ।
अप स्म तं पथो जहि ॥ २ ॥

पदार्थ—हे (पूषन्) सब जगत् को विद्या से पुष्ट करने वाले विद्वन् ! आप (यः) जो (अघः) पापी, (दुःशेवः) दुःख में शयन कराने योग्य (वृकः) स्तेन अर्थात् दुःख देन वाला चार (नः) हम लोगों को (आदिदेशति) उद्देश करके पीड़ा देता हो (तम्) उस दुष्ट स्वभाव वाले को (स्म) ही (पथः) राजधर्म और प्रजा मार्ग से (अपजहि) नष्ट वा दूर कीजिये ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि शिक्षा, विद्या तथा सेना के बल से दूसरे के धन को लेने वाले, शठ और चोरों को मारें, सर्वथा दूर करें, निरन्तर बाँधें । इस प्रकार राजधर्म और प्रजा के मार्गों को भय से रहित करें । जैसे जगदीश्वर दुष्टों को उनके कर्मों के अनुसार दण्ड के द्वारा शिक्षा करता है, वैसे ही हम लोग भी इन दुष्टों को शिक्षा और दण्ड द्वारा[2] श्रेष्ठ स्वभावयुक्त करें ॥ २ ॥

फिर इस मार्ग में किन किन का निवारण करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

अप त्यं परिपन्थिनं मुषीवाणं हुरश्चितम् ।
दूरमधि स्रुतेरज ॥ ३ ॥

---

१. संस्कृत अन्वय में मन्त्र गत 'सम्' पद छूट गया है, वह कहीं अन्वित नहीं होता । मन्त्रगत 'विमुचः' पद पञ्चम्यन्त है । संस्कृत पदार्थ में उसे क्रिया मान कर अर्थ किया है । ऐसा ही संस्कृत अन्वय में है । हमने भाषा भी संस्कृत के अनुकूल ही की है ।

२. संस्कृत भावार्थ में 'एते शिक्षादण्डवेदद्वारा' पाठ है । वहाँ कदाचित् 'एते वेदशिक्षादण्डद्वारा' शुद्ध पाठ हो । तदनुसार भावार्थ भी 'दुष्टों को वेद की शिक्षा और दण्ड के द्वारा' होगा ।

पदार्थ—हे विद्वान् राजन् ! आप (त्वम्) उस (परिपन्थिनम्) प्रतिकूल चलने वाले वा प्रसिद्ध मार्ग छोड़कर चोरी के लिये छिपे स्थान में रहने वाले डाकू (मुषीवाणम्) चोर कर्म से भित्ति को फोड़ कर वा दृष्टि का आच्छादन कर दूसरे के पदार्थों को हरनेवाले (हुरश्चितम्) उत्कोचक अर्थात् हाथ से ही दूसरे के पदार्थ को उचकाने वाले, अनेक प्रकार से चोरों को (स्रुतेः) गमनागमन के मार्गों से (दूरम्) दूर (अध्यपाज) कर दीजिये ॥ ३ ॥

भावार्थ—चोर अनेक प्रकार के होते हैं—कोई डाकू, कपट से धन हरने वाले, कोई मोहित करके दूसरे के पदार्थों को ग्रहण करने वाले, कोई उत्कोचक अर्थात हाथ से छीन लेने वाले, कोई रात में सुरंग लगाकर परपदार्थ ग्रहण करने वाले, कोई नाना प्रकार के व्यवहारी दुकानों में बैठ छल से पदार्थों को हरने वाले, कोई शुल्क अर्थात् रिश्वत लेने वाले, कोई भृत्य होकर स्वामी के पदार्थों को हरने वाले, कोई छल-कपट से औरों के राज्य को स्वीकार करने वाले, कोई धर्मोपदेश से मनुष्यों को भ्रमाकर गुरु बिन शिष्यों के पदार्थों को हरने वाले, कोई प्राड्विवाक अर्थात् वकील होकर मनुष्यों को विवाद में फँसाकर पदार्थों को हरने वाले और कोई न्यायासन पर बैठ रिश्वत ले के अथवा मित्रता के नाते अन्याय करने वाले इत्यादि हैं, इन सब को चोर जानो। इनको सब उपायों से निकाल कर मनुष्यों को धर्म से राज्य का पालन करना चाहिये ॥ ३ ॥

फिर इन पूर्वोक्त चोरों की क्या गति करनी चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

त्वं तस्य॑ द्वया॒विनो॒ऽघशं॑सस्य॒ कस्य॑ चित् ।
प॒दाभि ति॑ष्ठ॒ तपु॑षिम् ॥ ४॥

पदार्थ—हे सेनासभाध्यक्ष ! (त्वम्) आप (तस्य) उस (द्वयाविनः) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष औरों के पदार्थों को हरने वाले (कस्यचित्) किसी (अघशंसस्य) चोरों की (तपुषिम्) सेना को (पदा) बल से (अभितिष्ठ) वशीभूत कीजिये ॥ ४ ॥

भावार्थ—न्याय करने वाले मनुष्यों को उचित है कि किसी अपराधी चोर को दण्ड दिये बिना कभी न छोड़ना चाहिये। नहीं तो प्रजा पीड़ायुक्त होकर नष्ट-भ्रष्ट होने से राज्य का नाश हो जाय। इस कारण प्रजा की रक्षा के लिये दुष्ट कर्म करने वाले अपराध किये हुए माता, पिता, आचार्य और मित्र आदि को भी अपराध के योग्य ताड़ना अवश्य देनी चाहिये[1] ॥ ४ ॥

फिर वह न्यायाधीश कैसा होवे, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

आ तत् ते॑ दस्र मन्तु॒मः पूष॒न्नवो॑ वृणीमहे ।
येन॑ पि॒तॄनचो॑दयः ॥ ५ ॥ [२४]

पदार्थ—हे (दस्र) दुष्टों को नाश करने वाले (मन्तुमः) उत्तम ज्ञानयुक्त (पूषन्) सर्वथा पुष्टि करने वाले विद्वन् ! आप (येन) जिस रक्षादि से (पितॄन्) अवस्था वा ज्ञान से वृद्धों को (अचोदयः)

१. गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः । उत्पथप्रतिपन्नस्य दण्डं भवति शासनम् ॥

प्रेरणा करते हो, (तत्) उस (ते) आपके (अवः) रक्षादि को हम लोग (आवृणीमहे) सर्वथा स्वीकार करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे प्रेम प्रीति के साथ सेवन करने से उत्पन्न करने वा पढ़ाने वाले ज्ञान वा अवस्था से वृद्धों को तृप्त करें, वैसे ही सब प्रजाओं के सुख के लिये दुष्ट मनुष्यों को दण्ड दे के धार्मिकों को सदा सुखी रक्खें ॥ ५ ॥

फिर वह न्यायाधीश प्रजा में क्या करे, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

अधा नो विश्वसौभग हिरण्यवाशीमत्तम ।
धनानि सुषणा कृधि ॥ ६ ॥

पदार्थ—हे (विश्वसौभग) संपूर्ण ऐश्वर्यों को प्राप्त होने (हिरण्यवाशीमत्तम) अतिशय करके सत्य के प्रकाशक, उत्तम कीर्त्ति और सुशिक्षित वाणी युक्त सभाध्यक्ष ! आप (नः) हम लोगों के लिये (सुषणा) सुख से सेवन करने योग्य (धनानि) विद्या धर्म और चक्रवर्त्ति राज को लक्ष्मी से सिद्ध किये हुए धनों को प्राप्त कराके (अध) पश्चात् हम लोगों को सुखी (कृधि) कीजिये ॥ ६ ॥

भावार्थ—ईश्वर के अनन्त सौभाग्य वा सभा, सेना, न्यायाधीश धार्मिक मनुष्य के चक्रवर्त्ति राज्य आदि सौभाग्य होने से इन दोनों के आश्रय से मनुष्यों को असंख्यात विद्या सुवर्ण आदि धनों की प्राप्ति से अत्यन्त सुखों के भोग को करना वा कराना चाहिये ॥ ६ ॥

फिर वह हम लोगों को किस प्रकार का करे, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

अति नः सश्चतो नय सुगा नः सुपथा कृणु ।
पूषन्निह क्रतुं विदः ॥ ७ ॥

पदार्थ—हे (पूषन्) सब को पुष्ट करने वाले जगदीश्वर ! वा प्रजा का पोषण करने हारे सभाध्यक्ष विद्वन् ! आप (इह) इस संसार वा जन्म में (सश्चतः) विज्ञान युक्त विद्या धर्म को प्राप्त हुए (नः) हम लोगों को (सुगा) सुख पूर्वक जाने के योग्य (सुपथा) उत्तम विद्या धर्म युक्त विद्वानों के मार्ग से (अतिनय) अत्यन्त प्रयत्न से चलाइये और हम लोगों को उत्तम विद्यादि धर्म मार्ग से (क्रतुम्) उत्तम कर्म वा उत्तम प्रज्ञा को (विदः) प्राप्त कराइये ॥ ७ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में श्लेषालंकार है । सब मनुष्यों को ईश्वर की प्रार्थना इस प्रकार करनी चाहिये कि हे जगदीश्वर ! आप कृपा करके अधर्म मार्ग से हम लोगों को अलग कर धर्म मार्ग में नित्य चलाइये तथा विद्वान् से निवेदन[1] करना चाहिये कि हे विद्वन् ! आप हम लोगों को शुद्ध सरल वेद विद्या से सिद्ध किये हुए मार्ग में सदा चलाया कीजिये ॥ ७ ॥

---

१. यहाँ संस्कृत भावार्थ में कुछ असम्बद्धता प्रतीत होती है । अतः अजमेर मुद्रित भावार्थ भी अस्पष्ट है । हम ने कथंचित् स्पष्ट करने तथा संबद्ध बनाने का प्रयत्न किया है ।

फिर उसे क्या प्राप्त करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

अभि सूयवसं नय न नवज्वारो अध्वने ।
पूषन्निह क्रतुं विदः ॥ ८ ॥

पदार्थ—हे (पूषन्) [परमेश्वर !][1] सभाध्यक्ष [वा] (इह) इस संसार वा जन्मान्तर में (अध्वने) श्रेष्ठ मार्ग के लिये हम लोगों को (सुयवसम्) उत्तम यव आदि ओषधी वाले देश को (अभिनय) सब प्रकार प्राप्त कराइये और (क्रतुम्) उत्तम कर्म वा प्रज्ञा को (विदः) प्राप्त कराइये, जिससे इस मार्ग में चल के हम लोगों में (नवज्वारः) नवीन नवीन सन्ताप (न) न हो ॥ ८ ॥

भावार्थ—[इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥] हे परमेश्वर ! आप अपनी कृपा से श्रेष्ठ देश वा उत्तम गुण हम लोगों को दीजिये और सब दुःखों को निवारण कर सुखों को प्राप्त कराइये । हे विद्वन् सभा-सेनाध्यक्ष ! आप हम लोगों को विनयपूर्वक पालन से विद्या पढ़ाकर इस राज्य में सुख युक्त कीजिये ॥८॥

फिर वह कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

शग्धि पूर्धि प्र यंसि च शिशीहि प्रास्युदरम् ।
पूषन्निह क्रतुं विदः ॥ ९ ॥

पदार्थ—हे (पूषन्) सभा सेनाधिपते ! आप हम लोगों को सुख देने के लिये (शग्धि) समर्थ हों, आप सेना और प्रजा के सब अंगों की (पूर्धि) पूर्त्ति करें, (प्रयंसि) दुष्ट कर्मों से पृथक् रहें और (शिशीहि) सुख पूर्वक शयन करें,[2] और हम लोगों के (उदरम्) उदर को उत्तम अन्नों से (प्रासि) पूर्ण करें । (इह) इस प्रजा के सुख के लिये (क्रतुम्) युद्ध की विद्या वा कर्म को (विदः) प्राप्त हूजिये ॥९॥

भावार्थ—[3]सभा सेनाध्यक्ष के बिना इस संसार में कोई सामर्थ्य देने वा सुखों से अलंकृत करने, पुरुषार्थ को देने, चोर डाकुओं से भय निवारण करने, सब को उत्तम भोग देने और

---

१. इस मन्त्र का संस्कृत पदार्थ तथा संस्कृत अन्वय केवल सभाध्यक्ष परक है, परन्तु संस्कृत भावार्थ पूर्व मन्त्र के सदृश ईश्वर और सभाध्यक्ष दोनों परक है । भाष्य की क कापी में संस्कृत पदार्थ उभय परक था और अन्वय भी द्विविध पृथक् पृथक् था । अतः या तो वर्तमान संस्कृत पदार्थ और अन्वय के अनुसार भावार्थ में से ईश्वर परक पूर्वार्ध हटा देना चाहिये या पदार्थ में क कापी के अनुसार दोनों अर्थों का समन्वय कर देना चाहिये । प्रकृत मन्त्र से पूर्व मन्त्र में भी ईश्वर और सभाध्यक्ष परक उभयविध अर्थ किया है, इसलिये हम ने भी यहां क कापी के आधार पर उभयविध अर्थ कर दिया है । इस से पदार्थ और भावार्थ परस्पर संबद्ध हो जाते हैं ।

२. अर्थात् आपका कोई शत्रु न हो ।

३. संस्कृत भावार्थ तथा अजमेर मुद्रित भाषार्थ में यहां श्लेषालंकार का उल्लेख है । परन्तु प्रकृत सं० पदार्थ तथा सं० अन्वय में ऐसा कोई निर्देश नहीं है । प्रतीत होता है, यहां तथा उत्तर मन्त्र में भी पूर्व आठवें मन्त्र के समान क कापी में द्विविध अर्थ रहा होगा और उसका संशोधन करते समय इस पंक्ति को काटना रह गया । देखो पूर्व मन्त्र की टिप्पणी सं० १ ।

न्यायविद्या का प्रकाश करने वाला अन्य नहीं हो सकता। इससे दोनों का आश्रय सब मनुष्य करें ॥९॥

उसका आश्रय लेकर कैसे होना वा क्या करना चाहिये, इस विषय का
उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

न पूषणं मेथामसि सूक्तैरभि गृणीमसि ।
वसूनि दस्ममीमहे ॥ १० ॥　　[२५]

पदार्थ—हे मनुष्य लोगो! जैसे हम लोग (सूक्तैः) वेदोक्त स्तोत्रों से (पूषणम्) सभा और सेनाध्यक्ष की (अभिगृणीमसि) गुण ज्ञानपूर्वक स्तुति करते हैं, (दस्मम्) शत्रु को (मेथामसि) मारते हैं, (वसूनि) उत्तम वस्तुओं की (ईमहे) याचना करते हैं, और आपस में द्वेष कभी (न) नहीं करते, वैसे तुम भी किया करो ॥ १० ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है[1] ॥ किसी मनुष्य को नास्तिक वा मूर्खपन से सभासेनाध्यक्ष के आश्रय को छोड़ शत्रु की याचना न करनी चाहिये, किन्तु वेदों से राजनीति को जान के इन दोनों के सहाय से शत्रुओं को मार विज्ञान वा सुवर्ण आदि धनों को प्राप्त होकर उत्तम मार्ग में सुपात्रों के लिये दान देकर विद्या का विस्तार करना चाहिये ॥ १० ॥

इस सूक्त में पूषन् शब्द का वर्णन, शक्ति का बढ़ाना, दुष्ट शत्रुओं का निवारण, संपूर्ण ऐश्वर्य की प्राप्ति, सुमार्ग में चलना, बुद्धि वा कर्म का बढ़ाना कहा है, इससे इस सूक्त के अर्थ की संगति पूर्व सूक्तार्थ के साथ जाननी चाहिये।

यह पच्चीसवाँ वर्ग और बयालीसवाँ सूक्त समाप्त हुआ ॥ ४२ ॥

---

[४३]

अथ नवर्चस्य त्रयश्चत्वारिंशस्य सूक्तस्य घौरः कण्व ऋषिः । १, २, ४, ५, ६ रुद्रः; ३ मित्रावरुणौ; ७, ८, ९ सोमश्च देवताः । १, ४, ७, ८ गायत्री; ५ [यवमध्या] विराड्गायत्री; ६ पादनिचृद्गायत्री च छन्दः । षड्जः स्वरः । ९ अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अत्र तेंतालीसवें सूक्त का आरम्भ है। उसके पहिले मन्त्र में रुद्र शब्द
के अर्थ का उपदेश किया है ॥

कद्रुद्राय प्रचेतसे मीळ्हुष्टमाय तव्यसे ।
वोचेम शन्तमं हृदे ॥ १ ॥

पदार्थ—हम लोग (कत्) कब (प्रचेतसे) उत्तम ज्ञानयुक्त (मीढुष्टमाय) अतिशय करके सेचन करने वा (तव्यसे) अत्यन्त वृद्ध (हृदे) हृदय में रहने वाले (रुद्राय) परमेश्वर जीव वा प्राण

१. संस्कृत भावार्थ तथा अजमेर मुद्रित भाषा भावार्थ में श्लेषालंकार का उल्लेख है। वस्तुतः वाचकलुप्तोपमालंकार होना चाहिये।

वायु के ज्ञान के लिये (शंतमम्) अत्यन्त सुखरूप वेद का (वोचेम) अच्छे प्रकार उपदेश करें ॥ १ ॥

भावार्थ—रुद्र शब्द से तीन अर्थों का ग्रहण है—परमेश्वर, जीव और वायु। उनमें से परमेश्वर अपने सर्वज्ञपन से जिसने जैसा पाप कर्म किया उस कर्म के अनुसार फल देने से उसको रोदन कराने वाला है। जीव जब मरने के समय शरीर को छोड़ता है और पाप कर्म के फलों को भोगता है तब अपने आप रोता है और वायु, शूल आदि पीड़ा कर्म से रोदन कर्म का निमित्त होता है। अत एव इन तीनों को रुद्र समझना चाहिये ॥ १ ॥

फिर वह क्या करता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

यथा॑ नो॒ अदि॑तिः कर॒त् पश्वे॒ नृभ्यो॒ यथा॒ गवे॑।
यथा॑ तो॒काय॑ रु॒द्रिय॑म् ॥ २ ॥

पदार्थ—(यथा) जैसे (तोकाय) उत्पन्न हुए बालक के लिये (अदितिः) माता (यथा) जैसे (पश्वे) पशु समूह के लिये पशुओं का पालक (यथा) जैसे (नृभ्यः) मनुष्यों के लिये राजा और जैसे (गवे) इन्द्रियों के लिये जीव वा पृथिवी के लिये खेती करने वाला सुखों को (करत्) करता है वैसे (नः) हम लोगों के लिये (रुद्रियम्) परमेश्वर वा पवनों का कर्म प्राप्त हो ॥ २ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालंकार है। जैसे माता पिता के विना पुत्र के लिये, गोपाल के विना पशुओं के लिये और राजसभा के विना प्रजा के लिये सुख नहीं होता है, वैसे ही विद्या और पुरुषार्थ के विना सुख नहीं होता ॥ २ ॥

अब सब के साथ विद्वान् लोग कैसे वर्तें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

यथा॑ नो मि॒त्रो वरु॑णो॒ यथा॑ रु॒द्रश्चिके॑तति।
यथा॒ विश्वे॑ स॒जोष॑सः ॥ ३ ॥

पदार्थ—(यथा) जैसे (मित्रः) सखा वा प्राण (वरुणः) उत्तम उपदेष्टा वा उदान वायु (यथा) जैसे (रुद्रः) परमेश्वर (नः) हम लोगों को (चिकेतति) ज्ञानयुक्त करते हैं (यथा) जैसे (विश्वे) सब (सजोषसः) स्वतुल्य प्रीति से सेवन करने वाले विद्वान् लोग सब विद्याओं के जानने वाले होते हैं वैसे यथार्थवक्ता पुरुष सब को जनाया करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥ विद्वान् लोगों को मित्रपन और उत्तम शील धारण करके सब मनुष्यों के लिये यथार्थ विद्याओं का उपदेश करें। जैसे परमेश्वर ने वेद द्वारा सब विद्याओं का प्रकाश किया है, वैसे विद्वान् अध्यापकों को भी सब मनुष्यों को विद्यायुक्त करना चाहिये ॥ ३ ॥

फिर वह रुद्र कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ।

गाथपतिं मेधपतिं रुद्रं जलाषभेषजम् ।
तच्छंयोः सुम्नमीमहे ॥ ४ ॥

पदार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे हम लोग (गाथपतिम्) स्तुति करने वालों के पालक (मेधपतिम्) यज्ञ वा पवित्र पुरुषों की पालना करने वाले (जलाषभेषजम्) जिससे सुख के लिये ओषधी हो उस (रुद्रम्) परमेश्वर के आश्रित होकर (तत्) उस विज्ञान, (शंयोः) व्यावहारिक पारमार्थिक सुख और (सुम्नम्) मोक्ष के सुख की (ईमहे) याचना करते हैं वैसे तुम भी करो ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है ।[1] कोई भी मनुष्य स्तुति, यज्ञ वा दुःखों को नाश करने वाली ओषधियों की प्राप्ति कराने वाले परमेश्वर, विद्वान् और प्राणायाम के विना विज्ञान, और लौकिक सुख वा मोक्ष सुख को प्राप्त नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

फिर वह कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

यः शुक्रइव सूर्यो हिरण्यमिव रोचते ।
श्रेष्ठो देवानां वसुः ॥ ५ ॥ [२६]

पदार्थ—हे मनुष्यो ! आप लोग (यः) जो पूर्व कहा हुआ रुद्र सेनापति (सूर्यः शुक्र इव) भास्कर सूर्य के समान तेजस्वी शुद्ध (हिरण्यमिव) सुवर्ण के तुल्य (रोचते) प्रीतिकारक है और (देवानाम्) सब विद्वान् वा पृथिवी आदि के मध्य में (श्रेष्ठः) अत्युत्तम (वसुः) सम्पूर्ण प्राणी मात्र का बसाने वाला है उसको सेना का प्रधान करो ॥ ५ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥ मनुष्यों को उचित है कि जैसे परमेश्वर सब ज्योतियों का ज्योति, आनन्दकारियों का आनन्दकारी, श्रेष्ठों में श्रेष्ठ, विद्वानों में विद्वान् और आधारों का आधार है, वैसे ही जो न्यायकारियों में न्यायकारी, आनन्द देने वालों में आनन्द देने वाला, श्रेष्ठ स्वभाव वालों में श्रेष्ठ स्वभाव वाला, विद्वानों में विद्वान् और वास हेतुओं का वासहेतु वीर पुरुष हो, उसको सभाध्यक्ष मानना चाहिये ॥ ५ ॥

वह उसके लिये क्या करता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

शं नः करत्यर्वते सुगं मेषाय मेष्ये ।
नृभ्यो नारिभ्यो गवे ॥ ६ ॥

पदार्थ—जो रुद्र (नः) हम लोगों की (अर्वते) अश्वजाति (मेषाय) मेषजाति (मेष्ये) भेड़

१. यह पाठ संस्कृत भावार्थ में नहीं है, परन्तु संस्कृत अन्वय में 'यथा तथा' पदों का प्रयोग होने से आवश्यक है ।

[illegible] ॥ ६ ॥

प्रार्थना, विद्वानों की सहायता और प्राण वायुओं की यथावत् [illegible] ॥ ६ ॥

अब अगले मन्त्र में रुद्र के गुणों का उपदेश किया है ॥

अ॒स्मे सो॑म श्रि॒यमधि॒ नि धे॑हि श॒तस्य॑ नृ॒णाम् ।
महि॒ श्रव॑स्तुविनृ॒म्णम् ॥ ७ ॥

पदार्थ—हे (सोम) जगदीश्वर[1] सभाध्यक्ष वा आप (अस्मे) हम लोगों के लिये वा हम लोगों के (शतस्य) बहुत (नृणाम्) वीर पुरुषों के (तुविनृम्णम्) अनेक प्रकार के धन (महि) पूज्य वा बहुत (श्रवः) विद्या का श्रवण और (श्रियम्) राज्यलक्ष्मी को (अधिनिधेहि) स्थापन कीजिये ॥७॥

भावार्थ—इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥ कोई प्राणी परमेश्वर की कृपा, सभाध्यक्ष की सहायता वा अपने पुरुषार्थ के बिना पूर्ण विद्या, पशु, चक्रवर्ती राज्य और लक्ष्मी को प्राप्त नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

फिर वह किसका निवारण करे, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

मा नः॑ सोमपरि॒बाधो॒ मारा॑तयो जुहुरन्त ।
आ न॑ इन्दो॒ वाजे॑ भज ॥ ८ ॥

पदार्थ—हे (इन्दो) सुशिक्षा से आर्द्र करने वाले सभाध्यक्ष ! (नः) हम लोगों को (सोमपरिबाधः) जो उत्तम पदार्थों को सब प्रकार दूर करने वाले विरोधी पुरुष हैं, वे हम पर (मा जुहुरन्त) प्रबल न होवें और जो (नः) हम लोगों के (अरातयः) जो दान आदि धर्मरहित हठ करने वाले शत्रु हैं उनका (वाजे) युद्ध में (मा) मत (आभज) सेवन कर ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि अत्यन्त उत्तम बल और युद्ध से[2] सब शत्रुओं को जीत कर सत्य न्याय युक्त राज्य का पालन करना चाहिये ॥ ८ ॥

---

१. संस्कृत पदार्थ और संस्कृत अन्वय में जगदीश्वर पद नहीं है। अजमेर मुद्रित भावार्थ में विद्यमान है। संस्कृत और हिन्दी भावार्थ में श्लेषालंकार का निर्देश है, तथा उसमें दोनों (परमेश्वर, सभाध्यक्ष) का निर्देश है। अतः यहां परमेश्वर पद आवश्यक है।

२. यहाँ अजमेर मुद्रित भावार्थ में 'इस मन्त्र में श्लेषालंकार है।...... बल के साहित्य से परमेश्वर वा सभाध्यक्ष के आश्रय वा अपने पुरुषार्थ युक्त युद्ध में......' ऐसा पाठ है, वह प्राचीन व काशी के संस्कृत पाठ के अनुसार प्रतीत होता है।

जाति (नृभ्यः) मनुष्य जाति (नारिभ्यः) स्त्री जाति और (मेषे) मेषजाति के लिये (सुगम्) सुगम (शम्) सुख को निरन्तर (करति) करे, उसे ही न्यायाधीश मानना चाहिये ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को अपने वा अपने पराये मनुष्यों और पशुओं के सुख के लिये परमेश्वर की प्रार्थना, विद्वानों की सहायता और प्राण वायुओं का यथावत् उपयोग और अपना पुरुषार्थ करना चाहिये ॥ ६ ॥

अब अगले मन्त्र में रुद्र के गुणों का उपदेश किया है ॥

अस्मे सोम श्रियमधि नि धेहि शतस्य नृणाम् ।
महि श्रवस्तुविनृम्णम् ॥ ७ ॥

पदार्थ—हे (सोम) जगदीश्वर[1] सभाध्यक्ष वा आप (अस्मे) हम लोगों के लिये वा हम लोगों के (शतस्य) बहुत (नृणाम्) वीर पुरुषों के (तुविनृम्णम्) अनेक प्रकार के धन (महि) पूज्य वा बहुत (श्रवः) विद्या का श्रवण और (श्रियम्) राज्यलक्ष्मी को (अधिनिधेहि) स्थापन कीजिये ॥७॥

भावार्थ—इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥ कोई प्राणी परमेश्वर की कृपा, सभाध्यक्ष की सहायता वा अपने पुरुषार्थ के बिना पूर्ण विद्या, पशु, चक्रवर्ती राज्य और लक्ष्मी को प्राप्त नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

फिर वह किसका निवारण करे, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

मा नः सोमपरिबाधो मारातयो जुहुरन्त ।
आ न इन्दो वाजे भज ॥ ८ ॥

पदार्थ—हे (इन्दो) सुशिक्षा से आर्द्र करने वाले सभाध्यक्ष ! (नः) हम लोगों को (सोमपरिबाधः) जो उत्तम पदार्थों को सब प्रकार दूर करने वाले विरोधी पुरुष हैं, वे हम पर (मा जुहुरन्त) प्रबल न होवें और जो (नः) हम लोगों के (अरातयः) जो दान आदि धर्मरहित हठ करने वाले शत्रु हैं उनका (वाजे) युद्ध में (मा) मत (आभज) सेवन कर ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि अत्यन्त उत्तम बल और युद्ध से[2] सब शत्रुओं को जीत कर सत्य न्याय युक्त राज्य का पालन करना चाहिये ॥ ८ ॥

---

१. संस्कृत पदार्थ और संस्कृत अन्वय में जगदीश्वर पद नहीं है। अजमेर मुद्रित भाषार्थ में विद्यमान है। संस्कृत और हिन्दी भावार्थ में श्लेषालंकार का निर्देश है, तथा उसमें दोनों (परमेश्वर, सभाध्यक्ष) का निर्देश है। अतः यहां परमेश्वर पद आवश्यक है।

२. यहां अजमेर मुद्रित भावार्थ में 'इस मन्त्र में श्लेषालंकार है।……बल के साहित्य से परमेश्वर वा सभाध्यक्ष के आश्रय वा अपने पुरुषार्थ युक्त युद्ध में……' ऐसा पाठ है, वह प्राचीन क कापी के संस्कृत पाठ के अनुसार प्रतीत होता है।

रजिस्टर्ड नं० ए० ६४९

संपादक, प्रकाशक व मुद्रक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, आर्य विजय प्रेस, बीबीहटिया बनारस।

ओ३म्

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ७] ❀ [अङ्क ४

इस अंक के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

माघ २०११, फरवरी १९५५
दयानन्दाब्द १२९
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५४

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
बनारस.नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
„ „ विदेश में ६)
इस अंक का ॥)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास **प्रथम तिथि को** प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ॥) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा।

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क **विशाल विशेषाङ्क** के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १ तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख **'सम्पादक वेदवाणी'** के नाम से आने चाहिएं। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। **विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है।** विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सम्बन्धी धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना **ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें**, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—**वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस ६**

ओ३म्

वेदवाणी

सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष ७ | काशी, माघ सं० २०११ वि०, फरवरी १९५५ ई० | अङ्क ४

आर्याभिविनयसे

विन्ध्यवासिनीप्रसाद अग्रवाल

सरस्वती की प्रार्थना

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः॥ १।१।६।१०॥

…जिनीवती[1] तेजस्विता और कल्पना शक्ति से युक्त
…यावसुः[2] ज्ञान द्वारा पुष्टिकर्त्ता और दुःखहर्त्ता
…रस्वती[3] स्वाद-आनन्द लेने योग्य समुद्र की तरह गंभीर वेदविद्या
…जेभिः अपनी विविध शक्तियों द्वारा
हमारे लिये

पावका[4] धर्माधर्म कर्त्तव्याकर्त्तव्य सारासार का विवेचक (भूत्वा) होकर
यज्ञम्[5] भक्तों के प्रशंसक, सब वस्तुओं से निकटतम सम्बन्ध रखनेवाले और दानदाता परमात्मा की
वष्टु[6] चाह वाला हो।

…विबोधक टिप्पणी—

१. वेगवान् (दया० यजुर्भाष्ये २।७) wing strength
२. fr वस = निवासे (भ्वा०) आच्छादने (अदा०) स्नेहच्छेदापहरणेषु (चुरा०)
३. fr सरस्वत् = tarty ocean
४. fr पूङ् = पवने (भ्वा० क्रया०) to clean from chaff to discern to discriminate to become pure.
५. fo यज् = देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु (भ्वा०)
६. fr वश् = कान्तौ (अदा०)

ऋषिव्याख्यान—

हे वाक्पते[७] ! सर्वविद्यामय ! "नः" हमको आपकी कृपा से "सरस्वती" सर्वशास्त्र विज्ञानयुक्त वाणी,[८] प्राप्त हो। "वाजेभिः" तथा उत्कृष्ट अन्नादि के साथ वर्त्तमान[९] "वाजिनीवती" सर्वोत्तम क्रिया विज्ञानयुक्त "पावका" पवित्र स्वरूप[११] और पवित्र करने वाली,[१२] सदैव सत्यभाषणमय, मङ्गलकारक वाणी को आपकी प्रेरणा से प्राप्त हो के, आप के अनुग्रह से "धियावसुः" परमोत्तम बुद्धि के साथ वर्त्तमान[१३] निधिस्वरूप यह वाणी "यज्ञं वष्टु" सर्वशास्त्र बोध और पूजनीयतम आप के विज्ञान[१५] की कामनायुक्त सदैव हो, जिससे हमारी सब मूर्खता नष्ट हो और हम महापाण्डित्ययुक्त[१६] हों॥

---

७. वाक्पते = हे विद्या के स्वामी

८. वाणी = वेदज्ञान

९. के साथ वर्त्तमान = देनेवाली

१०. क्रिया विज्ञानयुक्त = ईश्वर से लेके तृणपर्यन्त पदार्थों का यथावत् बोध होना और उनका उपयोग

११. पवित्रस्वरूप = सर्वथा दोष रहित

१२. पवित्र करने वाली = मुक्तोन्मुखी करने वाली

१३. परमोत्तम बुद्धि के साथ वर्त्तमान = अनेक विद्या के ज्ञान और विवेचन शक्ति का

१४. निधिस्वरूप = भण्डार

१५. आप के विज्ञान = ईश्वर का साक्षात्कार और उससे लाभ

१६. महापाण्डित्ययुक्त हों = सब विषयों में विवेचन शक्ति से युक्त हों, धर्मनिर्णय में समर्थ हों।

(पृष्ठ ६ का शेष)

ष्मान् अर्थात् यज्ञमय बना लेता है। इसीलिए वेद में प्रभु-प्राप्ति की तीव्र आकांक्षा रखने वाले भक्त भगवान् से प्रार्थना करते हैं—

वयमिन्द्र ! त्वायवो हविष्मन्तो जरामहे।
उत त्वमस्मयुर्भव. ॥ ऋ० ३।४१।७॥

हे इन्द्र ! हम तेरे उपासक हविष्मान् बनकर, अपने जीवन को यज्ञमय बनाकर तेरी साधना करें जिससे कि तू हमारा और हम तेरे बन जाएँ। अतः जो भक्त प्रभु को अपना बनाना चाहता है, उसे वेद के कथनानुसार अपने जीवन को यज्ञमय बनाकर प्रभु का बन जाना होगा। वेद ने तो प्रभु का नाम ही "यज्ञसाध" रखा है। अर्थात् जिसकी साधना यज्ञ द्वारा ही हो सकती है। वेद कहता है—

तमीळत प्रथमं यज्ञसाधम् ।†

हे प्रभु-प्राप्ति के अभिलाषी जनो ! याद रखो वह मंगलमय प्रभु "यज्ञसाध" है। अतः यदि तुम उसे प्राप्त करना चाहते हो तो यज्ञसाधना द्वारा ही उसकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना करो।

वह प्रभु 'यज्ञसाध्य' है इसीलिए ही तो वेद कहता है—

यज्ञेन वर्धत जातवेदसमग्निम्। यजध्वं हविषा तना गिरा ॥‡

हे मनुष्यो ! उस वेदज्ञान के भण्डार परमात्म-ज्योति को यज्ञ द्वारा ही अपने हृदय-मन्दिर में प्रकाशित करो और अपने यज्ञमय कर्मों की हवि द्वारा तथा प्रेमरसभरी उदार वाणी द्वारा उसके पवित्र नाम का स्मरण और उसके पवित्र गुणों का कीर्तन करते हुए उस परम ज्योति को दिन प्रतिदिन अपने हृदय-मन्दिर में बढ़ाते चलो।

पाठक वृन्द ! देखें वेद ने प्रभु-प्राप्ति का कैसा सुन्दर मार्ग बताया है, और किस प्रकार प्रभु के पावन-स्वरूप का, भक्त के कर्तव्यों का और प्रभु-प्राप्ति के पवित्र उद्देश्यों का मार्मिक वर्णन किया है। ईश्वर-प्राप्ति का ऐसा सुन्दर स्वरूप क्या और कोई ग्रन्थ बता सकता है ? आओ! हम वेदानुयायी आर्यजन वेदवर्णित प्रभु प्राप्ति के पावन पथ पर चलकर अपने जीवनों को पवित्र, शान्त और सुखमय बनावें !!!

---

† ऋग्वेद १।९६।३॥ ‡ ऋ० २।२।१॥

प्रभुभक्ति का वैदिकस्वरूप

ले०—श्री पं० भद्रसेन जी आचार्य, विरजानन्द विद्यालय, अजमेर

आत्मिक शान्ति और पूर्णानन्द को प्राप्त करने के लिए ही यह जीव मानवदेह में अवतरित हुआ है। यही इसके जीवन का चरम लक्ष्य है। इसीलिए ही यह जीव सुख और शान्ति का अभिलाषी बनकर उसकी प्राप्ति के लिए दर-ब-दर भटकता और ठोकरें खाता फिरता है। उसके जीवन का सारा क्रिया-कलाप सारी उधेड़-बुन केवल जीवन को शान्त और सुखमय बनाने के लिए ही है। किन्तु इस जीवन संग्राम में इतनी खटपट और उधेड़-बुन करने पर भी जीव उस सच्चे सुख और शान्ति से वञ्चित ही रहता है। इतना ही नहीं प्रत्युत कभी २ तो वह जीवन में सुख और शान्ति के स्थान पर अत्यन्त क्लेश, दुःख और अशान्ति का ही अनुभव करता है। संसार के नाना प्रकार के सुखप्रद विषयों और वैभव का भोग करता हुआ भी वह उनमें उस शान्ति और आनन्द का अनुभव नहीं करता, जिसकी उसे चिर अभिलाषा है। ऐसा क्यों? इसका एकमात्र उत्तर यही है कि जिन भौतिक पदार्थों में वह परमानन्द और परमशान्ति का अभिलाषी बन भटक रहा है, वे पदार्थ स्वयं सुख और शान्ति से रहित हैं। भला जिनके पास जो वस्तु है ही नहीं, वे दूसरे को क्या दे सकेंगे? जो स्वयं भूख से तड़प रहा है, वह हमें कैसे भोजन खिला सकेगा, और हमारी भूख को शान्त कर सकेगा? इसीलिए जब आत्मा इन भौतिक पदार्थों में भटक कर निराश हो जाती है, उसे अपने अभीष्ट की प्राप्ति नहीं होती। इतना ही नहीं, प्रत्युत यह विश्व के विविध विषय-भोग और आमोद-प्रमोद, सुख और शान्ति के स्थान पर उलटा उसके दुःख और अशान्ति का कारण बन जाते हैं, तो वह निराश हो जाता है। उसका आत्मा संतप्त हो उठता है, उसे चारों ओर विषय वासनाओं की जलती हुई प्रचण्ड ज्वालाएँ व्याकुल और अशांत बना देती हैं। उस समय उसे सुख और शान्ति के परमधाम प्रभु का ध्यान आता है, और वह पश्चाताप करता हुआ वेद के शब्दों में प्रभु से पुकार उठता है—

सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः।[1]

हे दीनबन्धो! हे अधमोद्धारक! अब तो मुझे ये तृष्णाएँ, ये विश्व की क्षणिक कामनाएँ और विषयों की विषभरी वासनाएँ सपत्नियों के समान सन्तप्त कर रही हैं। भगवन्! अब मैं सब ओर से निराश होकर और तेरा भक्त बनकर तेरे द्वार पर आया हूं। हे दीनबन्धो! क्या इस दीन की पुकार न सुनोगे? क्या अपने इस भक्त को विश्व की क्षणिक वासनाओं और तृष्णाओं से हटाकर अपनी प्रेममयी पावन गोद में नहीं लोगे? उस समय ऋषि दयानन्द के शब्दों में प्रभु उस अतिव्याकुल भक्त की करुण पुकार को सुनते हैं और उसे अपनी शक्तिमयी गोद में ले लेते हैं। प्रभु अपने उपासक को निज शरण में कैसे ले लेते हैं, इस सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द 'सत्यधर्म-विचार' नामक पुस्तक में लिखते हैं—

"जब सच्चे मन से अपने आत्मा, प्राण और सब सामर्थ्य से जीव भगवान् को भजता है तो वह करुणामय परमेश्वर उसको अपने आनन्द में स्थिर कर देता है। जैसे जब कोई छोटा बालक घर के ऊपर से अपने माता-पिता के पास नीचे आना चाहता है, या नीचे से ऊपर उनके पास जाना चाहता है, तब हजारों आवश्यक कामों को भी माता-पिता छोड़कर अपने लड़के को उठाकर गोद में ले लेते हैं, कि कहीं यदि हमारा लड़का गिर पड़ेगा, तो उसको चोट लगने से दुःख होगा, और जैसे माता-पिता अपने बच्चों को सदा सुख में रखने की इच्छा और पुरुषार्थ सदा करते रहते हैं, वैसे ही परम कृपानिधि परमेश्वर की ओर जब कोई सच्चे आत्मभाव से चलता है, तब वह प्रभु अनन्त शक्ति रूप हाथों से उस जीव को उठाकर अपनी गोद में सदा के लिए ले लेते हैं। फिर उसको किसी प्रकार का दुःख नहीं होने देते।"

वास्तव में योगी जनों के शब्दों में इस अविद्या आदि पंच क्लेशों से संतप्त और परिणाम, ताप, संस्कार

---

१. ऋग्वेद १।१०५।८॥

आदि दुःखों से दुःखी जीव के लिए एकमात्र वह सच्चिदानन्द प्रभु ही सच्ची शान्ति और परमसुख का सहारा है। इसीलिए वेद कहता है—

न त्वदृते अमृता मादयन्ते।

"हे आनन्दकन्द, सच्चिदानन्द, प्रभो! तेरी शरणागति के बिना तेरे ये अमृत पुत्र पूर्णानन्द को प्राप्त नहीं कर सकते।"

वास्तव में जो मनुष्य अपने जीवन को कदाचारों और कुत्सित संस्कारों से हटाकर उस प्रभु की शरण में आ जाता है, दूसरे शब्दों में वह अपनी अधमावस्था पर पश्चात्ताप करता हुआ उसका परित्याग कर सत्पुरुष अर्थात् सन्मार्गगामी बन जाता है, भगवान् अवश्य उसके ऊपर सब प्रकार के सुखों की वर्षा करते हैं। इसीलिए वेद कहता है—

"त्वमग्ने इन्द्रो वृषभः सतामसि"[1]

हे परमज्योतिर्मय प्रभो! तुम ही तो सत्पुरुषों के लिए, अपने अनन्य भक्तों के लिए इन्द्र और वृषभ बनकर उनके ऊपर समग्र ऐश्वर्यों और सकल सुखों की वर्षा करने वाले हो।

"मा ते भयं जरितारम्" ※

तेरे प्रेमी भक्त को भय, चिन्ता और दुःख कहाँ? वेद के उपर्युक्त वचनों से सिद्ध होता है कि एक मात्र प्रभु भक्ति ही इस भव-बन्धन में पड़े जीव को सुख, शान्ति और परमानन्द प्रदान करने वाली है। बिना ईश्वर आराधना के आत्मा को परम शान्ति और परमानन्द की उपलब्धि होना बहुत कठिन ही नहीं अपितु नितान्त असम्भव है।

अब उस प्रभु-भक्ति का क्या स्वरूप है, थोड़ा इस पर विचार करना चाहिये। भक्ति में तीन बातों का जान लेना परमावश्यक है, हम किसकी भक्ति करें, कैसे बनकर करें, और क्यों करें? बिना इन तीन बातों के जाने जो जन भक्ति मार्ग पर चलने लगते हैं, वे सदा अपने चरम लक्ष्य से वञ्चित ही रहते हैं, उन्हें निज अभीष्ट की प्राप्ति नहीं होती। अतः भक्ति मार्ग के पथिक को उपर्युक्त तीनों बातों का जान लेना परमावश्यक है।

भक्त का पहिला कर्तव्य है कि वह यह विचार करे कि जिसको वह अपना आराध्य देव बनाने चलता है, जिस सुन्दर स्वरूप को वह अपने हृदय-मन्दिर में बैठाना चाहता है, उसका क्या स्वरूप है। उसकी उपासना करने पर मुझे अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति होगी या नहीं। भक्त कैसे आराध्यदेव की आराधना करें, इस सम्बन्ध में अथर्ववेद में एक सुन्दर मन्त्र आता है—

तमुष्टुहि यो अन्तः सिन्धुः सूनुः सत्यस्य युवानमद्रोघवाचं सुशेवम्॥

अथर्ववेद ६।१।१

वेद कहता है—हे भक्त! यदि तू सच्ची शान्ति और परमानन्द को प्राप्त करना चाहता है तो [तम्+उ+स्तुहि] उस ही प्रभु की आराधना कर (यः अन्तः सिन्धुः) जो इस संसार में रम रहा है (सत्यस्य+सूनुः) जो सदा सत्य ही की प्रेरणा करता है (युवानम्) जो सर्वदा एकरस रहता है (सुशेवम्) जो सारे बलों, सुखों और आनन्द का भण्डार है (अद्रोघवाचम्) जिसकी वाणी में किसी के प्रति असत्य, द्रोह और विश्वासघात नहीं है।

भक्त सोचता है मैं अपने प्रभु को कैसे मिलूं। मेरा वह प्रियतम मुझे कहाँ मिलेगा, और नाना प्रकार की तृष्णाओं और आसुरी वासनाओं रूपी तरङ्गों से तरङ्गित, काम, क्रोध, राग, मोह, ईर्षा आदि जल-जन्तुओं से पूर्ण इस भवसागर में मेरा कौन सहारा है। इन दोनों आशंकाओं का समाधान वेद एक ही शब्द में कर देता है (तमु+स्तुहि यो अन्तः सिन्धुः) भक्त तू उस प्रभु की ही स्तुति कर जो सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी है। उस आराध्यदेव की आराधना करने के लिये तुझे अन्यत्र कहीं भटकना नहीं पड़ेगा। क्योंकि वह तेरा आराध्यदेव तो तेरा अन्तर्यामी और तेरे रोम रोम में रम रहा है। फिर तुझे इधर उधर

१. ऋ० २।१।३॥
※ अ० १।१८९।४॥

जाने और भटकने की क्या आवश्यकता है। और इसमें भी कुछ सन्देह नहीं कि यह संसार एक अथाह सागर है, और यह जीव अपनी दुर्वासनाओं और निर्बलताओं के वशीभूत होकर अहर्निश इसमें गोते खा रहा है। परन्तु यह भी ध्रुव सत्य है कि जो भक्त उस करुणामय प्रभु का आश्रय ले लेता है, उसकी शरण में आ जाता है, वह इस भवसिन्धु से तर कर पार हो जाता है[१]। फिर उसे बार बार इस भवसिन्धु में गोते खाने नहीं पड़ते। भगवान् स्वयं 'अन्तःसिन्धु' बन कर अपने प्रिय भक्त को निज करुणामय हाथों से पार कर देते हैं। भक्त यह न समझ ले कि कहीं मैं इस अध्यात्म मार्ग पर, प्रभु प्राप्ति के पावन पथ पर चल कर भटक तो नहीं जाऊँगा, कहीं ठोकरें तो नहीं खाता फिरूँगा! वेद कहता है भक्त इसकी भी तू चिन्ता मत कर, प्रभु प्राप्ति के पावन पथ पर चलनेवाला उपासक कभी भटका नहीं करता। कभी ठोकरें नहीं खाया करता। क्योंकि भगवान् तो 'सत्यस्य सूनुः' हैं, वे सदा सत्य की ही प्रेरणा किया करते हैं। अपने भक्त को सदा सन्मार्ग पर ही चलाते हैं, उसे कभी भी कुमार्गगामी नहीं बनने देते। फिर जो भगवान् का भक्त असन्मार्गारूढ़ ही नहीं होता, फिर भला वह भटकेगा कैसे? जिस प्रभु प्राप्ति के पथ पर सदा सत्य का ही प्रकाश देदीप्यमान हो रहा है, वहाँ ठोकरें और धक्के कहाँ? फिर भक्त सोचता है यह जो मैं संसार के जन्म-मरण के बन्धन में फँसकर नाना दुःखों और क्लेशों से संतप्त हो रहा हूं, क्या प्रभु-उपासना से यह जन्म, जरा, मृत्यु का बन्धन भी मुझ से सदा के लिए छूटेगा या नहीं? इस सम्बन्ध में भी वेद भक्त को आश्वासन देता है, 'भक्त इसकी भी तू चिन्ता मत कर।' भगवान् का अनन्य भक्त उसकी प्रेममयी गोद में बैठकर कभी जन्म, जरा, मृत्यु के भवपाश में नहीं फँसता। वह तो अपने आत्म स्वरूप में स्थित होकर सदा युवा अर्थात् एक रस ही बना रहता है क्योंकि भगवान् स्वयं "युवा" अर्थात् सदा एक रस ही रहने वाले हैं। सदा युवा रहने वाले प्रभु के भक्त को जन्म, जरा, मृत्यु का भय कहाँ?

प्रभु प्राप्ति का लक्ष्य केवल जन्म, जरा, मृत्यु से छुटकारा पाना ही नहीं, प्रत्युत उससे छूटकर उस परमानन्द और परम शान्ति को प्राप्त करना है जिसकी खोज में जीव जन्मजन्मान्तरों से भटक रहा है। अतः भक्त सोच सकता है कि प्रभु की उपासना से मैं जन्म-मरण के बन्धन से तो छूट जाऊँगा, किन्तु मेरा अन्तिम लक्ष्य तो परमानन्द की प्राप्ति है। क्या प्रभु-भक्ति द्वारा इसकी भी मुझे प्राप्ति होगी या नहीं? वेद भक्त के इस सन्देह को भी दूर करता हुआ कहता है—हे प्रिय भक्त! तू इस सन्देह को भी अपने हृदय-पटल से दूर कर दे। क्योंकि तेरे आराध्यदेव भगवान तो "सुशेवः" हैं। सारे सुखों के भण्डार हैं। परमशान्ति और पूर्णानन्द के परमधाम हैं। फिर यह कैसे सम्भव हो सकता है कि उस शान्ति और आनन्द के परम निकेतन को प्राप्त करलेने पर तू आनन्द से वञ्चित रह जाए। उस परम कल्याणमय 'शंकर' को पाकर विश्व के क्षणिक विषय भोग रूपी कंकरों में ही धक्के खाता रहे। अरे भक्त! तू तो उस परम ज्योति को प्राप्त कर लेने पर वहाँ पहुँच जायेगा कि जहाँ

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आस्ते।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र०। +

आनन्द और मोद के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। जहाँ पहुँच कर भक्त की सारी कामनाएं पूर्ण हो जाती हैं। और फिर वह आप्त काम बन जाता है।

अन्त में भक्त के हृदय में एक सन्देह और रह जाता है, वह यह कि प्रभु के जिस मंगलमय स्वरूप का वर्णन वेद ने किया है, क्या वह वर्णन सत्य भी है या नहीं? क्या वास्तव में मेरे हृदय मन्दिर के आराध्य देव का ऐसा ही स्वरूप है, जैसा कि वेद ने वर्णन किया है? कहीं किसी भावुक कवि ने अपनी

१. तरत् स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः अ० ९।५८।१ वह प्रभु का अनन्य भक्त तर जाता है, जो हृदय-मन्दिर में बहती हुई प्रेममयी धारा के साथ सदा दौड़ लगाया करता है।

+ ऋ० ९।११३।११।

भावनामय आलङ्कारिक भाषा में भगवान् के स्वरूप को बढ़ा-चढ़ा कर तो नहीं लिख दिया? वेद इस सम्बन्ध में भी आश्वासन देता हुआ भक्त को कहता है—'प्रिय भक्त! याद रख, वेद किसी अलपज्ञ सांसारिक कवि की कोरी कल्पना नहीं, वह तो साक्षात् सर्वज्ञ भगवान् की अमृत वाणी है। जिसकी वाणी में कभी किसी के प्रति असद् व्यवहार और विश्वासघात हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह भगवान् तो "अद्रोघवाक्" है भला उस 'अद्रोघवाक्' की वाणी में असत्य, द्रोह और विश्वासघात कहाँ? इसलिए यदि वास्तव में तू परमशान्ति और परमानन्द को प्राप्त करना चाहता है तो इस वेदवचन पर पूर्ण विश्वास कर, और वेद मन्त्र में वर्णित उस परमकल्याणमय प्रभु की उपासना द्वारा उसमें तल्लीन हो जा। और इतना तल्लीन हो कि तू अपने को भूल जाए, और वेद के शब्दों में स्वयं कह उठे—

यदग्ने स्यामहं त्वं, त्वं वा घा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥×

हे प्राणधन! अब तो मैं आपकी भव-भय-हारिणी पावन भक्ति द्वारा इतना तन्मय हो गया कि-मैं तू बन गया। अब मुझे पता लगा कि अपने अनन्य भक्तों के प्रति तेरे कृपाकटाक्ष और आशीर्वाद कितने अटल, ध्रुव और सत्य हैं।

पाठक देखें ऋग्वेद के उपर्युक्त मन्त्र ने जहाँ भगवान् के यथार्थ स्वरूप को भक्त के सम्मुख रखा है, वहाँ उन्हीं शब्दों द्वारा भक्ति मार्ग में उठने वाले भक्त के सन्देहों को भी भली प्रकार दूर कर दिया है।

वेद जहाँ भक्त के आराध्य देव भगवान् के सत्य, शिव और सुन्दर स्वरूप को यथार्थ रूप में हमारे सम्मुख रखता है, वहाँ भक्त के स्वरूप और कर्त्तव्यों का भी बड़ा सुन्दर वर्णन करता है। वेद का कथन है कि जो भक्त प्रभु को प्राप्त करना चाहता है, सर्व-प्रथम उसके हृदय में प्रभु-प्राप्ति की तीव्र लगन होनी-चाहिये, उत्कट इच्छा होनी चाहिये। प्रभु-प्रेम के प्रति उसे अपना सब कुछ अर्पण कर देना चाहिये। भक्त सुन्दरदास के कथनानुसार भगवत्प्राप्ति के लिए, उसके पावन प्रेम के लिए इतना विह्वल हो जाए, इतना व्याकुल हो जाए कि उसे अपने शरीर की भी सुध-बुध न रहे।

प्रेम लग्यो जब ईश्वर सौं
तब भूल गयो सिगरो घरबारा।
ज्यों उन्मत्त फिरे इत ही तित
नेकु रही न शरीर सम्भारा॥

उसे तो वेद के कथनानुसार प्रभु से सदा यही प्रार्थना करनी चाहिये—

उत स्वया तन्वा सं वदे,
तत्कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत
कदा मृळीकं सुमना अभिख्यम् ॥*

प्रभो! वह दिन कब आयेगा जब मैं तेरी प्रेममयी गोदी में बैठ कर तुझसे वार्तालाप करूँगा। हे अन्तर्यामिन्! कब मैं तेरे दिव्य स्वरूप में इतना लवलीन हो जाऊँगा कि अपनी सुध-बुध भी भूल जाऊंगा। नाथ! कब आप मेरे हृदय-मन्दिर के द्वार पर स्वयं आकर निःशंक रूप से मेरी भेंटें स्वीकार करोगे। प्रभो! वह कौन सी शुभ घड़ी होगी जब मैं अपने शुद्ध, पवित्र और निर्मल मन द्वारा तेरे मङ्गलमय परमानन्द स्वरूप के दर्शन कर कृत-कृत्य हो जाऊँगा और अपने को धन्य २ समझूँगा। इस प्रकार जब भक्त के हृदय में प्रभु प्राप्ति की तीव्र लगन और उत्कट आकांक्षा उत्पन्न हो जाती है तो वह करुणा-वरुणालय भगवान् अवश्य अपने भक्त पर कृपा दृष्टि करते हैं और उसे अपनी प्रेममयी गोदी में बैठाकर सदा के लिये निहाल कर देते हैं। किन्तु प्रभु-प्राप्ति के प्रति इतनी तीव्र लगन, इतनी उत्कट अभिलाषा तभी उत्पन्न होती है, जब भक्त संसार के क्षणिक विषय-भोगों की ओर से मुख मोड़ कर शुभ कर्मों द्वारा अपने हृदय को शुद्ध, पवित्र और निर्मल बना लेता है। दूसरे शब्दों में अपने सम्पूर्ण कर्मों को उस यज्ञरूपी प्रभु की हवि बना कर अपने जीवन को हवि-

[शेष पृष्ठ २ पर]

× ऋ० ८।४४।२३। * ऋग्वेद ७।८६।२॥

पशुबलि और वेद

(ले०—शास्त्रार्थ महारथी श्री पं० विहारीलाल शास्त्री, उझानी)

"संसार में जब मनुष्य ने होश सँभाला तो उसें अपने से ऊपर एक महती शक्ति का ध्यान हुआ। तब उसकी भेंट के लिये उसने अन्न और पशु प्रस्तुत किये, कृषक वर्ग ने अन्न और पशुपालक वर्ग ने पशु"। यह तो अनुमान है उन लोगों का, जो कि किसी भी धर्म को नहीं मानते।

परन्तु धर्म मानने वालों में तो "ईश्वर ने ही मनुष्य को यज्ञ की शिक्षा दी" ऐसा विश्वास चला आता है। गीता का वचन है:—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वम् एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ ३।१०

मनुस्मृति में भी सृष्टिरचना के साथ ही यज्ञ को भी रचा ऐसा है:—

"यज्ञं चैव सनातनम्" १।२२

यजुर्वेद अध्याय ३१ में सब सृष्टि ही यज्ञ से हुई। यज्ञ प्रथम धर्म है। आदिसृष्टि में ही देवों ने यज्ञ किया, ऐसा वर्णन है। (**यज्ञमयजन्त देवाः**) यज्ञों के साथ पशुबलि-दान की धारणा लोगों में बहुत दृढ़ता से जमी हुई है, इसलिये यज्ञों के प्रारंभ से ही पशुबलि होती थी, ऐसा आजकल के बहुत से विद्वानों का मत है। और अपने इसी मत को केन्द्र बिन्दु बनाकर वेदों के ऐसे-ऐसे विलक्षण हिंसामय अर्थ करते हैं कि वेदों को भी रोना आता होगा।

यदि पहले से कोई मत बिना स्थिर किये, सूत्र, ब्राह्मण, मीमांसा को बिना देखे, काव्य शैली पर वेदों का प्रकरणशः अर्थ किया जाय तो कहीं पशुबलिदान की गंध भी नहीं मिलेगी।

भौतिक यज्ञ भी आध्यात्मिकता में विलीन हुआ दीखेगा। अश्व, गौ, मेष, पशु विशेषों में रूढ़ शब्द किसी और ही अर्थ को व्यक्त करने वाले बन जायेंगे।

संत कबीर जी की वाणी पढ़ते हुए तो रूपक आदि अलंकारों से अर्थ निर्णय करते हैं। उनकी उलट बांसियों तथा कूट पदों को लक्षणा व्यंजनाओं के साथ स्पष्ट करते हैं। पर अभागे वेद को जो कि सृष्टि का आदिमहाकाव्य है, महाकाव्य नहीं विश्वकाव्य है, उसके अर्थ केवल अभिधात्मक किये जाते हैं। और बलात् वेद मंत्रों को सूत्र, ब्राह्मण, मीमांसा के पीछे घसीटा जाता है। यह सब याज्ञिकों की कृपा है। स्वतःप्रमाण वेद को आज अन्य ग्रन्थों के पीछे घसीट रहे हैं, इससे बढ़कर वेदों की विडम्बना और क्या हो सकती है?

और ब्राह्मणादि ग्रन्थों के अर्थ भी याज्ञिक लोग अपनी धारणाओं के अनुसार लगाते हैं। इस प्रकार सारा वैदिक-वाङ्मय याज्ञिकों की आसुरी भावनाओं के पीछे घसीटा जा रहा है। सूत्र ब्राह्मणादि ग्रन्थों में रहस्य छिपे हुए हैं। पशु क्या है? वृषभ कौन है? इन्द्र से क्या प्रयोजन है? अदह का क्या तात्पर्य है? ये गुत्थियाँ हैं जो विद्वानों को सुलझानी हैं। परन्तु यह तब हो सकता है कि जब विद्वानों का दृष्टिकोण बदले।

उदाहरण के लिये शतपथ ब्राह्मण की यह श्रुति लीजियेः—

पुरुष ह वै देवाः अग्रे पशुमालेभिरे। तस्याल-ब्धस्य मेधोऽपचक्राम सोऽश्वं प्रविवेश तेऽश्वमालभन्त तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम स गां प्रविवेश ते गामाल-भन्त। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम सोऽविं प्रविवेश तेऽविमालभन्त तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम सोऽजं प्रविवेश तेऽजमालभन्त तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम स इमाम् पृथिवीं प्रविवेश। तं खनन्त इवान्वीयुस्तम-न्वविन्दंस्ताविमौ व्रीहियवौ।

शतपथ १।२।१

इसका भाव बलिदान की भावनावालों ने यही लिया है कि पहले मनुष्य का बलिदान यज्ञ में किया जाता था, फिर घोड़े का बलिदान होने लगा। इसके पश्चात् गाय का नंबर आया, फिर भेड़ का प्रयोग हुआ तदनन्तर बकरी की बलि चली पुनः अन्न का प्रयोग होने लगा। बलिदान पक्षवालों ने "मेध्य" यज्ञ में चढ़ाने योग्य और आलम्भन का अर्थ मार डालना रूढ़ करके अपनी धारणाओं को पुष्ट कर डाला। मेधा शब्द का अर्थ बुद्धि है। आलम्भन का अर्थ प्राप्त करना छूना भी है। "मेध्य के" बुद्धियुक्त, पवित्र अनेक अनेक अर्थ हैं। फिर बलात् शब्दों को रूढ़ कर डालना धींगामुष्टि ही है। वैदिक वाङ्मय में आलम्भन का अर्थ स्पर्श और

मनु में मेध्य का अर्थ शुद्ध है। "हृदयमालभते" "अमेध्य-प्रभवाणि च" आदि शतशः उदाहरण मिल सकते हैं।

उक्त कंडिकाओं में तो सभ्यता का इतिहास है। आदि सृष्टि में मनुष्य अकेला था। देवताओं का वही मेध्य था। उसी में सभ्यता, सहृदयता, जो गुण समाज स्थिति के लिये आवश्यक हैं, थे। फिर मनुष्य ने घोड़े को पाला और उसे सामाजिक पालतू पशु बना लिया। तब यह पशु भी देवताओं (दिव्य भावनाओं) का आधार बना। क्रमशः गाय, भेड़, बकरी पालतू पशु बने। अबतक मनुष्य वृक्षों के फल और पशु दुग्ध पर ही जीवन निर्वाह करता था अब वह खेती तक पहुँच गया। मेधा भूमि तक पहुँच गयी। पशु और भूमि मनुष्य समाज और कुटुम्ब के साथी बने। पशु और खेतों पर मनुष्य का प्रेम अपने कुटुम्बीजनों के समान हो गया। पशु समाज को लाभ पहुँचाता हुआ यज्ञोपयोगी बन गया। यह ध्यान रहे कि अग्नि में सामग्री डालना भर ही यज्ञ नहीं कहलाता। जो कुछ संगतिकरण, सहकारिता, परस्पर कल्याण-कारिणी सहायता है सब ही यज्ञ है यह सृष्टि भी देवताओं का यज्ञ है। "पुरुषो वै यज्ञः" **या वै प्रजा यज्ञेऽनन्वाभक्ताः। पराभूता वै ता एवमेवैतद्या इमाः प्रजा अपराभूतास्ता यज्ञ आभजति मनुष्यानतु पशवो देवानतु वयांसि ओषधयो वनस्पतयो यदिदं किञ्चैवमु तत्सर्वं यज्ञ आभक्तम्।** शतपथ १।४।३।४

उक्त उद्धृत पाठ से स्पष्ट है कि मनुष्य देव पशु पक्षी वृक्ष वल्लरी सब यज्ञ के लिये हैं। तो क्या इन सब को मार डालना चाहिये? वस्तुतः जो सृष्टि के पदार्थों को यज्ञार्थ समझ लेता है वही इनका याथातथ्य उपयोग कर सकता है इन सबकी संगति लगाना ही ठीक यज्ञ है। यजुर्वेद अध्याय १८ में सब ही वस्तुओं को यज्ञ में कल्पित किया गया है। परन्तु उन वस्तुओं को अग्नि में जलाना यज्ञ नहीं है। जिस वस्तु से जो काम लेना चाहिये वही काम लेना उन वस्तुओं का यज्ञ में उपयोग है।

यज्ञ में हवन करने को जो "पुरोडाश" तैयार होता है उसमें मांस का नाम नहीं।

"अथ यत्पुरोडाशः। धानाः करम्भो दध्यामिक्षेति भवति या यज्ञस्य देवतास्ताः सुप्रीता असन्निति। इदं वा अपूपमशित्वा कामयते। धानाः खादेयं करम्भमश्नीयां दध्यश्नीयामिक्षामश्नीयामिति॥

शत. ४।२।१६।२२

यहाँ पुए, भात, दही, आदि पदार्थों का उपयोग बताया गया है आमिष का नहीं। पशुओं को केवल दही दूध खेती के लिये ही "प्रोक्षित" करने का भाव शास्त्र का था, पर तमसाच्छन्न बुद्धि के याज्ञिकों ने पशुओं को मारना आरंभ कर दिया। "वशा" से तात्पर्य भी वन्ध्या गौ का नहीं "वश" चर्बी नहीं। पुराने धान और उनके चावलों से प्रयोजन है।

"सर्वेषां वा पशूनां मेधो यद् व्रीहियवौ"

शतपथ ३।६।४

कात्यायनसूत्रानुसारीयजुर्वेद का भाष्य करनेवाले महीधराचार्य भी अध्याय १८ मंत्र २७ के भाष्य में जहां छै साल की गौ और छ साल के बैल का यज्ञ से कल्पित करने की प्रार्थना की बात लिखते हैं तो "यज्ञेन कल्पन्ताम्" का भाव यही मानते हैं:—

"स्वव्यापारसमर्था भवन्तु, यज्ञमुपभोगक्षमा भवन्तु"

पशु का यज्ञ यही है कि वे अपने काम में समर्थ हों और यजमान के लिये उपयोगी ठहरें। ब्राह्मण ग्रन्थ और सूत्रों में अनेक स्थल ऐसे दृष्टिगोचर होते हैं जिनमें पशुबलिदान स्पष्ट सा विदित होता है परन्तु वहां आशय कुछ और ही होता है। इसलिये सब स्थलों पर विचार नहीं किया जा सकता केवल नमूना भर दिखाना है।

वेदों में गोवध की गंध सूंघने वाले भी ऐसे ही कूटार्थ और रहस्यपूर्ण मंत्रों को रखकर वेदों को बदनाम किया करते हैं, जिनमें से कुछ तो जान-बूझ कर दुराग्रह पर आरूढ़ हैं। ऐसे ही एक लेखक के लेख पर चतुर्वेदभाष्यकार श्री पं० जयदेवजी ने आलोचना आर्यमार्तण्ड में लिखी थी।

वेदों में गोवध समर्थन करनेवाली किसी शकुन्तला राव ने अंग्रेजी में world follewr ship of faith नाम की पुस्तक लिखी है।

इस पुस्तक में गोमांस भक्षण की वैधता के समर्थन में वेद के निम्नलिखित २ मंत्र उद्धृत किये हैं:—

"वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे वसत् त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविः विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।

उक्ष्णो हि पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम् उताहमद्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः"

इसमें दूसरे मंत्र का यह अर्थ किया है:—

"May Indra eat thy bullocks"

"Fifteen and twenty bullocks are cooked for me. I get fattened by eating them: both sides of my stomach are filled Indra is superior to all"

(Rv—X. 86. 13,14)

और इसपर वे अपनी सम्मति देती हैं:—The meat of cow was freely used for sacrifices as well as for food.

इस अर्थ के आधार पर उन्होंने अपना विचार बनाकर लिखा है:—

गौ का मांस स्वच्छन्दता से भोजन व बलिदानों में प्रयुक्त होता था।

स्मरण रहे कि उक्षा का अर्थ बैल हो सकता है, "गौ" कदापि नहीं।

अब यदि इसी प्रकार शब्दार्थ मात्र के आधार पर कबीर के कूट पदों का अर्थ लगाया जाय तो कबीर की कविता सिर धुनकर पछताये। इनमें से पहले मन्त्र का अर्थ तो निरुक्त में ही किया हुआ है। यास्क वेदों के शब्दों के पुराने निरुक्तिकार हैं। उनकी व्याख्या की अवहेलना करके मनमाने अर्थ लगाना पक्का जाल और हठ ही है। जिस उक्षा शब्द से यहाँ श्री.राव ने गोमांसाशन सिद्ध किया है उस उक्षा शब्द की निरुक्ति निरुक्त में विद्यमान है। वहाँ उक्षा का अर्थ बैल नहीं है। देखिये:—

उक्षण:-अवश्याय संस्त्यायान् सेचन सामान्यात् उक्षसेचने...

एतान् माध्यमिकान् संस्त्यायान्......
उक्षण: उरुछतेर्वृद्धिकर्मण: उक्षन्त्युदकेनेति

निरु० दै० १२।१।११

अवश्याय का अर्थ अमरकोश में है "अवश्यायस्तु नीहार:"

"कुहरा" संस्त्याय का अर्थ "संघात" है।

"अवश्याय" का ही अपभ्रंश हिन्दी रूप है—"ओस"।

मंत्र का अर्थ हुआ:—हे सुपुत्रे, सुस्नुषे रेवति, तेरे इन्द्र ने किसी के किये प्रिय हवि नीहार संघात को खा लिया इन्द्र सबसे उच्च है" ॥ १ ॥

दूसरे मंत्र का अर्थ होता है:—

"नीहार संघात के ५।१० और २० को साथ पकाते हैं। और मैं पुष्ट हूँ। मेरी दोनों कोखें भरी हुई हैं। इन्द्र सर्वोपरि है" ॥२॥

आशय रहस्य इन मंत्रों का व्यंग्यार्थ में है। जब योगी में प्रकाशमान इन्द्रशक्ति का उदय होता है तब सब उक्षा (नीहार समूह) माया (अज्ञान, मोह, तमोगुण) जिसका योगी संयमरूप अग्नि में हवन नष्ट हो जाता है। जैसे इन्द्र सूर्य ओस को खा जाता है उसी प्रकार आत्मा में रहने वाली इन्द्रशक्ति नीहार समूह को खा जाती है। नीहार आत्मा पर आवरण है। आत्मज्ञान को ढाँपने वाला पदार्थ है। देखिये यजु: अध्याय १७ मन्त्र ३१ में महीधराचार्य नीहारेण का अर्थ "अविद्यया" और उव्वटाचार्य "अज्ञानेन" करते हैं। "दृष्टेरावरकत्वात्" यह शब्द उव्वटभाष्य के हैं। उसकी माता सुपुत्रा है। सुस्नुषा (अच्छी पुत्रवधू वाली) है रेवती। धनैश्वर्य वाली है, जिसने दृष्टि ज्ञान शक्ति के अवरोधक काम क्रोध को जीत लिया। जो तमोगुण के पार चला गया। योगी की सफलता का उल्लास इस मंत्र में है। ऐसे अनेक दोहे कबीर साहब के हैं।

"सब अंधियारा मिट गया दीपक रेखा माँहि" ॥

उक्षा का अर्थ सर्वत्र बैल नहीं होता है। देखो यजु: १७।६ "उक्षा समुद्र:"। यहाँ उक्षा समुद्र का विशेषण है, उव्वट कहते हैं:—"उक्षा सेचन:"। महीधर का अर्थ है "उक्षा वृष्टि द्वारसिक्ता"। दूसरे मंत्र में भी "पञ्च, दश, विंशति, तथा 'साकं'" शब्द रहस्यपूर्ण हैं। ५ को १० से गुणा करने पर ५० और ५० को २० से गुणा करने पर एक सहस्र होता है। एक सहस्र उक्षाओं को पचा जाने पर इन्द्र पूर्ण तृप्त हो जाता है। उसकी दोनों कोखें ऐहिक और आमुष्मिक वासनायें तृप्त हो जाती हैं।

वे एक सहस्र उक्षा हैं सहस्रारचक्र-सहस्र दल कमल या मस्तिष्क का वह स्थान जहाँ सुरत ले जाने पर योगी अमर पद का अधिकारी बनता है, उस पर के नीहार—आवरण बस उन आवरणों का हवन हो जाता है तो सहस्रार चक्र का पूर्ण विकास हो जाता है। योगी की इस दशा का कबीर, नानक आदि सन्तों ने भी ऐसी ही आलंकारिक भाषा में वर्णन किया है। ५।१० और २० इनका पृथक् पृथक् प्रयोग भी साभिप्राय है। प्रथम ५ ज्ञानेन्द्रियों के आवरण

दूर करना इन उक्षाओं के बलिदान के पश्चात् स्पर्शादि पञ्च विषयों का जप तथा पुनः पञ्च स्थूल और पञ्च सूक्ष्म भूत और इनके विषयों के उक्षाओं अवस्थायों को हवन करना। जब माया के इन उक्षाओं अवस्थायों अर्थात् आवरणों को दूर कर दिया जाता है, आध्यात्मिक यज्ञ में इन सब की बलि हो जाती है, तो जीव अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। निर्मल दर्पण में सूर्य रश्मियाँ प्रतिफलित होकर दर्पण को प्रकाशमान करती हैं। इसी प्रकार शुद्ध आत्मा में प्रकाशित ब्रह्मानंद आवरणों के नष्ट हो जाने पर आत्मा को आनन्द से भर देता है, उस दशा के ही यह उद्गार हैं। आत्मा की कोई कामना नहीं रहती। पूर्णकाम, तृप्त आत्मा विश्व से ऊपर हो जाती है। "विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः", यह वचन सिद्ध हो जाता है। ऋग्वेद के मंडल दस में आये हुए इस पूरे सूक्त में सुन्दर काव्यमयी भाषा में इन्द्र शक्ति का वर्णन है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि ऐसी कूट भाषा में यह वर्णन क्यों किया गया कि जिसमें सन्देह को स्थान मिले भ्रम फैले।

इसका उत्तर संसार भर के काव्य हैं। बाइबिल ईरानी सूफ़ियों के काव्य, हिन्दी में सन्तों की वाणी, सबमें इसी प्रकार की कूट भाषा मिलेगी और उसी में रसास्वादन होता है। उल्लास में सदा ऐसी ही भाषा प्रवाहित हुआ करती है। यहाँ भी आत्मिक विकास होने पर इन्द्र-पद प्राप्त होने पर उल्लास व्यक्त किया गया है। धन्य है उसकी माता, धन्य उसकी पत्नी जिसने इन्द्रत्व की प्राप्ति की है।

वैदिक भाषा जब पूर्णतया चालू थी, तब उक्षा शब्द सन्दिग्ध भी नहीं रहा होगा। उस समय यह श्लेष सुबोध रहा होगा। बैलों का खाना पकाना तो अश्लील है, इस आक्षेप को कूट पद और उलटबाँसियों में स्थान नहीं। इस प्रकार काव्य दृष्टि से वेदों को समझने पर यह हृदयंगम हो जायगा कि वेदों में ये बलिदान योजना भ्रान्ति है और बदनीयती भी।

फिर ये बलिदान कैसे चले यह विचार अगले किसी अङ्क में लिखा जायगा।

वेदसम्मेलन कोटा

६–८ मई १९५५

आर्य विद्वानों और वेदप्रेमी महानुभावों को स्मरण होगा है कि गत वर्ष (सं० २०१०) में खुर्जा में आर्यसमाज खुर्जा की ओर से वेदसम्मेलन हुआ था। उसी अवसर पर इस वेदसम्मेलन को स्थायी बनाने के प्रश्न पर भी विचार हुआ था।

वेदप्रेमी महानुभावों को यह सूचित करते हुए हर्ष होता है कि गत वेदसम्मेलन के निश्चयानुसार इस बार ६, ७, ८ मई १९५५ को कोटानगर (राजस्थान) में वेदसम्मेलन होगा।

सम्मेलन की सदस्यता का शुल्क ५) रुपया है। सदस्यता शुल्क तथा अपने गवेषणापूर्ण निबन्ध शीघ्र ही "श्री डा० फतह सिंह जी एम० ए० डी० लिट्० हर्बर्ट कालेज (नयापुरा) कोटा" के पते से भेजने का कष्ट करें।

वेदसम्मेलन के इस अवसर पर ऐतिहासिक स्थानों की यात्रा और ग्रंथ प्रदर्शनी आदि का आयोजन किया जायेगा।

विस्तृत कार्य-क्रम बाद में घोषित किया जायेगा।

सुधीरकुमार गुप्त शास्त्री एम० ए० —संयोजक वेदसम्मेलन।

आदि राष्ट्र-पिता जगद्गुरु महर्षि दयानन्द की जन्म तिथि

(प्रो० भीमसेन शास्त्री एम० ए०, चूरू राजस्थान)

आर्यसमाज को स्थापित हुए, अस्सीवाँ वर्ष चल रहा है‡। अनुपम शास्त्रमल्ल दयानन्द के सं० १९२४ के हरद्वार कुम्भ के दिग्दिगन्त कम्पी जगद्विजयी सत्योद्घोष को उस समय तक भी ८ वर्ष व्यतीत हो चुके थे, और सत्य अर्थों का प्रचार तो उससे भी अनेक वर्ष पूर्व आरम्भ हो चुका था। तात्पर्य यह है कि महर्षि का सर्वोपकारक वैदिक धर्म प्रचार प्रारम्भ हुए ९१ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, पर हम आज भी अपने उद्धारक महर्षि की जन्म-तिथि से अपरिचित हैं।

एषणा-त्रय विजयी जगद्-गुरु महर्षि दयानन्द सरस्वती अपना कोई स्मृति-चिन्ह छोड़ना न चाहते थे। उन्होंने आदेश दिया था कि मेरी राख को खेतों में फेंक देना। वे नहीं चाहते थे कि उनकी समाधि बने। ऋषि ने भक्तों के महान् आग्रह पर जो जीवन-वृत्तान्त लिखाया, उसमें उन्होंने संवत् मात्र का निर्देश किया है। मास, पक्ष, तिथि आदि को जान बूझकर छोड़ दिया। वे अपनी जयन्ती मनाए जाने से, अपनी पूजा से अत्यन्त भयभीत थे×। तथापि दयालु जगदीश्वर की महती दया है कि जगद्-गुरु कृत स्वीय शिवरात्रि जागरण तथा गृह त्याग का वर्णन तथा उनका बाल नाम 'मूलशंकर' हमारी अपेक्षित जन्म-तिथि की उच्च स्वर से घोषणा कर रहे हैं। यद्यपि हमने इतने दीर्घकाल तक उसे नहीं सुना है, पर वह घोषणा वीणापाणि सरस्वती आज भी कर रही हैं। ऋषि के पुनीत दिव्य चरित्रों की सुधा के लिये सतत सतृष्ण आर्य बन्धुओ, आओ और सुनकर स्व-कर्ण-कुहरों को पवित्र करो।

१. जगद्-गुरु की जन्म-सीमाएँ

ऋषि-भक्त-जन सुनिये और प्रज्ञा-विलोचनों से प्रत्यक्ष करिये। लोकमात्र-त्राता महर्षि अपने शिवरात्रि जागरण से पूर्व की परिस्थिति का चित्रण करते हुए कहते हैं—

'चौदहवें वर्ष की अवस्था के आरम्भ तक यजुर्वेद की संहिता संपूर्ण और कुछ कुछ अन्य वेदों का भी पाठ पूरा हो गया था, और शब्दरूपावली आदि छोटे छोटे व्याकरण के ग्रन्थ भी पूरे हो गए थे। जहाँ जहाँ शिवपुराण आदि की कथा होती थी, वहाँ पिताजी मुझको पास बैठाकर सुनाया करते थे।······ मेरे पिता ने माता के मने करने पर भी पार्थिव-पूजन का आरम्भ करा दिया था।'

[श्री पं० भगवद्दत्तजी संपादित 'ऋषि दयानन्द का स्व-रचित जन्म-चरित्र तृतीय सँस्करण। पार्श्व ११, पङ्क्ति १२-२०]

उपर्युक्त संदर्भ के अन्त्य वाक्य से विक्रम सं० [१८८१ + १३ =] १८९४ की शिवरात्रि (गुरुवार, २६ फर्वरी १८३८) के जागरण का वर्णन प्रारम्भ होता है। इस वाक्य से पूर्व अवतरण इस शिवरात्रि के जागरण के वर्णन की भूमिका-मात्र है। इसमें ऋषि ने शिवरात्रि जागरण के समय, अपने वय, विद्या-सम्बन्धी योग्यता एवं अन्यान्य परिस्थितियों का उल्लेख करते हुए, अपने तदानींतन संपूर्ण वातावरण का विशद चित्रण कर दिया है। उन्होंने बता दिया है कि इस प्रकार की कट्टर शिवनिष्ठा के वातावरण में बाल्यकाल बिताते हुए, वह ज्ञानालोक-प्रदायिनी शिवरात्रि मेरे चौधवें वर्ष के आरम्भ में आई थी।

इससे स्पष्ट ही यह परिणाम निकलता है कि 'भव्यबालक मूलशंकर का जन्म सं० १८८१ में शिवरात्रि (बुधवार १६ फरवरी १८२५) से कुछ ही पूर्व हुआ था।'

एवं सं० १८८१ की शिवरात्रि (बुधवार, १६ फरवरी १८२५) प्रातः स्मरणीय महर्षि दयानन्द के जन्म की अधः सीमा है।

---

‡ आर्य-समाज मुम्बई की स्थापना सं० १९३२, चैत्र शुक्ल ५, शनिवार (१०-४-१८७५) को हुई थी।

× मनु भगवान् ने लिखा है—'संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव' [मनु० २।१६२]

अपने जीवन-वृत्तान्त में जगद्-गुरु ने स्व-गृह-त्याग का वर्णन इस प्रकार किया है—'तीन कोस पर एक ग्राम में अपनी जमेदारी (कलक्टर सदृश राज स्व-संग्रह व शासन के अधिकार) थी। वहाँ एक अच्छा पण्डित था। माता-पिता की आज्ञा लेकर उस पण्डित के पास पढ़ना प्रारम्भ कर दिया।......फिर माता-पिता ने बुलाके विवाह की तैयारी करी। तब तक इकीसवां वर्ष पूरा हो गया।...एक मास में विवाह की तैयारी भी हो गई। फिर गुपचुप सं० १९०३ के वर्ष में, घर छोड़ के सायं समय भाग उठा।'

[महर्षि का उपर्युक्त 'जन्मचरित्र'। पार्श्व १७, पङ्क्ति १६ से पार्श्व १८, पङ्क्ति ९ तक]

इस उद्धरण से सुव्यक्त है कि तरुण दयानन्द के घर आने पर शीघ्र ही (संभवतः २-४ दिवस में ही) उनका २१ वां वर्ष पूरा हो गया था। बड़ी-बड़ी कामनाओं के अनन्तर प्राप्त हुआ, प्रेष्ठ ज्येष्ठ पुत्र, जन्म-ग्रन्थि-मङ्गल-दिवस से पूर्व ही घर पर बुलाया गया था। वह गृह पर आ गया। सं० (१८८१ + २१ =) १९०२ की घटना है। और ऊपर आ ही चुका है कि गृह त्याग सं० १९०३ में किया था।

इस संदर्भ की पर्यालोचना से यह स्पष्ट है कि उनके गृहागमन तथा वर्ष वर्धन-मङ्गल-दिवस से उनका गृह त्याग अति समीप है। यह अन्तराल अवश्तः सवा मास है। विवाह-सामग्री की तैयारी लगभग एक मास में हो गई। पर वे उसी दिन घर से नहीं भागे। विवाह-तिथि समीप आने पर ही गए। अधिक संभव यह है कि यह अन्तराल १॥ मास के आसपास है। श्रद्धालु पाठक इस प्रकरण का एकाग्र चित्त से मनन करें और वे हमसे अवश्य सहमत होंगे।

अब यदि तरुण ऋषि का गृह त्याग, सं० १९०३ के प्रथम दिवस (चैत्रशुक्ल १-२८ मार्च १८४६, शनिवार) को ही मान लें, (यद्यपि वे निश्चय ही इसके कतिपय दिवस अनन्तर ही गए होंगे) तो भी उनका पाठशाला-ग्राम से गृहागमन सं० १९०२ माघ पूर्णिमा (बुधवार, ११ फरवरी १८४६) से पूर्व मानना कठिन है। इस प्रकार महर्षि की जन्म तिथि सं० १८८१ माघ पूर्णिमा गुरुवार (३ फर्वरी १८२५) से पूर्व नहीं हो सकती।

एवं सं० १८८१, माघ पूर्णिमा, गुरुवार (३ फरवरी १८२५), वेदोद्धारक महर्षि दयानन्द के जन्म की उच्च सीमा है।

इस प्रकार महर्षि की जन्म तिथि, सं० १८८१ में माघ पूर्णिमा तथा महा शिवरात्रि (फाल्गुनवदि १४) से कुछ दिन पूर्व के मध्य में, अर्थात् लगभग १०-१२ दिन में सीमित हो जाती है।

२. प्रथम राष्ट्र-पिता का बाल्य-नाम

महर्षि के जीवन-वृत्तान्त के प्रथम अन्वेषक उत्साह मूर्ति श्री पं० लेखरामजी आर्य मुसाफिर ने महर्षि शिष्य, वैयाकरणवर्य श्री पं० ज्वालादत्त जी आदि के कथनों के आधार पर निश्चय किया था कि जगद् गुरु का बाल्य-नाम 'मूलशंकर' था। तदनन्तर दूसरे अन्वेषक श्रद्धावतार श्री पं० देवेन्द्रनाथ जी मुखोपाध्याय को ऋषि के दूसरे नाम 'दयालजी' का भी पता लगा और पहले उन्होंने इसी नाम को प्रधानता दी। पर अधिक मनन तथा अन्य प्रमाण मिलने पर उन्होंने स्वलिखित 'महर्षि के जीवनचरित' में 'मूलशंकर' को ही प्रधान नाम माना है। 'दयाल जी' नाम की तो चर्चा भर की है, जीवनचरित में बाल ऋषि का वर्णन सर्वत्र 'मूलशंकर' नाम से ही किया है।

श्री प्राणजीवनदास की साक्षी ने इस विषय में सारे संशय सदा को निवारण कर दिये हैं।

व्यवहार से भी यह बात सुनिश्चित है कि 'मूल शंकर' 'मूलचन्द', 'मूल नारायण', 'मूलराज' आदि नाम, मूल नक्षत्र में जन्म होने पर ही रखे जाते हैं। ऐसे व्यक्ति का यदि अन्य कोई नाम पाया जाय तो उसका जन्म के नक्षत्र से संबन्ध नहीं होता। वह माता-पिता की इच्छानुसार प्रेम से, अथवा उस व्यक्ति के किसी गुण आदि को लक्ष्य करके रखा जाता

है। ऐसे दूसरे नाम का नक्षत्र से संबन्ध खोजना निरी भूल है।×

आठ वर्ष पहले, हमने, नाम के आद्यक्षर 'मू' से ऋषि का जन्म मघा नक्षत्र तृतीय चरण (फाल्गुन व० १, शुक्र=४ फरवरी १८२५) में समझा था। पर यह अनुभव-शून्यता थी। नामारम्भ में 'मूल' शब्द का प्रयोग मूल नक्षत्र में जन्म होने पर ही किया जाता है; अन्यथा नहीं। आज से ४४ वर्ष पूर्व, श्री पं० अखिलानन्द जी ने भी मूल नक्षत्र में ही जन्म माना था।

३. प्रातः स्मरणीय महर्षि दयानन्द की जन्म-तिथि

तो महर्षि का जन्म मूल नक्षत्र में हुआ था। इस प्रकार, उपर्युक्त सीमाओं के अन्तराल में उनका जन्म, सं० १८८१, फाल्गुन बदी १०, शनिवार (१२ फरवरी १८२५) का स्थिर होता है †।

यह फाल्गुन वदि १० ही, धार्मिकादि सर्वविध अन्धकार-निवारक, सत्यार्थप्रकाशक, वेदोद्धारक, परोपकारैकधन दयानन्द भानु का शुभ उदयदिवस था। हमें फाल्गुन वदि १० को, (महाशिवरात्रि से ४ दिन पूर्व), दयानन्द जयन्ती पूर्ण उत्साह व उल्लास से मनानी चाहिये। संपूर्ण संसार के इस महान् पर्व पर, भारत सर्कार से अवकाश स्थिर कराने के लिये प्रबल आन्दोलन करना हमारा कर्तव्य है।

४. जगद्-गुरु की अन्यत्र प्रकाशित भ्रान्त जन्म-तिथियाँ

(१) सं० १९६७ में प्रकाशित 'दयानन्द दिग्विजय' में, पं० अखिलानन्द ने भाद्र शु० ९ (२ सितम्बर १८२४) जन्म-तिथि लिखी है। तपोमूर्ति श्री पं० मेधाव्रत जी विरचित 'दयानन्द दिग्विजय' (सं० १९९४ में प्रकाशित) में भी यही तिथि अङ्गीकार कर ली गई। श्री ठाकुर गदाधर सिंह जी विरचित 'दयानन्दायन' में यही तिथि वर्णित है। स्पष्टतः इन दोनों लेखकों ने इस तिथि को पं० अखिलानन्द जी के ग्रन्थ से लिया है। गत वर्ष बम्बई समाज ने भी इसी तिथि को दयानन्द जयन्ती मना डाली थी।

इस तिथि के अनुसार तो श्री मूल शङ्कर, सं० १९०२ भाद्र शुक्ला ९, बुधवार (१० सितम्बर १८४५) को २१ वर्ष के हुए। वे इससे २-४ दिन पूर्व, पाठ-शाला-ग्राम से टंकारा आए। भाद्रपद मास, वर्षा ऋतु, देवशयन काल में, एक निष्ठावान् पौराणिक शैव के घर विवाह की तैयारी प्रारम्भ हुई, जो एक मास में हो गई और मुमुक्षुवर्य श्री मूलशंकर घर आने पर पौने सात मास से अधिक काल व्यतीत कर, सं० १९०३ में (जो २८ मार्च १८४६ को प्रारम्भ हुआ था) घर से गए !!! कहिये हैं न एक ही गप। ऋषि वचनों से ही सिद्ध है कि वे घर आने पर लग-भग सवा मास पश्चात् घर से चल दिये थे। बुद्धि पर ताला लगाने वाले ही, ऐसी ऋषिवचन विरोधिनी तिथि पर विश्वास कर सकते हैं।

(२) मेरठ निवासी स्वर्गीय श्री बा० जैशीराम जी ? के कथनानुसार, ऋषि की जन्म तिथि 'आश्विन वदि ७' (बुध, १५ सितम्बर १८२४) है।

यह तिथि सं० १९०२ में, अखिलानन्द जी वर्णित तिथि से केवल १२ दिन पश्चात् है और पूर्व प्रदर्शित दोष से युक्त होने से अमान्य है।

(३) आठ-वर्ष-पूर्व-प्रदर्शित हमारे मार्ग का अर्धा-नुसरण करके श्री पं० इन्द्रदेव आर्योपदेशक चेंगनूर (त्रावनकोर) ने 'दयाल जी' नाम को प्रधानता देकर फाल्गुन शुक्ला १, शनि (१९ फरवरी १८२५) को ऋषि

× 'दयाल जी' नाम से नक्षत्र का विचार करनेवालों को यह ज्ञात होना चाहिये कि नक्षत्रों के अनुसार नाम के आरम्भ में 'दा', 'दी', 'दू', 'दे', 'दो' तो हो सकते हैं, परन्तु 'द' नहीं हो सकता। और यदि 'द' का किसी नक्षत्र से सम्बन्ध ढूँढा ही जाय, तो वह पूर्वाभाद्रपदा का तृतीय चरण है। और पूर्वाभाद्रपदा नक्षत्र का तृतीय चरण सं० १८८१ की शिवरात्रि से पूर्व, माघशुक्ला ४ रविवार (२३ जनवरी १८२५) को था। पर हम पूर्व दिखा चुके हैं कि महर्षि का जन्म माघ पूर्णिमा (३ फर्वरी १८२५) से पूर्व नहीं रखा जा सकता।

अतः 'दयाल जी' नाम, जन्म काल-विचार में निश्चित ही सहायक नहीं है।

† एक मास में एक नक्षत्र एक ही बार आता है। जिज्ञासुओं को जन्म का इष्टकाल आदि भी बताया जा सकता है। सर्व-जन-रुचिकर न होने से यहाँ नहीं लिखा।

को जन्म तिथि माना था। पर यह अत्यन्त भूलभरी कल्पना है। इस पक्ष में बहुसंख्यक दोष हम पहले ही दिखा चुके हैं। दो अन्य भी देख लीजिये।

इस मत में ऋषि के चौधवें वर्ष का प्रारम्भ सं० १८९४ फाल्गुन शुक्ला १, रविवार (२५ फरवरी १८३८ को हुआ, और उनके चौधवें वर्ष में शिवरात्रि सं० १८९५ फाल्गुन वदि १३, भौम (१२ फरवरी १८३९) को आई। इस मत में ऋषि का चौधवाँ वर्ष १४ फरवरी १८३९ को न प्राप्त होता है। अर्थात् यह जागरण वाली शिवरात्रि उनके चौधवें वर्ष के आदि में न होकर पूर्णतः अन्त में पड़ती है। यदि यही वस्तु-स्थिति होती तो महर्षि 'चौधवें वर्ष की अवस्था के आरम्भ तक' के स्थान में चौधवें वर्ष की अवस्था के अन्त तक' कहते। पर ऋषि ने तो उस शिवरात्रि का अपने चौधवें वर्ष की अवस्था के आरम्भ में आना बताया है। अतः ऋषि वचन-विरोधिनी यह तिथि दूरतो नमस्करणीय है।

दूसरा अन्य महान् दोष यह है कि जागरण वाली शिवरात्रि सं० १८९४ की थी। सभी जीवन चरित्र लेखक इस विषय में एक मत हैं। पर इस भ्रान्तमत में यह क्रान्तिकारी जागरण एक वर्ष पश्चात् सं० १८९५ में सरक जाता है। अतः यह मत सर्वथा अमान्य है।

५. हमारा कर्त्तव्य

ऋषि-भक्त विद्वज्जन, वेदोद्धारक सर्व-हित-निरत महर्षि दयानन्द की जन्म तिथि हमने आपको बता दी है। यह तिथि बोध हमारी विंशतिवर्षाधिक-व्यापिनी साध का भगवान् की महती कृपा से प्राप्त फल है। अब अपने कर्तव्य का निर्धारण आप स्वयं करें।

समालोचकों का सर्वदा स्वागत है। 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः।' +

+ विस्तृततर विवेचना व समालोचना के इच्छुक 'सार्वदेशिक' देहली के निम्न अङ्क देखें—

१९५३, दिसम्बर, पार्श्व ५२८–३०
१९५४, जनवरी, ,, ५७५–७७
,, फरवरी, ,, ६४४–४५
,, मार्च ,, २२–२४
,, अक्तूबर
तथा १९४६ जुलाई २४४–२२८
,, अगस्त २४८–५२

अशुद्धि संशोधन

वेदवाणी के वेदाङ्क में श्री पं० वीरेन्द्र जी शास्त्री एम० ए० का "वैदिक साहित्य के पाश्चात्य लेखक" शीर्षक एक लेख छपा था उसमें कुछ साधारण सी मुद्रण की भूलें हो गयी हैं। पाठक उन्हें सुधार लें। सम्पा०

पृष्ठ	स्तम्भ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१११	१	३५	Hidus	Hindus
,,	२	३	रोजेस्	रोजेन्
,,	,,	१३	इडजेन	इड्जेन
११२	१	३०	Samsort	Samskrit
,,	२	८	वेहट्लिंक	वेहट्लिंक
११३	१	२१	अयर्थवेद	अथर्ववेद
,,	२	८	एल्फेड	एल्फ्रेड
११४	१	१५	स्ट्रासवर्ग	स्ट्रासवर्ग

वैदिकधर्म के पुनरुद्धारक दो महान् विभूतियां शंकर और दयानन्द

(ले०—श्री रामशङ्कर गुप्त सि० शास्त्री प्रधान आर्यसमाज जलेसर)

श्री शङ्कराचार्य एवं श्री महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ही दोनों ऐसे महान् पुरुष भारत वर्ष में इस समय तक उत्पन्न हुये हैं कि जिन्होंने अपने अपने काल में मृतप्रायः वैदिकधर्म का पुनरुद्धार किया था।

श्री शङ्कराचार्य का प्रादुर्भाव आज से लग-भग २४५० वर्ष पूर्व जब कि यहां पर अवैदिक नास्तिक भारतीय मत मतान्तर जैसे जैन बौध वाममार्गीयों का तथा वैदिकधर्म में उत्पन्न हुये अनेकों आस्तिक सम्प्रदायों का बोल बाला था जिसके कारण शुद्ध वैदिक धर्म अविद्या तथा अन्ध विश्वास के गहन सागर में डूबता जा रहा था।

श्री महर्षि दयानंद सरस्वती जी महराज का प्रादुर्भाव भी श्री शङ्कराचार्य की भांति आज से लग-भग १३० वर्ष पूर्व हुआ था जब कि यहां पर जैन बौध वाममार्गी आदि नास्तिक अवैदिक भारतीय मत मतान्तरों तथा राम सनेही वल्लभाचार्य सहजानंदी नानकपंथी दादूपंथी आदि अवैदिक सम्प्रदायों तथा विदेशीय अवैदिक मत मतान्तरों, जैसे पारसी ईसाई, मुसाई मोहम्मदी आदि का बोल बाला था, जिसके कारण अनेकों भारतीय जन भारतीय वैदिक धर्म तथा अन्य भारतीय मत. पंथ. सम्प्रदाय को त्याग कर तथा भारतीय सभ्यता को तिलाञ्जली देकर विदेशीय मत मतान्तरों तथा विदेशीय सभ्यता को ग्रहण करते चले जा रहे थे।

देश और धर्म की इस दुर्दशा को देख कर तथा अपने अपने गुरुओं की प्रेरणा तथा आदेशों से दोनों ही महा पुरुषों ने अपने-अपने समय में वैदिक धर्म के पुनरुद्धार का बीड़ा उठाया था तथा उसकी रक्षा करने में प्रशंसनीय एवं अद्वितीय कार्य किया था। इन दोनों महापुरुषों के महान् कार्य का यह निष्कर्ष है कि आज भी भारत वर्ष में वैदिक धर्म का सूर्य चमक रहा है।

दोनों ही महापुरुष ब्राह्मण वंशज तथा बाल ब्रह्मचारी थे तथा दोनों ही महा पुरुषों ने बाल काल में ही गृह त्याग कर संन्यास लेकर गुरु की अन्वेषणा की थी। भाग्यवश दोनों महा पुरुषों को गुरु भी धुरन्धर विद्वान् तथा प्रकाण्ड पण्डित मिले थे। श्री शङ्कराचार्य के गुरु का नाम श्री गोविन्दपादाचार्य तथा महर्षि के गुरु का नाम श्री विरजानंदाचार्य था जिन से पूर्ण विद्या तथा ज्ञान प्राप्त करके अपने अपने समय में वैदिक धर्म के पुनरुद्धार के हेतु भीषण संघर्ष किया था यहां तक कि अपने जीवन की आहुति तक दोनों महा पुरुषों ने देदी थी।

दोनों ही महा पुरुषों में तीक्ष्ण तीव्र तार्किक तथा विलक्षण धारणा बुद्धि थी जिसके आगे एक भी मतवादी की न चली थी, जो भी मतवादी उनके समक्ष आया पराजित होकर ही गया। इन दोनों महा पुरुषों ने अपने अपने जीवन काल में अनेकों ही शास्त्रार्थ समस्त भारत के भिन्न भिन्न नगरों उपनगरों तथा ग्रामों में किये। प्रत्येक जगह विजय लक्ष्मी इन दोनों ही महापुरुषों की अङ्कशायनी हुई। इन दोनों महापुरुषों की ख्याति काशी विजय के पश्चात् दिन प्रति दिन शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की भांति बढ़ती गई, यहां तक कि अनेकों राजा महाराजा तथा प्रतिष्ठित सम्भ्रान्त पुरुष इनके मतानुयायी होते गये। श्री शङ्कराचार्य के उन मतानुयाईयों में से मण्डन मिश्रादि सम्भ्रान्त प्रतिष्ठित व्यक्ति तथा काशी एवं उज्जैन नरेशादि थे। और महर्षि के उन मतानुयाईयों में से गोविन्दरानाडे आदि सम्भ्रान्त प्रतिष्ठित व्यक्ति तथा उदयपुराधीश शाहपुराधीशादि थे। दोनों महापुरुषों ने अपने अपने वैदिक धर्म के प्रचार कार्य को चिरस्थाई बनाने के हेतु संस्था का निर्माण किया था। श्री शङ्कराचार्य ने भारत वर्ष के चारों कोनों में चार मठ अपने कार्य प्रचारार्थ स्थापित किये थे। तथा महर्षि ने आर्य समाज की स्थापना बम्बई में की थी जिसका विस्तार सर्वत्र भारत वर्ष में तथा विदेशों तक में आज है। इन दोनों महापुरुषों की जीवन लीला का अन्त भी विष द्वारा उन्हीं के आधीनस्थ व्यक्तियों ने किया था। श्री शङ्कराचार्य को विष देने वाला उनका एक शिष्य था और महर्षि को विष देने वाला उनका एक रसोईया था।

इस प्रकार से इन दोनों ही महापुरुषों की जीवन लीला तथा धर्म प्रचार में इतनी समानता होते हुये भी दोनोंकि सैद्धान्तिक विचारों में मौलिक भिन्नता बतायी जाती है।

(५) (१) आत्मा तर्हि कः ? सच्चिदानन्दस्वरूपः । (२६)
(६) (२) सत् किम् ? कालत्रयेऽपि तिष्ठतीति सत् ।
चित् किम् ? ज्ञानस्वरूपः ।
आनन्दः कः ? सुखरूपः, एवं सच्चिदानन्दरूप-
मात्मानं विजानीयात् । (२७)
(तत्त्वबोधः)

(१) अर्थात् (प्र०) तब आत्मा किसे कहते हैं ? (३) जो सत् रूप, चित् रूप, और आनंद रूप है, उसे आत्मा कहते हैं । (२६)

(६) (२) (प्र०) सत् किसे कहते है, ? (उ०) भूतकाल भविष्यत्काल, और वर्तमान काल में जो विगड़ता नहीं किन्तु एक रस रहता है उसे सत् कहते हैं । (प्र०) चित् शब्द का अर्थ क्या है ? (उ०) जो ज्ञानस्वरूप है उसे चित् कहते हैं । (प्र०) आनंद शब्द का क्या अर्थ है । (उ०) जो सदा सुख रूप है वह आनंद का अर्थ है अर्थात् जो कभी भी दुःख से छुआ नहीं जाता और वही कूटस्थ पर ब्रह्म नित्यानंदरूप है इस प्रकार से आत्मा अर्थात् पर ब्रह्म को ही सच्चिदानंद स्वरुप जानो ।

महर्षि कृत जीव के लक्षण

जीव भी ईश्वर की भांति चेतन निराकार अनादि किन्तु अल्पज्ञ इच्छा द्वेष, प्रयत्न, सुख दुःख, और ज्ञान गुण वाला तथा नित्य एवं विषय बन्धन में फंसते हैं अर्थात् देह धारण करते और देह त्याग करते तथा मुक्त और बद्ध होते हैं ।

(आर्योद्देश्यरत्नमाला स्वमन्तव्या० आदि ग्रन्थ)

श्री शङ्कराचार्यकृत अपरब्रह्म के लक्षण ।

(१) अनादिकालोऽयमहंस्वभावो जीवः
समस्तव्यवहारवोढा ।
करोति कर्माण्यपि पूर्ववासनः
पुण्यान्यपुण्यानि च तत्फलानि ॥ (१८८)
(२) भुङ्क्ते विचित्रास्वपि योनिषु
व्रजन्नायाति निर्यात्यध ऊर्ध्वमेषः ।
अस्यैव विज्ञानमयस्य जाग्रत्-
स्वप्नाद्यवस्था सुखदुःखभोगः ॥ (१८९)
(३) देहादिनिष्ठा श्रमधर्म कर्म
गुणाभिमानं सततं ममेति ।
विज्ञान कोशोऽयमतिप्रकाशः
प्रकृष्टसान्निध्यवशात्परात्मनः
अतो भवत्येष उपाधिरस्य
यदात्मधीः संसरति भ्रमेण ॥ (१९०)
(विवेक चूड़ामणि)

(४) महामोहग्राहग्रसनगलितात्मावगमनो
धियो नानावस्थाः स्वयमभिनयंस्तद्गुणतया ।
अपारे संसारे विषयविषपूरे जलनिधौ
निमज्ज्योन्मज्ज्यायं भ्रमति कुमति कुत्सितगतिः ॥
(१४३) (विवेक चूड़ामणि)

अर्थात् यह अहं स्वभाव वाला विज्ञानमय कोश ही अनादि कालीन जीव है । और संसार के समस्त व्यवहारों का निर्वाह करने वाला है । यह अपनी पूर्वा-वासना से पुण्य पापमय अनेकों कर्म करता और उनके फल भोगता है तथा विचित्र योनियों में भ्रमण करता हुआ कभी नीचे आता और कभी ऊपर जाता है । जाग्रत स्वप्नादि अवस्थाएँ सुख दुःखादि भोग देह में आत्माभिमान आश्रमादि के धर्म कर्म तथा गुणों का अभिमान और ममता आदि सर्वदा इस विज्ञान मय कोश अर्थात् अपरब्रह्म में ही रहते है । यह आत्मा की अर्थात् पर ब्रह्म की अति निकटता के कारण अत्यन्त प्रकाशमय है । अतः यह उसकी उपाधि है जिससे भ्रम में आत्मबुद्धि करके यह जन्म मरण रूप संसार चक्र में पड़ता है । (१८८, १८९, १९०)

यह नाना प्रकार नीच गतियों वाला कुमति जीव अर्थात् अपर ब्रह्म विषयरूपी विष से भरे हुये इस अपार संसार समुद्र में डूबता उछलता महामोह रूप ग्राह के पंजे में पड़कर आत्मज्ञान अर्थात् परब्रह्म के ज्ञान के नष्ट हो जाने से बुद्धि के गुणों का अभिमानी होकर उसकी नाना अवस्थाओं का अभिनय करता हुआ भ्रमता रहता है । (१४३)

श्रुतिप्रमाणैकमतेः स्वधर्मनिष्ठातयैवात्मविशुद्धिरस्य ।
विशुद्धबुद्धेः परमात्मवेदनं तेनैव संसारसमूलनाशः ॥
(१५०)

अर्थात् जिसकी अर्थात् जिस जीव को श्रुति प्रमाण में दृढ़ निश्चय होता उसी को स्वधर्म में निष्ठा होती है और उसीसे उसकी चित्तशुद्धि हो जाती है, जिसका चित्त शुद्ध होता है उसी को (जीवको) परमात्मा अर्थात् परब्रह्म का ज्ञान होता है और इस ज्ञान से ही संसार रुपी वृक्ष का समूल नाश होता है अर्थात् जीवन मुक्त हो जाता है ।

उपरोक्त चर्चा से स्पष्टतया आप देखेंगे कि महर्षि की भाँति श्री शङ्कराचार्य ने भी परब्रह्म तथा अपरब्रह्म के लक्षण एक दूसरे से भिन्न किये हैं, इतनी भिन्नता के होते हुये भी साम्प्रदायी वेदान्ती उपाधिभेद बतलाते हैं। जो उचित नहीं। शङ्कराचार्य भी उसको वास्तविक भेद मानते हैं, जैसा कि उनके वेदान्तदर्शन के कई एक सूत्रों के भाष्य से प्रगट होता है, उनमें से उदाहरणार्थ कतिपय निम्नांकित हैं—

(१) अनुपपत्तेस्तु न शारीरः (१।२।३)

सूत्र पर शांकरभाष्य

पहले सूत्र में ब्रह्म में विवक्षित गुणों की उपपत्ति बतलाई है, इस सूत्र में बतलाते हैं कि वे गुण जीव में नहीं पाये जाते, उक्त न्याय से मनोमयत्वादि गुण ब्रह्म में ही हो सकते हैं, जीव में नहीं। यदि कोई कहे कि शरीर में तो ब्रह्म भी विद्यमान है, यह ठीक है परन्तु ब्रह्म शरीर में है। शरीर में ही है ऐसा नहीं वह पृथ्वी से भी बड़ा है। अन्तरिक्ष से भी बड़ा है आकाशवत् सर्वत्र व्यापक है नित्य है। जीव केवल शरीर में ही है शरीर उसके भोग का अधिष्ठान है। उसकी वृत्तियाँ अन्यत्र नहीं— (शं० भा० पृ० ६५-६६)

(२) स्मृतेश्च (१।२।६)

सूत्र पर शांकरभाष्य

स्मृति भी जीव ब्रह्म का भेद बताती है जैसे कि गीता में है, ईश्वर सब भूतों के हृदय में है। (शं० भा० पृ० ६१)

(३) सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् (१।२।८)

सूत्र पर शांकरभाष्य

यद्यपि ब्रह्म सबके हृदय में विद्यमान है तथापि उसे सुख दुःख सम्भोग नहीं लगता क्योंकि जीव और ब्रह्म में विशेषता यानी भेद है। जीव कर्ता भोक्ता धर्मा-धर्म का साधन और सुखी दुःखी है। ब्रह्म पापादि से मुक्त है। इस लिये भोग जीव के लिये है, ब्रह्म के लिये नहीं। यदि कहो कि व्यापक से ब्रह्म में भोग का प्रश्न होगा तो कहते हैं कि नहीं आकाश व्यापक होता है परन्तु वस्तु के जल जाने पर आकाश नहीं जलता। (शं० भ० पृ० ६८)

(४) शब्दविशेषात् (१।२।५)

सूत्र पर शांकरभाष्य

शतपथब्राह्मण में आया है कि यह अन्तरात्मा में ज्योतिर्मय पुरुष है यह सप्तमी विभक्ति जो शब्द है यह जीव के लिये है और प्रथमा विभक्ति में जो शब्द है यह ब्रह्म के लिये। (शं० भा० पृ० ६६)

(५) जगद्व्यापारवर्जं प्रकारणादसन्निहितत्वाच्च।
(४।४।१७)

सूत्र पर शांकरभाष्य

मुक्तजीव को अणिमादि अन्य सब सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं, जगत् व्यापार को छोड़ कर अर्थात् जगत् का बनाना स्थित रखना तथा नाश करना केवल ईश्वर के ही हाथ में है, मुक्त जीवात्माओं के नहीं। (शं० भा० पृ० ११०)

महर्षि कृत प्रकृति के लक्षण

प्रकृति अनादि है किन्तु जड़ है, इसी से ईश्वर जगत् की रचना करता है यह सब संसार प्रकृति का बना है।

(सत्यार्थप्रकाशादि ग्रन्थ)

श्री शंकराचार्य कृत माया के लक्षण—

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्ति-
रनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिकपरा।
कार्यानुमेया सुधियैव माया
यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते॥ (११०)

(विवेक चूड़ामणि)

अर्थात् जो अव्यक्त नामवाली त्रिगुणात्मिका अनादि अविद्या परमेश्वर की परा शक्ति है वही माया है। जिससे यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है। बुद्धिमान् जन इसके कार्य से ही इसका अनुमान करते हैं।

ब्रह्माश्रया सत्वरजस्तमोगुणात्मिका माया अस्ति। तत आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोस्तेजः। तेजस आपः। अद्भ्यः पृथिवी॥ २६॥ (तत्त्वबोध)

अर्थात् सत्त्व रज तम् गुणों वाली और पर ब्रह्म के आधार पर रहने वाली माया है। जिससे आकाश उत्पन्न होता, आकाश से वायु, वायु से तेज यानी अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है।

इस प्रकार से शुद्ध सनातन वैदिक त्रैतवाद का सिद्धान्त ही सत्य और वेदोक्त है, जिसका ही प्रचार दोनों महा पुरुषों ने अपने-अपने काल में अपनी-अपनी शैली से किया॥

सत्यार्थप्रकाश-भाष्य

(ले०—श्री पं० शिवपूजनसिंह जी कुशवाहा 'पथिक', विद्यावाचस्पति, साहित्यालंकार, कानपुर)

(गताङ्क से आगे)

प्राच्य पण्डितों की सम्मतियाँ:—

"सन्ध्या-प्रदीपिका" प्रथम संस्करण के पृष्ठ १३-१४ में लिखा है—"प्रातःकाल और सायंकाल का समय संध्या के लिए नियत करने का एक और भी कारण है। और वह यह है, कि गृहस्थियों के लिए यही दो समय ऐसे हैं, जब कि वह गृहस्थी के झमेलों से छुटकारा पाये हुए होते हैं। प्रातःकाल पलंग से उठते ही आवश्यक कर्मों से निवृत्त होकर, दुनियाँ के धंधों में हाथ डालने से पहिले ही मनुष्य ध्यानावस्थित हो सकता है। उसके पश्चात् जब वह गृह-कार्यों में फँस जाता है तो फिर उसके लिए उन कार्यों से मन को हटाकर ईश्वर के ध्यान में लगाना असम्भव हो जाता है। सायंकाल के समय वह फिर सारी चिन्ताओं को परे फेंक कर ईश्वर के ध्यान में मग्न हो सकता है। इसी प्रकार के सुभीते को सोचकर मनु महाराज ने गृहस्थियों के लिए संध्या के ये दो ही समय नियत किये हैं। किन्तु यदि कोई मनुष्य विशेष कारण से ऊपर लिखित नियत समयों पर सन्ध्या न कर सके तो उसे जिस समय भी अवकाश हो और सब प्रकार के झमेलों को परे फेंककर ध्यानावस्थित हो सके, सन्ध्या कर लेनी चाहिए, क्योंकि न करने से करना अच्छा ही है। पर नियमानुकूल जो कार्य किया जाता है, उससे अधिक लाभ होता है। प्रातःकाल और सायंकाल का समय अति रमणीय होने के कारण भी ईश्वर का ध्यान लगने में सहायक है।"

"पं० वेदमित्र जी M. A. विद्यावाचस्पति लिखते हैं:—

"वेद आदि सच्छास्त्रों तथा भगवान् मनु की आज्ञा-नुसार प्रातः तथा सायंकाल दो ही समय सन्ध्या करनी चाहिये। यही दोनों समय शान्ति तथा निश्चिन्तता के होते हैं। और दिन रात का मेल भी दो ही समय होता है।*

शास्त्रार्थ महारथी, आचार्य बुद्धदेव जी विद्यालंकार लिखते हैं:—"तीन बार सन्ध्या करने से कुछ पाप उदय होता है ऐसा हमारा आशय नहीं है। किन्तु समाज में एक मर्यादा बाँध दी जाती है कि अमुक कर्म शनीवार में अवश्य करना। सो वह नित्य-विधि सायम् प्रातः दो काल में सन्ध्या करने की है ऐसा जो निश्चय शास्त्रमर्मज्ञ! महर्षि ने किया है वह ठीक ही है।[१८]

आचार्य श्री विश्वबन्धु जी शास्त्री, M. A. M. O. L. लिखते हैं:—"संसारी पुरुष अनेकानेक व्यवसायों में व्याप्त न होते हुए प्रातः के रमणीय और सायं के शान्त समय को यदि परमात्मा की आराधना में व्यतीत करें, तो उनका दिन और रात्रि का जीवन शान्ति से आप्लावित रह सकता है। अतः स्मृतिकारों ने इन्हीं दो वेलाओं का विधान किया है। श्री रामचन्द्र जी महाराज तथा सीतादेवी का इतिहास तथा अन्य प्राचीन महापुरुषों के व्यवहार इस विषय में साक्षी हैं।[१९]

पं० चन्द्रमणि जी विद्यालंकार, पालीरत्न लिखते हैं—"सन्ध्या करने के दो काल हैं, जिन्हें कि सन्ध्या शब्द ही प्रकट करता है। वह है दिन रात की दोनों सन्धि वेलाएँ।"[२०]

"स्वाहा" शब्द का अर्थ यह है कि जैसा ज्ञान आत्मा में हो वैसा ही जीभ से बोले, विपरीत नहीं।"......

भाष्य—'स्वाहा' में तीन अक्षर हैं स्व + आ + हा।

'स्व' शब्द के ४ अर्थ होते हैं। आत्मा, शांति, धन और आत्मीय। आत्मा के अनेक अर्थ हैं—अन्तःकरण, मन, बुद्धि, ज्ञान, परमात्मा, जीवात्मा आदि। स्वे = आत्मा में या मन में या अन्तःकरण में रहनेवाला जो ज्ञान हो उसे आ = समन्तात् = सब ओर से ठीक-ठीक, हा = त्याग अर्थात् दूसरों को कहना। इस व्युत्पत्ति से 'स्वाहा' का अर्थ वह भी हो सकता है जैसा कि महर्षि दयानन्दजी महाराज ने किया है।

"अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा।..." (यजु० ३।९)

---

* कर्त्तव्य-दर्पण पृष्ठ १९२

१८—"अथ ब्रह्मयज्ञः" द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३०—३१। १९—"आर्योदय" प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४०—४८।

२०—"सुबोध सन्ध्या" पृष्ठ १—२ [श्रावण पूर्णिमा १९९० वि० में भास्करप्रेस, देहरादून में मुद्रित]

इस मंत्र में 'स्वाहा' शब्द का क्या अर्थ है इस पर यास्काचार्यजी लिखते हैं—

"स्वाहा इति वाङ्नामसु पठितम्"
—(निरुक्त अ० २ ख० २३)

वाणी के नामों में 'स्वाहा' शब्द का पाठ आया है। वह वाणी कैसी हो। इस पर पुनः महर्षि यास्कजी कहते हैं—

"स्वाहाकृतयः, स्वाहेत्येतत् सु आहेतिवा, स्वां, वाग् आहेति वा, स्वं प्राहेति वा, स्वाहुतं हविर्जुहोतीतिवा।"
—(निरुक्त अ० ८ खं० २०)

"स्वाहा—(क) प्रियवचन, मधुर वचन, कल्याणकर वचन। सु आह वक्ति अनेनेति स्वाहा, सु + आह् + घञ् = स्वाह, सुपां सुलुक् से सब विभक्तियों को 'आ' आदेश। अतः प्रियवचन से, इत्यादि सब विभक्तियों के अर्थ इस 'स्वाहा' शब्द में पाए जायेंगे। यहाँ, 'ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः' (पा० ३।४,८४) से 'ब्रू' धातु को 'आह्' आदेश है। (?) सु आह वक्तीति स्वाहा, एवं कर्ता में प्रत्यय करने पर 'स्वाहा' का अर्थ प्रियवक्ता, कल्याणवक्ता भी होगा।

(ख) सत्य भाषण, सत्यवक्ता। स्वा वाक् वक्ति अस्मिन्निति स्वाहा, स्वा + आह् + घञ् + सु = स्वाहा। सत्यभाषण या सत्यवक्ता में वागिन्द्रिय अपनी हृदयस्थ वाणी कहती है। अर्थात्, हृदय में जो वचन है, उसे ही वाणी द्वारा उच्चारण किया जाता है।

(ग) अपने पदार्थ को ही अपना समझना, दूसरे को ग्रहण न करना, अर्थात् अपरिग्रह—धर्म को पालन करनेवाला मनुष्य स्वं पदार्थं प्राह वक्ति अनेन अयं वा सः स्वाहा, स्व + आह् + घञ् + = स्वाहा।

(घ) सुगृहीत हवि की आहुतियें देना, अर्थात् सामग्री आदि को भलीप्रकार स्वच्छ करके विधिपूर्वक यज्ञ करना और इसी प्रकार विधिपूर्वक यज्ञ करनेवाला। फिर सामान्यतः सत्क्रिया या सत्कर्ता मात्र के लिए 'स्वाहा' शब्द प्रयुक्त होता है। सु आहुतं हविः जुहोति अनेन कर्मणा अयं मनुष्यो वा इति स्वाहा, सु + आ + हु + ड + सु = स्वाहा। आ = आहुत = गृहीत।" [२१]

"होम से क्या उपकार होता है?"

"होम करने से वायु शुद्धि होती है क्योंकि यह अग्नि ही का सामर्थ्य है कि उस वायु और दुर्गन्धयुक्त पदार्थों को छिन्न-भिन्न और हलका करके बाहर निकाल कर पवित्र वायु का प्रवेश करा देता है"।

भाष्यः—अब तो वैज्ञानिक भी होम के गुण बतलाने लगे हैं यथा—

फ्रांस के विज्ञानवेत्ता ट्रिलवर्ट कहते हैं—"जलती हुई शक्कर में वायु शुद्ध करने की बहुत बड़ी शक्ति है। उन्होंने इसके प्रयोग भी दिखलाए हैं। वे कहते हैं कि इससे क्षय, चेचक, हैजा आदि बीमारियाँ तुरन्त नष्ट हो जाती हैं।" [२२]

डॉ० एम० ट्रेल्ट ने मुनक्का, किशमिश आदि फलों को (जिनमें शक्कर अधिक होती है) जलाकर देखा है। उनको मालूम हुआ है कि इनके धुएँ से टाइफाइड के रोगकीट ३० मिनट में और दूसरे रोगों के कीट घण्टे दो घण्टे में नष्ट हो जाते हैं।" [२३]

डॉ० कर्नल किंग आई० एम० एस० का कथन है—"घी और चावल में केसर मिलाकर जलाने से रोग जन्तुओं का नाश हो जाता है।" [२४]

फ्रांस के डॉ० हैफकीन कहतेहैं—"घी के जलाने से रोगकीट मर जाते हैं।" [२५]

"अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टि एनेवी? एता जायन्ते तस्मादाह तपोजा इति"
(शतपथ ब्रा० ५।३)

अर्थात्—अग्नि से धूम, धूम से मेघ, मेघ से वर्षा होती है, अतः अग्नि ही वर्षा कारण है।

आज्याहुतयो ह वा देवाऽएता देवानाम्।
पय आहुतिभिरेव तद्देवांस्तर्पयति॥"
[शतपथ ब्रा० ११।५।५।२]

---

२१. देखो प्रो० चन्द्रमणि 'विद्यालङ्कार' पालीरत्न, कृत "वेदार्थ-दीपक निरुक्तभाष्य", उत्तरार्ध, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ५५४-५५५

२२. मासिक पत्रिका "सरस्वती" प्रयाग, अक्टूबर सन् १९५४ ई०।

२३. 'वैदिक सम्पत्ति' द्वितीय संस्करण पृष्ठ ४०१

२४. वही, पृष्ठ ४०१

२५. वही, पृष्ठ ४०१

† अर्थात्—घृत की आहुतियों से देवताओं को तृप्त करता है। दूध की आहुतियों से देवों को तृप्त करता है।

"(प्रश्न) तो मन्त्र पढ़ के होम करने का क्या प्रयोजन है?

(उत्तर) मन्त्रों में वह व्याख्या है कि जिससे होम करने के लाभ विदित हों जायं और मन्त्रों की आवृत्ति होने से कण्ठस्थ रहें, वेद पुस्तकों का पठन-पाठन और रक्षा भी होवे।"

भाष्य—यहां महर्षि दयानन्द जी ने हवन के समय वेद मन्त्रों के पढ़ने के तीन प्रयोजन बतलाये हैं—मन्त्रों में होम करने के लाभ की व्याख्या, आवृत्ति से कण्ठस्थ होना, वेद की रक्षा। जितने भी मन्त्र हवन करने के लिए निर्धारित किये गये हैं यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक मन्त्र के भीतर तीनों ही प्रयोजन हों। किन्हीं मन्त्रों में हवन के लाभ की व्याख्या है, कोई मन्त्र कण्ठस्थ रखने और किन्हीं मन्त्रों को वेद के रक्षार्थ निर्धारित किया गया है।

"धान्यमसि धिनुहि देवान् प्राणाय त्वोदानाय..."

(यजु० १।२०)

महर्षि दयानन्द भाष्यम्—(धान्यम्) धातुमर्ह यत् यज्ञात् शुद्धम्। रोगनाशकेन स्वादिष्ठतमेन सुखकारकं व्रीह्यादिकमन्नं तत्...."

अर्थात्—जो यज्ञ से शुद्ध उत्तम स्वभाव वाला सुख का हेतु रोग का नाश करने वाला तथा चावल आदि अन्न वा (पयः) जल है, वह (देवान्) विद्वान् वा जीव तथा इन्द्रियों को तृप्त करता है।......

"पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं माहिंसिषं व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु"

(यजु० १।२५)

इसके भावार्थ में महर्षि दयानन्द जी लिखते हैं—"ईश्वर आज्ञा देता है कि विद्वान् मनुष्यों को पृथिवी का राज्य तथा उसी पृथ्वी में तीन प्रकार के यज्ञ और औषधियों इनका नाश कभी न करना चाहिये। जो यज्ञ अग्नि में हवन किये हुये पदार्थों का सुगन्धयुक्त भूमि मेघमण्डल में जाकर सूर्य और वायु से आकर्षित जलसमूह की शुद्धि के द्वारा इस पृथ्वी में वायु, जल, औषध की शुद्धि का हेतु होता हुआ अत्यन्त सुख उत्पन्न करने वाला होता है, इससे यह यज्ञ किसी पुरुष को कभी छोड़ने योग्य नहीं है।...

इन दोनों मन्त्रों में हवन के लाभ प्रदर्शित किये गये हैं।

अथर्ववेद काण्ड ४, सूक्त ३७, में औषधियों के द्वारा रोग कीटाणुओं के नाश का उपदेश है। अतः वेद के मन्त्रों से अग्नि गुण रोगनाशकत्व और कीटाणु विनाशकत्व गुण प्रकट है।

"अग्नेर्जनित्रमसि वृषणौ स्थ उर्वश्यस्यायुरसि पुरुरवाऽअसि। गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि"

(यजु० ५।२)

अर्थ—"हे यज्ञ! तू अग्नि का उत्पादक है। तुम दोनों (यज्ञ और अग्नि) वर्षा के उत्पादक हो। हे अग्नि! तू कान्तिवाला है, तू आयुष्य है। तू शब्दवान् है। गायत्री छन्दवाले मन्त्र से तुझे मन्थित करता हूँ। त्रिष्टुप् छन्दवाले मन्त्र से तुझे मन्थित करता हूँ तथा जगती छन्दवाले मन्त्र से तुझे मन्थित करता हूँ।"

इस मन्त्र में मन्त्रों द्वारा अग्निहोत्र करने की आज्ञा है।

"ब्राह्मणस्त्रयाणां वर्णानामुपनयनं कर्त्तुमर्हति। राजन्यो द्वयस्य। वैश्योवैश्यस्यैवेति। शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेदित्येके।"

यह सुश्रुत के सूत्रस्थान के दूसरे अध्याय का वचन है। ब्राह्मण तीनों वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, क्षत्रिय क्षत्रिय और वैश्य, तथा वैश्य एक

† होम से अनेकों लाभ हैं। अधिक जानने के लिये पाठकों को निम्नाङ्कित पुस्तकों का अध्ययन करना चाहिये—पं० शिवशर्मा महोपदेशक कृत "यज्ञ और विज्ञान" श्री वाचस्पति जी एम० ए०, विद्यावाचस्पति कृत "देव यज्ञ प्रकाश" महात्मा नारायण स्वामी जी कृत "कर्तव्य-दर्पण", श्री नत्थन लाल आर्य कृत "हवन यज्ञ-प्रदीपिका", पं० बुद्धदेव जी "विद्यालङ्कार" "विद्यामार्तण्ड कृत" "अथदेवयज्ञ" और "पञ्च यज्ञ, प्रकाश" श्री गंगा प्रसाद उपाध्याय एम० ए० कृत "Yajna or Sacrifice" डा० सत्यप्रकाश डी० एस० सी० कृत "Agnihotra" श्री नित्यानन्द वेदालङ्कार "एम० ए० कृत" "सन्ध्या-हवन-प्रदीपिका"

वैश्य वर्ण का यज्ञोपवीत कराके पढ़ा सकता है। और जो कुलीन शुभलक्षणयुक्त शूद्र हो तो उसको मन्त्र-संहिता छोड़ के सब शास्त्र पढ़ावे, शूद्र पढ़े, परन्तु उसका उपनयन न करे, यह मत अनेक आचार्यों का है।"

भाष्यः—महर्षि दयानन्द जी ने विद्वान् को द्विज और मूर्ख को शूद्र लिखा है। विद्वान् उपनयन करा सकता है, परन्तु मूर्ख उपनयन कैसे करा सकता है। इसी लिए उन्होंने लिखा कि द्विज उपनयन करके भेजे और शूद्र बिना उपनयन किए हुए विद्याभ्यास के लिए भेजे। उनके लेख से यह तात्पर्य तो नहीं प्रकट होता है कि गुरुकुल में उसका उपनयन हो, वेदाध्ययन के लिए तो उसका उपनयन अवश्यंभावी है। गुरुकुल में उपनयन करने के लिए महर्षि दयानन्दजी ने निषेध नहीं किया है।

"मन्त्रसंहिता' छोड़ के सब शास्त्र पढ़ावे" यह उनका स्वकीय मन्तव्य नहीं है वरन् यह अनेक आचार्यों का है। "यथेमाम् वाचम्"...(यजु० २६।२) मन्त्र के भाष्य में आपने स्पष्ट लिखा है कि मानवमात्र को वेद पढ़ने का अधिकार है। जब तक बालक स्वयं कर्म करने में समर्थ तथा स्वतंत्र नहीं होते तब तक उनके संस्कार माता-पिता के वर्ण के अनुसार ही होते हैं। अतः बालकों को उनके माता-पिता के वर्ण के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य के बालकों को यज्ञोपवीत देकर तथा शूद्रों के बालकों को यज्ञोपवीत के बिना गुरुकुल में प्रविष्ट किया जाता है। गुरुकुल में प्रविष्ट होने के कुछ समय पश्चात् आचार्य देखेगा कि जो बालक विद्या पढ़ने के योग्य होंगे उनको यज्ञोपवीत देकर विद्या आरम्भ करा दी जावेगी।

"पाँचवें या आठवें वर्ष से लड़के लड़कों की पाठशाला में और लड़की लड़कियों की पाठशाला में जावें...।

भाष्य—महर्षि के इस लेख से स्पष्ट प्रकट होता है कि वे सहशिक्षा (Co-education) के सर्वथा ही विपरीत थे।

सहशिक्षा वास्तव में एक अभिशाप है। आर्यावर्त से इतर कतिपय देशों में सहशिक्षा की प्रणाली प्रचलित है, जिसका भयंकर परिणाम होता है। अंग्रेजी शिक्षा के प्रारम्भ होने पर यहां भी सहशिक्षा प्रचलित हुई। अब पाश्चात्य देशवासी भी इससे घृणा करने लगे हैं। जर्मनी, अमेरिका आदि में इसका बहिष्कार प्रारम्भ हो गया है।

"मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति"

(मनुस्मृति २।२१५)

अर्थात्—'पुरुष माता, बहिन और पुत्री के साथ भी एकान्त में न बैठे, क्योंकि ये इन्द्रियाँ बड़ी बलवान् हैं। बड़े २ संयमी पुरुषों को भी वश में कर लेती है।" कामदेव के कारण ऋषि महर्षियों की जो दुर्दशा हुई है, उसका उपदेश पुराणों में दिया गया है।

भवभूतिकृत "उत्तर रामचरितम्" नाटक पढ़ने से ज्ञात होता है कि उस काल में भी सहशिक्षा का विरोध था।

'आत्रेयी' और 'वनदेवता' के वार्तालाप से स्पष्ट प्रकट होता है कि कुश-लव के वाल्मीकि के आश्रम में आ जाने से उनके साथ अध्ययन 'आत्रेयी' ने नहीं किया और वह दण्डकारण्य में वेदान्त विद्या पढ़ने के लिए चली गई। यह 'उत्तर रामचरितम्' के 'द्वितीय अङ्क' में वर्णन है।

महर्षि दयानन्द जी "सत्यार्थप्रकाश" के तृतीय समुल्लास में लिखते हैं—

"...विद्या पढ़ने का स्थान एकान्त देश में होना चाहिये और वे लड़के और लड़कियों की पाठशाला दो कोस एक दूसरे से दूर होनी चाहिये। जो वहाँ अध्यापिका और अध्यापक पुरुष वा भृत्य, अनुचर हों वे कन्याओं की पाठशाला में सब स्त्री और पुरुषों की पाठशाला में पुरुष रहें। स्त्रियों की पाठशाला में पाँच वर्ष का लड़का और पुरुषों की पाठशाला में पाँच वर्ष की लड़की भी न जाने पावे...।"

इन उपर्युक्त वाक्यों से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि महर्षि दयानन्द जी सहशिक्षा (Co-education) के कितने प्रबल विरोधी थे। सहशिक्षा के जो दोष हैं वे किसी से छिपे नहीं हैं। अनेक छात्र छात्राएं सहशिक्षा के कारण जीवन संग्राम में प्रविष्ट होने के पहले ही मस्तिष्क बिगाड़ देते हैं। इस दशा में शतप्रतिशत ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर ही नहीं सकते। यदि वे इस भ्रष्टाचार से शिक्षित हुए तो क्या हुए?

प्रो० शिवदत्त जी ज्ञानी एम० ए० ने वैदिक संस्कृति का वर्णन करते हुए कहा है—"स्त्री शिक्षा का भी यथोचित प्रबन्ध किया जाता था। स्त्रियों के लिए भी गुरुकुल रहते थे।[२६]

२६. "भारतीय संस्कृति" द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १४३

इससे ज्ञात होता है कि उस समय स्त्रियों के गुरुकुल अलग रहते थे।

सहशिक्षा में अन्य विद्वानों के विचार

हिन्दू विश्वविद्यालय काशी के संस्थापक परलोकवासी पं० मदन मोहन मालवीय लिखते हैं:—

"देश की वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों में सहशिक्षा कदापि हितकर सिद्ध नहीं हो सकती"।

प्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक, डा० भगवान्दास जी लिखते हैं:—सहशिक्षा के वातावरण में एक कुमारी का कुँआरी रहना सम्भव नहीं है। +

अखिल भारतीय हिन्दू महासभा के स्तम्भ डा० बी० एस० मुंजे लिखते हैं—"मेरी राय में बारह वर्ष के ऊपर लड़कियों को लड़कों के स्कूल में शिक्षा देना उचित नहीं होगा। उनके वास्ते स्वतन्त्र और लड़कों के स्कूल से दूर शाला स्थापना करनी चाहिये। ×

पं० सूर्यनारायण व्यास, सम्पादक, विक्रम, उज्जैन—

अपने 'सहशिक्षा भारत के लिए असांस्कृतिक प्रयोग' शीर्षक लेख में लिखते हैं—जिन देशों में शील सदाचार पावित्र्य का विचारगांभीर्य नहीं माना जाता, जहाँ स्त्री, माता, पुत्री, पत्नी या कुछ होते हुए भी स्त्री के रूप में ही परिगणित की जाती हो, वहाँ की सहशिक्षा के प्रयोग समाज के लिए पोषक प्रचुर नहीं हुए हैं, उन्हें भी इन प्रयोगों ने विपक्षी ही बनाया है। यूरोप, अमेरिका आदि देशों में सहशिक्षा की प्रथा, प्रगति की चरम सीमा पर पहुँच गयी थी, परन्तु उन्हें इन प्रयोगों के दुष्प्रभाव ने परास्त कर दिया है, और शिक्षा की स्वतन्त्र व्यवस्था के लिए प्रेरित किया है। शारीरिक प्रयोगों के भयानक खिलवाड़ और उनके भीषण प्रभावों को प्रत्यक्ष लक्षित करते हुए भी हम अनुकरणशील स्वभाववश यदि अपने देश में भी ऐसी ही क्रिया करने में प्रवृत्त हो रहे हों, तो यह कदापि वांछनीय नहीं होना चाहिये। ❀

महामहोपाध्याय पं० गोपाल शास्त्री, दर्शन केसरी, आचार्य काशी विद्यापीठ, बनारस अपने सहशिक्षा शीर्षक लेख में लिखते हैं—मेरी दृष्टि में बालक और बालिकाओं की शिक्षा एक साथ तथा एक प्रकार की न हो सकती है और न होनी ही चाहिये। क्योंकि ये दोनों संसारयात्रा के लिए ईश्वर निर्मित शकट के दायें बायें पहिये है। दोनों में परस्पर आकर्षण विकर्षणात्मक दो भिन्न २ शक्तियाँ हैं जैसे वर्तमान विद्युत् शक्ति में भी दो प्रकार के पावर (करेण्ट) हैं।

मासिक पत्र 'कल्याण' गोरखपुर के सम्पादक श्री हनुमान प्रसादजी पोद्दार तथा श्री चिम्मनलाल गोस्वामी एम० ए० लिखते हैं—हम सिद्धान्ततः सहशिक्षा के समर्थक नहीं हैं। ‡

दैनिक प्रताप, व साप्ताहिक, प्रताप, कानपुर के भूतपूर्व सम्पादक तथा 'नवशक्ति' पटना के सम्पादक श्री युगुल किशोर सिंह लिखते हैं—देश की वर्तमान सामाजिक विषमता को देखते हुए मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि सहशिक्षा का वर्तमान स्वरूप किसी भी अवस्था में श्रेयस्कर नहीं हो सकता।

श्री सी एम० रंगा अय्यर ने मिसमेयो की दूषित पुस्तक 'मदर इण्डिया' के उत्तर में 'फादर इण्डिया' नामक पुस्तक लिखी है। उसमें आपने मि० लिण्ड से एक अमेरिकन अदालत के न्यायाधीश के निर्णय का उद्धरण देकर अङ्कित किया है कि उस न्यायप्रिय न्यायाधीश के निर्णय के अनुसार विश्वविद्यालयों से 'सहशिक्षा' के प्रभाव से दूषित युवतियों के चरित्र पर इस प्रथा ने भयङ्कर परिणाम उत्पन्न किया है। उस न्यायाधीश महोदय के निर्णय का सार यों है कि सहशिक्षा की प्रथा में पठित विद्यालयों की युवतियों में लगभग ७५ वा ८० प्रतिशत ऐसी युवतियाँ पाई गयीं जो विवाह से पहले गर्भवती थीं। २७

सहशिक्षा के मानने वाले चाहे जितने गीत सहशिक्षा के गावें, चाहे जितना ही सत्यता पर आवरण डाल दें, पर यह सत्य छिपाये नहीं छिप सकता कि अविवाहित पुरुष स्त्रियों का शिक्षा के लिए एकत्र बैठना वा रहना अथवा विवाहित स्त्री पुरुषों का अन्य विवाहित पुरुष स्त्रियों का बे रोक टोक मिलना और पारस्परिक संसर्ग में आना उनको दूषित किये बिना नहीं छोड़ सकता। यह नैसर्गिक नर-नारी की प्रवृत्ति अग्नि और तृण के एकत्र होने की कहावत के अनुसार प्रायः देखी जाती है जिसको त्रिकाल में भी कभी दूर नहीं किया जा सकता। [क्रमशः]

+ साप्ताहिक "युगान्तर", कानपुर का 'सहशिक्षांक' वर्ष ३ रविवार २४ अक्टूबर १९४३ ई०, अंक १ पृष्ठ १

× वही, पृष्ठ ५ कालम २

❀ वही, पृष्ठ ६, कालम २ व ३

† वही, पृष्ठ ८ कालम १

‡ वही, पृष्ठ १५, कालम ३

२७. 'फादर इण्डिया' अ० ३ कन्या, माँ के रूप में

फिर उसकी कौन कैसी है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

यास्ते प्रजा अमृतस्य परस्मिन् धामन्नृतस्य ।
मूर्धा नाभा सोम वेन आभूषन्तीः सोम वेदः ॥ ९ ॥ [२७]

पदार्थ—हे (सोम) विज्ञान के देने वाले (वेनः) कमनयीस्वरूप (मूर्धा) सर्वोत्तम तू (ऋतस्य) सत्यस्वरूप वा सत्यप्रिय (अमृतस्य) नाश रहित (नाभा) स्थिर सुख के बन्धनरूप (धामन्) न्याय वा आनन्दमय स्थान में वर्तमान (ते) ईश्वर के समान न्यायकारी तुझ सभाध्यक्षक की (याः) जो (आभूषन्तीः) सब प्रकार भूषणयुक्त जो (प्रजाः) प्रजा हैं, उनको सब विद्याओं से (वेदः) प्राप्त हो ॥ ९॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है[1] । जहां मनुष्य ईश्वर ही की उपासना करने हारे अत्युत्तम सभाध्यक्ष का आश्रय करते हैं, वहां वे दुःख के लेश को भी नहीं प्राप्त होते । जैसे परमेश्वर और सभाध्यक्ष श्रेष्ठ आचरण करने वाले मनुष्यों की इच्छा करते हैं, वैसे ही प्रजा में रहने वाले मनुष्य परमेश्वर वा सभाध्यक्ष की नित्य इच्छा करें, क्योंकि इस के विना बहुत सुख कभी प्राप्त नहीं हो सकते ॥ ९॥

इस सूक्त में रुद्र शब्द के अर्थ का वर्णन सब सुखों का प्रतिपादन, मित्रपन का आचरण परमेश्वर वा सभाध्यक्ष के आश्रय से सुखों की प्राप्ति, एक ईश्वर ही की उपासना, परमसुख की प्राप्ति और सभाध्यक्ष का आश्रय करना कहा है । इस से इस सूक्त के अर्थ की पूर्व सूक्तार्थ के साथ सङ्गति जाननी चाहिये ॥

यह तेंतालीसवां सूक्त और सत्ताइसवां वर्ग समाप्त हुआ ॥ ४३ ॥

अथ चतुर्दशर्चस्य चतुश्चत्वारिंशस्य सूक्तस्य प्रस्कण्व ऋषिः । अग्निर्देवता । १,५ विराडुपरिष्टाद्बृहती; ३,११ निचृदुपरिष्टाद्बृहती, ६,१२ भुरिग्बृहती ७ निचृत्पथ्याबृहती १३ पथ्याबृहती च छन्दः । मध्यमः स्वरः । २,४,८,१४ विराट्सतः पङ्क्तिः ; १० विराड्विस्तारपङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः । ९ आर्ची त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

इस सूक्त में सायणाचार्यादि वा विलसन मोक्षमूलरादिकों ने समसंख्यावाले मन्त्रों का बृहती और विषम संख्यावाले मन्त्रों का सतोबृहती कहा है, सो मिथ्या हैं । इसी प्रकार इनके छन्दों का ज्ञान सब जगह जानो[2] ॥

---

[४४]

अब चवालीसवें सूक्त का आरम्भ है । उसके पहिले मन्त्र में अग्नि शब्द के सम्बन्ध से विद्वानोंकी कामना करनी चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

---

१. संस्कृत भावार्थ में यह पंक्ति नहीं है, परन्तु संस्कृत पदार्थ में "(ते) तव जगदीश्वरस्येव सभाध्यक्षस्य" पाठ होने से आवश्यक है ।

२. इस विषय में ऋषि दयानन्द ने ३९वें सूक्त के प्रारम्भ में भी लिखा है, देखो पृष्ठ २५१ । इस पर हमारी टिप्पणी भी द्रष्टव्य है ।

अग्ने विवस्वदुषसश्चित्रं राधो अमर्त्य ।
आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वमद्या देवाँ उषर्बुधः ॥ १ ॥

पदार्थ--हे (अमर्त्य) मरण धर्म से रहित वा साधारण मनुष्य स्वभाव से विलक्षण (जातवेदः) उत्पन्न हुए पदार्थों को जानने वा प्राप्त होने वाले (अग्ने) विद्वन् ! जिस से (त्वम्) आप (अद्य) आज (दाशुषे) दान देनेवाले वा पुरुषार्थी मनुष्य के लिये (उषसः) प्रातःकाल से (चित्रम्) अद्भुत (विवस्वत्) सूर्य के समान प्रकाश करने वाले (राधः) धन को देते हो वह आप (उषर्बुधः) प्रातः-काल में स्वयं जागने वाले और सोये हुओं को जगाने वाले विद्वानों को (आवह) अच्छे प्रकार प्राप्त कीजिये ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को परमेश्वर की आज्ञा पालन करने के लिये अपने पुरुषार्थ से परमेश्वर वा आलस्य रहित उत्तम विद्वानों का आश्रय लेकर चक्रवर्त्ति राज्य विद्या और राज्यलक्ष्मी का स्वीकार करना चाहिये। सब विद्याओं के जानने वाले विद्वान् लोग जो परम उत्तम गुणों से युक्त श्रेष्ठ अपने करने योग्य कर्म है उसीको नित्य करें, और जो दुष्ट कर्म है उसको कभी न करें ॥ १ ॥

फिर विद्वानों के सङ्ग के गुणों का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

जुष्टो हि दूतो असि हव्यवाहनोऽग्ने रथीरध्वराणाम् ।
सजूरश्विभ्यामुषसा सुवीर्यमस्मे धेहि श्रवो बृहत् ॥ २ ॥

पदार्थ—हे (अग्ने) पावक के समान राजविद्या के जानने वाले विद्वन् ! (हि) जिस कारण आप (जुष्टः) प्रसन्न प्रकृति और (दूतः) शत्रुओं को ताप कराने वाले होकर (अध्वराणाम्) अहिंस-नीय यज्ञों को सिद्ध करने वालों में (रथीः) प्रशंसनीय रथयुक्त (हव्यवाहनः) देने लेने योग्य वस्तुओं और यानों को हवन करने वाले (सजूः) अपने तुल्यों का सेवन करने वाले (असि) हो, इस से (अस्मे) हम लोगों में (अश्विभ्याम्) वायु जल और (उषसा) प्रातःकाल में सिद्ध हुई क्रिया से सिद्ध किये हुए (बृहत्) बड़े (सुवीर्य्यम्) उत्तम पराक्रम और (श्रवः) सब विद्या के श्रवण के निमित्त अन्न को (धेहि) धारण कीजिये ॥ २ ॥

भावार्थ—कोई मनुष्य विद्वानों के सङ्ग के विना विद्या को प्राप्त होकर शत्रु को जीतने, उत्तम पराक्रम और चक्रवर्त्ति आदि राज्यलक्ष्मी को प्राप्त होने को समर्थ नहीं हो सकता, और अग्नि जल आदि के योग के विना उत्तम व्यवहार की सिद्धि भी नहीं कर सकता ॥ २ ॥

फिर कैसे मनुष्य का स्वीकार करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

अद्या दूतं वृणीमहे वसुमग्निं पुरुप्रियम् ।
धूमकेतुं भाऋजीकं व्युष्टिषु यज्ञानामध्वरश्रियम् ॥ ३ ॥

पदार्थ—हम लोग (अद्य) आज मनुष्य जन्म वा विद्या की प्राप्ति समय को प्राप्त होकर (व्युष्टिषु) अनेक प्रकार की कामनाओं में (भाऋजीकम्) कामनाओं के प्रकाश (यज्ञानाम्) अग्निहोत्र आदि अश्वमेध पर्यन्त वा योग,उपासना, ज्ञान, शिल्पविद्यारूप यज्ञों के मध्य (अध्वरश्रियम्) अहिंसनीय यज्ञोंकी श्री शोभारूप (धूमकेतुम्) जिस का धूम ही ध्वजा है (वसुम्) सब विद्याओं के निवासभूत (पुरुप्रियम्) बहुतों को प्रिय (दूतम्) पदार्थों को दूर पहुँचाने वाले (अग्निम्) भौतिक अग्नि के सदृश विद्वान् दूत को (वृणीमहे) अंगीकार करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है ॥[1] मनुष्य को उचित है कि विद्या वा राज्य और सुख की प्राप्ति के लिये सब विद्याओं के कथन करने वा सब बातों का उत्तर देने वाले विद्वान् को दूत बनाकर [और बहुत गुणों के योग से बहुत कार्य्यों को प्राप्त कराने वाली बिजुली को स्वीकार करके][2] सब कार्य्यों को सिद्ध करें ॥ ३ ॥

फिर किस प्रकार के विद्वान् को ग्रहण करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

श्रेष्ठं यविष्ठमतिथिं स्वाहुतं जुष्टं जनाय दाशुषे।
देवाँ अच्छा यातवे जातवेदसमग्निमीळे व्युष्टिषु ॥ ४ ॥

पदार्थ—मैं (व्युष्टिषु) विशिष्ट स्वीकार के योग्य कामनाओं में (यातवे) प्राप्ति के लिये (दाशुषे) दाता (जनाय) धार्मिक विद्वान् मनुष्य के अर्थ (श्रेष्ठम्) अति उत्तम (यविष्ठम्) परम बलवान् (जुष्टम्) विद्वानों से प्रसन्न वा सेवित (स्वाहुतम्) अच्छे प्रकार बुला के सत्कार के योग्य (जातवेदसम्) सब पदार्थों में व्याप्त (अतिथिम्) नित्य भ्रमण शील, सेवा करने के योग्य (अग्निम्) अग्नि के तुल्य वर्त्तमान सज्जन अतिथि और (देवान्) दिव्य गुण वाले विद्वानों को (अच्छेडे) अच्छे प्रकार सत्कार करूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है। मनुष्यों को अति योग्य है कि उत्तम, धर्म ही जिनका बल है, प्रसन्न स्वभाव वाले, सब के उपकारक विद्वान् अतिथियों का सत्कार करें, जिससे सब जनों का हित हो ॥ ४ ॥

फिर कैसे को ग्रहण करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

स्तविष्यामि त्वामहं विश्वस्यामृत भोजन।
अग्ने त्रातारममृतं मियेध्य यजिष्ठं हव्यवाहन ॥ ५ ॥ [२८]

---

१. यह पाठ संस्कृत भावार्थ में है और आवश्यक है, क्योंकि सं० पदार्थ तथा अन्वय में 'पावकमिव' 'अग्निमिव' पदों का निर्देश है।

२. यद्यपि इस कोष्ठान्तर्गत पाठ का मूल संस्कृत भावार्थ में विद्यमान है, पुनरपि यह पाठ असम्बद्ध है। क्योंकि यह पाठ तभी संगत हो सकता है जब मन्त्रार्थ भौतिक अग्नि परक भी हो। क कापी में भौतिक अग्नि परक भी अर्थ था उस समय यह पाठ ठीक था। भौतिक अग्नि परक अर्थ हटा देने से असम्बद्ध हो गया है।

पदार्थ—हम लोग (अद्य) आज मनुष्य जन्म वा विद्या की प्राप्ति समय को प्राप्त होकर (व्युष्टिषु) अनेक प्रकार की कामनाओं में (भाऋजीकम्) कामनाओं के प्रकाश (यज्ञानाम्) अग्निहोत्र आदि अश्वमेध पर्य्यन्त वा योग,उपासना, ज्ञान, शिल्पविद्यारूप यज्ञों के मध्य (अध्वरश्रियम्) अहिंसनीय यज्ञोंकी श्री शोभारूप (धूमकेतुम्) जिस का धूम ही ध्वजा है (वसुम्) सब विद्याओं के निवासभूत (पुरुप्रियम्) बहुतों को प्रिय (दूतम्) पदार्थों को दूर पहुँचाने वाले (अग्निम्) भौतिक अग्नि के सदृश विद्वान् दूत को (वृणीमहे) अंगीकार करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है ॥[1] मनुष्य को उचित है कि विद्या वा राज्य और सुख की प्राप्ति के लिये सब विद्याओं के कथन करने वा सब बातों का उत्तर देने वाले विद्वान् को दूत बनाकर [और बहुत गुणों के योग से बहुत कार्य्यों को प्राप्त कराने वाली बिजुली को स्वीकार करके][2] सब कार्य्यों को सिद्ध करें ॥ ३ ॥

फिर किस प्रकार के विद्वान् को ग्रहण करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

श्रेष्ठं यविष्ठमतिथिं स्वाहुतं जुष्टं जनाय दाशुषे।
देवाँ अच्छा यातवे जातवेदसमग्निमीळे व्युष्टिषु ॥ ४ ॥

पदार्थ—मैं (व्युष्टिषु) विशिष्ट स्वीकार के योग्य कामनाओं में (यातवे) प्राप्ति के लिये (दाशुषे) दाता (जनाय) धार्मिक विद्वान् मनुष्य के अर्थ (श्रेष्ठम्) अति उत्तम (यविष्ठम्) परम बलवान् (जुष्टम्) विद्वानों से प्रसन्न वा सेवित (स्वाहुतम्) अच्छे प्रकार बुला के सत्कार के योग्य (जातवेदसम्) सब पदार्थों में व्याप्त (अतिथिम्) नित्य भ्रमण शील, सेवा करने के योग्य (अग्निम्) अग्नि के तुल्य वर्त्तमान सज्जन अतिथि और (देवान्) दिव्य गुण वाले विद्वानों को (अच्छेडे) अच्छे प्रकार सत्कार करूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है। मनुष्यों को अति योग्य है कि उत्तम, धर्म ही जिनका बल है, प्रसन्न स्वभाव वाले, सब के उपकारक विद्वान् अतिथियों का सत्कार करें, जिससे सब जनों का हित हो ॥ ४ ॥

फिर कैसे को ग्रहण करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

स्तविष्यामि त्वामहं विश्वस्यामृत भोजन।
अग्ने त्रातारममृतं मियेध्य यजिष्ठं हव्यवाहन ॥ ५ ॥ [२८]

---

१. यह पाठ संस्कृत भावार्थ में है और आवश्यक है, क्योंकि सं० पदार्थ तथा अन्वय में 'पावकमिव' 'अग्निमिव' पदों का निर्देश है।

२. यद्यपि इस कोष्ठान्तर्गत पाठ का मूल संस्कृत भावार्थ में विद्यमान है, पुनरपि यह पाठ असम्बद्ध है। क्योंकि यह पाठ तभी संगत हो सकता है जब मन्त्रार्थ भौतिक अग्नि परक भी हो। क कापी में भौतिक अग्नि परक भी अर्थ था उस समय यह पाठ ठीक था। भौतिक अग्नि परक अर्थ हटा देने से असम्बद्ध हो गया है।

पदार्थ—(अमृत) अविनाशिस्वरूप (भोजन) पालनकर्त्ता (मियेध्य) दुखों को दूर करने (हव्यवाहन) लेने देने योग्य पदार्थों को प्राप्त कराने वाले (अग्ने) स्वप्रकाशस्वरूप परमेश्वर ! (अहम्) मैं (विश्वस्य) सब जगत् के (त्रातारम्) रक्षा (यजिष्ठम्) अत्यन्त सुख देने वाले (अमृतम्) नित्य मुक्त (त्वा) आप ही को (स्तविष्यामि) स्तुति करूंगा ॥ ५ ॥

भावार्थ—विद्वानों को योग्य है कि इस सब जगत् के रक्षक मोक्ष, विद्या, काम, आनन्द के देने वा उपासना करने योग्य परमेश्वर को छोड़ कर अन्य किसी का भी ईश्वरभाव से आश्रय वा स्तुति न करें ॥ ५ ॥

फिर वह कैसा है, किस के लिये क्या करता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

सुशंसो बोधि गृणते यविष्ठ्य मधुजिह्वः स्वाहुतः ।
प्रस्कण्वस्य प्रतिरन्नायुर्जीवसे नमस्या दैव्यं जनम् ॥ ६ ॥

पदार्थ—हे (यविष्ठ्य) अत्यन्त बलवान् (नमस्य) पूजने योग्य विद्वान् (मधुजिह्वः) मधुर ज्ञानरूप जिह्वा युक्त (सुशंसः) उत्तम स्तुति से प्रशंसित (स्वाहुतः) सुख से आह्वान = बोलने योग्य (प्रस्कण्वस्य) उत्तम मेधावी विद्वान् के (जीवसे) जीवन के लिये (आयुः) जीवन को (प्रतिरन्) दुःखों से पार करते जो आप (गृणते) सत्य की स्तुति करते हुए मनुष्य के लिये शास्त्रों का (बोधि) बोध कीजिये और जिस से (दैव्यम्) विद्वानों में उत्पन्न हुए (जनम्) मनुष्य की रक्षा करते हो इससे सत्कार के योग्य हो ॥ ६ ॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को उचित है कि जो सब से उत्कृष्ट विद्वान् है उसी का सत्कार करें। ऐसे ही इसका अच्छे प्रकार आश्रय लेकर आयु और विद्या को प्राप्त करें ॥ ६ ॥

फिर वह जिस प्रकार का है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

होतारं विश्ववेदसं स हि त्वा विश इन्धते ।
स आ वह पुरुहूत प्रचेतसोऽग्ने देवाँ इह द्रवत् ॥ ७ ॥

पदार्थ—हे (पुरुहूत) बहुत विद्वानों से बुलाये जाने योग्य (अग्ने) विशिष्ट ज्ञानयुक्त विद्वन् (प्रचेतसः) उत्तम ज्ञानयुक्त ! (विशः) प्रजा जिस (होतारम्) हवन के कर्त्ता (विश्ववेदसम्) सब सुख प्राप्त (त्वा) आप को (हि) निश्चय करके (समिन्धते) अच्छे प्रकार प्रकाश करती हैं (सः) सो आप (इह) इन युद्ध आदि कर्मों में (देवान्) उत्तम ज्ञान वाले शूरवीर विद्वानों को (आवह) अच्छे प्रकार प्रकार प्राप्त हूजिये और उन प्रजाओं के प्रति आप (द्रवतु) द्रवीभूत हों ॥ ७ ॥

भावार्थ—विद्वानों के सहाय के विना प्रजा के सुख को वा दिव्य गुणों की प्राप्ति और शत्रुओं का विजय नहीं हो सकता। इससे विद्वानों का सहाय सब मनुष्यों को प्रयत्न के साथ सिद्ध करना चाहिये ॥ ७ ॥

फिर वह कैसा है और किस के सहाय से किस को प्राप्त होता है,
इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

सवितारमुषसमश्विना भगमग्निं व्युष्टिषु क्षपः ।
कण्वासस्त्वा सुतसोमास इन्धते हव्यवाहं स्वध्वर ॥ ८ ॥

पदार्थ—हे (स्वध्वर) उत्तम यज्ञवाले विद्वन् ! जो (सुतसोमाः) उत्तम पदार्थों को सिद्ध करते (कण्वासः) मेधावी विद्वान् लोग (व्युष्टिषु) कामनाओं में (सवितारम्) सूर्य प्रकाश (उषसम्) प्रातःकाल (अश्विना) वायु जल (भगम्) ऐश्वर्य (अग्निम्) विद्युत् (क्षपः) रात्रि और (हव्यवाहम्) होम करने योग्य द्रव्यों को प्राप्त कराने वाले (त्वा) आपको अच्छे प्रकार (इन्धते) प्रकाशित करते हैं, वह आप भी उनको प्रकाशित कीजिये ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि सब क्रियाओं में दिनरात प्रयत्न से सूर्य आदि पदार्थों को संयुक्त कर वायु वृष्टि की शुद्धि करने वाले शिल्परूप यज्ञ आदि को सिद्ध करना चाहिये। विद्वानों के संग के विना कोई भी मनुष्य इनके गुणों को विना जाने क्रिया की सिद्धि करने में समर्थ नहीं हो सकता।

फिर वह विद्वान् कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पतिर्ह्यध्वराणामग्ने दूतो विशामसि ।
उषर्बुध आवह सोमपीतये देवाँ अद्य स्वर्दृशः ॥ ९ ॥

भावार्थ—हे (अग्ने) नीतिज्ञ विद्वन् ! जो तू (हि) निश्चय करके (दूतः) शत्रुओं में फूट डालने की विद्या को जानने वाले[1] (अध्वराणाम्) यज्ञ और (विशाम्) प्रजाओं के (पतिः) पालक (असि) हो, इससे आप (अद्य) आज (हि) ही (सोमपीतये) अमृतरूपी रसों के पीने रूप व्यवहार के लिये (उषर्बुधः) प्रातःकाल में जागने वाले (स्वर्दृशः) विद्यारूपी सूर्य के प्रकाश से यथावत् देखने वाले (देवान्) विद्वान् वा दिव्यगुणों को (आवह) प्राप्त हूजिये ॥ ९ ॥

भावार्थ—सभासेनाध्यक्षादि विद्वान् लोग विद्या को पढ़ाने और प्रजा पालनादि यज्ञों की रक्षा के लिये प्रजा में दिव्य गुणों का प्रकाश नित्य किया करें ॥ ९ ॥

फिर वह कैसा हो, क्या करे, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

अग्ने पूर्वा अनूषसो विभावसो दीदेथ विश्वदर्शतः ।
असि ग्रामेष्ववितां पुरोहितोऽसि यज्ञेषु मानुषः ॥ १० ॥　[२९]

---

१. मन्त्र गत 'दूतः' पद तथा उसका अर्थ संस्कृत अन्वय और अजमेर मुद्रित भाषार्थ में छूटा हुआ है। उसे हमने उचित स्थान पर रक्खा है।

पदार्थ—हे (विभावसो) विशेष दीप्ति को बसाने वाले (अग्ने) विद्या के प्रकाश करने हारे विद्वन्! (विश्वदर्शतः) सभों को देखने योग्य आप (पूर्वाः) पहिले व्यतीत (अनु) आने वाली और वर्त्तमान (उषसः) प्रभात और रात दिनों को (दीदेथ) ज्ञान कर एक क्षण भी व्यर्थ न खोवें। आप ही (ग्रामेषु) मनुष्यों के निवास योग्य ग्रामों में (अविता) रक्षा करने वाले (असि) हैं, और (यज्ञेषु) अश्वमेध आदि शिल्प पर्यन्त क्रियाओं में (पुरोहितः) सब साधनों के द्वारा सब सुखों को सिद्ध करने वाले (मानुषः) मनुष्य (असि) हैं॥ १० ॥

भावार्थ—विद्वान् सब दिन एक क्षण भी व्यर्थ न खोवे, सर्वदा बहुत उत्तम उत्तम कार्यों के अनुष्ठान ही के लिये सब दिनों को जाने। इस प्रकार प्रजा की रक्षा वा यज्ञ का अनुष्ठान करने वाला निरन्तर हो॥ १० ॥

फिर वह किस प्रकार का हो, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है॥

नि त्वा॑ य॒ज्ञस्य॒ साध॑नमग्ने॒ होता॑रमृ॒त्विज॑म्।
म॒नु॒ष्वद्दे॑व धीमहि॒ प्रचे॑तसं जी॒रं दू॒तमम॑र्त्यम्॥ ११ ॥

पदार्थ—हे (देव) दिव्यविद्यासम्पन्न (अग्ने) भौतिक अग्नि के सदृश उत्तम पदार्थों को सम्पादन करने वाले मेधावी विद्वन्! हम लोग (यज्ञस्य) तीन प्रकार के यज्ञ के (साधनम्) मुख्य साधक (होतारम्) हवन करने (ऋत्विजम्) यज्ञ साधक (प्रचेतसम्) उत्तम विज्ञान युक्त (जीरम्) विद्यावाले (अमर्त्यम्) साधारण मनुष्य स्वभाव से रहित वा स्वरूप से नित्य (दूतम्) प्रशंसनीय बुद्धियुक्त (त्वा) आपको (मनुष्वत्) मननशील मनुष्य के समान (निधीमहि) निरन्तर धारण करें॥ ११ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में आठवें मन्त्र से (सुतसोमाः) (कण्वासः) इन दो पदों की अनुवृत्ति है। विद्वान् और अग्नि आदि द्रव्य सामग्री के बिना कोई यज्ञ की सिद्धि नहीं कर सकता॥ ११ ॥

फिर वह कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है॥

यद्दे॒वानां॑ मित्रमहः पु॒रोहि॑तो॒ऽन्त॑रो॒ यासि॑ दू॒त्य॑म्।
सिन्धो॑रिव॒ प्रस्व॑नितास ऊ॒र्मयो॒ऽग्नेर्भ्रा॑जन्ते अ॒र्चयः॑॥ १२ ॥

पदार्थ—हे (मित्रमहः) मित्रों में बड़े पूजनीय विद्वन्! (यद्) जो आप (सिन्धोरिव) समुद्र की (प्रस्वनितासः) शब्द करती हुई (ऊर्मयः) लहरों के सदृश और (अग्नेः) अग्नि के (अर्चयः) दीप्ति के तुल्य (भ्राजन्ते) प्रकाशित होते हैं, और (पुरोहितः) अग्रगामी तथा (अन्तरः) मध्यस्थ होकर (देवानाम्) विद्वानों के (दूत्यम्) दूत के कर्म वा स्वभाव को (यासि) प्राप्त होते हैं, सो आप हम लोगों से सत्कार के योग्य क्यों न हों॥ १२ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालंकार है[१] ॥ हे मनुष्यो ! [२]जैसे परमेश्वर सब का मित्र पूजनीय पुरोहित अन्तर्यामी होकर दूत के समान सत्य असत्य कर्मों का प्रकाश करता है और जिस ईश्वर की अनन्त दीप्ति विचरती हैं वही ईश्वर सब का धारण, रचने वा पालन करने वा न्यायकारी महाराज सब को उपासने योग्य है, वैसे उत्तम दूत भी राजपुरुषों को माननीय होता है ॥ १२ ॥

फिर वह विद्वान् कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिर्देवैरग्ने सयावभिः ।
आ सीदन्तु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्यावाणो अध्वरम् ॥ १३ ॥

पदार्थ—हे (श्रुत्कर्ण) कानों से श्रवण करने वाले (अग्ने) विद्याप्रकाशयुक्त विद्वन् ! आप प्रीति के साथ (सयावभिः) तुल्य जाने वाले (वह्निभिः) सत्याचार के भार को वहन करने में समर्थ (देवैः) विद्वानों के साथ (अस्माकम्) हम लोगों की वार्त्ताओं को (श्रुधि) सुनो । तुम और हम लोग (मित्रः) सब के हितकारी (अर्यमा) न्यायाधीश (प्रातर्यावाणः) प्रतिदिन पुरुषार्थ से युक्त (सर्वे) सब (अध्वरम्) अहिंसनीय पहिले कहे हुए यज्ञ का अनुष्ठान करके (बर्हिषि) उत्तम व्यवहार में (आसीदन्तु) ज्ञान को प्राप्त हों वा स्थित हों ॥ १३ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि जब विद्याओं को श्रवण किये हुए धार्मिक मनुष्यों को राज्य-व्यवहार में विशेष करके युक्त करें । विद्वान् लोग शिक्षा से युक्त भृत्यों से सब कार्यों को सिद्ध करें और सर्वदा आलस्य को छोड़ निरन्तर पुरुषार्थ में यत्न करें । इसके विना निश्चय है कि व्यवहार वा परमार्थ कभी सिद्ध नहीं होते ॥ १३ ॥

फिर वे कैसे होवें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

शृण्वन्तु स्तोमं मरुतः सुदानवोऽग्निजिह्वा ऋतावृधः ।
पिबतु सोमं वरुणो धृतव्रतोऽश्विभ्यामुषसा सजूः ॥ १४ ॥ [३०]

पदार्थ—हे[३] (अग्निजिह्वाः) जिनकी अग्नि के समान शब्द विद्या से प्रकाशित हुई जिह्वा है (ऋतावृधः) सत्य के बढ़ाने वाले (सुदानवः) उत्तम दानशील (मरुतः) विद्वान् लोगो ! हम लोगों के (स्तोमम्) स्तुति वा न्याय प्रकाश को (शृण्वन्तु) श्रवण करो, इसी प्रकार प्रतिजन (सजूः) तुल्य सेवने (वरुणः) श्रेष्ठ (धृतव्रतः) सत्य व्रत का धारण करने हारे सब मनुष्यजन (उषसा)

---

१. संस्कृत भावार्थ में इसका मूल नहीं है, परन्तु मन्त्र में 'इव' पद का साक्षात् निर्देश होने से आवश्यक है । अजमेर मुद्रित भाषा भावार्थ में विद्यमान भी है ।

२. 'जैसे' से पूर्व अजमेर मुद्रित भाषार्थ में 'तुम' और संस्कृत भावार्थ में 'यूयम्' पद है, वह वाक्य में अन्वित नहीं होता, अतः हमने उसे छोड़ दिया है ।

३. संस्कृत अन्वय में 'हे मनुष्याः' ऐसा पाठ है, परन्तु वह भाषार्थ में अच्छे प्रकार अन्वित नहीं होता, अतः हमने उसे छोड़ दिया है ।

प्रभात (अश्विभ्याम्) व्याप्तिशील सभा सेना शाला धर्माध्यक्ष अध्वर्युओं के साथ (सोमम्) पदार्थ-विद्या से उत्पन्न हुए आनन्दरूपी रस को (पिबतु) पिओ ॥ १४ ॥

भावार्थ—जो [विद्या] धर्म वा राजसभाओं से आज्ञा प्रकाशित हो उसको सब मनुष्य सुनकर उसके अनुसार अनुष्ठान करें, जो सभासद् हों वे भी पक्षपात को छोड़कर प्रतिदिन सब के हित के लिये सब मिल कर जैसे अविद्या अधर्म अन्याय का नाश होवे, वैसा यत्न करें ॥ १४ ॥

इस सूक्त में धर्म की प्राप्ति, दूत का करना, सब विद्याओं का श्रवण, उत्तम श्री की प्राप्ति, श्रेष्ठ पुरुषों का सम्पादन, उत्तम पुरुषों की स्तुति और सत्कार, सब प्रजा से उत्तम पुरुष वा पदार्थ का प्रकाशन, विद्वानों से पदार्थविद्याओं का सम्पादन, सभाध्यक्ष और दूत का कर्म, यज्ञ का अनुष्ठान, मित्रादिकों का ग्रहण, परस्पर मिल कर सब कार्यों की सिद्धि, उत्तम व्यवहारों में स्थित, परस्पर विद्या धर्म और राजसभाओं की आज्ञाओं को सुनकर अनुष्ठान करना कहा है। इससे इस सूक्तार्थ की पूर्व सूक्त के अर्थ के साथ सङ्गति जाननी चाहिये ॥

यह तीसवाँ वर्ग और चवालीसवाँ सूक्त समाप्त हुआ ॥ ३० ॥ ४४ ॥

---

[४५]

अथ दशर्चस्य पञ्चचत्वारिंशस्य सूक्तस्य प्रस्कण्वः काण्व ऋषिः । अग्निर्देवाश्च देवताः । १ भुरिगुष्णिक्, ५ उष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः । २, ३, ७, ८ अनुष्टुप् ४ निचृदनुष्टुप्, ६, ९, १० विराडनुष्टुप् च छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अब पैंतालीसवें सूक्त का आरम्भ है । उसके पहिले मन्त्र में बिजुली के दृष्टान्त से विद्वान् के गुणों का उपदेश किया है ॥

त्वम॑ग्ने॒ वसूँ॑रि॒ह रु॒द्राँ आ॑दि॒त्याँ उ॒त ।
यजा॑ स्वध्व॒रं जनं॒ मनु॑जातं घृत॒प्रुष॑म् ॥ १ ॥

पदार्थ—हे (अग्ने) बिजुली के समान वर्तमान विद्वन्! (त्वम्) आप (इह) इस संसार में (वसून्) जो चौबीस वर्ष ब्रह्मचर्य से विद्या को प्राप्त हुए पण्डित (रुद्रान्) जिन्होंने चवालीस वर्ष ब्रह्मचर्य किया हो उन महाबली विद्वान् और (आदित्यान्) जिन्हों ने अड़तालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य किया हो उन महाविद्वान् लोगों को (उत) और (घृतप्रुषम्) यज्ञ से सिद्ध हुए घृत के सेचन करने वाले (मनुजातम्) मननशील मनुष्य से उत्पन्न हुए (स्वध्वरम्) उत्तम यज्ञ को सिद्ध करने हारे (जनम्) पुरुषार्थी मनुष्य का (यज) सङ्ग करें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि अपने पुत्रों को कम से कम चौबीस और अधिक से अधिक अड़तालीस वर्ष तक और कन्याओं को कम से कम सोलह और अधिक से अधिक चौबीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य करावें। जिससे संपूर्ण विद्या और सुशिक्षा को पाकर वे परस्पर परीक्षा और अतिप्रीति से विवाह करें, जिस से सब सुखी रहें ॥ १ ॥

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर

का

सस्ता और सुन्दर प्रकाशन

आर्य जगत् को यह जानकर महती प्रसन्नता होगी कि रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर ने अपना प्रकाशन कार्य कुछ वर्षों से पुनः पूर्ववत् भले प्रकार प्रारम्भ कर दिया है। निम्न पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं—

१—**सन्ध्योपासनविधि**—ऋषि दयानन्दकृत भाषार्थ, दैनिक हवन और भजनों के सहित। यह अब तक ३०५००० तीन लाख पाँच हजार छप चुकी है। घटाया हुआ मूल्य -)।

२—**व्यवहारभानु**—ऋषि दयानन्दकृत। बालकों को व्यवहार की उचित शिक्षा देनेवाला अपूर्व ग्रन्थ। यह ग्रन्थ प्रत्येक आर्य बालक-बालिकाओं के विद्यालयों में पाठ्य पुस्तक रखने योग्य है। मूल्य =)॥

३—**ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्मचरित्र**—ऋषि दयानन्द ने अमेरिका निवासी आल्काट महोदय की प्रेरणा से अपना कुछ वृत्तान्त लिखकर उन्हें भेजा था, जिसका अंग्रेजी अनुवाद उन्होंने थियोसोफिकल नामक अपने पत्र में छापा। आर्यसमाज के उद्भट विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्तजी ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। ऋषि दयानन्द के प्रसिद्धि में आने से पूर्व की घटनाओं का यही एकमात्र प्रामाणिक लेख है।

४—**हवन-मन्त्र**—प्रार्थना, स्वस्तिवाचन, शान्तिप्रकरण, बृहद् हवन और भजनों से युक्त। मूल्य -)

५—**आर्याभिविनय**—ऋषि दयानन्दकृत (प्रथम और द्वितीय संस्करण से मिलाकर अत्यन्त शुद्ध और सुन्दर छापा गया है। संदिग्ध स्थलों पर टिप्पणियाँ दी गई हैं)। मूल्य ।=)

६—**आर्योद्देश्यरत्नमाला**—ऋषि दयानन्दकृत। शुद्ध, सुन्दर, तथा सटिप्पण संस्करण। मूल्य -)

७—**पञ्चमहायज्ञविधि**—ऋषि दयानन्दकृत। " " " मूल्य ≡)

८—**उरुज्योति अर्थात् वैदिक अध्यात्म-सुधा**—श्री डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल लिखित। वैदिक अध्यात्म विषयक उच्चकोटि का श्रेष्ठ ग्रन्थ। कागज छपाई श्रेष्ठ और सुन्दर। सजिल्द ३) मात्र

९—**ऋषिदयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास**—लेखक-युधिष्ठिरमीमांसक। ऋषिदयानन्द के सभी मुद्रित और अमुद्रित ग्रन्थों के विषय में पूर्णजानकारी देनेवाला अपूर्वग्रन्थ। प्रचारार्थ मूल्य में भारी कमी की गई है। घटाया हुआ मूल्य बढ़िया सं० सजिल्द ४) साधारण सं० अजिल्द ३) मात्र

१०—**वेदांक**—यह वेदवाणी के इस वर्ष का विशाल विशेषांक है। इसमें ३६ उच्चकोटि के गवेषणात्मक वेदविषयक मौलिक लेखों का संग्रह है। दूसरे शब्दों में इसे वेदविषयक ३६ ट्रेक्टों या निबन्धों का संग्रह कह सकते हैं। मूल्य १)। गत दो वर्षों के वेदाङ्क का मूल्य भी घटाकर प्रति अंक १) कर दिया है।

११—**वेदवाणी की पुरानी फाइलें**—वर्ष २ अंक १० मूल्य २॥), वर्ष ३ अङ्क १० मूल्य २॥), वर्ष ४ अङ्क १० मूल्य ३), वर्ष ५ वेदाङ्क सहित ४), डाक-व्यय पृथक् होगा। थोड़ी प्रतियाँ शेष हैं, शीघ्रता करें।

रामलाल कपूर एण्ड सन्स, पेपर मर्चेण्ट

गुरु बाजार, अमृतसर। नई सड़क, देहली। बिरहाना रोड, कानपुर।

वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस ६।

वेदवाणी के विशेषाङ्क

वेदाङ्क

पर

विद्वानों और पत्रकारों की सम्मतियाँ

वेदाङ्क (सं० ३) प्राप्त हुआ। समस्त लेख बहुत ही महत्त्वपूर्ण और उपयोगी हैं। कागज और मुद्रण भी सुन्दर है। इस के लिये आप अभिनन्दन के पात्र हैं। इस वर्ष का विशेषाङ्क गत वर्षों से भी अधिक श्रेष्ठ निकला है। वेदवाणी की उत्तरोत्तर उन्नति के लिये सदा शुभ कामना करता हूं।

वीरेन्द्र शास्त्री, फतेहगढ़ यू० पी०।—

यों तो वेदवाणी के सभी अंक उपयोगी होते हैं किन्तु यह अंक विशेष रूप से पठनीय है। इसमें डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल, महात्मा आनन्द स्वामी, पण्डित, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी, पण्डित सूर्यदेव शर्मा, पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय, मारीशसके प्रोफेसर विष्णुदयाल और जिज्ञासुजी जैसे विद्वानों के २६ लेख हैं। सोम, जीवन भक्षी दो गीध, पुरुष से असत्-सत् पर्यन्त, वैदिक श्रमवाद वर्णाश्रम-कल्पना, वैदिक धर्म की सार्वभौमिकता, वेदों में विद्युद् विज्ञान, वैदिक दर्शन, ऋग्वेद के ऋषि और उनका दर्शन, वेदों के ऋषि, अथर्ववेद के साथ किया गया अन्याय, क्या अथर्ववेद जादू टोनों का वेद है, वेद और वेदान्त, बृहदारण्यक और वृषभमांस भक्षण (!) वेदार्थ प्रक्रिया के मूलभूत सिद्धांत आदि लेख खोजपूर्ण हैं। अंक हिन्दू और अहिन्दू सभी ज्ञानपिपासुओं के पढ़ने लायक है। आज

(काशी) १९ नवम्बर ५४॥

धार्मिक जिज्ञासा पूर्ति की दृष्टि से वेदवाणी सफल प्रयास निरन्तर कर रही है। प्रस्तुत विशेषांक 'वेदांक' भी इसी ओर उठाया एक पग है। चुने हुए आर्य विद्वानों के लेख गंभीर विषयों पर संपादक ने प्रकाशित कर सभी को अध्ययन और मनन के लिए उत्तम भंडार दे डाला है। 'ज्ञान' की ओर बढ़ने की प्रेरणा, ज्ञान को जान आचरण कर कुछ कर डालने की भावना और अंधकार में भटकतों को मार्ग बताने का प्रकाश इस अंक से पाठक पा सकेंगे! संपादक महोदय को बधायी और शुभकामनाएँ। सभी अंक मँगा कर अवश्य पढ़ें, यह हार्दिक इच्छा। आर्य मित्र

(लखनऊ) ५ दिसम्बर ५४

वेदवाणी के इस वेदांक में उच्च कोटि के विद्वानों के वेद के संबन्ध में गवेषणा पूर्ण लेख छपे हैं। आज बहुत कम पत्र पत्रिकाएं हैं जो वेद के सम्बन्ध में ऐसा प्रशंसनीय कार्य करते हों। इसके सम्पादक महोदय स्वयं वेदों के प्रकांड पण्डित हैं, इस लिए उनके सम्पादन में ऐसे उत्तम लेखों का संग्रह प्रकाशित होना स्वाभाविक ही था। वेदवाणी के इस कार्य की जितनी प्रशंसा की जाए थोड़ी है। इसमें अनेक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। जिससे पढ़े लिखे लोगों को भी वेद के ज्ञान का कुछ परिचय मिले। हमारी तो परमात्मा से यही प्रार्थना है कि वेदवाणी, अपने इस कार्य में वांछनीय प्रगति कर सके और वेद के भक्त इस कार्य में 'वेदवाणी' की दिल खोलकर सहायता करें।

टाइप और छपाई बहुत सुन्दर है स्वरों के प्रयोग से छपाई और भी सुन्दर हो गई है। इस अंश में यह अंक सर्वथा पूर्ण है, परन्तु भाषा की अशुद्धियां कहीं कहीं अखरती हैं, विशेष रूप से विशेष अंक में। हम आशा करते हैं कि वेद-भक्त 'वेदवाणी' के ग्राहक बन कर इसकी आर्थिक कठिनाइयों का प्रतिकार करेंगे, जिससे यह और भी उन्नति कर सके।

रामचन्द्र सम्पादक आर्य जगत् (जालन्धर) १९ दिसम्बर ५४

संपादक, प्रकाशक व मुद्रक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, आर्य विजय प्रेस, बीरीहटिया, बनारस।

ओ३म्

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ७] [अङ्क ५

इस अंक के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

फाल्गुन २०११, मार्च १९५५
दयानन्दाब्द १३०
वेद तथा सृष्टि संवत् १९६०८५३०५५

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
बनारस नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
„ „ विदेश में ६)
इस अंक का ॥)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ॥) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा।

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १ तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहिएं। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सम्बन्धी धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस ६

वेदवाणी के वेदाङ्क
पर
विशिष्ट-सम्मति

यह श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका है। पत्रिका अब अपने सातवें वर्ष में है, और सातवें वर्ष का तीसरा अंक जनवरी १९५५ में प्रकाशित हुआ। सातवें वर्ष का अंक १ और २ वेदांक के रूप में निकला है। यह १५९ पृष्ठों का अति सुन्दर संग्रहणीय अंक है। पत्रिका के प्रारम्भ में अथर्ववेद का यह उद्धरण "सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि" है, जिसके अर्थ हैं— "हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों"। यह पत्रिका अति उपयोगी कार्य कर रही है। स्वतन्त्रता के बाद निर्माण-कार्य में लगे हुए भारत के लिए यह जरूरी है कि वह अपने प्राचीन वेदों के महत्त्व को जाने और अपनी प्रगति के पथ पर अग्रसर होते हुए वेदों के ज्ञान से लाभ उठायें। यह अति-श्रेष्ठ कार्य यह मासिक कर रहा है। वेदों के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों के लिखे हुए हर एक लेख सूचनाओं से ओतप्रोत हैं। श्री सातवलेकर जी का लेख "वैदिकधर्म की सार्वभौमिकता", श्री डा. वासुदेवशरण जी अग्रवाल का लेख 'सोम', श्री महात्मा प्रभुआश्रित जी महाराज का "चतुष्पाद मनुष्य", श्री वीरेन्द्र शास्त्री का "वैदिक साहित्य के पाश्चात्य लेखक", इत्यादि २ सब ही लेख पठनीय और संग्रहणीय हैं। जनवरी १९५५ के अंक में श्री डा० मंगलदेव जी शास्त्री का लेख "वैदिक उदात्त भावनाएं" अति सुन्दर और प्रेरणादायक है। ऐसा सुन्दर प्रकाशन निकालने के लिये श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट और विद्वान् सम्पादक श्री ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु धन्यवाद के पात्र हैं। हम इस महत्त्वपूर्ण मासिक की हृदय से सफलता चाहते हैं। निश्चित है कि ऐसा मासिक हिन्दी में दूसरा नहीं है।

आर्थिक समीक्षा

(दिल्ली) २१-१-५५

यथा	जिसमें
(सः ईश्वरः)	वह ईश्वर
पूषा[५]	(भक्तों के) प्राण और शरीर के सुख पर दृष्टि रखनेवाला
अदब्धः	निरन्तर
रक्षिता	दुःखनिवारक
पायुः[६]	सर्वथा पालक
(भूत्वा)	होकर
वेदसाम्[७]	पुष्टिकारक वस्तुओं की
वृधे	वृद्धि के लिये
स्वस्तये[८]	शोभायुक्त, सुखयुक्त जीवनयापनार्थ
नः	हमें
असत्	प्राप्त हो

ऋषिव्याख्यान—

"जगतः तस्थुषस्पतिं" हे सर्वाधि[९]स्वामिन् ! आप ही चर और अचर जगत् के "ईशानम्" रचनेवाले हो। "धियं जिन्वं" सर्वविद्यामय, विज्ञानस्वरूप, बुद्धि को प्रकाशित करनेवाले[१०], सब को तृप्त करनेवाले[११], प्रीणनीयस्वरूप[१२], "पूषा" सब के पोषक[१३] हो, "तम्" उन आपको "वयम्" हम "नः अवसे" अपनी रक्षा के लिये "हूमहे" आह्वान करते हैं। "यथा वेदसाम् वृधे" जिस प्रकार से आप विद्यादि धनों की वृद्धि वा रक्षा के लिये "अदब्धः रक्षिता असद्" निरालस रक्षा करने में तत्पर हों, वैसे ही कृपा करके आप "स्वस्तये" हमारी स्वस्थता[१४] के लिये 'पायुः' निरन्तर रक्षक (विनाशनिवारक) हों। आप से पालित[१५] हम लोग सदैव उत्तम कामों में उन्नति को प्राप्त हों[१६] ॥

---

५ पुष् = to take care of (-ap)
६ पाति रक्षति सः = पायुः । उ० १।१।
७ वेदस् = wealth (-ap)
८ सुष्ठु अस्ति वर्त्तते इति स्वस्ति। कल्याणं वा । उ० ४।१८१। शोभनं अस्ति यस्मिन् प्राप्तव्ये तत् सुखम्। दया०यजु० ४।२०
९ अधि = excessive (-ap)
१० प्रकाशित करने वाले = देने वाले
११ तृप्त करने वाले = तुष्टि देने वाले
१२ प्रीणनीयस्वरूप = प्रसन्न करने योग्य
१३ पोषक हो = रक्षक हो
१४ स्वस्थता = प्रसन्नता—आत्मनिर्भरता (-ap)
१५ पालित = protected-directed
१६ उत्तम कामों में उन्नति को प्राप्त हो प्रत्येक कार्य में सूक्ष्मानंद लेते हुए आत्मा और तदनुकूल शरीरका विकास करते रहें।

(पृ० ५ का शेषांशः)

और प्रबन्ध करने वाला अवश्य कोई अन्तरात्मा है, जो समय २ पर ऋतुओं का नियम बांध कर जीवों को सुख दुःख की भोगसामग्री प्रस्तुत करता है।

अच्युतच्युत्—बड़े २ अहंकारियों का मान मर्दन करके तथा सृष्टि का प्रलय करके अपने प्रबल सामर्थ्य का प्रकाश करने वाला अवश्य कोई महाशक्तिशाली परमेश्वर है।

दयालु—युद्ध आदि घोर विपत्ति तथा संकट के समय अपनी अनन्त दया से विचित्र संरक्षण करने वाला कोई अवश्य स्वीकार करना चाहिये।

उपर्युक्त ऋग्वेद के ४ मन्त्रों में जिन ग्यारह युक्तियों का उल्लेख किया गया है, आशा है विचारशील सज्जन इन पर और भी अधिक मनन करेंगे तथा इसी सूक्त के शेष मन्त्रों पर ध्यान दे कर लाभ उठायेंगे ॥

स जनास इन्द्रः

(ले०—श्री पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री, न्याय-वेदान्त वाचस्पति, सर्वनपुरा, अमृतसर)

परमेश्वर की सत्ता को समझाने के लिये ऋग्वेद में बहुत सी युक्तियोंका वर्णन किया गया है। युक्तियाँ इतनी मार्मिक और महत्त्वपूर्ण हैं कि प्रत्येक विचारशील जिज्ञासु सहज में ही नास्तिकता के गहरे गर्त से निकल कर आस्तिकता के उच्च शिखर तक पहुँचने में समर्थ हो सकता है। ये युक्तियाँ ऋग्वेद के दूसरे मंडल के बारहवें सूक्त में उपदेश की गई हैं और सबके अन्त में एक ही पद का प्रयोग किया गया है—'स जनास इन्द्रः' अर्थात् हे मनुष्यो ! परमेश्वर वह है।

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्
देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत।
यस्य शुष्मात् रोदसी अभ्यसेताम्
नृम्णस्य मह्ना--स जनास इन्द्रः ॥
(ऋ० २।१२।१)

(१) यः जाते एव प्रथमः मनस्वान्—जो सृष्टि की उत्पत्ति के समय एकमात्र ज्ञान का भण्डार था।

आदिकाल में जब सृष्टि उत्पन्न हुई तो उसकी उत्पत्ति स्थिति का पूरा पूरा ध्यान रखने वाला कोई चेतन तत्त्व अवश्य विद्यमान था—उसके दृढ़ संकल्प और प्रभावशाली मनन के बिना जगत् की रचना सर्वथा असम्भव है। सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में विचार करने से यह मानना पड़ता है कि इस अलौकिक रचना का रचने वाला कोई अपूर्व बुद्धिमान् कलाकार अवश्य है। उसकी रचना-चातुरी का प्रमाण सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ दे रहा है, जिसके अन्दर और बाहर उसकी मनस्विता स्पष्ट दिखाई देती है। यदि वह ज्ञान का भण्डार न होता तो सृष्टि की ऐसी अद्भुत रचना कदापि न हो पाती।

(२) देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत—उसी दिव्य शक्ति-सम्पन्न चेतन तत्त्व ने दिव्य लोक लोकान्तरों को अनेक प्रकार की गति से चलायमान करके अपने वश में किया हुआ है।

लोक लोकान्तर जड़ पदार्थ हैं, इनमें स्वाभाविक गतिमत्ता सर्वथा असम्भव है। अतः यह मानना पड़ता है कि ग्रह नक्षत्रादि को विचित्र २ गति देने वाला अवश्य कोई चेतन है, जो इनको अपने नियम में चला रहा है।

(३) यस्य नृम्णस्य शुष्मात् रोदसी मह्ना अभ्यसेताम्—जिस प्रभावशाली नियन्ता के महान् शक्तिशाली बल से आकाश के तारे और पृथिवी बड़े भारी वेग से काँपते हुए गति कर रहे हैं।

अरबों कोस की दूरी पर स्थित होने वाले और लाखों कोस की परिधि वाले ये नक्षत्रगण कितने वेग से आकाश में गति कर रहे हैं—उनको परस्पर टकराने से बचाने वाला उनसे भी अधिक शक्ति सम्पन्न और अत्यन्त बलवान् कोई अवश्य होना चाहिये।

(४) स जनासः इन्द्रः—हे मनुष्यो ! वह परम ऐश्वर्य सम्पन्न इन्द्र है, इदि परमैश्वर्ये—इस धातु से इन्द्र का अर्थ परमेश्वर होता है, अर्थात् वह परमेश्वर ही है, जिसने स्वयं अनन्त ज्ञान का भण्डार होने के कारण इस विपुला पृथिवी और विशाल द्युलोक को अपनी अद्भुत सामर्थ्य से रचा। इसको अनेक प्रकार की गति देकर गतिमान् किया और इसको परस्पर टकराकर चूर चूर होने से बचा कर आज भी अपने नियन्त्रण में रखा हुआ है।

इस मन्त्र में तीन युक्तियों के द्वारा परमेश्वर की सत्ता सिद्ध की गई है यथा—

रचना—सृष्टि की रचना को देखकर निश्चय होता है कि इस अद्भुत संसार का रचने वाला अवश्य कोई मनस्वान्—ज्ञान का भंडार परमेश्वर है।

गतिमत्ता—पृथिवी और लोक लोकान्तरों की विविध गतियों को देखकर निश्चय होता है कि इनको चलायमान करनेवाला अवश्य कोई मनस्वान्—अनन्त शक्तिशाली भगवान् है।

नियन्त्रण—लोक लोकान्तरों को परस्पर टकराकर नष्ट-भ्रष्ट होने से बचाने के लिये इनकी गतिविधि पर पूर्ण नियन्त्रण रखने वाला अवश्य कोई मनस्वान् अन्तर्यामी परमेश्वर है।

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति
घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम् ।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति
श्रदस्मै धत्त-स जनास इन्द्रः ॥
(ऋ० २।१२।५)

(१) यं घोरम् पृच्छन्ति स्म कुह स इति—जिस घोर कर्मा के विषय में अज्ञानी जन प्रायः पूछा करते हैं कि वह तुम्हारा परमेश्वर कहाँ है।

(२) उत ईम् एनम् आहुः एषः न अस्ति इति—जब वे उसे आंखों से नहीं देख सकते तो चिल्ला चिल्ला कर कहते फिरते हैं कि वह नहीं है।

परमेश्वर के विषय में जानने की इच्छा प्रत्येक व्यक्ति में स्वभाव से ही विद्यमान है। वह अपने हृदय से पूछता है और दूसरों से भी पूछता है कि वह कहां है। लोग उसको इन्द्रियों से जानना चाहते हैं परन्तु वह चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय नहीं है। इतने मात्र से यदि कोई उसकी सत्ता का नकार करने लगे तो यह उसकी भयानक भूल होगी, क्योंकि जिन चक्षु आदि से न जान सकने के कारण ईश्वर के आस्तित्व का निषेध किया जाता है, वे इन्द्रियाँ तो अपनी सत्ता के लिये किसी और ही अतीन्द्रिय पदार्थ का मुख निहारती हैं। और फिर सुख दुःख आदि अनेक तत्त्व हैं जिनको किसी भी इन्द्रिय से जाना नहीं जाता परन्तु उनकी सत्ता फिर भी विद्यमान है। परमेश्वर भी अतीन्द्रिय पदार्थ है।

(३) सः अर्यः पुष्टीः विज इव आमिनाति-वह जगत् स्वामी क्षण भर में सब ऐश्वर्य छीन लेता है।

स्वस्थ लोग देखते २ रोगी हो जाते हैं, सुखी दुःखी हो जाते हैं और बड़ी २ लम्बी आयु की इच्छा करने वाले संसार को छोड़ कर चले जाते हैं। कोई भी व्यक्ति दुःखी होना नहीं चाहता, परन्तु उसे अपनी इच्छा के विरुद्ध विवश होकर दुःख सहन करना पड़ता है। कोई भी व्यक्ति मरना नहीं चाहता, परन्तु विवश होकर मृत्यु का ग्रास होना पड़ता है। इससे सिद्ध होता है कि अवश्यमेव कोई ऐसा चेतन तत्त्व है जो अपने प्रबल नियम से देहधारियों को काल के विकराल गाल में ढकेलता है।

(४) जनास अस्मै श्रत् धत्त स इन्द्रः—मनुष्यो! उसके लिये श्रद्धा करो, वही परमेश्वर है।

जो लोग सदा तर्क के घोड़े पर सवार रहते हैं वेद उनसे कहता है कि कभी घोड़े से उतरना भी सीखो। केवल शुष्क और वेदविरुद्ध शिष्ट गर्हित तर्क से सब कार्य नहीं चल सकते। परमेश्वर को पहचानना चाहते हो तो श्रद्धा को धारण करो, क्योंकि जो व्यक्ति श्रद्धा सम्पन्न नहीं है, वह तीन काल में परमेश्वर को नहीं जान सकता।

इस मन्त्र में दो युक्तियों के द्वारा परमेश्वर की सत्ता सिद्ध की गई है। यथा—

स्वाभाविक जिज्ञासा—प्रत्येक व्यक्ति स्वभाव से ही परमेश्वर के विषय में कुछ जानना चाहता है। अतः कोई परमेश्वर अवश्य है, जिसको जानने की सभी इच्छा करते हैं।

आकस्मिक घटना—प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कोई न कोई और कभी न कभी आकस्मिक घटना अवश्य हो जाती है। बाह्य दृष्टि से खोज करने पर उसका कोई भी कारण प्रतीत नहीं होता, परन्तु उसका कोई गुप्त कारण अवश्य होना चाहिये—वह कारण परमेश्वर ही हो सकता है। अतः ऐसी घटनाओं का संघटन करने वाला अवश्य कोई परमेश्वर है।

यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य
यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः ।
युक्तग्राव्णो योऽविता सुशिप्रः
सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः ॥
(ऋ० २।१२।६)

(१) यः रध्रस्य चोदिता—जो धनवान् को दान की प्रेरणा करता है।

(२) यः कृशस्य चोदिता—जो धनहीन को पुरुषार्थ करने की प्रेरणा करता है।

(३) यः ब्रह्मणः नाधमानस्य चोदिता—जो भक्तजन को भक्ति करने की प्रेरणा करता है।

(४) यः कीरेः अविता—जो विक्षिप्त व्यक्ति की भी रक्षा करता है।

(५) यः युक्तग्राव्णः अविता—जो सांसारिक व्यस्त व्यक्ति की रक्षा करता है।

(६) सः सुतसोमस्य अविता—जो ब्रह्मनिष्ठ विरक्त पुरुष की भी रक्षा करता है।

(७) यः सुशिप्रः जनासः स इन्द्रः—जो सौन्दर्यमयी रचना का रचने वाला है। हे मनुष्यो! वही परमेश्वर है।

इस सौन्दर्यमयी सृष्टि में अनेक प्रकार के प्राणी देखने सुनने में आते हैं। कोई धनवान् है, कोई निर्धन है, कोई भक्ति में मग्न है, कोई विषयों में फँसा है, कोई कार्यों में संलग्न है, तो कोई संसार से विरक्त हो कर विचर रहा है।

यह विविध प्रकार की विचित्र रचना किसी विलक्षण हेतु को लक्ष्य में रख कर ही की गई प्रतीत होती है। धनवान् को कोई अन्दर से प्रेरणा करता है कि धन कमाते रहो और दान करते रहो। धनहीन को प्रेरणा प्राप्त होती है कि पुरुषार्थ करके धनवान् बन जावो। भक्त को प्रेरणा मिलती है कि भगवद्भजन में ही सच्चा आनन्द है। विक्षिप्त व्यक्ति भटकता फिरता है, परन्तु उसकी भी रक्षा का कहीं से प्रबन्ध हो ही जाता है। किसान और व्यापारी आदि सांसारिक लोग दिन रात पुरुषार्थ करते हैं; उनका भी योगक्षेम बराबर चलता रहता है और ब्रह्मनिष्ठ विरक्त को देखो तो वह कोई भी आजीविका के लिये पुरुषार्थ नहीं करता, परन्तु कोई उस पुरुष की जीवनरक्षा का भी सुन्दर साधन जुटा देता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि दानियों के दान का फल देने वाला और निर्धनों को ढारस बंधाने वाला कोई अन्तरात्मा अवश्य है। यह भी मानना पड़ता है कि भक्तों की भक्ति से प्रसन्न होने वाला और दुःखियां के दुःख दूर करने वाला भी अवश्य कोई है। और कर्म करने वालों के कर्मों का फल देने वाला और ज्ञानी पुरुषों को मोक्ष प्राप्त कराने वाला भी अवश्य कोई है।

इस मन्त्र में तीन युक्तियों के द्वारा परमेश्वर के अस्तित्व को सिद्ध किया गया है। यथा—

प्रेरणा—शुभ कर्मों में प्रवृत्त होने के लिये उत्साह और साहस की प्रेरणा करने वाला कोई अन्तर्यामी अवश्य है। अशुभ कर्मों से निवृत्त होने के लिये भय, शोक और लज्जा उत्पन्न करने वाला कोई अन्तर्यामी अवश्य है।

फलप्रदान—शुभ कर्मों का फल सुख और अशुभ कर्मों का फल दुःख समयानुसार प्राप्त कराने वाला कोई कर्मफल का प्रदाता अवश्य है।

मोक्ष—जो ज्ञानी किसी भी शुभकर्म का फल नहीं चाहते और मोक्ष का आनन्द लेना चाहते हैं उनको जीवन मुक्ति द्वारा विदेह मुक्ति का आनन्द देने वाला कोई मुक्त स्वरूप परमेश्वर अवश्य है।

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो
यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव
यो अच्युतच्युत्--स जनास इन्द्रः ॥

(ऋ० २।१२।९)

(१) यस्मात ऋते जनासः न विजयन्ते—जिसकी सहायता के बिना लोगों को विजय की प्राप्ति नहीं हो सकती।

(२) युध्यमानाः अवसे यं हवन्ते—युद्ध भूमि में भयानक शस्त्रास्त्रों के प्रहार से बचने के लिये लोग जिसको रह २ कर पुकारते हैं।

(३) यः विश्वस्य प्रतिमानं बभूव—जो सारे ब्रह्माण्ड को भली प्रकार जानने वाला है।

(४) यः अच्युतच्युतः—जो बड़े २ अहंकारियों और पराक्रमियों का क्षण भर में मद चूर्ण कर देने वाला है। जनासः स इन्द्रः—हे मनुष्यो! वह परमेश्वर है।

इस मन्त्र में भी परमेश्वर की सत्ता सिद्ध करने वाले तीन हेतुओं का निर्देश किया गया है। यथा—

विश्व का प्रतिमान—अखिल ब्रह्माण्ड का नाप तोल

(शेष पृष्ठ २ पर)

मानव की विशेषता

(ले०—श्रीसत्यभूषण जी आचार्य-वै० साधना आश्रम-रोकतक)

मानव की विशेषता

मानव की विशेषता अन्य प्राणियों से तीन बातों में है—एक तो यह कि परमेश्वर ने उसे हाथ दिये जो अन्य किसी प्राणी को प्रदान नहीं किये। वानर के हाथ हैं, परन्तु वह मानव के हाथों जैसा कार्य नहीं कर सकते।

दूसरी वाणी प्रदान की जो किसी भी योनि को प्राप्त नहीं। तीसरी बुद्धि दी। बस, इन्हीं तीन अङ्गों का जो मानव सदुपयोग करता है, वह भावी जन्म में इन तीनों से सुशोभित होगा और अपने जीवन और जन्म को सफल कर पायगा।

मानव की अन्य विशेषता, जिस पर आज हम कुछ 'वेदवाणी' के पाठकों के सामने विस्तार से रखना चाहते हैं, वह है बल की। परमात्मा ने मनुष्य को बल प्रदान किया, अलौकिक बल, जिससे वह संसार के समस्त प्राणियों से महत्ता को प्राप्त करता है, तनिक ध्यान पूर्वक पढ़िये तथा श्रवण कीजिये।

बल क्या है ? बल की आवश्यकता

अङ्ग्रेजी में एक लोकोक्ति है "Weaker must go to the wall." अर्थात् निर्बल (बलहीन) को इस संसार में रहने का अधिकार नहीं। उसके लिये कोई स्थान ही नहीं। हम देख रहे हैं कि बड़ी मीन छोटी मीन को खा जाती है। बलवान् निर्बल को दबा देता है, विनाश कर देता है, तो मानों बलवान् ही इस संसार में जीवित रहने का अधिकारी है और रह सकता है। यह है बल की आवश्यकता और महत्त्व ! अब बल क्या है:—

'बल' शब्द—'बल प्राणने' धातु से बना है, जिसका अर्थ है जीवनीशक्ति को धारण करना। अर्थात् 'बल' वह जीवनीशक्ति है, सब रोगों (दोषों) की निर्मूलक है, जिससे दोष का लय हो सके, जो दोष को समाप्त कर दे। जो बल इस कसौटी पर पूरा नहीं उतरता, वह मानवी बल नहीं कहलाया जा सकता। पाशविक बल को बल कहना भूल है। हस्ती में सब से बड़ा बल है, परन्तु उसके बल से प्रशंसनीय तथा अनुकरणीय उपमा नहीं दी जा सकती, क्योंकि हस्ती किसी बुराई अथवा अत्याचार के दमन के लिये अपने बल का प्रयोग नहीं कर सकता। अन्य पशु भी किसी दुर्गुण को अपने बल से दूर नहीं कर सकते, अतः पाशविक बल तो हमारे लक्ष्य की वस्तु नहीं और न ही इस बल से मानव की विशेषता हो सकती है।

यजुर्वेद में मन्त्र आता है जिसका हम नित्य पाठ करते हैं:—

> य आत्मदा बलदा यस्य विश्व
> उपासते, प्रशिषं यस्य देवाः।
> यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै
> देवाय हविषा विधेम ॥
> यजु० २५। १३।

अर्थः—(यः) जो (आत्मदा) आत्मज्ञान का दाता (बलदा) शरीर, आत्मा और समाज के बल का देने हारा, (यस्य) जिसकी (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (उपासते) उपासना करते हैं, और (यस्य) जिसका (प्रशिषम्) प्रत्यक्ष सत्य स्वरूप शासन, न्याय अर्थात् शिक्षा को मानते हैं (यस्य) जिसका (छाया) आश्रय ही (अमृतम्) मोक्ष—सुखदायक है, (यस्य) जिसका न मानना अर्थात् भक्ति न करना ही (मृत्युः) मृत्यु आदि दुःख का हेतु है, हम लोग उस (कस्मै) सुख-स्वरूप (देवाय) सकल ज्ञान के देने हारे परमात्मा की प्राप्ति के लिये (हविषा) आत्मा अन्तःकरण से (विधेम) भक्ति अर्थात् उसी की आज्ञा का पालन करने में तत्पर रहें ॥

इस मन्त्र में परमात्मा को आत्मिक बल का दाता कहा है। परमात्मा सर्वश्रेष्ठ है उससे सर्वश्रेष्ठ वस्तु की ही प्रार्थना होनी चाहिये। तो यों समझें कि बलों में आत्मिक बल सर्व श्रेष्ठ है। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि और बल है नहीं अथवा उनका कोई महत्त्व नहीं। नहीं और बल भी हैं और वह अपने २ स्थान पर उपयोगी हैं, परन्तु जैसे हम कहते हैं, "हाथी के पाँव में सब का पाँव" तो इसका यही अभिप्राय है कि सर्व प्राणियों के पाँव हाथी के पाँवों

से छोटे हैं तो हाथी के पाँवों की महत्ता दिखाने के लिये तुलनात्मक रूप में ऐसा कह देते हैं कि और सब पाँव हाथी के पाँवों से छोटे हैं अथवा उसमें समा जाते हैं। इसी प्रकार सब अन्य प्रकार के बल आत्मिक बल से छोटे हैं और सब उसके अन्तर्गत हो जाते हैं। अस्तु!

बल कै प्रकार के हैं?

बल सात प्रकार के हैं:—

१—शारीरिक बल, २—धनबल, ३—जनबल (संघटनबल), ४—मनोबल, ५—बुद्धिबल, ६—चरित्रबल और ७—आत्मबल।

विस्तार से देखियेः—

महर्षि स्वामी दयानन्दसरस्वती जी महाराज ने आर्यसमाज का छठा नियम बनाया—

"संसार का उपकार करना आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।"

तो जहाँ आर्यसमाज का मुख्योद्देश्य संसार का उपकार करना बतलाया, वहां उपकार के साधन बताये, शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक बल द्वारा ही क्रमशः मनुष्य संसार का उपकार कर सकता है। तो **सब बलों की नींव शारीरिक बल है**। पवित्र वेद भगवान् ने भी इसका समर्थन किया है।

स्वयं वाजिँस्तन्वं कल्पयस्व
स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व।
महिमा तेऽन्येन न सन्नशे॥ यजु० २३।१५॥

अर्थात्—हे जीव! यदि तू अपनी महिमा चाहता है, नाम अमर करना है, यश प्राप्ति की इच्छा है तो तीन बातों का ध्यान रख—सर्वप्रथम अपने शरीर को हृष्ट-पुष्ट तथा स्वस्थ बना, दूसरे अपने हाथ से यज्ञ कर और तीसरे स्वयं सेवा कर। यह तीन साधन वेद भगवान् ने मनुष्य को नाम अमर करने के बताये।

हमें यहाँ केवल यह दिखाना अभीष्ट है कि मनुष्य को अन्य सब काम छोड़कर सर्वप्रथम अपने शरीर को ही निरोग और हृष्ट-पुष्ट बनाना चाहिये। कमजोर और रोगी शरीर कोई भी कार्य धर्म का हो, निर्वाह का हो अथवा और किसी प्रकार का हो, नहीं कर सकता।

शास्त्रकारों ने भी कहा, **"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"** अर्थात् शरीर ही सर्व प्रकार के धर्म सिद्ध करने का साधन है। तो बस, जिस पवित्र भवन को हम भव्य बनाना चाहते हैं उसकी नींव सुदृढ़ होनी चाहिये। अतः शारीरिक बल सब बलों की नींव है।

परन्तु याद रखो यह स्थूल बल है। एक मल्ल भी अपने शरीर को हृष्ट-पुष्ट रखता है, परन्तु वह प्रायः धर्म का कोई कार्य नहीं कर पाता और न ही उससे मोक्ष सुख को प्राप्त कर सकता है अथवा अन्तिम ध्येय तक पहुँचता है।

हमारा लक्ष्य आत्मसिद्धि है, आत्मबल की प्राप्ति है। हमें तो शरीर को जीवित रखना है, नीरोग और बलवान् रखना है। फारसी के प्रसिद्ध कवि शेख सादी ने कहा है—

ख़ुरदन बराए ज़ीस्तनो ज़िक्र करदन अस्त।
तू मोतकिद कि ज़ीस्तन अज़ बहरे ख़ुरदन अस्त॥

अर्थात्—खाना जीने के लिये है और भगवान् की भक्ति करने के लिये, परन्तु तेरा तो यह विश्वास है कि जीना केवल खाने (भोग) के लिये है।

बस इतनी सावधनी को सन्मुख रखते हुए हमें शारीरिक बल सम्पादन करना चाहिये। इसी ओर ही वेद भगवान् ने संकेत किया है।

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।
गोभाज इत् किलासथ यत् सनवथ पूरुषम्॥
(यजु० १२।७९)

अर्थ—हे मनुष्यो! औषधियों के समान जिस कारण तुम्हार-कल रहे या न रहे, ऐसे शरीर में निवास है और तुम्हारे कमल के पत्ते पर जल के समान चलायमान संसार में ईश्वर ने निवास किया है इससे (गोभाजः) पृथिवी (अर्थात् पृथिवी के पदार्थों) को सेवन करते हुए ही (पूरुषम्) अन्न आदि से पूर्ण देह वाले पुरुष को (सनवथ) ओषधि देकर सेवन करो और सुख को प्राप्त होते हुवे इस संसार में रहो।

भावार्थ—मनुष्यों को ऐसा विचारना चाहिये कि हमारे शरीर अनित्य और स्थिति चलायमान है, **इससे शरीर को रोगों से बचा कर धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का अनुष्ठान शीघ्र करके** अनित्य साधनों से नित्य मोक्ष के सुख को प्राप्त होवें। जैसे औषधि, और तृण आदि फल, फूल,

पत्ते, स्कन्ध और शाखा आदि से शोभित होते हैं, वैसे ही रोग रहित शरीरों से शोभायमान हों। दयानन्द भाष्य

अर्थात् शरीर का रोगी होना पापी जीवन की निशानी है, अतः पाप से बचने का उपाय यही है कि शरीर नीरोग हो। शारीरिक बल पैदा करो।

धनबल

दूसरा धन बल है। शारीरिक बल धन बल के बिना उपार्जन नहीं हो सकता। जीवन की दैनिक आवश्यकताओं और शरीर के पालन-पोषण के लिये धन का होना आवश्यक है, इसलिये धन बल की आवश्यकता है। निर्धन बेचारा क्या शरीर को बनायगा और क्या नाम कमायगा। धनी लोग ज़मीन से एक फुट ऊँचे ही चलते हैं, वह नीचे देखते ही नहीं, उनकी आँखें आकाश की ओर होती हैं।

एक साधु महात्मा किसी गृहस्थ के घर भोजन करने गये। आसन पर बैठे थे, देखा कि एक मूसा बिल से निकला और कमरे के एक सिरे से दूसरे सिरे तक कई बार लम्बी २ छलांगें मारने लगा। साधु ने विचारा कि मूसे में इतना बल कहाँ से आया। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके पास कुछ धन है। भोजन कर चुकने के बाद गृहस्थ को कहा कि इस बिल को खोदो। गृहस्थ ने जब बिल को खोदा तो मूसे के बिल में कुछ धन एकत्र पाया। गृहस्थी ने वह धन निकाल लिया, अब वही मूसा बिल से जब बाहर निकला तो चूंटी की सी चाल से चलने लगा। धन के ह्रास हो जाने पर मनुष्य निर्बल हो जाता है। **इसलिये जीवन निर्वाह के लिये और शारीरिक बल सम्पादन के लिये धनबल का होना भी आवश्यक है।**

जनबल

तीसरा बल है जनबल। धनबल मनुष्य अकेले न कमा तथा संग्रह कर सकता है और न उसकी रक्षा कर सकता है। उसके लिये उसे जन की सहायता चाहिये अर्थात् नौकर-चाकर, पुत्र-परिवार, मित्र-सम्बन्धी—यह है जन बल। इसी का नाम संघटन बल है। आपत्ति आने पर जन ही तो काम आते हैं। शत्रु से मुकाबला भी तो जन ही करते हैं। संघटन में, एकता में बल है यह तो प्रसिद्ध है ही। शेख सादी ने इसीलिये कहा:—

बनी आदम आज़ाए यक दीगर अंद।
कि दर आफ़रीनश ज़ि यक जौहर अंद॥
चूं उज़्वे बदर्द आवुरद किर्दगार।
दिगर उज़्वहारा न मानद करार॥

अर्थात्—मनुष्य मात्र एक दूसरे के अंग हैं क्योंकि सब की उत्पत्ति एक ही जौहर (वीर्य) से होती है। जब शरीर के एक अंग में प्रभु कर्मानुसार पीड़ा पहुँचाते हैं तो सारा शरीर कम्पायमान हो जाता है। सन् १९०७ ई० में मिस्टर गोखले लाहौर में पधारे। उन दिनों बङ्गाल विभाजन के कारण स्वदेशी और हिन्दू-मुसलिम एकता की लहर खूब ज़ोरों पर थी। जनता ने उनका बड़ा स्वागत किया। उनके स्वागत के समय स्व० अल्लाहबख़्श चिश्ती ने एक कविता पढ़ी, जिसका एक पद्य था—

नुक्ताएँ तौहीद से हिन्दू-मुसल्माँ एक हैं।
ख़्वाह चिश्ती नाम हो ख़्वाह मिस्टर गोखले॥

संघटन बल ही समाज बल है। वेद भगवान् ने इसी बल के उपार्जन की आज्ञा दी:—

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते॥
(ऋ० १०।१९१।२)

परन्तु यह भी स्थूल बल है।

मानसिकबल

चौथा बल है मानसिकबल अथवा संकल्पबल। सिंह हस्ती से आकार तथा बल में अल्प तथा न्यून है परन्तु हस्ती पर आक्रमण कर देता है क्योंकि उसका सङ्कल्प बल हस्ती से अधिक है। मानसिक बल पूर्व के तीन बलों से सूक्ष्म है। मन को हमने देखा नहीं, परन्तु उसके अस्तित्व को सभी मानते हैं। शरीर के रोगों को दूर करने के लिये जहाँ अनेकों प्रकार की चिकित्साएं हैं वहाँ मानसिक चिकित्सा भी एक है। मन में जैसे विचार मनुष्य करता है वैसा वह हो जाता है। मानसिक विचारों से ही कायर वीर और वीर कायर बन जाते, रोगी नीरोगी बन जाते हैं। डूबता हुआ मनुष्य भी तर जाता है।

मन के स्वरूप का वेद भगवान् ने यजुर्वेद के ३४वें अध्याय के पहले छः मन्त्रों में बड़ी उत्तमता के साथ निरूपण किया है। कितना वह बलवान् है! कि जो एक क्षण में दूर २ तक पहुँच जाता है और जो वर्षों के कामों को स्वल्प समय में कर देता है और पुराने इतिहास की घटनाओं को

सम्मुख लाकर एक कायर को वीर, रणधीर बना देता है, पापी को रुला देता है, रोते को हँसा देता है। परन्तु याद रखो—

जैसा अन्न वैसा मन—यह लोकोक्ति है। जैसे अन्न खायेंगे वैसा मन बनेगा। सात्विक अन्न से मन सात्विक, राजसिक से राजसिक और तामसिक से तामसिक बनेगा। सात्विक अन्न से ही मन के विचार शुद्ध होंगे और बल वास्तविक अर्थों में बल बनेगा, अतः सात्विक अन्न का ही सेवन करना चाहिये।

बुद्धिबल

पांचवां है बुद्धि बल। यह मानसिक बल से भी अधिक सूक्ष्म और महत्त्वपूर्ण है। कहा है:—

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्।

जिसकी बुद्धि है उसका बल है, निर्बुद्धि का बल कहां? अङ्गरेजों ने १५० वर्ष भारत पर राज्य किया केवल बुद्धि बल से। बुद्धि बल से ही मनुष्य अन्य प्राणियों पर शासन करता है, सिंह को फांद लेता, हस्ती पर सवार हो कर एक लोह अंकुश से उसे अपनी इच्छानुसार चलाता और फनीयर विषैले सर्प को वश में कर लेता है। मूर्खों पर राज्य बुद्धिमान् बुद्धि से करते हैं। बुद्धि प्रभु की एक विशेष देन है जो भगवान् ने केवल मानव को ही प्रदान कर रखी है जिसका विकास करके मनुष्य सर्व प्रकार के आनन्द भोग सकता है। जल में, थल में, अन्तरिक्ष में जहां भी चाहे, दिनों की यात्रा घण्टों में तैय कर लेता है। मोटरकारें, जलयान, वायुयान ये सब मानव की बुद्धि की उपज हैं। तार, रेडियो, सिनेमा, परमाणु बम आदि यह भी मनुष्य की बुद्धि के ही चमत्कार हैं। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी प्रतिभाशाली बुद्धि से ही दिग्गज विद्वानों को परास्त किया था। बुद्धि से ही मनुष्य आपत्तियों से छुटकारा पा सकता और ईश्वर तक को साक्षात् कर सकता है।

एक बार देहली की गलियों में एक पागल घूम रहा था। मुहल्ला के लड़कों ने देखा, उसके पीछे हो लिये। तालियां बजाते, नकलें करते उसे शहर के बाहर पहुँचा दिया। पागल ने कुतुबमीनार की ओर मुख किया, लड़के भी पीछे २ गये परन्तु एक २ करके सब लड़के अपने घरों को वापस हो गए। एक छोटा सा बालक पागल के पीछे कुतुबमीनार तक पहुँचा। पागल तीन मंजलों तक ऊपर चढ़ गया, लड़का भी चढ़ गया। अब वहाँ केवल वह दो थे। पागल ने लड़के को पकड़ा और कहा कि मैं तुम्हें नीचे उछालता हूँ। लड़के के दम शुष्क हो गये, चीरो तो बदन में रक्त नहीं, परन्तु प्रभु कृपा! बुद्धि में एक सूझ आ गई। लड़के ने पागल को कहा वाह! ऊपर से नीचे छलांगे लगाना भी कोई वीरता है, वीरता तो है नीचे से ऊपर को छलांग लगाना। तो पागल ने पूछा, क्या तुम्हें आता है? लड़के ने कहा, हां! तो पागल ने कहा अच्छा जाओ, लगा कर दिखाओ। लड़के ने इसे सुअवसर जान झट नीचे उतरा। पागल वहाँ प्रतीक्षा में खड़ा रहा कि अभी लड़का छलांग लगाता और ऊपर आता है परन्तु लड़का नीचे पहुँचते ही घर की तरफ दौड़ा। लड़के अभी गली में थे। कहा यार! आज तो पागल के पञ्जे से किसी तरह से छूट कर ही आये। मैंने बुद्धि के बल से ही पागल से छुटकारा पाया। कहने का तात्पर्य यह कि बुद्धि-बल मनोबल से सूक्ष्म और अधिक महत्त्वपूर्ण है।

चरित्रबल

छठा बल है चरित्रबल। उपरोक्त पाँचों बलों से चरित्रबल अधिक महत्त्व रखता है। किसी देश अथवा जाति की बड़ाई का परिमाण उसके भव्य भवन, सुन्दर क्षेत्र, ऊँचे २ हिमाच्छादित पर्वत अथवा नहरों और रेलों का जाल नहीं है, परन्तु देश की महत्ता का परिमाण केवल चरित्र ही है। समय था जब भारत का चरित्र संसार भर में ऊँचा था। मनु महाराज ने इसकी साक्षी दी:—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

देश-देशान्तरों के लोग यहाँ से ही आकर चरित्रशिक्षा ग्रहण करते थे। आज भारत की क्या दशा है, यह आप सब जानते हैं।

श्रीस्वामी योगानन्दजी महाराज ने बतलाया कि वह एक बार रूस की सैर को गये। ट्रेन पर मास्को जा रहे थे। टी.टी. आ गया टिकटें चेक करने के लिये, सब की टिकटें देखीं, मेरी भी देखी। एक रूसी डब्बा में सफर कर रहा था। उसके पास टिकट न थी। टी. टी. ने पूछा टिकट, तो कहा कि मेरे पास टिकट नहीं है। टी. टी. चुप करके चला गया। जिस स्टेशन पर उसे उतरना था, वह मास्को से पहले आता था। वह यात्री उतरा और स्वामीजी भी उसके पीछे उतर पड़े, यह देखने के लिये कि यह गेट से कैसे पास होगा। भारत में Without Ticket हो तो पहले तो वह टी. टी. से छुपने की कोशिश करता है और यदि पकड़ा जाए तो दण्ड

सहित उससे किराया वसूल किया जाता है परन्तु यहाँ तो टी. टी. ने एक शब्द तक नहीं कहा। बड़ा आश्चर्य हुआ। स्वामीजी इसकी खोज में नीचे उतरे तो स्टेशन पर देखा यात्रियों के गुज़रने के लिये २ फाटक हैं एक पर लिखा है With Tickets और एक पर Without Tickets. वह यात्री Without Ticket वाले फाटक से निकला। फाटक के पास बाहर एक मेज़ रखी थी, मेज़ पर एक रजिस्टर और पेन पड़ा था। यात्री ने बाहर निकल कर रजिस्टर पर अपना नाम, पता, कहाँ से कहाँ तक यात्रा की, कब तक किराया अदा करेगा, यह सब कुछ लिख दिया—लिखा कि आधे घण्टे में किराया अदा कर देगा। स्वामीजी वहां ठहर गए। पंद्रह मिनट भी न गुज़रने पाये थे कि वह यात्री वापस आया और किराया अदा कर गया—यह है चरित्र! जिन देशों का चरित्र ऊँचा है वही आज मान्य समझे जाते हैं। महात्मा गांधी का चरित्र ऊँचा था, संसार के सब मानव जातिभेद से ऊपर उठकर उसका मान करते और उसके सामने झुकते थे। आज भी उसकी समाधि पर फूल चढ़ाते हैं। वस्तुतः चरित्र ही सच्ची पूंजी है। अङ्गरेजी में कहा है:—

When wealth is lost nothing is lost,
When health is lost something is lost.
When character is lost all is lost.

अर्थात् धन की हानि हानि नहीं है, यह आने जाने वाली वस्तु है। स्वास्थ्य की हानि कुछ हानि है परन्तु चरित्र की हानि से सर्वनाश है।

आजकल अमेरिका और योरुप को यदि गर्व है तो चरित्र का नहीं, धन का ही अभिमान है। चरित्र तो उनका अत्यन्त घृणित बन चुका है इसलिये वे पतन की ओर त्वरता से बढ़े जा रहे हैं।

भारतीयों का चरित्र भी कुछ अनुकरणीय नहीं रहा। पश्चिमी सभ्यता ने हमें फैशन और विलासिता का दास बना दिया है। अब जब कि हम स्वतन्त्र हो गये हैं, हमें अपने चरित्र बल को बढ़ाना चाहिये। वैसे यह देश चरित्रवान् आत्माओं से शून्य नहीं है परन्तु आवश्यकता है उनके अनुकरण की।

आत्मिकबल

सातवाँ और अन्तिम बल है आत्मिकबल। यह सर्व प्रकार के बलों से अति सूक्ष्म और महान् शक्ति सम्पन्न और प्रशंसनीय है। इसके भीतर तो भगवान् ने अपनी शक्ति भर रखी है, वेद भगवान् ने कहा है—

जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि ॥ अथर्व०

आत्मा को भगवान् ने एक Dynamic शक्ति से भर दिया है। वास्तव में जो चीज़ जितनी सूक्ष्म होगी, उतनी वह मूल्यवान् होगी। फ़ारसी में कहा है:—

हरचि बकमत केहतिर, ब कीमत बेहतिर।

अर्थात्—जिस चीज़ का जितना आकार छोटा होगा, उसका मूल्य उतना अधिक होगा।

ज्यों २ छोटी घड़ी होती है, मूल्य उसका अधिक होता है। परमेश्वर को छोड़कर जीवात्मा अति सूक्ष्म है। उपनिषद्कारों ने कहा कि बाल के अग्र भाग की मोटाई का दस हज़ारवां भाग जितना आत्मा का आकार है। यह आकार तो केवल कल्पना में ही आ सकता है। इतना सूक्ष्म जीवात्मा परन्तु उसका बल कितना सूक्ष्म और महान् होता है कि संसार के बड़े २ सम्राटों और शक्तियों को झुका देता है। महात्मा गांधी का शरीर तो अस्थियों का पिञ्जर ही था परन्तु आत्मिक बल इतना महान् था कि जिस सम्राट् के राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता था, उसको हिला दिया। महात्मा ने केवल यही कहा था कि Quit-India भारत खाली करो, अङ्गरेज़ कर्मचारी भयभीत हो गये और बिस्तर गोल कर चल दिये।

आत्मिक बल को केवल वही प्राप्त कर सकता है जिसका चरित्र बल, बुद्धि बल, मानसिक बल और शरीर बल साथ हो, धन और जन बल तो उनके पीछे पीछे स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं।

महर्षि दयानन्द आदर्श महापुरुष थे जिनके अन्दर सब बलों का अखण्ड अक्षय भंडार था। आदित्य ब्रह्मचारी अपने चरित्र और विद्याबल पर ही सर्वत्र विजय प्राप्त करते रहे। यह आत्मिक बल ही था जिसने इतना निर्भीक बना दिया था कि विष और वज्र प्रहार की परवाह न करते हुए भी अपना प्रचार जारी रखा, यह बल उनको प्राप्त हुआ केवल वेदवाणी से, वेद-ज्ञान से। 'वेदवाणी' ही हमें उस ओर ले जाती है, उसको पढ़िये और उसके अनुकूल आचरण करने से मानव की वह बलरूपी विशेषता मानव को प्राप्त हो सकती है।

प्रभु करें कि हम वेद के पवित्र आदेशों को समझकर चरितार्थ कर सकें।

जगद्गुरु भारत

(लेखक—श्री० पं० रामानन्द शास्त्री, प्रधानमन्त्री आर्यप्रतिनिधि-सभा, पटना-बिहार)

विद्याओं का स्रोत भारत

आर्यसमाज के प्रवर्त्तक प्रातःस्मरणीय ऋषि स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा कि **"यह निश्चय है कि जितनी विद्या और मत भूगोल में फैले हैं, वे सब आर्यावर्त्त देश से ही प्रचलित हुए हैं।"** (एकादश समुल्लास) ऋषि के उपरोक्त वाक्य को पढ़ कर कितने लोगों ने इसे पक्षपातपूर्ण तथा भावुकता के वशीभूत होकर लिखा गया है, ऐसा प्रतिपादन किया। किन्तु धीरे २ जैसे विद्या के क्षेत्र में अनुसंधान क्रम जारी है, त्यों २ ऋषि के कथन की सचाई का प्रकाश देश देशान्तर में फैल रहा है। अमेरिका के विद्वान् मि० डुरान्ट (Will Durant) ने स्पष्ट लिखा है कि:—

India was the motherland of our race, and Sanskrit the mother of Europe's languages, she was the mother of our Philosophy; mother through the Arabs of much of our mathematics, mother through the Buddha of the ideals embodied in Christianity; mother through the Village Community, of self government and democracy. Mother India is in many ways the mother of us all. (Vision of India).

अर्थात्—भारतवर्ष हमारी जाति की माता, संस्कृत सारी यूरोपीय भाषाओं की जननी है। भारत हमारे दर्शन शास्त्र का उद्गम अरबों द्वारा गणित की जननी तथा बुद्ध धर्म के द्वारा सारे विचारों का उद्गम है, जिनसे ईसायत सराबोर है। भारत ग्राम पञ्चायत प्रजातन्त्रात्मक ज्ञान की माता है। और क्या कहा जाय ? भारत प्रत्येक क्षेत्र में हमारा पथ-प्रदर्शक है।

अमेरिका में भारतीय सभ्यता

मि० डुरान्ट का उपरोक्त कथन अक्षरशः सत्य है। भारतीय आर्यों ने वेद से—'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'—की प्रेरणा लेकर अपने ज्ञान विज्ञान से सारे भूमण्डल को आलोकित किया। कोलम्बस के अमेरिका जाने के सैकड़ों वर्ष पूर्व आर्यों को अमेरिका का पता था। दक्षिण अमेरिका में मय (Maya) और आस्तिक (Astic) नामक दो प्राचीन जातियां हैं। इस जाति के मनुष्य मुर्दा जलाते हैं, गणेश की पूजा करते हैं। इतिहास के पण्डितों का कहना है कि ये दोनों जातियां भारत से आयीं। इन्हें नागवंशी कहा जाता है। महाभारत के आदि पर्व में मय और आस्तिक इन दो नागों का उल्लेख मिलता है। (Hindu America) मि० पीकाक ने आर्यों के अमेरिका जाने के मार्गों का भी उल्लेख किया है। अमेरिका में हाथी नहीं होते हैं तौभी ये हाथी का चित्र अपने घरों में बनाते हैं। इनके मन्दिर में रावण की दशमुख प्रतिमा तथा उस पर वानरों द्वारा आक्रमण दिखलाया गया है। अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि ये भारतीय हैं।

इङ्गलैण्ड और भारत

इङ्गलैण्ड की प्राचीन ड्रुइड जाति भारतीय ब्राह्मण पुरोहित कही जाती है। प्राचीन मिश्र निवासी भारतीय ब्राह्मण हैं, इनमें वर्णाश्रम व्यवस्था प्रचलित थी। 'मिश्र' शब्द ही संस्कृत का है।

लिथुआनियाँ की सारी संस्कृति भारतीय है। इनकी नदियों के नाम तथा देवों के नाम भी भारतवर्ष के ही हैं। जैसे:—न्युमुना (Newmuna) यमुना, स्रोवती (Srobati) = सरस्वती, नर्बुदी (Narbudey) = नर्मदा तथा वहां की उपजातियां (clans) भी कुरु, पुरु, यादव, सुदव (Sudav) नाम से पुकारी जाती हैं, जो स्पष्ट भारतीय हैं। उनके देवों का नाम इन्द्र, वरुण तथा पुराकन्य (Purakanya) (पर्जन्य) है। क्या इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध नहीं होता कि यहाँ के निवासी भारतीय हैं।

संस्कृत सब भाषाओं की जननी

भाषा तत्त्वविदों (Philologists) का कहना है कि विश्व की सारी भाषाएँ किसी एक ही भाषा से निकली हैं। बाईबिल की पैदाइश की पुस्तक में लिखा है कि पैदाइश के आरंभ में एक ही भाषा थी। यहोवा ने उसे बदल दिया। वह भाषा कौन थी ? इसका एक ही उत्तर है वैदिक भाषा

(संस्कृत) ही सब से पुरानी है। इस विषय में अधिक न लिखकर भाषा विज्ञानवेत्ता मि० बौप (Mr. Bopp) क्या कहते हैं, उसे उद्धृत् करता हूँ—

Sanskrit is more perfect and copious than the Greek and Latin, at one time Sanskrit was the one language spoken all over the world.

अर्थात्—संस्कृत ग्रीक और लैटिन से अधिक पूर्ण है। एक समय संस्कृत सारे विश्व में बोली जाती थी।

भारत दर्शनशास्त्र का स्रोत

दर्शन शास्त्र का गुरु भारत ही है। भारतीयों ने इसका प्रथम ज्ञान वेदों से प्राप्त किया है। वेद के मन्त्रों में सूक्ष्म रूप से दर्शन के बीज विद्यमान हैं। प्रश्न के रूप में नास्तिक दर्शनों का भी उल्लेख किया गया है। वेदों की प्राचीनता में किसी को संदेह नहीं है। सब एक मत से स्वीकार करते हैं कि ऋग्वेद संसार के पुस्तकालय में प्राचीनतम ग्रन्थ है। ऋग्वेद के सूक्त के सूक्त दार्शनिक ज्ञान से परिपूर्ण हैं। वेद समुद्र मधुसूदन ओझा की सम्मति में ऋग्वेदीय नारदीय सूक्त में १० वादों का उल्लेख है, जिनसे आधुनिक जगत् अभी तक परिचित नहीं है। लेकिन कालक्रम के प्रभाव से स्वयं भारतीयों को ही अपनी गौरव-गरिमा पर संदेह होने लगा है। श्री पं० राहुल सांकृत्यायन ने अपने दर्शन दिग्दर्शन तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में लिखा है कि भारत ने दार्शनिक ज्ञान यूनान से लिया है। किन्तु यह सर्वथा अतथ्य है। विज्ञ पाठक इस पर विचार करें—यूनान का पहला दार्शनिक थेलिज (Theles) था। उसका समय ईसा से ६०० वर्ष पूर्व कहा जाता है। इस समय को महापण्डित राहुलजी भी स्वीकार करते हैं। अब विचारना है कि थेलिज के पहले भारत में दर्शनशास्त्र था कि नहीं। भगवान् गौतम बुद्ध को हुए आज २५०० वर्ष हुए। तथागत ने अपने प्रवचनों में लगभग ७६ दार्शनिक सिद्धान्तों का खण्डन किया है जो उस समय भारत में प्रचलित थे। यदि एक सिद्धान्त के प्रचलित होने में १०० वर्ष का भी समय मान लिया जाय तो भी थेलिज के काल से लगभग १०००० दस हजार वर्ष पूर्व भारत दर्शनशास्त्र का ज्ञानी था। स्वयं गौतम बुद्ध जब विरक्त होकर घर से निकले तो कपाय गोत्रोत्पन्न आचार्य आराड से सांख्य शास्त्र की शिक्षा ग्रहण की। बुद्ध तथा बुद्धचरितम् के लेखक अश्वघोष कवि ने भी लिखा है कि तथागत ने बुद्धत्व प्राप्ति के पहले सांख्य योग की शिक्षा आचार्य आराड से प्राप्त की थी। (सर्ग १२ श्लोक ११२)।

संसार भारत का ऋणी

महाविद्वान् मेक्समूलर, गार्वे तथा विन्टरनीज ने स्वीकार किया है कि पर्शिया, एशिया माइनर तथा अलेकजण्डरिया ये तीन केन्द्र थे, जहाँ पर संसार के विद्वान् एकत्रित होते थे। यहीं से भारतीय ब्राह्मणों के सम्पर्क से ज्ञान-विज्ञान का मूल स्रोत विश्व के प्राङ्गण में चारों ओर प्रवाहित हुआ। जर्मन विद्वान् गार्वे ने कहा है कि—थेलिज ने जल तत्त्व, एनैक्जी मेराडर ने पानी तत्त्व तथा उसके शिष्य एनैक्सी मेनीज ने वाष्पीय तत्त्व का जो उल्लेख किया है, वह वैदिक विचारधारा है, जिसे यूनान ने पर्शिया द्वारा भारतीय विद्वानों से प्राप्त किया। पाइथागोरस ने भी सांख्यशास्त्र की शिक्षा आर्यावर्त्त से ही ली थी। उसका पुनर्जन्म सम्बन्धी सिद्धान्त हिन्दुओं के दर्शन का ही प्रभाव मात्र है। कुछ विद्वानों का कहना है कि पाइथागोरस भारतीय पण्डित था, उसका संस्कृत नाम पृथ्वी गुरु था, जो ईसा के ५५ वर्ष पूर्व यूनान में अपने विचारों के प्रचारार्थ गया। मैक्समूलर कहते हैं—

Eusebius quotes a work on Platonic Philosophy by Aristotle, who states therein on Anthonity of Aristoxenos a pupil of Aristotle, that an Indian Philospher came to Athens and had a discussion with Socretes. There is nothing in this to excite our suspicion and what makes the statement of Aristoxenos more plausible is the observation itself which this Indian Philosopher is said to have made to Socretes. For when Socretes had told him that his philosophy consisted in enquiries about the life of man, the Indian Philosopher is said to have smiled and replied that no one could understand things human who did not first understand things divine. (Vision of India)

अर्थात्—यूज़ेबियस अरस्तू की पुस्तक 'प्लेटो का दर्शन शास्त्र' पर लिखता है कि—एक भारतीय दर्शनशास्त्री एथेन्स

आया तथा सुकरात से शास्त्रार्थ किया।·········कहते हैं कि भारतीय दार्शनिक ने सुकरात के दर्शन के सम्बन्ध में जब पूछा तो सुकरात ने उत्तर दिया कि मेरे दर्शन में मनुष्य के जीवन की खोज की बातें है। इस पर भारतीय दार्शनिक ने हँसकर कहा कि जब तक मनुष्य ईश्वरीय ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक मनुष्य जीवन को कैसे समझ सकता है?

उपरोक्त कथन ही इस विषय का काफी प्रमाण है कि यूनान भारत का कितना बड़ा ऋणी है।

भारत का गणित

गणित विषयक ज्ञान भी भारत का प्राचीनतम है। सर्व-प्रथम भारत ने ही १ से लेकर ९ तक के अंक लिखने की परिपाटी चलायी। गणित शास्त्र में शून्य का क्या महत्व है इसे कौन नहीं जानता है। इस शून्य (Zero) की देन भी भारतीय उर्वरा मस्तिष्क की ही उपज है। यजुर्वेद में एक से लेकर परार्ध तक की संख्या का उल्लेख मिलता है। जब कि अंग्रेजी में हजार से ऊपर को लिखने की कोई भी संज्ञा नहीं है।

कहते हैं गणित का यह ज्ञान पहले पहल भारत से अरब गया। अरब से यूरोपीय देशों में फैला। प्रसिद्ध इति-हासकार मौलाना सुलेमान नदवी ने लिखा है कि:—

"अरब वाले स्पष्ट रूप से कहते हैं कि उन्होंने १ से ९ तक के अंक लिखने का ढंग हिन्दुओं से सीखा, और इसी लिये अरब वाले अंकों को हिन्दसा और इस प्रणाली को हिसाब हिन्दी या हिन्दी हिसाब कहते हैं! यह प्रणाली अरबों से सीखी थी, इसीलिये उनकी भाषाओं में इसका नाम अरब के अंक (Arabic figures) है। उस ठीक समय का पता तो नहीं चलता जिस समय अरबों ने यह ढंग हिन्दुओं से सीखा था, पर समझा यही जाता है सन् १५६ हिजरी में सिंध से जो पण्डित सिद्धान्त लेकर मन्सूर के दरबार में बगदाद गया था, उसी ने अरबों को यह ढंग सिखलाया था।" अरब और भारत का सम्बन्ध पृ० १०९

मौलाना सुलेमान नदवी ने उस पण्डित का नाम तो नहीं लिखा है, किन्तु उसका भी पता चल गया है:—

The famous astronomer Yavanacharya was born of one such Brahmin family. It was from these Brahmins that the Arabs learnt the science of mathematics, Astronomy, Algebra and Decimal notation which as we have said first developed in India.

(Vision of India)

अर्थात्—प्रसिद्ध ज्योतिष विद्वान यवनाचार्य ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुआ। इन्हीं ब्राह्मणों से अरबों ने गणित विज्ञान, ज्योतिष शास्त्र, बीजगणित और दशमलव का ज्ञान प्राप्त किया, जिसका प्रथम विकास भारत में हुआ।

बीज गणित के विश्वगुरु होने का श्रेय भारत को ही दिया जा सकता है। काजोरी के लेख के आधार पर श्री विनयकुमार ने लिखा है—

"अंकगणित की तरह बीजगणित का ज्ञान भी संसार को बहुत कुछ भारतीयों की देन है, यह बात अब सर्व सम्मत है। भारत ने बीजगणित यूनानियों से सीखी यह ठीक नहीं है क्योंकि दोनों की बीजगणित पद्धति में काफी भेद है। गणित के इतिहास लेखक काजोरी का अनुमान तो यह है, बीजगणित के प्रथम यूनानी विद्वान् दियो फांडस (३६० ई०) को बीजगणित का प्रथम आभास भारत से ही मिला था। १९ वीं सदी के गणितज्ञ, डा मौर्गान ने लिखा है कि दियो फांडस का बीजगणित-ज्ञान भारतीय विज्ञान के सामने नाम मात्र का है। उसी सदी के जर्मन गणितज्ञ हानकेल ने कहा है कि यदि युक्तिसिद्ध या अकरणीगत (Rational) करणीगत (Irrational) संख्याओं और राशियों के नाम अंकगणित के प्रयोग का नाम बीज गणित हो तो उसके आविष्कार का सारा श्रेय हिन्दुओं को ही है। (Hindu Achievement in exact science)

हम भारतीयों को इस बात का गौरव होना चाहिये कि बीजगणित का प्रथम आचार्य आर्यभट्ट (प्रथम) आज से लगभग १६०० वर्ष पूर्व पाटलिपुत्र में पैदा हुआ था और केवल २३ वर्ष की आयु में ज्योतिष सम्बन्धी आविष्कारों से उसने समकालीन विज्ञान जगत् में हलचल मचा दी थी।

रेखागणित में भी यह देश सर्व देशों का गुरु है। राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद लिखते हैं:—

वैदिक काल में ही इसका पर्याप्त प्रचार था। वेदियाँ एवं कुंड बनाने में इसकी हमेशा जरूरत पड़ती थी। भारत की प्राचीनतम रेखागणित बौधायन और आपस्तंब के शुल्ब सूत्रों में पाई जाती है। उनमें तरह तरह की सरल रेखात्मक

आकृतियों के निर्माण क्षेत्रफलों के 'जोड़ और रूपान्तर तथा आकृतियों और आयतनों की क्षेत्रमिति के प्रकार दिये गये हैं। बौधायन शुल्व (१-४८) में लिखा है कि समकोण चतुर्भुज के कर्ण पर बना (वर्ग) क्षेत्र उस (चतुर्भुज) की लंबाई और चौड़ाई आधार पर बने दोनों (वर्ग) क्षेत्रों को प्रकट करता है। वर्ग के कर्ण पर बना क्षेत्र वर्ग से दुगुना होता है।" (संस्कृत का अध्ययन पृ० २८)

बोधायन का समय छठी शताब्दी ईसा के पूर्व हो सकता है। भारतीय गणित के इतिहास लेखक श्री विभूति-भूषण दत्त का कहना है कि शतपथ ब्राह्मण में इस साध्य के प्रयोग के उदाहरण हैं।

ज्योतिष शास्त्र और भारत

अब ज्योतिष शास्त्र के सम्बन्ध में थोड़ा लिखकर इस संक्षिप्त लेख को समाप्त कर रहा हूँ। इस ज्ञान का भी गुरु भारतवर्ष ही है। श्री पं० राहुल जी ने इस शास्त्र के सम्बन्ध में भी अपने ग्रन्थ 'विश्व की रूप रेखा' में लिखा है कि भारत ने इसका भी ज्ञान यूनान से ही लिया है। हमें आश्चर्य होता है किस प्रकार मार्क्सवादी विचारधारा को भारतीयों में फैलाने के लिये सत्य पर राहुल जी पर्दा डाल रहे हैं। जिस समय यूरोपीय जगत् को १२ मासों तक का भी ज्ञान न था, उस समय के हजारों वर्ष पूर्व ऋषियों को मास, अधिमास तथा पृथ्वी की पार्थिव गति का पता था।

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि,
नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन् साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः
षष्टिर्न चलाचलासः।

ऋ० १।१६४।४८

ऋवेग्द के इस मन्त्र में तीन मुख्य ऋतुओं और ३६० दिनों का उल्लेख किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है:—

न ह वा असमा उदेति, न निम्लोचति सकृद् दिवा हैवा स्मै भवति। स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति इत्यादि अर्थात्—यह (सूर्य) असल में न कभी अस्त होता है न उदय—इत्यादि।

क्या उपरोक्त प्रमाण से यह सिद्ध नहीं होता कि आर्यों को यह ज्ञान था "दिन रात क्यों होता है?"

सूर्य सिद्धान्त के मध्यमाधिकार के ५१,५२ वें श्लोक में रविवार के बाद सोमवार क्यों पड़ता है, इसकी उपपत्ति दी गयी है। वारों का यही क्रम विश्व में प्रचलित है। प्रत्येक देश में रविवार के बाद सोमवार पड़ता है। लेकिन अन्य देशवासियों के पास इसका हेतु नहीं, जैसा कि हमारे शास्त्रों में दिया गया है। अतः यह भी ज्ञान भारत का ही सिद्ध होता है। मास का भी कारण है। चित्रा में पूर्णमासी होने से उसका नाम चैत्र पड़ा। इसी प्रकार वैशाख और ज्येष्ठ आदि के भी कारण जानने चाहियें। आज के अनुसंधान से सिद्ध हो गया है कि वस्तुतः चित्रा तारा समूह चित्र विचित्र है।

यूरोपीय ज्योतिःशास्त्र के सम्बन्ध में श्री ओझा जी लिखते हैं—

ध्यान देने की बात है कि प्राचीन रोमवासी शुरू में दस महीने और ३०४ दिन का ही वर्ष मानते थे। १२ महीने का संवत्सर वहां पहले-पहल राजा नुमा पोंपिल्स (६७५ ई० पू०) ने वर्ष-आदि में जनवरी फर्वरी मास जोड़ कर चलाया था, लेकिन दिन तब भी ३५५ ही माने जाते थे। ५ वीं शताब्दी ई० पू० में वहाँ चान्द्र की जगह सौर वर्ष माना जाने लगा जो ३५५ दिन का ही होता था। इस सौर वर्ष और वास्तविक सौर वर्ष के अन्तर को मिटाने के लिये वहाँ अनेक प्रयत्न किये गये। यूनानियों से अधिक मनाने की रीति ली गई। अन्त में ४६ ई० पू० में जुलियस सीज़र ने वर्ष का दिनमान ३६५¼ निश्चित किया। ....जुलियस और अगस्टस् के नाम पर जुलाई और अगस्त नाम रखे गये। ५२७ ई० में ईसाइयों ने ईसा मसीह का जन्म रोम नगर की स्थापना से ७९५ वर्ष बाद कल्पित करके रोमन् सम्वत् को ही ईस्वी सन् रूप में अपना लिया। उसके बाद ईस्वी सन् का ठीक २ संस्कार यूरोप में १६वीं सदी में जाकर हुआ। "प्राचीन लिपिमाला १९४ पृ० से"

इस संक्षिप्त परिचय से ही भारतीय ज्ञान गरिमा का पता तथा ऋषि के कथन की प्रामाणिकता "वेदवाणी" के पाठकों की सेवा में अर्पित की जा रही है। पुनः दूसरे निबन्ध में, और विज्ञान के क्षेत्र में भारत ने क्या किया, इसका वर्णन किया जायेगा॥

पाणिनि महाविद्यालय और उसकी शाखाओं की प्रगति

काशी पाणिनि महाविद्यालय

काशी (मोतीझील) में सायङ्काल ४॥ से ६॥ तक दो श्रेणियों का पाठ होता है। २० दिन में संस्कृत से अनभिज्ञ (हिन्दी का साधारण ज्ञान रखने वाले भी) अष्टाध्यायी पद्धति से वाच् शब्द के सब रूप–पुरुषः–पठति की सारी सिद्धियाँ सूत्रों सहित करने के अतिरिक्त भ्वादि अदादि-दिवादि इत्यादि १० गणों के वर्तमानकाल में सब रूप पूरी सिद्धि सहित सूत्र लगाकर सुनाते हैं। इतना ही नहीं, सिद्धि में लगने वाले सब सूत्रों के अर्थ भी बिना रटे मूल अष्टाध्यायी के आधार पर फट २ अनुवृत्ति और अधिकारों को बताते हुवे पहिले संस्कृत में पीछे हिन्दी में बोलते हैं। १५ कृदन्त प्रत्ययों (तव्य-अनीयर्-यत्-ण्यत्-ण्वुल्-तृच्-क्त-क्तवतु–घञ्-क्तिन्-ल्युट्-तुमुन्-क्त्वा-शतृ–शानच् आदि) में सब (लगभग २०००) धातुओं के रूप सिद्धि सहित बताते हैं, जो व्याकरण का मुख्य प्रयोजन है। श्रेणी आरम्भ होते ही पठनार्थी का आना आवश्यक है। ३-४ दिन भी विलम्ब से आये पठनार्थी अनुपस्थित रहने के कारण अपनी पढ़ाई की कमी २० दिन में भी पूरी नहीं कर पाते, अतः प्रारम्भ से ही श्रेणी में आना चाहिये, नहीं तो बहुत ही असुविधा होती है। १० पठनार्थी होने पर नई श्रेणी आरम्भ की जा सकती है। पहले पता तथा स्वीकृति लेना आवश्यक है।

गत ३१ दिसम्बर १९५९ को पार्लियामेण्ट के डिप्टी स्पीकर माननीय श्री अनन्तशयनम् आयङ्गर जी तथा उत्तर प्रदेश के शिक्षा मन्त्री श्री हरगोविन्द सिंह जी माननीय नेता तथा विद्वान् पाणिनि महाविद्यालय मोतीझील में पधारे थे। बिना रटे १५ दिन में उपर्युक्त योग्यता को देख कर सब चकित रहे और बहुत प्रसन्न हुए। सम्भव है इनके कहने से लखनऊ में भी एक नई श्रेणी चलानी पड़े।

देहली पाणिनि महाविद्यालय

देहली में गत अप्रैल मास से करौलबाग तथा हनुमान रोड आर्य समाज में प्रातः और सायङ्काल दो श्रेणियां चलती रहीं। पुरानी श्रेणी के साथ अब १५ जनवरी से नई श्रेणियाँ भी आरम्भ हुई हैं, जिनमें करौलबाग में ४२ तथा हनुमान रोड में ३० पठनार्थी पढ़ रहे हैं। स्कूल कालेजों की परीक्षायें निकट होने से चाहते हुए भी अनेक पठनार्थी नई श्रेणी में नहीं आ सके।

पहिली श्रेणी की परीक्षा १–२ जनवरी १९५५ को करौलबाग आर्यसमाज मन्दिर में हुई, जिसमें नियमानुसार केन्द्राध्यक्ष द्वारा छपे हुए प्रश्नपत्रों द्वारा परीक्षा ली गई, जिसकी कापियाँ काशी के विद्वानों द्वारा देखी गईं। अनेक विद्वान् देख कर आश्चर्यचकित हैं कि ६ मास में इतना बोध होना अद्भुत बात है। उनका कहना है कि काशी की मध्यमा परीक्षा वाले छात्र इन प्रश्नपत्रों के उत्तर इतनी योग्यता से इतने अच्छे नहीं दे सकते, जितने कि पाणिनि विद्यालय के पठनार्थियों ने प्रश्नों के उत्तर दिये हैं। विदित रहे कि इस परीक्षा में बहुत से पठनार्थी—"या खुदा मुझे इम्तहान में मत डाल" ईसा के इस वचन के अनुसार भय के मारे परीक्षा नहीं दिये, जो दे सकते थे। जितनों ने परीक्षा दी, हमें तो उतनों से भी आशा नहीं थी। संस्कृत साहित्य और अनुवाद का प्रश्नपत्र कठिन समझा गया था। उसमें पाठनार्थियों ने आशा से अधिक अङ्क प्राप्त किये, जिसकी हमें भी आशा नहीं थी, क्योंकि हिन्दी से संस्कृत अनुवाद में हमारी दृष्टि से (ठीक पढ़ाई न हो सकने के कारण) कुछ कमी अवश्य है, जो पूरी की जा रही है।

यह भी विदित रहे कि देहली की श्रेणी ४ मास तो बहुत अच्छी चली। जो २ सज्जन घर पर जाकर प्रतिदिन के पढ़े हुवे पाठ को कुछ भी नहीं देखते थे, वही रह गये। एक घंटे में पढ़ना और वहीं स्मरण भी हो जावे, यह कैसे हो सकता है। अतः जो पठनार्थी घर पर जाकर एक घण्टा भी समय नहीं लगाता वह पूरा सफल नहीं हो सकता। एक या डेढ़ घण्टा पढ़ाने में आवश्यक है। उतना ही समय (कम से कम १ घण्टा तो अवश्य) घर पर भी जा कर अवश्य मनन और पुनरावृत्ति प्रतिदिन साथ २ करते चलना चाहिये। तब अपूर्व सफलता मिलती है। इस बात को हरएक पठनार्थी को कदापि न भूलना चाहिये।

संस्कृतरत्न परीक्षा का परिणाम

६ मास अष्टाध्यायी पद्धति से पढ़ने के पश्चात् पठनार्थी की गति अन्य शास्त्रों में सहज में हो जाती है, संस्कृत का इतना व्यावहारिक ज्ञान हो जाता है। इस परीक्षा का नाम "संस्कृतरत्न परीक्षा" रखा गया है। इसमें बाहर के परीक्षार्थी एक मास पूर्व स्वीकृति प्राप्त करके बैठ सकते हैं। अध्यक्ष से पत्र-व्यवहार करना चाहिये। देहली में इस बार २० परीक्षार्थी बैठे, जिनमें ८० वर्ष के वृद्ध जिनका हाथ काँपता है और जिनको लेखक दिया गया उन्होंने ६६+७५=१४१ अङ्क प्राप्त किये। दो बालक ८ और ९ वर्ष के भी अपने पिता के साथ परीक्षा दिये। चाहे वे अनुत्तीर्ण रहे, पर उनका साहस अद्भुत रहा। वे बालक समझते पर्याप्त हैं। दो की अलग श्रेणी चले तो वे बहुत योग्य बन सकते हैं। परीक्षा-परिणाम निम्न प्रकार है—

रोल नम्बर	अष्टाध्यायी १००	संस्कृत तथा अनुवाद १००	जोड़ २००
१०१	७९	८२	१६१
१०२	९९	९२	१९१
१०३	८५	९०	१७५
१०४	७५	८०	१५५
१०५	५	२८	३३
१०६	२०	५९	७९
१०७	अनु०	३	३
१०८	३	३	६
१०९	९	३०	३९
११०	५५	९४	१४९
१११	८	१	९
११२	२९	८२	१११
११३	६६	७५	१४१
११४	३९	८०	११८
११५	७५	७८	१६३
११६	३९	८९	११८
११७	६५	७७	१४२
११८	५४	३६	९०
११९	२६	५२	७८
१२०	१६	५९	७५

काशी के विद्वत् परीक्षक मण्डल की सम्मति—"अष्टाध्यायी तथा संस्कृत साहित्य एवं अनुवाद के दोनों प्रश्नपत्र काशी राजकीय संस्कृत कालेज की मध्यमा परीक्षा के समान हैं। व्याकरण के प्रश्नों के उत्तर इस प्रकार तो व्याकरण मध्यमा वाले छात्र भी नहीं दे सकते।"

हम समझते हैं कि पठनार्थियों, आचार्य तथा विद्यालय के सञ्चालकों का परिश्रम बहुत कुछ सफल समझना चाहिये। हमारी दृष्टि से पढ़ाई में कुछ शिथिलता, अनियमता रही तथा पठनार्थी घर पर जाकर समय नहीं दिये, नहीं तो और भी सफलता होती। आगे को ध्यान रखा जावे। इस समय श्री रणवीर जी (मिलाप), लाला गणेशदास जी, शान्त कपूर, लाला नारायणदास कपूर, प्रोफेसर रामसिंह जी आदि धन्यवाद के पात्र हैं। श्री रणवीर जी इसमें प्रमुख हैं। संस्कृत प्रेमी सज्जनों को सहायता देकर इस कार्य को सफल बनाना चाहिये॥

सत्यार्थप्रकाश-भाष्य

(ले०—श्री पं० शिवपूजनसिंह जी कुशवाहा 'पथिक', विद्यावाचस्पति, साहित्यालंकार, कानपुर)

(गताङ्क से आगे)

दैनिक पत्र "लीडर" ३।५।१९३५ ई० के अग्रलेख से पता चलता है कि मि० जस्टिस ख्वाजा मुहम्मद नूर, भूतपूर्व वाइस चान्सलर पटना विश्वविद्यालय ने अपने एक भाषण में लड़के और लड़कियों के एक साथ पढ़ने की प्रथा को स्कूलों में प्रारम्भ करने में शीघ्रता करने की आवश्यकता बतलाई थी। राष्ट्रीय यूनिवर्सिटी बोर्ड के सम्मति माँगने पर लखनऊ युनिवर्सिटी की एक कमेटी की यह सम्मति हुई कि ९-१० वर्ष की आयु तक लड़के-लड़कियों का साथ पढ़ना प्रयोग में लाने योग्य है। उसकी यह भी सम्मति हुई कि उस अवस्था से ऊपर वालों की सहशिक्षा अनुचित है। जिस सभा में यह सम्मति निश्चित हुई, उसमें वाइस चांसलर के अतिरिक्त अन्य सब सदस्य केवल स्त्रियाँ थीं।

आंध्र विश्वविद्यालय ने कालिज की उपाधि कक्षाओं में सहशिक्षा का होना अनुचित बतलाया। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने दस वर्ष से ऊपर वाली लड़कियों व लड़कों का साथ पढ़ना अनुचित प्रकट किया। ढाका विश्वविद्यालय ने अपना यह मत दिया कि विश्वविद्यालय में प्रवेश से पहले लड़के और लड़कियों का साथ-साथ अध्ययन अनुचित है। उपर्युक्त सम्मतियों से यह तो प्रकट है कि भारतीय शिक्षा के नेताओं की मनोवृत्तियाँ किस ओर जा रही हैं।

हमारे युवकवर्ग में शृङ्गार की मात्रा का भाव अधिक हो रहा है। क्या इस पर हम लोगों ने कभी विचार किया है? जिन युवकों का काम शिक्षा प्राप्त करने का था वे कितना समय बालों में क्यारियाँ बनाने और दर्पण, कंघा आदि में लगाते हैं? कितने ही उनमें चलचित्र देखने में ही रह जाते हैं। जब बिना, अथवा न्यून सहशिक्षा के ही सामयिक शिक्षा-प्रणाली का यह परिणाम हो रहा है, तो सहशिक्षा का प्रवेश होने पर तो शायद अमेरिका की भाँति यह भाव भी उदय न हो पावेगा कि पवित्र दाम्पत्य-जीवन भी भूमण्डल में कोई आदरणीय वस्तु है।

स्त्री-शिक्षा की भी यदि आवश्यकता है, तो उस प्रकार की शिक्षा की नहीं है, जो लड़कों की भाँति उनको शिक्षित बनाना चाहती है और उन्हीं की भाँति उनको फैशनपरस्त, आलसी और प्रमादयुक्त पेट के लिये दर दर भिक्षुक की भाँति फिराना चाहती है। किंतु उस शिक्षा की आवश्यकता है जो उसे सच्ची गृहस्थ और सुशिक्षिता देवी बनाकर अपनी सौम्यता, सभ्यता और सतीत्व द्वारा सीता-सावित्री की भाँति आर्यावर्त के शिर को ऊँचा कर सकें। इस महत्त्वपूर्ण और नाज़ुक प्रश्न पर देश के शिक्षा-शास्त्रियों, लोक-नेताओं, माता-पिताओं और समाजशास्त्र के पंडितों को विचार-विमर्श करना चाहिये।

जैसा बड़ा परिश्रम व्याकरण में होता है वैसा श्रम अन्य शास्त्रों में करना नहीं पड़ता, और जितना बोध इनके पढ़ने से तीन वर्षों में होता है, उतना बोध कुग्रन्थ अर्थात् सारस्वत, चन्द्रिका, कौमुदी, मनोरमादि के पढ़ने से पचास वर्षों में भी नहीं हो सकता।

भाष्य—पं० भट्टोजी दीक्षित ने "सिद्धान्त कौमुदी" बनाई है और उसकी टीका 'मनोरमा' उनके पौत्र पं० हरिदीक्षित ने लिखी है। इनमें अनेकों व्याकरण-सम्बन्धी त्रुटियाँ और दोष हैं। अनेकों वैयाकरणों ने इनकी त्रुटियाँ प्रदर्शित की हैं यथा—पण्डितराज जगन्नाथजी, श्री मौनीकृष्ण भट्टीय, पं० चक्रपाणि, पं० भास्कर।

सिद्धान्त कौमुदी और उसकी टीका "मनोरमा" के खण्डन में पण्डितराज जगन्नाथ ने "मनोरमा कुचमर्दन", श्री मौनीकृष्ण भट्टीय ने "मनोरमा खण्डन", श्री चक्रपाणि ने "मनोरमा खण्डन" लिखी हैं।

अतः महर्षि दयानन्द जी ने "अष्टाध्यायी" और उसकी टीका "महाभाष्य" के अध्ययन पर अधिक बल दिया है।

सिद्धान्त कौमुदी के अध्ययन से लौकिक भाषा में से स्वरों का सर्वथा लोप हो गया। महामहोपाध्याय पं० शिवदत्त जी शर्मा दाधिमथ, स्वर तथा वैदिक प्रक्रिया में दीक्षितजी को मूर्ख मानते हैं।

इसीलिए इन व्याकरणों के पढ़ने पर आधुनिक वैयाकरण वेद पर कुछ कहने या लिखने का साहस नहीं करते। कौमुदी के अध्ययन से वेद-प्रचार में बाधा पड़ती है।

इनमें अश्लीलता भी है यथा—

योगिराज कृष्णजी की निन्दा है:—

"श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः ।१।४।३४

एषां प्रयोगे बोधयितुमिष्टः संप्रदानं स्यात् ।

गोपीस्मरात् कृष्णाय ह्नुते तिष्ठते शयते वा ।"

(सिद्धान्त कौमुदी का सम्प्रदानकारक)

आधुनिक विद्वानों ने भी इन अनार्ष व्याकरण ग्रन्थों का घोर विरोध किया है:—

पं० महामहोपाध्याय पं० लक्ष्मीधर 'शास्त्री', एम्. ए., एम्. ओ. एल्. :—

"...पाणिनीय व्याकरण द्वारा ही संस्कृत भाषा का पूर्ण बोध हो सकता है ।"

आचार्य विश्वश्रवाः जी:—"सिद्धान्तकौमुदी असङ्गत और अविवेकपूर्ण ग्रंथ है ।..."

विद्यानिधि पं० व्यासदेव शर्मा, साहित्याचार्य, एम० ए०, एल० एल्० बी०:—

"...महर्षि पतञ्जलि के कथनानुसार (सि० कौ०) न केवल व्यर्थ अपितु हानिकारक है ।..."

विद्याभास्कर प्रो० भीमसेनजी शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल्०...

"कौमुदी का सब से बड़ा अपराध यही है कि इसने व्याकरण के अध्ययन को अशुद्ध मार्ग पर डाल दिया और अतीव कठिन बना डाला...।"

विद्याभास्कर पं० रमेशचन्द्रः—"...सिद्धान्तकौमुदी में स्थान २ पर शङ्का समाधान रूप से आई हुई फक्किकाओं के फीके फैनों में फँसकर छात्र की कोमल बुद्धि किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो जाती है।..."

पं० गणेशशंकरजी वेदतीर्थः—"...अष्टाध्यायी को बिना पढ़े कौमुदी पढ़ ही नहीं सकता। सिद्धान्तकौमुदी के प्रकरणों से ही सिद्ध है कि अष्टाध्यायी पढ़ना चाहिये...।

आचार्य पं० भद्रसेनजीः—"...कौमुदी को पढ़ाना मैं इसलिए भी उचित नहीं समझता कि उसमें कहीं २ पाणिनि और भाष्यकार के आशय को न समझकर उनके विरुद्ध लिख दिया है जैसे "र" प्रत्याहार आदि इससे कौमुदी से महाभाष्य और पाणिनि के आशय के अनुसार व्याकरण का यथार्थ बोध नहीं हो सकता ।"

प्रोफेसर पं० धर्मेन्द्रनाथजी शास्त्री, व्याकरणतीर्थः—

"...कौमुदीकार ने अनेक स्थलों पर पाणिनीकृत अष्टाध्यायी के सूत्रों की व्याख्या और उदाहरण ही नहीं दिये हैं और बहुत स्थलों पर सूत्र लिखकर ही बेगार टाल दी है ।"

"...गान्धर्व वेद कि जिसको गानविद्या कहते हैं उसमें स्वर, राग, रागिणी, समय, ताल, ग्राम, तान, वादित्र, नृत्य, गीत आदि को यथावत् सीखें परन्तु मुख्य करके सामवेद का गान वादित्रवादन पूर्वक सीखें और नारद संहिता आदि जो जो आर्ष ग्रन्थ हैं उनको पढ़ें परन्तु भड़वे, वेश्या और विषयासक्तिकारक वैरागियों के गर्दभ शब्दवत् व्यर्थ आलाप कभी न करें ।"

भाष्य:—महर्षि दयानन्द जी नारद संहिता के अनुसार सामवेद को गाते हुए अंग चेष्टा का नाम जो नृत्य है उसे ब्रह्मचारियों को सिखाने की शिक्षा देना उचित मानते थे। इसी तृतीय समुल्लास में ब्रह्मचारियों के लिए व्यर्थ नाच गान का निषेध किया है यथा—"...कामं क्रोधं च लोभं च नर्त्तनं गीतवादनम्"... [मनु० २।१७७-१८०]" पर नारद संहितानुसार सामगान नृत्य को सिखाना उचित मानते थे और वेश्या भाण्डादिवत् नृत्य गान सिखाने को अनुचित मानते थे। ऐसे सामगान पूर्वक नृत्य करने वाले के लिए वेद की आज्ञा है—

"वीणावादं पाणिघ्नं तूणवध्मं तान्नृत्तायानन्दाय तलवम् "

—(यजु० अ० ३०, मंत्र २०),

महर्षि दयानन्द जी इसका अर्थ कहते हैं:—"हे परमेश्वर वा राजन् ! आप नाचने के लिए और आनन्द के अर्थ ताली आदि बजाने वाले को उत्पन्न वा प्रसिद्ध कीजिए ।

भावार्थ—'मनुष्यों को चाहिए कि हँसी और व्यभिचार आदि दोषों को छोड़ और गाने बजाने आदि की शिक्षा को प्राप्त होके आनन्दित होवें ।'

पं० जयदेव शर्मा 'विद्यालङ्कार' 'मीमांसातीर्थ' चतुर्वेद-भाष्यकार का अर्थः—"(नृत्ताय) नृत्य के लिए (वीणावादम्) वीणा बजाने वाले, (पाणिघ्नम्) हाथ से तबले आदि बजाने और (तूणवध्मम्) तुरही बजाने वाले को नियुक्त करो।

(आनन्दाय तलवम्) आनन्द, प्रसन्नता के लिए करताल बजाने वाले को नियुक्त करो ।"[२८]

२८. "यजुर्वेद संहिता" भाषाभाष्य, द्वितीय खण्ड, द्वितीयावृत्ति, पृ० ५१६ ।

विद्यावारिधि पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र, पौराणिक का अर्थः—"(वीणावादम्) वीणा बजानेवाले (पाणिघ्नम्) मृदङ्ग बजाने वाले (तूणवध्मम्) वृहत् वंशी बजानेवाले (तान्) इन तीनों को (नृत्ताय) नृत्य के निमित्त नियुक्त करे (आनन्दाय) आनन्द के निमित्त (तलवम्) ताली बजानेवाले को नियुक्त करे।"

विशेष—"इस मंत्र से विदित है कि संगीत विद्या वैदिक है और यही संगीत विद्या का उपदेश है 'आनन्दाय' कहने से संगीत विद्या का आनन्दकारी होना स्पष्ट है।"[२९]

'प्रातरुत्थाय यः शिष्यानध्यापयति यत्नतः।
वेदं शास्त्रं नृत्यगीतं कस्तेन सदृशः कृती॥"
(भविष्यपुराण उत्तर० अ० १७४ श्लो० १६)

अर्थ—जो गुरु प्रातःकाल उठकर अपने शिष्यों को वेद शास्त्र नृत्य गीत सिखाता है, उसके जैसा कृतकृत्य कौन है।

........."जितने ग्रह, नक्षत्र, जन्मपत्र, राशि, मुहूर्त आदि के फल के विधायक ग्रन्थ हैं उनको झूठ समझ के कभी न पढ़ें और पढावें।"

भाष्यः—ज्योतिष वेदाङ्ग है। ग्रह, नक्षत्र, राशि तो ठीक है, परन्तु इनके फल को महर्षि दयानन्द जी झूठ बतलाते हैं।

वेदों में ग्रह, नक्षत्र और राशियों के वर्णन तो हैं, पर इनके फलों का वर्णन न होने से अवैदिक हैं यथाः—

ग्रहः—"...शंनो दिविचरा ग्रहाः"
—[ऋ० १।९०।९ : यजु० ३६।९; अथर्व० १९।९।७]

अर्थात्—"(दिविचराः) द्यौ, आकाश में विचरने वाले ग्रह, धूमकेतु, उल्का आदि भी अपने आकर्षण विकर्षण आदि द्वारा (नः शम्) हमें शान्तिदायक हों।"

अतः आकाश में विचरने वाले पिण्डों को ग्रह कहते हैं।

'सूर्य, चन्द्र, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि' ये सात ग्रह और चन्द्र प्रभृति उपग्रह माने जाते हैं इस दृष्टि से २५ या ३६ ग्रह उपग्रह हैं। इनसे अतिरिक्त और भी सैकड़ों ग्रह उपग्रह वेद में कहे गये हैंः—

"शतं श्वेतास उक्षणो दिवि तारो न रोचन्ते।
मह्ना दिवं न तस्तभुः"
[ऋ० ८।५५।२]

अर्थ—"द्युमण्डल में सैकड़ों अगणित शुभ वर्ण के चमकदार ग्रह हैं जो तारों की भाँति देदीप्यमान होते हैं। वे महान् सामर्थ्य से सूर्य के समान तेजस्वी पिण्डों को भी थाम सकते हैं, वह सब उसी प्रभु का महान् बल है।"

नक्षत्र—नक्षत्र उन ताराओं को कहते हैं जो व्योम कक्ष में परस्पर यथावत् अन्तर में सदा वर्तमान से दृष्टिगोचर होते हैं तथा जो कि व्योमकक्षारूप परिणाह के साथ चलते हैं।

अथर्ववेद काण्ड १९ सूक्त ७ व ८ में नक्षत्रों का वर्णन है।

नक्षत्रों की संख्या २८ है। यथा—
"यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे
अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु।
.......अष्टाविंशानि शिवानि
शग्मानि सह योगं भजन्तु मे।"...
—[अथर्व० १९।८।१–२]

अर्थ—जो नक्षत्र आकाश में, अन्तरिक्ष, वायुमण्डल में, जलों में या सागरों में; भूस्थलों में, पहाड़ों पर और दिशाओं में सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं।...'ये अट्ठाईस नक्षत्र कल्याणकारी, सुखकारी होकर, मेरे लिए चन्द्र के साथ योग प्राप्त करें।

नक्षत्रों का स्वरूप—"चित्राणि साकं दिवि रोचनानि सरीसृपाणि भुवने जवानि।"
—[अथर्व० १९।७।१]

अर्थ—"द्युलोक में देदीप्यमान चित्र विचित्र, नाना वर्ण के वेगवान् परिधिमण्डल में एक साथ सदागतिशील हैं, परस्पर आकर्षण शक्ति से युक्त रहते हैं।

नक्षत्रों के नाम—

"सुहवमग्ने कृत्तिका रोहिणी
चास्तु भद्रं मृगशिरः शमार्द्रा।
पुनर्वसू सूनृता चारु पुष्यो
भानुराश्लेषा अयनं मघा मे॥

२९. "यजुर्वेद मिश्रभाष्य" उत्तरार्द्धः, पृष्ठ ११८० [संवत् १९५९ वि० में श्री वेङ्कटेश्वर यन्त्रालय, बम्बई में मुद्रित और प्रकाशित]

पुण्यं पूर्वा फल्गुन्यौ चात्र
हस्तश्चित्रा शिवा स्वाति सुखो मे अस्तु।
राधे विशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठा
सुनक्षत्रमरिष्टमूलम्॥
अन्नं पूर्वा रासतां मे अषाढा
ऊर्जं देव्युत्तरा आ वहन्तु।
अभिजिन्मे रासतां पुण्यमेव
श्रवणः श्रविष्ठाः कुर्वतां सुपुष्टिम्॥
आ मे महच्छतभिषग् वरीय
आ मे द्वया प्रोष्ठपदा सुशर्म।
आ रेवती चाश्वयुजौ भगं म
आ मे रयिं भरण्य आ वहन्तु॥"
—[अथर्व० १९।७।२–५]

अर्थ—"हे सूर्य! विद्वन्! **कृत्तिका** और **रोहिणी** दोनों नक्षत्र उत्तम रीति से यज्ञ करने योग्य हों। **मृगशिरा** नक्षत्र सुखकारी हो। **आर्द्रा** नक्षत्र शान्तिदायक हो। **पुनर्वसु** नक्षत्र शुभ, ज्ञान देने वाला हो। **पुष्य** नक्षत्र सुन्दर हो। **आश्लेषा** नक्षत्र अतिप्रकाशमान हो और **मघा** नक्षत्र मेरे लिए सब सम्पत्ति प्राप्त कराने वाला हो। **पूर्वा फाल्गुनी** के दो नक्षत्र सुखकर हों। इस लोक में **हस्त** नक्षत्र और **चित्रा** नक्षत्र कल्याणकारी हों। **स्वाति** नक्षत्र मुझे सुखकारी हो। **राधा** नक्षत्र और **विशाखा** नक्षत्र दोनों भी उत्तम रीति से यज्ञ करने योग्य और अनुकूल सिद्धिदाता होवें। **ज्येष्ठा** उत्तम नक्षत्र हो। **मूल** नक्षत्र भी कल्याणकारी हो।

पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र मुझे अन्न प्रदान करे। **उत्तराषाढ़ा** नक्षत्र प्रकाशवान् होकर उत्तम अन्न रस और शक्ति प्राप्त करावें। **अभिजित्** नामक नक्षत्र मुझे पुण्य, पवित्रता प्रदान करे। **श्रवण और श्रविष्ठा** दोनों नक्षत्र उत्तम पुष्टि प्रदान करें।

बड़ाभारी **शतभिषग्** नामक नक्षत्र मुझे सर्वश्रेष्ठ धन प्राप्त करावे। दोनों **प्रोष्ठपदा** नाम के नक्षत्र मुझे उत्तम सुख प्रदान करें। **रेवती** और **अश्वयुग्** या **अश्विनी** के दोनों नक्षत्र मुझे ऐश्वर्य प्राप्त करावें। **भरणी** नाम के नक्षत्र मेरे लिए ऐश्वर्य समृद्धि प्रदान करावें।"

राशि—

"द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः
षष्टिर्न चलाचलासः॥"
—[ऋ० १।१६४।४८, अथर्व० १०।८।४]

अर्थ—"एक चक्र है उसमें तीन नभ्य (केन्द्र) हैं, बारह प्रधियां (राशियाँ) हैं, तीन सौ साठ शंकु जैसे चलते हुए से अंश परस्पर अर्पित हैं, उसे कोई जानता है अर्थात् जनसाधारण नहीं, किन्तु ज्योतिर्विद्यावित् ही जानता है।"

यहाँ मंत्र में 'एक चक्र' कहा गया है जिसमें 'द्वादश प्रधयः' बारह प्रधियाँ कहीं हैं ये चक्र की बारह प्रधियां राशियां हैं।

'सूर्य सिद्धान्त' में कहा भी है "तत्त्रिंशता भवेद् राशि र्भगणो द्वादशैव ते" (सूर्य सिद्धान्त १।२८) चक्र में ३६० अंश होते हैं, ३० अंश की राशि और एक चक्र में १२ राशियां होती हैं।

'छान्दोग्योपनिषद्' में भी राशि का वर्णन आता है। जब सनत्कुमार के पास नारद जी पढ़ने के लिये गए तब उन्होंने पूछा कि तुम क्या पढ़े हो तो नारद जी ने उत्तर में कहा कि 'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, राशि विज्ञान ग्रह आदि पढ़ा हूँ, "स हो वाचर्ग्वेदं··· पित्र्यं राशिं दैवं०" (छान्दोग्योपनिषद् ७।१।२)

वैदिकधर्मी इस गणित ज्योतिष (Astronomy) को मानते हैं और फलित ज्योतिष (Astrology) मिथ्या है।

दीवान बहादुर एल. डी. कन्नू पिल्ले एम.ए. डी. आई. एस. ओ. का विचार है कि "·········इस देश के साहित्य में फलित ज्योतिष का उल्लेख नहीं मिलता। वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद् और पाणिनीय व्याकरण में इसके विषय में कोई लेख नहीं है।"·········३०

प्राचीनकाल में स्वयंवर विवाह होते थे। उस समय जन्मपत्र मिलाने की साक्षी कहीं नहीं प्राप्त होती।

काशी के प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय पं० सुधाकर **द्विवेदी जी** फलित ज्योतिष को मिथ्या मानते थे। उनका मत है कि "मेरा विश्वास फलित ज्योतिष में नहीं है, मैं इसे

३० 'Journal of Indian History' May 1926. Quarterly Journal of the Mythic Society Jan 1925

एक प्रकार का खेल समझता हूँ जैसा कि विश्वगुणादर्श में लिखा है कि ज्योतिषी लोग अपने वाग्जाल से लोगों का धन व्यर्थ लूटा करते हैं।"[३१]

महर्षि दयानन्द जी की स्पष्टोक्ति—"नहीं, जो उसमें अङ्क, बीज, रेखागणित विद्या है, वह सब सच्ची, जो फल की लीला है वह सब झूठी है।"[३२]

"जो यह ग्रहणरूप प्रत्यक्ष फल है सो गणित विद्या का है फलित का नहीं। जो गणित विद्या है वह सच्ची और फलित विद्या स्वाभाविक सम्बन्ध जन्य को छोड़ के झूठी है।"

"जो धनाढ्य, दरिद्र, प्रजा, राजा, रङ्क होते हैं वे अपने कर्मों से होते हैं ग्रहों से नहीं। बहुत से ज्योतिषी लोग अपने लड़का लड़की का विवाह ग्रहों की गणित (विद्या) के अनुसार करते हैं, पुनः उनमें विरोध वा विधवा अथवा मृतस्त्रीक पुरुष हो जाता है। जो फल सच्चा होता तो ऐसा क्यों होता? इसलिये कर्म की गति सच्ची और ग्रहों की गति सुख दुःख भोग में कारण नहीं। भला ग्रह आकाश में और पृथ्वी भी आकाश में बहुत दूर पर हैं, इसका सम्बन्ध कर्ता और कर्मों के साथ साक्षात् नहीं। कर्म और कर्म के फल कर्त्ता भोक्ता जीव और कर्मों के फल भोगानेहारा परमात्मा है। जो तुम ग्रहों का फल मानो तो इसका उत्तर देओ कि जिस क्षण में एक मनुष्य का जन्म होता है जिसको तुम ध्रुवा त्रुटि मानकर जन्मपत्र बनाते हो उसी समय में भूगोल पर दूसरे का जन्म होता है वा नहीं? जो कहो नहीं, तो झूठ और जो कहो होता है तो एक चक्रवर्ती के सदृश भूगोल में दूसरा चक्रवर्ती राजा क्यों नहीं होता?...।"[३३] "...कहीं भी सारे महाभारत भर में जन्मपत्रिका का वर्णन आया है? कहीं भी नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि फलित ज्योतिष की जड़ कहीं भी आर्यविद्या में नहीं है, यह स्पष्ट है।"[३४]

"...ऋग्यजु, साम, और अथर्व चारों वेद ईश्वरकृत हैं वैसे ऐतरेय, शतपथ, साम, और गोपथ चारों ब्राह्मण, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निघण्टु, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष छः वेदों के अङ्ग। मीमांसादि छः शास्त्र वेदों के उपांग, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद ये चार वेदों के उपवेद इत्यादि सब ऋषि मुनि के किए ग्रन्थ हैं, इनमें भी जो २ वेद विरुद्ध प्रतीत हो, उस उस को छोड़ देना, क्योंकि वेद ईश्वरकृत होने से निर्भ्रान्त स्वतः प्रमाण अर्थात् वेद का प्रमाण वेद ही से होता है, ब्राह्मणादि सब ग्रन्थ परतः प्रमाण अर्थात् इनका प्रमाण वेदाधीन है।

भाष्यः—पौराणिक वर्ग ऋक्, यजु, साम, अथर्व इन चार संहिता भागों के अतिरिक्त सम्पूर्ण ब्राह्मण ग्रन्थ और उपनिषदों को वेद मानते हैं पर यह भ्रम है। चार संहिता भाग ही ईश्वरीय ज्ञान हैं, ब्राह्मण ग्रन्थ उनकी व्याख्या है। जिस "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" सूत्र के आधार पर पौराणिक पण्डित ब्राह्मण ग्रन्थों को वेद मानते हैं, उस सूत्र से ही ब्राह्मण ग्रन्थों के वेदत्व का खण्डन होता है। इसके लिये श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक लिखित **"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् इत्यत्र कश्चिदभिनवो विचारः"** शीर्षक महत्त्वपूर्ण लेख देखना चाहिये❀। महर्षि दयानन्द जी ने अपनी पुस्तक "ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" में बहुत से प्रमाण प्रस्तुत किया है। विशेष जानने के लिए पाठकों को निम्नलिखित पुस्तकों का स्वाध्याय करना चाहिये।

वेदों के उद्भट विद्वान् पं० शिवशङ्करशर्मा काव्यतीर्थ कृत "वेद ही ईश्वरीय ज्ञान है"[३५] प्रो० बालकृष्णजी, एम० ए०, एफ० आर० एस० एस०; एफ० आर० ई० एस०, एफ० आर० पी० एस० कृत "ईश्वरीय ज्ञानवेद"[३६]; मेरी लिखी हुई "पाश्चात्यों की दृष्टि में वेद ईश्वरीय ज्ञान"[३७]।

महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा एम० ए०; डी० लिट्० वायसचान्सलर, विश्वविद्यालय प्रयाग लिखते हैं:—

३१ 'ज्योतिष चमत्कारः', तुलना करो "सत्यार्थप्रकाशभाष्य" द्वितीय समुल्लास, प्रथम संस्करण, पृ० १५३।
३२ 'सत्यार्थ प्रकाश' द्वितीय समुल्लास।
३३ वही, एकादश समुल्लास।
३४ पूना का व्याख्यान ६, जन्म विषय, तुलना करो "दयानन्द सिद्धान्त भास्कर" प्रथम संस्करण पृ० १४८।
❀ यह लेख ओरियण्टल कान्फ्रेंस लखनऊ अधिवेशन (१९५२) के अवसर पर पढ़ा गया था। वेदवाणी वर्ष ४ अंक ८।
३५ आर्यसमाज, काशी द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण। अर्जुन प्रेस, कबीरचौरा, काशी में मुद्रित।
३६ सन् १९१६ ई० में स्टार प्रेस प्रयाग में मुद्रित और आर्य प्रतिनिधि सभा यू० पी० द्वारा प्रकाशित, प्रथमावृत्ति।
३७ जयदेव ब्रदर्स, बड़ौदा द्वारा प्रकाशित।

"जब से वेद का अध्ययन और अध्यापन प्रवृत्त हुआ, तभी से 'वेद पौरुषेय है या अपौरुषेय' इसका विवाद चला आता है। ऐसी बात में तो विवाद की कोई जगह नहीं होनी चाहिये थी; क्योंकि जो ग्रन्थ 'पौरुषेय' है उसका रचयिता 'पुरुष' अवश्य ही ज्ञात रहता है। वेद के रचयिता का नाम कोई नहीं जानता। इससे इसे 'पौरुषेय' कहने की युक्ति ठीक नहीं हो सकती।'..........इन्हीं कारणों से वेद की नित्यता या अपौरुषेयता में किसी को विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए†।

"ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरिति॥ यह गृह्यसूत्रादि का वचन है। जो ऐतरेय, शतपथादि ब्राह्मण लिख आए उन्हीं के इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी पाँच नाम हैं, श्रीमद्भागवतादि का नाम पुराण नहीं है।"

भाष्यः—वेदों में 'पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा, नाराशंसी' शब्द देखकर कतिपय पौराणिक पण्डित[३८]वर्तमान पुराणों का ग्रहण करते हैं, जो ठीक नहीं।

"सना पुराणमध्येम्यारान्महः" —[ऋ० ३।५४।९]

"पुराणमोकः सख्यं शिवं वा युवोर्नरा द्रविणं"
—[ऋ० ३।५८।६]

"चाक्लृप्रे तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे।" —[ऋ० १०।१३०।६]

"यत्र स्कम्भः प्रजनयन् पुराणं व्यवर्तयत्।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्य पुराणमनुसंविदुः॥"
—[अथर्व० १०।७।२६]

"ये अर्वाङ्मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति।" —[अथर्व० १०।८।१७]

"तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्। इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद।"
—[अथर्व० १५।६।११-१२]

"स मन्येत पुराणवित्" —[अथर्व० ११।८।७]

"ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह..."
—[अथर्व० ११।७।२४]

इन उपर्युक्त वेदमंत्रों में 'पुराण' आदि शब्दों को देख कर पौराणिक वर्ग १८ पुराण का ग्रहण करते हैं, परन्तु इस प्रकार मान बैठना ऐसा ही है जैसे कोई ईसाई "ईशावास्य०" मन्त्र देखकर वेद में 'ईसामसीह' का ग्रहण कर ले। "मरुगायमत्र"... इससे मुर्गा और मद्य ग्रहण कर ले, "मदीना स्याम शरदः शतम्"... इससे मदीना और श्याम देश का ग्रहण कर ले, कृष्ण, राम, दशरथ, सीता, अर्जुन प्रभृति शब्दों को देख कर ऐतिहासिक व्यक्तियों को समझ ले। इस प्रकार समझने से वैदिक विद्वानों में वह हास्यापद ही माना जायगा।

वेदों में पुराण, इतिहास, गाथा, नाराशंसी शब्दों पर विचारः—एक शब्द के भिन्न २ स्थलों में भिन्न २ अर्थ हुआ करते हैं उसी प्रकार इन शब्दों के आने पर वर्तमान १८ पुराणों को समझना गहरी भूल है। १८ पुराणों के कर्त्ता "अष्टादशपुराणानां वक्ता सत्यवतीसुतः" [३९]व्यासजी कहे जाते हैं, इनका वर्णन वेदों में किस प्रकार आ सकता है जिनमें राजाओं की वंशावली, अकबर, बीरबल, मुहम्मद साहब, सण्डे-मण्डे, फरवरी, यवनों की शुद्धि, शिवजी, विष्णु, ब्रह्मा आदि देवताओं की निन्दा, रामानन्द, माधवाचार्य, शङ्कराचार्य प्रभृति का वर्णन विस्तृत रूप से हो।

यथा—

"रविवारे च सण्डे च फाल्गुणे चैव फर्वरी।
षष्ठिश्च सिक्सटी ज्ञेया तदुदाहरणमीदृशम्॥"
—[भविष्यपुराण, प्रतिसर्ग पर्व ३ खण्ड १ अध्याय ५ श्लोक ३७]

यहाँ पर रविवार को 'सण्डे', (Sunday), फाल्गुण को 'फर्वरी' (Febury); तथा साठ को (Sixty) कहा गया है जो आंग्लभाषा के शब्द हैं।

क्या व्यास जी अंग्रेजी भाषा के विद्वान् थे?

"आदमो नाम पुरुषः पत्नी हव्यवती तथा"
—[भविष्य पुराण, प्रतिसर्ग पर्व ३, अध्याय ४ श्लोक १८]

आदम (Adam) नाम का पुरुष तथा हव्यवती (हव्वा) उनकी स्त्री का नाम आया है।

---

† मासिक पत्रिका "गङ्गा" भागलपुर का "वेदाङ्क" प्रवाह २, जनवरी सन् १९३२ ई०, तरंग १, पृ० १५।

३८ देखो पं० माध्वाचार्यशास्त्री कृत "पुराणदिग्दर्शनम्" पृ० ७५ से ७८ तक (सं० २००६ में प्रकाशित)। देखो पं० कालूराम शास्त्रीकृत "पुराणवर्म, पूर्वार्द्धम्, द्वितीय संस्करण, पृ० २२; देखो विद्यावारिधि पं० ज्वालाप्रसादमिश्र कृत "अष्टादशपुराणदर्पण" पृ० १,२ [सं० १९९३ वि० बम्बई संस्करण]

३९. "अष्टादशपुराणदर्पण" पृष्ठ ९ [संवत् १९९३ वि० बम्बई संस्करण]

"...अदान नगरस्यैव पूर्वभागे महावनम्।
ईश्वरेण कृतं रम्यं चतुःक्रोशायतं स्मृतम्॥
पापवृक्षतले गत्वा पत्नी दर्शनतत्परः।
कलिस्तत्रागतस्तूर्णं सर्परूप हि तत्कृतम्"॥

[भविष्यपुराण, प्रतिसर्ग पर्व ३ खण्ड १ अध्याय ४ श्लोक ३०, ३१]

अर्थात्—"अदान (Aden) नगर के पूर्व भाग में चार कोस लम्बा चौड़ा सुन्दर ईश्वर का बनाया हुआ बाग था। उस बाग में कलि साँप का रूप धारण करके शीघ्र आया तो पाप वृक्ष के नीचे जाकर उसकी पत्नी को देखा।"

यहाँ कुरान के गप्पाष्टक को अनुवाद किया गया है।

हजरत मूसा—

"ब्रह्मावर्तमृते तत्र सरस्वत्यास्तटं शुभम्।
म्लेच्छाचार्यश्च मूशाख्यस्तन्मतैः पूरितं जगत्॥"

[भविष्यपुराण, प्रतिसर्ग पर्व ३, खण्ड १, अध्याय ५, श्लोक ३०]

अर्थ—"सरस्वती नदी के पवित्र ब्रह्मावर्त को छोड़कर सारा जगत् म्लेच्छाचार्य हजरत मूसा के मतवालों से भरा पड़ा है।

ईसामसीह—

"....ईशपुत्रं च मां विद्धि कुमारीगर्भसंभवम्॥ २३॥
...ईशमूर्तिर्हृदि प्राप्ता नित्यशुद्धा शिवंकरी।
ईशामसीह इति च मम नाम प्रतिष्ठितम्॥ ३१॥

[भविष्यपुराण प्रतिसर्ग पर्व ३, खण्ड ३, अध्याय २]

अर्थः—मैं कुमारी के गर्भ से उत्पन्न हुआ खुदा का पुत्र हूं॥ २३॥

नित्य शुद्ध तथा कल्याणकारी ईश की मूर्त्ति हृदय में प्राप्त होने के कारण मेरा ईशामसीह ये नाम प्रतिष्ठित है॥ ३१॥"

हजरत मुहम्मद—

"महामद इति ख्यातः शिष्यशाखासमन्वितः॥५॥
...लिंगच्छेदी शिखाहीनः श्मश्रुधारी, स दूषकः।
उच्चालापी सर्वभक्षी भविष्यति जनो मम॥२६॥
...तस्मान्मुसलवन्तो हि जातयो धर्मदूषकाः।
इति पैशाचधर्मश्च भविष्यति मया कृतः॥२८॥"

[भविष्यपुराण, प्रतिसर्ग पर्व ३, खण्ड ३, अध्याय ३]

अर्थ—"महामद (मुहम्मद) नाम से प्रसिद्ध अपने शिष्यों के साथ आया॥५॥ मेरा मतवादी पुरुष लिंगच्छेदी, शिखा से हीन, दाढ़ी रखने वाला, उच्चालापी तथा सर्वभक्षी होगा। इसलिए उन धर्म को दूषित करने वाली जातियों का नाम मुसल्मान होगा। मुझसे प्रचलित किया हुआ ऐसा पैशाच धर्म होगा।"

"नगर्य्यां कलिकातायां स्थापयामासुरुद्यताः।
विकटे पश्चिमे देशे तत्पत्नी विकटावती॥७५॥

[भविष्यपुराण प्रतिसर्ग पर्व ३, खण्ड ४ अध्याय २२]

अर्थ "कलकत्ता नगरी में प्रयत्न करके स्थापन करते हुए। पश्चिम दिशा में विकट नाम देश में उसकी स्वामिनी विकटावती (विक्टोरिया) = Victoria॥" यहाँ पर अंग्रेजों का वर्णन करते हुए कलकत्ता नगर तथा विक्टोरिया का नाम दिया हुआ है।

क्या यही पुराण वेद के समान परम्परागत व्यास को मिले थे और उन्होंने पुस्तकाकार किया? क्या सृष्टि काल के आरम्भ से ही मुहम्मद, ईसा, मूसा, कलकत्ता, विक्टोरिया को मानना पड़ेगा? यह पक्ष किसी भी प्रकार से मान्य न होगा।

अतः वेदों में आए हुए 'पुराण' शब्द से वर्तमान पुराणों का ग्रहण कदापि नहीं हो सकता है।

पुराण—पुराण क्या है, इस पर श्री सायणाचार्य जी लिखते हैं:—

"इदं वा अग्रे नैव किंचनासीत् न द्यौरासीदित्यादिकं जगतः प्रागवस्थानमुपक्रम्य सर्गप्रतिपादकं वाक्यजातं "पुराणम्॥" (ऐतरेय सायण भूमिका)

अर्थात्—"सृष्टि के पूर्व यह (वर्तमान दृश्य पदार्थादि) कुछ न था, न सूर्य था इत्यादि सृष्टि की उत्पत्ति बतलाने वाले मन्त्र समूह पुराण कहलाते हैं।"

इससे सिद्ध है कि पूर्वकाल में सृष्टि की उत्पत्ति में बतलाने वाले मन्त्र समूह पुराण शब्द से व्यवहृत होते थे। जब इसी बात का विस्तार रूप से लोगों ने अलग २ लिखना आरम्भ किया तो उसका नाम भी पुराण पड़ गया। उसका लक्षण यों बनाया गया—

॥ "पुराण-मत-पर्यालोचन" पृष्ठ २२२।

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥"†
(शुक्रनीति ४।९३-९४)

अर्थात्—"सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश मन्वन्तर, वंशानुचरित ये ५ पुराण के लक्षण हैं।"

यह परिभाषा तब बनी जब वंश चला, वंश के प्रसिद्ध २ राजाओं का जीवन चरित्र लिखा जाने लगा। इसलिए सृष्टि की उत्पत्ति और नाश के साथ तीन बातें और मिलाकर अलग पुराण की सृष्टि हुई है।

इसी प्रकार के पुराण की चर्चा याज्ञवल्क्य और मनु ने की है।

क्या कोई भी विद्वान् यह कह सकता है कि वेद के साथ साथ सूर्यवंश, चन्द्रवंश अग्निवंश (जो कलियुग में चला है), पीपा, रैदास, मुहम्मद, ईसा, मूसा का चरित्र इनकी उत्पत्ति के पूर्व ही बना बनाया ईश्वर के मुख से निकला? अतः वेदों में आए 'पुराण' शब्द से पं० माध्वाचार्य, पं० कालूराम और पं० ज्वाला प्र० मिश्र १८ पुराणों का जो ग्रहण करते हैं उनकी गहरी भूल है।

नाराशंसी—उन मन्त्रों के नाम हैं जो यज्ञपरक हैं। 'नाराशंस' नाम यज्ञ का है। पौराणिक भाष्यकार **श्री महीधराचार्य** यजु० २८।१९ में आए "देव इन्द्रो नराशंस···" का भाष्य करते हैं:—"नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्ति नराशंसः यज्ञः।"[४०]

विद्यावारिधि पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र अपने "मिश्र-भाष्य"[४१] में लिखते हैं:—

"(नराशंसः) जहां स्थित होकर ऋत्विगादि देवताओं की प्रशंसा करते हैं ऐसा यज्ञ···।"

श्री यास्काचार्यजी लिखते हैं:—"नराः प्रशस्यन्ते अत्र स नराशंसः, नराशंस एव नाराशंसः"
(निरुक्त, दैवत काण्ड, ९ खं० ६)

अर्थात्—"मनुष्य-प्रशंसा परक मन्त्र 'नाराशंस' कहलाते हैं।"

ऋग्वेद १।१२६ सूक्त का देवता नाराशंस (मनुष्य-प्रशंसा है)।

अतः 'यज्ञ-सम्बन्धी या यज्ञ प्रतिपादक मन्त्रों का नाम तथा मनुष्य-प्रशंसा परक मन्त्र 'नाराशंसी' है, न कि किसी पुस्तक विशेष का नाम।

गाथा—"अग्निचयनप्रकरणे यमगाथाभिः परिगायतीति विहिताः मन्त्रविशेषा गाथाः।"[४२]

अर्थात्—मन्त्र विशेष का नाम गाथा है, किसी ग्रन्थ का नाम नहीं है।

कल्पः—"कल्पस्तु आरुणकेतुचयनप्रकरणे समाम्नायते इति मन्त्राः कल्पः, अतः ऊर्ध्वं यदि बलिं हरेत्।"[४२]

"कल्पा मन्त्रार्थसामर्थ्यप्रकाशकाः······"

(शतपथ ब्रा० १।७।१।२) = कल्प उसको कहते हैं, जहां पर मंत्र के अर्थ की सामर्थ्य प्रकाशित की जावे। 'कल्प' भी मन्त्रविशेष का ही नाम है, ग्रन्थ का नाम नहीं।

इतिहास—"देवासुराः संयत्ता आसन् इत्यादयः इतिहासाः।" —(ऐतरेयब्राह्मण सायणभाष्य)

अर्थात्—देव और असुरों का युद्ध ही 'इतिहास' है।

यहां पर देव और असुर शब्द से नित्य देव और नित्य असुर का ग्रहण है। यहां पर इतिहास शब्द से नित्य इतिहास का ग्रहण है न कि अनित्य इतिहास का।

सृष्टि में देव और असुर सदा से होते आये हैं, पूर्व में थे, अब हैं और आगे भी रहेंगे, ऐसे ही लोगों का युद्ध वर्णन वेदों में है, यथा 'इन्द्र और वृत्रासुर का युद्ध'। 'इन्द्र' नाम 'सूर्य'† का है, 'वृत्र' नाम मेघ का है।

"तत्र को वृत्रः? मेघ इति नैरुक्ताः, त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः"

'अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति'।

—(निरुक्त अ० २ ख० १६) [क्रमशः]

---

† अष्टादश पुराण दर्पण, पृष्ठ ५ तुलना करो "पुराणदिग्दर्शन" पृष्ठ २००।

४०. देखो—"शुक्लयजुर्वेद संहिता", तृतीय खण्ड, पृष्ठ १३७१ [सन् १९१२ ई० में चौखम्बा संस्कृत बुकडिपो, काशी द्वारा प्रकाशित], ४१. मासिक पत्रिका "पाखण्ड-खण्डिनी-पताका" काशी, वर्ष २, अक्तूबर १९२५ ई० अङ्क २, पृष्ठ २, कालम २। ४२ वही, पृ० २।

† शतपथ ब्रा० ८।५।३।२, व ४।६।७।११; "इन्द्र आदित्यः" (सायण) ऋ० १।१६४।४६ भाष्ये।

फिर वह क्या करे, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

श्रुष्टीवानो हि दाशुषे देवा अग्ने विचेतसः ।
तान् रोहिदश्व गिर्वणस्त्रयस्त्रिंशतमा वह ॥ २ ॥

पदार्थ—हे (रोहिदश्व) वेग आदि गुणयुक्त (गिर्वणः) वाणियों से सेवित (अग्ने) विद्वन् ! आप इस संसार में जो (विचेतसः) नानाप्रकार के शास्त्रोक्त ज्ञानयुक्त (श्रुष्टीवानः) शीघ्र पदार्थ[1] विद्या के सेवन करने वाले (देवाः) दिव्य गुण वाले विद्वान् (दाशुषे) दानशील पुरुषार्थी मनुष्य के लिये सुख देते हैं (तान्) उन (त्रयस्त्रिंशतम्) भूमि आदि तेंतीस दिव्य गुण वाले देवों को (हि) निश्चय करके (आवह) प्राप्त हूजिये ॥ २ ॥

भावार्थ—जब विद्वान् लोग विद्यार्थियों को तेंतीस देव अर्थात् पृथिवी आदि तेंतीस पदार्थों की विद्या को अच्छे प्रकार साक्षात्कार कराते हैं, तब वे बिजुली आदि अनेक पदार्थों से उत्तम उत्तम व्यवहारों की सिद्धि कर सकते हैं ॥ २ ॥

फिर वह क्या करे, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत् ।
अङ्गिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम् ॥ ३ ॥

पदार्थ—हे (जातवेदः) उत्पन्न हुए पदार्थों को जानने हारे (महिव्रत) बड़े व्रत युक्त विद्वन् ! आप (प्रियमेधवत्) विद्याप्रिय बुद्धि वाले के तुल्य (अत्रिवत्) आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीन प्रकार के दुःखों से रहित के समान (विरूपवत्) अनेक प्रकार के रूपवाले के तुल्य (अङ्गिरस्वत्) अङ्गों के रसरूप प्राणों के सदृश (प्रस्कण्वस्य) उत्तम मेधावी मनुष्य के (हवम्) देने लेने, पढ़ने पढ़ाने योग्य व्यवहार को (श्रुधि) श्रवण किया करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालंकार है । हे मनुष्यो ! जैसे सब के प्रिय करने वाले विद्वान् लोग शरीर, वाणी और मन के दोषों से रहित, नानाविद्याओं को प्रत्यक्ष करने और अपने प्राण के समान सबको जानते हुए विद्वान् लोग मनुष्यों के प्रिय कार्य्यों को सिद्ध करते हैं, वैसे तुम भी किया करो ॥३॥

फिर विद्वान् लोग उसको किस के लिये प्रेरणा करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

महिकेरव ऊतये प्रियमेधा अहूषत ।
राजन्तमध्वराणामग्निं शुक्रेण शोचिषा ॥ ४ ॥

पदार्थ—हे महाविद्वानो ! (महिकेरवः) जिनके बड़े बड़े शिल्प विद्या के सिद्ध करने वाले कारीगर हों ऐसे (प्रियमेधाः) सत्य विद्या वा शिक्षाओं की प्राप्त कराने वाली मेधा=बुद्धि युक्त आप

---

१. यद्यपि अजमेरमुद्रित भाषार्थ में यहां 'यथार्थ' पद है, तथापि भावार्थ तथा मन्त्रार्थ के अनुसार यहां 'पदार्थ' पद चाहिये । इसका मूल संस्कृत में नहीं है ।

लोग (अध्वराणाम्) अहिंसनीय व्यवहाररूपी कर्मों की (ऊतये) रक्षा आदि के लिये (शुक्रेण) शुद्ध शीघ्रकारक (शोचिषा) तेज से (राजन्तम्) प्रकाशमान (अग्निम्) अग्नि के सदृश सभापति को (अहूषत) उपदेश किया करो ॥ ४ ॥

भावार्थ—कोई मनुष्य धार्मिक बुद्धिमानों के सङ्ग के विना उत्तम उत्तम व्यवहारों की सिद्धि करने को समर्थ नहीं हो सकता, इस से सब मनुष्यों को योग्य है कि इन के सङ्ग से सब विद्याओं का साक्षात्कार अवश्य करें ॥ ४ ॥

फिर वह किससे जानने को समर्थ होवे, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

घृताहवन सन्त्येमा उ षु श्रुधी गिरः ।
याभिः कण्वस्य सूनवो हवन्तेऽवसे त्वा ॥ ५ ॥ [३१]

पदार्थ—हे (सन्त्य) सुखों की क्रियाओं में कुशल (घृताहवन) घी को अच्छे प्रकार ग्रहण करने वाले विद्वन् मनुष्य ! (कण्वस्य) मेधावी विद्वान् के (सूनवः) पुत्र वा विद्यार्थी (अवसे) रक्षा आदि के लिये (याभिः) जिन वेदवाणियों से जिस (त्वा) तुझ को (हवन्ते) ग्रहण करते हैं, सो आप (उ) भी उन से उन की (इमा) इन प्रत्यक्षकारक (गिरः) वाणियों को (सुश्रुधि) अच्छे प्रकार सुनें और ग्रहण करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य इस संसार में विद्वान् माता, विद्वान् पिता और अनूचान[1] आचार्य आदि से शिक्षा वा विद्या को ग्रहण कर परमार्थ और व्यवहार को सिद्ध कर विज्ञान और शिल्प की सिद्धि करने में प्रवृत्त होते हैं, वे सब सुखों को प्राप्त होते हैं, आलसी कभी नहीं होते ॥ ५ ॥

फिर उसको किस प्रकार ग्रहण करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

त्वां चित्रश्रवस्तम हवन्ते विक्षु जन्तवः ।
शोचिष्केशं पुरुप्रियाऽग्ने हव्याय वोळ्हवे ॥ ६ ॥

पदार्थ—हे (चित्रश्रवस्तम) अत्यन्त अद्भुत अन्न वा श्रवणों से व्युत्पन्न (पुरुप्रिय) बहुतों को तृप्त करने वाले (अग्ने) बिजुली के तुल्य विद्याओं में व्यापक विद्वन् ! जो (जन्तवः) प्राणीलोग (विक्षु) प्रजाओं में (वोळ्हवे) विद्या प्राप्ति कराने हारे (हव्याय) ग्रहण करने योग्य पठन पाठन रूप यज्ञ के लिये जिस (शोचिष्केशम्) जिस के पवित्र आचरण हैं, उस (त्वाम्) आप को (हवन्ते) ग्रहण करते हैं, वह आप उन को विद्या और शिक्षा देकर विद्वान् और शीलयुक्त शीघ्र कीजिये ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि अनेक गुणयुक्त अग्नि के समान विद्वान् को प्राप्त होके विद्याओं का ग्रहण करें ॥ ६ ॥

---

१. अङ्ग उपाङ्ग सहित चारों वेदों का ज्ञाता ।

फिर उस को किस प्रकार जानकर धारण करें, इस विषय का उपदेश
अगले मन्त्र में किया है ॥

नि त्वा होतारमृत्विजं दधिरे वसुवित्तमम् ।
श्रुत्कर्णं सप्रथस्तमं विप्रा अग्ने दिविष्टिषु ॥ ७ ॥

पदार्थ—हे (अग्ने) बहुश्रुत सत्पुरुष ! जो (विप्राः) मेधावी विद्वान् लोग (दिविष्टिषु) पवित्र पठन पाठनरूप यज्ञों में अग्नि के तुल्य जिस (होतारम्) ग्रहण करने (ऋत्विजम्) ऋतुओं को संगत करने (श्रुत्कर्णम्) सब विद्याओं को सुनने (सप्रथस्तमम्) अत्यन्त विस्तार के साथ वर्तने (वसुवित्तमम्) पदार्थों को ठीक ठीक जानने वाले (त्वा) तुझ को (निदधिरे) धारण करते हैं, उन को तू भी धारण कर ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्या प्रचार आदि उत्तम कार्य की सिद्धि के लिये प्रयत्न करते और चक्रवर्त्ती राज्य श्री और विद्याधन की सिद्धि करने को समर्थ हो सकते हैं, वे शोक को प्राप्त नहीं होते ॥ ७ ॥

फिर उस को कैसा जानें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

आ त्वा विप्रा अचुच्यवुः सुतसोमा अभि प्रयः ।
बृहद्भा बिभ्रतो हविरग्ने मर्ताय दाशुषे ॥ ८ ॥

पदार्थ—हे (अग्ने) बिजुली के समान वर्तमान विद्वन् ! जो तू जैसे क्रियाओं में कुशल (दाशुषे) दानशील (मर्ताय) मनुष्य के लिये (प्रयः) अन्न (बृहत्) बड़े सुख करने वाले (हविः) देने लेने योग्य पदार्थ और (भाः) जो प्रकाश कारक क्रियाओं को (आबिभ्रतः) सब ओर से धारण करते हुए (सुतसोमाः) ऐश्वर्ययुक्त (विप्राः) विद्वान् लोग (त्वा) तुझको (अभ्यचुच्यवुः) सब प्रकार प्राप्त हों, वैसे तू भी इन को प्राप्त हो ॥ ८ ॥

भावार्थ—विद्वान् मनुष्यों को चाहिये जिस से मनुष्यों को उत्तम सुख हों, उसको विद्या और विशेष परीक्षा से प्रत्यक्ष कर अनुक्रम से सब को ग्रहण करावें, जिस से इन लोगों के भी सब काम निश्चय करके सिद्ध होवें ॥ ८ ॥

इसका अनुष्ठान करने वाला मनुष्य किसके लिये क्या करे, इस विषय
का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

प्रातर्याव्णः सहस्कृत सोमपेयाय सन्त्य ।
इहाऽद्य दैव्यं जनं बर्हिरा सादया वसो ॥ ९ ॥

पदार्थ—हे (सहस्कृत) बल को सिद्ध करने (सन्त्य) जो संभजनीय क्रियाओं में कुशल विद्वानों में सज्जन (वसो) श्रेष्ठ गुणों में बसने वाले विद्वन् ! आप (इह) इस विद्या व्यवहार में

(अद्य) आज (सोमपेयाय) सोम रस के पीने के लिये (प्रातर्यावणः) प्रातःकाल प्रतिदिन पुरुषार्थ को प्राप्त होने वाले विद्वानों और (दैव्यम्) विद्वानों में कुशल (जनम्) पुरुषार्थ युक्त धार्मिक मनुष्य और (बर्हिः) उत्तम आसन को (आसाद्य) प्राप्त करें ॥ ९ ॥

भावार्थ— जो मनुष्य उत्तम गुण युक्त मनुष्यों ही को उत्तम वस्तु देते हैं, ऐसे मनुष्यों ही का संग सब लोग करें। कोई भी मनुष्य विद्या वा पुरुषार्थ युक्त मनुष्यों के संग वा उपदेश के बिना दिव्य सुखों को प्राप्त नहीं हो सकता॥ ९ ॥

फिर भी उसी विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

अर्वाञ्चं दैव्यं जनमग्ने यक्ष्व सहूतिभिः ।
अयं सोमः सुदानवस्तं पात तिरोअह्न्यम् ॥१०॥ [३२]

पदार्थ—[1]हे (सुदानवः) उत्तम दानशील विद्वान् लोगो ! आप (सहूतिभिः) तुल्य आह्वान युक्त क्रियाओं से (अर्वाञ्चम्) वेगादि गुण वाले घोड़ों को प्राप्त करने वा कराने (दैव्यम्) दिव्य गुणों में प्रवृत्त (तिरोअह्न्यम्) चोर आदि का तिरस्कार करने हारे दिन में प्रसिद्ध (जनम्) पुरुषार्थ में प्रकट हुए मनुष्य की (पात) रक्षा कीजिये और [हे (अग्ने) विद्वन् !] जैसे (अयम्) यह (सोमः) पदार्थों का समूह सब के सत्कारार्थ है वैसे (तम्) उस को तू भी (यक्ष्व) सत्कार में संयुक्त कर ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि सर्वदा सज्जनों को बुला उनका सत्कार करके सब पदार्थों का विज्ञान, शोधन और उन से उपकार लेना चाहिये और उत्तरोत्तर इस को जान कर इस विद्या का प्रचार किया करें ॥ १० ॥

इस सूक्त में वसु, रुद्र और आदित्यों का प्रमाण आदि कहा है, इस से इस सूक्तार्थ की पूर्व सूक्तार्थ के साथ संगति जाननी चाहिये ॥ ४५ ॥

यह ४५वां सूक्त और ३२वां वर्ग समाप्त हुआ ॥

---

[४६]

अथ पञ्चदशर्चस्य षट्चत्वारिंशस्य सूक्तस्य प्रस्कण्व ऋषिः । अश्विनौ देवते । १, १०
विराड्गायत्री; २,४,५,७,८,९,१३,१५, निचृद्गायत्री; ३,६,११,१२,१४
गायत्री च छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अब छियालीसवें सूक्त का आरम्भ है । इस के पहिले मन्त्र में उषा और सूर्य चन्द्र के दृष्टान्त से विद्वान् स्त्रियों के गुणों का प्रकाश किया है ॥

१, इस मन्त्र का संस्कृत अन्वय अस्पष्ट है, इसमें मन्त्रगत 'अग्ने' पद भी छूटा हुआ है, (हमने यथा स्थान जोड़ने का प्रयत्न किया है) । अतः हमने यहाँ अजमेर मुद्रित भाषार्थ ही रहने दिया है ।

एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः ।
स्तुषे वामश्विना बृहत् ॥ १ ॥

पदार्थ—हे विदुषि ! जैसे (एषो) यह (अपूर्व्या) अपूर्व (दिवः) सूर्य प्रकाश से उत्पन्न हुई (प्रिया) सब की प्रीति की बढ़ाने वाली (उषाः) दाह = उष्णता की निमित्त वाली[1] उषा अर्थात् प्रातःकाल की वेला (बृहत्) बड़े दिन को (उच्छति) प्रकाशित करती है, वैसे तुम मुझ को (वि) आनन्दित करती हो और जैसे (अश्विना) सूर्य और चन्द्रमा के तुल्य पढ़ाने और उपदेश करने हारी स्त्रियों के गुणों को (स्तुषे) प्रकाश करती हो, वैसे मैं भी तुझ को सुखों में बसाऊं और तेरी प्रशंसा भी करूं ॥ १ ॥[2]

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है ॥ जो स्त्री लोग सूर्य चन्द्र और उषा के सदृश सब प्राणियों को सुख देती हैं, वे आनन्द को प्राप्त होती हैं । इन से विपरीत कभी नहीं हो सकतीं ॥ १ ॥

फिर वे अश्वि कैसे हैं इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

या दस्रा सिन्धुमातरा मनोतरा रयीणाम् ।
धिया देवा वसुविदा ॥ २ ॥

पदार्थ—हे मनुष्य लोगो ! तुम लोग (या) जो (दस्रा) दुखों को नष्ट करने वाले (सिन्धुमातरा) समुद्र नदियों के प्रमाणकारक[3] (मनोतरा) मन के समान पार करने हारे[4] (धिया) कर्म से (रयीणाम्) धनों के (देवा) देने हारे (वसुविदा) बहुत धन को प्राप्त कराने वाले अग्नि और जल के तुल्य वर्तमान अध्यापक और उपदेशक हैं, उनकी सेवा करो ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे कारीगर लोगों से ठीक २ युक्त किये हुए अग्नि और जल के यानों को मन के वेग के समान तुरन्त पहुँचाने वा बहुत धन को प्राप्त कराने वाले होते हैं, उसी प्रकार अध्यापक और उपदेशकों को होना चाहिये ॥ २ ॥

फिर वह कैसे हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

वच्यन्ते वां ककुहासो जूर्णायामधि विष्टपि ।
यद्वां रथो विभिष्पतात् ॥ ३ ॥

---

१. अर्थात् उषाकाल के अनन्तर सूर्योदय होता है और उष्णता बढ़ती है ।

२. इस मन्त्र के संस्कृत पदार्थ में मन्त्रगत 'वां' पद छूट गया है, वह कहीं अन्वित नहीं होता । इसीलिये इस पदार्थ में भी रह गया है ।

३. अग्नि के योग से जल का वाष्प बनना और जलरूप हो कर पुनः समुद्र में पहुँचना, इसी नैरन्तर्य क्रिया से समुद्र एक रस बने रहते हैं ।

४. इस पद का संस्कृतपदार्थ ठीक नहीं है, अजमेर मुद्रित यह भाषापदार्थ ठीक है । संस्कृत भावार्थ इसी के अनुकूल है और स्वर भी ।

फिर उस को किस प्रकार जानकर धारण करें, इस विषय का उपदेश
अगले मन्त्र में किया है ॥

नि त्वा होतारमृत्विजं दधिरे वसुवित्तमम् ।
श्रुत्कर्णं सप्रथस्तमं विप्रा अग्ने दिविष्टिषु ॥ ७ ॥

पदार्थ—हे (अग्ने) बहुश्रुत सत्पुरुष ! जो (विप्राः) मेधावी विद्वान् लोग (दिविष्टिषु) पवित्र पठन पाठनरूप यज्ञों में अग्नि के तुल्य जिस (होतारम्) ग्रहण करने (ऋत्विजम्) ऋतुओं को संगत करने (श्रुत्कर्णम्) सब विद्याओं को सुनने (सप्रथस्तमम्) अत्यन्त विस्तार के साथ वर्तने (वसुवित्तमम्) पदार्थों को ठीक ठीक जानने वाले (त्वा) तुझ को (निदधिरे) धारण करते हैं, उन को तू भी धारण कर ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्या प्रचार आदि उत्तम कार्य की सिद्धि के लिये प्रयत्न करते और चक्रवर्ती राज्य श्री और विद्याधन की सिद्धि करने को समर्थ हो सकते हैं, वे शोक को प्राप्त नहीं होते ॥ ७ ॥

फिर उस को कैसा जानें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

आ त्वा विप्रा अचुच्यवुः सुतसोमा अभि प्रयः ।
बृहद्भा बिभ्रतो हविरग्ने मर्ताय दाशुषे ॥ ८ ॥

पदार्थ—हे (अग्ने) बिजुली के समान वर्तमान विद्वन् ! जो तू जैसे क्रियाओं में कुशल (दाशुषे) दानशील (मर्ताय) मनुष्य के लिये (प्रयः) अन्न (बृहत्) बड़े सुख करने वाले (हविः) देने लेने योग्य पदार्थ और (भाः) जो प्रकाश कारक क्रियाओं को (आबिभ्रतः) सब ओर से धारण करते हुए (सुतसोमाः) ऐश्वर्ययुक्त (विप्राः) विद्वान् लोग (त्वा) तुझको (अभ्यचुच्यवुः) सब प्रकार प्राप्त हों, वैसे तू भी इन को प्राप्त हो ॥ ८ ॥

भावार्थ—विद्वान् मनुष्यों को चाहिये जिस से मनुष्यों को उत्तम सुख हों, उसको विद्या और विशेष परीक्षा से प्रत्यक्ष कर अनुक्रम से सब को ग्रहण करावें, जिस से इन लोगों के भी सब काम निश्चय करके सिद्ध होवें ॥ ८ ॥

इसका अनुष्ठान करने वाला मनुष्य किसके लिये क्या करे, इस विषय
का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

प्रातर्याव्णः सहस्कृत सोमपेयाय सन्त्य ।
इहाद्य दैव्यं जनं बर्हिरा सादया वसो ॥ ९ ॥

पदार्थ—हे (सहस्कृत) बल को सिद्ध करने (सन्त्य) जो संभजनीय क्रियाओं में कुशल विद्वानों में सज्जन (वसो) श्रेष्ठ गुणों में बसने वाले विद्वन् ! आप (इह) इस विद्या व्यवहार में

विस्तृत जल के थाह ग्रहणार्थ लोहे का साधन (दिवः) प्रकाशमान बिजुली अग्न्यादि और (इन्दवः) जलादिको आप (धिया) क्रिया के द्वारा (युञ्ज्ञे) युक्त कीजिये[१] ॥ ८ ॥

भावार्थ—कोई भी मनुष्य अग्नि आदि से चलने वाले यान अर्थात् सवारी के विना पृथिवी समुद्र और अन्तरिक्ष में सुख से आने को समर्थ नहीं हो सकता ॥ ८ ॥

फिर वे क्या करें इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

दि॒वस्क॑ण्वास॒ इन्द॑वो॒ वसु॒ सिन्धू॑नां प॒दे ।
स्वं व॒व्रिं कुह॑ धित्सथः ॥ ९ ॥

पदार्थ—हे (कण्वासः) मेधावी विद्वान् लोगो ! तुम इन कारीगरों को पूछो कि तुम लोग (सिन्धूनाम्) समुद्रों के (पदे) मार्ग में जो (दिवः) प्रकाशमान अग्नि और (इन्दवः) जल आदि हैं उन्हें और (स्वम्) अपना (वव्रिम्) सुन्दर रूप युक्त (वसु) धन (कुह) कहाँ (धित्सथः) धरने की इच्छा करते हो ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य लोग विद्वानों की शिक्षा के अनुकूल अग्नि जल के प्रयोग से युक्त यानों पर स्थित होके राज कर्म तथा व्यापार की सिद्धि के लिये समुद्रों के अन्त में जावें आवें तो बहुत उत्तमोत्तम धन को प्राप्त होवें ॥ ९ ॥

अभू॑दु भा उ॑ अं॒शवे॒ हिर॑ण्यं॒ प्रति॒ सूर्यः॑ ।
व्य॑ख्यज्जि॒ह्वयाऽसि॑तः ॥ १० ॥ [३४]

पदार्थ—हे कारीगरो ! तुम लोग जैसे (असितः) अबद्ध अर्थात् जिस का किसी के साथ बन्धन नहीं है (भाः) प्रकाशयुक्त (सूर्यः) सूर्य के (अंशवे) किरणों के विभागार्थ (जिह्वया) जीभ के समान (व्यख्यत्) प्रसिद्धता से प्रकाशमान सन्मुख (अभूत्) होता है वैसे उसी पर यान का स्थापन कर उसमें उचित स्थान में (हिरण्यम्) सुवर्णादि उत्तम पदार्थों को धरो[२] ॥ १० ॥

भावार्थ—हे सवारी पर चलने वाले मनुष्यो ! तुम दिशाओं के जानने वाले चुम्बक ध्रुव यंत्र और सूर्यादि के द्वारा दिशाओं को जान यानों को चलाओ और ठहराया भी करो जिससे भ्रान्ति में पड़कर अन्यत्र गमन न हो अर्थात् जहां जाना चाहते हो ठीक वहीं पहुँचो, भटकना न हो ॥ १० ॥

---

१. इस मन्त्र के संस्कृतपदार्थ में मन्त्रगत 'पृथु' और 'धिया' पद छूट गये हैं, हमने भाषार्थ में यथास्थान जोड़ने का प्रयत्न किया है ।

२. संस्कृत अन्वय में मन्त्रगत 'उ, उ, प्रति, वि' ये चार पद छूट गये हैं । अजमेर मुद्रित भाषा पदार्थ में 'वि' पद 'अख्यत्' के साथ जुड़ा है । शेष तीन पद अन्वय में अन्वित नहीं होते । वर्तमान संस्कृत अन्वय के अस्पष्ट तथा अधूरा होने से हमने यहां भाषा पदार्थ अजमेर मुद्रित ही रहने दिया है ।

आर्य साहित्य मण्डल लि० अजमेर

की

कुछ प्रसिद्ध पुस्तकें

(१) महर्षि जीवन चरित—स्व० श्री बाबू देवेन्द्रनाथ जी मुखोपाध्याय द्वारा संगृहीत व श्री बाबू घासीरामजी एम. ए. एल. एल. बी. मेरठ द्वारा अनूदित। दोनों भाग सजिल्द व अनेकों घटनापूर्ण चित्रों से युक्त। कवर पर महर्षि का तिरङ्गा चित्र आर्ट पेपर पर मूल्य ६) प्रति भाग, दोनों भाग १२)

(२) पातञ्जलयोगप्रदीप— ले० स्वामी ओमानन्द जी तीर्थ। इस ग्रन्थ में योग दर्शन, व्यास भाष्य, भोजवृत्ति और योगवार्तिक का भी भाषानुवाद दिया गया है। योग सम्बन्धी यह अपूर्व पुस्तक है। २०×२६=८ पेजी, पृष्ठ ८००, सजिल्द व सचित्र मूल्य १२) रु.।

(३) सन्मार्गदर्शन—ले० स्वामी सर्वेदानन्द जी महाराज। लेखक की हिन्दी में लिखी हुई यही एक मात्र पुस्तक है, शेष सभी पुस्तकें उनके व्याख्यानों तथा उपदेशों के संग्रह मात्र हैं। बुक साइज ६०० पृष्ठ सजिल्द मूल्य केवल ४) रु.।

(४) वेदांग-प्रकाश के शुद्ध संस्करण—संधिविषय ।।।), आख्यातिक ४), धातुपाठ ।≈), वर्णोच्चारण-शिक्षा ≈)।।, नामिक ।।≈), सौवर ।), पारिभाषिक आदि अन्य भाग भी छप रहे हैं।

(५) महाभारत-शिक्षा-सुधा—ले० स्वामी ब्रह्ममुनि जी। महाभारत की उत्तमोत्तम शिक्षाओं का विशद एवं मार्मिक विवेचन तथा आर्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन। सुन्दर तथा रंगीन गेट अप मू० १।।)

(६) जीवन की नींव—ले० सम्पूर्णनाथ 'हुक्कू' सेवक। तप तथा त्याग का जीवन बनाने के साधनों से युक्त। मू० २)

(७) ईश्वर क्या नहीं है? ले० रमेशचन्द्र शास्त्री। ईश्वर के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने वालों को अवश्य ही इस पुस्तक से सन्तोष होगा। प्रचार व बांटने योग्य। मूल्य केवल ≈)

(८) सत्संगयज्ञविधि—ले० धर्मेन्द्र शिवहरे—सत्संग में यज्ञ करने में पूर्ण रूप से सहायक। प्रत्येक विधि क्रम से दी गई है और मंत्रों का सरल हिन्दी में अनुवाद दिया गया है। प्रचारार्थ मू० ।–)

चारों वेद सरल हिन्दी अनुवाद सहित—सम्पूर्ण १४ जिल्दों में, मूल्य ८४)

उत्तम छपाई, बम्बई निर्णय-सागर टाईप, सफेद चिकना कागज़, डबल क्राउन १६ पेजी के सुलभ आकार में। इष्ट मित्रों के लिये पवित्र उपहार, पुस्तकालयों और घर की आलमारियों का सुन्दर भूषण, विवाहों और अन्य धार्मिक अवसरों पर देने के लिये आदर्श भेंट, छात्रों के लिये पवित्र पारितोषिक और नित्य आत्मिक आनन्द तथा उत्तम स्वाध्याय का अपूर्व साधन।

सामवेद १ जिल्द ६), अथर्ववेद ४ जिल्द २४), यजुर्वेद २ जिल्द १२), ऋग्वेद ७ जिल्द ४२), प्रत्येक जिल्द पूरे कपड़े की बंधी हुई सुनहरी अक्षरों सहित है।

अन्य पुस्तकें

यजुर्वेद मूल गुटका १।।), सामवेद गुटका १।।), आर्यपर्वपद्धति १।।), वेदोपदेश १) स्वस्थजीवन १।) युद्धनीति और अहिंसा १।), वैदिक अध्यात्मसुधा ।।≈), दयानन्दवचनामृत ।।), दयानन्दवाणी (छप रही है) धार्मिक शिक्षा भाग १ से १० भाग ५), जीवन पथ ।।), संस्कारविधि ।।।≈), खूनी इतिहास ।।।)

आर्य साहित्य मण्डल के हिस्से खरीदकर वेद प्रचार तथा आर्थिक दोनों लाभ उठावें। प्रत्येक हिस्से का मूल्य १०) रु. (पांच हिस्से से कम नहीं दिये जाते)!

विशेष विवरण तथा अन्य पुस्तकों के लिये बड़ा सूचीपत्र मुफ्त मंगावें

श्रीरामलाल कपूर ट्रस्ट का सस्ता और सुन्दर प्रकाशन

आर्य जगत् को यह जानकर महती प्रसन्नता होगी कि रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर ने अपना प्रकाशन कार्य कुछ वर्षों से पुनः पूर्ववत् भले प्रकार प्रारम्भ कर दिया है। निम्न पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं—

१—**सन्ध्योपासनविधि**—ऋषि दयानन्दकृत भाषार्थ, दैनिक हवन और भजनों के सहित। यह अब तक ३०५००० तीन लाख पाँच हजार छप चुकी है। घटाया हुआ मूल्य –)।

२—**व्यवहारभानु**—ऋषि दयानन्दकृत। बालकों को व्यवहार की उचित शिक्षा देनेवाला अपूर्व ग्रन्थ। यह ग्रन्थ प्रत्येक आर्य बालक-बालिकाओं के विद्यालयों में पाठ्य पुस्तक रखने योग्य है। मूल्य ≈)॥

३—**ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्मचरित्र**—ऋषि दयानन्द ने अमेरिका निवासी आल्काट महोदय की प्रेरणा से अपना कुछ वृत्तान्त लिखकर उन्हें भेजा था, जिसका अंग्रेजी अनुवाद उन्होंने थियोसोफिकल नामक अपने पत्र में छापा। आर्यसमाज के उद्भट विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्तजी ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। ऋषि दयानन्द के प्रसिद्धि में आने से पूर्व की घटनाओं का यही एकमात्र प्रामाणिक लेख है। मूल्य ।≈)

४—**हवन-मन्त्र**—प्रार्थना, स्वस्तिवाचन, शान्तिप्रकरण, बृहद् हवन और भजनों से युक्त। मूल्य –)

५—**आर्याभिविनय**—ऋषि दयानन्दकृत (प्रथम और द्वितीय संस्करण से मिलाकर अत्यन्त शुद्ध और सुन्दर छापा गया है। संदिग्ध स्थलों पर टिप्पणियाँ दी गई हैं)। मूल्य ।≈)

६—**आर्योद्देश्यरत्नमाला**—ऋषि दयानन्दकृत। शुद्ध, सुन्दर तथा सटिप्पण संस्करण मूल्य –)

७—**पञ्चमहायज्ञविधि**—ऋषि दयानन्दकृत। " " " " " मूल्य ≈)

८—**उरुज्योति अर्थात् वैदिक अध्यात्म-सुधा**—श्री डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल लिखित। वैदिक अध्यात्म विषयक उच्चकोटि का श्रेष्ठ ग्रन्थ। कागज छपाई श्रेष्ठ और सुन्दर। सजिल्द ३) मात्र

९—**ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास**—लेखक-युधिष्ठिर मीमांसक। ऋषिदयानन्द के सभी मुद्रित और अमुद्रित ग्रन्थों के विषय में पूर्ण जानकारी देनेवाला अपूर्व ग्रन्थ। प्रचारार्थ मूल्य में भारी कमी की गई है। घटाया हुआ मूल्य बढ़िया सं० सजिल्द ४) साधारण सं० अजिल्द ३) मात्र

१०—**अष्टाध्यायी मूल** (सूत्रपाठ) अत्यन्त शुद्ध पाठ मूल्य ।।)

११—**ऋग्वेद-भाषाभाष्य-प्रथम भाग** (जो वेदवाणी में क्रमशः छपता रहा) मूल्य ३)

१२—**वेदांक**—यह वेदवाणी के इस वर्ष का विशाल विशेषांक है। इसमें ३६ उच्चकोटि के गवेषणात्मक वेदविषयक मौलिक लेखों का संग्रह है। दूसरे शब्दों में इसे वेदविषयक ३६ ट्रेक्टों या निबन्धों का संग्रह कह सकते हैं। मूल्य १)। गत दो वर्षों के वेदाङ्क का मूल्य भी घटाकर प्रति अंक १) कर दिया है।

१३—**वेदवाणी की पुरानी फाइलें**—वर्ष २ अंक १० मूल्य २।।), वर्ष ३ अङ्क १० मूल्य २।।), वर्ष ४ अङ्क १० मूल्य ३), वर्ष ५ वेदाङ्क सहित ४), वर्ष ६ वेदाङ्क सहित ५)। थोड़ी प्रतियाँ शेष हैं, शीघ्रता करें।

डाक व्यय सबका पृथक् होगा। बड़ा सूचीपत्र बिना मूल्य मंगवावें।

रामलाल कपूर एण्ड सन्स, पेपर मर्चेण्ट

गुरु बाजार, अमृतसर। नई सड़क, देहली। बिरहाना रोड, कानपुर।

वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस ६।

संपादक, प्रकाशक व मुद्रक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, आर्य विजय प्रेस, नीचीबाग़(?), बनारस।

ओ३म्

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ७] ❀ [अङ्क ६

इस अंक के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

चैत्र २०१२, अप्रैल १९५५
दयानन्दाब्द १२०
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५५

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
बनारस.नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
,, ,, विदेश में ६)
इस अंक का ॥)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ॥) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा।

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १ तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहिएं। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सम्बन्धी धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस ६

ओ३म्

वेदवाणी

सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्वं० १, १, ४ ॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष ७ } काशी, चैत्र सं० २०१२ वि०, अप्रेल १९५५ ई० { अङ्क ६.

आर्याभिविनय से

विन्ध्यवासिनीप्रसाद अग्रवाल

सर्व जगत् का पालक ईश

पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम्। इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥

ऋ० १।१।५।२ ॥

पुरूणाम्[1]	पालन करनेवाले विश्व के छोटे बड़े सकल पदार्थों के (और)	ईशानम्[3]	स्वामी और दाता
		पुरूतमम्	अत्यन्तोत्तम और सर्वशत्रु विनाशक
वार्याणाम्[2]	अपनाने योग्य कमनीय छोटे सुख से लेकर मोक्ष-परमानन्द तक सकल सुखों के	इन्द्रम्[4]	परमैश्वर्यवान् (परमात्मा) की
		सुते[5]	(इस) उत्पन्न

अर्थबोधक टिप्पणी—

१. पिपर्त्ति पालयति पूरयति वा स पुरुः। बहुः वा। उ० १।२३
२. Blessing boon (pl) possessions (Ap)
३. ईश = ऐश्वर्ये (अदा०)
४. इन्दति परमैश्वर्यवान् भवतीति इन्द्रः। उ० २।२८
५. produced (Ap) fr सुषु = प्रसवैश्वर्ययोः (भ्वा०)

सोमे[6] ऐश्वर्ययुक्त संसार में सचा = सच[7] मिलकर स्तुति करो, हृदय से सराहना करो।

ऋषिव्याख्यान—

हे परात्पर परमात्मन् ! आप "पुरुतमम्" अत्यन्तोत्तम और सर्व शत्रु विनाशक हो तथा "पुरूणाम्" बहुविध जगत् के पदार्थों के "ईशानम्" स्वामी और उत्पादक हो। "वार्याणाम्" वर = वरणीय परमानन्द मोक्षादि पदार्थों के भी ईशान हो और "सोमे सुते सचा" उत्पत्तिस्थान हो, संसार आपसे उत्पन्न होने से प्रीतिपूर्वक "इन्द्रम्" परमैश्वर्यवान् आपको "अभिप्रगायत" हृदय में अत्यन्त प्रेम से गावें, यथावत् स्तुति करें। जिससे आपकी कृपा से हम लोगों का भी परमैश्वर्य बढ़ता जाय और परमानन्द को प्राप्त हों।

---

६. सवति ऐश्वर्यहेतुर्भवतीति सोमः। उ० १।१४०

७. सेचने सेवने (भ्वा०) समवाये (भ्वा०)

८. परात्पर = Supreme Being (Ap)

९. ईशान = स्वामी और दाता

१०. यथावत् स्तुति करें = विधिनिर्वाह से संतोष न प्राप्त करें, उसे शासक और अनिवार्य समझकर, उसकी आज्ञा, उसे प्राप्त करना, और उसके अनुकूल बनने की ठीक ठीक कामना करें।

[शेष पृष्ठ ५ का]

पदार्थ—(हे अग्ने) स्व-प्रकाश, स्वयंभू, प्रकाशस्वरूप सब जगत के रचियता, सर्वनियन्ता प्रभो (हि) जिससे तू (प्रत्नः) सब से पुराना अनादिकाल से विद्यमान (ईड्यः कम्) स्तुति योग्य उपास्य आनन्दस्वरूप प्रजापति (अध्वरेषु) अहिंसात्मक सर्वमंगल के कार्य रूप यज्ञों में स्तुति करने योग्य है, तू (नव्यः च) अति स्तुति योग्य आराध्य देव सदा नवीन (सनात् च) सनातनकाल से ही (होता) सर्व सुख दाता होकर (सत्सि) विराजता है। तू (स्वां च तन्वं) अपनी ही विस्तृत सृष्टि को (पिप्रयस्व) पालन करता है और तृप्त करता है और सबको इष्ट भोग प्रदान करता है (अस्मभ्यं च) और हमें भी (सौभगम् आयजस्व) उत्तम उत्तम ऐश्वर्य प्रदान कर।

भावार्थ—भगवान् सारी सृष्टि की रक्षा और उसका पालन पोषण करता है। वह हम उपासकों को ऐश्वर्यवान् और समर्थ करता है। भगवान् सर्व सुखदाता है, सर्व मंगलकारी है।

सर्वपूज्य की पूजा

लेखक—श्री पं० लालचन्द जी

ऋग्वेद के ८ वें मंडल का ११ वां सूक्त अग्निदेव की पूजा का आदेश स्पष्ट और आकर्षक शब्दों में दे रहा है। इस सूक्त में एक अद्वितीय परम उपास्य देवाधिदेव परमदेव स्वप्रकाश स्वयंभू ज्योतिःस्वरूप परमतेजोमय सर्वसुखदाता परमसुहृद् अग्निदेव की पूजा का वेद भगवान् आदेश देरहे हैं। इस परम-उपास्य अग्निदेव की प्रत्येक आनन्दोत्सव में तथा सभी सर्व मंगल के कामों में आराधना होनी चाहिये। वेद के श्रद्धालु जन इस सूक्त से ज्ञान श्रद्धा और प्रेम भगवान् के प्रति प्राप्त करें। इस सूक्त में केवल १० मंत्र हैं, जिनके अर्थ नीचे दिये जा रहे हैं।

परम पूज्य परमात्मा की यज्ञों में पूजा—

त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा।
त्वं यज्ञेष्वीड्यः ॥ ऋ० ८।११।१ यजु० ४।१६
अथर्व० १९।५९।१ ॥

पदपाठ—त्वं अग्ने व्रतपाः असि देवः आ मर्त्येषु आ। त्वं यज्ञेषु ईड्यः ॥

पदार्थ—(हे अग्ने) हे परमात्मन्! (त्वं) तू (व्रतापाः) व्रतपालक (असि) है (देवः) तू देव है (आ) और (मर्त्येषु) हम मनुष्यों में (आ) समाया हुआ है। (त्वं) तू (यज्ञेषु) यज्ञों में (ईड्यः) पूजनीय है।

भावार्थ—परमात्मा अपने नियमों को पाल रहा है परमात्मा ज्योतिःस्वरूप सर्वसुखदाता है और परमात्मा सभी में समाया हुआ है। (स ओतश्च प्रोतश्च विभुः प्रजासु। यजु० ३२) वह परमात्मा सभी में व्यापक है सभी में ओत प्रोत है उरोया पिरोया हुआ है (प्रजापतिः प्रजया संरराणः। यजु० ३२।५) प्रजापालक प्रभु अपनी उत्पन्न प्रजा-सन्तानों में-सभी प्राणियों में-रमण करता है, सब में विराजमान है। उस सर्व श्रेष्ठ भगवान् का प्रत्येक मंगलकार्य में प्रत्येक सत्कर्म में स्मरण करना चाहिये। प्रत्येक यज्ञरूप सर्वजन हितकारी कर्मों में भगवान् का पूजन होना चाहिये।

यज्ञों में स्तुत्य देव—

त्वमसि प्रशस्यो विदथेषु सहन्त्य।
अग्ने रथीरध्वराणाम् ॥ ऋ० ८।११।२ ॥

पदपाठ—त्वं असि प्रशस्यः विदथेषु सहन्त्य। अग्ने रथीः अध्वराणाम् ॥

अन्वय—हे अग्ने, हे सहन्त्यः, त्वं विदथेषु प्रशस्यः असि (त्वं) अध्वराणाम् रथीः ॥

पदार्थ—(हे अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप ज्योतिर्मय (हे सहन्त्य) सब के साथ व्यापक भगवन्! (त्वम्) तू (विदथेषु) सर्वहित के लिए रची गई सभी योजनाओं में, सभी यज्ञ कर्मों में (प्रशस्यः) सब से प्रशंसा करने योग्य, स्तुत्य, स्तुति के योग्य (असि) है। तू ही (अध्वराणाम्) सन्मार्गगामी जनों का (रथीः) रथ यान है। तू अहिंसक ऋताचारी जनों का तू सन्मार्ग में सहायक है।

भावार्थ—परम सखा भगवान् सन्मार्ग में चलने वालों का सहायक है, उनकी उद्देश्यपूर्ति में सहायता करता है। भगवान् सज्जनों का सुहृद् है, उनकी उन्नति में सहायक है ॥

अनुदार भाव दूर हों—

स त्वमस्मदप द्विषो युयोधि जातवेदः।
अदेवीरग्ने अरातीः ॥ ऋ० ८।११।३ ॥

पदपाठ—स त्वम् अस्मत् अप द्विषः युयोधि जातवेदः। अदेवीः अग्ने अरातीः ॥

अन्वय—हे अग्ने जातवेदः सः त्वं द्विषः अरातीः अदेवीः अस्मत् अप युयोधि ॥

पदार्थ—हे ज्योतिस्वरूप सर्वज्ञ भगवन् ! वह तू द्वेष और द्वेषियों के, अनुदार भावों और शोभा रहित मनकी प्रवृत्तियों को हम से दूर कर।

भावार्थ—प्रत्येक मनुष्य अपनी समृद्धि के अनुसार उदार रहे, तभी वह अपनी मानवता का परिचय देरहा समझा जाता है। देखा गया है कि आजकल धनवान् लोग अधिकतर कृपण होते हैं, यह भारतीय परंपरा न थी। इस देश में ऐश्वर्यवान् लोग उदार हुआ करते थे और शोभा के कार्य किया करते थे। श्री और शोभा एक साथ होने में ही शुभ है।

कुटिल मनुष्य की प्रार्थना अस्वीकृत—

अन्ति चित्सन्तमह यज्ञं मर्तस्य रिपोः।
नोप वेषि जातवेदः॥ ऋ० ८।११।४॥

पदपाठ—अन्ति चित् सन्तं अह यज्ञं मर्तस्य रिपोः। न उपवेषि जातवेदः॥

अन्वय—हे जातवेदः रिपोः मर्तस्य अन्तिचित् सन्तं अह यज्ञं न उपवेषि॥

पदार्थ—(हे जातवेदः) हे सर्वज्ञ परमात्मन् ! (रिपोः मर्तस्य) द्रोह करने वाले पापी मनुष्य के (अन्ति चित् सन्तं अह यज्ञं) अति समीप विद्यमान यज्ञ को निश्चय ही (न उपवेषि) तू स्वीकार नहीं करता।

भावार्थ—भगवान् कुटिल मनुष्य के पूजा आदर भाव वा दानरूप यज्ञ को स्वीकार नहीं करता, क्यों कि ऐसे यज्ञ में सर्व मंगल की भावना नहीं होती, केवल स्वार्थ पूर्ति के लिए ही दिखावे ही का यज्ञ का नाटक रचा जाता है। भगवान् सर्व अन्तर्यामी है, वह प्रत्येक मनुष्य के मन के भाव ठीक ठीक जानता है।

गुणकीर्तन—

मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे।
विप्रासो जातवेदसः॥ ऋ० ८।११।५॥

पदपाठ—मर्ताः अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे। विप्रासः जातवेदसः॥

अन्वय—हे जातवेदसः विप्रासः ते अमर्त्यस्य भूरि नाम मर्ताः मनामहे॥

पदार्थ—(हे जातवेदसः विप्रासः) हे सर्वज्ञ हे सर्व व्यापक सर्वैश्वर्यवन् भगवन् (ते अमर्त्यस्य) तुझ अविनाशी के (भूरि नाम) सुन्दर नामों से हम (मर्ताः) मनुष्य (मनामहे) तेरी अराधना करते हैं।

भावार्थ—अविनाशी सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी भगवान् के सुन्दर नामों का कीर्तन करने से हम उसकी अराधना करते हैं। स्तुति का मुख्य अभिप्राय भगवान् के दिव्य गुण धारण करने के लिए रुचि उत्पन्न करना है। नाम गान से उपासक उन गुणों को अपनाने का प्रयत्न करता है।

रक्षा के लिए भगवान् का स्मरण—

विप्रं विप्रासोऽवसे देवं मर्तास ऊतये।
अग्निं गीर्भिर्हवामहे॥ ऋ० ८।११।६॥

पदपाठ—विप्रं विप्रासः अवसे देवं मर्तासः ऊतये अग्निम् गीर्भिः हवामहे॥

अन्वय—(वयं) विप्रासः मर्तासः अवसे ऊतये विप्रं देवं अग्निं गीर्भिः हवामहे॥

पदार्थ—हम (विप्रासः मर्तासः) ज्ञानी विद्वान् बुद्धिमान् मनुष्य (अवसे) आत्मसंतोष के लिए, व्यापक प्रेम और ज्ञान प्राप्ति के लिये परम सुख के लिए (ऊतये) अपने संरक्षण के लिए (विप्रं) ज्ञान और ऐश्वर्य संपन्न (देवं) प्रकाशमान (अग्निं) ज्ञानस्वरूप ज्योतिर्मय तेजःस्वरूप जीवन दाता भगवान् को हम अपनी वाणियों से बुलाते हैं।

भावार्थ—उपासक का सर्वस्व उसका भगवान् है। वह भगवान् को अनेकों गुणों से स्मरण करता हुआ उसी एक अद्वितीय प्रभु की स्तुति करता है और इस प्रकार उसके निकट होता है।

भगवान् में मन की एकाग्रता—

आ ते वत्सो मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात्।
अग्ने त्वांकामया गिरा॥ ऋ० ८।११।७॥

पदपाठ—आ ते वत्सः मनः यमत् परमात् चित् सधस्थात्। अग्ने त्वांकामया गिरा॥

अन्वय—हे अग्ने! ते वत्सः परमात् चित् सधस्थात् त्वां कामया गिरा आयमत्।

पदार्थ—(हे अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! (ते) तुझे प्राप्त करने के लिए (वत्सः) तेरा पुत्र, तेरा प्रिय उपासक, (परमात् चित् सधस्थात्) परम उत्कृष्ट चित्त की स्थिति से (त्वांकामया गिरा) तुझे चाहने वाली श्रद्धा युक्त वाणी से (मनः) अपने मन को (आयमत्) सब ओर से रोके और तुझ में ही लगावे।

भावार्थ—मन को सब ओर से हटाकर भगवान् में ही लगाना चाहिये।

उत्सवों में भगवान् की आराधना—

पुरुत्रा हि सदृङ्ङसि विशो विश्वा अनु प्रभुः। समत्सु त्वा हवामहे॥ ऋ० ८।११।८॥

पदपाठ—पुरुत्रा हि सदृङ् असि विशः विश्वाः अनु प्रभुः। समत्सु त्वा हवामहे॥

अन्वय—(त्वं) पुरुत्रा सदृङ् असि विश्वाः विशः अनु प्रभु त्वा समत्सु हवामहे॥

पदार्थ—हे भगवन्! तू (पुरुत्रा) बहुत से स्थानों में भी सूर्यवत् (सदृङ् असि) एक समान सबको देखने और दिखाने वाला सर्वत्र एक रस है, तू (विश्वाः विशः अनु) सारी प्रजाओं के उद्धार अनुग्रह करने वाला (प्रभुः) सर्वोत्तम शासक स्वामी है। (त्वा) तुझ को ही (समत्सु) हर्ष के अवसरों में तथा युद्धों में (हवामहे) प्रार्थना करते हैं।

भावार्थ—भगवान् का प्रेम व्यापक है, भगवान् ही स्तुत्य उपास्य देव है।

उत्सवों में भगवान् की स्तुति—

समत्स्वग्निमवसे वाजयन्तो हवामहे।
वाजेषु चित्रराधसम्॥ ऋ० ८।११।९॥

पदपाठ—समत्सु अग्निम् अवसे वाजयन्तः हवामहे। वाजेषु चित्रराधसम्।

अन्वय—समत्सु वाजेषु चित्रराधसम् अग्निम् अवसे वाजयन्तः हवामहे।

पदार्थ—(समत्सु) एक साथ मिलकर आनन्द उत्सव मनाने के अवसरों में (वाजेषु) ऐश्वर्यों में (चित्रराधसम्) अद्भुत ऐश्वर्यवान् धन के स्वामी (अग्निम्) सर्वव्यापक ज्योतिःस्वरूप प्रभु को (अवसे) रक्षा तथा ज्ञान के लिए (वाजयन्तः) ऐश्वर्य की कामना करते हुए, हम लोग (हवामहे) पुकारते हैं, उसकी स्तुति करते हैं।

भावार्थ—आनन्दोत्सवों में तथा ऐश्वर्यों के अवसरों में अवश्य भगवान् का गुण कीर्तन करना चाहिये।

पालक पोषक प्रभु—

प्रत्नो हि कमीड्यो अध्वरेषु
सनाच्च होता नव्यश्च सत्सि।
स्वां चाग्ने तन्वं पिप्रयस्वा-
स्मभ्यं च सौभगमा यजस्व॥
ऋ० ८।११।१०॥

पदपाठ—प्रत्नः हि कम् ईड्यः अध्वरेषु
सनात् च होता नव्यः च सत्सि।
स्वां च अग्ने तन्वं पिप्रयस्व,
अस्मभ्यं च सौभगम् आयजस्व॥

अन्वय—हे अग्ने! हि प्रत्नः ईड्यः कम् अध्वरेषु नव्यः च सनात् च होता सत्सि। स्वां च तन्वं पिप्रयस्व अस्मभ्यं च सौभगम् आयजस्व॥

[शेष पृष्ठ २ पर]

*सामवेद १।१।८ तथा यजुर्वेद १२।११५ में भी यही मंत्र आया है। यजुर्वेद में और ऋग्वेद में पाठ एक सा ही है। सामवेद में अंतिम भाग है—"अग्ने त्वां कामये गिरा" "हे प्रेममय ज्योतिःस्वरूप परमात्मन् मैं अपनी वाणी से तुझे ही चाहता हूं" और इसके अनुकूल ही पहले भाग का अर्थ होगा "तेरे पुत्र मैंने अपने मन को सब ओर से रोक कर, सब ओर से हटा कर तुझमें ही लगाया है यह स्थिति चित्त की परम उत्कृष्ट स्थिति है। सब ओर से हटाकर मन को भगवान् में ही स्थिर करना एक उत्कृष्ट स्थिति है। मनुष्य में और भगवान् में आत्मीय सम्बन्ध है, इसलिए उपासक अपने आप को "ते वत्सः" "तेरा पुत्र" कहता है।

क्या अथर्ववेद जादू टोनों का वेद है ?

(ले०—श्री पं० धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड मन्त्री सार्वदेशिक धर्मार्यसभा)

[वेदाङ्क से आगे (२)]

पर्णमणि-सोमः—

अथर्व ३।५ में पर्णमणि का वर्णन है। शतपथ ६।५।१।१ के अनुसार पर्ण सोम का नाम है "सोमो वै पर्णः।

इसी सूक्त के मन्त्र ४ में कहा भी है,

सोमस्य पर्णः सह उग्रमाग-
न्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः।
तं प्रियासं बहु रोचमानो
दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥

यहाँ सोम के साथ पर्ण मणि का सम्बन्ध अति स्पष्ट है। जङ्गिड़ मणि सोम की रस क्रिया गुटिका (गोली) है और पर्ण मणि केवल पत्तों के रूप में है। ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा जिन्वत्वप्रयुच्छन्। इस मं० १ में ओषधियों के पयः अथवा रस का निर्देश भी है। इस प्रकार यह पर्णमणि सोम के पत्तों के रूप में सेवित किया हुआ आयुष्यवर्धक तथा रोगनाशक होता है।

पर्णोऽसि तनूपानः सयोनिर्वीरो वीरेण मया।
संवत्सरस्य तेजसा तेन बध्नामि त्वा मणे ॥८॥

इसमें सोम रूप पर्णमणि को तनूपानः-शरीर की रक्षा करने वाला और वीर्यवर्धक कहा है।

'एष नः संवत्सरो य एष तपति" (श० १४।१।१।१७) के अनुसार संवत्सर सूर्य है उसके तेज के निमित्त पर्णमणि (सोम) के सेवन करने का यहां विधान है।

मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद् रयिम्।
अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥ २ ॥

इत्यादि मन्त्रों से यही ज्ञात होता है कि पर्णमणि अर्थात् सोम के सेवन करने से क्षात्रबल और ज्ञानादि ऐश्वर्य की वृद्धि होती है तथा मनुष्य प्रभावशाली बनता है। ऐसा ही वैद्यक ग्रन्थों में बताया गया है।

सुश्रुत चिकित्सा स्थान २९।१९-२४ में यहां तक लिखा है कि—

ओषधीनां पतिं सोमम्, उपयुज्य विचक्षणः।
दशवर्षसहस्राणि, नवं धारयते तनुम् ॥
नाग्निर्न तोयं न विषं, न शस्त्रमस्त्रमेव च।
तस्यालमायुःक्षपणे, समर्थाश्च भवन्ति हि ॥
साङ्गोपाङ्गांश्च निखिलान्, वेदान् विन्दति तत्त्वशः ॥

अर्थात् जो ओषधियों के राजा इस सोम का सेवन करता है वह बड़ा दीर्घायु होता है। अग्नि, जल, विष, शस्त्र-अस्त्रादि का उस पर ऐसा प्रभाव नहीं होता जो उसकी आयु को नष्ट करने वाला हो, साङ्गोपाङ्ग वेदों के तत्व को वह समझने में समर्थ होता है। इत्यादि

शतवारमणि विवेचन (ऋषभक ओषधि)—

अथर्व १९।३६ में शतवारमणिका वर्णन है। मं. १ में कहा है—

शतवारो अनीनशद् यक्ष्मान् रक्षांसि तेजसा।
आरोहन् वर्चसा सह मणिर्दुर्णामचातनः ॥

अर्थात् यह शतवारमणि अपने तेज से अनेक रोगों और (रक्षांसि रक्षितव्यमस्माद्दिति रक्षः) जिनसे अपनी रक्षा करनी चाहिये ऐसे रोग कृमियों को नष्ट करता है। यह मनुष्य को तेजस्वी बनाता है।

मं० ३ में कहा है कि—

ये यक्ष्मासो अर्भका महान्तो ये च शब्दिनः।
सर्वान् दुर्णामहा मणिः शतवारो अनीनशत् ॥

अर्थात् जो छोटे रोग हैं और जो बड़े शब्द करनेवाले प्रलापादि युक्त रोग हैं, उन सबको यह शतवारमणि नष्टकर देता है।

इस शतवारमणि के आयुर्वेद के ग्रन्थों में दिये नाम का निर्देश भी इसी सूक्त के पंचम मन्त्र में है।

हिरण्यश्रृङ्ग ऋषभः, शतवारो अयं मणिः।
दुर्णाम्नः सर्वांस्तृड्ढ्वाव, रक्षांस्यक्रमीत् ॥

यहां ऋषभ शब्द का प्रयोग इसी शतवार ओषधि के लिये हुआ भी है जिसको "मनु-स्तम्भे" रोगस्तम्भक वा रोग

निवारक होने के कारण मणि के नाम से भी पुकारा गया है। इस 'ऋषभः' का विशेषण "हिरण्यशृङ्ग" दिया हुआ है जिस का अर्थ सुनहरे अग्रभाग वाला है। "शृङ्गाभ्यां रक्षो नुदते। मं. २ में भी उसके शृङ्गों का निर्देश है। ऐसी ओषधि का नाम आयुर्वेद के ग्रंथों में ऋषभ है।

राजनिघण्टु में उसके पर्यायवाची शब्द

ऋषभो गोपतिर्धीरो विषाणी दुर्धरो वृषः।
ककुद्मान् पुंगवो वोढा, शृङ्गी धुर्यश्चभूपतिः॥

विषाणी, शृङ्गी इत्यादि बताये गये हैं।

भावप्रकाश निघण्टु में उसका वर्णन करते हुए उसे बैल के सींगों के आकार वाला कहा है।

जीवकर्षकौ ज्ञेयो, हिमाद्रिशिखरोद्भवौ।
रसोनकन्दवत्कन्दौ, निस्सारौ सूक्ष्मपत्रकौ॥
जीवकः कूर्चिकाकारः, ऋषभो वृषशृङ्गवत्॥

यह ऋषभक ओषधि आजकल दुर्लभ कही जाती है किन्तु यह सर्वथा अप्राप्य नहीं है। आजकल जिसे साधारणतया सालम मिश्री कहते हैं वह ऋषभक है ऐसा दोनों के गुण, आकारादि की तुलना करने पर ज्ञात होता है।

इस सूक्त में ऋषभक रूप शतवार मणि को क्षय जैसे कठिन रोग, रक्त आदि भक्षक कृमि, गर्भ सम्बन्धी गुप्त रोग, ज्वर, दूसरी व्याधियों के नष्ट करने वाला और पुत्रोत्पादन शक्ति देने वाला बताया गया है। यही गुण वैद्यक ग्रन्थों में ऋषभक ओषधि के भी बताये गये हैं जैसे कि निघण्टु रत्न में लिखा है:—

ऋषभको मधुः शीतो गर्भसन्तानकारकः।
वृष्यः पुष्टिकरः प्रोक्तः, पित्तरक्तातिसारजित्॥
रक्तरुक् कृशतावात-ज्वरदाहक्षयापहः॥

यहां वेद की शतवार मणि के समान ही ऋषभक को गर्भ और सन्तानकारक, बलवीर्यवर्धक, रक्तविकार, ज्वर, दाह क्षयादि का नाशक कहा गया है।

इस तथा अन्य सूक्तों में जो रक्षांसि वा राक्षस, गन्धर्व, अप्सराः शब्द आये हैं, उनसे तात्पर्य भूत प्रेत, चुड़ैल आदि का नहीं, किन्तु रोगोत्पादक कृमि इत्यादि का है, इस विषय को समझ लेने की आवश्यकता है।

राक्षस कृमिः—

रक्षांसि वा राक्षसों के विषय में कौषीतकी ब्राह्मण १०।४ में लिखा है "असृग्भोजनानि ह वै रक्षांसि"॥

अर्थात् रुधिर पीने वाले कृमि राक्षस कहलाते हैं।

शत. १०।५।२।१० के अनुसार

'गन्ध इत्यप्सरस उपासते'।

अर्थात् गन्ध वाले स्थानों में रहने वाले सूक्ष्म जन्तुओं को अप्सरा कहते हैं। ये सूक्ष्म जन्तु गुलाब आदि सुगन्धियुक्त फूलों के अन्दर भी रहते हैं और फूल तोड़ते ही तुरन्त नाक से मिलाकर सूंघने से नाक के अन्दर घुसकर मस्तिष्क में रोग उत्पन्न कर देते हैं।

गन्धर्व कृमि—

रूपमिति गन्धर्वा उपासते (श० १०।५।२।२०) के अनुसार रूप का सेवन करने वाले अथवा रूप पर गिरने वाले कृमियों को गन्धर्व कहते हैं।

पिशाच कृमिः—

शब्दकल्पद्रुम में पिशाच की व्युत्पत्ति करते हुए बताया गया है कि '**पिशितं मासम् अश्नातीति पिशाचः**' वाचस्पत्य बृहदभिधान में 'पिशाच' की निरुक्ति करते हुए लिखा "**पिशितं मांसम् आचामतीति पिशाचः**"

इन व्युत्पत्तियों के अनुसार मांस को खाने वाले वा मांस को चाटने वाले कृमियों को भी पिशाच कहते हैं।

अथर्ववेद ५।२९।५ के

'यदस्य हृतं विहृतं यत्परा भृतम्
आत्मनो जग्धं यतमत् पिशाचैः।
तदग्ने विद्वान् पुनराभरा त्वं
शरीरे मांसमसुमेरयामः॥

इस मन्त्र द्वारा पिशाचों के मांस भक्षक वा मांस को चाटने वाले सूक्ष्म जन्तु वाले अर्थ की सर्वथा पुष्टि होती है क्यों कि इसमें कहा गया है कि इस मनुष्य का जो मांस पिशाचों ने चाट लिया, उखाड़ लिया, शरीर से अलग कर दिया और खा लिया उसे शरीर में अग्नि फिर भर दे—उस घाव को पूरा कर दे।

इस प्रकार ये राक्षस, अप्सरा, गन्धर्व, पिशाचादि रोगोत्पादक सूक्ष्मजन्तु वा कृमि हैं, जिनका ऋषभक ओषधि वा शतवार मणि नाश करके मनुष्य को स्वस्थ बनाती है यह स्पष्ट है। यह कोई जादू टोने से सम्बन्ध रखने वाली बात नहीं।

इसी प्रकार वरणमणि से तात्पर्य अधिकतर सूक्तों में वरण नामक वनस्पति का है, जिसे अनेक रोग नाशक होने

के कारण अथर्व १०।३ के अनेक मन्त्रों में विश्वभेषज के नाम से पुकारा गया है। मं० ३ में 'विश्वभेषज:' शब्द का इसके लिये प्रयोग है—अयं मणिर्वरणो विश्वभेषजः। मं० ८ में 'ततो नो वारयिष्यतेऽयं देवो वनस्पतिः "इत्यादि शब्दों द्वारा इसे रोग निवारक वनस्पति कहा है। मं० ११ में 'अयं मे वरण उरसि राजा देवो वनस्पतिः। स मे शत्रून् विबाधताम् इन्द्रो दस्यूनिवासुरान्॥ इन शब्दों द्वारा वरण को वनस्पति के नाम से सम्बोधित करते हुए उसे छाती में अभ्रक के समान कवच बनाकर धारण करने का निर्देश है। यह हृदय के रोग को दूर करने वाला है। मं० ५ में वरण के लिये वनस्पति शब्द का प्रयोग करते हुए उसे रोग नाशक बताया है यथा—

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः।
यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अधारयन्॥

यह सब वर्णन देखने से स्पष्ट है कि वरण नामक एक वनस्पति है जिसे लोक भाषा में वरना कहते हैं। निघण्टु रत्न में उसे वहल के नाम से भी पुकारा गया है और उसके गुण "कृमीन्, रक्तदोषं, शीर्षवातं, मूत्राघातं च हृद्-रुजम्। हृद्रोगं नाशायत्येव।" इत्यादि शब्दों में बताकर उसे रक्त दोष, मूत्रविकार, हृदय रोगादि का नाशक कहा है। इसी लिये उसे रोग-स्तम्भक होने के कारण मनु-स्तम्भे इस धात्वर्थ के अनुसार मणि कह सकते हैं। साथ ही रोग निवारण करने वाले इस वनस्पति के समान अज्ञान, भयादि का निवारण करने वाले नर मणियों को भी वरण मणि के नाम से पुकारा जा सकता है।

दर्भमणि (अभ्रक)

अथर्व १९। २८,२९,३०,३२ सूक्तों में दर्भमणि का वर्णन आया है। ३२।१ में स्पष्ट लिखा है कि "दर्भो य उग्र ओषधिः" अर्थात् दर्भ एक उग्र ओषधि है। ३२।३ में दर्भ के लिये "दिवि ते मूलमोषधे"के द्वारा ओषधि शब्द का प्रयोग हुआ है। ३२।१० में उसे ओषधियों में श्रेष्ठ और रक्षक कहा है।

सपत्नहा शतकाण्डः सहस्वान् ओषधीनां प्रथमः संबभूव। स नोऽयं दर्भः परिपातु विश्वतः॥

इस प्रकार इसका ओषधिरूप होना स्पष्ट है। यह दर्भ शब्द यहां घास या कुशा का वाचक नहीं यह भी स्पष्ट है। यह 'दृदलिभ्यां भः। (उणादि कोष ३।१५१) से सिद्ध होता है और रोगों तथा शत्रुओं को छिन्न-भिन्न करने वाले किसी वज्र रूप वस्तु के लिये प्रयुक्त है। राजनिघण्टु व० २३ में दर्भ को वज्र का वाचक कहा ही है 'दर्भे च कुशिके वज्रम्।' अभ्रक को भी वज्र के नाम से कहते हैं। "नीलाभ्रं दर्दुरो नागः, पिनाको वज्र इत्यपि॥" (राजनिघण्टु व० १३) इस लिये दर्भ शब्द इन सूक्तों में अधिकतर वज्र का वाचक है जिसके गुण आयुर्वेद में इन सूक्तों में वर्णित गुणों के साथ अद्भुत साम्य रखते हैं। उदाहरणार्थ

(क) अ० १९।२८।१ में दर्भ के विषय में लिखा है:—

इमं बध्नामि ते मणिं दीर्घायुत्वाय तेजसे।

भावप्रकाश निघण्टु में भी अभ्रक को

'अभ्रं कषायं मधुरं सुशीतम्, आयुःकरं धातु-विवर्धनं च। *इत्यादि द्वारा आयुर्वर्धक बताया गया है।*

(ख) अथर्व १९।३३।४ में दर्भ के विषय में लिखा है

'बध्नामि तेजसे स्वस्तये।'

भावप्रकाश निघण्टु में अभ्रक के विषय में इसी प्रकार लिखा है कि 'दृढयति वपुः' अर्थात् अभ्रक शरीर को दृढ़ बनाता है।

(ग) १९।३२।१ में दर्भ के विषय में कहा है।

'सहस्रपर्ण उत्तिरः' सहस्रों पत्तों वाला यही बात शालिग्राम निघण्टु में अभ्रक के विषय में लिखा है कि अभ्रकम्......अब्दं व्योमघनं शुभ्रं, बहुपत्रं घना-ह्वम्। बहुपत्र शब्द सहस्रपर्ण का ही अनुवाद है।

(घ) अथर्व १९।३२।७ में कहा है—

'दर्भेण देव जातेन दिविष्टम्भेन शश्वदित्।'

यहा इसे द्युलोक में स्तम्भित अर्थात् लटका हुआ कहा गया है। यही बात भावप्रकाश निघण्टु के अभ्रक विषयक वर्णन में है कि—

"गगनात् स्खलितं यस्माद् गगनं च ततो मतम्।"

ऐसे ही अन्य अनेक विषयों में समानता है जिससे स्पष्टतया ज्ञात होता है कि वैदिक दर्भ शब्द भौतिक दृष्टि से आयुर्वे-दोक्त अभ्रक का वाचक है जिसके कवच रूप में धारण करने जहाजों में कांच के स्थान पर इसे लगाने तथा स्वयं वज्र रूप होने से अस्त्र शस्त्रों के मसाले में पड़ने से यह संग्रामादि में विशेष रूप से उपयोगी हो सकता है।

भावप्रकाश निघण्टु में दर्दुर जाति के अभ्रक के विषय में लिखा है कि 'दर्दुरं त्वग्निनिक्षिप्तं कुरुते दर्दुरध्वनिम्। गोलकान् बहुशः कृत्वा, स स्यान्मृत्युप्रदायकः ॥"

अर्थात् यह दर्दुर जाति का अभ्रक अग्नि में डालने से गड़गड़ाहट की ध्वनि पैदा करता है और बहुत से गोले बनाकर मृत्यु का कारण बन सकता है।

ऐसी अवस्था में इस अभ्रक को संग्रामों में विशेष उपयोगी बताना तथा उसके बने कवचों को धारण करना सर्वथा उचित ही है।

इसी प्रकार अ० १९।३१ में वर्णित औदुम्बर मणि गूलर समूह सूचक, काल मणि—कृषि वाचक तथा अमृत मणि व्याघ्रनखजड़ित शस्त्र व्याघ्रनखादि का वाचक है ऐसा विवेचन करने से ज्ञात होता है किन्तु लेख विस्तार भय से हम मणिबन्धन के इस प्रकरण को यहीं समाप्त करना उचित समझते हैं।

जिन मणियों के धारण का भी वर्णन है वह शरीर रक्षा और आरोग्य की दृष्टि से है जैसे कि सुश्रुत सूत्रस्थान अ० ४६ सुवर्णादि वर्ग में कहा है :—

मुक्ता विद्रुम वज्रेन्द्र-वैडूर्यस्फटिकादयः।
चक्षुष्या मणयः शीता लेखना विषसूदनाः।
पवित्रा धारणीयाश्च, पापलक्ष्मीमलापहा ॥

अर्थात् मोती, मूंगा, हीरा, वैडूर्य, स्फटिक आदि मणियों को इस लिये धारण करना चाहिये कि वे नेत्र शक्ति वर्धक, शीतल, मन में पवित्रता लाने वाली, अशोभा को हटाने वाली, शोभा को बढ़ाने वाली और विष को दूर करने वाली हैं।

इस प्रकार इनमें भी जादू टोने जैसी अन्धविश्वास मूलक कोई बात नहीं, यह स्पष्ट है। 'कृत्या और अभिचार' पर हम अगले लेख में विचार करेंगे ॥

(क्रमशः)

वैदिक शब्दों की व्याख्या वेद स्वयं करता है

[लेखक—मास्टर मातुराम जी आर्य, गवर्नमेंट पैंशनर, रोहतक]

महर्षि स्वामी दयानन्दजी सरस्वती से पहिले और उनके समय में अनेक परदेशीय विद्वानों ने वैदिक भाषा का पूर्ण ज्ञान न होने के कारण से वेदों के अनुवाद अशुद्ध किये। यह जानकर श्री स्वामीजी महाराज ने यह आवश्यकता अनुभव की कि अत्युत्तम और शुद्ध अनुवाद प्राचीन शैली को ध्यान में रखते हुये किया जाय। अनेक भिन्न बुद्धि वालों ने कह डाला कि उक्त महर्षि की गति स्वच्छन्द रही है। उसके समय के भारतीय पण्डितों ने भी कह डाला कि ये तो वेदों के नवीन अर्थ कर गये जो कि मध्यकालीन विद्वानों से कहीं भी मेल नहीं खाते। मैंने सन् ई० १९३० से विशेष रूप से और १९२१ से साधारण दृष्टि से श्री स्वामीजी महाराज के दृष्टिकोण को जांचा है और वेदों का स्वाध्याय भी किया है। उसी के आधार पर मैं यह बताना चाहता हूं कि वेदों की स्वयं बताई गई धारा और व्याख्या को महर्षि ने पूर्णरूप से ध्यान में रखा है और संसार के उपकार के लिये भाष्यों को लिखकर सही दृष्टिकोण प्रकट किया।

अग्नि

यूरोपियन विद्वानों ने ऋग्वेद के 'अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम् (प्रथम सू० १ मंत्र १) में आये हुये शब्द 'अग्नि' को देखकर कह दिया था कि वेद तो अग्नि = आग जड़ की पूजा को सिखाते हैं। इसीलिये भारत की जनता मूर्ति जड़ की पुजारी रही है। परन्तु यह बहुत हीन पक्ष संसार के सामने भारतीयों को अविद्वान् बताने के लिये प्रस्तुत किया। श्री स्वामी जी महामहाराज ने डंके की चोट बताया कि 'अग्नि' चेतन, विद्वान्, ऋषि इत्यादि को भी कहते है। भौतिक पक्ष में अर्थ अग्नि भी होता है परन्तु यह पदार्थ विद्या की दृष्टि से बताया गया है। देखियेगा वेद स्पष्ट बताता है कि:—

(१) अग्निरिद्धि प्रचेता अग्निर्वेधस्तम ऋषिः।
अग्निं होतारमीडते यज्ञेषु मनुषो विशः ॥
(ऋ० ६।१४।२)

अर्थात् (अग्निः इत् हि) वह अग्नि ही है जो

(प्रचेताः) ज्ञानी है (अग्निः) अग्नि वह है जो (ऋषिः) सत्य का साक्षात्कार कर्त्ता और (वेधस्तमः) सबसे अधिक बुद्धिमान् है।

(२) स इदग्निः कण्वतमः कण्वसखा यः परस्यान्तरस्य तरुषः। अग्निः पातु गृणतो अग्निः सूरीनग्निर्ददातु तेषामवो नः। (ऋ० १०।११५।५)

अर्थात् (सः इत्) वह ही (अग्निः) ज्ञान प्रकाशक (कण्वतमः) मनसे अधिक बुद्धिमान् (कण्वसखा) विद्वान् मित्र (परस्य अन्तरस्य तरुषः) दूर और निकट में तारने पार करने वाला है। (अग्निः) ज्ञानी (गृणतः) स्तुति करने वालों की (पातु) रक्षा करे।

(३) कविमग्निमुप स्तुहि (ऋ० १।१२।७)

अर्थात् (कविम्) मेधावी, क्रान्तदर्शी (अग्निम्) ज्ञान स्वरूप, प्रकाशक की (स्तुहि) स्तुति कर।

(४) अग्निर्होता कविक्रतुः (ऋ० १।१।५)

अर्थात् (अग्निः) ज्ञानवान् प्रकाशक (होता) दाता और ग्रहीता (कविक्रतुः) मेधावी क्रियावान् है।

(५) तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

(यजुः ३२।१)

अर्थात् (तत्) वह सर्वज्ञ सच्चिदानन्दस्वरूप कर्त्ता (एव) ही (अग्निः) ज्ञानस्वरूप (तत्) वह (आदित्यः) आदित्य = ग्रहीता (तत्) वह (वायुः) अनन्त बलवान् (तत्) वह (चन्द्रमाः) आनन्दकारक (तत् एव) वही (शुक्रं) शुद्धभाव से शीघ्रकारी (तत्) वह (ब्रह्म) महान् होने से ब्रह्म (ताः) वह (आपः) सर्वगत (उ) और (सः) वह (प्रजापतिः) जीवों तथा अधीनस्थों का पालक है।

इन्द्र

वेद विरोधियों ने 'इन्द्र' को वर्षादाता सूर्य बताकर कह दिया कि वेद वाले तो प्रकृति के ही पुजारी हैं, वह आत्मिकज्ञान से शून्य हैं। परन्तु 'इन्द्र' के अनेक अर्थ स्वयं वेद बताते हैं:—

(१) इन्द्रो ब्रह्मेन्द्र ऋषिरिन्द्रः पुरू पुरुहूतः। महान्महीभिः शचीभिः॥ (ऋ० ८।१६।७)

अर्थात्—(इन्द्रः ब्रह्मा) चारों वेदवेत्ता ज्ञानी, (ऋषिः इन्द्रः) तत्त्वदर्शी, (पुरुहूतः) बहुतों से पुकारा गया तथा सत्कृत (महीभिः शचीभिः) बड़ी शक्तियों करके (महान्) बड़ा है (पुरु) अनेक प्रकार से है।—यहां पर नाना प्रकार के 'इन्द्र' सब चेतन हैं।

(२) यो नो दाता वसूनामिन्द्रं तं हूमहे वयम्। (ऋ० ८।२१।५)

अर्थात्—(यः) जो (नः) हम (वसूनां दाता) समस्त जीवों का, ऐश्वर्यों और लोकों का देनेवाला है (तं इन्द्रं हूमहे वयम्) उसी इन्द्र को पुकारते, प्रार्थना करते हैं।

(३) त्वमाज्ञाता त्वमिन्द्रासि दाता। (ऋ० १०।४५।५)

अर्थात्—(त्वम्) हे शासक तू (आज्ञाता) आज्ञा देनेवाला (त्वम्) तू (दाता) ऐश्वर्य, धन, रक्षा (दाता) देने हारा (असि) है। जड़ (ज्ञानरहित) आज्ञा नहीं दे सकता।

(४) वोचेमेदिन्द्रं मघवानमेनं महो रायो राधसो यद्दन्नः। यो अर्चतो ब्रह्मकृतिमविष्ठो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ (ऋ० ७।२८।५)

अर्थ—(यत्) जो (महः रायः) बड़े ऐश्वर्य, धन, बल, जन, ज्ञान, स्वराज्य, मोक्ष (नः) हमें (ददत्) देता है (एनं मघवानम्) ऐसे ऐश्वर्ययुक्त को हम (इन्द्रम् इत् वोचेम) इन्द्र ही नाम से पुकारते हैं। (यः) जो (अर्चतः) अपने सत्कार करनेवालों को (ब्रह्मकृतिम्) वेद प्रकृति सम्बन्धी साधनों का दाता (अविष्ठः) परम रक्षक है। आप हमें उत्तम उपायों द्वारा पालन करो।

(५) वि यो ररप्श ऋषिभिर्नवेभिर्वृक्षो न पक्वः सृण्यो न जेता। मर्यो न योषामभि मन्यमानोऽच्छा विवक्मि पुरुहूतमिन्द्रम्। (ऋ० ४।२०।५)

अर्थ—(यः) जो (नवेभिः ऋषिभिः) नये तत्त्वदर्शी ज्ञानी द्वारा (ररप्शे) वर्णन किया जाता है जो (पक्वः वृक्षः न) पके पेड़ की नाईं (सृण्यः जेता न) तेजी से चलकर जीतनेवाले के समान (योषां न) युवावस्थावाली स्त्री को (अभिमन्यमानः) प्यारी माननेवाले (मर्यः न) मनुष्य के तुल्य अपनी प्रजा को मानता हो, उस (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् (पुरुहूतम्) अनेकों से स्तुत्य को (अच्छ विवक्मि) कहता हूं।

(६) तमिद्ध इन्द्रं सुहवं हुवेम यस्ता चकार नर्या पुरूणि। यो मावते जरित्रे गध्यं चिन्मक्षू वाजं भरति स्पार्हराधाः। (ऋ० ४।१६।१६)

अर्थ—(यः) जो (ता) उन प्रकारों के (पुरूणि) अनेक (नर्या) मनुष्यों की भलाई के लिये (चकार) करता है उस (सुहवम्) अच्छे प्रकार से बुलाये जानेवाले को (इत्) ही (इन्द्रम्) इन्द्र (हुवेम) हम कहें (यः) जो (मावते जरित्रे) मेरे जैसे स्तुति करनेवाले को (गध्यं चित्) ग्रहण करने योग्य (वाजं) ऐश्वर्य, अन्न (चित्) भी (मक्षू) शीघ्र ही (भरति) पालन करता है वह (स्पार्हराधाः) चाहने योग्य धनों का स्वामी इन्द्र होता है।

(६) गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा । इमं स जाता अनुवीरयध्वमिन्द्रं सखायो अनु संरभध्वम् । (ऋ० १०।१०।३६, यजु० १७।३८)

अर्थ—(सजाताः सखायः) एक स्थान व समय में होनेवाले सहयोगियो ! आप (गोत्रभिदम्) शत्रुवंश, पर्वत नाशक (गोविदम्) भूमि, वाणी, इन्द्रिय बल प्राप्त कर्ता (वज्रबाहुम्) बल, शस्त्रधारी भुजाओंवाले (अज्म जयन्तम्) रण युद्ध विजेता (ओजसा) पराक्रम से (प्रमृणन्तम्) नाशक (इमम् इन्द्रम्) इस सेनापति को (अनुवीरयध्वम्) अनुसरण करके वीर बनाओ (अनु संरभध्वम्) युद्ध आरंभ करो।—यहां चक्रवर्ती राजा का वर्णन है।

(७) त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवे हवे सुहवं शूरमिन्द्रम् । ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः (ऋ० ६।४७।११, यजु: २०।५०)

अर्थ—(त्रातारम्) रक्षक = परमैश्वर्य युक्त (अवितारम्) कष्टहारी को इन्द्र (शूरम्) वीर शत्रुहन्ता को (इन्द्रम्) सेना के स्वामी को (सुहवम्) भले पुकारे हुए को (हवे हवे) प्रति संग्राम में (ह्वयामि) पुकारता हूं और (शक्रम्) बलवान् (पुरुहूतम्) बहुतों से पुकारे गये (इन्द्रम्) प्रभु को मैं इन्द्र नाम से ही कहता हूँ (मघवा) धनयुक्त (इन्द्रः) धन, दक्षिणा, अभय देने वाले पुरुष (नः स्वस्ति धातु) हम को सुख, शांति, कल्याण देवे।

(८) विदे तदिन्द्रश्चेतनम् (ऋ० ८।६२।६)

(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् प्रभु (तत् चेतनम्) उस चेतन जीव को (विदे) जानता व शरीर में प्राप्त कराता है।

इत्यादि उदाहरणों से स्वयं वेद ने कितने प्रकार के राजा, ऐश्वर्य, धन, बल, शासक आदि लक्षणों वालों को इन्द्र नाम से स्पष्ट कर दिया। यह है वेद की महिमा और अर्थ गौरव।

सविता

'सविता' साधारण संस्कृत भाषा में सूर्य के लिये प्रयुक्त होता है। इसी से वैदिक भाषा से अनभिज्ञ होने से झट यूरोपियन विद्वानों ने कह डाला कि भारतवर्ष के आर्य लोग जड़ सूर्य के पुजारी थे, अध्यात्मवादी नहीं थे परन्तु वेद माता, गुरु मन्त्र, सावित्री, गायत्रीः—'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्' (ऋ०३।६२।१०, यजुः २२।९,३६।३; साम उत्तरार्चिक अ० १३। खं० ४ सू० १० मन्त्र १) में 'सविता' = चेतन जगत् रचयिता, सच्चिदानन्द, नित्यमुक्त, कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता सर्वव्यापक के लिये आया है। देखियेगाः—

(१) सवितारमुपह्वये स चेत्ता देवता पदम् (यजु० २२।१०)

अर्थ—(सवितारम्) उस जगत् रचयिता को (उपह्वये) मैं ध्यान में लाता हूँ (सः) वह (चेत्ता) ज्ञानी, चेतन शक्ति (देवता) उपासना योग्य है।

(२) उत यासि सवितस्त्रीणि रोचनोत सूर्यस्य रश्मिभिः समुच्यसि। उत रात्रीमुभयतः परीयस उत मित्रो भवसि देव धर्मभिः॥ (ऋ० ५।८१।४)

अर्थ—(उत) और (सवितः) हे जगदोत्पादक परमात्मन्! (त्रीणि रोचना) तीन प्रकाशमानों—अग्नि, सूर्य, विद्युत् में तू (यासि) व्याप्त है। तू (सूर्यस्य) जड़ सूर्य की (रश्मिभिः) किरणों के साथ भी (समुच्यसि) विद्यमान है तू ही (रात्री) ब्रह्म रात्री को (उभयतः परीयसे) दोनों ओर से व्याप्त है अर्थात् प्रलय से पूर्व तथा पश्चात् तू रहता है (उत) और (देव) दाता (धर्मभिः) धारक व्रत, नियम, बलों के द्वारा (मित्रः भवसि) स्नेही, मृत्यु से बचाने वाला होता है।—यह वेद मन्त्र 'सूर्य' से 'सविता' की सर्वथा भिन्न सत्ता मानता है।

(३) 'यः···प्र च सुवाति सविता' (ऋ० ५।८२।९) में स्पष्ट कर दिया कि (यः) जो (सविता) स्रष्टा जगदुत्पादक भगवान् है वह (प्र सुवाति) उत्तम रीति से जन्म दाता है।

(४) 'यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देवः सविता महित्वना' (ऋ० ५।८१।३)—

(यः) जो (एतशः) वह सर्वव्यापक (देवः) उपास्य देव (पार्थिवानि) पृथिवी, लोक लोकान्तरों के पदार्थों को और (रजांसि) भुवनों को (वि ममे) बनाता है (सः)

वह सृष्टिरचयिता (सविता) निर्माता भगवान् (महित्वना) अपने बल सामर्थ्य सहित विद्यमान रहता है।

भर्ग

'भर्गः' यह सर्वोपास्य पापनाशक देव का सूचक है, यथाः—**भर्गो ह नामोत यस्य देवाः स्वर्ण ये त्रिषधस्थे निषेदुः। अग्निर्ह नामोत जातवेदाः श्रुधी नो होतर्ऋतस्य होताध्रुक्** ॥ (ऋ० १०।६१।१४)

अर्थ—(ये) जो (देवाः) प्रकाशयुक्त संसार के उपकारक जड़ और चेतन (त्रिषधस्थे) तीनों लोकों में हैं वे (यस्य निषेदुः) जिसके आश्रय पर हैं वह (स्वः न) अन्धकाररहित प्रकाशक ज्योतिष्मान् (भर्गः ह नाम) पाप भस्म कर्त्ता नाम वाला है वह (अग्निः ह नाम) ज्ञानस्वरूप नामी है और (जातवेदाः) उत्पन्न पदार्थों को जानने वाला वर्तमान है। इत्यादि। जगदीश की अनेक प्रकार की शक्तियां हैं उन ही गुणों की दृष्टि से उसके विभिन्न नाम हैं, परन्तु सत्ता एक है। इस बात का ज्ञान भी वेद द्वारा मिलता है, यह इस प्रकार स्पष्ट होता है कि—**इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः** ॥ (ऋ० १।१६४।४६)

अर्थ—(विप्राः) विद्वान् लोग (एकम्) एक ही (सत्) सत्ता को बहुधा = अनेक ढंग से (वदन्ति) कहते हैं (इन्द्रं मित्रं वरुणं अग्निम् आहुः) परमेश्वर ऐश्वर्यवान् होने से इन्द्र, मृत्यु से बचाने हारा होने से मित्र, दुःख निवारक = वरण करने योग्य होने से वरुण, ज्ञानवान् होने से अग्नि कहा जाता है। (अथ) और (सः) वही परमात्मा (दिव्यः) शुद्ध तेज-स्वरूप (सुपर्णः) पालक (गरुत्मान्) महान् है। (यमं) वशी = जड़ परमाणुओं और चेतन जीवों तक को अपनी अध्यक्षता में चलाने हारा, (मातरिश्वानम्) संचालक = गतिदाता होने से ऐसा पुकारा जाता है। इन उपरोक्त शक्तियों में कुछ एक पुरुष और दूसरी स्त्री की भांति पुकारी जाती हैं। इसी लिये वेद ने स्पष्ट किया कि—**स्त्रियः सतीस्तां उ मे पुंस आहुः** (ऋ० १।१६४।१६)—(स्त्रियः सतीः) जो शक्तियां होती हैं (मे) मुझ परमेश्वर की जब गुणों की दृष्टि से देखे जाते हैं तो उनकी विद्वान् लोग (पुंसः आहुः) पुरुष रूप से पुकारते हैं।

जातवेदाः

(१) **अग्निर्होता गृहपतिः'''स प्र यजतामृतावा** (ऋ० ६।१५।१३)

अर्थ—(यः) जो (देवानाम्) प्रकाश, ज्योतिष्मान्, उपकरणों (मर्त्यानां) मरण शीलों प्राणियों को (विश्वा) सब (जनिमा) उत्पत्ति के भेद को (वेद) जानता है (सः) वही (जातवेदाः) समस्त उत्पन्न पदार्थों को जानने हारा है।

(२) **अग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः** । (ऋ० ३।२६।७)

अर्थ—(जातवेदाः) ज्ञानी और ऐश्वर्यवान् (जन्मना) स्वभाव से ही (अग्निः) अग्रसर, प्रकाश युक्त, ज्ञानी, नेता (अस्मि) मैं हूँ।

सुपर्ण

यह सुपर्ण = उत्तम रूप से जगत् पालक ईश्वर का ही नाम है यथाः—

(१) **एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे। तं पाकेन मनसा पश्यमन्तितस्तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम्** ॥ (ऋ० १०।११४।४)

अर्थ—(एकः सुपर्णः) अकेला अद्वितीय पूर्ण पालन कर्त्ता (सः) वह परमेश्वर (समुद्रम्) आकाश में (आ विवेश) प्रविष्ट है (सः इदम् विश्वं भुवनम्) वही सारे जगत् को (विचष्टे) विशेष रूप से देखता है। (तं) उसको (पाकेन मनसा) तपस्वी, निरन्तर विचारनिष्ठ मन से (अन्तितः) निकटतम से (अपश्यम्) देखूं। (तम्) उस परमात्मा को (माता) ज्ञानवान् पुरुष ही (रेळ्हि) चखता है (सः) वह प्रभु (मातरम्) इस ज्ञानी पुरुष को (उ) भी (रेळ्हि) प्राप्त होता है।

(२) **सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति** । (ऋ० १०।११४।५)

अर्थ—(कवयः) बुद्धिमान (एकम्) एक अद्वितीय (सुपर्णम्) प्रतिपालक प्रभु को ही (बहुधा) अनेक प्रकारों से (कल्पयन्ति) वर्णन करते हैं (यथा ऋ० १।१६४।४६ ।)

मित्र

'मित्र' का लक्षण वेद यूं कहता है—

'**मित्रो जनान्यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्। मित्रः कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत**' (ऋ० ३।५९।१)।

अर्थ—(मित्रः) प्रेम से रक्षक जो हो वह (जनान्) सब मनुष्यों को (ब्रुवाणः) हित की बात बताते हुए (यातयति) दूसरों से यत्न, पुरुषार्थ प्रेरक बन कर करवाता है। वह (मित्रः) सर्वस्नेही परमेश्वर (पृथिवीम् उत द्याम्) भूमि और आकाश को (दाधार) धारण करता है। (मित्रः) वह मित्र (कृष्टीः) प्रजा को (अनिमिषा)

लगातार, निरन्तर (अभि चष्टे) देखता है (मित्राय) ऐसे प्रभु के लिये = नाम पर (घृतवत् हव्यम्) ग्राह्य पदार्थ (जुहोत) प्रदान करो । —निःस्वार्थ भाव से प्राणियों तक पहुंचाओ ।

सुक्रतु

'सुक्रतु' इसका लक्षण:—

(१) स सुक्रतुर्यो वि दुरः पणीनां पुनानो अर्कं पुरुभोजसं नः । होता मन्द्रो विशां दमूनास्तिरस्तमो ददृशे राम्याणाम् । (ऋ० ७।९।२)

अर्थ—(यः) जो (दमूनः) जितेन्द्र (होता) दाता (मन्द्रः) आनन्ददायक (नः) हमारे (पुरुभोजसं) अनेक पदार्थों वा ऐश्वर्यों को भोगनेवाले (अर्कं) पूज्य को (विपुनानः) शुद्ध करता हुआ (पणीनां) व्यापारी जनों के (दुरः) नाना मार्गों द्वारा (राम्याणाम्) रमण करने योग्य (विशां तमः तिरः ददृशे) प्रजाओं के अज्ञान, अविद्या को दूर करके स्वयं तेजस्वी दीखता है (सः सुक्रतुः) वही शुभ कर्मा श्रेष्ठ बुद्धिमान् है ।

(२) स सुक्रतुर्ऋतचिदस्तु होता य आदित्य शवसा वां नमस्वान् । (ऋ० ७।८५।४)

अर्थ—(आदित्य) हे अदिति जनो ! (यः) जो (होता) दानशील पुरुष (शवसा) अपने बल बुद्धि से (नमस्वान्) सत्कार युक्त होता है (सः) वह (सुक्रतुः) शुभ कर्म करने हारा (ऋत चित् अस्तु) सत्य ज्ञान और पुण्य ज्ञान को उपार्जन करनेवाला हो ।

(३) स सुक्रतू रणिता यः सुतेष्वनुत्तमन्युर्यो अहेव रेवान् । य एक इन्नर्यपांसि कर्ता स वृत्रहा प्रतीदन्यमाहुः । (ऋ० ८।९६।१९)

अर्थ—(सः सुक्रतुः) वह उत्तम ज्ञानी और कर्मी है (यः) जो (सुतेषु) उत्पन्न पदार्थों और ऐश्वर्यादि अभिषेक कर्मों में (रणिता) रमने हारा और रण कुशल है (यः) जो (अहा इव रेवान्) दिन सा प्रकाश युक्त, धनपति (अनुत्त-मन्युः) दण्डनीयों को दण्ड देनेवाले क्रोध से युक्त (यः एक इत्) जो एकला ही (नर्यपांसि कर्ता) नेता बनकर कर्मों का कर्ता है (सः) वह (वृत्रहा) विघ्न बाधा नाशक है उसको ही (अन्यं प्रति इत् आहुः) दूसरे = अमित्र के प्रति बलवान् कहते हैं ।

सुप्रजाः

वेद में इसका लक्षण इस प्रकार किया है कि:—

(१) य इन्दोः पवमानस्यानु धामान्यक्रमीत् । तमाहुः सुप्रजा इति । (ऋ० ९।११४।१)

अर्थ—(यः) जो (इन्दोः) ऐश्वर्यशाली (पवमानस्य) पवित्र ईश्वर के (धामानि) स्थान, नाम, जन्म-जाति का (अक्रमीत्) अनुगमन करता है (तत्) उसको (सुप्रजाः इति) उत्तम प्रजा (आहुः) कहते हैं ।

विप्र

(१) विप्रा ऋतस्य वाहसा । (ऋ० ८।६।२)

अर्थ—(विप्राः) विद्वान् बुद्धिमान् (ऋतस्य) निर्भ्रान्त ज्ञान को (वाहसा) धारण करनेवाले होते हैं ।

(२) विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः । (ऋ० १०।९७।६)

अर्थ—(रक्षोहा) पीडादायक दुष्ट पुरुषों के नाशक वत् (अमीव-चातनः) रोगों का नाश करता है (सः) वह (विप्रः) विद्वान् पुरुष (भिषक्) वैद्य (उच्यते) कहा जाता है ।

तुरीय

'तुरीय'—

(१) आत्मा पितुस्तनूर्वास ओजोदा अभ्यञ्जनम् । तुरीयमिद्रोहितस्य पाकस्थामानं भोजं दातारमब्रवम् । (ऋ० ८।३।२४)

अर्थ—(रोहितस्य) तेजस्वी जीव को (दातारम्) देनेवाले (पाकस्थामानम्) दृढ़ बलशाली (भोजम्) पालक, भोग करानेवाले परमेश्वर को ही (तुरीयम् इत् अब्रवम्) तुरीय = चतुर्थ परम पद के नाम से कहता हूं ।

(२) तुरीयं नाम यज्ञियं यदा करस्तदुश्मसि । आदित्पतिर्न ओहसे ॥ (ऋ० ८।८०।९)

अर्थ—(यदा) जिस समय (तुरीयम्) चतुर्थ-सर्वश्रेष्ठ (यज्ञियम्) पूज्य (नाम) स्वरूप को (करः) साक्षात् करता है तब (तत्) इसी परम स्वरूप की (उश्मसि) हम कामना करते हैं । (आत् इत्) अनन्तर ही तू (नः पतिः) हमारा पालक होकर हमें (ओहसे) अपने में ले लेता है ।

(३) कदा चन प्रयुच्छस्युभे नि पासि जन्मनी । तुरीयादित्य हवनं त इन्द्रियमा तस्थावमृतं दिवि (ऋ० ८।५२।७)

अर्थ—तू (कदाचन प्रयुच्छसि) कदापि आलस्य नहीं करता है (उभे जन्मनी) दोनों वर्तमान् तथा दूसरे लोकों का (निपासि) पालन करता है । हे (तुरीय) जाग्रत, स्वप्न तथा समाधिस्थ अवस्थाओं से परे चतुर्थ असंग, अमात्र, शुद्ध चेतन अवस्थावाले (आदित्य) अखण्ड नित्य एक रस स्वरूप प्रभु ! (ते) तेरा (हवनं इन्द्रियम्) अपने से अलग दे देने योग्य ऐश्वर्य है जो (दिवि) प्रकाशयुक्त बन्धन रहित अवस्था में (अमृतम्) अमृत स्वरूप (आ तस्थौ) विद्यमान है ।

सत्यार्थप्रकाश-भाष्य

(ले०—श्री पं० शिवपूजनसिंह जी कुशवाहा 'पथिक', विद्यावाचस्पति, साहित्यालंकार, कानपुर)

(गताङ्क से आगे)

वृत्र कौन है? वृत्र नाम मेघ का है इसी को ऐतिहासिक लोग त्वष्टा का पुत्र वृत्र नाम असुर कहते हैं।

अतः अथर्ववेद में आये हुये इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा, नाराशंसी शब्दों से मन्त्र विशेष का वर्णन है न कि भागवतादि कल्पित १८ पुराणों का। आधुनिक पुराण लक्षण से वाराह, वामन, स्कन्द, नारदीय, ब्रह्मवैवर्त ये पाँच पुराण तो पुराणकोटि में आयेंगे ही नहीं, क्योंकि इनमें राजवंशावली नहीं है।

महर्षि दयानन्द जी की स्पष्टोक्तिः—

"पुराण—जो प्राचीन ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि ऋषि, मुनि कृत सत्यार्थ पुस्तक हैं, उन्हीं को पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशंसी कहते हैं।"[1]

"(प्रश्न) क्या स्त्री और शूद्र भी वेद पढ़ें? जो ये पढ़ेंगे तो हम फिर क्या करेंगे? और इनके पढ़ने में प्रमाण भी नहीं है जैसा यह निषेध है—

स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामितिश्रुतेः॥

स्त्री और शूद्र न पढ़ें यह श्रुति है।

(उत्तर) सब स्त्री और पुरुष अर्थात् मनुष्यमात्र को पढ़ने का अधिकार है। तुम कुआँ में पड़ो और यह श्रुति तुम्हारी कपोल कल्पना से हुई है। किसी प्रामाणिक ग्रन्थ की नहीं। और सब मनुष्यों के वेदादि शास्त्र पढ़ने सुनने के अधिकार का प्रमाण यजुर्वेद के छब्बीसवें अध्याय में दूसरा मन्त्र है……"

भाष्यः—स्त्रियों को वेद पढ़ने का अधिकार है यह वेदादि सच्छास्त्रों से स्पष्ट प्रमाणित है।

गुरुकुल काङ्गड़ी के प्रतिष्ठित स्नातक पं० धर्मदेवजी 'सिद्धान्तालङ्कार'; 'विद्यावाचस्पति' 'विद्यामार्तण्ड', 'संस्कृ-धुरीण'; 'तर्कमनीषी', 'साहित्यभूषण' मंत्री धर्मार्यसभा, देहली ने इस विषय में **"स्त्रियों का वेदाध्ययन और वैदिक कर्मकाण्ड में अधिकार"** शीर्षक एक अत्यन्त प्रामाणिक पुस्तक‡ लिखी है, पाठकों को अवश्य देखनी चाहिये।

निखिल पौराणिक मण्डल का कथन है कि "स्त्रीशूद्रौ-नाधीयताम्"—स्त्री और शूद्र को वेदाधिकार नहीं है। वर्तमान काल में भी काशी जैसी पवित्र नगरी में शूद्रों को वेद क्या संस्कृत पढ़ाने से भी पण्डितवर्ग हिचकते हैं।

शूद्रों का वेदाधिकार तर्क, वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास से युक्तियुक्त है। जैसे परमात्मा ने नेत्र देखने के लिए दिये हैं, इसलिए नेत्रों से देखने का कार्य अवश्य लेना चाहिये। यदि कोई व्यक्ति किसी की आँखें फोड़ डाले तो वह दण्ड का भागी होता है, ऐसे ही परमात्मा ने विद्या ग्रहण करके सत्यासत्य का विचार करने के लिये बुद्धि प्रदान की है। विद्या मानव-हृदय की आँख है। मानव-समाज को विद्याध्ययन का निषेध करनेवाले व्यक्ति हृदय की आँखों को फोड़नेवाले हैं। जैसे चर्मचक्षु को फोड़नेवाले को राजदण्ड होता है, ऐसे ही हृदय की आँखों को फोड़नेवाले स्वार्थियों को भी राजदण्ड होना चाहिये। यदि शूद्र को विद्या पढ़ने का अधिकार न होता तो इनको विद्या पढ़ने पर भी न आती। और परमात्मा उनको शब्दोच्चारण के लिये जिह्वा, अक्षर को देखने के लिए नेत्र, लिखने को हाथ, और विचारने की बुद्धि न देता।

आचार्य महर्षि दयानन्दजी महाराज का सिद्धान्त है कि "वेद पढ़ने, सुनने का अधिकार सबको है। देखो गार्गी आदि स्त्रियाँ और छान्दोग्य में जानश्रुति शूद्र ने भी वेद "रैक्वमुनि" के पास पढ़ा था और यजुर्वेद के २६ वें अध्याय के २ रे मन्त्र में स्पष्ट लिखा है कि वेदों के पढ़ने और सुनने का अधिकार मनुष्य मात्र को है।"[2]

---

१ "आर्योद्देश्यरत्नमाला" सं० ९६। तुलना करो—'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" पृ० ३६१ (शताब्दी संस्करण) 'वेद विरुद्ध० सं० ३८; सत्यार्थप्रकाश, स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश सं० २३।

‡ जनवरी सन् १९४८ ई० में श्रीमती सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा, श्रद्धानन्द बलिदान भवन, देहली द्वारा प्रकाशित, मूल्य १।)   २. "सत्यार्थप्रकाश" एकादश समुल्लास।

ऋषि दयानन्दजी ने जो कुछ लिखा है अक्षरशः सत्य और वेदानुकूल है। ऋषि के पक्ष की पुष्टि के लिये कतिपय प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं।

वेद प्रमाण—"यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।" (यजुर्वेद २६, २)

श्रीदयानन्दभाष्यम्—(यथा) येन प्रकारेण, (इमाम्) प्रत्यक्षभूतामृग्वेदादिवेदचतुष्टयीं, (कल्याणीम्) कल्याणसाधिकां (वाचम्) वाणीं, (जनेभ्यः) सर्वेभ्यो मनुष्येभ्योऽर्थात् सकलजीवोपकाराय, (आवदानि) आसमन्तादुपदिशानि, तथैव सर्वैर्विद्वद्भिः सर्वमनुष्येभ्यो वेदचतुष्टयी वागुपदेष्टव्येति। (ब्रह्मराजन्याभ्यां) ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां (अर्याय) वैश्याय, (शूद्राय), (चारणाय) अतिशूद्रायान्त्यजाय (स्वाय) स्वात्मीयाय पुत्राय भृत्याय च। सर्वैः सैषा वेदचतुष्टयी श्राव्येति।"........

भाष्यानुवाद—(यथेमां वाचं कल्याणीं) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि वेदों के पढ़ने, पढ़ाने का अधिकार सब मनुष्यों को है और विद्वानों को उनके पढ़ाने का। इसलिये ईश्वर आज्ञा देता है कि हे मनुष्य लोगो! जिस प्रकार मैं तुमको चारों वेदों का उपदेश करता हूँ उसी प्रकार से तुम भी उनको पढ़के सब मनुष्यों को पढ़ाया और सुनाया करो। क्योंकि ये चारों वेद सबका कल्याण करने वाले हैं। तथा (आवदानि जनेभ्यः) जैसे सब मनुष्यों के लिए मैं वेदों का उपदेश करता हूँ वैसे ही सदा तुम भी किया करो। वेदाधिकार जैसा ब्राह्मण वर्ण के लिये है वैसा ही क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पुत्र, भृत्य और अतिशूद्र के लिये भी बराबर है, क्योंकि वेद ईश्वर प्रकाशित है। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका से)।

पौराणिक पण्डित महीधराचार्य ने इस ऋचा का निराला ही अर्थ किया है, जिसकी न कोई संगति है और न कोई अर्थ वैचित्र्य है। आपका अर्थ है—"क्योंकि मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, मित्र, शत्रु सब को दो, और खाओ, ऐसी उत्तम वाणी कहता हूँ, इसलिए मैं देवताओं का प्यारा बनूँ, दक्षिणा देनेवाले का प्रिय बनूँ, मेरी इच्छा पूर्ण हो।

इन दोनों अर्थों में कौन संगत और कौन असंगत है, इसका विवेचन तो विज्ञ पाठक ही करें। फिर भी यहाँ वैदिक रीसर्चस्कालर, आचार्य पं० सत्यव्रत सामश्रमी की सम्मति दी जाती है। उन्होंने 'ऐतरेय ब्राह्मण' की 'ऐतरेयालोचन' नामक एक विस्तृत भूमिका लिखी है। इस ब्राह्मण का रचयिता महिदास नामक दासी का पुत्र शूद्र था। अतएव यह प्रश्न स्वाभाविक होता है कि जब शूद्रों को वेदाध्ययन का अधिकार ही नहीं तब महिदास ने ऐतरेय ब्राह्मण का निर्माण कैसे किया। इस प्रश्न को उठाकर आचार्य सत्यव्रत सामश्रमी ने उत्तर दिया है कि "शूद्र ब्राह्मण ग्रन्थ की रचना कर सकता है या नहीं यह तो साधारण बात है। हम तो ब्राह्मण ग्रंथों में यहाँ तक पाते हैं कि शूद्र मन्त्र-द्रष्टा तक हुए हैं। "नन्वेवमार्याणामार्यत्वप्रतिपादकानामादिधर्माणां यागादीनां विधायकस्य ब्राह्मणग्रंथस्य प्रवचनकर्तृत्वं कथमनार्ये तत्र दासीपुत्रे सम्भवेन्नामेति चेत्, अत्र ब्रूमः। यागादिविधायकब्राह्मणग्रन्थस्य प्रोक्तृत्वं तु किं तुच्छम्, मन्त्रद्रष्टृत्वमपि ज्ञायते दासीपुत्रस्यापि तद्यथा श्रुतं तावदत्रैव कवषैलूषोपाख्यानम्।"

अर्थात्—कवष ऐलूष की कथा से तो यहाँ तक पाया जाता है कि शूद्र मन्त्रद्रष्टा तक हुए हैं। इतना लिखने पर भी आचार्य के हृदय को सन्तोष न हुआ। सोचा जब तक वेदाध्ययन का अधिकार शूद्र को वेदद्वारा सिद्ध न हो तब तक इस लेख को कौन मानेगा! अतएव बड़े गर्व से शूद्रों को वेदाधिकार के प्रमाण के लिए ऋषि दयानन्द जी की सम्मति उद्धृत करते हुए लिखते हैं:—"शूद्रस्य वेदाधिकारे साक्षाद् वेदवचनमपि प्रदर्शितं स्वामिदयानन्देन (वाजसनेयिसंहिता २६।२), यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय इति तदेवं वेदविधेः पक्षपातदोषभाक्त्वं न कथमपीति स्पष्टम्।"[1]

अर्थात्—'शूद्रों के वेदाधिकार विषय में स्वामी दयानन्दजी ने साक्षात् यजुर्वेद के (२६, २) के 'यथेमां वाचं कल्याणीम्'—इस मंत्र का प्रमाण दिया है और इस प्रकार यह भी स्पष्ट है कि वेद के विधान में किसी तरह के पक्षपात का दोष नहीं लगाया जा सकता।"

राज्यरत्न मास्टर आत्माराम अमृतसरी अपने "Maharshi Dayanand Saraswati Untouchability" शीर्षक अंग्रेजी लेख में लिखते हैं:—

But a well known Sanskrit scholar of Bengal, pandit Satyvrata Samasrami,

१. ऐतरेयालोचन" पृष्ठ १७ (कलकत्ता संस्करण) १९०६ ई०।

who is neither a member not a supporter of the Arya Samaj and who is well known for his Sanskrit research work te the Government of India, has in his latest book "Aitareya Alochana" not only given a similar translation and exposition of this epoch-making mantra but has in plain words, by giving reference of Swami Dayanand Saraswati and the translation which the great Rishi Dayanand made fifty years ago, corroborated every word of the same. He, like Rishi Dayanand says that from Brahmin down to the cobbler, every human being is entitled to the study of the Vedas" [1].

अर्थात्—"बङ्गाल के प्रसिद्ध संस्कृत अन्वेषक पं० सत्यव्रत सामश्रमी जो कि आर्य-समाज के न तो सदस्य और न तो सहायक हैं और भारतीय सरकार के सुप्रसिद्ध संस्कृत अन्वेषणकर्ता हैं, अपनी अन्तिम पुस्तक "ऐतरेयालोचन" में ऋषि दयानन्दजी के अनुवाद का उद्धरण देते हैं जिसको पचास वर्ष पूर्व महान् ऋषि दयानन्दजी ने बताया था। वह ऋषि दयानन्दजी के सदृश कहते हैं कि ब्राह्मणों से लेकर अछूतों तक को—प्रत्येक मानव को वेदाध्ययन का अधिकार है।"

८ ब्रह्मचारी श्री भगवद्दाचार्यजी महाराज, 'वेदरत्न' 'निरुक्त-भूषण' 'व्याकरण-शिरोमणि', 'विद्याभास्कर' 'साहित्यालङ्कार' 'व्याख्यानवाचस्पति' लिखते हैं:—"वेद ईश्वरीय पुस्तक है। जैसे द्विजाति, वैसे ही शूद्र भी भगवान् की ही उत्पादित प्रजा है। हस्तपादादि, जिह्वा, नेत्रादि और स्मरणशक्ति आदि भी ब्राह्मणादि और शूद्रों के समान ही हैं। अतः जैसे पठित ब्राह्मणादि वेद-पाठ कर सकते हैं वैसे ही पठित शूद्र भी वेदपाठ कर सकता है। रही प्रमाण की बात। प्रमाण की अपेक्षा तब हुआ करती है जब पाप और पुण्य का विकट प्रश्न उपस्थित हो। पाप तभी होता है जब किसी के साथ अन्याय, अनाचार, अत्याचार, दुराचार और बलात्कार आदि किये जायँ। ऐसा ही पुण्य भी तभी होता है जब किसी के साथ न्याय, सदाचार, उपकार आदि किए जाते हैं। जहाँ वह सब न हो वहाँ पाप और पुण्य का विचार नहीं उठ सकता। इसके पढ़ने से पाप तो होता नहीं। धर्म भी नहीं होता। वेद पढ़ने से धर्म तब होता है जब वेदोपदिष्ट सदाचार आदि का पालन किया जाय। वेदों के केवल पाठ करने से भी धर्म होता है, इस कथन में मेरा अपना विश्वास नहीं है। ऐसी स्थिति में वेदाध्ययन में शूद्राधिकार के समर्थन के लिये प्रमाण ढूँढ़ने के लिये मुझे कुछ भी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। किंच, वेद ईश्वरीय ग्रन्थ है। ईश्वर ने कहीं यह कहा हो कि शूद्र इसे न पढ़े, ऐसा मुझे स्मरण नहीं है। अतः सबके समान ही शूद्र भी वेद पढ़ सकता है। मैक्समूलर आदि अनेक विदेशीय विद्वान् वेदों को पढ़ गये और समझ गये। उन पर उन्होंने टीका-टिप्पणी भी की और उनका अनुवाद भी किया। उन्होंने कभी किसी से यह नहीं पूछा कि, "हमें वेदों के पढ़ने का अधिकार है कि नहीं?" वेद पढ़ने से उन्हें नरक मिला हो या ईश्वर-दण्ड मिला हो, यह भी नहीं कहा जा सकता। अतः जो कोई पढ़ सके और समझ सके वह वेदों को अवश्य पढ़ सकता है। स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने "यथेमां वाचं कल्याणीम्०" इस मंत्र से शूद्राधिकार सिद्ध किया है, वह बहुत हद तक समुचित है। ब्रह्मसूत्र के "अपशूद्राधिकरण" का तो अन्य ही आशय है। श्रीसम्प्रदाय के आचार्य स्वामी श्री रामानन्दाचार्यजी महाराज ने अपने भाष्य में उस अधिकरण का बहुत सुन्दर बुद्धिपूर्वक स्पष्टीकरण किया है। [२]

विद्वद्वरेण्य पं० शिवशंकर शर्मा 'काव्यतीर्थ' लिखते हैं:—"पुनः "यथेमां वाचम्" इस मन्त्र के द्वारा समभाव से ही वेद-रूप कल्याणी वाणी का उपदेश सबको देता है। आजकल शूद्रों को वेद पढ़ना, सुनना सब ही मना है। परन्तु यहाँ विपरीत देखते हैं। स्वयं भगवान् कहता है कि मेरी वाणी सब में पहुँचाओ।" [३]

कविरत्न पं० मेधावताचार्यजी का कथन है—"स शूद्रवर्णोऽपि मनुष्यभवितः स्वजन्मसिद्धातिकृतिं प्रलम्भितः। पवित्रवेदामृतपानदानतः, कृतार्थितो यस्य सुशास्त्रयुक्तितः।" [४]

---

१. "Dayanand Commemortion Volume" P. 185.

२. मासिक पत्रिका "तत्त्वदर्शी" बड़ौदा, वर्ष ६, माघ कृष्ण ७ वि० १९९३, अङ्क ७, पृष्ठ १-२।

३. "जातिनिर्णय" प्रथम संस्करण, पृष्ठ १२।

४. "दयानन्द-दिग्विजय" महाकाव्य, प्रथमः सर्गः, ४८ (प्रथम संस्करण)।

अर्थात्—"शूद्रों का भी मनुष्योचित अधिकार इन्होंने शास्त्र-प्रमाण और युक्तियों से सिद्ध कर दिखाया, जिससे ये भी पवित्र वेदामृत के पान से अपने जन्म को सफल करने लगे।

ऋषि दयानन्दजी की शूद्रों के प्रति उदारता की घोषणा को देखकर जगद्विख्यात विचारक श्री रोमाँ-रोला ने ठीक ही लिखा है कि—"It was in truth an epoch-making date for India when a Brahman not only acknowledged that all human beings have a right to know the Vedas, whose study had been previously prohibited by orthodox Brahmins, but insisted that their study and propaganda was the duty ef every 'Arya.'[1]

अर्थात्—वह सचमुच भारत के लिये एक स्वर्गीय नव-युग निर्मात्री तिथि थी जब एक ब्राह्मण† ने न केवल यह स्वीकार किया कि वेदों के अध्ययन का अधिकार (जो कट्टर-पन्थी ब्राह्मणों ने बहुतों के लिये निषिद्ध ठहरा रक्खा था) सब मनुष्यमात्र को है, बल्कि इसपर जोर दिया कि वेद का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

"यज्ञेन वाचः पदवीमायन् तामन्व-
विन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा
तां सप्त रेभा अभि संनवन्ते।"

(ऋ० १०. ७१. ३.)

"पूर्व पुण्यों के द्वारा लोगों ने वाक् (वेदवाणी के प्राप्त करने) की योग्यता प्राप्त की, और ऋषियों में प्रविष्ट हुई उस वाक् को ढूँढ पाया। उसको लाकर उन्होंने सब में फैला दिया। सात स्तोता (गायत्री आदि सात छन्द उस (वाक्) को गाते हैं।"

श्रीसायणाचार्य भी इसकी व्याख्या में लिखते हैं कि—"तां वाचमाभृत्याहृत्य पुरुत्र बहुषु प्रदेशेषु व्यकार्षुः सर्वान् मनुष्यानध्यापयामासुरित्यर्थः—उस वाणी को लेकर उन्होंने बहुत देशों में फैला दिया अर्थात् सारे मनुष्यों को पढ़ा दिया। यहाँ पर "उस वाणी को लेकर उन्होंने बहुत देशों में फैला दिया" अर्थ करके उसीका तात्पर्य "सारे मनुष्यों को पढ़ा दिया" कहने से श्री सायण का यह भाव स्पष्ट है कि प्रलय के अनन्तर जब-जब सृष्टि होकर वेद का प्रकाश होता है, तब-तब उस समय वेद का संदेश जहाँ-तहाँ मानुषी सृष्टि होती है, सर्वत्र पहुँचा दिया जाता है।

"यस्यायं विश्व आर्यो दासः शेवधिपा अरिः।
तिरश्चिदर्ये रुशमे पवीरवि तुभ्येत्सो अज्यते रयिः।"
('सामवेद उत्तरार्चिक' ७. ३. १९.)

अर्थ—(यस्य शेवधिपाः) जिस ईश्वर के कोष के रक्षक (विश्व आर्यः) "आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः" पाणिनिः। समस्त ब्राह्मण, क्षत्रिय (दासः) शूद्र (अरिः) "ऋ गतौ धातु से निष्पन्न" प्राप्त करनेवाले हैं और (पवीरविः सः) वह पतित-पावन प्रभुः (रुशमे आर्ये) "अर्यः स्वामिवैश्ययोः"। कान्तिमान् तुझ वैश्य के लिए (तिरश्चित्) छिपे हुए सभी (रयिः अज्यते) वेद कोष को देता है। इस मंत्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सबको ईश्वर ने अपना धन रूपी वेद प्राप्त करने के लिये दे दिया है।

"तदद्यवाचः प्रथमं मंसीय येनासुरां अभि देवा असाम्।
ऊर्जाद उत यज्ञियासः पंचजना मम होत्रं जुष-ध्वम्" (ऋग्वेद १०. ५३. ४)

अर्थ—उस वेदवाणी को अत्युत्तम मैं समझता हूँ जिससे हम असुरों का अपमान करें। हे देवो! आप अन्न भक्षण करते हुए यज्ञ सम्पादन करते हुए और हे मनुष्यो! निषाद को मिलाकर पाँचों वर्ण तुम मेरे अग्निहोत्र का सेवन करो।

यही मंत्र "निरुक्त" अ० ३, खं० ७ में भी आया है। यास्काचार्य जी लिखते हैं:—

"पंचजना मम होत्रं जुषध्वं" गन्धर्वाः पितरो देवा आसुरा रक्षांसीत्येके। चत्वारो वर्णा निषादः पंचम इत्यौपमन्यवः। निषादः कस्मान्निषदनो भवति निषण्ण-मस्मिन् पापकमिति नैरुक्ताः। यत् पांचजन्यया विशा पंचजनीनया विशा। पंच पृक्ता संख्या स्त्रीपुंनपुंस-केष्वविशिष्टा॥ १॥"

अर्थात्—पाँच जन मेरे अग्नि होत्र को सेवन करो। गन्धर्व, पितर, देव, असुर, राक्षस ये पाँच, कई मानते हैं।

1. "Life of Shri Rama Krishna Paramhans", Second edition, P. 159.
† ऋषि दयानन्दजी।

चारों वर्ण, पाँचवा निषाद ऐसा उपमन्यु के मतवाले मानते हैं। जो प्राणियों का वध करे वह निषाद अथवा जिसमें पाप स्थित हो वह निषाद है।[१]

पंचजन समुदाय ऋत्विजों के साथ हो, पाँच संख्या विशिष्ट अर्थात् पाँच स्त्रियाँ, पाँच पुरुष, पाँच नपुंसक, सारांश यह कि पाँच कोई हो।

एवं श्री दुर्गाचार्यजी "निरुक्तभाष्य" में लिखते हैं:—

यत्पाञ्चजन्यया विशेन्द्रो घोषा असृक्षत।
अस्तृणाद्बर्हणा विप्रोऽर्येमिमानस्य सक्षयः"

(ऋग्० ८।६३।७, निरुक्त ३।८)

भाष्यानुवाद:—"जब पंचजन समुदाय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद के साथ ऋत्विज लोग वर्षा न होने पर वर्षा के लिए इन्द्र की स्तुति करते हैं। तब उन स्तुतियों को सुनकर प्रसन्नचित्त हुआ इन्द्र वर्षा के लिए मेघों को अपने बढ़े हुए वज्र से ताड़न करता हुआ सारे जगत् का ईश्वर बल का निवास वर्षा का विस्तार करता है।"

यहाँ पर श्री दुर्गाचार्यजी शूद्र तथा निषाद को यज्ञ तथा वेदाधिकारी स्वीकार करते हैं।

"ते न इन्द्रः पृथिवी क्षामवर्धन् पूषा भगो अदितिः पञ्चजनाः। सुशर्माणः स्ववसः सुनीथा भवन्तु नः सुत्रासः सुगोपाः" (ऋ० ६।५१।११)

अर्थः—सम्राट् (इन्द्र) और उसके पूषा, भग आदि कर्मचारी, हमारी मातृभूमि (पृथ्वी), अदीन राष्ट्रशक्ति (अदितिः) और पाँचों जन ये सब हमारे निवास को (क्षाम) बढ़ावें, वे सब हमारे लिए सुन्दर सुख देनेवाले (सुशर्माणः) हों, अच्छी तरह मार्ग दिखानेवाले (सुनीथाः) हों, अच्छी तरह पालन करनेवाले (सुत्रासः) हों, और अच्छी तरह सम्भालकर रखनेवाले (सुगोपाः) हों।'

विद्वद्वर्य, पं० प्रियव्रतजी वेदवाचस्पति 'पंचजन' के विषय में लिखते हैं:—

"वेद तो यही चाहता है कि सब लोग वेद की व्यवस्था को मानें और उसके अनुसार ब्राह्मणादि चारों वर्णों में विभक्त होकर राष्ट्र की सेवा करें।

परन्तु मनुष्य एक स्वतन्त्र विचारवाला प्राणी है। यह सम्भव हो सकता है कि किसी राष्ट्र के कुछ लोग वेद की वर्ण-मर्यादा को अपने विचारों के अनुसार पसन्द न करते हों और उन्हें वैदिक धर्म की ओर भी एक या अनेक बातें पसन्द न पड़ती हों। भले ही ये लोग वेद की शिक्षा न मानने के कारण अपने आदर्श की उन्नति नहीं कर सकेंगे और इसीलिए उन्हें कई अंशों में क्लेश भी प्राप्त होगा। परन्तु क्या किया जाये, मनुष्य एक स्वतंत्र प्राणी है। वह अपने विचारों के अनुसार कुछ भी मान और कर सकता है। ये कुछ लोग वैदिक वर्ण-मर्यादा को और वैदिक धर्म की कई अन्य बातों को स्वीकार नहीं करते तो न करें। उनके साथ जबरदस्ती नहीं की जा सकती। ये लोग ही जो कि वैदिक वर्ण-मर्यादा को स्वीकार नहीं करते 'पाँचवें जन' हैं। चार जन ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वैदिक धर्मी लोग और पाँचवें जन ये वर्णेतर और वैदिक धर्मेतर लोग मिलकर "पाँचजन" कहलाते हैं।[२]

"अग्निॠषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः। तमीमहे महागयम्॥" (यजु० २६।९)

महीधरभाष्यम्:—"पाञ्चजन्यः पञ्चजनेभ्यो हितः। विप्रादयश्चत्वारो वर्णा निषादश्चेति पञ्चजनास्तेषां यज्ञाधिकारात्।"

अर्थात्—पाँच मनुष्य के लिए, ब्राह्मणादि चार वर्ण और 'निषाद' के लिए यज्ञाधिकार है।

उव्वटभाष्यम्:—"पाञ्चजन्यः पञ्चजनेभ्यो हितः। चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चजनाः। तेषां हि यज्ञेऽधिकारोऽस्ति।"

अर्थात्—"चारों वर्ण और पाँचवा निषाद इन सबका यज्ञ में अधिकार है।"

"निषाद शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में यास्क कहते हैं—निषाद को निषाद क्यों कहते हैं? क्योंकि वह 'निषदन' है, निरुक्तकारों का मत है कि उसमें पाप का निवास है। दूसरा उत्तर एक बार ही काल्पनिक है; किन्तु पहले अर्थ में 'निषदन' का क्या अर्थ है?

डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप का कहना है—वह पशुओं का

---

१. "नितरां सादयति विनाशयति इति निषादः ="वर्ण-धर्म का नाश करनेवाले।" 'निषण्णं स्थितमस्मिन् पापकमिति निषादः" = धर्मच्युत पापी।" 'नि' पूर्वक 'षद्लृ' विशरणगत्यवसादनेषु धातु से रूप सिद्ध है।

२. मासिक पत्र "आर्य" लाहौर, भाग २०, सितम्बर १९३८ ई०, अङ्क ५, पृष्ठ १८२-१८३ "वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त" शीर्षक लेख।

वध करके अपना निर्वाह करता है, इसीलिये उसे निषाद कहते हैं।.........भाष्यकार दुर्गाचार्य का मत है कि वह निषाद इसलिए कहलाता है कि वह नीचे बैठकर पशुओं को मारता है, अर्थात् पशुवध के द्वारा अपना निर्वाह करता है। 'निषदन्' शब्द 'नि' (नीचे) और 'सद्' धातु से बना है इसलिए नपुंसकलिङ्ग में इसका अर्थ होगा नीचे बैठना और आलङ्कारिक रूप से 'रहना'। पुँल्लिङ्ग में इसका अर्थ होगा 'वह जो नीचे बैठता' अथवा 'वह जो नीचे बैठता है या जिसका स्थान नीचे है' और यह अन्तिम अर्थ ही यहाँ पर मूलतः तथा आलङ्कारिक रूपेण—दोनों रीति से उपयुक्त प्रतीत होता है।"[1]

लौकिक 'शब्द-कोष' में उपर्युक्त वैदिक अर्थ का समर्थन होता है।

श्री अमरसिंहजी चाण्डाल के दश नाम यों देते हैं :—

"चाण्डालालवमातंगदिवाकीर्त्तिजनंगमाः।

निषादश्वपचावन्तेवासिचाण्डालपुक्कसाः"

(अमरकोष २-१०-१९-२०)।

इसमें भी 'निषाद' शब्द आया है, जिसकी व्युत्पत्ति श्री भानुदीक्षित ने "व्याख्यासुधा" में इस प्रकार की है:—निषीदति पापमस्मिन्।"

अर्थात्—जिसमें पाप स्थित रहता है, उसे निषाद कहते हैं।

"मेदिनीकोष" में लिखा है :—

"निषादः स्वरभेदेऽपि चाण्डाले धीवरान्तरे।"

श्री अमरसिंह ने चाण्डाल-जाति के अवान्तर प्रभेद की गणना यों की है:—

"भेदाः किरातशबरपुलिन्दा म्लेच्छजातयः।"

इस पर टीका करते हुए पं० भानुदीक्षितजी लिखते हैं:—"किरातादयस्त्रयो म्लेच्छजातयश्चाण्डालभेदाः।"

श्री खण्डराज दीक्षित ने इसकी टीका पद्य एवं गद्य दोनों में इस प्रकार की है:—

"निषादपञ्चमा वर्णा मित्राय द्विपयः प्रति।

अभिगन्तृबलाढ्याय हवींष्युद्धारयन्ति वै।

स्वस्वरूपतया देवान्धारयत्यखिलांश्च सः।

मित्राय पंचेति। पंचजना निषाद पंचमा वर्णाः अभिष्टि शवसे शत्रुन् प्रति अभिगन्तृबलयुक्ताय मित्राय येमिरे हव्यान्युद्धानरयंति स सूर्यो विश्वान्बिभर्ति स्वस्वरूपतया सर्वान् देवान्धारयति।"

अर्थात्—निषाद के सहित पांच वर्णवाले (होता) लोग शत्रुओं के अभिमुख जाने के उपयुक्त बलवाले सूर्य के लिये हवि (हवन द्रव्य) प्रक्षेप कर रहे हैं; क्योंकि वह (सूर्य) अपने में सभी देवताओं को धारण करता है। फलतः एक सूर्य के उद्देश्य से ही हवन कर देने से अन्य सभी देवताओं की तुष्टि और पूजा सम्पन्न होती है।

श्री वामन शिवराम आप्टे अपने कोष में लिखते हैं:—

"A chandala, fisherman'[2]

अर्थात्—निषाद = चाण्डाल, धीवर।

"मित्राय पंच येमिरे, जना अभिष्टिशवसे। स देवान् विश्वान् बिभर्ति॥ (ऋ० ३-४-६)

सायणभाष्यम्—"पञ्चजना निषाद पंचमाश्चत्वारो वर्णाः येमिरे हवींष्युद्यच्छन्ति।

अर्थात्—चारों वर्ण और पाँचवाँ निषाद-सूर्योदय के समय हविदान करते हैं अर्थात् यज्ञ या हवन करते हैं।

श्री जगन्नाथजी 'निरुक्त-भूषण' का कथन है:—"वेद में पञ्चजनों का वर्णन आता है। निरुक्त के कथनानुसार उसमें चार तो प्रसिद्ध वर्ण हैं और पाँचवाँ निषाद है। वेद का आदेश है कि यदि पंचजन मिलकर यज्ञ करेंगे तभी यज्ञ सफल होगा। इससे हमें स्पष्ट पता लगता है कि वेद 'निषाद' तक को भी, जो कि अति नीच गिना जाता है, यज्ञ करने और वेद पढ़ने की आज्ञा देता है। इसी प्रकार स्मृतिकाल में भी दलितों की इतनी दयनीय दशा नहीं थी। आप मनुस्मृति को उठाकर देखें। उसमें निषाद को अन्य वर्णों के समान पूर्ण अधिकार दिये हुए हैं। यह निषाद कौन है, इसके सम्बन्ध में अग्निपुराण में इस प्रकार वर्णन आता है कि वेन राजा बहुत दुष्ट था, कई ब्राह्मणों ने मुनियों के आदेशानुसार उसे मारा। उसके स्थान पर एक अत्यन्त काला बालक बैठा, उस बालक की जो सन्तान हुई वह निषाद बन गयी इत्यादि। तात्पर्य यह है कि जिस निषाद को प्राचीनकाल में अन्य वर्णों की अपेक्षा नीच माना जाता

१. देखो—मासिक पत्रिका "चांद" का "अछूताङ्क" वर्ष ५, खण्ड ९, मई सन् १९२७ ई० पृष्ठ ९३ कालम १ में आचार्य विधुशेखर भट्टाचार्य का "प्राचीन भारत में शूद्र की संस्थिति" शीर्षक लेख।

2. "Sanskrit-English Dictionary" 3rd Edition, P. 563.

था, उसको भी वेद तथा स्मृतिकाल में वही अधिकार मिलते थे जो कि अन्य वर्णों को।"[१]

वैदिक रीसर्चस्कॉलर पं० रघुनन्दन शर्मा "साहित्य-भूषण' लिखते हैं:—

"सबको लाभ पहुँचानेवाले यज्ञ बिना सबकी मदद के हो ही नहीं सकते। सार्वजनिक कार्य सर्वजन-सम्मेलन से ही होते हैं। इसीलिए यज्ञों में मनुष्य, पशु और वृक्षों तक की सहायता ली जाती है। क्योंकि यज्ञ सभी का कर्त्तव्य है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, असुर, स्त्री, लड़के, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वनस्थ, संन्यासी, राजा और रङ्क सभी यज्ञ के अधिकारी हैं। ऋग्वेद में लिखा है कि 'अयं स होता यो द्विजन्मा' अर्थात् यह होता द्विज है। दूसरी जगह लिखा है कि 'पंचजना मम होत्रं जुषन्ताम्।' इसपर उव्वट कहते हैं कि 'चत्वारो वर्णाः निषादपंचमाः पंचजनाः तेषां यज्ञाधिकारोऽस्ति' अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अनार्य को भी यज्ञ करने का अधिकार है। यह सभी जानते हैं कि रथकारों के लिए अग्न्याधान का समय 'वर्षासु रथकारः' कहकर वर्षा ऋतु बताया गया है। स्त्रियों के बिना तो यज्ञ होता ही नहीं। सीता के अभाव में रामचन्द्र ने सोने की सीता बनवाकर यज्ञ किया था। क्षत्रिय राजसूय और अश्वमेध आदि बड़े-बड़े यज्ञों के कर्त्ता हैं। वैश्यों को भी बड़े महत्त्व का गोमेध यज्ञ करना पड़ता है।"[२]

"छान्दोग्योपनिषद्" चतुर्थ प्रपाठक, प्रथम और द्वितीय खण्ड में लिखा है कि पौत्रायण जानश्रुति शूद्र को रैक्व मुनि ने ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया था। परन्तु कतिपय लोग कहते हैं कि वेदान्त दर्शनकार व्यासजी ने दलील देकर जानश्रुति को क्षत्रिय सिद्ध किया है।

पं० राजाराम शास्त्री लाहौर ने "वेदान्त-दर्शन" के भाष्य में प्रबल तार्किक प्रमाणों से जानश्रुति को शूद्र ही सिद्ध किया है।[३]

छान्दो० पर जिन आर्य पण्डितों (वेदज्ञ पं० शिवशङ्कर काव्यतीर्थ, महामहोपध्याय पं० आर्यमुनिजी; शास्त्रार्थ-महारथी पं० देवेन्द्रनाथ शास्त्री, सांख्यतीर्थ; पं० राजारामशास्त्री, वेद व्याख्याता पं० भीमसेन शर्मा 'महात्मा नारायण स्वामी') ने भाष्य किया है; सबों ने जानश्रुति पौत्रायण को शूद्र ही लिखा है।

और भी अन्यान्य विद्वानों ने जानश्रुति को शूद्र ही लिखा है। देखिए:—

आचार्य श्री क्षितिमोहनसेन 'शास्त्री' एम० ए० अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ[४] में लिखते हैं:—"छान्दोग्य उपनिषद् (४।२) में जानश्रुति पौत्रायण नामक शूद्र की कथा है। ये रैक्व नामक ब्रह्मवादी के पास पहले छः सौ गायें निष्क, अश्वतरी, रथ, उपहार लेकर गये, पर रैक्व ने इन्हें शूद्र कहकर प्रत्याख्यान किया। बाद में जानश्रुति अपनी कन्या देने लगे; पर फिर भी प्रत्याख्यात हुए। किन्तु बाद में शिष्य रूप से सेवा करने के बाद रैक्व प्रसन्न हुए और उन्होंने जानश्रुति को ब्रह्मविद्या दी। इस आख्यान से दो बातें प्रकट होती हैं। एक तो यह कि कुछ लोग जो यह मानते हैं कि शूद्र का उपनयन होता था, वह निराधार नहीं है; क्योंकि यहाँ शूद्र का गुरुगृह वास स्पष्ट ही प्रमाणित होता है। दूसरी बात यह है कि ब्राह्मण शूद्र-कन्या से विवाह कर सकते हैं। यद्यपि इस कथा में यह नहीं बताया गया है कि रैक्व ने बाद में उस कन्या को ग्रहण किया था, या नहीं (शायद किया हो, क्योंकि ऐसे मामलों में पहले नाहीं करना और बाद में स्वीकार करना कोई असाधारण बात नहीं है), पर इतना तो स्पष्ट ही है कि अगर वह कन्या ग्रहणीय न होती, तो जानश्रुति उसे उपहार रूप में देने को जाते ही नहीं। उन दिनों शूद्रों के प्रति सामाजिक व्यवहार बहुत उत्तम नहीं था, यह देखते हुए जानश्रुति का दो बार प्रत्याख्यात होना बहुत ज्यादा अशोभन नहीं लगता।"

प्रो० रामदास गौड़ एम० ए० लिखते हैं:—"उपनिषद् में जानश्रुति शूद्र को मोक्ष मार्ग का उपदेश किया है।"[५]

शास्त्रार्थ-महारथी पं० जे० पी० चौधरी काव्यतीर्थ ने अपनी पुस्तक "ऋषि दयानन्द का सत्य स्वरूप" × पृष्ठ ५४ से ५८ तक में जानश्रुति को शूद्र ही सिद्ध किया है।

---

१. "श्रीमद्दयानन्द-निर्वाण अर्धशताब्दि महोत्सव-अजमेर का विवरण" पृष्ठ ६२।

२. "वैदिक सम्पत्ति" द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३८८-३८९।

३. "वेदान्तदर्शनभाष्य" पृष्ठ २६५—२६९ (सन् १९०८ ई०, लाहौर-संस्करण)

४. "भारतवर्ष में जातिभेद" प्रथम संस्करण, पृष्ठ १३१—१३२।

५. "हिन्दुत्व" प्रथम संस्करण पृष्ठ ५६७।

× "आर्य" १२ अक्टूबर १९३० ई०, अङ्क २, पृष्ठ ४५—४६ में इस पुस्तक की अत्यन्त प्रशंसा की गयी है।

"प्रायश्चित-विचार"[1] पृष्ठ ४६ में लिखा है:—"छान्दोग्य में लिखा है कि जानश्रुति शूद्र ने वेद रैक मुनि से पढ़ा था।"

यह सब होते हुए भी यह कथा प्रक्षिप्त ज्ञात होती है, क्योंकि कामी पुरुष ऋषि नहीं हो सकता।

रैक मुनि के विषय में वैदिक रीसर्चस्कॉलर पं० रघुनन्दन शर्मा 'साहित्य-भूषण' लिखते हैं:—"छान्दोग्य उपनिषद् ४।२५ में एक असुर आचार्य की आमदनी और चरित्र का हाल इस प्रकार वर्णित है कि रैक नामी एक ऋषि के पास राजा जानश्रुति छः सौ गायें, सुवर्ण, मणि, रथ, और बहुत-सा धन लेकर गये। पर ऋषि ने कहा कि हे शूद्र! यह हमको न चाहिये। राजा दुबारा एक हजार गौयें, बहुत-सा धन, अपनी कन्या और उस गाँव का पट्टा जिसमें ऋषि रहते थे, लेकर गया और प्रणाम किया। कन्या को देखते ही ऋषि पिघल गये और—

तस्या ह मुखं मुखोद्गृहणन्नुवाचाऽऽह जारेमाः शूद्रानेनैव मुखेनाऽऽलापयिष्यथा इति।

अर्थात्—राजा की उस कन्या के मुख को प्यार से देखकर ऋषि बोले कि हे शूद्र! यह जो भेंट लाये हो सो ठीक है, अब इस कन्या के मुख से ही (इसके मुख कमल की ही बदौलत) आप मेरा भाषण सुन सकेंगे।

इस घटना से सहज ही विचार होता है कि यह किस प्रकारका ऋषि था, इसका क्या व्यवसाय था और उस समय के धर्मान्ध चेले कैसे थे। हमारी समझ में तो वे आजकल के धर्मान्धों से कम नहीं थे। उस समय बड़ा ही अत्याचार हो रहा था। इन असुराचार्यों के पास सिवा इस कामकला के और कोई काम ही न था।"[2]

"छान्दोग्योपनिषद्" प्रपाठक ४, खण्ड ४ में लिखा है कि अज्ञातकुलोत्पन्न सत्यकाम जाबाल का हारिद्रुम गौतम ने उपनयन किया था।

इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि असत् शूद्र के सन्तान का भी उपनयनादि संस्कार हो सकता है।

इसी प्रकार 'ऐतरेय ऋषि" हुए हैं। इन्होंने ऋग्वेद के ऊपर अनेक ग्रन्थ लिखे 'ऐतरेय ब्राह्मण, ऐतरेयोपनिषद्' आदि। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार ही सम्पूर्ण ऋग्वेदीय श्रौत और गृह्यसूत्र हैं और इसी के अनुसार सारे वैदिक याग सम्पादित होते हैं। वे ऐतरेय ऋषि दासी-पुत्र थे। 'मही' इनकी माता का नाम थी। और इनकी माता नीच जाति की दासी थीं इस कारण इसको 'इतरा' भी कहते थे। 'इतरा' शब्दार्थ ही नीच है यथा—"**इतरस्त्वन्यनीचयोः**" अमरकोषः।

ये दासी-पुत्र होने पर भी इतने विद्वान् हुए हैं कि जिनके लिखित ग्रन्थ के बिना ऋग्वेद का तत्त्व ही नहीं खुलता है।

वैदिक रीसर्चस्कॉलर पं० भगवद्दत्तजी बी० ए० लिखते हैं:—"ऐतरेय महिदास जो ऐतरेय ब्राह्मण का सङ्कलन और प्रवचन-कर्त्ता है, आरण्यक के भी पहले तीन आरण्यकों का प्रवचन करने वाला है।"[3]

एवं "कौषीतकी" ब्राह्मण १२।१ में लिखा है कि—

एतत्कवषः सूक्तमपश्यत्पञ्चदशं च प्रदेवत्रा ब्रह्मणे गातुरेतु' इति।"

"ऋक्सर्वानुक्रमणी में भी इस १५ ऋचावाले ऋ० १०।३० सूक्त का ऋषि कवष ऐलूष ही लिखा है।

इनकी उत्पत्ति के विषय में लिखा है:—

"ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत। ते कवषमैलूषं सोमादनयन्। दास्याः पुत्रः कितवोऽब्राह्मणः कथं नो मध्ये दीक्षिष्टेति? तं बहिर्धन्वोदवहन्। अत्रैनं पिपासा हन्तु। सरस्वत्या उदकं मा पादिति। स बहिर्धन्वोदूढः पिपासयावित्त एतदपोनप्त्रीयमपश्यत्। ते वा ऋषयोऽब्रुवन् विदुर्वा इमं देवा ह्वयामहै इति तथेति। इत्यादि।" (ऐतरेयब्रा० २।१९)[4]

---

१. सन् १९०५ ई० में ऐंग्लो-ओरियण्टल प्रेस, लखनऊ में मुद्रित।

२. "वैदिक सम्पत्ति" द्वितीय संस्करण, पृ० ५०३।

३. "वैदिक वाङ्मय का इतिहास" द्वितीय भाग, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २२६।

४. मिलाओ "कौषीतकी ब्रा० १२।३. तथा देखो' आचार्य रामदेव जी कृत 'भारतवर्ष का इतिहास" (आर्यपर्व) पृष्ठ १४७; पं० हरिकृष्ण शास्त्री कृत "ब्राह्मणोत्पत्ति-मार्तण्ड" पृष्ठ ४१; दैनिक 'वर्तमान' कानपुर ता० २५ सितम्बर सन् १९३३ ई० में पं० रामविहारी लाल एम० ए०, शास्त्री का लेख।

[illegible] किन्तु उसे आचार्य बनाकर [illegible] इतना ही [illegible]

[illegible] नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ के वेद-गुरु आचार्य पं० सत्यव्रतजी सामश्रमी अपने ग्रन्थ "ऐतरेयालोचनम्" पृ० ११-१२ में लिखते हैं:—

"एक ऋषि की इतरा या शूद्रापत्नी से उत्पन्न पुत्र ही ऐतरेय थे। यज्ञ के समय ऋषि ने अपनी ब्राह्मणी पुत्री से उत्पन्न पुत्र को ही गोद में लेकर उसे नाना तत्त्वों का उपदेश दिया और बेचारे ऐतरेय की उपेक्षा की। दुःखित होकर ऐतरेय ने अपनी कुलदेवी मही का स्मरण किया। शूद्रगण मही की ही सन्तान हैं (Children of thesoil)। पृथ्वी गर्भ से देवी आविर्भूत हुई और ऐतरेय को दिव्य सिंहासन पर बैठाकर सर्वोत्तम ज्ञान देकर तिरोहित हुई। तपस्या और उक्त प्रकार से लब्ध ज्ञान के बल पर उन्होंने ग्रन्थ की रचना की। वही ऋग्वेद का सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मण ऐतरेय ब्राह्मण है। मही देवी से शिक्षा पाने के कारण ऐतरेय महीदास भी कहाते हैं।"

वैयाकरण पाणिनि ने "शूद्राणामनिरवसितानां" (२।४।१०) इस सूत्र में शूद्रों के दो भाग किये हैं—बहिष्कृत और अबहिष्कृत।

इस पर आचार्य कैय्यट ने लिखा है कि शूद्रों को पञ्च-यज्ञ में अधिकार है।"[1]

बहिष्कृत और अबहिष्कृत शूद्रों के विषय में धर्मशास्त्र में लिखा है:—

[illegible]

अर्थात्—"जिन शूद्रों के भोजन करने पर पात्र (जूठा बर्तन) संस्कार† से, जैसा कि धर्मशास्त्र में बतलाया है, शुद्ध हो सकता है, वे अनिरवसित (अबहिष्कृत) शूद्र हैं। जिन शूद्रों के भोजन करने पर पात्र (जूठा बर्तन) संस्कार से भी शुद्ध नहीं हो सकता, वे निरवसित (बहिष्कृत) शूद्र हैं।"

पं० नोखेलाल शर्मा "काव्य-तीर्थ" अपने "वर्णव्यवस्था का स्वरूप" शीर्षक लेख में लिखते हैं:—"ऐतरेय ब्राह्मण (२।१९) में भी इलूषात्मज कवष का इसी प्रकार महर्षि बनाया जाना लिखा है। ऐतरेय ब्राह्मण और ऐतरेय उपनिषद् का बनानेवाला महीदास ऐतरेय किसी शूद्रा स्त्री का लड़का था।"[2]

श्रीरमेशनन्दन सहाय एम० ए० लिखते हैं: "मैं ऐतरेय ब्राह्मण (२।१९) में कथित इलूषात्मज कवष के उपाख्यान की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कर देना अनुचित नहीं समझता। कवष को ऋषियों ने यज्ञ समारोह से धूर्त, अब्राह्मण, दासी-पुत्र कहकर निकाल दिया था, तथा उसे दीक्षा देना अंगीकार न किया था। किन्तु कवष देवताओं से परिचित था, तथा देवता लोग कवष को जानते थे (यानी कवष ज्ञानी, विद्वान् तथा धर्मात्मा पुरुष था), अतः कवष महर्षि बना लिया गया।

फिर छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित सत्यकाम जाबाल के उपाख्यान से यह स्पष्ट मालूम होता है कि उन दिनों सत्यता एवं विद्या के द्वारा ही मनुष्य प्रतिष्ठा के उच्चतम शिखर पर पहुँच सकता था, जाति-पाँति के विचार उसके रास्ते में अड़चन नहीं डाल सकते थे।"[3]

"१४ सितम्बर सन् १८८१ ई० को बर्लिन (जर्मनी)

---

१. "Indian Culture" 1938. Turner, P. 371.

† संस्कार—"ताम्रायःकांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च। शौचं यथार्हं कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः।"

ताँबा, लोहा, काँसा, पीतल, राँगा और सीसा इन धातुओं के बर्तन अपवित्र होने पर भस्म, खार के पानी, और जल से माँज-धोकर शुद्ध किए जायँ। सुवर्ण के बर्तनों को केवल पानी से, चाँदी, लोहे और काँसे के बर्तनों को राख से, ताँबे और पीतल के बर्तनों को खटाई के पानी से शुद्ध करना चाहिये। कैय्यट का अभिप्राय इसी संस्कार से है; आयुर्वेद में लिखित धातु-शुद्धि से नहीं।

२. मासिक पत्रिका "चाँद" वर्ष ११ खण्ड १, मार्च सन् १९३३ ई०, संख्या ५, पृष्ठ ५५२ कालम २।

३. मासिक पत्रिका "सुधा" वर्ष ३, खण्ड २, अप्रैल सन् १९३० ई०, संख्या ३, पृष्ठ २५२ कालम २।

अर्थात्—ऋषि लोग सरस्वती के तट पर यज्ञ करते थे। उन्होंने कवष ऐलूष को यज्ञ से बाहर निकाल दिया; क्योंकि एक तो वह दासीपुत्र और दूसरा कितव (जुआरी) था और अपने आचरणों से बहुत ही भ्रष्ट था। पश्चात् इसने अध्ययनरूप महाव्रत् को धारण किया और ऋग्वेद का अध्ययन करने पर उसे वेद के नवीन-नवीन विषय भासित होने लगे। यह देख ऋषियों ने उसे बुलाया। इतना ही नहीं, किन्तु उसे आचार्य बनाकर यज्ञ किया। विद्वद्वर्य पं० नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ के वेद-गुरु आचार्य पं० सत्यव्रतजी सामश्रमी अपने ग्रन्थ "ऐतरेयालोचनम्" पृ० ११-१२ में लिखते हैं:—

"एक ऋषि की इतरा या शूद्रापत्नी से उत्पन्न पुत्र ही ऐतरेय थे। यज्ञ के समय ऋषि ने अपनी ब्राह्मणी पुत्री से उत्पन्न पुत्र को ही गोद में लेकर उसे नाना तत्त्वों का उपदेश दिया और बेचारे ऐतरेय की उपेक्षा की। दुःखित होकर ऐतरेय ने अपनी कुलदेवी मही का स्मरण किया। शूद्रगण मही की ही सन्तान हैं (Children of thesoil)। पृथ्वी गर्भ से देवी आविर्भूत हुई और ऐतरेय को दिव्य सिंहासन पर बैठाकर सर्वोत्तम ज्ञान देकर तिरोहित हुई। तपस्या और उक्त प्रकार से लब्ध ज्ञान के बल पर उन्होंने ग्रन्थ की रचना की। वही ऋग्वेद का सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मण ऐतरेय ब्राह्मण है। मही देवी से शिक्षा पाने के कारण ऐतरेय महीदास भी कहाते हैं।"

वैयाकरण पाणिनि ने "शूद्राणामनिरवसितानां" (२।४।१०) इस सूत्र में शूद्रों के दो भाग किये हैं—बहिष्कृत और अबहिष्कृत।

इस पर आचार्य कैय्यट ने लिखा है कि शूद्रों को पञ्च-यज्ञ में अधिकार है।"[1]

बहिष्कृत और अबहिष्कृत शूद्रों के विषय में धर्मशास्त्र में लिखा है:—

"यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेण शुध्यति तेऽनिरवसिताः। यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेणाऽपि न शुध्यति ते निरवसिता इति।"

अर्थात्—"जिन शूद्रों के भोजन करने पर पात्र (जूठा बर्तन) संस्कार† से, जैसा कि धर्मशास्त्र में बतलाया है, शुद्ध हो सकता है, वे अनिरवसित (अबहिष्कृत) शूद्र हैं। जिन शूद्रों के भोजन करने पर पात्र (जूठा बर्तन) संस्कार से भी शुद्ध नहीं हो सकता, वे निरवसित (बहिष्कृत) शूद्र हैं।"

पं० नोखेलाल शर्मा "काव्य-तीर्थ" अपने "वर्णव्यवस्था का स्वरूप" शीर्षक लेख में लिखते हैं:—"ऐतरेय ब्राह्मण (२।१९) में भी इलूषात्मज कवष का इसी प्रकार महर्षि बनाया जाना लिखा है। ऐतरेय ब्राह्मण और ऐतरेय उपनिषद् का बनानेवाला महीदास ऐतरेय किसी शूद्रा स्त्री का लड़का था।"[2]

श्रीरमेशनन्दन सहाय एम० ए० लिखते हैं: "मैं ऐतरेय ब्राह्मण (२।१९) में कथित इलूषात्मज कवष के उपाख्यान की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कर देना अनुचित नहीं समझता। कवष को ऋषियों ने यज्ञ समारोह से धूर्त, अब्राह्मण, दासी-पुत्र कहकर निकाल दिया था, तथा उसे दीक्षा देना अंगीकार न किया था। किन्तु कवष देवताओं से परिचित था, तथा देवता लोग कवष को जानते थे (यानी कवष ज्ञानी, विद्वान् तथा धर्मात्मा पुरुष था), अतः कवष महर्षि बना लिया गया।

फिर छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित सत्यकाम जाबाल के उपाख्यान से यह स्पष्ट मालूम होता है कि उन दिनों सत्यता एवं विद्या के द्वारा ही मनुष्य प्रतिष्ठा के उच्चतम शिखर पर पहुँच सकता था, जाति-पाँति के विचार उसके रास्ते में अड़चन नहीं डाल सकते थे।"[3]

"१४ सितम्बर सन् १८८१ ई० को बर्लिन (जर्मनी)

१. "Indian Culture" 1938. Turner, P. 371.

† संस्कार—"ताम्रायःकांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च। शौचं यथार्हं कर्त्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः।"

ताँबा, लोहा, काँसा, पीतल, राँगा और सीसा इन धातुओं के बर्तन अपवित्र होने पर भस्म, खार के पानी, और जल से माँज-धोकर शुद्ध किए जायँ। सुवर्ण के बर्तनों को केवल पानी से, चाँदी, लोहे और काँसे के बर्तनों को राख से, ताँबे और पीतल के बर्तनों को खटाई के पानी से शुद्ध करना चाहिये। कैय्यट का अभिप्राय इसी संस्कार से है; आयुर्वेद में लिखित धातु-शुद्धि से नहीं।

२. मासिक पत्रिका "चाँद" वर्ष ११ खण्ड १, मार्च सन् १९३३ ई०, संख्या ५, पृष्ठ ५५२ कालम २।

३. मासिक पत्रिका "सुधा" वर्ष ३, खण्ड २, अप्रैल सन् १९३० ई०, संख्या ३, पृष्ठ २५२ कालम २।

के अन्तर्वार्तीय सम्मेलन में पढ़े हुए निबन्ध से पता लगता है कि ऐतरेय ब्राह्मण, मनुस्मृति, और अष्टाध्यायी द्वारा यह मालूम होता है कि एक शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण अपने कर्मानुसार शूद्र बन सकता है। 'जाबाल' जो बाद में सत्यकाम कहलाने थे उन्हें विद्वान् लेखक ने अपने एक प्रमाण रूप में उद्धृत किया था।" १

पं० धर्मदेवजी शास्त्री, दर्शन-केसरी, पद्मतीर्थ अपने "वर्ण-व्यवस्था और जाति-पाँति" शीर्षक लेख में लिखे हैं:—
"महीदास जैसे शूद्र उसी जमाने में ब्राह्मण ग्रन्थों के निर्माता बने हैं। महाभारत में तो अनेक ऐसी दन्तकथाएँ मिलती है, जिनसे प्रतीत होता है कि शूद्र भी बड़े विद्वान और प्रतिष्ठित होते थे।" २

राज्यरत्न मास्टर आत्मारामजी अमृतसरी अपने "वैदिक-काल में कोई भी मनुष्य भारत में अछूत नहीं था" शीर्षक लेख‡ में लिखते हैं:—

"यजुर्वेद अ० २६ मं० २ में वेद का पठन-पाठन मनुष्य-मात्र के लिए हैं और चर्मकार को उक्त मंत्र में वेद पढ़ने का अधिकार है। उक्त मंत्र के अर्थ बङ्ग-भूषण पं० श्री सत्यव्रत सामश्रमी तथा महर्षि दयानन्दकृत समान ही हैं।

यजुर्वेद में शूद्र को तपस्वी कहा गया है। तीनों वेदों के पुरुषसूक्त में समाज के नेता को ब्राह्मण नाम देकर, जहाँ उसकी मुख से उपमा दी है, वहाँ शूद्र को वैदिक आर्य-समाज के पग से उपमा दी है। पग शरीर की उन्नति का अङ्ग है। जब मानवी बच्चा पग पर खड़ा होना और पग से चलना आरम्भ करता है तब ही वह बल प्राप्त करता है। अतः शूद्र-समाज के बल के आधार हैं।

वैदिक काल में चारों वर्ण गुण-कर्म पर थे। वैदिककाल का आरम्भ ऋग्वेद समाप्ति से सुप्रसिद्ध गीताकाल तक है—कारण कि जिस प्रकार वेद के यौगिक शब्दों में जो पुरुष या स्त्री, ब्रह्म अर्थात् ईश्वर का भक्त तथा वेद का पण्डित वा पण्डिता हो, उसको ब्राह्मण कहा जाता है। ठीक इसी वैदिक तत्त्व को श्री पूज्य योगेश्वर कृष्णदेव महाराज गीता में दर्शाते हैं कि सृष्टि में चारों वर्ण की रचना गुण-कर्म के विभाग से है।

अतः उक्त वैदिक काल में इसके दृष्टान्त भी इतिहास में मिलते हैं। यथा "वाल्मिकि, डाकू वा दस्यु; दुष्ट पुरुष विद्या और सदाचार से महर्षि बनकर अमर रामायण रचता है तथा श्री पूज्य महर्षि व्यासदेवजी वेदव्यास बनकर वेदान्तदर्शन रचते तथा महाभारत के कर्त्ता बनते हैं। इनकी माता क्या थी, यह कौन नहीं जानता। इसी वैदिकराज में हम उपनिषद् में वर्णन पाते हैं कि वेश्यापुत्र जाबाल, ऋषि के गुरुकुल में प्रविष्ट हो, भारी विद्वान् बन जाबाल ऋषि बनता है।"

डॉ० सूर्यदेव शर्मा एम० ए०, एल्० टी०, डी० लिट्०, साहित्यालंकार, सिद्धान्त-शास्त्री अपने "प्राचीन भारत में शूद्रों की शिक्षा" शीर्षक लेख[3] में लिखते हैं:—

"विष्णु पुराण में भी लिखा है कि श्री वेदव्यासजी ने एक पुराण-संहिता लिखी, जिसको उन्होंने एक शूद्र रोमहर्षण को पढ़ाया। रोमहर्षण ने उसे अपने छः शिष्यों को पढ़ाया जिनमें तीन अब्राह्मण थे। इन तीनों शिष्यों में से प्रत्येक ने एक-एक पुराण लिखा। फिर इन तीन पुराणों और श्रीवेदव्यासजी रचित "पुराण-संहिता" को मिलाकर विष्णु पुराण की रचना हुई। इससे भी सिद्ध होता है कि शूद्र न केवल विद्याध्ययन करते थे, किन्तु पुराणों के रचयिता और ब्राह्मणों तक के गुरु बन सकते थे। व्यक्तिगत उदाहरणों में हम विदुर जैसे नीतिज्ञों को पाते हैं, जो एक दासी-पुत्र थे और क्षेत्रप्रधान होने के कारण जिनकी गणना शूद्रों में ही होनी चाहिये थी; लेकिन वह केवल साहित्य, दर्शन और राजनीति में ही निपुण न थे, किन्तु विदेशी भाषायें भी जानते थे। धर्म व्याध की कथा भी यही सिद्ध करती है। वह एक व्याध था। उसने अपनी लड़की अर्जुनिका का विवाह मातङ्ग ऋषि से किया था। एक बार धर्म व्याध और मातङ्ग ऋषि में धार्मिक विवाद हो जाने पर धर्म व्याध ने बहुत से प्रमाण वेदों से उपस्थित किये थे।

इसी प्रकार कवष ऐलूष जैसे-दासी पुत्र भी इतने विद्वान् हुए कि वेद-मंत्रों के द्रष्टा ऋषियों की पदवी को प्राप्त कर सके थे।"

श्री रामप्रसादजी बी० ए० लिखते हैं—"छान्दोग्योपनिषद् में जाबाल ऋषि की कथा आती है। वह अज्ञात कुल

१ Paper on Sanskrit as living language. तथा पं० यशपालजी सिद्धान्तालंकार अपनी पुस्तक **"वैदिक सिद्धान्त-दर्पण" प्रथम संस्करण पृष्ठ १७२-१७३ में जाबाल को शूद्र लिखते हैं।**

२. मासिक पत्रिका "सुधा" वर्ष ११, खण्ड २, अप्रैल १९३८ ई० संख्या ३, पृष्ठ १९८ कालम १।

‡ साप्ताहिक पत्र "जागरण" काशी, मि० फाल्गुन वदी १३ सोमवार, सं० १९९० वि० पृष्ठ ७।

३. मासिक पत्र "वैदिक धर्म" वर्ष ६, सितम्बर १९३२ ई०, अंक ७, पृष्ठ ७१७-७१८।

का था, तो भी उसे ब्राह्मण की पदवी मिली। विश्वामित्र एक क्षत्रिय राजा थे, तप करके ब्रह्मर्षि बने। मातङ्ग चाण्डाल कुल से ब्राह्मण हो गया, कवष ऐलूष दासी का पुत्र था, परन्तु वेद ज्ञाता ऋषि बना।"[1]

पं० राजाराम शास्त्री लिखते हैं:—"वेद में कोई ऐसा मन्त्र नहीं, जो शूद्र के अधिकार का बाधक हो। प्रत्युत यह बड़ा प्रबल साधक प्रमाण है कि इलूष का पुत्र कवष ऋषि जो जन्म से शूद्र है, वह ऋग्वेद के अपोनप्त्रीय सूक्त का ऋषि (मन्त्र-द्रष्टा) है। सो जब शूद्र को मन्त्रद्रष्टा ऋषि बनने में कोई रोक नहीं, तो उसको मन्त्राध्ययन में कैसे रोक हो सकती है। यह अनुदारता का भाव कि शूद्र वेदाध्ययन का का अधिकारी नहीं, पूर्व ऋषियों के समय नहीं पाया जाता[2]

श्री वामन सोमनारायण दलाल बी० ए० लिखते हैं:—

Thus we learn from the Aitareya Brahman that Kavasa, the son of Iluse, was once expelled from a session held on the Saraswati on the ground that he was the son of a slave girl and gamester, but when it became known, "That he knew the gods and the gods knew him", he was admitted and recognised as a member of their caste. The story of Satyakama Jabala supports the view".[3]

अर्थात्—इस तरह हम ऐतरेय ब्राह्मण से जानते हैं कि ऐलूष का पुत्र कवष दासी-पुत्र होने के कारण सरस्वती के किनारे पर लगी हुई एक सभा (यज्ञ) से निकाला गया था जब यह बात ज्ञात हुई कि वह देवताओं को जानता है और देवता उसको जानते हैं तो वह उनके समाज में स्वीकार किया गया। सत्यकाम जाबाल की गाथा भी इसी बात को सिद्ध करती है।

वैदिक रीसर्च स्कॉलर पं० विश्वबन्धु शास्त्री, एम०ए०, एम० ओ० एल० लाहौर लिखते हैं:—"छान्दोग्योपनिषद् में परिचारिणी जाबाल के पुत्र ऋषि सत्यकाम को आप तो कभी भी न कह सकते "समिधं सौम्याहरोप त्वा नेष्ये" अर्थात्—हे प्रिय! समिधा को ले आ! मैं उपनयन कर तुम्हें अपना शिष्य बनाता हूं। ऐतरेय ब्राह्मण में कवष ऐलूष का चरित्र अब्राह्मण और जुआरिया लिखकर फिर स्वीकार किया गया है कि वह भी अपने परिश्रम से ऋषि हो गया।"[4]

पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर सम्पादक "वैदिक धर्म', पत्र, औंध अपने ग्रन्थ[5] में लिखते हैं—ऐतरेय महीदास एक शूद्री का पुत्र था। वह आगे चलकर वेदवेत्ता ब्राह्मण हुआ और उसने ऋग्वेद के सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण नामक ग्रन्थ बनाया। वह 'इतरा' स्त्री का पुत्र था। इसलिए ऐतरेय कहलाया, नहीं मालूम कि इसका पिता कौन था। इसलिए उसका नाम उसकी माँ के नाम से चलता है। 'इतर' शब्द का अर्थ 'नीच' होता है "इतरस्त्वन्यनीचयोः इत्यमरः।" इससे स्पष्ट है कि महीदास की मा इतरा नीच जाति की शूद्रा थी। ऐतरेय भाष्य के आरम्भ में सायणाचार्य ने भाष्य के रचयिता के विषय में इस प्रकार की कथा दी है कि इस इतरा का पुत्र ऐतरेय महीदास वेदवेत्ता हुआ सर्वमान्य ग्रन्थकर्ता बना।" §

"The Aitareya Brahman relates a similar story of Kavasha, who happend to be present at a great Yajna performed by the Rishis on ths bank of the Saraswati. The Rishis did not give him the some juice, saying—"How should this wily man, son of a save girl, who is no Brahman, remain among us and become initiated". दास्याः पुत्रः कितवो ऽब्राह्मणः कथं नो मध्येऽदीक्षिष्टेति But Kav

[शेष टाइटल पेज ३ पर]

१. "वैदिक सिद्धान्त" द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ७५   २. "वेदान्त-दर्शन-भाष्य" पृष्ठ २६४

३. "A History of India" P. 137. (1914 A. D.)

४. "आर्योदय" प्रथम संस्करण, पृष्ठ १३१।

५. "छूत और अछूत" द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १५५-१५६।

§ देखो "रावणा राजपूत-मीमांसा" प्रथम खण्ड, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १५२; प्रो० रामदेवजी एम० ए० कृत "आर्य और दस्यु" पृष्ठ २५; महता रामचन्द्र शास्त्री कृत "पतितों की शुद्धि सनातन है" तृतीयावृत्ति, पृष्ठ ३६; में भी ऐतरेय महीदास को शूद्रा-पुत्र लिखा है।

ॐ

ऋग्वेद–भाषाभाष्य

(प्रथम भाग)

ऋषि दयानन्दकृत ऋग्वेद के संस्कृत भाष्य का भाषानुवाद

अनुवादक—

पं० युधिष्ठिर मीमांसक

प्रकाशक—

मन्त्री—श्रीरामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर

प्रथम वार १००० } संवत् २०१२ { मूल्य २॥)

ओ३म्

सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि । (अथर्व० १।१।४)॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उनसे कभी विमुख न हों !

प्राक्कथन

ऋषि दयानन्द सरस्वती भारत में प्रथम महापुरुष हुए, जिन्होंने जन्म की भाषा गुजराती होने पर भी अपने सब ग्रन्थ आर्यभाषा (हिन्दी) में लिखे । इतना ही नहीं, अपितु उन्होंने व्याकरण के १४ भाग (वेदाङ्ग प्रकाश) भी आर्यभाषा में ही लिखे और सम्पूर्ण यजुर्वेद और ऋग्वेद के सातवें मण्डल के ६२ वें सूक्त के २ मन्त्र तक जो भाष्य किया वह संस्कृत और हिन्दी दोनों में किया । व्याकरण और वेद को भाषामें करनेवाले सर्व प्रथम स्वामी दयानन्द सरस्वती ही हैं । भारतीयों के लिये विशेषकर वैदिक धर्मियों के लिये यह महान् गर्व और गौरव की बात है ।

सर्व साधारण वेद पढ़े और प्रत्येक भारतीय गृह में वेद का पुस्तक सुलभ हो, और उसे पढ़कर प्रत्येक व्यक्ति जीवनसम्बन्धी अनेक समस्याओं का हल प्राप्त कर वेद से लाभ उठावे वेद केवल बस्तों में बन्धे वर्ष में एकबार धूप दीप वा पूजा मात्र की वस्तु न रहकर मानव समाज के काम की वस्तु, नहीं नहीं, प्रकाशस्तम्भ का काम दे सकें । इस उद्देश्य से आचार्य दयानन्द ने वेद का भाष्य किया और वह भी संस्कृत और हिन्दी दोनों में किया ।

सर्व साधारण के लिये वेद का भाष्य सुलभ, सस्ता और साथ ही सुन्दर कागज पर सुन्दर अक्षरों में मुद्रित हो, इसकी आवश्यकता बहुत अनुभव की जा रही थी । संस्कृत भाष्य सहित का मूल्य अधिक होने से तथा केवल भाषार्थ पढ़ने वालों के लिये यजुर्वेद भाषाभाष्य इटावानिवासी पं० सत्यव्रतशर्मा ने छापा, तब पीछे परोपकारिणी सभा अजमेर को भी ध्यान आया कि हम भी छापें । इधर स्वर्गीय श्री बाबू रूपलाल जी कपूर (संस्थापक रामलाल कपूर ट्रस्ट) प्रति दिन ऋग्वेद भाष्य का स्वाध्याय करते थे । और भाषा भाष्य के अनेक स्थलों के विषय में निरन्तर मुझ से शंका समाधान करते थे । कभी कभी तो वह इतना गहरा पूछते थे कि एक ही मन्त्र को संस्कृत भाष्य सहित पहले मुझे स्वयं विचारना पड़ता था, तब मैं उनका समाधान कर पाता था । उससे अनुभव यह हुआ कि ऋषि भाष्य का हिन्दी भाषार्थ कहीं कहीं संस्कृत से भिन्न है, अनुवाद करनेवाला ठीक अनुवाद नहीं कर पाया, इस कारण भी वह सर्व साधारण की समझ में नहीं आता । कहीं-कहीं तो ऋषि ने संस्कृत में परिवर्धन कर दिया, उसकी हिन्दी रह गई; कहीं संस्कृत में संशोधन वा परिवर्तन कर दिया, हिन्दी वैसी की वैसी ही अर्थात् पहिले की संस्कृत की ही रह गई । इन कारणों से ठीक अभिप्राय समझने में बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है । संस्कृत भाष्य समझने वालों की भी यह कठिनाई ध्यान से देखने और समझने पर ही दूर हो पाती है । पर आर्यभाषा जानने वाला उस संस्कृत के पाठ से वञ्चित रह जाता है ।

यह सब देखकर स्वर्गीय श्री बा० रूपलालजी कपूर की प्रेरणा तथा उनके भ्राताओं विशेषकर श्री बा० हंसराज जी कपूर के उद्योग से ऋषि दयानन्दकृत ऋग्वेदभाष्य का भाषाभाष्य के मुद्रण का प्रारम्भ सन् १९४६ के अन्त में लाहौर रावी तट पर अपने पञ्चनद प्रेस में प्रारम्भ हुआ ।

बहुत कुछ सोच विचार कर हम सब इसी परिणाम पर पहुँचे कि इस ऋग्वेदभाष्य की भाषा ऋषि भाष्य की संस्कृत के अनुसार होनी चाहिये। अजमेर से छपे हुए ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य के प्रत्येक भाग के आवरण पत्र पर—"इस भाष्य की भाषा को पण्डितों ने बनाई और संस्कृत को भी उन्होंने शोधी है" ऐसा छपा रहता है। सो उन पण्डितों की भाषा में अनेक त्रुटियां रहीं, जिन का रहना स्वाभाविक ही कहा जायेगा।

यह सब देखकर ऋषि भाष्य की संस्कृत के सर्वथा अनुकूल स्वतन्त्र भाषानुवाद किया जाये, जिसका उत्तरदायित्व अनुवादक पर ही रहे, यही निश्चय किया गया। तदनुसार यह भाषाभाष्य लाहौरमें—

(१) २०×३०=३२ पौण्ड के आर्टपेपर पर

(२) १०४ पृष्ठ तक १ अगस्त १९४७ तक छपा था।

(३) इसी के लिये बम्बई का विशेष स्वर वाला ग्रेट टाइप तथा पैका नं० १ काला और पैका नं० २ सफेद मंगवाया गया था।

लाहौर के पाकिस्तान में आ जाने पर इस भाषाभाष्य का छपना बन्द हुआ। और वह वहीं नष्ट हो गया।

पुनः मुद्रण का विचार

ट्रस्ट का अपना प्रेस लाहौर में रह गया, इधर १५००० रु० का ट्रस्ट की पुस्तकों का सम्पूर्ण स्टाक और आश्रम की ४०-५० मन पुस्तकें (जिनमें हस्तलिखित भी ५०० के लगभग थीं) १३ अगस्त १९४७ को पैसा अखबार वाला मकान जला देने के कारण नष्ट हो गई।

लगभग ३ वर्ष तक ट्रस्ट के कार्यकर्त्ताओं की तथा मेरी स्थिति कहीं ठीक नहीं बनी। ट्रस्ट के संचालकों ने उतनी घोर आपत्ति आने पर भी साहस नहीं छोड़ा, जब कि लगभग २० लाख की उनकी निजी सम्पत्ति की हानि हो चुकी थी। इस पर भी श्री बा० रूपलालजी, श्री बा० हंसराज जी, श्री बा० ज्ञानचन्दजी, श्री बा० प्यारेलाल जी चारों भाइयों ने अपूर्व साहस का परिचय दिया, जो ट्रस्ट के कार्य को पुनः संचालित करने का निश्चय किया। उधर मैं भी ३ वर्ष सार्वजनिक कार्य में ही इतना व्यस्त रहा कि १० मिनट का भी अवकाश नहीं मिलता था।

अन्त में मार्च १९५० में ही हम सबने काशी रहने का विचार निश्चित किया। प्रिय युधिष्ठिर मीमांसक भी अजमेर से काशी पहुँच गया। उधर नवम्बर १९५० में वेदवाणी ट्रस्ट की ओर से प्रकाशित करने का निश्चय हुआ, जो मेरे लिये आश्चर्यजनक घटना ही कही जा सकती है।

वेदवाणी के नाम को सार्थक बनाने तथा वेद प्रेमियों के स्वाध्याय के लिये सरल और प्रामाणिक वेदभाष्यरूपी भोजन देने का विचार फिर प्रबल हो उठा, तब नवम्बर १९५१ से यह ऋग्वेद भाषाभाष्य वेदवाणी में मासिक रूप से छपने लगा, जिसके लिये हमारे बहुत से ग्राहक प्रतिमास लालायित रहते हैं।

अनुवाद की विशेषता

१—जहां अजमेर मुद्रित भाषार्थ ऋषि दयानन्द की पुरानी संस्कृत का होने से या पण्डितों की असावधानता से वर्तमान संस्कृत से विपरीत था, वहां हमने उसे अधिक से अधिक संस्कृतानुसारी बनाने का प्रयत्न किया है।

२—जहां अजमेर मुद्रित भाषार्थ संस्कृत पाठ से अधिक होते हुये भी उपयोगी था, वहां हमने उसे [ ] कोष्ठक में देकर नीचे टिप्पणी में दर्शा दिया है कि इसका मूल संस्कृत में नहीं है।

३—कहीं कहीं हमने अनुवाद में अपनी ओर से भी कुछ पाठ बढ़ाया है, उसे भी हमने [ ] कोष्ठक में रखकर नीचे टिप्पणी में उस पाठ के बढ़ाने का कारण लिख दिया है, और यह भी दर्शा दिया है कि इस पाठ का मूल संस्कृत में नहीं है।

४—जहां संस्कृत अन्वय व्यस्त होने के कारण अस्पष्ट प्रतीत हुआ, वहां हमने अजमेर मुद्रित भाषार्थ ही रहने दिया है और उसका नीचे टिप्पणी में निर्देश कर दिया है।

५—जहां संस्कृत अन्वय में मन्त्रगत पद छूट गये थे और भाषार्थ में भी उनका निर्देश नहीं था, वहां यथासम्भव उन्हें भाषार्थ में संस्कृत पदार्थानुसार जोड़ने का प्रयत्न किया है और जहां मन्त्रगत छूटा हुआ पद उक्त संस्कृत अन्वय में संबद्ध नहीं हो सका (हम ठीक स्थान पर उसे नहीं रख सके) वहां नीचे टिप्पणी में उसका निर्देश कर दिया है।

६—अनेक स्थानों पर भाष्य के अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये टिप्पणियां दी हैं।

प्रिय पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने यह भाषानुवाद बहुत ही योग्यता, परिश्रम और निष्ठापूर्वक किया है। ट्रस्ट और जनता की ओर से वे बहुत धन्यवाद के पात्र हैं। यह विदित रहे कि इस संस्कृत भाष्य का अनुवाद यदि १० व्यक्ति एक काल में पृथक् पृथक् करने बैठें तो उनके अनुवाद में अवश्य ही भेद रहेगा। इस अनुवाद करने के सिद्धान्त निर्धारित करने में मेरा भी सहयोग रहा है। अनुवाद वा टिप्पणी में कोई भी विद्वान् अपना मतभेद रख सकते हैं। पं० युधिष्ठिर मीमांसक के परिश्रम और योग्यता के लिये हर एक विद्वान् को भी उनका अनुगृहीत होना चाहिये।

ऋषि के वेदभाष्य की बहुत सी गुत्थियां इस भाषाभाष्य से खुलेंगी, यह मुझे पूर्ण विश्वास है।

मैं चाहता हूं कि ऋषि दयानन्दकृत ऋग्वेद भाष्य (संस्कृतभाष्य सहित) का भी एक महत्त्वपूर्ण संस्करण निकले। पं० युधिष्ठिर मीमांसक को मैं इस कार्य के लिये परम उपयुक्त समझता हूं। प्रभु कृपा करें कि उनके द्वारा यह कार्य पूर्ण हो।

यह कार्य नया भाष्य करने की अपेक्षा अधिक परिश्रम साध्य है, इस बात को सर्वसाधारणजन नहीं समझ सकते। हमें तो अपना भाष्य नहीं जंचता, ऋषिभाष्य को ही हमें मुख्यता देना परमावश्यक प्रतीत होता है। अतः हम समझते हैं कि हमारा परिश्रम जहां वेदप्रेमी स्वाध्यायशील आर्यबन्धुओं के लिये अनन्त लाभकर है, वहां भारतीयमात्र तक वेद का जीवन सन्देश पहुँचाने के लिये परम उपयोगी है।

प्रत्येक भारतीय गृह में वेद का यह अपूर्व ग्रंथ अवश्य रहना चाहिये, और प्रत्येक नर-नारी को इसका स्वाध्याय करना चाहिये।

मोतीझील, बनारस ६
२१ फाल्गुन, संवत् २०११ वि०
२ मार्च १९५५

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
प्रधान रामलाल कपूर ट्रस्ट—
अमृतसर

फिर उसी उत्तर का उपदेश अगले मन्त्र में किया है।

अभूदु पारमेतवे पन्था ऋतस्य साधुया ।
अदर्शि वि स्रुतिर्दिवः ॥ ११ ॥

पदार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि समुद्रादि के (पारम्) पार (एतवे) जाने के लिये जहां (दिव्यः) प्रकाशमान अग्नि और (ऋतस्य) जल का (विस्रुतिः) अनेक प्रकार प्राप्ति वाले (पन्थाः) मार्ग (अभूत्) हों वहां स्थिर हो के (साधुया) उत्तम सवारी से सुखपूर्वक देश देशान्तरों को (अदर्शि) देखें अर्थात् व्यापारादि करें, वह ऐश्वर्यशाली क्यों न होवें ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि सर्वत्र आने जाने के लिये सीधे और शुद्ध मार्गों को रच और विमानादि यानों से इच्छापूर्वक भ्रमन करके नाना प्रकार के सुखों को प्राप्त करें ॥ ११ ॥

फिर सभा और सेनापति को अश्वियों से क्या पाना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है।

तत्तदिदश्विनोरवो जरिता प्रति भूषति ।
मदे सोमस्य पिप्रतोः ॥ १२ ॥

पदार्थ—जो (जरिता) स्तुति करने वाला विद्वान् मनुष्य (पिप्रतोः) पूरण करने वाले (अश्विनोः) सभा और सेना के पति से (इत्) ही[1] (सोमस्य) उत्पन्न हुए जगत् के बीच (मदे) आनन्द युक्त व्यवहार में (अवः) रक्षादि को (प्रतिभूषति) अलंकृत करता है, (तत्तत्) उस सुख को प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

भावार्थ—कोई भी विद्वानों से शिक्षा वा क्रिया को ग्रहण किये विना सब सुखों को प्राप्त नहीं हो सकता, इस से उसका खोज नित्य करना चाहिये ॥ १२ ॥

फिर वे कैसे हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है।

वावसाना विवस्वति सोमस्य पीत्या गिरा ।
मनुष्वच्छंभू आ गतम् ॥ १३ ॥

पदार्थ—हे (वावसाना) अत्यन्त सुख में वसने (शम्भू) सुखों के उत्पन्न करने वाले, पढ़ाने और सत्य के उपदेश करने हारे आप (विवस्वति) सूर्य के प्रकाश में (सोमस्य) उत्पन्न हुए जगत् के मध्य में (पीत्या) रक्षा रूपी क्रिया वा (गिरा) वाणी से हम को (मनुष्वत्) रक्षा करने हारे मनुष्यों के तुल्य (आ गतम्) सब प्रकार प्राप्त हूजिये ॥ १३ ॥

१. संस्कृत अन्वय में मन्त्रगत 'इत्' पद छूटा है, हमने उसे तथा उसके अर्थ को यथास्थान जोड़ने का प्रयत्न किया है।

भावार्थ—हे मनुष्यो ! तुम जिस प्रकार परोपकारी मनुष्य प्राणियों के निवास विद्याप्रकाश और दान से सुखों को प्राप्त कराते हैं, वैसे तुम भी सब को प्राप्त कराओ ॥ १३ ॥

इन दोनों से क्या प्राप्त करें इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ।

युवोरुषा अनु श्रियं परिज्मनोरुपाचरत् ।
ऋता वनथो अक्तुभिः ॥ १४ ॥

पदार्थ—हे (ऋता) उचित गुण सुंदर स्वरूप सभा और सेना के पति जैसे (उषाः) प्रभात समय (अक्तुभिः) रात्रियों के साथ (उपाचरत्) प्राप्त होता है, वैसे (परिज्मनोः) सर्वत्र गमनकर्ता सूर्य और चन्द्रमा के सदृश वर्तमान (युवोः) आप का न्याय और रक्षा हमको प्राप्त होवे, आप (श्रियम्) उत्तम लक्ष्मी को (अनुवनथः) अनुकूलता से सेवन कीजिये ॥ १४ ॥

भावार्थ—राजा और प्रजाजनों को चाहिये कि परस्पर प्रीति से महान् ऐश्वर्य को प्राप्त होकर सबके उपकार में यत्न किया करें ॥ १४ ॥

फिर वे हमलोगों के लिये क्या करें इसका उपदेश अगले मन्त्र में किया है ।

उभा पिबतमश्विनोभा नः शर्म यच्छतम् ।
अविद्रियाभिरूतिभिः ॥ १५ ॥ [३५]

पदार्थ—हे सभा और सेना के स्वामिन् (अश्विना) सम्पूर्ण विद्या और सुख में व्याप्त होने वाले तुम दोनों अमृत रूप औषधियों के रस को (पिबतम्) पीओ और (उभा) दोनों (अविद्रियाभिः) अखण्डित क्रियायुक्त (ऊतिभिः) रक्षाओं से (नः) हम को (शर्म) सुख (यच्छतम्) देओ ॥ १५ ॥

भावार्थ—जो सभा और सेनापति आदि राज पुरुष प्रीति और विनय से प्रजा की पालना करें तो प्रजा भी उनकी रक्षा अच्छे प्रकार करे ॥ १५ ॥

इस सूक्त में उषा और अश्वियों का प्रत्यक्षार्थ वर्णन किया है, इससे इस सूक्त की पूर्व सूक्त के अर्थ के साथ संगति जाननी चाहिये ॥

यह ३५ पैंतीसवां वर्ग, ४६, छयालीसवां सूक्त और ३ तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीयुतस्वामिविरजानन्दसरस्वतीनां शिष्येण
श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचितस्य ऋग्वेदभाष्यस्य भाषानुवादे
तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥

[पृष्ठ २४ का शेष]

asha possessed divine knowledge, and when the Rishis came to know this, they recalled him and admitted him as a Rishi". 'Caste system" p p. 10-11

अर्थात्—ऐतरेय ब्राह्मण में कवष की गाथा आती है कि इसने ऋषियों द्वारा निर्मित सरस्वती किनारे के यज्ञ में सम्मिलित होना चाहा। परन्तु ऋषियों ने उसे दासी-पुत्र कहकर सोमरस नहीं दिया। जब ऋषियों को पता चला कि कवष को अध्यात्म ज्ञान प्राप्त हो गया तब उसे पुनः बुलाकर ऋषि की तरह स्वीकार किया।

इन प्रमाणों से स्पष्ट हो गया कि महर्षि दयानन्दजी ने स्त्री और शूद्रों को अर्थात् मनुष्य मात्र को जो वेदाध्ययन का अधिकार बतलाया है वह वेदादि सच्छास्त्रानुकूल है।

इत्यलम्

ग्राहकों से आवश्यक निवेदन

पत्र तथा मनियार्डर "प्रबन्धक वेदवाणी" के नाम भेजें, व्यक्तिगत नाम से नहीं

हम अपने वेदवाणी के ग्राहकों को कई बार सूचना दे चुके हैं और वेदवाणी के नियमों में भी बराबर छपता रहता है कि वेदवाणी की व्यवस्था सम्बन्धी पत्रव्यवहार तथा मनियार्डर आदि "व्यवस्थापक वेदवाणी" के नाम भेजा करें। व्यक्तिगत नाम से नहीं। इतना होने पर भी हमारे बहुत से ग्राहक पत्रव्यवहार तथा धनादेश पं० युधिष्ठिर मीमांसक के नाम से भेजते हैं। यद्यपि अभी तक तो इससे विशेष कठिनाई नहीं हुई, परन्तु भविष्य में कठिनाई उत्पन्न होने की सम्भावना है, क्योंकि पं० युधिष्ठिर मीमांसक को यहां का जलवायु अनुकूल न होने से रुग्णता के कारण ट्रस्ट की व्यवस्था से काशी छोड़कर देहली जाना पड़ रहा है। अतः उनके यहां न रहने पर उनके व्यक्तिगत नाम से भेजे गये पत्र और मनियार्डर में गड़बड़ न हो, इसलिये पाठकों से हमारा निवेदन है कि वे आगे से प्रबन्ध सम्बन्धी समस्त पत्रव्यवहार तथा धनादेश "प्रबन्धक वेदवाणी" के नाम से भेजें, किसी भी व्यक्ति के नाम से न भेजें।

आशा है ग्राहक महानुभाव इस पर अवश्य ध्यान देंगे। मनियार्डर–पत्रादि "व्यवस्थापक वेदवाणी" के नाम से भेजेंगे, व्यक्तिगत नाम से नहीं।

सम्पादक वेदवाणी

स्थान-परिवर्तन की सूचना

जलवायु की प्रतिकूलता के कारण मेरा यहां स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता, लगभग १॥ वर्ष से सतत कुछ न कुछ कष्ट बना ही रहता है, अतः स्वास्थ्य की दृष्टि से मैं काशी छोड़कर देहली जा रहा हूं। इसलिये आगे से वेदवाणी सम्बन्धी समस्त पत्रव्यवहार मेरे नाम से न करके "व्यवस्थापक वेदवाणी" के नाम से करें। अन्यथा डाक के गड़बड़ होने से उत्तर मिलने में विलम्ब होगा। मेरा देहली का पता इस प्रकार रहेगा—

"द्वारा–श्रीरामलाल कपूर एण्ड संस लिमिटेड पेपर मरचेन्ट, नई सड़क, देहली

संपादक, प्रकाशक व मुद्रक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, चन्द्रशेखर मुद्रणालय, प्रिंसेसरगंज, बनारस।

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ७] ❁ [अङ्क ७

इस अंक के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

वैशाख २०१२, मई १९५५
दयानन्दाब्द १३०
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५५

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
बनारस नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
,, ,, विदेश में ६)
इस अंक का ।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ।|) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा।

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १ तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहिएं। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस ६

ग्राहकों से आवश्यक निवेदन

पत्र तथा मनिआर्डर "प्रबन्धक वेदवाणी" के नाम भेजें, व्यक्तिगत नाम से नहीं

हम अपने वेदवाणी के ग्राहकों को कई बार सूचना दे चुके हैं और वेदवाणी के नियमों में भी बराबर छपता रहता है कि वेदवाणी की व्यवस्था सम्बन्धी पत्रव्यवहार तथा मनियार्डर आदि "व्यवस्थापक वेदवाणी" के नाम भेजा करें। व्यक्तिगत नाम से नहीं। इतना होने पर भी हमारे बहुत से ग्राहक पत्रव्यवहार तथा धनादेश पं० युधिष्ठिर मीमांसक के नाम से भेजते हैं। यद्यपि अभी तक तो इससे विशेष कठिनाई नहीं हुई, परन्तु भविष्य में कठिनाई उत्पन्न होने की सम्भावना है, क्योंकि पं० युधिष्ठिर मीमांसक को यहां का जलवायु अनुकूल न होने से रुग्णता के कारण ट्रस्ट की व्यवस्था से काशी छोड़कर देहली जाना पड़ रहा है। अतः उनके यहां न रहने पर उनके व्यक्तिगत नाम से भेजे गये पत्र और मनियार्डर में गड़बड़ न हो, इसलिये पाठकों से हमारा निवेदन है कि वे आगे से प्रबन्ध सम्बन्धी समस्त पत्रव्यवहार तथा धनादेश "प्रबन्धक वेदवाणी" के नाम से भेजें, किसी भी व्यक्ति के नाम से न भेजें।

आशा है ग्राहक महानुभाव इस पर अवश्य ध्यान देंगे। मनियार्डर-पत्रादि "व्यवस्थापक (प्रबन्धक) वेदवाणी" के नाम से भेजेंगे, व्यक्तिगत नाम से नहीं।

श्री० पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक का पता—८।० रामलाल कपूर एण्ड सन्स लिमिटेड पेपर मरचेन्ट, नई सड़क देहली।

सम्पादक वेदवाणी

ओ३म्

वेदवाणी

सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष ७ } काशी, वैशाख सं० २०१२ वि०, मई १९५५ ई० { अङ्क ७

[आर्याभिविनय से

विन्ध्यवासिनी प्रसाद अनुगामी

सुखों का स्रोत

ओं शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः ॥१॥

ऋ० अ० १ अ० ६ व० १८ मं० ९

मित्रः ओ३म् सबसे स्नेह करनेवाला और सबके स्नेह का पात्र ओ३म्
नः = अस्मभ्यं हमारे लिये
शम् = दुःख निवारक, सुखदाता
(भवतु) होवे
वरुणः ओ३म् स्वीकार करने योग्य, दुःख को परे करने में कुशल ओ३म्
नः = अस्मभ्यं हमारे लिये
शम् = दुःख निवारक, सुखदाता
(भवतु) होवे
अर्यमा ओ३म् परमेश्वरानुरूप, संसार का स्वामित्व कार्य करने वाला ओ३म्
नः = अस्मभ्यं हमारे लिये
शम् = दुःख निवारक, सुखदाता
भवतु होवे
इन्द्रः ओ३म् परमैश्वर्य से युक्त ओ३म्
बृहस्पतिः बड़े से बड़े पदार्थ एवं वेदशास्त्र के निर्माता ओ३म् पालक और शासक ओ३म्
नः = अस्मभ्यं हमारे लिये
शम् = दुःखनिवारक, सुखकारक
(भवतु) होवे
विष्णुः ओ३म् सब सृष्टि में व्याप्त और जीवों को संसार के दुःखजाल से पृथक् रखनेवाला
नः = अस्मभ्यं हमारे लिये
शम् = दुःखनिवारक, सुखदाता
(भवतु) होवे

ऋषिव्याख्यान—

हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप, हे नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव, हे अद्वितीयानुपमजगदादिकारण, हे अज, निराकार, सर्वशक्तिमन्, न्यायकारिन्, हे जगदीश, सर्वजगदुत्पादकाधार, हे सनातन, सर्वमङ्गलमय, सर्वस्वामिन्, हे करुणाकरास्मत्पितः, परमसहायक, हे सर्वानन्दप्रद, सकलदुःखविनाशक, हे अविद्यान्धकारनिर्मूलक, विद्यार्कप्रकाशक, हे परमैश्वर्यदायक, साम्राज्यप्रसारक, हे अधमोद्धारक, पतितपावन, मान्यप्रद, हे विश्वविनोदक, विनयविधिप्रद, विश्वासविलासक, हे निरञ्जन, नायक, शर्मद, नरेश, निर्विकार, हे सर्वान्तर्यामिन्, सदुपदेशक, मोक्षप्रद, हे सत्यगुणाकर, निर्मल, निरीह, निरामय, निरुपद्रव, दीनदयाकर, परमसुखदायक, हे दारिद्र्यविनाशक, निर्वैरविधायक, सुनीतिवर्धक, हे प्रीतिसाधक, राज्यविधायक, शत्रुविनाशक, हे सर्वबलदायक, निर्बलपालक, धर्मसुप्रापक, हे अर्थसुसाधक, सुकामवर्द्धक, ज्ञानप्रद, हे सन्ततिपालक, धर्मसुशिक्षक, रोगविनाशक, हे पुरुषार्थप्रापक, दुर्गुणनाशक, सिद्धिप्रद, हे सज्जनसुखद, दुष्टसुताडन, गर्वकुक्रोधकुलोभविदारक, हे परमेश, परेश, परमात्मन्, परब्रह्मन्, हे जगदानन्दकपरमेश्वर, व्यापक, सूक्ष्माछेद्य, हे अजरामृताभयनिर्बन्धानादे, हे अप्रतिमप्रभाव, निर्गुणातुल्य, विश्वाद्य, विश्ववन्द्य, विद्वद्विलासक, इत्याद्यनन्तविशेषणवाच्य, हे मङ्गलप्रदेश्वर, "शं नो मित्रः" आप सर्वथा सबके निश्चित मित्र हो। हमको सत्यसुखदायक सर्वदा हो। हे सर्वोत्कृष्ट, स्वीकरणीय, वरेश्वर! "शं वरुणः" आप वरुण अर्थात् सबसे परमोत्तम हो, आप हमको परमसुखदायक हो। "शन्नो भवत्वर्यमा" हे पक्षपातरहित, धर्मन्यायकारिन्! आप अर्यमा (यमराज) हो, हमारे लिये न्याययुक्त सुख देनेवाले आपही हो "शन्न इन्द्रः" हे परमैश्वर्यवन् इन्द्रेश्वर! आप हमको परमैश्वर्ययुक्त शीघ्र स्थिरसुख दीजिये। हे महाविद्य "बृहस्पतिः" वाचोऽधिपते, बृहस्पते, परमात्मन्! हम लोगों को (बृहत्) सबसे बड़े सुख को देनेवाले आप ही हो "शन्नो विष्णुरुरुक्रमः"। हे सर्वव्यापक अनन्त पराक्रमेश्वर विष्णो! आप हमको अनन्त सुख देओ। जो कुछ मांगेंगे सो आपसे ही हम लोग मांगेंगे। सब सुखों का देनेवाला आपके विना कोई नहीं है। सर्वथा हमलोगों को आपका ही आश्रय है, अन्य किसी का नहीं, क्योंकि सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयामय, सबसे बड़े पिता को छोड़कर, नीच का आश्रय हमलोग कभी न करेंगे। आपका तो स्वभाव ही है कि अङ्गीकृत को कभी नहीं छोड़ते, सो आप सदैव हमको सुख देंगे, यह हमलोगों को दृढ़ निश्चय है॥

अर्थबोधक टिप्पणी—

१. मेद्यति स्निह्यति स्निह्यते वा स मित्रः। सत्यार्थ० समु० १
२. अवति रक्षादिकं करोतीति ओ३म्। प्रणवो वा। उ० १।१४२
३. शमु = उपशमे दिवा०
४. वृणोति व्रियते वा असौ वरुणः। उ० ३।५३। न्यायकारी —दया० यजु० ६।२२
५. अर्यम् स्वामिनम् मिमीते मन्यते, जानातीति अर्यमा। उ० १।१५९
६. इन्दति परमैश्वर्यवान् भवतीति इन्द्रः। उ० २।२८ श्रेष्ठ, शासक, राजा—आप्टे
७. बृहत्या वाचो बृहतो वेदशास्त्रस्य बृहतां आकाशादीनाम् पतिः, सर्वजगतः अधिपतिः। दया० पञ्च०
८. वेवेष्टि चराचरम् जगत् व्याप्नोति इति विष्णुः। उ० ३।३९ विश = प्रवेशने तुदा० विषृ = विप्रयोगे—क्रया०
९. अनन्त = बराबर रहनेवाला
१०. स्वरूप = अपरिवर्तनशील स्वभाव
११. नित्यशुद्धमुक्तस्वभाव = स्वभाव से ही अविनाशी, पवित्र, पूर्णज्ञानी, पूर्णआनन्दी
१२. अद्वितीयानुपम = जिसके समान या जिससे बढ़कर कोई नहीं है, और जिसकी उपमा किसी से नहीं दी जा सकती
१३. जगदादिकारण = इस सृष्टि का मूल कारण
१४. अज = कभी न पैदा होनेवाला
१५. निराकार = भौतिकस्वरूप से रहित और केवल चिन्मात्रशक्ति
१६. सर्वशक्तिमान = पूर्णशक्तिसे युक्त
१७. जगदीश = संसारके स्वामी
१८. सर्वजगदुत्पादकाधार = सकल सृष्टिकी उत्पत्ति का आदि कारण (Efficient cause)

१९. सनातन = सना + भवः सनातनः अर्थात् बराबर रहनेवाला
२०. सर्वमङ्गलमय = सम्पूर्ण सुखके कारणों से युक्त
२१. करुणाकरास्सत्पितः = दुःख दूर करनेवाले हमारे पालक और जनक
२२. परमसहायक = अत्यधिक सहायता देनेवाले
२३. अविद्यान्धकारनिर्मूलक = अंधेकी तरह रखनेवाले अविद्या-अज्ञानको जड़से नष्ट करनेवाले
२४. विद्यार्कप्रकाशक = विद्यारूपी सूर्यको जगानेवाले
२५. परमैश्वर्यदायक = बहुत बड़े धन को देनेवाले
२६. साम्राज्य प्रसारक = संसारमें एक शासन (Sovereign Rule) को बढ़ानेवाले
२७. मान्यप्रद = आदर देनेवाले
२८. विश्वविनोदक = संसारको प्रसन्नता देनेवाले
२९. विनयविधिप्रद = भले प्रकार कार्य सम्पादनका ढङ्ग बतानेवाले
३०. विश्वासविलासक = ईश्वरमें श्रद्धा और श्रद्धा में आनन्द अनुभव करानेवाले
३१. निरञ्जन = समस्त कालिमाओंसे रहित
३२. नायक = आगे २ नेतृत्व करनेवाले
३३. शर्मद = आश्रयरूप सुख देनेवाले
३४. नरेश = मनुष्यों के राजा और स्वामी
३५. निर्विकार = दोषोंसे रहित
३६. सर्वान्तर्यामिन् = समस्त जीवों में पैठकर उन्हें प्रेरणा और चेतना देनेवाले
३७. सदुपदेशक = हितकारी बातों का नजदीकसे ज्ञान देनेवाले
३८. मोक्षप्रद = दुःखके छुड़ानेवाले, चिरप्रसन्नता देनेवाले
३९. सत्यगुणाकर = हितकारी गुणोंके खान
४०. निरीह = "इच्छा प्राप्ति" ऐसी वस्तु से परे
४१. निरामय = रोग व्याधि से मुक्त
४२. निरुपद्रव = विपत्ति से परे
४३. निर्वैरविधायक = द्वेषरहित करनेवाले
४४. सुनीतिवर्द्धक = सुन्दर आचरण, सुन्दर व्यवहारके बढ़ानेवाले
४५. प्रीतिसाधक = प्यार करने में कुशल
४६. राज्यविधायक = शासन करनेवाले
४७. धर्मसुप्रापक = धर्म में लगानेवाले
४८. अर्थसुसाधक = प्रयोजनसिद्ध करनेवाले
४९. सुकामवर्द्धक = सुन्दर इच्छाओं की पूर्ति करनेवाले
५०. पुरुषार्थप्रापक = आध्यात्मिक, आधिदैविक, और आधिभौतिक कष्टोंकी निवृत्तिके लिये तपस्वी बनानेवाले
५१. सिद्धिप्रद = सफलता देनेवाले
५२. गर्वकुक्रोधकुलोभविदारक = अहङ्कार अनुचित क्रोध अनुचित लोभ के नाश करनेवाले
५३. परमेश = सर्वोत्कृष्ट स्वामी
५४. परेश = सर्वोपरि स्वामी
५५. परब्रह्मन् = उत्कृष्ट ब्रह्म
५६. सूक्ष्माछेद्य = सर्वत्र व्याप्त और अविभाज्य
५७. अजरास्मृतामयनिर्बन्धानादे = बुढ़ाई रहित, परम सुखी, डर कष्ट रहित, बन्धन, और आदि रहित
५८. अप्रतिमप्रभाव = अतुलनीयशक्तियुक्त
५९. निर्गुणातुल = निर्दोषता में अपनी सानी न रखनेवाले
६०. विश्वाद्य = सृष्टिमात्र से प्राप्ति योग्य
६१. विश्ववन्द्य = संसार के समर्पण योग्य
६२. विद्वद्विलासक = समझदारों को चमकानेवाला
६३. अनन्तविशेषणवाच्य = अनेकानेक विशेषणों द्वारा स्तुति योग्य
६४. स्वीकरणीय = आश्रययोग्य
६५. वरेश्वर = श्रेष्ठ शासक परमात्मा
६६. नीच = अधम, नीचे दर्जे का
६७. अङ्गीकृत = समर्पित

पिता की ओर

(लेखक—श्री प्रो० विष्णुदयाल जी एम० ए० मारीशस)

जो लोग भारतीयों में कोई गुण पा ही नहीं सकते थे, उन्हें अपने विचार में अब परिवर्तन लाना होगा।

वर्तमान भारत के कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था कि भौतिकवादी एक प्रकार का जंगली, असभ्य आदमी है। मेधावी हिन्दुओं के सुपुत्र होने से उन्होंने मानों उपनिषदों के ऋषियों का वचन दुहराया था। संसार ने अनसुना किया। अब जब कि दुःख के सागर में सिर तक डूबा है भारत को अपना मित्र कहे और माने विना नहीं रह सकेगा।

ईश्वर के नाम से पश्चिम परिचित हुआ तो सही; परन्तु पश्चिमीयों के पास इतना समय न रहा कि वे इस ईश्वर को पूरी तरह से जानें। उनका अधूरा ज्ञान उन्हें सत्पथ से कोसों दूर रक्खे रहा। अभी परिचय पूरा हुआ ही न था कि उन्हों ने ईश्वर को एक अनावश्यक सिद्धान्त (theory) कह कर परे फेंक दिया।

जिस लड़के का पिता मर जाता है उसे ही मालूम है कि उसे कितनी ठोकरें खानी पड़ती हैं। पिता का आदर करने वाला, पिता है, यह मानने वाला जानता है कि जब पार्थिव पिता की अनुपस्थिति इतने दुःख का कारण है, तो पिताओं का पिता अनुपस्थित हो संसार में कितना दुःख होगा ?

ईश्वर तो अनुपस्थित कभी हो ही नहीं सकता। हम मनुष्य मिथ्याभिमान से, उसका होना नहीं मानते। अथर्ववेद में ईश्वर के बारे में कहा गया है "वाचमिव वक्तारि"। वक्ता में बोलने की ताकत तो है परन्तु वह ताकत छिपी रहती है जब तक वह बोलता नहीं। एक सुन्दर वस्त्र पहने हुए युवक को सभा में बैठे देखकर हम लोग खुश हो जाते हैं और उसकी इज्जत करते हैं। वस्त्रों को देख कर के हम योग्यता का अनुमान करते रहते हैं। जब वह युवक इतनी इज्जत से सन्तुष्ट नहीं है, वह बोलने लग जाता है। इस क्रिया से उसी की हानि होती है। जो अप्रकट था प्रकट हो जाता है अर्थात् वह अज्ञानी ठहर जाता है। वक्ता का काम है बोलना और इसका काम था मौन धारण करना। मन्त्र का आशय है कि जिस तरह वक्ता को बोलना चाहिये उसी तरह बुद्धिमान् को बुद्धि से काम लेकर के परमात्मा की सत्ता का कारण जान लेना चाहिये।

पश्चिमीयों ने उसको विचार करके देखा हो सो बात नहीं है। ऊपरी बातों को तो भले ही जान गये, परन्तु वस्तुतः ईश्वर है क्या ? इस प्रश्न का उत्तर उनके पास नहीं है।

जब जब किसी ने उस पर गम्भीर तौर पर विचार किया, उसको नास्तिक बनना पड़ा। (Haeckel) (हैकल) कहा करता था कि यदि ईश्वर ने हमको बनाया है तब तो वह अच्छा कारीगर नहीं है। उसके किये हुए काम में त्रुटियाँ हैं। मनुष्य दुर्गुणों से रहित नहीं है। हम जैसों का बनाने वाला भी दोष से रहित नहीं हो सकता। ऐसे ईश्वर का न मानना अच्छा है।

किसी दूसरे ने कहा, ईश्वर में हरेक गुण पाया जाना चाहिये। उसे न्यायकारी, दयालु, शक्तिशाली होना जरूरी है। उसका न्यायकारी होने का प्रमाण कहीं भी मिलता नहीं। उसने सब मनुष्यों को समान क्यों नहीं बनाया ? न्यायकारी और दयालु दोनों कैसे हो सकता है ?

प्रश्नों की बौछार होने लगी। कोई समुचित जवाब न मिला।

आस्तिकवाद की समस्या कोई साधारण समस्या नहीं है। वह जटिल है। परन्तु प्रयत्न करने पर इस समस्या का भी हल हो जा सकता है। परमात्मा ने हमारे शरीर में एक आत्मा भेजा, जिससे हम परमात्मा को पहचान सकें। अफ्रिका के जंगलों में भी हबशी लोग मानते हैं कि एक ईश्वर है। सुशिक्षित न होने से वे समझा नहीं सकते कि यह विचार उन के यहाँ किस तरह घर कर गया।

अगर हम दावा करते हैं कि हम उन से आगे बढ़े हैं तो हमें बताना होगा कि छिपा हुआ परमात्मा

कैसे प्रकट होगा। शरीर में आत्मा के रहते उसमें भारी ताकत होती है। महाविद्यालयों के विद्यार्थियों को साल में एक दफा इकट्ठा किया जाता है। उस दिन माता-पिता भी आ जाते हैं। खेल-कूद खूब होती है। कोई लड़का छलांग मारता है, तो कोई अपनी शक्ति को प्रदर्शित करता हुआ हाथ से बर्छी को ले कर फेंकता है। वह बर्छी तीर के समान हाथ से निकलती है। दूर से कोई बर्छी को देख ले तो तुरन्त जान जायगा कि बर्छी किसी विद्यार्थी ने फेंकी है। उस लोहे में अपने आप चलने की शक्ति नहीं है। वह उसे लड़के से मिली। जब तक उस बर्छी में शक्ति रहती तब तक चलती रहती है। जब शक्ति घटने लगती है तब वह गिरने लग जाती है।

यह खेल हमारी आँखों के सामने हो रहा है। पृथिवी और दूसरे ग्रहों में शक्ति है, इसलिये वे चलते जा रहे हैं। विज्ञानवेत्ता बताते हैं कि इनकी शक्ति रोज के रोज कम होती जा रही है। एक दिन ऐसा आयगा जब इनमें शक्ति घटते-घटते बाकी ग्रह और पृथिवी बिलकुल नष्ट हो जायगी। उसी समय में इसका चलना बन्द हो जायगा। हम उस आदमी की तरह हैं जो दूर से तमाशा देख रहा था। बर्छी को देखता था लेकिन बर्छी फेंकने वाला दीखता न था। उससे कोई कह सकेगा कि बर्छी अपने आप उड़ने लगी थी? कहने वाले को अर्ध पागल समझेगा। तो यदि पृथिवीरूपी बर्छी चल रही है तो कोई चलाने वाला होना चाहिये। छोटे आत्मा में बर्छी चलाने की शक्ति है तो परमात्मा में पृथिवी को चलाने की।

इतनी भारी पृथिवी को चलाने पर भी वह अचल है। वेगवती वायु की तरह चलने वाली गाड़ी किस के बल पर चलती है? दो पतली-पतली पटरियों के बलपर। वे पटरियाँ आधार हैं, वे हिलती तक नहीं। परमात्मा भी भूमण्डल को चलाता है पर वह हिलता तक नहीं। हम मनुष्य हिला करते हैं क्योंकि हमें एक जगह से दूसरी जगह जाना पड़ता है। परमात्मा कहाँ-से-कहाँ जाय? वह तो सब जगह है। वह विभु है।

सर्वव्यापी होने से उसकी हजारों और करोड़ों आँखें सर्वत्र देखती रहती हैं। वह हरेक के सुकर्म और कुकर्म को देखता है। उसकी तरफ से जो फैसला होता है कभी कानून के विरुद्ध नहीं होता। ऐसी शक्ति की ओर से न्याय ही हो सकता है।

न्याय करने पर भी वह दयालु है। जब वह देखता है कि एक प्राणी बुरा ही बुरा करता जा रहा है तो वह उस पर रहम करता है और उसके प्राण को वृक्ष में भेज देता है। वहाँ पर वह पाप से बच जाता है। इस तरह दया और न्याय दोनों से काम ले लेता है।

यहाँ पर हम आवागमन के सिद्धान्त की तरफ संकेत कर रहे हैं जिसके मानने से संसार में मनुष्यों के असमान रहने का कारण मालूम हो जाता है। भारतीय उन विचारकों को रास्ता दिखाते हैं जो जानना चाहते हैं कि कोई जन्मते ही लंगड़ा और गरीब क्यों होता है जब कि उसी के समान अन्य आदमी सुन्दर शरीर लेकर आता है और धनकुबेरों के घर जन्म लेता है।

यूनानी दार्शनिक ने कहा है: "जो है वह रहेगा"। इस सचाई को आर्य्यों ने स्पष्ट कर दिया है। हमारे धर्मग्रन्थों में लिखा है कि जिस तरह परमात्मा का न आदि है और न अन्त, इसी तरह आत्मा भी न जन्मता है और न मरता है। इन दोनों के साथ-साथ प्रकृति भी न उत्पन्न हुई थी और न नष्ट होगी।

इसको समझने के लिये रोज होने वाली घटनाओं पर ध्यान धरें। जो जन्मता है वह जरूर मरता है। अगर इस समय पृथिवी जीवित है क्यों कि वह चलती है, एक दिन अवश्य मरेगी। मरने का मतलब क्या है? शरीर का आत्मा से अलग हो जाना। बरात में हम दूल्हे के साथ मिल करके जाते हैं, शादी के बाद हम अलग हो जाते हैं।

परमात्मा केवल इतना करता है कि वह देखता है जब पाँच तत्त्व मिल जायें उस घर में किस को भेजा जाय, मैं अपने माता के गर्भ में जाता हूँ, मेरा कर्म मुझे वहाँ ले जाता है। मेरी माँ का कर्म उसे मुझ जैसे कुपुत्र या सुपुत्र जनने का कारण बनता है। ईश्वर हिसाब करके देखता है कि कौन कहाँ जाय, बस Haeckel (हैकल) साहब को जवाब मिल गया। यदि मुझमें दुर्गुण है तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ईश्वर में भी दुर्गुण होना चाहिये। ईश्वर ने मेरे शरीर को बनाया नहीं, पृथिवी, जल इत्यादि पहले से मौजूद थे, उसने केवल उसमें जान फूँक दी।

और जान फूँकना सबसे मुश्किल काम है। चिड़िया को हर रोज उड़ते देख करके मनुष्य ने कहा कि हम भी चिड़ियाँ उड़ाने लग जायँ, इस कल्पना के फलस्वरूप वायुयान बना, वायुयान कितना बड़ा है। उसमें कई आदमी बैठ सकते हैं। वह कितनी तेजी से चल सकता है। जहाज किसी को एक देश से दूसरे देश में १५ दिन में पहुंचा दे तो वायुयान ३ ही दिन में पहुंचा दे, पर इतना बड़ा होने पर भी वह छोटा है। चिड़िया उससे बहुत बड़ी है। जब चाहे चिड़िया उड़ सकती है, लेकिन यह विशालकाय वायुयान चलाने वाले की प्रतीक्षा में बैठा रहता है। मनुष्य के घमण्ड को चूर करने के लिये ईश्वर ने उसे वायुयान जैसी अद्भुत चीज बनाने की ताकत दी, पर उसमें जान फूंकना उसकी शक्ति के बाहर है। नकली फूल में सुगन्ध नहीं है।

जिस परमात्मा में यह शक्ति है उसका नाम अ रखा गया है। अ सब वर्णों में पहला है जिस तरह ईश्वर सब वस्तुओं में पहला है। मनुष्य उससे बाजी लगाना चाहता है परन्तु वह विफल हो जाता है। ईश्वर ही पहला निकलता है। मनुष्य उसके बिना जीना चाहता है, परन्तु वह निराधार हो जाता है। ईश्वर सबका आधार है। उसका नाम जगदाधार है। यह दूसरा कारण है जिससे कि उसका नाम अ पड़ा है।

व्यंजनों को व्याकरण ने ५ वर्गों में बांटा है। हरेक वर्ग में ५ अक्षर हैं। भाषा की बनावट का ज्ञान रखने वाला जानता है कि एक वर्ग में ५ अक्षर नहीं हैं बल्कि ३ हैं, हरेक वर्ग का दूसरा और चौथा अक्षर नया अक्षर नहीं। पहले अक्षर के साथ ह जोड़ने से दूसरा अक्षर बन जाता है। वास्तव में वर्णमाला में जितने अक्षर हैं वे सबक सब एक ही अक्षर से बने हैं। सब अक्षरों का आधार अ है।‡

ईश्वर की यहाँ उपमा दी गई है पर वह अनुपम है। अलंकारशास्त्रों में लिखा है कि उपमा देने का मतलब यह नहीं है कि उससे हरेक बात सिद्ध की जा सकेगी। ईश्वर और अ अक्षर में इतनी ही समानता है कि दोनों आधार हैं। भेद यह है कि अ को हम लिख सकते हैं। परमेश्वर तो किसी भी इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं है। उसको केवल आत्मा देख सकता है। दूसरा भेद यह है कि वर्णमाला के अन्य हरेक अक्षर अ के अंगों से बनते हैं। जगत् ईश्वर के अंश से बना नहीं है, यह मैंने पहिले ही बतला दिया इसको दार्शनिकभाषा में कहना हो तो यह कहना चाहिये कि हरेक अन्य अक्षर का कारण अ है। मेज लकड़ी से बनता है। लकड़ी के टुकड़ों को अलग किया जाय तो कारण के न होने से कार्य अर्थात् मेज नहीं रहेगा। कार्य-कारण के सम्बन्ध के ज्ञान के फैलने से हरेक दर्शन का विद्यार्थी पूछने लगा कि ईश्वर का क्या कारण है?

मेज देखने में आता है। वह तोड़ा जा सकता है। इसी प्रकार अणु भी तोड़ा जाता है। उसे तोड़ते-तोड़ते उसको अनन्त छोटा बना देते हैं। अतिसूक्ष्म होने के कारण अधिक तोड़ा नहीं जा सकता। परमात्मा तो उससे भी सूक्ष्म है। कठोपनिषद् बताती है कि वह "अणोरणीयान्महतो महीयान्", वह छोटे से भी छोटा है और बड़ेसे भी बड़ा है। जब हम उसका विश्लेषण करने लगते हैं तब उसकी सूक्ष्मता एक बाधा सिद्ध होती है। जब उसके महान् कार्य को देखते हैं तब बहुत ही बड़ा दिखाई देता है। बत्ती कुछ क्षण में गिर जाती है, पृथिवी २०० करोड़ वर्षों से चल रही है। यह देखकर हम उस महान् शक्ति के सामने नतमस्तक हो जाते हैं।

भारतवर्ष के वेद और शास्त्र, यहाँ तक कि उसका शुष्क व्याकरण सूर्य्य की भाँति प्रकाश फैला रहा है। बड़े बड़े विचारक भी इस ज्ञान को देखकर अवाक् हो जाते हैं, प्रश्न पूछते पूछते थक जाते हैं, ऐसे भारत को अब कौन हीन समझ सकता है? यह दुःख से पीड़ित लोगों को एक अमोघ औषधि दे रहा है, उसको नीच, अधम समझने वालों को भी वह मित्र समझता है। मित्र होने की हैसियत से अपने हाथ फैलाया हुआ है और प्रेमभरे शब्दों में कह रहा है, कई बार भिन्न-भिन्न भूभागों, देशों के लोगों ने मेरे ज्ञान को हासिल करके संसार को कहा है कि वह संकटमोचन कर सकता है। तुम दुःख के दल-दल में फंसे हुये हो। लो पकड़ो इस हाथ को, तुम्हें कीचड़ से निकालता हूँ, पिता की ओर चलो, अब भी देरी न हो॥

‡ इसके आगे लेखक ने अ के विभिन्न अङ्गों से कतिपय अक्षरों की उत्पत्ति दिखाई थी, उसे हमने ब्लाक के अभाव के कारण छोड़ दिया है।-सं०

ऋषिदयानन्द

[श्री पं० अलगूराय शास्त्री ऐम० पी० का रेडियो पर भाषण]

शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा ।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ॥ओं शम्

महाशिवरात्रि का पुनीत पर्व न जाने कबसे आर्यजाति इस उत्साह से मनाती आ रही है ।

रात्रिः शिवा काचन सन्निधत्ते विलोचने जाग्रतमप्रमत्ते । समानधर्मा युवयोः सकाशे सखा भविष्यत्याचिरेण काश्वत ॥

मानो लोग इस आशा से अपनी दोनों आँखें खोलकर पूरी रात जागते रहते हैं कि उन आंखों के लिये एक उन्हीं के वर्ग का तीसरा नेत्र खुलेगा और उसे देखकर वह ज्ञानचक्षु का उपहार प्राप्त कर लेंगे । आज इस समय में जिस लोकोत्तर महापुरुष के चारुचरित्र की गंगा के पावनजल की कुछ घूटें आपकी सेवा में समर्पित करने जा रहा हूं, उस पुरुष की दिव्यदृष्टि इसी पर्व पर खुली थी ।

अब जो अलौकिक विभूति ऋषि दयानन्द सरस्वती के नाम से ख्यात है वह मूलशंकर १४ वर्षीय आयु के बालक इसी महापर्व में प्रबुद्ध हुये थे । ८ वर्ष की आयु में ही उन्हें धर्मनिष्ठ पिता श्री अम्बाशंकरजी ने यज्ञोपवीत देकर सत् शास्त्रों के अभ्यास में लगा दिया था । सुतीक्ष्ण बुद्धि मूलशंकर मेधावी थे ।

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः
स मे इन्द्रो मेधया स्पृणोतु ॥

का वरदान पूर्व पुण्य से सिद्ध था । इन्द्र द्वारा इनकी मेधा पुनीत की हुई थी ।

आयु जब १४ की हो गयी तब १९३८ की महाशिवरात्रि पर पिता ने शिवव्रत लेने का आग्रह किया । माता तो इस कठोर व्रत के लिये कोमल बच्चे को अनुपयुक्त ही समझती थी । माताएं अपने बच्चों को सदा बच्चा ही समझती हैं । राम जब वन से रावणादि का वध कर अयोध्या आये, तब कौसल्या ने उन्हें और लक्ष्मण को सहसा गोद में लेकर कहा—

वन जात लालन के भये जब जात सुख हा धो मिला ।
कैसे लरें खर सों खरे जे डरत सुनि रव कोकिला ॥

भला मेरे ये कोमल बच्चे जिनके कमल से कोमल मुख वन जाने कुम्हला गये थे और जो कोयल के कलरव सुनकर भी डर जाते हैं कठोर खरदूषणादि से कैसे लड़े होंगे । जननी की कातरता ऐसी ही होती है । अस्तु ।

पिता के आग्रह पर मूलशंकर ने १४ वर्ष की आयु में महाशिवरात्रि पर व्रत रखा । मूलशंकर को कुतूहल था कि उनकी दोनों आँखे यदि खुली रहीं तो दिव्य देवशंकर की तीसरी आँख खुलते वह देखेंगे और इसके फलस्वरूप उनके ज्ञानचक्षु खुलेंगे ।

मध्यरात्रि तक पुजारी आदि खुर्राटे लेने लगे । पिता जी भी ऊँघने लगे । जगे थे मूलशंकर और देखा कि एक नन्हा चूहा शिव की प्रस्तरमूर्ति पर चढ़े चावल चाब रहा है । इतनी ही घटना थी । मूलशंकर ने सोचा ।

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावत् गिरं खेमरुतां चरन्ति ।
तावत्स वह्निर्भवने भजन्या भस्मावशेषं मदनं चकार ॥

कि जिस शिवके सम्बन्ध में यह कहा है कि हे शंकर, अपना क्रोध निवारो. क्रोध निवारो, यह कातर पुकार आकाश में गूंज भी न पाई थी कि शंकर के नेत्र की अग्नि ने कामदेव को भस्म कर दिया । क्या वह शंकर यह पाषाण हो सकता है

नहीं, वह शंकर यह पत्थर नहीं हो सकता । 'न तस्य प्रतिमा अस्ति', उस शंकर की प्रतिमा कहां । मनमें ये तिरोहित संस्कार बीजरूप में गड गये और फैले हुये अज्ञान को दूर करने के लिये दिव्य ज्योति इसी में से मिली । उसी का फल है आज भारत का यह विकासोन्मुख सौभाग्य । यहां भारत में वही युग १८४६ तक दयानन्द के तपस्या और व्रतशीलता, अध्ययन, मनन और भ्रमण, प्रचार, लेखन का समग्र बनकर भारत की गूढ़ निद्रा भंग कर रहा था ।

बहन की मृत्यु, चाचा की मृत्यु १८३८ के पश्चात् ८ वर्षों के भीतर दो और ऐसी घटनाएं हुई कि मूलशंकर

वैराग्य के वश में हो गये। घर छोड़कर उस रात भागे जब विवाह के बन्धन में डाले जाने वाले थे।

पिता ने पकड़ा। इनके कपड़े क्रोध में फाड़ डाले। फिर बन्धन में लाना चाहा। यह फिर भागे और यही भागना था, जब हमारे देश के दुर्भाग्य भागे और अब दयानन्द जागे कि देश जागा और मानवता की मोहनिद्रा भागी। 'यो जागार तं ऋचः कामयन्ते' का वरदान सफल हुआ। जो जाग्रत है सब उसी को पूजते हैं।

बस नर्मदा के तट पर विचरण, अलखनन्दा को पार करना, बदरीनारायण आदि महान् तीर्थों में भ्रमण करना, योगियों की खोज में निरत रहना, योग साधना, स्वाध्याय और सत्संगमें वन वन भटके। अन्तमें मथुरा पहुंच कर दण्डी स्वामी विरजानन्द की कुटिया में ज्ञान के सूर्य से इस आत्मा की भेंट हुई। विरजानन्द के चरण छुये। दण्डी ने अपने कोमलकरों से मानों यह कहते इस काया का स्पर्श किया।

अयं मे हस्तो भगवान् अयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजं अयं शिवाभिमर्शनः॥
हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वामभिमृशामसि

कि हे वत्स, ये मेरे हाथ भगवान् हैं। भगवान् से भी पुनीत हैं। ये अपने स्पर्श से कल्याण करते हैं। यह शिवाभिमर्शन हैं। मैं इन हाथों से उनकी दसों उंगलियों से तेरा स्पर्श करता हूं और यह कहते स्पर्श करता हूं कि तेरा कल्याण हो।

सुकरात को प्लेटो, बुद्ध को आनन्द, व्यास को जैमिनी, गौतम को व्यास और भट्ट को जैसे प्रभाकर मिले थे आज विरजानन्द को वैसे दयानन्द मिले हैं।

गुरुदक्षिणा में लौंग नहीं चाहिये। गुरु ने कहा, तब और इस अकिंचन के पास इस काया को छोड़कर क्या है गुरुदेव का कातर शब्द दयानन्द के मुख से निकला। और उससे अधिक कातर स्वर में विरजानन्द बोले, बस, यही काया चाहिये। दयानन्द ने पैरों में मस्तक रखकर काया दे दी। जा सच्छास्त्रों का प्रचार कर, वेदों का उद्धार कर। अंधकार का गढ अपनी वाणी से गिरा दे। मैं काया से जर्जर हो जो कर नहीं पाता हूं, वह इस लौहकाय से कर लेगा। समावर्तन के ये शब्द ही दयानन्द के लिये जीवन भर पथप्रदीप रहे।

दयानन्द ने देश में अज्ञान और कुरीतियाँ को देखा। हरिद्वार के कुम्भ पर पाखंडखंडिनी ध्वजा इक्ले फहरा दी। कौन जानता था कि वह ध्वजा हर-हृदय में विराजेगी।

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है" यह दयानन्द ने देख लिया। इस सत्य पर वह सौराष्ट्र के ग्रेनाइट चट्टान की तरह दृढ़ है। कोई शक्ति उन्हें इस विश्वास से न हटा सकेगी। इस मान्यता में वह ऋषि परम्परा में एक उज्वल ज्योति बन कर हमारे सामने आये। महर्षि जैमिनी का स्मरण हो जाता है। 'आम्नायस्य स्वतः प्रामाण्यम्' वेद स्वतः प्रमाण हैं। जो वेदानुकूल नहीं वह अमान्य अनर्थकारी है। जिस आग्रह से जैमिनी ने यह कहा, उसी आग्रह से दयानन्द की दिव्यवाणी ने यह स्वर एक बार ऐसे समय में गूंजा जब भारत पर घोर अज्ञान घटा छायी थी। भीतर से विविध अवैज्ञानिक अंधविश्वास पूर्ण मान्यताएं प्राचीनतम संस्कृति की नींव गिरा रही थीं और बाहर से अनेक मतमतान्तर इसकी ऊपरी छत उतार रहे थे।

दयानन्द की एक ही सिंह गर्जना ने सब को सतर्क कर दिया। अज्ञान के गढ़ गिरा दिये। भारतीयआत्मा को अन्तर्मुख होकर अपने स्वरूप को देखने का मंत्र मिला।

दयानन्द की क्रान्ति ने हमें अपने प्राचीनतम रूप का निखरा स्वरूप प्रदान किया। "यहि आशा अटके रहे अलि गुलाब के मूल, ऐहैं बहुरि वसन्त ऋतु इन डारिन वे फूल"। हमारे सारे प्रयत्न राष्ट्र और जाति के उत्थान के निमित्त इसी आशा में हैं कि हमारे जातीय जीवन पर विदेशीय प्रहारों का जो अभिशाप है वह दूर हो तो हम अपने स्वरूप में जगें, हमारे बाह्य अभिशाप भगें। भौंरा शीतकाल में सूखे गुलाब की जड़ से लिपटा रहता है कि फिर वसन्त आवेगा व हिम गलेगा और उस गुलाब की जड़ में कंछे फूटेंगे, उन कंछों में गुलाब के वे ही दिव्य फूल खिलेंगे। इस भावना को रिवावलिज्म कह कर कोई कोसे अथवा चाहे जो कहे परन्तु दयानन्द की देन और वरदान यही है कि उन्होंने इस जाति को शाश्वत अमर सन्देश के आदि स्रोत का अमृत पान कराया जो ऋषियों का मानवता को वरदान रहा है। अर्वाचीन भारत के सुधारकों की कोटि में उनका नाम गिनाना अज्ञान का द्योतक है। सूर, तुलसी, कबीर को दरबारी कवियों में नहीं गिना जा सकता। गिर सम होहिं कि कोटिक गुंजा। दयानन्द ऋषि परम्परा के निर्भ्रान्त द्रष्टा हैं। वह केवल

भाष्यकार आचार्य नहीं। उन्हें पाकर भारत ने एक बार पुनः सुने जाने वाले कीर्तिमान् आत्मदर्शी ऋषियों की लड़ी की एक विभूति पाई थी।

वह निर्भीकता में अद्वितीय थे। कर्नल एडवर्डी ने कहा है, मैं राजाओं सेना नायकों से मिला। कोई छाती तान कर मुझसे हाथ न मिला सका, एक ही व्यक्ति ऐसा मुझे भारत में मिला, जिसने अकड़ कर हाथ मिलाया था पन्डत दयानन्द।

कोपीन पहने दानापुर प्लेटफारम पर महाराज घूम रहे थे। एक मेम तथा साहब कुछ दूरी पर घूम रहे थे। स्टेशन मास्टर ने नंगे घूमने वाले पर आक्षेप करवाया। दयानन्द निर्भीकता से वहीं पहुंच गये। बोले, मैं तो नंगा हूँ। परन्तु आदम को खुदा ने कैसा बनाया था। शैतान न होता तो फिर आदम कैसे रहता। विनोद पूर्ण, तर्कपूर्ण बात सुन पादरी चकित हुये, पूछा आप क्या स्वामी दयानन्द हैं। दयानन्द की कीर्तिकौमुदी छिटक चुकी थी।

नन्हीं-सी बच्ची को नमस्ते किया। भक्तों ने पूछा यह क्या। महाराज बोले यह मातृशक्ति है। माता के प्रति यह महान् मान था। नारी की निन्दा प्रचलित थी। "द्वारं किमेकं नरकस्य नारी" गाया जाता था। वहां उसी वातावरण में दयानन्द का एक दिव्य दर्शन कैसा चमत्कारी है।

तब वायुयान नहीं बने थे। पुराणों का दयानन्द खण्डन करते थे। भागवत में कर्दम द्वारा वायुयान गमन की कथा है। रामायण में पुष्पक द्वारा राम की सेना लंका से अयोध्या आना वर्णित है। यह भी सब मिथ्या ही है, ऐसा शास्त्रार्थों में विधर्मी उठाते थे। दयानन्द ने कहा ये मिथ्या नहीं, वेदों में वायुयानों तथा अन्य यन्त्रों का विशद वर्णन है।

"उत्तिष्ठ प्रेहि प्रद्रव रथः सुपविः
सुचक्रः सुनाभिः, प्रतितिष्ठोर्ध्वः"

का वचन और इसी प्रकार के अनेक वचनों की सत्यता को स्वीकार कर दयानन्द वेद में निष्ठा रखने के कारण वायु में उड़ने वाले उड़नखटोले की कहानी को निराधार नहीं मानते थे। ऐसे दिव्यदर्शी की महिमा कैसे गायी जानी सम्भव है।

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः
अन्योअन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।

परस्पर मानवता में प्रेम हो। एक हृदय, एक मन, अविद्वेष, एक दूसरे के प्रति ऐसे बढ़े जैसे सद्यः उत्पन्न बछड़े के प्रति गौ। यही आदर्श दयानन्द ने दिया है। इसी के आधार पर १८७६ में देहली में सर्वधर्म सम्मेलन बुलाया था।

संकुचित हृदयता, कटुता उनमें नाम को नहीं।

राजन्, "मैं भाग कर आपके राज से बाहर जा सकता हूँ। परमात्मा की आज्ञा से बाहर जीवन भर जाने का प्रयत्न कर भी नहीं सकता"। उदयपुर महाराणा से स्वामी ने कहा था जब मूर्ति पूजा का खण्डन न कर महन्त पद स्वीकार करने की प्रार्थना महाराजा ने की थी।

"आप अच्छा करते हैं जो मूर्तियों का खण्डन करते हैं"। लाहौर के एक मुस्लिम महानुभाव ने ऋषि से कहा। ऋषि वहीं ठहरे थे। क्योंकि अन्यत्र स्थान न मिल पाया था। ऋषि ने कहा, हां मैं चार अंगुल की मूर्ति का भी विरोध करता हूं और साढ़े तीन हाथ की कब्रों का भी। यह परवाह न की कि आतिथ्यकार असन्तुष्ट होगा। रूठेगा। निन्दन्ति नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्ति का लक्ष्य सदा सामने रखते थे।

जिस महर्षि ने जीवन भर सत्य ज्ञान की ज्योति जगायी और मानव समाज की अन्धता मिटायी, उसने अन्त में १८८३ में दीपावली के दिन अपनी आत्मज्योति से भारत की दीपावली के घर-घर दीपों में ज्योति जला दी। उस ज्योति की कला उसके पश्चात लेखराम, गुरुदत्त, हंसराज, श्रद्धानन्द, लाजपतराय, विश्वेश्वरानन्द, गणपति शर्मा आदि महान् आत्माओं के रूप में लोक कल्याणकारी आर्यसमाज द्वारा सेवा करती निकली। महात्मा गान्धी के सुधार में जो तीव्रता है, उसका मूल दयानन्द की प्रेरणा में ही ओतप्रोत है। चाहे हरिजन उद्धार हो, चाहे नारी सुधार हो और चाहे स्वदेशीयता। गुरुकुल, कन्या विद्यालय, दयानन्द स्कूल-कालेज, अनाथालय, वैदिक मुद्रणालय आदि आर्य समाज द्वारा संचालित ऋषि का यश गा रहे हैं, मानवता को उठा रहे हैं।

पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्। दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्।

का वचन चरितार्थ हुआ। यह ज्योति पृथ्वी की पीठ से उठकर अन्तरिक्ष में गयी। अन्तरिक्ष से द्युलोक, द्यौसे नाक लोक और अन्त में वह स्वर्ज्योति में मिलकर ब्रह्मरूप हो गयी।

आज उसी पावन ज्योति सत्यार्थप्रकाश के प्रसारक ऋषि दयानन्द की स्तुति करके इस सब शिवरात्रि में अपने तीसरे नेत्र ज्ञान को खोलें।

[श्री० मा० पं० अलगूरायजी शास्त्री एम० पी० का यह भाषण आल इण्डिया रेडियो देहली केन्द्र से शिवरात्रि के अवसर पर प्रसारित किया गया था। जो रेडियो अधिकारियों के सौजन्य से श्री० रामनाथ काश्यप द्वारा वेदवाणी को प्राप्त हुआ—सम्पादक]

दशमे मासि सूतवे

अर्थात्

बालक के गर्भवासकाल की मीमांसा

(लेखक—श्री पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक)

लोक में प्रायः देखा जाता है कि बालक का जन्म ९ वें मास के उपरान्त दशम मास के प्रारम्भिक १० दिनों अर्थात् २७०—२८० दिनों के मध्य में होता है। इस नियम में कभी-कभी विपरीतता भी देखी जाती है। कभी बालक सातवें-आठवें मास में ही उत्पन्न हो जाता है और कभी-कभी ११-१२ मास भी लग जाते हैं। उपर्युक्त नियत काल से पूर्व उत्पन्न होने का कारण रोग तथा आकस्मिक आघात आदि और विलम्ब से उत्पन्न होने का कारण माता की निर्बलता या आहारादि की अप्राप्ति आदि माना जाता है* परन्तु हमारे विचार में इस वैपरीत्य का एक और प्रधान कारण है और वह है २७० दिन से पूर्व ही बालक के गर्भकाल (१० मास) की अवधि का पूरा हो जाना तथा २८० दिन के उपरान्त भी बालकों के गर्भवास-काल का पूरा न होना। ऐसे बालकों की उत्पत्ति की न्यूनतम अवधि २००—२१० दिनों के मध्य (लौकिक व्यवहारानुसार सप्तम मास) तक होती है, अधिकतम अवधि ३६० दिन (१२ मास) तक। अर्थात् बालकों का गर्भवास का नियत काल पूरे दस मास का है और वह दस मास का काल २०० से ३६० दिनों के मध्य में (माता की प्रकृति के अनुसार) जब भी पूरा हो जायगा, तभी बालक उत्पन्न होगा और वह जीवित रहेगा।

पाठक हमारे लेख को पढ़कर चौंकेंगे कि २०० से ३६० दिनों के मध्य का कोई भी काल 'दस मास' कैसे कहा जा सकता है, परन्तु यह बात है सर्वथा सत्य, अर्थात् २०० दिनों में ही दस मास पूरे हो सकते हैं और ३०० दिन बीतने पर भी पूरे नहीं हो सकते। यह बात प्राचीन आर्षग्रन्थों तथा गणित के द्वारा निश्चित है।

हम इस लेख में यही दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि गर्भवास का पूरे दस मास का नियत काल न्यून-से-न्यून २०० दिनों में ही कैसे पूरा हो जाता है और ३०० दिन के उपरान्त भी पूरा नहीं होता तथा बालक बिना किसी रोग या आघातादि कारणों के २७० दिन से पूर्व, और बिना माता की निर्बलता आदि के ३६० दिनों तक क्यों उत्पन्न होता है।

ऋग्वेद (१० । १८४ । ३) का वचन है—'दशमे मासि सूतवे'। इसका साधारणतया अर्थ किया जाता है कि 'बालक दसवें मास में उत्पन्न होता है' परन्तु हमारे विचार में इसका अर्थ होना चाहिये—'दस मास पूरे व्यतीत होने पर बालक उत्पन्न होता है।' (इसकी विवेचना आगे की जायगी।) इससे इतना स्पष्ट है कि वेद में बालक उत्पत्ति का समय पूरे दस मास का कहा है।

चिकित्सकों का मत है कि स्त्री की शारीरिक अवस्था के ठीक होने पर २७ या २८ दिन में रजोदर्शन होता है, और ऐसी स्त्री को २७० से २८० दिनों के मध्य में प्रसव होता है। इस प्रकार यदि हम 'दशमे मासि सूतवे' वचन में मास शब्द को दो रजोदर्शन के मध्यकाल का वाचक मान लें तो

---

* बारह मास तक बालक की उत्पत्ति का कारण, चरक शरीर स्थान अ० २ श्लोक १५।

ऋषिदयानन्द

[श्री पं० अलगूराय शास्त्री ऐम० पी० का रेडियो पर भाषण]

शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा ।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ।।ओं शम्

महाशिवरात्रि का पुनीत पर्व न जाने कबसे आर्यजाति इस उत्साह से मनाती आ रही है ।

रात्रिः शिवा काचन सन्निधत्ते विलोचने जाग्रतम- प्रमत्ते । समानधर्मा युवयोः सकाशे सखा भविष्यत्याचिरेण काश्चत ।।

मानो लोग इस आशा से अपनी दोनों आँखें खोलकर पूरी रात जागते रहते हैं कि उन आंखों के लिये एक उन्हीं के वर्ग का तीसरा नेत्र खुलेगा और उसे देखकर वह ज्ञान-चक्षु का उपहार प्राप्त कर लेंगे । आज इस समय में जिस लोकोत्तर महापुरुष के चारुचरित्र की गंगा के पावनजल की कुछ बूंदें आपकी सेवा में समर्पित करने जा रहा हूं, उस पुरुष की दिव्यदृष्टि इसी पर्व पर खुली थी ।

अब जो अलौकिक विभूति ऋषि दयानन्द सरस्वती के नाम से ख्यात है वह मूलशंकर १४ वर्षीय आयु के बालक इसी महापर्व में प्रबुद्ध हुये थे । ८ वर्ष की आयु में ही उन्हें धर्मनिष्ठ पिता श्री अम्बाशंकरजी ने यज्ञोपवीत देकर सत् शास्त्रों के अभ्यास में लगा दिया था । सुतीक्ष्ण बुद्धि मूलशंकर मेधावी थे ।

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः
स मे इन्द्रो मेधया स्पृणोतु ।।

का बरदान पूर्व पुण्य से सिद्ध था । इन्द्र द्वारा इनकी मेधा पुनीत की हुई थी ।

आयु जब १४ की हो गयी तब १९३८ की महाशिव-रात्रि पर पिता ने शिवव्रत लेने का आग्रह किया । माता तो इस कठोर व्रत के लिये कोमल बच्चे को अनुपयुक्त ही समझती थी । माताएं अपने बच्चों को सदा बच्चा ही सम-झती हैं । राम जब वन से रावणादि का वध कर अयोध्या आये, तब कौसल्या ने उन्हें और लक्ष्मण को सहसा गोद में लेकर कहा—

बन जात लालन के भये जब जात सुख हा धो मिला ।
कैसे लरें खर सों खरे जे डरत मुनि रव कोकिला ।।

भला मेरे ये कोमल बच्चे जिनके कमल से कोमल मुख बन जाते कुम्हला गये थे और जो कोयल के कलरव सुनकर भी डर जाते हैं कठोर खरदूषणादि से कैसे लड़े होंगे । जननी की कातरता ऐसी ही होती है । अस्तु ।

पिता के आग्रह पर मूलशंकर ने १४ वर्ष की आयु में महाशिवरात्रि पर व्रत रखा । मूलशंकर को कुतूहल था कि उनकी दोनों आँखें यदि खुली रहीं तो दिव्य देवशंकर की तीसरी आँख खुलते वह देखेंगे और इसके फलस्वरूप उनके ज्ञानचक्षु खुलेंगे ।

मध्यरात्रि तक पुजारी आदि खुर्राटे लेने लगे । पिता जी भी ऊँघने लगे । जगे थे मूलशंकर और देखा कि एक नन्हा चूहा शिव की प्रस्तरमूर्ति पर चढ़े चावल चाब रहा है । इतनी ही घटना थी । मूलशंकर ने सोचा ।

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावत् गिरं खेमरुतां चरन्ति ।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ।।

कि जिस शिवके सम्बन्ध में यह कहा है कि हे शंकर, अपना क्रोध निवारो, क्रोध निवारो, यह कातर पुकार आकाश में गूंज भी न पाई थी कि शंकर के नेत्र की अग्नि ने काम-देव को भस्म कर दिया । क्या वह शंकर यह पाषाण हो सकता है

नहीं, वह शंकर यह पत्थर नहीं हो सकता । 'न तस्य प्रतिमा अस्ति', उस शंकर की प्रतिमा कहां । मनमें ये तिरोहित संस्कार बीजरूप में गड़ गये और फैले हुये अज्ञान को दूर करने के लिये दिव्य ज्योति इसी में से मिली । उसी का फल है आज भारत का यह विकासोन्मुख सौभाग्य । यहां भारत में वही युग १८४६ तक दयानन्द के तपस्या और व्रतशीलता, अध्ययन, मनन और भ्रमण, प्रचार, लेखन का समय बनकर भारत की गूढ़ निद्रा भंग कर रहा था ।

बहन की मृत्यु, चाचा की मृत्यु १८३८ के पश्चात् ८ वर्षों के भीतर दो और ऐसी घटनाएं हुईं कि मूलशंकर

वैराग्य के वश में हो गये। घर छोड़कर उस रात भागे जब विवाह के बन्धन में डाले जाने वाले थे।

पिता ने पकड़ा। इनके कपड़े क्रोध में फाड़ डाले। फिर बन्धन में लाना चाहा। यह फिर भागे और वही भागना था, जब हमारे देश के दुर्भाग्य भागे और अब दयानन्द जागे कि देश जागा और मानवता की मोहनिद्रा भागी। 'यो जागार तं ऋचः कामयन्ते' का वरदान सफल हुआ। जो जाग्रत है सब उसी को पूजते हैं।

बस नर्मदा के तट पर विचरण, अलखनन्दा को पार करना, बद्रीनारायण आदि महान् तीर्थों में भ्रमण करना, योगियों की खोज में निरत रहना, योग साधना, स्वाध्याय और सत्संगमें बन बन भटके। अन्तमें मथुरा पहुंच कर दण्डी स्वामी विरजानन्द की कुटिया में ज्ञान के सूर्य से इस आत्मा की भेंट हुई। विरजानन्द के चरण छुये। दण्डी ने अपने कोमलकरों से मानों यह कहते इस काया का स्पर्श किया।

अयं मे हस्तो भगवान् अयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजं अयं शिवाभिमर्शनः॥
हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वामभिमृशामसि

कि हे वत्स, ये मेरे हाथ भगवान् हैं। भगवान् से भी पुनीत हैं। ये अपने स्पर्श से कल्याण करते हैं। यह शिवाभिमर्शन हैं। मैं इन हाथों से उनकी दसों उंगलियों से तेरा स्पर्श करता हूं और यह कहते स्पर्श करता हूं कि तेरा कल्याण हो।

सुकरात को प्लेटो, बुद्ध को आनन्द, व्यास को जैमिनी, गौतम को व्यास और भट्ट को जैसे प्रभाकर मिले थे आज विरजानन्द को वैसे दयानन्द मिले हैं।

गुरुदक्षिणा में लौंग नहीं चाहिये। गुरु ने कहा, तब और इस अकिंचन के पास इस काया को छोड़कर क्या है गुरुदेव का कातर शब्द दयानन्द के मुख से निकला। और उससे अधिक कातर स्वर में विरजानन्द बोले, बस, यही काया चाहिये। दयानन्द ने पैरों में मस्तक रखकर काया दे दी। जा सच्छास्त्रों का प्रचार कर, वेदों का उद्धार कर। अंधकार का गढ अपनी वाणी से गिरा दे। मैं काया से जर्जर हो जो कर नहीं पाता हूं, वह इस लौहकाय से कर लेगा। समावर्तन के ये शब्द ही दयानन्द के लिये जीवन भर पथप्रदीप रहे।

दयानन्द ने देश में अज्ञान और कुरीतियाँ को देखा। हरिद्वार के कुम्भ पर पाखंडखंडिनी ध्वजा इकले फहरा दी। कौन जानता था कि वह ध्वजा हर-हृदय में विराजेगी।

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है" यह दयानन्द ने देख लिया। इस सत्य पर वह सौराष्ट्र के ग्रेनाइट चट्टान की तरह दृढ़ है। कोई शक्ति उन्हें इस विश्वास से न हटा सकेगी। इस मान्यता में वह ऋषि परम्परा में एक उज्ज्वल ज्योति बन कर हमारे सामने आये। महर्षि जैमिनी का स्मरण हो जाता है। 'आम्नायस्य स्वतः प्रामाण्यम्' वेद स्वतः प्रमाण हैं। जो वेदानुकूल नहीं वह अमान्य अनर्थकारी है। जिस आग्रह से जैमिनी ने यह कहा, उसी आग्रह से दयानन्द की दिव्यवाणी ने यह स्वर एक बार ऐसे समय में गूंजा जब भारत पर घोर अज्ञान घटा छायी थी। भीतर से विविध अवैज्ञानिक अंधविश्वास पूर्ण मान्यताएं प्राचीनतम संस्कृति की नींव गिरा रही थीं और बाहर से अनेक मतमतान्तर इसकी ऊपरी छत उतार रहे थे।

दयानन्द की एक ही सिंह गर्जना ने सब को सतर्क कर दिया। अज्ञान के गढ़ गिरा दिये। भारतीयआत्मा को अन्तर्मुख होकर अपने स्वरूप को देखने का मंत्र मिला।

दयानन्द की क्रान्ति ने हमें अपने प्राचीनतम रूप का निखरा स्वरूप प्रदान किया। "यहि आशा अटके रहे अलि गुलाब के मूल, ऐहैं बहुरि बसन्त ऋतु इन डारिन वे फूल"। हमारे सारे प्रयत्न राष्ट्र और जाति के उत्थान के निमित्त इसी आशा में हैं कि हमारे जातीय जीवन पर विदेशीय प्रहारों का जो अभिशाप है वह दूर हो तो हम अपने स्वरूप में जगें, हमारे बाह्य अभिशाप भगें। भौंरा शीतकाल में सूखे गुलाब की जड़ से लिपटा रहता है कि फिर बसन्त आवेगा व हिम गलेगा और उस गुलाब की जड़ में कंछे फूटेंगे, उन कंछों में गुलाब के वे ही दिव्य फूल खिलेंगे। इस भावना को रिवावलिज्म कह कर कोई कोसे अथवा चाहे जो कहे परन्तु दयानन्द की देन और वरदान यही है कि उन्होंने इस जाति को शाश्वत अमर सन्देश के आदि स्रोत का अमृत पान कराया जो ऋषियों का मानवता को वरदान रहा है। अर्वाचीन भारत के सुधारकों की कोटि में उनका नाम गिनाना अज्ञान का द्योतक है। सूर, तुलसी, कबीर को दरबारी कवियों में नहीं गिना जा सकता। गिर सम होहिं कि कोटिक गूंजा। दयानन्द ऋषि परम्परा के निर्भ्रान्त द्रष्टा हैं। वह केवल

२७×१०=२७० दिन तथा २८×१०=२८० दिन की अवधि का न केवल पूर्ण सामञ्जस्य ही हो जाता है, अपितु हमारा किया अर्थ 'दस मास पूरे होने पर बालक उत्पन्न होता है' भी युक्ति सङ्गत बन जाता है।

अब प्रश्न हो सकता है कि २७ वें दिन रजोदर्शन होनेवाली स्त्री को २७० दिन में और २८ वें दिन रजोदर्शन होनेवाली स्त्री को २८० दिन में ही प्रसव होना चाहिये। तब २७०-२८० दिनों के मध्य में प्रसव कैसे होता है?

इसका उत्तर अत्यन्त सरल है। यदि दो रजोदर्शनों के मध्य में पूरे २७ या २८ दिन का ही अन्तर रहता हो, तब तो यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है, परंतु वस्तुस्थिति इससे भिन्न होती है। २७ दिन पूरे होने के अगले २४ घंटों में जितने घंटे पश्चात् रजोदर्शन होगा, उनको भी १० से गुणा करने पर २७० से २८० दिनों के मध्य का काल उत्पन्न हो जायगा। यथा—यदि किसी स्त्री को पहला रजोदर्शन १ ता० के प्रातः ८ बजे हुआ और दूसरा रजोदर्शन २८ वीं तारीख को दिन १ बजे हुआ अर्थात् २७ दिन ५ घंटे पश्चात् हुआ तो उस काल को १० से गुणा करने पर २७२ दिन २ घंटे का काल उपलब्ध होगा। इस प्रकार उक्त स्त्री को गर्भस्थिति-काल के ठीक २७२ दिन और २ घंटे पश्चात् प्रसव होगा। यदि मिनट और सेकण्डों का भी पूरा-पूरा हिसाब उपलब्ध हो सके तो प्रसव का पूर्ण निश्चित काल पहले ही बताया जा सकता है। यह शुद्ध गणित का विषय है। गणितानुसार उपलब्ध उत्तर कभी असत्य नहीं हो सकते। हाँ गणित करने में पूरी सावधानता और सूक्ष्मता की आवश्यकता होती है।

सम्भव है चिकित्सक महानुभाव मेरे इस गणित को कल्पनामात्र कहें, परंतु मैंने स्वयं अपने दो बच्चों का जन्म-काल इसी गणित के अनुसार जान लिया था। एक बालक २७० दिन में हुआ था और दूसरा २९२ दिन में। दोनों के प्रसवकाल में क्रमशः ४ घंटे और ढाई घंटे का अन्तर पड़ा था। अतः मुझे इस गणित पर पूर्ण विश्वास है। यदि मिनटों का भी पूरा ध्यान रक्खा जाता तो उपर्युक्त अन्तर भी नहीं पड़ सकता था। हमारे इस गणित की उपपत्तिका आधार प्राचीन शास्त्र-वचन ही हैं। इसलिये अब हम उन्हीं शास्त्र वचनों की मीमांसा करते हैं जिनके आधार पर हम इस सिद्धान्त पर पहुँचे हैं।

'दशमे मासि सूतवे' वचन में 'मास' शब्द का क्या अर्थ है, सबसे पूर्व इसी पर विचार करना होगा। इस विषय की सारी समस्या 'मास' शब्द का वास्तविक अर्थ जान लेने पर स्वतः हल हो जाती है।

'मास' शब्द का मुख्य अर्थ है 'कालमापक'। इसी मुख्यार्थ को लेकर लोक में विभिन्न प्रकार की काल की अवधि के लिये मास शब्द का व्यवहार होता है। यथा—

१—सूर्य की एक राशि से दूसरी राशि में प्रवेश करने की अवधि मास शब्द से कही जाती है, चाहे वह अवधि न्यूनतम २८ दिन की हो या अधिकतम ३२ दिन की। इस काल का सम्बन्ध सूर्य के राशि-संक्रमण के साथ होने से यह मास लोक में 'सौरमास' के नाम से प्रसिद्ध है।

२—किसी पूर्णिमा के अनन्तर (प्रतिपद् के प्रारम्भ से) दूसरी पूर्णिमा के अन्त तक (गुजराती पञ्चाङ्गानुसार अमावास्योत्तर प्रतिपद् से दूसरी अमावास्या के अन्त तक) का काल 'मास' कहाता है। चाहे इस अवधि में ३० दिन हों या २९ (कभी-कभी २७ भी हो जाते हैं)। चन्द्र की गति के साथ इस काल का सम्बन्ध होने से यह चान्द्रमास कहाता है।

३—ईसवी सन् के मासों की न्यूनतम अवधि २८ दिन और अधिकतम ३१ दिन की मानी जाती है।

इस विवेचना से सिद्ध है कि किसी भी प्रकार के लोक-प्रसिद्धमास में दिनों की नियत संख्या नहीं है अर्थात् दिनों के न्यूनाधिक होने पर भी किसी विशेष नियम से काल का मापक-काल की अवधि को बतानेवाला वर्ष का १२ वाँ अंश लोक में 'मास' शब्द से कहा जाता है।

इसी नियम के अनुसार स्त्रियों के दो रजोदर्शनों के मध्यकाल की अवधि भी मास शब्द से व्यवहृत होती है। अतएव स्त्री-भेद से रजोदर्शन के नियतकाल (२७–२८ दिन) से न्यूनाधिक दिनों में होनेवाले रजोदर्शन के लिये **'मासिक-धर्म'** शब्द का व्यवहार होता है। यदि कोई कहे कि नियत काल (२७, २८ दिन) से न्यूनाधिक काल में होनेवाले रजोदर्शन के लिये मास शब्द का व्यवहार गौणीवृत्ति से होता है तो यह भी ठीक नहीं। हम अनुपद ही बतायेंगे कि धर्मशास्त्र में २१ से २७ दिन के मध्य में होनेवाले रजोदर्शन को 'कालोत्पन्न' कहा है। अतः २१–३६ दिन के मध्य में किसी भी दिन होनेवाले रजोदर्शन के लिये मासिकधर्म शब्द का व्यवहार होता है। यदि मास शब्द का मुख्यार्थक ३० दिन माना जाय, तब तो लोक में जहाँ-जहाँ मास शब्द का व्यवहार होगा, वह सब गौणीवृत्ति से मानना होगा। हमारे विचार

जिस खेत में अन्न उचित काल की अपेक्षा विलम्ब से बोया जाता है उसके अन्न को परिपाक के लिये पूरा समय न मिलने से अपेक्षाकृत छोटा रह जाता है। इसी प्रकार उष्ण-प्रधान देश की कन्या शीतप्रधान देश की कन्या की अपेक्षा कुछ काल पूर्व ही रजस्वला हो जाती है।

जिस प्रकार उष्णता और शीतता का प्रभाव मनुष्यों पर पड़ता है, वैसा ही वहाँ की वनस्पतियों पर भी देखा जाता है। हिमाच्छादित प्रदेश में बोया गेहूँ वैशाख या ज्येष्ठ मास में जाकर पकता है। इस लिये जैसा बाह्य उष्णता या शीतता का प्रभाव मनुष्य के शरीर पर पड़ता है, उसी प्रकार गर्भगत बालक के शरीर की रचना पर भी माता की पित्त-प्रधान वा कफप्रधान प्रकृति का प्रभाव पड़ता है।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि जिस स्त्री को पित्त प्रधान होने के कारण रजोदर्शन जितना शीघ्र होगा, उतना ही गर्भ-गत बालक के शरीर की रचना तथा पूर्णता में शीघ्रता होगी। इसी प्रकार कफप्रधान प्रकृति वाली स्त्री को जितने दिन पश्चात् रजोदर्शन होता है, उतना ही अधिक काल उसके गर्भगत बालक के शरीर की रचना तथा पूर्णता में लगता है। यह बात अन्य लौकिक दृष्टान्त से भी समझायी जा सकती है। दो विभिन्न चूल्हों पर तवे पर रोटियाँ डालने पर दोनों में से जिस चूल्हे की अग्नि जितनी तेज होगी उसकी रोटी पकने में उतना ही काल कम लगेगा।

इस नियम के अनुसार जिस स्त्री को जितने दिनों में रजोदर्शन होता है, उतने दिनों का एक महीना मानकर उसे दस से गुणा करने पर जितने दिन उपलब्ध होंगे उतने ही दिनों में उसके बालक का प्रसव होगा। इसलिये जिस स्त्री को बीस दिन में रजोदर्शन होता है, उसके गर्भस्थिति के २०० दिन (छः मास बीस दिन) पश्चात् जो प्रसव होगा वह कालोत्पन्न होगा।

इसी दृष्टि से धर्मशास्त्रकारों ने गर्भपात की अवधि षष्ठ-मास तक ही मानी है।

यथा—

आचतुर्थाद् भवेत्स्रावः पातः पञ्चमषष्ठयोः।

इस मीमांसा से यह भली प्रकार सिद्ध हो गया कि गर्भकाल की अवधि पूर्ण दस मास है। इसीलिये भगवती श्रुति ने कहा है—दशमे मासि सूतवे।

परंतु इस दस मास की अवधि की गणना लौकिक मास से नहीं करनी चाहिये, अपितु स्वस्थ स्त्री के दो रजोदर्शन के मध्य में जितने दिनों का अन्तर हो, उसे एक मास मानकर दस मास की गणना करनी चाहिये। इस प्रकार यदि दिन, घंटे और मिनटों की भी पूरी-पूरी गणना करके उसे दससे गुणा किया जाय तो प्रसवकाल की निश्चित अवधि का ज्ञान हो सकता है।

यहाँ यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये कि जो बालक गर्भ में जितने दिन कम रहेगा वह उतना ही निर्बल और ह्रस्वकाय होगा। तथा जो बालक गर्भ में जितने दिन अधिक रहेगा उतना ही पुष्ट होगा, परंतु यह नियम स्वस्थ स्त्री के विषय में है। अस्वस्थ होने से या उचित खानपान न मिलने से अधिक काल में प्रसूत बालक भी निर्बल होता है। इसी प्रकार स्त्री के निर्बल या खान-पान की उचित व्यवस्था न होने से जो बालक नियमानुसार सप्तम मास में होगा वह उचित मर्यादा से अधिक निर्बल होने के कारण तत्काल या कुछ काल बाद मर जायगा।

इसी प्रसंग से हम अन्त में विद्वानों का ध्यान एक और बात की ओर आकृष्ट करके इस लेख को समाप्त करते हैं।

काल-गणना में सौर तथा चान्द्र मास तथा वर्ष का व्यवहार तो लोक-प्रसिद्ध है ही, परंतु प्राचीनकाल में एक मानुष मास और वर्ष का भी प्रयोग होता था। मैं चिरकाल तक नहीं समझ पाया कि यह मानुष वर्ष क्या है? परंतु वायुपुराण के कतिपय श्लोकों से यह ग्रन्थी भी सुलझ गयी। वे श्लोक इस प्रकार हैं—

सप्तविंशतिपर्यन्ते कृत्स्ने नक्षत्रमण्डले।
सप्तर्षयस्तु तिष्ठन्ति पर्यायेण शतं शतम्॥
सप्तर्षीणां युगं ह्येतद् दिव्यया संख्यया स्मृतम्॥

(अध्याय ९ श्लोक ४१९)

त्रीणि वर्षसहस्राणि मानुषेण प्रमाणतः।
त्रिंशद् यानि तु वर्षाणि मतः सप्तर्षिवत्सरः॥

(अध्याय ५७ श्लोक १७)

इन श्लोकों में सप्तर्षि-युग की दिव्य और मानुष वर्ष से गणना दिखलायी है। अर्थात् एक सप्तर्षि युग में सत्ताईस सौ (२७००) दिव्य वर्ष या तीस सौ तीस (३०३०) मानुष वर्ष होते हैं।

पुराणों तथा प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में जहाँ कहीं दिव्य वर्ष का प्रयोग हुआ है, वह सौर वर्ष ही है, यह भी इसी

श्लोक से व्यक्त है। ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार सप्तर्षि युग सत्ताईस सौ वर्षों का ही माना गया है, उसे ही प्रथम श्लोक में दिव्य-पद से विशेषित किया है, अतः दिव्य और सौर वर्ष पर्यायवाची हैं।

उपर्युक्त श्लोकों में दिखलायी गयी दिव्य, सौर और मानुष वर्षों की संख्या की तुलना करने पर मानुष-वर्ष तीन सौ पच्चीस दिन पाँच घंटे छप्पन मिनट २६ ६०/६६ सेकंड (अर्थात् लगभग तीन सौ पच्चीस दिन और छः घंटे का ठहरता है। यदि इस काल को बारह से भाग किया जाय तो एक मास सत्ताईस दिन दो घंटे २९ मिनट ४२ १८/६६ सेकंड के बराबर होता है।

मानुष-मास के काल की स्वस्थ स्त्री के उचित समय पर होनेवाले रजोदर्शन काल से पूरी समानता है। इस समानता से यह भी स्पष्ट हो गया कि मानुष-मास की गणना स्वस्थ स्त्री के उचित काल में होनेवाले दो रजोदर्शन के मध्यवर्ती काल के आधार पर ही की गयी है। इसलिये दिव्य सौर वर्ष का सम्बन्ध सूर्य (द्युलोक) के साथ है, चन्द्र वर्ष का सम्बन्ध चन्द्र (पितृलोक) के साथ है, उसी प्रकार मानुषवर्ष का सम्बन्ध मनुष्य-जाति-अन्तर्गत स्त्री-जाति में नियत समय पर होनेवाली स्वाभाविक (प्राकृतिक) घटना के साथ है, अतएव ये वर्ष दिव्य, पितृ और मानुष नाम से व्यवहृत होते हैं।

इस मानुष मास में दस का गुणा करने पर लगभग दो सौ बहत्तर दिन का काल होता है, यह सामान्यतया माने जानेवाले गर्भ-काल से भी मिल जाता है।

इस सारी मीमांसा से पाठकों को ज्ञात हो गया होगा कि श्रुति का 'दशमे मासि सूतवे' वचन कितना सत्य है। वेद में जितना भी ज्ञान दिया है वह सब सामान्य धर्म को मानकर दिया है। अतएव मीमांसादर्शन में लिखा है—

परं तु श्रुति सामान्यमात्रम्। (अ० १ पाद १)

जब भी हम किसी श्रुतिवचन की मीमांसा किसी लोक-प्रसिद्ध या रूढि को मानकर करते हैं, तभी उसमें पदे-पदे कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं और श्रुति-वचन की तथ्यता भी समझ में नहीं आती[1]। इसलिये वेद के पदों का यौगिक प्रक्रिया के अनुसार ही अर्थ करना चाहिये, यही प्राचीन आचार्यों का सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

आशा है पाठकों को 'बालक के गर्भवासकाल की इस मीमांसा' से अवश्य ही कुछ लाभ होगा।' इत्यलं बुद्धिमद्वर्येषु।

---

१. इसी प्रकार के 'दुष्कृताय चरकाचार्यम्' (यजु० ३० । १८) श्रुति वचन की मीमांसा 'वेदवाणी' के नवम्बर १९५२ के 'वेदाङ्क' में की गयी है, वह भी देखने योग्य है। लेखक—

सम्पादकीय

(१) ऋषि के परमभक्त राजाधिराज जी का निधन

समस्त आर्यजगत् को यह जानकर हार्दिक दुःख होगा कि अब राजाधिराज शाहपुराधीश धर्मनिष्ठ माननीय श्री० उमेद सिंह जी इस संसार में नहीं रहे, ऋषि दयानन्द को राजाओं के सम्पर्क में लाने का मुख्य श्रेयः इनके पिता श्री० राजाधिराज नाहर सिंह जी शाहपुराधीश को था। वह स्वयं ऋषि से मनुस्मृति–दर्शनादि पढ़ते रहे। ऋषि के जीवनकाल में ही उन्होंने यज्ञ की जो अखण्ड अग्नि दर्श-पूर्णमास इष्टि के रूप में शाहपुरा में स्थापित की थी उसे वह और उनके सुपुत्र जीवन भर निभाते रहे। मुझे उक्त यज्ञ में उन्होंने एक बार लाहौर से निमन्त्रित किया था और उसकी विधि लिखवा कर मेरे पास भेजी थी, उनका कहना था कि इस में ऋषि दयानन्द के मन्तव्य के विरुद्ध कुछ भी न होना चाहिये। और अन्य आर्य पुरुष जो चाहें इस पद्धति को चलावें। बहुत ही श्रद्धा और भक्ति से उस यज्ञ को मास में दो बार वह करते थे। ऋषि दयानन्द की दृष्टि से क्या होना चाहिये, इस विषय में शास्त्रीय विचार वा सिद्धान्त आर्य विद्वानों के विचारार्थ मैंने उनके सामने रखे थे। यज्ञ में उनकी परमनिष्ठा देख कर मैं बहुत प्रसन्न हुआ और आश्चर्य चकित रहा॥

आर्य समाज के प्रत्येक कार्य में उनका पूरा सहयोग जीवन भर रहा, जिस पर आर्य समाज गर्व करता रहा और करता रहेगा। परोपकारिणी सभा के वह प्रधान बहुत दिन तक रहे। उसमें सुधार करना चाहते थे। अन्त में उन्होंने निराश होकर त्याग पत्र दे दिया था। आर्य समाज के साथ उनका सम्बन्ध बराबर रहा। वैदिक धर्म और ऋषि के अनन्य भक्त ऐसे सम्भ्रान्त राजा के चले जाने से एक बहुत बड़ी जगह खाली हो गई है। वह तभी पूरी हो सकती है यदि उनके सुपुत्र राजाधिराज श्री सुदर्शनदेव जी अपने पूज्य पिता जी के चरण चिह्नों पर चलते हुये आर्य समाज के साथ अपने परिवार का सम्बन्ध पूर्ववत् बनाये रखें, जिसकी हमें उनसे पूर्ण आशा है। हम इनके परिवार के प्रति हार्दिक समवेदना प्रदर्शित करते हैं और गत राजाधिराज के प्रति कृतज्ञता, परिवार के लिये शान्ति की प्रार्थना प्रभु से करते हैं॥

(२) श्री० स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज का निधन

यह समाचार आर्य जगत् में अत्यन्त दुःख से सुना जायगा कि आर्य समाज के सुयोग्य-त्यागी-कर्मठ-विद्वान्-नेता-संन्यासी महात्मा श्रद्धेय स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज इस असार संसार से चल बसे। आप आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, आर्य सार्वदेशिक सभा देहली तथा हैद्राबाद सत्याग्रह के संचालकों में थे। गत वर्ष आर्य समाज की ओर से गोवध आन्दोलन के आप संचालक निर्वाचित हुये थे। अपनी व्यापक भ्रमणयात्रा में काशी आये और कठिन ज्वरावस्था में भी गम्भीर ओजस्वी भाषण बराबर देते रहे। आप की आयु इस समय ७८ वर्ष की थी। उनका उत्साह और कठोर परिश्रम नवयुवकों को भी लज्जित करने वाला था। गत जनवरी मास में बारांखम्बा रोड पर जब मैं विशेष रूप से मिलने गया तो भयङ्कर कष्ट में पड़े होने पर भी यत् किञ्चित् भी चिन्ता वा घबराहट न थी। कहने लगे बहुत दिनों से कभी बीमार नहीं पड़ा, ठीक हो जायगा।

श्री स्वामी जी महाराज का जन्म माही ज़ि० लुधियाना का था। बाल्यावस्था में ही यह और इनके छोटे भाई गङ्गा सिंह (जो पीछे भारी पहिलवान् हुये) दोनों अपनी विमाता के दुर्व्यवहार से पीड़ित होकर लताड़ा जि० लुधियाना में (जहां के श्री० पं० तिलक राम जी वैद्य अमृतसर तथा स्वामी राम स्वरूप आयु० ७२ वर्ष-साधबेला आश्रम काशी हैं) रहे। स्त्री का देहान्त होने के पश्चात् विरक्त साधुओं में घूमने लगे। विचार सागर—वृत्ति प्रभाकरादि वेदान्त के भाषा ग्रन्थ विचारते रहे। पीछे पण्डितों से सारस्वत भी पढ़ा। लुधियाना में आर्य समाज का रङ्ग चढ़ा। ऐसा चढ़ा कि न जाने कितनों को यह रंग चढ़ा गये। बहुत वर्षों से थैले में हर समय वेद की पुस्तक रहती थी। गम्भीर स्वाध्याय–सतत परिश्रम–त्यागवृत्ति-विरक्तता–आदि अनेक गुणों से आर्य समाज के उच्च कोटि के संन्यासी बने। इन पङ्क्तियों के लेखक के साथ इनका सन् २२ से बहुत गहरा प्रेम था। दयानन्दमठ दीनानगर उनकी सच्ची स्मृति है। ब्रह्मचारी तिलक राम जी वैद्य इनके सब से अधिक सहवासी हैं। स्वामी जी की जीवनी पर सबसे अधिक प्रकाश वही डाल सकते हैं। अमृतसर के आर्य समाजियों को चाहिये कि वह ऐसे त्यागी महापुरुष की जीवनी उक्त वैद्य जी के द्वारा तय्यार कराकर छापें। मेरा विश्वास है कि इन महापुरुष की जीवनी से अनेक आत्माओं को प्रकाश मिलेगा। आर्य पुरुषोंका कर्त्तव्य है कि वह दीनानगर (पंजाब) में स्थापित दयानन्दमठ की हर प्रकार से सहायता करें। श्री० स्वामी जी महाराज के निधन से जो स्थान रिक्त हुआ है, उसको पूर्ति होना इस समय कठिन ही प्रतीत होता है। आर्य समाज की भारी क्षति हुई है। सन्तप्त आर्य पुरुषों को प्रभु शान्ति प्रदान करें॥

संस्कृत पठनपाठन की अनुभूत सरलतम विधि

विना रटे ६ मास में अष्टाध्यायी पद्धति से

संस्कृत पठनपाठन का अद्भुत सफल प्रयोग

[लेखक—श्रीं पं० ब्रह्मदत्तजिज्ञासु—मोतीझील—बनारस]

हम इससे पूर्व "व्याकरणाध्ययनस्य सरलतम उपायः" "अष्टाध्यायीपद्धतेः समाश्रयणम्" नामक लघुनिबन्ध में संस्कृत में इस विषय पर अपने विचार प्रकाशित कर चुके हैं। यहां पर भी हम अपने विचार संस्कृत में ही लिखना चाहते थे, पर संस्कृत तथा अष्टाध्यायीप्रेमी प्रायः सभी सज्जनों के आग्रहवश अपने विचार आर्यभाषा में ही उपस्थित करते हैं।

आर्य-सनातन-वैदिकधर्मियों का सम्पूर्ण वैदिकसाहित्य देववाणी (संस्कृत) में ही है। हम भारतीयों के लिये वेद सर्वोपरि हैं। शाखा-उपवेद-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद्-वेदाङ्ग उपाङ्ग-साहित्य-आयुर्वेद-विज्ञान-गणित-महाभारत-रामायण-गीता आदि ऋषिमुनियों के बनाये सभी ग्रन्थ संस्कृत में ही हैं। भारतीय-संस्कृति-सभ्यता-साहित्य और भारतीय परम्परा का सब कुछ इसी संस्कृत (देव) भाषा में है। कहां तक कहें, हम भारतीयों का गौरव सर्वस्व सब कुछ संस्कृत भाषा में ही निहित है।

मानवधर्म शास्त्र में लिखा है कि—

> सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
> सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ मनु०

अर्थात् सेनापतित्व—राज्य—दण्ड वा प्रजा संचालन की व्यवस्था वेदशास्त्रवेत्ता कर सकता है। इन सब दृष्टियों से तथा संसार की समस्त भाषाओं की जननी 'सर्व प्राचीन' होने से स्वतन्त्र भारत में संस्कृत भाषा का महत्त्व अधिक बढ़ गया है। अतः संस्कृत पठन पाठन अब भारतीयों के लिये अनिवार्य सा हो रहा है।

दैव दुर्विपाक से लगभग पन्द्रह सौ १५०० वर्षों से संस्कृत वाङ्मय की प्रगति अवरुद्ध हो गई है और विदेशी आक्रमणों, मुस्लिम तथा अंग्रेजी शासन के प्रभाव तथा देशकाल की परिस्थिति के कारण संस्कृत के पाठ्यक्रम की शृंखला विच्छिन्न हो गई और इसका क्षेत्र संकुचित हो गया।

स्वाधीन भारत में लोगों ने संस्कृत की ओर अभिरुचि प्रेम और उत्साह का प्रदर्शन तो किया है, परन्तु प्राचीन प्रणाली की शृंखला टूट जाने के कारण उसकी कठिनता और उसके व्याकरण की दुरूहता से लोग निरुत्साहित से हो जाते हैं। वास्तव में संस्कृत भाषा इतनी दुर्गम और इसका व्याकरण इतना दुरूह वा जटिल नहीं है, जैसा कि समझा जाता है। संस्कृत भाषा में लिखे बौद्ध वाङ्मय को पढ़ने के लिये आनेवाले अनेक विदेशी यात्रियों ने इस भाषा का पूर्ण अध्ययन, इसके व्याकरण द्वारा ही किया था। उन्होंने तत्कालीन संस्कृत व्याकरण पद्धति का यत्र तत्र उल्लेख भी किया है (देखो सप्तम शताब्दी के चीनी यात्री इत्सिङ्ग की भारत यात्रा पृष्ठ ३६४ से ३७०)।

जनता वा देश की संस्कृत के प्रति भावना को संभालने की आवश्यकता है, ठीक व्यवस्था न हो सकने से कहीं यह उबाल उठकर ही समाप्त न हो जावे, इस भावना को लेकर संस्कृत, विशेषकर उसके व्याकरण को अत्यन्त सरल बनाने की आवश्यकता है। इसके लिये हमारा दृढ़ मत ही नहीं अपितु पैंतीस ३५ वर्ष के अष्टाध्यायी कण्ठ कराकर पढ़ाने के अनुभव तथा गत कुछ वर्षों से विना रटे छ मास में संस्कृत व्याकरण का आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान कराने के स्वानुभूत प्रयोग के आधार पर सबसे अधिक सुगमता के लिये हम पाणिनि अष्टाध्यायी का नाम उपस्थित करते हैं॥

महामुनि आचार्य पाणिनि का महत्त्व

महर्षि पाणिनि न केवल शब्द शास्त्र के ही ऋषि (साक्षात् कर्त्ता) थे, अपितु सम्पूर्ण वैदिक लौकिक वाङ्मय में उनकी अव्याहतगति थी, ऐसा सभी लोग मानते हैं। वैदिक वाङ्-

मय के विषय में उनकी बनाई अष्टाध्यायी में अनेक बहुमूल्य निर्देश जहां तहां मिलते हैं 'भूगोल–इतिहास–मुद्राशास्त्र तथा लोक व्यवहार विषयों के भी वह महान् वेत्ता थे। यह अष्टाध्यायी केवल व्याकरण के नियमों (फारमूलों) के ही बतानेवाली नहीं, अपितु भूगोल इतिहास आदि विषयों के ज्ञान के लिये भी इस शास्त्र की अद्भुत महिमा और महान् उपयोग विद्वान् लोग अनुभव करते हैं।

१—महर्षि पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य (१,१ पृ० १३४) में लिखा "तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुं किमियता सूत्रेण" अर्थात् पाणिनि का एक अक्षर भी व्यर्थ नहीं, सूत्र का तो कहना क्या।

२—चीन देशी यात्री ह्यूनसाङ्ग लिखता है—"ऋषि ने पूर्ण मनसे शब्द भण्डार से शब्द चुनने आरम्भ किये, और १००० दोहों में सारी व्युत्पत्ति रची, प्रत्येक दोहा ३२ अक्षरों का था। इसमें प्राचीन तथा नवीन सम्पूर्ण लिखित ज्ञान समाप्त हो गया। शब्द और अक्षर विषयक कोई भी बात छूटने नहीं पाई" (ह्यूनसांग वर्कस का अनुवाद पृ० २२१)।

(३) प्रो० मोनियर विलियम—"संस्कृत व्याकरण उस मानव मस्तिष्क की प्रतिभा का आश्चर्यतम नमूना है, जिसे किसी देश ने अब तक सामने नहीं रखा"।

(४) सर० डबल्यू हण्टर—संसार के व्याकरणों में पाणिनि का व्याकरण चोटी का है, उसकी वर्ण शुद्धता भाषा का धात्वन्वय सिद्धान्त और प्रयोगविधियां अद्वितीय एवं अपूर्व हैं।.........यह मानव मस्तिष्क का अत्यन्त महत्त्व पूर्ण आविष्कार है।

(५) लेनिनग्राड के प्रो० टी० शेर वात्सकी—"इन्सानी दिमाग की सबसे बड़ी रचनाओं में से एक"।

पाणिनि तथा उसकी अष्टाध्यायी के प्रति संसार के विद्वानों की कितनी उत्कृष्ट भावना है, पाठक स्वयं विचार सकते हैं॥

अष्टाध्यायी पठनपाठन की प्राचीनता

विक्रमी संवत् ११४० से पूर्व अष्टाध्यायी क्रम का परित्याग करके किसी प्रक्रियाग्रन्थ का पता नहीं लगता, इस समय तक अष्टाध्यायीक्रम से व्याकरण का अध्ययन ही रहा। सन् ६८१ से ६९१ में भारत में रहने वाले चीनी यात्री इत्सिङ्ग का कहना है—

(१) "आज कल भारतवासियों का इस अष्टाध्यायी में विश्वास है। बच्चे ८ वर्ष की आयु में इस (पाणिनि) सूत्र पाठ को सीखना आरम्भ करते हैं। और ८ मास में इसे कण्ठस्थ करते हैं" (इत्सिङ्ग की भारतयात्रा पृष्ठ २६४)।

(२) "पन्द्रह वर्ष के लड़के इस वृत्ति (काशिका वृत्ति = अष्टाध्यायी की क्रमशः व्याख्या) को पढ़ना आरम्भ करते हैं, और पांच ५ वर्ष में (सम्भवतः महाभाष्य सहित–ले०) इसे समझ लेते हैं। (पृष्ठ २६८)।

(३) "इस वृत्ति के अध्ययन कर चुकने के पश्चात् विद्यार्थी गद्य और पद्य की रचना सीखना आरम्भ करते हैं"।

(४) "प्रौढ़ विद्यार्थी उसे (चूर्णिका अर्थात् महाभाष्य को) ३ वर्ष में सीख लेते हैं" (पृष्ठ २७३)।

१२ वीं शताब्दी से पूर्व जितने भी व्याकरण के सूत्र ग्रन्थ रचे गए, वे सब पाणिनि व्याकरण के अनुसार ही प्रकरणानुसारी बनाये गए। शब्दसिद्धि की प्रक्रिया के अनुसार (जैसा कि सिद्धान्त कौमुदी-हैमशब्दानुशासन और मुग्धबोधादि की है) व्याकरण की रचना नहीं हुई।

इससे यह बात प्रत्यक्ष है कि १२ वीं शताब्दी से पूर्व के सभी वैयाकरण अष्टाध्यायी के प्रकरणानुसारी क्रम में ही व्याकरणाध्ययन में सुगमता समझते रहे। इसी लिए शब्द सिद्धि की प्रक्रियानुसारी ग्रन्थ की रचना इसकाल तक नहीं हुई॥

प्रक्रिया ग्रन्थ

प्रक्रिया ग्रन्थों में इस समय समस्त भारत में भट्टोजि दीक्षित की सिद्धान्त-कौमुदी (संवत् १५१० से १५७५ विक्रमी) सर्वोपरि मानी और पढ़ाई जाती है। इसका आधार (सं० १४८० वि० रचित) प्रक्रिया कौमुदी था। इससे पूर्व संवत् ११४० में सर्व प्रथम बौद्धभिक्षु, धर्मकीर्ति ने अष्टाध्यायी क्रम को तोड़कर प्रक्रिया क्रम से 'रूपावतार' ग्रन्थ बनाया, इससे पूर्व किसी प्रक्रिया ग्रन्थ का पता नहीं मिलता। सिद्धान्त कौमुदी की कठिनता दूर करने के विचार से मध्यकौमुदी (२११७ सूत्रयुक्त) और लघुकौमुदी (११८८ सूत्रयुक्त) की रचना १८ वीं शताब्दी में हुई॥

व्याकरण सरलता का स्वानुभव

सन १९२० से सम्पूर्ण अष्टाध्यायी कण्ठस्थ होने पर ही उसकी प्रथमावृत्ति (पदच्छेद-विभक्ति-समास-अर्थ-उदाहरण-सिद्धि) हम पढ़ाते चले आ रहे हैं। सन् १९३९ में लाहौर (रावी तट पर) विरजानन्द-आश्रम में हैदराबाद सत्याग्रह के समय, जब कि हमारे छात्र सत्याग्रह में गए हुए थे, एक घटना घटी। संस्कृत से सर्वथा अनभिज्ञ कुछ पुत्रियों को संस्कृत का आरम्भिक ज्ञान करने और करवाने का कार्य करना पड़ा। मन में यह विचार हुआ, कि ये पुत्रियां अष्टाध्यायी तो कण्ठस्थ कर नहीं सकतीं, अतः इनको किसी अन्य ढंग से पढ़ाया जा सकता है या नहीं। सो इन्हें अष्टाध्यायी मूल हाथ में देकर बिना रटे समझाने का प्रारम्भ किया गया। १८ दिन में (हिन्दी में प्रभाकर पास थीं) अष्टाध्यायी के लगभग ३५० सूत्र अर्थ–उदाहरण–सिद्धि सहित–समझ गईं। २ मास पीछे सप्ताह में १॥ घण्टा समय मैं देता था। संस्कृत से सर्वथा अनभिज्ञ होने पर भी ये १० दस मास में पंजाब यूनिवर्सिटी की विशारद परीक्षा, सब विषय लेकर उत्तीर्ण हुईं, और आगे ७ मास में इन्होंने उक्त विश्वविद्यालय की शास्त्री परीक्षा पास करली। शास्त्री परीक्षा में वेद-निरुक्त-संस्कृत साहित्य के ग्रन्थ-महाभाष्य (कुछ अंश), दर्शन में सांख्य योग सभाष्य, अनुवाद तथा निबन्धादि विषय रहते हैं। जिसमें सामान्यतया कम से कम ६–७ वर्ष लगते हैं। इतना विषय १॥ वर्ष में हो सकता है, इसका सामान्य लोगों को विश्वास भी नहीं होता, पर यह बात देखी सुनी नहीं, अपितु स्वानुभूत है और प्रत्यक्ष है।

कन्याएं ही कर सकती हैं, लड़के नहीं कर सकते, यह बात १० वर्ष तक मन में बैठी रही। जिसको उपर्युक्त कन्याओं के एक भाई ने, जिसको सब (अल्पबुद्धि) बताते थे, २। सवा दो मास में अष्टाध्यायी के लगभग ६०० सूत्र अर्थोदाहरण सिद्धि सहित करके मेरी उक्त धारणा को सदा के लिए बदल दिया। इधर सन् ५२ से सुल्तानपुर (अवध) में, सुप्रभात कार्यालय (लाहौरी टोला) काशी तथा पाणिनि महाविद्यालय मोतीझील बनारस–तथा आर्यसमाज करोल बाग तथा आर्यसमाज हनुमान रोड देहली में पाणिनि महाविद्यालय की श्रेणियों में गत कई वर्षों (तथा पिछले वर्ष) से बहुत संख्या में आने वाले पठनार्थियों को (जिनमें भारी संख्या में एम० ए०, पी० एच० डी०, साहित्याचार्य, बी० ए०, एफ० ए, मैट्रिक-मिडिल पास तथा हिन्दी पढ़े थे) पढ़ाने से अनुभूत हो चुका है, कि बिना रटे संस्कृत सिखाने के लिए अष्टाध्यायीमूल परम सहायक है, पढ़ाने वाले चाहिएं। ६ मास में संस्कृत अनभिज्ञ को संस्कृत का आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान हो जाता है, जिसे देखकर काशी के बड़े २ विद्वान् आश्चर्य चकित रह जाते हैं॥

संस्कृताध्ययन से लोग भाग क्यों जाते हैं

व्याकरण के बिना संस्कृत भाषा में प्रवेश या उस पर अधिकार नहीं होता, किन्तु लघुकौमुदी-मध्यकौमुदी और सिद्धान्त कौमुदी संस्कृत के पठन पाठन और उसके प्रचार में दीवार सी खड़ी हो गई है। जो कोई भी (चाहे वह २० वर्ष का हो या ८० वर्ष का) संस्कृत पढ़ना आरम्भ करता है, लघुकौमुदी बिना समझाए, सूत्र ही नहीं, अपि तु सूत्रों के चौगुने अर्थ भी रटने के लिए पठनार्थी को बाधित किया जाता है, बड़ी आयु में रटना हो नहीं सकता। इस बात को आज का पंडित समुदाय रत्ती भर भी ध्यान नहीं देता। "एक ही रस्सी सबको फांसी" दे दी जाती है। परिणामतः अत्यन्त श्रद्धा से आया हुआ पठनार्थी भी कुछ दिनों में ही, या अधिक से अधिक १–२ सप्ताह में संस्कृत पढ़ने से भाग जाता है और फिर आयु में कभी संस्कृत पढ़ने का नाम नहीं लेता। स्कूल में भी रह कर जिसने पढ़ा होता है, वह अपने पुत्र पुत्रियों को कहता है "बेटा ! बेटी !! तुम संस्कृत मत पढ़ना, यह कठिन विद्या है, यह बहुत रटन्त है"। इससे संस्कृत के प्रचार में महान् धक्का लग जाता है, एक बेढंगे ढंग से पढ़ाने के कारण। इस सबका एक मात्र यही उपाय है, कि इस प्रचलित कौमुदीक्रम को सर्वथा तिलाञ्जलि दी जावे। और इस अष्टाध्यायी क्रम से पढ़ने वाले अध्यापक समस्त भारत में तैय्यार किये जावें। सो ५ वर्ष में समस्त भारत के लिए पर्याप्त हो सकते हैं, यदि अष्टाध्यायी कण्ठ किए शास्त्री वा आचार्य को ६ मास में पढ़ाने का शिक्षण (ट्रेनिङ्ग) दी जावे। बनारस-लखनऊ-देहली आदि बड़े बड़े नगरों में यह ट्रेनिङ्ग श्रेणियां खोली जावें। अधिक संख्या में अध्यापक कैसे तैय्यार हो सकते हैं, इस पर हमने आगे विशेष विचार किया है॥

अष्टाध्यायी क्रम की विशेषता

इस क्रम में रहस्य या विशेषता क्या है, यह जिज्ञासा उत्पन्न होना स्वाभाविक है, सो कुछ लिखते हैं—

(१) पढ़ाने वाले को मूल अष्टाध्यायी कण्ठस्थ हो, बस यही रहस्यमय बात है, किसी भी सूत्र का अर्थ करने के लिए अधिकार और अनुवृत्ति से आने वाले पदों को उस सूत्र के आगे बिठाकर पीछे उन्हीं शब्दों को एक व्यवस्थासे बिठा देने और अन्त में 'भवति, स्यात्, भवेत्, भविष्यति' आदि में से किसी भी क्रियावाची पद के रख देने से सूत्र का अर्थ बिना किसी भी कठिनाई के बन जाता है। जैसे **वर्त्तमाने लट्** (अ० ३।२।१२३) के आगे **प्रत्ययः, परश्च।** (अ० ३।१।१,२) तथा **धातोः** (अ० ३।१।९१) आकर बैठने से 'वर्त्तमाने लट्, प्रत्ययः परश्चधातोः' ऐसा क्रम बन गया। आगे भवति, स्यात्, भवेत् में से कोई क्रिया लगा दें, सूत्र का अर्थ सूत्र में ही बन गया—"धातोः वर्त्तमाने लट् प्रत्ययः, परश्च भवति"। लाल पैन्सिल से मोटे मोटे १०–१२ अधिकार और अनुवृत्ति पर ' ' उलटा और सुलटा कामा (' ') लगवा देना चाहिये, जिससे पठनार्थी झट समझ लेगा कि यहां से यहां तक अधिकार जायेगा और रटने का कुछ काम नहीं।

(२) लघु-मध्य-सिद्धान्तकौमुदी वाले को उसके सूत्र और उससे चौगुनी वृत्ति अर्थात् संस्कृत या भाषा के अर्थ को रटना ही पड़ेगा। जब तक उसे बुद्धि में वह न बैठ जाये, कि अर्थ बना कैसे, सूत्रों के शब्दों में तो है नहीं, बुद्धि या स्मृति उस सूत्र के अर्थ को कदापि नहीं पकड़ सकती, बिना समझे जबर्दस्ती (बलात्) से घोका (रटा) हुआ अर्थ एक दो दिन छोड़ देने से ही बुद्धि पर से उतर जायेगा। कौमुदी पढ़ा, बिना अष्टाध्यायी के यह नहीं बता सकता, कि यह अर्थ बन कैसे गया, यह बात अष्टाध्यायी वाला ही बता सकता है, और अष्टाध्यायी के सहारे से ही बता सकता है।

(३) अष्टाध्यायी जिसे सम्पूर्ण कण्ठस्थ है, हमारी अष्टाध्यायी की प्रक्रिया में सर्वतो मुख्य पढ़ने का पात्र वही है। वह ३,४ वर्ष में अष्टाध्यायी महाभाष्य सम्पूर्ण पढ़कर व्याकरण का पूरा विद्वान् बन सकता है जहां कौमुदी की प्रक्रिया से १२ वर्ष में भी नहीं हो पाता; यह विद्वानों का स्वानुभव का गम्भीर विषय है।

(४) जो इतना समय नहीं लगा सकते, प्रतिदिन भी जिनके पास अधिक समय नहीं है, जो बड़ी आयु के हैं, रट नहीं सकते, क्या वे इस जन्म में संस्कृत सीख ही नहीं सकते ऐसे सज्जनों के लिये भी हम अनुभव से कहते हैं कि अष्टाध्यायी क्रम ही सरलतम उपाय है। वह इस प्रकार कि प्रौढ़ पठनार्थी अष्टाध्यायी सूत्रों को बिना रटे पढ़ते समय ही बुद्धि में समझकर बिठा लेते हैं, उन सूत्रों के अर्थ पठनार्थियों की बुद्धि में स्वयं बैठ जाते हैं इसलिये वह भूलते ही नहीं। समझे हुये सूत्रों के नीचे लाल पैन्सिल से चिन्ह कर देने से वे सूत्र बार २ स्मृति में आते रहते हैं और चिन्ह लगा होने से अनायास सामने आते रहते हैं और प्रौढ़ पठनार्थी का उत्साह बढ़ता रहता है कि मैंने इतने सूत्र समझ लिये।

(५) यह न समझना चाहिये कि अष्टाध्यायी में सब सूत्र अस्त व्यस्त बिखरे हुये पड़े हैं, इनमें क्रम बद्धता नहीं है। इसके विपरीत अष्टाध्यायी में सब प्रकरण वैज्ञानिक ढंग से और परस्पर सुसंबद्ध हैं। अतः उन प्रकरणों के सूत्रों और उनके अर्थ का ज्ञान बहुत ही शीघ्र और अनायास हो जाता है। सर्वनाम–इत्संज्ञा–आत्मनेपद–परस्मैपद कारक–विभक्ति समास–द्विवचन–सन्धि–सेट् अनिट् आदि प्रकरणों के सूत्रों के एक साथ होने के कारण सूत्रों का परस्पर संबन्ध और अर्थ तत्काल समझमें आ जाता है, जिसमें व्यतिक्रम होने के कारण सूत्रों का परस्पर सम्बन्ध और अर्थ कौमुदी वालों को निःसन्देह हो ही नहीं सकता, इन प्रकरणों से अतिरिक्त केवल सुबन्त और तिङन्त दो ही विषय बचते हैं, जिन्हें सामान्य बुद्धि से देखने पर प्रतीत होने लगता है कि ये दो प्रकरण अस्त व्यस्त हैं, पर गहन दृष्टि से देखने पर यह दोनों प्रकरण भी क्रमबद्ध ही हैं, इस विषय का विवेचन हम यथा सम्भव आगे करेंगे।

(६) **"विप्रतिषेधे परं कार्यम्"** (अ० १।४।२) **"असिद्धवदत्राभात्"** (अ० ६।४।२२) तथा **"पूर्वत्रासिद्धम्"** (अ० ८।२।१) इन सूत्रों में पूर्वापर का विचार ही मुख्य विषय है जिसे अष्टाध्यायी वाला ही निःसन्देह समझ सकता है, कौमुदी वाला कदापि नहीं, क्योंकि उसमें सूत्र क्रम से हैं ही नहीं, समझ भी कैसे सकता है।

(७) इन्हीं कारणों से हम कहते हैं और प्रायः सभी का अनुभव है कि कौमुदी क्रम से पढ़ने वाले छात्रों का बिना पूर्वापर समझे रटा हुआ अर्थ (वृत्ति) कदापि स्मृति पथ पर स्थायी नहीं रह सकता, १,२ दिन आवृत्ति छोड़ देने से ही स्मृति से स्वभावतः उतर जाता है। कहना यह है कि सूत्रों का पूर्वापर सम्बन्ध स्मृति में बहुत सीमा तक सहायक है।

(८) किस सूत्र की प्राप्ति में दूसरा सूत्र कहा गया, यह बात कौमुदी वाला नहीं समझ सकता, क्योंकि उसमें सूत्र पास पास है नहीं, पता कैसे लगे। अष्टाध्यायी वाले को तत्काल पता लग जायेगा, जैसे हलन्त्यम् (१।३।३) सूत्र से

और के ट् हल् की इत्संज्ञा तो हो गई, जब छात्र यह पूछता है कि जस् के स् की और अम् के म् की "हलन्त्यम्" इस सूत्र से इत्संज्ञा क्यों नहीं होती, उस समय कौमुदी वाला चुप है, इसको मना करनेवाला सूत्र **न विभक्तौ तुस्माः** (अ० १।३।४) वह कौमुदी में बहुत दूरी पर है अर्थात् हलन्त्यम् नं० १ है और **न विभक्तौ तुस्माः** की संख्या १९० है, कौमुदी वाला दोनों सूत्रों के सम्बन्ध को या तो समझ नहीं सकता, या समझेगा तो बहुत परिश्रम और काल के पश्चात्, दूसरी ओर अष्टाध्यायी में "हलन्त्यम्" और "न विभक्तौ तुस्माः" ऊपर नीचे हैं, अतः अष्टाध्यायी वाला छात्र बिना कुछ भी कठिनाई वा परिश्रम के तत्काल ही कह देगा कि जस् के स् और अम् के म् की इत्संज्ञा क्यों नहीं होती और किस सूत्र से। हमें अत्यन्त आश्चर्य हुआ जब हमने कई मध्यमा और शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण छात्रों से प्रेम पूर्वक कई व्यक्तियों के सामने पूछा कि जस् के स् और अम् के म् की इत्संज्ञा हलन्त्यम् से क्यों नहीं होती, जिसका उत्तर वे लोग न दे सके, तब हमें प्रत्यक्ष हुआ कि अष्टाध्यायी क्रम कितना महान् उपकारक है। हमें उन छात्रों पर बड़ी दया आई कि इन छात्रों का क्या दोष है, १९० सूत्रों के पश्चात् आनेवाला सूत्र, जिसके क्रम को पढ़ानेवाला भी नहीं जानता, वह कैसे बतावे, यह सब कौमुदी के क्रम का महान् दोष है।

(९) कौमुदी वाला **इको यणचि** (अ० ६।१।७४) का बिना समझे रटा हुआ उदाहरण "सुद्ध्युपास्यः" तथा "आद् गुणः" (अ० ६।१।८४) का "दिनेश" एक ही उदाहरण बोलेगा। हमारा छात्र यद्यपि, सूर्योदय, दद्ध्यत्र आदि अनेक उदाहरण तत्काल बनाकर भी बोल देगा, कौमुदी वाला रटन्त के आश्रय रहेगा और अष्टाध्यायी वाला समझ के आश्रय। कौमुदी में शब्द सिद्धि को इतनी प्रधानता दे दी गई है कि शास्त्र के व्यापक स्वरूप का दिग्दर्शन भी नहीं हो सकता। किसी सूत्र का उदाहरण पूछा जावे तो वह कुछ नहीं बता सकता, अमुक सूत्र किस प्रयोग में लगाया गया है, यह भले ही बता दे। इस प्रकार छात्र की बुद्धि उतने ही प्रयोगों तक सीमित रह जाती है जितनों का लक्ष्य रखकर सूत्र लगाए गए हैं। अष्टाध्यायी पढ़ने वाले का ज्ञान किन्हीं कतिपय प्रयोगों तक सीमित न रह कर व्यापक होता है अर्थात् अष्टाध्यायी क्रम में सूत्रों की प्रधानता है प्रयोगों की नहीं, प्रयोगों की कल्पना तो वह सूत्रों के आधार पर स्वयं करता है। सैकड़ों प्रयोगों (उदाहरणों) की कल्पना वह तत् तत् सूत्रोंके आधार पर स्वयं कर सकता है।

(१०) लेट् लकार के रूप कौमुदी वाला नहीं बता सकेगा, अष्टाध्यायी वाले को दो हजार धातुओं में से किसी भी धातु का लेट् लकार में रूप पूछ लो।

इत्यादि बहुत से गुण वा विशेषताएं अष्टाध्यायी क्रम से पढ़ने में हैं, यहां अतिसंक्षेप से इतना ही पर्याप्त होगा॥

संस्कृत पढ़ने वालों की श्रेणियां

अब हम संस्कृत और उसका व्याकरण कैसे पढ़ाना चाहिए इस विषय में अति संक्षेप से लिखते हैं। सब से प्रथम हम संस्कृत पढ़ने वालों के भेद पर विचार करते हैं—

(१) **प्रथम श्रेणी**—सर्व प्रथम वा सबसे मुख्य श्रेणी वह है, जो ८ वर्ष की आयु से १५ वर्ष की आयु तक के छात्रों की है। ये ८ से १५ वर्ष की आयु वाले छात्र मूल अष्टाध्यायी ६,७ मास में कण्ठस्थ कर ४,५ वर्ष में अष्टाध्यायी और महाभाष्य सम्पूर्ण पढ़ सकते हैं। हिन्दी की दर्जा ५,६ की योग्यता पहिले रहनी चाहिए, चाहे वह जिस तरह से हो, तभी अष्टाध्यायी प्रारम्भ करनी चाहिए, हम इस श्रेणी को ३५ वर्ष से अष्टाध्यायी क्रम से पढ़ाते आ रहे हैं, ५ वर्ष में इनका अष्टाध्यायी महाभाष्य सम्पूर्ण हो जाता है। इतना ध्यान रहे कि व्याकरण विषय के विशेषज्ञ बनने के लिए आगे पढ़ाते हुए व्याकरण के अन्य सभी ग्रन्थों का तुलनात्मक अनुशीलन व विचार करने में कोई हानि नहीं, विशेषज्ञ बनने वाले को तो सभी ग्रन्थों पर परिश्रम, चाहे स्वयं, चाहे दूसरों की सहायता से करना उचित ही है। सिद्धान्त कौमुदी क्रम से पढ़ने वाले अष्टाध्यायी महाभाष्य की प्रक्रिया का अनुशीलन किये बिना व्याकरण विषय के विशेषज्ञ नहीं बन सकते।

संस्कृत पढ़ने वालों के भेद बहुत से हैं, जिनके विषय में हम अधिक प्रकाश आगे डालेंगे। यहां पर इतना ही कहना चाहते हैं, कि प्रथम श्रेणी में हम ८ से १६ वर्ष की आयु तक के बालक बालिकाओं को ही समझते हैं, जिन्हें हम अष्टाध्यायी-धातुपाठ-निघण्टु-मूलदर्शन तथा वेद आदि कण्ठस्थ (वह भी बड़े ढंग से जिससे कि उनके स्वास्थ्य बुद्धि स्मृति शक्ति आदि पर बुरा प्रभाव न पड़े, हंसते २ खेल-कूद में उन्हें कण्ठस्थ कराते चलें) कराते हुए वेद-वेदाङ्ग उपाङ्ग आदि के विद्वान् बनाते हैं, जो भारतीय संस्कृति, सभ्यता और साहित्य के प्राण रूप हैं। इन्हीं की अधिकता होने से भारत देश सच्चा भारत बन सकेगा। इनके विषय में हम आगे लिखेंगे। अब यहां पर हम पहिले प्रौढ़ पठनार्थियों की श्रेणी के पाठ्य क्रम पर विचार प्रस्तुत करेंगे।

(२) **दूसरी श्रेणी**–प्रौढ़ों (बड़ी आयु वालों) की है, जो १६ वर्ष से ऊपर २५, ४०, ६०, ८० तक किसी भी आयु के हों। जिन्हें हिन्दी का ज्ञान है, और मिडिल-मैट्रिक-रत्न-भूषण-प्रभाकर, एफ० ए०, बी० ए०, एम० ए०,-वकील-डाक्टर-क्लर्क-व्यापारी-अध्यापक-प्रोफेसर आदि हैं, जो किन्हीं भी कारणों से संस्कृत नहीं पढ़ सके हैं। अब पढ़ने की प्रबल इच्छा है, रट नहीं सकते, बिना रटे संस्कृत पढ़ना चाहते हैं। जो स्कूल में पढ़ाते हुए या अन्य लौकिक व्यवहार वा नौकरी करते हुए, प्रातः सायं स्वल्प समय निकालकर संस्कृत का आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान करना चाहते हैं। इन्हें हम दूसरी (प्रौढ़) श्रेणी में गिनते हैं।

(३) **तीसरी श्रेणी**–प्रसंगतः हम तीसरी श्रेणी के विषय में जो स्कूल में संस्कृत पढ़ते हैं, उनके विषय में कुछ लिख कर अपना अनुभव भी दर्शाते हैं। आगे प्रौढ़ श्रेणी के विषय में ही लिखेंगे।

स्कूलों में अष्टाध्यायी पद्धति का स्वानुभव

तीसरी श्रेणी हम उनको समझते हैं, जो स्कूलों में अन्य विषयों के साथ २ संस्कृत भी पढ़ते हैं। स्कूलों में पढ़ने वाले बालक बालिकाओं को अन्य विषयों के साथ संस्कृत का विषय पढ़ाया जाता है, और कहीं २ प्रान्तों में संस्कृत अनिवार्य भी कर दी गई है। हम अपने स्कूल समय के प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर कह सकते हैं, कि स्कूलों में भी बुरी तरह रटाया जाता है, फिर भी स्कूलों का रटाना कौमुदी वालों की पद्धति से सरल कहा जा सकता है, क्यों कि उसमें कुछ समझाया तो जाता है। हमारा विश्वास है, और ३५ वर्ष का अनुभव है कि बाल्य अवस्था में अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति तो भारत के प्रत्येक बालक बालिका को अवश्य पढ़ाई जानी चाहिये। जो मिडिल वा मैट्रिक तक अन्य विषयों के साथ २ बहुत उत्तम रीति से हो सकती है। गुरुकुलों के आरम्भकाल में ऐसा होता रहा, यहां तक होता रहा कि डी० ए० वी० हाई स्कूल लाहौर में स्वर्गीय महात्मा हंसराज जी की प्रेरणा से अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति पढ़ाई जाती रही। अब पाश्चात्य प्रभाव तथा जीविका की प्रधानता हो जाने के कारण बहुत मात्रा में शैथिल्य आ चुका है। सुल्तानपुर (अवध) में हमारे ही एक शिष्य अष्टाध्यायी-महाभाष्य-निरुक्तादि के विद्वान् पं० देवप्रकाश पातञ्जल व्याकरण-निरुक्ताचार्य बी० ए० द्वारा हमारे निरीक्षण में एक हाई स्कूल खोला गया, जिसमें छात्रों को २ वर्ष में ९-१० श्रेणी की पढ़ाई के साथ-साथ अष्टाध्यायी पद्धति से संस्कृत का अध्ययन कराया गया, उधर उतने ही काल में ६-७-८ श्रेणी में भी अष्टाध्यायी पद्धति से ही संस्कृत पढ़ाई गई। १९५४ की परीक्षा में २४ में से १८ अर्थात् ७५% परिणाम रहा जो सुल्तानपुर के किसी स्कूल में नहीं रहा। उक्त छात्रों में से ५ छात्रों ने संस्कृत में विशेष योग्यता के अङ्क प्राप्त किये † उन छात्रों ने उसी समय में पढ़कर काशी की पूर्वमध्यमा की परीक्षा (३ वर्ष की पढ़ाई) भी दी। आर्थिक कठिनाई के कारण तथा आचार्य द्वारा पढ़ाई भी पूरी न हो सकने के कारण (समय विवशता से अन्य कार्यों में लगाने के कारण) ये छात्र उत्तीर्ण नहीं हो पाये, जो अच्छी तरह उत्तीर्ण हो सकते थे। यहां इतना तो अनुभव हो गया कि यदि आर्थिक प्रबन्ध ५ वर्ष के लिये निश्चिन्तता से हो सके तो मिडिल तथा हाईस्कूल की श्रेणियों के साथ २ अष्टाध्यायी पद्धति से संस्कृत का व्याकरण भी पूरा और सन्तोषजनक हो सकता है। इतने काल में अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति अच्छी तरह हो सकती है। जिसे हम सम्पूर्ण व्याकरण का आधा भाग समझते हैं। दो वा अढ़ाई वर्ष और लगा लेने पर व्याकरण का पूरा विद्वान् बन सकता है, अर्थात् महाभाष्य पर्यन्त बहुत अच्छी तरह से पढ़ सकता है। भारत के सब स्कूल और कालिजों के लिये यह एक आदर्श पाठ्यक्रम बन सकता

---

† **इसमें १२ वर्ष का मुसलमान लड़का भी अष्टाध्यायी से संस्कृत पढ़ा है**—इनमें एक मुसलमान बालक मीर आसफ अली भी था, इसने देहली में अखिल भारतवर्षीय संस्कृत साहित्य महासम्मेलन के अवसर पर भिन्न २ प्रान्तों के अनेक विद्वानों के सामने 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' में सब उदाहरणों की सिद्धि के सब सूत्र प्रकरण और अर्थ सहित बताते हुए अल् विधि में ४ प्रकार का समास बताते हुये, स्थानिवत् को कैसे प्राप्ति हुई, और फिर अल्विधि होने से कैसे स्थानिवत् नहीं हुआ, जब १२ वर्ष के मीर आसफअली इस बालक ने बतलाया तो उक्त माननीय विद्वान् आश्चर्य चकित और अवाक् रह गए, विशेषकर जब सिद्धिमें लगने वाले सब सूत्रों के अर्थ अनुवृत्ति और अधिकार के आधार पर बतलाता था तो एक अद्भुत दृश्य विद्वानों के समक्ष उपस्थित हो जाता था।

है। हम सुल्तानपुर के पाठ्यक्रम को ८० प्रतिशत सफल समझते हैं। जो २०% असफलता रही वह भी केवल आर्थिक कठिनाई के कारण ही रही, और है। यदि इसकी आर्थिक व्यवस्था बन गई तो हम इसे अवश्य सफल रूप में कर सकेंगे ऐसी हमें पूर्ण आशा है। नहीं तो जीते का लाख और मरे का सवा लाख।

(४) चतुर्थ श्रेणी—हम उन्हें समझते हैं जो कालेजों में एफ०-ए०, बी० ए० वा एम० ए० में संस्कृत पढ़ते हैं। विशेष कर एम० ए० वाले इस श्रेणी में आते हैं। जो पास हो जाने पर संस्कृत विषय में प्रमाण माने जा रहे हैं और प्रौढ़ज्ञान न होने के कारण जिनसे संस्कृत को हानि पहुँच रही है। इस पर हम अलग अपने विचार उपस्थित करेंगे।

'प्रौढ़ों के लिये बिना रटे संस्कृत पढ़ने का सरल पाठ्यक्रम

अब हम दूसरी श्रेणी अर्थात् प्रौढ़ों के विषय में ही लिखेंगे। संस्कृत और उसके व्याकरण के अध्ययन की एक बहुत भारी समस्या यह है कि जो बड़े आयु के हैं जिन्हें संस्कृत और उसका व्याकरण पढ़ना है, उनके लिये अष्टाध्यायी कुछ मार्ग दे सकती है या नहीं या उनको तो लघुकौमुदी की शरण में ही जाना होगा और कोई मार्ग नहीं, अब इस पर हमें विचार करना है। इसमें लघुकौमुदी में यह कठिनाई है कि २० से ८० वर्ष तक चाहे किसी भी आयु के व्यक्ति जब किसी संस्कृत शास्त्री आचार्य के पास जाते हैं तो उन्हें सबसे पहिले लघु-कौमुदी के ११८८ सूत्र और उनकी चार गुनी वृत्ति ११८८ × ४ = ४७५२ कुल ५९४० अर्थात् लगभग ६ हजार सूत्रों को पहिले रटकर सुनाने पर बाधित किया जाता है, तब शास्त्री लोग अर्थ सहित पढ़ाना आरम्भ करते हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि पठनार्थी २,३ दिन में ही, संस्कृत विद्या और अपने शास्त्रों का अधिक श्रद्धालु हुआ तो ८,१० दिन में संस्कृत पढ़ने से ही ऐसा भाग खड़ा होता है, कि फिर जीवन भर संस्कृत पढ़ने का नाम कभी नहीं लेता, इतना ही नहीं अपने पुत्र-पुत्रियों को भी "संस्कृत रट्टू विद्या है अति कठिन है" यह कहकर संस्कृत पढ़ने से रोक देता है।

इसका क्या उपाय हो यह बात मेरे मन में सन् १९३९ में तीव्रता से उठी, उधर मैं तो सम्पूर्ण अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कराकर ही पूर्वोक्त रीति से लगभग १८,१९ वर्ष से पढ़ाता चला आ रहा था। बिना रटे प्रौढ़ों के लिये अष्टाध्यायी द्वारा पठन पाठन कैसे चले, बस बुद्धि पर यह भार पड़ा तो इसका रास्ता सूझा, जो अन्त में सफल भी हुआ, जिसका परिणाम प्रौढ़ श्रेणियों का चलना है और वर्त्तमान लेख भी इसी का परिणाम है। अतः अब हम पहिले प्रौढ़ों के लिये संस्कृत और उसके व्याकरण के पाठ्यक्रम संबन्धी निर्देश संक्षेप से लिखेंगे। तत्पश्चात् पाठ्यक्रम लिखेंगे यह निर्देश प्रौढ़ पठनार्थियों के सम्बन्ध में ही समझने चाहियें।

प्रौढ़ श्रेणी में पठनार्थी की योग्यता

हिन्दी में व्यवहारभानु-सत्यार्थप्रकाश की हिन्दी लिख पढ़ सकता हो, कलम-करम-कूलम-कूलम्-कलम् इनको तथा संयुक्त अक्षरों को बोलने पर शुद्ध लिख सके। अष्टाध्यायी के सूत्रों को बोलने पर शुद्ध लिखसके। अध्यापक जो पढ़ावें उसे कापी पर शुद्ध नोट करने में समर्थ हो सके। जिसकी हिन्दी की कमी हो उसे पहिले पूराकर के ही संस्कृत तथा अष्टाध्यायी आरम्भ करानी चाहिये।

जिन्होंने मैट्रिक या उससे अधिक भी संस्कृत पढ़ी हो, उनकी भी उपर्युक्त हिन्दी की योग्यता में परीक्षा लेकर वा तैय्यार करके या करवा के ही संस्कृत तथा उसका व्याकरण आरम्भ करना चाहिये।

प्रौढ़ों में संस्कृत पढ़नेवालों के भेद

(१) संस्कृत अनभिज्ञ साधारण हिन्दी जानने वाले-स्वाध्यायशील-धार्मिक-प्राचीन संस्कृति में श्रद्धावान्-गीता-मनुस्मृति आदि पढ़ने की इच्छा वाले प्रौढ़ व्यक्ति, इनमें गृह कार्यों को करनेवाले तथा वे रिटायर (निवृत्त) भी हैं, जिनके पास १६ घण्टे बचते हैं, जो सोच नहीं पाते कि करें क्या, भोजनादि से निवृत्त होकर ३-४ घण्टे गृह कार्यों से निवृत्त देवियां भी इसी कोटि में हैं। इस कोटि वालों को कमसे कम किसी योग्य अध्यापक वा अध्यापिका से १ मास केवल हिन्दी में लगाना चाहिये। तब संस्कृत आरम्भ करनी चाहिये।

(२) वे हैं जो संस्कृत से सर्वथा अनभिज्ञ मिडिल-मैट्रिक-बी०-ए० एम० ए० तक पढ़ चुके हैं, ये लोग क्लर्क आफीसर-अध्यापक-प्रोफेसर-दुकानदार-श्रमजीवी-स्वतन्त्र जीविका करने वाले होते हैं। जिन्हें स्वतन्त्र भारत में अब संस्कृत के लिये कुछ रुचि वा श्रद्धा उत्पन्न हो रही है।

(३) वे हैं जिन्होंने मैट्रिक से एम० ए० तक किसी में भी संस्कृत लेकर रटकर पास किया हुआ होता है। इसलिये प्रायः सब भूल चुके होते हैं, संस्कृत की पुस्तक पढ़ने का कुछ ज्ञान होता है, विशेषों को छोड़कर, जिन्हें संस्कृत का बहुत साधारण ज्ञान होता है।

(४) वे सज्जन होते हैं जो स्कूलों कालिजों में संस्कृत हिन्दी के अध्यापक होते हैं। बाल्यकाल में लघुकौमुदी-सिद्धान्तकौमुदी आदि पढ़कर विशारद आदि वा मध्यमा-शास्त्री आचार्य पास किया होता है, संस्कृत व्याकरण भूल चुके होते हैं। ऐसे सज्जन भी अपने व्याकरण विषय को सुदृढ़ बनाना चाहते हैं।

(५) वे हैं जो प्रथमा-मध्यमा-शास्त्री-आचार्य (काशी) या पंजाब की विशारद या शास्त्री परीक्षा देने के लिए अष्टाध्यायी क्रम से पढ़ना चाहते हैं। इनको अष्टाध्यायी के कम से कम १-२,७-८ अध्याय तथा ६ अ० का डेढ़ पाद कण्ठस्थ किये बिना ठीक २ बोध नहीं हो पाता। या गुरुकुलों में पढ़ाया जाने वाला साधारण व्याकरण पढ़े व्याकरण की अच्छी योग्यता प्राप्त करना चाहते हैं।

(६) वे हैं जो नियमपूर्वक अष्टाध्यायी-महाभाष्य तथा वेदाङ्ग-उपाङ्गादि आर्ष ग्रन्थ आर्ष पद्धति से पढ़ना चाहते हैं।

संस्कृत पढ़ाने वाले अध्यापकों के भेद

प्रौढ़ों को प्रथमावृत्ति से पढ़ाने के लिये इस समय निम्न प्रकार अध्यापक उपलब्ध हैं, इन पर कुछ विचार प्रेम पूर्वक करते हैं—

(१) संस्कृत विद्यालयों में पढ़ा कर परीक्षा दिलाने वाले अध्यापक, मध्यमा-विशारद-शास्त्री-आचार्य परीक्षोत्तीर्ण, जिन्हों ने लघु वा सिद्धान्तकौमुदी प्रक्रिया से पढ़ा होता है। यतः इनको अष्टाध्यायी कण्ठस्थ नहीं होती। अतः वे अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति (पदच्छेद-विभक्ति-समास-अर्थ-अनुवृत्ति-उदाहरण-सिद्धि सहित) नहीं पढ़ा सकते। इसके साथ ही प्राचीन व्याकरण पास (जिन्हों ने अष्टाध्यायी कण्ठस्थ नहीं की) वे भी प्रथमावृत्ति नहीं पढ़ा सकते, सिद्धि कुछ भले ही करा दें, वह भी ठीक ढंग से नहीं। क्योंकि सिद्धि में जो २ सूत्र लगता जायेगा उसका अर्थ यदि छात्र पूछेगा तो न बता सकेगा। मूल अष्टाध्यायी कण्ठस्थ किया हुआ व्यक्ति मूल में से सूत्र निकाल कर ऊपर से अनुवृत्ति तथा अधिकार को समझा हुआ छात्र को सहज में समझा सकेगा। इनमें से जिनको अष्टाध्यायी कण्ठस्थ होगी और सिद्धि के सूत्रों में ऊपर से किन २ पदों की अनुवृत्ति आती है, छात्र को पुस्तक पर से वा बिना पुस्तक के बता सकता हो, वह अष्टाध्यायी क्रम से पढ़ा सकता है।

(२) स्कूलों-कालिजों में मैट्रिक-एफ० ए० बी० ए० को पढ़ाने वाले उक्त मध्यमा-शास्त्री-आचार्यों को तो व्याकरण अनभ्यास के कारण लग-भग सब भूला होता है, ये तो अष्टाध्यायी क्रम से पढ़ा नहीं सकते।

(३) संस्कृत में केवल एम० ए० परीक्षा पास करके एफ० ए०, बी० ए० वा एम० ए० श्रेणियों को संस्कृत पढ़ाने वाले हमारी अष्टाध्यायी प्रक्रिया से नहीं पढ़ा सकते। कारण यह कि स्वयं सूत्र क्रम से न पढ़े होने के कारण आधार भूत ज्ञान की इनमें बहुत न्यूनता होती है। अनेक विषयों के ज्ञाता होने के कारण किसी विषय को पल्लवित और प्रतिपादित करना तो जानते हैं, परन्तु गहरा ज्ञान न होने से अपने विषय को खोल नहीं सकते और विद्यार्थी अन्धकार में रह जाते हैं। इसीलिये व्याकरण-साहित्य-दर्शनादि में इनकी गति बहुत निर्बल होती है। उधर कौमुदी क्रम में पढ़े केवल संस्कृतज्ञों को बहुत से विषयों का ज्ञान न होने तथा प्रतिपादन शैली का प्रायः ज्ञान न रहने से कमी रहती है, वे अंग्रेज़ी वाले छात्रों को अधिक ज्ञान रहने पर भी पूरा सन्तुष्ट नहीं कर सकते। यह एक भारी समस्या संस्कृत को व्यापक बनाने में है, जिसको हल करना ही होगा। अब जब कि माध्यम भी हिन्दी हो गया है, ऐसी अवस्था में एम० ए० आदि में संस्कृत पढ़ाने के लिये पढ़ाने के ढंग सिखाने की व्यवस्था करके संस्कृतज्ञों को विशेषता देनी चाहिये तथा एम० ए० में वही पढ़ावे जिसने शास्त्री आचार्यादि किया हो और योग्यता पूर्वक पढ़ा सके।

संस्कृत पण्डितों की अपेक्षा ये संस्कृत के एम० ए० ६ मास हमारी अष्टाध्यायी पद्धति से पढ़ कर आगे अच्छी तरह पढ़ा सकेंगे, ऐसा हमें विश्वास है।

विदेशियों को संस्कृत पढ़ाने में इनसे बहुत सहायता मिल सकती है।

(४) हमारे गुरुकुलों के स्नातक (आरम्भ २ में अष्टाध्यायी परिश्रम से पढ़ाई जाती थी, सो उनको छोड़कर) अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति वा प्रौढ़ों को इस अष्टाध्यायी पद्धति से नहीं पढ़ा सकते। इनकी योग्यता संस्कृत साहित्य-दर्शन-वेदादि में शास्त्री-आचार्य-तथा एम० ए० वालों से प्रायः

संस्कृत पठनपाठन की अनुभूत सरलतम विधि

बिना रटे ६ मास में अष्टाध्यायी पद्धति से

संस्कृत पठनपाठन का अद्भुत सफल प्रयोग

[लेखक—श्री पं० ब्रह्मदत्तजिज्ञासु—मोतीझील—बनारस]

हम इससे पूर्व "व्याकरणाध्ययनस्य सरलतम उपायः" "अष्टाध्यायीपद्धतेः समाश्रयणम्" नामक लघुनिबन्ध में संस्कृत में इस विषय पर अपने विचार प्रकाशित कर चुके हैं। यहां पर भी हम अपने विचार संस्कृत में ही लिखना चाहते थे, पर संस्कृत तथा अष्टाध्यायीप्रेमी प्रायः सभी सज्जनों के आग्रहवश अपने विचार आर्यभाषा में ही उपस्थित करते हैं।

आर्य-सनातन-वैदिकधर्मियों का सम्पूर्ण वैदिकसाहित्य देववाणी (संस्कृत) में ही है। हम भारतीयों के लिये वेद सर्वोपरि हैं। शाखा-उपवेद-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद्-वेदाङ्ग उपाङ्ग-साहित्य-आयुर्वेद-विज्ञान-गणित-महाभारत-रामायण-गीता आदि ऋषिमुनियों के बनाये सभी ग्रन्थ संस्कृत में ही हैं। भारतीय—संस्कृति—सभ्यता—साहित्य और भारतीय परम्परा का सब कुछ इसी संस्कृत (देव) भाषा में है। कहां तक कहें, हम भारतीयों का गौरव सर्वस्व सब कुछ संस्कृत भाषा में ही निहित है।

मानवधर्म शास्त्र में लिखा है कि—

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ मनु०

अर्थात् सेनापतित्व—राज्य—दण्ड वा प्रजा संचालन की व्यवस्था वेदशास्त्रवेत्ता कर सकता है। इन सब दृष्टियों से तथा संसार की समस्त भाषाओं की जननी 'सर्व प्राचीन' होने से स्वतन्त्र भारत में संस्कृत भाषा का महत्त्व अधिक बढ़ गया है। अतः संस्कृत पठन पाठन अब भारतीयों के लिये अनिवार्य सा हो रहा है।

दैव दुर्विपाक से लगभग पन्द्रह सौ १५०० वर्षों से संस्कृत वाङ्मय की प्रगति अवरुद्ध हो गई है और विदेशी आक्रमणों, मुस्लिम तथा अंग्रेजी शासन के प्रभाव तथा देशकाल की परिस्थिति के कारण संस्कृत के पाठ्यक्रम की शृंखला विच्छिन्न हो गई और इसका क्षेत्र संकुचित हो गया।

स्वाधीन भारत में लोगों ने संस्कृत की ओर अभिरुचि प्रेम और उत्साह का प्रदर्शन तो किया है, परन्तु प्राचीन प्रणाली की शृंखला टूट जाने के कारण उसकी कठिनता और उसके व्याकरण की दुरूहता से लोग निरुत्साहित से हो जाते हैं। वास्तव में संस्कृत भाषा इतनी दुर्गम और इसका व्याकरण इतना दुरूह वा जटिल नहीं है, जैसा कि समझा जाता है। संस्कृत भाषा में लिखे बौद्ध वाङ्मय को पढ़ने के लिये आनेवाले अनेक विदेशी यात्रियों ने इस भाषा का पूर्ण अध्ययन, इसके व्याकरण द्वारा ही किया था। उन्होंने तत्कालीन संस्कृत व्याकरण पद्धति का यत्र तत्र उल्लेख भी किया है (देखो सप्तम शताब्दी के चीनी यात्री इतसिङ्ग की भारत यात्रा पृष्ठ ३६४ से ३७०)।

जनता वा देश की संस्कृत के प्रति भावना को संभालने की आवश्यकता है, ठीक व्यवस्था न हो सकने से कहीं यह उबाल उठकर ही समाप्त न हो जावे, इस भावना को लेकर संस्कृत, विशेषकर उसके व्याकरण को अत्यन्त सरल बनाने की आवश्यकता है। इसके लिये हमारा दृढ़ मत ही नहीं अपितु पैंतीस ३५ वर्ष के अष्टाध्यायी कण्ठ कराकर पढ़ाने के अनुभव तथा गत कुछ वर्षों से बिना रटे छ मास में संस्कृत व्याकरण का आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान कराने के स्वानुभूत प्रयोग के आधार पर सबसे अधिक सुगमता के लिये हम पाणिनि अष्टाध्यायी का नाम उपस्थित करते हैं॥

महामुनि आचार्य पाणिनि का महत्त्व

महर्षि पाणिनि न केवल शब्द शास्त्र के ही ऋषि (साक्षात् कर्त्ता) थे, अपितु सम्पूर्ण वैदिक लौकिक वाङ्मय में उनकी अव्याहतगति थी, ऐसा सभी लोग मानते हैं। वैदिक वाङ्-

मय के विषय में उनकी बनाई अष्टाध्यायी में अनेक बहुमूल्य निर्देश जहां तहां मिलते हैं 'भूगोल-इतिहास-मुद्राशास्त्र तथा लोक व्यवहार विषयों के भी वह महान् वेत्ता थे। यह अष्टाध्यायी केवल व्याकरण के नियमों (फारमूलों) के ही बतानेवाली नहीं, अपितु भूगोल इतिहास आदि विषयों के ज्ञान के लिये भी इस शास्त्र की अद्भुत महिमा और महान् उपयोग विद्वान् लोग अनुभव करते हैं।

१—महर्षि पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य (१,१ पृ० १३४) में लिखा **"तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुं किमियता सूत्रेण"** अर्थात् पाणिनि का एक अक्षर भी व्यर्थ नहीं, सूत्र का तो कहना क्या।

२—चीन देशी यात्री ह्यूनसाङ्ग लिखता है—"ऋषि ने पूर्ण मनसे शब्द भण्डार से शब्द चुनने आरम्भ किये, और १००० दोहों में सारी व्युत्पत्ति रची, प्रत्येक दोहा ३२ अक्षरों का था। इसमें प्राचीन तथा नवीन सम्पूर्ण लिखित ज्ञान समाप्त हो गया। शब्द और अक्षर विषयक कोई भी बात छूटने नहीं पाई" (ह्यूनसांग वर्कस का अनुवाद पृ० २२१)।

(३) प्रो० मोनियर विलियम—"संस्कृत व्याकरण उस मानव मस्तिष्क की प्रतिभा का आश्चर्यतम नमूना है, जिसे किसी देश ने अब तक सामने नहीं रखा"।

(४) सर० डबल्यू हण्डर—संसार के व्याकरणों में पाणिनि का व्याकरण चोटी का है, उसकी वर्ण शुद्धता भाषा का धात्वन्वय सिद्धान्त और प्रयोगविधियां अद्वितीय एवं अपूर्व हैं।.........यह मानव मस्तिष्क का अत्यन्त महत्त्व पूर्ण आविष्कार है।

(५) लेनिनग्राड के प्रो० टी० शेर बात्सकी—"इन्सानी दिमाग की सबसे बड़ी रचनाओं में से एक"।

पाणिनि तथा उसकी अष्टाध्यायी के प्रति संसार के विद्वानों की कितनी उत्कृष्ट भावना है, पाठक स्वयं विचार सकते हैं॥

अष्टाध्यायी पठनपाठन की प्राचीनता

विक्रमी संवत् ११४० से पूर्व अष्टाध्यायी क्रम का परित्याग करके किसी प्रक्रियाग्रन्थ का पता नहीं लगता, इस समय तक अष्टाध्यायीक्रम से व्याकरण का अध्ययन ही रहा। सन् ६८१ से ६९१ में भारत में रहने वाले चीनी यात्री इत्सिङ्ग का कहना है—

(१) "आज कल भारतवासियों का इस अष्टाध्यायी में विश्वास है। बच्चे ८ वर्ष की आयु में इस (पाणिनि) सूत्र पाठ को सीखना आरम्भ करते हैं। और ८ मास में इसे कण्ठस्थ करते हैं" (इत्सिङ्ग की भारतयात्रा पृष्ठ २६४)।

(२) "पन्द्रह वर्ष के लड़के इस वृत्ति (काशिका वृत्ति = अष्टाध्यायी की क्रमशः व्याख्या) को पढ़ना आरम्भ करते हैं, और पांच ५ वर्ष में (सम्भवतः महाभाष्य सहित–ले०) इसे समझ लेते हैं। (पृष्ठ २६८)।

(३) "इस वृत्ति के अध्ययन कर चुकने के पश्चात् विद्यार्थी गद्य और पद्य की रचना सीखना आरम्भ करते हैं"।

(४) "प्रौढ़ विद्यार्थी उसे (चूर्णिका अर्थात् महाभाष्य को) ३ वर्ष में सीख लेते हैं" (पृष्ठ २७३)।

१२ वीं शताब्दी से पूर्व जितने भी व्याकरण के सूत्र ग्रन्थ रचे गए, वे सब पाणिनि व्याकरण के अनुसार ही प्रकरणानुसारी बनाये गए। शब्दसिद्धि की प्रक्रिया के अनुसार (जैसा कि सिद्धान्त कौमुदी-हेमशब्दानुशासन और मुग्धबोधादि की है) व्याकरण की रचना नहीं हुई।

इससे यह बात प्रत्यक्ष है कि १२ वीं शताब्दी से पूर्व के सभी वैयाकरण अष्टाध्यायी के प्रकरणानुसारी क्रम में ही व्याकरणाध्ययन में सुगमता समझते रहे। इसी लिए शब्द सिद्धि की प्रक्रियानुसारी ग्रन्थ की रचना इसकाल तक नहीं हुई॥

प्रक्रिया ग्रन्थ

प्रक्रिया ग्रन्थों में इस समय समस्त भारत में भट्टोजि दीक्षित की सिद्धान्त-कौमुदी (संवत् १५१० से १५७५ विक्रमी) सर्वोपरि मानी और पढ़ाई जाती है। इसका आधार (सं० १४८० वि० रचित) प्रक्रिया कौमुदी था। इससे पूर्व संवत् ११४० में सर्व प्रथम बौद्धभिक्षु, धर्मकीर्ति ने अष्टाध्यायी क्रम को तोड़कर प्रक्रिया क्रम से 'रूपावतार' ग्रन्थ बनाया, इससे पूर्व किसी प्रक्रिया ग्रन्थ का पता नहीं मिलता। सिद्धान्त कौमुदी की कठिनता दूर करने के विचार से मध्यकौमुदी (२११७ सूत्रयुक्त) और लघुकौमुदी (११८८ सूत्रयुक्त) की रचना १८ वीं शताब्दी में हुई॥

अधिक होती है। अब केवल व्याकरण से यह भयभीत किये गये होते हैं जिसमें आर्ष प्रणाली को न जानने वाले अध्यापकों द्वारा अनार्ष पद्धति से पढ़ना ही कारण है, उनकी शक्ति में कमी नहीं। आचार्य शास्त्री जैसा इनका शास्त्रानुशीलन नहीं हो पाता, यह भी ठीक है। यदि यह कमी पूरी हो जावे तो गुरुकुलों के स्नातक कालिजों में पढ़ाने के लिए परमोपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

ये महानुभाव यदि १ मास अष्टाध्यायी पद्धति को प्रत्यक्ष देखें और पढ़ाने की प्रक्रिया जान लें, साथ ही अष्टाध्यायी मूल इन्हें उपस्थित हो, तो यह बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। क्योंकि इनके मस्तिष्क खुले-उदार वातावरण में उन्नत हुये होते हैं। यह निश्चय है कि बिना व्याकरण ज्ञान के वेद शास्त्रों में गहरी योग्यता नहीं हो सकती। गुरुकुलों में अष्टाध्यायी की दुर्गति इस प्रकार हो जाती है कि एक श्रेणी में दो अध्याय अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करा दी। अगले वर्ष में आगे दो अध्याय। पिछली सर्वथा समाप्त। आगे फिर कौमुदी के आश्रय या उसके क्रम से अर्थोदाहरणादि पढ़ाना आरम्भ हुआ। छात्रों की कई वर्ष में कण्ठस्थ की हुई अष्टाध्यायी का कुछ भी उपयोग छात्रों को नहीं होता। अपि तु अष्टाध्यायी भार रूप होकर रह जाती है, अष्टाध्यायी क्रम पदच्छेद-विभक्ति-समास-अर्थ-उदाहरण-सिद्धि (आगे पीछे के सब सूत्रों सहित) पढ़ाने वालों को यह प्रक्रिया विदित न होने के कारण, तथा सिद्धान्त कौमुदी की प्रक्रिया से पढ़े अध्यापकों द्वारा पढ़ाया जाता है। अत एव कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को छोड़ कर अष्टाध्यायी पद्धिति से ये महानुभाव चाहते हुये भी नहीं पढ़ा सकते।

"अष्टाध्यायी से व्याकरण नहीं आता" यह प्रवाद गुरुकुलों में पढ़ाने वाले पौराणिक अध्यापकों ने चलाया। यह मिथ्याप्रवाद उन अध्यापकों के शिष्यमण्डल द्वारा भयङ्कर रूप में फैल गया। जो अब अष्टाध्यायी पद्धति से व्याकरण पढ़ाने की व्यवस्था करके दूर करना चाहिये।

दुःख से ही कहना पड़ता है कि कन्या गुरुकुलों में तो व्याकरण की पढ़ाई का उपक्रम भी नहीं हुआ, उनके विषय में क्या लिखें। गुरुकुल स्वतन्त्र भारत में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं, यदि इनमें पाठ्यक्रम कुछ ढंग पर बना लिया जावे, जो थोड़े से परिश्रम से बन सकता है। संचालकों के स्वयं अनभिज्ञ होने के कारण भी इसमें बाधा है।

हमारी हृदय से यह इच्छा है कि गुरुकुलों के द्वारा "संस्कृत बहुत कठिन है" यह हौआ दूर होना चाहिये। इसी भाव से हमने प्रेमपूर्वक उपर्युक्त विचार उपस्थित किये हैं।

(५) अब वे लोग हैं जो अष्टाध्यायी कण्ठस्थ किये हैं। जिन्हों ने अष्टाध्यायी पद्धति से प्रथमावृत्ति तथा द्वितीयावृत्ति नियमानुसार पढ़ी है। ये ही लोग अष्टाध्यायी पद्धति से प्रामाणिकरूप से पढ़ा सकते हैं। इनमें भी जिन्होंने नियमानुसार परीक्षा देकर पढ़ाने का प्रमाण प्राप्त किया हो।

इस विषय में यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि जहां ये उपर्युक्त लोग अष्टाध्यायी कण्ठस्थ किये छात्र को एक सिरे से आरम्भ करके सम्पूर्ण अष्टाध्यायी प्रथमावृत्ति के ढंग पर पढ़ा सकते हैं, वहां अष्टाध्यायी के लगभग ४००० सूत्रों में से ९०० वा १००० आवश्यक सूत्र छांटे हुये पढ़ा कर ६ मास में संस्कृत का व्यावहारिक ज्ञान सूत्रों द्वारा हर कोई नहीं करा सकता। हां, ६ मास की हमारी पद्धति के अनुसार पढ़ाने के लिये १ मास की ट्रेनिङ्ग (शिक्षण), लेकर प्रमाणपत्र प्राप्त कर पढ़ा सकता है।

सब से बड़ी बात यह है कि कठिनपरिश्रम-धैर्य-श्रद्धा-भावना साध्य यह क्रम है। इसमें बहुत ही योग्य-सहृदय-इस क्रम में हृदय से निष्ठावान्-सहिष्णु-परिश्रमी अध्यापक को होना अनिवार्य है। इसमें हमारे द्वारा पढ़ाये कुछ योग्य व्यक्ति तैय्यार हुये हैं। भगवान् की कृपा से आगे तैय्यार हो भी रहे हैं।

कोई भी व्यक्ति कुछ मास मेरे सामने पढ़ा कर प्रमाणित हुये बिना प्रौढ़ (बड़ी आयु वाले) पठनार्थियों को पढ़ाने के लिये मेरे द्वारा अध्यापक नियुक्त नहीं हो सकता। यतः यह नई पद्धति है, अतः इसमें कुछ काल तक तो निरीक्षण रखना आवश्यक है।

अध्यापक अधिक संख्या में कैसे तैय्यार हो सकते हैं

इस विषय में हमारा यह विचार है कि संस्कृत का पठन पाठन व्यापक बनाने के लिये अध्यापकों की आवश्यकता बहुत अधिक पड़ेगी। इसके लिये कोई योजना बनानी पड़ेगी। उसके लिये २००—४०० अध्यापक ६ मास में तैय्यार हो सकते है। लघुकौमुदी वा सिद्धान्तकौमुदी से पढ़ों को अष्टाध्यायी का १ अध्याय कण्ठस्थ सुना देने पर ५०) पचास रुपये दिये जावें। और एक साथ आठों अध्याय सुना देने

पर ५००) पांच सौ रुपया दिया जावे। और ६ मास का भोजनादि व्यय १००) रुपये मासिक देकर उन्हें पढ़ाने के लिये इस पद्धति से तैय्यार किया जावे, तो दो वर्ष में १००० एक हजार अध्यापक संस्कृत शिक्षण की इस अष्टाध्यायी पद्धति से पढ़ाने वाले तैय्यार हो सकते हैं। उनको अङ्गरेजी जानने वाले प्रौढ़ पठनार्थियों को ६ मास की पद्धति से पढ़ाने में लगाया जावे तो ५ वर्ष में संस्कृत का व्यापक ज्ञान भारत में हो सकता है।

संस्कृत और उसका व्याकरण पढ़ाने वालों के भेद वर्त्तमान में क्या २ उपलब्ध हैं, इसका प्रतिपादन हमने ऊपर अपने ढंग से किया। अब हम यह बतलाना चाहते हैं कि अष्टाध्यायी पद्धति से पढ़ाने वाले अध्यापक में किस २ प्रकार की योग्यता वा जानकारी आवश्यक है।

अध्यापक की अपेक्षित योग्यता

अष्टाध्यायी सूत्र पद्धति से व्याकरण पढ़ाने वाले अध्यापक निम्न बातों को प्रमाणित करने पर ही इस पद्धति से पढ़ाने के लिये नियत किये जा सकते हैं।

(१) अष्टाध्यायी बिना कण्ठस्थ केवल लघु-मध्य-सिद्धान्त-कौमुदी की प्रक्रिया से पढ़ा हुआ इस अष्टाध्यायी पद्धति (चाहे बालकों की हो या प्रौढ़ों की) से कदापि नहीं पढ़ा सकता। अतः अष्टाध्यायी उसे कण्ठस्थ हो और पढ़ाते समय जहां तहां से लगनेवाले सूत्रों में आनेवाले अधिकार तथा अनुवृत्तियों को तत्काल छात्र को बिना पुस्तक देखे बता सकता हो, या पुस्तक पर से भी चिह्न किये हों उससे बता दे (गुरुकुल वृन्दावन से प्रकाशित मूल अष्टाध्यायी से सहायता ली जा सकती है) तो भी काम चल सकता है।

(२) प्रौढ़ छात्रों को पढ़ाने से पूर्व सारे सूत्र नहीं, अपितु ९०० सूत्र ही ६ मास में पढ़ाने हैं। उनपर चिह्न इस क्रम से कर लें कि क्रमवार प्रति दिन पढ़ाने वाले सूत्रों को प्रतिदिन देखकर पढ़ाता जाय, १ मास तक के पाठों को स्वयं नोट कर लेना होगा। आगे प्रकरण वार चल पड़ेंगे।

(३) जिन अध्यापकों को अष्टाध्यायीक्रम में भक्ति हो, उसे हृदय से ठीक समझते हों, ऐसे मध्यमा-शास्त्री-आचार्य महानुभावों को पढ़ाने की प्रक्रिया जानने के लिए कमसे कम १ मास का समय हमारे पास (काशी वा जहां हो) अवश्य लगाना चाहिये। यदि उन्हें १-२, ७-८ में चार अध्याय मूल अष्टाध्यायी कण्ठस्थ हो जावेगी, तो वे इस प्रक्रिया से पढ़ाने में यथासम्भव अवश्य सफल हो सकेंगे, उनकी श्रद्धा इसमें बहुत कुछ सहायक हो सकती है।

(४) प्राचीन व्याकरणाचार्य तथा व्याकरणोपाध्याय आदि को भी १ मास पास रहकर पढ़ाने की विधि प्रत्यक्ष जानकर प्रमाणपत्र प्राप्त करना आवश्यक है।

(५) प्रौढ़ पठनार्थियों के पढ़ाने में यह विशेषकर अनिवार्य है कि "कितने सूत्र बताने हैं और किस समय कौन सूत्र बताना है और कैसे बताना है" अर्थात् पढ़नेवाले का पूर्व ज्ञान कितना है; और बुद्धि धारणशक्ति और स्मृति कैसी है। तदनुकूल क्या ढंग पढ़ाने का रखना आवश्यक होगा, जिनमें विषयभेद से कुछ न्यूनाधिकता भी करनी होगी, अध्यापक को इस बातका निर्णय प्रति दिन पढ़ाने से पूर्व ही मनमें निश्चित कर लेना होगा।

अध्यापकों के लिये आवश्यक निर्देश

उपर्युक्त योग्यता सम्पन्न अध्यापक तथा इस अष्टाध्यायी पद्धति से पढ़ाने में प्रमाणपत्र होने पर भी कुछ बातें समझ लेना आवश्यक है। जिन पर अध्यापकों को प्रारम्भ से ही ध्यान देना होगा, सो इस विषय के कुछ निर्देश हम उपस्थित करते हैं—

(१) अध्यापक और पठनार्थी का अधिकरण परस्पर मिलना चाहिये। छात्र को अध्यापक पर पूरा विश्वास और श्रद्धा हो कि इनसे मेरा हितसाधन होगा। उधर अध्यापक को भी विश्वास हो कि इसको पढ़ाने से मेरा परिश्रम व्यर्थ नहीं जायेगा। वह पहिले पठनार्थी का अध्ययन करे कि इसकी हिन्दी तथा संस्कृत में योग्यता कहां तक है। क्या २ पढ़ा हुआ है, और क्या २ पढ़ना चाहता है। यह संस्कृत क्यों पढ़ रहा है, लक्ष्य क्या है? इसकी समझने की, स्मरणशक्ति तथा धारणशक्ति और वर्णन शक्ति कैसी है? १॥ घण्टा पाठ पढ़ने के अतिरिक्त घर पर वह कितना समय पाठ के मनन करने में दे सकता है।

(२) धन प्राप्ति की बात वा आशा परस्पर सर्वथा न रहनी चाहिये। यदि विवशतः करना अनिवार्य हो तो भी पठनार्थी इनका पूरा सम्मान करे, और अध्यापक भी कमसे कम ३ मास तक तो चाहे कुछ भी प्राप्त हो या न हो पढ़ाना कदापि बन्द न करे॥

(३) कमसे कम समय और परिश्रम द्वारा, अधिक से अधिक लाभ, सुगम से सुगम ढंग से मुझे इनको करा देना है, यह अध्यापक का परमलक्ष्य रहना चाहिये।

(४) कठिन से कठिन बात पठनार्थी को समझ में न आने पर अध्यापक को किञ्चित् भी क्षोभ वा घबराहट न होनी चाहिये। वह छात्र को अनेक उपायों से (लौकिक दृष्टान्त द्वारा भी) उस बातको सरल से सरल ढंग से समझा दे। चाहे कितनी बार बताना पड़े। निर्बल से निर्बल छात्र भी बिना भय वा संकोच के जब तक न कह दे कि समझ में आ गया, तब तक पाठ आगे नहीं चले। छात्र के समझने में क्या कठिनाई है और क्यों हो रही है, इसको समझना और उसको दूर करना अध्यापक का परम कर्तव्य है। आरम्भ के १ मास में दो तीन बार आगे नया पाठ न पढ़ाकर पढ़े हुये पाठ की पुनरावृत्ति करा वा करवा देना चाहिये।

(५) १५ दिन पढ़ाई चल चुकने पर जो छात्र वितण्डावादी हो, समझने की अपेक्षा व्यर्थ प्रश्न ही करता रहे, अविनीत हो, विश्वास न करता हो, निरन्तर देरी से आवे, बोलने पर नोट न कर सकता हो, उसे हटा देना चाहिये।

(६) असमर्थ (अविनीत नहीं) छात्रों की एक अलग श्रेणी बना दी जावे। उसका भार पढ़ने वालों पर ही रहेगा। इसमें भी यदि कोई पढ़ने में बहुत असमर्थ हो, पर श्रद्धावान् हो, उनकी शनैः शनैः तथा शीघ्र चलने वाली श्रेणी अलग २ भी चलाई जा सकती है। इसका भार भी पढ़नेवालों को ही उठाना चाहिये।

(७) अध्यापक पूछने वाले छात्र पर कभी भी रुष्ट वा क्रुद्ध न हो। पढ़ने वाले छात्र को बिना समझ में आये कभी भी 'हां' नहीं करनी चाहिये। पठनार्थी का मन इधर उधर न होने देना चाहिये। यदि छात्र व्यर्थ की बात या पाठ से बाहर की बात पूछे वा पाठ सम्बन्धी कोई सूक्ष्म शंका तत्काल पूछना चाहे तो उसे उसी समय रोक देना चाहिये। हां श्रेणी के पाठ के अन्त में समय होने पर उसका यथोचित समाधान किया जा सकता है।

(८) अध्यापक को चाहिये कि ऐसा यत्न करे कि छात्रों को पढ़ते समय ही उपस्थित (हृदय में बैठ) हो जावे। पहिले दिन के पाठ में कुछ पूछना हो तो पूछो, ऐसा अध्यापक कहे, तथा पूर्व दिन वा पूर्व के पढ़े में से कुछ थोड़ा सा प्रति दिन पूछता रहे॥

(९) पढ़ाने से पूर्व अध्यापक पढ़ाये जाने वाले विषय को ५ मिनट मनमें पढ़ाने का क्रम अवश्य निर्धारित कर ले। अध्यापक को स्मरण रहना चाहिये कि मैं छात्र को कौन २ सूत्र तथा कौन २ प्रकरण पढ़ा चुका हूँ। जिस से कि पूर्व ज्ञात के आधार पर अगला अज्ञात विषय छात्रों की बुद्धि में सुगमता से बैठता चला जाये। अष्टाध्यायी में तो पहले समझ कर पढ़े हुए सूत्रों की स्मृति दृढ़ होती जाती है, जैसे दीवार बनने में ईंट के पहिले रदे के ऊपर दूसरा रदा ठीक बैठता चला जाता है।

(१०) बहुत योग्य-विनीत और आर्ष ग्रन्थों में श्रद्धावान् छात्र को ६ मास वाली श्रेणी में पढ़ाते हुये भी १ मास के पश्चात् ३–४ वर्ष वाले पाठ्यक्रम अर्थात् व्याकरण का पूर्ण ज्ञानसाहित्य-दर्शन-तथा वेद विषय में विशेष प्रयत्न करने की इच्छा वाले छात्र के लिये अलग पढ़ाने की पृथक् व्यवस्था अपने पास करे वा उसको ऐसे स्थान पर जाने की व्यवस्था कर दे, जहां उसकी पढ़ाई आदि का प्रबन्ध सन्तोषजनक हो सकता हो।

पठन पाठन सम्बन्धी निर्देश

(१) अष्टाध्यायी मूल निर्णयसागर बम्बई १९५४ से पहिले की छपी या रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर की छपी, अर्थात् एक ही प्रकार की सब छात्रों और अध्यापक के पास रहनी चाहिये।

(२) लाल और काली पैन्सिल हर एक के पास पढ़ते समय सदा अवश्य रहनी चाहिये, तथा नोट करने के लिए एक कापी।

(३) अधिकार सूत्र पर "प्रत्ययः। परश्च। (अ० ३।१।१,२ से निष्प्रवाणिश्च" । अ०५।४।१६० आदि में जहां से अधिकार आरम्भ होता है, वहां उलटा कामा 'तथा जहां तक उसका अधिकार जाता है उसके अन्त में ऊपर की ओर सीधा कामा' लाल पैन्सिल से, लगाना चाहिये। जो लाल झण्डी की तरह पत्रे पलटने पर दूर से ही दिखाई दे। जिस सूत्र का अर्थ समझ लिया हो, उसके नीचे लाल पैन्सिल की रेखा लगा दें, जो दूर से ही दीख जावे। बिना समझे लाल रेखा कदापि न लगाना चाहिये। प्रतिदिन ऐसा ही करते जावें। लाल चिन्ह वाले सूत्रों की पुनरावृत्ति पुस्तक पर से ही करते रहना चाहिये।

(४) काली पैन्सिल (या फौन्टेन) का प्रयोग—समझे जा रहे, प्रत्येक सूत्र में सबसे पहिले पदच्छेद (पदों का अलग २ करना) करो। कठिन हो तो कापी पर, नहीं तो अष्टाध्यायी पर ही अलग २ पद कर लो।

७।३ १।१ १।१ १।१
जैसे—अ० १।३।२ में उपदेशे। अच्। अनुनासिक इत्। इस प्रकार उन २ पदों पर विभक्ति लिख लो। और यह भी समझ लो कि किस शब्द के समान इनके रूप चलेंगे। ७।१ का अर्थ है सप्तमी विभक्ति का एक वचन, १।१ का अर्थ है प्रथमा विभक्ति का एक वचन। ऐसा ही सब सूत्रों में समझना। जहां तक हो सके यह ७।१ आदि विभक्ति वचन मूल अष्टाध्यायी की अपनी पुस्तक पर ही काली पेन्सिल से लिख लेना चाहिये, जिससे आगे रबर से मिटा भी सकें। लाल पैन्सिल से नहीं ताकि परस्पर कदापि भ्रम न हो।

(५) अधिकार और अनुवृत्ति पर चिन्ह लगाकर ही समझाने से सूत्र का अर्थ तत्काल समझ में ठीक बैठ जाता है। संस्कृत अनभिज्ञ छात्र पहिले बिना रटे संस्कृत में अर्थ करेगा। पीछे हिन्दी में अनुवाद कर देगा। यह इस क्रमकी भारी विशेषता है।

(६) तीन से अधिक छात्र होने पर अध्यापक कृष्ण काष्ट पटल (ब्लैकबोर्ड) तथा चाक का प्रयोग अवश्य करें। इससे छात्रों को बहुत सुगमता रहती है। देखकर लिख लेना उन्हें बहुत ही अनुकूल पड़ता है।

(७) आर्ष पाठ विधि में अत्यन्त श्रद्धावान् तथा अष्टाध्यायी पद्धति से पढ़ाने वाले अध्यापक को चाहिये, कि पहिले वह प्रारम्भ १ मास की पढ़ाई के क्रम को सूत्रों सहित अपने पास संग्रह कर ले। फिर जिस सूत्र को पढ़ाना हो उसे सूत्रों की मुद्रित सूची में से निकाल कर अष्टाध्यायीभाष्य वा काशिका से निकालकर समझ ले, और अधिकार अनुवृत्ति के लिये गुरुकुल वृन्दावन की छपी अष्टाध्यायी से सहायता ले ले, परन्तु पं० जीवाराम मुरादाबाद की अर्थ वाली अष्टाध्यायी को कभी छुए भी नहीं क्योंकि इसमें सिद्धान्तकौमुदी से अर्थ लेकर लिख दिया गया है, इसलिये इससे कोई लाभ नहीं हो सकता, यह निश्चय है॥

प्रारम्भिक एकमास (३० दिन) का पाठ्यक्रम

अब हम अष्टाध्यायी पद्धति से संस्कृत और उसके व्याकरण पढ़ाने के अपने क्रम को अति संक्षेप से लिखते हैं, ६ मास का सारा पाठ्यक्रम संक्षेप से लिखेंगे। यह विदित रहे कि हमने अष्टाध्यायी कण्ठस्थ न होने के कारण, तथा पढ़ने वालों के पास ६ मास का समय होने के कारण और वह भी प्रति दिन केवल २ घण्टे समय होने से अष्टाध्यायी के ४००० चार सहस्र पूरे सूत्र तो पढ़ाने नहीं हैं। हमने ६ मास में केवल लगभग ९००, १००० सूत्र पढ़ाने हैं। सो भी वही जो बहुत काम में आने वाले हैं या अनिवार्य हैं। इसलिए पढ़ाने वाला अध्यापक ही यह निश्चय करेगा कि मैंने आरम्भ में क्रमशः ३० (वा इससे कम) दिन तक कौन २ से सूत्र पढ़ाने हैं, और किस क्रम से। अर्थात् पहिले दिन कौन २–दूसरे दिन कौन २–तीसरे दिन कौन २–इसी प्रकार ३० दिन तक।

३० दिन के पश्चात् तो हमने छात्रों को एक २ प्रकरण लेकर पढ़ाते चलना है। जिसमें सुबन्त नामिक के आधार पर, और तिङन्त आख्यातिक के आधार पर। इनमें भी हम हर एक सूत्र को नामिक वा आख्यातिक में नहीं पढ़ावेंगे। अपि तु प्रत्येक सूत्र हम मूल अष्टाध्यायी में ही पढ़ाकर समझा देंगे। छात्र पीछे आवश्यकता हो तो नामिक वा आख्यातिक में देख लें, यह बात बड़े रहस्य की है। शेष सब प्रकरण अष्टाध्यायी में एक स्थान पर ही हैं। उनके अष्टाध्यायी पर से पढ़ाने में कोई बाधा नहीं। हम ६ मास की श्रेणी की दृष्टि से उनमें आवश्यक सूत्रों पर ही पठनार्थों के लिए चिह्न लगवा देंगे, बहुत काम में आने वाले सूत्र ही पढ़ावेंगे।

आरम्भ के ३० दिन का पाठ

प्रथम १ दिन का पाठ[1]

कलम–कल्स–कूलसँ–कूलम्–कलम् इनको आगे पीछे बोलकर छात्रों को लिखावें। ठीक लिख लेने पर ही अष्टाध्यायी हाथ में दी जावे। चाहे कोई कितना भी पढ़ा हो, इसमें उत्तीर्ण होना परमावश्यक है। तब संस्कृत आरम्भ करें। हमारे भारतीयों के सभी ग्रन्थ संस्कृत में हैं। इस संस्कृत भाषा में चार प्रकार के शब्द होते हैं—(१) नाम (२) आख्यात (३) उपसर्ग (४) निपात।

---

१. "प्रथम १ दिन का पाठ" इसका अभिप्राय इतना ही है कि प्रथम दिन यह पाठ पढ़ाना चाहिये। यदि किसी को इतना पाठ भी कठिन पड़े, सम्पूर्ण पाठ समझ में न आ सके। तो १॥ दिन या २ दिन में कर लेंवे। आगे भी इसी प्रकार समझना चाहिए। कोई २ दिन के पाठ को १ दिन में समझे तो कोई बाधा नहीं। ये पाठ इस क्रम से समझ में आ जाने चाहिएं, समय का प्रतिबन्ध इसमें कुछ नहीं, यही कहना है।

(१) किसी व्यक्ति, स्थान वा वस्तु को कहने वाले शब्द नाम हैं जैसे राम, कृष्ण, बलदेव, काशी, अमृतसर, उज्जैन, वृक्ष, जल कूपादि।

(२) आख्यात = क्रियावाची पदों को कहते हैं, जैसे—पठति, गच्छति, चलति।

(३) उपसर्ग = जो क्रियावाची पद से पहिले आते है, और उसके अर्थों को प्रायः बदल देते हैं, जैसे—गच्छति (जाता है), आगच्छति (आता है), स्थान (ठहरना) प्रस्थान (चलना) आचार, विचार, प्रचार, संचार, अत्याचार, उपचार आदि।

(४) निपात = जिसके रूप नहीं चलते, जैसे-यदि, अपि, च, वा, ननु, आदि॥ नाम के तीन भेद होते हैं— **पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग-नपुंसकलिङ्ग** आगे इनके **एकवचन-द्विवचन और बहुवचन** भेद हैं। इनकी ८ विभक्ति और ६ कारक होते हैं। सम्बन्ध और सम्बोधन कारक नहीं होते। पुरुष वा राम (अकारान्त पुल्लिङ्ग) शब्द के रूप आठों विभक्तियों को कापी या बोर्ड पर अध्यापक अभ्यास करा दें। पुरुषस्य-पुरुषेभ्यः-पुरुषाय आदि शब्दों का अर्थ भी वहीं बैठे २ अभ्यास करा दें। आधे घण्टे में अभ्यास हो जानेपर मूल ऋग्वेद वाल्मीकीय रामायण आदि में से छात्र द्वारा किसी पृष्ठ की किसी पंक्ति पर हाथ रखवायें। उस मन्त्र वा श्लोक में अकारान्त पुल्लिङ्ग पुरुष वा राम की तरह पदों का अर्थ छात्र से करावें। जैसे ऋग्वेद १।१।१ में **पुरोहितं = (पुरोहित को) पुरुषं = (पुरुष को)। यज्ञस्य = (यज्ञ का) पुरुषस्य = (पुरुष का) देवं = (देवको) रत्नधातमं = (रत्नधातम को)** ऐसा समझा दें। ऋग्वेद के पृष्ठ १ में प्रायः १५ मन्त्र हैं, यदि १ मन्त्र में ३ हों तो १ पृष्ठ में १५× ३ = ४५ शब्द पुरुष या राम की तरह आ गए, तो १००० पृष्ठों में ४५ सहस्र शब्दों के विभक्त्यर्थ का ज्ञान छात्र को हो जायेगा। उन शब्दों के अर्थ पीछे समझ लेगा। इसकी अभी चिन्ता नहीं। **कारक** क्रिया के बनाने वाले को कहते हैं। **सम्बन्ध और सम्बोधन किसी क्रिया को नहीं बनाते, अतः ये दोनों कारक नहीं कहलाते।** पुरुष और वाच् शब्दों के रूप कापी पर लिखकर अर्थ सहित समझा देने चाहियें।

द्वितीय २ दिन का पाठ

(१) सूत्र उसे कहते हैं जो बहुत सी बात को थोड़े में (संक्षेप में) कह दे। जैसे 'अच्' कहने से सब स्वर आगये। 'हल्' कहने से सब व्यञ्जन आ जाते हैं। अल्, अट्, अश्, झल्, सुप्, तिङ् आदि प्रत्याहारों का परिचय भी करा दें। पाणिनि मुनि ने ४२ प्रत्याहारों (संक्षेपों) से सारी अष्टाध्यायी में काम लिया है। छात्रों को प्रत्याहार सूत्रों का अभ्यास करा लेना चाहिये।

सूत्र ७ प्रकार के होते हैं (१) **अधिकार सूत्र** (२) **संज्ञा सूत्र** (नाम रखने वाले) (३) **परिभाषा** (निर्णय करने वाले) (४) **विधि** (कार्य करने वाले) (५) **निषेध** (मना करने वाले) (६) **नियम सूत्र** (७) **अति देश** (समानता का अधिकार प्राप्त कराने वाले)।

नाम के भेद कह चुके। आज आख्यात = क्रियावाची शब्दों को कहते हैं। इसके लिये मूल धातुपाठ की पुस्तक (वैदिक यन्त्रालय अजमेर मुद्रित) छात्रों को हाथ में देकर बताना चाहिये कि ये लगभग २००० धातु कहलाते हैं। इसमें भू आदि में होने से भूवादयो धातवः (१-३-१) यह सूत्र इनकी धातु संज्ञा (नाम) रख देता है जो इनमें नहीं पढ़ा उसकी धातु संज्ञा नहीं होगी। इन धातुओं के दस गण (समूह) हैं। एक समूह में आये हुए धातुओं के रूप एक जैसे चलते हैं। इसी लिये वे एक विभाग में पढ़े हुए हैं। इनमें (१) **भ्वादि** गण वाले धातु वे हैं जिनका पहिला (आदि) धातु 'भू' है। (२) **अदादि**—जिनमें अद् पहिला धातु है। (३) **जुहोत्यादि**—हु (जुहोति)। (४) **दिवादि** (५) **स्वादि** (६) **तुदादि** (७) **रुधादि** (८) **तनादि** (९) **क्र्यादि** (१०) **चुरादि** भी पूर्ववत् समझना। आदि में होने वाले धातु के नाम से इन गणों के अदादि (अद् है आदि में जिसके) इत्यादि १० नाम रक्खे गये हैं। सभी गणों के सभी धातुओं के १० लकार होते हैं। जैसे— (१) **लट्** (२) **लिट्** (३) **लुट्** (४) **लृट्** (५) **लेट्** (६) **लोट्** (७) **लङ्** (८) **लिङ्** (विधिलिङ्, आशीर्लिङ्), (९) **लुङ्** (१०) **लृङ्** ये दस लकार होते हैं। इनको बिना रटे जानने के लिये 'ल् ट्' इन दो के बीच में अ-इ-उ-ऋ-ए-ओ लगादें तो 'लट्-लिट्-लुट्-लृट्-लेट्-लोट्' ये छह लकार बन जाते हैं। आगे 'ल् ङ्' इन दोनों के बीच में भी अ-ई-उ-ऋ लगालें तो लङ्-लिङ्-लुङ्-लृङ् बन जावेंगे। सो दस लकार बन गये। रटने का कोई काम नहीं। अब ये दस लकार किस काल में होते हैं यह हिन्दी जानने वाले को सहज में समझ में आ जायेगा।

(१) **लट्** = वर्त्तमान काल में होता है, देवदत्त जाता है।

(२) लिट् = परोक्षभूत काल में, जिसे हमने नहीं देखा, जैसे, राम ने रावण को मारा।

(३) लुट् = अनद्यतन भविष्यत्, अद्य कहते हैं आज को, अद्यतन कहते हैं, आज का। अनद्यतन = जो आज का न हो, जैसे देव कल जायेगा।

लृट् = सामान्य भविष्यत्, देव जायेगा (कब ? सो कुछ निश्चय नहीं)।

(५) लेट् = वेद में ही होता है।

(६) लोट् = विधि आदि अर्थों में होता है, जैसे देव जा।

(७) लङ् = अनद्यतन भूतकाल, देव कल गया।

(८) लिङ् = विधि आशादि ६ अर्थों में होता है, जैसे देव जावे,लिङ् दो प्रकार का होता है, आशिषि लिङ्—आशीर्वाद अर्थ में होता है, परमात्मा करे देव चिरंजीव हो।

(९) लुङ् = सामान्य भूतकाल—देव गया (पता नहीं कब गया।

(१०) लृङ् = क्रिया के उल्लङ्घन = अतिपत्ति में— जैसे देव पढ़ता तो विद्वान् बनता।

इस प्रकार १० गणों के सब धातुओं के १०–१० लकार होते हैं, यह समझना चाहिये। यह लकार के १० सूत्र अष्टाध्यायी में सामान्यतया बता देने चाहियें। अधिकार और अनुवृत्ति के आधार पर इनके अर्थ अगले दिन के पाठ में बताये जायेंगे॥

तृतीय ३ दिन का पाठ

अब ७ प्रकार के सूत्रों का स्वरूप दर्शाते हैं—

(१) **अधिकार सूत्र** = वे होते हैं जिन्हें जहां से जहां तक कि उनका अधिकार होता है, उन सब सूत्रों में जाकर बैठने का अधिकार (परमिट = आज्ञापत्र) मिल जाता है। जैसे बिजली घर से बिजली ठीक करनेवाला भृत्य अपने अधिकारियों का लिखित आज्ञापत्र दिखाकर हर एक घर के भीतर घुसकर बिजली ठीक कर सकता है। ऐसे ही अधिकार सूत्र अपने आगे आनेवाले अष्टाध्यायी के सब सूत्रों में (जहां तक कि उसका अधिकार है) जाकर बैठ जायेगा, उसको रोक नहीं सकता। सो अब हमें मोटे २ अधिकार सूत्रों पर चिन्ह मूलाष्टाध्यायी में ही लाल पैन्सिल से लगवा देना चाहिये। और आरम्भ में सूत्रों के आगे, जैसे 'प्रत्ययः। ५।४ तक। 'परश्च ५।४ तक ऐसा काली पैन्सिल से लिखवा देना चाहिए। (लाल से कामा उलटा लगवाना चाहिए, आगे ५।४ तक लाल पैन्सिल से कदापि न लिखाना चाहिए) आरम्भ में मुख्य २ अधिकार ही बताने चाहिएं, अधिक नहीं, (इसमें विशेष रहस्य है) ताकि छात्रों के मन में स्थिर बैठ जावें।

(१) 'प्रत्ययः। अ० (३–१–१) से ······(५–४–१६०) निष्प्रवाणिश्च' तक।

(२) 'परश्च ३–१–२ से ······५–४–१६० निष्प्रवाणिश्च' तक।

(३) 'धातोः ३–१–९१ से ३–४–११७ तक'।

(४) 'भूते ३–२–८४ से १२२ तक'।

(५) 'ङ्याप्प्रातिपदिकात् ४–१–१ से ५–४–१६० तक'।

(६) 'तद्धिताः ४–१–७६ से ५–४–१६० तक'।

(७) 'संहितायाम् ६–१–७० से ६–१–१५१ तक'।

(८) 'अङ्गस्य ६–४–१ से ७–४–९७ ई च गणः तक'।

(९) 'पदस्य ८–१–१६ से ८–३–५४ तक'।

(१०) 'पदात् ८–१–१७ से ८–१–६८ तक'

(११) 'संहितायाम् ८–२–१०८ से ८–४–६८ तक'।

(१२) 'कारके १–४–२३ से १–४–५५ तक'।

(१३) 'समासः २–१–३ से २–२–३८ तक'।

(१४) 'कृत् ३–१–९३ से ३–४–११७ तक'।

(१५) 'कृत्याः ३–१–९५ से ३–१–१३२ तक'।

इन १५ अधिकारों को मूल अष्टाध्यायी पर ही लाल पेन्सिल से आदि में उलटा अन्त में सुलटा मोटा कामा लगवाकर काली पेन्सिल से जहां तक अधिकार जाता है उस सूत्र की संख्या भी लिखें। ऐसे ही और अधिकार सूत्र बहुत हैं। शनैः २ समझते हुए आते रहेंगे। गुरुकुल वृन्दावन की छपी अष्टाध्यायी से भी समझे जा सकते हैं।

अधिकार और अनुवृत्ति में भेद—जहां सारा सूत्र अर्थात् सूत्र के सब पद आगे आने वाले सूत्रों में बैठेंगे उसे हम **अधिकार सूत्र** कहते हैं। जहां सूत्र के १–२ शब्द आगे आने वाले सूत्रों में जा कर बैठते हैं उसे हम **अनुवृत्ति** कहते हैं (या छोटा अधिकार)। जैसे—प्रत्ययः, परश्च, धातोः, इत्यादि अधिकार सूत्र हैं। उपदेशेऽजनुनासिक इत्१–३–२ में 'उपदेशे' और 'इत्' ये दोनों तस्य लोपः १-३-९ तक जाते हैं। इसे अनुवृत्ति कहा जाता है। अर्थात् इन दोनों की अनुवृत्ति ९ सूत्रों तक जाती है, ऐसा कहा जायेगा। अनुवृत्ति भी उपर्युक्त वृन्दावन वाली अष्टाध्यायी से सहज में देखी जा सकती है। इन अधिकारों को रटने का कुछ काम नहीं,

क्योंकि लाल झण्डी के समान चिह्न लगे होने से पत्रा पलटते ही स्वयं दीखने लगते हैं। बार २ काम में आने से अभ्यास स्वयं हो जाता है।

चतुर्थ दिन का पाठ

आज हमें शेष ६ प्रकार के सूत्रों का स्वरूप समझ लेना है जिनमें अधिकार के आगे—

(२) **संज्ञा सूत्र**—वह है जो नाम रख देता है। जैसे धातु-प्रातिपदिक-इत्-लोप आदि ये हर समय काम आनेवाली संज्ञा हैं। वृद्धि-गुण-संयोग-अनुनासिक-सवर्ण-प्रगृह्य-घु, घ-सङ्ख्या-षट्-निष्ठा-सर्वनाम-अव्यय-सर्वनामस्थान-विभाषा-सम्प्रसारण-लोप-लुक्-श्लु लुप्-टि-उपधा-वृद्ध ये संज्ञायें प्रथमाध्याय प्रथमपाद में ही क्रमशः सूत्रों द्वारा कही गई हैं। समझ लेने पर इन संज्ञाओं के नीचे लाल पैंसिल से चिन्ह कर दें, (सारे सूत्र पर नहीं क्योंकि अभी सारा सूत्र तो समझा नहीं, **सारे सूत्र पर तभी लाल चिन्ह करना चाहिये जब वह सूत्र सारा समझ में आ जाये। बिना समझे किसी भी सूत्र पर लाल चिन्ह कदापि न लगाना चाहिये**)। अब आगे प्रातिपदिक संज्ञा करनेवाला सूत्र **"अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्"** (१-२-४५) है तथा **"कृत्तद्धितसमासाश्च"** (१-२-४६) है। पहले का पदच्छेद 'अर्थवत्' "अधातुः" "अप्रत्ययः" "प्रातिपदिकम्" होता है। अर्थ यह हुआ कि **अर्थवत्** = जो अर्थ वाला (शब्द) है वह प्रातिपदिकम् = प्रातिपदिक संज्ञा (नाम) वाला है, अधातुः अप्रत्ययः—धातु और प्रत्यय को छोड़कर, बस यही सूत्र का अर्थ है। अगले सूत्र में **'कृत्तद्धित समासाश्च'** ने कहा कि प्रत्ययों में कृत् और तद्धित जिसके अन्त में हो उनकी और समास की प्रातिपदिक संज्ञा (नाम) हो जावे।

(३) **परिभाषा सूत्र** = निर्णय करनेवाला होता है।

(४) **विधिसूत्र** = कार्य करनेवाला—**वर्तमाने लट्** (३-२-१२३)

(५) **निषेध** = मना करनेवाला—**न विभक्तौ तुस्माः** (१-३-४)

(६) **नियम** = नियम करनेवाला

(७) **अतिदेश** = समानता का अधिकार प्राप्त कराने वाला सूत्र। जैसे स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (१-१-५५)। इनके उदाहरण आगे धीरे २ स्वयं आते रहेंगे।

पञ्चम दिन का पाठ

सूत्रों के अर्थ करने का प्रकार—**वर्तमाने लट्** (३-२-१२३) परोक्षे लिट् (३-२-११५)। अनद्यतने लुट् (३-३-१५)। लृट् शेषे च (३-३-१३)। लिङर्थे लेट् (३-४-७)। विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् (३-३-१६१)। लोट् च (३-३-१६२)। अनद्यते लङ् (३-२-१११)। आशिषि लिङ्लोटौ (३-३-१७३)। लुङ् (३-२-११०)। लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ (३-३-१३९)॥ **आज हमने इतने सूत्रों का अर्थ समझ और समझा लेना है।**

१—पहले हम **वर्तमाने लट्** (३-२-१२३) को लेते हैं। छात्र अपनी मूल अष्टाध्यायी खोल कर बतावे कि "वर्तमाने लट्" सूत्र में ऊपर से किस २ का अधिकार आता है। लाल पैंसिल से मोटा उलटा कामा 'प्रत्ययः परश्च (३-१-१,२) से पहले चिन्ह लगा हुआ तत्काल दीख जावेगा। छात्र झट कह देगा कि "वर्तमाने लट्" सूत्र में "प्रत्ययः" "परश्च" का अधिकार आता है। और किसका आता है, पत्रा पलटने पर छात्र लाल कामा देख कर झट बतादेगा कि **"धातोः"** (३-१-९१) का भी अधिकार आता है। वह भी आगे बैठ जायेगा। अब उक्त शब्दों के आगे बैठ जाने पर इस सूत्र का स्वरूप यह बन गया—**"वर्तमाने लट् प्रत्ययः परश्च धातोः"**। अब बैठने वालों को कहो कि थोड़ा ढंग से बैठिये, कैसे बैठें? सो **"धातोः वर्तमाने लट् प्रत्ययः परः च"** ऐसा क्रम बन गया। इसके आगे **भवति, भवेत, स्यात्, भवतु, भविष्यति, अस्ति,** वर्तते आदि इन क्रिया वाचि शब्दों में से कोई एक लगा लो। हमने आगे भवति लगा दिया, सो सूत्र का स्वरूप बना—**"धातोः वर्तमाने लट् प्रत्ययः परश्च भवति"**। इसी को अर्थ कहते हैं, सो सूत्र से ही सूत्र का अर्थ बन गया। इस ढंग से बिना संस्कृत पढ़ा भी सूत्र का अर्थ अपने आप बिना रटे समझ कर कर लेगा। पीछे यदि उसको विभक्ति का ज्ञान २-३-दिन में हो चुका हो तो हिन्दी में भी अर्थ कर देगा। **धातोः** ५-१ (पञ्चमी विभक्ति का एकवचन) = धातु से। **वर्तमाने** = वर्तमान काल में (पुरुष की तरह ७-१) **लट्** (१-१), **प्रत्ययः** (१-१) = प्रत्ययः **भवति** = होता है, **परः च** = और वह परे होता है। लीजिये सूत्र का अर्थ हिन्दी में भी बन गया, जो पठनार्थी २-४ दिन में ही समझ कर करने लगेगा।

(२) **परोक्षे लिट्**—हम बता चुके हैं कि भूते का अधिकार ३-२-८४ से १२२ तक जाता है। वहां लाल पैंसिल से अधिकार का चिन्ह लगा है। अब आगे अर्थ समझें। **परोक्षे** लिट् (३-२-११५) में पूर्ववत् "प्रत्ययः" "परश्च" "धातोः" तो आकर बैठेंगे ही "**भूते** (३-२-८४) भी आकर बैठेगा। सो बैठ जाने से क्या बना "**परोक्षे लिट् प्रत्ययः परश्च धातोः भूते**"। ढंग से बैठने पर "धातोः परोक्षे भूते लिट् प्रत्ययः परश्च भवति" (पूर्ववत् लगा दिया)। हिन्दी में अर्थ क्या बना—"**धातोः** = धातु से, **परोक्षे भूते** = परोक्ष भूत काल में, **लिट् प्रत्ययः** = लिट् प्रत्ययः, भवति = होता है, **परश्च** = और वह परे होता है"। लीजिये! पहले संस्कृत में अर्थ बन गया पीछे हिन्दी में बन गया, भला इसमें रटने का क्या काम है। हां समझ लेना है।

(३) **अनद्यते लुट्** (३-३-१५) में पूर्ववत् **धातोः** (३-१-९१) **प्रत्ययः परश्च** (३-१-१,२) का अधिकार आता ही है। **३-३-३ से "भविष्यति"** की अनुवृत्ति इसमें भी आती है। "धातोः अनद्यतने भविष्यति लुट् प्रत्ययः परश्च भवति" यह अर्थ बन गया। अर्थ हुवा कि अनद्यतन (जो आज का नहीं) भविष्यत् काल में धातु से (२००० धातुओं से) लुट् प्रत्यय होता है और वह परे होता है।

(४) **लृट् शेषे च** (३-३-१३) में भी पूर्ववत् धातोः (३-१-९१) प्रत्ययः परश्च (३-१-१,२) का अधिकार आता है। और ३-३-३ से भविष्यति की अनुवृत्ति आती है। तो अर्थ बन गया धातोः भविष्यति च लृट् प्रत्ययः परश्च भवति, शेषे च भविष्यत् काल में धातु से लृट् प्रत्यय होता है और वह परे होता है।

(५) **लेट्—लिङर्थे लेट्** (३-४-७) में ऊपर से (३-३-६) से छन्दसि की अनुवृत्ति (३-४-१७) तक जाती है। 'धातोः प्रत्ययः परश्च' पूर्ववत् आता ही है। अर्थ यह बन गया—वेद में धातु से लिङ् के अर्थ में लेट् प्रत्यय होता है और वह परे होता है।

(६) **लोट्—च** (३-३-१६२) में **विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्** (३-३-१६१) और "**धातोः प्रत्ययः परश्च**" की अनुवृत्ति आती है। सूत्र का अर्थ पूर्ववत् बना—धातु से **विधि** (आज्ञा) **निमन्त्रण** (नियतरूप में बुलाना) **आमन्त्रण** (बुलाना, कामचार है, आवे या न आवे) **अधीष्ट** (सत्कार पूर्वक व्यवहार) **सम्प्रश्न** (अच्छी तरह पूछना कि आप आयेंगे ना) और **प्रार्थना**, इन अर्थों में लिङ् प्रत्यय होता है और वह परे होता है। "**लोट् च**" सूत्र का अर्थ हुआ इन उपर्युक्त विधि आदि ६ अर्थों में धातु से लोट् प्रत्यय होता है और वह परे होता है"।

(७) **अनद्यतने लङ्** (३-२-११०) पूर्ववत् "धातोः, प्रत्ययः परश्च" का अधिकार है। अर्थ बना—धातोः अनद्यतने भूते लङ् प्रत्यय होता है और वह परे होता है।

(८) लिङ् (विधि)—(i) लोट् में इसका अर्थ कह चुके।

(ii) आशिषि लिङ्लोटौ (३-१-१७६) में "धातोः प्रत्ययः परश्च" पूर्ववत् आते हैं। "धातोः आशिषि लिङ् लोटौ प्रत्ययौ भवतः परश्च", "धातु से आशीर्वाद अर्थ में लिङ् और लोट् प्रत्यय होते हैं और वे परे होते हैं, यह हिन्दी में अर्थ बन गया।

(९) **लुङ्** (३-२-११०) यहां भी पूर्ववत् "धातोः भूते **लुङ् प्रत्ययः** परश्च भवति" अर्थात् "धातु से भूत (सामान्य) काल में लुङ् प्रत्यय होता है और वह परे होता है, यह अर्थ बन गया।

(१०) **लृङ्—लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ** (३-३-१३९) में पूर्ववत् धातोः प्रत्ययः परश्च का अधिकार आकर अर्थ बना "धातोः लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ लृङ् प्रत्ययः परश्च भवति" अर्थात् धातु से लिङ् का निमित्त होने पर क्रियातिपत्ति (क्रिया के उल्लङ्घन होने पर) लृङ् प्रत्यय होता है और वह परे होता है। कहिये, १० सूत्रों का अर्थ आपकी समझ में आया कि नहीं। रटने का कुछ काम पड़ा हो तो मुझे साक्षी सहित पत्र लिखिये।

१० लकारों के ११ सूत्रों के अर्थ समाप्त हुये। इसी प्रकार कारक और विभक्ति के सूत्रों के अर्थ बिना रटे समझ में आजाते हैं। एक घण्टे में ४० सूत्र अर्थ सहित समझा चुका हूं। **दिवादिभ्यः श्यन्** (३-१-६९) इत्यादि सब गणों के सूत्रों के अर्थ पढ़नेवाला विद्यार्थी उपर्युक्त रीति से एक घण्टे में समझ लेता है। समझ लेगा नहीं, समझ लेता है, जो अद्भुत घटना समझी जाती है। एक ही दिन में ४० सूत्रों का अर्थ समझाया जा सकता है पर हमें उपर्युक्त १० लकारों के सूत्रों का अर्थ ही बताना है, सो बता दिया और सहज में समझ में आ गये। देखिये! सूत्र या उनके अर्थ हौआ नहीं हैं। पढ़नेवाले के हृदय में यह बात अङ्कित हो जाती है कि समझने की बात है, रटने की कुछ भी आवश्यकता नहीं। हां, बार २ आवृत्ति (दोहराना) से वे सूत्र और इनके अर्थ

वेदवाणी का आगामी विशेषाङ्क

वेदविषयक पाश्चात्यमत-परीक्षणाङ्क

भारतीय लेखकों ने जहां विना विचारे योरुपीय पक्षों का अनुकरण किया है, भारतीय शास्त्रपरम्परा का यथावत् ज्ञान न होने से असत्य वा अशुद्ध धारणाएं बनाली हैं, वहां अब समय आ गया है कि, स्वतन्त्र-भारत में पाश्चात्यों के उन मिथ्यामतों वा धारणाओं पर विवेचनापूर्ण प्रकाश डाला जाय। इसके लिये वेद विषय में पाश्चात्यों के विभिन्न मतों का परीक्षण होना आवश्यक है। इसके लिये "वेदवाणी" द्वारा व्यवस्था की जा रही है।

इस विशेषाङ्क के सम्पादक भारत के प्रसिद्ध वैदिकविद्वान् श्री० पं० भगवद्दत्तजी रिसर्चस्कालर (देहली) होंगे। जिस लेखमें सप्रमाण तर्कपूर्ण किसी पाश्चात्य मत का खण्डन नहीं होगा, वह लेख इस अङ्क में नहीं छपेगा। इस अङ्क का स्तर अत्यधिक ऊँचा होगा और पिष्ट पेषण से रहित होगा। साधारण कोटि के, तथा जिनमें पाश्चात्य मत का खण्डन नहीं होगा, वे लेख नहीं छापे जायंगे। संसार के सभी जर्नलस् तथा कल्याणादि को इसकी सूचना भेज दी जावेगी। इसमें निम्नाङ्कित विषयोंपर भारत के योग्य विद्वानों द्वारा लेख प्राप्त कर प्रकाशित करने का यत्न किया जा रहा है।

सम्भावित लेख विषय सूची

१ क्या वेदभाषा कभी बोलने की (व्यवहार की) भाषा थी
२ लौकिकसंस्कृत मन्त्रोपदेश काल से ही चली
३ वेदमें वर्णित ऋषि और देवता आकाशी पितर आदि?
४ रोथ-भिटलिङ्ग-मोक्षमूलर और मैकडानल आदि का वेदार्थ में वृथा अभिमान
५ वेदार्थ में ब्राह्मण ग्रन्थ सबसे अधिक सहायक
६ मैकडानल कृत वैदिक साइकौलोजी की आलोचना
७ वेद और संस्कृत भाषा का संसार की प्रमुख भाषाओं पर प्रभाव
८ पाश्चात्य लेखकों ने संस्कृत को भारत योरुपीय भाषाओं की माता मानना क्यों अस्वीकार किया, इस पक्ष की निर्मूलता
९ आसुरी और म्लेच्छ भाषाएं
१० गैलनर के ऋग्वेदभाष्य (जर्मन में नया छपा) की अशुद्धियाँ
११ ह्विटने के अथर्ववेद भाष्य की अशुद्धियाँ
१२ वेद वर्णित दस्यु मानव नहीं हैं।
१३ ऋग्वेद का नदी सूक्त और पाश्चात्यों के विभिन्न मतों का निराकरण
१४ भारतीय विश्वविद्यालयों में वेदाध्ययन
१५ डा० सिद्धेश्वर वर्मा और निरुक्त निर्वचन
१६ वाकर नागल कृत वैदिक व्याकरण की भूलें
१७ पाश्चात्य भाषा विज्ञान, विज्ञान नहीं, मत है
१८ वेदकाल निरूपण में पाश्चात्यों की भ्रान्तियां
१९ वैदिककोष के विषय में पाश्चात्यों के कुतर्क
२० वैदिकयज्ञ और पाश्चात्य कल्पनाएं
२१ सम्पूर्ण संसार में वेदमत
२२ वैदिक सृष्टि उत्पत्ति और बाइबल कुरान की सृष्टि उत्पत्ति
२३ छन्दोवाद
२४ स्वर वाद
२५ कौत्स का "अनर्थका हि मन्त्राः" और पाश्चात्यों की ऊहापोह। वेदं च वेदाङ्गानि च······पर विचार।
२६ भारतीय लेखकों ने जहां अपने पक्षों को समझे विना और विना विचारे पाश्चात्य पक्षों का अनुकरण किया है, उनके तत् तत् लेखांशोंका संकलन
२७ ओल्डन वर्ग (अंग्रेजी में ऋग्वेद) के वेदार्थ की अशुद्धियां
२८ "वैदिक एज" के वेदविषयक लेख की आलोचना॥
२९ क्षितीशचन्द्र (कलकत्ता) के (प्रधान संस्कृताध्यापक) वैदिकरीडर की आलोचना॥
३० पाश्चात्य स्कालर तथा वेदार्थ

ब्रह्मदत्तजिज्ञासु

प्रधान सम्पादक—"वेदवाणी" पो० अजमतगढ़ पैलेस—बनारस नं० १

शुभसूचना

विनारटे अष्टाध्यायीक्रम से संस्कृतशिक्षण के पाठ वेदवाणी में प्रतिमास प्रकाशित होंगे

हर्ष का विषय है कि विना रटे अष्टाध्यायीक्रम से संस्कृतशिक्षण का जो उपक्रम काशी, सुलतानपुर और देहली में बहुत दिनों से सफलता पूर्वक चल रहा है, उसे उन शिक्षार्थियों के लिये, जो कि इन स्थानों में आकर संस्कृत शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते, लिखित पाठमाला प्रकाशित की जाये, इसकी प्रार्थना अनेक संस्कृत प्रेमी महानुभावों–नेताओं–विद्वानों और पठनार्थियों की ओर से आग्रह पूर्वक निरन्तर की जा रही थी। लिखित पाठ्यक्रम अब-तक अनेक कठिनाइयों के कारण कार्यरूप में परिणत नहीं किया जा सका। अब इस क्रम के उपज्ञाता श्री माननीय पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी ने यह पाठमाला प्रतिमास "वेदवाणी" में प्रकाशित करने का शुभ संकल्प कर लिया है और इसी १९५५ मई मास के अङ्क से वह इस पाठमाला को प्रकाशित कर रहे हैं। पाठक अपनी प्रतियां निश्चित करा लें।

वेदवाणी के प्रत्येक संस्कृत प्रेमी पाठक को इस पाठमाला से पूर्ण लाभ उठाने के लिये तैयार हो जाना चाहिये। और संस्कृत भाषा के प्रचार के लिये अपने इष्ट मित्र बन्धु आदि सब महानुभावों को इस क्रम से लाभ उठाने की प्रेरणा करनी चाहिये।

यह क्रम इतना सरल होगा कि कोई भी संस्कृत प्रेमी पाठक चाहे वह किसी आयु का हो या किसी परिस्थिति का, श्रद्धापूर्वक अत्यल्प प्रयास द्वारा (अर्थात् कम से कम १॥ घण्टा प्रति दिन लगाने से) कुछ ही मासों में संस्कृत का बोध सुगमता से कर सकेगा।

यदि यह मासिक संस्कृत पाठमाला सफल रही और पठनार्थी महानुभावों ने उत्साह दिखाया, तो इसे साप्ताहिक पाठमाला के रूप में भी परिणत किया जा सकेगा, परन्तु वेदवाणी के ग्राहकों के अतिरिक्त ५०० प्रार्थनापत्र और आने पर ही इसको कार्यान्वित किया जा सकेगा।

उपर्युक्त क्रम से संकृत शिक्षण के लिये अत्यावश्यक ग्रन्थ **पाणिनीय अष्टाध्यायी सूत्रपाठ का शुद्ध तथा सस्ता संस्करण** श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट के द्वारा प्रकाशित हो चुका है, मूल्य ।।) (नीचे लिखे पते पर मिल सकेगी)। प्रत्येक पठनार्थी के पास अष्टाध्यायी का यही संस्करण होना चाहिये, क्योंकि पाठों में सूत्रसंख्या इसी संस्करण के अनुसार दी जायेगी, (अन्य स्थानों के छपे संस्करणों में सूत्रसंख्या में बहुत भेद है) पढते समय इसी को अपने पास रखने से सुविधा होगी। पत्रव्यवहार का पता—

अध्यक्ष, पाणिनि महाविद्यालय, मोतीझील, बनारस नं० ६।

संपादक, प्रकाशक व मुद्रक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विसेसरगंज, बनारस।

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ७] ❀ [अङ्क ८

इस अंक के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

ज्येष्ठ २०१२, जून १९५५
दयानन्दाब्द १३०
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५५

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
बनारस नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
,, ,, विदेश में ६)
इस अंक का ॥)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष को आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १ तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहिएं। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस ६

ग्राहकों से आवश्यक निवेदन

पत्र तथा मनिआर्डर "प्रबन्धक वेदवाणी" के नाम भेजें, व्यक्तिगत नाम से नहीं

हम अपने वेदवाणी के ग्राहकों को कई बार सूचना दे चुके हैं और वेदवाणी के नियमों में भी बराबर छपता रहता है कि वेदवाणी की व्यवस्था सम्बन्धी पत्रव्यवहार तथा मनियार्डर आदि "व्यवस्थापक वेदवाणी" के नाम भेजा करें, व्यक्तिगत नाम से नहीं। इतना होने पर भी हमारे बहुत से ग्राहक पत्रव्यवहार तथा धनादेश पं० युधिष्ठिर मीमांसक के नाम से भेजते हैं। यद्यपि अभी तक तो इससे विशेष कठिनाई नहीं हुई, परन्तु भविष्य में कठिनाई उत्पन्न होने की सम्भावना है, क्योंकि पं० युधिष्ठिर मीमांसक को यहां का जलवायु अनुकूल न होने से रुग्णता के कारण ट्रस्ट की व्यवस्था से काशी छोड़कर देहली जाना पड़ा है। अतः उनके यहां न रहने पर उनके व्यक्तिगत नाम से भेजे गये पत्र और मनियार्डर में गड़बड़ न हो, इसलिये पाठकों से हमारा निवेदन है कि वे आगे से प्रबन्ध सम्बन्धी समस्त पत्रव्यवहार तथा धनादेश "प्रबन्धक वेदवाणी" के नाम से भेजें, किसी भी व्यक्ति के नाम से न भेजें।

आशा है ग्राहक महानुभाव इस पर अवश्य ध्यान देंगे। मनियार्डर-पत्रादि "व्यवस्थापक (प्रबन्धक) वेदवाणी" के नाम से भेजेंगे, व्यक्तिगत नाम से नहीं।

श्री० प० युधिष्ठिर जी मीमांसक का पता—C/O रामलाल कपूर एण्ड सन्स लिमिटेड, पेपर मरचेन्ट, नई सड़क देहली।

सम्पादक वेदवाणी

ओ३म्

वेदवाणी

सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४ ॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों !

वर्ष ७ } काशी, ज्येष्ठ सं० २०१२ वि०, जून १९५५ ई० { अङ्क ८

आर्याभिविनय से

सर्वव्यापक हमारे पाप हरो

ओं त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि।
अप नः शोशुचदघम् ॥ ३८ ॥

ऋ० १।७।५।६ ॥

व्याख्यान—हे अग्ने परमात्मन् ! "त्वं हि" तूँ ही "विश्वतः परिभूरसि" सब जगत् में सब ठिकानों में व्याप्त हो, अत एव आप विश्वतोमुख हो। हे सर्वतोमुख अग्ने ! आप (स्वमुख) स्वशक्ति से सब जीवों के हृदय में सत्योपदेश नित्य ही कर रहे हो। वही आपका मुख है। हे कृपालो ! "अप नः शोशुचदघम्" आपकी इच्छा से हमारा पाप सब नष्ट हो जाय, जिससे हम लोग निष्पाप हो के आपकी भक्ति और आज्ञा-पालन में नित्य तत्पर रहें ॥ ३९ ॥

वास्तविक पिता का सच्चा दर्शन

(ले० श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति, आचार्य गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी)

यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं
यः शंसन्तं यः शशमानमूती ।
यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो
यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः ॥१४॥
ऋग्० २।१२।१४

अर्थ—(यः) जो (ऊती) अपनी रक्षा द्वारा (सुन्वन्तं) उपयोग के लिए भांति-भांति के रस निकालने वाले की (यः) जो (पचन्तं) उपभोग के लिये नानाविध पदार्थों का पाक करने वाले की (यः) जो (शंसन्तं) जिज्ञासुओं के आगे संसार के विविध पदार्थों की प्रशंसा अर्थात् गुणों की व्याख्या करने वाले की और (यः) जो (शशमानं) नाना व्यवहारों में चेष्टा करने वाले की (अवति) रक्षा करता है (वर्धनं) सत्योपदेश द्वारा बढ़ाने वाला (ब्रह्म) वेद (यस्य) जिसका है (सोमः) चन्द्रमा और सोमरसादि आनन्द और शान्तिदायक पदार्थ (यस्य) जिसके हैं (इदं) यह विश्व में दृष्टि आने वाला (राधः) कार्य सिद्धि कराने वाला ऐश्वर्य (यस्य) जिसका है (सः) वह (जनासः) हे मनुष्यो! (इन्द्रः) परमैश्वर्यशाली भगवान् ही है।

इस संसार में हम जो भी व्यवहार करते हैं, उन्हें हम तभी कर सकने में समर्थ होते हैं जब हमें भगवान् की रक्षा प्राप्त होती है। हम जो अपने उपयोग के लिये तरह-तरह के रस निकालते हैं और खाने के लिए भांति-भांति के भोजन बनाते हैं, हमारी जो परस्परोपदेश के लिये ज्ञानचर्चायें चलती हैं और जो हम अन्य प्रकार के नानाविध व्यवहारों को करते हैं, इन सब में हमें सफलता भगवान् की रक्षा से ही होती है। भगवान् की रक्षा के बिना हम किसी कार्य को सिद्ध नहीं कर सकते। हम जो अपने कार्यों को आरम्भ कर सकते, उन्हें आगे चला पाते और उनमें कृतकार्यता प्राप्त कर सकते हैं, यह इस बात का प्रमाण है कि हमें भगवान् की कृपा-जनित रक्षा प्राप्त हो रही है। जिस दिन हमें भगवान् से रक्षा प्राप्त होनी बन्द हो जायेगी उसी दिन हम अपने कार्यों को आरम्भ नहीं कर सकेंगे और उनमें हमें सफलता नहीं प्राप्त हो सकेगी, किम्बहुना उस दिन हम जी भी नहीं सकेंगे। यह जो हमें सत्य मार्ग का उपदेश करने वाला वेद मिला है, जिसके उपदेशों का अनुष्ठान करने से हमारी चौमुखी उन्नति और वृद्धि होती है, ये जो भांति-भांति के आनन्द तथा शान्तिदायक सोम मिले हैं और तरह-तरह के ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं, यह सब उसी भगवान् की कृपा का फल है। भगवान् की इस कृपा के बिना हमारा जीवन कितना शून्य और कितना नीरस हो जाता।

मनुष्य! अपने परमरक्षक और परमकृपालु ऐश्वर्यशाली भगवान् की शरण में जा।

यः सुन्वते पचते दुध्र आ चिद्वाजं
दर्दर्षि स किलासि सत्यः ।
वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः
सुवीरासो विदथमा वदेम ॥
ऋग्० २।१२।१५

अर्थ—(दुध्रः) पापात्माओं के लिये दुर्धरणीय (यः चित) जो आप ही (सुन्वते) उपभोग के लिए भांति-भांति के रस निकालने वाले और (पचते) उपभोग के लिए नानाविध पदार्थों का पाक करने वाले को (वाजं) बल (आदर्दर्षि) देते हो (सः) वह आप (किल) निश्चय से (सत्यः) सत्य (असि) हो (इन्द्र) हे परमैश्वर्यशाली, हे अपने तेज से नाना विघ्न बाधारूप हमारे शत्रुओं को विदीर्ण करने वाले परमात्मन्! (वयं) हम सब (विश्वह) सदा (ते) तेरे (प्रियासः) प्यारे (सुवीरासः) उत्तम पराक्रमी वीर होकर (विदथं) ज्ञान और यज्ञ का (आवदेम) प्रवचन करें, उन्हीं की बात करें।

इससे ऊपर के मन्त्र की व्याख्या में हम देख चुके हैं कि हम उपभोग के लिये जो तरह-तरह के रस निकालते हैं। और भांति-भांति के भोजन बनाते हैं, हमारी जो परस्परोपदेश के लिए ज्ञानचर्चाएं चलती हैं और जो हम अन्य प्रकार के नानाविध व्यवहारों को करते हैं, उन्हें हम भगवान् की रक्षा में

ही कर पाते हैं। इस मन्त्र में 'सुन्वते' और 'पचते' ये दो शब्द ऊपर के मन्त्र में प्रयुक्त 'सुन्वन्तं' और 'पचन्तं' शब्द की ओर तो इशारा करते ही हैं, साथ ही ये उपलक्षण से 'शंसन्तं' और 'शशमानं' की ओर भी इशारा करते हैं। इस प्रकार पूर्व मन्त्र के पूर्वार्द्ध का सारा ही भाव इस मन्त्र में संकेतित है। पूर्व मन्त्र का भाव यह है कि हम ये जो कार्य करते हैं, सब परमात्मा की रक्षा में ही करते हैं। हमें यदि प्रतिक्षण भगवान् से रक्षा न मिलती रहे तो हम कोई भी कार्य नहीं कर सकते। प्रस्तुत मन्त्र का भाव यह है कि हमें अपने कार्यों में जो बल प्राप्त होता है, जो सफलता मिलती है, उससे हमें जो शक्ति प्राप्त होती है, वह भी भगवान् ही देते हैं। कार्य कर सकना एक बात है, और किए कार्य में बल आना, सफलता मिलनी, दूसरी बात है। जहाँ हम भगवान् की रक्षा के बिना कोई कार्य नहीं कर सकते, वहां हमें किसी किये कार्य में सफलता भी उनकी कृपा के बिना नहीं मिल सकती। हम एक-से-एक बढ़िया रस और पाक तैयार करके उनका सेवन कर सकते हैं परन्तु यदि भगवान् न चाहें तो हमें उनके सेवन से बल नहीं प्राप्त हो सकता, हम दुर्बल और क्षीण ही रहेंगे। हम कितना ही ज्ञान सीख लें, पर यदि भगवान् न चाहें तो हमें उस से कोई भी फल नहीं प्राप्त हो सकता। हम और भी नानाविध व्यवहार कर सकते हैं। पर उनसे अभीष्ट फल भी निकलेगा, यह भगवान् की कृपा पर ही आश्रित है। यदि भगवान् न चाहें तो हम कभी कुछ नहीं कर सकते, और सब कुछ करने पर भी भगवान् न चाहें तो उससे कुछ भी फल नहीं निकल सकता। हमारे कार्यों में बल एवं सफलता भगवान् की कृपा से ही प्राप्त होती है।

भगवान् 'उग्र' हैं। पापात्मा पुरुषों के लिए 'दुर्धरणीय' हैं। उनके दुष्टों को रुलाने वाले रुद्ररूप को पापी पुरुष सहन नहीं कर सकते। जो पापी हैं, उनके कार्यों में भगवान् का यह उग्र रूप सफलता नहीं आने देता। पापी की सफलता स्थायी नहीं होती। उसे अन्त में गिरना ही होगा। और फिर कुछ अरसे के लिए दीखने वाली यह सफलता भी उसके पूर्वसंचित पुण्य-कर्मों का ही फल होती है, पाप-कर्मों का नहीं।

सफलता तो उन्हीं को प्राप्त होती है जो धर्म के [सत्]यमय मार्ग पर चलते हैं। क्योंकि भगवान् स्वयं [सत्]य हैं। मन्त्र कहता है वे निश्चय से सत्य हैं। [भग]वान् के सत्य से ही सारा विश्व ठहरा हुआ है। [सत्]यस्वरूप भगवान् सत्य पर आश्रित लोगों के कार्यों [को] ही सफलता दे सकते हैं। असत्य के तो वे घोर [शत्रु] हैं। भगवान् को 'सत्य' कहने का एक और भाव [भी] है। वह यह है कि भगवान् एक कल्पना की [वस्]तु नहीं हैं। वे सत्य वस्तु हैं। उनकी त्रैकालिक [सत्]ता है। वे पहले भी सदा रहे हैं, अब भी हैं, और [भवि]ष्य में भी सदा रहेंगे। मन्त्र में कहा है कि वे [नि]श्चय से सत्य हैं। कोई नास्तिक और संशयवादी [भ]ले ही अपने अधूरे ज्ञान के भरोसे—बड़े-से-बड़े [ज्ञा]नी का ज्ञान भी वस्तु-तत्त्व के विषय में असल में [अधू]रा है—भले ही परमात्मा की सत्ता के विषय में [स]न्देह प्रकट करते रहें, पर वास्तविक निश्चित सचाई [य]ह है कि जगत् के निर्माता, संचालक और अन्त में [प्रल]यकर्त्ता भगवान् एक त्रैकालिक सत्य वस्तु हैं।

हे त्रैकालिक सत्य और सत्यमय भगवान्! हम [स]दा आपके प्यारे बने रहें। आप से सच्चा प्रेम होने [पर] आपके सत्य, न्याय, दया, नियमपरायणता, ज्ञान, [ब]ल, सहनशीलता, प्रयत्न आदि गुण हम में भी आ [जा]येंगे। प्रेमपात्र के गुण प्रेमी में आना स्वाभाविक [ह]ी है। और जब ये गुण हम में आ जायेंगे तो हमारे [का]र्यों में आप सफलता देंगे ही, क्योंकि आप तो [पा]पी के कार्यों में ही सफलता नहीं देते। इस प्रकार [आ]प के सच्चे प्यारे बनने पर हम हर एक क्षेत्र में [उ]त्तम पराक्रमी वीर हो जायेंगे। शारीरिक बल के [क्षे]त्र में, मानसिक विद्या-बुद्धि के क्षेत्र में, आत्मिक [उ]न्नत के क्षेत्र में, व्यावहारिक उन्नति के क्षेत्र में, [स]भी क्षेत्रों में हम उत्कृष्ट वीर हो जायेंगे। और तब [ह]मारी वह स्थिति हो जायेगी जिसमें ज्ञान के और [य]ज्ञ के प्रवचन करेंगे, उन्हीं के विषय की बातें किया [क]रेंगे। हम सदा किसी न किसी बात के ज्ञान के [ग्र]हण में लगे रहेंगे और हमारा यह ज्ञान ऐसा होगा जिस से हमारे यज्ञों अर्थात् भांति-भांति के लोकोप-कारी पवित्र व्यवहारों की सिद्धि होगी। हमारा ज्ञान लोक सेवा में लगेगा।

हे इन्द्र! हमें अपना प्यारा बना।

ओम् को किसी मूल्य पर भी कभी न छोड़ूं

(रचयिता श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जी आचार्य गुरुकुल चित्तौड़)

ओ३म् महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम्।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ॥

ऋ० ८।१।५। सा० पू० ३।१०।९

शब्दार्थः—

(अद्रिवः) हे संसार को वश में करने ले ओम् ! मैं (त्वां) तुझे बड़े से बड़े (शुल्काय) न्य से (चन) भी नहीं (परादेयाम्) बेचूं, दे ढूं ! (शतामघ) हे अनन्त ऐश्वर्य वाले ! (वज्रिवः हे वज्र वाले ! (न सहस्राय) न सहस्र के बदले में (न अयुताय) न लाख करोड़ के बदले में ि (न शताय) न अनगिनत राशि के बदले में मैं ते छोड़ देऊं।

विस्तृत अर्थ—

हे ओम् ! मेरी यह हार्दिक अभिलाषा है कि आपो मैं आपके बदले में बड़ी से बड़ी कीमत मिलने र भी किसी स्थान पर व किसी समय में किञ्चिन्मा भी न छोड़ूं। हे ओम् ! आप सबसे बड़ी सरकार ; आपने सारे संसार को अपने वश में किया हुा है। संसार का एक कण भी आपके सिवाय किो दूसरे के वश में नहीं है। जड़ जगत्, चेतन जग् दोनों केवल मात्र आपके ही वश में है ! अतः मे यह सुदृढ़ इच्छा है कि मैं हजारों सांसारिक सुखों ; मिलने पर भी आपको कभी किसी स्थान में भी ि छोड़ूँ ! हे ओम् ! आप सबके अज्ञानों, प्रमादों, पापे, रोगों, दुःखों आदि दुरितों पर वज्र का प्रहार करने वाले तथा हमारे शत्रुओं के साथ घोर कठोर व्यवहार करने वाले हैं। अत एव आप पर पूर्ण भरोसा करके और आपका आश्रय लेके तथा (यस्य छाया अमृतं) के अनुसार आपके आश्रय को अमृत स्वरूप समझ कर मैं यह विचार करता हूँ कि लाखों, करोड़ों भयंकर से भयंकर विघ्नबाधाओं के सन्मुख भी मैं आपको कभी कहीं भी न छोड़ूं। हे ओम् ! आप धन, विद्या, सत्य, सुख आदि समस्त ऐश्वर्य के अनन्त भण्डार हैं, अत एव मैं यही चाहता हूँ कि मैं आपकी सात्विक सहायता पर पूर्ण विश्वास करके अपने ओमूप्रेमरूपी शिवसंकल्प पर सुदृढ़ रहूँ। और यदि कोई मुझे सांसारिक सुवर्ण एवं रत्नों से भर कर सारी पृथिवी को भी देवे तो उसके प्रलोभन में भी न पड़ूँ और आपको कभी कहीं भी न छोड़ूं।

हे ओम् ! मैंने आपके महत्त्व को इतनी अच्छी तरह से समझ लिया है, उसका अनुभव ऐसे उत्तम रूप में कर लिया है कि अब मैं आपको छोड़ने की बात सोच भी नहीं सकता। अब मैं सारे संसार के भोगों को समस्त जड़ जगत् और चेतन जगत् के सम्बन्धों को सर्वदा सर्वत्र पूर्ण रूप से छोड़ने के लिए उद्यत हूँ। किन्तु आपको एक क्षण के लिए भी और किसी स्थान पर भी छोड़ने को तैयार नहीं। क्योंकि अब मैं केवल आपको ही प्राप्त करना चाहता हूँ। अन्य किसी को नहीं।

हे ओम् ! आप सर्वदा मुक्त ही रहते हैं किन्तु मैं जन्म मरण के बन्ध चक्र में घूम रहा हूँ, मैं भी इससे दूर रहना चाहता हूँ, इससे मुक्ति व छुटकारा पाना चाहता हूँ क्योंकि (तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय) यजुर्वेद। ३१।१८। के अनुसार आपको ही प्राप्त करके मृत्युरूपी नदी से पार हो सकता हूँ, मृत्यु से छुटकारा पाने के लिए और कोई साधन नहीं है। अतएव मैं आपको, और उस आपको तो किसी स्थान पर भी किसी समय में भी, किसी अवस्था में भी और किसी प्रकार से भी नहीं छोड़ सकता, जिस आपके प्राप्त होने पर सब से बड़ा सच्चा सुख मोक्ष प्राप्त हो सकता है, जो धर्म, जो अर्थ, जो काम अथवा जो गुण, जो पदार्थ जितने अंश तक ओम् की तथा मोक्ष की प्राप्ति में सहायक हैं, उसको उतने अंश तक ही ग्रहण करने का मैंने निश्चय कर लिया है, उससे भिन्न किसी को कहीं कभी किसी अवस्था में भी नहीं।

इस प्रकार से हे ओम् ! मैं पहले संसार के सब पदार्थों से अपना सम्बन्ध तोड़ कर केवल मात्र आपके साथ ही जोड़ता हूँ, और यह प्रण करता हूँ कि आपके साथ पूर्ण रूप से सम्बन्ध जुड़ने पर आपके कारण अथवा आपकी आज्ञाओं का परिपालन करने के कारण ही जिस समय जिस पदार्थ की जितनी मात्रा को धारण करना मेरे लिए अत्यन्त आवश्यक होगा उस समय उस पदार्थ की केवल उतनी ही मात्रा को धारण किया करूंगा, उससे न्यूनाधिक को नहीं और साथ ही ओम् प्रेम की मात्रा दिन प्रति दिन अधिकाधिक बढ़ाने में ही निरन्तर निमग्न रहूँगा। क्योंकि मेरा यह सुदृढ़ निश्चय है कि मैं आपके साथ जितना प्रेम बढ़ाता जाऊंगा उतना ही अधिक सच्चा सुख मुझे प्राप्त होता रहेगा। किन्तु अन्यों के साथ प्रेम बढ़ाने से अधिकाधिक दुःख ही दुःख बढ़ता रहेगा। क्योंकि योगदर्शन में कहा है—"दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" "साधनपाद सूत्र १५" योगी के लिए दुःख तो दुःख रूप है ही किन्तु विषयजन्य सब सुख भी दुःखरूप ही है, अत एव मैं सत्य सुख के भण्डार तथा मोक्ष सुख के प्रदाता ओम् देव को किसी स्थान और किसी मूल्य पर भी कभी नहीं छोड़ सकता।

पाठको ! आपका अन्तःकरण इस वेदमन्त्र में वर्णन किए हुए उत्तम भाव से भरपूर हो गया होगा। अब आप इसी भाव से भरे हुए भजन को गाने में अद्भुत आनन्द का आस्वादन करेंगे।

हे ओम् यही अभिलाषा है—
मैं तुझको कभी नहीं छोड़ूं।
सब भव सम्बन्धों को तज कर—
अब तुझसे नित नाता जोड़ूं ॥
(ध्रुवपद)

जड़ में प्रीति करन का बल—
होता कण भर भी कभी नहीं।
चेतन में केवल थोड़ा सा—
इस कारण तव दिश ही दौड़ूं ॥२॥

तू तजता मुझको कभी नहीं,
सर्व व्यापक सर्वज्ञ सखे।
जड़ चेतन सब तज देते हैं—
अब से इनसे नाता तोड़ूं ॥३॥

मैं प्रेम बिन्दु के कण में फंस—
तुझ प्रेम सिन्धु से बिछुड़ा हूँ।
इस मिथ्या ज्ञान गढ़े से उठ,
विषयों की विष से मुख मोड़ूं ॥४॥

मैं बहुत बड़ी कीमत पर भी
प्रभु तुझको छोड़ नहीं सकता।
तेरे वश में संसार सभी
जग धन महा शंखों करोड़ूं ॥५॥

हे विपद विनाशक ऐश्वर्यों के
नाथ ओम् ! मैं तुझ पर ही
जीवन भर पूर्ण भरोसा कर
नित मतिपति बन विपदा फोड़ूं ॥६॥

(पृष्ठ ११ का शेष)

७-८ अप्रेल १८७३

८ अप्रेल को भटपली के पण्डित तारा चरण तर्क रत्न के साथ मूर्तिपूजा के विषय पर शास्त्रार्थ। तारा चरण की पराजय।

९ अप्रेल १८७३

मुखोपाध्याय के साथ हुगली के विभिन्न स्थानों पर स्वामी जी का धर्मोपदेश।

१३ अप्रेल १८७३

स्वामी जी की बरद्वान में उपस्थिति। राजा बनवारी कपूर ने राजभवन में भोजन और निवास का प्रबन्ध किया।

१४-१५ अप्रेल १८७३

बरद्वान राजभवन में स्वामी जी का उपदेश। भारी समारोह। राजा बहादुर की धर्मोपदेश में सविधि उपस्थिति परन्तु उपेक्षा।

१६ अप्रेल १८७३

स्वामी जी का बरद्वान से भागलपुर को प्रस्थान।

विचारार्थ

क्या दार्शनिक दुःखवाद वैदिक है ?

[ले० श्री० पं० चूड़ामणि जी शास्त्री शाण्डिल्य–देहली]

प्रिय पाठकवृन्द ! आज मैं एक सीमातीत साहस का काम करने लगा हूँ। पर क्या करूँ ? जब मैं वेद को उठाता हूँ—वैदिककाल के वातावरण में आता हूँ तो मुझे यह संसार सुखरूप दीखता है। जब 'अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः……' 'यह संसार केवल प्रिय ही नहीं, अपितु प्रियतम है, जो विद्वानों से भी—बड़े २ ज्ञानियों से भी–हार नहीं खाता, प्रत्युत अपने आकर्षण से उनको भी–एक बार तो अपने चमत्कार से चमत्कृत करही देता है। दूसरा मन्त्र यह कहता है कि 'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति' उस प्रभु की रचना को तो देखो—जो न तो कभी समाप्त होता है और ना ही कभी पुरानी होती है–हम इसे देखते २ बूढ़े हो रहे हैं पर इसको सदैव नवीन रूप में ही देखते चले आ रहे हैं। तीसरा मन्त्र कहता है कि 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः……' कवि, मनीषी, परिभू–सबको अपने तेज से ढक देने वाले स्वयम्भू–स्वयं प्रकाशमान प्रभु ने इस जगत् को ठीक २ रूप में–उचित पदार्थों द्वारा बहुत दीर्घ काल के लिये बनाया है। वेद कहता है कि 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' जो कुछ विश्व-ब्रह्माण्ड दृष्टिगोचर या ध्यानगोचर हो रहा है वह सब कुछ उस ब्रह्म का चतुर्थांश ही तो है, तीन भाग तो उसके निराकार रूप में बुद्धिगोचर ही हो सकते हैं।' वेद की किसी शाखा का मन्त्र जो उपनिषदों के आरम्भ में मिलता है—'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। वह पूर्ण है तो यह जगत् भी पूर्ण है, क्योंकि उस पूर्ण से तो यह पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है।' इस मन्त्र में जगत् की पूर्णता का स्पष्ट रूप देखने को मिल जाता है। इत्यादि मन्त्रों द्वारा हम प्रभु की सृष्टि को उसका चमत्कार ही देख रहे हैं। तब मेरा साहस नहीं होता कि मैं संसार को दुःखरूप मानूं। उसके अद्भुत प्रबन्ध का ज्यों-ज्यों ज्ञान होता जाता है त्यों-त्यों सर्प वृश्चिकादि या सिंह शार्दूल आदि की रचना भी कई रहस्यों से परिपूर्ण दीखती जाती है। जलप्लावन आदि दुर्घटनाएं भी-जो हमारी दृष्टि में दुर्घटनाएं प्रतीत होती हैं प्रभु के प्रबन्ध में वे ही दुर्घटनाएं पूर्ण सुघटना रूप में बदल जाती हैं। जब उनके भविष्य परिणाम जगत् सुधार रूप में देखे जाते हैं। भूकम्प जैसी उत्पातकारिणी घटना भी जब कई रहस्य लेकर आती है तब दूसरी घटनाओं के विषय में तो कोई क्या कह सकता है ?

यदि हम आध्यात्मिक जीवन की ओर देखते हैं तो उसमें भी जन्म, मृत्यु और जरा जैसी अवस्थाएं भी एक परिवर्तन के अतिरिक्त और कुछ दुःखदायक नहीं समझी जातीं तो और कौन सी अवस्था रह जाती है जो दुःखरूप मानी जाय ? फिर समझ में नहीं आता कि हमारे आदर्श ग्रन्थरत्न दर्शन शास्त्रों में ऋषियों ने जगत् को क्यों दुःख रूप माना ? मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि ये दर्शन ग्रन्थ उस समय बने हैं, जब आध्यात्मिक चर्चा जोरों पर थी। बड़े २ विद्वान् 'आत्मा' 'परमात्मा' 'जगत्' 'कार्यकारणभाव' आदि विषयों पर अपने २ विचार प्रकट कर रहे थे। जिनमें सम्भवतः जैन दर्शन भी थे और बौद्ध दर्शन भी, सम्भवतः कई अन्य भी दार्शनिक विचार होंगे। दार्शनिक परिभाषा में संसार को दुःखमय मान कर उससे छूट कर मुक्ति धाम प्राप्त करने की विचारधारा चल रही थी। यही प्रायः सब दार्शनिकों का दृष्टिकोण था। इसी दार्शनिक विचारधारा (न कि वैदिक विचारधारा) को सर्वाङ्गीण बनाते हुए सभी ऋषियों और विद्वानों ने इस जगत् को दुःखरूप माना है। इसी वातावरण के अन्दर हमारे दर्शनों की भी उत्पत्ति हुई है अतः यह बात सम्भाव्य हो जाती है कि श्रीकपिल कणाद गौतम पतञ्जलि व्यासादि ने भी जो संसार को दुःख रूप माना है वह तत्कालीन वातावरण की स्थिति से प्रभावित होकर ही माना है।

यदि सचमुच संसार को दुःखरूप मान लिया जाय तो एक प्रश्न तो सदा हमारे सामने बना ही रहेगा कि क्या प्रभु की सृष्टि अपूर्ण है ? कवि मनीषी प्रभु भी संसार को दुःखमय बना गया ? दूसरा प्रश्न यह भी सामने आता है, कि तब मनुष्य तो निर्दोष ठहरता है, वह दुःख रूप संसार में जो सुख प्राप्ति का उपाय कर रहा है वह व्यर्थ जाता है। जब संसार ही दुःखमय हुआ तो उसे सुख मिलेगा कैसे ? फिर सुख नामक कोई तत्त्व होगा ही नहीं। फिर तो 'दुःख विकल्पे सुखाभिमानाच्च' न्याय० ४।१।५८ यही सिद्धान्त ठीक उतरेगा कि हम दुःख के विकल्प में सुख का मिथ्या अभिमान कर रहे हैं वस्तुतः कुछ भी सुख नहीं। इस

परिस्थिति में कौन राज्य का प्रबन्ध करेगा ? कौन किसी को सुख देने का प्रयास करेगा ? फिर ब्रह्मचर्य्य सुख का मूल है । गृहस्थाश्रम सुख का मूल है । यह धारणा भी एक मिथ्या कल्पना हो जाएगी । फिर नरत्वं दुर्लभं लोके यह वाक्य भी एक कल्पना हो जायगी । ऐसी परिस्थिति में संसार के सभी काम मिथ्या हो जाएंगे ।

परन्तु ऐसा है नहीं । है इसके सर्वथा विपरीत । सभी जीना चाहते हैं, और सुख के साधनों का संग्रह करना चाहते हैं ।

यदि दुःख है तो वह हमारी कुत्सित भावनाओं से हुए पापमय कर्मों का परिणाम ही है पर सांसारिक पदार्थों के दुःख स्वभाव होने से दुःख नहीं है । 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया' प्राकृतिक चमत्कार कठिन परीक्षामय होने से दुरत्यय अवश्य है पर दुःखमय नहीं । वेद तो प्रकृति या प्राकृतिक पदार्थ-शरीर के लिये यह कहे कि 'उद् यानं ते पुरुष ! नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि । आ हि रोह-इमम् अमृतं सुखं रथम्; अथ जिर्विर्विदथमावदासि' अर्थात् हे मनुष्य ! मैं तेरे जीवात्मा को इतना निर्मल बनाता हूं कि तेरा उत्थान ही हो, पर पतन न हो । आओ इस शरीररूपी सुखमय अमर रथ पर चढ़ आओ, चढ़ कर ऊपर-उन्नति-की ओर बढ़ो, पर किसी गर्त में न गिर जाना । जब बूढ़ा होना तो अपना ज्ञान-अपना अनुभव-दूसरों को सुनाकर उन्हें सत्पथगामी बनाना ।' जब वेद इस शरीर को सुखमय रथ कहता है तब 'सर्वमेव दुःखं विवेकिनः' यह पातञ्जल मत कैसे संगत हो सकता है ?

मुझे तो दर्शनों में दुःखवाद अस्वाभाविक सा-कल्पित सा प्रतीत होता है—मैं जब न्यायदर्शन को देखता हूं कि—प्रमेयों की गणना में जहां आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल (सुखदुःख भाग) दुःख और अपवर्ग को देखकर प्रत्येक पर विचार करता हूँ तो मुझे एक दुःख ही अनावश्यक प्रतीत हुआ है । दुःख का अनुभव तो फल में भी आ जाता है फिर दुःख की और शेषता कुछ भी नहीं रहती । इसके साथ सुख को नहीं गिनाया गया मानो सुख कुछ है ही नहीं—क्योंकि 'दुःखविकल्पे सुखाभिमानाच्च' ४।१।५८ नाना दुःखों में ही हमने सुख का अभिमान किया हुआ है, वस्तुतः सुख कुछ नहीं । इसी आधार पर मुक्ति को सिद्ध किया गया है । उस दुःख से विमुक्ति का नाम ही 'अपवर्ग' माना गया है । पर जब मैं 'विविधबाधनायोगात् दुःखमेव जन्मोत्पत्तिः' ४।१।५५ अर्थात् नाना दुःखों का सभी स्थलों में समावेश देखने से जन्मोत्पत्ति को ही दुःखरूप माना है । इसके आधार पर जन्म को ही दुःख रूप देखता हूं, तब मैं आश्चर्य में आ जाता हूँ कि क्या यह संस्कृति वेदानुसारिणी है ? क्या वेद सचमुच इसी रहस्य को स्वीकार करते हैं कि जन्म ही दुःख रूप है ? अथवा यह तत्कालीन दार्शनिक स्थिति ही ऐसी चली आ रही थी कि सभी दर्शनकार संसार से ऊब गये थे । अतः सबने इसी मार्ग को अपनाया ।

एवम्—साङ्ख्यदर्शन में जब देखता हूं कि सत्वरजस्तमो गुणों का कार्य्य क्रम से—प्रकाश, प्रवृत्ति और नियमन करना पाया जाता है, स्वभावतः ये तीन ही कार्य्य सर्वत्र आवश्यक माने गये हैं । पर जब इनका फल देखा जाता है, तब क्रम से सुखदुःख और मोह ही दृष्टिगोचर होते हैं । प्रकाश से सुख तो माना जा सकता है पर रजोगुण की क्रिया से दुःख नहीं माना जा सकता । 'किसी भी क्रिया से दुःख हो' यह कैसे माना जा सके ? कोई पुण्य कर्म करे उससे भी दुःख हो यह कैसे माना जाय ? साधारणतया जब हम किसी क्रिया को देखते हैं उससे या तो कोइ दूसरी क्रिया उत्पन्न हो रही दीखती है या उससे कोई शक्ति उत्पन्न हुई दीखती है ।

जब हम दोनों हाथों को रगड़ते हैं तो उस क्रिया से विद्युच्छक्ति ही उत्पन्न होती देखी जाती है । जब चक्र चलता है—सतत वेग से चलता है तो उससे विद्युत् ही उत्पन्न हो जाती है । अथवा रथ में गतिरूपी क्रिया हो जाती है । पर दुःख तो क्रिया से उत्पन्न हुआ नहीं देखा गया । यदि श्री कृष्ण ने 'रजसस्तु फलं दुःखम्' कहा है तो वह भी उस स्थिति से प्रभावित हो कर वैसा भाव पीछे मिलाया हुआ प्रतीत होता है । एवम्—जब मैं योगदर्शन को देखता हूँ तो उसमें भी मुझे दुःख की सिद्धि अस्वाभाविक सी प्रतीत हुई है । योग दर्शन में एक जगह तो लिखा है कि—'स्व स्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः २।२३।' अर्थात् पुरुष और प्रकृति का संयोग, दोनों के अपने २ स्वरूप को देखने के लिये है । पुरुष प्रकृति को देख कर विवेक से अपने को उससे भिन्न तत्त्व पहचान उसे छोड़ देता है, एवं प्रकृति भी अपना स्वरूप पुरुष को दिखाकर कृतकार्य हो जाती है ।' दोनों के संयोग का एक आवश्यक प्रयोजन कह कर फिर दूसरे स्थल में—'द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः' २।१७ 'तस्य हेतुरविद्या' २।२४। ऐसा कहा है अर्थात्

पुरुष और प्रकृतिका संयोग दुःख का कारण बना है और वह संयोग अविद्या से हुआ है। जिस संयोग को २।२३ में स्वरूपोपलब्धिहेतु कहा गया हो, उसी संयोग को अन्यत्र दुःख का हेतु कहा गया हो, यह समझ में नहीं आता। अन्यत्र तो श्रीपतञ्जलि ने स्पष्ट ही कह दिया है कि—'परिणाम-ताप-संस्कार-दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च सर्वमेव दुःखं विवेकिनः' २।१५ यो० अर्थात् परिणाम ताप आदि से और गुणों की वृत्तियों के विरोध से विवेकी-ज्ञानी-को तो सब कुछ दुःखरूप ही ज्ञात हो जाता है।' यदि सचमुच ज्ञानी की दृष्टि में सब कुछ दुःखरूप ही है तो कौन इस संसार में मन लगायेगा? फिर शास्त्रों में ब्रह्मचर्य्योपदेश, दीर्घजीवनोपाय, गृहस्थाश्रमप्रबन्ध अथवा राष्ट्रप्रबन्ध जैसे आवश्यक कार्यों को कोई क्यों कर करेगा? यदि वह अविवेकी होकर करता है तो यह सब कुछ अज्ञान में ही माना जाएगा। वस्तुतः ज्ञानावस्था के उत्पन्न हो जाने पर उसे सब कुछ दुःख रूप ही दीखने लग जाएगा। तब जितने शास्त्र बने हैं सब अविवेकावस्था में बने माने जाएंगे। पर ऐसा मानना ठीक नहीं। ऐसी संस्कृति से तो हमारा ह्रास ही हुआ है—संसार को दुःखमय, जन्म को दुःखहेतु, सभी पदार्थों को अनित्य विनाशी-क्षणभंगुर मानना, तो मनुष्य को कार्यहीन कर देगा, जैसा कि हुआ है। तब 'प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु' इस वेद से सेना में उत्साह भरना, राष्ट्र का प्रबन्ध करना सब कुछ समाप्त हो जाएगा। जब नित्य ही कथा प्रसंग में, शास्त्रालोचन में, यहां तक कि दार्शनिक उच्च विचारों में ये सब कुछ दुःखमय पदार्थों की चर्चा चलेगी—हृत्पटल में सदा यही संस्कृति बनी रहेगी तो वेदों का महत्त्व कुछ भी न रहेगा। उसकी बात अविद्याग्रस्त मानी जायगी। इसके साथ व्यास, शुकदेव, शौनक आदि पौराणिकों की सुधारक कथाओं का भी कोई मूल्य न रहेगा। अभी तक हुआ भी ऐसा ही है—शङ्कराचार्य्य जैसे प्रखर विद्वान् कर्मप्रधान गीता को ज्ञानप्रधान मानकर संसार को कर्महीन बना गये। सभी उदासीन संन्यासी उनका पक्ष पुष्ट करते चले आये हैं। श्रीवसिष्ठ ने भी योगवासिष्ठ में—संसार को मायामय-वञ्चनामय और कल्पनामय सिद्ध किया है। तब जातिरक्षा, राष्ट्ररक्षा, आत्मरक्षा और विश्वकल्याण की चर्चा क्या महत्त्व रखेगी?

मैं तो समझता हूँ कि इसी संस्कृति से लोग वेदों से विमुख हुए—इसी संस्कृति से प्रेरित होकर श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन को कह दिया कि 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन!' इसी संस्कृति से प्रेरित होकर वीरमण्डली शस्त्रों को त्याग कर कीर्तन में लग गयी—शस्त्रों का स्थान खड़तालों ने ले लिया। जिसका अन्तिम परिणाम हमें दासता मिली।

आज राष्ट्र स्वतन्त्र हुआ है। सबको अपने २ विचारों को प्रकाशित करने का अवसर मिला है—सब के सामने 'राष्ट्ररक्षणमेव लक्ष्यम्' है अतः हमें वेदकालीन संस्कृति को पुनः जाग्रत करना होगा। पुनः 'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति' को प्रचलित करना होगा।

यदि कोई विद्वान् यह शंका करे कि फिर मुक्ति की क्या आवश्यकता है। हमें सदैव इसी सुख में मस्त हो जाना चाहिये।

इसका उत्तर यह है कि 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' यह ब्रह्माण्ड प्रभु का चतुर्थांश है। त्रिपाद ब्रह्म तो अमर लोक में विराजमान है। बस एक पाद को सुखमय मानकर भी उससे अधिक त्रिपादब्रह्म का सुख प्राप्त करने के लिये मुक्ति भी हमारा ध्येय बनी रहती है। 'भूमावै सुखम्' नाल्पे सुखमस्ति' इसका अर्थ यह ठीक जंचता है कि बहुतायत में जो सुख है वह अल्प में नहीं है। त्रिपाद ब्रह्म में जो सुख है वह एक पाद ब्रह्म (ब्रह्माण्ड) में नहीं है। अल्प में अल्प सुख है और भूमा में अधिक सुख है। पर इसका यह अर्थ कदापि ठीक न होगा कि अल्प में कोई सुख है ही नहीं, अथवा उसमें दुःख ही दुःख है। वहां तो आपेक्षिक अल्पता है। अतः मुक्ति की इच्छा रखने वालों का मार्ग भी खुला है और राष्ट्र को सुन्दर बनाने वालों का मार्ग भी।

हम इस विश्व को 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' मानकर सुखमय मान सकते हैं। 'जन्माद्यस्य यतः,' उसी एक तत्त्व से सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय मानकर हम सब कुछ सुखरूप मान सकते हैं। 'पूर्णमदः पूर्णमिदं' को मानकर इस विश्व को पूर्ण मानते हुए इसे सुखमय मान सकते हैं।

मैंने जो कुछ ऊपर लिखा है वह आपकी का मत खण्डन करने की दृष्टि से नहीं लिखा क्योंकि मैं भी उन्हें आपकी तरह पूरे सम्मान से देखता हूं, पर जब मैं वेदमन्त्रों को—वैदिक संस्कृति को सामने रखता हूँ तो मुझे बलात् यह कहना पड़ा है कि संसार को दुःखमय मानने की प्रवृत्ति या तो बौद्ध-संस्कृति से आयी है, या जैन-संस्कृति से, अथवा किसी अन्य संस्कृति से। उसी संस्कृति से प्रेरित होकर दर्शनकारों ने संसार को, जन्म को सभी, पदार्थों को, दुःखमय माना

(शेष पृष्ठ ३२ पर)

बङ्गाल में ऋषिदयानन्द के चार मास

[महर्षि दयानन्द बङ्गाल में ५ महीने तक रहे थे। इस अवसर पर आदिब्रह्मसमाज के प्रचारक श्री हेमचन्द्र चक्रवर्ती अपनी डायरी में महर्षि के विषय में कुछ लिखते रहे। उस हाथ की लिखी हुई डायरी पर सहसा आदिब्रह्म समाज के पुराने कागजों में आचार्य क्षितीन्द्र मोहन ठाकुर की दृष्टि पड़ गई। यह डायरी उन्होंने पं० दीनबन्धु जी को दिखाई। उन्हों ने इस डायरी की प्रतिलिपि कर ली और उसका अनुवाद श्री स्व० स्वा० स्वतन्त्रानन्द जी महाराज ने किया है। इसमें चार मास का हाल विद्यमान है। सम्पादक]

१६ दिसम्बर सन् १८७२

काशी में शास्त्रार्थ जीतने वाले दयानन्द सरस्वती भागलपुर से कलकत्ता पहुँचे। बैरिस्टर चन्द्रशेखर सेन, पं० सत्यव्रत सामश्रमी, बैरिस्टर उमेशचन्द्र बन्द्योपाध्याय आदि कईयों ने "पथरियाघाट" के राजभवन में संन्यासी के भोजन और निवास का प्रबन्ध किया।

टिप्पणी०—बै० चन्द्रशेखर सेन ब्रह्मसमाज के नेता थे। आप काशी शास्त्रार्थ के समय उपस्थित थे। पं० सत्यव्रत सामश्रमी "बङ्गाल एशियाटिक सोसायटी" के वेदज्ञ पण्डित थे। आप काशी शास्त्रार्थ के समय उपस्थित थे।

१७ से २० दिसम्बर १८७२

दयानन्द संन्यासी के देखने के लिये 'नाईनान' में जनता का आश्चर्यजनक समूह एकत्र हुआ। उनके साथ बात-चीत करने का अवसर नहीं मिला।

२१ दिसम्बर १८७२

सन्यासी के साथ विचार विमर्श का अवसर मिला। मैं सन्तुष्ट हो गया। केशवचन्द्र सेन को भी देखा।

२२ दिसम्बर १८७२

द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर, समुन्द्रनाथ ठाकुर और त्रिदेव भट्टाचार्य के साथ मैं संन्यासी से मिला। यज्ञोपवीत, वर्णभेद, यज्ञ, आत्मा और छः दर्शनों के विषय में अगणित प्रश्नों के उत्तर प्राप्त किये। आत्मा सन्तुष्ट हुआ।

टि०—द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के बड़े पुत्र और समुन्दर (?) उनके तीसरे पुत्र थे।

२३ से २८ दिसम्बर १८७२

ब्रह्म समाज के कार्य में व्यस्त रहने के कारण संन्यासी के दर्शन नहीं कर पाया।

२९ दिसम्बर १८७२

संन्यासी से नये रूप में उपनिषद् की व्याख्या सुनी। केशव चन्द्र सेन के साथ उनका प्रेम हो गया है। आपने ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की बात पूछी।

३० से ३१ दिसम्बर १८७२

नाईनान मैं नहीं जा सका। मैंने सुना कि अक्षय कुमार दत्त और राजनारायण बासु ने इन दो दिनों में वेद और होम की आलोचना की थी।

टि०—अक्षयकुमार दत्त ब्रह्मसमाज की पत्रिका "तत्वबोधिनी" के सम्पादक थे। राजनारायण बासु योगी अरविन्द के नाना और ब्रह्मसमाज के नेता थे।

१ जनवरी १८७३

केशवचन्द्र सेन ने दयानन्द सरस्वती को साथ लेकर कलकत्ते के विभिन्न स्थानों का भ्रमण किया।

टि०—केशवचन्द्र सेन नई ब्रह्मसमाज के प्रवर्तक।

२ जनवरी १८७३

संन्यासी के पास मैं ने उपनिषद् पढ़ना आरम्भ किया। कृष्ण दास पाल ने 'नाईनान' में संन्यासी का दर्शन किया और वार्तालाप किया। वेदविद्यालय की स्थापना के विचार पर कृष्णदास पाल ने प्रसन्नता प्रकट की।

टि०—कृष्णदास पाल कलकत्ता नगरपालिका के सदस्य और वायसराय के मण्डल (कैबिनेट) के सदस्य थे।

३ जनवरी १८७३

केशवचन्द्र सेन के साथ संन्यासी का ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के 'बदोड़ा बागान' में स्थित घर पर आगमन। विधवाविवाह, नियोग, बालविवाह, जातपात, वृद्धविवाह के विषय में दोनों में विचार विनिमय। विद्यासागर रुग्ण थे। संन्यासी के वेदविद्यालय स्थापित करने के विचार पर प्रसन्नता प्रकाश।

४ जनवरी १८७३

राजा राजेन्द्र नाथ मलिक के मकान पर केशव सेन के द्वारा वेदविद्यालय की स्थापना के लिये बैठक बुलायी गयी। महाराज जितेन्द्र नाथ ठाकुर, उत्तरपाडा के जमींदार जयकृष्ण मुखोपाध्याय, कृष्णदास पाल, द्विजेन्द्र नाथ ठाकुर, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, केशव चन्द्र सेन, भूदेव मुखोपाध्याय आदि बैठक में उपस्थित थे। निर्णय हुआ कि यदि संस्कृत कालेज में वेद पढ़ाना सम्भव न हो तो पृथक् विद्यालय स्थापित किया जाय।

५ जनवरी १८७३

संन्यासी ने मुझे यम नियम का उपदेश किया और लघु प्राणायाम की विधि सिखायी। केशवचन्द्र और राजा राजेन्द्र लाल मित्र ने संन्यासी के दर्शन किये। आर्य जाति के प्राचीन इतिहास के विषय में राजेन्द्र लाल की बातचीत हुई।

टि०—सर जितेन्द्रनाथ ठाकुर सी० एस० आई वायसराय की कौंसिल के सदस्य थे। जयकृष्ण मुखोपाध्याय उत्तर पाड़ा (हुगली) के जमींदार थे। भूदेव मुखोपाध्याय 'एजूकेशन गजट' के प्रबन्धक और गवर्नर की कौंसिल के सदस्य थे।

८ जनवरी १८७३

संन्यासी से योग विद्या का उपदेश लिया। राजनारायण वासु, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और रामतनु लाहरी नाईनान में उनसे मिले। वार्तालाप भी हुआ। ईश्वरचन्द्र जी के साथ समाज संस्कार के विषय में विचार विमर्श हुआ संन्यासी ने ईश्वर चन्द्र पर बङ्गाल में वेद प्रचार करने के लिये बल दिया। "इस जन्म में और नहीं होगा, अगले जन्म में देखा जायेगा"—ईश्वर चन्द्र ने यह उत्तर दिया। रामतनु लाहरी ने प्राचीन शिक्षा और पाश्चात्य शिक्षा की तुलना की।

टि०—रामतनु लाहरी समाज सुधारक ईश्वरचन्द्र के मित्र थे।

९ जनवरी १८७३

केशव चन्द्र सेन के मकान 'लिली काटेज' में संन्यासी दयानन्द का संस्कृत में भाषण सम्भ्रान्त व्यक्तियों ने सुना और वे अत्यन्त प्रभावित हुये। राजनारायण वासु ने संन्यासी को 'हिन्दु धर्म की श्रेष्ठता' नाम की एक पुस्तक भेंट की और उस पुस्तक के कुछ सन्दर्भ उनको हिन्दी में सुनाये गये। लिली काटेज में आने से पहले आपने 'एशियाटिक म्युजियम' (एशियाटी संग्रहालय) देखा और वेद, उपनिषद् के कई खण्ड उन्हों ने खरीदे।

१० जनवरी १८७३

संन्यासी के निर्देशानुसार मैंने मौनव्रत धारण किया। रमेश चन्द्र दत्त आई० सी० एस० और उमेश चन्द्र मित्र वकील ने उनके साथ मिल कर वेदभाष्य और भारत के प्राचीन इतिहास के विषय में बातचीत की। रमेश चन्द्र दत्त संन्यासी के वेद विषयक ज्ञान को देख कर आश्चर्यचकित रह गये।

टि०—रमेश चन्द्र दत्त आई० सी० एस० विभिन्न ज़िलों के मैजिस्ट्रेट, तत्पश्चात् उड़ीसा के कमिश्नर और बड़ौदा राज्य के वित्तमन्त्री रहे थे। रामायण का अंग्रेजी और ऋग्वेद का बङ्गला में अनुवाद किया था। रमेश चन्द्र दत्त हाईकोर्ट के रीडर थे।

११ से १८ जनवरी १८७३

संन्यासी के आदेशानुसार पुनः आठ दिन के लिये मौन व्रत धारण किया गया। प्रतिदिन ब्रह्ममुहूर्त में आप योग विद्या की शिक्षा देते थे। मैंने देखा कि कई दिन में सूर्यकान्त आचार्य चौधरी, रजनीकान्त गुप्ता, यतीन्द्र मोहन ठाकुर, डा० महेन्द्र लाल सरकार, प्रताप चन्द्र मूजमदार, द्वारका नाथ गङ्गोली, गङ्गाधर कविराज आदि प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने आपके दर्शन किये।

टि०—महाराज सूर्यकान्त चौधरी जिला मैमन सिंह के जमींदार थे। रजनी कान्त गुप्त साहित्यिक व्यक्ति थे। "पाणिनि विचार" और "आर्य कीर्त्ति" इत्यादि पुस्तकों के प्रणेता थे। डा० महेन्द्र लाल सरकार, "साइंटिफिक सोसाइटी" (वैज्ञानिक समाज) के प्रवर्त्तक, विश्वविद्यालय के फेलो, प्रान्तीय राज्य सभा के सदस्य थे। प्रताप चन्द्र मूजमदार शिकागो की "रिलीजस सोसाइटी" (धार्मिक समाज) में आप ब्रह्म समाज के प्रतिनिधि रह चुके थे। द्वारका नाथ गङ्गोली ब्रह्मसमाज के नेता, स्त्रीशिक्षा के समर्थक, "हिन्दु महा सभा" और "भारत सभा" के प्रतिष्ठित सदस्य थे। गङ्गाधर कविराज मुग्धबोध व्याकरण और चरक संहिता के अनुवादक थे।

१९ से २१ जनवरी १८७३

ब्रह्मसमाज के उत्सव में सम्मिलित रहा। २१ जनवरी को महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर के बुलावे पर मैं दयानन्द संन्यासी को साथ लेकर द्विजेन्द्र नाथ के जोलासां के राज-

भवन में गया। ब्रह्मसमाज के सब नेता वहाँ उपस्थित थे। ब्रह्मसमाज और वेद के विषय में सब के साथ संन्यासी का विचार विनिमय हुआ। देवेन्द्र नाथ के पुत्रों के मुख से वेद मन्त्र सुन कर आप प्रसन्न हुवे। आप से राजभवन में ठहरने के लिये आग्रह किया गया परन्तु आप ने स्वीकार नहीं किया।

टि०—महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर—प्रिंस द्वारका नाथ ठाकुर बड़े पुत्र-आदि ब्रह्म समाज के नेता।

२२ से ३० जनवरी १८७३

संन्यासी ने मुझे एकान्त में योगाभ्यास के लिये कहा। इस लिये मैंने "बहाला" की एक निर्जन झोपड़ी में नौ दिन तक डेरा लगाया। उन दिनों गुरुदेव के सत्सङ्ग से मैं वञ्चित रहा। मैंने सुना—ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, राजनारायण बासु, अक्षयकुमार दत्त, केशव चन्द्र आदि इनके साथ विचारविमर्श और बातचीत के लिये गये थे।

३१ जनवरी १८७३

गुरुदेव संन्यासी दयानन्द ने मुर्शिदाबाद को प्रस्थान किया। साथ उनके एक परिचित भक्त गया।

१ से २१ फरवरी १८७३

संन्यासी दयानन्द ने बालूचा में किसी परिचित व्यक्ति के बाग में एकान्त वास किया। कलकत्ता की जनता से पृथक् रह कर कुछ दिन विश्राम करना ही उनका मुख्य उद्देश्य था।

२२ फरवरी १८७३

स्वामी दयानन्द सरस्वती का कलकत्ते में पुनरागमन तथा विश्राम।

२३ फरवरी १८७३

गोरा चान्द दत्त के घर पर संन्यासी का "ईश्वर और धर्म" के विषय पर व्याख्यान हुवा। केशव सेन सभापति थे। बहुत से प्रतिष्ठत व्यक्ति उपस्थित थे। संस्कृत कालेज के बहुत से विद्यार्थियों को साथ लेकर महेश चन्द्र न्यायरत्न सभा में सम्मिलित हुवे। संन्यासी के संस्कृत व्याख्यान का हिन्दी अनुवाद सुनाया। विद्यार्थियों ने आपत्ति की कि अनुवाद में गड़बड़ी की जा रही है। न्याय रत्न अप्रसन्न होकर बाहर चले गये।

२४ से २८ फरवरी १८७३

केशव चन्द्र सेन के कलूटोला वाले मकान में, ब्रह्म समाज में, महालय में, खिदरपुर में और शीपुर में केशव चन्द्र सेन के प्रयत्नों से संन्यासी का व्याख्यान और धर्म-चर्चा।

१ से ११ मार्च १८७३

योगसाधना के लिये बहाला में एकान्तवास। स्वामी जी के साथ कलकत्ते के अनेक लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियों का विचार विनिमय विमर्श।

१३ मार्च १८७३

लक्ष्मीनारायण गोस्वामी के साथ स्वामी जी की नवद्वीप में उपस्थिति।

१४ मार्च १८७३

१५ को नवद्वीप बाजार में और १६ को गङ्गातीर में सभा हुई। झूटा प्रचार हुआ कि मैक्समूलर साहब संन्यासी के वेश में नवद्वीप के लोगों को ईसाई बनाने के लिये आये हैं। सैकड़ों हजारों की संख्या में स्त्री पुरुष उनको देखने के लिये टूट पड़े। लक्ष्मी नारायण लोगों के सामने लज्जित हो गया। शास्त्रार्थ के लिये आगे नहीं आया। नवद्वीप में जाकर स्वामी जी से मिला।

१९ से २१ मार्च १८७३

स्वामी जी को साथ लेकर बराह नगर में वापसी।

२२ से ३१ मार्च १८७३

स्वामी जी एकान्त में ग्रन्थ रचना में संलग्न रहे। अवकाश के समय उनका उपदेश हुआ।

१ अप्रेल १८७३

दयानन्द का बराह नगर छोड़ना और भूदेव मुखोपाध्याय के साथ हुगली में स्थित वृन्दावन चिद्रामण्डल के बाग में भोजन और निवास का प्रबन्ध। रिवरण्ड (पादरी) लाल बिहारी के साथ स्वामी जी के प्रश्नोत्तर। पादरी की पराजय।

२ से ५ अप्रेल १८७३

हुगली में उनको देखने के लिये सभा, उपदेश और प्रश्नोत्तर।

६ अप्रेल १८७३

वृन्दा बाबू के मकान पर स्वामी जी का संस्कृत में भाषण। अक्षय चन्द्र सरकार, भूदेव मुखोपाध्याय और भट पल्ली के पण्डित संस्कृत व्याख्यान सुनकर अत्यन्त प्रभावित हुवे।

(शेष पृष्ठ ५ पर)

पशुबली कैसे चली ?

[ले०—श्री पं० बिहारी लाल जी शास्त्री, संस्कृत लैक्चरार, इण्टर कालेज, उँझियानी]

जो लोग वेद और ईश्वर को नहीं मानते उनके मत से भी पहली पीढ़ी के मनुष्य तो मांसभक्षी हो ही नहीं सकते। मनुष्य के न सींग है न पंजे न पैने दांत। न वैसी फुर्ती जैसी कि शिकार के लिये आवश्यक है। मनुष्य औरों का शिकार तो क्या कर सकता स्वयं ही दूसरों का शिकार न बन जाने के लिये चिंतित रहा होगा।

बाइबिल, कुरान और मार्कण्डेयपुराण के अनुसार तो आदिम युग के मनुष्यों का भोजन फल ही थे। (इसकी पुष्टि में हमारा एक लेख श्री वेंकटेश्वर विशेषांक में छपा है) विकासवाद के अनुसार भी लोहयुग में जाकर मनुष्य शिकार के लिये समर्थ होसका होगा। जब मनुष्य स्वयं मांस खाने लगा होगा, तब उसे देवताओं के लिये भी मांस चढ़ाने की सूझी होगी।

वेदेश्वर के मानने वालों के लिये तो वेद में आया गौ के लिये "अघ्न्या" शब्द ही गौ को अहन्तव्य न मारने योग्य कहकर गोहिंसा का निषेध कर रहा है। और यज्ञ का पर्याय है वेद में "अध्वर" अर्थात् वह कर्म जिसमें कि हिंसा न हो। तब वैदिक ऋषि मुनि तो यज्ञ में पशु बलि करते ही न होंगे।

वाल्मीकि रामायण में विश्वामित्र जी ने महाराजा दशरथ से राक्षसों की यह शिकायत की है:—

"तौ मांसरुधिरौघेण वेदिं तामभ्यवर्षताम्" सुबाहु और मारीच दो राक्षस यज्ञ वेदी पर मांस और रुधिर की वर्षा करते हैं।

यदि ऋषि लोग भी यज्ञ में मांस, चर्बी और रक्त आदि चढ़ाते होते तो उन्हें शिकायत की कोई गुंजायश ही न हो सकती थी। मांस रुधिर की वर्षा से उनकी वेदी अशुद्ध होती थी इसी लिये उन्हें शिकायत थी।

इससे सिद्ध होता है कि यज्ञों में राक्षस लोग मांस डालते थे, आर्य लोग नहीं। उस समय (त्रेता में) मनुष्यों के दो वर्ग स्पष्ट बँट गये थे, एक अव्रती राक्षस जो वैदिक नियमों की अवहेलना करते थे। दूसरे आर्य जो वैदिक नियमों के पालक अर्थात् व्रती थे।

बस, इन पहले उच्छृंखल प्रकृति के लोगों ने ही यज्ञों में मांस चढ़ाकर पशुबलि की प्रथा डाली होगी। इसीलिये आर्यजनों से ये गर्हित ठहराये गये होंगे। वेदों का आर्यों में मान था। राक्षसों ने भी अपने पशुवधादिक में वेदों का प्रयोग आर्यजनों को नीचा दिखाने को किया होगा। धीरे धीरे राक्षसों में ऐसे भ्रष्ट यज्ञ चल पड़े जिनमें हिंसा होने लगी। इस विचार की दृढ़ पुष्टि भगवान् बुद्ध के उपदेश से होती है। भगवान् बुद्ध कहते हैं:—

तण्डुलं लवणं वत्थं सपि तेलञ्च याचिअ
धम्मे न समुदाने त्वाततो यञ्ञमप पयु

अर्थात् चावल घृत तेल वस्त्र आदि से यज्ञ पूर्ति होती थी। बुद्ध जी अब से ढाई सहस्र वर्ष पहले यह बात कह रहे हैं। इससे उत्तम साक्षी और क्या होगी। जैन ग्रन्थ पद्मपुराण भी कहता है कि यज्ञों में पहले पशुवध नहीं होता था। राक्षसों का साम्राज्य राम के समय में नष्ट हो गया था और आर्यलोगों से उनका मेल-जोल भी होने लगा। पर राजनैतिक पराजय मान लेने पर भी क्या राक्षसों के विचार बदल गये होंगे? कदापि नहीं। उनके आचार-विचार दब गये होंगे, नष्ट नहीं हुए होंगे।

वे राक्षसी यज्ञ करके पशुबलि भी करते रहे होंगे। कालान्तर में इन राक्षसों के संसर्ग से आर्य राजाओं में भी यह कुरीति आ गयी होगी। ऐसा ही एक राजा इक्ष्वाकु वंशीय हुआ जिसने यज्ञ में गोवध किया। इस को ही प्रथम पशुबलिकारक चरक में भी कहा है और इसी को मंगल सुत्त में भगवान् बुद्ध ने। इक्ष्वाकु वंश के राम से ही राक्षसों का युद्ध हुआ और इस वंश से ही राजनैतिक संधि भी। अतः इस राजवंश पर ही राक्षसों का प्रभाव पड़ने की सम्भावना हो सकती है। पर यह घृणित प्रथा अधिक नहीं फैल सकी होगी और दबी रही होगी। इन राक्षसों और वैदिक धर्मियों के सूत्र ग्रन्थ जिनमें यज्ञों की विधियाँ हैं मिल गये होंगे क्योंकि छापे का तो प्रचार ही नहीं था। कालान्तर में जब वेदादि शास्त्रों के पठन-पाठन और मनन का ह्रास हुआ तब राक्षसी सूत्र और वैदिक सूत्र एक हो गये और आर्यसाहित्य में राक्षसों ने जो मिलावट की थी, वह आर्यलोग अपनी वस्तु मानने लगे। वह छाँट करने का काम तो किसी बड़े भारी ऋषिका था। और इस युग के महान् ऋषि दयानन्द ने वह कर दिया। और करने की रीति भी बता दी। वेद विरुद्ध सब त्याज्य है।

ये पशु बलि वाले यज्ञ इस देश में तो अधिक बल प्राप्त न कर सके। सदा इनका विरोध होता रहा। बुद्ध भगवान् के विरोध ने भी इन यज्ञों को दबाया और जैनों ने भी! पर विदेशों में पशु बलि ने विस्तार पा लिया। महाभारत के युद्धोपरान्त वैदिक धर्म का प्रचार शिथिल हो गया। आर्य लोगों का विदेशों से प्रभाव भी जाता रहा। अतः यह पाप प्रथा फैलती रही और इसका अधिक प्रचार यहूदियों ने किया। ये बर्बर थे और आर्यधर्म से बहुत दूर।

जो लोग आर्यधर्म के बहुत समीप थे अथवा वैदिक आर्यों की ही एक शाखा मात्र थे उनमें विदेशों में भी यह प्रथा नहीं थी, न अब है। वे पुराने आर्य हैं पारसी लोग। ये यज्ञ में अब भी मांस नहीं चढ़ाते। इन्हों ने वैदिक यज्ञ प्रथा को शुद्ध बनाये रक्खा है। क्योंकि इन्होंने राक्षसों से अपना सम्पर्क नहीं रक्खा। राक्षसों की यज्ञ प्रथा विकसित रूप में बाइबिल में देख पड़ती है। यह ग्रन्थ पशु बलि से भरा पड़ा है। देखिये इसके कुछ उद्धरणः—

१—"तब यदि भूल से किया हुआ पाप मंडली के बिन जाने हुआ हो तो सारी मंडली यहोवा को सुखदायक सुगंध देने हारा होम बलि कर के एक बछड़ा और उसके संग नियम के अनुसार उसका अन्न बलि और अर्घ चढ़ाये और पाप बलि करके एक बकरा चढ़ावे" गिन्ती १५।२४

२—"और यदि वह यहोवा के लिये पक्षियों का होम बलि चढ़ाये तो पिंड कौवा कबूतरों का चढ़ावा चढ़ाये। याजक उसको वेदी के समीप ले जाकर उसका गला मरोड़ के सिर को धड़ से अलग करे और वेदी पर जलाये और उसका सारा लोहू वेदी पर अलग गिराया जाये॥

(लैव्यवस्था १।१४,१५)

३—"और यदि उसका चढ़ावा मेल बलि का हो यदि वह गाय बैलों में से चढ़ाये तो चाहे वह पशु नर हो चाहे मादीन पर जो निर्दोष हो उसी को वह यहोवा के आगे चढ़ाये। और वह अपने चढ़ावे के सिर पर हाथ टेके और उसको मिलाप वाले तंबू के द्वार पर बलि करे और हारून के पुत्र जो याजक हैं वे उसके लोहू को वेदी की चारो अलंगो पर छिड़कें। और वह मेल बलि में से यहोवा के लिये हव्य चढ़ावें अर्थात् जिस चर्बी से अंतड़ियाँ ढपी रहती हैं और जो चर्बी उनमें लिपटी रहती है वह भी और दोनों गुर्दे और जो चर्बी उनके ऊपर और लंक के पास रहती है और गुर्दों के समेत कलेजे के ऊपर की झिल्ली इन सभों को वह अलग करे। और हारून के पुत्र इनको वेदी पर उस होम बलि के ऊपर जो आग की लकड़ी पर होगा जलायें कि वह यहोवा के लिये सुखदायक सुगंध वाला हव्य ठहरे" (लैव्यवस्था ३।१-५

४—"और यदि कोई साक्षी होकर ऐसा पाप करे कि सौंह खिलाकर यों पूछने पर भी कि क्या तूने यह सुना वा जानता है बात प्रकट न करे तो उसके अपने अधर्म का भार उठाना पड़ेगा। और यदि कोई किसी अशुद्ध वस्तु को अनजान में छुए तो चाहे वह अशुद्ध बनेले पशु की चाहे अशुद्ध घरेले पशु की चाहे अशुद्ध रेंगने हारे जीव जन्तु की लोथ हो तो वह अशुद्ध होकर दोषी ठहरेगा। और यदि कोई जन मनुष्य की किसी अशुद्ध वस्तु को अनजान में छुए चाहे वह अशुद्ध वस्तु किसी प्रकार की क्यों न हो जिससे लोग अशुद्ध होते हैं तो जब वह उसे जान लेगा तब दोषी ठहरेगा। और यदि कोई अनजान में बुरा वा भला करने को बिना सोचे समझे सौंह खाये चाहे वह किसी प्रकार की बात बिना सोच विचार किये सौंह खाकर कहे तो जान लेने के पीछे वह ऐसी किसी बात में दोषी ठहरेगा और जब वह ऐसी किसी बात में दोषी हो तब जिस विषय में उसने पाप किया हो उसको वह मान ले और यहोवा के लिये अपना दोष बलि ले आये अर्थात् उस पाप के कारण वह एक भेड़ वा बकरी पाप बलि करके ले आये तब याजक उस पाप के विषय उसके लिये प्रायश्चित्त करे और यदि उसे भेड़ वा बकरी देने का सामर्थ्य न हो तो अपने पाप के कारण दो पिंडुकी वा कबूतरी के दो बच्चे दोष वाले करके यहोवा के पास ले आये। उनमें से एक तो पाप बलि और दूसरा होम बलि ठहरे"

लैव्यवस्था ५।१-७

५—"और यदि कोई ऐसा पाप करे कि यहोवा का वर्जा हुआ कोई काम करे तो चाहे वह उसके

अनजान में हुआ हो तो भी वह दोषी ठहरेगा। और उसको अधर्म का भार उठाना पड़ेगा सो वह एक निर्दोष मेढ़ा दोष-बलि करके याजक के पास ले आये" (लैव्यवस्था ५।१७,१८)

६—"और जो पशु सुलैमान ने मेल बलि करके यहोवा को चढ़ाये सो बाईस हजार बैल और एक लाख बीस हजार भेड़ें थीं।"

(राजा ८।६३)

बाइबिल के ये उद्धरण हमने शुद्ध उदाहरण के रूप में दिये हैं। ऐसे बलिदानों से बाइबिल भरी पड़ी है। यहोवा के मन्दिर में नित्य प्रति ही भेड़, बकरे, गाय, बैल, कबूतर और पिंडुकों का रक्त बहता रहता था। यहूदियों का देवाधिदेव यहोवा रक्तप्रिय देव था। मनुष्य कितना ही अपराध करे, विश्वासघात, असत्य भाषण, लूट खसोट जो चाहे सो करे, पर यहोवा की वेदी पर पशु पक्षियों का रक्त चढ़ा दे। यहोवा के यज्ञ कुण्ड में मांस चरबी हुत दे तो यहोवा प्रसन्न होकर सब अपराध क्षमा कर देते थे।

बाइबिल में आदम के पुत्र हाबिल और काइन की कथा आती है। हाबिल ने यहोवा को मोटी भेड़ चढ़ाई और काइन ने जौ की बालें। यहोवा हाबिल से प्रसन्न हुआ काइन से नहीं। काइन की बाबत लिखा है कि वह पतली बालें लाया था। काइन के अर्थ अरबी में किसान के हैं। यह कथा गड़रिये और किसान के प्रतिनिधिरूप में। हाबिल है गड़रियों का प्रतिनिधि और काइन किसान का। इससे सिद्ध है कि कृषक लोग आर्य यज्ञ में अन्नाहुति करते थे। गड़रिये पशु चढ़ाते थे। गड़रिओं की अपेक्षा किसान सभ्य होता ही है, वह पशु बलि असभ्य बकरे लोगों की प्रथा ही इस कहानी से ठहरती है।

बाइबिल में बलिदानों का वर्णन स्पष्ट रूप में है। यहूदी ईसाई मुसलमान ये तीनों सैमिटिकमत वाले पशु बलि पर विश्वास रखते हैं। केवल ईसाई यह कहते हैं कि अब हमारे पापों के बदले ईसा बलि चढ़ गया इसलिये पशुबलि की आवश्यकता नहीं। पर जीवबलि के बिना यहोवा प्रसन्न नहीं होता, इसमें सब एक मत हैं। पर आर्य धर्म में बलिदान प्रथा निर्विवाद नहीं। जैन, बौद्ध बलि के विरोधी हैं ही। और उनके ग्रन्थ इसे प्राचीन प्रथा नहीं मानते। वैदिक धर्मी और उनके ग्रन्थ भी इस प्रथा को आलंकारिक मानते हैं और वा किसी खास समय की प्रथा कहते हैं, अर्थों में भी मतैक्य नहीं। अधिकांश रुचि बलिविरोधिनी ही है। वैष्णव और आर्यसमाजी पशुबलि प्रथा के विरोधी हैं। पशु बलि प्रथा के प्रमाणों की अन्यथा संगति लगती है आर्यों की पुरानी शाखा पारसी बलिदान नहीं करते।

अतः यह क्रूर प्रथा आर्य लोगों की चलाई नहीं हो सकती। आर्य धर्मानुमोदित इसे नहीं कहा जा सकता। निश्चय यह अनार्य लोगों ने अज्ञानवश चलाई है और उनके संसर्ग से आर्य लोगों में भी चल पड़ी है। अहिंसाप्रिय ब्रह्मवादी आर्यों से यह सदा हेय रही है। आर्यधर्म से प्रभावित ईसा ने भी यहूदी होते हुए भी इसे उड़ा दिया। मुहम्मद साहब पर यहूदियों का पूरा प्रभाव था अतः उन्होंने इसे चालू रक्खा। पुराणों में यह प्रथा तमोगुणी कही गयी है। पशु बलिदान के प्रेमी देवता तामस माने गये हैं।

बाइबिल में बछड़ों के मांस जलाने को यहोवा के लिये "सुखदायक सुगंध" कहा गया है। धन्य है यहोवा की घ्राण शक्ति!

एक बार यहोवा इब्राहीम के यहाँ आया तो इब्राहीम ने उसे बछड़े का माँस और रोटी खिलाई। बर्बर यहूदी इसके अतिरिक्त और कल्पना करही कैसे सकते थे। "जैसी नकटी देवी वैसे ऊत ऊत पुजारी" मिसरियों की दासता में रहते रहते इनकी बुद्धि क्रूर और जड़ हो गयी थी। बाइबिल ऐसी ही क्रूर प्रथाओं से भरी हुई है।

यहूदियों ने यह तो माना कि पाप का दंड अवश्य मिलता है पर वह दंड अपने बदले अपने बश में आये हुए पशु-पक्षियों पर उतरवा दिया जाय तो हम बच सकते हैं। बस इसी कल्पना ने पशु-बलि को चालू किया। यदि सृष्टि रचयिता प्रभु को सब ही जीवों का पिता मान लिया जाता तो इस कल्पना को स्थान नहीं रहता। पर यहूदी तो अपने को ही ईश्वर की श्रेष्ठ संतान मानते थे अन्य मनुष्यों को नहीं। पशु-पक्षियों में जीवात्मा को यहूदी ईसाई अब भी नहीं मानते। ईश्वर को इतना भोला भी इन्हों ने मान लिया था कि इनके ऊपर का क्रोध यह पशु-पक्षियों पर उतरवा दें और ईश्वर न समझ पाये। ईश्वर ऐसा रिश्वती था कि पशु-पक्षियों की भेंट लेकर इनके अपराध क्षमा कर देता था !!

बाइबिल भी पुरानी पुस्तक है और यहूदियों का आवागमन सब देशों में था अतः उनसे ही यह कुप्रथा भारतवासियों ने भी सीखली होगी। इसीलिये बलिदान करने वाले तांत्रिक लोगों के कार्य यहां अधिकतर गुप्त रहते थे और

(शेष पृ० ३३ पर)

पुस्तक परिचय—

१—वेदोद्यान के चुने हुये फूल—लेखक श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति आचार्य गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी हरिद्वार ॥ पृष्ठ सं० २२३ मूल्य ४)

इसमें वेद-ईश्वर-सृष्टि-उपासना-स्वास्थ्य-ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-राष्ट्रनिर्माण आदि अनेक विषयों पर प्रकाश डालनेवाले मन्त्रों का बहुत उत्तम और आकर्षक संग्रह है। वेद मन्त्रों का अर्थ और व्याख्या सरल ढंग में किये गये हैं। जिनके पढ़ने से आध्यात्मिक लाभ के साथ २ वेद में उदित जीवनोपयोगी अनेक समस्याओं का हल भी मिलता है। अनेकविध-ज्ञानवृद्धि होती है। लेखक के सात्विक-पवित्र जीवन का छाप हर पृष्ठ से पाठक के हृदय पर लगती है। लेखक होने के लिये इन गुणों की ही आवश्यकता है। गुरुकुलकांगड़ी का सौभाग्य है कि उसे ऐसा सात्विक योग्य आर्य विद्वान् आचार्य रूप में प्राप्त है।

वेद विषय में इस प्रकार के संग्रह निश्चय ही आध्यात्मिक लाभ के साथ २ वेद-शास्त्र-प्राचीन संस्कृति सभ्यता और साहित्य में श्रद्धा भक्ति उत्पन्न करनेवाले हैं। आर्य समाज की संस्थाओं में यह पुस्तक पाठ्यरूप में रखने योग्य है।

हमारी दृष्टि में यदि इनका मूल्य किसी प्रकार २॥) रुपये तक हो सके तो बहुत अच्छा है। दूसरा निवेदन हम यह करेंगे कि वेद मन्त्रों में विद्वानों द्वारा भी स्वर हटा दिये जायेंगे तो स्वर का लोप हो जायगा। ऋषि दयानन्द ने सन्ध्या में भी स्वर रखे हैं। उस पर कुछ यत्न होना चाहिये, नहीं तो स्वर का लोप ही हो जायगा।

२—आनन्द गायत्री कथा—लेखक श्री महात्मा आनन्द स्वामी जी—प्रकाशक—गोविन्द रुपहासानन्द देहली पृ० सं० १२३ मूल्य ॥) वेद का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है जो वेद को छोड़कर अन्य ही पढ़ना पढ़ाना रखते हैं, वे जीता हुआ शूद्र हो जाता है। अतः वेद शास्त्र तथा ऋषियों के ग्रन्थ तथा ऋषि दयानन्द कृत ग्रन्थ प्रत्येक आर्य को पुस्तक पढ़ने चाहिये। धीरे २ इनके पढ़ने की योग्यता उत्पन्न करनी चाहिये। सो ऐसी योग्यता उत्पन्न करने के लिये यह गायत्री कथ बहुत ही रोचक सरल और प्रमोद उत्पादक है। लेखक की प्रभु भक्तिका छाप प्रत्येक पृष्ठ में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है, प्रत्येक भारतीय नर नारी को इसके द्वारा लाभ उठाना चाहिये। यह पुस्तक स्कूलों और पाठशालाओं में पारितोषक में देने योग्य है।

३—मेरी आत्मकथा—लेखक—श्री० पं० गङ्गा प्रसाद जी एम० ए चीफ जज। प्रकाशक आर्यसाहित्य मण्डल अजमेर—मूल्य २)

श्री० पं० गंगाप्रसाद जी आर्यसमाज के वृद्ध-अनुभवी-विद्वान् नेता हैं। इनमें उनके जीवन की वे घटनायें ही हैं जिनका आर्यसमाज के इतिहास से गहरा सम्बन्ध है। मुझे इसे पढ़कर बहुत ही प्रसन्नता हुई और पता लगा कि मेरे होश से भी पहिले आर्यसमाज की क्या स्थिति चल रही थी। स्वर्गीय पं० घासीराम जीए म० ए० और पं० गंगा प्रसाद जी एम० ए० दीवान बहादुर हरविलास शारदा ये सब आगरा में पढ़ते थे और आर्यसमाज का गहरा प्रचार यही लोग करते थे।

यदि यह पुस्तक १० वर्ष पहिले लिखी जाती तो निश्चय ही कुछ भिन्न होती। वृद्धत्व की छाप इस पुस्तक पर है।

आर्यसमाज के सौभाग्य की बात है कि उनके एक वृद्ध नेता के अनुभव उसे मिल गये।

प्रत्येक आर्यसमाज में यह पुस्तक रखने योग्य है।

४—वेदान्त दर्शन—भाष्यकर्त्ता श्री० स्वामी ब्रह्ममुनि जी—प्राप्तिस्थान—आर्यसार्वदेशिक ग्रन्थ प्रकाशन—श्रद्धानन्द बलिदान भवन—देहली। पृष्ठ सं० २४० मूल्य ३)

यह पुस्तक वेदान्त का संस्कृत में भाष्य है। शाङ्कर भाष्य से सर्वथा भिन्न, वैदिकसिद्धान्त के अनुसार सूत्रों का स्वोपज्ञ अर्थ किया गया है। यह निश्चय है कि शाङ्कर के पहिले भी वेदान्त का कुछ अर्थ तो रहा ही होगा जो सूत्रों के आधार पर ही हो सकता है, यह भी सत्य है कि जो कोई भी सूत्रों के अर्थ स्वोपज्ञ (अपनी बुद्धि या स्फुरण के आधार पर) करेगा, उनमें परस्पर भेद अवश्य रहेगा जो अनिवार्य है। सो उक्त स्वामीजी ने बड़े साहस का काम किया है। इनमें किये अर्थों आदि के विषय में विद्वानों का मतभेद रहना स्वाभाविक है। बड़ी योग्यता और परिश्रम से यह भाष्य किया गया है। हम पं० ठाकुर दत्त अमृतधारा ट्रस्ट के संचालकों को इस ग्रन्थ के लेखक को १०००) रुपया पारितोषक देने का प्रस्ताव करते हैं, यह आर्यसमाज की दृष्टि से महान् कार्य किया गया है, हम चाहते हैं, इस ग्रन्थ का अधिक से अधिक प्रचार हो। और गवर्नमेंट

संस्कृत कालेज बनारस की परीक्षा में विकल्प में यह ग्रन्थ भी रखा जाये।

प्रत्येक आर्यसमाज को यह ग्रन्थ अवश्य अपने यहां रखना चाहिये।

५—विश्वशान्ति का वैदिक सन्देश—लेखक श्री० पं० शिवकुमार शास्त्री-प्रकाशक धर्मचन्द आर्य बनूड़ (पेप्सू) पृष्ठ संख्या १२२ मूल्य १॥)

इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने योग्यतापूर्ण ढंग से प्राचीन इतिहास के आधार पर विश्व में शान्ति के उपायों पर प्रकाश डाला है तथा भारत वर्ष की वर्तमान अवस्था के लिये बहुत उपयोगी विषयों पर गम्भीरतापूर्ण विचार किया है। जिस पर प्रत्येक भारतीय को गम्भीर विचार करने की आवश्यकता है। इस पुस्तक का अधिक से अधिक प्रचार होना चाहिये। काग़ज़ साधारण है। छपाई कुछ ढीली है। जनता को ऐसे योग्य लेखक से अन्य पुस्तक की आशा भी रखनी चाहिये॥

६—महाभारत की कहानियाँ (सचित्र)—लेखक श्री० पं० देवदत्त जी शास्त्री–विद्याभास्कर। प्रकाशक विश्वेश्वरानन्द संस्थान होशियार पुर-पृष्ठ संख्या १०० मूल्य १)

इसमें महाभारत की कुछ कहानियां दी गई हैं जो बच्चों के लिये बहुत उपयोगी हैं। इसकी यह विशेषता है कि मूल श्लोकों के आधार पर ही लिखा गया है।

यह पुस्तक स्कूलों के पाठ्यक्रम में रखी जानी चाहिये॥

७—मानवता का मान—लेखक श्री० पं० विश्वबन्धु जी शास्त्री एम० ए०। प्रकाशक पूर्ववत्। पृष्ठ संख्या १३०

विद्वान् लेखक ने गीता के ७ श्लोकों को आधार बना कर भारतीय संस्कृत में कुछ मूलभूत तत्वों पर अपने विचार स्वतन्त्र दृष्टि से किये हैं। लेखक के सर्व विचारों से पाठक चाहे सहमत न हों, पर उनके उत्तम विचारों को तो हर एक को ग्रहण करना ही चाहिये। वेद शास्त्र की तुला भी तो हर एक की भिन्न २ है॥ कौन कहता है यह न देख कर क्या कहता है इस पर निष्पक्ष विचार करना चाहिये। उपादेय का उपादान करना ही कर्तव्य है॥

भारतीय जनता को इस पुस्तक से अवश्य लाभ उठाना चाहिये॥ मूल्य १।≈)

८—बाइबल की अश्लीलता का दिग्दर्शन—लेखक प्रकाशक पं० शिवपूजन सिंह जी–वैदिक जी शोधसंस्थान कानपुर पृष्ठ संख्या ३२॥ मूल्य ।-)

वर्तमान में ईसाइयों के अनुचित व्यवहार और प्रचार की दृष्टि से यह पढ़ने योग्य है। और भारतीय ईसाइयों तक यह पुस्तक पहुँचनी चाहिये। यद्यपि बीभत्स वर्णन है पर इसका उपाय ही क्या हो सकता है। प्रचार की दृष्टि से इसका मूल्य ≈) से अधिक नहीं चाहिये। कोई सज्जन अपनी ओर से बटवावें लागतमात्र लेकर।

९—आर्यसिद्धान्त दीप-लेखक—श्री पं० मदन मोहन विद्यासागर-प्रकाशक गोविन्दराम हासानन्द–देहली पृष्ठ सं० १३२ मूल्य १)

यह पुस्तक आर्यसमाज का परिचय और उसके सिद्धान्त की जानकारी की दृष्टि में अत्यन्त उपयोगी है। प्रारम्भ में जहां आर्यसमाज का प्रचार नया २ हो वहां पर इस पुस्तक से बहुत लाभ हो सकता है। मध्यभारत-दक्षिण-महाराष्ट्र-राजस्थान आदि में इसका प्रचार होना चाहिये।

१०—शिखा और सूत्र—लेखक, तथा प्रकाशक श्री० पं० सूर्यबली पाण्डेय साहित्यरत्न—जौनपुर, पृष्ठ सं० ११२ मूल्य ॥)

यह विषय आजकल के पढ़े लिखों को अवश्य जानना चाहिये। योग्य लेखक ने शिखा तथा यज्ञोपवीत सम्बन्धी अनेक आवश्यक विषयों पर सुन्दर प्रकाश डाला है। पुस्तक उपादेय है।

११—गृह साम्राज्य सुधार-पति पत्नी का कर्तव्य-ले०—श्री० पं० चूड़ामणिजी शास्त्री, प्राप्तिस्थान–चन्द्रकान्त शास्त्री—५५१ मोरी गेट—दिल्ली, पृ० ४० मूल्य।)

गृहाश्रमियों के लिये यह पुस्तक पढ़ने योग्य है। यह एक योग्य सनातनधर्मी विद्वान् के विचारों का सुन्दर संग्रह है।

१२—अपूर्व शास्त्रार्थ—लेखक पं० रत्नलाल जी अमर। प्रकाशक आर्यसमाज डीडवाना—पृ० ११२ मूल्य ॥)

प्रत्येक आर्यसमाज में यह पुस्तक रहनी चाहिये। शास्त्रार्थों में यदि सद्भावना-सत्यता से काम लिया जाये तो बहुत लाभ हो सकता परन्तु यह बात स्थिर नहीं हो पाती, यह देश जाति का दुर्भाग्य ही मानना चाहिये।

मतों में भिन्न विचार वालों की बात पर हमें ध्यान अवश्य देना चाहिये।

सूचना—अष्टाध्यायी का डाक व्यय ≈) अधिक भेजें, रजिस्ट्री से चाहें तो ।≈) और भेजें।

स्मृति में बैठ जाते हैं, यह मनोवैज्ञानिक बात है। प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है। कहने से समझ में नहीं आ सकता, जो एक बार प्रत्यक्ष कर लेता है, वह अष्टाध्यायी का परमभक्त बन जाता है, कहने से नहीं, स्वानुभूत होने पर।

सूत्रों के अर्थ सम्बन्ध में विशेष निर्देश

(क) जितनी संज्ञायें हैं उनका व्यवहार संज्ञारूप में ही करना चाहिये, उक्त संज्ञाओं से क्या क्या ग्रहण होता है यह पता रहना चाहिये। प्रत्याहार भी एक प्रकार से संज्ञा ही समझने चाहियें, क्योंकि 'अच्' कहने से सब स्वर लिये जाते हैं और हल् कहने से सब व्यञ्जन। सब व्यञ्जनों का नाम न लेना पड़ा, केवल हल् कह दिया, इतने से सब व्यञ्जन आगये, संक्षेप से 'हल्' कहने से ही समझ में आगये। प्रत्याहार संक्षेप को कहते है। सो ऐसे ही अष्टाध्यायी में जिन ४२ प्रत्याहारों का व्यवहार किया गया है, उन सब में यही संक्षेप मिलेगा। इसी लिये उनको प्रत्याहार सूत्र कहते हैं॥

(ख) सूत्र के अर्थ करने का प्रकार हमने पञ्चम दिन के पाठ में बताया। **वर्त्तमाने लट्** (३-२-१२३) आदि १० सूत्रों के अर्थ क्रियात्मक रूप में पठनार्थी को बिना रटाये हम बता चुके। सूत्रों का अर्थ करने की यही प्रक्रिया सब सूत्रों में कैसे सुगमता से समझी जावे सो लिखते हैं—

पहिले सूत्र का (१) पदच्छेद (२) विभक्ति (३) समास (४) अधिकार या अनुवृत्ति (५) अर्थ (६) उदाहरण (७) सिद्धि जानें। ये सात बातें हर एक सूत्र की सबसे पहिले समझ में आनी चाहियें। सो एक बार इनका स्वरूप भी समझ लेना चाहिये—

(१) पदच्छेद—पद कहते हैं सुप् (२१) (४-१-२) और तिङ् (१८) (३-४-७८) जिनके अन्त में हों। 'पुरुषः' यह एक पद है, 'पठति' एक पद है। उपसर्ग और निपात भी पद ही होते हैं, उनमें शब्द के आगे 'सुप्' आते तो हैं पर उनका लुक् (अदर्शन) हो जाता है। छेद कहते हैं अलग २ करने को, सो **पदच्छेद** का अर्थ हुआ = पदों को अलग २ करना। जैसे उपदेशे। अच्। अनुनासिकः। इत्। (१-३-२) में। वृद्धिः। आदैच् (१-१-१) में इसी का नाम पदच्छेद है॥

(२) विभक्ति = कहते हैं सुप् के तीन 'सु औ जस्' आदि ७ सात त्रिक (तीन तीन) तथा 'तिप् तस् झि' आदि छ त्रिक (तीन तीन)। आगे वचन-एकवचन, द्विवचन, बहुवचन। जैसे **उपदेशे** = ७-१ = सप्तमी विभक्ति का एकवचन। **अच्** १-१ प्रथमाविभक्ति का एकवचन। **अनुनासिकः** १-१ प्रथमा का एकवचन। **इत्** = १-१ प्रथमा का एकवचन। हर एक सूत्र का पहिले पदच्छेद और विभक्ति वचन जानो। यह भी समझ लेना चाहिये कि इस शब्द के रूप किस शब्द के समान चलते हैं, इस से पठनार्थी का ज्ञान शीघ्र बढ़ता है और स्थिर होता है।

(३) **समास** = जिसमें अनेक पदों का एक पद, अनेक विभक्तियों की एक विभक्ति और अनेक स्वरों का एक स्वर हो जाता है, उसे समास कहते हैं। समास चार प्रकार का होता है—(i) अव्ययीभाव (पूर्वपद प्रधान) (ii) तत्पुरुष (उत्तरपद प्रधान) (iii) बहुव्रीहि (अन्यपद प्रधान) (iv) द्वन्द्व (उभयपद प्रधान)।

समास में कम से कम दो पद होते हैं, पहिला पूर्वपद कहलाता है, दूसरा उत्तरपद। सो हम अभी केवल तत्पुरुष समास समझाते हैं—"राजगृहम्" में राज्ञः (राजा का) गृहम् (घर)। 'राज्ञः' एक पद है 'गृहम्' दूसरा पद है। दो पदों का एक पद 'राजगृहम्' (राजा का गृह) बन गया। राज्ञः पुरुषः = "राजपुरुषः" (राजा का पुरुष) बन गया। इसे समास कहते हैं। यह तत्पुरुष समास है क्योंकि यहां "राजपुरुषं आनय" = राज पुरुष लाओ यह कहने से राजा नहीं लाया जाता, पुरुष लाया जाता है। राजपुरुष में पुरुष उत्तरपद है, सो यहाँ उत्तरपद प्रधान होने से 'राजपुरुष' या 'राजगृह' तत्पुरुष समास कहलाया। सो **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (१-३-२) में कोई समास नहीं क्योंकि इस सूत्र में सब एक पद हैं, दो पद कोई नहीं। हां **चुटू** (१-३-७) में द्वन्द्व समास है। **वृद्धिरादैच्** (१-१-१) में आदैच् द्वन्द्वसमास है।

(४) **अधिकार और अनुवृत्ति** = १० सूत्रों का अधिकार और अनुवृत्ति इसी ५वें पाठ में ऊपर दर्शा चुके हैं जैसे वर्त्तमाने लट् में।

(५) **अर्थ** = भी ऊपर दर्शा चुके हैं।

(६) **उदाहरण** = **वर्त्तमाने लट्** (३-२-१२३) का उदाहरण पठति भवति है। अर्थात् इनमें वर्त्तमाने लट् (३-२-१२३) यह सूत्र लगा, तभी 'पठति' ऐसा रूप बना॥

(७) सिद्धि = सिद्धि में सब सूत्र जो जो लगे बताना। सो यह ९वें दिन के पाठ में पूरी तरह दिखावेंगे, अतः यहां नहीं लिखते।

यह अति संक्षेप से लिखा। सूत्रों के विषय को पूरा जानने के लिये इन सात बातों का ज्ञान लेना अत्यावश्यक है। जब किसी सूत्र का अर्थ करने लगें तो पहिले सूत्र का पदच्छेद (पदों को अलग २) करो, और विभक्ति उसी सूत्र पर या कापी पर काली पैन्सिल से लिख लो। पदच्छेद और विभक्ति जान लेने से सूत्र का अर्थ एक तिहाई ⅓ समझ में आने लगता है। समास स्पष्टता लाता है। अनुवृत्ति या अधिकार जान लेने पर सूत्र का ⅓ एक तिहाई अर्थ और समझ में आ जाता है। शेष ⅓ एक तिहाई अर्थ अध्यापक को बताना पड़ता है, कहीं २ तो इतना भी बताना नहीं पड़ता। उदाहरण में सूत्र ने क्या काम किया यह बात समझनी होती है, जो सिद्धि करने पर ही पूरी तरह समझ में आ पाती है। सिद्धि में मुख्य बात यही जाननी होती है कि इस उदाहरण में इस सूत्र ने क्या काम किया। शेष सूत्र इसलिये बताये जाते हैं, कि वही सूत्र प्रायः बार २ लगते हैं। ७ प्रकार की सिद्धि में एक प्रकार की सिद्धि जान लेने पर प्रायः सभी सिद्धि सुगमता से समझ में आने लगती हैं।

एक और आवश्यक बात

सूत्रों के अर्थ करने में एक और आवश्यक बात ध्यान में रखने की है कि अर्थ करते समय क्रमशः सूत्र की ५, ७, ६, १, (पञ्चमी, सप्तमी, षष्ठी और प्रथमा) विभक्ति पर ध्यान देना।

(१) जहाँ ५मी विभक्ति होगी वहाँ "से" अर्थ होगा।

(२) जहाँ ७मी होगी वहाँ "परे रहने पर" या "विषय में" या "निमित्त होने पर" इन तीन अर्थों में से कोई सा होगा।

(३) जहाँ ६ठी विभक्ति होगी (और कोई सम्बन्ध न बनता हो)। वहाँ 'षष्ठी' का अर्थ 'के स्थान में' होगा।

(४) १ प्रथमा विभक्ति का अर्थ "होता है" यह समझ लेना चाहिये।

जैसे **वर्त्तमाने लट्** (३-२-१२३) में अधिकार से 'वर्त्तमाने लट्, प्रत्ययः, परश्च, धातोः' ऐसा वाक्य बना। अब इन शब्दों के ढंग से बैठने का क्या प्रकार है इसको बताते हैं। इसका क्रम है—५, ७, ६ १ = अर्थात् पहिले ५मी, आगे ७मी, आगे षष्ठी, उससे आगे प्रथमा विभक्ति को रखो, अर्थात् ५, ७, ६, १ इस क्रम से बिठाओ, अन्त में भवति, भविष्यति, स्यात्, आदि में से कोई सी एक क्रिया लगा दो॥

जैसे आद् गुणः (६-१-८४) में ऊपर से अधिकार और अनुवृत्ति आकर "आद्[५-१] गुणः[१-१]। संहितायां[७-१]। अचि[७-१]। पूर्वपरयोः[६-२]। एकः[१-१] (भवति)" सूत्र का रूप ऐसा बना। अब ५, ७, ६, १ को ध्यान में रखकर—

आत्(५-१) = अवर्ण से परे
अचि(७-१) = अच् परे हो तो
संहितायां(७-१) = संहिता के विषय में
पूर्वपरयोः(६-२) = पूर्व और पर के स्थान पर
एकः(१-१) = एक
गुणः(१-१) = गुण
भवति = होता है।

यह सूत्र का अर्थ बना।

सप्तमी के तीन अर्थ होते हैं, परे रहने पर, विषय में, या निमित्त होने पर। इससे भिन्न (३-२-१ से ३-४-११७) तक कहीं २ सप्तमी का अर्थ 'उपपद' भी होता है। सो आगे समझावेंगे। कहीं कहीं ५, ७, ६, १ पञ्चमी, सप्तमी, षष्ठी, प्रथमा न होकर ५, ७, १ या ६, १, ७ ऐसा क्रम भी सूत्रों में रहता है। जहां ५, ७, ६, १ ये चार हों वहां ५ = से, ७ परे रहने पर, ६ के स्थान में, १—कार्य होता है ऐसा समझना। यह सामान्य नियम है। विशेष जहां जैसा होगा वहां वैसा बता दिया जावेगा। ५, ७, ६, १ को सूत्र में क्रमशः समझ लेने पर सूत्र का अर्थ सुगमता से पठनार्थी समझकर बोल सकेगा। यह बात किसी भी सूत्र का अर्थ करते समय सामान्यतया सर्वत्र ध्यान में रखने की है॥

५ दिनके पाठों पर सिंहावलोकन

सिंह (शेर) की चाल मस्त होती है। जब वह अपने भक्ष्य (शिकार) की खोज में निकलता है, तो कुछ मार्ग चलने के पश्चात् वह कभी २ अपनी गर्दन मोड़कर अपने भक्ष्य को देखने लगता है कि कहीं कोई मेरा भक्ष्य (खाने योग्य) मेरी पहुँच में आ तो नहीं गया। इसी को 'सिंहावलोकन' कहते हैं।

गत ५ पाठों में हम क्या २ जान चुके हैं, इस पर संक्षेप से एक सामान्य दृष्टि डाल लेना ही यहां उन पाठों पर सिंहावलोकन करना समझना चाहिये ॥

सो प्रथम दिन हमने संस्कृत में चार प्रकार के शब्द और उनके लक्षण बताये और उनमें 'नाम' के भेद कहे। दूसरे दिन सूत्र का लक्षण, उनके भेद और स्वरूप तथा आख्यात के भेद बताये गये। तीसरे दिन अधिकार का लक्षण, १५ अधिकारों का परिचय, अनुवृत्ति और अधिकार में भेद। चौथे दिन संज्ञा का स्वरूप, कुछ एक संज्ञाओं का परिचय, प्रातिपदिकसंज्ञा का स्वरूप कहा। पांचवें दिन सूत्रों के अर्थ करने का प्रकार तथा १० लकार। इतना विषय ५ दिन में ५ पाठों में बतलाया जा चुका है। पाठक अपनी स्मृति में लावें। पंचम पाठ के अन्त में प्रत्येक सूत्र का अर्थ करते समय, सूत्र का पदच्छेद (पद अलग करना) विभक्ति वचन (कौन सी विभक्ति का कौनसा वचन) समास, अधिकार अनुवृत्ति, अर्थ, उदाहरण, सिद्धि का स्वरूप सोदाहरण बताया जो सब सूत्रों में काम देगा। अन्त में ५, ७, ६, १ = पञ्चमी सप्तमी षष्ठी, प्रथमा विभक्ति को क्रमशः हर एक सूत्र में समझने का महत्त्व दर्शाया। अब हम छठा पाठ प्रारम्भ करते हैं।

६ षष्ठ दिन का पाठ

आज हमने वाच् (वाणी) शब्द के रूप और उनकी सिद्धि करानी है। सो वाच् शब्द की "अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (१-२-४५) से प्रातिपदिक संज्ञा होकर "स्वौजस० (४-१-२) सूत्र में "ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४-१-१) सारे सूत्र का अधिकार आया, उधर "प्रत्ययः परश्च" का अधिकार आता ही है। सूत्र का अर्थ हो गया—"ङ्याप्प्रातिपदिकात् स्वौजसमौट्० प्रत्ययाः पराश्च भवन्ति" = "ङीप्-आप् और प्रातिपदिक से सुप् (२१) प्रत्यय हो जाते हैं और वे परे होते हैं। यतः प्रत्यय बहुत (२१) हैं, अतः यहाँ प्रत्ययाः भवन्ति = प्रत्यय हो जाते हैं, अतः एक वचन के स्थान में बहुवचन करके बोलना होगा। जहाँ दो होंगे वहाँ द्विवचन करके बोल देना होगा। यहाँ ध्यान रहे कि हम पुरुष या राम शब्द की सिद्धि पहले न बता कर अत्यन्त सरल होने के कारण वाच् शब्द के रूप तथा उनकी सिद्धि पहले बताते हैं। अति सरल होने से उसके समझ में आ जाने के पश्चात् पुरुष या राम के रूप और उसकी सिद्धि बताते हैं।

सो इस प्रकार वाच् शब्द के आगे २१ सुप् प्रत्यय आ गये। हमें प्रथमा विभक्ति के एकवचन में एक प्रत्यय चाहिए, सो सुपः (१-४-१०२) विभक्तिश्च (१-४-१०३) इनका अर्थ यह है "सुप् के तीन २ की एकवचन द्विवचन और बहुवचन संज्ञा हो जाती है" और "इनकी विभक्ति संज्ञा भी होती है", इससे सु औ जस् की एकवचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञा हो गई। अब द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने (१-४-२२) से एक वचन की विवक्षा (कहने की इच्छा) होने के कारण एकवचन के प्रत्यय का सु आकर "वाच् सु" ऐसा हो जावेगा। इसको अभी हम यहीं छोड़ते हैं। आगे है वाच् + औ = 'वाच्' शब्द से पूर्ववत् (पहिले की तरह) सब सूत्र लगकर वाच् + औ ऐसा रूप हुआ 'च्' में 'औ' मिलकर 'वाचौ' यह रूप बन गया।

अब हम २१ प्रत्यय और उनका शुद्ध (साफ किया हुआ) रूप दिखाते हैं, जैसे बाजार से पहिले लाकी लाते हैं, तत्पश्चात् उसे छील कर ही तो अग्नि पर चढ़ाते हैं, ऐसे ही ये २१ प्रत्यय आ जाते हैं, हम इनकी सफाई करते हैं। तो ये साफ हो जाने पर कैसे रह जाते हैं सो आगे दर्शाते हैं:—

	बिना साफ किया रूप			साफ किया हुआ रूप			कैसा रूप बन गया		
१.	सु	औ	जस्	स्	औ	अस्	वाक्, वाग्	वाचौ	वाचः
२.	अम्	औट्	शस्	अम्	औ	अस्	वाचम्	वाचौ	वाचः
३.	टा	भ्याम्	भिस्	आ	भ्याम्	भिस्	वाचा	वाग्भ्याम्	वाग्भिः
४.	ङे	भ्याम्	भ्यस्	ए	भ्याम्	भ्यस्	वाचे	वाग्भ्याम्	वाग्भ्यः
५.	ङसि	भ्याम्	भ्यस्	अस्	भ्याम्	भ्यस्	वाचः	वाग्भ्याम्	वाग्भ्यः
६.	ङस्	ओस्	आम्	अस्	ओस्	आम्	वाचः	वाचोः	वाचाम्
७.	ङि	ओस्	सुप्	इ	ओस्	सु	वाचि	वाचोः	वाक्षु
८.	सु	औ	जस् (प्रथमा जैसा)	स्	औ	अस्	हे वाक् / हे वाग्	हे वाचौ	हे वाचः

अब आगे चलिये जस्, अम्, शस्, भ्याम्, भिस्, भ्यस्, ओस्, आम् इन आठ प्रत्ययों के अन्तिम हल् की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा होकर लोप प्राप्त होता है। सो इसके बचाने के लिये पाणिनि मुनि ने प्रबन्ध बान्धकर **न विभक्तौ तुस्माः** (१–३–४) सूत्र बनाया। इसमें ऊपर से **हलन्त्यम्**, **उपदेशे-इत्** इनकी अनुवृत्ति आती है। अर्थ बन गया "**उपदेशे ऽन्त्यं हल् विभक्तौ तु स् म् इत् न**" अर्थात् "उपदेश में अन्त्य हल् यदि तु = तवर्ग (त थ द ध न) स् और म् विभक्तिसंज्ञक हों तो उनकी इत्संज्ञा न हो, सो सब बच गये।

पाणिनि के ५ ग्रन्थ उस के उपदेश हैं—सो यहां यह भी बतला दें कि उपदेश किसे कहते हैं—१ अष्टाध्यायी २ धातुपाठ ३ उणादिसूत्र ४ गणपाठ ५ लिङ्गानुशासन। ये उपदेश है। इनमें आया अनुनासिक अच् और अन्त्य हल् की इत्संज्ञा होकर लोप हो जायगा, तवर्ग (त थ द ध न) स् और म् यदि विभक्तिसंज्ञक होगा तो उसकी इत्संज्ञा नहीं होगी, अतः लोप भी न होगा। अगला सूत्र है—

आदिर्ञिटुडवः (१–३–५) आदिः[१-१] ञिटुडवः[१-३]॥ इसमें भी ऊपर से 'उपदेशे' और 'इत्' की अनुवृत्ति आती है। सूत्र का अर्थ हुआ—"**उपदेशे आदिः ञिटुडवः इत्**" अर्थात् उपदेश में आरम्भ के ञि टु डु की इत्संज्ञा होती है। इससे धातुपाठ में आये **ञिफला विशरणे** (भ्वादि प०) **टुओश्वि गतिवृद्ध्योः** (भ्वादि प०) **डुपचष् पाके** (भ्वा०. प०.) इन के आदि के ञि टु डु की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है।

षः प्रत्ययस्य (१–३–६) का पूर्ववत् अनुवृत्ति से अर्थ हुआ = प्रत्यय के आदि का ष् उपदेश में इत्संज्ञक (इत्संज्ञ वाला) होता है। उसका लोप हो जायेगा। जैसे **शिल्पिनि ष्वुन्** (३–१–१४५) में ष्वुन् का 'वु' रह जाता है, आदि ष् की इत् संज्ञा हो जाती है॥

अब आया **चुटू** (१–३–७) इसमें **प्रत्ययस्य आदिः उपदेशे इत्** इनकी अनुवृत्ति आयी, तो अर्थ बन गया = **उपदेशे प्रत्ययस्य आदी चुटू इतौ भवतः** अर्थात् उपदेश में प्रत्यय के आदि चु = चवर्ग (च छ ज झ ञ) तथा टु = टवर्ग (ट ठ ड ढ ण) की इत्संज्ञा हो। इससे जस् (१–३) का ज् और टा (३–१) का ट् इत्संज्ञक होकर लोप हो गये। हलन्त्यम् सूत्र से नहीं हो सकता क्योंकि यह सूत्र अन्त्य हल् की इत्संज्ञा करता है, और यहां 'चुटू' आदि की इत् संज्ञा करता है। अब आगे सूत्र है—

लशक्वतद्धिते (१–३–८) इसमें अनुवृत्ति से यह अर्थ बना। "**उपदेशे प्रत्ययस्य आदि ल् श् कु अतद्धिते इत् स्यात्**" अर्थात् उपदेश में प्रत्यय के आदि ल श कु = कवर्ग (क ख ग घ ङ) की इत्संज्ञा होती है। इससे ङे, ङसि, ङस्, ङि के ङ् और शस् के श् की इत्संज्ञा होकर लोप हो गया। अतद्धिते **तद्धिताः** (४–१–७६ से ५–४–१६० तक) तद्धित प्रकरण को छोड़ कर॥

आगे ९ वाँ सूत्र है **तस्य लोपः** इसका अर्थ तो अब स्पष्ट ही है। इन सूत्रों से सु का स् रहा, जस् = अस्, औट् = औ, शस् = अस्, टा = आ, ङे = ए, ङसि = अस्, ङस् = अस्, ङि = इ, सुप् = सु रहा, शेष का लोप **तस्य लोपः** से होता है। शेष प्रत्यय औ, अम्, भ्याम्, भिस्, भ्यस्, आम् ओस् इन के रूप वैसे के वैसे **न विभक्तौ तुस्माः** (१–३–४) से रह गये। इनको हलन्त शब्दों के आगे लगा लेना है, सो आगे लगाकर बताते हैं।

८ वें दिन का पाठ

वाचः की और वाक्, वाग् की सिद्धिः—वाच् + जस् में **चुटू** (१–३–७) से ज् की इत्संज्ञा होने के पश्चात् लोप होकर वाच् + अस् = वाचस् बना। अब **सुप्तिङन्तं**[१-१] **पदं**[१-१] (१–४–१४) लगा, इसका अर्थ है सुप् (२१ प्रत्यय) तिङ् (तिप् से महिङ् तक १८ प्रत्यय) जिसके अन्त में हो उसकी पद संज्ञा होती है। इससे 'वाचस्' की पदसंज्ञा हो गई क्योंकि इसके अन्त में जस् = (सुपों में तीसरा) अन्त में है। अब **ससजुषो रुः** (८–२–६६) में **पदस्य** (८–१–१६) का अधिकार आता है। सूत्र का अर्थ हो गया '**पदस्य**[६-१] **ससजुषोः**[६-२] **रुः**[१-१] (**भवति**)' अर्थात् पद के अन्त के स् और सजुष् शब्द को रु हो जाता है। इस से रु और उस के 'उ' की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (१–३–२) से इत्संज्ञा होकर **तस्य लोपः** (१–३–९) से लोप होकर हट गया, और वाच् + अर् ऐसा बना। अब **विरामोऽवसानम्** (१–४–१०९) से र् की अवसान संज्ञा होकर **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (८–३–१५) लगा, इसमें ऊपर से **रो**[६-१] **रि** (८–३–१४) से रः[६-१] की अनुवृत्ति आती है। अर्थ हुआ "**पदस्य**[६-१] **रः**[६-१] **खरवसानयोः**[७-२] **विसर्जनीयः**[१-१] **स्यात्**" अर्थात् खर्परे हो या अवसान में पद के अन्त के 'र्' को

विसर्जनीय हो, र् को विसर्जनीय होकर 'वाचः' बन गया। इसी प्रकार 'वाच् + शस् में लशक्वतद्धिते (१-३-८) से श् की इत्संज्ञा होकर वाच् + अस् वाचस् तथा ङसि, के ङ् की लशक्वतद्धिते (१-३-८) से तथा ङसि के इ की उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१।३।२) से इत्संज्ञा होकर लोप हो जाने पर वाच् + अस्। इसी प्रकार ङस् के ङ् की इत् संज्ञा तथा लोप होकर, वाच् + अस = वाचस् होकर इन सबमें उपर्युक्त रीति से (जस् के समान) वाचः बन गया ॥

'भ्याम्'—भिस—भ्यस् इनमें वाग्भ्यां—वाग्भिः—वाग्भ्यः ऐसे रूप बनते हैं। सो इसमें वाग्भ्यां की सिद्धि इस प्रकार है। (वाच् + भ्याम्) इस में सारे समुदाय की पदसंज्ञा तो सुप्तिङन्तं पदं (१-४-१४) सूत्र से हो ही जाती है क्योंकि 'भ्याम्' सुप् इसके अन्त में है। पर यहां हमें (वाच् + भ्याम्) में 'वाच्' इतने की पदसंज्ञा करनी है। इसके लिये पाणिनि जी ने सूत्र बनाया स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१-४-१७) अर्थात् स्वादिषु [७-३] असर्वनामस्थाने [७-१]। 'पदम्' की अनुवृत्ति ऊपर के (१-४-१४) सूत्र से आती है। अर्थ हो गया—स्वादिषु = सु आदि प्रत्यय (४-१-२ से लेकर ५-४-१६० तक के प्रत्यय परे हों तो सर्वनामस्थान (सु औ जस् अम् औट् इन ५) को छोड़कर पूर्व की भी पदसंज्ञा हो जावे। यहां शि सर्वनामस्थानं (१-१-४१) से सुडनपुंसकस्य (१-१-४२) सूत्र में सर्वनामस्थान की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—सुट् [१-१] अनपुंसकस्य [६-१] सर्वनामस्थानं [१-१] भवति = जो नपुंसक नहीं उसके सुट् (सु से औट् तक ५) की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है। सो वाच् + भ्याम् में वाच् की पदसंज्ञा हो गई। चोः कुः (८-२-३०) में स्कोः संयोगाद्योरन्ते च (८-२-२९) से अन्ते की और झलो झलि (८-२-२६) से झलि की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बन गया चोः [६-१] कुः [१-१] झलि [७-१] पदान्ते [७-१] भवति = चवर्ग (च छ ज झ ञ) के स्थान में कु = कवर्ग (क ख ग घ ङ) हो जावें यदि झल् परे हो या पद के अन्त में। सो यहां वाच् की उपर्युक्त रीति से पदसंज्ञा होने के कारण च् के स्थान क् चोः कु से हो गया। तब झलां जशोऽन्ते (८-२-३९) से क् को ग् होता है। इस सूत्र में पदस्य (८-१-१६) का अधिकार आता है। अर्थ बना झलां [६-३] जशः [१-३] अन्ते [७-१] पदस्य [६-१] भवन्ति = पद के अन्त में झलों के स्थान में जश् होते हैं। स्थानेऽन्तरतमः (१-१-४९) से क् झल् के स्थान में ग् जश् हो गया।

सूत्र का अर्थ यह है—स्थाने [७-१] अन्तरतमः [१-१], स्थान में होने वाला आदेश, अन्तरतम = सदृशतम अर्थात् सबसे अधिक मिलने वाला होता है। सो क् से ग् सब से अधिक मिलता है (इस का विशेष विवेचन वर्णोच्चारणशिक्षा में है।

यहां ६ दिन के पाठ के अन्त में जो २० प्रकार के हलन्त शब्दों के रूप बताये थे, उन सबकी प्रायः करके सिद्धि झलां जशोऽन्ते (८-२-३९) इस सूत्र से ही हो जाती है। इस सूत्र से क् को ग्, च् के स्थान में हुए क् को ग्, छ् के स्थान में (८।२।३६) से हुए ष् को ड्, ट् को ड्, त् को द्, ध् को द्, प् को ब्, भ् को ब्, क्रमशः हो जाता है। वाच् + सुप् (७-३) परे रहने पर खरि च (८-४-५४) से झलों को चर् हो जाता है। इस सूत्र में झलां जश् झशि (८-४-५२) से 'झलां' की, और अभ्यासे चर्च (८-४-५३) से 'चर्' की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—खरि च झलां चरः भवन्ति = खर् प्रत्याहार में से कोई अक्षर परे हो तो झलों के स्थान में चर् हो जाते हैं। सो ग् को क्, ड् को ट्, त् को त्, द् को त्, प को प्, भ को प्, हो जाते हैं।

अब प्रथमा के एकवचन में—

अब वाच् स् में स् की अपृक्त एकाल्प्रत्ययः (१।२।४१) से अपृक्त संज्ञा (नाम) होकर 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् (६।१।६८) से अपृक्त स् का लोप होता है। इस सूत्र में ऊपर के लोपो व्योर्वलि (६।१।६४) से 'लोप' की अनुवृत्ति (६।१।६८) सूत्र तक जाती है। अब पूर्ववत् 'चोः कु' और झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) लगाकर वाच् = वाक् बन गया। वावसाने (८।४।५५) में ऊपर झलां जश् झशि (८।४।५२) से 'झलां' और अभ्यासे चर् च (८।४।५३) से 'चर्' की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना 'अवसाने झलां वा जश्, चर् च भवति' अवसान में झलों को विकल्प करके चर् हो जावे। सो 'वाक्, वाग्' दो रूप बन गए। वाचम्, वाचाम्-वाचोः आदि में तो न विभक्तौ तुस्माः (१।३।४) से इत् संज्ञा का निषेध होकर, वाच्-अम् = आदि केवल मिल गए और वाचम् वाचाम् वाचोः बन गये, कोई सूत्र नहीं लगा ॥

वाच् + सु = चोः कुः (८।२।३०) से कुत्व और आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) में ऊपर से 'इण्कोः'

(८।३।५७) और सहेः साडः सः (८।३।५६) से सः और ८।३।५५ से मूर्द्धन्यः की अनुवृत्ति आकर इससे मूर्धन्य होकर षाक्षु बनता है अर्थ स्वयं बनालो।

सूत्रशैली का महत्त्व

इस प्रकार २० प्रकार के हलन्त शब्दों की सिद्धि भी इतने में ही सबकी सब समझ में आ जाती है। २० प्रकार के शब्दों के रूप कण्ठस्थ नहीं करने पड़ते।

विदित रहे कि इस एक वाच् शब्द की सिद्धि से इन २० प्रकार के हलन्त शब्दों के रूप तो समझ में आ ही गए। इस से बहुत से शब्दों की सिद्धि भी अनायास ही (विना विशेष बाधा के) समझ में आने लगती है। हमारा कहना यह है कि सूत्रशैली से अल्प समय में कितने कम परिश्रम से कितना अधिक ज्ञान हो जाता है। आगे ५—७ शब्दों की सिद्धि जान लेने से तो सम्पूर्ण सुबन्त शब्दों की सिद्धि सहज में समझ में आ जाती है। इस सम्बन्ध में शब्दरूपावली के चक्र में कदापि न पड़ना चाहिये न छात्र को इसमें डालना चाहिये। अध्यापक पहिले २५-३० मुख्य उत्सर्ग शब्दों की सिद्धि ही पढ़ावें। इस के पश्चात् नामिक के आधार पर अध्यापक आगे पढ़ाता जावे॥ भण्डारकर पद्धति वा स्कूल कालेजों की पद्धति से भी शब्दरूप सब रट कर ही याद करने पड़ते हैं, उधर लघुकौमुदी आदि में यद्यपि सिद्धि सूत्रों द्वारा कराई जाती है, पर वहां अर्थ का कुछ भी स्वाभाविक बोध नहीं होता (रटा हुआ बोध कुछ थोड़ा सा ही रहता है) अतः भण्डारकर पद्धति वाले समझ कर पढ़ने में फिर भी कुछ अधिक लाभ उठा लेते हैं। अष्टाध्यायी पद्धति से क्रमशः ज्ञान बढ़ता है और समझकर चलने के कारण स्मृति में चिरस्थायी रहता है, और यह ज्ञान क्रमशः सुसम्बद्ध स्मृति में बढ़ता हुआ एक मास में ही कहीं से कहीं पहुँचता है, जो दूसरी पद्धति से वर्ष भर में भी नहीं होता। यह अनुभव की बात है, दोष दिखाने की बात नहीं।

हमारा दृढ़ विश्वास और अनुभव है कि **सूत्रपद्धति भण्डारकर पद्धति से भी अत्यन्त सुगम—सुग्राह्य—अल्प समय और अल्प परिश्रमसाध्य है। पढ़ाने वाला अध्यापक चाहिये॥**

पुरुषः की सिद्धि

एक शब्द में—'पुरुषः' और 'वाचः' में दो एक सूत्रों को छोड़ कर शेष सब सूत्र प्रायः करके समान ही लगते हैं। अतः 'पुरुषः' की सिद्धि अनायास ही समझ में आजाती है। सो दर्शाते हैं॥

पुरुष + सु यहाँ सब सूत्र वही लगे, जो 'वाच् + सु' में लगे थे। अर्थात् प्रातिपदिक संज्ञा से लेकर 'पुरुष + सु' तक। आगे वाच् + अस् = वाचः में जो २ सूत्र विसर्जनीय करने में लगे, सर्वथा वही पुरुष + सु में लगकर स् को विसर्जनीय होकर 'पुरुषः' बन जाता है।

अग्नि + सु = अग्निः, वायु + सु = वायुः, मति + सु = मतिः, धेनु + सु = धेनुः।

इन सब शब्दों की सिद्धि में भी सर्वथा वही सूत्र लगते हैं। "एक साधे सब सधे" ये सब शब्द एक सूत्र से बन गये अर्थात् एक फारमूला से जितने भी नाम हैं हमने सिद्ध करने हैं, उधर एक २ ही फारमूला (सूत्र) से लगभग २००० दो हजार धातुओं के रूप दस लकारों में तथा कृदन्त प्रत्ययों में सिद्ध हो जाते हैं, इसी का नाम व्याकरण है, मुख्य व्याकरण यही है कि नाम और आख्यात का वर्गीकरण (Groups) करना॥

'पुरुषः' शब्द की सिद्धि का स्वरूप इस प्रकार बना—

पुरुष (अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्(१।२।४५) से प्रातिपदिक संज्ञा होती है

(ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१) से अधिकार होकर

(स्वौजसमौट्…(४।१।२) से २१ सुप् आ गये

(प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से आगे आ गये

(सुपः (१।४।१०२) से सुप् की तीन २ की एकवचन, द्विवचन, और बहुवचन संज्ञा हुई

(विभक्तिश्च (१।४।१०३) से विभक्ति संज्ञा हो गई

पुरुष सु (द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने (१।४।२२) से एक वचन में सु आया

(उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१।३।२) से उ की इत् संज्ञा

पुरुष स् (तस्य लोपः (१।३।९) अदर्शनं लोप (१।१।६०) से लोप होकर

(सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४) से पदसंज्ञा होकर

(ससजुषो रुः (८।२।६६) से रु होकर उ

पुरुर् की पूर्ववत् उपदेशेऽजनुनासिक इत् से इत् संज्ञा लोप होकर र्, की

(विरामोऽवसानम् (१।४।१०९) से अवसान संज्ञा होकर

(खरवसानयोर्विसर्जनीयः (८।३।१५) से

पुरुषः विसर्जनीय हो गया। पुरुषः सिद्ध हो गया॥

पाठक देखें वाचस्=वाचः में जो सूत्र लगे, वही 'पुरुषः' में लगे, एक भी सूत्र नया नहीं।

पाठक देखें कि एक के जान लेने में आगे कितना ज्ञान स्वयं बढ़ता है। ईंटों की दीवार के समान रद्दे पर रद्दा लगकर दीवारें खड़ी हो रही हैं। आगे भवन खड़ा हो जाना है॥

६ वें दिन का पाठ

आज हमें "पठति" की सिद्धि करना है। ५ वें दिन के पाठ में हम वर्त्तमाने लट् (३।२।१२३) का अर्थ बता चुके हैं।

पठ् (भूवादयो धातवः (१।३।१) से धातु संज्ञा हुई

(उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१।३।२) से ठ में अ की इत्संज्ञा, लोप होकर

(धातोः (३।१।९१) से धातु का अधिकार हुआ

(वर्त्तमाने लट् (३।२।१२३) से लट् आया

(प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से परे आ गया

पठ् लट् (हलन्त्यम् (१।३।३) से ट् की तथा उपदेशेऽजनुनासिक इत (१-३-२) से 'ल' में अ की इत् संज्ञा हुई

(तस्य लोपः (१।३।९) तथा अदर्शनं लोपः (१।१।६०) से लोप हो गया

पठ् ल् (लस्य (३।४।७७) ल के स्थान में

(तिप् तस् झि......ये १८ प्रत्यय, प्रत्ययः परश्च से आगे आये, हमें एक चाहिए सो—

(लः परस्मैपदम् (१।४।९८) से ल् के स्थान में आए तिप् आदि १८ की परस्मैपद संज्ञा हो गई।

(तङानावात्मनेपदम् (१।४।९९) से तङ् ९ तथा 'आन' की आत्मनेपद संज्ञा हो गई।

शेष पहिले ९ परस्मैपद संज्ञक रह गए।

(शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम् (१।३।७८) से पठ् परस्मैपदी धातु से परस्मैपद के प्रत्यय आवेंगे।

(तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः (१।४।१००) तिङ् के तीन तीन 'तिप् तस् झि' त्रिकों की प्रथम मध्यम उत्तम संज्ञा होती है॥

(शेषे प्रथमः (१।४।१०७) युष्मद् अस्मद् को छोड़कर शेष का सम्बन्ध होने पर प्रथम पुरुष होता है। इससे तिप् तस् झि तीनों प्राप्त हुए, सो—

(तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः (१।४।१०१) ऊपर के तीन २ का एक २ करके एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञा हो गई, इससे तिप् एकवचन हुआ।

द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने (१।४।२२) एक वचन की विवक्षा (कहने की इच्छा) में तिप् आ गया।

पठ् तिप् (तिङ्शित् सार्वधातुकम् (३।४।११३) 'धातोः'–'प्रत्ययः परश्च' का अधिकार है। अर्थ हो गया–धातु से तिङ् (१८) और शित् जिसका श इत् हो–ऐसा प्रत्यय सार्वधातुक संज्ञा वाला हो जावे और वह परे हो। इससे तिप की सार्वधातुक संज्ञा हो गई।

(कर्त्तरि शप् (३।१।६८) में सार्वधातुके यक् (३।१।६७) से 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति (३।१।८४) तक जाती है। सार्वधातुक परे हो तो कर्त्ता में शप् हो। अतः शप् बीच में आ गया।

पठ् शप् तिप् (हलन्त्यम् (१।३।३) से दोनों प् की, लशक्वतद्धिते (१।३।८) से श् की इत्संज्ञा,

तस्य लोपः (१।३।९) अदर्शनं लोपः (१।१।६०) से लोप होकर।

पट् अ ति = पठति बन गया॥ ऐसे ही चल शप् तिप् से चलति, तपति, वदति, पतति आदि शब्द उन उन धातुओं से बन जाते हैं।

अब आगे पठ शप् तस् = पट् अ तस् = पठतः में सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४) से तस् के तिङ् (१८ में से) होने के कारण पदसंज्ञा होकर स् को विसर्जनीय पूर्ववत् 'वाचः' की तरह हो जायेगा। पठसि, पठथः, पठथ में कोई नया सूत्र नहीं लगेगा॥

१० वां दिन

पट् शप् झि = में झोऽन्तः (७।१।३) से झ् के स्थान में अन्त् होकर झि की इ में मिलकर 'अन्ति' हो गया। पट् शप् अन्ति = पूर्ववत् इत् होकर 'पट् अ अन्ति' बना। अ अ मिलकर (६।१।९७) से दीर्घ प्राप्त होता है वह न होकर अतो गुणे (६।१।९४) लगा। अपदान्तात् = अपदान्त अतः = ह्रस्व अकार से परे गुण (अ ए ओ) में से कोई परे हो तो पूर्वपर के स्थान में पररूप (अ) एक आदेश हो जाता है। इसमें (एकः पूर्वपरयोः सूत्र का अधिकार है, एङि पररूपम् (६।१।९१) से पररूप की अनुवृत्ति आती है। उस्यपदान्तात् (६-१-९३) से अपदान्तात् की अनुवृत्ति आती है। अतः सूत्र का उपर्युक्त अर्थ हुआ। पट् अ अन्ति = पठन्ति बन गया। अब 'पठ् शप् मिप् = पट्+अ+मि = में यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् (१।४।१३) = यस्मात् = जिस से, प्रत्ययविधिः = प्रत्यय की विधि हो, प्रत्यये = प्रत्यय परे रहने पर, तदादि = उस (प्रत्यय) से पहिले पहिले जितना भाग हो उसकी, अङ्गम् = अङ्ग संज्ञा हो जाती है। अङ्गस्य (६।४।१) अधिकार में—
६।१ १-१ ७।१
अतो दीर्घो यञि (७।३।१०१) यञ् प्रत्याहार का कोई अक्षर परे हो तो अत् (अदन्त) अङ्ग को दीर्घ हो। सो 'पट् अ मि' से 'पठामि' बन गया। इसी सूत्र से 'पट् अ वस्' = पठावः, पठामः बन गया, स् को विसर्जनीय पूर्ववत् होता है॥

६ से. १० पाठों का सिंहावलोकन

६ छठे पाठ में हमने वाच् शब्द के रूप बताए और हलन्त २० प्रकार के शब्दों के रूप भी एक ही सूत्र (फारमूला) सु औ जस् (४।१।२) से बनते हैं, यह बताया और उसके २१ प्रत्यय के असली तथा शुद्ध किये रूप बनवा कर दिखाये।

७ वें पाठ में इत् संज्ञा सब की सब सोदाहरण बताकर वाच् शब्द के द्वारा उसे हस्तामलक कराया गया। ये इत्संज्ञा के सूत्र सिद्धि में सर्वत्र लगेंगे॥

८ वें पाठ में वाच् शब्द के शेष सब रूपों की सिद्धि सूत्रों द्वारा की गई, जिसमें पदसंज्ञा का स्वरूप तथा हलन्त शब्दों की सिद्धि का मुख्य सूत्र झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) समझाया गया॥ अन्त में "पुरुषः" शब्द की सिद्धि में 'वाचस्' और 'पुरुषस्' में सब सूत्र एक जैसे लगे, अतः 'पुरुषः' की सिद्धि भी दिखा दी गई है।

९ वें पाठ में—आख्यात प्रकरण की सिद्धि का प्रारम्भ 'पठति' की सिद्धि से सब सूत्र लगा कर किया गया है। जिस से आख्यात की सिद्धियां आगे सरलता से समझ में आ जावें॥

१० वें पाठ में तिप् (एकवचन) से आगे पठतः, पठन्ति, पठामि, पठावः, पठामः की सिद्धि बतलाई गई है। यह ६ से १० दिन के पाठों का सिंहावलोकन है॥

११ वां दिन

वर्णोच्चारणशिक्षा

वैदिक यन्त्रालय अजमेर की छपी =) की पुस्तक वर्णोच्चारणशिक्षा में से इतनी बातें आज बता देनी चाहिएँ—

(१) (प्र०) शब्द की उत्पत्ति कैसे होती है? (उ०) आत्मा बुद्धि से अर्थों को इकट्ठा करके कहने की इच्छा से मन को युक्त करता है (लगाता है), मन शरीर की अग्नि (जाठराग्नि) को धक्का देता है। वह वायु को प्रेरित करता है॥

वह वायु आकाश से संयुक्त होता (मिलता) है, आकाश और वायु के संयोग से जो उत्पन्न हो, शरीर से ऊपर उठता है, मुख में प्रवेश करता है, उसे नाद कहते हैं, वह भिन्न २ स्थानों (कण्ठ-तालु-दन्त-मूर्द्धा और ओष्ठ) में विभक्त होकर वर्णभाव को प्राप्त होता है, इसे शब्द

कहते हैं। पाणिनि शिक्षा के आरम्भ के २, ३ सूत्रों के पृ० २ पर का अर्थ हमने लिखा ॥

६३ अक्षर कैसे हैं यह बताना चाहिए। आगे स्वर तथा व्यञ्जनों के उच्चारण में गुण दोष, यह इसमें स्पष्ट लिखे समझ लेने चाहियें।

अब स्थान सम्बन्धी मुख्य सूत्र ये हैं—

(१) **अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः** = अ आ आ ३, कवर्ग (क ख ग घ ङ,) ह और विसर्जनीय का कण्ठ स्थान है, क्योंकि ये कण्ठ से बोले जाते हैं।

(२) **इचुयशास्तालव्याः** = इ ई ई ३ चवर्ग (च छ ज झ ञ) य और श ये तालव्य हैं, अर्थात् ये तालु से बोले जाते हैं।

(३) **ऋटुरषा मूर्धन्याः** = ऋ, ॠ ॠ ३ ट (ट ठ ड ढ ण) र और ष इनका उच्चारण मूर्द्धा स्थान से किया जाता है, अतः ये मूर्धन्य कहाते हैं ॥

(४) **उपूपध्मानीया ओष्ठ्याः** = उ ऊ ऊ ३ उपध्मानीय ओष्ठ से बोले जाते हैं, अतः ये ओष्ठ्य कहलाते हैं ॥

(५) **लृतुलसा दन्त्याः** = ऌ ऌ३ तु (त थ द ध न) ल और स का दन्त स्थान है ॥

प्रयत्न, **आभ्यन्तर** और बाह्य दो प्रकार के होते हैं। क से म तक **२५ स्पर्शों का स्पृष्ट प्रयत्न** होता है, अर्थात् जिह्वा से स्व स्व स्थान में स्पर्श करके बोलना चाहिए। **अन्तस्थ** (य र ल व) **ईषत् स्पृष्ट प्रयत्न** वाले होते हैं ॥ **ऊष्म** (श ष स ह) का **ईषद् विवृत** प्रयत्न, तथा **स्वरों का विवृत** प्रयत्न होता है। **अकार का संवृत** प्रयत्न है। ये आभ्यन्तर प्रयत्न हैं।

बाह्य प्रयत्न इस प्रकार हैं—(१) वर्गों के प्रथम द्वितीय-श ष स विसर्जनीय-जिह्वामूलीय-उपध्मानीय, प्रथम और द्वितीय यम=विवृत, श्वासानुप्रदान, अघोष प्रयत्न वाले होते हैं ॥

वर्गों के तृतीय-चतुर्थ, अन्तस्थ, ह, अनुस्वार तृतीय और चतुर्थ यम तथा नासिका से बोले जाने वाले स्वर=संवृत, नादानुप्रदान तथा घोष प्रयत्न वाले होते हैं ॥ जैसे तृतीय वैसे पञ्चम होते हैं ॥

पहिला—तीसरा—पांचवा अल्पप्राण प्रयत्न वाले होते हैं, शेष महाप्राण प्रयत्न वाले होते हैं।

हमने यहाँ स्थान और प्रयत्नों का विषय दर्शाया है जिसमें **स्थानेऽन्तरतमः** (१।१।४९) के विषय में वर्णोच्चारण शिक्षा के इतने प्रकरण का मुख्य प्रयोजन है। जहाँ किसी के स्थान में कोई आदेश प्राप्त हो, जैसे इ के स्थान में गुण हो तो अ ए ओ तीन गुणों में से इ के स्थान में ए, उ के स्थान में ओ गुण होता है, क्योंकि इनका ही परस्पर स्थान और प्रयत्न मिलता है। इसके लिये स्थान और प्रयत्नों का ज्ञान आवश्यक है ॥

१२ वां दिन

आज हम पहिले 'भवति' की सिद्धि बताते हैं। सो इसमें 'भू शप् तिप्' आने में तो 'पठति' के समान सब सूत्र लगाकर 'भू अ ति' हुआ, शप् की शित् होने से **तिङ्शित्सार्वधातुकम्** (३।४।११३) से सार्वधातुकसंज्ञा हो गई। इस सार्वधातुक को परे मान कर **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (७।३।८४) में **मिदेर्गुणः** (७।३।८२) से गुण की अनुवृत्ति **भूसुवोस्तिङि** (७।३।८८) तक जाती है। **अङ्गस्य** का अधिकार है ही, सो सूत्र का अर्थ बना **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** = सार्वधातुक वा आर्धधातुकपरे हो तो, अङ्गस्य **इको गुणवृद्धी** (१।१।३ से) (इक् अन्त वाले) को गुणः=गुण हो जावे। **अदेङ्गुणः** (१।१।२) ने बताया, 'अ, ए, ओ' को 'गुण' कहते हैं, और **स्थानेऽन्तरतमः** (१।१।४९) ने कहा कि स्थान में जो सब से अधिक मिलता हो वही होवे, सो स्थान और प्रयत्न सबसे अधिक 'उ और ओ' का मिला, सो, उ को ओ गुण हो गया। भो अ ति बना। **एचोऽयवायावः** (६।१।७५) से ओ के स्थान में 'अव्' होकर भव्+अ+ति=भवति बन गया। आगे सब रूप पठति के समान स्वयं बनालो। यहां गुण अधिक हुआ, शेष सब सूत्र समान ही हैं ॥

अब दस गणों के एक एक धातु से लट् में रूप सिद्ध करके बताते हैं। रटने का काम नहीं। सो इस प्रकार बनेंगे—

पठ् शप् तिप् के समान सब सूत्र पूर्ववत् लगकर दिव् (दिवादिपरस्मैपद) से **दिवादिभ्यः श्यन्** (३।१।६९) से शप् के स्थान में श्यन् हो जाता है। इस में सार्वधातुके और शप् (शपः) की अनुवृत्ति आती है। सूत्र का अर्थ हो गया=दिवादिगण की सब धातुओं से परे शप् के स्थान में श्यन् आदेश हो जाता है।

स्वादिभ्यः श्नुः (३।१।७३)—स्वादिगण की धातुओं से परे शप् के स्थान में श्नु प्रत्यय हो जाता है। तुदादिभ्यः शः (३।१।७७) तुदादिगण की धातुओं से श, रुधादिभ्यः श्नम् (३।१।७८) रुधादियों से श्नम्, तनादिकृञ्भ्य उः (३।१।७९) तनादि और कृ धातु से शप् के स्थान में उ, क्र्यादिभ्यः श्ना (३।१।८१) क्र्यादिगण की धातुओं से शप् के स्थान में श्ना हो जाता है॥ इस प्रकार भ्वादि दिवादि-स्वादि-तुदादि-रुधादि-तनादि और क्र्यादि इन ७ गणों का तो इसें पता लग गया। भ्वादि में पठति और भवति की सिद्धि तो हमने समझ ली, शेष ६ गणों की लट् में सिद्धि बताते हैं—

(१) 'दिवु शप् तिप्' पूर्ववत् हो गया, दिवादिभ्यः श्यन् (३।१।६९) से 'शप्' के स्थान में 'श्यन्' हो गया। दिवु श्यन् तिप्=उ की उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१।३।२) से इतसंज्ञा होकर न् प् की हलन्त्यम् (१।३।३) से, श् की लशक्वतद्धिते (१।३।८) से, पूर्ववत् लोप होकर 'दिव् य ति' रहा। अब 'य' शित् होने से तिङ्शित्सार्वधातुकम् (३।४।११३) से सार्वधातुक हो गया। तब पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६) से गुण प्राप्त होता है इसमें सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७।३।८४) से सार्वधातुकार्धधातुकयोः की तथा मिदेर्गुणः (७।३।८२) से गुण की अनुवृत्ति आ रही है। अब अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा (१।१।६४)=अन्त्यात् अलः पूर्वः उपधा भवति= अन्त्य अल् से पहिले अक्षर की उपधा संज्ञा होती है। इस से दिव् की इ की उपधा संज्ञा हो कर, यहां इ ह्रस्व लघु है, सो पुगन्तलघू० सूत्र का अर्थ हुआ=सार्वधातुक आर्धधातुक परे हों तो अङ्ग की उपधा इक् को गुण हो जावे, सो गुण प्राप्त हुआ, पर श्यन् का य शित् होने से सार्वधातुक तो है, पर सार्वधातुकमपित् (१।२।४) से ङित्वत् है। इसमें ङित् की अनुवृत्ति १।२।१ से आ रही है। अपित्=जो पित् नहीं, ऐसा सार्वधातुक ङित्वत् हो यह अर्थ हुआ, सो 'य' ङित्वत् हो गया। अब क्ङिति च (१।१।५) में (इको गुणवृद्धी न) कित् ङित् को मानकर इक् के स्थान में गुणवृद्धी न हों॥ सो इससे दिव् को गुण न हुआ और हलि च (८।२।७७) से दीर्घ हो गया, यहां र्वोरुपधाया दीर्घ इकः से सारी अनुवृत्ति आकर अर्थ हुआ=रेफ वकारान्त धातु की जो उपधा इक् उसको दीर्घ हो, हल् परे हो तो। दीर्घ होकर 'दीव्यति' बना। आगे पठति की तरह सब के सब रूप बनेंगे। दीव्यति दीव्यतः दीव्यन्ति, दीव्यसि, दीव्यथः, दीव्यथ, दीव्यामि दीव्यावः दीव्यामः। सब रूप बन गये। इन की सिद्धि पूर्ववत् सारी की सारी हो गई। इस में क्ङिति च से गुण का निषेध और हलि च से दीर्घ इतना विशेष है, शेष सब रूप पठति के समान हैं।

१३ वां दिन

(२) अब तुदति=तुदादि गण की धातु होने से पूर्ववत् 'तुद् शप् तिप्' होने पर तुदादिभ्यः शः (३।१।७७) से 'शप्' के स्थान में 'श' हो कर तुद् श तिप्' पूर्ववत्, इत् संज्ञा और लोप हो कर 'तुद् अ ति,' इस में श का अ श्यन् के समान (३-४-११३) से सार्वधातुकसंज्ञक है। अतः लघूपधगुण (७।३।८६ से) प्राप्त हुआ, पूर्ववत् (१।२।४ से) 'ङित् वत्' होकर और क्ङिति च (१।१।५) से गुण का निषेध होकर 'तुद् अ ति'=तुदति बना। आगे तुदति तुदतः तुदन्ति। तुदसि तुदथः तुदथ। तुदामि तुदावः तुदामः। इस में भी सब रूप पूर्ववत् ही सूत्र लगाकर बन जाते हैं। दीव्यति में दीर्घ अधिक होता है, शेष सूत्र तुदति और दीव्यति में सब के सब वही हैं। पठनार्थी को समझने में कुछ भी कठिनाई नहीं।

(३) सुनोति='षुञ्+शप्+तिप्' पूर्ववत् होने पर स्वादिभ्यः श्नुः (३।१।७३) से 'षुञ् श्नु तिप्' हुआ। धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से धातु के आदि के 'ष' को स होकर, इत् संज्ञा और लोप होकर, सु नु ति में 'नु' के उ को, पूर्ववत् ति को सार्वधातुक मानकर सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७।३।८४) से गुण होकर 'सुनोति' बना। इसमें इतना समझ लेना चाहिए कि 'सुनोति' में सु को, आगे श्नु वा नु के शित् होने से सार्वधातुक मानकर पूर्ववत् गुण प्राप्त तो होता है, सो दीव्यति के समान श्नु को भी ङित्वत् मान कर क्ङिति च से गुण का निषेध हो जाता है। सो सुनोति ऐसा ही बना। 'सुनुतस्' में ऊपर के समान तस् को ङित् मानकर गुण नहीं होता। रूप बने— सुनोति सुनुतः। सुन्वन्ति में हुश्नुवोः सार्वधातुके (६।४।८७) से यण् होता है, यह सूत्र अधिक लगा, सुनोसि पूर्ववत् बनकर इस में आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से षत्व होकर सुनोषि बना। सूत्र का अर्थ—इण् और कवर्ग से परे आदेश और प्रत्यय के सकार को षकार हो जावे॥

सुनोषि, सुनुथः सुनुथ। सुनोमि में पूर्ववत् सब हुआ। सुनुवः सुनुमः में 'सुनुतः' की तरह सब सिद्धि होगी। इनमें लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः[७।२] (६।४।१०७) लगा, इस में ऊपर से उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् (६।४।१०६) और लोप की अनुवृत्ति आकर अर्थ बना = प्रत्यय के उकार का लोप विकल्प से हो जाता है, यदि म् व् परे हों तो। अतः लोप होकर 'सुन्वः' 'सुन्मः भी बने और जब लोप नहीं हुआ तो 'सुनुवः' 'सुनुमः' ऐसा बन गया। जिस सूत्र का अर्थ कठिन जान पड़े, अष्टाध्यायी भाष्य वा काशिका में से निकाल कर देख लेना चाहिये ॥

(४) तनोति = में तनु शप् तिप्। तनादिकृञ्भ्य उः (३।१।७९) तनादिगण का धातु होने से 'शप्' के स्थान में उ होकर 'तनु उ तिप्' में इत्संज्ञा और लोप होकर 'तन् उ ति' में पूर्ववत् तिप् सार्वधातुक को मानकर सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७।३।८४) से गुण होकर तनोति बना। तनुतः में पूर्ववत् ङित्वत् और गुण का निषेध हो जाता है, तनोति, तनुतः, तन्वन्ति में तन् उ अन्ति में यण् होकर तन्वन्ति। तनोषि तनुथः तनुथ। तनोमि 'तनुवः तन्वः' 'तनुमः तन्मः' पूर्ववत् ऐसे दो रूप बनते हैं।

(५) क्रीणाति = में डुक्रीञ् शप् तिप् में क्रयादिभ्यः श्ना (३।१।८१) से श्ना और इत् संज्ञा लोप होकर क्रीनाति में पूर्ववत् ङित्वद्भाव और गुण का निषेध तथा ८।४।१,२ से णत्व होकर 'क्रीणाति' बनता है, आगे के रूप इसके अभी नहीं बताये जायेंगे।

(६) अत्ति= अद् शप् तिप् = अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२।४।७२) से अदादि गण की धातुओं से परे शपः = शप् का लुक् (२।४।५८,) से अनुवृत्ति आकर होता है। प्रत्ययस्य लुकश्लुलुपः (१।१।६०) लुकश्लुलुप नामसे प्रत्यय के अदर्शन को लुकश्लुलुप् कहते हैं। अदर्शन होकर अद्ति में खरि च (८।४।५४) से झलों को चर् हो जावे यदि खर् परे हो तो, सो अत्ति = अत्ति बना। अद् तस् अत्तः अद् अन्ति अदन्ति, अत्सि अत्थः अत्थ अद्मि, अद्वः अद्मः, रूप बनते हैं।

(७) जहोति = हु शप् तिप् = जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२।४।७२) में शप् की अनुवृत्ति आती है। अर्थ = जुहोत्यादि-गण की धातुओं से परे शप् को श्लु (अदर्शन) हो जावे, हु तिप् अब श्लौ (६।१।१०) में एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१) का अधिकार है। अर्थ हुआ श्लु होने पर प्रथम एकाच् को द्विर्वचन हो। हु हु ति। इसमें पूर्वोभ्यासः (६।१।४) से पहिले हु की अभ्यास संज्ञा होती है। आगे कुहोश्चुः (७।४।६२) में अत्र लोपो ऽभ्यासस्य (७।४।५८) से अभ्यासस्य की अनुवृत्ति ई च गणः (७।४।९७) चतुर्थ पाद के अन्त तक जाती है। कुहोश्चुः (७।४।६२) से ह को झ और अभ्यासे चर् च (८।४।५३) स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से झ को ज् होकर जुहु ति बना। अब तिप् को मानकर पूर्ववत् सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७।३।८४) से गुण होकर जुहोति बन गया। जुहुतः ङित्वत् और गुण निषेध होकर बन गया। जु हु झि उभेऽभ्यस्तम् (६।१।५) से दोनों की अभ्यस्तसंज्ञा होकर अदभ्यस्तात् (७।१।४) से (झोऽन्तः का अपवाद) अभ्यस्त से परे झ को अत् हो सो अत् होकर जु हु अति = (६।१।७४) यण् होकर जुह्वति बना। जु हु सिप् = जुहोषि जुहुथः जुहुथ। जुहोमि जुहुवः जुहुमः बना। अब एक रुधादि शेष बचा है, सो वह भी बता देते हैं।

१४ वां दिन

(८) पूर्ववत् रुधिर् शप् तिप् होकर रुधादिभ्यः श्नम् (३।१।७८) से 'शप्' के स्थान में 'श्नम्' आवेगा, पर इसमें इतना विशेष है कि यह मिदचोऽन्त्यात्परः (१।१।४६) मित् अचः अन्त्यात् परः = मित् (जिसका म् इत् संज्ञा होकर लोप हो जावे वह, मित् अन्त्य अच् से परे आकर बैठे, सो, श्नम् का श् और म् इत् संज्ञा हो जाते हैं, सो 'रुधिर् श्नम् तिप्' में इत् संज्ञा और लोप होकर 'रुध् न ति' में 'रु न ध् ति' मित् होने से बना। अब झषस्तथोर्धोऽधः (८।२।४०) झष् प्रत्याहार में से किसी अक्षर से परे त् और थ् को ध् हो जावे, धा को छोड़कर, सो इस सूत्र से 'रु न ध् ति', ति के त् को ध् होकर 'रु न ध् धि' हुआ, झलां जश् झशि (८।४।५२) से झलों के स्थान में जश् हो जावे, यदि झश् प्रत्याहार में कोई अक्षर परे हो तो। सो 'रु न द् धि', इसमें अब रषाभ्यां नो णः समानपदे (८।४।१) से 'र ष से परे न के स्थान में ण हो, यदि समानपद हो तो, अब यहाँ 'र' से परे 'न' तो है पर बीच में 'उ' का व्यवधान (रुकावट) भी है। अतः अट्-कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (८।४।२) से अट् प्रत्याहार

में कोई अक्षर कु पु (कवर्ग-पवर्ग) आङ्-नुम् के व्यवाये = व्यवधान होने पर भी र और ष से परे पूर्वोक्त न के स्थान में ण हो जावे। सो ण होकर 'रुणद्धि' बना।

अब रुन्द्धः में 'रुध् श्नम् तस्' = पूर्ववत् 'रु नं ध् तस्' में सब सूत्र पूर्ववत् ही लगें। इस 'न' में जो 'अ' है उसका लोप श्नसोरल्लोपः (६।४।१११) से होता है श्नसोः अत् लोपः में 'क्ङिति' की (६।४।९८) से, तथा 'सार्वधातुके' की (६।४।११०)सूत्रों से अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना-श्न और अस् के अकार का लोप हो जावे, यदि क्ङित् सार्वधातुक परे हो तो। 'रु न् ध् तस्' में तस् के त को पूर्ववत् (८।२।४०) से ध और पहिले ध को द् (८।४।५२ से) होकर 'रु न् द् धस्' = रुन्द्धः पूर्ववत् बन जाता है। यहां इतना और समझ लेना चाहिए कि न् को अनुस्वार और उसको पुनः न् होकर न् ही बनता है। रुणद्धि रुन्धः रुन्दन्ति, रुणत्सि रुन्द्धः रुन्द्ध, रुणध्मि रुन्ध्वः रुन्ध्मः, ये रूप बनते हैं। यह पाठ छात्र को एक बार समझा देना मात्र इष्ट है भूल जावे तो कोई हानि नहीं। विदित रहे कि इतना पाठ हमने पढ़ने वालों को एक दिन में समझाया है। वह भी उनको जिन्हें संस्कृत कुछ नहीं आती थी। छात्र इस पाठ को समझकर एक बार गद्गद् हो उठता है। और अनुभव करने लग जाता है कि मैं बहुत शीघ्र उन्नति की सीढ़ी पर चढ़ता चला जा रहा हूँ। उसको दूसरा किनारा दीखने लगता है, सो भी १४, १५ दिन में ही। जो छात्र असमर्थ हों उन्हें कुछ धीरे पढ़ाया जा सकता है। पढ़ाने वाला जब पढ़नेवाले को विदित से अविदित समझाता चलता है, तो समझ लेने पर पढ़नेवाले का उत्साह उसे कहीं का कहीं पहुँचा देता है। रोता जावे मरे की खबर लाये—पढ़ाने वाला ही अपने में सन्तुष्ट या अपने पर विश्वास न करता हो कि मैं समझा दूँगा, तो वह समझायेगा क्या !!! स्वयं नष्टः परान् नाशयति ॥

१५ वां दिन

आओ, आज हम अपने १४ दिन के पाठों पर फिर एक दृष्टि = सिंहावलोकन कर लें। सिंह के समान मुड़कर एक बार दृष्टि डाल लें। (यह छात्रों से कहलवाना चाहिये, चाहे कापी देख कर ही कहें)।

१ प्रथम दिन में = संस्कृत में चार प्रकार के शब्द—उनके लक्षण, भेद तथा कारक का लक्षण और उनके भेद जान लिये।

२ **दूसरे दिन**—सूत्र का लक्षण, उनके ७ भेद और उनके स्वरूप।

३ **तीसरे दिन**—अधिकार का स्वरूप और मोटे मोटे, १५ अधिकार बताये गये।

४ **चतुर्थ दिन** = संज्ञा आदि शेष ६ का स्वरूप, उनका साधारण परिगणन, प्रातिपदिक–धातु संज्ञा, तथा सूत्रों के शेष लक्षण।

५ **पांचवें दिन** = सूत्रों के अर्थ करने की रीति, लट् लिट् आदि दस लकारों के बताने वाले सूत्रों का बिना रटे अनायास अर्थ।

६ **छठे दिन** = हलन्त शब्द वाच् के आगे २१ प्रत्यय, और उनके असली तथा सफाई करने पर जो स्वरूप रहा, वाच् के आगे लगाये जाने से २१ रूप। ऐसे ही २० प्रकार के हलन्त शब्दों के रूप। 'वाच् सु' में सिद्धि का प्रारम्भ।

७ **सातवें दिन** = इत्संज्ञा के ९ सूत्रों का अनुवृत्ति से अर्थ, पहिले संस्कृत में फिर हिन्दी में, पूर्वोक्त २१ सुपों पर ही घटाकर, बताया गया।

८ **आठवां दिन** = वाच् + जस् = वाचः, तथा वाक्, वाग् की सिद्धि। आगे वाच् के अन्य रूपों की सिद्धि 'वाक्षु' तक। साथ ही पुरुषः शब्द की सिद्धि सब सूत्रों से ॥

९ **नवां दिन** = पठति की पूरी सिद्धि।

१० **दसवां दिन** = पठतः, पठन्ति, पठामि की सिद्धि।

११ **ग्यारहवां दिन** = स्थान और प्रयत्न मिलने पर **स्थानेऽन्तरतमः** (१-१-४९) सूत्र लगता है, अतः वर्णोच्चारणशिक्षा का अत्यावश्यक अंश।

१२ **बारहवां दिन** = 'भवति' तथा 'दीव्यति' की सिद्धि।

१३ **वां दिन** = तुदति, सुनोति, सुनुतः, सुनोषि, तनोति, तनुतः, तन्वन्ति, क्रीणाति, जुहोति, जुहुतः जुह्वति इन सब रूपों की सिद्धि।

१४ **वां दिन** = रुणद्धि, रुन्धः, रुन्धन्ति, इन सब शब्दों की सिद्धि बिना रटे सब सूत्र समझा कर करा दी गयी है।

इस में विशेष व्यवस्था यह भी समझ लेना चाहिये कि इन १४ दिन के पाठों में १८ वा २० दिन भी लग सकते हैं, छात्रों की जैसी योग्यता हो तथा अध्यापक पढ़ाने वाला जितना अनुभवी और परिश्रमी हो। मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ, कि मैं इतना पाठ १० से लेकर १४ दिन तक में

अनेक श्रेणियों को करा चुका हूँ अर्थात् १० दिन में इतना विषय अनेक पठनार्थियों को करा चुका हूँ, जो पूरा समझ गये। कभी२ तो १ सप्ताह में भी करा चुका हूँ। इस क्रम से इतना२ पाठ पढ़ाना चाहिये। पठनार्थी स्वयं कहें कि हम समझ गये तब आगे चलना चाहिये। पर इसमें दूर से पहाड़ समझ कर भयभीत होकर बुद्धि का संतुलन विकृत कर लेने वाले छात्र प्रमाण नहीं माने जा सकते। अध्यापक को भी विश्वास होना चाहिये कि मैं इतना विषय इतने दिनों में करा लूंगा। किसी एक आध मन्दबुद्धि छात्र (समझने में भी जिसकी बुद्धि न चलती हो) की दृष्टि से सब का समय न नष्ट हो, यह भी ध्यान रखने की बात है। यह १५ वें दिन में पुनरावृत्ति करा देनी चाहिये।

इतना प्रकरण समझ लेने पर जब छात्र को अधिकार और संज्ञा सूत्रों का यथार्थ परिचय, तथा १० लकारों का स्वरूप ज्ञान–२० हलन्त शब्दों के रूप बिना रटे बनाने का प्रकार तथा दस गणों में लट् लकार में बिना रटे रूपों को बनाने की विधि प्रत्यक्ष हो जाती है और उसे यह पता लग जाता है कि इतना ज्ञान जा मुझे १४, १५ दिन में हो गया है, कौमुदी पढ़ने वाले छात्र को छः मास में भी नहीं होता। 'मध्यमा' वा 'विशारद' तक पढ़े किसी छात्र से आप १२, १४, दिन के पाठ में से किसी सिद्धि में से पूछ कर देख लें, वह नहीं बता सकता। यह हम निश्चय से कह सकते हैं। अमुक सूत्र का यह अर्थ कैसे हो गया, यह बात तो छात्र क्या उसका पढ़ाने वाला अध्यापक भी नहीं बता सकता, अष्टाध्यायी क्रम से पढ़े को छोड़ कर। यह बात जब हमारे छात्र के सामने प्रत्यक्ष हो जाती है तो वह इस क्रम पर लट्टू हो जाता है। इसी लिये हम कहते हैं कि १५ दिन हमारे पास पढ़े तो इस पद्धति का ठीक २ प्रत्यक्ष हो जाता है। इन १५ दिन का पाठ जहां तक होता है मैं स्वयं पढ़ाता हूँ। छात्र की बुद्धि-धारणाशक्ति-और योग्यता का अध्ययन पहिले मैं स्वयं करता हूँ। इसको दृष्टि में रखकर तब 'किस ढंग पर इसको पढ़ाना चाहिये' यह क्रम अपने मन में निर्धारित करता हूँ। एक नहीं दूसरा, दूसरा नहीं तीसरा, किसी न किसी उपाय से पढ़ने वाले के हृदय में कठिन से कठिन बात सुगम से सुगम बनाकर समझा लेता हूँ, जब वह स्वयं अनुभव करके कहता है कि मैं समझ गया, तब आगे पाठ चलाता हूँ। ऐसा करना परमावश्यक है। बार २ पूछने पर कभी रुष्ट नहीं होता, न घबराता हूँ, न थकता हूँ, तिस पर भी सिर में पीड़ा कभी नहीं होती, यह प्रभु की ही कृपा है। यही बराबर समझता हूँ॥

संस्कृत की पुस्तक

सर्वथा संस्कृत न जाननेवालों की दृष्टि से आरम्भ के इन १५ दिनों में संस्कृत प्रतिदिन पौन घण्टा अवश्य पढ़ाई जानी चाहिये। इस प्रकार दो घण्टे प्रतिदिन के ये दो पाठ चलने चाहियें। या कमसे कम १ घण्टा अष्टाध्यायी का पाठ तथा आध घण्टा संस्कृत का पाठ अवश्य चलना चाहिये। १ मास के पाठों के पश्चात् तो संस्कृत तथा अनुवाद १ घण्टा प्रतिदिन अवश्य ही पढ़ाये जाने चाहियें। या ऐसे भी हो सकता है कि संस्कृत सर्वथा न जाननेवालों को एक मास पहिले संस्कृत का बोध ही करा लिया जावे, तब ये ३० दिन वाले पाठ प्रारम्भ करने चाहियें, पर मेरा तो यह भी अनुभव है कि संस्कृत से सर्वथा अनभिज्ञों को आरम्भ में १५ दिन अष्टाध्यायी पद्धति से पढ़ा कर संस्कृत तथा अनुवाद कराया जाता है, तो वह अधिक अच्छा होता है और वे समझ कर करते हैं। इसमें जैसा अनुकूल हो वैसा किया जा सकता है। आरम्भ से ही थोड़ी २ संस्कृत कराई जावे तो काम चलानेवालों को अधिक सुगमता और समझाने में अनुकूलता हो सकती है। यह बात अध्यापक पर विशेष निर्भर करती है। सामान्यतया ऐसा करें कि 'संस्कृत प्रदीप' वा "संस्कृत पाठमाला" का एक २ पाठ १५ दिन में करा दिया जावे।

'संस्कृत प्रदीप' का मिलने का पता यह है ("शक्ति कार्यालय इलाहाबाद")।

"संस्कृत पाठमाला" का मिलने का पता है (श्री गोविन्दराम हासानन्दजी आर्य साहित्य सदन देहली अथवा ऐस० गर्ग एण्ड कम्पनी देहली।)

इन १५ दिन में निरन्तर समझकर पढ़नेवाला विद्यार्थी बहुत अच्छी तरह संस्कृत और उसके व्याकरण में प्रवेश कर जायगा। और उसे इस विषय की कठिनता और दुरूहता की निःसारता का भी विश्वास स्वयं हो जायेगा॥

संस्कृत की पुस्तक के विषय में आगे हम अपने विचार विस्तार से उपस्थित करेंगे। १५ वें दिन का यह वक्तव्य विशेष ध्यान से समझने योग्य है॥

पढ़ते समय (हिन्दी का ज्ञान न होने से) नोट न कर सकने वाले पठनार्थी को श्रेणी में नहीं बिठाना चाहिये। या ऐसों की एक अलग ही श्रेणी चलाई जावे॥

दूसरा प्रकरण

१६ वें दिन का पाठ

अब हम सन्धिप्रकरण अ० ६।१ पाद में अत्यावश्यक (बहुत काम में आने वाले) अच् सन्धि के सूत्रों को पहले लेते हैं—

सर्व प्रथम अधिकार और अनुवृत्ति के चिह्न लगावें। **संहितायाम्** का (६-१-७०) से १५१ तक अधिकार है। **इको यणचि** (६-१-७४) से 'अचि' की अनुवृत्ति १०४ तक है, तथा **एकः पूर्वपरयोः** (६-१-८१) का अधिकार ११० तक, **आद्गुणः** (६-१-८४) से 'आत्' की अनुवृत्ति ९३ तक। **एङि पररूपम्** (६-१-९१) से 'पररूपम्' की अनुवृत्ति ९६ सूत्र तक, **अकः सवर्णे दीर्घः** (६-१-९७) से दीर्घः की अनुवृत्ति १०६ तक जाता है।

अमि पूर्वः (६।१।१०३) में 'पूर्वः' १०८ तक है तथा **प्रकृत्यान्तः पादम्** (६।१। १११) से 'प्रकृत्या' की अनुवृत्ति १२५ तक जाती है। यह तो सामान्य बात हुई।

अब हम सूत्रों को लेते हैं—

६।१ ५।१ ७।१

इको यणचि (६।१।७४) में 'संहितायां' का अधिकार होने से अर्थ बना 'इकः यण् (भवति) अचि संहितायां = इक् के स्थान में यण् हो जाता है, अच् परे हो तो, संहिता (सन्धि) के विषय में। जैसे यदि + अपि = यद्यपि। मधु + अत्र = मध्वत्र। नारी + अत्र = नार्यत्र। कर्तृ + अत्र = कर्त्रत्र इत्यादि ॥

एचोऽयवायावः (६।१।७५) में (अचि संहितायाम्) की अनुवृत्ति और अधिकार है। एच् के स्थान में क्रमशः ए को = अय्, ओ = अव्, ऐ = आय्, औ = आव् होता है, अच् परे रहने पर संहिता करने में, ने + अनं = नयनं। भो + इता = भविता। नै + अकः = नायकः। पौ + अकः = पावकः इत्यादि। तस्मै + आत्मनेपदम् = तङानात्मनेपदम्।

एकः पूर्वपरयोः (६।१।८१) = पूर्व (पहिला) पर (आगे का) दोनों के स्थान में (दोनों को हटाकर) एक आदेश होता है, यह अधिकार है, जो ११० तक जाता है।

आद् गुणः (६।१।८४) में **अचि संहितायां पूर्वपरयोः एकः** आकर, अर्थ बना = **आद् अचि संहितायां पूर्वपरयोः एकः गुणः (भवति)** = अर्थात् अवर्ण से परे यदि अच् हो तो पूर्व और पर दोनों के स्थान में गुण एकादेश हो जाता है। गुण **अदेङ्गुणः** (१।१।२) से 'अ ए ओ' को कहते हैं। जैसे सूर्य + उदयः = सूर्योदयः। परम + ईश्वरः = परमेश्वरः। तव + इदम् = तवेदम्। मम + इदम् = ममेदम् ॥

वृद्धिरेचि (६।१।८५) (**आद् एचि संहितायां पूर्वपरयोः वृद्धिः एकः** (भवति) = अवर्ण से परे एच् हो तो पूर्व और पर दोनों के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है। **वृद्धिरादैच्** (१।१।१) से आत् (आ) तथा ऐच् = ऐ औ इन तीन अक्षरों की वृद्धि संज्ञा होती है।

एङि पररूपम् (६।१।९१) में ऊपर (६।१।८८) से 'उपसर्गात्' और 'धातौ' की अनुवृत्ति आती है (६।१।८१) से 'एकः पूर्वपरयोः' की (६।१।८४) से 'आत्' की अनुवृत्ति आती है। अनुवृत्ति का स्वरूप यह बना। **एङि पररूपम् आद् उपर्गात्-धातौ-पूर्वपरयोः एकः**, अर्थ बना = **आत् उपसर्गात् एङि धातौ पूर्वपरयोः पररूपं एकः** (आदेशो भवति) = अर्थात् अवर्णान्त उपसर्ग से परे एङादि धातु परे हो तो पूर्व और पर के स्थान में पररूप एक आदेश हो जाता है। जैसे उप + एलयति = उपेलयति, उप + एधते = उपेधते। यहाँ वृद्धिरेचि (६।१।८५) से वृद्धि एकादेश प्राप्त था, उसको बाध (हटा) कर 'पररूप' एकादेश, अर्थात् जैसा परे हो वैसा आदेश हो जावे। यहाँ पररूप 'ए' है सो 'अ और ए' के स्थान में ऐ वृद्धि न हो कर पररूप 'ए' हो जाता है।

५।१ ७।१

अतो गुणे (६।१।९४) यहाँ भी ऊपर से 'एकः पूर्वपरयोः' (६।१।८१) का अधिकार तथा (६।१।९३) से अपदान्तात् की अनुवृत्ति आती है। सूत्र का अर्थ बना— **अपदान्तात् ५।१, गुणे ७।१ पूर्वपरयोः ६।२, पररूपम् १।१ एकः १-१** (एकादेशः) (भवति) = अर्थात् अपदान्त अकार से परे गुण (अ ए ओ) में से कोई परे हो तो पूर्व और पर के स्थान में पररूप एक आदेश हो जाता है। जैसे पठ् + अ + अन्ति = पठन्ति, यह हम पहिले १० वें दिन के पाठ में भी बता चुके हैं ॥

दूसरा प्रकरण

१६ वें दिन का पाठ

अब हम सन्धिप्रकरण अ० ६।१ पाद में अत्यावश्यक (बहुत काम में आने वाले) अच् सन्धि के सूत्रों को पहले लेते हैं—

सर्व प्रथम अधिकार और अनुवृत्ति के चिह्न लगावें। संहितायाम् का (६-१-७०) से १५१ तक अधिकार है। इको यणचि (६-१-७४) से 'अचि' की अनुवृत्ति १०४ तक है, तथा एकः पूर्वपरयोः (६-१-८१) का अधिकार ११० तक, आद्गुणः (६-१-८४) से 'आत्' की अनुवृत्ति ९३ तक। एङि पररूपम् (६-१-९१) से 'पररूपम्' की अनुवृत्ति ९६ सूत्र तक, अकः सवर्णे दीर्घः (६-१-९७) से दीर्घः की अनुवृत्ति १०६ तक जाती है।

अमि पूर्वः (६।१।१०३) में 'पूर्वः' १०८ तक है तथा प्रकृत्यान्तः पादम् (६।१।१११) से 'प्रकृत्या' की अनुवृत्ति १२५ तक जाती है। यह तो सामान्य बात हुई।

अब हम सूत्रों को लेते हैं—

६।१ १।१ ७।१
इको यणचि (६।१।७४) में 'संहितायां' का अधिकार होने से अर्थ बना 'इकः यण् (भवति) अचि संहितायां = इक् के स्थान में यण् हो जाता है, अच् परे हो तो, संहिता (सन्धि) के विषय में। जैसे यदि + अपि = यद्यपि। मधु + अत्र = मध्वत्र। नारी + अत्र = नार्यत्र। कर्तृ + अत्र = कर्त्तत्र इत्यादि॥

एचोऽयवायावः (६।१।७५) में (अचि संहितायाम्) की अनुवृत्ति और अधिकार है। एच् के स्थान में क्रमशः ए को = अय्, ओ = अव्, ऐ = आय्, औ = आव् होता है, अच् परे रहने पर संहिता करने में, ने + अनं = नयनं। भो + इता = भविता। नै + अकः = नायकः। पौ + अकः = पावकः इत्यादि। तङानौ + आत्मनेपदम् = तङानावात्मनेपदम्।

एकः पूर्वपरयोः (६।१।८१) = पूर्व (पहिला) पर (आगे का) दोनों के स्थान में (दोनों को हटाकर) एक आदेश होता है, यह अधिकार है, जो ११० तक जाता है।

आद् गुणः (६।१।८४) में अचि संहितायां पूर्वपरयोः एकः आकर, अर्थ बना = आद् अचि संहितायां पूर्वपरयोः एकः गुणः (भवति) = अर्थात् अवर्ण से परे यदि अच् हो तो पूर्व और पर दोनों के स्थान में गुण एकादेश हो जाता है। गुण अदेङ्गुणः (१।१।२) से 'अ ए ओ' को कहते हैं। जैसे सूर्य + उदयः = सूर्योदयः। परम + ईश्वरः = परमेश्वरः। तव + इदम् = तवेदम्। मम + इदम् = ममेदम्॥

वृद्धिरेचि (६।१।८५) (आद् एचि संहितायां पूर्वपरयोः वृद्धिः एकः (भवति) = अवर्ण से परे एच् हो तो पूर्व और पर दोनों के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है। वृद्धिरादैच् (१।१।१) से आत् (आ) तथा ऐच् = ऐ औ इन तीन अक्षरों की वृद्धि संज्ञा होती है।

एङि पररूपम् (६।१।९१) में ऊपर (६।१।८८) से 'उपसर्गात्' और 'धातौ' की अनुवृत्ति आती है (६।१।८१) से 'एकः पूर्वपरयोः' की (६।१।८४) से 'आत्' की अनुवृत्ति आती है। अनुवृत्ति का स्वरूप यह बना। एङि पररूपम् आद् उपर्गात्-धातौ-पूर्वपरयोः एकः, अर्थ बना = आत् उपसर्गात् एङि धातौ पूर्वपरयोः पररूपं एकः (आदेशो भवति) = अर्थात् अवर्गान्त उपसर्ग से परे एङादि धातु परे हो तो पूर्व और पर के स्थान में पररूप एक आदेश हो जाता है। जैसे उप + एलयति = उपेलयति, उप + एधते = उपेधते। यहाँ वृद्धिरेचि (६।१।८५) से वृद्धि एकादेश प्राप्त था, उसको बाध (हटा) कर 'पररूप' एकादेश, अर्थात् जैसा परे हो वैसा आदेश हो जावे। यहाँ पररूप 'ए' है सो 'अ और ए' के स्थान में ऐ वृद्धि न हो कर पररूप 'ए' ही जाता है।

५।१ ७।१
अतो गुणे (६।१।९४) यहाँ भी ऊपर से 'एकः पूर्वपरयोः' (६।१।८१) का अधिकार तथा (६।१।९३) से अपदान्तात् की अनुवृत्ति आती है। सूत्र का अर्थ बना— अपदान्तात् ५।१, गुणे ७।१ पूर्वपरयोः ६।२, पररूपम् १।१ एकः १-१ (एकादेशः) (भवति) = अर्थात् अपदान्त अकार से परे गुण (अ ए ओ) में से कोई परे हो तो पूर्व और पर के स्थान में पररूप एक आदेश हो जाता है। जैसे पठ् + अ + अन्ति = पठन्ति, यह हम पहिले १० वें दिन के पाठ में भी बता चुके हैं॥

१७ वां दिन

आज अच्सन्धि के शेष आवश्यक सूत्र बताते हैं, जो सिद्धि के काम में अधिक आते हैं।

५।१ ७।१ ६।१
अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७)—यहां पूर्ववत् 'संहितायाम्' 'एकः पूर्वपरयोः' तथा 'अचि' का अधिकार और अनुवृत्ति आती है। सूत्र का अर्थ बना—अकः सवर्णे अचि पूर्वपरयोः दीर्घः एकः (भवति) = अक् प्रत्याहार से परे यदि सवर्ण अच् हो, तो पूर्वपर दोनों के स्थान में दीर्घ एकादेश हो जाता है। जैसे तव + अत्र = तवात्र। यदि + इदम् = यदीदम्। भानु + उदयः = भानूदयः। पितृ + ऋणम् = पितृणम्।

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।९८) यहां ९७ से 'अकः' तथा पूर्ववत् 'अचि' और 'दीर्घः' 'एकः पूर्वपरयोः' आते हैं। सूत्र का अर्थ बना, प्रथमयोः अकः अचि पूर्वपरयोः पूर्वसवर्णः एकः (भवति) = प्रथमा और द्वितीया विभक्ति में यदि अक् प्रत्याहार से परे अच् हो तो पूर्व और पर के स्थान में पूर्वसवर्ण दीर्घ (पहिले का सवर्णदीर्घ) एकादेश हो जाता है। जैसे पुरुष + शस् = पुरुष + अस् पूर्ववत् पुरुषास् होकर

५।१ ६।१ ६।१ ७।१
तस्माच्छसो नः पुंसि (६।१।९९) तस्मात् = उस दीर्घ किए हुए से परे शसः = शस् को 'न्' हो जाय पुल्लिङ्ग में, सो शस् के अन्त्य स् , के स्थान में अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से न् हो जाता है, जैसे पुरुषान्। रामान्।

नादिचि (६।१।१००) न अ० आत् ५।१, इचि ७।१ = ऊपर से 'प्रथमयोःपूर्वसवर्णः' 'एकःपूर्वपरयोः' 'संहितायाम्' = सब का अधिकार और अनुवृत्ति तो आती ही है। अर्थ यह बना—प्रथमयोः आत् इचि, पूर्वपरयोः एकः सवर्णदीर्घः न (भवति) = अर्थात् प्रथमा द्वितीया विभक्ति में अकार से परे इच् प्रत्याहार में कोई अक्षर हो, तो पूर्व और पर के स्थान में पूर्वसवर्ण दीर्घ एक आदेश नहीं होता, जो पुरुष + औ में ९८ सूत्र से प्राप्त था, सो नहीं हुआ।

अमि पूर्वः (६।१।१०३) यहां भी 'अकः' 'एकः पूर्वपरयोः' ऊपर से आते हैं, अर्थ बना = 'अकः अमि पूर्वपरयोः पूर्वः एकः = अर्थात् अक् प्रत्याहार से परे 'अम्' हो, तो पूर्व और पर के स्थान में पूर्व एक आदेश हो जाता है। जैसे पुरुष + अम् = पुरुषम्। अग्नि + अम् = अग्निम्, वायु + अम् = वायुम्।

५।१ ५।१
एङः पदान्तादति (६।१।१०५) एङः, पदान्तात्, ७।१
अति। यहां ऊपर के सूत्र से 'पूर्वः' की अनुवृत्ति आती है, 'एकः पूर्वपरयोः' की भी, अर्थ बना = 'पदान्तात् एङः अति पूर्वपरयोः पूर्वः एकः (भवति)' = पद के अन्त में एङ् प्रत्याहार से परे ह्रस्व अकार हो तो पूर्व और पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश हो जाता है। जैसे पुरुषोअत्र = पुरुषोऽत्र, पुरुषेअत्र = पुरुषेऽत्र ॥

७।२
ङसिङसोश्च अ० (६।१।१०६) यहां 'एङः' 'अति' की अनुवृत्ति आती है। 'एकः पूर्वपरयोः' का अधिकार है ही। सो अर्थ बन गया = एङः = एङ् से परे ङसिङसोः अति = ङसि और ङस् का अत परे हो, च = तो उसे भी पूर्वपरयोः = पूर्व और पर के स्थान में पूर्वः = पूर्व एकः = एक आदेश हो जाता है। जैसे अग्नि + ङस् = अग्ने + अस् = अग्नेस् = अग्नेः। वायो + अस् = वायोस् = वायोः ॥

अतो रोरप्लुतादप्लुते (६।१।१२१)—अतः ५।१, रोः ६।१, अप्लुतात् ५।१, अप्लुते ७-१, यहां १०७ सूत्र से 'उत्' की अनुवृत्ति आती है। १०५ से 'अति' की, सूत्र का अर्थ बना = अप्लुतात् अतः रोः उत् अप्लुते अति = अप्लुत अकार से परे 'रु' के स्थान में 'उ' हो जाता है, यदि अप्लुत 'अ' परे हो तो, जैसे पुरुष + सु = पुरुष + स = पुरुष + रु = पुरुषरु अत्र = पुरुष उ अत्र (आद्गुणः ६।१।८४) से गुण होकर पुरुषो अत्र बनो। ऊपर के १०५ सूत्र से पुरुषोऽत्र हो गया।

७।१
हशि च अ० (६।१।११०)

यहां 'अतः' 'रोः' 'उत्' 'एकःपूर्वपरयोः' की अनुवृत्ति और अधिकार आता है। अर्थ बना = अतः रोः हशि पूर्वपरयोः एकः उत् 'भवति' अतः = ह्रस्व अकार से परे रोः रु के स्थान में उत् हो जाता है यदि हश् प्रत्याहार में कोई अक्षर परे हो तो। जैसे पुरुष + सु गच्छति, पुरुष + स् = पुरुष + रु + गच्छति = पुरुष + उ + गच्छति = आद्-गुणः (६।१।८४) से पुरुषो गच्छति, पुरुषो वदति, पुरुषो हसति इत्यादि बनेगा।

अच्सन्धि का एक आवश्यक सूत्र और समझ लेना आवश्यक है।

प्रकृत्यान्तः पादम् (६।१।१११)

[पृष्ठ १४ का शेष]

जनता भी उन्हें अच्छी दृष्टि से नहीं देखती थी। संस्कृत साहित्य में तांत्रिक लोगों की हेयता ही प्रमाणित की गयी है। कादम्बरी, माल्ती माधव में तंत्रवादियों की हँसी उड़ायी गयी है। उन्हें बुरी भावना से देखा गया है। पशुबलि प्रथा आर्य धर्म की प्रकृति से साम्य नहीं रखता। और मिस्र, पैलस्टाइन, असीरिया आदि देशों की जातियों का भी यहूदियों के बलिदानों से विरोध था। भलेही ये जातियाँ मांसभक्षी रही हों।

अब भी यहूदी और मुसलमानों के अतिरिक्त बलिदान और कुरबानी को किसी धर्म वाले अच्छा नहीं मानते, मांस भले ही खाते हों। पशु-पक्षियों की बलि का समर्थक और प्रचारक प्रत्युत प्रस्तावक बाइबिल ग्रन्थ ही है। बाइबिल का यहोवा घोर रक्तप्रिय देव है। यजुर्वेद में पशुबलि का स्वप्न देखने वालों के विषय में विचार आगामी किसी लेख में किया जायगा॥

(शेष पृष्ठ ६ का)

है। श्रीकृष्ण ने भी उसी संस्कृति से प्रेरित होकर वेदों को त्रैगुण्य विषय मानकर उन्हें उपेक्षित किया है। परन्तु वास्तविक दृष्टि मुझे यही मिली है कि संसार सुखमय है, सभी पदार्थ सुखदायक हैं। यदि कोई पदार्थ दुःखमय बना है तो हमारे पापमय कर्मों के कारण, पर स्वरूप में कुछ भी वस्तु दुःखरूप नहीं है। अतः दुःखवाद वैदिक नहीं माना जा सकता!

वेदवाणी का आगामी विशेषाङ्क

वेदविषयक पाश्चात्यमत-परीक्षणाङ्क

भारतीय लेखकों ने जहां बिना विचारे योरुपीय पक्षों का अनुकरण किया है, भारतीय शास्त्रपरम्परा का यथावत् ज्ञान न होने से असत्य वा अशुद्ध धारणाएं बनाली हैं, वहां अब समय आ गया है कि, स्वतन्त्र-भारत में पाश्चात्यों के उन मिथ्यामतों वा धारणाओं पर विवेचनापूर्ण प्रकाश डाला जाय। इसके लिये वेद विषय में पाश्चात्यों के विभिन्न मतों का परीक्षण होना आवश्यक है। इसके लिये "वेदवाणी" द्वारा व्यवस्था की जा रही है।

इस विशेषाङ्क के सम्पादक भारत के प्रसिद्ध वैदिकविद्वान् श्री० पं० भगवद्दत्तजी रिसर्चस्कालर (देहली) होंगे। जिस लेखमें सप्रमाण तर्कपूर्ण किसी पाश्चात्य मत का खण्डन नहीं होगा, वह लेख इस अङ्क में नहीं छपेगा। इस अङ्क का स्तर अत्यधिक ऊँचा होगा और पिष्ट पेषण से रहित होगा। साधारण कोटि के, तथा जिनमें पाश्चात्य मत का खण्डन नहीं होगा, वे लेख नहीं छापे जायंगे। संसार के सभी जर्नलस् तथा कल्याणादि को इसकी सूचना भेज दी जावेगी। इसमें निम्नाङ्कित विषयोंपर भारत के योग्य विद्वानों द्वारा लेख प्राप्त कर प्रकाशित करने का यत्न किया जा रहा है।

शुभसूचना

बिनारटे अष्टाध्यायीक्रम से संस्कृतशिक्षण के पाठ वेदवाणी में प्रतिमास प्रकाशित होंगे

हर्ष का विषय है कि बिना रटे अष्टाध्यायीक्रम से संस्कृतशिक्षण का जो उपक्रम काशी, और देहली आदि में बहुत दिनों से सफलता पूर्वक चल रहा है, उसे उन शिक्षार्थियों के लिये, जो कि इन स्थानों में जाकर संस्कृत शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते, लिखित पाठमाला प्रकाशित की जाये, इसकी प्रार्थना अनेक संस्कृत प्रेमी महानुभावों–नेताओं–विद्वानों और पठनार्थियों की ओर से आग्रह पूर्वक निरन्तर की जा रही थी। लिखित पाठ्यक्रम अबतक अनेक कठिनाइयों के कारण कार्यरूप में परिणत नहीं किया जा सका। अब इस क्रम के उपज्ञाता श्री माननीय पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी ने यह पाठमाला प्रतिमास "वेदवाणी" में प्रकाशित करने का शुभ संकल्प कर लिया है और १९५५ मई मास के अङ्क से वह इस पाठमाला को प्रकाशित कर रहे हैं। पाठक अपनी प्रतियां निश्चित करा लें। पठनार्थी विशेष ध्यान दें।

वेदवाणी के प्रत्येक संस्कृत प्रेमी पाठक को इस पाठमाला से पूर्ण लाभ उठाने के लिये तैयार हो जाना चाहिये और संस्कृत भाषा के प्रचार के लिये अपने इष्ट मित्र बन्धु आदि सब महानुभावों को इस क्रम से लाभ उठाने की प्रेरणा करनी चाहिये।

यह क्रम इतना सरल होगा कि कोई भी संस्कृत प्रेमी पाठक चाहे वह किसी आयु का हो या किसी परिस्थिति का, श्रद्धापूर्वक अत्यल्प प्रयास द्वारा (अर्थात् कम से कम १॥ घण्टा प्रति दिन लगाने से) कुछ ही मासों में संस्कृत का बोध सुगमता से कर सकेगा।

उपर्युक्त क्रम से संस्कृत शिक्षण के लिये अत्यावश्यक ग्रन्थ **पाणिनीय अष्टाध्यायी सूत्रपाठ का शुद्ध तथा सस्ता संस्करण** श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट के द्वारा प्रकाशित हो चुका है, मूल्य ॥), डाक व्यय ≈) (नीचे लिखे पते पर मिल सकेगी)। प्रत्येक पठनार्थी के पास अष्टाध्यायी का यही संस्करण होना चाहिये, क्योंकि पाठों में सूत्रसंख्या इसी संस्करण के अनुसार दी जायेगी, (अन्य स्थानों के छपे संस्करणों में सूत्रसंख्या में बहुत भेद है) पढ़ते समय इसी को अपने पास रखने से सुविधा होगी। पत्रव्यवहार का पता—

अध्यक्ष, पाणिनि महाविद्यालय, मोतीझील, बनारस नं० ६।

संपादक, प्रकाशक व मुद्रक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, चन्द्रशेखर मुद्रणालय, बिसेसरगंज, बनारस।

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ७] ❀ [अङ्क ९

इस अंक के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

आषाढ़ २०१२, जुलाई १९५५
दयानन्दाब्द १३०
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५५

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
बनारस नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
" " विदेश में ६)
इस अंक का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है ।।

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १ तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जावेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस ६

वेदवाणी का आगामी विशेषाङ्क

वेदविषयक पाश्चात्यमत-परीक्षणाङ्क

भारतीय लेखकों ने जहां बिना विचारे योरुपीय पक्षों का अनुकरण किया है, भारतीय शास्त्रपरम्परा का यथावत् ज्ञान न होने से असत्य वा अशुद्ध धारणाएं बनाली हैं, वहां अब समय आ गया है कि, स्वतन्त्र-भारत में पाश्चात्यों के उन मिथ्यामतों वा धारणाओं पर विवेचनापूर्ण प्रकाश डाला जाय। इसके लिये वेद विषय में पाश्चात्यों के विभिन्न मतों का परीक्षण होना आवश्यक है। इसके लिये "वेदवाणी" द्वारा व्यवस्था की जा रही है।

इस विशेषाङ्क के सम्पादक भारत के प्रसिद्ध वैदिकविद्वान् श्री० पं० भगवद्दत्तजी रिसर्चस्कालर (देहली) होंगे। जिस लेखमें सप्रमाण तर्कपूर्ण किसी पाश्चात्य मत का खण्डन नहीं होगा, वह लेख इस अङ्क में नहीं छपेगा। इस अङ्क का स्तर अत्यधिक ऊँचा होगा और पिष्टपेषण से रहित होगा। साधारण कोटि के, तथा जिनमें पाश्चात्य मत का खण्डन नहीं होगा, वे लेख नहीं छापे जायंगे। संसार के सभी जर्नल्स् तथा कल्याणादि को इसकी सूचना भेज दी जावेगी। इसमें भिन्न २ विषयों पर भारत के योग्य विद्वानों द्वारा लेख प्राप्त कर प्रकाशित करने का यत्न किया जा रहा है।

सम्पादक—वेदवाणी

ओ३म्

वेदवाणी

सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष ७ } काशी, आषाढ़ सं० २०१२ वि०, जुलाई १९५५ ई० { अङ्क ९

आर्याभिविनय से

आदि ज्ञानदाता तुम ही हो

तमीळत प्रथमं यज्ञसाधं विश आरीराहुतमृञ्जसानम्।
ऊर्जः पुत्रं भरतं सृप्रदानुं देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम्॥ ४०॥

ऋक्० १।७।३।३॥

व्याख्यान—हे मनुष्यो! "तमीळत" अग्नि की स्तुति करो, कैसा है वह अग्नि "प्रथमम्" सब (कार्यों) से पहिले वर्त्तमान और सब का आदि कारण है, तथा "यज्ञसाधम्" सब संसार और विज्ञानादि यज्ञ का साधक (सिद्ध करने वाला) सबका जनक है। हे "विशः" मनुष्य! उसी को ही स्वामी मानकर "आरीः" प्राप्त होओ, जिसको हम दीनता से पुकारते हैं, और जिसको विज्ञानादि से विद्वान् लोग सिद्ध करते हैं और जानते हैं। "ऊर्जः पुत्रं भरतम्" पृथिव्यादि जगद्रूप अन्न का पुत्र अर्थात् पालन करने वाला, तथा भरत अर्थात् उसी अन्न का पोषण और धारण करने वाला है। "सृप्रदानुम्" सब जगत् को चलने की शक्ति देने वाला और ज्ञान का दाता है। उसी को "देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम्" देव (विद्वान् लोग) अग्नि कहते और धारण करते हैं। वही सब जगत् को द्रविण अर्थात् निर्वाह के सब अन्न जलादि पदार्थ और विद्यादि पदार्थों का देने वाला है। उस अग्नि परमात्मा को छोड़ के अन्य किसी की भक्ति वा याचना कभी किसी को न करनी चाहिए॥ ४०॥

ओ३म्

वेदवाणी

सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष ७ } काशी, आषाढ़ सं० २०१२ वि०, जुलाई १९५५ ई० { अङ्क ९

आर्याभिविनय से

आदि ज्ञानदाता तुम ही हो

तमीळत प्रथमं यज्ञसाधं विश आरीराहुतमृञ्जसानम्।
ऊर्जः पुत्रं भरतं सृप्रदानुं देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम् ॥ ४० ॥

ऋक्० १।७।३।३॥

व्याख्यान—हे मनुष्यो! "तमीळत" अग्नि की स्तुति करो, कैसा है वह अग्नि "प्रथमम्" सब (कार्यों) से पहिले वर्त्तमान और सब का आदि कारण है, तथा "यज्ञसाधम्" सब संसार और विज्ञानादि यज्ञ का साधक (सिद्ध करने वाला) सबका जनक है। हे "विशः" मनुष्य! उसी को ही स्वामी मानकर "आरीः" प्राप्त होओ, जिसको हम दीनता से पुकारते हैं, और जिसको विज्ञानादि से विद्वान् लोग सिद्ध करते हैं और जानते हैं। "ऊर्जः पुत्रं भरतम्" पृथिव्यादि जगत्रूप अन्न का पुत्र अर्थात् पालन करने वाला, तथा भरत अर्थात् उसी अन्न का पोषण और धारण करने वाला है। "सृप्रदानुम्" सब जगत् को चलने की शक्ति देने वाला और ज्ञान का दाता है। उसी को "देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम्" देव (विद्वान् लोग) अग्नि कहते और धारण करते हैं। वही सब जगत् को द्रविण अर्थात् निर्वाह के सब अन्न जलादि पदार्थ और विद्यादि पदार्थों का देने वाला है। उस अग्नि परमात्मा को छोड़ के अन्य किसी की भक्ति वा याचना कभी किसी को न करनी चाहिए ॥ ४० ॥

उसे जानने वाला पिता का भी पिता हो जाता है

[ले० श्री० पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति-आचार्य गुरुकुल काङ्गड़ी-हरिद्वार]

अथर्व० २।१ सूक्त एक अध्यात्म विषय का सूक्त है। इसमें भगवान को अनुभव करने वाला एक उपासक अपने अनुभवों का वर्णन कर रहा है। नीचे सूक्त के मन्त्रों का शब्दार्थ दिया जा रहा है। पाठक उसे पढ़ें, मनन करें और स्वयं भी भगवान् को सूक्त के उपासक की तरह देखने का प्रयत्न करके अपने जीवन को सफल बनायें।

वेनस्तत् पश्यत् परमं गुहा यद्
यत्र विश्वं भवत्येकरूपम्।
इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः
स्वर्विदो अभ्यनूषत व्राः ॥२।१।१॥

अर्थ—(वेनः) तत्वदर्शी विद्वान् ही (तत्) उस ब्रह्म को (पश्यत्) देख सकता है (यत्) जो (परमं) सब से परली वस्तु है (गुहा) और जो मानो गुफा में छिपा हुआ है (यत्र) जिसमें (विश्वं) सब (एकरूपं) एक-रूप (भवति) हो जाता है (इदं) इस ब्रह्म को (पृश्निः) अनेक वर्णों वाली प्रकृति (अदुहत्) प्रकट करती है (जायमानाः) उत्पन्न हो रही (स्वर्विदः) सुख को प्राप्त करना चाहने वाली (व्राः) नाना व्यवहारों में फंसी हुई प्रजायें (अभ्यनूषत) उसी ब्रह्म की स्तुति करती हैं।

भगवान् संसार की सबसे परली—सब से उत्कृष्ट वस्तु है। उन में सब कुछ एक-रूप हो जाता है। हमारे लिये दया और न्याय पृथक् दो चीजें हैं। परन्तु भगवान् की जो दया है वही उनका न्याय है। जो न्याय है वही उनकी दया है। इत्यादि। इसका यह भी भाव हो सकता है कि भगवान् के आधार से प्रलयावस्था में सब जगत् एक-रूप हो जाता है। परन्तु ये भगवान् साधारण लोगों के लिये गुफा में छिपे रहते हैं। तत्त्वदर्शी ज्ञानी ही इनको देख सकता है। प्रकृति के बने संसार की चीजों में जो रचना-कौशल है उसे देख कर ज्ञानी लोग भगवान् को पहचानते हैं। इस प्रकार प्रकृति ब्रह्म को प्रकट करती है। भगवान् 'स्वः' अर्थात् सुखस्वरूप हैं। इसलिये जिन्हें सुख प्राप्त करना हो उन्हें भगवान् के चरणों में जाना चाहिये और उनकी स्तुति करनी चाहिये।

प्र तद् वोचेद् अमृतस्य विद्वान्
गन्धर्वो धाम परमं गुहा यद्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य
यस्तानि वेद स पितुष्पितासत् ॥२।१।२॥

अर्थ—(गन्धर्वः) वेदवाणी को अपने आत्मा में धारण करने वाला (अमृतस्य) उस अमृत ब्रह्म को (विद्वान्) जानने वाला विद्वान् ही (तद्) उस का (वोचेद्) उपदेश कर सकता है (यत्) जो कि (धाम) सब का आश्रय है (परमं) सब से उत्कृष्ट परली वस्तु है (गुहा) जो अज्ञानियों के लिये गुफा में छिपा पड़ा है (अस्य) इस ब्रह्म के (त्राणि) तीन (पदानि) अंश (गुहा) गुफा में (निहिता) रखे हैं (यः) जो (तानि) उनको (वेद) जान ले (सः) वह (पितुः) पिता का भी (पिता) पिता (असत्) हो जाता है।

जिस ने वेदविद्या को समझ कर उस अमृत को जान लिया है वही उसके विषय में उपदेश कर सकता है। औरों के लिए तो वह गुफा में छिपी हुई वस्तु है। उसके तीन अंश गुफा में छिपे पड़े हैं, इस वाक्य का भाव समझने के लिये वेद के पुरुष सूक्त के "पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" (यजुः० ३१।३) इस वाक्य पर ध्यान देना चाहिये। यह जो प्रकृति का बना विश्व ब्रह्माण्ड है, जिसका अन्त कोई नहीं पा सकता, उसके सम्बन्ध में आने वाला और उसका संचालन करने वाला तो भगवान् का एक ही अंश है, शेष तीन अंश तो उसके अपने अमृतमय, प्रकाशमय स्वरूप में ही हैं। अनन्त और निरवयव भगवान् के चार अंश नहीं हो सकते। यह केवल उसकी असीमता बताने का एक आलंकारिक

ढङ्ग है। जो भगवान् के इन छिपे हुए तीन पदों को भी जान लेता है—उसके निरुपाधिक स्वरूप को भी समझ लेता है—वह ज्ञानी हो जाने के कारण पिता का भी पिता हो जाता है। ब्रह्म-ज्ञानी ही असल में पिता है।

स नः पिता जनिता स उत बन्धु-
र्धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामध एक एव
तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥२।१।३॥

अर्थ—(सः) वह परब्रह्म ही (नः) हमारा (पिता) पिता है (जनिता) वही हमारा उत्पन्न करने वाला है (उत) और (सः) वही (बन्धुः) हमारा बन्धु है, वह (विश्वा) सब (धामानि) धामों को और (भुवनानि) लोकों को (वेद) जानता है (यः) जो कि (एकः) एक (एव) ही (देवानां) सब देवों के (नामधः) नामों को धारण करने वाला है (तं) उस (संप्रश्नं) पूछने योग्य की ओर ही (सर्वा) सब (भुवना) प्राणी (यन्ति) जाते हैं—सब का गन्तव्य, ज्ञातव्य और प्राप्तव्य वही है।

भगवान् से बढ़कर हमारा वास्तविक पिता और कौन हो सकता है? हमारे पार्थिव माता-पिताओं और बन्धुओं से बढ़ कर वही हमारे ऊपर मंगलों की वर्षा करने वाला पिता और बन्धु है। वह सब लोकों को भी जानता है और सब धामों को भी। 'धाम' कहते हैं किसी वस्तु के जन्म, नाम और स्थान को। वह भगवान् सब लोकों में पाई जाने वाली सब वस्तुओं के जन्म, नाम और स्थान के सम्बन्ध में सब कुछ जानता है। उस से किसी की कोई बात छिपी हुई नहीं है सब देवों के नाम वास्तव में उसी के हैं। कर्त्तव्य और शक्ति-भेद से उसी को भिन्न-भिन्न देवताओं के रूप में समझ लिया जाता है। देवता अनेक नहीं हैं। एक ही परब्रह्म देवता के अनेक नाम हैं। वह पूछने योग्य हो—जानने योग्य हो—सब का अन्तिम ठिकाना है। उस को प्राप्त करके ही सब प्राणियों को कल्याण प्राप्त होता है।

परि द्यावापृथिवी सद्य आयम्
उपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य।
वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा
धास्युरेष नन्वे३ षो अग्निः ॥२।१।४॥

अर्थ—(द्यावा-पृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक में, मैं (सद्यः) शीघ्र ही (परि आयम्) चारों ओर फिर आया हूं (ऋतस्य) सत्य ज्ञान के (प्रथमजाम्) सर्व-प्रथम उत्पादक भगवान् के (उपातिष्ठे) समीप मैं तो पहुँचा हूँ (वक्तरि) बोलने वाले में (इव) जैसे (वाचं) वाणी छिपी होती है उसी तरह यह परब्रह्म भी (भुवनेष्ठाः) सब भुवन में स्थित है (एषः) यह भगवान (धास्युः) सब का धारण करने वाला है (ननु) निश्चय से (एषः) यह (अग्निः) जीवन को गरमी और ज्ञान का प्रकाश देकर आगे ले जाने वाला है।

उपासक कह रहा है कि मैं अपने मानसिक विचार द्वारा सारे संसार में फिर आया हूं। मैं तो सब वस्तुओं को विचार-पूर्वक देखने के पीछे भगवान् के समीप ही पहुँचा हूं। मैंने तो सब जगह भगवान् की ही लीला देखी है। वह भगवान् सब में रमा हुआ है। परन्तु जैसे बोलने वाले की वाणी बोलने से पहले छिपी पड़ी होती है उसी तरह विचार पूर्वक देखने से पहले यह भी छिपा रहता है। परन्तु देखने वालों को यह बड़ा स्पष्ट दीखता है। उन्हें अनुभव होता है कि सब का धारण करने वाला तो यही है, सब को जीवन की गरमी और प्रकाश देकर आगे ले जाने वाला तो यही है।

परि विश्वा भुवनान्यायम्
ऋतस्य तन्तुं विततं दृशे कम्।
यत्र देवा अमृतमानशानाः
समाने योनावध्यैरयन्त ॥२।१।५॥

अर्थ—(विश्वा) सब (भुवनानि) लोकों में (परि आयम्) चारों ओर फिर आया हूं, मैं तो (ऋतस्य) सत्य ज्ञान के (तन्तुं) आधार तन्तु-रूप

वन (कं) सुखस्वरूप भगवान् को ही (विततं) फैला हुआ (दृशे) देखता हूँ (यत्र) जिस (समाने) सब के एक-समान (योनौ) आश्रय स्थान में (अमृतम्) अमृत का (आनशानाः) उपभोग करते हुये (देवाः) मुक्तात्मा देव-पुरुष (अध्यैरयन्त) विचरण करते हैं।

ज्ञानी को मानसिक विचार-द्वारा सब जगत् का भ्रमण करने के पीछे सर्वत्र ब्रह्म-तन्तु ही फैला हुआ दृष्टिगोचर होता है। माला के मणियों में जैसे उसके तन्तु के कारण परस्पर अनुकूलता और एकता होती है इसी प्रकार इस ब्रह्म-तन्तु के कारण सब विश्व में परस्पर अनुकूलता और एकता है। वह भगवान् अमृत का समुद्र है। सब मुक्त देव लोग उसी समुद्र में अमृत का उपभोग करते हुए विचरण करते हैं।

चारित्र्य-सम्पत्तिः

[ले० श्री डा० मङ्गलदेव शास्त्री एम० ए०—भूतपूर्व प्रिंसिपल गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज—बनारस]

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥
(यजु० १९।३०)

परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा
मा सुचरिते भज। (यजु० ४।२८)

व्रत-ग्रहण

अथवा

चारित्र्य-संपत्ति

व्रताचरण से ही मनुष्य को दीक्षा अथवा उन्नत जीवन की योग्यता प्राप्त होती है। दीक्षा से दक्षिणा अथवा प्रयत्न की सफलता प्राप्त होती है। दक्षिणा से अपने जीवन के लक्ष्य अथवा आदर्शों में श्रद्धा, और श्रद्धा से सत्य अथवा वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति होती है। (यजु० १९।३०)

हे प्रकाशस्वरूप देव! मुझे दुश्चरित से बचाकर सुचरित में स्थापित कीजिए। (यजु० ४।२८)

: १० :

व्रतमात्मविशुद्धये

व्रत से आत्मविशुद्धि

"अग्ने! व्रतपते व्रतं चरिष्यामि...
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥" (यजु० १।५)

अर्थात्, हे व्रतपते प्रकाश-स्वरूप देव! मेरी प्रार्थना है कि मैं व्रत का पालन करता हुआ अनृत से सत्य की ओर प्रगति करूँ।

जीवन के उत्थान और विकास के लिए आत्म-विश्वास और आत्मिक शक्ति की आवश्यकता है। आत्मिक शक्ति और आत्म-विश्वास अनुशासन, व्रताचरण और नियम-पालन से ही प्राप्त हो सकते हैं। जीवन में व्रतों के ग्रहण और पालन का यही रहस्य है। इसी सिद्धान्त का विशदी-करण किसी व्रती के मुख से नीचे के पद्यों में कराया गया है:—

उत्तरोत्तरमुत्कर्षं जीवने लब्धुमुत्सुकः।
प्रतिजाने चरिष्यामि व्रतमात्मविशुद्धये॥१॥

अपने जीवन में उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करने के लिए मैं उत्सुक हूँ। आत्म-विशुद्धि या पवित्राचरण से ही यह हो सकता है उस आत्म-विशुद्धि के लिए व्रताचरण की मैं प्रतिज्ञा करता हूँ।

व्रतानां पालनेनैव तद् गूढमात्मदर्शनम्।
जायते यमिनां नूनमात्मविश्वासकारणम्॥२॥

व्रतों के पालन से ही संयमी मनुष्यों को निश्चय ही अपने उस गूढ़ स्वरूप का दर्शन होता है जो कि आत्म-विश्वास का कारण होता है। अभिप्राय यह है कि व्रतों के आचरण से ही मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप और शक्ति को पहचानता है, और इसी प्रकार उसमें आत्म-विश्वास की भावना का उदय होता है।

ऋषिभिर्मुनिभिश्चैव लोकानां मार्गदर्शकैः।
सेवितो विततः पन्था एष नैवात्र संशयः॥३॥

संसार को सन्मार्ग दिखाने वाले ऋषियों और मुनियों ने वास्तव में इसी विशद मार्ग का सेवन किया था।

अभिप्राय यह है कि व्रताचरण द्वारा ही मनुष्य ऋषि और मुनि की पदवी को प्राप्त कर सकता है।

विश्वस्य विविधं कार्यं कुर्वन्तोऽत्र निरन्तरम्।
व्रतानां पालनेनैव देवा अमृतभोजिनः ॥ ४॥

विश्व के विभिन्न कार्यों को निरन्तर नियमपूर्वक करने वाले अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवताओं को व्रतों के पालने के कारण से ही अमृत-भोजी (=अमृत अथवा अमृतत्व का सेवन करने वाले) कहा गया है। दूसरे शब्दों में, अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवता विश्व के संचालनार्थ अपने अपने महान् व्रत अथवा कर्तव्य का अविचल-भाव से पालन करते हैं। इसी आधार पर उनको 'अमृत-भोजी' कहा गया है।

अभिप्राय यह है कि व्रताचरण द्वारा ही मनुष्य को अपने अमृतत्व या शाश्वत जीवन का बोध हो सकता है।

व्रतेन प्राप्यते दीक्षा दक्षिणा दीक्षयाप्यते।
तया च प्राप्यते श्रद्धा श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥५॥

व्रताचरण से ही मनुष्य को दीक्षा अथवा उन्नत जीवन की योग्यता प्राप्त होती है। दीक्षा से दक्षिणा अथवा प्रयत्न की सफलता प्राप्त होती है। दक्षिणा से अपने जीवन के लक्ष्य अथवा आदर्शों में श्रद्धा, और श्रद्धा से सत्य अथवा वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

अभिप्राय यह है कि व्रतों के पालने से ही मनुष्य अपने जीवन के परम लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

: ११ :

ब्रह्मचर्यम्

ब्रह्मचर्य

"ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति" (अथर्व० ११।५।२४)

अर्थात्, ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करने वाला ही प्रकाशमान ब्रह्म को धारण करता है।

ऊपर मनुष्य के लिए व्रताचरण की महिमा का वर्णन किया है। सब व्रतों के मूल में ब्रह्मचर्य-व्रत है। उसी का वर्णन नीचे के पद्यों में किया गया है:—

जीवनं वै महान् यज्ञस्तस्य सिद्ध्यै मनीषिभिः।
ब्रह्मचर्यव्रतस्यादौ ग्रहणमुपदिश्यते ॥ १॥

जीवन एक महान् यज्ञ है। उसकी सफलता के लिए मनुष्य को जीवन के प्रारम्भ में ही ब्रह्मचर्य-व्रत ग्रहण करना चाहिए, ऐसा मनीषियों का उपदेश है।

प्रासादस्य विनिर्माणे मूलभित्तिरपेक्ष्यते।
तथैव जीवनस्यादौ ब्रह्मचर्यमपेक्ष्यते ॥ २॥

जैसे किसी महल के बनाने में नींव की अपेक्षा होती है। उसी प्रकार जीवन के प्रारम्भ में ब्रह्मचर्य की अपेक्षा होती है।

ब्रह्मचर्यव्रतं चीर्णं यैस्तैरेव तपस्विभिः।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षो जीवने लभ्यते ध्रुवम् ॥ ३॥

तप के रूप में ब्रह्मचर्य के व्रत को पूर्ण करने वाले मनुष्य ही निस्सन्देह जीवन में उत्तरोत्तर उत्कर्ष को प्राप्त करते हैं।

ब्रह्मचर्येण सर्वोऽर्थः सिद्धो भवति भूतले।
तस्यैवेहातिसंक्षिप्ता काचिद् व्याख्या विधीयते ॥४॥

संसार में प्रत्येक लक्ष्य की प्राप्ति ब्रह्मचर्य से होती है। उसी की कुछ अति संक्षिप्त व्याख्या यहाँ की जाती है।

सर्वेषामपि वस्तूनां यत्तत्कारणमव्ययम्।
कूटस्थं शाश्वतं दिव्यं, वेदो वा, ज्ञानमेव यत् ॥५॥
तदेतदुभयं ब्रह्म ब्रह्मशब्देन कथ्यते।
तदुद्दिश्य व्रतं यस्य ब्रह्मचारी स उच्यते ॥६॥

विश्व की समस्त वस्तुओं का जो अक्षय, कूटस्थ, शाश्वत, दिव्य मूलकारण है उसको, तथा ज्ञानरूपी वेद को भी, ब्रह्म शब्द से कहा जाता है। इस प्रकार के ब्रह्म की प्राप्ति के उद्देश्य से जो व्रत ग्रहण करता है उसी को ब्रह्मचारी कहते हैं।

समष्टिरूपं यद् ब्रह्म तद्रूपं ज्ञानमेव यत्।
ताभ्यां सायुज्यसंपत्त्यै ब्रह्मचारी सदेप्सति ॥७॥

समस्त पदार्थों की समष्टि-रूप जो ब्रह्म है, तथा समष्ट्यात्मक (अथवा व्यापक) जो ज्ञान है, उन दोनों के साथ सायुज्य अथवा तादात्म्य की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचारी सदा इच्छा करता है।

एतस्यां भूमिकायां तु तिष्ठतो ब्रह्मचारिणः।
उत्तरोत्तरमुत्कृष्टं जीवनं लक्ष्यमुच्यते ॥ ८॥
"भद्रादभि श्रेयः प्रेहि", भद्रं भद्रं न आभर[२]"।
इत्येवं बहुशो मन्त्रैरेष एवार्थ उच्यते ॥ ९॥

१ ऐतरेयब्राह्मण १।१३।

२ सामवेद पू० २।८।९।

उक्त मानसिक परिस्थिति में वर्तमान ब्रह्मचारी के लिए उत्तरोत्तर उत्कृष्ट जीवन ही लक्ष्य होता है। "तुम भद्र से भद्रतर जीवन को प्राप्त करो", "भगवन्! हमारे लिए बराबर कल्याण को ही लाइये" इस प्रकार अनेकानेक वेद-मन्त्र इसी तत्त्व को कहते हैं।

तदर्थं स्वीयशक्तीनां विकासः संचयस्तथा।
श्रमेण तपसा वृत्तिः संयमेन पुरस्कृता ॥१०॥
चारित्र्यस्य विनिर्माणं विद्याया अर्जनं तथा।
प्रथमं तस्य कर्तव्यं जायते प्रथमाश्रमे ॥११॥

उक्त लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रथम आश्रम (= ब्रह्मचर्याश्रम) में उसका मुख्य कर्तव्य होता है—अपनी शक्तियों का विकास और संचय, मन वाणी और शरीर के संयम के साथ श्रम और तप का आचरण, चरित्र का निर्माण और विद्या का उपार्जन।

तपसा पारमाप्नोति तपसा हन्ति किल्बिषम्।
तपसा वर्तमानः स उन्नतेमूर्ध्नि तिष्ठति ॥१२॥

तप द्वारा वह (ब्रह्मचारी) अपने अभीष्ट पद को प्राप्त करता है और पाप या अपूर्णता को दूर कर अपने चरित्र को उज्ज्वल और पवित्र बनाता है। तप का आचरण करता हुआ वह उन्नति के शिखर पर आसीन होता है।

तपसा निर्मलो भूत्वा परिपाकेन शुद्धधीः।
द्वितीयमाश्रमं गत्वा सर्वस्येष्टे न संशयः ॥१३॥

तप से चरित्र की दुर्बलताओं को दूर कर और मनोविकास द्वारा तत्त्वावगाहिनी विशुद्ध बुद्धि को प्राप्त कर वह द्वितीय गृहस्थ-आश्रम में प्रविष्ट हुआ समस्त परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने में समर्थ होता है।

"ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्त्ति
तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः"[1]।
"ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण
लोकांस्तपसा पिपर्त्ति"[2] ॥१४॥
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते"[3] ॥१५॥
"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्"[4] ॥१६॥
इत्यादिवेदमन्त्रैश्च वैदिकोदात्तभाषया।
ब्रह्मचर्यस्य माहात्म्यं रहस्यं चोपवर्ण्यते ॥१७॥

"ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करने वाला प्रकाशमान ब्रह्म को धारण करता है और उसमें समस्त देवता ओत-प्रोत होते हैं (अर्थात् वह समस्त देवताओं से प्रकाश और शक्ति को प्राप्त कर सकता है)।"

"समिधा और मेखला द्वारा अपने व्रतों को पालन करता हुआ ब्रह्मचारी श्रम और तप के प्रभाव से लोकों को आपूरित करता है।

"ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा अपने राष्ट्र की रक्षा में समर्थ होता है। ब्रह्मचर्य द्वारा ही आचार्य ब्रह्मचारी की शिक्षणार्थ चाहता है।"

"ब्रह्मचर्य के तप से ही देवताओं ने मृत्यु को दूर भगा दिया है। ब्रह्मचर्य द्वारा ही इन्द्र ने देवताओं को दिव्य प्रकाश लाकर दिया है।"

इत्यादि वैदिक मन्त्र भी अपनी उदात्त भाषा में ब्रह्मचर्य की महिमा और रहस्य का वर्णन करते हैं।

: १२ :

इन्द्रियाश्वान् वशीकृत्य

इन्द्रिय-संयम

"मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधातु" (यजु० २।१०)

अर्थात्, सर्वशक्ति-निधान परमात्मा हमारी इन्द्रियों को पुष्ट और स्वस्थ बनावें।

"वाचं...प्राणं...चक्षुः...श्रोत्रं...ते शुन्धामि"
(यजु० ६।१४)

अर्थात् मैं तेरे वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र आदि को पवित्र करता हूँ।

किसी भी व्रत के ग्रहण और आचरण में इन्द्रियों का संयम प्रथम कर्तव्य होता है। इसीलिए इन्द्रिय-संयम की आवश्यकता का प्रतिपादन नीचे के पद्यों में किया जाता है:—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन प्रजा नित्यं विमोहिताः।
यममन्दिरसान्निध्यं स्वयं यान्तीति विस्मयः ॥१॥

यह आश्चर्य की बात है कि इन्द्रियों में प्रसक्ति के कारण मोह और भुलावे में पड़ कर मनुष्य स्वयं मृत्यु के घर के समीप पहुँचते रहते हैं।

१ अथर्व० ११।५।२४।
२ अथर्व० ११।५।४।
३ अथर्व० ११।५।१७।
४ अथर्व० ११।५।१९।

मूलं प्रायेण रोगाणामिन्द्रियाणामसंयमः ।
संयमस्तु पुनस्तेषामारोग्याय बलाय च ॥२॥

इन्द्रियों के असंयम से ही प्रायः रोग हुआ करते हैं। परन्तु उनके संयम से मनुष्य आरोग्य और बल को प्राप्त करता है।

इन्द्रियाश्वान् वशीकृत्य नियतं नियतात्मना ।
जीवनाध्वानुसर्तव्यः कल्याणमभिलष्यता ॥ ३ ॥

जीवन की यात्रा में इन्द्रियाँ घोड़ों के समान हैं। इसलिए आत्म-कल्याण चाहने वाले मनुष्य को चाहिए कि वह संयम-नियम से रहता हुआ ही इन्द्रिय-रूपी घोड़ों को वश में रख कर जीवन के मार्ग पर चले।

वश्येन्द्रियस्तदर्थान् वै भुञ्जानो न विषीदति ।
जीवनस्य च साफल्यं लभते नात्र संशयः ॥ ४ ॥

इन्द्रियों को वश में रख कर उनके विषयों का उपभोग करने वाला विषाद को प्राप्त नहीं होता। वह निस्सन्देह अपने जीवन को सफल बना सकता है।

: १३ :

सुखस्य कारणं स्वान्तम्

मन ही सुख का कारण है।

"भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये" (यजु० १९।२९)।

अर्थात्, पाप को विनाश करने के लिए अपने मन को भद्र-भावनाओं से युक्त बनाओ।

"मनस्त आप्यायताम्" (यजु० ६।१५)।

अर्थात्, तेरा मन पुष्ट और धैर्यवान् हो।

इन्द्रियों में मन मुख्य है। उसको इन्द्रियरूपी घोड़ों का लगाम भी कहा जाता है। वास्तव में मनुष्य के सुख-दुःख का कारण मन ही है। इसलिए उसी के संयम की आवश्यकता को नीचे के पद्यों में बतलाया गया है—

विषयानुपभुञ्जानैः सुखप्राप्तिधिया नरैः ।
सुखस्य कारणं स्वान्तमित्येतदवधार्यताम ॥ १ ॥

मनुष्य सुख-प्राप्ति के विचार से विषयों का उपभोग करते हैं। उनको समझ लेना चाहिए कि वास्तव में सुख का कारण मन ही है।

इसी सिद्धान्त को युक्ति से सिद्ध करते हैं—

तमेव विषयं प्राप्य सुखदुःखे ततो नृणाम् ।
मनोऽवस्थितिभेदेन जायेते इति दृश्यते ॥ २ ॥

मन ही सुख का कारण है। इसीलिए ऐसा देखा जाता है कि एक ही विषय को पाकर मन की अवस्था के भेद से मनुष्यों को सुख और दुःख हुआ करते हैं। मन की अवस्था के भेद से एक ही वस्तु हमें कभी सुखद और कभी दुःखद हो जाती है।

अत एवाभियुक्तानां मतमेतन्मनीषिणाम् ।
आत्मायत्तं मनो यस्य स एव सुखमश्नुते ॥ ३ ॥

इसीलिए विचारशील विद्वानों का यह मत है कि वही मनुष्य सुख को पाता है जिसने अपने मन को अधिकार में कर रखा है।

: १४ :

अविचारकृतं कर्म

विना विचार के किया हुआ कर्म

"मज्जन्त्यविचेतसः" (ऋग्० ९।६४।२१)

अर्थात्, अविचारशील मनुष्य दुःख को प्राप्त होते हैं।

विचारपूर्वक कार्य करने की प्रवृत्ति वाला मनुष्य ही अपनी इन्द्रियों के आवेगों को रोक सकता है, इसी विषय का प्रतिपादन नीचे के पद्यों में किया गया है:—

पूर्वजन्मकृतं कर्म कारणं सुखदुःखयोः ।
दैवं वेत्येष विश्वासः प्रायो लोके प्रवर्त्तते ॥१॥
एवं भवतु मा वा भूद् विद्यते नात्र संशयः ।
अविचारकृतं कर्म नूनं दुःखस्य कारणम् ॥२॥

पहले जन्म में किया हुआ कर्म अथवा दैव (या भाग्य) सुख-दुःख का कारण होता है; ऐसा विश्वास प्रायः संसार में फैला हुआ है। वस्तु-स्थिति चाहे ऐसी हो अथवा न हो, इसमें संदेह नहीं है कि बिना विचार के, केवल किसी आवेग के वश, किया हुआ काम अवश्य दुःख का हेतु होता है।

तथा च दृश्यते लोका इन्द्रियाणामसंयमात् ।
लभन्ते प्रत्यहं दुःखमनुतापं तथोल्बणम् ॥ ३ ॥

सो प्रतिदिन देखने में आता है कि लोग इन्द्रियों के असंयम से दुःख और अत्यन्त अनुताप को पाते हैं।

जिह्वालौल्ये प्रसक्तो यो यस्य वा वागसंयता ।
अचिरेणैव पीडायाः पात्रतां याति स ध्रुवम् ॥४॥

उदाहरणार्थ, जो जिह्वा के चटोरेपन का आदी है या जिसकी वाणी संयत नहीं है उसे शीघ्र ही निश्चय ही पीड़ा का पात्र बनना पड़ता है।

आत्मा नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव है

[विद्याभास्कर श्री पं० उदयवीर जी शास्त्री, आचार्य महाविद्यालय, ज्वालापुर]

भारतीय दर्शन आत्मा को अधिभूत से पृथक् तथा चेतन बताते हैं। चाहे किसी ने चेतना को उसका गुण बताया, अथवा स्वरूप, पर किसी ने यह नहीं कहा, कि आत्मा चेतन नहीं है इस लेख द्वारा केवल कपिल के आत्म-सम्बन्धी विवेचन को प्रस्तुत किया जायगा प्रसंगवश आधुनिक आधिभौतिकवादी विद्वानों के चेतना-सम्बन्धी विचारों को भी संक्षेप में प्रकट करने का प्रयत्न किया जायगा। कपिल ने अपने शास्त्र में आत्मा के लिये विशेष रूप से 'पुरुष' पद का प्रयोग किया है, यह पद सांख्य में 'चेतन' मात्र का प्रतीक है, संसार में अनुभूयमान त्रिगुणात्मक अचेतन तत्त्व प्रकृति का अंश है, इससे सर्वथा विलक्षण एक और तत्त्व है, जो चेतन है, जिसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति स्वतः अपने रूप में करता है। वह चाहे स्त्री पुरुष बाल वृद्ध पशु पक्षी कृमि कीट पतंग आदि किसी रूप में है, सांख्य का 'पुरुष' पद सर्वत्र चेतन मात्र का बोध कराता है। इसीका अपर नाम 'आत्मा' है।

सांख्यषडध्यायी के प्रथमाध्याय के उन्नीसवें सूत्र में इसको महर्षि कपिल ने नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव बताया है। यह 'नित्य' पद शुद्ध बुद्ध और मुक्त प्रत्येक के साथ संबद्ध समझना चाहिये। आत्मा नित्य शुद्ध है, नित्य बुद्ध है और नित्य मुक्त है। आत्मा की इस स्थिति का कहीं अन्यत्र से आपात नहीं होता, प्रत्युत यह उसका 'स्व-भाव' है। इनका विवरण इस प्रकार समझना चाहिये।

यह नित्य शुद्ध है। शुद्ध का अभिप्राय है—आत्मा में किसी प्रकार के विकार का न होना। प्रकृति अशुद्ध है, क्योंकि वह परिणामिनी है, यद्यपि आत्मा प्रकृति से प्रभावित होता है, सुख दुःख आदि का अनुभव करता है, राग द्वेष काम विचिकित्सा आदि के कारण व्याकुल होता है, क्षुधा तृष्णा आदि इसको बराबर बेचैन करती हैं, यहां तक कि प्रकृति के प्रभाव में चेतन भी यह अज्ञानी कहलाता है। फिर भी इन सब प्रकार की अवस्थाओं में आत्मा के वास्तविक स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। एक व्यक्ति जो तीव्र दुःख का अनुभव कर रहा है, रोता है, पछाड़ खाता है, शरीर में इन क्रियाओं के होने पर भी आत्मा इनसे प्रभावित होता है, अन्यथा इन क्रियाओं की संभावना ही नहीं हो सकती थी, फिर भी आत्मा के वास्तविक स्वरूप में इनसे कोई अन्तर या विकार नहीं आता। सुखी और दुःखी, कामी और निष्काम कहे जाने वाले व्यक्तियों की आत्मा सदा एक समान रहती है। आत्मा में किसी प्रकार का विकार न आना ही आत्मा की शुद्धता है। उसका यह स्वरूप सदा एक सा बना रहता है, इसलिये उसे नित्य शुद्ध माना गया है।

यह नित्य बुद्ध है। 'बुद्ध' पद का अर्थ है—चेतन अथवा ज्ञानस्वरूप। आत्मा चेतन है, उसका यह स्वरूप कभी रूपान्तर [अचैतन्य] में परिवर्तित नहीं होता, इसी लिये इसके साथ 'नित्य' पद लगाया गया है, यह सदा एक चेतन रूप में अवस्थित रहता है। सांख्य का यह परम सिद्धान्त है, कि चेतन अचेतन रूप में अथवा अचेतन चेतन रूप में कभी परिवर्तित नहीं होते। केवल आधिभौतिकवाद अथवा केवल आत्मवाद में ऐसी स्थिति नहीं है। वहां अचेतन चेतन के और चेतन अचेतन के रूप में परिवर्तित माना जाता है। प्राचीन आधिभौतिकवादी बृहस्पति और चार्वाक का कहना है, कि जिस प्रकार दधि + गोमय के मिश्र का परिणाम बिच्छू अथवा तत्सदृश या असदृश कोई कृमि है, उसी प्रकार पृथिव्यादी भूतों के विशेष मिश्र का परिणाम चैतन्य है। पृथक् भूतों में चैतन्य का अस्तित्व नहीं है, पर उनका मिश्र चैतन्य रूप में परिणत हो जाता है। आधुनिक आधिभौतिकवादी विद्वान् भी चैतन्य के आधार सत्त्वमूल [= जीवनमूल-प्रोटोप्लॉज्म] के उपादान-भूत पृथक् तत्त्वों [कार्बन, ऑक्सिजन, नाइट्रोजन, हाइड्रोजन, स्फुर गन्धक, लोहा, पोटाशियम, सोडियम आदि] में चैतन्य को न मानकर उनके मिश्र में स्वीकार करते हैं। वर्त्तमान विज्ञान ने परीक्षण द्वारा यह प्रदर्शित किया है, कि तत्त्वों के ये दोनों रूप एक दूसरे में परिवर्त्तित हो सकते हैं, इसी प्रकार केवल आत्मवाद का पोषक शङ्कर, सम्पूर्ण जगत् को चेतन ब्रह्म का परिणाम होने के कारण चेतन मानकर उसमें अविभावित [अप्रकट] चैतन्य की कल्पना करता है। पर कपिल इस प्रकार के परिवर्त्तनों को स्वीकार नहीं करता।

वह चेतन को नित्य चेतन मानता है, और अचेतन को सदा अचेतन।

लगभग पैंसठ वर्ष पूर्व पाश्चात्य विज्ञान परम्परा में परमाणु की आन्तरिक रचना की ओर किसी वैज्ञानिक का विशेष ध्यान नहीं गया था, उस समय मैडम क्यूरी और अध्यापक बेकरल ने रेडियो ऐक्टिविटी के अन्वेषण के अनन्तर यह भी खोज की, कि परमाणु अपने आप में कोई ठोस पदार्थ नहीं है। सन् १८९२ ईसवी में पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने परमाणु-रचना के सम्बन्ध में पता लगाया, कि इसका अधिक भाग रिक्त स्थान आकाशतत्त्व से बना है, और उसकी परिधि की कोई निश्चत रेखा नहीं खींची जा सकती। प्रत्युत कुछ विद्युत्कण [एलेक्ट्रॉन्] के पुंजों से ही वह परिधि बनी होती है, ये पुंज परमाणु की परिधि में ऐसे ही घूमते रहते हैं, जैसे सौर मण्डल के ग्रह सूर्य की परिधि में घूमा करते हैं। तब तक पदार्थ के परमाणु तत्त्व को अविभाज्य माना जाता था। १८९२ में ही मैडम क्यूरी ने रेडियम नाम के एक ऐसे परमाणु तत्त्व का पता लगाया, जो बाह्यशक्ति के प्रयोग के बिना ही ताप और प्रकाश की किरणों का प्रक्षेप कर सकता था। इस अन्वेषण से तत्कालीन वैज्ञानिक चौंक उठे। तब परमाणु-रचना सम्बन्धी अन्वेषण में तत्पर होकर वे इस परिणाम पर पहुँचे, कि परमाणु अविभाज्य तत्त्व नहीं है। उसका विभाजन हो सकता है, और यह भी संभव है, कि परमाणु, पदार्थ तत्त्व न होकर केवल शक्तिपुंज हो। 'पदार्थ' से अभिप्राय जड़ और 'शक्ति' से चेतन का है।

आज के वयोवृद्ध प्रसिद्ध वैज्ञानिक ऐल्बर्ट आइन्स्टीन[1] ने अब से लगभग पचपन वर्ष पूर्व इस आशय की स्थापना की थी, कि पदार्थ [जड़ तत्त्व] को शक्ति [चेतन तत्त्व] में परिवर्तित किया जासकता है। वर्षों तक आइन्स्टीन की इस स्थापना को कोरी कल्पना माना गया। परन्तु १९१० ईसवी में लॉर्ड रदर फोर्ड ने अपने परीक्षणों के परिणामस्वरूप यह निश्चय किया कि परमाणु का अधिक भाग केवल रिक्त स्थान से बना होता है। उसकी परिधि में कुछ गतिशील विद्युत्कण रहते हैं, इनके क्षेत्र को 'न्यूक्लियस्' कहा जाता है, परमाणु की परिधि में लगभग यह उतने ही भाग को घेरता है, जितना कि एक मील की परिधि में एक छोटा सा बादाम 'न्यूक्लियस्' का अर्थ है—क्रिया का केन्द्र, अथवा उत्पादन या प्रजनन का केन्द्र। यह क्रिया का केन्द्र परमाणु में, तथा उत्पादन या प्रजनन का केन्द्र सेॅल् में होने पर कहा जाता है। सेॅल् की रचना अनेकानेक परमाणुओं से मिलकर होती है। स्वतः परमाणु का गठन भी एक रहस्य है। इसके छोटे से कलेवर में एक छोटा सा संसार बना हुआ है। इसकी रचना इलेॅक्ट्रान् प्रोटोन और न्यूट्रॉन् नामक विद्युन्मय कणों से होती है। प्रत्येक तत्त्व या वस्तु का भेद इन कणों की संख्या पर निर्भर करता है। पहले दोनों प्रकार के विद्युत्कण क्रमशः ऋणात्मक और धनात्मक कहे जाते हैं, और इनमें पहला दूसरे के चारों ओर तीव्र गति से भ्रमण किया करता है। तीसरे में इन दोनों विशेषताओं का अभाव रहता है, उसको उदासीन कहना चाहिये।

किसी सेॅल् में परमाणु के गतिशील विद्युत्कणों को, जिनका नाम 'न्यूक्लियस्' बताया गया है, पाश्चात्य दर्शन के साथ प्राच्यदर्शन की समानता को प्रकट करने का प्रयत्न करने वाले कतिपय भारतीय विद्वानों ने 'तेज' नाम दिया है। अभिप्राय यह है, कि इस गतिशील विद्युत्कण-अवस्था का नाम 'तेज' है। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया है, कि तत्त्व [=पदार्थ-जड़] और तेज [चेतन] में कोई अन्तर नहीं है। दोनों एक ही वास्तविकता के दो रूप हैं। इस 'न्यूक्लिअस्' में ऋणात्मक और धनात्मक विद्युत्कणों का विस्फोट होता रहता है, उससे ही आगे विद्युत्तरंग बनती रहती है।

डॉक्टर ऐल्बर्ट आइन्स्टीन ने परमाणु [जड़ अंश] और तेजतत्त्व [चेतन अंश] के सम्बन्ध में अपने अन्वेषणों के परिणामस्वरूप बतलाया है, कि गुरुत्वाकर्षण और चुम्बकीय विद्युत्कण [Electro-magnetion] परस्पर सम्बद्ध और एक दूसरे में रूपान्तरित होने वाली शक्तियां हैं। गत शताब्दी के वैज्ञानिक चुम्बक और विद्युत् के परस्पर सम्बन्धों का अन्वेषण करते रहे हैं। आइन्स्टीन ने अब प्रमाणित किया है, कि विद्युत् रूप में प्रकाश और चुम्बक धारायें एक ही तेजतत्त्व के दो रूप हैं। दोनों एक ही रीति और गति से शून्य के चारों ओर प्रसारित होती हैं। उसने यह भी बताया है, कि प्रकाशधाराओं की तरह

[1]—आज २०।४।५५ के समाचार पत्र में अचानक पढ़ा कि इस जगत्प्रसिद्ध अद्वितीय वैज्ञानिक का परसों १८।४।५५ में दिन के १ बजकर १५ मिनट पर रक्तवश धमनी के फट जाने से देहावसान हो गया।

आकर्षणधारा भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचने में समय लेती है, और एक समग्र समय लेती हैं। इस प्रकार आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है, कि पदार्थ के परमाणु किसी शक्ति प्रवाह से प्रभावित होकर स्वयं चेतन तेज में परिणत हो जाते हैं। पदार्थ [जड़] और शक्ति [चेतन] मूलतः एक ही शक्ति की सत्ता के दो रूप हैं। प्रत्येक पदार्थ शक्ति के रूप में परिणत हो सकता है, और शक्ति पदार्थ के रूप में परिवर्तित हो जाती है।

पाश्चात्य विद्वानों के लेखों से प्रकट होता है, कि संसार में जो तत्त्व पाये जाते हैं, उनके दो रूप हैं—चेतन और अचेतन। आइन्स्टीन तथा उस विचारधारा को पुष्ट करने वाले अन्य वैज्ञानिकों के कथन का निष्कर्ष इतना है, कि जिस तत्त्व में आज हम जीवन के लक्षण पाते हैं, और इसी कारण जिसे चेतन कहते हैं, कालान्तर में वे लक्षण उसमें नहीं पाये जाते। तथा जिन तत्त्वों को हम जीवन लक्षणों से रहित पाते हैं, कालान्तर में उनमें जीवन के लक्षण प्रतीत होने लगते हैं। इस प्रकार जीवन [चेतन] और अजीवन [जड़] एक ही मूल वस्तु के दो रूप हैं। पर इस विषय में यह विचारणीय है, कि मूल वस्तु का वास्तविक रूप क्या है? यह बात आदिकाल से आज तक विवादग्रस्त है। इस पर विवाद करने वाले दोनों पक्षों में से कोई भी असंदिग्ध रूप में यह निर्णय नहीं दे सका, कि उसके द्वारा स्वीकृत मूलतत्त्व के स्वरूप को ही क्यों सत्य माना जाय, और दूसरे को क्यों न माना जाय।

आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों के—चेतन और अचेतन के पारस्परिक सम्बन्ध को प्रकट करने वाले—इन विचारों में असंदिग्ध रूप से कोई बात स्पष्ट नहीं हो पाई है। कारण यह है, कि परमाणु की रचना के सम्बन्ध में अभी तक विज्ञान किसी अन्तिम सत्य को प्रकट नहीं कर सका। इसका अभिप्राय यह नहीं, कि यह कभी प्रकट नहीं हो पायगा। इसकी अन्तिम वास्तविक अवस्था को प्राचीन भारतीय ऋषियों ने पहचाना था, और आधुनिक विज्ञान उस ओर बराबर अग्रसर हो रहा है। प्राचीन ऋषियों ने जगत् के मूल कारण की वास्तविक अन्तिम स्थिति को किन साधनों के द्वारा जान पाया था, इस विषय में तो आज हम अपने आपको अन्धकार में ही पाते हैं, परन्तु जो परिणाम उन्होंने प्रस्तुत किये हैं, उनकी केवल इस कारण उपेक्षा नहीं की जा सकती, कि आधुनिक विज्ञान के खोज-उपायों के साथ उसका ताल-मेल नहीं खाता। वस्तु की यथार्थता पर ध्यान देना आवश्यक है, न कि उसके बाह्याडम्बरों और प्रसाधनाओं पर।

भारतीय ऋषियों ने चेतन तत्त्व को स्वतन्त्र मानकर जगत् के उपादान जड़तत्त्व को उससे पृथक् एवं चेतनाशक्ति के नियन्त्रण में विविध क्रिया व गतियों का आधार माना है। उन्होंने मूल उपादान को सर्वथा अविभाज्य बताया है, हम उसके लिये 'परमाणु' पद का प्रयोग कर सकते हैं, आधुनिक विज्ञान ने परमाणु के नाम पर जिन तत्त्वों के विभाजन का पर्यवेक्षण यान्त्रिक अनुसन्धानों द्वारा प्रस्तुत किया है, वह वास्तविक रूप में परमाणु अथवा मूलतत्त्व नहीं है। वह तत्त्वों की सर्गारम्भ के अनन्तर की अवस्था है, जो वास्तविक मूलतत्त्वों के मिथुन हो जाने से निर्मित हो चुके हैं। उनका विभाजन होना शक्य है। दृश्यमान स्थूल जगत् की अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म होने, तथा सर्ग की आद्यस्थिति होने के कारण साधारण व्यवहार में हम उन अमूल एवं कार्यभूत तत्त्वों के लिये ही—मूल तत्त्व के लिये प्रयुक्त—'परमाणु' जैसे पद का प्रयोग करते रहते हैं। और फिर यह कहने लगते हैं, कि परमाणु अविभाज्य नहीं है। जहां तक तत्त्वों के विभाग का पर्यवेक्षण प्रस्तुत किया जा सकता है, वहां हम मूल उपादान तक पहुँचे कहां हैं? 'मूल उपादान' और 'अविभाज्य' इनको अलग नहीं किया जा सकता। उसी स्थिति का नाम 'परमाणु' है। प्राचीन भारतीय ऋषिओं के मूल उपादान सम्बन्धी वर्णनों का इतना ही सार है। यदि किन्हीं प्राचीन आचार्यों ने भी विभाज्य तत्त्वों को ही 'परमाणु' रूप में वर्णन किया है, तो उसे भी वर्त्तमान वैज्ञानिक विचारधारा की सीमा में ही समझना चाहिये।

प्राचीन ऋषि और आधुनिक विज्ञान की टक्कर यहीं पर हो जाती है, कि आधुनिक विज्ञान चेतन की स्वतन्त्र एवं पृथक् सत्ता स्वीकार नहीं करता। चेतन और जड़ दोनों एक ही मूल वस्तु के दो रूप हैं, इतना कहकर चुप हो जाता है। पर यह तो निर्णय होना चाहिये, कि उस मूलवस्तु का स्वरूप क्या है? जड़ या चेतन, अथवा पदार्थ या शक्ति? जब इन दोनों का एक दूसरे के रूप में हम परिवर्त्तित होना मान लेते हैं, तो यह निर्णय करना अशक्य है, कि इनमें मूल कौन सा है? अथवा मूल का स्वरूप क्या इन दोनों से विलक्षण होना चाहिये? और तब वह क्या होगा?

यदि मूल में दोनों रूपों की सत्यता मानी जाती है, तो यह कहना निराधार हो जाता है, कि वे दोनों एक ही मूल वस्तु के दो रूप हैं, यदि मूलवस्तु को इन दोनों [जड़-चेतन] से विलक्षण माना जाता है, तो यह प्रत्यक्ष और विज्ञान का सर्वथा अपलाप है; क्योंकि आज तक किसी भी तरह ऐसे तीसरे तत्त्व की प्रतीति नहीं हो सकी है, जो चेतन और अचेतन दोनों का मूल हो, तथा इन दोनों से विलक्षण हो, अर्थात न चेतन हो और न अचेतन। फिर भी यदी किसी ऐसे तत्त्व की कल्पना कर ली जाती है, तो उस कथन की सत्यता प्रमाणित करना दुःशक होगा, कि मूल तत्त्व एक रूप है। क्योंकि उसके वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में हम सर्वथा अन्धकार में रहते हैं, जब कि संसार में चेतन् और अचेतन के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का अस्तित्व नहीं पाते। इस कथन में यह स्वारस्य है, कि कार्य के अनुसार ही कारण अर्थात् मूल उपादान की कल्पना की जा सकेगी? बौद्धों ने जगत् को शून्य कहा, तो कारण भी शून्य माना। शंकर ने, जगत् को अनिर्वचनीय बताया, तो उसका उपादान भी अनिर्वचनीय कल्पना किया। गौतम कणाद ने इसे चातुर्भौतिक बताया, तो मूल भी वैसा ही माना। कपिल ने जगत् को विलक्षण अर्थात् त्रिगुणात्मक माना है, तो उसका मूल कारण भी वैसा ही स्वीकार किया। पर यह कल्पना अशक्य है, कि जगत् को चेतन अचेतन उभयरूप मानकर उसका मूल उपादान एक रूप माना जाय। क्योंकि ये दोनों सत्ता परस्पर इतनी विरुद्ध हैं, कि इन रूपों में किसी भी एक वस्तु का होना अशक्य है। इसलिये मूल में चेतन और अचेतन दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करना अनिवार्य है। वे ही स्वरूप अपनी स्थिति में अब उपलब्ध होते हैं।

परमाणु अथवा मूल उपादान की जो कुछ भी रचना व स्थिति है, वह सर्वात्मना जड़तत्त्व है। अपनी इस स्वाभाविक स्थिति से वह परिवर्त्तित नहीं किया जा सकता। जो शक्ति अथवा शक्ति-प्रवाह उसे परिवर्त्तित करने के लिये प्रेरित करता है, उसका अस्तित्व परमाणु से निश्चित पृथक् है। वही चेतन तत्त्व है। पर वह किसी अवस्था में अचेतन को चेतन रूप में परिवर्त्तित नहीं करता। गुरुत्वाकर्षण अथवा चुम्बकीय विद्युत्कण यह सब अचेतन का ही स्वरूप है। भारतीय ऋषियों ने जिस स्थिति में पहुँच कर चेतना का अनुभव किया है, वर्त्तमान विज्ञान उस दिशा में अभी अग्रसर नहीं हो रहा। वह अचेतन की स्थिति में ही चेतन की खोज करना चाहता है। अथवा चेतन के अस्तित्व का सर्वथा अपलाप न कर सकने के कारण वह अपने आप को इस रूप में अचेतन के साथ ही बहला लेना चाहता है, जो सर्वथा अन्धेरे में लाठी चलाने के समान है।

मूलवस्तु की इस विवादग्रस्त वास्तविकता को उपेक्षित न करते हुए भी अचेतन के चेतनरूप परिणाम को एक दूसरे पहलू से विचारना आवश्यक होगा। इस दृष्टि में मूल तत्त्व अचेतन है। उसके अतिरिक्त मूल में अन्य कोई तत्त्व नहीं। अचेतन मूल तत्त्व ही एक विशेष अवस्था में चेतन रूप में परिणत हो जाता है। भारतीय दर्शन शास्त्र में पर्याप्त प्राचीन काल से यह विचारधारा प्रचलित है। इसका उपज्ञ आचार्य बृहस्पति था। और चार्वाक इसका विशेष प्रचारक था। छान्दोग्य उपनिषद् [८।७-८ की इन्द्र-विरोचन की कथा में विरोचन इस विचार का प्रतिनिधि है। आधुनिक काल में विशेष रूप से इस विचार धारा को कॉल मॉर्क्स व ऐँन्जल्स् आदि अधिभौतिकवादी पाश्चात्य विद्वानों ने प्रस्तुत किया है। यद्यपि इस रूप से तत्त्व विचार में इन विद्वानों ने मुख्यतया आर्थिक दृष्टि को आधार बनाया है आचार्य बृहस्पति के दृष्टिकोण का आधार क्या था, यह आज सहस्त्रों सदियों के अनन्तर उसकी किसी सीधी रचना के अभाव में कहना दुःशक है, पर तत्त्व विचार में परिणाम दोनों जगह एक जैसे हैं। यह अवश्य संभव है, कि आज की तरह उस काल की सामाजिक अवस्था ने आचार्य बृहस्पति को सन्मुख उक्त विचार प्रस्तुत करने के लिये बाध्य कर दिया हो। आचार्य ऐँन्जल्स् की विचारधारा को पुष्ट करने की दिशा में 'श्रामती ओल्गा वोरिसोव्ना लपेँशिन्स्काया' नामक एक रूसी महिला के अनुसन्धान व परीक्षण विशेष ध्यान देने योग्य हैं। उसका विवरण इस प्रकार समझना चाहिये।

यह एक शताब्दी पुरानी समस्या है, जब सन् १८५८ ईसवी में 'एडॉल्फ विर्चो' ने एक पुस्तक लिखी, जिसका नाम है सैलुलर पैथालॅजी। वहां उसने यह सिद्धान्त स्थापित किया है, कि जैसे एक दीवार ईंटों से मिलकर बनती है, अथवा दीवार की रचना में ईंट एक प्रकार की इकाइ है, ऐसे ही जन्तु या वनस्पति शरीर की रचना में एक विशेष प्रकार की इकाइयां भाग लेती हैं, ऐसी प्रत्येक इकाइ को 'सॅल' कहते हैं। उनका यह भी कहना है, कि एक 'सॅल'

की उत्पत्ति किसी पहले विद्यमान 'सॅ`ल्' से ही होती है। 'सॅ`ल्' पद यहाँ चेतना को प्रस्तुत करता है। सर्वप्रथम जिस छोटे से छोटे देह में चेतना के लक्षण प्रकट होते हैं, उसका नाम 'सॅ`ल्' है। ऐसे सॅ`ल् में वह द्रव जिसके कारण जीवन के लक्षण दिखलाई पड़ते हैं—प्रोटोप्लाज्म है। विर्चों का यह विचार है, कि चेतन 'सॅ`ल्' अचेतन का परिणाम नहीं, वह यह एक मूल सॅ`ल् से अन्य सॅ`ल् की उत्पत्ति बताता है।

ऐंञ्जिल्स् ने विर्चों के उपर्युक्त मत पर आक्रमण किया है, उसने दो पुस्तकें इस विषय पर लिखी हैं—'डॅायलॅ`क्टि-क्स ऑफ् नेचर' और 'ऐन्टी ड्यूरिंग' इसने बताया है, कि सॅ`ल् का उद्भव भौतिक द्रव्य से हो सकता है। इसको और अधिक स्पष्ट करते हुए उसने लिखा है, कि सॅ`ल् एक आकृतिहीन प्रोटीन द्रव्य से बन सकते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में जीवन अर्थात् सॅ`ल्ज् का उद्भव इसी प्रकार हुआ। ऐंञ्जिल्स् अपने जीवन में इस मत को आधारपूर्वक स्पष्ट नहीं कर सका। इस अपूर्णता को अब श्रीमती ओल्गा बोरिसोव्ना लॅपेशिन्स्काया ने पूरा किया है।"

लॅपेशिन्स्काया एक आधिभौतिक वैज्ञानिक हैं, जिसने विर्चों के सिद्धान्त को असंगत सिद्ध किया है। उसका कहना है, कि सॅ`ल् जैसी जटिल रचना एकाएक नहीं बन सकती थी। उसने विचार किया, कि सॅ`ल् बनने से पूर्व जीवन का कोई अधिक सरल रूप था, वह अधिक सरल रूप जीवित प्रोटीन या प्रोटोप्लाज़्म हो सकता है, जिसमें जीवन की विघातक व विधायक क्रियाएं विद्यमान थीं। उसका विश्वास है, कि इस प्रकार का जीवित द्रव्य अब भी उपस्थित है। यह द्रव्य किसी प्राणी के शरीर के सॅ`ल्ज् के अन्तराल स्थानों में पाया जा सकता है। उसके मन में प्रश्न उत्पन्न हुआ, कि प्रोटोप्लाज़्म और सॅ`ल् का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? और क्या सेल्ज़् अब भी उस आकृतिहीन जीवित द्रव्य से उत्पन्न हो सकते हैं? लॅपेशिन्स्काया से पूर्व के तत्त्वानुचिन्तक के मस्तिष्क में ये प्रश्न उत्पन्न नहीं हुए थे।

जीवित प्रोटोप्लाज्म—जो कि सॅ`ल् नहीं है—यदि वह वास्तव में जीवित है, तो उसमें वृद्धि होनी चाहिए, और उससे ऊँची श्रेणी के द्रव्य तथा सॅ`ल्ज् भी उत्पन्न होने चाहियें। क्या यह बात मानी जा सकती थी, कि सेल्ज़् सहस्रों की संख्या में बिना जनयिताओं के प्रति घन्टे और प्रति मिनट उत्पन्न होते रहते हैं? संभवतः अब तक यह इस वैज्ञानिक के मन में एक कोरा विचार ही विचार कहा जा सकता था किन्तु इसको सिद्ध करने के लिये परीक्षण आवश्यक थे। लॅपॅ`शिन्स्काया ने बड़े साहस के साथ यह कार्य प्रारम्भ किया।

प्रकृति ने स्वयं एक वस्तु उसको निरीक्षण के लिये सुझाई और वह वस्तु थी मुर्गी का अण्डा। इस अण्डे में लॅपॅ`शि-न्स्काया को उसकी वाञ्छित वस्तु मिल गई। अर्थात् 'योक' [अण्डे का पीत भाग] के रूप में जीवित द्रव्य का एक संग्रह। विर्चों के अनुयायी इस योक को पोषक द्रव्य का एक भण्डार मानते हैं, उनके अनुसार भ्रूण के बनने में इस योक का पोषण के अतिरिक्त कोई दूसरा कार्य नहीं है। लॅपॅ`शिन्स्काया ने अपने मन में विचारा, कि 'क्या यह सिद्धान्त वास्तव में ठीक है?

माईक्रस्कोप [सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र] से इसने योक की साधारण रचना को देखा। उसको प्रतीत हुआ, कि इसके अन्दर एक सूक्ष्म बुद्बुदों का संग्रह है, और इनमें रचनारहित अर्द्धतरल पदार्थ भरा हुआ है। योक के शिखर पर एक बिन्दु बिना माइक्रस्कोप के भी दिखाई पड़ सकता है। यह बिन्दु 'साईकॅ`ट्रिकल्' या 'भ्रूणपट्टिका' [ऐम्ब्रियोनिक-डिस्क] है। विर्चों के अनुयायी कहते हैं, कि यही पट्टिका भविष्य में पैदा होने वाले प्राणी को बनाती है। अण्डे को आवश्यक ताप मानपर रक्खे जाने के अनन्तर यह पट्टिका दो चार और फिर आठ भागों में विभाजित हो जाती है, और अन्त में इन नये सॅ`ल्ज् से एक जटिल मुर्गी का बच्चा उनकी वृद्धि और विभाजन के परिणामस्वरूप बनता है। लॅपॅ`शिन्स्काया ने इस बात को ठीक नहीं माना। उसका ध्यान उस एक पदार्थ की ओर आकृष्ट हुआ, जो योक के अन्दर बिखरा हुआ रहता है। अर्थात् वास्तविक सॅ`ल्ज् में न्यूक्लिअस् वाला पदार्थ। यह न्यूक्लअस् का उपादानभूत पदार्थ सॅ`ल् की जीवित क्रियाओं का नियन्त्रण करता है। योक के अन्दर न्यूक्लिअस् के उपादानभूत पदार्थ की उपस्थिति से लॅपॅ`शिन्स्काया ने यह प्रमाणित किया कि योक का कार्य पोषण के अतिरिक्त कोई अन्य महत्त्वपूर्ण भी है।

लॅपॅ`शिन्स्काया ने यह भी देखा, कि प्रोटीन के रचना-रहित उन योकबुद्बुदों में—जिनको उष्ण न किया गया हो कुछ पृथक् पूर्ण रूप से बने हुए सॅ`ल् दिखलाई पड़ते हैं।

प्रश्न उठता है, कि ये सेॅल् यहां कहां से आये ? लॅपें शिन्स्काया के विरोधियों का कहना है, कि ये सेॅल् भ्रूण-पट्टिका से टूटकर आये हैं। लॅपें शिन्स्काया ने सोचा, कि हम यह क्यों न मानें, कि ये सेॅल् स्वयं योक के बुद्बुदों से ही बने हैं, इस धारणा की पुष्टि के लिये परीक्षण आवश्यक थे। यदि एक अण्डे में से 'साईकें ट्रिक्ल्' को निकाल दिया जाय, और फिर उसको आवश्यक तापमान में रक्खा जाय, तो विर्चों के अनुसार उसमें नये सेॅल्ज़् की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये। किन्तु लॅपें शिन्स्काया ने कितने ही परीक्षणों द्वारा यह सिद्ध किया, कि विर्चों की यह धारणा ठीक नहीं है। उसने यह प्रमाणित किया है, कि नये सेॅल् केवल पहले सेॅल्ज़् से ही नहीं बनते, प्रत्युत सीधे ही प्राणी के जीवित द्रव्य से भी बन सकते हैं।

[Window into an invisible world]
अदृश्य संसार में एक खिड़की

लॅपें शिन्स्काया ने हमको बहुत से फोटोग्राफ़ दिये हैं। मुस्कराते हुए वह कहती है, 'ये मेरे युद्ध-रत वीर हैं, ये आकार में बहुत छोटे हैं, इनका आकार कुछ ही 'माईक्रोन' है।' ये फ़ोटोग्राफ़ परीक्षणों के समय लिये गये थे। इनमें चित्रित घटनायें मुर्गी के अण्डे के योक में होती हैं। इन चित्रों से उन जटिल क्रियाओं का स्पष्टीकरण होता है, जो एक सेॅल् के जन्म और वृद्धि में हुआ करती हैं। पहला परीक्षण यह है—

एक शीशे की प्लेट पर कुछ उष्ण किया हुआ योक फैला दिया जाता है, अण्डे सेए जाने का तापमान इस योक पर स्थिर रक्खा जाता है। प्रश्न यह है, कि योक के बुद्बुदे (Globules) अब किस प्रकार क्रिया करेंगे। क्या वे एक अकर्मण्य पोषण-द्रव्य का ही काम करेंगे ?

माईक्रस्कोप के ऊपर एक कॅमरा लगाकर प्लेट पर प्रत्येक परिवर्त्तन का चित्र लिया जा सकता है। उसने एक फ़ोटोग्राफ़ में ग्लोब्यूल्ज़् [बुद्बुदों] की वृद्धि के समय से लेकर आगे दो घंटे तक के चित्र दिये हैं। देखने वाला देख सकता है, कि किस प्रकार एक आकृतिहीन वस्तु से एक दानेदार या कणयुक्त वस्तु बनती है। आगे के कुछ फ़ोटोग्राफ़ लेकर नये बनने वाले सेॅल् के अन्दर हम जीवन के प्रथम चिन्ह देख सकते हैं। सेॅल् गति करना आरम्भ करता है उस समय देखा जा सकता है;—कितनी हिचक के साथ मानो छोटे छोटे मिथ्यापाद [Pseudo-Pad = स्यूडो पॉड] केन्द्र की ओर से विभिन्न दिशाओं में बढ़ते हुए प्रतीत होते हैं। न्यूक्लिअस् जो एक मुख्यतम अवयव है, नये सेॅल में बनता हुआ प्रतीत होता है। कुछ अन्य परिवर्त्तन भी होते हैं। इस परीक्षण को यदि तीस घंटे तक लगातार देखा जाय, तो नवजात सेॅल् विभाजन द्वारा अपनी संख्या वृद्धि करते हुए दिखलाई पड़ते हैं।

कुछ नये फ़ोटोग्राफ़ हमें एक और अद्भुत रूपान्तरण का ज्ञान कराते हैं। इस बार परीक्षक ने जीवित अण्डे पर निरीक्षण किये हैं। इसमें देखा जा सकता है, कि किस प्रकार पीले योक के ग्लोब्यूल्ज़् रक्तवाहिनियों में परिवर्त्तित हो जाते हैं, और किस प्रकार अन्य ग्लोब्यूल्ज़् अपना रंग तथा आकृति बदल कर रक्त के सेॅल्ज़् बनते हैं, और उन वाहिनियों में भर जाते हैं।

एक परीक्षण और देखिये, इस बार आपको यह दिखलाया जायगा, कि एक जीवित सेॅल् से निकाला हुआ प्रोटोप्लाज़्म अपने व्यवहार में क्या क्या विशेषतायें प्रकट करता है। अब साधारण कॅमरा के स्थान पर एक चल-कॅमरा प्रयोग में लाया जायगा। परीक्षण के लिये इस बार 'हाइड्रा' लेते हैं। यह अलवण [असामुद्रिक] जल में रहने वाला एक क्षुद्र प्राणी है। इसका आकार लगभग एक सेॅन्टीमीटर होता होगा। कुछ 'हाइड्रा' लेकर उनको खरल में पीस लिया गया। प्रोटोप्लाज़्म को छानकर एक परीक्षण नली में इकट्ठा कर लिया। इस प्रोटोप्लाज़्म के अन्दर होने वाले परिवर्त्तनों का चल कॅमरे से लिया हुआ दृश्य स्पष्ट दिखायेगा, कि किस प्रकार एक स्वच्छ तरल पदार्थ में बिन्दु बनने प्रारम्भ होते हैं। ये भविष्य के सेॅल्ज़् हैं। फिर उसके अन्दर न्यूक्लिआई [न्यूक्लिअस् का बहुवचन है] बनते हैं। सेॅल्ज़् बनने के अनन्तर गति करते हैं, अन्त में विभाजित होकर संख्या वृद्धि करते हैं। यदि ये जनपितारहित [Parentless] सेॅल्ज़् पोषक माध्यम में तीन या चार महीने के लिये छोड़ दिये जायें, तो वे धातुओं का एक पूरा स्तर बना सकते हैं। तथा अनुकूल अवस्थाओं में इसी विधि से एक पूरा जन्तु 'हाइड्रा' बनकर तैयार हो सकता है।

इस प्रकार के अनेकों परीक्षणों द्वारा लॅपें शिन्स्काया को सन्तोष हो गया, कि विर्चों का सिद्धान्त—जो एक शताब्दी से ठीक माना जाता था—असंगत है। सेॅल् ही जीवित रहने योग्य अन्तिम तत्त्व नहीं है। केवल मात्र सेॅल् जीवन का एक किनारा नहीं है, जैसा कि विर्चों का

मत था। उसका यह विचार उतना ही अशुद्ध है, जितना यह कहना, कि सेॅल् की उत्पत्ति सेॅल् से ही होती है।

ऊपर की पंक्तियों में हमने लपेॅशिन्स्काया के जीवनोद्भव सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत करने का यत्न किया है। जहां तक विर्चों के मत को दोषयुक्त प्रमाणित करने का प्रश्न है, उक्त महिला द्वारा प्रस्तुत किये गये परीक्षण तथा उनका परिणाम प्रबल हैं। वस्तुतः विर्चो की इस मान्यता को असंगत सिद्ध करने में उक्त महिला सफल हुई है, कि कोई जीवित सेॅल् किसी अन्य जीवित सेॅल् से ही उत्पन्न हो सकता है। कदाचित् विर्चो यह स्वीकार करता प्रतीत होता है, कि संसार में जितने जीवित सेॅल् संभव हैं, उनकी रचना सर्ग के आदिकाल में हो चुकी थी। अनन्तर प्राणि-जगत् के सजातीयोत्पादन की व्यवस्था के अनुसार एक सेॅल् ही वृद्धि और विभाजन की प्रक्रिया से अन्य सेॅल् का जनक माना जा सकता है। इसके विपरीत लपेॅशिन्स्काया ने अनेक परीक्षणों से यह सिद्ध किया, कि आकृतिहीन द्रव्यों से इस समय भी जीवित सेॅल् की उत्पत्ति देखी जा सकती है। विर्चो के विचार से यदि सृष्टि के आरम्भ में आकृतिहीन द्रव्य से जीवित सेॅल् की उत्पत्ति संभव है, तो निश्चित ही वह इस समय भी और प्रत्येक समय संभव हो सकती है। क्योंकि उस प्रकार के द्रव्यों का अस्तित्व सदा रह सकता है। यदि विर्चो का यह विचार हो, कि जीवित सेॅल् की रचना नहीं होती, वह अनादि काल से ऐसा ही बना हुआ है, तो यह कथन भी असंगत होगा क्योंकि सेॅल् की रचना प्रत्यक्षतः होता हुई देखी जाती है।

मुख्य समस्या चेतना के उद्भव अथवा अस्तित्व की है। यह चेतना कहां से आ जाती है? लपेॅशिन्स्काया ने जो परीक्षण किये, और चित्रों द्वारा सेॅल् बनने की प्रक्रिया का जो प्रदर्शन किया, उनमें केवल इतनी सफलता प्रमाणित होती है, कि जो द्रव्य सेॅल् नहीं हैं, उनसे सेॅल् की रचना होती देखी जाती है। प्रश्न यह है, कि सेॅल् में चेतना कैसे व कहां से आई? महिला के उपर्युक्त विचारों में यह प्रकट किया गया है, कि जिन द्रव्यों से सेॅल् की रचना होती है, उनमें भी जीवन अथवा चेतना के लक्षण देखे जाते हैं। लेख के उपसंहार में भी यह कहा गया है, कि विर्चो का यह कथन अशुद्ध है, कि सेॅल् जीवन का एक किनारा है। इसका परिणाम यह निकलता है, कि सेॅल् के उपादान द्रव्यों में भी जीवन अथवा चेतना का अस्तित्व है। लपेॅशिन्स्काया के परीक्षण चाहे यह सिद्ध करने में सफल हुए हैं, कि एक सेॅल् की उत्पत्ति अन्य सेॅल् से ही नहीं होती, पर यह स्थिति तो फिर भी बनी रहती है, कि जीवित उपादान द्रव्यों से ही जीवित सेॅल् की उत्पत्ति होती है। लेख में इस बात को कहीं विस्मृत नहीं किया गया, कि सेॅल् के उपादान द्रव्य जीवित हैं। उनके साथ जीवित [Living] विशेषण सर्वत्र दिया गया है। लेख के उपक्रम व उपसंहार भी इसको स्पष्ट करते हैं। इस प्रकार यदि सेॅल् के उपादान द्रव्यों में जीवन अथवा चेतना का अस्तित्व उपलब्ध है, तो अजीवन अथवा अचेतन उपादान से जीवित सेॅल् की उत्पत्ति होती है, यह कथन सिद्ध नहीं होता। चाहे सेॅल् से सेॅल् उत्पन्न न हुआ हो, पर जीवन-युक्त उपादानों से जीवन युक्त सेॅल् उत्पन्न होती है, यह बात स्पष्ट हो जाती है।

जीवन या चेतना को समझने के लिये और आगे विचारिये। प्रश्न यह है, कि सेॅल् के उपादान द्रव्यों में भी चेतना कहां से आई? चेतना के अस्तित्व को प्रकट करने वाले विधायक या विघातक क्रियारूप लक्षण पहले पहल जहाँ दिखाई देते हैं, वहां चेतना का अस्तित्व जान लिया जाता है, पर वे उपादान द्रव्य अथवा उनसे उत्पन्न सेॅल् स्वयं चेतना नहीं हैं। यदि उपादान द्रव्यों के और पहले के उपादान द्रव्यों के साथ चेतना बैठी रहती है, पर साधनों के अभाव में अभी वहां विघातक या विधायक क्रियाओं का उद्भव नहीं हो पाया। जब उपादान द्रव्य इस अवस्था में आ जाते हैं, कि वहाँ उक्त क्रियाओं का उद्भव होने लगे, तो उस चेतना का अनुमान कर लिया जाता है। ऐसा स्वीकार करने पर यह प्रमाणित हो जाता है, कि अचेतन मूल उपादान द्रव्यों के साथ—पर उनसे सर्वथा पृथक् रूप में—चेतना बनी रहती है। अचेतन उपादान द्रव्य केवल उसके रहने के स्थान हैं। जब उपादान द्रव्य इस अवस्था में आते हैं, कि वहाँ क्रिया हो सके, तब क्रिया होने लगती है। इस प्रकार अचेतन से अतिरिक्त चेतना का स्वतन्त्र अस्तित्व प्रमाणित होता है।

यदि ऐसा नहीं स्वीकार किया जाता, तो सेॅल् के उपादान द्रव्यों में चेतना कहाँ से आ जाती है? यह स्पष्ट करना आवश्यक है, यह निश्चित है, कि उपादान द्रव्य स्वयं चेतना नहीं है। 'हाइड्रा' एक चेतन प्राणी है। जब वह कुचल पीस दिया जाता है, तब उसकी पूर्व चेतन अवस्था

की उत्पत्ति किसी पहले विद्यमान 'सॅल्' से ही होती है। 'सॅल्' पद यहां चेतना को प्रस्तुत करता है। सर्वप्रथम जिस छोटे से छोटे देह में चेतना के लक्षण प्रकट होते हैं, उसका नाम 'सॅल्' है। ऐसे सॅल् में वह द्रव जिसके कारण जीवन के लक्षण दिखलाई पड़ते हैं—प्रोटोप्लाज्म है। विर्चो का यह विचार है, कि चेतन 'सॅल्' अचेतन का परिणाम नहीं, जब वह एक मूल सॅल् से अन्य सॅल् की उत्पत्ति बताता है।

ऐन्जिल्स् ने विर्चो के उपर्युक्त मत पर आक्रमण किया है, उसने दो पुस्तकें इस विषय पर लिखी हैं—'डॉयलेॅक्टिक्स ऑफ् नेचर' और 'ऐॅन्टी ड्युरिंग' इसने बताया है, कि सॅल् का उद्भव भौतिक द्रव्य से हो सकता है। इसको और अधिक स्पष्ट करते हुए उसने लिखा है, कि सॅल् एक आकृतिहीन प्रोटीन द्रव्य से बन सकते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में जीवन अर्थात् सॅल्ज् का उद्भव इसी प्रकार हुआ। ऐॅन्जिल्स् अपने जीवन में इस मत को आधारपूर्वक स्पष्ट नहीं कर सका। इस अपूर्णता को अब श्रीमती ओल्गा बोरिसोव्ना लॅपेशिन्स्काया ने पूरा किया है।

लॅपेशिन्स्काया एक आधिभौतिक वैज्ञानिक हैं, जिसने विर्चो के सिद्धान्त को असंगत सिद्ध किया है। उसका कहना है, कि सॅल् जैसी जटिल रचना एकाएक नहीं बन सकती थी। उसने विचार किया, कि सॅल् बनने से पूर्व जीवन का कोई अधिक सरल रूप था, वह अधिक सरल रूप जीवित प्रोटीन या प्रोटोप्लाज़्म हो सकता है, जिसमें जीवन की विघातक व विधायक क्रियाएँ विद्यमान थीं। उसका विश्वास है, कि इस प्रकार का जीवित द्रव्य अब भी उपस्थित है। वह द्रव्य किसी प्राणी के शरीर के सॅल्ज् के अन्तराल स्थानों में पाया जा सकता है। उसके मन में प्रश्न उत्पन्न हुआ, कि प्रोटोप्लाज़्म और सॅल् का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? और क्या सेल्ज़् अब भी उस आकृतिहीन जीवित द्रव्य से उत्पन्न हो सकते हैं? लॅपेशिन्स्काया से पूर्व के तत्त्वानुचिन्तक के मस्तिष्क में ये प्रश्न उत्पन्न नहीं हुए थे।

जीवित प्रोटोप्लाज्म—जो कि सॅल् नहीं है—यदि वह वास्तव में जीवित है, तो उसमें वृद्धि होनी चाहिए, और उससे ऊँची श्रेणी के द्रव्य तथा सॅल्ज् भी उत्पन्न होने चाहियें। क्या यह बात मानी जा सकती थी, कि सेल्ज़् सहस्रों की संख्या में बिना जनयिताओं के प्रति घन्टे और प्रति मिनट उत्पन्न होते रहते हैं? संभवतः अब तक यह इस वैज्ञानिक के मन में एक कोरा विचार ही विचार कहा जा सकता था किन्तु इसको सिद्ध करने के लिये परीक्षण आवश्यक थे। लॅपेॅशिन्स्काया ने बड़े साहस के साथ यह कार्य प्रारम्भ किया।

प्रकृति ने स्वयं एक वस्तु उसको निरीक्षण के लिये सुझाई और वह वस्तु थी मुर्गी का अण्डा। इस अण्डे में लॅपेॅशिन्स्काया को उसकी वाञ्छित वस्तु मिल गई। अर्थात् 'योक' [अण्डे का पीत भाग] के रूप में जीवित द्रव्य का एक संग्रह। विर्चो के अनुयायी इस योक को पोषक द्रव्य का एक भण्डार मानते हैं, उनके अनुसार भ्रूण के बनने में इस योक का पोषण के अतिरिक्त कोई दूसरा कार्य नहीं है। लॅपेॅशिन्स्काया ने अपने मन में विचारा, कि क्या यह सिद्धान्त वास्तव में ठीक है?

माईक्रस्कोप [सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र] से इसने योक की साधारण रचना को देखा। उसको प्रतीत हुआ, कि इसके अन्दर एक सूक्ष्म बुद्बुदों का संग्रह है, और इनमें रचनारहित अर्द्धतरल पदार्थ भरा हुआ है। योक के शिखर पर एक बिन्दु बिना माइक्रस्कोप के भी दिखाई पड़ सकता है। यह बिन्दु 'साईकॅट्रिकल्' या 'भ्रूणपट्टिका' [ऐॅम्ब्रियोनिक-डिस्क] है। विर्चो के अनुयायी कहते हैं, कि यही पट्टिका भविष्य में पैदा होने वाले प्राणी को बनाती है। अण्डे को आवश्यक ताप मानपर रक्खे जाने के अनन्तर यह पट्टिका दो चार और फिर आठ भागों में विभाजित हो जाती है, और अन्त में इन नये सॅल्ज् से एक जटिल मुर्गी का बच्चा उनकी वृद्धि और विभाजन के परिणामस्वरूप बनता है। लॅपेॅशिन्स्काया ने इस बात को ठीक नहीं माना। उसका ध्यान उस एक पदार्थ की ओर आकृष्ट हुआ, जो योक के अन्दर बिखरा हुआ रहता है। अर्थात् वास्तविक सॅल्ज् में न्यूक्लिअस् वाला पदार्थ। वह न्यूक्लिअस् का उपादानभूत पदार्थ सॅल् की जीवित क्रियाओं का नियन्त्रण करता है। योक के अन्दर न्यूक्लिअस् के उपादानभूत पदार्थ की उपस्थिति से लॅपेॅशिन्स्काया ने यह प्रमाणित किया कि योक का कार्य पोषण के अतिरिक्त कोई अन्य महत्त्वपूर्ण भी है।

लॅपेॅशिन्स्काया ने यह भी देखा, कि प्रोटीन के रचनारहित उन योकबुद्बुदों में—जिनको उष्ण न किया गया हो कुछ पृथक् पूर्ण रूप से बने हुए सॅल् दिखलाई पड़ते हैं।

नहीं की जा सकती, कि आधु...

प्रश्न उठता है, कि ये सेॅल् यहां कहां से आये ? लॅपें शिन्स्काया के विरोधियों का कहना है, कि ये सेॅल् भ्रूण-पट्टिका से टूटकर आये हैं। लॅपें शिन्स्काया ने सोचा, कि हम यह क्यों न मानें, कि ये सेॅल् स्वयं योक के बुद्बुदों से ही बने हैं, इस धारणा की पुष्टि के लिये परीक्षण आवश्यक थे। यदि एक अण्डे में से 'साईकेॅट्रिक्ल्' को निकाल दिया जाय, और फिर उसको आवश्यक तापमान में रक्खा जाय, तो विर्चो के अनुसार उसमें नये सेॅल्ज़् की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये। किन्तु लॅपें शिन्स्काया ने कितने ही परीक्षणों द्वारा यह सिद्ध किया, कि विर्चो की वह धारणा ठीक नहीं है। उसने यह प्रमाणित किया है, कि नये सेॅल् केवल पहले सेॅल्ज़् से ही नहीं बनते, प्रत्युत सीधे ही प्राणी के जीवित द्रव्य से भी बन सकते हैं।

[Window into an invisible world]
अदृश्य संसार में एक खिड़की

लॅपें शिन्स्काया ने हमको बहुत से फोटोग्रॉफ् दिये हैं। मुस्कराते हुए वह कहती है, 'ये मेरे युद्ध-रत वीर हैं, ये आकार में बहुत छोटे हैं, इनका आकार कुछ ही 'माईक्रोन' है।' ये फोटोग्रॉफ परीक्षणों के समय लिये गये थे। इनमें चित्रित घटनायें मुर्गी के अण्डे के योक में होती हैं। इन चित्रों से उन जटिल क्रियाओं का स्पष्टीकरण होता है, जो एक सेॅल् के जन्म और वृद्धि में हुआ करती हैं। पहला परीक्षण यह है—

एक शीशे की प्लेट पर कुछ उष्ण किया हुआ योक फैला दिया जाता है, अण्डे सेए जाने का तापमान इस योक पर स्थिर रक्खा जाता है। प्रश्न यह है, कि योक के बुद्बुदे (Globules) अब किस प्रकार क्रिया करेंगे। क्या वे एक अकर्मण्य पोषण-द्रव्य का ही काम करेंगे ?

माईक्रस्कोप के ऊपर एक केॅमरा लगाकर प्लेट पर प्रत्येक परिवर्त्तन का चित्र लिया जा सकता है। उसने एक फ़ोटोग्रॉफ़ में ग्लोब्यूल्ज़् [बुद्बुदों] की वृद्धि के समय से लेकर आगे दो घंटे तक के चित्र दिये हैं। देखने वाला देख सकता है, कि किस प्रकार एक आकृतिहीन वस्तु से एक दानेदार या कणयुक्त वस्तु बनती है। आगे के कुछ फ़ोटोग्रॉफ् लेकर नये बनने वाले सेॅल् के अन्दर हम जीवन के प्रथम चिन्ह देख सकते हैं। सेॅल् गति करना आरम्भ करता है उस समय देखा जा सकता है,—कितनी हिचक के साथ मानो छोटे छोटे मिथ्यापाद [Pseudo-Pad = स्यूडो पॉड] केन्द्र की ओर से विभिन्न दिशाओं में बढ़ते हुए प्रतीत होते हैं। न्यूक्लिअस् जो एक मुख्यतम अवयव है, नये सेॅल् में बनता हुआ प्रतीत होता है। कुछ अन्य परिवर्त्तन भी होते हैं। इस परीक्षण को यदि तीस घंटे तक लगातार देखा जाय, तो नवजात सेॅल् विभाजन द्वारा अपनी संख्या वृद्धि करते हुए दिखलाई पड़ते हैं।

कुछ नये फ़ोटोग्रॉफ् हमें एक और अद्भुत रूपान्तरण का ज्ञान कराते हैं। इस बार परीक्षक ने जीवित अण्डे पर निरीक्षण किये हैं। इसमें देखा जा सकता है, कि किस प्रकार पीले योक के ग्लोब्यूल्ज़् रक्तवाहिनियों में परिवर्त्तित हो जाते हैं, और किस प्रकार अन्य ग्लोब्यूल्ज़् अपना रंग तथा आकृति बदल कर रक्त के सेॅल्ज़् बनते हैं, और उन वाहिनियों में भर जाते हैं।

एक परीक्षण और देखिये, इस बार आपको यह दिखलाया जायगा, कि एक जीवित सेॅल् से निकाला हुआ प्रोटोप्लाज़्म अपने व्यवहार में क्या क्या विशेषतायें प्रकट करता है। अब साधारण केॅमरा के स्थान पर एक चल-केॅमरा प्रयोग में लाया जायगा। परीक्षण के लिये इस बार 'हाइड्रा' लेते हैं। यह अलवण [असामुद्रिक] जल में रहने वाला एक क्षुद्र प्राणी है। इसका आकार लगभग एक सेॅन्टीमीटर होता होगा। कुछ 'हाइड्रा' लेकर उनको खरल में पीस लिया गया। प्रोटोप्लाज़्म को छानकर एक परीक्षण नली में इकट्ठा कर लिया। इस प्रोटोप्लाज़्म के अन्दर होने वाले परिवर्त्तनों का चल केॅमरे से लिया हुआ दृश्य स्पष्ट दिखायेगा, कि किस प्रकार एक स्वच्छ तरल पदार्थ में बिन्दु बनने प्रारम्भ होते हैं। ये भविष्य के सेॅल्ज़् हैं। फिर उसके अन्दर न्यूक्लिआई [न्यूक्लिअस् का बहुवचन है] बनते हैं। सेॅल्ज़् बनने के अनन्तर गति करते हैं, अन्त में विभाजित होकर संख्या वृद्धि करते हैं। यदि ये जनयितारहित [Parentless] सेॅल्ज़् पोषक माध्यम में तीन या चार महीने के लिये छोड़ दिये जायें, तो वे धातुओं का एक पूरा स्तर बना सकते हैं। तथा अनुकूल अवस्थाओं में इसी विधि से एक पूरा जन्तु 'हाइड्रा' बनकर तैयार हो सकता है।

इस प्रकार के अनेकों परीक्षणों द्वारा लपें शिन्स्काया को सन्तोष हो गया, कि विर्चो का सिद्धान्त—जो एक शताब्दी से ठीक माना जाता था—असंगत है। सेॅल् ही जीवित रहने योग्य अन्तिम तत्त्व नहीं है। केवल मात्र सेॅल् जीवन का एक किनारा नहीं है, जैसा कि विर्चो का

रहा था। उनका यह विचार उतना ही अशुद्ध है, जितना यह कहना, कि सॆल् की उत्पत्ति सॆल् से ही होती है।

ऊपर की पंक्तियों में हमने लॅपॆशिन्स्कया के जीवनोद्भव सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत करने का यत्न किया है। जहां तक विर्चो के मत को दोषयुक्त प्रमाणित करने का प्रश्न है, उक्त महिला द्वारा प्रस्तुत किये गये परीक्षण तथा उनका परिणाम प्रबल हैं। वस्तुतः विर्चो की इस मान्यता को असंगत सिद्ध करने में उक्त महिला सफल हुई है, कि कोई जीवित सॆल् किसी अन्य जीवित सॆल् से ही उत्पन्न हो सकता है। कदाचित् विर्चो यह स्वीकार करता प्रतीत होता है, कि संसार में जितने जीवित सॆल् संभव हैं, उनकी रचना सर्ग के आदिकाल में हो चुकी थी। अनन्तर प्राणि-जगत् के सजातीयोत्पादन की व्यवस्था के अनुसार एक सॆल् ही वृद्धि और विभाजन की प्रक्रिया से अन्य सॆल् का जनक माना जा सकता है। इसके विपरीत लॅपॆशिन्स्काया ने अनेक परीक्षणों से यह सिद्ध किया, कि आकृतिहीन द्रव्यों से इस समय भी जीवित सॆल् की उत्पत्ति देखी जा सकती है। विर्चो के विचार से यदि सृष्टि के आरम्भ में आकृतिहीन द्रव्य से जीवित सॆल् की उत्पत्ति संभव है, तो निश्चित ही वह इस समय भी और प्रत्येक समय संभव हो सकती है। क्योंकि उस प्रकार के द्रव्यों का अस्तित्व सदा रह सकता है। यदि विर्चो का यह विचार हो, कि जीवित सॆल् की रचना नहीं होती, वह अनादि काल से ऐसा ही बना हुआ है, तो यह कथन भी असंगत होगा क्योंकि सॆल् की रचना प्रत्यक्षतः होती हुई देखी जाती है।

मुख्य समस्या चेतना के उद्भव अथवा अस्तित्व की है। यह चेतना कहां से आ जाती है? लॅपॆशिन्स्काया ने जो परीक्षण किये, और चित्रों द्वारा सॆल् बनने की प्रक्रिया का जो प्रदर्शन किया, उनमें केवल इतनी सफलता प्रमाणित होती है, कि जो द्रव्य सॆल् नहीं हैं, उनसे सॆल् की रचना होती देखी जाती है। प्रश्न यह है, कि सॆल् में चेतना कैसे व कहां से आई? महिला के उपर्युक्त विचारों में यह प्रकट किया गया है, कि जिन द्रव्यों से सॆल् की रचना होती है, उनमें भी जीवन अथवा चेतना के लक्षण देखे जाते हैं। लेख के उपसंहार में भी यह कहा गया है, कि विर्चो का यह कथन अशुद्ध है, कि सॆल् जीवन का एक किनारा है। इसका परिणाम यह निकलता है, कि सॆल् के उपादान द्रव्यों में भी जीवन अथवा चेतना का अस्तित्व है। लॅपॆशिन्स्काया के परीक्षण चाहे यह सिद्ध करने में सफल हुए हैं, कि एक सॆल् की उत्पत्ति अन्य सॆल् से ही नहीं होती, पर यह स्थिति तो फिर भी बनी रहती है, कि जीवित उपादान द्रव्यों से ही जीवित सॆल् की उत्पत्ति होती है। लेख में इस बात को कहीं विस्मृत नहीं किया गया, कि सॆल् के उपादान द्रव्य जीवित हैं। उनके साथ जीवित [Living] विशेषण सर्वत्र दिया गया है। लेख के उपक्रम व उपसंहार भी इसको स्पष्ट करते हैं। इस प्रकार यदि सॆल् के उपादान द्रव्यों में जीवन अथवा चेतना का अस्तित्व उपलब्ध है, तो अजीवन अथवा अचेतन उपादान से जीवित सॆल् की उत्पत्ति होती है, यह कथन सिद्ध नहीं होता। चाहे सॆल् से सॆल् उत्पन्न न हुआ हो, पर जीवनयुक्त उपादानों से जीवन युक्त सॆल् उत्पन्न होती है, यह बात स्पष्ट हो जाती है।

जीवन या चेतना को समझने के लिये और आगे विचारिये। प्रश्न यह है, कि सॆल् के उपादान द्रव्यों में भी चेतना कहां से आई? चेतना के अस्तित्व को प्रकट करने वाले विधायक या विघातक क्रियारूप लक्षण पहले पहल जहां दिखाई देते हैं, वहां चेतना का अस्तित्व जान लिया जाता है, पर वे उपादान द्रव्य अथवा उनसे उत्पन्न सॆल् स्वयं चेतना नहीं हैं। यदि उपादान द्रव्यों के और पहले के उपादान द्रव्यों के साथ चेतना बैठी रहती है, पर साधनों के अभाव में अभी वहां विघातक या विधायक क्रियाओं का उद्भव नहीं हो पाया। जब उपादान द्रव्य इस अवस्था में आ जाते हैं, कि वहाँ उक्त क्रियाओं का उद्भव होने लगे, तो उस चेतना का अनुमान कर लिया जाता है। ऐसा स्वीकार करने पर यह प्रमाणित हो जाता है, कि अचेतन मूल उपादान द्रव्यों के साथ—पर उनसे सर्वथा पृथक् रूप में—चेतना बनी रहती है। अचेतन उपादान द्रव्य केवल उसके रहने के स्थान हैं। जब उपादान द्रव्य इस अवस्था में आते हैं, कि वहाँ क्रिया हो सके, तब क्रिया होने लगती है। इस प्रकार अचेतन से अतिरिक्त चेतना का स्वतन्त्र अस्तित्व प्रमाणित होता है।

यदि ऐसा नहीं स्वीकार किया जाता, तो सॆल् के उपादान द्रव्यों में चेतना कहां से आ जाती है? यह स्पष्ट करना आवश्यक है, यह निश्चित है, कि उपादान द्रव्य स्वयं चेतना नहीं है। 'हाइड्रा' एक चेतन प्राणी है। जब वह कुचल पीस दिया जाता है, तब उसकी पूर्व चेतन अवस्था

नहीं की जा सकता,

प्रतीत नहीं होती, किसी भी प्राणी की नहीं होती। लॅपें शिन्स्काया ने परीक्षण किया, कि बहुत से 'हाइड्रा' लेकर पीस लिये गये, और उनका स्वच्छ तरल छानकर एक परीक्षण नली में भर दिया। उसको आवश्यक तापमान में रखने पर देखा जा सका, कि वहां कुछ ऐसी क्रियाओं का उद्भव हो रहा है, जिनसे वहां चेतना का अस्तित्व परिलक्षित होता है। कालान्तर में वहां एक जीवित पूरा 'हाइड्रा' बन सकता है। क्या इस परीक्षण से यह परिणाम निकाला जा सकता है, कि उस तरल का कोई अंश चेतनारूप में परिणत हो गया है? जीवित 'हाइड्रा' क्या है? एक भौतिक देह, और दूसरी उसमें बैठने वाली चेतना। यदि वह चेतना किसी भौतिक उपादान का रूपान्तर माना जाता है, तो इस मान्यता में अनेक बाधा हैं।

प्रथम कोई ऐसा उपादान द्रव्य प्रस्तुत नहीं किया गया, जिसका रूपान्तर चेतना हो। जितने उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं, वे केवल देह की रचना को स्पष्ट करते हैं। दूसरे यह, कि एक चेतनायुक्त शरीर में चेतना के लक्षण न रहने पर भी शरीर के किसी सॅल की आधुनिक रीति से जब परीक्षा की जाती है, तो उसका परिणाम यही आता है, कि यह सॅल् जीवित है। इसका निष्कर्ष यह निकलता है, कि भारतीय ऋषियों ने चेतना तत्त्व का जिस रूप में विवेचन किया है, और जिस स्थिति में उसे पहचाना है, वह आधुनिक परीक्षा सीमा में नहीं आता। वह उससे परे की वस्तु है। आधुनिक विज्ञान को इसका समाधान करना चाहिये, कि यदि मृत देह के सॅल्ज् उसी तरह जीवित हैं, तो उनमें पहले के समान क्रिया क्यों नहीं होती? यदि कहा जाय, कि वहां कुछ ऐसे सॅल्ज् बिगड़ गये या नष्ट हो गये हैं, जिन पर पहले जैसी क्रियाओं का होना आधारित था, तो निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है, कि उन सेल्ज् का—यदि वास्तविक रूप में वे कोई सॅल्ज् ही है—समझना या पकड़ा जाना आधुनिक विज्ञान की सीमा व शक्ति से बाहर है। क्योंकि देह की उस स्थिति को उसी रूप में लौटाया जाना अशक्य है। इससे दूसरी ओर यह कहना ठीक होगा, कि चेतन का रूप भौतिक नहीं है। भारतीय ऋषियों ने उसका साक्षात्कार इसी रूप में किया है।

इसके अतिरिक्त 'हाइड्रा' के परीक्षण को एक और पहलू से विचारिये। उसका तरल आवश्यक तापमान और अनुकूल पोषण की स्थितियों में एक नवीन 'हाइड्रा' को प्रस्तुत कर सकता है। क्या यह परिस्थिति किसी अन्य प्राणी अथवा चाहे जिस प्राणी के तरल में संभव है? हमें देखना यह चाहिये, कि उक्त परीक्षण किस उद्देश्य से किया गया है। किसी भी जन्तु-देह के कुचल पीस देने पर उसके पूर्व सॅल्ज् अपनी ठीक अवस्था में नहीं रह सकते, वे बुरी तरह टूट फूट जाते हैं। पर उन सॅल्ज् के उपादान द्रव्य किसी न किसी अवस्था में तो विद्यमान रहते ही हैं। वे आवश्यक ताप मान तथा अन्य पोषक साधन प्राप्तकर पुनः सॅल् की रचना में समर्थ हो जाते हैं, क्योंकि वहां ऐसे ही उपादान द्रव्यों का संग्रह है, जिनसे 'हाइड्रा' का देह आरम्भ होता है। इसलिये यह अधिक संभव है, कि वहां वह देह उत्पन्न हो सके। पर यह प्रत्येक प्राणी की अवस्था में संभव नहीं। हां! यह संभव है, कि प्रत्येक प्राणि-देह के इस प्रकार के तरल में कोई न कोई प्राणी-देह उत्पन्न हो सके। यह एक साधारण बात है, कि कोई ऐसा तरल जो देह-धातुओं का संग्रह है, आवश्यक ताप मान और अनुकूल पोषण की स्थितियों में किसी देहान्तर का उपादान बन सकता है।

उदाहरण के लिये किसी वन्य पशु, साधारण पशु अथवा मानव का ही एक जीवित मांस पिण्ड लीजिये। उसको अच्छी तरह कुचल पीसकर उसका तरल निकाल लेने पर परीक्षण नली में रख उसे आवश्यक तापमान देने से उसमें कोई भी सूक्ष्म कृमि-देह उत्पन्न हो सकते हैं। देह की रचना जितनी अधिक जटिल होगी, इस रूप में उसका उत्पन्न किया जाना उतना ही अधिक अशक्य है। पशु अथवा मानव की देहरचना अत्यधिक जटिल है, जब की सूक्ष्म कृमि आदि की देह रचना उनकी अपेक्षा कुछ कम जटिल कही जा सकती है। यद्यपि हमारे ज्ञान और सामर्थ्य को देखते हुए उसकी जटिलता भी महान् है। इस प्रकार 'हाइड्रा' के परीक्षण के आधार पर यह कदापि नहीं कहा जा सकता, कि प्रत्येक प्राणी का इस प्रकार पुनरुज्जीवन किया जा सकता है। फलतः परीक्षण के उतने अंश को देखना है, जिस उद्देश्य से वह किया गया है। उससे विप्रों के मत की असंगति तो स्पष्ट हो जाती है, पर अजीवन से जीवन के उद्भव को बताने में वे असफल ही रहे हैं।

यह बात कही जा चुकी है, कि सॅल्स्वयं चेतना या जीवन नहीं है। यह चेतना का निवासस्थान कहा जा

सकता है। जब हम यह कहते हैं, कि सेॅल् से ही सेॅल् न बनकर आकृतिहीन द्रव्यों से भी सेॅल् बन जाता है, और उसका यह अर्थ समझते हैं, कि अजीवन से जीवन के उद्भव का हमने कथन किया है, तब हम सेॅल् को ही चेतना मान लेते हैं। लॅपेशिन्स्काया के परीक्षण तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानों के एतत्सम्बन्धी समस्त वर्णन इसी आधार पर किये गये हैं। यदि सेॅल् ही चेतना है, तो कोई भी सेॅल् अजीवित न होना चाहिये। पर ऐसा नहीं है। जैसे कुछ सेॅल् जीवित हैं, ऐसे ही अधिक सेॅल् अजीवित भी हैं। तब चेतना को सेॅल् से अतिरिक्त मानना अनिवार्य होगा, जब कि हम प्रत्येक सेॅल् के उपादान द्रव्य को मूल में एक समान ही पाते हैं। इस प्रकार जिन मूल उपादान द्रव्यों के साथ चेतना आ बैठती है, उनसे चेतना के अनुकूल देहका आरम्भ हो जाता है, वे जीवित सेॅल् कहे जा सकते हैं, शेष रचना अजीवित रह जाती है। इस विवेचन के आधार पर भूत भौतिक अथवा समस्त अचेतन तत्त्व से अतिरिक्त चेतन तत्त्व का अस्तित्व स्वीकार करना अधिक प्रामाणिक एव संगत है। फलतः सांख्य का अथवा भारतीय वैदिक दर्शनों का यह सिद्धान्त—कि आत्मा नित्य-बुद्ध अर्थात् सदा चेतन स्वरूप है—स्पष्ट होता है।

आत्मा नित्यमुक्त है—मुक्त पद का अर्थ है—छुटा हुआ। किससे छुटा हुआ? दुःखों से। दुःखों का मूल कारण क्या है? प्रकृति। तब दुःखों से छुटे हुए का अभिप्राय हुआ—प्रकृति से छुटा हुआ। पर आत्मा दुःखी और प्रकृति से प्रभावित बराबर देखा जाता है। फिर उसे नित्य मुक्त कैसे कहा जा सकता है? यह ठीक है, कि आत्मा प्रकृति से प्रभावित होता है, और वह अपने आपको दुःखी अनुभव करता है, परन्तु उस अवस्था में भी आत्मा प्रकृति का रूप नहीं होता। वह उस समय भी प्रकृति से सर्वथा भिन्न है, और उसकी यह अवस्था सदा रहती है। इसीलिये वह नित्यमुक्त है। प्रकृति से प्रभावित होने पर यदि वह प्रकृति बन जाता, तो नित्यमुक्त नहीं कहा जा सकता था। प्रकृति से प्रभावित होने की उसकी अवस्था को औपचारिक रूप में अथवा पारिभाषिक रूप में 'बन्ध' कहा गया है। उसी को दूर करने का उपाय शास्त्र है। प्रकृति से प्रभावित अवस्था में, अप्रभावित अवस्था के समान आत्मा प्रकृति से सर्वथा भिन्न रहता है। इसी कारण वह नित्यमुक्त [सदा ही प्रकृति से छुटा हुआ = भिन्न कहा गया है।

आत्मा के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिये इन तीन विशेषताओं का जान लेना आवश्यक है। (१)—वह नित्यशुद्ध अर्थात् अविकारी एवं अपरिणामी है। इसी कारण वह (२)—नित्यबुद्ध है। जब उसमें कोई परिणाम नहीं, तब यह निश्चित है, कि उसका अपना स्वरूप—चेतन सदा बना रहता है। फलतः वह (३)—नित्यमुक्त है। क्योंकि प्रकृति परिणामिनी है, और चेतनस्वरूप आत्मा ऐसा नहीं है, तब आत्मा सर्वथा उससे पृथक् = भिन्न अथवा मुक्त है। आत्मा की बन्ध [प्रकृति से प्रभावित] अवस्था में भी उसके इस स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। परिणाम अथवा कोई विकार सदा अचेतन प्रकृति में हो सकता है। इसलिये अपरिणामी चेतन आत्मा नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव है।

(गताङ्क से आगे)

प्रकृत्या ३।१, अन्तःपादम् अ० यहां 'एङ्' और 'अति' की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना = एङः अति प्रकृत्या अन्तःपादम् = पाद (ऋचादि) के अन्तः (मध्य) में एङ् से परे अत् हो तो वह प्रकृतिरूप से रहता है = (अर्थात् सन्धि नहीं होती) जैसे सुजाते अश्व सूनृते ॥

प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् (६।१।१२१)

अच् परे हो तो प्लुत और प्रगृह्य प्रकृति भाव से रह जाते हैं। अर्थात् सन्धि नहीं होती, जैसे अग्नी अत्र, वायू अत्र। यहां 'इको यणचि' (६।१।७४) से सन्धि में य् और व् प्राप्त थे। ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् (१।१।११) से यहां प्रगृह्यसंज्ञा होकर सन्धि नहीं होती ॥

ये अच् सन्धि के आवश्यक सूत्र लिखे। इनका प्रयोग अगले दिन के पाठ में होगा जिसमें प्रायः इन सब सूत्रों का अर्थ सुदृढ़ हो जायगा ॥

१८ वां पाठ

पुरुष के सब रूप

आज हम पुरुष शब्द के सब रूपों की सिद्धि करना चाहते हैं। 'पुरुषः' की सिद्धि हम पहिले (८ वें पाठ में) कर चुके हैं। आगे पूर्ववत् (१।२।४५) से प्रातिपदिक संज्ञा होकर पुरुष + औ, हुआ। इस में पहिले आद्गुणः (६।१।८४) से गुण की प्राप्ति होती है, उस को बाधकर वृद्धिरेचि (६।१।८५) से वृद्धि की प्राप्ति होती है, उसको बाधकर प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।९८) की प्राप्ति होती है, उसको नादिचि (६।१।१००) = अवर्ण से परे इच् हो तो पूर्वपर के स्थान में दीर्घ नहीं होता। अतः पुनः वृद्धिरेचि (६।१।८५) से वृद्धि होकर पुरुषौ बना। पुरुष + जस् में चुटू से ज् की इत्संज्ञा तस्य लोपः (१।३।९) से लोप होकर पुरुष + अस् बना। यहां प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।९८) जब अक् प्रत्याहार में कोई अक्षर से परे *प्रथमा और द्वितीया विभक्ति में अच् परे हो तो पूर्वपर के स्थान में* पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होकर पुरुषास् को पूर्ववत् विसर्जनीय होकर पुरुषाः ऐसा रूप बना। पुरुष + अम् अमि पूर्वः (६।१।१०३) से पूर्वपर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होकर पुरुषम् बना ॥ पुरुष + *औट् ट् की इत्संज्ञा होकर पुरुष + औ = पूर्ववत् पुरुषौ बना ॥* पुरुष + शस्, में लशक्वतद्धिते (१।३।८) से 'श्' की इत्संज्ञा होकर पुरुष + अस् प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।९८) से पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर शेष पूर्ववत् पुरुषास् तस्माच्छसो नः पुंसि (६।१।९९) उस सवर्ण दीर्घ किए हुये से आगे शस् के सकार को (अलोऽन्त्यस्य) (१।१।५१) से नकार हो जावे। पुरुषान् ॥ पुरुष + टा—चुटू (१।३।७) से ट् की इत्संज्ञा और लोप होकर, यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् (१।४।१३) से पुरुष की अङ्गसंज्ञा होकर टाङसिङसामिनात्स्याः (७।१।१२) में (अतः) (अङ्गस्य की अनुवृत्ति और अधिकार आता है) अदन्त अङ्ग से परे टा ङसि और ङस् को 'इन' 'आत्' और 'स्य' यथाक्रम आदेश हो जावें, सो 'टा' के स्थान में 'इन' आदेश हो जाता है, पुरुष + इन = आद्गुणः (६।१।८४) से गुण स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से ए गुण हो कर पुरुषेन बना। अब रषाभ्यां नो णः समानपदे (८।४।१) तथा अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (८।४।२) से न को ण होकर पुरुषेण हो गया ॥ पुरुष + भ्याम् में सुपि च (७।३।१०२) में अतो दीर्घो यञि (७।३।१०१) का तथा अङ्गस्य (६।४।१) का अधिकार आकर = अतः अङ्गस्य यञि सुपि दीर्घः (भवति) अदन्त अङ्ग को दीर्घ हो जावे यदि यञ् आदि सुप् परे हो तो, दीर्घ होकर पुरुषाभ्याम् ॥

पुरुष + भिस् = अतो भिस ऐस् (७।१।९) में (अङ्गस्य) (६।४।१) का अधिकार है। अर्थ बना = अदन्त अङ्ग से परे भिस् के स्थान में ऐस् हो सो पुरुष + ऐस् हुआ। अब वृद्धिरेचि (६।१।८५) से पुरुषैस्, पूर्ववत् विसर्जनीय होकर पुरुषैः ॥ पुरुष + ङे ङेर्यः (७।१।१३) में अतः अङ्गस्य की अनुवृत्ति है अर्थ बना = अदन्त अङ्ग से परे 'ङे' के स्थान में 'य' हो जावे = पुरुष + य = य को (१।१।५५) से सुप् मानकर सुपि च (७।३।१०२) से दीर्घ हुआ, *पुरुषाय ॥ पुरुषाभ्याम् पूर्ववत् ॥* पुरुष + भ्यस् = में सुपि च (७।३।१०२) से दीर्घ प्राप्त होता है। उधर बहुवचने झल्येत् (७।३।१०३) प्राप्त है। अतो यञि सुपि बहुवचने एत् = अदन्त अङ्ग को एत् हो जावे यदि बहुवचन *में झलादि सुप् परे हो तो, सो दोनों की प्राप्ति में कौन हो,* इस झगड़े का निर्णय करने के लिए परिभाषा सूत्र (निर्णय करनेवाला) आना चाहिए, सो विप्रतिषेधे परं कार्यम् (१।४।२) ने कहा, जहां एक ही साथ विप्रतिषेध (परस्पर

विरुद्ध) कार्य प्राप्त हों, वहाँ पर (पीछे) वाला कार्य हो जाया करे। सो दीर्घ न होकर एत् होकर पुरुषेभ्यः बन गया॥ पुरुष+ङसि पूर्ववत् (७।१।१२) से आत् होकर पुरुष+आत्, सवर्णदीर्घ (६।१।९७ से) होकर पुरुषात् बना॥ आगे पुरुषाभ्याम् पुरुषेभ्यः पूर्ववत्॥ पुरुष+ङस् को पूर्ववत् (७।१।१२ से) स्य होकर पुरुषस्य बना॥ पुरुष+ओस् ओसि च अ० (७।३।१०४) से (अतः एत् अङ्गस्य)=ओस् परे हो तो भी अदन्त अङ्ग को ए हो जावे। एचोऽयवायावः (६।१।७५) से ए को अय् होकर पुरुषय्+ओस्=पुरुषयोस् पूर्ववत् विसर्जनीय होकर पुरुषयोः बना॥ पुरुष+आम् में ह्रस्वनद्यापो नुट् (७।१।५४) (आमि अङ्गस्य)=ह्रस्वनद्यापः, आमि नुट् (भवति) ह्रस्व नदी और आप् से परे यदि आम् हो तो उसे नुट् का आगम होता है। टित् होने से आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) से आम् के आदि में आ गया, पुरुष+नुट्+आम् इत् संज्ञा होकर पुरुषन् आम्=पुरुष+नाम् नामि (६।४।३) में (अङ्गस्य, दीर्घः ६।३।१०९) की अनुवृत्ति आती है सो नाम् परे हो तो अंग को दीर्घ हो। पुरुषानाम्, पूर्ववत् (८।४।१,२) से न को ण होकर पुरुषाणाम् बना॥ पुरुष+ङि=पुरुष+इ पूर्ववत् ६-१-८४ से गुण होकर पुरुषे बना॥ पुरुष+ओस्=पुरुषयोः पूर्ववत्॥ पुरुष+सुप्=पुरुष+सु बहुवचने झल्येत् (७।३।१०३) से एत् होकर, पुरुषे+सु, आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से षत्व होकर पुरुषेषु बना॥ सम्बोधन में—सम्बोधने च (२।३।४७) से सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति होती है। पुरुष+सु में एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः (लोप ६।१।६६ से) एङ् तथा ह्रस्व से परे सम्बुद्धि का लोप हो जाता है। हे पुरुष हे पुरुषौ हे पुरुषाः पूर्ववत् बना॥

पाठक ध्यान से देखें कि अच् सन्धि के पूर्व लिखे सूत्रों का 'पुरुष' शब्द की सिद्धि में कितना अधिक काम पड़ा और कैसे सुगृहीत हो गया।

१९ वां पाठ

शेष हल्सन्धि तथा विसर्गसन्धि

प्रसङ्गतः हल्सन्धि और विसर्गसन्धि का भी कुछ ज्ञान अवश्य हो जाना चाहिये। इसमें हम चोः कुः (८-२-३०) झलां जशोऽन्ते (८-२-३९) वावसाने (८-४-५५) को ८ वें दिन के पाठ में वाक् 'वाग्' और 'वाग्भ्यां' की सिद्धि में बता चुके हैं। झलां जश्झशि (८-४-५२) को १४ वें दिन के पाठ में 'रुन्धः' की की सिद्धि में तथा झषस्तथोर्धोऽधः (८-२-४०) भी वहीं बताया गया है। अभ्यासे चर्च (८-४-५३) 'जुहोति' की सिद्धि में १३ वें दिन के पाठ में लिख आये हैं। आदेशप्रत्यययोः (८-३-५९) 'पुरुषेषु' की सिद्धि में, रषाभ्यां नो णः समानपदे (८-४-१) तथा अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (८-४-२) 'पुरुषेण' की सिद्धि में बता चुके हैं॥

इस प्रकार हल्सन्धि के जो सूत्र बताये जा चुके हैं, उन्हें छोड़ कर अन्य सूत्र क्रमशः समझा देने चाहियें।

मोऽनुस्वारः (८-३-२३) इसमें ८-३-२२ से 'हलि' की अनुवृत्ति आती है। पदस्य (८-१-१६) का अधिकार है ही। अर्थ हुआ=हलि पदस्य मः अनुस्वारः (भवति) अर्थात् पद के अन्त में मकार के स्थान में अनुस्वार होता है यदि हल् परे हो तो। पुरुष+अम्=पुरुषम् वदति=पुरुषं वदति। रामं वदति॥

नश्चापदान्तस्य झलि (८-३-२४) नः ६-१। च अव्यय। अपदान्तस्य ६-१। झलि ७-१॥ मोऽनुस्वारः ऊपर से आता है, अर्थ हुआ=अपदान्त मकार और नकार को अनुस्वार हो जावे यदि झल् परे हो तो।

जैसे पुम्+सु=पुंसु। मीमांन्+सते= मीमांसते॥

अब विसर्गसन्धि के भी कुछ सूत्र बता देने चाहियें

इसमें ससजुषो रुः (८-२-६६) तथा खरवसानयोर्विसर्जनीयः (८-३-१५) तो पहिले ८ वें पाठ में बता चुके है। अब हश् परे रहने पर हशि च (६-१-११०) से 'रु' को 'उ' हो जाता है अत् परे रहने पर, जो १७ वें पाठ में बता चुके। शेष—भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि (८-३-१७) यहां (८-३-१६) से 'रोः' की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना=भोभगोअघोअपूर्वस्य रोः य् अशि भवति)=रु को य् हो जाये अश् प्रत्याहार में कोई अक्षर परे हो तो, यदि उस 'रु' से पहले भो, भगो, अघो 'अ' इनमें से कोई हो। जैसे पुरुष+जस्=पुरुषास् गच्छन्ति, पुरुषा रु गच्छन्ति, पुरुषा य् गच्छन्ति। अब इस य् का लोप लोपः शाकल्यस्य (८-३-१९) से हो जाता है। यहां पूर्वसूत्र से सारी अनुवृत्ति आती है, अर्थात् शाकल्य आचार्य के मत में ऊपर कहे य् का लोप हो जावे

अश् परे हो तो। इसी प्रकार पुरुषास् आगच्छन्ति = पुरुषा आगच्छन्ति, पुरुषा आनयन्ति इत्यादि।

हलि सर्वेषाम् (८-३-२२) यहां १७ नम्बर के सारे सूत्र की अनुवृत्ति आती है। सो अर्थ हुआ, हल् परे हो तो भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि से रु के स्थान में जो य् हो उस का सब आचार्यों के मत में लोप हो जावे। सो पुरुषा + जस् = पुरुषा + अस् = पुरुषाऽ गच्छन्ति = पुरुषा गच्छन्ति ऐसा रूप हो गया। इसी प्रकार पुरुषा हसन्ति इत्यादि।

विसर्जनीयस्य सः (८-३-३४) यहां १५ वें सूत्र से 'खरि' की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना—खर् प्रत्याहार में से कोई सा अक्षर परे हो तो विसर्जनीय के स्थान में सकार आदेश हो जाता है। जैसे पुरुषः तरति = पुरुषस्तरति।

वा शरि (८-३-३६) शर् परे हो तो विसर्जनीय का स् विकल्प करके हो। जैसे पुरुषः शेते, पुरुषः शेते = पुरुषश्शेते।

आदेशप्रत्यययोः (८-३-५९) पहिले बता चुके।

नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि (८-३-५८) यहां ऊपर से (८-३-५७) से इण्कोः का अधिकार आता है। ५६ से 'सः', तथा ५५ से 'मूर्धन्यः' की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना, इण् और कवर्ग से परे स् के स्थान में मूर्धन्य आदेश हो जावे, यदि नुम्—विसर्जनीय-तथा शर् प्रत्याहार में से किसी का भी व्यवधान बीच में हो, जैसे यजुष्षु, हविष्षु।

विसर्गसन्धि का और जो सूत्र लगे वह समझा देना चाहिये॥

२० वां पाठ

कारक (१)

आज हम कारक और विभक्ति का सामान्य ज्ञान करायेंगे। ८ विभक्ति हैं, कारक ६ होते हैं, सम्बन्ध तथा सम्बोधन कारक नहीं होते क्योंकि ये दोनों क्रिया को नहीं बनाते। अब हम अष्टाध्यायी के क्रम से कारकों को लेते हैं—

कारके (१।४।२३) का अधिकार (१।४।५५) तक है।

(१) ध्रुवमपायेऽपादानम् (१।४।२४) = ध्रुवम् अपाये, अपादानम् [कारके] अपाये, = अपाय अर्थात् अलग होने पर जो ध्रुवम् = ध्रुव रहे, वह कारक (क्रिया को बनाने वाला) अपादानम् = अपादान संज्ञा वाला होता है। अब विभक्ति सूत्र—

अपादाने पञ्चमी (२।३।२८) अपादान में पंचमी विभक्ति होती है। जैसे—वृक्षात् पर्णं पतति = वृक्ष से पत्ता गिरता है। वृक्ष की अपादान संज्ञा होकर उक्त सूत्र से पञ्चमी विभक्ति हो गई। विदित रहे कि गिरना क्रिया हो नहीं सकती, जब तक जहां से गिरता है, वह न हो, जो गिरता है वह वस्तु न हो, जहां पर गिरता है वह आधार न हो, तो 'वृक्ष से पत्ता गिरता है, वृक्ष की अपादान संज्ञा होती है। इस प्रकार अपादान संज्ञा, ध्रुवमपायेऽपादानम् (१।४।२४) से लेकर भुवः प्रभवः (१।४।३१) तक है, इन सूत्रों में पाणिनि मुनि ने अपादान संज्ञा करने वाले सब सूत्र रख दिए, इन में पञ्चमी विभक्ति होगी इस अपादाने पंचमी (२।३।२८), से उधर विभक्ति प्रकरण में अपादाने पंचमी (२।३।२८) से लेकर "दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च" (२।३।३५) तक पञ्चमी विभक्ति का प्रकरण है, अर्थात् पञ्चमी विभक्ति समाप्त हुई। अपादाने पंचमी ने तो जिन २ की अपादान संज्ञा होती है, उन से पञ्चमी विभक्ति होती है, ऐसा कह दिया। आगे जहां अपादान संज्ञा नहीं हो सकती, पर पञ्चमी विभक्ति होती है, उसका भी पूरा संग्रह अगाध बुद्धि पाणिनि ने यहां एक ही स्थान में कर दिया है। इस प्रकार कारके (१।४।२३) प्रकरण में, अपादानम् (१।४।२४-३१) सूत्रों में तथा विभक्ति प्रकरण (२।३।२८) से ३५ तक में पंचमी विभक्ति का प्रकरण मिलाकर अपादान और पञ्चमी विभक्ति का पूरा प्रकरण समाप्त हो जाता है, इस से बाहिर कहीं देखने की आवश्यकता नहीं, सभी कारक और सभी विभक्तियां इन दोनों प्रकरणों में पाठकों को एक जगह और सम्पूर्ण विषयसहित मिलेंगी। यह पाणिनि की अद्भुत मेधा का परिचायक है।

(२) कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानम् (१।४।३२) = कर्मणा (क्रिया के द्वारा) यं अभिप्रैति (जिस जिसका—अभिप्राय सिद्ध करता है) स संप्रदानम् (उसको संप्रदान कारक कहते है)। चतुर्थी संप्रदाने (२।३।१३) संप्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे देव राम के लिए पुस्तक देता है। यहां राम—संप्रदान कारक है, जब तक कर्ता = देव पुस्तक राम के हाथ में नहीं रख देता, या राम ले नहीं लेता, तब

तक देना क्रिया नहीं बन सकती। लेने वाले के बिना क्रिया बन ही नहीं सकती, यह समझना चाहिए। सो संप्रदान राम भी क्रिया का कारक हुआ, क्योंकि उसने देना क्रिया बनाई। इस प्रकार क्रिया बनाने वाले को कारक कहते हैं (१।४।३२ से ४१ सूत्र तक १० सूत्र संप्रदान संज्ञा के, २।३।१३ से १७ तक पांच सूत्र विभक्तिप्रकरण के = कुल १५ सूत्रों में संप्रदान कारक और चतुर्थी विभक्ति का सम्पूर्ण विषय समाप्त हो जाता है, और एक ही प्रकरण झट समझ में आ जाता है।

(३) **साधकतमं करणम्** १।४।४२) **कारके** = क्रिया की सिद्धि में, **साधकतमं** = सबसे अधिक साधक = सिद्ध करने वाला कारक, **करणम्** = करणसंज्ञक = करण संज्ञा वाला होता है। **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (२।३।१८) में ऊपर से '**अनभिहिते**' (२।३।१) का अधिकार है। जैसे देवः सुखेन फलं खादति, अतः '**अनभिहिते**' यहाँ भी आया, तो अर्थ बना **अनभिहिते कर्तृकरणयोः तृतीया** = अनभिहित कर्त्ता और करण में तृतीया विभक्ति होती है यह सूत्र का अर्थ बन गया। १।४।४२ से आगे ४४ तक अर्थात् ये तीन सूत्र करण संज्ञा के हैं। उधर विभक्ति प्रकरण में २।३।१८ से २७ सूत्र तक तृतीया विभक्ति बिना करण संज्ञा के कहां-कहां होती है, सो कहा। इस प्रकार यह प्रकरण समाप्त हुआ।

(४) **आधारोऽधिकरणम्** (१।४।४५) = **कारके** = क्रिया की सिद्धि में जो **आधारः** आधार कारक है उसकी **अधिकरणम्** अधिकरण संज्ञा होती। उधर विभक्ति प्रकरण में **सप्तम्यधिकरणे च** (२।३।३६) **कारके अधिकरणे च सप्तमी** अधिकरण कारक में सप्तमी विभक्ति होती है। अधिकरण कारक में (४५ से ४८) तक ४ सूत्र हैं। विभक्ति में २।३।३६ से ४५ तक) = १० सूत्र सप्तमी विभक्ति के हैं, सो इन १४ सूत्रों में पूरी हो जाती है।

२१ वां पाठ

कारक (२)

(५) **कर्तुरीप्सिततमं कर्म** (१।४।४९) **कारके** = क्रिया की सिद्धि में, **कर्तुः** कर्त्ता का जो **ईप्सिततमं** = सब से अधिक इष्ट पदार्थ है उसकी, **कर्म** = कर्मसंज्ञा होती है (यहाँ ४९ से ५३ तक ५ सूत्र कर्मकारक के हैं, उधर **कर्मणि द्वितीया** = (२।३।२) अनभिहित कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है, (२।३।२) से १२ सूत्र तक = ११ सूत्र द्वितीया विभक्ति के हैं; इतना कर्म और द्वितीया विभक्ति का प्रकरण है।

(६) अब हम कर्त्ता कारक और प्रथमा विभक्ति को लेते हैं।

स्वतन्त्रः कर्त्ता (१।४।५४) क्रिया की सिद्धि में जो स्वतन्त्र कारक है, अर्थात् चाहे वह क्रिया करे या न करे, उसे कर्त्ता कहते हैं।

तत्प्रयोजको हेतुश्च (१।४।५५) कर्त्ता के प्रयोजक (प्रेरणा करने वाले की) हेतु और कर्त्ता संज्ञा होती है। अब इसमें विभक्तिविधायक सूत्र है—

प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा (२।३।४६) प्रातिपदिकार्थमात्र-लिङ्गमात्र-परिमाणमात्र और वचनमात्र में प्रथमा विभक्ति होती है। प्रथमा विभक्ति के विषय में कुछ थोड़ा और कहते हैं।

तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा (महाभाष्य) तिङ् = क्रिया के साथ जिसका भी समानाधिकरण हो, उसमें प्रथमा विभक्ति हो जाती है। यह सामान्य लक्षण है। देवदत्तः वेदं पठति, = देवदत्त वेद पढ़ता है, में पठति क्रिया का समानाधिकरण कर्त्ता देवदत्त में हो रहा है, अर्थात् पढ़ना क्रिया देवदत्त में हो रही है। देवदत्त में कर्त्ता और क्रिया का आश्रय है, अतः यह क्रिया कर्तृवाच्य = कर्त्ता में क्रिया कहलाती है, देवदत्त यहाँ क्रिया के द्वारा अभिहित = कथित = उक्त = या निर्दिष्ट है। वेदः पठ्यते देवदत्तेन = वेद देवदत्त के द्वारा पढ़ा जाता है। पढ़ा जाना क्रिया के साथ वेद कर्म का अधिकरण है, अतः यहाँ वेद कर्म, पठ्यते क्रिया के साथ अभिहित = कथित = उक्त = निर्दिष्ट है, अतः यह कर्मवाच्य क्रिया है। इसमें देवदत्त अभिहित नहीं है = अनभिहित है, अर्थात् क्रिया उसे नहीं कहती, अतः **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (२।३।१८) सूत्र से अनभिहित कर्त्ता में तृतीया विभक्ति होती है। **अभिहिते प्रथमा** = यह महाभाष्य (अ० २।३।४६) का वचन है। सो अभिहित कर्म में प्रथमा विभक्ति हो गई। यह बात यहाँ अच्छे प्रकार हृदयङ्गम कर लेनी चाहिए, इसका काम बहुत पड़ेगा।

(७) सम्बोधन में = **सम्बोधने च** (२।३।४७) से सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति हो जाती है।

(८) अब शेष छठी विभक्ति = सम्बन्ध रहा। सो उसमें—**षष्ठी शेषे** (२।३।५०) जहां कर्मादि कारक

नहीं होते, उस शेष में षष्ठी विभक्ति होती है। इसका प्रकरण (२।३।५० से ७३ तक है। इस प्रकार कारक और विभक्ति का प्रकरण सामन्यतया यहां समाप्त हुआ। समस्त विषय दो दिन और लगाकर जब चाहे पूरा किया जा सकता है। यह कारक और विभक्ति का प्रकरण एक सप्ताह से अधिक समय का नहीं। पाठक यह भी देखें इसमें सिद्धि का भी कुछ काम नहीं, पुरुष शब्द की सिद्धि कर ही चुके हैं। उसी तरह इनकी सिद्धि भी समझना चाहिए॥

२२ वां पाठ

कृदन्त प्रत्यय

आज हम कृदन्त प्रत्ययों का विषय उठाते हैं—

हमारे पठनार्थी समझ चुके हैं कि धातोः (३।१।९१) का अधिकार (३।४।११७) तक है। प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) का अधिकार ५।४।१६० तक जाता है। यह भी समझ चुके हैं कि तिङ्शित्सार्वधातुकम् (३।४।११३) धातु से आने वाले प्रत्ययों में तिङ् (१८) तथा शित् (जिसका श इत् जाये) वे प्रत्यय सार्वधातुकसंज्ञक कहलाते हैं। आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४) धातु से आने वाले शेष बचे हुए प्रत्यय "आर्धधातुक" संज्ञा वाले हो जाते हैं। उधर सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७।३।८४) सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्यय परे रहने पर इगन्त अङ्ग को गुण हो जाता है। तथा लघु उपधा वाले को सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्यय परे रहने पर पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६) से गुण हो जाता है, अदेङ्गुणः (१।१।२) तथा स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से भू को भो, चि को चे, ना को ने होता है।

जहां कित् गित् ङित् होगा वहां क्क्ङिति च (१।१।५) से गुण तथा वृद्धि का निषेध हो जाता है। इतनी बात संग कृदन्त प्रत्ययों में काम की है। साथ ही यह भी समझ लेना है कि २००० धातुओं में जितने हलन्त (जिनके अन्त में हल् है) धातु हैं, वे सब सेट् (इट् सहित) जैसे पठिष्यति वेदिष्यति होते हैं, और ११ कारिकाओं में गिनाए धातु ही अनिट् (न इट् वाले)। जैसे पक्ष्यति-नेष्यति-नेष्यति होते हैं, और पहिली कारिका (आख्यातिक या काशिका से) में गिनाये सेट् होते हैं। एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् (७।२।१०) से लेकर ७।२।३३ तक अनिट्, अर्थात् इन सूत्रों से सेट् धातु भी अनिट् हो जाते हैं, यह प्रकरण है। और आर्धधातुकस्येड्वलादेः (७।२।३५) से ७८ तक सेट् प्रकरण है, ३५ से आगे अनिट् गिनाए धातु भी वहां-वहां सेट् हो जाते हैं ऐसा समझना चाहिए। सेट् अनिट् प्रकरण सारा का सारा बस इतने में ही समाप्त है। जो २-३ दिन में ही सारा पढ़ा और समझा जा सकता है।

एक बात और समझ लेने की है, कि कृदतिङ् (३।१।९३) से ३।४।११७ तक तिङ् (१८) को छोड़कर धातु से आने वाले प्रत्यय "कृत्" कहलाते हैं, उधर कृत्याः (३।१।९५) से १३२ सूत्र तक 'कृत्य' कहलाते हैं। कर्त्तरि कृत् (३।४।६७) से धातु से आने वाले ये प्रत्यय सामान्यतया कर्त्ता में होते हैं। उधर लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः (३।४।६९) में कर्त्तरि की अनुवृत्ति है, धातोः, प्रत्ययः परश्च, का अधिकार है ही। लः (लट्, लिट् आदि) अकर्मक धातुओं से कर्त्ता और भाव में होते हैं, और सकर्मक धातुओं से कर्त्ता और कर्म में होते हैं। अगला सूत्र है तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः (३।४।७०) तयोः = उन दोनों अर्थ = कर्म और भाव में, एव = ही कृत्य-क्त-और खल् अर्थ वाले प्रत्यय होते हैं। इससे कृत्य प्रत्यय भाव और कर्म में होते हैं, यह बात सिद्ध हुई॥

२३ वां पाठ

प्रत्ययमाला—अब हम प्रत्यय (माला) दिखाते हैं जो धातु से ही आते हैं।

	प्रत्यय	विधायक सूत्र	पठ्, पच्, चि, नी, कृ धातुओं से बनारूप
(१)	तव्य	(तव्यत्तव्यानीयरः (३-१-९६)	पठितव्य, पक्तव्य, चेतव्य नेतव्य, कर्तव्य
(२)	अनीयर	,, ,,	पठनीय, पचनीय, चयनीय, नयनीय, करणीय
(३)	यत्	अचो यत् (३-१-९७)	× × चेय, नेय, ×
(४)	ण्यत्	ऋहलोर्ण्यत् (३-१-१२४)	पाठ्य, पाक्य × × कार्य
(५)	ण्वुल्	ण्वुल्तृचौ (३-१-१३३)	पाठकः, पाचकः, चायकः, नायकः, कारकः

(६)	तृच्	ण्वुल्तृचौ (३-१-१३३	पठिता, पक्ता, चेता, नेता, कर्त्ता
(७)	क्त	निष्ठा (३-२-१०२)	पठितः, (भिद् से भिन्नः) पक्वः, चितः, नीतः, कृतः
(८)	क्तवतु	,, ,,	पठितवान् (भिन्नवान्,) पक्ववान्-चितवान्, नीतवान्, कृतवान्
(९)	घञ्	भावे (३-३-१८)	पाठः पाकः × ×
(९)	अच्	एरच् (३-३-५६)	× × चयः, जयः, नयः, भवः
(१०)	क्तिन्	स्त्रियां क्तिन् (३-३-९४)	पठितिः— पक्तिः—चितिः—नीतिः, कृतिः
(११)	ल्युट्	ल्युट् च (३-३-११५)	पठनं पचनं चयनम्-नयनं, करणम्
(१२)	तुमुन्	समानकर्तृकेषु तुमुन् (३-३-१५८)	पठितुं (इच्छति) पक्तुं (इच्छति) चेतुं (इच्छति) कर्तुं...
(१३)	क्त्वा	समानकर्तृकयोः पूर्वकाले (३-४-२१)	पठित्वा— पक्त्वा— चित्वा—नीत्वा—कृत्वा
(१४)	शतृ	लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे (३-२-१२४)	पठत्, पचत्, दीव्यत्-जयत्, नयत्, भवत्
(१५)	शानच्	,, ,,	× पचमानः—यजमानः—नयमानः

अब इनकी सिद्धिः—पूर्वोक्त जानकर

(१) पठ् से **भूवादयो धातवः** (१-३-१) से धातुसंज्ञा होकर, **धातोः** (३-१-९१) के अधिकार में **तव्यत्तव्यानीयरः** (३-१-९६) **प्रत्ययः, परश्च** (३-१-१,२) से पठ्+तव्य बनकर **आर्धधातुकं शेषः** (३-४-११४) से आर्धधातुकसंज्ञा होकर, **यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्** (१-४-१३) से अङ्गसंज्ञा होकर, यह सेट् धातु है, अतः **आर्धधातुकस्येड्वलादेः** (७-२-३५) से 'इट्', **आद्यन्तौ टकितौ** (१-१-४५) से 'तव्य' के आदि में होकर पठ्+इट्+तव्य = इत्संज्ञा लोप होकर पठ्+इ+तव्य = पठितव्य बना। **कृदतिङ्** (३-१-९३) से कृत्संज्ञा होकर, **कृत्तद्धितसमासाश्च** (१-२-४६) से प्रातिपदिक संज्ञा होकर, **स्वौजसमौट्.........सुप्** (४-१-२) से सुप् की उत्पत्ति होकर पठितव्य+सु = पूर्ववत् सब सूत्र लगकर 'पठितव्यम्' हो गया। **कृत्याः** (३-१-९५) से तव्य की कृत्यसंज्ञा भी होती है, अतः इसका **तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः** (३-४-७०) के नियम से कर्म में होकर पठितव्यं = पढ़ा जाना चाहिये, ऐसा अर्थ होता है। 'चि तव्य' में **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (७-३-८४) यह सूत्र अधिक लगकर गुण, **अदेङ्गुणः** (१-१-२) से अ ए ओ प्राप्त हुए। **स्थानेऽन्तरतमः** (१-१-४९) से इ को ए गुण होकर चेतव्यं, नेतव्यं आदि बन गये। 'कृ तव्य' में भी गुण प्राप्त हुआ तो ऋ के स्थान में 'अ ए ओ' तीन गुण प्राप्त हुए तो **उरण्रपरः** (१-१-५०) उः = ऋ के स्थान में जब अण् (अ इ उ) में से कोई अक्षर प्राप्त हो तभी वह रपर = र परे वाला हो जावे। सो 'अर्, ए, ओ' गुण प्राप्त हुए, ऋ को अर् गुण होकर, कृ को कर् होकर, कर्तव्य बना। आगे पूर्ववत् कर्तव्यं बना। चि, नी, कृ ये अनिट् धातु हैं, इनसे इट् नहीं आता क्योंकि **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (७-२-१०) सूत्र से इनसे इट् का निषेध हो जाता है। यहाँ (७-२-८) से 'नेट्' की अनुवृत्ति आकर सूत्र का अर्थ बना = **अङ्गस्य उपदेशे एकाचः अनुदात्तात् (धातोः) इट् न (भवति)** अर्थात् **अङ्गसम्बन्धी उपदेश में** एकाच् अनुदात्त धातु से इट् (आगम) नहीं होता। इसी प्रकार अनीयर्, ण्वुल्, घञ्, ल्युट् ये वलादि नहीं, अतः इनको इट् नहीं होता। तव्य अनीयर्, यत्, ण्यत् कृत्य होने से भावकर्म में होते हैं। घञ्-क्तिन्-ल्युट् में तीनों 'भावे' के अधिकार में होने से भाव में होते हैं। शेष ण्वुल्, तृच्, क्तवतु, तुमुन्, क्त्वा, शतृ, शानच्, ये सब कर्त्ता में होते हैं। यह समझ लेना चाहिये, ताकि उदाहरणों के अर्थ भी साथ २ समझ में आते चलें।

'पठत्' में पठ् धातु से शतृ प्रत्यय होता है। सूत्र है **लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे** (३-२-१२४)। इसमें **'धातोः' 'प्रत्ययः' 'परश्च'** का अधिकार है ही। ऊपर **वर्त्तमाने लट्** (३-२-१२३) से वर्त्तमाने की भी अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना = **'धातोः वर्त्तमाने लटः शतृशानचौ अप्रथमासमानाधिकरणे** = धातु से परे वर्तमान काल में लट् के स्थान में शतृ और शानच् प्रत्यय होते हैं, जहां

प्रथमासमानाधिकरण न हो। परस्मैपदी धातुओं से शतृ प्रत्यय होता है, और आत्मनेपदी धातुओं से शानच् प्रत्यय होता है। **तङानावात्मनेपदं (१-४-९९)** से इसकी आत्मनेपदसंज्ञा बता चुके हैं। पट् + शतृ में ऋ की **उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१-३-२)** तथा श् की **लशक्वतद्धिते (१-३-८)** से इत्संज्ञा और लोप होकर, पट् + अत्. इसमें शतृ के शित् होने से **तिङ्शित्सार्वधातुकम् (३-४-११३)** से सार्वधातुक संज्ञा होकर **कर्त्तरि शप् (३-१-६८)** से शप् आकर पट् + शप् + अत् इस अवस्था में इत्संज्ञा लोपादि होकर पट् + अ + अत्, में **अतो गुणे (६-१-९४)** से पररूप होकर पठत् बना। **कृत्तद्धितसमासाश्च (१-२-४६)** से प्रातिपदिकसंज्ञा होकर, पूर्ववत् सब सूत्र लगाकर पठत् + सु ऐसा बना। **सुडनपुंसकस्य (१-१-४२)** से 'सु' की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है। पठत् में जो त् है वह शतृ के ऋकार की इत्संज्ञा होने से उगित् है। अतः इसमें **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (७-१-७०)** से नुम् होता है। इसमें **(७-१-५८)** से नुम् की तथा **(६-४-१)** से अङ्गस्य की अनुवृत्ति आती है। सूत्र का अर्थ हुआ = सर्वनामस्थाने = सर्वनामस्थान परे हो तो, उगिदचां = उगित् और अञ्चु, अङ्गस्य = अंगों को नुम् = नुम् का आगम होता है अधातोः = धातु को छोड़कर। सो पठत् को उगित् होने से नुम् हुआ जो मिदचोऽन्त्यात्परः से मित् होने से अन्त्य अच् से परे हुआ। बना पठन्त् + सु = पठन्त् + स् **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् (६-१-६८)** से सु के स् का लोप होकर पठन्त् बना। **संयोगान्तस्य लोपः (८-२-२३)** से अन्त के तकार का लोप होकर पठन् बना। आगे पठन्तौ। पठन्तः। पठन्तं। पठन्तौ। आगे नुम् नहीं होता अतः पठतः बना। पच् धातु का पचन् पचन्तौ, यज् का यजन्, यजन्तौ, यजन्तः बना।

अब यज् धातु आत्मनेपदी भी है। अतः यज् से परे (३-२-१२४) से शानच् आकर यज् + शप् + शानच् = यज् + अ + आन रहा। अब सूत्र लगा **आने मुक् (७-२-८२)** इसमें **(६-४-१)** से अङ्गस्य की तथा **(७-२-८०)** से 'अतः' की अनुवृत्ति आती है। 'अतः' = अदन्त अङ्ग से परे 'आने' आन हो तो उसको 'मुक्' = मुक का आगम हो। कित् होने से **आद्यन्तौ टकितौ (१-१-४६)** से अन्त में होकर यज् + अ + मुक् + आन = यज् + अ + म् + आन = 'यजमान' 'पचमान' बना **कृत्तद्धितसमासाश्च (१-२-४६)** से प्रातिपदिक संज्ञा होकर सु, आया। तथा पूर्ववत् सब सूत्र लगाकर यजमानः पचमानः बन गया॥

अब २००० धातुओं से आगे इन १५-१६ प्रत्ययों को लगाकर जिस धातु के भी रूप चाहो बना सकते हो। नियम ऊपर आज के पाठ के प्रारम्भ में बता ही चुके हैं। इस प्रकार बिना रटे २००० × १५ = ३०००० तीस हजार शब्द बन जायेंगे या नहीं? जिस २ धातु में कुछ विशेष होगा वह पुस्तक पर से देखकर समझ लो। यह प्रताप है इस अष्टाध्यायी पद्धति का। व्याकरण का मुख्य प्रयोजन यही है कि किस धातु से कौन प्रत्यय होकर अमुक शब्द बनता है। उधर कौन प्रातिपदिक से कौन प्रत्यय होकर कौन रूप बनता है। प्रत्ययमाला के सम्बन्ध में सारभूत यह है कि धातु सेट् है या अनिट्, तथा यदि प्रत्यय वलादि आर्धधातुक है तो सेट् धातु से इट् होगा, नहीं तो नहीं होगा। यदि सार्वधातुक है तो शप्, श्यन्, आदि गण के अनुसार आवेंगे। सार्वधातुक, आर्धधातुक में गुण होगा। यदि प्रत्यय कित् या ङित् है या कित्वत्-ङित्वत् है तो **क्ङिति च (१-१-५)** से गुण का निषेध हो जायगा। कौन धातु आत्मनेपदी या परस्मैपदी है तथा सेट् है व अनिट् यह बात वैदिक यन्त्रालय अजमेर के छपे धातुपाठ की सूची में से देख सकते हैं। प्रौढ़ों को रटने का कोई काम नहीं।

हमारा निश्चित मत है कि इन १५ प्रत्ययों को समझ लेने पर अष्टाध्यायी तृतीय अध्याय के सब के सब कृदन्त प्रत्यय १५-२० दिन में समझ कर पढ़े जा सकते हैं। व्याकरणशास्त्र का मुख्य प्रयोजन यही है। उधर प्रातिपदिकों से सुप्—स्त्री और आवश्यक तद्धित प्रत्यय १५, २० दिनमें पढ़कर समझे जा सकते हैं। इतने में व्याकरण लगभग समाप्त हो जाता है। यही सबसे अधिक काम में आता है।

१६ से २३ पाठों का सिंहावलोकन

१६ वें पाठ में हमने अच्सन्धि के ५ सूत्रों के अर्थ उदाहरण बताये जिसमें सिद्ध का कुछ भी काम नहीं।

१७ वें पाठ में शेष अच्सन्धि के सब आवश्यक सूत्र बताये गये।

१८ वें पाठ में, पूर्व १६ और १७ पाठ में पढ़े अच्सन्धि के सूत्र पुरुष शब्द के सब रूपों की सिद्धि द्वारा

[illegible] ([illegible]) समास में आ जाते हैं। सो पुरुष शब्द के सब रूपों की सिद्धि १८ वें दिन के पाठ में दर्शाई गई है।

१९ वें पाठ में हल् सन्धि के सूत्रों का अभ्यास तथा [illegible] के कुछ एक आवश्यक सूत्र बताये गये हैं।

२० वें पाठ में—कारक और विभक्ति का प्रकरण है, जिस में अपादान, सम्प्रदान, करण, अधिकरण, तथा कर्म इन ५ कारकों और इनकी विभक्तियों को अच्छी तरह समझाया गया है।

२१ वें पाठ में शेष कारक कर्म-हेतु-कर्त्ता-(सम्बोधन और सम्बन्ध भी) पूर्ववत् दर्शाये गये हैं।

२२ वें तथा २३ वें पाठ में धातु से आने वाले १५ प्रत्ययों के रूप सिद्धि-सहित बताये हैं। इनका ज्ञान हो जाने से लगभग २००० धातुओं के रूप इन १५ प्रत्ययों से छात्र बना सकता है। और शेष सब प्रत्ययों को स्वयं स्वाध्याय से जान सकता है।

पठनार्थी को यहां पहुँचकर व्याकरण के मुख्य प्रयोजन का ज्ञान होता है।

२४ वां पाठ

समास

आज हम समास के विषय में कुछ सामान्य बताते हैं। **समास** संक्षेप को कहते हैं। जिसमें अनेक पदों का एक पद, अनेक विभक्तियों की एक विभक्ति, और अनेक स्वरों का एकस्वर हो उसे **समास** कहते हैं। जैसे राजा का पुरुष = **राजपुरुष**। कूप का जल = **कूपजल**। विद्या का भवन = **विद्याभवन**। सो यह समास चार प्रकार का होता है।

१ अव्ययीभाव २ तत्पुरुष ३ बहुव्रीहि ४ द्वन्द्व।

१ अव्ययीभाव का लक्षण (पहिचान)—जिसमें पूर्व (पहिला) पद प्रधान हो, जैसे उपकुम्भम् = कुम्भ (घड़े के पास)। इसमें उप = समीप अर्थ की प्रधानता है, अतः यह अव्ययीभाव समास है।

२ **तत्पुरुष** = जिसमें उत्तर (पिछला) पद प्रधान हो, जैसे राज्ञः + पुरुषः = राजपुरुषः, देवस्य + गृहम् = देवगृहम्, विद्याया + भवनम् = विद्याभवनम्, यह तत्पुरुष समास ९ प्रकार का होता है—१ द्वितीया, २ तृतीया, ३ चतुर्थी, ४ पञ्चमी, ५ षष्ठी, ६ सप्तमी ७ कर्मधारय, ८ नञ् और ९ द्विगु, ये ९ भेद तत्पुरुष समास के हैं। इसमें उत्तर-पद प्रधान कैसे है इसको बताते हैं, सो राजपुरुषं आनय = राजपुरुष को लाओ, तो पुरुष लाया जायगा, राजा नहीं। कूपजलं आनय = कुएँ का पानी लाओ, पानी लाया जायेगा, न कि कुआं। सो राजपुरुष में पुरुष उत्तर (पिछला) पद प्रधान है, कूपजल में जल प्रधान है, अतः यह तत्पुरुष समास है॥

३ **बहुव्रीहि** = अन्यपदार्थ प्रधान होता है। जैसे लम्बकर्णः लम्बे कर्णे यस्य = लम्बे कान हैं जिसके, ऐसा देवदत्त। सो लम्बकर्णः देवदत्त का नाम है न कि लम्बे का और न ही कान का। अन्य तीसरा ही यहां प्रधान है। लम्बकर्णं आनय = लम्बकर्ण को लाओ, सो देवदत्त लाया जायगा, न कि लम्बा या कान। अन्यपदार्थ प्रधान होने से लम्बकर्णः बहुव्रीहि समास है।

४ **द्वन्द्व** = जिसमें दोनों पद प्रधान हों। जैसे रामलक्ष्मणौ। युधिष्ठिरार्जुनभीमाः। इनमें सब पद प्रधान हैं। रामलक्ष्मणौ गच्छतः = राम और लक्ष्मण जा रहे हैं इसमें दोनों की प्रधानता है किसी एक की नहीं॥

यह द्वन्द्व समास दो प्रकार का होता है

१ **इतरेतरद्वन्द्व**—रामलक्ष्मणभरताः, रामलक्ष्मणौ, इत्यादि। जिसमें दो हों तो द्विवचन, बहुत हों तो बहुवचन होता है।

२ **समाहार द्वन्द्व**—समाहार समूह को कहते हैं, समूह एक होता है। अतः इसमें एकवचन होता है। जैसे पाणिपादम् = हाथ और पाद, **अष्टाध्यायीमहाभाष्यम्** = अष्टाध्यायी और महाभाष्य। आदैच् = आत् (दीर्घ आ) और ऐच् = ऐ और औ को वृद्धि कहते हैं।

अब हम समास की सिद्धि अति संक्षेप और सरल रीति से बताते हैं—

समर्थः पदविधिः (२-१-१) यह अधिकार सूत्र है। **प्राक्कडारात् समासः** (२-१-३) से (२-२-३८) तक समास का अधिकार है। **अव्ययीभावः** (२।१।५) से २० तक अव्ययीभाव समास है। **तत्पुरुषः** (२।१।२१) से २।२।२२ तक तत्पुरुष समास का प्रकरण है। **शेषो बहुव्रीहिः** २।२।२३ से २।२।२८ तक बहुव्रीहि समास का प्रकरण है। **चार्थे द्वन्द्वः** (२।२।२९) यह द्वन्द्व समास का सूत्र है।

देवस्य गृहम्, वेदस्य पाठकः में (देव + ङस्) + (गृह + सु) अथवा (वेद + ङस्) + (पाठक + सु)।

इसमें षष्ठी (२।२।८) तथा सुप्, सह सुपा समासः तत्पुरुषः समर्थः की अनुवृत्ति आकर सूत्र का अर्थ हुआ = 'षष्ठी सुप् समर्थः सुपा सह समासः तत्पुरुषः = षष्ठ्यन्त सुबन्त समर्थ सुबन्त के साथ समास (को) प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है, सो इस सूत्र से समास हो गया। (वेद + ङस्, पाठक + सु) इन चारों के समुदाय की समास संज्ञा हो गई। कृत्तद्धितसमासाश्च (१।२।४६) से इन चारों की प्रातिपदिक संज्ञा होकर सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१) से लुक् हुआ, इस सूत्र में २।४।५८ से लुक् की अनुवृत्ति आती है। सूत्र का अर्थ हो गया = धातु और प्रातिपदिक के सुप् का लुक् (अदर्शन) हो जावे, देव + गृह = देवगृह, वेद + पाठक = वेदपाठक इतना रह गया। समास संज्ञा होने से इसकी कृत्तद्धितसमासाश्च (१।२।४६) से नई प्रातिपदिक संज्ञा (नाम) होकर ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१) इत्यादि सूत्रों से पुरुष के समान देवगृह + सु, वेदपाठक + सु = देवगृहम् और वेदपाठकः बन गया, इसमें प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् (१।२।४३) से वेदस्य की उपसर्जन संज्ञा होकर वह पाठकः, वेदस्य ऐसा होने पर भी समास हो जाने पर उपसर्जनं पूर्वम् (२।२।३०) से पहिले वेदस्य पाठकः यह देवस्य में देवगृहम्, पुरुषो राज्ञः में राजपुरुषः ऐसा बनेगा। इतना और समझ लेना चाहिए कि समास का यह पूरा प्रकरण ८।१० दिन में पढ़ा जा सकता है, पर अभी इतना ही पढ़ना है ॥

२५ वां पाठ

स्त्री प्रत्यय

आज हम स्त्रीप्रत्यय बताते हैं। लिङ्ग लोक के आश्रित है यही पाणिनि पतञ्जलि आदि ऋषियों का सिद्धान्त है। लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य (महाभाष्य) अर्थात् लिङ्ग का शासन = शिक्षा पूर्ण नहीं की जा सकती, क्योंकि लिङ्ग लोक के आश्रित है। जैसे मेरा पुस्तक, या मेरी पुस्तक दोनों प्रकार का व्यवहार देखा जाता है। ऐसे ही पुस्तक शब्द नपुंसक लिङ्ग है। ग्रन्थ पुल्लिङ्ग है। पुस्तिका स्त्रीलिंग में होता है। लक्षण बनाना कठिन है, यद्यपि शास्त्रकारों ने लक्षण बनाने का यत्न किया है। जाया = पत्नी, दारा = पत्नी इसमें जाया स्त्रीलिङ्ग है, और दारा पुल्लिङ्ग है। आदिकाल से जैसा व्यवहार चला आता है। उसी के आधार पर लिङ्ग जाना जाता है। वैसे लिङ्ग ज्ञान के लिए पाणिनि मुनि ने लिङ्गानुशासन पुस्तक बनाया भी है। सो अष्टाध्यायी में स्त्री प्रत्यय, स्त्रियाम् (४।१।३) से (४।१।७५) आवट्याच्च तक है, सो अजाद्यतष्टाप् (४।१।४) = अजादि अतः टाप् (प्रातिपदिकात् प्रत्ययः, परश्च स्त्रियाम्) अज आदि शब्दों तथा अदन्त (ह्रस्व अकारान्त) शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय हो जाता है। अज = बकरा, अश्व = घोड़ा, स्त्रीलिङ्ग में अजा = बकरी, अश्वा = घोड़ी, कोकिला = कोयल, देवदत्ता, दक्षा, संस्कृता, सत्या, श्रेष्ठा आदि शब्द, स्त्रीलिङ्ग में बनेंगे। कुमार = कुमारी, ब्राह्मण = ब्राह्मणी, नर्त्तकी, रजकी, खनकी, सुन्दरी, गौरी आदि शब्द बनते हैं। इनकी सिद्धि इस प्रकार है—

अज + टाप्, अजाद्यतष्टाप् (४।१।४) इत्संज्ञा होकर अज + आप् इसमें यचि भम् (१।४।१८) से 'अज' की भसंज्ञा होकर यस्येति च (६।४।१४८) यस्य ईति च अ०। इसमें भस्य तद्धिते लोपः की अनुवृत्ति है। सूत्र का अर्थ हुआ, भसंज्ञक य = इ + अ का लोप होता है, यदि तद्धित और दीर्घ ईकार परे हो तो। सो अज के अ का लोप होकर अज् + आ = अजा बना, ऐसे ही अन्य सब समझना ॥

कुमार + ङीप्, ब्राह्मण + ङीप् (४।१।६३) गौर + ङीप् (४।१।४१) इत् संज्ञा और लोप होकर कुमार + ई, ब्राह्मण + ई, गौर + ई रहा। अब पूर्ववत् यहाँ भी यस्येति च (६।४।१४८) से इन शब्दों के अन्तिम अ का लोप होकर, कुमारी, ब्राह्मणी, गौरी ऐसे प्रयोग बन गए। अभी स्त्री प्रत्यय का इतना ज्ञान ही पर्याप्त है।

२६ वां पाठ

तद्धित प्रकरण

तद्धित प्रकरण का भी सामान्य ज्ञान आज ही कराये देते हैं—तद्धित का अधिकार तद्धिताः (४।१।७६) से निष्प्रवाणिश्च ५।४।१६० तक जाता है साथ ही ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१) का अधिकार भी ५।४।१६० तक जाता है। प्रत्ययः, परश्च का अधिकार भी आ रहा है। अब तद्धित प्रकरण में, प्राग्दीव्यतोऽण् (४।१।८३) सूत्र से अण् की अनुवृत्ति (४।४।२) तक, जाती है। तस्यापत्यम् (४।१।९२) का अधिकार ४।१।१७८ तक जाता है। शेषे (४।२।९२) से शेषे का अधिकार ४।२।१४४ तक जाता है। प्राग्वहतेष्ठक् (४।४।१) से ठक् प्रत्यय की अनुवृत्ति ४।४।७५ तक जाती है।

भरत, कुत्स की प्रातिपदिक संज्ञा होकर तस्यापत्यम् (४।१।९२) (अण् प्रत्ययः परश्च-ङ्याप्प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से तस्यापत्यम् (४।१।९२) इस अर्थ में अणप्रत्यय हो और वह परे हो। भरत+अण्, कुत्स+अण्=इत् संज्ञा होकर भरत+अ कुत्स+अ तद्धितेष्वचामादेः (७।२।११७). तद्धितेषु ७।३ अचाम् ६।३ आदेः ६।१ अङ्गस्य की ६।४।१। से, ञ्णिति की ७।२।११५ से, वृद्धिः की ७।२।११४ से अनुवृत्ति आती है। सूत्र का अर्थ हुआ=ञ्णिति तद्धितेषु अङ्गस्य अचाम् आदेः वृद्धिः (भवति)=ञित् णित् प्रत्यय परे हों तो अङ्ग के अचों में से आदि (पहिले) अच् को वृद्धि हो। वृद्धिरादैच् (१।१।१) से आ—ऐ—औ तीनों प्राप्त हुए। स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से अ के स्थान में आ, और उ के स्थान में औ वृद्धि होकर भारत+अ, तथा कौत्स+अ बना। यस्येति च (६।४।१४८)से अ का लोप होकर=भारत, कौत्स बना। कृत्तद्धितसमासाश्च (१।२।४६) से प्रातिपदिक संज्ञा होकर सु आया=भारतः, कौत्सः बन गया॥ एक और उदाहरण लें। दधि (दही) शब्द से, दही से संस्कृत किया हुआ (शाक आदि) इस अर्थ में=दाधिकम् शब्द बनता है। दध्ना संस्कृतम्=दाधिकम्। दधि की प्रातिपदिक संज्ञा होकर दध्नष्ठक् (४।२।१७) संस्कृतं भक्षाः (४।२।१५) की अनुवृत्ति आकर दधि+ठक्=यस्मात् प्रत्ययविधिः…(१।४।१३) से अङ्ग संज्ञा होकर ठस्येकः (७।३।५०) से ठ के स्थान में इक हो जाता है। दधि+इक किति च (७।२।११८) में तद्धितेष्वचामादेः वृद्धिः, की अनुवृत्ति आकर अर्थ हुआ=तद्धितों में कित् परे हो तो अङ्ग के आदि अच् की वृद्धि हो जावे। दाधि+इक यहां पुनः यस्येति च (६।४।१४८) से इ का लोप होकर दाधिक बना कृत्तद्धितसमासाश्च (१।२।४६) से प्रातिपदिक संज्ञा होकर दाधिक+सु=दाधिकम् बना।

मथुरायां अयम्=में मथुरा प्रातिपदिक से तस्येदम् (४।३।१२०) से अण् होकर मथुरा+अण्। मथुरा+अ, पूर्ववत् आदि वृद्धि(७।२।११७)से होकर माथुर+अ यस्येति च (६।४।१४८) से पूर्ववत् लोप होकर माथुर, और पूर्ववत् प्रातिपदिक संज्ञा होकर माथुर+सु माथुरः (मथुरा का रहने वाला) बना। 'शालीयः'=शालायां भवः, शाला+छ=शाला+ईय=शालीयः बना।

इस समय इतना ही तद्धितज्ञान पर्याप्त है।

२७ वां पाठ

सुबन्त प्रकरण (७।३।१०१ से) (१)

अब हमें कुछ प्रकरण ऐसे जान लेने हैं, जिन का सुबन्त तथा तिङन्त की सिद्धियों में अत्यधिक उपयोग है। इस में हम पहिले सुबन्त विषय को लेते हैं।

प्रथम प्रकरण ७।३।१०१ से ११९ तक २० सूत्रों का एक बहुत सुसम्बद्ध सुबन्त प्रकरण है।

(१) अतो दीर्घो यञि (७-३-१०१) इस प्रकरण में अङ्गस्य (६-४-१) का अधिकार बराबर आ रहा है, 'अतः' की अनुवृत्ति १०४ तक जाती है। अतः अङ्गस्य=अदन्त अङ्ग को, दीर्घः भवति=दीर्घ हो जाता है, यञि=यञ् प्रत्याहार में कोई अक्षर परे पड़ा हो तो। उदाहरण—पठामि, पठावः, पठामः इस की पूरी सिद्धि ९-१० वें पाठ में दर्शा चुके हैं।

(२) सुपि च (७।३।१०२) 'अतो दीर्घो यञि' की अनुवृत्ति इस में पूरी आती है। अर्थ बना=अतः अङ्गस्य यञि सुपि च दीर्घः भवति=अदन्त अङ्ग को दीर्घ हो जाता है, यञादि सुप् परे हो तो। जैसे पुरुषाभ्याम्, रामाभ्याम्। इस की सिद्धि भी १८ वें पाठ में बता चुके हैं।

(३) बहुवचने झल्येत् (७-३-१०३) यहां १०२ सूत्र से दीर्घ प्राप्त था, इस का निषेध करके एत्=एकार हो जाता है। इस में 'अतः' और 'सुपि' की अनुवृत्ति आती है। 'एत्' की अनुवृत्ति १०६ तक है। सूत्र का अर्थ बना=अतः एत् भवति बहुवचने झलि सुपि=अत्=अदन्त अङ्ग के अकार के स्थान में एत् (ए) हो जाता है, यदि बहुवचन में झलादि सुप् परे हो तो। यहां 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (१।४।२) से जहां विप्रतिषेध (दोनों एक समान प्राप्त होते हों तो) हो, वहां पर (पीछे वाले) का कार्य हो जाता है (पहिले वाला नहीं होता)। जैसे पुरुषेभ्यः, रामेभ्य, यहां १०२ से दीर्घ प्राप्त था, १०३ से एत् दोनों प्राप्त हुवे सो पर होने से एत् होता है। इस की सिद्धि भी १८ वें पाठ में ही बता चुके हैं।

(४) ओसि च (७।३।१०४) इस में 'अतः', 'सुपि' और 'एत्' की अनुवृत्ति और 'अङ्गस्य' का अधिकार

है। अर्थ बना = अतः अङ्गस्य ओसि च सुपि एत्(भवति) = अदन्त अङ्ग के अ को ए हो जावे यदि ओस् सुप् परे हो तो। जैसे पुरुष + ओस् = पुरुषे + ओस् एचोऽयवायावः (६-१-७५) से 'ए' के स्थान में 'अय्' हो कर पुरुषय् + ओस् = पुरुषयोस् = पुरुषयोः। इसकी सिद्धि भी पूर्व १८ वें पाठ में ही दर्शा चुके हैं।

(५) आङि चापः (७।३।१०५) यहां 'एत्', 'ओसि च' और 'अङ्गस्य' की अनुवृत्ति है। अर्थ बना = आबन्तस्य अङ्गस्य च एत् भवति आङि ओसि च (परतः) = आबन्त अङ्ग को एकार हो जाता है, यदि आङ् तथा ओस् परे हों तो। आङ् = टा तृतीया एकवचन का नाम पुराने आचार्यों का है। सो विद्या + टा = विद्या + आ = इस सूत्र से विद्ये + आ यहां एचोऽयवायावः (६।१।७५) से अय् हो कर विद्यय् + आ = विद्यया। इस प्रकार लतया, मालया आदि बनते हैं।

(६) सम्बुद्धौ च (७।३।१०६) यहां 'आपः' 'एत्', 'अङ्गस्य' की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना = आपः अङ्गस्य सम्बुद्धौ च एत् भवति = आप अन्त वाले अङ्ग को एकार हो सम्बुद्धि परे होने पर भी। जैसे विद्या + सु = विद्ये + स् = विद्ये॥ यहां ६।१।६७ से सम्बुद्धि के स् का लोप हो जाता है।

(७) अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः (७।३।१०७) यहां 'सम्बुद्धौ' की अनुवृत्ति है जो १०८ तक है। अर्थ बना = सम्बुद्धौ = सम्बुद्धि परे हो तो, अम्बार्थनद्योः = अम्बा के अर्थ वाले और नदी संज्ञकों को, ह्रस्वः भवति = ह्रस्व हो जाता है। जैसे हे अम्ब, हे कुमारि।

(८) ह्रस्वस्य गुणः (७।३।१०८) 'सम्बुद्धौ' की अनुवृत्ति है। अर्थ बना = सम्बुद्धौ ह्रस्वस्य अङ्गस्य गुणः भवति = सम्बुद्धि परे हो तो ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण हो जाता है। जैसे अग्नि + सु, मति + सु, वायु + सु, धेनु + सु = स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से अग्ने + स्, मते + स्, वायो + स्, धेनो + स्। एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः (६।१।६७) में ६४ से ६८ तक लोपः की अनुवृत्ति है ६६ से हल् की अनुवृत्ति भी है। अर्थ बना = एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः हल् लोपः (भवति) = एङ् और ह्रस्व से परे सम्बुद्धि के हल का लोप हो जाता है। हे अग्ने, हे मते, हे वायो, हे धेनो बना।

(९) जसि च (७।३।१०९) इस में 'ह्रस्वस्य' और 'गुणः' की अनुवृत्ति है। अर्थ बना = ह्रस्वस्य जसि च गुणः (भवति) = ह्रस्वान्त अङ्ग को जस् परे रहने पर भी गुण हो जाता है। अग्नि + जस्, मति + जस् = अग्नि + अस्, मति + अस् = अग्ने + अस्, मते + अस्, एचोऽयवायावः (६।१।७५) से 'ए' के स्थान में 'अय्' हो कर अग्नय् अस्, मतय् अस् = अग्नयः, मतयः हो गया।

(१०) ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः (७।३।११०) इस में 'गुणः' की अनुवृत्ति है। अर्थ बना = ऋतः (अङ्गस्य) गुणः भवति ङिसर्वनामस्थानयोः (परतः =) ऋकारान्त अङ्ग को गुण होता है यदि ङि और सर्वनामस्थान परे हो तो। जैसे कर्तृ + ङि = (उरण् रपरः, स्थानेऽन्तरतमः से अर् गुण होकर) = कर्तर् + इ = कर्तरि। सर्वनामस्थान में कर्तारौ (यहां ६।४।११ से उपधा को दीर्घ होकर) कर्तारः।

(११) घेर्ङिति (७।३।१११) (घेः ६।१ ङिति ७।१) = घेः अङ्गस्य गुणः (भवति) ङिति (परतः)। घि संज्ञा वाले अङ्ग को गुण हो जाता है यदि ङित् परे हो तो। शेषो घ्यसखि (१।४।७) से 'अग्नि', 'वायु' की 'घि' संज्ञा होती है। अग्नि + ङे, वायु + ङे। इस से गुण हो कर अग्ने + ङे = अग्ने + ए, ६।१।७५ से अय् होकर अग्नये। वायो + ए = वायवे बना। ('ङित' की अनुवृत्ति ११५ तक जाती है।)

(१२) आण्नद्याः (७।३।११२) यहां 'ङिति' की अनुवृत्ति है। अर्थ बना = नद्यन्तात् अङ्गात् ङित आट् (आगमः) भवति = नद्यन्त अङ्ग से (यहां अङ्गस्य = अङ्गात् विभक्ति विपरिणाम से समझना चाहिये) परे ङित् प्रत्यय को आट् का आगम होता है, टित् होने (१।१।४५) से आदि में होता है। जैसे कुमारी (१।४।३ से नदी संज्ञा होकर) + ङे = कुमारी + ए = कुमारी + आट् + ए— कुमारी + आ + ए = कुमार्या + ए = (वृद्धिरेचि ६।१।८९ से) वृद्धि एकादेश होकर कुमार्यै। कुमार्याः बना। इन की पूरी सिद्धि आगे आवेगी। यहां सूत्रों का अर्थ और उदाहरण ही समझ लेना है।

२८ वां पाठ

पूर्वशेष सुबन्त प्रकरण (२)

(१३) याडापः (७।३।११३) ङिति = आपः अङ्गस्य ङिति याट् (आगमः) भवति। आबन्त अङ्ग से ङित् परे होने पर उसको 'याट्' का आगम होता है जो टित् होने से आदि में होता है। विद्या + ङे = विद्या + याट् + ङे = विद्या + या + ए = वृद्धिरेचि (६।१।८५) से या + ए = यै होकर = विद्यायै, विद्यायाः बना।

(१४) सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च (७।३।११४) इस में 'ङिति', 'आपः' की अनुवृत्ति है। अर्थ बना = आपः सर्वनाम्नः अङ्गात् ङिति स्याट् ह्रस्वश्च भवति = आबन्त सर्वनाम अङ्ग से परे (अङ्गस्य का विभक्ति विपरिणाम होकर अङ्गात् अर्थ हो जाता है, ऐसा समझ लेना चाहिये) ङिति = ङित् को स्याट् का आगम होता है, तस्मादित्युत्तरस्य (१।१।६६) सूत्र से, यह बात यहां इस प्रकरण में समझ लेने की है। सर्वा + ङे = सर्वा + स्याट् + ङे = सर्व + स्या + ए = सर्वस्या + ए = सर्वस्यै।

(१५) विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्याम् (७।३।११५) इसमें स्याट् ह्रस्वश्च, ङिति की अनुवृत्ति है। द्वितीयातृतीयाभ्याम् अङ्गाभ्यां ङिति विभाषा स्याट् ह्रस्वश्च (भवति) = द्वितीया और तृतीया से परे ङित् हो तो, स्याट् और ह्रस्व विकल्प करके होते हैं। द्वितीया + ङे = द्वितीया + स्याट् + ङे = द्वितीया + स्या + ए = द्वितीय + स्या + ए = पूर्ववत् वृद्धि होकर द्वितीयस्यै, तृतीयस्यै। दूसरे पक्ष में याडापः (७।३।११३) से याट् होकर द्वितीयायै, तृतीयायै बनता है॥

(१६) ङेराम्नद्याम्नीभ्यः (७।३।११६) नदी–आप्–नी–भ्यः अङ्गेभ्यः ङेः (स्थाने) आम् भवति = नद्यन्त आबन्त और नी से परे ङि के स्थान में 'आम्' होता है। कुमारी + ङि, विद्या + ङि सेनानी + ङि। कुमारी + आम्, विद्या (याट् ११३ से) + आम् = विद्या + याट् + आम् = विद्या + या + आम् = विद्यायाम्, कुमार्याम्, सेनान्याम्।

(१७) इदुद्भ्याम् (७।३।११७) ङेः, आम् भवति = अङ्गसंज्ञक ह्रस्व इकारान्त उकारान्त से परे, (नदीभ्यः) नदी संज्ञकों से परे ङि को आम् हो जाता है। जैसे मत्याम्, धेन्वाम्।

(१८) औच्च घेः (७।३।११८) औत् १।१, अत् १।१, च अव्यय, घेः ५।१॥ इसमें 'इदुद्भ्याम्' की अनुवृत्ति है। इदुद्भ्याम् घेः ङेः औत् भवति, अत् च (अन्तादेशः) भवति = घिसंज्ञक ह्रस्व इकार उकार से परे 'ङि' के स्थान में 'औत्' होता है और अत् अन्तादेश हो जाता है। अग्नि + ङि, वायु + ङि = अग्नि औत्, वायु औत्, अग्न् अ औ = फिर वृद्धिरेचि (६।१।८५) से वृद्धि होकर अग्नौ, वाय् अ + औ = वायौ बना।

(१९) आङो नाऽस्त्रियाम् (७।३।११९) 'इदुद्भ्याम्' 'घेः' की अनुवृत्ति है। अर्थ बना = इदुद्भ्याम् घेः आङः ना (भवति) अस्त्रियाम् = घि संज्ञक ह्रस्व इकारान्त उकारान्त अङ्ग से परे आङ् (टा) के स्थान में 'ना' आदेश होता है। जैसे अग्नि + टा, वायु + टा = अग्नि + ना, वायु + ना = अग्निना, वायुना।

पाठक देखें कि सुबन्त की सिद्धि के ये सूत्र एक ही स्थान पर परस्पर सम्बद्ध होने से अल्प परिश्रम से समझ में आ रहे हैं। इनका उपयोग आगे सुबन्त विषय पढ़ने में अत्यन्त सहायक है।

दूसरा सुबन्त प्रकरण

अब सुबन्त विषय का दूसरा प्रकरण भी, जो एक ही स्थान पर परस्पर सम्बद्ध है, सहजता से, समझ लेना है—

(१) अतो भिस ऐस् (७।१।९) इसमें 'अङ्गस्य' का अधिकार है तथा इसी प्रकार आगे के सब सूत्रों में समझना। अर्थ बना = अतः अङ्गस्य भिस ऐस् भवति = (यहाँ अतः विशेषण पञ्चमी होने से अङ्गस्य विशेष्य की भी पञ्चमी विभक्ति हो जाती है) अर्थ हुआ—अदन्त अङ्ग से परे भिस् के स्थान में ऐस् हो जावे। यहाँ से अतः की अनुवृत्ति ७।१।१७ तक जाती है। जैसे पुरुष + भिस्, राम + भिस् = पुरुष + ऐस्, राम + ऐस् = फिर ६।१।८५ से वृद्धि एकादेश होकर पुरुषैस्, रामैस् = पुरुषैः, रामैः बना। सिद्धि १८वें पाठ में कर चुके॥

(२) टाङसिङसामिनात्स्याः (७।१।१२) टाङसिङसाम् ६।३ इनात्स्याः १।३॥ अतः अङ्गात् टा–ङसि–ङसाम् इन–आत्–स्याः आदेशाः भवन्ति = अदन्त अङ्ग से परे टा ङसि ङस् इनके

स्थान में क्रम से इन, आत्, स्य आदेश होते हैं। पुरुष + टा = पुरुष + इन (६।१।८४ से) गुण होकर पुरुषेन, (८।४।१-२ से) णत्व हो कर पुरुषेण। पुरुष + ङसि = पुरुष + आत् = पुरुषात्। पुरुष = ङस् = पुरुष + स्य = पुरुषस्य ऐसे रूप बन जाते हैं।

(३) ङेर्यः (७।१।१३) ङेः ६।१, यः १।१। 'अतः' 'अङ्गस्य' की अनुवृत्ति है ही। अर्थ बना = अतः अङ्गात् ङेः यः भवति = अदन्त अङ्ग से परे ङे के स्थान में य होता है। पुरुष + ङे = पुरुष + य (सुपि च ७।३।१०२ से) दीर्घ होकर पुरुषाय बना।

(४) सर्वनाम्नः स्मै (७।१।१४) इसमें 'अतः' और 'ङेः' की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना = अतः सर्वनाम्नः अङ्गात् ङेः स्मै भवति = अदन्त सर्वनाम अङ्ग से परे ङे के स्थान में स्मै होता है। यह १३ सूत्र से प्राप्त य का अपवाद है। सर्व + ङे = सर्व + स्मै = सर्वस्मै विश्वस्मै। सर्वनाम्नः की अनुवृत्ति १७ तक जाती है।

(५) ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ (७।१।१५) अतः सर्वनाम्नः, अङ्गस्य की अनुवृत्ति से अर्थ बना = अतः सर्वनाम्नः अङ्गात् ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ भवतः = अदन्त सर्वनाम अङ्ग से परे ङसि के स्थान में स्मात् और ङि के स्थान में स्मिन् हो जाता है। जैसे सर्व + ङसि = सर्व + स्मात् = सर्वस्मात्, सर्व + ङि = सर्व + स्मिन् = सर्वस्मिन्।

(६) जसः शी (७।१।१७) 'अतः', 'सर्वनाम्नः', 'अङ्गस्य' की अनुवृत्ति है ही। अर्थ बना = अदन्त सर्वनाम से परे जस् को शी आदेश होता है। जैसे सर्व + जस् = सर्व + शी = सर्व + ई (६।१।८४ से) गुण होकर सर्वे, विश्वे बना। 'शी' की अनुवृत्ति १९ तक जाती है।

(७) औङ आपः (७।१।१८) आपः अङ्गात् औङः शी भवति = आबन्त अङ्ग से परे औङ् (औ तथा औट्) के स्थान में 'शी' हो जाता है। विद्या + औ = विद्या + शी = विद्या + ई = (६।१।८४ से) गुण होकर विद्ये बना।

(८) नपुंसकाच्च (७।१।१९) 'औङः' और 'शी' की अनुवृत्ति है। अर्थ बना = नपुंसक अङ्ग से परे औङ् के स्थान में 'शी' हो जाता है। धन + औ = धन + शी = धन + ई = (६।१।८४ से) गुण होकर धने बना।

(९) जश्शसोः शिः (७।१।२०) इसमें 'नपुंसकात्' की अनुवृत्ति है। अर्थ बना = नपुंसकात् जश्शसोः शिः (भवति) = नपुंसक लिङ्ग से परे जस् और शस् के स्थान में 'शि' आदेश हो जाता है। धन + जस्, धन + शस् = धन + शि यहां शि सर्वनामस्थानम् (१।१।४१) से शि की सर्वनामस्थान संज्ञा होकर ७।१।७२ से नुम् होकर धन + नुम् + शि = धनन् इ, ६।४।८ से दीर्घ होकर धनान् + इ धनानि बना।

(१०) षड्भ्यो लुक् (७।१।२२) २० से जस् और शस् की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना = ष्णान्ता षट् (१।१।२३) से षट् संज्ञा होती है, षट्संज्ञक से परे जस् और शस् का लुक् होता है। षट् सन्ति पञ्च सन्ति। षट् पश्य, पञ्च पश्य॥

(११) स्वमोर्नपुंसकात् (७।१।२३) नपुंसक अङ्ग से परे 'सु' और 'अम् का लुक् हो जाता है। मधु + सु, मधु वर्तते'। मधु + अम्, मधु पश्य।

(१२) अतोऽम् (७।१।२४) 'नपुंसकात्' 'स्वमोः' की अनुवृत्ति आने से अर्थ बना = अतः नपुंसकात् स्वमोः अम् (भवति) = अदन्त नपुंसक लिङ्ग अङ्ग से परे 'सु' और 'अम्' के स्थान में अम् होकर धन + सु = धनम्, धन + अम् = धनम् बना॥

२९ वां पाठ

सुबन्त (४)

आज हम विद्या-अग्नि-मति-कुमारी की सिद्धि बतावेंगे। विद्या आप् अन्त = आबन्त स्त्रीलिङ्गवाची शब्द है। अग्नि ह्रस्व इकारान्त पुल्लिङ्ग, मति ह्रस्व इकारान्त स्त्रीलिङ्ग, कुमारी दीर्घ ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग॥

इन सब की प्रातिपदिक संज्ञा (१।२।४५) से होकर सब सूत्र पूर्ववत् लगकर विद्या + सु बना। 'उ' की (१।३।२) से इत् संज्ञा और लोप होकर विद्या + स् हुआ। हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् (६।१।६८) से हल्, ङी और आप् से परे अपृक्त (१।२।४१) हल् का लोप होकर विद्या रह गया। विद्या + औ में (७।१।१८) से

औ के स्थान में शी हो कर विद्या + शी = विद्या + ई = गुण (६।१।८४) हो कर विद्ये बना। विद्या + जस् = विद्या + अस् = ६।१।९८ से विद्यास् = पूर्ववत् विद्याः। विद्या + अम् = ६।१।१०३ से विद्याम्। विद्ये पूर्ववत्। विद्या + शस् = विद्या + अस् = विद्याः। विद्या + टा में ७।३।१०५ से एत् होकर विद्ये + आ = ६।१।७५ से अय् होकर विद्यय् + आ = विद्यया। विद्या + भ्याम् = विद्याभ्याम्। विद्या + भिस् = विद्याभिः। विद्या + ङे = विद्या + ए = ७।३। ११३ से याट् टित् होने से आदि (१।१।४५) से हो कर विद्या + याट् + ए = विद्या + या + ए = विद्याया + ए (६।१।८५) वृद्धि एकादेश होकर विद्यायै। विद्याभ्याम्। विद्याभ्यः। विद्या + ङसि, पूर्ववत् याट् = विद्या + याट् + अस् = विद्या + या + अस् विद्यायास् = विद्यायाः। विद्याभ्याम्। विद्याभ्यः। विद्या + ङस् = विद्यायाः। विद्या + ओस् = ७।३।१०५ से एत् होकर विद्ये + ओस् = ६।१।७५ से अय् होकर विद्यय् + ओस् = विद्ययोः। विद्या + आम् में **ह्रस्वनद्यापो[५।१] नुट्[१।१]** (७।१।५४) में ५२ से 'आमि' की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना = ह्रस्व-नदी-आपः आमि नुट् = ह्रस्व, नदी संज्ञक और आबन्त अङ्ग से परे (१।१।६६) आम् को नुट् का आगम, टित् होने से आदि में होकर विद्या + नुट् + आम् = विद्या + न् + आम् = विद्यानाम् बना। विद्या + ङि = ७।३।११२ से ङि को आम्, विद्या + आम्, ७।३।११२ से याट् = विद्या + याट् + आम् = विद्या + या + आम् = विद्यायाम्। विद्या + ओस् पूर्ववत् विद्ययोः। विद्या + सुप् = विद्यासु। सम्बोधन में ७।३।१०६ से एत् होकर विद्ये + स् = यहाँ **एङ्ह्रस्वात्[५।१] सम्बुद्धेः[६।१]** (६।१।६७) एङ् और ह्रस्व से परे सम्बुद्धि के स् का लोप होता है। इससे स् का लोप होकर हे विद्ये! विद्या + औ = विद्ये पूर्ववत्। विद्या + जस् = विद्याः पूर्ववत्।

पाठक देखें—यहाँ २७-२८ पाठ के ही सूत्र प्रायः लगे हैं, उन सूत्रों के अर्थ, उदाहरण और विद्या शब्द की सिद्धि कैसी सरलता से हृदय में बैठ जाती है।

अग्नि

अब 'अग्नि' शब्द से सब सूत्र लगकर सु आया। अग्नि + स् = अग्निः में पुरुषः से एक भी सूत्र अधिक नहीं लगा (पाठ ८वाँ देखें)। अब अग्नि + औ = ६।१।९८ से पूर्वसवर्ण दीर्घ (देखो पाठ १७) होकर अग्नी। अग्नि + जस् = यहाँ ७।३।१०८ से गुण होकर अग्ने + अस् = ६।१।७५ से अय् होकर अग्नयः बना (देखो पाठ २७)। अग्नि + अम् = ६।१।१०३ से पूर्वरूप होकर अग्निम् (देखो पाठ १९)। अग्नि + शस् = यहाँ भी ६।१।९८ से पूर्व सवर्ण दीर्घ होकर अग्नीस्, ६।१।९९ से न् होकर अग्नीन् (देखो पाठ ८)। अग्नि + टा = ७।३।११९ से 'ना' होकर अग्निना (देखो पाठ २८)। अग्नि + भ्याम् = अग्निभ्याम्। अग्निभिः। अग्नि + ङे = ७।३।१११ से गुण होकर अग्ने + ए = ६।१।७५ से अय् होकर अग्नये। अग्निभ्याम्। अग्निभ्यः। अग्नि + ङसि = पूर्ववत् ७।३।१११ से गुण होकर = अग्ने + अस्, **ङसिङसोश्च[७।२ अ०]** (६।१।१०६) में १०५ से 'एङ्' और १०३ से 'पूर्वः' की अनुवृत्ति तथा ८१ से **'एकः पूर्वपरयोः'** का अधिकार आता है। अर्थ बना = एङ् से परे ङसि और ङस् परे हो तो पूर्व और पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश हो। इससे अग्ने + अस् = अग्नेस् बना। पूर्ववत् पद संज्ञा और विसर्जनीय होकर अग्नेः। अग्निभ्याम्। अग्निभ्यः। अग्नि + ङस् = पूर्ववत् अग्नेः। अग्नि + ओस् = ६।१।७४ से यण् होकर अग्न्योस् = अग्न्योः। अग्नि + आम् = ७।१।५४ से नुट् होकर अग्नि + नुट् + आम् = अग्नि + न् + आम् = अग्नि + नाम् (६।४।३) से दीर्घ होकर अग्नीनाम् बना (देखो पाठ १९)। अग्नि + ङि = ७।३।११८ से औ होकर अग्नौ (देखो पाठ २८)। अग्नि + सुप् = अग्नि + सु = ८।३।५९ से मूर्धन्य आदेश होकर अग्निषु। सम्बोधन में—अग्नि + सु = ७।३।१०८ से गुण होकर अग्ने + स् ६।१।६७ से सम्बुद्धि के स् का लोप होकर हे अग्ने (देखो पाठ २८)। हे अग्नी। हे अग्नयः पूर्ववत्। वायु शब्द के रूपों में सब सूत्र यही लगेंगे।

मति

मति ह्रस्व इकारान्त स्त्रीलिङ्ग है। अतः इस के रूप ङे, ङसि, ङस् और ङि इन चार ङित् प्रत्ययों में दो २ बनेंगे। क्योंकि **ङिति ह्रस्वश्च** (१।४।६) से ङित् में विकल्प करके नदी संज्ञा होती है। ऊपर से यू स्त्र्याख्यौ, **इयङुवङ्स्थानौ अस्त्री** की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना = ह्रस्वश्च यू स्त्र्याख्यौ इयङुवङ्स्थानौ अस्त्री ङिति वा नदी (भवतः) = ह्रस्व इकारान्त उकारान्त स्त्रीवाची इयङुवङ्स्थानी (स्त्री को छोड़कर) ङित् परे रहने पर विकल्प से नदी संज्ञक हों, पक्ष में घि संज्ञा होती है। सो पूर्वोक्त

तिप् तस् झि सिप् थस् थ मिप् वस् मस्, त आताम् झ थास् आथाम् ध्वम् इट् वहि महिङ् इत्यादयः आदेशाः (भवन्ति) = धातु से परे ल् के स्थान में तिप्तस्झि इत्यादि १८ आदेश होते हैं। जैसे पठ्+लट् = पठ्+ल् = पठ्+१८ तिबादयः (आगे एक वचन में तिप् कैसे आया वह पूर्व ९ वें पाठ में पूरा लिख चुके हैं) = पठ्+तिप्, पठ् शप् तिप् = पठति ॥

(३) टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९) टितः ६।१, आत्मनेपदानाम् ६।३, टेः ६।१, ए १।१ ॥ टित् लकार सम्बन्धी आत्मनेपद संज्ञक त आताम् आदि ९ आदेशों की 'टि' को 'ए' हो जाता है। जैसे एध्+लट् = एध्+त = एध् शप् त = एध् अ त = इस सूत्र से, त के 'अ' की अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३) से 'टि' संज्ञा होकर त को ते हुआ—एधते। एधन्ते।

(४) थासः से (३।४।८०) टितः की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना = टितः थासः से (भवति) = टित् (लकारों) के थास् के स्थान में 'से' होता है। जैसे एध् शप् थास् = एध् अ से = एधसे ॥

(५) लिटस्तझयोरेशिरेच् (३।४।८१) लिटः ६।१, तझयोः ६।२, एश् इरेच् १।१ ॥ लिटः तझयोः एश् इरेच् (भवतः) = लिट् (लकार) के त और झ के स्थान में क्रम से एश् और इरेच् हो जाता है। जैसे पच् धातु उभयपदी है। इसके लिट् में पच्+त = इस सूत्र से त के स्थान में 'एश्' शित् होने से (१।१।५४ से) सम्पूर्ण के स्थान में होकर पच्+एश् = पच्+ए = (६।४।१२० से ए होकर) पेच्+ए = पेचे। पेच्+इरेच् = पेच्+इरे = पेचिरे ॥ 'लिटः' की अनुवृत्ति ८३ तक जाती है।

(६) परस्मैपदानां णल् अतुस् उस् थल्, अथुस् अ, णल् व माः (३।४।८२) 'लिटः' की ८१ से अनुवृत्ति है। अर्थ बना = लिटः = लिट् के परस्मैपदानां परस्मैपदों (तिप् तस् झि, सिप् थस् थ, मिप् वस् मस्) ९ के स्थान पर क्रम से णल् अतुस् उस्, थल् अथुस् अ, णल् व म, ये ९ आदेश हो जाते हैं। यथाक्रम के लिये यथासंख्यमनुदेशः समानाम् = (१।३।१०) समानाम् = बराबर संख्या वालों में अनुदेशः = पीछे आने वाला आदेश यथासंख्यम् = नम्बरवार (यथाक्रम) भवति = होता है।

इस प्रकार तिप् आदि के स्थान में णल् आदि ९ क्रमवार होते हैं।

(७) लोटो लङ्वत् (३।४।८५) लोट् को लङ्वत् कार्य होता है। इसलिये तस् के स्थान में (१०१ सूत्र से) ताम् आदि होता है। पठताम् ॥

(८) एरुः (३।४।८६) यहां 'लोटः' की अनुवृत्ति है। अर्थ बना = लोटः एः उः (भवति) = लोट् सम्बन्धी 'इ' के स्थान में 'उ' हो जाता है। तिप् = ति को तु, अन्ति = अन्तु, पठतु, पठन्तु बने।

(९) सेर्ह्यपिच्च (३।४।८७) सेः ६।१, हि १।१, अपित् १।१, च अ० ॥ लोटः सेः हि अपित् च (भवति) = लोट् के सि (सिप्) के स्थान में हि होता है और वह अपित् भी हो जाता है। जैसे स्तुहि ॥

(१०) मेर्निः (३।४।८९) मेः ६।१। निः १।१॥ लोट् सम्बन्धी 'मि' (मिप्) के स्थान में 'नि' आदेश हो जाता है। जैसे पठ्+शप्+मिप् = पठ् अ मि = पठ् अ नि = यहां (७।३।१०१) से दीर्घ हो कर पठानि ऐसा बना।

(११) आमेतः (३।४।९०) 'लोटः' की अनुवृत्ति ८५ में है। अर्थ बना = लोटः एतः आम् (भवति) = लोट् सम्बन्धी ए के स्थान में 'आम्' हो जाता है। जैसे एध् शप् त = ७९ से ए होकर एध् अ ते = इस सूत्र से ते के स्थान में ताम् हो गया = एधताम् ॥

(१२) सवाभ्यां वामौ (३।४।९१) 'लोटः', 'एतः' की अनुवृत्ति है। अर्थ बना = लोटः सवाभ्यां एतः वामौ (भवतः) = लोट् के स् और व से परे ए के स्थान में व और अम् हो जाता है। जैसे एधस्व, एधध्वम् यहां एध् शप् थास् = यहां ८० सूत्र से 'से' होकर = एध् अ से = इस सूत्र से 'ए' के स्थान में 'व' होकर एधस्व। एध् शप् ध्वम् = ७९ से ए होकर ध्वे = एध् शप् ध्वे = इस सूत्र से एध् अ ध्वम् = एधध्वम् बना।

(१३) आडुत्तमस्य पिच्च (३।४।९२) आट् १।१, उत्तमस्य ६।१, पित् १।१, च अ० = लोटः उत्तमस्य आट् पित् च भवति = लोट् के उत्तम (पुरुष) को आट् (का आगम) होता है और वह पित् भी हो जाता है जैसे पठाव, पठाम। यहाँ पठ् शप् वस् में पठ् अ वस्, इस सूत्र से आट्, (१।१।४५ से) टित् होने से आदि में होकर पठ

(क्रमशः)

श्रीरामलाल कपूर ट्रस्ट का सस्ता और सुन्दर प्रकाशन

आर्य जगत् को यह जानकर बड़ी प्रसन्नता होगी कि रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर ने अपना प्रकाशन कार्य कुछ वर्षों से पुनः पूर्ववत् भले प्रकार प्रारम्भ कर दिया है। निम्न पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं—

१—**सन्ध्योपासनविधि**—ऋषि दयानन्दकृत भावार्थ, दैनिक हवन और भजनों के सहित। यह अब तक ३०५००० तीन लाख पाँच हजार छप चुकी है। घटाया हुआ मूल्य –)।

२—**व्यवहारभानु**—ऋषि दयानन्दकृत। बालकों को व्यवहार की उचित शिक्षा देनेवाला अपूर्व ग्रन्थ। यह ग्रन्थ प्रत्येक आर्य बालक-बालिकाओं के विद्यालयों में पाठ्य पुस्तक रखने योग्य है। मू० ≈)॥

३—**ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्मचरित्र**—ऋषि दयानन्द ने अमेरिका निवासी आल्काट महोदय की प्रेरणा से अपना कुछ वृत्तान्त लिखकर उन्हें भेजा था, जिसका अंग्रेजी अनुवाद उन्होंने थियोसोफिकल नामक अपने पत्र में छापा था। आर्यसमाज के उद्भट विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्तजी ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। ऋषि दयानन्द के प्रसिद्धि में आने से पूर्व की घटनाओं का यही एकमात्र प्रामाणिक लेख है। मूल्य ।≈)

४—**हवन-मन्त्र**—प्रार्थना, स्वस्तिवाचन, शान्तिप्रकरण, बृहद् हवन और भजनों से युक्त। मू० –)

५—**आर्याभिविनय**—ऋषि दयानन्दकृत (प्रथम और द्वितीय संस्करण से मिलाकर अत्यन्त शुद्ध और सुन्दर छापा गया है। संदिग्ध स्थलों पर टिप्पणियाँ दी गई हैं)। मूल्य ।≈)

६—**आर्योद्देश्यरत्नमाला**—ऋषि दयानन्दकृत। शुद्ध, सुन्दर तथा सटिप्पण संस्करण मूल्य –)

७—**पञ्चमहायज्ञविधि**—ऋषि दयानन्दकृत। " " " " " मूल्य ≈)

८—**उरुज्योति अर्थात् वैदिक अध्यात्म-सुधा**—श्री डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल लिखित। वैदिक अध्यात्म विषयक उच्चकोटि का श्रेष्ठ ग्रन्थ। कागज छपाई श्रेष्ठ और सुन्दर। सजिल्द ३) मात्र

९—**ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास**—लेखक-श्री पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक। ऋषि दयानन्द के सभी मुद्रित और अमुद्रित ग्रन्थों के विषय में पूर्ण जानकारी देनेवाला अपूर्व ग्रन्थ। प्रचारार्थ मूल्य में भारी कमी की गई है। घटाया हुआ मूल्य बढ़िया सं० सजिल्द ४), साधारण सं० अजिल्द ३) मात्र

१०—**अष्टाध्यायी मूल** (सूत्रपाठ) अत्यन्त शुद्ध पाठ ≈) डाक व्यय मूल्य ॥)

११—**ऋग्वेद-भाषाभाष्य-प्रथम भाग** (जो वेदवाणी में क्रमशः छपता रहा) मूल्य २॥)

१२—**वेदांक**—यह वेदवाणी के इस वर्ष का विशाल विशेषांक है। इसमें ३६ उच्चकोटि के गवेषणात्मक वेदविषयक मौलिक लेखों का संग्रह है। दूसरे शब्दों में इसे वेदविषयक ३६ ट्रैक्टों या निबन्धों का संग्रह कह सकते हैं। मूल्य १)। गत दो वर्षों के वेदाङ्क का मूल्य भी घटाकर प्रति अंक १) कर दिया है।

१३—**वेदवाणी की पुरानी फाइलें**—वर्ष २ अङ्क १० मूल्य २॥), वर्ष ३ अङ्क १० मूल्य २॥), वर्ष ४ अङ्क १० मूल्य ३), वर्ष ५ वेदाङ्क सहित ४), वर्ष ६ वेदाङ्क सहित ५)। थोड़ी प्रतियाँ शेष हैं, शीघ्रता करें।

डाक व्यय सबका पृथक् होगा। बड़ा सूचीपत्र विना मूल्य मंगवावें।

रामलाल कपूर एण्ड सन्स, पेपर मर्चेण्ट

गुरु बाजार, अमृतसर। नई सड़क, देहली। बिरहाना रोड, कानपुर।

वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस ६।

संपादक, प्रकाशक व मुद्रक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विसेसरगंज, बनारस।

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ७] ❀ [अङ्क १०

इस अंक के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

श्रावण २०१२, अगस्त १९५५
दयानन्दाब्द १३०
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५५

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) बनारस नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
" " विदेश में ६)
इस अंक का ॥)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के दो ।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है।।

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर, अङ्क १ तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहिये। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जावेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) बनारस ६

ओ३म्

वेदवाणी

सं श्रुतेन॑ गमेमहि॒, मा श्रुतेन॒ वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों !

वर्ष ७ } काशी, श्रावण सं० २०१२ वि०, अगस्त १९५५ ई० { अङ्क १०

आर्याभिविनय से

हे प्रभो ! हमारे काम-क्रोधादि सब शत्रुओं को नष्ट करो !!

ओं ऊ॒र्ध्वो नः॑ पा॒ह्यंह॑सो नि के॒तुना॒ विश्वं॒ सम॒त्रिणं॑ दह।
. कृ॒धी न॑ ऊ॒र्ध्वाञ्च॒रथा॑य जी॒वसे॑ वि॒दा दे॒वेषु॑ नो॒ दुवः॑ ॥ (ऋ० १।३।१०।४)

व्याख्या—हे सर्वोपरि विराजमान परब्रह्मन् ! आप *"ऊर्ध्वः"* सबसे उत्कृष्ट हो, हमको कृपा से उत्कृष्ट गुणवाले करो, तथा ऊर्ध्वः देश में हमारी रक्षा करो। हे सर्वपापप्रणाशकेश्वर ! हमको *"केतुना"* विज्ञान अर्थात् विविध विद्यादान देके *"अंहसः"* अविद्यादि महापाप से *"निपाहि"* नितरां पाहि—सदैव अलग रक्खो तथा *"विश्वं"* इस सकल संसार का भी नित्य पालन करो। हे सत्यमित्र न्यायकारिन् ! जो कोई प्राणी *"अत्रिणम्"* हमसे शत्रुता करता है उसको और काम क्रोधादि शत्रुओं को आप *"संदह"* सम्यक् भस्मीभूत करो (अच्छी प्रकार जलाओ)। *"कृधी न ऊर्ध्वान्"* हे कृपानिधे ! हमको विद्या, शौर्य, धैर्य, बल, पराक्रम, चातुर्य, विविध धन ऐश्वर्य, विनय, साम्राज्य, सम्मति, सम्प्रीति, स्वदेशसुखसंपादनादि गुणों में सब नरदेहधारियों से अधिक उत्तम करो तथा *"चरथाय जीवसे"* सबसे अधिक आनन्द भोग, सब देशों में अव्याहत गमन (इच्छानुकूल जाना आना) आरोग्य देह शुद्ध मानस-बल और विज्ञान इत्यादि के लिये हमको उत्तमता और अपनी पालनायुक्त करो। *"विदा"* विद्यादि उत्तमोत्तम धन *"देवेषु"* विद्वानों के बीच में [*'नः'* हमें *'दुवः'*] प्राप्त करो अर्थात् विद्वानों के मध्य में भी उत्तम प्रतिष्ठायुक्त सदैव हमको रक्खो ॥

भर्गो देवस्य धीमहि

[ले० महात्मा प्रभु आश्रित जी महाराज रोहतक]

भर्गः ही भग है

यजमान को आशीर्वाद—प्यारे भाग्यशाली सज्जनो और भाग्यवान् यजमान महोदय! आज आप का सौभाग्य है कि उस अपने प्यारे प्रीतम की पवित्र और वेद की अमृत वाणी के श्रवण और यज्ञ द्वारा संसार की सेवा का सुअवसर आप को प्राप्त हो रहा है। प्रभु देव आप के यज्ञ को स्वीकार करें और आप का जीवन और कमाई सफल करें।

"सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः"

परमात्मा का भग और भगवान्—प्यारे जरा ध्यान से सुनना, चूक न जाना! परमात्मा का नाम भगवान् है और यह सारा संसार उसका भग है। यजुर्वेद ने कहा, अध्याय ३४ मन्त्र ३८ में:—

"भग एव भगवाँ २॥ अस्तु देवाः तेन वयं भगवन्तः स्याम॥" और जीव भाग्यवान भी है, भगवान भी कहलाता है और अभागा भी, असंख्यात जीव अभागे हैं, भगवान विरला ही होता है।

भाग्यवान् कौन है—अब रहे भाग्यवान्! सो वह कौन है?

जिस जीव के भोग में उस भगवान् का विशेष भाग अथवा भग है, वही भाग्यवान् कहलाता है।

मनुष्यों के अतिरिक्त जो अन्य सृष्टि है उनमें से भी विशेष २ वस्तुएँ हैं जो अपने गुणों से प्यारी और आदरणीय मानी जाती हैं। है तो वह भी भगवान् का भग, पर अपनी जाति में अधिक उपयोगी होने से वह भी भाग्यशाली कही जाती हैं, जैसे पौधों में तुलसी, पेड़ों में पीपल, पलाश, बिल, धातुओं में हीरा, नीलम, पुखराज, सुवर्ण, चांदी—जिनके देखने और प्राप्त करने के लिये मानव तरसता और भरसक यत्न करता है।

यह वस्तुएँ राजा महाराजा और बड़े २ धनी मानी मनुष्यों की, मन्दिरों की शोभा बढ़ाती हैं। भग का अर्थ भी शोभा है जो भगवान् के नाम को दर्शाती हैं।

चुनांचे वेद ने उसी महाखण्ड के अन्तिम भाग में कहा "देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम।" "अर्थात् हम देव, ज्ञानी लोग उस ऐश्वर्यस्वरूप ऐश्वर्य वाले परमेश्वर के साथ सामग्रीशोभायुक्त होते हैं।"

भाग्यहीन की गति—जिसके पास यह भग भगवान का दिया हुआ नहीं है वह कैसे दान कर सकता है? उसके द्वार पर कौन आकर पुकार और नमस्कार करेगा! क्यों झुकेगा? दीन, कङ्गाल, भिखारी, इन ही चीजों के लिये दाता के द्वार पर भगवान् का नाम उच्च स्वर से प्रस्तुत करके वा पुकार करके प्राप्त करता है। यही चीजें दाता की शोभा को बढ़ाती और उसे भाग्यवान् नाम से सम्बोधन कराती हैं।

निर्धन की गति इससे दयनीय है। जब वह अपनी पालना नहीं कर सकता, दूसरों की क्या करेगा!

पशुओं में भी गौमाता भाग्यवती है, यद्यपि दूध, मक्खन आदि तो भेड़, बकरी और भैंस भी देती हैं परन्तु गौघृत, गोदुग्ध पूर्ण सात्विक और सात्विक मति देने वाला है इसलिये गौ-माता के नाम से पुकारा जाती है।

मनुष्य योनि तो सारी भाग्यवान् है

मनुष्य योनि तो हीरा जन्म कहलाने से सारी भाग्यवान है क्योंकि मनुष्य जन्म सबसे श्रेष्ठ और बड़े पुण्य कर्मों का फल है परन्तु उनमें से कहलाता वह भाग्यवान है जिसके पास कोई विशेष भग है।

भोग पदार्थों के संग्रह करने वाला अथवा जिसके पास भोग पदार्थ बहुत हैं, उसे भाग्यवान् या भाग्यशाली नहीं कहा जाता क्योंकि भोग पदार्थ का तो एक क्षुद्र चींटी और मूसे के बिल में जाकर देखो कितना ढेर लगा हुआ होता है। काक, कुत्ता भी बहुत से रोटी के टुकड़े भूमि में दबा रखता है।

भग का अर्थ है ज्ञान, सेवा, शोभा बढ़ाने वाला ऐश्वर्य–जिस मनुष्य को सत्सङ्ग की प्राप्ति है वह *भाग्यवान्* है। जो तीर्थ यात्रा दान पुण्य करता है वह उससे भी अधिक *भाग्यवान्* है और जिस मनुष्य के पास गौ है दान और सेवा करने के लिये, *वह तो उनसे भी अधिक भाग्यवान् है।*

गो की स्तुति वेद भगवान् इस प्रकार करता है, प्रश्न हुआ **"कस्य मात्रा न विद्यते"** —यजु० २३--४७ संसार में कौन ऐसा पदार्थ है जिसका नाप, तौल, सीमा न बताई जा सके। उत्तर दिया अगले मन्त्र में **"गोस्तु मात्रा न विद्यते"** यजु०--२३--४८

अर्थात् गौ ही ऐसी वस्तु है जिसका मान परिमाण नहीं है,

'गो' के अर्थ

इस गो शब्द के बहुत ही अर्थ हैं परन्तु मैं मोटे २ अर्थ का वर्णन करूंगा।

(१) एक गो तो प्रसिद्ध नाम गौ दूध देने वाले पशु का है, जिसके पास गौ है उसका घर गौ के गोबर से शुद्ध पवित्र और चमकीला प्रतीत होगा। अनेक प्रकार के जन्तु इस गोबर की गन्ध से और छाछ की गन्ध से नष्ट हो जाते हैं अथवा दूर भाग जाते हैं। प्रातः सायं गौ की सेवा, दर्शन से मनुष्य के भावों में कितनी पवित्रता जगती है।

वेद भगवान् गौ को 'अघ्न्या' कहते हैं जो कभी वध के योग्य नहीं। लोकोक्ति है जो कोई मनुष्य सरल, सीधा सादा साधु स्वभाव हो, कभी किसी से ऊंचा न बोलने वाला हो उसे कहते हैं 'यह तो बेजबान देवता है–गौ है'—गौ का पालन, गौ के दुग्ध, नवनीत घृतामृत से अपनी, अपने बाल बच्चों के शरीर मन्दिरों की और और अतिथि साधु विद्वान् अभ्यागत की सेवा पूजा सत्कार जो करता है, जिसके भाग्य और भावों में यह प्राप्त है वह बड़ा *भाग्यवान् है।*

गो का दुग्ध न केवल पालन पोषण में लगता है अपितु रोगियों की औषधि और यज्ञ हवन की अद्भुत और आवश्यक हवि अथवा अंग है।

(२) गो का दूसरा अर्थ है भूमि। जिसको भगवान् ने भूमि दी है, जो भूमिपति है और भूमि का दान, भूमि की उपज का भाग धर्म कार्यों में लगाता है वह *और बड़ा भाग्यशाली है।* इसी भूमि से उपज होती है और इसी भूमि पर सत्सङ्ग और यज्ञ होते हैं। इसी भूमि पर विद्यालय बनते हैं और इसी भूमि पर मन्दिर बनते हैं जहाँ लाखों करोड़ों नर नारी भगवान की आराधना और पूजन करके अपना जीवन संसार सागर से पार तराते हैं। फिर ऐसा भूमिपति कैसे बड़ा भागी न कहलाएगा।

(३) वर में कन्या गो समान—वैदिक धर्म में कन्या प्रदान से पूर्व गोदान कराया जाता है और *लोग कन्या को भी गो कहते हैं।* कन्या को जो विदुषी और योग्य बना कर प्रदान करता है *वह और भी भाग्यवान् है, भाग्यशाली है* क्योंकि कन्या दूसरे कुल को बढ़ाती है। त्याग और प्रेम की साक्षात् मूर्त्ति बन कर पति कुल को सँवारती सुधारती, गृहस्थ आश्रम को स्वर्गधाम बनाती, माता पिता के नाम को चमकाती है। और वह माता पिता इसी लिये भाग्यशाली हैं कि कन्या बड़े से बड़े धनवान्, विद्वान्, बलवान् माता पिता को निमान करा देती है। कन्या देने पर उसे झुकना पड़ता है।

(४) *इससे भी बड़ा भाग्यवान्* वह है जो वेद वाणी का दान करता है। गो नाम वेदवाणी का भी है। जो भगवान् की वेदवाणी का मधुर स्वर से पाठ करता है, अभ्यास करता है, श्रवण कराता है और वेद भक्त है।

(५) *इससे भी अधिक भाग्यवान् वह है जो यज्ञ करता है।* यज्ञ द्वारा संसार भर के प्राणियों को सुख पहुँचाता है। वायु, जल, अन्न की शुद्धि करता है। यज्ञ को भी गो नाम से कहा गया है।

(६) इससे भी अधिक भाग्यवान् वह है जो गुरु-चरणों में प्रीति रखता है।

(७) इससे भी अधिक भाग्यवान वह है जो गुरु-शरण में पड़ा हुआ है। गो नाम किरण और चरण का भी है। गुरु वह है जो विद्वान्, धार्मिक, सदाचारी हो, अन्तःकरण में प्रकाश कराने वाला हो।

(८) उससे भी बड़ा भाग्यवान् वह है जो अपनी इन्द्रियों का दमन और मन का शमन करता है। गो नाम इन्द्रिय का है। और इन्द्रियों में गो नाम वाणी का प्रसिद्ध है और मन का भी है।

जिसकी वाणी गो के समान अहिंसात्मक, प्रेम, अमृतरस पिलाने वाली और प्रभु नाम का रस पीने वाली, सन्तप्त हृदयों को शान्त, दीन दुःखियों की तृष्णा मिटाने वाली हो, जिसकी वाणी अपनी बन चुकी हो, जो परमात्मा का नाम आप स्मरण करती और लोगों से कराती हो।

वाणी के काम—वाणी दो कर्म करती है—ज्ञान और कर्म, गुरु और शिष्य, सेवक और स्वामी दोनों को एक कर देने वाली है।

विरले जीव मनुष्य शरीर में भी भगवान के नाम की तरह पूजे और पुकारे जाते हैं। उनके पास प्रभु देव का भग विशेष होता है, उनके पास दिव्य षट्-सम्पत्ति होती है।

षट् सम्पत्ति क्या है—षट् सम्पत्ति में ६ गुण विशेष हैं और वह हैं शम, दम, तप, तितिक्षा, ज्ञान और वैराग्य। जैसे भगवान् राम और महाराज कृष्ण को भगवान् कृष्ण पुकारते हैं। ऋषि दयानन्द को, जगत् गुरु शंकर को, महात्मा बुद्ध को भी भगवान् नाम से आदर से पुकारा जाता है।

सब देवियां तो भाग्यवती कहलाती हैं परन्तु सीता जैसी महारानियां भगवती, जैसे हम वेद श्रुति को भगवती श्रुति और गङ्गा को भगवती भागीरथी के नाम से पुकारते हैं। गायत्री भी भगवती कहलाती है।

सुतराम्—यह सब जो मैंने ऐश्वर्य, भग विशेष प्रभु का गिनाया, यह सब गायत्री मन्त्र में दूसरे पाद "भर्गो देवस्य धीमहि" के भर्गः के हैं। भर्गः के स्वरूप को जानने और धारण करने के फलरूप में मिल सकती हैं और मिलती हैं। इसलिये भगवत् भजन करने वालों और [illegible] जप तप करने वालों से मैं प्रार्थना करता हूं और याद दिलाता हूं कि मनुष्य वही सफल जीवन होता है जो प्रभु की दी हुई विशेष भग (दात = देन) को बढ़ाता है। अगर न भी बढ़ा सके तो जो मानव जन्म पाकर भी प्रभु की दात का मान करता है। वह उसकी रक्षा अवश्य करे।

भगवान् करे कि हम भगवान् के शोभायुक्त भग भर्गः को समझने और धारण करने में समर्थ और योग्य बन सकें।

मनसा-परिक्रमा-मंत्राः

अर्थात्

मन की परिशुद्धि

[ले० श्री प्रो० विन्ध्यवासिनी प्रसाद जी]

मानसशक्ति (Strong will) द्वारा परमात्मा को अपने अन्तःकरण—मन mind बुद्धि intellect चित्त memory अहङ्कार Soul—में व्याप्त कराने और उसे रक्षक, सुखदाता, दुःखनिवारक रूप में स्थापित कराने वाले मंत्र।

उपर्युक्त[2] अवस्था को लाने के लिये ऐसी भावना करे कि परमात्मा सब दिशा अर्थात् सब स्थान और अवस्थाओं में हमारा प्रेरक बन कर, सांसारिक माता पिता का एक अबोध बालक के प्रति व्यवहार की तरह, सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्ति के लिये सहायता करता रहे।

छान्दोग्योपनिषद्[3] में लिखा है कि "वह ही ब्रह्म नीचे है, वह ही ऊपर है वही पीछे है, वही सामने है, वही दक्षिण में और वही उत्तर में है। वही सर्वत्र पहुँचा हुआ और हमारी परमोन्नति का कारण है। दूसरी ओर जब अहङ्कार (self ego) ब्रह्म का स्थान ले लेता है, तब जीव समझता है, कि मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही पीछे, मैं ही आगे हूँ। मैं ही दक्षिण में, मैं ही उत्तर में हूँ। मैं ही गतिशील और समृद्धि का कारण हूँ"।

ब्रह्म ही मूलरूप में कार्यसम्पादक हो, इस मानस स्थिति की सर्वश्रेष्ठता दर्शाते हुए, मुण्डकोपनिषद्[4] में लिखा है कि "सकल विश्व में फैला हुआ परमसुखी और ऐश्वर्यशाली ब्रह्म ही है। ऐसा ब्रह्म कार्यकर्त्ता रूप में मेरे आगे स्वस्ति और शान्तिदायक हो, मेरे पीछे स्वस्ति और शान्तिदायक हो, मेरे उत्तर में स्वस्ति और शान्तिदायक हो, मेरे ऊपर और नीचे भी स्वस्ति और शान्तिदायक हो। वही ब्रह्म उच्चतम और कामना योग्य है।"

बुद्धि द्वारा सृष्टि रचना को देखते हुए, और परमात्मा को सर्वोपरि एवं शक्तिशाली और दयालु पाते हुए, स्वयमेव (automatically) अद्भुत स्तुतिप्रार्थनोपासना की वृत्ति बन जाती है। इस वृत्ति के फलस्वरूप, हमारे शरीर और आत्मा के कण २ और कोने २ में प्रभु के उपकार का अनुभव होने लगेगा और हम उसे अपने मन से तनिक भी बाहिर नहीं जाने देंगे। यदि वह जाता हुआ प्रतीत होगा तो उसे पकड़ने का प्रयत्न स्वाभाविक रूप से होने लगेगा और यह इच्छा भी बनी रहेगी कि उसी के द्वारा हमारे सब कार्य सम्पन्न हों, और हमारी सब चेष्टायें त्रुटिरहित और प्रभु अनुकूल ही हों। ऊर्ध्वगति प्राप्ति की अभिलाषा, और प्यार मोहब्बत अथवा संध्या-दो के घुलमिल जाने की अवस्था में प्रेमी की ऐसी मनोवस्था बन ही जाती है।

प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्योऽअस्तु।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ १ ॥ अथर्व० कां ३ सू० २७ मं १ ॥

---

१. परिक्रम = to penetrate, to overtake—apte.

२. सर्वे मनुष्याः सर्वशक्तिमन्तम् सर्वगुरुम् न्यायकारिणम् दयालुम् पितृवत्पालकम् सर्वासु दिक्षु सर्वत्र रक्षकम् परमेश्वरमेव मन्येरन्नित्यभिप्रायः—दया० पञ्च०

३. स एवाधस्तात् स उपरिष्टात्, स पश्चात्, स पुरस्तात्, स दक्षिणतः, स उत्तरतः स एवेदम् सर्वमिति। अथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहम् पुरस्तादहम् दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदम्—सर्वमिति।—छान्दो० उप० प्रपा०७ खं २५

४. ब्रह्मैवेदममृतम् पुरस्तात् ब्रह्म पश्चात्, ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण, अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतम् ब्रह्मैवेदम् विश्वमिदम् वरिष्ठम्।—मुण्ड० उप० मुं० २ खं० २ मं. ११.

शब्द	अर्थ
अग्निः[1]	निरन्तर व्यापक, सब कुछ जानने जनाने वाला, कष्टों को जलाने और उत्तरोत्तर सुख की ओर ले जाने वाला, शक्ति और ज्ञान का पुञ्ज, सर्वोपरि पूज्यतम परमात्मा।
प्राची[2] दिक्[3]	उत्कर्ष, उन्नतम व्यावहारिक (सांसारिक) और पारमार्थिक उन्नति की ओर उचित प्रकार से अग्रसर होने में प्रेरित करने और धर्म-उन्नति ज्ञान का, वर्णाश्रमध्येय ज्ञान का।
अधिपतिः[4] (अस्ति)	स्वामी, पूर्ण और सफल दाता है
असितः[5]	अज्ञानरूपी बन्धन से छुटकारा पाना और हर प्रकार की कालिमा का श्वेतरूप धारण करना अथवा धुल जाने का ज्ञान
रक्षिता[6]	प्रथम कष्टनिवृत्ति अथवा दुःख को परे करने में सहायक पहिली सीढ़ी पर चढ़ना है
आदित्याः[7]	वेद के मंत्र, और वेदानुकूल आर्ष-शास्त्र, सूर्यवत् चमकने वाले, ४८ वर्ष तक पूर्णतया वीर्यरक्षा, वेद-ज्ञान, ईश्वर साक्षात्कार करने वाले (धर्म) उन्नतिमार्ग के अन्वेषक, घोर परिश्रमी विद्वान्, अपना प्राणबल, सूर्यरश्मिबल, पृथिवी और गौ आदि की आदित्य शक्तियाँ
इषवः[8]	(ईश्वर की प्रेरणा से) वीरतापूर्वक इष्ट लक्ष्य प्राप्ति में प्रेरक हो के, लक्ष्यज्ञान दान देने और सांसारिक और पारमार्थिक समृद्धि में अग्रसर करने के लिये, उत्कृष्ट साधन हैं
तेभ्यः[9]	व्यापक
अधिपतिभ्यः	(सर्व वस्तु के) स्वामी और शासक ईश्वर के लिये

१. अञ्चति गच्छति प्राप्नोति जानाति वा सो ऽग्निः। वह्निः प्रसिद्धो वा। उ० ४।५०fr अञ्चु गतिपूजनयोः भ्वा०। = गतौ याचने च—भ्वा० विशेषणे (excellence) चुरा० अङ्क पदे लक्षणे च। अङ्ग च। सुख दुःख तत्क्रियायाम्—चुरा०
२. प्राची = प्र + अञ्चु। प्र = आरम्भे गतौ उत्कर्षे प्राथम्ये सर्वतोभावे उत्पत्तौ ख्यातौ व्यवहारे च—शब्दकल्पद्रुम। अञ्चु = देखिये टिप्पणी १
३. दिशति ददाति अवकाशम् इति दिक्।
४. अधिकः पतिः
५. अ + सितः (fr षिञ् = बन्धने—स्वा०)
६. fr. रक्ष् = पालने—भ्वा० Keep away from, to protect, to guard, to govern, to tend—apte.
७. (अ) fr दो = अवखण्डने—दिवा०
(आ) अथ यान्यष्टाचत्वारिंꣳशद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनमष्टाचत्वारिंꣳशदक्षरा जगती जागतम् तृतीयसवनम्, तदस्या दित्यान्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदꣳसर्वमाददते।—छान्दो० उप० प्रपा० ३ खं १६.
अर्थ—और जो ४८ वर्ष ब्रह्मचर्य के हैं वही तीसरी वीर्य की उत्पत्ति और वृद्धि की मंजिल है (पहिली दो मंजिल २४ वर्ष और ४४ वर्ष की हैं)। जैसे जगती छन्द ४८ अक्षरों का होता हुआ प्रभावशाली है, उसी प्रकार ४८ वर्ष का ब्रह्मचारी भी जगत् को गति देने में समर्थ होता है। इसके पूर्ण सहायक, इसके आदित्य-प्राण (Vital energy) हो जाते हैं। प्राणों के बल पर ही सकल इच्छाओं की पूर्ति संभव है।
(इ) आदित्याः = प्राणाः—दया० यजु०
८. इष्यति गच्छति हिनस्ति वा शत्रून् इषुः बाणो वीरो वा। उ० १।१३.
९. (अ) यहां तद् को संज्ञा मानकर अर्थ किया है। यथा—तनुते विस्तृतो भवतीति तद्। यजति सर्वैः पदार्थैः सह सङ्गतो भवतीति यत्। त्यजति क्लेशादिहीनो भवतीति त्यद्। त्रीणि ब्रह्मनामानि उ० १।१३२
(आ) आदरार्थे बहुवचनम्।

नमः[1] (अस्तु)	मन बुद्धि चित्त अहङ्कार, व्याप्ति के लिये, अर्पित हों
रक्षितृभ्यः	अज्ञान को दूर करने, ज्ञान की वृद्धि के लिये
नमः (अस्तु)	सच्चा भाव (appreciable mood) लगन (close application) और तपस्या (hard work) हो,
इषुभ्यः	वेद की ऋचायें, आर्षवचन, और आदित्य ब्रह्मचारी के निर्देशों के लिये, प्राणबल, सूर्यरश्मिबल, आदि के लिये
नमः (अस्तु)	पूर्ण आदर हो
एभ्यः (अधिपतिभ्यः)	प्रत्येक पदार्थ में भीतर और बाहिर से विद्यमान, सर्वशक्तिमान् परमात्मा के लिये
नमः अस्तु	हमारी सकल चेष्टायें उसकी अनुकूलता प्राप्त करने के लिये व्याकुल हों
यः	(इस अज्ञाननिवृत्ति के प्रयास में) जो भी आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक शक्ति
अस्मान्	हमें
द्वेष्टि	हानि पहुँचाती है
वयं	हम लोग
यम्	जिस विघ्नकारी शक्ति को
द्विष्मः	हानिकारक समझते हैं
तम्	उस रुकावट डालने वाली शक्ति को
वः = युष्माकं	आप (परमात्मा) के
जम्भे[2]	अनुकूल बनाने अथवा बलपूर्वक नष्ट करने की व्यवस्था में
दध्मः	रखते हैं

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चि राजी रक्षिता पितर इषवः।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्योऽअस्तु।

योऽऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥२॥ अथर्व, का० ३ सू० २७ मं० ३

इन्द्रः[3]	परमोन्नत, ऐश्वर्यशाली, समर्थ, व्यापक, और प्राप्तव्य ईश्वर
दक्षिणा दिक्[4]	ईश्वर, वेद, धर्म, अर्थ, काम मोक्ष के सद्यः प्राप्त्यर्थ, तप की प्रेरणा द्वारा शरीर और आत्मा को यथोचित उन्नतावस्था तक पहुँचाने और समृद्धि करने दान देने और प्रतिष्ठा पाने की शक्ति उत्पन्न करने. अर्थात् "अर्थ" का
अधिपतिः (अस्ति)	स्वामी तथा ऐसे कामनावालों का सर्वथा प्रेरक और सिद्धिदाता है
तिरश्चि[5] राजी[6]	सकल बाधाओं को विफल कर कार्य पूरा कर देने का क्रम
रक्षिता	द्वितीय, कष्टनिवृत्ति, अर्थात् दुःख को परे कर देने में सहायक दूसरी सीढ़ी पर, पहुँचना है

---

१. fr नम = प्रह्वत्वे शब्दे—भ्वा० । adoration, Sacrifice, gift, Row, Salutation—apte.

२. (अ) Killing, explanation—apte. fr. जभि = नाशने—चुरा० । जभी = गात्रविनामे—भ्वा०

(आ) यतस्सोऽनर्थान्निवर्त्य स्वमित्रो भवेत् वयं च तस्य मित्राणि भवेम—दया० पञ्च०

३. इन्दति परमैश्वर्यवान् भवतीति इन्द्रः । समर्थो अन्तराऽऽत्मा आदित्यो योगो वा । उ० २।२८

४. दक्षते वर्धते शीघ्रकारी भवतीति वा स = दक्षिणः । दातॄ प्रतिष्ठा वा । उ० ५० fr दक्ष् = वृद्धौ शीघ्रार्थे च । गतिहिंसनयोः—भ्वा० ।

५. तिरस् = तृ + असुन् स्वरादि fr तृ = प्लवनसंतरणयोः—भ्वा० 1 to surmount, to go to the end of, master completely—apte.

६. line, row, range

पितरः[1] — धर्म अर्थ काम मोक्ष की प्राप्ति से पुष्ट, विकसित, एवं इस प्रकार पुष्टि और समृद्धि के दाता वृद्ध ज्ञानी परमयोगी विद्वज्जन,

इषवः — (ईश्वर की प्रेरणा से)। वीरतापूर्वक, इष्ट लक्ष्यप्राप्ति में प्रेरक होकर ज्ञान और कर्म द्वारा पुष्टि प्रदान करने और सांसारिक एवं पारमार्थिक समृद्धि से सम्पन्न करने के लिये परमसाधन है

तेभ्यः — व्यापक

अधिपतिभ्यः — (सर्ववस्तुओं के) स्वामी और शासक ईश्वर के लिये

नमः (अस्तु) — मन बुद्धि चित्त अहङ्कार व्याप्ति और प्रेरणा पाने के लिये अर्पित हो

रक्षितृभ्यः — सकल बाधाओं को विफल कर कार्य पूरा कर देने के लिये

नमः (अस्तु) — सच्चा भाव लगन और तपस्या हो

इषुभ्यः — उपरोक्त पुष्टिदाता और परिपक्व विद्वानों के लिये

नमः (अस्तु) — पूर्ण आदर हो

एभ्यः (अधिपतिभ्यः) — प्रत्येक पदार्थ में भीतर और बाहिर से विद्यमान, सर्वशक्तिमान् परमात्मा के लिये

नमः अस्तु — हमारी सकल चेष्टायें उसकी अनुकूलता प्राप्त करने के लिये व्याकुल हों

यः — (इस उन्नतावस्था की प्राप्ति के प्रयास में) जो आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक शक्ति

अस्मान् — हमें

द्वेष्टि — हानि पहुँचाती है

वयं — हम लोग

यम् — जिस विघ्नकारी शक्ति को

द्विष्मः — हानिकारक समझते हैं

तम् — उस रुकावट डालने वाली शक्ति को

वः = युष्माकं — आप (परमात्मा) के

जम्भे — अनुकूल बनाने अथवा बलपूर्वक नष्ट करने की व्यवस्था में

दध्मः — रखते हैं

प्रतीचो दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नमऽएभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ३ ॥ अथर्व० कां० ३ सू० २७ मं ३

वरुणः[2] — श्रेष्ठों का पूर्णतया रक्षक, न्यायकारी, विश्व का महाराजा, अन्नादि पदार्थों का दाता, ग्रहण करने योग्य, बाह्य दुःखों को परे करने में समर्थ ईश्वर,

प्रतीची[3] दिक् — परोक्ष आक्रमण से अभेद्य रखने में

अधिपतिः(अस्ति) — स्वामी, सुप्रेरक, और सुखदाता है

पृदाकू[4]: — अभिमानी और हिंसक प्राणियों को भगा देना अथवा दण्ड देने

रक्षिता — हमारी उन्नति को निर्विघ्न और निरापद करने वाला है

---

१. वृद्धज्ञानी—सत्यार्थ० समु० ४। पान्त्यत्यन्तसुशिक्षाविद्यादानेन इति पितरः—दया० यजु० ३।५५. पाति रक्षतीति पिता—उ० ३।९५.। सत्यासत्योपदेशकाः—दया० यजु० ७।४६. fr. पा = पाने—भ्वा०। पा = रक्षणे—अदा०। to govern, to adhere, to fulfil, to nourish—to Keep, to preserve—apte

२. (अ) fr वृञ् = वरणे—स्वा०। वृञ् आवरणे—चुरा०। वृणोति व्रियते वाऽसौ वरुणः उत्तमम् उ० ३।५३
(आ) वरुण = न्यायकारी—दया० यजु० ६।२२। वरुणो देवानाम् राजा—शत० १२।८।३।१०
वरुणः सम्राट् सम्राट्पतिः—शत० ११।४।३।१०। वरुणो अन्नपतिः—शत० १२।७।२२०
वरुणः वीरगुणोपेतः—दया० यजु०८।२३।
(इ) विचारिये (१) यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः—यजु०२५। मं० २३
(२) इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्—यजु०३२।१६.

३. Coming from behind, west—apte.

४. (अ) पर्दते कुत्सितम् शब्दम् करोतीति पृदाकुः। व्याघ्रः सर्पो वा। उ० ३।८० [कुत्स = अवक्षेपणे—चुरा० Cause to fly away, to Censure—apte]

अन्नम्[1]	जीवन रखने में सहायक शक्तियां अथवा सर्वाधिकारप्राप्त, वशी, शासक, राजा और राज्याधिकारीगण
इषवः	(ईश्वर की प्रेरणा से) इष्ट लक्ष्य की सिद्धि में परम साधन है
तेभ्यः	व्यापक (Omnipresent)
अधिपतिभ्यः	(सर्व वस्तुओं के) स्वामी और शासक ईश्वर के लिये
नमः (अस्तु)	मन, बुद्धि, चित्त अहङ्कार (व्याप्ति के लिये) अर्पित हो
रक्षितृभ्यः	अभिमानी और हिंसक प्राणियों को भगा देने अथवा दण्ड देने के लिये
नमः (अस्तु)	सद्भाव, ध्यान, और तपस्या हो
इषुभ्यः	जीवनरक्षक शक्तियों और उपर्युक्त शासक और राज्याधिकारी गण के लिये
नमः (अस्तु)	पूर्ण आदर हो
एभ्यः(अधिपतिभ्यः)	प्रत्येक पदार्थ में बाहिर भीतर से विद्यमान, क्रियावान् सर्वशक्तिमान् परमात्मा के लिये
नमः अस्तु	हमारी सकल चेष्टायें, उसकी अनुकूलता प्राप्त करने के लिये व्याकुल हों
यः	(इस विघ्ननिवारण के प्रयास में) जो भी आध्यात्मिक, आधिदैविक आधिभौतिक शक्ति
अस्मान्	हमें
द्वेष्टि	हानि पहुँचाती है
वयं	हम लोग
यम्	जिस विघ्नकारी शक्ति को
द्विष्मः	हानिकारक समझते हैं
तम्	उस रुकावट डालने वाली शक्ति को
वः = युष्माकं	आप (परमात्मा) के
जम्भे	अनुकूल बनाने अथवा समूलक नष्ट करने की व्यवस्था में
दध्मः	रखते हैं

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नमएभ्योऽअस्तु ॥
योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥४॥

अथर्व० कां ३ सू० २७ मं० ४

सोमः[2]	जीव और प्रकृति से निर्लिप्त, बहुत बड़ी विभूति का कारण, प्रकाशमान्, आह्लाददायक, वायुवत् जीवों के लिये परमावश्यक सारभूत परमात्मा
उदीची[3] दिक्	प्रकृति, स्व (अहङ्कार) और जीवों के वशित्व से ऊपर उठने की अवस्था को पहुँचाने अर्थात् काम (= शुद्ध ईश्वरोपभोग) प्राप्त कराने के रूप में
अधिपतिः (अस्ति)	स्वामी से प्रेरक, और आनन्ददाता है
स्वजः[4]	सम्यक् प्रकार ओ३म् से सीधी प्रेरणा मिलना
रक्षिता	दुःख को अतिशय परे कर देने में सहायक तृतीय सीढ़ी पर पहुँचना है
अशनिः[5]	प्रभु की तीव्र कामना की अग्नि में अपने स्व के मूल्य को मिटा देना और सब कुछ भूलकर उस प्रभु का सा बन जाना, उसकी सगुणनिर्गुणोपासना करना

(आ) मृढवदभिमानी व्याघ्रवद् वा हिंसकः—दया० यजु० ६।१२

१. अनिति जीवयतीति अन्नम्—उ० ३।१० अत्ता चराचरग्रहणात् (Controller) वेदान्त० १।२।९

२. सुवत्यैश्वर्यहेतुर्भवतीति सोमः उ० १।१४० Ray of light, wind, heaven fr. षुञ् = अभिषवे (extraction or pressing out)—स्वा०। षूङ् = प्राणिगर्भविमोचने—अदा० षूङ् = प्राणिप्रसवे—दिवा०

३. going upward—apte.

४. स्वज = सु + अज fr अज् = गतिक्षेपणयोः—भ्वा० [क्षिप् = प्रेरणे—दिवा०]

५. येनाश्नाति योऽश्नुते व्याप्नोति वा स अशनिः—उ० २।१०२ fire, aspiration—apte fr. अशूङ् = व्याप्तौ संघाते च—स्वा०

इषवः	(ईश्वर की कृपा से) प्रकृति अहङ्कार और जीवों के वशित्व से ऊपर उठने की अवस्था को प्राप्त कराने में कामनायोग्य विशाल साधन हैं
तेभ्यः	व्यापक (omnipresent)
अधिपतिभ्यः	सब पदार्थों के स्वामी, शासक, और पालक ईश्वर के लिये
नमः (अस्तु)	मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार (व्याप्ति के लिये) अर्पित हों
रक्षितृभ्यः	ओ३म् से सीधी प्रेरणा प्राप्त करने के लिये
नमः(अस्तु)	सच्चा भाव, लगन और तपस्या हो
इषुभ्यः	अभिलषित प्रभु मिलन की सच्ची कामना, और उसकी सगुणनिर्गुणोपासना के लिये
नमः(अस्तु)	पूर्ण श्रद्धा हो
एभ्यः (अधिपतिभ्यः)	प्रत्येक पदार्थ में बाहिर भीतर से विद्यमान, क्रियावान्, सर्वशक्तिमान्, परमात्मा के लिये
नमः अस्तु	हमारी सफल चेष्टायें उसका अनुकूलता प्राप्त करने के लिये व्याकुल हों
यः	(प्रकृति, स्व और जीवों के वशित्व से ऊपर उठने की अवस्था को प्राप्त कराने के प्रयास में) जो भी आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक शक्ति
अस्मान्	हमें
द्वेष्टि	हानि पहुँचाती है
वयं	हम लोग
यम्	जिस विघ्नकारी शक्ति को
द्विष्मः	हानिकारक समझते हैं
तम्	उस रुकावटरूपी शक्ति को
वः=युष्माकं	आप (परमात्मा) के
जम्भे	अनुकूल बनाने, अथवा बलपूर्वक नष्ट करने की व्यवस्था में
दध्मः	रखते हैं—

ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्योऽअस्तु। योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ५ ॥

अथर्व० कां ३ सू० २७ मं० ५

विष्णुः[1]	सब सृष्टि का स्वामी, सब में प्रवेश करनेवाला, और सबमें प्रवेश कराने, संसार के मोह से जीवों को पृथक् रखने की सामर्थ्य-वाला परमात्मा
ध्रुवा दिक्[2]	ईश्वर में पूर्ण टिक जाने की अवस्था को प्राप्त कराने के लिये
अधिपतिः (अस्ति)	स्वामी, सुप्रेरक, सुखदाता और सहायक है
[3]कल्माषग्रीवः[4]	पाप-मूल का बाहिर हो जाना, स्वच्छ ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग खुल जाना ही
रक्षिता	हमारी अन्तिम उन्नति—मोक्षावस्था परमसुखरतर—पहुँचने में सहायक है
वीरुधः[5]	प्रभु में टिक जाना और जोर से वृद्धि करना

१. वेवेष्टि चराचरं जगत् इति विष्णुः। जगदीश्वरो वा। उ० ३।३९ fr विश्=प्रवेशने—तुदा० विष्=विप्रयोगे (Separation)—क्र्या०

२. ध्रुवति स्थिरम् भवतीति ध्रुवम्। निश्चलं वा—उ० २।६१ fr ध्रु=गतिस्थैर्ययोः—तुदा० ध्रु=स्थैर्ये—भ्वा०। ध्रुवा निश्चलसुखहेतवः—दया० यजु० १।१

३. dirt, filth, sin—apte.

४. fr गॄ=निगरणे (to takeup)—तुदा०। गॄ=विज्ञाने—चुरा० To eiect—apte.

५. Spreadig creepr A plant which grows after being cut—apte. fr रुह=बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च—भ्वा०.

इषवः	(लक्ष्य की अन्तिम सीढ़ी की सफलता में) इच्छा करने योग्य प्रबल साधन हैं
तेभ्यः	व्यापक
अधिपतिभ्यः	सफल पदार्थों के स्वामी, शासक पालक, उन्नतिकारक ईश्वर के लिये
नमः (अस्तु)	मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार (व्याप्ति के लिये अर्पित हों)
इषुभ्यः	प्रभु में टिक जाने और जोर से बढ़ने के लिये
नमः (अस्तु)	सच्चाभाव, लगन और तपस्या हो
एभ्यः (अधिपतिभ्यः)	प्रत्येक पदार्थ में, बाहिर भीतर से विद्यमान, क्रियावान्, सर्वशक्तिमान् परमात्मा के लिये
नमः अस्तु	हमारी सकल चेष्टायें उसकी अनुकूलता प्राप्त करने के लिये व्याकुल हों
यः	(ईश्वर में स्थिरता की अवस्था की प्राप्ति के प्रयास में) जो भी, आध्यात्मिक, आधिदैविक आधिभौतिक शक्ति
अस्मान्	हमें
द्वेष्टि	हानि पहुँचाती है
वयं	हम लोग
यम्	जिस विघ्नकारी शक्ति को
द्विष्मः	हानिकारक समझते हैं,
तम्	उस रुकावटरूपी शक्ति को
वः = युष्माकं	आप (परमात्मा) के
जम्भे	अनुकूल बनाने, अथवा बलपूर्वक नष्ट करने की व्यवस्था में
दध्मः	रखते हैं

ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्योऽअस्तु। योऽ३स्मान् द्वेष्टि य वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ६ ॥

अथर्व० कां०३ सू० २७ । मं० ६

बृहस्पतिः[1]	ज्ञान के सर्वोच्च स्रोत वेद, सृष्टि में सबसे बड़ी वस्तु आकाशादि का स्रष्टा और स्वामी
ऊर्ध्वा दिक्[2]	उत्कृष्टावस्था, मोक्षावस्था के चरम-सुखस्तर—जो किसी दूसरे सुख पर अवलम्बित नहीं है—तक ले जाने में
अधिपतिः (अस्ति)	सर्वथासमर्थ, प्रेरक, और सहायक है

१. (अ) बृहत्या वाचो बृहतो वेदशास्त्रस्य बृहतां आकाशादीनाम् पतिर्बृहस्पतिर्यः सर्वजगतोऽधिपतिः स सर्वतोऽस्मान् रक्षेत—दया० यजु०

(आ) वाग् वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्तमादु बृहस्पतिः—शत० १४ । ४ । १ । २२

(इ) परमेश्वरो विद्वान् वा—दया० यजु० ४ । २१

२. (अ) उत्कृष्टगुण—दया० यजु० १ । १८

(आ) यो वै भूमा तत्सुखं। नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखम्। भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति—छान्दो० उप० प्र० ७ खं० २३.

यत्र नान्यत्पश्यति, नान्यच्छृणोति, नान्यद्विजानाति स भूमा। अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम् यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्। स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति ? स्वे महिम्नि, यदि वा न महिम्नीति—। छान्दो० प्र० ७ खं० २४.

अर्थ—सबसे बड़े का सहारा और उसमें प्रतिष्ठा ही भूमा सुख है। उससे छोटे के आश्रय में टिकाऊ सुख नहीं है। सबसे बड़े का होकर रहना ही वास्तविक सुख है। उस भूमा सुख की कामना करनी चाहिये। नारद ने कहा "भगवन् मैं महान् को जानना चाहता हूं। इस पर सनत्कुमार ने कहा" जिस परम शुद्धावस्था, ब्राह्मी स्थिति की अनुभूति में, आत्मा अन्य वस्तु को नहीं देखता, अन्य शब्द को नहीं सुनता और अन्य पदार्थ को नहीं जानता वह "भूमा" है और जिस मानस स्थिति में आत्मा अन्येतर वस्तुओं को देखता सुनता और जानता है, वह "अल्प" कहा जाता है। जो भूमा है, वह

श्वित्रः[1]	पूर्ण निर्विकार हो जाना, होकर आनन्द की पराकाष्ठा को पहुँच जाना ही
रक्षिता	दुःख से सर्वथा निवृत्ति, उन्नति की अन्तिम सीढ़ी पर पहुँचने में साधक है
वर्षम्[2]	ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद अथवा ज्ञान कर्म, उपासना, विज्ञान (= शुद्धज्ञान) की शुद्धवर्षा, पूर्ण-साधना द्वारा परमात्मा को स्वार्पण कर देना उससे आवृत्त हो जाना, और उसी से शक्ति प्राप्ति
इषवः	(मोक्ष की पूर्ण सिद्धि के लिये) इच्छा करने योग्य परमोपयोगी साधन हैं
तेभ्यः	व्यापक
अधिपतिभ्यः	सकल पदार्थों के स्वामी, शासक, पालक, उन्नतिकारक ईश्वर के लिये
नमः (अस्तु)	मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार (व्याप्ति के लिये) अर्पित हों
रक्षितृभ्यः	मोक्ष के अन्तिम साधन पूर्ण निर्विकार हो जाने के लिये
नमः(अस्तु)	सच्चा भाव, लगन और तपस्या हो
इषुभ्यः	ज्ञान, कर्म, उपासना, विज्ञान की शुद्ध वर्षा के लिये
नमः(अस्तु)	श्रद्धा और कामना हो
एभ्यः (अधिपतिभ्यः)	प्रत्येक पदार्थ में भीतर बाहिर से विद्यमान, क्रियावान्, सर्वशक्तिमान् परमात्मा के लिये
नमः अस्तु	हमारी सकल चेष्टायें उसकी अनुकूलता प्राप्त करनेके लिये व्याकुल हों
यः	(इस मोक्षावस्था—पूर्णावस्था—प्राप्ति के प्रयास में) जो भी आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक-शक्ति
अस्मान्	हमें
द्वेष्टि	हानि पहुँचाती है
वयम्	हम लोग
यम्	जिस विघ्नकारी शक्ति को
द्विष्मः	हानिकारक समझते हैं
तम्	उस रुकावटरूपी शक्ति को
वः = युष्माकं	आप-परमात्मा-के
जम्भे	अनुकूल बनाने अथवा बलपूर्वक नष्ट करने की व्यवस्था में
दध्मः	रखते हैं।

An Exposition—Having intellectually and emotionally understood "Om" the supreme, in all His glory, and omniscient, omnipotent' and all-pervasive in nature, it is aspiringly felt to be at an ungrudging level with Him, in order to attain perfect and unfailing health in Soul and body, and be an. indespensible and helpful member of the society, as vedically ordained by Him. It is an acknowledged dictum, to be easily compre

न घटने-बढ़ने वाला सुख है, और जो अल्प है, वह नाशवान् है, घटने बढ़ने वाला और अस्थिर है।' नारद ने फिर पूछा "भगवन् वह भूमा किसमें प्रतिष्ठित है? सनत्कुमार ने कहा" वह भूमा अर्थात् ब्रह्म अपने ही सहारे प्रतिष्ठित है अपने ही कारण महान् है; किसी अन्य वस्तु अथवा शक्ति ने उसे भूमा—सर्वोच्च—नहीं किया। वह अपने अक्षुण्ण महत्त्व के बल पर महिमावान् है।"

१. श्वित्रः वृद्धिमयः ज्ञानमयश्च श्विदि = श्वैत्ये—भ्वा०। "गतिवृद्ध्योः—भ्वा० to grow, to prosper—apte.

२. (अ) वृणोति स्वीकरोतीति वर्षम्। वृद्धिः वा = —उ० ३। ६२ fr,वृषु = शक्तिवर्धने—चुरा० वृञ् = आवरणे—स्वा०

(आ) यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूम् स्वाम् = —कठ० उप० व० ३ मं० २३

अर्थ—जब वह जीवात्मा परमात्मा की प्रत्येक अवस्था में विद्यमान समझकर अपनाता है, तब वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। ऐसे जीव का आत्मा अपना पूरा विकास कर लेता है। उसका छोटापन चला जाता है और वह भूमा स्थिति को प्राप्त हो जाता है।

hended, that perfection in thought and deed, requires a perfect and neverfailing guidance to achieve this end. These Mansaparikrama mantras psychologically serve this much-needed purpose, and through the close adherence to this course, the aspirant is undoubtedly, helped and guided by Him in all the aspects of his life, in all quartess, and in all possible ways, and is ultimately raised from the abyss of this cycle of creation. There is no other way out, than to seek the uplifting and ennobling direction of all vigilant "Om" in all one's workings voluntary and involuntary, to lead us towards the attainment and the fulfilment of the highest bliss is, the emancipation of the soul, the real goal of the cosmic man.

To make this idea a realisable fact, the Omnipresent and the Omnipotent is firstly requested, to make the Sadhaka uplift minded and to actually and gradually move him ahead and upward, out of this bondage of ignorance with the help of Vedavidya or right knowledge.

Secondly, the devotee approaches Him, in all humility to be realisably with him always, to enable him to be uplifted physically and superphysically, so far humanly possible, and a remarkable progress be made, with the loving aid of those who have attained such perfection.

Thirdly, "Om" is requisitioned, to guard the Sadhaka, from material and social unconveniences, with the all-alert vigilance of the regional rulers and other such helpful agencies.

Fourthly, "Om", the Be-all and End-all of all on existence—the Quintessence in fact—is reliably adhered to, infuse the devotee, with a burning overpowering aspiration, as he perfectly knows that then only, He will be in a position to guide and direct him on the onward path, and straighten away his course from all misdirections.

Fifthly, He, in all His mercy is requested to make the devotee psychologically stay in "Om", to enable Him to remove all his human frailties, and thus planted in Him, the Sadhaka's on ward growth will be ensured.

Lastly, He is invoked, to raise the devotee, to the most sublime stage, and with the Shower-bath of the vedic sense acquired, and the true realisation of His Godhood made by him, transform him exquisitely and extraordinarily and make him pure and strong in perfect enjoyment of His supreme bliss, and Consequentially fit him to be of Him and for him, which is the ultimate end of all our births and rebirths in this cosmic world.

क्या अथर्व वेद जादू टोनों का वेद है ?

(लेखक—श्री० पं० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति विद्यामार्तण्ड ज्वालापुर)

(६ अंक से आगे)

कृत्या और अभिचार पर विचार

कृत्या शब्द .कृञ् हिंसायाम् इस धातु से बना हुआ है जिस का अर्थ ऐसी हिंसक क्रिया से है जो शत्रु वा शत्रुसेना के घात के लिये प्रयुक्त की जाती है।

अभिचार से तात्पर्य उस प्रयोग से है जो शत्रु के शरीर में प्रविष्ट होकर उसे रोगग्रस्त कर मार डालने तक में समर्थ हो। शब्दकल्पद्रुम में अभिचार का ऐसा ही अर्थ "अभिचारः—आभिमुख्येन शत्रुवधार्थं चारः कार्यकरणम्" इन शब्दों द्वारा किया गया है अर्थात् शत्रुओं के वध के लिये कार्य करना वह चाहे आक्रमण के रूप में हो अथवा अन्य प्रकार से।

कृत्या और अभिचार का सम्बन्ध युद्ध विद्या के साथ है इसलिये उनका उचित ज्ञान क्षत्रियों को होना ही चाहिये।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में पुरोहितों के विषय में लिखा है कि—

पुरोहितपुरुषाः कृत्याभिचारं ब्रूयुः।

अर्थात् पुरोहित; राजा और राजपुरुषों को कृत्या और अभिचार के विषय में सब आवश्यक बातें बता देवें। अथर्व० ८।५।५ के आधार पर ही कौटिल्य आचार्य ने यह बात लिखी प्रतीत होती है। जहां लिखा है कि—

ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु॥

अर्थात् पुरोहित विद्वान्, शत्रुओं द्वारा प्रयुक्त हिंसक क्रियाओं का प्रतिकार करें। बहुत सी ओषधियों और मणियों का प्रयोग इन कृत्याओं के निवारणार्थ बताया गया है। उदाहरणार्थ अथर्व० १९।३४।४ में जङ्गिम मणि वा सोम के विषय में कहा है कि

कृत्या दूषण एवायमथो अराति दूषणः।
अथो सहस्वान् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत्॥
कृत्या दूषिरयं मणिरथो अराति दूषिः।
अथो सहस्वान् जङ्गिडः, प्र ण आयूंषि तारिषत्॥

अर्थात् यह सोम कृत्या वा हिंसक क्रिया का नाश करने वाला और आयुष्यवर्धक है।

अथर्व ८।७।१० में भी कृत्याओं के नाश के लिये ओषधियों का वर्णन है :—

उन्मुञ्चन्तीर्विवरुणा उग्रा या विषदूषणीः। अथो बलासनाशनीः कृत्यादूषणीश्च यास्ता इहायन्त्वोषधीः॥

यहां विषनाशक ओषधियों को कृत्यानाशिनी कहा गया है जिससे ज्ञात होता है कि शत्रुसेना का घात करने के लिये अग्नि ज्वालाओं में किन्हीं विषैले वानस्पत्य और खनिज पदार्थों के प्रयोग का नाम कृत्या है।

अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेनान्यं जिघांसति।
अश्मानस्तस्यां दग्धायां बहुलाः फट् करिक्रति॥
अथर्व ४।१८।३

इस मन्त्र से ज्ञात होता है कि जो हिंसारूप प्रयोग को गुप्त स्थान में तय्यार करके उस हिंसाकारी प्रयोग से अन्य का घात करना चाहता है उस जली हुई कृत्या में बहुत प्रकार के मनशिल प्रोटाश आदि पत्थर फट् ऐसा शब्द बार बार या अत्यन्त करते है।

याः कृत्या आङ्गिरसीर्याः कृत्या आसुरीर्याः कृत्याः स्वयंकृता या उ चान्येभिराभृताः॥
उभयीस्ताः परा यन्तु परावतो नवतिं नाव्या३अति॥
(अथर्व ८।५।९)

इत्यादि मन्त्रों के अनुसार ये कृत्याएं दो प्रकार की बतलाई गई हैं, एक आङ्गिरसी—स्फोटक पदार्थों वाली जो गिरकर मकानों को तोड़ फोड़ देने वाली हैं और दूसरी विषमय वस्तुओं से बनी मनुष्यों का घात करने वाली आसुरी।

अथर्ववेद ४।१८।५ के

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम्।
यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु॥

इस मन्त्र में कहा गया है कि क्षेत्र में, गायों में या पुरुषों में जो कृत्या (हिंसक क्रिया) प्रयुक्त की गई हो, इस ओषधि के द्वारा उसका मैं प्रतीकार करता हूं।

यहां किसी जादू टोने वा टोटके की बात नहीं किन्तु उत्तम वाङ्गादि औषधियों के द्वारा विष के प्रभाव को नष्ट करने का विधान है।

यत् ते पितृभ्यो ददतो यज्ञे वा नाम जगृहुः।
सन्देश्यात् सर्वस्मात् पापादिमा मुञ्चन्तु त्वौषधीः॥
अथर्व १०।१।११

देवैनसात् पित्र्यान्नाम ग्रहात् सन्देश्यादभिनिष्कृतात्। मुञ्चन्तु त्वा वीरुधो वीर्येण ब्रह्मण ऋग्भिः पयस् ऋषीणाम्॥

अथर्व० १०।१।२२

इन मन्त्रों में 'ओषधीः' 'वीरुधः' इन शब्दों के प्रयोग द्वारा कृत्याओं वा घातक क्रियाओं के सारे प्रभाव को ओषधियों के प्रयोग 'ब्रह्मणा' ज्ञान द्वारा दूर करने का उपदेश है। यह ब्रह्म शब्द अथर्व वेद में अन्य वेदों की तरह बहुत जगह आया है। उसका अर्थ परमेश्वर और वेद अथवा ज्ञान होता है किन्तु आश्चर्य है कि ब्लूमफील्ड आदि पाश्चात्य अनुवादकों ने भ्रान्तिवश उसका अर्थ सर्वत्र Charm वा जादू कर दिया है।

निरपराधों पर यह घातक क्रिया का प्रयोग सर्वथा निषिद्ध और अति भयङ्कर परिणाम वाला होता है, अतः भूल कर भी न करना चाहिये यह बात अथर्व वेद १०।१।२९ में—

अवागोहत्या वै भीमा कृत्ये मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः। यत्र यत्रासि निहिता ततस्त्वोत्थापयामसि पर्णाल्लघीयसी भव॥

इत्यादि शब्दों द्वारा चेतावनी के रूप में कही गई है जो शब्द अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें गौओं, घोड़ों तथा अन्य पशुओं और निरपराध व्यक्तियों पर घातक क्रिया के प्रयोग का अति भयङ्कर परिणाम बताते हुए उस कृत्या का प्रतिकार करना आवश्यक कहा गया है।

इस प्रकार इनका प्रयोग रक्षात्मक वा Defensive है स्वयम् आक्रमणात्मक वा Offensive नहीं। यह इन मन्त्रों के अनुशीलन से ज्ञात होता है। ब्राह्मास्त्र, आग्नेयास्त्र, वैद्युतास्त्र साम्यास्त्र आदि का प्रयोग इसी रक्षात्मक भावना से कृत्या निवारणार्थ बताया गया है। यह भी युद्ध तथा शस्त्रास्त्र विद्या से सम्बन्ध रखने वाला विषय है। इससे जादू टोने वा टोटक, Charms, amulets, sorcery आदि नाम देना वा ऐसी वस्तु समझना बड़ी भूल है॥

अभिचार

अभिचार का शब्दार्थ किसी के शरीर पर आक्रमण कर वा शरीर में प्रविष्ट हो उसे खा जाने वाला विष प्रयोग है यह शब्दकल्पद्रुमादि के आधार पर पहले बताया जा चुका है। ऐसी हानिकारक क्रिया से बचने के दो ही मुख्य उपाय हैं जिनको वेद में उन्मोचन और प्रमोचन इन नामों से कहा गया है जैसे कि अथर्व ५।३०।२ में लिखा है :—

यत् त्वाभिचेरुः पुरुषः स्वो यदरणो जनः।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते॥

अपने सम्बन्धी या दूसरे लोगों ने जो अभिचार क्रिया का प्रयोग किया हो उनके प्रतीकारार्थ मैं वैद्य उन्मोचन और प्रमोचन क्रियाओं का उपदेश करता हूँ। उन्मोचन से तात्पर्य विषमय पदार्थ के वमन और विरेचन (कै या दस्त) के द्वारा बाहर निकाल देने और उस विष के प्रभाव को घृत मधु आदि के प्रयोग द्वारा अन्दर ही अन्दर शान्त कर देने से है। सुश्रुत कल्पस्थान अ० १ श्लो० ७५, ७६ में इसी उपाय का वर्णन है।

महासुगन्धमगदं यं प्रवक्ष्यामि तं भिषक्।
पानालेपननस्येषु, विदधीताञ्जनेषु च।
विरेचनानि तीक्ष्णानि, कुर्यात्प्रच्छर्दनानि च॥

अति सुगन्धित शीतल इन औषधियों का पान करवाने, लेप करने और नस्य (नसवार) तथा अञ्जन के साथ ग्रहण कराने का वैद्य उपाय करे और विरेचन तथा प्रच्छर्दन (वमन वा कै) के द्वारा विषमय पदार्थों को बाहर निकलवा दे। ये दोनों क्रियाएं वा उनके प्रतिकार वैद्यक विद्या से सम्बन्ध रखती हैं उनका कल्पित तान्त्रिक जादू टोनों से कोई सम्बन्ध नहीं।

इस प्रकार के निष्पक्षपात विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रह सकते कि अथर्ववेद में औषधियों, संकल्प, मार्जन, आदेश, मणिबन्धन, कृत्या, अभिचार के प्रतीकारादि का जो वर्णन है वह सर्वथा वैज्ञानिक अथवा मनोवैज्ञानिक है। उसे जादू टोना मान कर अथर्व वेद को जादू टोनों वा Charms, amulets and sorcery का वेद बतलाना जैसे कि 'Vedic Age' के लेखकों ने

ब्लूम फील्ड, हिट्नी आदि पाश्चात्य विद्वानों का अविवेक-पूर्वक अनुसरण करते हुए किया है सर्वथा अशुद्ध है।

श्री ब्लूम फील्ड की भयङ्कर भूलें :—

ब्लूम फील्ड की अथर्व वेद विषयक जिस पुस्तक को 'वैदिक [illegible]' के लेखकों ने अत्यन्त प्रामाणिक माना है उसमें स्वयम् इस विषय में भयङ्कर अशुद्धियां हैं और सर्वत्र Charm शब्द का सर्वथा अनावश्यक रूप में प्रयोग कर के वैदिक शिक्षाओं के महत्त्व को कम करने का प्रयत्न किया गया है।

उदाहरणार्थ Hymns of the Atharva veda by Bloomfield में सबसे पहले अथर्व वेद ५।२।२ का अनुवाद देते हुए शीर्षक Charm against Takjan (fever) and related diseases दिया है यद्यपि यहां ब्लूम फील्ड के अपने अनुवाद के द्वारा भी ज्वरादि की चिकित्सा औषधियों से है।

ब्लूमफील्ड का अनुवाद इस प्रकार है :—

The Tkman that is spotted, covered with spots like redish sediment, him thou (O plamt) of unremitting potency, drive away down below.

ऐसे ही १। २२ में जहां पाण्डु रोग की चिकित्सा का वर्णन है ब्लूम फ़ील्ड उसका शीर्षक देते हैं—

Charm against jaundice and related diseases. (P. 7) अर्थात् पाण्डु रोग तथा तत्सदृश रोगों के विरुद्ध जादू ६। १०५ में जो कास या खांसी की चिकित्सा का वर्णन है ब्लूम फ़ील्ड उसका पक्षपात वश शीर्षक देते हैं "Charm against Cough" (P. 8) अर्थात् खांसी के विरुद्ध जादू।

ऐसे ही अ० २। ८ का अनुवाद देते हुए ब्लूम फ़ील्ड उसका शीर्षक देते हैं।

"Charm against hereditary diseases."

अर्थात् आनुवंशिक रोगों के विरुद्ध जादू।

जब कि उस सूक्त में आनुवंशिक रोगों की चिकित्सा का वर्णन है। स्वयं ब्लूम फील्ड के अनुवाद से ही यह बात स्पष्ट है। मं० ३ का उनका अनुवाद देखिये Within the straw of this brown barley, endowed with white stalks, with the blossom of the sesame—may the plant, destructive of kshetriya (hereditary diseases) shine the Kshetriya away.

अ० ४। १७ का देवता "अपामार्ग वनस्पति" है। इसमें अपामार्ग नामक औषधि के गुणों का वर्णन है और प्रथम, द्वितीय और अष्टम मन्त्र में भेषज और ओषधि शब्द का अपामार्ग के साथ प्रयोग है।

मं० १—ईशानां त्वा भेषजानाम् उज्जेष आरभामहे।
चक्रे सहस्रवीर्यं सर्वस्मा ओषधे त्वा॥

इसका अनुवाद ब्लूमफील्ड ने इस प्रकार किया है—

"We take hold, O Virtorious one, of thee, the mistress of remedies. I have made thee a thing of thousand-fold strength for every one, O plant."

मं० २—सत्यजितं शपथयावनीं, सहमानां पुनःसराम्।
सर्वाः समह्वोषधीरितो नः पारयादिति॥

इसका ब्लूमफील्डकृत अनुवाद निम्न लिखित है :—

Her, the Unfailirgly victorious One, that wards off curses, that is powerful and defensive, (her and) all the plants have I assembled, intending that she shall save us from this trouble.

मं० ८—अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद् वशी।
तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर॥

इसका मि० ब्लूमफील्डकृत अनुवाद निम्न है :—

"The Ap-am-arga is sole suler over all plants, with it we wipe mishap from thee; do thou then live exempt from disease."

इस प्रकार ओषधि नाम और उसके गुणों का वर्णन होने पर भी मि० ब्लूमफील्ड इसका शीर्षक रखते हैं Charm with the Apamarga plant, against sorcery, demons and enemies."

अर्थात् अपामार्ग ओषधि द्वारा भूतप्रेत, राक्षसों और शत्रुओं के विरुद्ध जादू।

ऐसा प्रतीत होता है कि मि० ब्लूम फील्ड के मस्तिष्क पर अथर्व वेद के जादू के वेद होने का भूत ऐसा सवार है कि स्पष्टतया ओषधि का नाम और गुणवर्णन होने पर भी जैसे कि निम्न मन्त्रों द्वारा इस तथा अन्य सूक्तों में है उन्हें सर्वत्र जादू ही दिखाई देता है।

मं० ६—में इस अपामार्ग ओषधि द्वारा निम्न रोगादि की चिकित्सा बताई गई है

क्षुधामारं　तृष्णामारमगोतामनपत्यताम्।
अपामार्ग त्वया वयं, सर्वं तदपमृज्महे॥

श्री ब्लूमफील्ड ने इसका अनुवाद इस प्रकार किया है:-

Death from hunger and death from thirst, poverty in cattle and failuer of off-spring, all that, o Apamarga, do we wipe out with thee.

इस मन्त्र में (क्षुधामारम्) क्षुधा को मारने वाले रोग-अग्निमान्द्य (तृष्णामारम्) तृष्णावा प्यास को मारने वाले रोग वमन, ग्लानि रोग को (अगोताम्) बन्ध्यात्व को [सन्तान उत्पन्न करने वाली स्त्री को 'सा प्रसूर्धेनुका भव' अ० ३।२३।४ में गौ कहा गया है अतः अगोता से यहाँ बन्ध्यात्व वा बांझपन का तात्पर्य है, न कि Poverty in cattle का जैसे श्री ब्लूम फील्ड ने बताया है] (अनपत्यताम्) सन्तान स्तम्भन रोग—इन सबको अपामार्ग ओषधि द्वारा दूर कर सकते हैं ऐसा बताया गया है। यही बात वैद्यक के ग्रन्थों में इस अपामार्ग ओषधि के विषय में कही है—

अपामार्गः सरस्तीक्ष्णो दीपनस्तिक्तकः कटुः।
पाचनो रोचनश्छर्दिः कफमेदोऽनिलापहा॥
निहन्ति हृद्रुजाध्मार्शः, कण्डूशूलोदरापचीः॥
(भावप्रकाश निघण्टु)

गृहीत्वा शुभनक्षत्रे, त्वपामार्गस्य मूलकम्।
गृहीत्वा लक्षणामूलम्, एकवर्णगवां पयः।
पीत्वा सा लभते गर्भं, दीर्घजीवी सुतो भवेत्॥
(दत्तात्रेय तन्त्र)

इन वचनों में श्वेत आपामार्ग को आध्मा (अफारा) उदर रोग, वमन का दूर करने वाला, रोचन, पाचन और अग्नि-दीपन कहा है। बन्ध्यात्व को भी दूर करने वाला इसे कहा गया है।

ऐसी अवस्था में इस ओषधि के प्रयोग को जादू वा Charm का नाम देना कितना भ्रान्तिजनक है।

अथर्व ४।८ में राज्याभिषेकादि का बड़ा ही उत्तम वर्णन है। म० ४ में राजा को सम्बोधित करते हुए कहा है कि 'विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु' सारी प्रजाएँ तुझे चाहें। श्री ब्लूम फील्ड ने भी जिसका अनुवाद All the clans shall wish for thee. इस प्रकार किया है। तो भी इसका शीर्षक। 'Charms pertaining to Royalty' (राजकर्माणि) अर्थात् राज्यविषयक जादू रख दिया है, जो नितान्त अशुद्ध है।

अथर्व ३।४ में राजा के चुनाव का अत्युत्तम प्रतिपादन है जिससे अच्छा प्रजातन्त्र के आदर्श का मिलना असम्भव है। इसमें कहा गया है कि:—

त्वां विशो वृणतां राज्याय, त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः। वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि॥'　　　म० २

जिसका अनुवाद श्री ब्लूम फील्ड ने इस प्रकार किया है—

Thee the clans, thie these regions shall choose for empire! Root thyself upon the height, the Pinnacle of royalty, then do thou mighty, distribute goods among us.'

मन्त्र ६ में कहा है कि:—

'इन्द्रेन्द्र मनुष्याः परेहि सं ह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः।'

इसका अनुवाद श्री ब्लूम फील्ड ने:—

O Indra, come thou to the tribes of men, for thou hast agreed, concordant with the varunas (as if the electors)

इन शब्दों में किया है। वरुणों का अर्थ चुनाव करने वालों अथवा electrs का ही है, यद्यपि श्री ब्लूम फील्ड ने व्यर्थ ही 'As if' का प्रयोग कर दिया है। यह सब होने पर भी तो ब्लूम फील्ड 'Charms pertaining to Royalty' अर्थात् राजकर्म विषयक जादू यह शीर्षक देकर इसके महत्त्व को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

अथर्व ३।३० पारिवारिक और सामाजिक कर्तव्यों का प्रतिपादन करनेवाला सूक्त है, जिसके कुछ मन्त्रों को हम श्री ब्लूम फील्ड के अनुवादसहित उद्धृत करते हैं। पाठक देखेंगे कि उसमें पारिवारिक प्रेम और कर्तव्यों का कितना सुन्दर चित्रण है।

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभिहर्यत, वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥१॥

श्री ब्लूम फील्ड कृत अनुवाद :—

Unity of heart and unity of mind, freedom from hatred, do iprocure for you. Do ye take delight in one another, as a cow in her newborn calf!

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं, वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥२॥

श्रीब्लूम फील्ड कृत अनुवाद :—

The son shall be devoted to his father, be of the same mind with his mother, the wife shall speak honnied, sweet words to her husband.'

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥

श्री ब्लूम फील्ड कृत अनुवाद

The brother shall not hate the brother and the sister not the sister! Harmonious, devoted to the same purpose, speak the words in kindly spirit.

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः । अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत, सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ॥ ५ ॥

श्री ब्लूम फील्ड कृत अनुवादः—

Following your leader, of the same mind, do ye not hold yourselves apart? do ye come here, co-operating going along the same wagon pole, speaking agreeably to one another! I render you of the same aim of the same mind. Hymns of the Atharva veda by m. Bloomfield. (P. 134)

इस उत्तम सूक्त के सारे महत्व को जिसमें सहृदयता, सांमनस्य, अद्वेष, परस्पर प्रेम और सहयोग, मधुर भाषण इत्यादि का अत्युत्तम उपदेश है श्री ब्लूम फील्ड Charm to secure harmony. अर्थात् सांमनस्य स्थापित करने का जादू यह शीर्षक देकर नष्ट कर डालते हैं।

(क्रमशः)

संसार का विरोध कैसे दूर हो !

"यद्यपि आजकल बहुत से विद्वान् प्रत्येक मतों में हैं, वे पक्षपात छोड़ "सर्वतन्त्रसिद्धान्त" अर्थात् जो २ बातें सब के अनुकूल सब में सत्य हैं, उनका ग्रहण और जो एक दूसरे से विरुद्ध बातें हैं उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्त्तें वर्त्तावें तो जगत् का पूर्ण हित होवे क्योंकि विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़ कर अनेकविधि दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है ॥"

दयानन्द सरस्वती (सत्यार्थ प्रकाश)

क्या अथर्ववेद ४ चौथा वेद है ?

[ले० श्री० पं० हरिदत्त जी शास्त्री एम० ए० नवतीर्थ
(अध्यक्ष-संस्कृत विभाग डी० ए० वी० कालेज कानपुर)]

सत्याषाढीय सूत्र में लिखा है कि—यज्ञं "व्याख्यास्यामः, स त्रिभिर्वेदैर्विधीयते । १ । १" इस उक्ति के अनुसार तीन वेदों की ही यज्ञसम्पादकता प्रतीत होती है । इसी प्रकार ऐतरेय ब्रा० में 'त्रयो वेदा अजायन्त' ५।३२ यह वाक्य एवं 'वेदैरशून्वस्त्रिभिरेति सूर्यः' तै० ब्रा० ३।१२।९।१ तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह वाक्य आते हैं, इनसे यही समझा जाता है कि वेद तीन ही हैं । किन्तु हौत्र, आध्वर्यव, औद्गात्र इन संज्ञाओं से यही प्रतीत होता है कि यह तीनों वेद भिन्न अधिकारों का प्रतिपादन करते हैं । ऋत्विजों में ब्रह्मा का अधिकार बतलाने वाला कोई भी वेद नहीं है, अतः इस अर्थ को बतलाने के लिए जिस वेद की आवश्यकता है एवं ब्रह्मत्व प्रतिपादन ही जिसका विषय है, वह अथर्व वेद है । इस ही एक बात से यह समझा जा सकता है कि ब्रह्मा का जितना आसन ऊँचा है, उतना ही उसके प्रतिपादक अथर्ववेद का भी वेदों में स्थान उच्चतम है । इस ही तत्त्व को गोपथ ब्राह्मण में निम्नलिखित वाक्य 'त्रिभिर्वेदैर्यज्ञस्यान्यतरः पक्षः संस्क्रियते । मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्तरं पक्षं संस्करोति गो० ब्रा० ३।२'इसही अर्थ को शब्दान्तरों द्वारा ऐतरेय ब्राह्मण में भी लिखा है—"तद् वाचा त्रय्या विद्ययैकं पक्षं संस्कुर्वन्ति । मनसैव ब्रह्मा संस्करोति"। ५।५।३३ ॥ अर्थात् तीनों वेदों के जानकार जिन अर्थों का संस्कार तीन वेदों द्वारा करते हैं । उन सबका परिश्रम यदि एक पलड़े में रख दिया जाय तथा दूसरे पलड़े में ब्रह्मा का कार्य रख दिया जाय तो उन तीनों का मिलकर भी इतना भार नहीं होगा जितना इस अकेले ब्रह्मा से युक्त पलड़े में होगा । इतना ही नहीं किन्तु गोपथ ब्राह्मण के २।२४ में स्पष्ट ही लिखा है कि "अथेह प्रजापतिः सोमेन यक्ष्यमाणो वेदानुवाच । कं वा होतारं वृणीयाम् । कं अध्वर्युम् । कं उद्गातारम् कं ब्रह्माणम् । इति त ऊचुः । ऋग्विदमेव होतारं वृणीष्व । यजुर्विदमध्वर्युम् । सामविदमुद्गातारम् । अथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणम् । तथा ह्यस्य यज्ञश्चतुष्पात् प्रतितिष्ठति ।" गो० ब्रा० २।२४ ॥

तथा—"अथ चेद् नैवंविदं ब्रह्माणं वृणुते, दक्षिणत एवैष्णं यज्ञोऽतिरिच्यते । गो० ब्रा० २।२४ ।

इन सब वाक्यों से यही सिद्ध होता है कि अथर्ववेद नामक एक चतुर्थवेद भी है । अत एव मुण्डकोपनिषद् में "तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेद इति" १।१, यह लिखा है । अब यह शङ्का हो सकती है कि जब गीति, ऋग्, यजुः, इन तीन प्रकार के मन्त्रों में से अथर्ववेद के मन्त्र भी इन तीनों में ही आ जाते हैं, फिर ४र्थ प्रकार के मन्त्रों की क्या आवश्यकता पड़ी, इसका उत्तर यह है कि "अथार्वाक् एनं एतासु एव अप्सु अन्विच्छ" गो० ब्रा० १।४ "में यह वाक्य आता है । जिससे सिद्ध होता है कि जल में तपस्या करते २, अथर्वा ऋषि को इस अथर्ववेद के मन्त्रों का साक्षात्कार हुआ—और 'अथर्वा' नाम भी इस लिए ही पड़ा । इसीलिए

"चत्वारो वा इमे वेदाः-ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः गो० ब्रा० २।१६ में यह वाक्य आता है । वहीं इस वेद के सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहासवेद, पुराणवेद आदि उपवेद बतलाए हैं । पौरोहित्य का कार्य तो अथर्ववेदवेत्ता ही को करना चाहिए ।

अथर्वपरिशिष्ट में लिखा है कि:—

यस्य राज्ञो जनपदे अथर्वा शान्तिपारगः ।
निवसत्यपि तद् राष्ट्रं वर्धते निरुपद्रवम् ॥
तस्माद् राजा विशेषेण अथर्वाणं जितेन्द्रियम् ।
दानसम्मानसत्कारैर्नित्यं समभिपूजयेत् ॥

जिस कुल में शान्ति के उपायों को करने वाला पुरोहित रहता है वही राष्ट्र निरुपद्रव रहता है । भट्टाचार्य ने भी लिखा है कि —

शान्तिपुष्ट्याभिचारार्थाः एकब्रह्मर्त्विगाश्रयाः ।
क्रियन्तेऽथर्ववेदेन त्रय्येवात्नीयगोचराः ॥

यह अनेक विद्वानों का मत है कि अथर्व वेद में जादू, टोना भूत विद्या आदि का विवरण है, पर विचार करने पर अथर्व वेद का यह विषय नहीं है क्योंकि अथर्ववेद में ब्रह्मा के विषयों का निरुपण है, ब्रह्मा के लिए यह आवश्यक है कि ऋत्विग्गण के शरीर तथा कर्म की रक्षा करें, इस ही कर्म की रक्षा के लिए ब्रह्मा को इस ही वेद का विशेषरूप से अध्ययन कराया जाता है । जैसे :—

'त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवोअग्ने संवरणेभवा नः। सपत्नहाग्ने! अभिमातिजित् भव स्वे गये जागृह्य-प्रयुच्छन्॥ (२य काण्ड ६ सूक्त मन्त्र ३)

इस मन्त्र में ब्रह्मा क्या क्या कार्य करे इस बात का स्पष्ट निर्देश किया गया है। वही ब्रह्मा अभिमातिजिद्=पाप-विजयी कहा जाता है। जहाँ जहाँ राक्षस शब्द आया वहाँ राक्षस का अर्थ ऐन्द्रियक सुख है—उससे निवृत्त होना ही देवत्व प्राप्ति या राक्षसविजय कही जाती है। इस प्रकार अथर्व वेद एक मुख्यतम वेद है, जो वेदों के ज्ञाता ब्रह्मा के लिये अनिवार्याध्ययन है। इसके ज्ञान के बिना कर्म काण्ड पूर्ण नहीं हो सकता।

जिन लोगों का यह भी मत है कि अथर्व वेद कोई प्राचीन वेद नहीं यह तो एक नई कृति है, तथा यही मत Buller (बूलर) Weber (वेबर) तथा frager (फ्रेगर) एवं Puller (पूलर) का है। पर वास्तविकता यह नहीं है। अथर्ववेद की मुण्डकोपनिषद् में 'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः' इस वाक्य से अथर्व वेद की प्राचीनता सिद्ध की है। जब कि पौराणिक मतानुसार ऋग्, यजुः साम केवल स्वर्ग के प्रापक हैं, तब अथर्व वेद ऐहिक व पारलौकिक दोनों ही उपायों का बतलाने वाला है। अथर्वन् शब्द अन्त में केवल ब्रह्मन् होने से ही प्रयुक्त होता है। तथा इसके निर्माता (द्रष्टा) अङ्गिरा ऋषि का नाम उसही प्रकार लिया जाता है जैसे अन्य ऋषियों का, तथा 'आङ्गिरस' नाम अथर्व वेद का है। शांख्यायन, आश्वलायन तथा समस्त श्रौतसूत्रों में अथर्व वेद की वेदों ही में गणना की है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण के ११ वें एवं १४ वें तथा तैत्तिरीय आरण्यक के २रे और ८वें अध्यायों में अथर्व वेद को वेद ही माना गया है, अथर्व वेद की ९ शाखाएं हैं। १–पैप्पलाद, २–तौद, ३–मौद, ४–शौनकीय, ५–जाजल, ६–जलद, ७–ब्रह्मवद, ८–देवदर्श, ९–चारणवैध। पर आज कल पैप्पलाद और शौनक दो ही शाखाएँ उपलब्ध होती हैं। अथर्व वेद का ब्राह्मण 'गोपथ' है जो पूरा २ उपलब्ध नहीं होता। अथर्व वेद का श्रौतसूत्र वैतानसूत्र है, गृह्यसूत्र कौशिकसूत्र है। अथर्व वेद के ५ पांच कल्पसूत्र हैं—१–नक्षत्र कल्प, २–शान्ति कल्प, ३–वितान कल्प, ४–संहिता कल्प और ५–आङ्गिरस कल्प। उसके सिवाय चरणव्यूह और उपक्रमणिका भी हैं। अथर्व वेद में २० काण्ड, ७३० सूक्त एवं लगभग ६००० मन्त्र हैं। जिनमें से १२०० मन्त्र ऋग्वेद में भी पाये जाते हैं १, ८, तथा १० वें मण्डल में ये अधिक उपलब्ध होते हैं। २० वें काण्ड के समस्त मन्त्र प्रायः 'कुन्तापसूक्त' के हैं तथा ऋग्वेद में भी पाये जाते हैं। इस प्रकार अथर्व वेद का यह संक्षिप्त परिचय है॥

भारतीय संस्कृति में वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि

[ले० श्री डा० मंगल देव जी शास्त्री एम० ए० भूतपूर्व प्रिन्सिपल ग० सं० का० बनारस]

भारतीय संस्कृति के विकास में वैदिकधारा के बहुमुखी, व्यापक तथा शाश्वतिक प्रभाव की चर्चा हम अन्यत्र कर चुके हैं।

उक्त बहुमुखी, व्यापक शाश्वतिक प्रभाव का मूल वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि में ही हो सकता है। वर्तमान लेख में हम उसी व्यापक दृष्टि को संक्षेप में दिखलाना चाहते हैं।

परम्परा-प्राप्त भारतीय दृष्टि

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में वेदों की महिमा अनेक प्रकार से गायी गयी है। उदाहरणार्थ, मनुस्मृति के निम्न-निर्दिष्ट वचनों को देखिए—

सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥ १२।८८ ॥
पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥ (१२।९४)
चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति ॥ (१२।९७)
सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ (१२।१००)

अर्थात्, वैदिक धर्माचरण में मनुष्य अभ्युदय और निःश्रेयस अथवा लौकिक स्वास्थ्य, सुख और आध्यात्मिक कल्याण (उत्तरकालीन शब्दों में, भुक्ति और मुक्ति) दोनों की प्राप्ति कर सकता[1] है ॥८८॥ पितृ-कर्म, देव-कर्म और मनुष्यों के प्रति कर्तव्य कर्मों के विषय में वेद सनातन काल से बराबर मार्ग-प्रदर्शक रहा है। वेद को न तो कोई (एक व्यक्ति) बना सकता है, न पूर्णतः जान सकता है। ॥९४॥ ब्राह्मण आदि चारों वर्ण, पृथ्वी आदि तीनों लोक तथा ब्रह्मचर्य आदि चारों आश्रम, इनका आधार वेद ही है। तथा भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में वेद मनुष्य-जीवन के लिए प्रेरणा देने वाला[2] है ॥९७॥ वेदज्ञ विद्वान् में सेनापतित्व, राज्य-शासन, दण्डाधिकारित्व अथवा समस्त पृथ्वी का नेतृत्व जैसे दुष्कर कार्यों के भार को उठाने की क्षमता होती है ॥१००॥

इसीलिए वेद को अत्यन्त व्यापक अर्थों में धर्म का एकमात्र मूल माना गया है। जैसे—

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। (मनुस्मृति २।६)

अर्थात् धर्माचरण का मूल आधार वेद ही है।

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ (मनु० २।७)

अर्थात् मनु ने जिस धर्म का प्रतिपादन (मनुस्मृति में) किया है, वह सब वेद-मूलक है, क्योंकि वेद सर्व-ज्ञानमय है।

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः। (मनु० २।१३)

अर्थात्, जो धर्म को जानना चाहते हैं, उनके लिए वेद ही सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है। क्योंकि,

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥ (मनु० २।१०)

अर्थात्, श्रुति (=वेद) और तदनुसारिणी स्मृति (=धर्मशास्त्र) से ही धर्म का प्रादुर्भाव हुआ है। इनके प्रतिपाद्य विषयों में कुतर्कणा नहीं करनी चाहिए।

ऊपर के वचनों का अभिप्राय यही है कि अवस्था, अधिकार, स्थान, संबंध आदि के भेद से मनुष्य के जीवन में विभिन्न प्रसंग उपस्थित होते हैं, उन सबकी दृष्टि से मार्ग-प्रदर्शन की क्षमता का होना, वैदिक धारा की मुख्य विशेषता सदा से रही है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य-जीवन के कर्तव्यों के विषय में वैदिक धारा का दृष्टि-कोण, एकांगी या एकदेशी न हो कर, सदा से व्यापक रहा है। इसीलिए विभिन्न प्रतिकूल परिस्थितियों में भी वह, लुप्त या नष्ट न हो कर, अपने को अब तक जीवित रख सकी है। यही उसके भारतीय संस्कृति के विकास में व्यापक तथा शाश्वतिक प्रभाव का रहस्य है।

---

१. तु० "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" (वैशेषिक सूत्र १।१।२)। २. तु० "तया (=श्रुत्या) वर्णाश्रमाचारः प्रवृत्तो वेदवित्तमाः !" (सूतसंहिता १।१।४९)।

भारतीय संस्कृति के अति प्राचीनकाल में वैदिकधारा की भव्य उदात्त भावनाएँ, जिनका दिग्दर्शन हम करा चुके हैं, और मनुष्य-जीवन के कर्तव्यों के विषय में उसकी व्यापक दृष्टि, जिसका स्पष्टीकरण हम प्रकृत लेख में करना चाहते हैं, वास्तव में एक महान् आश्चर्य और विस्मय की वस्तु है। पृथ्वी भर की सभ्यता के इतिहास में वह अद्वितीय और अनुपम है। उसको देख कर सहसा भगवद्गीता का यह पद्य सामने उपस्थित हो जाता है—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यःश्रृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥
(गीता २।२९)

इसमें सन्देह नहीं कि उत्तरकाल की विभिन्न धाराओं से भी, जैसा हम आगे क्रमशः दिखाएँगे, भारतीय संस्कृति का समय-समय पर महान् उपकार हुआ है; तो भी मानवीय जीवन के लिए उपयोगी महान् प्रेरणाओं और आदर्शों की दृष्टि से, तथा विभिन्न परिस्थितियों में आदर्शवाद की रक्षा के साथ-साथ आत्म-रक्षा तथा लौकिक अभ्युदय की सफलता की दृष्टि से वैदिक-धारा की व्यापक दृष्टि न केवल हम भारतीयों के लिए सदा गर्व और गौरव की वस्तु रहेगी, अपितु मानव जाति के लिए भी सार्वभौम तथा सार्वकालिक संदेश की वाहक रहेगी।

उसी व्यापक दृष्टि को यहां जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को लेकर क्रमशः दिखाने का यत्न हम यहां करेंगे—

धार्मिक-चिन्तन

वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि का सबसे उत्कृष्ट और आश्चर्यकारक उदाहरण उसके धार्मिक चिन्तन का विश्व-व्यापी आधार है। इस लेख-माला के पिछले लेखों में **ऋत और सत्य की भावना तथा वैदिक स्तोता के स्वरूप** की व्याख्या करते हुए नैतिक धारा के विश्वव्यापी अत्यन्त विशाल दृष्टिकोण का उल्लेख हम अन्यत्र कर चुके हैं।

छोटे-छोटे देश, जाति या वर्ग के संकीर्ण हित में ही आस्था रखने वाले आज के सभ्यताभिमानी मानव को वैदिक धारा की विश्व-व्यापिनी दृष्टि आश्चर्य में डाले बिना नहीं रह सकती।

द्युलोक को पिता, और पृथिवी को माता[1] समझने वाला वैदिक स्तोता अपने को मानो इस विशाल विश्व का ही अधिवासी समझता है। इसीलिए उसकी स्तुतियों और प्रार्थनाओं में बार-बार न केवल द्यावा-पृथिवी और अन्तरिक्ष, इन तीन लोकों का ही, अपितु इनसे भी परे स्वर् और नाक जैसे लोकों का भी उल्लेख पाया जाता है।
उदाहरणार्थ,

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
(ऋ० १०।१२१।५)

अर्थात्, जिस दैवी शक्ति ने इस विशाल द्युलोक को, इस पृथिवी को, स्वर्लोक और नाक-लोक को अपने-अपने स्वरूप में स्थिर कर रखा है और जो अन्तरिक्ष-लोक में भी व्याप्त हो रही है उसको छोड़ कर हम किस देव की पूजा करें? अर्थात्, हमको उसी महाशक्ति-रूपिणी देवता की पूजा करनी चाहिए।

वैदिक प्रार्थनाओं का क्षेत्र कितना विस्तृत और विशाल है, इसका ही एक दूसरा उदाहरण यह है—

द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष ँ शान्तिः पृथिवी
शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्ति–
र्ब्रह्म शान्तिः सर्व ँ शान्तिः शान्ति–
रेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥ (यजु० ३६।१७)

अर्थात्, मेरे लिए द्युलोक, अन्तरिक्ष-लोक और पृथिवी लोक सुख-शान्ति-दायक हों; जल, ओषधियां और वनस्पतियां शांति देने वाली हों, समस्त देवता, ब्रह्म और सब कुछ शान्ति-प्रद हों। जो शान्ति विश्व में सर्वत्र फैली हुई है, वह मुझे प्राप्त हो। मैं बराबर शान्ति का अनुभव करूँ[2]।

कैसी दिव्य और विशाल दृष्टि है इन प्रार्थनाओं की! इनसे अधिक सार्वभौम और सार्वकालिक प्रार्थनाएँ और क्या हो सकती हैं? वेद में तो ऐसी ही प्रार्थनाएँ ओत-प्रोत हैं।

यह भी ध्यान देने की बात है कि आधिदैविक दृष्टि से वैदिक देवताओं का वर्गीकरण भी पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु-लोक इन तीन लोकों के आधार पर ही किया गया है,

१. तु०—"द्यौर्मे पिता जनिता...मे माता पृथिवी महीयम्" (ऋग्० १।१६४।३३)। २.—"येयं शान्ति-कला दिव्या लोकानां शान्तिदायिनी। चन्द्रेऽपि चारुतां धत्ते सा मे नित्यं प्रकाशताम्॥ (रश्मिमाला ३५।१)।

जैसा कि हम पहले दिखला चुके हैं। विश्वव्यापिनी दैवी शक्ति की मानो पदे-पदे साक्षात् अनुभूति करने वाली वैदिक धारा के लिये यह स्वाभाविक ही है कि उसके देवताओं का कार्यक्षेत्र भी विश्व-व्यापी हो।

उपर्युक्त अत्यन्त विशाल धार्मिक चिन्तन के आधार पर स्थित वैदिक धारा के समस्त अङ्गों में व्यापक दृष्टि का होना स्वभाव-सिद्ध है, जैसा कि हम आगे स्पष्ट करेंगे।

वैदिक-धारा का मानवीय पक्ष

विश्व-शान्ति और विश्व-बन्धुत्व की उदात्त भावनाओं से ओत-प्रोत वैदिक मंत्रों में मानवमात्र में परस्पर सौहार्द, मित्रता और साहाय्य की भावना का पाया जाना नितरां स्वाभाविक है। उदाहरणार्थ,

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ (यजु० ३६।१८)

अर्थात्, मैं, मनुष्य क्या, सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूं। हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें।

पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः। (ऋग्० ६।७५।१४)

अर्थात्, एक दूसरे की सर्वथा रक्षा और सहायता करना मनुष्यों का मुख्य कर्तव्य है।

यांश्च पश्यामि यांश्च न
तेषु मा सुमतिं कृधि। (अथर्व० १७।१।७)

अर्थात्, भगवन्! ऐसी कृपा कीजिए जिससे मैं मनुष्य-मात्र के प्रति, चाहे मैं उनको जानता हूँ अथवा नहीं, सद्भावना रख सकूँ!

तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः। (अथ० ३।३०।४)

अर्थात्, आओ हम सब मिलकर ऐसी प्रार्थना करें जिससे मनुष्यों में परस्पर सुमति और सद्भावना का विस्तार हो!

इस प्रकार मनुष्यमात्र के प्रति कल्याण-कामना, सद्भावना तथा सौहार्द के प्रतिपादक सैकड़ों मंत्र वेदों में पाये जाते हैं।

मनुष्यमात्र में सद्भावना और सौहार्द का हृदयाकर्षक उपदेश देने वाले अथर्ववेद तथा ऋग्वेद के सांमनस्यसूक्त[1] कदाचित् संसार के संपूर्ण वाङ्मय में अपनी उपमा नहीं रखते।

आदर्श-रक्षा तथा आत्म-रक्षा

उपर्युक्त उत्कृष्ट मानवीय पक्ष के साथ-साथ वैदिक धारा उदात्त आदर्शों की रक्षा तथा आत्म-रक्षा के लिए वीरोचित संघर्ष तथा युद्ध की आवश्यकता से भी अपरिचित नहीं है। "सत्यं वै देवाः अनृतं मनुष्याः" (अर्थात्, देवता वास्तविकता के अनुगामी होते हैं, पर मनुष्य स्वभाव से ही इसके प्रतिकूल होते हैं) इस वैदिक उक्ति के अनुसार मनुष्य का व्यवहार आदर्शवाद से प्रायः दूर ही रहता है। ऐसी परिस्थिति में, विश्वशान्ति और विश्वबन्धुत्व के मार्ग पर चलने वाले को भी, अपने उत्कृष्ट आदर्शों की रक्षा के लिए अथवा आत्म-रक्षा के ही लिए, प्रायः संघर्ष का, अपने शत्रुओं और विरोधियों के दमन का, यहाँ तक कि घोर युद्ध के मार्ग का भी अवलम्बन करना पड़ता है।

इस अपूर्ण जगत् का यह अप्रिय तथ्य वैदिक धारा से छिपा हुआ नहीं है। इसलिए मन्त्रों में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है—

मा त्वा परिपन्थिनो विदन् (यजु० ४।३४)

अर्थात्, इस बात का ध्यान रखो कि तुम्हारी वास्तविक उन्नति के बाधक शत्रु तुम पर विजय प्राप्त न कर सकें।

योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं
वो जम्भे दध्मः। (अथर्व० ३।२७।१–६)

अर्थात्, जो निष्कारण हमसे द्वेष करता है, और इसी कारण जिसको हम अपना द्वेष्य समझते हैं, उसे हम सदा विश्व का कल्याण करने वाली दैवी शक्तियों को सौंपते हैं, जिससे वे उसको नष्ट कर दें।

इसी प्रकार आत्म-रक्षा और आदर्श-रक्षा की भावना से परिपूर्ण सहस्रों मन्त्र[2] वेदों में पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ,

इन्द्रेण मन्युना वयमभिष्याम पृतन्यतः।
घ्नन्तो वृत्राण्यप्रति ॥ (अथर्व० ७।९३)

---

१. देखिए अथर्ववेद ३।३०, ६।६४, ७४, ९४ आदि (ऋग्वेद १०।१९१)

२. तुं०—" इन्द्र त्वोतास आ वयं वज्रम् घना ददीमहि। जयेम सं युधि स्पृधः ॥
वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम्। सासह्याम पृतन्यतः ॥ (ऋग्० १।८।३–४)

अर्थात्, सत्कार्यों में बाधक जो शत्रु हम पर आघात करें हमको चाहिये कि वीरोचित क्रोध और पराक्रम के साथ हम उनका दमन करें और उनको विनष्ट कर दें।

अहमस्मि सपत्नहा इन्द्र इवारिष्टो अक्षतः।
अधः सपत्ना मे पदोरिमे सर्वे अभिष्ठिताः॥
(ऋग्० १०।१६६।२).

अर्थात्, मैं शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाला हूँ। मैं इन्द्र के समान पराक्रमी हूं। मुझे कोई हानि अथवा आघात नहीं पहुंचा सकता। मैं तो अनुभव करता हूँ कि मेरे सब शत्रु मेरे पैरों तले पड़े हुये हैं[1]!

मन्त्रों में शत्रुओं के लिए प्रायः 'अव्रत' (=असंयत जीवन व्यतीत करने वाले) अथवा 'वृत्र' (=सत्कार्यों में बाधा डालने वाले) जैसे शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि वैदिक मन्त्रों में आदर्श-रक्षा की भावना ही शत्रुओं के संहार की भावना की प्रेरक थी।

मम पुत्राः शत्रुहणः (ऋग्० १०।१५९।३)

अर्थात्, मेरे पुत्र शत्रु [शातयिता धर्मस्य = धर्म का नाशक इति सम्पादकः] का हनन करने वाले हों!

सुवीरासो वयं...जयेम (ऋग्० ९।६१।२३)

अर्थात्, हमारे पुत्र सुवीर हों और उनके साथ हम शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें!

ऐसी प्रार्थनाएँ और अनेकानेक ऐसे सूक्त[2], जो न केवल अर्थ की दृष्टि से ही, किन्तु सुनने में भी, युद्ध-गीत और युद्ध-क्षेत्र में वीरों के आह्वान जैसे प्रतीत होते हैं, वैदिक धारा की वीरोचित भावना के सुन्दर और हृदयस्पर्शी निदर्शन हैं।

उनसे यह भी स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि स्वभावतः विश्व-शान्ति और विश्व-बन्धुत्व को चाहने वाली वैदिक धारा का दृष्टिकोण एकांगी न हो कर व्यापक ही है। वह कोरे आदर्शों की ही प्रतिपादक नहीं है, अपितु मनुष्य-जीवन की पूरी परिस्थिति को समझ कर चलती है।

वैदिक धारा का सामाजिक जीवन

'सामाजिक जीवन' का विचार अत्यन्त व्यापक है। अनेक दृष्टियों से सामाजिक जीवन का वर्णन किया जा सकता है। स्पष्टतः इस छोटे से लेख में वह संभव नहीं है। इसलिए यहाँ हम कुछ प्रमुख बातों को ही ले कर सामाजिक जीवन के क्षेत्र में वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि को दिखाना चाहते हैं। सबसे पहले हम समष्टि-भावना को लेते हैं।

समष्टि-भावना

समष्टि-भावना को हम सामाजिक जीवनका प्राण अथवा मौलिक सिद्धान्त कह सकते हैं। समष्टि-भावना का अर्थ है 'दूसरों के साथ में ही अपने हित के सम्पादन की भावना'।

यह कौन नहीं जानता कि वर्तमान हिन्दू-धर्म में उसका केन्द्र बिन्दु चिरकाल से बहुत कुछ व्यक्ति-परक रहा है। मनुष्य, समाज से दूर भाग कर, केवल अपनी ही भलाई को, धर्म के क्षेत्र में भी सोचता है। यह प्रवृत्ति कब से और किन कारणों से हिन्दुओं में चल पड़ी, इसका विचार हम यहां नहीं करेंगे। तो भी इसमें सन्देह नहीं कि वैराग्य, सन्यास और मुक्ति की भावनाओं से इसको बल अवश्य मिला है।

इसके विरुद्ध, यह सोचकर आश्चर्य होता है कि वैदिक प्रार्थनाओं की, जिनसे वेद भरे पड़े हैं, सबसे पहली विशेषता उनकी समष्टि भावना में है। इसलिए वे प्रायः बहुवचनों में ही होती है।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद् भद्रं तन्न आ सुव। (यजु० ३०।३)

अर्थात्, हे देव सवितः! हमारे लिए जो वास्तविक कल्याण है; उसे हम सब को प्राप्त कराइए।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥ (यजु० ३०।३५)

(क्रमशः)

---

१. तु०— "ऋषभं या समानानां सपत्नानां भयंकरम्। हन्तारं कुरु शत्रूणां देवि! दारिद्र्यनाशिनि॥ (रश्मि-माला ५।५)

२. देखिए—ऋग्० १०।१०३।१०।११—उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत् सत्वनां मामकानां मनांसि। उद् वृत्रहन् वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः॥ अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेषु...। अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्तु...॥

(गताङ्क से आगे)

अ आट् वस् = पठ् अ आ वस् , ८५ तथा ९९ से वस् मस के स् का लोप होकर = पठ् अ आ व = पठाव, पठाम। करवाव, करवाम में पित् होने से गुण हो जाता है।

(१४) एत ऐ (३।४।९३) लोटः, उत्तमस्य = लोट् सम्बन्धी एत् के स्थान में 'ऐ' होता है। जैसे करवै (पूरी सिद्धि नहीं की)।

(१५) नित्यं ङितः (३।४।९९) यहाँ ९७ से 'लोपः' की और ९८ से 'उत्तमस्य' 'सः' की अनुवृत्ति आती है। ङितः उत्तमस्य सः नित्यं लोपः (भवति) = ङित् (लकारों) के उत्तम पुरुष के स् का लोप नित्य होता है। इससे वस् मस् का व म रहा। जैसे अट् पठ् शप् वस् = अ पठ् अ वस् = (७।३।१०१ से) दीर्घ होकर अ पठ् आ वस् = इस सूत्र से अपठ्आव = अपठाव बना।

(१६) इतश्च (३।४।१००) इसमें ऊपर से 'ङितः', 'लोपः' की अनुवृत्ति आती है। अर्थ बना = ङितः इतः लोपः भवति = ङित् (लङ् लिङ् आदि लकारों) के इत् = इ का लोप होता है। जैसे लङ् में अट् पठ् शप् तिप् = अ पठ् अ ति = इस सूत्र से अपठ् अत् = अपठत् बना।

(१७) तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः (३।४।१०१) इसमें 'ङितः' की अनुवृत्ति है। ङित् लकारों के तस् को ताम्, थस् को तम्, थ को त, मिप् को अम् ये आदेश यथासंख्य हो जाते हैं। लङ् में अट् पठ् शप् तस् = अ पठ् अ ताम् = अपठताम्। अ पठ् अ थस् = अ पठ् अ तम् = अपठतम् बना।

३१ वां पाठ

लकार (२)

(१८) लिङः सीयुट् (३।४।१०२) = लिङ् को सीयुट् का आगम हो। अगला सूत्र परस्मैपद को यासुट् का आगम करता है। यह सूत्र शेष बचे आत्मनेपद में सीयुट् करता है। एध् शप् त = सीयुट् टित् होने से आदि में आया = एध् शप् सीयुट् त = ७।२।७९ से स् का लोप होता है। एध् अ ईय् त = (६।१।८४ से) गुण होकर एधेय् त = (६।१।६४ से) य् का लोप होकर एधेत।

(१९) यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च (३।४।१०४) यासुट् १।१, परस्मैपदेषु ७।३, उदात्तः १।१, ङित् १।१, च अ०। इस में 'लिङः' की अनुवृत्ति है = लिङः परस्मैपदेषु यासुट् (भवति), उदात्तः ङित् च (भवति) = लिङ् के परस्मैपद प्रत्ययों में यासुट् (आगम) हो जाता है और वह उदात्त और ङित्वत् भी हो जाता है। जैसे पठ् शप् तिप् = टित् होने से (१।१।४५ से) आदि में हो कर पठ् शप् यासुट् तिप् = पठ् अ यास् ति, लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य (७।२।७९) से स् तथा (३।४।१०० से) ति के इ का लोप होकर पठ् अ या त् रहा = अतो येयः ७।२।८० अत् से परे या के स्थान में इय् होकर = पठ् अ इय् त् = ६।१।८४ से गुण होकर पठेयृत् = ६।१।६४ से य् का लोप होकर पठेत् बना।

(२०) किदाशिषि (३।४।१०४) 'लिङः', 'यासुट्' की अनुवृत्ति है अर्थ बना = आशिषि लिङ् में यासुट् कित्वत् होता है। जैसे इज्यात् यहां कित् होने से सम्प्रसारण हो जाता है।

(२१) झस्य रन् (३।४।१०५) लिङः = लिङ् के 'झ' (आत्मनेपद में बहुवचन) के स्थान में 'रन्' होता है। जैसे पचेरन् यजेरन्। यहां पच् शप् लिङ् = पच् शप् सीयुट् झ = पच् शप् सीयुट् रन् = पच् अ ईय् रन् = पचेय् रन् (६।१।६४ से) य् का लोप होकर पचेरन् बना।

(२२) इटोऽत् (३।४।१०६) इस में 'लिङः' की अनुवृत्ति है। लिङः इटः अत् भवति = लिङ् सम्बन्धी इट् (उत्तम एकवचन) के स्थान में अत् होता है। जैसे पच् शप् सीयुट् इट् = पच् अ ईय् इट् = पच् अ ईय् अ = पचेय् अ = पचेय।

(२३) सुट् तिथोः (३।४।१०७) इस में लिङः की अनुवृत्ति है, लिङः तिथोः सुट् (भवति) = लिङ् सम्बन्धी तकार थकार को सुट् का आगम हो, जैसे पठ् शप् यासुट् सुट् तिप् = पठ् अ यास् स् त = (७।२।७९) से दोनों

भ्र लोप होकर तथा अतो येयः ७।२।८० से इय् होकर पूर्ववत् पठेत् बनता है।

(२४) झेर्जुस् (३।४।१०८) झेः ६।१। जुस् १।१। इस में 'लिङः' की अनुवृत्ति है। अर्थ बना = लिङः झेः जुस् (भवति) = लिङ् के झि को जुस् आदेश होता है। पठ् शप् यास् झि = पठ् शप् यास् जुस् = पठ् अ या उस् = पठ् अ इय् उस् = पठेयुस् = पठेयुः।

(२५) सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च (३।४।१०९) यहां झेर्जुस् की अनुवृत्ति है। सिच् अभ्यस्त और विदि से परे झि को जुस् आदेश होता है। जैसे अकार्षुः, अबिभरुः (सिद्धि पीछे पूरी करें)।

इससे आगे सार्वधातुक और आर्धधातुक संज्ञा के सूत्र विदित ही हैं। यह प्रकरण समझ लेने पर दस लकारों की सिद्धि अत्यन्त सरल हो जाती है। पूरी सिद्धि दस लकारों की अभी आगे करानी है।

पाठक देखें दस लकारों के सम्बन्ध में बहुत बड़ी सामग्री पाणिनि जी ने एक ही जगह रखी हुई है। ये सूत्र लकारों की सिद्धि में अनिवार्य और परमावश्यक हैं॥

द्वित्व प्रकरण

कुछ आवश्यक सूत्र जिन में लिट् या श्लु आदि में द्वित्व या द्विर्वचन (एक के स्थान में दो हो जाना) होते हैं। तथा द्विर्वचन या द्वित्व होने पर जो दो बनते हैं उनमें से पहिले की 'अभ्यास' संज्ञा पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४) से होती है। यह अभ्यास का प्रकरण ७।४।५८ से ९७ तक है, सो काम में आने वाले इन दोनों प्रकरणों की कुछ जानकारी हो जानी चाहिये। सो इस प्रकार है—

(१) एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१) यह अधिकार सूत्र है। प्रथमस्य एकाचः द्वे भवतः = प्रथम (पहले) एकाच् (एक अच् हो जिसमें) को द्विर्वचन होता है अर्थात् दो हो जाते हैं। यह अधिकार ६।१।१२ तक जाता है।

(२) अजादेर्द्वितीयस्य (६।१।२) अजादेः ६।१, द्वितीयस्य ६।१। यहां 'एकाचः' आ ही रहा है। अर्थ बना = अजादेः द्वितीयस्य एकाचः द्वे (भवतः) = अजादि के द्वितीय एकाच् को द्विर्वचन होता है। यह भी अधिकार है जो १२वें सूत्र तक जाता है। जैसे जुहोति की सिद्धि ११वें पाठ में। हु शप् तिप् = हु श्लु तिप् = श्लौ (६।१।१०) सूत्र से द्विर्वचन होने लगा, तो एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१). से प्रथम एकाच् को द्विर्वचन होकर हु हु ति बनता है।

(३) पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४) द्वित्व हुए अर्थात् दोनों में से पूर्व = पहिले की 'अभ्यास' संज्ञा होती है। हु हु ति में पहिले 'हु' की अभ्यास संज्ञा हो जाती है। अभ्यास के सब कार्य अब हो जावेंगे। अभ्यास का यह प्रकरण ७।४।५८ से ९७ तक है। ७।४।६२ से हु को चवर्ग झु होकर अभ्यासे चर्च (८।४।५३) से झु को जु होकर जुहु ति = गुण (७।३।८४ से) होकर जुहोति बना। जो ११वें पाठ में आप समझ चुके हैं॥

(४) उभेऽभ्यस्तम् (६।१।५) = जो दो हुए हैं उनकी 'अभ्यस्तम्' = 'अभ्यस्त' संज्ञा होती है। यहां ७।१।३ से झ के स्थान में अन्त प्राप्त था अदभ्यस्तात् (७।१।४) में अभ्यस्त से परे झ के स्थान में अत् होता है, ऐसा कहा। सो जुहु झि = जुहु अत् इ = जुहति बना यहां पहिले यण्, फिर गुण प्राप्त होता है। (१।२।४) से ङित्वत् होकर हुश्नुवोः सार्वधातुके (६।४।८७) से 'यण्' होकर जुह्वति बनता है। यह रूप भी ११वें पाठ में सिद्ध कर चुके हैं।

(५) लिटि धातोरनभ्यासस्य (६।१।८) लिटि ७।१, धातोः ६।१, अनभ्यासस्य ६।१। यहां एकाचो द्वे प्रथमस्य का अधिकार है। अर्थ बना = लिटि अनभ्यासस्य धातोः प्रथमस्य एकाचः द्वे (भवतः) = लिट् परे हो तो अनभ्यास वाले धातु के प्रथम एकाच् को द्विर्वचन होता है। जैसे पठ् लिट् = पठ् णल् = पठ् पठ् णल् = प पठ् अ = ७।२।११६ से वृद्धि हो कर पपाठ बन जाता है। पूरी सिद्धि पीछे होगी॥

(६) सन्यङोः (६।१।९) = सन्नन्त, यङन्त धातु के प्रथम एकाच् को द्वित्व हो। पठ् सन् = पठ् पठ् सन् = प पठ् स = पि पठ् इ स = पि पठ् इ ष शप् तिप् = पिपठिषति बना। यङ् में लोलुवः लोलूयते। इसकी सिद्धि भी पीछे होगी।

(७) श्लौ (६।१।१०) श्लु होने पर धातु के प्रथम एकाच् को द्वित्व हो। जैसे हु शप् तिप् = जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२।४।७५) से शप् के स्थान में श्लु होकर, हु श्लु ति = प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः (१।१।६१) श्लु प्रत्यय के अदर्शन को कहते हैं हु ति। इस सूत्र से द्विर्वचन हो कर हु हु ति। पूर्ववत् जुहोति बन गया।

(८) षष्ठि (६।१।११) चङ् परे हो तो प्रथम एकाच् और अजादि के द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है। जैसे पठ् (णिजन्त) से लुङ् में अपीपठत् और पच् से अपीपचत् बनता है। सिद्धि आगे होगी।

अभ्यास प्रकरण

(१) अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७।४।५८) 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति यहां से पाद के अन्त ७।४।९७ तक जाती है। अङ्गस्य का अधिकार है ही।

(२) ह्रस्वः (७।४।५९) 'अभ्यासस्य', अङ्गस्य = अङ्ग के अभ्यास को ह्रस्व हो जाता है। जैसे दा दा ति ददाति। पा + णल् = पपौ।

(३) हलादिः शेषः (७।४।६०) अभ्यासस्य अङ्गस्य = अङ्ग के अभ्यास का आदि (पहिला) हल् शेष रहता है (शेष का लोप हो जाता है)। जैसे पठ पठ् णल् = प पठ अ = पपाठ ७।२।११६ से वृद्धि होती है।

(४) शर्पूर्वाः खयः (७।४।६१) शर्पूर्व 'अभ्यास वाले धातु में खय् शेष रहता है। स्पर्ध् लिट् = स्पर्ध् त = स्पर्ध् स्पर्ध् त = पस्पर्ध् एश = प स्पर्ध् ए = पस्पर्धे।

(५) कुहोश्चुः (७।४।६२)। कुहोः ६।१। चुः १।१॥ 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति है। अर्थ बना = अभ्यासस्य कुहोः चुः (भवति) = अभ्यास के कवर्ग और हकार को चवर्ग हो जाता है। जैसे जुहोति॥ यहां हु हु ति = जुहु ति = जुहोति। चकार में कृ कृ णल् = क कृ अ = चकार् अ = चकार बना॥

(६) उरत् (६।४।६६) उः ६।१। अत् १।१। अभ्यासस्य की अनुवृत्ति है। अभ्यास के ऋ को अ हो जाता है। जैसे कृ कृ णल् = कर् कार् अ = ककार् अ = चकार।

(७) भवतेरः (७।४।७३) = भवतेः ६।१। अः १।१। अभ्यासस्य, आता है। भवति (भू धातु) के अभ्यास को अ हो जावे। भूभू णल् = भू भू अ। ब भूव अ = बभूव। शेष पूरी सिद्धि पीछे बतावेंगे।

(८) सन्यतः (७।४।७९) सनि ७।१, अतः ६।१। ऊपर (७।४।७८) से यहां इत् की अनुवृत्ति आती है। सनि अभ्यासस्य अतः इत् (भवति) = सन् परे हो तो अभ्यास के अत् = ह्रस्व अकार को इत् = ह्रस्व इकार हो जाता है। जैसे पठ् पठ् सन् = प पठ् इट् स = पिपठ् इस = पिपठिष शप् तिप् = पिपठिष अ ति = पिपठिषति॥

२४ से ३१ पाठों का सिंहावलोकन

२४ वें पाठ से लेकर ३१ वें पाठ तक का सिंहावलोकन कर लेना चाहिये। २४ वें पाठ में हमने समास के और २५ वें में स्त्री प्रत्यय के अति सामान्य सूत्रों को समझाया। २६ वें में तद्धित की प्रक्रिया का बोध मात्र कराने के लक्ष्य से कुछ एक सूत्र बताये। २७ वें पाठ में ७।३।१०१ से ११९ तक का सुबन्त के पुरुष, विद्या, अग्नि, मति, वायु, धेनु शब्दों की सिद्धि में लगने वाले एक ही स्थान में पढ़े हुए सूत्रों को समझाया। २८ वें पाठ में ७।१।९ से २० तक के पुरुष, सर्व (सर्वनाम) धन (नपुंसक लिङ्ग) की सिद्धि में बहुत लगने वाले सूत्रों को समझाया। आगे २९ वें पाठ में हमने नया कुछ नहीं किया, केवल पहिले बताये सूत्रों को समझाते हुए पुरुष को छोड़कर (क्योंकि इसकी सब सिद्धि १९ वें पाठ में पहिले बता चुके हैं) शेष विद्या-धन-अग्नि वायु, मति, धेनु तथा कुमारी की सिद्धि के सब सूत्रों को जो २७ वें तथा २८ वें पाठ में आ चुके थे, कार्यरूप में लगा कर उनका प्रत्यक्ष ज्ञान और महत्त्व दर्शाया है। आगे ३० वें और ३१ वें पाठ में हमने दस लकारों में सामान्यतया लगने वाले सूत्रों का परिचय कराया। उनमें कुछ एक सूत्र ऐसे भी हैं जिनका हमने उदाहरण मात्र दिया। सिद्धि आगे के लिए छोड़ दी। जो आगे अवश्य ही आवेगी। अभी कठिन पड़ती। पाठक इसकी चिन्ता में न पड़ें॥

३२ वां पाठ

प्रक्रियायें

व्याकरण में दस प्रक्रियायें होती हैं—

१—णिजन्त २—सनन्त ३—यङन्त ४—यङ्लुगन्त ५—कर्तृवाच्य ६—कर्मवाच्य ७—भाववाच्य ८—कर्मकर्त्ता ९—प्रत्ययमाला १०—नामधातु। इन में से कुछ प्रक्रिया तो सब धातुओं (२०००) से बनती हैं। शेष विशेष २ धातुओं से बनती हैं। इन में णिच्-णिजन्त प्रक्रिया की सिद्धि तो चुरादि में 'चोरयति' के समान सब समझ लेनी चाहिये। सो आगे अधिक काम में आने वाले सनन्त और यङन्त के सूत्र बताते हैं।

सनन्त-प्रक्रिया

(१) सनन्त = पठितुमिच्छति न कहा पिपठिषति कह दिया। सो इस की सिद्धि में—धातु को द्विर्वचन होता है, और दो बार धातु संज्ञा होती है। पठ् इस की भूवादयो धातवः (१।३।१) से धातुसंज्ञा होकर धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा (३।१।७) से सन् प्रत्यय होता है। सूत्र का पदच्छेदादि—धातोः ५।१। कर्मणः ६।१। समानकर्तृकात् ५।१। इच्छायाम् ७।१। वा अ०॥ सूत्र का अर्थ बना = कर्मणः समानकर्तृकाद् धातोः इच्छायां वा सन् प्रत्ययः परश्च (भवति) = कर्म के (अवयव) धातु से इच्छा अर्थ में विकल्प कर के सन् प्रत्यय होता है और वह परे होता है। जैसे 'पठितुमिच्छति' में 'पठितुम्' इच्छति का कर्म है। सो इस कर्म का अवयव है पठ् धातु, इस से इच्छा अर्थ में विकल्प करके (दूसरे पक्ष में पठितुमिच्छति ऐसा वाक्य भी रहता है) सन् प्रत्यय हो जाता है। पठ् सन् = आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४) से सन् की आर्धधातुक संज्ञा होकर आर्द्धधातुकस्येड्वलादेः (७।२।३५) आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) से इट् तथा आदि में होकर पठ् इट् सन् (१।३।३,९) इत् संज्ञा और लोप होकर पठ् इ स, सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२) से पुनः धातु संज्ञा होकर सन्यङोः (६।१।९) तथा एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१) से द्विर्वचन हो कर पठ् पठ इ स, पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४) हलादिः शेषः (७।४।६०) हो कर प पठ इ स, सन्यतः (७।४।७९) सनि ७।१॥ अतः ६।१॥ अभ्यासस्य, अङ्गस्य तथा ७७ से इत् की अनुवृत्ति तथा अधिकार है, अर्थ बना = सनि अतः अभ्यासस्य अङ्गस्य इत् (भवति) = सन् परे हो तो अङ्ग के अभ्यास के अत् ह्रस्व अकार के स्थान में इत् = इकार हो जाता है। तब पि पठ् इ स बना। अब आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से ष होकर पिपठिष बना। आगे पूर्ववत् धातोः, वर्तमाने लट् आदि सब सूत्र लगकर पिपठिष शप् तिप् = पिपठिष अ ति = अतो गुणे (६।१।९४) से पूर्व पर के स्थान में गुण होकर पिपठिषति रूप बना। आगे सब रूप 'पठति' के समान ही चलते हैं॥

यह हमने सेट् धातु का रूप बताया। पक्तुमिच्छति = पकाना चाहता है, इसमें पच् धातु अनिट् है, इसमें इट् (७।२।३५) से प्राप्त होता है। सो एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् (७।२।१०) इस सूत्र से उसका निषेध हो जाता है। पिपच् स में चोः कुः (८।२।३०) से कुत्व और आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से षत्व होकर पूर्ववत् तिबादि होकर पिपक्ष शप् तिप् = पिपक्षति बना, शेष सूत्र पूर्ववत् हैं॥

यङन्त प्रक्रिया

'पुनः पुनः पठति' = बार २ पढ़ता है, इस अर्थ में पापठ्यते ऐसा प्रयोग बनता है।

इसमें पठ् की भूवादयो धातवः (१।३।१) से धातु संज्ञा हो कर धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् (३।१।२२) से यङ् प्रत्यय होता है। धातोः ५।१॥ एकाचः ५।१॥ हलादेः ५।१॥ क्रियासमभिहारे ७।१॥ यङ् १।१॥ अर्थ बना = एकाचः हलादेः धातोः क्रियासमभिहारे यङ् प्रत्ययः परश्च (भवति) = एकाच् (एक अच् वाले) हलादेः जिस के आदि में हल् हो ऐसे, धातोः धातु से क्रियासमभिहारे क्रिया के बार बार होने अर्थ में यङ् = यङ् प्रत्यय होता है और वह परे होता है॥ सो 'पठ यङ्' बना, उपदेशे० हलन्त्यम् से इत् संज्ञा और लोप होकर 'पठ् य' रहा। इसकी सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२) से पुनः धातु संज्ञा होकर सन्यङोः (६।१।९) तथा एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१) से द्वित्व हो कर पठ् पठ् य बना। पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४) हलादिः शेषः (७।४।६०) से प पठ् य दीर्घोऽकितः (६।४।८३) से अभ्यास को दीर्घ हो = दीर्घः १।१॥ अकितः ६।१॥ अभ्यासस्य की (५८ से) तथा यङ्लुकोः की (८२ से) अनुवृत्ति आकर सूत्र का अर्थ बना = यङ्लुकोः अकितः अभ्यासस्य दीर्घः भवति = यङ् वा यङ्लुक परे हो तो अकित् अभ्यास को दीर्घ हो। सो 'पापठ्य' बना। धातोः, वर्तमाने लट् आदि सूत्र पूर्ववत् पठति के समान सब लगते हैं, पापठ्य लट्, यङ् के ङित् होने से अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (१।३।१२) से आत्मनेपद हो कर 'ति' न होकर त हो जाता है। पापठ्य शप् त, यहाँ टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९) से त की टि = अ को ए हो कर पापठ्यते बना। यह ध्यान रखना चाहिये कि अजादि धातुओं से यङ् नहीं होता॥

क्यच्-क्यङ्

पुत्रमिच्छति = इस अर्थ में पुत्रीयति बनता है। यहाँ सुप आत्मनः क्यच् (३।१।८) से पुत्र प्रातिपदिक से क्यच् प्रत्यय आता है। सुपः ५।१॥ आत्मनः ६।१॥ क्यच् १।१॥ इसमें कर्मणः इच्छायां वा इन तीनों क

अनुवृत्ति ऊपर के (७) सूत्र से आती है। अर्थ बना = कर्मणः आत्मनः सुपः इच्छायां वा क्यच् प्रत्ययः परश्च (भवति) = कर्म का (अवयव) जो आत्मसम्बन्धी सुबन्त उससे इच्छा अर्थ में विकल्प करके क्यच् प्रत्यय होता है। आत्मनः पुत्रमिच्छति अपने पुत्र की इच्छा करता है, इस अर्थमें = पुत्रीयति बनता है। पुत्र से सुप आत्मनः क्यच् (३।१।८) से क्यच् होकर पुत्र + क्यच्, क्यचि च (७।२।३३) में ३२ सूत्र से 'अस्य' की ३१ से ईत् की तथा अङ्गस्य की अनुवृत्ति और अधिकार आता है। सूत्र का अर्थ बना = अस्य ईत् क्यचि च अङ्गस्य = अङ्ग के अकार को ईकार क्यच् परे रहने पर भी हो जाता है॥ पुत्रीय = (३।१।३२) से धातु संज्ञा होकर आगे पूर्ववत् पुत्रीय शप् तिप् = पुत्रीयति बन जाता है।

'क्यङ्' में = पण्डित इव आचरति = पण्डित जैसा आचरण करता है। यहां कर्तुः क्यङ् सलोपश्च (३।१।११) में ऊपर ८ से 'सुपः' और १० सूत्र से 'आचारे' और 'उपमानात्' की अनुवृत्ति आती है। कर्तुः ५।१॥ क्यङ् १।१॥ सलोपः १।१॥ च अ०॥ अर्थ बना = उपमानात् कर्तुः = उपमान वाची कर्ता, सुपः = सुबन्त से, आचारे = आचार अर्थ में क्यङ् प्रत्यय हो जाता है और स का लोप भी हो जाता है (जहां स् हो वहां)। पण्डित इव आचरति = पण्डित + क्यङ् = पण्डित + य यहां अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः (७।४।२५) से दीर्घ होता है। ऊपर (७।४।२२) से यि और क्ङिति की अनुवृत्ति आती है। सूत्र का अर्थ बना = अकृत्सार्वधातुकयोः यि अङ्गस्य दीर्घः भवति = अकृत् और असार्वधातुक यकार परे रहने पर अङ्ग को दीर्घ हो जाता है। 'पण्डिताय' की सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२ से) धातु संज्ञा तथा धातोः, वर्तमाने लट् आदि पूर्ववत् होकर 'पण्डितायते' बनता है। पण्डितायते देवदत्तः, देवदत्त पण्डितों जैसा आचरण करता है। पण्डित तो नहीं पण्डित बनता है, ऐसा आचरण = व्यवहार करता है कि जैसे पण्डित करते हैं। "पोथा बड़ा, सोटा बड़ा, पण्डिता पगड़ा बड़ा" पण्डितायते का अर्थ अब तो समझ में आ गया न?

३३ वां पाठ

भाव-कर्म-कर्तृ प्रक्रिया

जब कर्ता और क्रिया का अधिकरण एक (समान) हो तो वह क्रिया "कर्तृवाच्य" कहाती है। जब कर्म और क्रिया का अधिकरण एक (समान) हो तो वह "कर्म वाच्य" क्रिया कहाती है। जब भाव (धात्वर्थ) तथा क्रिया का अधिकरण एक (समान) हो तो वह "भाववाच्य" क्रिया कहलाती है।

तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा (महाभाष्य २।३।४६ वा०) अथवा क्रियासमानाधिकरणे प्रथमा, इन दोनों का एक ही अभिप्राय है। तिङ् या क्रिया के साथ जिस (कर्ता या कर्म) का समानाधिकरण होगा उसमें प्रथमा विभक्ति होगी। 'देवदत्तः वेदं पठति' में पठति और देवदत्त का अधिकरण आश्रय या (अभिधेय) एक ही है अतः यह कर्तृवाच्य क्रिया है, इसलिये कर्ता में प्रथमा विभक्ति हो गई। क्रिया ने कर्ता देवदत्त को कहा, इसलिये देवदत्त = अभिहित = कथित = उक्त है, सो अभिहित में प्रथमा होती है। क्योंकि पठति क्रिया ने देवदत्त कर्ता को कहा, इसी लिये वह अभिहित हुआ। उधर कर्म 'वेदम्' को पठति ने नहीं कहा, अतः वह क्रिया से अभिहित = कथित = उक्त नहीं = नहीं कहा गया, सो वह न अभिहित = 'अनभिहित' कर्म है। अनभिहित कर्म में कर्मणि द्वितीया (२।३।२) से द्वितीया विभक्ति होती है क्योंकि उसमें 'अनभिहिते' का अधिकार है, अतः सूत्र का अर्थ बना = अनभिहिते कर्मणि द्वितीया भवति = अनभिहित कर्म में द्वितीया विभक्ति हो जाती है, इसीलिये 'देवदत्तः वेदं पठति' में 'वेदम्' कर्म में द्वितीया विभक्ति हुई॥

कर्म वाच्य = अब 'देवदत्तः वेदं पठति' कर्तृवाच्य को हम कर्मवाच्य बनाना चाहते हैं। कर्मवाच्य तब बनेगा जब क्रिया कर्म को कहेगी या कर्म और क्रिया का समान (एक) अधिकरण होगा। जब क्रिया ने कर्म को कहा अर्थात् कर्म अभिहित = कथित = उक्त हो गया, तभी कर्म में प्रथमा विभक्ति हो गई क्योंकि "तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा" या "अभिहिते प्रथमा" का एक ही अर्थ है। वेदः पठ्यते देवदत्तेन, यह कर्मवाच्य क्रिया बन गई। वेद में प्रथमा तो उपर्युक्त रीति से हो गई। देवदत्त में तृतीया कर्तृकरणयोस्तृतीया (२।३।१८) से होती है। सूत्र में अनभिहिते का अधिकार होने से अर्थ बना = अनभिहिते 'कर्तृकरणयोः तृतीया भवति = अनभिहित कर्ता और करण में तृतीया विभक्ति होती है। सो यहां देवदत्त को क्रिया ने नहीं कहा, या देवदत्त कर्ता का क्रिया के साथ समानाधिकरण

नहीं है, कर्म के साथ है, तो कर्ता अनभिहित हो गया सो अनभिहित कर्ता में तृतीया विभक्ति हो गई। वेद: पठ्यते देवदत्तेन = देवदत्त के द्वारा वेद पढ़ा जाता है। यहां "पढ़ा जाता है" और 'वेद' इन दोनों का अधिकरण (आश्रय) एक है। अब इसमें पठ्यते रहा, सो भाववाच्य और कर्मवाच्य में चार बातें विशेष होती हैं। (१) आत्मनेपद (२) यक् (३) चिण् (४) चिण्वद्-भाव ॥ सो पठ् + यक् + त = पठ्यते बना। इसकी सिद्धि निम्न प्रकार है।

पठ् को **भूवादयो धातवः** (१।३।१) से धातु संज्ञा हो कर, **धातोः** (३।१।९१ से) धातु का अधिकार, **वर्तमाने लट्** ३।२।१२३) **प्रत्ययः परश्च** से 'पठ् लट्', इत् संज्ञा होकर 'पठ् ल्', **लस्य** (३।४।७७) **तिप्तस्झि.........महिङ्** (३।४।७८) **लः परस्मैपदम्** (१।४।९८) **तङानावात्मनेपदम्** (१।४।९९) तथा **भावकर्मणोः** (१।३।१३) से आत्मनेपद होकर **तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः** (१।४।१००) **शेषे प्रथमः** (१।४।१०७) **तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः** (१।४।१०१) **द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने** (१।४।२२) से 'पठ् त' बना। **सार्वधातुके यक्** (३।१।६६) में भाव कर्मणोः की अनुवृत्ति आकर अर्थ बना = **धातोः भावकर्मणोः सार्वधातुके यक् प्रत्ययः परश्च** (**भवति**) = धातु से भाव और कर्म में यक् प्रत्यय होता है, यदि सार्वधातुक प्रत्यय परे हो तो। सो 'त' की **तिङ्शित् सार्वधातुकम्** (३।४।११३) से सार्वधातुक संज्ञा है। अतः उसके परे रहने पर 'पठ् यक् त' = 'पठ् य त' बना, **टित आत्मनेपदानां टेरे** (३।४।७९) से त की टि को ए होकर "पठ्यते" बन गया ॥

सो हमने 'वेदः पठ्यते देवदत्तेन' कर्मवाच्य क्रिया के इस वाक्य के तीनों शब्दों में प्रथमा, तृतीया और आत्मनेपद और यक् कैसे हुए, यह सब दर्शा दिया ॥

कर्मवाच्य में वचनव्यवस्था

वेदः पठ्यते देवदत्तेन, यहां यह तो समझ में आगया कि कर्म में प्रथमा **तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा** (२।३।४६ **महाभाष्य**) के वचन से प्रथमा विभक्ति होती है और **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (२।३।१८) से अनभिहित कर्ता देवदत्त में तृतीया हो जाती है। भाव और कर्म में यक् और आत्मनेपद भी समझ में आ गया। अब हमें यह समझना है कि वचन की क्या व्यवस्था है।

देवदत्तः वेदं पठति। = वेदः पठ्यते देवदत्तेन।
देवदत्तः वेदौ पठति। = वेदौ पठ्येते देवदत्तेन।
देवदत्तः वेदान् पठति। = वेदाः पठ्यन्ते देवदत्तेन ॥१॥
देवदत्तयज्ञदत्तौ वेदं पठतः। = वेदः पठ्यते देवदत्तयज्ञदत्ताभ्याम्।
देवदत्तयज्ञदत्तौ वेदौ पठतः। = वेदौ पठ्येते देवदत्तयज्ञदत्ताभ्याम्।
देवदत्तयज्ञदत्तौ वेदान् पठतः। = वेदाः पठ्यन्ते देवदत्तयज्ञदत्ताभ्याम् ॥ २ ॥

देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्राः वेदं पठन्ति =
वेदः पठ्यते देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रैः।
देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्राः वेदौ पठन्ति =
वेदौ पठ्येते देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रैः।
देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्राः वेदान् पठन्ति =
वेदाः पठ्यन्ते देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रैः ॥ ३ ॥

इन वाक्यों में पाठक देखें कि कर्मवाच्य क्रिया है, क्रिया का कर्म के साथ समानाधिकरण है, सो जो वचन कर्म का होगा, वही वचन क्रिया का भी होगा। वेदः = पठ्यते, वेदौ = पठ्येते, वेदाः = पठ्यन्ते होगा। देवदत्तेन, देवदत्तयज्ञदत्ताभ्याम्, देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रैः तीनों के वचन में कोई भेद नहीं, क्रिया का वचन चाहे बदलता रहे ॥

भाववाच्य

भाव धात्वर्थ का नाम है। जब भाव (धात्वर्थ मात्र) ही क्रिया के द्वारा कहा जाता है, कर्ता कर्म नहीं कहे जाते, तब वह क्रिया भाववाच्य कहलाती है। **अकर्मक धातुओं की ही भाववाच्य क्रिया होती है। सकर्मक धातुओं से नहीं। कर्मवाच्य क्रिया सकर्मक धातुओं से ही होती है, अकर्मकों से नहीं होती।** जैसे आस्ते देवदत्तः, यह आस् अकर्मक धातु है, इसकी कर्तृवाच्य क्रिया 'आस्ते देवदत्तः' है, इसकी भाववाच्य क्रिया "आस्यते देवदत्तेन" यह बनती है। इसी प्रकार 'हस्' अकर्मक धातु का हसति देवदत्तः कर्ता में, और "हस्यते देवदत्तेन" यह भाववाच्य क्रिया में बनता है।

यतः भाव एक ही होता है इसलिये क्रिया में सदा एकवचन और प्रथमपुरुष का एकवचन रहता है। कर्ता चाहे एक हो, दो हों या बहुत हों, जैसे देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रैः हस्यते = देवदत्त यज्ञदत्त और विष्णुमित्र के द्वारा हसा जाता है। यहां तक हमने लकारों

की कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य, और भाववाच्य क्रियायें बताई हैं। अब हम कर्तृवाच्य कर्मवाच्य और भाववाच्य प्रत्यय बताते हैं।

३४ वां पाठ

कर्तृवाच्य कर्मवाच्य और भाववाच्य प्रत्यय

यह ध्यान रखना चाहिये कि लट् लिट् आदि लकार कर्तृवाच्य कर्मवाच्य और भाववाच्य तीनों में होते हैं। इसी प्रकार कृत् प्रत्यय भी इन तीनों में होते हैं। कर्ता में—कर्म में और भाव में—सो अब हम सोदाहरण बतायेंगे कि कौन प्रत्यय किसमें होता है।

धातु से तीन प्रकार के प्रत्यय आते हैं, यह हम पूर्व बता चुके हैं—(१) तिङ् (२) कृत् (३) कृत्य। सो इन में सूत्र लिखते हैं—

(१) कर्तरि कृत् (३।४।६७) में "धातोः", "प्रत्ययः" "परश्च" का अधिकार है। धातोः कृत् प्रत्ययः कर्तरि परश्च भवति = धातोः = धातुमात्र (२०००) से कृत् प्रत्यय कर्ता में होते हैं। इससे कृत् प्रत्यय सब के सब कर्ता में होते हैं, इस सूत्र ने यह कहा।

(२) लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः (३।४।६९) में "धातोः" का अधिकार है। अर्थ बना = धातोः लः कर्मणि कर्त्तरि च (भवन्ति) = धातु से लकार कर्ता और कर्म में होते हैं और अकर्मकेभ्यः भावे कर्त्तरि च (भवन्ति) अकर्मक धातुओं से भाव और कर्ता अर्थ में होते हैं (अर्थापत्ति से सकर्मक धातुओं से कर्ता और कर्म में होते हैं यह अर्थ निकला)।

सो यहां सकर्मक और अकर्मक धातु की पहिचान भी समझ लेनी चाहिये। जिस धातु के साथ कर्म का सम्बन्ध है या हो सकता है वह सकर्मक है। जिसके साथ कर्म का सम्बन्ध नहीं या नहीं हो सकता वह अकर्मक है। पठति, खादति सकर्मक हैं क्योंकि उनके साथ वेद या फल कर्म का सम्बन्ध है या हो सकता है, चाहे न भी बोलें। 'देवदत्तः खादति' में फलम् कर्म लुप्त है, सो यह क्रिया भी सकर्मक ही कहलायेगी।

'देवदत्तः आस्ते' 'देवदत्तः हसति' = देवदत्त बैठ रहा है या हंस रहा है ... का सम्बन्ध नहीं, न हो ही सकता है, अतः ये ...र्मक हैं।

सो दस लकार सकर्मक धातुओं से कर्ता और कर्म में होते हैं और अकर्मक धातुओं से कर्ता और भाव में होते हैं।

(३) तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः (३।४।७०) कृत्य-प्रत्यय क्त और खलर्थ ये तयोरेव = कर्म और भाव में ही होते हैं अर्थात् सकर्मक धातुओं से कर्म में और अकर्मक धातुओं से भाव में होते हैं।

कृत्यप्रत्यय = तव्य, अनीयर् यत् ण्यत्

पच्, पठ्, चि, नी से बनाते हैं—

पठितव्यः वेदः देवदत्तेन = देवदत्त के द्वारा वेद पढ़ा जाना चाहिये, यहां 'देवदत्तः वेदं पठति' = इस क्रिया में 'वेद' पठति क्रिया का 'कर्म' है। पठति क्रिया सकर्मक है, अतः इससे तव्य प्रत्यय कर्म में आवेगा। अर्थात् तव्य (कृत्य प्रत्यय) का वेद कर्म के साथ समानाधिकरण है, अतः वेदः पठितव्यः देवदत्तेन में वेद कर्म का कृत्यप्रत्यय तव्य के साथ समानाधिकरण है। इसी से यह तव्य प्रत्यय कर्म में है, ऐसा कहा जायगा। इसी से वहां पठन क्रिया का कर्ता देवदत्त अनभिहित है। अत एव उसमें तृतीया विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार पक्तव्यः ओदनः देवदत्तेन, नेतव्यः समाजः देवदत्तेन इत्यादि। अब भाव में—आस् धातु अकर्मक है, इसमें आसितव्यं देवदत्तेन = देवदत्त के द्वारा बैठा जाना चाहिये॥ क्त प्रत्यय भी इसी सूत्र से भाव और कर्म में होता है।

क्त भाव कर्म में

'देवदत्तः वेदं पठति' का कर्म में = पठितः वेदः देवदत्तेन बना। यहां पठति क्रिया के कर्म 'वेद' का क्त प्रत्यय के साथ समानाधिकरण है अर्थात् यहां क्त के द्वारा कर्म अभिहित = कथित = उक्त है, सो वेद में प्रथमा हुई और देवदत्त अनभिहित कर्ता में तृतीया विभक्ति हुई।

वेदः पठितः देवदत्तेन।
वेदौ पठितौ देवदत्तेन।
वेदाः पठिताः देवदत्तेन॥ १॥
वेदः पठितः देवदत्तयज्ञदत्ताभ्याम्।
वेदौ पठितौ देवदत्तयज्ञदत्ताभ्याम्।
वेदाः पठिताः देवदत्तयज्ञदत्ताभ्याम्॥ २॥
वेदः पठितः देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रैः।
वेदौ पठितौ " "
वेदाः पठिताः " " ॥ ३॥

वेदः पठितः रमया ।
वेदौ पठितौ रमया ।
वेदाः पठिताः रमया ॥ ४ ॥
वेदः पठितः रमानिर्मलाभ्याम् ।
वेदौ पठितौ रमानिर्मलाभ्याम् ।
वेदाः पठिताः रमानिर्मलाभ्याम् ॥ ५ ॥
वेदः पठितः रमा-निर्मला-कान्ताभिः ।
वेदौ पठितौ रमा-निर्मला-कान्ताभिः ।
वेदाः पठिताः रमानिर्मला-कान्ताभिः ॥ ६ ॥

यहां कर्म में जो लिङ्ग वचन होगा, वही 'क्त' प्रत्यय में भी होगा। यह ध्यान रखना चाहिये।

फलं खादितं देवदत्तेन ।
फले खादिते देवदत्तेन ।
फलानि खादितानि देवदत्तेन ॥ ७ ॥
फलं खादितं देवदत्तयज्ञदत्ताभ्याम् ।
फले खादिते देवदत्तयज्ञदत्ताभ्याम् ।
फलानि खादितानि देवदत्तयज्ञदत्ताभ्याम् ॥ ८ ॥
फलं खादितं देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रैः ।
फले खादिते देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रैः ।
फलानि खादितानि देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रैः ॥ ९ ॥
फलं खादितं सुवर्चया ।
फलं खादितं सुवर्चासूनृताभ्याम् ।
फलं खादितं सुवर्चासूनृतासत्याभिः ॥ १० ॥
फले खादिते सुवर्चया ।
फले खादिते सुवर्चासूनृताभ्याम् ।
फले खादिते सुवर्चासूनृतासत्याभिः ॥ ११ ॥
फलानि खादितानि सुवर्चया ।
फलानि खादितानि सुवर्चासूनृताभ्याम् ।
फलानि खादितानि सुवर्चासूनृतासत्याभिः ॥ १२ ॥
पत्रिका पठिता देवदत्तेन ।
पत्रिके पठिते देवदत्तेन ।
पत्रिकाः पठिताः देवदत्तेन ॥ १३ ॥
पत्रिका पठिता देवदत्तयज्ञदत्ताभ्याम् ।
पत्रिके पठिते देवदत्तयज्ञदत्ताभ्याम् ।
पत्रिकाः पठिताः देवदत्तयज्ञदत्ताभ्याम् ॥ १४ ॥
पत्रिका पठिता देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रैः ।
पत्रिके पठिते देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रैः ।
पत्रिकाः पठिताः देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रैः ॥ १५ ॥
पत्रिका पठिता सुप्रभया ।
पत्रिका पठिता सुप्रभाकृष्णाभ्याम् ।
पत्रिका पठिता सुप्रभाकृष्णाश्रेष्ठाभिः ॥ १६ ॥
पत्रिके पठिते सुप्रभया ।
पत्रिके पठिते सुप्रभाकृष्णाभ्याम् ।
पत्रिके पठिते सुप्रभाकृष्णाश्रेष्ठाभिः ॥ १७ ॥
पत्रिकाः पठिताः सुप्रभया ।
पत्रिकाः पठिताः सुप्रभाकृष्णाभ्याम् ।
पत्रिकाः पठिता सुप्रभाकृष्णाश्रेष्ठाभिः ॥ १८ ॥

यहां पाठक देखें कर्म का जो भी लिङ्ग और वचन है वही क्तान्त प्रत्यय का है।

क्तवतु = कर्त्ता में

आपने देखा कृत् प्रत्यय सामान्यतया कर्त्ता में होते हैं। आगे इनके अपवाद हैं। कृत्य, क्त, खलर्थ भाव कर्म में ही होते हैं। लकार सकर्मकों से कर्ता और कर्म में तथा अकर्मकों से भाव और कर्म में होते हैं। निष्ठा में दो प्रत्यय होते हैं—एक 'क्त', दूसरा 'क्तवतु'। सो क्त तो भाव और कर्म में हो गया जिसके उदाहरण हमने ऊपर दिये (कहीं २ कर्त्ता में; कहीं अधिकरण में भी होता है। यह आगे बतावेंगे)। शेष रह गया 'क्तवतु', सो यह कर्तरि कृत् (३।४।६७) से सामान्यतया कर्त्ता में रह गया। इसके उदाहरणः—

रणवीरः वेदं पठितवान् ।
रणवीरः वेदौ पठितवान् ।
रणवीरः वेदान् पठितवान् ॥ १९ ॥
रणवीरविजयकुमारौ वेदं पठितवन्तौ ।
रणवीरविजयकुमारौ वेदौ पठितवन्तौ ।
रणवीरविजयकुमारौ वेदान् पठितवन्तौ ॥ २० ॥
रणवीरविजयकुमारसुबोधाः वेदं पठितवन्तः ।
रणवीरविजयकुमारसुबोधाः वेदौ पठितवन्तः ।
रणवीरविजयकुमारसुबोधाः वेदान् पठितवन्तः ॥ २१ ॥
सुमेधा वेदं पठितवती ।
सुमेधा वेदौ पठितवती ।
सुमेधा वेदान् पठितवती ॥ २२ ॥
सुमेधाप्रज्ञे वेदं पठितवत्यौ ।
सुमेधाप्रज्ञे वेदौ पठितवत्यौ ।
सुमेधाप्रज्ञे वेदान् पठितवत्यौ ॥ २३ ॥
सुमेधाप्रज्ञानिर्मलाः वेदं पठितवत्यः ।
सुमेधाप्रज्ञानिर्मलाः वेदौ पठितवत्यः ।
सुमेधाप्रज्ञानिर्मलाः वेदान् पठितवत्यः ॥ २४ ॥

(क्रमशः)

वेदवाणी का आगामी विशेषाङ्क

वेदविषयक पाश्चात्यमत-परीक्षणाङ्क

भारतीय लेखकों ने जहां बिना विचारे योरुपीय पक्षों का अनुकरण किया है, भारतीय शास्त्रपरम्परा का यथावत् ज्ञान न होने से असत्य वा अशुद्ध धारणाएं बनाली हैं, वहां अब समय आ गया है कि, स्वतन्त्र-भारत में पाश्चात्यों के उन मिथ्यामतों वा धारणाओं पर विवेचनापूर्ण प्रकाश डाला जाय। इसके लिये वेदविषय में पाश्चात्यों के विभिन्न मतों का परीक्षण होना आवश्यक है। इसके लिये "वेदवाणी" द्वारा व्यवस्था की जा रही है।

इस विशेषाङ्क के सम्पादक भारत के प्रसिद्ध वैदिकविद्वान् श्री० पं० भगवद्दत्तजी रिसर्चस्कालर (देहली) होंगे। जिस लेखमें सप्रमाण तर्कपूर्ण किसी पाश्चात्य मत का खण्डन नहीं होगा, वह लेख इस अङ्क में नहीं छपेगा। इस अङ्क का स्तर अत्यधिक ऊंचा होगा और पिष्टपेषण से रहित होगा। साधारण कोटि के, तथा जिनमें पाश्चात्य मत का खण्डन नहीं होगा, वे लेख नहीं छापे जायेंगे। संसार के सभी जर्नल्स तथा कल्याणादि को इसकी सूचना भेज दी जावेगी। इसमें भिन्न २ विषयों पर भारत के योग्य विद्वानों द्वारा लेख प्राप्त कर प्रकाशित करने का यत्न किया जा रहा है।

सम्भावित लेख विषय सूची

१ क्या वेदभाषा कभी बोलने की (व्यवहार) भाषा थी
२ लौकिक संस्कृत मन्त्रोपदेश काल से ही चली
३ वेदमेंवर्णितऋषि और देवता आकाशीय पितर आदि?
४ रोथ-ह्विटलिङ्ग-मोक्षमूलर और मैकडानल आदि का वेदार्थ में वृथा अभिमान
५ वेदार्थ में ब्राह्मण ग्रन्थ सबसे अधिक सहायक
६ मैकडानल कृत वैदिक साईकोलोजी की आलोचना
७ वेद और संस्कृत भाषा का संसार की प्रमुख भाषाओं पर प्रभाव
८ पाश्चात्य लेखकों ने संस्कृत को भारत योरुपीय भाषाओं की माता मानना क्यों अस्वीकार किया, इस पक्ष की निर्मूलता
९ आसुरी और म्लेच्छ भाषाएं
१० गैलनर के ऋग्वेदभाष्य (जर्मन में नया छपा) की अशुद्धियाँ
११ ह्विटने के अथर्ववेद भाष्य की अशुद्धियाँ
१२ वेदवर्णित दस्यु मानव नहीं हैं।
१३ ऋग्वेद का नदी सूक्त और पाश्चात्यों के विभिन्न मतों का निराकरण
१४ भारतीय विश्वविद्यालयों में वेदाध्ययन
१५ डा० सिद्धेश्वर वर्मा और निरुक्त निर्वचन
१६ वाकर नागल कृत वैदिक व्याकरण की भूलें
१७ पाश्चात्य भाषा विज्ञान, विज्ञान नहीं, मत है
१८ वेदकाल निरुपण में पाश्चात्यों की भ्रान्तियां
१९ वैदिककोष के विषय में पाश्चात्यों के कुतर्क
२० वैदिकयज्ञ और पाश्चात्य कल्पनाएं
२१ सम्पूर्ण संसार में वेदमत
२२ वैदिक सृष्टि उत्पत्ति और बाइबिल कुरान की सृष्टि उत्पत्ति
२३ छन्दोवाद
२४ स्वरवाद
२५ कौत्स का "अनर्थका हि मन्त्राः" और पाश्चात्यों की ऊहापोह। वेदं च वेदाङ्गानि च""""पर विचार।
२६ भारतीय लेखकों ने जहां अपने पक्षों को समझे बिना और बिना विचारे पाश्चात्य पक्षों का अनुकरण किया है, उनके तत् तत् लेखांशों का संकलन
२७ ओल्डन बर्ग (अंग्रेजी में ऋग्वेद) के वेदार्थ की अशुद्धियां
२८ "वैदिक एज" के वेदविषयक लेख की आलोचना।
२९ क्षितीशचन्द्र (कलकत्ता) के (प्रधान संस्कृताध्यापक) वैदिकरीडर की आलोचना॥
३० पाश्चात्य स्कालर तथा वेदार्थ

ब्रह्मदत्तजिज्ञासु प्रधान सम्पादक—"वेदवाणी" पो० अजमतगढ़ पैलेस—मोतीझील बनारस नं० १

संपादक, प्रकाशक व मुद्रक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विशेश्वरगंज, बनारस।

ॐ

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ७] ❀ [अङ्क ११

इस अंक के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

भाद्रपद २०१२, सितम्बर १९५५
दयानन्दाब्द १३०
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५५

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) बनारस नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
" " विदेश में ६)
इस अंक का ।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के दो ॥) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १ तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) बनारस ६

ओ३म्

वेदवाणी

सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४ ॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों !

वर्ष ७ } काशी, भाद्रपद सं० २०१२ वि०, सितम्बर १९५५ ई० { अङ्क ११

आर्याभिविनय से

वह दूर भी है और निकट भी

ओ३म् तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ यजुः ४०।५ ॥

व्याख्यान—"तद् (ब्रह्म) एजति" वह परमात्मा सब जगत् को यथायोग्य अपनी-अपनी चाल पर चला रहा है, सो अविद्वान् लोग ईश्वर में भी आरोप करते हैं कि वह भी चलता होगा, परन्तु वह सब में पूर्ण है, कभी चलायमान नहीं होता। अत एव "तन्नैजति" (यह प्रमाण है) स्वतः वह परमात्मा कभी नहीं चलता, एकरस-निश्चल होके भरा है। विद्वान् लोग इसी रीति से ब्रह्म को जानते हैं। "तद् दूरे" अधर्मात्मा, अविद्वान् विचार-शून्य, अजितेन्द्रिय, ईश्वर-भक्ति-रहित इत्यादि दोष-युक्त मनुष्यों से वह ईश्वर बहुत दूर है अर्थात् वे कोटि-कोटि वर्ष तक उसको नहीं प्राप्त होते। इससे वे तब तक जन्म-मरणादि दुःख-सागर में इधर-उधर घूमते फिरते हैं, कि जब तक उसको नहीं जानते। "तद्वन्तिके" सत्यवादी, सत्यकारी, सत्यमानी, जितेन्द्रिय, सर्वजनोपकारक विद्वान् विचारशील पुरुषों के "अन्तिके" अत्यन्त निकट है। ["तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः"] किंच वह सब के आत्माओं के बीच में अन्तर्यामी व्यापक होके सर्वत्र पूर्ण भर रहा है। सो आत्मा का भी आत्मा है, क्योंकि परमेश्वर सब जगत् के भीतर और बाहर तथा मध्य अर्थात् एकतिल मात्र भी उसके बिना खाली नहीं है। वह अखण्डैकरस सब में व्याप रहा है, उसीको जानने से ही सुख और मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं ॥

उठ खड़े हो ! चल पड़ो !! पार हो जाओ !!!

[ले०—श्री पं० श्यामबिहारीलाल जी वानप्रस्थी, वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर]

अश्मन्वती रीयते सꣳरभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः ।
अत्रा जहीमोऽशिवा येऽअसञ्छिवान् वयमुत्तरेमाभि वाजान् ॥ यजु० ३५-१० ॥

पदार्थः—(सखायः) हे मित्रो ! (अश्मन्वती, रीयते) संसार-रूपी पत्थर वाली नदी बह रही है जैसे हमलोग (ये, अत्र, अशिवाः, असन) जो यहां अकल्याणकारी हैं उनको (सम्, जहीमः) छोड़ते हैं (शिवान्, वाजान्, अभि, उत्, तरेम) कल्याणकारी बल व विज्ञानों को लक्ष्य कर पार करते हैं इसी प्रकार तुम (उत्, तिष्ठत) उठ खड़े हो (आ, रभध्वम्) चल पड़ो और (प्र, तरत) पार हो जाओ ।

मंत्र पर विचार-धारा

यह मंत्र ऋक् व अथर्व में भी आया है । इसमें विशेष महत्व की बात कही गई है, अतः तीन वेदों में आया है । प्राणीमात्र दुःखों की निवृत्ति चाहता है । इसी का उपाय इस पवित्र मंत्र में निर्दिष्ट है । मंत्र की स्थिति यह है कि ऋषि मुनि साधारण जनसमूह से कह रहे हैं । कल्पना की जाय कि दोनों वर्ग एक नदी के तट पर आसीन हैं । समक्ष में नदी वेग से बह रही है उसमें चिकने और नोकीले विषयरूप पत्थर हैं । यात्री का पैर जमने नहीं पाता, फिसल जाता है, घायल हो जाता है । इस नदी का आदि स्रोत उद्गम निमित्तकारणेन नित्य है । जिस सागर में जाकर वह गिरती है वह असीम अथाह है । जन्म व मृत्यु अथवा दुःख व सुख इसके दो किनारे हैं । इसके भयङ्कर प्रवाह में फिसल कर प्रायः प्राणी डूबते ही हैं । कोई कुशल विवेकी, आत्मदर्शी पार लगता है । ऐसी परिस्थिति में योगीजन साधारण जनों से कहते हैं कि जिस नदी को पार करना है वह वेगवती है, अश्मन्वती है, विषयरूपी पत्थर हैं जो पग फिसला कर घायल करते हैं। वासनाओं के भंवर हैं जिनमें फंसकर निकलना दुष्कर है । काम, क्रोध, मोह, लोभ, और अहङ्कार के भयङ्कर जन्तु भक्षण करने को उद्यत हैं । ऐसी विषमावस्था है । इस संसाररूपी नदी को पार करने के उद्देश्य से जो अशिव, अहितकर, दुरित, दुर्वासनायें, दुष्कर्म आदि हैं उनको यहां दुनियां में रहकर यत्न व अभ्यास-पूर्वक (जहीमः) हमने त्यागा है, निर्मूल कर दिया है कोई पाप-वासना हमारे हृदय में अब अवशिष्ट नहीं है हम वैदिक कर्मकाण्ड द्वारा नितान्त निष्पाप हो गये हैं। (शिवान्, वाजान्, अभि, उत्, तरेम) कल्याणकारी बलों को विज्ञानों को हमने अपना लक्ष्य बना लिया है। हितकर योग-बल व विज्ञान-बल योगाभ्यास द्वारा, तप द्वारा हमने सम्पादित कर लिया है । इस प्रकार सम्पन्न सुसज्जित होकर अब हम भवसागर (नदी) को तर रहे हैं, पार कर रहे हैं । दूसरे किनारे पर पहुंच रहे हैं, जहां आनन्द है। अमरता है। अजरता है। निर्भयता है। ऐ दुनियां के मनुष्यो ! तुम भी यदि इसी अवस्था को प्राप्त करना चाहते हो तो (उत्, तिष्ठत) उठ खड़े हो । बैठे मत रहो । साहस करो । उद्यत हो जाओ । नदी की भयङ्करता को निरखकर भयभीत मत हो । (आ, रभध्वम्) पार करना आरम्भ कर दो । अभ्यास में लग जाओ । विलम्ब अवाञ्छनीय है । इस प्रकार तुम भी अशिवान्–अकल्याणकारी मार्ग को त्याग कर, आगे बढ़ो ।

यदि पाप-वासनाओं का बोझ शिर पर होगा तो नदी में डूबना अवश्यम्भावी है । बोझ वाला नदी कैसे पार कर सकता है जब कि नदी अश्मन्वती व वेगवती है । बोझ-युक्त यात्री मंझधार में डूब जायगा । यदि पाप-वासनाओं का बोझ हृदय में नहीं रहेगा तो (प्र, तरत) इस भयावह अथाह सागर को तुम अवश्य पार करोगे । हमारी नाईं नदी के उस पार पहुंच जाओगे जहां शिवं, शान्त, अवस्था है । तापत्रय की अत्यन्त निवृत्ति है । आनन्द का अथाह स्रोत बह रहा है । अहो ! वेद ने कितना अनुपम उपदेश इस मंत्र में जीवों को तरने के लिये ऋषियों द्वारा प्रदान किया है । संसारस्थ जीव समझें, मनन करें, आचरण करें तो भव पार होने में कोई सन्देह नहीं ॥

श्रेय और प्रेय

[ले० श्री लालचन्द जी मेरठ]

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥ कठो० १।२।२।

आजकल मनुष्य चरित्रबल में चरित्र निर्माण में अपने पूर्वजों से नीचे गिर रहा है। चरित्र का मापदंड तक बिगड़ गया है। जिस किसी प्रकार भी स्वार्थपूर्ति हो सके वही ढंग सर्वत्र हो रहा है। ध्येय तक धुंधला हो गया है स्पष्ट है ही नहीं। आजकल ध्येय केवल धनोपार्जन और वैभव-प्रदर्शन ही प्रतीत होता है। निर्धन मनुष्य चाहे चरित्रवान् हो, निष्कपट भाव से, निश्छल भाव से अपना जीवन व्यतीत कर रहा हो वह हीन समझा जा रहा है। हम निर्धनता के पक्ष में नहीं, हम चाहते हैं कि सभी पुरुषार्थी हों और ऐश्वर्यसंपन्न हों, पर आजकल केवल धनसंपत्ति ही ऐश्वर्य समझा जा रहा है। धन पर लोगों का ईशन नहीं उल्टा धन उन पर ईशन कर रहा है। लोग लक्ष्मीदास हैं, लक्ष्मीपति नहीं। धन चाहे जैसे भी प्राप्त हो वही किया जा रहा है। नैतिकता की उपेक्षा है। सिनेमा का व्यवसाय तक भी व्यापार की दृष्टि से अच्छा समझा जा रहा है चाहे हमारे देश में सिनेमा का प्रायः दुरुपयोग होने के कारण सिनेमा मनुष्य के नैतिक पतन में ही सहायक हुआ है। सिनेमा से हमारे देश में ज्ञान की वृद्धि कम हुई है, दुराचार को प्रोत्साहन मिला है, व्यापार करनेवाले इस व्यवसाय को करनेवाले अथवा स्टार कहलाने वाले जो अपने आपको कलाकार कहते हैं, प्रायः भ्रष्ट जीवनचर्या करते हैं, पर धन खूब कमा रहे हैं। यह गिरावट का पथ है पर आयकी अधिकता देखकर युवक युवतियां इस ओर आकर्षित हो रहे हैं। इस व्यभिचार के विरोध में धार्मिक समाज सभाएं लिख भी रही हैं प्रस्ताव भी पास कर रही हैं पर यह दुरित तो आरंभ में ही रोकने से रुकेगा। कथानक ही पास न किया जाय तो चित्रपट पर अश्लीलता अवश्य रुक सकेगी। सरकारी सेंसर का काम कथानक को ही रोकना हो जाना चाहिये। एक सिनेमा ही क्या, अभी रेलवे कर्मचारियों में भ्रष्टाचार के विषय में रिपोर्ट छपी है उससे पता लगता है घूस भ्रष्टाचार कोई एक सरकारी विभाग में थोड़ा ही है सभी विभागों में है। मुकदमे होते हैं सजायें भी होती हैं, पर न तो जनता का चोर बाजार रुकता है और न ही भ्रष्टाचार-घूसखोरी रुक सकती है। यदि कर्मचारियों के रहन-सहन पर कड़ी दृष्टि रखी जाय। जिन सरकारी विभागों का जनता से सम्पर्क अनिवार्य है उनमें तो अबाध ही यह देखभाल होनी ही चाहिये कि अमुक बड़ा या छोटा कर्मचारी अपनी आय से कई गुना अधिक वैभव का प्रदर्शन कैसे कर रहा है? जनता का दृष्टिकोण भी बदलना आवश्यक है। आपसी विवाह सम्बन्ध में असली आय के अतिरिक्त ऊपर की आमदनी अनुमान की जाती है। आजकल ईमानदार सच्चा कर्मचारी बुद्धू और मूढ़ समझा जा रहा है और घूस (रिश्वत) देने और लेने वाले चतुर समझे जा रहे हैं।

संक्षेप में आज धन ही एक जीवन के लिये बहुमूल्य पदार्थ समझा जा रहा है और धन के उपार्जन में औचित्य के लिये स्थान नहीं रहा, यही तो प्रेयमार्ग है। यह इतना लुभावना और रपटना है कि एकबार इस मार्ग पर आने की देर है फिर तो स्वयं ही अनायास ही मनुष्य इस मार्ग पर से रपटने लगता है, चाहे जाता नीचे ही नीचे है पर उसे प्रयास तो नहीं करना पड़ता। ईमानदारी का जीवन तो ऊपर चढ़ने के समान है और वह ऊपर चढ़ना भी उसी रपटने पथ पर है जिसमें नीचे जाने में सुविधा है। श्रेय-पथ पर कोई क्यों चले, जब कि प्रत्यक्ष में प्रेयपथ लुभावना भी है और शीघ्र फल देने वाला है। चोर क्यों चोरी करता है? चोर एक व्यसनी और धनलोलुप व्यक्ति है। वह धन चाहता है पर ईमानदारी से कमाने का

उसमें धैर्य नहीं, सही श्रम करने का उसका स्वभाव नहीं रहा। वह जो छोटे मार्ग से यात्रा करने की रुचि है, वह ही औचित्य को परे ढकेल कर जैसे तैसे भी सीधे मार्ग को छोड़कर अविलम्ब सफलता प्राप्त करने की आकांक्षा मनुष्य को श्रेय-पथ से हटाकर प्रेय-पथ पर ले आती है। सारे व्यभिचार, सारे अनाचार, सारे दुराचार इसी तुष्टि और तृप्ति के स्वभाव के कारण हो रहे हैं, हमें शीघ्र वैभवशाली होना है, चाहे साधन कैसे भी हों? ध्येय भी बिगड़ गया है। ध्येय है धनवान् होना, उपाय चाहे जैसे भी वर्ताव में लाए जावें?

धन कमाने के साधनों में आजकल विज्ञापनों में जो नारी चित्रों को छापकर लोगों का ध्यान अपनी वस्तुओं की ओर आकर्षित कर रहे हैं, यह पुरुषों की विलासिता और कामुकता तथा नारी जाति का घोर अपमान और अनादर है। नैतिक पतन कितना हुआ है कि धन कमाने के लिए लोग नारी के चित्र आकर्षण के लिए वर्ताव में ला रहे हैं। यह नीचता है धन-लोलुपता की पराकाष्ठा है।

मनुष्यों के अन्दर नैतिकता लानी हँसी खेल नहीं। उनकी आवश्यकताएँ इतनी बढ़ गई हैं और सही विधि से आय ऐसी बढ़ी हुई नहीं प्राप्त होती और वे औचित्य और नैतिकता को ध्यान में रखते हुए अपनी धनलोलुपता को पूरी करने के लिए पाप-कर्म को पाप समझते ही नहीं। जब तक मनुष्य किसी पापकर्म को बुरा समझता है तबतक वह उसे करता हुआ झिझकता है, पर जब पापकर्म से शीघ्र ही आय होती देखता है तो वह फिसल जाता है और सही मार्ग छोड़कर अनीति की ओर चल पड़ता है। धन की तृष्णा रोके न रुकेगी। सभी का जीवन-स्तर अच्छा हो सभी को ऐश्वर्यवान् होने के अवसर प्राप्त हों सभी सामाजिक और आर्थिक तौर पर सही मार्ग पर चलते हुए उन्नत हो सकें, ऐसा परिवर्तन समाज और शासन दोनों को ही क्रियान्वित करना होगा। कतिपय धनवानों को कुछ वर्त्तमान स्तर से नीचा रहना पड़ेगा, ऐसे आयकर और सम्पत्तिकर लगाने होंगे और साधारण जनता को भोजन वस्त्र तथा मकानों की सुविधाएँ देनी ही होंगी। श्रेयमार्ग पर चलने के लिए भी तो शक्ति चाहिये और शक्ति के लिए शुद्ध भोजन और स्वास्थ्यप्रद वस्तुएँ तथा रहने के लिए घर चाहियें। भूखा अपना नैतिक स्तर ऊँचा नहीं कर सकता। दरिद्रता बुरी आदत है पर इसे बना रखने की जिम्मेदारी अभाव पर बहुत कुछ है। जीवन-यापन तक जहाँ अत्यन्त कठिन हो रहा हो, वहाँ कोरे श्रेयमार्ग का धर्मोपदेश पर्याप्त नहीं। बहु संख्या में देश में लोग बड़े धैर्य और संयम से गुजारा कर रहे हैं, पर जीवन-स्तर इतना नीचा हो चुका है कि देश की साधारण आय बढ़ाए बिना श्रेयपथ एक उपहास मात्र है। वस्तुएँ इतनी मंहगी हैं और आय उतनी मात्रा में नहीं बढ़ी है। ये कारण भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन दे रहे हैं।

श्रेयपथ कल्याण का मार्ग सभी को अच्छा लगता है पर परिस्थिति से दबे हुए लोग प्रेय मार्ग की ओर आकर्षित हो रहे हैं। उनके लिए करने योग्य कार्य और व्यवसाय का उचित प्रबन्ध हुए बिना यह आशा करना कि जनता श्रेय-मार्ग पर आ जायेगी एक दुराशा है। जो मनुष्य कार्य कर सकता है और उसे कार्य नहीं मिलता वह पतन की ओर जाता है और लुभावना प्रेय मार्ग स्वीकार करता है। वेश्यावृत्ति पर जो लेख छपते रहते हैं उनमें बताया गया है। उसका कारण परिस्थिति की विषमता तथा आर्थिक विकलता ही बहुधा पाई गई है शुष्क धार्मिक शिक्षा इसीलिए तो अपना प्रभाव नहीं डाल रही कि बहुसंख्या में जनता त्रसित, भयभीत और रोटी कपड़े तथा रहने के घर तक से दुखी है। यह काम समाजमें स्थित विषमता दूर करने से तथा योग्य लोगों के लिए कार्य का प्रबन्ध करने से ही हो सकेगा। पेट भरने पर ही धार्मिक जीवनचर्या की शिक्षा का प्रभाव हो सकेगा। नैतिकता को निभाते हुए लोग अच्छी आय प्राप्त कर सकें, जिसमें उनका आत्मसम्मान के साथ निर्वाह हो सके, तभी जनता में श्रेय-मार्ग पर चलते रहने की रुचि हो सकेगी। श्रेय-मार्ग पर ही सबको चलना चाहिये, पर साधारण तौर पर सबकी आय की इतनी वृद्धि होनी परम आवश्यक है, जिसमें एक परिवार आत्मसम्मान के साथ अपना निर्वाह कर सके। चरित्र का पतन भी आर्थिक कठिनाइयों के कारण हो रहा है, पर यह भी सत्य है कि चरित्रहीन लोग आय की वृद्धि होने पर भी उत्तम जीवनचर्या नहीं करते और विलासिता में धन खोते

हैं अथवा कृपण दरिद्री रहते हैं। जनसाधारण की आय बढ़नी चाहिये। परिस्थिति बिगड़ चुकी है इसे संभालना अत्यन्त आवश्यक है। चरित्र-निर्माण के साथ साथ शुद्ध नैतिक विधि से आय वृद्धि के साधन भी बढ़ने चाहियें कोई कार्य-कुशल व्यक्ति बेकार न रहे, यह जिम्मेदारी समाज और शासन दोनों की है।

अभावों से मुक्त किये जाने की व्यवस्था समाज और शासन को मिलकर करनी चाहिये। अभावों से व्याकुल कर्मचारी चाहे वे अध्यापक हों चाहे अन्य विभागों के लोग, वे श्रेय-पथ की ओर ध्यान नहीं दे रहे। चाहे धर्मशास्त्री उसे प्रेयमार्ग ही कहकर न धिक्कार दें। अभावों को दूर किये बिना तथा निर्वाह के योग्य आय हुए बिना मनुष्य प्रलोभनों के वश में होगा ही। अध्यापकों की ओर ही ध्यान दीजिये, ये जो छात्रों के लिये प्रत्येक विषय पर सहायक पुस्तकें टिप्पणियों के रूप में बिक रही हैं, ये अभाव-ग्रस्त अध्यापकों द्वारा ही तो बनाई जा रही हैं। आज का अध्यापक न तो निश्चिंत ही है और न वह पूरी लगन से पढ़ाता ही है, वरना छात्र इतने बुद्धू तो नहीं होते कि अध्यापक लोग उन्हें तत्परता और प्रेम से पढ़ाएं और वे उनका आदर न करें। छात्रों के शासन हीन होने की चर्चा बहुत सुनी जा रही है, पर क्या कभी यह भी सोचा कि प्रायः अध्यापकों के अध्यापन कार्य से छात्रगण संतुष्ट नहीं है। वे स्कूलों तथा कालिजों में विद्या अध्ययन करने आते हैं अपने माता पिता तथा संरक्षकों का धन व्यय करते हैं, पर जब उन्हें परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने के लिए प्रतिदिन घर अथवा छात्रालय में लौटकर टिप्पणियां मोल लेकर अपना पाठ याद करना पड़ता है, तो वे अध्यापकों का आदर हृदय से कैसे कर सकते हैं? मैं कोई छात्रों का वकील नहीं। मैं अब ६९ वर्ष का हूं कुछ दुनियाँ देखी है और देख भी रहा हूं। अभाव-ग्रस्त अध्यापक अभाव पूर्ति के लिए टिप्पणियाँ तैय्यार करते हैं, सांकेतिक परीक्षा प्रश्न तैय्यार करते हैं और पुस्तकप्रकाशन कार्यालयों से धन प्राप्त करके अपना निर्वाह करते हैं। अभी जो नागपुर में मध्यप्रदेशीय कालिज के प्रोफेसरों का सम्मेलन हुआ है, उसमें सुप्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री तथा बिहार सार्वजनिक सेवा आयोग के अध्यक्ष डा० अमरनाथ जी ने जो चेतावनी दी है वह मनन करने योग्य है उन्होंने कहा थाः—

"मुझे कभी कभी यह देखकर बड़ा गुस्सा आता है कि एक प्रिंसीपल की शिक्षा सेवा में सफेद दाढ़ी हो जाती है, लेकिन उसका दर्जा एक डिप्टी मजिस्ट्रेट या जिला अफसर से जिसका सेवाकाल ६ या ७ वर्ष से कम है, नीचा है—यदि अध्यापकों से उनकी सर्वोत्तम सेवा प्राप्त करनी है तो यह आवश्यक है कि उनको अभावों से मुक्त रखा जाय, साथ ही प्रोफेसरों को खुद भी यह देखने की कोशिश करनी चाहिये कि वे बेहतर व्यवहार के हकदार भी हैं। उन्हें चाहिये कि वे छात्रों के साथ निकट सम्पर्क स्थापित कर उनके सामने अनुकरणीय कार्य करें तथा आदर्श रखें। इस प्रकार वे अपने छात्रों तथा समाज से सम्मान प्राप्त कर सकेंगे"।

वेद के आदेश अनुसार छात्र गुरु के कुल का एक सदस्य होकर रहता था। कुलपति उस कुल का पिता होता था। वह सभी छात्रों से स्नेह करता था उसका सबसे प्रेम होता था। वेद के आदेश अनुसार तो गुरु छात्र को अपने गर्भ में रखता था, जैसे माता बालक को गर्भ में धारण करती है, और प्रेम तथा वात्सल्य भाव से अपने छात्रों को प्यार से तथा उनकी सभी दूध अन्न फल वस्त्र पुस्तकों आदि की आवश्यकताओं को पूरा करता था। धनाढ्य लोग गुरुकुलों की आवश्यकताएँ पूरी करते थे, शासन भी सहायता देता था, गुरुकुलों में किसी आवश्यक सामग्री का अभाव न हो सकता था। छात्र योग्य बनाये जाते थे। आजकल की तरह केवल परीक्षा में बिठाकर अध्यापक लोग निश्चिंत नहीं हो जाते थे। आजकल एक विश्वविद्यालय की बी. ए. का परीक्षाफल ३६% निकलता है, कितना छात्रों का समय और धन व्यर्थ गया। अध्यापक दुःखी हैं अभावों के कारण और छात्र दुःखी हैं उनके व्यवहार से, जो उनसे शासक और शासित जैसा होता है न कि पितापुत्र जैसा। समाज का ढाँचा ही बिगड़ा हुआ है। बी. ए. होकर कौन सा आय का द्वारा खुल जाता है। छात्र धक्के खाते फिरते हैं और कार्य नहीं मिलता।

श्रेय पथ पर चलने की लोगों में इच्छा होती है पर परिस्थिति से विवश होकर वे लुभावने प्रेय मार्ग पर चलते हैं। आजकल वस्तुओं के भाव इतने मंहगे हैं और बेचारे कर्मचारी की आय इतनी कम है कि कुछ ऊँचे दर्जे के अफसरों को छोड़कर शेष सभी स्थिर आय वाले कर्मचारी दुखी और व्याकुल रहते हैं। हमें तथ्य से अपनी आँख न मीचनी चाहिये। आज रुपये की कीमत इतनी घटी है और आमदनी उतनी बढ़ी नहीं कि स्थिर मासिक आय वाले सहस्रों सदा चिंतित रहते हैं। हम भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन नहीं देते और न हमारी यह इच्छा ही है; पर केवल श्रेय पथ को समझाने मात्र से श्रेय पथ सामने नहीं खुलने वाला। इस तथ्य को जानते हुए हम यह स्पष्ट कहते हैं कि समाज के धनी-मानी लोग मध्यमवर्ग तथा अभाव-ग्रस्त निचली आय वाले वर्ग की कठिनाइयों पर भी ध्यान दें और सबसे छोटी आय तथा सबसे ऊँची आय में जो भयानक अन्तर है उसे कम करवाने का पुरुषार्थ भी करें। धनी मानी लोगों को अभाव नहीं दीखता क्योंकि वे अभाव को अनुभव नहीं करते। अभाव-ग्रस्त वर्ग जो घूस लेता है वह तो अपने अभाव को निवारण करने के लिये ही, पर ये जो बड़े बड़े अफसर अपनी श्रीमतियों के द्वारा अथवा स्वयं भी घूस लेकर व्यापारियों को सुविधाएँ देते हैं। इन पर जितना भी कड़ा नियंत्रण किया जाय उतना ही शोभनीय है। प्रेय मार्ग उनके लिये विलासिता और अनर्गल व्यय के रूप में खुला है, जिस पर वे स्वच्छन्द विचरते हुए लजाते नहीं, प्रेय मार्ग बुरा है। श्रेय मार्ग ही भला है। शोभनीय है पर जो प्रलोभन सिनेमा तथा विलासिता के उसकाने वाले जनता के आगे आते हैं उन्हें बन्द करना समाज तथा शासन का कार्य है। प्रेय मार्ग पर संयमहीन लोग ही चलते हैं पर देखना यह है कि आजकल संयम के पुष्ट करने के अवसर और साधन अधिक हैं या कि संयम को नष्ट करने के। सुन्दर आकृति की नारियों के चित्र विज्ञापनों में आने की एक घृणित प्रथा है। यह प्रथा राज्य के कड़े नियंत्रण-द्वारा बन्द होनी चाहिये। नारी आदर और प्रतिष्ठा के योग्य है, न कि विज्ञापनों में दिखाई जाने के लिए उसका उपयोग हो। प्रेय मार्ग को जो जो भी समाज की गति-विधियाँ प्रोत्साहन दे रही हैं उन सबकी जांच करवाना समाज तथा शासन दोनों का काम है।

हमारे देश की आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था अभी बहुत ढीली है। आर्थिक अवस्था की उन्नति के लिए प्रयत्न हो रहे हैं पर शारीरिक मानसिक और आत्मिक अवस्थाओं को उन्नत करने की ओर ध्यान बहुत कम है। मानव में भूल होनी संभव है। मानव दुर्बल भी है उसकी दुर्बलता से उसे हानि न हो, इस ओर समाज को ध्यान देना ही चाहिये। केवल प्रवचनों से सुधार न हो सकेगा, शारीरिक आत्मिक उन्नति साथ साथ होनी चाहिये। आजकल तो लोग अपनी शारीरिक उन्नति की ओर भी ध्यान नहीं दे रहे। समाज को जनता की स्थिति पर ध्यान देना चाहिये और शासन तथा समाज को मिलकर ऐसा उपाय करना चाहिये कि लोग प्रेय मार्ग की ओर न जा सकें। श्रेय पथ ही परम हितकर है॥

ग्राहकों से आवश्यक निवेदन

कृपया ग्राहक अपनी नई ग्राहक संख्या नोट कर लें

इस मास से वेदवाणी के ग्राहकों की पुरानी ग्राहक संख्या बदल कर नयी प्रारम्भ की गयी है, अतः ग्राहकों से निवेदन है कि वेदवाणी के टाइटिल के अन्तिम पेज पर लिखी हुई नयी ग्राहकसंख्या नोट कर लें। तथा आगे पत्र-व्यवहार करते समय; या धनादेश (मनीआर्डर) भेजते समय अपनी ग्राहक संख्या का निर्देश अवश्य करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक वेदवाणी

भारतीय संस्कृति में वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि

[ले० श्री डा० मंगल देव जी शास्त्री एम० ए० भूतपूर्व प्रिन्सिपल ग० सं० का० बनारस]

(गताङ्क से आगे.)

अर्थात्, हम सब सवितृ-देव के उस प्रसिद्ध वरणीय तेजोमय स्वरूप का ध्यान करते हैं जो हम सब की बुद्धियों को प्रेरणा प्रदान करें।

इत्यादि[१] प्रार्थनाओं में बहुवचनों का ही प्रयोग किया गया है। स्वभावतः वैयक्तिक स्वार्थों में लिप्त मनुष्य के सामने समष्टि भावना का यह आदर्श कितना महान् और आवश्यक है! समाज की उन्नति और रक्षा के लिए यह समष्टि-भावना कितनी आवश्यक है यह सिद्ध करने की बात नहीं है। वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि का स्पष्टतः यह एक सुन्दर निदर्शन है।

इसके अतिरिक्त, वेदों के सांमनस्य सूक्तों में भी, जिनका उल्लेख हम अभी ऊपर कर चुके हैं, स्पष्टतः इस सामाजिक उत्कृष्ट भावना (=समष्टि-भावना) का सुन्दर उपदेश मिलता है। जैसे,

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते॥
(ऋग्० १०।१९१।२)

अर्थात्, हे मनुष्यो! जैसे सनातन से विद्यमान, दिव्य शक्तियों से संपन्न, सूर्य, चन्द्र, वायु अग्नि आदि देव परस्पर अविरोध भाव से, मानो प्रेम से, अपने-अपने कार्य को करते हैं, ऐसे ही तुम भी समष्टि-भावना से प्रेरित हो कर एक साथ कार्यों में प्रवृत्त होओ, ऐकमत्य से रहो और परस्पर सद्भाव से बरतो।

यही नहीं, वेदमन्त्रों में तो समष्टि-भावना के व्यावहारिक प्रतीक सह-भोज तथा सह-पान तक का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। जैसे—

सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे (यजु० १८।९)

अर्थात् अपने साथियों के साथ में सह-पान और सह-भोज मुझे प्राप्त हों!

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था[२]

वैदिक धारा के सामाजिक जीवन के प्रसंग में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के विषय में कुछ कहना अत्यन्त आवश्यक है। ऊपर मनुस्मृति के उद्धरणों में स्पष्टतः कहा गया है कि ब्राह्मण आदि चारों वर्णों का प्रारंभ वेद से ही हुआ है।

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का प्रारम्भ और विकास किस प्रकार हुआ, इस प्रश्न में पड़ने का यह अवसर नहीं है। 'वैदिक-धारा की तीन अवस्थाएं' शीर्षक लेख में वर्ण-विभाग की प्रवृत्ति के प्रारम्भ के विषय में हम कुछ कह चुके हैं। फिर कभी इस विषय को कुछ अधिक स्पष्ट करेंगे।

उपर्युक्त लेख में ही हमने दिखलाया है कि अपने-अपने स्वार्थ, आजीविका और पेशे की रक्षा की प्रवृत्ति से ही वैदिक धारा में जन्ममूलक वर्ण-विभाग की प्रवृत्ति का प्रारंभ हुआ और शनैः शनैः उसके तृतीय काल में वह उसकी एक विशेषता बन गयी। तो भी, उस समय तक इस प्रवृत्ति में वह घोर रूढ़ि-मूलकता नहीं आयी थी, जिसने आगे चल कर वैदिक-धारा के प्रवाह को काफी विकृत और दूषित कर दिया।

वैदिक वाङ्मय का सुप्रसिद्ध पुरुष सूक्त ("सहस्र-शीर्षः पुरुषः..." इत्यादि) थोड़े-बहुत भेद से चारों वेदों में आया है। इसी सूक्त में निम्न-लिखित मंत्र आता है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥
(ऋग् १०।९०।१२)

अर्थात्, ब्राह्मण इस विराट् पुरुष का मुख-स्थानीय है, क्षत्रिय बाहु-स्थानीय और वैश्य ऊरु-स्थानीय है। शूद्र मानो उसके पैरों से उत्पन्न हुआ है।

सब व्याख्याकारों और वैदिक आचार्यों के अनुसार निर्विवाद रूप से उक्त पुरुष-सूक्त में विश्वव्यापी विराट् पुरुष का वर्णन है। इस प्रसंग में उक्त मन्त्र का वही अर्थ हो सकता है जो हमने ऊपर दिया है।

उक्त मंत्र में स्पष्टतः आलंकारिक प्रक्रिया द्वारा ब्राह्मण आदि चारों वर्णों में परस्पर अङ्गाङ्गि-भाव के सम्बन्ध को बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि जैसे किसी जीवित शरीर में मुख से लेकर पैर तक सब अङ्गों में परस्पर गहरा गहरा अङ्गाङ्गि-भाव का, परस्पर आश्रयाश्रित-भाव का, संबंध होता है, वैसे ही समाजरूपी शरीर में चारों वर्णों

१. इसी प्रकार "संगच्छध्वं..." (ऋग्० १०।१९१।२), "अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्..." (यजु० ४०।१६), 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः...' (यजु० २५।२१) इत्यादि सहस्रों मन्त्रों में बहुवचनों में प्रार्थनाएँ पायी जाती हैं।

२. इस प्रसंग में लेखक का 'जाति-भेद और वर्ण-भेद का परस्पर सम्बन्ध' शीर्षक लेख 'नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस' द्वारा प्रकाशित संपूर्णानन्द-अभिनन्दन-ग्रंथ में देखिए।

का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। शरीर में कोई दूसरे अङ्ग की उपेक्षा नहीं करता, एक की पीड़ा में सब व्याकुल हो जाते हैं; कोई भी अङ्ग अपने लिए नहीं, अपितु दूसरे अङ्गों के हित में ही काम करता है। वास्तव में किसी भी समुन्नत समाज के विभिन्न अङ्गों के परस्पर संबंध के विषय में इससे अच्छा दृष्टान्त हो ही नहीं सकता।

इस प्रकार उपर्युक्त मंत्र स्पष्टतया एक सभ्य और समुन्नत समाज के विभिन्न वर्गों को ब्राह्मण आदि चार भागों में बांट कर उनमें परस्पर घनिष्ठ अङ्गाङ्गि-भाव के आदर्श संबंध का प्रतिपादन करता है। यह सम्बन्ध पारस्परिक सहयोग और सामंजस्य के आधार पर ही हो सकता है। किंचिन्मात्र भी संघर्ष की भावना उसको समूल नष्ट करने के लिए पर्याप्त है। समाज का इस प्रकार का चित्रण हमारे मत में, वैदिक धारा की व्यापक और वैज्ञानिक दृष्टि का एक परम उज्ज्वल निदर्शन है।

चारों वर्णों के परस्पर सम्बन्ध में यह आदर्श स्थिति वास्तव में कब और कितने काल तक रही यह कहना कठिन है। तो भी कम से कम आदर्श रूप में उसकी स्थिति में सन्देह नहीं हो सकता। इसकी पुष्टि उन मंत्रों से और भी होती है, जिनमें स्पष्टतया समस्त समाज और शूद्रों सहित सब वर्णों के प्रति ममत्व-बुद्धि और हित भावना का वर्णन मिलता है। उदाहरणार्थ—

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥ (यजु० १८।४८)

अर्थात्, शोभा और दीप्ति के निधान भगवन्! आप हमारे ब्राह्मणों में दीप्ति को धारण कीजिए! हमारे क्षत्रियों को दीप्तिमान् कीजिए! हमारे वैश्यों और शूद्रों को दीप्ति-युक्त कीजिए! और इस प्रकार हमारे समाज में सब ओर दीप्ति के प्रसार द्वारा मुझे सदा दीप्तिमान् कीजिए!

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥ (अथर्व० १९।६२।१)

अर्थात्, भगवन्! मुझे देवों में (=देवताओं में अथवा विद्वानों में) प्रिय बनाइए! मुझे क्षत्रियों में प्रिय बनाइएँ। मुझे शूद्रों और वैश्यों में तथा अन्य सब प्राणियों का भी प्रिय बनाइए।

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च...... ॥
(यजु० २६।२)

अर्थात्, भगवन्! मुझे ऐसा बनाइए कि मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अर्थात् सारी जनता के लिए कल्याण करने वाले ज्ञान का प्रचार और प्रसार कर सकूँ।

कैसी सुन्दर और उदात्त भावना है इन वेद मंत्रों की! किसी एक वर्ग के लिए नहीं, किंतु संपूर्ण समाज और सारी जनता के प्रति। वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि का इससे अच्छा प्रमाण और क्या हो सकता है?

यह ठीक है कि यही चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था क्रमशः विकृत होती हुई देश के लिए अभिशापरूप हो गयी। आगे चलकर उसने परस्पर अविश्वास संघर्ष और विद्वेष का रूप धारण कर लिया। शूद्र के प्रति तो कठोर दृष्टि चरम सीमा तक पहुँच गयी। परन्तु यह कितने संतोष और आह्लादकर विस्मय का विषय है कि वेदमंत्रों में उस संकीर्ण-भावना का चिह्न भी नहीं है। चारों वेदों में शूद्र के प्रति अन्याय्य अथवा कठोर दृष्टि कहीं भी नहीं मिलेगी! अपनी इन्हीं उदार और उदात्त भावनाओं के कारण वैदिक धारा हम भारतवासियों के लिए सदा से श्रद्धा और सम्मान की वस्तु रही है और आगे भी रहेगी।

चातुराश्रम्य-व्यवस्था

लेख के आरम्भ में दिये गये मनुस्मृति के उद्धरणों के अनुसार, ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के समान, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ वानप्रस्थ और संन्यास—इन चारों आश्रमों का प्रारम्भ भी वेद से ही हुआ है।

ब्रह्मचर्य और गृहस्थ इन दो आश्रमों के संबंध में वेद-मन्त्रों में जो उत्कृष्ट और भव्य विचार प्रकट किये गये हैं, उनको हम बिना किसी अतिशयोक्ति के भारतीय संस्कृति की स्थायी अमूल्य संपत्ति कह सकते हैं। वेदों के अनेकानेक मन्त्रों में ब्रह्मचर्य और गृहस्थ का बड़ा हृदयस्पर्शी वर्णन मिलता है। उदाहरणार्थ, अथर्ववेद के एक पूरे सूक्त (११।५) में ब्रह्मचर्य की महिमा का ही वर्णन है। जैसे—

ब्रह्मचारी ब्रह्म[1] भ्राजद् बिभर्त्ति।
तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः॥ (अथर्व० ११।५।२४)

१. तु०—सर्वेषामपि भूतानां यत्तत्कारणमव्ययम्। कूटस्थं शाश्वतं दिव्यं, वेदो वा, ज्ञानमेव वत्॥ तदेतदुभय ब्रह्म ब्रह्म-शब्देन कथ्यते। तदुद्दिश्य व्रतं यस्य ब्रह्मचारी स उच्यते॥ (रश्मिमाला ११।५–६)

ब्रह्मचारी···श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति।

(अथर्व० ११।५।४)।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥

(अथर्व० ११।५।१७)

अर्थात्, ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करने वाला ही प्रकाशमान ज्ञान-विज्ञान को धारण करता है। उसमें मानो समस्त देवता वास करते हैं। ब्रह्मचारी श्रम और तप से युक्त जीवन द्वारा सारी जनता को पुष्टि प्रदान करता है। ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा अपने राष्ट्र की रक्षा में समर्थ होता है। ब्रह्मचर्य द्वारा ही आचार्य शिष्यों के शिक्षण की योग्यता को अपने में संपादन करता है।

यहाँ स्पष्ट शब्दों में राष्ट्र की चतुरस्र उन्नति के लिए और मानव-जीवन के विभिन्न कर्तव्यों के सफलतापूर्वक निर्वाह के लिए श्रम और तपस्या द्वारा विद्या-प्राप्ति (=ब्रह्मचर्य) की अनिवार्य आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है। मन्त्र में 'श्रम' और 'तपः' ये दो शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं। क्या आजकल की अत्यन्त कठिन शिक्षा-समस्या के लिए उनसे कोई प्रेरणा और संकेत नहीं मिल सकता? श्रम और तपस्या पर निर्भर ब्रह्मचर्य-आश्रम की उद्भावना वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि का निःसन्देह एक समुज्ज्वल प्रमाण है।

गृहस्थ-आश्रम के सम्बन्ध में सबसे उत्कृष्ट विचार हमें वेदों के विवाह-संबंधी सूक्तों[1] में तथा सांमनस्य-सूक्तों में मिलते हैं। विस्तार के भय से यहाँ केवल दो-चार उद्धरण देना पर्याप्त होगा।

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं...
मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः (ऋग्० १०।८५।३६)
समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।

(ऋग्० १०।८५।४७)

ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि।

(ऋग्० १०।८५।२४)

अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि।

(ऋग्० १०।८५।२७)

मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती।
सुगेभिर्दुर्गमतीताम्......(ऋग्० १०।८५।३२)

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।

(ऋग्० १०।८५।४६)

इहैव स्तं मा वि यौष्टं......(ऋग्० १०।८५।४२)
स्योनास्यै सर्वस्यै विशे। (अथर्व० १४।२।२७)

अर्थात्, हे वधु! हम दोनों की सौभाग्य-समृद्धि के लिए मैं तुम्हारे पाणि का ग्रहण कर रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि मैंने तुम्हें देवताओं से प्रसाद रूप में गृहस्थ-धर्म के पालन के लिए पाया है—

समस्त दैवी शक्तियाँ हमारे हृदयों को परस्पर अनुकूल, कर्तव्यों के पालन में सावधान और जलों के समान शान्त तथा भेद-भाव से रहित करें!

विवाह का लक्ष्य यही है कि पति-पत्नी दोनों गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर संयम तथा सच्चरित्रता का पवित्र जीवन व्यतीत करते हुए अपना पूर्ण विकास कर सकें।

आर्य वधु! तुम पति-गृह में पहुँच कर गृहस्थ के कर्तव्य-पालन में सदा जागरूक और सावधान रहना।

वे दुर्भावनाएँ, जो प्रायः पति-पत्नी के जीवन में भेद और विराग उत्पन्न कर देती हैं तुम दोनों के बीच में कभी न आएँ। तुम दोनों सच्चरित्रता के साथ इस कठिन गृहस्थ धर्म का पालन करो!

हे वधु! तू पतिगृह में सास-ससुर के लिए सम्राज्ञी के रूप में प्रेम और सम्मान का पात्र बन कर रहना!

पति-पत्नी तुम दोनों जीवन में एकमत हो कर रहो, तुम्हारा वियोग कभी न हो!

हे वधु! तुम्हारा गृहस्थ-जीवन सारी जनता के लिए सुख देने वाला हो!

वैवाहिक जीवन के पवित्र और महान् लक्ष्य की ओर स्पष्ट संकेत करने वाले इन उदात्त विचारों पर टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। देखना तो यह है कि भारतीय इतिहास के मध्य-काल के उन लज्जाजनक विचारों से ये कितने भिन्न हैं, जिनके अनुसार स्त्री को 'उपभोग की सामग्री' 'नरक का द्वार' (=नारी नरकस्य द्वारम्), 'ताड़न का अधिकारी' और 'आदमी की दासी' तक कहा गया है।

१. देखिए—ऋग्वेद १०।८५ तथा अथर्व० १४।१७२।

इसी प्रकार वेदों के सांमनस्य सूक्तों में[1] जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, गृहस्थ-जीवन के सम्बन्ध में जो सुन्दर भाव प्रकट किये गये हैं, वे भी वैदिक धारा की एक महान् निधि हैं। उदाहरणार्थ —

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥
(अथर्व० ३।३०।१।२।३)

अर्थात्, हे गृहस्थो! तुम्हारे पारिवारिक जीवन में परस्पर ऐक्य, सौहार्द और सद्भावना होनी चाहिये। द्वेष की गन्ध भी न हो। तुम एक-दूसरे को उसी तरह प्रेम करो, जैसे गौ अपने तुरन्त उत्पन्न हुए बछड़े को प्यार करती है।

पुत्र अपने माता-पिता का आज्ञानुवर्ती और उनके साथ एक-मन होकर रहे। पत्नी अपने पति के प्रति मधुर और स्नेह-युक्त वाणी का ही व्यवहार करे!

भाई-भाई के साथ और बहिन-बहिन के साथ द्वेष न करे!

तुम्हें चाहिये कि एक-मन होकर समान आदर्शों का अनुसरण करते हुए परस्पर स्नेह और प्रेम को बढ़ाने वाली वाणी का ही व्यवहार करो!

पारिवारिक जीवन में स्वर्गीय सुख और शान्ति लाने के लिए इससे अच्छा उपदेश और क्या हो सकता है?

राजनीतिक आदर्श

राजनीतिक आदर्शों के विषय में भी वैदिक मंत्रों के अनेक ऐसे विचार हैं, जो वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि को स्पष्टतः प्रमाणित करते हैं।

सभ्यता के इतिहास में राजसंस्था अति प्राचीन काल से चली आ रही है। वैदिक काल में भी इसकी स्थिति थी, ऐसा वेद-मंत्रों से ही स्पष्ट प्रतीत होता है। ऐसा होने पर भी, वेद-मंत्रों में जन-तन्त्र की भावना और जनता अथवा प्रजा के पक्ष का समर्थन यत्र-तत्र मिलता है। उदाहरणार्थ,

"विशि राजा प्रतिष्ठितः" (यजु० २०।९)

अर्थात्, राजा की स्थिति प्रजा पर ही निर्भर होती है।

"त्वां विशो वृणतां राज्याय" (अथर्व० ३।४।२)

अर्थात्, हे राजन्! प्रजाओं द्वारा तुम राज्य के लिए चुने जाओ!

"विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु" (अथर्व० ४।८।४

अर्थात्, हे राजन्! तुम्हारे लिए यह आवश्यक है कि समस्त प्रजाएँ तुम को चाहती हों।

ऐतरेय-ब्राह्मण में तो यहाँ तक कह दिया है कि—

"राष्ट्राणि वै विशः" (ऐत० ब्रा० ८।२६)

अर्थात्, प्रजाएँ ही राष्ट्र को बनाती हैं।

इसके अतिरिक्त, वेद-मंत्रों में यह भावना भी स्पष्टतया देखी जाती है कि राष्ट्र की उन्नति के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसके सब अंगों का विकास हो और समस्त जनता की समृद्धि और सुख ही उसका प्रथम ध्येय हो[2]।

राजनीतिक आदर्शों के संबंध में वेद-मंत्रों की ये उदार और उदात्त भावनाएँ वैदिक-धारा के लिए वास्तव में गर्व और गौरव का विषय हैं।

वैयक्तिक-जीवन

अन्त में, वैयक्तिक जीवन के संबंध में वेद-मंत्रों की विचार-धारा का संक्षेप में निर्देश करके हम इस लेख को समाप्त करते हैं।

वैदिक उदात्त भावनाओं आदि के विषय में जो कुछ हम कह चुके हैं, उससे वैदिक-कालीन वैयक्तिक जीवन पर काफी प्रकाश पड़ता है। तो भी वैयक्तिक जीवन के विकास की दृष्टि से वैदिक धारा के आदर्शों के विषय में यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता है।

---

१. सांमनस्य-सूक्तों में पारिवारिक जीवन के साथ-साथ समाज तथा मानव-मात्र के प्रति भी सौहार्द और सद्भावना का प्रतिपादन किया गया है। २. तु० "आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर... महारथो जायताम्।...जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवा...वीरो जायताम्। फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्। योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ (यजु० २२।२२)

ऋत और सत्य, निष्पाप-भावना, श्रद्धा, आत्म-विश्वास, ब्रह्मचर्य, व्रत, श्रम और तप, वीरता और शत्रु-संहार (=वृत्र-हनन) आदि की महिमा से ओत-प्रोत वेद-मंत्रों से यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि वैदिक धारा की दृष्टि से वैयक्तिक जीवन का सर्वाङ्गीण विकास आवश्यक समझा जाता था। इसीलिए वेद-मंत्रों में बौद्धिक तथा नैतिक विकास के साथ-साथ शारीरिक स्वास्थ्य और दीर्घायुष्य के लिए गंभीर प्रार्थनाएँ पदे-पदे देखने में आती हैं।

वेद की बुद्धि-विषयक प्रार्थनाएँ प्रसिद्ध हैं[1], जिनमें गायत्री-मंत्र (=तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्। यजु० ३।३५) सुप्रसिद्ध है।

नैतिक प्रार्थनाओं का दिग्दर्शन हम 'वैदिक उदात्त-भावनाओं' के प्रसंग में करा चुके हैं। उसी प्रसंग में दीर्घायुष्य और पूर्णायुष्य की सुन्दर प्रार्थनाओं का भी संकेत किया जा चुका है।

शारीरिक स्वास्थ्य के लिए महत्व-युक्त प्रार्थनाओं के कुछ उदाहरण हम नीचे देते हैं—

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि।
आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि।...
...यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आ पृण॥ (यजु० ३।१७)

अर्थात्, अग्ने! तुम शरीर की रक्षा करने वाले हो, मेरे शरीर को पुष्ट कीजिये। तुम आयु को देने वाले हो, मुझे पूर्ण आयु दीजिए। मेरे शारीरिक स्वास्थ्य में जो भी न्यूनता हो उसे पूरा कर दीजिए।

वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्।
ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा...
(अथर्व० १९।६०।१-२)

अर्थात्, मेरे समस्त अंग पूर्ण स्वस्थता से अपना-अपना कार्य करें, यही मैं चाहता हूँ। मेरी वाणी, प्राण, आंख, और कान अपना-अपना काम कर सकें! मेरे बाल काले रहें! दांतों में कोई रोग न हो। बाहुओं में बहुत बल हो! मेरी ऊरुओं में ओज, जाँघों में वेग और पैरों में दृढ़ता हो!

आयुर्यज्ञेन कल्पतां...प्राणो...अपानो...व्यानो...
श्रोत्रं...वाग्...मनो...आत्मा यज्ञेन कल्पतां स्वाहा॥
(यजु० २२।३३)

अर्थात्, प्राकृत जगत् में काम करने वाली अग्नि, वायु आदि दैवी शक्तियों के साथ-साथ सामञ्जस्य का जीवन (=यज्ञ) व्यतीत करते हुए मैं पूर्णायुष्य को प्राप्त कर सकूँ, मेरी प्राण, अपान आदि शक्तियाँ तथा चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य ठीक तरह कर सकें; और इस प्रकार मेरे व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो—यही मेरी आन्तरिक कामना है, यही मेरी हार्दिक अभिलाषा और प्रार्थना है!

"अश्मा भवतु नस्तनूः" (यजु० २९।४९)

अर्थात्, हमारी प्रार्थना है कि हमारा शरीर पत्थर के समान सुदृढ़ हो!

जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि वैदिक धारा की सबसे बड़ी विशेषता उसकी व्यापक दृष्टि में है। वह व्यष्टि और समष्टि दोनों दृष्टियों से मानव के सर्वाङ्गीण विकास को चाहती है। जीवन की सब परिस्थितियों में मानव सफलतापूर्वक अपना पूर्ण विकास कर सके, यही उसका प्रधान लक्ष्य है। भारतीय संस्कृति के उत्तर-कालीन शब्दों में हम कह सकते हैं कि वैदिक धारा का सदा से मुख्य ध्येय यही रहा है कि मनुष्य धर्म, अर्थ, काम मोक्ष रूपी चारों पुरुषार्थों की, अथवा अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति कर सके। इसी से मनुष्य-जीवन के कर्तव्यों के विषय में उसका दृष्टि-कोण एकांगी या एकदेशी न हो कर, सदा से व्यापक रहा है। यही उसके भारतीय संस्कृति के विकास में व्यापक और शाश्वतिक प्रभाव का रहस्य है।

---

१. देखिए—मां...मेधाविनं कुरु...॥ मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः।...(यजु० ३२।१४,१५)

वेद-मर्यादा

[ले० प्रो० श्री पण्डित मुन्शी राम जी शर्मा एम. ए., पी. एच. डी. कानपुर]

धर्म के जिज्ञासुओं के लिये परम प्रमाण वेद ही माना गया है, अन्य प्रमाण मानव के अन्य व्यापारों में सहायक हो सकते हैं, परन्तु आत्मिक उत्थान के लिये अपौरुषेय वेद ही एक मात्र साधन है, इसका समर्थन अभी तक की समस्त भारतीय आर्ष परम्परा करती रही है। जिन दर्शनों को बाल की खाल तक निकालने में अतीव कुशल माना गया है, जो बुद्धि के अतीव सूक्ष्म स्तर का स्पर्श करते हैं, वे भी आध्यात्मिक विषयों में "इति आम्नायः", "इति श्रुतिः" आदि कहकर वेद के आगे नतमस्तक हो जाते हैं, स्मृतिकार भी "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" तथा "सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति" शब्दों द्वारा वेद के गौरव को स्वीकार करते हैं।

वेद की यह मर्यादा आर्य जाति में उसके अपौरुषेय होने के कारण प्रतिष्ठित हुई, वेद का अर्थ ज्ञान है। यह ज्ञान सृष्टि के प्रथम तत्त्व आकाश के उत्पन्न होने के साथ ही आविर्भूत हुआ। प्रलय के समय यह तिरोहित मात्र था अपने स्रोत, ज्ञान-स्वरूप परमात्मा में लीन था, जैसे प्रत्येक वस्तु अपने स्रोत से निकलती है, उसी प्रकार ज्ञान का उद्भव भी ज्ञान के स्रोत परमात्मा से ही होता है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त की निम्नांकित अन्तःसाक्ष्य भी इस तथ्य का उद्घाटन करता है:—

> तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
> छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥

उस सर्वहुत यज्ञ, पूज्य प्रभु से ऋक्, साम, अथर्व [छन्द] तथा यजुः उत्पन्न हुए, परवर्ती ब्राह्मण ग्रन्थ भी जो यज्ञों के विस्तृत विवरणों से ओतप्रोत हैं, इसी मत के मानने वाले हैं यथा—

त्रयी वै विद्याः ऋचो यजूंषि सामानि। इयमेवऽर्चः। अस्यां हि अर्चति यो अर्चति-सः। वागेवऽर्चः। वाचा हि अर्चति योऽर्चति सः। अन्तरिक्षमेव यजूंषि। द्यौः सामानि। सैषा त्रयी विद्या सौम्ये अध्वरे प्रयुज्यते ॥ शतपथ ४।५।९।१

प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत्, स तपोऽतप्यत, तस्मात्तेपानात् त्रयो देवा असृज्यन्त अग्निर्वायुरादित्यः। ते तपोऽतप्यन्त। तेभ्यस्तेपानेभ्यः त्रयो वेदा असृज्यन्त, अग्नेर्ऋग्वेदो, वायोर्यजुर्वेदः, आदित्यात् सामवेदः।

स [प्रजापतिः] चतुर्होत्राऽतप्यत। सोऽताम्यत्। स भूरिति व्याहरत्। स भूमिमसृजत्। अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ यजूंषि। स द्वितीयमतप्यत। सोऽताम्यत्। स भुव इति व्याहरत्। सोऽन्तरिक्षमसृजत्। चातुर्मास्यानि सामानि। स तृतीयमतप्यत। सोऽताम्यत्। स सुवरिति व्याहरत्। स दिवमसृजत्। अग्निष्टोममुक्थ्यमतिरात्रमृचः। एता वै व्याहृतयः। इमे लोकाः। इमान् खलु वै लोकान् अनु प्रजाः पशवः छन्दांसि प्रजायन्ते। तैत्तिरीय ब्राह्मण २।२।४

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्, तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्। ऋक्० १०।७१।३

ऋचामग्निर्दैवतम्। तदेव ज्योतिः। गायत्रं छन्दः। पृथिवि स्थानम्। अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्। इत्येवमादिं कृत्वा ऋग्वेदमधीयते। यजुषां वायुर्दैवतम्। तदेव ज्योतिः। त्रैष्टुभं छन्दः। अन्तरिक्षं स्थानम्। इषेत्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः सविता आर्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे। इत्येवमादिं कृत्वा यजुर्वेदमधीयते। साम्नामादित्यो दैवतम्। तदेव ज्योतिः। जागतं छन्दः। द्यौः स्थानम्। अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि। इत्येवमादिं कृत्वा सामवेदमधीयते। अथर्वणां चन्द्रमा दैवतम्। तदेव ज्योतिः। सर्वाणि छन्दांसि। आपः स्थानम्। शन्नो देवीरभिष्टये। इत्येवमादिं कृत्वा अथर्ववेदमधीयते……।
गोपथब्राह्मण १।२९

तीन ही विद्यायें हैं। ऋक्, यजु और साम यह भूमि ही ऋक् है, क्योंकि यहीं पर अर्चा की जाती है। अन्तरिक्ष यजु है। द्यौ साम है। यह त्रयी विद्या सौम्य, हिंसारहित यज्ञ में प्रयुक्त होती है।

प्रथम एक प्रजापति था। उसने तप तपा। उसके तप तपने से तीन देवों की सृष्टि हुई। अग्नि, वायु और

आदित्य। उन तीनों ने तप तपा। उनके तप तपने से तीन वेदों की सृष्टि हुई। अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, आदित्य से सामवेद।

उस प्रजापति ने चातुर्होत्र तप किया। इस तप से वह लाल हो गया। उसके मुख से "भूः" उच्चरित हुआ। उसने भूमि को रचा। अग्निहोत्र, दर्श और पूर्णमास यजु हैं। उसने दूसरी बार तप किया। वह लाल हुआ। उसने "भुवः" ऐसा उच्चारण किया। उसने अन्तरिक्ष को रचा। चातुर्मास्य साम हैं। उसने तीसरी बार तप किया। वह लाल हुआ। उसने "सुवः" [स्वः] ऐसा उच्चारण किया। उसने द्यौ को रचा। अग्निष्टोम, उक्थ्य, अतिरात्र ऋक् हैं। यही व्याहृतियाँ हैं। ये लोक हैं। निश्चित रूप से इन्हीं लोकों के पीछे प्रजा, पशु, छन्द उत्पन्न होते हैं।...तैत्तिरीय।

यज्ञ के द्वारा वाणी के मार्ग को, उसके मूल स्थान को खोजा। उस वाणी को ऋषियों में प्रविष्ट हुआ पाया। [जहाँ से ऋषित्व, दर्शनत्व प्रारम्भ होता है, वहीं से वाणी का भी प्रारम्भ है। परम ऋषि परमात्मा है, वही वाणी का स्रोत है, ऋतम्भरा प्रज्ञा से वाणी फूटकर बाहर प्रकट होती है। अतः यह अभिव्यक्त वाणी प्रज्ञा-सम्पन्न द्रष्टा ऋषियों में ही प्रविष्ट हुई पाई जाती है।]...ऐतरेय।

ऋचाओं का देवता अग्नि है। वही ज्योति है। [उसका] गायत्री छन्द है, पृथ्वी स्थान है। "अग्निमीडे पुरोहितं" मंत्र से प्रारम्भ करके ऋग्वेद का अध्ययन किया जाता है। यजुओं का देवता वायु है। वही ज्योति है। त्रिष्टुप् छन्द है। अन्तरिक्ष स्थान है। "इषे त्वोर्जे त्वा" आदि मंत्र से प्रारम्भ करके यजुर्वेद का अध्ययन किया जाता है, सामों का आदित्य देवता है, वही ज्योति है, जगती छन्द है, द्यौ स्थान है "अग्न आयाहि" आदि मंत्र से प्रारम्भ करके सामवेद का अध्ययन किया जाता है, अथर्वों का चन्द्रमा देवता है, वही ज्योति है, उसके सब छन्द हैं, आप [जल] स्थान है, **"शन्नो देवीरभिष्टये"** आदि मंत्र से प्रारम्भ करके अथर्ववेद (पैप्पलाद शाखा) का अध्ययन किया जाता है, शतपथ ब्राह्मण ६।५।२ के १३, १४ और १५ पदों में भी छन्दों और लोकों का यही सम्बन्ध प्रदर्शित हुआ है, गोपथ। तैत्तिरीय ब्राह्मण में वेदों के साथ जिन तत्त्वों और पदार्थों का सम्बन्ध जोड़ा गया है, वह गोपथ ब्राह्मण में वर्णित सम्बन्ध से भिन्न है, दोनों के सम्बन्धों को निम्नांकित सारिणी द्वारा स्पष्ट किया जाता है।

तैत्तिरीय ब्राह्मणः

व्याहृतिः	लोकः	यज्ञविधान	वेद
भूः	भूमि	अग्निहोत्र,दर्श पूर्णमास	यजुर्वेद
भुवः	अन्तरिक्ष	चातुर्मास्य	सामवेद
स्वः	द्यौ	अग्निष्टोम उक्थ्य अतिरात्र	ऋग्वेद

गोपथ ब्राह्मणः

देवता	ज्योति	छन्द	स्थान	वेद
अग्नि	अग्नि	गायत्री	पृथ्वी	ऋग्वेद
वायु	वायु	त्रिष्टुप्	अन्तरिक्ष	यजुर्वेद
आदित्य	आदित्य	जगती	द्यौ	सामवेद
चंद्रमा	चंद्रमा	समस्त छन्द	आपः [जल]	अथर्ववेद

गोपथ ब्राह्मण का क्रम शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित क्रम से मिलता है, तैत्तिरीय ब्राह्मण में वह क्रम भिन्न है, यास्क ने निरुक्त में देव-ज्योतिक्रम के अन्तर्गत अग्नि का पृथ्वी से, विद्युत् का अन्तरिक्ष से और आदित्य का द्यौ से सम्बन्ध स्थापित किया है, अन्यत्र भी यह क्रम इसी रूप में पाया जाता है, तैत्तिरीय ब्राह्मण में व्याहृतियों तथा लोकों का सम्बन्ध तो अन्यत्र वर्णित क्रम जैसा ही है; परन्तु वेद के सम्बन्ध क्रम से विपर्यय है, अग्नि देवता का सम्बन्ध पृथ्वी लोक और ऋग्वेद के साथ होना चाहिये, परन्तु तैत्तिरीय में यह सम्बन्ध यजुर्वेद के साथ है, इसी प्रकार आदित्य देवता का सम्बन्ध लोक और सामवेद के साथ होना चाहिये, परन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण इसे ऋग्वेद के साथ सम्बन्धित करता है, तैत्तिरीय शाखा दाक्षिणात्यों की है, अतः वह औदीच्यों से भिन्न पथ का अनुसरण करती है, ऐसा मत कतिपय विद्वानों का हो सकता है, परन्तु हमारी सम्मति में यह क्रम-वैपरीत्य दो विभिन्न चिन्तन प्रणालियों के कारण है, जिन कर्म काण्डियों ने यज्ञविधान को मूर्धन्य स्थान दिया, उन्होंने जीवन-सुख के लिये उसी को प्रमुखता देकर अन्यों को उसकी शाखा-स्वरूप समझा, कर्म सबका मूल है, उपासना और ज्ञान उसके पश्चात् आते हैं, कर्म ही धर्म है, वही ज्ञान और भक्ति का जनक है, अथवा ज्ञानकांड और उपासनाकांड दोनों कर्मकांड के ही विकसित रूप हैं—ऐसी धारणा जिन चिन्तनशील

व्यक्तियों की बनी, उन्होंने अग्नि देवता की गतिशीलता और क्रियाशीलता को ही सब कुछ समझा और उसका सम्बन्ध श्रेष्ठतम कर्म अर्थात् यज्ञ† करने की प्रेरणा देने वाले यजुर्वेद के साथ जोड़ दिया, सामवेद का सम्बन्ध उपासना–कांड के साथ है और उसमें याज्ञिक कर्मकांड अपेक्षाकृत सूक्ष्म रूप से है। उपासना में स्थूल हवि के स्थान पर मानसिक भावनामयी हवि का प्रयोग होता है, अतः वह मध्यस्थानीय समझा गया है। ऋग्वेद का सम्बन्ध ज्ञानकांड के साथ है, जिसमें कर्मकांड सूक्ष्मतम रूप धारण करता हुआ अपने स्रोत से जा मिलता है। उपासना या भक्तिकांड में वैधी अथवा मर्यादा मार्ग अनुष्ठान-बहुल रहता है, यद्यपि ये अनुष्ठान याज्ञिक कर्मकांड के समान विस्तृत नहीं होते और उनमें उतनी पार्थिवता भी नहीं होती। ज्ञानकांड में यह बहुलता और पार्थिवता समाप्त हो जाती है। अतः तैत्तिरीय ब्राह्मण ने जिस क्रम को ग्रहण किया है, वह कर्मकांड की प्रमुखता पर आश्रित है और उनमें अग्नि देवता की क्रियाशीलता प्रधान समझी गयी है। यही उसकी भूमि है।

दूसरी चिन्तन-प्रणाली में ज्ञान सबका आधार है। कर्म और उपासना उसी से विकसित होते हैं। ज्ञान प्राप्त करके ही हम कर्मकांडी और उपासक बनते हैं, भक्ति इस चिन्तन प्रणाली का अन्तिम सोपान है, जो आत्मा को परमात्मा के समीप पहुँचा देता है। सज्ञान कर्म और भक्ति का महत्त्व इस चिन्तन-प्रणाली में स्थापित किया गया है। जब मुझे किसी वस्तु का ज्ञान होता है, तभी मैं उसकी प्राप्ति की आकांक्षा करता हूँ और उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता हूँ, यह प्रयत्न ही कर्म है जो अन्त में उस वस्तु से मुझे मिला देता है, उसके उप=समीप, आसन=बिठा देता है। दूरी देशकाल की भी होती है और भाव की भी। आत्मा और परमात्मा में देश और काल की दूरी नहीं है। केवल भाव-सम्बन्धी दूरी है, जो त्रिगुणात्मक आवरणों के हटते ही नष्ट हो जाती है। ऋग्वेद ज्ञानकांड का वेद है जिससे इन आवरणों का ज्ञान होता है। यजुर्वेद के कर्मकांड द्वारा इन आवरणों को अपने ऊपर से हटाया जाता है और सामवेद के उपासनाकांड द्वारा भगवद्भक्ति करता हुआ, परमात्मा के समक्ष अपने को समर्पित करता हुआ, साधक अपने इष्ट देव प्रभु को प्राप्त कर लेता है। ईश्वर की पूजा अर्चना, वंदन, भजन भक्त को ईश्वर के समीप बिठा देते हैं। वह सर्व समर्पण द्वारा निःसंग होकर अपने इष्टदेव में तल्लीन हो जाता है, जिस दशा में उसे प्रभु के अतिरिक्त अन्य किसी का भान नहीं रहता। सावन के अन्धे को जैसे सर्वत्र हरा ही हरा दिखाई देता है, उसी प्रकार भक्त को सर्वत्र ब्रह्म के ही दर्शन होते हैं। जीवन-साफल्य की, इस चिन्तन-प्रणाली में यही पराकाष्ठा है। यही परम गति है। यहाँ ऋग्वेद सामवेद में पर्यवसित होता है। अग्नि देवता की गति में यहाँ ज्ञान प्रधान है जो अन्य सबकी भूमि अर्थात् आश्रय है और जिसका अन्त भक्ति है।

अब संक्षेप में वेद का यज्ञ-विधान तथा छन्दों के साथ जो सम्बन्ध है, उस पर भी विचार कर लेना चाहिये।

भूमि समस्त प्राणियों का अधिष्ठान है। अकार समस्त वाणी का मूल है। अग्नि ऊर्ध्वगति वाला होने के कारण उन्नति का एकमात्र आधार है। भूमि वेदी है, जिस पर यज्ञ किया जाता है। अकार मंत्र है, जो यज्ञ की प्रेरणा देता है, उसका स्वरूप समझाता है। अग्नि हवि की सामग्री को खाकर उसे उन्नत करता है, ऊपर ले जाता है। ये तीनों भूः व्याहृति के अन्तर्गत हैं।

अन्तरिक्ष स्थानीय वायु, उकार और अन्तरिक्ष तीनों का मंडल भुवः व्याहृति से व्याख्यात होता है। यह ऊर्ध्वगमन के मध्य का पड़ाव है। आहुत सामग्री को अग्नि ऊपर ले जाता है, तो वायु उसे अन्तरिक्ष में फैलाता है। यज्ञ की वेदी प्रारम्भ में भूमि थी, तो मध्य में अन्तरिक्ष है। पर आहुत हवि अन्तरिक्ष में फैलकर वहीं ठहर नहीं जाती, उसे और ऊपर उठना है। अग्नि का द्वितीय रूप इन्द्र या विद्युत् यहाँ उसका सहायक बनता है और उसे वहाँ से भी ऊपर ले जाता है। अकार मंत्र को, इसी प्रकार उकार फैलाता है, विस्तृत करता है।

स्वः व्याहृति स्व अर्थात् आत्मीयता के निकट है। इसका सम्बन्ध द्यौलोक, मकार और आदित्य के साथ है। भू आदि लोकों में फैली हुई शाखायें द्यौलोक के तने में जड़ी या जुड़ी हैं। अकार, उकार का फैलाव मकार में मौन होकर मग्न है। अग्नि और विद्युत् की भेदकता, खंडनीयता अखण्ड आदित्य में लीन है। आहुत हवि ऊँचे उठती हुई, स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती हुई अपने उन्नत दिव्य रूप को प्राप्त हो गई।

† यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। शतपथ १।७।४।५

यज्ञ के तीनों सवनों का सम्बन्ध भी इन्हीं तीन गतियों के साथ है। प्रातःसवन आग्नेय, माध्यन्दिनसवन वैद्युत और सायंसवन आदित्य रूप है। यज्ञ के प्रकारों में अग्निहोत्र, दर्श और पूर्णमास यजमान को दिव्यता, उन्नति के अन्तिम बिन्दु, तक पहुँचाने के लिये प्रारम्भिकसोपान का कार्य करते हैं। वे उसे दिव्यता और पवित्रता की झांकी दिखा देते हैं। अग्नि की पावन अर्चियाँ ऊपर उठ उठ कर उसे ऊर्ध्वगमन का, आध्यात्मिक उन्नति का संदेश देती हैं, जिस घृत समिधा तथा हव्य सामग्री की वह अग्नि में आहुति देता है, उसे अपनी शक्तिभर प्रथम ही पवित्र करने का प्रयत्न करता है, अग्निहोत्र के निकट बैठकर उसकी चेष्टा सामग्री के साथ शरीर और मन दोनों ओर से अपने को भी पवित्र करने की ओर होती है। मंत्र-पाठ उसकी इस उन्नयन अथवा पवित्री-करण की क्रिया में अद्भुत सहायता देता है।

दर्श और पूर्णमास यज्ञ पन्द्रह दिन पश्चात् पड़ते हैं, दैनिक अग्निहोत्र भी यज्ञ का प्रारम्भिक रूप ही है, अतः यज्ञ को अपने जीवन में अधिक देर तक ठहराने के लिये अथवा यज्ञ के साथ चिरकालीन सम्बन्ध स्थापित करने के लिये, संकीर्णता या अल्पता के स्थान पर उसे विस्तार देने के लिये, चातुर्मास्य यज्ञों की कल्पना की गई है। चातुर्मास्य यज्ञ लगातार चार महीने तक चलते हैं। याज्ञिक का मन गहराई और विस्तार के साथ यज्ञ के अनुष्ठान में लीन होता है। प्रारम्भिक परिचय के पश्चात् वह घनिष्ठता अवश्यम्भावी है। जो परिचय के अनन्तर घनिष्ठ या नेदिष्ठ नहीं बनता, वह दूर ही दूर पड़ा रहता है। अतः याजक को दिव्यता के अधिक निकट पहुँचने के लिये सतत, दीर्घकालीन, अगाध संसर्ग की आवश्यकता है। यह सम्पर्क जितना ही अधिक और जीवन की नाना दिशाओं का स्पर्श करने वाला होगा, उतना ही अधिक वह अपने लक्ष्य के निकट पहुँचेगा।

चातुर्मास्य यज्ञ दिन में ही होते हैं। दिन स्मृति, जागरण या उद्बोधन का सूचक है। इसके विपरीत जब यज्ञ दिन के पश्चात् रात्रि में भी चले अथवा वह रात्रि को भी अतिक्रान्त करदे अर्थात् जागरण में नहीं, निद्रा में भी, ज्ञान में नहीं, अनजान में भी यज्ञ होता रहे; याजक के दिन रात्रि, उसके अष्टयाम, उसका पल पल, उसकी समग्र आयु और उसके जीवन का अंग-अंग यज्ञमयता का रूप धारण कर लें, सतत संसर्ग के पश्चात् वह घनिष्ठता की चरम सीमा का संस्पर्श करने लगे, तो समझना चाहिये कि याजक अब उन्नति के सर्वोच्च सोपान पर चढ़ गया है, उसने द्यौलोक की दिव्यता को प्राप्त कर लिया है, अदिति के पुत्र आदित्य की अखण्डनीय अवस्था, आज, में रमण कर रहा है। यही उक्थ्य है, प्रशंसनीय अवस्था है। अग्नि का यही स्तोम है, स्तुति है। यही अतिरात्र है। रात्रि के अतिक्रमण या उल्लंघन कर जाने के पश्चात् जैसे प्रकाश ही प्रकाश, अजस्र ज्योति ही ज्योति दिखाई देती है, उसी प्रकार याजक इस ऊर्ध्व, उन्नत अवस्था में परम पवित्र प्रकाश-स्वरूप परमात्मा के दर्शन करता है। प्रभु तो सदैव अतिरात्र हैं। रात्रि, निद्रा, तंद्रा, प्रमाद या अज्ञान उन्हें छू तक नहीं गया। वे निरन्तर, सतत, जागरूक हैं, ज्ञानस्वरूप हैं। याजक रात्रि में भटक रहा था। अब दैनिक, चातुर्मास्य और अतिरात्र यज्ञों का क्रमशः अनुष्ठान करके वह भी अपने अभीष्ट के समीप पहुँच गया। यही तो उसका गन्तव्य स्थल है, उसके विकास और उन्नति का चरम बिन्दु है।

यज्ञ-विधान का वेद के साथ यही सम्बन्ध है। यजुर्वेद का कर्मकांड उसका प्रारम्भिक रूप है, सामवेद मध्य का विस्तीर्ण, संगीतमय, रोम रोम को गहराई के साथ झंकृत कर देने वाला चातुर्मास्य अर्थात् दीर्घकालव्यापी स्वर-संतान और ऋग्वेद उसका अतिरात्र है, जो ज्ञान-स्वरूप अथवा प्रकाश स्वरूप है।

वेदों का छन्दों के साथ क्या सम्बन्ध है? वैदिक छन्द प्रमुख रूप से तीन प्रकार के हैं—गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती, गायत्री २४ अक्षरों वाली तथा जगती ४८ अक्षरों वाली है। त्रिष्टुप् इन दोनों के बीच में ४४ अक्षरों का है। वैदिक छन्दों में अक्षरों की गणना की जाती है, मात्राओं की नहीं। अक्षरों की थोड़ी सी विभिन्नता और परिणामतः लय-परिवर्तन के साथ इन्हीं छन्दों के और भी अनेक भेद हो जाते हैं, जैसे विराड्-गायत्री, निचृद्-गायत्री, स्वराड्-गायत्री, भुरिक्-त्रिष्टुप्, निचृत्-त्रिष्टुप्, स्वराड्-जगती, भुरिगति-जगती आदि। जगती छन्द के कम से कम ३० भेद हैं। गायत्री छन्द में तीन चरण आठ-आठ अक्षरों के होते हैं। त्रिष्टुप् में चार चरण ग्यारह ग्यारह अक्षरों के होते हैं। कभी कभी त्रिष्टुप् में पाँच चरण भी होते हैं। प्रथम चरण ग्यारह अक्षरों का होता है। तीन चरणों में आठ आठ और एक में नौ अक्षर रखकर अक्षरों की ४४ संख्या कर दी जाती है।

गायत्री छन्द का ऋग्वेद से, त्रिष्टुप् का यजुर्वेद से और जगती का सामवेद से सम्बन्ध स्थापित किया गया है। इस

सम्बन्ध में भी ज्ञान, कर्म और उपासना तीन कांडों का महत्त्व निहित है। ऋग्वेद में गायत्री छन्द की विशेषता है, जिसमें त्रिपाद् होते हैं। ज्ञान त्रिकोण है। वह एक बिन्दु से प्रारम्भ होकर तीन भुजायें घेरता हुआ पुनः अपने आपसे आ मिलता है। ज्ञान भी ईश्वर, जीव और प्रकृति इन्हीं तीन तत्वों पर केन्द्रित है और वह इन तीनों भुजाओं से तीन कोणों को बनाता हुआ पुनः ईश्वर पर आकर टिक जाता है। ईश्वर ऐसा बिन्दु है, जहाँ से त्रिकोण का फैलाव होता है। वह फैलाव या विस्तार पुनः संकुचित होता हुआ उसी बिन्दु में लीन हो जाता है। ज्ञानकांड या ऋग्वेद उस एक से अनेकरूपा सृष्टि के आविर्भाव का वर्णन करता है। ब्रह्म से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई। चर एवं अचर, जंगम और तस्थुष उसी एक से प्रकट होते और उसी एक में लीन हो जाते हैं। देश और काल की दृष्टि से विचार करें, तब भी देश का अन्त काल में और काल का अन्त ज्ञान में होता है। ईश्वर ज्ञानस्वरूप है, ऋग्वेद में ऋक् अथवा ऋचा का वास्तवर्थ भी ज्ञान ही है, गायत्री छन्द में ऋग्वेद का प्रथम मंत्र गाया गया है और उसमें ज्ञान-स्वरूप परमात्मा का वर्णन है, प्रत्येक मंत्र के तीन अर्थ किये जा सकते हैं। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक, मंत्र-ज्ञान के यह तीन प्रकार मानों गायत्री छन्द के त्रिपाद हैं,

गायत्री एक प्रकार के छन्द का तो नाम है ही, साथ ही यह वेद के एक पवित्र मंत्र का भी नाम है; गायत्री मंत्र को सावित्री मंत्र भी कहते हैं, गायत्री मंत्र का मानसिक जाप किया जाता है, उसे उच्च स्वर से नहीं बोला जाता, इसका एक ही कारण समझ में आता है, जो शब्द वैखरी वाणी का रूप धारण करके मुख के बाहर निकल जाता है, उसके प्रभाव की गंभीरता कम हो जाती है, शब्द का जो प्रभाव मनन की क्रिया के अन्तर्गत है, वह उसके उच्चारण में नहीं है, शब्दोच्चारण का अर्थ भी अपने लिये नहीं, दूसरों के लिये है, उच्चरित शब्द श्रोताओं को तो प्रभावित करता है, पर उसका जो प्रभाव मनन के समय अपने ऊपर था, वह कम हो जाता है, साधना में जपी (जापक) इसी हेतु गायत्री मंत्र का जप मन द्वारा करता है, मुख द्वारा नहीं,

गायत्री या सावित्री ब्रह्म-पत्नी कही जाती है, यह ब्रह्म अर्थात् ज्ञान की पत्नी अर्थात् रक्षिका है, गायत्री मंत्र में प्रकाश-स्वरूप प्रभु के श्रेष्ठ तेज का ध्यान और धारण किया जाता है और बुद्धि को प्रेरित करने की प्रार्थना की जाती है, इन दोनों बातों का सम्बन्ध भी ज्ञानकांड के साथ है, चारों वेदों में गायत्री मंत्र की मान्यता निर्विवाद है और वह द्विज मात्र के लिये है, तांत्रिकों ने इस मंत्र को अपने ढांचे में ढालकर विभिन्न देवताओं के आधार पर विभिन्न रूप प्रदान किये हैं,

गायत्री गायन अर्थात् संगीत का भी त्राण करती है, संगीत में स्वरों का एक व्यवस्थित क्रम होता है, अतः जो वैयक्तिक तथा जागतिक व्यवस्था और सामंजस्य की रक्षा करती है, वह गायत्री है। † यह जीवन प्रदात्री है, ऋग्वेद अर्थात् ऋचाओं का ज्ञान ही जीवन का स्रोत है,

त्रिष्टुप् शब्द का अर्थ है तीनों की स्तुति। त्रिष्टुप् छन्द का सम्बन्ध यजुर्वेद से है जो कर्मकांड का वेद है, कर्मकांड में ज्ञान और भक्तिभाव सम्मिलित रहते हैं, प्रत्येक सोद्देश्य कर्म के प्रारम्भ में उसकी सूक्ष्म रूपरेखा विचार में विद्यमान रहती है, यदि यह न हो, तो कोई कर्म आगे बढ़ नहीं सकता, बढ़ना तो दूर, उसका सूत्रपात ही नहीं हो सकता, सप्रयोजन कर्म करने के पूर्व ही उसके जो प्रेरक कारण, क्रिया के लिये करणों और साधनों का विचार तथा उसका परिणाम मन में आते हैं, वे ही ज्ञानकांड के भाग हैं, इसके पश्चात् ही साधनों का जुटाना और वास्तविक क्रिया का करना होता है, जो कर्मकांड कहलाता है, कर्म के लिये तीसरी बात, जो उसे अन्तिम परिणति तक ले जाती है, कर्म में मन का लगना है, इसे भक्तिभाव कहते हैं, कर्म के साथ इस भाव के लगे रहने से कर्म बोझिल प्रतीत नहीं होता, भाव कर्म को सरसता प्रदान करने वाला है, इस प्रकार अकेला कर्मकांड तीन दिशाओं से संस्तुत होता है, उसमें कर्म की प्रशंसा तो है ही, साथ ही ज्ञान और भक्ति भी संस्तुत हैं, संबद्ध हैं, कर्म त्रिष्टुप् है।

श्रेष्ठतम कर्म की संज्ञा यज्ञ है, यज्ञ के तीन अर्थ हैं। पूजा, संगतिकरण और दान, यज्ञ के इन तीनों अर्थों में भी तीनों कांडों का योग है, पूजा भाव है, संगतिकरण ज्ञान है और कर्म है, यज्ञ याजक के अन्दर पूजनीय प्रभु के प्रति श्रद्धा और आदर की भावना जाग्रत करता है, समानों के साथ संगति करना सिखलाता है और छोटों के लिये दान या त्याग करने की प्रेरणा देता है, यज्ञ में ये तीनों बातें एक साथ चलती हैं, अतः यज्ञ अपने अर्थ और अनुष्ठान दोनों में ही त्रिष्टुप् है॥

† गायत्री वै प्राणः। स यत्कृत्स्नां गायत्रीमन्वाह, तत् कृत्स्नं प्राणं दधाति, शतपथ १, ३, २, १५॥

यजुर्वेद के कर्मकांड में, इस प्रकार त्रिष्टुप् ओत प्रोत है, यजुर्वेद के प्रथम अध्याय के प्रथम मंत्र में श्रेष्ठतम कर्म करने की आज्ञा दी गई है और उसके अन्तिम अध्याय के द्वितीय मंत्र में कहा गया है कि मुक्ति प्राप्ति के लिये कर्म ही एक मात्र साधन है, मानव कर्म करता हुआ सौ वर्ष तक जीवित रहे, कर्तव्य को कर्तव्य समझकर सम्पादित करने से मानव उसमें आसक्त नहीं हो पाता, भगवद्गीता ने इसी मंत्र के आधार पर अनासक्ति योग का प्रचार किया, जो नवीन नहीं था, कर्म करते हुए मानव कर्म में लिप्त न हो तो, कर्म निस्सन्देह उसे संसार-सागर से पार कर देगा।

गायत्री त्रिपाद् है, तो त्रिष्टुप् चतुष्पाद्, गायत्री तीन पैर लेकर लंगड़ी है, पर त्रिष्टुप् अपने पूरे बल के साथ-चारों पैरों से भूमि पर खड़ा है, गायत्री लटक रही है, अतएव चिन्तित है, त्रिष्टुप् आराम से खड़ा है, अतएव समाश्वस्त है, गायत्री ज्ञान का प्रतीक है, तो त्रिष्टुप् कर्म का, कोरे ज्ञान को इसीलिये ऐसे मानव से उपमित किया जाता है, जो देखता तो है, पर चल नहीं सकता, उसमें इतनी न्यूनता है, आज सभी विद्वान् ज्ञान की इस कमी को अनुभव करते हैं, ज्ञान की इस न्यूनता को कर्म दूर कर देता है, वही इसे चलने में सामर्थ्य देता है, एकान्त में पड़े हुए विचार को अभिव्यक्ति की सड़क पर लाकर खड़ा कर देता है। गायत्री के त्रिपादों की त्रिशंकुता, इस प्रकार त्रिष्टुप् के चतुष्पादों द्वारा आश्वस्त आश्रय प्राप्त कर लेती है।

त्रिष्टुप् के चतुष्पाद् यज्ञ के चार ऋत्विज् हैं जो होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा कहलाते हैं। ये चारों भी तीनों कांडों का समन्वितरूप उपस्थित करते हैं। होता ऋग्वेदी है, ज्ञानकांडी है। अध्वर्यु यजुर्वेदी है, कर्मकांडी है, उद्गाता सामवेदी है, गायक है, संगीत भावनामय होता है, अतः उद्गाता भक्तिभाव का धनी है। ब्रह्मा चतुर्वेदविद् है, अथर्व है अन्य सबका नियमन करने वाला निर्देशक और आदेशक है।

त्रिष्टुप् सामान्य रूप से चतुष्पाद् है, पर कभी-कभी पंचपाद् भी हो जाता है। यज्ञ भी सामान्यतः आर्यों के चार वर्णों द्वारा ही सम्पादित होता था, पर कभी कभी पंचम जनों को भी, उनके उद्धार के लिये, उसमें सम्मिलित कर लिया जाता था। वेद-वाणी सबके लिये है। अतः जो पंचम हैं, आर्यों की चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था से, मर्यादा से बाहर हैं, उनको भी व्यवस्था और मर्यादा में लाने के लिये यज्ञ ही एकमात्र साधन है, यज्ञ करने से ही मानव का संस्कार और विकास होता है। यजुर्वेद त्रिष्टुप् है, चार पैरों से खड़ा आश्वस्त कर्मकांडी है। अतः वह पंचमपाद-रूपी पंचमजन ही नहीं सबको उद्धार का आश्वासन दे रहा है। पंचपाद् होकर भी त्रिष्टुप् अपने ४४ अक्षरों की मर्यादा में रहता है, उसका उल्लंघन नहीं करता, इसी प्रकार मर्यादा में आबद्ध रहने से, नियमित, व्यवस्थित जीवन व्यतीत करने से प्रत्येक प्राणी, अपने को उन्नत कर सकता है। वेद इसी हेतु कहता है "पंचजना मम होत्रं जुषध्वम्"

ज्ञान की मर्यादा मानव की वाणी को पवित्रता देती है। वह ऋग्वेद का कार्य है* यजुर्वेद का कर्मकाण्ड मन की शुद्धि करता है, सामवेद का भावमय संगीत प्राणों की पवित्रता का हेतु है और अथर्ववेद अथर्व अर्थात् निश्चल और स्थितप्रज्ञ बना कर आत्म-शक्ति का विकास करता है। इस रूप में यज्ञ के चारों ऋत्विजों के कार्य मानव का पूर्ण संस्कार करके, उसे बाहर से अन्दर तक परम पूत बनाकर ऐसी ठोस आधार भूमि पर खड़ा कर देते हैं, जहाँ से फिर स्खलन नहीं हो सकता, हो भी तो संस्कार उसे फिर उठाकर खड़ा कर देंगे। त्रिष्टुप् के इन चार पैरों की कामना किस साधक को नहीं होगी?

जगती छन्द का सम्बन्ध सामवेद के साथ है। वह भी चतुष्पाद् है। एक पाद में बारह अक्षरों की गणना से इसमें कुल ४८ अक्षर होते हैं। ऋग्वेद की गायत्री २४ अक्षरों वाली है, जो मानों संतानित होकर ४८ अक्षरों वाली जगती में परिणत हो जाती है। जगती शब्द गम् धातु से निष्पन्न होता है। जो बार बार गति करती है अथवा जो बार बार गाई जाती है, वह जगती है। सामवेद की ऋचायें अन्य वेदों की ऋचाओं के समान द्रुत गति से नहीं, प्रत्युत सरगम की विशिष्ट मीड़ों में बांधकर अत्यन्त मंद स्वर में गाई जाती है। उनका एक एक अक्षर द्विगुणित या त्रिगुणित रूप धारण कर लेता है। जगती शब्द वहाँ जऽऽगा ऽऽ५ ती, करत्वा काऽ ५ त्वा, यसु अन्त में आने पर वा ऽ ३ सो ३ ऽ५ रूप में गाया जायगा। होहाइ, हुम्मा संगीत की गति को टेक या आश्रय देने के लिये उच्चरित होते जाते हैं।

* वागेव ऋक् प्राणः साम, छान्दोग्य ११५

ज्ञान गणित की भाँति किसी अक्षर के उच्चारण को
के रूप तक सीमित रखता है। वहाँ "मासा बढ़ै न
रत्ती घटै" वाली कहावत चरितार्थ होती है। कर्म में इतनी
कठोर व्यवस्था यद्यपि नहीं चल पाती, फिर भी ध्यान बहुत
कुछ दक्षता पर रखना ही पड़ता है। भाव में यह बात नहीं
रहती। भाव द्रवणशील है। इसकी प्रकृति फैलने की है।
ज्ञान के किसी प्रत्यय के आने पर मानव फैलता नहीं, और
भी अधिक अपने शरीर में सीमित हो उठता है। उसका
मन ज्ञान की विशेष शाखा पर या विचार के विशिष्ट बिन्दु
पर केन्द्रित हो जाता है। ज्ञान केवल मस्तिष्क की शिराओं
पर, तन्तु-जाल पर प्रभाव डालता है। शरीर की निखिल
नाड़ी व्यवस्था को आन्दोलित नहीं कर पाता। कर्म विशेष
रूप से कर्मेन्द्रियों की स्थूल आकृति से सम्बद्ध नाड़ियों में
गति उत्पन्न करता है। परन्तु जब भाव उद्दीप्त होता है, तो
उसका सीधा प्रभाव हृदय पर पड़ता है, जहाँ से रक्तवाहिनी
धमनियाँ समग्र शरीर में दौड़ लगाती हुई उसे स्पन्दित
और क्रियाशील बनाये रहती हैं। भावावेश के समय हृदय
की धड़कन तीव्र हो जाती है और वह समस्त शरीर को
झकझोर डालती है। जैसे आतप के प्रभाव से घृत पिघलकर
फैलता है, अपनी जड़ीभूत सघन सीमित अवस्था से निकल-
कर विशाल रूप धारण करता है, उसी प्रकार भावमयता की
दशा में हृदय सीमित नहीं रहता, वह सारे शरीर में बहा
बहा फिरता है। संगीत भाव-प्रधान होता है। इसमें ध्वनि
मूलतः एक होकर भी उच्चारण में अनेक लहरें उत्पन्न करती
है, जिनसे निकटवर्ती वायुमण्डल आन्दोलित हो उठता है।
विभिन्न स्वरों में बंधकर ध्वनियाँ विभिन्न तथा नाना लहरें
उत्पन्न करती हुई एकायनता को भंग कर देती है। उसकी
शान्ति कम्पित हो उठती है, मौन में मन्थन उद्दीप्त होता है,
पर उत्पन्न लहरों का विशिष्ट क्रम उसे अत्यन्त मादक"
स्वरों से ओतप्रोत भी कर देता है, इसी मन्थन या आन्दो-
लन से उस मधुर संगीत की भी सृष्टि होती है जो प्राणों की
पिपासा को शान्त कर उन्हें अपनी इस वर्षा से आप्यायित
कर देता है। सामवेद का महत्व इसी प्राण-प्रदायिनी,
मधुर संगीत की इस वर्षा के अन्दर निहित है।
वाचः ऋक् रसः, ऋचः साम रसः छान्दोग्यः १।१।२

यजुर्वेद का कर्मकांड अपने साथ ज्ञान और भाव को
लिये हुये है, पर असम मात्रा में, ऋग्वेद के ज्ञानकांड को
एकान्त पसन्द है। वह अपने में ही मग्न है। दूसरों से
सम्बन्ध स्थापित करने की उसे आवश्यकता ही प्रतीत नहीं
होती। पर सामवेद का भाव अपने अंचल में सबको समेटे
हुए है। वह ज्ञान और कर्म दोनों को प्रभावित करता है
उसे अलग अलग रहना आता ही नहीं, अकेले रहने में
जैसे उसका दम घुटने लगता है। उसे सीमा नहीं, विस्तार
चाहिये। सघनता नहीं, द्रवणशीलता चाहिये। बिन्दु नहीं,
परिधि चाहिये। त्रिष्टुप् और जगती दोनों चतुष्पादों में
इतना ही अन्तर है कि एक में दूसरे की अपेक्षा विस्तार या
फैलाव अधिक है। जितनी तृप्ति दयाभाव में है, उतनी दान
में नहीं, दान का मूल्य हो सकता है, पर दयाभाव के मूल्य
को कौन आंक सकता है? वह अमूल्य है। दान सीमित
है, दया असीम है, महान् है।

भाव ज्ञान और कर्म दोनों से ज्येष्ठ है, सृष्टि के आवि-
र्भाव-क्रम में पहले भाव और उसके पश्चात् ज्ञान (नाम)
तथा कर्म (रूप) आते हैं। तिरोभाव के समय क्रम विप-
रीत हो जाता है। उस समय कर्म ज्ञान में तथा ज्ञान भाव
में विलीन होता है। साहित्य के इतिहास में भी प्रथम
भावमय काव्य और उसके पश्चात् दर्शन [ज्ञान] तथा कर्म
कर्मकांड के विधान आते हैं। इससे भी भाव की ज्येष्ठता
सिद्ध होती है।

छान्दोग्य उपनिषद् [प्रपाठक ३ खंड १६] ऋग्वेद
की गायत्री, यजुर्वेद के त्रिष्टुप् तथा सामवेद के जगती छन्द
का सम्बन्ध तीन सवनों और ब्रह्मचर्य के तीन प्रकारों से
जोड़ा गया है। जैसे गायत्री २४ अक्षरों की है, वैसे ही
वसु ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्यकाल २४ वर्षों का है। यह प्रातः-
सवन है। इससे ब्रह्मचारी को वसु-रूपी प्राण प्राप्त होते हैं,
जो उसके अन्दर शुभ गुणों का वास कराते हैं। यज्ञ का
प्रथम रूप प्रातः-सवन गायत्र कहलाता है। गायत्री ज्ञान-
परक है, ऐसा हम ऊपर लिख चुके हैं।

जैसे त्रिष्टुप् छन्द ४४ अक्षरों का है, वैसे ही रुद्र
ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्यकाल ४४ वर्षों का है। यह माध्य-
न्दिन सवन है। इससे ब्रह्मचारी को रुद्र-रूपी प्राण प्राप्त
होते हैं, जिनसे वह इतना शक्तिशाली बन जाता है
कि कोई कुत्सित-कर्मा अत्याचारी उसके सामने अत्याचार
करने का साहस नहीं कर पाता और यदि करता है, तो वह
ब्रह्मचारी रुद्ररूप बनकर उस अत्याचारी को रुलाता है। यज्ञ
का द्वितीय रूप माध्यन्दिन-सवन त्रैष्टुभ कहलाता है। त्रिष्टुप्
कर्मपरक है, जैसा रुद्र शब्द की व्याख्या से प्रकट होता है।

जैसे जगती छन्द ४८ अक्षरों का है, वैसे ही आदित्य ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य काल ४८ वर्षों का है। यह तृतीय सवन है। इससे ब्रह्मचारी को आदित्यरूपी प्राण प्राप्त होते हैं, जिनसे वह विद्या, बल तथा प्रज्ञा सब कुछ ग्रहण कर लेता है और आदित्य के समान गुण, कर्म एवं स्वभाव से युक्त होकर प्रकाशमान बन जाता है। तृतीय सवन जागत कहलाता है। यह ब्रह्मचारी को भाव में संस्थित कर देता है।

इस प्रकार ऋग्वेद से वसु-रूप ज्ञान, यजुर्वेद से रुद्र-रूप कर्म तथा सामवेद से आदित्य-रूप भाव लेकर मानव अपने जीवन को परिपूर्णता तक ले जाता है।

अथर्व वेद का सम्बन्ध अंगिरा ऋषि के साथ है। गोपथ ब्राह्मण ने इसे चन्द्रमा देवता, चान्द्रमस ज्योति तथा समस्त छन्दों से संयुक्त किया है। तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षाध्याय शीर्षक प्रथम वल्ली के पंचम अनुवाक में चतुर्थ व्याहृति महः को चन्द्रमा कहा गया है और लिखा है; **"चंद्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते"**—चन्द्रमा से ही समस्त ज्योतियाँ महत्त्वशालिनी बनती हैं। इसके पश्चात्, इसी स्थल पर, इस उपनिषद् ने महः व्याहृति का सम्बन्ध ब्रह्मवेद अर्थात् अथर्ववेद से भी जोड़ा है और लिखा है; **"ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते"**—अथर्ववेद से ही समस्त वेद महत्वशाली बनते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् के ये शब्द गोपथ ब्राह्मण की मान्यता का समर्थन करते हैं। चंद्रमा को नक्षत्रों का अधिपति और राजा कहा जाता है। समस्त ज्योतियों में वही एक ऐसी ज्योति है, जिसका सभी प्राणी अभिनन्दन करते हैं। आदित्य यदि लोकों में महिमामय है, तो चन्द्रमा ज्योतियों में महिमाशाली है। आदित्य प्राणपुंज है, प्रजा की प्राण-शक्ति का केन्द्र है, तो चन्द्रमा सुधाधार है, अमृत का सिन्धु है, प्रजा की आनन्द शक्ति का भंडार है, आह्लाद का स्रोत है। आनन्द आत्मा को महान् बनाता है। जो महान् है, वही ब्रह्म है, बड़ा है। चन्द्रमा आनन्द देता है, अतः उसकी समानता या उसका सम्बन्ध ब्रह्मवेद के साथ होना ही चाहिये।

छान्दोग्य उपनिषद् १।४।२ के अनुसार छन्दों का छन्दत्व देवों को आच्छादित करने में है। जब देव मृत्यु से भयभीत होकर त्रयी विद्या की शरण में आये तो जगती आदि छन्दों ने ही उन्हें अपने अन्दर आच्छादित किया। मृत्यु ने उस समय उन देवताओं को जल में किलोलें करती हुई मछलियों की भाँति वेदत्रयी में देखा। इस उक्ति से भी वेद का देवताओं और छन्दों से विशिष्ट सम्बन्ध प्रकट होता है। ऊपर की पंक्तियों में इसी सम्बन्ध पर किंचित् प्रकाश डाला गया है। अथर्ववेद का सम्बन्ध सभी प्रकार के छन्दों से है।

छन्दों का ऋचाओं के साथ भी सम्बन्ध है। शतपथ ८।१।१।५ में गायत्री को वासन्ती, ८।१।१।८ में त्रिष्टुप् को ग्रैष्मी और ८।१।२।२ में जगती को वार्षी कहा गया है। ११।४।३।७ में गायत्री का अग्निदेव से, त्रिष्टुप् का इन्द्र से और जगती का विश्वेदेवों से सम्बन्ध है। शतपथ १०।३।५।२० में ऋग्वेदादि की निरुक्ति इस प्रकार दी हुई है:—

यजुः इति एष हि इदं सर्वं युनक्ति। साम इति छन्दोगाः, एतस्मिन् हि इदं सर्वम् समानम्, उक्थम् इति बह्वृचाः, एष हि इदं सर्वं उत्थापयति। यातुः इति यातुविदः एतेन हि इदं सर्वम् यतम्।

यजुर्वेद, यह निश्चित रूप से इस सबको जोड़ता है। साम छन्दगान है, इसमें निश्चित रूप से यह सब समान हो जाता है। उक्थ, वह बहुत ऋचाओं वाला है, यह निश्चित रूप से इस सबको उठाता है। यातु, वह यातु ज्ञानियों का है, इससे यह सब नियन्त्रित है। यजुर्वेद का कर्मकाण्ड सबको एकत्र करता है। सामवेद का संगीत तथा भावमय भक्ति-काण्ड सबको, साधारणकरण द्वारा समान भाव भूमि पर प्रतिष्ठित करता है। ऋग्वेद का ज्ञानकांड सबको उठाता है, जगाता है और उन्नति की दिशा दिखाता है। अथर्ववेद वह जादू है, जिसकी ओर सभी आकर्षित होते हैं और जिसमें सभी बंधे हुए हैं।

ऋग्वेद ८।६४।६ में वाणी को नित्य और विविधरूपा कहा गया है। अनादिनिधना, दिव्या, नित्या वेदमयी वाणी निखिल वाङ्मय का मूल है। अन्य वाणियाँ उसी से प्रवृत्त हुई हैं। अग्नि, वायु, आदित्य तथा अंगिरा महर्षियों ने अपने तपोबल से इस वाणी को सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु से प्राप्त किया था। इन महर्षियों से इस वाणी का अध्ययन ब्रह्मा ने किया और फिर संसार भर में इसका प्रचार हुआ॥

वेदों में स्वर-विज्ञान

[ले० श्री पं० शिवस्वामी जी सरस्वती आर्यसमाज संभल]

जिस प्रकार संसार के विद्वन्मण्डल ने, एक और एक दो होते हैं, इस सत्य सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है, ठीक उसी प्रकार इस सिद्धान्त को भी स्वीकार कर लिया है कि ऋग्वेद संसार के पुस्तकालय में आदि पुस्तक है। ऋग्वेद ने ही ऐहिक और पारलौकिक उन्नति के सर्वोत्कृष्ट नियम सर्ग के आदि में निर्धारित किये, उन्हीं मूल सिद्धान्तों का पुट संसार के सभी मतमतान्तरों में दृष्टि गोचर हो रहा है। स्वर्ग, नरक, भक्ति और मुक्ति आदि के पर्याय वाची शब्द भूमण्डल के सभी संप्रदायों में समानता से पाये जाते हैं। इन सबके आदि स्रोत ऋग्वेदादि ही हैं। जब कि सब सत्य सिद्धान्तों के आदि कारण वेद भगवान् ही हैं तो प्रश्न उठता है कि स्वरों का क्रम किसने, सबसे पूर्व, स्थापित किया? उत्तर होगा कि ऋग्वेद ने। वेद चतुष्टय में ऋग्वेद की गणना प्रथम कही जाती है। इस ही भूमण्डल के प्रथम ग्रन्थ ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र है—

ओ३म्—अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥ १। १। १॥

जिस प्रकार विद्यारम्भ कराते हुए बालक को सर्वप्रथम स्वरों से ही पठन आरम्भ कराया जाता है, ठीक उसी प्रकार परम कारुणिक वेद भगवान्, बालक के समान, अग्नि परमर्षि को स्वरों का परिज्ञान कराते हैं। [1]इस परिज्ञान को मधुच्छन्दा ऋषि ग्रहण कर के श्री ब्रह्माजी को पढ़ाते हैं कि ऋग्वेद का प्रथम मंत्र "अग्नि" शब्द से आरम्भ होता है। स्वरों में सर्व प्रथम 'अ' है वही स्वर मात्र में सबसे प्रथम है। 'अ' के उपरान्त 'इ' का स्थान है "ग्नि" में 'इ' विद्यमान है, जो दूसरा स्वर है। 'ईळे' में स्वर सन्धि का परिज्ञान कराया है। दो छोटी-बड़ी 'इ' मिलकर एक बड़ी 'ई' बन जाती है। तदुपरान्त तीसरा स्थान स्वरों में 'उ' का है। पूर्व आधा हुआ 'अ' और तीसरा स्वर 'उ' मिलकर 'पुरोहितम्' से 'ओ' बनाने की शिक्षा दे दी। 'ईळे' में 'अ' और 'इ' का संयोग बताकर 'ए' बना दिया। चौथा स्थान स्वरों में 'ऋ' का है। वह 'ऋत्विजम्' कहकर बता दिया 'ऋकारलकारयोरभेदः' के अनुसार ऋ में ही लृ सम्मिलित है। इस प्रकार पाँचों स्वरों को इस मंत्र में ऋग्वेद ने बता दिया। मुख में उच्चारण के पाँच स्थान हैं—कण्ठ, तालु, दन्त, मूर्द्धा और ओष्ठ। प्रत्येक मुखावयव से उच्चरित होने वाले वर्ग का प्रथम अक्षर ऋग्वेद ने सूचित कर दिया है। कण्ठ से बोले जाने वाले का आदि अक्षर 'अ,' तालु से बोला जाने वाला 'इ,' दांतों से बोला जानेवाला 'लृ,' मूर्द्धा से बोला जाने वाला ऋ और ओष्ठ से बोला जाने वाला 'उ'। भूमण्डल के समस्त भाषाओं के आविष्कार करने वालों ने अपने आदि गुरु ऋग्वेद से अपनी २ वर्णमालाओं में वही स्वर रक्खे हैं। जो उसने आदि ही में पढ़ा दिया है—

फ्रेंच भाषा की वर्णमाला में निम्नलिखित क्रम है—

आ, बे, से, दे, ए, एफ़, जे, आशे, ई, भी, का, एल, एम, एन ओ, पे, कु, एर एस, ते, यु, वे, डबलवे, इस्क, इग्रे, झेद। ये सब संख्या में २६ होते हैं। इन्हीं के रूपान्तर अंग्रेजी में ए, बी, सी, डी, ई, एफ़, जी, ऐच आदि हैं। इन में भी पाठकगण आदि अक्षर 'अ' ही पावेंगे। ए, ई, 'ओ' भी ऋग्वेद के क्रमानुसार ही हैं। अंगरेजी में भी यही स्वरों का क्रम विद्यमान है। यह सब ऋग्वेद की ही कृपा का फल है इब्रानी भाषा में भी सबसे प्रथम, वर्णमाला में, "ऐल्फ़ा"। = 'अ' ही आता है। अक्षर का नाम 'ऐल्फ़ा'※ है और काम 'अ' का ही देता है। मुसलमानों के विश्वासानुसार सबसे प्राचीन भाषा सुरयानी—सुरवाणी—देववाणी—संस्कृत ही है। ह० आदम यही भाषा बोलते थे। ह० आदम ने सबसे पूर्व 'अ' का उच्चारण किया; आदिम अक्षर जो 'अ' है उसको लक्ष्य करके आदिम—आदम नाम धरा गया।

---

[1] सबसे प्रथम चारों वेदों को चारों महर्षियों से ब्रह्माजी ने पढ़ा। देखो—मनु—अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्॥ कुल्लूक भट्ट जी ने 'त्रयं ब्रह्म सनातनम्,' पाठ माना है। कुल्लूकटीका

※ अरबी भाषा और इब्रानी भाषा में अत्यन्त साम्य है। अतः अरबी में अलिफ़, बे, बा और ओ ऋग्वेद के ही क्रमानुसार हैं।

ग्रीक, यूनानी, चीनी और अन्य २ प्राचीन भाषाओं की वर्णमाला का क्रम—विशेषकर स्वरों का, ऋग्वेद प्रथम मन्त्र के अनुसार ही है। विस्तर भय से नहीं लिखते।

वेदोक्त वर्णों के विरुद्ध सब २ कल्पित सदोष—अपरिपूर्ण वर्णमालाओं के आविष्कारों के परिणाम-स्वरूप हम देखते हैं कि वे सदोष भाषायें वेद मन्त्रों को शुद्ध २, अपनी २ भाषाओं में—वर्णमाला द्वारा, नहीं लिख सकते। यथा—पोलेशियन भाषा में ऋग्वेद के सर्वप्रथम मन्त्र'—'अग्निमीले' १।१।१ को निम्न प्रकार से लिखा है—

"अग्निम् इजुदई पुरज् धितम् यज्ञस्त दइव ऋत्विगम्। झ उतारम् रत्नं धातमम् ॥ १।१।१।

इस ही प्रकार भूमण्डल की कोई ऐसी परिपूर्ण, निर्दोष वर्णमाला-लिपि नहीं जो संसार की सारी भाषाओं को अपनी लिपि में लिख दें। हाँ, है तो ऋग्वेद की बतलाई हुई लिपि जिसमें संसार की समस्त भाषायें शुद्ध रूप से लिखी जा सकती हैं।

दूसरा गायत्री मन्त्र "तत्सवितुर्वरेण्यम्०" है। इस में भी स्वरों का क्रम दर्शा दिया है। इसमें भी आप अ, ई, उ, ऋ और ऌ का क्रम पावेंगे।

'त' और 'स' में 'अ' है। 'वि' में 'इ' है 'सवितुः'। में 'सवितृ' शब्द होने से 'ऋ' विद्यमान है। और "तुः" में उकार भी आ गया है। 'ऋ' में 'ऌ' सम्मिलित है। पूर्ववत् यही नहीं, इस गायत्री मन्त्र के जप की विशेषता यह भी है कि इसके २४ अक्षरों में, केवल संस्कृत के ही नहीं किन्तु संसार की समस्त वर्णमालाओं के जितने प्रकार के अक्षर हैं, इसमें एक-एक करके सबही आ गये हैं। पाँचों वर्गों के, घोष, अघोष, अल्पप्राण और महाप्राण आदि सब प्रकार के अक्षर विद्यमान हैं।

इसके एक बार उच्चारण करने से सारे मुख के अवयवों में गति हो जाती है। इसके जाप से आर्यबालक कभी तोतला वा हकला नहीं रहेगा। एक प्रकार से मुख के सारे अवयवों का व्यायाम हो जाता है, जिसके कारण सारे ही मुखावयव परिपुष्ट हो जाते हैं। इस ही लिये गुरु, छोटी अवस्था में ही बालक को गायत्री मन्त्र का उच्चारण कराकर जप करने का आदेश दे देता है।

शार्टहैंड राइटिंग का जब आविष्कार हुआ तो इसके आविष्कर्त्ताओं ने भूमण्डल की समस्त लिपियाँ—वर्णमालायें एकत्रित कीं। परन्तु किसी भी वर्णमाला के स्वरों को उपयोगी नहीं जाना। यदि उनको कोई स्वर पसन्द आये तो ऋग्वेद के बताये हुए ही आये। अतः इस समय जो **शार्ट हैंडराइटिंग** है उसमें ऋग्वेद के बताये स्वरों के अनुसार ही लिखा जा रहा है। अब तक कोई भी बड़े से बड़ा विद्वान् ऋग्वेद के वर्णन किये हुए स्वरों से अधिक कोई स्वर नियत नहीं कर सका। अतः वेद भगवान् जहाँ अन्य विद्याओं के भण्डार हैं, वहाँ स्वरविद्या के भी आविष्कर्त्ता हैं ॥

संस्कृत पाठ २५ में भूल सुधार

वेदवाणी अङ्क ९ पृ० २५ (पठनपाठनसम्बन्धी २५ वें पाठ के अन्त में) पर—

"अज + टाप् अजाद्यतष्टाप्……'ब्राह्मणी गौरी ऐसे प्रयोग बन गये" इतने पाठ के स्थान पर पाठक निम्न प्रकार पाठ सुधार लें—

"अज + टाप् अजाद्यतष्टाप् (४।१।४) इत् संज्ञा और लोप होकर अज + आ में सवर्णदीर्घ (६।१।९७) से होकर 'अजा' शब्द बनता है 'कुमारी' में कुमार + ङीप् इत्संज्ञा और लोप होकर कुमार + ई में यचि भम् (१।४।१८) से कुमार की भसंज्ञा होकर यस्येति च (६।४।१४८) यस्य ईति च अ०। इसमें 'भस्य' 'तद्धिते' 'लोपः' की अनुवृत्ति है। सूत्र का अर्थ हुआ भसंज्ञक् य = इ + अ का लोप होता है यदि तद्धित और 'ई'—कार परे हो तो। सो इससे कुमार के 'अ' का लोप होकर कुमार् + ई = कुमारी बना ॥

ब्राह्मणी गौरी में भी पूर्ववत् यस्येति च (६।४।१४८) से अ का लोप होकर ब्राह्मणी गौरी बनता है ॥"

(उक्त पाठ अति शीघ्रता में अनवधानतावश अशुद्ध छप गया, सो पाठक सुधार लें। अन्त में शुद्धिपत्र दे दिया जायेगा। सम्पादक) ॥

प्राचीन भारतकी अर्थ-व्यवस्था

[ले० श्री पं० दामोदर सातवलेकर जी]

आज समस्त विश्व में साम्यवाद, समाजवाद, राष्ट्रीय समाजवाद, व्यक्तिवाद आदि अनेक 'वाद' उपस्थित हैं। इस सम्बन्ध में वेद का सिद्धान्त क्या है, यह जनताको विदित होना उचित है। वैदिक अर्थ-व्यवस्थामें स्वयं अपने अनुशासनपर अधिक बल दिया जाता था। स्वयं जनता ही इस सुशिक्षासे जागृत होकर आर्थिक समताको राष्ट्रमें प्रस्थापित करती थी। यजुर्वेदके अध्याय ४० का प्रथम मन्त्र है—

ईशावास्यमिदं सर्वं, यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥

इस मन्त्रमें प्रश्न पूछा गया है—'कस्य स्वित् धनम्' अर्थात् यह धन किसका है। आज भी विश्वमें सर्वत्र यही प्रश्न पूछा जा रहा है। वैश्य कहते हैं कि यह धन मेरा है, क्षत्रिय कहते हैं कि यह धन मेरा है, शूद्र कहते हैं कि यह धन मेरा है और ब्राह्मण कहते हैं कि यह धन मेरा है। तो फिर आखिर किसका है यह धन?

समाजका धन

जब सभी किसी वस्तुको अपनी बतायें तो उसका यह अर्थ हुआ कि या तो वह वस्तु उनमेंसे किसी की नहीं है अथवा सबका उस पर समान अधिकार है। यह अर्थ स्वयं सिद्ध है। धन समाज का है, यह उसका स्वयं सिद्ध अर्थ है। उपर्युक्त पद में प्रश्न का उत्तर भी दिया गया है। 'स्वित्' का अर्थ 'निश्चय' भी है तथा 'क' का अर्थ है 'प्रजापति' अर्थात् प्रजापति का यह धन है। प्रजापति से यहाँ तात्पर्य राज्य से है। पुराने समय में राजा प्रजापति होते थे। राजसूय यज्ञों में जनता उनका चयन करती थी। राजाका अर्थ ही यह था कि जो प्रजाका रंजन करे। राजाकी यह संस्था भी आदिकालीन नहीं है। वेदों में एक प्रजापतिको हटाकर उसके स्थान पर दूसरे प्रजापतिको रखनेका वर्णन है। तात्पर्य यह है कि धनको प्रजाका मान कर प्रजापति उसका विनियोग करता था। प्रजा या समाज स्थायी तत्व हैं और प्रजापति गौण।

यह सब भाव धारण करके ही 'कस्य स्वित् धनम्' के पूर्व कहा गया था—'मा गृधः' अर्थात् 'मत ललचाओ।' इसका अर्थ यह है कि 'धनमात्रका लालच मत करो।' अनेक विद्वान् उपर्युक्त दोनों मन्त्र भागोंको एक करके अर्थ करते हैं कि 'किसी के धनका लालच न कर'। लेकिन यह अर्थ अशुद्ध है। इसका तात्पर्य तो यह होता है कि अपने धनका लालच करने में वेदको आपत्ति नहीं है। धनी व्यक्ति अपने धनका लालच करेगा, तभी कलह तथा वर्गद्वेष उत्पन्न होंगे। मुख्य प्रश्न यह है कि अपने धनका उपयोग किस प्रकार किया जाय।

त्यागपूर्वक भोग

इस प्रश्नका उत्तर मन्त्र के तीसरे भाग में है—'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' अर्थात् 'धनका त्यागपूर्वक भोग कर' भोग मनुष्य के लिए आवश्यक है, यह पहली बात है। भोग दो प्रकारका होता है—भोग से भोग और त्याग से भोग। वेदने भोग से भोगको वर्जित ठहराया है। भोग से भोग की वैसे भी अपनी मर्यादाएँ हैं। मान लीजिये, कोई व्यक्ति मिठाईका भोग करता है। वह एक निश्चित मर्यादा से अधिक मिठाई नहीं खा सकता। यदि वह उससे अधिक मिठाईका भोग करेगा तो परिणाम में मिठाई ही उसका भोग करने लगेगी। मनुष्य अनेक विवाह कर सकता है, सैकड़ों स्त्रियाँ जनानखाने में रखनेवाले नवाब हुए हैं, लेकिन वह एक समय में एक का ही भोग कर सकता है। जो भोग प्रकृति द्वारा वर्जित होते हैं, उनका समर्थन, कौन करेगा? इस लिए वेदने कहा कि 'त्याग से भोग कर।' ध्यान देने की बात है कि त्याग से भोग की कोई मर्यादा नहीं, वह अमर्याद है। आप अन्नदान, विद्यादान, औषधदान, धनदान आदि जितना चाहें कर सकते हैं, फिर त्यागपूर्वक भोग में ही सच्चा आत्मसुख है। यह समाजसेवा है। अर्थनीति पर राज्यका नियन्त्रण न होते हुए भी अर्थ के वितरण और बढ़वाकी कैसी अच्छी व्यवस्था है। इस में व्यक्तिको ही अपने आप पर, अपने आर्थिक व्यवहार पर नियन्त्रण रखना है। कम्युनिस्ट देशों में यह समस्या खड़ी हो रही है और वेदों में उसका हल मौजूद है।

सब धन यज्ञ के लिए है, यह वैदिक विचारधारा है। यह कहने से भी यही तात्पर्य निकलता है कि सब धन प्रजा के लिए ही है और उसके पालन में लगना चाहिये। यज्ञका

अर्थ-(१) जिससे श्रेष्ठोंका सत्कार हो, (२) प्रजाका संघटन हो तथा (३) असहायोंको सहायता मिले, किया गया है। 'सत्कार संगति दानात्मक कर्म' यज्ञ कहलाता है।

यज्ञकी कल्पना मूलतः किस सिद्धान्त से उत्पन्न हुई है, यह देखना चाहिये। वेदने मानव-समाज-व्यवस्था दो शब्दों में कही है—'जगत्यां जगत्'। यह भी उपर्युक्त मन्त्रका एक खण्ड है। इस वचनका पदशः अर्थ है 'जगती के आधार से जगत् रहता है'। 'जगत्' का अर्थ है 'गच्छति इति जगत्' अर्थात् जो 'गतिमान्' है चलता है, प्रगति करता है, वह जगत् है। सब विश्व गतिमान् है, अतः उसे 'जगत्' कह सकते हैं। परन्तु यह सब विश्व अपनी धुरी पर ही घूमता है। देखना यह है कि उनमें से सच्ची प्रगति कौन करता है, आगे कौन बढ़ता है। तो मनुष्य ही अपनी बुद्धि शक्ति के कारण सब चराचर प्राणियों में अधिक गतिमान् है। इसलिए सामान्यतः समस्त विश्व पदार्थ जगत् कहलाता है, लेकिन पूर्ण रीति से मनुष्य ही जगत् है।

एक व्यक्तिको 'जगत्' कहा जाता है तथा उन अनेक 'जगतों' की समष्टिको 'जगती' कहते हैं। 'जगत्' और 'जगती' में यह भेद है। 'जगत्' मरता है, 'जगती' स्थायी है। व्यक्ति मरता है; समाज स्थायी है। धन भी मरनेवालों का कभी नहीं हो सकता, अमरका ही हो सकता है। 'जगत्यां जगत्' के अनुसार 'जगती के आधार पर जगत् है' अथवा 'समष्टि के आधार पर व्यक्ति है। व्यक्ति समष्टि के आधार से रहता है, अतः उसे उचित है कि वह समष्टि के लिए अपने भोगका त्याग करे। यज्ञकी मूल कल्पना वेद के इसी सिद्धान्त में है।

प्राचीनकाल में जो अनेक प्रकार के यज्ञ किये जाते थे, उनमें एक 'सर्वमेध' यज्ञ होता था। इस यज्ञमें सब धन जनता के लिए दे दिया जाता था। इस यज्ञको करनेवाले धनहीन बन जाते थे। सम्राट् भी दूसरे दिन से मिट्टी के पात्र बरतने लगते थे। सर्वमेध यज्ञका उद्देश्य ही यह था कि किसी के पास धनसंग्रह न हो वह समय-समयपर वितरित होता रहे। आज ऐसा नहीं होता। इसी कारण भारत, यूरोप और अमेरिका आदि देशों में व्यक्ति के पास धन-संग्रह हो रहा है। यह अयज्ञीय जीवन है। यही दुखों के बढ़ने का कारण है।

अब यह देखें कि धन के स्वामित्व के विषय में वेद क्या कहता है। उपर्युक्त मन्त्र में ही कहा गया है—'ईशा वास्यं इदं सर्वं यत् किं च' अर्थात् 'यहां पर जो कुछ भी है, उस पर ईश का स्वामित्व होने योग्य है।' अनीश का उसपर कोई अधिकार नहीं। जिसमें ईशन शक्ति अर्थात् 'शासन करने, शक्तिमान् होने, समर्थ होने की शक्ति रहती है, उसे 'ईश' कहते हैं। स्वामित्व का यह सिद्धान्त सब देशों में दिखाई देता है। प्रभावी वीर ही स्वामी होने योग्य हैं। ऐसे व्यक्ति ही सदा स्वामी बनते हैं। इतना ही नहीं, जो राष्ट्र प्रबल होते हैं, वे दूसरे राष्ट्रों के स्वामी बन बैठते हैं। राज्यशासन के मुख्य स्थान पर अथवा छोटे-छोटे अधिकारियों के स्थान पर ऐसे ईशान व्यक्तियों को ही नियुक्त करना चाहिये। अनीशों के हाथ में अधिकार होनेपर शासन शिथिल हो जायगा और गुण्डों की प्रबलता बढ़ेगी।

वेदों ने धर्म के महत्त्व को भली-भाँति समझ लिया था। सब झगड़े, कलह, स्पर्धा, युद्ध, धनके कारण ही होते हैं, यह उसके सामने स्पष्ट था। इसीलिए उसने युद्ध को एक नाम 'महाधन' भी दिया। इस तरह वेद ने युद्ध का मूल कारण ही धन माना। वेद के युद्ध-नामों में 'वातसाती' भी एक है। 'वातसाती' का अर्थ है 'धनका बटवारा'। धन का बंटवारा ही झगड़ों का कारण होता है। अतः यह प्रश्न पैदा होता है कि धनपर किसका अधिकार है, धन किसका है? इसी प्रश्न को रखने तथा उसका विधिवत् उत्तर देने के लिए ही उपर्युक्तमहत्वपूर्ण मन्त्र की रचना हुई। पाठक उस मन्त्र से प्रचलित आर्थिकवादों की तुलना करें और देखें कि दोनों में कितना साम्य और असाम्य है तथा दोनों में कौन हितकर है॥

("आज" से उद्धृत)

संसार का विरोध कैसे दूर हो !

"यद्यपि आजकल बहुत-से विद्वान् प्रत्येक मतों में हैं, वे पक्षपात छोड़ "सर्वतन्त्रसिद्धान्त" अर्थात् जो २ बातें सब के अनुकुल सब में सत्य हैं, उनका ग्रहण और जो एक दूसरे से विरुद्ध बातें हैं उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्त्तें वर्त्तावें तो जगत् का पूर्ण हित होवे क्योंकि विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़ कर अनेकविधि दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है॥"

दयानन्द सरस्वती (सत्यार्थ प्रकाश)

अर्थ-(१) जिससे श्रेष्ठोंका सत्कार हो, (२) प्रजाका संघटन हो तथा (३) असहायोंको सहायता मिले, किया गया है। 'सत्कार संगति दानात्मक कर्म' यज्ञ कहलाता है।

यज्ञकी कल्पना मूलतः किस सिद्धान्त से उत्पन्न हुई है, यह देखना चाहिये। वेदने मानव-समाज-व्यवस्था दो शब्दों में कही है—'जगत्यां जगत्'। यह भी उपर्युक्त मन्त्रका एक खण्ड है। इस वचनका पदशः अर्थ है 'जगती के आधार से जगत् रहता है'। 'जगत्' का अर्थ है 'गच्छति इति जगत्' अर्थात् जो 'गतिमान्' है चलता है, प्रगति करता है, वह जगत् है। सब विश्व गतिमान् है, अतः उसे 'जगत्' कह सकते हैं। परन्तु वह सब विश्व अपनी धुरी पर ही घूमता है। देखना यह है कि उनमें से सच्ची प्रगति कौन करता है, आगे कौन बढ़ता है। तो मनुष्य ही अपनी बुद्धि शक्ति के कारण सब चराचर प्राणियों में अधिक गतिमान् है। इसलिए सामान्यतः समस्त विश्व पदार्थ जगत् कहलाता है, लेकिन पूर्ण रीति से मनुष्य ही जगत् है।

एक व्यक्तिको 'जगत्' कहा जाता है तथा उन अनेक 'जगतों' की समष्टिको 'जगती' कहते है। 'जगत्' और 'जगती' में यह भेद है। 'जगत्' मरता है, 'जगती' स्थायी है। व्यक्ति मरता है; समाज स्थायी है। धन भी मरनेवालों का कभी नहीं हो सकता, अमरका ही हो सकता है। 'जगत्यां जगत्' के अनुसार 'जगती के आधार पर जगत् है' अथवा 'समष्टि के आधार पर व्यक्ति है'। व्यक्ति समष्टि के आधार से रहता है, अतः उसे उचित है कि वह समष्टि के लिए अपने भोगका त्याग करे। यज्ञकी मूल कल्पना वेद के इसी सिद्धान्त में है।

प्राचीनकाल में जो अनेक प्रकार के यज्ञ किये जाते थे, उनमें एक 'सर्वमेध' यज्ञ होता था। इस यज्ञमें सब धन जनता के लिए दे दिया जाता था। इस यज्ञको करनेवाले धनहीन बन जाते थे। सम्राट् भी दूसरे दिन से मिट्टी के पात्र बरतने लगते थे। सर्वमेध यज्ञका उद्देश्य ही यह था कि किसी के पास धनसंग्रह न हो वह समय-समयपर वितरित होता रहे। आज ऐसा नहीं होता। इसी कारण भारत, यूरोप और अमेरिका आदि देशों में व्यक्ति के पास धन-संग्रह हो रहा है। यह अयज्ञीय जीवन है। यही दुखों के बढ़ने का कारण है।

अब यह देखें कि धन के स्वामित्व के विषय में वेद क्या कहता है। उपर्युक्त मन्त्र में ही कहा गया है—'ईशा वास्यं इदं सर्वं यत् किं च' अर्थात् 'यहां पर जो कुछ भी है, उस पर ईश का स्वामित्व होने योग्य है।' अनीश का उसपर कोई अधिकार नहीं। जिसमें ईशन शक्ति अर्थात् 'शासन करने, शक्तिमान् होने, समर्थ होने की शक्ति रहती है, उसे 'ईश' कहते हैं। स्वामित्व का यह सिद्धान्त सब देशों में दिखाई देता है। प्रभावी वीर ही स्वामी होने योग्य हैं। ऐसे व्यक्ति ही सदा स्वामी बनते हैं। इतना ही नहीं, जो राष्ट्र प्रबल होते हैं, वे दूसरे राष्ट्रों के स्वामी बन बैठते हैं। राज्यशासन के मुख्य स्थान पर अथवा छोटे-छोटे अधिकारियों के स्थान पर ऐसे ईशान व्यक्तियों को ही नियुक्त करना चाहिये। अनीशों के हाथ में अधिकार होनेपर शासन शिथिल हो जायगा और गुण्डों की प्रबलता बढ़ेगी।

वेदों ने धर्म के महत्त्व को भली-भाँति समझ लिया था। सब झगड़े, कलह, स्पर्धा, युद्ध, धनके कारण ही होते हैं, यह उसके सामने स्पष्ट था। इसीलिए उसने युद्ध को एक नाम 'महाधन' भी दिया। इस तरह वेद ने युद्ध का मूल कारण ही धन माना। वेद के युद्ध-नामों में 'वाजसाती' भी एक है। 'वाजसाती' का अर्थ है 'धनका बटवारा'। धन का बंटवारा ही झगड़ों का कारण होता है। अतः यह प्रश्न पैदा होता है कि धनपर किसका अधिकार है, धन किसका है? इसी प्रश्न को रखने तथा उसका विधिवत् उत्तर देने के लिए ही उपर्युक्त महत्वपूर्ण मन्त्र की रचना हुई। पाठक उस मन्त्र से प्रचलित आर्थिकवादों की तुलना करें और देखें कि दोनों में कितना साम्य और असाम्य है तथा दोनों में कौन हितकर है॥ ("आज" से उद्धृत)

संसार का विरोध कैसे दूर हो !

"यद्यपि आजकल बहुत से विद्वान प्रत्येक मतों में हैं, वे पक्षपात छोड़ "सर्वतन्त्रसिद्धान्त" अर्थात् जो २ बातें सब के अनुकुल सब में सत्य हैं, उनका ग्रहण और जो एक दूसरे से विरुद्ध बातें हैं उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्त्तें वर्त्तावें तो जगत् का पूर्ण हित होवे क्योंकि विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़ कर अनेकविधि दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है॥"

दयानन्द सरस्वती (सत्यार्थ प्रकाश)

अर्थ-(१) जिससे श्रेष्ठोंका सत्कार हो, (२) प्रजाका संघटन हो तथा (३) असहायोंको सहायता मिले, किया गया है। 'सत्कार संगति दानात्मक कर्म' यज्ञ कहलाता है।

यज्ञकी कल्पना मूलतः किस सिद्धान्त से उत्पन्न हुई है, यह देखना चाहिये। वेदने मानव-समाज-व्यवस्था दो शब्दों में कही है—'जगत्यां जगत्'। यह भी उपर्युक्त मन्त्रका एक खण्ड है। इस वचनका पदशः अर्थ है 'जगती के आधार से जगत् रहता है'। 'जगत्' का अर्थ है 'गच्छति इति जगत्' अर्थात् जो 'गतिमान्' है चलता है, प्रगति करता है, वह जगत् है। सब विश्व गतिमान् है, अतः उसे 'जगत्' कह सकते हैं। परन्तु यह सब विश्व अपनी धुरी पर ही घूमता है। देखना यह है कि उनमें से सच्ची प्रगति कौन करता है, आगे कौन बढ़ता है। तो मनुष्य ही अपनी बुद्धि शक्ति के कारण सब चराचर प्राणियों में अधिक गतिमान् है। इसलिए सामान्यतः समस्त विश्व पदार्थ जगत् कहलाता है, लेकिन पूर्ण रीति से मनुष्य ही जगत् है।

एक व्यक्तिको 'जगत्' कहा जाता है तथा उन अनेक 'जगतों' की समष्टिको 'जगती' कहते है। 'जगत्' और 'जगती' में यह भेद है। 'जगत्' मरता है, 'जगती' स्थायी है। व्यक्ति मरता है; समाज स्थायी है। धन भी मरनेवालों का कभी नहीं हो सकता, अमरका ही हो सकता है। 'जगत्यां जगत्' के अनुसार 'जगती के आधार पर जगत् है' अथवा 'समष्टि के आधार पर व्यक्ति है। व्यक्ति समष्टि के आधार से रहता है, अतः उसे उचित है कि वह समष्टि के लिए अपने भोगका त्याग करे। यज्ञकी मूल कल्पना वेद के इसी सिद्धान्त में है।

प्राचीनकाल में जो अनेक प्रकार के यज्ञ किये जाते थे, उनमें एक 'सर्वमेध' यज्ञ होता था। इस यज्ञमें सब धन जनता के लिए दे दिया जाता था। इस यज्ञको करनेवाले धनहीन बन जाते थे। सम्राट् भी दूसरे दिन से मिट्टी के पात्र बरतने लगते थे। सर्वमेध यज्ञका उद्देश्य ही यह था कि किसी के पास धनसंग्रह न हो वह समय-समयपर वितरित होता रहे। आज ऐसा नहीं होता। इसी कारण भारत, यूरोप और अमेरिका आदि देशों में व्यक्ति के पास धन-संग्रह हो रहा है। यह अयज्ञीय जीवन है। यही दुखों के बढ़ने का कारण है।

अब यह देखें कि धन के स्वामित्व के विषय में वेद क्या कहता है। उपर्युक्त मन्त्र में ही कहा गया है—'ईशा वास्यं इदं सर्वं यत् किं च' अर्थात् 'यहां पर जो कुछ भी है, उस पर ईश का स्वामित्व होने योग्य है।' अनीश का उसपर कोई अधिकार नहीं। जिसमें ईशन शक्ति अर्थात् 'शासन करने, शक्तिमान् होने, समर्थ होने की शक्ति रहती है, उसे 'ईश' कहते हैं। स्वामित्व का यह सिद्धान्त सब देशों में दिखाई देता है। प्रभावी वीर ही स्वामी होने योग्य हैं। ऐसे व्यक्ति ही सदा स्वामी बनते हैं। इतना ही नहीं, जो राष्ट्र प्रबल होते हैं, वे दूसरे राष्ट्रों के स्वामी बन बैठते हैं। राज्यशासन के मुख्य स्थान पर अथवा छोटे-छोटे अधिकारियों के स्थान पर ऐसे ईशन व्यक्तियों को ही नियुक्त करना चाहिये। अनीशों के हाथ में अधिकार होनेपर शासन शिथिल हो जायगा और गुण्डों की प्रबलता बढ़ेगी।

वेदों ने धर्म के महत्त्व को भली-भाँति समझ लिया था। सब झगड़े, कलह, स्पर्धा, युद्ध, धनके कारण ही होते हैं, यह उसके सामने स्पष्ट था। इसीलिए उसने युद्ध को एक नाम 'महाधन' भी दिया। इस तरह वेद ने युद्ध का मूल कारण ही धन माना। वेद के युद्ध-नामों में 'वाजसाती' भी एक है। 'वाजसाती' का अर्थ है 'धनका बटवारा'। धन का बंटवारा ही झगड़ों का कारण होता है। अतः यह प्रश्न पैदा होता है कि धनपर किसका अधिकार है, धन किसका है? इसी प्रश्न को रखने तथा उसका विधिवत् उत्तर देने के लिए ही उपर्युक्तमहत्वपूर्ण मन्त्र की रचना हुई। पाठक उस मन्त्र से प्रचलित आर्थिकवादों की तुलना करें और देखें कि दोनों में कितना साम्य और असाम्य है तथा दोनों में कौन हितकर है॥ ("आज" से उद्धृत)

संसार का विरोध कैसे दूर हो !

"यद्यपि आजकल बहुत से विद्वान् प्रत्येक मतों में हैं, वे पक्षपात छोड़ "सर्वतन्त्रसिद्धान्त" अर्थात् जो २ बातें सब के अनुकूल सब में सत्य हैं, उनका ग्रहण और जो एक दूसरे से विरुद्ध बातें हैं उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्त्तें वर्त्तावें तो जगत् का पूर्ण हित होवे क्योंकि विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़ कर अनेकविधि दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है॥"

दयानन्द सरस्वती (सत्यार्थ प्रकाश)

श्रीरामलाल कपूर ट्रस्ट का सस्ता और सुन्दर प्रकाशन

आर्य जगत् को यह जानकर महती प्रसन्नता होगी कि रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर ने अपना प्रकाशन कार्य कुछ वर्षों से पुनः पूर्ववत् भले प्रकार प्रारम्भ कर दिया है। निम्न पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं—

१—**सन्ध्योपासनविधि**—ऋषि दयानन्दकृत भाषार्थ, दैनिक हवन और भजनों के सहित। यह अब तक ३०५००० तीन लाख पाँच हजार छप चुकी है। घटाया हुआ मूल्य –)।

२—**व्यवहारभानु**—ऋषि दयानन्दकृत। बालकों को व्यवहार की उचित शिक्षा देनेवाला अपूर्व ग्रन्थ। यह ग्रन्थ प्रत्येक आर्य बालक-बालिकाओं के विद्यालयों में पाठ्य पुस्तक रखने योग्य है। मू०=)॥

३—**ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्मचरित्र**—ऋषि दयानन्द ने अमेरिका निवासी आल्काट महोदय की प्रेरणा से अपना कुछ वृत्तान्त लिखकर उन्हें भेजा था, जिसका अंग्रेजी अनुवाद उन्होंने थियोसोफिकल नामक अपने पत्र में छापा था। आर्यसमाज के उद्भट विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्तजी ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। ऋषि दयानन्द के प्रसिद्धि में आने से पूर्व की घटनाओं का यही एकमात्र प्रामाणिक लेख है। मूल्य ।=)

४—**हवन-मन्त्र**—प्रार्थना, स्वस्तिवाचन, शान्तिप्रकरण, बृहद् हवन और भजनों से युक्त। मू०–)।

५—**आर्याभिविनय**—ऋषि दयानन्दकृत (प्रथम और द्वितीय संस्करण से मिलाकर अत्यन्त शुद्ध और सुन्दर छापा गया है। संदिग्ध स्थलों पर टिप्पणियाँ दी गई हैं)। मूल्य ।=)

६—**आर्योद्देश्यरत्नमाला**—ऋषि दयानन्दकृत। शुद्ध, सुन्दर तथा सटिप्पण संस्करण मूल्य –)

७—**पञ्चमहायज्ञविधि**—ऋषि दयानन्दकृत। ,, ,, ,, ,, ,, मूल्य ≡)

८—**उरुज्योति अर्थात् वैदिक अध्यात्म-सुधा**—श्री डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल लिखित। वैदिक अध्यात्म विषयक उच्चकोटि का श्रेष्ठ ग्रन्थ। कागज छपाई श्रेष्ठ और सुन्दर। सजिल्द ३) मात्र

९—**ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास**—लेखक-श्री पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक। ऋषि दयानन्द के सभी मुद्रित और अमुद्रित ग्रन्थों के विषय में पूर्ण जानकारी देनेवाला अपूर्व ग्रन्थ। प्रचारार्थ मूल्य में भारी कमी की गई है। घटाया हुआ मूल्य बढ़िया सं० सजिल्द ४), साधारण सं० अजिल्द ३) मात्र

१०—**अष्टाध्यायी मूल** (सूत्रपाठ) अत्यन्त शुद्ध पाठ =) डाक व्यय मूल्य ॥)

११—**ऋग्वेद-भाषाभाष्य—प्रथम भाग** (जो वेदवाणी में क्रमशः छपता रहा) मूल्य २॥)

१२—**वेदांक**—यह वेदवाणी के इस वर्ष का विशाल विशेषांक है। इसमें ३६ उच्चकोटि के गवेषणात्मक वेदविषयक मौलिक लेखों का संग्रह है। दूसरे शब्दों में इसे वेदविषयक ३६ ट्रेक्टों या निबन्धों का संग्रह कह सकते हैं। मूल्य १)। गत दो वर्षों के वेदाङ्क का मूल्य भी घटाकर प्रति अंक १) कर दिया है।

१३—**वेदवाणी की पुरानी फ़ाइलें**—वर्ष २ अङ्क १० मूल्य २॥), वर्ष ३ अङ्क १० मूल्य २॥), वर्ष ४ अङ्क १० मूल्य ३), वर्ष ५ वेदाङ्क सहित ४), वर्ष ६ वेदाङ्क सहित ५)। थोड़ी प्रतियाँ शेष हैं, शीघ्रता करें।

डाक व्यय सबका पृथक् होगा। बड़ा सूचीपत्र विना मूल्य मंगवावें।

रामलाल कपूर एण्ड सन्स, पेपर मर्चेण्ट

गुरु बाजार, अमृतसर। नई सड़क, देहली। बिरहाना रोड़, कानपुर।

वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, मोतीझील बनारस ६।

(गताङ्क से आगे)

उर्मिला फलं खादितवती। उर्मिला फले खादितवती।
उर्मिला फलानि खादितवती ॥ २५ ॥
उर्मिलायशोदे फलं खादितवत्यौ।
उर्मिलायशोदे फले खादितवत्यौ।
उर्मिलायशोदे फलानि खादितवत्यौ ॥ २६ ॥
उर्मिलायशोदासरस्वत्यः फलं खादितवत्यः।
उर्मिलायशोदासरस्वत्यः फले खादितवत्यः।
उर्मिलायशोदासरस्वत्यः फलानि खादितवत्यः ॥ २७ ॥

पाठक देखें यहां कर्त्ता का जो लिङ्ग और वचन होगा, 'क्तवतु'-प्रत्यय का भी वही लिङ्ग और वचन बदलता जायेगा। यहां कर्म 'अनभिहित' होने से उसमें कोई भेद नहीं होगा, चाहे एक हो वा अनेक। सार यहां यह है कि यदि कर्तृवाच्य क्रिया है या कर्तृवाच्य प्रत्यय है, तो उसमें लिङ्गवचन और विभक्ति उस कर्त्ता के आधार पर होगी, क्रिया में लिङ्ग भेद नहीं होता है, जैसे 'सुधा पठति' और 'वाचस्पतिः पठति' में कोई लिङ्ग भेद नहीं होगा। सुनीतिः = आगच्छति, बृहस्पतिः = आगच्छति, फलं पतति इनमें क्रिया में कोई भेद नहीं होता। कर्त्ता के बदलने से क्रिया भी बदलती जावेगी। यह कर्तृवाच्य क्रिया या कर्तृवाच्य प्रत्ययों की व्यवस्था है ॥

कर्मवाच्य में क्रिया के साथ जो कर्म होगा, उसमें निश्चय ही प्रथमा विभक्ति होगी, कर्म का वचन जो-जो बदलता जायगा, क्रिया का वचन भी वही-वही बदलता जायगा, कर्म का लिङ्ग चाहे जो हो क्रिया में कोई भेद न होगा ॥

कर्मवाच्य प्रत्ययों में इतना भेद है कि कर्मवाच्य का जो लिङ्ग और वचन होगा, प्रत्ययों का भी वही लिङ्ग और वचन होता जायगा। कर्मवाच्य क्रिया वा प्रत्ययों में कर्त्ता का लिङ्ग वचन चाहे कुछ भी हो, क्रिया वा प्रत्ययों के लिङ्ग और वचन में कुछ भी भेद नहीं पड़ता।

भाववाच्य क्रिया या प्रत्ययों में भाव के एक होने से एकवचन ही रहेगा, कर्त्ता में तृतीया विभक्ति होगी। लिङ्ग वचन चाहे जो भी हो, उसका क्रिया और प्रत्ययों पर कोई प्रभाव न होगा जैसेः—

आसितव्यं देवदत्तेन।
आसितव्यं देवदत्तयज्ञदत्ताभ्याम्।
आसितव्यं देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रैः ॥ २८ ॥

इनमें आसितव्यम् में कोई भेद न आयेगा।

साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि अनुवाद करते समय जो विशेषण कर्त्ता के होंगे, उनका लिङ्ग वचन विभक्ति कर्त्ता के अनुसार होगा। और जो विशेषण कर्म के हैं उनके लिङ्ग वचन और विभक्ति कर्म के लिङ्ग वचन विभक्ति के अनुसार होंगे।

इस प्रकरण में यह बात छात्र के हृदय में ठीक-ठीक बैठ जानी चाहिये। इसका अभ्यास अच्छी तरह कराना चाहिये। जो ३-४ दिन में ही हो जाता है। कुछ कठिन नहीं ॥

इस प्रकरण में परस्पर उत्सर्ग अपवाद सब समझ लेने चाहियें। अनुवाद में इनका बहुत उपयोग है। एक बार समझ लेने से अनुवाद में भूल न होगी। इनका अभ्यास अवश्य करना चाहिये। संस्कृत पर अधिकार होने के लिये यह मूलभूत प्रकरण है।

३५ वां पाठ

परस्मैपद और आत्मनेपद

अब परस्मैपद और आत्मनेपद के विषय में कुछ बताते हैं। धातुपाठ में जितने धातु (लगभग २०००) पढ़े हैं, वे सब या तो परस्मैपदी हैं या आत्मनेपदी और कुछ धातु उभयपदी (परस्मैपदी भी आत्मनेपदी भी) होते हैं। परस्मै = का अर्थ है, दूसरे के लिये। आत्मने = का अर्थ है अपने लिये। कुछ धातुओं में यह बात घटती है, सब में नहीं। जैसे पचति, यजति का अर्थ है, दूसरे के लिये पकाता है, दूसरे के लिये यज्ञ करता है। पचते, यजते का अर्थ है = अपने लिये पकाता है, अपने लिये यज्ञ करता है। जो किसी ने कुछ (दक्षिणादि) दिया तो "यजति" होना चाहिये, जो अपने (कल्याण के) लिये यज्ञ करता है, तो "यजते" ऐसा प्रयोग सामान्यतया होगा। परन्तु यह सार्वत्रिक नियम नहीं, यदि ऐसा नियम होता तो सब धातुओं से परस्मैपद और आत्मनेपद दोनों पद होने चाहियें थे सो है नहीं, यदि ऐसा हो तो पठ् धातु से 'पठति' और 'पठते' दोनों रूप बनने चाहियें, पर एक 'पठति' ही होता है, 'पठते' नहीं हो सकता, क्योंकि आदि काल से ऐसा प्रयोग नहीं होता, ऋषि मुनियों में किसी ने प्रयोग नहीं किया। जैसे गच्छति का अर्थ जाना है रोना नहीं, पचति का अर्थ पकाना है, खाना नहीं,

यह आदि काल से चला आ रहा है यही सर्वसम्मत व्यवस्था है। इसी लिये पाणिनि मुनि ने अपने धातु-पाठ में—"अथ तवर्गीयान्ता एधादयः कथ्यन्ताः षट्त्रिंशदात्मनेभाषाः" ऐसा लिखा, अर्थात् यहां से तवर्गीयान्त एध से कत्थ पर्यन्त छत्तीस ३६ आत्मनेपदी धातु हैं। "अथातादयः शुन्ध्यन्ता अष्टत्रिंशत् परस्मैभाषाः" अर्थात् "अत् से लेकर शुन्ध पर्यन्त ३८ परस्मैपदी धातु हैं" ऐसी व्यवस्था है। सो जो पठनार्थी जानना चाहें कि कौन सा धातु परस्मैपदी, कौन सा आत्मनेपदी है, वह धातुपाठ से जान लें और सुगमता से जानने के लिये वैदिक यन्त्रालय अजमेर में मुद्रित धातुपाठ की सूची देख लेने से तत्काल पता लग जाता है कि कौन धातु परस्मैपदी है, कौन आत्मनेपदी ? कुछ भी कठिनाई नहीं॥

यदि कोई पूछे कि अमुक धातु परस्मैपदी या आत्मनेपदी क्यों है, तो पाणिनि पतञ्जलि आदि ऋषियों ने शब्दार्थ सम्बन्ध तीनों को नित्य माना है। सो यह सृष्टि के आदि से चला आ रहा है, और यथापूर्वमकल्पयत् पहिले भी ऐसा रहा, आगे भी ऐसा रहेगा। प्राचीन सब आर्ष ग्रन्थों का यही सर्वसम्मत सिद्धान्त है। इसमें शंका को अवसर नहीं।

आत्मनेपद का प्रकरण

अब धातुपाठ से यह जान कर आगे अष्टाध्यायी में जो १।३।१२ से ७१ तक सूत्र हैं, यह आत्मनेपद का प्रकरण है। इसमें बताया गया है कि किन किन धातुओं से कब-कब आत्मनेपद हो जाता है। सो अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (१।३।१२) जिनका अनुदात्त इत् होता है और जिनका 'ङ्' इत् होता है उन धातुओं से आत्मनेपदम् = आत्मनेपद के तङ् (९ प्रत्यय) होते हैं। सो धातुपाठ में आत्मनेपदी धातु पढ़ ही दी गई हैं। यह आत्मनेपद का सामान्य विधायक सूत्र है। आगे परस्मैपदी पढ़ी हुई धातुओं से भी आत्मनेपद कब कब होता है, यह प्रकरण है सो धातुमात्र से भावकर्मणोः = भाव और कर्म में आत्मनेपद हो जाता है। नेर्विशः (१।३।१७) नेः५।१ ॥ विशः५।१ ॥ निपूर्वक विश (यह परस्मैपदी धातु है) से आत्मनेपद हो। आगे ७१ सूत्र तक ऐसा ही कहा गया है कि अमुक परस्मैपदी धातु को अमुक बात होने पर आत्मनेपद हो जाता है॥

परस्मैपद-प्रकरण

अब शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम् (१।३।७८ से ९३ तक परस्मैपद का प्रकरण है, इसमें उपर्युक्त सूत्र का अर्थ यह है कि) शेषात् = शेष बची हुई (जो आत्मनेपदी नहीं) इन धातुओं से कर्त्तरि = कर्त्ता में, परस्मैपदम् = परस्मैपद हो जाता है। आगे अनुपराभ्यां कृञः (१।३।७९) यहां कृञ् धातु से ७२ सूत्र से उभयपद प्राप्त है, सो इसने कहा अनु, परा इनसे परे कृञ् धातु से परस्मैपद ही हो। ऐसे ही आगे भी या तो उभयपद प्राप्त था या आत्मनेपदी ही धातु थी। यहां इनसे परस्मैपद कहा। सो यह आत्मनेपद और परस्मैपद दो पृथक् २ प्रकरण हैं। बीच में ७२ से ७७ तक उभयपद (दोनों) का प्रकरण है। स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले (१।३।७२) स्वरितञितः = स्वरित जिन का इत् हो तथा ञ् जिन का इत् जाता हो, उन से कर्त्रभिप्राये क्रियाफले = जो क्रिया का फल कर्त्ता के लिये हो, तब आत्मनेपद होता है। (नहीं तो परस्मैपद होता है, यह अर्थापत्ति से निकला) जैसे 'यजते' 'कुरुते' = का अर्थ है अपने लिये यजन करता है, अपने लिये (कोई काम) करता है। सो तीसवें, इकत्तीसवें पाठ में बता चुके हैं कि आत्मनेपद परस्मैपद में सिद्धि कैसे भिन्न २ होती है। बस इस प्रकरण की समझने योग्य मुख्य बात इतनी ही है। आगे यह प्रकरण तीन चार दिन में पूरा समझा जा सकता है। कुछ भी कठिन नहीं। अर्थ उदाहरण मात्र समझ लेने हैं। सिद्धि तो जान ही ली है॥

१ से ३५ पाठों का सिंहावलोकन

पाठ आरम्भ करने के पूर्व हमने महामुनि पाणिनि का महत्त्व, अष्टाध्यायी पठन पाठन की प्राचीनता—प्रक्रियाग्रन्थ-व्याकरण सरलता का स्वानुभव—संस्कृत के अध्ययन से लोग भाग क्यों जाते हैं—अष्टाध्यायी क्रम की विशेषता—संस्कृत पढ़ने वालों की श्रेणियां—स्कूल में अष्टाध्यायी पद्धति का स्वानुभव—प्रौढ़ों के लिये बिना रटे संस्कृत पढ़ने का सरल पाठ्यक्रम-प्रौढ़ श्रेणी में पठनार्थी की योग्यता—प्रौढ़ों में संस्कृत पढ़ने वालों के भेद—संस्कृत पढ़ाने वाले अध्यापकों के भेद—अध्यापक अधिक सरलता से कैसे तैयार हो सकते हैं—अध्यापक की अपेक्षित योग्यता—अध्यापकों के लिये आवश्यक निर्देश—पठन-पाठन सम्बन्धी निर्देश—प्रारम्भिक

लग-भग एक मास (३० दिन नहीं अब ३५ दिन) का पाठ्यक्रम, इतने विषयों पर अध्यापक और पढ़ने वाले दोनों के लाभ की दृष्टि से उपर्युक्त सब लिखा गया। आगे पाठों का आरम्भ होता है ॥

१ पाठः—कलम् कलमादि का भेद। संस्कृत में चार प्रकार के शब्दों—नाम-आख्यात-उपसर्ग और निपात—के भेद तथा उनका स्वरूप बताया गया। तथा नाम के भेद और विभक्ति बतायी गई। कारक का स्वरूप और कारक ६ होते हैं।

२ पाठः—सूत्र का लक्षण और उसके भेद। आख्यात के दश गण और दश लकार (भेद) सोदाहरण कहे गये।

३ पाठः—अधिकार सूत्र का लक्षण और भेद, तथा पन्द्रह मोटे २ अधिकारों का परिचय और चिन्ह, और लाल पैंसिल से ही चिह्न लगाने की विधि, अधिकार और अनुवृत्ति का भेद।

४ पाठः—संज्ञा सूत्र के कुछ उदाहरण, शेष ६ प्रकार के सूत्रों के लक्षण और उदाहरण।

५ पाठः—सूत्रों के अर्थ करने का प्रकार—दस लकारों के दस सूत्रों का अर्थ तथा अन्य कुछ सूत्रों का भी। सामान्यतया सूत्रों के अर्थ सम्बन्ध में विशेष निर्देश, पदच्छेद-विभक्ति-समास-अनुवृत्ति-अर्थ-उदाहरण-सिद्धि का स्वरूप निर्देश। तथा सूत्रों में विभक्ति देख कर अर्थ करने की विधि। पाञ्च पाठों का सिंहावलोकन ॥

६ पाठः—वाच् शब्द के रूप और उनकी सिद्धि के दो चार सूत्र (इत् संज्ञा का पूर्व रूप) तथा २० प्रकार के हलन्त शब्दों के रूप स्वयं बना लेना, बिना किसी की सहायता के।

७ पाठः—इत् संज्ञा का स्वरूप (१।३।२ से ९ तक), सातों सूत्र पूरी तरह समझ लेना।

८ पाठः—वाच् शब्द के सभी रूपों की पूरी सिद्धि। तथा सिद्धि लिखने का प्रकार 'पुरुषः' शब्द की सिद्धि।

९ पाठः—'पठति' की सिद्धि सब सूत्रों सहित।

१० पाठः—पठन्ति, पठामि की सिद्धि। तथा ६ से १० पाठों का सिंहावलोकन ॥

११ पाठः—वर्णोच्चारण शिक्षा, स्थान और प्रयत्नों का संक्षिप्त परिचय।

१२ पाठः—भवति की सिद्धि तथा दीव्यति की सिद्धि।

१३ पाठः—तुदति, सुनोति, तनोति, क्रीणाति, अत्ति, जुहोति, जुहति की सिद्धि (जुहति में ६।४।८७ से यण् होता है) ॥

१४ पाठः—रुणद्धि, रुन्द्धः आदि ९ रूपों की सिद्धि ॥

१५ पाठः—१४ दिनों के पाठ का सिंहावलोकन तथा १५ दिन के पढ़े का महत्त्व, संस्कृत पुस्तक पढ़ाने के सम्बन्ध में।

१६ पाठः—अच् सन्धि के मुख्य ७ सूत्र।

१७ पाठः—अच् सन्धि के शेष ९ सूत्र।

१८ पाठः—पुरुष के प्रथमा के एक वचन से आगे सब रूपों की सिद्धि।

१९ पाठः—हल्सन्धि तथा विसर्गसन्धि के मुख्य २ दस-बारह सूत्र।

२० पाठः—कारक-विभक्ति के दस-बारह सूत्र।

२१ पाठः—कारक के शेष ८ सूत्र।

२२ पाठः—कृदन्त प्रत्ययों में मुख्य विषय, गुण और गुण का निषेध।

२३ पाठः—प्रत्यय माला, कुछ धातुओं से पन्द्रह प्रत्ययों में रूप और उनकी सिद्धि। १६ से २३ पाठों का सिंहावलोकन ॥

२४ पाठः—समास का लक्षण, उसके भेद और उनके लक्षण, उदाहरण तथा समास की सिद्धि का प्रकार।

२५ पाठः—स्त्री प्रत्यय का प्रकरण और उसके कुछ मुख्य २ सूत्रों पर प्रकाश। जैसे अजा, ब्राह्मणी यहां अज से अजा सवर्णदीर्घ होकर बनता है। और ब्राह्मण से ब्राह्मण+ ङीप् होकर यस्येति च (अ० ६।४।१४८) से अकार का लोप होकर बनता है।

२६ पाठः—तद्धित प्रकरण, तत्सम्बन्धी कुछ सूत्रों पर प्रकाश और कुछ शब्दों (भारतः, कौत्सः, दाधिकम्, माथुरः, शालीयः) की सिद्धि पर विचार।

२७ पाठः—सुबन्त—प्रकरण (७।३।१०१—११२)।

२८ पाठः—शेष सुबन्त का प्रकरण (७।३।११३—११९) तथा सुबन्त का दूसरा प्रकरण (७।१।९—३३ तक २५ सूत्र)।

२९ पाठः—सुबन्त में विद्या, अग्नि, मति, कुमारी इनकी पूरी सिद्धि।

२० पाठः—१० लकारों के सामान्य सूत्र (३।४।७७ —१०१)

२१ पाठः—शेष 'लस्य' प्रकरण (३।४।१०२—१०८)। तथा द्वित्वप्रकरण (६।१।१ से ११ तक)। अभ्यास प्रकरण (७।४।५८ से ७९ तक)। तथा २४ से ३१ पाठों का सिंहावलोकन ॥

३२ पाठः—प्रक्रियायें—सनन्त = पिपठिषति, यङन्त = पापठ्यते, पुत्रीयति, पण्डितायते की सिद्धि और सूत्रों के अर्थादि।

३३ पाठः—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य, भाववाच्य, और उनके लिङ्गवचन की व्यवस्था।

३४ पाठः—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य प्रत्ययों की व्यवस्था, कर्तृवाच्य 'क्तवतु' पर विचार।

३५ पाठः—परस्मैपद और आत्मनेपद की सामान्य व्यवस्था तथा सर्व प्रथम पाठों से पूर्व भूमिकारूप वक्तव्य के मुख्य निर्देश तथा १ से ३५ पाठों का सिंहावलोकन ॥

'शेष ६ मास का पाठ्यक्रम

तथा सम्पूर्ण अष्टाध्यायी कण्ठस्थ वाले क्या करें

आगे हमें अब ६ मास का शेष पाठ्यक्रम देना है। इस पर हमारा दो प्रकार का विचार हो रहा है आज (१४-७-५५ को) कि सामान्य निर्देश कर दिया जावे। अध्यापक (जहां भी प्राप्तव्य हों) प्रौढ़ पठनार्थियों को हमारे इस निर्देश के अनुसार पढ़ा देवें। जहां कठिनाई हो पूछ लेवें। दूसरा यह विचार है कि ६ मास का पूरा पाठ्यक्रम एक २ दिन का पूर्णतया लिख दिया जावे। पहिला प्रकार ही अभी ठीक रहेगा। ६ मास का प्रति दिन का पाठ लिखा जावे यह बात अभी विचार कोटि में है। हमारे इन पाठों से पठनार्थी महानुभाव कहां तक लाभ उठाते हैं यह जानकर इस विषय में अन्तिम निश्चय हो सकेगा।

अभी दो विशेष प्रसङ्ग बीच में लाने आवश्यक हैं। एक तो उपर्युक्त ६ मास का शेष पाठ्यक्रम और दूसरा ३५ दिन के पाठों के साथ संस्कृत की पुस्तक पढ़ाने का प्रसङ्ग और उसकी पाठ्यक्रम व्यवस्था। यह उपर्युक्त दोनों विषय लिखने पर ही हमारा उठाया यह प्रसङ्ग पूर्ण कहा जा सकेगा।

पर अब बीच में एक अत्यावश्यक प्रसङ्ग यह है कि जो अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कर लें वा कर सकें और आर्ष ग्रन्थों के प्रौढ़ विद्वान् बनना चाहते हैं अर्थात् ६ मास के पीछे सम्पूर्ण अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कर शास्त्रों के रहस्य तक पहुँचना चाहते हैं, प्रभु ने जिन्हें ऐसी सुविधा-सुभीता वा साधन प्रदान किये हैं, उनकी उन्नति आगे रुक न जावे इस लिये पूर्ण अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कर चुकने वालों को कैसे व्याकरण पर अधिकार करना चाहिये, सो कुछ महानुभावों के आग्रह से लिखते हैं।

यह विदित रहे कि श्री पूज्य महात्मा प्रभु आश्रित जी के शिष्य भक्त खेमचन्द जी, आयु ४६ वर्ष अपने पुत्र १८ वर्ष, पुत्री दो—६ वर्ष, और चार वर्ष तथा धर्मपत्नी सबका पालन करते हुए ५ मास में लगभग १०-११ सौ सूत्र पदच्छेद-विभक्ति-समास-अनुवृत्ति-अर्थ-उदाहरण-सिद्धि (सब सूत्रों सहित) पढ़ चुके हैं। इतना ही नहीं, विद्वानों द्वारा परीक्षित होकर उत्तीर्ण हो चुके हैं। जिन्होंने इसी ५ मास में मूल अष्टाध्यायी सम्पूर्ण भी तीन दिन पूर्व ११ जुलाई १९५५ को समाप्त कर ली है। अब प्रथमावृत्ति अत्यन्त परिश्रम से पढ़ रहे हैं और बहुत सफलता पूर्वक पढ़ रहे हैं। सम्भव है २-२॥ वर्ष में महाभाष्य तक पहुँच जावें, यदि बुद्धि ठीक रहे और कोई विघ्न न आवे। ४ जुलाई १९५५ की बात है कि एक प्राचीनव्याकरणाचार्य जो प्रथम श्रेणी में और प्रथम आये—बहुत ही योग्य विद्वान् और तेजस्वी हैं, उन्होंने खेमचन्द जी से २-३ सूत्रों का अर्थ पूछा। ठीक बताया। बड़े प्रसन्न हुए। खेमचन्दजी ने कहा "मैंने लगभग एक हजार—११००—सूत्र ही पढ़े हैं, पर अष्टाध्यायी शैली कितनी वैज्ञानिक और सरलतम है कि आप चार हजार सूत्रों अर्थात् सम्पूर्ण अष्टाध्यायी के सूत्रों में से किसी भी सूत्र का अर्थ मुझसे पूछ सकते हैं, जो मैंने आज तक भी नहीं पढ़ा। हां मैं सूत्र का उदाहरण नहीं बता सकूंगा क्योंकि उदाहरण मैंने सब अभी नहीं पढ़े।" उक्त पण्डित जी ने लगभग १५-२० सूत्रों के अर्थ पूछे जो खेमचन्द जी ने बिना अटके अपनी अष्टाध्यायी मूल की पुस्तक हाथ में लेकर झट २ बता दिये। वह व्याकरणाचार्य तो एक दम चकित रह गये कि कौमुदी के सूत्र और उसकी चौगुणी वृत्ति रटते २ छात्र हताश हो उठते हैं। प्रतिदिन उसका पाठ करने पर भी वह याद नहीं रह पाती। इधर अष्टाध्यायी कण्ठस्थ वालों का यह हाल कि बिना रटे सूत्र का अर्थ पट पट करते चले जाते हैं। गजब की बात है। साथ ही जब एक नौ वर्ष की आयु के बच्चे को जिसे सम्पूर्ण अष्टा-

ध्यायी कण्ठस्थ है, १५ दिन से पढ़ना आरम्भ किया, उस छात्र (सुद्युम्न सतना निवासी) ने जब स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (१।१।५६) सूत्र का पदच्छेद-विभक्ति-समास-अर्थ उदाहरण, पुरुषाय की पूरी सिद्धि सब सूत्रों सहित घटाकर बताई और अनल्विधि में द्यौः उदाहरण में अल्विधि (अल् से परे विधि) होने से कैसे प्राप्ति होकर स्थानिवत् का निषेध हो गया, यह सब बताया तो उक्त व्याकरणाचार्य जी स्तब्ध रह गये। यह सब हमारे लिये कुछ भी आश्चर्य नहीं केवल "अष्टाध्यायी" का चमत्कार है और कुछ नहीं। इसमें हमारा वैशिष्ट्य कुछ नहीं। हां ढंग अवश्य है।

विद्वानों को देखना चाहिये कि अष्टाध्यायी पद्धति की सरलता का यह कितना नग्न सत्य है और कितना अकाट्य प्रत्यक्ष प्रमाण है। हमारे प्रायः सब छात्र इसी तरह बता सकते हैं और इसी तरह पढ़ाते हैं।

यह सब देखकर हमारे प्रेमियों की प्रबल प्रेरणा है कि आप अष्टाध्यायीमूल सम्पूर्ण कण्ठस्थ वालों के लिये भी मार्ग निर्देश अवश्य करें। सो अब हम यह प्रकरण उठाते हैं। यह पूरा हो जाने पर शेष जो ऊपर कहा लिखेंगे। पाठक घबरायें नहीं। पाठक इन सब पाठों को बहुत सम्भाल कर रखें। नहीं तो पीछे पछताने से कुछ लाभ न होगा। हम विवश होंगे। शीघ्रता में छपने में तथा संशोधन तथा छपने में कुछ भूल रह जाती है। अन्त में उसे ठीककर दिया जावेगा। अब प्रथमावृत्ति का शुद्ध मूलभूत प्रकार उपस्थित करते हैं—

अष्टाध्यायी का मुख्य वा आदर्श पाठ्यक्रम
व्याकरण का सम्पूर्ण ज्ञान
प्रथमावृत्ति से महाभाष्य पर्यन्त ४ वर्ष में

हमारे विचार में अष्टाध्यायी का आदर्श वा मुख्य पाठ्य क्रम वह है जिसमें संस्कृताध्ययन अध्यापन के सम्बन्ध में अष्टाध्यायी और महाभाष्य के द्वारा सम्पूर्ण व्याकरण का ज्ञान बालकों को ८, १० वर्ष की आयु से मूल अष्टाध्यायी धातु-पाठादि कण्ठस्थ कराकर कराया जाता है। अपने गत २५ वर्ष के अनुभव से यहाँ अतिसंक्षेप से निर्देश मात्र लिखते हैं, विस्तार से पुनः कभी लिखा जायेगा।

प्रवेशार्थी ८ से १२ वर्ष की आयु तक का, हिन्दी में कम से कम ५ श्रेणी तक की योग्यता वाला हो, उसे या तो पहिले घर पर श्लोक मंत्र गद्य पद्य आदि कण्ठस्थ कराये हों, शब्द रूप धातुरूप तथा संस्कृत का सामान्य ज्ञान करा लिया गया हो, या प्रविष्ट होने पर कुछ समय अर्थात् २, ३ मास का समय लगा लेना चाहिए, साथ में उच्चारण शुद्ध कराकर अष्टाध्यायी मूल कण्ठस्थ करे। प्रायः १ वर्ष प्रवेशिका में लगता है, कम में भी हो सकता है। कण्ठ करने में पांच २ या दस दस सूत्र एक साथ कण्ठ करने में सुगमता रहती है। उच्चारण प्रारम्भ से ठीक होना चाहिए, किसको किस के साथ मिलाकर उच्चारण करना है, यह ज्ञान होना अत्यावश्यक है। प्रातःकाल १ घण्टा प्रतिदिन पिछले पाठ को बिना पुस्तक के आवृत्ति करना, मध्याह्न वा रात्रि में प्रति दिन आधा घण्टा परस्पर सूत्र सुनाकर अभ्यास करना चाहिए। हमारा यह अनुभूत और दृढ़ सिद्धान्त है कि सूत्रों (चाहे वह व्याकरण के हों या दर्शनादि के) को कण्ठ कर लेने से आयु भर के लिए अत्यन्त लाभ होता है, पर १५ वर्ष से ऊपर के छात्र को नहीं। मैट्रिक आदि पढ़ों को सूत्र कण्ठस्थ करने में विशेष कठिनाई प्रतीत होती है, हां यदि कोई करले तो बहुत लाभ होता है। नियम यह है कि विवश होकर कोई न करे, स्वेच्छा से जब उसे लाभ प्रतीत होने लगे और सामर्थ्य भी हो, इच्छा प्रबल हो उठे तब भले ही करले, और वह भी जब सूत्र समझ में आ जावें तभी करे तो उसे सुगमता रहती है। २५ वर्ष से ऊपर वालों को तो ६ मास का क्रम पढ़कर स्वयं ही कण्ठ करने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है ऐसा अनुभव में आया है। अर्थ समझ में आ जाने पर सूत्र याद होने लगते हैं॥

संस्कृत में पाणिनि व्याकरण की समता अंग्रेजी व्याकरण (ग्रामर) से कदापि न करना चाहिए, दोनों में परस्पर भारी भेद है, यह बात कभी न भूलनी चाहिए॥

अष्टाध्यायी कण्ठस्थ होने के पश्चात् पदच्छेद-विभक्ति-समास-अधिकार वा अनुवृत्ति-अर्थ उदाहरण-सिद्धि (सब सूत्रों सहित) की प्रथमा (पहिली) आवृत्ति (पढ़ना वा पारायण)

करना प्रथमावृत्ति कहलाता है। तथा प्रत्युदाहरण शङ्का समाधान से सम्पूर्ण अष्टाध्यायी को पढ़ना द्वितीयावृत्ति कहलाती है अब हम प्रथमावृत्ति के विषय में विस्तार से अपना वक्तव्य आरम्भ करते हैं। प्रथमावृत्ति आरम्भ करने से पूर्व क्या २ जान लेना आवश्यक है, इस सम्बन्ध में कुछ लिखते हैं—

अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति

प्रथमावृत्ति से पहले

सर्वप्रथम छात्र को कहीं से भी १०, २० सूत्र पूछकर परीक्षण कर लो कि अष्टाध्यायी कण्ठस्थ है भी कि नहीं। एक भी सूत्र पूछने पर भूलना न चाहिये, जो सूत्र पूछें उससे आगे १० सूत्र सुनादे। प्रतिदिन प्रातः १ घण्टा बिना पुस्तक के स्वयं पाठ करें या किसी को सुनावें वा सुनें।

जब मूल अष्टाध्यायी कण्ठस्थ हो जावे तो छात्र को २-३ दिन में यह परिचय करा देना चाहिये कि अष्टाध्यायी में कितने प्रकरण हैं और वे कहां कहां हैं। यह अधिक समय का काम नहीं। इस का प्रकार यह है कि हमें छात्र को बता देना चाहिये कि सूत्र ७ प्रकार के हैं (१) अधिकार (२) संज्ञा (३) परिभाषा (४) विधि (५) निषेध (६) नियम (७) अतिदेश। १—अधिकार सूत्र वह है जिसे यह अधिकार (आज्ञापत्र या परमिट) मिल जाता है कि वह जहां से जहां तक कि उसका अधिकार है, वहां तक के सब सूत्रों में जाकर बैठ जाता है। जैसे प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) इनका अधिकार यहां (३।१।१ तथा २) से (५।४।१६०) निष्प्रवाणिश्च सूत्र तक जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि १८१५ सूत्रों (३ अध्याय = ६३७ सूत्र + चतुर्थ अध्याय = ६३० + पञ्चमाध्याय = ५५४ = १८१५ सूत्र) में "प्रत्ययः" "परश्च" ये दोनों जाकर बैठ जाते हैं। दूसरा अधिकार धातोः (३।१।९१) से छन्दस्युभयथा (३।४।११७) तक ५४० सूत्रों में "धातोः" यह जाकर बैठ जायेगा।

"प्रत्ययः इस अधिकार सूत्र के आरम्भ में लाल पैन्सिल या गेरु से मोटा चिह्न—प्रारम्भ में ' (उलटा कांमा), तथा ५।४।१६० की समाप्ति में, (सीधा कांमा) (') ऐसा लगवाया जावे कि दूर से ही दिखाई देता रहे। अब सूत्र का अर्थ कैसे बना, यह समझना है। सो छात्र से पूछना चाहिये कि वर्त्तमाने लट् (३।२।१२३) में ऊपर से किस २ का अधिकार आ रहा है। वह छात्र लाल पैन्सिल के चिह्न को देखकर बता देगा कि इस सूत्र में "प्रत्ययः" "परश्च" "धातोः" इनसे आगे तीन पदों का अधिकार आता है। सो ये तीनों पद सूत्र से आगे आकर बैठ गये तो सूत्र बन गया = "वर्त्तमाने लट् प्रत्ययः परश्च धातोः।" सो छात्र को समझाना चाहिये कि अब इनको कहो कि बैठते तो हो, पर ढंग से बैठो। "धातोः वर्त्तमाने लट् प्रत्ययः परश्च।" अब इसके आगे "भवति-भवेत्-भविष्यति-स्यात् आदि" इनमें से कोई भी क्रिया लगा दो। संस्कृत में अर्थ बन गया—धातोः (५।१) वर्त्तमाने (७।१) लट् (१।१) प्रत्ययः (१।१) भवति (क्रिया) परश्च (१।१ अ०) = (हिन्दी में अर्थ बना) धातु से वर्त्तमान काल में लट् प्रत्यय होता है और वह परे होता है। छात्र के हृदय में बिठा देना चाहिये कि हमें अधिकार और अनुवृत्ति (छोटे अधिकार) से अर्थ करने में कितनी सुगमता होती है। अधिकार सूत्र उसे कहते हैं, जहां सूत्र पूरे का पूरा आगे के सूत्रों में बैठता है। अनुवृत्ति उसे कहते हैं जो किसी सूत्र का एक या अनेक पद आगे के सूत्रों में जाता है (पूरा सूत्र न जाता हो) जैसे "हलन्त्यम्" (१।३।३) में "उपदेशे" "इत्" की और चुटू (१।३।७) में "उपदेशे, इत्, प्रत्ययस्य, आदिः" इन पदों की अनुवृत्ति आकर 'चुटू' के आगे ये पद बैठ जाते हैं। सूत्र का अर्थ बन गया 'उपदेशे प्रत्ययस्य आदी चुटू इतौ भवतः (भवति के स्थान में द्विवचन होने से 'भवतः' ऐसा पद अन्त में लगा देना चाहिये) अर्थात् उपदेश में प्रत्यय के आदि = आरम्भ के चु = चवर्ग (च छ ज झ ञ) और टु = टवर्ग (ट ठ ड ढ ण) इत् संज्ञक (इत् संज्ञावाले) होते हैं। अब तस्य लोपः (१।३।९) जिसकी इत् संज्ञा (नाम) हो उसका लोप हो जाता है, लोपः = अदर्शनं लोपः (१।१।६०) अर्थात् अदर्शन = हट जाने को लोप कहते हैं।

सो अधिकार और अनुवृत्ति से अर्थ करने की विधि छात्र के हृदय पर अङ्कित करने के लिए कुछ अधिकार सूत्र बताने चाहियें। छात्रों को ये अधिकार आरम्भ में ही बता देने चाहियें—

(१) प्रत्ययः परश्च (३।१।१।२ से ५।४।१६० तक)।
(२) धातोः (३।१।९१ से ३।४।११७ तक)।
(३) भूते (३।२।८४ से १२२ तक)।
(४) ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१ से ५।४।१६० तक)।

(५) तद्धिताः (४।१।७६) से (५।४।१६० तक)।
(६) संहितायाम् (६।१।७० से ६।१।१५१ तक)।
(७) अङ्गस्य (६।४।१ से ७।४।९७ तक)।
(८) पदस्य (८।१।१६ से ८।३।५४ तक)।
(९) पदात् (८।१।१७ से ८।१।६९ तक)।
(१०) संहितायाम् (८।२।१०८ से ८।४।६७ तक)।
(११) इत्प्रकरण (१।३।२ से ९ तक)।
(१२) स्त्रियाम् (४।१।३ से ४।१।७५ तक)।
(१३) आत्मनेपदम् (१।३।१२ से ७१ तक)।
(१४) परस्मैपदम् (१।३।७८ से ९३ तक)।
(१५) कारके (१।४।२३ से ५५ तक)।
(१६) निपाताः (१।४।५६ से ९७ तक)।
(१७) समासः (२।१।३ से २।२।३८ तक)।
(१८) अनभिहिते (२।३।१ से ७३ तक)।
(१९) कृत्प्रत्यय (३।१।९३ से ३।४।११७ तक)।
(२०) कृत्यप्रत्यय (३।१।९५ से १३२ तक)।
(२१) भविष्यति (३।३।३ से १७ तक)।

यहाँ हमने अत्यावश्यक अधिकार, अनुवृत्तियां दर्शाई हैं। आगे जब २ कोई भी सूत्र पढ़ें वा पढ़ावें उसके अधिकार और अनुवृत्ति पर लाल पेन्सिल से सर्वप्रथम चिह्न करें तथा करावें। इस प्रकार यह संग्रह धीरे २ स्वयं होता जायगा॥

प्रथमावृत्ति का प्रारम्भ

प्रथमावृत्ति में १ पदच्छेद २ विभक्ति ३ समास ४ अधिकार या अनुवृत्ति ५ अर्थ ६ उदाहरण ७ सिद्धि, ये सात प्रत्येक सूत्र के समझने होते हैं।

(१) पदच्छेद—पदों का छेद अर्थात् अलग २ करना, जैसे वृद्धिरादैच् (१।१।१ में) वृद्धिः। आदैच्॥ अदेङ्गुणः (१।१।२) में अदेङ्। गुणः॥

(२) विभक्ति = वृद्धिः १।१। आदैच् ।१।१। वृद्धि शब्द इकारान्त स्त्री लिङ्ग वाची शब्द है, इसके रूप 'मति' या रुचि के समान चलते हैं। 'आदैच्' के प्रायः चकारान्त वाच् शब्द के समान रूप समझने चाहियें। शब्दरूप धातुरूप का पहिले थोड़ा ज्ञान करा लेना होगा।

(३) समास = जिसमें अनेक पदों का एक पद अनेक विभक्तियों की एक विभक्ति और अनेक स्वरों का एक स्वर हो, उसे समास कहते हैं। यह (समास) चार प्रकार का होता है १ अव्ययीभाव २ तत्पुरुष ३ बहुव्रीहि और ४ द्वन्द्व। इनमें पूर्वपदार्थ प्रधान अव्ययीभाव कहलाता है। उत्तर पदार्थ प्रधान तत्पुरुष, अन्य पदार्थ प्रधान बहुव्रीहि, तथा उभय (दोनों) पदार्थ प्रधान द्वन्द्व समास होता है। इसका उदाहरण राजपुरुषमानय = राजपुरुष को लाओ, इसमें पूर्व (पहिला) पद है राज उत्तर (पिछला) पद है पुरुष। 'सो राजपुरुष को लाओ' इतना कहने पर पुरुष लाया जाता है नकि राजा। अतः यहाँ उत्तरपद पुरुष प्रधान हुआ, अतः यह तत्पुरुष समास है। लम्बकर्णम् (लम्बे कान वाले को)" आनय (लाओ), यहाँ न लम्बे को लाया जाता है न कान को, अपितु इन दोनों से अन्य (भिन्न) लम्बे कान वाला व्यक्ति लाया जाता है, अन्यपद प्रधान होने से यह बहुव्रीहि समास होता है। तत्पुरुष समास नौ प्रकार का होता है द्वितीया तत्पुरुष, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी, तथा कर्मधारय (विशेषण विशेष्य समास) नञ् और द्विगु। द्वन्द्व भी दो प्रकार का होता है—समाहार द्वन्द्व (एकवचन में) तथा इतरेतर (रामलक्ष्मणौ) द्वन्द्व समास है॥

समास का इतना सामान्य ज्ञान आरम्भ में ही करालेना चाहिये। अतः आदैच् = आत् + ऐच् = यहाँ एक वचन होने से समाहार द्वन्द्व समास है॥

(४) अधिकार या अनुवृत्ति—सूत्र का अर्थ करने से पहिले यह देखना चाहिये कि इस सूत्र में ऊपर के किन२ सूत्रों का अधिकार या अनुवृत्ति आ रही है। जैसे 'क्ङिति च १।१।५' सूत्र में इको गुणवृद्धी पूरा सूत्र तथा न धातुलोप आर्धधातुके १।१।४ से 'न' की अनुवृत्ति आ रही है सो आगे बैठ जाने पर सूत्र बना 'क्ङिति च, इको गुणवृद्धी न (भवतः) = ऐसे ही परोक्षे लिट् (३।२।११५) ऊपरसे ३।१।१,२से प्रत्ययः परश्च की ३।१।९१ से धातोः की तथा ३।२।८४ से भूते की अधिकार और अनुवृत्ति आ रही है, सो ये आगे बैठ गये—जैसे 'परोक्षे लिट् प्रत्ययः परश्च धातोः' भूते। सो यही शब्द यों बन गये—धातोः परोक्षे भूते लिट् प्रत्ययः परश्च भवति = अर्थात् धातु से परोक्ष भूतकाल में लिट् प्रत्यय होता है और वह परे होता है। अनुवृत्ति और अधिकार का ज्ञान प्रत्येक सूत्रमें आवश्यक है और अनिवार्य है।

यह अनुवृत्ति और अधिकार का स्वरूप छात्र को अवश्य दर्शा देना चाहिये। इनमें पहिले तो मुख्य मुख्य ही १५-२० अधिकार सूत्र बतादेने चाहियें जिनका अधिकार दूर तक जाता है। जैसे कि हम इसी प्रकरण में पहिले बता चुके हैं।

आगे धीरे २ सूत्र काम में आने पर उनमें आनेवाले अधिकार और अनुवृत्ति का ज्ञान तथा परस्पर भेद भी धीरे २ संचित होता रहेगा। यह विषय हम तृतीय दिन के पाठ में लिख चुके हैं। वहां देख लेना चाहिये ॥

इसी के साथ छात्र को यह भी बता देना चाहिये कि सूत्र सात प्रकार के होते हैं जैसा कि पहिले बता चुके हैं अधिकार-संज्ञा-परिभाषा-विधि-निषेध-नियम और अतिदेश। सो अधिकार का स्वरूप और उदाहरण तो ऊपर दिखा चुके शेष ६ के स्वरूप और उदाहरण बता देना चाहिये जो हम अपने चतुर्थ दिन के पाठ में दिखा चुके हैं। उनमें मुख्य २ संज्ञायें और परिभाषादि का स्वरूप छात्र को समझा देना चाहिये।

यह अर्थ के समझने में बहुत उपयोगी है ॥

(५) अर्थ (i) अनुवृत्ति या अधिकार से आये पदों को सूत्र के आगे बिठाकर पीछे उन्हें व्यवस्थित अर्थात् ढंगसे बिठाने के पश्चात्, अन्त में केवल भवति, भवेत्, भविष्यति, स्यात् इनमें से कोई सा पद लगा देना चाहिये। उनका अर्थ छात्र से हिन्दी में कराना चाहिये। अर्थ रटाना महामूर्खता है चाहे वह हिन्दी में हो या संस्कृत में हो। हां, छोटे बालकों को पहिले समझाकर आगे उनसे बार २ सुनकर अभ्यास करा लेना चाहिये। बिना समझाये उनको भी रटाना नहीं चाहिये। जैसे क्ङिति च (१।१।५) इस सूत्र में ऊपर से इको गुणवृद्धी (१।१।३) सारा सूत्र तथा न धातुलोप आर्धधातुके (१।१।४) से 'न' इतने शब्दों की अनुवृत्ति आती है। अर्थात् ये शब्द इस क्ङिति च (१।१।५) सूत्र में बैठ गये। इनका रूप बन गया—"क्ङिति च इको गुणवृद्धी न"। अर्थ इस प्रकार हुआ—(गित्) कित्, ङित् को मानकर जो इक् के स्थान में गुणवृद्धि प्राप्त हो वे न हों। यहां पर 'क्ङिति' परसप्तमी नहीं अपि तु निमित्तसप्तमी है अर्थात् 'गित्, कित्, ङित् परे हो ऐसा अर्थ नहीं, अपि तु 'गित् कित्, ङित् को मानकर' ऐसा अर्थ है। इसके लिये लट्-लिट्-लुट्-लृट्-लेट्-लोट्-लङ्-लिङ्-लुङ्-लृङ् इनके विधान करने वाले सूत्रों पर अनुवृत्ति और अधिकार दर्शाते हुए अर्थ स्वयं समझ लें वा अध्यापक समझा दें, जिससे कि छात्रों को अर्थ की प्रक्रिया का अच्छी तरह से ज्ञान हो जाय, जैसा कि हम ५ वें पाठ में बता चुके हैं, वहां से जान लेवें, यहां उसकी पुनः लिखने की आवश्यकता नहीं समझते।

(ii) अधिकार (अनुवृत्ति) तो एक ही है, केवल पूरे अधूरे का भेद है। सो अधिकार (या अनुवृत्ति) तथा अर्थ में वास्तव में कुछ भेद नहीं। हमने अधिकार (या अनुवृत्ति) को चतुर्थ सङ्ख्या (चौथा नम्बर) पर जानकर रखा है। पांचवां नम्बर अर्थ का रखा है। सूत्र से सूत्रका अर्थ अधिकार (या अनुवृत्ति) से होता है। इसी को स्पष्ट शब्दों में कह देना (वाक्य बनाकर परिमार्जित रूप में कह देना) अर्थ कहाता है। बस इन दोनों में इतना ही भेद समझें। अधिकार समझ लेने के पीछे ही अर्थ विस्फुट होगा।

(iii) सूत्रोंका अर्थ करनेमें यह भी समझा दें कि पञ्चमी विभक्ति जहां होगी वहां 'से परे' अर्थ करें, जैसे धातोः = धातु से परे, जहां ६ षष्ठी विभक्ति हो (और सम्बन्ध कहीं न लगता हो) वहां 'के स्थान में' ऐसा अर्थ करें, और जहां ७ सप्तमी विभक्ति हो, वहां 'के परे रहने पर' ऐसा अर्थ करें जैसे इकः ६।१ यण् १।१ अचि ७।१ में 'अचि' का अर्थ होगा अच् परे रहने पर। इकः षष्ठी है, इसका अर्थ होगा 'इकः स्थाने' इक् के स्थान पर, यण् = यण् भवति = होता है।

सूत्रों में प्रायः चार विभक्ति आती हैं—पञ्चमी, षष्ठी, प्रथमा और सप्तमी। इनका मोटा २ अर्थ इस प्रकार है—पञ्चमी का अर्थ "से", षष्ठी का "के स्थान में", प्रथमा का "होता है", सप्तमी का "के परे रहने पर" अधिकतर होता है। सप्तमी तीन प्रकार की होती है यह हम आगे बता रहे हैं। पञ्चमी विभक्ति ३, ४, ५ अध्यायों में अवश्य रहेगी। तीसरे अध्याय में धातु से परे, चतुर्थ पञ्चम अध्याय में प्रातिपदिकसे परे। षष्ठी विभक्ति की यह व्यवस्था है कि जिस षष्ठी का सम्बन्ध कहीं पर न जुड़ता हो उसको अनियतयोगा षष्ठी कहते हैं अर्थात् जिसका सम्बन्ध कहीं नहीं जुड़ता, षष्ठी स्थानेयोगा सूत्र उस अनियतयोगा षष्ठी को स्थानेयोगा कहता है। ऐसी षष्ठी का "के स्थान में" अर्थ होता है। अब रही प्रथमा विभक्ति की बात—सो इसका अर्थ "होता है" ऐसा है, जो तीसरे चौथे पांचवें अध्याय में तो प्रत्ययः परश्च भवति के साथ जुड़कर—"अमुक प्रत्यय होता है और वह परे होता है" इस रूप में परिणत हो जाता है। शेष सर्वत्र भी भवति के अध्याहार में सम्मिलित होकर "अमुक होता है" ऐसा अर्थ प्रथमा विभक्ति का बन जाता है। सप्तमी के तीन प्रकार के अर्थ हैं, या सप्तमी विभक्ति तीन प्रकार की होती है—

(क) परसप्तमी जैसे इको[६-१] यण्[१-१] अचि[७-१] (६।१।७४) में अचि का अर्थ है अच् परे रहने पर। (क्रमशः)

वेदवाणी का आगामी विशेषाङ्क

वेदविषयक पाश्चात्यमत-परीक्षणाङ्क

भारतीय लेखकों ने जहां बिना विचारे योरुपीय पक्षों का अनुकरण किया है, भारतीय शास्त्रपरम्परा का यथावत् ज्ञान न होने से असत्य वा अशुद्ध धारणाएं बनाली हैं, वहां अब समय आ गया है कि, स्वतन्त्र-भारत में पाश्चात्यों के उन मिथ्यामतो वा धारणाओं पर विवेचनापूर्ण प्रकाश डाला जाये। इसके लिये वेदविषय में पाश्चात्यों के विभिन्न मतों का परीक्षण होना आवश्यक है। इसके लिये "वेदवाणी" द्वारा व्यवस्था की जा रही है।

इस विशेषाङ्क के सम्पादक भारत के प्रसिद्ध वैदिकविद्वान् श्री० पं० भगवद्दत्तजी रिसर्चस्कालर (देहली) होंगे। जिस लेखमें सप्रमाण तर्कपूर्ण किसी पाश्चात्य मत का खण्डन नहीं होगा, वह लेख इस अङ्क में नहीं छपेगा। इस अङ्क का स्तर अत्यधिक ऊँचा होगा और पिष्टपेषण से रहित होगा। साधारण कोटि के, तथा जिनमें पाश्चात्य मत का खण्डन नहीं होगा, वे लेख नहीं छापे जायेंगे। संसार के सभी जर्नल्स तथा कल्याणादि को इसकी सूचना भेज दी जावेगी। इसमें भिन्न २ विषयों पर भारत के योग्य विद्वानों द्वारा लेख प्राप्त कर प्रकाशित करने का यत्न किया जा रहा है।

सम्भावित लेख विषय सूची

१ क्या वेदभाषा कभी बोलने (व्यवहार) की भाषा थी
२ लौकिक संस्कृत मन्त्रोपदेश काल से ही चली
३ वेदमेंवर्णितऋषि और देवता आकाशीय पितर आदि?
४ रोथ-भिटलिङ्ग-मोक्षमूलर और मैकडानल आदि का वेदार्थ में वृथा अभिमान
५ वेदार्थ में ब्राह्मण ग्रन्थ सबसे अधिक सहायक
६ मैकडानल कृत वैदिक साईकोलोजी की आलोचना
७ वेद और संस्कृत भाषा का संसार की प्रमुख भाषाओं पर प्रभाव
८ पाश्चात्य लेखकों ने संस्कृत को भारत योरुपीय भाषाओं की माता मानना क्यों अस्वीकार किया, इस पक्ष की निर्मूलता
९ आसुरी और म्लेच्छ भाषाएं
१० गैलनर के ऋग्वेदभाष्य (जर्मन में नया छपा) की अशुद्धियाँ
११ ह्विटने के अथर्ववेद भाष्य की अशुद्धियाँ
१२ वेदवर्णित दस्यु मानव नहीं हैं।
१३ ऋग्वेद का नदी सूक्त और पाश्चात्यों के विभिन्न मतों का निराकरण
१४ भारतीय विश्वविद्यालयों में वेदाध्ययन
१५ डा० सिद्धेश्वर वर्मा और निरुक्त निर्वचन
१६ वाकर नागल कृत वैदिक व्याकरण की भूलें
१७ पाश्चात्य भाषाविज्ञान, विज्ञान नहीं, मत है
१८ वेदकाल निरूपण में पाश्चात्यों की भ्रान्तियां
१९ वैदिककोष के विषय में पाश्चात्यों के कुतर्क
२० वैदिकयज्ञ और पाश्चात्य कल्पनाएं
२१ सम्पूर्ण संसार में वेदमत
२२ वैदिक सृष्टि उत्पत्ति और बाइबिल कुरान की सृष्टि उत्पत्ति
२३ छन्दोवाद
२४ स्वरवाद
२५ कौत्स का "अनर्थका हि मन्त्राः" और पाश्चात्यों की ऊहापोह। वेदं च वेदाङ्गानि च"""पर विचार।
२६ भारतीय लेखकों ने जहां अपने पक्षों को समझे बिना और बिना विचारे पाश्चात्य पक्षों का अनुकरण किया है, उनके तत् तत् लेखांशों का संकलन
२७ ओल्डन वर्ग (अंग्रेजी में ऋग्वेद) के वेदार्थ की अशुद्धियां
२८ "वैदिक एज" के वेदविषयक लेख की आलोचना॥
२९ क्षतीशचन्द्र (कलकत्ता) के (प्रधान संस्कृताध्यापक) वैदिकरीडर की आलोचना॥
३० पाश्चात्य स्कालर तथा वेदार्थ

ब्रह्मदत्तजिज्ञासु प्रधान सम्पादक—"वेदवाणी" पो० अजयगढ़ पैलेस—मोतीझील बनारस नं० ६

संपादक, प्रकाशक व मुद्रक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, बनारस।

ॐ

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

का

पाश्चात्य-मत-परीक्षणाङ्क

(४)

वर्ष ८] [अङ्क १, २

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

कार्तिक, मार्गशीर्ष २०१२
नवम्बर, दिसम्बर १९५५
दयानन्दाब्द १३०
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५५

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
बनारस नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
" " विदेश में ६)
इस अङ्क का १)

पाश्चात्य-मत-परीक्षणाङ्क के लेखों की सूची

ग्राहक महानुभावों को सूचना

यह नवम्बर दिसम्बर का सम्मिलित अंक प्रकाशित हुआ है, अतः अगला जनवरी का अङ्क प्रकाशित होगा, यह ध्यान रहे।

प्रबन्धक वेदवाणी

ओ३म्

वेदवाणी

सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि ।

अथर्व० १, १, ४ ॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों !

वर्ष ८ { काशी, कार्तिक मार्गशीर्ष सं० २०१२ वि०, नवम्बर, दिसम्बर १९५५ ई० { अङ्क १, २

आर्याभिविनय से

टिप्पणिकर्त्ता—प्रो० विन्ध्यवासिनी प्रसाद अनुगामी

सृजनहार प्रभु की भक्ति करें !!

अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे ।
पृथिव्याः सप्तधामभिः ॥ ऋग्० १।२।७।१६ ॥

हे देवाः[1]	हे विद्या और शुद्ध आचरण से युक्त देवस्थानीय मनुष्यो		विविध वस्तुओं और उनके महत्त्व को
विष्णुः[2]	व्याप्त, गतिशील, गतिदाता परमात्मा	विचक्रमे[3]	रचा है
यतः (सामर्थ्यात्)	ने जिस स्वशक्ति से	अतः (सामर्थ्यात्)	उसी स्वशक्ति से
(पृथिव्याः	संसार के सात प्रकार के जुटे	(तैः)	उपर्युक्त
सप्तधामानि)	रहने वाले और आदरयोग्य	पृथिव्याः	संसार के

अर्थबोधक टिप्पणी

१. विद्यायुक्तशुद्धव्यवहारयुक्ताः—दया० यजु० ४।२० । fr. दिवु = क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्ति-गतिषु—दिवा० ।

२. (अ) वेवेष्टि चराचरं जगत् व्याप्नोति इति विष्णुः । उ० ३।३९ । (आ) यस्माद्विश्वमिदं सर्वम् तस्य शक्त्या महात्मनः । तस्मादेवोच्यते विष्णुर्विशधातोः प्रवेशनात् । अग्नि । Pious man आप्टे ।

३. उदाहरण—धर्माय क्रमते साधुः । शेषदेव

सप्तधामभिः[१] सात प्रकार के जुते रहने वाले और योग्य करे
नः आदरयोग्य विविध वस्तुओं से हमारी (एवं भवन्न ऐसा आप लोग भी उपदेश करें।
अवन्तु[२] रक्षा करे, सर्वविध परम सुख की प्राप्ति के उपदिशन्तु)

ऋषि व्याख्यान

हे "देवाः" विद्वानो ! "*विष्णुः*" सर्वत्र व्यापक परमेश्वर ने सब जीवों को पाप[३] तथा पुण्य[४] का फल भोगने और सब पदार्थों के स्थित होने के लिये[५] "*पृथिव्याः*" पृथिवी से लेके "*सप्तधामभिः*" धाम अर्थात् ऊँचे नीचे[६] सात प्रकार के लोकों को बनाया, तथा गायत्र्यादि सात छन्दों से विस्तृत विद्यायुक्त वेद को[७] भी बनाया। उन लोकों के साथ वर्त्तमान[८] व्यापक ईश्वर ने "*यतः*" जिस सामर्थ्य से सब लोकों को रचा है "*अतः*" (सामर्थ्यात्) उस सामर्थ्य से[९] "*नः अवन्तु*" हम लोगों की रक्षा करे[१०]। हे विद्वानों ![११] तुम लोग भी उसी विष्णु के उपदेश से हमारी रक्षा करो[१२]। कैसा है वह विष्णु ? जिसने[१३] इस सब जगत् को "*विचक्रमे*" विविधप्रकार से रचा है, उसकी नित्य भक्ति करो।[१४]

---

१. (अ) सपति समवेतीति सप्तन्। उ० १।१५७। fr. सप = समवाये—भ्वा०। to honour; to connect; to perform.
(आ) दधाति यदत्र वेति धाम। स्थानं तेजो वा—उ० ४।१५१ law; rule; property; wealth—आप्टे।
(इ) कुछ सप्तधाम ये हैं—(१) भूर्भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम् (२) अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल, पाताल (३) सप्तऋषि अर्थात् मरीचि, अत्रि. अङ्गिरस, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ (४) शरीर की बनावट के सात भेद अर्थात् रसासृमांसमेदोऽस्थि मज्जानः शुक्रसंयुताः (रस, खून, मांस, चर्बी, हड्डी, मज्जा, वीर्य) (५) सप्तपदी अर्थात् विवाह के समय सात वस्तुओं की प्राप्ति की प्रतिज्ञा जैसे इष, ऊर्ज, रायस्, पोषमयोभव, प्रजा, ऋतु, सखा (६) स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च अर्थात् राष्ट्र के चलाने के सात साधन—राजा, मन्त्री, मित्र, कोश (खजाना), राष्ट्र (territory) किला और सेना (७) सात छन्द अर्थात् गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुभ् बृहती, त्रिष्टुभ् और जगती (८) पञ्चज्ञानेन्द्रिय बुद्धि और आत्मा (सत्यार्थ० समु० ७) (९) ऊँचे नीचे सात प्रकार के लोक—दया०।

२. अव = रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगमप्रवेशश्रवणस्वाम्यर्थयाचनक्रियेच्छादीप्त्यवाप्त्यालिङ्गनहिंसादानभागवृद्धिषु—भ्वा०

३. पाप = गलत रास्ते पर चलने।

४. पुण्य = सही रास्ते पर चलने।

५. सब पदार्थों के स्थित होने के लिये = सब चीजों को रखने के लिये।

६. ऊँचे-नीचे सात प्रकार के लोक = इसका अर्थ स्पष्ट नहीं।

७. सात छन्दों से विस्तृत विद्यायुक्त वेद को = सात प्रकार के छन्दों में गठित और उस छन्दशक्ति द्वारा प्रसन्नता देने वाले और उन्नतिकारी अनेक ज्ञान से समन्वित क्रमबद्ध समग्र वेद मंत्रों को।

८. लोकों के साथ वर्त्तमान = लोकों में सर्वविध व्याप्त।

९. उस सामर्थ्य से = उस बड़ी शक्ति के प्रयोग से।

१०. रक्षा करे = दुःख दूर करे और सुख देवे।

११. हे विद्वानो = हे देवो अर्थात् जिन्होंने सार और असार रूप में समग्र वस्तुओं को समझ लिया है और उसी का ज्ञानदान करते रहते हैं।

१२. उसी विष्णु के उपदेश से हमारी रक्षा करो = उस व्यापक पालक प्रभु को अपनाकर उसकी आज्ञा को समझ कर तदनुकूल हमें उसी के मार्ग पर ले चलो।

१३. जिसने इस सब जगत् को विविध प्रकार से रचा है = जिसने सूर्य के समान महान् वस्तु से लेकर जल के भीतर अदृश्य जन्तुओं को बनाया है।

१४. उसकी भक्ति करो = उससे प्रेम और उसकी आज्ञाओं का पालन करो॥

योग

[ले० श्री० स्वामी ओमानन्द जी महाराज पुष्कर]

योग के सम्बन्ध में नाना प्रकार की फैली हुई भ्रान्तियों के निवारणार्थ उसके वास्तविक स्वरूप को समझा देना अत्यावश्यक है। मोटे शब्दों में योग स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाना अर्थात् बाहर से अन्तर्मुख होना है। चित्त की वृत्तियों द्वारा हम स्थूलता की ओर जाते हैं अर्थात् बहिर्मुख होते हैं (आत्मतत्त्व से प्रकाशित चित्त, अहंकाररूप वृत्ति द्वारा, अहंकार इन्द्रियों और तन्मात्राओंरूप वृत्तियों द्वारा तन्मात्रायें सूक्ष्म और स्थूलभूत और इन्द्रियें विषयों की वृत्तियों द्वारा बहिर्मुख हो रही हैं) जितनी वृत्तियाँ बहिर्मुख होती जायेंगी, उतनी ही उनमें रज और तम की मात्रा बढ़ती जायेगी, और उससे उल्टा जितनी वृत्तियाँ अन्तर्मुख होती जायेंगी उतनी ही रज और तम के तिरोभाव-पूर्वक सत्व का प्रकाश बढ़ता जायेगा। जब कोई भी वृत्ति न रहे तब शुद्ध परमात्म-स्वरूप योग रह जाता है।

योग के तीन अन्तर्विभाग—

योग के मुख्य तीन अन्तर्विभाग किये जा सकते हैं। ज्ञान-योग, उपासना-योग, और कर्म-योग।

ज्ञानयोग—

भौतिक पदार्थों का ज्ञान लेना अर्थात् सांसारिक ज्ञान और विज्ञान, ज्ञानयोग नहीं है। बल्कि तीनों गुणों और उनसे बने हुए सारे पदार्थों से परे अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीर तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगत् अथवा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश अथवा शरीर, इन्द्रियों, मन, अहंकार और चित्त से परे गुणातीत शुद्ध परमात्मतत्त्व को, जिसके द्वारा इन सब में ज्ञान नियम और व्यवस्था-पूर्वक क्रिया हो रही है, संशय विपर्यय रहित पूर्णरूप से जान लेना ज्ञान योग है। यह ज्ञानयोग केवल पुस्तकों के पढ़ लेने या शब्दों द्वारा सुन लेने से ही नहीं प्राप्त हो सकता। उसके लिए उपासना योग की आवश्यकता होती है।

उपासना-योग—

एक प्रत्यय का प्रवाह करना अर्थात् चित्त की वृत्तियों को सब ओर से हटाकर केवल एक लक्ष्य पर ठहराने का नाम उपासना है। किसी सांसारिक विषय की प्राप्ति के लिए इस प्रकार एक प्रत्यय का प्रवाह करना उपासना कहा जा सकता है, उपासना योग नहीं। यह उपासना योग तभी कहलावेगा, जब इसका मुख्य लक्ष्य केवल शुद्ध परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति हो। उसको और स्पष्ट शब्दों में यूँ समझना चाहिए कि जिस प्रकार जल के सर्वत्र भूमि में व्यापक रहते हुए भी उसकी शुद्ध धारा को किसी स्थान विशेष से खोदने पर निकाला जाता है। उसी प्रकार परमात्मतत्त्व के सर्वत्र व्यापक रहते हुए भी उसके शुद्धस्वरूप को किसी स्थान विशेष द्वारा अन्तर्मुख होकर प्राप्त किया जा सकता है। यह जो चित्त को किसी विशेष देश (विषय-ध्येय-लक्ष्य) पर ठहरा कर शुद्ध परमात्म-स्वरूप को प्राप्त करने का यत्न किया जाता है, यही उपासना-योग है। इस एकाग्रता-रूप उपासना को सम्प्रज्ञात समाधि तथा सम्प्रज्ञात योग कहते हैं। इसके पश्चात् जो सर्ववृत्तियों के निरोध होने पर शुद्ध परमात्म-स्वरूप में अवस्थिति है वह ज्ञान-योग है। इसीको असम्प्रज्ञात समाधि तथा असम्प्रज्ञात योग कहते हैं।

इसके लिए किसी एकान्त, निर्विघ्न शुद्ध स्थान में सिर, गर्दन और कमर को सीधा एक रेखा में रखते हुए किसी स्थिरसुख आसन से बैठना प्राणों की गति को धीमा करना और इन्द्रियों को बाहर के विषयों से हटाकर चित्त के साथ अन्तर्मुख करना आवश्यक हैं। फिर यह देखना होगा कि अन्तर्मुख होने के लिए किस स्थान को लक्ष्य बनाया जावे। वैसे तो परमात्मा सर्वत्र व्यापक है। किन्तु उसके शुद्ध स्वरूप तक पहुँचने के लिए अपने ही शरीर में किसी स्थान को लक्ष्य बनाने में सुगमता रहती है। इसमें पाँच

विषयवती प्रवृत्तियों के स्थान हैं। अर्थात् नासिका का अग्रभाग गन्ध का, जिह्वा का अग्रभाग रस का, तालू रूप का, जिह्वा का मध्य भाग स्पर्श का और जिह्वा का मूल भाग शब्द का स्थान है। उनसे भी अधिक प्रभावशाली "विशोका वा ज्योतिष्मती" प्रवृत्ति के सुषुम्नानाड़ी में विद्यमान मूलाधार, स्वाधिष्ठान मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार चक्र हैं। सुषुम्ना, जो गुदा के निकट से मेरु दण्ड के भीतर होती हुई मस्तिष्क के ऊपर तक चली गई है, सर्वश्रेष्ठ नाड़ी है। यह सत्त्व-प्रधान, प्रकाशमय और अद्भुत शक्ति वाली है। यही सूक्ष्म शरीर, सूक्ष्म प्राणों तथा अन्य सब शक्तियों का स्थान है। उसमें बहुत से सूक्ष्म शक्तियों के केन्द्र हैं; जिनमें अन्य सूक्ष्म नाड़ियाँ मिलती हैं। इन शक्तियों के केन्द्रों को पद्म कमल तथा चक्र कहते हैं। उनमें उपर्युक्त सात मुख्य हैं। उनमें भी मणिपूरक, अनाहत, आज्ञा और सहस्रार विशेष महत्त्व के हैं। किसके लिए ध्यान के वास्ते कौन-सा स्थान अधिक उपयोगी हो सकता है, इस मार्ग के अनुभवी ही बतला सकते हैं।

जिस प्रकार तली-तोड़ कुएँ के खोदते समय कई प्रकार की मिट्टी की तहें तथा अन्य अद्भुत वस्तुएँ निकलती हैं, ऐसा ही ध्यान अवस्था में होता है। यहाँ भी स्थूल भूत, सूक्ष्म भूत, अहंकार और अस्मिता (आत्मा से प्रकाशित चित्त) ये चार प्रकार की तीनों गुणों की तहें आती हैं। जब स्थूल-भूत अथवा उनसे सम्बन्ध रखने वाले विषय सामने आवें, उसको वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि, जब सूक्ष्म भूत अथवा उनसे सम्बन्धित विषय उपस्थित हों उसको विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि, जब इन दोनों विषयों से परे केवल अहमस्मि वृत्ति रह जावे उसको आनन्दानुगत और जब उससे भी परे केवल 'अस्मि' वृत्ति रह जावे उसको अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है।

जिस प्रकार सारी मिट्टी की तहों के समाप्त होने पर जल को रेत से अलग किया जाता है। उसी प्रकार गुणों की इन चारों तहों के पश्चात् जब आत्मा को चित्त से अलग साक्षात् किया जाता है तब उसको विवेक-ख्याति कहते हैं। उसके पश्चात् शुद्ध परमात्म-स्वरूप शेष रह जाता है=जो असम्प्रज्ञात समाधि, असम्प्रज्ञात योग या ज्ञान-योग कहलाता है। अतः उपासना-योग द्वारा ही ज्ञान योग की प्राप्ति हो सकती है। किन्तु यह उपासना-योग भी बिना कर्म-योग के नहीं साधा जा सकता।

कर्मयोग:—

कोल्हू के बैल के सदृश कामों में लगे रहने का नाम कर्मयोग नहीं है। शरीर, इन्द्रियाँ, धन, सम्पत्ति आदि सारे साधनों, उनसे होने वाले कर्त्तव्य रूप सारे कर्मों को तथा उनके फलों को भी ईश्वर को समर्पण करते हुए अनासक्त निष्काम भाव से व्यवहार करने का नाम कर्मयोग है। जिस प्रकार मञ्च (Stage) स्टेज पर आया हुआ एक्टर (Actor) अपने दिये हुये पार्ट को भली प्रकार करता हुआ भी अन्दर से उसका कोई भी प्रभाव अपने हृदय पर नहीं होने देता है, उसी प्रकार कर्म-योगी ईश्वर की ओर से आये हुए सारे कर्त्तव्यों को भली प्रकार करता हुआ भी अन्दर से अलिप्त रहता है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥
गीता अ० ५।१०,११,१२ ॥

अर्थ:—कर्मों को ईश्वर के समर्पण करके और आसक्ति को छोड़कर जो कर्म करता है वह पानी में पद्म के पत्ते के सदृश पाप से लिप्त नहीं होता ॥१०॥ योगी फल की कामना और कर्त्तापन के अभिमान को छोड़कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए केवल शरीर, इन्द्रियों मन और बुद्धि से काम करते हैं ॥११॥ योगी कर्म के फल को त्याग कर परमात्म-प्राप्ति रूप शान्ति का लाभ करते हैं। अयोगी कामना के आधीन होकर फल में आसक्त हुआ बंधता है ॥१२॥

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्
(योगदर्शन ४।७)

अर्थ—योगी के कर्म न पुण्य रूप होते हैं और न पाप-रूप क्योंकि वह कर्त्तव्य-रूप पुण्य-कर्मों को

ईश्वर को समर्पण करके फल को त्याग कर निष्काम भाव से करता है। और पाप कर्म तो वह कभी करता ही नहीं क्योंकि उसके लिए सर्वदा त्याज्य हैं। दूसरे साधारण मनुष्यों का कर्म पाप, पुण्य और पाप-पुण्य से मिश्रित तीन प्रकार का होता है।

उपासना में जब चित्त की वृत्तियों को एक लक्ष्य विशेष पर ठहराने का यत्न किया जाता है तब अन्य विषयों में राग होने के कारण उनकी ओर दौड़ता है। विषयों में राग सकाम कर्मों से होता है। इसलिए विषयों से वैराग्य प्राप्त करने के लिए कर्मों में निष्कामता का होना आवश्यक है। अर्थात् पाप-रूप अधर्म कर्म तो त्याज्य होते ही हैं। पुण्य-रूप धर्म अर्थात् कर्त्तव्य कर्मों को उनके फलों की इच्छा को छोड़कर निष्काम भाव से करना चाहिए। इसलिए उपासना-योग बिना कर्म-योग की सहायता के नहीं सिद्ध हो सकता किन्तु ये निष्कामता के भाव भी ध्यान द्वारा ही परिपक्व हो सकते हैं। अर्थात् कर्म-योग की सिद्धि भी उपासना-योग की सहायता से हो सकती है। इसलिए जिस प्रकार सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों में से प्रत्येक गुण बिना अन्य दो की सहायता के अपना कोई भी कार्य स्वतन्त्र रूप से प्रारम्भ नहीं कर सकते। केवल इतना भेद होता है कि कहीं सत्त्व की प्रधानता होती है कहीं रज की और कहीं तम की, इसी प्रकार तीनों योगों में भी तम रूप उपासनायोग चित्त को एक लक्ष्य पर ठहराने वाला, रजरूप निष्काम कर्मयोग और सत्त्वरूप ज्ञानयोग ये तीनों अपने-अपने कार्य में परस्पर एक दूसरे के सहयोग की अपेक्षा रखते हैं। यह अवश्य होता है कि कहीं उपासना की प्रधानता होती हो, कहीं कर्म की और कहीं ज्ञान की।

तीनों योगों के दो मुख्य भेद—सांख्य-निष्ठा और योग-निष्ठा:—

इन तीनों योगों के दो मुख्य भेद सांख्य-निष्ठा और योग-निष्ठा के नाम से कहे गये हैं। जहाँ उपासना-योग और कर्म-योग पर अधिक जोर दिया गया हो वह योग-निष्ठा कहलाती है और जहाँ ज्ञान को प्रधानता दी जाती है, वह सांख्यनिष्ठा। इन दोनों निष्ठाओं का वर्णन षड् दर्शन समन्वय के चौथे प्रकरण सांख्ययोग के प्रारम्भ में विस्तार पूर्वक किया गया है।

नोटः—पहली दो भूमियों वितर्कानुगत और विचारानुगत में गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द इन पाँचों विषयों में प्रायः रूप और शब्द ही समक्ष आते हैं क्यों कि रूप को ग्रहण करने वाली नेत्र इन्द्रिय और शब्द को ग्रहण करने वाली श्रोत्र इन्द्रिय हर समय काम करती रहती है। इसी लिये सुगमता के कारण कई आचार्य रूप या शब्द को ही ध्येय बनाकर ध्यान प्रारम्भ करना बतलाते हैं।

उसीसे पूछो

(ले०—श्री स्वा० गंगागिरि जी आचार्य गुरुकुल महाविद्यालय रायकोट)

तं पृच्छता स जगामा स वेद स चिकित्वाँ ईयते स न्वीयते।
तस्मिन्त्सन्ति प्रशिषस्तस्मिन्निष्टयः स वाजस्य शवसः शुष्मिणस्पतिः। ऋ०१।१४५।१

तं पृच्छता—उसीसे पूछो; स जगाम, वह पहुँचा हुआ है। ज्ञानी है, सः चिकित्वान्, वह समझा-सकता है। अज्ञान रोगको दूर कर सकता है। ईयते (अतएव) प्राप्त किया जाता है, नु स ईयते, सचमुच वह प्राप्त किया जाता है। तस्मिन् प्रशिषः सन्ति, उसमें उत्तम शिक्षायें हैं। तस्मिन् इष्टयः उसमें सत्कर्म और भद्र भाव हैं, सः वाजस्य वह ज्ञान का प्रेरणा शक्ति का शवसः, बल का शुष्मिणः, शोषक शक्ति का पतिः स्वामी है। भावार्थ—मनुष्य के जीवन का लक्ष्य तो ब्रह्म है। किन्तु जो मनुष्य इसको अपना लक्ष्य नहीं मानते उन्हें भी स्वीकार है कि ज्ञान के विना मनुष्य मनुष्य कहाने का अधिकारी नहीं। पशु और मनुष्य में आकृति का ही भेद है और भेद नहीं है। नीतिकारों ने कहा है। विद्याविहीनः पशुः अर्थात् विद्या से शून्य पशु है; विद्या हि तेषामधिको विशेषः विद्या ही मनुष्यों में पशुओं से अधिक है, जिस विद्या की इतनी महिमा है, वह कहां से प्राप्त करनी चाहिये, वेद का इस विषय में एक निश्चित सिद्धान्त है, जो इस मन्त्र में प्रकाशित किया गया है बहुत ध्यान ओर सावधानता से इस तत्व का श्रवण करना चाहिये फिर इसका मनन करना चाहिये, वेद कहता है। तं पृच्छत स जगामा स वेद उसे पूछो जो पहुँचा हुआ है जो जानकार है भली प्रकार जानताहै, जिस मार्ग को जिसने देखा नहीं वह उसे दिखाये कैसे, उसपर चलाये किसी को कैसे, सुने सुनाये मे भ्रांति हो सकती है, निश्चित रूप से तो वही बोल सकता है, जिसने स्वयं वह मार्ग देखा हो, इस तत्व को वेद ने इस प्रकार कहा है; स जगाम, वह जो पहुँचा हुआ है। मार्ग में चलकर जो लक्ष्य पर पहुँच गया है, उसे मार्ग का अनुभव है, वह दूसरे को ले जा सकता है। इस भाव को लक्ष्य करके वेद आदेश करता है। स वेद वह जानता है अर्थात् उसको मार्ग की कठिनताओं का बाधाओं का ज्ञान पूर्ण है, उसको यह भी ज्ञात है कि इन से बचाकर कैसे लक्ष्य तक पहुँचाया जाये।

और भावनायें भव्य हैं, वह तो नित्य कहता है। आ मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा, विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा, प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा, दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा, शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा, तै० उ० शिक्षा वल्ली ४–२॥ आचार्य कहता है मेरी कामना है, मुझे सब ओर से ब्रह्मचारी शुभव्रतधारी ईश्वर जिज्ञासु प्राप्त हों। मेरी प्रभु से अन्तस्तल से प्रार्थना है,कि मुझे विविध देश-देशान्तरों से ब्रह्मचारी मिलें। मेरी यह भावना है मुझे ब्रह्मचारी वेदब्रह्माभिलाषी उत्तमता से प्राप्त हों। जो ब्रह्मचारी मुझे मिलें, वे दक्ष हों जितेन्द्रिय हों। मन उनका अपने वश में हो, ऐसी बलवती अभिलाषा है, मेरे संसर्ग में आने वाले शान्त हों, उपद्रव रहित हों। न उन्हें किसी प्रकार का विक्षेप हो, न वे किसी के विक्षेप का कारण बनें। ऐसे श्रेष्ठ गुरु का शिष्य बनना कौन नहीं चाहेगा। यद्यपि उसने प्राप्तव्य प्राप्त कर लिया, जिसे त्यागना था उसे त्याग दिया है। अब उसे कुछ प्राप्त करना वा त्याग करना शेष नहीं है। किन्तु फिर भी तस्मिन्निष्टयः। उसमें सभी श्रेष्ठ कार्य हैं। उसने श्रेष्ठ कर्मोंका त्याग नहीं किया है क्यों कि वह आचार्य है। आचारं ग्राहयति इति, आचार्य्यः। जो आचार के बनाने वाला है शिष्यों के, उसको आचार्य्य कहते

हैं, जो स्वयं आचारवान् नहीं वह दूसरों को आचार क्या सिखायेगा।

अतः परम उत्तम कोटि का ज्ञान प्राप्त करके निष्काम होकर भी निष्कर्मा नहीं होते हैं, लोक संग्रह के लिए निरन्तर कर्म करते हैं। सत्कर्मों का कभी त्याग नहीं करते। वेद आज्ञा ऐसी ही है। कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः ॥यजुः।४०।२॥ सत्कर्म करता हुआ ही मनुष्य सौ वर्ष पूरी आयु भोगने की इच्छा करे। इस प्रकार कर्म्मठ ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय का एक और गुण है। स वाजस्य शवसः शुष्मिणस्पतिः। वह ज्ञान बल शोषण शक्ति का स्वामी है। उसका मुख्य काम है कि वह अपना ज्ञान उसको सिखाये। उसके पास जा कर निर्बलों को बल मिले। उसके संग से नास्तिक आस्तिक बनें। वह पहुँचा हुआ हो जो साक्षात् कर चुका हो—विघ्न-बाधाओं का जानकार हो। जिज्ञासु की शंकाओं को दूर कर सकता हो. शिष्यों की कल्याण कामना सदा करता हो—स्वयं निरन्तर सत्कर्म करने वाला हो—अकर्म्मा या विकर्मस्थ न हो। ऐसे महात्मा के संग से सत्कर्म्म में प्रवृत्ति ईश्वर विश्वास की वृद्धि अविश्वासका नाश होता है॥

भाषा की उत्पत्ति-विषयक योरोपीय विचार और उनकी समीक्षा

(लेखक—श्री पं० भगवद्दत्त जी वैदिक स्कॉलर, देहली)

पाश्चात्य मत का आविर्भाव—

आर्य ऋषियों ने भाषा की उत्पत्ति का अनवच्छिन्न इतिहास अपने ग्रन्थों में सुरक्षित रखा है। वह तर्क-युक्त, सत्य और विज्ञान-सिद्ध है। उसे न समझकर योरोप के विचारकों ने लाइबनिज[१] (सन् १७१३) के काल से भाषा की उत्पत्ति के विषय में अनेक मत उपस्थित किए हैं। वे अधूरे, परस्पर-विरुद्ध और तर्क से अति-दूर हैं।

योरोपियन विचारों का चार में वर्गीकरण— अनेक वर्तमान लेखकों ने भाषा की उत्पत्ति के मतों को चार वर्गों में बांटा है। वे नीचे लिखे जाते हैं—

१—परम्परागत-मत (traditional)

इसके अन्तर्गत, भारत, मिश्र, और यूनान आदि के विचारकों के मत हैं।

२—रहस्यवादी मत (mystic)

३—अर्ध-वैज्ञानिक मत (semi-scientific)

४—मनोवैज्ञानिक मत (psychological)

अन्तिम निष्कर्ष—इन चारों मतों का सविस्तर वर्णन करने से पहले, भाषा-विषयक प्रश्नों पर अपने को प्रमाण-भूत मानने वाले तीसरे पक्ष के विचारकों का भाषा की उत्पत्ति के विषय में अद्यपर्यन्त निकाला गया निष्कर्ष यहां लिखना नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है। उस से इस विषय पर भूरि-प्रकाश पड़ेगा और अगला लेख अधिक स्पष्ट हो जाएगा।

(क) कोलम्बिया विश्वविद्यालय का महोपाध्याय एडगर स्टुर्टिवण्ट लिखता है—

After much futile discussion linguists have reached the conclusion that the data with which they are concerned yield little or no evidence about the origin of human speech.[2]

अर्थात्—बहुत व्यर्थ वाद-विवाद के पश्चात् भाषाविद् इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि प्रस्तुत-सामग्री का आधार मानव-बोली की उत्पत्ति के विषय में कोई साक्ष्य नहीं देता।

(ख) इटली का मेरियो-पाई लिखता है—

If there is one thing on which all linguists are fully agreed, it is that the problem of the origin of human speech

१. न्यूटन का समकालिक और प्रतिद्वन्द्वी, देखो मैक्समूलर कृत L. S. L. भाग १, पृ. १४९.

2. An Introduction to Linguistic Science, p. 40, New Haven, 1948.

is still unsolved[1].

अर्थात्—यदि कोई एक बात है जिस पर सब भाषा-विद् पूरे सहमत हैं तो वह है, कि मानव बोली की उत्पत्ति की समस्या अभी तक पूर्ति को प्राप्त नहीं हुई।

(ग) अमेरिका का जे. वैनड्राईस लिखता है—

"......... the problem of the origin of language does not admit of any satisfactory solution[2].

अर्थात्—मानव भाषा की उत्पत्ति की समस्या का कोई सन्तोषजनक हल नहीं है।

विवशता का कारण—योरोप की इस असहाय-अवस्था का कारण है। जैसा आगे लिखेंगे, योरोप ने जब से विकास मत पर सर्वाङ्गीण विश्वास किया और भाषा के क्षेत्र में उसका प्रयोग किया, तब से भाषा के अमेद्य-शैल से उसकी टक्कर हुई। इस टक्कर में योरोप पूर्ण पराजित हुआ। उस का स्वीकार जे. वैण्ड्रीएस के लेख में मिलता है—

But the oldest known languages, the "parnet languages "as they are sometimes called, have nothing of the primitive about them[3].

अर्थात्—प्राचीनतम ज्ञात भाषाएँ, जिन्हें बहुधा मूल भाषाएँ कहते हैं अपने में प्राक्-कालिक कोई बात नहीं रखतीं।

वस्तुतः प्राचीनतम भाषा संकृत में पदों और वाक्यों के रूप अत्यधिक परिमार्जित और बहुविध हैं।

चेतावनी—यह ऐसा सत्य है जिससे प्रकट है कि असत्य के आधार पर स्वीकृत विकास मत संसार के दुःख का कारण कैसे बना।

श्लाईशर—इस विषय पर जर्मनभाषाशास्त्री श्लाईशर का विचार द्रष्टव्य है—डार्विन का ग्रन्थ प्रकट होते ही श्लाईशर ने भाषा के इतिहास द्वारा उसका उचित खण्डन किया। श्लाईशर का ग्रन्थ भाषा का ह्रास पक्ष योग्यता से उपस्थित करता है। उस ग्रन्थ का नाम है—

Darwinism tested by the Science of Language[4].

श्लाईशर ने डारविन के प्रतिकूल लिखा कि भाषा के साक्ष्य पर डारविन-मत असत्य ठहरता है।

इसी असत्य डारविन मत पर गुणे, मङ्गलदेव, तारापुरवाला और बाबूराम आदि के तर्क-शून्य विचार आधारित हैं।

परिणाम (क)—इसी मत के भय के कारण संसार की प्राचीनतम और मूल-भाषा संस्कृत को बहुत अर्वाचीन माना जाता है। विकास मतस्थ व्यक्ति जो आदि संसार को निज कल्पना के अनुसार बर्बर समझता है, इस सर्वतो मुखी भाषा को आदि का कैसे मान सकता है।

(ख) भाषा के कल्पित इतिहास द्वारा भाषा की उत्पत्ति का ज्ञान-प्राप्त न होने पर पाश्चात्यों ने कहना आरम्भ कर दिया कि भाषा की उत्पत्ति का विषय भाषा-विज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। यथा—

The statement that the problem of the origin of language is not of a linguistic order always provokes surprise. It is true never the less[5].

अर्थात्—भाषा की उत्पत्ति की समस्या का भाषा-विषय से कोई सम्बन्ध नहीं।

वस्तुतः इस विषय का भाषा-शास्त्र से गम्भीर सम्बन्ध है लोक भाषा और वेद-वाक् का इतिहास ही भाषा-उत्पत्ति के रहस्य का उद्घाटन करता है।

इतने प्राक्कथन के पश्चात् हम प्रस्तुत विषय के प्रथम मत का वर्णन और परीक्षण करते हैं—

परम्परागत मत-दैवी वाक्

(क) आर्य विद्वान दो प्रकार की वाक् मानते आए हैं, दैवी और मानुषी। मानुषीवाक् में पद तो लगभग वही हैं जो दैवी वाक् में होते हैं, पर रचना और आनुपूर्वी के हेर फेर के कारण यह एक नया रूप धारण करती है। पर मूल इसका दैवीवाक् है।

1. The story of Language, p. 18. London, 1952. 2. J. Vendryes, Language, p. 315, London 1952.
3. Language, A linguistic Introduction to history, p. 5. London, 1552.
4 English tr. fom the German by Dr. Ac. v. w. H. Bikkers (London: Holten, 1869).
देखो इस ग्रन्थ पर मैक्समूलर की आलोचना, (नेचर, संख्या १०, जनवरी ६, १८७०)
5. J. Vendryes, Language p. 5.

is still unsolved[1].

अर्थात्—यदि कोई एक बात है जिस पर सब भाषा-विद् पूरे सहमत हैं तो वह है, कि मानव बोली की उत्पत्ति की समस्या अभी तक पूर्ति को प्राप्त नहीं हुई।

(ग) अमेरिका का जे. वैनड्राईस लिखता है—

"........the problem of the origin of language does not admit of any satisfactory solution[2].

अर्थात्—मानव भाषा की उत्पत्ति की समस्या का कोई सन्तोषजनक हल नहीं है।

विवशता का कारण—योरोप की इस असहाय-अवस्था का कारण है। जैसा आगे लिखेंगे, योरोप ने जब से विकास मत पर सर्वाङ्गीण विश्वास किया और भाषा के क्षेत्र में उसका प्रयोग किया, तब से भाषा के अभेद्य-शैल से उसकी टक्कर हुई। इस टक्कर में योरोप पूर्ण पराजित हुआ। उस का स्वीकार जे. वैण्ड्रीएस के लेख में मिलता है—

But the oldest known languages, the "parnet languages "as they are sometimes called, have nothing of the primitive about them[3].

अर्थात्—प्राचीनतम ज्ञात भाषाएँ, जिन्हें बहुधा मूल भाषाएँ कहते हैं अपने में प्राक्-कालिक कोई बात नहीं रखतीं।

वस्तुतः प्राचीनतम भाषा संकृत में पदों और वाक्यों के रूप अत्यधिक परिमार्जित और बहुविध हैं।

चेतावनी—यह ऐसा सत्य है जिससे प्रकट है कि असत्य के आधार पर स्वीकृत विकास मत संसार के दुःख का कारण कैसे बना।

श्लाईशर—इस विषय पर जर्मनभाषाशास्त्री श्लाईशर का विचार द्रष्टव्य है—डार्विन का ग्रन्थ प्रकट होते ही श्लाईशर ने भाषा के इतिहास द्वारा उसका उचित खण्डन किया। श्लाईशर का ग्रन्थ भाषा का ह्रास पक्ष योग्यता से उपस्थित करता है। उस ग्रन्थ का नाम है—

Darwinism tested by the Science of Language[4].

श्लाईशर ने डारविन के प्रतिकूल लिखा कि भाषा के साक्ष्य पर डारविन-मत असत्य ठहरता है।

इसी असत्य डारविन मत पर गुणे, मङ्गलदेव, तारापुरवाला और बाबूराम आदि के तर्क-शून्य विचार आधारित हैं।

परिणाम (क)—इसी मत के भय के कारण संसार की प्राचीनतम और मूल-भाषा संस्कृत को बहुत अर्वाचीन माना जाता है। विकास मतस्थ व्यक्ति जो आदि संसार को निज कल्पना के अनुसार बर्बर समझता है, इस सर्वतो मुखी भाषा को आदि का कैसे मान सकता है।

(ख) भाषा के कल्पित इतिहास द्वारा भाषा की उत्पत्ति का ज्ञान-प्राप्त न होने पर पाश्चात्यों ने कहना आरम्भ कर दिया कि भाषा की उत्पत्ति का विषय भाषा-विज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। यथा—

The statement that the problem of the origin of language is not of a linguistic order always provokes surprise, It is true never the less[5].

अर्थात्—भाषा की उत्पत्ति की समस्या का भाषा-विषय से कोई सम्बन्ध नहीं।

वस्तुतः इस विषय का भाषा-शास्त्र से गम्भीर सम्बन्ध है लोक भाषा और वेद-वाक् का इतिहास ही भाषा-उत्पत्ति के रहस्य का उद्घाटन करता है।

इतने प्राक्कथन के पश्चात् हम प्रस्तुत विषय के प्रथम मत का वर्णन और परीक्षण करते हैं—

परम्परागत मत-दैवी वाक्

(क) आर्य विद्वान दो प्रकार की वाक् मानते आए हैं, दैवी और मानुषी। मानुषीवाक् में पद तो लगभग वही हैं जो दैवी वाक् में होते हैं, पर रचना और आनुपूर्वी के हेर फेर के कारण वह एक नया रूप धारण करती है। पर मूल इसका दैवीवाक् है।

1. The story of Language, p. 18. London, 1952. 2. J. Vendryes, Language, p. 315, London 1952.
3. Language, A linguistic Introduction to history, p. 5. London, 1552.
4 English tr. fom the German by Dr. Ae. v. w. H. Bikkers (London: Holten, 1869).
देखो इस ग्रन्थ पर मैक्समूलर की आलोचना, (नेचर, संख्या १०, जनवरी ६, १८७०)
5. J. Vendryes, Language p. 5.

होती तो ठीक इस के विपरीत इसका आरम्भ नाम से होता क्यों कि यही तर्क युक्त आदर्श मार्ग था।

इडर की प्रतिध्वनि गुणे में—महाराष्ट्र अध्यापक गुणे (सन् १९१८) लिखता है—

The theories that it is a gift of God or that it is the result of a deliberate convention arrived at by the members of the most primitive community, may be brushed aside at once. No linguist believes in them today.

अर्थात्—ईश्वर से भाषा की उत्पत्ति के मत परे फेंके जा सकते हैं। कोई भाषाशास्त्री उनमें आज विश्वास नहीं करता।

इस विषय में विकास-मत हमारा मुख्य-सहायक है।

गुणे का अभिप्राय कि उसके दो-एक गुरु अथवा उनके सहकारी कार्यकर्ता ही भाषा-शास्त्री हैं, उपहासास्पद है।

मङ्गलदेव के उद्गार—योरोप और गुणे के चरण चिह्नों पर चलते हुए डा० मंगलदेवजी शास्त्री लिखते हैं—

(१) मनुष्य की सृष्टि के साथ ही साथ एकाएक दैवी शक्ति के द्वारा एक अनोखे प्रकार से पूर्ण रूप से निष्पन्न भाषा की सृष्टि संसार में हुई।[1]

(२) उदाहरणार्थ, भारतवर्ष में वेदों को ईश्वरीय पुस्तक मानने वाले कहते हैं कि संस्कृत वेदों की भाषा है। वेद अनादि हैं, सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ने मनुष्य समाज के हित के लिए नित्य वेदों का प्रादुर्भाव किया। इस लिए वेदों की भाषा भी नित्य है। संस्कृत देव-भाषा है। यही पृथ्वी की अन्यान्य भाषाओं की मूल भाषा है।[2] इति।

इस से आगे वे इस पक्ष के खण्डन में कुछ लंगड़ी-लूली युक्तियाँ उपस्थित करते हैं, और प्रतिपादित करने का प्रयास करते हैं कि—

(३) भाषा भी मनुष्य के आश्रय में...उत्कृष्टता की ओर बढ़ती रही है।[3] इति।

समीक्षा—भाषा की शब्द राशि न्यून हुई है, शब्दों के रूप न्यून हुए हैं, शब्दों के विभिन्न अर्थों का सूक्ष्म भेद लुप्त हो गया है, उच्चारण में शतशः दोष संसार-भर में उत्पन्न हुए हैं, और संस्कृत व्यतिरिक्त संसार की सम्पूर्ण भाषाओं के व्याकरण न्यूनाधिक निकृष्ट होते गए हैं, इन सत्यों के समक्ष एक 'शास्त्री' भाषा की उत्तरोत्तर उत्कृष्टता का समर्थन करे, और वृथा समर्थन करे, तो यही समझ सकते हैं कि उसका संस्कृत-शास्त्र-ज्ञान शून्य के तुल्य है। आयुर्वेद, शिल्प शास्त्र, अर्थशास्त्र और धनुर्वेद आदि के उपलब्ध ग्रन्थों की विपुल शब्द-राशि ही आश्चर्य-उत्पादक है। इन ग्रन्थों में उपलब्ध सहस्रों शब्द न मोनियर विलियम्स और न रोथ के कोश में सन्निविष्ट हैं। पुनः किस मुख से शास्त्री जी ने भाषा की उत्कृष्टता की ओर बढ़ती का कथन किया है। संस्कृत शास्त्रकारों के पदार्थों के वैज्ञानिक वर्गीकरण का योरोप के एक विज्ञान में भी निदर्शन नहीं है। अतः शास्त्री जी का सारा पक्ष मिथ्या है।

स्मरण रहे कि automobile, Ladyfinger, समाचार-पत्र आदि शब्द स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखते। पूर्व-प्रचलित दो-दो शब्दों के मेल से जो शब्द बनते हैं, वे बाह्य दृष्टि से ही भाषा को समृद्ध करते रहे हैं। उनका इस विषय में वास्तविक योग नहीं।

इसी प्रकार अंग्रेजी के गैस, watermans ink आदि शब्दों की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जो पद धातु का निर्देश नहीं करा सकता और जिसका धातु कल्पित किया जाए, वह औपचारिक दृष्टि से ही शब्द (ध्वनिमात्र) होता है। शब्द का अर्थ तो उसके साथ चिपटाया जाता है।

पुनः शास्त्री जी पाश्चात्यों के खोखले तर्क के बल पर लिखते हैं—

संस्कृत आदि भाषाओं की रचना तथा शब्दों पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये अपने-अपने आधुनिक रूप में न तो पृथिवी की मूल भाषा ही हो सकती हैं और न आदि भाषा ही। उदाहरणार्थ—

संस्कृत	ग्रीक	अंग्रेजी	जर्मन
हंसः	chen	goose (गूस)	gans (गंस)
दुहिता	थुगतेर	डाघटर (डाटर)	टाख्टर

[यहाँ] 'दुहितृ' और 'हंस' के पर्यायवाचक शब्दों में 'ह्' के स्थान में 'ग्', 'घ्' आदि अक्षरों को देखकर यह सिद्ध होता है कि 'दुहितृ' और 'हंस' मूल या आदि भाषा

१. भाषा-विज्ञान, पृष्ठ १४४, सन् १९५१।
२. ” ” ” १४६, ” ”
३. ” ” ” १४८, ” ”

के शब्द नहीं हो सकते, क्योंकि 'घ्' 'ध्' 'भ्' आदि से 'ह' का बनना स्वाभाविक है जैसे लौकिक संस्कृत के 'ग्रह' धातु के स्थान में वेद में 'ग्रभ' या 'सह' (=साथ) के स्थान में 'सध' आता है। 'ह्' से 'घ्' आदि का बनना वैसा नहीं है[1]। इति।

योरोपीय लेखकों और उनके शिष्यों के ये दो प्रिय उदाहरण हैं, जो वे आज तक सर्वत्र देते चले जाते हैं। बरो के ग्रन्थ में भी ये ही हैं। अब इस तर्क की परीक्षा की जाती है—

संस्कृत किसी-किसी पदस्थ 'ह' को अवेस्ता आदि में 'ज' हो जाता है। यथा—संस्कृत का अहि अवेस्ता में 'अजि' हो गया है। संस्कृत 'हिंजीर' शब्द का फारसी में 'ज़ंजीर' और पंजाबी में 'जंजीर' बन गया है। 'ज' बहुधा 'ज' में परिणत हो जाता है। और 'ज' का उच्चारण योरोपीय भाषाओं में 'ज' और 'ग' दोनों प्रकार से होता है। अतः हंस शब्द रूपपरिवर्तन करता हुआ 'गंस्' आदि बना इसमें अणु मात्र सन्देह नहीं। हमें हंस से 'गूज़' आदि तक पहुँचाने वाले मध्यरूपों का अन्वेषण करना चाहिए। सौभाग्य से इस विषय पर प्रकाश डालने वाला अंग्रेजी में एक आश्चर्यजनक उदाहरण अब भी विद्यमान है। उसको जानने वाले अंग्रेज और जर्मन लेखकों को हमारी बात में कोई न्यूनता प्रतीत न होनी चाहिए। यथा—

हिन्दु धर्म-शास्त्र विषयक एक पुस्तक वारेन हेस्टिंग के काल में तैयार की गई। उसका नाम था 'गेण्टु' [Hindoo] धर्मशास्त्र और उसे अंग्रेजी में लिखते थे Gentoo [Hindoo] law।[2] यहाँ हिन्दु शब्द की 'ह' ध्वनि अंग्रेजी में G द्वारा व्यक्त की गई। क्या इसके लिए कोई बुद्धिमान् किसी मूल 'घण्टो' शब्द की कल्पना करेगा?

इससे भी बढ़कर ध्यान रहना चाहिए कि संस्कृत के ब्राह्मण पद का ग्रीस के अनेक ग्रन्थकारों ने ब्रागमन उच्चारण लिखा है। वे सब ह का ग उच्चारण करते हैं।

सक्सेना की घोषणा—योरोपीय विचारधारा के एक और मल्ल डा० बाबूराम सक्सेना जी लिखते हैं—

धर्मग्रन्थों में श्रद्धा रखने वालों के लिए इस [भाषा के उद्गम] प्रश्न की तह में कोई समस्या मालूम नहीं होती। प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर ऋषियों को ईश्वरीय ज्ञान (वेद के स्वरूप में) प्रदान करता है। इन आदिम ऋषियों को उस वैदिक भाषा का स्वतः ज्ञान होता है।... इस प्रकार देववाणी संस्कृत ही आदि भाषा है।......... जिससे बाद को अन्य भाषाएँ...फूट निकलीं।[3]

आधुनिक विज्ञान मनुष्य की सृष्टि को विकासवाद की दृढ़ नींव पर ही स्वीकार करता है।[4]

हर्डर आदि की पहली भूल—ईश्वर के स्वरूप को यथार्थ न समझ कर ईसाई हर्डर ईश्वर से साक्षात् वाक् की उत्पत्ति को मान और आकाशी वागिन्द्रिय की देवी द्वारा प्रेरणा को न समझ कर एक भारी भूल में पड़ा। उसी की भूल को गुणे मंगलदेव और सक्सेना आदि ने दोहराया। आश्चर्य मङ्गलदेव जी पर है, जो पूर्ण यत्न करने पर शास्त्र समझ सकते थे, पर जिन्होंने इस दिशा में कष्ट ही नहीं उठाया। अब हर्डर के पक्ष की कुछ अधिक परीक्षा करते हैं।

हर्डर की प्रतिज्ञाएँ—हर्डर के पूर्वोद्धृत वचन में उसकी तीन प्रतिज्ञाएँ स्पष्ट हैं—

१—ईश्वरीय भाषा अधिक तर्क युक्त,

२—शुद्ध-युक्ति से अधिक व्याप्त, तथा

३—आरम्भ में नाम समूहमात्र होनी चाहिए।

इनमें से पहले दो पक्ष सम्मति मात्र हैं। हर्डर के सामने हिब्रिऊ (इबरानी) भाषा विद्यमान थी। उसमें तर्क हीनता के जो दोष उसने निकाले, वे उसकी इच्छा की अभिव्यक्ति ही थे। **भाषाओं के तर्कयुक्त होने का सर्व-स्वीकृत आदर्श क्या है,** जब तक इसका निर्णय न हो पाए, तब तक तर्क-युक्त और अतर्क-युक्त का प्रतिपादन असम्भव है।

तीसरा पक्ष कुछ विचारणीय है। पर इस विषय में भी दो मत योरोप में ही उत्पन्न हो गए। Origin of Language (भाषा की उत्पत्ति का पहला पाश्चात्य अन्वेषक एडम स्मिथ था। उसके विषय में मैक्समूलर लिखता है—

"Adam Smith would wish us to believe that the first artificial words were verbs." "Nouns, he thinks, were of less urgent necessity because things could be pointed at or imitated, where as mere actions, such as are expressed

१. भाषा-विज्ञान, पृष्ठ १५०-१५१।

२. सामान्य भाषाविज्ञान, पृष्ठ ११।

३. A. A. macdonell, H. S. L.

४. सामान्य भाषाविज्ञान, पृष्ठ १२।

by verbs, could not."[1]

अतः हर्डर का तीसरा पक्ष भी महत्त्वपूर्ण नहीं, वस्तुतः नाम और क्रिया पद आरम्भ से ही थे।

क्या सब नाम आख्यातज हैं—इस विषय में एक सूक्ष्म तत्त्व विशेष ध्यान-योग्य है। उसकी ओर महाभाष्य-कार पतञ्जलि ने संकेत किया है—

बृहस्पतिरिन्द्राय......प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच। १।१।१॥

अर्थात्—आरम्भ में नाम और आख्यात सब पूर्ण पद मान कर पृथक् पृथक् व्याख्यात किए जाते थे। धातुओं की सामान्य कल्पना और एक ही धातु से अनेक नामों की व्युत्पत्ति उत्तर काल में की गई। पदों में अर्थों के सूक्ष्म भेद की छाया शनैः शनैः न्यून हुई और तत्पश्चात् उससे भी अवर काल में मनुष्य शक्ति के अत्यधिक ह्रास के कारण अनेक धातु मिला कर एक धातु मानलिया गया और उसी एक धातु से शतशः नाम व्युत्पन्न माने गए।

वस्तुतः नाम आख्यात, उपसर्ग और निपात आदि से ही थे।

बालक और प्रजापति—पार्थिव पुरुष प्रजापति की क्षुद्रानुकृति है। जो क्रियाएँ प्रजापति पुरुष में हुईं, उनमें से अनेक आज भी पुरुष में दिखाई देती हैं। अथवा पुरुष की पूर्वावस्था अर्थात् शैशव की अनेक बातें महान् पुरुष में कभी हुई थीं। एक वर्ष का बालक बोलना सीखता है। प्रजापति भी एक वर्ष के पश्चात् वाक् बोला। बालक एकाक्षरी और द्व्यक्षरी पद बोलता है। प्रजापति भी आकाश में भूः, भुवः, स्वः एकाक्षर और द्व्यक्षर पद बोला। तत्पश्चात् आकाश में मन्त्र उत्पन्न हुए। बालक बोलना सीखता है। प्रजापति भौतिक शक्तियों और महान् मन के योग से बोला—

मनसा वै ईषिता वाग् वदति।

वही आकाशी वाणी पूर्व उत्पन्न ऋषियों ने योगावस्था में सुनी। वही मन्त्र आदि थे। उसी के आश्रय पर लोक-भाषा संस्कृत संसार में प्रवृत्त हुई।

२. रहस्यवादी मत—रहस्यवादी मत में इसी बात की प्रमुखता है कि ईश्वर ने मनुष्य को भाषा सिखाई। बाइबल और कुरान के अनुसार ईश्वर ने आदम को नाम सिखाए और आदम ने पशुपक्षियों आदि के नाम रखे।

अन्य अनेक लेखक भी यही मानते हैं कि आदि में ईश्वर ने ऋषियों को भाषा की शिक्षा दी। इस मत को यदि पूर्वोक्त देव-पक्ष के साथ इकट्ठा पढ़ा जाए, तो विषय पूर्ण स्पष्ट हो जाता है, अन्यथा नहीं।

डिंग डाग मत—इस मत का संकेत आगे किया गया है। तदनुसार शब्दार्थ का रहस्यमय सम्बन्ध है। अतः पदार्थ के सामने आते ही उसके लिए शब्द भी आदि में मनुष्य के सामने स्वाभाविक ही आ गया।

३. अर्ध वैज्ञानिक मत—इस विषय में इटली का लेखक मेरिओ पाई लिखता है—

One hypothesis, originally sponsored by Darwin, is to the effect that speech was in origin nothing but mouth-pantomime, in which the vacal organs unconsciously attempted to mimic gestures by the hands.[2]

Language was not deliberately framed by man, but sprang of necessity from his innermost nature[3].

आस्य-स्थानों द्वारा स्वाभाविक अभिव्यक्ति, और दीर्घ काल में उस का भाषा बन जाना ऐतिहासिक कसौटि पर अभी पूरा नहीं उतर सका।

वर्तमान वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार भी यह मत वैज्ञानिक नहीं, पर कुछ रहस्यवाद से सम्बन्ध रखता है।

४. मनोवैज्ञानिक (Psychological) मत

I. बौ-बौ मत—इस मत का नाम "Bow-wow" मत है। इस मत में प्राकृतिक शब्दों के अनुकरण (Imitations of sounds in nature) का भाव काम करता है। यथा कुत्ता बौ-बौ करता है। उसकी इस ध्वनि के अनुकरण पर उसका "डाग" (dog) नाम पड़ा। यही अवस्था कौआ, काक (crow), अथवा म्याऊं नाम की है। कौआ कां-कां करता है।

आनोमेटोपियन—बौ-बौ मत का पुराना नाम आनोमेटोपियन मत था। यह शब्द ग्रीक भाषा का है। अर्थ है इस का शब्दानुकरण। ग्रीक लोगों से पूर्व भारतीय विचारक भी इस पक्ष को जानते थे। निरुक्तकार यास्क इस मत का शब्दानुकृति नाम से उल्लेख करता है।

1. Lectures on the Science of Language Vol. I. P. 33. 1886.
2. Mario pei, Story of Language, P. 18.
3. Jesperson. P. 27.

औपमन्यव का पक्ष—यास्क ने इस पर औपमन्यव का मत लिखकर स्पष्ट किया है कि काक नाम में भी शब्दानुकृति नहीं है। यह अनुकरण-मत शकुनि नामों में अधिकता से मिलता है, पर भाषा का आरम्भ इस मत के अनुसार नहीं हुआ।

हर्डर के पूर्व-उत्तर मत—मैक्समूलर लिखता है—

Herder strenuously defended this theory, but later renounced it.[1]

अर्थात्-हर्डर ने उत्तर-काल में इस मत को त्याग दिया।

इस मत के विरुद्ध तर्क—एक ही प्राकृतिक ध्वनि को विभिन्न लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से सुनकर उस का पृथक्-पृथक् रूपेण अनुकरण करते हैं। यथा—

"What is "cock-a-doodle" to an English-man is cocorico to a French-man and chichirichi to an Italian..."[2]

अर्थात्—एकही ध्वनि भिन्न-भिन्न जातियों में भिन्न-भिन्न प्रकार से अनुकरण किया गया है।

तीतर की एकही ध्वनि को—

सुबहान तेरी कुदरत[3],

मूली प्याज अदरक,

गल कट और टक रख,

अल्लाह हु—अकबर,

विभिन्न विचारों के लोग पृथक्-पृथक् प्रकार से प्रकट करते हैं।

शब्दानुकृति का एक श्रेष्ठ उदाहरण उस शब्द में मिलता है, जो भारतीय ग्रामीणों ने मोटर-बाई-साईकल के लिये घड़ा—फटफटिया।

ध्यान रहे कि विकास मतानुसार आदि में ही इस नियम पर भाषा का आरम्भ हुआ, इस में तर्क नहीं है।

II इसके अन्तर्गत योरोप के विचारकों ने निम्नलिखित तीन पक्ष रखे हैं—

(क) पूह-पूह (pooh-pooh) मत—

तदनुसार, आश्चर्य, भय, प्रसन्नता के समय मनुष्य सहसा कई उच्चारण करता है (ejaculations, sudden utterances) उदाहरण—अहो, बत, आ, अहह्।

इसे ही यो-हो-हो नाम देते हैं। इस में कण्ठ से शब्द निकलकर शारीरिक चेष्टाओं द्वारा भाव प्रकाशन का प्रकार काम करता है।

इसे पुनः सिंग-सौंग अथवा प्रारम्भिक अस्पष्ट गीत (primitive inarticulate chants) नाम देते हैं।

(ख) टा-टा मत—इसमें अक्षिनिकोच अथवा शरीर-संकोच आदि का शब्द में प्रकट करना पाया जाता है। यथा-ऊँ-ऊह-इत्यादि।

(ग) डिंग-डांग मत—इसके अनुसार शब्द और अर्थ का रहस्यमय संबन्ध होता है।

यह अन्तिम मत उस प्राचीन भारतीय मत का रूप उपस्थित करता है जिस के अनुसार शब्दार्थ का कृतक अथवा वाचनिक संबन्ध नहीं, प्रत्युत स्वाभाविक सम्बन्ध है। पर इसका भाषा की उत्पत्ति के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं है।

साधु शब्द और अपभ्रंश शब्द

विकास मतस्थ लोग सम्पूर्ण शब्दों को साधु मानते हैं। यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। जो शब्द स्पष्ट ही विकृत हैं और ग्रीक, लैटिन, इटालियन, जर्मन, अंग्रजी, प्राकृत और अपभ्रंश में पाए जाते हैं, उन्हें साधु मानना बलात्कार है। पञ्जाबी भाषा का 'मनुख' शब्द 'मनुष्य' का साक्षात् अपभ्रंश है। इसे साधु मानने वाला भाषा के ह्रास को वृथा ही भाषा के विकास के साथ जोड़ता है। इसी प्रकार अंग्रेजी का 'मैन' और जर्मन का 'मन' भी मनुष्य

1. Lec. S. L. Vol. I. P. 409.

2. Mario Pei, P. 19.

३. एक तीतर बोल रहा था, उस ध्वनि को भिन्न २ विचारवालों ने भिन्न २ बतलाया—

(१) सुबहान तेरी कुदरत	(मुसलमान ने बतलाया)	(२) रामलक्ष्मण दशरथ	(हिन्दु ने बतलाया)
(३) नून तेल अदरक	(बनिया ,, ,,)	(४) हल्दी मिरचा डक रख	(दूसरे ,, ,,)
(५) दण्ड बैठक कसरत	(पहलवान ,, ,,)	(६) चरखा पोनी चमरख	(बुढ़िया ने ,,)
(७) पान बीड़ी सिगरेट	(तम्बोली ,, ,,)	(८) निम्बू नारंगी कमरक	(माली ,, ,,)

यह क्या कह रहा है सो भगवान् ही जाने [सम्पादक वेदवाणी]

शब्द के विकार हैं। उन्हें संस्कृत का विकार न मानकर भी पाश्चात्य लेखकों को भारोपीय भाषा से विकृत मानना पड़ा।

आद्य भाषा की समृद्धि—भाषा का इतिहास सिद्ध करता है कि जिस किसी भाषा को भी अनेक उत्तर वर्ती भाषाओं का मूल माना जाएगा, उसे अत्यन्त समृद्ध मानना पड़ेगा और फिर विभिन्न भाषा-समूहों की भाषा का जो आदि मूल होगा, वह उस से भी समृद्ध होगा। इस प्रकार अन्तिम मूल भाषा समृद्धतम होगी। यह पक्ष विकास मत के सर्वथा विपरीत है। अतः श्लाईशर ने ठीक लिखा था कि भाषा के इतिहास की चट्टान पर डार्विन का मत चूर-चूर होकर मग्न हो जाता है॥

श्रौतयज्ञ और पशुवालम्भ

[ले०—पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक करोल बाग, देहली]

(क) योरोपीय विद्वानों का मत है कि प्राचीन आर्य यज्ञों में पशु-बलि देते थे। उनके रचे हुए वेदों में पशु-बलि का बहुधा उल्लेख मिलता है। यही नहीं गो-बलि भी मान्य है।

(ख) मध्यकालीन भारतीय वेदभाष्यकार भी यज्ञों में पशु-बलि का विधान मानते हैं।

(ग) गृह्य और श्रौत ग्रन्थों में बहुविध पशु-यज्ञों का निर्देश उपलब्ध होता है।

(घ) वेद की शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में भी पशु-यज्ञों की विस्तृत विधि निर्दिष्ट है।

कतिपय विद्वान् ब्राह्मण आदि में विहित पशु-यज्ञों में पशु-हिंसा मानते हैं, अन्य विद्वान् इन प्रकरणों में समागत अजादि शब्दों को अन्यार्थ-परक स्वीकार करते हैं।

यज्ञ में पशु-बलि के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों तथा भारतीय मध्यकालीन वेद भाष्यकारों का ऐकमत्य होने पर भी वेद की उत्पत्ति के विषय में भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों में महान् अन्तर है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि वेद में स्थान-स्थान पर यज्ञों का वर्णन उपलब्ध होता है, परन्तु जब तक यह ज्ञात न हो जावे कि मन्त्र-प्रतिपादित यज्ञ कौन से हैं, तब तक उन मन्त्रों का और उनमें प्रतीयमान पशु-बलि का वास्तविक स्वरूप व्यक्त नहीं हो सकता। इसलिए यह आवश्यक है कि पृथिवी पर द्रव्यमय यज्ञों का आरम्भ कब हुआ, इस पर पहले विचार किया जाए।

यज्ञों का प्रवर्तन—त्रेता के प्रारम्भ में

भारतीय ऐतिहासिक ग्रन्थों में स्पष्ट लिखा है कि पृथिवी पर द्रव्यमय यज्ञों का प्रवर्तन त्रेतायुग के प्रारम्भ में हुआ। यथा—

१—वायुपुराण अध्याय ५७ में लिखा है—

यथा त्रेतायुगमुखे यज्ञस्यासीत् प्रवर्तनम्[१] ॥८९॥

अर्थात्—त्रेता युग के प्रारम्भ में यज्ञ का प्रवर्तन हुआ था।

२—महाभारत शान्तिपर्व अ० २३२ में भी कहा है—

त्रेतायुगे विधिस्त्वेष यज्ञानां न कृते युगे ॥३२॥

अर्थात्—यज्ञों की यह विधि त्रेता युग में थी, कृत युग में नहीं थी।

३—आगे पुनः अ० २३८ में लिखा है—

त्रेतादौ केवला वेदा यज्ञा वर्णाश्रमास्तथा ॥१४॥

अर्थात्—त्रेता के आरम्भ में केवल वेद[२], यज्ञ, वर्ण और आश्रम थे।

४—इसी तथ्य का प्रतिपादन मुण्डक उपनिषद् १।२।१ में भी मिलता है—

तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यं-स्त्रेतायां बहुधा सन्ततानि।

अर्थात्—यह सत्य है, कवियों ने जिन कर्मों को मन्त्रों में देखा वे त्रेता में बहुत फैले[३]।

कृतयुग में यज्ञ का निर्देश

महाभारत शान्तिपर्व अ० ३४० में कृतयुग में भी यज्ञों का उल्लेख मिलता है। यथा—

१—तुलना करो—कथं त्रेतायुगमुखे यज्ञस्यासीत् प्रवर्तनम् मत्स्य १४३।१ ॥

२. यहाँ वेद शब्द यज्ञ संबन्धी आगमग्रन्थों के लिये प्रयुक्त हुआ है। 'आम्नायेभ्यः पुनर्वेदाः प्रसृता विश्वतो मुखाः।' (महाभारत शान्ति पर्व) में भी वेद शब्द इसी अर्थ का वाचक है। यह वेद शब्द का गौणार्थ है। वेद शब्द अभिधावृत्ति से केवल मन्त्र-संहिता का वाचक है। यह हमने 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्—'इत्यत्र कश्चिद-भिनवो विचारः' (हिन्दी अनुवाद सहित) नामक लेख में विस्तार से लिखा है।

३. आचार्य शंकर ने इस मन्त्र की व्याख्या में 'त्रेतायां' का अर्थ 'त्रयीसंयोगलक्षणायां......' वेदत्रयी किया है और पक्षान्तर में 'त्रेतायां वा युगे' लिखा है। हमारे विचार में 'त्रेता' का अर्थ 'वेदत्रयी' ठीक नहीं है। वास्तविक

इदं कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तितः ।
अहिंस्या यज्ञपशवो युगेऽस्मिन्न तदन्यथा ॥८२॥

अर्थात्—यह कृत युग नाम का श्रेष्ठ काल प्रवृत्त है। इसमें यज्ञ पशु अहिंस्य हैं अर्थात् यज्ञमें उनकी हिंसा नहीं होती।

उपर्युक्त चार प्रमाणों में यज्ञका प्रावर्तन त्रेता युग के प्रारम्भ में कहा है और अन्तिम उद्धरण में कृत युग में भी यज्ञ का उल्लेख किया है। यद्यपि ये लेख परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं, तथापि इनमें कोई वास्तविक विरोध नहीं है। यह अगले प्रकरण से स्पष्ट हो जाएगा।

यज्ञ का प्रथम प्रादुर्भाव—असुरों में

तैत्तिरीय संहिता ६।२।७ में लिखा है—

असुरेषु वै यज्ञ आसीत्, तं देवा तूष्णीं होमे-नावृञ्जन्।

अर्थात्—निश्चय ही [पहले] यज्ञ असुरों में था, उसे देवों ने तूष्णीं होम से प्राप्त किया।

इसी संहिता में अन्यत्र भी लिखा है—

प्रजापतिर्देवासुरानसृजत, तदनु यज्ञोऽसृज्यत, यज्ञं छन्दांसि। ते विश्वञ्चो व्यक्रामन्। सोऽसुरान् यज्ञोऽपाक्रामत, यज्ञं छन्दांसि। तै० सं० ३।३।७॥

अर्थात्—प्रजापति ने देव और असुरों को उत्पन्न किया, उसके पश्चात् यज्ञ को, यज्ञ के पश्चात् छन्दों को। वे चारों ओर बिखरे। वह यज्ञ असुरों को प्राप्त हुआ और यज्ञ को छन्द।

इन दोनों वचनों से स्पष्ट है कि पृथिवी पर द्रव्यमय यज्ञों का आरम्भ सबसे प्रथम असुरों में हुआ था।

बौधायन—धर्मसूत्र २।११।३० से यह ज्ञात होता है कि आश्रम मर्यादा का व्यवस्थापन भी प्रह्लाद-पुत्र कपिल नामक असुर ने किया था। वहां लिखा है—

तत्रोदाहरन्ति—प्राह्लादिर्ह वै कपिलो नामासुर आस। स एतान् भेदान् चकार देवैः सह स्पर्धमानः।

अर्थात्—उक्तविषय में उदाहृत करते हैं—प्रह्लाद का पुत्र कपिल नाम का असुर था उसने देवों के साथ स्पर्धा करते हुए इन आश्रम भेदों की व्यवस्था की।

तैत्तिरीय संहिता २।३।९ में लिखा है—

ते देवाः पराजिग्यमाना असुराणां वैश्यमुपायन्।

अर्थात्—वे देव हारते हुए असुरों के वैश्य के पास पहुँचे [उसे असुरों से पृथक् करने के लिए]।

इस से यह स्पष्ट है कि असुरों में वर्णव्यवस्था भी थी।

असुर पृथिवी के प्रथम शासक

वस्तुतः असुरों का यज्ञ और वर्णाश्रम मर्यादाओं का सब से प्रथम अवस्थापन करना युक्त था क्यों कि कश्यप प्रजापति से माता दिति से उत्पन्न हुए दैत्य=असुर ही इस पृथिवी के प्रथम शासक थे। तैत्तिरीय संहिता ६।२।४ में लिखा है—

असुराणां वा इयमग्र आसीत्। यावदासीनः परापश्यति तावद्देवानाम्। ते देवा अब्रुवन्, अस्त्वेव नोऽस्यामिति।

अर्थात्—यह [समग्र] पृथिवी पहले असुरों की थी। जितना बैठा हुआ पीछे देखता है उतनी देवों की थी। वे देव बोले इसमें हमारा भी [भाग] हो।

इसी तथ्य का निर्देश मैत्रायणी संहिता ३।८।३॥४।१।१० में भी मिलता है। अदिति पुत्र इन्द्रादि दैत्यों से आयु में छोटे थे।[2] अतः ज्येष्ठ होने के कारण दैत्य=असुर ही पृथिवी के प्रथम अधिपति हुए।

यज्ञ असुरों से देवों के पास पहुँचा

तैत्तिरीय संहिता के दो वचन हम ऊपर लिख चुके हैं जिनमें 'यज्ञ पहले असुरों के पास था, इस का प्रतिपादन किया है। उन्हीं वचनों के अगले भाग से यह भी प्रतीत होता है कि देवों ने यज्ञ को असुरों से प्राप्त किया था। तत्पश्चात् देवों ने उस यज्ञ की अनेक क्रिया कलापों का परिष्कार किया। देव यज्ञ विद्या में असुरों से आगे बढ़ गए। एक समय आया कि असुर देवों की यज्ञ क्रियाओं का अनुकरण करने लगे। इसी भाव को व्यक्त करने वाले—

अर्थ 'त्रेतायुगे' ही है। इसका एक अर्थ और हो सकता है, वह है—त्रेता अर्थात् आहवनीय गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि इन तीन अग्नियों में।

१. असुर आरम्भ में अत्यन्त श्रेष्ठ गुण कर्म स्वभाव-युक्त थे। इनमें अनेक मन्त्रद्रष्टा ऋषि भी थे। पीछे से इनका पतन हुआ और इसी कारण श्रेष्ठ अर्थ वाला असुर शब्द लोक में निन्दित हो गया। यह अगले लेख से स्पष्ट होगा।

२. कनीयसा एव देवाः, ज्यायसा असुराः। शत० १४।४।१।१॥

देवा वै यद् यज्ञेऽकुर्वत तदसुरा अकुर्वत। (तै० सं० ६।४।६)

इत्यादि अनेक वचन वैदिकग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

यज्ञ देवों से मनुष्यों के पास पहुँचा

देवों के पश्चात् मनुष्यों में यज्ञ का प्रचलन हुआ। महाराज ऐल पुरुरवा ने गन्धर्वों से अग्नि विद्या का रहस्य जानकर यज्ञ की एक अग्नि को तीन विभागों में विभक्त किया।[1] ऋषियों ने यज्ञ की विविध क्रिया कलापों को पराकाष्ठा को पहुँचा दिया।

इसलिए जहाँ-जहाँ कृतयुग में यज्ञों का सद्भाव कहा है वह असुरों और देवों की दृष्टि से है और जहाँ त्रेता युग के आरम्भ में यज्ञों का प्रवर्तन लिखा है वह मानवों की दृष्टि से है। अतः दोनों प्रकार के लेखों में कोई विरोध नहीं है।

यज्ञों का विस्तार—त्रेता युग में

महाभारत शान्ति पर्व २६९।२० में कहा है कि अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास और चातुर्मास्य ये तीन ही प्राचीन यज्ञ हैं[2]। मुण्डक उपनिषद् के पूर्व निर्दिष्ट प्रमाण से स्पष्ट है कि यज्ञों का विस्तार=बहुविध यज्ञों की कल्पना त्रेता युग में हुई।[3]

वेद-प्रतिपादित यज्ञ

सभी वेदानुयायी शास्त्रकारों का मत है कि वेद सृष्टि के आरम्भ में प्रादुर्भूत हुए। पहली मानव-सृष्टि प्रजापतियों पितरों अथवा विश्वसृजों की थी। असुर और इन्द्रादि देव उसके बहुत पीछे उत्पन्न हुए। उनकी उत्पत्ति के पश्चात् पृथिवी पर द्रव्यमय यज्ञों का प्रवर्तन हुआ। अतः स्पष्ट है कि वेद में प्रतिपादित यज्ञ ये "लौकिक दर्शपौर्णमास आदि द्रव्य-यज्ञ नहीं हैं। ऋग्वेद (१०।९।११६) में एक मन्त्र है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।

अर्थात्—यज्ञ से यज्ञ का यजन किया देवों ने, वे कर्म मुख्य थे।

यह मन्त्र जिस सूक्त में आया है वह पुरुष सूक्त कहाता है। इस सूक्त में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। इस सूक्त में [आधिदैविक पक्ष में] सहस्रांशुसमप्रभ हिरण्यगर्भ अथवा महद् अण्ड को पुरुष विराट् और यज्ञ कहा है। इसे ही यजुर्वेद के पुरुषाध्याय (३१।२१) में प्रजापति कहा है।[5]

यतः यह सम्पूर्ण सूक्त (अथवा यजुर्वेद का ३१ वां-अध्याय) सृष्टि-उत्पत्ति-विषयक है। अतः उक्त मन्त्र में प्रतिपादित देव (आधिदैविक पक्षमें) प्राकृतिक पदार्थ हैं और उन देवों से अनुष्ठीयमान यज्ञ भी प्राकृतिक कार्य ही हैं। इस विवेचना से स्पष्ट है कि उक्त मन्त्र में वर्णित देव और उनसे अनुष्ठित यज्ञ इस लोक सम्बन्धी नहीं हैं।

वैदिक यज्ञों का स्वरूप

प्रकृति के विकारोन्मुख होने के प्रथम क्षण से लेकर अन्ततक प्राकृतिक तत्वों में जिन-जिन तत्वों के निमित्त से जो जो क्रियाएँ होती हैं, वे ही यज्ञ नाम से व्यवहृत होती हैं। पार्थिव यज्ञों में उन्हीं आधिदैविक क्रियाओं का अनुकरण किया जाता है। जिस प्रकार भूगोल पर स्थित विभिन्न नदी पर्वत नगर आदि का ज्ञान कराने के लिए नकशों की कल्पना की गई अथवा जिस प्रकार पुरातन घटनाओं को प्रत्यक्ष दिखाने के लिए नाटकों की कल्पना की गई उसी प्रकार ब्रह्माण्ड की व्याख्या करने के लिए अनेक छोटे मोटे यज्ञों की प्रकल्पना हुई[6]। इन यज्ञों के तीन विभाग हैं—

हविर्यज्ञ पशुयज्ञ और सोमयज्ञ

इन तीन यज्ञों के सात सात मुख्य भेद हैं, और उन के अवान्तर भेद से यज्ञों के शतशः भेद हैं।

---

१. गन्धर्वेभ्यो वरं लब्ध्वा त्रेताग्निं समकारयत्। एकोऽग्निः पूर्वमासीत् ऐलस्त्रेतामकारयत्। हरिवंश १।२६।४० ॥

२. दर्शं च पौर्णमासं च अग्निहोत्रं च धीमतः। चातुर्मास्यानि चैवासन् तेषु धर्मः सनातनः ॥

३. इस विषय में अधिक देखो वेदवाणी वर्ष ६ अंक ४ पृष्ठ २२-२४।

४. हर्षवर्धन लिङ्गानुशासन पृष्ठ २४।

५. अध्यात्मपक्ष में 'तत्तु समन्वयात् (वेदान्त १।१।४) के न्याय से उपर्युक्त पद ईश्वर के वाचक होते हैं।

६. इस विषय पर हमने 'वेदार्थ प्रक्रिया की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन' लेख में विस्तार से लिखा है। देखो वेदवाणी वर्ष ६ अंक ४ पृष्ठ २३॥

वैदिक पशुयज्ञों में पशुओं का आलभन

यतः वेद प्रतिपादित देव आकाशीय प्राकृतिक पदार्थ हैं और उनसे अनुष्ठीयमान यज्ञ भी प्राकृतिक कार्य ही है। अतः उन में आलभ्यमान पशु भी आकाशीय प्राकृत पदार्थ ही हो सकते हैं, पार्थिव पशु नहीं हो सकते यह स्पष्ट है। इसलिए वेदमन्त्रों में आधिदैविक वर्णन के प्रसङ्ग में प्रयुक्त पशुवाचक गौ अश्व अज अवि आदि शब्दों का अर्थ आकाशस्थ प्राकृत पदार्थ ही है, पृथिवीस्थ प्राणी नहीं।

इस विषय को स्पष्ट करने के लिए हम एक उदाहरण देते हैं—

अवि

यजुर्वेद (२३।११, १२) और उसकी शाखाओं के अश्वमेध प्रकरण में दो मन्त्र पठित हैं। उनमें से प्रथम मन्त्र में पूछा है—

का स्विदासीत् पिलिप्पिला

अर्थात्—कौन निश्चय से थी पिलिप्पिला = पिलपिली।[2]

इसके उत्तर में कहा है—

अविरासीत् पिलिप्पिला

अर्थात्—अवि थी पिलिप्पिला।

इस मन्त्र में कही हुई अवि निश्चय ही पृथिवीस्थ अवि = भेड़ संज्ञक प्राणि नहीं है। क्योंकि इस मन्त्र के प्रथम अन्तिम चरण में क्रमशः द्यौ और रात्रि का वर्णन है। इसलिए इनके मध्य में पठित अवि भी इसी प्रकार का प्राकृतिक पदार्थ होना चाहिए।

अवि = प्राथमिक अल्पप्रमाणा शिथिला पृथिवी

'अविरासीत् पिलिप्पिला' मन्त्रप्रतिपादित अवि क्या वस्तु है, इसकी जिज्ञासा में तैत्तिरीय संहिता २।१।२ से अत्यन्त उपयोगी प्रकाश पड़ता है। वहां लिखा है—

स्वर्भानुरासुरः सूर्यं तमसाविध्यत्, तस्मै देवाः प्रायश्चित्तिमैच्छन्.........यदध्यस्थाद् अपाकृन्तन् साविर्वशा समभवत्। ते देवा अब्रुवन् देवपशुर्वा अयं समभूत्, कस्मा इममालप्स्यामहा इति, अथवै तर्ह्यल्पा पृथिव्यासीत्, अजाता ओषधयः, तामविं वशामादित्येभ्यः कामायालभन्त। ततो वा अप्रथत पृथिवी, अजायन्त ओषधयः।

अर्थात्—स्वर्भानु नामक आसुर ने सूर्य को अन्धकार से ढाँक दिया। उसकी देवों ने प्रायश्चित्ति = निराकृति चाही''' जो ऊपर से काटा = हटाया (अपालुम्पन्-काठक १२।१३) वह वशा = वन्ध्या अवि हुई। वे देव बोले। देव-पशु निश्चय से यह उत्पन्न हुआ। किसके लिए इसका आलभन[3] करें। और[4] निश्चय से तो [अविवशा] अल्पा[5] पृथिवी थी, नहीं उत्पन्न हुई ओषधियाँ [जिस पर]। उस अवि वशा का आदित्यों की इच्छा के लिए आलभन किया। उससे निश्चय से फैली पृथिवी, उत्पन्न हुई ओषधियां [उस पर]।

ऐसा ही पाठ मैत्रायणी संहिता २।५।२ में उपलब्ध होता है। वहाँ—

अथवा इयं तर्ह्यक्षासीद् अलोमिका, तेऽब्रुवन्, तस्मै कामायालभामहै। यथास्यामोषधयो वनस्पतयश्चा जायन्त इति।

इस पाठ में रूक्षा पृथिवी को अलोमिका कहा है और उस पर वनस्पतियों ओषधियों के रूप में लोम उत्पन्न करने की कामना प्रकट की है।

---

१. लभ और लम्भ ये मूलतः पृथक् धातु हैं। इनके अर्थ भी भिन्न भिन्न हैं। यह हम आगे विस्तार से दर्शाएँगे। इसी दृष्टि से हमने लभ के 'आलभन' शब्द का प्रयोग किया है, 'आलम्भन शब्द का नहीं किया।

२. निश्चय ही हिन्दी का पिलपिला शब्द इसी वैदिक 'पिलिप्पिला' शब्द का अपभ्रंश है। पृथिवी की इस पिलपिली (अकठोर) अवस्था के लिए अन्यत्र शिथिरा (शिथिला) आर्द्रा आदि शब्दों का व्यवहार और उसके दृंहण (कठोर) होने का उल्लेख मिलता है (आगे उद्धरण देंगे)।

३. सम्प्रति आङ् पूर्वक लभ धातु का ल्युट् में आलम्भन पद साधु समझा जाता है, परन्तु पुरा काल में लभ और लम्भ दो स्वतन्त्र धातुएँ थीं और इनके पृथक्-पृथक् अर्थ तथा रूप थे। तदनुसार आलभन और आलम्भन दो पृथक् स्वतन्त्र शब्द हैं और इनके अर्थ भी पृथक्-पृथक् हैं (यह हम इसी लेख में आगे सप्रमाण लिखेंगे)। इसी लिए हमने 'आलभेमहि' का अर्थ 'आलभन करें' ऐसा किया है 'आलम्भन करें' नहीं किया।

४. अथ शब्द समुच्चय में है।

५. 'अल्पा' का अर्थ अल्प प्रमाणा भी हो सकता है परन्तु हमारा विचार है कि यहाँ 'अल्पा पृथिवी आसीत्' का भाव है पृथिवी अंश उसमें न्यून था इसीलिए वह पिलप्पिली थी उस पर ओषधियाँ उत्पन्न नहीं हो सकती थीं। इसी अवस्था का वर्णन अन्यत्र 'शिथिरा पृथिवी' से किया है। देखो अगले पृष्ठ की टिप्पणी १।

इस प्रकरण में उल्लिखित सुवर्भानु आसुर नामक कौन सा प्राकृतिक पदार्थ था, जिसने सृष्टि के आरम्भ में सूर्य को अन्धकार से बींधा। यह हमें अभी तक ज्ञात नहीं हुआ। परन्तु इस प्रकरण में इतना अंश पूर्णतया स्पष्ट है कि जिस समय पृथिवी का अल्प भाग जल से बाहर हुआ और वह अभी पिलपिली अथवा शिथिला अथवा आर्द्रा थी, उसे ही यहाँ अवि (=रक्षण करने योग्य) कहा है।[1] **'अविरासीत् पिलिप्पिला'** इस याजुष मन्त्र में पृथिवी की इसी अवस्था का वर्णन है। पृथिवी की इस शिथिला = आर्द्रा अवस्था का तथा उसका शर्करा = छोटे कंकरों की उत्पत्ति द्वारा दृढ होने का वर्णन वैदिक ग्रन्थों के अग्नि आधानप्रकरण में बहुधा मिलता है।[2] वशा प्रजा की कामना करने वाली परन्तु उसकी प्राप्ति में असमर्थ का नाम है (लोक में वन्ध्या को वशा इसीलिए कहा जाता है, वस्तुतः वशा और वन्ध्या पृथक् पृथक् हैं)। वह अवि = अल्पा पृथिवी उस समय वशा थी क्योंकि उस समय वह शिथिला अवस्था वाली ओषधियों की उत्पत्ति में असमर्थ थी।

तैत्तिरीय तथा मैत्रायणी संहिता के उपर्युक्त उद्धरणों से यह भी स्पष्ट है कि **'आलभेमहि' 'आलभन्त'** आदि में **'आलभ'** का मूल अर्थ **मारना** अथवा **हिंसा करना** नहीं है। यदि इस प्रकरण में 'आलभ' का अर्थ हिंसा माना जाए तो 'तामविं वशामादित्येभ्यः कामायालभन्त' वाक्य का अर्थ 'उस अविवशा का आदित्यों की कामना के लिये आलम्भन = हिंसन किया' करना होगा। उस अवस्था में अल्प पृथिवी का समूल नाश हो जाएगा तो पुनः उत्तर वाक्य **ततो वा अप्रथत पृथिवी अजायन्त ओषधयः'** में कहा पृथिवी का फैलना और उस पर ओषधियों का उगना कैसे सम्भव होगा। अतः न्यूनातिन्यून इस प्रकरण में तो 'आलभ' का अर्थ आलम्भन नहीं है। यह है एक आकाशीय यज्ञ का निदर्शन जिसमें देवों ने आदित्य की कामना के लिये अवि वशा का आलभन किया। हमारे विचार में यहां 'आलभन्त' का अर्थ है स्पर्श करना। देवों = सूर्य की किरणों ने आदित्यों (१२ मास की विभिन्न क्रिया वाले सूर्य) की कामना (= जल को सुखाना) के लिए अल्पा = आर्द्रा = शिथिला = पिलपिली अवि = पृथिवी का स्पर्श किया। उससे पृथिवी का जल सूखा, पृथिवी फैली और दृढ हुई उसपर ओषधियां उत्पन्न हुईं। इससे पृथिवी का वशात्व (= उत्पत्ति में असमर्थता) दोष नष्ट हुआ।

अग्नि = देवपशु

यास्काचार्य ने निरुक्त १२।४१ में पुरुष सूक्त के पूर्वोद्धृत **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'** मन्त्र की व्याख्या करते हुए इसी प्रकार के आकाशीय यज्ञों की ओर संकेत किया है। वह लिखता है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः, अग्निनाऽग्निमयजन्त देवाः।

अर्थात्—यज्ञ से यज्ञ को किया देवों ने, अग्नि से अग्नि का यजन किया देवों ने। यास्क अपनी इस आधिदैविक व्याख्या में किसी ब्राह्मण का वचन उद्धृत करता है—

अग्निः पशुरासीत्, तमालभन्त, तेनायजन्त।

अर्थात्—अग्नि ही पशु था, उसका आलभन किया, उस से यजन किया।

सम्भव है उपर्युक्त मन्त्र में देवों = सूर्य किरणों को अग्नि से = सूर्य ताप से पृथिव्यन्तर्गत अग्नि के तेज को बढ़ाने का निर्देश हो। काठक सं० ८।२ में लिखा है—

आर्द्रेव ह्येयमासीत्, तां देवाश्शर्कराभिरदृंहँस्तेजोऽग्ना अदधुर्यच्छर्करा भवन्ति।

अर्थात्—आर्द्रा ही निश्चय से यह (पृथिवी) थी, उसको देवों (सूर्य किरणों) ने शर्कराओं से दृढ किया, (पार्थिव) अग्नि में तेज को रक्खा, जो शर्करा हुए।

यास्कोद्धृत ब्राह्मण वचन से भी स्पष्ट है कि देवों ने अग्नि से अग्नि का आलम्भन = हिंसन = नाश नहीं किया, अपितु उसमें तेज की वृद्धि की। अतः यहां भी 'आलभन्त' का अर्थ 'आलम्भन = हिंसन अथवा नाश नहीं है।

अग्नि, वायु तथा सूर्य देवपशु

यास्क ने मन्त्रार्थ के स्पष्टीकरण के लिए जो ब्राह्मण वचन उद्धृत किया है, उसी भाव के तीन वचन शुक्लयजुर्वेद

---

1. तुलना करो—'इममूर्णायुं''''''त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रम्' (यजुः १३।५०)। यहाँ अविको ऊर्णायु पर्याय से कहा है। शतपथ ६।१।२।३३ में अवि का अवनि को साधारण पर्याय मानकर लिखा है—'इयं (पृथिवी) वा अविरीयं हीमाः सर्वाः प्रजा अवति।'

2. शिथिरा वा इयमग्र आसीत्, तां प्रजापतिः शर्कराभिरदृंहत। मै० सं० १।६।३॥ आर्द्रेव ह्येयमासीत् तां देवा शर्कराभिरदृंहन्, तेजोऽग्नावदधुः। काठक सं० ८।२। इसी प्रकार तै० ब्रा० १।१।३।७॥

२३।१७ तथा तैत्तिरीय संहिता ५।७।२६ में उपलब्ध होते हैं। यथा—

अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त।
वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त।
सूर्यः पशुरासीत् तेनायजन्त।

इन तीनों वचनों में क्रमशः अग्नि वायु और सूर्य को पशु कहा है और उसके द्वारा यज्ञ करने का निर्देश किया है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि वेद प्रतिपादित यज्ञ भौतिक द्रव्यमय यज्ञ नहीं हैं। उनमें निर्दिष्ट पशु भी पार्थिव प्राणि विशेष नहीं हैं। वे पशु आकाशस्थ प्राकृत पदार्थ विशेष हैं जिनके द्वारा इस ब्रह्माणु रूपी जरामर्य सत्र का निरन्तर अनुष्ठान हो रहा है।

ऊपर के ब्राह्मण वचनों से यह भी व्यक्त है कि इन आकशीय यज्ञों में देवों ने किसी देव पशु का आलम्भन = हिंसा अथवा नाश नहीं किया अपितु उन्होंने किसी न किसी प्रकार पशु को समृद्ध किया। पार्थिव यज्ञ इन्हीं आकाशीय आधिदैविक यज्ञों की अनुकृति रूप हैं (यह हम अपने 'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन' नामक लेख में विस्तार से सप्रमाण लिख चुके हैं)। जब आधिदैविक यज्ञों में ही देव पशुओं का संज्ञपन = हनन अथवा नाश नहीं होता तब भला उनकी अनुकृतियों पर रचे गए पार्थिव पशुयज्ञों में पशुओं का हनन कैसे सम्भव है। इसी लिए वेद में अवि के लिए कहा है—

इममूर्णायुं वरुणस्य नाभिं त्वचं
पशूनां द्विपदां चतुष्पदाम्।
त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रमग्ने
माहिंसीः परमे व्योमन्॥[1]

अर्थात्—इस ऊर्णायुं = अवि को [जो] वरुण की नाभि, त्वचा पशुओं दो पैरों वालों और चार पैरों वाले की, उत्पन्न करनेवाले की प्रजाओं में प्रथम उत्पन्न हुई को, हे अग्ने मत हिंसा करो परम व्योम (= आकाश) में।

इसी याजुष-मन्त्र के भाव को याजुष शाखाओं में इस प्रकार व्यक्त किया है—

अलेलेद् वा इयं पृथिवी, साबिभेदग्निर्मातिधक्ष्यतीति बीभेदग्निर्हरो मे विनेश्यतीति। काठक सं० ८।२॥

अग्नेर्वा इयं सृष्टादबिभेदति माधक्ष्यतीति। मैत्रायणी सं० १। ६। ३॥

अर्थात्—अतिशय द्रवं थी यह पृथिवी, उसमें अग्नि उत्पन्न होने पर वह डरी, मुझे बहुत जलादेगा, मेरा बहुत विनाश कर देगा।

इस मीमांसा से यह भले प्रकार स्पष्ट हो गया कि वैदिक पशुयज्ञों में कहीं पर भी पशुओं के संज्ञपन अथवा हिंसन का निर्देश नहीं है। उस में तो यज्ञीय पशुओं की रक्षा का भाव पदे पदे स्पष्ट किया है। अतः वेद में प्रतिपादित आधिदैविक अथवा आकाशीय पशुयज्ञों की अनुकृति पर रचे गए पार्थिव पशु यज्ञों में पशुहिंसा करना निश्चय ही वेदविरुद्ध है।

अब हम यह प्रतिपादन करेंगे कि पार्थिव पशुयज्ञों में पशुओं की हिंसा कैसे और कब प्रवृत्त हुई। इस के लिए पहले यह जानना आवश्यक है कि मनुष्य-समाज में मांसाहार की प्रवृत्ति कब और कैसे हुई। अतः हम पहले मनुष्य समाज में मांसाहार की प्रवृत्ति कब और कैसे हुई, इस पर प्रकाश डालेंगे।

सृष्टि के आरम्भ में मानव निरामिष-भोजी

न केवल भारतीय ग्रन्थों में अपितु संसार के सभी धार्मिक ग्रन्थों में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य पाया जाता है और वह है सृष्टि के प्रारम्भ में मनुष्यों का निरामिषभोजी होनों। विकासमतानुयायी वृथा अनुमान के आदि मानव को असभ्य और शिकार पर जीनेवाला मानते हैं। सत्य इतिहास के रहते हुए वृथा अनुमान का उदय ही नहीं हो सकता। मानव-समाज ने मांसाहार बहुत काल पश्चात् ग्रहण किया। ऋग्वेद ५। ८३। १० में स्पष्ट कहा है—'अजीजन ओषधीर्भोजनाय' अर्थात् खाने के लिए ओषधियां उत्पन्न कीं।

मांसाहार का आरम्भ

हम पूर्व लिख चुके हैं कि कश्यप प्रजापति के दिति से उत्पन्न दैत्य = असुर इस पृथिवी के प्रथम अधिष्ठाता

१. यजुः १३।५०॥ २. देखो अगले पृष्ठ की संख्या १ की टिप्पणी।

३. अलेलेत्—ली द्रवीकरणे (चुरादि) णिज् अभाव पक्ष में यङ् लुक्। इस अवस्था में पृथिवी पर सेवार उत्पन्न हो गई थी। इसी लिए पूर्व उद्धृत याजुष मन्त्र में इस अवस्था वाली पृथिवी को 'ऊर्णा—यु' कहा है।

४. इस के विस्तार के लिए देखो श्री. पं० भगवद्दत्त जी कृत 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' भाग १ पृष्ठ २३४।

थे। ये अत्यन्त बलवान् थे। अतः एव इन्हें असुर (=असु=प्राण+र[1]=युक्त) कहा गया है[2]। इन दैत्यों का आचार प्रारम्भ में अत्यन्त श्रेष्ठ था। इसलिए पहले इन्हें देव कहा जाता था। उत्तर काल में अदिति सुत देवों से इनका भेद दर्शाने के लिए इन्हें 'पूर्वदेव' कहा जाने लगा[3]। यूनानी ग्रन्थों में उल्लिखित देवों की तीन श्रेणियों[4] में प्रथम श्रेणि के देव ये ही हैं (हरक्यूलीस=सुरकुलेश=विष्णु को द्वितीय श्रेणी का देव कहा है और बेकस=विप्रचित्ति दानव को तृतीय श्रेणी का)। दैत्यों का पृथिवी पर निष्कण्टक आधिपत्य होने से उनमें शनैःशनैः मद अहं-कार उत्पन्न हुआ और उससे काम क्रोध लोभ मोह आदि का प्रादुर्भाव हुआ। उससे उनके आचार विचार में पतन आरम्भ हुआ और शनैः शनैः उनमें सुरापान और मांसाहार की प्रवृत्ति हुई। अब उनका धर्म केवल शरीर पोषण रह गया[5]। ऐसी अवस्था में असुर शब्द 'असुषु रमते' (प्राणों में रमने वाला) व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थान्तर का वाचक हुआ। इन्द्रादि अदिति सुत असुरों से छोटे थे। असुरों ने उन्हें पृथिवी का भाग नहीं दिया[6]। दायभाग (पृथिवी के बटबारे) के निमित्त असुरों और देवों में विरोध उत्पन्न हुआ। तद्धेतुक १२ महान् संग्राम हुए[7]। अन्त में देवों ने असुरों को पराजित करके उन्हें स्वर्ग से खदेड़ दिया[8]। तदनन्तर महान् विजय और ऐश्वर्य के मद से देवों में भी शनैः शनैः तामसी प्रवृत्ति बढ़ने लगी, वे भी आचार में उच्छृङ्खल हुए। उन में भी मांसाहार की प्रवृत्ति हुई, परन्तु विष्णु इस दोष से बचा रहा[9]। स्कन्द तथा अन्य निवृत्ति-मार्गानुयायी इन व्यसनों से दूर रहे।

त्रेता के आरम्भ तक ऋषियों की महती अनुकम्पा से आर्यों का आचारस्तर सर्वथा पवित्र और उच्च रहा तदनन्तर [दूषित] देवों के विशेष संसर्ग से आर्य राजाओं में भी मांसाहार की प्रवृत्ति हुई और वह उत्तरोत्तर बढ़ती गई। इतना होने पर भी ऋषि मुनि उस प्रवृत्ति को सीमित रखने के लिए समय समय पर 'वृथा मांसं नाश्नीयात्' आदि प्रतिबन्ध लगाते रहे। इससे उच्चवर्णों और कुलों में मांसाहार की अल्प प्रवृत्ति हुई।

यज्ञों में पशुहिंसा की प्रवृत्ति

पूर्व लिख चुके हैं कि यज्ञों का प्रादुर्भाव सबसे प्रथम असुरों में हुआ। तत्पश्चात् वह देवों के पास पहुँचा। इन्द्र ने सौ महाक्रतु करके शतक्रतु नाम पाया। तदनन्तर यज्ञों का प्रसार मानवों में हुआ। मानवों में यज्ञों की प्रवृत्ति त्रेता के प्रारम्भ में अथवा कृतयुग के अन्त में हुई। शनैः शनैः मानवों में यज्ञ की प्रवृत्ति बढ़ी और शतशः काम्य तथा नैमित्तिक यज्ञों की सृष्टि हुई।

कृतयुग में यज्ञों की प्रवृत्ति देवों में ही थी। कृतयुग में पशुयज्ञों में कभी भी पशुओं की हिंसा नहीं हुई। उत्तर काल में जब देवों में मांसाहार की प्रवृत्ति हुई तब त्रेता के प्रारम्भ अथवा दोनों की सन्धिकाल में प्रथमबार इन्द्र ने पशुहिंसा प्रारम्भ की। ऋषियों ने इस अनर्थ कर्म का भारी विरोध किया। परन्तु इन्द्रादि देवों ने अपने अहंकार के मद में ऋषियों का कथन न माना। इस प्रकार यज्ञ में पशु-हिंसा की प्रवृत्ति भी देवों से आरम्भ हुई।

अब हम इस विषय पर प्रकाश डालने वाले प्रमाण उपस्थित करते हैं—

(१) महाभारत आश्वमेधिक पर्व अ० ९१, शान्ति पर्व अ० ३३७, अनुशासन पर्व अ० ११५ मत्स्यपुराण अ० १४३ और वायु पुराण अ० ५७ में उपरिचर वसु की कथा लिखी है। वह इस प्रकार है—

"इन्द्र ने सबसे प्रथम अश्वमेध में पशुओं का आलम्भन (=हिंसन) किया। दीर्घदर्शी ऋषिलोग इस नये अनर्थ को देखकर घबरा उठे। उन्होंने इन्द्र को समझाया कि वेद में पशुहिंसा की विधि नहीं है। यदि आगमस्थ विधि से यज्ञ

१. 'र' मत्वर्थीय। यथा पाण्डुर पांसुर नगर।
२. तस्य वा असुरेवाजीवत्, तेनासुना सुरान् असृजत, तदसुराणामसुरत्वम्। मै० सं० ४।२।१॥
३. अमर कोश १।१।१२॥ स पूर्वदेव चरितम्...महा० सभा० ११७॥ पूर्वदेवो वृषपर्वा दानवः (नीलकण्ठ)।
४. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास भाग १, पृष्ठ २१७ से २२८। ५. छान्दोग्य उप० ८।८।२—५॥
६. असुराणां वा इयं पृथिव्यासीत्, ते देवा अब्रुवन्, दत्त नोऽस्याः पृथिव्याः। मैत्रा० सं० ४।१।१०॥ तुलना करो—का० सं० ३१।८॥
७. तेषां दायनिमित्तं वै संग्रामा बहवोऽभवन्। वराहेऽस्मिन् दश द्वौ च षण्डामर्कान्तगाः स्मृताः। वायु ९७।७२॥
८. ततो वै देवा इमामसुराणामविन्दत, ततो देवा असुरान् एभ्यो लोकेभ्यो निरभजन्। मै० सं० ४।१।१०॥ तुलना का० सं० ३१।८॥ ९. आज तक वैष्णव भोजनालय का अर्थ निरामिषभोजी समझा जाता है।

करना है तो तीन वर्ष से अधिक पुराने अप्ररोही (=अज =जो उगने के अयोग्य हो गए हों, ऐसे) बीजों से यज्ञ करो। इन्द्र ने मान (मद) और मोह के वशीभूत होकर ऋषियों का कथन न माना। दोनों ने निर्णयार्थ उत्तानपाद-पुत्र उपरिचर वसु को मध्यस्थ बनाया। उसने देवों और ऋषियों का बलाबल विचार कर देवों के पक्ष में अपना निर्णय दिया। ऋषियों ने पक्षपात से मिथ्या निर्णय देने के कारण उपरिचर वसु को शाप दिया।"

(२) अग्निवेश कृत (विक्रम से ५००० वर्ष पूर्व) और वैशम्पायन चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत (विक्रम से ३००० वर्ष पूर्व) चरक संहिता के अ० १९।४ में अतिसार की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए लिखा है—

आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञप्रत्यवर कालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नाभागेक्ष्वाकुनृगशर्यात्यादीनां च क्रतुषु 'पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात्' पशवः प्रोक्षणमापुः। अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजता पशूनामभावात् गवालम्भः प्रवर्तितः......अतिसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे।

अर्थात्—आदि काल (कृतयुग) में निश्चय से यज्ञों में पशुओं का समालभन (स्पर्श) किया जाता था आलम्भ (हिंसन) के लिए प्रकृत नहीं किए जाते थे। तत्पश्चात् दक्षयज्ञ के अनन्तर (त्रेता के प्रारम्भ में) मनु के नरिष्यन्, नाभाग, इक्ष्वाकु और शर्याति आदि पुत्रों के यज्ञों में '[वेद में] पशुओं [के आलम्भन] की ही अनुज्ञा है, ऐसा समझ कर पशु प्रोक्षण (अर्थात् आलम्भन) को प्राप्त हुए। और इस के अनन्तर दीर्घकालीन यज्ञ करते हुए पृषध्र ने पशुओं के अभाव के कारण गौ का आलम्भ (हिंसन) प्रवृत्त किया......उससे अतिसार पूर्व उत्पन्न हुआ पृषध्र के यज्ञ में।

चरक के उक्त वर्णन से निम्न ५ बातें स्पष्ट हैं—

क—आदि काल (कृतयुग) में यज्ञों में पशुओं की हिंसा नहीं होती थी।

ख—[मानवों में] सर्व प्रथम मनु के पुत्रों के यज्ञों में पशुओं का आलम्भन हुआ।

ग—'वेद में पशुओं के आलम्भन की आज्ञा है' यह मिथ्या ज्ञान ही इस निन्दनीय प्रवृत्ति का कारण हुआ।

घ—आङ् पूर्वक प्रयुक्त लभ और लम्भ ये मूलतः दो पृथक् धातु हैं। 'आलभ' का मूल अर्थ है प्राप्त करना और 'आलम्भ' का हिंसा।

ङ—गवालम्भ की प्रवृत्ति पृषध्र (यह मनु-पुत्र से उत्तर कालिक है) के काल में हुई।

(३) चरक के कथन की पुष्टि वसिष्ठ-धर्मसूत्र (२१। २३) से भी होती है। उस में लिखा है—

त्रय एव पुरा रोगा ईर्ष्या अनशनं जरा।
पृषध्रस्तनयं हत्वा अष्टानवतिमाहरेत॥

यहां उत्तरार्ध का पाठ भ्रष्ट है। शुद्ध पाठ 'पृषध्रस्त्वघ्नियाँ हत्वा अष्टानवतिमाहरत' होना चाहिये (देखो अगला उद्ध्रियमाण वचन)।

वसिष्ठ धर्म-सूत्र का भाव है—पहले [मानवों में] केवल तीन रोग थे—ईर्ष्या, क्षुधा और बुढ़ापा। पृषध्रने गौ का हनन करने ९८ रोग नए उत्पन्न कर दिए।

(४) जैनआचार्य उग्रादित्यविरचित कल्याणकारण वैद्यक ग्रन्थ (पृष्ठ ७२४) में भी इसी प्रसंग का निर्देश उपलब्ध होता है। यथा—

अवन्तिषु तथोपेन्द्र पृषध्रो नाम भूपतिः।
विनयं समतिक्रम्य गोश्चकार वृथावधम्॥

अर्थात्—अवन्ति (उज्जैन) में उपेन्द्र पृषध्र नामक भूपति ने विनय का उल्लंघन करके गौ का वृथा वध किया।

५—महाभारत शान्तिपर्व अ० २६५ में भी गवालम्भ से १०१ रोगों की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है। यथा—

अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति।
महच्चकाराकुशलं वृषं गां वाऽऽलभेत्तु यः॥४७॥
ऋषयो यतयो ह्येतन्नहुषे प्रत्यवेदयन्।
गां मातरं चाप्यवधीर्वृषभं च प्रजापतिम्॥४८॥
अकार्यं नहुषाकार्षीर्लप्स्यामहे त्वत्कृते व्यथाम्।
शतं चैकं च रोगाणां सर्वभूतेष्वपातयन्॥४९॥
ऋषयस्ते महाभागाः प्रजास्वेव हि जाजले।
भ्रूणहं नहुषं त्वाहुर्न ते होष्यामहे हविः॥५०॥

---

१. पुरुकुलोत्पन्न संवरण वंशोद्भव कृतिराज का पुत्र चेदिराज उपरिचर भिन्न व्यक्ति है।

२. यह पृषध्र मनु-पुत्र नहीं है यह चरक के इसी वचन से स्पष्ट है। यहां मनु-पुत्रों से उत्तर काल में पृषध्र का उल्लेख किया है। हमारे विचार में यह पृषध्र पुरुरवा का पौत्र नहुष है। यह अगले प्रकरण से स्पष्ट होगा।

इन श्लोकों का भाव है—अघ्न्या (न मारने योग्य) यह गौ का नाम है, इनको मारने में कौन समर्थ है। महान् हानिकारक कर्म किया, जो गौ और बैल का आलम्भन किया। ऋषियों ने नहुष से कहा गौ माता और वृषभ प्रजापति का जो तुमने वध किया, तुम्हारे इस अकार्य कर्म से हम दुःख को प्राप्त होंगे। इससे सब भूतों में १०१ रोग प्रवृत्त होंगे। ऋषियों ने प्रजाओं के मध्य ही नहुष को भ्रूणहा कहा और हम तेरा यज्ञ नहीं कराएँगे ऐसा कहा।

महाभारत शान्ति पर्व अ० २६८ में भी नहुष को प्रथम गवालम्भक लिखा है। महाभारत के इन प्रसङ्गों की पूर्व लिखित संख्या २-४ के वचनों से तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि नहुष और पृषध्र एक ही व्यक्ति के नाम हैं। महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने पूर्वोद्धृत ४७ वें श्लोक के चतुर्थ चरण का पाठान्तर **"पृषध्रो गा लभन्निव"** लिखा है, उससे भी इसी बात की पुष्टि होती है (नीलकण्ठ की इस पाठान्तर की व्याख्या ठीक नहीं है)। महाभारत में १०१ रोगों का उत्पादक नहुष को लिखा है और वसिष्ठ धर्मसूत्र में ९८ रोगों का प्रवर्तयिता पृषध्र को कहा है। महाभारतोक्त १०१ रोगों में सम्भवतः वसिष्ठ धर्म सूत्रोक्त ईर्ष्या क्षुधा और जरा इन तीन प्राचीन रोगों की संख्या भी सम्मिलित कर ली गई है। चरक संहिता के अनुसार ९८ नए रोगों में एक महान् रोग अतिसार था।

यह पृषध्र नाम किस नहुष का था

एक पृषध्र मनु का पुत्र, नाभाग इक्ष्वाकु शर्याति आदि का भ्राता था। वह पृषध्र गवालम्भ का प्रवर्तयिता नहीं हो सकता, क्योंकि चरक में गवालम्भप्रवर्तयिता पृषध्र को मनुपुत्र नाभाग इक्ष्वाकु शर्याति आदि से अवरकाल का लिखा है। इन प्रसङ्गों में पृषध्र नहुष का पर्याय है यह ऊपर के प्रमाणों से स्पष्ट है। इतिहास में नहुष नाम के दो व्यक्ति उपलब्ध होते हैं। एक चन्द्रवंश में और दूसरा सूर्यवंश में (वाल्मीकीय रामायणानुसार)। महाभारत के **'नहुषः पूर्वमालेभे त्वष्टुर्गामिति नः श्रुतम्'**(शान्ति० २६८।६) में श्लोक में श्रुत 'त्वष्टा' द्वादश आदित्यों में एकतम है। अतः उसके साथ श्रुत नहुष चन्द्रवंश का नहुष (पुरुरवा का पौत्र) ही सम्भव हो सकता है सूर्य-वंश का नहुष बहुत उत्तर कालिक है, वह त्वष्टा का समकालिक नहीं हो सकता। इस विचार की पुष्टि उमादित्य के उपरिनिर्दिष्ट (संख्या ४) श्लोक से भी होती है। उसमें नहुष का विशेषण उपेन्द्र लिखा है। महाभारत उद्योग पर्व में लिखा है कि ब्रह्महत्या के भय से इन्द्र के छिप जाने पर देवों ने पुरुरवा के पौत्र नहुष को इन्द्र के स्थान पर अभिषिक्त किया (अ० ११)। इस सम्मान के मद से हतबुद्धि नहुष ने इन्द्राणी को अपनी भार्या बनाने की चेष्टा की (अ० ११।१७-१९) और ऋषियों से अपनी पालकी उठवाई (अ० १७।२५)। ऐसे हतबुद्धि व्यक्ति का गवालम्भ का प्रवर्तन करना अधिक सम्भव है।

यज्ञ में पश्वालम्भ के विधान के भ्रम के दो प्रधान कारण

वेद में पशुहिंसा का विधान है, इस भ्रम के कारण ही यज्ञों में पशुहिंसा की प्रवृत्ति हुई यह चरक के पूर्वोद्धृत **"पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात्"** वचन से तथा उपरिचर वसु के **"संहितामन्त्रा हिंसालिङ्गाः"** (वायु ५७।१०७) कथन से स्पष्ट है। इस भ्रम के दो प्रधान कारण हैं। एक अज आदि शब्द के विभिन्न अर्थों और आलभ तथा आलम्भ क्रियाओं का सांकर्य।

अज शब्द के अर्थ में भ्रम

अज शब्द के दो अर्थ हैं। एक 'छाग' = बकरा और दूसरा 'न उत्पन्न होने वाला'। प्राचीन आगम ग्रन्थों में निर्दिष्ट **'अजैर्यष्टव्यम्'** आदि वाक्यों में अज शब्द बकरे का वाचक है अथवा 'न उत्पन्न होने वाला' अर्थ का, इस की मीमांसा न करके **"योगाद् रूढिर्बलीयसी"** न्याय के अनुसार अज शब्द का अर्थ छाग समझने से यज्ञ में पशु हिंसा की प्रवृत्ति हुई। इस भ्रम पर निम्न प्रमाण विशेष प्रकाश डालते हैं—

क—महाभारत शान्तिपर्व अ० ३३७ में देवों और ऋषियों का एक संवाद उपलब्ध होता है। उस में कहा है—

अजेन यष्टव्यमिति प्राहुर्देवा द्विजोत्तमान्।
स च छागोऽप्यजो ज्ञेयो नान्यः पशुरिति स्थितिः॥

ऋषयः ऊचुः

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः।
अजसंज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तुमर्हथ॥
नैष धर्मः सतां देवा यत्र वै वध्यते पशुः॥

अर्थात्—देवों ने कहा—'अज' से यज्ञ करना चाहिए, ऐसा विधान है, और वह अज भी छाग अर्थात् बकरा जानना चाहिए अन्य पशु नहीं।

ऋषियों ने कहा—बीजों से यज्ञ करना चाहिए यही

वैदिकी श्रुति है। अज बीजों की संज्ञा है इसलिए छाग का बध नहीं करना चाहिये। जहां पशु का बध होता है, वह सत्पुरुषों का धर्म नहीं है।

ख—यद्यपि इस प्रकरण में 'अज' संज्ञक बीज कौन से हैं, इस पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता, तथापि वायु पुराणान्तर्गत उपरिचर कथा में कहा है—

यज[1] बीजैः सुरश्रेष्ठ येषु हिंसा न विद्यते।
त्रिवर्षपरमं कालमुषितैरप्ररोहिभिः ॥५७।१००,१०१॥

अर्थात्—हे सुर श्रेष्ठ! उन बीजों से यज्ञ करो जिनमें हिंसा नहीं है। जो तीन वर्ष से अधिक पुराने [खेत में] उगने में असमर्थ हों।

वायुपुराण के इस श्लोक में 'अज' का अर्थ 'अप्ररोही' शब्द से दर्शाया है। इस वचन से यह भी ध्वनित होता है कि खेत में उगने योग्य धान्यों से भी यज्ञ करना अनुचित है।

ग—मत्स्य पुराण की इसी कथा में कहा है—

यज्ञबीजैः सुरश्रेष्ठ त्रिवर्गपरिमोषितैः ।१४३।१४॥

यहां 'त्रिवर्षपरमोषितैः' पाठ होना चाहिए।

घ—महाभारत और पुराणों में प्रतिपादित अज शब्द के तात्त्विक अर्थ का निर्देश जैन ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। स्याद्वादमञ्जरी में लिखा है—

तथाहि किल वेदे 'अजैर्यष्टव्यम्' इत्यादि वाक्येषु मिथ्यादृशोऽजशब्दं पशुवाचकं व्याचक्षते। सम्यग्दृशस्तु जन्माप्रायोग्यं त्रिवार्षिकं यवव्रीह्यादि, पञ्चवार्षिकं तिलमसूरादि सप्तवार्षिकं कङ्कुसर्षपादि धान्यपर्यायतया पर्यवसाययन्ति। श्लोक २३ की व्याख्या पृष्ठ १०७,१०८।

अर्थात्—वैसे ही वेद के 'अजों से यज्ञ करना चाहिए' इत्यादि वाक्यों में मिथ्यादृश (अज्ञानी) अज शब्द को पशुवाचक कहते हैं। सम्यग्दृश (ज्ञानी) जन्म के अयोग्य तीन वर्ष के जौ व्रीहि आदि, पांच वर्ष के तिल मसूर आदि, सात वर्ष के कङ्कु सर्षप आदि धान्य के पर्याय रूप में परिणत करते हैं।

ङ—इसी की प्रतिध्वनि पञ्चतन्त्र में भी उपलब्ध होती है। वहां लिखा है—

एतेऽपि याज्ञिका यज्ञकर्मणि पशून् व्यापादयन्ति ते मूर्खाः परमार्थं श्रुतेर्न जानन्ति। तत्र किलैतदुक्तम्—अजैर्यष्टव्यम्। अजा व्रीहयः सप्तवार्षिकाः कथ्यन्ते, न पुनः पशुविशेषः।

अर्थात्—ये याज्ञिक यज्ञकर्म में पशुओं को मारते हैं वे मूर्ख वेद वचन के ठीक अर्थ को नहीं जानते। वेद में कहा है—अजों से यज्ञ करना चाहिए। अज सात वर्ष पुराने व्रीहि कहे जाते हैं, न कि पशु विशेष (बकरा)।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि जिन प्राचीन यज्ञागमों में 'अजैर्यष्टव्यम्' ऐसा विधान था, वहाँ भी अज का अभिप्राय खेत में उगने के अयोग्य पुराने धान्यों से था, बकरों से नहीं। परन्तु उत्तर काल में जब भ्रान्ति से इस वचन में अज का अर्थ बकरा समझा गया तब उस भ्रान्ति से यज्ञ में पशु की हिंसा प्रारम्भ हुई।

अवि गौ अश्व आदि अन्य शब्दों के अर्थों में भी भ्रान्ति

जिस प्रकार अज शब्द के अर्थ में भ्रान्ति होने से यज्ञ में बकरे की हिंसा प्रवृत्त हुई, उसी प्रकार अवि गौ अश्व आदि शब्दों के वास्तविक अर्थों का ज्ञान न होने से यज्ञ में अवि = भेड़ गौ और घोड़े आदि की हिंसा आरम्भ हुई। वैदिक यज्ञ प्रकरण में अवि शब्द का क्या तात्पर्य है यह हम पूर्व तैत्तिरीय संहिता के प्रमाण से स्पष्ट कर चुके हैं। इसी प्रकार गौ और अश्व भी मूलतः वैदिक = आधिदैविक यज्ञ में किन्हीं आकाशीय प्राकृतिक द्रव्यों के वाचक हैं पार्थिव प्राणियों के नहीं। अतः मूल आधिदैविक यज्ञों में इन देवपशुओं आकाशीय प्राकृत पदार्थों का आलम्भन = हिंसन नहीं हुआ अतः उनकी अनुकृति पर रचे गए पार्थिव द्रव्यमययज्ञों में भी इन पार्थिव प्राणियों की हिंसा नहीं होनी चाहिए।

यज्ञ में पश्वालम्भन की प्रवृत्ति का दूसरा कारण है—

आलभ और आलम्भ क्रियाओं का सांकर्य

पाणिनि तथा सम्भवतः उससे कुछ पूर्व काल में लभ धातु के तिङन्त के प्रयोग संस्कृत भाषा में उच्छिन्न हो चुका थे, अतः उस काल के वैयाकरणों ने लम्भ धातु का संग्रह धातु पाठ में नहीं किया और लम्भ से निष्पन्न शब्दों का संबन्ध लभ धातु से ही जोड़ दिया। इस कारण आलभ

१. वायु तथा मत्स्य में "यज्ञबीजैः" पाठ है। यहाँ 'यज बीजैः' पाठ होना चाहिए, अन्यथा क्रिया के अभाव में वाक्य अधूरा रहता है। तुलना करो—बीजै र्यज्ञेषु यष्टव्यम्......महाभारत का उपरिनिर्दिष्ट श्लोक।

और आलम्भ ये समानार्थक हैं ऐसी मिथ्या धारणा प्रचलित हो गई। इसी धारणा के अनुसार यजुर्वेद अ० ३० के उपसंहार में श्रूयमाण "अथैतानष्टौ विरूपानालभते" वचन में "आलभते" का अर्थ आलम्भन = मारना समझा गया और उसके अनुसार पुरुषमेध में इस (३० वें) अध्याय में उक्त ब्राह्मण आदि प्राणियों की हिंसा प्रवृत्त हुई।

लभ और लम्भ के पार्थक्य में प्रमाण

वैयाकरणों द्वारा धात्वादिक में आगम आदेश के जिन शब्दों का सम्बन्ध एक धातु से जोड़ा गया है वे सभी प्रयोग वस्तुतः उसी एक धातु से निष्पन्न हैं अथवा मूलतः उनकी धातु एक से अधिक है इसके निर्णय के लिये महाभाष्यकार पतञ्जलि ने एक कसोटी बताई है और वह है वैयाकरणों ने जिन शब्दों में जिन निमित्तों में आगम आदेशादि विधान किया है वे कार्य उन निमित्तों के होने पर भी किन्हीं शब्दों में न हों और जहाँ उक्त निमित्त न हो वहाँ भी देखे जायें। यथा—

बृंहेरच्यनिटि। बृंहेरच्यनिटि उपसंख्यानं कर्तव्यम्। निबर्हयति, निबर्हकः। अचि इति किमर्थम्? निबृंह्यते। अनिटि इति किमर्थम्? निबृंहिता, निबृंहितुम्। तत्तर्ह्युपसंख्यानं कर्तव्यम्? न कर्तव्यम्। बृहिः प्रकृत्यन्तरम्। कथं ज्ञायते? अचीति लोप उच्यते, अनजादावपि दृश्यते–निबृह्यते। अनिटीत्युच्यते, इडादावपि दृश्यते–निबर्हिता, निबर्हितुम्। अजादावित्युच्यतेऽजादावपि न दृश्यते–निबृंहयति निबृंहकः।

अर्थात्—इड्भिन्न अजादि प्रत्यय परे रहने पर 'बृंह' के अनुनासिक का लोप होता है। यथा–निबर्हयति निबर्हकः। 'अचि' क्यों कहा? 'निबृंह्यते' यहाँ 'यक्' परे लोप न हो। 'इड् भिन्न के परे' क्यों कहा? 'निबृंहिता निबृंहितुम्' यहाँ इट् परे लोप न हो। तो यह वार्तिक बनाना चाहिये? नहीं बनाना चाहिये क्योंकि 'बृह' प्रकृत्यन्तर = धात्वन्तर है [उससे ये रूप बन जाएँगे] कैसे जाना जाए [बृह धात्वन्तर है?]। वार्तिक में अच् परे रहने पर लोप कहा है परन्तु अनजादि (अजादिभिन्न हलादि) प्रत्यय परे भी अनुनासिक लोप देखा जाता है यथा—'निबृह्यते'। इट् परे रहने पर नहीं होता ऐसा कहा है परन्तु इडादि में भी लोप देखा जाता है। यथा—'निबर्हिता, निबर्हितुम्'। अजादि में लोप कहा है, परन्तु अजादि में भी नहीं देखा जाता। यथा—'निबृंहयति, निबृंहकः'।

महाभाष्य के इस उद्धरण से प्रकृत्यन्तर = धात्वन्तर कल्पना करने का नियम स्पष्ट है। इसी नियम के अनुसार हम वैयाकरणों द्वारा लभ धातु से सम्बन्धित प्रयोगों के नियमों की परीक्षा करेंगे।

पाणिनि ने दो सूत्र रचे हैं—

(१) लभेश्च (२) आङो यि॥ ७।१।६४, ६५॥

अर्थात्—(१) लभ धातु को शप् और लिट् भिन्न अजादि प्रत्यय के परे रहने पर नुम् का आगम होता है। यथा—लम्भयति, लम्भकः॥

(२) आङ् से उत्तर लभ धातु को यकारादि प्रत्यय परे रहने पर नुम् का आगम होता है। यथा—आलम्भ्या गौः, आलम्भ्या वडवा।

प्रथम नियम के अनुसार लभ धातु से 'अनीयर्' प्रत्यय के परे रहने पर नुम् होकर 'लम्भनीय' प्रयोग होना चाहिये, परन्तु चरकसंहिता के पूर्वोद्धृत पाठ में 'समालभनीयाः' प्रयोग में नुम् का अभाव देखा जाता है।

दूसरे नियम के अनुसार 'यत्' प्रत्यय में 'आलम्भ्या' प्रयोग होना चाहिये, परन्तु 'अग्निष्टोम आलभ्यः' [काशिका १।१।७५ में उद्धृत] प्रयोग में नुम् का अभाव उपलब्ध होता है।

इस व्यत्यास से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मूलतः लभ और लम्भ धातु पृथक् पृथक् हैं इसी दृष्टि से काशकृत्स्नीय धातुपाठ की कन्नड टीका में 'डुलभष् प्राप्तौ' धातु के व्याख्यान में 'लभकः लाभकः लभिः लभनम्' इत्यादि प्रयोगों में नुम् का विधान नहीं माना है।

लभ और लम्भ में अर्थभेद

यतः लभ और लम्भ दोनों स्वतन्त्र पृथक् पृथक् धातुएँ हैं अतः इन के अर्थ में भी कुछ न कुछ अन्तर अवश्य होना चाहिये। इस अन्तर की पुष्टि चरक के पूर्वोद्धृत 'आदिकाले यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः नालम्भाय प्रक्रियन्ते' इस वाक्य से भी होती है। यदि एक ही अर्थ होता तो दो क्रियाओं का निर्देश न होता। अब

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।४।१) में आलभते क्रिया का सम्बन्ध प्रथम वाक्य 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते' से जोड़ा है। उसका अगले वाक्यों में अनुषङ्ग होता है। माध्यन्दिन पाठ के अनुसार उपसंहार में श्रूयमाण क्रिया का पूर्व सभी वाक्यों में सम्बन्ध होता है। २. पृष्ठ १२०॥

देखना यह है कि इन दोनों धातुओं का मूल अर्थ क्या है ?

लभ के अर्थ

१. प्राप्ति अर्थ—

क—लभ धातु का अर्थ पाणिनीय तथा काशकृत्स्नीय धातु पाठ में 'प्राप्ति' लिखा है।

ख—काशिका ७।१।६५ में उद्धृत 'अग्निष्टोम आलभ्यः' वाक्य में भी आलभ का अर्थ प्राप्त करना है।

२. स्पर्श अर्थ—

क— उपनयन तथा विवाह प्रकरण में श्रूयमाण।

'दक्षिणांसमधिहृदयमालभते' (पारस्कर गृह्य)।

वाक्य में 'आलभते' का स्पष्ट अर्थ स्पर्श है।

ख—सुश्रुत कल्पस्थान अ १ श्लोक १९ के।

आलभेतासकृद्दीनः करेण च शिरोरुहान्।

में 'आलभेत' का अर्थ स्पर्श ही है।

लम्भ[1] का अर्थ

१. हिंसा अर्थ—

चरक के पूर्व निर्दिष्ट वाक्य 'नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म' में आलम्भ का अर्थ हिंसा है, यह पूर्व निर्दिष्ट 'समालम्भनीयाः' पद के प्रतिद्वन्द्वी रूप में प्रयुक्त होने से स्पष्ट है।

२. स्पर्श अर्थ—

कहीं कहीं 'आलम्भ' का प्रयोग स्पर्श अर्थ में भी देखा जाता है। यथा—

कुमारं जातं'' पुरा अन्यैरालम्भात्। आश्व० गृह्य। स्त्रीप्रेक्षणालम्भने मैथुनशंकायाम्। गौतम धर्म २।२२॥

इन उदाहरणों में आलम्भ का अर्थ स्पर्श के अतिरिक्त और कुछ सम्भव ही नहीं है।

इन प्रयोगों से इतना स्पष्ट है कि आलभ और आलम्भ दोनों स्पर्श अर्थ में समानार्थक हैं। परन्तु आलभ का कहीं भी हिंसा अर्थ नहीं है और आलम्भ[1] का प्राप्ति। 'आलम्भ्या गौः' इत्यादि प्रयोगों में 'आलम्भ्या' का अर्थ, स्पर्श हो सकता है। अथवा यह भी सम्भव है कि इन वचनों में 'आलम्भ्या' का अर्थ हिंसन ही हो और यह वचन उत्तर कालीन हो। जो कुछ भी हो इस प्रकरण से यह तो पूर्णतया स्पष्ट हो गया कि वेद तथा ब्राह्मणों में जहाँ कहीं भी "आलभ" अर्थात् आङ् पूर्वक लभ धातु का प्रयोग है वहाँ सर्वत्र इसका मूल प्राचीन अर्थ 'प्राप्ति' अथवा 'स्पर्श' ही है। उत्तर कालीन व्याख्याकारों ने अथवा लेखकों ने आलभ और आलम्भ को समानार्थक समझ कर 'आलभते' आदि का हिंसन अर्थ किया है वह सर्वथा अप्रामाणिक है।

यजुर्वेद अ० ३० की समस्या का समाधान

याज्ञिक पद्धति के अनुसार यजुर्वेद का ३० वां अध्याय पुरुषमेध में विनियुक्त है। तदनुसार इसके ५ वें मन्त्र से अन्त तक विविध देवताओं के लिए ब्राह्मण क्षत्रिय आदि विभिन्न प्रकार के पुरुषों के आलभन का निर्देश है। इस प्रकरण के अन्त में (मन्त्र २२) आलभते क्रिया का निर्देश है वह सम्पूर्ण प्रकरण का शेष है। अतः आलभते क्रिया का ब्रह्मणे ब्राह्मणम्, क्षत्राय राजन्यम् आदि प्रत्येक वाक्य के साथ सम्बन्ध है। याज्ञिक पद्धति के अनुसार आलभते का अर्थ संज्ञपन = हिंसन किया जाता है।

हमारी उपर्युक्त मीमांसा के अनुसार यहाँ भी 'आलभते' का अर्थ संज्ञपन = सिंहन नहीं हो सकता (क्योंकि संज्ञपनार्थक आलम्भ पृथक् धातु है)। इस दृष्टि से सम्पूर्ण अध्याय पर विचार करने से इस अध्याय का अर्थ बहुत ही सुन्दर और शिक्षा-प्रद प्रतीत होता है। हमारे विचार में इस अध्याय में किस व्यक्ति से क्या प्राप्त करे, किस प्रकार का ज्ञान सीखे इस विषय का वर्णन है। इसमें श्रेष्ठतम व्यक्ति से लेकर निन्दिततम व्यक्ति से भी उपयोगी ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा है। इस सम्पूर्ण अध्याय की व्याख्या हम किसी और समय प्रकाशित करेंगे[2]। इस समय तो हमने प्रसंगात् इस अध्याय की ओर संकेत कर दिया है।

उपसंहार

हमने इस लेखमें संक्षेप से श्रौत यज्ञों सम्बन्धी पशवालम्भन पर विचार करते हुए निम्न विषयों पर प्रकाश डाला है—

१—श्रौत यज्ञ आकाशीय पदार्थों की विभिन्न

---

१. 'लम्भ' का अर्थ प्राप्ति कहीं नहीं, सो बात नहीं, क्योंकि कठोपनिषद् १।१।२५ में—"नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः" इस पाठ में 'लम्भनीयाः' ऐसा सार्वत्रिक पाठ है। शङ्कराचार्यभाष्य में भी इसका अर्थ प्रापणीयाः' किया गया है। लेखक का विवेचन बहुत योग्यता पूर्ण और उपादेय है—[सम्पादक वेदवाणी]।

२. इसी अध्याय के 'दुष्कृताय चरकाचार्यम्' (१८) मन्त्रांश की अद्भुत व्याख्या हम वेदवाणी वर्ष ५ अंक १ (सं० २०१० के वेदाङ्क) में प्रकाशित कर चुके हैं। यह अलग भी पुस्तकाकार में छप चुकी है।

क्रियाओं का निदर्शन (प्रत्यक्षीकरण) के लिए कल्पित किए गए हैं। अर्थात् श्रौतयज्ञ आकाशीय यज्ञों के प्रतिनिधि भूत हैं।

२—आकाशीय यज्ञों में देवों ने किसी देवपशु का आलम्भन = हिंसन नहीं किया। अतः उनके प्रतिनिधिभूत श्रौत पशुयज्ञों में पशुहिंसा कैसे हो सकती है?

३—मानव सृष्टि के प्रारम्भ में निरामिष भोजी था। उसने बहुत काल पश्चात् मांसाहार स्वीकार किया।

४—आदि काल में श्रौत यज्ञों में पश्वालम्भन नहीं होता था।

५—उत्तर काल में वास्तविक वेदार्थ के अपरिज्ञान के कारण पशुहिंसा की प्रवृत्ति हुई।

६—सबसे प्रथम पश्वालम्भ इन्द्र के अश्वमेध में हुआ।

७—यज्ञ में गवालम्भ का आरम्भ पृषध्र अपर नाम नहुष से हुआ।

८—ऋषियों ने इन्द्र और नहुषको बहुत समझाया। पर दोनों ने ऐश्वर्य के मद के कारण अकिंचन ऋषियों के कथन पर ध्यान नहीं दिया।

९—गवादि पश्वालम्भ से प्रजाओं में ९८ नए रोग उत्पन्न हुए।

१०—उत्तर काल में ऋषियों के बहुधा प्रयास करने पर भी मानव समाज में मांसाहार की प्रवृत्ति बढ़ी। इस प्रकार यज्ञों में पशुबलि की वृद्धि हुई। अत एव उत्तरकालीन प्रायः सभी ग्रन्थों में किसी न किसी प्रकार पशुबलि का विधान उपलब्ध होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वेद में यज्ञ में पश्वालम्भ का निर्देश तो दूर रहा, उसमें इन पार्थिव द्रव्यमय यज्ञों का ही वर्णन नहीं है। उसमें जहाँ कहीं भी यज्ञों का वर्णन है वह उन आकाशीय यज्ञों का है, जिन्हें आधिदैविक देव ब्रह्माण्ड में सतत कर रहे हैं। जब इन आधिदैविक यज्ञों की अनुकृति पर यज्ञ रचे गए और उनमें भी उत्तर काल में वेद के अभिप्राय को न समझने के कारण जब पशु आलम्भन होने लगा, उनके अनुसार यज्ञपद्धतियों के ग्रन्थ लिखे गए और इस विकृत यज्ञप्रक्रिया के अनुसार वेदार्थ किया जाने लगा तब वेद में पाश्वालम्भ की प्रतीति होने लगी। वस्तुतः वेद के उन-उन शब्दों का वह वास्तविक अभिप्राय ही नहीं है। हमने प्रसंगात् **अविरोध** के वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश डाला है, वह भी अपनी ओर से नहीं अपितु ब्राह्मण वचनों के आधार पर। वस्तुतः जब इसी दृष्टि से वेद के इस प्रकार के सभी प्रकरणों पर विचार किया जाएगा तब वेद के वास्तविक रहस्य खुलेंगे। अन्यथा वे उसी प्रकार छिपे रहेंगे जैसे ऋषिदयानन्द से पूर्व गत पांच सहस्र वर्षों से छिपे हैं।

यह कार्य एक व्यक्ति के करने का नहीं है। इसमें अनेकों व्यक्ति निश्चिन्त हो कर चिरकाल तक प्रयत्न करें, तब कहीं वेद के वास्तविक रहस्य कुछ खुल सकते हैं। जो वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है सर्वज्ञानमय है उसका प्रचार अथवा रहस्यों का उद्घाटन अथवा उसका भाष्य बिना विशेष तप और अध्ययन के कदापि सम्भव नहीं। परन्तु इस काल में लोगों की गति ही निराली है, जो जितना क्लिष्ट तथा रहस्यमय ग्रन्थ है, उसके उतने ही अधिक व्याख्याता समाज में दृष्टिगोचर हो रहे हैं। वेङ्कटमाधव (सं० ११००–१२००) की—

मायाविनो लिखन्त्यन्ये व्याख्यानानि गृहे गृहे[1]।

उक्ति ही इस समय चरितार्थ हो रही है। अस्तु ॥

1. ऋग्वेदभाष्य अनुक्रमणी ॥८।४।१०॥

वेद में मानव इतिहास और पाश्चात्य लेखक

(लेखक—श्री पं० भगवद्दत्त जी वेदिकस्कालर देहली)

जब पाश्चात्य ईसाई, यहूदी लोगों ने वेदाध्ययन प्रारम्भ किया, तब उनके हृदय में भय था कि वेद दैवी-वाणी सिद्ध न हो जाए। अतः उन्होंने अपने भाषामतों को इस पद्धति से व्यक्त किया कि वेद भाषा भी दूसरी भाषाओं के समान कभी बोल चाल की भाषा थी। इसी पक्ष को ध्येय मानकर उन्होंने वेदमन्त्रों में स्थान-स्थान पर ऐतिहासिक संकेत ढूंढे। उनके परिश्रम का फल यह हुआ कि आज पाश्चात्य भाषाएँ पढ़ा हुआ सारा संसार वेद को उसी दृष्टि से देखने लग गया। इस पक्ष की यहाँ परीक्षा की जाती है। इस के विपरीत हमारी प्रतिज्ञाएँ निम्न लिखित हैं—

१—वेद मानव सृष्टि बनने से पहले व्यक्ताव्यक्त श्रुति के रूप में आकाश में विद्यमान था।

२—मानवसृष्टि के आरम्भ में वेदभाषा के साथ लोक-भाषा भी प्रचलित हुई। उसमें शब्द वेदवत् ही थे पर वेद के कतिपय शब्द ऐसे रहे जो लोक भाषा में अत्यल्प प्रयुक्त हुए।

३—यद्यपि लोक और वेद के शब्द समान हैं, तथापि वेदमन्त्रों की रीति की भाषा संसार में कभी बोली नहीं गई।

४—लोक भाषा में आनुपूर्वी पर उतना बल नहीं दिया गया जितना वेद में। यही इस के अलौकिक होने का प्रमाण है।

५—विश्वामित्र मैत्रावरुणि वसिष्ठ, इन्द्र, मनु, नाभाने-दिष्ठ, देवापि, कुरुङ्ग, पैजवन सुदास, इलिबिश, देवदास, उर्वशी और पुरुरवा आदि अनेक पद आकाशीय भौतिक पदार्थों के सूचक हैं, मानव-नाम नहीं हैं। आधिदैविक पक्ष में इन का एक ही प्रधान अर्थ है। कहीं कहीं विरलता से कोई गौण अर्थ भी हो जाता है। इसी प्रकार वेद में आए अनु, द्रुह्यु, पुरु, तुर्वशु और यदु आदि नाम भी जाति-विशेषों के नाम नहीं हैं।

६—ऋग्वेद, अन्य वेदों और मन्त्रों का जो काल पाश्चात्य लोगों ने निर्धारित किया वह सर्वथा अशुद्ध है। मन्त्र उन ऋषियों से बहुत पहले विद्यमान थे, जिनके नाम, संकेत और इतिहास मन्त्रों में बताये जाते हैं।

७—निस्सन्देह अनेक ऋषियों और राजाओं ने मन्त्रों से नाम लेकर अपने नाम वैसे रखलिए, पर उनके अनेक कार्य इतिहास में और हैं, तथा मन्त्रों में और।

आकाश में उच्चारित श्रुति

१—**महाव्याहृति की उत्पत्ति**—आधिदैविक पक्ष में प्रजापति, पुरुष, हिरण्यगर्भ और ब्रह्म आदि शब्द पर्याय शब्द हैं। प्रजापति पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन हम सं० २०१० के वेदवाणी के वेदाङ्क में कर चुके हैं। उस प्रजापति से पृथिवी की उत्पत्ति के समय 'भूः' शब्द की उत्पत्ति हुई।

क—स भूरिति व्याहरत्, स भूमिमसृजत। तै० ब्रा० २.२।४।२॥

ख—स प्रजापतिर्यदग्रे व्याहरत्, स भूरित्येव व्याहरत्। स इमाम् असृजत। जै० ब्रा० १।१०१॥

ग-स भूरिति व्याहरत्, सेयं पृथिव्यभवत्। शत० ११।१।६।२॥

इसी प्रकार अन्तरिक्ष की उत्पत्ति के समय 'भुवः' और 'द्यु' की उत्पत्ति के समय 'स्वः' (सुवः) की उत्पत्ति हुई।

२—**करत् जनत् बृधत् का व्याहरण**—जैमिनि ब्राह्मण ३।३८० में लिखा है कि प्रजापति के करत् जनत् और बृधत् के उच्चारण से तीन लोक उत्पन्न हुए—

अथ यत् करज् जनद् वृधद् इति व्याहरत् ते एवैमे लोका अभवन् ।

३—निविद् की उत्पत्ति—उसी प्रजापति से निविदों की उत्पत्ति हुई—

प्रजापतिर्वा इदमेक एवाग्र आस। सोऽकामयत प्रजायेय भूयान्त् स्यामिति। स तपोऽतप्यत। स वाचमयच्छत। स संवत्सरस्य परस्ताद् व्याहरत् द्वादशकृत्वः। द्वादश पदा वा एषां निवित्। एतां वाव तां निविदं व्याहरत्। तां सर्वाणि भूतान्यन्वसृज्यन्त। ऐ० ब्रा० २।३३॥

अर्थात्—प्रजापति निश्चय से एक ही पहले था। उसने कामना की, उत्पन्न होऊँ, बहुत होऊँ। उसने तप तपा। उसने वाणी को रोका। वह संवत्सर के पीछे बोला बारह बार। बारह पदों की ही इन की निवित् है। इसी ही निवित् को बोला। उसके पीछे सब भूतों को उत्पन्न किया।

सर्वप्रथम श्रुति—योरोप के विकास मतानुयायियों का एक मत है कि मनुष्यों में सबे प्रथम व्यक्त शब्द एकाक्षरी थे। इसके विपरात वैदिक विद्वानों का स्पष्ट किया हुआ विचार है कि आदि में प्रजापति द्वारा आकाश में एकाक्षर और द्व्यक्षर श्रुति उत्पन्न हुई। इसका पता शतपथ से लगता है। उसमें लिखा है—

स वा एकाक्षरद्व्यक्षराण्येव प्रथमं वदन् प्रजापतिरवदत्।११।१।६।४॥

अर्थात्—वह प्रजापति एकाक्षर द्व्यक्षर ही प्रथम बोलता हुआ बोला।

४—ओम् और अथ शब्द—इसी मत का एक अवशेष निम्नलिखित पुराने श्लोक में पाया जाता है—

ओङ्कारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ[1]॥

जिस प्रकार प्रजापति से पूर्वोक्त भू आदि की उत्पत्ति का उल्लेख है उसी प्रकार मन्त्र देवों से उत्पन्न हुए इसका भी उल्लेख है।

पूर्वपक्ष—व्यक्त शब्द का उच्चारण मुख से होता है, और मुख मानव सृष्टि के साथ संबद्ध है। पशुपक्षी भी रुत करते हैं, व्यक्त शब्द नहीं बोलते केवल ध्वनि व्यक्त शब्द नहीं है। अतः आकाश में मन्त्रादि की उत्पत्ति असम्भव है।

उत्तरपक्ष—संसार में कर्णेन्द्रिय द्वारा ही शब्द सुना जाता है। जिसके वह इन्द्रिय नहीं, उसके लिए शब्द की कोई सत्ता नहीं है। कान क्यों शब्द सुनता है। इसका एक ही वैज्ञानिक उत्तर है कि मूल कर्णेन्द्रिय का सम्बन्ध अपनी तन्मात्रा और अपने महाभूत से है। इसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणियों के मुख का सम्बन्ध मूलवाग्-इन्द्रिय से है। उसी वागिन्द्रिय की सत्ता से आकाश में वेदवाक् उत्पन्न हुई। भौतिक पदार्थों में भी जो बहुविध ध्वनियां उत्पन्न हो रही हैं उनका कारण भी वही वागिन्द्रिय की व्यापकता का संबन्ध है। प्रजापति पुरुष उसी वागिन्द्रिय की सत्ता से कार्य कर रहा था। इस सूक्ष्म ज्ञान के बिना वेद श्रुति की उत्पत्ति का ज्ञान सम्भव नहीं। यह ज्ञान सांख्य शास्त्र के गम्भीरतम अध्ययन से ही प्राप्त हो सकता है।

अब दूसरी प्रतिज्ञा का व्याख्यान आरम्भ किया जाता है—

पूर्वपक्ष—योरोप के लोगों ने भाषा विज्ञान के आधार पर यह पक्ष स्थापित किया है कि भाषा के क्रमिक परिवर्तन की दृष्टि से भारतीय वाङ्मय के पूर्ववेद काल, उत्तरवेद-काल, ब्राह्मणकाल, आरण्यक और उपनिषद् काल और रामायण महाभारत काल बनते हैं।

उत्तर पक्ष—यह पक्ष प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता। इस पक्ष का उपस्थापक मैक्समूलर था। उस का मार्टेन हाग (सन् १८६३) ने स्वसम्पादित ऐतरेय ब्राह्मण की अंग्रेजी में लिखी गई भूमिका में प्रबल प्रत्याख्यान किया है। वह लिखता है—

ऋग्वेद का १।१६२ सूक्त जिसे मैक्समूलर मन्त्रकाल (ईसा पूर्व १०००-८००) में रखता है, वह बहुत पुराने काल का सूक्त है। (पृष्ठ २३)

हाग का उत्तर मैक्समूलर के किसी अनुयायी से नहीं बन पड़ा। इस लिए अधिकांश पाश्चात्य अध्यापकों ने मन्त्र काल और छन्दकाल की परिभाषाओं को त्याग कर पूर्व वैदिककाल और उत्तर वैदिककाल परिभाषाएं स्वीकार कर लीं।

मैक्समूलर के स्रोता महापक्षपाती बूहर ने जब देखा कि मैक्समूलर का पक्ष गिर जाने से सारे योरोप का बनाया हुआ भारतीय वाङ्मय के इतिहास का ढांचा गिर जाएगा, तो

१. उवट ने वाजसनेय प्रातिशाख्य १।१७ की व्याख्या में इस श्लोक को उद्धृत किया है। वहाँ चतुर्थ चरण का पाठ "तेनेमौ माङ्गलिकावुभौ" है।

उसने योरोप के सम्पूर्ण स्कालरों से ढंग से स्तुति रूप में प्रार्थना की। उसने लिखा—

Subsequent events have shown that Professor Max Muller was right to rely on these two leading ideas (a ratioal theory of historical development facts which the beginning exploration of Vedic literature had brought to light), and that his fellow Sanskritists did well to follow him, instead of taking umbrage at the minor flaws.[1]

अर्थात्—अच्छा हुआ जो मैक्समूलर के अनेक साथी संस्कृतज्ञों ने उसकी तर्कपूर्ण ऐतिहासिक विकास की युक्ति को मान लिया।

यहां—"अच्छा हुआ" शब्द से बूह्लर का अन्तर-निहित अभिप्राय स्पष्ट हो रहा है।

मैक्समूलर के विरोधी पक्ष में गोल्डस्टकर और हाग दो विशिष्ट विद्वान् थे। जब इन के पुस्तकों का प्रचार अधिक न होने दिया गया तो मैक्समूलर के पक्षपातियों ने समझ लिया कि उन का काम बन जाएगा। इङ्गलैण्ड में मैक्स-मूलर पक्ष के दो भारी स्तम्भ प्रकट हुए। वे थे मैकडानल और कीथ। उन्हीं के ग्रन्थ भारत के सब विश्वविद्यालयों में पढ़ाए जाने लगे और अब तक पढ़ाए जाते हैं। इसके कारण भारत के एम. ए. और डाक्टर उपाधिप्राप्त लोगों ने उसी मैक्समूलर पक्ष को बिना प्रमाण बाबावाक्य मानकर स्वीकार कर लिया। उसके विपरीत निम्नलिखित बातों पर किसी ने ध्यान नहीं दिया—

१—मनु शास्त्र स्वायम्भुव मनु द्वारा उपदिष्ट था। उस में लगभग १ एक लक्ष श्लोक थे। उसकी भाषा लोक भाषा थी। हाँ, उसमें सैकड़ों प्रयोग पाणिनि प्रभाव से पूर्व के थे। ऐसे अनेक प्रयोग मानव धर्मशास्त्र की उपलब्ध भृगुप्रोक्त संहिता में भी उपलब्ध होते हैं। यथा—

क—यस्य वाङ्मनसी शुद्धे (अ० २)।

पाणिनि के अनुसार वाक् शब्द के साथ मनस् का समास होने पर अकारान्त रूप बन जाता है (अष्टा० ५।४।७७)। तदनुसार नपुंसकलिङ्ग में प्रथमा विभक्ति के द्विवचन में प्रयोग होगा 'वाङ्मनसे'।

ख—सेनापत्यं च राज्यं च (अ० ६)

पाणिनि के मतानुसार सेनापति शब्द से भाव अथवा कर्म अर्थ में यक् प्रत्यय (अष्टा० ५।१।१२८) होकर 'सैनापत्यम्' प्रयोग होना चाहिए(अष्टा० ७।२।११८)।

ग—जयन्त भट्ट ने अपनी न्यायमञ्जरी के व्याकरण-प्रामाण्यधिकरण में पाणिनीय नियम का उल्लंघन करने वाला मानवधर्मशास्त्र का एक पाठ उद्धृत किया है—

ज्ञातारमन्तिमेत्युक्ता (   ) इति मनुना[2]।

यहाँ पाणिनीय नियम के अनुसार 'अन्तिम इत्युक्ता' ऐसी सन्धि होनी चाहिये।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि मानव धर्मशास्त्र के पाणिनीय लक्षण विपरीत अनेक प्राचीन प्रयोगों को उत्तर-वर्ती पाठ को तथा व्याख्याताओं ने बदल कर पाणिनीय नियमानुसारी बना दिया है। मानवधर्मशास्त्र की प्राचीन टीकाओं में ऐसे अनेक मूलपाठ सुरक्षित हैं। कई प्राचीन मूलपाठ इस समय भी मानव धर्मशास्त्र में सुरक्षित हैं जो पाणिनीय नियमों के अनुकूल नहीं हैं।

मानव धर्मशास्त्र का ही एक अन्य रूप नारद प्रोक्त है। उसके पठनपाठन में अधिक व्यवहृत न होने से उस में पाणिनि प्रभाव से पूर्व के प्रयोग अधिक सुरक्षित हैं। यथा—

१—प्रत्यूषि ब्रह्म चिन्तयेत्।

२—चतुर्विंशत्। दिव्यप्रकरण श्लोक ३३ पृष्ठ १९५।

पूर्वपक्ष—वर्तमान मनुस्मृति को पाण्डुरङ्ग वामन काणे प्रभृति भारतीय लेखक और बॉली प्रभृति अनेक योरोपियन लेखक ईसा की प्रथम शती अथवा ईसा पूर्व प्रथम शती से पुराना नहीं मानते। अतः इस विषय में मनु का प्रमाण कैसे हो सकता है?

उत्तर पक्ष—यह सत्य है कि काणे प्रभृति लेखकों ने ऐसा ही लिखा है। योरोप में एक मेयर ही है जो नारद प्रोक्त मनुस्मृतिको ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व का मानता है[3]। वस्तुतः मेयर का पक्ष ही आंशिक रूप में ठीक है। बट

१. मानवधर्मशास्त्र का अंग्रेजी अनुवाद, भूमिका पृष्ठ २०, आक्सफोर्ड सन् १८८९।

२. न्यायमञ्जरी, पृष्ठ ४१४, संवत् १९५१, मेडिकल हाल यन्त्रालय, काशी।

३. केम्ब्रिज हिस्ट्री प्रथम भाग २८० पर नारदस्मृति को पञ्चमशती ईसा का कहा है।

कृष्ण घोष और काणे ने जो उस का खण्डन किया है, वह तर्कशून्य और इतिहास के सर्वथा विपरीत है।

१—मनुस्मृति के विषय में काणे आदि कुछ नहीं समझे। मनुस्मृति पर—

१. भागुरी।
२. भर्तृयज्ञ।
३. देवस्वामी।
४. असहाय।
५. भारुचि।
६. यज्वा।
७. उपाध्याय।
८. मेधातिथि।
९. गोविन्दराज।
१०. उदयकर।

आदि अनेक व्याख्याता क्रमशः हुए हैं। इन में से असहाय विष्णुगुप्त चाणक्य है। देवस्वामी को काणे एक हजार ईसा के समीप मानता है और लिखता है—"पूर्व-मीमांसा भाष्यकार देवस्वामी और मनुभाष्यकार देवस्वामी के ऐक्य का प्रमाण नहीं मिलता।"

देवस्वामी महान् विद्वान् था। उसने ज्योतिष्, मीमांसा, श्रौत, गृह्य और धर्मशास्त्र पर अपने ग्रन्थ लिखे। देवस्वामी दो हुए हैं, इस का स्पष्ट प्रमाण विवादास्पदविषयों के अतिरिक्त जब तक कहीं अन्य स्थानों से न मिले, तब तक देवस्वामी नाम के कई व्यक्तियों की कल्पना पर विचार करना व्यर्थ है।

भर्तृयज्ञ अति प्राचीन ग्रन्थकार है। वह भारत युद्ध से ३०० से ४०० वर्ष पश्चात् हुआ। भागुरि भारतयुद्ध से पूर्व का व्यक्ति है। वर्तमान मनुस्मृति अल्प-भेदों को छोड़कर इन भाष्यकारों से पूर्व काल का ग्रन्थ है। अविच्छिन्न भारतीय परम्परा इसी तथ्य का प्रतिपादन करती है। उसके समक्ष काणे आदि की निराधार कल्पनाएं कोई मूल्य नहीं रखतीं।

२—सप्तर्षियों का चित्र शिखण्डी शास्त्र भी उसी उपदेश युग की देन है। वह लोक भाषा में था। अत्रि आदि ने अपने मूल चित्र शिखण्डी शास्त्र के अंशों के रूपान्तर अपने अपने उसी धर्मशास्त्र लिखे। अत्रि ही इस्लामी साहित्य का "इद्रीस" है। उसके ग्रन्थ बावेल आदि देशों में भी प्रसिद्ध थे। अत्रि स्मृति के जो गद्य पद्यात्मक अंश उद्धरण रूप में सम्प्राप्त हैं, वे उसके पुराने धर्मशास्त्र के अवशिष्ट अंश हैं। उनकी भाषा लोक-भाषा ही है।

३—सप्तर्षियों से पूर्व ब्रह्मा के अनेक उपदेश इसी लोकभाषा में थे। ब्रह्मा का उपदेश सर्वतोमुखी था। उसके ग्रन्थों का विस्तृत विवरण हम "भारतवर्ष का बृहद् इतिहास" के दूसरे भाग में करेंगे।

४—त्रेता के आरम्भ में राज-पुत्र बुध ने हस्तिशास्त्र और राज-शास्त्र पर दो महान् ग्रन्थ रचे। उस हस्तिशास्त्र के कई सौ श्लोक अब भी उपलब्ध हैं। वे सब लोक भाषा में हैं।

अधिक क्या लिखें। इस विषय पर एक बृहत्काय स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा जा सकता है। निस्सन्देह वेद के साथ साथ लोक भाषा सदा से प्रचलित रही।

अब हम तीसरी और चौथी प्रतिज्ञा की विवेचना करते हैं—

वेद मन्त्रों की आनुपूर्वी नित्य मानी गई है। इसका कारण क्या? मन्त्र प्रजापति, देवों, वाक् आदि भौतिक शक्तियों द्वारा महान् के संयोग से और ईश्वर की प्रेरणा से आकाश में सर्वप्रथम उच्चरित हुए। उन का उच्चारण जैसा इस सृष्टि में हुआ वैसा पूर्व सृष्टियों में भी होता रहा। भौतिक नियम सदा एक समान रहते हैं। उनमें परिवर्तन नहीं होता। अयस्कान्त मणि लोह कणों को सदा एक नियम से द्रवित करके सुस्थिर कर देता है। आप उस नियम में बाधा डालें तो वैसा फल नहीं निकलेगा। इसी प्रकार वेद मन्त्रों के उच्चारण क्रम में भेद कर देने से यथार्थ फल प्राप्त नहीं होता। वेद मन्त्रों की आनुपूर्वी का इतना महात्म्य जो आर्य इतिहास के आरम्भ से चला आया है बताता है कि वेदवाक् का लोक भाषा से सदा पार्थक्य रहा है। लोक भाषा में आनुपूर्वी की दृढ़ता पर कोई बल नहीं दिया गया। इसी आनुपूर्वी के डर से मीमांसाभाष्यकार शबरस्वामी ने लिखा है कि सारी शाखाएं नित्य हैं।

भाषा का भेद काल क्रम-मात्र से हुआ यह कहना भी युक्ति संगत नहीं है। एक ही प्रवक्ता की भाषा में शास्त्र के भेद से भी भाषा का भेद होता है। यथा—

१—पाणिनि की अष्टाध्यायी सूत्र पाठ की भाषा उसके जाम्बवतीविजय महाकाव्य की भाषा से भिन्न है।[1]

१. पाश्चात्य विद्वान् इसी भय से जाम्बवती विजय अपर नाम पातालविजय को वैयाकरण पाणिनि की कृति नहीं मानते भारतीय परम्परा के अनुसार यह काव्य वैयाकरण पाणिनि कृत ही है। इस में किसी को सन्देह नहीं। इस विषय पर विशेष देखो संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास भाग २ पृष्ठ।

२—कात्यायन स्मृति की भाषा श्रौतसूत्र की भाषा से भिन्न है।

३—जैमिनीय मीमांसा सूत्रों की भाषा और उसके ब्राह्मण की भाषा में स्पष्ट अन्तर है।

४—शौनक के ऋक्प्रातिशाख्य से शौनक प्रोक्त ऐतरेयआरण्यक के पञ्चम आरण्यक की भाषा भिन्न प्रकार की है।

५—हम वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग २ (ब्राह्मण आरण्यक) पृष्ठ ११५ में लिख चुके हैं कि न्याय भाष्यकार वात्स्यायन लिखता है—इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र और आयुर्वेद के कर्ता ही ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रवक्ता थे। ब्राह्मण ग्रन्थों और आयुर्वेद आदि के ग्रंथों की भाषा का भेद विषयों की विभिन्नता के कारण है, न कि कालभेद के कारण।

प्रश्न—पाश्चात्य लेखकों का मत है कि न्याय का वात्स्यायन भाष्य चौथी अथवा पांचवीं शताब्दी विक्रम में लिखा गया था। अतः उसका साक्ष्य बहुत उत्तरकाल का होने से अधिक प्रबल नहीं ठहरता।

उत्तर—यह भी बिना सिर-पैर की बात है। प्रतिपद श्लेषयुक्त सुबन्धुकृत वासवदत्ता आख्यायिका गुप्त काल में लिखी गई। गुप्त काल दूसरी शती विक्रम से अर्वाचीन नहीं है। सुबन्धु न्यायवर्तिककार उद्योतकर का स्मरण करता है। अधिकांश हस्तलेखों का साक्ष्य इसी पक्ष में है। उद्योतकर से पहले दिङ्नाग हो चुका था। दिङ्नाग और वसुबन्धु से पूर्व न्यायभाष्यकार वात्स्यायन का काल है। यही नहीं, भाष्यकार वात्स्यायन नागार्जुन का भी पूर्ववर्ती है। अत एव वात्स्यायनको विक्रम की चौथी पांचवीं सदी का आचार्य मानना इतिहास को न जानना है। अक्षपाद गौतम भारत युद्ध से पूर्वकाल का व्यक्ति था। अक्षपाद स्वयं मानता है कि वेद के ऋषि और आयुर्वेद के प्रवक्ता ऋषि समान ही थे। इन परम प्रामाणिक व्यक्तियों के प्रतिपक्ष में दस-बीस पक्षपाती ईसाई और यहूदी लेखकों की तर्कशून्य बात कैसे मानी जा सकती है।

६—परमर्षि अतीव प्राचीनकाल के महापुरुष थे। भारतीय वाङ्मय में इस उपाधि से कपिल और सनत्कुमार आदि इने-गिने व्यक्ति ही विभूषित हुए हैं। उन अतिप्राचीनकाल के ऋषियों के वचन भी लोकभाषा में ही थे। देखिये—

क. दुर्ग (छठीं शताब्दी विक्रम से पूर्व) निरुक्त वृत्ति में लिखता है—

तथा च पारमर्षं सूत्रमधीयते

ख. पातञ्जल योगसूत्र (१।४७) के व्यासभाष्य में—"प्रज्ञाप्रसादमारुह्य" आदि एक गाथा उद्धृत है। इस पर वाचस्पति मिश्र का लेख है—

अत्रैव परमर्षिगाथामुदाहरति—तथा चेति'''।

यह गाथा लोक भाषा में है।

ग. सांख्य सप्तति की युक्तिदीपिका नाम्नी व्याख्या में परमर्षि के नाम से अनेक वचन उद्धृत हैं।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि भाषा भेद में एक मात्र काल कारण नहीं है। इस कारण भाषाभेद के आधार पर पाश्चात्य विद्वानों ने जो कालक्रम निर्धारित किया है वह सर्वथा अशुद्ध है।

अब हम पांचवी प्रतिज्ञा की सहेतुक व्याख्या करते हैं—

योरोप के सम्पूर्ण वेद विषयक लेखक मूलाधार के अशुद्ध हो जाने के कारण एक प्रधानवाद को समझने में अशक्त रहे। वह है आकाशीय और पार्थिव सृष्टि की पृथकूता का वाद। देवों से पहले आकाश में पितर सृष्टि हुई। उसमें भृगु अत्रि वसिष्ठ आदि का प्रादुर्भाव हुआ। ब्राह्मण ग्रन्थों में आकाशीय अङ्गिरा की उत्पत्ति अंगारों से लिखी है। निस्सन्देह उस समय अग्नि आकाश में अङ्गारवत् था। उसमें ज्वालाएं नहीं थीं। उसके योग से जो प्राण उत्पन्न हुआ, वह अङ्गिरा था। इस घटना के लाखों वर्ष पश्चात् पृथिवी पर ब्रह्मा के अनन्तर योगज-शरीर धारी कुछ ऋषि उत्पन्न हुए। उनमें एक का नाम ब्रह्मा ने अङ्गिरा रक्खा। आकाशीय अङ्गिरा और पार्थिव अङ्गिरा का वैदिक वाङ्मय में सर्वत्र अन्तर रहा है। अल्पज्ञानी पाश्चात्यों को यह प्रधानवाद समझ में नहीं आया, अथवा उन्होंने इस को बिगाड़ने का प्रयास किया। इस विषय में हमारा पक्ष ही सत्य पक्ष है इसके लिए अनेक प्रबल प्रमाण हैं।

वेदमन्त्रों में भृगु, अङ्गिरा, वसिष्ठ, दिवोदास, इलिबिश आदि का जो स्वरूप और इतिहास वर्णित है। वह एतन्नाम धारी पार्थिव व्यक्तियों से कभी भी पूरा टक्कर नहीं खाता। दोनों में न्यूनाधिक अन्तर बना ही रहता है। इतिहास का मैत्रावरुणि वसिष्ठ इक्ष्वाकुओं का पुरोहित है, परन्तु आकाशीय वसिष्ठ का इक्ष्वाकुओं से कोई सम्बन्ध नहीं, यही नहीं, आकाशीय वसिष्ठ में पार्थिव वसिष्ठ की और भी अनेक बातें नहीं घटतीं, इसी प्रकार का भेद सर्वत्र दृष्टिगत होता है। इसका विस्तार हम अन्यत्र करेंगे।

अब हम छठी प्रतिज्ञा का विवरण करते हैं—

पाश्चात्यों ने वेद का काल ईसा पूर्व १२ सौ से २५ सौ वर्ष माना है। यकोबी इससे अधिक पुराना काल मानता है। पर उसके भाइ उससे खिन्न हैं। इन सम्पूर्ण लोगों की एक ही युक्ति है—

ईरान अखमीनियन राजाओं का काल ईसा से ६०० वर्ष पूर्व का था। उनके दारा आदि सम्राटों के शिलालेख मिलते हैं। उन शिलालेखों की भाषा और अवेस्ता की गाथाओं की भाषा में अधिक अन्तर नहीं है। अतः गाथाएँ ईसा पूर्व एक हजार की मानी जाती हैं। गाथाओं की और वेद की भाषा में भी परस्पर महत् साम्य है। अतः वेद का काल उससे दो सौ वर्ष पहले रख दिया गया।

यदि 'तुष्यतु दुर्जन' न्याय से इस तर्क को कुछ काल के लिए मान लें, तो भी पाश्चात्यों की मूल बात सिद्ध नहीं होती। यूनानी लेखकों ने गाथाओं के कर्ता ज़रदुस्तर का काल भिन्न भिन्न लिखा है—

१. क्षेन्थंस ज़रदुस्तर का काल ट्रोजन युद्ध से पूर्व का मानता है अर्थात् ईसा से १८०० वर्ष पहले का।

२. हर्मीपस ट्रोजन युद्ध से ५००० वर्ष पूर्व का मानता है।

३. अरस्तू अफलातूनसे ज़रदुस्तरको ६ हजार वर्ष पूर्व मानता है।

४. प्लाइनी ज़रदुस्तर को मूसा से कई हजार वर्ष पूर्व मानता है।

इन लेखों को परे रखकर पाश्चात्यों ने ज़रदुस्तर का काल ईसा से लगभग ८००, ९०० वर्ष पहले का मान लिया और तदनन्तर वेदों का काल कल्पित कर लिया, ऐसी गप्पों को भला कौन विद्वान् स्वीकार करेगा।

इस प्रकार जब पाश्चात्यों का प्रधान तर्क ही सुसंगत नहीं तो उनके अन्य लेखों का क्या कहना।

वेद के अनुक्रमणी ग्रन्थों में जिन मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों के नाम लिखे हैं, उन्हें पाश्चात्य लेखक ऐतिहासिक परम्परा के अनुसार नहीं मानते। वे इन ऋषि-नामावलियों को कल्पित कहते हैं। पाश्चात्यों ने इस विषय में तर्क नहीं दिए, तथापि हमने उनके लेख का खण्डन अपने "भारतवर्ष का बृहद् इतिहास" में कर दिया है।

अनुक्रमणी ग्रन्थों में वेद के जिन मन्त्रों का जो ऋषि लिखा है, वे मन्त्र उन ऋषियों से पूर्व विद्यमान थे। इस विषय के कतिपय प्रमाण हम अपने कई ग्रन्थों में दे चुके हैं। हमारे लेख के पश्चात् पं. युधिष्ठिर मीमांसक जी ने और कई नए प्रमाण उपस्थित किए, वे उनके ग्रन्थ में देख लें। इन सब बातों का उत्तर आज तक किसी पाश्चात्य लेखक अथवा उनके अनुयायियों ने नहीं दिया।

अब हम सातवीं प्रतिज्ञा के विषय में लिखते हैं—

निस्सन्देह वेद में प्रयुक्त नाम लौकिक इतिहास में मिलते हैं, परन्तु इसका यह कारण नहीं कि वेद में उन व्यक्तियों का इतिहास है। अपितु उन व्यक्तियों ने अपने-अपने नाम वेद से लेकर रखे हैं। यदि वेद में लौकिक व्यक्तियों का ही इतिहास होता तो उन में उल्लिखित घटनाओं का ऐतिहासिक घटनाओं से विरोध न होता। इतना ही नहीं, अनेक वैदिक नाम तो दो-दो वंशों में क्रमशः उपलब्ध होते हैं। दोनों ही वंशों के तत्तत् नामधारी व्यक्तियों की घटनाओं के साथ वेद में उल्लिखित घटनाओं का कोई संबन्ध नहीं बैठता। इसके स्पष्टीकरण के लिए पिजवन और सुदास नाम विशेष द्रष्टव्य हैं।

पिता और पुत्र के क्रमशः पिजवन और सुदास दोनों नाम सूर्य और चान्द्र दोनों वंशों में उपलब्ध होते हैं। सूर्य वंश के पैजवन सुदास का वर्णन जैमिनि ब्राह्मण ३।२३ में उपलब्ध होता है। यथा—

> वसिष्ठो ह वै सुदासः पैजवनस्यैक्ष्वा-
> कस्य राज्ञः पुरोहित आस।

चन्द्रवंश में भी भार्म्यश्व सृञ्जय के पुत्र और पौत्र के नाम क्रमशः पिजवन और सुदास थे। देखो हमारा 'भारतवर्ष का इतिहास' पृष्ठ ११३।

पिजवन और सुदास इन नामों के दो-दो कुलों में आनुपूर्वी से उपलब्ध होने से स्पष्ट है कि वेद में आए हुए ये नाम किन्हीं व्यक्ति विशेषों के नहीं हैं। दोनों कुलों के व्यक्तियों ने अपने-अपने ये नाम वेद से लेकर रखे थे।

इस प्रकार हमने इस लेख में अत्यन्त संक्षेप से दर्शाने का प्रयत्न किया है कि पाश्चात्य और तदनुयायी कतिपय भारतीय विद्वान् वेद में लौकिक इतिहास मानते और सिद्ध करने का प्रयास करते हैं वह उनका मूर्खता पूर्ण साहस है। वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय आधिदैविक जगत् है। वेद की उत्पत्ति और उसके आधिदैविक अर्थ का ज्ञान न हो तो वेदार्थ करना निष्फल होता है। वर्तमान पाश्चात्य लेखक वेद की उत्पत्ति और उसके मुख्य प्रतिपाद्य विषय के ज्ञान के बिना ही वेदार्थ में प्रविष्ट हुए और उनमें सर्वथा असफल हुए ॥

ऋषिर्दर्शनात्

[ले०—श्री० डा० वासुदेवशरण जी एम० ए० हिन्दू विश्वविद्यालय—काशी]

सनत्सुजातीय पर्व में वेद जानने वालों की तीन कोटियां कही हैं—१. वेदवित्, २. वेद्यवेदवित् और ३. वेद्यवित्। जिसे पाणिनि ने श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते कहा है, जिसे पतंजलि ने 'निगदेनैव शब्द्यते' में केवल कंठ से घोखने वाला कहा है, वही वेदवित् है। वह वेद के बाह्य अक्षर को जानता है, उसे पारायण द्वारा कंठस्थ किए हुए है। ऐसे श्रोत्रिय या पारायणिक विद्वान् का भी बहुत महत्त्व है। उन्होंने वेदों की बहुत सेवा की है। ऋग्वेद के समस्त पाठ या ऋगयन को वर्णशः स्वरशः सुरक्षित रक्खा है। यह तथ्य भी विश्व के साहित्यिक इतिहास में अभूतपूर्व है। किन्तु इस दृष्टिकोण की मर्यादा यहां के मनीषी विद्वान् भली भांति जानते थे। यास्क ने भी ऐसे व्यक्ति को जो वेद का अध्ययन समाप्त करके उसका अर्थ न जाने भारवाही कहा है। पतंजलि ने रोचकशैली में कहा है—**अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्**; जैसे सूखे कंडों का ढेर भी हो, पर अग्नि की चिनगारी नहीं है तो उसमें ज्वाला और प्रकाश उत्पन्न न होगा। ऐसे ही समस्त ऋचाओं का ऋगयन समुदाय भी मस्तिष्क में हो पर बुद्धि या भीतरी मन की चिनगारी से उसका स्पर्श नहीं हुआ है, तो उस ऋक्समूह में प्रकाश उत्पन्न न होगा। प्राचीन वैदिक शिक्षा संस्था या चरणों की भाषा में वेद के इस ज्ञान को 'अध्ययन' कहते थे। 'छन्दोऽधीते' में पाणिनि ने उसी धातु का प्रयोग किया है। 'अधीयन् पारायणम्' में भी वही है उद्योगपर्व में भी यही शब्द है—

> छन्दो विदस्ते य उतानधीत्य
> न वेद्यवेदस्य विदुर्न वेद्यम् ॥
> न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति
> कश्चिद्वेदान्बुध्यते वापि राजन् ॥
>
> (उद्योग पर्व ४३।३०—३१)

वेदज्ञों की दूसरी कोटि वेद्यवेदवित् विद्वानों की थी। वेद्यवेद का तात्पर्य वेद के अर्थज्ञान से है। इसे ही चरणों की भाषा में प्रवचन कहते थे। प्रवचन करने वाले विद्वान् शिक्षा संस्थाओं में प्रवक्ता कहलाते थे। यह भी बहुत ऊँचा पद था। यास्क और पतंजलि ने वेद के अर्थ-ज्ञान की बहुत महिमा कही है। सचमुच प्राचीन विद्याभ्यास के क्षेत्र में वेद्यवेद जानने वालों की श्रेष्ठता सर्वमान्य थी। ऐसे विद्वानों के लिये 'वेदिता' शब्द भी था। सुनत्सुजातीय पर्व की यह पंक्ति अब समझी जा सकती है—

> न वेद्यवेदस्य विदुर्न वेद्यम्
> न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति।

जो वेद्यवेद या वैदिक अर्थ ज्ञान है उसके वेद्य या वेदनीय विषयको कोई कोई जानता है। लोक में वेदों के अर्थज्ञान का वेदिता कोई नहीं है अर्थात् उनकी संख्या बहुत कम है। पाणिनि ने ऊपर की दो कोटि के विद्वानों को अध्येतृ-वेदितृ [तदधीते, तद्वेद] कहा है। 'तदधीते' तो 'छन्दोऽधीते' वाले हुए और तद्वेद वेद्यवेद के वेदिता अर्थात् वेदों के अर्थ की ऊहापोह करने वाले विद्वान् हुए। इसी वर्ग में प्राचीन वैयाकरण, नैरुक्त, ऐतिहासिक इन तीन कोटि के विद्वानों का यास्क ने सविशेष उल्लेख किया है। इन्हीं के साथ चौथे याज्ञिक थे। ये ही वेदार्थ के चार मुख्य सम्प्रदाय थे। आजकल के हमारे अधिकांश प्रयत्न इन्हीं चार कोटियों में आते हैं।

वेदार्थ के लिये ये सब प्रयत्न प्रशस्य हैं। इनमें एक-एक विद्या का ज्ञाता वेदिता कहाता है। इतिहास, निरुक्त, व्याकरण, यज्ञ विधि—ये सब वेदार्थ के लिये आंशिक रूपसे उपयोगी हैं। इन्हें जो जितना माँजता है उसका वेदार्थ भी उतना चमकीला बनता है। उसकी पैठ उतनी गहरी हो जाती है। इनमें भी यास्क का कहना है जो चारों दृष्टिकोणों को जानता है वह भूयोविद्य कहलाता था। वेदिताओं के बीच में जो कई विद्याएँ जानता, जिसका कई दृष्टिकोणों पर एक साथ अधिकार होता, वह "भूयोविद्य" कहा जाता था। यास्क ने लिखा है—

जानपदीषु विद्यातः पुरुषो भवति,
वेदितृषु खलु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।

इस कथन का अर्थ स्पष्ट समझने की आवश्यकता है क्योंकि इसमें प्राचीन शिक्षा-संस्थाओं के कई पारिभाषिक शब्द आ गए हैं। जानपदी का अर्थ था जनपदों में पेशेवर लोगों की कारीगरी या शिल्पियों की विविध वृत्तियाँ, जिनकी लम्बी-लम्बी सूचियाँ यजुर्वेद और जातकों में मिलती हैं। पाणिनि ने जानपदी को वृत्ति या पेशों के अर्थ में पारिभाषिक शब्द या संज्ञा माना है। इन शिल्पों में जो निपुण होता था उसे 'पुरुषविशेष' माना जाता था, अर्थात् जनपदीय जीवन में ऐसे बहुशिल्पवेत्ता पुरुष की प्रशंसा-प्रतिष्ठा होती थी। ठीक उसी प्रकार जो वेदिताओं के मध्य में बहुत-सी विद्याओं में कुशल या भूयोविद्य होता उसको सब लोग विशेष प्रशंसनीय मानते थे। ये विद्याएँ कौन-कौन-सी थीं? पाठकों को स्मरण होगा कि छान्दोग्य उपनिषद् के नारद सनत्कुमार संवाद में विद्याओं के नाम आए हैं। यह सूची रोचक है—

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, आथर्वण, इतिहास-पुराण की विद्या जो पंचमवेद नाम से प्रतिष्ठित हो रही थी (जिसमें महाभारत रामायण इन दो विशिष्ट ग्रन्थों का परिगणन था और मूलभूत पुराणसंहिता भी थी; इनमें ऋगयन अर्थात् ऋग्वद के नाम के ढंग पर रामायण नाम प्रचलित हुआ था), पित्र्य (पितरों से सम्बन्धित विद्या, या पितापितामह से प्राप्त होने वाले उत्तराधिकार, या अंश से सम्बन्धित ज्ञान के नये प्रकरण जो धर्म-सूत्रों में अध्ययन के क्षेत्र में आ रहे थे), राशि (वह विद्या जिससे कृषि की आय, राजग्राह्य भाग, उपज आदि का सम्बन्ध था जिसको प्राचीनकाल में राशि कहते थे और आजकल रास कहते हैं, इसी राशि या रास को नापने कूतने वाले द्रोणमापक कहे जाते थे, यह भी वार्ताशास्त्र से सम्बन्धित विद्या थी), निधि (मुद्रा, हिरण्य सुवर्ण से सम्बन्धित विद्या), वाकोवाक्य (तड़ापड़ प्रश्नोत्तर जैसे ब्रह्मोद्य चर्चाओं में होते थे, वाक् = प्रश्न या पूर्वपक्ष, वाक्य = उत्तर या उत्तर पक्ष; ऐसे बहुत से प्रकरण वैदिक साहित्य और महाभारत में सुरक्षित रह गए हैं), एकायन (पंचरात्र भागवतों का भक्ति प्रधान दृष्टिकोण जिसमें सब देवों का समन्वय करके एक देव की भक्ति या उपासना का उपदेश दिया जाता था), देवविद्या (देवताओं के सम्बन्ध में ऊहापोह), ब्रह्मविद्या (ब्रह्म या यक्षों के सम्बन्ध में [illegible] अनेक प्रकार की साधना और मान्यता जिसका उल्लेख महाभारत एवं जातकों में आता है), क्षात्रविद्या (जिसे जैनों के सूयगडांग सूत्र में क्षत्रिय विधि भी कहा है, अर्थात् अस्त्र-शस्त्र चलाने की विद्या, ब्रह्मजालसुत्त एवं पाणिनि में भी क्षत्रविद्या का उल्लेख है), नक्षत्रविद्या (ज्योतिष् की गणना एवं फलाफल कथन), सर्वदेवजन विद्या (यह राजनीति की विद्या थी जिसमें संघ शासन एवं जन के सम्बन्ध में विचार किया जाता था। अथर्व में पृथक् देवों का और देवजन का उल्लेख है—११।५।२—वहाँ ये दोनों शब्द पारिभाषिक हैं। सर्वदेव जन या देव जन का तात्पर्य समस्त जन या संघ से था, एवं पृथग्देव का तात्पर्य जन की सीमित संख्या से था)। और भी विद्याओं की सूची पाणिनि (उक्थादि गण) में एवं जैन आगमों में (सूयगडांग सूत्र श्रु०२ अ०२) है।

इन अनेक विद्याओं में जो जितना अधिक जानता वह भूयोविद्य कहलाता था। इनसे भी बढ़कर एक आदर्श ज्ञान के क्षेत्र में ऊपर तैर आया, वह 'सर्वविद्य' विद्वान् का आदर्श था, अर्थात् जिसे सब विद्याओं का ज्ञान हो। उस युग में जितने ज्ञान के नए क्षेत्रों का आविर्भाव कर लिया गया था उन सब में प्रवीणता या अधिकार रखने वाले विद्वान् को सर्वविद्य कहा गया। यास्क ने इस प्रकार के महाभाग महिमाशाली विद्वान के लिये एक पारिभाषिक पदवी का उल्लेख किया है—

ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति (निरुक्त)

ऐसे सर्वविद्य विद्वान् को ब्रह्मा कहा जाने लगा। यज्ञ में जो सर्ववेदों के ज्ञाता होते, उन्हें ब्रह्मा कहा जाता था। ऋग्वेद १।१६२।५ में उसे सुविप्र (विप्रों में भी उच्चतर विप्र) कहा गया है। किन्तु इन सर्वविद्य और भूयोविद्य विद्वानों या वेदिताओं की भी मर्यादा थी। वही मर्यादा आज के हमारे समस्त वेदार्थ की है।

वस्तुतः अक्षर गिनने या अक्षर के बाह्य अर्थ की चौकसी करने का नाम वेद नहीं है। पहले भी नहीं था, आज भी वेद की तीसरी कोटि उससे कहीं उच्चतम है। वह तीसरा वेद 'वेद्य' है; उसका जानकार वेद्यवित् कहलाता था। सनत्सुजातीय में स्पष्ट कहा है—

यो वेद वेदान्न स वेद वेद्यं
सत्ये स्थितो यस्तु स वेद वेद्यम्।

जो वेद को जानता है अर्थात् उसका वेदिता है, अर्थात् उसके अर्थ का प्रवचन करता है, प्रवक्ता आचार्य है, वह वेद के रहस्य को नहीं जानता जो वस्तुतः वेद्य या वेदनीय है।

वह रहस्य तो सत्य है। सत्य अध्यात्म ज्ञान है, वह रहस्य दृष्टि है। उसी का नाम तप है। वेद के छन्दोज्ञान एवं अर्थ-ज्ञान को महाभारत ने प्रत्यक्ष विद्या कहा है। इन दोनों से ऊपर जो वेद का रहस्य है वह परोक्ष ज्ञान है जो कि एक मात्र तप से प्राप्त होता है—

ज्ञानं वै नाम प्रत्यक्षं परोक्षं जायते तपः।
(सनत्सु जात पर्व उद्योग ४३।२८)

जिसे वेदमन्त्रों के अनेक प्रकार के पाठों की कला ज्ञात है वह बहुपाठी ब्राह्मण या श्रोत्रिय है (उद्योग ४३।२९) जो अनेक प्रकार के अर्थों का प्रवचन या जल्पन करने वाला है वह भी वेद की दृष्टि से अवर कोटि में है—

विद्याद् बहु पठन्तं तु बहुपाठीति ब्राह्मणम्।
तस्मात्क्षत्रिय मार्मंस्था जल्पितेनैव ब्राह्मणम्॥
उद्योग० ४३।२९

ये दोनों उच्च ब्रह्मत्व या ब्राह्मणत्व के आदर्श की पूर्ति नहीं करते। यहाँ ब्राह्मणत्व या ब्राह्मण पद का सीधा लक्ष्य ब्रह्म या वेद पर है। अर्थात् ब्रह्म या वेद के रहस्य को न जानने वाले ऐसे व्यक्ति को ब्राह्मण कैसे कहें, भले ही जाति के आधार पर ब्रह्मबन्धु उसे मान लें। अत एव वेद की दृष्टि से ब्राह्मण वह है जो सत्य को जीवन में धारण करता है, उसके व्रत से कभी रहित नहीं होता—

य एव सत्यान्नापैति स ज्ञेयो ब्राह्मणस्त्वया।
(उद्योग ४३।२९)

सत्य ही वेद का रहस्य है। सत्य ही वेद का सार है—

वेदस्योपनिषत्सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः।
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत्सर्वानुशासनम्॥
(शान्ति० २९९।१३)

सत्य ही तप है। इस प्रकार वेदवित् जो तीसरी कोटि थी वह सर्वतोऽधिक महीयसी मानी जाती थी। ऐसा व्यक्ति भूयोविद्य या सर्वविद्य से भी श्रेष्ठ था। उसे महाब्रह्मा कहते थे। ब्रह्मा से भी ऊँचा पद उसे प्राप्त था। ये प्राचीन ज्ञान के क्षेत्र में औत्तराधर्य सूचित करने वाले आदर्श थे। महा नारद कस्सप जातक के अनुसार नारद अपने युग के महाब्रह्मा थे। महाब्रह्मा वही माना जाता था जिसने अपने आप को जान लिया हो, (जातक ६।२४२)।

मातंग जातक में महाब्रह्मा को सर्वोपरि माना है (जातक ४।३७७)। आत्मज्ञान होना यदि यही महाब्रह्मा का लक्षण था तब तो उपनिषदों में विद्या का जो परमोच्च बिंदु प्राप्त हो गया था उसी के लिये महाब्रह्मा पदवी थी। आत्मज्ञान ही सबसे ऊँची अध्यात्म विद्या है। यही परम तप है। आत्मज्ञान ही वेद का सार है। यही उपनिषद् या रहस्य ज्ञान है। इसी रहस्य का उपदेश करना वेद का सच्चा प्रशिक्षण था।

इस सरहस्य वेद का ज्ञान कराने वाले सबसे ऊँचे शिक्षक आचार्य कहलाते थे। श्रोत्रिय—प्रवक्ता—आचार्य, ये चरणों में शिक्षकों की कई कोटियाँ थीं जिनका पाणिनि ने उल्लेख किया है। इनमें जो प्रवक्ता या वेद का प्रवचन-कर्ता था उसे ही आख्याता भी कहा जाता था। पाणिनि के अनुसार नियमपूर्वक अध्यापन करने वाला आख्याता कहलाता था (आख्यातोपयोगे १।४।२९)। सनत्सुजातीय पर्व में कहा है—

अभिजानामि ब्राह्मणमाख्यातारं विचक्षणम्।
यश्छिन्नविचिकित्सः स्यान्नाचष्टे सर्वसंशयम्॥
(उद्योग ४३।३२)

मैं उसी ब्राह्मण को विचक्षण आख्याता (वेदार्थ का कुशल प्रवचनकर्ता) मानता हूँ जो स्वयं छिन्न संशय हो गया हो; सब लोगों के मन को जो संशय ग्रसे रहते हैं वे जिसमें नहीं हैं। इसे ही उपनिषदों में कहा है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

यही वेदों के जानने का आध्यात्मिक दृष्टिकोण इस देश में सदा से रहा है। किन्तु अर्वाचीन मानव के लिये इस दृष्टिकोण की बुद्धिगम्य व्याख्या होनी चाहिए। अध्यात्म दृष्टिकोण कोई अनबूझ पहेली नहीं है। उसके पीछे भी अर्थों की दृढ़ प्रतिष्ठा है। एक सुनिश्चित परम्परा है। जिसका अनुसंधान किया जा सकता है।

यास्क ने जब यह लिखा कि पूर्व ऋषियों को धर्म का साक्षात्कार हुआ था तब उनका क्या तात्पर्य था? क्या जो उस समय हुआ वह फिर घटित नहीं हो सकता? क्या ऋषि ज्ञान की सारी पूँजी अपने साथ ही लिए चले गए, अथवा अब भी मानव को वेद के रहस्य का परिचय प्राप्त हो सकता है? ये सङ्गत प्रश्न हैं। वस्तुतः यास्क एक प्रणाली की ओर संकेत करते हैं। वेदार्थ तक पहुँचने के लिये जो ध्यान की विधि है उसी से उनका तात्पर्य है। अक्षर का अर्थ जान लेना तो वेदका प्रवचन मात्र है। वेद्य या सत्य का ज्ञान होना ही साक्षात्कार है। वही जब होता है तो व्यक्ति साक्षात्कृतधर्मा बन जाता है। जो अखंड चिदात्मा, चैतन्यमूर्ति, परात्पर तत्त्व सृष्टि का

अनादि अनन्त कारण है। उसी का ध्यान में अपने अन्तः-करण में प्रत्यक्ष ज्ञान यही वेदार्थ को जानने की कुंजी और उसका फल है। यास्क ने ठीक ही लिखा—**तपस्यमानान् स्वयंभूर्ब्रह्माभ्यानर्षत्** जब ऋषियों ने तप किया तो उनके अन्तःकरण में स्वयम्भू वेद ने उन्हें साक्षात् दर्शन दिया। स्वयम्भू ब्रह्म कहें स्वयम्भू वेद कहें अध्यात्म दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। जो ब्रह्म है वही उसका ज्ञान है।

उसके ज्ञानमय तप की संज्ञा वेद है। प्रत्येक व्यक्ति भी और क्या कर सकता है, सिवाय इसके कि उस ज्ञानमय तप का स्वयं अभ्यास करे, अपने ही चैतन्य केन्द्र में उसे ढूंढे, उसका अपनी प्रज्ञा में अनुभव करे, सान्निध्य प्राप्त करे और उस अनन्त आनन्द के स्रोत से अपने को संयुक्त कर दे। कितना प्रकाश वहाँ है, कितना आनन्द है, कितनी व्यवस्था है—इसका जब तक स्वयं दर्शन न हो तब तक ज्ञान कहने सुनने की बात रहती है, वह प्रवचन मात्र रहता है, वेद नहीं बनता। सत्य वही है जो स्वयं अपने अनुभव में आता है। ध्यान की एकाग्रता यही ज्ञानमय तप है। शारीर तप से सहस्र गुना अधिक प्रभाव शाली ज्ञानमय तप है। जिस समय ज्ञान में वह तत्त्व स्फुरित होता है, प्रत्येक के भीतर बैठा हुआ प्रज्ञान रूपी इन्द्र या प्रज्ञा बल उस सत्य को पकड़ लेता है तो हम वैसे ही हो जाते हैं। जान लेना वैसा हो जाना है। इसी से प्राचीन परिभाषा बनी—**य एवं वेद स एवं भवति,** जो उसे इस प्रकार जानता है वह वैसा ही बन जाता है। भाव और क्रिया (**Being Becoming**) दोनों में फिर अन्तर नहीं रहता। ज्ञान का यह उपाय सदा सब देश में सब के लिये उन्मुक्त है, किन्तु उस उपाय की सत्यात्मकता में किसी के लिये कोई विशेषाधिकार नहीं है, परिवर्तन नहीं है, उसे संक्षिप्त करने का भी उपाय नहीं है। वह स्वयं ऋजुमार्ग है और सबके लिये सरल है। इसका कारण यह है कि सृष्टि का सत्य एक और अखण्ड है। उसी को तो हम जान सकते हैं। उस सत्य को ही सनत्सुजातीय पर्व में 'वेद्य' जानने योग्य तत्त्व कहा गया है। वही वेदों का पर्यवसान या सार है। उसी पद की व्याख्या सब वेदों द्वारा की जाती है। सब तपों का लक्ष्य वही है। अत एव जिस वस्तु का साक्षात्कार हमारा ध्येय है वह जब इस प्रकार देश और काल में, भूत भविष्य वर्तमान में सदा सुलभ है तो वेद के ज्ञानका अतिशय महत्त्व हो जाता है। इसी दृष्टि से वेदों को अनन्त कहा जाता है—

अनन्ता वै वेदाः।

सृष्टि के इस रहस्य को क्या कभी कोई कृत्स्न रूप में जान पाया है? अर्वाचीन विज्ञान भी उसी रहस्य से सिर धुन रहा है। पर क्या एक परमाणु का भी कृत्स्न रहस्य हमें प्राप्त हो सका है? मनीषी मैटरलिंक ने सत्य कहा है—"मैं अपने वैरी के लिये भी यह न चाहूँगा कि वह ऐसे विश्व में रहने के लिये बाध्य हो जिसके एक परमाणु का भी पूरा रहस्य जान लिया गया हो, क्योंकि फिर वहां चैतन्य ही क्या रह जायेगा!" बात ऐसी ही है। नासदीय सूक्त के ऋषि ने भी ज्ञान क्षेत्र के इसी सत्य की ओर संकेत किया था—

यह सृष्टि कहां से कैसे उत्पन्न हुई कौन जानता है कौन कह सकता है? इसका जो नियन्ता है वह भी तथ्य को जानता है या नहीं हम नहीं जानते। कैसे विष्णु ये वाक्य है? इन से उच्चतर कथन की बा और कहां प्राप्त हो सकती है? प्रत्येक परमाणु क रहस्यमय है? एक-एक जीवन कोश में जीवन नितान्त रहस्यमय है। जड़ और चेतन की सि है। शक्ति और द्रव्य का अन्तिम स्वरूप भी है। किन्तु इस विश्व की रचना का ही विध मानवी बुद्धि के लिये यह निर्वेद का स्थान न ओर तत्त्व ऐसा अज्ञेय है, दूसरी ओर उसका सुलभ, कितना व्यापक और कितना प्रिय नाम जीवन है।

वह जीवन परोक्ष भी है; प्रत्यक्ष भी है प्रत्यक्ष का अद्भुत समन्वय जैसे सृष्टि के अन्य ही जीवन में भी है। केवल प्रत्यक्ष अधूरा का एक अंश ही जाना जा सकता है, जो उस स्वरूप का परिचय नहीं देता। अति प्रत्यक्ष हुआ स्फुलिंग या अंगारा या विद्युत्कण है। है। किन्तु उसका अन्त वहीं नहीं है। इसलि प्रतीक मात्र है। प्रत्यक्ष प्रतीक से ही परोक्ष किया जाता है यहीं वेदार्थ का विस्तृत रहस्य हो जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में एक परिभ आती है—

परोक्षप्रिया वै देवाः प्रत्यक्षद्विषः

। इसका क्या अर्थ है, जीवन में, जड़ जग जैसा प्रत्यक्ष इन्द्रियों से गृहीत हो रहा है व है। क्या यह कथन ठीक है? विज्ञान कहत

स्थूल भूत, पिंड या पदार्थ अन्ततो गत्वा परमाणुमय हैं। परमाणु भी केवल ऋण और धन विद्युत्कणों के संगठन या संस्थान मात्र हैं। ये विद्युत्कण विद्युत् की तरंगों पर निर्भर हैं। इन तरङ्गों का आयाम या लम्बाई ही इनमें भेद उत्पन्न करती हैं। सूर्य की सप्त रश्मियों का जो चमत्कारी वर्णजाल है उसके मूलमें भी सूर्यरश्मियों की आयामकृत भिन्नता ही सत्र कल है। सूर्य से ही पिण्डों का विकास हुआ है। (नूनं जनाः सूर्येण संप्रसूताः)। सौर मण्डल का कोई द्रव्य ऐसा नहीं जो सूर्य की प्रक्रिया से बहिर्भूत हो। अत एव यही अन्तिम सत्य है कि परोक्ष अर्थों से ही हम प्रत्यक्ष को समझ सकते हैं। सृष्टि की व्याख्या के लिये प्रत्यक्ष अर्थों का आग्रह लेकर कुछ दूर भी नहीं चला जा सकता। विज्ञान की भाषा पारमार्थिक बन रही है। परमार्थ और व्यवहार का भेद स्वीकार करना पड़ता है। यही वेदार्थ के विषय में भी है। स्थूल शब्दार्थ के मूलमें सृष्टि का जो ऋत संज्ञक अखण्ड नियम है उसे ही परिज्ञात करना है। उस नियम का जो नियन्ता है उसे ही विज्ञात करना है। इस ऋत का परिज्ञान वैदिक ऋषियों को ध्यान में हुआ। इसका अतिनिश्चित स्पष्ट और सरल प्रकथन मंत्रों में है—

ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य।
तदभवत् तदपश्यत् तदासीत्॥

ऋत का ही यह तन्तु सर्वत्र फैला हुआ है। पृथिवी और द्युलोक के गंभीर अन्तराल में यही ऋत तत्त्व भरा हुआ है—

ऋताय पृथिवी बहुले गभीरे।

जो उस ऋत का दर्शन करता है वही बन जाता है वही जीवन का सत्य है। ऋषियों का देखना यही होता है। साक्षात्कार इसे ही कहते हैं। जिस दर्शन से हम वैसे ही न बन जाएं वह दर्शन या साक्षात्कार नहीं है। वह तो बुद्धि का कुतूहल या कण्डूशान्ति है। श्रौतसूत्रों में कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति को ऋतपेय नामक एकाह यज्ञ करना चाहिए। उसका फल यह होता है कि मनुष्य पाप की ओर से निरपेक्ष बन जाता है। पाप में उसके लिये कोई रस या आकर्षण नहीं रह जाता। इस मानसस्थिति को नैष्ठिक्य स्थिति कहा है अर्थात् मन पाप की ओर से निःस्नेह बन जाता है। उस ऋतपेय का फल है सत्य की जीवन में उपलब्धि, साक्षात्कार—

सत्यमयमग्निः। सत्यमयं वायुः। सत्यमसावादित्यः।
ऋतसत्यशीलः सोमसुत् सदा जुहुयात्।

अग्नि-वायु-आदित्य इस लोकत्रयी द्वारा सृष्टि के व्यापक ऋत की कई स्तरों में व्याप्त एवं परस्पर ओत-प्रोत प्रक्रिया की व्याख्या की जाती है। इसे ही मन प्राण-वाक् कहते हैं। यही अ-उ-म् के सूत्र द्वारा जानने योग्य अक्षर विद्या है। इसी में अमात्र चतुर्थ मात्रा मिला देने से अक्षर का चतुष्पदी रूप बनता है जो प्रतीक रूप से जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति तुरीय संज्ञक चैतन्य की अवस्थाओं की व्याख्या करता है। ऋग्वेद में कहा है—

अक्षरेण प्रतिमिम एताम् (१०।१३।३)।

अक्षर से ही इसको नापना है, उसके प्रतीक से विश्व को समझना है। अक्षर प्रतिमान या माप का गज है। जो अक्षर में है वही ब्रह्माण्ड में है। ऐसे ही 'इन्द्रो दिवः प्रतिमानं पृथिव्याः' यह परिभाषा है। द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी—अर्थात् द्युलोक और पृथिवी के अन्तराल का केन्द्र सूर्य है, वही इन्द्र है। वह इस विश्व का प्रतिमान है। यहाँ यत्किंचित् जो है उसकी प्रक्रिया संवत्सर की प्रक्रिया से समझी जा सकती है। संवत्सर रूप प्रजापति की व्याख्या से मानव, पशु, पक्षी, वृक्ष, वनस्पति सबके जीवन की व्याख्या मिल जाती है। सबमें वही वसन्त-ग्रीष्म-शरद् का त्रिक या परिवर्तन शील चक्र घूम रहा है।

सत्य तो यह है कि जो हृदय से इस बात का अभिलाषी हो कि वेद का रहस्य ज्ञान समझे उसे परिभाषाओं के अनन्त वाङ्मय को आत्मसात् करने के लिये उद्यत हो जाना चाहिए। पूर्व हो या पश्चिम, वेदार्थ की समस्या देशकृत या कालकृत नहीं है। वह तो अध्यात्म दृष्टिकोण पर निर्भर है। उसके लिये ब्राह्मण ग्रन्थों की और स्वयं वेद की परिभाषात्मक शब्दावली को स्पष्ट समझना आवश्यक है। ऋषियों ने तीक्ष्णअभ्रि या खनित्र से खोद खोद कर ये तत्त्व निकाले थे [तीक्ष्णाभिरभ्रिभिर्यत्र निर्वपणं दधुः]। वेद के अर्थों की जो धरोहर, जो निधान कहीं गुहानिहित है उसे बुद्धि की अभ्रि से प्राप्त करना है। तीक्ष्ण अभ्रि या कुदाली चाहिए। यत्न से खोदने वाला चाहिए। खोदने के लिये धृति चाहिए। खोदने वाला धीर होना चाहिए। जिसमें धी नहीं है वह वेदार्थ की समस्या के निकट ऐसे ही जाता है जैसे ऊसरखेत के पास किसान। जो उग्र धी है वही अभ्रि है। साधारण बुद्धि तो सबके पास होती है। किन्तु तीक्ष्ण कुदाली रूपी धी के बिना वेदार्थ का गंभीर स्तर उद्घाटित नहीं होता। उक्थ और अर्क का जोड़ा है।

उक्थबुद्धि है, घी अर्क है। अमृता बुद्धि का नाम घी है। धियो यो नः प्रचोदयात् इस गायत्री की भावना में सविता से घी प्राप्तकरने की प्रार्थना है। अमृत जो विज्ञानतत्त्व है उसकी प्रदीप्त सदा जागरूक, बुद्धि घी है। वह विषयों में बार बार डूबती या कुंठित नहीं होती। जब ऐसी निश्चल बुद्धि प्राप्त होती है, जब मन की विषयवर्ती रश्मियों का जाल बुद्धि में समूहित हो जाता है, तब वह तीक्ष्ण अग्नि रूपी घी प्राप्त होती है, जिससे ये विषय प्रतिभासित होते हैं। जब बुद्धि मन को अपने गर्भ में ले लेती है तब वह उस स्थान तक पहुँचती है जहाँ वेदार्थ की धरोहर सुरक्षित है।

वेदों की कितनी ही विद्याएँ थीं--उद्गीथ विद्या, मधुविद्या, सुपर्णविद्या, अक्षरविद्या, प्रवर्ग्यविद्या, अर्व्ययविद्या, अम्भोविद्या आदि आदि उन सब का रहस्य क्या है? यह महान् प्रश्न है जिसका समाधान चाहिए। पूर्व या पश्चिम, दोनों के लिये यह चुनौती है। इसके बिना सचाई से यह मानना पड़ेगा कि वेदका अर्थ नहीं लगता। ग्राम्यपशु और अरण्य पशु जैसे सीधे शब्द भी प्रतीकात्म हैं। समूह बना कर चलने वाले प्रवृत्तिपरक जीव ग्राम्यपशु हैं। एकाकी विचरण करने वाले निवृत्ति परक प्राणी आरण्य पशु हैं। मानव में दोनों प्रकार हैं। जब तक वह प्रकृति के पाश में बद्ध है तब तक ग्राम्यपशु की भाँति परवश है। जब प्रकृति के पाश से बाहर हो जाता है, तब वह आरण्य पशु हो जाता है। आरण्य पशु पाशबद्ध नहीं होता। और उपबृंहण करें तो मानव का शरीर और मन ग्राम्य पशु है, आत्मा और और बुद्धि आरण्य पशु हैं। शरीर और मन की प्रवृत्तियाँ समूह या ग्राम साधन के बिना संभव नहीं। गृहस्थाश्रम में शरीर और मन की प्रवृत्तियां प्रधान रहती हैं। उसके लिये समाज का सम्बन्ध आवश्यक है। वानप्रस्थाश्रम में मानव मन के क्षेत्र से ऊपर उठता है और मुख्यतः आत्मा एवं बुद्धि के क्षेत्र में चला जाता है। इसी लिये उसे वानप्रस्थ कहते ही हैं। वह आरण्यक मुनि होता है। घर में रहते हुए भी जो जन संसद् से या ग्रामात्मक समूह से विरत हो जाता है वही आरण्यक बन जाता है। अरतिर्जनसंसदि यही उसके आरण्यक मन का लक्षण है। प्रकृति का नाम ही पशु है। प्रकृति के बिना मानव बन ही नहीं सकता। प्रकृति के अभाव में मानव पुरुष रूप होता है जिसे आत्मबुद्धि प्रकाश कहा गया है। 'अबध्नन् पुरुषं पशुं' का यही तात्पर्य है। देवों ने मन और शरीर भाग को बाँधा। यज्ञ का यही उद्देश्य है कि मन और शरीर को दैवी सौर प्राण से संयुक्त कर दिया जाय। शरीर तो सदा शरीर या पशु रूप में रहता ही है। यज्ञ द्वारा मन और प्राण को दैवी सौर तत्त्व से संयुक्त कर दिया जाता है। प्राचीन परिभाषा में मानव उभयतोदत पशु है।

हममें से प्रत्येक व्यक्ति अग्नीषोमीय पशु कहा जाता है। ये परिभाषाएँ या तो कुछ बुद्धिगम्य अर्थ रखती हैं, या कोरी बड़क हैं। अग्नि-सोम, योषा-वृषा, ऋत-सत्य, भृगु-अंगिरा, क्षर-अक्षर ये वैदिक तत्त्व ज्ञान या विज्ञान की मूल्यवान् परिभाषाएँ हैं जिनके द्वारा जीवन और शक्ति की प्रक्रिया की व्याख्या की जाती है। जितने पिंड हैं वे अग्नि सोम से बनते हैं, अर्थात् ऋण और धन, गति और आगति, आर्द्र और शुष्क के द्वन्द्वात्मक नियम से अस्तित्व में आते हैं। एक पिंड भाग है दूसरा पिण्ड के भीतर व्याप्त आत्म भाग है। पिंड को सूत्रात्मा और आत्मभाग को अन्तर्यामी कहा जाता है। सूत्रात्मा और अन्तर्यामी ये दो दो डोरे हैं जिनके द्वारा जड़ और चेतन तत्त्व प्रत्येक पिंड में अवतरित हो रहा है। सृष्टि के आदि से सृष्टि के अन्ततक इन्हीं दो सूत्रों में समस्त सत् और चित् तत्त्व ओत-प्रोत हैं। वैदिक-परिभाषाओं का क्षेत्र उपनिषद्, ब्राह्मण संहिता सर्वत्र विस्तृत है। उपनिषदों में सूत्रात्मा और अन्तर्यामी ये दोनों प्रतीक यदि स्पष्ट नहीं हैं तो संहिता में भी वे अस्पष्ट ही हैं। 'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रम्' सदृश परिभाषाओं का स्पष्टीकरण सबके लिये चुनाती है। वायु को सूत्रात्मा कहने का क्या तात्पर्य है? प्राण विद्या से उसका क्या सम्बन्ध है? वैदिक प्राण विद्या और विश्व की मूलभूत जीवनी शक्ति, नाम दो भले ही हों तत्त्व एक ही है। वेद के दो दृष्टिकोण हो जाते हैं। कुछ लोगों के लिये ये परिभाषाएँ अतीत इतिहास की वस्तु हैं। कुछ उन्हें नित्य विज्ञान के नियम मानते हैं। जिसे हम पश्चिमी दृष्टिकोण कहते हैं उसकी धारणा वैदिक विज्ञान के विषय में बड़ी कुंठित है। अतएव किसी भी वैदिक तत्त्व का युक्तियुक्त व्याख्यान वहाँ प्रायः उपलब्ध नहीं होता; सब कुछ अनबूझ पहेली-सी जान पड़ती है। इस तथ्य को सचाई से मानना उचित है। एक-एक शब्द का विशिष्ट अर्थ और संकेत है। वैदिक तत्त्वज्ञान एक सूत्र नहीं, पट है। कहीं से उसे छेड़ें सारा पट आकर सामने ढेर हो जाता है।

विश्व अश्वत्थ है। अश्ववत् तिष्ठति इति अश्वत्थः जो अश्व की तरह तीन पैरों पर खड़ा रहता है, एक पैर

विचाली रहता है वही अश्वत्थ है। यह विश्व भी प्रजापति का एक पाद है। **त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः**। तीन पैर जो ऊर्ध्व के साथ संबंधित हैं वे स्थिर हैं, एक पैर जो विश्व है वह प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। न श्वः इति अश्वः। जो आज है वह कल नहीं है, प्रतिक्षण विचाली और परिवर्तनशील है। यही विश्व है। इसके प्रतिकूल आत्मा जो अश्व है वही श्वः है। विश्व रूपी अश्वत्थ जैसा आज है वह कल नहीं है— **न नूनमद्य नो श्वः**। 'अश्वः' अर्थात् 'कल नहीं' की तरह जो है वही अश्वत्थ है (अश्व इव तिष्ठति)। यह विश्व अलात चक्र है, घूमेगा ही, ठहर नहीं सकता। इसका जो बिन्दु इस समय सामने है वह प्रतिक्षण हट रहा है, दूसरा आ रहा है, बिन्दु-बिन्दु परिवर्तनशील है। ऐसा यह विश्व अश्वत्थ है। यह वृक्ष महीयान् है, इसमें सहस्र वल्शा या टहनियाँ हैं। इसे ऊर्ध्वमूलमधः शाखं कहा गया है। इस अश्वत्थ की जड़ें ऊपर, और शाखाएँ नीचे हैं। ऊर्ध्व और अधः भी पारिभाषिक शब्द हैं। जो केन्द्र हृदय, या अमृत नित्य तत्त्व है उसकी संज्ञा ऊर्ध्व है। जो परिधि, परिवर्तन शील अनित्य तत्त्व है वह अधः है। ऊर्ध्व केन्द्र से ही वृत्त का विकास होता है। अणोरणीयान् केन्द्र में ही वृत्त का संस्थान है। ऐसे ही इस संसार महीरुह का बीज सूक्ष्म से सूक्ष्म है। वह प्रजापति का गर्भ है। वही हिरण्यगर्भ अवस्था कहलाती है। **'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते'** उसी ऊर्ध्व अवस्था या 'अग्र' दशा के लिये कहा जाता है। विकास से पूर्व की वह अवस्था है। प्राण तत्त्व से पूर्व की वह दशा होती है। जहाँ प्राण का संस्पर्श होता है वहीं से विकास आरम्भ होता है। और भी कहा जाता है कि अश्वत्थ सौम्य वृक्ष है। वट आग्नेय है। अश्वत्थ को लेकर इस प्रकार प्रतीकों का ताना बाना पूरा गया। यदि हम इन प्रतीकों में आस्थावान् नहीं हैं तो अर्थ की व्यंजना हमसे बची रह जाती है।

वैदिक उपाख्यान हमारे लिये शीर्ष प्रहेलिका हैं। किसी उपाख्यान का भी तो बुद्धिगम्य अर्थ नहीं जान पाते। वैज्ञानिक तत्त्वों के उपबृंहण के लिये ही आख्यानों की कल्पना की गई थी। गायत्री का सोमाहरण अतिप्राचीन रोचनात्मक एवं साभिप्राय आख्यान था। कौन गायत्री है, कहाँ सोम है, कैसे गायत्री उसे लाती है, इस तत्त्व को आधिभौतिक और आध्यात्मिक पक्षों में ग्रहण करना होगा। सूर्य से पृथिवी की ओर आने वाली सौर शक्ति सावित्री है। पृथिवी से सूर्य की ओर लौट कर जाने वाली शक्ति गायत्री है। वह गायत्री सूर्य से सोम या शीत या आर्द्र तत्त्व भी प्राप्त करती है तभी पृथिवी भस्म होने से बची रहती है अन्यथा सूर्य की प्रचंड दाहकता पृथिवी को अंगिरा या अंगारा बनाकर छोड़ दे। इन्हीं दो को भार्गवी धारा और आंगिरसी धारा कहते हैं। सूर्य से भार्गवती धारा और पृथिवी से आंगिरसी धारा निकल कर एक दूसरे की ओर प्रवाहित हैं।

इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन्।
प्रभूर्जयो यथा पथि द्यामंगिरसो ययुः (यजुः)॥

अर्थात् इधर से अंगिरा जाते रहते हैं, उधर से आदित्य आते रहते हैं। इन्हीं का नाम अंगिरसामयन और आदित्यानामयन है (अयन = आना-जाना)। पृथिवी का अंगिरा प्राण ऊपर की ओर सूर्य तक पहुँचते-पहुँचते आदित्य बन जाता है। आदित्य प्राण पृथिवी तक आते-आते अंगिरा बन जाता है। इन्हीं दोनों अयनों के मिलने से गवामयन बनते हैं। गवामयन का वैदिक या वैज्ञानिक तात्पर्य चाहे वह आख्यान में हो चाहे यज्ञीय कर्मकाण्ड में, स्पष्ट समझना होगा।

सूर्य में आहुत हो रहा है। समस्त ब्रह्माण्ड से सूर्य को सोम की आहुति मिल रही है। इसी सोम का कुछ अंश पृथिवी को वापिस मिलना चाहिए, अन्यथा प्रचण्ड ज्वालाएँ पृथिवी को भस्म कर डालेंगी। प्रलय में कभी ऐसा ही होगा। देवता गायत्री की शरण लेते हैं। वह पार्थिव प्राण गायत्री रूप में सूर्य की ओर जाता है। वहाँ तक जाते-जाते वह आदित्यप्राण बन जाता है और उसी रूप में लौटता है। इस प्रकार गायत्री-सावित्री का यह चक्र नित्यप्रति प्रवृत्त है। पार्थिव प्राण आदित्य बन जाता है इसका तात्पर्य यह है कि वह सूर्य के पारमेष्ठ्य सोम का अधिकारी बन जाता है। उस सोम को लेकर वह आदित्य रूप में पृथिवी की ओर आता है। आदित्य का पृथिवी की ओर आने वाला जो रूप है वही सावित्राग्नि है। किन्तु पृथिवी तक आते-आते वह पुनः गायत्री या पार्थिव प्राण में परिणत हो जाता है। तत्त्व यह कि भूपिण्ड का जो अग्नि है वह स्वावस्था में परिणत हो जाता है, वह सावित्राग्नि को अपने लिये उपयोगी बनाकर अपने रंग में रंग लेता है। तभी सूर्य जीवन का पोषण करता है। सूर्य से मिलने वाली सावित्राग्नि को पार्थिव अग्नि अन्तर्याम सम्बन्ध से अपना बना लेती है। जब तक सौर अग्नि पार्थिव न बने वह एक तृण का भी पोषण नहीं कर सकती, उसे अपनी उष्णता से जला तो सकती है।

गायत्री विद्या प्राण विद्या है। छान्दोग्य उपनिषद् में

(शेष पृ० १०६ पर देखें)

पाश्चात्य भाषा-विज्ञान विज्ञान नहीं, मत है

ले०—श्री विद्यावारिधि पं० ऋषिमित्र जी शास्त्री-साहित्यरत्न, आर्यसमाज-बम्बई

'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।' अथर्व०,

गत अठारहवीं शताब्दी के तृतीय चरण में सर्व-प्रथम सर विलियम जोन्स ने बड़े श्रम एवं कष्ट से संस्कृत सीखी। संस्कृत सीखने के पश्चात् उसने अनुभव किया कि 'अनेक युरोपियन (इंगलिश के साथ) भाषाओं के शब्दों के साथ संस्कृत के शब्द बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। हो-न हो इन सारी भाषाओं की उत्पत्ति किसी एक भाषा से हुई है'। वर्त्तमान भाषा-विज्ञान एवं उसकी एक सर्व महान् कड़ी 'भारोपीय भाषा' के मूल की आधार भी उक्त सर जोन्स की यह उक्ति ही है। किन्तु युरोपियन जिस देश में उत्पन्न होता है; उसके ही गीत सर्वत्र गाता है। चाहे वह देश उसका पात्र हो या न हो। भाषा-विज्ञान के विषय में भी यह सिद्धान्त अपवाद नहीं हो सका है। बात यह है कि सारा युराप क्रिश्चियन है और ईसामसीह का जन्मस्थान (उनकी समझ से) एशिया माइनर है। अतः उन्होंने मनुष्यमात्र की उत्पत्ति का स्थान उसके निकट (मध्य-एशिया में) ही सिद्ध किया। अभी गत महायुद्ध में सोवियट रूसका सम्पर्क इन लोगों से हुआ। फलतः डा० सुनीति कुमार चटर्जी जैसे भाषा-विज्ञान के शिरोमणि भी, यूराल पर्वत के निकट मनुष्यों (भाषा-विज्ञान के अनुसार आद्य भारोपीयों = भारत + योरपीय) की उत्पत्ति और विकास हुआ था, ऐसा निस्संकोच निम्न शब्दों में लिखते हैं—"आद्य भारतीय-युरोपीय (भारोपीय) के प्राचीनतर स्तर की जाँच से प्राप्त प्राकृतिक लक्षण बहुत अंशों में यूराल पर्वत के दक्षिण एवं पूर्व में स्थित किरगिज के मैदानों पर घटित होते हैं; और उसके पश्चात् के स्तर के शब्दार्थ वैज्ञानिक दृष्टि से परीक्षा करने पर, भारतीय-युरोपियों के नूतन आवास के जो लक्षण उपलब्ध होते हैं, वे पूरे-पूरे कार्पेथियन पर्वतमाला से लेकर बाल्टिक समुद्र तक फैले हुए समतल प्रदेश पर घटित होते हैं"*।

जब कि इससे पूर्व इसी ग्रन्थ में उक्त विद्वान् मध्य एशिया वाले पक्ष का समर्थन करते हुए हिट्टाइट भाषा को भारोपीय की पुत्री न कहकर उसकी भगिनी कह चुके हैं। वह हिट्टाइट भाषा भी भारोपीय की भगिनी क्यों है? इसका अभिप्राय प्रशस्त विद्वान् के इसी ग्रन्थ से ज्ञात होता है—क्योंकि एशिया माइनरस्थित बोगाज कुई की खुदाई में मिट्टी के फलकों पर जो (दो राजाओं के मध्य) सन्धिपत्र है; उसमें मित्र वरुण, इन्द्र और नासत्य देवताओं का उल्लेख स्पष्ट है। प्रशस्त डा० साहब ने मित्र को—मि-इत्-र, वरुण को—उ-रु-व-न, इन्द्र को—इन-दर और नासत्य को—न-श-अत्-ति-अन्-न के रूप में विन्यास देख कर ही मूल इन्द्र-वरुण, मित्र और नासत्य न मानकर लेखोक्त रूप ही मूल माना है। शायद डा० सुनीति कुमार जी से पूछा जाय कि—गावी-गोणी-गोता-गोपोतलिका और गौ में से मूल शब्द गौ है, या इन पूर्वोक्तों में से अन्य कोई है? तो डा० साहब अवश्य ही गौ को पश्चात् निर्मित (मूल नहीं) कहेंगे। किन्तु महर्षि पतञ्जलि ने अपने व्याकरण महाभाष्य में गावी आदि को ही अनेक बार अपभ्रंश कहा है। यह सम्पूर्ण पुस्तक ही ऐसी बातों एवं कल्पनाओं से भरी पड़ी है। इसको पीछे पुनः चर्चा करेंगे। इस उपक्रमात्मक निर्देश का केवल यही उद्देश्य है, कि आज अंग्रेज तो आविष्कार का श्रेय स्वयं ओढ़ता है; किन्तु भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर भी भारतीय (जन-साधारण को छोड़िये) शिरोमणि विद्वान्

*भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृ. १५। प्रकाशित १९५४ ई०

युरोपियनों की पूँछ में बँधकर चलना अपना मुख्य कर्त्तव्य समझते हैं। भाषा-विज्ञान ने इस विषय में अन्य सब शास्त्रों को पराजित कर दिया है।

अवैज्ञानिक आधार

भाषा-विज्ञान की आधार-शिला (भाषा = शब्द की उत्पत्ति) ही अस्वाभाविक व अवैज्ञानिक है। इसमें ६ प्रकार से भाषा या शब्दों की उत्पत्ति के मत हैं, उनमें भाषा भी ईश्वर की देन है, यह मत भी है किन्तु भाषा-वैज्ञानिक उसे बुद्धिशून्य मत कहता है। १–यद्यपि वह 'अनुकरण-मूलक' शब्दों की उत्पत्ति मानता है, जैसे 'का–का' करने से काक। २—इसी प्रकार हाथ आदि के संकेतों से 'सांकेतिक' तथा ३—आश्चर्यादि के समय 'ओह' आदि के समान मनोभावाभिव्यंजना के रूप में शब्दों की उत्पत्ति मानता है। इसी तरह मैक्समूलर का डिंगडैंगवाद तथा नायर का 'यो-हे-होवाद' भी है। इन सब में इन ध्वनियों की उत्पत्ति के संग्रह की प्रवृत्ति मनुष्य में कैसे आई? इसका कुछ भी विवरण नहीं हैं। इस विषय में महर्षि पतञ्जलि का महाभाष्य में कथित वचन "यथा ह्येकोऽन्धो दर्शनेऽसमर्थः, तत्समुदायोऽपि दर्शनेऽसमर्थः" नितान्त तथ्य है। क्योंकि जब मनुष्य के निकट निजकी कोई पूँजी (अन्य प्राणियों के समान) नहीं है; फिर कैसे उनका समूह होने पर भी कुछ भी आविष्कार कर सकेगा? गत सन् १९३७ में एक पादरी मिदनापुर (बंगाल) से भेड़िये के मांद से दो लड़कियों को लाया था; उनका विवरण 'इलस्ट्रेटड वीकली' में प्रकाशित हुआ था। वे दो लड़कियाँ साथ ही थीं। पर उनसे किसी भी ध्वनि के निर्माण या संग्रह का कुछ कार्य नहीं हो सका। वे तो सर्वथा भेड़ियों के ही समान आचरण एवं ध्वनि करती थीं। अतः उक्त, भाषा के पांचों ही उत्पत्ति-विषयक-वाद बुद्धिशून्य हैं। क्योंकि जब दो (उक्त) लड़कियों ने कोई भी ध्वनि-संग्रह या ध्वनि उत्पन्न नहीं की, तो सैकड़ों मनुष्य भी नहीं कर सकते। यहाँ तो डार्विन की गाड़ी उलटी हो जाती है कि यदि मनुष्य के निकट ईश्वरीय या वही पारम्परीण ज्ञान या शब्द या भाषा न हो तो मनुष्य जिस पशु के निकट रहेगा, उसी के समान बन जायेगा।

भारोपीय की कल्पित विशेषता।

युरोप से लेकर एशिया में भारत तक जितनी भाषायें बोली जाती हैं; उनकी एक ही मूल भाषा 'भारोपीय' थी, ऐसा भाषा-वैज्ञानिक कहते हैं। इस भारोपीय की भाषा या जाति एवं ध्वनियाँ आदि सारी ही उपहासास्पद हैं। भाषा-वैज्ञानिकों के विचार से इस भारोपीय में जितनी ध्वनियाँ थीं, उतनी ध्वनियाँ वैदिक भाषा में भी नहीं थीं। जैसे e. o. (ह्रस्व ए, ओ) और ə (अर्द्ध एकार) एवं z (ज या झ) आदि।※

यदि विचार किया जाय तो, जो लोग मूलतः संस्कृत नहीं जानते हैं; उन्हें ही यह प्रपञ्च फँसा सकेगा। क्योंकि व्याकरण महाभाष्य (१-१-७ आह्निक) में 'एच इग् ह्रस्वादेशे सूत्र पर

'सात्यमुग्रिराणायनीया अर्द्धमेकारमर्द्धमोकरञ्चाधीयते— सुजाते अश्वसूनृते, अध्वर्यो अद्रिभिः सुतम्।'

अर्थात् सत्यमुग्रिराणायनीय (साम की शाखा) के अध्येता अर्द्ध एकार एवं अर्द्ध ओकार का पाठ करते हैं। इस तरह जब ए और ओ अर्द्धस्वर के रूप में उच्चरित हैं, फिर इनका ह्रस्व उच्चारण क्यों न होगा? उक्त राणायनीयों की ध्वनि ने ही शायद बंगला में 'बोलना' का 'बलिव' रूप कर दिया है। इसका पता इन युरोप के शिष्यों को कहाँ है? भाषा-वैज्ञानिकों की दृष्टि से इस विषय में एक और न्यूनता वैदिक भाषा में है, कि अ, इ एवं उ आदि भी वैदिक काल में उदासीन (अर्द्धस्वर) के रूप में नहीं बोले जाते थे। क्या भाषा-वैज्ञानिक यह बता सकते हैं कि अ, इ और उ के ह्रस्व का अनुदात्त (ह्रस्वानुदात्त) अर्द्धस्वर या उदासीन स्वर नहीं है? यदि वहाँ 'नहीं' कहें तो शिक्षा ग्रन्थ में पठित—

'चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रं त्वेव वायसः।
शिखी रौति त्रिमात्रन्तु नकुलस्त्वर्द्धमात्रकम्' ॥

श्लोक में उक्त अर्द्ध-मातृक स्वर क्या प्रयोग में बिना आये ही उदाहृत है? सीधी बात तो यह है कि गोरे लोगों की लकीर पीटना ही आज ज्ञान एवं विद्वत्ता की परिनिष्ठा मान ली गई है।

ग्रीक सीधी संस्कृत से उद्भूत भाषा नहीं है; अपितु उसके आदि में कोई अन्य (भाषा-वैज्ञानिक के मत से भारोपीय) भाषा थी; जिससे ग्रीक और संस्कृत भी उत्पन्न

※ भाषा रहस्य पृष्ठ २७९ प्रथम संस्करण।

हुई है। उस भाषा में संस्कृत और वैदिक से भी अधिक स्वर थे, यह भाषा-वैज्ञानिकों का मत है। किन्तु इस मत की पोल प्रस्तुत लेखक के मान्य मित्र श्री पं० भगवद्दत्त जी ने अपने 'बृहद् भारत वर्ष का इतिहास' में खोली है—

संस्कृत	अपभ्रंश
यम	यिम (फारसी)
काक	कौआ (हिन्दी)
दशार्ण (देश)	दोसरेन (टाल्मी ने लिखा है)
चन्द्रगुप्त	सैण्ड्रकोटस (ग्रीक)

उक्त उदाहरण गम्भीर घोष करके कह रहे हैं कि इस प्रकार स्वर-विपर्यय उच्चारण भेद के कारण हैं, न कि इनका भाषा में वह मूल्य है; जिसे भाषा-वैज्ञानिक बताते हैं। मान्य पण्डित जी ने अपने उक्त ग्रन्थ में भाषा-विज्ञान के मतों का गम्भीर पर्यालोचन किया है।

ऊपर मूल (भारोपीय) भाषा का z के समान ध्वनि का वैदिक में लोप हो गया है—कहा गया है। किन्तु भारतीय भाषाओं में मराठी में आज भी 'ज़' का एक दन्त्यतालु उच्चारण है, जो इस का साक्षी है कि ये ध्वनियाँ मूलतः वैदिक भाषा से आ रही हैं। भाषा-वैज्ञानिकों को भारतीय तत्वों की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती, अतः ऐसी असम्बद्ध बातें कहा करते हैं।

भारोपीय जाति की निस्सारता

अब युरोप से लेकर भारत तक की सारी भाषाओं की मूल 'भारोपीय' का इतिहास, पूर्वोक्त ग्रन्थ में (जो अभी प्रकाशित हुआ है) मान्य डा० चटर्जी कहते हैं—"विरोस, (यह शब्द भारोपीय भाषा में मनुष्यवाची है। यहाँ उक्त भाषा-भाषियों की जाति का वाची है) के इतिहास में आने के बहुत पूर्व मिश्री, असीरी (असीरियन) एलामी ग्रीस तथा पूर्वी भूमध्य सागर के ईजियन व मोहेंजोदारो की संस्कृतियों का विकास हो चुका था।" (पृष्ठ १०)

पाठक जरा सोचें कि यह भारोपीय कितने दिन की है ? जब कि मिश्र में रखी ममी के आधार पट्ट (तख्ते) इमली के हैं तथा उनके वस्त्र भारतीय हैं। वहाँ भारत से ही नील नदी के मार्ग से नील का विस्तृत व्यापार होता था, इसीलिये यह नदी हो नील के नाम से पुकारी जाने लगी तथा आज भी वही नाम है। अंग्रेजी में भी नील के नाम का अर्थ है भारत से जाने वाली (Indigo)। उक्त इमली के पट्ट भारत से ही गये हुए हैं, यह इतिहास से प्रमाणित हो चुका है। ऐसी स्थिति में वैदिक (भारतीय) संस्कृति कितनी पुरातन है—स्पष्ट पता चलता है। किन्तु डा० चटर्जी वैदिक काल के विषय में इसी ग्रन्थ में अन्यत्र लिखते हैं—"भारत में आर्यों का आगमन प्राचीन काल के विश्व इतिहास में अपेक्षाकृत अर्वाचीन या आधुनिक घटना है। इस विषय में अपना मत प्रदर्शित करना दुस्साहस सा दिखाई देगा। फिर भी वह समय दूसरी सहस्राब्दी के मध्य से अधिक प्राचीन नहीं हो सकता, पश्चात् का ही हो सकता है।" इसी प्रसंग में 'भारत आर्यों की आदि भूमि है' के मानने वालों के लिए आप लिखते हैं—"इस विषय में प्राचीन रूढ़िवादी हिन्दू मत कि आर्य भारत में ही स्वयंभूत हुए थे—विचारणीय ही नहीं है।" (पृष्ठ २०)

यह है भाषा-विज्ञान के सिर दर्द के बाद निकला हुआ निष्कर्ष कि आर्य लोग ईसा से १५०० वर्ष पूर्व भारत में आये। तभी वेदों आदि का उन्होंने निर्माण किया। इसकी आलोचना ही व्यर्थ है। इसी प्रसंग में निर्भय होकर डा० चटर्जी यह भी कह रहे हैं कि कुछ लोग, जो ज्योतिष के अनुसार१८–२० सहस्र वर्ष पुराना वेदों को सिद्ध करते हैं, वह किस कोटि की विचार धारा है—"इस ज्योतिष-आधार तर्क में बड़ी भारी यह कमी रह जाती है कि ज्योतिष के साक्ष्यों पर विचार करने के लिए कोई सर्व-सम्मत प्रणाली नहीं है और व्यक्तिगत अन्वेषक अपनी-अपनी पद्धति से विचार करके बिल्कुल भिन्न-भिन्न काल-विषयक निर्णयों पर पहुँचे हैं। इसके अतिरिक्त वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों के रचनाकाल में आर्यों को ज्योतिष का कितना ज्ञान था, यह भी एक विवादग्रस्त प्रश्न है। यह तो सर्वविदित ही है कि गम्भीर एवं वैज्ञानिक ज्योतिष के आविष्कारक कालदिया के लोग थे। ग्रीक लोगों ने उनके ज्ञान में अपनी ओर से कुछ वृद्धि की तथा ग्रीक लोगों से बहुत कुछ अंशों में यह विद्या भारतीयों को मिली।" (पृष्ठ २१)

डा० चटर्जी का यह लेख उनकी ज्योतिष-ज्ञान-शून्यता की गम्भीर घोषणा कर रहा है। प्रस्तुत लेखक की उनसे विनम्र निवेदन है कि वेदों में ज्योतिष का कितना और क्या क्या भाग निरूपण किया गया है, इसके लिए ५४ वर्ष पूर्व स्व० बालकृष्ण शंकर दीक्षित कृत (मराठी में—अब उसका इंगलिश में भी अनुवाद हो रहा है) "भारतीय ज्योतिष शास्त्र" को पढ़ें। उसमें वेदमन्त्रों के ही अन्तःसाक्ष्य से

('वेदार्थ यत्न' कार पं० शंकर पाण्डुरंग पण्डित के भावों का निर्देश भी करते हुए) पृथ्वी गोल है, और वह सूर्य की परिक्रमा करती है आदि सभी ज्योतिष विषयक तत्वों का प्राँजल निरूपण किया गया है ❀। जिस गोलाई व परिभ्रमण के लिये, प्रस्तुत डा० चटर्जी ने गुप्तकाल में भारतीयों का परिचित होना, इसी ग्रन्थ के इसी प्रसंग में कहा है। पाठक सोचें कि ज्ञान की कूपमण्डूकता की इससे भी कोई बड़ी सीमा हो सकती है ? क्या प्रति कर्म (संस्कारादि) के आरम्भ में संकल्पों में '......ब्रह्मणो द्वितीये प्रहरार्द्धे सप्तमे वैवस्वते मन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे, कलिप्रथमचरणे......।' आदि सारा ही माइथोलोजी है ? और यह सब निराधार डा० चटर्जी को ठगने के लिये आर्यसमाजियों ने प्रचलित कर दिया है ? भाषा-विज्ञान यदि इसी प्रकार के ज्ञान और इतिहास का आविष्कार करेगा, तो शायद उसकी शीघ्र पूर्णाहुति हो जायगी।

बोगाज कुई (जिसका आरम्भ में उल्लेख किया जा चुका है) की खुदाई में एक अश्वशास्त्र के कुछ फलक मिले हैं; जिनमें रथों की व्यूह रचना के पारिभाषिक शब्द खत्ती हिट्टाइट भाषा में होने पर भी, ऐकवर्त्तन्न (एक-मोड़ = एकावर्त्तन-संस्कृत) तेरवर्त्तन्न (तीन मोड़ = त्र्यावर्त्तन सं०) और पंजवर्त्तन्न (पाँच बार का मोड़ = पञ्चावर्त्तन सं०) के रूप में हैं। किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में इन शब्दों को देखकर भी डा० साहब कहते हैं—"मैसोपोटामिया के दस्तावेजों का भाषा-स्तर वैदिक भाषा से निश्चय ही पूर्व काल का है" पृ० १७। यह सारा शास्त्र ही मैक्समूलर के विचार (अपभ्रंश से साहित्यिक भाषा उत्पन्न हुई है) का समर्थन करता है, क्योंकि सबके गुरू डार्विन जो हैं।

अब उन मूल विरोस (भारोपीय जन) की संस्कृति का दिग्दर्शन भी कर लीजिये—"विरोस लिखना नहीं जानते थे। विरोस किसी प्रकार की उच्च ऐहिक संस्कृति को (भी) निर्माण करने में समर्थ नहीं हो सके। हाँ, उनके पास एक आश्चर्य-सुन्दर भाषा थी। और अनुमान है कि उनका समाज बड़े सुदृढ़ ढंग से संगठित था......। उनकी उपजातियों का गठन विपरीत परिस्थितियों के बीच भी दृढ़तापूर्वक ठोस खड़ा रहा। उनके समाज की रचना एक-विवाह एवं पितृ-प्रधान या पितृनिष्ठ पद्धति वाले कुटुम्बों से हुई थी। यह पितृ-प्रधान कुटुम्ब ही आर्यों में विख्यात गोत्र या उपजाति की आधारशिला था"†। सोचिये, है विरोधाभास का ही उपवन न ? क्योंकि भाषा तो 'आश्चर्य सुन्दर'। पर उसकी लिपि ही नहीं। इस प्रकार एक-विवाह आदि उच्च संस्कृति उनके पास थी, फिर भी वे 'उच्च ऐहिक संस्कृति नहीं निर्माण कर सके'! सचमुच ये बन्दर ही रहे होंगे। मनुष्य होते तो क्यों न उच्च संस्कृति बनती ? इसी विषय में एक बड़ी विचित्र बात डा० चटर्जी कहते हैं—"आन्स्यान मैय्ये के शब्दों में उनकी देवशक्ति की कल्पना 'स्वर्गीय, तेजस्वी, अमर एवं सुखद शक्ति के रूप में थी। उनकी यह कल्पना आधुनिक युरोप के किसी निवासी की भावनाओं से विशेष भिन्न नहीं है"। यह भी पूर्वोद्धरण के समान प्रमत्तगीत सा ही है। क्योंकि वर्णित एवं युरोपियनों की दैवी-शक्ति की भावना में उतना ही अन्तर है, जितना भारत और युरोप में अन्तर है। बाइबिल का आदम बहकाता, अज्ञान में रखता और दण्ड देता है, फिर सुखद और स्वर्गीय आदि का समन्वय भाषा-विज्ञान की बुद्धि से ही हो सकेगा। इन बुद्धिशून्य स्थापनाओं को भाषा-विज्ञान मानेगा ही। क्योंकि उसे एक गोरे की लेखनी से उद्भूत होने का सौभाग्य जो प्राप्त हुआ है !

भाषा-वैज्ञानिकों का अल्पश्रुतत्व

इस प्रकार जैसे युरोपियनों की उन्नति चार दिन से हुई हैं; उसी आयु की भारोपीय भाषा एवं जाति भी है। लगभग दो अरब वर्ष की भाषा तथा इतिहास को इस बटखरे से तोलना बुद्धिशून्यता ही है। अब भाषा-विज्ञान के बहुश्रुतत्व के उदाहरण भी देखिये। क्योंकि भाषा-विज्ञान (इसके विशेषज्ञों की दृष्टि से) सबसे बहुश्रुतत्व की अपेक्षा रखता है। वह बहुश्रुतत्व वैदिक साहित्य एवं संस्कृत व्याकरण के विषय में किस कोटि का है। निरुक्त के विषय में विवरण देते हुये प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रो० बाबूराम जी सक्सेना कहते हैं—'अर्थ-विज्ञान के विषय में यह सर्व-प्रथम प्रयास है।' ‡ शायद प्रो० सक्सेना जी को भले ही पता न हो, किन्तु यह सोलहो आने सत्य है कि महर्षि यास्क की अधिकतर व्युत्पत्तियाँ ब्राह्मण ग्रन्थों से संकलित हैं। हाँ, उनमें उनकी निजी उद्भावना भी है। निघंटु भी ब्राह्मण

❀ भारतीय ज्योतिष शास्त्र (द्वितीय संस्करण) पृ० २१

† भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी पृ० २१

‡ सामान्य भाषाविज्ञान पृ० १४७

ग्रन्थों के आधार पर संकलित है। श्री० पं० भगवद्दत्त जी ने अपने वैदिक वाङ्मय के इतिहास (द्वितीय भाग) में इसकी विस्तृत सूची दी है। अतः यहाँ केवल निरुक्त की व्युत्पत्तियों की तुलना ब्राह्मण ग्रन्थों से की जाती है:—

शब्द	ब्राह्मण ग्रन्थ	निरुक्त
समुद्रः	तद्यत्समुद्रवन्ति तस्मात् समुद्रः। (गोपथ)	समुद्रवन्त्यस्मादापः
अंगिराः	(अंगारेभ्योऽगिरसो समभवन् (शतपथ)	अंगाराः-अंकनाः
सम्राट् (राजा)	तद्यत्सम्राजति तस्मात्सम्राट् (गोपथ)	राजा-राजतेः
रुद्रः	यदरोदीत् तस्माद्रुद्रः। (शतपथ)	रोदयतेर्वा
ककुप्	कुजतेर्वोब्जतेर्वा। (दैवताध्याय)	कुब्जतेर्वोब्जतेर्वा

प्रो० सक्सेना जी भी ब्राह्मण ग्रन्थों को निरुक्त से पूर्व-रचित मानते हैं। फिर उनकी यह स्थापना कितने अल्पश्रुतत्व की परिचायिका है, इसे सुविज्ञ पाठक गण सोचें।

पूर्व निर्दिष्ट ही ग्रन्थ के पृ० २४ पर डा० चटर्जी कहते हैं—'गुण-वृद्धि सम्प्रसारण आदि सबका बोधक संस्कृत में कोई एक शब्द नहीं है'। इस कारण आपने जर्मन (Ablaut) के आधार पर 'अपश्रुति' शब्द गढ़ लिया है किन्तु शायद डा० चटर्जी को वैयाकरणों का प्रसिद्ध—

'वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च, द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्' ॥

श्लोक ज्ञात न होने के कारण यह लम्बा श्रम करना पड़ा है। यह भी बहु-श्रुतत्व का एक अच्छा उदाहरण है।

इस प्रकार वर्तमान भाषा-विज्ञान कितना वैज्ञानिक या बुद्धि-पूर्ण शास्त्र है, ऊपर के विवरणों से स्पष्ट हो जाता है। निर्दिष्ट सभी ही ग्रन्थ उच्च कक्षाओं के अध्येतव्य कोटिके ग्रन्थ हैं। पाठक सोचें कि इनके अध्येता युवक विद्यार्थियों को ये किस अन्धेर नगरी में विचरण करा रहे हैं। साथ ही उन्हें वैदिक साहित्य तथा भारतीय संस्कृति का शत्रु बना रहे हैं। आर्य जगत् के विद्वानों के उद्बोधनार्थ ही यह तुच्छ श्रम निर्देशात्मक प्रस्तुत किया गया है॥

पाश्चात्यों की भ्रान्ति

क्या वेद में नर-बलि है ?

[ले०—श्री पं० वीरेन्द्रजी शास्त्री एम० ए०, काव्यतीर्थ, फतेहगढ़]

यद्यपि १६ वीं और १७ वीं शताब्दियों में कुछ यूरोपीय पादरियों ने भारत आकर संस्कृत भाषा और साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया, तथापि वेदों के सम्बन्ध में पाश्चात्यों का कार्य १९ वीं शताब्दी के आरम्भ से सम्पन्न हुआ। वेदों की जिज्ञासा तो १७ वीं शताब्दी में ही आरम्भ हो गई थी, उसी का परिणाम यह हुआ कि पादरी 'राबर्ट डि नोबिली' ने नकली यजुर्वेद बनाकर भारतीयों को तो ठगा ही, पाश्चात्य विद्वानों को भी खूब ठगा। १८ वीं शताब्दी में पादरी काल्मेट ने सर्वप्रथम वेद जानने के लिये अपनी शक्ति लगाई और १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हेनरी टामस कोल्बुक ने वेदों पर एक ट्रैक्ट प्रकाशित कर पश्चिम में वैदिक साहित्य के क्रमिक अध्ययन का सूत्रपात किया।

गत १५० वर्षों में सौ से अधिक पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक साहित्य पर परिश्रम किया है, जिनमें लगभग २० विद्वानों ने तो अपना सम्पूर्ण जीवन ही इस निमित्त अर्पण कर दिया।

इन पाश्चात्य विद्वानों में अधिकांश ने वेदों की प्रायः निन्दा ही की है और इसका आधार उन्हें सायण, महीधर, उव्वट आदि के भाष्य मिल गये। फिर क्या था निश्चिन्तता से वेदों पर आक्षेप किये जाने लगे।

पेरिस में यूजेन बरनूफ़ कालेज-डी-फ्रांस में वेद के प्रोफेसर थे। इनके शिष्यों में से मैक्समूलर, राथ, गोल्डस्टकर आदि ने वेदोंपर बड़ा तीक्ष्ण प्रहार किया है। इनके अतिरिक्त विलसन, म्यूर, मेकडेनल्ड, वेबर, ग्रिफिथ आदि ने भी वेदों की खूब खबर ली है।

मैक्समूलर महर्षि दयानन्द के समकालीन थे। इन्होंने सायण के आधार पर वेदों में पशुओं और मनुष्यों का बलिदान भी माना और यहाँ तक कहा कि वेद में अधिकतर बच्चों के से विचार हैं—

"Of sacrificial animals we find goats, sheep, oxen; for later and greater sacifices, horses and even men."

"As to the almost childish thoughts, surely they abound in the veda."

महर्षि दयानन्द की 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' को पढ़कर उनके अन्तिम काल के विचारों में कुछ परिवर्तन अवश्य हुआ था और परिणामस्वरूप उनकी अन्तिम रचनाओं में वेदों की प्रशंसा करनेवाले उद्गार भी प्राप्त होते हैं।

वेदों में नर-बलि (शुनःशेप की कथा)

नर-बलि की चर्चा बायबिल और कुरान में भी पाई जाती है। योरोप के विद्वानों ने अपनी धर्म-पुस्तक में नर-बलि देखकर वेदों में भी इसको निकालना चाहा। ऐतरेय ब्राह्मण की सप्तम पंचिका में शुनःशेप के इतिहास को देखकर इन्होंने यह सिद्ध करने का यत्न किया कि भारतवासी जंगली थे। निम्नलिखित पाश्चात्य विद्वानों के ग्रन्थों को देखने से पता चलता है कि इस विषय में इन्होंने कैसा तीक्ष्ण प्रहार वेदों पर किया है—

१. विलसन (ऋग्वेद प्रथम खण्ड पृ० ६०)।
२. मोनियर विलियम्स (इण्डियन विज़डम, पृष्ठ २८ से ३२।)

३. म्यूर (ओरियंटल संस्कृत टैक्स्ट, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ३५५, ४०३, ४०७)।
४. मैक्समूलर (संस्कृत लिटरेचर)।
५. हार्डविक (क्राइस्ट एँड अदर मास्टर)।
६. मैकडोनल्ड (वैदिक रिलिजन, पृष्ठ ४३ तथा ८८-९०)।
७. मारिस फिलिप्स (टीचिंग आव दि वेदाज्, रिलीजन आफ़ इण्डिया आदि)।
८. रोसेन। १२. वेस्टर गार्ड।
९. गोल्डस्टकर। १३. हौग।
१०. रोथ। १४. वेबर।
११. हम्बोल्ट। १५. बार्थ।

शुनःशेप की कथा का आधार ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के चौबीसवें सूक्त के दो मन्त्र (सं० १२ और १३) तथा पाँचवें मण्डल के दूसरे सूक्त का सातवाँ मन्त्र माने जाते हैं। इन मन्त्रों का अर्थ लेख के अन्त में दिया जावेगा। इनके सत्य अर्थको और विशेषतः ऐतरेय ब्राह्मण की आख्यायिका के रहस्य को ठीक प्रकार से न समझने के कारण ही पाश्चात्यों को भ्रान्ति हुई है। कुछ थोड़े अन्तर के साथ यह कथा (१) वाल्मीकीय रामायण के बालकाण्ड (६१ तथा ६२ अध्याय) (२) महाभारत और (३) श्रीमद्भागवत, (नवम स्कन्ध सप्तम अध्याय) में भी आई है। संकेत रूप से (४) मनुस्मृति (अ०-१०-१०५), (५) विष्णुपुराण, (६) निरुक्त (३-४) तथा (७) वेदान्तभाष्य में शंकराचार्य द्वारा उद्धृत है। किन्तु मुख्य आधार ऐतरेय ब्राह्मण ही है, जिससे नरमेध सिद्ध किया जाता है।

ऐतरेय की कथा का सार

हरिश्चन्द्र, १०० स्त्रियों के साथ, परामर्शार्थ पर्वत और नारद के पास पहुँचता है। यह कहने पर कि अभी तक कोई पुत्र प्राप्त नहीं हुआ, उत्तर मिलता है कि यदि उसे वरुण के लिये अर्पण करने का निश्चय करो तो उसकी प्राप्ति होगी।

हरिश्चन्द्र 'रोहित' नाम के पुत्र को प्राप्त करके भी उसे वरुण के लिये अर्पित नहीं करता। अनेक बार टालने के पश्चात् जब हरिश्चन्द्र रोहित का बलिदान करने को उद्यत होता है, तो वह उसे छोड़कर भाग जाता है और हरिश्चन्द्र जलोदर से पीड़ित हो जाता है। रोहित ६ वर्ष तक घूमते रहने के पश्चात् अजीगर्त के पास पहुँचकर कहता है कि आप अपने ३ पुत्रों में से मध्यम पुत्र शुनःशेप को दे दीजिये तब मेरी रक्षा हो। उसके स्वीकार कर लेने पर हरिश्चन्द्र रोहित के स्थान पर सौ गौओं के बदले में शुनःशेप को मारने के लिये ले लेता है। अजीगर्त २०० गौओं के बदले में शुनः शेप को बाँधने के लिये और वध करने के लिये भी प्रस्तुत हो जाता है।

जब विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ और आयास्य इन ४ ऋत्विजों के साथ हरिश्चन्द्र शुनःशेप की बलि के लिये प्रस्तुत है, उस समय शुनःशेप प्रजापति, अग्नि, सविता, वरुण विश्वेदेव, इन्द्र, अश्विद्वय और उषा की प्रार्थना करता है और छुटकारा पाता है। हरिश्चन्द्र भी नीरोग हो जाता है। यज्ञ समाप्त होता है,

मुक्त होकर शुनःशेप अपने पिता को छोड़कर विश्वामित्र के पास आकर उनका पुत्र बन जाता है। सौ में ५० पुत्र उसको अपना बड़ा भाई मानने लगते हैं।

कथा का रहस्य

ऐतरेय ब्राह्मण ने वेद के भाव को अलंकार रूप में नाटकवत् दिखलाया है। रहस्य समझने के लिये कथा में आये शब्दों को यौगिक तथा पारिभाषिक मानकर पहले उनका अर्थ व्याकरण निरुक्त और ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार समझ लेना आवश्यक है—

शब्द	आध्यात्मिक अर्थ	अधिभौतिक अर्थ	
		शरीर-विज्ञान	राजनीति-विज्ञान
(१) हरिश्चन्द्र	सूर्य = क्षत्रिय + चन्द्र = ब्राह्मण दोनों के गुणों से युक्त जीवात्मा	तेजस्वी कान्तियुक्त शरीर	प्रतापी सौम्य राजा
(२) पर्वत और नारद	शुभ कर्मों को विस्तृत करनेवाला तर्क और मनुष्यों को शुभ सम्मति देनेवाला वितर्क	वैद्य और चिकित्सक	परामर्शदाता
(३) १०० स्त्रियाँ	१०० वर्ष की आयु	१०० वर्ष की आयु	प्रजा के सैकड़ों मनुष्य

	शब्द	आध्यात्मिक अर्थ	शरीर विज्ञान	राजनीति विज्ञान
	(४) पुत्र	शुभ कर्म	दुःखों से रक्षक (बल)	प्रजारक्षक (शक्ति)
	(५) वरुण	परमात्मा	कर्मों के अधिपति—ईश्वर	सेनापति
	(६) रोहित	(शारीरिक बल)	रक्त	क्षात्रधर्म
	(७) उदररोग	स्वार्थ	पेट का विकार जलोदर रोग	धनसंचय, करवृद्धि
	(८) अजीगर्त	भोगरूपी सदा नवीन गड्ढा—तृष्णा	अजीर्ण रोग	भूखी जनता भूख-प्यास
	(९) शुनःशेप	मध्यम प्राण (विषयग्रस्त)	निन्दनीय भोगेच्छा	साधारण मध्यम वर्ग
	(१०) गौएँ	वेदवाणियाँ	सूर्य-किरणें	गौएँ आदि धन
यज्ञ के ऋत्विक्	(११) विश्वामित्र	आँखें	आँख	रक्षा-विभाग (फौज-पुलिस)
	(१२) जमदग्नि	कान	कान	न्याय-विभाग
	(१३) वसिष्ठ	प्राण	प्राण	गुप्तचर-विभाग
	(१४) आयास्य	मुख	मुख	कर-ग्रहीता, गृह विभाग
उपास्य देवता	(१५) प्रजापति	जीवात्मा	यज्ञ	राष्ट्रपति
	(१६) अग्नि	जिह्वा	जठराग्नि	नेता (प्रधानमंत्री)
	(१७) सविता	नेत्र	सूर्य	विद्वान् आचार्य
	(१८) वरुण	परमेश्वर	जल	जल-सेनापति
	(१९) विश्वेदेव	समस्त दिव्यगुण	समस्त प्राकृतिक शक्तियाँ	समस्त विद्वान्
	(२०) इन्द्र	मन	विद्युत्	न्यायाधीश
	(२१) अश्विद्वय	अध्यापक, उपदेशक	प्राण-अपान	सभापति-सेनापति
	(२२) उषा	बुद्धि	उषाकाल	सभा-समिति
	(२३) विश्वामित्र	सर्वमित्र (परमेश्वर)	परमेश्वर	परमेश्वर

सम्पूर्ण कथा की विस्तृत व्याख्या न कर भावार्थमात्र प्रदर्शित किया जाता है।

आध्यात्मिक भाव

जीवात्मा १०० वर्ष की आयु नियत होने पर भी जब शुभ कर्म नहीं कर पाता, तो तर्क वितर्क करता है। उस समय उसकी प्रार्थना पर परमात्मा उसे शारीरिक बल देता है; किन्तु वह उसे ईश्वर-भक्ति में न लगाकर स्वार्थ में फँस जाता है। शारीरिक बल की रक्षा करते हुए, वह भोग-विलास में मग्न विषयग्रस्त मध्यम प्राण को इन्द्रियों की सहायता से वेदमन्त्रों के द्वारा, परमेश्वर के लिये समर्पित करने को प्रस्तुत होता है। मध्यम प्राण इन्द्रियों, मन, जीवात्मा और अन्त में बुद्धि का आश्रय लेकर समस्त दिव्य गुणों के साथ, परमेश्वर की शरण में जाकर सफलता प्राप्त करता है और साधक जीवात्मा का शारीरिक बल परमेश्वर की प्राप्ति में सहायक होता है। वह समस्त रोगों तथा दुःखों से मुक्त हो जाता है।

शरीर-विज्ञान-सम्बन्धी भाव

१०० वर्ष की नियत आयुवाला तेजस्वी, कान्तियुक्त शरीर भी दुःख-निवारक बल के अभाव में ईश्वर की भक्ति के लिये नवीन रक्त प्राप्त करके भी जब उसका सदुपयोग नहीं करता, तब जलोदर आदि पेट के विकारों से ग्रस्त हो जाता है। अपने शुद्ध रक्त की रक्षा के लिये वह सूर्य-किरणों का आश्रय लेकर, अजीर्ण रोग से उत्पन्न विषयभोगेच्छा को त्याग देता है और इन्द्रियों को वश में रखकर यज्ञ, सूर्य, जल, विद्युत्, प्राणायाम, उषाकाल तथा समस्त प्राकृतिक शक्तियों की सहायता से जठराग्नि को ठीक (सम) रखते हुए वह परमेश्वर की भक्ति में सहायक होता है।

राजनीति-विज्ञान-सम्बन्धी भाव

प्रतापी और सौम्य राजा सैकड़ों मनुष्यों का पति होकर भी प्रजारक्षक शक्ति (क्षात्रधर्म) के अभाव में दुःखी होकर परामर्शदाताओं से परामर्श लेकर परमेश्वर की कृपा से शक्ति प्राप्त करता है, किन्तु फिर उस शक्ति को परमेश्वर के आदेशों का पालन करने में न लगाकर करवृद्धि द्वारा धन संचय आदि में मग्न हो जाता है। किन्तु जब उसे ध्यान दिलाया जाता है तो वह भूख प्यास से पीड़ित मध्यम वर्ग की जनता को गौओं आदि धन का लालच देकर युद्ध आदि में अत्याचार-पूर्वक नियुक्त करता है और उसमें अपने समस्त विभागों की सहायता लेता है। उत्पीड़ित जनता अपने राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, आचार्य, सेनापति, न्यायाधीश, सभापति आदि से प्रार्थना कर अन्त में सभा-समिति की सहायता से उत्पीड़न से मुक्त होती है और स्वयमेव परमेश्वर की आराधना में तत्पर होती है; और राजा भी सन्तापों, चिन्ताओं और स्वार्थ से रहित होकर सुखी होता है।

पाश्चात्यों के हेत्वाभास

उपरिलिखित प्रायः सभी पाश्चात्य विद्वानों ने इस आख्यान के आधार पर वेदों में नर-बलि सिद्ध करने का असफल प्रयास किया है। भारत के श्री राजेन्द्र लाल मित्र ने भी उनकी हाँ में हाँ मिलाते हुए अपने 'इण्डोआर्यन्स' नामक ग्रन्थ के 'ह्यूमन सैक्रिफाइस' शीर्षक अध्याय में लिखा है कि "यदि मैं कह सकता कि वेद के अनुसार मनुष्य का बलिदान नहीं होता था, तो अति प्रसन्न होता, किन्तु क्या करूँ, इतिहास के विपरीत ऐसा नहीं कह सकता"। कह कैसे सकते ? जब पाश्चात्यों के दास बन गये तो सत्यरहस्य कैसे प्रकट कर पाते ? पाश्चात्यों ने नर-बलि में निम्नलिखित हेतु दिये हैं—

१—यदि यह रूपक माना जाय तो कथा फीकी पड़ जायेगी।

२—अगर यह बात भयंकर न मानी जाय तो कथा का कुछ अर्थ नहीं।

३—यदि पुत्र-वध का संकल्प न होता, उसका टालना व्यर्थ था और यूप में बाँधकर मन्त्र पढ़कर उसे छोड़ क्यों नहीं दिया।

४—पिता के घर से भागना और दूसरे को सौ गौ देकर मोल लेना बताता है कि अवश्य शुनःशेप का वध किया जाना था, इत्यादि।

समाधान

१—रूपक अलंकार मानने से कथा फीकी नहीं पड़ती; प्रत्युत और भी अधिक चमत्कारपूर्ण तथा मनोरंजक होती जाती है।

२—यह कथा वेदमंत्र के आधार पर लिखी गई है, अतः इसको वेदानुकूल ही होना चाहिये। जिन ऋचाओं में 'शुनःशेप' शब्द आया है वहाँ कहीं नरमेध की चर्चा नहीं; अतः इसमें भी इसकी चर्चा नहीं होनी चाहिये थी। अब जो चर्चा उपस्थित है इसका भाव अवश्य आलंकारिक होना चाहिये। अतः इस कथा में नर-बलि-रूपी भयंकर बात न मानने पर भी कथा का अभिप्राय सार्थक है।

३—वरुण के लिये पुत्र के बलिदान का अभिप्राय अपने समस्त शुभ कर्मों को ईश्वरार्पण करना है, पुत्र का वध करना नहीं। टालने से अभिप्राय है कि मनुष्य अपने शुभ संकल्प को भूल जाता है। पहले संकल्प करता है कि धन और पुत्र आदि पाने पर ईश्वरीय शुभ कर्मों का अनुष्ठान करूँगा, किन्तु फिर स्वार्थ में फँसकर संकल्प भूल जाता है। विचारणीय यह है कि हरिश्चन्द्र ऐसे पुत्र से क्यों सन्तुष्ट हों और क्यों देवता का आराधन करें, जिसको जन्म लेते ही देवता के लिये मारना पड़े ? ऐसे पुत्र की प्राप्ति से क्या लाभ था ? अतः पुत्र के बलिदान का अर्थ वध नहीं, प्रत्युत उसे शुभ कर्मों में नियुक्त करना है।

४—पिता के घर से भागने का अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य अपनी प्रतिज्ञा का पालन नहीं करता तो उसे प्राप्त वस्तु से वञ्चित होना पड़ता है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत कथा में रोहित (क्षात्रधर्म, रक्त, शारीरिक बल) ६ वर्ष तक बाहर घूमता रहा, इससे इसके संचरण की आवश्यकता की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है।

यह कथा एक रूपक अलंकार है।

१—महर्षि जैमिनि ने मीमांसा-शास्त्र में बताया है—

"परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्" (१-१-३१)

अर्थात् "वेदों में वर्णित सामान्य बात को ब्राह्मण ग्रन्थ विशेष कथा के रूप में नाटकवत् दिखाया करते हैं," अतः यह सम्पूर्ण कथा कल्पित और आलंकारिक है।

२—पापी पाशबद्ध होता है और शुभ कर्मों को करके पाप से छूट भी जाता है—इसे सिद्ध करने के लिये यह

कथा है। पापी का नाम शुनःशेप = कुत्ते का लिंग (अत्यन्त निन्दनीय) रक्खा। विषयी पुरुष की यह उपमा बिलकुल ठीक है। अन्त में उषा = बुद्धि की उपासना से वह पाशमुक्त हो जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित यज्ञ एक प्रकार के नाटक हैं। आज भी जो ऋग्वेदानुसार राजसूय यज्ञ करेगा, उसे यह सम्पूर्ण अभिनय करना होगा।

३—अगर पुत्रवध वास्तविक होता, तो रोहित को भागने की क्या आवश्यकता थी? क्या वरुण राजा को सचमुच तंग किया करता था? नहीं। यह केवल यही दिखाने के लिये है कि परमेश्वर का न्याय असत्यवादी राजा पर भी प्रवृत्त होता है।

४—शुनःपुच्छ, शुनःशेप आदि निन्दित नाम रखने की कोई आवश्यकता न थी, अच्छे भी नाम रखे जा सकते थे। निन्दित नाम रखने का भाव है कि पापी ही पाशबद्ध होता है।

५—मध्यम पुत्र को बेचने से अभिप्राय केवल मध्यम (अर्थात् सब में व्यापक) प्राण का है। इस विषय में बृहदारण्यक उपनिषद् (२-२) में प्रमाण उपलब्ध है—
"अयं वाव शिशुः योऽयं मध्यमः प्राणः"।
इसी मध्यम प्राण के वश में करने से आत्मा में शान्ति होती है।

६—शुनःशेप पाशमुक्त होते ही वेदज्ञ बनकर राजा को यज्ञ कराता है। इसका भाव भी यही है कि पापी भी बुरा स्वभाव छोड़कर शुद्ध हो सकता है।

शुनःशेप एकाङ्की नाटक के ४ दृश्य

ब्राह्मण ग्रन्थ वेद के सिद्धान्त को काल्पनिक नाटक के रूप में मनोरंजक बनाकर प्रदर्शित करते हैं—यह पहले लिखा जा चुका है। प्रस्तुत शुनःशेप नाटक के चार दृश्यों का सार निम्न प्रकार है—

प्रथम दृश्य—मिथ्याभाषी हरिश्चन्द्र पर वरुण का न्यायपाश गिरता है, वह उदररोग से पीड़ित हो ईश्वरीय दण्ड भोगता है। पुत्र रोहित जंगल में भागा २ फिरता है।

द्वितीय दृश्य—जाल में बँधे शुनःशेप की ओर दर्शक टकटकी लगाकर देख रहे हैं। उसका पिता खड्ग लेकर उसका सिर काटना ही चाहता है। सब आश्चर्यचकित हैं, किन्तु पापी शुनःशेप अन्तःकरण से ईश्वर के निकट पहुँचता है और पश्चात्ताप करता है। धीरे धीरे एक एक करके उसके तीनों पाश टूट टूट कर गिरने लगते हैं। वह मुक्त हो जाता है।

तृतीय दृश्य—अब शुनःशेप विश्वामित्र का पुत्र बनकर बड़े बड़े ऋषियों के साथ बैठकर यज्ञ करवाता है। इस से बढ़कर क्या प्रतिष्ठा हो सकती है?

चतुर्थ दृश्य—दण्ड भोगने के पश्चात् असत्यवादी हरिश्चन्द्र भी रोगमुक्त हो सुखी हो जाता है।

कैसा सुन्दर आदर्श वैदिक सिद्धान्तों का पोषक, अनेक रसों से परिपूर्ण, शिक्षाप्रद नाटक है!

ऋग्वेद में नर-बलि के सम्बन्ध में विभिन्न मत

१—यास्काचार्य—निरुक्त (३-४) में लिखते हैं—

"स्त्रीणां दान-विक्रयातिसर्गा विद्यन्ते, न पुंसः। पुंसोऽपीत्येके शौनःशेपे दर्शनात्।"

अर्थात् स्त्री का दान, विक्रय और त्याग होता है, पुरुष का नहीं। कोई कहते हैं कि पुरुष का भी होता है, जैसा कि शुनः शेप की कथा में दिखाया है।

यहाँ यास्काचार्य ने ऐतरेय ब्राह्मण की ओर संकेत किया है, ऋग्वेद की ओर नहीं। दान से अभिप्राय उत्तरदायित्व को दूसरे पर सौंपना है, जैसे विवाह में कन्यादान। विक्रय से अभिप्राय आपत्तिकाल में, अथवा निर्धन अवस्था में, पालन करने में असमर्थ होने पर अपने निर्वाह के लिये धन लेकर सन्तान को पालनार्थ दूसरे को सौंपना है। आजकल जो विवाह के समय धन लिया जाता है, क्या यह भी एक प्रकार का विक्रय नहीं है? त्याग से अभिप्राय वही प्रतीत होता है, जो महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है। कन्या का विवाह ही कन्या का त्याग है और ब्राह्मण द्वारा अपने वैश्यवृत्ति के पुत्र को वैश्य के लिये दे देना तथा वैश्य द्वारा अपने ब्राह्मणवृत्ति के पुत्र को ब्राह्मण के लिये दे देना एक प्रकार का पुत्र का त्याग ही है। दुराचारी पुत्र को घर से निकालना उसका त्याग है।

अजीगर्त द्वारा शुनःशेप का आपत्कालीन विक्रय अनुचित नहीं कहा जा सकता। यह वास्तविक विक्रय है भी नहीं और वेदमन्त्रों में तो कहीं विक्रय आदि का वर्णन ही नहीं।

२—महर्षि मनु—मनुस्मृति (१०-१०५) में आता है—

अजीगर्तः सुतं हन्तुमुपासर्पद् बुभुक्षितः।
न चालिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकारमाचरन्॥

श्री शङ्कराचार्य ने भी वेदान्त भाष्य में इन श्लोकों को उद्धृत किया है। इसका अर्थ है कि भूखा अजीगर्त पुत्र को मारने को तैयार हुआ। भूख का प्रतीकार करते हुए वह पाप से लिप्त नहीं हुआ। भाव यह है कि यह कार्य दुर्भिक्ष के समय आपद्धर्म के रूप में करना पाप और दण्डनीय नहीं माना जा सकता। किन्तु मनु के कथन का यह अभिप्राय नहीं कि यह कथा वास्तविक और वेदों की है। उन्होंने भी ऐतरेय के काल्पनिक इतिहास को ही ध्यान में रखकर आपद्धर्म का निर्देश किया है।

३—रमेशचन्द्र दत्त—ऋग्वेद १-२४ के अनुवाद की टिप्पणी में लिखते हैं—"किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण, रामायण, भागवत, मनुसंहिता और विष्णुपुराण ये समस्त ऋग्वेद के बहुत पश्चात् रचित हुए हैं।············ऋग्वेद के अन्य किसी स्थान में नरबलि का स्पष्ट उल्लेख नहीं। इस २४ वें से सात सूक्तों में शुनःशेप के बलि देने की कोई स्पष्ट कथा नहीं। अतएव रोसेन (Rosen) विवेचना करते हैं कि ऋग्वेद-रचना-समय नरबलि प्रथा नहीं थी।......ऋग्वेद समय नरबलि प्रथा थी यह हम लोगों को बोध नहीं होता। क्योंकि जिस ग्रन्थ में सोम अभिषव की और घृत अभिषव की कथा सहस्रवार आई है, नरबलि प्रथा उस समय में प्रचलित होती तो और भी इसका विशेष उल्लेख क्यों नहीं"।

४—मैक्समूलर और मौरिस फिलिप्सः—

मैक्समूलर यद्यपि वैदिक समय की नरबलि प्रथा के समर्थन में सर्वथा सन्दिग्ध हैं, किन्तु ऐतरेय के आधार पर उन्होंने प्राचीन आर्यों को जंगली सिद्ध किया है। मौरिस फिलिप्स ने वेदों की बड़ी क्रूर दृष्टि से आलोचना की है, तथापि अपने The Teachings of the Vedas ग्रन्थ में पृष्ठ २०० पर लिखा है कि वेद में यद्यपि नरमेध का मानना कदाचित् उचित न होगा और इसे अलंकार माना जा सकता है, किन्तु ऐतरेय नरमेध की सभी बातें प्रस्तुत करता है"। उनका लेख इस प्रकार है—

"Looking at these passages alone, perhaps we are not justified in concluding that Sunahshepa was bound as a victim to be sacrificed. His "bounds" and "ropes" may be taken in a figurative sense, denoting the fetters of sin, especially as we have seen before that sin is often compared to a "bond" or a "rope" in the Veda, and, indeed it is so compard in the last verse of this very hymn. We are not, however, left in uncertainty The Aitareya Brahman of the R.V. supplies full particulars of the circumstances referred to in the hymns, and bares no doubt as to the fact that "Sunahshepa was bound to the three footed tree for the purpose of being sacrificed".

अब इनसे प्रश्न यह है कि यदि ऋग्वेद में आलंकारिक वर्णन है तो उसके ऐतरेय ब्राह्मण में क्यों नहीं माना जाय ? क्या आपकी समझ में न आने से या आपके पक्षपात और हठपूर्वक नर-बलि सिद्ध करने के आग्रह-पूर्ण दृष्टि-कोण से ! वस्तुतः ऐतरेय की कथा भी आलंकारिक आख्यान है, वास्तविक घटना नहीं।

भ्रम में पड़ने के कारण

१ वेद के अर्थों का न पढ़ना और न ठीक समझना।
२ ऐतरेय आदि ब्राह्मण ग्रन्थों का आशय ठीक न समझना।
३ भारतवर्ष की कुछ जंगली जातियों में नर-बलि का पाया जाना।
४ तान्त्रिक ग्रन्थों में नर-बलि का वर्णन।
५ वेद-विरोधियों का हठ, पक्षपात और दुराग्रह।
६ महीधर आदि तान्त्रिक भाष्यकारों के भाष्य।

वरुण के पाश का अभिप्राय

वेद में वरुण के पाश (जाल) का अनेक स्थानों में वर्णन है, उसका अभिप्राय 'परमात्मा का न्याय' है। ऋग्वेद (१-२४) के जिस १५ वें मंत्र में वरुण के ३ उत्तम, मध्यम तथा अधम पाशों का वर्णन किया जाता है वह यजुर्वेद (१२-१२) में भी है और बहुत प्रसिद्ध है—

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥

अर्थात् हे परमेश्वर आप हमारे उत्तम, मध्यम, अधम पाशों को खोल दीजिये। हे अखण्ड व्रत-रक्षक आपके व्रत में हम अवद्धता (मुक्ति) प्राप्त करने के लिये निष्पाप हों।

यहाँ मानसिक और आत्मिक बन्धन का वर्णन है।

इससे बचने के लिये प्रायः सभी प्रार्थना करते हैं। दैहिक, भौतिक, दैविक ताप अथवा आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक दुःख ही मनुष्य के पाश हैं। जो अन्याय करेगा वह परमात्मा के न्याय-पाश में जकड़ा जाकर दुःख उठावेगा। तीन यूपों का अभिप्राय भी तीन प्रकार के प्राणों के व्यापार अथवा त्रिविध दुःख से ही है, जिनकी अत्यन्त निवृत्ति को सांख्य-दर्शन में कपिल मुनि ने परम पुरुषार्थ बताया है। अथर्ववेद (४-१६-६) में वरुण के २१ पाशों का वर्णन है—

ये ते पाशा वरुण सप्त-सप्त
त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः।
छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः
सत्यवाद्यति तं सृजन्तु॥

अर्थात् हे वरुण जो तुम्हारे उत्तम, मध्यम, अधम भेद से ३ प्रकार के और फिर दो नेत्र, दो कर्ण, दो घ्राण और एक जिह्वा ये सात प्रकार के अथवा ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, १ मन और १ विद्या ये सात प्रकार के अथवा दो हाथ, दो पैर १ मूत्रेन्द्रिय १ मलेन्द्रिय और १ उदर इन सातों से सम्बन्धित इस प्रकार जो आपके २१ पाश हैं, वे विशेष रूप से हिंसक हैं। ये असत्यवादी को छिन्न-भिन्न करें और सत्यवादी को मुक्त कर दें।

अब इसी मन्त्र के आधार पर शतपथ ब्राह्मण और कात्यायन श्रौतसूत्र के एक विनियोग को देखने से विदित होगा कि किस प्रकार ब्राह्मण नाटकवत् दृश्य दिखाते हैं। वर्णन यह है कि यज्ञ करने वाला अपने गले में २१ दानों का एक आभूषण और ६ रस्सियों का शिक्य-पाश (छींके के समान जाल) वरुण-पाश के रूप में गले में धारण करता है। ५ ज्ञानेन्द्रियों के ५ विषय और एक अन्तःकरण का विषय ये ही ६ रस्सियाँ हैं। पीछे पूर्वोक्त "उदुत्तमम्" आदि मन्त्र को पढ़कर यजमान के गले से दोनों पाश निकाल दिये जाते हैं। क्या यहाँ भी यजमान का वध करने के लिये ऋत्विक् उपस्थित है? यदि नहीं, तो शुनःशेप के आख्यान में भी ३ पाशों से बद्ध वह यथार्थ उपस्थित नहीं माना जा सकता।

विवाह संस्कार में भी वरुण-पाश का वर्णन आता है—

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद्।
येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवः॥

कहीं पर वधू को कमर में एक डोरी बाँध दी जाती है और कहीं वधू के बालों को कई डोरों से बाँधा जाता है। फिर पति इस मंत्र को पढ़ के उन्हें खोलता है। संस्कार-विधि के अनुसार वह एकान्त में जाकर वधू के बँधे हुए केशों को इस मन्त्र को पढ़ कर खोलता है। वह कहता है कि "मैं तुझे वरुण के उस पाश से छुड़ाता हूँ जिससे सविता ने तुझे बाँधा था।" यहाँ परमात्मा वधू का वध करने के लिये उसे वरुण के पाश से नहीं बाँध गया था, जिससे पति उसे छुड़ावे; किन्तु अभिप्राय यह है कि कौमार्य अवस्था में पितृगृह में जो नियमों के बन्धन थे, उन से वर वधू को छुड़ाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वरुण के पास ईश्वरीय नियम और ईश्वरीय बन्धन हैं, किसी के मारने के लिये बनाये गये रस्सी के जाल नहीं।

शुनःशेप सम्बन्धी ३ मन्त्र

जिन मन्त्रों की बालुभित्ति के आधार पर यह नर-बलि का प्रासाद खड़ा किया गया है, उनका अर्थ देखने से स्पष्ट पता चलता है कि वहाँ कोई नर-बलि देने की चर्चा का संकेत भी नहीं। केवल यौगिक अर्थ में शुनःशेप (विषयी) मनुष्य की ओर से प्रार्थना मात्र है। मन्त्र निम्नलिखित हैं—

तदिन्नक्तं तद्दिवा मह्यमाहुस्,
तदयं केतो हृद आ वि चष्टे।
शुनःशेपो यमह्वद् गृभीतः
सो अस्मान् राजा वरुणो मुमोक्तु॥
(ऋ० १-२४-१२)

मनुष्य मुझे रात में भी वही और दिन में भी वही कहा करते हैं, यह हृदय का प्रकाश भी उसी बात को कह रहा है। पाप से बद्ध विषयी पुरुष जिन आप न्यायकारी को पुकारा करता है, वह आप हमको मुक्त कीजिये।

शुनःशेपो ह्यह्वद् गृभीतस्
त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः।
अवैनं राजा वरुणः ससृज्याद्
विद्वाँ अदब्धो वि मुमोक्तु पाशान्॥ (ऋ० १-२४-१३)

निश्चय ही यह विषयी भक्त पापग्रस्त और उत्तम, मध्यम, अधम तीन प्रकार के इन्द्रियों के बन्धनों से बँधकर अखण्ड परमात्मा को पुकार रहा है। इसको वरुण परमात्मा मुक्त करे, क्योंकि वह स्वयं अहिंसित होकर सब बातों को जानता है। वह परमेश्वर पाशों को छुड़ावे।

यहाँ उपासक "मैं" के स्थान पर नम्रता सूचित करने के लिये अन्य पुरुष के रूप में "वह" का प्रयोग कर रहा

है जिस प्रकार आजकल भी प्रार्थनापत्रों में "यह सेवक प्रार्थी" "The applicant" आदि का प्रयोग किया जाता है।

> शुनश्चिच्छेपं निदितं सहस्राद्
> यूपादमुञ्चो अशमिष्ट हि षः ।
> एवास्मदग्ने वि मुमुग्धि पाशान्
> होतश्चिकित्व इह तू निषद्य ॥ (ऋ० ५-२-७)

हे परमात्मन्, पापबद्ध विषयी पुरुष को (उसके प्रायश्चित्त कर लेने पर) आप अज्ञान रूप अनेक यूपों से खोल देते हैं और वह भी शान्ति को प्राप्त होता है। इसी प्रकार हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर, हम से भी पाशों को खोल दीजिये। हे चैतन्य होता भगवन्, आप मेरे हृदय में अवस्थित होइये।

यजुर्वेद में नर-बलि

कुछ पाश्चात्यों ने यजुर्वेद के पुरुषाध्याय और अश्वमेध यज्ञ के सर्वमेध प्रकरण में पुरुषों की बलि दी जानी सिद्ध करने का दुःसाहस किया है। उनका आधार वाममार्गी महीधर और उव्वट का भाष्य ही है। सर्वमेध प्रकरण में जहां समस्त प्रकार के पशुओं, पक्षियों आदि का वर्णन करके विभिन्न विरूप मनुष्यों की प्रदर्शनी का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है वहाँ 'आलम्भन' शब्द (अच्छे प्रकार प्राप्त करना) का अनर्थ (हिंसा-बलिदान) करके तान्त्रिक महीधर ने भयंकर बीभत्स कसाईखाने का दृश्य उपस्थित कर दिया, जिसमें पशुओं के साथ साथ उन बेचारे कुरूप मनुष्यों के बलिदान की भी व्यवस्था करने में उसे संकोच न हुआ। मन्त्र का भाव यह है कि राजा बहुत छोटे (बौने), बहुत लम्बे, बहुत गोरे, बहुत काले, बहुत बालवाले आदि—विचित्र आकार प्रकार के मनुष्यों का आलम्भन (अच्छे प्रकार प्राप्त) कर प्रदर्शित करे और उनका सदुपयोग करे, किन्तु वाममार्गियों और तदनुवर्ती पाश्चात्य विद्वानों ने यह अर्थ किया कि उनका आलम्भन = बलिदान करे।

यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय (पुरुषाध्याय) तथा ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के १५ वें मन्त्र में देवों (प्राणों और इन्द्रियों) के यज्ञ (आध्यात्मिक उपासना) का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है (इसमें भी पाश्चात्य विद्वानों को नरबलि की गन्ध आती है)—

> सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
> देवा यद् यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषम् पशुम् ॥

अर्थात् इस आध्यात्मिक यज्ञ की गायत्री आदि ७ प्रकार के छन्द ७ परिधियाँ हुईं और २१ समिधायें (प्रकृति १, महत् तत्त्व १, अहंकार १, सूक्ष्मभूत ५, स्थूलभूत ५, ज्ञानेन्द्रिय ५, सत्त्व १, रजस् १ और तमस् १ = योग २१) बनाई गईं। उस यज्ञ का विस्तार करते हुए प्राणों और इन्द्रियों ने (पुरुषम् पशुम् अबध्नन् =) द्रष्टा परमात्मा को हृदय में धारण किया।

इस मन्त्र के अन्तिम अंश का 'पशु के समान पुरुष को वध के लिये बाँधा' अर्थ करने का हास्यास्पद प्रयत्न किया गया है, जो किसी प्रकार भी प्रमाणों से सिद्ध नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों में किसी देव के आगे नरबलि दिये जाने का कहीं भी वर्णन नहीं है। जहाँ कहीं नरमेध आदि शब्द हैं, वहाँ उनका अभिप्राय (१) परमेश्वर के बताये नियमों के पालनार्थ मनुष्य का आत्मसमर्पण, (२) दुष्टों के विरुद्ध युद्ध करने में मनुष्यों का आत्मत्याग और (३) जब मनुष्य मर जाये, तब उसके शरीर का विधिपूर्वक दाह कर अन्त्येष्टि संस्कार करना आदि ही है॥

धर्म वही है, जिसका कोई विरोधी न हो

आर्यधर्म-वैदिकधर्म-सनातनधर्म ये पर्यायवाची शब्द हैं। इन तीनों शब्दों में धर्म उसीका नाम है जिसका संसार में कोई विरोधी न हो। आर्यसमाज के प्रवर्तक ऋषिदयानन्द ने लिखा है—

(१) "सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् जो जो बातें सबके अनुकूल सब में सत्य हैं, उनका ग्रहण, और जो एक दूसरे के विरुद्ध बातें हैं। उनका त्यागकर वर्त्तें वर्त्तावें तो जगत् का पूर्ण हित होवे॥" (सत्यार्थप्रकाश भूमिका)

(२) "सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिक धर्म जिसको सदासे सब मानते आये, और मानेंगे भी, इसीलिये उसको सनातन नित्यधर्म कहते हैं कि जिसका विरोधी कोई भी न हो सके..." (स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश)

क्या ऐसे धर्म को मानने वाला आर्यसमाज कभी भी साम्प्रदायिक कहा जा सकता है?

पाश्चात्यों का वेद से विद्रोह

[ले०—श्री० प्रो० विष्णुदयाल जी एम. ए. मारीशस]

अपने देहावसान के कुछ दिन पूर्व फ्रेंच एकडमी के सदस्य रेने ग्रुसे नामक इतिहासकार ने जापान में भाषण करते हुए उपसंहार के रूप में कहा कि यदि सर्व सचाई से काम लिया जाय, इतना तो कहना पड़ेगा कि प्राकृतिक दृश्यों को चित्रित करके एशिया ने पश्चिम को अपने पीछे फेंका। उन के कथन का मतलब था कि कला के क्षेत्र में एशिया अग्रणी रहा।

एशिया में प्रकृति की गोद में बैठ कर मानव आनन्द का अनुभव करते रहे, जिस के साथ न्यायोचित व्यवहार किया जाता है।

पश्चिम ने प्रकृति की उपेक्षा की। जब कभी वहाँ उस से सम्बन्ध जोड़ा गया, केवल उसे अपनी दासी बनाने का प्रयत्न किया गया। पश्चिम की सभ्यता या सिविलाइज़ेशन "सिटी" या नगर की उपज है। प्राचीन फ्रांस में जब धर्म-गुरु पेड़ों, पौदों, लताओं से प्रीति का नाता जोड़ते थे, उस देश में हंस-हंस कर प्राण त्यागने के लिए तैयार रहने वाले वीरकर्मा योद्धा उत्पन्न होते थे। उन के धर्म-गुरु उन्हें वनों में बुला कर यह शिक्षा देते थे कि आत्मा अमर है। वनों की निस्तब्धता में ही गुरुजन भारत की भूमि में रह कर अद्भुत ज्ञान का प्रचार करते थे। फ्रांस ने आगे चल कर इन गुरुओं को तिलांजलि दी और साथ-साथ वनों से दूर रहना पसन्द किया। फ्रांस को सभ्यता का केन्द्र माना जाता है। वहीं ऐसी दशा हो तो अन्यत्र की दशा क्या होगी, यह अनुमान सहज में लगाया जा सकता है।

अन्य देशों के वनों से आगत लोगों के साथ भी पश्चिमीयों ने सहानुभूति प्रकट न की। जब वे अपने जहाज सर्वत्र भेजने लगे, उन के नाविक अमेरिका आदि अज्ञात भूखण्डों में उस ज़माने में पहुँचे। वहाँ से कुछ काले लोगों को फ्रांस लाया गया।

लघु निबन्ध लिखने की प्रथा चलाने वाले फ्रेंच लेखक मोंताई रूआं में तीन अमेरिकी "भारतीय" से मिले। वे उन का स्वभाव देख कर मन्त्र-मुग्ध हुये और लिखने लगे कि अमेरिका या अन्यत्र वनों में पले लोग वास्तव में सभ्य हैं, इन्हें हम गलती से जङ्गली बताते हैं। उन्होंने लिखा कि ये लोग जङ्गली समझे जाते हैं क्योंकि हमारी प्रथाओं से अपरिचित हैं। ‡ यदि ये लोग जङ्गली हैं तो इसी अर्थ में जङ्गली हैं, जिस अर्थ में कि वन में पकने वाले मधुर फल वन्य या जङ्गली होते हैं।

---

‡ एक अमेरिकी ने माना है कि अफ्रिका में सभ्य लोग विद्यमान हैं. श्री K. M. Panikkar ने कहा है :—"A distinguished American sociologist once mentioned to me that the most cultured man it had been his good fortune to meet, was the chief of an African tribe in Kenya; that his poise, courtesy, tolerance and understanding, which my friend, a Nobel laureate himself, came to appreciate by continuous contact with him over a considerable period evidenced a mental harmony which was the highest form of culture. Exceptional individuals apart, such culture is the result of centuries of evolution, of the growth within on ever widening circle of ideals and disciplines which operate unconciously on the individual."

वन्य फल में जो ताकत होती है, वह नगर में पैदा होने वाले फलों में है कहाँ, जिनकी शक्ति कुण्ठित होती है ? तपोवनों में वेद-मन्त्रों का उच्चारण करने वाले ऋषियों की अद्भुत शक्ति का शतांश भी नगरवासी बाबुओं में कहाँ है, जिनका जीवन कृत्रिम है ?

हम पढ़ते आये हैं कि संत विनोबा ने, तरुणावस्था में एक दिन परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर जो उन्हें प्रमाण पत्र मिला था, उसे अग्नि को अर्पित किया। बस, वर्तमान भारत के यह संत इस छोटी सी घटना से अपनी युवावस्था में संसार को एक पाठ पढ़ा रहे थे। वे मानो यही कहते थे कि जिसे सभ्यता कहा जाता है, वह हमें उन्मार्ग पर लगाती है, यदि उस से सम्बन्ध विच्छेद किया जाय तो मानव को किसी भी प्रकार की हानि न होगी। आचार्य विनोबा जी उन वनवासियों के सदृश दिखाई दे रहे, हैं जो वनों के परिपक्व फलों का स्मरण कराते हैं। एक दिन संत जी ने कह भी दिया कि "सभ्यता" शब्द की जगह पर मैं "संस्कृति" शब्द को रखना पसंद करता हूँ। "सभ्यता" से जो गन्ध निकलती है, वह उन्हें अच्छी न लगी।

मोंताई की देखा-देखी वोल्तेर, मोंतेस्क्ये तथा रूसो ने यूरोप में इस सचाई का प्रकटीकरण किया कि जिन्हें हम असभ्य कहते हैं, उन का गुणानुवाद करना चाहिये। मारीशस सम्बन्धी सुप्रसिद्ध उपन्यास "पॉल और विर्जिनी" के लेखक बेरनार्द दे से प्येर ने भी उन का पदानुसरण किया।

क्या एक बार इस सचाई के प्रकट हो जाने पर पश्चिम में लोग संभल गये ? यदि इस प्रश्न का स्वीकारात्मक उत्तर दिया जा सकता, तो आज संसार अधोगति की ओर बढ़ता ही नहीं।

पश्चिमीयों ने अपने से कम सभ्य समझे जाने वालों को खूब लूटा। उन्हों ने अमेरिकी, अफ्रिकी और भारतीय को एक ही लाठी से हांका।

क्या भारतीय भी जङ्गली थे ?

भारत में आकर उन्हें एक नई बात देखने को मिली। भारत में एक प्राचीन सभ्यता थी, वहाँ संसार का प्राचीनतम ग्रन्थ वेद विद्यमान था।

पश्चिमीयों ने वेद का रहस्य जानने की कोशिश की। कभी-कभी इने गिने लोगों को वेद-ज्ञान की झलक मिली और अपने को उपकृत बना कर उन्होंने अपनी कृतज्ञता प्रकट की।

परन्तु बीच में भारतीयों को ईसाई बनाने का इरादा करने वाले आ खड़े हुए। वे प्राप्त सम्पत्ति का मोल घटाने पर तुले थे। उन्हीं से प्रभावित होकर उन के देशवासी लिखने लगे कि वेद का काल, २०० नहीं तो १००० ईस्वी पूर्व होगा।

विज्ञान प्रगति करने लगा। यूरोप में बच्चा-बच्चा कहने लगा कि जगत् ६ हजार साल भी पुराना नहीं है।

जब संसार अरबों वर्ष से चल रहा है, तो यह हो ही नहीं सकता कि तीन या साढ़े तीन हजार वर्ष से ही लोग बोल और लिख रहे हों। जो खुदाइयां हुईं उन से स्पष्ट प्रकट हुआ कि उत्तर वैदिक कालीन युग की सभ्यताएं भी साढ़े तीन हजार साल से प्राचीन हैं। नवीन ज्ञान के प्रकाश में प्राचीन ग्रन्थों के बारे में बने हुए मत का संशोधन किया जाता है। यदि हमें वेद के काल का निर्णय निष्पक्ष हो कर कहना है, हम नई खोजों से प्राप्त ज्ञान की उपेक्षा कर ही नहीं सकते।

इन पंक्तियों के लेखक को इस लेख को लिखते वक्त यह समाचार पढ़ने को मिला कि यू० आर० एस० एस० में खुदाई हुई और एक दो नहीं, पाँच सौ समाधियाँ पाई गई हैं, जो तीन हजार ईस्वी पूर्व की हैं। ये प्रागैतिहासिक समाधियाँ सिद्ध कर रही हैं कि दुनिया में उस युग के लोग समाधि तक बनाते थे। तब कैसे कहा जा सकता है कि वेद उस युग से पूर्व नहीं हुआ होगा ?

वेद और गिल्गमिश

पश्चिमीय पंडित तब भी टस से मस न हुए। वे उस दिन की प्रतीक्षा करते थे, जब कहीं से कोई प्रमाण मिल जाय कि अभारतीयों ने तीन-हजार वर्ष से पूर्व कुछ न कुछ लिखा था।

यह "प्रमाण" अब मिल गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ की पाक्षिक पत्रिका "यूनेस्को फिचर्ज" में समाचार छपा है कि गिलगमिश नाम का काव्य जो आज से साढ़े तीन हजार साल पहले रचा गया था, मेगिदो के समीप इसराएल में मिला है।

यहाँ दो सवाल उठ रहे हैं, पहला यह है कि इस काव्य में कोई ऐसी सूझी है जिस के कारण इसे वेदों से श्रेष्ठतर बताया जा सकेगा ? यह एक इतना लघु काव्य है कि इस में वह ज्ञान खोजना जो चार वेदों में पाया जाता है, व्यर्थ होगा।

दूसरा सवाल यह है कि क्या इसराएल पश्चिम में है ? इस्राएल भी तो एशिया ही का एक अंश है। यदि इसे पश्चिमीय वेदों से पुराना बताते हैं तो वे एक एशियाई काव्य ही को वेदों से प्राचीनतर बना रहे हैं।

गिल्गमिश की कथा एक मनोवृत्ति पर प्रकाश डालती है। संयुक्त राष्ट्र संघ राष्ट्र-राष्ट्र के मध्य आये हुए वैमनस्य के दूरीकरण के लिए स्थापित किया गया है। उसे तो ऐसा समाचार कभी नहीं देना चाहिये, जो गलत हो और अशांति को उत्पन्न कर पावे। इस काव्य के सम्बन्ध में ६ मई, १९५५ के कहीं पहले से ही बहुतों की जानकारी है। इस पत्रिका ने देर में समाचार दिया ताकि पाठक समझें कि खूब जाँच कर के, सच्चाई को जान कर ही इसे प्रकाशित किया गया।

गिल्गमिश, जैसे कि अनेक लोगों को मालूम ही है, एक महाकाव्य है, जो इसी नाम के कथा पुरुष के बारे में लिखा गया है। इराक में इस काव्य का एक अंश इस से पहले मिला था। वह असुर बनिपाल के महल के खण्डहरों में प्राप्त हुआ। सम्पूर्ण काव्य बारह शिलाओं पर आता है। प्रत्येक उसके एक कारनामे के बारे में है। मेगिद्दो में प्राप्त काव्य का अंश पढ़ने से ज्ञात होता है कि एनकिदु अपनी मृत्यु-शय्या पर अपने मित्र गिल्गमिश को सुनाता है, मुझे अमुक स्वप्न देखने में आया। गिल्गमिश अपने साथी को खो कर दुःखी हो उठता है।

कहां बारह शिलालेख और कहां हजारों मन्त्रों से भरे चार वेद। वेद इतिहास के ग्रन्थ नहीं लगते कि उन में ऐसी कथायें मिलेंगी, वे ज्ञान की पुस्तकें हैं। उन में ऐसी उच्च कोटि के विचार हैं, जो मानव को एक पृथक् श्रेणी में रखने में सहायक हैं। जब गिल्गमिश का काल निर्णय हो अनेक बातों पर पूरा ध्यान देना चाहिये। जिस तरह एक ग्रन्थ के रचना-काल का पता लगाने के किसी विशेष ढंग से काम लिया जाता है उसी ढंग से दूसरे ग्रन्थ के काल का पता लगाना चाहिये।

वेदों को अपेक्षाकृत अर्वाचीन बताने में मैक्समूलर आदि विद्वानों ने देर न लगाई, प्राध्यापक अर्जुन चौबे काश्यप लिखते हैं:—"मैक्समूलर का मत जो ऋग्वेद को १२००–१००० ई० पू० तक काल–सीमित करता है, आज के भाषा–सम्बन्धी विकास–क्रम की वैज्ञानिक विधि के समक्ष दुर्बल है।"

जब किसी भी विधि की परवाह ही न की जायगी हम कैसे मान सकेंगे कि पश्चिमीय विद्वान् अपना उल्लू सीधा नहीं कर रहे हैं ? उन में से एक दो को गिल्गमिश को सब वेदों से प्राचीनतर बताने में जरा सा संकोच हुआ। उन्हों ने कहा कि ऋग्वेद से यह कम प्राचीन नहीं है।

"यूनेस्को फीचर्ज" की शरारत इस बात से भी प्रमाणित होती है कि गिल्गमिश सम्बन्धी समाचार देने के १५ दिन पश्चात् उस ने रामायण के विषय में समाचार देने के बहाने से लिखा कि यह ग्रन्थ २००० वर्ष पुराना है। वह धीरे-धीरे अपने पाठकों से मनवा रहा है कि वेद वस्तुतः कम पुराना है। गिल्गमिश के बारे में दिनांक ६ मई को और रामायण के सम्बन्ध में ता० २० मई को समाचार प्रकाशित हुआ।

ज्यों-ज्यों खोज हो रही है और यह सिद्ध होता जा रहा है कि दुनिया बहुत पुरानी है त्यों-त्यों पाश्चात्य विद्वान आर्यों के ग्रन्थ को ईस्वी सम्वत् के निकट ला रहे हैं। जब विलियम जोंस ने मनुस्मृति का अंगरेज़ी में रूपान्तर किया था, वे मानते थे यह ग्रन्थ १३ सौ ईस्वी पूर्व का था। "ले जुर्नाल दे सावाँ" में लिखते हुये सन् १८३१ में मोंस्ये शेज़ी ने भी सिद्ध किया था कि मनुस्मृति इतनी ही प्राचीन है।

जब मनु का ग्रन्थ इतना प्राचीन है जिस में स्थल-स्थल पर वेदों का उल्लेख है, वेद किस प्रकार केवल तीन या साढ़े तीन हज़ार वर्ष पुराना ठहराया जा सकता है ?

पाश्चात्यों के पास कौन से प्रमाण हैं ?

वेद सरीखे ग्रन्थ के विषय में लिखते हुये पाश्चात्यों को गंभीरता-पूर्वक विचार करना चाहिये था।

वेद का अत्यन्त अर्वाचीन होना बता कर अब उन्हें कहना पड़ता है कि जिन आर्यों के बीच में इस महत् ग्रन्थ का प्रचार हुआ, वे द्रविड़ों के बाद भारत पधारे।

यदि आर्य्य वस्तुतः बाहर से आये थे, क्या कारण है कि जब तक वे भारत में नहीं पहुँचे, उन्होंने संसार को कोई कृति दी ही नहीं, चाहे वह कृति एक छोटी कविता या एक कहानी ही क्यों न होती ?

जब तक यह बताया नहीं जाता कि वेद में ऐसे स्थल हैं जहाँ पर लिखा है कि आर्य्य भारत से बाहर थे, हम पाश्चात्यों की धारणा को कैसे मान सकते हैं ?

जिन विद्वानों ने इस मूल बात पर ध्यान नहीं दिया, उन्हें अब यह कहते देखा जा रहा है कि महाभारत की कथा उस समय में भी सुनने में आती थी, जब वेद रचा नहीं गया था। ऐसे विद्वानों में से डॉ० V. S. Sukthankar का नाम उल्लेखनीय है जिन्हों ने लिखा है:—

"The story of Yudhisthira and enthronement dates from a period prior to the Rigveda and to the Aryan invasion. It is a story that has been adapted from pre-Aryan sources."

एक विद्वान् पादरी द्रविड़ जाति को आर्य्य जाति से प्राचीनतर उद्घोषित करने पर तुले हैं। वे रेवेरेण्ड हेरस हैं, जो बम्बई के इण्डियन हिस्टोरिकल इंस्टिट्यूट के डाइरेक्टर हैं। Studies in proto-Indo-Mediterranean Culture (1953) नाम की पुस्तिका में उन्होंने अपने मत की पुष्टि में बहुत से उद्धरण दिये हैं।

यदि कोई जानना चाहे कि वे किस तरीके से अपने मत को पेश करते हैं, तो उसे उस पुस्तिका के पृष्ठ ९ को पढ़ कर पृष्ठ १३ को पढ़ना चाहिये। वे लिखते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा गया है कि कृष्णांग ब्राह्मण श्वेतांग ब्राह्मण से चतुर है †। आगे चल कर वे ही कहते हैं कि पञ्जाबी और काश्मीरी संभवतः तमिलों से शुद्धतर द्रविडयन है ††

वे एक ओर कहते हैं कि काले रंग के लोग द्रविड़ जाति के हैं और दूसरी ओर यह बताते हैं कि द्रविड़ जाति के लोग गौरांग है। ये मत परस्पर विरोधी हैं। जब दोनों वर्गों के बीच द्रविड़ जाति के ब्राह्मणों की विद्यमानता थी, तब ब्राह्मण ग्रन्थ के कथन का यह मतलब निकल सकता है कि द्रविड़-द्रविड़ से चतुर था, क्योंकि आर्यों की भांति कुछ द्रविड़ रेवेरेण्ड हेरस के कथनानुसार गौर वर्ण के थे।

इस से पता चला कि ब्राह्मण ग्रन्थों का आशय लेखक की पहुँच के भीतर नहीं है।

हम प्रमाण पा कर ही पाश्चात्यों के मतों को मान सकेंगे। उन्होंने जब यह कहना शुरू किया कि संस्कृत अन्य भाषाओं की माता नहीं है, अपितु बड़ी बहिन है, तब इस मत की पुष्टि में उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया। उन्होंने यही कहा कि एक भाषा थी जो सब की माता थी, पर अब उस का पता नहीं लग रहा है।

अब वे सुना रहे हैं कि वैदिक तथा पौराणिक साहित्यों में बहुत से संदर्भ मिलते हैं जो द्रविडियन लोगों के ग्रन्थों से लिये गये हैं, पर ये ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं। ‡

ईमानदारी यह चाहती है कि जब तक "भाषाओं की माता" न दीख पड़े, जब तक द्रविडियन लोगों के "लुप्तग्रन्थ" न प्राप्त हों, इन ऊटपटांग मतों को प्रकट न किया जाय।

वेद और दर्शन

पाशविक शक्ति मानवीय शक्ति से निकृष्ट है। जब तक मानवों को बोलने और सोचने का अवसर नहीं मिलता, तब तक वह अन्य प्राणियों के सदृश पाशविक बल से काम लेते हैं। हम ने बाइबिल को नहीं अपनाया तो इस कारण से कि उस में लड़ाइयों की कथा की भरमार है और आध्यात्मिक ज्ञान नहीं के बराबर। अध्यात्मवाद और दार्शनिक विचार से शून्य धर्म मानव के लिये उपयुक्त नहीं होता।

संसार के प्रायः सब केन्द्रों में माना गया है कि वेद में जो नासदीय सूक्त है, उस में ऐसा विषय आता है जो शुद्ध तत्वज्ञान से सम्बन्धित है। स्व० रेने ग्रुसे ने भी इस बात को माना है। क्या गिलगमिश में इस प्रकार का दार्शनिक विचार है ? यदि यह एक दार्शनिक काव्य नहीं है, चाहे उस काव्य की भाषा में कितना भी लालित्य हो, चाहे उस की कथाओं को मनोरम ढंग से क्यों न लिखा गया हो, तो भी हम उस की गणना वेदों में कैसे कर सकेंगे ?

रेने ग्रुसे वेदों के दार्शनिक विचारों को गिनाते हुये एक स्थल पर कह उठते हैं कि बाईबिल में वर्णित प्रज्वलित झाड़ी में जो ब्रह्म मूसा को दृग्गत हुआ था, वह अपना परिचय देने को तैयार न था। यह श्रेष्ठ विचार वेदों में आता है, जब वहाँ कहा जाता है कि ब्रह्म इन्द्रियगोचर नहीं है, इतना ही कहा जा सकता है कि वह है।

† In the Brahmanas it is said that dark skinned Brahmans are cleverer than white skinned ones. (The former) were non-Aryan Brahmins considered to be abler than the Aryan ones. P. 9

†† The Punjabis and Kashmiris are probably much purer Dravidians, racially considered, than the Tamil and Malayalam speaking people of South India, whose physical characteristics reveal much mixture of negrito blood in the former and of Chinese blood in the latter P. 13

‡ देखिये हेरस की पुस्तिका, पृष्ठ ११

बाइबिल में ही क्यों, सब एटों में, कुरानादि धार्मिक ग्रन्थों में वेदांश पाया जाता है। आज कल सहवास की चर्चा चल पड़ी है, देश-देश में सम्मेलन लगने लगा है। राजनेताओं को एकत्र होकर सोचना-विचारना पड़ता है। ऐसी अवस्था में वेदों से ही प्रेरणा मिल सकती है।

वेदों का आदेश यही है कि लोग मिलकर एक दूसरे से भाषण किया करें। आर्यों में जीवन के प्रति उदासीनता होती तब यह कहा जा सकता कि चाहे वेद की पहले आवश्यकता रही हो अब उससे काम नहीं लिया जा सकता।

इतिहासकार रॉलिन्सन मानते हैं कि वेद की शिक्षा जन-जन के हृदय में घर कर गई है। आज भी उस शिक्षा के अनुकूल असंख्य भारतीय आचरण कर रहे हैं।

जहाँ भी भारतीय पाये गये, उन के पडोसियों ने कहा कि ये शान्तिप्रिय, कष्टसहिष्णु और उदार हैं। जिन गुणों को लोगों ने भारतीयों में पाया, वे उन्हीं लोगों में विद्यमान हो सकते हैं, जो सहवास का महत्व समझते हैं। जब भारतीय यह कहते रहे, "सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु-हम सब एक साथ रहें, हम सब एक साथ भोग करें," वे इस कथन के अनुसार आचारण करते रहे। उन्होंने इस के परिणाम स्वरूप कभी साम्राज्य विस्तार करके किसी को पददलित न किया।

जब उन की सन्तानें भारत से दूर चली गयीं, वे अशिक्षित बन जाने पर भी अपने पूर्व पुरुषों के गुणों को धारण करते रहे।

विगत दिनांक २३ मई को लन्दन में मारीशसीयों द्वारा आयोजित एक सभा में फ्रांस के सुप्रसिद्ध लेखक बार्न जिहामेल का एक भाषण हुआ। वे जिस दिन बापू जी की हत्या हुई थी, उसी दिन यहाँ की भूमि पर वायुयान से उतरे थे। यहाँ ९ दिन ठहर कर उन्होंने परिस्थिति को खूब अच्छी तरह से समझा।

यह बात उन से छिपी नहीं है कि ५ लाख ४० हजार मारीशसीयों में ३ लाख ६० हजार प्रवासी हैं। जिन दिनों में अनेक यूरोपीय पत्रकार और लेखक लिख रहे हैं कि प्रवासी तत्व इस लघु टापू को हड़पना चाहता है, उन्हीं में गम्भीरतापूर्वक सोचने वाले ये फ्रेंच लेखक मानों इन लोगों को मुँहतोड़ जवाब दे रहे हैं।

लन्दन में लगी सभा में इन्होंने कहा कि मारिशस समस्त बाह्य जगत् के सामने एक उदाहरण खड़ा कर रहा है। वहाँ सचमुच सहवास की उत्तमता देखने में आती है। प्रवासी तत्व किसी का भी अहित चाहता, तो यहाँ रक्त की नदियाँ बहतीं; संख्या में अधिक होने पर भी ये सहिष्णुता से काम ले रहे हैं और कह रहे हैं कि हम जीयेंगे और पड़ोसियों को जीने देंगे। वे उपनिषद् का वचन दोहरा रहे हैं—"हम सब एक साथ रहें, हम सब एक साथ भोग करें।"

जिहामेल ने वेदों की शिक्षा के स्वरूप सौम्य स्वभाव वाले शिक्षित और अशिक्षित प्रवासियों के बने हुए रुख की मानो मुक्तभाव से स्तुति की, इन्होंने यह भी कहा कि यदि भविष्य में ऐसी अवस्था मारीशस में न रही तो दुनिया को निराश होना पड़ेगा।

प्रवासियों ने सीधे वेद को लेकर न भी पढ़ा हो कि भगवान् कह रहे हैं, "तुम्हें मैं साथ एक जोते में जोड़ता हूं, सब मिलकर अग्नि की पूजा करो जिस भांति अरे नाभिके चारों ओर रहते हैं", वे अरे बन कर एक दूसरे के निकट रहना पसंद करते हैं।

वेद के इस आदेश में वर्तमान संसार को बहुत कुछ मिल सकता है, यदि अपनी चिन्ता को त्याग कर वह जानना चाहे कि आसन्न-विनाश से बचने का उपाय यूरोपीयों को छोड़ कर किसी ने बताया है।

आज कल पश्चिमीय यूरोप में यही आवाज सुनने में आ रही है कि वर्गवाद का सामना करना चाहिए, सब को मिल कर सोच-विचार करना चाहिए, कहीं पर युद्ध होने लग जाय, तो युद्ध में संलग्न लोगों को किसी-न-किसी तरह समझा कर युद्ध का अन्त लाना चाहिए।

जिन लोगों में विषमता पायी जाती है, वे एक दूसरे के निकट नहीं हैं, वे अरे जहाँ कहाँ रहते हैं, वह देखना तक नहीं चाहते। यदि वे आधुनिक युग को मशीन युग मानें तो भी उन्हें अरे देखने पड़ेंगे ही, मशीन चक्रों के समूह के सिवा है ही क्या? यदि पहले अरे लकड़ी के थे, अब वे लोहे के हैं, अरे कभी विलुप्त न होंगे।

मोटर गाड़ी में बैठ कर अपने दफ्तर की ओर बढ़ने वाला ख्याल करे कि मैं अरे देख रहा हूँ तो वह, राष्ट्र की दशा क्या है, यह तत्काल जान जायेगा। अरे का एक सिरा नाभि में घुसा हुआ होता है और दूसरा सिरा आवेष्टन से लगा हुआ। दूसरे सिरे को देखें तो मालूम होगा कि एक अरा दूसरे से दूर है। भाषा, प्रथा, परिधान, विचारधारा, आदि की विभिन्नता के कारण एक राष्ट्र दूसरे से अति दूर

फेंका गया है। उन्हें इतना ही बोध हो जाय कि हम सब एक नाभि में घुस पड़ें, तो बलवान् हो जाने के साथ-साथ एक दूसरे के मित्र हो जायेंगे, तो वे निर्बलों को लूट कर बड़ा दर्जा प्राप्त करना छोड़ देंगे और द्वेषाग्नि बुझ जावेगी।

जिन्होंने ऐसा सन्मार्ग जगत् को बताया, क्या वे असभ्य हैं?

दुःख से लिखना पड़ता है कि हमारे मध्य पाश्चात्यों का दृष्टिकोण लेकर चलने वालों का अभाव नहीं है। क्या राजनेता वेदों को आधार मानकर आचरण करने के लिए तैयार हैं?

रेने ग्रुसे के देहावसान के पश्चात् "फ्रांस-आजी" नामक पत्रिका ने एक विशेषांक निकाला, जिसमें अनेक विद्वानों के संदेश और लेख सम्मिलित किये गये थे। उसमें इस बात के लिये दुःख मनाया गया था कि भारत के प्राचीन धर्म के प्रति राजनेताओं में उतनी भी सहानुभूति नहीं, जितनी विदेशी ग्रुसे में पाई जाती थी।

साइगों के विश्वविद्यालय के एक प्राध्यापक ने एक बार लिखा कि कोई खद्दरधारी नेता एक बार दक्षिण में भाषण देने गये, वे अहर्निश किसी महान् योगी की प्रशंसा करते रहे, जब उन्हें कहा गया कि आप कुछ मिनट बचाकर उस उच्च आत्मा के दर्शन कर पावें तो ठीक होगा, यह सुनकर कि इस काम के लिए व्याख्याता को फुरसत नहीं, सब आश्चर्यचकित हुए। प्राध्यापक को इस घटना से असह्य वेदना हुई और उन्होंने कहा कि जब भारत में ही अध्यात्मवाद की इस तरह उपेक्षा हो रही है, क्या यह आशा बँध सकेगी कि वर्तमान भारत शेष संसार का पथ प्रदर्शन करने का अधिकारी होगा? उसने कहा कि राजनेता अपनी जन्मभूमि की आत्मा के साथ विद्रोह कर रहे हैं।

उस प्राध्यापक के दुःख की सीमा न रही क्योंकि उनका मत है कि युद्धोत्तर संसार पागल बन चुका है, उसे ठिकाने पर लाने की शक्ति केवल भारत में है। भारत में भीतरी जीवन का महत्व समझा जाता है। भारत ही विचलित हुओं को स्थिरता प्रदान करने में समर्थ है।

उनका संकेत भारत के तत्त्वज्ञान एवं सार्वभौम धर्म की ओर है। हिन्द-चीन, साइगों और पाण्डिचेरी में पधार कर विदेशी विद्वान् निकट देश भारत को उसके विमल रूप में देखने लग जाते हैं और भारत में रहकर भी भारतीय विद्वान् अपनी देन का मूल्य घटाने पर लगे हुए हैं।

क्या वे भारतीय ज्ञान से इतने अपरिचित हैं कि उसकी उपेक्षा करने पर तुले हैं? लन्दन आर्य्य समाज की स्थापना के अवसर पर विलायती लोक सभा के सदस्य श्री सोरेन्सेन ने दिनांक ८ नवम्बर १९५४ को क्या ही ठीक कहा कि १७वीं शती में जब ईसाई धर्म प्रचारक धर्म, दर्शन तथा सभ्यता का प्रचार करते थे, तब उन्हें यह अवगत नहीं था कि भारतीय उन विषयों में युरोपियों से भी अधिक ज्ञान रखते हैं।

इस बीसवीं शती में पश्चिम विज्ञान को आगे बढ़ाता जा रहा है। उसे कदाचित् इस बात का गर्व हो कि विज्ञान के क्षेत्र में मैं भारत को शिक्षा दे सकता हूँ। यह गर्व तब तक रहेगा, जब तक वह वेदों को अपनी आँखों से ओझल होने देगा।

यह बात विद्वानों से छिपी नहीं है कि यद्यपि यूरोप में भी सूक्ष्म ढंग से वैदिक विचार का युग-युग में प्रसार हुआ; तथापि एशिया में ही स्पष्ट रूप से स्थल स्थल पर यह काम करते दिखाई देता है।

भारतीयों के पड़ोसी चीनियों को मालूम था कि तोपों को कैसे बनाया जा सकता है, पर उन्होंने पटाके बनाकर अपनी खुशी जाहिर करने का तरीका लोगों को सिखाया। बिजांत्यम में वाष्प से मशीनों को चलाने का ज्ञान लोगों को था तो सही, किन्तु वहाँ पर ऐसी मशीन को निर्मित न किया गया ताकि गरीबों को काम मिले और मानव यन्त्र की दासता स्वीकार न करे। जब लियों और मैंचेस्टर में प्रथमबार मशीन से काम लिया गया, तब श्रमिकों ने उन्हें तोड़ फेंका, यह यन्त्र उन्हें दबा छोड़ने वाला था, इसका उन्हीं दिनों में पता लगा। मशीन बंधन में डालती है और हस्त मुक्ति दान करता है।

भारतीय ऋषियों को जब इन्द्रियों की दासता स्वीकार्य न थी, वे यंत्राभिभूत क्यों होते? यन्त्रों का आविष्कार हो सकता था और होता भी रहा, अणु शक्ति तक का उन्हें ज्ञान था।

सबसे भारी आविष्कार, जो इस समय हुआ है। वह अणु-शक्ति का ही है। यदि यथासमय यूरोप को वेदों के एक मन्त्र विशेष के दो ही शब्दों के गम्भीर अर्थ पर विचार करने को अवसर प्राप्त होता, तो उसे नास्तिकता को आश्रय देना न पड़ता और चिल्लाते रहना न पड़ता कि वर्गवाद को जड़ से उखाड़ फेंका जाय।

यह मन्त्र यजुर्वेद में आता है। उसे ईशोपनिषद् के आरम्भ में रखा गया है। उसके महत्त्वपूर्ण दो शब्द हैं "जगत्यां जगत्" विज्ञानवेत्ता बताते हैं कि विद्युदणु और प्राण ये दो साथ रहते हैं। मध्यबिन्दु होने से एक स्थिर रहता है और दूसरा उसके इर्द-गिर्द घूमता रहता है। इसी बात को समझाने के लिए ये पंक्तियाँ लिखी गयी हैं:—

"All atoms are believed to be built up on one single plan which appears to be very simple. The massive positive electricity is situated near the centre of the atom, like our sun near the centre of the solar system and althoagh its parts are in violent motion, they keep their courses within a very small volume. Surrounding this massive nucleus are the electrons which play the part of palnets round a central sun. They have the remainder 0f the atoms, volume in which to move. often one or more of these electrons leaves the little system in which it is revolving and joins that of another atom, but no electron ever, it is believed, strikes or enters into the nucleus round which it revolves. The number of revolving electrons in an atom is not, as might be imagined a very large, one. It varies for different atoms from one to ninety-two. The number of protons or positive units of electricity in the atom, s nucleus is larger; it varies for different atoms from one to two hundred and forty. But it has been found that the nucleus contains negative as well as positive units of electricity, and as these units are exactly equivalent, the actual positive charge which the nucleus bears is not the number of its protons, but, of course, that number minus the number of nucear electrons."

जब वेद में यह विषय आया, विज्ञान और अध्यात्मवाद साथ पाये गये, पश्चिम का विज्ञान शुष्क है, भारत का नहीं। वेद भगवान् का कथन है कि ईश्वर बड़े जगत् के भीतर पाये जाने वाले छोटे जगत् में (जगत्यां जगत्) रहते हैं।

जैसे सूर्य के बीच में रहकर चलने से शोभा होती है और अन्य ग्रहों के उसके इर्द-गिर्द, ठीक वैसे ही प्रत्येक अणु के जो दो हिस्से है, उनमें एक मध्य में रहने वाले के स्थिर रहने से और दूसरे के उसके चहुँ ओर घूमते रहने से शोभा होती है।

वेद ने हमें सर्वत्र ईश्वर की शक्ति दिखायी और पश्चिमीय विज्ञान ने उसका सर्वत्र अभाव। ईश्वर से शून्य ज्ञान या सभ्यता मनुष्य को लाभान्वित करने में अभी तक असमर्थ है। जिस भांति अरे नाभि में धँस जाने से बल प्राप्त करते हैं, गाड़ी को चलाने में समर्थ होते हैं उसी भांति मानव का कोई केन्द्र होना चाहिए, जिससे उसे अद्भुत बल की प्राप्ति हो सकती है।

वेद ही वेद को समझाता है, वेद में ईश्वर की उपमा नाभि से दी गई है। जिसे संदेह है, वह नीचे दिये गये वेद मन्त्र को पढ़े:—

"वया इदग्ने अग्नयस्ते अन्ये त्वे विश्वे अमृता मादयन्ते।
वैश्वानर नाभिरसि क्षितीनां स्थूणेव जनाँ उपमिद्ययन्थ॥

ऋ० १।५९।१

हे अग्ने! वे अन्य अग्नि तेरे भीतर शाखाओं के समान ही हैं, वे सब अमृत अग्नि तेरे से ही हर्षित होते हैं। हे वैश्वानर अग्ने! तू सब मनुष्यों का केन्द्र है—(नाभिरसि), स्तंभ के समान सब जनता का तू समीपस्थ होता हुआ नियमन करता है।"

मानस भवन की आधार शिला परमात्मा हैं, जब मानव जीवन से परमात्मा का लोप होता है, वह विद्वान होने पर भी अशान्त रहता है। पश्चिमीय जगत् की अशान्ति का कारण यही है कि उसने ईश्वर को अनावश्यक समझा। फ्रांस का लेखक फ्रांस्वा मोरियाक जिसे नोबेल पुरस्कार हाल ही प्राप्त हुआ, मानता है कि ईश्वर का बहिष्कार नानाविध तापों का कारण है।

ईश्वर को परे फेंक कर यूरोपीयों ने ऐसी सभ्यता का निर्माण किया, जो मानवोचित नहीं है। Lowie ने Are we Civilized ? नाम की पुस्तक में साफ कहा है कि हम यूरोपीय लोग सभ्य नहीं हैं। योरोपीय ज्ञानी के पास ज्ञान आया, पर संयम नहीं। स्वर्गीय जगदीशचन्द्र वसु जो स्वयं वैज्ञानिक थे, कहा करते थे कि भारत ने विज्ञान और संयम दोनों को सिखाया।

पश्चिमीय उन छात्रों का स्मरण कराते हैं, जो प्रथम कक्षा में प्रविष्ट होकर उच्चतम कक्षा में न पहुँचे हों बल्कि जिन्होंने विश्वकोषों और पत्र-पत्रिकाओं को पढ़-पढ़ कर ज्ञान उपलब्ध किया हो। भारत में ज्ञान वेद के रूप में आया, उसे भारतीयों ने पचाया, तब उसके अनुकूल आचरण किया। भारतीयों को युग-युग में यंत्र ने वशीभूत करना चाहा, पर वह सफल न हो पाया।

जिन वेदों के महत् ज्ञान की कृपा से भारत में स्थिरता आयी, वे एक प्राचीन संस्कृति की जड़ हैं, जो बहुत दूर चली गईं। उनको उपेक्षणीय समझ कर यूरोपीयों ने अपना ही अहित किया। आज उन्हीं में से लांजा देल वास्तो आदि लेखक, जिन के ग्रन्थ लाखों की संख्या में मुद्रित होते हैं, साफ़ साफ़ लिखने लगे हैं कि हम लोग तो अपना असर छोड़ ही नहीं सकते, वह असर क्षणिक होता है।

वेद के अनेक नहीं, एक मंत्र से भी पूरी तरह से शिक्षा ली जाय, तो संसार की अभूतपूर्व सेवा हो सकेगी। बीसवीं सदी में आकर वैदिक सभ्यता की एक उपज ने दर्शा दिया कि वेदों में अनन्त शक्ति छिपी पड़ी है। अणु में छिपी शक्ति से काम लेने वाले युग पुरुष गाँधी से सीखें-कि शुद्ध आचरण में उससे बढ़कर शक्ति निहित है।

बापू जी कहा करते थे कि अकेला वह वेद मंत्र रह जाय, जो ईशोपनिषद् का प्रथम मंत्र है तो हिन्दू धर्म रहेगा। इस एक मंत्र ने एक मनुष्य को महात्मा में परिणत किया। समस्त संसार को स्वीकार करना पड़ा है कि बापू जी से बढ़ चढ़ कर मनुष्य देखे नहीं गये। सर सामुएल होर जो, दमन की नीति बरतता था, अपने नवीन ग्रन्थ में लिखता है कि भूतपूर्व सम्राट् पंचम जार्ज ने गांधी के साथ अपने महल पर सद्व्यवहार नहीं किया। किसी दूसरे आदमी के साथ ऐसा होता तो राजमहल में बहस चल पड़ती। गांधी जीना जानता था, उसने अपमान करने वाले सम्राट् को Savoir vivre कैसे जीना चाहिये, यह सिखा दिया।

शत्रु भी जिन महापुरुषों की प्रशंसा कर लेता है वे सचमुच निर्णय कर सकते हैं कि पश्चिमीय सभ्यता कोई सभ्यता है या नहीं। बापू जी ने लिखा है—

"This civilisation takes note neither of morality nor of religion. Its votaries calmly state that their business is not to teach religion. Some even consider it to be a superstitious growth. This civilisation is irreligion, and it has taken such a hold on the people in Europe that those who are in it appear to be half mad. They keep up their energy by intoxication. They can hardly be happy in solitude. Women, who should be the queens of households, wander in the streets or they slave away in factories. This civilisation is such that one has only to be patient and it will be self-destroyed.

ऐसी सभ्यता को जो धर्मशून्य है, पश्चिमीयों ने हम पर थोपने के लिये हमारे वेदों से विद्रोह किया।

महर्षि दयानन्द ने विगत शती के अन्तिम चरण में मार्ग प्रशस्त किया, संसार को जगा कर उसे सुनाया कि वेद सब कालों और सब देशों में उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। आज विद्वानों को कहना पड़ रहा है कि इस उक्ति में अतिरंजना नहीं है।

यदि संस्कृत का सीमित ज्ञान रख कर भी बापू जी ने एक वेद मंत्र के मर्म को समझा, तो कारण यही है कि भारत के वायुमण्डल में अभूतपूर्व परिवर्तन आ गया था, जन-जन उत्साहयुक्त हो गया था और वेदों का अवलोकन करने की हरएक में लालसा होने लगी थी, यदि यूरोप सच्चे दिल से महात्मा जी की प्रशंसा करता तो उसे यह अवगत हो ही जाता कि उनके पास वह अद्भुत बल था, जो वेद-ज्ञान से उपलब्ध हुआ था। वेद-ज्ञान से मुख मोड़ना संसार की अशान्ति का बढ़ाना है।

आर्यों के प्रकृति-प्रेम की खिल्ली उड़ाकर आज भटकता हुआ यूरोप स्वीकार करने लगा है कि प्राकृतिक जगत् में

बनी-बनाई व्यवस्था को बिगाड़ कर मनुष्य अपना ही नाश न्योतता है। कई पश्चिमीय विद्वान् कहने लगे हैं कि मानव प्रकृति के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ है। इसी वर्ष फ्रांस में एक प्रदर्शिनी हुई। उसे देखकर बहुतों को खयाल आया कि देश में जो तरह-तरह के पशुओं का प्रवेश हुआ, उससे उन देशों की अब हानि हो रही है। सन् १८५६ में २४ शशक (खरगोश) आस्ट्रेलिया भेजे गये थे, आज लाखों शशक वहाँ के खेतों को नष्ट कर रहे हैं, जमैका में नेवला पहुँचाया गया ताकि वह वहाँ के चूहों को नष्ट करे, नेवले चूहे को नष्ट करते तो रहे, साथ-साथ वे उपयोगी पशु-पक्षी को भी खतम करने लगे। अफ्रिका में चीता नष्ट किया गया, जिसके फलस्वरूप बन्दरों और वन्य शूकर की संख्या तेजी से बढ़ी, जिससे वहाँ भी खेतों का नाश हो रहा है। कुछ देशों में उस जलजन्तु को समाप्त कर दिया गया, जो बीमार मछलियों को खाता था, अब मछलियों का उन देशों में नाश होता है जब कभी कोई महामारी आती है।

एक अन्तर्राष्ट्रिय यूनियन बनी, जिस के द्वारा प्रकृति की रक्षा की जायेगी

इन घटनाओं के आलोक में पाश्चात्यों को अपना वेद-सम्बन्धी विचार बदलना ही चाहिये। वेद-काल के आर्य मूर्ख न थे कि सूर्य, चन्द्रादि की पूजा करते। वे प्रकृति में पायी जानेवाली व्यवस्था से प्रसन्न थे, इसलिए उससे सहानुभूति प्रकट करते थे। जो लोग प्रकृति की रक्षा करते हैं, वे मानो प्राचीन आर्यों का पदानुसरण करने लगे हैं।

प्रकृति का अनुपम सौंदर्य, उसमें पाये जाने वाले नियम परमेश्वर की उसी अर्थ में देन हैं, जिस अर्थ में वेद ज्ञान उनकी देन है। एक देन का मूल्य कितना अब पाश्चात्य जानने लग गये हैं, दूसरी देन का महत्त्व उनसे अब बहुत छिपा न रहेगा। वह जमाना अब दूर न रहा, जब कि वेदों का नाम न लेकर भी उसके ज्ञान से पाश्चात्य काम लेकर अपना ही कल्याण करेंगे, वेद किसी जाति विशेष या खास देश के लिये नहीं है, जिस प्रकार प्रकृति किसी भूखंड विशेष की नहीं है।

पिशाच राक्षस कृमि ही हैं, योनि विशेष नहीं

[लेखक—वैद्यभूषण श्री पं० रामगोपाल जी शास्त्री, करोलबाग दिल्ली]

वेद में क्रिमि-प्रकरण के निरन्तर अध्ययन से मैं इसी निश्चय पर पहुँचा हूं कि राक्षस, असुर, पिशाच, यातुधानादि क्रिमि ही हैं, कोई योनि विशेष नहीं। राक्षसों के जो स्वरूप ग्रन्थों में आते हैं, वेद में सब क्रिमियों के ये ही स्वरूप हैं। असुर गंधर्वादियों का जो काम साधारण ग्रन्थों में आता है, वह सब क्रिमियों का वेद में लिखा है। हां, जैसे आजकल पुरुषों को उल्लू, गधा, कुत्ता, बन्दर सूअर आदि कहते हैं, इसी प्रकार दुष्ट पुरुषों को भी इन्हीं क्रिमियों के कारण वेद में कहीं २ राक्षस, पिशाचादि कहा गया है, वहाँ कोई योनि विशेष नहीं। इसी का वर्णन इस लेख में है।

वेद में क्रिमियों का वर्णन बहुत विस्तार से आता है। ये भूमि अन्तरिक्ष और द्यौ में फैले हुए हैं। कई क्रिमि दृष्ट, जो इन नेत्रों से दिखाई देते हैं, और कई अदृष्ट जो इन नेत्रों से दिखाई नहीं देते, ऐसे दो प्रकार के क्रिमि वेद में आते हैं।

क्रिमि पद का निर्वचन यास्काचार्य ने निरुक्त में इस प्रकार किया है, 'क्रव्ये मेद्यति, क्रमतेर्वा स्यात् सरण-कर्मणः, क्रामतेर्वा' ६। १२।

अदृश्य कीटाणु, जिन्हें आज कल Germs कहते हैं, क्रिमि तथा कीट पतंगादि को Worms Insects, इन सब प्रकार के कीटों के लिये वेद साधारण रूप से क्रिमि

पद का ही प्रयोग करता है। पाठकों को चाहिये कि स्वरूप और कर्म-भेद से उन का निर्णय उस प्रकरण में स्वयं कर लिया करें।

इस प्रकरण में अन्त में वेदान्तर्गत क्रिमियों का लगभग समग्र संग्रह कर दिया गया है।

कीटाणु (जर्म्स)—अपक्व, अर्धपक्व सुपक्व तथा विपक्व भोजन में प्रवेश कर शरीर को हानि पहुँचाने वाले क्रिमि अथर्व० ५। २९। ६। में आते हैं।

जल, दूध, मटे आदि में प्रवेश करने वाले अ० ५। २९। ७॥

भोजन के साथ पुरुष शरीर के भीतर जाने वाले और पीने के बर्तनों में लगे रह कर हानि पहुंचाने वाले क्रिमि। यजुर्वेद १६। ६२।

गौ का दूध सुखाने वाले क्रिमि अथर्व ८। ३। १५॥

गर्भाशय में पहुँच कर योनि को चाटने वाले, गर्भस्थ बच्चे को मारने वाले, गर्भस्राव तथा गर्भ-पात करने वाले, स्त्रियों को वंध्या और मृतवत्सा बनाने वाले कीटाणु, क्रिमि का वर्णन ऋग्वेद १०। १६२। २,४ तथा अथर्ववेद ८। ६। ९ में आता है॥

पुरुषमांस को सुखाने वाले, रुधिर को भीतर ही भीतर चूसने वाले, मनुष्य की वृद्धि Growth का निरोध करने वाले कीटाणु अथर्ववेद २। २५। ३।

नेत्र, नासिका तथा दांतों में पहुँच कर हानि पहुँचाने वाले अथर्व ५। २३। ३। मस्तिष्क को विकृत करने वाले कीटाणु जो रोग उत्पन्न करते हैं। ऋ० १०। १६२। ६। पक्षी की नाईं एक से दूसरे में उड़कर राजयक्ष्मा (टी० बी०) फैलाने वाले कीटाणु अ० २। ३१। ४।

क्रिमि तथा कीट पतंगादि—

आन्तों, सिर, जल, बन, पशु शरीर में उत्पन्न होने वाले अनेक क्रिमियों के स्वरूप और कर्म का वर्णन बहुत विस्तार से आता है। नीचे उन के नाम वा गुण-बोधक विशेषण दिये जाते हैं, जिन से उन का ज्ञान हो जाता है।

क्रिमियों के विशेष नाम देने से पहिले उन के लिये वेद में राक्षस, पिशाच, असुर, यातुधान, किमिदी गन्धर्व, अप्सरा आदि पदों का साधारण रूप से क्रिमियों के साथ प्रयोग किया है, अतः उन के पदार्थों का पहिले वर्णन किया जाता है।

राक्षस—रक्षो रक्षितव्यमस्माद्, रहसि क्षणोति इति वा, रात्रौ नक्षत इति वा, निरुक्त ४। १८। इस से बचना चाहिये, यह एकान्त में मारता है, रात्रि को चलता है।

पिशाच—पिशितमश्नाति, कच्चे मांस को खाता है।

यातुधान—यातु, गन्ता, धीयते, अभिधीयते इति, यह चलने वाला कहा जाता है, इस से यातुधान है। अथवा यातना दुःखं संदधाति ते यातुधानाः जो पीड़ा पहुँचाने वाले हैं वे यातुधान हैं।

असुरः—असु प्राणान् राति आददाति इति। प्राणों को हराता है, इसलिये असुर है।

किमीदी—किमिदानीमिति चरते निरुक्त ६। ११। छिद्रान्वेषण बुद्धि से विचरने वाला क्रिमि।

गांधर्वः—गां भूमिं धारयतीति—भूमि में निवास करने वाला क्रिमि।

अप्सरा—अप्सरागणो भवति निरुक्त ५। १३, जल की ओर गति वाला-जलों में रहने वाला क्रिमि।

अत्रिणः अथर्व ६। ३२। ३ भक्षण करने वाला
अरातिः अ० ५। २३। २ शत्रु
अराय्यः अ० १। २८। ४ दुर्भग
अन्त्र्यः अ० २। ३१। ४ आन्तों में रहने वाला कीटाणु तथा क्रिमि
अनुपलालः अ० ८। ६। २ अतितुच्छांग
अनंगुरिः अ० ८। ६। ६२ अंगुलियों से रहित
अयोजालाः अ० १९। ६६। १ लोहे के सदृश जाल वाले
अयाशवः अ० ८। ६। १५ शीघ्रगामी
अर्जुनः अ० २। ३२। २ श्वेत वर्ण वाला
अलाण्डवः अ० २। ३१। २ रक्त तथा मांस-दूषक।
अवस्कवः अ० २। ३१। ४ नीचे की ओर गति वाला
अनिशोचः अ० ४। ३७। १० चारों ओर शोक प्राप्त कराने वाला
असृक् पावा अ० २। २५। १०० रुधिर-पायी कीटाणु तथा क्रिमि
अलिंशः अ० ८। ६। ३ चिपटने वाला
अवकादः अ० ४। ३७। १० सिवार का भक्षण करने वाला
आमकेशः अ० ८। ६। १४ पाकशालाओं में रहने वाला।
आश्रेषः अ० ८। ६। २ चिपकने वाला
उदुम्बलः अ० ८। ६। १७ मारक
उद्धर्षी अ० ८। ६। १७ घर्षण-शील

उरुण्डाः अ० ८ । ६ । १५ बड़े मुख वाला
ऋक्षग्रीवी अ० ८ । ६ । २ ऋक्ष की नाईं ग्रीवा वाला
एजत्काः अ० ५ । २३ । ७ कम्पाने वाला
कण्वः अ० २ । २५ । ३ चतुर
ककुभाः अ० ८ । ६ । १० भयंकराकृति
करुमाः अ० ८ । ६ । १० कुत्सित शब्द करने वाला
कष्कषाः अ० ५ । २३ । ७ ध्वनि वाला
कुकुन्धाः अ० ८ । ६ । ११ कुक्क ध्वनि वाला
कुकुरभाः अ० ८ । ६ । ११ अल्प ज्योति वाला
कुक्षिलाः अ० ८ । ६ । १० मोटी कुक्षि वाला
कुम्भमुष्काः अ० ८ । ६ । १५ कुम्भवत् अण्डकोशों वाले
कुसूलाः अ० ८ । ६ । १० मड़ोले की नाईं मोटे (मड़ोला-जिसमें अन्न भरा जाता है)।
कृष्णाः अ० ८ । ६ । ५ कृष्ण वर्ण वाला
केशवः अ० ८ । ९ । २३ बालों वाला
केश्यसुरः अ० ८ । ९ । बालों वाला
कोकः अ० ५ । २३ । ४ संहारक
क्रव्याद् अ० ५ । २९ । ८ पुरुषों का व अन्यजीवों का कच्चा मांस खाने वाला
क्रिमि अ० २ । ३ । ५ क्रिमि
क्षुल्लकाः अ० २ । ३ । ५ बीजावस्था में क्रिमि
खलजाः अ० ८ । ६ । १५ खल में उत्पन्न होने वाले
गृध्रः अ० ८ । २३ । ४ गृध्रवत् दृष्टि वाले ।
चतुरक्षः अ० ८ । ६ । १५ चार नेत्रों वाले
छायकः अ० ८ । ६ । २१ कृष्ण वर्ण
तिरीटी अ० ८ । ६ । ७ स्त्री-शिरो-भूषण की तरह जिनका शिर ऊपर उठा है
तुण्डिकः ८ । ६ । ५ विकृत तुण्ड वाला
तुंगल्वः अ० ८ । ६ । २१ बड़े गले वाला
तुण्डेलः अ० ८ । ९ । १७ प्रकृष्ट तुण्ड वाला
त्रिककुदः अ० ५ । २३ । ९ तीन केकुद वाला
त्रिशीर्षा अ० ५ । २३ । ९ तीन सिर वाला
दुर्गन्धी अ० ८ । ९ । १२ उष्ट्र गंध वाला
दुणूमि अ० १० । १६२ । २ पापनामा क्रिमि, जो पाप प्रदेश में उत्पन्न होता है ।
द्व्यावे अ० १ । २८ । १
द्व्यास्यः अ० ८ । २२ । २२ दो मुख वाला
नग्नकः अ० ८ । ९ । २१ नग्न
नदनिमा अ० ५ । २३ । ८ नादकारी

पलजिकः अ० ८ । ९ बालों को अकाल में श्वेत करने वाला
पशूड्ग ८ । ६ । १६ सरीसृप
पवीनसः ८ । ६ । २१ वज्र की नासिका वाला
पलालः ८ । ६ । २ अतितुच्छा
पञ्चपादः ८ । ६ । २२ पाँच पादों वाला
प्रमीली ८ । ६ । २ नेत्रों को मिचाने वाला
प्रहासी ८ । ६ । १४ दंश से हसाने वाला
पर्याःतक्षः ८ । ६ । १६ विस्तृत नेत्रों वाला
पार्ष्टेयः २ । ३१ । ४ पसलियों में रहने वाला
बभ्रु ५ । २३ । ४ बभ्रु वर्ण
बभ्रुकर्णः ८ । २३ । बभ्रुरंग के कान वाला
बस्तवासिनः ८ । ९ । २ बकरों में रहने वाला
मककाः ८ । ६ । १२ गति वाले
मट्मटाः ८ । ६ । १५ मट् मट् शब्द वाले
मलिम्लुचः ८ । ६ । २ अत्यन्त मलीन
मरामृशाः ८ । ९ । १७ पुनः २ हिंसा के लिये स्पर्श करने वाला
मनोहनः ५ । २९ । १० मानसिक रोगोत्पादक
मायिनः १९ । ९९ । १ मायावी
मुनिकेशाः ८ । ९ । १७ जटा वाला
यातुमान् १ । ७ । ४ पीड़ा व गति वाला
येवाषासः ५ । २३ । ७ शीघ्र गतिवाला
रोहितः ५ । २३ । रक्त वर्ण वाला
लोहितास्यः ८ । ९ । । १२ लाल मुख वाला
वत्सपः ८ । ९ । १ गर्भस्थ बच्चे को चूसने वाला
वश्रिवासः ८ । ६ । २ रूपहीनता करने वाला
विरूपः ५ । २३ । ४ विकृत रूप वाला
विश्वरूपः ५ । २३ । ५ अनेक रूपों वाला
विषूचीनः ८ । ९ । सूचीवत् काटने वाला
व्यध्वरः २ । ३१ । ४ विरुद्ध मार्गगामी
शकधूमजः ८ । ६ । १५ गोबर आदि के धूम से उत्पन्न
शर्कुः ८ । ६ । २ हिंसक व शब्दकारी
शालुडः ८ । ६ । १७ दुष्ट
शिखण्डी ४ । ३७ । ७ शिखा वाला
शितिकक्षा ४ । २३ । ५ तीक्ष्ण काँख वाला
शितवाहवः ५ । २३ । ५ तीक्ष्ण भुजा वाला
शिपवित्नुकः ५ । २३ । ७ तीक्ष्ण
शीर्षण्यः २ । ३१ । ४ सिर में रहने वाला

श्रोणिप्रतोदी ८ । ९ । १३ श्रोणि-प्रदेश को हानि पहुँचाने वाला

श्वकिष्किषिणः ८ । ९ । ६ कुत्ते को नाईं हिंसक

सारंगः २ । ३२ । २ । चित्र विचित्र वर्ण वाला

सुनामा ८ । ९ । ४ । वह क्रिमि, जो हानि नहीं पहुँचाता, उणीमा का प्रतिद्वन्द्वी

स्तम्बजः ८ । ९ । ५ स्तम्भ गुच्छे में उत्पन्न होने वाला

क्षिमाः ८ । ९ । १० सूक्ष्म ।

हविरदः ४ । ३७ । ८ हवि खाने वाला ।

क्रिमियों की चिकित्सा

(१) वेद में सूर्य्य को क्रिमि-नाशक लिखा है—

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः। ये अन्तः क्रिमयो गवि । अथर्व २ । ३२ । १

अर्थ—उदय और अस्त होता हुआ सूर्य रश्मियों से क्रिमियों का नाश करता है, जो अन्तरिक्ष में उड़ रहे हैं ।

(२) अग्नि क्रिमिघ्न है :—

अग्नि रक्षोहामीव चातनः अ० १ । २८ । १

अग्नि राक्षस, क्रिमियों और रोग का नाशक है ।

(३) विद्युत् (इन्द्र) क्रिमिहन्ता है :—

इन्द्रो यातूनामभवत् पराशरः ।

ऋग्वेद ७ । १०४ । २१

इन्द्र (वैद्युताग्नि) यातु-क्रिमियों का परम नाशक है ।

(४) मेघ क्रिमि-नाशक है :—

विवृक्षान् हन्त्युत हन्ति रक्षसः

ऋग्वेद ५ । ८३ ।२

मेघ वृक्षों और क्रिमियों का हन्ता है

(५) मरुत क्रिमिनाशक हैं:—

रक्षसः सं पिनष्टन । अ० ८ । ४ । १८

मरुतो ! राक्षस क्रिमियों को पीस डालो ।

(६) जल क्रिमि-हन्ता है:—

आपो वै रक्षोघ्नी

तैत्तिरीय संहिता ३ । २ । ३ । ११

जल राक्षस क्रिमियों का नाशक है ।

(७) सीसा (सिक्का Lead) क्रिमिघ्न है:—

सीस इन्द्रः प्रायच्छत् सदङ्ग यातु चातनम् ।

अ० १ । १५ । २

सीसे को इन्द्र ने दिया है, वह निश्चय से यातु-क्रिमि-नाशक है ।

(८) सरसों—सफेद तथा साधारण दोनों क्रिमिघ्न हैं:—

बजः पिङ्गो अनीनशत् । अ० ८ । ६ । ६

पिङ्ग वर्ण बज सर्षप (क्रिमियों को) नष्ट करता है ।

(९) अपामार्ग (पुठकण्डा) रक्षोहा

अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदपमृज्महे । अ० ४ । १८ ।८

अपामार्ग ! तेरे से हम सब क्रिमियों को मारते हैं ।

(१०) पृश्निपर्णी (पिठवन) क्रिमिघ्न है:—

पृश्निपर्ण्यजायत । तयाहं दुर्णाम्नां शिरो वृश्चामि

अ० २ । २५ । २

पृश्निपर्णी औषधि उत्पन्न हुई । उससे दुर्णाम क्रिमियों का शिर काटता हूँ ।

(११) गूगल, पीला, नलदी, औक्षगंध, प्रमन्दनी

गुग्गुलुः पीला नलद्यौक्षगन्धि प्रमन्दनी ।

अ० ४ । ३७ । ३

इस विषय में अधिक विवेचन पुनः किसी समय "वेदवाणी" द्वारा किया जायगा ॥

वैदिक यज्ञ और पाश्चात्य कल्पनायें

(लेखक—श्री आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री, पोरबन्दर)

वेदमंत्रों के अर्थ प्राचीन काल से आज तक तीन प्रक्रियाओं में लगाये जाते हैं। वे प्रक्रियायें—आधियज्ञिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक हैं। ऋ० ८।२।२३ में आये हुये—"वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्" मन्त्र में पुष्प और फल शब्द पड़े हुये हैं। इस पुष्प और फल का अर्थ ही अधियज्ञ, अधिदेव और अध्यात्म है। यही वस्तुतः तीनों प्रक्रियायों का उद्घायक है। इस वाक्य का अर्थ करते हुये महाभारतकालिक यास्क अपने निरुक्त १।२० पर लिखता है—"अर्थं वाचः पुष्पफलमाह"—याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा—अर्थात् यज्ञ, देवता और अध्यात्म अर्थ ही वेदवाणी के पुष्प और फल हैं। ये ही वस्तुतः वेदवाणी के अर्थ हैं। यास्क के इसी स्थल पर भाष्य करते हुए प्राचीन निरुक्त-भाष्यकार स्कन्द स्वामी भी लिखते हैं—"सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमंत्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय "अर्थं वाचः पुष्पफलमाह" इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्" —अर्थात् तीन प्रक्रियाओं की दृष्टियों से सारे मंत्रों का अर्थ किया जाना चाहिए, क्योंकि स्वयं ही भाष्यकार (यास्क) ने सभी मंत्रों के तीन प्रकार के अर्थ को दिखाने के लिए अर्थ को वाणी का पुष्प और फल कहा है। तथा याज्ञ, दैव, और अध्यात्म का पुष्प तथा फल से ग्रहण किया है॥ इस प्रकार, तीनों प्रक्रियाओं में वेदों के अर्थ होते रहे। परन्तु मध्य के काल में कुछ पाण्डित्याभिमानी वेदानभिज्ञों से इन प्रक्रियाओं का निर्वाह नहीं हुआ। इस दोष का सारा श्रेय सायण और महीधर को है। इन्होंने वेदों के अर्थ बहुत ही अनर्गल किये और यज्ञ की प्रक्रिया में ही बहुधा मंत्रों का अर्थ किया। महीधर तो वाममार्गी था, अतः उसने वेदमंत्रों के अर्थों को बहुत ही खराब तरीके पर लोगों के समक्ष उपस्थित किया। अस्तु, जो कुछ भी हो सायण, उवट और महीधर आदि ने वेदों की प्रतिष्ठा को घटाया ही बढ़ाया नहीं।

यज्ञ-प्रक्रिया

वेद की इस यज्ञ-प्रक्रिया का पल्लवन करते हुये ब्राह्मणग्रन्थ, श्रौतसूत्र, तथा गृह्यसूत्र आदिकों में अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया गया है। ये यज्ञ वैदिक हैं और सदा वैदिक ढंग पर ही किये जाते रहे। मध्यकाल में श्रौतसूत्रों में भी कुछ मिलावट का प्रयत्न किया गया और इससे यज्ञ के स्वरूप में कुछ विकार भी आया। वाममार्ग के प्रचलन के समय में तो इस विकार का रूप बड़ा ही भयंकर हो गया था। परन्तु यहाँ यह निश्चित समझ लेना चाहिए कि यह विकार वैदिक यज्ञों के न तो स्वरूप का है और न किसी हालत में वैदिक हो ही सकता है। यह तो हर हालत में अवैदिक ही रहा और रहेगा भी। वेदों में ऐसे विकृत यज्ञों का वर्णन नहीं है। यज्ञ का एक छोटा सा इतिहास भी उपलब्ध होता है, जो वस्तुतः सम्पूर्ण यज्ञ-प्रक्रिया के प्रारम्भ पर तो नहीं; फिर भी आंशिक प्रारम्भ पर प्रकाश डालता है। यह इतिहास भी इतना पुराना है कि अन्य धर्मों के जन्म का बीज भी उस समय तक नहीं बन पाया होगा। मुण्डक उपनिषद् १।२।१ में लिखा है—मंत्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि। अर्थात् वेदमंत्रों में अध्यात्म दृष्टि से जिन कर्मों को क्रान्तदर्शी ऋषियों ने देखा, उनका त्रेता में बहुधा विस्तार किया गया। त्रेता के दो महान् यज्ञों का वर्णन हमें मिलता है। महाराज दशरथ ने पुत्रेष्टि यज्ञ कराया था और दूसरा यज्ञ वर्षा के निमित्त विदेहराज जनक ने कराया था। जनक

का यज्ञ उस समय हुआ था, जब राज्य में दुष्काल पड़ा था। इतने लम्बे काल ही से नहीं, अपितु उससे पहले से भी यह यज्ञ का करना कराना वैदिक-प्रक्रिया के आधार से बराबर चलता आ रहा है। श्रौतसूत्रों और ब्राह्मणग्रंथों में बहुत बड़े-बड़े यज्ञों का वर्णन है। कल्पविद्या का विस्तार ही यह बतलाता है कि यज्ञ की प्रक्रिया बहुत विस्तार पा चुकी थी। मंत्र ब्राह्मण और कल्प के वर्णन से यज्ञ की महत्ता का भान शास्त्रकार लोग स्वयं करा देते हैं। कल्प, जो यज्ञ को बतलाने वाला विज्ञान है, को छः अङ्गों में एक अङ्ग माना गया है।

यज्ञ शब्द का अर्थ और पाश्चात्य विद्वान्

वेदों और ब्राह्मणों में आये हुये यज्ञ शब्द का अर्थ पाश्चात्य विद्वान् अंग्रेजी में Sacrifice करते हैं। लगभग सभी पाश्चात्य विद्वानों ने यज्ञ का यही अनुवाद किया है। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

ऋग्वेद १।१६४ में "यज्ञं देवेभ्यः" पद का अर्थ मैक्समुलर ने—The sacrificial horse, which gose to the gods—किया है। पुनः वहीं पर पांचवें मंत्र में "यज्ञेन" पद आया है। उसका अर्थ भी मैक्समुलर ने Sacrifice ही किया है। मंत्र छठे में आये 'यूप' का अर्थ वह "Sacrificial post" करता है। १७ वें मंत्र में आये "अध्वरेषु" पद का अर्थ भी वह At the sacrifice ही करता है। (ये प्रमाण मैक्समुलर कृत History of ancient Sanskrit Literature p. 553 से आगे के कई पृष्ठों से लिये गये हैं) ऋ० १।१।४ के "यंज्ञमध्वरम्" वाक्य पर हर्मन ओल्डनवर्ग S. B. E. vol XLVI, Hymns to Agni पृ० १ पर sacrifice and worship अर्थ करता है। ग्रिफिथ इसी पर अपने वेदानुवाद में लिखता है—"Agni, the perfect sacrifice"। मैकडानल ने अपनी वैदिक रीडर पृ० ६ पर इसी का अर्थ Worship and sacrifice किया है। ऋ० १।१२।७ मंत्र के "सत्यधर्माणमध्वरे" पर ओल्डेन वर्ग लिखता है—whose ordinances for the sacrifice are true। अग्निर्यज्ञस्याध्वरस्य चेतति। ऋ० १।१२८।४ का अर्थ वह पुनः Agni watches sacrifice and service. ओल्डनवर्ग ने ऋ० १।४४।२ में "यज्ञानाम्" का अर्थ of sacrifices ही किया है। मैकडानल ने ऋग्वेद १।१।१, २।३५।१२, ८।२८।१ में आये हुये "यज्ञ" पद का अर्थ Sacrifice ही किया है। यह वचन प्रमाण के रूप में मैकडानल के ऋ० १।१।१ मंत्र की टिप्पणी में वैदिक रीडर में देखे जा सकते हैं। "आयुर्यज्ञेन कल्पताम्" यजु० २२।३३ मंत्र में यज्ञ शब्द कई बार आया हुआ है। उसका अर्थ करते हुए विण्टरनिट्ज़ ने जिस्चेस्टे डर इण्डियन लिट्रेचर भाग प्रथम पृ० १५५ पर Sacrifice ही लिखा है। म. ब्लूमफील्ड को भी यही स्वीकार है। वह भी अपनी पुस्तक—The Religion of the Veda के पृ० ३५ पर इसी का उद्धरण देता है। फ्रान्सिस ग्राण्ट ने अपनी पुस्तक "Oriental philosophy" 1936 के पृ० ११ पर ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त का उद्धरण दिया है। उसने भी प्रथम और चतुर्थ मंत्र का अर्थ करते हुये उनमें आये "यज्ञ" पद का अर्थ Sacrifice ही किया है। पुनः वह अपनी इसी पुस्तक में पृ० २१७ पर यजुर्वेद २३।६१-६२ मंत्र के यज्ञ शब्द का अर्थ भी Sacrifice ही करता है। ऋग्वेद १।९२।५ में आये "विदथेषु" और ऋ० ४।५१।२ में अध्वरेषु, तथा ऋ० ३।८।१ में अध्वरे पदों का अनुवाद ब्लूमफील्ड Sacrifice करता है। इस प्रकार यहाँ पर यह ज्ञात हो गया कि लगभग सभी नामी पाश्चात्य विद्वान् यज्ञ और उसके पर्याय-वाची शब्दों का अर्थ Sacrifice ही करते हैं।

समालोचना

वस्तुतः यदि विचार से देखा जावे, तो यज्ञ का Sacrifice अर्थ ठीक नहीं। इसके सम्बन्ध में यही कहना पड़ेगा कि या तो अंग्रेजी भाषा में "यज्ञ" पद के पर्यायवाची शब्द देने की क्षमता ही नहीं है, या यह शब्द ईसाइयत की छाप से रिक्त नहीं है। वैदिक साहित्य का "यज्ञ" शब्द इस अनुवाद की भावना से परे है। यज्ञ के लिए मुख्यतः—यज्ञ, अध्वर और मख शब्दों का प्रयोग किया जाता है। तीनों में किसी का भाव Sacrifice में नहीं मिलता है। यज धातु का अर्थ देवपूजा, संगतिकरण और दान है। यज्ञ में, यज् धातु से बना होने से, इन तीनों बातों का समावेश है। अध्वर यज्ञ को इसलिए कहा जाता है कि उसमें हिंसाकर्म का अभाव होता है। इसी प्रकार मख उसका नाम इसीलिए है कि उसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है। वेदों में ये पद शतशः बार आये हैं। जिनका अर्थ भिन्न-भिन्न है। ब्राह्मण ग्रन्थों में मख और अध्वर शब्दों का प्रयोग पाया जाता है और यज्ञ के अर्थ के साथ-साथ विशेषार्थ भी इनके देखे जाते हैं। यज्ञ शब्द की व्युत्पत्ति, प्रकार अर्थान्तर को दिखाने

की दृष्टि से ब्राह्मणों में दो सौ तीन बार के लगभग प्रयोग हुआ है। इन में यज्ञ के विविध अर्थ पाये जाते हैं। Sacrifice शब्द में इन अर्थों की गन्ध भी नहीं पायी जाती। यास्क यज्ञ का अर्थ करते हुए निरुक्त ३।४।१९ पर लिखता है—यज्ञः कस्मात्? प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ता, याच्ञो भवति इति वा, यजुरुन्नो भवतीति वा, बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवो, यजूंष्येनं नयन्तीति वा—अर्थात् यज्ञ वह है, जिसमें यज् धात्वर्थक यज्ञकर्म, जो अति प्रसिद्ध हैं, पाये जावें—(अर्थात् संगतिकरण, देवपूजा और दान)। अथवा जिसमें याचना या उपासना की जाती हो, अथवा जो यजुः मंत्रों से संकेतित होता हो, अथवा जिसमें बहुत से कृष्णाजिन बिछे या धारण किये जाते हों, एवं यजुः जिसका उपक्रम करते हों। मख और अध्वर पदों की भी व्याख्या यास्क ने वैसी ही की है, जैसी मैंने ऊपर दी है। यज्ञ की परिभाषा करते हुए कात्यायन श्रौतसूत्र के परिभाषा प्रकरण में लिखा है कि द्रव्यं देवतात्यागः—अर्थात् जिसमें मंत्रपूर्वक मन्त्रसिद्धान्तानुसार दधि व्रीहि, यव आदि द्रव्य, मन्त्रों के देवताओं के अनुसार प्रयोग किये जावें, ऐसे कर्म का नाम यज्ञ है। जैमिनि ने भी मीमांसा ४।२।२८-२९ में—यजति चोदना द्रव्यदेवताक्रियं समुदायं कृतार्थत्वात्—सूत्र से कात्यायन के भाव को स्वीकार किया है। ये आर्यों में प्रचलित और वैदिक साहित्य में पायी जाने वाली कर्म-काण्ड-सम्बन्धी धारणा को लेकर "यज्ञ" पद के व्युत्पत्ति-सम्बन्धी और प्रवृत्ति-निमित्तक अर्थ दिखलाये गये। अंग्रेजी का Sacrifice पद इसके किसी भी अंश को पूरा करने में असमर्थ है। इससे अंग्रेजी के इस पद में वैदिक यज्ञ के अर्थ को बताने की असमर्थता है।

इस Sacrifice पद के प्रयोग में ईसाइयत का पुट

जैसा पहले दर्शाया गया है कि यज्ञ के लिए Sacrifice पद का प्रयोग करने में ईसाइयत का पुट है। यज्ञ के विकृति के इतिहास पर दृष्टि डालने, और बलिदान कैसे प्रारम्भ हुये, इन पर विचार करने से इस बात का परिचय भली प्रकार मिल जाता है। आर्य लोग वैदिक यज्ञ और अग्निहोत्र आदि का संपादन सदा से करते रहे हैं। वैदिक साहित्य में इस यज्ञ एवं अग्निहोत्र आदि का स्थान बहुत ऊँचा है। आर्य-जन प्रतिदिन प्रातः सायं अग्निहोत्र करते हैं। पारसियों ने जिस प्रकार बहुत से वैदिक सिद्धान्तों को अपने में लिया, उसी प्रकार इस कृत्य की शिक्षा भी उन्होंने अपने मत में वैदिक सिद्धान्तों से ली। इसे वे भी बहुत ही आवश्यक समझते थे। इस कृत्य का ठीक ठीक अर्थ पारसियों ने समझा हो, इसमें कुछ सन्देह है। इस यज्ञक्रिया का रूप पारसियों में भी उसी प्रकार बिगड़ गया, जिस प्रकार महात्मा बुद्ध के समय में इसका रूप भारत में बिगड़ गया था। पारसियों के "अग्निपूजक" कहे जाने का भी शायद यही कारण हो। पारसियों से यह यज्ञ-क्रिया यहूदियों ने सीखी और इनके हाथों में इसका रूप और भी दूषित हो गया। मांसभक्षी होने के कारण यहूदियों ने मांस की आहुतियाँ दीं; परन्तु यह बलिदान वे करते अग्नि में ही थे। बाइबिल में इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। यात्रा की किताब १५-२२ में ऐसा लिखा है कि ईश्वर मूसा से कहता है—मेरे लिये तू मृत्तिका की एक वेदी बनावेगा और उस पर जलती हुई शान्ति की आहुतियाँ देगा। अपनी भेड़ों और बैलों को चढ़ावेगा। सब स्थलों पर जहाँ पर मैं अपना नाम लिखूँ तेरे पास आऊँगा और तुझे आशीर्वाद दूंगा। पुनः पैदायश की किताब ८-२० में लिखा है कि "और नूह ने ईश्वर के लिए एक वेदी बनाई और उसने प्रत्येक पवित्र पशु-पक्षी को लेकर प्रज्वलित अग्नि में वेदी पर आहुतियाँ दीं।" मुसलमानों ने यह यज्ञ-कृत्य का विकृत रूप सीधा यहूदियों से ग्रहण किया और अग्नि का उपयोग न समझ सके; अतः उन्होंने अपने बलिदानों से अग्नि को दूर कर दिया। केवल पशुओं का वध रह गया। बाइबिल में चूंकि पूर्वोक्त दिये गये प्रमाणों में यज्ञ का विकृत रूप स्पष्ट पाया जाता है; अतः उसी आधार पर इस Sacrifice की कल्पना बलिदान के भाव को लेकर की गई होगी। यह है Sacrifice पद में निहित ईसाइयत का पुट।

पाश्चात्य विद्वानों की कुछ यज्ञ-सम्बन्धी विकृत धारणायें

पाश्चात्य विद्वान् सदा अश्वमेध, गोमेध और पुरुषमेध शब्दों के अर्थ उल्टे ही लेते रहे हैं। इनकी समझ में शायद यह नहीं आया कि "मेधा" शब्द का अर्थ ज्ञान या विचार है। अश्व शब्द का भी घोड़ा ही अर्थ नहीं, अग्नि अर्थ भी है। साथ ही गो शब्द के भूमि, आदि भी अर्थ हैं। इसी प्रकार पुरुष शब्द का परमात्मा भी अर्थ है। जिन में इन पदार्थों का ज्ञान हो, वह इन सम्बन्धी कर्म हैं। इन्होंने किस प्रकार उल्टे अर्थ लिए, इसका थोड़ा सा दिग्दर्शन यहाँ पर कराया जाता है।

मैक्समूलर अपनी पुस्तक History of Ancient Sanskrit Literature page 553 से ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १६२ वें सूक्त का अनुवाद उसी धारणा से करता है। प्रथम मंत्र निम्न प्रकार है—

मा नो मित्रो वरुणो अर्यमायुरिन्द्र
ऋभुक्षा मरुतः परिख्यन् ।
यद्वाजिनो देवजातस्य सप्तेः
प्रवक्ष्यामो विदथे वीर्याणि ॥

इसका अर्थ मैक्समूलर निम्न प्रकार करता है—

May Mitra, Varuna, Aryama, Ayu, Indra, the lord of the Ribhus and the Maruts, not rebuke us because we shall proclaim at the sacrifice the virtues of the horse sprung from the gods. इसके आगे के मंत्रों का अर्थ करते हुये मैक्समुलर ने अपने माने अश्वमेध का पूरा चित्रण किया है। इसी प्रकार ब्लूमफील्ड ने Religion of the Vedes में पृ० २१६ पर यजुर्वेद के २३ वें अध्याय के ९, १०, ४७, ४८ मंत्रों का ट्रान्सलेशन करते हुये भी इसी धारणा का परिचय दिया है। वह संगति लगाते हुये कहता है—At the horse sacrifice two priests ask and answer—यद्यपि मंत्रों में इस विषय का विचार नहीं, फिर भी इन वाक्यों से वह इस बात को झलका देता है। वह कहता है कि अश्वमेध में ऋत्विजों के ये प्रश्नोत्तर हैं। वह गोस्तु मात्रा न विद्यते का अर्थ करता है—The measure of cow is (quite) unknown. वस्तुतः यहाँ "गौ" का अर्थ वाणी है। परन्तु वह Cow ही अर्थ करता है। अयंयज्ञो भुवनस्य नाभिः का अर्थ वह—This sacrifice is the navel of the universe करता है। पुनः अयं सोमो अश्वस्य रेतः का अर्थ वह This Soma (The intoxicating sacrificial drink) is the seed of the lusty steed (God Indra)। इन अर्थों की यद्यपि यहां पर कोई समुचित संगति नहीं लगती, फिर भी उसने ऐसा अर्थ किया है। मोनियर विलियम्स "तस्माद्यज्ञात्" में mystical victim Purush अर्थ समझता है। पाश्चात्य विद्वानों के ही चरण चिन्हों पर चलने वाले The Vedic Age के कर्त्ता महोदय भी पृ० २७८ पर लिखते हैं—Animal sacrifices are indicated by the Apri-Sukta, and the horse-sacrifice was undoubtedly performed. The Purush-sukta does not describe an actual human sacrifice but, merely preserves, in all probability, the memory of it, as it was performed in prehistoric times, because the sunahshepa hymns of the Rigved (1-24-30 and IX-3) are not exactly related to the Sunahshep of the Aitreya Brahman which is probably reminiscent of human sacrifice in prehistoric times. यहां इनके मन में भी अश्वमेध और पुरुषमेध उसी रूप में सिद्ध हैं जैसा कि ये पाश्चात्यों के मन में सिद्ध हैं।

वास्तविक बात क्या है ?

ऊपर अश्वमेध आदि के सम्बन्ध में पाश्चात्यों की भ्रान्तियों का निदर्शन कराया गया। अब वास्तविक बात क्या है? अथवा उन लोगों के विचारों की सारासारता क्या है? इसका कुछ निर्देश किया जाता है। पाश्चात्यों की यह भ्रान्तियां महीधर आदि भाष्यकारों के भाष्यों पर आधारित हैं। यह मैं पहले ही लिख चुका हूं कि महीधर वाममार्गी है। इसके भाष्य की कोई प्रामाणिकता नहीं। पाश्चात्य विद्वान् इतनी संस्कृत भी नहीं जानते कि वे मूल वेद और उसके साहित्य का अध्ययन कर सकें। अतः वे इन भाष्यकारों पर निर्भर करते हैं। साथ ही थोड़ा-बहुत ईसाइयत का मोह भी है, जो अन्दर विराजमान है। इसके अतिरिक्त वे, मुख्य बात, जो वेदों के अर्थ करने में त्रिविध-प्रक्रिया और वेदों के शब्दों की यौगिकता की है, को भूल जाते हैं। वेदों के सभी शब्द यौगिक हैं—यदि ऐसा समझ कर अर्थ किया जावे, तो गड़बड़ी की सम्भावना नष्ट हो जाती है। ये पाश्चात्य विद्वान् इस बात को जानते नहीं, या मानते ही नहीं। मैक्समुलर के पूर्व दिखलाये, मन्त्र के अर्थ को ही ले लिया जावे, तो पता चलेगा कि ये महाशय कितनी गलती पर हैं। जिस सूक्त का यह प्रथम मन्त्र है, उसका प्रतिपाद्य विषय अश्व है, अश्व-सम्बन्धी उनका माना हुआ अश्वमेध नहीं। इसके अतिरिक्त यह भी सोचना चाहिए कि अश्व का अर्थ केवल घोड़ा ही नहीं है। वैदिक साहित्य में अश्व

पद के अनेक अर्थ हैं। ऋग्वेद १।२७।१ और ३।२७।१४ को देखने से पता चलता है कि 'अश्व' का अर्थ अग्नि अथवा विद्युत् है। शतपथ ब्राह्मण ३।६।२।५, ६।३।३।२२; १।४।१।३० में अश्व अग्नि को कहा गया है। इस १।४।१।३० पर तो ऋग्वेद ३।२७। ४१ मंत्र का ही हवाला देकर अश्व को अग्नि कहा गया है। तथा ब्राह्मणों में अन्य अनेक स्थलों पर सूर्य और यजमान आदि अर्थ भी अश्व के दिखलाये गये हैं। फिर ऐसी स्थिति में यहाँ पर घोड़ा अर्थ ही लगाना संगत कैसे हो सकता है। आचार्य दयानन्द इस सूक्त का अर्थ करते हुए वेद और ब्राह्मणादि-सम्मत अर्थ दिखलाते हैं। वे सूक्तगत मन्त्रों का अर्थ करने के पूर्व अवतरणिका देते हैं—**अथाश्वस्य विद्युद्रूपेण व्याप्तस्याग्नेश्च विद्यामाह।** अर्थात् इस सूक्त में अश्व को शिक्षित करने की विद्या (Science training horses = Horse-breaking) का वर्णन किया गया है, अथवा विद्युद्रूप में सर्वत्र व्याप्त अग्नि एवं ताप की विद्या (Science of heat, which pervades everywhere in shape of electricity) का वर्णन है। इससे सारा रहस्य खुल गया। अब इसी विन्दु पर अर्थ भी सारे मंत्र का करना चाहिए। ऋषि दयानन्द के अनुसार अंग्रेजी में अर्थ यह होगा।

We will describe the power-generating Virtues of the energetic horses endowed with brilliant properties or the Virtues of the Vigorous force of heat, which learned or scientific men can evoke to work for purposes of appliances (not sacrifice). Let not philanthropists, noble men, judges, learned men, rulers, wise men and practical mechanics ever disregard these properties. (G. D. V.) । एक ओर इस अर्थ को रख दिया जावे और एक तरफ मैक्समुलर का, तो पता चलेगा कि मैक्समुलर को वेदमंत्र के रहस्य का पता तक भी नहीं था। वह सायण आदि के ही पीछे चलने वाला है।

"अश्वमेध शब्द का भी अर्थ वही नहीं, जो पाश्चात्य विद्वान् लेते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसके भी भिन्न-भिन्न अर्थ दिये हैं। शतपथ ६।४।२।१८; १३।५।१।५ में अश्वमेध का अर्थ सूर्य है। तथा ११।२।५।१ में चन्द्रमा को अश्वमेध कहा गया है। पुनः १३।२।२।१६ में **राष्ट्रमश्वमेधः** से राष्ट्र को अश्वमेध कहा गया है। १३।२।२।१ में यजमान और राजा को अश्वमेध कहा गया है। इसी प्रकार गो शब्द के भी अनेक अर्थ ब्राह्मणों में मिलते हैं। शतपथ ७।५।२।१९ में अन्न का नाम गौ है। ऐतरेय ४।१५ में अन्तरिक्ष का नाम 'गौ' है। शतपथ ५।४।३।१० में इंद्रियों को गौ कहा गया है। इसी प्रकार वाणी और पृथ्वी को भी गौ कहा जाता है। सूर्य का भी नाम गौ है। निरुक्त २।२।१ को यहाँ प्रमाण रूप में देखना चाहिए। गोमेध वह यज्ञ है, जिसमें गोवंश की वृद्धि और कृषि से अन्न आदि की उत्पत्ति का विचार एवं कर्म है। पुरुष शब्द का अर्थ वैदिक साहित्य में आत्मा और परमात्मा दोनों ही है। गोपथ ब्राह्मण कहता है कि प्रजापति = परमेश्वर ने पुरुषमेध करके विराट् नाम को धारण किया। वाक्य इस प्रकार है **सः (प्रजापतिः) पुरुषमेधेनेष्ट्वा विराडिति नामाधत्त** गोपथ पृ० ५१८, शतपथ १३।३।१।१ से भी इसी भाव की पुष्टि होती है। पुरुष-मेध का अर्थ इसलिए आत्मा, परमात्मा और ब्रह्माण्ड-सम्बन्धी विज्ञान है। इसीलिए यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय को जिसे नरमेध कहते हैं, वह विराट् का ही वर्णन करता है। वहाँ किसी पुरुष को मारकर यज्ञ करने की कोई बात भी नहीं है। आप्रीसूक्त (१०।११० सूक्त तथा अन्य) पशुओं की बलि का प्रतिपादन करते हैं—यह ग़लत है। यह इसलिये कि "आप्री" शब्द का अर्थ कहने वाले को ज्ञात नहीं है। यास्क ने ८।२।६ पर ऋग्वेद के १०।११० सूक्त का हवाला देते हुये जो लिखा है, वह वहाँ पर देखना चाहिए। ब्राह्मण ग्रन्थ भी 'आप्री' का अर्थ ऐसा नहीं करते हैं जैसा कि ये लोग कर लेते हैं। ऋ० १०।११० सूक्त में—इध्म, अग्नि, तनूनपात्, इळः, बर्हिः, देवीर्द्वारः, उषासानक्ता, दैव्याहोतारौ प्रचेतसौ, तिस्रो देव्यः, त्वष्टा, वनस्पतिः, स्वाहाकृतयः आदि देवता हैं। इनमें किसी से भी पशु-बलि का भाव नहीं निकलता। ऋग्वेद १।२४।३ से भी पुरुषमेध की सिद्धि नहीं होती। उस मंत्र का देवता सविता है। पुरुषमेध का भ्रम इसलिये हो रहा है कि वैदिक एज के लेखक के मस्तिष्क में शुनःशेप का इतिहास गूँज रहा है। ऋग्वेद के ९ वें मण्डल का देवता पवमान सोम है। वहाँ भी शुनःशेप सम्बन्धी कोई घटना नहीं दीखती। वस्तुतः ये सब बातें पाश्चात्यों की कल्पनामात्र हैं, जो वेदों के वास्तविक अर्थ की उनकी अनभिज्ञता के कारण उठी हैं। वैदिक साहित्य में

प्रत्येक उत्तम श्रेष्ठ कर्म का नाम यज्ञ है। शतपथ ब्राह्मण १।७।१।५ में लिखा है—यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। यही वस्तु वास्तव में यज्ञ का रहस्य है। यजुर्वेद का १८ वाँ अध्याय ही "यज्ञेन कल्पन्ताम्" से भरा है। यदि वहाँ यही Sacrifice अर्थ लिया जावे, तो एक मंत्र की भी संगति नहीं लगेगी। यह अध्याय ही प्रकट कर रहा है कि वेद में यज्ञ शब्द से सभी श्रेष्ठतम कर्म विज्ञानादि अभिप्रेत हैं। इसलिए यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि जितने मंत्रों में पाश्चात्य विद्वानों ने यज्ञ, अध्वर, मख विदथ आदि पदों के अर्थ Sacrifice किये हैं—वे सभी अर्थ अप्रामाणिक और अनर्गल हैं॥

पञ्चविंशः पुरुषः और पाश्चात्यों की असत्य धारणा

[ले०—आचार्य श्री पं० उदयवीर जी शास्त्री, विद्याभास्कर, बीकानेर]

अति प्राचीन काल में महर्षि कपिल ने, विश्व-पहेली को सुलझाने, और इसकी गम्भीर समस्याओं के विवेचन के लिये, सर्वप्रथम जिन दार्शनिक सिद्धान्तों की नींव डाली; उनका मूल आधार, वेदों के उन वर्णनों से लिया गया है, जिनमें सृष्टि-समस्याओं का उल्लेख है। सृष्टि-सम्बन्धी उन विवरणों को दार्शनिक रूप देने वाला सर्वप्रथम व्यक्ति कपिल है। कपिल के इन दार्शनिक विचारों ने धीरे-धीरे समाज और साहित्य पर अपना प्रभाव बढ़ाया। वेदों के अनन्तर जितना अन्य वैदिक तथा दूसरा साहित्य उपलब्ध होता है, उस सब में कपिल के इन सिद्धान्तों की छाप निश्चित रूप से दीख पड़ती है। यदि हम कापिल विचारों के सर्वतोमुखी प्रसार पर दृष्टि डालें, तो यह कहना अत्युक्ति न होगी, कि भारत के सम्पूर्ण प्राचीन तथा मध्यकालीन साहित्य में, सांख्य-विचार छाये हुए हैं।

आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने इन विचारों को मान्यता नहीं दी, उनका कथन है, कि वर्त्तमान सांख्य-सिद्धान्त व उनकी परिभाषाएँ दस बीस शताब्दी से पहले की नहीं हैं। पाश्चात्य विद्वानों की यह मान्यता कितनी शिथिल एवं निराधार है, इस बात को कतिपय वैदिक प्रमाणों के आधार पर परखिये।

काठक संहिता में 'पञ्चविंश' नाम से पुरुष का उल्लेख है। वहाँ का एक सन्दर्भ इस प्रकार है—

"ते पञ्चविंशं स्तोममुपयन्ति पुरुषस्तोमं, दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पद्या द्वौ बाहू द्वे सक्थ्या आत्मा पञ्चविंशः" [३३।८]।

उन्होंने (ऋत्विजों ने) पञ्चविंश स्तोम का अनुष्ठान किया, जो पुरुषस्तोम है। यहां पर 'पञ्चविंश स्तोम' को 'पुरुषस्तोम' कहने से यह स्पष्ट होता है, कि संहिताकार 'पञ्चविंश' पद को 'पुरुष' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ समझता है। वस्तुतः संहिताकार के इस कथन का सामञ्जस्य, सांख्य-सिद्धान्त के आधार पर किया जा सकता है। वहां प्रकृति और प्राकृत तत्त्वों की संख्या चौबीस बताकर, पुरुष को पचीसवां [पञ्चविंश] कहा गया है, जो न प्रकृति है, और न प्राकृत तत्त्व। स्पष्ट है, कि संहिताकार से पूर्व, सांख्यसिद्धान्त के अनुसार पुरुष का 'पञ्चविंश' कहा जाना व्यवस्थित हो चुका था। परन्तु उन प्राकृत विभागों का—जिनके आधार पर सांख्य-मतानुसार पुरुष का 'पञ्चविंश' कहा गया है—संहिता के प्रस्तुत प्रसंग में आपाततः कोई उपयोग न दीखने के कारण, संहिताकार ने पुरुष के 'पञ्चविंश' नाम को व्यवस्थित

रखते हुए, उसके अन्य आधार का उद्भावन किया है। संहिताकार ने लिखा है—

'दस हाथ की अंगुलियां, दस पैर की, दो भुजा और दो टांग ये चौबीस हैं, पच्चीसवां आत्मा है,' संहिता में शरीर के चौबीस अंग गिनाकर जो आत्मा को पच्चीसवां बताया गया है, इसमें यह विचारना आवश्यक है, कि शरीर के इन्हीं चौबीस अंगों के उल्लेख किये जाने का क्या विशेष आधार हो सकता है? शरीर का मुख्य अंग-सिर इसमें नहीं गिना गया। केवल शाखाओं की गणना की गई है। शरीर के मध्यभाग का उल्लेख भी यहां नहीं है। इससे एक बात ध्वनित होती है, कि पुरुष की व्यवस्थित 'पञ्चविंश' संज्ञा को प्रकृत में किसी तरह निभाने के लिये ही पूर्वोक्त रीति पर इन अंगों की गणना करदी गई है। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है, कि संहिता के प्रस्तुत प्रसंग में इन अंगों की गणना का क्या उपयोग है?

पुरुष के 'पञ्चविंश' कहे जाने का प्रकृत में सामंजस्य

इसको अधिक स्पष्ट समझने के लिये संहिता के प्रसंग का संक्षेप में उल्लेख कर देना आवश्यक है।

शास्त्र में अनेक यागादि कर्मों का विधान है। उनमें कुछ मुख्य कर्म होते हैं, दूसरे उनके अङ्ग होते हैं। मुख्य कर्म को प्रकृति और अङ्ग को विकृति कहा जाता है। वस्तुतः बड़े-बड़े यागों के अवान्तर कर्मों को उनका अङ्ग अथवा विकृति समझना चाहिये। इसी प्रकार एक 'महाव्रत' नामक कर्म का वैदिक ग्रन्थों में वर्णन है। यह 'विश्वजित्' 'चतुर्विंश' आदि प्रकृति यागों का शेषभूत अर्थात् विकृति है। प्रकृति में जिन शस्त्रों (स्तुतियों) का प्रयोग होता है, उनके अङ्गों में भी उस प्रकार की कुछ स्तुतियों का प्रयोग किया जाता है। 'विश्वजित्' प्रकृति में 'आज्यशस्त्र' और 'प्रउग शस्त्र' का प्रयोग होता है। उन दोनों शस्त्रों का अतिदेश, उसकी विकृति 'महाव्रत' नामक कर्म में भी किया जाता है। इन दोनों शस्त्रों का प्रयोग 'महाव्रत' के प्रातः सवन में होता है।

इसका अभिप्राय यह है, कि 'महाव्रत' के कर्म के प्रातः-सवन में प्रथम 'आज्य शस्त्र' तथा उसके अनन्तर 'प्रउग शस्त्र' का प्रयोग होना चाहिये। 'आज्यशस्त्र' का स्वरूप यह है, कि ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के प्रथम सूक्त के द्वारा अग्नि देवता के उद्देश्य से आज्य की पचीस आहुतियां दी जावें। इस सूक्त की ऋचाओं की संख्या पचीस ही है। इसका अधिकारी वही यजमान होता है, जो 'अन्नाद्य काम' हो। जिसकी मुख्य कामना अन्न के लिये हो। इसमें प्रजनन, प्राण-प्रतिष्ठा तथा अन्न-प्रतिष्ठा आदि कामना भी अन्तर्निहित हैं। ये सब प्रसंग, आरण्यक और ब्राह्मण ग्रन्थों में विस्तार-पूर्वक लिखे गये हैं। आज्यशस्त्र में उपयुक्त होने वाले सूक्त [ऋ० ७।१] की ऋचाओं की पच्चीस संख्या का, 'पञ्चविंश' पुरुष के साथ बड़ा सुन्दर सामञ्जस्य कल्पना किया गया है। इसी प्रसंग के ऐतरेय आरण्यक में उल्लेख आता है—

"ताः पराग्वचनेन पञ्चविंशतिर्भवन्ति, पञ्चविंशोऽयं पुरुषो दश हस्त्या अंगुलयो दश पाद्या द्वा ऊरू द्वौ बाहू आत्मैव पञ्चविंशः, तमिममात्मानं पञ्चविंशं संस्कुरुते अथो पञ्चविंशं वा एतदहः पञ्चविंश एतस्याह्नः स्तोमस्तत्समेन समं प्रतिपद्यते, तस्माद् द्वे एव पञ्चविंशतिर्भवन्ति।"

वे ऋचा [ऋ० ७।१।१-२५] आवृत्ति के बिना ही पच्चीस हैं, यह पुरुष 'पञ्चविंश' है। दस हाथ की अंगुलियाँ दस पैर की, दो टांग दो भुजा, आत्मा ही पच्चीसवां है। इसके द्वारा [=प्रकृत अनुष्ठान के द्वारा] उस पञ्चविंश आत्मा का संस्कार किया जाता है। यह 'महाव्रत' नामक कर्म [अहः] भी पच्चीसवां है, और उसका स्तोम [सामगों द्वारा ऋचाओं के गान-रूप में की हुई स्तुति] भी। सम के साथ सम मिल जाता है, ये दोनों पचीस पच्चीस हैं॥

ऋक्संख्या ही पुरुष के 'पञ्चविंश' कहे जाने का आधार क्यों न हो?

यह कहा गया है, कि उक्त संहिता, आरण्यक तथा ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के रचनाकाल से पूर्व, सांख्य-सिद्धान्तों के आधार पर, पुरुष को 'पञ्चविंश' कहा जाना व्यवस्थित हो चुका था। परन्तु इसके विपरीत यह आशंका की जा सकती है, कि आज्यशस्त्र-सूक्त [ऋ० ७।१] की ऋचाओं की संख्या ठीक पच्चीस होने के कारण, पच्चीस संख्या का संबन्ध पुरुष के साथ जोड़ा गया है। सांख्य के 'पञ्चविंश' पुरुष की यहाँ कोई भावना नहीं है। पुरुष को 'पञ्चविंश' कहे जाने का आधार, सूक्त-गत ऋचाओं की पच्चीस संख्या को कहा जा सकता है। इसी आरण्यक में दूसरे स्थल [१।२।२] पर आत्मा को 'एकशततम' भी कहा है, और उसका आधार, उस कर्म में प्रयुक्त ऋचाओं की संख्या है। इसलिये 'महाव्रत' कर्मगत प्रातःसवन के आज्यशस्त्र में भी

पुरुष को 'पञ्चविंश' कहना, ऋक्संख्या के आधार पर ही युक्त कहा जा सकता है।

पुरुष के 'पञ्चविंश' कहे जाने में ऋक्संख्या आधार नहीं

इन प्रकरणों का गम्भीरता-पूर्वक विचार करने पर उक्त आशंका का आधार दुर्बल दिखाई देने लगता है। आज्य-शस्त्र-सूक्त [ऋ० ७।२] में पच्चीस ऋचा हैं, यह स्पष्ट है। ऐतरेय आरण्यक का जो सन्दर्भ हमने ऊपर उद्धृत किया है, उसकी अवतरणिका में आचार्य सायण ने स्पष्ट लिखा है, कि अगली पंक्तियों में सूक्तगत ऋचाओं की पच्चीस संख्या की प्रशंसा की जाती है[1]। इसके उपसंहार से यह निश्चय हो जाता है, कि सूक्त-गत पच्चीस संख्या की प्रशंसा यही है, कि उसका 'पञ्चविंश' पुरुष के साथ सामञ्जस्य हो जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है, कि सूक्तगत ऋचाओं की पच्चीस संख्या के समान, पुरुष का 'पञ्चविंश' होना पहले से व्यवस्थित था, उसी अवस्था में ऋचाओं की पच्चीस संख्या की प्रशंसा, साधार कही जा सकती है, और तभी **समेन समं प्रतिपद्यते** इस वाक्य के कथन का अवकाश प्राप्त हो सकता है। इसी में इसकी सार्थकता है।

प्रतीत होता है, काठक संहिता आदि की रचना के समय पुरुष का 'पञ्चविंश' होना व्यवस्थित था। पुरुष के किसी संस्कार के लिये, कर्मविशेष में वेद के जिस सूक्त का उपयोग किया, उसकी ऋचाओं की संख्या पच्चीस निश्चित थी। ऋषि का ध्यान इस समानता के ऊपर जाने पर वह उछल पड़ा, और उसकी कल्पना का घोड़ा दौड़ने लगा। पुरुष के व्यवस्थित 'पञ्चविंश' नाम की यथार्थता को निभाने के लिये, उसने कल्पना के आधार पर देह के कुछ अंगों की गणना कर दी, और 'पञ्चविंश' पुरुष का सूक्त की ऋक्संख्या के साथ सामञ्जस्य पूरा कर दिया। वस्तुतः इस प्रकार के कथन, प्रकृत अनुष्ठानों के अधिक व्याख्यान ही कहे जा सकते हैं। मूल अनुष्ठानों पर इनका कोई प्रभाव नहीं। क्योंकि इस संख्या-गत सामञ्जस्य को न जानकर भी कोई पुरुष यदि उक्त अनुष्ठान का प्रयोग करता है, तो उसके आत्मा का संस्कार होगा ही। आत्मा के संस्कृत होने के साथ केवल विशुद्ध अनुष्ठान का संबन्ध कहा जा सकता है। इसलिये प्रकृत में संख्या की प्रशंसा की जाने की भावना, उसी समय साधार कही जा सकती है, जब आत्मा का 'पञ्चविंश' होना पहले से व्यवस्थित हो।

पुरुष के 'पञ्चविंश' कहे जाने का मुख्य आधार एक है

यह ठीक है, कि सांख्य में जिस आधार पर पुरुष को 'पञ्चविंश' कहा गया है, अथवा जिस दार्शनिक प्रक्रिया का वहाँ उद्भावन किया गया है, उसका उपयोग, अथवा उसी आधार पर प्रकृत अनुष्ठानों में पुरुष का 'पञ्चविंश' होना नहीं बताया जा सकता। इसलिये संहिताकार आदि ने देहाङ्गों की गणना के आधार पर पुरुष के 'पञ्चविंश' होने का निर्वाह किया है। क्योंकि सशरीर ही पुरुष यज्ञानुष्ठान आदि में समर्थ हो सकता है। वस्तुतः देहाङ्गों के आधार पर पुरुष को 'पञ्चविंश' कहना इतना अधिक प्रामाणिक नहीं। सांख्य-प्रदर्शित प्रक्रिया, एक वैज्ञानिक आधार है। उस आधार पर पुरुष को 'पञ्चविंश' कहा जाना अधिक प्रामाणिक है। संहिता आदि में केवल सूक्तगत ऋक्संख्या की-पुरुष के साथ सामञ्जस्य रूप-प्रशंसा के लिये ऐसी कल्पना की गई है। यथार्थ में ऐसे वर्णन, एक तुक मिलाना कहे जा सकते हैं। पुरुष की 'पञ्चविंश' संज्ञा का मुख्य आधार, सांख्य-प्रक्रिया ही संभव हो सकती है।

'महाव्रत' कर्म के प्रातः सवन में 'आज्यशस्त्र' का अनुष्ठान होने के अनन्तर 'प्रउग शस्त्र' का प्रयोग किया जाता है। यह एक गान है, जो 'आज्य शस्त्र' के अनुष्ठान के अनन्तर सामगों द्वारा गाया जाता है। इस गान में ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के द्वितीय और तृतीय सूक्त की ऋचाओं का उपयोग होता है। इन दोनों सूक्तों की ऋचाओं को साम रीति पर गाया जाता है। इसी का नाम 'स्तोम' है। संहिता और आरण्यक में इसी को 'पञ्चविंश स्तोम' कहा है। परन्तु इन दोनों सूक्तों की ऋचाओं की संख्या इक्कीस है। द्वितीय सूक्त में नौ ऋचा हैं, और तृतीय में बारह।

इस प्रकार प्रातः सवन के इन दोनों शस्त्रों [आज्यशस्त्र, प्रउगशस्त्र] में परस्पर वैषम्य हो जाता है। क्योंकि 'आज्य-शस्त्र' के सूक्त [ऋ० ७।१] में पूरी पच्चीस ऋचा हैं, जिनका सामञ्जस्य 'पञ्चविंश पुरुष के साथ ठीक बैठता है। परन्तु 'प्रउग शस्त्र' के सूक्तों में इक्कीस ऋचा हैं। उनका सामञ्जस्य कैसे हो?

[1]—इदानीं सर्वास्वृक्षु अवस्थितां पञ्चविंशतिसंख्यां प्रशंसति ।·········प्रकारान्तरेण तां संख्यां प्रशंसति ।

आरण्यककार लिखता है, कि 'प्रउगशस्त्र'[१] अथवा 'स्तोम' की ऋचाओं का आवृत्तिरहित पाठ करने पर, उनकी संख्या इक्कीस रह जाती है। तब पुरुष को 'एकविंश' कहा जायगा। दस अंगुलियां हाथ की और दस पैर की बीस, और इक्कीसवां पुरुष हुआ। परन्तु पुरुष 'पञ्चविंश' है। 'आज्यशस्त्र' की ऋक्संख्या से उसका पूरा सामञ्जस्य हो जाता है। 'प्रउग शस्त्र' की ऋक्संख्या का सामञ्जस्य कैसे हो? इस विषमता को हटाने के लिये आरण्यककार ने कहा–उन[२] इक्कीस ऋचाओं की प्रथम और अन्तिम ऋचा का तीन तीन वार गान किया जाय, इस प्रकार इक्कीस ऋचाओं के ही पचीस गान हो जायेंगे। तब 'पञ्चविंश' पुरुष के साथ 'स्तोम' का सामञ्जस्य हो जायेगा। इसीलिये आरण्यककार ने उपसंहार में **'समेन समं प्रतिपद्यते'** लिखा है। इस प्रकार 'पञ्चविंश' पुरुष के संस्कार के लिये, पचीस ऋचाओं से 'आज्यशस्त्र' तथा पचीस ही ऋचाओं से 'प्रउग शस्त्र' प्रस्तुत किया गया है। फलतः ऋचाओं की पचीस पचीस संख्या की प्रशंसा, हमें इस परिणाम पर ले जाती है, कि पुरुष का 'पञ्चविंश' होना, पहले से व्यवस्थित था, ऋक्संख्या का उसके साथ सामञ्जस्य प्रदर्शन कर ऋक्संख्या की प्रशस्तता दिखाई गई है। इस प्रकार सांख्य-प्रक्रिया के आधार पर निर्धारित पुरुष की 'पञ्चविंश' संज्ञा का उपयोग करने के कारण संहिताकार आदि सांख्य परिभाषाओं से प्रभावित कहे जा सकते हैं। फलतः **पाश्चात्य विद्वानों का यह उद्घोष, कि वर्त्तमान सांख्य परिभाषाएं दस बीस शताब्दी की ही उपज हैं, सर्वथा निराधार है।**

पुरुष के 'एकशततम' कहे जाने का आधार

अभी आशंका के प्रसंग में यह निर्देश किया गया है, कि ऐतरेय आरण्यक के एक स्थल [१।२।२] में पुरुष को 'एकशततम' कहा गया है। जो प्रकृत कर्म की ऋक्संख्या के आधार पर है। उस प्रसंग का यहां स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा।

यह प्रथम कहा गया है, कि 'महाव्रत' कर्म के प्रातः सवन में 'आज्य शस्त्र' और 'प्रउगशस्त्र' का प्रयोग होता है। इसके अनन्तर 'महाव्रत' कर्म के माध्यन्दिन सवन में 'मरुत्वतीय शस्त्र' का प्रयोग किया जाता है। इसमें ऋग्वेद की ९७ [सत्तानवे] ऋचाओं का उपयोग होता है, जो भिन्न २ स्थलों से चुनकर संग्रह की गई हैं। उनका संग्रह इस प्रकार किया जाता है—

६ ऋचा — ३ स्तोत्रिय और ३ अनुरूप की,
१८ ,, — छः प्रगाथों की (प्रत्येक प्रगाथ में तीन ऋचा)
३ ,, — धाय्या ऋचा [धाय्या उन ऋचाओं का नाम होता है, जिनका उच्चारण कर प्रज्वलित अग्नि में 'समित्' छोड़ी जाय [पाणिनि, ३।१।१२९]
२४ ,, — ऋग्वेद, मं० १०, सूक्त २७,
१५ ,, — ,, ६, ,, १७,
१५ ,, — ,, १, ,, १६५,
५ ,, — ,, ३, ,, ४७,
११ ,, — ,, १०, ,, ७३,

९७ सम्पूर्ण योग

स्तोत्र-सम्बन्धी ऋक्समूह को 'स्तोत्रिय' कहते हैं, तीन ऋचाओं का समूह 'तृच' कहा जाता है। एक तृच में एक साम पूरा किया जाता है। सामगान करने वाले ऋत्विजों के द्वारा मरुत्वतीय शस्त्र में सर्वप्रथम इसी तृच [ऋ० २। २२। १–३] का स्तुति-रूप में गान किये जाने के कारण इसको 'स्तोत्रिय' तृच कहा गया है। इसके ठीक अनन्तर पढ़े जाने के कारण दूसरा तृच [ऋ० १। १३०।१ ॥ १। १३१। १ ॥ १०। १३३। १] 'अनुरूप' तृच कहा जाता है। ये दोनों तृच 'महाव्रत' कर्मान्तर्गत मरुत्वतीय शस्त्र के प्रारम्भ में पढ़े जाते हैं।

इसके अनन्तर अठारह ऋचा, छः प्रगाथों की आती हैं। उनमें प्रथम प्रगाथ का नाम 'प्रतिपत्' और दूसरे का 'अनुचर' है। प्रगाथों में इसका सर्वप्रथम प्रयोग होने के कारण इसका नाम 'प्रतिपत्' है। इसमें ऋग्वेद [८। ६८। १–३] की तीन ऋचाओं का उपयोग होता है। इसके

१—ताः [ऋचः] परागवचने नैकविंशतिर्भवन्त्येकविंशोऽयं पुरुषो, दश हस्त्या अङ्गुलयो, दश पाद्या आत्मैकविंशः। [ऐत० आर० १।१।४]

२—ताभिः प्रथमया त्रिरुत्तमया पञ्चविंशतिर्भवन्ति सप्तविंश आत्मा पञ्चविंशः प्रजापतिः।......पञ्चविंश एतस्य स्तोमः। तत्समेन समं प्रतिपद्यते। द्वे एव पञ्चविंशतिर्भवन्ति। [ऐत० आर० १।१।४]

अनन्तर पढ़े जाने के कारण दूसरे प्रगाथ का नाम 'अनुचर' है। इसमें ऋग्वेद के [८ । २ । १–३] एक तृच का उपयोग किया जाता है। इसके अनन्तर तृतीय प्रगाथ का तृच ऋग्वेद [८ । ५३ । ५–७] की तीन ऋचाओं से निष्पन्न होता है। चतुर्थ प्रगाथ का तृच, ऋग्वेद [१ । ४० । ३–४] की दो ऋचा तथा ऋग्वेद [८ । ८९ । २] की एक ऋचा, इन तीन से पूरा होता है। पञ्चम प्रगाथ में दो ऋचा ऋग्वेद [१ । ४० । १–२] की हैं, तथा एक ऋचा ऋग्वेद [८ । ८९ । १] की है। षष्ठ प्रगाथ में दो ऋचा ऋग्वेद [१ । ४० । ५–६] की हैं, और एक ऋचा है ऋग्वेद [७ । ३२ । १०] की। इस प्रकार छः प्रगाथों में इन अठारह ऋचाओं का प्रयोग किया जाता है।

इसके अनन्तर तीन धाय्या ऋचाओं का उल्लेख है, वे इस प्रकार हैं—ऋग्वेद ३ । २० । ४ ॥ १ । ९१ । २ ॥ १० । ६४ । ६ ॥ हमने यहाँ छः प्रगाथों के अनन्तर धाय्या ऋचाओं का उल्लेख किया है, परन्तु मरुत्वतीय शस्त्र के अनुष्ठान-काल में इनमें थोड़ा विपर्यय हो जाता है। तीन प्रगाथों के पाठ के अनन्तर चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ प्रगाथों की केवल दो दो ऋचाओं का पाठ किया जाता है, इसके अनन्तर तीन धाय्या ऋचाओं का। पुनः चतुर्थ, पञ्चम षष्ठ प्रगाथों की शेष तीन ऋचाओं का। इस प्रकार तीन ऋचा स्तोत्रिय' तृच की, तीन 'अनुरूप' की, अठारह ऋचा छः प्रगाथों की और तीन धाय्या ऋचा, इन सत्ताईस ऋचाओं का स्पष्टीकरण कर दिया गया, जिनका उपयोग 'महाव्रत' कर्म के माध्यन्दिन सवन में मरुत्वतीय शस्त्र में किया जाता है। इस शस्त्र की शेष सत्तर ऋचा, ऋग्वेद के जिन स्थलों से संगृहीत की गई हैं, उनका स्पष्ट निर्देश पहले कर दिया गया है।

मरुत्वतीय शस्त्र में उक्त रूप से ऋग्वेद की सत्तानवें ऋचा प्रयुक्त की जाती हैं। इस शस्त्र का मुख्य फल आयुष्य[1] बतलाया गया है। इन्द्रिय, बल, तेज आदि फल भी इसी में समाविष्ट हैं, इसलिये आयुष्य के साथ उनका कथन होना ही चाहिये। जो यजमान इस कर्म का अनुष्ठान करता है, वह आयुष्य आदि फलों से समृद्ध होता है। यजमान पुरुष का ही प्रतीक-रूप है। शास्त्र में पुरुष की ऐहलौकिक आयु सौ वर्ष की कल्पना की गई है। इस औसत आयु के लिये वेद में अनेक प्रार्थना हैं,[2] और अनेक स्थलों पर इस प्रकार के उल्लेख आते हैं। मरुत्वतीय शस्त्र के अनुष्ठान का, क्योंकि यह मुख्य फल बताया गया है, इसलिये मरुत्वतीय शस्त्र में प्रयुक्त होनेवाली ऋचाओं की संख्या का, इस आयुष्य के साथ सामञ्जस्य होना चाहिये। परन्तु आयुष्य का मान शतवर्ष माना गया है, और इस शस्त्र की ऋचाओं की संख्या सत्तानवें है। तब इसका सामञ्जस्य कैसे हो?

शत-संख्या-पूर्त्ति के लिये अंग-गणना

ऐसी स्थिति में आरण्यककार ने सत्तानवें ऋचाओं में से आद्य और अन्त्य दो ऋचाओं की तीन २ बार आवृत्ति[3] करके एक सौ एक संख्या को पूरा किया है। इस प्रकार आयुष्य के सौ वर्ष पूरे कर, उसके आगे पुरुष को 'एकशततम' कहा है, जो सौ वर्ष की आयु में प्रतिष्ठित[4] होता है। पुरुष की इस एक सौ एकवीं संख्या के निर्वाह के लिये यहाँ भी शरीरांगों का आश्रय लिया गया है। प्रथम शरीर के चार विभागों की कल्पना कर प्रत्येक विभाग में पचीस अवयवों की कल्पना की गई है। वह इस प्रकार है—प्रथम शरीर की चार मुख्य शाखा—दो भुजा दो टांग—चार भाग मान लिये गये हैं, फिर इनमें प्रत्येक के पचीस अवयव कल्पना किये हैं। ऊपर की एक शाखा के पचीस अंग इस प्रकार गिनाये गये हैं—

एक अंगुली के चार पर्व (पोरुए), इस प्रकार एक भाग (दक्षिण भाग) की पाँच अंगुलियों के बीस पर्व हुए। दो कक्ष, 'कक्ष' पद का अर्थ कांख या बगल होता है। परन्तु शरीर के एक पार्श्व की ओर एक ही बगल होती है। इसलिये सायण ने इसका अर्थ—बगल के दोनों ओर के भाग—किया है, इस से एक ही बगल के दो कोनों या

१—यच्छतं तद्वायुरिन्द्रियं वीर्यं तेजः। [ऐत० आर० १ । २ । २]

२—ऋग्वेद ७ । ६६ । १६ ॥ यजुर्वेद ३६ । २४ ॥ शतायुर्वै पुरुषः, कौषीतकि ब्राह्मण ११।७॥१८ । १० ॥ २५ । ७ ॥ तैत्ति० ब्रा० ३ । ८ । १५ । ३ ॥ ३ । ८। १६। २ ॥ ताण्ड्य०ब्रा० ५ । ६ । १३ ॥ ऐत ब्रा० २ । १७॥ । ४ । ९ ॥ ६ । २ ॥ शत० ब्रा० ४ । ३ । ४ । ३ ॥ ५ । ४ । १ । १३ ॥ १ । ९ । ३ । १९ ॥

३—ताभिः प्रथमया त्रिरुत्तमयैकशतं भवन्ति [ऐत० आ० १ । २ । २]

४—आत्मैकशततमः......यजमान एकशततमः, आयुषीन्द्रिये वीर्ये तेजसि प्रतिष्ठितः [ऐत० आ० १ । २ । २]

भागों को गिनकर दो 'कक्ष' हुए। एक भुजा, एक आँख और एक अंसफलक अर्थात् कन्धा। इस प्रकार शरीर के उत्तर भाग के दक्षिण पार्श्व में पचीस अंगों की गिनती पूरी की गई है। इसी प्रकार पचीस अंग वामभाग के हुए। ये सब मिलकर पचास हो गये। इनका उल्लेख मूल आरण्यक[४] ग्रन्थ में भी किया गया है। परन्तु अधोभाग के पचीस अंगों की गणना का उल्लेख, मूल आरण्यक में उपलब्ध नहीं होता। इस प्रसंग की व्याख्या में सायण ने उनको इस प्रकार गिनाया है—

दक्षिण भाग के पैर की पाँच अंगुलियों के बीस पर्व, ऊरु और जंघा दो, टांग की तीन संधियां, टखने पर घोंटू पर और नितम्ब पर अथवा कटि (कूल्हे) में। ये सब मिलकर पचीस हुये। इसी प्रकार वामभाग के पचीस। शरीर के उत्तर अधर भाग के इन अंगों की संख्या सौ हो जाती है। इनसे अतिरिक्त 'एकशततम' आत्मा है, जो शरीर के मध्य में रहता है।

उक्त अंग-गणना में असामञ्जस्य

पुरुष के 'एकशततम' कहे जाने के सम्बन्ध में कुछ विवेचन करने से पूर्व, इस अंग-गणना के सम्बन्ध में विवेचन कर देना आवश्यक होगा। आरण्यक में शरीर के उत्तर भाग के एक पार्श्व में 'दो कक्ष' गिनाये गये हैं, परन्तु 'कक्ष' वस्तुतः एक पार्श्व में एक होता है। सायण ने इसकी संगति कक्ष के दोनों कोनों को अलग गिनकर लगाने का यत्न किया है। हमारे विचार से एक पार्श्व में एक 'कक्ष' कंधे के नीचे बगल समझना चाहिये, और दूसरा कोहनी के अन्दर का चपकसम भाग 'कक्ष' गिनना चाहिये। एक भाग में दो कक्ष की कल्पना, एक ही कक्ष के दो कोनों को अलग-अलग मान कर, युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होती। अधोभाग के एक पार्श्व में टाँग की तीन सन्धियों में 'मध्य-सन्धि' की गणना की गई है। उसके समान उत्तर भाग के एक पार्श्व में भुजा की 'मध्यसन्धि' पर दूसरे 'कक्ष' की कल्पना, असामञ्जस्यपूर्ण नहीं कही जा सकती। वास्तविक कक्ष के समान कोहनी के अन्दर का भाग कोहनी के मोड़ने पर बिल्कुल बन्द हो जाता है, और इन दोनों की बनावट प्रायः समान है। यह केवल हमने सायण के 'कक्ष' पद का अर्थ करने में असामञ्जस्य दिखाया है।

अब मूल में पचीस संख्या की पूर्ति के लिये इन अंगों की गणना की ओर ध्यान दीजिये। उत्तर भाग के एक पार्श्व में एक 'भुजा' और 'दो कक्ष' की गणना से तीन अंग की कल्पना की गई है। परन्तु अधोभाग के इसी प्रकार की अंग-गणना में सायण ने टांग की तीन सन्धियों की कल्पना की है। वहाँ पर उत्तर भाग के 'एक भुजा और दो कक्ष' के समान 'एक टाँग और दो वंक्षण' की कल्पना क्यों नहीं की जा सकती? 'वंक्षण' रान को कहते हैं। दूसरा वंक्षण, घोंटू के अन्दर का 'चपकसम' भाग समझा जायगा। फिर शरीर के उत्तर भाग के एक पार्श्व में 'अंसफलक' गिना गया है, उसी के समान अधोभाग के एक पार्श्व में 'नितम्ब-फलक' की गणना होनी चाहिये।

मूल आरण्यक में उत्तर भाग के एक पार्श्व में 'एक आंख' मानी गयी है। फिर 'एक भुजा' को गिनकर 'दो कक्ष' की गणना की गयी है। वस्तुतः 'कक्ष' भुजा का ही मूल स्थान है और उसी का ऊपरी भाग 'अंसफलक' है। ऐसी स्थिति में 'एक भुजा' की गणना करके 'कक्ष' और 'अंसफलक' की पृथक्-पृथक् गणना करना, युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता। फिर 'कक्ष' को दो गिनना, और अधिक असमञ्जस है। इसलिए यदि 'एक भुजा' की गणना करके 'दो कक्ष' और एक 'अंसफलक' की गणना के बजाय, एक कक्ष, एक चक्षु, एक घ्राण और एक श्रोत्र की गणना कर दी जाती, तो अधिक युक्त था। मूल में 'अक्ष' पद से आँख अर्थात् चक्षु इन्द्रिय का ग्रहण न समझना चाहिये, प्रत्युत चक्षु-प्रदेश समझा जाना चाहिये। क्योंकि यहाँ ग्रन्थस्वारस्य से शरीर के बाह्य अंगों की गणना का उल्लेख प्रतीत हो रहा है। इसी प्रकार घ्राण और श्रोत्र भी घ्राण-प्रदेश और श्रोत्र-प्रदेश के अर्थ में ही समझने चाहियें, जो स्थूल शरीर के अंग हैं। इसका अभिप्राय यह होगा कि अंगुलियों के बीस पर्व, एक भुजा, एक कक्ष, एक चक्षु-प्रदेश [अर्थात् चक्षु-गोलक और उसके आस-पास का भाग], एक घ्राण-प्रदेश तथा एक श्रोत्र-प्रदेश इस प्रकार पचीस अंगों में, शरीर के उत्तर भाग के एक पार्श्व का अधिक से अधिक भाग समाविष्ट हो जाता है, और किसी अंग का उल्लेख होने से भी नहीं रहता। यह बात मूल आरण्यक के बतलाये विभाग में नहीं आ पाती। फिर मूल आरण्यक में पाँचों अँगुलियों [चार अँगुली और एक अँगूठा] को 'चतुष्पर्वा' अर्थात् चार-चार पोरुओं [पर्वों = विभागों]

४—पञ्चाङ्गुलयश्चतुष्पर्वा द्वे कक्षसी दोश्चाक्षश्चांसफलकं च सा पञ्चविंशतिः पञ्चविंशानीतराणि ह्यङ्गानि, [ऐत० आ० १।२।२]

वाली लिखा है, परन्तु अँगूठे में तीन ही पर्व होते हैं, इसलिये वह विभाग कथन भी सामञ्जस्यपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

अंगों की शतसंख्या, शतवार्षिक आयुष्य के साथ सामञ्जस्य के लिये कही गयी है

इतना सब लिखने का हमारा अभिप्राय यही है कि पुरुषायुष्य के शत-वर्ष का, ऋक्संख्या के साथ सामञ्जस्य दिखाने के लिये यह कल्पना की गई है। शतवर्ष के साथ ऋक्संख्या को पूरा निभाने के लिये, प्रथम और अन्तिम ऋचाओं की तीन बार आवृत्ति की कल्पना की गई है। फलतः अंगों की इस प्रकार की गणना, केवल एक कल्पना पर आधारित है। इसका कोई प्रामाणिक अथवा वैज्ञानिक आधार नहीं कहा जा सकता। उसमें अनेक प्रकार की और भी कल्पना की जा सकती हैं, जिनका दिग्दर्शन हमने ऊपर की पंक्तियों में कराया है।

मरुत्वतीय शस्त्र की आवृत्ति-रहित ऋक्संख्या के सम्बन्ध में प्रकारान्तर से विचार करने पर एक और महत्त्वपूर्ण बात हमारे सम्मुख आती है। इन ऋचाओं की वास्तविक संख्या सत्तानवे है। यदि इसमें से अन्तिम संख्या को पुरुष का प्रतीक मान लिया जाय, तो शेष संख्या 'छयानवे' रह जाती है। प्रस्तुत आरण्यक प्रकरण में, शरीरांगों की शत-संख्या पूरी करने के लिये शरीर के चार विभाग कल्पना किये गये हैं, प्रत्येक विभाग में पचीस अंगों की कल्पना की गई है। अब यदि हम ऋचाओं की वास्तविक संख्या में से अन्तिम संख्या को पुरुष का प्रतीक मानकर पृथक् कर दें, और अवशिष्ट संख्या के चार विभाग कर दें, तब एक विभाग की संख्या चौबीस होती है। इसी के सामञ्जस्य का ध्यान रखते हुए, शरीर के चौबीस स्थूल विभाग बताये गये हैं। उसके आगे अथवा उनसे अतिरिक्त पचीसवां पुरुष है। शरीर के उन स्थूल विभागों का अवान्तर विभाग करके शत-संख्या को पूरा किया गया है, और पुरुष को वहां भी उससे अतिरिक्त रक्खा है। इसमें भी पुरुष के 'पञ्चविंश' भाव की उपेक्षा नहीं होती। वह अपने रूपमें उसी तरह बना रहता है। इससे हम इस परिणाम पर पहुँच जाते हैं, कि पुरुष को जो 'एकशततम' कहा गया है, वह पुरुष के व्यवस्थित 'पञ्चविंश' भाव पर आधारित है। मरुत्वतीय शस्त्र में आयुष्काम यजमान अधिकारी समझा जाता है, और पुरुष का आयुष्य, शतवर्ष शास्त्र में वर्णित है। केवल इसी बात का सामञ्जस्य बिठाने के लिये 'पञ्चविंश' पुरुष को शतवार्षिक आयुष्य के ऊपर प्रतिष्ठित करने की भावना से 'एकशततम' संख्या पर पहुँचाया गया है।

स्तोम, अहः आदि का 'पञ्चविंश' भाव

इस प्रसंग में एक और बात विचारणीय है। संहिता आरण्यक आदि ग्रन्थों के आधार पर पुरुष के 'पञ्चविंश' होने का उल्लेख किया गया है, परन्तु इन्हीं ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जिनमें स्तोम, अहः, गर्भ, अन्न आदि को भी 'पञ्चविंश' कहा गया है। तब इन ग्रन्थों के आधार पर केवल पुरुष का 'पञ्चविंश' होना निर्धारित नहीं हो पाता। तथा स्तोम आदि को 'पञ्चविंश' बताये जाने का आधार, सांख्य नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार इन ग्रन्थों में वर्णित आत्मा के 'पञ्चविंश' होने का आधार भी सांख्य नहीं माना जाना चाहिये।

वस्तुतः 'स्तोम' तथा 'अहः' को सर्वत्र महाव्रत प्रकरण में ही 'पञ्चविंश' कहा गया है। इसका निर्देश किया जा चुका है, कि 'महाव्रत' कर्मगत प्रातः सवन के आज्यशस्त्र में पचीस ऋचाओं का उपयोग किया जाता है। 'पञ्चविंश' आत्मा के साथ इस संख्या की समानता दिखाकर इसकी [संख्या की] प्रशंसा की गई है। 'महाव्रत' कर्म का अपर नाम 'अहः' आता है। इसलिये उसके साथ भी पचीस संख्या का निर्देश किया गया है। प्रातःसवन के दूसरे 'प्रउग शस्त्र' को 'स्तोम' पद से कहा गया है। यद्यपि उसमें इक्कीस ऋचाओं का प्रयोग है, परन्तु प्रथम और अन्तिम की तीन आवृत्ति करके उसका सामञ्जस्य पचीस संख्या के साथ जोड़ा गया है। इस सबका मूल आधार आत्मा का 'पञ्चविंश' होना है। इस समता के आपादन से ही ऋक्संख्या की प्रशंसा प्रस्तुत की गई है, जिसके सम्बन्ध में आरण्यक [तै० आ० ११।१।४] 'समेन समं प्रतिपद्यते' लिखता है। इसलिये आत्मा का 'पञ्चविंश' होना ही 'स्तोम' और 'अहः' के 'पञ्चविंश' कहे जाने में कारण है।

इसी प्रकार 'गर्भ' और 'अन्न' आदि को आत्मा के 'पञ्चविंश' होने के आधार पर 'पञ्चविंश' कहा गया है। आत्मा गर्भों में कर्मानुसार संचरण करता है, इसलिये आत्मा के 'पञ्चविंश' होने से गर्भों को भी पञ्चविंश कह देने में कोई असामञ्जस्य प्रतीत नहीं होता। तथा गर्भ, अन्न का कार्य[1] होता है, इसलिये अन्न का पञ्चविंश कहे जाने में भी कोई

१—'गर्भाः स्मृताः पञ्चविंशः स्तोमः' [तै० सं० ४। ३। ९] की व्याख्या में सायण ने लिखा है—'गर्भाणामन्नकार्यत्वादन्नत्वम्'।

अयुक्तता नहीं है। तात्पर्य यह है, कि स्तोम आदि को 'पञ्चविंश' कहे जाने का आधार आत्मा का पञ्चविंश होना है और आत्मा को पञ्चविंश कहा जाना, सांख्य-निर्धारित क्रम पर व्यवस्थित होता है। इसलिये यह मन्तव्य सन्देह-रहित होकर स्वीकार किया जाना चाहिये, कि उक्त वैदिक ग्रन्थों में सांख्य-परिभाषाओं का आश्रय लिया गया है। फलतः पाश्चात्य विद्वानों का यह विचार, कि वर्त्तमान सांख्य-परिभाषा केवल दस बीस शताब्दी की उपज है, सर्वथा अप्रामाणिक एवं निराधार है॥

संसार का विरोध कैसे दूर हो !

"यद्यपि आजकल बहुत से विद्वान् प्रत्येक मतों में हैं, वे पक्षपात छोड़ "सर्वतन्त्र सिद्धान्त" अर्थात् जो २ बातें सब के अनुकूल सब में सत्य हैं, उनका ग्रहण और जो एक दूसरे से विरुद्ध बातें हैं उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्त्तें, वर्त्तावें तो जगत् का पूर्ण हित होवे क्योंकि विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़ कर अनेक विध दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है॥"

दयानन्द सरस्वती (सत्यार्थप्रकाश)

पाश्चात्य आलोचकों की आलोचना-पद्धति की अन्याय्यता

[ले० —श्री पं० रामशंकर भट्टाचार्य व्याकरणाचार्य, काशी]

संस्कृत भाषा, उसका साहित्य, उस भाषा में निहित मोक्षविद्या तथा उसके आनुषंगिक अनेक विषयों पर पाश्चात्य आलोचकों ने अनेक विचार व्यक्त किए हैं। शास्त्रों का स्वरूप, शास्त्रकारों का काल, शास्त्रों का परस्पर सम्बन्ध इत्यादि विषयों में वे अपनी दृष्टि से जो कुछ मत या सिद्धान्त कहते हैं, उन सबों का यथासम्भव अध्ययन कर मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि उनके विचार न्याय की दृष्टि से असंगत हैं। उनकी आलोचना-पद्धति में हम पाँच दोष पाते हैं, जिन पर सोदाहरण विवेचन इस निबन्ध में किया जायगा। पाश्चात्य आलोचक शब्द से तदनुगामी भारतीय विचारकों का भी ग्रहण करना चाहिए।

पहले हम दोषों का सामान्य निर्देश कर रहे हैं:—

१—शास्त्र से अभ्युपगत प्रमाण की अवहेलना कर या प्रमाण-स्वरूप को ठीक से न जानकर शास्त्र-सम्बन्धी विचार करना—

२—शास्त्र के विचार्य विषय या प्रमेय को शास्त्रकार की दृष्टि से न जानकर उन विषयों का तत्त्वनिर्णय करना—

३—एक-जातीय पदार्थों का विश्लेषण कर प्राप्त नियमों को विजातीय पदार्थ में घटाना, या अस्थान में नियमों का प्रयोग करना—

४—शास्त्रकार के उपदेश का स्वरूप तथा प्रकृति को न जानकर उपदिष्ट तत्त्व या विषय में कुछ निश्चित धारणा बना लेना—

५—अपना दृष्टिकोण, सामर्थ्य या प्रमाण से सिद्ध या संगत नहीं होने वाले मत या पदार्थ को असंभव या कल्पित कहना—

विचार में प्रवेश करने के पहले हम दो एक बात स्पष्ट कर देना चाहते हैं। पाश्चात्य आलोचकों ने संस्कृत-साहित्य का बहिरंग उपकार किया है। यद्यपि उसमें उपकार की अपेक्षा अपकार करने की इच्छा उनमें प्रबल थी। किंच कहीं-कहीं कोई-कोई आलोचक संगत बात भी करता है, पर अधिकांशों ने अन्यान्य मतों को जान-बूझ कर या अज्ञान से कहा है और सबसे बड़ी आपत्तिकर बात यह है कि उन्होंने सर्वत्र अपने मतों को समीक्षात्मक (critical) तथा वैज्ञानिक (Scientific) कहा है और भारत के परंपरागत मत को असंगत। पर जब हम भारतीय पूर्वाचार्यों के मतों से उनके मतों की तुलना करते हैं, तो इन आलोचकों के मतों में हमें सर्वत्र प्रकरणसम, साध्यसम तथा कालातीत-रूप हेत्वाभासों का ज्ञान होता है, जैसा यहाँ हम दिखायेंगे।

हम यह भी कह देना चाहते हैं कि हमें पाश्चात्यों के Scientific शब्दान्तर्गत Science शब्द से बिन्दु-मात्र भय नहीं है, और न हम Science से असिद्ध मत या पदार्थ को असिद्ध मान सकते हैं। हम तो Science को प्रयोग से सिद्ध ज्ञान समझते हैं, न कि पहले से कल्पित नियमों के अनुसार घटनाओं का विश्लेषण करना। हम घटनाओं को देखकर नियमों को बनाते हैं और यह भी जानते हैं कि कहाँ कौन-सा नियम अप्रयोज्य होता है। पाश्चात्य आलोचकों में इस ज्ञान का अभाव है और वे इतने मन्दबुद्धि हैं कि सूक्ष्मतर प्रयोगों से सिद्ध ज्ञान को स्थूलतर प्रयोगों से सिद्ध न कर सकने के कारण उस ज्ञान को ही असिद्ध समझते हैं। यह ठीक वैसा ही है कि कोई आँख से रोगबीजाणु (Bacillus) को न देखकर उसकी सत्ता का ही अपलाप करे और अपने दृष्टिकोण को वैज्ञानिक समझे।

पाश्चात्य आलोचकों का दंभ यह है कि उसकी बात वैज्ञानिक है। अब मैं उसे पूछता हूँ—

तुम्हारा मत वैज्ञानिक क्यों है?
चूँकि वह विज्ञान से सिद्ध है।
विज्ञान का लक्षण क्या है?

इसके उत्तर में एक स्वर से पाश्चात्य वैज्ञनिक कहेगा कि उसका मत प्रयोग से सिद्ध है।

यदि प्रयोग-सिद्धता विज्ञान का गमक है, तो जो जो प्रयोग-सिद्ध है (चाहे वह किसी का क्यों न हो) उसको वैज्ञानिक मानना चाहिए। यहां पाश्चात्य वैज्ञानिक घबड़ाता है। उसके हृदय की बात यह है कि जो उनकी प्रक्रिया से सिद्ध है, वह वैज्ञानिक है। यहां भारतीय आचार्य गंभीर स्वर से कहते हैं कि यह संकीणता नहीं चलेगी; प्रयोग-कारिणी शक्ति में स्तरभेद है, और एक व्यक्ति के लिये जो अचिन्त्य तथा अशक्य है, वह अन्य-स्तरीय व्यक्ति के लिये चिन्त्य और सुकर होता है। भारतीय आचार्यों की परम मान्यता है कि शक्तिमान् व्यक्ति क्या कर सकता है, अल्प-शक्तिमान् व्यक्ति उसका निरूपण नहीं कर सकता। अगस्त्य ने समुद्रों का पान किया था (योगभाष्य ४।१०)—पाश्चात्य आलोचक इस ऐतिहासिक घटना[१] को सत्य नहीं मानता, क्योंकि उसके प्रयोग से यह सिद्ध नहीं किया जा सकता। पर द्रव्याकृति को लघुतम करने की विद्या को जो जानता है, उसके लिये यह काम उतना ही सरल है, जितना एक ग्लास पानी पीना। वस्तुतः विद्या और शक्ति का उत्कर्ष है और उस उत्कर्ष के स्तरभेद से क्या-क्या किया जा सकता है और क्या नहीं किया जा सकता—यह प्रयोगकारी ही जान सकता है।

वस्तुतः पाश्चात्य आलोचकों में यह दोष है कि वे अपनी दृष्टि से असिद्ध मत या घटना को वस्तुतः असिद्ध समझते हैं। यह एक अशिष्ट व्यवहार है। इन आलोचकों को पता नहीं है कि दाहरणों को देखकर नियम बनना ये लोग जितना सरल समझते हैं, वस्तुतः वह इतना सरल नहीं है। न्यायभाष्यकार ने कहा है—

'तदिदं हेतूदाहरणयोः सामर्थ्यं परमसूक्ष्मं पण्डित-रूपवेदनीयम्' (१।१.३७) अर्थात् उदाहरण तथा हेतु का संबन्ध, उदाहरणों से हेतु को निकालना तथा हेतु का यथार्थ प्रयोग-ये तीन अति सूक्ष्म कार्य हैं। जिसके लिये असाधारण पाण्डित्य की आवश्यकता है। पाश्चात्य आलोचकों का यह हठ है कि वे विलक्षण पदार्थ में भी सामान्य नियम को चरितार्थ करना चाहते हैं, उनमें इतनी भी योग्यता नहीं है कि किसी भी नियम के प्रयोग के लिये प्रयोग-क्षेत्र का स्वभाव निर्मित कर लें, जिससे वह नियम प्रयोगार्ह है या नहीं—इसका पता चल जाय; और उनमें इतनी भी शिष्टता नहीं कि इस ज्ञान को जानने में अपनी जो असमर्थता है, उसको भी स्वीकार करें। पर वे स्वीकार करें या न करें, हम तो करुणा-पर-वश होकर उनकी अशक्ति को स्पष्ट रूप से दिखा देना चाहते हैं, जिससे भारतीय प्रजा का कल्याण हो।

अब हम पूर्वोक्त दोषों का सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत करने जा रहे हैं। यद्यपि हमने प्रत्येक स्थल पर पाश्चात्य आलोचकों के वाक्यों के उद्धरण नहीं दिए हैं, पर यह जानना चाहिए कि आवश्यकता पड़ने पर उद्धरण दे सकते हैं। निबन्ध में संक्षिप्तता लाने के लिये बहुत कम उदाहरण उपन्यस्त किये गये हैं।

(१) शास्त्र से अभ्युपगत प्रमाण की अवहेलना कर या प्रमाण-स्वरूप को ठीक से न जान-कर शास्त्र-सम्बन्धी विचार करना—

भारतीय आचार्यों ने अपने शास्त्र से समर्थित प्रमाण सर्वत्र कहे हैं और तदनुसार शास्त्र पर विचार करने के लिये उपदेश भी दिये हैं। शास्त्रकारों से स्वीकृत प्रमाणों का परि-त्याग कर यदि स्वसंस्कार के अनुसार कोई विचार करता है, तो वह भ्रमपूर्ण विचार करेगा—यह न्याय्य है। पाश्चात्य आलोचकों ने जानबूझकर प्रमाणों की अवहेलना कर शास्त्र पर विचार किया है, जिससे वह विचार, विचार न रहकर अप्रतिष्ठ तर्क-मात्र रह गया है। यथा—

---

(१) स्थूल पृथिवी में मनुष्य शरीर और मन से जो कुछ किया गया है, वे सब ऐतिहासिक घटना हैं। व्यभिचार करना भी ऐतिहासिक है, ऊर्ध्वरेता होना भी ऐतिहासिक है—हम ऐसा समझते हैं। पर पाश्चात्य आलोचक पहली घटना को तो ऐतिहासिक मान लेता है और दूसरी घटना को ऐतिहासिक मानने के लिये हिचकिचाता है, क्योंकि उसे उस परम-विद्या का ज्ञान नहीं है, जिससे ऊर्ध्वरेता हुआ जा सकता है। इन आलोचकों के अज्ञान को हम प्रमाण नहीं मान सकते (भले ही इसके लिये उच्च पद न मिले !!)। उदयनाचार्य ने ठीक ही कहा था—'नादृष्टं दृष्ट-घातकम्' (कुसुमाञ्जलिः)।

सांख्य योग आदि मोक्षशास्त्र का प्रमाण समाधि (= एक विशेष प्रकार का चित्तस्थैर्य) है और उन शास्त्रों में प्रमेयों का जो विचार है, वह ध्यानज दृष्टि के अनुसार है। अतः उस शास्त्र में भाषित पदार्थों का स्वरूप-निर्धारण भी योगजप्रज्ञा से करना चाहिए, न कि यान्त्रिक प्रयोग के बल पर। चित्तस्थैर्य के बल पर सांख्ययोगीय पदार्थों के निरूपण न करने के कारण ही सत्त्व-रजस्-तमस् के लिये जकोबी (Jacobi) सदृश अल्पधी व्यक्ति Good Bad और Indifferent शब्द का प्रयोग करता है। सत्त्वादिगुण तीन द्रव्य हैं (यह प्रकृत सांख्य-मत है), उसका प्रकाश-क्रिया-स्थितिशीलत्व आदि धर्मशास्त्र में प्रसिद्ध है, पर शास्त्रीय प्रमाणों की अवहेलना कर विचार करने के कारण जकोबी ने पूर्वोक्त अतिभ्रष्ट अनुवाद किया है, जिसके फलस्वरूप आज एक भी ऐसा पाश्चात्य विद्वान् नहीं है, जिसके पास सांख्यविद्या का अणुतम विशेष ज्ञान है।

हम जोर देकर कहना चाहते हैं कि शास्त्र-स्वीकृत प्रमाणों को शास्त्रानुसार मानकर ही विचार किया जा सकता है, अन्यथा नहीं और इसको यदि न माना जाय तो सभी शास्त्रों से सब कुछ सिद्ध कर दिखाया जा सकता है। यदि हम पाश्चात्य-विज्ञानादि से स्वीकृत प्रमाणों की अवहेलना कर स्वेच्छा से उनसे भाषित स्वीकृत विषयों की समीक्षा करें, तो उनका शास्त्र भी उपहासास्पद हो जायगा, पर न्याय-पथ में चलकर हम ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि समीक्ष्यमाण शास्त्र से स्वीकृत प्रमाण को मानकर समीक्षा करना ही न्याय्य पन्था है।

यह बात हठयोग आदि नवीन) योगग्रन्थों तक के लिये भी चरितार्थ होगी। नाडी आदि के विषय में इन शास्त्रों में जो विवरण मिलता है, वह ध्यानज दृष्टि के अनुसार है और इस सत्य को न जानकर आधुनिक दृष्टि के आलोचक व्यर्थ ही विवाद करते हैं। शास्त्र कहता है नाडी = 'विद्युतपाकसमप्रभा;' लूतातन्तूपमेया मुनिमनसि लसन् तन्तूरूपा सुसूक्ष्मा;' 'चित्तवहा नाडी' इत्यादि। यान्त्रिक परीक्षण से जो ज्ञान होगा, ध्यानज प्रत्यक्ष उससे विलक्षण है, और यही कारण है कि शारीर यन्त्र, नाडीचक्र आदि विषयों पर पाश्चात्य वैज्ञानिक की गवेषणा से हठयोगीय मत हूबहू नहीं मिलता, जिससे अज्ञ पाश्चात्य आलोचक यह समझता है कि हठयोगीय विवरण भ्रमपूर्ण है। पर वस्तुतः बात ऐसी नहीं है, योगविद्या के प्रमाणों के अनुसार विचारने से उनकी बात की युक्तता हृदयंगम होगी। एक उदाहरण लीजिए—

पतंजलि ने कहा है—'कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्' (३।३१) तथा 'कण्ठकूपे क्षुत्-पिपासा-निवृत्तिः' (३। ३०)। आधुनिक वैज्ञानिक संशय करता है कि कूर्मनाडी (Bronchial tube) एक भौतिक नाडी है, उसमें संयम से शारीरिक तथा मानसिक स्थैर्य (सूत्र का स्थैर्य चित्तस्थैर्य है। क्योंकि यह सूत्र ज्ञान-रूप सिद्धि के प्रकरण में पढ़ा गया है, अतः यह केवल शारीरस्थैर्य नहीं है) कैसे हो सकता है। उसी प्रकार कण्ठकूप (Trachea) में समाहित होने से क्षुत्, पिपासा की निवृत्ति कैसे हो सकती है। क्योंकि क्षुत्, पिपासा तो Alimentary canal में है। किंच संयम एक मानसिक पदार्थ है, उससे स्थूल क्षुत्, पिपासा की निवृत्ति कैसे हो सकती है?

इन प्रश्नों का भी वही उत्तर है। इन अल्पधी आलोचकों ने योगशास्त्रीय प्रमाणों के अनुसार नाडी-तत्त्व या शरीरसंस्थान को जाना नहीं है, अतः योगशास्त्रीय विनिगमनाओं को भी ये नहीं समझ सकते। योगशास्त्रीय नाडीतत्त्व बोधांश से संबन्ध रखता है, जडांश से नहीं, जैसे योग में सुषुम्णा स्थूल-शरीर का कोई जडांश नहीं है, पर Spinal Cord, Pneumogas tric nerve तथा Carotid artery का सूक्ष्मतम बोधांश है, जो यौगिक प्रक्रिया से ही विज्ञात हो सकता है, यान्त्रिक पद्धति से नहीं। योगशास्त्र ने ध्यानज दृष्टि से शरीरतत्त्व का विश्लेषण किया है, अतः वह 'चित्तवहा नाडी' (भोजवृत्ति) का परिचय दे सकता है, जो भौतिक दृष्टि से असिद्ध है, पर वस्तुतः असिद्ध नहीं है। इसी प्रकार षट्चक्र में वर्णित पक्ष भी मांसादि-निर्मित पक्षाकार द्रव्य नहीं है, क्योंकि जिस प्रमाण के आधार पर षट्चक्र का निरूपण किया गया है, उससे पक्षाकार द्रव्य की सिद्धि नहीं हो सकती और पाश्चात्य विज्ञान से मांसादिमय द्रव्य के अतिरिक्त शास्त्रसिद्ध चक्र का उपपादन नहीं हो सकता।

प्रसंगतः हम यह कह देना उचित समझते हैं कि योग-शास्त्र में भाषित शरीर या मन-संबन्धी किसी भी मत का बाध पाश्चात्य विज्ञान से नहीं होता है। हम जोर देकर कहना चाहते हैं कि षट्चक्र की दृष्टि से शरीर-तत्त्व का जो विवरण है, उसमें Anatomical वा Physiological कोई दोष नहीं है, क्योंकि योगशास्त्रीय प्रमाण पाश्चात्य शास्त्र के प्रमाण से भिन्न है। भिन्न-जातीय प्रमाण से उत्पन्न प्रमितियों में परस्पर बाध नहीं होता, पर प्रमाणों के स्तर के

अनुसार प्रमितियों में स्तरभेद किया जा सकता है। यह बात दूसरी है कि आजकल जो Physiological और Anatomical distinction किया जाता है, वह प्राचीनकाल में संभवतः नहीं किया गया, क्योंकि उसका प्रयोजन नहीं था। यदि दृष्टि-शक्ति किसी की नष्ट न हो, तो चश्मा का आविष्कार नहीं होगा, और इसीलिये चश्मा का आविष्कार न होना विद्या के क्षेत्र में अज्ञता का विज्ञापक नहीं है। यह विषय स्वतन्त्र निबन्ध में विस्तृत होगा।

(२) शास्त्र के विचार्य विषय या प्रमेय को न जानकर उन विषयों का तत्त्वनिर्णय करना—

हमारा यह स्पष्ट मत है कि शास्त्र का स्वरूप शास्त्रकार के अनुसार मानकर, शास्त्रीय विषय या प्रमेय पदार्थ पर शास्त्रकार की दृष्टि को जानकर, उस विषय का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। पाश्चात्य आलोचकों में यह दोष है कि वे किसी शास्त्र के प्रमेयों को शास्त्रकार के अनुसार जानने के स्थान पर अपनी दृष्टि (जिसका आधार उनका अपना संस्कार है) से प्रमेयतत्त्वनिर्धारण करते हैं। यह वस्तुतः एक कुत्सित मनोवृत्ति है, और इसके कारण आज सब भारतीय प्राचीन-शास्त्र विपर्यस्त हो गए हैं। एक उदाहरण लीजिए:—

वेद-ज्ञान का स्वरूप क्या है, वेद में किन विषयों का वर्णन है, वेद के किस अंश से कौन विषय निर्णीत है—इन विषयों में पाश्चात्य विद्वानों की जो धारणाएँ हैं,[१] वे मनु आदि की चिन्ता के अनुसार नहीं हैं। मुझे यह समझ में नहीं आता कि वेद-ज्ञान के विषय में प्राचीनतम मनु आदि की जो धारणाएँ हैं, उनको मानने में पाश्चात्य आलोचकों को कौन-सी बाधा है? मनु ने कहा है—'सर्वज्ञानमयो हि सः' (सः=वेदः) 'सर्वं वेदात् प्रसिध्यति'। क्या ये आलोचक यह कहना चाहते हैं कि मनु का यह कथन असत्य है। यह आपकी धारणा ऐसी है, तो इसका हेतु क्या है? क्या आपकी दृष्टि में मनूक्त वेद-स्वरूप न्याय-सिद्ध नहीं होता या मनु आदि के साक्ष्य संशयास्पद हैं। यदि पहला पक्ष मान लिया जाय तो इसके लिये न्याय का प्रयोग करना चाहिये। यह कहने से काम नहीं चलेगा कि हमारी दृष्टि से पूर्वाचार्यों का मत असिद्ध प्रतीत होता है—इसलिये वह असत्य है, क्योंकि तब तो ग्राम्य व्यक्तियों की बुद्धि से आधुनिक वैज्ञानिकों की मान्यताओं की संगति नहीं होने के कारण वे मान्यताएँ भी असिद्ध हो जायेंगी। मजे की बात यह है कि जहां पाश्चात्य आलोचक अपनी विद्याओं के स्वरूप निर्धारण में स्वसंमत शास्त्रकारों का अनुसरण करना ही मुख्यतम संगत उपाय समझते हैं, वहां वेदादि शास्त्र के प्रमेय के स्वरूपनिर्धारण में मन्वादि के प्रामाण्य पर संशय करते हैं। इन लोगों को पता होना चाहिए कि संशयमात्र से पूर्व प्रचलित प्रतिष्ठित धारणा का बाध नहीं होता। हेतु समान बलवान् यदि हो, तब एक से अन्य का बाध होता है, पर वेद-विषय पर पाश्चात्य आलोचकों ने जो संशय किया है, वह संशय है, हेतु नहीं है, अतः उनके वाक्यों से मन्वादी की धारणा बाधित नहीं होती। यदि पाश्चात्य आलोचक का यही दुराग्रह हो कि मेरी आपत्ति सहेतुक है—केवल संशय नहीं है, तो यह कथन न्यायशून्य है, क्योंकि हेतु उदाहरण से बनता है, और उदाहरण प्रत्यक्ष प्रमाण पर आधारित है। वेद का प्रमेय पाश्चात्य आलोचकों से साक्षात्कृत नहीं है, अतः उनकी आपत्ति हेतु से युक्त नहीं मानी जा सकती।

पाश्चात्य आलोचक यदि यह कहता है कि वेद का विषय हम मन्वादि से पृथक् अन्य प्रमाण से निर्धारित करते हैं, तो पुनः प्रश्न होगा कि जिस प्रमाण से आप प्रमिति करते हैं, उस प्रमाण के पास वेद-प्रमेय-संबन्धी प्रमिति उत्पन्न करने की शक्ति है—इसमें कौन-सा प्रमाण है। इसपर यदि वे यह कहें कि 'मेरा यह मत है' तो यह एक निग्रह स्थान हुआ, क्योंकि उनका उदाहरण, हेतु तथा प्रमाण—तीनों ही कल्पित हुए, अतः वे परार्थानुमान नहीं कर सकते, भले ही अर्थ का लोभ देकर दो चार व्यक्तियों को अपना सांस्कृतिक दास बना लें।

प्रसंगतः हम यह कह देना चाहते हैं कि पाश्चात्य आलोचक वाद के पहले जितना आडम्बर रचते हैं और अपनी वैज्ञानिक दृष्टि की जितनी दुहाई देते हैं, कुछ ही देर के बाद उनकी मूढ़ता का उद्घाटन हो जाता है। यह अशक्ति पाश्चात्य वैज्ञानिकों में भी है। जब भारतीय दार्शनिक शरीर

---

(१) पाश्चात्य विद्वानों ने सभी शास्त्रों के विषयों पर विपर्यस्त धारणा प्रसारित की है। सांख्य-योग को वे Primitive mind की उपज कहते हैं, वेद के विषय को जादू टोना तक ले आते हैं इत्यादि। यादृश चित्त में वेद-विद्या या सांख्य-योग के प्रमेय प्रकाशित होते हैं उस चित्त का स्वरूप हमारे शास्त्रों में जैसा विवृत है, उसमें कौन-सी अन्याय्यता है—यह अभी तक न्याय्य पन्था में कोई दिखा नहीं सका। यादृश चिन्ताप्रणाली को वे scientific कहते हैं, उसमें कितनी अन्याय्यता है, व इस निबन्ध में कुछ कुछ दिखाए गए हैं। विशेष विचार निबन्धान्तर-साध्य है।

से पृथक् आत्मा (अहम् का मूल-रूप) का अस्तित्व सुप्रमाणित करते हैं (अनुभव विशेष के आधार पर, जिसको केनोपषित् ने—'प्रतिबोधविदितं मतम्' शब्द से कहा है) तब पाश्चात्य वैज्ञानिक कहता है कि अहं बोध का सब कुछ अंश मस्तिष्क (जो स्नायुतन्तु और स्नायुकोष की समष्टि है) की जड़शक्तिजात क्रिया ही है, मस्तिष्क से अतिरिक्त पृथक् कोई जीव नहीं है। वह इस मत को वैज्ञानिक परीक्षालब्ध कहता है, और इसको न्यायसंगत मानता है। पर जब हम न्यायप्रयोग से उसके मत की समीक्षा करते हैं, तो उनका 'विज्ञानसंमत मत' मूढ़ता में पर्यवसित हो जाता है। यथा—

वैज्ञानिक से पूछना चाहिए कि मस्तिष्क क्या है। वह उत्तर देता है कि मस्तिष्क = Nerve-cell तथा Nerve fibre की समष्टि है। जब पुनः पूछा जाता है कि ये क्या हैं? उत्तर मिलता है। ये dicithin proteid आदि द्रव्यों से निर्मित हैं। ये द्रव्य भी उनके मत में Carbon Hydrogen आदि के संयोग से निर्मित हैं। इनका कारण क्या है? उत्तर मिलता है—शब्द-स्पर्श-युक्त द्रव्यविशेष, जिसे वे Matter का प्रचलन विशेष मानते हैं। पर Matter के प्रचलन से कैसे इच्छा काम, प्रेम, अहिंसा दया आदि बोध उत्पन्न होते हैं (जो अहं से अच्छेद रूप से युक्त हैं) यह प्रक्रिया वैज्ञानिक को पता नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि इन वैज्ञानिकों को न आत्मा के उपादान कारण का ज्ञान है, और न उस उपादान से आत्मोत्पत्ति की प्रक्रिया। परन्तु वे समझते हैं कि उनके मस्तिष्कवाद से आत्मवाद (शरीर से पृथक् आत्मा) खण्डित हो जाता है। भारत का एक भी मौलिक दार्शनिक मत पाश्चात्य विज्ञान से आज तक खण्डित नहीं हुआ, पर वैज्ञानिक समझता है कि खण्डित हो गया है।

(३) एक-ज्ञातीय पदार्थों का विश्लेषण कर प्राप्त-नियमों को विजातीय पदार्थों में घटाना या अस्थान में नियमों का प्रयोग करना—

पाश्चात्य आलोचक जितने सदोष निर्णय करते हैं, उन सबों का मौलिक कारण यही है कि वे जिस घटना को, Mythical कहते हैं, या जिस सिद्धान्त को Un-Scientific कहते हैं, वह केवल इसलिये कि उनसे स्वीकृत नियमों से उन विषयों की सिद्धि नहीं होती। वे अपनी अल्पबुद्धि के कारण यह नहीं सोच पाते हैं कि कोई भी घटना किसी ज्ञाता के नियमों के अनुसार नहीं घटती, प्रत्युत स्वगत हेतु से घटती है। निम्नोक्त उदाहरण से यह बात सिद्ध होगी:—

पाश्चात्य आलोचक कहता है कि अन्यान्य भाषाओं का जैसा विकाश होता है, अशक्त भाषा क्रमशः सशक्त होती हैं, संस्कृत भाषा में भी वैसा ही हुआ है, वह पूर्वाचार्यों की धारणा के अनुसार ग्राह्य नहीं है। भारतीय आचार्यों ने संस्कृत में क्रमशः ह्रास माना है। पाश्चात्य आलोचक अनुमान करता है—'संस्कृत-भाषा विकाशशीला, भाषात्वात्, आंग्लादिभाषावत्'। अब इन आलोचकों से पूछना चाहिए कि आपने अपनी व्याप्ति किन उदाहरणों से बनाई है। पाश्चात्य आलोचकों में यह गुण है कि वे अवश्यमेव उदाहरणहीन व्याप्ति नहीं बनाते हैं (जो दोष बौद्धों में कभी कभी दीख पड़ता है)। पर वे यह नहीं सोचते हैं कि पक्ष में सपक्षों से अतिशय-विशेष तो कुछ नहीं है। पाश्चात्यों का यह हेतु सोपाधिक[1] है। भाषा में विकाशशीलत्व तब होता है जब कि तद्भाषा-भाषी की बुद्धि-शक्ति में क्रमिक विकाश हो, या वह भाषा पहले अल्पशक्तिमती ही रही हो, बाद में अन्यान्य भाषा की सहायता से तथा अन्यान्य बाह्य कारणों से उसने अपनी अक्षमताओं को दूर किया हो तब भाषा का विकाश संभव भी है। संस्कृत भाषा से प्रत्यक्ष परिचय रखने वाले का मत पाश्चात्य मत के विपरीत है, अतः आनुमानिक उपपत्ति (Theory) से प्रत्यक्ष ज्ञान की बाधा नहीं हो सकती।

पाश्चात्य आलोचक संशय कर सकता है कि हम भी प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध करेंगे कि संस्कृत में क्रमशः ह्रास नहीं हुआ है, प्रत्युत विकाश हुआ है, पर यह कथन असिद्ध है, क्योंकि ग्रन्थों में कालिक पौर्वापर्य का निरूपण-पूर्वक शब्द-प्रयोग को देखकर ही विकाशवाद का समर्थन किया जा सकता है। अब हमारे प्राचीनतम ग्रन्थकारों ने स्पष्टतः संस्कृत में ह्रासवाद को माना है, तब उनके शब्द-प्रयोग को देखकर विकाशवाद की कल्पना करना ठीक वैसा ही है कि जिसे 'अर्धजरतीय न्याय' कहा जाता है। हम पहले भी कह

१—संस्कृत भाषा के उद्गम तथा स्वरूप के विषय में इन आलोचकों की धारणा पूर्वाचार्यों की युक्ति के सामने टिकती नहीं है। अशक्त व्याप्ति के अनुसार विगमन करना पाश्चात्य आलोचकों का स्वभाव है, जो एक अत्यन्त हेय कार्य है।

चुके हैं कि ग्रन्थ का प्रामाण्य ग्रन्थकार की ज्ञान-शक्ति के अनुसार है; कोई समीक्षक ग्रन्थकारीय दृष्टिकोण का परित्याग कर ग्रन्थवचनों से कुछ भी निर्णय न्यायतः नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा करने से किसी भी मत को प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता।

भाषा का संबन्ध मनुष्यमन से अधिक मात्रा में है और यह मन-संबन्धी गवेषणा पाश्चात्य विद्वानों ने अभी तक अल्पमात्र ही की है। इस चित्त-विज्ञान में उनकी धारणा बहुत Primitive जातीय है, इसका प्रबल हेतु यह है कि वे अभी मन का निरोध (योग-शास्त्र-सिद्ध) नहीं कर पाए हैं। यदि पाश्चात्य विज्ञान में चित्त-संबन्धी विद्या विशद रूप में रहती, तो मन के जिन उत्कर्षों के विषय में भारतीय दर्शन में विचार है, वे उन उत्कर्षों से कुछ न कुछ अन्वित होते। मन-संबन्धी पूर्ण ज्ञान के बिना वे उत्कर्ष असाध्य हैं। इन आलोचकों की मानसिक शक्ति-हीनता ही उनके मनोविज्ञान की दुर्बलता को सिद्ध करती है।

पाश्चात्यों का यह अन्याय्य दृष्टिकोण, जैसे भाषा और ग्रन्थ के क्षेत्र में विद्यमान है, वैसे दर्शन, विज्ञान आदि सूक्ष्म विषयों में भी दृष्टिगोचर होता है। यथा—

हम पुराणादि में कितने स्थलोंपर ऐसे तपस्या-विवरण पाते हैं कि अमुक मुनि ने इतने दीर्घ काल तक रुद्धप्राण तथा रुद्धशरीर होकर तप किया। हठयोग में भेकवत् निरुद्धप्राण होकर दीर्घकाल तक रहने का उल्लेख बारबार आता है। पाश्चात्य विज्ञान से सम्मत विद्या को लेकर आलोचना करने वाले इन मतों को कल्पित समझते हैं। इन मूढ़ आलोचकों को जानना चाहिए कि शक्तिहीन पुरुष जिसको असंभव समझता है, शक्तिमान् उसे अत्यन्त सुकर समझता है। शरीर के परिणाम-संबन्धी ज्ञान पाश्चात्य विज्ञान में नहीं के बराबर हैं, और जो है उसका क्षेत्र अतिस्थूल और सीमित है। हम भारतीय दृष्टि से शरीर-विज्ञानी उसे समझते हैं, जो इच्छा-मात्र शरीर का रोध तथा शरीर से निष्क्रमण कर सकता है। शरीर-संबन्धी ज्ञान को तभी सिद्ध माना जायगा, जब पूर्वोक्त शक्ति की वशनीयता हो, क्योंकि शरीर-संबन्धी सम्यक् ज्ञान के बिना शरीर-जय संभव नहीं है। इस युक्ति से सिद्ध होता है कि पाश्चात्य विद्या में शरीर-संबन्धी मतों से यदि योग-शास्त्रीय कोई तथ्य (fact) सिद्ध न हो तो वह वैज्ञानिकों की अशक्ति का परिमापक है, न कि वह घटना असिद्ध है।

प्रसंगतः एक उदाहरण दिया जा रहा है। पाश्चात्य वैज्ञानिक कहता है कि कठिन परिश्रम कर पहले शरीर में आक्सिजेन (Oxygen Gas) का प्रयोजन सृष्टि करना चाहिये, और तब गंभीर श्वास-प्रश्वास की व्यवस्था करनी चाहिए, अन्यथा श्वास के व्यायाम से कुछ भी लाभ नहीं हो सकता (जी. पी. मूलर नामक व्यायामी का कथन)। उन्होंने कहीं कहीं प्राणायामपद्धति पर यह कहकर उपहास किया है कि चूंकि प्राणायाम शारीर-स्थैर्य-पूर्वक किया जाता है, अतः वह अवैज्ञानिक है। मूलर के इस मूढ़ता-पूर्ण कथन के उत्तर में मेरा वक्तव्य यह है कि यदि प्राणायाम में कथित दोष होता तो बहुसंख्यक दमा के रोगी प्राणायाम के लघुतम अभ्यास से आरोग्य नहीं होते। श्वास-संबन्धी पाश्चात्य-विज्ञान का नियम त्रुटिपूर्ण है न कि उसके नियम के अनुसार प्राणायाम क्रिया की निष्पत्ति न होने से प्राणायाम-विद्या सदोष है। पाश्चात्य विज्ञान का नियम एक स्तर तक ठीक है, पर स्तर-भेद हो जाने से उनका नियम अप्रयोज्य होता है, जो प्रयोग के बल पर सिद्ध किया जा सकता है।

मजे की बात यह है कि पाश्चात्य आलोचक अपने मत की पुष्टि के लिये प्रयोगमूलक परीक्षण को प्रमाण मानता है, पर प्रयोग से ही भारतीय विद्वान् जब उनके मत को अपूर्ण कहते हैं, तब वह पराजयस्वीकार के बदले आर्षप्रक्रिया पर निरर्थक अज्ञतापूर्ण आक्षेप या अविश्वास करने लगता है। हमने अपने जीवन में देखा है कि पाश्चात्य ढंग का आलोचक बहुत बड़ा अन्धविश्वासी (Sceptic) होता है और वह अपने अन्ध-विश्वास-युक्त अशक्ति को प्रमाण मानता है।

भारतीय आचार्य नियमों में स्तर-भेद मानते हैं और यह आर्षज्ञान की एक विशिष्टता है। भारतीय दार्शनिक जब यह कहता है कि एक व्यक्ति के लिये इतना घण्टा सोना चाहिए, तब वह यह भी कहता है कि स्तर-भेद होने पर (अर्थात् योगी के लिये) बहु वत्सर विनिद्र रहना ही स्वभाव-सिद्ध है। वह जब यह कहता है कि शरीर-धारण अन्न के बिना नहीं हो सकता, तब वह यह भी कहता है कि केवल वायु पीकर या सम्यक् निराहार से भी दीर्घकाल तक रहा जा सकता है (स्तर-भेद होने से)। पाश्चात्य आलोचक अपनी प्रक्रिया से इसे सिद्ध न कर सकने के कारण असिद्ध समझते

(१) इसका कुछ सप्रमाण विवरण स्वामी कुवलयानन्दजी ने योगमीमांसा जर्नल में प्रस्तुत किया है, जो वहीं द्रष्टव्य है।

हैं। यह ठीक वैसा ही है, जैसे कोई चिररुग्ण व्यक्ति महाव्यायामी के व्यायाम-कार्य पर संशय प्रकटित करता है। भगवान् हमें इस कुत्सित मनोवृत्ति से बचायें।

(४) शास्त्रकार के उपदेश का स्वरूप तथा प्रकृति को न जानकर उपदिष्ट तत्त्व या विषय में कुछ निश्चित धारणा बना लेना

शास्त्रकार जब उपदेश करते हैं, तो विभिन्न दृष्टि-कोण के अनुसार उपदेश करते हैं। और जबतक उपदेश की प्रकृति का ज्ञान नहीं होगा, तब तक उपदिश्यमान प्रमेयों के विषय में कुछ धारणा (स्वसंस्कार के अनुसार) बना लेना संगत नहीं होता। उपदेश विभिन्न प्रकार के होते हैं कार्यार्थक, स्वरूपज्ञानार्थक, सामान्यार्थक, विशेषार्थक, अर्थवादपरक, इत्यादि[1]। विभिन्न प्रकार के उपदेशों का विभिन्न कारण है और विभिन्न फल हैं। जब तक कोई उपदेश की प्रकृति को नहीं जानेगा, तबतक उपदिष्ट विषय की प्रकृति के विषय में कुछ निर्धारण करना सदोष होगा। यथा—

कुछ आलोचकों ने व्याकरण-ग्रन्थों के प्रत्याहारसूत्रों में पठित वर्णों की संख्या को देखकर यह निर्णय किया है कि संस्कृत भाषा की वर्णसंख्या इतनी ही थी; या विभिन्न प्रत्याहार-सूत्रों में विभिन्न-संख्यक वर्णों को देखकर कुछ आलोचकों ने यह विचार भी किया है कि वर्ण में विकास हुआ है इत्यादि।

आलोचकों के ये निर्णय प्रमाण-संगत नहीं हैं, क्योंकि वर्णों के स्वरूप-ज्ञान के लिये प्रत्याहारसूत्रों का उपदेश नहीं है, प्रत्युत कार्यार्थ है—**'कार्यार्थो हि वर्णानामुपदेशो न स्वरूप-प्रतिपत्त्यर्थः'** (प्रदीप. आ० २) उपदेश चूंकि कार्यार्थ है, अतः कार्यकी प्रकृति के अनुसार उपदिश्यमान पदार्थ की संख्या आदि में भेद होगा, और उस भेद के अनुसार हम कुछ भी तात्त्विक शब्द-प्रयोग-संबन्धी निर्धारण नहीं कर सकते हैं। [संस्कृत भाषा के वर्ण के विषय में इन आलोचकों की धारणाओं का खण्डन हम अन्यत्र करना चाहते हैं]।

दूसरा उदाहरण लीजिए। आधुनिक भाषाविज्ञानी शब्दों के कृदन्तत्व या तद्धितान्तत्व आदि के अनुसार पौर्वापर्य का निर्धारण करता है। कोई कहता है कि ईशोपनिषत् में 'याथातथ्यतः' प्रयुक्त है, इतना बड़ा तद्धितान्त शब्द इतने प्राचीन काल में नहीं प्रयुक्त हो सकता, यह तो बाद की रचना है। कोई कहता है कि पहले पाखण्ड शब्द विशेषण था, बाद में वह विशेष्य हुआ और 'पाखण्डी' विशेषण बना, अतः जिन ग्रन्थों में (यथा मनु संहिता आदि) इस प्रकार के शब्द प्रयोग हैं, उसके कालिक पौर्वापर्य का निर्णय भी शब्द-प्रयोग को देखकर किया जा सकता है—इत्यादि।

इस प्रकार का निर्णय भी न्याय से संगत नहीं है और व्याकरण-शास्त्र की अन्वाख्यान-पद्धति को न जानने के कारण ही इस प्रकार का निर्णय होता है। कृत् या तद्धित व्याकरण की पारिभाषिक प्रक्रिया के अनुसार कल्पित हैं, और उनके अनुसार शब्दों का जो विभाग होता है, वह वास्तव में सत्य नहीं है, अतः तदनुसार शब्द-प्रयोग के पौर्वापर्य का भी निर्णय नहीं हो सकता। कोई भी पद न वस्तुतः कृदन्त है, और न तद्धितान्त, किसी व्याकरण में जो तद्धितान्त है, अन्य व्याकरण में वह कृदन्त है, **अतः पाश्चात्य आलोचकों का यह कहना कि पदों के कृदन्तत्व या तद्धितान्तत्व को देखकर हम प्रयोग-काल भी निर्णय करेंगे—वन्ध्यापुत्र के वय का निर्णय करना है।** वस्तुतः संस्कृत भाषा के वाक्य, पद, पदांश, वर्ण, प्रकृति, प्रत्यय आदि के शास्त्रीय स्वरूप के विषय में सब पाश्चात्य भाषा-विज्ञानी तथा उनके अनुसार अध्ययन करने वाले भारतीय भाषा-विज्ञानी भ्रमावर्त में पतित हैं। वे श्वेतवर्ण की सदृशता से चूना मिश्रित जल और दूध को समान समझते हैं। आज भारतीय शाब्दिकों का कर्तव्य है कि वे इन मूढ़ व्यक्तियों को यथार्थ दूध पिलाकर पुष्ट करें।

पाश्चात्य आलोचक और तदनुगामी भारतीय आलोचकों में एक दुश्चिकित्स्य रोग यह भी है कि वे विद्या के किसी ग्रन्थ में अनुक्त किसी शब्द या मत से कुछ-न-कुछ अज्ञान-सम्बन्धी निष्कर्ष निकाल ही लेते हैं, यथा अष्टाध्यायी में अमुक शब्द नहीं है, अतः वह बाद का है; सांख्य के अमुक ग्रन्थ में अमुक विषय का प्रसंग नहीं है, अतः सांख्य में यह विषय बाद में आया, या वह विषय ग्रन्थकार की दृष्टि में असिद्ध था, या वह विषय उनको अज्ञात था; अहिंसा का विस्तृत विवरण जैनियों के ग्रन्थों में मिलता है, प्राचीन सांख्ययोग के ग्रन्थों में यह विषय सामान्यतः वर्णित है, अतः अहिंसा का ज्ञान क्रमशः विकसित हुआ; इत्यादि। इन आलोचकों को पता नहीं है कि भारत में किसी विद्या के किसी ग्रन्थ में उस विद्या का कुछ ही अंश (जितना ग्रन्थ-

(१) द्र० मेरा लेख—'संस्कृत के आचार्यों की पदार्थप्रतिपादनपद्धति' (अजन्ता नवम्बर ५४ का अंक)

[illegible] जाते हैं। [illegible] होता है अतः किसी विषय को [illegible] नहीं हो सकता। [illegible] अंश [illegible] वर्णित [illegible] तथा अवा- [illegible] किसी [illegible] कर सकते। [illegible] विद्या से परिचय [illegible] के लिए लिखा जाता था, न कि उस विद्या [illegible] आधुनिक [illegible] ये सब कालातीत हेत्वाभास या प्रकरणसम में आते हैं। हमने लेखान्तर में इस विषय का सुविशद विचार किया है, अतः यहाँ पुनः लिखित नहीं हो रहा है।

(५) अपना दृष्टिकोण सामर्थ्य या प्रमाण से सिद्ध या संगत न होनेवाले मत या पदार्थ को असम्भव या कल्पित कहना

पाश्चात्य आलोचकों में यह दोष दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है (इतिहास की वृद्धि के साथ साथ) और वे अपनी अशक्ति को प्रमाण मानकर सशक्त व्यक्तियों की कृतियों की असंभवता पर विचार करने का दुःसाहस करते हैं। उदाहरण यथा—

मूलर ने कहा था कि शंकर ८५ वर्ष तक जीवित थे। उनकी बुद्धि यह मानने के लिये संकुचित होती थी कि एक युवा कैसे इतने गहन ग्रन्थों की रचना कर सकता है? अतः 'मया पञ्चाशीतेरधिकमुपनीते तु वयसि' (गंगास्तोत्र) इस वचन को देखकर अशक्त आलोचकों ने यह निर्णय कर दिया कि शंकर ८५ वर्ष तो जीवित थे ही। उनकी बुद्धि में यह नहीं समझ में आया कि किसी भी दृष्टि से यह वाक्य वयः का निर्धारक यहाँ नहीं है। अन्य अनेक निर्धारक प्रमाणों से यह निश्चित है कि शंकर ३२ वर्ष की आयु में मृत हुए। पर यह सत्य इन आलोचकों से मान्य नहीं हुआ, केवल इसलिये कि इतनी कम आयु में एक व्यक्ति इतना बड़ा विद्वान् तथा कर्मी कैसे हो सकता है। भारतीय प्रजा जानती है कि ब्रह्मचर्य आदि के उत्कर्ष से शरीर और मन का कितना उत्कृष्ट परिणाम हो सकता है, बाद में जिससे अक्रम-ज्ञान (योगसूत्र ३। ५४) की भी उत्पत्ति होती है। वस्तुतः शंकर की [illegible] साधारण सी घटना है। भारत में इन्द्र, भरद्वाज, [illegible] आदि इतने अधिक विषयों के ज्ञाता (विशेषज्ञ) रह चुके हैं, जिनकी धारणा भी आजकल के अस्थिरमति आलोचक नहीं कर सकते। अपनी अशक्ति को प्रमाण मानना केवल पाप ही नहीं है, अपराध भी है। समय आ गया है कि हम इन अपराधियों को दण्ड दें।

दूसरा उदाहरण 'आयु के परिमाण सम्बन्धी' है। भारतीय इतिहास (घटना का यथावत् वर्णन; इतिहास का अन्य अर्थ भी भारतीय वाङ्मय में है) कहता है कि किसी समय मनुष्यों की आयु ४०० वर्ष (=चार सौ; 'वर्ष' शब्द से अन्य प्रकार का काल परिमाण भी लिया जाता है) होती थी, और क्रमशः वह परिमाण घटता आया है। इस पर पाश्चात्य आलोचक कहता है कि यह मत असंगत है, क्योंकि ऐसा देखा नहीं जाता या विज्ञान से सिद्ध नहीं है।

उत्तर में वक्तव्य यह है कि आप यह कैसे निश्चित कर पाते हैं कि विज्ञान से जो असिद्ध है, वह वस्तुतः असिद्ध है। प्रयोग- करने की जितनी शक्ति आधुनिक विज्ञान के पास है उसका निर्णय उस शक्ति के अनुसार ही होगा। आज विज्ञान जिसे अशक्ति के कारण सिद्ध नहीं कर पाता, कल वह शक्ति-वृद्धि के साथ २ उसकी सिद्धि करता है, अतः विज्ञान से असिद्ध होना वस्तुतः असिद्धि का ज्ञापक नहीं। हम आधुनिक विज्ञान का उतना ही अंश मानते हैं, जो प्रयोग से सिद्ध हो और जिस विषय में उसका प्रयोग नहीं है, उस विषय में उसका काल्पनिक (आनुमानिक नहीं; अनुमान तो प्रमाण होता है) निर्णय को नहीं मानते।

किंच अति प्राचीन काल में मनुष्य की आयु कितनी थी, इस विषय में विज्ञान की गति नहीं है, क्योंकि वह अपनी परीक्षा तात्कालिक मनुष्य पर कर नहीं सकता। यदि यह कहा जाय कि आधुनिक मनुष्यों के आयुपरिमाण को देखकर प्राचीनतम काल के आयुपरिमाण का निश्चय किया जायगा तो उत्तर में वक्तव्य है कि आप इस अनुमान को जितना सहज समझ रहे हैं, वस्तुतः यह निर्णय उतना सहज नहीं है। अनुमान के पहले आप व्याप्ति बनाएँगे, और जिन दृष्टान्तों से आप व्याप्ति बनाएंगे, उन से यदि कुछ अतिशय विशेष अनुमेय में है, तो अनुमिति में आपकी व्याप्ति प्रवर्तित नहीं हो सकती। आप कहेंगे अतिशय-विशेष है—इसमें प्रमाण? उत्तर में वक्तव्य है कि यह तो अनुमान का विषय नहीं है, प्रत्यक्ष

कार देना चाहते थे) विवृत होता है अतः किसी विषय की अनुक्ति से उस विषय का अज्ञान प्रमाणित नहीं हो सकता। पाणिनि की अष्टाध्यायी में शब्द-विद्या का बहुत कम अंश आया है। न्यायसूत्र में न्याय-विद्या के मुख्य-विषय-मात्र वर्णित हैं और आचार्य-स्वेच्छा से अनेक विशेष-विवरण तथा अवान्तर तथ्य कहे नहीं है। यह बात न्यायभाष्य में स्पष्ट लिखी है। वस्तुतः हम अनुक्ति से कुछ भी निर्णय नहीं कर सकते। भारत में आर्ष संस्कृत **ग्रन्थ उस विद्या से परिचय प्राप्त करने के लिए लिखा जाता था, न कि उस विद्या के सब विषयों के निरवशेष कथन के लिये।** आधुनिक ऐतिहासिकों ने इस सत्य को न जान कर ग्रन्थ की अनुक्तियों से जो कुछ निष्कर्ष निकाला है, वे सब कालातीत हेत्वाभास या प्रकरणसम में आते हैं। हमने लेखान्तर में इस विषय का सुविशद विचार किया है, अतः यहाँ पुनः लिखित नहीं हो रहा है।

(५) अपना दृष्टिकोण सामर्थ्य या प्रमाण से सिद्ध या संगत न होनेवाले मत या पदार्थ को असम्भव या कल्पित कहना

पाश्चात्य आलोचकों में यह दोष दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है (शक्तिह्रास की वृद्धि के साथ साथ) और वे अपनी अशक्ति को प्रमाण मानकर सशक्त व्यक्तियों की कृतियों की असंभवता पर विचार करने का दुःसाहस करते हैं। उदाहरण यथा—

मूलर ने कहा था कि शंकर ८५ वर्ष तक जीवित थे। उनकी बुद्धि यह मानने के लिये संकुचित होती थी कि एक युवा कैसे इतने गहन ग्रन्थों की रचना कर सकता है? अतः **'मया पञ्चाशीतिरधिकमुपनीते तु वयसि'** (गंगास्तोत्र) इस वचन को देखकर अशक्त आलोचकों ने यह निर्णय कर दिया कि शंकर ८५ वर्ष तो जीवित थे ही। उनकी बुद्धि में यह नहीं समझ में आया कि किसी भी दृष्टि से यह वाक्य वयः का निर्धारक यहाँ नहीं है। अन्य अनेक निर्धारक प्रमाणों से यह निश्चित है कि शंकर ३२ वर्ष की आयु में मृत हुए। पर यह सत्य इन आलोचकों से मान्य नहीं हुआ, केवल इसलिये कि इतनी कम आयु में एक व्यक्ति इतना बड़ा विद्वान् तथा कर्मी कैसे हो सकता है। भारतीय प्रजा जानती है कि ब्रह्मचर्य आदि के उत्कर्ष से शरीर और मन का कितना उत्कृष्ट परिणाम हो सकता है; बाद में जिससे अक्रम-ज्ञान (योगसूत्र ३। ५४) की भी उत्पत्ति होती है। वस्तुतः शंकर का विद्योत्कर्ष भारत की विद्या-परम्परा में एक साधारण सी घटना है। भारत में इन्द्र, भरद्वाज, ब्रह्मा आदि इतने अधिक विषयों के ज्ञाता (विशेषज्ञ) रह चुके हैं, जिनकी धारणा भी आजकल के अस्थिरमति आलोचक नहीं कर सकते। अपनी अशक्ति को प्रमाण मानना केवल पाप ही नहीं है, अपराध भी है। समय आ गया है कि हम इन अपराधियों को दण्ड दें।

दूसरा उदाहरण 'आयु के परिणाम सम्बन्धी' है। भारतीय इतिहास (घटना का यथावत् वर्णन; इतिहास का अन्य अर्थ भी भारतीय वाङ्मय में है) कहता है कि किसी समय मनुष्यों की आयु ४०० वर्ष (=सौर वर्ष; वर्ष शब्द से अन्य प्रकार का काल परिणाम भी लिया जाता है) होती थी, और क्रमशः वह परिमाण घटता आया है। इस पर पाश्चात्य आलोचक कहता है कि यह मत असंगत है, क्योंकि ऐसा देखा नहीं जाता या विज्ञान से सिद्ध नहीं है।

उत्तर में वक्तव्य यह है कि आप **यह कैसे निश्चित कर पाते हैं कि विज्ञान से जो असिद्ध है, वह वस्तुतः असिद्ध है।** प्रयोग करने की जितनी शक्ति आधुनिक विज्ञान के पास है उसका निर्णय उस शक्ति के अनुसार ही होगा। आज विज्ञान जिसे अशक्ति के कारण सिद्ध नहीं कर पाता, कल वह शक्तिवृद्धि के साथ २ उसकी सिद्धि करता है, अतः **विज्ञान से असिद्ध होना वस्तुतः असिद्धि का ज्ञापक नहीं।** हम आधुनिक विज्ञान का उतना ही अंश मानते हैं, जो प्रयोग से सिद्ध हो और जिस विषय में उसका प्रयोग नहीं है, उस विषय में उसका काल्पनिक (आनुमानिक नहीं; अनुमान तो प्रमाण होता है) निर्णय को नहीं मानते।

किंच अति प्राचीन काल में मनुष्य की आयु कितनी थी, इस विषय में विज्ञान की गति नहीं है, क्योंकि वह अपनी परीक्षा तात्कालिक मनुष्य पर कर नहीं सकता। यदि यह कहा जाय कि आधुनिक मनुष्यों के आयुपरिमाण को देखकर प्राचीनतम काल के आयुपरिमाण का निश्चय किया जायगा तो उत्तर में वक्तव्य है कि आप इस अनुमान को जितना सहज समझ रहे हैं, वस्तुतः यह निर्णय उतना सहज नहीं है। अनुमान के पहले आप व्याप्ति बनाएँगे, और जिन दृष्टान्तों से आप व्याप्ति बनाएँगे, उन से यदि कुछ अतिशय विशेष अनुमेय में है, तो अनुमिति में आपकी व्याप्ति प्रवर्तित नहीं हो सकती। आप कहेंगे अतिशय-विशेष है—इसमें प्रमाण? उत्तर में वक्तव्य है कि यह तो अनुमान का विषय नहीं है, प्रत्यक्ष

या प्रत्यक्षकारी का वाक्य (=शास्त्र) का यह विषय है। और चूंकि यहां विशुद्ध प्रत्यक्ष नहीं घट सकता, अतः द्वितीय कल्प (=शास्त्रवाक्य) का ही यहां ग्रहण होगा। हमारा प्राचीन इतिहास कहता है कि उस समय आयु-परिमाण ४०० था। अतः न्याय से यह मत प्रमाणित होता है। हां, यदि आप यह सिद्ध करें कि यह आप्त-वाक्य नहीं है (आप्त का लक्षण न्याय का सूत्र भाष्य १। १। ७ में द्रष्टव्य है) तो हमारा सिद्धान्त बाधित होगा, अन्यथा नहीं।

पाश्चात्य आलोचकों में सबसे बड़ा दोष यह है कि जब उनके किसी प्रमाण से किसी प्रमेय या सिद्धान्त की सिद्धि नहीं होती, तो वे झट से उस मत या प्रमेय को असिद्ध कह देते हैं[1]। यह एक रोग है, जिसकी चिकित्सा भारतीय विद्वानों को अब करनी चाहिए। इन अल्पधी आलोचकों को समझना चाहिए कि प्रमेय-ज्ञान प्रमाण-सापेक्ष ही होता है, और प्रमाण का स्तर जैसा होगा, प्रमेय का ज्ञान भी वैसा ही होगा। कोई पदार्थ है या नहीं—इसके अनुरूप पदार्थ-स्तरानुसार प्रमाण चाहिए अन्यथा यह स्पष्टरूप से कह देना चाहिए कि इस प्रमाण से इसकी सिद्धि नहीं होती। पुराणादि में इतने प्राचीन काल की घटना वर्णित है, आधुनिक आलोचक जिनकी प्राचीनता पर सन्देह करता है, या उस काल में ऐसी घटना की घटनीयता पर सन्देह करता है। उनसे स्वीकृत प्रमाणों से निश्चय ही उन घटनाओं की सिद्धि नहीं हो सकती, पर इससे वे घटना कल्पित नहीं हो सकतीं। एक ग्रामीण को यह विश्वास नहीं हो सकता कि कोई पदार्थ एक सेकेण्ड में लगभग एक लाख छियासी हजार मील चलता है, क्योंकि इस प्रकार की गतियों से उसका कुछ भी परिचय नहीं है, और न उसको सहसा कोई समझा ही सकता है, पर क्या यह तथ्य असिद्ध है?

इस दृष्टान्त से वैज्ञानिक कह सकता है कि गति की घटनीयता को दिखाकर हम विश्वास दिला सकते हैं, और पूर्वोक्त तथ्यों में यह बात चरितार्थ नहीं होती, तो उत्तर में वक्तव्य है कि कोई भी घटना स्वतः नहीं घटती, उसके लिये एक निश्चित बाह्य और आन्तर परिस्थिति चाहिए। विश्व परिवर्तनशील है—प्रतिक्षणं परिणामिनो हि सर्वे भावाः (तत्त्व-कौमुदी ५ कारिका)—और जिन परिस्थितियों में उन घटनाओं की संभाव्यता थी, आज चूंकि वे परिस्थितियां विद्यमान नहीं है, अतः उन घटनाओं की अनुवृत्ति नहीं हो सकती। आज सूर्य में कोई विलक्षणता आ जाय, तो पृथ्वी के सभी पदार्थों में ऐसा परिणाम हो जायगा कि कुछ दिन बाद वर्तमान काल में घटित घटनाओं को पूर्णतः अविश्वास्य समझा जायगा, (क्योंकि तब इस प्रकार के परिणाम नहीं होंगे)। पर क्या उस अविश्वास से वर्तमानकालिक घटनाएँ वस्तुतः असिद्ध होंगी?

पाश्चात्यों की इस अशक्ति का ही परिणाम है कि वे अति प्राचीन काल के ऋषियों को कल्पित (Mythical) कहते हैं। उनके अनुसार भृगु, अंगिरा आदि मिथिकल हैं (पर्जिटर का Ancient I. H. T. पृ. १८५) अत्रि भी काल्पनिक हैं (वही, पृ. १८८) इत्यादि। उनके चरण पर चलने वालों ने श्रीकृष्ण को भी मिथिकल बना दिया है। पर मिथिकल कहने का हेतु क्या है—यह कोई न्यायानुसारी पन्था हमें नहीं बताता। किसी एक प्रमाण से जो न सिद्ध हो, उसे हम कदापि कल्पित नहीं कह सकते, क्योंकि तब तो आँख से गन्ध की सत्ता सिद्ध न होने पर सुगन्धि द्रव्य भी मिथिकल हो जावेगा। प्रमेयकी प्रकृति के अनुसार प्रमाण की प्रकृति होनी चाहिए। अन्यथा प्रमाण विद्यमान प्रमेय को भी नहीं कहेगा। पर उससे प्रमेय की अविद्यमानता सिद्ध नहीं होती।

उपसंहार में वक्तव्य यह है कि यह लेख विशुद्ध न्याय-मार्ग का आश्रय कर लिखा गया है और केवल न्याय-विचार-मात्र किया गया है। यदि किसी में सामर्थ्य हो तो वे न्यायप्रयोग में दोष दिखा सकते हैं। विचार अतिसंक्षेप में किया गया है, अतः उदाहरणबाहुल्य नहीं है। भविष्य में प्रत्येक दोष पर अनेक उदाहरणों से विस्तृत विचार किया जायगा॥

(लेख के सब विचारों के साथ सहमत न होते हुये भी लेख बहुत उपादेय है। पाठक इससे लाभ उठावें, जो कोई लिखना चाहें लिखें—सम्पादक)॥

---

(१) इसका प्रसिद्ध उदाहरण भूविद्या के आचार्यों के कथन में मिलता है। जब वे कहते हैं कि इतने लाख वर्ष पहले पृथ्वी में कोई जीव नहीं था, तब इनको यह भी कहना चाहिए कि 'मेरे प्रमाणों के अनुसार जीव का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता' न कि वस्तुतः जीव नहीं था। पाश्चात्य वैज्ञानिकों की यह अशक्ति है कि उनके प्रमाण से जो सिद्ध नहीं होता, उसे वे असिद्ध मानते हैं। उनका प्रमाण ही इतना निर्बल है कि उससे पृथ्वी में सृष्टि से जीव का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, जो सांख्ययोग-विद्या से होता है। दृष्टिशक्ति की क्षीणता कभी पूर्ण दृष्टिशक्ति की समानता नहीं पा सकती।

कुछ वैदिक शब्द

[ले०—श्री० प्रो० साधुराम जी एम० ए०, देहली]

१. पुरुषः—

सृष्टि-क्रम उपस्थित करते हुए ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा है, है, प्रजापति के मन में आकांक्षा उठी 'बहु स्याम्'। उसने तप किया। इस तप से 'आपः' उत्पन्न हुए। वे प्रजापति की सन्तति एक-दूसरे को खाने लगी 'अन्योऽन्यम् आदन्'। घोर जीवन-संघर्ष था, सहस्रों का नाश हो गया। अन्त में ये 'यज्ञ-शेष' आपः 'पुरुषोऽभवन्'।

'आपः पुरुषोऽभवन्' का जिसे ऋग्वेद १०।९।९ में 'पर्यस्वान् अग्निः' कहकर संबोधित किया गया है, वह क्या यही नीहारिकामय, जाज्वल्यमान 'सहस्र-शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' नहीं है?

'स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्।
'ततो विश्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि।'
'स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिम् अथो पुरः।'

सर्गोदय वेला में, जब 'तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्'—समाज-विकास को पुरुष सूक्त के प्रथम मन्त्र से निःस्यूत करना युक्ति-संगत नहीं जँचता।

दीप्तिमयी नीहारिका के सम्बन्ध में 'पुरुष' का बृहदारण्यक उपनिषद् में यह निर्वचन उचित ही प्रतीत होता है कि 'यद् असौ अस्मात् सर्वस्मात् पूर्वम् औषत्, तत् पुरुषस्य पुरुषत्वम्।'

२. अन्नम्—

'अन्न' शब्द की व्युत्पत्ति यास्काचार्य ने दो धातुओं—√अद् तथा √नम् से की है। डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने यास्क की 'वैज्ञानिक-परीक्षा' करते हुए √अद् को स्वीकार किया है, √नम् को नहीं। यास्क की कसौटी है 'अर्थ-नित्यः परीक्षेत' जहां उद्भिदों के शास्त्रीय वर्गीकरण में गेहूँ, ज्वार, बाजरा आदि वनस्पति विवक्षित होंगे, जो पृथ्वी से सीधे डालों पर निकलकर, अन्त में, पकने के समय सिट्टे के बोझ से नीचे को झुक जाते हैं—उनकी वैज्ञानिक संज्ञा √नम् धातु के अनुसार 'अन्न' होगी, √अद् के अनुसार नहीं। प्रस्तुत निर्वचन को अशुद्ध कहना 'अवैज्ञानिक' है।

पुरुष-सूक्त (ऋग्वेद १०-९०-२) में आया है 'उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति'—देखिये उसी अन्न को पुरुष भी खाता है, जिसे अन्य पशु-पक्षी आदि सभी खाते हैं, किन्तु मनुष्य अन्न के द्वारा पशु-पक्षियों को तो मात करता ही है, स्वयं अपने को भी परास्त कर जाता है, 'अतिमानव' हो जाता है। अतिरोहति—अर्थात् निज प्राकृतिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है; स जातो अत्यरिच्यत...पुरः—सत्व-रजस्-तमोमयी त्रिगुणात्मक प्रकृति पुरुष की 'पुर' (देवपुरी) है—किन्तु इस पुरी में रहने वाला पुरुष (पुरि शेते) स्वतन्त्र है। इस 'पिण्ड' की छोटी सी पुरी में वह खं-स्वरूप है, विपुल 'ब्रह्माण्ड'—पुरी में ब्रह्म बनकर वह पुनः सर्वव्याप्त है। ऋषियों, वैज्ञानिकों, दार्शनिकों की भिन्न-भिन्न दृष्टि के अनुसार एक ही 'पुरुष' शब्द की व्युत्पत्तियाँ स्वभावतः भिन्न-भिन्न ही होनी चाहियें। ऐसा करना ही वैज्ञानिक वृत्ति होगी। विकास की दृष्टि से पुरुष के देवत्व तक पहुँचने के चार सोपान हैं—अन्न (मृत्यु)-प्राण-मन-आत्मा (अमृत)। आत्मा तुरीय है, देव है—अन्न-प्राण-मनोमय प्रकृति के त्रित बन्धन से मुक्त होकर (पुरः बंधन् त्रिपुर-दाह करता हुआ) वह मृत से अमृत हो जाता है। अतिमानस, अतिमानव, देव बन जाता है।

३. यमी—

ऋग्वेद १०।१० के यम-यमी परस्पर भाई-बहिन थे या पति-पत्नी?—पाणिनीय 'स्त्री-प्रकरण' इस समस्या का समाधान नहीं कर सकता। संपूर्ण सूक्त में एक ही बार यमी शब्द का प्रयोग प्रथमा के एकवचन में हुआ है, और वह विसर्गान्त है 'यमीर् यमस्य बिभृयाद् अजामि' (१०।१०।९)! अर्थात् व्याकरण के निर्देशानुसार 'यमी' का शब्द-प्रयोग यहाँ √यम् के यौगिक अर्थों में इष्ट है। तदनुसार यम-यमी गुरु के कुल में [आचार्य पुत्रों को और आचार्या पुत्रियों को

पृथक् पृथक्—सं०] शिक्षा अध्ययन कर रहे ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणी हैं। शिक्षा-काल में उनका सम्बन्ध भाई-बहिन का ही होना स्वाभाविक है; किन्तु यौवन में उसी यमी का यम को अपने पति-रूप में स्वयं वरण करना भी अस्वाभाविक नहीं है। सूक्त का रोमाञ्चमय वातावरण यमी की 'अत्यावधि प्रसुत' भावनाओं का उद्दीपक है।

४. ऋषिः—

ऋषिर्दर्शनात्, अर्थात् भाषा-विज्ञान की दृष्टि से ऋषि का √दृश् से वही संबन्ध है जो ग्रीक शब्द दकृ (dakru) का अश्रु से है। आदि 'द' विलुप्त है, किन्तु तुलनात्मक अध्ययन द्वारा 'शकुन्तला की वह खोई अंगूठी' हमें मिल गई है!

प्रसिद्ध दार्शनिक Spiegelberg ने १९५० में श्री अरविन्द के दर्शनों से दीक्षित होकर अपना पुनर्नामकरण किया था 'दर्शन-पर्वत' (√स्पश् + भृगु)। आर्य परम्परा का ज्ञान यदि उन्हें कुछ होता तो वह 'ऋष्यशृङ्ग' नाम को अपनाते।

५. अस्मेराः—

'अपांनपात्' सूक्त में ["तम् अस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परियन्ति यह्वीः"] आए 'अस्मेराः' विशेषण का अर्थ सभी ने 'अस्मयमानाः' अर्थात् न मुस्कराती हुई किया है। युवा-युवतियों के जल-विहार से इस नीरसता का क्या सम्बन्ध? और 'यह्वीः' की कामोद्दीपना को अस्मिति कैसे तिरोहित अथवा शान्त कर सकती है?

यहां भी ऋषि-शब्दवत् आदि दकार विलुप्त है। वस्तुतः मूल शब्द है—दस्मेराः = दर्शक की आंखों को, दर्शकों के मन को अपनी रूप-मोहिनी से विमोहित कर देने वाली (युवतियाँ)।

ऋग्वेद १०-११-४ में आया है—"यदू ईं वृणते दस्मम् आर्या अग्निम्...", आर्या कन्या सौन्दर्य से देदीप्यमान पति को वरती है...।

६. ऋतम्—

कहीं-कहीं आदि वकार का अदर्शन भी लक्षित होता है। यथा—वृषभ-ऋषभ वर्चस्-ऋचा इत्यादि। यही सम्बन्ध ऋत-ऋतु तथा वरुण का है, पुनः वारि-ऊर्मि-अर्णांसि-अर्णव तथा वरुण का है। वरुण के ऋत-ऋतु स्वरूप नियत अपरिहार्य हैं। वरुण नियन्ता है, जल-थल के धर्मों के एकमात्र नियामक हैं। जिस प्रकार वर का एक शब्द वधू के लिये पर्याप्त होता है, वरुण के ये नियम सम्पूर्ण प्रकृति के लिये स्वतः पर्याप्त हैं, वरेण्य हैं, व्यापक रूप से क्षेत्र-क्षेत्र पर हावी हैं।

अर्थात् ऋत की उत्पत्ति हुई—वृणोतेः से। वरुण के पाश—वरुण की निर्निमेष आँखें (स्पशः) हैं।

७. इन्द्रः—

इन्द्रो भिन्दतेः, अर्थात् लुप्तादिभकारो भिन्द्र एव इन्द्रः, अन्यत्र पुरन्दरः।

इन्द्र—गरुत्मान् (सूर्य) जीमूतवाहन (मेघ) को छिन्न-भिन्न कर डालता है, नाग की भ्रान्ति से। पश्चात्-ताप से खिन्न गरुड़ पुनः स्वर्ग से अमृत (जल) की वर्षा करता है—मृत नागों की हड्डियाँ (सूखी खेतियाँ) लहलहा उठती हैं। 'नागानन्द' के बोधिसत्त्व-उत्सर्ग का प्राकृतिक वैदिक रूप यही है।

इन्द्र के सूर्य होने में ऋग्वेद के ८. ९३. १, ४ आदि मन्त्र प्रमाण हैं—

उद् घेद् अभि श्रुतामघं वृषभं नर्यापसम्। अस्तारम् एषि सूर्य ॥१॥ यद् अद्य कच्च वृत्रहन् उदगा अभि सूर्य। सर्वं तद् इन्द्र ते वशे ॥४॥

८. गीः, गिरा गिरि—

इन तीनों की व्युत्पत्ति एक ही धातु √गॄ से संभव है। अर्थात् गिरि = पर्वत के समान स्थिर, अच्युत वाणी का नाम ही गिरा अथवा गीः होना चाहिये।

"सत्येनोत्तभिता भूमिः"—और सत्य बोलने वाले ही, वचन के पक्के लोग ही देवता (गीर्वाण) होते हैं; देवता कोई चन्द्र-मण्डल के निवासी पारलौकिक पुरुष नहीं। अतः √गॄ धातु का अर्थ 'स्थितौ' होना चाहिये।

९. युगम्

'युगम्' शब्द का सम्बन्ध योषा, युवा-युवती, युगल से है। परन्तु 'युगानि का अर्थ ऋग्वेद १. ११५. २ में किसी ने बैलों के कन्धे पर पड़े जुए कर दिया है, तो किसी ने युग-युगान्तरः

"सूर्यो देवीम् उषसं रोचमानां मर्यो न योषाम् अभ्येति पश्चात्। यत्रा नरो देवयन्तो युगानि वितन्वते प्रति भद्राय भद्रम् ॥"

प्रभाती की वेला में यह मुग्ध रोमाञ्च नित्य होता रहता है! सूर्य और उषा लीला में रत हैं। पृथ्वी लीला की स्थली है। प्रकृति के आंगन में यत्र-तत्र युगल-युगल विहार-रत

है—सब कहीं मन की मौज लुट रही है, मनुष्य भी शिव-पार्वती की कैलाश-लीला का अनुसरण कर रहे हैं।

'मर्यो न योषाम् अभि-एति पश्चात्'—

की संगति किसानों के जुओं (युगानि) से और देव-भक्तों (देव-यन्तः) से कैसे बैठ सकती है ? 'रोचमाना' उषाओं से विलसित 'भिन्न-रुचिर् हि लोकः' में (विद्वानों की) यह शुष्क-वृत्ति, यह अ-रुचि कितनी अखरती है !

अतः 'युगानि' = युगल, जोड़े; 'देवयन्तः' = खेलते कूदते, विहार करते; 'भद्राय' = मौज बहार के लिये ॥

वैदिक सरस तथा सोम

[ले०—श्री डा० सूर्यकान्त जी एम०ए०डी०फिल०, हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस]

सनातनकाल से आर्यों के घरों में सरस्वती की पूजा होती आ रही है। किन्तु सरस्वती क्या है; और वह सरस् क्या था, जिसके आधार पर यह नाम पड़ा था, इन बातों पर कम विद्वानों का ध्यान गया होगा। आजके प्रबन्ध में हमें इन्हीं बातों पर विचार करना है।

वेदों में ऐतिहासिक पक्ष को मानने वाले विद्वान् ऋग्वेद में लगभग ४० बार आने वाले सरस्वती शब्द से इस नाम की नदी को लेते हैं, जो वैदिक युग में कुरुक्षेत्र के समीप बहा करती थी, किन्तु कलिकाल में आकर धरती में समा गई। ब्राह्मणों में जगह जगह आता है कि सरस्वती के तटों पर यज्ञयागादि की धूम रहती थी और आर्यों की संस्कृति एवं सभ्यता का विकास इसी पावन नदी की परिधि में हुआ था।

ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों में सरस्वती की विशालता एवं उसके असाधारण जल-प्रवाह की ओर संकेत आता है, जिसके आधार पर कतिपय विद्वान् सरस्वती से सिंधु नदी को भी लेते हैं। हो सकता है कि उनकी यह धारणा सही हो; किन्तु संभव यह भी है कि कुरुक्षेत्र-प्रवाही सरस्वती भी एक दिन सिंधु के समान एक विशाल नद रही हो और वह या तो स्वयं अथवा दृषद्वती के साथ मिलकर समुद्र में गिरती रही हो। कुछ भी हो, ऐतिहासिक पक्ष में इतना तो निश्चित है कि सरस्वती आर्यों की एक पावन नदी थी, जिसकी परिधि में आर्यों का यज्ञ-यागादि कर्मकांड फूला फला था, एवं उनके आचार-शास्त्र का विकास हुआ था। ऋग्वेद के पारायण से ज्ञात होता है कि वैदिक आर्यों की दृष्टि में सरस्वती का वही आदर था, जो कि बाद के युग में गंगाजी को प्राप्त हुआ। ऋग्वेद के २।४१।१६ मंत्र में सरस्वती को अंबितमा (माताओं में श्रेष्ठ) नदीतमा (नदियों की मूर्धन्य) एवं देवितमा (देवियों की अग्रणी) कहकर पुकारा गया है; जिससे प्रतीत होता है कि इस नदी के प्रदेश में पनपने वाली संस्कृति में संसार को छोड़ देने के बजाय संसार में रहकर ही अभ्युदय की प्राप्ति पर बल दिया गया होगा। श्रीमद् भगवद् गीता में ऐसी संस्कृति को लोक-संग्राहिका कह कर पुकारा गया है और उसमें आने वाले कुलगार्हपत धर्म की विशेषता इसी बात में है। बौद्धों के कुरुधम्म जातक में इसी कुलधर्म की मीमांसा है।

सरस्वती शब्द की व्युत्पत्ति देते समय सायण ने सभी जगह सरस् का अर्थ जल किया है; किन्तु जल तो सभी नदियों

१. विवरण के लिये देखो वैदिक इंडेक्स 'सरस्वती'।

में प्रायः एक समान होता है; इसलिए यह कल्पना करना कि आर्यों ने जल की विशेषता के कारण सरस्वती की पूजा आरंभ की थी—उचित नहीं प्रतीत होता।

बृहद्देवता के षष्ठ अध्याय के १०९ श्लोक से सरस्वती शब्द के मौलिक अर्थ पर प्रकाश पड़ता है। प्रकरण इस प्रकार है:—

उपक्रम्य तु देवेभ्यः सोमो वृत्रभयार्दितः।
नदीमंशुमतीं नाम्नाभ्यतिष्ठत् कुरून् प्रति॥
तं बृहस्पतिनैकेन अभ्ययात् वृत्रहा सह।
योत्स्यमानः सुसंहृष्टैर् मरुद्भिर्विविधायुधैः॥
दृष्ट्वा तानायतः सोमः स्वबलेन व्यवस्थितः।
मन्वानो वृत्रमायान्तं जिघांसुमरिसेनया॥
व्यवस्थितं धनुष्मन्तं तमुवाच बृहस्पतिः।
मरुत्पतिरयं सोम एहि देवान् पुनर्विभो॥
श्रुत्वा देवगुरोर्वाक्यम् अनर्थं वृत्रशंकया।
सोऽब्रवीन्नेति तं शक्रः स्वर्ग एव बलाद् बली।
इयाय देवानादाय तं पपुर्विधिवत्सुराः॥ ५॥

उक्त श्लोकों में वृत्र से भय खाकर सोम का कुरु-प्रदेशवर्ती अंशुमती नामक नदी में प्रविष्ट होना, वहाँ पहुंचकर देवताओं द्वारा उसकी मनौती, चाटुकारिता, और अंत में उनके द्वारा उसका पान किया जाना वर्णित है। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर निष्कर्ष निकलता है, कि आदिकाल में आर्य लोग किसी ऐसे प्रदेश में रहा करते थे, जो सोम की उपज के लिये प्रख्यात था। वहां वे आज़ादी के साथ सोम पीते थे और उल्लास एवं उमंगों के ज्वार में आकर अपने इष्ट देव का गुणगान किया करते थे। बाद में पीछे की ओर से उनपर शत्रुओं का दबाव पड़ा और वे अपनी सभ्यता के प्रतीक सोमदेव को साथ लेकर कुरु-प्रदेश की ओर आगे बढ़े। कुछ प्रदेश में पहुंच कर उन्होंने डेरे डाल दिये और यज्ञ यागादि का विस्तार करने के साथ साथ अपने आचार शास्त्र को भी सुव्यवस्थित बनाया। सोम की उत्पत्ति वैदिक साहित्य में ऋजीक पर्वत (९. ११३. २) पर बताई गई है जोकि, हो न हो, हिमालय की ही कोई श्रेणी रही होगी; और संभवतः यह शैल-श्रेणी मानसरोवर के आस पास कहीं रही हो। तभी तो हमारे पुराणों में कैलाश तथा मानसरोवर की महिमा का अनोखा विस्तार दिया गया है। सोम के इस उपाख्यान से आर्यों की उत्पत्ति का मूल स्थान ऊपरी हिमालय ठहरता है; और इस मंतव्य से हर्नले के उस मत की पुष्टि हो जाती है, जिसके अनुसार आर्य लोग भारत में उत्तर-पश्चिम की ओर से न आकर पर्वत प्रान्त की ओर से उतरे थे।

(२)

अंशु शब्द का ऋग्वेद में उसके विविध रूपों में प्रयोग हुआ है और प्रायः सभी स्थलों पर उसका अर्थ सोम अथवा सोमलता है। फलतः अंशुमती का अर्थ हुआ वह नदी, जिसमें अथवा जिस पर, सोम है, अर्थात् ऐसी नदी, जिसके तटों पर सोमपायी एवं सोमयाजी आर्य बसा करते थे। वैदिक साहित्य से यह बात सुव्यक्त है कि वैदिक युग में कुरुओं का प्रदेश सोमयागों के लिए ख्यात था; और हो न हो, वेदों की अंशुमती नदी इसी प्रदेश में कहीं प्रवाहित रही होगी।

सोम के उक्त उपाख्यान का संकेत ऋग्वेद (८। ९६। १३-१५) में इस प्रकार आता है:—

अवद्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठद्
इयानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः।
आवत् तमिन्द्रः शच्या धमन्तम्
अप स्नेहितीर्नृमणा अधत्त॥

द्रप्समपश्यं विषुणे चरन्तम्
उपह्वरे नद्यो अंशुमत्याः।
नभो न कृष्णमवतस्थिवांसम्
इष्यामि वो वृषणो युध्यताजौ॥

अध द्रप्सो अंशुमत्या उपस्थे
अधारयत्तन्वं तित्विषाणः।
विशो अदेवीरभ्याचरन्तीर्
बृहस्पतिना युजेन्द्रः ससाहे॥

उक्त मन्त्रों के दो शब्दों पर ध्यान देना आवश्यक है; और वे शब्द हैं द्रप्स एवं अंशुमती। अंशुमती का अर्थ हम सोमवाली ऊपर कर चुके हैं, और इसी अर्थ की पुष्टि करता है द्रप्स शब्द। द्रप्स की व्युत्पत्ति सायणने "द्रुतं सरतीति द्रप्सः" बताई है और उन्होंने इसकी सिद्धि में "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" का सहारा लिया है। हमें सायण की यह व्युत्पत्ति युक्ति संगत नहीं प्रतीत होती और हम द्रप्स की व्युत्पत्ति गमनार्थक द्रा धातु से और भक्षणार्थक प्सा (मूल धातु भस्) धातु से मानते हैं। उदात्त स्वर के प्रत्यय पर चले जाने के कारण द्रा का ह्रस्व हो जाना स्वाभाविक है। द्रा और प्सा इन दो धातुओं से द्रप्स की निष्पत्ति मानने

पर हमें इस शब्द का एक अनोखा अर्थ हाथ लगता है, जिसमें सोम-पदार्थ की गतिमत्ता एवं भोज्यता ये दोनों ही विशेषताएँ एक साथ संपुटित हो जाती हैं। गति एवं त्वरा का उत्तम प्रतीक होने के कारण हमने सोम को द्रा धातु से बनाया है और भोजन का पोषकतम प्रतीक होने के कारण हमने उसका सम्बन्ध प्सा (भस्) धातु के साथ बताया है। और निश्चय ही वैदिक आर्यों ने कुछ सोचकर ही अपने इस पावन एवं पोषक रस को यह अनोखा नाम दिया था। जिसका विशेषण करने पर हम जीवन के सार-भूत परम रस परब्रह्म तक पहुँच जाते हैं, जो कि अपनी स्वाभाविक गति के कारण संसरणशील संसार एवं गमनशील जगत् का प्रवर्त्तक है और अपनी रस रूपता के कारण विश्व के अणु-अणु को प्रेम-पाश में बाँधे हुए है (देखो ऋग्वेद ९. ११३)। जीवन के इसी परम रस को पीकर वैदिक आर्य गा उठते थे:—

"अपाम सोममममृता अभूम"।

यों तो ऋग्वेद में जगह-जगह सोम का अनूठा वर्णन आता है। किन्तु ऋग्वेद का नवम मण्डल तो बना ही सोम की अर्चना के लिए है; और इसकी रचना में रचयिता ने कवित्वकला के वे सारे ही उपकरण सजा दिए हैं, जो कि अपने सीमित रूपों एवं अपनी परिमित संख्या में ही विश्व के अमर कवियों की वाणी में साकार हुआ करते हैं।

निश्चय ही कविता का प्रमुख उपकरण एक प्रकार का अलौकिक उन्मेष है, जिसका आलोक खिलते ही कवि का हृदय माया से अनावृत हो जाता है। और तब विश्व की अशेष विभूतियाँ उसमें एक साथ प्रतिफलित हो जाती हैं और उसकी विश्वरूपा वाणी को विश्वजनीन तथ्यों के प्ररोचक स्तवन के रूप में प्रवाहित कर देती हैं। इस विश्वजनीन उन्मेष का अवतरण होते ही क्रौञ्च-मिथुन एक पक्षि-मिथुन न रहकर भारतीय आचार एवं संस्कृति के पुण्यतम प्रतीक दशरथ एवं उनकी रानियों के रूप में बदल जाता है जिनके यशोगान में आदिकवि ने कल्पना के वे सारे ही अवदात तन्तु संकलित कर दिए हैं, जिनमें उपाहित होकर हमारे मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम एवं विश्ववंद्या जानकी इस धराधाम पर अवतीर्ण हुए हैं।

और जब किसी विश्व कवि के अलौकिक उन्मेष में तवस् और त्वरा का ज्वार आता है और जब वह अपनी सूक्ष्म निरीक्षिका की अलौकिक रई से विश्व सागर का मंथन करता है, तब हमें शेक्सपीअर की वे अनूठी रचनाएँ प्राप्त होती हैं, जिनमें लेडी मैकबेथ की क्रूरता का वर्णन करते समय विश्व कवि की वाणी पर वे सभी दानवी शक्तियाँ आ खड़ी हुई हैं; जिन्हें देख पाठक अवाक् रह जाता है।

उन्मेष और उत्थान की यह उत्तुङ्गता हमें वैदिक आर्यों के सोम-वर्णन में पराकाष्ठा को पहुँची मिलती है। यहाँ पहुँच कर सोम एक पेयमात्र न रहकर आर्यों की तवस-त्वरा का और उनके ऋत-क्रतु का उत्तम प्रतीक बन गया है और उसमें हमें आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक विभूतियों के वे सारे ही रूप निखरे हुए दीख पड़ते हैं; जो कि हमें विश्वमिन्वा उषा में मनोजवा दधिक्रा नामक अश्व में, अंतरिक्ष-प्रदीपी प्रभञ्जन में एवं व्योमवाही आदित्य में फैले हुए दीख पड़ते हैं। ऋग्वेद के नवम मंडल के अनुसार जीवन का चरम लक्षण गति, ऋत, क्रतु अथवा धर्म ठहरता है और इसका उत्तम प्रतीक आर्यों ने सोम को माना है।

जीवन के गतितत्त्व को व्यक्त करने के लिए आर्यों ने सृ धातु का प्रयोग किया है, और इसी एक धातु से उन्होंने संसार (जगत् = चलने वाला) सरित् नदी, सरण्यु "क्षिप्रगामी सरपस् "सरपट दौड़नेवाला", सरमा 'भागने वाली', (= दूती; द्रु 'भागना'), एवं सरयु (= सरित्) आदि की रचना की है। ऋग्वेद के ३. ५३. १५-१६ मंत्रों में प्रयुक्त हुए ससर्परी शब्द की व्युत्पत्ति इसी सृ धातु से करके उसका अर्थ 'सर्पणशील वाणी' बताकर सायण ने भारत की एक अटूट विचारधारा की ओर संकेत किया है। हम सरस्वती में आने वाले सरस् शब्द की व्युत्पत्ति भी सृ धातु से मानते हैं और सरस् का अर्थ 'सरणशील' सोम करते हैं। द्रप्स शब्द का संकेत इसी सोम की ओर है और अंशुमती नदी में बृहद्देवता ने इसी सोमदेव का प्रवेश सूचित किया है।

फलतः अंशुमती = सरस्वती = सोमवती ये तीनों ही पर्याय वाचक शब्द ठहरते हैं; और सरस्वती का अर्थ 'जलवाली' न होकर 'सोमवाली' ठहरता है। और ज्यों ही हम सरस्वती का अर्थ 'सोमवाली' समझ लेते हैं, त्यों ही हमारे लिए इस नदी द्वारा सिंचित-पूत प्रदेश की आर्यावर्त संज्ञा क्यों पड़ी, इस बात का रहस्य खुल जाता है; क्योंकि आर्यों के सोमसिक्त धर्म कर्म का विकास कुरुओं के इसी क्षेत्र में हुआ था; और कुरुओं के क्षेत्र की इस विशेषता को हृदयगत करते ही हम श्रीमद् भगवद् गीता के प्रथम श्लोक में कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र क्यों कहा है, इस बात को आसानी से समझ लेते हैं।

(३)

निश्चय ही गति की दृष्टि से शब्द-तत्व सूर्य-रश्मियों से टक्कर लेता है; और उसकी इस गति को देखकर ही हमारे दार्शनिकों ने इसे विभु आकाश का गुण माना है। गुण एवं गुणी का तादात्म्य बताने के लिये उन्होंने आकाश का दूसरा नाम ही 'नभस्' रख दिया है, जिसकी व्युत्पत्ति शब्दार्थक नभ् धातु से है, जो कि उदात्त स्वर के र प्रत्यय पर चले जाने के कारण, न के अ में बदलने पर 'अभ्र' के रूप में गरजने वाले जीमूत को द्योतित करता है। वाणी की गतिमत्ता पर ध्यान देकर ही सरस्वती शब्द का दूसरा अर्थ यास्कादि ने सर्पणशील वाणी किया है, और हो सकता है कि उनकी यह धारणा युक्ति-संगत हो।

किन्तु नदी-वाचक सरस्वती शब्द में बृहद्देवता के अनुसार सरस् का अर्थ सोम मान लेने पर सामंजस्य की दृष्टि से, सरस्वती शब्द में भी सरस् का अर्थ सोम मानना न्यायसंगत है। और जब हम सरस् शब्द की यथार्थ गरिमा को हृदयगत करने के बाद वाणीवाचक सरस्वती शब्द पर विचार करते हैं, तब हमारे संमुख उसका अत्यन्त ही मंगलकारी रूप उभरता है, जिसकी सोमपायी मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने सूनृता (सु + ऋता), सूनरी, ऋतंभरा, विश्वरूपा, विश्वमिन्वा एवं सर्सपरी आदि अनेक नामों से आराधना की है, और जिसके मंत्र मोतियों के स्यूमन (१. ११३. १७) अर्थात् लड़ी अथवा मालाएं गूंथ कर वे वेद पुरुष पर चढ़ाते न अघाया करते थे। और इस तात्विक दृष्टि से विचार करने पर सरस्वती हमारी प्राकृत (प्राकृत जन प्रयुक्त) भाषाएं न होकर आर्यों की ऋतंभरा वैदिक वाणी ठहरती है; जो अपनी सोम-जन्य शाश्वत सर्पण शक्ति द्वारा कल्प कल्पान्तरों के प्रारम्भ में नियत रूप से आदि ऋषियों की वाणी में व्यक्त होती आ रही है और मानव को ऋतु, क्रतु एवं धर्म का मंगल मार्ग दिखाती रही है। कल्प कल्पान्तरों से चली आ रही अपनी सरस्वती पूजा में हम इसी विश्ववंद्या सरस्वती की आरती उतारते आये हैं।

(४)

ऋग्वेद में अग्नि, इन्द्र और आदित्य-स्तुति के सूक्त भरे पड़े हैं; और इन्द्र की स्तुति में तो वैदिक आर्य ने सचमुच कमाल ही कर दिखाया है। इन्द्र आर्यों का अपना पुराना देव है और शुष्मता एवं पौरुष का वह ज्वलन्त प्रतीक है। इन्द्र के सभी पौरुष कृत्यों का वैदिक आर्य ने सोम के साथ संबन्ध जोड़ा है, जिसे पीकर वह वृत्र को पचारता और युद्ध में पछाड़ देता है। शंबर जैसे दानवों को वह हंसते हंसते पहाड़ों से नीचे मार गिराता है। सोम पीकर इन्द्र की पोरी पोरी में बिजली चमक जाती है और सोम पीने के उपरान्त जब वह सार्वजनिक श्रमदान में जुटता है, तब अकेला ही सात-सात नदियां प्रवाहित कर देता है और उन्हें जैसे और जिधर चाहे ठेल देता है। ऋग्वेद में सोम और इंद्र का कुछ तादात्म्य जैसा संबन्ध बन गया है।

इंद्र के अनेक नामों में उसका एक नाम 'सरस्वान्' भी है; और निश्चय ही इन्द्रवाची सरस्वान् शब्द का अर्थ 'पानीवाला' न होकर 'सोमवाला' कहीं अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होता है, क्योंकि इन्द्र के सहज प्रकाश का उपादान वेद के अनुसार जल न होकर सोम ही है।

बृहद्देवताकार अपने इस श्लोक में:—

सरांसि घृतवन्त्यस्य सन्ति लोकेषु यत् त्रिषु।
सरस्वन्तमिति प्राह वाचं प्राहुः सरस्वतीम्॥

परंपरागत कुछ बहकी सी बात कह गये हैं और उनके इस कथन में हमारी आस्था नहीं है। इन्द्र के अशेष पराक्रमों में सोमपान का महत्व सुव्यक्त है; और हर कोई समझदार व्यक्ति उन पराक्रमों के द्वारा स्वतन्त्र होने पर नदी के रूप में प्रवाहित होने वाले जलौघ को सरस्वान् का आधार न बता कर उन पराक्रमों के प्रवर्तक सोम को ही इन्द्र के सरस्वान् नाम का आधार मानना उचित समझेगा। उपकरण की महत्त्वख्यापना के उद्देश्य से ही इन्द्र के वज्री, वज्रबाहु, वज्रपाणि आदि अनेक नाम पड़े हैं। इन्द्र के सरस्वान् नाम का आधार सोम होने के कारण उसका एक नाम ब्रह्मणस्पति अर्थात् ब्रह्मन् = प्रार्थना अथवा ऋक् का स्वामी भी पड़ गया है। ऋग्वेद के ८। ३८। १० :—

आहं सरस्वतीवतोर्
इन्द्राग्न्योरवो वृणे।
याभ्यां गायत्रमृच्यते॥

मंत्र में 'सरस्वतीवतोः' की व्याख्या 'याभ्यां गायत्रमृच्यते' के द्वारा करके वेद ने सरस्वान् शब्द के इसी अर्थ की ओर संकेत किया है।

(५)

ऋग्वेद के चतुर्थ मंडल का २६ वां सूक्त इस देश के अध्यात्म शास्त्र में एक अनोखी कड़ी है। इसकी उत्थानिका इस प्रकार है:—

अहं मनुरभवं सूर्यश्च
अहं कक्षीवां ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जे
अहं कविरुशना पश्यतामा ॥
अहं भूमिमददामार्याय
अहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय।
अहमपो अनयं वावशानाः
मम देवासो अनु केतमायन् ॥

ऋग्वेद के इन मंत्रों में हमारी अद्वैतात्मक अध्यात्म विद्या का परम तत्व छिपा हुआ है। साथ ही 'मम देवासो अनुकेतमायन्' अर्थात् 'देवता मेरे प्रकाश के पीछे पीछे चले' उस गंभीर ऐतिहासिक तत्व का निर्देशक है, जिसका संबन्ध कि हम देवताओं के द्वारा की गई सोम की खोज के प्रकरण में बृहद्देवता में देख चुके हैं। सूक्त के मध्य में इन्द्र के द्वारा सोमाहरण का रूपक मनोरम संपन्न हुआ है, जिसका उपसंहार इस प्रकार किया गया है:—

आदाय श्येनो अभरत् सोमं
सहस्रं सवाँ अयुतं च साकम्।
अत्रा पुरंधिरजहादरातीर्
मदे सोमस्य मूरा अमूरः ॥

अर्थात् सोमाहरण के उपरान्त अमूर (=विद्वान्) पुरंधि (=इन्द्र) ने सोम के उन्मेष में अराति (अ+दाता) शत्रुओं को पीछे छोड़ दिया। और जब सोम-पान के अनन्तर इन्द्र को परम चैतन्य का प्रत्यक्ष हो गया, तब उसे:—

गुड़सा मीठा है भगवान्
बाहर भीतर एक समान ॥

चारों ओर मधुरस का आसार प्रवाहित होता दीखने लगा और तब उसने अनुभव किया कि अतीत, वर्तमान एवं भविष्य के पदार्थ मात्र में वह स्वयं प्रवर्तक के रूप में लीला कर रहा है, और उसकी यह लीला भी, क्योंकि वह स्वयं इसे खेल रहा है, इसलिये उससे पृथक् नहीं है। ऋग्वेद का यह सूक्त अध्यात्म दर्शन के प्रवर्तक सोम की गरिमा को ख्यापित करता हुआ हमें उसकी व्युत्पत्ति की ओर भी अग्रसर करता है। हम ऊपर देख चुके हैं कि अपने 'रसण' (=गात) धर्म के कारण सोम का नाम सरस् पड़ा, उसे पीने के कारण इन्द्र की सरस्वान् संज्ञा हुई, और उसका अपने भीतर प्रवेश होने के कारण अंशुमती की कोख सुची हुई। अब आइये स्वयं सोम शब्द की व्युत्पत्ति पर।

हम भी सोम शब्द की व्युत्पत्ति अभिषवार्थक सू धातु से मानते हैं, जिसके 'सुनोति' आदि रूप चलते हैं। किन्तु साथ ही प्रेरणार्थक सू धातु से भी सोम की व्युत्पत्ति संभव है, जिससे सविता (=चराचर का प्रेरक) आदित्य की यह संज्ञा पड़ी है। दोनों धातु अपने मूल रूप में एक रहे होंगे, क्योंकि अर्थ दोनों का वास्तव में एक ही है। बाद में सोम के 'प्रेरण' (पीडन) में सु धातु रूढ हो गया और उसके सुनोति आदि रूप बँध गए, जबकि प्रेरणार्थक सू धातु के सुवति आदि रूप चलने लगे। इससे भी आगे चलकर सू धातु का उत्पादन अर्थ प्रकट हुआ, जिसके रूप सूते आदि प्रख्यात हुए। ग्रीक में भी हमें इन धातुओं का इसी प्रकार का विकास दीख पड़ता है, और इस बात से हमारी उक्त धारणा की प्रौढता होती है।

वैदिक सोम की व्युत्पत्ति में हमें ये तीनों ही धातु अपने मौलिक रूप में एक साथ सजे दीख पड़ते हैं। और जब हम अभिषवार्थक, प्रेरणार्थक एवं उत्पादनार्थक सू धातु से सोम की व्युत्पत्ति करते हैं, तब हमारे संमुख सोम शब्द का अत्यन्त मनोहारी एवं व्यापक अर्थ उघड़ आता है, जो कि पेय पदार्थ से हटाकर हमें उस पर ब्रह्म की ओर ले जाता है, जिसके उपहित रूप से इस लीलामय विश्व का प्रसव एवं प्रेरण हुआ है। सोम शब्द के 'प्रेरण' अर्थ पर ध्यान देते ही हमें जगत् (=चलनेवाला) एवं संसार (=सरण करने वाला) इन दोनों शब्दों का यथार्थ रहस्य प्रकट हो जाता है, और जब हम संसार और सोम इन दोनों शब्दों को मिलाकर उन पर ध्यान देते हैं, तब हमें यह सोम ही संसार को प्रवर्तित करता दीखने लगता है और यह सोम ही संसार के कण-कण को आपस में संश्लिष्ट करके उन्हें धारण करता दीखने लगता है; और यही है जीवन का चरम सामरस, जिसे उपनिषदों ने:—

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।

कहकर बार बार, भाँति भाँति के शब्दों से याद किया है। इस सोम का आस्वादन करते ही आर्यों का हृदय अलौकिक उन्मेष से खिल उठता था और उनकी ऋतंभरा वाणी:—

अहं मनुरभवं सूर्यश्च

के रूप में फूट पड़ती थी। उपनिषद् के महावाक्य 'तत् त्वम् असि' का यथार्थ आशय यही है।

निश्चय ही नाना काल एवं नानादेश के संतों की वाणी को यही सोम रस मुखरित करता आया है और उन्होंने

अपनी निगूढ़ अनुभूतियों में इसी रस का आस्वादन करके जीवन की मर्मान्तक वेदनाओं में भी परम आनन्द का स्रोत पाया है; और सचमुच जिस प्रकार पीसने पर काष्ठमय सोम से अमर सोम रस का प्रस्राव होता है, उसी प्रकार जब कलिमय वेदना में से सच्चिद् रूप आनन्द का प्रस्राव होने लगे, तभी समझो कि साधक पर सोम का जरूर कारगर हुआ है, नहीं तो काष्ठमय सोम तो ऋजीक पर्वत की हर झाड़ी पर फैला रहता है, उसमें अमरता कहाँ? उसमें आनन्द का उद्रेक कहाँ? इस प्रकार हम वैदिक युग से आज तक के सार्वदेशिक संतों की वेदना में उसी सोम का रस बहता हुआ देखते हैं, जो कि प्रकाश-पुंज इन्द्र को प्राप्त हुआ था, जिसे वामदेव और शुकदेव ने पिया था और जो हमारे ऋग्वेद के अक्षर-अक्षर में छल-छलाता दीख पड़ता है।

(६)

ऋग्वेद का २-३-८ मंत्र इस प्रकार है:—

सरस्वती साधयन्ती धियं नः
इडा देवी भारती विश्वमूर्तिः।
तिस्रो देवी स्वधया बर्हिरेदम्
अच्छिद्रं पान्तु शरणं निषद्य ॥

यह मंत्र अनूठे ढंग से वाणी के तीन रूप-अर्थात् इडा सरस्वती और भारती का उद्बोधन करता है और उन्हें आर्यों के होम में शरीक होने के लिए न्यौतता है। ऋग्वेद के १।१८८।८ में:—

भारतीडे सरस्वति
यावः सर्वा उपब्रुवे।
ता नश्चोदयत श्रिये ॥

इन्हीं तीनों गतिशील देवियों से गति की भिक्षा माँगी गई है। ऋग्वेद के २।१३।९ में, २।१४।९, २।१।११ में और २।३२।८ में इन्हीं तीन देवियों का आवाहन है, और इन्हीं का ऋग्वेद के २।४।८ में:—

आ भारती भारतीभिः सजोषाः
इडा देवैर्मनुष्येभिरग्निः।
सरस्वती सारस्वतेभिरर्वाक्
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तु ॥

धरती, अन्तरिक्ष एवं आदित्य-संबन्धी देवताओं के साथ आवाहन किया गया है। निश्चय ही वेदों की इडा नामक पृथिवी-स्थानीय वाणी, हमारे उन शास्त्रों की प्रतीक है, जो हमें भरण पोषण की विद्या सिखाते हैं और जिनका हमारे आचार शास्त्र में निम्नतम स्थान है। मध्यम-स्थानीय सरस्वती वाणी हमें सोमसिक्त कर्म-कांड की प्रक्रिया सिखाती है, जो कि हमें इस लोक से ऊपर उठाती और परलोक की ओर अग्रसर करती है। भारती, जिसका सीधा संबन्ध भरत अर्थात् भरण करने वाले आदित्य के साथ है, हमारे पाप पुञ्ज का विध्वंस करती है और हमें आत्मालोक से उद्भासित कर के परब्रह्म में एक रस कर देती है।

हमारे ऋषियों ने कृषिविद्या, अश्वविद्या, रथविद्या, तथा धनुर्विद्या आदि विद्याओं के परिज्ञान के लिये नाना ग्रंथ रचे हैं। इडा नाम से हम इन्हीं सब विद्याओं को पुकारते हैं। किन्तु ये सभी विद्याएं हमारे पार्थिव जीवन की अर्चा-चर्चा करने के कारण वेद-वाणी में संमिलित न हो सकीं, क्योंकि वेद नाम ज्ञान का है और ज्ञान का विषय हमने पुरातन काल से चैतन्य आत्मा को बनाया है, न कि मट्टीरूप शरीर को; जो कि मट्टी का एक एक खिलौना होने के कारण मट्टी ही में मिल जाता है। इस खिलौने की भी एक कीमत है, और बालक तो जान ही खिलौने पर देते हैं। किन्तु मतिमान् पुरुष खिलौने पर जान देते नहीं देखे गए और बालकों को आज तक मतिमान् किसी ने गिना नहीं है। हमारे देश में सनातनकाल से इस शरीर को 'दस द्वारे का पूतरा' कह कर ही पुकारा गया है और इस पूतरे को आगे चलाने वाली विद्याओं को भी हम आज तक उसी दृष्टि से देखते आये हैं, जो कि एक मनस्वी की एक साइकल के प्रति होता है। फलतः ईश उपनिषद् ने इडा विद्या की ओर संकेत न करके, अपरा विद्या और पराविद्या का ही निरूपण किया है, इनमें अपरा विद्या हमें कर्मकाण्ड की प्रक्रिया सिखाती और अपना पर्यवसान क्रिया में पूरा कर देती है, जो कि क्रिया आत्मा को शुद्ध करने वाली और लोक का योगक्षेम करने वाली है। अपरा विद्या के आकर ग्रन्थ हमारी चार संहिताएँ हैं, और हमारे ब्राह्मण ग्रन्थों में इसी की चर्चा की गई है। हमारी मध्यम-स्थानीय सरस्वती यही है और हम आर्यों ने आदिकाल से अपने गृहस्थाश्रम में इसी सरस्वती की वन्दना करते हुए सोमसिक्त यज्ञयागादिका अनुष्ठान करना अपना नैत्यिक कर्त्तव्य कर्म माना है। हमने कर्मकांडमयी इस अपरा विद्या के ऊपर भी एक परा विद्या को माना है, जो हमें भवसागर से पार ले जाती और परात् पर अपार ब्रह्म में एक कर देती है।

कर्मकाण्डमयी वेदविद्या का सार इसी परा विद्या में है। और क्योंकि परा विद्या का संबन्ध सीधा आत्मा से है इस-

लिए हम इसे आत्मविद्या अथवा अध्यात्मविद्या के नाम से भी पुकारते हैं। और क्योंकि वास्तव में यह एक विद्या न होकर एक प्रकार का दिव्य प्रकाश है, जिसके खिल जाने पर हम सचित् को जान नहीं लेते, अपितु उसे देख लेते, पी लेते एवं आत्मसात् कर लेते हैं। इसलिए हमारे पुरखाओं ने इसका उद्भव स्वप्रकाशस्वरूप आदित्य से माना है; जो विश्व का भरण पोषण करने के कारण भरत कहलाता है। उसी भरत के नाम पर हमारी इस परा विद्या का नाम भारती पड़ा है।

और जब हम अपनी इडा, सरस्वती, भारतीरूप वाणी का इन्हीं की अनुपाती अर्थ विद्या, के साथ सामंजस्य बिठाते हैं, तब हमें अपने मनीषी पुरखाओं की त्रयी (ऋ०३।५६) का रहस्य प्रकट हो जाता है, जिससे प्रेरित होकर उन्होंने अपने ब्राह्मण ग्रन्थों में अपरा विद्या की प्ररोचना की और अपने आरण्यकों में परा विद्या की ओर एक कदम आगे बढ़ा कर अपनी उपनिषदों में परम सौख्यमय भारती-रूप परा विद्या का प्रदीप प्रकाशित किया। क्योंकि निश्चय ही यदि हमारे पूर्वजों ने वेदों और ब्राह्मणों में स्थूल कर्म-काण्ड की मीमांसा की है, तो उन्होंने आरण्यकों में वैदिक कर्मकाण्ड के सूक्ष्म रूप का विवेचन करके उपनिषदों में उसका पर्यवसान ज्ञान के आलोक में कर दिया है। इस दृष्टि से देखने पर हमारा अशेष भौतिक साहित्य इडा में आ जाता, समग्र दैविक साहित्य, अर्थात् चारों वेद और सारे ब्राह्मण सरस्वती में आ जाते, और सारा आत्मिक साहित्य, अर्थात् सारे आरण्यक और सारी उपनिषदें भारती में आ जाती हैं। त्रयी के इसी माँगलिक उपक्रम से मंत्र-मुग्ध हो आर्यों ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीन देवों की, तीन कालों की, तीन लोकों की, और इन सबमें प्रवर्त्तमान सत्य, शिव और सुन्दर इन तीन तत्वों की उत्थानिका की थी।

पृथिवी-स्थानीय, अंतरिक्ष-स्थानीय एवं द्युलोक-स्थानीय इडा, सरस्वती, भारती का प्रकाशन क्रमशः गायत्री मन्त्र की भूः, भुवः, स्वः इन तीन व्याहृतियों से होता है। इसलिए गायत्री मन्त्र को हमने वेदों का मूर्धन्य माना है और इसी के जप में सारे जपों का पर्यवसान बताया है। इडा, सरस्वती, भारती रूप भूः भुवः स्वः इन तीन धाराओं के पावन संगम पर त्रिपाद् गायत्री का उद्भव हुआ है, जिसमें मुद्रित होकर यह सौख्यमय आदित्य ब्रह्म हमें किसी ऐसे बिन्दु की ओर आकृष्ट करता है, जिसका रूप नहीं, नाम नहीं, धाम नहीं और जो अपनी इसी 'नेति' 'नेति' की विशेषता के कारण सभी रूपों, सभी, नामों, एवं सभी धामों में रस-रूप से विरा-जमान है। इडा, सरस्वती एवं भारती की संमिलित तान त्रिपाद् गायत्री की दिव्य मुरली पर साकार हुआ करती है; और हमारे ऋषियों ने वाणी-मुरली की भिक्षा शुन और सीर नामक देवताओं से ऋग्वेद के ४।५७।५ मंत्र में इस प्रकार माँगी है:—

> शुनासीराविमां वाचं जुषेथां
> यद् दिवि चक्रथुः पयः।
> तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥

निश्चय ही शुन और सीर दोनों कृषि के अधिष्ठातृ देव हैं, जिनसे वाणी का आस्वादन करने की, और दिव्य जल से उसे रसीली बनाने की प्रार्थना की गई है। इसी दिव्य रस से रसित होकर वाणी मधुमती बनती है—(३. ५७. ५.) और इसी से परिपूत होकर वह रण्य बनती है; और—

अरण्यानि रण्यवाचो भरन्ते (३. ५५. ७)

रमणीय वाणी वाले व्यक्ति ही रमणीय कर्म किया करते हैं। शुन का अर्थ मंगलकारी हल, एवं सीर का अर्थ मनु को धरती माता के साथ बाँधने वाली हल की फाली है; और यह बात सर्व संमत है कि मानव जगत् का मंगल करने वाली कृषि ही धरती माता के साथ एक स्थान पर संबद्ध करके हमें सभ्यता का पाठ पढ़ाती एवं नागरिता की ओर अग्रसर करती है। फलतः हमारे ऋषियों ने सीर (सि = बाँधना) ही में मानव समाज का शुन अर्थात् मंगल (समृद्ध होना) माना था और इन्हीं दोनों के साथ अपनी इडा, सरस्वती भारती-रूप वाणी का गठबंधन किया था। कृषि अर्थात् कर्म के साथ विद्या और इन दोनों के द्वारा कल्याण की प्राप्ति ही हमारे वेदों का सार है।

भारत के आदि कवि वाल्मीकि ने शुन और सीर के प्रतिनिधि राम और सीता का चरित गाकर अत्यन्त ही मांगलिक रूप से राम के द्वारा सीता (= सीर) की अर्चना कराई है और अन्त में इन दोनों का परिणय कराकर कृषि में ही लोक-मर्यादा का चरम आधार सुझाया है। नरमांस-भक्षी केकयों के राजा की कन्या कैकेयी ने श्रीराम को उनके सहज कर्म सीता से पृथक् करके जंगल में अकेला पठाने की कोशिश की थी किन्तु श्रीराम सीता से विमुक्त न हुए और वन में भी उसे अपने साथ ही लेते गए। और तब मर्यादा-पुरुषोत्तम राम ने भारतीय संस्कृति की पावनतम

प्रतीक सीता (हल की फाली = कृषि) के द्वारा जंगलों में मंगल कर दिया और वहां के वानर तुल्य निवासियों को नागरिक सभ्यता का पाठ पढ़ाया। उनके इस लोक-संग्राहक धर्मकृत्य में लोक-रावण ने बाधा डाली और कुछ काल के लिए उसने उनकी सहधर्मिणी कृषि सीता को उनसे छीन भी लिया। किन्तु मर्यादा-पुरुषोत्तम ने अपने नव-शिक्षित वानरों (आधे नरों) के द्वारा ही उसका मान-मर्दन करके फिर से सनातन सीता की पत रखी।

वेद के शुनःसीर एवं रामायण के राम-सीता के चरित को ही हमारे राष्ट्रकवि वेदव्यास ने कृष्ण-राधा का रूप देकर अपने महाभारत में अनोखे ढंग से गाया है। पुराणकर्ता व्यास से कृष्ण-राधा-चरित का कृषि के आधार गोधन के साथ अटूट संबन्ध बताकर कृष्ण-राधा के यथार्थ आशय को सुव्यक्त कर दिया और बता दिया है कि कृष्ण (कृष = हल चलाना) की राधा समृद्धि एक मात्र गोधन में है और हमें उसकी तन, मन, धन से पूजा करनी चाहिए। हमारे राष्ट्रकवि कालीदास ने अपने रघुवंश में नन्दिनी गौ के वरदान से भारत के सम्राट् को पुत्रोत्पत्ति कराकर कृषि की आधार-भूत गोमाता की अत्यन्त अनूठी नीराजना की है। और हमारे राष्ट्र-पिता महात्मा गाँधी ने इस देश की इसी परम निधि का फिर से उद्धार करके हमें षोडश-कलापूर्ण श्री कृष्ण (= कृषक) की यथार्थ पूजा करनी सिखाई है।

भारत की सनातन इडा, सरस्वती एवं भारती का इसी कृष्ण में पूर्ण अवतार हुआ है और श्रीमद्भगवद्गीता में ऐसे ही कर्मयोगी श्री कृष्ण (श्री कृषक) के संमुख आत्म-समर्पण का उपदेश दिया गया है। विश्व के सत्य, शिव एवं सुन्दर का इसी कर्मयोगी मानव में पर्यवसान है—क्योंकि इन तीनों तत्वों का एक जगह संकलन हो जाने पर हमारा व्यक्तिगत आत्मा ही परम अर्थात् महान् आत्मा बन जाता है; और परब्रह्म प्राप्ति वही है; और जीवन का पर्यवसान वहीं है।

मैं अपने जीवन की संध्या में जान्हवी के निभृत-पूत तटों पर ऐसे ही साम्यवादी कृष्ण (कृषक) की खोज किया करता हूँ। मेरी असली सरस्वती उन्हीं के कलकंठ में है और मेरे जीवन को अमर बनाने वाला सोम भी उन्हीं के चरणारविन्दों में प्रवाहित है॥

[लेख योग्यता-पूर्ण है, पाश्चात्यों ने सरस्वती का क्या अर्थ लिया है और वास्तविक अर्थ क्या है, इस पर विद्वान् लेखक ने प्रकाश डाला है। विद्वानों के विचारार्थ प्रकाशित है, अन्य विद्वान् भी अपने विचार इस विषय में उपस्थित करें—सम्पादक वेदवाणी]॥

आथर्वणीय व्रात्य-पाश्चात्य मत और श्रुतिभ्रमभाष्य

[ले०—श्री डा० फतेह सिंह जी, कोटा]

व्रात्य-समस्या

अथर्ववेद में उल्लिखित व्रात्य वैदिक विद्वानों के लिये एक बहुत बड़ी समस्या बन गया है। बहुधा विद्वानों का मत है कि 'व्रात्य' किसी न किसी अनार्य जाति का नाम है। श्री द० रा० भण्डारकर के मतानुसार 'व्रात्य' उसी नस्ल के थे, जिसके कि 'मोहनजोदरो' के लोग थे और उनका उद्गम ईरानी 'मग' लोगों से था। एफ० डब्ल्यू० हावर[3] व्रात्यों को प्रारम्भिक योगी तथा एफ० कार्पेण्टियर[4] उन्हें आदिक शिवो-पासक मानते हैं। उक्त तीनों मतों का समाहार हमें फादर हेरास[5] तथा उनके सुयोग्य शिष्य श्री ए० पी० करमारकर[6] की दृष्टि में मिलता है, जिसके अनुसार व्रात्य लोग शैव योगी तथा मोहनजोदरो के निवासी तो थे ही; परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि उन्हीं का नाम बाद में द्राविड़ पड़ा। राजा-राम रामकृष्ण भगवत भी व्रात्यों को अनार्य ही मानते हैं; परन्तु उनके अनुसार वे मोहनजोदरो के नहीं मगध के निवासी थे[7]। परन्तु ए० बी० कीथ का कहना है कि—

"व्रात्यों का अनार्य होना संभव नहीं, क्योंकि उनको अदीक्षित होते हुये भी दीक्षितों की भाषा बोलने वाले कहा गया है। इससे वे स्पष्टतः आर्य ही प्रतीत होते हैं......सूत्रों में आर्यों के ब्राह्मण एवं क्षत्रियों की भांति ही इनके भी अर्हन्त एवं यौध वर्गों का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त, एक निश्चित कर्मकाण्ड के द्वारा उनको समाज में प्रविष्ट कर लेने का भी उल्लेख मिलता है, जो अनार्य होने पर अस्वा-भाविक हो जाता।"

अतः कीथ मानते हैं कि समाज-बहिष्कृत आर्यों को ही व्रात्य कहा जाता था। एक अत्यन्त सारगर्भित मत और है, जिसका प्रतिपादन प्रोफेसर क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय[8] ने

---

१. शौ० शा०, १५वाँ काण्ड, पैं० १८, २७

२. Some aspects of Ancient Indian Culture, पृष्ठ ४८

3. Die Anfange der yogapraxis (Berlin, 1922). pp. 11 ff.

4. Charpentier. W. Z. M. 23, 151, ff, 25. 355 ff.

5. Heras, Religion of the Mohenjodaro People, journal of the University of Bombay, Vol. V. Pc 1 P. 1—39.
The Origin of Indian Philosophy and Asceticism—A Historical Introduction.

6 Karmarkar, The Religions of India, Vol. I. (The Vratya or Dravadian systems of Religion)

7. J. B. B. R. A. S., Vol. P. 363.

8. Calcutta Review, May 1924. PP. 287 ff.

किया है। उनका कथन है कि "बाबाज् कोई लेख में वैदिक देवताओं के उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि आर्य लोग माइनर से कई बार (२००० और १५०० ई० पू० के बीच में) आये......और व्रात्य हो गये।"

समस्या की विचारणीयता-व्रात्य का अनार्यत्व

इस आधुनिक विचारधारा की विचारणीयता वैदिक विद्वानों को इसलिये अधिक है कि अथर्ववेद के व्रात्यकाण्ड को प्रायः आजकल उक्त प्रकार के मानवव्रात्य का ही स्तोत्र मान लिया जाता है। कुछ विद्वानों का ऐसा मत प्रतीत होता है कि वैदिक आर्यों ने अनार्य व्रात्यों को अपने में मिलाने के लिये जो अनेक प्रलोभन या आकर्षण उपस्थित किये होंगे, उनमें से एक यह व्रात्य काण्ड है, जिसमें व्रात्य अनार्य को देवत्व प्रदान कर दिया गया है। व्रात्यकाण्ड को इस प्रकार का एक प्रलोभनमात्र सिद्ध करने के लिये जो सबसे बड़ा प्रमाण दिया जा सकता है वह निम्नलिखित है, जिसमें व्रात्य के घर आने पर गृहस्थ को अपना यज्ञ कर्म भी उसकी आज्ञा बिना करने का निषेध किया गया है:—

"जिसके घर ऐसा जाननेवाला विद्वान् व्रात्य अग्नियों के उद्धृत होने और अग्निहोत्र के आरम्भ हो जाने पर अतिथि होकर आये, तब स्वयं उठकर उसके सम्मुख आकर (गृहपति) कहे, 'व्रात्य आप आज्ञा दें तो मैं अग्निहोत्र करूँ। और यदि वह आज्ञा दे तो हवन करे, आज्ञा न दे तो न करे।" (अथ० वे० १५, २, ५)[१] इसी उद्धरण को देते हुये श्री करमारकर[२] अपनी पुस्तक में कहते हैं कि "इस निषेधाज्ञा से स्पष्ट हो जाता है कि व्रात्यधर्म का उद्गम अनार्यों से हुआ; क्योंकि हम निश्चित रूप से जानते हैं कि अग्निहोत्र के प्रणेता आर्य थे और उनसे पूर्व वह नहीं रहा होगा।" परन्तु वे भूल जाते हैं कि इसी अथर्वीय व्रात्यकाण्ड में अन्यत्र तीन स्थानों पर[३] यज्ञ का 'व्रात्य' से अत्यन्त निकट अथवा अभिन्न संबन्ध बतलाया गया है:—

"वह परमा दिशा में चला और उसके पीछे आहवनीय गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, यज्ञ और यजमान और पशु चले।"

"उसके पीछे यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य और यज्ञ और यजमान और पशु चले।"[४]

व्रात्य की आज्ञा बिना अग्निहोत्र न करने तथा व्रात्य एवं यज्ञ के इतने निकट सम्बन्ध होने में जो विरोधाभास प्रतीत होता है, उसका निराकरण व्रात्यकाण्ड के २-१०-१० से भली भाँति किया जा सकता है। उसमें लिखा है—"उस व्रात्य का, इन सबका अमृतत्व एक है, वह आहुति ही है।"[५] इस पर टिप्पणी करते हुये डा० सम्पूर्णानन्द[६] ने लिखा है—"उस परमात्मा का स्वरूप एक है। माया-वशात् वह अनेक प्रतीत होता है। यजुर्वेदीय पुरुष-सूक्त में कहा है 'प्रजापति अजन्मा होते हुये भी गर्भ में आता है और अनेक शरीरों में जन्म लेता है। धीर पुरुष ही उसके मूल स्वरूप को देखते हैं, जिसमें सब भुवन स्थित हैं।' एक और मंत्र कहता है—"वह सत्पदार्थ (ब्रह्म) एक है, विद्वान् लोग उसे अनेक नामों से पुकारते हैं।" छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है, "हे सौम्य, यह सब प्रजा सत् से निकलकर यह नहीं जानती कि हम सत् से निकले हैं। ब्रह्म अमृत-स्वरूप है उसके साथ अभेद जीवों का अमृतत्व है। [पाठक इन स्थलों के वास्तविक अर्थ उपनिषदार्यभाष्य में देख सकते हैं—ब्रह्म के साथ जीव का भेद भी है, अभेद भी। देखो सत्यार्थ प्रकाश ७ समुल्लास—सम्पादक वेदवाणी] गुरु-सेवा से योग का उपदेश प्राप्त करके अभ्यास, वैराग्य, सत्संग के प्रभाव से आत्मसाक्षात्कार होता है। तब जीव अपनी पृथक्त्व-बुद्धि को भस्म कर देता है। ज्ञानकी अग्नि में पृथक् व्यक्तित्व की आहुति दे देता है। यह परमाहुति है।"

इससे स्पष्ट है कि अथर्ववेद का 'व्रात्य' यज्ञ का विरोधी नहीं है, परन्तु उसका यज्ञ अलग है, उसकी आहुति दूसरी है। वस्तुतः जैसा श्रुतिप्रभभाष्य में कहा है[७], इस काण्ड में तो आथर्वणी श्रुति परमात्मा और परमयोगी की विभूतियों की प्रशंसा करती है। 'जो कोई योग के द्वारा सृष्टि के रहस्य का साक्षात्कार करता है वह विधि निषेध के बन्धन से परे हो जाता है, व्रात्य हो जाता है[८]।" सन्यासी के लिये भी तो अग्निहोत्रादि कर्म छोड़ने पड़ते हैं; परन्तु वह ब्रह्मयज्ञ या ज्ञानयज्ञ करता है।

(१) डा० सम्पूर्णानन्दकृत, श्रुतिप्रभभाष्य से उद्धृत। (२) उल्लिखित Religion of India. Vol I, PP. 24
(३) अथ० वे० १५, १, ६, १३–१५, १५,१२,१०;१५,२, ९, १–७। (४) अनुवाद डा० सम्पूर्णानन्द के श्रुतिप्रभभाष्य से।
(५) श्रुतिप्रभभाष्य, १० ६१। (६) वही।
(७) श्रुतिप्रभभाष्य पृष्ठ ११। (८) वही पृष्ठ १५

वेद में २ प्रकार के यज्ञ हैं—एक सत्र और दूसरे उत्सव[१], एक स्थूल अथवा भौतिक और दूसरे सूक्ष्म या आध्यात्मिक[२]। इसी द्विविध यज्ञ को वह अग्नि-पूजा[३] बताया गया है जो 'पूर्व' तथा 'नूतन' ऋषियों द्वारा की जाती हुई बताई जाती है, प्रथम प्रकार के यज्ञ अग्निहोत्रादि हैं, जिनमें हव्य की आहुति दी जाती है।

परन्तु दूसरों को ब्रह्मौदन[४] या पुरुष यज्ञ आदि नाम दिया गया है, जिनमें आत्मा या पुरुष अथवा ब्रह्म की ही मानों आहुति धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा दी जाती है। इन दोनों में दूसरे प्रकार का यज्ञ अथर्ववेद[५] में श्रेष्ठ बताया गया है :—

"यत् पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत।
अस्ति नु तस्मात् ओजीयो यत् वि हव्येनेजिरे॥"

दूसरे प्रकार के यज्ञ-कर्त्ताओं के लिये प्रथम प्रकार के यज्ञों की अपेक्षा नहीं; इन्हीं विद्वानों की ओर संकेत करते हुये, कौषीतकी उपनिषद्[६] में कहा गया है कि—"पूर्व विद्वान् (पूर्वे विद्वांसः) अग्निहोत्र नहीं करते थे।" इस प्रकार के प्रसंगों में फादर हेरास[७] आदि की भाँति 'पूर्व' या 'प्रथम' शब्दों से वैदिक काल से पूर्ववर्ती इतिहास की कल्पना करना भ्रम होगा; क्योंकि स्वयं अथर्ववेद में स्पष्टतः इसी यज्ञ को 'प्रथम धर्म' कहा है जिसमें देव लोग यज्ञ (ब्रह्म) से यज्ञ (ब्रह्म) का यजन करते हैं (यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्)।

अथर्ववेदीय व्रात्य को अनार्य सिद्ध करने के लिये सबसे बड़ा प्रमाण यह दिया जाता है कि व्रात्य के विभिन्न रूपान्तरों को शर्व, भव, ईशान, रुद्र, उग्र और महादेव आदि शिव के नाम दिये गये हैं, और शिव-पूजा अनार्य-संस्कृति की देन है।[१०] परन्तु जैसा कि अन्यत्र[११] बतलाया गया है रुद्र[१२] सहित ये सभी नाम एक सर्व व्यापक अग्नि के हैं, जिसको प्रजापति का कुमार कहा गया है और जो वर्णन में पुरुष सूक्त के विराट् पुरुष तथा अथर्ववेदीय व्रात्य के समान हैं। शतरुद्रिय में अग्नि मंत्रों द्वारा रुद्र की स्तुति किया जाना, त्रिपुण्ड्र लगाने में अग्नि के मन्त्रों का प्रयोग, अग्नि को रुद्र का एक नाम बताना (श० ब्रा० १, ७, ३, ८), त्रिपुण्ड्रों का दीपशिखा की भाँति होने का विधान, शिवलिङ्गों का ज्योतिर्लिङ्ग कहा जाना आदि, रुद्र-शिव का अग्नि मूलक होना तथा शिवलिङ्ग का यज्ञाग्नि-शिखा-प्रतीक होना प्रमाणित[१३] करते हैं। शतरुद्रिय और अथर्ववेद तथा उसके परवर्ती ग्रन्थों को यदि अनार्य प्रभावित माना जाय, तो भी अग्नि के ऋग्वेद-वर्णित रुद्ररूप और हिरण्यरूप में एक ओर, तथा घोर रुद्र एवं जलाषभेषजी रुद्र में दूसरी ओर, हमें परवर्ती शिव के दर्शन हो सकते हैं और इस प्रकार ओल्डेन बर्ग[१४] का यह कथन बिल्कुल सच माना जा सकता है कि ऋग्वैदिक रुद्र और परवर्ती रुद्र में कोई अन्तर नहीं। ऐसी

---

(१) अ० वे० ११, ९, ८॥ (२) विस्तार के लिए लेखककृत भारतीय समाजशास्त्र ५९-६२ तथा The concept of yajna in Vedic Sociology.॥ (३) ऋ० वे० १, १, १, २ इत्यादि॥ (४) भारतीय समाजशास्त्र पृ० ६२, ६३ तुलना करो भगवद्गीता ४, २४॥ (५) अ० वे० ७, ४, ५॥ (६) कौ० उ २, ५॥ (७) तुलना करो Heras the origin of Indian Philosophy and Asceticism–An Historical Introduction pp... A. P. Karmarkar mystic teaching of haridas of Karnatak pp 40.॥

(८) A. P. Karmarkar, the religions of India Vol. I, pp 22-23.॥ (९) अ० वे० १५, १२॥

(१०) Heras, the origin of Indian Philosophy, Marshal, Mohenje Daro and Indus civilizations, 1, p. 52; Ma- chay, Further Excavation, 1, P 335.॥

(११) देखिये लेखककृत वैदिक दर्शन पृष्ठ १९८ भारतीय समाजशास्त्र पृष्ठ ६८-६९॥

(१२) ऋ० ३, २, ५, ८, ६१, २, १, २७, १०, २, १, ६, श० ब्रा० ६, १, ३, ७, ९, १, १, ६, शाँ० ब्रा० ६, १ इत्यादि॥

(१३) दे० लेखकप्रणीत वैदिक दर्शन पृष्ठ १९६-१९७; भारतीय समाजशास्त्र पृ० ६०-७० तथा–Concept of yajna in vedic sociology.॥

(१४) Religeon des veda, pp. 215-24.Keith, Religion and Philosophy of veda and upanisads pp. 146-47॥

अवस्था में ऋग्वेदोल्लिखित शिश्नदेवों में शिव के अनार्य उपासकों की निन्दा न देखकर भारतीय परम्परा के अनुसार व्यभिचारी की गर्हा देखना अधिक उचित होगा। अतः रुद्र शिव के सम्बन्ध से अथर्ववेदीय व्रात्य शब्द को अनार्य-सूचक मानना उचित नहीं जंचता।

व्रात्यकाण्ड का सारांश

अथर्ववेदीय व्रात्यकाण्ड के संक्षिप्त सार को देखने से भी यह स्पष्ट हो जायेगा कि वस्तुतः व्रात्य यहाँ क्या है। व्रात्यकाण्ड में दो अनुवाक हैं, जिनमें से पहले में सात तथा दूसरे में दश सूक्त है। काण्ड का प्रारम्भ 'व्रात्य आसीत्'[3] अथवा 'व्रात्यो वा इद् अग्र आसीत्'[4] से होता है। इस वाक्य की तुलना यदि 'आत्मा एव इदमग्र आसीत्' अथवा 'प्रजापतिरेव इदमग्र आसात्' आदि अनेक वाक्यों से की जाय, तो स्पष्ट हो जायेगा कि यहां 'व्रात्य' से अभिप्राय किसी ऐसी मूल सत्ता से ही हो सकता है, जो सृष्टि से पूर्व (अग्रे) स्थित हो और जिससे समस्त नानारूपात्मक जगत् की सृष्टि हो सके। अतः व्रात्य से भी नानारूपात्मक सृष्टि का वर्णन किया जाता है—वह प्राची, दक्षिणा, प्रतीची तथा उदीची दिशाओं में अथवा ध्रुवा, ऊर्ध्वा, उत्तमा, बृहती, परमा, अनादिष्टा, अनावृत्ता तथा सर्व दिशाओं एवं समस्त अन्तर्देशों में 'अनुविचलन' करता है, जिसके फलस्वरूप विश्वेदेवाओं से लेकर प्रजापति और परमेष्ठी तक, भूमि से लेकर वनस्पति तक तथा इतिहास पुराण से लेकर सभा, समिति, एवं सेना आदि तक की सृष्टि होती हुई बतलाई गई है। इसी प्रकार सृष्टि-पालन की दृष्टि से व्रात्य को ध्रुवा, पशु, पितर, मनुष्य, ऊर्ध्व, देवगण, प्रजागण तथा अन्तर्देशों में क्रमशः विष्णु, रुद्र, यम, अग्नि, बृहस्पति, ईशान, प्रजापति तथा परमेष्ठी बनकर 'अनुविचलन' करने वाला कहा गया है। जिस प्रकार मनुष्यादि प्राणियों के शरीर में प्राण होते हैं, उसी प्रकार एक व्रात्य परमात्मा के विग्रह में भी कल्पना की गई है।[6] व्रात्य के सात प्राण, सात अपान एवं सात व्यान हैं जिनका वर्णन इस प्रकार है[8]—

व्रात्य का ऊर्ध्व नामक पहला प्राण अग्नि।
" " प्रौढ़ " दूसरा " आदित्य।
" " अभ्यूढ़ " तीसरा " चन्द्रमा।
" " विभु " चौथा " पवमान।
" " योनि " पाँचवा " आपः।
" " प्रिय " छठा " पशु।
" " अपरिमित " सातवाँ " प्रजा[9]।

व्रात्य का पहला अपान पौर्णमासी है।
" " दूसरा " अष्टका "।
" " तीसरा " अमावस्या "।
" " चौथा " श्रद्धा "।
" " पाँचवाँ " दीक्षा "।
" " छठा " यज्ञ "।
" " सातवाँ " दक्षिणा[10] "।

व्रात्य का पहला व्यान भूमि है।
" " दूसरा " अन्तरिक्ष।
" " तीसरा " द्युलोक "।
" " चौथा " नक्षत्र "।
" " पाँचवाँ " ऋतु "।
" " छठा " आर्तव "।
" " सातवाँ " संवत्सर[11] "।

विभिन्न दिशाओं में व्रात्य की विभिन्न क्रियों आदि के वर्णन को देखने से भी उसकी विराटता का बोध होता है:—

प्राची दिशा[12] में उस व्रात्य की श्रद्धा—पुंश्चली, मित्र मागध (प्रशंसक), विज्ञान वस्त्र, दिन पगड़ी, रात केश, सूर्य चन्द्र कुण्डल, तारावली मणियाँ, भूत और भविष्यत् अनुचर, मन विपथ (रथ), मातरिश्वा और पवमान रथ

(१) A. P. Karmarkar, Rel. Ind. Vol. I, pp. 11 etc.

(२) तु० क० सायण भाष्य ऋग्वेद ७, २१, ५, १०, ९९, ३ (३) शौ० शा० (४) पै० शा०

(५) बृ० उ० ४, १, ३; ता० ब्रा० २०, १४; का. स. २, ५, ७, १, ऐ० ब्रा० २, ३३; श० ब्रा० २, २, ४, ४; जै. २०, १, ४, ६

(६) श्रुतिप्रभ भाष्य, पृ० ५६। (७) अथ० वे० १५, २, ८, १-२। (८) श्रुतिप्रभभाष्य पृष्ठ ५७।

(९) अथ० वे० १५, २, ८, १—७। (१०) वही १५, २, ९, १—७।

(११) वही १५, २, १०, १—७। (१२) श्रुतिप्रभभाष्य पृष्ठ १८-१९।

वाहक घोड़े, वात सारथी, आँधी लगाम तथा कीर्ति और यश पुरश्चर हैं।

दक्षिणा दिशा[1] में उसकी पुंश्चली उषा, मागध मंत्र, वस्त्र विज्ञान, पगड़ी दिन रात्री केश, सूर्य चन्द्र कुण्डल, तारावली मणि तथा अमावस्या और पौर्णमासी को अनुचर कहा गया है।

प्रतीची दिशा[3] में इरा को पुंश्चली तथा हस को मागध बताया गया है और शेष पूर्ववत् है।

उदीची दिशा में विद्युत् को पुंश्चली, स्तनयित्नु को मागध तथा श्रुत और विश्रुत को अनुचर कहा गया है, और शेष में कोई अन्तर नहीं है।

इसी प्रकार[5] व्रात्य के बैठने की आसन्दी (चौकी) के चार पैर क्रमशः ग्रीष्म, वसन्त, शरद् और वर्षा हैं; बृहत्, रथन्तर, यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य साम उसके क्रमशः अनूच्य (पट्टियाँ) एवं तिरश्च्य (सिरहाने-पैताने) हैं; ऋक् और यजुः उसके ताना-बाना हैं; वेद बिछौना है, ब्रह्म सिरहाना तकिया है; साम बैठने की जगह है और उद्गीथ हत्था है। इस पर जब व्रात्य बैठता है तो देवजन उसके अनुचर होते हैं; संकल्प उसके दूत होते हैं और समस्त भूत उसके पार्षद् होते हैं। विभिन्न दिशाओं में उसके गोप्ताओं और अनुष्ठाताओं का उल्लेख इस प्रकार किया गया है:—

दिशा	गोप्ता	अनुष्ठाता
पश्चिम	वर्षा के मास	वैरूप और वैराज।
उत्तर	शरद् के मास	श्यैत और नौधस।
ध्रुवा	हेमन्त के मास	भूमि और अग्नि।
ऊर्ध्वा	शिशिर मास	आकाश और आदित्य।

क्या व्रात्य अनार्य योगी है ?

यद्यपि व्रात्य का यह समस्त वर्णन पूर्णतया स्पष्ट है; परन्तु फिर भी कुछ विद्वानों को इसमें मोहनजोदरो की अनार्य सभ्यता के चिह्न मिलते हैं। इस व्रात्य की तुलना मोहनजोदरो की उस त्रिमुखी आकृति से की जाती है, जिसको मोहनजोदरो का पशुपति[7] कहा जाता है; परन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है प्रथम तो पशुपति या शिव की उपासना ही संभवतः अनार्य नहीं, दूसरे व्रात्य के उष्णीष और आसन्दी (जो मोहनजोदरो के पशुपति के उष्णीष एवं सिंहासन के समान बताये जाते हैं[8]) से कौन सी अनार्यता है इस बात को समझना कठिन है। इसी व्रात्य के उक्त वर्णन में उसके प्राणों, अपानों और व्यानों को लेकर, व्रात्य को मोहनजोदरो का 'योगी' बतलाते हुये कहा गया है:—

"Nay, he also possesses yogic powers, i.e. "of that Vratya there ara seven vital aim, seven downwandr breaths." we need not enter into the details here."

(यही नहीं, उसमें योग शक्तियाँ भी हैं—उदाहरणार्थ उस व्रात्य के सात प्राण, सात अपान हैं। हमें विस्तार में जानने की आवश्यकता नहीं)। इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्रात्यकाण्ड का व्रात्य परम योगी[9] भी है; परन्तु ऋग्वेद में मायाभेद, सर्पराज्ञी तथा अन्य रहस्यपूर्ण सूक्तों के होते हुये न तो यही माना जा सकता है कि 'योग' एक अनार्य विद्या थी और न प्रसंगवश या अन्यथा यही स्वीकार किया जा सकता है, कि उक्त प्राण और अपान केवल 'योगी' के ही होते हैं, अन्यों[10] के नहीं। ए०पी० करमारकर ने व्रात्यों की अनार्यता सिद्ध करने के लिए एक स्थान पर लिखा

१. वही पृष्ठ १८-१९।
२. श्रुतिप्रभभाष्य पृष्ठ २०—२१.
३. वही ,, २३.
४. वही ,, २४—२६
५. वही ,, २५.
६. A. P. Karmarkarr, Religion of India Vol. 1. PP. 21—24.
७. Heras, 'plastic Representation of God amongst the Proto-Indians, Sorcom. Vol. 1. PP. 224, Marshall, Mohenjo Daro and Indus civilization 1. P. 54; Moolarji, Aryeuna du christianism P. 52; Machay, the Indus civilization P. 70.
८. D. R. Bhandarkar, Some Aspects of Ancient Indian culture..PP. 41-42; A. P. Karmarkar Religions of India, Vol. 1. PP. 22.
९. डा० सम्पूर्णानन्द, श्रुतिप्रभभाष्य पृष्ठ ११.
१०. तु० क० वही पृष्ठ ५६.

है[१]—"अथर्ववेद में यह कहा गया है कि व्रात्य लोग सुरा पीते थे।" श्री करमारकर ने स्थान संकेत नहीं दिया है; परन्तु व्रात्य के प्रसंग में केवल एक ही स्थान पर सुरा का उल्लेख आया है और वह इस प्रकार है:—

"स विशोऽनुव्यचलत्। तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन्" इसका शाब्दिक अर्थ सरल है—'उसने प्रजाओं के प्रति अनुविचलन किया और उसके पीछे सभासमिति और सेना सुरा चले, पता नहीं विद्वान् लेखक ने यहाँ सुरापान का अर्थ कैसे लगा लिया। प्रजाओं के प्रति 'अनुविचलन' करने में व्रात्य के अनुगमन करने वाले सभा, समिति तथा सेना जैसे जनसमूहों के साथ 'सुरा' शब्द का अर्थ, जैसा कि ब्राह्मण ग्रन्थों[२] में लिखा है, जन-समुदाय ही हो सकता है। इसका अभिप्राय वस्तुतः[३] यह है कि व्रात्य जब राजा के रूप में राष्ट्र का अनुगमन करता है, तो सभा, समिति सेना तथा प्रजाजन आदि राष्ट्र के सारे अङ्ग उसके अनुकूल चलते हैं।

व्रात्यों का आर्यत्व

इस प्रकार व्रात्यकाण्ड में अनार्य संस्कृति का आधार देखना असंगत प्रतीत होता है। फिर भी यह नहीं भुलाया जा सकता है कि भारतीय परम्परा में व्रात्य कहे जाने वाले कुछ ऐसे लोग थे जो आदर, सत्कार एवं भय के पात्र होते हुए भी पतित समझे जाते थे। ताण्ड्य ब्राह्मण[४] के अनुसार व्रात्य उष्णीष को एक ओर रखते थे; हाथ में उनके प्रतोद और ज्याह्रोड होता था; वे ऐसे विपथ पर चलते थे, जिसको घोड़े या खच्चर खींचते थे, वे कृष्ण किनारे वाले श्वेत या लालधारियों के ऊनी वस्त्र अथवा अजिन पहनते थे और निष्क का व्यवहार करते थे। पंचविंश ब्राह्मण[५] के अनुसार वे अदीक्षित होते हुए भी दीक्षितों की भाषा बोलते हैं; कृषि-व्यापार वे नहीं करते और न ब्रह्मचर्य के नियम का पालन करते हैं; वे सुधारातीत दुष्टों को पीटते हैं, उनका मुखिया उष्णीष पहनता है, प्रतोद और ज्योह्राड धारण करता है, कृष्ण व लक्ष वस्त्र धारण करता है और फलकास्तीर्ण विपथ पर चलता है। उसके अनुचर[६] लाल किनारी के वस्त्र तथा उपानह धारण करते हैं, जिनको सूत्रों में शवलित बतलाया गया है। आपस्तम्ब[७] धर्मसूत्र के अनुसार व्रात्य वह श्रोत्रिय है, जिसने वेद की एक शाखा को अपना व्रत बना रक्खा हो। बौधायन[८] धर्मसूत्र में अदीक्षित की संतान को व्रात्य कहा गया है और मनुस्मृति[९] में तथा विष्णुधर्म पुराण[१०] आदि में सावित्री-पतित या पतित-सावित्रीक व्यक्ति को व्रात्य कहा गया है। महाभारत[११] में व्रात्य की गणना व्यभिचारियों, शराबीयों, हत्यारों आदि आततायियों के साथ की गई है और उसको शूद्र-क्षत्रिय-वर्णसंकर बतलाया गया है।

इससे स्पष्ट है कि भारतीय परम्परा दो प्रकार के व्रात्यों को जानती है—एक तो वे जो आपस्तम्ब के अनुसार पवित्र व्रत के व्रती होने वाले श्रोत्रिय हैं, और दूसरे वे जो किसी न किसी कारण से पतित हो गये हैं। पंचविंश ब्राह्मण[१२] में सम्भवतः प्रथम प्रकार के व्रात्यों को ही शमनीच मेढ़ को व्रात्य या ज्येष्ठ कहा गया है, जो व्रातियों में रहते थे और जिनके मेढ़ को संयम के कारण नत हुआ बतलाया जाता है। इसके अतिरिक्त पंचविंश ब्राह्मण[१३] ऐसे व्रात्यों को भी जानता है, जो हीन या कनिष्ठ कहलाते थे और ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते थे, विषपान करते थे और अदीक्षित होते हुये भी दीक्षितों की भाषा बोलते थे। इनमें से प्रथम प्रकार के श्रोत्रिय व्रात्य के आर्यत्व में तो संदेह किया नहीं जा सकता क्योंकि आपस्तम्ब[१४] के अनुसार वह वेदव्रती होता था। इस ज्येष्ठ प्रकार के विपरीत, उक्त कनिष्ठ प्रकार का व्रात्य भी सम्भवतः, जैसा कि डा० कीथ का मत है[१५] आर्य

१. op. cit पृष्ठ २३.
२. विट् वै सुरा श० ब्रा० ८, १, १५; गो० ब्रा० १, ७
३. देखिये लेखककृत समाजशास्त्र पृष्ठ १५०-१५३.
४. ताण्ड्य ब्रा० १७
५. पं० ब्रा० १७, १, ११, १९
६. वही १७, १, ११४
७. आप० ध० सू० २, ३७, १३-१७
८. बौ० ध० सू० १, ८
९. म० स्मृ० २, ३९
१०. वृ० ध० पु० २, २३३, ७२
११. म० भा० ५, ३५, ४६, १२२७; अनु० शा० प० ८३,
१२. पं० ब्रा० १७, ४१
१३. वही, १७, ५२-३; १-९
१४. आप० ध० सू० २, ३७, १३-१७
१५. Vedic Index II. PP 343.

ही था, क्योंकि वह अदीक्षित होते हुये भी दीक्षित की भाषा बोलता था और उसके लिये व्रात्य स्तोमों का विधान था। कनिष्ठ व्रात्य ज्येष्ठ व्रात्य अथवा श्रोत्रिय से केवल अदीक्षित होने में ही भिन्न नहीं थे, अपितु उनमें विषपान, ब्रह्मचर्य, भ्रष्टता, निष्क (सिक्के) का व्यवहार, कृषि आदि किसी उत्पादक उद्यम को न अपनाने जैसी बातें भी थीं, जो अवांछनीय समझी जाती थीं। इससे ऐसा लगता है कि आजन्म ब्रह्मचर्य या सन्यास का व्रत लेने वाले श्रोत्रिय जब पतित हो जाते थे, तो वे सामाजिक बन्धनों के कारण गृहस्थ जीवन में न आकर ढोंग और पाखण्ड से पूर्ण सन्यासी जीवन व्यतीत करने लगते थे। ये अदीक्षित व्रती अथवा अदीक्षितों के पुत्र निकृष्ट श्रेणी के श्रोत्रिय व्रात्य कहे जाते थे। इस प्रकार का पतन इतिहास में अनेक बार हुआ जैन धर्म में वसतिवासी साधुओं और चैत्यवासी साधुओं में जो अंतर था और आज साधुओं और यतियों में जो भेद है वह इसी प्रकार का है। इसके अतिरिक्त आज शुद्ध विरक्तों और संन्यासियों के विपरीत गृहस्थ वैरागियों, स्वामियों और योगियों का होना भी इसी ओर संकेत करता है।

कालान्तर में ऐसे पतित व्रात्यों की एक पृथक् आर्य जाति सी बन गई सी प्रतीत होती है, जिसके अन्तर्गत शूद्र तथा क्षत्रियों के वर्णसंकर ही नहीं थे, अपितु उसमें सभवतः अनार्य जातियों का भी समावेश किया जाने लगा था। अत एव सगर-दिग्विजय के समय शक, पह्लव, यवन, काम्बोज, पारद, माहीषक, दार्व, चोल तथा खस लोगों का त्राण वशिष्ठ द्वारा उन्हें व्रात्य बनाये जाने पर होता है। इससे यह और भी प्रमाणित होता है कि 'व्रात्य' नाम शक आदि अनार्य जातियों का नहीं था; अन्यथा आर्य राजा से उनकी रक्षा करने के लिये आर्य ऋषि वशिष्ठ उन्हें 'व्रात्य' क्यों बनाते? और यदि यह सम्भव हो सकता, तो भी जो अनार्य होने के कारण पहले ही व्रात्य थे उन्हें व्रात्य बनाने का क्या अभिप्राय होता? अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पतित व्रात्यों की जाति भी प्रारम्भ में आर्य जाति ही थी, जिस में आगे चलकर न केवल आर्य जाति के पतित जन अपितु अनार्य जातियों का भी समावेश होने लगा होगा।

व्रात्य ब्रह्म क्यों?

परन्तु प्रश्न यह होता है कि "व्रात्य-काण्ड में परमात्मा को व्रात्य क्यों कहा गया?" इस प्रश्न के उत्तर के लिये, हमें व्रात्यकाण्ड के तत्त्वज्ञान को समझ लेना आवश्यक है। व्रात्यकाण्ड के तत्त्वज्ञान का निरूपण हमें सबसे अच्छा डा० सम्पूर्णानन्द के श्रुतिप्रभभाष्य में मिलता है, उसमें प्रतिपादित सृष्टि क्रम के विषय में वे स्वयं कहते हैं कि—"इस भाष्यमें जो सृष्टिक्रम माना गया है उसका रूप मैंने विस्तार से चिद्विलास, ऋग्वेदीय पुरुष सूक्त और भारतीय सृष्टिक्रम विचार में दिखलाया है। संक्षेप में वह इस प्रकार है :—

शुद्ध ब्रह्म
↓
❀ मायाशबलब्रह्म (परमात्मा-ईश्वर)
|
हिरण्यगर्भ
|
विराट्
|
पुरुष — प्रधान (मूल प्रकृति)"
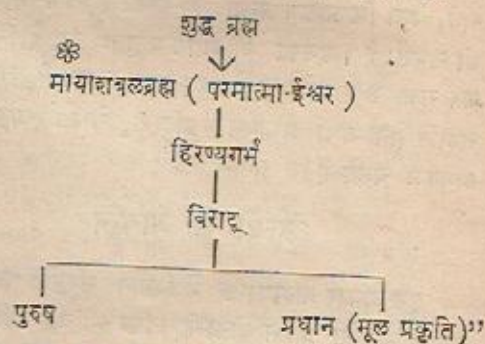
इस सृष्टि क्रम को ध्यान में रखते हुये, यदि हम अथर्ववेदीय ब्रह्मचारी सूक्त पर विचार करें, तो हम देखेंगे कि 'वहाँ एक स्थान पर' उस ब्रह्म से पूर्व उत्पन्न होनेवाले ब्रह्मचारी, का उल्लेख मिलता है 'जिससे ज्येष्ठ ब्रह्म की उत्पत्ति हुई है। निःसन्देह यह ब्रह्मचारी शुद्ध ब्रह्म है, जो उस (माया शबलित) ब्रह्म से पूर्व भी होता है, जिससे ज्येष्ठ ब्रह्म अथवा हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति होती है। जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, मायाशबलित ब्रह्म या परमात्मा को ही व्रात्यकाण्ड में व्रात्य कहा गया है, जो ज्येष्ठ को जन्म देने वाला कहा गया है। शुद्ध ब्रह्म माया रहित या मायातीत है—शक्तिमान् की शक्ति उसी में लीन रहती है, जबकि मायाशबलित ब्रह्म मायायुक्त होता है—उसमें शक्ति व्यक्त रूप में रहती है। माया या

❀ विदित रहे कि वैदिकधर्म वा ऋषि दयानन्द के मत में ब्रह्म शुद्ध ही रहता है, उसमें अशुद्धता वा भ्रान्ति कैसे आई वा आ सकती है, इसका उत्तर आज तक कोई ब्रह्मवादी नहीं दे सका—"सम्पादक वेदवाणी"।

१. देखिये ऊपर उद्धृत।
२. दे० मुनि जिन विजय खरतरगच्छ गुर्वावली की भूमिका।
३. ब्र० पु० मध्यभाग, अ० ६३, श्लोक १२८–१५०
४. श्रुति प्रभभाष्य—भूमिका
५. अथ० वे० ११, ३.। ६. वही ११, ३, ५.। ७. तु० क. डा० सम्पूर्णानन्द, श्रुतिप्रभभाष्य. १—२.

शक्ति की स्त्री रूप में तथा ब्रह्म की कल्पना प्रायः पुरुष रूप में की जाती है, अतः मायातीत शुद्ध ब्रह्म को ब्रह्मचारी एवं मायाशबलित ब्रह्मको ब्रह्मचर्य भ्रष्ट ब्रह्म या व्रात्य ब्रह्म भी कहा जा सकता है; क्योंकि वह माया रूपिणी स्त्री के संसर्ग से पतित हो चुका है। अतएव व्रात्य के साथ पुंश्चली (पुरुष पुरुष के पास जाने वाली स्त्री) की कल्पना भी व्रात्यकाण्ड में की गई है—विभिन्न दिशाओं या क्षेत्रों में श्रद्धा, हस, विद्युत् आदि विभिन्न पुंश्चलियों का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार हम ऊपर देख चुके हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों में व्रात्य को ब्रह्मचर्य न पालन करने वाला तथा अदीक्षित बतलाया गया है। इसके विपरीत शुद्ध ब्रह्म रूपी उक्त ब्रह्मचारी[2] को स्पष्टतः 'दीक्षित' कहा गया है। वही सम्भवतः आपस्तम्ब का वह व्रात्य है जिसको ऊपर वेदव्रती श्रोत्रिय अथवा ज्येष्ठ व्रात्य कहा गया है जबकि पतित व्रात्य कनिष्ठ व्रात्य या हीन व्रात्य कहा गया है।

श्रुतिप्रभ-भाष्य

इस प्रकार व्रात्यकाण्ड के रहस्य को समझने में श्रुतिप्रभ-भाष्य सबसे अधिक सफल हुआ है। डा० सम्पूर्णानन्द के भाष्य का महत्व इसलिये और भी बढ़ जाता है कि व्रात्य काण्ड पर सर्वप्रथम भाष्य है। ऋग्वेदादि के देशी विदेशी अनेक भाष्यकारों की सफलता का सबसे बड़ा श्रेय सायण को है क्योंकि यदि आचार्य सायण न होते तो शायद ही वे विद्वान् भाष्यकार कहला पाते! परन्तु व्रात्यकाण्ड को सायण ने भी छोड़ दिया। अतः सम्पूर्णानन्द बधाई के पात्र हैं, विशेषकर इसलिये कि उनके भाष्य ने हमें उस व्रात्य-समस्या की गुत्थी सुलझाने में सहायता प्रदान की है जिसको आधुनिक पण्डितों ने बुरी तरह उलझा रक्खा था॥

(लेख योग्यता पूर्ण है। विद्वानों के विचारार्थ उपस्थित है। अतः इस विषय पर अन्य विद्वान् भी अपने विचार उपस्थित करें। ज्ञानप्रभभाष्य के विषय में हम अपने विचार पुनः कभी उपस्थित करना चाहते हैं—सम्पादक वेदवाणी)॥

१—देखिये ऊपर सारांश। २—अथ० वे० ११. ३. ६

(पृ० ४० का शेष)

गायत्री विद्या का व्याख्यान हुआ है। भूत को प्राणमय बनाना ही गायत्री विद्या है। भूत द्वारा प्राण को अन्तर्याम सम्बन्ध से आत्मसात् करना यही गायत्री उपासना है। गायत्री के तीन निर्वचन हैं—१. यद्गायत तद्गायत्री, २. गायन्तं त्रायत इति गायत्री ३. गच्छतीति गायत्री। अपनी अपनी दृष्टि से तीनों ठीक हैं। प्राण और भूत का संघर्ष यही यहाँ प्रतिपल हो रहा है। यही शक्ति और जड़ तत्त्व का संघर्ष है। यही दैवी प्राण और आसुरी प्राणों का संघर्ष है। प्राण को छन्द कहते हैं। गायत्री छन्द से उक्त प्राण तत्त्व को हम अपने भूतों के लिये प्राप्त करते हैं। प्राण तो सर्वत्र व्याप्त है। उसे इस पार्थिव शरीर में अन्तर्याम बना सके यही जीवन है। यही गायत्री का गायन्तं त्रायते स्वरूप है। पार्थिव प्राण का सौर प्राण से नित्य मिलन और पारमेष्ठ्य सोम्य तत्त्व के साथ पुनः पृथिवी की ओर आगमन यही गच्छतीति गायत्री है। प्रजापति ने गायत्री छन्द पर पृथिवी समाप्त की। पृथिवी ही गायत्री है, यही प्रजापति की दृष्टि यही यद्गायत तद्गायत्री का रूप है। सौर प्राण जब तक सृष्टिक्रम का पर्यवसान नहीं होता। गायत्री पर सृष्टि समाप्त हुई, भूपिंड बन गया, सब कुछ बन गया। सूर्य में पशु वनस्पति की सृष्टि नहीं है उसके लिये पार्थिव शान्त प्राण या अग्नि की आवश्यकता है। इसीलिए कहा जाता है कि सोमतत्त्व या जल से पृथिवी बनी। अद्भ्य पृथिवी। जल में वारुण प्राण है। उसी वारुण प्राण से यह पृथिवी बनी। उसे देव प्राण या सौर प्राण अपने प्रभाव में लेता है। स्थूल भूत वारुण या मूर्च्छित प्राण है। उसमें देव प्राण का प्रवेश होना चाहिए। पृथिवी के गायत्र प्राण में देव प्राण या सावित्री का प्रवेश हो रहा है। यह भूपिण्ड देव, और आसुर प्राणों के ज्योति और अन्धकार के, अदिति और दिति के बीच में है। जहाँ तक यह सूर्य से आकृष्ट और प्रभावित है इसमें जीवन या दैवी प्राण का विस्तार होता है। यदि सौर मण्डल से पृथिवी का सम्बन्ध छूट जाय तो पृथिवी का गोला मूर्छित भूत रूप में जीवन से विरहित बन जाय। जहाँ तक सूर्य ने इसे आकृष्ट कर रक्खा है वहीं तक संवत्सर का या प्रजापति का मण्डल है। इन्द्र का राज्य है। इन्द्र असुरों का प्रतिपक्षी है। वह सदा विजयशील है। इन्द्र के अस्तित्व मात्र से आसुरी प्राणों का तिरोभाव हो जाता है। हमारे सौर मण्डल का अधिष्ठाता प्राण इन्द्र ही है। इन्द्र रूप मध्य प्राण से ही यह शरीर प्राणवन्त है। इन्द्र ही यहाँ शक्ति का समिन्धन कर रहा है। जब तक इन्द्र की सत्ता है तभी तक जीवन है। प्रज्ञान या चैतन्य इन्द्र का लक्षण है। जहाँ इन्द्र है वहीं चैतन्य है। इसीलिए वेदमंत्रों में इन्द्र की इतनी महिमा है। हमारे सौर मण्डल के लिये इन्द्र ही सर्वोपरि है इन्द्र और वृत्र का संघर्ष दैवी प्राण और आसुरी प्राणों का संघर्ष है। प्राण और भूत का संघर्ष है। अग्नि की सहायता से ही भूत प्राण में परिवर्तित होते हैं, स्थूल हवि की प्राणरूप में परिणति होती है। स्थूल अन्न शरीराग्नि से ही प्राणरूप में परिवर्तित होता है और तब ऐन्द्र प्राण से मिलता है। अग्नि को देवों ने दूत बनाया है—अग्निं दूतं वृणीमहे गृणानो हव्यदातये। हव्य देने के लिये अग्नि ही दूत हो सकता है। वही देवों तक हवि पहुँचाता है। पृथिवी के जितने तत्त्व सूर्य या इन्द्र की ओर जाते रहते हैं सभी हवि हैं।

वेदार्थ की समस्या परिभाषाओं का स्पष्टीकरण है। सहस्रों शब्द हैं जिनके द्वारा सृष्टि विज्ञान का ही निरूपण किया गया है। उनकी व्याख्या अति क्लिष्ट कार्य है क्योंकि परिभाषाओं की कुंजी पूर्व और पश्चिम में कहीं भी परम्परा से उपलब्ध नहीं रही। ब्राह्मण ग्रन्थों में वे सूत्र सुरक्षित हैं, उपनिषदों में भी वही परम्परा थी, स्वयं संहिताएँ तो उनकी आकार हैं। किन्तु सब से अधिक तो ध्यान या प्रातिभ चिन्तन की सहायता की अपेक्षा है।

वेदों की अति महत्त्वपूर्ण एक विद्या सुपर्ण विद्या थी। जितनी भूतचितियाँ या पिण्ड निर्माण हैं, सब सुपर्ण का रूप हैं। अग्नि सूर्य चन्द्रमा सभी सुपर्ण हैं। जितने गतिशील पदार्थ हैं सुपर्ण हैं, वे ही गरुत्मा हैं। शरीर में जीव आत्मा सुपर्ण है। साक्षी सुपर्ण और भोक्ता सुपर्ण दोनों इसी में बैठे हैं। जीवात्मा भोक्तात्मा है। वह भोक्तात्मा सुपर्ण या जीवात्मा वैश्वानर—तैजसप्राज्ञमय है। जो साक्षी सुपर्ण है वह विराट्हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमय है। साक्षी सुपर्ण भोक्तासुपर्ण का सयुज् सखा है, जैसा जीव सुपर्ण का स्वरूप वैसा ही साक्षी सुपर्ण या ईश्वर का है। वह साक्षी सुपर्ण हर एक जीव में है। हर एक पिंड का साक्षी सुपर्ण पृथक् पृथक् है। उसका संस्थान और धर्म अलग है। व्यक्तित्व साक्षी सुपर्ण और भोक्ता सुपर्ण दोनों के आधार पर प्रतिष्ठित है। दोनों द्वयप्रतिष्ठ हैं। साक्षी सुपर्ण के बिना भोक्ता सुपर्ण अकेला पिंड में रह ही नहीं सकता। विश्वका विश्वात्मा प्रत्येक केन्द्र या पिण्ड में प्रतिबिम्बित होता है, किन्तु भोक्तात्मा या जीव की भांति सोपाधिक नहीं बनता, केवल साक्षी रूप से रहता है। यही उसका अभिचाकशीति रूप है। चिति

समष्टि का नाम सुपर्ण है। पिण्ड बनाने के लिये प्रजापति को जो संस्थान या ढांचा बनाना होता है वही सतचिति वाला सुपर्ण होता है। चत्वारो आत्मा, द्वौ पक्षौ, पुच्छे प्रतिष्ठा यही सुपर्ण का रूप है। धड़ को चार आत्मा कहते हैं। दो पक्ष हाथ पैर हैं। पुच्छ या प्रतिष्ठा उसकी त्रिकास्थि है, अर्थात् मेरु दण्ड का भाग। प्रत्येक पत्ते में भी त्रिकास्थि है जहां वह वृक्ष से जुड़ा रहता है। धड़, दोनों पक्ष भाग, त्रिकास्थि का आधार इन सातों से ठाठ बन गये। पर ये सातों मर्त्य हैं। इन में जो प्राण या जीवन का केन्द्र है वह सिर है। यज्ञीय भाषा में कंठ से नीचे के भाग में चित्य अग्नि और ऊपर सिर में चिते निधेय अग्नि रहती है। एक मर्त्य है, दूसरा अमृत शिर इस शरीर यज्ञकर आहवनीय अग्नि है। सर्वेभ्यो देवेभ्यो हूयते इति आहवनीयम्। सब देवों के लिये आहुति मुख या आहवनीय में हो दी जाती है। किन्तु जब तक वह अन्न रूप सोम की आहुति गार्ह-पत्य अग्नि या जठराग्नि में न पड़े, उसका रस आदि न बने वह आहुति देवप्राणों को नहीं मिल पाती देहरूपी सुपर्ण के चार आत्मा चार आधार प्राण है। वे सर्वांग शरीर के आधार हैं। धड़ सारे शरीर का आधार है इसी से हाथ पैर आदि सब निकले हैं। यहां आत्मा से शरीर के धड़ भाग का ही अभिप्राय है। दो फेफड़े, हृदय और उदर ये चार आत्मा या शरीर के आधार इसी धड़ में हैं। दो पक्ष, दक्षिण पक्ष और उत्तर पक्ष ये दोनों ओर के हाथ पैर हैं। पुच्छे प्रतिष्ठा—धड़ वाला आत्मा भाग भी जिस के आधार पर ठहरा है वह त्रिकास्थि प्राण जब शिथिल हो जाता है तभी कमर टूट जाती है। यह कल्पना पक्षी के ढांचे से ली गई है। चिड़िया की पूंछ में जो कम्पन होता रहता है उसी से उसकी गति सम्भव होती है। कोई भी गति का उपक्रम त्रिकास्थि प्राण पर बल डाले बिना हो ही नहीं सकता। पक्षों से गति संचार होता है। प्राणन अपान का द्वन्द्व पक्षों से ही होता है। यह शरीर यंत्र है। 'यंत्रारूढानि मायया—इस शरीर रूपी शिल्प या माया से हम सब यन्त्रा-रूढ हैं। यह शरीर ही ब्रह्म यंत्र है। इसके धड़ को ढोने की शक्ति प्राण और अपान की क्रिया से ही होती है। उसी से यह यंत्र चल रहा है। असंज्ञ, अन्तःसंज्ञ, ससंज्ञ सब भूतों में ये सत चितियां रहती हैं। जो पत्थर आदि असंज्ञ हैं उनमें वैश्वानर है, तैजस प्राज्ञ नहीं है। जो वृक्षवनस्पति हैं उनमें वैश्वानर तैजस है प्राज्ञ नहीं है। तैजस नाम प्राण का है जिसके कारण उनका विकास होता है। जहां प्राणन क्रिया का स्पर्श हुआ कि विकास या वृद्धि होने लगती है। मानव पशु, पक्षी, कृमि, कीट इनमें प्रज्ञा तत्त्व का विकास है। पूर्व पूर्व में उत्तरोत्तर से अधिक है। प्राज्ञ ही चिदंश है। असंज्ञ पाषाण आदि में केवल भूतचिति है। प्राणचिति नहीं है। जो भूत का आधार विश्वात्मक प्राण है वह तो रहता ही है, चैतन्य का आधार प्राण नहीं है जिसका चिदंश से सम्बन्ध हो। प्रज्ञान भी उनमें नहीं है। लेकिन सुपर्ण रूपता पाषाणादि पिण्डों में भी है। कोई न कोई रूप तो उनका भी है ही। किन्तु अभिव्यक्त यज्ञरूपता नहीं है। यज्ञ सुपर्ण है। यज्ञका जो वितान होता है वही सुपर्ण चिति है। अग्नीषोमात्मक, प्राणापानात्मक, प्रक्रिया से यज्ञका वितान होता है। वह वृक्ष वनस्पति से लेकर कीट मानव पर्यन्त है। यज्ञ विष्णु है। गायत्री छन्द उसका वाहन या गरुत्मा सुपर्ण है। गायत्री सुपर्ण के सोमाहरण अथवा प्राणापानन, अथवा गायत्री—सावित्री के व्यापार से ही यह शरीर यज्ञप्रवृत्त है। यज्ञ सुपर्णचिति कहलाती है। सुपर्णचिति पर ही प्रत्येक भूत पिण्ड का यज्ञ प्रतिष्ठित है। सुपर्ण पर ही यज्ञ रूपी विष्णु बैठता है। सैषा सुपर्णविद्या। यही गायत्री विद्या है। गायत्री विद्या से केवल भूतविद्या कही जाती है। यह भूतात्मा शरीर जिस प्रकार प्रतिष्ठित रहता है अथवा यह भूपिंड जैसे सौर प्राण की प्राप्ति से स्व स्वरूप में स्थिर रहता है उसी की व्याख्या गायत्री विद्या है। इस विद्या के विस्तार का अन्त नहीं है। प्रत्येक पिण्ड का जितना विज्ञानात्मक रहस्य है वह सब इसके अन्तर्गत है। किन्तु सबको संचालित करने वाली शक्ति प्राणरूपी सुपर्ण है जिसके दो पक्ष अर्थात् प्राण और अपान इस भूत चिति को चलाते हैं—अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणाद-पानती। व्यख्यन्महिषो दिवम्॥ प्राण और अपान की आन्तरिक रोचन या चिनगारी ही जीवन है। इस शरीर में जो महिष या आप्य प्राण या वारुण प्राण या आतुर प्राण है वह गायत्री रूप प्राणन से ही द्युलोक के सौर प्राण को प्राप्त करता है। यदि शरीर में गायत्री छन्द न हो तो यह भूतात्मा मूर्छित हो जाय। गायत्री ही अमृत प्राण का आह-रण कर रही है जिससे हम सब जीवित हैं। वेदार्थ की समस्या हमारे लिये जीवन की भाँति मूल्यवान् है। उसके पीछे विज्ञान है। सृष्टि और जीवन दोनों की व्याख्या उससे होती है। हमारे लिये वह बुद्धि का कुतूहल नहीं है, बल्कि ध्यानप्राण या हृदय पर बल डाल कर अर्थों के मन्थन करने का या उनके साक्षात् ज्ञान करने की समस्या है॥

भाषा का इतिहास

वृद्धि वा ह्रास

[ले०—श्री० पं० भगवद्दत्त जी वैदिक स्कालर देहली]

दो मत—भाषा के इतिहास को भिन्न-भिन्न लेखक भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकट करते हैं। योरोप में एतद्विषयक वृद्धि और ह्रास के दो मत हैं। इनके लिए अंग्रेजी में निम्नलिखित शब्द प्रयुक्त हुए हैं। यथा—

1. Growth, 2. Development, 3. Evolution, 4. Improvement, 5. Decay.

अनेक लेखक ये शब्द प्रयुक्त नहीं करते और change शब्द ही प्रयोग में लाते हैं। उसका अभिप्राय परिवर्तन शब्द से प्रकट होता है।

अब इन दोनों मतो का क्रमशः उल्लेख करते हैं—

१. विकास (development) फ्रैञ्ज़ बॉप ने इस विस्तार को विकास शब्द से प्रकट किया है—

The language in its stage of being and march of development[1].

अर्थात्—भाषा अपने अस्तित्व के पड़ावों में और विकास की गति में।

२. महाराष्ट्र लेखक गुणे, जो पाश्चात्य गुरुओं की शिक्षा के अतिरिक्त अन्य ज्ञान से कोरा था, लिखता है—

From the cry and onomatopoeia, with their various combinations, by means of association and metaphore, we arrive at a vocabulary, sufficient for the purpose of primitive man...... the small original stock...is improved upon and added to by manipulations of various kinds, based upon association of various kinds and metaphore.[2]

Language like plants is not an organic growth.[2]

अर्थात्—शब्दानुकृति और प्राणि-रुत से संसार के मूल शब्दों का आरम्भ हुआ। उस स्वल्प शब्द भण्डार से विकसित होते होते भाषा बनी।

परन्तु उद्भिज की वृद्धि के समान भाषा में वृद्धि नहीं हुई।

गुणे improve = 'अधिक अच्छा बनाना' शब्द बरतता है।

गुणे के कथन में हेत्वाभास है। अमुक शब्दानुकृति अमुक पक्षी का नाम हो जाएगी, ऐसा निश्चय शब्दों द्वारा किया गया वा अन्य प्रकार से। यदि शब्दों द्वारा किया गया तो वे शब्द कहाँ से आए। महाभाष्यकार अनवस्था का दोष बताकर इस पक्ष को सर्वथा हेय कहता है।

मैक्समूलर भी इस मत को असिद्ध कहता है। उसका तर्क है कि यदि प्राणिरुत आदि से भाषा का विकास माना जाएगा, तो भाषाओं के शब्दों का धातुओं से निष्पन्न होना व्यर्थ सिद्ध होगा।

३. जैस्पर्सन इन भावों को निम्नलिखित प्रकार से प्रकट करता है—

(क) A language or a word is no longer taken as something given once for all, but as a result of previous de-

1. Comp. Grammar, P. V.

2. Gune, P. 13-14.

velopment and at the same time as the starting-point for subsequent development ... it suffices to mention such words as 'evolution' and 'Darwinism' to show that linguistic research has in this respect been in full accordance with tendencies observed in many other branches of scientific work during the last hundred years[१].

अर्थात्—भाषा वा पद सदा के लिए एक सा नहीं होता। कोई पद पूर्वावस्थाओं का पक्व फल है और आने वाली अवस्थाओं का पूर्वरूप है। शब्दों में निरन्तर विकास है।

पुनश्च—

(ख) The structure of modern languages is nearer perfection than that of ancient languages, if we take them as wholes, ...[२].

परन्तु इस असिद्ध विकास को मानता हुआ जैस्पर्सन समय समय पर किस प्रकार विवश हो जाता है, इसके उदाहरण उसके अपने शब्दों में दिए जाते हैं—

(ग) We observe everywhere the tendency to make pronunciation more easy, so as to lessen the muscular effort; difficult combinations of sounds are discarded, :... Modern research has shown that the Proto-Aryan sound system was much more complicated than was imagined in the reconstruction of the middle of the nineteenth century[३].

अर्थात्—उच्चारण को सरल करने की रुचि सर्वत्र रही है। साथ ही प्रयत्न को न्यून करने की भी। वर्तमान खोज ने बताया है कि पूर्व-आर्य ध्वनि-प्रकार अधिक क्लिष्ट था।

उच्चारण भ्रष्ट हुआ है, सर्वत्र अधिक सरल नहीं हुआ। गौ शब्द से गोपोतलिका विकार अधिक कठिन और लम्बा है।[४] इसमें प्रयत्न अधिक है। इस सत्य द्वारा दर्शाई आपत्ति को समझ कर असमञ्जस में पड़ा जैस्पर्सन लिखता है—

(घ) If this had been always the direction of change, speaking must have been uncomonly troublesome to our earliest ancestors[५].

अर्थात्—यदि परिवर्तन की यही दिशा होती तो पूर्व-उच्चारण अतीव क्लिष्ट होता।

तो क्या परिवर्तन सदा इसी दिशा में नहीं हुआ। यदि नहीं, तो पहला (ग) लेख अशुद्ध ठहरेगा। यदि प्राथमिक उच्चारण अतिक्लिष्ट था, तो विकास का सिद्धान्त अशुद्ध है। विकास मत को मान कर जैस्पर्सन आपत्ति में पड़ा है।

४. मैक्समूलर का ह्रास पक्ष—मैक्समूलर का पक्ष इसके विपरीत था—

They have reduced the rich and powerful idiom of the poets of the Veda to the meagre and impure jargon of the modern sepoy[६].

पुनः वह अधिक स्पष्ट करता है—

The growth of language comprises two processes :—

1. Dialectic Regeneration.
2. phonetic Decay[७].

अर्थात्—भाषा का नवजीवन और उच्चारण का ह्रास।

वह पुनः लिखता है—

Laws of phonetic decay[८].

तथा—We are accustomed to call these changes the growth of language, but it would be more appropriate to call this process of phonetic change decay[९].

अर्थात्—हम भाषा की वृद्धि का शब्द प्रयोगों में लाने

१. Preface, P. I.
२. P. 263.
३. P. 418, 419.
४. जैन चूर्णि ग्रन्थों में इस शब्द का प्रयोग मिलता है।
५. पृ० २६३, अन्तिम वाक्य समूह।
६. L. S. L. Vol. 1 p. 36.
७. वहीं, पृ० ४४।
८. वहीं, पृ० ४८.
९. वहीं, पृ० ५१।

के अभ्यासी हो गए हैं। पर वस्तुतः ध्वनि की गति गलने सड़ने के ढंग को होती गई है।

पुनश्च—On the whole, the history of all the aryan languages is nothing but a gradual process of decay[१].

अर्थात् सम्पूर्ण बातों पर ध्यान देते हुए, सकल आर्य भाषाओं का इतिहास, ह्रास की क्रमिक क्रिया के अतिरिक्त कुछ नहीं।

५. शङ्कर पाण्डुरङ्ग पण्डित—मैक्समूलर की परिभाषा का प्रयोग शङ्कर पण्डित ने स्वसम्पादित गौडवहो की की भूमिका में प्राकृत के विषय में किया—

The simplest fact how they became prakrit by the natural process of decay and corruption[२].

६. इस विकृत रूप को ही शतपथ ब्राह्मण में अपभाषित अथवा म्लेच्छित के नाम से स्मरण किया है।

प्राचीन आर्य-सिद्धान्त

भारतीय सिद्धांत निश्चित इतिहास के साक्ष्य के अनुसार कृतयुग के पश्चात् से भाषा के ह्रास का ही प्रतिपादन करता है। तदनुसार मूल में शब्द थे, जिन्हें उत्तरकाल में अपशब्दों की सृष्टि के पश्चात् साधु शब्द कहा गया। उन्हीं के विकृत रूप म्लेच्छ शब्द, अपभ्रंश शब्द, आसुर शब्द अथवा प्राकृतिक शब्द हुए। सम्पूर्ण प्राचीन इतिहास इसी तथ्य का निर्देश करता है।

इस इतिहास को न जानते हुए नामवरसिंह जी ने 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' नामक ग्रन्थ में लिखा है—

पतञ्जलि जैसे लोकवादी मुनि के मुख से बोली के शब्दों के लिए अपशब्द और अपभ्रंश संज्ञा का प्रयोग सुनकर आश्चर्य होता है[३]। इति।

वस्तुतः भारतीय-सिद्धान्त से अनभिज्ञता उनके आश्चर्य का कारण है।

ह्रास का कारण आलस्य (Laziness)

इस ह्रास का कारण सर्वत्र प्रयत्न लाघव (Saving of muscular exertion) नहीं, प्रत्युत आलस्य (Laziness) भी है। मैक्समूलर लिखता है—

There is one class of phonetic changes which take place in one and the same language, or in dialects of one family of speech, and which are neither more nor less than the result of laziness[४].

अर्थात्—एक प्रकार का ध्वनि-परिवर्तन जो एक ही भाषा अथवा उसकी बोलियों में होता है, आलस्य के कारण है।

जैसा आगे लिखेंगे, भारतीय विद्वान् इसका कारण शिक्षा-विहीनता मानते हैं।

बोली (Dialect) और भाषा (Language)

विकास मत की आधार-शिला—विकास मत शब्दों से बोलियों और तत्पश्चात् बोलियों से भाषाओं का उद्गम मानता है। इस बात को सिद्ध करने के लिए योरोप में बोलियों के लिए dialect शब्द का इस नए अर्थ में व्यवहार आरम्भ किया गया। मूल ग्रीक भाषा में जहाँ से यह शब्द लिया गया, इसका अर्थ भिन्न था।

आगे बोली (dialect) और भाषा (language) का लक्षण लिखा जाता है—

Dialect—a dialect is a body of speech which does not contain within itself any differences that are commonly perceived as such by its users[५].

अर्थात्—बोली में अपने अन्दर प्रकट रूप से वाणी का कोई विभेद नहीं होता।

Language—A number of dialects grouped together on the bases of certain similarities which they possess as against other dialects is called language[६].

अर्थात्—शब्दों के अनेक सादृश्यों का अनेक बोलियों से एकत्रीकरण करके भाषा बनती है।

योरोप के अनुसार वेद एक बोली—इसी भाव से

---

१. वहीं, पृ० २७२। २. भूमिका, पृ० १, ७। ३. पृ० ३।
४. L. S. L. Vol. II. P. 193. ५. Strutevant E. H. Linguistic change, 1942, P. 146.
६. वहीं।

प्रेरित होकर उह्लन बैक (Uhlenbeck) वेद को भी Vedic dialect बोली लिखता है—

परन्तु अनुमान के अतिरिक्त इसका प्रमाण नहीं। यह कथन उपहासजनक है।

विकास मतस्थों का यही पक्ष है कि बोलियों से भाषा बनी। यही इसका वृद्धि (growth) अथवा पनपना है।

टिप्पण—अगले लेख से पता लगेगा कि भाषा से भी बोलियाँ बनी हैं। वहाँ यह मत अयुक्त ठहरेगा।

अनेक भारतीय इस मत के उच्छिष्ट भोजी

७. पूना से ध्वनि उठी—

Any language is a complicated net work of dialects which it comprises of, intercrossing one another[1].

अर्थात्—कोई भाषा बोलियों का एक गम्भीर सांकर्य है।

इसके विपरीत

भाषाओं से बोलियाँ बनी—दूसरी ओर भाषाओं से बोलियों का बनना भी स्पष्ट दिखाई देता है।

(क) यह निर्विवाद है कि अनेक भारतीय बोलियाँ शिष्ट संस्कृत का अपभ्रंश मात्र हैं। पक्षपातियों ने इस तथ्य के नष्ट करने का भरसक प्रयत्न किया है, पर वे सर्वाङ्ग असफल रहे हैं।

विण्टर्निट्ज़ ने लिखा—

Languages of India..., have passed through three great phases of development, ... These are :

I. Ancient Indian (Vedic)
II. Middle ,, languages and dialects,
III. The modern ,, ,, ,,

The languages of the oldest Indian literary monuments···the Vedas, is sometimes called 'Ancient Indian,' ··· sometimes also 'Vedic' 'Ancient High Indian' is perhaps the best name for this language which, while based on a spoken dialect, is yet no longer an actual poplar language, but a literary language .... The dialect on which the Ancient High Indian is based, the dialect as it was spoken by the Aryan immigrants ...,[2] was closely related to the Ancient Persian and Avestic ...

अर्थात्—भारतीय भाषाएँ विकास की तीन अवस्थाओं में से गुजरी हैं......

१. प्राचीन भारतीय (वैदिक)
२. मध्य भारतीय भाषाएँ और बोलियाँ
३. वर्तमान भारतीय भाषाएँ और बोलियाँ।

प्राचीनतम भारतीय साहित्यिक ग्रन्थों की भाषा, जिन्हें वेद कहते हैं, अथवा जो भाषा कभी-कभी वैदिक कहाती है, का आधार बोली पर था, पर वह सर्वप्रिय भाषा नहीं रही थी। वह साहित्यिक भाषा हो चुकी थी। वेद भारत में आने वाले आर्यों की पूर्व-भाषा का परिणाम था। इसका प्राचीन फारसी और अवेस्ता से संबन्ध था।

टिप्पण—वेदवाक् किसी पुरानी बोली पर आश्रित है, इसका कोई प्रमाण नहीं। अवेस्ता में उन गाथाओं आदि का अपभ्रंश है जो प्राचीन संस्कृत में थीं, अथवा अवेस्ता के अनेक पाठ मन्त्रों का ही विकृत रूप है।

उपर्युक्त उद्धरण में विण्टर्निट्ज़ उह्लन बैक का खण्डन करता है। उह्लन बैक के अनुसार वेद एक बोली है, विण्टर्निट्ज़ के अनुसार नहीं।

विण्टर्निट्ज़ द्वारा अगले पृष्ठ पर अपने लेख का स्वयं प्रत्याख्यान

Also the case and personal endings are still much more perfect in the oldest language than in the later Sanskrit. (p. 42)

पहले वह phases of development विकास के प्रकार लिखता है। पुनः वह प्राचीनतम भाषा (oldest language) में अधिक पूर्ण (more perfect) रूप देखता है।

असत्य मत बनाने वालों की जो गति होती है, वही विण्टर्निट्ज़ की हुई है।

१. C R. Sankarn, A. D. Taskert P. C. Ganesh Sundaram, Quantitative classification of Language, Bulletin, Dec. Coll. Res. Inst. Sept, 1950, p. 87. २. H. I. L. p. 41

(ख) पामीर की बोलियों के विषय में देखिए—

In Vakhan there is also spoken an older Iranian language as well as the shugnan tongue, which shugnan is only spoken by the people of quality. This older Indian tongue is the original tongue of the Vakhans, which now seems to have degenerated into a country dialect. All the qeople of Vakhan speak this laguage[1].

अर्थात्—मध्य एशिया के वखान देश में पुरानी ईरानी बोली, एक ग्रामीण बोली की अवस्था में गिर गई।

(ग) मेरियो पाई भी एक ऐसा वृत्त लिखता है—

Classical Arabic is a unified and highly conservative language, and is used throughout the entire Arabic world for written—language purposes. Spoken Arabic, as a tongue which has been in constant use for many centuries over an extended area, has broken up into numerous dialects[2].

अर्थात्—व्यवहार की अरबी से अनेक बोलियाँ बनीं।

व्यवहार और साहित्यिक भाषा का ऐक्य—महाभाष्य २।४।५६ में एक वैयाकरण और सारथी का संवाद उद्धृत है। उस से स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में व्यावहारिक और साहित्यिक भाषा में कोई भेद नहीं था। महाभाष्य ६।३।१०९ से भी इसकी पुष्टि होती है। वहाँ लिखा है—

अष्टाध्यायीमधीयानोऽन्यं पश्यति अनधीयानं येऽत्र विहिताः शब्दास्तान् प्रयुञ्जानम्।

अर्थात्—अष्टाध्यायी का पढ़ने वाला अन्य अष्टाध्यायी न पढ़ने वाले को (मातृभाषा के रूप में) अष्टाध्यायी में विहित शब्दों को प्रयोग करते हुए देखता है।

कृतयुग में जब सब ब्राह्मण और विद्वान् थे, तब व्यवहार और साहित्य में प्रयुक्त भाषा का कोई अन्तर नहीं था। यदि कहो कि हम इस पक्ष को नहीं मानते तो यह इतिहास का दोष नहीं कि अज्ञानी उस इतिहास को नहीं जानता। अपनी कल्पना के अनुसार इतिहास को घड़ना मूर्खता है।

संस्कृत भाषा का संकोच

भाषा विस्तार तथा भाषा-ह्रास के विभिन्न पक्ष कह दिए। अब संस्कृत के संकोच का ऐतिहासिक क्रम लिखा जाता है—

प्राचीन संस्कृत—महर्षि ब्रह्मा के ग्रन्थ
|
इन्द्र आदि के व्याकरण
|
पञ्चशिख, शालिहोत्र, भरद्वाज के ग्रन्थ
|
कृष्णद्वैपायन व्यास के महाभारत आदि तथा उपलब्ध ब्राह्मण सूत्रादि
|
पाणिनि के समय की अतिसंकुचित संस्कृत

पाणिनिव्याकरण से प्रतीयमान अतिसंकुचित संस्कृत का एक उदाहरण देते हैं—

कस्य विभ्यति देवाश्च जातुरोषस्य संयुगे।

यह पाठ वाल्मीकीय रामायण के आरम्भ में मिलता है। मुद्रित दाक्षिणात्य पाठ ऐसा ही है। पर पश्चिमोत्तर शाखा में किसी पाणिनीय भक्त ने इस का रूपान्तर निम्नलिखित कर दिया—

जातरोषात् कस्माच्च देवता अपि बिभ्यति।

इस प्रकार के शतशः प्रयोग पुराने ग्रन्थों में मिलते हैं[3]।

यदि संस्कृत का प्राचीनतम रूप कभी संसार के सामने आया, तो संस्कृत के अतुलनीय शब्द भण्डार, संस्कृत के व्याकरण के बहुविध रूपों तथा कथित पर्यायी के अर्थों के सूक्ष्म भेद का एक चमत्कारपूर्ण रूप संसार के सामने आएगा। निश्चय ही भाषा की वृद्धि अथवा उन्नति नहीं हुई, प्रत्युत ह्रास हुआ है।

यदि वृद्धि का अभिप्राय शब्दों के सामासिक मेल आदि

१. Obifren O., Through the unknown Pamirs, London, 1904, p. 60.
२. The Story of Language, pp. 361, 362.

३—संस्कृत भाषा में शब्दों का उत्तरोत्तर किस प्रकार ह्रास हुआ है, इसके लिए पं० युधिष्ठिर मीमांसक जी का 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ का प्रथमाध्याय देखें। वहाँ अनेक उदाहरण देकर इस विषय को स्पष्ट किया है॥

से समझा जाए (जैसे समाचार-पत्र आदि) तो आंशिक वृद्धि होती रही, पर मूल शब्दराशि, शब्दों के अर्थों के सूक्ष्म भेद, सन्धि-वैचित्र्य और व्याकरण की बहुविधता की दृष्टि से देखा जाए तो ह्रास ही ह्रास दृष्टिगोचर होगा।

अंग्रेजी, जर्मन, अरबी आदि वर्तमान भाषाओं के प्रायः शब्द सर्वथा अपभ्रंश रूप हैं। वास्तविक भाषा एक ही है और वह है संस्कृत। और वही संसार की आदि भाषा है[1]॥

वैदिक कहानियाँ

[ले०—श्री डा० मुन्शीरामजी शर्मा, एम० ए० पी० एच० डी०,
अध्यक्ष—हिन्दी विभाग—डी० ए० वी० कालेज, कानपुर]

वैदिक साहित्य विश्व का प्राचीनतम साहित्य है। पाश्चात्य तथा पौरस्त्य सभी विद्वानों का अभिमत ऐसा ही है। वेद-विश्वासी आस्तिक आर्यों की बुद्धि ने इस साहित्य को ज्ञान विज्ञान के मूर्धन्य स्थान पर प्रतिष्ठित किया है। प्राचीनतम भाषा में लिखा होने के कारण यह साहित्य परवर्ती विद्वानों के लिए अनेक स्थानों पर दुरुह सा बना रहा। ब्राह्मण ग्रन्थों में वैदिक मन्त्रों की व्याख्या करने का प्रयास मिलता है। उपनिषदों के ऋषि भी इसी दशा में संलग्न हुए हैं; परन्तु काल का अतिपात उन्हें वैदिक ऋषियों की अनुभूति से सम्भवतः तद्रूप नहीं कर सका। फिर भी वे वैदिक ऋषियों के साक्षात् के निकट पहुँच सके हैं, ऐसा मानने में किसी भी आलोचक को आपत्ति नहीं हो सकती। आधुनिक भाष्य-कर्ता सायण, महीधर आदि इस अनुभूति से बहुत दूर थे। निकट पहुँचने के लिए जिस तपश्चर्या की आवश्यकता होती है, उसका उपादान भी ये विद्वान् नहीं कर सके, अतः वैदिक साहित्य की अनेक बातें या तो रहस्यमय अन्धकार में आच्छन्न रहीं, अथवा भ्रान्त रूप में जनता के समक्ष उपस्थित की गईं। उदाहरण के लिए हम तथाकथित वैदिक कहानियों पर विचार करते हैं।

पौराणिक साहित्य में प्रजापति ब्रह्मा और उसकी पुत्री सरस्वती की कथा आती है। इसी प्रकार गौतम-अहल्या, इन्द्र-वृत्र तथा देव और असुरों की भी कथाएँ आती हैं। इन कथाओं के बीज वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं। पर ये बीज केवल बीज हैं, कहानी का साङ्गोपाङ्ग वर्णन नहीं है। कहानियों के बीजों के साथ-साथ वेद में कतिपय ऐसे नाम भी आते हैं, जो ऐतिहासिक महापुरुषों के नाम हैं। इक्ष्वाकु, पुरुरवस्, बुध, चन्द्र, अत्रि, आयु, नहुष, ययाति, यदु, पुरु, ब्रह्म, अनु, शान्तनु आदि ऐसे ही नाम हैं। वेद के इन नामों को देखकर—ऐतिहासिक (प्राचीन तथा नवीन) यही कहते रहे हैं कि वेद में इतिहास है और उसकी सहायता से हम तत्कालीन

१—संस्कृत संसार भर की आदि भाषा थी, इसके लिए देखो हमारा वैदिक वाङ्मय का इतिहास प्रथम भाग (द्वितीय संस्करण) अध्याय ३।

सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। ऐसी मान्यता पुराकाल में भी रही है, परन्तु उसका प्रतिपक्षी दल अधिक प्रबल रहा है, जिसने न वेद में इतिहास माना है और न कहानियों का बीजाङ्कुर।

ऋग्वेद १–१६४–३३ में 'पिता दुहितुर्गर्भमाधात्' तथा ३–३१–१ में 'पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्' पद आते हैं। इन्हीं के आधार पर ब्रह्मा और सरस्वती वाला कथानक पुराण साहित्य की कहानी का रूप धारण करता है। ऋग्वेद १०-११-६ में आए हुए 'जार आ भगम्' पद को आधार मानकर गौतम अहल्या की कथा निर्मित हुई। यजुर्वेद २३-१८ में अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका को सम्बोधन करके सुभद्रिका को नमस्कार करने के लिए कहा गया है, जो काम्पिल्यवासिनी है। ये केवल थोड़े से संकेत हैं, जो वेद में कहानी के रूप को प्रकट करने वाले हैं। परन्तु क्या हम इन्हें कहानियों अथवा इतिहास की घटनाओं का पूर्वरूप कह सकते हैं? निरुक्तकार ने स्पष्ट शब्दों में इस स्थापना का खण्डन किया है।

पुराण साहित्य अवश्य लम्बी-चौड़ी कहानियों से भरा पड़ा है। उसमें ऐतिहासिक घटनाओं का समावेश है। परंतु यह साहित्य भी अपने रचयिता के ही शब्दों में आम्नाय अर्थात् वेद के अर्थ को प्रदर्शित करने के लिए ही निर्मित हुआ था। जिस प्रकार का आलङ्कारिक वर्णन वेदों में है, उसी प्रकार का अपेक्षाकृत विस्तृत रूप में, पुराणों में है। जैसे आज की कहानी का काल्पनिक कथानक उद्देश्यविशेष से गर्भित रहता है। वैसे ही पुराण काल में भी रहता था। वेद में अहल्या रात्रि है, गौतम चंद्र है और सूर्यने इन्द्र का रूप धारण किया है। इन्द्र सूर्य है तो वृत्र मेघ है। पिता सूर्य है तो दुहिता उषा है। इसी प्रकार रूपक अलङ्कार के द्वारा वेद ने प्राकृतिक जगत् की घटनाओं को समझाया है। पुराण साहित्य ने इन्हीं रूपकों को बृहदाकार बनाकर प्राकृतिक तथा मानव जगत् की घटनाओं पर प्रकाश डाला है।

ऋग्वेद २।१२।२ में इन्द्र का वर्णन आता है। इस इन्द्र ने अपने क्रतु से देवताओं को विभूषित किया, जिसके बल से द्यावा और पृथ्वी काँपने लगे, जिसने काँपती हुई पृथ्वी को दृढ़ किया, जिसने प्रकुपित पर्वतों को रमणीय बना दिया, जिसने अन्तरिक्ष को नाप लिया, जिसने दिव् को स्थिर किया है, जिसने अहि को मारकर सप्त सिन्धुओं को उन्मुक्त किया, जिसने दो पत्थरों के बीच में अग्नि को उत्पन्न किया, जिसने इन समस्त विनश्वर पदार्थों को जन्म दिया है, जिसने दस्यु, हिंसक वर्ण को नीचे गुहा में (अन्तर्हित) कर दिया है, जो शत्रु की पुष्टि को जीतने वाला है और कभी-कभी भूकम्प के समान उसे विनष्ट कर देता है, जिसके भयङ्कर रूप को अनुभव करके, कभी-कभी मर्यादा का भङ्ग करने वाले पूछ बैठते हैं, 'वह कहाँ है?' कभी उसके अस्तित्व का निषेध भी करते हैं, वह इन्द्र है। दूसरी जो कृश है अर्थात् दीन-हीन हैं, परन्तु ज्ञान में निरत होकर उस परम देव के चरणों के उपासक बने हुए हैं, उनकी वह रक्षा भी करता है। देखने में ऊपर की बातें इन्द्र-सम्बन्धी किसी कहानी का अङ्ग जान पड़ती हैं; पर यह क्या कोई कहानी है? निरुक्तकार यास्क के समय में और उसके पूर्व भी कुछ ऐसे विद्वान् अवश्य थे, जिनका संकेत यास्क ने 'इति ऐतिहासिकाः' लिखकर किया है और जो वेद में ऐसे ही शब्दों को देखकर इन्द्र आदि के जीवन वृत्त की कल्पना किया करते थे[२]।

कहानी साहित्य की एक दिशा है, जिसके द्वारा साहित्यिक या तो कोई उपदेश देना चाहता है, या ज्ञान के किसी प्रत्यय का अभिव्यञ्जन करना चाहता है। इसी को पौराणिक शैली भी कहते हैं। परन्तु हमने ऊपर ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के १२ वें सूक्त से जो पंक्तियाँ उद्धृत की हैं, वे कहानी के सम्पूर्ण रूप को प्रकट नहीं करतीं। इन पृथक् २ पंक्तियों में इन्द्र भी कोई व्यक्ति[३] विशेष नहीं है। इन्द्र से तात्पर्य इन्द्रियों के अधिपति इन्द्र अर्थात् आत्मा और देवाधिदेव परमात्मा से है। आत्मा का क्षेत्र शरीर है, परन्तु परमात्मा का क्षेत्र निखिल ब्रह्माण्ड। ऊपर की पंक्तियाँ इन दोनों क्षेत्रों का ज्ञान कराती हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों ने इसी शैली का अनुकरण किया है और इसके द्वारा ज्ञान-विज्ञान के अनेक क्षेत्रों पर प्रकाश डाला है। वेद में यदि ऊपर के

१. "ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता" निरु० १०।१० इससे स्पष्ट है कि निरुक्तकार व्यक्तिविशेषों का इतिहास नहीं मानते—सम्पादक वेदवाणी॥ २. इसमें देखो पूर्वोक्त टि०—'सम्पादक वेदवाणी॥'

३. इसके लिये देखें ऋ० ३।७१।३ में 'अभूद्वुषा इन्द्रतमा मघोनी०' में इन्द्रतमा में आतिशायिक तमप् प्रत्यय इन्द्र को विशेषण सिद्ध करता है॥ सम्पादक वेदवाणी॥

कथनों को कहानी का अङ्ग स्वीकार करें, तो जो सम्बद्धता कहानी के अङ्गों में रहती है, वह हमें ऊपर के कथनों में दिखाई नहीं देती। ऊपर के कथन पृथक्-पृथक् तथ्यों के रूप में है। जैसे इन्द्र द्वारा देवताओं को शक्ति-सम्पन्न करना, व्यथित पृथ्वी को दृढ़ बनाना, अहि को मारकर सप्त सिन्धुओं को उन्मुक्त करना आदि। इनमें से एक एक कथन एक-एक तथ्य को प्रकट करता है और उन सब में कहानी जैसा कोई भी पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है। प्रथम कथन में आत्म स्वरूप का वर्णन है। मानव जब आत्म-स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करता है तो उसके अन्दर बल का सञ्चार होता है। आत्म-ज्ञान के अभाव में जो इन्द्रियाँ निस्तेज पड़ी रहती हैं, वे आत्मज्ञान के समय तेजस्विनी बन जाती हैं। द्वितीय उक्ति विज्ञान के क्षेत्र से सम्बद्ध है। सृष्टि के आरम्भ में जो पृथ्वी तरल अवस्था में काँपती हुई सी प्रतीत होती थी, प्राकृतिक नियमों में आबद्ध होकर वही कालान्तर में दृढ़ अथात् ठोस हो गई। तीसरा कथन पुनः आत्मज्ञान से सम्बद्ध है, जिसमें अहि माया है और सप्तसिन्धु सातऋषियों के रूप में ज्ञान के सप्त प्रवाह हैं। ज्ञान के इन प्रवाहों को रोकने वाली माया है। विषय-विकार माया के ही रूप हैं। जब ये दूर हो जाते हैं, तो ज्ञान के सातों प्रवाह प्रवाहित होने लगते हैं। इसी प्रकार इन्द्र के सम्बन्ध में जो अन्य बातें कही गई हैं, वे ज्ञान के पृथक्-पृथक् प्रत्ययों पर प्रकाश डालती हैं। पाँचवा मंत्र परमात्मा की सत्ता का उद्घोष करने वाला है। वही छठे मन्त्र में सद्गुणों को धारण करने वाले कृश एवं प्रपन्न भक्तका रक्षक है। नवें मन्त्र में कहा गया है कि मानव इसी परमेश्वर की सहायता से अपने अभिमानों में सफलता प्राप्त करता है। अपने को अच्युत समझने वाले प्रभु की शक्ति के सामने च्युत हो जाते हैं। ग्यारहवें मन्त्र में कहा गया है कि जो शम्बर अर्थात् शान्ति को आवृत या आच्छादित करनेवाला आसुरी भाव पर्वतों में, नाड़ियों के ऊर्ध्व भागों में निवास कर रहा था, उसे आत्म-शक्तिका उदय ही नष्ट करने में समर्थ होता है। मानव को उसके लिए साधना करनी पड़ती है। यह एक दिन का नहीं, वर्षों की साधना का काम है। मन्त्र में आए हुए ४० वर्षों का सङ्केत इसी ओर है। वैसे आदित्य ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य-काल लगभग ४० वर्षों का ही है। यह ब्रह्मचर्य रूपी तप भी मायावृत द्वारों को खोलने वाला है। जो दानव, जो अहि, आराम से सोया करता है, उसका विनाश इसी तप-रूप शक्ति के द्वारा होता है।

जो बातें हमने इस इन्द्रसूक्तके सम्बन्ध में लिखी हैं, वही अन्य सूक्तों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती हैं। इन सूक्तों में वर्तमान कहानी का कोई रूप नहीं है, केवल कहानी के कलेवर की विभिन्न दशाओं का सङ्केत मात्र है। आज की कहानी यथार्थवाद की भित्ति पर खड़ी होकर भी काल्पनिक रहती है। प्रेमचन्द्र जी के सूरदास या मालती यथार्थ प्रतीत होते हुए भी किसी स्थान विशेष के विशिष्ट व्यक्ति नहीं हैं। उसी प्रकार वेद के इक्ष्वाकु, आयु, त्रिशङ्कु, नहुष आदि ऐतिहासिक न होकर प्रतीक मात्र हैं, जो कहीं अन्तरिक्ष-स्थानीय नक्षत्रों की गतिविधि बतलाते हैं और कहीं ओषधि आदि के गुणों का उल्लेख करते हैं। वेद में आए हुए कतिपय नाम भी राजाओं के नाम नहीं हैं। शन्तनु, अर्जुन, कृष्ण, राधा, सहदेव आदि नामों को देखकर हमें उनपर महाभारत-कालीन व्यक्तिविशेष का आरोप नहीं करना चाहिये, क्योंकि वेद और उनके शब्द महाभारत-कालीन व्यक्तियों से भी पूर्व के हैं। महाभारत आदि के साक्ष्य इस तथ्य को असंदिग्ध रूप में उपस्थित कर रहे हैं। पर इसमें सन्देह नहीं कि वेद के रूपकों के आधार पर ही पौराणिक कथा साहित्य का निर्माण हुआ है और उसकी वही दिशा है, जो आज के कहानी साहित्य की है। मनु के **वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे,** श्लोकार्थ का मन्तव्य इसी तथ्य का समर्थन करता है। अतः वैदिक साहित्य में आई हुई कहानी, कहानी नहीं है। वह कहानी का बीज-मात्र है और सोद्देश्य है। पौराणिक कहानी उसीका बृहत् रूप है। पञ्चतन्त्र में विकसित होती हुई वही हमारी आज की आदर्श कहानी बनी हुई है॥

---

१. ("देवापिर्विद्वान्, शन्तनुरुदकम्, पुरोहितः—पूर्वं हि विद्योतते पश्चादुदकम्-एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या। एष शास्त्रे सिद्धान्तः।'''औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयः। परमार्थेन तु नित्यपक्ष इति सिद्धम्"। (निरु० २।१२ स्कन्द टीका० पृ० ७७-७८)—(सम्पादक वेदवाणी)॥

छन्दों के ज्ञान से वेदार्थ का ज्ञान

(ले०—श्री पं० सुधीर कुमार एम० ए० शास्त्री, प्रभाकर, एम० डी० एम०
अध्यक्ष संस्कृतविभाग, एन० आर० ई० सी० कालेज तथा संयोजक वेदसम्मेलन खुरजा)

(प्रस्तुत लेख लेखक की अभिनव कृति 'वेदार्थ को दयानन्द सरस्वती की देन' का एक अंश है। यह कृति शीघ्र ही पूरी होगी।)

सूत्रों का स्वरूप

वेदज्ञान के विकास का अगला सोपान सूत्रों में दृष्टिगोचर होता है। सूत्र ग्रन्थों का स्वरूप विलक्षण है। इसमें जो भी विषय लिया गया है उसका पूर्ण विवेचन किया गया है, परन्तु परम संक्षिप्त पदों में[1]। इनका उद्देश्य विस्तार को संक्षिप्त पूर्णता में परिणत करना प्रतीत होता है। सूत्रों की इस शैली के कारण उनको टीकाओं के बिना समझना कठिन है।

सूत्रों का वेदांगत्व

समस्त सूत्र साहित्य का वेदांगों में अन्तर्भाव हो जाता है। ये वेदांग, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष हैं[2]।

वेदांगों की महिमा

प्राचीन काल से ही इन वेदांगों की महिमा प्रतिपादित की जाती रही है। इन्हें वेदार्थ-ज्ञान के लिये परम आवश्यक माना गया है। शरीर के अंगों के समान वेद-शरीर के अंग भी वेद के अर्थ के प्रकाशक माने जाने स्वाभाविक थे। एक लेखक ने कहा है—

"छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥"[3]

समस्त संस्कृत साहित्य में सांग वेद के अध्ययन को ही महत्त्व दिया गया है।

वेदांग और वेदभाष्य पद्धति

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि वेदांगों का अध्ययन वेदार्थ के जानने का साधन है। अतः यहाँ पर वेदभाष्यपद्धति का समुचित दर्शन होना चाहिए। इस दृष्टि से वेदांगों को दो श्रेणियों में रक्खा जा सकता है—

१—गौण रूप से वेदार्थ के जानने में सहायक शिक्षा, ज्योतिष, कल्प और छन्द

२—प्रधानतया वेदार्थ की शैली के प्रतिपादक—निरुक्त और व्याकरण। अब इन सबके विवेचन द्वारा इन अंगों में प्राप्त वेदभाष्यपद्धति को जानने का प्रयत्न किया जायगा।

छन्द और वेदार्थपद्धति

जैसा पहले दिखाया जा चुका है संहिताओं, और ब्राह्मणों आदि में 'छन्दः' पद और छन्दों के नामों के प्रयोग पारिभाषिक हैं, वे निरुक्त प्रणाली से वेदार्थ करने का संकेत करते हैं। वहाँ छन्दों में मानव को सुख आदि देने की शक्ति मानी गई है।

यास्क का मत—छन्द देवता हैं

निरुक्तिकार ने देवताओं के विवेचन में छन्दों का

१—तु. क. 'स्वल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम्। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥
२.—तु. क.—"शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चितिः। ज्योतिषां निचयश्चेति वेदांगानि वदन्ति षट्॥"
३—पाणिनीय शिक्षा ४१—५।

भी विवेचन किया है। छन्दः, गायत्री, उष्णिक् आदि पदों के निर्वचन भी दिये हैं। छन्दों के इस विवेचन के तुरन्त पश्चात् यास्क लिखते हैं—

'इतीमा देवता अनुक्रान्ताः।'[४]

अतः यास्क छन्दः और छन्दों नामों को देवता मानते हैं। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यास्क छन्दों के नामों को मन्त्र के देवता के सदृश उनके विषय का निर्देशक मानते हैं।

छन्दों की परिभाषायें साभिप्राय

हलायुध ने पिंगलसूत्र—'सा पादूनिचृद्'[६]। पर टीका करते हुए लिखा है कि निचृद् संज्ञा का विधान प्रयोक्ता के अदृष्ट अभ्युदय के ज्ञापनार्थ किया गया है—

प्रयोक्तुरदृष्टाभ्युदयसम्बन्धज्ञानार्थमियं संज्ञा
वेदस्यानादित्वान्महत्त्वेऽपि च न दुष्टेति॥'

इसकी कादम्बिनी हिन्दी टीका ने इस भाव को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है—

'इसके प्रयोग करने वाले को शुभ अदृष्ट उत्पन्न होता है। इसी बात को सूचित करने के लिये ही ऐसी संज्ञा की गई है। चृत् का अर्थ 'हिंसा करना' है और नि उपसर्ग लग जाने से उसका विपरीत अर्थ हिंसा न करना है। अर्थात् जिस छन्द के प्रयोग करने से यजमान का किसी भी प्रकार हनन न हो वह शुभ अदृष्ट से ही हो सकता है। यही भाव इस प्रकार संज्ञा करने का है[७]।"

पिंगलाचार्य[८] ने लिखा है कि जिस छन्द को वे न्यङ्कुसारिणी' कहते हैं उसी को 'क्रौष्टुकि' 'स्कन्धोग्रीवी' और यास्क 'उरोबृहती' कहते हैं। ऋग्वेद प्रातिशाख्य ने भी इन नामों का उल्लेख किया है[९]। तीन आचार्यों द्वारा एक ही छन्द के विभिन्न नाम दिये जाने किसी विशेष अभिप्राय के द्योतक प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार 'महा-बृहती' को 'सतोबृहती' भी कहा गया है[१०]।

छन्दों के विभाग—साभिप्राय

ऋग्वेद प्रातिशाख्य, पिंगल छन्दः सूत्र आदि में छन्दों के प्राजापत्य,[११] दैव[१२], आसुर[१३] और आर्ष[१४] विभाग, ब्राह्म[१५] याजुष आर्च और साम गायत्रियों का नाम-करण, समस्त छन्दों का निचृत् और भुरिक्[१६], विराज् और स्वराज्[१८] रूप में विभाग, विराज् और स्वराज् के ताराट्, विराट्, स्वराट्, सम्राट् स्ववशिनी, परमेष्ठी, प्रतिष्ठा, प्रज, अमृत, वृषा, शुक्र, जीव, पयः, वृत, अर्ण, अंश, अम्मः, अम्बु, वारि, आपः, और उदक[१९] भेद तथा गायत्री छन्द से पूर्व मा, प्रमा, प्रतिमा, उपमा और समा[२०] तथा इनके भी हर्षीका, सर्षीका,, मर्षिका, सर्वमात्रा, विराट् कामा[२१] तथा आर्ष छन्दों[२२] के नाम साभिप्राय प्रतीत होते हैं। इनमें कितने ही छन्दों का विस्तार और नामकरण अनावश्यक प्रतीत होता है।

छन्दों में पादव्यस्था में अर्थानुसार परिवर्तन

ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार पादविभाग प्रायः वृत्त और अर्थ के आधार पर किया जाता है[२३]। सन्धि-छेद आदि द्वारा पाद के वर्णों की पूर्ति 'प्रायः' है; पदों को पूर्व या अपर पाद में पढ़कर छन्द के लक्षण को संगत करना 'वृत्त' है; और अर्थ की पूर्णता के लिये पदों को पूर्वापर पादस्थ मानना 'अर्थ' है[२४]। इनमें यद्यपि 'अर्थ' को मध्यम स्थान दिया जाता है[२५] परन्तु छन्दों में अर्थ पर पाद विभाग का निर्भर होना तथा वृत्त में पदों का पूर्वापर पदों में रखने की स्वतंत्रता का विधान छन्दों में अस्थिरता को उत्पन्न कर देता है, क्योंकि इस प्रकार कई बार पाद के वर्णों की संख्या बदल जाने से मन्त्र का छन्द भी बदल जाता है। यदि यह बात मान ली जाये तो छन्द का नाम रूढ़ि या संज्ञा रूप न रहकर परिभाषा बन जाता है जो परि-भाषा प्रकरणानुसार परिवर्तन शील है।

छन्दों की सम्पत—मन्त्रार्थ यथेच्छ से सम्पत् की प्राप्ति

ऋग्वेद प्रातिशाख्य के मत में पदों का भेद न करते हुए पादों की यथेष्ट व्यवस्था करके मन्त्रों में जिस-जिस सम्पत् की कामना हो उस 'सम्पत्' को प्राप्त किया जासकता है[२६]।

४-नि० ७।१२-१३. ५—नि० ७।१३. ६-पि० छं० सू० ३।१०. ७—वही पृ० ४१.
८-पि० छं० सू० ३।२८।३०. ९-ऋ० प्रा० १६।४६. १०-पि० छं० सू० ३।३५-३६. ११-ऋ० प्रा० १६।१.
१२-वही १।१२. १३-वही १६।४. १४-वही १६।७-८. १५-वही १६-१२-१३.
१६-वही १६।१०. १७-वही १७।१. १८-वही १७।३—४. १९-वही १७।५
२०-वही १७।१९. २१-वही १७।२०. २२-वही १६।१६-८६. २३-वही १७।२५.
२४-ऋ प्रा. १७।२५ पर उव्वभाष्य देखें। २५-वही १७।२६-विशेष सन्निपाते तु पूर्वं पूर्वं पर परम्
२६—ऋ. प्रा. १७।२४ तथा उस पर उवट भाष्य।

इसी कृति के मत में गायत्री आदि छन्दों के अक्षरों के चतुर्थ भाग अर्थात् एक पद के बराबर जब उष्णिक् आदि की संख्या बन जाती है, तब 'छन्द सम्पत्' होती है[२८]।—

छन्दों की उत्पत्ति का प्रयोजन

तो क्या प्रातिशाख्य के मत में छन्द मंत्रार्थ के निर्देशक है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य की टीका में उवट[२८] ने शौनक के मत को उद्धृत किया है।

जिसके अनुसार छन्दों में सचराचर त्रैलोक्य का अन्तर्भाव है। अतः छन्दों का ज्ञान कीर्ति, यश, आयु, पुण्य, वृद्धि और स्वर्गदायक है—

"गायत्र्यादीनि छन्दांसि सोमो यैराहृतः पुरा।
तानि सर्वमिदं कृत्स्नं त्रैलोक्यं सचराचरम्॥
स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं वृद्धिकरं शुभम्।
कीर्तिसृग्यं यशस्यं च छन्दसां ज्ञानमुच्यते॥"

यही भाव ऋग्वेद प्रातिशाख्य का है—

"सर्वाणि भूतानि मनोगतिश्च।
स्पर्शाश्च गन्धाश्च रसाश्च सर्वं॥
शब्दाश्च रूपाणि च सर्वमेतत्।
त्रिष्टुब्जगत्यौ समुपैति भक्त्या॥"[२९]

जैमिनीय सामवेद ने भी समस्त जगत् को गायत्र और त्रैष्टुभ रूपों में विभक्त किया है—

'गायत्रं त्रैष्टुभं जगद् विश्वा रूपाणि सम्भृतम्।
देवा ओकांसि चक्रिरे॥'[३०]

छन्दों के नाम मन्त्रों के अर्थों के ज्ञापक

इस विचारसरणी से ज्ञात होता है कि छन्दःशास्त्री छन्दोनामों को जगत् के समस्त भावों, परिस्थितियों और पदार्थों का द्योतक मानते हैं। यदि ऐसा हो तो छन्दोनाम केवल वेद मन्त्रों के अक्षरों की नाप-तौल के ज्ञापक नहीं, प्रत्युत मन्त्रगत अर्थों के भी द्योतक हो जायेंगे।

गुरु और लघु में जगत् का अन्तर्भाव

ऋग्वेदप्रातिशाख्यकार इससे एक पद और आगे बढ़ते हैं तथा छन्द के गुरु और लघु को क्रमशः त्रैष्टुभ और जागत जगत् का ज्ञापक मानते हैं। उनके मत में इस तथ्य को जानने वाला छन्दों द्वारा अमृतत्व को प्राप्त करता है—

"गुर्वक्षराणां गुरुवृत्ति सर्वं।
गुर्वक्षरं त्रैष्टुभमेव विद्यात्॥
लघ्वक्षराणां लघुवृत्ति सर्वं।
लघ्वक्षरं जागतमेव विद्यात्॥
यश्छन्दसां वेदविशेषमेतं।
भूतानि च त्रैष्टुभजागतानि॥
सर्वाणि रूपाणि च भक्तितो यः।
स्वर्गं जयत्येभिरथामृतत्वम्॥"[३१]

इस लेख के अनुसार छन्दोबद्ध मन्त्रों के प्रत्येक गुरु अक्षर से त्रैष्टुभ जगत् का प्रत्येक लघु अक्षर से जागत जगत् का ज्ञान होता है। परिणामतः मन्त्रों के प्रत्येक गुरु और लघु अक्षरों के अर्थ द्वारा ही पूर्वोक्त छन्दों की 'सम्पत् या सम्पत् की सिद्धि हो सकेगी। इसमें छान्दोग्य उपनिषद् की 'साम' पद[३२] की व्याख्या-पद्धति का समर्थन प्रतीत होता है।

छन्दों के देवता
निर्धारण का प्रयोजन—मन्त्रों के छन्द देवताओं के पूरक

ऋग्वेद प्रातिशाख्य तथा छन्दोग्रन्थों ने छन्दों के देवताओं की कल्पना की है।[३३] ये देवता इस प्रकार हैं—

छन्द—देवता
गायत्री—अग्नि
उष्णिक्—सविता
अनुष्टुप्—सोम
बृहती—बृहस्पति
विराट्—मित्रावरुण
त्रिष्टुप्—इन्द्र
जगती—विश्वेदेवाः
पंक्ति—वसु
अतिछन्दाः—वायु
द्विपदा—पुरुष
एकपदा—ब्रह्म

२७—वही १८।४५ और उस पर उवट भाष्य। २८—ऋ. प्रा. १८।६२ के भाष्य में।
२९. ऋ० प्रा० १८।५९ ३०. जै० सा० ३।१।२.
३१. ऋ० प्रा० १८।६०—६२ ३२. छा० उ० १।६।१—६.
३३. ऋ. प्रा० १७।६—१२।

इस छन्दो-देव सम्बन्ध में पंक्ति से पूर्व का वर्णन ऋग्वेद के उपोद्धृत मन्त्रों के अनुसार किया गया है, शेष का ऋग्वेद प्रातिशाख्य ने आधार तो नहीं दिया परन्तु इनका आधार यजुर्वेद के छन्दः सम्बन्धी वर्णन प्रतीत होते हैं जिन का उल्लेख पहले हो चुका है।—

"अग्नेर्गायत्र्यभवत् सयुग्वोष्णिहया
सविता सं बभूव।
अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान्
बृहस्पतेर्बृहती वाचमावत्॥
विराण्मित्रावरुणयोरभिश्रीरिन्द्रस्य
त्रिष्टुबिह भागो अह्नः।
विश्वान् देवाञ्जगत्या विवेश
तेन चाक्लृप्र ऋषयो मनुष्याः॥"[34]

इस वर्णन में जहाँ छन्दों को देवों से उत्पन्न माना है, वहाँ देवों को भी छन्दों से उत्पन्न माना है। तथा इन छन्दों को समस्त जगत् का प्रकाशक या द्योतक माना है। अगले दो मन्त्र इस भाव को और भी स्पष्ट करते हैं—

चाक्लृप्रे तेन ऋषयो मनुष्या
यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे।
पश्यन् मन्ये मनसा चाक्षसा तान्
य इमं यज्ञमयजन्त पूर्वे॥
सहस्तोमाः सहछन्दसः आवृतः
सहप्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा
अन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन्॥[35]

इस छन्द-देव सम्बन्ध का भी यही निष्कर्ष है कि छन्दोनाम और देवता-नाम एक दूसरे के पूरक हैं, दोनों एक ही अर्थ की ओर लक्ष्य करते हैं। जन्य-जनक के सम्बन्ध के कारण देवता बीज है, तो छन्द उसके विस्तार और छन्द बीज हैं तो देवता उनके विस्तार हैं। अतः वेदार्थ ज्ञान के लिए दोनों का ज्ञान आवश्यक है।

छन्दों के देवता-ज्ञान पर उवट के मत का भी यही अभिप्राय

ऋग्वेद प्रातिशाख्य के टीकाकार उवट का मत है कि छन्दों के देवता-ज्ञान से सन्दिग्ध स्थलों पर छन्दों का निर्णय सम्भव होता है—

'छन्दसां देवताज्ञाने धर्मः प्रयोजनं भवत्येव। संशये दैवतेनाध्यवसायो भवति। यथा—तव स्वादिष्ठा (ऋ. ४।१०।५) शिवा नः सख्या (ऋ० ४।१०।८) इत्युष्णिगनुष्टुभोर्मध्ये—घृतं न पूतम् (ऋ. ४।१०।६) इति षड्विंशत्यक्षरे द्वे ऋचौ दैवतेन स्वराजौ गायत्र्यावध्यवसीयते। न विराजावुष्णिहौ॥"[36]

इस के अनुसार भी देवता और छन्द एक दूसरे के प्रकाशक हैं। यद्यपि उवट ने अपना व्याख्यान आपाततः एक पक्षी किया है, परन्तु उस ने दूसरे पक्ष का तिरोहण नहीं किया है। अतः उपरोक्त वैदिक मत की दृष्टि में उवट का भी यही अभिप्राय मानना कदाचित् अनुचित न हो।

छन्दों के रंग से वेदार्थ-ज्ञापन

छन्द, उनके रंग और देवता प्रायिक प्रकरणनुसार परिवर्तनशील

ऋग्वेदप्रातिशाख्य ने वैदिक छन्दों के रंग भी बताये हैं[37]। इस से भी छन्दों के वेदार्थ से सम्बन्ध पर कुछ प्रकाश मिलता है। छन्दों के रंग इस प्रकार हैं:—

छन्द	देवता	रंग
गायत्री	अग्नि	श्वेत (शंखवर्ण)
उष्णिक्	सविता	सारंग (कृष्ण शुक्ल)
अनुष्टुप्	सोम	पिशंग (रोचना वर्ण)
बृहती	बृहस्पति	कृष्ण (अगुरु वर्ण)
विराट्	मित्रावरुणौ	नील (उत्पल वर्ण)
त्रिष्टुब्	इन्द्र	लोहित (इन्द्रगोप वर्ण)
जगती	विश्वेदेवाः	सुवर्ण (सुवर्ण रूप वर्ण)
पंक्ति	वसु	अरुण (प्रातःसंध्या वर्ण)
अतिछन्दाः	प्रजापति	श्याम (शुक वर्ण)
विच्छन्दाः	वायु	गौर (सिद्धार्थ वर्ण)
द्विपात्	पुरुष	बभ्रु (कपिल वर्ण)
एकपात्	ब्रह्म	नकुल (नकुलवर्ण)
विराज्	"	पृश्नि (बहुवर्ण)
निचृत्	"	श्याव (कृमि दूषितपत्र वर्ण)
भुरिक्	"	पृषत् (बिन्दुमत्)
ब्रह्म सामग्र्यं	"	कपिल (जटा कलाप वर्ण)

३४. ऋ० १०।१३०।४-५।
३५. ऋ. १०।१३०।६-७।
३६. ऋ. प्रा० १७। ६ पर उवट भाष्य
३७. ऋ. प्रा. १७। १४-१८.

उवट के उल्लेखानुसार विराट् पंक्ति का ही रंग नील होता है. अन्य विराटों का 'पृश्नि वर्ण' ।[३८]

इस वर्णन से यह अनायास ही जाना जा सकता है कि अन्तिम विराज्, निचृत्, भुरिक् और ब्रह्म सामर्ग्यजुः के देवता पृथक् पृथक् नहीं बताए गए हैं । मुख्य छन्दों के भेद होने से इनके देवता अपने मुख्य छन्द के ही मान लिए गए प्रतीत होते हैं, परन्तु इनके रङ्ग अलग-अलग बताए गए हैं जब कि इनके रङ्ग भी देवताओं के समान मुख्य छन्दों के रङ्ग ही माने जा सकते हैं । अतः इस पृथक् निर्देश का अभिप्राय इन रङ्गों की प्रायिकता का ज्ञापन प्रतीत होता है । इस निष्कर्ष की पुष्टि यजुर्वेद से होती प्रतीत होती है । वहाँ एक मन्त्र में कृष्णग्रीवों को आग्नेय, गोमृग (नीलगाय) को प्राजापत्य, श्याम को सौमापौष्ण, श्वेतकृष्ण को सौर्यंयाम, श्वेत को वायव्य,[३९] दूसरे में रोहित, धूम्र-रोहित, और कर्कन्धु; रोहितों को सौम्य, बभ्रु, अरुण बभ्रु, शुकबभ्रु को वारुण, शितिरन्ध्र, अन्यता-शितिरन्ध्र, समन्तशितिरन्ध्र को सावित्र, शितिबाहु, अन्यतः—शितिबाहु, समन्तशिति बाहु को बार्हस्पत्य, पृषती, क्षुद्रपृषती, स्थूलपृषती को मैत्रावरुण,[४०] अन्य मन्त्र में पृश्नि, तिरश्चीनपृश्नि और ऊर्ध्वपृश्नि को मारुत, लोहितोर्णा, सारस्वती, प्लीहावर्णी, अध्यालोहकर्णी को त्वाष्ट्र, कृष्णग्रीव, शितिकक्ष को ऐन्द्राग्न, कृष्णाञ्जि को उषस्य,[४१] एक अन्य मन्त्र में शितिबभ्रुओं को वसुओं का रोहितों को रुद्रों का, श्वेत अवरोकियों को आदित्यों का,[४२] अन्यत्र शितिबाहु, शितिपृष्ठों को ऐन्द्राबार्हस्पत्य, शुकरूप कल्माषों को आग्नि-मारुत, श्याम को पौष्ण,[४३] और अन्यत्र बभ्रुओं को सौम्य बताया है[४४]। इस वैदिक वर्णन में रङ्गों और देवताओं के सम्बन्ध में परम एकता नहीं है । प्रत्युत उसमें विषमता पाई जाती है । यह विषमता इंगित करती है कि रंगों और देवताओं का सम्बन्ध प्रायिक है, वह प्रकरणानुसार परिवर्तित हो जाता है । यही नहीं, देवता भी स्थिर रूप नहीं । तभी तो उनका रंग बदल जाता है । अतः देवता नामों के अर्थ भी प्रकरणानुसार होंगे ।

उसी वेद में अगले मंत्रों में उपरोक्त वर्ण और गुणों के द्योतक कतिपय पशुओं का सम्बन्ध छन्दों से बताया है—

"त्र्यवयो गायत्र्यै पञ्चावयस्त्रिष्टुभे
दित्यवाहो जगत्यै त्रिवत्सा अनुष्टुभे
तुर्यवाह उष्णिहे ॥"[४५]
पष्ठवाहो विराज उक्षाणो बृहत्या ऋषभाः ।
ककुभेऽनड्वाहः पङ्क्त्यै धेनवोऽतिछन्दसे ॥[४६]

इस प्रकार वेद रंगों, देवताओं और छन्दों के सम्बन्ध को कुछ पशुनामों द्वारा स्थापित कर रहा है । इस अवस्था में यह मानना उचित प्रतीत होता है कि छन्दों का नामकरण साभिप्राय है और ये नाम मन्त्रार्थ या मन्त्र विषय के द्योतक अभीष्ट हैं ।

छन्दों के स्वर् बताने का प्रयोजन

छन्दःशास्त्र में छन्दों के स्वर भी बताए गए हैं[४७]—गायत्री का षड्ज, उष्णिक् का ऋषभ, अनुष्टुप् का गान्धार, बृहती का माध्यम, पंक्ति का पञ्चम, त्रिष्टुप् का धैवत और जगती का निषाद । पिंगल के हिन्दी अनुवादक के मत में इस स्वरनिर्देश का प्रयोजन छन्दों के सन्देह में निश्चय कराना है—"यदि किसी स्थल पर स्वराट् और विराट दोनों का सन्देह हो तो वहाँ पर स्वर देख कर भी निर्णय किया जा सकता है । जैसे २६ अक्षरों के छन्द में यह सन्देह हो रहा है कि यह स्वराट् गायत्री है या विराट् उष्णिक्, वहाँ पर यदि षड्ज स्वर का उल्लेख पाया जाता है तो गायत्री समझना चाहिए और ऋषभ स्वर का यदि उल्लेख पाया जाता हो तो उष्णिक् छन्द समझना चाहिए ।[४८]

इस विवेचन से यह तो सुव्यक्त है कि स्वर छन्दों के निर्णय में सहायक है । पहले यह भी प्रतिपादित किया जा चुका है कि देवता छन्दों के निर्णय में और छन्द देवताओं के निर्णय में सहायक हैं । यहाँ एक और धारा मिली ।

संगीत शास्त्र का सिद्धान्त है कि स्वरों में अपने

---

३८. ऋ. प्रा. १७।१५ पर उवट भाष्य.
३९. य० २४।१.
४०. य० २४।२.
४१. य० २४।४.
४२. य० २४।६.
४३. य० २४।७ ।
४४. य० २४।९
४५. य० २४।१२.
४६. य० २४।१३.
४७. पिं० छ० सू० ३।६४.
४८. पिं० छ० सू० पृ० ६८.

प्रतिपाद्य विषय को ध्वनित करने की शक्ति है। संगीत रत्नाकर ने कहा है—

"श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणात्मकः।
स्वतो रञ्जयति श्रोतुश्चित्तं स स्वर उच्यते॥
श्रुतिभ्यः स्युः स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमाः।
पञ्चमो धैवतश्चाथ निषाद इति सप्त ते॥"[४९]

अतः स्वर का निर्देश विषयानुकूल होना स्वाभाविक है। छन्द और देवता भी विषय के द्योतक हैं। इस कारण छन्दों के स्वर भी मन्त्रों के निर्देशक ठहरते है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि शिक्षा में छन्दों और स्वरों को उच्च (उदात्त) नीच (अनुदात्त) और स्वरित भेदों में विभक्त कर इन के विभिन्न अर्थ दिए हैं।

छन्दों के गोत्रों के निर्देश में भी वेदार्थ की ओर संकेत

पिंगलाचार्य ने सातों मुख्य छन्दों के गोत्र भी बताये हैं[५०]—गायत्री का आग्निवेश्य, उष्णिक् का गौतम, बृहती का आंगिरस, पंक्ति का भार्गव, त्रिष्टुप् का कौशिक और जगती का वशिष्ठ।

यद्यपि छन्द शास्त्र में इस गोत्र निर्देश का प्रयोजन नहीं बताया गया, परन्तु स्वर, वर्ण और देवता निर्देश के समान छन्दों के गोत्रों को भी छन्दों के निर्णय में सहायक मानना समीचीन जान पड़ता है। ये गोत्र नाम ऋषि नामों से सम्बन्धित हैं। पहले यह दिखाया जा चुका है कि वेद में ऋषि नामों का प्रयोग पारिभाषिक है। इसी प्रकार यहाँ पर ये गोत्र नाम पारिभाषिक हैं और छन्दों—देवताओं मन्त्र विषयों के निर्णय में सहायक होकर मन्त्र के विषय के निर्देशक ठहरते हैं। यदि ऐसा हो तो ऋषिनाम भी मन्त्रार्थ के निर्देशक हो जायेंगे। सम्भवतः इसी भाव को ध्यान में रखकर सर्वानुक्रमीणयों ने मन्त्रों के ऋषि देवता और छन्द के ज्ञान पर बल दिया है। इस मत का विवेचन आगे होगा।

अतः जहाँ वेद ज्ञान के लिये छन्दों का अध्ययन परमावश्यक है वहाँ छन्दों के ज्ञान से हमें वेदमन्त्रों के विषयों का भी ज्ञान होता है। वस्तुतः 'छन्दों के ज्ञान' का अर्थ कुछ विस्तृत है। इसके कुछ क्षेत्र का दिग्दर्शन ऊपर किया जा चुका है। एक और क्षेत्र का निर्देश यहाँ करना अनुचित न होगा।

छन्दों में निर्वचन द्वारा वेदार्थ

ऊपर बताया जा चुका है कि छन्दों में जगत् के समस्त भावों, स्थितियों और पदार्थों का समावेश है। परन्तु छन्द मुख्यतः तो सात ही हैं जैमिनीय सामवेद ने तो इन्हें त्रिष्टुभ् और जगती में ही सीमित कर दिया[५१]। ऐसी अवस्था में ये छन्द नाम समस्त जगतस्थ पदार्थ आदि के द्योतक नहीं होते। अतः अनिवार्य रूप से यहाँ पर नैरुक्त प्रक्रिया से सहायता लेकर छन्दो नामों के प्रकरणानुसार अर्थ करके उनमें समस्त जगत् की विद्यमानता की ऊहा करनी पड़ेगी। अतः छन्दोज्ञान में समस्त छन्दों और उनके भेदों के निर्वचन और उससे प्राप्त अर्थों का ज्ञान भी प्राप्त करना आवश्यक होगा॥

---

४९. मल्लिनाथ द्वारा शिशुपालवध की टीका में उद्धृत। मेघदूत (सुधीर कुमार गुप्त) टि० पृ० १९४ भी देखें।

५०—पि. छ. सू. ३।६६। ५१—जै० सा ३।१।२।

शुभ आशीर्वाद

भारत रत्न श्रद्धेय श्री डा० भगवान् दास जी

श्री ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी की 'वेदवाणी' मासिक पत्रिका के अंक मैं प्रायः तीन वर्ष से पढ़ता रहा हूँ। इसके द्वारा बहुत उत्तम कार्य हो रहा है। प्रतिमास, चुनी चुनी उत्तम ऋचाओं का सविस्तर अर्थ दिखाया जाता है, जिसको मैं ध्यान से पढ़कर शिक्षा पाता हूँ। इस प्रकार का ज्ञान जितना फैलाया जाय, अच्छा है।

ब्रिटेन, रूस, जर्मनी, अमेरिका के विद्वानों ने वहाँ पर बहुत परिश्रम किया है। विजयनगर के महाराज आनन्द गजपतिराज की आर्थिक सहायता से प्रोफसर मैक्समूलर ने, सन् १८४८ ई० में, ऋग्वेद को, सायण-भाष्य-सहित, चार बड़ी जिल्दों में छपवाकर प्रकाशित किया—रोथ और बोटलिङ्क ने विशालकाय 'संस्कृत-जर्मन वैदिक-लौकिक-शब्द कोष, सात' बड़ी संचिकाओं में छपवाया—एवं सर मोनियर विलियम्स ने भी, एक ही बड़ी जिल्दमें, बहुत सूक्ष्म अक्षरों में—कर्नल जेकोब ने छब्बीस मुख्य उपनिषदों की अकारादि क्रमसे शब्दानुक्रमणी छपवाई—ब्लूमफील्ड ने मुख्य मुख्य वैदिक शब्दों की ऐसी ही अनुक्रमणी को प्रकाशित किया। ये नाम और काम केवल उदाहरणार्थ लिखे गये—शतशः अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने अच्छे अच्छे ग्रंथ, प्राचीन आर्य शास्त्रों पर लिखे हैं। अद्भुत परिश्रम का कार्य जो पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक वाङ्मय, तथा सभी संस्कृत वाङ्मय, के ज्ञान के उद्धार और प्रसार के लिये किया, नितरां भूले हुए इतिहास को पुरातत्त्वान्वेषकों द्वारा फिर से स्मृति में लाये, इस सबके लिये भारतीय आर्यों (हिन्दुओं) को बहुत कृतज्ञ होना चाहिये, और उन विद्वानों का बहुत उपकार मानना चाहिये—महर्षि दयानन्द जी ने भी, भारतवर्ष में, वेदों के भूले हुए अर्थ का पुनः स्मरण कराया और इसके लिये बहुत कष्ट उठाया, अपमान सहा, स्यात् प्राण तक खोए—किन्तु उनके रचे ग्रन्थों और व्याख्यानों से पश्चिम में वेदों का ज्ञान नहीं फैला।—वह कार्य पाश्चात्यों ने किया—और ऐसा करने से, विदेशियों विधर्मियों द्वारा पराजित, अभिभूत, पददलित, हिन्दुओं का सम्मान, संसार की दृष्टि में बढ़ाया।

अब, प्रायः, यह देखने में आता है कि वैदिक वाङ्मय के विद्वान् भारतीय सज्जन, इन पाश्चात्य विद्वानों के मतों का खण्डन, यदा कदा, रूक्ष शब्दों में कर देते हैं—यह कदापि उचित नहीं है, उनका आदर करना और आभार मानना चाहिये और यदि किसी विषय पर वैमत्य हो, तो उनके लेखों में जो त्रुटियाँ जान पड़ें, उनको, मैत्री भाव से, कोमल प्रांजल शब्दों में दिखाना चाहिये, इतिहास-पुराण में इस रीति के उदाहरण दिये हैं। एक सज्जन ने दूसरे से प्रश्न किया, तब दूसरे ने उत्तर देकर कहा, कथं वा मन्यते भवान्, सौहार्द की इस सरल नीति को हमें अपनाना चाहिये, जिससे विद्वानों में प्रीति पूर्वक, शास्त्र का अर्थ लगाने में, तथ्य का निर्णय करने में सौकर्य हो, 'वाद'-बुद्धि से काम लिया जाय, 'जल्प' और 'वितण्डा' से नहीं 'वादे वादे जायते तत्त्व बोधः', 'विवादे तु स नश्यति'—

मुझे वेदों का तथा पूर्व मीमांसा का कुछ भी ज्ञान नहीं है, केवल उपनिषद्-भाग का कुछ पल्लव-ग्राही ज्ञान है, अतः इस विषय पर मेरा कुछ लिखना धृष्टता मात्र होगी, तथापि इतना लिखता हूँ कि, वेद पौरुषेय हैं वा अपौरुषेय हैं, इस पर जो बहुत वाद-विवाद होता रहा है, उसपर मैंने 'मानव-धर्म-सारः' नाम के अपने ग्रन्थ में यथा-बुद्धि विचार किया है, और इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि 'जब पुरुष (मनुष्य) स्वयं अपौरुषेय है, परम-पुरुष परमात्मा का बनाया है, तब उसके सब कर्म, मानस, वाचिक, कायिक भी अपौरुषेय हो गये, सभी परमात्म-प्रेरित हैं'—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया॥' इत्यादि।

शुभ आशीर्वाद

भारत रत्न श्रद्धेय श्री डा० भगवान् दास जी

श्री ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी की 'वेदवाणी' मासिक पत्रिका के अंक मैं प्रायः तीन वर्ष से पढ़ता रहा हूँ। इसके द्वारा बहुत उत्तम कार्य हो रहा है। प्रतिमास, चुनी चुनी उत्तम ऋचाओं का सविस्तर अर्थ दिखाया जाता है, जिसको मैं ध्यान से पढ़कर शिक्षा पाता हूँ। इस प्रकार का ज्ञान जितना फैलाया जाय, अच्छा है।

ब्रिटेन, रूस, जर्मनी, अमेरिका के विद्वानों ने वहाँ पर बहुत परिश्रम किया है। विजयनगर के महाराज आनन्द गजपतिराज की आर्थिक सहायता से प्रोफसर मैक्समूलर ने, सन् १८४८ ई० में, ऋग्वेद को, सायण-भाष्य-सहित, चार बड़ी जिल्दों में छपवाकर प्रकाशित किया—रोथ और बोट्लिङ्क ने विशालकाय 'संस्कृत-जर्मन वैदिक-लौकिक-शब्द कोष, सात' बड़ी संचिकाओं में छपवाया—एवं सर मोनियर विलियम्स ने भी, एक ही बड़ी जिल्दमें, बहुत सूक्ष्म अक्षरों में—कर्नल जेकोब ने छब्बीस मुख्य उपनिषदों की अकारादि क्रमसे शब्दानुक्रमणी छपवाई—ब्लूमफील्ड ने मुख्य मुख्य वैदिक शब्दों की ऐसी ही अनुक्रमणी को प्रकाशित किया। ये नाम और काम केवल उदाहरणार्थ लिखे गये—शतशः अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने अच्छे अच्छे ग्रंथ, प्राचीन आर्य शास्त्रों पर लिखे हैं। अद्भुत परिश्रम का कार्य जो पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक वाङ्मय, तथा सभी संस्कृत वाङ्मय, के ज्ञान के उद्धार और प्रसार के लिये किया, नितरां भूले हुए इतिहास को पुरातत्त्वान्वेषकों द्वारा फिर से स्मृति में लाये, इस सबके लिये भारतीय आर्यों (हिन्दुओं) को बहुत कृतज्ञ होना चाहिये, और उन विद्वानों का बहुत उपकार मानना चाहिये—महर्षि दयानन्द जी ने भी, भारत-वर्ष में, वेदों के भूले हुए अर्थ का पुनः स्मरण कराया और इसके लिये बहुत कष्ट उठाया, अपमान सहा, स्यात् प्राण तक खोए—किन्तु उनके रचे ग्रन्थों और व्याख्यानों से पश्चिम में वेदों का ज्ञान नहीं फैला।—वह कार्य पाश्चात्यों ने किया—और ऐसा करने से, विदेशियों विधर्मियों द्वारा पराजित, अभिभूत, पददलित, हिन्दुओं का सम्मान, संसार की दृष्टि में बढ़ाया।

अब, प्रायः, यह देखने में आता है कि वैदिक वाङ्मय के विद्वान् भारतीय सज्जन, इन पाश्चात्य विद्वानों के मतों का खण्डन, यदा कदा, रूक्ष शब्दों में कर देते हैं—यह कदापि उचित नहीं है,उनका आदर करना और आभार मानना चाहिये और यदि किसी विषय पर वैमत्य हो, तो उनके लेखों में जो त्रुटियाँ जान पड़ें, उनको, मैत्री भाव से, कोमल प्रांजल शब्दों में दिखाना चाहिये, इतिहास-पुराण में इस रीति के उदाहरण दिये हैं। एक सज्जन ने दूसरे से प्रश्न किया, तब दूसरे ने उत्तर देकर कहा, कथं वा मन्यते भवान, सौहार्द की इस सरल नीति को हमें अपनाना चाहिये, जिससे विद्वानों में प्रीति पूर्वक, शास्त्र का अर्थ लगाने में, तथ्य का निर्णय करने में सौकर्य हो, 'वाद'-बुद्धि से काम लिया जाय, 'जल्प' और 'वितण्डा' से नहीं 'वादे वादे जायते तत्त्व बोधः', 'विवादे तु स नश्यति'—

मुझे वेदों का तथा पूर्व मीमांसा का कुछ भी ज्ञान नहीं है, केवल उपनिषद्-भाग का कुछ पल्लव-ग्राही ज्ञान है, अतः इस विषय पर मेरा कुछ लिखना धृष्टता मात्र होगी, तथापि इतना लिखता हूँ कि, वेद पौरुषेय हैं वा अपौरुषेय हैं, इस पर जो बहुत वाद-विवाद होता रहा है, उसपर मैंने 'मानव-धर्म-सारः' नाम के अपने ग्रन्थ में यथा-बुद्धि विचार किया है, और इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि 'जब पुरुष (मनुष्य) स्वयं अपौरुषेय है, परम-पुरुष परमात्मा का बनाया है, तब उसके सब कर्म, मानस, वाचिक, कायिक भी अपौरुषेय हो गये, सभी परमात्म-प्रेरित हैं'—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥' इत्यादि।

वेदों में 'इतिहास' है वा नहीं, इसपर भी बहुत क्षुण-क्षोद होता रहता है—बहुत वर्ष हुए यास्क का 'निरुक्त' पढ़ा था—ऐसा स्मरण होता है कि यास्क ने लिखा है कि एक अर्थ वेदों की कुछ ऋचाओं का ऐतिहासिक* भी है, आध्यात्मिक भी है—

पर्याप्त ज्ञान के अभाव से, तथा वयस् अधिक हो जाने से स्मृति-शक्ति तथा अन्य सभी शक्तियों के शिथिल हो जाने से, ऊपर लिखे में अशुद्धियाँ अवश्य ही होंगी, उन्हें विद्वान् पाठक सज्जन कृपा करके स्वयं शोध लेंगे—।

शास्त्री ब्रह्मदत्त जी के निर्बन्ध से ही मैंने वेदांक के लिये यह लिखा, अन्यथा, अपनी न्यूनताओं को जानता हुआ, मैं कभी न लिखता—श्री ब्रह्मदत्त जी संस्कृत भाषा के प्रचार प्रसार में बहुत वर्षों से अथक परिश्रम कर रहे हैं, और इच्छुकों को बहुत थोड़े परिश्रम से, बहुत थोड़े काल में, इसका अच्छा ज्ञान हो जाय, इसके लिये अच्छे-अच्छे उपाय निकाल चुके हैं—एक अवसर पर मैंने आपका ध्यान इस ओर आकृष्ट किया था कि सबसे सरल उपाय, किसी भी भाषा के सीखने का वह है जिससे सभी बालक-बालिका अपनी मातृभाषा अनायास सीखते हैं—

शुभचिंतक, विद्वज्जनसेवक
(डा०) भगवान् दास
४. १०. १९५५

[श्रद्धेय डा० जी के हम अत्यन्त आभारी हैं जो उन्होंने वेदवाणी के लिये लिखने की कृपा की। पाश्चात्य विद्वानों के संस्कृत वाङ्मय में परिश्रम, लग्न और त्याग के प्रति भारतीयों को उनका कृतज्ञ होना चाहिये, उनका सम्मान करना चाहिये। 'वाद' रूप में उनके द्वारा प्रदर्शित सिद्धान्तों वा मतों की उचित शब्दों में आलोचना भी करनी चाहिये।

श्रद्धेय डा० जी के विचारों का हम आदर करते हैं। पर यह बात भी भुलाई नहीं जा सकती कि ईसाई पक्षपात के वशीभूत होकर मैक्समूलर, राथ, ह्वीटलिंक-मौनियरविलियम्स, जैकोबी, ब्लूमफील्ड आदि इन योरुपीय विद्वानों ने अधिकतर विचार किया है।

मैक्समूलर ने लिखा—"Larger number of vedic hymns are childish in the extreme, tedious, low, common place" chips from a German workshop second edition 1866 P. 27." अर्थात् वैदिक सूक्तों की एक बड़ी संख्या परम बालिश, जटिल-अधम और साधारण हैं।" मौनियर विलियम्स अपनी संस्कृत-इङ्गलिश डिक्शनरी की भूमिका में लिखते हैं—"I must draw attention to the fact that I am only the second occupant of the Boden chair and that its founder, colonel Boden stated most explisitly in his will (dated August 15, 1811) that the special object of his munificent bequest was to promote the translation of scriptures into Sanskrit, so as to enable his countrymen to proceed in the conversion of the natives of India to the christian Religion."

अर्थात्—"मुझे इस स्थिति की ओर अवश्य ध्यान आकर्षित करना चाहिए कि मैं बोडन आसन्दी (chair = गद्दी) का दूसरा पूरक हूँ। और इसके संस्थापक कर्नल बोडन ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में अपने स्वीकार पत्र (१५ अगस्त सन् १८११) में लिखा कि उनकी इस अतिविपुल भेंट का विशेष उद्देश्य यह था कि ईसाई धर्म ग्रन्थों का संस्कृत में अनुवाद किया जावे, जिससे भारतीयों को ईसाई बनाने के काम में अंगरेज आगे बढ़ें।" अधिकांश भारतीय इस पक्षपात से अपरिचित हैं। भारतीय लोग तथा अन्य संसार यही समझता रहा और अब भी समझता है कि यह पाश्चात्य विद्वान् निष्पक्षपात हैं। सो यह बात मिथ्या सिद्ध होती है। यह बात झुठलाई नहीं जा सकती—कर्तव्यवश ऐसा दिखाने के लिये हम विवश हैं ताकि भारतीय जागें और अपने कर्तव्य पर आरूढ़ हों।

सम्पादक वेदवाणी]॥

---

*"ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिभर्वत्याख्यानसंयुक्ता" मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषियों की कहानी (आख्यान) युक्त कहने की प्रीति (प्रेम) होती है, वास्तव में कहानी नहीं होती—सम्पादक वेदवाणी॥

क्या अथर्ववेद जादू टोनों का वेद है ?

श्री ब्लूमफील्ड ह्विटनी और उन के अनुयायियों की भयङ्कर भूलें

[ले०—पं० धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड, विद्यावाचस्पति, श्रद्धानन्द प्रतिष्ठान गुरुकुल काङ्गड़ी]

अथर्ववेद के कुछ सूक्तों के अनुवादक और टिप्पणीकार मि. ब्लूमफील्ड की कुछ भयङ्कर भूलों का हम इससे पहले भी निर्देश कर चुके हैं कि किस प्रकार ब्रह्मविद्या, योगविद्या और औषधिविज्ञान आदि सर्वोपयोगी विषयों के प्रतिपादक अथर्ववेद का जादू टोनों का वेद मान कर उन्होंने अनर्थ कर डाला है। इस विषय के कुछ और स्पष्ट उदाहरण इस लेख में प्रस्तुत किये जाते हैं ताकि जो भारतीय तथा अन्य लोग उन्हें निर्भ्रान्त वा आप्त मानकर उनका अनुसरण करते हैं (जैसे कि **वैदिक एज्** नामक पुस्तक में किया गया है)। उनकी भ्रान्ति का निराकरण हो सके।

ब्रह्म शब्द का अशुद्ध अर्थ जादू:—

अथर्व ३।३० के चतुर्थ मन्त्र में जो—

'येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥

इस रूप में है ब्रह्मशब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ परमेश्वर के अतिरिक्त ज्ञान होता है। मन्त्र में यह कहा गया है कि मैं तुम्हें ऐसा ज्ञान देता हूं जिसे पाकर देव (सत्यनिष्ठ विद्वान् लोग—सत्यसंहिता वै देवाः ऐतरेय १।६ "विद्वांसो हि देवाः"शत० ३।७।६।१० इत्यादि प्रमाणानुसार) परस्पर विरोध नहीं करते और न आपस में द्वेष करते हैं। जो सब पुरुषों को परस्पर मिलाने वाला है पर इस ब्रह्म शब्द का अर्थ श्री ब्लूमफील्ड Charm वा जादू करके सारी उत्तम शिक्षाओं पर चौका फेर देते हैं। वे इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

That charm which Causes the gods not to disagrec, and not to hate one another, that do we prepare in your house, as a means of agreement for your f lk.

यहां Charm के स्थान पर Knowledge Or wisdom होना चाहिये था और gods के स्थान पर wise men or truthful enlightened persons—शेष अनुवाद ठीक है।

अथर्व ६—६४ सांमनस्य देवताः—

अथर्व ६।६४ का देवता वा प्रतिपाद्य विषय भी सांमनस्य है। हम उसके ३ मन्त्रों को श्री ब्लूमफील्ड के अनुवाद सहित उद्धृत करते हैं। उससे भी ज्ञात हो जायगा कि सूक्त में सामाजिक उन्नति के कितने उत्तम तत्त्वों का प्रतिपादन है।

मं. १ **संजानीध्वं संपृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥**

मं. २ **समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम्। समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतोऽभिसंविशध्वम्॥**

मं. ३ **समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥**

इन मन्त्रों का श्री ब्लूमफील्डकृत अनुवाद निम्नलिखित है—

१. Do ye agree, Unite yourselves, may your minds be in harmony, just as the gods of old in harmony sat down to their share.

2. Same be their counsel, same their assembly, same their aim, in common their thought! The same oblation do I sacrifice for you, do ye enter upon the same plan.
3. Same be your intention, same your hearts. Same be your mind, so that it may be perfectly in common to you. (Hymns of the Atharva Veda translated by Bloomfield P. 136)

यह सूक्त ऋग्वेद १०।१९१ के लगभग समान सूक्त है। जो परिवर्तन हैं वे अर्थ की दृष्टि से अपना महत्त्व रखते हैं। 'समानं चेतो अभिसंविशध्वम् ।' तुम सब एक चित्त के अर्थ प्रवेश कर जाओ, तुम्हारे मन सदा मिले हुए हों, तुम्हारा उद्देश्य एक समान हो इत्यादि भाव कितने उत्तम हैं ! पर श्री ब्लूमफील्ड इसके महत्त्व को "Charm to allay discord" अथवा विरोध को दूर करने का जादू यह शीर्षक देकर नष्ट कर डालते हैं। ऐसे ही अन्य सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे ज्ञात होगा कि अथर्ववेद में जादू टोने भरे हुए हैं। इस भ्रान्तिपूर्ण धारणा से किस प्रकार उसके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, सर्वोपयोगी उपदेशों के गौरव को नष्ट कर दिया गया है।

सभासमितिः पितरश्च देवताः । अथर्व ७।१२

अथर्ववेद ७।१२ राष्ट्रिय दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। इसमें सभा और समिति का, जिसे आज कल की दृष्टि से लोक सभा (parliament) और राज्यपरिषद् (council of states) के समान समझा जा सकता है, उत्तम प्रतिपादन है और उसके सदस्यों को 'पितरः' इस नाम से सम्बोधित करते हुए उनके परामर्श से लाभ उठाने तथा उनके प्रति नम्रता रखने का राजा को उपदेश है। उसके प्रथम दो मन्त्रों को हम ब्लूमफील्ड के दोषपूर्ण अनुवाद सहित उद्धृत करते हैं।

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने ।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु ॥
विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि ।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ॥

May assembly and meeting, the two daughters of Prajapati, concurrently aid me. May he with whom I meet co-operate with me, may I, O ye fathers, speak agreeably to those assembled; we know thy name, O assembly, 'Mirth' verily is thy name; may all that sit assembled in thee utter speech in harmony with me.'

(Hymns of the Atharva Veda by M. Bloomfield P. 138)

यह अनुवाद दोषपूर्ण है। नरिष्टा का अनुवाद 'Mirth' करना ठीक नहीं। इसका अर्थ Benevolent to the people नृ इष्टा—सब मनुष्यों के लिये इष्ट हितकारिणी Or that which does not allow people to suffer (न रिष्टा) अथवा जो लोगों को कष्ट में न पड़ने दे ऐसा होना चाहिये। तथापि सम्पूर्णतया इस अनुवाद को बुरा नहीं कह सकते, पर जिस बात को देखकर दुःख और आश्चर्य होता है वह इस सूक्त का शीर्षक है। श्री ब्लूमफील्ड जिनके सिर पर अथर्ववेद का जादू सवार है इसका शीर्षक रखते हैं 'Charm to procure influence in the assembly अथवा सभा में प्रभाव डालने का जादू।

कितना भ्रमपूर्ण है यह शीर्षक।

इसी प्रकार अन्य अनेक अशुद्धियाँ हैं जो श्री ब्लूमफील्ड, ह्विटनी इत्यादि ने अथर्ववेद के मन्त्रों के अर्थ और भाव को समझने में की हैं। हमें कुछ प्रसन्नता हुई जब हमने श्री ब्लूमफील्ड के इन शब्दों को अथर्ववेद के अनुवाद की भूमिका में पढ़ा:—

I do not consider any translation of the Atharvaveda, at this time, final. The most difficult problem, hardly as yet ripe for final solution, is the original function of many mantras, after they have been stripped of certain adoptive modifications, imparted to them to meet the immediate purpose of the Atharvavedin.'

(Introduction to the Hymns of the Atharvaveda P. IXXIII)

अर्थात् मैं इस समय किये अथर्ववेद के किसी अनुवाद को भी अन्तिम नहीं समझता। सबसे कठिन समस्या जिस

के समाधान का अभी समय ही परिपक्व नहीं हुआ, बहुत से मन्त्रों का मूल विनियोग है जब कि उनको उन परिवर्तनों से रहित कर दिया जाता है जो किसी विशेष उद्देश्य की पूर्त्यर्थ अथर्ववेदियों ने कर दिये हैं इत्यादि।

इसमें सन्देह नहीं कि मध्यकालीन भाष्यकारों और श्रौत, कल्प सूत्रकारादि ने अथर्ववेद तथा अन्य वेदों के मन्त्रों का कई स्थानों पर मन्त्रार्थ से भिन्न और सर्वथा असम्बद्ध कपोलकल्पित विनियोग कर दिया है। उसको हटाकर वास्तविक मूलार्थ और विनियोगादि का पता लगाना भी आवश्यक है। हमारा इन वाक्यों को यहाँ इङ्गित करने का तात्पर्य यह है कि जब श्री ब्लूमफील्ड अभी किसी भी अथर्ववेद के अनुवाद को अन्तिम वा प्रामाणिक नहीं समझते और मानते हैं कि वेदके वास्तविक अर्थों को समझने में कठिन समस्याएं हैं जिनको समाधान करने का अभी समय ही नहीं आया तो उनके अपने अत्यन्त त्रुटिपूर्ण, पक्षपातयुक्त अशुद्ध अनुवाद को प्रामाणिक मानकर वैदिक शिक्षाओं की समालोचना करने वाले 'वैदिक एज्' आदि के लेखकों की क्या गति होगी? उन्होंने वे सब अशुद्धियां तो की ही हैं किन्तु वे अपनी भ्रान्त कल्पनाओं में अपने गौराङ्ग गुरुओं से भी दस कदम आगे बढ़ गये हैं। उनकी असङ्गत भ्रान्ति मूलक टिप्पणियां और आलोचनाओं का नमूना देखिये।

Medicinal Charms या 'औषध सम्बन्धी जादू' का शीर्षक देकर वे लिखते हैं:—

'Quite a number of medicinal charms are included in the Atharva Veda. The chief melody that was sought to be treated **Magically** is the Takman. From the symptoms described, it is almost certain that it was nothing but Malarial fever. The plant Kushtha is mentioned as potent in fighting Takman, but whether as medicine or as amulet is not quite clear.

('Vedic Age' P. 415)

अर्थात् अथर्ववेद में बहुत से ओषधिविषयक जादू वर्णित हैं। तक्मा (जिसके वर्णन से यह स्पष्ट है कि वह मलेरिया ज्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं) की चिकित्सा का विशेष वर्णन है। कुष्ठ नामक वनस्पति को तक्मा वा ज्वर-नाशक बताया गया है, पर यह स्पष्ट नहीं कि ओषधि के रूप में या जादू के रूप में धारित कवच की शकल में उसे ज्वर नाशक माना गया है।

समीक्षा—यह लेख बड़ा भ्रमजनक है। अथर्ववेद में ज्वर ही नहीं, मूत्ररोग, नपुंसकत्व, क्षयरोग, वन्ध्यात्व, कुष्ठ-रोग इत्यादि सैकड़ों रोगों की नाशिका अपामार्ग, कुष्ठ, असिक्नि, पृश्निपर्णी, सोम, दर्भ आदि औषधियों का वर्णन है। कुष्ठ के द्वारा ज्वर की चिकित्सा का जो अथर्व ५।४ और १९।३९ में वर्णन है वह औषधि के रूप में ही उसके सेवन से है न कि जादू टोने के रूप में। यह बात उन दोनों सूक्तों के मन्त्रों से (यदि श्री ब्लूमफील्ड का कई स्थानों पर अशुद्ध अनुवाद भी मान लिया जाए) सर्वथा स्पष्ट है। न जाने "वैदिक एज" के विद्वान् लेखकों को इसमें क्यों सन्देह हो गया? उदाहरणार्थ उन सूक्तों के निम्न १,२ मन्त्रों को उद्धृत करना पर्याप्त है।

यो गिरिष्वजायथा वीरुधां बलवत्तमः।
कुष्ठे हि तक्मनाशन तक्मानं नाशयन्नितः॥

श्री ब्लूमफील्डकृत अनुवाद:—

Thou that art born upon the mountains, as the most potent of plants, come hither O Kushtha, destroyer of the Takman, to drive out from here the Takman (fever).

यहां स्पष्ट ही कुष्ठ को 'वीरुधां बलवत्तमः।' अर्थात् औषधियों में अतीव प्रभावशालिनी ओषधि कहा है जिसका अनुवाद श्री ब्लूमफील्ड ने The most potent of plants किया है।

अथर्व ५।४।१० में कहा है:—

शीर्षामयमुपहत्यामक्ष्योस्तन्वोरपः।
कुष्ठस्तत्सर्वं निष्करद् दैवं समहवृष्ण्यम्॥

श्री ब्लूमफील्ड कृत अंग्रेजी अनुवाद निम्न है—

Pain in the head, affliction in the eyes and ailment of the body, all that shall the Kushtha heal—a 'divinely powerful remedy.'

यहां भी सिरदर्द, आंखों के रोग, शरीर में पीड़ा इत्यादि की चिकित्सा कुष्ठ ओषधि के द्वारा बताई गई है।

श्री ब्लूमफील्ड का अनुवाद A powerful remedy ही सन्देह निवारणार्थ पर्याप्त था फिर भी 'वैदिक एज्'

के विद्वान् लेखकों को सन्देह बना ही रहा यह आश्चर्य की बात है। हमारे इस कथन में वस्तुतः कोई अत्युक्ति नहीं कि 'वैदिक एज्' एक सन्दिग्ध और सन्देह जनक पुस्तक है।

अथर्व १९।३९ में कुष्ठ के लिये ५ बार 'विश्वभेषजः' इस शब्द का प्रयोग है जिस का अनुवाद श्री ब्लूमफील्ड ने Universal remedy किया है। इस सूक्त के मं० ४ में कहा गया है:—

उत्तमो अस्योषधीनाम् अनड्वान् जगतामिव व्याघ्रः श्वपदामिव, नाघायं पुरुषो रिषत् यस्मै परि ब्रवीमि त्वा सायंप्रातरथो दिवा। श्री ब्लूमफील्ड ने इसका अनुवाद यों किया है—

Thou art the most superior of the plants; as the tiger among beasts of prey. Verily no harm shall suffer this person here, for whom I bespeak thee morn and even, dye the entire day.

(Hymns of the Atharva Veda by Bloomfield P. 6)

यहाँ कुष्ठ के विषय में लिखा है उत्तमो असि अषधीनाम्। अर्थात् तू ओषधियों में से उत्तम है। यह भी कहा गया है कि प्रातः सायम् और दिनमें तेरा सेवन करने से रोगी रोग से पीड़ित नहीं होता और स्वस्थ हो जाता है।

इस प्रकार कुष्ठ औषधि के सेवन से ज्वरादि की चिकित्सा की बात सर्वथा स्पष्ट है। जादू या कवच के रूपमें धारण का कहीं सूक्तों में नामो निशान तक नहीं।

विस्तार भय से इस लेख को समाप्त करने से पूर्व इस बात का निर्देश कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि इसमें ब्लूमफील्ड की जो भयङ्कर भूलें दिखाई गई हैं उनमें से बहुत सी ह्विटनी के हार्वर्ड ओरियन्टल् सीरीज में प्रकाशित अथर्ववेदसंहितानुवाद में भी हैं यद्यपि कई स्थानों पर ह्विटनी ने शीर्षकों में कुछ परिवर्तन कर दिया है। उदाहरणार्थ अथर्व ३।३० के सांमनस्य सूक्त का हमने ब्लूमफील्डकृत जो अनुवाद दिया है लगभग वैसा ही ह्विटनी का प्रथम् खण्डके पृ० १३७ पर है पर उसका शीर्षक वे "for concord' अर्थात् सांमनस्य वा सहृदयता के लिये यह रखते हैं, Charm to secure harmony नहीं जैसे कि ब्लूमफील्ड ने किया है, पर इस सूक्त के ४र्थ मन्त्र में प्रयुक्त ब्रह्म और देवाः दोनों शब्दों के अर्थ में वे भी ब्लूमफील्ड जैसी भूल कर देते हैं। ह्विटनी का अनुवाद ४र्थ मन्त्र

ये न देवा न वियन्ति नो च विद्विष ते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥

का निम्न प्रकार है:—

'That incantation in virtue of which the Gods do not go apart, nor hate one another mutually, we perform in your house, concord for (your) men.

यहाँ वे ब्रह्म का अनुवाद Incantation यह करते हैं। इस शब्द का अर्थ ऑक्सफोर्ड वैब्स्टर आदि अंग्रेजी के प्रामाणिक शब्दकोषों में magical formula, spell, Charm.

अर्थात् जादू, जादूगिरी का सूत्र ऐसा दिया है। देवाः का अर्थ वे भी ब्लूमफील्ड की तरह The gods करते हैं। यद्यपि जैसे कि हम सत्यसंहिता वै देवाः, विद्वांसो हि देवाः इत्यादि के प्रमाणों से दिखा चुके हैं, उस का अर्थ Wise men or truthful enlightened persons वा सत्यनिष्ठ विद्वान् ऐसा करना चाहिये था। इस विषय में यह बात उल्लेखनीय है कि सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् वीवर ने देवाः का अर्थ ब्राह्मण ऐसा किया था। इसके लिये आगे निर्दिष्ट अर्थ है "ते मानुष्यदेवा ये ब्राह्मणाः" इत्यादि प्रमाण भी स्पष्टतया उपलब्ध होते हैं पर ह्विटनी अपनी टीप्पणी में उसका उल्लेख करके भी पौराणिक भाष्यकारों के आधार पर उस का निराकरण कर देते हैं यह आश्चर्य की बात है। उनकी टिप्पणी निम्न है:—

Weber suggests that 'gods' here perhaps means 'Brahmanas' but there is no authority nor occasion for such an understanding, the commentator also says 'Indra etc." (P. 138)

अर्थात् वीवर ऐसा निर्देश करते हैं कि यहाँ देवाः से तात्पर्य संभवतः ब्राह्मणों से है किन्तु इसके लिये कोई प्रमाण नहीं और न इसके लिये कोई अवसर या प्रसङ्ग है। भाष्यकार सायण भी देवाः' का अर्थ इन्द्रादयः ऐसा करता है।

यहाँ ह्विटनी का यह लिखना कि 'देवाः' के ब्राह्मण अर्थ के लिये कोई प्रमाण नहीं और न इसका कोई प्रसङ्ग

वा अवसर है सर्वथा अशुद्ध है। ब्राह्मण ग्रन्थों के निम्नलिखित तथा अन्य प्रमाण देव शब्द के ब्राह्मण अर्थ को अत्यन्त स्पष्टतया सिद्ध करते हैं।

"अथ ह एते मनुष्यदेवा ये ब्राह्मणाः ॥" षड्विंश ब्राह्मण "एते वै देवा अहुतादो यद्ब्राह्मणः" गोपथ उ. १।६ ब्राह्मणो वै सर्वा देवताः ॥ तैत्तिरीय संहिता १।४।४।२,४। शत० २।२।२।६ में लिखा है

आहुतिभिरेव देवान् प्रीणाति दक्षिणाभिर्मनुष्यदेवान् ब्राह्मणान् शुश्रुवुषोऽनूचानान् ॥

अर्थात् सूर्य वायु आदि देवताओं को मनुष्य आहुतियों के द्वारा तृप्त करता है और मनुष्य देव वेद का श्रवण और प्रवचन करने वाले ब्राह्मणों को दक्षिणाओं के द्वारा तृप्त करता है।

इसी बात को शत० २।२।२।६॥४।३।४।४। में और भी स्पष्ट करके कहा है कि—

द्वया वै देवाः। अहैव देवा अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः ॥

अर्थात् दो प्रकार के देव होते हैं एक तो प्रकाशक सूर्य चन्द्र नक्षत्र विद्युत् अग्नि आदि और दूसरे ज्ञान का प्रकाश करने वाले वेद का श्रवण, स्वाध्याय और प्रवचन करने वाले ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण लोग।

तैत्तिरीय संहिता १।७।३ में भी स्पष्टतया लिखा है कि "एते वै देवाः प्रत्यक्षं यद् ब्राह्मणाः"

अर्थात् ब्राह्मण प्रत्यक्ष देव हैं।

यही बात मैत्रायणी संहिता १।४।३५ में भी लिखी है जहाँ तैत्तिरीयसंहिता की तरह "एते वै देवा अहुतादो यद् ब्राह्मणाः" यह पाठ पाया जाता है। ह्विटनी का यह कथन भी अशुद्ध है कि देव शब्द के ब्राह्मण अर्थ का यहाँ कोई प्रसङ्ग वा अवसर नहीं। 'ब्राह्मणाः' का अर्थ ही ब्रह्म अर्थात् ईश्वर और वेद के जानने वाले यह है। देवाः का अर्थ ब्राह्मण मानने पर (जैसे कि ऊपर उल्लिखित प्रमाणों से स्पष्ट है और वीवर ने भी जिसका निर्देश किया है। यह स्पष्ट और सुसङ्गत भाव निकलता है कि मैं सब मनुष्यों को मिलाने वाला वह ब्रह्म अर्थात् वेद ज्ञान देता हूं जिसको पाकर विद्वान् कभी धर्मविरुद्ध मार्ग पर नहीं चलते और आपस में कभी द्वेष नहीं करते। 'देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते।' में भी यही भाव है। सत्यनिष्ठ ज्ञानी ब्राह्मणों का उदाहरण देते हुए अन्यों को भी उनके अनुसरण का उपदेश दिया गया है जो सर्वथा सङ्गत है। जिस भाष्यकार सायणाचार्य के नाम की दुहाई श्री ह्विटनी ने दी है उसने भी कई स्थानों पर 'देवाः' का अर्थ "ब्राह्मणाः" और 'यजमानाः' ऐसा किया है उदाहरणार्थ "एदमगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवासो अजुषन्त विश्वे।" इस यजु० ४।१ की व्याख्या में श्री सायणाचार्य ने लिखा है:—

'अस्मिन् मन्त्रे देवशब्देन षोडश ऋत्विजो ब्राह्मणा विवक्षिता इति तित्तिरिरेव दर्शयति 'विश्वे ह्येतद् देवा जोषयन्ते ब्राह्मणा इति'

(सायणाचार्य कृत काण्वसंहिता भाष्ये)

अर्थात् यहाँ 'देवाः' का अर्थ ऋत्विक् ब्राह्मण है यह तित्तिरि ने भी दर्शाया है—'विश्वे हि एतद् देवा जोषयन्ते ब्राह्मणा इति।'

अर्थात् सब ब्रह्मज्ञानी सत्यनिष्ठ विद्वान् लोग सबके अर्थ प्रेम उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार ह्विटनी की भूल स्पष्टतया सिद्ध होती है। अथर्व ७।१२ का सभासमितिविषयक जो राष्ट्रीय सूक्त हमने ब्लूमफील्ड के कुछ मन्त्रों के अनुवाद सहित उद्धृत किया था उसका ह्विटनी ने भी पृ० ३९६,३९७ पर अंग्रेजी में अनुवाद दिया है। उस में दूसरे मन्त्र में आये हुए नरिष्टा शब्द का जैसे श्री ब्लूमफील्ड ने भूल से 'mirth' ऐसा अनुवाद कर दिया, ऐसे ही श्री ह्विटनी ने उसका अर्थ sport अथवा क्रीडा करने की भूल की। वे लिखते हैं:—

We know thy name, O assembly; verily sport (narishta) by name art thou; Whoever are thine assemblysitters, let them be of like speech with me."

नरिष्टा का अर्थ sport करना अशुद्ध है इसका अर्थ नृ + इष्टा – मनुष्यों के लिये इष्टा अथवा हितकारिणी 'Benevolent to the people' या 'न रिष्टा' not allowing people to suffer ऐसा होना चाहिये। ह्विटनी ने भाष्यकारकृत इस अर्थ का निर्देश करके भी कि The commentators take narishta as na-rishta—not injured. उसका अनुसरण न करके sport अथवा क्रीडा यह अर्थ कर दिया और उसके महत्त्व को कम कर दिया है, यह अत्यन्त निन्दनीय बात है। पैप्पलाद संहिता का जो पाठ श्री ह्विटनी ने इस २य मन्त्र के अर्थ के नीचे दिया है वह हमें बड़ा महत्त्वपूर्ण और निर्देशात्मक लगा कि 'विद्म वै सभे ते नाम सुभद्रासि सरस्वति।

अथो ये ते सभासदः सुवाचसः । हमें स्पष्ट प्रतीत होता है कि पैप्पलाद संहिता का (जिसे हम शाखा रूप में अथर्व संहिता का व्याख्यान समझते हैं) यह पाठ नरिष्ठा का अर्थ 'सुभद्रा' अर्थात् अत्यन्त सुखदायिनी और कल्याणकारिणी, भदि कल्याणे सुखे च, इस रूप में करता है और सभी के लिये सरस्वति विशेषण देकर उसे ज्ञान-सम्पन्ना तथा संस्कृति की रक्षिका बताता है । इस के विरुद्ध ह्विटनी का नरिष्ठा का अर्थ sport (खेल) कर देना सचमुच हमें वेद के साथ एक खिलवाड़ प्रतीत होता है, जो गम्भीर विद्वत्ता और निष्पक्षपातता का परिचायक नहीं ।

लेख पर्याप्त दीर्घ हो गया है, अतः इस को यहीं समाप्त करते हुए हम यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि पाश्चात्य अनुवादकों ने वेदों का अनुवाद करने में पक्षपात वा अज्ञान वश अनेक भयङ्कर भूलें की हैं। अतः उनका अन्धानुसरण न करते हुए हमें विवेकपूर्वक काम करना चाहिये और आर्ष व्याख्या को ही प्रामाणिक समझना चाहिये ॥

वेदकाल-निरूपण में पाश्चात्यों की भ्रान्तियाँ

(ले०—वैदिकगवेषक पं० शिवपूजन सिंह कुशवाहा 'पथिक' बी० ए०, विद्यावाचस्पति साहित्यालङ्कार, कानपुर)

वैदिक सिद्धान्त है कि वेद (संहिताभाग) ईश्वरीय ज्ञान हैं[१] और १,९७,२९,४९,०५६ वर्ष व्यतीत हो गए, परन्तु पाश्चात्य विद्वान् वेदों का काल भिन्न मानते हैं। सभी प्रो० मैक्समूलर को पथ-प्रदर्शक मानते हैं, पर इनका कोई निश्चित मत नहीं है । ये अपने भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न काल निरूपण करते हैं। पाठक इनकी लीला देखें—

"११०० या १२०० ई० पूर्व प्राचीनतम काल है, जब कि वैदिक सूक्त बनने समाप्त हो चुके थे[२] ।"

"यदि १००० से ८०० ई० पूर्व इस संग्रह के समय को दिए जावें[३] ।"

"यदि हम १०००[४] ई० पूर्व का समय संग्रह के लिए कहें तो कोई सख्त आक्षेप हम पर नहीं हो सकते ।"

"१५००-१२०० ई० पूर्व[५] ।"

"१६५० ई० पू०[६] ।"

"१२०० ई० पू०[७] ।"

"८००—१००० ई० पू० मन्त्रकाल[८] ।"

"८०० ई० पू०[९] ।"

"वेदों के बनने का न्यूनतम समय २००० ई० पू० या ५००० ई० पू० रखना बड़ी वीरता है । किन्तु ऐसी वीरता से क्या लाभ है ?

"वेदकालीन प्राचीनता हमारे लिए कुछ लाभदायक नहीं, क्योंकि वेद को ४००० या ६००० ई० पू० साबित करने से क्या लाभ है ? २००० वर्षों के परे तो सब अन्धकार और अवकाश है, आत्मा की Vanity and Vexation है, और कहीं से प्रकाश की रेखा नहीं पड़ती[१०] ।"

१. देखो—महर्षि दयानन्द जी कृत "ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" 'सत्यार्थप्रकाश' ।
२. "Chips from German workship" I. Vol. 13.
३. Ibid, 1, 15.
४. Ibid, 1, 11.
५. Rigveda San, Vol. IV Preface
६. 'Science of mythology Vol. II, PP. 428.
७. Sanskrit Literature, PP. 257.
८. Ibid, PP. 248.
९. "Six Systems of Indian philosophy" PP. 91.
१०. 'Science of mythology' Vol. II PP. 490.

इन अन्तिम वाक्यों में पाठकों को मैक्समूलर साहब का वास्तविक उद्देश्य पता लग गया होगा। चूँकि अन्य देशों का इतिहास अन्धकारावृत है, अतः भारतवर्ष में यदि कोई पुस्तक ६००० वर्ष ई० पू० में बनी प्रमाणित हो, तो इसका कोई लाभ नहीं। भूमण्डल को बड़े लाभ मैक्समूलर साहब ने पहुँचाए हैं! क्या ऐसा ही ऐतिहासिक अन्वेषण मैक्समूलर साहब और उनके अन्य भाई-बन्धु किया करते हैं! और कई तो मैक्समूलर से भी मतभेद रखते हैं। यथा—

"हॉग साहब—२००० से—
१४०० ई० पू० [Aitreya Brahmana introduction" PP. 47]

ह्विटनी { २०००–१५०० / २०००– } { "Study of language" PP.226, "Life & grow. of language PP.186"

बैन्फी / ब्लूमफील्ड { २०००– } { Sanskrit grammar intro, P XIII. the Religion of Veda 20.P.

एफ. मूलर, विल्सन, और ग्रिफिथ—२०००–१५००

मैक्डानेल–१३००–१०००–[Sanskrit literature" PP. 12.]

जैकोबी—४००० ई० पू० [Sanskrit literature" PP. 12.]

कैगी–२०००–१५०० ई० पू० [Rig Veda. PP.11]

विन्टरनिज ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि "ऋग्वेद ई० पू० २५०० के लगभग रचा गया था[११]।"

उपर्युक्त पाश्चात्य विद्वानों के पास कोई विशेष सारगर्भित युक्तियाँ नहीं हैं, इनकी अपनी-अपनी कल्पनाएँ हैं, इनकी कोई स्थिर मति नहीं है। प्रो० मैक्समूलर की दश कल्पनाओं और ऐतिहासिक अनुसन्धान का महत्व आप देख चुके हैं।

पाश्चात्य विद्वानों की युक्तियाँ ऐसी लचर हैं कि उन पर दृष्टि भी न डाली जाती, पर इन विद्वानों ने पाश्चात्य देशों में नाम पाया है, अतः हमारे आर्यावर्तीय बन्धु भी उनके शिष्य बनते हैं और उनके विचारों को मान की दृष्टि से देखते हैं। हमारे सभी विश्वविद्यालयों में उनके इतिहास पढ़ाए जाते हैं।

पाश्चात्यों के कुछ उच्छिष्टभोजी भारतीय विद्वानों के विचार और उनकी लीपापोती:—

श्री लोकमान्य बालगंगाधर तिलक लगभग ८००० वर्ष ई० पू० मानते हैं।[१२]

श्री बी० एन० लूनिया, एम. ए. प्राध्यापक, होल्कर कॉलिज, इन्दौर, ई० पूर्व २५०० से ई० पूर्व १२०० तक मानते हैं।[१३]

पं० जवाहर लाल नेहरू जी का विचार है कि—"आज के ज्यादातर विद्वानों ने ऋग्वेद की ऋचाओं के सम्बन्ध में जो प्रमाण माने हैं, वह उसे ईसा से १५०० वर्ष पुराना बताते हैं, लेकिन मोहनजोदड़ों की खुदाई के बाद इन धर्म ग्रन्थों को और पुराना साबित करने की तरफ रुझान रहा है। इस साहित्य की ठीक तिथि जो भी हो, यह संभावित है कि यह यूनान या इसरायल के इतिहास से पुराना है और सच बात यह है कि मनुष्य मात्र के दिमाग की सबसे पुरानी कृतियों में है।[१४]

पण्डितजी मानवकृति मानते हैं जो उनकी भ्रान्ति है।

श्री सी० एस० श्रीनिवासाचारी एम० ए०, तथा श्री एम० एस० रामस्वामी अयङ्गर एम० ए० ३००० या ४००० ई० पू० मानते हैं।[१५]

प्रो० श्री नेत्र पाण्डेय एम० ए०, एल० एल० बी; वेदों की रचना ईसासे २५०० से ५०० वर्ष पूर्व तक मानते हैं।[१६]

प्रो० श्री राम त्यागी एम० ए० तथा प्रो० श्री० गङ्गा प्रसाद पचौरी एम० ए० ईसा के ३००० वर्ष पूर्व से लेकर १००० वर्ष पूर्व तक के समय में मानते हैं।[१७].

डा० रामजी उपाध्याय एम० ए०, डी० फिल, २००० ई० पूर्व मानते हैं।[१८]

---

११. Calcutta univer-ity readership lectures" P. 1

१२. ओरियन, 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता' प्रथम संस्करण, पृष्ठ २७.

१३. "भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास" प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ४३.

१४. "हिन्दुस्तान की कहानी" द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ८२.

१५. "प्राचीनभारत (हिन्दूकाल)" प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४१.

१६, "भारत का बृहत् इतिहास" प्रथमभाग, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ५९.

१७. "भारतीय इतिहास की रूपरेखा (हिन्दू तथा मुस्लिम काल), प्रथम संस्करण, पृष्ठ २५.

१८. "भारत की प्राचीन संस्कृति" प्रथम संस्करण, पृष्ठ ११.

गुरुकुल काँगड़ी के स्नातक डा० सत्यकेतु विद्यालङ्कार, डी० लिट्, १५०० वर्ष के लगभग के काल में वैदिक सूक्तों का निर्माण होता रहना मानते हैं।[१९]

श्री भगवत शरण उपाध्याय एम० ए०, ३००० ई० पूर्व मानते हैं।[२०]

डा० राधाकुमुद मुकर्जी एम० ए०, पी० एच० डी०; डी० लिट्०, एम० पी० लिखते हैं:—

"...उचित उपपत्ति से लगभग २५०० ई० पू० में ऋग्वेद का काल मानना होगा।[२१]

श्री देवराज, तिलकजी, याकोबी का विचार देते हुए लिखते:—"सर राधाकृष्णन् का विचार है कि ऋग्वेद को पन्द्रहवीं शताब्दी ई० पू० में रक्खा जाय तो उसे ज्यादा प्राचीन बताने का आक्षेप न हो सकेगा।..."[२२]

प्रो० शिवदत्त ज्ञानी, एम० ए० लिखते हैं,—"...... ऋग्वेद का काल-निर्णय करना एक जटिल समस्या है।... ...इस सम्बन्ध में कोई भी मत स्थिर करना सरल नहीं है। इस दिशा में मैक्समूलर का प्रयत्न महत्त्वपूर्ण है।......"[२३]

श्री हरिशङ्कर जोशी बी. ए., साहित्य-सांख्य-योग-शास्त्री, काशी अपने "वेदों का समय" शीर्षक लेख[२४] में अनेक पाश्चात्य व प्राच्य विद्वानों के मतों को देते हुए अन्त में लिखते हैं;—"......यदि बिना पक्षपात-पूर्ण दृष्टि से देखा जाय, तो अब तक वेदों के समय का ठीक २ पता नहीं लग सका है।".. ..."पूना के नारायण भवनराव पावगी ने भूगर्भशास्त्र के प्रमाणों के आधार पर ऋग्वेदीय निर्माणकाल ९००० वर्षों का सिद्ध किया है।"[२५]

अमलनेरकरने ऋग्वेद का निर्माणकाल ६६००० वर्षों का और अविनाशचन्द्र दास ने ७५००० वर्षों का माना है।

प्रोफेसर लौटूसिंह गौतम के समान कुछ कट्टर सनातनी ऐतिहासिक तो ऋग्वेद का रचना-काल ४ लाख ३२ हजार वर्षों का बनाते हैं।...[२६]

प्रो० हरिदत्त जी वेदालङ्कार' एम. ए. अध्यक्ष-इतिहास विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का विचार है कि— "इस विषय में विद्वानों में पर्याप्त भेद है कि वेदों की रचना कब हुई और उसमें किस काल की सभ्यता का वर्णन मिलता है।" [२७]

आगे आपने मैक्समूलर, विण्टर निट्ज, तिलक, याकोबी श्री अविनाशचन्द्र दास तथा पावगी के मतों को दिखलाया है और अन्त में लिखा है:—

"अभी तक इस प्रश्न का प्रामाणिक रूप से अन्तिम निर्णय नहीं हो सका। [२८]..."

श्री बलदेव उपाध्याय एम. ए., साहित्याचार्य, अध्यापक, संस्कृत तथा पाली विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी, मैक्समूलर, तिलक, या याकोबी, तथा डा० अविनाशचन्द्र दास के मतों को प्रदर्शित करते हुए लिखते हैं;—...... "रचना-काल ठीक निश्चय करना नितान्त कठिन है।"[२९]

आपने अपनी हाल ही में प्रकाशित पुस्तक में लिखा है कि—

"...वेदों का काल आज से दस सहस्र वर्ष पूर्व मानने में दोनों पक्षों का सामञ्जस्य पर्याप्त रूपेण किया जा सकता है। और वस्तुतः यही वेद के निर्माण का काल है।" [३०]

विज्ञ पाठक भली भाँति समझ सकते हैं कि जब पाश्चात्य विद्वानों के विचार ही अटकलपच्चू हैं, तब उनके अनुगामी भारतीयों के विचार कहाँ तक सही हो सकते हैं।

१९. "भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास" प्रथम भाग, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १२३
२०. "प्राचीन भारत का इतिहास" प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३६ से ४५ तक
२१. "Hindu Civilization" का हिन्दी अनुवाद "हिन्दू सभ्यता" (प्रथम संस्करण, दिल्ली) पृष्ठ ७१.
२२. "भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास" प्रथम संस्करण, प्रयाग, पृष्ठ, ४०.
२३. "भारतीय संस्कृति" द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २४०
२४. "मासिका पत्रिका "गङ्गा" का "वेदाङ्क" भागलपुर, प्रवाह २, जनवरी १९३२ ई०, तरंग १, पृष्ठ १५३.
२५. "वैदिक साहित्य" प्रथम संस्करण, २२.
२६. वही, पृष्ठ २३.
२७. "भारत का सांस्कृतिक इतिहास" प्रथम संस्करण, दिल्ली, पृष्ठ २४.
२८. वही, पृष्ठ ३४.
२९. "संस्कृतसाहित्य का इतिहास" प्रथम संस्करण, पृष्ठ २३.
३०. " वैदिक साहित्य और संस्कृति" प्रथम संस्करण, काशी, पृष्ठ ९०.

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् श्लेगल उलझनों को समझकर लिखता है:—

"वेद संसार में सब से प्राचीन ग्रन्थ हैं और इनका समय निश्चित नहीं किया जा सकता। इनकी भाषा भारतीयों के लिए भी उतनी ही कठिन है, जितनी विदेशियों के लिए।" ३१

जर्मनी के विद्वान् वेबर ने स्पष्ट कहा है—"वेदों का समय निश्चित नहीं किया जा सकता। वे उस तिथि के बने हुए हैं, जहाँ तक पहुँचने के लिए हमारे पास उपयुक्त साधन नहीं हैं। वर्तमान प्रमाण-राशि हम लोगों को उस समय के उन्नत शिखर पर पहुँचाने में असमर्थ है।"३२.

इन दोनों विद्वानों ने पाश्चात्य विद्वानों की कल्पनाओं पर हड़ताल फेर दिया है।

डॉ० सत्यकेतु व प्रो० हरिदत्त वेदालङ्कार, एम. ए., ये दोनों गुरुकुल विश्वविद्यालय काङ्गड़ी के स्नातक हैं और इन दोनों ने वेदों का काल-निर्णय करते हुए वैदिक सिद्धान्त को उपेक्षणीय दृष्टि से देखा है, जो अत्यन्त आश्चर्यजनक है। ऐसे स्नातकों से आर्य समाज की उन्नति व वैदिक सिद्धान्त की रक्षा की क्या आशा की जा सकती है?

मैं सर्व प्रथम ही लिख चुका हूँ कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इसका काल-निर्णय करना भ्रममात्र है।

ईश्वरीय ज्ञान की निम्नाङ्कित कसौटियाँ हैं:—

(क) ईश्वरीय ज्ञान के अपौरुषेय होने में उसके लिए अन्तः साक्षी भी होना चाहिए अर्थात् चारों वेदों में ऐसे प्रमाण मिलने चाहियें, जो प्रकट करें कि वेद ईश्वरकृत हैं।
(ख) सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकाश हुआ हो।
(ग) भाषा किसी देश विशेष की न होकर अलौकिक हो।
(घ) कोई अनित्य इतिहास न हो।
(ङ) विज्ञान के विपरीत कोई बात न हो।
(च) सृष्टि नियमों के विरुद्ध कोई बात न हो।
(छ) उसमें किसी प्रकार का प्रक्षेप न हो, जैसा सृष्टि के समय प्राप्त हुआ हो वैसा ही हो।
(ज) ईर्ष्या, द्वेष, पक्षपात आदि का लेश भी न हो।
(झ) मिथ्या माहात्म्य न हो।

ईश्वरीय ग्रन्थों में कुरान, बाइबिल, जिन्दावस्था, गुरुग्रन्थ साहब को रक्खा जाता है परन्तु उपर्युक्त कसौटी पर ये चारों ग्रन्थ नहीं उतर सकते हैं।

कुरान में हजरतमुहम्मद, बाइबिल में मूसा, लूत, ईसामसीह, जिन्दावस्था में ज़रदुश्त की जीवनियाँ आती हैं, जो अनित्य इतिहास हैं। कुरान अरबी, बाइबल ग्रीक, जिन्दावस्था पहलवी, तथा गुरुग्रन्थ साहब गुरुमुखी भाषाओं में है, ये सब एक देश-विशेष की भाषाएँ हैं, अतः इनका दावा सर्वथा ही गलत है।

यदि ऋक्, यजुः, साम, अथर्व इन चार संहिताओं को इन कसौटियों पर कसा जाय तो नितान्त सही उतरते हैं यथा:—

(क) **"तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूप नित्यया।**
वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम्।"

[ऋ० मण्डल ८, सूक्त ७५ मंत्र ६]

अर्थ—"तू उस ज्ञानवान, सर्वज्ञानवर्षक प्रभु की नित्यवाणी वेद से (सु-स्तुतिं चोदस्व) उत्तम प्रार्थना वा उपदेश किया कर।"[33]

"इसमें वेद को ईश्वरीय वाक्य और नित्य कहा है। इसी की पुष्टि वेदान्तदर्शन में "अत एव च नित्यत्वम्"—(वेदान्त० १।३।२९) सूत्र द्वारा की गई है।[34]

(ख) चारों वेद सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा इन चार मुक्तात्मा, दिव्य ऋषियों के द्वारा प्राप्त हुए।

ऋषि दो प्रकार के होते हैं, दैव्य ऋषि, श्रुतऋषि। जिन पर वेद का प्रकाश होता है, वे दैव्यऋषि हैं और जो दैव्यऋषियों से शिक्षा पाकर ऋषि बनते हैं वे श्रुतऋषि हैं। इन्हें 'पूर्व' 'नूतन' ऋषि भी कहते हैं—

३१. "वैदिक साहित्य" प्रथम संस्करण, पृष्ठ २४.

३२. वही. पृष्ठ २४.

३३. पं० जयदेव शर्मा 'विद्यालंकार', मीमांसातीर्थ कृत ऋग्वेदसंहिता, भाषाभाष्य, पञ्चमखण्ड, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ६३८.

३४. मासिक पत्र "वैदिकधर्म" का "वेदांक" वर्ष १९, जनवरी १९३८ ई०, अंक १, पृष्ठ १९ महात्मा नारायण स्वामी जी का "वेद, उनका प्रादुर्भाव, और उनके समझने का प्रकार" शीर्षक लेख.

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।
स देवाँ एह वक्षति ।
[ऋ० १।१।२]

अर्थात्—वह (अग्नि) ईश्वर, पूर्व (दैव्य) और नूतन (श्रुत) दोनों प्रकार के ऋषियों से स्तुति करने के योग्य है ।

दैव्य ऋषियों का प्रादुर्भाव जगत् के प्रारम्भ में एक बार ही हुआ करता है । वे बार बार नहीं होते ।

(ग) वेदों की भाषा "वैदिक भाषा" है जो किसी देश-विशेष की नहीं है । इसी से संस्कृत भाषा निकली है और संस्कृत से ही भूमण्डल की सारी भाषाएँ निकली हैं ।

वैदिक भाषा और लौकिक भाषा (Classical Sanskrit) में अन्तर है ।❀

(घ) वेदों में किसी भी प्रकार का अनित्य इतिहास नहीं है ।[३५]

वेद के सभी शब्द यौगिक हैं, रूढ़ि नहीं हैं । यौगिक प्रणाली से ही वेद का वास्तविक अर्थ जाना जा सकता है ।†

(ङ) चारों वेदों में विज्ञान के विरुद्ध कोई भी बात नहीं है । स्वर्गीय पं० सत्यव्रत जी सामश्रमी ने अपनी "त्रयी चतुष्टय' की भूमिका पृष्ठ ७ से ९ तक में वेदों में फोटोग्राफी, फोनोग्राफी, गैसलाइट, टैलीग्राफ, टेलीफोन, धूम्रशकट, वायुयान प्रभृति का स्पष्ट वर्णन किया है ।[३६]

(च) वेदों में सृष्टिनियमों के विरुद्ध कोई चर्चा नहीं है ।

सृष्टिकर्त्ता और नियन्ता परमात्मा विशेष नियमों से इस ब्रह्माण्ड का सञ्चालन कर रहा है—

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥
[ऋ. १०।१९०।१]

(छ) आज तक वेदों में कोई प्रक्षेप नहीं हुआ । जैसा सृष्टि के आदि में प्राप्त हुआ था वैसा ही अब तक है । पाश्चात्य विद्वान् भी यही कहते हैं:—

प्रो० मैक्समूलर लिखता है—The texts of the Veda have been handed down to us with such accuracy that there is hardly a various reading in the proper sense of the word, or even an uncertain accent in the whole of the Rigveda".[३७]

अर्थात्—"वेद के वचन हम तक ऐसी शुद्धता से आए हैं कि सम्पूर्ण ऋग्वेद में एक भी भिन्न पाठ नहीं या एक भी अनिश्चित उदात्त अनुदात्तादि का स्वर नहीं ।"

प्रो० कैगी लिखते हैं:—"वेदों के पाठ में किञ्चित् भेद नहीं आया ।

अतः ऐसी सावधानी से उनकी रक्षा की गई *है कि अन्य देशों के साहित्यों के इतिहास में उसकी उपमा नहीं मिलती ।"*[३८]

सन् १७६१ ई. में रॉबर्ट डी० नोबली ने एक जाली यजुर्वेद बनवाया जिसके विषय में प्रो. मैक्समूलर ने कह दिया कि "वह समग्र पुस्तक लड़कों का खेल है ।"[३९]

अतः वेदों में कोई प्रक्षेप नहीं हुआ है ।

(ज) जिस प्रकार कुरानी अल्लाह के कृपापात्र अरब निवासी, यहोवा के यहूदी हैं उसी प्रकार वेदों में ऐसी कोई बात नहीं है ।

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे..." [यजुः ३६।१८]

हम आपस में मित्र की दृष्टि से देखें ।

अतः वेदों में किसी प्रकार का पक्षपात व द्वेष की बातें नहीं हैं, वरन् वेद सार्वभौमिक हैं ।

(झ) जिस प्रकार ईसाईमत में ईसा पर ईमान लाने से

❀ देखो—श्री वी० एस० घाटे का "Lecture on Rigveda' की भूमिका ।

३५. देखो—पं० शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ कृत "वैदिक इतिहासार्थ निर्णय" तथा पं० प्रियरत्न आर्ष कृत "वेद में इतिहास नहीं" ग्रन्थ ।

† विशेष जानने के लिए देखो—मेरी लिखी हुई पुस्तक "महर्षि दयानन्द जी कृत वेदभाष्यानुशीलन" (जयदेव ब्रदर्स, बड़ौदा द्वारा प्रकाशित) ।

३६. देखो—मेरी उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ३२ से ३६ तक ।

३७. "Origin of religion" PP. 131. ३८. 'Kaegi's Rigveda." PP. 22.

३९. "वैदिक सम्पत्ति" द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ५३६ से ५४७ तक

सब पापों से छुटकारा मिलना बताया गया है ऐसी गप्पें वेदों में नहीं है।

वेदों में यह कहीं नहीं है कि ईश्वर पर ऋषियों पर विश्वास करने से मुक्ति मिल जाती है। किन्हीं मन्दिरों का उल्लेख नहीं, जिनके दर्शन मात्र से मनुष्य पापरहित हो जायगा। तीर्थों का वर्णन नहीं जहां यात्रा करने मात्र से मनुष्य अपने को निष्पाप समझने लगता हो। सम्पूर्ण वेदों के अध्ययन से भी वह अध्येता लाभ नहीं उठा सकता यदि उसकी आज्ञा के अनुसार वह आचरण नहीं करता और ईश्वरीय विभूतियों को अच्छी तरह नहीं जानता।

"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्
यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति
य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥"
[ऋ० १।१६४।३९]

अर्थ-"(ऋचः) ऋग् आदि चारों वेदों के बीच प्रतिपादन किए (यस्मिन्) जिस (अक्षरे) अविनाशी, अनादि, (परमे) सब से उत्कृष्ट (व्योमनि) विशेष-रूप से सबके रक्षक और आकाश के समान अलेप निराकार और सर्वव्यापक परमेश्वर में (विश्वे देवाः) सब तेजोमय, सूर्यादिलोक और समस्त विद्वान और समस्त व्यवहार योग्य पदार्थ सूर्य में किरणों के समान (अधिनिषेदुः) आश्रय पा रहे हैं (यः) जो अविद्वान पुरुष (तत् न वेद) उसको नहीं जानता वह (ऋचा) ऋग् आदि वेदों से (किम् करिष्यति) क्या करेगा? क्या फल प्राप्त कर सकता है। (ये इत्) जो विद्वान् की (तद् विदुः) उस परम वेद्य, वेदप्रतिपाद्य परम ब्रह्म और सत् कारण, एवं अमर्त्य तत्व आत्मा को (विदुः) जान लेते हैं (ते इमे) वे ही ये (सम् आसते) उस आनन्दमय परमेश्वर की सम्यग् ज्ञान पूर्वक उपासना करते हैं। उपासना, यज्ञादिकर्म परमेश्वर के परम तत्व को न जानकर किए हुए निष्फल हैं। अज्ञानी के मुख से वेद ऋचा का उच्चारणमात्र निष्फल है। उसको जानकर ही विद्वान् उसकी ऋचाओं द्वारा उत्तम उपासना कर सकता है। इसलिये श्रुतिवाक्यों से श्रवण करके उपपत्तियों द्वारा मनन कर, योग साधनाओं से उसका साक्षात् कर, वेद द्वारा उसका सेवन करें।"[४०]

इस प्रकार पाश्चात्यों व उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों के मतों की समुचित आलोचना करते हुए मैंने "वेदों को ईश्वरीयज्ञान" सिद्ध किया है॥

---

४०. पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार कृत ऋग्वेदसंहिता भाषाभाष्य, द्वितीय खण्ड, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ३०१।

भारतीय विद्याभवन का प्रकाशन

वैदिक एज

वेदों के सम्बन्ध में क्या कहता है

[ले०—पं० आनन्द प्रिय जी बड़ौदा]

उत्तर-प्रदेश के राज्यपाल श्रीयुत कन्हैयालाल मुन्शीजी ने भारतीय संस्कृति का पुनरुद्धार करने के लिए एक विद्यापीठ की स्थापना की है। जिसका नामकरण भारतीय विद्याभवन के रूप में किया गया है।

इस संस्था की ओर से विदेशियों के लाभार्थ भारतीय तत्त्वज्ञान तथा संस्कृति पर समय-समय पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। जिनका प्रचार विदेशों में अच्छी संख्या में होता है।

इसी विद्याभवन के इतिहास विभाग के अधिष्ठाता के तत्त्वावधान में "The Vedic Age" अथवा "History and Culture of Indian People" नामक एक पुस्तक दो खंडों में प्रकाशित हुई है। इसके कर्ता हैं श्रीमान् आर० सी० मजूमदार M. A. Ph. D. इसके प्रथम खंड में वैदिक साहित्य के विहंगावलोकन में कर्ता महोदय लिखते हैं—"On linguistic grounds the language of the Rigveda, the oldest Veda, may be said to be of about 1000 B.C. but its contents may be and certainly are in the oldest parts—of much more ancient date, and its latest, parts resembling Atharvanic charms, are as surely of much later origin. The Rigveda is neither an historical nor an heroic poem, but mainly a collection (Samhita) of hymns by a number of priestly families, recited or chanted by them with appropriate solemnity at sacrifices to the gods. Naturally it is poor in historical data. The Samveda hardly counts at all as an independent text. The Samhitas of the Yujurveda, if the Brahmana portions of the schools of the Black Yujurveda ase left out of account, are nothing but collections of short magic spells used by a certain class of priests at the sacrifices. For the history of the Indian people of the vedic age the Athervaveda is certainly the most important and interesting of the four samhitas, describing as it does, the popular beliefs and superstitions of the humble folk, as yet only partly subjugated by Brahmani-m.'

Page. 225.

अर्थात् भाषा के आधार पर सबसे प्राचीन वेद—ऋग्वेद—को ईसा से १००० वर्ष पूर्व का कहा जा सकता है। परन्तु इसके प्राचीनतम भाग उस समय (१००० ई० पू०) से प्राक्कालीन तथा अथर्ववेदीय सम्मोहनादि के सदृश अर्वाचीनतम भाग निश्चय ही बहुत बाद के हैं। ऋग्वेद न तो ऐतिहासिक ग्रन्थ है, न ही वीरकाव्य। अपितु यह पूजक परिवारों के उन स्तोत्रों का संग्रह है, जिनको वे बहुत श्रद्धा से अपने देवताओं के लिये किये गये यज्ञों में गाते थे। अत एव इसमें ऐतिहासिक सामग्री अतीव न्यून है। सामवेद को कठिनाई से ही स्वतन्त्र संहिता गिना जा है। यदि कृष्ण यजुर्वेद के ब्राह्मण भाग को पृथक् कर दिया जाय, तो यजुर्वेद संहिता उन सम्मोहन मन्त्रों का संग्रह मात्र रह जाता है, जिनसे सम्प्रदायविशेष के पुरोहित यज्ञ करते थे। वैदिक कालीन भारतीय इतिहास की दृष्टि से चारों संहिताओं में सर्वाधिक आवश्यक और रोचक अथर्ववेद है। इसमें विनम्र जनता, जो अभी ब्राह्मणवाद से अंशतः ही अभिभूत हो पाई थी, के प्रचलित अंधविश्वासों का वर्णन है।

इस प्राथमिक आलोचना के पश्चात् लेखक महोदय ने एक एक वेद पर विस्तार से लिखा है। पर सारे लेख में ना ही विद्वत्ता है और न अनुसन्धानवृत्ति। केवल पश्चिमी विद्वानों

की जूठन के सिवाय कुछ भी नहीं है। ऋग्वेद के सम्बन्ध में लिखते हैं—The Rigveda is not—as it is often represented to be—a book of folk poetry; nor does it make the beginning of a literary tradition Bucolic, heroic, and lyrical elements are not entirely absent, but they are Submerged under a stupendus mass of dry and stereotyped hymnology dating back to the Indo-Iranian era, and held as a close preserve by a number of priestly families whose sole object in cherishing hymns was to utilize them in their sacrificial Cult. Of natural outpourings of heart there is not much to be found in the Rigveda, for the hymns were part of an elaborate ritual which gradually came to be regarded as capable not only of persuading but also of compelling the gods to do the bidding of the officiating priests. This magico-religious attitude of mind found fullest expression later in the Mimansa philosophy in which the god—." Page 226

अर्थात्—जैसा कि प्रायः प्रस्तुत किया जाता है, ऋग्वेद न तो जनकाव्य का ग्रन्थ ही है और न इसमें साहित्यिक परम्परायें उपलब्ध होती हैं। इसमें ग्राम्य, वीरतापूर्ण तथा गान-सम्बन्धी तत्त्वों का पूर्णतः अभाव नहीं है। परन्तु वे शुष्क अपरिवर्तनशील स्तोत्रों के बड़े भार के नीचे दब गये हैं। ये स्तोत्र भारत ईरान-युग के हैं जिनको कुछ पुरोहित परिवारों ने सावधानीसे सुरक्षित रखा है। उन्हीं (पुरोहित परिवारों) ने यज्ञकार्यों में उपयोग की दृष्टि से स्तोत्रों का रक्षण किया। ऋग्वेद में हृदय के स्वाभाविक भाव (काव्य) अधिक उपलब्ध नहीं होते क्योंकि ऋचाएँ विस्तृत संस्कारों का भाग थीं, जिनको शनैः शनैः न केवल देवताओं को प्रसन्न करने का साधन अपितु उनको पुरोहित की आज्ञा के अनुसार विवश करने में समर्थ भी समझा जाने लगा। मस्तिष्क की यह जादू मिश्रित धार्मिक अवस्था बाद के मीमांसा दर्शन में पूर्णतः स्पष्ट हो गई है।

सामवेद के विषय में बहुत कुछ अनर्गल प्रलाप है। नमूने के रूप में इतना ही उद्धृत करते हैं—"The literary and historical value of the Samveda is therefore, practically nil, though its importance for the Soma—ritual cannot be overestimated.'

अर्थात्—सामवेद का साहित्यिक तथा ऐतिहासिक मूल्याङ्कन शून्य के बराबर है। यद्यपि इसकी उपयोगिता की साम-सम्बन्धी याग आदि में उपेक्षा नहीं की जा सकती।

यजुर्वेद के सम्बन्ध में आप पढ़िये—'The Yajurveda is, if possible, even more pronouncedly a ritual Veda, for it is essentially a guide-book for the Adhvaryu-priests who had to do practically every thing in the sacrifices excepting reciting the Mantras and chanting the melodies. And since Variation is more natural in manual work than in recitation and chanting, we actually possess to day, not merely in tradition as is mostly the case with the other Samhitas—no less than six complete recensions of the Yajurveda, of which two (Madhyandina and Kanva) constitute the white Yajurveda, and the rest (Taittiriya, Kathaka, Maitrayani and Kapishthala) the Black Yajurveda' Page. 231

अर्थात्—यजुर्वेद इससे भी अधिक याग-सम्बन्धी ग्रन्थ है क्योंकि यह अध्वर्यु की निर्देश-पुस्तक है, जिसको (अध्वर्यु को) मन्त्रोच्चारण और सामगान के अतिरिक्त यज्ञों में सभी क्रिया करनी पड़ती थीं। और क्योंकि उच्चारण और गान की अपेक्षा शारीरिक क्रिया में अधिक स्वाभाविक विभिन्नता होती है, अतः हमें यजुर्वेद के न्यूनसे न्यून छः शाखा ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जो अन्य संहिताओं के सदृश केवल परम्पराप्राप्त ही नहीं हैं। इनमें से दो—माध्यन्दिन तथा काण्व—शुक्ल यजुर्वेद तथा शेष चार—तैत्तिरीय-काठक-मैत्रायणी-कापिष्ठल—कृष्णयजुर्वेद के नाम से प्रख्यात हैं।

अथर्ववेद के सम्बन्ध में लेखक महोदय ब्लूमफील्ड का सहारा लेकर लिखते हैं 'In its present form the Atharvaveda is certainly latest of the four Samhitas but in contents it is by no means so, for there can be no doubt that Bloomfield was perfectly right in characterising the Atharvaveda as follows. "On the whole Atharvaveda is bearer of old traditian not only in the line of the popular charms; but also to some extent, be it slight, its hieratic materials are likely to be the product of independent tradition that has eluded the Collectors of the other Vedas, the Rigveda not excepted." At the Same time, however, it is quite clear that the

(शेष पृष्ठ १५३ पर)

रिसर्च (खोज) विषय में पाश्चात्यों की गहरी भूलें

वैबर और कैलेण्ड की प्रामाणिकता का परीक्षण !!

भारतीय अब पाश्चात्यों की मस्तिष्कदासता को भी छोड़ें !!!

(ले०—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु—मोतीझील—बनारस)

लगभग ४० वर्ष की बात है। डी० ए० वी० कालेज लाहौर (वर्त्तमान पाकिस्तान) के एक गोल कमरे में अपने स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव के साथ एक दुबले पतले पाजामाधारी पण्डित कहे जाने वाले (पं० भगवद्दत्त जी) से मेरा सन् १९१५ में प्रथम परिचय हुआ और पता लगा कि वेदशास्त्रों के विषय में रिसर्च (खोज) क्या वस्तु है। इसके पश्चात् इधर रुचि बढ़ती गई। सन् २२ से अध्यापन कार्य अमृतसर में आरम्भ होने पर प्रिय युधिष्ठिर (आयु १२ वर्ष) के साथ लाहौर इसी कार्य के लिये जाना आरम्भ हुआ। वेद की खोज-सम्बन्धी जानकारी श्री पं० भगवद्दत्त जी के सम्पर्क में ही बढ़ती गई। इसी बीच में रिसर्चस्कालर समझे वा कहे जाने वाले डा० लक्ष्मणस्वरूप डा० रघुवीर जी आदि के कार्यों से परिचय हुआ और उनसे भारत में करने वाली खोज-सम्बन्धी सब संस्थाओं और उनके कार्यों तथा हस्तलेख सामग्रियों तथा उनसे किये जाने वाले कार्यों की रूपरेखा के स्वरूप का ज्ञान भी हुआ। काशी में अनेक वर्ष रह कर यहाँ के शीर्षण्य और अपने विषय के अद्वितीय विद्वानों से अध्ययन परिचय तथा विचार विनिमय होते रहने से तथा माननीय सुयोग्य विद्वान् श्री डा० मंगलदेव शास्त्री जी के लाइब्रेरियन, पीछे गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज की परीक्षाओं के रजिस्ट्रार तथा सफल प्रिंसिपल पद पर कार्य करते हुये मुझे रिसर्चस्कालरों तथा काशी के बड़े बड़े विद्वानों के सम्पर्क में आने का सौभाग्य और सुअवसर सन् १९२५ से १९५५ (अबतक) बराबर प्राप्त होता आ रहा है। उधर उक्त सम्पर्क रहा, इधर वेद-ब्राह्मण-श्रौत-स्मार्त-व्याकरण-निरुक्त-प्राचीनदर्शन तथा मीमांसा आदि के गम्भीर अध्ययन अध्यापन में लगे रहने से भारत के प्राचीन विद्वानों की विद्वत्ता का भी खूब परिचय प्राप्त हुआ। साथ ही अपने मित्र श्री पं० भगवद्दत्त जी की प्रेरणा तथा प्रेम से ओरियण्टल कानफ्रेंस के विदेशीय विद्वानों से साक्षात् परिचय भी हुआ और उनकी कृतियों को गहराई से देखने का भी अवसर मिलता रहा। मेरे इस ओर प्रवृत्त होने तथा खोज सम्बन्धी जितनी भी मेरी जानकारी है, इस सबका श्रेय मुख्यतया माननीय श्री पं० भगवद्दत्त जी को ही है।

जहाँ मैं कह सकता हूँ कि काशी में इस समय यद्यपि विद्या का बहुत कुछ ह्रास हो चुका है पुनरपि समस्त भारत की अपेक्षा काशी में अपने अपने विषय के विद्वान् अभी तक भी अधिक ही होंगे। संस्कृत पठन पाठन का क्रम चाहे वह कितना भी विकृत हो चुका है, पुनरपि काशी में सबसे अधिक कहा जा सकता है। काशी के वैदिक विद्वानों का कुछ परिचय मेरे इस लेख में आगे मिलेगा।

उधर पश्चिमीय स्कालरों की जानकारी जो हुई, उस में मेरे मन पर पहिले २ अपने उपर्युक्त मित्रों द्वारा यही सुनने में आता रहा कि विदेशीय स्कालरों का संस्कृत के ग्रन्थों सम्बन्धी खोज का काम बहुत ही परिश्रम साध्य और सर्वथा निर्भ्रान्त है। कोई भी भारतीय अङ्गरेजी-संस्कृत जानने वाला विद्वान् विदेशी विद्वानों की गलती नहीं निकाल सकता, उनके काम में कहीं कोई गलती (भूल, भ्रान्ति वा अज्ञानता) नहीं हो सकती। इतना होने पर भी मुझे

उनकी शास्त्रीय विद्वत्ता के विषय में कभी आस्था नहीं हुई। ज्यों-ज्यों मुझे इन विदेशीय विद्वान् कहे जाने वाले स्कालरों का परिचय मिलता गया मुझे 'उनके कार्यों' का रहस्य खुलता गया। जब मैंने देखा कि भारत में पं० विश्वबन्धु शास्त्री जैसे विद्वान् अपने से दूसरे बहुत से योग्य २ विद्वानों को वेतन पर खरीद कर अपने न जाने हुए विषयों पर भी टिप्पणी और व्याख्यायें लिख सकते हैं, उधर डा० लक्ष्मण स्वरूप जैसे यूनीवर्सिटी के अधिकारी ५०) वा १००) रुपये मासिक पर जीविका के लिये चिन्तित शास्त्रियों को बरेली वा अन्यत्र से बुला २ कर सब परिश्रम तो उनसे लेते हैं और पुस्तक पर नाम डा० लक्ष्मणस्वरूप का छपता है, तब मेरी भ्रांति दूर हुई। यही नीति मुझे गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज बनारस के विदेशीय प्रिंसिपलों की भी पता लगी, कि वे तो पण्डितों के ऊपर अफसर थे ही, जिससे जो चाहा काम करा लिया। उनको कुछ आर्थिक लाभ पहुँचा दिया या पहुँचवा दिया। भूखे पण्डित तो थोड़े रुपये में ही इतना प्रसन्न हुए कि पूछो मत। इस तरह इन विदेशीय अधिकारियों अङ्गरेजी राज्य के वाइसराय से लेकर कलक्टर और कप्तान तक ने इन विदेशी स्कालरों को इतनी सहायता पहुँचवायी जो वर्णनातीत है, रुपये की भी और अन्य सब प्रकार की भी। इस दीनहीन दासता में पड़ी भारतीय जनता से जो चाहा करा लिया। उधर अच्छे २ भारतीय व्यक्तियों को विदेशों में पाँच पाँच सौ या हजार-हजार रुपये मासिक की वृत्तियाँ देकर अङ्गरेजों ने अपना गुलाम बना लिया। उन्हें ही बड़े-बड़े पदों पर प्रिंसिपल या प्रोफेसर नियुक्त किया। वे अङ्गरेजों का मान क्यों न करते? 'अर्थस्य पुरुषो दासः' वाली उक्ति चरितार्थ हुई। उसी का परिणाम है कि आज भी भारत में संस्कृत के सारे क्षेत्र में ऐसे व्यक्तियों का ही एक मात्र आधिपत्य चल रहा है। इन्होंने शरीर (लेखनी) ही बेच दिया सो नहीं, मस्तिष्क भी बेच दिया। अब यह अवस्था है कि भारत में उनका ही आदर सत्कार होता है। भारी-भारी वेतन होने के कारण कोई उनके विरुद्ध आवाज नहीं उठा पाता। उठाता भी है तो उसकी सुनवाई नहीं हो रही। जनता और नेताओं में अपने भारतीय साहित्य का ज्ञान प्राचीन दृष्टिकोण से है नहीं, जो कुछ है वह इन विदेशीय स्कालरों के द्वारा प्रमाणित हुए विद्वान् समझे जाने वाले एम० ए०, डाक्टरों के द्वारा ही कराया जाता है जो न होने के बराबर है।

विदेशी विद्वानों की छाप वा मिथ्याप्रसिद्धि

इस सब का परिणाम यह है इन विदेशी विद्वानों की मिथ्या छाप भारतीयों पर हो रही है। इन एम० ए०, डी० लिट् आदि पर ही पड़ी सो नहीं, भारतीय जनता पर भी पड़ी। अङ्गरेजी राज्य के संचालकों तथा वर्त्तमान में कांग्रेस राज्य के मुख्य-मुख्य नेताओं तथा अधिकारियों की प्राचीन पद्धति से अनभिज्ञता और भारतीय संस्कृति में अनास्था के कारण अभी तक विदेशी विचारों और "संस्कारों का ही बोलबाला है। अङ्गरेजों की दिमागी गुलामी भारत में प्रचुर मात्रा में अभी तक सर्वत्र दिखाई दे रही है। जो दुर्भाग्य की बात है।

मिथ्या प्रसिद्धि कर दी गई है या हो गई है कि विदेशी स्कालरों ने हमारे संस्कृत ग्रन्थों का जो सम्पादन किया है वह अनुपम है, उससे अच्छा कोई भारतीय नहीं कर सकता। उनके किये काम में कहीं भूल नहीं। जैसा मैंने ऊपर लिखा, अपनी मित्र-मण्डली वा अनेक भारतीय विद्वानों द्वारा मुझ पर भी यही प्रभाव डालने का यत्न किया गया कि विदेशी विद्वान् की बराबरी विद्या में कोई नहीं कर सकता। निस्संन्देह बहुत से ऐसे ग्रंथों का विदेशियों के द्वारा सम्पादन मेरे सामने है जिनमें उन विदेशी विद्वानों के परिश्रम-उत्साह समय त्याग और लग्न की हमें मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करनी पड़ती है और करनी चाहिए, पर जहाँ तक उनके वैदुष्य (विद्वत्ता) का सम्बन्ध है इसमें अभी उन्हें बहुत कुछ भारत से सीखना होगा। उनके सम्पादन किये ग्रन्थ भी भ्रांतिपूर्ण और अशुद्ध हैं। बस इस लेख में हम आज यही दर्शाना चाहते हैं।

वैबर और कैलैण्ड का संक्षिप्त परिचय

मेरा विचार है कि गत २०० वर्ष में योरुप अमेरिकादि के स्कालरों ने संस्कृत वाङ्मय के विषय में जो कुछ भी किया है इस विषय की पूरी जानकारी के लिए एक पुस्तक हिन्दी में तैयार होनी चाहिये। जिसमें सन् १७४० ई० से लेकर सन् १९५५ ई० तक का पूरा-पूरा विवरण छपना चाहिये, उसमें तिथि और संवत् का क्रम ठीक-ठीक रहे। साथ ही हर एक विद्वान् कब से कब तक रहा और उसने किन-किन संस्कृतग्रन्थों का सम्पादन किया और लेख लिखे। उनके प्रकाशन, स्थान, मूल्यादि का भी विवरण रहे। साथ ही उसमें इस क्रम से लिखा जावे कि किस का कौन शिष्य वा अनुवर्त्ती रहा। मेरे विचार में साथ ही साथ

यदि भारतीय डी० लिट् वा डी० फिलॉ आदि का भी परिचय दिया जावे कि किसने किस विदेशी विद्वान् से कब-कौन से देश में क्या-क्या पढ़ा और कौन-कौन उपाधि प्राप्त की तो अच्छा होगा। उनकी भी शिष्य परम्परा को अवश्य बताया जावे। यदि उनके कार्यों तथा सम्पादित ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय भी रहे तो और अच्छा हो।

गत वर्ष (७ वें वर्ष) के 'वेदवाणी' के वेदाङ्क में हमारे मित्र आर्य समाज के सुयोग्य विद्वान् श्री पं० धीरेन्द्र जी शास्त्री एम० ए०, साहित्याचार्य का एक लेख 'वैदिक साहित्य में पाश्चात्य लेखक' शीर्षक से पृ० ११० से ११५ तक छपा था। उसमें उन्होंने ११० विदेशीय स्कालरों का तथा उनके कार्यों का संक्षिप्त परिचय दिया था। यह नहीं समझ लेना चाहिये कि उन ११० में सब विदेशीय स्कालर आ गये। कुछ अन्य भी हैं। पर उक्त लेख इस विषय में बहुत उपयोगी जानकारी देता है।

हमने आज वैबर और कैलेण्ड के विषय में ही यहाँ कुछ विचार करना है। अतः यहाँ हम उन दोनों का ही कुछ परिचय उपस्थित करते हैं—

डा० वैबर—यह जर्मनी का प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् समझा जाता है। इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थों का सम्पादन तथा निर्माण किया—

मैत्रायणी संहिता सन् १८४७ ई० में सम्पादित की। यजुर्वेद महीधर भाष्य १८४९ में, शतपथ ब्राह्मण १८५५ ई० में, कात्यायन श्रौतसूत्र कर्क भाष्य १८५९ ई० में सम्पादन किया। यजुर्वेद के सम्बन्ध में ये ग्रन्थ विशेष महत्त्व के समझे जाते हैं। इन से अतिरिक्त काण्वसंहिता, तैत्तिरीयसंहिता, अद्भुत ब्राह्मण, वंशब्राह्मण आदि का भी सम्पादन तथा इनके विषय में लिखा।

कैलेण्ड—ने जैमिनीय शाखा (सामवेदान्तर्गत) बौधायन श्रौतसूत्र, काठक गृह्यसूत्र वैतान सूत्र, जैमिनीय गृह्यसूत्र, काण्व शाखा शतपथ ब्राह्मण (सन् १९२६ ई० में) इत्यादि ग्रन्थों का सम्पादन किया। यह हालैन्ड के रहने वाले थे।

यजुर्वेद में "वेष्पः" पर विचार

यजुर्वेद अध्याय १ मन्त्र ३० में "अदित्यै रास्नासि विष्णोर्वेष्पोऽसि..." इस में 'वेष्पः' पाठ है या 'वेष्यः' पाठ है, इस विषय में हम सप्रमाण विवेचना उपस्थित कर रहे हैं। वैबर और कैलेण्ड दोनों ने 'वेष्यः' पाठ ही माना है। कहीं पर भी मूल में या टिप्पणी में 'वेष्पः' पाठान्तर है ऐसा नहीं दिखाया, इन दोनों के कारण से इस विषय में भारी विवाद खड़ा हो गया है। कई विद्वानों को भी भ्रान्ति उत्पन्न हो गई। पं० सत्यव्रत सामश्रमी जैसे योग्य समझे जाने वाले विद्वान् भी वैबर और कैलेण्ड का अनुकरण करके भ्रान्ति में पड़ गये और उन्होंने भी सर्वत्र 'वेष्यः' अशुद्ध पाठ ही दिया। विदित रहे कि महर्षि दयानन्द सरस्वती के यजुर्वेद भाष्य में मूल तथा भाष्य दोनों में 'वेष्पः' पाठ ही माना गया है, 'वेष्पः' की ही व्याख्या की गई है। अब हम इस विषय में पहिले दोनों पक्षों की स्थिति और युक्ति पाठकों के सामने रखेंगे, जिस से उन्हें अपनी बुद्धि से सत्य तक पहुँचने में सहायता मिले। अन्त में हम अपना विचार उपस्थित करेंगे।

मुद्रित ग्रन्थों में "वेष्यः" पाठ

सर्व प्रथम हम वैबर तथा उसके अनुगामी लोगों में किस-किस ने "वेष्यः" पाठ माना है वा लिखा है सो दर्शाते हैं—

(१) **वैबर**—सम्पादित महीधरभाष्य सन् १८४९ ई० में लिप्जिग् (जर्मनी में प्रकाशित) में 'वेष्यः' पाठ है॥

(२) **वैबर** द्वारा ही १९४९ ई० में सम्पादित तथा प्रकाशित "शतपथब्राह्मण" (हरि स्वामी तथा सायण के भाष्यांशों सहित में)॥

(३) **वैबर** द्वारा सन् १८५९ ई० में सम्पादित तथा प्रकाशित कात्यायन श्रौतसूत्र कर्कभाष्य में॥

(४) **शतपथ ब्राह्मण सायणभाष्य**—सन् १९०३ ई० में (रायल एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता से छपा)।

(५) **यजुर्वेद उवटमहीधरभाष्य—निर्णय सागर** बम्बई में सन् १९१२ ई० में छपा।

(६) **यजुर्वेद उवटमहीधर भाष्य—चौखम्बा** संस्कृत सीरीज्-काशी में सन् १९१२ में छपा॥

(७) **शतपथ ब्राह्मण-सायणभाष्य**—वेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई में सन् १९२६ म छपा।

(८) **शतपथ ब्राह्मण मूल-चौखम्बा** काशी में सन् १९२७ में छपा।

(९) **काण्वशतपथ ब्राह्मण (कैलेण्डद्वारा सम्पादित)** लाहौर में सन् १९२६ में छपा।

(१०) **शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिनीय संहिता—बम्बई** निर्णय-सागर सन् १९२५ में मुद्रित।

(११) **वैदिकपदानुक्रमकोश**—नित्यानन्द विश्वेश्वरानन्द संस्थान लाहौर सन् १९३५ ई० में मुद्रित ॥

इन ग्रन्थों में 'वेष्यः' पाठ स्वीकृत किया गया है। अज्ञानवश इनका अन्धानुकरण करनेवाले और इस विषय में स्वयं कुछ भी यत्न न करनेवालों में निम्नलिखित हैं—

(१२) **शुक्लयजुः माध्यन्दिन संहिता मूल—दामोदर-सातवलेकर**—स्वाध्यायमण्डल औंध सन् १९२७ ई० में छपा ॥

(१३) **काण्वसंहिता पूर्वोक्त** स्वाध्यायमण्डल औंध सन् १९४० ई० में प्रकाशित १।४७ पर ॥

(१४) **उवटमहीधरभाष्य—दुर्गादास लाहिरी** कलकत्ता सन् १९३५ ई० में मुद्रित ॥

(१५) **यजुर्वेदभाष्य जयदेवजी विद्यालङ्कार** सन् १९३० में आर्य साहित्यमण्डल अजमेर द्वारा मुद्रित।

(१६) **यजुर्वेदभाषानुवाद वैदिक संस्थान गुरुकुल वृन्दावन** द्वारा सन् १९३८ ई० में मुद्रित ॥

इनमें वैबर ने तो कुछ थोड़ा बहुत परिश्रम किया भी प्रतीत होता है। कैलेण्ड और सत्यव्रत सामश्रमी ने भी कुछ किया होगा क्योंकि इन लोगों ने कुछ हस्तलेखों की सहायता भी ली, यद्यपि वह अपूर्ण और दोषपूर्ण थी।

इन तीनों को छोड़ कर शेष १३ तो गिनती करने योग्य भी नहीं, क्योंकि इन्होंने तो कुछ भी परिश्रम नहीं किया। केवल वैबर को देखकर ही उसका अन्धानुकरण किया, कईयों ने तो अनुकरण का ही अनुकरण किया ॥

मुद्रितों में "वेष्पः" पाठ

यद्यपि आगे हम १४५ हस्तलेखों में "वेष्पः" पाठ है, यह दर्शावेंगे। परन्तु पहिले हम मुद्रितों में कहां २ किस २ ने "वेष्पः" पाठ स्वीकृत किया है सो दर्शाते हैं—

(१) **शु० य० मा० संहिता-वेङ्कटेश्वर बम्बई** संस्करण सन् १९२२ में मुद्रित।

(२) **शु० य० मा० संहिता-तत्त्व विवेचक प्रेस बम्बई** सन् १८९६ ई०।

(३) **शु० य० मा० संहिता-तिमिरनाशक यन्त्रालय** काशी सन् १८९० ई०।

(४) **शु० य० मा० संहिता-विरजानन्द यन्त्रालय** लाहौर सन् १८९० ई०।

(५) **शु० य० संहिता पदपाठः-तत्त्व विवेचक प्रेस** बम्बई-सन् १८८४ ई०।

(६) **शु० य० संहितापदपाठः-गौरीश प्रेस काशी**

(७) **यजुर्वेदभाष्य (महर्षि दयानन्दसरस्वतीकृत)** निर्णय सागर बम्बई संवत् १९३५ वि०।

(८) **यजुर्वेदभाष्य (उदय प्रकाश मथुरा)** सन् १८८६ मुद्रित पृ० ३५।

(९) **यजुर्वेद ब्रह्मभाष्य-(ज्वाला प्रसादकृत)** लखनऊ सन् १८८८ ई०।

(१०) **शु० य० काण्व संहिता मूल-श्री० शेषाचल मुद्रणालय मद्रास** सन् १९१५ ई०।

(११) **शु० य० काण्व संहिता-सायणभाष्य काशी** मूल में तथा भाष्य में। सन् १९०८ चौखम्बा काशी मुद्रित पृ० ५५ पर "छान्दसः पकारादेशः" यह स्पष्ट पाठ है।

(१२) **शतपथ ब्राह्मण (वैदिक यन्त्रालय अजमेर)** सन् १९०३ ई०।

(१३) **शतपथ ब्राह्मण (अच्युत ग्रन्थ माला काशी)** सन् १९३७ ई० मु०।

(१४) **शतपथ ब्राह्मण (तैलगू भाषा में)** मद्रास लक्ष्मीपति शास्त्रिसम्पादित पृ० १२३ पर।

(१५) **कात्यायन श्रौत सूत्रकर्कभाष्य (चौखम्बा काशी)** सन् १९२७ ई० मुद्रित—पृ० १८० पर मूल तथा भाष्य दोनों में 'वेष्पः' पाठ है।

(१६) **कात्यायन श्रौतसूत्रभाष्य-म० म० विद्याधर गौड़ काशी कृत** सन् १९३० ई० मुद्रित पृ० ९४ नीचे टिप्पणी बहुत ही उपयोगी है।

(१७) **कात्यायनश्रौतसूत्र-देवयाज्ञिकभाष्य चौखम्बा काशी**—सन् १९३३ ई० मु० पृ० ३८ पर मूल तथा भाष्य दोनों में।

(१८) **कात्यायन सर्वानुक्रमणीभाष्य अनन्त देवयाज्ञिक चौखम्बा काशी**—सन् १८९३ ई० मुद्रित भाष्य में "वेष्पः" पाठ है।

(१९) **कात्यायन श्रौतसूत्र दर्शपूर्णमास पद्धति (म० म० नित्यानन्द पार्वतीय—चौखम्बा काशी)** सन् १९२४ ई० मुद्रित—पृ० ३३ पर टिप्पणी है, जो सबसे पहली टिप्पणी इस विषय की समझनी चाहिए। उसी को देखकर वही टिप्पणी आगे श्री पं० विद्याधर जी गौड़ द्वारा कात्यायन श्रौतसूत्र भाष्य में दी गई, जिसका विवरण हमने ऊपर दिया है। पीछे से शतपथ ब्राह्मण अच्युत ग्रन्थ माला संस्करण में भी पृ० ३५ पर आई। पं० नित्यानन्द पार्वतीय

(११) **वैदिकपदानुक्रमकोश**—नित्यानन्द विश्वेश्वरानन्द संस्थान लाहौर सन् १९३५ ई० में मुद्रित ॥

इन ग्रन्थों में 'वेष्यः' पाठ स्वीकृत किया गया है। अज्ञानवश इनका अन्धानुकरण करनेवाले और इस विषय में स्वयं कुछ भी यत्न न करनेवालों में निम्नलिखित हैं—

(१२) **शुक्लयजुः माध्यन्दिन संहिता मूल—दामोदर-सातवलेकर**—स्वाध्यायमण्डल औंध सन् १९२७ ई० में छपा ॥

(१३) **काण्वसंहिता** पूर्वोक्त स्वाध्यायमण्डल औंध सन् १९४० ई० में प्रकाशित १।४७ पर ॥

(१४) **उवटमहीधरभाष्य—दुर्गादास लाहिरी** कलकत्ता सन् १९३५ ई० में मुद्रित ॥

(१५) **यजुर्वेदभाष्य जयदेवजी विद्यालङ्कार** सन् १९३० में आर्य साहित्यमण्डल अजमेर द्वारा मुद्रित।

(१६) **यजुर्वेदभाषानुवाद वैदिक संस्थान गुरुकुल वृन्दावन** द्वारा सन् १९३८ ई० में मुद्रित ॥

इनमें वैबर ने तो कुछ थोड़ा बहुत परिश्रम किया भी प्रतीत होता है। कैलेण्ड और सत्यव्रत सामश्रमी ने भी कुछ किया होगा क्योंकि इन लोगों ने कुछ हस्तलेखों की सहायता भी ली, यद्यपि वह अपूर्ण और दोषपूर्ण थी।

इन तीनों को छोड़ कर शेष १३ तो गिनती करने योग्य भी नहीं, क्योंकि इन्होंने तो कुछ भी परिश्रम नहीं किया। केवल वैबर को देखकर ही उसका अन्धानुकरण किया, कईयों ने तो अनुकरण का ही अनुकरण किया ॥

मुद्रितों में "वेष्पः" पाठ

यद्यपि आगे हम १४५ हस्तलेखों में "वेष्पः" पाठ है, यह दर्शावेंगे। परन्तु पहिले हम मुद्रितों में कहां २ किस २ ने "वेष्पः" पाठ स्वीकृत किया है सो दर्शाते हैं—

(१) **शु० य० मा० संहिता-वेङ्कटेश्वर बम्बई** संस्करण सन् १९२२ में मुद्रित।

(२) **शु० य० मा० संहिता-तत्त्व विवेचक प्रेस बम्बई** सन् १८९६ ई०।

(३) **शु० य० मा० संहिता-तिमिरनाशक यन्त्रालय** काशी सन् १८९० ई०।

(४) **शु० य० मा० संहिता-विरजानन्द यन्त्रालय** लाहौर सन् १८९० ई०।

(५) **शु० य० संहिता पदपाठः-तत्त्व विवेचक प्रेस** बम्बई-सन् १८८४ ई०।

(६) **शु० य० संहितापदपाठः-गौरीश प्रेस काशी**

(७) **यजुर्वेदभाष्य (महर्षि दयानन्दसरस्वतीकृत)** निर्णय सागर बम्बई संवत् १९३५ वि०।

(८) **यजुर्वेदभाष्य (उदय प्रकाश मथुरा)** सन् १८८६ मुद्रित पृ० ३५।

(९) **यजुर्वेद ब्रह्मभाष्य**-(ज्वाला प्रसादकृत) लखनऊ सन् १८८८ ई०।

(१०) **शु० य० काण्व संहिता मूल-श्री० शेषाचल मुद्रणालय मद्रास** सन् १९१५ ई०।

(११) **शु० य० काण्व संहिता-सायणभाष्य काशी** मूल में तथा भाष्य में। सन् १९०८ चौखम्बा काशी मुद्रित पृ० ५५ पर "छान्दसः पकारादेशः" यह स्पष्ट पाठ है।

(१२) **शतपथ ब्राह्मण (वैदिक यन्त्रालय अजमेर)** सन् १९०३ ई०।

(१३) **शतपथ ब्राह्मण (अच्युत ग्रन्थ माला काशी)** सन् १९३७ ई० मु०।

(१४) **शतपथ ब्राह्मण (तैलगू भाषा में)** मद्रास लक्ष्मीपति शास्त्रिसम्पादित पृ० १२३ पर।

(१५) **कात्यायन श्रौत सूत्रकर्कभाष्य (चौखम्बा काशी)** सन् १९२७ ई० मुद्रित—पृ० १८० पर मूल तथा भाष्य दोनों में 'वेष्पः' पाठ है।

(१६) **कात्यायन श्रौतसूत्रभाष्य-म० म० विद्याधर गौड़ काशी कृत** सन् १९३० ई० मुद्रित पृ० ९४ नीचे टिप्पणी बहुत ही उपयोगी है।

(१७) **कात्यायनश्रौतसूत्र-देवयाज्ञिकभाष्य चौखम्बा काशी**—सन् १९३३ ई० मु० पृ० ३८ पर मूल तथा भाष्य दोनों में।

(१८) **कात्यायन सर्वानुक्रमणीभाष्य अनन्त देवयाज्ञिक चौखम्बा काशी**—सन् १८९३ ई० मुद्रित भाष्य में "वेष्पः" पाठ है।

(१९) **कात्यायन श्रौतसूत्र दर्शपूर्णमास पद्धति** (म० म० नित्यानन्द पार्वतीय—चौखम्बा काशी) सन् १९२४ ई० मुद्रित—पृ० ३३ पर टिप्पणी है, जो सबसे पहली टिप्पणी इस विषय की समझनी चाहिए। उसी को देखकर वही टिप्पणी आगे श्री पं० विद्याधर जी गौड़ द्वारा कात्यायन श्रौतसूत्र भाष्य में दी गई, जिसका विवरण हमने ऊपर दिया है। पीछे से शतपथ ब्राह्मण अच्युत ग्रन्थ माला संस्करण में भी पृ० ३५ पर आई। पं० नित्यानन्द पार्वतीय

की वह अत्यन्त उपयोगी और मार्मिक टिप्पणी इस पद्धति में इस प्रकार है—

'विष्णोर्वेष्प' इत्यत्र "विष्लृ व्याप्तौ" इति धातोः 'पानीविषिभ्यः पः' इत्यौणादिकसूत्रेण तृतीयपादस्थेन पप्रत्यये 'वेष्प' इति रूपं निष्पद्यते। अत्र वेष्य इति पाठकल्पनं एतदौणादिकसूत्राज्ञानमूलकम्। पवर्गीयघटितपाठस्य आसेतुहिमाचलं संप्रदायसिद्धत्वात्। अन्तस्थघटितलेखस्य लेखकप्रमादेन भाष्यादिपुस्तकेषु संजातत्वात्। एतद्व्युत्पादनं च लखनऊनगरमुद्रितभाष्ये स्पष्टमुपलभ्यते इति ततो निरसनीयः संशयः संदिहानैरित्यलम्।"

अर्थात्—'विष्णोर्वेष्पो' इस मन्त्र में 'वेष्पः' पाठ ही युक्त है, क्योंकि 'पानीविषिभ्यः पः' इस उणादिसूत्र से 'विष्लृ व्याप्तौ' धातु से प प्रत्यय करने पर वेष्पः शब्द सिद्ध होता है। वेष्यः पाठ की कल्पना इस उणादि सूत्र के अज्ञान की परिचायक है। भारत भर के सब वैदिकों के संप्रदाय में भी पवर्गयुक्त पाठ ही मिलता है। अतः वेष्यः में लेखक-प्रमाद से पकार लिखा गया है। इसके विषय में और अधिक विवरण लखनऊ से मुद्रित भाष्य में किया गया, वहीं से देख लें।

इस विषय में कहना पड़ेगा कि वेबरादि के कारण 'वेष्पः' इस पाठ के छपनेवाले ग्रन्थों में भ्रष्ट हो जाने पर इन महामहोपाध्याय पं० नित्यानन्द पार्वतीय जी ने ही सर्वप्रथम "वेष्यः" इस अशुद्ध पाठ के विरुद्ध घोषणा की और काशीस्थ प्रमुख वैदिक विद्वान् म०म० पं० विद्याधर गौड़ जी ने इसका अति प्रबलता से समर्थन कर काशीस्थ परम्परा की रक्षा का महान् कार्य किया, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

(२०) दर्शपूर्णमासेष्टि (भीमसेन शर्मा-सरस्वती प्रेस इटावा) सन् १८९९ ई० में मुद्रित पृ०४७ पर

(२१) यजुर्वेद पदसूची (स्वा.नित्यानन्द विश्वेश्वरानन्द निर्णय सागर बम्बई सन् १९०८) में "वेष्पः" पाठ है। पं० विश्वबन्धुजी ने इसके विरुद्ध 'वेष्यः' पाठ माना, जैसा कि हम पहले दर्शा चुके हैं।

(२२) यजुर्वेद मन्त्रपदानामनुक्रमसूची (श्री० पं० दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय मंडल औंध—सन् १९२९ ई० में मुद्रित में—

"विष्णोर्वेष्पोऽसि" ऐसा पाठ छपा है। ऊपर हम दर्शा चुके हैं कि शु० मा० यजुर्वेद संहिता में इन्होंने "वेष्यः" पाठ माना है। इस विषय में कुछ किया होता या इस विषय की समझ होती तब तो कुछ परिश्रम भी करते। अपना ज्ञान न रहने पर दूसरों की समझ से कार्य करने वालों की यही गति होना स्वाभाविक है।

यहां इतना ध्यान रहे कि **(२३) उज्ज्वलदत्त उणादि वृत्ति—(२४) श्वेतवनवासी उणादि वृत्ति (२५) उणादि वृत्ति (स्वामी दयानन्द सरस्वतीकृत) (२६) नारायण उणादि वृत्ति (२७) दशपादी उणादि वृत्ति (युधिष्ठिर मीमांसक सम्पादित) (२८) शब्द कल्पद्रुम कोश।** इन ६ ग्रंथों में भी "वेष्पः" पद ही माना गया है, 'वेष्यः' नहीं। यद्यपि इनमें आया पद यजुर्वेद १।२० की दृष्टि से नहीं है। इसका विशेष विवेचन हम आगे करेंगे।

यद्यपि मुद्रित में "वेष्पः" पाठ अत्यधिक है। पर पाठक को कैसे पता लगे कि 'वेष्पः' ही ठीक पाठ है, 'वेष्यः' नहीं। मुद्रित में २८ प्रमाणों से पूर्वपक्ष में १६ प्रमाणों का उत्तर तो नहीं हो जाता, अतः हम युक्तियों द्वारा भी दोनों पक्षों की विवेचना उपस्थित करते हैं:—

"वेष्यः" पाठ में पूर्वपक्ष की युक्ति

पूर्वपक्षी का कहना है कि यह ठीक है २२-२३ प्रमाण यजुर्वेद-सम्बन्धी "वेष्पः" पाठ के लिए दिये गये, पर वेबर, कैलेण्ड तथा सत्यव्रत सामश्रमी आदि ने भी तो अनेक हस्तलेखों के आधार पर ही "वेष्यः" पाठ निश्चित किया है। उसमें भी १६ ग्रन्थों में यही वेष्यः पाठ मिलता है। बिना किसी आधार के इसे अशुद्ध कैसे माना जा सकता है? यदि हम 'वेष्पः' पाठ २२ ग्रन्थों में मान भी लें तो १६ ग्रन्थों का 'वेष्यः' पाठ इतने से ही अशुद्ध कैसे हो सकता है, उनमें वेबरादि का तो हस्तलेखों के आधार पर भी है।

उत्तर

इसमें हमारा उत्तर निम्न प्रकार है—

(१) भारतवर्ष में सभी प्रान्तों के प्राचीन परम्परा के वैदिक विद्वानों में हमने कोई नहीं देखा, जिसका 'वेष्यः' पाठ हो। काशी में सभी प्रान्तों के वैदिक विद्वान् रहते हैं—महाराष्ट्र, बंगाल, पंजाब, राजस्थान, गुजरात, बिहार, मध्यभारत, हैदराबाद, आन्ध्र, मद्रास, उत्तर प्रदेश, विन्ध्यप्रदेश, काश्मीर, आसाम, नैपाल इत्यादि सभी प्रान्तों के सभी विद्वानों का परम्परागत उच्चारण 'वेष्पः' ही है। काशी के वैदिक विद्वान् भारत के सभी प्रान्तों में यज्ञयागादि के निमित्त प्रायः सर्वत्र बुलाये जाते हैं।

अपने-अपने प्रान्तों के वैदिक विद्वानों से इनका समागम वा सम्बन्ध प्रायः होता ही रहता है, किसी ने भी 'वेष्यः' पाठ नहीं बतलाया, अपितु 'वेष्पः' सर्वसम्मत पाठ ही हमें सुनने को मिला। उच्चारण ही सब से पुष्ट और मुख्य प्रमाण है। इसके सामने मुद्रित और हस्तलेखों का पाठ भी गौण है। यह बात वैदिक परम्परा के जानने वाले समझ सकते हैं। इन वैदिक विद्वानों के घरों में परम्परागत प्राप्त संहिता, पदपाठ, क्रम, जटा, घन, विकृति आदि के सब हस्तलेखों में 'वेष्पः' ही पाठ मिला। काशी भारत की प्राचीनतम नगरी मानी जाती है। इसमें सब प्रान्तों के लोग विद्याध्ययनार्थ आते हैं। इसी लिये काशी में लाहौरी टोला, बंगाली टोला, मद्रासी मुहल्ला (हनुमानघाट), महाराष्ट्री पञ्चगङ्गा घाट पर, राजस्थानी मीरघाट पर, बिहारी अस्सी पर, गुजराती शीतला घाट पर प्रायः निवास करते हैं। काशी में सब प्रान्तों के विद्वानों, राजाओं, धनिकों के छोटे से छोटे और बड़े से बड़े तक प्रायः सबके स्थान वा बगीचे आदि हैं। कोई भारी यज्ञ याग भारत के किसी कोने में हो, काशी के वैदिक विद्वान् उसमें अवश्य बुलाये जाते हैं। तात्पर्य यह है कि काशीस्थ वैदिक विद्वानों की परम्परा सर्वश्रेष्ठ है और सर्वमाननीय है। सो उसमें सबका एक स्वर से 'वेष्पः' ही पाठ है।

हस्तलेखों के प्रमाण

(२) अब हम हस्तलेखों के प्रमाण उपस्थित करते हैं—

(१) १९+४१=६० माध्यन्दिनीय शुक्ल यजुर्वेदसंहिता के हस्तलेखों में वेष्पः ही पाठ है।

(२) ५+४१=४६ मा० शु० यजुर्वेद संहिता पदपाठ के हस्तलेखों में वेष्पः पाठ है।

(३) ७ क्रम, जटा, घन, पाठ के हस्तलेखों में 'वेष्पः' पाठ है।

(४) १२ यजुर्वेदभाष्य के हस्तलेखों में 'वेष्पः' पाठ है।

(५) ११ मा० शु० शतपथ ब्राह्मण के हस्तलेखों में 'वेष्पः' पाठ है।

(६) १३ शु०य० काण्व संहिता के लेखों में वेष्पः पाठ है।

(७) ७ काण्व संहिता पदपाठ के हस्तलेखों में वेष्पः पाठ है।

(८) २ काण्व संहिता सायणभाष्य के हस्तलेखों में 'वेष्पः' पाठ है।

(९) ४ काण्व शतपथ ब्राह्मण के हस्तलेखों में 'वेष्पः' पाठ है।

(१०) ८ कात्यायन श्रौतसूत्र के हस्तलेखों में 'वेष्पः' पाठ है।

(११) ८ कात्यायन श्रौत सूत्र कर्कभाष्य तथा देवयाज्ञिक भाष्य के हस्तलेखों में 'वेष्पः' पाठ है।

(१२) ६ कात्यायन श्रौत दर्शपूर्णमासपद्धति के हस्तलेखों में 'वेष्पः' पाठ है।

(१३) ३ कात्यायन सर्वानुक्रमणी भाष्य के हस्तलेख में 'वेष्पः' पाठ है। इस प्रकार—

१९६ हस्तलेखों में 'वेष्पः' ही पाठ है।

इन में १४ हस्तलेखों में यकार और पकार के अभेद के कारण 'वेष्यः' पाठ भी माना जा सकता है। यद्यपि इस विषय का विवेचन हम आगे करेंगे कि वास्तव में इन में भी प्रायः 'वेष्पः' ही पाठ है। इस में हेतु आगे दर्शावेंगे। दुर्जनसन्तोषन्याय से इन १४ में 'वेष्यः' पाठ ही मान लिया जावे तो भी १८२ में तो 'वेष्पः' पाठ निस्सन्देह ही है। अब यदि इन में ४१ विद्वानों के संहिता उच्चारण तथा ४१ पदपाठ के उच्चारण गिन लिये जावें तो १८२+८२= २६४ हस्तलेखों तथा उच्चारणों में "वेष्पः" पाठ मानना होगा, यह निश्चित है।

हस्तलेखों में वेष्पः पाठ का पूरा परिचय

अब हम क्रमशः संहिता-पदपाठ-क्रम-जटा—संहिता भाष्य—शतपथ ब्राह्मण मूल—तथा भाष्य—काण्व संहिता—काण्व संहिता पदपाठ—काण्व संहिता सायण भाष्य—काण्व शतपथ ब्राह्मण—कात्यायन श्रौतसूत्र—कात्यायन श्रौतसूत्रभाष्य—कात्यायन दर्शपूर्णमास प्रयोग—कात्यायन सर्वानुक्रमणी भाष्य—इन सब के १९६ हस्तलेखों का परिचय और पता आदि लिखते हैं, जिससे इस विषय में विचारशील विद्वानों के सामने हस्तलेखों की पूरी सामग्री उपस्थित हो जावे और आगे विचार करने वालों को भी विचार करने में सुगमता वा सहायता हो। क्रमशः हस्तलेखों का विवरण लिखते हैं—

१ माध्यन्दिनीय शुक्लयजुः संहिता के हस्तलेख

इन सब में "वेष्पः" पाठ है।

I सरस्वती भवन (गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज बनारस के संग्रह में)

(१) ms. सं० ६८४ (१–२० अध्याय) 'वेष्पः' पाठ है।

(२) ms. सं० ६९७ (क) १ से २० अध्याय वेष्पः है।

(३) ,, ,, ७१३ (१–१२ अध्याय) 'वेष्पः' पाठ है।

(४) ms. सं० ७२२ (पूर्वार्द्ध अति जीर्ण) 'वेष्पः इति पाठः
(५) ms. सं० ७६५ (१-२० अतिजीर्णः) ,, ,,
(६) ,, ,, ७९९ (१-३ अ०) ,, ,,
(७) ,, ,, ८०७ ,, ,,
(८) ,, ,, ८१६ ,, ,,
(९) ,, ,, ८३० दीर्घपाठः सं० १९१५ ,, ,,
(१०) ,, ,, ८३१ दीर्घपाठः ,, ,,
(११) ,, ,, ८३३ (संवत् १६१६) ,, ,,
(१२) ,, ,, ८५९ ,, ,,
(१३) ,, ,, ७०९ (पूर्वार्धः) संवत् १६६३ ,, ,,
(१४) ,, ,, ७११ पूर्वार्धः संवत् १८७४ ,, ,,
(१५) ,, ,, ७१३ ,, ,,
(१६) ,, ,, ७८६ (अतिजीर्णः) ,, ,,
(१७) ,, ,, बटाला हस्तलेखः (ट्रस्ट ms) ,, ,,
(१८) ,, ,, अमृतसर हस्तलेखः
(रामलाल कपूर ट्रस्ट ms) ,, ,,
(१९) ,, ,, अमृतसर रामलाल कपूर
ट्रस्ट हस्तलेख ,, ,,

II काशीस्थ वैदिकों के संग्रह में

निम्नलिखित काशीस्थ विद्वानों के मा० श० यजुः संहिता के तथा पदपाठ के हस्तलेखों में तथा दोनों के परम्परागत उच्चारण में सर्वत्र 'वेष्पः' पाठ ही है, जिसको हमने स्वयं देखा तथा श्रवण किया है—

(१) श्री पं० गणेश दीक्षितः (महाराष्ट्रीयः)
संहितापाठः वेष्पः इति
(२) ,, ,, हरिनाथ शास्त्री भ्राणेकर (वंगीयः)
संहितापाठः वेष्पः इति
(३) ,, ,, लालतिवारी-आर्यवर्त्तीयः ,, ,, ,,
(४) ,, ,, काशीनाथजी (बागवरियार सिंह काशी)
संहितापाठः वेष्पः इति
(५) ,, ,, बद्रीनारायण (बागबरियार सिंह)
संहितापाठः वेष्पः इति
(६) ,, ,, रामनाथ दीक्षितः (पाञ्चालीयः)
संहितापाठः वेष्पः इति
(७) ,, ,, श्रीनाथ दीक्षितः (पांचालीयः)
संहितापाठः वेष्पः इति
(८) श्री पं० दौलतरामगौड़ः (पं० विद्याधरगौड़पुत्र)
राजस्थानीयः (संवत् १७२९ वि० वेष्प इति)
(९) ,, ,, वेणीरामगौड़ः (,, ,, ,,)
(१०) श्री पं० हरिनारायणः (पञ्चनदीयः)
(११) ,, ,, काशीनाथजी गौड़से (महाराष्ट्रीयः) सं० १८७२
(१२) ,, ,, विष्णुजी जानी (गुर्जर प्रान्तीयः)
(१३) ,, ,, भगवत् प्रसाद मिश्रः (राजस्थानीयः)
(१४) ,, ,, गोपालचन्द्र मिश्रः (,,)
(१५) ,, ,, यागेश्वरजी पाठकः (बिहार प्रान्तीयः)
(१६) ,, ,, विश्वनाथः विश्वविद्यालये (,,)
(१७) ,, ,, अमरनाथ सारस्वतः (पञ्चनदीयः)
(१८) (क) ,, ,, ,, ,, ,, सम्वत् १५८५
(ख) ,, ,, ,, ,, पदपाठः सम्वत् १७३४ वि०
(१९) ,, ,, राजाराम निसंले (महाराष्ट्रीयः) संवत् १८८३
(ख) ,, ,, ,, ,, पदपाठ संवत १५३२
(२०) ,, ,, मान्देकरवैदिकः (हैद्राबादीयः)
(२१) ,, ,, भवानी रामोऽग्निहोत्री (महारा०)
(२२) ,, ,, लक्ष्मी नारायणः (सुडिया)
(२३) ,, ,, गुरु प्रसादः (राजस्थानीयः) संवत् १८६४
(२४) ,, ,, ,, ,, भ्राता ,,
(२५) ,, ,, ,, ,, ,,
(२६) ,, ,, ढुण्ढिराजः (महाराष्ट्रीयः)
(२७) ,, ,, दामोदरः ,,
(२८) ,, ,, पुरुषोत्तमः (पञ्चनदीयः)
(२९) ,, ,, नारायण सारस्वतः (पञ्चनदीयः)
(३०) ,, ,, नित्यानन्द गौड़ ,,
(३१) ,, ,, शम्भुनाथो वैदिकः (पञ्चनदीयः)
(३२) ,, ,, नरसिंह सारस्वतः ,,
(३३) ,, ,, वंशीधरः (राजस्थानीयः) संवत् १९३०
(३४) ,, ,, ब्र० माधवः (सामवेद विद्या०) प्राचीन ह० ले०
(३५) ,, ,, अपरः ,, ,, प्राचीन हस्तलेख
(३६) ,, ,, मद्र प्रान्तीय ,, ,, प्राचीन हस्तलेख
(३७) ,, ,, मांगीलालः
(३८) ,, ,, मंगलदेवः (दाक्षिणात्यः)
(३९) ,, ,, गोपीनाथः (केदारघाटे)
(४०) ,, ,, फलाहारी (शास्त्रार्थ विद्यालये)
(४१) ,, ,, शशिभूषणः (आर्यावर्त्तीयः)

III शुक्लयजुः मा० संहिता पदपाठः

(१) सरस्वतीभवनसग्रहे १०५१ शु. संहिता पदपाठः वेष्पः इति
(२) ,, ,, ,, १०५२ ,, ,, ,, ,, ,,
(३) ,, ,, ,, १०६३ ,, ,, ,, ,, ,,
(४) ,, ,, ,, ११०१ ,, ,, ,, ,, "वेष्यः",,

(५) पं. राजाराम निर्मले आंगरा वाड़ा–संवत् १९३२ वेष्प:

(६) (काशीस्थ ४१ विदुषां पूर्वोक्तानां पदपाठहस्तलेखेषु सर्वत्र 'वेष्प:' इति पाठ: = ४६

IV (शु० य० मा० संहिता) क्रमपाठ:, जटापाठ:

(१) Ms सं. ७२१ (सरस्वतीभवनसंग्रहे पद क्रम-जटा 'वेष्प:' इति पाठ:

(२) श्री गणेश जी दीक्षित प्राचीन क्रम पाठ: 'वेष्प:' इति

(३) पं० रामनाथजी दीक्षित क्रम पाठे 'वेष्प:' इति पाठ: ।

(४) पं० दौलतराम गौड़ क्रम पाठे 'वेष्प:' इति पाठ: ।

(५) पं० वेणीराम गौड़ क्रम पाठे 'वेष्प:' इति पाठ: ।

(६) पं० भगवत्प्रसाद मिश्र क्रमपाठे 'वेष्प:' इति पाठ: ।

(७) पं० गोपालचन्द्र मिश्र क्रमपाठे 'वेष्प:' इति पाठ: ।

(८) पं० भगवत् प्रसाद मिश्र घनपाठे 'वेष्प:' इति पाठ: ।

V शु० य० मा० संहिता भाष्ये

(क) सरस्वतीभवनसंग्रहे—

(१) Ms सं० ७१५ (महीधरभा.) 'वेष्प:' इति पाठ: । (अभेद: पकारयकारयो:)

(२) ,, ,, ७१८ (उवट भा) ,, ,, ,, (अभेद: पकारयकारयो:)

(३) ,, ,, ७१९ (उवट भा.) 'वेष्प:' इति पाठ: । (अभेद: पकारयकारयो:)

(४) ,, ,, ७२० (उवट भा.) 'वेष्प:' इति स्पष्ट: पाठ: ।

(५) ,, ,, ७२६ (,, ,,) 'वेष्प:' इति पाठ: । (अभेद: पकारयकारयो:)

(६) ,, ,, ७२८ (महीधर भा.) 'वेष्प:' इति पाठ: । (अभेद: पकारयकारयो:)

(७) ,, ७३३ (महीधर भा.) 'वेष्प:' इति स्पष्ट: पाठ: ।

(८) ,, ,, ८८६ (,, ,,) ,, ,, ,,

(९) ,, ,, ७३२ (भवदेवनाथ) ,, ,, ,,

(ख) वैदिकानां हस्तलेखसंग्रहे—

(१०) पं० रामनाथदीक्षित (अतिसुन्दरहस्तलेखे उवटभाष्ये) 'वेष्प:' इति स्पष्ट: पाठ: ।

(११) पं० दौलतराम गौड़ (बन्धन सं० १३७) महीधर भाष्ये (पृ०३८) 'वेष्प:' इति स्पष्ट: पाठ: ।

(१२) पं० गणेश जी दीक्षित (उवट भा.) हस्तलेखे 'वेष्प:' इति स्पष्ट: पाठ: ।

VI शु० मा० शतपथब्राह्मणे भाष्ये च ।

(i) सरस्वतीभवनसंग्रहे—

(१) Ms ९९१ (संवत् १७४१) पृ० ३६–'वेष्प:' इति स्पष्ट: पाठ: ।

(२) ,, १०२६ (अतिप्राचीन: प्राचीनमात्रायुत:) पृ० २८ 'वेष्प:' इति स्पष्ट: पाठ: ।

(ii) वैदिकानांसंग्रहे—

(३) पं० काशीनाथ गौड़से संवत् १७७९ (अतीव सुन्दर:) हस्तलेखे 'वेष्प:' इति स्पष्ट: पाठ: ।

(४) पं० विष्णु जी जानी नागरहस्तलेखे 'वेष्प:' इति स्पष्ट: पाठ: ।

(५) पं० अमरनाथ सारस्वत-हस्तलेखे संवत् १९४९ 'वेष्प:' इति स्पष्ट: पाठ: (अच्युत ग्रंथ माला शतपथ ब्राह्मणस्य मूलपुस्तकम्)

(६) ब्र० जोशी (सिध्येश्वरीमन्दिरे) हस्तलेखे संवत् १७२६ 'वेष्प:' इति स्पष्ट: पाठ: ।

(७) पं० विद्याधर गौड़ संग्रह-हस्तलेखे 'वेष्प:' इति पाठ: (पययो: अभेद:)

(८) पं० गणेशजी दीक्षित हस्तलेखे 'वेष्प:' इति स्पष्ट: पाठ: ।

(ii) मा० शतपथभाष्ये मूले

(९) Ms. ९१७ (सरस्वती भवन संग्रहे) शतपथ सायणभाष्ये, 'वेष्प:' इत्यसन्दिग्ध: पाठ: ।

(१०) ,, १०२७ (,, ,,) ,, ,, ,, वेष्प: इति पाठ: पृ० ७० (पययो: स्वल्पभेद:) ।

(११) गणेशजी दीक्षित हस्तलेखे ,, ,, ,, 'वेष्प:' इति पाठ: ।

(१२) सांगवेद विद्यालय हस्तलेखे ,, ,, ,, ,, ,, ,,

VII शुक्ल यजु: काण्व संहिता

(i) सरस्वतीभवनसंग्रहे—

(१) Ms. ७७९ प्राचीन: पृ० ८—'वेष्प:' इति पाठ:– 'वेष्प' इत्यस्य स्थाने परिशोधित: ।

(२) ,, ८३९ (पृ० ५) 'वेष्प:' इति स्पष्ट: पाठ: ।

(३) ,, ८४१ 'वेष्प:' इति ,, ,, ,,

(४) ,, ८४६ 'वेष्प:' इति स्पष्ट: पाठ: ।

(५) ,, ८५५ 'वेष्प:' इति स्पष्ट: पाठ: ।

(६) ,, ८७१ 'वेष्प:' इति स्पष्ट: पाठ: ।

(७) ,, ७६३ संवत् १८५३—'वेष्प: इति पाठ: (पययो: अभेद:) ।

(८) ms. सं० ८२९ 'वेष्यः' इति पाठः।
(९) पं० श्रीरामाचार्य पुराणिक 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः।
(१०) पं० श्रीकान्त पुराणिक 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः।
(११) दक्षिणी ब्रह्मचारी हस्तलेख सांगवेद विद्यालय (प्राचीनः) 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः।
(१२) ब्रह्मचारी ,, ,, ,, ,, ।
(१३) गणेश दीक्षित ,, ,, ,, ,, ।

VIII शु० य० काण्वसंहितापदपाठः

(क) सरस्वतीभवनसंग्रहे--
(१) Ms. सं० १०६९ 'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः।
(२) ,, १०८० 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः।
(३) ,, १०९० 'वेष्पः' इति पाठः।
(४) ,, १०५५ (नवीनः) 'वेष्पः' इति पाठः। (पययोः अभेदः)
(५) ,, ११०१ 'वेष्प' इति पाठः
(ख) वैदिकानां हस्तलेखसंग्रहे—
(६) पं० रामाचार्य पुराणिक (काण्वाध्यापकः सां० वेद विद्यालये) हस्तलेखे संवत् १६६७ 'वेष्पः' इति पाठः।
(७) ,, ,, ,, ,, ,, ,, क्रमपाठे संवत् १६७२ 'वेष्पः' इति पाठः।
(८) ,, ,, ,, ,, ,, ,, जटापाठे सं० १७६१ 'वेष्पः' इति पाठः।

IX काण्वसंहितासायणभाष्ये

(१) ms. सं०६९२ (सरस्वतीभवनसंग्रहे) का० संहिता सायणभाष्ये–पृ० ९५ 'वेष्पः छान्दसः पकारादेशः'। इति पाठः।
(२) पं० गणेशजी दीक्षित--काण्वसंहितासायणभाष्ये सं० १८५५ पृ० ८५--'वेष्पः' इति पाठः' 'छान्दसः पकारादेशः' इत्यसन्दिग्धः पाठः।

X काण्वशतपथब्राह्मणे

(१) ms. सं० ९०६ क (सरस्वतीभवनसंग्रहे) पृ० ९५ 'वेष्पः' इति पाठः (पकारयकारयोरभेदः)।
(२) पं० रामाचार्य पुराणिक अतिप्राचीनहस्तलेखे पृ० ३१ वेष्पः इति स्पष्टः पाठः।
(३) ,, ,, ,, नवीन ,, ,, ,,
(४) ,, पं० लक्ष्मीपति शास्त्री तैलगू—तेनाली हस्तलेखे पृ० १२२ 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः।

XI कात्यायनश्रौतसूत्रे

(क) सरस्वतीभवनसंग्रहे—
(१) ms. सं० १५२९ 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः।
(२) ,, १५१६ ,, ,, ,, (पकारयकारयोरभेदः)
(३) ,, १६४६ (अतीव जीर्णः) 'वेष्पः' इति पाठः— (स्वल्पभेदः पकारयकारयोः)
(४) ,, १७५० 'वेष्पः' इति पाठः(पकारयकारयोरभेदः)
(५) ,, १५३८ ,, ,, ,,
(६) ,, १८७६ ,, ,, ,, 'वेष्यः' इति पाठः।
(ख) वैदिकानां हस्तलेखसंग्रहे—
(७) पं० शिवराम नागर कात्यायनश्रौतहस्तलेखे संवत् १७१४ 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः।
(८) पं० रामाचार्य पुराणिक श्रौतहस्तलेखे 'वेष्पः' इति (स्वल्पभेदः पकारयकारयोः)

(ii) कात्यायन श्रौतसूत्रभाष्ये

(९) ms. सं० १५१४ (सरस्वतीभवनसंग्रहे) कर्कभाष्ये पृ० ४९ 'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः।
(१०) ,, १५२० (सरस्वतीभवनसंग्रहे) कर्कभाष्ये 'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः।
(११) ,, १५२२ (सरस्वतीभवनसंग्रहे) देवयाज्ञिक-भाष्ये १-३। संवत् १७१२। 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः।
(१२) ,, पं० गणेश जी दीक्षित मंगला गौरी, कात्यायन श्रौतसूत्रे तथा कर्कभाष्ये 'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः।
(१३) ,, पं० रामनाथ दीक्षित ब्रह्मनाल, कात्यायन श्रौत-सूत्रे तथा कर्कभाष्ये 'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः।
(१४) ,, पं० नारायण सारस्वत वैदिक-गढ़वासी टोला–कात्यायन श्रौतसूत्रे तथा कर्कभाष्ये 'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः।
(१५) ,, पं० शिवराम नागर (देवयाज्ञिक भाष्य १-३ अ०) प्राचीन पृ०९ 'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः।
(१६) ,, १८१८ (सरस्वतीभवनसंग्रहे) का० श्रौ० सू० कर्कभाष्य सम्पूर्णः पृ० ८५ 'वेष्पः' इति पाठः। (पययोरभेदः)।

(iii) कात्यायनश्रौतदर्शपूर्णमासप्रयोगे

(१७) ms. पं० भवानीराम दीक्षित संग्रहे–'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः।

(१८) ,, ,, शशिभूषण अग्निहोत्रिसंग्रहे–'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः।

(१९) ,, ,, शिवराम नागर संग्रहे–पृ०७ 'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः।

(२०) ,, ,, गणेशजी दीक्षित मंगला गौरी संग्रहे–पृ०१९ 'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः।

(२१) ,, ,, गणेशजी दीक्षित मंगला गौरी संग्रहे–'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः। (पययोरभेदः)

(२२) ,, ,, राजाधिराजशाह पुराधीश संग्रहे—पृ० ३६ 'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः।

XII कात्यायनसर्वानुक्रमणीभाष्ये

(१) २२६४ (सरस्वतीभवनसंग्रहे) (१-२ अ०) 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः।

(२) २३४२ (सरस्वतीभवनसंग्रहे) पृ० १६ 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः।

(३) पं० विद्याधर दौलतराम गौड संग्रहे पृ० २० 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः।

पकार यकार का अभेद विवेचन

जैसा हमने पूर्व लिखा, लिखने वाले (प्रतिलिपि करने वाले) लेखकों के लिखने में 'प' और 'य' में अज्ञान वा प्रमादवश अभेद होने से प्रायः हस्तलेखों में बहुत अशुद्ध पाठ हो जाता है। हस्तलेखों पर काम करने वाले विद्वान् इस बात को अच्छी तरह जानते हैं। इस 'वेष्पः' और 'वेष्यः' में गड़बड़ी का मुख्य कारण प और य का भेद न रहना ही समझना चाहिये। अब हमने जो ऊपर १४ हस्तलेखों में 'वेष्यः' पाठ दर्शाया, सो उनका क्रमशः विवेचन भी यहाँ उपस्थित करते हैं—

(१) ms. सं० ११०१ में विकृति में जो 'वेष्यः' पाठ है। वहीं पर लेखक ने 'यजुषे यजुषे' को 'ययुषे ययुषे' लिखा है। इसी से लेखक की मूढ़ता स्पष्ट है॥

(२) ms. सं० ७१५-७१८-७१९-७२८ महीधरभाष्य के इन चारों हस्तलेखों में 'यज्ञस्य' के अन्तिम संयुक्त यकार का वेष्पः के संयुक्त पकार से कुछ भी भेद नहीं। बिना मिले पकार और यकार में तो भेद है। सो इनमें लेखक प्रमाद स्पष्ट ही है।

(३) ms. सं० ७६३-८२९-८७१ में काण्वसंहिता भाष्य में जो 'वेष्यः' पाठ है सो वहाँ भाष्य में स्पष्ट लेख है कि "छान्दसः पकारादेशः इत्यनेन वेष्पः" इससे 'वेष्पः' पाठ ही यहाँ पर है। जब सिद्धि पकार से हो रही है तो यकार हो ही कैसे सकता है।

७६६ में इसी पृ० पर 'पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्'...इसमें 'स्य' 'स्व' पढ़ा जाता है। ८२९ में 'चक्षुषा' के 'ष' के समान 'वेष्पः' का पकार सर्वथा मिलता है।

(४) ms. ६९२ काण्वसंहिताभाष्य में "छान्दसः पकारादेशः" इसमें स्पष्ट ही 'प' है। संयुक्त में पूर्ववत् यहाँ भी है।

(५) ms. ९०६ काण्व शतपथ ब्राह्मण के हस्तलेख में 'वेष्पः' का 'प' 'अवपश्याम' के 'प' के साथ सर्वथा समान है, न कि 'य' के साथ। अतः यहाँ भी 'वेष्पः' ही पाठ समझना चाहिये।

(६) ms. १०५५—काण्व संहिता पदपाठ में दोनों ही पढ़ा जा सकता है। पर इसी पृष्ठ में 'अदब्धेन' के स्थान में "अदप्येन" और 'यजुषे' के स्थान में 'ययुजे' लिखना लेखक की सर्वथा मूढ़ता को दर्शाता है।

जब ms. १०९०-१०८०—तथा १०७९ इन तीनों में सर्वथा सन्देह-रहित 'वेष्पः' ऐसा पाठ मिल रहा है, तो ms. १०५५ में भी सन्देह का कोई स्थान नहीं रह जाता॥

(७) ms. १५१६ कात्यायन श्रौतसूत्र के हस्तलेख में "उपविष्टां गार्हपत्यस्य मुंजयोक्त्रेण त्रिव्रताव..." इस पाठ में 'पत्यस्य' के स्थान में 'परयस्य' तथा 'त्रिव्रताव' के स्थान में 'त्रिव्रताप' सर्वथा ही अशुद्ध पाठ लेखक की परम मूढ़ता को द्योतित करता है।

(८) ms. १७४६—कात्यायन श्रौतसूत्र हस्तलेख में 'वेष्यः' यकार वाला पाठ है। परन्तु वह वहीं पढ़े हुये 'पत्नी' शब्द के पकार के समान होने से लेखक के प्रमाद के कारण ही है।

(९) ms. १८७६—कात्यायन श्रौतसूत्र में 'वेष्यः' पाठ स्पष्ट है।

परन्तु इसी में 'करीसूर्जे' में यकार के स्थान में पकार स्पष्ट है। 'आज्यमुद्रास्य' में दोनों यकारों के स्थान में पकार ही लिखा है। 'उद्वास्य पत्नी' में

यकार पकार समान हैं। यहाँ लिखने में भ्रान्ति नहीं, अपितु ज्ञान की भ्रान्ति है, लेखक बिना संस्कृत पढ़ा कोई मूढ़ कायस्थ रहा होगा, क्योंकि लिखने का काम प्रायः कायस्थ ही अधिक करते थे। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि जब कर्कभाष्य में तथा देवयाज्ञिक भाष्य में 'वेष्यः' सर्वथा स्पष्ट असन्दिग्ध पाठ है, तो मूल कात्यायन श्रौत सूत्र के हस्तलेख में, सो भी एक में ही 'वेप्यः' पाठ है भी, तो वह सर्वथा अशुद्ध ही है।

इस प्रकार हमने १४ हस्तलेखों में पकार और यकार के अभेद के कारण 'वेष्यः' और 'वेष्पः' दोनों तरह पढ़ा जाने वाला पाठ निश्चय से 'वेष्यः' ही है इसमें पर्याप्त युक्ति–हेतु दर्शाये। विचारशील महानुभाव इस पर गम्भीरता और धैर्य से विचार करेंगे तो उन्हें यह प्रकरण ठीक समझ में आ जायगा।

वैबर और कैलेण्ड के हस्तलेखों का परीक्षण

अब हम, वैबर ने महीधर भाष्य—शतपथ सायणभाष्य—तथा कात्यायन श्रौत सूत्र कर्कभाष्य के सम्पादन में जिन हस्तलेखों को आधार मानकर पाठों का निश्चय किया, उनका परिचय तथा उनकी प्रामाणिकता का परीक्षण कर लेना भी आवश्यक समझते हैं :—

१ महीधरभाष्य (सन् १८४६ ई० वैबर सम्पादित तथा मुद्रित हस्तलेख में प्रयुक्त) मा० शुक्ल-यजुः संहिता सम्बन्धी हस्तलेख

(१) मा० शु० यजुः संहिता संवत् १८३८

(२) मा० शु० य० संहिता स्वर रहित संवत् १८४० (पैरिस प्रतिलिपि)

(३) मा० शु० यजुः संहिता पदपाठ संवत् १६५३

(४) संहिता पदपाठ संवत् १९५७

(५) काण्व संहिता

(६) महीधरभाष्य में दो हस्तलेख (जिन पर संवत् लिखा नहीं)

(७) तीन हस्तलेख संहिता पाठ के हैं जिनमें से एक की संवत् १८९७ में बैनफी द्वारा प्रतिलिपि कराई गई।

२ शतपथ ब्राह्मण के सम्पादन में (सन् १८४६ ई० में)

(१) ms. संवत् १७०५ का लिखा। उसी पर संवत् १७४९ में स्वराङ्कन किया गया।

(२) ms. संवत् १७०९ का लिखा, इसमें १५२ पत्रे हैं।

(३) ms. संवत् १६५४ का लिखा। १२३ पत्रे हैं।

(४) ,, इसका वृत्त कुछ नहीं जाना जा सका।

३ कात्यायन श्रौतसूत्रभाष्य

(१) ms. देवयाज्ञिक भाष्य १-४ अध्याय। इसमें ५२० पत्रे हैं, संवत् नहीं लिखा।

(२) ms. याज्ञिकदेवव्याख्या—द्वितीयाध्याय—संवत्१६६० (काशी में लिखा गया)

(३) ms. मूल कात्यायन श्रौतसूत्र—१-११ अध्याय—संवत् १७४५।

(४) ms. मूल कात्यायन श्रौतसूत्र जयपुर ६७ पत्रे

(५) ,, ,, ,, ,, पूर्वार्ध संवत् १६५५

(६) ,, ,, ,, ,, २-३ अध्याय—संवत् नहीं लिखा॥

बस ये हस्तलेख हैं जिनके आधार पर वा जिनका प्रयोग करके वैबर ने यहाँ 'वेष्यः' पाठ माना है।

कैलेण्ड द्वारा प्रयुक्त काण्व शतपथब्राह्मण के हस्तलेखों का विवरण

(१) मद्रास ms. (Govt ms. Library) ह्व्यायन काण्डे—१६७ पत्रे हैं—संवत् इस पर नहीं लिखा। (देखो कैलेण्ड भूमिका पृ० १-१२)॥

(२) तंजौर ms.—स्वररहित (Although this ms. may be fairly old, It is of little use.) (देखो कैलेण्ड भूमिका पृ० १४)॥

(३) कलकत्ता ms. (may have been written in the second half of 17th century) (देखो कैलेण्ड भूमिका पृ० १४)।

(४) पेरिस } ms. काण्ड २—संवत् १८९५
(५) आक्सफोर्ड }

To me it seems highly probable that O and perhaps also p are at least in part copied from C. (कैलेण्ड भूमिका पृ० १७)

(६) बनारस ms. नवीन संवत् १९३७॥

(७) मयसूर ms. तैलगू हस्तलेख की प्रतिलिपि द्वारा डा० थामस (कैलेण्ड भूमिका पृ० २०) यह नवीन हस्तलेख ही है।

और भी ५ हस्तलेखों का डा० कैलेण्ड ने प्रयोग किया है, पर उनमें इस प्रकरण का द्वितीय अध्याय है नहीं।

इन सब हस्तलेखों में मद्रास और कलकत्ता वाले हस्तलेख ही मुख्य हैं। इन दोनों में संवत् नहीं लिखा। दूसरे हस्तलेख का कालनिर्णय अनुमान से ही किया गया है। चौथा और पांचवां हस्तलेख तीसरे की ही प्रतिलिपि हैं। तंजोरवाला हस्तलेख स्वररहित है, इससे स्पष्ट है कि यह वेदपाठियों के हाथ में नहीं आया, कुछ काम का नहीं, ऐसा कैलेण्ड का मत है, अशुद्ध लिखा होने से अधिक काम का नहीं॥

पूर्वोक्त हस्तलेखों के परीक्षण में हमारा मत

पाठक ध्यान से देखें कि जहाँ वैबर ने केवल संहिता और पदपाठ दोनों को मिलाकर केवल ७ हस्तलेखों का प्रयोग किया, वहाँ हमने ६० संहिता + ४६ पदपाठ + ७ क्रम जटादि + १२ यजुर्वेद भाष्य + २० काण्वसंहिता तथा पदपाठ से मिलाकर १४५ हस्तलेखों का पाठ उपस्थित किया। कहाँ ७ और कहाँ १४५। बीस गुना से भी अधिक !!! उच्चारण पृथक् रहा। उधर वैबर ने शतपथ ब्राह्मण के ४ ही हस्तलेखों का उपयोग किया और हमने शतशथ ब्राह्मण के १५ हस्तलेखों का प्रयोग किया जो लगभग चार-गुना है। वैबर ने कात्यायन श्रौतसूत्र के ४ ही हस्तलेख वर्ते हैं और हमने २२ हस्तलेख वर्ते हैं, ५ गुणे से भी अधिक।

अब कैलेण्ड के हस्तलेखों को भी देखा जावे

कैलेण्ड ने प्रकृत विषय में काण्व शतपथ के ७ हस्तलेखों को वर्ता है। जिनमें उसके मद्रास और कलकत्ता के दो हस्तलेख ही मुख्य ग्राह्य कहे जा सकते हैं, शेष को तो उसने स्वयं ही प्रतिलिपि वा बहुत अल्प काम के लिखा। इसकी तुलना में हमने शतपथ ब्राह्मण के १५ हस्तलेखों से मिलाया। पाठक देख सकते हैं कि इन विदेशीय स्कालरों की बात कहाँ तक ठीक मानी जा सकती है।

हस्तलेखों की कालपरीक्षा

अब इन हस्तलेखों के काल (संवत्) की परीक्षा भी हो जानी चाहिए। हमारे शतपथ ब्राह्मण के १६ हस्तलेखों में, जिनमें कि दूसरा काण्ड है, उनमें Ms सं०९९१ संवत् १७४१ विक्रम का लिखा है। ब्रह्मचारी जोशी का शतपथ ब्राह्मण का हस्तलेख संवत् १७३६ विक्रम का लिखा है। पं० काशीनाथ गौड़ से का हस्तलेख अतीव सुन्दर संवत् १७७९ वि० का है। हमारे दर्शाये उपर्युक्त १६ शतपथ ब्राह्मण के हस्तलेखों में एक मत से 'वेष्पः' पाठ उपलब्ध होता है। यजुर्वेद संहिता के १४५ हस्तलेखों में 'वेष्पः' ही पाठ है सो अलग। ४१ भिन्न-भिन्न प्रान्तों के विद्वानों का संहिता और पदपाठ का 'वेष्पः' उच्चारण ही है। उधर कैलेण्ड के हस्तलेखों में संवत् १८९५ से पूर्व का कोई हस्तलेख नहीं। हाँ! वैबर के शतपथ ब्राह्मण के हस्तलेखों में संवत् १६५४ वि० संवत् १७०५ वि० और संवत् १७०९ वि० के तीन हस्तलेख हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वैबर के संग्रह में तो शतपथ ब्राह्मण के हस्तलेख ४ ही हैं। हमारे दृष्ट संग्रह में १५ हस्तलेख हैं। साथ ही संवत् १७३६-१७४१-१७६४ वि० के हैं। वे भी उतने ही पुराने हैं, नये नहीं है। पकार यकार के भेद को वैबर दृष्टि में नहीं ला सके तभी उनको भूल लगी। और उनको इस बात की विशेष आवश्यकता भी प्रतीत नहीं हुई, कि वह विशेष यत्न करते ऐसा ही जान पड़ता है। नहीं तो वह कहीं पर तो 'वेष्यः' पाठ मानते हुये भी नीचे या कहीं टिप्पणी में तो दर्शा देते कि 'वेष्पः' भी पाठान्तर है। ऐसा न दर्शाना वैबर की नितान्त अयोग्यता का परिचायक है। उन्हों ने वैदिक विद्वानों के उच्चारण क्रम की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया प्रतीत होता, नहीं तो वह इतनी भयंकर भूल नहीं करते।

यजुर्वेद संहिता के हस्तलेखों में भी संवत् १८४० से पहिले का कोई हस्तलेख वैबर के पास नहीं था। उधर हमारे द्वारा प्रदर्शित ६० हस्तलेखों में से हमने संवत् १५८५ वि०, संवत् १८६४ वि०, संवत् १८८३ वि० के हस्तलेखों का पाठ दर्शाया है। पदपाठ के हस्तलेखों में वैबर के पास संवत् १६५३ वि० और संवत् १६५७ वि० के दो ही हस्तलेख थे। इधर हमारे द्वारा प्रदर्शित पदपाठ के हस्तलेखों में संवत् १५३२ वि०, संवत् १५२७ वि०, संवत् १६६७ वि०, संवत् १७६१ वि० तक के पुराने हस्तलेख हैं, वैबर के दो हस्तलेखों की समकक्षता में हमने ४६ + ७ + ७ = ६० पद पाठों के हस्तलेखों का पाठ दर्शाया है। अतः वैबर की बात किसी प्रकार भी नहीं मानी जा सकती।

वैबर और कैलेण्ड के परीक्षण का सार

हमने शतपथ ब्राह्मण के १६ हस्तलेख देखे, जिनमें द्वितीयाध्याय है जिसमे कि यह 'वेष्पः' पाठ है, उनमें संख्या ९९१ का हस्तलेख संवत् १७४१ वि० का लिखा है। ब्रह्मचारी जोशी का संवत् १७३६ वि० का लिखा है। पं० काशीनाथ गौड़से का संवत् १७७९ वि० का है। इन १६

हस्तलेखों में सब में ही 'वेष्पः' पाठ है। माध्यन्दिन शु० यजुः संहिता के लगभग ६० हस्तलेखों में 'वेष्पः' ही पाठ है। सब प्रान्तों के वैदिक विद्वानों के हस्तलेखों—पद पाठ के हस्तलेखों तथा परम्परा गत उच्चारण में 'वेष्पः' ही पाठ है। ऐसी अवस्था में परम्परा से अनभिज्ञ वैदिक विद्वानों से सर्वथा अपरिचित—इन वैबर वा कैलेण्ड जैसे विदेशीय विद्वानों का दो-चार हस्तलेखों के आधार पर कहना कहाँ तक ठीक माना जा सकता है। जैसाकि हमने ऊपर लिखा पकार-यकार के अभेद के कारण इन्हें अपने हस्तलेखों में इस पाठ के निर्णय करने में भूल लगी हो, यह भी सम्भव है।

वैबर और कैलेण्ड ने इतना भी न देखा कि व्याकरण में 'वेष्यः' पाठ ही कहीं नहीं। व्याकरण उणादि कोश आदि सबमें 'वेष्पः' को तो सिद्ध किया 'वेष्यः' को कहीं नहीं। इस पर विशेष प्रकाश हम आगे डालेंगे। कैलेण्ड ने इतना भी न देखा कि जब काण्व संहिता सायणभाष्य में वेष्पः' ही पाठ सिद्ध किया गया है। यही पाठ सर्व सम्मत है। सब वैदिकों का तथा हस्तलेखों में वेष्पः ही पाठ है तो ब्राह्मण में वेष्यः पाठ कैसे हो सकता है, कैलेण्ड को इतना तो सोचना चाहिए था। उनके पूर्ववर्ती वैबर ने 'वेष्यः' पाठ लिख दिया तो कैलेण्ड ने भी—

"गतानुगतिको लोकः, न लोकः पारमार्थिकः"

केवल उसका अनुकरण मात्र किया। अपनी बुद्धि इस पाठ के निश्चय करने में नहीं लगाई। स्मरण रहे कि काण्वों में तो यत्किञ्चित् भी भेद नहीं माना जाता 'वेष्पः' ही पाठ सर्वसम्मत माना जाता है।

वैबर के अन्य अनुगामियों का विवेचन

(i) पं० सत्यव्रत सामश्रमी की भ्रान्ति

कैलण्ड से अतिरिक्त वैबर (सन् १८४९ के पीछे) के अनुगामी को हम निम्नप्रकार समझते हैं—

(१) इनमें सर्वतो मुख्य पं० सत्यव्रत सामश्रमी हैं। जिन्होंने मा० शु० शतपथ ब्राह्मण सायणभाष्य सन् १९०३ ई० में सम्पादित कर एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता से प्रकाशित किया, जिसमें ८ हस्तलेख बर्ते गये। जिनका विवरण निम्न प्रकार है—

इनमें दो हस्तलेख संवत् १५११ वि० तथा संवत् १६९१ वि० के हैं। अन्य चार हस्तलेख संवत् १८७५, १८८३, १८७५, १९३७ वि० के हैं। दो में संवत् का निर्देश नहीं है।

सामश्रमी के हस्तलेखों का परीक्षण

यदि कोई कहे कि सामश्रमी जी ने तो बहुत से हस्तलेखों का प्रयोग अपने शतपथ ब्राह्मण सायणभाष्य वाले संस्करण में किया है। उन्होंने संवत् १५११ वि० का हस्तलेख देखकर 'वेष्यः' पाठ निश्चित किया, उनके अन्य हस्तलेख भी प्राचीन हैं ही, आप उनके पाठ को अप्रामाणिक कैसे कह सकते हैं?

उत्तर—पहिले तो सामश्रमी जी ने वैबरादि का अनुकरण किया और विदेशियों के विरोध में लिखने का साहस नहीं किया, यह हमने दर्शाया। हमने भी संवत् १५३२ वि०-संवत् १५८५ वि० के संहिता-पदपाठों में 'वेष्पः' पाठ स्पष्ट है, ऐसा दर्शाया। वि० सं० १६१६, १६६३, १७२९ के यजुः संहिता पाठ, वि० सम्वत् १६२७–१६६८, के काण्व संहिता पाठ–१७३६, १७४१–१७७९ वि० संवत् के शतपथ ब्राह्मण में, तथा सम्वत् १७१४ वि० के कात्यायन श्रौतसूत्र तथा सम्वत् १७५२ वि० के देवयाज्ञिक भाष्य में 'वेष्पः' ही पाठ है, ऐसा दर्शाया।

यहाँ तक कि काशी में जिस कुल में शतपथ ब्राह्मण कण्ठस्थ चला आ रहा है उसके कुल परम्परागत उच्चारण में भी 'वेष्पः' ही पाठ है।

ऐसी अवस्था में बेचारे सामश्रमी के एक हस्तलेख की क्या गिनती हो सकती है, यह विज्ञ पाठक स्वयं विचारें। अतः सामश्रमी की भी इसमें भारी भ्रान्ति ही है।

सामश्रमी की अदूरदर्शिता

कलकत्ता में तो वैदिक १-२, वह भी साधारण भले ही हों, सामश्रमीजी ने काशीस्थ वैदिक विद्वानों से मिलकर इसका निर्णय क्यों न किया, जब कि काशी उस समय भी कलकत्ता से रेल द्वारा कुछ घण्टों का ही रास्ता था। मैं उनकी जगह होता तो झट काशी पहुँचता। यही कर्त्तव्य था। ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ अंगरेजों की छाप हम भारतीयों पर अन्य विषयों में अनिर्वचनीय थी। एक बी० ए० ऋषि और एम० ए० महर्षि समझा जाता था (चाहे वह गीता के एक श्लोक का अर्थ भी न जानता हो) वहाँ एक अंगरेज मैजिस्ट्रेट-कप्तान वा गोरे रङ्ग वाला कोई भी हैट धारी इन बी० ए० एमों का अन्नदाता प्राणदाता समझा जाता था। इसका हृदय, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज के

अंगरेज प्रिंसिपल के सामने एक बड़े से बड़े काशी के विद्वान् को भीगी बिल्ली की तरह रहना पड़ता था, उस समय का कोई व्यक्ति ही बता सकता है। इसी प्रभाव से प्रभावित पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने गौराङ्ग प्रभु वैबर के विरुद्ध लिखने का साहस नहीं किया। वेतनभोगी होने के कारण उनके विरुद्ध कैसे लिखता। वेतन ही कम कर दिया जाता या पैन्शिन ही में गड़बड़ी होती, इत्यादि आनुमानिक भयों से भयभीत होकर एक सुगम सा "वैबर का अनुकर्ण" यही मार्ग पकड़ा। समस्त भारत में इन्हीं अङ्गरेजी राज्य से चले आने वाले वेतनभोगियों, जिनको बड़ी-बड़ी वृत्तियाँ और बड़े-बड़े वेतन देकर (जो इन्हें कहीं मिलना कठिन था) क्रीत दास बनाकर जहाँ-तहाँ विश्व-विद्यालयों वा कालेजों में प्रिंसिपल वा प्रोफैसर नियुक्त किया गया था। सब के सब वही के वही इस समय भी संस्कृत विभाग पर सर्वत्र अधिकार जमाये हैं। प्रायः उनकी विचारधारा अभारतीय, वेदशास्त्र से सर्वथा अनभिज्ञ होने के कारण केवल पल्लवग्राही पाण्डित्य (अन्धों में काना राजा) वाली है। ये लोग जब तक भारतीय परम्परा-संस्कृति-साहित्य का यथार्थ अनुशीलन न करेंगे, तब तक संस्कृत का उद्धार स्वतन्त्र भारत में भी न होगा। क्योंकि अधिकार तो सब जगह प्रायः इन्हीं पाश्चात्य दासों का है। [इन में ऐसे भी विद्वान् हैं, जिनको भारतीय संस्कृति, सभ्यता, और साहित्य में विश्वास है और जो ईश्वर भक्त तथा विकासवाद और भाषाविज्ञान के पाश्चात्य मत को हृदय से नहीं मानते] स्वतन्त्र विचारधारा भारत में चलेगी कैसे॥

इसी कमी के कारण सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने अङ्गरेज प्रभुओं को प्रसन्न करने के लिये ही वैबर का अनुकरण कर यहां "वेष्यः" ही पाठ माना। खोज करने पर हमें विश्वास है कि हमारी बात सत्य निकलेगी।

१०० में १-२ अंश यह बात भी हो सकती है कि सामश्रमी की भी पकार और वकार के लेखकों के अभेद पर दृष्टि न गई हो। यदि ऐसा हो तो वह क्षन्तव्य कहे जा सकते हैं। मानव और भूल सदा साथ-साथ रहनेवाली वस्तु हैं। यदि उन्होंने काशी में आकर कुछ थोड़ा सा भी कष्ट उठाया होता, तो इतनी भारी भूल के भागी वह न बन्ते। काशी न आने का आलस्य किया उसी का यह परिणाम है।

(ii) महीधरभाष्य के सम्पादकों की भ्रान्ति

मा० शुक्ल यजुः संहिता के उवट और महीधरभाष्य का प्रकाशन निर्णय सागर बम्बई और चौखम्बा काशी द्वारा हुआ। इनमें निर्णय सागर बम्बई वालों ने केवल दो हस्तलेख बर्ते। एक विद्वान् साधारण संशोधक रहा। उसने 'वैबर' को 'ऋषियों का भी गुरु' मानकर उसका ही अनुकरण किया होगा ऐसा प्रतीत होता है। कुछ कष्ट उठाता तो समय लगाना पड़ता। अब काशी चौखम्बा संस्कृत सीरीज का हाल सुनिये। काशी की स्थिति को देखते हुये संस्कृत के ग्रन्थों के प्रकाशन का जहाँ तक सम्बन्ध है इन्होंने बहुत काम किया है, प्रकाशक धन्यवाद के पात्र हैं। पर इनका एक भी ग्रन्थ सुसम्पादित नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक परीक्षा-सम्बन्धी पुस्तकें हैं वे तो किसी न किसी पण्डित से ये संशोधन करा लेते हैं। बस इतना ही वहाँ का सम्पादन है। इससे अधिक कुछ नहीं। योग्य व्यक्तियों द्वारा आज तक किसी भी ग्रन्थ का सम्पादन वा प्रकाशन इन्होंने नहीं किया। दुःख से कहना पड़ता है कि इनके द्वारा प्रकाशित उवट महीधर भाष्य किसी बहुत ही अयोग्य व्यक्ति के द्वारा छापा गया है और व्यर्थ में पोथा बना दिया गया है। पाठभेद देकर आधे में छप सकता था। आश्चर्य और दुःख की बात है कि काशी में रहनेवाले इस व्यक्ति ने काशी के वैदिक विद्वानों की परम्परा का कुछ भी तो पता न लिया। इसी कारण इस विषय में चोखम्बा की कोई पुस्तक प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। जब मुझे अकेले को काशी में २६४ हस्तलेख तथा ८२ उच्चारण इस विषय में विचारार्थ प्राप्त हो सकते हैं और लगभग १०० विद्वानों से मेरी इन विषय में बात हुई तो उक्त सम्पादक (या प्रूफरीडर) ५ से ही मिल लिया होता।

निर्णयसागर मुद्रित शु० मा० यजुः संहिता तथा वेङ्कटेश्वर मुद्रित शतपथ-ब्राह्मण इन दोनों में ही वैबर का ही अनुकरण किया गया, सम्पादन विषय में कुछ भी प्रयास नहीं किया गया। अतः इनका भी कुछ मूल्य नहीं है।

(iii) पं० सातवलेकरजी का अज्ञान

अब हम स्वाध्याय मण्डल औंध में पं० दामोदर सातवलेकरजी द्वारा प्रकाशित संस्करणों को लेते हैं। यजुर्वेद [मा० शु०] सन् १९२७ मुद्रित के विषय में सातवलेकरजी ने लिखा—"प्रथमं तावत् प्राचीन-हस्तलिखितविविधपुस्तकान्यवलोक्य मन्त्रपाठ-निश्चयः कृतः। एतदर्थं काशी-जनस्थान-त्र्यम्बकेश्वर-"ग्वालियराहमदनगरादिनानानगरेभ्यो वैदिकब्राह्मणेभ्यो हस्तलिखितानि बहूनि पुस्तकान्यानीय तेषां पाठतुलनया...संशोधनं क्रियते।"

अर्थात् काशी-त्र्यम्बकेश्वर आदि अनेक नगरों से वैदिक ब्राह्मणों से हस्तलेख पुस्तकें मँगाकर संशोधन किया गया है इत्यादि।

इसमें हम इतना ही कहना चाहते हैं कि इसमें 'काशी' शब्द सर्वथा मिथ्या है क्योंकि हम काशीस्थ प्रायः सब वैदिक विद्वानों से मिले हैं, लगभग १९६ हस्तलेख भी देखे हैं उच्चारण भी प्रत्यक्ष में सुना है सबका 'वेष्पः' ही पाठ है। न जाने पं० सातवलेकर जी ने काशी में किससे पूछा या देखा जो लिख दिया कि 'वेष्यः' पाठ है। या तो इनको स्वयं कुछ ज्ञान नहीं दूसरों के भरोसे पर ही इनका सब काम चल रहा है या काशी शब्द भूल से लिखा गया है। इनको यह भी पता नहीं कि काण्वों का पाठ तो 'वेष्पः' सर्वसम्मत है उन्हें भी सातवलेकर जी ने बदल कर 'वेष्यः' कर दिया है। सम्भवतः इन्होंने भी वैबर से भय खाकर ही उसका अनुकरण न किया हो क्योंकि जो परप्रत्ययबुद्धि होते हैं, उनका ऐसा ही हाल होता है। काशी के उस पण्डित का नाम ही लिख दिया होता (जैसा कि हमने सब का नाम-पता लिख दिया है), तो पूछा तो जा सकता था।

आश्चर्य तो यह है कि यदि मा० शु० यजुर्वेद १।२० में 'वेष्यः' ही पाठ सातवलेकर जी ने माना था तो फिर मन्त्रपदों की वर्णानुक्रमसूची में "विष्णोर्वेष्पोऽसि १।२०" में 'वेष्पः' पाठ कैसे माना। यदि सन्दिग्ध था तो नीचे टिप्पणी देनी चाहिये थी।

इस विवेचन से यही सिद्ध होता है कि स्वाध्याय मंडल के ग्रन्थों के संस्करण विश्वसनीय नहीं हैं। इनमें काशी आदि का नाम यों ही दे दिया जाता है, हस्तलेखों के मिलानादि के विषय में कुछ भी यत्न नहीं किया जाता। हस्तलेखों से मिलाकर छापा जाता है, ऐसा लिखना असत्य ही सिद्ध होता है।

आधुनिकों की गति

अब आगे आधुनिक विद्वान् समझे जाने वालों की क्या गति है सो विचारते हैं—

(४) इनमें कलकत्ता यजुः संहिता (उवट महीधर भाष्य दुर्गादास लाहिरि संस्करण—आर्य साहित्य मंडल पं० जयदेव जी विद्यालङ्कारकृत यजुर्वेदभाष्य तथा गुरुकुल वृन्दावन वैदिक संस्थान द्वारा प्रकाशित यजुर्वेद भाषानुवाद—

इनका 'वेष्यः' पाठ भी इनके सम्पादकों की इस विषय की अज्ञानता का ही बोधक है। इन्होंने तो वैबर का ही नहीं, वैबर का अनुकरण करने वालों का अनुकरण किया है। ये तो इस दृष्टि से किसी गिनती में भी नहीं।

(५) अन्त में हम वैदिकानुक्रमब्राह्मणकोश के निर्माता पं० विश्वबन्धु शास्त्री और उनके मण्डल के विषय में लिखते हैं। उन पर हमें बहुत शोक हो रहा है कि व्याकरण और स्वर की प्रक्रिया समझने वाले विद्वान् उनके पास होने पर भी यहाँ 'वेष्यः' पाठ कैसे दिया गया। इसमें मेरे विचार में 'वैबर' आदि विदेशीय स्कालरों को सर्वज्ञ मान कर ही इनके सब प्रकाशन हो रहे हैं ऐसा प्रतीत होता है। यदि ऐसा है तब तो इनके द्वारा बहुत अयुक्त कार्य हो रहा है। भारत के वैदुष्य पर एक धब्बा है जिसे स्वतन्त्र भारत को अब धोना होगा। विदेशियों की मस्तिष्क दासता को अब छोड़ना होगा।

व्याकरण-कोश आदि में 'वेष्पः' शब्द ही है 'वेष्यः' नहीं

व्याकरण-उणादिकोश वा अन्य कोशों में 'वेष्पः' यही शब्द मिलता है। 'वेष्यः' नहीं। यह थोड़ी बात नहीं है। इस से भी यही सिद्ध होता है कि यहाँ 'वेष्पः' ही पाठ है, 'वेष्यः' नहीं। कोशों में वाचस्पत्य-कोश, शब्द-कल्पद्रुम, वैजयती, मेदिनी, अमरकोश आदि में 'वेष्यः' शब्द कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि व्याकरण से सिद्ध किया जा सकता है। जब संस्कृत साहित्य में 'वेष्यः' शब्द की सत्ता ही नहीं (हाँ 'वेश्यः' शब्द तो अष्टा० ४।४।१३१ में है) तो 'वेष्पः' को छोड़कर 'वेष्यः' शब्द के विचार का अवसर तक नहीं उठता।"

व्याकरणादि में 'वेष्पः' कहाँ-कहाँ पाठ है सो दर्शाते हैं—

(१) उणादि सूत्र—पानीविषिभ्यः पः (उ० ३।२३) में सब वैयाकरणों का 'पः' यही पाठ है।

(२) नारायणोणादि वृत्ति = "वेष्पः जलम्" ३।२३।

(३) उज्ज्वलदत्त-उणादिवृत्ति = 'वेष्पः पानीयम् ३।२३।

१. यह हम इस लिये कहते हैं कि इतना तो विचार लिया होता कि यदि 'वेष्यः' पद है तो यतोऽनावः (अ० ।६।) से आद्युदात्त स्वर की प्राप्ति है। पर है—यहाँ पर अन्तस्वरित। व्याकरण तथा स्वर का ज्ञान होता तो समझ में आ जाता। इसीलिये कहा गया है—'बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति'।

(४) श्वेतवनवासी उणादिवृत्ति = "वेवेष्टीति वेष्पम् । जलं कूपं च ।।" ३।२३ ।

(५) दशपादी—उणादिवृत्ति ७।२ = "वेवेष्टीति वेष्पम् परमात्मा ।"

(६)-दीक्षित उणादि = वेष्पःपानीयम् । उणादि ३।२३ ।

(७) शब्दकल्पकल्पद्रुम—कोश पृ० ५०६ "विष व्याप्तौ । पानीविषिभ्यः पः (उणा० ३।२३ इति पः) पानीय मित्युणादि कोषः ।"

इसमें "वेष्यः" शब्द ही नहीं है ।

इस प्रकार व्याकरण (उणादिवृत्ति) तथा कोश आदि में सर्वत्र 'वेष्पः' यही पाठ उपलब्ध होता है । इसी को सब ने सिद्ध किया और माना है । 'वेष्यः' पद किसी तरह बनता होता तो व्याकरण और कोशकार दिखाते ।

यदि कोई कहे "विष्लृ व्याप्तौ" इस धातु से 'अच्' (पचाद्यच्) करके पहिले 'वेषः' शब्द बन जायगा । वेष-मर्हतीति इस अर्थ में तदर्हति (५-१) से यत् प्रत्यय होकर 'वेष्यः' पद तो बन ही सकता है ।

उत्तर—हमारा कहना है 'वेष्यः' शब्द तो बन गया, पर इस का प्रयोग तो कहीं नहीं । यदि कहो कि वेद में है, तो उसमें 'वेष्पः' अन्तस्वरित संहिता में है, जो 'प' प्रत्ययान्त से ही बन सकता है, जो स्वरिते वानुदात्ते पदादौ (अ० ८।३।५) से स्वरित हो जाता है । यदि यत् प्रत्यय-मान कर 'वेष्यः' पाठ मानें तो यतोऽनावः (अ० ६।१) से आद्युदात्त स्वर की प्राप्ति होगी, है अन्त स्वरित । सो इस प्रकार भी यजुर्वेद के इस मन्त्र में 'वेष्पः' ही पाठ ठीक है ।

अब मोनियर विलियम ने अपने संस्कृत अंग्रेजी कोश पृ० १०१० में "वेष्पः Vespha m. Water. una iii 123 Sels. वेष्य Veshya See under Vesha col 2."

इससे भी यही सिद्ध होता है कि मोनियर विलियम के मत में उणादिकार ने 'वेष्पः' और 'प' प्रत्यय ही माना है। जब वेष्पः वैबर ने सन् १८४९ ई० में छापा, मोनियर विलि-यम ने उस शब्द को सन् १८९० ई० अपने कोश में ले लिया । उससे पहिले आज तक किसी कोश में 'वेष्यः' शब्द नहीं यह हम दर्शा चुके ।

उपसंहार

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मा० शु० यजुर्वेद अ० १ मन्त्र २० में शुद्ध तथा वैदिक परम्परागत पाठ'वेष्पः' ही है । पाश्चात्यों वैबरादि ने वा उनके अनुगामी भारतीयों ने जो 'वेष्यः' पाठ लिखा है, वह सर्वथा अशुद्ध है । यह भी विदित रहे कि यहाँ केवल एक शब्द के पाठभेद का ही प्रश्न नहीं, अपितु वैदिक परम्परा का प्रश्न है । इस उदाहरण में हमें अब पाश्चात्यों द्वारा सम्पादित सब ग्रंथो का पुनः पर्यालोचन नये सिरे से करना होगा । इसके लिये स्वतन्त्र भारत में ऐसे विद्वान् तय्यार करने होंगे। पाश्चात्य स्कालरों के गुणों-परिश्रम-त्याग तपस्यादि का भी ध्यान रखना हमारा कर्त्तव्य है । स्वतन्त्र भारत में अब पाश्चात्यों की मस्तिष्क दासता को सर्वथा छोड़ना ही होगा ।

धन्यवाद

इस विवेचन में मेरा तथा प्रिय ओम् प्रकाश हम दो आदमियों का दो मास का समय एकसाथ लगा है । फुटकर समय पृथक् रहा । काशीस्थ, जिन वैदिक विद्वानों ने हमें पहुँचने पर प्रेमपूर्वक व्यवहार और उच्चारण और हस्त-लेखों के पाठ दिखाने और सुनाने में जो उदारता और कष्ट उठाया इसके लिए हम उन सबके हृदय से धन्यवाद करते हैं । विशेषकर श्री० पं० गणेशजी दीक्षित—पं०विद्याधर गौड़ जी के पुत्र पं० दौलत राम गौड़—पं० रामनाथ जी तथा श्री पं० कुबेरनाथ जी प्रिंसिपल गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज बनारस के अत्यन्त आभारी हैं । तथा श्री० पं० सुभद्र झा जी लाइब्रेरियन सरस्वती भवन तथा श्री० पं० विभूति भूषणजी अध्यक्ष हस्तलेख विभाग दोनोंने तो हस्तलेख देखने में बहुत ही सुविधा और सहयोग प्रदान किया । इसके लिये हम हृदय से इन सब महानुभावों के अति कृतज्ञ हैं ।

(पृष्ठ १३६ का शेष)

hymns and charms of the Atharavaveda were collected in a Samhita and handed down to the present day only because the Brahmanical ritual gradually extended its sway over profance superstitions and by degrees granted grudging recognition even to frankly magical incantations that were originally doubtless of non-Brahmanical inspiration.' Page. 233.

अर्थात्—वर्त्तमान आकार में उपलब्ध होने वाला अथर्व वेद चारों संहिताओं में आधुनिकतम है। परन्तु वैषयिक दृष्टि से ऐसा नहीं है क्योंकि ब्लूमफील्ड ने अथर्ववेद का निम्न वर्णन बिल्कुल ठीक ही किया है:— "सर्वतः अथर्ववेद, न केवल जनप्रिय सम्मोहनादि की दृष्टि से ही प्राचीन परम्पराओं का धारक है, अपितु इसकी पौरोहित्य सम्बन्धी सामग्री सम्भवतः किसी स्वतन्त्र परम्परा की उपज है जिस (परम्परा) को अन्य सब वेदों के संग्रहकर्त्ताओं ने छोड़ दिया और ऋग्वेद भी इसका अपवाद नहीं।" परन्तु इसके साथ ही यह स्पष्ट है कि अथर्ववेद की स्तुतियों और सम्मोहनों को संहिता रूप में एकत्र किया गया और आज तक इसलिए हस्तगत हुआ है क्योंकि ब्राह्मणों के रीति रिवाजों ने अन्धविश्वासों को अभिभूत कर दिया था और उन जादू टोनों को भी स्वीकार कर लिया जो निश्चय ही मूलतः अब्राह्मणस्फुरित थे।

इससे स्पष्ट होता है कि पश्चिम के विद्वान् लेखकों के आधार पर श्री मजूमदार के नेतृत्व में वैदिक एज में जो लिखा गया है, वह न केवल वैदिक साहित्य का कोई बुद्धि-पूर्वक अनुशीलन है अपितु मूर्खों का अनर्गल प्रलाप है। पण्डित भगवद्दत्त जी ने एक भाषण में ठीक ही कहा था कि "वैदिक एज" एक ऐसा ग्रन्थ है जिसको रद्दी की टोकरी में फेंककर वैदिक सभ्यता पर लांछन लगाने वाले ग्रन्थ का प्रतिकार करना चाहिए।

इस पुस्तक के कर्त्ता के रूप में ग्यारह भारतीय विद्वानों के नाम हैं। जो प्रायः सभी पी० एच०डी०, एल०एल०डी० तथा अन्य विदेशी पदवियों से विभूषित हैं। इन ग्यारह विद्वानों ने मिलकर "वैदिक एज" नामक अत्यन्त मूर्खतापूर्ण ग्रन्थ का निर्माण कर भारतीय वैदिक संस्कृति को विदेशियों की दृष्टि में नीचे गिराने का घोरतम पाप किया है। वैदिक धर्म प्रेमियों का कर्त्तव्य है कि इन भारतीय स्कालरों की पोलपट्टी जनता के समक्ष रख इनका प्रचार बन्द करादें।

अनेक पश्चिमी विद्वानों ने वेदों के सम्बन्ध में बहुत सुन्दर भी लिखा है। परन्तु वैदिक एज के कर्त्ता मिस मेयो की मनोवृत्ति वाले दीखते हैं। उन्होंने उनके विचारों का अनुशीलन वा अनुकरण नहीं किया।

"Sacred Books of the East के कर्ता ए० पी० फेनियस विलसन ए० एम० ने वेदों के सम्बन्ध में लिखा है "We have in this hymn a most sublime Conception of the Supreme Being. This hymn to the unknown God is purely mono thiestic as psalm of David and shows a spirit of religious awe as profound as any we find in Hibru scriptures.

अर्थात्—इस ऋचा में हमें परमात्मा का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप उपलब्ध होता है। इस ऋचा में 'डेविड के गान' के समान एकेश्वरवाद का प्रतिपादन है और उतने ही उत्कृष्ट धार्मिक तत्त्व का प्रदर्शन है, जितना कि बाइबिल में।

कस्मै देवाय हविषा विधेम का उक्त लेखक निर्देश कर यह उद्गार प्रकट करता है।

मुन्शीजी के ग्यारह सम्पादकों को वेदों में न छन्द, न कविता न साहित्य और न कोई उच्च विचार का दर्शन होता है। उनकी दृष्टि में तो वेद कोई जादूगरों व पुरोहितों के ग्रन्थ हैं। जो अपनी दुकानें जमा रखने के लिये वेद-मन्त्रों का निर्माण करते थे।

वैदिक एज के ग्रन्थ कर्ताओं से हमारा अनुरोध है कि अपने पाश्चात्य गुरुओं की निम्नलिखित सम्मतियों पर भी विचार करें। 'Bible in India' में जेकोलियट लिखता है "Astonishing fact the Hindu revelation (Vedas) is of all revelations the only one whose ideas are in perfect harmony with Science as it proclaims the slow gradual foundation of the world."

अर्थात्—बड़े आश्चर्य की बात है कि ईश्वरीय ज्ञान समझे जाने वाले ग्रन्थों में केवल वेद ही हैं, जिनके सिद्धान्त वेद के सर्वथा अनुकूल हैं। हम श्री कुशावहाजी की पुस्तक "पाश्चात्यों की दृष्टि में वेद ईश्वरीय ज्ञान" वैदिक एज के कर्त्ताओं को पढ़ने का अनुरोध करेंगे।

'Social Environment and Moral progress में डाक्टर आल्फ्रेड रसल वाकेस लिखते हैं।

The wonderful collection of hymns known as the Vedas is a vast system of religious tea-

chings as pure and lofty as those of the finest portions of the Hebrew scriptures. Its authors were fully our equals in their conception of the universe and the deity expressed in the finest poetic language. In it we find many of the most advanced religious thinkers. We must admit that the mind which conceived and expressed in approximate language such ideas as are everywhere present in those Vedic hymns, could not have been inferior to those of the best of our religious teachers and poets—to our Milton, Shakespeare and Tennyson.

अर्थात्—ऋचाओं का अपूर्व संकलन जो वेदों के नाम से ज्ञात है, एक विशाल धार्मिक शिक्षाओं की प्रणाली है और ऐसा पवित्र और उच्च है जैसा कि यहूदी भाषा के धर्मग्रन्थ (बाइबल) के उत्तमोत्तम अंश हैं। इसकी भाषा बड़ी कवितामय व ओजस्वी है। इसमें हम लोग बड़े बड़े दिग्गज विचारकों की शिक्षाओं से भी बढ़कर शिक्षा पाते हैं। हमारे सर्वोत्तम कवियों मिल्टन, शेक्सपीयर और टेनीसन के विचारों से भी वैदिक स्तोत्र उत्तम हैं।"

अतः वेदों का अनुशीलन सम्यक् पद्धति पर किये विना वैदिक एज के कर्त्ताओं ने जो कुछ लिखा है, उसका खण्डन सर्व वेद अनुसंधान के प्रेमियों को करना चाहिए।

सम्पादकीय

पाश्चात्य-मत-परीक्षणाङ्क का उपक्रम

अजमेर से देहली लौटने पर गत ६ अप्रैल १९५५ को मैं युधिष्ठिर मीमांसक के साथ श्री पं० भगवद्दत्त जी वैदिक स्कालर के घर पर (ईस्ट पटेल नगर में) था। कई आवश्यक परामर्शों के पश्चात् वेदवाणी के विशेषाङ्क के विषय में विचार हुआ। पं० जी के प्रस्ताव और प्रेरणा से निश्चय हुआ कि अबकी बार 'पाश्चात्य-मत-परीक्षणाङ्क' प्रकाशित किया जावे और उस विशेषाङ्क के सम्पादक श्री पं० भगवद्दत्त जी हों। मैंने कहा कि अङ्गरेजी में मेरा अधिक अभ्यास नहीं, अतः मैं उनके निरूपित सभी सिद्धान्तों को यथावत् जानता नहीं, पण्डित जी ने कहा कि मैं स्वयं तथा अपने मित्रों से लेख मँगवा लूँगा और यह भी निश्चय हुआ कि वह सब लेखों को देखेंगे, जिसमें प्रकृत विषय में उक्त मतों में किसी मत का निराकरण न होगा वह लेख नहीं छापा जायगा। मैं तो इस निश्चय से अतीव प्रसन्न और सन्तुष्ट हो गया कि मुझे अपने लेख लिखने के अतिरिक्त कुछ नहीं करना होगा।

मेरी दृष्टि में समस्त भारत में इस समय पाश्चात्य स्कालरों तथा उनके मतों का गहरा और यथार्थ अध्ययन करने वाला—विकासवाद और भाषाविज्ञान (विज्ञान नहीं मत) के मर्म स्थलों को समझने वाला—कपोलकल्पना से नहीं, गम्भीर अध्ययन के फलस्वरूप सप्रमाण और सोपपत्तिक भयङ्कर प्रतिवाद करनेवाला—नहीं, नहीं पाश्चात्य स्कालरों के मिथ्या वैदुष्य का भण्डाफोड़ करनेवाला, प्राचीन संस्कृति-साहित्य-सभ्यता में पूर्णनिष्ठवान्—कोरी गप्पों से नहीं एक एक शब्द सप्रमाण—सहेतुक लिखनेवाला यदि कोई इस समय है तो हमारी दृष्टि में वह पं० भगवद्दत्तजी रिसर्च स्कालर ही हैं। जितनी अग्नि इनके अन्दर धधकती हर समय दिखाई देती हैं, उतनी मुझे तो अन्य किसी में दीखी नहीं। कई विषयों में उनसे मतभेद होने पर भी उनका गम्भीर ज्ञान अत्यन्त उपादेय है ऐसा मेरा विचार है। इतिहास के विषय में प्राचीन दृष्टि को समझने और उसको सप्रमाण—सहेतुक उपस्थित करने वाला दूसरा व्यक्ति भारत में नहीं। दुर्भाग्य की बात है कि ऐसा उद्भट त्यागी और तपस्वी विद्वान् भारत के शिक्षामन्त्री पद पर नहीं—किसी यूनिवर्सिटी का चांसलर नहीं—विदेशों में भारतीय शिक्षा का दूत वा प्रतिनिधि भी नहीं। नहीं २ रिसर्च विषय का अध्यक्ष भी नहीं। यह सब पाश्चात्य स्कालरों के प्रति पं० जी की अनास्था के कारण है और कुछ नहीं। रिसर्च का यह मर्मज्ञ पाजामा पहिने जब इधर उधर जीविका के लिये यत्न करता दिखाई देता है उस समय एक गम्भीर दर्शक के हृदय पर आघात पहुँचता है कि यह देश के कितने दुर्भाग्य की बात है। हमारे ये शब्द अतिशयोक्ति न समझे जावें, हमारे हृदय से यह शब्द निकल रहे हैं। वर्त्तमान में अङ्गरेजी संस्कृत जाननेवाले स्कालरों व ऐतिहासिकों का बहुत भारी दल का यह यत्न दिखाई देता है कि कहीं पं० भगवद्दत्त स्कालरों में सबसे आगे न पहुँच जाये। इनके भारतवर्ष के इतिहास में अत्यन्त उद्भट और सप्रमाण युक्तियों का खंडन कोई स्कालर इस समय तक तो कर नहीं सकता आगे करे तो देखेंगे। हमारा यह पाश्चात्य-मत-परीक्षणाङ्क इसी मस्तिष्क की सूझ है। जिसमें हमारी पूरी सहमति है।

ऐसे उद्भट विद्वान् द्वारा पाश्चात्य-मत-परीक्षणाङ्क निकलेगा इसमें मुझे स्वभावतः अतीव प्रसन्नता हुई। पर मानव और भूल का सदा सम्बन्ध है (पं० जी के साथ कुछ मार्जन कभी एक चौथाई—कभी तीन चौथाई रखना पड़ता है। एक बार १५ मन के स्थान में ३॥। मन ही गेहूं मिला था)। पण्डित जी स्वीकार करके भी न तो लेखकों को लेख भेजने को लिख सके न ही जितने लेख कहे थे उतने लेख ही भेज सके या भिजवा सके। हां अपने तीन लेख अवश्य भेजे जो अत्यन्त ही मूल्यवान् हैं, इस अङ्क के प्राण हैं। हमने पण्डित जी के कहने पर ही नवम्बर के स्थान में दिसम्बर के प्रारम्भ में विशेषांक प्रकाशित करने की बात मान ली, पर फिर भी पण्डित जी अपनी अनेक कठिनाइयों के कारण इस अङ्क का सम्पादकत्व न कर सके, जिसका हमें बड़ा खेद है। दिसम्बर के लिये भी १ अक्तूबर तक सब लेख पहुँचने चाहियें थे। पर मेरे पास तो मुख्य लेख ७ नवम्बर तक पहुँचे, जब कि २० नवम्बर को सब लेख छप कर समाप्त हो जाने चाहियें थे।

पंडित जी के आदेशानुसार मुझे ही सम्पादकत्व का कार्य करना पड़ा। प्रकृत विषय पर लेखों को प्राथम्य देना आवश्यक था। इस कारण तथा प्रेस में लेख भेजे जानेपर २० फार्म का मैटर पूरा हो जाने से जिस क्रम से लेख रखे गये थे, उसी क्रम से बहुत से लेख स्थान न रहने से बच

गये। जो अब हम वेदवाणी के अगले अङ्क या अङ्कों में प्रकाशित कर सकेंगे। इस विवशता के लिये हम अपने माननीय विद्वान् लेखकों से हार्दिक क्षमा चाहते हैं। उनमें कई एक महानुभाव तो ऐसे भी हैं जिनसे हमने बार-बार पत्र द्वारा तथा मिल-कर भी बड़ी कठिनाई से उनके लेख प्राप्त किये थे। अतिविलम्ब से लेख पहुँचने में यही हानि होती है। ऐसा भी होता है, पीछे आनेवाले प्रौढ़ लेख छूट जाते हैं और सामान्य योग्यता के लेख छापने पड़ते हैं। जिन-जिन महानुभावों के लेख हमें प्राप्त हुये उन सबका हम हृदय से धन्यवाद करते हैं। हमारी कठिनाई वा विवशता को देखते हुये उक्त महानुभाव हमें क्षमा करेंगे। हम उन छूट गये सब लेखों को अवश्य छापेंगे, चाहे सब एक साथ न भी छप सकें।

भारतीय स्कालरों से सहयोग नहीं मिला

एक दो महानुभावों को छोड़कर हमें अंगरेज़ी-संस्कृत के विद्वान् स्कालरों से बहुत ही कम सहयोग मिला। हमें उनसे बहुत आशा थी कि वे हमें इस विषय में पर्याप्त सामग्री देंगे। पर इन महानुभावों ने प्रायः लेख भेजने की कृपा नहीं की, यद्यपि इन्हें बार-बार पत्र द्वारा निवेदन किया गया। ऐसा भी अनुमान है कि उन पाश्चात्य स्कालरों के सम्बन्ध में जिनसे इन महानुभावों ने बड़ी-बड़ी समझी जानेवाली डिगरियां लेकर बड़े-बड़े पद प्राप्त किये और जिनके सहारे इन्हें बड़े-बड़े वेतन मिल रहे हैं, उनके प्रति लिखें तो कैसे लिखें। हृदय में संकोच तो होता ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्त्तमान पीढ़ी पाश्चात्यों की इस मस्तिष्क दासता से मुक्त न हो सकेगी। अगली पीढ़ी, यदि कोई ढंग बनाया गया, तो भले ही इस दासता से मुक्त हो सके।

इन भारतीय स्कालरों में अनेक महानुभाव ईश्वर-वेद-भारतीय संस्कृति सभ्यता और साहित्य में निष्ठावान् हैं। पाश्चात्यों के संसर्ग वा उसी वातावरण में रहने के कारण उनके हृदयों में अनेक शङ्कायें अन्तस्तल में विद्यमान हैं। इनके विषय में सम्मान और आदर पूर्वक एक ऐसी योजना बनना आवश्यक है जिसमें ऐसे महानुभावों की शङ्काओं पर उदारता और परम सहिष्णुता से विचार किया जावे जैसे भाषा की उत्पत्ति वा विकासवाद पर गम्भीर विचार होकर निर्णय हो। ऐसा करने से इन विद्वानों द्वारा भारत का महान् लाभ हो सकता है। हमारा तो यह कहना है कि संस्कृत या हिन्दी के विषय में अब पाश्चात्य देश के विद्वान् भारत के इन्हीं विद्वानों से अध्ययन करने तथा उपाधियां (डिगरियां) लेने के लिये क्यों न आवें। इतना घोर परिश्रम और अध्ययन हम भारतीयों का होना चाहिये। हस्तलेखों से कैसे काम लिया जावे, यह ज्ञान तो अब पर्याप्त मात्रा में हमें पाश्चात्यों से मिल चुका। अब इसमें कुछ बचा नहीं। आवश्यकता होगी तो हम लेने को भी तय्यार हैं। औरियण्टल कान्फ्रेंस का ढंग अब बदलना होगा। वही अब अंग्रेजों के समय की लकीर पीटना बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती।"

पाश्चात्यों के प्रति कृतज्ञता

जहाँ तक पाश्चात्य स्कालरों के प्रति भारतीयों की कृतज्ञता का प्रश्न है हम हृदय से इसके समर्थक हैं। हम तो कहते हैं कि कृतघ्नता संसार में सबसे बड़ा पाप है। चाहे विदेशियों ने भाषाविज्ञान की धुन में वा भारतीय संस्कृति को न पनपने देने की भावना से अथवा ईसाइयत के प्रचार की दृष्टि से ही संस्कृत साहित्य का अनुशीलन किया हो, पुनरपि जो लाभ वा ज्ञान हमें उनसे प्राप्त हुआ है उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना हमारा परम कर्त्तव्य है। उनके घोर परिश्रम-त्याग-तपस्या आर्थिक व्यय-समय का लगाना-यह सब भी विदेशी भाषा होते हुए—ये सब कम महत्त्व के गुण नहीं हैं। जर्मन विद्वान् ज़िमिरमैन महोदय से लाहौर में नवम्बर सन् १९२८ में मैं मिला। मैं संस्कृत में बोलता रहा वह अंग्रेजी में बोलते रहे, दोनों एक दूसरे की बात समझ रहे थे। इससे कितनी प्रसन्नता होती है। परन्तु साथ ही हम भारतीयों को पाश्चात्यों की मस्तिष्क दासता (दिमागी गुलामी) को भी अब छोड़ना ही होगा। अंग्रेजी राज्य में हम पराधीन थे, उस समय की दासता स्वीकार करना क्षन्तव्य भी हो सकता है। पर इस समय तो किसी प्रकार भी क्षन्तव्य नहीं हो सकता। हमें उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए भी उनके पांचों अग्राह्य वा मिथ्या सिद्धान्तों को तो छोड़ना ही होगा। हाँ जो उनके सिद्धान्तों को हृदय से सत्य मानते हैं, वे मानते रहें। पर ऐसे महानुभावों को भारतीय प्राचीन दृष्टिकोण रखने वालों की बात भी प्रेम पूर्वक सुननी होगी। यह निश्चय है कि शीघ्र नहीं तो कुछ वर्षों में इन पाश्चात्य स्कालरों के पोच वा मिथ्या सिद्धान्तों का प्रतिवाद अब भारत में होकर रहेगा क्योंकि भारत की सच्ची स्वतन्त्रता इसके बिना अधूरी रहेगी॥

पाश्चात्यमत परीक्षणाङ्क की आवश्यकता

पाश्चात्य-मत-परीक्षणाङ्क की आवश्यकता क्यों पड़ी, इस आकांक्षा की निवृत्ति के लिए हम इतना ही कहते हैं कि अंगरेजी राज्य में भारतीय इतिहास को जानबूझ कर विकृत किया गया। इस विषय में हम यही कहना चाहते हैं कि आरम्भ में जर्मन विद्वानों की संस्कृत साहित्य में भक्ति बढ़ी। विण्टरनिट्ज़ के शब्दों में **"जब भारतीय वाङ्मय पश्चिम में सर्व प्रथम विदित हुआ तो लोगों की रुचि भारत से आने वाले साहित्यिक ग्रन्थ को अतिप्राचीन युग का मानने की थी। वे भारत पर इस प्रकार दृष्टि डाला करते थे, मानों वे मनुष्यमात्र की अथवा न्यून से न्यून मानव सभ्यता की दोला के समान है।" (देखो भारतवर्ष का इतिहास पृ० ३५)।**

भारतीय इतिहास की विकृति के पाँच कारण हैं—

(१) यहूदी और ईसाई पक्षपात।

(२) मिथ्या भाषाविज्ञान।

(३) डार्विन का विकासवाद।

(४) ब्रिटिश शासन का कलुषित ध्येय।

(५) प्राचीन भारतीय विषयों पर लिखने वाले पाश्चात्यों का मोह।

इन पाँचों विषयों पर वेदवाणी तीसरा वर्ष अंक ४ से ७ तक इन चार अंकों में श्री० पं० भगवद्दत्तजी रिसर्च स्कालर के लेख फरवरी सन् १९५१ ई० में छप चुके हैं। वास्तव में वे लेख इस पाश्चात्यमत परीक्षणाङ्क में छपने योग्य थे। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि वे चारों लेख इतने सप्रमाण—सहेतुक—और स्पष्ट हैं कि उन्हें इस विशेषाङ्क में मैं पुनः प्रकाशित कर देता और इस अंक में अन्य लेख कोई भी न होता तो भी पाश्चात्य-मत-परीक्षणाङ्क पूर्ण ही समझा जाता, कोई कमी इसमें न रह जाती। पाठक इन आवश्यक लेखों को वेदवाणी के उक्त अंकों में या भारतवर्ष का बृहद् इतिहास (पं० भगवद्दत्तजी कृत) पृ० ३४ से ६८ तक प्रकृत विषय के लिए अवश्य देखें, यह अत्यन्त ही उपयोगी प्रकरण है। हर एक भारतीय को इन्हें बहुत ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये। जो विद्वान् इन लेखों के उत्तर में भी लिखना चाहें, वे "वेदवाणी" में लेख भेजें, हम सहर्ष प्रकाशित करेंगे।

पाश्चात्य स्कालरों ने हमारे साहित्य तथा भारतीय इतिहास को विकृत कर दिया है। स्वार्थवश वा जान कर भी—और बेजानकर भी। इसका परिमार्जन करना अब अनिवार्य हो गया है, कि "पाश्चात्य स्कालरों ने हमारे साहित्य को विकृत किया है" यह घोषणा अब भारत में सहेतुक और सप्रमाण (बिना पक्षपात के) बड़ी तीव्रता से उठनी चाहिये। इसी विचार से वेदवाणी का यह विशेषाङ्क "पाश्चात्य-मत परीक्षणाङ्क" के नाम से प्रकाशित किया गया है। पं० भगवद्दत्तजी स्वयं इस अंक का सम्पादकत्व करते तो इस अंक में चार-चान्द लग जाते। अस्तु। मैंने अपनी बुद्धि वा शक्ति के अनुसार लेखों का निर्वाचन प्रकाशनादि किया है। वेदवाणी का प्रथम प्रयास होने के कारण यद्यपि हमने जो सम्भाव्य लेखों की सूची मई ५५ के अङ्क में प्रकाशित की थी उसके अनुसार पं० जी के लेखों को छोड़कर कम ही लेख प्राप्त हुये हैं। पुनरपि हमारे विद्वानों ने महान् प्रयास किया है। इसके लिए हम उन सब के कृतज्ञ हैं। आशा करते हैं कि सम्भवतः कई वर्षों में हम बचे हुये उन सभी विषयों पर योग्य विद्वानों द्वारा तथा स्वयं भी लेख उपस्थित करते रहेंगे। विद्वानों से हमारा नम्र अनुरोध है कि वे सूची के उन लेखों को लेकर अवश्य लेख भेजने की कृपा करते रहें। यह एक व्यक्ति के करने का काम नहीं है, अपितु योग्य और प्राचीन भारतीय संस्कृति साहित्य सभ्यता में मनसा-वाचा कर्मणा आस्था रखनेवाले अनेक विद्वानों का काम है।

अपने पाठकों से निवेदन

अन्त में हम अपने कृपालु पाठकों से भी दो शब्द निवेदन करना चाहते हैं। 'वेदवाणी' एक अछूती शिला वाले मार्ग पर चल रही है। प्राचीन वैदिक-आर्य संस्कृति-साहित्य और सभ्यता के ऋषिदयानन्द तथा वैदिक धर्म की भावनाओं से ओत-प्रोत विचार सब संसार और भारतियों तक पहुँचे, इसके लिए वेदवाणी तथा इस विशेषाङ्क का प्रचार योग्य विद्वानों-शिक्षा संस्थाओं, विश्वविद्यालयों, कालेजों, स्कूलों तथा पुस्तकालयों तक पहुँचाने का प्रयत्न कर १०-१० या बीस-बीस प्रतियां मंगा कर योग्य हाथों तक पहुँचावें। यह भी वैदिक धर्म की सच्ची सेवा है। आर्य पुरुषों तथा आर्य समाजों को इस ओर विशेष ध्यान देना कर्त्तव्य है। यह भी प्रचार का एक भारी साधन है।

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के हो ।|) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १ तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायँगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) बनारस ६

आर्य साहित्य मण्डल लि० अजमेर

की कुछ प्रसिद्ध पुस्तकें

चारों वेद सरल हिन्दी अनुवाद सहित-सम्पूर्ण १४ जिल्दों में, मूल्य ८४)

उत्तम छपाई, बम्बई निर्णय-सागर टाइप, सफेद चिकना कागज, डबल क्राउन १६ पेजी के सुलभ आकार में। इष्ट मित्रों के लिये पवित्र उपहार, पुस्तकालयों और घर की आलमारियां का सुन्दर भूषण, विवाहों और अन्य धार्मिक अवसरों पर देने के लिये आदर्श भेंट, छात्रों के लिये पवित्र पारितोषिक और नित्य आत्मिक आनन्द तथा उत्तम स्वाध्याय का अपूर्व साधन।

सामवेद १ जिल्द ६), अथर्ववेद ४ जिल्द २४), यजुर्वेद २ जिल्द १२), ऋग्वेद ७ जिल्द ४२), प्रत्येक जिल्द पूरे कपड़े की बंधी हुई सुनहरी अक्षरों सहित है।

(१) **महर्षि जीवन चरित**—स्व० श्री बाबू देवेन्द्रनाथ जी मुखोपाध्याय द्वारा संगृहीत व श्री पं० घासीरामजी एम. ए. एल. एल. बी. मेरठ द्वारा अनूदित। दोनों भाग सजिल्द व अनेकों घटनापूर्ण चित्रों से युक्त। कवर पर महर्षि का तिरङ्गा चित्र आर्ट पेपर पर मूल्य ६) प्रति भाग, दोनों भाग १२)

(२) **पातञ्जलयोगप्रदीप**—ले० स्वामी ओमानन्द जी तीर्थ। इस ग्रन्थ में योग दर्शन, व्यास भाष्य, भोजवृत्ति और योगवार्तिक का भी भाषानुवाद दिया गया है। योग सम्बन्धी यह अपूर्व पुस्तक है। २०×२६=८ पेजी, पृष्ठ ८००, सजिल्द व सचित्र मूल्य १२) रु.।

(३) **सन्मार्गदर्शन**—ले० स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज। लेखक की हिन्दी में लिखी हुई यही एक मात्र पुस्तक है, शेष सभी पुस्तकें उनके व्याख्यानों तथा उपदेशों के संग्रह मात्र हैं। बुक साइज ६०० पृष्ठ सजिल्द मूल्य केवल ४) रु.।

(४) **वेदांग-प्रकाश के शुद्ध संस्करण**—संधिविषय ॥।), आख्यातिक ४), धातुपाठ ।≈), वर्णोच्चारण-शिक्षा ≈)॥, नामिक ॥≈), सौवर ।), पारिभाषिक आदि अन्य भाग भी छप रहे हैं।

(५) **महाभारत-शिक्षा-सुधा**—ले० स्वामी ब्रह्ममुनि जी। महाभारत की उत्तमोत्तम शिक्षाओं का विशद एवं मार्मिक विवेचन तथा आर्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन। सुन्दर तथा रंगीन गेट अप मू० १।)

(६) **जीवन की नींव**—ले० सम्पूर्णनाथ 'हूक्कू' सेवक। तप तथा त्याग का जीवन बनाने के साधनों से युक्त। मू० २)

(७) **सत्संगयज्ञविधि**—ले० धर्मेन्द्र शिवहरे—सत्संग में यज्ञ करने में पूर्ण रूप से सहायक। प्रत्येक विधि क्रम से दी गई है और मंत्रों का सरल हिन्दी में अनुवाद दिया गया है। प्रचारार्थ मू० ।–)

(८) **दयानन्द वाणी**—ले० रमेश चन्द्र शास्त्री, भूमिका लेखक पूज्य स्वामी ध्रुवानन्दजी महाराज। इस पुस्तक में लेखक ने महर्षि के वचनों व उपदेशों को उत्तमोत्तम ढंग से संग्रहीत किया है। टाइप बड़ा कवर दो रंगों का, पृष्ठ संख्या २४० मूल्य केवल १॥)

(९) **सरल सामान्यज्ञान भाग १ से ४**—ले० डा० सूर्यदेव जी शर्मा, एम० ए० साहित्यालङ्कार। सामान्य ज्ञान-सम्बन्धी सभी विषय सरल भाषा में दिये गये हैं। स्कूलों में पढ़ाने योग्य है। मूल्य भाग १—।), भाग २—।≈), भाग ३—।≡), भाग ४—॥)

अन्य पुस्तकें—यजुर्वेद मूल गुटका १॥), सामवेद गुटका १॥), आर्यपर्वपद्धति १॥), वेदोपदेश १) स्वस्थजीवन १।) युद्धनीति और अहिंसा १।), वैदिक अध्यात्मसुधा ॥≈), दयानन्दवचनामृत ।≈), धार्मिक शिक्षा भाग १ से १० भाग ५), जीवन पथ ॥), संस्कारविधि ॥।≈)

आर्य साहित्य मण्डल के हिस्से खरीदकर वेद प्रचार तथा आर्थिक दोनों लाभ उठावें। प्रत्येक हिस्से का मूल्य १०) रु. (पांच हिस्से से कम नहीं दिये जाते)।

विशेष विवरण तथा अन्य पुस्तकों के लिये बड़ा सूचीपत्र मुफ्त मंगावें

संपादक, प्रकाशक व मुद्रक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, बनारस।

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ८] ❀ [अङ्क ३

इस अंक के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

पौष २०१२, जनवरी १९५६
दयानन्दाब्द १३०
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५५

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) बनारस नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
बी० पी० से ५।।)
" " विदेश में ६)
इस अंक का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास **प्रथम तिथि को** प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ॥)-आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। **पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥**

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल **विशेषाङ्क** के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १ तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख **'सम्पादक वेदवाणी'** के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। **विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है।** विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय **अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।**

व्यवस्थापक—**वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) बनारस ६**

प्रौढ़ संस्कृत पठनार्थियों को सूचना

अपनी कठिनाई "वेदवाणी" में पत्र द्वारा पूछ सकते हैं

"बिना रटे संस्कृत पठनपाठन की अनुभूत सरलतम विधि" नामक लेखमाला "वेदवाणी" के गत ६ अङ्कों (मई से अक्तूबर ५५–अङ्क सं. ७ से १२) में ७७ पृष्ठ तक वेदवाणी के ग्राहकों को मिल चुकी है। इनमें आरम्भ के ३५ पाठ छप चुके हैं, जो बड़ी आयुवाले-बिना रटे पढ़ने वालों के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं। इनमें अन्त में ५–६ पृष्ठों में आगे ५ मास का पाठ्यक्रम भी अति संक्षेप से लिखा गया है।

जो सज्जन हमारी उपर्युक्त विधि से स्वयं वा अन्यों से पढ़ रहे हों और उनको कहीं २ कठिनाई प्रतीत होती हो, सन्तोषजनक हल न मिलता हो, वे अपनी कठिनाई पत्र द्वारा पूछ सकते हैं। सबके लाभार्थ हम उनके उपयोगी प्रश्नों के सहित उत्तर "वेदवाणी" में यथासम्भव छापेंगे।

प्रश्न-कर्त्ता अपना परिचय अर्थात्—नाम–आयु–पूरा पता–हिन्दी तथा अन्य भाषा का ज्ञान–संस्कृत में क्या २ पढ़ा–वेदवाणी की ग्राहक-संख्या–ये सब लिखें। पत्र स्पष्ट हिन्दी में लिखा हो। प्रश्न प्रासङ्गिक (उपर्युक्त ७७ पृष्ठों में से) होना आवश्यक है। गन्दे-अस्पष्ट लेख पर ध्यान नहीं दिया जायगा॥

३५ पाठों से आगे का पाठ्यक्रम विस्तार से ३०० पठनार्थियों के लिखने पर ही "वेदवाणी" में प्रकाशित करना आरम्भ किया जा सकेगा।

उपर्युक्त ३५ पाठ अब वेदवाणी के अङ्कों से पृथक् पुस्तक रूप में छप गये हैं, जो "वेदवाणी–बनारस नं० ६" के पते से ॥।) में मिल सकते हैं। डाक व्यय पृथक् ⌐) भेजना चाहिये। रजिस्ट्री से चाहें तो ।≈) और भेजें॥

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु–सम्पादक–वेदवाणी

ऋग

साम

वर्ष ८

आर्याभिवि

हे अग्ने
रक्षसः¹

अ
१. र
२. f
३. f

ऋग्वेद ओ३म् यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद अथर्ववेद

सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४ ॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष ८ | काशी, पौष सं० २०१२ वि०, जनवरी १९५६ ई० | अङ्क ३

टिप्पणिकर्ता—प्रो० विन्ध्यवासिनी प्रसाद अनुगामी

आर्याभिविनय से

प्रार्थना विषय

पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेरराव्णः।
पाहि रीषत उत वा जिघांसतो बृहद्भानो यविष्ठ्य ॥

ऋग्० १।३।१०।१५

हे अग्ने — सब शत्रुता तथा शत्रुओं के मिटाने वाले परमेश्वर
रक्षसः[1] — कष्ट देने के स्वभाव रखने वाले एवं दुःख पहुँचाने में प्रयत्नशील लोगों से
नः — हमें
पाहि[2] — बचाओ और हमारी उन्नति करो
अराव्णः[3] — दानभाव से रहित

अर्थबोधक टिप्पणी—

१. रक्ष्यते अस्मात् इति। hurt, injury। रक्षस इदं राक्षसः = रात्रि, बहुत बड़ा दांत—आप्टे।
२. fr. पा = पाने—स्वा०। पा = रक्षणे—अदा०। to drink to kiss to rule to protect to nourish—आप्टे।
३. fr. रा = दाने—अदा०

धूर्तः[४]	धोखेबाजों, एवं ठगों से	रीषत[७]	मार देनेवाले
पाहि	बचाओ और हमारी उन्नति करो	उत वा[८]	और
बृहद्भानो[५]	बहुत बड़ी बुद्धिशक्ति से युक्त सूर्यवत् सर्वोत्कृष्ट	जिघांसतः	मारने की इच्छा रखने वालों से
यविष्ठ्य[६]	अतीव बली	पाहि	बचाओ और हमारी उन्नति करो

ऋषिव्याख्यान—

"अग्ने" हे सर्वशत्रुदाहकाग्ने[९] परमेश्वर ! "रक्षसः" राक्षस हिंसाशील[१०] दुष्टस्वभाव देहधारियों से "नः" हमारी "पाहि" पालना और रक्षा करो। "धूर्त्तेरराव्णः" कृपण, जो धूर्त्त, उस मनुष्य से भी "पाहि" हमारी रक्षा करो। "रीषत उत वा जिघांसतो" जो हमको मारने लगे तथा जो मारने की इच्छा करता है "बृहद्भानो यविष्ठ्य" हे महातेज[११] बलवत्तम "पाहि" उन सब से हमारी रक्षा करो।

---

४. swindler deceiver. fr.धुर्वी हिंसार्थः–भ्वा० | धूर्व to hurt

५. भाति दीप्यते ऽसौ भानुः–उ० ३।३२ | prince sovereign—आप्टे

६. यो अतिशयेन युवा पदार्थानामिश्रीकरणे बलवान् सः यविष्ठः | यविष्ठ एव यविष्ठ्यः | —दया० यजु० ३।२

७. fr रिश् = हिंसायाम् — तुदा० | रिष् = हिंसायाम्–दिवा०

८. shows emphasis

९. सर्वशत्रुदाहकाग्ने = अग्नि की तरह सब शत्रुओं को नष्ट करने वाले

१०. हिंसाशील = कष्ट देने का स्वभाव रखने वाले

११. महातेज बलवत्तम = बहुत सूक्ष्म बुद्धि शक्ति से युक्त और ऐसा ही जीवों को बनाने वाले अपूर्व बलसम्पन्न

[शेष पृष्ठ २१ का]

खोज करते हैं। अपने अज्ञान को दूर करने के लिये और मानव जाति के अज्ञान को दूर करने के लिये। अज्ञान अन्धकार है। विज्ञान उस अन्धकार में दीपक जलाने के समान है।

कुछ लोग समझा करते थे कि ईश्वर के गुप्त रहस्यों को जानने का प्रयत्न ही ईश्वर से विद्रोह करना है। परन्तु यह धारणा अब नहीं रही है। ईश्वर को किसी रहस्य को छिपाने से क्या प्रयोजन? उसके कोई गुप्त रहस्य नहीं हैं। जो नियम हैं, सब हमारे लाभ के लिये हैं। ऋग्वेद का एक मंत्र कहता है, भगवान् के कर्मों को देखो और उन्हीं से अपने व्रतों को करो। हम ईश्वर का अनुकरण करके उसको अप्रसन्न नहीं करते, अपितु उसकी अराधना करते हैं। यदि ईश्वर ने सूर्य बनाया, तो वह हमारे लिये। यदि उसके अनुकरण-स्वरूप हम दीपक बनालें, तो इसमें उसकी अप्रसन्नता क्यों? अथर्ववेद के एक मंत्र में प्रश्न उठाया है कि ईश्वर को ठीक ठीक कौन समझता है? और इसका उत्तर यह दिया है कि जो सृष्टि में ओतप्रोत नियमों को समझता है, वही ब्रह्म को भी समझ सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वैज्ञानिक ही ब्रह्मज्ञ हैं।

वैज्ञानिकों की मनोवृत्ति में भी परिवर्तन हो रहा है। अब उनकी वही मनोवृत्ति नहीं रही, जो हक्सले और डार्विन के समय थी। अब वह भी समझने लगे हैं, कि केवल भौतिक और रसायन ही विज्ञान नहीं है। मनोविज्ञान और आत्मविज्ञान को भी विज्ञान की कोटि में गिनना चाहिये। यह परिवर्तन कुछ तीव्र गति से नहीं है। यही कारण है कि विज्ञान मनुष्य को आन्तरिक शान्ति प्रदान करने में असमर्थ रहा है। आजकल मनुष्य-घातक शक्तियों का इतना आविर्भाव हुआ है कि लोग विज्ञान से डरने लग गये हैं। परन्तु आशा करनी चाहिये कि अणु-बम्ब इत्यादि की खोज के साथ साथ मनुष्य में मनुष्यत्व लाने का प्रयत्न किया जायगा। तभी धर्म और विज्ञान का समन्वय हो सकेगा। यदि वैज्ञानिक युग में भी हम सिंह और भेड़ियों के समान ही रहे, तो विज्ञान का भविष्य उज्वल नहीं रहने का। इसी प्रकार यदि धर्माध्यक्ष अपने आधिपत्य की रक्षा के रूप में पुरानी रूढ़ियों को ही दृढ़ करते रहे तो धर्म का भविष्य उतना ही अन्धकारमय होगा।

यह एक विचारणीय बात है कि आर्य्यसमाज के संस्थापक ने विज्ञान का कभी किंचित् भी विरोध नहीं किया। परन्तु आर्य्यसमाज के मंच और प्रेस से मैंने बीसियों लेख या व्याख्यान सुने हैं जिनमें विज्ञान की उसी प्रकार खिल्ली उड़ाई जाती है जैसे ईसाई या मुसल्मान मुझे पादरियों की ओर से उड़ाई जाती रही है। पुराने संस्कार कठिनता से जाते हैं।

न मानने वालों पर उसका वज्र गिरता है

[ले०—श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति, गुरुकुल काङ्गड़ी, हरिद्वार]

यः शश्वतो मह्येनो दधानानमन्यमानाञ्छर्वा जघान ।
यः शर्धते नानुददाति शृध्यां यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः ॥

ऋग्० २ । १२ । १०

अर्थ—(यः) जो (महि) बड़ा (एनः) पाप (दधानान्) धारण करने वाले (शश्वतः) बहुसंख्यक (अमन्यमानान्) प्रभु की नियम व्यवस्थाओं को न मानने वाले लोगों को (शर्वा) अपने मारने के साधनों से (जघान) मार देता है (यः) जो (शर्धते) पाप-कर्म के लिये बढ़ना चाहने वाले को (शृध्यां) बढ़ने (न) नहीं (अनुददाति) देता (सः) वह (जनासः) हे मनुष्यो ! (इन्द्रः) परमैश्वर्यशाली भगवान् ही है !

हम लोगों में बड़ा पाप घुसा हुआ है । हम दिन रात पाप के कीचड़ में फंसे रहते हैं । हम अपने मन से भी पाप करते हैं, अपनी वाणी से भी और अपने कर्म से भी । हम में से कोई इकले-दुकले ही इस पाप के कीचड़ में लथपथ नहीं रहते हैं, हममें से बहुसंख्यक लोगों की यही अवस्था है । भगवान् पाप को पसन्द नहीं करते, वे नहीं चाहते कि उनके अमृत पुत्र पाप का कलुषित जीवन व्यतीत किया करें । वे हमें पाप-मार्ग से हटाने के लिए भांति भांति की शिक्षायें देते हैं । ये शिक्षाएं कई बार बड़ी कठोर भी होती हैं । जितना ही हम पाप-मार्ग से हटने में लापरवाही करते हैं, उतना ही प्रभु के शरु उसके मारने के दण्ड देने के साधन—उग्र हो जाते हैं। परन्तु हमारा दुर्भाग्य यह है हम प्रायः ही पाप के मार्ग पर बड़े उग्र-रूप से चलते रहते हैं । हम अपने दैनिक जीवन में प्रायः सत्य की परवाह नहीं करते, न्याय को कुचल डालते हैं, दया का गला घोंट देते हैं, संयम और इन्द्रिय-जय को तिलांजली दे देते हैं, ज्ञान के—असलियत पहचानने के—पास नहीं फटकते, परोपकार का नाम नहीं लेते । एक शब्द में, हम अपने दैनिक जीवन में धर्म को बुरी तरह पैरों तले मसलते रहते हैं । और फिर आश्चर्य की बात यह है कि बहुत छोटी-छोटी बातें, बहुत छोटे-छोटे लाभों की सम्भावना, बहुत छोटी-छोटी हानियों की आशंका हमें धर्म-पथ से विचलित कर देती है । जरा सी बात से हम काम, क्रोध, मोह आदि विकारों के आधीन होकर धर्म का मार्ग छोड़ देते हैं । ज़रा सी बातें हमें छल, कपट, क्रूरता अन्याय आदि करने कराने के लिये उद्यत कर देती हैं । हम थोड़ी ही देर में इस अधर्ममय जीवन के इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि हमें यह भान होना भी भूल जाता है कि हम कोई पाप कर रहे हैं । हम पापी होते हुए भी बड़े आनन्द के साथ अपने आपको निष्कलंक समझा करते हैं । हम आत्म-निरीक्षण करके देखते नहीं कि जब हम अपने को बड़ा निष्कलंक समझ रहे होते हैं, तब भी असल में हमारी आत्मा पर पाप की कितनी मोटी तह चढ़ी होती है । हम सबके इस उग्र पापमय जीवन का परिणाम यह होता है कि हमें प्रायः परमात्मा के शरु की—उसके वज्र की—मार सहनी पड़ती है । कभी भूकम्प आकर जन और धन का विध्वंस कर जाते हैं, कभी अग्नि-ज्वालायें नगरों के नगरों को भस्म कर जाती हैं, कभी आंधियें चलकर प्रलयकांड मचा जाती हैं, कभी अतिवृष्टि के कारण बाढ़ें आकर ग्रामों, खेतियों, पशुओं और मनुष्यों को नष्ट कर जाती हैं, कभी अनावृष्टि के कारण खेतियों, चरागाहों और जंगलों के शुष्क हो जाने से मनुष्यों और उनके पशुओं पर विपत्ति के वज्र आ गिरते हैं, कभी सक्रामक रोग मृत्यु का रूप धारण करके प्रान्त के प्रान्त को हड़पने के लिए मुंह खोलकर आ खड़े होते हैं । कभी हमारे पाप हमें भयंकर युद्धों के द्वारा

लाखों मनुष्यों का रक्त-पात करने के लिए बाधित कर देते हैं। परमात्मा का शरु—उसका वज्र—अनेक रूपों में हम सब के ऊपर आकर गिरता रहता है। पापी होकर उसके वज्र से कोई नहीं बच सकता। आज नहीं तो कल, इस जन्म में नहीं तो आगामी जीवन में, एक न एक दिन उसके वज्र की मार पापी ! तुझपर अवश्य पड़ेगी।

कोई कितना ही बड़ा हो जाय, देर तक पाप के जीवन में रह कर वह फलता-फूलता और बढ़ता नहीं रह सकता। पुराने शुभ कर्मों के क्षय होने पर एक समय आवेगा, जब उसकी सारी शक्ति और समृद्धि धूल में मिल जायेगी।

हम पापी क्यों हो जाते हैं ? इसलिये कि हम 'अमन्यमान' हो जाते हैं। हम अपने आत्मा को नहीं समझते, परमात्मा को नहीं समझते, संसार में चल रही भगवान की नियम-व्यवस्था को नहीं समझते। यदि हम अपनी वास्तविकता को पहिचान लें, भगवान् के स्वरूप को जान लें, प्रभु-रचित संसार में काम कर रही नियम-व्यवस्था को समझ लें, 'मन्यमान' हो जायें, तो हम से पाप नहीं होंगे। जब हम से पाप नहीं होंगे, तो भगवान् का वज्र भी हम पर नहीं गिरेगा। भगवान् तो केवल हमें जगाने के लिये ही हम पर वज्र गिराते हैं। जब हम स्वयं ही जागे हुए हों, तब भगवान् को हम पर वज्र गिराने की क्या आवश्यकता है ? और हमारे राष्ट्र में जितने ही बहुसंख्यक लोग 'मन्यमान' होंगे—जागे हुए होंगे—उतने ही कम भगवान् के वज्र हमारे राष्ट्र पर गिरेंगे।

मनुष्य ! तू 'मन्यमान' होकर अपने को पहिचान, उस परमैश्वर्यशाली भगवान् को पहिचान और उसकी नियम-व्यवस्था को पहिचान। फिर तेरे पास दुःख का मूल पाप नहीं रहेगा।

विश्व-मतों में वेद-मत ही विज्ञान-सम्मत है

[*ले०—श्री पं० किशोरीलालजी एम०ए०, काव्यतीर्थ अलीगढ़*]

"मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना" वाली कहावत विश्व के मत-मतान्तरों पर भी चसाचस लागू होती है। 'तुलसी' ने भी अपने प्रभु राम के विषय में ठीक ही लिखा है—"जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।" दूर क्यों जाँय ? अपने सनातनी बन्धुओं को ही ले लीजिये। कितने मनगढन्त देवी देवताओं की सृष्टि कर डाली है। एक नहीं, दो नहीं, उनकी संख्या तेतीस करोड़ तक बताई जाती है। उनकी आकृतियाँ विचित्र, सवारियाँ विचित्र, गुण विचित्र, खान-पान विचित्र। बात यह है कि विश्व में मूर्खों की संख्या अत्यधिक है। फिर यह बात नहीं कि पढ़ लिख कर मूर्खता विनष्ट हो जाती हो। करोड़ों विद्वान् अध्यापक, उपदेशक, साधु, सन्यासी, वकील, डाक्टर और स्वयं सुधारक बनने का दावा करने वाले भी चहुँ ओर देखने को मिलते हैं, जो यह जानते हुए भी कि बीड़ी सिगरेट का प्रयोग हानिकारक है, रेलवे एंजिन की भाँति फक-फक धुँआँ उड़ाते लज्जित नहीं होते।

अपने रेवड़ के रेवड़ देवी देवताओं के होते हुए भी पढ़े-लिखे हिन्दू काँगड़े की ज्वालाजी, अजमेर, जलेसर और अतरौली के मियाँजी की जात जगाने प्रतिवर्ष हजारों और लाखों की संख्या में जाते देखे जाते हैं। उन्हें समझाइये, उपदेश दीजिये, सब निरर्थक ! उल्टे लड़ने को तैयार !! तहसील खैर (अलीगढ़) में सोफ़ाखेड़ा एक गाँव है। कई वर्ष की बात है। गाँव के ठाकुर साहब को मज़ाक सूझा। एक सकिन से आड़-काढ़ थी। क्या प्रसिद्ध कर दिया कि यह सकिन जादू-गरनी है। इसकी फूक से असाध्य से असाध्य रोग शान्त हो जाते हैं। कई एक सज्जन गुट्ट में शामिल थे। किसी ने कहा सकिन को जिन्न सिद्ध है। इसकी फूँक से मेरी दाढ़ का दर्द मिनटों में जाता रहा। दूसरे

ने लोगों से कहा—"गजब की सकिन है, फूँक मारते ही मेरे शिर का दर्द रफू चक्कर हो गया"। तीसरे ने समीप में जाकर प्रसिद्ध किया कि हमारे गाँव में एक विलक्षण सकिन है; उसके फूँक मारने ही रोग दुम दबाकर भागते हैं। अब क्या था? बिजली की भाँति धूर्तता-भरा यह समाचार दूर-दूर तक प्रसारित हो गया। मूर्खों को जाने दीजिये, बड़े-बड़े बाल की खाल निकालने वाले वकील डिप्टीकलक्टर—कोई अपनी पुत्र-कामिनी जुरुआ को लेकर, कोई प्रेत से पीड़ित पुत्र-पुत्रियों को लेकर—दूर-दूर से सोफाखेड़े पहुँचे। सवा रुपये के बताशे चढ़ाने पड़ते थे। ठाकुर साहब ने बताशों की दूकानें खुलवादीं। वे ही बताशे फेर फेर कर बिकने लगे। रोज पैंठ सी लग जाती। खासा मेला लग जाता। न जाने कितने आँख के अन्धे और गाँठ के पूरे नर नारी इस जाली फन्द में फंसे?

उपर्युक्त घटना कोई मनगढ़न्त किस्सा नहीं, फसाना नहीं। वास्तविक, हाड़-माँस के बने स्वार्थ-साधकों का, षड्यन्त्र था। विश्व के अनगणित पन्थों, मतमतान्तरों, सम्प्रदायों के मूल में इसी प्रकार की किम्वदन्तियों का प्रसारण और प्रचारण मात्र है। चाय और बीड़ियों का प्रोपैगंडा कौन रोज नहीं सुनता, और देखता? "गर्म चाय गर्मियों में ठंडक पहुँचाती है"—इस आकर्षक झूँठ के शिकार एक नहीं, दो नहीं, सौ नहीं, हजार नहीं, लाखों और करोड़ों की संख्या में शहरों, कस्बों, ग्रामों, स्टेशनों, सिनेमागृहों, शादी-व्याहों, सरकारी-भोजों में नित्य देखे जाते हैं। बिना टी-पार्टी के सब फङ्कशन फीके। टट्टी जाना, मुँह-हाथ धोना पीछे, और चाय का प्याला पहले। बहुतों को बिना चाय और बीड़ी पिये टट्टी ही नहीं उतरती।

गुरु-डम का प्रसार भी इसी प्रकार हुआ। संस्कृत के श्लोक रचे गये। जो संस्कृत नहीं जानते थे, उन्होंने हिन्दी के दोहे गढ़ लिये। आज तो वे सबकी जबान पर हैं—

गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णुः, गुरुर्देवमहेश्वरः।
गुरुः साक्षात् पर ब्रह्म सर्वं गुरो महायते ॥

गुरु गोविन्द दोनों खड़े किसके लागूँ पाँय,
बलिहारी हरि आपका जिन सत गुरु दिये बताय।

मुसलमान भाई अपने को एक खुदावन्द करीम के उपासक प्रसिद्ध करते हैं। एक मुस्लिम कवि ने तो यहाँ तक कह डाला:—

"वहदत में तेरी हर्फे दुईकान आसके।
आईना क्या मजाल तुझे मुँह दिखा सके"॥

कवि का आशय कि यदि अल्ला मियाँ भी अपने हाथ में आईना (दर्पण) लेकर अपना मुख देखने का प्रयत्न करे, तो सम्भव नहीं कि उसमें अपना मुख तक देख सके। तब प्रश्न उठता है—क्यों साहब, नमाज के साथ एक बार नहीं, पाँच बार, कान में उँगली डाल—"लाइलाहिल्लिल्ला मुहम्मद रसूलिल्लाह" कहकर जोर जोर से चिल्लाकर बाँग लगाने की क्या आवश्यकता? जब नहीं है कोई अल्ला, सिवाय अल्ला के", तब ये "रसूलिल्लाह" बीच में कहाँ से कूद पड़े? इसमें भी बड़ा भारी रहस्य छिपा है—"अरब के मूर्ख, अपढ़ बद्दुओं को दिन में पाँच बार जोर जोर से चिल्लाकर और सुना-सुना कर, ढंढोरा पीटकर यह प्रोपैगंडा किया जाता था कि हजरत मुहम्मद खुदा के भेजे रसूल हैं। इनके विषय में भी स्वार्थी यार लोगों ने बड़ी बड़ी विचित्र मनगढ़न्त बातें प्रसारित करके मूर्ख जनता को फाँसने का प्रयत्न किया; जैसे उँगली के इशारे मात्र से चन्द्रमा के दो टुकड़े कर देना। चौथे आसमान पर स्थित अर्शे मोअल्ला से मुलाकात करने और सन्दिग्ध बातों का समाधान करने, मुहम्मद साहब का वहाँ जाना। मुसलमानों के धर्म-ग्रन्थ कुरान शरीफ की आयतें इसी प्रकार रसूले खुदा मुहम्मद साहब पर नाजिल हुई बताई जाती हैं। मदर्सों में आजकल साइन्स पढ़ाने का दौर दौरा है। किसी क्लास में चले जाइये, और विद्यार्थियों के सम्मुख उपर्युक्त बातों की चर्चा कीजिये, आप की बात ध्यान से सुनेंगे? नहीं, खिल खिलाकर हँस पड़ेंगे, और आपको दिमाग-फिरा समझेंगे।

फिर विचारे मुसलमान भाइयों को ही क्यों दोष दिया जाय? हिन्दू भाई क्या इस प्रकार की टल्लों में किसी से पीछे हैं? उनके आराध्य देव 'राम' के प्रसिद्ध अनुचर 'हनुमान' ने क्या बालदशा में ही सूर्य भगवान् को लड्डू की भाँति गाल में नहीं रख छोड़ा था? अगस्त्य मुनि की कृति भी कुछ कम आश्चर्य-

जनक नहीं। महासागर के महासागर को सिर्फ तीन चुल्लुओं में ही खत्म कर डाला। और फिर दयालु हुए तो ऐसे कि सबके सबको लघुशङ्का द्वारा पुनः महासागर को प्रदान कर, पुनः उससे आप्लावित कर दिया, तभी से तो बिचारा समुद्र क्षार- युक्त बना! कहिए— है ना दार्शनिक और वैज्ञानिक सत्य?

ईसाई बन्धुओं को लीजिए। दुनियां के साधारण पिता दस-दस पुत्रों को जन्म दे डालें; किन्तु उनके स्वर्गीय पिता मुश्किल से एक ही इकलौते पुत्र 'मसीह' को जन्म दे पाये। किन्तु उन्हें शक्ति सबसे विचित्र प्रदान की—दुनियाँ भर के भूत भविष्यत् और वर्तमान स्त्री पुरुषों के पाप-पुञ्ज को अपने कंधे पर लाद अपने स्वर्गीय पिता के राजदरबार में जा पधारे। अब वहाँ वे जिस किसी की भी सिफारिश कर देंगे बस उसी को मोक्ष मिलेगी, अन्यों को नहीं। और सिफारिश किसकी की जायगी, इसका अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है, जो खुदा के इकलौते प्रिय पुत्र पर ईमान लावे। इस प्रकार मुसलमान और ईसाई बन्धुओं के खुदा के न्याय से महात्मा गाँधी, लोकमान्य तिलक, नेता जी सुभाष चन्द्र बोस ऐंड को० सब के सब दोजख की आग में पटके गये होंगे। क्यों? इसलिये कि वे सब के सब काफिर थे। रसूले खुदा, और स्वर्गीय पिता के इकलौते-पुत्र मसीह पर ईमान नही लाये।

संसार के प्रमुख मतावलम्बी बौद्धों को अभी नहीं छेड़ा। वे हिन्दुओं की कई बातों से मेल खाते हैं। सत्य, अहिंसा, अस्तेय ब्रह्मचर्य्य पुनर्जन्मादि के वे भी वैसे ही पक्षपाती है, जैसे हिन्दू। सृष्टिका कर्त्ता वे किसी को नहीं मानते, इसीलिए वेदों पर भी उनकी आस्था नहीं। बस बुद्धदेव ही उनके आराध्य देव हैं, और उनकी शिक्षायें ही उनके धर्मग्रन्थ। इस प्रकार बौद्ध-मत भी मनुष्य-कृत धर्म है और त्रुटियों से मुक्त नहीं हो सकता।

किन्तु संसार के सभी विभिन्न मतमतान्तरों के प्रतिकूल "वैदिक-धर्म" किसी एक पुरुष द्वारा प्रचालित नहीं किया गया। वह आदि-धर्म है, और उसका आदि-पुरुष परमात्म-देव द्वारा ही प्रेरित होना संभव है। कारण! कारण यह है कि वही सबका सम्मिलित पिता, माता, गुरु, स्वामी, सखा और बन्धु है। वही क्यों? "कालानवच्छेदात्"। सब का ताँता चलते चलते अन्ततोगत्वा वहीं टिकता है। उसकी शिक्षायें सार्वभौम हैं! किसी जाति-विशेष पंथ-विशेष, संप्रदाय-विशेष के लिए नहीं:—

"यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्याᳬ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय......च ॥ (यजु० अ० २६..मं० २)

कितने स्पष्ट शब्द हैं! वेद की कल्याणी शिक्षायें सबके लिये समान रूप से विहित हैं—चाहे ब्रह्म (ब्राह्मण) हो, राजन्य (क्षत्रिय) हो, शूद्र (अपढ़ मजदूर) हो, अर्य (किसान व्यापारी, दस्तकार) हो, स्व (अपना समीपी रिश्तेदार) हो, अरण (दूर का, वनवासी पुरुष) हो। किसी के साथ कोई भेद-भाव नहीं।

वेद-विहित कर्तव्यों का लक्ष्य प्राकृतिक पदार्थ हैं, जो वैदिक भाषा में देव या देवता कहलाते हैं:—

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भाग यथापूर्वे संजानाना उपासते ॥
(ऋ० १०. १९. २)

आज अपने चहुँ ओर दृष्टि प्रसार कर देखिये—भाई-भाई में द्वेष, बहन-बहन में जलन, भाई-बहनों में प्रेमाभाव, पती-पती में कलह, गुरु-शिष्यों में तनाव, राजपुरुष और प्रजावर्ग में पारस्परिक प्रवञ्चना, मिल-मालिक और मजदूरों में नित्य के झगड़े, देश-देश और राष्ट्र-राष्ट्र में घोर शत्रुभावना का बोल-बाला मिलेगा। विगत चालीस वर्षों के अन्दर दो महायुद्धों की विभीषिकाएँ देखीं। तीसरे की चुपके चु के तैय्यारियाँ हो रही हैं। कुशलता की बात इतनी ही है कि उनके रोकने के भी उपाय हो रहे हैं। हमारे प्रधान-मंत्री श्री पं० जवाहरलाल जी नेहरू के प्रयत्न सराहनीय हैं। यदि प्रयत्न असफल रहे, तो मानव-समाज का सर्वनाश भी अवश्यंभावी है।

उपर्युक्त वेद-मंत्र में हज़रत मसीह के स्वर्गीय-राज, गाँधी के राम-राज और विश्व-शान्ति को भूलोक में प्रस्थापित करने का राम-बाण-नुस्खा तजवीज कर दिया

है। अथवा यों कहिये, कि जीवनचर्या का परिपूर्ण चित्र सम्मुख उपस्थित कर दिया गया है:—

(१) (सं-गच्छध्वम्) परस्पर भली प्रकार मिलजुल कर चलो। यह न हो कि एक का मार्ग पूर्व को, और दूसरे का उसके प्रतिकूल पश्चिम को। सास कहती है लीपने को, और बहू चलती है खुर्पे से खोदने को।

(२) (सं-वद्ध्वम्) सब मिलकर प्रेम-पूर्वक वार्तालाप किया करो। एक दूसरे की व्यर्थ नुक्ता-चीनी, छिद्रान्वेषण न किया जाय। वाणी का घाव तलवार के घाव से कहीं बढ़ कर दुष्पूर होता है। कौरव-पाण्डव-विनाश का मुख्य कारण द्रौपदी का व्यङ्ग वचन—"अन्धों के अन्धे ही उत्पन्न होते हैं" ही तो था।

(३) (सं वो मनांसि जानताम्) एक दूसरे की मानसिक भावनाओं का यथोचित ध्यान रखा जाय। अपने ही मन की सदा न करना, अपितु दूसरे के मन को भी प्रसन्न रखने का प्रयत्न किया जाय।

(४) (पूर्वे देवा यथाभागम्) सृष्टि की आदि से जैसे सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी अग्नि, वायु आदि देव गण अपना-अपना नियमित कार्य, बिना स्वार्थ-बुद्धि के, केवल परोपकार दृष्टि से नित्त करते दिखाई देते हैं, वैसे ही—

(५) सं-जानाना उपासते) खूब समझ-सोचकर मनोयोग देकर, बिना किसी को हानि पहुँचाये, अपना-अपना कर्तव्य पालन किया जाय। दिखावा, प्रदर्शन, आत्म-श्लाघा आदि का लेश न हो। स्वयं जीवें, अन्यों को सहर्ष जीने दिया जाय।

वेदों में प्राकृतिक पदार्थों के गुण-वर्णन किये गये हैं, उनसे उपकार लेने, तद्वत् स्वयं आचरण करने, का सङ्केत भी किया गया है:—

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम् ॥ (ऋग्. १. १. १.)

बड़ा प्रसिद्ध वेदमंत्र है। भाव भी बड़े गम्भीर हैं। किन्तु मैं गम्भीरता पर नहीं जाता। सीधे-सादे बाल-बुद्धि-गम्य अर्थ को लेता हूँ—

(१) (अग्निम् ईडे) अग्नि अर्थात् आग की परिभाषा करता हूँ, गुण-वर्णन करता हूँ। कैसी है वह अग्नि?

(२) (पुरोहितम्) सामने रखी जाने वाली, पीठ पीछे नहीं। पीठ पीछे क्यों नहीं? सम्भव है कपड़े न जल जाँय। और यदि हवा चल रही हो तो कपड़े उतारते उतारते सारा शरीर ही न झुलस जाय। अतः यदि तापना हो तो सामने आग जलाकर, भोजन बनाना हो, तो सामने चूल्हा, या अँगीठी रखकर कार्य किया जाय।

(३) (यज्ञस्य देवम्) वह यज्ञ की देवता है, यज्ञ करने का दिव्य साधन है। यज्ञ क्या वस्तु? कोई भी श्रेष्ठ कर्म, कल्याण का, जनहित का कार्य। साधारण हवन से लेकर राज-सूय और अश्वमेध यज्ञ तक सब में अग्नि की आवश्यकता है। भोजन की तो प्रत्येक शुभ वा अशुभ कार्य में आवश्यकता पड़ती ही है। चोर भी भूखे चोरी नहीं कर सकते, सत्कर्मों का तो कहना ही क्या? आज तो बिना अग्नि का सहारा लिये एक मिनिट भी काम नहीं चल सकता।

(४) (ऋत्विजम्)वह ऋतु-ऋतु और समय-समय पर काम आने वाली वस्तुओं को जन्म देती है, उत्पन्न करती है। ऋतु-ऋतु में उत्पन्न होने वाले फल-फूल, और नाना प्रकार के अन्नादि की उत्पत्ति का कारण जलवायु ही है—जाड़ा, गर्मी, बहार बसंत की भिन्न-भिन्न उपज का कारण जलवायु ही है, जो भुवन-भास्कर सूर्य की ताप पर निर्भर है।

(५) (होतारम्) वह होता, सृष्टि के समस्त आदान-प्रदान कार्यों का प्रमुख साधन है। (हु) दाना-दानयोः प्रीणने च। जहाँ सुष्ठु रीतिसे दानादान कार्य होते रहते हैं, वहीं प्रीति वृद्धि सम्भव है। सूर्य ने अपने ताप द्वारा भाप-रूप में समुद्र का जल ऊपर खींचा, और वर्षा-रूप में समस्त भूमि को उसे बाँट दिया। विविध प्रकार के अन्न किसानों ने उत्पन्न किये, बाजार बाजार भेजे गये। वहाँ से बाजार की आवश्यक वस्तुएँ खरीदी गयीं। कितना-प्रदान हुआ? किसके कारण? सूर्य और विद्युत् के कारण। लौहार मनाय गये, दाँतें

हुई, नित्य के स्वादिष्ट भोजन बने। कितनी प्रीति-वृद्धि हुई!

(६) (रत्न-धातमम्) वह रत्नों को, विविध प्रकार की बहुमूल्य धातुओं—सोना, चाँदी, हीरा और जवाहरात, जो भू-गर्भ में स्थित हैं, को धारण और पोषण करने वाली है। कोयले से हीरा भूगर्भ में अग्नि और दबाव द्वारा ही बनता है।

किसी के गुण जान लेना मात्र काफी नहीं, उनसे लाभ लेना और स्वयं तद्वत् आचरण करना ही मुख्य बात है। वेद सङ्केत करता है कि हमारी सेवाएँ ऐसी हों, कि जनता हमें अग्निवत् पुरोहित बनाए, नेता बनाए, सदा सामने बिठा आदर की दृष्टि से देखे। हमारा जीवन यज्ञमय हो। सूर्यवत् जो कुछ अर्जन करें, उसे परोपकार में लगा दें, सञ्चय लीन न बनें। खूब प्रेम-पूर्वक आदान-प्रदान करते रहें। तप और त्याग द्वारा संसार के लिए आदर के पात्र बनें। खिचड़ी के एक दो चावलों की भाँति वेद की बहुमूल्य शिक्षाओं के एक दो नमूने मात्र पेश किये गये हैं। वैदिक खजाने में एक से एक बहुमूल्य रत्न भरे पड़े हैं। कोई भी वैज्ञानिक जौहरी आए और विज्ञान की कसौटी पर कस कर देखे। खुला चैलेंज है॥

यज्ञ

[ले०—श्री लालचन्द जी, मेरठ]

"यज्ञ शब्द बहुत व्यापक अर्थों वाला है। संक्षेप में कहना हो तो कह सकते हैं कि लोकोपकारक सभी शुभ कर्म यज्ञ हैं। सकाम, निष्काम, नित्य, नैमित्तिक सभी कर्म, यदि मन और हृदय को पवित्र करते हैं, तो ये सार्थक हैं और यज्ञ हैं। यज्ञ = शुभ कर्मों का फल अन्तः-करण की शुद्धि है। इसलिए कहा है—**ते वो हृदे मनसे सन्तु यज्ञाः**—वे सब हृदय और मन के लिये यज्ञ हों। शुभ कर्म बेपरवाही और अनास्था से नहीं करने चाहियें, अति प्रीति श्रद्धा एवं आस्था से ये करने चाहियें"। (स्वाध्याय सन्दोह)

श्रद्धा और विश्वास से किये गये यज्ञ (शुभ कर्म) अन्तःप्रकाश को विषय करते हैं और इसी जीवन में मनुष्य को फल लाते हैं। यज्ञ से वर्तमान तो सुधरता ही है, भूत के किये हुए यदि कोई अपकर्म हों, तो उनके मैल भी अन्तःपटल से धुल जाते हैं। नित्य शुभ भाव, शुभ संकल्प, शुभ विचार, शुभ कर्मों की योजनाओं की लग्न से ही मनुष्य के विचार सतत पवित्र होते रहते हैं, और इसमें सन्देह नहीं कि सत्संग से जब यज्ञ-भावना हृदय में उदय होती है, तो वह चित्त, मन और बुद्धि तक को पवित्र करती है और मनुष्य का हृदय विशाल होता जाता है तथा उसका दृष्टिकोण ही बदल जाता है। यज्ञ-भावना के उदय होने से जैसे सूर्य के प्रकाशोदय में अन्धकार विलीन हो जाता है, ऐसे ही स्वार्थ दूर रहता है। ज्यों-ज्यों मनुष्य में यज्ञ-भावना प्रदीप्त होती है, पावन तो वह है ही, मनुष्य में आत्म-बल, आत्मविश्वास, अनुभव होने लगता है। यज्ञ में रुचि रखने वाले सज्जनों के मन के मैल धुल जाते हैं। वे पाप को अपने से अलग करने में समर्थ हो जाते हैं। उनपर पाप का आक्रमण नहीं हो सकता। निरंतर शुभ विचार और शिव संकल्प का परिणाम होता है सत्कर्म, उसका प्रभाव अवश्य भविष्य पर उत्तम पड़ता है। इस प्रकार यज्ञ भूत वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में मनुष्य की कीर्ति करने वाला है। जिस मनुष्य ने पहले संकीर्ण भाव विचार रखे हों, वह सत्संगति से यदि उदार भाव विचार धारण करने लगे, तो उसके पहले व्यवहार को भुला दिया जाता है और उसका यश ही होता है। यश की कामना-वाले व्यक्ति के लिए यज्ञ कर्म अनिवार्य है। शुभ कर्मों से मनुष्य का यश अमर होता है। मनुष्य का शरीर नश्वर है,

पर यज्ञ करने वाला अमर हो जाता है। उसका यश अमर हो जाता है। शुभ कर्म करने ही चाहियें, इनसे अपना तथा समाज का भला होता है। सेवा के पवित्र भाव मनुष्य के अन्दर प्रकाश की किरणों को फैलाते हैं। पवित्रात्मा ही सेवा-कर्म में सफल होता है। परोपकार और सेवा में से जब परायेपन का भाव धीरे धीरे चला जाता है, तो मनुष्य में अनन्यता आ जाती है। वह भेदभाव नहीं रखता। मनुष्यों से वैरविरोध तो उसमें रहता ही नहीं। हां, अनृत, मिथ्याचार, अनाचार, दुराचार, व्यभिचार दिखावे के शिष्टाचार को वह नहीं चाहता। पर मनुष्यों के प्रति उसमें आदर का भाव ही रहता है। उसका विरोध है भी तो अवगुण से, न कि मनुष्य से। मनुष्यों का हित ही तो उसके जीवन का उद्देश्य होता है। सत्य और अहिंसा ये दो स्तम्भ हैं यज्ञ के। यज्ञ अध्वर है, इसमें हिंसा तो होती ही नहीं और यज्ञ ऋत है। नैतिकता क्रियात्मक रूप में यज्ञ ही है। समाज में ही तो मनुष्य की परख है। हम अपने से बड़े, बराबर वालों तथा छोटों से यदि आदर, सत्कार, सम्मान और उदारता से व्यवहार करते हैं, और जो आज गिरे हुए हैं, सम्भवतः समाज द्वारा दलित ही हों, उन्हें ऊँचा करते हैं, उन्हें पवित्र करते हैं और उन्नत होने के अवसर देते हैं, तो अवश्य हम यज्ञ कर रहे हैं। यज्ञ से मन विमल होता है, मस्तिष्क शुद्ध होता है और हृदय पवित्र होता है, यज्ञ प्रत्यक्ष फल देने वाला है, यज्ञ इसी जीवन में मनुष्य का उद्धार करता है और उसका भविष्य तक उज्वल करता है। यज्ञ करने वालों में संकल्प की दृढ़ता की अपेक्षा है, उनमें उत्साह और साहस बना रहना चाहिये। मन्द उत्साह से और अरुचि से यज्ञ संपन्न नहीं होता। यज्ञ में उदासीनता नहीं आनी चाहिये। यज्ञ में विघ्न आते ही हैं। विघ्नों को परे करने का, बाधाओं को दूर भगाने का सामर्थ्य यजमान में होना आवश्यक है। मनुष्यों का मिलकर तथा मिले रहने की इच्छा से यज्ञ में प्रवृत्त होना चाहिये। यज्ञ का रहस्य ही संगति करना है। यज्ञ मेल में ही संपन्न होता है और यज्ञ आपस का मेल, समन्वय, सौजन्य, सौहार्द और प्रेम बढ़ना चाहिये। सामंजस्य के बिना यज्ञ नहीं होता। आपस का विश्वास यज्ञ के लिए नितांत आवश्यक है। यज्ञ के करने वाले ऋतु और दक्ष होने चाहियें। वे कार्य-कुशल और सशक्त हों। शक्तिहीन और मूढ़ मनुष्य न तो अपना हित साधता है और न उससे दूसरे का हित ही हो सकता है। यज्ञ का करने वाला विश्वासी संकल्प में दृढ़ और आत्म-शक्ति-संपन्न होना चाहिये। ताकि प्रबल से प्रबल विघ्न बाधाएँ भी उसे अपने निश्चित कर्तव्य से विचलित न कर सकें। प्रकाश, शक्ति, सामर्थ्य सभी चाहते हैं। सभी विमलता और ज्योति के इच्छुक हैं। सभी आत्म-विकास चाहते हैं। इस इच्छा-पूर्ति का यज्ञ ही मुख्य साधन है। यज्ञ साधन भी है और साध्य भी। यज्ञ नाम भगवान् का है। यज्ञ से हम यज्ञ को प्राप्त होते हैं। यज्ञ-विधि से ही यज्ञ-पुरुष के लिए भजन किया जाता है।

"मनुष्य जीवन भी एक यज्ञ है। सात ज्ञानेन्द्रियाँ (पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ एक मन तथा सातवीं बुद्धि) पांच कर्मेन्द्रियों के साथ मिलकर आत्मा के प्रिय पद की रक्षा करती हैं। आत्मा के अभीष्ट की रक्षा से इनकी अपनी भी रक्षा होती है। इनकी सफलता भी इसी में है कि आत्मा के अभीष्ट की सिद्धि हो। दूसरे की भलाई करने से वास्तव में अपनी भलाई होती है, अतः दूसरे की भलाई का अवसर मिलने पर भलाई करने से चूकना नहीं चाहिए। जिसका समस्त समय परहित में लगता है, उसके कल्याण की कल्पना तो करो" (स्वाध्याय सन्दोह)

ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों का सामंजस्य, आपस का मेल ही मानव-जीवन-यज्ञ चला रहा है। शरीर में जो समन्वय प्रत्यक्ष दीख रहा है, वही समन्वय समाज में और राष्ट्र में होना चाहिए। आत्मा के अभीष्ट को ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ पूरा करती हुई सफल होती हैं, इसी प्रकार समाज-हित तथा राष्ट्र-हित करती हुई ही जनता सुखी रहती है। समाज के सभी जनों का सामंजस्य अभीष्ट है और सभी को अपना अपना काय-भाग तत्परता और सच्ची लग्न से करना चाहिए। मनुष्य जीवन सचमुच यज्ञ है और इस यज्ञ की क्रिया हमें समाज में मेल से एक दूसरे की उन्नति में सहयोग देते हुए रहना सिखा रही है।

मनुष्य को अपनी मानवता में विकसित होते हुए आर्यत्व और देवत्व पाना है। जैसे इन्द्रियाँ आत्मा

का कारण होने से एक दूसरे की सहायक होती हैं और एक दूसरे की कार्यों की साधक बनती हैं। ऐसा ही सामंजस्य और समन्वय समाज में हो, तो यह हमारी पुण्य भूमि हो और इसी भू पर स्वर्ग उतर आए। यज्ञ से स्वर्ग-प्राप्ति का यही तात्पर्य है। जैसा कि आत्मा अमर है, इसी प्रकार समाज और राष्ट्र अमर हैं। राष्ट्रीय जीवन तभी पवित्र और उन्नत होगा, जब कि जनता का नैतिक स्तर सुधरे। जिस मात्रा में जनता में ऋताचार और सदाचार होगा, उसी मात्रा में समाज और राष्ट्र उन्नत और सशक्त तथा प्रभावशाली समझे जाएंगे।

हमें देवत्व प्राप्त करना है। हम विजयशील, ज्योतिसम्पन्न, प्रकाशयुक्त, शक्तिसम्पन्न और उदार हों, तो हम दिव्यजन कहे जाएंगे और अर्य (भगवान्) के गुण धारण करने से हम आर्य बनेंगे। भगवान् के गुण दिव्य हैं, अतः आर्य और देव एक ही प्रतीत होते हैं। जो आर्य हैं, जिसने अर्य के गुण धारण किये हैं, जो गुण दिव्य हैं वही देव हैं। भगवान् परम देव है, उसमें अनन्त दिव्य गुण हैं। जीवन का लक्ष्य सत्यं शिवं सुन्दरम् भगवान् से सायुज्य की अनुभूति है। वेद के अनुसार भगवान् इन्द्र (जीवात्मा) का सदा युज्या सखा है, सदा साथ रहने वाला सखा है। हमें दिव्य गुण धारण करके ऐश्वर्यवान् होकर भगवान् से अपना मेल अनुभव करना है, यही उद्देश्य है और भगवान् ही हमारा आदर्श है। भगवान् दिव्य विश्व यज्ञ कर रहे हैं। हमें अपना जीवन यज्ञ उत्तमता से करते रहना चाहिए। इसी में समाज और राष्ट्र की उन्नति और ऐश्वर्य निहित है।

यज्ञ द्वारा विश्व में सुव्यवस्था है। यज्ञ द्वारा ही जीवन-प्रवाह चल रहा है। यज्ञ को केवल अग्निहोत्र तक ही सीमित कर देना, और समिधा तथा घी सामग्री का हवन ही पर्याप्त समझना एक नितांत भूल है। एक समय भारत में ऐसा ही रहा, जब कि वेद के मंत्र केवल अग्निहोत्र में ही प्रयोग में लाने के लिये समझे गये थे, जहाँ मनुष्य की पशुवृत्ति का संयमन करके समाज के लिए उसे उपयोगी बनाना अभिप्रेत था, वहाँ उन्हीं मंत्रों द्वारा मनुष्य एवं पशु को स्तूप से बाँधा जाने लगा और उसे कुंड में जलाकर देवहित किया गया। अनेकों अनर्थ हुए, अनेकों हिंसा के कार्य हुए। उनके विरोध में आरण्यक का सृजन हुआ। लोगों ने समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारी भूल कर जंगलों में जाकर आत्मा, परमात्मा, मन, बुद्धि, इन्द्रियों की गति आदि सूक्ष्म विषयों पर बातचीत करना ही अपना कर्तव्य समझा। इस प्रकार सैकड़ों वर्ष व्यतीत हो गए। आपस के निजी झगड़ों में पारिवारिक और कौटुम्बिक वैमनस्यों के कारण जनता पिसती रही। सभी युद्ध यज्ञ-भावना के व्यापक होने से रुक सकते थे, पर वे रुकते कैसे?' लोग वेदों का तथ्य भूल चुके थे और उस सत्य को जानना भी न चाहते थे। थोथे कर्मकांड से बिना यज्ञ की व्यापक भावना समझे सामग्री ही फूंकने वाले यज्ञ मार्गों में जनता का तथा भारत के कथित विद्वानों का धन और समय नष्ट होने लगा। यज्ञ में समाज और राष्ट्र तथा विश्व के हित के लिए स्वार्थों की आहुतियाँ यदि पड़ती रहतीं, आपस के स्नेह तथा आत्म-बलिदान से आत्म-समर्पण और आत्मोत्सर्ग से समाज की रक्षा-रूप यज्ञ, जो वेद विहित था, जारी रहता, जो एक में उत्साह और नया जीवन फूंकता रहता, तो भारत का इतिहास ही कुछ और होता। आर्य राज्य-शासन बना रहता और भारतीय स्वतंत्र रहते। स्व अनुशासन में रहते हुए लोग एक दूसरे को उन्नति के लिये स्वार्थ-त्याग करते रहते, तो भारत के लोगों को सैकड़ों वर्ष दासता की जंजीरों में न बन्धे रहना पड़ता। यज्ञ एक व्यापक एवं मंगल का कार्य है, जो सर्वहित की भावना से ही किया जाना चाहिए। और यज्ञ अध्वर है। यज्ञ में हिंसा हो ही नहीं सकता। यज्ञ तो जीवन उत्साह साहस और सामर्थ्य बढ़ाने का साधन है और सर्वोन्नति के रूप में सुसंगठित समाज इस द्वारा बनने के कारण यज्ञ साध्य भी है। यज्ञ विष्णु है। इसका फल सब में फैलता है, जिस प्रकार अग्निहोत्र की सुगन्धि सब स्थानों में फैलती है और अन्तरिक्ष को पवित्र करती है इसी प्रकार यज्ञरूप सामाजिक सर्वोन्नति के शुभकर्मों का फल सीमित नहीं होता। जन-जन के हृदयों पर उसका प्रभाव अवश्य पड़ता है। शरीर में द्यौ-स्थानीय मस्तिष्क है और अन्तिरक्षस्थानीय हृदय है तथा पैर पृथिवी है।

"वही ऋषि ब्राह्मणों का प्रवचन करते थे, और वही धर्मशास्त्र आदि का भी। अतः भाषा के साक्ष्यपर कोई बात सिद्ध नहीं की जा सकती। भाषा तो विषयानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की हो सकती है"।

'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' (१म भाग ७२ पृष्ठ में) श्री भगवद्दत्त जी लिखते हैं—"जिन ऋषियों ने चरक, काठक आदि संहिताएँ और ब्राह्मण तथा कल्पसूत्र प्रवचन किये, उन्हीं ऋषि-मुनियों ने इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र और आयुर्वेद ग्रन्थों की लोकभाषा संस्कृत में रचना की। यही कारण है कि वर्तमान धर्मसूत्रों के अनेक वचन तथा याज्ञवल्क्य और महाभारत के अनेक पाठ ठीक ब्राह्मणसदृश भाषा में हैं"।

इसी को स्पष्ट करते हुए अनुसन्धाताजी आगे लिखते हैं—'पं० ईश्वरचन्द्र जी (भूतपूर्व दयानन्दोपदेशक विद्यालय गुरुदत्तभवन लाहौर के दर्शनाध्यापक) ने 'ब्राह्मणग्रन्थों के द्रष्टा और इतिहास-पुराण तथा धर्मशास्त्र के रचयिता ऋषियों का अभेद' नामक एक बृहद् ग्रन्थ रचा है। इस ग्रन्थ में उन्होंने सिद्ध किया है कि—शतपथ ब्राह्मण की भाषा वैदिक प्रवचन-शैली की भाषा होने, तथा 'ह वै' आदि प्रयोगों की बहुलता पर भी याज्ञवल्क्य-स्मृति की भाषा से पर्याप्त सदृशता रखती है। याज्ञवल्क्यस्मृति के अनेक पाठ पाणिनीय व्याकरण के प्रभाव से उत्तरोत्तर बदले गये हैं। पहले वे पाठ पुरातन लोकभाषा में थे,"(पृ० ७३)।

उक्त ग्रन्थ के ९४ पृष्ठ में तो आपने अन्य भी स्पष्टता कर दी है। वे लिखते हैं—'याज्ञवल्क्यस्मृति' वाजसनेय [शतपथ] ब्राह्मण के प्रवक्ता [श्रीयाज्ञवल्क्य] ने बनाई थी...इस विषय का विशद विवेचन पं० ईश्वरचन्द्रजी के ग्रन्थ में देखिए। याज्ञवल्क्यस्मृति के १०० से अधिक प्रमाण पाणिनि से पूर्व के हैं'।

श्री भगवद्दत्त जी बी. ए. की यह बात समूल भी है। शतपथ ब्राह्मण के अन्त में कहा है—'आदित्यानि इमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येन आख्यायन्ते' (१४।९।४।३३) यहाँ पर श्रीयाज्ञवल्क्य को सूर्य के द्वारा शतपथ ब्राह्मण की प्राप्ति कही है। इसका स्पष्टीकरण महाभारत के शान्तिपर्व में है। वहां याज्ञवल्क्य ने मिथिला के राजा जनक को यह कहा था—'मयाऽऽदित्याद् अवाप्तानि यजूंषि वसुधाधिप'! (३१८।१) ततः शतपथं कृत्स्नं...चक्रे सपरिशेषं च' (३१८।१९) इससे स्पष्ट है कि—श्रीयाज्ञवल्क्य मिथिला में उसके राजा जनक के पास रहा करते थे। यही याज्ञवल्क्यस्मृति में भी द्रष्टव्य है। उसमें कहा है—'मिथिलास्थः स योगीन्द्रः [याज्ञवल्क्यः] क्षणं ध्यात्वाऽब्रवीन्मुनीन्' (१।१।२)

उसी स्मृति में श्रीयाज्ञवल्क्य ने अपनी 'बृहदारण्यक' के लिये—जो कि शतपथ का अन्तिम (१४ वां) काण्ड है—कहा है—'ज्ञेयं चारण्यकमहं [याज्ञवल्क्यः] यद् आदित्याद् (सूर्याद्) अवाप्तवान्' (प्रायश्चित्ताध्याय ४।११०) यहां श्रीयाज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति में अपने से प्रवचन किए हुए बृहदारण्यक (शतपथ के १४ वें काण्ड) की सूर्य द्वारा प्राप्ति कही है।

इससे स्पष्ट है कि—शतपथ का द्रष्टा, तथा याज्ञवल्क्य-स्मृति के प्रणेता श्रीयाज्ञवल्क्य कोई भिन्न-भिन्न नहीं; किन्तु एक व्यक्ति हैं। जब ऐसा है, तो उक्त 'महोक्षं महाजं वा पचेत्' इस शतपथ के वचन शतपथ ब्राह्मण में तथा उसका उद्धरण देनेवाली वसिष्ठस्मृति में भी वही अर्थ इष्ट है, जो 'याज्ञवल्क्यस्मृति (१।५।१०९) में श्रीयाज्ञवल्क्य ने कहा है, अर्थात् उस बड़े बैल वा बड़े बकरे का 'यह आप के ही हैं' ऐसा अतिथि को कहना ही इष्ट है—उनका मारना नहीं।

इसी कारण उक्त वसिष्ठस्मृति के वचन में टीकाकार श्री कृष्णधर्माधिकारी ने भी ऐसी व्याख्या लिखी है—'गृहागताय अभ्यागताय...महोक्षणं—बलीवर्दं, महाजं वा पचेत्-भवदर्थमिति उपकल्पयेत्, न पाकं कुर्यात्-प्रत्यभ्यागतमुक्षाऽसम्भवात्। एवमस्मै अभ्यागताय आतिथ्यं-सत्क्रियां क्रियासुः'(४।८)। तब इस वचन से 'बैल को मारना' अर्थ याज्ञवल्क्य से प्रतिकूल ही अर्थ है। यही वेद में 'अतिथिग्व' शब्द से कहा है—जिसका अर्थ श्री सायणाचार्य ने अपने अथर्ववेदभाष्य में 'अतिथ्यर्थी गावो यस्याऽसौ अतिथिग्वः' (२०।२१।८) किया है। सो यह अतिथिसत्कारार्थ है, न कि गोवधार्थ।

अथवा—याज्ञवल्क्यस्मृति के 'उपकल्पयेत्' शब्द का अर्थ 'दान' भी हो सकता है। 'उत्तररामचरित' के चतुर्थाङ्क में उद्धृत 'श्रोत्रियाय अभ्यागताय वत्सतरीं महोक्षं वा निर्वपन्ति गृहमेधिनः' इस धर्म सूत्र के वचन में—जो कि शतपथ के अनुसार ही है—'निर्वपन्ति' का अर्थ 'ददति' (देते हैं) ही है। टीकाकारों—ने भी यही लिखा

है। अमरकोष (२।७।३०) में भी 'निर्वपण' शब्द दान के पर्यायवाचकोंमें है। तब उक्त सब स्थलों में 'दान' का अर्थ भी सम्भव है, पर 'मारना' अर्थ तो असम्भव है।

'उत्तररामचरित' में वैसे अर्थ में, वैसे करने-कराने वाले को व्याघ्र वा वृक बताकर उस अर्थ का उपहास किया गया है। वसिष्ठ को वहाँ वैसा पात्र बताकर वसिष्ठस्मृति के उक्त वचन को कइयों के मत में वैसे अर्थ वाला सूचित किया गया है, पर वसिष्ठ की वैसी घटना वाल्मीकि रामायण में कहीं संकेत से भी नहीं दी गई; तब वैसा अर्थ भी निर्मूल ही है।

वेद में गाय-बैल की महिमा बताई गई है। उसमें गाय को 'अघ्न्या' (देखो यजुर्वेदसंहिता ८।४३) तथा बैल को 'अघ्न्य' (देखो अथर्ववेदसंहिता ९।४।७) कहा है; तब उनकी हिंसा का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इस प्रकार 'गौर्मधुपर्कः स्यात् स्नातकाय उपस्थिताय राज्ञे वा' (२।८।८) इस 'आपस्तम्ब श्रौत सूत्र' के वचन में, भी गोदान' इष्ट है, 'मारना' किसी भी शब्द का अर्थ नहीं। यही अर्थ 'अर्हयेत् (पूजयेत्) प्रथमं गवा' (३।३) इस मनुवचन में भी अभिमत है कि—स्नातक को गाय देकर उसका सम्मान करे।

वस्तुतः 'गौर्मधुपर्कः' आदि में इसतद्धित प्रक्रिया से गाय का नवनीत, घृत, दुग्धादि मधुपेय ही इष्ट है, जो अतिथि, वा आचार्य, वा वर को दिया जाता है। 'नामांसो मधुपर्कः स्यात्' का भाव यह है कि—उक्त वस्तुएँ मांसल (स्निग्ध) हों, पुष्टिकारक हों, निःसार न हों। 'मांस' में अर्शआदिभ्योऽच्' (अष्टा० ५।२।१२७) सूत्र से मत्वर्थीय 'अच्' प्रत्यय हुआ-हुआ है, जिसका 'मांसल' अर्थ में पर्यवसान हो जाता है।

'महोक्षं पचेत्' आदि में 'पच' धातु का पूर्व कहा हुआ 'व्यक्तीकरण' अर्थ ठीक सङ्गत हो जाता है—जिसे मिताक्षराकार ने बताया है। 'परोक्षप्रिया देवाः प्रत्यक्षविद्विषः' इस न्याय से महान् देव के काव्य वेद में, तथा देवोपम ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों में भी कहीं-कहीं वह-वह बात परोक्ष शब्दों से कही जाती है, जिसे यथाश्रुत-ग्राही नहीं जान पाते। पाश्चात्य तथा पाश्चात्यानुयायी पौरस्त्य विद्वानों ने आपाततोदर्शी बनकर यही त्रुटि की है, जिससे यत्र-तत्र भ्रम फैल गया है।

अथवा—'उक्षा' का अर्थ 'सोम' भी होता है, जैसे कि—'सोम उक्षाऽभवत्' (ऋग्वेद सं० के सायणभाष्य में १।१६४।४३)। अथवा 'उक्षा' ऋषभकन्द भी होता है। मांसल होने से दीर्घायु बढ़ाने वाली औषधियों में 'उक्षा' वनस्पति भी है (राजनिघण्टु व. ५)। वहाँ उसके ऋषभः, उक्षा, गौः, वृषभः—यह पर्यायवाचक शब्द भी आये हैं। 'अज' का अर्थ 'अजमोदा' भी है। 'महाजा' यह बड़ी 'अश्वायन' का नाम भी होता है। अतिथि को भोजन-क्रिया के बाद पाचनक्रियार्थ अथवा बलवर्धनार्थ इन ओषधियों का दान भी सम्भव हो सकता है। अथवा 'अजा व्रीह्यस्तावत् सप्तवार्षिकाः' (पञ्चतन्त्र काकोलूकीय ३ कथा) 'अजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः। अजसंज्ञानि बीजानि नो छागं हन्तुमर्हथ' (महाभारत शान्तिपर्व ३३७।४) इस उक्ति से 'अज' शब्द का 'सात वर्ष के पुराने चावल' यह अर्थ भी है अतिथि के लिए उन्हीं का पकाना तथा वृषभकन्दका पकाना भी इष्ट हो सकता है।

परन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने इस सर्वाङ्गीणता को न विचार कर यथाश्रुत ही अर्थ लिए हैं; पर वह ठीक नहीं; यह हमने सिद्ध कर दिया है। हमने अपने महाग्रन्थ 'श्री सनातनधर्मालोक' में—जिसकी ग्रन्थमाला अब प्रकाशित की जा रही है—इस विषय पर पर्याप्त विचार किया है। शतपथ ब्राह्मण में (३।१।२।२१) गोभक्षक को गर्भघातक, सर्वभक्षी और पापी कहा है—तब श्रोत्रिय के लिए शतपथ को वैसा आतिथ्य कैसे सम्मत हो सकता है? फलतः 'वसिष्ठस्मृति' के वचन में तथा उसके मूलभूत शतपथ ब्राह्मण के वचन में गोवधानुशासन सर्वथा सिद्ध न हुआ। पाश्चात्यों की इन कल्पनाओं का कोई मूल्य नहीं।

'गोघ्न' अतिथि का नाम क्यों है, 'उक्षाणं वेहतं वा क्षदन्ते' इस ऐतरेण ब्राह्मण के वचन का क्या आशय है—इसे फिर लिखा जायेगा॥

भारतीय नाट्य-संस्था की प्राचीनता

(ले०—पद्मश्री संगीतमार्तण्ड श्री पं० ओङ्कारनाथजी ठाकुर, हिन्दूविश्वविद्यालय, काशी)

कभी कभी शुभ कर्म करने की इच्छा होते हुए भी कार्याधिक्य से विवश होकर उस शुभकर्म के प्रति उपेक्षा करनी पड़ती है और कभी कभी परेच्छा के वशीभूत हो कर अन्य सब कार्यों की ओर आंखें मूँद कर इस शुभकर्म के लिये कदम उठाना पड़ता है। आज इसी प्रकार श्रीमान् पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी के नितान्त अनुरोध के वशीभूत होकर तन मन की थकान की अवस्था में भी कदम नहीं तो कलम उठाकर उनकी इच्छा की पूर्ति करने बैठा हूँ।

ज्ञान के आदान-प्रदान से सर्वदा उसकी वृद्धि ही होती है। मैक्समूलर, कीथ, डा० ब्लोच प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों द्वारा भारत के विभिन्न ज्ञानक्षेत्र पर जो नूतन प्रकाश डाला गया और उनके दृष्टिकोण से भारत की ज्ञानराशि को देखने का अवसर मिला। तद्वत् पौरस्त्य विद्वानों ने पाश्चात्य प्रदेशों में जाकर उनकी दृष्टि से उनका और हमारा अपना प्राचीन ज्ञान धन देखा। इससे एक विशेष प्रकार का विकास-खण्ड हमारे सामने उपस्थित हुआ है। किन्तु, उससे कियदंशों में सत्य का विपर्यास भी हुआ है। अत्यल्प समय में लिखे गए इस लघु लेख में मैं भारतीय नाट्यसंस्था की प्राचीन परम्परा से सम्बन्धित कुछ शब्दों का, पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किया अर्थ-विपर्यास दिखाकर यह निर्दिष्ट करना चाहता हूँ कि कभी कभी शब्दों का यथार्थ आशय समझने में कैसी भूल हो जाती है, अथवा जान-बूझकर उनके अर्थों की कैसी तोड़-मरोड़ की जाती है, जिससे कि बहुत गैर-समझी फैलती है। इस प्रकार खोज करने वालों और विचार करने वालों के लिए कैसी उलझनें पैदा होती हैं, इसके कुछ उदाहरण नीचे उद्धृत किये जाएँगे।

यह सन्देह-रहित माना गया है कि कोई मनुष्य किसी अन्य व्यक्ति का रूप लेकर उस व्यक्ति की विविध चेष्टाओं का अनुकरण करे, अथवा किसी गद्य या पद्य विशेष का साभिनय पाठ या गान करे, ये सब क्रियाएँ नाट्य-संस्था की स्थापना के पूर्व के सोपान कही जा सकती हैं। भारतीय नाट्य-संस्था का यह रूप यजुर्वेद के रुद्राध्याय के चौथे अनुवाक् में प्रयुक्त 'विश्वरूप' शब्द से और साथ ही रुद्र के 'घोरातनु' और 'शिवातनु' इन दो रूपोंके वर्णनसे निर्दिष्ट होता है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि रूप बदलने की क्रिया, जो कि नाट्य-संस्था के आरम्भकाल की द्योतक है, वैदिक युग में अवश्य रही होगी। महाकवि कालिदास ने शायद इसी पर से कहा होगा—

'रुद्रेणेतमसुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा'।

रूप-परिवर्तन को ही 'स्वाङ्ग' शब्द से कहा गया होगा।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में पूर्ण अभिनय करनेवाले के लिये 'नट' शब्द का प्रयोग हुआ है और इसी ब्राह्मण के तीसरे अष्टक के चौथे प्रपाठक में, पुरुषमेध में जो बलि दिए जाते थे, उनकी स्मृति में 'शैलूष' शब्द का प्रयोग भी हुआ है। और इस शब्द का अर्थ पूर्ण अभिनय से युक्त 'नट' ही होता है। किन्तु इस 'शैलूष' शब्द का अर्थ यदि 'नट' मान लिया जाए तो ऐसा सिद्ध होगा कि भारत में नाट्य-संस्था अति प्राचीनकाल से चली आती है, यह समझ कर पाश्चात्य पण्डित श्री कीथ ने इसका अर्थ नट न लेकर नर्तक लिया है। वे कहते हैं—An actor or dancer may be meant- The exact Sense of Sailusa' depends on the question of how old the drama is in India. कीथ भारत में नाट्य-संस्था को बहुत प्राचीन मानने को तैय्यार नहीं है, यह उनके उपर्युक्त कथन से साफ़ दीख रहा है और इसीलिये उन्होंने शैलूष शब्द का अर्थ 'नट' न लेकर नर्तक लेने का यत्न किया है। वास्तव में उसी प्रपाठक में 'वंशनर्ती' शब्द के प्रयोग से कुल-परम्परागत नाच करने वाले को पृथक् रूप से अभिहित किया है। इसी से सिद्ध है कि शैलूष शब्द का अर्थ यहाँ नर्तक नहीं, अपितु नट ही है। इस शब्द से यह सिद्ध होता है कि यजुर्वेद-संहिता काल में नाट्य-संस्था का उद्भव हो चुका था।

वेद-काल के पश्चात् हम पाणिनि की अष्टाध्यायी को देखें तो उसमें भी 'छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबह्वृचनटाञ्ञ्यः' (अ०४।३।१२९)—इस सूत्र में छन्दोग, औक्थिक, याज्ञिक, बह्वृच् और नटों के कोई धर्म-ग्रन्थ अथवा आम्नाय-ग्रन्थ विद्यमान थे, इस पर प्रकाश पड़ता है। इतना ही नहीं, 'पाराशर्य-

शिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' (अ. ४।३।११०)—इस सूत्र से भी वही बात पुष्ट होती है कि पाणिनि के कालमें नाट्य-संस्था विद्यमान थी। किन्तु कीथ महोदय ने इन सूत्रों में आये हुए 'नट' शब्द का अर्थ अनिश्चित माना है। क्यों अनिश्चित है, इसका कारण वे नहीं देते हैं। किन्तु कारण स्पष्ट है कि वे भारत की इस नाट्य-संस्था को अति प्राचीन मानने को तैयार नहीं थे। उसे अति प्राचीन मानने से उनके पाश्चात्य 'अहम्' को शायद आघात पहुँचता हो, अन्यथा खुले सत्य का विपर्यास करने की क्या आवश्यकता थी? कीथ महोदय की विचारधारा का इसी प्रकार का एक और उदाहरण देख लें—

पतञ्जलि के महाभाष्य में उदाहरण के रूप में आए हुए **'नटस्य भुक्तम्'** इस वाक्य-खण्ड का उन्होंने 'नट की भूख' ऐसा अर्थ लगाया है। वे लिखते हैं—We find that in the days of Mahabhashya the Nata's hunger is as proverbial as the dancing of the peacock, पाणिनि के **'क्तस्य च वर्तमाने'** (अ. २।३।६७) इस सूत्र पर के **'क्तस्य च वर्तमाने नपुंसके भाव उपसंख्यानम्'** इस वार्तिक पर भाष्य करते हुए पतञ्जलि ने लिखा है—**'क्तस्य च वर्तमाने नपुंसके भाव उपसंख्यानं कर्तव्यम्। छात्रस्य हसितं, मयूरस्य नृत्तं, नटस्य भुक्तम्, कोकिलस्य व्याहृतमिति।** इसका अर्थ स्पष्ट है कि भूत-कालवाचक धातुसाधित विशेषण का वर्तमानवाचक अर्थ में यदि नपुंसकलिंगी भाववाचक नाम जैसा उपयोग किया जाए तो उसके विशेष्य के साथ षष्ठी विभक्ति लगाई जाए। ऐसा कह कर पतञ्जलि ने भाववाचक नामों के उदाहरण दिये हैं। यथा—छात्रस्य हसितम्, मयूरस्य नृत्तम्, नटस्य भुक्तम्, इत्यादि। इससे स्पष्ट है कि 'नटस्य भुक्तम्' से नट की भूख नहीं, किन्तु नट का उपभोग, यही अर्थ लेना चाहिए। यानी नट ने जो स्वांग रचा हो, जिस पात्र का वह अभिनय कर रहा हो, उस समय उसको उसी पात्रानुकूल उपभोग भोगने चाहिएँ, यही अर्थ इसमें अभिप्रेत है।

इसी प्रकार रंगपीठ, नाट्यभूमि या थियेटर के संबन्ध में भी भारत कहीं ग्रीकों के पूर्व स्थान न पा ले, इस दृष्टि से इस विषय को देखने वालों ने कीथ के सदृश ही यत्न किया है। यथा—

सिरगुजा संस्थान के लखनपुर जिले में रामगढ़ के पहाड़ में सीता बैंगा नाम की जो गुफा मिली है, उस गुफा का आकार, रचना-प्रकार और उसमें प्रवेश पाते ही दृष्टि को आकर्षित करने वाली सोपान-परम्परा, इन सबसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस गुफा का प्रेक्षा-गृह की भाँति उपयोग किया जाता होगा। यह स्पष्ट प्रतीत होते हुए भी उसी गुफा के सन्निकट जोगीमारा नाम की अन्य गुफा में उत्कीर्ण 'लुपदख' शब्द पर विचार करते हुए M. Boyer ने सूचित किया है कि यह शब्द Skilled in painting or Sculpture के लिए अर्थात् चित्रकला या मूर्तिकला में दक्ष व्यक्ति के लिये प्रयुक्त हुआ है। वास्तव में यह 'लुपदख' 'रूपदक्ष' का अपभ्रंश है और 'रूपदक्ष' का वास्तविक अर्थ चित्रकार या मूर्तिकार न होकर नाट्यकर्म-कुशल ही है। इसीलिये इस विषय पर डा० ब्लोंच ने ठीक ही कहा है—We may safely conclude that it was a place where poetry was recited, love-songs were sung and theatrical performances were acted. In short, we may look upon it as an Indian theatre of third century B. C.

पाश्चात्यों के इन उद्धरणों से हम में यह देखने की प्रवृत्ति जाग्रत होती है कि हमारी नाट्य-संस्था कितनी प्राचीन है। हमारी प्रस्तुत अवस्था को ये उद्धरण चिकोटी देते हैं और आँखें खोल कर हमारी अपनी प्राचीन निधि को देखने के लिये हमें उत्तेजित करते हैं।

नाट्य-संस्था समाज की संस्कारिता का एक सर्वोच्च अंग है, जिसमें कोई कला, कोई विद्या और जीवन का कोई प्रयोग शेष नहीं रह जाता, क्योंकि उस नाट्य-संस्था द्वारा समाज के जीवन का पूर्ण प्रतिबिम्ब जनता के समक्ष रखा जाता है और उसके द्वारा समाज के बिगड़े हुए अंगों को सुधारने का यत्न किया जाता है।

भरत नाट्यशास्त्र के निम्नोद्धृत वचन नाट्य की अपार महत्ता को सूचित करते हैं—

त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।
क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचिच्छमः॥
नानाभावोपसंपन्नं नाट्यमेतन्मया कृतम्।
उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्॥
दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति॥
न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन्यन्न दृश्यते॥

सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च।
अस्मिन्नाट्ये समेतानि तस्मादेतन्मया कृतम् ॥
विनोदजननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति।
श्रुतिस्मृतिसदाचारे परिशेषार्थकल्पनम् ॥
(ना. शा. १।१०४-१६)

भरत के काल के सम्बन्ध में पाश्चात्यों के कथनों ने एवं उनसे प्रभावित भारतीयों के अनुसन्धान कार्य ने, काफी मतभेद की सृष्टि की है। फिर भी २०० ई० पू० से सन् २०० ई० के बीच में भरत का काल निर्विवाद रूप से माना जाता है। यों तो इससे कहीं अधिक प्राचीन काल मानने के लिये भी प्रबल प्रमाण हमें उपलब्ध हैं। किन्तु इस विषय के लिए एक स्वतंत्र लेख की आवश्यकता होगी। अतः यहाँ तो इस सर्वग्राह्य मान्यता के आधार पर ही हम कह सकते हैं कि भरत के काल में भारतीय नाट्य-संस्था पूर्ण विकास को पा चुकी थी। भरत-नाट्यशास्त्र के नाट्य-सम्बन्धी सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं पूर्णतया शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक विधान आज के युग की बुद्धि को भी चकित कर देने में समर्थ हैं। नाट्य-सम्बन्धी अपने इस उज्वल भूतकाल को यदि हम पाश्चात्यों के प्रभाव में आकर किसी प्रकार भूल बैठे हों, अथवा उसकी प्राचीनता पर सन्देह करने लगे हों; तो अब वह समय आ गया है जब कि हम सत्य को पहिचानें, तिमिर को तिरोहित करें और प्राचीन प्रतिष्ठा की पुनः स्थापना करें ॥

लेख योग्यता-पूर्ण है। लेखन-शैली प्रशस्त और स्पष्ट है—सम्पादक ॥

धर्म और विज्ञान

[ले०—श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय एम. ए.]

धर्म और अधर्म, विज्ञान और अज्ञान, प्रकाश और अन्धकार में सदा विरोध रहा है। धर्म अधर्म नहीं और अधर्म धर्म नहीं। अतः इन दोनों का परस्पर मेल असंभव है। इस प्रकार ज्ञान और अज्ञान, एवं प्रकाश और अन्धकार एक दूसरे के साथ ठहर नहीं सकते। धर्म, विज्ञान तथा प्रकाश को एक कोटि में और उनके विरोधी अधर्म, अज्ञान और अन्धकार को एक दूसरी कोटि में रक्खा जा सकता है। परन्तु विचित्र बात यह है कि बहुधा धर्म और विज्ञान को परस्पर विरोधी या शत्रु समझ लिया जाता है और धर्मात्मा एवं वैज्ञानिकों में कभी कभी तो घोर विरोध रहा है। धर्म का अज्ञान से क्यों साहचर्य हो, यह बात समझ में आनी कठिन है। परन्तु वास्तविक स्थिति से इनकार भी नहीं किया जा सकता।

इस समस्या को समझने के लिए हमको धर्म और विज्ञान के वास्तविक लक्षणों पर विचार करना होगा। विज्ञान क्या है? सृष्टि के मौलिक नियमों की खोज और उन नियमों का अपने जीवन के कार्यों में प्रयोग। उदाहरण के लिये न्यूटन को लीजिये। वर्तमान वैज्ञानिक युग के आदि पुरुषों में न्यूटन का नाम विशेष स्थान रखता है। न्यूटन ने देखा कि वृक्ष से एक सेब का फल नीचे आ गिरा। वह सोचने लगा कि फल शाखा से टूट कर नीचे ही क्यों गिरा, वायु में उड़ कर आकाश की ओर क्यों न उड़ गया। साधारण लोग हसेंगे कि इसमें सोचने की क्या बात है? यह तो नित्य ही हुआ करता है। परंतु यह तो थी एक घटना मात्र। उसके भीतर तो एक तात्विक नियम था। न्यूटन ने सोच विचार कर यह परिणाम निकाला कि पृथ्वी में एक आकर्षण शक्ति है, जो सब चीजों को अपने केन्द्र की ओर खींचती रहती है। इस अन्वेषण के द्वारा न्यूटन का नाम वैज्ञानिकों में प्रसिद्ध हो गया, और उसके पश्चात् आने वाले वैज्ञानिकों ने बहुत सी ऐसी चीजों का आविष्कार किया, जिनको हम अपने

दैनिक उपयोग में लाया करते हैं। हमारे विशाल भवन, अनेक प्रकार की कलें आदि सब पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के द्वारा ही बन सके। न्यूटन ने जो कुछ किया, वह उसके मस्तिष्क की कोरी कल्पना न थी, सृष्टि की वास्तविक घटना थी, जिसको उसने देखा और जिसपर उसने विचार किया। इसी प्रकार सहस्रों अन्य वैज्ञानिकों की सहस्रों कृतियों की अवस्था है। प्रश्न यह है कि न्यूटन या अन्य वैज्ञानिकों ने कौन सा पाप किया, जिससे उनको धर्म के विरोधी या अधर्मी समझा जाय।

अब थोड़ा सा धर्म का विचार कीजिये। सृष्टि के नियमों में उनके महान् नियन्ता का विचार करना, उसके लिये अपने हृदय में श्रद्धा रखकर अपने जीवन को तदनुकूल बनाना, यह है धर्म। इस प्रकार विज्ञान और धर्म में थोड़ा सा भेद रहता है। सृष्टि के मौलिक नियमों का विचार धर्म और विज्ञान दोनों में निहित है। धर्म कुछ और आगे बढ़कर नियमों के नियन्ता के विषय में भी सोचता है। अतः इनमें विरोध कैसा? यदि मैं शरीर-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करके मानवी भोजन को उसके अनुकूल बनाता हूँ, तो मैं वैज्ञानिक हूँ। यदि मैं भोजन करने वाले अदृष्ट आत्मा के विषय में विचार करके पिण्ड के नियन्ता और ब्रह्माण्ड के नियन्ता का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करता हूँ, तो मैं धर्मात्मा हूँ। इस प्रकार धर्म और विज्ञान में किसी प्रकार का विरोध नहीं रहता।

परन्तु इतिहास बताता है कि धर्म और विज्ञान में अत्यन्त भीषण युद्ध छिड़ा रहता है, सभ्य संसार के आधुनिक साहित्य में इस युद्ध का रोमांचकारी वृत्तान्त पढ़ने को मिलता है। यह सब क्यों?

एक ऐतिहासिक घटना पर विचार कीजिये। गैलीलियो एक प्रसिद्ध विद्वान था। उसने सोचा कि जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं, वह चपटी नहीं हो सकती। इसको गोल होना चाहिये। उसने अपनी इस खोज के पक्ष में बहुत से प्रमाण दिये। धर्म के अधिकारियों ने यह बात सुनी। उनको उसकी यह खोज बुरी लगी। उनके पास उसके खण्डन में कोई युक्ति न थी। परन्तु उनके हाथ में शक्ति अवश्य थी। उन्होंने उसको धर्म का विरोधी घोषित करके बन्दीगृह में डाल दिया। बिचारा बूढ़ा गैलीलियो जेल में सड़ता रहा और उस समय तक उसको नहीं छोड़ा गया, जब तक उसने अपने आत्मा और अपने ज्ञान के विरुद्ध यह नहीं कह दिया कि पृथ्वी चपटी है, गोल नहीं। आजकल के साधारण विद्यार्थी इस बात पर हँसेंगे कि इससे गैलीलियो ने क्या बुरा या अधर्म का काम किया था। यदि जमीन का गोल होना सिद्ध न होता, तो आजकल की समुद्र यात्रा में जो प्रगति हुई, वह भी असंभव होती। परन्तु गैलीलियो को इस विज्ञान के कारण ही धर्म का विरोधी घोषित किया गया। इसी प्रकार सैकड़ों अन्य वैज्ञानिकों को सैकड़ों यातनायें भोगनी पड़ीं।

इसका कारण है धर्मात्माओं की भूल, जिन्होंने अपने मित्रों को शत्रु समझा। परमात्मा की सब से बड़ी कृति है जगत, जगत् के अध्ययन करने वाले हैं वैज्ञानिक। अतः विज्ञान धर्म का एक महत्वपूर्ण अंग है। धर्म को महाप्रभुओं ने समझा कि धर्म उन्हीं कुछ थोड़ी सी रूढ़ियों का नाम है, जिनको हम परम्परा से सुनते आये हैं। उनके विरुद्ध जो कोई खोजता या मानता है, वह ईश्वर की गुप्त बातों में हस्तक्षेप करता है और इसलिये वह पापी है।

मध्यकालीन धर्म के प्रतिनिधियों के विज्ञान के प्रति तीन प्रकार के भाव रहे। आरंभ में कौतूहल और उपेक्षा। इसके पश्चात् विरोध और क्रूरतामय प्रतिरोध। तीसरा अपनी पराजय मानकर उनके अनुकूल आचरण करना। जब वाष्पकल के आविष्कारक भाप द्वारा इंजन चलाने का प्रदर्शन करने के लिये इंजन को सड़क पर लाये, तो ग्रामवासियों ने समझा कि यह कोई शैतान है; क्योंकि अद्भुत काम केवल शैतान ही कर सकते हैं। अतः उन बिचारों को अपने पड़ोसियों से तंग आकर अपना काम छिपकर करना पड़ा। परन्तु अन्त में विज्ञान की विजय हुई और आज रेल की यात्रा को कोई धर्म के विरुद्ध नहीं समझता।

वैज्ञानिकों की मनोवृत्ति भी सर्वथा पक्षपात-शून्य नहीं रही। उनको धार्मिक पुरुषों के व्यवहार से घृणा हो गई। उन्होंने उस ईश्वर का मखौल उड़ाया, जो सृष्टि के नियमों से विरुद्ध आदेश देता है और ज्ञान प्राप्त करने वालों को दण्ड दिलाता है। उन्होंने ऐसे ईश्वर का बहिष्कार किया और धर्म की जड़ काटने का उद्योग करते रहे। वस्तुतः यह बात वैज्ञानिक मनोवृत्ति के सर्वथा विरुद्ध थी। वैज्ञानिकों को अभिमान हो गया कि हम जल के दो अवयवों—आक्सीजन और हायड्रोजन—को अलग कर सकते हैं। उन दोनों को मिलाकर फिर जल बना सकते हैं। हम को ही सृष्टि-कर्त्ता क्यों न माना जाय। हम से इतर सृष्टि-कर्त्ता ही कौन हो सकता है। यह भी एक प्रकार की भूल थी। यदि दो बूँद

पानी बनाने वाला अपनी कुशलता पर अभिमान कर सकता है, तो उसको उस बड़े कारीगर पर भी श्रद्धा करनी ही चाहिये, जो करोड़ों मन पानी को आकाश से भूमि पर बरसाता और उसे हरा-भरा कर देता है। विज्ञान केवल इतना ही नहीं है कि जल, पृथ्वी, वायु या ताप के विषय में खोज की जाय। ज्यों-ज्यों विज्ञान उन्नति करता गया, उसको अपनी सीमा का ज्ञान होता गया। शरीर की बड़ी-बड़ी विचित्र घटनायें ऐसी दीख पड़ीं, जिनमें केवल जड़-पदार्थ-सम्बन्धी नियम लागू नहीं हो सकते थे। मनुष्य का शरीर केवल जड़ पदार्थों का संयोग ही नहीं है। उससे चेतना प्रकाशित होती है, उसमें दो चीजों में से एक को चुनने की योग्यता है। वह निर्वाचन करता है। निर्वाचन में बुद्धि की अपेक्षा होती है। उस बुद्धि को हम देख नही सकते, परन्तु जान तो सकते हैं। न्यूटन ने जिस बुद्धि से पृथ्वी की आकर्षण शक्ति की खोज की, वह बुद्धि उसके नाक कान या मुंह को देख कर जानी नहीं जा सकती। असली न्यूटन वह नहीं था, जो सबको दिखाई देता था। असली डार्विन वह नहीं था, जिसका चित्र उसके ग्रन्थों में लगा है। जिस बुद्धि ने डार्विन या न्यूटन को प्रसिद्ध किया, वह एक आन्तरिक अदृष्ट शक्ति थी। उद्दालक ऋषि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को कहा "जल लाओ"। वह जल ले आया। उसने कहा, "इसमें नमक छोड़ दो"। उसने नमक छोड़ दिया। नमक घुल गया। उद्दालक ने कहा "श्वेतकेतु नमक कहाँ है? देखो तो सही"। श्वेतकेतु बोला, "भगवन् दिखाई नहीं पड़ता"। पिता ने कहा 'चखो'। चखने से प्रतीत हुआ कि जल में नमक का स्वाद है। पिता बोला, "पुत्र, इसी प्रकार तुम शरीर की ऊपर की आकृति को देख-कर अपने आप को नहीं जान सकते। जो मूल तत्त्व शरीर को चलाता है, वह तो अदृष्ट है। वही तो तुम हो"। अपने आप की खोज करना धर्म का मुख्य काम है।

मनु महाराज ने धर्म के दस लक्षण बताये, धृति, क्षमा, दम अर्थात् अपने ऊपर नियंत्रण रखना, अस्तेय, चोरी न करना, शौच शुद्धता, इन्द्रिय-निग्रह, अपनी इन्द्रियों को वश में रखना, धी या बुद्धि, विद्या या विज्ञान, सत्य और क्रोध को रोकना, इन दस लक्षणों की खोज क्या विज्ञान-नहीं है? विज्ञान को जल और ताप तक ही क्यों परिमित रक्खा जाय? क्या मनु के गिनाये दस लक्षण वह तत्त्व नहीं हैं, जो प्रत्येक मनुष्य की प्रगतियों के अध्ययन से ही जाने जा सकते हैं और जिनका प्रकाश मानवी इतिहास की घटनाओं में होता है? जिन धृति, क्षमा आदि गुणों का हमने नाम लिया, वे कल्पित नहीं हैं, वास्तविक हैं। मनुष्य के जीवन में इन गुणों की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी जल, वायु, अन्न आदि की। हम जल के बिना जीवित नहीं रह सकते, परन्तु क्या सत्य और धृति के बिना जीवित रह सकते हैं? क्या अस्तेय, और इन्द्रिय-निग्रह के बिना हमारा समाज ठीक रह सकता है? सत्य और धृति वैज्ञानिकों के परीक्षणालयों में देखे नहीं जा सकते। शीशे की नलिकायें और सर्वोत्कृष्ट तराजू उनका मान नहीं बता सकतीं, वैज्ञानिकों के विश्लेषण उनके अङ्गों, प्रत्यङ्गों के उल्लेख करने में असमर्थ हैं। भौतिकी और रसायन के पण्डित उनके विषय में कुछ नहीं कह सकते, परन्तु है तो वह भी विज्ञान का विषय। जिस प्रकार पानी का विश्लेषण होता है, उसी प्रकार मनुष्य के मन और अन्तः-करण का भी। यह कोई नहीं कह सकता कि उसकी गिनती विज्ञान में नहीं है। मनोविज्ञान उसी भांति विज्ञान है, जैसे भौतिकी और रसायन; इसलिये धर्म और विज्ञान को दो विरोधी कोटियों में रखना भूल है।

सभी धर्मों के आचार्य कहते हैं कि बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं, अतः विज्ञान और धर्म का समन्वय करने की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। यहाँ तक कि भौतिक विज्ञान हमारे धर्म के कामों में परम सहायक होता है। आजकल कोई ऐसा धर्म का कार्य नहीं है, जिसमें विज्ञान की सहायता न ली जाती हो। हमारे आचार्य रेल और वायुयानों में यात्रा करते हैं। धर्म-मन्दिरों में बिजली की रोशनी जलाई जाती है। रेडियो और बिना तार के समाचार मंगाये जाते हैं। धर्मार्थ चिकित्सा-लयों में वैज्ञानिक औज़ारों का प्रयोग होता है, बिजली के द्वारा चिकित्सा करना पाप नहीं समझा जाता है। मानव जीवन की वृद्धि के लिये वैज्ञानिक लोग जो उपाय सोच रहे हैं, उनको धर्म के आचार्यों की ओर से पूरा प्रोत्साहन मिल रहा है। धर्म-विरोधिनी प्रगतियों को नष्ट करने के लिये वैज्ञानिक प्रयोग काम में लाये जा रहे हैं। धार्मिक मन्तव्यों की वैज्ञानिक रीति से व्याख्या की जा रही है। और धर्म-सम्बन्धी जो रूढ़ियां विज्ञान के विरुद्ध समझी जाती थीं, उनमें वैज्ञानिक परिवर्तन भी हो रहे हैं। यह सब है विज्ञान की विजय। और क्यों न हो? विज्ञान है क्या? उन्हीं नियमों की खोज, जो जगत् नियंता द्वारा जगत् में जगत् के आदि से ही काम कर रहे हैं। वैज्ञानिक लोग उन नियमों को बनाते नहीं, अपितु उनकी

[शेष पृ० २ पर]

अमीवा

[ले०—श्री पं० लालचन्द जी प्रिंसिपल आयुर्वेद विद्यालय, बनारस]

बहुत दिन की, लगभग १९८४ या पचासी विक्रमी सम्वत् की बात है कि श्री त्रिलोकी नाथ वर्मा की लिखी हुई "हमारे शरीर की रचना" नामक सुप्रसिद्ध पुस्तक मेरे हाथ में आई। उसके प्रारम्भिक पृष्ठों पर "अमीवा" का वर्णन पढ़ा, यह शब्द प्रथम बार दृष्टिगोचर एवं मनोगोचर हुआ था, इधर उधर देखा तो वहीं रेखा के नीचे लिखा मिला—यह अंग्रेजी भाषा का शब्द है।

कुछ वर्ष पश्चात् यजुर्वेद का अवलोकन करते समय—निम्न मन्त्र मेरी दृष्टि में आया और इसमें अन्अमीवा के शब्द देखकर दृष्टि एवं मन वहीं रुक गये, विचारा क्या वह "अन् अमीवा" वही हमारे शरीर की रचना का अमीवा है, अथवा कोई अन्य। मन्त्र के प्रत्येक अक्षर-शब्द पर ध्यान दिया-पाठक भी ध्यान दें, वह मन्त्र इस प्रकार है—

श्वात्राः पीता भवत यूयं आपो ऽस्माकं अन्तर् उदरे सुशेवाः। ता ऽअस्मभ्यं अयक्ष्मा अनमीवा अनागसः स्वदन्तु देवीः अमृता ऋतावृधः॥

यजुर्वेद अ० ४ मन्त्र १२।

इसका अर्थ है—हे आपः (जलो) यूयं (तुम) पीता (पिये गये) श्वात्राः (शीघ्रता से जीर्ण-परिपक्व-पचे हुये) भवत (हो जाओ) और अस्माकं (हमारे) उदरे अन्तर् (उदर के भीतर) सुशेवाः (सुष्ठु-सुन्दर) शेव (सुख-रूप) भवत (हो जाओ) और अस्मभ्यं (हमारे लिये) अयक्ष्माः (रोगरहित) अनमीवाः (अमीवा रहित), अनागसः (अपराध रहित पाप भावना रहित) भवत (हो जाओ) और स्वदन्तु (स्वाद लगो, रुचिकर हो जाओ) और देवी (दिव्यगुण द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति, गति-ज्ञान, गमन, प्राप्ति नामक गुणों वाले) भवत (हो जाओ) अमृताः (अमृत रूप) तथा ऋतावृधः (ऋत उचित भाव को बढ़ाने वाले) भवत (हो जाओ)।

मानव की कितने अच्छे जल को पीने के लिये, पानी की प्राप्ति के लिये, कितनी अच्छी भावना है। पाठक प्रत्येक शब्द पर गम्भीर विचार करने की कृपा करें—और सबसे अधिक "अमीवा" शब्द पर ध्यान देने की कृपा करें।

त्रिलोकीनाथ वर्मा के शब्दों में अमीवा—एककेसलयुक्त प्राणी के शरीर की रचना नहीं जान सकते, जब तक हम अणुवीक्षण यन्त्र०की सहायता न लें—

अमीवा

वह एककेसलयुक्त प्राणी है, इसका नाम "अमीवा" है। इसका शरीर एक स्वच्छ 'गाढ़े' भली प्रकार न बहने वाले शहद की सी वस्तु से बना है, इसके भीतर एक धुंधली, मोटी बिन्दु दिखाई देती है, इसका नाम मींगी या जीवन-केन्द्र है।......

यदि हम अमीवा को अच्छी तरह देखें, तो हमको ज्ञात होगा कि इसमें चलने फिरने की शक्ति है। यद्यपि इसके हमारी तरह हाथ पाँव नहीं हैं......तथापि यह खिसक कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है (गति-शील है)... इसकी आकृति क्षण-क्षण में बदलती रहती है (अनेकरूप-रूपाय)।

जैसे हम भोजन करते हैं, वैसे अमीवा भी खाता पीता है। जिस जल में अमीवा रहता है, वह उसे ग्रहण करता है। यही नहीं, वह उस जल में घुले हुये पोषणकारक पदार्थ भी ग्रहण करता है।...जो वस्तु उसके शरीर में आ जाती है, वह पच भी जाती है।

अमीवा न केवल चलता, फिरता, भोजन खाता और उसको पचाता ही है; किन्तु उसके शरीर में उन पदार्थों को, जिनको वह पचा नहीं सकता, शरीर के बाहर निकालने का भी प्रबन्ध है,......उसके शरीर में कहीं न कहीं एक छोटा सा गोल २ शून्य (खाली) स्थान दिखाई देता है... इसमें वे दुष्पच पदार्थ आकर इकट्ठे होते हैं, जब वह स्थान भर जाता है, तब अमीवा का शरीर कुछ सिकुड़ता है और उसमें एक छोटी सी दरार पड़ जाती है, जिसके द्वारा वे पदार्थ निकलकर जल में मिल जाते हैं। तत्पश्चात् उसका शरीर ज्यों का त्यों हो जाता है।.....अमीवा में स्पर्श का अनुभव करने की भी शक्ति है।......इसमें उत्पादन-शक्ति भी है,......वह यौवन को प्राप्त होता है—वह पहिले तो कुछ लम्बा होता है, तत्पश्चात् उसकी मींगी के दो

टुकड़े हो जाते हैं......और फिर बीच में से शरीर के दो टुकड़े हो जाते हैं। अब एक अमीवा के दो अमीवा हो जाते हैं......इस प्रकार सिलसिला चलता रहता है।......यदि अमीवा मरा हुआ हो, तो उससे कभी भी दूसरा अमीवा न बन सकेगा। इ० ब्रा० की र० अ० १।

"अमीवा" नामक एक प्राणी है—अमीवा वैदिक शब्द है—अमीवा जल में रहता है, अमीवारहित जल पीने की अन्तःकरण अभिलाषा करता है और एतदर्थ आयुर्वेद—च० सू० अ० २७ के अनुसार विचार करें—

> नद्यः पाषाणविच्छिन्ना विक्षुब्धाऽभिहतोदकाः।
> हिमवत्प्रभवाः पथ्याः पुण्या देवर्षिसेविताः॥२१०॥

हिमालय (जहाँ हिम का आलय है—सर्वदा हिम रहती है—हिम में किसी प्राणी की उत्पत्ति नहीं होती, न हो सकती है) से उत्पन्न-चली नदियाँ (जो नाद-ध्वनि करती हैं।) पथ्य (-जीवन यात्रा के लिये उचित हैं) अतः पुण्य (पवित्र हैं, अपराधरहित हैं, उनके समीपवासियों में अपराध की भावना नहीं जागती-अपेक्षाकृत थोड़ी जागती है) अतएव वे देव एवं ऋषियों (दिव्यगुण-सम्पन्न एवं विद्वानों) द्वारा सेवित हैं। उन नदियों में यही विशेषता है कि इनका उदक-जल पत्थरों से टकराकर विच्छिन्न-विशेष रूप से मन्दगा सरिताओं की अपेक्षा विशेष रूप से छिन्न भिन्न होता है, विशेषरूप से चलित होता है और अभिहत-आघात प्रतिघात से प्रताड़ित होता है। फलतः उसमें कोई प्राणी जीवित नहीं रह जाता, जो अपनी वंशवृद्धि से, अपने मलमूत्रादि से, उनके जलको दूषित कर सके। अतएव च शीघ्रगामिनी नदी को गंगा कहा जाता है, और कहना भी चाहिये। और गंगा को विष्णुपदी कहा जाता है, क्योंकि विष्णु पालन के अधिदेव हैं। और मन्दगामिनी-यमनशीला सरिताओं को यमुना कहना चाहिये और यमुना यम की भगिनी है, और यम मृत्यु-संहार के अधिदेव हैं। मन्दगा नदियों का जल हानिकारक एवं रोगोत्पादक होता है देखिये च० सू० अ० २७।

अमीवा—वैदिक विद्वान् महीधर एवं उव्वट आदि अमीवा को व्याधि मानते आए हैं। इसे जल की व्याधि कहा भी जा सकता है, क्योंकि आगे चलकर—वंशवृद्धि से बढ़कर—जाला या लसीलापन उत्पन्न करके उसे गन्दा अपेय बना डालता है। अस्तु।

हमारा निवेदन

वैदिक विद्वान् इस पर विचार करें, विशेषतः इस तथ्य पर कि—अमीवा अंग्रेजी भाषा या लैटिन भाषा का शब्द है, अथवा वैदिक भाषा का। उक्त भाषाओं ने संस्कृत भाषा से अनेक शब्द हूबहू सेम टु सेम ग्रहण किये हैं। यथा—हृद्-हार्ट, पथ-पाथ (उच्चारण मात्र में पाथ) और समिति-कमिटी, चरित्र-करेक्टर आदि २। इनमें केवल उच्चारण से भेद है। इसी प्रकार क्या "अमीवा" शब्द भी वैदिक शब्दकोश से लिया गया शब्द तो नहीं है?

ब्राह्मणग्रन्थ

[ले०—श्री पं० अनन्तशास्त्री जी फड़के, व्याकरणाचार्य, मीमांसातीर्थ, वेदान्तकेसरी, बनारस]

श्री जुलियस एगलिंग ने शतपथ ब्राह्मण की भूमिका में अनेक ब्राह्मण ग्रंथों के विषय में सामान्यतः लिखा है, कि "ब्राह्मण जाति के लोगों ने ब्राह्मणग्रन्थों में स्थित अतिगूढ़ यज्ञ संस्था, ब्राह्मणवर्ग का श्रेष्ठत्व बनाये रखने के लिये निर्माण की है। उसी का अनुकरण करने वालों ने इतस्ततः लिख दिया है, कि सामान्य जो दर्शपूर्णमास गृहस्थ को स्वयं बिना पुरोहित के साहाय्य से करना था, उसको भी जटिल बनाया। उद्देश्य एक ही था कि ब्राह्मणवर्ग के बिना जनता का कोई भी कार्य न हो। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ की क्रिया इतनी कठिन बनाई कि समाजघटक व्यक्ति को ईश्वरप्राप्ति का या स्वर्ग का मार्ग ब्राह्मणों के साहाय्य के बिना अशक्य हो गया। यज्ञ-क्रिया जानने के लिये और उसको यथासांग करने के लिये अत्यधिक समय बिताना सामान्य गृहस्थ के लिये अशक्य हो गया और सम्पूर्ण वर्ग पुरोहितों के आधीन हुआ।

ब्राह्मणग्रन्थों में प्रतिपादित हेतु, युक्तियाँ, कार्यकारण-भाव, आदि देखकर हंसी आती है, कोई भी विद्वान् इस प्रकार अनर्गल नहीं लिख सकता है", आदि।

प्रायः ब्राह्मणग्रन्थों के विषय में युरोपीय विद्वानों के और उनका अनुकरण करने वाले भारतीय विद्वानों के लेखों का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणग्रन्थों से समाज में ब्राह्मणों ने अपना स्थान स्थिर किया, अतः न उस ग्रन्थ से वेदार्थ जानने के लिये उपयोग है, न समाज की उन्नति के लिये; अतः यज्ञसंस्था समाज से एकदम नष्ट हुई और उसके साथ ब्राह्मणवर्ग का श्रेष्ठत्व भी।

ब्राह्मण ग्रन्थों का जिन लोगों ने सम्यक् आलोचन किया है, वे लोग इस कथन से सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि पाश्चात्य लेखकों ने वेदार्थ विचारों में, विशेष करके ब्राह्मण-ग्रन्थों के विषय में, अनेक भूलें की हैं। कारण यह है कि वे विद्वान् भारतीय संस्कृति, भारतीय मनोवृत्ति और भारतीय परम्परा से एकदम अपरचित हैं, बिना भारतीय संस्कृति आदि के साहाय्य से केवल तुलनात्मक भाषाशास्त्र, गाथाशास्त्र, देवताशास्त्र आदि से अति प्राचीन ग्रंथों के वास्तविक अर्थ का वर्णन करना अति कठिन ही नहीं, प्रत्युत असंभव ही है।

युरोपीय संशोधक विद्वानों के उद्यम, निरालसता, प्राचीन ग्रन्थों की संशोधनपटुता आदि कार्यों से भारतीय उनके सर्वथा ऋणी हैं। इस बात को स्वीकार करते हुए भी भारतीय आधुनिक विद्वानों को वे भूलें नहीं करनी चाहियें, जो युरोपय संशोधकों का अंधानुकरण करने वाले प्राचीन भारतीय विद्वानोंने की हैं।

प्रसिद्ध वेदवाङ्मय के उपासक और संशोधक युरोपीय विद्वान् मैक्समुल्लर महादय ने लिखा है कि भारतीय संस्कृति के ज्ञान के लिए ब्राह्मणग्रन्थों का कितना उपयोग है। यह जिसको ठीक मालूम नहीं, वह ब्राह्मणग्रन्थ में प्रतिपादित निरर्थक हेतुरहित और विशेषतया पारमार्थिक अत्यधिक अंश व्यर्थ समझता है, कुछ ब्राह्मणग्रन्थ पढ़कर आगे बढ़ने की इच्छा ही नहीं होती है, (**Essays by Max-muller P. 105**) अस्तु,

प्राचीन प्रसिद्ध भारतीय वेदविद् विद्वान् सायणाचार्य प्रभृति ब्राह्मणग्रन्थों के साहाय्य से ही मन्त्रभाग का विवरण करते हैं। श्री निरुक्तकार यास्क ने तो पदों के निर्वचन में जहाँ तहाँ ब्राह्मणग्रन्थों का आश्रय किया है। और वास्तविक विचार किया जाय, तो वेदों के सर्वप्रथम भाष्य ब्राह्मणग्रन्थ ही हैं, यह कथन असंगत नहीं है। श्री आपस्तंब ने तो ब्राह्मण ग्रन्थों को साक्षात् वेद ही कहा है मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्*' (२४।१।३१)। इस विषय में एक उदाहरण देखिए। ऋग्वेद में प्रजापति के कन्याभिलाष-विषयक वर्णन आता है, उसमें प्रजापति शब्द का अर्थ ठीक मालूम न होने से अनेक कल्पनायें उत्पन्न होती हैं, परन्तु ब्राह्मणरूप वेदभाष्य में उस पद के अर्थ का निरूपण देखने से सब शंकाएं निवृत्त होती हैं। ब्राह्मणग्रन्थ में प्रजापति शब्द के अर्थ इस प्रकार दिखाये हैं—

प्राजापतिर्ह वै स्वां दुहितरमभिदध्यौ। दिवं वोषसं वा मिथुन्येनया स्यामिति तां सं बभूव ॥ शत० १।७।४। यो ह्येव सविता स प्रजापतिः (श० १२।३।५।१) प्रजापतिर्वै सविता (तां० १६।५।१७) । अस्तु।

ब्राह्मण जाति ने अपने श्रेष्ठत्व स्थापन करने के निमित्त ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक बातें बताई आदि कथन सर्वथा असंगत

* इस विषय के लिये देखो श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक की अभिनव कृति "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् इत्यत्र कश्चित् अभिनवो विचारः"— सम्पादक॥

ही है। यज्ञ-संस्था केवल ब्राह्मणों की ही नहीं थी, वह थी त्रैवर्णों की। उसमें केवल ब्राह्मण ही अपने मनमाने बदल नहीं कर सकते थे, यज्ञसंस्था अग्नि की उपासना से संबद्ध थी और अग्नि की उपासना पूर्व से ही आर्यों में प्रचलित थी, अतः उसमें केवल ब्राह्मण वर्ग, अपने श्रेष्ठत्व के लिए, मनमाने बदल करना चाहते, पर क्षत्रिय और वैश्य उसको स्वीकार न करते। परन्तु वास्तविक स्थिति उलटी है, क्षत्रियों की बड़े-बड़े यज्ञ करने में अधिक प्रवृत्ति ही ब्राह्मणग्रन्थों से प्रतीत होती है। अतः अतिप्राचीन इतिहास संस्कृति का विकास-क्रम, वेदों का वास्तविक अर्थ और समाज संगठनप्रकार का यदि वास्तविक ज्ञान अपेक्षित हो, तो युरोपीय विद्वानों के द्वारा प्रचलित की हुई अनेक गलत कल्पनाएं अवश्य छोड़ देनी चाहिएँ। अस्तु, ब्राह्मणग्रन्थों के अध्ययन से ही मन्त्रों के वास्तविक अर्थों का ज्ञान होता है।

ब्राह्मणग्रन्थों का प्रधानतया प्रतिपाद्य विषय यज्ञ होने पर भी प्रसंग से उनमें अनेक गूढ़तम तत्वों का प्राचीनतम इतिहास का, मनुष्य स्वभाव का, रोगों का, सुवर्णादि पदार्थों का, भाषा-विज्ञान का, निर्वाचनपद्धति का, अनेक स्वर्गादि लोकों का एवं जगदुत्पत्ति आदि विषयों का यथेष्ट वर्णन उपलब्ध होता है। इस छोटे से लेख में हम कुछ इन विषयों के उदाहरण देकर ब्राह्मणग्रन्थ का अध्ययन वेदार्थ का बोध कराता हुआ अति प्राचीन इतिहास आदि का भी ज्ञान कराता है, यह दिखाने की चेष्टा करेंगे।

प्राचीनतम इतिहास—जल का उपयोग सर्वधर्मों में और जाति में शुद्धि करने के लिए किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है **'तद्यदपऽउपस्पृशत्यमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति, तेन पूतिरन्ततो मेध्या वा आपः** (१।१।१)।

स्त्री पुरुषों की समान योग्यता होने से प्रत्येक कार्य में स्त्री की आवश्यकता रहती है, प्रत्युत उसके बिना पुरुष अधूरा ही है—**'अर्द्धो ह वाऽएष आत्मनो यज्जाया, तस्माद्यावज्जायां न विन्दते, नैव तावत् प्रजायतेऽसर्वो हि तावद्भवति।** (श० ५, २, १, १०)।

ऐतरेय ब्राह्मण में प्रतिपादित शुनःशेप की कथा अति प्राचीन काल के इतिहास की बोधक है (ऐ० ७, १३, १८) इस ब्राह्मण-कथा के बिना ऋग्वेद में स्थित 'यच्चिद्धिते' इत्यादि वरुण सूक्तों के अर्थ का बोध ही नहीं होता है, उसी प्रकार पुरुरवा और उर्वशी विषयक जो मन्त्र ऋग्वेद १०। ९५।१-१८ में आते हैं, उनका वास्तविक अर्थ ब्राह्मणों में प्रतिपादित पुरुरवा-उर्वशी वर्णन से स्पष्ट होता है। (श०११।५।१)

कुछ मनुष्य-स्वभाव का वर्णन देखिये **'तस्मादुत्तरवयसे पुत्रान्पितोपजीवति'** (श० १२, २, ३, ४) अर्थात् बुढ़ौती में पिता पुत्र के आश्रय से रहता है।

किस प्रकार रूपवाली स्त्री की पुरुष अपेक्षा करता है, इसका वर्णन देखो **'पश्चाद्वरीयसी पृथुश्रोणिरिति वै योषां प्रशंसन्ति'** (श०३।५।१।११) **'तस्माद्रूपिणी युवतिः प्रिया भावुका'** (श० १३, १, ९, ६) भाव यह है कि चौड़े जघन-वाली, रूपवाली और जवान स्त्री प्रिय होती है।

स्त्रियों का स्वभाव का वर्णन देखो—**'तस्मादप्येतर्हि मोघसंहिता एव योषा। तस्माद्य एव नृत्यति, यो गायति तस्मिन्नेवैता निमिश्लतमा इव** (श० ३।२।४।६)। भाव यह है कि इस समय भी स्त्रियाँ निरर्थक बातों की तरफ जाती हैं, जो नाचता है, गाता है, उसी को वे चाहती है। बुनना कातना यह स्त्रियों का प्रिय कार्य बतलाया है, **'तद्वाऽएतत्स्त्रीणां कर्म यदूर्णासूत्रम्'** (श० १२।७।२।११)। झूठ बोलना यह पाप है 'अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति' श० ३।१।२।१८। सत्य से ही स्वर्ग को जा सकते है। 'ऋतेनैवैनं स्वर्गं लोकं गमयति,। 'तां० १८।२।९। रोगों की उत्पत्ति ऋतुओं के सन्धि में होती है 'ऋतुसन्धिषु वै व्याधिर्जायते। गो० उ० १।१९। अग्नि, जल, अपामार्ग आदि वस्तु रोग-रूपी राक्षसों की नाशक हैं **'अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता'** श० १।२।१।६ **'यद्धिरण्यं नाष्ट्राणां रक्षसामपहत्यै'** (श० १४।१।३।२९) **'यदपामार्ग-होमो भवति रक्षसामपहत्यै'** (तै० १।७।१।८) निर्वचन पद्धति का एवं भाषाशास्त्र का मूल तो ब्राह्मणग्रन्थों से ही शुरू हुआ है। निरुक्तकार यास्काचार्य ने तो अनेक जगह 'इति हि ब्राह्मणम्' इस प्रकार ब्राह्मण का उद्धरण प्रमाण रूप में किया है।

प्रजापति ने सृष्टि किस प्रकार उत्पन्न की, उसका प्रकार अनेक रीति से वर्णित है (श० ब्रा० ४,६,४,१।७,४,१,१६। आदि।

स्वर्ग की दूरी का नाप सुनिए—**'सहस्राश्वीने वा इतः स्वर्गो लोकः'** ऐ० ब्रा० २।१७। भाव यह है एक घोड़ा हजार दिन में जितना चलता है। उतनी दूर स्वर्ग लोक है। सरस्वती के मार्ग से स्वर्ग को जाते थे। **'सरस्वतिसम्मिते-**

नोत्वना स्वर्गं लोकं यन्ति (तां० २५।१०।१६) अस्तु। वेदों के अर्थ के शोधन में ब्राह्मण द्वारा अत्यधिक सहायता प्राप्त होती है। ऋग्वेदादियों में, जो ब्राह्मणादि और असुरादि जाति वाचक शब्द, यमयमी आदि कथानक एवं कुछ क्रियाएं आती हैं, उनका वास्तविक अर्थ ब्राह्मणग्रन्थों के आश्रय के बिना समझना अशक्य है।

हमारे कथन का यह मतलब नहीं है कि तुलनात्मक भाषाशास्त्र, गाथाशास्त्र आदि का वेदार्थ में बिलकुल उपयोग नहीं है, उनको स्वीकार करते हुए भी वेदार्थशोधन का प्रथम प्रयत्न ब्राह्मणग्रन्थ द्वारा ही हुआ है, और उसमें प्रदर्शित मार्ग भारतीय संस्कृति के ज्ञान द्वारा सच्चे वेदार्थ जानने के लिये अत्यधिक उपयुक्त और उचित है। अतः आर्थर एनथनि मैकडानल आदि का कथन (Bhandarkar commemoration Vo. Poona 1917) ब्राह्मणग्रन्थों का प्रतिपाद्य केवल यज्ञ है, अतः ब्राह्मणग्रंथ वेदार्थ के लिये अनुपयुक्त हैं, इत्यादि कथन सर्वथा हेय है। इत्यलम् ॥

लेख की कई बातों में असहमत होते हुए भी लेख, कई अंशों में उपयोगी होने से, छाप रहे हैं—(सम्पादक)।

'अश्विनौ' पर कुछ विचार

(भ्रम-निवारण)

[*ले०— श्री पं० जयदेव जी शर्मा विद्यालंकार, मीमांसा-तीर्थ, वनस्थली विद्यापीठ, जयपुर*]

श्री पं० सातवलेकर जी को ६० वर्ष से ऊपर काल हो गया, तब से उन्होंने वेद-विषय पर विचार शुरू कर रखा है। अब आप ८७ वर्ष से अधिक आयु के आयुर्वृद्ध, विद्यावृद्ध ख्यातिप्राप्त विचारक हैं।

'क्या वेद में इतिहास है?' इस सम्बन्ध में एक पुस्तक आलोचनार्थ आपके पास भेजी गयी। आपने आलोचना की, अपने मासिक पत्र 'वैदिक धर्म' मेरी पुस्तक के विषय तक ही सीमित न रखकर, कुछ और भी अधिक तत्त्व लेकर मुझपर आक्षेप किया। तब से मेरे चित्त में 'अश्विनौ' पर विचार-धारा चलने लगी।

उक्त श्री पं० जी ने, जिस प्रकार से 'अश्विनौ' की समस्या उपस्थित की है, वह सभी वैदिक विद्वानों के विचार करने लायक है। परन्तु विषय को विद्वानों के सामने प्रस्तुत कौन करे? यह एक समस्या है। मैं समझता हूं जब तक विचारणीय विषय विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत नहीं होता, तब तक उस पर सन्तोषजनक रीति से विद्वान् गण भी विचार करने का प्रयास नहीं करते। इसलिये मैं इस विषय को कर्त्तव्य-बुद्धि से प्रेरित होकर प्रस्तुत करता हूँ।

उक्त विद्यावयोवृद्ध जगद् विख्यात श्री पं० सातवलेकर जी ने 'अश्विनौ' के सम्बन्ध में मुझ पर यह वाग्-धारा प्रयुक्त की है—

"श्री पं० जयदेव शर्मा ने अपने भाष्य में 'अश्विनौ' का अर्थ स्त्री-पुरुष किया है। 'अश्विनौ' दो देव हैं। दोनों पुरुष हैं। दोनों पुरुष होने से वे स्त्री-पुरुष नहीं, यह सिद्ध है। पर पं० जयदेव शर्मा जी ने उनको स्त्री पुरुष बनाया है। वे दोनों पुरुष होने के कारण वे स्त्री-पुरुषवत् कैसा आचरण करें? यदि दोनों पुरुष देव स्त्री-पुरुषवत् आचरण करनेवाले हों, तो उनको देवता किस तरह माना जायगा? दो पुरुषों का स्त्री-पुरुषवत् व्यवहार तो घृणित व्यवहार है। पर पं० जयदेव शर्मा जी के भाष्य में गरीब विचारे अश्विनौ नामक जुड़े भाई पुरुषदेव स्त्री-पुरुष बनाये गये हैं। परमेश्वर ही इन भाष्यकारों से रक्षा करे।" (वैदिक धर्म अंक अप्रैल १९५५)

श्री पं० जी का लेख कोई साधारण टटपूंजिया पण्डित की लेखनी से नहीं निकला है? यह एक नामी ग्रामी, स्वाध्याय-मण्डल के अधीश्वर, ३६ वर्ष से वैदिकधर्म मासिक पत्र का

सम्पादन करनेवाले, अथर्ववेद के १८ काण्डों का (ही) सुबोध भाष्य बनानेवाले, दैवत संहिताओं के रूप में वेदों का ढांचा [अनधिकार चेष्टा द्वारा वैदिक परम्परा के नाशक—देवताओं की सूची मात्र को कलियुगी दैवतसंहिता का नाम देकर—सम्पादक] बदल डालने वाले, ऋग्वेद आदि मूल संहिताओं का सम्पादन करनेवाले, और कई चतुर्वेद मूर्त्तियों की, जिनका चारों वेद कण्ठस्थ हैं [चाहे वे कण्ठस्थ मात्र कोरे वैदिक ही हैं—सम्पादक] उनको अपनी मुट्ठी में रखनेवाले ऐसे भूरि २ सहस्र पारितोषिकों से पुरस्कृत विद्वान् की लेखनी से इस लेख को लिखा देखकर हमें एक विचारणीय गम्भीर वेद-समस्या पर पुनः विद्वानों का प्रबलतम रूप से ध्यान आकर्षण करने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

उक्त उद्धरण में पं० जी ने 'अश्विनौ' के सम्बन्ध में इतनी बातें विचारणीय प्रस्तुत कर दी हैं।

१—'अश्विनौ' दो देव हैं, दोनों पुरुष हैं।

२—वे दोनों स्त्री-पुरुष नहीं हैं।

३—यदि दोनों स्त्री-पुरुषवत् आचरण करनेवाले हों तो उनका देवत्व किस तरह माना जाय ?

४—गरीब विचारे 'अश्विनौ' नामक जुड़े भाई हैं।

ये चार बातें अश्विनौ, के सम्बन्ध में श्री पं० जी ने विप्रतिपत्ति के रूप में प्रस्तुत की हैं। आप का निश्चित सिद्धान्त है कि—"दोनों पुरुष होने से वे स्त्री-पुरुष नहीं हैं। यह सिद्ध है।"

पं० जी ने लिख तो दिया कि यह सिद्ध है, परन्तु वेदज्ञ वृद्ध ने एक भी वेद-मन्त्रांश तक प्रमाण रूप में प्रस्तुत नहीं किया। कदाचित् उनको अपने वैदिक धर्म के पाठक इतने भोले मिले हैं कि जो कुछ आप लिख दें वह १६ आना सत्य मान लेंगे। उनके लिये आपकी एक २ बात वेदवाक्य के समान प्रमाण होगी। परन्तु हम वैदिक धर्म के पाठकों को इतना अबोध, विचार-शक्ति में गया बीता, नहीं समझते हैं।

समस्या यह है कि क्या वेद ने जिन 'अश्विनौ' देवों का वेद के सूक्तों में वर्णन किया है, वे दोनों पुरुष हैं, वा वे दोनों स्त्री-तत्त्व हैं, वा वे दोनों एक स्त्री एक पुरुष हैं। या क्या वे दोनों भाई हैं ? क्या वे दोनों जुड़वा हैं ? या क्या है ?

क्या श्री पं० जी ने उनके लिंग का विवेचन वा साक्षात्कार कर लिया था।

वस्तुतः बात यह है कि श्री पं० जी पर १९४५ ई० या इससे कुछ पूर्व से, जब से आपने ऋषियों के दर्शन ग्रन्थमाला प्रकाशित करनी प्रारम्भ की है, तब से आप पर पौराणिक देवता—और इतिहासवाद ने बुरी तरह से आक्रमण कर रखा है। तब से आपके लिखे ग्रन्थों में वेद में सर्वत्र पौराणिक इतिहास ही इतिहास दीख रहा है। इसी से आपकी पंक्तियों में यह स्पष्ट है कि "अश्विनौ दो देव हैं, दोनों पुरुष हैं, वे स्त्री-पुरुष नहीं, यह सिद्ध है।"

अश्विनौ का स्त्री-पुरुष होना सिद्ध हो या न हो, यह अवश्य सिद्ध है कि श्री पं० सातवलेकर जी मानों पाठकों के सामने 'सिद्ध' बन कर बात करना चाहते हैं। परन्तु इनकी सिद्धाई अब चल नहीं सकती। यह तर्क का युग है। प्रत्येक वस्तु की सिद्धि प्रमाण मांगती है।

उनके पास क्या प्रमाण है कि वेद का 'अश्विनौ' शब्द दो पुरुष 'अश्विनौ' का वाचक है। 'अश्विन्, अश्विनी' दो का वाचक नहीं है! अर्थात् 'अश्विनौ' युगल में 'एक स्त्री और एक पुरुष' ग्रहण नहीं हो सकते। श्री पं० जी के पास क्या प्रमाण है कि वेद के 'अश्विनौ' शब्द में पुमान् स्त्रिया * पाणिनिसूत्र अ० १।२।६७। नहीं लग सकता। "कुक्कुटश्च कुक्कुटी च = कुक्कुटौ" के समान अश्वी च अश्विनी च = अश्विनौ यह प्रयोग वेद में किस कारण से संभव नहीं है ?

आपके पास कौन सा प्रमाण है कि आप 'अश्विनौ' को वेद-साहित्य में दो जुड़वा पुरुष भाई मानते हैं ? वे बहिन भाई नहीं हैं, इसमें आपके पास क्या प्रमाण है ? भ्राता च = स्वसा च भ्रातरौ, यमश्च यमी च = यमौ के समान वे दोनों उभयलिंगी हो सकते हैं। नहीं हो सकते इसके लिये पं० जी को प्रमाण पेश करना आवश्यक है। नहीं तो पं० जी का मेरे सम्बन्ध में लिखा लेख अयौक्तिक होने से बाल, उन्मत्त के वचन के समान ही है।

हमने जिस स्थान पर भी 'अश्विनौ' का प्रयोग स्त्री-पुरुषों के लिये किया है, वहां हमारा अभिप्राय सर्वत्र सामान्यतः स्त्री-वर्ग पुरुष-वर्ग को दृष्टि में रखकर तथा उनके कर्त्तव्यों

* पं० जी को व्याकरण का ज्ञान होता तो समझ पाते, सो तो है नहीं, करें क्या ? इसी लिए व्याकरणादि वेदांग न जाननेवाले अनधिकारियों के वेदभाष्यकार होने की ये घोषणा करते रहते हैं—सम्पादक वेदवाणी ॥

को लक्ष्य में कर किया है। जैसे लोक में 'नरनारी' शब्द प्रयोग किया जाता है, वैसे 'अश्विनौ' पद का सामान्य स्त्री-पुरुषों के लिये प्रयोग वेद में हुआ है। जहां विशेष विशेषण केवल विवाहित स्त्री पुरुषों के लिये हैं, वहां 'अश्विनौ' पद भी विवाहित स्त्री-पुरुषों को अवश्य कहेगा। पण्डित श्री सातवलेकर जी का आग्रह भी उसको रोक नहीं सकेगा। जहां राजा-मन्त्री, सभापति-सेनापति, राजा-प्रजा आदि के कर्तव्य वेद मन्त्र में कहे होंगे, वहाँ अवश्य 'अश्विनौ' पद उन २ युगलों का वाचक मानना पड़ेगा। चाहे वे लौकिक दृष्टि से स्त्री-व्यंजन के हों, चाहे पुंव्यजन के हों।

परन्तु यह तो अवान्तर बातें हैं, जो वेद के पृथक् २ मन्त्रों पर विचार करने से निर्णय की जा सकती हैं, परन्तु पं० जी ने जो 'अश्विनौ' पद से दो पुरुषों, दो जुड़वा भाई मानने की स्थापना की है, उसकी परीक्षा करनी है।

हम प्रथम ब्राह्मण ग्रन्थों का मत संकलन करते हैं। देखें ब्राह्मण ग्रन्थों के बनानेवाले ऋषि याज्ञवल्क्य आदि पण्डित जी की स्थापना का कितना समर्थन करते है—

(१) इमे ह द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनौ। इमे हीदं सर्वम् अश्नुवाताम्। पुष्करस्रजौ। इत्यग्निरेवास्यै (पृथिव्यै) पुष्करम्। आदित्योऽमुष्यै (दिवे)। शतपथ ० ४। १। ५। १६॥

(२) अथ यदेनं (अग्निं) द्वाभ्यां बाहुभ्याम् अरणीभ्यां मन्थन्ति द्वौ वा अश्विनौ। तदस्य आश्विनं रूपम्। ऐ० ३। ४॥

इन दोनों उद्धरणों में अश्वियों को पृथिवी और द्यौ और दो अरणियों की समता में रखा है। विवाह प्रकरण में दोनों दृष्टान्त स्त्री-पुरुष के लिये आते हैं। देखिये ऋषि दयानन्द कृत संस्कारविधि पृष्ठ १५६—ओ३म् अमोऽहमस्मि० मन्त्र में स्त्री-पुरुष परस्पर एक दूसरे को कहते हैं "द्यौरहं पृथिवी त्वम्"। फलतः शतपथ के अनुसार वेद में जितने मन्त्रों में अश्विनौ पद से द्यावापृथिवी या सूर्यपृथिवी का ग्रहण सम्भव है, उन मन्त्रों में पक्षान्तर में योजना विवाहित स्त्री-पुरुष युगल के पक्ष में भी सम्भव है।

इसी प्रकार दो अरणियों से जैसे अग्नि उत्पन्न होता है, वैसे माता पिता से संतान उत्पन्न होता है। यह बात भी लोक-वेद-प्रसिद्ध है। जैसे प्रमाण में ऋ० मं० १०। सूक्त १८४। मं ३॥

हिरण्ययी अरणी यं निर्मन्थतो अश्विना।
तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे॥

यहां इस मन्त्र में 'अश्विनौ' दोनों एक स्थान पर माता पिता के सन्तति उत्पत्ति के कर्म को बतला रहे हैं। दो बाहुओं को जो दो अश्वियों का रूप कहा है, वहां भी दायां बायां दो बाहू हैं। वे दक्षिण वाम भेद से स्त्री-पुरुषवत् सहयोगी, सहकर्मी हैं।

इसके अलावा ब्राह्मण ग्रन्थों में 'अश्विनौ' पद से अन्य भी कई युगल तत्त्व लिये हैं। जैसे—

(३) श्रोत्रे अश्विनौ। शत० १२। ९। १। १३॥ नासिके अश्विनौ। शत० १२। ९। १। १४॥ तद्यौ ह वा इमे पुरुषौ इव अक्ष्योः एतावेवाश्विनौ। श० १२। ९। १। १२॥ अश्विनौ अध्वर्यू। ऐ० १। १८॥ शत० १। १। २। १७॥ अश्विनौ देवानां भिषजौ। ऐ० १। १८॥

इत्यादि स्थलों में श्रोत्र, नासिका आखों के भीतर की पुतलियाँ इनको अश्विनौ कहा है। वे कोई दो पुरुष देवता नहीं, न वे भाई भाई हैं। वे तो दायें बायें होने से पुनः दक्षिणवामांगवत् स्त्री-पुरुष के जोड़े के समान ही ज्ञान-सन्तति को उत्पन्न करते हैं। अश्विनौ अध्वर्यू कहा है। वे दोनों अध्वर्यु यज्ञ में द्वित्व-मात्र और सहकारित्व-मात्र के बोधक हैं। उनमें आवश्यक नहीं कि दोनों पुरुष ही हों, या स्त्री ही हों, या एक स्त्री और एक पुरुष हो, इस प्रकार के लिंग-भेद की मर्यादा अध्वर्युओं में नहीं हो सकती। ज्ञान और योग्यता अध्वर्यु को बताती है। वह ज्ञान-सामर्थ्य स्त्री-व्यक्ति में भी संभव है।

फिर दोनों अध्वर्यु जन दो जुड़वां भाई हों, यह तो नितरां असम्भव है। बहर हाल प० जी की मान्यता इसपर नहीं टिक सकती।

अब रहा—'देवानां भिषजौ।' यदि ये दो कोई ऐतिहासिक व्यक्ति 'अश्विनौ' हैं, जो देवताओं के वैद्य थे, तो पण्डित जी का प्रयास-वेद में से इन ऐतिहासिक व्यक्तियों को खोज लेना—पण्डित जी के पण्डितत्त्व की पराकाष्ठा को बताता है। वे दोनों भाई थे, भाई-बहन थे, या पति पत्नी थे, यह बात पं० जी को इतिहास से सिद्ध करनी होगी। और वेद-मन्त्रों में आये सब अश्विनौ पदों में ये 'देवभिषग्' अश्वी ही लिये जाते हैं, यह सिद्ध करना होगा।

अब तक जो विद्वानों का इस सम्बन्ध में झुकाव रहा है, वह शल्य-चिकित्सक और औषध-चिकित्सक से दो चिकित्सकों को अश्विनी मानने का रहा है। इस कल्पना से नये सहोदर भाई बनते हैं, नकि जुड़वां भाई, न बहिन भाई, न पतिपत्नी, हां सामान्य पुरुष, सामान्य स्त्री वे कोई भी दो हो सकते हैं। वैद्य, विद्या वा चिकित्सा का उत्तम परिज्ञान करना या 'डाक्टर' हो जाना दोनों के लिये सम्भव है। फलतः यह धारणा भी पण्डित जी की मान्यता के लिये कोई दृढ़ आधार नहीं है।

(४) तैत्तिरीय संहिता में—अश्विनोरश्वयुजौ। (तै० १।५।१।५ ॥)। इत्यादि अश्विनी नक्षत्र के दो तारों का निर्देश करके उनको अश्वि देवतों का कहा है। वहाँ भी नक्षत्र का नाम अश्विनी है। क्योंकि चित्र-कल्पना में वह घोड़े के मुख के समान है। उस नक्षत्रगण में दो प्रमुख तारे हैं, वे क्या हैं? क्या भाई जुड़वें हैं, क्या भाई बहिन हैं, या क्या हैं, जड़ पदार्थों के लिये कुछ नहीं कहा जा सकता।

अब यदि श्री पं० जी को शरण है, तो केवल पुराणों की मिथ्या कथा है, जिसको पंण्डितजी वेद में से निकालना चाहते हैं। उसके निकलते ही अभी दधीचिकी हड्डियों से इन्द्र का वज्र बनाने की कथा भी वेद में से पं० जी निकाल लेंगे। पं० जी वेद में से दधीचि का वह घोड़े का मुख, जो अश्वियों ने मधु-विद्या लेने के उपरान्त पुनः इन्द्र द्वारा कटवा दिया था, की कथा भी वेदों में से निकालेंगे। और वह शर्मणावत् तालाब, जिसमें वह घोड़े का सिर डाला गया, वेद में उसका वर्णन खोज निकाला जायेगा।

यदि तो वह सब अलंकार हैं, तब तो स्वयं पं० जी की सब स्थापना अलंकार में शून्य हो जावेगी। उस समय वे जो भी दो वस्तुएं 'अश्विनौ' से लेंगे, उन वस्तुओं की तथ्यता पर 'अश्विनौ' का जुड़वां भाई आदि मानना निर्भर होगा। उस अनिश्चित बात को पं० जी ने सिद्ध बात मान लिया है। यह एक पण्डित होने के नाते एक अहंकार की सी बात है।

मुझे दया आती है पण्डित जी के इस मत्सर-पूर्ण लेख पर, जिसमें पण्डित जी मत्सर-ग्रस्त होकर स्वयं अपने किये कराये पर मट्टी डाल रहे हैं। अपने ही पूर्व मस्तिष्क को अपनी अघोमुखी लेखनी से कटार के समान काट कर छिन्न-मस्तक होना चाहते हैं। यह ठीक है कि, "स्वार्थी दोषं न पश्यति।"

श्री पण्डित जी पौराणिकों की लोक-रूढ़ि में बह कर 'अश्विनौ' को दो पुरुष मान रहे हैं, दो जुड़वाँ भाई मानने पर आग्रह कर रहे हैं और मुझ पर अश्लील आक्षेप करने पर उतर आये हैं।

यदि मैं भी लोक-रूढ़ि पर उतर कर पण्डित जी से दो प्रश्न कर लूं, तो पण्डित जी से उत्तर नहीं बनेगा?

लोक भाषा में स्त्री-वाचक 'दार' शब्द पुंलिंग बहुवचनान्त है। 'कलत्र' शब्द नपुंसकलिंगी है। और पण्डित जी स्वयं अनेक सन्तान के पिता हैं। पंडित जी स्वयं पुरुष हैं, पर उनकी 'व्यक्ति' (शब्दतः) स्त्री लिंग है, तब आपकी व्यक्ति (स्त्रीलिंगी) ने दार (पुंलिंग) से या कलत्र (नपुंसकलिंग) से सन्तान कैसे पैदा की? रूढ़ि में शब्दों का लिंग-भ्रम हो जाने पर आप क्या उत्तर देंगे। सिवाय इसके कि आप कहें कि आप तो रूढ़ शब्दों पर क्रीड़ा करते हैं। इसी प्रकार श्री पण्डित जी को भी समझना चाहिये कि वैदिक देवताओं के शाब्दिक लिंगों के भ्रम में जनता को डालकर लेख लिखने की होशियारी बतलाना यह कोई पण्डित का लक्षण नहीं है।

आप मुझे बदनाम करना चाहते हैं कि मैंने अपने भाष्य में 'अश्विनी' पद से स्त्री पुरुष ग्रहण किये और वेद का अनर्थ किया। और आपने क्या नई बात की है?

आपने अपना भाष्य प्रकाशित करके उसे फिर क्यों नहीं बांच लिया। अथर्व वेद के १८ काण्डों पर आपने 'सुबोध भाष्य' रचा है। उसमें खण्ड प्रथम में अथर्ववेद काण्ड २४। सूक्त ३०। मन्त्र २ में अश्विनौ देवता वाले सूक्त के भाष्य में क्या लिखा है? यह आपको शोभा नहीं देता कि सभा में लोगों को बैंगन खाने से रोकना और अपने घर में बैंगनों का भुर्ता खाना। ऐसा दम्भ पं० जी का अधिक देर तक टिकने वाला नहीं है।

अब पाठक देखें अथर्ववेद का सुबोध भाष्य, जो आपने किया है, मन्त्र इस प्रकार है—

सं चेन्नयाथो अश्विना कामिना सं च वक्षथः ॥

इस सूक्त पर आपने देवता लिखा है—'देवता अश्विनौ' अब भाष्य लीजिये—"(हे कामिनौ अश्विनौ) परस्पर कामना करने वाले दो बलवानो? (च इत् संनयाथः) मिलकर चलो। (च संवक्षथः) मिलकर आगे बढ़ो। (चित्तानि सं) तुम दोनों के चित्त परस्पर मिलें और (व्रतानि

ग्र) तुम्हारे कर्म भी परस्पर मिलजुलकर हों।" आप इसपर टिप्पणी लिखते हैं—

"द्वितीय मन्त्र में 'अश्विनौ कामिनौ' कहा है। अर्थात् परस्पर की कामना करने वाले अश्विदेव जिस प्रकार एक कार्य में इकट्ठे रहते हैं, उसी प्रकार विवाहित स्त्री-पुरुष गृहस्थाश्रम में मिल-जुलकर रहें। एक दूसरे से विभक्त न हों। यहां 'अश्विनौ' शब्द "अश्व-शक्ति से युक्त" होने का भाव बतला रहा है। पुरुष के गर्भाधान करने में समर्थ होने के लिये वैद्यक-शास्त्र में 'वाजीकरण' के प्रयोग लिखे हैं। वाजीकरण और अश्वीकरण ये शब्द समानार्थक हैं, स्त्री-पुरुष आश्वनी (? (आश्वनौ) हों। इसका अर्थ वाजीकरण से प्राप्त होने वाली शक्ति से युक्त पुरुष स्त्री हों, यह है। 'अश्वि' शब्द का यह श्लेषार्थ यहां पाठक अवश्य देखें। स्त्री, पुरुष परस्पर "कामिनौ" अर्थात् परस्पर की इच्छा करने वाले हों; स्त्री पुरुष की प्राप्ति की इच्छा करे, और पुरुष स्त्री की प्राप्ति की इच्छा करे। इस शब्द से विवाह का समय भी निश्चित हो सकता है। इत्यादि ....."।

आगे फिर स्वयं लिखते हैं—"कामिनौ अश्विनौ" शब्द द्वितीय मन्त्र में हैं।...'कामिनौ' शब्द का स्पष्टीकरण पंचम मन्त्र के पूर्वार्ध ने किया है। और अश्विनी का स्पष्टीकरण पंचम मन्त्र के तृतीय चरण द्वारा हुआ है। यह बात पाठक मनन-पूर्वक देखेंगे तो 'अश्विनौ' यहां उत्तम तारुण्य से युक्त पति-पत्नी का वाचक है। और अश्व शब्द वाजीकरण-सिद्ध वीर्य-वान् पुरुष का विशेषतया वाचक है।"

इस स्थल पर स्थानाभाव से हम श्री पं० जी के इस लम्बे चौड़े स्पष्टीकरण को यहां नहीं लिख रहे हैं। इस मन्त्र पर पांच पृष्ठ की टिप्पणी लिखी है। यदि पं० जी के एक २ शब्द के अर्थ पर आलोचना करें, तो पं० जी अधीर हो उठेंगे। वह कटुता उत्पन्न करना मेरा ध्येय नहीं है। परन्तु केवल मैं तो यही कहना चाहता हूँ कि—"जादू वह, जो सिर पर चढ़ कर बोले।"

अब पं० जी के जुड़वां भाई अश्विनौ कहां चले गये? अब ये अश्विनौ—बलवान् वाजीकरण सिद्ध पति-पत्नी कहां से आ गये। यदि श्री पं० जयदेवशर्मा जैसे वेदभाष्यकार से भगवान् बचावे, तो अन्यों को बैंगन खाना रोककर स्वयं बैंगन खानेवाले श्री पं० सातवलेकर जी से कौन बचावेगा? इसका श्री पं० जी ने विचार नहीं किया था।

वेद तो स्वयं अपने अर्थों की दिशा स्वयं निर्देश करते हैं। अथर्ववेद के काण्ड २ के २९ वें सूक्त के छठे मन्त्र में भी स्पष्ट कहा है—

सत्रासिनौ पिबताम् मन्थमेतम्
अश्विनो रूपं परिधाय मायाम्।

अर्थात्-स्त्री पुरुष दोनों अश्वियों का रूप और उनकी माया अर्थात् बुद्धि-जगत् उत्पादक कौशल को धारण करके इस 'मन्थ' (औषध) का पान करें।

इससे अधिक क्या स्पष्ट हो सकता है कि स्त्री-पुरुष पति-पत्नी को अश्वियों का रूप धारण करने के लिये कहा गया है।

हमने इस लेख में वेद के विद्वानों के सामने "अश्विनौ" देवता के सम्बन्ध में एक समस्या को स्पष्ट करके रख दिया है। यह भी बतला दिया है कि अपने स्वार्थ को साधने के लिये बड़े २ धुरन्धर पण्डित अपने मार्ग से भ्रष्ट होकर वेदों पर स्वयं प्रहार करने के लिये उद्यत हैं। मत्सर-ग्रस्त होकर अपना मस्तकच्छेद करने पर उतारू हो जाते हैं। ऐसी दशा में आर्य विद्वानों को जागृत होना चाहिये॥

किमधिकेन विद्वत्सु॥

ऋग्वेद-व्याख्या

[ले०—श्री डा० सूर्यदेव जी शर्मा साहित्यालंकार, सिद्धान्तवाचस्पति, एस०ए०डी० लिट्, अजमेर]

अब यह बात तो निःसन्देह सिद्ध हो चुकी है कि संसार में वेदों से प्राचीन अन्य कोई ग्रन्थ किसी भी साहित्य में उपलब्ध नहीं होता, और जहाँ हम भारतीय आर्य चारों वेदों में प्राधान्य ऋग्वेद को ही देते हैं, सबसे बड़ा तथा महत्त्व-पूर्ण ऋग्वेद को ही मानते हैं, वहाँ पाश्चात्य विद्वान् भी सर्वसम्मत्या ऋग्वेद को ही सबसे अधिक विषयों से संवलित तथा सर्वाधिक इतिहास-तथ्यमय स्वीकार करते हैं। इसीलिये प्रो. मोक्षमूलर तो स्पष्ट लिख गया है "The Rigveda is the oldest book in the library of the world." अर्थात् संसार के पुस्तकालय में ऋग्वेद ही सर्व प्राचीन ग्रन्थ है। इसके अनुसार संसार का सांस्कृतिक तथा सामाजिक इतिहास लिखने के लिये अद्यावधि जो प्रयत्न किये गये हैं, अथवा पौरस्त्य तथा पाश्चात्य विद्वानों द्वारा जो प्रयास भविष्य में किये जायेंगे, वे सब ऋग्वेद पर ही आश्रित होंगे। विश्व इतिहास का भव्य भवन यदि कभी निर्मित होगा, तो ऋग्वेद के आधार पर ही वह हो सकेगा, अन्यथा नहीं, यह निर्विवाद है।

इस इतने महत्व-पूर्ण ग्रन्थ की व्याख्या के अब तक अनेक प्रयत्न किये गये हैं, परन्तु वे अपने-अपने ढंग से किये जाने पर भी अपूर्ण और अविच्छिन्न ही रहे हैं—सर्व सम्मत्या-स्वीकरणीय एक भी नहीं कहा जा सकता। कारण स्पष्ट है। ऋग्वेद में जहाँ कई स्थल सरल तथा सुबोध हैं, वहाँ अनेक स्थल अत्यन्त दुरूह तथा दुर्गम्य हैं, जिनका अर्थ अब तक भली प्रकार बोधगम्य नहीं हो सका है। सर्व प्रथम सबसे प्राचीन व्याख्या ऋग्वेद की जो हमें उपलब्ध होती है, वह शाकल्य ऋषिकृत पदपाठ है। वह व्याख्या तो नहीं कही जा सकती, हाँ, सन्धि, समासादि का विग्रह करके शब्दों के पृथक्-पृथक् रूपों का व्यवस्थापन व्याख्या के लिये सहायक अवश्य हो सकता है। पदपाठ के अनन्तर ब्राह्मण ग्रन्थों से वेद-व्याख्या में बहुत कुछ सहायता प्राप्त हो सकती है, लेकिन अनेक स्थलों पर ब्राह्मण ग्रन्थों में ऋचाओं का अर्थ जिस प्रकार किया गया है, वह मूल संहिता से असंगत सा प्रतीत होता है। अनेक स्थलों में आलंकारिक तथा कथानकमयी भाषा का प्रयोग व्याख्यानों में व्यवधान तक उत्पन्न कर सकता है। अतः हमें कहना पड़ेगा कि ऋग्वेद के जिन मंत्रों की व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थों में संक्षिप्त अथवा सम्यक् रूपेण की गई है, उन पर विवेक-पूर्ण विचार करने और संगति बिठाने की परम आवश्यकता है।

ऋग्वेद की व्याख्या करने में निघंटु और निरुक्त का स्थान भी महत्त्व-पूर्ण है, लेकिन यास्काचार्य के समय में भी वेद-मंत्रों की सार्थकता, महत्ता में कौत्स जैसे शंका करने वाले उत्पन्न हो चुके थे, जो मंत्रों को अर्थहीन, निरर्थक और विरुद्धार्थक मानते थे, यह हमें न भूलना चाहिये। निरुक्तकार प्रत्येक वैदिक शब्द की व्याख्या उसके मूल धातु को लेकर, उसका विश्लेषण करके, करते हैं। वस्तुतः यह शैली परम प्रशंसनीय है, जिसका आश्रय ऋषि दयानन्द ने भी अपने वेदभाष्य में लिया है, लेकिन निरुक्तकार के "कौत्साः तथा ऐतिहासिकाः" से हमें सावधान रहना चाहिये, निरुक्त की रचना जिस निघंटु के आधार पर की गई है, उसमें भी शब्दों की सूचीमात्र दी गई है, पर्यायवाची शब्दों से व्याख्या का बोध नहीं हो सकता।

आधुनिक व्याख्याकारों में सायणाचार्य का नाम सर्वप्रथम आता है। उसने अपने 'वेदार्थ प्रकाश' में ऋग्वेद के प्रत्येक मंत्र का ऋषि, छन्द, देवता, स्वर, उसका विनियोग, प्रत्येक शब्द की व्याख्या, व्युत्पत्ति, आदि सब आवश्यक बातें विस्तृत रूप से दी हैं। इसीलिये विल्सन जैसे पाश्चात्य विद्वान् तो सायणाचार्य को वेदभाष्य करने वालों की "अन्धों की लकड़ी" कहकर पुकारते हैं; क्योंकि पाश्चात्य विद्वानों ने सायणभाष्य को ही अपनी वेद-व्याख्या का आधार बनाया हुआ है। यह सब कुछ होते हुये भी सायण ऋग्वेद को "यस्य निःश्वसितं वेदाः" के अनुसार अपौरुषेय ग्रन्थ मानते हैं। इसलिये उसकी व्याख्या भी कर्मकाण्ड-प्रधान होते हुये भी तुलनात्मक तथा आलोचनात्मक नहीं हो सकी है, एवम् वह पूर्णतया प्रामाणिक और असंदिग्ध नहीं कही जा सकती। सायणभाष्य का अध्ययन करते हुए सुविज्ञ पाठक सरलता से समझ लेता है कि वह

(१) कठिन शब्दों के अनेक अर्थ देते हैं, लेकिन अपनी सम्मति नहीं देते कि वहाँ कौन सा अर्थ समीचीन होगा। (२) अनेक मंत्रों का ठीक आध्यात्मिक अर्थ न देकर उनको कर्मकांडपरक बना देते हैं। (३) कहीं २ "अत्र निरुक्तम्" लिखकर निरुक्त में दिया हुआ अर्थ ही उद्धृत कर देते हैं और अपना पिंडसा छुड़ा लेते हैं। (४) कहीं पौराणिक गाथाओं के आधार पर अर्थ करते हैं, जैसे ऋक् १-११४।६ की व्याख्या में रुद्र का अर्थ "पार्वतीपति" कर दिया, जब कि ऋग्वेद में कहीं पर भी पार्वती शब्द ही नहीं आता। (५) अनेक स्थलों पर इतिहास-परक अर्थ किये गये हैं, जो सर्वथा असंगत प्रतीत होते हैं; क्योंकि अपौरुषेय वेद में शाश्वत इतिहास के साथ अशाश्वत अथवा मानवीय इतिहास का समावेश कैसा ? परन्तु इन सब त्रुटियों के होते हुये भी हमें यह मानना पड़ेगा कि सायणाचार्य का ऋग्वेद भाष्य 'वेदार्थ-प्रकाश' वेदभाष्य शृंखला की एक सुदृढ़ प्रमुख कड़ी है।

पाश्चात्य विद्वानों में विल्सन महोदय का मत ऊपर दर्शाया गया है। वह कहते हैं कि वेद भाष्यको यूरोपीय विद्वान्, जो वैदिक परम्पराओं एवं भावनाओं से ओतप्रोत नहीं हैं, पूर्णतया कर ही नहीं सकते। इसीलिये उन्होंने सायणभाष्य का ही अंग्रेजी अनुवाद करके अपनी मनस्तुष्टि करली है।

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् रौथ का सिद्धान्त है कि ऋग्वेद की व्याख्या स्वयं ऋग्वेद में ही उपलब्ध हो सकती है। वेद का एक शब्द कहाँ २ पर किस २ अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उसका तुलनात्मक अध्ययन करने से ऋग्वेद की सम्यक् व्याख्या हो सकती है, व्याख्याकार वैसी व्याख्या नहीं कर सकते। वेदों की समालोचनात्मक व्याख्या-शैली का आविष्कारक यूरोप में रौथ को ही माना जाता है। ब्लूमफील्ड का महान् ग्रन्थ Vedic Concordance जगत्प्रसिद्ध है। जर्मन के एक अन्य विद्वान् लुडविग ने जर्मन गद्य में और ग्रासमैन ने पद्य में ऋग्वेद का अनुवाद किया है। उन्होंने भी रौथ का अनुकरण करते हुए भारतीय शैली को महत्त्व नहीं दिया, जिसका प्रतिपादन विल्सन ने किया था; अतः उनके भाष्यों में भी अनेक त्रुटियाँ विद्यमान हैं। इनके विपरीत पिशल और गिल्डर पूर्णतया भारतीय व्याख्या शैली के पक्षपाती हैं। उनकी सम्मति में ऋग्वेद की व्याख्या में निरुक्त तथा भारतीय ग्रन्थों का आश्रय लेना परमावश्यक है। हिलीब्रान्ड, ओल्डनबर्ग, मैकडौनल्ड तथा कीथ आदि विद्वानों ने भी अनेक सूक्तों की तथा मंत्रों की व्याख्या करने का प्रयास किया है, लेकिन मूलतः रौथ के सिद्धान्त को मानते हुए भी समीचीन व्याख्या करने में असमर्थ ही रहे हैं। प्रो० वाडे ने "Ten Lectures on Rigved" में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है, तथा अन्य अनेक विद्वान् भी समय २ पर विवेचन कर चुके हैं।

आधुनिक काल में योगी अरविन्द के शब्दों में ऋषि दयानन्द ने एक अन्धेरी कोठरी से वेदों को निकालकर हमारे सामने रखा है। उनकी वेदभाष्य-शैली जहाँ निरुक्त के आधार पर भारतीयता को लिये हुये है, वहाँ रौथ की शैली का भी उसमें सम्यक् समन्वय पाया जाता है। वेद की व्याख्या वेद से ही करने का उनका सत्प्रयत्न सराहनीय है। यह होते हुये भी उनकी शैली में निरुक्त, निघंटु, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, दर्शन, व्याकरण आदि का सम्यक् पुट है। वहाँ रौथ की शैली भारतीय परम्पराओं से कोसों दूर शुष्क तर्कवाद पर आधारित है। यही दोनों में अन्तर है। फिर भी भारत में तथा पाश्चात्य देशों में भी कई विद्वान् ऋषि दयानन्द की शैली से पूर्णतया सहमत नहीं है। उनके मत में वेदभाष्य करने में तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, भूगर्भ-विज्ञान, ज्योतिष-विज्ञान आदि का आश्रय लिया जाना भी उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना निरुक्त, निघंटु, ब्राह्मण ग्रन्थादि वैदिक साहित्य का।

इस संक्षिप्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि ऋग्वेद की सर्वसम्मत व्याख्या अभी तक नहीं हो सकी है। एवं सर्वसम्मत व्याख्या करने के लिये अनेक विद्वानों तथा विविध विज्ञानवेत्ताओं और भाषाविज्ञों की आवश्यकता है। जब ऐसी व्याख्या संसार के सम्मुख आयेगी, तब ज्ञान का एक अपार भंडार हमारे सम्मुख खुल जायेगा और तभी हम सहर्ष कह सकेंगे:—

"वेद भगवन्! तुम हमारे पूर्वजों के प्राण हो।
रूप में पुस्तक के हो पर तत्त्व में भगवान् हो"॥

"सूर्य"

श्रीरामलाल कपूर ट्रस्ट का सस्ता और सुन्दर प्रकाशन

आर्य जगत् को यह जानकर महती प्रसन्नता होगी कि रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर ने अपना प्रकाशन कार्य कुछ वर्षों से पुनः पूर्ववत् भले प्रकार प्रारम्भ कर दिया है। निम्न पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं—

१—**सन्ध्योपासनविधि**—ऋषि दयानन्दकृत भाषार्थ, दैनिक हवन और भजनों के सहित। यह अब तक ३०५००० तीन लाख पाँच हजार छप चुकी है। घटाया हुआ मूल्य -)।

२—**व्यवहारभानु**—ऋषि दयानन्दकृत। बालकों को व्यवहार की उचित शिक्षा देनेवाला अपूर्व ग्रन्थ। यह ग्रन्थ प्रत्येक आर्य बालक-बालिकाओं के विद्यालयों में पाठ्य पुस्तक रखने योग्य है। मू०=)

३—**ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्मचरित्र**—ऋषि दयानन्द ने अमेरिका निवासी आल्काट महोदय की प्रेरणा से अपना कुछ वृत्तान्त लिखकर उन्हें भेजा था, जिसका अंग्रेजी अनुवाद उन्होंने थियोसोफिकल नामक अपने पत्र में छापा था। आर्यसमाज के उद्भट विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्तजी ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। ऋषि दयानन्द के प्रसिद्धि में आने से पूर्व की घटनाओं का यही एकमात्र प्रामाणिक लेख है। मूल्य ।=)

४—**हवन-मन्त्र**—प्रार्थना, स्वस्तिवाचन, शान्तिप्रकरण, बृहद् हवन और भजनों से युक्त। मू०-)

५—**आर्याभिविनय**—ऋषि दयानन्दकृत (प्रथम और द्वितीय संस्करण से मिलाकर अत्यन्त शुद्ध और सुन्दर छापा गया है। संदिग्ध स्थलों पर टिप्पणियाँ दी गई हैं)। मूल्य ।=)

६—**आर्योद्देश्यरत्नमाला**—ऋषि दयानन्दकृत। शुद्ध, सुन्दर तथा सटिप्पण संस्करण मूल्य -)

७—**पञ्चमहायज्ञविधि**—ऋषि दयानन्दकृत। " " " " " मूल्य =)

८—**उरुज्योति अर्थात् वैदिक अध्यात्म-सुधा**—श्री डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल लिखित। वैदिक अध्यात्म विषयक उच्चकोटि का श्रेष्ठ ग्रन्थ। कागज छपाई श्रेष्ठ और सुन्दर। सजिल्द ३) मात्र

९—**ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास**—लेखक-श्री पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक। ऋषि दयानन्द के सभी मुद्रित और अमुद्रित ग्रन्थों के विषय में पूर्ण जानकारी देनेवाला अपूर्व ग्रन्थ। प्रचारार्थ मूल्य में भारी कमी की गई है। घटाया हुआ मूल्य बढ़िया सं० सजिल्द ४), साधारण सं० अजिल्द ३) मात्र

१०—**अष्टाध्यायी मूल** (सूत्रपाठ) अत्यन्त शुद्ध पाठ =) डाक व्यय मूल्य ।।)

११—**ऋग्वेद-भाषाभाष्य-प्रथम भाग** (जो वेदवाणी में क्रमशः छपता रहा) मूल्य २।।)

१२—**विशेषाङ्क**—वेदवाणी के इस वर्ष का विशाल विशेषांक "पाश्चात्य-मत-परीक्षणाङ्क" है। इसमें अनेक उच्चकोटि के गवेषणात्मक वेदविषयक मौलिक लेखों का संग्रह है, जिनमें भारत के उच्चकोटि के विद्वानों द्वारा पाश्चात्य स्कालरों के सिद्धान्तों तथा विचारों की बहुत गवेषणा तथा योग्यतापूर्ण आलोचना की गयी है। मूल्य १)। गत तीन वर्षों के वेदाङ्कों का मूल्य भी घटाकर प्रति अंक १) कर दिया है।

१३—**वेदवाणी की पुरानी फाइलें**—वर्ष २ अङ्क १० मूल्य २।।), वर्ष ३ अङ्क १० मूल्य २।।), वर्ष ४ अङ्क [illegible] मूल्य ३), वर्ष ५ वेदाङ्क सहित ४), वर्ष ६ वेदाङ्क सहित ५)। वर्ष ७ अंक ११ वेदांक सहित ४।।) ७वां अंक नहीं है। थोड़ी प्रतियाँ शेष हैं, शीघ्रता करें।

डाक व्यय सबका पृथक् होगा। बड़ा सूचीपत्र बिना मूल्य मंगवावें।

रामलाल कपूर एण्ड सन्स, पेपर मर्चेण्ट

गुरु बाजार, अमृतसर। नई सड़क, देहली। बिरहाना रोड, कानपुर।

वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, मोतीझील बनारस ६।

संपादक, प्रकाशक व मुद्रक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, बनारस।

ॐ

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ८] ❀ [अङ्क ४

इस अंक के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

माघ २०१२, फरवरी १९५६
दयानन्दाब्द १३०
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५५

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) बनारस नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
" " वी० पी० से ५॥)
" " विदेश में ६)
इस अंक का ।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही —२।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। **पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है।।**

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है और वर्ष का प्रथम अङ्क **विशाल विशेषाङ्क** के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। **विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है।** विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना **ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।**

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) बनारस ६

[पृ० १७ का शेष]

"वसिष्ठः वसुमत्तमः" ऐसा विश्लेषण भी वसिष्ठ पद का मिलता है। यहां वसुमत् शब्द से इष्ठन् प्रत्यय होकर वसिष्ठ पद व्युत्पन्न हुआ है, जिसका धनवान् अर्थ होता है।

वसिष्ठ पद पर विचार करना यहां ही समाप्त किया जाता है। निम्न प्रकार से इस पद का अर्थ संग्रहीत समझना चाहिये ॥

१—वसिष्ठ अर्क आसव आदि औषध। २—वसिष्ठ लतारूप औषध। ३—वसिष्ठ प्राण वायु। ४—वसिष्ठ अग्नि ५—वसिष्ठ तारा ६—वसिष्ठ धनवान् ७—वसिष्ठ वाणी ८—वसिष्ठ मैत्रावरुण का पुत्र।

यहां तक हमने केवल छः नामों को लेकर विचार किया है। वेदमन्त्रान्तर्गत अन्य नामों पर भी विस्तृत विचार किया जा सकता है; किन्तु यह लेख यहां ही समाप्त किया जाता है।

स्वलिखित अप्रकाशित "वेदों के ऋषि" पुस्तक के आधार से लिखा हुआ यह लेख है—लेखक।

ऋग्वेद ओ३म् यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद अथर्ववेद

सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि।
अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष ८ | काशी, माघ सं० २०१२ वि०, फरवरी १९५६ ई० | अङ्क ४

आर्याभिविनय से

हम सोलह कला-पूर्ण भगवान् की उपासना करें

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥यजुः ८।३६॥

व्याख्यान—जिससे बड़ा, तुल्य वा श्रेष्ठ न हुआ, न है और न कोई कभी होगा, उसको परमात्मा कहना। जो *"विश्वा भुवनानि"* सब भुवन (लोक), सब पदार्थों के निवासस्थान, असंख्यात लोकों को *"आविवेश"* प्रविष्ट होके पूर्ण हो रहा है, वही ईश्वर प्रजा का पति (स्वामी) है। सब प्रजा को रमा रहा और सब प्रजा में रम रहा है। *"त्रीणीत्यादि"* तीन ज्योति अग्नि, वायु और सूर्य इनको जिसने रचा है, सब जगत् के व्यवहार और पदार्थ-विद्या की उत्पत्ति के लिए इन तीनों को मुख्य समझना। *"स षोडशी"* सोलह कला जिसने उत्पन्न की हैं, इससे सोलह कलावान् ईश्वर कहाता है। वे सोलह कला ये हैं—ईक्षण (विचार)१. प्राण २. श्रद्धा ३. आकाश ४. वायु ५. अग्नि ६. जल ७. पृथिवी ८. इन्द्रिय ९. मन १०. अन्न ११. वीर्य (पराक्रम) १२. तप (धर्मानुष्ठान) १३. मन्त्र (वेद-विद्या) १४. कर्म (चेष्टा) १५. लोक और लोकों में नाम १६. इतनी कलाओं के बीच में सब जगत् है और परमेश्वर में अनन्त कला हैं। उसकी उपासना छोड़ के जो दूसरे की उपासना करता है, वह सुख को प्राप्त कभी नहीं होता, किन्तु सदा दुःख में ही पड़ा रहता है॥

यज्ञ

(२)

[लेखक—श्री लालचन्द जी, मेरठ]

यज्ञ के महत्त्व और यज्ञ की व्यापकता को सम्यक् रूप से ठीक ठीक समझना, न केवल भारतीय जनता का कर्तव्य है; अपितु यज्ञ का रहस्य जानकर यज्ञमय जीवन बनाने में विश्व भर के मानवों का परम हित है। भारतीय आर्यजनों द्वारा आर्यत्व का प्रसार होता है।

प्रत्येक व्यक्ति, जो स्वयं उन्नत होकर अन्य व्यक्तियों की उन्नति में सहयोग दे रहा है, वह यज्ञ कर रहा है। यज्ञ का व्यापक रूप जानना चाहिये। सबसे प्रीति-प्रेमपूर्वक धर्मयुक्त व्यवहार ही तो यज्ञमय जीवन है। यज्ञ में सबका सच्चा हित निहित है।

यज्ञ की उपेक्षा करके भारतीय लोगों ने अपना प्राचीन गौरव, यश और अपनी प्राचीन प्रतिष्ठा खोई है। वेद, यज्ञ-प्रधान पुस्तक है, इस तथ्य में वेद का आदर है और साथ ही यज्ञ की भी महानता है। यज्ञ की महिमा महान् है। यज्ञ-पुरुष भगवान् है और उसकी प्राप्ति यज्ञ द्वारा ही संभव है। प्राचीन समय में दिव्य जन, साधक, ऋषि सभी मिलकर सर्वहितकर सर्वमंगलप्रद यज्ञ किया करते थे और उस कार्य से तेज, ओज, बल, शक्ति, सामर्थ्य और राष्ट्र की सुव्यवस्था किया करते थे। यज्ञ महान कर्तव्य है। यज्ञ बिना मनुष्य के जीवन का विकास हो ही नहीं सकता। किन्तु केवल अग्निहोत्र ही यज्ञ नहीं है। अग्निहोत्र में जो समर्पण की तत्परता, लग्न और आत्मोत्सर्ग की अनुपम शिक्षा मिलती है, उसी से मानवों का अभ्युदय और कल्याण साथ साथ होता है।

वास्तव में मानव-जीवन के विकास के लिए जो ऋत और सत्य दो भागवत नियम हैं, उनकी प्रक्रिया ही धर्म है; और धर्मकर व्यक्ति के तथा समाज के व्यापक जीवन में जो अनुष्ठान हैं, वही यज्ञ है। जब हम भजन करते हैं, तो हम समन्वय करते हैं, सामंजस्य करते हैं, भय, संशय, सन्देह, संकोच, संकीर्णता सब दूर करके तत्परता से यज्ञरूप मानव धर्म को जीवन-चर्या में धारण करके अपनी और सारे मानव-समाज की प्रगति और उन्नति में भाग लेते हैं। यज्ञ-वेदि ही पृथिवी का केन्द्र है और प्रत्येक मनुष्य अपनी समाज का केन्द्र है। वैयक्तिक उन्नति से ही संगठित रूप में एक उन्नत समाज बन सकेगा। संगतिकरण और समन्वय यज्ञ का केन्द्रीय स्वरूप है। संगतिकरण-मेल, आपस का सम्यक् ज्ञान-एक दूसरे को सम्यक् रूप से जानना, आपस में सन्देह का न होना, सबका एक मन से पूरी लग्न से कर्तव्य-भाग को प्रसन्नता से करना, और सबकी उन्नति में परस्पर सहयोग, यही तो मानव-समाज की स्थायी उन्नति में सहायक हैं। ये सब भाव यज्ञ के अन्तर्गत आ जाते हैं। यज्ञ में सुनियमन है और सुव्यवस्था है। किसी भी गृहस्थ में वस्तुओं का अपने अपने ठिकाने रखा रहना तथा निर्धारित कार्यों को पूरी रुचि से ठीक समय पर करना, यज्ञ नहीं तो क्या है? मानव-जीवन ही यज्ञ है। मानव-जीवन-चर्या में यज्ञ की सम्पन्नता हो रही है, ऐसा जानकर दिनचर्या करने में हम अपने आपको विश्वमन के साथ समन्वित कर रहे होंगे। जो विश्वमन इस सारे विश्व की रचना और सुव्यवस्था आदिकाल से कर रहा है। जिसके द्वारा विश्व-यज्ञ हो रहा है, लगातार हो रहा है; उस विश्वनियन्ता के कार्य अनुकरणीय हैं। वास्तव में हम अग्निहोत्र करते हुए विश्व यज्ञ में अपना अपना भाग समर्पण कर रहे हैं। अग्निहोत्र के मंत्र आरंभ से लेकर अन्त तक ऐसे सुन्दर हैं और ऐसे पवित्र, सामंजस्य, समन्वय तथा समर्पण के भाव मानव हृदय में और मन में उदय करते हैं कि उनके द्वारा सर्वमंगल अवश्यंभावी है। अग्निहोत्र वैसा ही नित्य कर्म है, जैसा कि सन्ध्योपासना तथा वेद का स्वाध्यायरूप ब्रह्मयज्ञ, एक अनिवार्य कर्तव्य है। पर यहाँ तो लीला ही विचित्र है, अर्थ के न जानने से तथा सर्वभाव से अग्निहोत्र में तत्परता और श्रद्धा से कार्य न करने से आर्यसमाजी लोग इन दोनों यज्ञों से बहुत कम लाभ उठा रहे हैं। जीवन में शुभ परिवर्तन तभी होगा जब कि साधक के मन में अपने कर्तव्य के प्रति पूर्ण

श्रद्धा और विश्वास हो। प्रत्येक आर्यसमाजी को चाहिये कि वह प्रयत्न करके ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ बलिवैश्वदेव (भूतयज्ञ) तथा अतिथियज्ञ (नृयज्ञ) इन यज्ञों का नित्य प्रातः सायं अनुष्ठान करें और उनका सम्यक ज्ञान भी लाभ करें। बिना सत्ज्ञान के किया हुआ कर्म कोई भी फल नहीं देता। सन्ध्या के मन्त्रों का अशुद्ध उच्चारण अर्थों का अज्ञान, तथा अर्थज्ञान में अरुचि और अनुष्ठान में अत्यंत उपेक्षा से क्या कभी आर्यसमाजी आर्य बन सकेंगे; और ये लोग स्वयं आर्य न बन सके तो क्या इनके समाज को आर्यसमाज कहा जा सकेगा? आज आर्यसमाजियों की जीवन-चर्या में तथा अन्य पौराणिक साधारण जनों की दिनचर्या में अन्तर बहुत ही कम रह गया है।

सर्वभूतहितेरताः कितने आर्य समाजी हैं? चाहे वे दिखावे का बलिवैश्वदेव यज्ञ करते ही क्यों न हों? वैसे तो वास्तविकता यह है कि माता पिता का आदर, गुरु जनों का सत्कार और उनकी सेवा-रूप पितृयज्ञ का अब हिन्दू समाज में अभाव सा ही दीखता है। पौराणिक लोग चाहे पितृयज्ञ में श्राद्ध तर्पण करते भी हों, तथा बरसी पर कुछ पितरों के नाम पर दान भी करते रहते हों, पर ये दिखावे के कृत्य पितृयज्ञ नहीं हैं, पितृयज्ञ तो माता, पिता, पितामह तथा अन्य गुरु जनों की सेवा, शुश्रूषा और पालन पोषण ही है। सो असली पितृयज्ञ तो हो नहीं रहा, इसलिए घरों में अशान्ति है। प्रायः आर्यसमाजी घरों में पितृयज्ञ, जिसमें गुरु जनों की तृप्ति और संतुष्टि करके उनसे आशीर्वाद प्राप्त करने की वैदिक प्रथा थी, वह लोप ही होती जा रही है। बहुत कम आर्य परिवार हैं, जिन में बालक और युवा अभिवादन नियम से और श्रद्धा भक्ति से करते हों और गुरु जनों का आशीर्वाद पा रहे हों। ऋषि दयानन्द ने तो समाज की सर्वांग उन्नति के लिए और आर्य जीवन के पुनरुद्धार के लिए पंच महायज्ञों पर बल दिया था और पंचमहायज्ञविधि पुस्तक भी लिखी थी; पर आर्य समाजी आजकल उस पुस्तक को पढ़ते तक नहीं, उसके अनुसार जीवन-चर्या करना तो आगे की बात है। बलिवैश्वदेव यज्ञ का अभिप्राय है सभी प्राणियों से दया का व्यवहार। मांसाहारी व्यक्ति सर्व-भूत-हिते-रत हैं, यह कहा ही नहीं जा सकता। उसकी तो जीवन-निर्वाह ही हिंसा पर अवलम्बित है। कितने घर हैं, जहां अतिथि को आदर से अन्न मिलता है। अतिथि-सेवा भी एक महायज्ञ है। ऋषि दयानन्द समाज में यज्ञों के अनुष्ठान द्वारा स्वर्ग लाना चाहता था। स्वर्ग-सुख के आकांक्षी लोगों को तो अवश्य यज्ञों का मर्म समझकर उनका अनुष्ठान करना ही चाहिये।

यज्ञ का मुख्य भाव है आपस का सामंजस्य, समन्वय और समाज में यथायोग्य सबका आदर सत्कार और सम्मान तथा सभी की उन्नति करने के अवसर की प्राप्ति और परस्पर की उन्नति में सहयोग। मिलना और मिलकर समुन्नति के शुभ कर्म पूरी श्रद्धा से करना, यही तो यज्ञ है। यज्ञ अकेले हो ही नहीं सकता, कम से कम दो व्यक्ति तो अवश्य ही होवें। आर्यसमाज के नियम व्यापक हैं। इनका प्रभाव सार्वभौम है। इनसे विश्व भर के मनुष्यों का कल्याण होना है। पर काम तभी तो हो सकेगा, जब कि आर्य समाज के सदस्य सतत लग्न से और समर्पण भावना से अपना दायित्व समझकर पहले स्वयं आर्य बनेंगे, और आगे अपने अपने घर को आर्य संस्कृति का केन्द्र बनाकर आर्यत्व का सन्देश अपने जीवन व्यवहार द्वारा आगे ले जायेंगे। यह कार्य अवश्य एक महान् यज्ञ है, जिससे सबका अभ्युदय निश्चित रूप में अवश्य होने वाला है। मिलकर कार्य करने की भावना ही यज्ञ भावना है और मिलकर सर्वहित के मंगल कार्य करना यज्ञ की प्रक्रिया है, यही धर्म है, इसी में सबका परम हित है। यज्ञ का महत्व और उसकी व्यापकता समझना प्रत्येक मानव का कर्तव्य है, जो स्वयं उन्नत होना चाहता है तथा जिसे समाज का जीवन विकसित करने की जिम्मेदारी समझ में आ चुकी है।

यज्ञ में ही सर्वोदय निहित है। यज्ञ-भावना को क्रियात्मक रूप दिये बिना सर्वोदय हो ही नहीं सकता। यज्ञ अनिवार्य है। यदि मानवता का विकास अभीष्ट है; और मानव ने अपनी मानवता में अवश्य विकसित होना ही है, तो यज्ञ की प्रक्रिया द्वारा ही विकास संभव है। संकीर्णहृदय अनभिज्ञ लोगों ने यज्ञ के भाव को अपने ही संकोच और अपनी ही तुच्छता के कारण सीमित कर दिया था, ऋषि दयानन्द ने यज्ञ को व्यापक रूप दिया है। यज्ञ सभी शुभकर्मों का समन्वय है, जिनसे मानवों का पारस्परिक हित होता रहता है॥

यजुर्वेद और पशुबलि

[*ले०—श्री पं० विहारीलाल जी शास्त्री, उझियानी*]

यद्यपि सृष्टि में विधाता की सर्वोत्तम रचना होने का गर्व मनुष्य को है, तथापि प्रकृति माता की जो महती शक्ति पशु पक्षी तथा कीट पतंगों की प्राप्त हुई है, उससे मनुष्य बहुत दूर है। मनुष्येतर जीवों को जो अद्भुत प्राकृत क्षमतायें प्राप्त हैं, भावी प्राकृत घटनाओं का जो उन्हें सहज ज्ञान है, प्रकृति के कष्टों के सहने की जो उनमें सामर्थ्य है, वह मनुष्य में कहाँ?

श्वेत रीछ टंडरा के बर्फ में मौज करता है। प्रकृति माता का दिया ऊनी कोट उसे ऐसा मिला है कि बचपन से बुढ़ापे तक काम देता है। ऊँट कई कई दिन तक भूखा रहकर मरुस्थलों को पार करने की शक्ति रखता है। चींटी और चिड़ियों को ऋतुओं का स्वाभाविक ज्ञान है। कई चिड़ियें भूचाल आने को पहले से जान लेती हैं। बये का स्वनीड़ निर्माण में कलाकौशल किसको आश्चर्य में न डाल देगा? बन्दर के औषध-विज्ञान की अनेक कथायें प्रसिद्ध हैं।

अतः यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य के अतिरिक्त पशु, पक्षी, कीट, पतंग भी प्रकृति की दिव्य शक्तियों अथवा देवताओं से युक्त हैं, जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में देवताओं का निवास है, उसी प्रकार पशु, पक्षी आदि के में भी।

इन्हीं शक्तियों का संकेत यजुर्वेद के चौबीसवें अध्याय में किया गया है। अदृष्ट से नष्टदृष्टि याज्ञिकों ने इन पशु, पक्षी आदि के बलिदान की कल्पना कर डाली। यदि ये मंत्र बलिदान-प्रतिपादक होते तो, भला "कृमि" (अ०२४।३० वों मंत्र) मशक (मच्छर) भृङ्ग (भौंरा) (मंत्र २९) इनका बलिदान कैसा?

क्या मच्छर, भौंरे, कीड़े देवताओं के लिये हवन-कुण्ड में डाले जायेंगे?

महीधर और उव्वट भाष्य पढ़िये, शतपथ ब्राह्मण का १३वाँ-कांड, जो इसी अध्याय से सम्बद्ध है पढ़िये, पर यह पहेली समझ में नहीं आयेगी। कितने कीड़े, कितने मच्छर, कितने भौंरे, मरे वा जीते हुए हवन में डाले जायेंगे?

ये मंत्र अश्वमेध प्रकरण के हैं और शतपथ का १३वाँ काण्ड भी अश्वमेध का वर्णन करता है। पर दोनों की भाषा रहस्यमयी है। पहेलियों की भाषा है। अश्वमेध क्या है:—

"राजा वा यज्ञानां यदश्वमेधः। यजमानो वा अश्वमेधो, यजमानो यज्ञो यदश्वे पशून्नियुनक्ति, यज्ञ एव तद्यज्ञमारभते"।

अश्वमेध यज्ञों का राजा है, यजमान अश्वमेध है। यजमान यज्ञ है। घोड़े में जो पशुओं को नियुक्त किया जाता है, वह यज्ञ में ही नियुक्ति है।

राष्ट्रं वा अश्वमेधः, राष्ट्र ऐते व्यायच्छन्ते ये अश्वं रक्षन्ति"।

राष्ट्र अश्वमेध है, राष्ट्र में वे बढ़ते हैं, जो अश्व की रक्षा करते हैं।

"देवा वा अश्वमेधे पवमानम् स्वर्गं लोकं न प्राजानन् तमश्वः प्राजानात्"।

देवताओं ने अश्वमेध में पवित्र स्वर्ग लोक को नहीं जाना, पर अश्व ने जान लिया।

"क्षत्रं वा अश्वः विडितरे पशवः"

घोड़ा क्षत्रिय अर्थात् राजा है, अन्य पशु वैश्य अर्थात् प्रजा हैं।

"प्रजा वै पशवः" प्रजा ही पशु है।

"विशो वै सूच्यो राष्ट्रमश्वमेधो विशश्चैवास्मिन् ना राष्ट्रञ्च समीची दधति"

विश् (प्रजायें) ही सूची हैं, राष्ट्र अश्वमेध है, सम्पूर्ण राष्ट्र को इस यज्ञ में ठीक रखता है।

ऊपर के प्रमाणों से सिद्ध होता है कि अश्वमेध यज्ञ राष्ट्रोन्नयन का प्रतीक है। इसीलिये अश्वमेध का अधिकार राजा को ही है। जैसा कि शतपथ में:—

"प्रजापतिर्देवेभ्यो यज्ञान् व्यादिशत्। स आत्मन्नश्वमेधमधत्त। ते देवाः प्रजापतिमब्रुवन्नेष वै यज्ञो यदश्वमेधोऽपि नोऽत्रास्तु भाग इति। तेभ्य एतानन्नहोमानकल्पयत्। यदन्नहोमान् जुहोति देवानेव तत्प्रीणाति। आज्येन जुहोति। तेजो वा आज्यन्तेजसैवा-

स्मिस्तत्तेजो दधात्याज्येन जुहोति। एतद्वै देवानाम् प्रियं धाम यदाज्यम् प्रियेणैवैनान् धाम्ना समर्धयति। सक्तुभिर्जुहोति। देवानाम् वा एतद्रूपं यत्सक्तवो देवानेव तत्प्रीणाति। धानाभिर्जुहोति अहोरात्राणां वा एतद्रूपं यद्धाना अहोरात्राण्येव तत्प्रीणाति। लाजैर्जुहोति नक्षत्राणां वा एतद्रूपं यल्लाजा नक्षत्राण्येव तत्प्रीणाति"।

प्रजापति ने देवों को यज्ञ करने का आदेश दिया। अश्वमेध अपने लिये रक्खा। देवों ने कहा कि अश्वमेध भी हमारे लिये हो, इसमें भी हमारा भाग होना चाहिये। उनके लिये प्रजापति ने अन्नहोम निश्चित किये। जो अन्न-होम करता है, वह देवताओं को ही प्रसन्न करता है। जो घृत से हवन करता, है घी तेज है वह इसमें तेज धारण करता है। देवताओं का प्रियधाम घृत है। घृत से यज्ञ करने वाला देवों के प्रियधाम से उन्हें बढ़ाता है। जो सत्तुओं से हवन करता है, ये सत्तू देवताओं का ही रूप है, इससे देवताओं को प्रसन्न करता है। जो धानों से हवन करता है, धान दिन रात के रूप हैं, वह दिन रात को प्रसन्न करता है। जो खीलों से हवन करता है, खीलें नक्षत्रों का रूप हैं, वह नक्षत्रों को प्रसन्न करता है।

उपर्युक्त ब्राह्मण वचन से यह भी सिद्ध है कि यज्ञ एक रूपक है। घृत है तेज का रूप, सत्तु देवताओं का रूप, धान दिन रात के रूप, और खीलें नक्षत्रों का रूप हैं। बस घोड़ा भी है रूपसम्राट् का शेष पर्यङ्ग पशु, जिनका नाम यजुर्वेद के २४ वें अध्याय में आया है। तूपर, गोमृग आदि रूप हैं सम्राट् के कर्मचारियों के तथा प्रजा के सूचियाँ सोने चाँदी लोहे की रूप हैं। राजवार्ता का सत्व, रज तम तीन प्रकार की राजवार्ताओं से सम्राट् को इसी प्रकार सूचित होना चाहिये, जिस प्रकार घोड़े को सूचियों से छेदा जाता है। सूचियाँ शतपथ में प्रजा का रूप बतायी गयी हैं। तीन प्रकार की प्रजा—बुद्धिजीवी, धनजीवी, श्रम-जीवी का ज्ञान राजा को होना चाहिये। घोड़े के पर्यङ्ग पशुरस्सियों द्वारा घोड़े से जुड़े रहें, इसी प्रकार सब कर्मचारी और प्रजा राजा से जुड़ी रहें। जिस प्रकार घोड़ा बेरोक-टोक सब में घूमे, उसी प्रकार राजा की आज्ञा को साम्राज्य में कोई टालने वाला न हो। पर्यङ्ग पशुओं के गुण साम्राज्य के लिये सम्राट् को ज्ञात होने चाहियें। उन पशुओं के *गुण ही तो देवता हैं।* देवता एक भाव रूप ही होता है। "वसन्ताय कपिञ्जलानालभते" वसन्त ऋतु में कपिञ्जल (गौरैया या बया) को प्राप्त करे। गौरैया और बया वसन्त ऋतु में मस्त हो जाते हैं। इससे ऋतु और जीव स्वभाव ज्ञात होकर अनेक लाभ ज्ञात होते हैं। "समुद्राय शिशुमारान्" समुद्र के लिये शिशुमारों को प्राप्त करे। शिशुमारों की चाल से नावें पनडुब्बियाँ बनायी जा सकती हैं और भी अनेक बातें समुद्र-सम्बन्धी इन जीवों से जानी जा सकती हैं। चक्षुषे मशकान् नेत्र के लिये मशक मच्छर। मच्छर प्रकाश से बचता है। नेत्रों से पृथक् रहना चाहता है। वह भुनगे आदि का उपलक्षण है। नेत्र-शक्ति के जाँचने को ये कीड़े भी यज्ञ में इकट्ठे किये जायें। "श्रोत्राय भृंगाः" कानों के लिये भौंरे, भौंरे की गुंजार कान को सुखदायी होती है।

"पर्जन्याय मण्डूकान्" मेघों के लिये मंडूक। वर्षा ऋतु की सूचनायें मंडूक देता है। नर मेंढक का रंग बदल जाता है। बड़ी मस्ती से बोलता है। "प्रजापतये पुरुषान् हस्तिनः" प्रजापति राजा के लिये नर हाथियों के यज्ञ वास्तव में सांस्कृतिक, व्यापारिक, सामाजिक, राज-नैतिक, कृषि, शिल्प और कला-संबंधी प्रदर्शनी के रूप में होते थे। इनके द्वारा जनता को प्रेरणा मिलती थी। इसीलिये यज्ञ में कथायें, नाटक, वीणावादन, गायन, नृत्य आदि होते थे। सब प्रकार के अनाज, औषधियाँ, पशु, पक्षी, जलचर, कीट, पतंग, सर्प आदि इकट्ठे किये जाते थे। घोड़ा मुख्य रूप से सजाकर मध्य में रक्खा जाता था। घोड़ा शक्ति का रूप समझा जाता था। कात्यायन सूत्र भी कहता है कि जंगली पशु छोड़ देने चाहियें, मारने नहीं चाहियें:—

"कपिञ्जलादीनुत्सृजन्ति पर्यग्नि कृतान्" कपिञ्जल आदि को छोड़ दे अग्नि पर घुमाकर। महीधर उव्वट भी लिखते हैं:—"तेष्वारण्याः सर्वे उत्सृष्टव्या, न तु हिंस्याः" जंगली जीव छोड़ देने चाहियें, मारने नहीं चाहियें। भला विचारिये कि जंगली जीव छोड़े जायें और पालतू मारे जायें, यह कहाँ का न्याय है? जब मांसाहार चल पड़ा, तबके ये विधान हैं। अन्यथा सब ही जीव केवल प्रदर्शन के लिये रहते थे। फिर आगे २५ वें अध्याय में अश्व के अंगों का वर्णन है और किस अंग से किस देवता को तृप्त किया जावे, यह भाव निकालकर याज्ञिकों ने *हिंसा* की गंध छोड़ी है। पर अध्याय के शब्द देखने से शंका दूर हो जाती है:—"मशकान् केशैः", "खुरैः

कूर्मान्", "शफैराक्रमणम्" भला मशक, कूर्म, आक्रमण भी कोई देवता हैं? भाव स्पष्ट है कि घोड़ा पूँछ से मच्छर, मक्खी, और डाँसों को दूर करता है। खुरटाप इतनी दृढ हो कि कछुए की खोपड़ी को तोड़दे। टापों से आक्रमण करे, इसमें घोड़े के अंगों से, जो जो काम अच्छे घोड़े दे सकते हैं उसकी शिक्षा है। अध्याय २३ में आया है:—

स्वयं वाजिस्तन्वं कल्पयस्व, स्वयं यजस्व, स्वयं जुषस्व, महिमा ते नान्येन सं नशे।

हे वाजिन् (घोड़े) तू स्वयं अपने शरीर को रच, स्वयं यज्ञ कर, स्वयं ही सेवन कर, तेरी महिमा अन्य से नाश न की जाय। उव्वट, महीधर लिखते हैं:—"स्वराज्यं तवास्तीत्यर्थः, स्वराज्यं तवास्तीति भावः" "स्वराज्य तेरा है"

भला यह अर्थ घोड़े पर घट सकता है? घोड़ा यज्ञ कर सकता है? घोड़ा मंत्र को सुनता समझता है? भ्रमरगीत में जिस प्रकार भ्रमर के नाम से उद्धव को सब कुछ सुनाया गया है, इसी प्रकार यहाँ अश्व के नाम से सम्राट् को उपदेश दिया गया है कि सम्राट् को अपना शरीर अर्थात् स्थिति स्वयं बनानी है। स्वयं राष्ट्रिय यज्ञ करके स्वयं यशरूपी फल भोगना है। उसकी महिमा को अन्य कोई नष्ट न कर सके। सम्राट् स्वगुणों से ही सम्राट् हो सकता है, अन्यों का बनाया सम्राट् कठपुतली रहता है। सम्राट् महा महिमाशाली होना चाहिये। अश्वमेध यज्ञ सम्राट् के वैभव की प्रदर्शनी है। इसीलिये महिमाशाली राजा ही इसे कर सकते थे। पशु-बलि तो सब कोई कर सकता है। पशु-हत्याओं के लिये यज्ञ नहीं थे। इसीलिये इस अध्याय पर वेदों के मर्मज्ञ महर्षि दयानन्द ने लिखा है:—

"ये सर्वे पशुपक्षिणः सर्वगुणाः सन्ति, तान् विज्ञाय व्यवहार-सिद्धये सर्व मनुष्या नियोजयन्तामिति"

जो सब पशु पक्षी सब गुणों से भरे हैं, उनको जानकर व्यवहार-सिद्धि के लिये सब मनुष्य निरंतर युक्त करें।

आ समन्तात् लभते प्राप्नोति सब ओर से प्राप्त करना; आलम्भन से स्वामी जी ने अर्थ लिया है कि उन पशु पक्षियों के सब प्रकार से गुणों को जाना जाय।

अब स्वयं विचारिये की राष्ट्र के लिये पशु पक्षियों का बिनाश लाभदायक ठहरेगा, वा प्रदर्शनी द्वारा गुणों का ज्ञान?

अश्वमेध को यज्ञों का राजा शतपथ में बताया गया है। यह बात क्या पशु-हत्या से यथार्थ ठहरेगी?

आगे अध्याय ३० में भी पुरुष-मेध में पुरुषों का बलिदान विहित नहीं है। शतपथ और कात्यायन सूत्र दोनों का ही आदेश इन सब को छोड़ देने का है:—

"कपिञ्जलादिवदुत्सृजति ब्राह्मणादीन्" का० सू०।
"तान् पर्यग्नि कृतानेवोदसृजत्" श० प०।

वेद के इस अध्याय में भी वही तात्पर्य है:—केवल प्रदर्शन मात्र। जिस प्रकार राष्ट्र की शान-वृद्धि के लिये आजकल भी सब वस्तुओं की प्रदर्शनियाँ होती हैं, ऐसी ही यज्ञकाल में भी होती थीं। पशु, पक्षी, कीट, पतंग और ब्राह्मणादि पुरुष भी प्रदर्शित किये जाते थे। और उनके गुण बताये जाते थे। यथा:—

"ब्रह्मणे ब्राह्मणम्" वेद की रक्षा के लिये ब्राह्मण है।

क्षत्राय राजन्यम्—विनाश, अत्याचार, अन्याय से त्राण करने के लिये (राजन्य क्षत्रिय) है।

मरुद्भ्यो वैश्यम्—प्रजा को अन्नादि देने के लिये वैश्य है।

तपसे शूद्रम्:—परिश्रम के लिये शूद्र है।

इस यज्ञ में रथ बनाने वाले, शस्त्रास्त्र निर्माण करने वाले कारीगर, नृत्य करने वाले सूत, मसखरे, चोर, सब वृत्तियों के लोगों को इकट्ठा करके उनके कामों की भलाई बुराई दिखाकर बताया जाता था कि राष्ट्र के लिये उपयोगी कौन है, अनुपयुक्त कौन? जैसे "अन्तकाय गोघातम्" गौ पशु अथवा गौ वाणी के घात करने वाले झूठे को मृत्यु के योग्य बताया गया है। ऐसे लोग राष्ट्र के लिये अनिष्टकारक हैं।

कुबड़े आदि विरूप लोग भी इस प्रदर्शनी में दिखाये जाते थे और उनका उपयोग बताया जाता था।

सर्वमेध यज्ञ में सबका बलिदान नहीं किया जाता, किन्तु सब प्राणियों को आत्मवत् समझने का आध्यात्मिक ज्ञान पुष्ट किया जाता है। इसीलिये सर्वमेध के पश्चात् संन्यास का विधान है। शतपथ के शब्दों को देखिये:—

"ब्रह्म वै स्वयम्भू तपोऽतप्यत। तदैक्षत 'न वै तपस्यानन्त्यमस्ति हन्ताहम्भूतेष्वात्मानञ्जुहवानि भूतानि चात्मनीति। तत्सर्वेषु भूतेषु आत्मानं हुत्वा भूतानि चात्मनि सर्वेषां भूतानांॅ श्रैष्ठ्यंॅ स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्यैत्"।

"स्वयम्भू ब्रह्म ने तप किया और विचारा कि तप का पार नहीं है। अच्छा मैं सब प्राणियों में अपने को होम दूं और सब प्राणियों को अपने में। तो सब प्राणियों में अपने को होम कर सब प्राणियों से श्रेष्ठता, स्वराज्य, और आधिपत्य को प्राप्त हो गया"।

अब विचारिये यज्ञ का प्रयोजन मांसभक्षण, सुरापान, जीव मारना है; या सब प्राणियों का कल्याण चाहना? सर्वभूतहित में रत होना?

सब प्राणियों में मनुष्य को श्रेष्ठता, स्वाराज्य और आधिपत्य इसीलिये मिला है कि वह ज्ञानी है। ज्ञानी का काम सबको दुःख से बचाना है न कि दुःख देना। मनुष्य सब प्राणियों से यथायोग्य कार्य ले, उनके गुणावगुण को जानकर उनका उपयोग करे, तभी वह श्रेष्ठ ठहरेगा। अधिपति का काम रक्षा करना है, नाश करना नहीं।

अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध ये बड़े यज्ञ हैं।

इनके द्वारा सब प्राणियों को समाज के योग्य सुसंस्कृत बनाने का यत्न किया जाता है। प्राणीमात्र को आत्मवत् मानकर अपने ही समान उनके जीवन की भी सार्थकता सिद्ध की जाती है। प्रभु की सृष्टि की सार्थकता, उपादेयता, और रचना-रहस्य को समझाया जाता है। वैदिक संस्कृति का विकास मनुष्य तक ही सीमित नहीं है। वह तो पशु पक्षी कीट पतंग तक पहुँचती है। जगत् के जंगम और स्थावर तक को सभ्य, सुसंस्कृत बनाना ही यज्ञों का उद्देश्य है। हत्याओं से यह उद्देश्य सिद्ध नहीं होता।

वपाहोम, मांसपचनी उखा आदि कई ऐसे शब्द हैं, जिनसे पशु मारने का भय फैलाया जाता है। पर ये शब्द भी आलंकारिक हैं। उस समय ये मुहावरे थे। इनसे भ्रम उत्पन्न नहीं होता था। जब वैदिकभाषा के शब्दों का प्रयोग बन्द हो गया, तब इनसे भ्रम फैलने लगा। वपाहोम है शिक्षण, माँसपचनी उखा है शिक्षणालय। विद्यार्थी को शिक्षा से चर्बी का होम कर सुडौल बनाया जाता है। शिक्षण-संस्थाओं में मांस परिपक्व करके विद्यार्थी को पुष्ट बनाया जाता है। बाण कवि ने गुरुकुल से शारीरिक और बौद्धिक शिक्षा प्राप्त करके निकले हुए राजकुमार चन्द्रापीड का जो वर्णन दिया है, वह एक सुन्दर आदर्श है। इसी का आदेश वेद करता है—

"ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं य ईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति, ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासत उतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु"

जो लोग वाजी को, शक्ति-सम्पन्न, शिक्षित, योग्य व्यक्ति को पका हुआ अर्थात् किसी विद्या या कला में पूर्ण हुआ देखते हैं, वे उससे कहते हैं कि तुम सुगन्धित हो, तुम यशः-सौरभ से पूर्ण हो, हमें भी अपनी सुगन्धि शिक्षा दो। जो लोग उस विद्वान् की मांसभिक्षा सौन्दर्य और मानसिक ज्ञान की उपासना करते हैं, उनका उद्यम हमें मिले।

भावार्थ स्पष्ट है कि ज्ञान, कला, प्रतिभा और शारीरिक सुडौलता से युक्त जन की संगति की जाये और उसकी सुगंधि यशःसौरभ की चाह रक्खी जाये। प्रजापति राजा (अश्व) ऐसा हो कि जिसकी सुगन्धि और गुणों की लोग अभिलाषा करें। देवगण भी वैसा बनने की लालसा रक्खें।

वेदों के पठनपाठन काल में ऐसे शब्द सुबोध थे, परन्तु अब कालान्तर में वे कठिन जान पड़ते हैं और विरुद्ध विचारों ने बुद्धि को इतना दूषित कर दिया है कि बुरे भाव ही सूझते हैं। मांसल मुखमंडल का अर्थ लौकिक भाषा में भी भरा हुआ चेहरा होता है। माँस खाने वाला मुख नहीं। पर वेद में माँस शब्द आते ही पशु-हत्या की दुर्भावना उत्पन्न हो जाती है; क्योंकि सैकड़ों वर्षों से एक दुर्भावना वेद के लिये बनाई हुई है। हमने संकेत मात्र कुछ भाव प्रकट किये हैं। वेदभक्त विद्वानों को ऐसे स्थलों की विस्तृत व्याख्यायें करके जनता के हृदयों में चिरकाल से बद्धमूल हिंसा के भावों को दूर करना चाहिये। जितना ही वैदिक साहित्य को विचारा जायगा, उतना ही यह स्पष्ट होता जायगा कि वैदिक यज्ञ हिंसा-रहित हैं और यज्ञों से ही मानव-संस्कृति का विकास हुआ है और संस्कृति-विकास तथा लोक-कल्याण के सब कार्य ही यज्ञ हैं। यजुर्वेद, शतपथ, कात्यायन श्रौतसूत्र और मीमांसा के नये भाष्य विस्तारपूर्वक होने चाहियें। इसके लिये एक दो पंडित नहीं अनेक विद्वान्—आजकल के विज्ञानों के विद्वान् भी—लगें, तब वर्षों में यह कार्य पूर्ण हो सकता है। श्री स्वामीजी का यजुर्वेद-भाष्य-पथप्रदर्शन का काम देगा, यह निश्चय है। आर्यसमाजी, वैष्णव सनातनी इन सब को यह कार्य उठाकर आर्यसंस्कृति का प्रकाश संसार को दिखाना चाहिये।

हमारे पूर्वजों ने लाखों वर्ष पूर्व यज्ञों द्वारा संसार के मनुष्यों तक ही नहीं, पशु, पक्षी, कीट, पतंग तक संस्कृति का विकास किया। आरण्यक पशुओं को पालतू बनाकर सामाजिक बनाया। जीव-विज्ञान को जानकर उनका यथार्थ उपयोग किया। यह जानकर हमें गर्व होता है। हमें उनके इस कार्य को बढ़ाकर "सर्वभूतेषु चात्मानम्" इस आध्यात्मिक भावना का जगत् में प्रसार करना चाहिये, तब ही हम ऋषिऋण से मुक्त हो सकते हैं॥

भारतीय विश्व-विद्यालयों में वेदाध्ययन

[ले०—श्री पं० भीमसेन जी विद्यालंकार, भूतपूर्व मन्त्री आर्यप्रतिनिधिसभा पञ्जाब, अम्बाला]

वैदिक गवेषणा का उद्देश्य

इस समय यत्र तत्र अनेक विहार तथा संस्थाएँ वैदिक अनुसंधान की योजनाएँ चालू कर रहे हैं। युरोपियन वैदिक विद्वानों ने भी इस दिशा में अनेक यत्न किये हैं। उनके यत्नों का उद्देश्य "कला-कला के लिये है" के अनुसार केवल अन्तरंग बहिरंग पड़ताल कर; निर्जीव केकाल (?) की भाँति दृश्यमान उपलभ्यमान सामग्री को जनता के सामने रखना है। इसी लिये इन लोगों ने ऋषियों द्वारा किये गये, महाभारत काल से पूर्व के वेदभाष्यों और मध्यकालीन सायण-रावण-महीधर उव्वट के भाष्यों को एक श्रेणी का मानकर निरुद्देश्य परस्पर-विरोधी गवेषणा पद्धति द्वारा वेदों के विषय में परस्पर विरोधी विचारधाराओं को अंग्रेजी भाषा द्वारा भारत की शिक्षित जनता के सामने रखा। इससे सारी जनता के हृदयों में वेद के प्रति आस्था होने के स्थान पर अश्रद्धा की भावना पैदा हो गई।

भारतीय सरकारी विश्वविद्यालयों में भी यही अवस्था थी। इस अवस्था में परिवर्तन कराने के लिये ऋषि दयानन्द ने लाहौर आर्यसमाज के मंत्री द्वारा पंजाब युनिवर्सिटी और पंजाब सरकार के पास आवेदन पत्र भिजवाए। उस सिलसिले में ऋषि दयानन्द ने जो लिखित विचार प्रकट किये, उनमें से निम्नलिखित उद्धरण में उन्होंने वैदिक गवेषणा के उद्देश्य और साधन इस प्रकार निर्दिष्ट किये हैं।

"मेरा वेदभाष्य महाभारत के पूर्व के वेदभाष्यों के प्रमाण देने के कारण और योरोपीय विद्वानों के विचारों के विरुद्ध होने के कारण गवेषणा का एक ऐसा भाव उत्पन्न कर देगा कि जिससे सत्य प्रकट हो जायगा और हमारे विद्यालयों में सदाचार के भाव को उन्नत करेगा। और इसी कारण यह सरकार की संरक्षकता का अधिकारी है"।

पंजाब युनिवर्सिटी ने और पंजाब सरकार ने ऋषि-दयानन्द के निवेदन को अस्वीकार किया। क्योंकि उस समय पाश्चात्य विद्वानों से प्रभावित युनिवर्सिटी के सनातनी पंडितों ने संगठित रूप से इसका विरोध किया था।

परिणाम यह हुआ कि पंजाब युनिवर्सिटी के आधीन संचालित एम० ए० की परीक्षा में वेद-विषयक जो पाठ-विधि नियत की गई; वह अधूरी, निरुद्देश्य तथा निस्तेज है। पाठविधि के पढ़ानेवाले अध्यापक युरोपियन भाष्यकारों का अनुकरण कर उनकी पद्धति को अपनाते हैं और अंग्रेजी माध्यम द्वारा वेद पढ़ाते हैं—स्वयं मूलवेद पढ़ने का प्रयास नहीं करते।

परिणाम यह है कि पंजाब युनिवर्सिटी के स्नातकों में से भी स्वर्गीय डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप जी—तथा पंजाब युनिवर्सिटी के पहले युग में स्वर्गीय पं० गुरुदत्त जी को छोड़कर और किसी ने भारतीय वेदभाष्यों का विशेष अनुशील नहीं किया, नाहीं अपने विद्यार्थियों को इस दिशा में प्रेरित किया। परिणाम यह है कि पंजाब युनिवर्सिटी में वेदाध्ययन की पाठविधि निरी रोटीन की चीज बनी हुई है। सीनेट तथा वेद-सम्बन्धी पाठविधि बनाने वालों को अब विदेशी राज्य के प्रभाव के हट जाने पर ऋषि दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट पद्धति को वेदसम्बन्धी गवेषणा में विशेष स्थान देना चाहिए।

उत्तरप्रदेश के सरकारी विश्वविद्यालयों तथा युनिवर्सिटी द्वारा संचालित मध्यमा, शास्त्री आचार्यआदि की परीक्षाओं की पाठविधि में ऋषि दयानन्द के रचित वेद भाष्य को थोड़ा बहुत स्थान मिलने लगा है, परन्तु अभी इस दिशा में देश के अन्य विश्वविद्यालयों में भी बहुत कुछ करना अपेक्षित है।

इन सरकारी विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों-गुरुकुलों में भी इस दिशा में संगठित सन्तोषजनक प्रयत्न नहीं हो रहा। वहाँ भी ऋषि दयानन्द के द्वारा प्रतिपादित पद्धति को किसी अंश में अपनाया जाता है; परन्तु पाठविधि में ऋषिदयानन्दकृत वेदभाष्य को विशेष स्थान नहीं दिया जाता। वैदिक गवेषणा के उद्देश्य तथा साधनों का ऋषि दयानन्द के शब्दों में ऊपर उल्लेख किया गया है। उनकी तरफ भी विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। इन गुरुकुलों में सदाचार उन्नत करने के उद्देश्य की तो पर्याप्त अंश में पूर्ति करने की कोशिश की जाती है; परन्तु महाभारत काल से पूर्व के वेदभाष्यों की खोज तथा अध्ययन और युरोपियन विद्वानों के अशुद्ध मतों का खण्डन—उन्हीं की भाषा अंग्रेजी में—करने की व्यवस्था नहीं है। परिणाम यह है कि अंग्रेजी भाषा के माध्यम से वेद पढ़ने पढ़ाने वाले भारतीय भी युरोपियन विचार धारा में बह रहे हैं। उदाहरणार्थ—उत्तरप्रदेश के राज्यपाल श्री के० एम० मुंशी, डा० सूर्य कान्त जी की वेद-विषयक विचारधारा। श्री० पंडित गुरुदत्त जी ने अंग्रेजी भाषा माध्यम द्वारा "वैदिक टर्मिनॉलोजी" पुस्तक लिखकर इस विचार धारा का विरोध किया था, परन्तु उनका विचारधारा पौराणिकों की अन्तर्लीन सरस्वती नदी की भाँति आँखों से ओझल हो गई है। क्या वैदिक विद्वान् राष्ट्रीय और सरकारी भारतीय विश्वविद्यालयों में वेदाध्ययन की पद्धति में ऊपर निर्दिष्ट दिशा में परिवर्तन करने के लिये संगठित यत्न करेंगे?

वेदों के ऋषि

[लेखक—श्री पं० रामावतार जी तीर्थचतुष्टय, मुँगेर]

घोरा ऋषयो नमो अस्त्वेभ्य इचक्षुर्यदेषाम्मनसश्च सत्यम् ।
बृहस्पतये महिष द्युमन्नमो विश्वकर्मन्नमस्ते पाह्यस्मान् ॥
अथर्व० २।३५।४

भारत का भूतकाल बड़ा ही गौरवपूर्ण था। इसकी गुरुता का कारण "ऋषिपरम्परा" का अबाध गति से प्रवाह चलता रहना ही कहना चाहिये।

भारत की धर्मप्राण जनता को निरन्तर उन ऋषियों के द्वारा उदात्त भावना का उपदेश प्राप्त होने में कोई बाधा नहीं पहुँची थी। ऋषियों को भी अपने तप और त्याग पर पूर्ण भरोसा और अटल विश्वास था। तब लोग कहा करते थे कि—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
मनुस्मृति

अर्थात् भारत में उत्पन्न होने वाले ऋषियों से, विश्व के मानव को अपने २ चरित्र की शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये।

ऋषि-परम्परा का प्रारम्भ वेदों अथवा वेद-मन्त्रों से होता है। इस परम्परा को मानव-जीवन ने तप और त्याग के द्वारा अपना कर मानव समाज को महान् लाभ पहुँचाया है। उस परोपकार से विश्व अब तक उपकृत होता आ रहा है। सूर्य, चन्द्रमा और तारायें जब तक विद्यमान रहेंगी, तब तक निःसन्देह मानव समाज लाभान्वित होता रहेगा।

हमने ऋषि शब्द के ऊनविंश प्रकार के अर्थ मन्त्रों तथा अन्यान्य विचारों के आधार पर अन्यत्र[1] कर दिये हैं।

प्रारम्भ में मंगलाचरण के रूप में अथर्ववेद का एक मन्त्र हमने उपस्थित किया है। उस मन्त्र में इन्द्रियों को ऋषि कहा गया है। इन्द्रियों को ऋषि कहते हुए मन्त्र ने कहा कि "चक्षुर्यदेषाम्मनसश्च सत्यम्" इन इन्द्रियों में मन से भी बड़ा आंखें हैं। मन से बढ़कर आंखों को सत्य कहने का तात्पर्य यह है कि आँख से प्रत्यक्ष हो जाने पर अन्य प्रमाणों की आवश्यकता शेष नहीं रहती है। इसलिये मन्त्र ने मन से बढ़कर आँख को सत्य के रूप में व्यक्त किया है।

अथर्ववेद के निम्न सूक्त से इस विषय पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है।

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये ।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम् ॥ १ ॥
अपानाय व्यानाय प्राणाय भूरिधायसे ।
सरस्वत्या उरुव्यचे विधेम हविषा वयम् ॥ २ ॥

मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या
ये तनूपा ये नस्तन्वस्तनूजाः ।
अमर्त्या मर्त्यां अभिनः सचध्वम्
आयुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः ॥ ३ ॥
अथर्व ६।४१

अथर्ववेद के इस सूक्त में मन, चेतना, बुद्धि, आकूति, चित्त, मति, श्रुति = कान, वाणी, प्राण, अपान, व्यान, और सरस्वती आदि सब के सब ऋषि कहे गये हैं। सूक्त के अन्तिम मन्त्र में यहाँ तक कह डाला गया है कि जो दैवी-शक्ति के रूप में हमारे शरीरों की रक्षा करने वाले ऋषि हैं, और जो हमारे शरीर से ही उत्पन्न होने वाले ऋषि हैं, जिनको हम अमर्त्य = नहीं मरने वाले और मर्त्य = मरने वाले भी कह सकते हैं, वे सब के सब हमारे जाने के लिये आयु प्रदान करें।

तात्पर्य यह कि पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड दोनों में विहार करने वाले ऋषि होते हैं। किन्तु वेद ही ऋषि और नाम के प्रवर्तक होते हैं।

ऋषि शब्द यौगिक और अनेकार्थक है। वेद-मन्त्रों की जैसी परिस्थिति होती है, उसके अनुसार इस पद का अर्थ हो जाया करता है। वेद-मन्त्रों के पद नित्य अर्थ का

[1] —नवम्बर, दिसम्बर १९५३ ई०के "वेदवाणी" के वेदाङ्क में ये अर्थ देखे जा सकते हैं।

ही प्रतिपादन करते हैं, अनित्य अर्थ का नहीं। आगे के विचारों से यही बात सिद्ध की जावेगी।

वेदों के अध्ययन करने से, तीन स्थानों में तीन प्रकार के नाम पाये जाते हैं, जिनको वेदों का ऋषि कहा जाता है।

१—पहले प्रकार के ऋषि वे हैं, जिनके केवल नाम ही नाम मिलते हैं; परन्तु वेद मन्त्रों से उनका सीधा सम्बन्ध नहीं होता है। वेद-मन्त्रों के ऊपर उनके नाम लिखे या छपे हुए पाये जाते हैं। मन्त्रों के भीतर उनके नाम नहीं होते हैं।

२—दूसरे प्रकार के ऋषि वे हैं, जिनके नाम वेद-मन्त्रों के ऊपर छपे हुए हैं, किन्तु वे ही नाम मन्त्रों में भी पाये जाते हैं।

३—तीसरे प्रकार के ऋषि वे हैं, जिनके नाम देवता के नाम के समान ही पाये जाते हैं।

दूसरे प्रकार के नामों के विषय में अपने विचार हम आगे उपस्थित करेंगे। सबसे प्रथम जो नाम केवल वेद मन्त्रों के अन्दर देवता से भिन्न रूप में छपे हुए पाये जाते-हैं, उन्हीं के विषय में अपना विचार व्यक्त करना है।

निरुक्त के अध्ययन से ज्ञात होता है कि साक्षात्-कृत-धर्मा ऋषि होता है। यास्क आचार्य ने लिखा है कि—"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। ते असाक्षात्-कृद्भ्योऽवरेभ्यो मन्त्रान्सम्प्रादुः।" अर्थात् धर्म के तत्त्व को जानने वाले ऋषि हुए। उन्होंने अपने समय के बाद उत्पन्न होने वालों को मन्त्रों का उपदेश किया। जिनको ऋषियों ने उपदेश दिया, वे लोग ऐसे थे जिनको धर्म का कुछ भी ज्ञान नहीं था।

वे ऋषि ऐसे थे जिनको मन्त्रों का दर्शन हो चुका था। तब अपनी ओर से उन्होंने मन्त्रों का सम्प्रदान किया।

मन्त्रों को जानने वालों की दो श्रेणियाँ हो सकती हैं। एक वह हो सकती है जिन्होंने मन्त्रों को साक्षात् किया था। दूसरी उनकी हो सकती है जिन्होंने मन्त्रों का दर्शन तो नहीं किया हो किन्तु गुरु परम्परा से वेदों का अध्ययन कर लिया हो। ऐसी श्रेणी का दर्शन आज भी हो रहा है। मन्त्रों के सम्प्रदान के विषय में दोनों प्रकार के ऋषियों के नाम लिये जा सकते हैं।

वर्तमान लेख में हम केवल कुछ नामों का विश्लेषण करना चाहते हैं, जिनसे उन उन तत्सम पदों के अर्थों का पूर्ण परिज्ञान हो जाय। ऐसा करने से वास्तविकता के बहुत समीप हम पहुँच सकते हैं।

सबसे प्रथम सप्तर्षि मण्डल के ऋषियों को उपस्थित कर हम उनके विवरण का विचार करते हैं।

१—भरद्वाज

भरद्वाज ऋषि का व्याख्यान यजुर्वेद के निम्न मन्त्र में मिलता है।

भरद्वाज ऋषिः गृहीतया त्वया मनोगृह्णामि प्रजाभ्यः ॥ य० ।१३।५५।

भरद्वाज ऋषिः = बिभर्तीति भरत्, वाजम् = अन्नम् यः स भरद्वाजः। अन्नधर्ता मनः।

जो अन्न को धारण अथवा पुष्ट करे वह भरद्वाज है। अन्न को मन धारण करता है इसलिये मन भरद्वाज है।

उपपत्ति—मनसि स्वस्थेऽन्नादनेच्छोत्पत्तेः। मन को भरद्वाज इसलिये कहना पड़ता है कि मन के स्वस्थ रहने पर ही अन्न खाने की इच्छा हुआ करती है। मन यदि स्वस्थ न हो तो अन्न खाने की इच्छा नहीं होती।

प्रमाण—मनो वै भरद्वाज ऋषिः अन्नं वाजो यो वै मनो बिभर्त्ति, सोऽन्नं वाजं भरति तस्मान् मनो भरद्वाज ऋषिः। तै० ८।१।१।९।

निश्चय ही मन भरद्वाज ऋषि है। क्योंकि वाज का अर्थ अन्न है। जिस वस्तु को मन धारण करता है वह अन्न ही है, इसलिये मन भरद्वाज ऋषि है।

यह प्रमाण किसी अन्य को भरद्वाज मानने का निषेध तो नहीं करता है किन्तु निश्चय रूप से मन को भरद्वाज कहता है।

मन्त्र ने यह कहा कि मन को ग्रहण करता हूं कि प्रजाओं की भलाई हो। अथवा यों कहना चाहिये कि प्रजाओं के लिये ही मन का ग्रहण होता है, मन्त्र की दृष्टि में भरद्वाज कोई दूसरा द्रव्य नहीं है।

ऋग्वेद का भी एक मन्त्र उपस्थित कर हम इस विषय को और भी स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

भरद्वाजवद्विधते मघोनि। ऋ० ६।६५।६

हे धनवालो! भरद्वाज के समान सेवा करने वाले मुझे धन दें।

इस सूक्त का ऋषि भरद्वाज है। इस मन्त्र में "भरद्वाजवत्" ऐसा प्रयोग मिलता है इसका अर्थ है "भरद्वाज के समान"।

सूक्त का ऋषि भरद्वाज दूसरे भरद्वाज की उपमा देता है तो निश्चय ही ऋषि भरद्वाज से मन्त्रगत भरद्वाज का कोई सम्बन्ध नहीं है। भाष्यकार को इस उक्ति पर कुछ विचार प्रकट करना आवश्यक प्रतीत हुआ। इसलिये उन्होंने कहा कि—"भरद्वाजवदिति वचनादस्त्यन्योऽपि भरद्वाजः" अर्थात् मन्त्र में "भरद्वाजवत्" ऐसा कहा है इसलिये दूसरा भी भरद्वाज है।

इसका प्रमाण देना आवश्यक समझ कर यह कहा कि—"**तथा च ब्राह्मणम् प्राणो वै भरद्वाजवदिति**" ब्राह्मण ग्रन्थ में लिखा है कि प्राण ही भरद्वाज वाला है, अथवा भरद्वाज है।

यहाँ तक के विचार से यह सिद्ध होता है कि यजुर्वेद का भरद्वाज मन होता है और ऋग्वेद का भरद्वाज प्राण होता है।

तीसरी व्युत्पत्ति भी मिलती है जिससे कुछ भिन्न ही अर्थ निकलता है। जैसे—भरत् = देवानाम् पोषक वाजः = अन्नं यस्य सः। अर्थात्—जिसके समीप इन्द्रियों को पुष्ट करने वाला अन्न हो, वह भी भरद्वाज होता है। इस विवरण से अन्नों का संग्रह करने वाला कोई भी भरद्वाज कहा जा सकता है।

ऋग्वेद का दूसरा प्रमाण भी विचार करने के योग्य है। जैसे—

भरद्वाजेषु यजतो विभावा। ऋ० १।५९।७ अर्थात् विशेष रूप से प्रकाश करने वाली अग्नि को यज्ञों में सन्तुष्ट करना चाहिये। इस मन्त्र में "भरद्वाजेषु" सप्तमी विभक्ति के बहुवचन का रूप है। यहां निम्न प्रकार की व्युत्पत्ति उपलब्ध होती है। **भरद्वाजेषु = पुष्टिकरहविर्लक्षणान्नवत्सु यागेषु**" अर्थ = "पुष्टिकारक हविष्य रूप अन्न वाले यज्ञों में" यहां विशेषण रूप से भरद्वाज शब्द दीखता है। इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि संज्ञा सर्वत्र विशेष्य रूप में ही रहती है विशेषण रूप में नहीं इसका अर्थ यह हुआ कि किसी भी विशेष्य पद के गुण का प्रकाश करने के निमित्त ही विशेषण पद का योग होता है परन्तु भरद्वाज शब्द का जो अर्थ होता है उसकी संगति अवश्य होनी चाहिये। जैसे = "भरद्वाजेषु-गृहेषु" "अन्न से परिपूर्ण घरों में" इस वाक्य का अर्थ यही होगा। "भरद्वाजेषु" इस पद की व्युत्पत्ति भाष्य में निम्न प्रकार से मिलती है—"भरन्ति-पोषयन्ति भोक्तृनिति भरन्तः, तादृशा वाजा येषु तेषु" "यागेषु" अर्थ = पुष्टिकारक अन्नों वाले यज्ञों में।

ऋग्वेद के एक तीसरे प्रमाण से इसी अर्थ की पुष्टि होती है। यहाँ भी भरद्वाज पद विशेषण ही सिद्ध होता है। जैसे = **भरद्वाजायाश्विना हयन्ता**। ऋ० १।११६।१८ अर्थः—भरद्वाजाय = संभ्रियमाणहविर्लक्षणान्नाय यजमानाय"—पुष्टि कारक हविष्य को धारण करने वाले यजमान के लिये।

इसी वेद के चौथे प्रमाण से भी यही अभिप्राय प्रकट होता है। जैसे = "**मर्त्येष्वा छर्दिर्यच्छ वीतहव्याय सप्रथो भरद्वाजाय सप्रथः**" ऋ० ६।१५।३। इस मन्त्र में अग्नि से प्रार्थना की गई कि—"मनुष्यों में जो हविष्य का होम करने वाला हो, तथा पुष्टिकारक अन्न से सम्पन्न हो, उसको घर मिलना चाहिये"।

इस मन्त्र में एक बहुत बड़ी विशेषता यह प्रतीत होती है कि "भरद्वाजाय" और "वीतहव्याय" ये दोनों ही पद विशेष्य और विशेषण दोनों के रूप में अर्थ का प्रकाश कर सकते हैं। जैसे—"भरद्वाजाय वीतहव्याय" भी कह सकते हैं और "वीतहव्याय भारद्वाजाय" ऐसा भी कह सकते हैं। दोनों प्रकार से अर्थ युक्ति युक्त सिद्ध होंगे। इस प्रकार अर्थ होगा = "अन्न से सम्पन्न यज्ञ करने वाले" अथवा "यज्ञ करने वाले अन्न से सम्पन्न पुरुष"। उपर्युक्त विचारों से यदि "भरद्वाज" पद का अर्थ संग्रह किया जाय तो निम्न अर्थ सिद्ध होते हैं।

१—भरद्वाज——मन
२—भरद्वाज——प्राण
३—भरद्वाज——अन्नसंग्रहीता।
४—भरद्वाज——यज्ञ आदि का विशेषण पद और विशेष्य पद
५—भरद्वाज——ऋषि बृहस्पति का पुत्र
६—भरद्वाज——तारा

भरद्वाज ऋषि को यहीं ही छोड़ दीजिये और आगे कश्यप ऋषि को विचार का विषय बनाइये!

२—कश्यप

सबसे प्रथम कश्यप ऋषि का विचार हम अथर्व वेद के प्रमाण से प्रारम्भ करते हैं। अथर्व वेद में निम्न प्रकार से एक मन्त्र है—

कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम्।
स्वयम्भू कश्यपः कालात् तपः कालादजायत ॥
अ० १९।५३।१०

अर्थ—काल सर्व प्रथम प्रजापति को, अनन्तर प्रजाओं को, स्वयम्भू कश्यप को और तप को, उत्पन्न करता है।

इस मन्त्र में काल से कश्यप की उत्पत्ति का वर्णन पाया जाता है। अब प्रश्न होगा कि यह कश्यप क्या है।

तैत्तिरीआरण्यक में सूर्य के आठ नाम पाये जाते हैं— यथा—**आरोगो भ्राजः पटरः स्वर्णरः ज्योतिष्मान् विभासः कश्यपः।** इस प्रमाण से यह नाम सूर्य का सिद्ध होता है।

आचार्य यास्क ❀ ने कश्यप शब्द का निर्वचन निम्न प्रकार से किया है। "**कश्यपः पश्यको भवति, यत्सर्वं विपश्यति**" देखने वाला कश्यप होता है, जो सब कुछ विशेष रूप से देखता है। आचार्य यास्क का एक बिन्दु भी साभिप्राय होता है।

यहाँ उन्होंने दृश् धातु से कश्यप शब्द की उत्पत्ति मानी है। दृश् धातु का ही पश्य आदेश होता है। उसी का वर्ण विपर्यय से कश्यप बन जाता है। ऐसा ही आचार्य का अभिमत है।

अथर्ववेद का एक और मन्त्र भी हम उद्धृत करते हैं जिससे सूर्य की स्पष्ट प्रतिपत्ति होती है। यथा—

यत्ते चन्द्रं कश्यप रोचनावत् यत् संहितं पुष्कलम् चित्रभानु। यस्मिन् सूर्या अर्पिता सप्त साकम ॥

हे कश्यप! जो तेरा चन्द्रमा प्रकाश का पुञ्ज बना हुआ है। जिससे तुझमें सात किरणें एक साथ अर्पित की गई हैं।

चन्द्रमा में स्वतः प्रकाश नहीं है। किन्तु सूर्य के प्रकाश से ही वह प्रकाशित होता है। इसीलिये "**सुषुम्णः सूर्यरश्मिः चन्द्रमा**" ऐसा लेख भी पाया जाता है अर्थात् सूर्य की सुषुम्ण किरण से चन्द्रमा प्रकाशित होता है।

अथर्व वेद में इसी प्रकार के अन्य प्रमाण भी मिलते हैं, जिनसे इसी अर्थ की पुष्टि होती है।

अथर्ववेद से एक और भी प्रमाण उपस्थित किया जाता है। जिससे "कश्यप" का औषध अर्थ होता है। यथा—

अङ्गे अङ्गे लोम्नि लोम्नि यस्ते पर्वणि पर्वणि। यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं विवृहामसि ॥ २। ३३। ७

अर्थ = तेरे अङ्ग, अङ्ग, रोम, रोम तथा तेरे प्रत्येक जोड़ों में जो यक्ष्मा विद्यमान है, उसको हम लोग कश्यप की जड़ या पत्तों से दूर करते हैं।

इस मन्त्र में कश्यप के पत्तों से अथवा जड़ से यक्ष्मा रोग को दूर करने का उपदेश अथवा वर्णन पाया जाता है। इसलिये यहाँ कश्यप औषध है।

इस प्रसंग में इतनी ही ध्यान रखने की बात है कि सूर्य अथवा औषध आदि नाम वैदिक काल का है। ऋषि नाम उस काल के बाद का है।

वर्तमान ध्रुवतारा की परिक्रमा करने वाले सप्तर्षि मंडल में भी एक कश्यप तारा है। उन्हीं ताराओं में वसिष्ठ और अरुन्धती का भी सन्निवेश है। इसका भी वैदिक आधार होना चाहिये।

इस प्रकार कश्यप शब्द के चार अर्थ होते हैं।

१	कश्यप	सूर्य
२	कश्यप	औषध
३	कश्यप	तारा
४	मारीच का पुत्र कश्यप ऋषि	

३—गोतम

गोतम शब्द ऋग्वेद के मन्त्रों में भिन्न २ कारकों के रूप में १७ स्थानों में पाया जाता है। अथर्व वेद के मन्त्रों में यह शब्द केवल तीन स्थानों में ही मिलता है। परन्तु सामवेद और यजुर्वेद के मन्त्रों के अन्दर गोतम शब्द नहीं मिलता है। किन्तु मन्त्रों के अन्दर की बात को छोड़कर,

❀ यह पाठ निरुक्त में नहीं है, अपितु तैत्तिरीय आरण्यक १।८ में इस प्रकार है—"कश्यपः पश्यको भवति, यत्सर्वं विपश्यति सौक्ष्म्यात्"—सम्पादक ॥

मन्त्रों के ऊपर छपे हुये ऋषियों के नामों में, "गोतम" शब्द चारों वेदों में मिलता है।

सर्व प्रथम ऋग्वेद का एक मन्त्र, उदाहरण रूप से हम उपस्थित करते हैं जो गोतम शब्द के अर्थ पर प्रकाश डालता है।

प्रपूतास्तिग्मशोचिषे वाचो गोतमाग्नये।
भरस्व सुम्नयुर्गिरः। ऋ० १।७९।१०।

हे गोतम यदि तू धन चाहता है, तो पवित्र वाणियों से अग्नि की स्तुति कर।

इस मन्त्र में विचारना यह है कि इस सूक्त के अन्दर १२ मन्त्र हैं, जिनका ऋषि गोतम है। दशवें मन्त्र में गोतम शब्द सम्बोधन के रूप में प्रयुक्त हुआ है। ऐसी अवस्था में गोतम तो स्वयं स्तुति कर ही रहा है, पुनः अपने आप को सम्बोधन कर कहना कि "तू स्तुति कर" ऐसी उक्ति अयुक्त है। किसी अन्य के प्रति ऐसा कहना युक्तियुक्त होता है। अतः सूक्त के ऋषि रहूगण के पुत्र गोतम का मन्त्रगत भिन्न अर्थ वाले गोतम के लिये ऐसा सम्बोधन करना उचित हो सकता है।

भरद्वाज ऋषि के विचार के प्रसंग में हम कह चुके हैं कि सूक्त का ऋषि भरद्वाज और है तथा मन्त्र का भरद्वाज भिन्न है। ऐसे ही सूक्त का ऋषि गोतम भिन्न है और मन्त्रगत गोतम अन्य है।

एक अन्य स्थल में गोतम शब्द तृतीया विभक्ति के बहुवचन के रूप में प्रयुक्त हुआ है। तथा

एवाग्ने गोतमेभिऋतावा विप्रेभिरस्तोष्ट जातवेदाः।
ऋ. १। ७७। ५

हे अग्नेः अप्रतिहत गति वाले विप्रों ने तेरी स्तुति की। यह मन्त्र प्रथम मंडल का है किन्तु अष्टम मंडल में इस पद का अर्थ "गन्तृतमैः" ऐसा किया गया है। जिसका अर्थ अतिशय गतिशील होता है।

इस मन्त्र में "गोतमेभिः" और "विप्रेभिः" ये दो पद एक साथ प्रयुक्त हुए हैं। दोनों पद परस्पर विशेष्य और विशेषण दोनों हो सकते हैं। विप्र पद का मेधावी अर्थ होता है। गोतम पद का अत्यन्त गतिशील अर्थ होगा। इसलिये दोनों पदों के दोनों ही प्रकारों से अर्थ हो सकते हैं। जैसे—अप्रतिहत गति वाले मेधावी पुरुषों ने तेरी स्तुति की, अथवा मेधादायिनी बुद्धि वाले प्रगतिशील पुरुषों ने तेरी स्तुति की। यों भी गोतम पद के विशेषण होने में कोई अयुक्तता प्रतीत नहीं होती।

गम् धातु से गो शब्द की सिद्धि होती है। उसका गति अर्थ होता है। गम् धातु से "डो" प्रत्यय होकर "गो" पद बन जाता है। गो-पद के आगे तमप् प्रत्यय का योग होने से "गोतम" बन जाता है। "अतिशयेन गौः गोतमः" अत्यन्त गतिशील, महान् ज्ञानी, अतिशय मुक्ति चाहनेवाला, आदि अनेक अर्थ होते हैं।

गौ शब्द भी अनेकार्थक है। गाय, बैल, वाणी, मेघ का गर्जन, गौओं का दान करने वाला, स्तुति, सूर्य और पृथिवी इत्यादि अर्थ व्यवहार में आचुके हैं। गो शब्द से ही "गो" पद बन जाता है। वस्तुतः गो शब्द ही शुद्ध रूप का होता है। गो शब्द व्याकरण के नियम से उदात्त है। इस लिये उससे तमप् प्रत्यय होता है, वह अनुदात्त है। उदात्त के उत्तर का अनुदात्त स्वरित होता है। अब गोतम पद आद्युदात्त है उसका शुद्ध रूप ऐसा होता है— गोतमः।

गोतम शब्द का अनेक स्थानों में "गोतमासः"[1] ऐसा प्रयोग भी मिलता है। व्याकरण के नियम से यह प्रयोग बनता है। इस पद का अर्थ अनेक गोतम होता है।

संज्ञा वाचक पदों से यह प्रत्यय नहीं देखा जाता है। जैसे—पूतासः। ओमासः। देवासः। अदब्धासः। अपरीतासः आदि पद होते हैं ऐसे ही "गोतमासः" यह पद भी देखा जाता है। इन सम्पूर्ण पदों की समता में कुछ भी भेद नहीं दीखता। इसके साथ साथ जितने पद वेद मन्त्रों में असुक् प्रत्यय वाले दीखते हैं, वे किसी व्यक्तिविशेष का अर्थ नहीं करते। इसलिये कोई कारण नहीं कि वेद मन्त्रों में "गोतम" पद का व्यक्ति विशेष अर्थ किया जाय। गोतम पद के अर्थों का यदि संग्रह कर दिया जाय तो निम्नलिखित अर्थ इस पद के होंगे।

१—गोतम—अत्यन्त गतिशील सूर्य की किरणें।
२—गोतम—महान् ज्ञानी।
३—गोतम—अनेक सूर्यों में एक।
४—गोतम—अनेक वाणियों में एक।
५—गोतम—तीव्रगति वाली पृथिवी।

१ आङ्गिरसुक्। अष्टा० ७। १। ५०

६—गोतम—अनेक गौओं को दान करनेवालों में एक।
७—गोतम—बड़ा बैल।
८—गोतम—बड़ी गाय।
९—गोतम—अनेक स्तुतियों में एक।
१०—गोतम—रहूगण का पुत्र ऋषि।
११—गोतम—तारा।

उपर्युक्त अर्थों की दृष्टि से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेद की शैली के अनुसार वेद मन्त्रों में आये हुए गोतम शब्द का गोतम ऋषि से कोई सम्बन्ध नहीं है। हाँ ऐसी सम्भावना अवश्यमेव की जा सकती है कि इन पूर्वोक्त अर्थों को ध्यान में रखते हुए ही किसी विशेष अर्थ के विचार से गोतम नाम पीछे रक्खा गया हो। जिसकी आज प्रसिद्धि हो गई हो।

काल भेद से एक ही शब्द का दूसरा अर्थ हो जाया करता है। उदाहरण के लिये "पत्र" शब्द को ही ले लीजिये। पत्र शब्द का बहुत पहले 'पत्ता' अर्थ होता था किन्तु आज तत्सम मान कर चिट्ठी और समाचार पत्र आदि अनेक अर्थों में वह प्रयुक्त होने लग गया है।

ऐतिहासिकों की सूक्ष्मदृष्टि होती है। उनको बहुत दूर की सूझती है, क्या ठिकाना! कहीं ऋग्वेद के निम्न मन्त्र पर उनकी आँखें गड़ जाँय तो डा० राजेन्द्रप्रसाद की प्रशंसा परक इसका अर्थ कर डालें। तथा ऐसा भी कह दें कि उसी समय का यह मन्त्र है जिस समय राजेन्द्र बाबू भारत सरकार के खाद्य मन्त्री थे। वह मन्त्र यह है—

त्वं राजेन्द्र ये च देवा रक्षा नॄन् पाह्यसुर त्वमस्मान्।
त्वं सत्पतिर्मघवा नस्तरुत्रस्त्वं सत्यो वसवानः सहोदाः॥

ऋ० १।१७४।१

अर्थः—(राजेन्द्र) हे बाबू राजेन्द्र प्रसाद (त्वम्) तू और (ये च देवाः) जो अन्य नेता गण हैं (असुर) हे प्राण दाता अन्न का प्रबन्ध कर प्राणों की रक्षा करने वाले (त्वम्) तू (अस्मान् नॄन्) हम मनुष्यों की (पाहि) रक्षा कर (त्वम्) तू (सत्पतिः) एकत्रित तथा विद्यमान अन्नों का स्वामी है, इसलिये (मघवा) (तू) धनवान है। तू (नः) हमको (तरुता) प्राण बचाकर तारने वाला है। (त्वम्) तू (सत्यः) अपने कर्तव्य के लिये सच्चा है तू (वसवानः) अपनी शक्ति से हमें बसाने वाला है तू (सहोदाः) अन्न देने के कारण बल का दाता है।

सरल हिन्दी।

हे बाबू राजेन्द्रप्रसाद जी! आप तथा अन्य नेता गण सब लोग मिल कर अन्न देकर हम लोगों की रक्षा करने वाले हैं। तू ही विद्यमान अन्नों का स्वामी है इसलिये धनवान् है। तू हमें अन्न के कष्ट से तारने वाला है। तेरी सचाई पर हमको सन्देह नहीं है, तू अंग्रेजों को हटाकर हमें बसाने वाला है। तू अन्नदाता है इसलिये बलदाता है।

इस मन्त्र के अर्थ की संगति में न्यूनता नहीं है। ऐसी अवस्था में इस मन्त्र का यही अर्थ होने में हानि क्या हो सकती है।

तब इस मन्त्र के निर्माण का काल १९४७ ई० के आस पास का कहने में संकोच क्या हो सकता है?

फिर आज भी गोतमों की न्यूनता नहीं है। ऐसे ही कभी भी गोतम नहीं थे यह कैसे कहा जा सकता है। जब धर्मशास्त्र[1] कहते हैं कि वेद के शब्दों को सुन तथा देखकर नामों और कामों की व्यवस्था होती है। तब मन्त्रगत गोतम आदि पद व्यक्तिविशेष अथवा ऋषिविशेष के वाचक नहीं हो सकते। गोतम शब्द पर इतना विचार पर्याप्त है कि यह पद यौगिक अर्थ करता है।

आगे अत्रि शब्द को उपस्थित कर उस पर विचार किया जायेगा।

४—अत्रिः

सबसे प्रथम निरुक्तकार आचार्य यास्क का अभिमत देखने योग्य है वह इस प्रकार है—**न त्रय इति। नि० ३।१५** जिसमें तीन तापों का सर्वथा अभाव हो वह अत्रि होता है।

अत्रि शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति भी मिलती है जिससे उस शब्द के अर्थ पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। जैसे—

"मातृपित्रात्मसम्बन्धिनस्त्रिविधा दोषा न सन्त्यस्मिन्निति-अत्रिः" माता, पिता और अपने व्यापार से होने वाले इन तीन प्रकार के दोषों का जिसमें अभाव हो वह अत्रि होता है। अर्थात् जिसमें अपना व्यापार कोई ऐसा नहीं कि जिससे दैहिक दैविक और भौतिक तापों का

१—सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे—मनु०॥

सम्पर्क हो, तथा मातृ-पितृ-जन्य दोषों का भी सर्वथा अभाव जिसमें हो, वही अत्रि कहा जा सकता है।

आगे अथर्व वेद का एक मन्त्र उपस्थित किया जाता है जिसमें अत्रि का वर्णन पाया जाता है। स्मरण रहे कि इस सूक्त का "ब्रह्मा" ऋषि है और अध्यात्म देवता है। यथा—

अयं स देवो अप्स्वन्तः सहस्रमूलः पुरुशाको अत्रिः। य इदं विश्व भुवनं जजान॥

अथर्व० १३।३।१५

अर्थात्—जिसने इस सम्पूर्ण विश्व को उत्पन्न किया है, असंख्य वस्तुओं का मूल कारण है, जो परिपूर्ण शक्तियों से सम्पन्न है, और जो पञ्च भूतों में व्यापक है, वही यह देव "अत्रि" है।

इस मन्त्र में अत्रि के जितने गुणों का वर्णन किया गया है, उससे मुख्य रूप से अत्रि का सृष्टिकर्ता देव परमेश्वर अर्थ सिद्ध होता है। गौण रूप से अन्य नाम भी तत्सम के समान रक्खे जा सकते हैं। जैसा कि सदा से लोग करते आये हैं और आज भी करते हैं।

ऋग्वेद के प्रमाण से अत्रि शब्द का अग्नि अर्थ होता है। यथा—

तप्तं घर्ममोम्यावन्तमत्रये। ऋ० १। ११२। ७
"यास्कपक्षे त्वत्रये हविषामत्तेऽग्नये हविरुत्पत्त्यर्थम् सूर्यकिरणसन्तप्तं घर्मं नैदाघमहः—ओम्यावन्तम् तृप्तिहेतु वृष्टि-उदकोपेतम्" इति सायणः।

इस मन्त्र में आये हुए अत्रि पद का अर्थ आचार्य सायण ने यास्क पक्ष का समर्थन करते हुए अग्नि किया है। "अद् भक्षणे" इस धातु से अत्रि पद की उत्पत्ति, आचार्य यास्क को अभिमत है। इसलिये "हविष्य का भक्षण करने वाली अग्नि के लिये" ऐसा अर्थ किया गया है। वेद के सम्बन्ध में आचार्य यास्क का प्रामाण्य सर्वतोऽधिक है।

हमारी समझ से अत्रि पद पर पर्याप्त प्रकाश दिया जा चुका है, अभी इस विचार से अधिक की आवश्यकता नहीं है। यह बात सिद्ध हो गई कि अत्रि पद का यौगिक अर्थ मुख्य रूप से होता है। काल क्रम से ऐसे नाम पीछे से रक्खे जाने लग गये होंगे। अतएव अत्रि पद के निम्न अर्थ होने चाहिये।

१—अत्रिः तीन तापों से शून्य।
२—अत्रिः तीन दोषों से रहित।
३—अत्रिः तीन गुणों के अभाव वाला।
४—अत्रिः त्रिकालाबाधित।
५—अत्रिः अग्नि।
६—अत्रिः भुम का पुत्र ऋषि।

इस प्रसंग में यह स्मरण रखने की बात है कि भुमपुत्र अत्रि का मन्त्रगत अत्रि से कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु यह सम्भव है कि अत्रि = अग्नि विद्या का विशेष रूप से प्रकाशक होने के कारण से ही नाम भी अत्रि हो गया हो। अथवा "अग्निर्माणवकः" के समान व्यवहार में आकर उस व्यक्ति का नाम ही वही हो गया हो।

अब आगे जमदग्नि पद पर विचार उपस्थित किया जाता है।

५—जमदग्निः

सबसे प्रथम यजुर्वेद का एक प्रमाण उपस्थित किया जाता है जिससे "जमदग्नि" पद के अर्थ पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

जमदग्निर्ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया चक्षुर्गृह्णामि प्रजाभ्यः। य० ।१३।५६

भावार्थ—इस मंत्र के केवल जमदग्नि पद से जो शिक्षा मिलती है उतनी ही ग्राह्य है। जमदग्नि शब्द में दो पद हैं। जमत् + अग्नि = जमति—जगत् पश्यति इति जमत्। जो संसार को देखता है वह जमत् है। अङ्गति सर्वत्र गच्छति इति अग्निः। जो सब ओर जाता है वह अग्नि है। इन दोनों पदों का सम्मिलित अर्थ निम्न प्रकार से होगा। जो सब तरफ जाकर संसार को देखे, वह जमदग्नि है। यद्यपि गत्यर्थक धातुओं को अनेकार्थक माना जाता है किन्तु यहाँ एक ही अर्थ का उपयोग किया गया है। इस पद के साथ ही ऋषि पद का योग है। ऋषि पद का अर्थ भी भाव पूर्ण है। ऋषति जानातीति ऋषिः। जिसको ज्ञान होता है वह ऋषि है। केवल "जमदग्नि ऋषि" पद का यह यौगिक अर्थ हुआ।

अब प्रश्न यह होगा कि वह क्या है। मन्त्र का उत्तर है कि "चक्षुर्गृह्णामि" अर्थात् वह आँख है। इस मन्त्र से जमदग्नि ऋषि आंख सिद्ध होती है।

उपपत्ति—भाष्यकार ने आंख के जमदग्नि होने में जो प्रमाण दिया है वह निम्न प्रकार है। "चक्षुर्वै जमदग्नि-

ऋषिः—यदनेन जगत् पश्यति अथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः” ।

अर्थात् आंख ही जमदग्नि ऋषि है क्योंकि इसी से संसार को देखता है तब देखकर समझता है ।

यजुर्वेद के इस प्रमाण से आंख जमदग्नि ऋषि है, ऐसा सिद्ध होता है।

जमदग्नि पद का और भी विश्लेषण मिलता है, वह यह है—'जयन्तः प्रज्वलन्तः अग्नयो यस्यासौ जमदग्निः । अर्थात् जिसकी आग कभी नहीं बुझे वह जमदग्नि होता है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो आहिताग्नि हो वही जमदग्नि होता है। या यों कहना चाहिये कि आहिताग्नि, जमदग्नि होता है।

आहिताग्नि का अर्थ यह होता है कि—जिसने प्रतिज्ञा करके अग्नि होत्र की अग्नि को सदा प्रज्वलित रक्खा हो। आजकल के आहिताग्नि, आहवनीय अग्नि के समीप ही बैठे रहते हैं। उनका बाह्य व्यापार बन्द रहता है। यह नाम भी यही अर्थ करता है कि किसी भी व्यक्ति का यह नाम हो सकता है किन्तु उसको आहिताग्नि होना चाहिये ।

अब आगे हम ऋग्वेद का एक मन्त्र उपस्थित करते हैं जिससे यह अर्थ और भी स्पष्ट हो जाता है । यथा—

बृहन् मिमाय जमदग्निदत्ता ।

ऋ० ३ । ५३ । १५

इस मन्त्र में "जमदग्निदत्ता" यह एक पद है । इसका यह अर्थ है कि प्रज्वलताग्निभिः दत्ता" अर्थात् अग्नि को सदा प्रज्वलित रखने वालों के द्वारा दी गई"

इस मन्त्र के इतने भाग से भी वही अर्थ सिद्ध होता है, जो पहले आ चुका है ।

"ऋग्वेद" के एक अन्य मन्त्र से भी उसी अर्थ का अनुमोदन होता है । यथा—

यां मे पलस्ति जमदग्नयो ददुः ।

ऋ० ३ । ५३ । १६

इस मन्त्र में "पलस्ति जमदग्नयः" यह पद मिलता है। इसमें दो पदों का मेल है । जैसे—पलस्ति + जमदग्नि । पलस्तयश्च ते जमदग्नयश्च ते । अर्थात् बाल पके हुए आहिताग्नि जन जमदग्नि कहे जाते हैं ।

इस मन्त्र के भाग से यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि यह पद गुणवाचक होने के कारण किसी व्यक्ति विशेष का अर्थ नहीं करता है ।

उपर्युक्त विचारों से जमदग्नि पद का अनेक अर्थ सिद्ध होता है ।

इस पद के संगृहीत अर्थ निम्न हुए—

१—जमदग्नि—आंख ।

२—जमदग्नि—आहिताग्नि ।

३—जमदग्नि—भृगु के अनेक पुत्रों में से एक ।

यहां यह स्मरणीय है कि वैदिक सम्प्रदाय में यह पद अनेक अर्थों का वाचक व्यवहार में आ चुका है, अतः मन्त्र गत जमदग्नि का भृगु पुत्र जमदग्नि से कोई सम्बन्ध नहीं है । हठात् सम्बन्ध जोड़ने पर इतना कह देना पर्याप्त होगा कि मन्त्र गत इस पद को देखकर तत्सम संज्ञा रक्खी गई होगी । आज भी ऐसा देखा जाता है कि जिस साल में भारत स्वतन्त्र हुआ था, उस वर्ष में उत्पन्न होने वाले अनेक बच्चों के नाम "स्वराज्य" "आजाद" अथवा "विजय" आदि रक्खे गये थे । इस समय एक लड़के का नाम उसके पिता ने "सर्वोदय" रक्खा है । इसका यह अर्थ कदापि नहीं होगा कि ये व्यक्ति पहले थे और उनके नामों का ही व्याख्यान "सर्वोदय" आदि रचनात्मक काम हैं । आगे वसिष्ठ शब्द के सम्बन्ध में विचार होगा ।

६—वसिष्ठः

सबसे प्रथम हम अथर्ववेद का एक मन्त्र उपस्थित कर वसिष्ठ पद के सम्बन्ध में विचार का प्रारम्भ करते हैं ।

शतं या भेषजानि सहस्रं संगतानि च ।
श्रेष्ठ मास्रावभेषजं वसिष्ठं रोगनाशनम् ॥

अथ० २।४४।२

शतं सहस्रञ्च संगतानि या भेषजानि (तेषु) आस्रावभेषजम् रोगनाशनम् वसिष्ठं श्रेष्ठम् ।

सैकड़ों और सहस्रों जितनी औषधियाँ पायी जाती हैं उनमें घुलाने की औषध वसिष्ठ, रोग नाशक और सर्व श्रेष्ठ है । इस मन्त्र में वसिष्ठ विशेष्य तथा अन्य पद उसके विशेषण हैं ।

अभिप्राय यह है कि इस मन्त्र के सामने वसिष्ठ कोई मनुष्य, देवता, ऋषि, महर्षि अथवा कोई प्राणि विशेष नहीं है ।

इसी भाव को व्यक्त करने वाला अथर्ववेद का एक दूसरा मन्त्र भी हम उपस्थित करते हैं । वह यह है—

श्रेष्ठमसि भेषजानां वसिष्ठं वीरुधानाम् ।
सोमो भग इव यामेषु देवेषु वरुणो यथा ॥
अथर्व० ६।२१।२

जैसे देवों में वरुण श्रेष्ठ है, रात्रियों में चन्द्रमा श्रेष्ठ है, ऐसे ही लताओं में वसिष्ठ श्रेष्ठ है ।

पहले मन्त्र में बुलाई जाने वाली ओषधि का नाम वसिष्ठ कहा गया है और इस मन्त्र में लतारूप वसिष्ठ का वर्णन पाया जाता है ।

अथर्ववेद से एक और अन्य मन्त्र को हम उपस्थित करते हैं, जिससे कुछ अन्य ही विशेषता प्रतीत होती है । जैसे—

वैश्वानरो नो अधिपा वसिष्ठ उदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् । अथर्व० ६।११९।१

अधिपा वैश्वानरः वसिष्ठः नः सुकृतस्य लोकम् उन्नयाति इत् ॥

वैश्वानर नाम की, बसाने वाली अग्नि, पुण्य कामों से प्राप्त होने वाले लोक में हमको ले जाती है ।

इस सूक्त की देवता अग्नि है, इसलिये यहाँ भी वसिष्ठ शब्द से अग्नि अर्थ ही अभिप्रेत है ।

यद्यपि वैश्वानर शब्द अनेक अर्थों का वाचक है, फिर भी इस मन्त्र में अग्नि अर्थ ही सुसंगत है ।

उपनिषद् की वैश्वानर विद्या प्रसिद्ध है । इस दृष्टि से भी यह मन्त्र, वसिष्ठ का अर्थ हमें बसाने वाला परमेश्वर करता है।

चाहे जो हो, किन्तु यहाँ भी मनुष्य अथवा महात्मा अर्थ नहीं है ।

अथर्व वेद के दृष्टिकोण से वसिष्ठ पद पर विचार समाप्त कर, आगे यजुर्वेद के दृष्टिकोण से इस पद पर विचार का प्रारम्भ करते हैं ।

यजुर्वेद के तेरहवें अध्याय में एक मन्त्र आता है, वह यह है—

वसिष्ठ ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया प्राणं गृह्णामि प्रजाभ्यः । य० १३।५४।

इस वसिष्ठ ऋषि के विषय में भाष्यकार का ही अभिप्राय हम उपस्थित कर देना उचित समझते हैं । वह इस प्रकार है—वसति, अधितिष्ठति सर्वजन्तून् इति वस्ता, अतिशयेन वस्ता वसिष्ठः । सर्वाधार ऋषिः ज्ञाता प्राणः । अर्थात्—

सम्पूर्ण प्राणियों का अधिष्ठाता अथवा सर्वाधार ऋषि प्राण है । यहां भाष्यकार ने जो प्राण को ऋषि वसिष्ठ कहा है, वह तो वेदमंत्र का आशय प्रकट करने के लिए ही है । वस्तुतः वेद ने ही "वसिष्ठ" प्राण को बतलाया है । किन्तु भाष्यकार ने भी अपना बोझ हलका करने के निमित्त एक प्रमाण देकर उसके आधार से ही ऐसा अर्थ किया है । जैसे—प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिर्यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठः । अथो यद्वस्तृतमो वसति ते नो एव वसिष्ठः । श० ८।१।१।६ इति श्रुतेः ।

प्राण ही वसिष्ठ ऋषि है, क्योंकि वही श्रेष्ठ है और वही बसानेवाला है, इसी लिये उसको वसिष्ठ कहा जाता है ।

फलतः यहां प्राण को ही वसिष्ठ माना गया है ।

यजुर्वेद का एक अन्य मन्त्र भी विचार के योग्य है । वह यह है—

वसिष्ठः सहस्रम्भरः शुचिजिह्वो अग्निः ।
य० ११ । ३६ ।

हितकारक, पवित्र जिह्वा वाली, तथा अपने स्थान पर वास करने वाली अग्नि ।

इस मन्त्र खण्ड में अग्नि वाचक वसिष्ठ पद पढ़ा गया है, इसलिये अग्नि भी वसिष्ठ कही जाती है ।

यजुर्वेद के दूसरे मन्त्र से भी उपरोक्त विचारों का समर्थन होता है—

वसिष्ठहनुः । य० ३९ । ८ ।

अर्थात् आगे की ओर बढ़ी हुई दाढ़ी । इस मन्त्र खण्ड से विस्तार अर्थ प्रतीत होता है । यहां एक विलक्षणता तो स्पष्ट प्रतीत होती है कि विशेषण रूप में वसिष्ठ पद का प्रयोग किया गया है ।

"वसिष्ठा या हनुः सा वसिष्ठहनुः" । यह भाष्यसम्मत विश्लेषण है ।

यजुर्वेद का एक तीसरा प्रमाण भी विचार के योग्य है ।

वसिष्ठासो अभ्यर्चन्त्यर्कैः । य० २० । ५४ ।

नियत स्थान में निवास करने वाले महान् आत्मा लोग वेद-मन्त्रों से भगवान् की स्तुति करते हैं ।

इस मन्त्र खण्ड ने "नियत स्थान में वास करने वाले ऋषि" अर्थ किया है ।

यजुर्वेद के प्रमाणों से भी वसिष्ठ पद यौगिक ही सिद्ध होता है ।

ऋग्वेद का अभिप्राय भी ऐसा ही ज्ञात होता है कि इनका अग्नि आदि अर्थ ही मुख्यवृत्ति से सिद्ध होता है, गौणी वृत्ति से अन्य अर्थ भी हो सकते हैं । यथा—वसिष्ठः शुचिजिह्वो अग्निः । ऋ० २ । ९ । १ ।

वसिष्ठ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक विचार पाये जाते हैं । उस दृष्टि से एक स्वतन्त्र निबन्ध लिखने का विचार है, जिसमें बृहद्देवता अथवा ऋग्वेद में सायणाचार्य की दी हुई आख्यायिकायें भी सम्मिलित होंगी ।

[शेष टाईटिल पृ० २ पर]

मूल पाणिनीय शिक्षा

सूत्रात्मक अथवा श्लोकात्मक

क्या सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा स्वामी दयानन्द ने बनाई ?

(लेखक—श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, ४९४३ शिवनगर, करोलबाग, देहली)

[११ दिसम्बर १९५५ रविवार के दिन आर्यसमाज सीताराम बाजार देहली के वार्षिकोत्सव पर मध्याह्नोत्तर ४ बजे श्री माननीय पण्डित भगवद्दत्त जी का एक विशेष महत्त्वपूर्ण व्याख्यान हुआ, जो अपने ढंग का एक अभूतपूर्व व्याख्यान था। इसमें श्री माननीय पण्डित जी ने वेद, मनुस्मृति, कौटिल्य अर्थशास्त्र, महाराज समुद्रगुप्त विरचित कृष्णचरित आदि ग्रन्थों के विषय में पाश्चात्य तथा उनके अनुयायी एतद्देशीय विद्वानों द्वारा किए गए आक्षेपों का सप्रमाण उल्लेख किया और उनके निराकरण के लिये आर्यसमाज के नेताओं का ध्यान आकृष्ट किया। इसी प्रसंग में श्री माननीय पण्डित जी ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्री मनोमोहन घोष द्वारा आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती पर पाणिनि के नाम से शिक्षा-सूत्रों के घड़ने के आरोप का उल्लेख किया। इस लेख में उक्त आरोप का ही सप्रमाण समाधान किया है—लेखक]

कलकत्ता विश्वविद्याल से सन् १९३८ में पाणिनीय शिक्षा का एक ग्रन्थ छपा है। उसके सम्पादक हैं श्री मनोमोहन घोष एम. ए.। इसमें घोष जी ने लोकप्रसिद्ध परन्तु पाणिनि के नाम पर कल्पित शिक्षा के विभिन्न पाठों तथा उसकी दो टीकाओं को सम्पादित करके प्रकाशित किया है[1]। ग्रन्थ के आरम्भ में 'पाणिनीय शिक्षा' शीर्षक का एक अंग्रेजी भाषानिबद्ध लेख लिखा है, जिसमें श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा को पाणिनिकृत सिद्ध करने का प्रयत्न किया है और सूत्रात्मक शिक्षा को स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा पाणिनि के मत्थे मढ़ी हुई कहा है। इस लेख में हम मनोमोहन घोष जी के उक्त लेख की सप्रमाण समीक्षा करेंगे, जिससे पाठकों को वस्तुस्थिति का ज्ञान हो जाय, और मनोमोहन घोष जी द्वारा प्रसारित अज्ञानरूपी अन्धकार का उन्मूलन हो।

लेख के आरम्भ में घोष जी ने पाणिनि के नाम पर कल्पित शिक्षा को पाणिनिकृत सिद्ध करने की व्यर्थ चेष्टा की है और वह भी उस अवस्था में, जब कि इस कल्पित शिक्षा का आद्य श्लोक, जो इस शिक्षा के सभी उपलब्ध पाठों और टीकाओं में अविगीत रूप से पठित है और उच्चस्वर से कह रहा है कि यह शिक्षा पाणिनिरचित नहीं है। वह श्लोक इस प्रकार है—

अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा।

अर्थात्—अब शिक्षा को कहूँगा पाणिनि के मत के अनुसार।

इससे स्पष्ट है यह शिक्षा पाणिनि-रचित नहीं है। इसे पाणिनि के मत के अनुसार किसी अन्य व्यक्ति ने रचा है।

इसी पाणिनीय शिक्षा की एक 'प्रकाश' नाम्नी टीका छपी हुई उपलब्ध होती है। इसके रचयिता का नाम अज्ञात है। घोष जी के मतानुसार प्रकाश टीका सन् १३०० से अर्वाचीन नहीं है। इस टीका में उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या में लिखा है—

ज्येष्ठभ्रातृभिर्विहितो व्याकरणेऽनुजस्तत्र भगवान् पिङ्गलाचार्यस्तन्मतमनुभाव्य शिक्षां वक्तुं प्रतिजानीते अथ शिक्षामिति।

---

[1] इस संस्करण में सबसे प्रथम घोष जी ने पाणिनीय शिक्षा का स्वकल्पित मूल पाठ दिया है। उसमें केवल १८ श्लोक हैं। इसके अनन्तर अग्नि पुराण के शिक्षा-सम्बन्धी श्लोक छापे हैं। इन्हें घोष जी पाणिनीय शिक्षा का प्रथम परिबृंहित रूप मानते हैं। इसके पीछे पञ्जिका व्याख्या और इस व्याख्या के आधार पर ऊहित मूल पाठ छापा है। इसमें २३ श्लोक माने हैं। तदनन्तर शिक्षा-प्रकाश टीका और उसके आधार पर ऊहित मूल पाठ दिया है। इसमें ३२ श्लोक माने हैं। तत्पश्चात् यजुःशाखीय ३५ श्लोकात्मक और ऋक्शाखीय ६० श्लोकात्मक पाठ मुद्रित किए हैं। तदनन्तर परिशिष्ट में चान्द्रवर्ण सूत्र छापे हैं।

अर्थात्—ज्येष्ठ भाई पाणिनि द्वारा व्याकरण में कथित मत को जानकर उसका अनुज पिङ्गल नाम का आचार्य शिक्षा कहने की प्रतिज्ञा करता है—अथ शिक्षामिति।

अब पाठक स्वयं विचार करें कि जब उक्त शिक्षा और उसका टीकाकार इसे पाणिनि-कृत नहीं कहते, उस अवस्था में घोष जी का इसे पाणिनिप्रोक्त सिद्ध करने की चेष्टा करना दुराग्रह नहीं तो और क्या कहा जा सकता है[1]।

अब हम घोष जी के उन असार हेतुओं को उपस्थित करते हैं, जिनके बल पर घोष जी इसे पाणिनिकृत सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। इन हेतुओं की समीक्षा से घोष जी के दुराग्रह की पराकाष्ठा और उसकी सिद्धि के लिए किए गए छल भी प्रकट हो जाएंगे।

१—घोष जी का प्रथम हेतु है—'यह निश्चय है कि शिक्षा के छन्द बृहद्देवता के छन्द (४००ई० पूर्व) से कम पुराने नहीं हैं।'

समीक्षा—यह केवल प्रतिज्ञामात्र है। बिना हेतु उदाहरण आदि के प्रतिज्ञा मात्र से किसी पक्ष की सिद्धि नहीं होती। केवल छन्दोरचना के आधार पर किसी ग्रन्थ के काल के निर्णय का प्रयत्न करना अवैज्ञानिक मार्ग है। इतना ही नहीं, घोष जी का पाण्डित्य तो इसी से ज्ञात हो गया कि उन्होंने बृहद्देवता, जिसका रचयिता कुलपति शौनक, जो कि अथर्ववेदीय शौनक संहिता, ऐतरेयारण्यक के पञ्चम आरण्यक और ऋक्प्रातिशाख्य का प्रवक्ता है, जो भारत-युद्ध के समकालीन है, को मैक्समूलर के प्रमाण से ४०० ईसा पूर्व में मान लिया। वस्तुतः बृहद्देवता का काल किसी भी अवस्था में २९०० विक्रम पूर्व से अर्वाचीन नहीं है। देखो हमारा 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' पृष्ठ १३९।

२—घोष जी का दूसरा हेतु है—'शबर (मीमांसा १।१।२२) और भर्तृहरि (वाक्यपदीय १।४७) को शिक्षा ज्ञात थी।'

समीक्षा—यदि घोष जी का अभिप्राय यहाँ श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा से है, तब कहना पड़ेगा कि घोष जी ने शबर स्वामी का झूठा साक्ष्य दिया है। शबरस्वामी का वचन है—

शिक्षाकाराः आहुः—वायुरापद्यते शब्दतामिति। भा० १।१।२२॥

यहाँ शबर स्वामी ने किसी शिक्षाकार का नाम नहीं लिया। 'शिक्षाकाराः' ऐसा बहुवचन से सामान्य निर्देश किया है। इतना ही नहीं, जो वचन शबर ने उद्धृत किया है, वह इस श्लोकात्मक शिक्षा में उपलब्ध भी नहीं होता।

दूसरा नाम घोष जी ने भर्तृहरि का लिखा है। और वाक्यपदीय १।४७[1] का जो श्लोक उद्धृत किया है, वहाँ शिक्षा का कोई प्रसङ्ग ही नहीं है, शिक्षा शब्द का भी निर्देश नहीं है। हां, वाक्यपदीय १।११६ की व्याख्या में भर्तृहरि ने 'आचार्यः खल्वप्याह'—कहकर 'आत्मा बुद्ध्या' श्लोक उद्धृत किया है। यह श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा में उपलब्ध होता है।[2] वहाँ भर्तृहरि ने साक्षात् पाणिनि का नाम नहीं लिखा। इस प्रसङ्ग में भर्तृहरि ने अनेक प्राचीन शिक्षाकारों के मत उद्धृत किए हैं। अतः नाम निर्देश न होने से यद्यपि यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह श्लोक किसका है, पुनरपि इससे इतनी कल्पना तो अवश्य हो सकती है कि यह श्लोकात्मक शिक्षा भर्तृहरि से प्राचीन है।

३—तीसरा हेतु है—'मधुसूदन सरस्वती और पाराशर शिक्षा के लेखक इसे पाणिनिकृत मानते हैं।'

समीक्षा—मधुसूदन सरस्वती अभी कल का व्यक्ति है (१७ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध) उसकी अपेक्षा तो इस शिक्षा के दोनों अज्ञातनामा टीकाकार कहीं अधिक प्राचीन हैं। अतः मधुसूदन का उल्लेख कोई महत्त्व नहीं रखता। रहा पाराशरी शिक्षा का प्रमाण। उसके विषय में अभी यह साध्य है कि यह शिक्षा किस काल की है? घोष जी ने भी इसके काल का कोई संकेत नहीं किया। यह पाराशरी शिक्षा महर्षि पराशर की कृति तो हो नहीं सकती, क्योंकि इसमें पराशर से बहुत उत्तर काल में होने वाले याज्ञवल्क्य, पाणिनि, कात्यायन और माध्यन्दिन आदि का उल्लेख है। यदि दुर्जन-सन्तोष-न्याय से ऐतिह्य-विरुद्ध इतना मान भी लें कि यह पाराशरी शिक्षा प्राचीन पराशर मुनिप्रोक्त ही है, तब भी उससे इतना ही सिद्ध होगा कि पाणिनि की कोई शिक्षा थी। यह श्लोकात्मक शिक्षा उससे पुरानी है, यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें पाणिनि के नाम से इस शिक्षा का कोई श्लोक उद्धृत नहीं है।

---

१. घोष जी द्वारा उद्धृत श्लोक लाहौर सं० में ४८ संख्या पर है। २. इसका निर्देश घोष जी ने किया ही नहीं।

४—चौथा हेतु है—'शुक्रनीतिकार भी इसे जानता था'। यहाँ घोष जी ने शुक्रनीति का यह श्लोक उद्धृत किया है—

स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः।
सवनाद्यैश्च सा शिक्षा वर्णानां पाठशिक्षणात्॥

समीक्षा—यह श्लोक शुक्रनीति में कहाँ आया है, इसका घोष जी ने उल्लेख नहीं किया। अस्तु, यह पद्य शुक्रनीति के चतुर्थ अध्याय के तृतीय प्रकरण में शिक्षा अङ्ग के वर्णन में (सं० ४१) मिलता है। शुक्रनीति में यहाँ 'शिक्षा' अंग का सामान्य वर्णन किया है। इस पद्य का पूर्वार्ध श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा में उपलब्ध होता है। इसी के बल पर घोष जी ने इस शिक्षा को शुक्रनीति से पुरानी सिद्ध करने की चेष्टा की है। ध्यान रहे कि यह पद्यांश अग्निपुराण के शिक्षाप्रकरण में भी उपलब्ध होता है।

५—पाँचवाँ हेतु—'पाणिनीय शिक्षा और अष्टाध्यायी दोनों एककी कृति हैं, यह सिद्ध किया जा सकता है।'

समीक्षा—यह केवल प्रतिज्ञा मात्र है। घोष जी ने दोनों को एककी कृति सिद्ध करने के लिए कोई तुलना नहीं की। इसके विपरीत हमारा मत है कि इस शिक्षा के मत अष्टाध्यायी से विरोध रखते हैं। उदाहरण के लिए कतिपय प्रमाण उपस्थित करते हैं।

(क) घोषजी ने पाणिनीय शिक्षा के विभिन्न पाठों के आधार पर जो मूल पाठ उपस्थित किया है, उसमें एक श्लोक है—

अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीषत् नेमस्पृष्टा शलस्तथा।
शेषा स्पृष्टा हलः प्रोक्ता निबोधानुप्रदानतः॥

इस श्लोक में अचों = स्वरों का अस्पृष्ट प्रयत्न माना है और शल् = श, ष, स ह का नेम = अर्ध स्पृष्ट। इस अवस्था में श ष स ह के और अचों के अभ्यन्तर प्रयत्न में अन्तर होने से इनकी सवर्ण संज्ञा ही प्राप्त नहीं होती, पुनः पाणिनि ने ह की अ के साथ, श की इ के साथ, ष की ऋ के साथ और स की ऌ के साथ सवर्णसंज्ञा का निषेध करने के लिए नाज्झलौ (१।१।१०) सूत्र क्यों रचा। 'नाज्झलौ' सूत्र से स्पष्ट है कि ऊष्म और अभ्यन्तर अचों के प्रयत्न समान हैं। हाँ, पाणिनीय शिक्षा के ऋक्शाखीय और यजुःशाखीय पाठ में एक श्लोक और मिलता है (प्रकाश टीका में भी वह व्याख्यात है) वह है—

स्वराणामूष्मणां चैव विवृतं करणं स्मृतम्।
तेभ्योऽपि विवृतावेङौ ताभ्यामैचौ तथैव च॥

इस श्लोक के अनुसार स्वरों और ऊष्मों का एक प्रयत्न मानने पर 'नाज्झलौ' सूत्र संगत हो जाता है। परन्तु यह श्लोक पाणिनीय शिक्षा के सब पाठों में उपलब्ध नहीं होता; इसलिये स्वयं घोष जी ने इसे अपने मूल पाठ में नहीं रक्खा। तथा ऋक् पाठ में इन दोनों अन्तःप्रयत्न-प्रतिपादक श्लोकों के मध्य अनेक अप्रासंगिक उपलब्ध होते हैं; जो इस शिक्षा के पाठ में ही सन्देह उत्पन्न करते हैं।

(ख) इस शिक्षा के अनुसार ह्रस्व 'अ' का अस्पृष्ट अथवा विवृत प्रयत्न है, परन्तु पाणिनि ने अकार को संवृत प्रयत्न वाला मानकर शास्त्रीय कार्य के निर्वाह के लिए प्रथम सूत्र में उसका विवृत उपदेश किया है और शास्त्र के अन्त में पुनः 'अ अ' सूत्र द्वारा विवृतोपदिष्ट अकार को संवृत विधान किया है (देखो अ इ उ ण् सूत्र का महाभाष्य)। यदि ह्रस्व अकार का पाणिनि के मत में ही विवृत प्रयत्न होता, तो वे विवृतोपदेश और उसको पुनः संवृतविधान का प्रयत्नगौरव न करते। यदि यह कहा जाए कि शिक्षा में उसे विवृत व्याकरण शास्त्र के कार्य निर्वाहार्थ कहा है, तो भी अयुक्त है; क्योंकि शिक्षा स्वतंत्र वेदाङ्ग है। वह स्वतन्त्रतया वर्णों के उच्चारण की शिक्षा देता है। उसके लोक-वेद साधारण होने से उसमें 'अ' के वास्तविक प्रयत्न का ही निर्देश करना चाहिये। हां, अधिक से अधिक यह कहा जा सकता था कि व्याकरण शास्त्र में कार्य-निर्वाहार्थ इसे विवृत माना है, परन्तु लोक वेद में उच्चारण काल में इसका संवृत ही प्रयत्न है; किन्तु सारी शिक्षा में ह्रस्व अकारका संवृत प्रयत्न, जो कि उसका वास्तविक प्रयत्न है, नहीं कहा गया।

(ग) ऊपर उद्धृत शिक्षा के दोनों श्लोकों के अनुसार शल् = श ष स ह वर्णों का विवृत अथवा नेम = अर्धस्पृष्ट प्रयत्न का विधान किया है, परन्तु 'नाज्झलौ' सूत्र में पतञ्जलि ने श ष स ह का प्राचीन शिक्षा-सूत्रों के अनुसार जो ईषद्विवृत प्रयत्न कहा है,[1] उसका इस शिक्षा में कहीं निर्देश ही नहीं है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि घोष जी की प्रतिज्ञा के ठीक विपरीत शिक्षा और अष्टाध्यायी में विरोध होने के कारण ये दोनों ग्रन्थ एककर्तृक नहीं हो सकते।

इसके आगे घोषजी स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों के विषय में लिखते हैं—

[1] स्पृष्टं करणं स्पर्शानाम्, ईषत्स्पृष्टमन्तस्थानाम्, विवृतमूष्मणाम्, ईषद् इत्यनुवर्तते। स्वराणां च, विवृतम्, ईषद् इति निवृत्तम्।

"डा० रघुवीर 'पाणिनि के लुप्त शिक्षा-सूत्रों की खोज' नामक लेख में पाणिनि के लुप्त शिक्षासूत्रों को ढूंढ लेने का दावा करता है। अनेक युक्तियों से, जो वह लेख में उपस्थित करता है, यह प्रतीत होता है कि उसके खोजे सूत्र (दयानन्द के शिक्षा—सूत्र) वेदाङ्ग शिक्षा हैं। परन्तु सूक्ष्म परीक्षा पर हमें ज्ञात होता है कि वे युक्तियां इतनी गम्भीर नहीं, जितनी डाक्टर रघुवीर सोचते हैं।"

समीक्षा—यदि घोष जी डाक्टर रघुवीर की युक्तियों को, जो उन्होंने स्वामी दयानन्द द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्रों की प्रामाणिकता और वेदाङ्गत्व में दी हैं, क्रमशः उद्धृत करके प्रत्याख्यान करते तो उन्हें ज्ञात होता कि डा० रघुवीर जी की युक्तियाँ गम्भीर हैं या नहीं। घोष जी ने उनका स्पर्श किये बिना ही 'वे युक्तियाँ इतनी गम्भीर नहीं' लिख कर ही छोड़ दिया। यह भी ध्यान रहे कि घोष जी ने पाणिनीय शिक्षा—सूत्रों को 'दयानन्द शिक्षासूत्र' लिखकर अपनी कलुषित वृत्ति का आरम्भ में ही परिचय दे दिया।

आगे पुनः लिखते हैं—

"वे यह मानकर चलते हैं कि दयानन्दीय शिक्षासूत्र पाणिनि के लुप्त शिक्षासूत्र हैं। यद्यपि कोई स्वतंत्र प्रमाण उनके अस्तित्व का नहीं है और न उनके खोजने की कोई कहानी ही है।"

समीक्षा—अब हम वे प्रमाण उपस्थित करते हैं, जिनसे स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि स्वामी दयानन्द द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्र पाणिनीय हैं या नहीं। घोषजी बड़े बल से कहते हैं कि इनका कोई स्वतंत्र प्रमाण नहीं। अब हम उनके अस्तित्व का स्वतंत्र प्रमाण भी उपस्थित कर देते हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के 'त्रिरत्नभाष्य' नाम की व्याख्या का रचयिता सोमयार्य लिखता है—

सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति इति पाणिनीयेऽपि। मैसूर सं० पृष्ठ ४५०।

यह सूत्र पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों के षष्ठ प्रकरण में उपलब्ध होता है।

क्या अब भी घोषजी 'कोई स्वतंत्र प्रमाण उनके अस्तित्व का नहीं', ऐसी घोषणा करने का दुःसाहस करेंगे? घोषजी का पाण्डित्य भी इतने से ज्ञात हो गया। यदि उन्होंने तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का "त्रिरत्नभाष्य" देखा होता, तो वे ऐसा लिखने का दुस्साहस न करते।

यहाँ कहा जा सकता है कि त्रिरत्नभाष्यकार ने उक्त सूत्र आपिशल शिक्षा से लिया हो और भूल से उसने पाणिनि का नाम दे दिया हो, क्योंकि यह सूत्र आपिशल शिक्षा में भी इसी प्रकरण में उपलब्ध होता है।

यह कल्पना भी किसी प्रकार उत्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि घोषजी के मतानुसार दयानन्द से पूर्व पाणिनि के नाम पर कोई शिक्षा-सूत्र प्रसिद्ध नहीं थे, केवल श्लोकात्मक शिक्षा प्रसिद्ध थी। ऐसी अवस्था में त्रिरत्नभाष्यकार को भी यह ज्ञात होगा ही कि पाणिनि की शिक्षा श्लोकात्मक है, सूत्रात्मक नहीं। तब पुनः उसने इस सूत्र को पाणिनि के नाम से कैसे उद्धृत किया? यदि दुर्जनसंतोषन्याय से उक्त कल्पना मान भी लें तो भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि त्रिरत्नभाष्यकार को श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा के साथ साथ सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा का भी ज्ञान था। पाणिनिकृत सूत्रात्मक शिक्षा के ज्ञान होने पर तो यह भूल कथंचित् सम्भव हो सकती, अन्यथा नहीं।

यद्यपि आपिशल शिक्षा और पाणिनीय शिक्षा के सूत्रों में अत्यन्त सादृश्य है, तथापि उनमें अनेक स्थानों पर सूत्रों की न्यूनाधिकता और पाठभेद मिलते हैं, जो दोनों के पृथक् पृथक् प्रवचन की सिद्धि में पर्याप्त प्रमाण हैं (देखो हमारे द्वारा सम्पादित "शिक्षासूत्राणि" की भूमिका)। पुनरपि हम यहाँ एक ऐसा अकाट्य और नवीन प्रमाण उपस्थित करते हैं, जो इन सूत्रों को न केवल पाणिनीय ही सिद्ध करता है; अपितु आपिशल शिक्षा से भिन्नता भी व्यक्त करता है। यथा—

आपिशल पाठ	पाणिनीयपाठ
ईषद्विवृत करणा ऊष्माणः।	ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः।
विवृतकरणाः स्वराः	विवृतकरणा वा।
	विवृतकरणाः स्वराः।

यहाँ दोनों की आनुपूर्वी एक होते हुए भी पाणिनीय शिक्षा में एक सूत्र अधिक है। वह है "विवृतकरणा वा"। इसमें पूर्वसूत्र से 'ऊष्माणः' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार ऊष्म = श ष स ह वर्णों का पाणिनीय सूत्रानुसार

किन्हीं आचार्यों के मत में विवृत प्रयत्न भी है (आपिशल शिक्षा में यह मत उद्धृत नहीं है)। ऊष्मों का विवृत प्रयत्न मानने पर हो ऊष्मों की अचों (इ ऋ ऌ अ) के साथ स्थान और प्रयत्न की साम्यता होने से परस्पर सवर्णसंज्ञा प्राप्त होती है। सवर्ण संज्ञा होने पर 'दधि शीतम्' 'दण्ड हस्तः' आदि में क्रमशः इ + श् और अ + ह् को सवर्ण दीर्घत्व की प्राप्ति होती है। इसीलिए पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'नाज्झलौ' सूत्र की रचना करके अचों और हलों की परस्पर सवर्ण संज्ञा का निषेध किया। आपिशल शिक्षा में 'विवृतकरणा वा' सूत्र नहीं है। उस अवस्था में 'नाज्झलौ' सूत्र की भी आवश्यकता नहीं है। यहां यह भी ध्यान रहे कि श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा में जो पाठ सर्वसम्मत है और जिसे घोष जी ने स्व-अभ्यूहित मूल पाठ में स्थान दिया है, उसके अनुसार अचों का अस्पृष्ट प्रयत्न है और ऊष्मों का नेमस्पृष्ट, अतः दोनों के प्रयत्नों में भेद होने से पाणिनि के मत में सवर्णसंज्ञा प्राप्त ही नहीं, पुनः उसने सवर्ण संज्ञा के निषेध के लिए 'नाज्झलौ' सूत्र क्यों रचा?

आगे घोष जी पुन लिखते हैं—"डा० रघुवीर की मान्यता कि पतञ्जलि और अन्य वैयाकरणों ने इस सूत्र ग्रन्थ (द० शिक्षासूत्र) से अंश अथवा भाव लिए, नितान्त अशुद्ध है। क्योंकि वह ग्रहण बिलकुल उलटे प्रकार से भी हो सकता था। अर्थात् द० शि० सू० के लेखक ने अपनी सामग्री अनेक स्रोतों से, यथा महाभाष्य, चन्द्रगोमी के वर्णसूत्रों से ली हो। तथ्यों के प्रकाश में कि इसका कोई प्राचीन अथवा नवीन हस्त लेख अथवा कोई उद्धरण नहीं मिलता, इस प्रकार का विचार (जैसा कि हमारा है) बनना उचित है।"

श्री डा० रघुवीर जी के सीधे और स्पष्ट प्रमाण को कि 'दयानन्द प्रकाशित पाणिनीय शिक्षा-सूत्र व्याकरण के महाभाष्य, काशिका और न्यास आदि प्राचीन ग्रन्थों में अंशतः अथवा भावतः उद्धृत हैं और चन्द्रगोमी ने जैसे पाणिनीय अष्टाध्यायी के आधार पर अपना व्याकरण लिखा, उसी प्रकार उसने पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों के आधार पर अपने वर्णसूत्र रचे' को घोष जी दुराग्रहवश पलटने की चेष्टा करते हैं। क्या घोष जी पाणिनीय शिक्षा के समस्त सूत्र व्याकरणादि शास्त्रों के प्राचीन अथवा नवीन ग्रन्थों में अंशतः अथवा भावतः उद्धृत बता सकते हैं? यदि नहीं, तो 'दयानन्द शिक्षा-सूत्र' के लेखक ने उन सूत्रों की रचना, जो न किन्हीं ग्रन्थों में उद्धृत हैं और न जिनका विषय चान्द्रवर्ण सूत्रों में विद्यमान है, कहां से संगृहीत किया? यदि दुर्जनसंतोषन्याय से इनका संग्राहक अथवा रचयिता स्वामी दयानन्द ही है (ऐसा आगे चलकर घोष जी कहेंगे), तब भी उसकी बुद्धि और अगाध पाण्डित्य को स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उसने किसी प्राचीन सूत्रात्मक शिक्षा के शतशः ग्रन्थों में बिखरे हुए वचनों को संकलित करके और कुछ वचन अपनी ओर से जोड़कर तथा उन्हें प्रकरणानुसार व्यवस्थित करके एक ऐसे सुन्दर रूप में उपस्थित कर दिया, जो स्वतन्त्र ग्रन्थ बन गया और उसके ५० वर्ष पश्चात् उपलब्ध आपिशल शिक्षा से उसकी आनुपूर्वी भी अद्भुत साम्यता के साथ मिल गई। क्या विलक्षण ऊहा है घोष जी की?

यदि घोष जी यह कल्पना करते कि दयानन्द-प्रकाशित शिक्षा-सूत्र पाणिनि के नहीं हैं, अपितु आपिशलि के हैं, स्वामी दयानन्द ने इन्हें पाणिनि के नाम पर प्रसिद्ध करने की चेष्टा की, तब भी कुछ सीमा तक उक्त कल्पना युक्तियुक्त हो सकती थी। परन्तु घोष जी जानते थे कि यदि आपिशलि के शिक्षा-सूत्रों को भी यदि आपिशलिकृत मान लिया तो दयानन्द-प्रकाशित शिक्षा सूत्रों को पाणिनि-विरचित मानना ही पड़ेगा। इसलिये उन्होंने इस प्रकरण में आपिशल शिक्षा-सूत्रों की चर्चा भी नहीं की। यह है घोष जी के दुराग्रह की पराकाष्ठा।

अब रही हस्तलेख की बात। सो अनेक ग्रन्थरत्न ऐसे हैं, जिनके पुराकाल में अत्यन्त प्रसिद्ध रहने पर भी चिरकाल तक उनके हस्तलेख प्राप्त नहीं हुए। प्रयत्न करने पर उनके एक एक दो दो त्रुटित हस्तलेख मिल गए और आज तक ऐसे दुर्लभ ग्रन्थों के हस्तलेख मिल रहे हैं। इसी प्रकार पाणिनीय शिक्षा-सूत्र का भी एक हस्तलेख स्वामी दयानन्द सरस्वती को प्राप्त हो सकता था। उसकी अभी तक दूसरी प्रति उपलब्ध न होने मात्र से क्या वह ग्रन्थ कल्पित कहा जा सकता है? इसी लिए घोष जी डरते डरते आगे लिखते हैं—

"इस प्रकार हम देखते हैं कि दयानन्द शिक्षा-सूत्र १९ वीं सदी के प्रारम्भ में प्रकाश में आने के लिए लगभग २५०० वर्ष तक अंधकार में पड़े रहे। यद्यपि ऐसा अन्वेषण नितान्त असम्भव न भी हो, ऐसे विषयों में बड़ा सावधान रहना चाहिए। कौटिल्य और भास के ग्रन्थों का उदाहरण यहाँ नहीं लिया जा सकता, क्योंकि इनके उदाहरण प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध हो चुके हैं।"

घोष जी यहां जिन कौटिल्य अर्थ शास्त्र और भास के नाटकों का उल्लेख कर रहे हैं, उनके विषय में भी घोष जी

के गुरुओं पाश्चात्य विद्वानों ने यही युक्ति दी, जो आज घोष जी पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों के विषय में दे रहे हैं। घोष जी के समान ही उनके पाश्चात्य गुरुओं ने कौटिल्य अर्थशास्त्र और भास के नाटकों को कल्पित (=जाली) सिद्ध करने में कोई प्रयत्न शेष नहीं रखा। यह तो शाम शास्त्री और गणपति शास्त्री का ही प्रयत्न था कि उन्होंने पाश्चात्यों की एक एक युक्ति का मुँहतोड़ उत्तर दिया, जिनके बल पर आज घोष जी भी इन्हें प्रामाणिक मानने को तैयार हो रहे हैं। जब कभी कोई प्राचीन ऐसा ग्रन्थ उपलब्ध हो जाता है, जो पाश्चात्य विद्वानों की अप्रामाणिक स्थापनाओं को नष्ट करने वाला होता है, उसी समय उनमें खलबली मच जाती है और वे दुराग्रहवश अपने पूर्व-कल्पित मतों में संशोधन न करके उस ग्रन्थ को ही अप्रामाणिक (जाली) सिद्ध करने के लिए प्रयत्नशील हो जाते हैं। यही दशा पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों के विषय में घोष जी की हुई है।

घोष जी ने कौटिल्य अर्थशास्त्र और भास के ग्रन्थों को इस लिए प्रामाणिक मान लिया कि उनके उद्धरण प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं। हम पूछते हैं कि व्याकरण के महाभाष्य, काशिका, न्यास, पदमञ्जरी आदि ग्रन्थों में जो शिक्षा-सूत्र हैं, वे दयानन्द को प्राप्त शिक्षा-सूत्र के हस्तलेख में प्रमाण नहीं हैं? कौटिल्य और भास के ग्रन्थों के तो कतिपय अंश ही अन्य ग्रन्थों में उद्धृत हैं, इस शिक्षा के तो आधे से अधिक सूत्र प्राचीन ग्रन्थों में उद्धृत हैं। पुनः इसे प्रमाण क्यों न माना जाय? यदि कहा जाए कि वे सूत्र पाणिनि के नाम से उद्धृत नहीं, सो भी ठीक नहीं। हम ऊपर तैत्तरीय प्रातिशाख्य के "त्रिरत्न भाष्य" का जो उद्धरण उद्धृत कर चुके हैं, उसमें पाणिनि के नाम से ही उद्धृत किया है। अतः घोष जी का यह सारा प्रयत्न निरर्थक है।

इसके आगे घोष जी लिखते हैं—

"जिस सामग्री को डा० रघुवीर ने बड़ी योग्यता से अपने लेख में संगृहीत किया है, उससे यह जाना जा सकता है कि दयानन्द शिक्षासूत्र कोई प्राचीन ग्रन्थ नहीं है। आर्य समाज के प्रकाशक वैदिक पुस्तकालय अजमेर के साम्प्रतिक सूचीपत्र को देखने से पता चलता है कि दयानन्द शिक्षासूत्र वेदाङ्ग प्रकाश १४ भागों में पहला भाग है, जिन्हें स्वामी दयानन्द ने वैदिक विद्यार्थियों के लिए संगृहीत किया है। सम्भवतः ध्यान न रहने से डा० रघुवीर ने इसका उल्लेख अपने लेख में नहीं किया। वे वेदाङ्ग प्रकाश के भाग पृथक् पृथक् भी छपे हैं। इनमें से प्रथम भाग पर 'पाणिनिकृत वर्णोच्चारणशिक्षा' लिखा है जैसा कि डा० रघुवीर ने बताया है, यह सूत्र-ग्रन्थ चन्द्रगामी के वर्णसूत्रों से मिलता है, जो ५०० ई० का बौद्ध वैयाकरण था।"

इतनी भूमिका के अनन्तर घोष जी जो बात कहना चाहते हैं, उसे हम उन्हीं के शब्दों में उपस्थित करते हैं—

"This sutra-work as has been shown by Dr. Raghu Vira resembls the Varnasutras of candragomin, the Buddhist grammarian, who flouished about 500 A.C. Considering the great influence which candragomin exercised on the grammarians of Paini's school (the Kasika and the Vakyapadiya showing traces of such influence) it is quite possible that some late grammarian re-edited and amplified the Varna sutras of candragomin and fathered this upon Panini, evidently for imparting to it a superior authority. Though there is no sufficient material to prove this we are inclined to suggest that this late grammarian waa Svami Dayanand himself who, among other things was a very close student of Sanskrit grammars as his Vedangaprakasa and the edition of panini's Astadhyayi show. But whatever may be the actual fact about the authorship of D.P.S., it is sure that the work is neither from the hands of Panini nor an old one." (Introduction page xlviii)

अर्थात्—चन्द्रगोमी के पाणिनि सम्प्रदाय पर भारी प्रभाव को देखते हुए (काशिका तथा वाक्यपदीय इस प्रभाव के संकेत रखते हैं) यह सम्भव है कि किसी परवर्त्ती वैयाकरण ने उन्हें पुनः सम्पादित तथा परिवर्धित किया और उन्हें पाणिनि के मत्थे मढ़ दिया, उन्हें श्रेष्ठ प्रमाण देने के लिए। यद्यपि यह प्रमाणित करने के लिए पूरे प्रमाण नहीं। हमें लगता है कि स्वामी दयानन्द ही स्वयं वह परवर्त्ती वैयाकरण था, जो अन्य बातों के साथ संस्कृत व्याकरण का बड़ा सूक्ष्म विद्यार्थी था, जैसा कि उसके वेदाङ्ग प्रकाश तथा पाणिनीय अष्टाध्यायी के संस्करण

ॐ

संस्कृतपठनपाठन की अनुभूत सरलतम विधि

बिना रटे ६ मास में अष्टाध्यायी पद्धति से संस्कृत का पठन पाठन

एक नवीन अद्भुत-सफल प्रयोग

लेखक

पद-वाक्य-प्रमाणज्ञ श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु
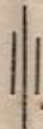
प्रकाशक

मंत्री—श्रीराम लाल कपूर ट्रस्ट

गुरु बाजार, अमृतसर

प्रथम वार १०००

माघ २०१२ वि०

दयानन्दाब्द १३०

फरवरी १९५६

मूल्य ।।।)

विषय-सूची

पाठों की भूमिका

३५ पाठ

अष्टाध्यायी का मुख्य वा आदर्श पाठ्य-क्रम

ओ३म्

प्राक्कथन

पाठों को पहिले लिखित रूप क्यों न दिया

अष्टाध्यायी पद्धति से विना रटे संस्कृत तथा उसके व्याकरण के इस पाठ्यक्रम का आरम्भ सर्वप्रथम सन् १९३९ से ४१ में हुआ। दस वर्ष के पश्चात् सन् ५१ से ५५ तक अब चार पांच वर्ष हो रहे हैं, जिसमें अनेक पठनार्थी श्रेणियों को इस पद्धति से पढ़ाया गया, और जिसमें सफलता रही। पर इन पाठों को लिखितरूप में नहीं दे रहा था, यद्यपि अनेक पठनार्थियों वा संस्कृतप्रेमी सज्जनों वा नेताओं—विद्वानों द्वारा इनको लिखितरूप देने की प्रेरणा अत्यधिक रही। मुझे स्मरण है कि स्वर्गीय श्रद्धेय पूज्य वीतराग स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज मुझे बार बार व्याकरण विषय का एक संक्षिप्त ग्रन्थ लिखने वा संग्रह कर देने की प्रबल तथा निरन्तर प्रेरणा बहुत समय तक करते रहे। पर मेरे मन में यही आता था कि कहीं यह एक अनार्ष वा अनार्षता को प्रोत्साहन देने वाला कार्य तो न होगा। मैं लिखने को उद्यत न होता था। अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करा कर ही व्याकरण पढ़ाया जा सकता है—अपनी इस बात पर दृढ़ था और ३५-४० वर्ष तक इसी पर दृढ़ रहा, और १६ वर्ष से कम आयु वालों के सम्बन्ध में अब भी दृढ़ हैं।

लिखित रूप देने का विचार कैसे उत्पन्न हुआ

जब मेरे सामने यह स्थिति (दैवी घटना ही कहना चाहिए) उत्पन्न हो गई कि प्रौढ़ (१६ वर्ष से अधिक आयु के) पठनार्थी अत्यन्त श्रद्धा और उत्साह लेकर संस्कृत तथा उसके व्याकरण को पढ़ने के लिए मेरे सामने आ उपस्थित हुए, जिनकी आयु बहुत अधिक थी और जिनके पास समय कुछ मास का ही था, अनार्ष कौमुदी आदि पढ़ना नहीं चाहते थे, रटने में लगाया जाता तो भाग जाते। संस्कृत पढ़ने का नाम कभी न लेते। मेरे मन में उनके लिये सद्भावना भी थी, उनकी उन्नति वा उनके भविष्य को उज्ज्वल देखने की प्रेरणा भी मन में होती थी, यह सब स्थिति उत्पन्न होने पर मेरे मन में बहुत गहरी वेदना उठी कि क्या ऐसे व्यक्तियों को मैं यही कहूँ कि तुम लघुकौमुदी रटकर ही संस्कृतव्याकरण का ज्ञान प्राप्त कर सकते हो, और कोई मार्ग ही नहीं !!! क्या ऐसों के लिए अष्टाध्यायी का द्वार सदा के लिए बन्द ही रहेगा ? क्या यह महामुनि पाणिनि की असफलता न होगी ? इत्यादि गम्भीर प्रश्नों ने आत्मा में अष्टाध्यायी पद्धति से विना रटे पढ़ाने की प्रबल प्रेरणा दी। इसीका परिणाम हुआ कि प्रौढ़ पठनार्थियों को बिना रटे अष्टाध्यायी पद्धति से पढ़ाने का उपक्रम चला। 'आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है' यही सिद्धान्त यहाँ सत्य सिद्ध हुआ॥

इतने वर्षों में अनेक प्रौढ़ पठनार्थि श्रेणियों के पढ़ाने का सफल प्रयोग होने पर भी, मैं अपने इन पाठों को लिखित रूप नहीं दे रहा था, इसका कारण यह था कि मेरे मन में यह एक आशंका वनी रहती थी कि कहीं इन पाठों को भी लोग रटना तो प्रारम्भ न कर देगें ? यही बड़ा भारी कारण वा विचार था, जो मेरे मन में बहुत गहरा बैठा था॥

अन्त में जब बहुत सी प्रेरणाएँ निरन्तर मिलने लगीं और पठनार्थियों तथा अष्टाध्यायी पद्धति में सच्ची निष्ठा रखनेवाले अध्यापकों की कठिनाई का प्रश्न मेरे सामने बार २ आया, तब कहीं मेरा मन अन्त में इन पाठों को (जो अभी तक मेरे भीतर ही बैठे थे) यह वर्तमान लिखितरूप देने को उद्यत हुआ।

माननीय टण्डन जी की प्रेरणा

इसकी सबसे अधिक प्रेरणा मुझे १८ अप्रैल १९५४ को मिली, जब देहली में संस्कृतप्रेमी, गृहमन्त्री, श्री माननीय काटजू जी द्वारा पाणिनि महाविद्यालय के उद्घाटन के अवसर पर सच्चे देशभक्त-त्यागी-

तपस्वी-देश के श्रद्धेय नेता माननीय टण्डन जी ने अपने सभापति भाषण में मुझे इन संस्कृत व्याकरण के पाठों को लिखित रूप देने की अति प्रबल प्रेरणा दी।

इन सब प्रेरणाओं का ही यह परिणाम है, जो ये पाठ लिखित रूप में संस्कृतप्रेमी पाठकों के सामने उपस्थित हो रहे हैं ॥

प्रारम्भ में पुस्तक रूप देने का विचार नहीं था

यह सब होने पर भी मैंने तो लेख-रूप में ही प्रकाशित करने के विचार से लिखना आरम्भ किया था। और वह भी १०-२० पृष्ठों में लिख दिया जायगा, यह सम्भावना थी। पुस्तक रूप में लिखने की न कोई सम्भावना थी, न कोई विचार था। जब लिखना आरम्भ किया, तो जिस शैली पर जितना विषय प्रौढ़ पठनार्थियों को मैं स्वयं पढ़ाता चला आ रहा था, लगभग वैसा का वैसा लिखता गया, जिसका कि यह रूप (७७ पृष्ठ) बन गया। 'वेदवाणी' में पहिले प्रति मास १ फार्म अर्थात् ८ पृष्ठ ही देने का विचार था, पर १६ पृष्ठ देना आरम्भ हुआ। यही कारण है कि इसमें पुस्तक रूप बनने में जितनी बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिए, उतना ध्यान नहीं दिया जा सका। साइज भी पुस्तक का नहीं। यह विचार था और अब भी है कि पठनार्थियों तथा इस विषय के जानकार विद्वानों द्वारा इन पाठों को पढ़ने के पश्चात् जो कठिनाइयाँ सामने आवें वा जो उचित सुझाव वे सब दें, उनपर भी उचित विचार कर आवश्यक निर्देश दिये जावें वा उन विषयों पर भी प्रकाश डाला जावे, जिससे संस्कृत वा उसके व्याकरण की यह ज्ञानधारा देश में तीव्रता से प्रवाहित होने लगे ॥

किस परिस्थिति में ये पाठ लिखे गये

पाठक यह जानकर आश्चर्य करेंगे कि वास्तव में तो ये पाठ एक साथ लिख कर प्रैस कापी बना लेनी आवश्यक थी, जिससे कि उसे पुनः पढ़कर न्यूनाधिक करली जाती—पर वेदवाणी तो प्रतिमास की २० ता० तक छपनी चाहिए। इधर मेरा हाल यह रहा कि प्रायः प्रतिमास १४ वा १५ ता० को मैं ये पाठ लिखना आरम्भ करता था, जो फुलस्केप साइज के कम से कम ३२ पृष्ठ लिखने बैठता था और पूरा होने से पहिले ही रफ की प्रतिलिपि दूसरों के द्वारा करानी पड़ती थी। स्वयं की जाती तो भी ठीक था। उधर साथ २ छपने को भेज देते थे। मैं तो स्वयं चकित हूँ कि यह मैं इतना लिख भी कैसे गया। प्रिय युधिष्ठिर मीमांसक ने वेदवाणी में पाठ निकलने की सूचना छाप दी। अब तो लिखना अनिवार्य हो गया। काशी से बाहिर जाना पड़ता था, यह भी एक भारी बाधा थी। प्रूफ भी पूरे संतोषपूर्ण ढंग से नहीं देखे जा सके—इत्यादि कारणों से छपने में कहीं कहीं २ अनवधानता से भूलें रह गईं—छूट गया, और प्रेस में मात्राएँ टूट गईं। इसमें जो तो साधारणतया प्रेस में छपने में मात्राएँ टूट गई हैं, उन्हें पाठक स्वयं ही ठीक करलें। शेष अशुद्धियों का शुद्धिपत्र, परिवर्तन तथा परिवर्धन आदि अन्त में दे दिये हैं, पाठक तदनुसार ठीक करके ही पढ़ना आरम्भ करें। अगले संस्करण में ये सब वा अन्य आवश्यक संशोधन आदि किए जासकेंगे।

ये पाठ किनकी दृष्टि से लिखे गये

सामान्यता हमने ये पाठ लगभग उसी शैली-क्रम और ढंग पर लिखे हैं, जिसके अनुसार मैं स्वयं प्रौढ़ पठनार्थियों को पढ़ाता रहा हूँ या पढ़ाता हूँ। इस शैली क्रम वा ढंग के सफल होने में कुछ भी सन्देह वा विप्रतिपत्ति नहीं। अब प्रश्न यह है कि ये ३५ पाठ किनके लिये हैं। मेरे अनुभव में दोनों तरह की बात आ चुकी है। मेरे इन पाठों को बिना किसी अध्यापक के, स्वयं ही पढ़कर पूरा समझ लेने वाले भी मेरे पास आये हैं। अभी कल (५-१-५६) की बात है कि श्री मास्टर नरोत्तमदास जी अग्रवाल—रिटायर्ड हैडमास्टर जूनियर हाईस्कूल बड़ागाँव जि० बनारस मेरे पास पहिली बार पहुँचे और कहा कि मैंने वेदवाणी

में प्रकाशित आपके ३५ पाठों को स्वयं पढ़ा है और समझा है, मुझे आगे का ढंग समझाइए। मैंने कहा कि जब तक मैं परीक्षा न कर लूँ कि आपने वे ३५ पाठ समझ लिए हैं (मुझे इन पर सन्देह था), तब तक मैं आगे आपको कैसे बताऊँ। मैं चकित रह गया, जब उन्होंने मेरे ३५ पाठ सब ठीक सुना दिये। तब मैंने इनको आगे बताया। और भी कई सज्जनों ने मुझे कहा और पत्रों द्वारा लिखा। सो विना अध्यापक के स्वयं पढ़ने वालों के लिए भी ये पाठ उपयोगी हैं। जो सज्जन काशी में कहीं अलग ठहरकर और भोजन का स्वयं प्रबन्ध करके (क्योंकि इसमें मेरी असमर्थता है) कम से कम १०-१५ दिन भी ये पाठ मेरे पास पढ़ लें, तब तो क्या ही कहना। अध्यापक को यदि अष्टाध्यायी कण्ठस्थ हो, तब तो स्वयं भी इन पाठों को पढ़कर प्रौढ़ पठनार्थियों को हमारी इस पद्धति से पढ़ा सकते हैं। पर यदि अध्यापक महानुभाव इस प्रक्रिया का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने के भाव से मेरे पास (उपर्युक्त व्यवस्था से) कम से कम १५ दिन भी लगा लें, तो उन्हें हमारी पद्धति से पढ़ाने में बहुत कुछ मार्ग मिल सकता है। आगे पत्रव्यवहार द्वारा भी कठिनाइयाँ दूर होना सम्भव है। यहाँ तो इस पद्धति से पढ़नेवाले छात्र विद्यमान ही रहते हैं, चाहे हम चाहें या न चाहें। सो ये हमारे पाठ प्रौढ़पठनार्थी तथा पढ़ाने वाले अध्यापक दोनों की दृष्टि से ही उपयोगी हैं, ऐसा समझना चाहिये। घर बैठे पढ़ने वाले भी यदि एक बार १५ दिन प्रत्यक्ष अनुभवार्थ मेरे पास आकर पढ़ लेंगे, तो पीछे पत्रव्यवहार से भी बहुत कुछ कार्य चल सकता है। यद्यपि मैं ऐसे पत्रों के उत्तर शीघ्र देने का प्रयत्न करता हूँ। पर कार्य की अधिकता से कभी२ विलम्ब हो ही जाता है। पाठकों को विदित रहे कि मैं अन्य वेदभाष्य आदि तथा आर्षग्रन्थों के पढ़ाने वा वेदवाणी के सम्पादनादि अनेक कार्यों में भी तो लगा रहता हूँ। न चाहते हुए भी बाहर कभी २ तो जाना ही पड़ता है, निजी सहायक कैसे और कहाँ तक रखूँ॥

ये सब पाठ अनुभव से ही लिखे गए हैं

पाठकों को ध्यान रहे कि संस्कृत व्याकरण पाठमाला के ये सब लेख प्रौढ़ पठनार्थियों की अनेक श्रेणियों को पढ़ाकर अर्थात् अनुभव प्राप्त करके और सफल सिद्ध होने पर ही लिखे गये हैं। केवल कल्पना मात्र से लिखे गये हों, सो बात नहीं। प्रिय पाठकों की जानकारी के लिये हम प्रौढ़ों की इन श्रेणियों का कुछ परिचय अति संक्षेप से देते हैं—

(१) सुलतानपुर (अवध) में ५ अप्रैल १९५२ से २० प्रौढ़ पठनार्थियों की श्रेणी १५ जून ५२ तक चली, जिसको आरम्भ में मैंने पढ़ाया। तत्पश्चात् वहीं जुलाई सन् ५२ से अप्रैल ५५ तक प्रतिवर्ष दशवीं, नवीं तथा छठी तीन तीन श्रेणियाँ तीन वर्ष तक चलीं, जिनमें अष्टाध्यायी पद्धति से १००-७१-६२-५५ छात्र अष्टाध्यायी पद्धति से पढ़ते रहे! इस प्रकार १० श्रेणियाँ सुलतानपुर में चलीं, लगभग २७५ छात्र पढ़े। वहीं की श्रेणियों में मुसलमान छात्र अष्टाध्यायी पढ़ते रहे।

(२) [i] अब काशी में—अगस्त ५२ से अगस्त ५३ तक-तीन श्रेणियाँ लाहौरी टोला में चलीं, जिनमें २६-१६-१६-२६ छात्र रहे। प्राचीन व्याकरण वालों की श्रेणियाँ पृथक् चलीं। वर्ष में ७ श्रेणियाँ चलीं और लगभग ८४ छात्र पढ़ते रहे।

[ii] मई-जून १९५३ में—मोतीझील शिविर में १०० छात्र आए, पर अन्त में ६० प्रौढ़ पठनार्थी ४ श्रेणियों में पढ़ते रहे।

(iii) मोतीझील में जुलाई सन् ५३ से दिसम्बर ५५ तक—२ श्रेणियाँ ५३ में, २ श्रेणियाँ ५४ में ६ श्रेणियाँ ५५ में, रहीं और लगभग ६० छात्र रहे। जिनमें १५ आगे पढ़ रहे हैं।

(iv) देहली पाणिनि विद्यालय १८ अप्रैल १९५४ से दिसम्बर १९५५ तक चला। जिनमें सत्यनारायण मन्दिर तथा जवाहर नगर में तो दो श्रेणियाँ थोड़े दिन चलीं। करौल बाग और हनुमान् रोड में लगभग १॥ वर्ष में तीन तीन श्रेणियाँ चलीं और बिरला मन्दिर में लगभग ६ मास में दो श्रेणियाँ।

देहली में इस प्रकार ७-८ श्रेणियाँ और पठनार्थियों की कुल संख्या २५०-३०० के बीच में कही जा सकती है। देहली में आरम्भ में मेरे द्वारा १ मास का समय लगा। बीच बीच में एक २ सप्ताह भी लगा।

इस प्रकार सन् ५२ से ५५ के अन्त तक लगभग २५ श्रेणियाँ मेरे द्वारा तथा १५ श्रेणियाँ अन्यों द्वारा चलीं। अन्यों द्वारा चलने में बहुत त्रुटियाँ सामने आईं, जिनका निर्देश यहाँ नहीं हो सकता।

इस प्रकार लगभग ४ वर्ष में २५ श्रेणियों को पढ़ाने के अनन्तर मैंने अपने बहुत से प्रेमियों के आग्रह से ये संस्कृत पाठमाला के लेख वेदवाणी में छापे, और अब वही पृथक् रूप में प्रकाशित किये जा रहे हैं।

हमारी इस बिना रटे अष्टाध्यायी पद्धति से पढ़ने वालों तथा इस पद्धति से पढ़ाने वाले अध्यापकों को मार्गप्रदर्शन रूप में ये लेख अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं और हो रहे हैं। सभी के सामने यह पद्धति आ जावे, इस विचार से अनेक सज्जनों के प्रेम-पूर्वक आग्रह से ये पाठ हम वेदवाणी से पृथक् भी प्रकाशित कर रहे हैं, ताकि वेदवाणी के अंक (जो अब सर्वथा समाप्त हो चुके हैं) न प्राप्त कर सकने वाले संस्कृत-प्रेमी इन पाठों से वञ्चित न रह जावें। इनका अगला संस्करण और भी परिमार्जित रूप में निकल सकेगा ऐसा हम समझते हैं। यदि वृत्ति का प्रबन्ध होने पर अध्यापकों को ट्रेनिंग दी जावे, तो बहुत कार्य हो सकता है। इसमें राज्य की सहायता की भी आवश्यकता है, जो सज्जन चाहें हमारी इस पद्धति का निरीक्षण जब और जैसे चाहें कर सकते हैं। हम तो समझते हैं, काशी में ५ वर्ष के लिये १० हजार छात्रों के भोजन का प्रबन्ध हो, तो इतने ही समय में इस पद्धति से पहिले काशी में, फिर सारे भारत में और उसके पश्चात् संसार में संस्कृत-विस्तार का एक महान् कार्य हो सकता है।

इस पद्धति के सफल प्रदर्शन

अनेक विद्वानों, विशेषकर श्री पं० गोपाल शास्त्री जी दर्शनकेसरी (जिनकी इस पद्धति पर अत्यन्त आस्था है) तथा श्री पं० केदारनाथ जी सारस्वत जैसे काशी के उच्च कोटि के विद्वानों के आग्रह और प्रेम से इस पद्धति का प्रदर्शन निम्न प्रकार अब तक हुआ, जिसे विद्वानों ने सफल बताया—

(१) श्री रामानन्द महाविद्यालय शङ्खधारा काशी में १९५१में व्याकरण-न्याय-वेदान्ताचार्य्य विद्वद्वर श्री स्वामी माधवाचार्य जी की अध्यक्षता में हुआ। इनकी प्रेरणा से काशी में पा० वि० का आरम्भ हुआ।

(२) महामहोपाध्याय विद्वत्शिरोमणि पं० गिरिधर शर्म्मा चतुर्वेदी जी के (१९५२ में उनके) निवास स्थान पर हुआ। जिससे इस कार्य को गहरी प्रेरणा मिली।

(३) पाणिनि महाविद्यालय लाहौरी टोला काशी के उद्घाटन के अवसर पर अगस्त १९५२ में।

(४) वैदिक शिरोमणि श्री पं० रामभट्ट जी के (दुर्गाघाट में उनके) गृह पर काशी के अनेक विद्वानों की उपस्थिति में।

(५) अध्यापक ट्रेनिङ्ग कैम्प सुलतानपुर (अवध) में सन् १९५२ में लगभग ५० आचार्यों शास्त्रियों की उपस्थिति में।

(६) गीता-भवन काशी में महामहोपाध्याय श्री० पं० गिरिधर शर्म्मा जी के सभापतित्व में।

(७) संस्कृतविश्वपरिषद् काशी में आये विद्वानों में से लगभग ३०-४० योग्य विद्वानों के सामने पाणिनि विद्यालय लाहौरी टोला में।

(८) पाण्डेय धर्मशाला गुदौलिया काशी में स्वर्गीय श्री पराड़कर जी (सम्पादक 'आज'), स्व० श्री पं० रामनारायण जी मिश्र, श्री डा० सूर्यकान्त जी अध्यक्ष संस्कृतविभाग हिन्दूविश्वविद्यालय काशी तथा काशी के अन्य विद्वानों के समक्ष।

(९) जून १९५३ में मोतीझील शिविर में श्रद्धेय डा० भगवान् दास जी, माननीय डा० मङ्गलदेव जी शास्त्री, भूतपूर्व प्रिंसिपल गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज बनारस आदि के समक्ष।

(१०) शिविर में काशी के कुछ विद्वानों के सामने।

(११) अ० भा० संस्कृत महासम्मेलन की कार्यकारिणी के विद्वानों के सामने आसफअली द्वारा क्लाथ मार्केट देहली में।

(१२) श्री० डा० बाबूरामजी सक्सेना, अध्यक्ष संस्कृतविभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय के समक्ष मोतीझील में।

(१३) अ० भा० संस्कृत महासम्मेलन बिरलामन्दिर देहली में भारत के सब प्रान्तों से आये उच्चकोटि के सब विद्वानों के सामने।

(१४) अध्यापक ट्रेनिङ्ग शिविर काशी (लगभग ७५ आचार्य और शास्त्री अध्यापकों के सामने) श्री० माननीय पं० कुबेर नाथ जी शुक्ल प्रिंसिपल गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज बनारस की अध्यक्षता में।

(१५) श्री माननीय शिक्षामन्त्री उत्तर प्रदेश श्री ठा० हरगोविन्द सिंह जी तथा संसद के उपाध्यक्ष श्री माननीय अनन्त शयनम् आयङ्गर जी के सामने मोती झील में।

छोटे २ प्रदर्शन तो न जाने कितने हुए और होते रहते हैं। यह सब इसलिये लिखा जा रहा है कि पाठकों को यह बात विदित रहे कि अनुभव के पश्चात् ही ये ३५ पाठ और इसके आगे का पाठ्य क्रम लिखा गया है।

सम्मति-संग्रह हमने क्यों नहीं किया, इसका कारण हमने आगे लिखा है।

हमें सफलता

हमें सफलता कहाँ तक हुई, इसमें हमारा नम्र निवेदन यही है कि मेरे द्वारा चलाई २५ श्रेणियों में तो पद्धति की पूरी सफलता हुई है। अन्यों द्वारा चलाई श्रेणियों में आधी सफलता कही जा सकती है। शेष आधी में इस पद्धति में कुछ भी त्रुटि नहीं, हाँ व्यवस्था में कुछ दोष अवश्य रहे। अब तो इस पद्धति के अध्यापक तैयार करके जहाँ तहाँ श्रेणियाँ चलाने की आवश्यकता है।

शेष पाँच मास का पाठ्यक्रम

यद्यपि हमने पाठों के अन्त में ३५ दिन के पाठों के पश्चात् शेष पाँच मास के पाठ्यक्रम का निर्देश भी अति संक्षेप से कर ही दिया है, तथापि इस विषय में जहाँ भी-कुछ प्रष्टव्य हो, पाठक पत्र द्वारा भी पूछ सकते हैं। इसमें कई एक सज्जनों का आग्रह है कि ३५ पाठों की भाँति आगे भी वेदवाणी में यह पाठ-माला ५ मास तक के पाठों को लिखकर प्रकाशित करें। अब इसमें हमारा इतना ही निवेदन है कि यदि २०० पठनार्थी इसके लिये तैय्यार हों तो हम यह भी प्रकाशित करने को तैय्यार हैं। २-४ या ५-१० के लिये इतना समय-साध्य परिश्रम उठाना कठिन प्रतीत होता है। हाँ! कभी समय मिले तो हो भी सकता है। वैसे तो हमारे निर्देश से भी बहुत कुछ काम चल सकता है॥

सम्मति संग्रह

हाँ, भिन्न २ नेताओं समाचार पत्रों वा विद्वानों की सम्मतियां जो हमें मौखिक रूप में प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती रहती हैं, उनको हम न तो प्रकाशित ही करते हैं न लिखितरूप में लेने का यत्न ही करते हैं। हम समझते हैं—कि आजकल सम्मतियाँ कुछ पक्षपात से मुँह देखी भी दी जाती हैं, या मिलती हैं। जिनके प्रभाव में आकर अयथार्थता भी प्रायः रहती है। लोग सम्मति लेने पर अपना बहुत उपकार समझकर उनसे प्रत्युकार में बहुत कुछ आशा रखने लगते हैं। इन सब कारणों से हमारी रुचि प्रायः इधर से उदासीन ही रहती है। हम तो समझते हैं, हमारा पढ़ा छात्र पठनार्थी ही हमारी इस पद्धति का सच्चा प्रमाण है। जो एक बार प्रत्यक्ष देख लेता है, सदा के लिये इस पद्धति का प्रेमी वा सच्चा भक्त बन जाता है। हम

चाहते हैं कि हमारे द्वारा पढ़ाये छात्रों प्रौढ़ पठनार्थियों को देखकर ही विद्वान् अपनी धारणा बनावें और इस पद्धति का प्रचार करें, ताकि भारत में १० वर्षों में संस्कृत का नाद बज जावे। लगभग आधे तो संस्कृत पढ़ने वाले हो जावें !!! जो असम्भव नहीं ॥

अध्यापकों का प्रशिक्षण (ट्रेनिंग)

यदि २० अध्यापक भी तैय्यार हो जावें तो मई जून ग्रीष्मावकाश में एक मास तक का समय लगा कर इसके लिये काशी में शिविर प्रतिवर्ष लगाने को तैय्यार हैं। भोजन और स्थान का प्रबन्ध उन्हें स्वयं करना होगा। इनके व्यय का प्रबन्ध उनके विद्यालयों व संस्थाओं को करना चाहिये।

इन लेखों का आर्ष पाठविधि पर प्रभाव

हमारी दृष्टि में ये पाठ प्रौढ़ पठनार्थियों के लिये हैं। १६ वर्ष से कम आयु वालों को तो हम, अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कराकर ही अष्टाध्यायी महाभाष्य ३५ वर्ष से पढ़ाते चले आरहे हैं, इस समय भी पढ़ाते हैं। हमारे इन पाठों (वा इस पद्धति) का यह भी परिणाम हुआ कि इन ३५ पाठों वा आगे के पाठों को हमारे ढंग से पढ़ कर एक नहीं अनेकों प्रौढ़ पठनार्थी, जिनकी आयु २० और ५० वर्ष के बीच है, सम्पूर्ण अष्टाध्यायी हमारे बिना कहे अपने आप कण्ठ करके व्याकरण के बहुत योग्य विद्वान बन रहे हैं, जिनको देख कर काशी के विद्वान् चकित हो रहे हैं। ऐसे अनेक पठनार्थी मेरे पास इस समय भी पढ़ रहे हैं, जो इस पाठ्य-क्रम के मर्म को ठीक ठीक समझते हैं।

आज तक २५ श्रेणियों में स्वयं पढ़ाने पर इस अष्टाध्यायी पद्धति से किसी एक पठनार्थी ने भी कोई बाधा (निजी बाधा समय आदि को छोड़कर) वा त्रुटि नहीं दर्शायी।

एक आध ध्वनि हम तक पहुँची कि आर्ष पाठविधि पर यह प्रहार है। सो इस विषय में हमारा नम्र निवेदन है कि ऐसे व्यक्ति (जी १-२ से अधिक नहीं) या तो आर्ष पाठविधि का क-ख भी नहीं जानते, विद्वान् भले ही प्रसिद्ध हों, या फिर जानते हुए भी ईर्ष्या या द्वेष वश विरुद्ध भावना से अपने स्वभाव के वशीभूत होकर ऐसा अनर्गल कथन करते हैं। "धियो यो नः प्रचोदयात्" प्रभु हम सबकी बुद्धियों को सुमार्ग में प्रेरित करें। हम इतना ही कहते हैं।

इस कार्य में ट्रस्ट का श्रेय

पाणिनि महाविद्यालय के इस पठन-पाठन तथा इन पाठों के लिखे और प्रकाशित किये जाने का (जहाँ २ पर भी यह हो रहा है) मुख्य श्रेय श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट-अमृतसर के संचालकों को है, जिनके सहयोग से ही यह सब कार्य और ये सब पाठ जनता के सामने आ रहे हैं। तदनन्तर मित्रवर श्री पं० केदारनाथ जी शर्मा प्रधानमंत्री काशी विद्वन्मण्डल, संस्कृति महासम्मेलन तथा भारतीय संस्कृतमहासम्मेलन देहली तथा काशी पण्डितसभा के अध्यक्ष मित्रवर श्री पं० गोपाल शास्त्री दर्शनकेशरी तथा काशी के कतिपय विद्वानों को है, जिनमें प्रमुख महामहोपाध्याय काशीविद्वत्शिरोमणि पं० गिरिधर शर्मा जी चतुर्वेदी हैं॥

पौष शुक्ल १३ संवत् २०१२ वि०
२६ जनवरी १९५६

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
अध्यक्ष—पाणिनि महाविद्यालय
मोतीझील बनारस ६

परिशिष्ट

सूचना—

अब हम कुछ ऐसे निर्देश और करते हैं, जिनसे पढ़ाने वाले अध्यापकों और पठनार्थियों को कई आवश्यक बातें और स्पष्ट हो जावेंगी।

(१) ❀ पृ० १४ कालम २ पंक्ति २८ से ३२ = अधिकार और अनुवृत्ति वास्तव में दोनों एक ही हैं। सुगमता की दृष्टि से हमने दो भेद मान कर समझाने का यत्न किया है। अनुवृत्ति छोटा अधिकार है, ऐसा हमने लिख भी दिया है, पृ० २० पर भी ऐसा ही समझें।

(२) पृ० १७ का० २ पं० १२-१४ = पूर्वपद प्रधान से यहाँ पूर्वपदार्थ प्रधान—उत्तरपदार्थ प्रधान आदि ही समझना चाहिये। यहाँ पद से पद का अर्थ ही लिया जाता है।

(३) पृ० १८ का० १ पं० ३२-३३ = "प्रथमा विभक्ति का अर्थ "होता है" इससे इतना समझना चाहिए कि प्रौढ़ पठनार्थीं को समझाने के लिये ऐसा कहा गया है, अर्थात् सूत्र में जहां प्रथमा विभक्ति हो, उसके आगे 'भवति' लगा लेने से संस्कृत में और 'होता है' लगा लेने से हिन्दी में अर्थ बन जाता है, यहाँ इतना ही तात्पर्य है।

(४) पृ० १८ का० २ पं० २१ = सप्तमी का अर्थ उपपद—यहां सूत्र है **"तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्"** (३।१।९२) इसका अर्थ है—**तत्र** = यहाँ से लेकर ३।४।११७ तक अर्थात् धातु के अधिकार में जो **सप्तमीस्थम्** = सप्तमी विभक्ति (अभिधेय व अर्थ को छोड़कर) वाला पद है, **उपपदम्** = उसकी उपपद संज्ञा होती है—जैसे **कर्मण्यण्** (३।२।१) में **कर्मणि** = का अर्थ है 'कर्म उपपद होने पर'। ऐसा ही आगे भी समझ लेना।

(५) पृ० २४ का० १ पं० १६-२० = पठति की सिद्धि में—**"पठ व्यक्तायां वाचि"** धातुपाठ में ऐसा पढ़ा है। धातुपाठ भी उपदेश है, अतः धातु संज्ञा करने से पहले ही 'पठ' के 'अ' की **"उपदेशेऽजनुनासिक इत्"** (१।३।२) से इत्संज्ञा कर लेनी चाहिये। पीछे धातु संज्ञा हो कर **'धातोः'** लगा लेना चाहिये।

(६) पृ० २५ का० १ पं० २७ = **तदादि** से यहाँ तात्पर्य है कि जिस धातु या प्रातिपदिक से प्रत्यय आया है, वही प्रत्यय परे रहने पर, उस से पूर्व उसी धातु या प्रातिपदिक (प्रकृति) से लेकर उस प्रत्यय तक जितना भी भाग है, वह सब तदादि कहलाता है, उतने की अङ्ग संज्ञा होती है। पठ् शप् तिप् यहाँ तिप् के परे रहने पर पठ शप् इतने भाग की अङ्ग संज्ञा होती है। यह बात भली प्रकार समझ और समझा लेने की है।

(७) पृ० ३७—प्रत्ययमाला से सामान्यतया णिजन्त, सनन्तादि प्रक्रियाओं का ग्रहण होता है। हमने यहाँ प्रत्ययों का समूह = प्रत्ययमाला, इस अर्थ में ग्रहण किया है।

(८) पृ० ५३ का० १, २ पंक्ति १ से ४ में तथा पृ० ३६ पर **प्रातिपदिकार्थ०** सूत्र की व्याख्या में जहाँ २ भी **अधिकरण** शब्द आया है, उसका मुख्य अर्थ अभिधेय या वाच्य है। समझाने की दृष्टि से उसका अर्थ हमने आश्रय (अभिधेय) ऐसा भी किया है। पूर्वापर ठीक समझ लेना चाहिये।

(९) सकर्मक धातुओं की मुख्य पहिचान—**जब कर्म हो तो सकर्मक, नहीं तो अकर्मक**, इतनी ही है। गन्तव्यं देवदत्तेन-पठितव्यं देवदत्तेन यहां भाव में प्रत्यय है। सो अकर्मक मान कर ही हो सकता है, ऐसा यहाँ समझ लेना चाहिये।

सूत्रों के अर्थ छूटे

(१०) पृ० १६ लट् शेषे च। पृ० २१ विरामोऽवसानम् (१।४।१०९); पृ० २२ अपृक्त एकाल्प्रत्ययः (१।२।४१); पृ० २४ शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम् (१।३।७८); द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने (१।४।२२) पृ० २५ झोऽन्तः (७।१।३); पृ० २६ एचोऽयवायावः (६।१।७५); पृ० २७ धात्वादेः षः सः (६।१।६२); हुश्नुवोः

❀ यह पृष्ठसंख्या सम्पूर्ण पुस्तक के अनुसार है। जिन महानुभावों के पास वेदवाणी के मासिक अङ्कों के फर्मे हों, वे पहले कृपया पूरे फर्मों पर क्रम से पृष्ठ संख्या (१ से ७७ तक) लगा लें। तभी यह संख्या ठीक बैठेगी।

सार्वधातुके (६।४।८७); पृ० २८ उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् (६।४।१०६) क्र्यादिभ्य: श्ना (३।१।८१); पूर्वोऽभ्यास: (६।१।४); कुहोश्चु: (७।४।६२); उभेऽभ्यस्तम् (६।१।५); अदभ्यस्तात् (७।१।४); पृ० ३२ अलोऽन्त्यस्य; पृ० ३४ पर आद्यन्तौ टकितौ (१।१।५४); पृ० ३६ पर २।३।४६ का पूरा अर्थ; पृ० ३९ पर संयोगान्तस्य लोप: (८।२।२३); प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् (१।२।४३); पृ० ४३ दध्नष्ठक् (४।२।२७) तथा संस्कृतं भक्षा: (४।२।१५); पृ० २३ उरण् रपर: (१।१।५०); पृ० ४५ शि सर्वनामस्थानम् (१।१।४१); पृ० ५२ सनाद्यन्ता धातव: (३।१।३२) अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (१।३।१२) = २६ अर्थात् ३२८ सूत्रों में से इन २६ सूत्रों का अर्थ प्राय: छूटा है, कहीं पूरा कहीं आंशिक। जो कहीं पर तो अभी कठिन पड़ेगा इसलिए छोड़ दिया गया है, कहीं पर सुगम होने से और कहीं असावधानता से भी छूट गया है। अत: अध्यापक और पठनार्थी इन सूत्रों के अर्थ उस दिन का पाठ ठीक २ समझ लेने पर पीछे समझा देवें और समझ लेवें। यदि कठिन प्रतीत हों, तो उनके अर्थ आगे प्रकरणों में भी समझे जा सकते हैं; क्योंकि आगे प्रकरण तथा उनकी सिद्धियां चल ही रही हैं। ये सूत्र लगते ही चलेंगे। समझें अष्टाध्यायी पर से, और पूर्वोक्त ढंग से ही। अब हम संशोधन-परिवर्त्तन-परिवर्धन आदि दर्शाते हैं—

संशोधन, परिवर्त्तन तथा परिवर्धनादि

पृष्ठ	कालम	पंक्ति	अ[illegible]पाठ	शुद्धपाठ
३	१	८	करने	कराने
३	२	२७	पढ़ने	पढ़ाने
४	१	१८	काकुदी	कौमुदी
६	२	२५	व्याकरण	नियत व्याकरण
,,	नीचे	२	इसने देहली	देहली
७	१	१७	बड़े	बड़ी
७	२	२२	संस्कृत	संस्कृत
९	१	१	यह	ये
१०	१	३७	मे	ये
११	२	२१	लिह	लिये
१४	१	१	लिट् =	लिट् = अनद्यतन
,,	,,	१६	लृङ् =	लृङ् = भूत तथा भविष्यत् में
,,	२	१६,१७	६८,६८	६९,६७
१५	१	२६	ऽनिल्वधौ	ऽनल्विधौ
१६	१	६	भी	(३।२।१११) से अनद्यतने भी
		८	भूते	भूते अनद्यतने
		२८	लिङर्थे	लिङर्थे
		२९	(३।४।११७)	(३।४।१७)
	२	५	११०	१११
		९	अशिषि	आशिषि
		२०	निमित्ते ' ' ' लङ्	निमित्ते भविष्यति लङ्
१८	२	२०	२-१	१-९२
१९	२	१	ङीप्	ङी
	२	१४	की	की एकश: = एक एक करके
२०	१	२	वह	उसका
,,	,,	१८	वाग्	वाग्, वाग्भि:, वाक्षु
२१	२	१२	औ, अम्	अम्
२३	१	१२	पारिश्रम	परिश्रम
२४	२	३१	कत्तरी	कर्त्तरि
२५	१	३०	यञ्	सार्वधातुक में यञ्
२७	१	१५	हलन्यम्	हलन्त्यम्
		२७	की उपधाइक् को	की लघु उपधा इक् तथा पुगन्त को
	२	१६	तुदति तुदत:	तुदत:
	१	५	= प्रत्यय	= असंयोगपूर्व प्रत्यय
		३४	जहोति	जुहोति
२८	२	१	को	अजादि के द्वितीय एकाच् को
	२	१३	(६।१।७४)	(६।४।८७)
३१	१	९	१०४	१२६
		१३	१०६	१०२
		१५	१०८	१०६
		१७	१३५	१३४

पृष्ठ	कालम	पंक्ति	अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ
		२८	अयनं	अनं
		३४	११०	१०७
	२	१८	उसर्गात्	उपसर्गात्
		२३	उपेलयति-उपेधते	उपेलयति
३२	१	२४	सवर्णः	सवर्णः दीर्घः
	२	८	७।२	६।२
		१५	१२५	१०९
		२५-२६	उत्...की हशि...उत्	उत् की हशि उत्
३३	१	२५	में दीर्घ	में पूर्वसवर्ण दीर्घ
	२	३२-३३	यत्रि ˙ एतु	झलि˙˙एत्
३४	१	११	५३	५४
		१८	तो अंग	तो अजन्त अङ्ग
		२४	में प्रथमा में	में एकवचनं सम्बुद्धि (२।३।४९) से संबुद्धि संज्ञा होकर प्रथमा
	२	२८	अत् परे रहने पर	अत् से परे
३४	२	३५	गच्छन्ति-गच्छन्ति गच्छन्ति	आगच्छन्ति आगच्छन्ति आगच्छन्ति
३५	१	१,२	आगच्छन्ति आगच्छन्ति	आयच्छन्ति आयच्छन्ति
		१९	६।२	५।१
	२	३२	(क्रिया...)	(कर्म वा क्रिया...
३७	१	१४	(१।१।१,२)	(३।१।१,२)
		१५	(१।४।११३)	(३।४।११३)
		३३	अनीयर	अनीयर्
	२	६	और पहली	और अजन्त धातु सब अनिट होते हैं, पर
		१९	ये प्रत्यय	ये कृत् प्रत्यय
३८	१	१५	परश्च	परश्च
		३५	उरण्परः	उरण्परः
	२	५	नयः भयः	नयः
३९	१	१५	में जो त् है वह	में वह
	२	३०	है य	है या
४०	१	१	प्रस्यक्ष	प्रत्यक्ष
	२	८	लम्बे कर्णों	लम्बौ कर्णौ
		२९	यह अधिकारसूत्र	यह परिभाषा सूत्र
४१	१	३५,३६	दारा˙˙˙दारा०	दार०˙˙दार
	२	१	(४।१।७५)आवट्याच	(४।१।८१)देवयशि०
		१९	ङीप्	ङीप्
		२१,२२	अत्र पूर्ववत् यहाँभी	अत्र यहाँ
		३०	प्रतिपदिकात्	प्रातिपदिकात्
		३५	(४।१।९१)˙˙ ४।२।१४४	(४।२।९१˙˙˙४।३।२४
		३७	७५	७४
४२	१	३	प्रातिपदिक	षष्ठीसमर्थ प्रातिपदिक
		४	भरत + अण्	भरत + अञ् (४।१।८६) से अञ्
			अण्	अण् = यहाँ(४।१।११४) से अण् होता है।
		२०	दध्ना	दध्नि
		२१	संस्कृतं	(४।२।२३) से तत्र और संस्कृतं
		२३	माथुर + अ	माथुरा + अ
	२	११	भवति =	भवति सार्वधातुके
४३	१	१४	विद्यया	विद्या + ओस् = विद्ययोः
		२४	अम्बार्थनद्य	अम्बार्थनद्योः
		२६	कुमारि	कुमारि, यहाँ(१।४।३) से नदी संज्ञा है
	२	३३	(वृद्धिरेचि ६।१।८५ से)	(आटश्च६।१।८६से
४४	१	१४	है,	है, और आप् को) ह्रस्व भी होता है
		१७	सर्वस्यै	सर्वस्यै, यहाँ (१।१।२६) से सर्वनाम संज्ञा होती है।
		२९	कुमारी +	कुमारी + आट् +
		३१	सेनान्याम्	सेनान्याम्, यहाँ ६।४।८२ से यण् होता है
	२	११	११९) इदुद्भ्याम्	११९)
		१२	डे	घेः
४५	१	११	सर्वनामः	सर्वनाम्नः
	२	३३	ङ्याब्भ्यो	ङ्याब्भ्यो
४६	१	२८	स् का	हल् का
	२	११	७।२	६।२
		१२	'एङ्' और	'एङ्' 'अति' और

पृष्ठ	का·	पंक्ति	अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ
—		१४	ङस् परे	ङस् का अत् (ह्रस्व अकार) परे
		२२	औ होकर	औ और अकार
		३५	स्त्रीवाची···	स्त्रीवाची और
		३६	स्थानी	स्थानी दीर्घ ईकारान्त ऊकारान्त
४७	१	२४	५८	५९
		३२	जस् =	जस = यहाँ ६।१।१०१ से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध होकर पूर्ववत् यण् हो जाता है।
४७	१	२	८५	८७
		९	१२	१,२
		२६	जो २०००	जो लकार २०००
		३३	सम्बन्ध में	स्थान में
४८	१	१	मत्	मस्
		२७	८३	८२
	२	१७	यहाँ (७।३।१०१) से	यहाँ (३।४।९२) से आट् और (६।१।९७) से
		१९	८५ में	८५ से
		३४	जैसे पटाव	जैसे पठानि पटाव
४९	१	११	जैसे अट्	जैसे लङ् में अट्
		३१	एध् शप्	एध् शप्
		३२	= (७।२।७९) से	यहाँ (३।४।१०७) से त् को सुट् होकर एध् + शप् + सीयुट् + सुट् + त = ७।२।७९ से सीयुट् और सुट् दोनों के।
	२	११	ति	ति, ३।४।१०७ के स् का
		१४	अत् से	अत् = अदन्त अङ्ग से परे
५०	१	३६	१२ वें	१३ वें
	२	१०	९ वें	९ वें तथा १३ वें
		१७	होकर	होकर १।१।५ से गुण का निषेध होकर
५१	१	१०	शेष का	शेष हलों का
५२	१	११	धातु से	समान कर्तृक धातु से
		३३	गुण होकर	पररूप एकादेश होकर
		३६	पुत्र प्रातिपदिक	पुत्र + अम् सुबन्त से
		३७	क्यच	क्यच्

पृष्ठ	कालम	पंक्ति	अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ
५३	१	८	पुत्र क्यच्···७।२।	पुत्र + अम् + क्यच् ७।४।
		९,१०	ईत्···ईत्	ई···ई
		११	अङ्ग के अकार	अकारान्त अङ्ग
		२२	पण्डित + क्यङ्	पण्डित + सु + क्यङ् यहाँ २।४।७१ से सुप् का लुक् होकर
		२५	यि	यि क्ङिति
		१३	पठ् ल्	पठ् ल् यहाँ ३।४।६९ से कर्म में होकर
५५	१	१९	'धातोः'	'धातोः' 'कर्त्तरि'
	२	१	आतुओं	धातुओं
५८	१	६	अष्टत्रिंशत्	अष्टात्रिंशत्
६१	१	२९	करें	करायें
६३	१	८	७५	८१
	२	३१,३२	भूते···वति	अनद्यतने भूते भवति
६५	१	१	जैसे यहाँ	जैसे क्ङिति च (१।१।५) यहाँ
		४	७०	७०, आर्धधातुके (२।४।३५)
६७	१	१८	हृदय	मस्तिष्क
६८	१	१४	१४	१४ पदस्य (८।१।१६)
		१५	३०	३०, स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९)
	२	२७	ऽद्रावाः	ऽकद्रवाः
		३३	इस प्रकार	यहाँ (१।१।५५) से ईय् स्थानिवत् (तद्धित) माना गया
		३४	शाला + ईय्	शाल् + ईय्
६९	१	२०	११०	१०९
७१	२	१७	श्लोक ७ जितने	श्लोक जितने
७३	२	१९	वर्णच्चारण	वर्णोच्चारण
७४	१	१४	६८···१८७	६७···१८६
		३६	३७ पर महारी··· महान्	हमारी···से इनके द्वारा महान्
	२	१८	७१···७१	७३···७३
७५	२	३७	(६।१।९२)	(३।१।९२)

विशेषाङ्क में छपे 'वेष्पः' सम्बन्धी लेख पर विचार

[ले०—श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु—मोतीझील बनारस,]

गत विशेषाङ्क में इस विषय में हमारा लेख छप चुका है। उस में कुछ और विचार उपस्थित करते हैं। १७१ वा १८९ हस्तलेखों के आधार पर यजुर्वेद में निःसन्देह 'वेष्पः' ही पाठ है, यह हमारा कहना है। इस विषय में कोई सज्जन और कुछ सुझाव देंगे, तो हम उनपर सहर्ष विचार करने को तय्यार हैं।

व्याकरण और कोशों के विषय में जो हमने लिखा, उस से कुछ भ्रान्ति हो सकती है, अतः हम पुनः स्पष्टार्थ लिखते हैं। कोशों में तो कहीं भी 'वेष्यः' शब्द है ही नहीं। हां 'वेष्पः' है। उणादि सूत्र (व्याकरण) में भी 'वेष्पः' ही पाठ है, 'वेष्यः' कहीं नहीं। हमारा कहना यह है पानीविषिभ्यः पः" (उ० ३।२३) में कोई कहे कि यहां 'प' के स्थान में 'य' हो सकता है, सो व्याकरण (अर्थात् उणादि सूत्रों) में 'वेष्यः' पद कहीं नहीं। इतना हमारा कहना है।

अब कोई कहे कि 'वेष्यः' शब्द सिद्ध ही नहीं हो सकता, सो बात नहीं, व्याकरण तो इतना व्यापक साधन है कि सिद्धकर ही देता है। वेषमर्हति = तदर्हति (५।१।६२) से यत् हो जायगा। या दिगादिभ्यो यत् (४।३।५४) से यत् हो जायगा और वेष्यः शब्द बन ही जायगा। सो हम पहिले भी दर्शा चुके हैं। यहां इतना और समझना चाहिए कि अष्टाध्यायी ५।१।१०० सूत्र कर्मवेषाद्यत् से काशिका सिद्धान्त कौमुदी आदि ने वेष्यः शब्द सिद्ध किया है। इसमें सन्देह नहीं। यदि इसको ठीक मान लिया जावे तो उणादि सूत्र से न सही, अष्टाध्यायी से तो 'वेष्यः' शब्द सिद्ध हो जायेगा, इसमें हमें कुछ भी विप्रतिपत्ति नहीं। यजुर्वेद के इस पाठ में तो फिर भी 'वेष्पः' ही ठीक रहेगा। क्योंकि प्रत्यय-स्वर में अन्तोदात्त होकर स्वरितो वानुदात्ते पदादौ (८।२।६) से विकल्प से स्वरित हो जायगा, स्वर ठीक हो गया, मन्त्र में स्वरित ही स्वर है। पर दुर्जनसन्तोष न्याय से यदि कर्मवेषाद्यत् (५।१।१००) में 'वेष' से यत् ही मानलें फिर भी ठीक नहीं क्योंकि यत् प्रत्यय होने पर यतोऽनावः (६।१।२०७) से आद्युदात्त स्वर की प्राप्ति होती है। चाहिये यहाँ पर अन्तस्वरित वा अन्तोदात्त, जो 'य' प्रत्यय से तो बन सकता था। पर 'य' प्रत्यय किसी से भी सिद्ध नहीं होता। इन सब कारणों से यहां यजुर्वेद में 'वेष्पः' ही पाठ शुद्ध है॥

अब रह गई यह बात कि चलो कोशों में, उणादि में नहीं, तो न सही, पर पाणिनि ने अपने अष्टाध्यायी सूत्र ५।१।१०० में 'कर्मवेषाद् यत्' (अ०५।१।१००) में वेष से वेष्य बनाया है। इसमें हमारा यह कहना है कि 'वेष्यः' यह शब्द बन जाये, हमें कोई आपत्ति नहीं। पर इसमें भी इस सूत्र में वेष पाठ है या वेश, यह बात विचारणीय है। हमारी दृष्टि में तो 'वेश' पाठ ही ठीक प्रतीत होता है। इसके लिये हम कुछ अन्य ग्रन्थकारों की साक्षी भी उपस्थित करते हैं—

(१) पुरुषोत्तम देवकृत भाषावृत्ति (५।१।१००) पृ० ३०५ में ऐसा पाठ है—

कर्मवेशाद्यत्। आभ्यां यत् स्यात् तेन सम्पाद्यर्थे कर्मण्यं शरीरम्। वेश्या स्त्री। वेश्यं वपुः॥

(२) अमरकोश—भानुजी दीक्षित टीका—पृ० २०९, (२।९९) "वेशेन नेपथ्येन शोभते। कर्मवेशाद्यत् (५।१।१००) वेशे वेश्यापरे भवे का, दिगादिभ्यो यत् (४।३।५४)......"॥

(३) अमरकोश क्षीरस्वामी टीका पृ० १०७—"वेवेष्टयङ्गं वेषः" विशति चेतसीत्येके तालव्यं शमाहुः, कर्मवेशाद्यत् (सू०) इत्यत्र तथा विचारात्"। 'तालव्यं शमाहुः' इत्यनेनात्र 'वेश्यः' इति पाठः क्षीरस्वामी मन्यते, न तु 'वेष्यः' इति सर्वथाऽपि स्पष्टमेव पश्यामः॥

(४) अमरकोश सर्वानन्द टीका प्रथमे भागे पृ० ३६०—"विशति चेत इत्येके तालव्यं शमाहुः। कर्मवेशाद्यत् (५।१।१००) इति तथा विचारात्"। ......इति क्षीर स्वामी पाठः। सर्वानन्दटीकायां तु—'नेपथ्ये गृहमात्रे च वेशो वेश्यागृहेऽपि च' इति तालव्यान्ते रभसः। तदा च "विश प्रवेशने साध्यः"॥

इस विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि कर्मवेशाद्यत् (अ० ५।१।१००) में तालव्य शकार ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। भाषावृत्तिकार और कोश के टीकाकारों के लेख से भी यही बात सिद्ध होती है। यह सब होने पर 'वेष्यः' शब्द बन ही नहीं सकता सो हम नहीं मानते। यजुर्वेद के इस स्थल में तो स्वर दोष के कारण भी इसे ठीक नहीं समझते। शेष हेतु तो हम सब दर्शा ही चुके हैं। इस प्रकार 'वेष्यः' शब्द कोश व्याकरणादि में नहीं उपलब्ध होता, ऐसा कहने में कोई आपत्ति नहीं॥

श्रीरामलाल कपूर ट्रस्ट का सस्ता और सुन्दर प्रकाशन

आर्य जगत् को यह जानकर महती प्रसन्नता होगी कि रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर ने अपना प्रकाशन कार्य कुछ वर्षों से पुनः पूर्ववत् भले प्रकार प्रारम्भ कर दिया है। निम्न पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं—

१—**सन्ध्योपासनविधि**—ऋषि दयानन्दकृत भाषार्थ, दैनिक हवन और भजनों के सहित। यह अब तक ३०५००० तीन लाख पाँच हजार छप चुकी है। घटाया हुआ मूल्य –)।

२—**व्यवहारभानु**—ऋषि दयानन्दकृत। बालकों को व्यवहार की उचित शिक्षा देनेवाला अपूर्व ग्रन्थ। यह ग्रन्थ प्रत्येक आर्य बालक-बालिकाओं के विद्यालयों में पाठ्य पुस्तक रखने योग्य है। मू० ≈)॥

३—**ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्मचरित्र**—ऋषि दयानन्द ने अमेरिका निवासी आल्काट महोदय की प्रेरणा से अपना कुछ वृत्तान्त लिखकर उन्हें भेजा था, जिसका अंग्रेजी अनुवाद उन्होंने थियोसोफिकल नामक अपने पत्र में छापा था। आर्यसमाज के उद्भट विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्तजी ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। ऋषि दयानन्द के प्रसिद्धि में आने से पूर्व की घटनाओं का यही एकमात्र प्रामाणिक लेख है। मूल्य ।≤)

४—**हवन-मन्त्र**—प्रार्थना, स्वस्तिवाचन, शान्तिप्रकरण, बृहद् हवन और भजनों से युक्त। मू० –)

५—**आर्याभिविनय**—ऋषि दयानन्दकृत (प्रथम और द्वितीय संस्करण से मिलाकर अत्यन्त शुद्ध और सुन्दर छापा गया है। संदिग्ध स्थलों पर टिप्पणियाँ दी गई हैं)। मूल्य ।≈)

६—**आर्योद्देश्यरत्नमाला**—ऋषि दयानन्दकृत। शुद्ध, सुन्दर तथा सटिप्पण संस्करण मूल्य –)

७—**पञ्चमहायज्ञविधि**—ऋषि दयानन्दकृत। " " " " " मूल्य ≈)

८—**उरुज्योति अर्थात् वैदिक अध्यात्म-सुधा**—श्री डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल लिखित। वैदिक अध्यात्म विषयक उच्चकोटि का श्रेष्ठ ग्रन्थ। कागज छपाई श्रेष्ठ और सुन्दर। सजिल्द ३) मात्र

९—**ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास**—लेखक-श्री पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक। ऋषि दयानन्द के सभी मुद्रित और अमुद्रित ग्रन्थों के विषय में पूर्ण जानकारी देनेवाला अपूर्व ग्रन्थ। प्रचारार्थ मूल्य में भारी कमी की गई है। घटाया हुआ मूल्य बढ़िया सं० सजिल्द ४), साधारण सं० अजिल्द ३) मात्र

१०—**अष्टाध्यायी मूल** (सूत्रपाठ) अत्यन्त शुद्ध पाठ ≈) डाक व्यय मूल्य ॥)

११—**ऋग्वेद-भाषाभाष्य-प्रथम भाग** (जो वेदवाणी में क्रमशः छपता रहा) मूल्य २॥)

१२—**विशेषाङ्क**—वेदवाणी के इस वर्ष का विशाल विशेषांक "पाश्चात्य-मत-परीक्षणाङ्क" है। इसमें अनेक उच्चकोटि के गवेषणात्मक वेदविषयक मौलिक लेखों का संग्रह है, जिनमें भारत के उच्चकोटि के विद्वानों द्वारा पाश्चात्य स्कालरों के सिद्धान्तों तथा विचारों की बहुत गवेषणा तथा योग्यतापूर्ण आलोचना की गयी है। मूल्य १)। गत तीन वर्षों के वेदाङ्कों का मूल्य भी घटाकर प्रति अंक १) कर दिया है।

१३—**वेदवाणी की पुरानी फाइलें**—वर्ष २ अङ्क १० मूल्य २॥), वर्ष ३ अङ्क १० मूल्य २॥), वर्ष ४ अङ्क १० मूल्य ३), वर्ष ५ वेदाङ्क सहित ४), वर्ष ६ वेदाङ्क सहित ५)। वर्ष ७ अंक ११ वेदांक सहित ४॥) ७वां अंक नहीं है। थोड़ी प्रतियाँ शेष हैं, शीघ्रता करें।

डाक व्यय सबका पृथक् होगा। बड़ा सूचीपत्र बिना मूल्य मंगवावें।

रामलाल कपूर एण्ड सन्स, पेपर मर्चेण्ट

गुरु बाजार, अमृतसर। नई सड़क, देहली। बिरहाना रोड़, कानपुर।

वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, मोतीझील बनारस ६।

[शेष पृ० २४ का]

लृकारस्य दीर्घादयो न सन्तीति स्मरणात्।
सन्ध्यक्षराणामपि ह्रस्वा न सन्तीति स्मरणात् ॥

ये दोनों वचन व्याख्याकार ने किसी ग्रन्थ से उद्धृत किए हैं, यह 'इति स्मरणात्' पद से स्पष्ट है। ये दोनों वचन पाणिनि शिक्षा-सूत्र और आपिशल शिक्षा-सूत्र में स्वल्प भेद से उपलब्ध होते हैं। घोष जी को चाहिये था कि पाणिनि शिक्षा-सूत्र का पता न देते तो न सही, आपिशल शिक्षा का संकेत तो इन वचनों के आगे अवश्य ही करना चाहिए था, क्योंकि आपिशल शिक्षा उनके ग्रन्थ के प्रकाशित होने से पूर्व मुद्रित हो चुकी थी। प्रतीत होता है उन्होंने उसको देखा ही नहीं। इसी प्रकार औद्व्रज आचार्य के अनेक वचन उद्धृत हैं, जो कातन्त्र से उद्धृत किए हैं; परन्तु घोष जी ने उन वचनों के मूलस्थान का कहीं निर्देश नहीं किया।

घोष जी ने ग्रन्थ के अन्त में चान्द्रवर्ण सूत्र छापे हैं। उसके पाठ अत्यन्त अशुद्ध हैं। उनके प्रकाशन से बहुत पूर्व सन् १९१८ में डाक्टर ब्रूनोलिविच ने चान्द्रव्याकरण के अन्त में चान्द्रवर्ण सूत्रों को प्रकाशित किया था। उनके पाठ अत्यन्त शुद्ध हैं। शुद्ध पाठ के पूर्व प्रकाशित हो जाने पर भी घोष जी ने जो अशुद्ध पाठ छापा है, उसका कारण यही प्रतीत होता है कि उन्होंने डा० ब्रूनोलिविच के पाठ को नहीं देखा।

यह है घोष जी का सम्पादकत्व और कार्यकौशल। हां, श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा के विविध पाठों और टीकाओं को एक स्थान पर पूर्वापेक्षया अधिक अच्छे रूप में प्रकाशित कर दिया, इसके लिए वे अवश्य धन्यवाद के पात्र हैं; परन्तु उनके ग्रन्थ-सम्पादन में अनेक त्रुटियां हैं, जो साधारण परिश्रम से दूर हो सकती थीं ॥

संपादक, प्रकाशक व मुद्रक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, बनारस।

ॐ

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ८] ❀ [अङ्क ६

इस अंक में पढ़िये

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

चैत्र २०१३, अप्रैल १९५६
दयानन्दाब्द १३०
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५६

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) बनारस नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
वी० पी० से ५॥)
" " विदेश में ६)
इस अंक का ॥)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास **प्रथम तिथि को** प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ।/) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। **पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥**

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल **विशेषाङ्क** के रूप में **प्रति वर्ष** प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख **'सम्पादक वेदवाणी'** के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। **विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है।** विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—**वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) बनारस नं० ६**

ऋग्वेद ओ३म् यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद अथर्ववेद

सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि ।

अथर्व० १, १, ४ ॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों !

वर्ष ८ { काशी, चैत्र सं० २०१३ वि०, अप्रैल १९५६ ई० { अङ्क ६

आर्याभिविनय से

टिप्पणिकर्त्ता—विन्ध्यवासिनी प्रसाद अनुगामी

स्तुति विषय ।

त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः स्वभूत्योजा अवसे धृषन्मनः ।
चकृषे भूमिम् प्रतिमानमोजसोऽपः स्वः परिभूरेष्या दिवम् ॥

ऋग्० १ । ४ । १४ । १२

त्वम्[1] सुख पहुँचाने वाले आप
अस्य इस
व्योमनः[2] गति के माध्यम आकाश के
पारे[3] पूरे फैलाव में
परिभूः[4] एवं शासन और पालन कर रहे हो
रजसः[5] ग्रहों (और उसके निवासियों) की

अर्थबोधक टिप्पणी

१ fr. योषति सेवते ऽसौ युष्मद्—उ० १ । १३९
२ fr. व्येञ् = संवरणे—भ्वा. to cover—आप्टे.
३ . the fullest extent : the totality of anything—आप्टे.
४ fr. परिभू = to surround : to take care of : to guide : to govern—आप्टे.
५ रजति (is attached) तत् रजः । लोकः—उ० ४ । २१७

अवसे — रक्षा के लिये अर्थात् दुःख दूर करने और सुख पहुँचाने के लिये
स्वभूत्योजा[६] — अपने ऐश्वर्य और उसके प्रयोग से
मनः[७] — (हानि पहुँचाने वालों के) बल को
धृषन्[८] — दबाते हुए
ओजसः[९] — (अपने) पराक्रम से
भूमिम् — पृथिवी को
स्वः — साधनसहित सुख को
आदिवम्[१०] — चारों ओर से प्रकाशवान् सूर्यादिकों को एवं
अपः[११] — आकाश को
प्रतिमानम्[१२] चक्रुषे — } पूर्ववत् बनाया

ऋषिव्याख्यान

हे परमैश्वर्य्यवन्[१३] परमात्मन्! *"अस्य व्योमनः पारे"* आकाश लोक[१४] के पार[१५] में तथा भीतर *"स्वभूत्योजा"* अपने ऐश्वर्य और बल से विराजमान[१६] होके *"मनः धृषन्"* दुष्टों के मन[१७] को धर्षण तिरस्कार करते हुए[१८] *"रजसः"* सब जगत् तथा विशेष[१९] हम लोगों के *"अवसे"* सम्यक् रक्षण के लिये[२०] *"त्वम्"* आप सावधान[२१] हो रहे हो। इससे हम निर्भय होके आनन्द कर रहे हैं। किञ्च[२२] *"भूमिम्"* भूमि तथा *"स्वः"* सुख विशेष मध्यस्थ लोक इन सबों को *"ओजसः"* अपने सामर्थ्य से ही *"चक्रुषे"* रचके यथावत् धारण कर रहे हो[२३]। *"परिभूः एषि"* सब पर वर्त्तमान[२४] और सबको प्राप्त हो रहे हो। *"आदिवम्"* द्योतनात्मक[२५] सूर्यादि लोक *"अपः"* अन्तरिक्ष लोक[२६] और जल इन सब के प्रतिमान (परिमाण) कर्त्ता[२७] आप ही हो, तथा आप अपरिमेय[२८] हो। कृपा करके हमको अपना तथा सृष्टि का विज्ञान[२९] दीजिये।

---

६ भूति = grandeur : superhuman power.
७ spirit : energy—आप्टे.
८ fr. धृषा = प्रागल्भ्ये—स्वा० to be determined धृष = प्रसहने—चुरा० overcoming enduring—आप्टे.
९ bodily strength—आप्टे.
१० आ = चारों ओर से
११ आप्नोति व्याप्नोति इति आपः। अन्तरिक्षम्।
१२ fr. प्रतिमा = to compare : to liken. मा = to build—आप्टे.
१३ परमैश्वर्य्यवन् = अत्यधिक सर्वविध बड़प्पन से युक्त
१४ आकाशलोक = आकाश नामक वस्तु
१५ पार = बाहिर
१६ विराजमान होकर = कार्य करने के लिये प्रेरित होकर
१७ मन को = शक्ति को
१८ धर्षण तिरस्कार करते हुए = दबाते हुए और अपने को बलवान् प्रमाणित करते हुए [तिरस्कृ = to supress : to excel]
१९ विशेष = विशेषतया
२० सम्यक् रक्षण के लिये = भलीप्रकार दुःख दूर करने और सुख पाने के लिये
२१ सावधान = सचेष्ट
२२ किञ्च = और इसके आगे
२३ धारण कर रहे हो = बश में रख रहे हो
२४ सब पर वर्त्तमान = सब स्थानों में मौजूद
२५ द्योतनात्मक = प्रकाश देने वाले
२६ अन्तरिक्ष लोक = आकाश
२७ प्रतिमानकर्त्ता = बनाने वाले
२८ अपरिमेय = असीम, सीमारहित
२९ विज्ञान = विशेष ज्ञान

पूर्व ऋषियों के मार्ग पर चल

[ले०—श्री स्वा० गङ्गागिरि जी आचार्य गुरुकुल रायकोट]

जिन ऋषियों ने आत्मा और परमात्मा का साक्षात्कार किया है, कल्याण के इच्छुक मनुष्य को उनके ही मार्ग पर चलना चाहिए, इसके लिये भगवान् की वेद में आज्ञा है।

मैतं पन्थामनुगा भीम एष येन पूर्वं नेयथ तं ब्रवीमि। तम एतत्पुरुष मा प्र पत्था भयं परस्तादभयं ते अर्वाक्॥ अथ० ८-१-१०।

एतं पन्थाम्–इस मार्ग पर, मा अनु गाः–मत चल–एषः भीमः क्योंकि यह भीम है–येन–जिस मार्ग से पूर्वम्–पहले–नेयथ–ले जाया गया। तं ब्रवीमि–उसे बताता हूँ। पुरुष–हे पुरुष, नागरिक–एतत्, तमः, इस अन्धकार को मा प्र पत्था, मत प्राप्त हो, अथवा इस अन्धकार में मत गिर–परस्तात् भयं–िछली ओर भय है अर्वाक्–इस ओर–ते अभयम्–तुझे अभय है॥

जीवन का मार्ग बहुत बीहड़ और भयावह है। इसमें बड़े-बड़े समझदार कहे और समझे जानेवाले महानुभाव भटक जाते हैं, मार्गभ्रष्ट हो जाते हैं, साधरण जनों का तो कहना ही क्या है। कः पन्थाः, मार्ग कौनसा है, यह सनातन प्रश्न है, सब कालों सब देशों में यह प्रश्न विचारकों के सामने आया है। बहुत थोड़े ऐसे भाग्यवान् हैं, जो इस प्रश्न का पूरा समाधान कर सके हैं, तदनुसार जीवनयात्रा कर सके हैं, मैतं पन्थां अनुगाः–मनुष्य मत इस राह पर चल, सभी मनुष्यों का यह अनुभव है, कठोर कर्तव्य पालन के समय उन्हें संसार का मोह विचलित कर देता है, न्यायाधीश का अपना पुत्र अपराधी के रूप में उसके सामने उपस्थित किया जाता है, अपराध प्रमाणित हो जाता है किन्तु पुत्र का प्रेम न्याय के मार्ग में आखड़ा होता है। वह न्याय नहीं करने देता, क्या यह किसी विद्वान् का कथन न्यायाधीश के ध्यान में रहा, गुरुपदिष्टेन रिपौ सुतेपि वा निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम्। कानून भंग करनेवाले को, धर्मोलंघन वाला पुत्र हो या शत्रु ,न्याय व्यवस्थानुसार अवश्य ही दण्ड का भागी है। मोह के वश होकर न्यायाधीश फिसल जाता है। वह मार्ग छोड़ जाता है। वह उस मार्ग पर चलता है जिसके लिए वेद कहता है। मैतं पन्थामनुगाः, मत इस राह पर चल। मनुष्य जीवन का लक्ष्य क्या है। क्या खाना, पीना, भोग करना बस, बहुत पुराने काल में भगवती सीता को कहा था। **भुङ्क्ष्व भोगान् यथाकामं पिब भीरु रमस्व च। वा० रा० सुन्दर-२०-२५।** रावण का कथन सीते यथेच्छ भोग भोग, खा पी और मौज कर। **पिब विहर रमस्व भुंक्ष्व भोगान्। वा० रा० सुन्दर २०-३५** पी, विहार कर, रमण कर, भोगों को भोग। किन्तु सीता देवी ने वेदों में पढ़ रखा था—मैतं पन्थामनुगाः। सीता इस मार्ग पर चलने के लिये अनेक कष्ट सहकर भी नहीं चली। रावण के प्रणय प्रलाप को उसने ठुकरा दिया। भोग भोगना मनुष्य का धर्म नहीं। क्या मनुष्य भोग में-खान पान आदि में–पशुओं की समता कर सकता है। बिलकुल नहीं, क्या हाथी बराबर कोई मनुष्य खाना खा सकता है। भोग भोगना राक्षसों का धर्म है। स्वयं रावण ने कहा है। **स्वधर्मो राक्षसां भीरु सर्वथैव न संशयः। गमनं वा परस्त्रीणां हरणं सं प्रमथ्य वा॥ वा० रा० सुन्दर-२०-५-**हे सोते धर्मभीरु, परस्त्रीगमन (व्यभिचार) भोग, परदाराहरण यह तो राक्षसों का स्वधर्म है। तो क्या हम राक्षस बनें। वेद कहता है, ना भाई। भीम एष–यह मार्ग भयङ्कर है। आजकल भी जो खाओ पीओ आनन्द उड़ाओ का उपदेश करते हैं, वे सब रावण का ही समर्थन करते हैं। राक्षस धर्म का प्रचार करते हैं। जब जीवनयात्रा के लिए मनुष्य तैयार होता है, तब उसके सामने दुराहा आता है। एक मार्ग पर सब लुभावनी सामग्री, नाच, गान, स्त्री, खान, पान आदि होता है। दूसरे मार्ग पर ऐसा कुछ नहीं दीखता है, मनुष्य साधारण मनुष्य, अपरिपक्वविवेक वाला मनुष्य, पहले मार्ग को ही अंगीकार कर लेता है। मन्दमति को संसारकी लालसाओं की पूर्ति की भावना रहती है।

यम ने नचिकेता को इस दोराहे की बात भली भांति समझाई थी। उसने कहा था—**श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्य मेतः**। कठ० १।२।२। श्रेयमार्ग प्रेयमार्ग दोनों ही मनुष्य को मिलते हैं। किन्तु **प्रेयो मन्दो योग-क्षेमाद् वृणीते। कठ०।१।२।२।** मन्दमति मूर्ख योगक्षेम के कारण—सांसारिक भोग भावना के कारण—प्रेय मार्ग को पसन्द करता है।

मूर्ख दोनों भेद नहीं जानता है, वह उनमें पहचान नहीं कर पाता है। पहचान तो धैर्य्यवान् विचारशील ही कर सकता है। **तौ सं परीत्य विविनक्ति धीरः। कठ०।१।२।२।** धीर मनुष्य ही उन दोनों-श्रेय और प्रेय मार्गों की जांच करके भेद कर सकता है। महा अज्ञानी मूढ़ ही इस प्रेय मार्ग पर चलते हैं। यम कहता है—**अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितं मन्यमानाः। दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीय-माना यथान्धाः॥ कठ०।१।२।५।** जो अविद्या में फँसे हैं, किन्तु अपने आप को ध्यानी और पण्डित मान रहे है। ऐसी दुरवस्था में ग्रस्त महामूढ़ लोग ही इस प्रेय मार्ग पर चलते हैं। वे स्वयं अन्धे हैं, और अन्धों ही के पीछे चल रहे हैं। वेद कहता है मत चल इस मार्ग पर। तुझे मैं मार्ग बताता हूँ। पहले भी इसी मार्ग पर ऋषियों को चलाया था। येन पूर्वं नेयथ तं ब्रवीमि। अन्धे यह मार्ग अन्धकार से छाया हुआ है। अन्धकार मृत्यु है। प्रकाश जीवन है। तू अन्धकार में मत पड़। भगवान् ने कहा है—तम एतत् पुरुष मा प्रपत्थाः। नगर के रहने वाले यह अन्धकार है इसमें मत गिर। नगर-वासी तो प्रकाश का अभ्यासी होता है। पुरुष की नगरी शरीर है-जो ज्योति से आवृत है। प्रकाश से ओत-प्रोत है। अन्धकार में गिरना इसके लिए लज्जास्पद है। जो परमात्मा की ज्योति से आवृत है। यदि संसार पथ प्रेयमार्गभोग पद्धति इतनी भयावह है, तो ऐसा हमें प्रतीत क्यों नहीं होता है। इस पुराने प्रश्न की मीमांसा यम ने इस प्रकार की है। **न साम्परायः प्रति भाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमा-पद्यते मे॥** कठ–१–२–५–यह सम्पराय आनी जानी दुनियां विनश्वर संसार बालक को तथा मूढ़ अज्ञानी को नहीं दिखता, प्रमादी को भी नहीं सूझता।

भर्तृहरि जी ने अपने शब्दों में कहा है उसने तो शराब पी रक्खी है, पीत्वा मोहमयीं प्रमाद-मदिरामुन्मत्तभूतं जगत्। प्रमाद की मोह की मदिरा शराब पीकर संसार पागल हो रहा है। धन के मद में मत्त भी इसको नहीं देखता है। धन का नशा बड़ा ही तीव्र होता है। इन तीनों की दृष्टि इस संसार से परे नहीं जाती है। वे इस लोक में अपने शरीर को ही सब कुछ समझ रहे हैं। अतः जन्म मरण के चक्र में फंसे रहते हैं। वेद कहता है—भयं परस्तात् अरे पीछे तो भय है। अतः इस पर मत चल। अभयं ते अर्वाक्। इस ओर अभय है। आ इधर चल॥

वेद में ऋत

[ले०—श्री लालचन्द जी मेरठ]

(१)

भगवान् के दो अटल नियम हैं—वे हैं, ऋत और सत्य। ये दोनों नियम परम तेजस्वरूप भगवान् से प्रकट हुए हैं। वेद में कहा है—

ऋतं च सत्यं च अभीद्धात्तपसो ऽध्यजायत। ऋ. १०।१९०।१

ऋत और सत्य पूर्ण तेजस्वरूप भगवान् से उत्पन्न हुए। ऋत और सत्य ये दोनों भगवान् के नियम सृष्टि की रचना तथा पालन में सहायक हैं।

अध्यात्म में ऋत है नैतिकता, सत्यन्याययुक्त सरल व्यवहार। और सत्य है वास्तविकता। ऋत का आचरण ही सत्य का आधार है। दोनों नियम एक दूसरे के पूरक हैं। सत्य को ऋत का आधार है और सदाचारी ही ऋताचारी भी होता है। जिसके जीवन में नैतिकता है वह सत्य का आचरण करता है। आध्यात्मिक जीवन में ऋत का महत्त्व है। सृष्टि नियम संयम का उपदेश करते हैं। सद्गुण धारण करना तथा ऋताचार करना एक है। दिव्यगुणों के धारण करने में दृढ़ता और स्थिरता ही संयम है। हमारा ध्येय भगवान् की अपने में तथा अन्य मनुष्यों में अनुभूति है। हमें शिव, कल्याणकारी प्रभु की सुव्यवस्था जानकर अपना जीवन सुव्यवस्थित और सुन्दर करना है। जितना हम इस ओर उन्नत होंगे, उतना ही हम भगवान् के निकट होते जायेंगे। ऋत नाम यज्ञ का भी है। भगवान् यज्ञरूप है। ऋत की पूर्णता भगवान् में ही है। ऋत से ऋत को प्राप्त होते हैं। ऋताचार सत्यन्याय का आचरण हमें सत्स्वरूप न्यायकारी दयामय प्रभु के निकट ले आता है। ऋताचार से हम प्रभु के प्रेमपात्र बन जाते हैं। इस सृष्टि नियम को जानें और जीवन सुधारें। मानव स्वयं अपने भाग्य का निर्माण करता है, जैसा जिसका आचरण होता है वैसा वह हो जाता है। आचरण विचारों के अनुकूल होता है। अतः विचारों पर तथा उनके अनुसार कर्म करने पर हमारी उन्नति निर्भर है। हम ऋत से ऋत को प्राप्त करते हैं हम ऋताचार से ऋतरूप परमेश्वर के प्रेमपात्र बन जाते हैं ऋताचार से हम भागवत प्रसाद पाते हैं। ऋताचार से मनुष्य में श्रद्धा उदय होती है। उसमें सत्य को धारण करने की क्षमता होती है। श्रद्धामयी बुद्धि की **'मेधा'** संज्ञा है।

मेधासम्पन्न मनुष्य सत्य को धारण करता है और सदा ऋत का आचरण करता है। ऐसे आचरण में निरंतर सत् ज्ञान बढ़ता है। सत् ज्ञान की वृद्धि होते होते मनुष्य "ब्रह्मवाह" हो जाता है। वेद ज्ञान को धारण करता हुआ महान् ब्रह्म का उपासक हो जाता है। ज्यों ज्यों साधक अपने साधन में उन्नत होता हुआ पवित्र होता जाता है, त्यों त्यों वह मानों ऋत को धारण करने में समर्थ हो रहा है। हमने ऋत (भगवान्) को ऋत से ही अनुभव करना है—

ऋतमृतेन सपन्तेषिरं दक्षमाशाते।

अद्रुहा देवौ वर्धेते ॥ऋ० ५। ६८। ४॥

ऋत को ऋत से प्राप्त करते हुए हम सब के प्रेरक बल को प्राप्त कर लेते हैं। परस्पर द्रोह न करने वाले दिव्य प्राण और अपान को बढ़ाते हैं।

ऋताचार से ऋत को—परम सत्य को—प्राप्त करके हम स्फूर्ति, तेज, ओज, बल, पराक्रम लाभ करते हैं। ऋताचार से प्राण शक्ति विकसित होती है। ऋताचार से अपान वायु सम्यक् रीति से शरीर में काम करता है। प्राणापान का सम्यक् कार्य मनुष्य को दीर्घायु करता है। ऋताचार से मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है। एक तो मनुष्य चिरायु होता है, दूसरे उसका अमर यश होता है। उसने मृत्यु को जीता है, जिसने अपने पीछे सुयश छोड़ा है। ऋषि दयानन्द अपने संयमी जीवन से, अपने शुद्ध व्यवहार से, अपनी सच्ची लग्न से, अपने भागवत प्रेम से और अपनी सत्यनिष्ठा से क्या आज भी जीवित नहीं हैं? ऋषि

दयानन्द ऋताचार से अमर हो गए हैं। उन्होंने मृत्यु पर विजय पाई है। सच्चे अर्थों में वह विजयी हो गए हैं। उनकी कीर्ति अमर है। सारी बढ़ती, सारी उन्नति का सार ऋताचार है। ऋताचार से मनुष्य का व्यक्तित्व प्रभावशाली होता है। उसमें प्रेरक बल आ जाता है। ऋताचार से मनुष्य सत्य ज्ञान प्राप्त करता है और सत्य ज्ञान के अनुसार निरन्तर कर्म करने से सत्यस्वरूप ऋत के प्रवर्तक परमात्मा को जान लेता है और उसका सामीप्य अनुभव करता है। ऋताचार से ऋतस्वरूप भगवान् प्रसन्न होते हैं। ऋताचारी भागवत प्रसाद पाता है। भागवत प्रसाद है दिव्य ऐश्वर्य और दिव्य शक्तियां। ऋत का स्रोत भगवान् है। ऋत को धारण करने वाला भगवान् का प्रिय होता है। ऋत को धारण करने के लिए संयम की अपेक्षा है। संयम में ही ऋत की धारणा होती है संयम में ही सत्य का साक्षात् होता है। ऋत का अंतःकरण में उदय संयम के पश्चात् होता है। संयम में ऋत होता है, ऋत में ही संयम की पूर्णता है। ऐसे ये दोनों परस्पर पूरक हैं। ध्यान धारणा और समाधि की एकता संयम है। वह ऋत के बिना संभव नहीं। स्वाध्याय, तप और ईश्वर—प्रणिधान क्रियायोग हैं। स्व-अध्ययन पहला योग है, आगे ज्ञानयुक्त सुकर्म है वही तप है, इसमें संयम अवश्य ही मनुष्य में तेज और ओज उदय करता है। ईश्वरीय जीवन ही जीवन है। समर्पण भाव से कर्तव्य करने से ईश्वर प्रणिधान सुगम है, यह सब ऋत की महिमा है। ऋताचार में ही समर्पण संभव है। ऋताचारी मनुष्य पर काम, क्रोध का वेग अपना प्रभाव नहीं डाल सकता। ऋताचार में ही मानवता का पूर्ण विकास होता है।

वेद में ऋत की महिमा कही गई है। सत्यन्याय और सत्यज्ञान के अनुकूल संयत जीवन बनाने से ही मनुष्य की जीवन चर्या ठीक चलती है। दम्भ छल कपट मिथ्याचार करते रहने से अन्तःकरण कलुषित होता है और मनुष्य अपनी मानवता तक खो देता है। ऐसे जीवनव्यवहार से मनुष्य का पतन होता है। और उसकी विवेचना शक्ति ही लोप हो जाती है। ऋताचार विना सदाचार संभव नहीं। ऋत और सत्य ही धर्म है। ऋत है न्याय नियम और सत्य है वास्तविकता यथार्थता। सदाचार में ऋत का होना अनिवार्य है। ऋत के कारण ही समाज में सुव्यवस्था स्थिर रहती है। नैतिकता ही समाज को शक्तिशाली, प्रभावशाली और ऐश्वर्यशाली बनाती है। नैतिक जीवन-व्यवहार से विश्वास बढ़ता है और विश्वास के उदय होने से ही आपस की सद्भावना स्थिर होती है। सद्भावना विश्वास पर निर्भर है और सद्भावना के बिना आपस का विश्वास स्थिर रहना संभव नहीं। आपस का सन्देह भय उत्पन्न करता है और ह्रास तथा विनाश का कारण बनता है। ऋत में धर्म के सभी लक्षण विद्यमान हैं। ऋत धारण करनेवाला व्यक्ति ऋतावान् कहा जाता है। उसमें सद्भावना होनी ही चाहिए। विश्वास सद्भावना पर अवलंबित है और विश्वास से आपस की सद्भावना दृढ़ होती है और कभी डोलती नहीं सदा स्थिर रहती है। आपस में सामंजस्य रहे तभी समन्वय, मेल और सौहार्द संभव है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये ऋत के ही अंग हैं। ये सब भी एक दूसरे के पूरक हैं। अपरिग्रह की भावना जाग्रत और क्रियान्वित हुए बिना संसार से चोरी, रिश्वतखोरी दूर न हो सकेगी। ऋत का फैला हुआ तन्तु देखना चाहिये। वेद में कहा है—

ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्र आ
जिह्वाया अग्रे वरुणस्य मायया।
धीराश्चित्तत्समिनक्षन्त
आशतात्रा कर्तमव पदात्यप्रभुः॥
ऋ० ९।७३।९।

श्रेष्ठ मनुष्य की वाणी के परमपवित्र अग्रभाग ऋत का सत्यज्ञान और धर्म का तन्तु भली प्रकार विस्तृत रहता है फैला रहता है, ऋत का सूत्र श्रेष्ठ मनुष्य की जिह्वा पर फैला रहता है। श्रेष्ठ पुरुष ऋत ही कहता है। धीर जन निश्चय से बुद्धिबल से उस न्यायाचरण सत्याचरण से परमतत्व को जान जाते हैं। विस्तृत ऋतव्यवहार से परमात्मा का अनुभव होता है। धीरजन न्याय का सम्यक् उपभोग करते हैं। धीरजन ऋताचारी होते हैं सत्य का ही व्यवहार करते हैं और संयत जीवन बनाते हैं। इस प्रकार प्रभु

के निकट होते हैं। अजितेन्द्रिय मनुष्य मनुष्य ही नहीं रहता वह असमर्थ व्यक्ति अप्रभु है। उसका अपने पर स्व अनुशासन नहीं है। ऐसी उच्छृंखल जीवनचर्या वाला व्यक्ति गढ़े में गिरता है। उसका पतन होता है। संयमी मनुष्य ही परम आनन्द प्राप्त करते हैं। असंयत व्यक्ति लाचार रहता है। और दुःखी रहता है। वह एक गढ़े से दूसरे गढ़े में एक विपत्ति से दूसरी आपत्ति में फँसता है और पछताता है

और भी कहा है—

ऋतं चिकित्व ऋतमिचिकिद्धि
ऋतस्य धारा अनुतृन्धि पूर्वीः।
नाहं यातुं सहसा न द्वयेन
ऋतं सपाम्यरुषस्य वृष्णः॥ ऋ० ५।१२।२

हे ज्ञानवन्, तू ऋत ही ऋत का ज्ञान कर और सनातन से चली आई ऋत की परंपरा का भली प्रकार खोल खोलकर रहस्य जान। मैं रोषरहित सौम्य भाव वाले ज्ञान की वर्षा करने वाले आचार्य के ऋत को, परम सत्य आचार नियम को बलपूर्वक नहीं प्राप्त कर सकता। न ही समझ सकता और न छलमय व्यवहार से दुरंगे वर्ताव से ही प्राप्त कर सकता हूँ।

आचार्य ने चरित्रनिर्माण करना है। आचार्य के पास जाकर विनयपूर्वक आदर भाव से जिज्ञासा करने से और सेवा करने से, सत्य ज्ञान, जिससे जीवन मधुर सुन्दर और सुखपूर्ण होना है, प्राप्त होगा। आजकल अनुशासनहीन और उद्दंड छात्र अध्यापकों से सत् शिक्षा प्राप्त करने में असमर्थ हैं। दोष दोनों का ही है। अध्यापक भी अपने छात्रों से पुत्रों जैसा धर्मयुक्त प्रेम व्यवहार नहीं कर रहे। सत्यज्ञान और सत्पथ का निर्देश जिज्ञासा से, विनय से और सेवा से ही प्राप्त होता है। अध्यापक अपने आपको गुरुजन तो समझते हैं, पर वैसा प्रेम नहीं करते जिससे छात्र उनका आदर सत्कार करें। परिणाम दुःखद है। छात्र उद्दंड हैं और अध्यापक निष्ठुर और कठोर हैं। ज्ञानप्राप्ति के लिए छात्रों को अभिमान और छल त्यागना होगा और अध्यापकों को पिता समान प्यार से और स्नेह से छात्रों को नैतिकता की, सत्यन्याय की शिक्षा, सदाचार और ऋताचार की शिक्षा अपने जीवन व्यवहार से देनी होगी। तभी परस्पर हित होगा। परमसत्य की प्राप्ति छात्र हठ से, दुराग्रह से और घमंड से बलपूर्वक अपने अध्यापकों से नहीं छीन सकते। ऋजु जीवनव्यवहार होने पर ही ऋत का मर्म खुलता है।

हमारी शिक्षापद्धति में परिवर्तन हो। उसमें अध्यापक और छात्रों के सौम्य व्यवहार हों। तभी सबका अभ्युदय और वास्तविक कल्याण संभव है॥

[शेष पृ० १६ का]

यह होगा कि जो पुराण वालों ने अर्थ का अनर्थ किया है सो इन आर्ष ग्रंथों से निवृत्त होकर सबके आत्मा में सत्य का प्रकाश होगा।" दृष्टान्त रीति पर महर्षि लिखते हैं कि "पौराणिक लोगों ने वृत्र, शंबर और असुर शब्द दैत्य के पर्याय मान रखे हैं, किन्तु निघण्टु में ये शब्द मेघ के पर्याय हैं। निम्नलिखित चक्र इस बात को और भी स्पष्ट करता है:—

शब्द	पौराणिक अर्थ	नैघंटुक अर्थ
अहि	सर्प	मेघ
अद्रि	पहाड़	,,
गिरि	,,	,,
पर्वत	,,	,,
अश्मा	पाषाण	,,
ग्रावा	,,	,,
शचीपति	इन्द्र राजा	वाणी, कर्म और प्रज्ञा का पालने वाला
गया	मृतकों के पिण्ड देने का स्थान	अपत्य, धन और गृह
घृताची	वेश्या	रात्रि
वराह	शूकर	मेघ
धारा	जलप्रवाह	वाणी
गौरी	महादेव की स्त्री	,,
स्वाहा	अग्नि की स्त्री	,,
स्वध	पितरों की स्त्री	अन्न
शची	इन्द्र की स्त्री	वाणी, कर्म और प्रज्ञा
विप्र	ब्राह्मण	बुद्धिमान्
श्राद्ध	मृतकों की तृप्ति का कर्म	जिस क्रिया से सत्य का ग्रहण हो

महर्षि दयानन्द को ही यह श्रेय है कि उन्होंने ह पुनः वेदों के शब्दों के प्रसंगानुसार, पूर्व और पश्चात् की संगतिपूर्वक, शब्दों के यौगिक अर्थ ग्रहण करने की परिपाटी प्रचलित की और वैदिक सूर्य जो अज्ञानियों द्वारा आच्छन्न हो गया था, उसको पुनः प्रकाशित किया॥

ईसा के स्वर्गीय-राज, और गाँधी के राम-राज्य का आदि-स्रोत "वेद"

[लेखक—श्री पं० किशोरी लाल जी एम० ए०, काव्यतीर्थ]

आप बाइबिल पढ़िये, आप स्थान-स्थान पर हज़रत मसीह को यह प्रार्थना करते पायेंगे—"हे स्वर्गीय पिता! अपना स्वर्गीय-राज्य इस शोक-संतप्त वसुन्धरा पर भेज"। एक स्थान पर तो महात्मा मसीह एक बड़ी मजेदार बात कहते हैं :—"यह कदाचित् सम्भव हो सके कि सुई के नन्हें छिद्र के मध्य से ऊँट निकल जाय, किन्तु एक धनी पुरुष का प्रवेश उनके पिता के स्वर्गीय राज्य में नहीं हो सकता"।

महात्मा गाँधी तो भारत में राम-राज्य लाने का यावज्जीवन प्रयत्न करते ही रहे। उनके अभूत-पूर्व प्रयत्नों के प्रति-फल-स्वरूप भारतीय जन-राष्ट्र की स्थापना तो हुई, किन्तु उनके "राम-राज्य" का स्वप्न उनके साथ ही चम्पत हुआ। आज तो लोग सिक्ख-राज, नागा राज, जाट-राज, ईसा-राज, और न जाने कौन-कौन से पृथक्-पृथक् राज्य स्थापित करने की स्कीमें बना रहे हैं। राम-राज्य को सब भूल गये। पाक-राज्य तो वे अपने जीवन में ही बना हुआ देख गये। लूट-खसोट, मारकाट, स्त्रियों का अपमान और और अपहरणादि के बर्बर दुष्कृत्यों के नग्न नृत्य की हृदय-विदारक कथाओं से उनके अहिंसा-प्रिय हृदय को जो तीव्र वेदना हुई होगी, उसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। हाँ, यदि कुछ दिन और जीवित रहने दिये जाते, तो कदाचित् न केवल भारतवर्ष में, अपितु विश्व भर में सुख और शान्ति का राज्य स्थापित होने में बहुत कुछ सहायक होते।

हज़रत मसीह ने "स्वर्गीय-राज्य" का उल्लेख तो यत्र तत्र किया है, पर उसकी रूप-रेखा कुछ नहीं दी। इसी प्रकार गाँधी जी का 'राम-राज्य' भी हिन्दु-मुस्लिम ऐक्य, खद्दर प्रचार, हरिजनोद्धार, नीच-ऊँच-भावना का त्याग आदि कतिपय बातों तक ही सीमित जान पड़ता है। इस लेख में वेद-मंत्रों द्वारा "स्वर्गीय-राज्य" का वास्तविक नमूना पेश किया जायगा। कितना लोक-हितकारी! कितना सार्व-भौम!! और साथ ही, कितना वैज्ञानिक!!!

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माण-मदितिं सुप्रणीतिम्। दैवीं नावं स्वरित्रामनागसम-स्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये॥ (यजुः, अ० २१, मं ६)

पदपाठः—सुत्रामाणम्। पृथिवीम्। द्याम्। अन-एहसम्। सु-शर्माणम्। अदितिम्। सु-प्रणीतिम्। दैवीम्। नावम्। सु-अरित्राम्। अन-आगसम्। अस्रवन्तीम्। आ रुहेम। सु-अस्तये।

व्याख्या—मन्त्र में (स्वस्तये) शब्द बड़े महत्त्व का, मार्के का पड़ा हुआ है—(सु + अस्ति + ए) (सु) सुन्दर, शोभन, सुख और शान्तिमय। (अस्ति) अस्तित्व, जीवन। (ए) सम्प्रदान का चिह्न, अर्थात् 'लिये' वास्ते। अतः (स्वस्तये) का अर्थ हुआ सुख और शान्तिमय जीवन बिताने के लिये। कहाँ? भव-सागर में संसार-महासागर में।

मनुष्येतर प्राणियों को केवल 'काम' से काम पड़ता है, 'अर्थ' के सञ्चय से उन्हें कोई सरोकार नहीं। वह उन्हें प्रचुर मात्रा में अपने चहुँओर पड़ा हुआ सा मिलता है। आज के सिवाय उन्हें कल की कोई चिन्ता नहीं। किन्तु मनुष्य महाशय को न केवल अपनी अपितु अपने पुत्र, प्र-पौत्र, एवं प्र-प्र-पौत्रों, सात पीढ़ियों तक की चिन्ता चैन नहीं लेने देती। अतः मनीषी मनुष्यों ने अपने जीवन को सुख और शान्ति पूर्वक बिताने के लिये चार महान् उद्देश्य निश्चित किये:—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। आहार, निद्रा, भय और मैथुनादि कार्य पशुवर्ग प्राकृतिक प्रेरणा से करता है, स्वयं-निग्रह उनके काबू की बात नहीं। किन्तु कृपालु परमेश्वर ने मानवी पुत्रों को इन सबको उचित नियंत्रण में रखने के लिये बुद्धि भी

...है न्याय नियम और सत्य है करते हैं और संयत जीवन बनाते हैं। इस प्रकार प्रभु

प्रदान की। इसी सद् असद् विवेकिनी बुद्धि को वेद की दिव्य दैवी माया में 'धी' और 'मेधा' नामों से पुकारा गया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-रूपी साधन-चतुष्टय का चुनाव भी इसी विचित्र 'मेधा' शक्ति द्वारा ही सम्भव हो सका है। इस साधन-चतुष्टय में प्रथम स्थान 'धर्म' को और अंतिम स्थान 'मोक्ष' को प्रदान किया गया है। यही मानव जीवन का लक्ष्य भी सर्व सम्मति से मान लिया गया है— अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक त्रितापों से अत्यन्त निवृत्ति।

'संसार-महासागर' के बवंडर तूफान साधारण समुद्रों के तूफानों से कहीं अधिक भयङ्कर हैं। कुटुम्ब, विविध संस्थाओं, राष्ट्र और विश्व की विभीषिकाएँ उन्हीं के नमूने मात्र हैं। यदि तृतीय युद्ध रोका न जा सका, तो ऐटम और हाईड्रोजन बमों के दुरुपयोगों द्वारा मानव समाज का सर्वनाश अवश्यम्भावी होगा। वह ईसा के "स्वर्गीय राज्य" और गाँधी के "राम-राज्य" के प्रतिकूल "शैतान-राज्य" का ताण्डव नृत्य होगा।

तब उस महा-विनाश से बचने का उपाय, कोई साधन है? हाँ, है। क्या? मंत्रोक्त दिव्य दैवी 'प्रणीति' —गांधी के राम की, ईसा के स्वर्गीय पिता की, आर्यों के वैदिक दिव्य-देव जगन्नियन्ता की शासन-प्रणाली। अच्छा उस 'प्रणीति' के कुछ गुण वर्णन कीजिए। लीजियेः—

(१) वह (**सु-त्रामाण**) है। सुन्दर है, सुखद है, रक्षक है। कैसे? सुनिये। दूर न जाइये। अपने शरीर की बनावट पर ध्यान दीजिये। पेट के अन्दर भूख की वेदना अनुभव हुई। आँख ने चहुँओर आँख पसारी। सामने सघन आम्र-वाटिका दृष्टिगत हुई। टाँगें दौड़ीं। हाथों ने जेब से पैसे निकाले, और माली के हवाले किये। आज्ञा हुई--जिस किसी वृक्ष पर चाहो चढ़ जाओ, और मन-भर खाओ। बन्दर की भाँति उछलते कूदते वृक्षपर चढ़े, और मन-माने आम चूस डाले। हाथ, पांव, और मुख ने किञ्चिन्मात्र आना कानी नहीं की। सबने अपना २ कृत्य सहर्ष सम्पादित किया, और दम के दम में भूख से त्राण मिल गया।

एक दूर का उदाहरण ले लीजिये। देखिये, वह सामने भूधराकार जीव खड़ा हुआ है। टीला जैसा शरीर, खम्भों जैसी दो टांगें, और वृक्ष के तने के सदृश दो हाथ। प्यास लगी। हाथों में उँगली नहीं। पस्सै बन नहीं सकती। पिपासा कैसे शान्त हो? विश्व-सम्राट् ने उसे एक विचित्र साधन से पहले से ही सम्पन्न कर रखा है। मूशल जैसी गोलमटोल और लम्बी नासिका दे रखी है, जो हाथ का भी बड़ी सुगमता से काम देती है। तालाब में प्रवेश किया, नाक लटकाई, सांस खींचकर पानी भरा, और झट से मुख में उण्डेल लिया। पिपासा से त्राण मिल गया। कैसी अद्भुत नाक! जो हाथ का भी काम दे, सूई तक उठा ले।

(२) वह दिव्य-दैवी-प्रणीति '**पृथिवी**' वत् बेहद विस्तृत है। "पृथु" विस्तारे। समीप से समीप और दूर से दूर किधर भी दृष्टि प्रसारित कीजिए, दिव्य दैवी-शासक का प्रशासन सुचारु रूप से संचालित हो रहा है। सूर्य, चन्द्र और तारे ग्रह और उप-ग्रह अपने अपने नियत समय पर उदय और अस्त होते दृष्टिगत होते हैं और नियमित गति से स्वे स्वे कर्मणि संलग्न हैं। वायु-देव विश्व के प्राणी मात्र को अनुप्राणित करते हैं। मेघमंडल अपने वर्षण द्वारा भगवती वसुन्धरा के सहयोग से नाना प्रकार की खाद्य सामग्री उत्पन्न करते हैं। बच्चे के उत्पन्न होने से पूर्व ही माता के स्तनों में जगन्नियन्ता की "सु प्रणीति" ही लोहित वर्ण रुधिर को श्वेत वर्ण अमृत-जैसे सुम-धुर दुग्ध में परिणत करती है। पुनः शिशु की नाभि से संलग्न "नार" की ओर ध्यान दीजिये। इसी के द्वारा माता गर्भावस्था में जो कुछ खाती पीती थी, उसका रस शिशु के अङ्ग प्रत्यङ्गों में पहुँचता था। इसी से शिशु की आँख, नाक, कान, और मुखादि के लिये विविध मसाले उपलब्ध होते थे। इस समस्त क्रिया का सञ्चालक कौन? शिशु का पिता? नहीं। माता? हरगिज नहीं। फिर कौन? जड़ प्रकृति? वह बिचारी स्वयं अन्धी और अशक्त! तब नाक, कान, आंख एवं अन्य ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को यथास्थान, सुव्यवस्थित रीति से किसने प्रस्थापित किया? यह नेत्रों की काली पुतलियों का विलक्षण मसाला किसने

और कहां से खोज निकाला ? इन समस्त प्रश्नों का एक मात्र उत्तर है—विश्व-कर्मा की विश्व-व्यापिनी 'प्रणीति' ने।

(३) (द्याम्) वह द्युति वाली है। स्वयं प्रकाश वाली है, और विश्व को भी प्रकाश देती है। अग्नि, सूर्य्य, चन्द्र और नक्षत्रादि उसी के प्रकाश से प्रकाशित हैं,। मन और बुद्धि के अन्दर भी उसी प्रकाश-पुञ्ज की चिनगारी व्याप्त है। सुना जाता है कि कैंचुए नेत्र नहीं रखते, किन्तु आगे बढ़ना, पीछे लौटना, ऊपर निकलना और पृथिवी में प्रवेश कर सकने की शक्ति उसी विश्वज्योति का अंश है॥

(४) (अन-एहसम्) वह क्रोध द्वेषादि से रहित है। वह तो शान्त, शिव और सुन्दर है। निष्पक्ष द्रष्टा है। उसकी न्याय-मयी 'प्रणीति' सतत कार्य्य करती रहती है। अथवा यों कहिये दिव्य-दैवी नियमों के अनुसार विश्व के कार्य सञ्चालित होते रहते हैं।

(५) (सु-शर्माणम्) सुन्दर शोभनशरण-प्रदायिनी, सुरक्षिका। 'शर्मा', 'वर्मा' 'गुप्त' और 'दास' शब्द नामों के आगे जुड़े प्रायः सबने सुने हैं। ब्राह्मण अपने ज्ञान द्वारा तीनों वर्णों को अज्ञान से बचाता है (शर्म) शरण। क्षत्रिय अपने को कवच द्वारा सुरक्षित रखता है, और अपने शस्त्रों के द्वारा राष्ट्र की रक्षा करता है। (वर्म) कवच। (गुप्त) तीनों वर्णों द्वारा गोपनीय है, क्योंकि उसका सुरक्षित धनधान्य भामाशाह के सञ्चित कोष के समान विपत्ति के समय आड़े हाथ आता है। (दास) दान पात्र, जिसको उसकी सुसेवाओं के बदले सबको खूब दान देना चाहिये। (दाश्) दाने।

अतः 'सु-शर्माणाम्' का अर्थ हुआ—शोभन शरणदातृ। उस विचक्षणा कारुणिका दैवी 'प्रणीति' ने विश्व के प्राणियों को (शर्म) प्रदान किया है—मनुष्य को तो 'बुद्धि' देकर सब कुछ दे दिया। हाथी को सूँड़, ऊंट को लम्बी गर्दन, शेर को तेज पंजे, सर्प को विषैले दांत, बिच्छू को डङ्क, बर्फीले मैदानों के पशुओं को लम्बे बाल, गाय भैंसों को सींग। हमको पता हो या न हो, रक्षा के साधन सबको प्रदान किये हैं। दैवी शरण-साधनों से सभी प्राणी सम्पन्न हैं।

(६) (अदितिम्) पौराणिक साहित्य में 'अदिति' देवमाता प्रसिद्ध है। सूर्य्यदेव इसीलिये 'आदित्य' अर्थात् अदिति-पुत्र कहलाते हैं। वास्तविकता यह है कि सूर्य्य समय का आदर्शपालक है। उसके टाइम-टेबुल में छुट्टी, अवकाश, आलस्य, और अकर्मण्यता की गुंजाइश नहीं। अतः ज्ञात हुआ कि जगन्नियन्ता की "प्रणीति" शासन-पद्धति में कहीं विराम नहीं, सर्वत्र अविकल रूप से प्राकृतिक कार्य सम्पन्न हो रहे हैं। समस्त देव-गण निर्निमेष-भाव से अपने दिव्य-देव की स्व-स्वकर्मणा अभ्यर्थना में संलग्न हैं।

(७) (दैवीं नावम्) इस अपार संसार-सागर को सकुशल पार करने के लिये, सुखशान्ति पूर्वक जीवन बिता सकने के लिये, विश्व-शान्ति के लिये इस दिव्य-दैवी 'प्रणीति'-रूपी नौका का आश्रय लेना, अनुसरण करना, परमावश्यक है। अन्यथा सर्वनाश अवश्यम्भावी होगा।

(८) यह दिव्य-दैवी नाव (सु-अरित्रा) है। इसमें यत्र-तत्र-सर्वत्र सुन्दर 'अरित्र' पतवार आदि खेने के साधन विद्यमान हैं। यदि उनका उचित प्रयोग किया जाय, तो भवसागर पार करना, मोक्ष प्राप्त करना, 'स्वस्ति'-लाभ करना बड़ा आसान है। अन्यथा डूबने में क्या सन्देह ?

(९) (अन-आगसम्) उसमें किसी प्रकार की (आगः) कमी, त्रुटि, ऐब नहीं पाया जाता। उसने विश्व की समस्त वस्तुओं को किसी न किसी निश्चित कार्य के लिये रचा है। उसके लिये वह पूर्ण है। इसीलिये कहा गया है—(सर्वं वै पूर्णं स्वाहा)। यह सत्य है कि विश्व का प्रत्येक पदार्थ अपने अपने कार्य्य-सम्पादन के लिये परिपूर्ण बनाया गया है।

(१०) (अस्रवन्तीम्) उसमें कहीं प्रस्रवण नहीं होता, कोई उसमें छिद्र नहीं जिससे नौका डूब जाय। उस दिव्य 'प्रणीति' शासन प्रणाली के अनुकरण में डूबने का भय नहीं। साफ़ भवसागर से पार चला जाना होता है।

... जीवन बनाते हैं। इस प्रकार प्रभु

(११) (आ-रुहेम) बेधड़क सवारी करें, निर्भयतापूर्वक सवार होलें। कल्याण ही कल्याण है। स्वयं आरूढ़ हों, और अड़ौसी पड़ौसियों को भी आरूढ़ होने की प्रेरणा करें। नहीं २, "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" की पूर्ति का भी भरसक प्रयत्न करें।

तो इस अद्भुत दैवी 'प्रणीति', शासनप्रणाली का अनुकरण करने का क्या प्रति-फल निकलेगा?

(स्वस्ति) सु-अस्ति प्राप्त होगी, सुखशान्ति-मय जीवन व्यतीत होगा। विश्व-शान्ति स्थापित होना निश्चित होगा। इसी का मन्त्र में सङ्केत है। वैदिक भावना—हे परम कारुणिक परमात्मन्! आपने कृपापूर्वक सृष्टि के आदि में ही वेदों द्वारा भवसागर पार करने की "प्रणीति" जीवन यापन करने की प्रणाली प्रदान की। स्वयं चक्षुओं द्वारा विश्व-दैवी शासन देखने और समझ सकने के लिये सदसद्विवेकिनी बुद्धि प्रदान की। किन्तु उस दैवी-दिव्य-देन 'बुद्धि' के दुरुपयोग द्वारा मानव ने दानव का रूप धारण कर लिया है। स्वयं अपने सर्वनाश के साधन भी सम्पन्न कर लिये हैं। कुशल इतनी ही है कि विश्व के वैज्ञानिकों को अपनी भूल का पता चल गया है। अब उन कराल सर्वनाश के साधनों को विश्व-कल्याण के कार्यों में प्रयुक्त करने की योजनाएँ बन रही हैं। हमारे प्रधानमंत्री पं० जवाहर लाल जी के प्रयत्न इस दिशा में प्रशंसनीय हैं। ऐसी कृपा कीजिये कि वे सफल प्रयत्न हों!

कवि दिनकर को उत्तर

सच्चा सुधारक?

[लेखक—*श्री माधव प्रसाद जी खन्ना*]

सरस्वती में प्रकाशित कवि दिनकर के एक लेख का प्रत्युत्तर

सरस्वती के अक्टूबर ५५ ई० के अंक में श्री रामधारी सिंह जी दिनकरने 'धर्म की साकार प्रतिमा परमहंस रामकृष्ण देव' शीर्षक लेख में परमहंस जी के वाक्यों को उद्धृत करके ऋषि दयानन्द, राजा राम मोहन राय श्रीमती डाक्टर एनी बेसेंट के हिन्दुत्व-रक्षा के कार्यों की तथा आर्यसमाज ब्रह्मसमाज, और थिओसोफिकल सोसायटी की तुलनात्मक व अनुचित आलोचना की है। किसी महान् पुरुष का जीवन वृतांत लिखते हुए अन्य महानात्माओं के कार्यों का तुलनात्मक हवाला देना या किसी संस्था की जानकारी के बिना उसकी कमजोरियाँ दिखलाना बहुत बड़ी भूल है। हर एक उच्च कोटि की आत्मा के कार्यों की प्रणाली भिन्न होती है। दिनकर जी "श्रीरामकृष्ण लीलामृत" से उद्धृत करते हुए अपना लेख आरम्भ करते हैं—

"स्वामी दयानन्द के पास स्वयं परमहंस राम कृष्ण गये थे। रामकृष्ण के मन पर उस भेंट का जो प्रभाव पड़ा वह इस प्रकार उन्होंने वर्णन किया है—

दयानन्द से भेंट करने गया। मुझे ऐसा दिखा कि उन्हें थोड़ी बहुत शक्ति प्राप्त हो चुकी है। उनका वक्षस्थल सदैव आरक्त दिखायी पड़ता है। वह बैखरी अवस्था में थे। रात दिन लगातार शास्त्रों की ही चर्चा किया करते थे। अपने व्याकरण-ज्ञान के बलपर उन्होंने अनेक शास्त्र वाक्यों के अर्थ में उलट फेर कर दिया है। मैं ऐसा करूँगा, मैं अपना मत स्थापित करूँगा, ऐसा कहने में उनका अहंकार दिखायी देता है।"

मैं परमहंसजी का आदर करता हूँ। अपनी इच्छा के विरुद्ध उनके वाक्यों की आलोचना कर रहा हूँ; क्योंकि दिनकर

जी ने अपने विचारों की पुष्टि में पिछली घटना का सहारा लिया है। देवेन्द्र बाबू लिखते हैं कि 'कलकत्ते में दयानन्द प्रातःकाल से दोपहर पर्यन्त आये हुए मनुष्यों से बातचीत नहीं करते थे'। तब वाक्-शक्ति का अधिक प्रयोग कहा नहीं जा सकता। रात दिन शास्त्रों की चर्चा वही कर सकता है, जो शास्त्रों का ज्ञाता हो। "राम कृष्ण बहुत कुछ अपढ़ मनुष्य थे। राम कृष्ण न तो अंग्रेजी जानते थे न संस्कृत के ही ज्ञाता थे। प्रायः अपढ़ मनुष्य थे, करीब करीब अपढ़ व्यक्ति थे।" लेखक के यह शब्द ही उद्धृत करना पर्याप्त है।

'इंडियन मिरर' कलकत्ता लिखता है कि "दयानन्द केवल सर्वशास्त्रदर्शी ही नहीं बोध होते हैं, प्रत्युत एक विलक्षण विचारशील और भूयोदर्शी व्यक्ति जान पड़ते हैं।" दयानन्द द्वारा शास्त्रों के अर्थ में उलट-फेर का आक्षेप वही कर सकता है जो संस्कृत का विद्वान् हो। परमहंसजी का यह आक्षेप उनकी अनधिकार चेष्टा कही जायगी। परमहंस जी ने भ्रम से दयानन्द के सम्बंध में जिन शब्दों का प्रयोग किया है, वे अनुदारता की श्रेणी में आ जाते हैं। स्वामी जी ने कहीं व कभी नहीं कहा कि "मैं अपना मत स्थापित करूँगा" जिससे परमहंसजी को "उनका अहंकार दिखायी देता है।" स्वामी जी तो कहते थे कि ऋषियों का बताया हुआ शास्त्रों के अनुकूल यह मार्ग है। 'इंडियन मिरर' लिखता है कि "मूर्तिपूजा के महा-वैरी दयानन्द सरस्वती कलकत्ता में आये।" परमहंसजी अंत तक काली के उपासक रहे। सम्भव है वे यह जान कर विचलित हो गये हों !

दिनकरजी के ये शब्द कि "संतों की नम्रता और निरहंकार दयानन्द में नहीं था" उनकी जानकारी का पता देते हैं। स्वामी जी की जब कोई प्रशंसा करता तब वे कहते थे कि यदि मैं कणाद, गौतम प्रभृति के समय होता तब मामूली विद्यार्थी समझा जाता। वे अपनी भूल भी स्वीकार कर लेते थे। दिनकरजी से निवेदन है कि वे जानकारी के लिये श्रीदेवेन्द्र नाथ मुखोपाध्याय, जो आर्य समाजी न थे, उनकी लिखी तथा श्रीघासीरामजी द्वारा अनुवादित "दयानन्द चरित" अवश्य पढ़ें।

दिनकरजी आगे लिखते हैं कि "हिन्दु जनता का अत्यंत विशाल भाग उनकी ओर उत्साह से नहीं दौड़ा। आर्यसमाज व ब्रह्मसमाज की जो कमजोरियाँ थीं वह रामकृष्ण को ठीक दिखायी पड़ीं। इसके सिवा इन आन्दोलनों का एक दोष और था। ऋषि दयानन्द ने उतने ही हिन्दुत्व को रक्षणीय माना जिसका आख्यान वेदों में मिलता है। सच पूछिये तो दयानन्द और राममोहन राय ने जिस हिन्दुत्व की रक्षा की वह हिन्दुत्व का एक खंड मात्र था। (ये सुधारक) धर्म वास्तव में कैसा होता है, इसका प्रमाण नहीं दे सके ❀। हिन्दुत्व का मूलाधार विद्या और ज्ञान नहीं है। सीधी अनुभूति है। हमारे दार्शनिक सत्य सोचे या समझे नहीं गये थे। धर्म-धर्म चिल्लाने से धर्म का अर्थ

❀ [स्वामी दयानन्द सरस्वती 'धर्म' किसे बतलाते हैं सो देखिये—"सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिक धर्म, जिसको सदा से सब मानते आये, मानते हैं, मानेंगे भी। इसीलिये उसको सनातन नित्य धर्म कहते हैं, कि जिसका विरोधी कोई भी न हो सके''''''" (ऋषि दयानन्द कृत सत्यार्थप्रकाश स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश)॥

(ii) "यद्यपि आजकल बहुत से विद्वान् प्रत्येक मतों में हैं, वे पक्षपात छोड़ सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् जो २ बातें सबके अनुकूल सबमें सत्य हैं, उनका ग्रहण और जो एक दूसरे से विरुद्ध बातें हैं, उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्त्तें, वर्त्तावें तो जगत् का पूर्ण हित होवे" ॥ (सत्यार्थप्रकाश भूमिका)॥

(iii) "वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम् ॥ मनु २।१२॥

वेद, स्मृति वेदानुकूल आप्तोक्त मनुस्मृत्यादि शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार जो सनातन वेद द्वारा परमेश्वरप्रतिपादित कर्म और अपने आत्मा में प्रिय''' ये चार धर्म के लक्षण'''" ॥ (सत्यार्थप्रकाश पृ० ५१)

कितना निर्दोष-उत्कृष्ट-शास्त्रसम्मत और हृदयस्पर्शी धर्म का स्वरूप बताकर दयानन्द सरस्वती ने मानव को मार्ग प्रदर्शन किया। वेदशास्त्रों से अनभिज्ञ व्यक्ति इसके महत्त्व को समझ ही कैसे सकता है। दयानन्द का आधार था आर्य जाति का प्राणभूत वेद। इस विषय में इसी दृष्टि से देखने से वास्तविकता का ज्ञान हो सकता है—सम्पादक॥]

नहीं खुलता न मोटी-मोटी पोथियां रचने से धर्म किसी की समझ में आता है। रामकृष्ण ने हिन्दुओं से कभी नहीं कहा कि तुम्हारा धर्म खतरे में है। सभी धर्म एक ही ईश्वर की ओर ले जानेवाले अनेक मार्ग हैं। परमहंसजी ने सब धर्म ग्रहण किया। जब थियोसाफी और ब्रह्म समाज सिमट कर धनियों और विद्वानों की महफिल में ही सीमित रह गई।" इत्यादि इत्यादि।

प्रशंसा के साथ साथ दिनकरजी ने जो भ्रमपूर्ण त्रुटियां दिखलाई हैं, उनका उत्तर देना अनिवार्य हो गया है। हिन्दू जनता जिस उत्साह से दयानन्द की ओर दौड़ी तथा खुलकर धन दिया इसका प्रमाण आर्यसमाज की शाखाओं उसकी अन्य संस्थाओं तथा सभासदों की संख्या से मिलता है। स्वामी जी की छाप हिन्दुत्व पर कितनी लगी, इसका पता देश के समाज-सुधार-सम्बन्धी कार्यों से लगता है। लेखक महोदय स्वयं लिखते हैं कि"'हिन्दूधर्म बहुत दिनों से रूढियों और अन्धविश्वास से जकड़ा चला आ रहा था।" इन जकड़े हुए बन्धनों को तोड़ने वाले सबसे पहले कौन थे? राजा राम मोहन राय व दयानन्द।

परमहंसजी का देहावसान १८८६ में हुआ। उनके समय तक आर्यसमाज का प्रचार बंगाल में नहीं हुआ था। तब परमहंसजी ने उसकी कमजोरियां कैसे जानीं? चारवाक के अतिरिक्त सभी शास्त्रों तथा हिन्दूधर्म की शाखाओं ने वेदों का सहारा लिया है। वेदों को छोड़ने से हिन्दुत्व की सारी इमारत धराशायी हो जायगी। इसी से दयानन्द ने मूलग्रन्थ वेदों के आधार पर हिन्दुत्व की रक्षा की। लेखक ने यदि स्वामीजी कृत वेद-भाष्य भूमिका पढ़ी होती, तब वे न लिखते कि वैदिक हिन्दू प्रवृत्ति-मार्गी थे। वेदों में तो प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों मार्गों का उल्लेख है। दयानन्द मनुके १० लक्षणों तथा वैशेषिक दर्शन के "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" से अभिज्ञ थे, जिससे धर्म की अनुभूति होती है। अनुभूति भी ज्ञान से होती है। भगवान् बुद्धको भी ज्ञान द्वारा अनुभूति हुई थी न कि केवल तपसे। दिनकर जी स्वामी विवेकानन्द जी की जीवनी से परिचित हैं। उन्होंने भी दर्शन शास्त्रों का सहारा लेकर देश व विदेश (अमेरिका) में भ्रमण कर तथा मोटी-मोटी पुस्तकें रचकर धर्म का प्रचार किया। "स्वामी रामकृष्ण ने जान लिया था कि सम्पूर्ण विश्व में एक प्रकार की धार्मिक एकता का भाव जगाना ही चाहिये स्वामी विवेकानन्द के सामने सबसे बड़ा काम धर्म की पुनः स्थापना था।"

लेखक ने स्वामी विवेकानन्द के प्रचार कार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। जब उसी तरह दूसरे महानुभावों ने प्रचार किया, तब धर्म-धर्म चिल्लाना क्यों कहा जाय? धर्म के खतरे के सम्बन्ध में शायद परमहंस जी, अन्य धर्मावलम्बियों की संख्या बढ़ाने के तरीकों से अनभिज्ञ थे, जिन्होंने बीसवीं शताब्दी में पाकिस्तान स्थापित कराकर भारत में घोर अत्याचार कराये। दयानन्द दूरदर्शी, भविष्यज्ञाता तथा युग-धर्म-द्रष्टा थे। इसी से उन्होंने ईसाई-मुसल्मानों के आक्षेपों के उत्तर में खंडन-मंडन की प्रणाली अपनायी। संत कबीर ने भी कम खंडन नहीं किया है। तब लेखक का यह लिखना कि "संतों की नम्रता और निरहंकार दयानन्द में नहीं था" अनुचित है। परमहंस जी सब धर्मों की सत्यता मानते हुए भी काली से उत्तर मिलने पर ही सब कार्य करते थे—यानी काली पर ही निर्भर थे। दयानन्द ने किसी देवी या देवता से पूछकर व अपने कार्य की जिम्मेदारी उनपर डालकर कार्य करना नहीं सिखलाया। उन्होंने आत्म-निर्भरता बताई; क्योंकि मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है॥ (लेखक महोदय थिआसोफी के कार्यों को "महफिल में ही सीमित" करते हैं। १८७९ ई० के अन्त में थिआसोफीकल सोसायटी का कार्य भारत में आरम्भ हुआ। वह धीरे-धीरे लोगों को आकर्षित कर रही है। आज उसकी ५०० शाखाएँ तथा सब श्रेणी के सात हजार से अधिक सभासद भारत में हैं। भारत के बाहर ५२ देशों में उसकी शाखाएँ हैं। वह अनेक उपकारी संस्थाओं का संचालन कर रही है। आज संसार में उसके विचार आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। "महफिल में सीमित" लिखना विडम्बना मात्र है) अन्त में दिनकर जी से निवेदन है कि जीवन वृत्तांत-सम्बंधी अपने लेखों में उदार विचार रखा करें॥
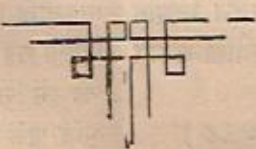
अथर्ववेद और सोम यज्ञ

[लेखक—श्री पण्डित हरिदत्त शर्मा, शास्त्री, एम० ए०
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग डी० ए० वी० कालेज, कानपुर]

वेदानुयायियों के लिये अब तक वेद का परम लक्ष्य यज्ञ रहा है। ज्ञान, कर्म, उपासना नाम के ३ काण्डों को भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों के लिये क्रम से बाँट दिया गया है। क्योंकि इनकी दृष्टि में शूद्रों का कोई स्थान नहीं था। किन्तु जब ऋग्वेद के ऋषि कवष ऐलूष पर दृष्टि गई, तो मालूम पड़ा कि शूद्र भी मन्त्रद्रष्टा हो गये हैं। ऋग, यजुः साम - ये मंत्रों की ३ श्रेणियाँ हैं, जिनके कारण 'त्रयीविद्या' 'वेदत्रयी' की प्रसिद्धि हुई और वस्तुतः यह बात ऐसी नहीं है। अथर्ववेद भी अन्य वेदों के समान एक वेद है। और उसके वेदत्व सिद्ध करने के लिये अधोलिखित विचार संक्षेप में उपस्थित किये जाते हैं, यह विषय बड़ा विस्तृत है, अतः इस पर पुनः सविस्तर विचार किया जायगा।

परस्पर सम्बद्ध अर्थों के ज्ञापक होने के कारण तीनों वेद तो प्रमाण माने जा सकते हैं; क्योंकि इनकी सिद्धि अनुमान द्वारा की जा सकती है, परन्तु अथर्ववेद तो वेदत्रयी में नहीं आता। अतः इसका प्रमाण मानना कठिन है। यद्यपि—प्रमाणान्तरानपेक्षत्व रूप प्रामाण्य अथर्ववेद का कहा जा सकता है, पर वह भी ठीक नहीं; क्योंकि भिन्न-भिन्न शाखाओं में ज्योतिष्टोमादि यज्ञों का विधान किया गया है। उनमें जो होतृ, अध्वर्यु आदि के कर्म हैं उनका निर्देश जैसा वेदत्रयी में किया है वैसा अथर्व वेद में नहीं किया गया। अतः उतने अंश में जो प्रमाण वेदत्रयी को है वह अथर्ववेद को प्राप्त नहीं। संसार में यह भी प्रसिद्धि है कि:—

"आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती"

अर्थात्—यदि ये चार विद्यायें जान ले 'तो संसार के सब काम चल जायें', वे हैं १—दर्शन शास्त्र २—तीन वेद ३—लोक व्यवहार अर्थशास्त्र और ४—राजनीति। इस लोक प्रसिद्धि का ब्राह्मण तथा स्मृतियाँ भी अनुमोदन करती हैं।

"ऋग्भिः प्रातर्दिवि देव ईयते, यजुर्वेदेन तिष्ठति मध्ये अह्नः सामवेदेनास्तमेति वेदैरशून्यैस्त्रिभिरेति सूर्यः"। इति ॥

(तैत्तिरीयब्राह्मण अन्तिम प्रपाठक अनु० १८)

इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण के ११ वें काण्ड के चतुर्थ प्रपाठक में, ११ वें ब्राह्मण में यह वाक्य आता है—

"प्रजापतिरकामयत बहु स्यां प्रजायेय। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वेमाँस्त्रीन् लोकानसृजत पृथिवीमन्तरिक्षं दिवमिति, तान् लोकानभ्यतपत्—तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि ज्योतींषि अजायन्त, अग्निरेव पृथिव्याः अजायत वायुरन्तरिक्षाद्दिव आदित्य इति तानि ज्योतींषि अभ्यतपत्, तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त अग्नेर्ऋग्वेदः, वायोर्यजुर्वेदः, आदित्यात् सामवेद इति।"

इसी प्रकार—

सैषा विद्यात्रयी तपतीति

(नारायणोपनिषत् १४ अध्याय)

मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय के १४५ वें श्लोक में तीन वेदों के अध्ययन में ३६ वर्ष व्यतीत करे अर्थात्—१२-१२ वर्ष में एक-एक वेद पूरा करे—यह लिखा है। :—

"षट् त्रिंशद् वार्षिकं चर्यं गुरौ त्रैविद्यकं व्रतम्।"

मनु ने श्राद्ध प्रकरण में भी निम्नलिखित पद्य में—

"यत्नेन भोजयेच्छ्राद्धे बह्वृचं वेदपारगम्।
शाखान्तगमथाध्वर्युं छन्दोगं वा समाप्तिकम्॥"

इस प्रकार यहाँ—तीन वेदों का जिक्र किया है। अथर्ववेद का नहीं बल्कि "तस्मादाथर्वणं न प्रवृञ्ज्यात्" इस वाक्य से अथर्ववेदी का पापमोचन नहीं होता—ऐसा वाक्य आता है। इस पूर्वपक्ष का समाधान कोई इस प्रकार करते हैं कि यदि अथर्ववेद यज्ञोपयोगी नहीं है, तो न सही पर अन्य विषयों में इसके प्रामाण्य को कौन हटा सकता है। सच पूछो तो बात भी यही है। जितने भी आचार्य हुये वे सब वेदों को यज्ञपरक ही मानते रहे हैं तथा अथर्ववेद में तद्भिन्न ज्ञान का प्रतिपादन था। बस याज्ञिक बुद्धि वाले आचार्यों ने इसकी उपेक्षा कर दी तथा अक्षपाद

मुनि ने जो प्रामाण्य माना है उसे कौन निषेध कर सकता है ? तथा जैसे मीमांसकों के मत में त्रयी का कोई कर्त्ता नहीं, वैसे ही अथर्ववेद का भी कोई कर्त्ता नहीं है। अतः प्रामाण्य-साधक प्रमाण और युक्ति में सादृश्य होने के कारण अथर्ववेद का प्रामाण्य निर्विवाद है। तथा जैसे अन्य वेदों के मंत्र या मन्त्रांश अथर्ववेद में उपलब्ध होते हैं, वैसे ही अन्य वेदों में इसके उपलब्ध होते हैं।

यजुर्वेद के व्याख्यानभूत शतपथ ब्राह्मण में १३, प्रपाठक ३, कारिका ३ में अश्वमेध के प्रकरण में पारिप्लव-व्याख्यान में—

"सोऽयमथर्वणो वेदः" यह वाक्य आता है जिसका स्पष्ट अर्थ है—यह अंश यजुर्वेद में अथर्ववेद से लिया गया है। तथा छान्दोग्योपनिषद् में, ७ प्रपाठक छठे खण्ड में "ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थः"—यह पाठ आता है। अतः अथर्ववेद भी चौथा वेद है ! हाँ, यह कहा जा सकता है कि वहाँ तो "इतिहासपुराणाः पञ्चमो वेदः" "यह भी लिखा है अतः पुराण भी पांचवाँ वेद क्यों न माना जाय, तो इसका उत्तर यह है कि केवल 'चतुर्थ' शब्द के आ जाने से यदि अथर्ववेद के वेदत्व में गौणता आ जाय तो यहीं "त्रयो वेदा असृज्यन्त"—यह वाक्य भी आता है। अतः तीनों वेदों की भी वदता गौण हो जायगी। यदि इतिहासादिकों के साथ पाठ होने से अथर्ववेद गौण वेद है, तो तीनों वेदों की भी इस आपत्ति से मुक्ति न होगी। इतना ही नहीं किन्तु ब्रह्मा के ब्रह्मत्व की पूर्ति बिना अथर्ववेद के नहीं हो सकती। अत एव "ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्"[०] इत्यादि ऋग्वेद के मंत्र में अथर्ववेद के महत्त्व का ऋग्वेद ने स्वयं प्रतिपादन किया है। इस विषय में सविस्तर पुनः लिखा जायगा।

सोमयज्ञ

यह एक बहुत बड़ा यज्ञ है। इसके बिना किये ब्राह्मण को ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता। इन्द्र पूर्व का, यम दक्षिण का, वरुण पश्चिम का और सोम उत्तर दिशा का स्वामी हो, क्योंकि यह यज्ञ सोमवल्ली से ही सम्बन्ध रखता है, और सोमवल्ली उत्तर दिशा में ही हिमालय पर उत्पन्न होती है; जहाँ पर कि शिव जी मुञ्जवान पर्वत पर निवास करते हैं। वहाँ पर इसकी लता अधिक पाई जाती है। इस लता की पहचान इतनी है कि इसमें १६ पत्ते होते हैं, जो चन्द्रमा की कलाओं के साथ २ घटते बढ़ते हैं। इन्हीं लक्षणों से सोमलता पहचानी जाती है। आज कल के चाय के व्यसनी चाय को ही सोम के नाम से पुकारते हैं। ईरान में सोम को होमा कहते हैं। मार्टिन हाग नामक पाश्चात्य विद्वान् ने ऐतरेय ब्राह्मण और इसका अंग्रेजी में अनुवाद निकाला है। उन्होंने पारसियों के होमा को चखा भी है। इस सोमरस की कथा की थोड़ी-सी झलक प्रेमचन्द ने अपने लेख में दी है और यह सिद्ध किया है कि सोम यज्ञ करते समय सोम बेचने वाले यज्ञशाला से बाहर आकर खड़े हो जाते थे। सोमयाग एक इष्टि है, जो घर के बाहर मैदान में की जाती है। इसके लिये जो यज्ञशाला बनती थी, उसे प्राग्वंशशाला कहते थे। पश्चिम के मण्डप का नाम सदः शाला और बीच के मण्डप का नाम हविर्धान होता था। वेदी के दोनों ओर दो छोटे मण्डप होते थे, जिन्हें 'आग्नीध्रीय' और 'मार्जालीय' कहते थे। जहाँ पर अग्नि स्थिर रूप से रक्खी जाती थी, उस जगह का नाम 'धिष्ण्य' होता था। 'धिष्ण्य' के पास बैठ कर ऋत्विग् गण सोमयाग के मंत्र पढ़ते थे। बीच में गूलर का एक खूटा गाड़ा जाता था। उद्गाता और उसके साथी उसे छूते थे और सामगान करते थे। पास ही में पशु-याग के लिये एक वेदी बनती थी। जहाँ 'चात्वार उत्कर' और 'शामित्र' नामक वेदियाँ बनाई जाती थीं। सोमयाग में १६ ऋत्विजों की आवश्यकता होती थी। जिनमें 'अध्वर्यु' होता[२], ब्रह्मा[३] और आग्नीध्र[४] तो होते ही थे, इनके अतिरिक्त अध्वर्यु का सहकारी प्रतिप्रस्थाता[५] होता था। सहकारी मैत्रावरुण[६] भी होता था। दो और भी होता के सहकारी होते थे जिनका नाम ब्राह्मणाच्छंसी[७] और अच्छावाक[८] होता था। इतना ध्यान रखना चाहिये कि इष्टियाग और पशु-याग में सामगान नहीं होता, पर सोमयाग में बिना गान काम नहीं चलता। उद्गाता[९] को प्रस्तोता[१०] और प्रतिहर्ता[११] नाम के २ सहकारियों की आवश्यकता पड़ती थी। इनके अतिरिक्त ५ और व्यक्ति लिये जाते थे। इस प्रकार कुल १६ ऋत्विक् होते थे। इतना ही नहीं इनके अतिरिक्त १० चमसाध्वर्यु भी होते थे, जो ऋत्विक् नहीं माने जाते, पर सोमयाग में सहायता करते थे। यह सोमयाग बिना 'अग्निष्टोम-यज्ञ' के किये नहीं किया जा सकता। इसीलिये अग्निष्टोम के एक दिन में समाप्त होने के नियम होने पर भी उसे यथाविधि करने में ५ दिन लगते थे। जिनका विवरण किसी अन्य अङ्क में पढ़िये ॥

आर्य्यो ! वेदों के अर्थों का अनर्थ करने वालों के विरुद्ध तीव्र आन्दोलन करो

[लेखक—श्री देशभक्त चंद्रानंद वानप्रस्थी, जी अजमेर]

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् ।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥

(अथर्व०)

अर्थात् हे मनुष्यो ? लोगों को उत्तम प्रेरणा देनेवाली, द्विजों को पवित्र करनेवाली, उत्तम पदार्थ दिलानेवाली, वेद माता (ज्ञान) का मैंने उपदेश किया है। अब आयुः प्राण, संतान, पशु, कीर्ति, धन, ब्रह्म, तेज मुझे समर्पित कर मुक्ति प्राप्त करो।

परमेश्वर की वेदवाणी से हम सदा संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों। परमात्मा की वाणी वेद की महिमा अपार है, सृष्टि उत्पत्ति से लेकर आज पर्यन्त न जाने कितने महर्षियों ने इसका मनन, निदिध्यासन तथा साक्षात्कार करने का प्रयत्न किया और अपनी अपनी साधना के अनुसार ज्ञान प्राप्त कर अपना एवं विश्व का उपकार किया, इसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता। वेदों का व्याख्या-सम्बन्धी कितना साहित्य समय के प्रवाह में लोप हो गया, यह भी अधिकतर अज्ञात है। इतना होने पर भी आर्य जगत् के विश्वासानुसार चारों वेद याथातथ्य रूप में उपलब्ध हो रहे हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वतीजी महाराज ने वेदों के शुद्ध ज्ञान को पुनः अपने शुद्ध स्वरूप में उपस्थित कर मानव समाज का जो कल्याण किया, वह वर्णनातीत है। महर्षि ने बतलाया कि आर्य जाति का प्राण वेद है, वह अपौरुषेय है, वह परमात्मा की वाणी है, इसमें अशुद्धता, मिथ्या, तर्क-विहीन बातें नहीं हो सकतीं, वह पूर्ण ज्ञान वाले हैं, वेद ही हमारी आर्य संस्कृति का आधार है, यहाँ तक कि उन्होंने आर्यसमाज का नियम यह बना दिया कि "वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है वेद का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है" अतः प्रत्येक आर्य का परम धर्म है कि वह वेदों का स्वाध्याय करे।

महर्षि दयानन्द स्वयं लिखते हैं कि वेदों की इतनी शाखायें थी, इतने ब्राह्मण ग्रन्थ थे, इतने सूक्ष्म ग्रन्थ थे, इतने निरुक्त और व्याकरण, शिक्षा, आदि वेदांग थे। परन्तु सिवाय यास्काचार्य के "निघण्टु" निरुक्तके कोई निरुक्त नहीं मिलता, पाणिनि की अष्टाध्यायी और पतंजलि के महाभाष्य के दूसरा भाष्य नहीं मिलता। आजकल लोग धर्म की अनेक प्रकार से व्याख्या करते हैं। महर्षि दयानन्द कहते हैं कि धर्म की परिभाषा इस प्रकार की है, "पक्षपातरहित न्यायाचरण सत्यभाषण आदि युक्त जो ईश्वर आज्ञा वेदों से अविरुद्ध है, उसको धर्म मानता हूँ। संसार में केवल एकही धर्म है और वह ईश्वरीय ज्ञान वेद धर्म है, वह वाणी कल्याणकारिणी है, वेद कहते हैं कि **"यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः" "सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन विराधिषि"** ऐसे परम पवित्र धर्म के पालन में प्रमाद नहीं करते हुये हम स्वयं सुखी होवें और संसार को सुखी बनावें।

वैज्ञानिक विद्वान् और उनका अनुकरण करनेवाले पाश्चात्य विद्वानोंने वेदों के शब्दों का अर्थ लोक में प्रचलित रूढ़िगत अर्थ करके प्रायः अर्थ का अनर्थ किया। रूढ़ि अर्थ करने से कितना अनर्थ होता है, जैसे 'पुरीष' शब्द को ही ले लीजिये। वैदिक संस्कृत में इसका अर्थ यास्काचार्य के निरुक्तानुसार "जल" के होते हैं, परन्तु लौकिक संस्कृत में इसके अर्थ "मल" के होते हैं। "पशु" शब्द को ले लीजिये, इसका अर्थ यजुर्वेद अध्याय ३१ पुरुष—सूक्त के २५ वें मंत्र में "अबध्नन्पुरुषं पशुम्" इसका अर्थ महर्षि दयानन्द ने यह किया है—(देवाः) विद्वान् लोग (पशुम्) जानने योग्य (पुरुषम्) परमात्मा को हृदय में (अबध्नन्) बाँधते हैं। निरुक्तानुसार पशुशब्द के अर्थ ईश्वर-परक के होते हैं, परन्तु लौकिक संस्कृत में पशु शब्द के अर्थ गाय, भैंस, गधा, घोड़ा आदि पशु होते हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती स्वयं लिखते हैं कि "निघण्टु सर्वत्र उपलब्ध नहीं था, अब छापने से प्राप्त होने लगा है। इससे बड़ा उपकार

[शेष पृ० ७ पर]

चीन और जापान में 'सिद्धम्' लिपि

[लेखक—आचार्य श्री डा० रघुवीर जी एम्० ए० पी० एच० डी०, डी० लिट् एट् फिल, सदस्य राज्य-परिषद]

हमारे पाठकों को यह तो ज्ञात ही है कि चीन, भोट (अथवा तिब्बत), मंगोलिया मंचूरिया, कोरिया और जापान बुद्धधर्मानुयायी देश रहे हैं। विक्रम की प्रथम शताब्दी से पूर्व ही महाराजा धर्माशोक ने चारों दिशाओं में बौद्ध धर्माचार्यों को धर्मचक्र-प्रवर्तनार्थ भेजा था। उत्तर भारत में कश्मीर, उद्यान (आधुनिक चित्राल और स्वात), गान्धार तथा इनसे ऊपर सिनक्यांग (चीनी तुर्कस्थान) में, धर्माशोक के काल में अथवा उसके कुछ पश्चात्, विशाल बौद्ध विहारों की स्थापना हो चुकी थी। कुस्तन (आधुनिक खोतान) तो भारतीय भाषा, साहित्य, आयुर्वेद, कला आदि के प्रसार का दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी तक केन्द्र रहा।

चीन में महाराजाधिराजों के आदेश से भारतीय सूत्रों और शास्त्रों के विस्तृत अनुवादों का सम्प्रदाय चलाया गया। प्रथम शताब्दी में काश्यप मातङ्ग से आरम्भ करके चौदहवीं शताब्दी तक संस्कृत ग्रन्थों की चीनी में अनुवाद करने की परम्परा निरन्तर चलती रही। सैकड़ों भारतीय आचार्य और पण्डितों के वर्णन चीनी इतिहासों में अभी तक विद्यमान हैं।

घोड़ों और ऊँटों पर लादकर भारतीय तालपत्र तथा भूर्जपत्र पर लिखे धर्मग्रन्थ उत्तर और दक्षिण चीन की राजधानियों में ले जाए जाते थे। भारतीय आचार्य और चीनी पण्डित परस्पर परामर्श से अनुवाद-कार्य सम्पन्न करते थे।

सातवीं शताब्दी के पश्चात् भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद भोट भाषा में भी आरम्भ हुआ। भोट द्वारा हमारा साहित्य मंगोलिया में पहुँचा तथा चीन द्वारा कोरिया और जापान में।

अन्य तो सभी प्रकार के धार्मिक ग्रन्थों का भारतीय और चीनी विद्वानों ने मिलकर अनुवाद किया। यहाँ तक कि बुद्ध, धर्म, संघ, विनय आदि शब्दों को भी बुद्धिगम्य बनाने के लिए अनुवादित किया गया। उदाहरण के लिए बुद्ध का अनुवाद ऐसे चीनी अक्षरों से किया गया जिनका अर्थ है "नहीं + मनुष्य"। अर्थात् जो मनुष्य नहीं किन्तु उनसे ऊपर है।

किन्तु जब चीन में मन्त्रयान का प्रचार हुआ और मन्त्रों के अर्थों में नहीं, किन्तु मन्त्रों के उच्चारण में सिद्धि मानी गई, तब चीनियों, भोटियों आदि को भारतीय लिपि का आश्रय लेना पड़ा। इस लिपि का बड़ा रोचक इतिहास है। इस इतिहास का हम प्रथम बार संकलन और अध्ययन कर रहे हैं। भोट, चीन, जापान, मंगोलिया आदि में छोटे-मोटे अनेकों ग्रन्थों, जिनमें छटी, सातवीं शताब्दी की भारतीय लिपि का विस्तृत वर्णन दिया गया है, केवल वर्णन ही नहीं, स्वर, व्यंजन तथा संयुक्त अक्षरों के स्वरूप लिखने की शिक्षा और पद्धति भी दी गई। इस लिपि का नाम 'सिद्धम्' है॥

ग्यारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध अरबी यात्री अलबेरुनी ने अपने भारत विवरण में लिखा है :—

"सामान्यतः प्रयोग होने वाली वर्णमाला का नाम सिद्धम् है। कुछ का विचार है कि इसका उद्‌गम देश कश्मीर है, क्योंकि कश्मीर की जनता ही इसका प्रयोग करती है। इसका प्रयोग वाराणसी में भी होता है। वाराणसी और कश्मीर भारतीय विद्याओं के क्षेत्र हैं। यही लिपि कान्यकुब्ज के आसपास के आर्यावर्त देश में प्रयोग की जाती है। मालव में एक दूसरी लिपि का प्रयोग होता है, जो सिद्ध-मातृका से वर्णशैली में भिन्न है। इसका नाम नागर लिपि है। सिन्धु में प्रयुक्त लिपि का नाम अर्धनागरी है, क्योंकि वह सिद्धमातृका और नागरी दोनों के मिश्रण से बनी है।"

चार शताब्दी पूर्ववर्ती चीनी यात्री इत्सिङ ने भी सिद्धम् का वर्णन किया है। अपने यात्रा-विवरण में आपने लिखा है कि भारतीय संस्कृत का अध्ययन सिद्धम् वर्णमाला से प्रारम्भ करते हैं वर्णमाला की पुस्तक का नाम सिद्धिरस्तु है। वर्णों की संख्या ४९ है। इस पुस्तक में स्वर और व्यञ्जनों तथा संयुक्त व्यंजनों के लिखाने के लिए अठारह अध्याय हैं॥

इत्सिङ् से ७०० वर्ष पूर्व दिव्यावदान में भी बालक के प्रथम विद्याभ्यास का वर्णन मिलता है। दिव्यावदान के अनुसार लिपि सीखने का प्रारम्भ 'सिद्धम्' शब्द से किया जाता था। कालान्तर में 'सिद्धम्' लिपि का पर्याय बन गया॥

भारत में सिद्धम् लिपि सरकण्डे की लेखनी से लिखी जाती थी। इसका प्रमाण वे तालपत्र हैं जो आज से चौदह सौ, पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व श्रद्धालु भक्त चीन में ले गए और वहां से तान्त्रिक उपाध्याय जापान में ले गये। ये तालपत्र जापान के 'सुप्रसिद्ध' होर्यू मन्दिर में सुरक्षित हैं। तालपत्र की चौड़ाई दो अंगुल तक होती है। इस पर छोटे अक्षर लिखना ही सम्भव है। किन्तु जब तान्त्रिक मन्त्र और धारणी (बौद्ध तान्त्रिक वाक्यादि) चीनी भक्तों के हाथों में पड़े तो उन्होंने अपनी कला का प्रयोग किया और भारतीय सिद्धम् अक्षर कई कई हाथ लम्बे चौड़े लिखे जाने लगे। चीनियों की लेखनी "तूलिका" है। तूलिका से सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् अक्षर लिखे जा सकते हैं। अक्षर कौशेय (रेशम), कागज और मन्दिरों की भित्तियों पर लिखे जाते थे। हमारे पास नालन्दा के विद्वान् प्रज्ञातार के लिखे हुए अक्षर विद्यमान हैं, जो उन्होंने नवीं शताब्दी में चीन में जाकर चीनी तूलिका से लिखे। सिद्धं में लिखी हुई धारणी उन्होंने अपने जापानी शिष्य चिशो-देशि को उपहार में दी।

१८३७ में जापानी भिक्षु सो-गेन् ने पांच विस्तृत भागों में आक्षर-जो नाम का ग्रन्थ प्रकाशित किया, जिसमें उसने चीनी

और जापानी आचार्यों के उपलब्ध सिद्धं लेखों को पुराने मन्दिरों के पुस्तकालयों से संग्रह किया। इसी आदाम्जो के तीन चार चित्र आज हम अपने पाठकों के सामने उपस्थित करते हैं ॥

लेखन-साधनों में से चीन की तूलिका संसार का उत्कृष्ट साधन है। चीनी तूलिका के प्रयोग के कारण सिद्धं लिपि एक कलात्मक लिपि बन गई है। आज स्वतन्त्र-युग में भारत इस लिपि का अनुसरण करके शीर्षकों और नामफलकों के लिए देवनागरी के अद्भुत कलापूर्ण रूपों का विकास कर सकता है ॥

चीनी-तूलिका का नाम माओ-पी अर्थात् लोम-लेखनी है। इसके साथ साथ मध्य-एशिया से चीन में मू-पी अर्थात् काष्ठ-लेखनी का प्रवेश हुआ। थाङ वंश के ऐतिहासिकों ने काष्ठ-लेखनी का उद्गम कुस्तन अथवा खोतान बतलाया है। मू-पी साधारण लकड़ी की एक अंगुल अथवा अधिक चौड़ी शलाका होती है। आज भी इसका प्रयोग मंगोलिया में हो रहा है।

प्रत्येक अक्षर के सिखाने के लिए अनेक खण्ड कर दिए जाते थे और चीनी पद्धति के अनुसार प्रत्येक खण्ड का अलग नाम दिया जाता था। जैसे आ के ऊपर की शिरोरेखा का नाम थिएन् अथवा आकाश। दूसरे भाग का नाम जन् अथवा मनुष्य, क्योंकि इसका आकार चीनी अक्षर जन् से मिलता है। तीसरे खण्ड का नाम ती अर्थात् भूमि। चौथे का नाम फाङ् अर्थात् वर्ग। अन्त में सम्पूर्ण अक्षर अ का नाम अनादि और अनन्त ॥

चीनी विहारों में सिद्धं लिपि का ऊँचा स्थान था। प्रत्येक वर्ण का विशेष आध्यात्मिक अर्थ है। ध्यान और समाधि में ये सहायक माने जाते थे। साधक भित्ति पर वृत्त बनाकर, उसमें बीजवर्ण लिखकर, उस पर ध्यान लगाता था। अ अक्षर की महत्ता सर्वोपरि थी। यह आदि और प्रारम्भ का प्रतीक था। मन्त्रयान के सब सिद्धान्तों का इसमें समावेश माना जाता था। शुभंकर सिंह ने अकार के ध्यान की महिमा गाई है। अष्टपत्र श्वेत कुमुद में से स्वर्णभास अकार समुद्भूत होता है। पद्मासन लगाकर इस अकार को भित्ति पर सामने टाँग कर शुद्धकाय और शुद्ध मन से प्रत्येक प्राण और अपान में अ ध्वनि का उच्चारण करता हुआ साधक ध्यान लगाता है। धीरे धीरे अकार परिमाण में वृद्धि प्राप्त करता हुआ समस्त संसार में फैल जाता है और सर्वव्यापी वैरोचन में लीन तथा तद्रूप हो जाता है ॥

जिस प्रकार चीन में पुराने मन्दिरों की भित्तियों पर अकार लिखा मिलता है उसी प्रकार जापानी शिंगोन् मन्दिरों में डेढ़, दो हाथ व्यास की ताम्रमयी थालियाँ टँगी मिलती हैं, जिन पर महाकाय अकार खुदा होता है ॥

इष्ट देवता की धारणियों का प्रयोग महायान के अनुयायिओं के ध्यान का दूसरा साधन था। प्रज्ञापारमिता हृदयसूत्र तथा उष्णीषविजयधारण, आदि अनेकों पुस्तिकाएँ अभी तक इस लिपि में विद्यमान हैं।

बीजाक्षरों (चीनी भाषा में चुङ्—त्सु) द्वारा तान्त्रिक जन देवता का पूर्ण ओजस्वी स्वरूप साक्षात् कर सकते थे। बीजाक्षरों से कई प्रकार के मण्डलों का निर्माण होता था। प्रत्येक बीज किसी न किसी विशेष देवस्वरूप का वाची होता था। उदाहरणार्थ 'वं' वैरोचन के लिए, 'त्रः' रत्नपारमिता के लिए। 'अः' अमोघसिद्धि के लिए, 'धं' वज्रतीक्ष्ण के लिए, 'मे' ब्रह्म के लिए, 'च' केतु के लिए, 'घ' कुमार के लिए। बीजाक्षरों के लिखित स्वरूप का ध्यान करने से उनकी शक्ति और उनके बोध का भान होता है ॥

आज से दस वर्ष पूर्व तक लम्बी यात्रा प्रारम्भ करते समय चीनादि देशों के साधारण जन सिद्धं लिपि में लिखे बीज-मन्त्रों को अपना सहयात्री बनाया करते थे।

चीन में लिपि का कितना ऊँचा स्थान है, यह हमारे पाठक अनुमान करने में समर्थ नहीं होंगे। चीनियों ने भारतीय लिपि को अपनी लिपि की अपेक्षा भी ऊँचा स्थान दिया। उनकी अपनी लिपि अत्यन्त जटिल है। जीवन भर के प्रयत्न से भी उसका पूर्ण ज्ञान होना सम्भव नहीं। प्रत्येक शब्द के लिए अलग अक्षर सीखना पड़ता है। चीनी पद्धति वर्णमाला-पद्धति नहीं। समस्त लिपि को सीखने का अर्थ भाषा के समस्त शब्दों को सीखना है। भोले भाले चीनी भक्त सिद्धं वर्णमाला के स्वरों, व्यञ्जनों और उनके संयोगों को बड़े परिश्रम से सीखते थे। उनका विश्वास था कि इनके सीख लेने से समस्त भारतीय साहित्य के सीखने का पुण्य लाभ होगा ॥

अब चित्रों पर दृष्टिपात कीजिये। प्रथम चित्र में सिद्धं की नौ पंक्तियाँ हैं। इनमें से प्रत्येक पंक्ति का देवनागरी में लिप्यन्तर देते हैं।

प्रथम पंक्ति—सिद्धम् अक्षरः।
दूसरी पंक्ति—नमः सर्वज्ञाय सिद्धम्।
तीसरी पंक्ति—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ।
चौथी पंक्ति—ओ औ अं अः।
पाँचवीं पंक्ति—क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ।
छठी पंक्ति—ट ठ ड ढ ण त थ द ध न।
सातवीं पंक्ति—प फ ब भ म य र ल व।
आठवीं पंक्ति—श ष स ह क्ष।
नवीं पंक्ति—क का कि की कु कू के कै को कौ कं कः

इनमें से विशेष ध्यान देने योग्य स्वर इ ई ऌ ॡ हैं। इसी प्रकार व्यंजनों में भी अनेक ऐसे रूप पाठक पाएँगे, जो भारतीय इतिहास के लिए परमावश्यक हैं। कई अक्षरों का साम्य कश्मीर की शारदा लिपि से, कईयों का देवनागरी से, और कईयों का बंगला से पाठक स्वयं देख पाएँगे ॥

चित्र २ और चित्र ३ हम पाठकों के लिए पहेली के रूप में उपस्थित करते हैं ॥

[चीनी तथा 'सिद्धम्' लिपि की जानकारी के लिये यह लेख हम प्रकाशित कर रहे हैं—सम्पादक ॥]

चित्र १

金剛界卅七尊

大日如来

阿閦如来

金剛波羅蜜

本

一

寶生如来

寶波羅蜜

阿彌陀如来

法波羅蜜

本

二

चित्र २

चित्र २
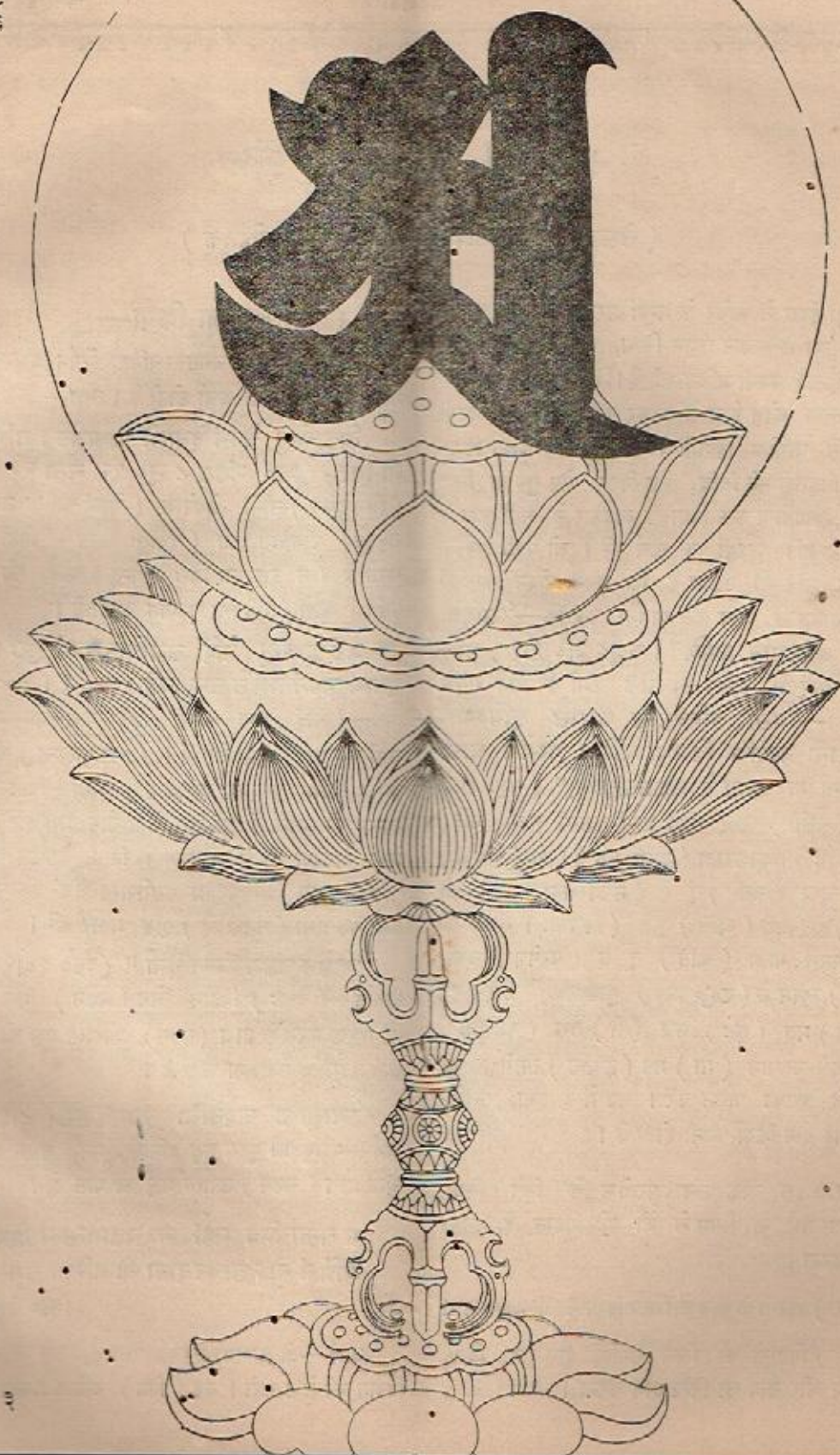
यज्ञ का महत्त्व

(लेखक—श्री मास्टर् मातुराम जी आर्य रोहतक)

जहाँ ईश्वर ने ऋग्वेद के मन्त्रों द्वारा सब पदार्थों का—गुण-गुणी रूप से—ज्ञान प्रदान किया, वहाँ यजुर्वेद के मन्त्रों से सब क्रियाएँ करनी प्रसिद्ध की हैं। जिसका अभिप्राय यही है कि मनुष्य लोग ईश्वर से लेकर पृथिवी पर्यन्त पदार्थों के ज्ञान से धार्मिक विद्वानों का संग, सब शिल्प क्रिया-सहित विद्याओं की सिद्धि, श्रेष्ठ विद्या, श्रेष्ठ गुण वा विद्या का दान, यथायोग्य उक्त विद्या के व्यवहार से सर्वोपकार के अनुकूल द्रव्यादि पदार्थों का खर्च करें। तो ऐसी अवस्था में मनुष्य मात्र को उचित है कि अपने जीवन काल में जहाँ परमात्मा से नित्य प्रति प्रार्थना करें कि—"सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे" (यजु० अ० १।१) अर्थ—जगदीश अत्युत्तम कर्त्तव्य उपकारक कर्मों के लिये संयुक्त करें वहाँ—"वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोसि विश्वधा असि। परमेण धाम्ना दृ**ँ**हस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्" (यजुः १।२) अर्थात् (वसोः) यज्ञ (पवित्रं) शुद्धि करने वाला (असि) तू है (द्यौः) प्रकाशदाता (असि) तू है। जो (पृथिवी) फैलाने वाला (असि) तू है (मातरिश्वनः) वायु को (घर्मः) शुद्धकारी (असि) तू है (विश्वधाः) संसार को धारण करने वाला (असि) तू है (परमेण) उत्तम (धाम्ना) स्थान से (दृ**ँ**हस्व) सुखवर्धक है। ऐसे यज्ञ को (मा) मत (ह्वाः) तज (ते) तेरा (यज्ञपतिः) यज्ञपालक—यजमान (मा) मत (ह्वार्षीत्) त्यागे। यह विधान है इसका पालन करें। यज्ञ में देवपूजा, संगति-करण और दान-क्रिया करनी होती है।

(१) इस लोक तथा परलोक के लिये विद्या, ज्ञान तथा धर्म के सेवन से जो बड़े विद्वान् हैं, उनका सत्कार करना।

(२) पदार्थों के ज्ञान से शिल्प विद्या का प्रत्यक्ष करना।

(३) विद्वानों की नित्य संगति, शुभ गुण, विद्या, सुख, धर्म और सत्य का नित्य दान करना।

(१) देवपूजा क्रिया—

देवपूजा क्रिया में जगत् रचयिता चेतन प्रभु की पूजा, यश गुण कीर्ति तथा चर्चा होती है। यथा—

त्रिकद्रुकेषु चेतनं देवासो यज्ञमत्नत। तमिद्वर्धन्तु नो गिरः (ऋ० मंडल ८ सू० ९२ मन्त्र २१) अर्थ—(त्रिकद्रुकेषु) तीनों लोकों में (चेतनं यज्ञं) उस चेतन सर्वपूज्य परमात्मा को (देवासः अत्नत) विद्वान प्राप्त करते हैं (तं इत् नः गिरः वर्धन्तु) उसी को हमारी वाणियाँ बढ़ाती, उसी का गुणगान करती हैं।

अरं कृण्वन्तु वेदिं समग्निमिन्धतां पुरः। तत्रामृतस्य चेतनं यज्ञं ते तनवावहै (ऋ० १।१७०।४) अर्थ—(वेदिं) ज्ञान कराने वाली प्रजा—शिष्यजन—भूमि *जहाँ सब पदार्थ प्राप्त होते हैं।* (अरं कृण्वन्तु) को *प्राप्त* करें (अग्निम् पुरः सम् इन्धताम्) अग्नि—विद्वान् चेतन स्वरूप को अपने में प्रज्वलित योगाभ्यास द्वारा करें (तत्र) ऐसी अवस्था में (अमृतस्य) नित्य, शाश्वत जीव के (चेतनं यज्ञम्) ज्ञानप्रदाता परमोपास्य देव की उपासना-रूपी यज्ञ द्वारा (तनवावहै) वृद्धि, प्रसार करें।

"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा." (ऋ० १०।९०।१६) अर्थात्—(देवाः) विद्वान् लोग (यज्ञेन) निज आत्मा को संयुक्त करने के द्वारा (यज्ञम्) सर्वोपास्य प्रभु को (अयजन्त) पूजते, उपासना करते हैं।

"आशुभिः अश्वेभिः यज्ञम्" (ऋ० ८।१३।११) अर्थ—कर्मकुशल पुरुष दृढ़ इन्द्रियों, मन, तथा शरीर के अंगों द्वारा (यज्ञम्) उपास्य प्रभु को प्राप्त हो।

स यन्ता विप्र एषां स यज्ञानामथा हि षः।
अग्निं तं वो दुवस्यत दाता यो वनिता मघम्"
(ऋ० ३।१३।३)

अर्थ—जो तुम को ऐश्वर्य देता है, उस ज्ञानी नेता विद्वान् की सेवा करो। वह (विप्र) अनेक प्रकार से पूर्ण

करता है। वह व्रतपालक तथा सत्संगों का नियामक होता है।

"ऋषिः श्रेष्ठ समिध्यसे यज्ञस्य प्राविता भव" ऋ० ३।२१।३) अर्थ–(श्रेष्ठः ऋषिः) तू सबसे उत्तम ज्ञान-दर्शी विद्वान् (समिध्यसे) ज्ञान द्वारा चमक। और (यज्ञस्य) ज्ञान, दान तथा सत्संग का (प्र-अविता) भली प्रकार रक्षक (भव) हो।

(२) शिल्प-विद्या हस्त-क्रिया द्वारा यज्ञ (परोपकार):—

सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै। प्रचोदयन्ता विदथेषु कारु प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता॥ (यजुः २९।३२)

अर्थः—(सुवाचा) श्रेष्ठ सत्य वाणी द्वारा (मिमाना) आज्ञा करते हुए (यज्ञम्) पदार्थों का मेल (यजध्यै) करने को (मनुषः) जनता को (विदथेषु) अनेक विविध पदार्थ तथा रसायन विद्या विज्ञानों में (प्रचोदयन्ता) लगाता हुआ (प्रदिशा) प्रमाण से (प्राचीनं ज्योतिः) सनातन, सदातन ज्ञान प्रकाश का (दिशन्ता) बताने वाला (कारु) शिल्पी हो। अर्थात् उत्तम शिल्पकार शिल्प-विद्या की वृद्धि करें।

मन्द्रा कृणुध्वं धिय आ तनुध्वं नावमरित्रपरणीं कृणुध्वम्। इष्कृणुध्वमायुधारं कृणुध्वं प्राञ्चं यज्ञं प्रणयता सखायः (ऋ० १०।१०१।२)

अर्थ—(सखायः) मित्रो, ख्याति वालो (मन्द्रा) आनन्ददायक कर्म (कृणुध्वम्) करो (धियः) उत्तम ज्ञान, कर्म (आ तनुध्वम्) फैलाओ (अरित्रपरणीं नावं) चप्पू वाली तारक नाव (कृणुध्वम्) बनाईये (आयुधा) शस्त्र अस्त्र (इष् कृणुध्वम्) खूब बनाओ (अरं कृणुध्वम्) पर्याप्त बनाओ (यज्ञम्) इस शिल्प-क्रिया को (प्राञ्चं प्रनयत) संसारी ऐश्वर्य सुखार्थ प्रमुख रखो।

"स्वस्तिवाहं रथमित्कृणुध्वम्" (ऋ० १०।१०१।७)

अर्थ—सुखपूर्वक उठा ले जाने वाला रथ बनाओ।

"आददानः निर्भृदुखच्छित्समरन्त पर्व" ॥ (ऋ० ४।१९।९)

अर्थ—(उखच्छित् पर्व) भेदच्छेदक फाड़ डालने वाले (पर्व) पोर वाला अस्त्र (आददानः) लेकर (समरन्त) युद्ध कर।

(३) विद्या-प्रचारः—

"एष ते यज्ञो यज्ञपते सह सूक्तवाकः सर्ववीरस्तं जुषस्व स्वाहा॥ (यजुः ८।२२)

अर्थ—यज्ञपते (एषः) यह (ते) तेरा (यज्ञः) विद्या, ज्ञान (सूक्तवाकः) वेदवाणी के (सह) साथ (सर्व-वीरः) सब प्रकार से अभय, निर्भीक पुरुष तू (जुषस्व) सेवन कर, ग्रहण कर।

"प्राणाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व व्यानाय मे वर्चोदा वचसे पवस्वोदानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व वाचे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व" ॥ (यजुः ७।२७)

अर्थः—पठनपाठनरूप यज्ञ कर्म करने वाले आप मेरे प्राण वायु, शरीर में सर्वत्र रहने वाले व्यान वायु अन्न आदि के लिये पवित्रता से प्राप्त होवें। उदान पवन और पराक्रम के लिये ज्ञान देवें। मेरी वाणी तथा प्रगल्भता हित लगे रहे। इत्यादि। इसमें "वर्चः" = विद्या बल को देने वाले को शिष्य सम्बोधन करता है।

"विप्रासो न मन्मभिः स्वाध्यो देवाव्यो न यज्ञैः स्वप्नसः" ॥ (ऋ० १०।७८।१)

विविध विद्याओं में निपुण स्वाध्यायशील मननयोग्य ज्ञानों से (विद्यादान) उत्तमकर्मी हों।

"यज्ञेन वाचः ... ऋषिषु प्रविष्टाम्। तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभा अभि सं नवन्ते" (ऋ० १०।७१।३) ऋषि = ज्ञानदर्शी जन वेदवाणी, प्रविष्ट हुई उस वाणी को प्राप्त करके अनेक स्थानों पर उपदेश करते हैं।

"यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः। सर्वं तदेषां समृधेव पर्व यत्सुवाचो वदथनाध्यप्सु" (ऋ० ७।१०३।५)

अर्थः—जब एक विद्वान् शिक्षा पाकर दूसरे अधिक विद्वान् की सिखाई वाणी कहता है और जब शिष्य प्रजा में आप उपदेश करते हैं, तब इनका समस्त पर्व ज्ञान काण्ड समृद्ध ही हो जाता है।

ऐसे विद्वानों के ४ प्रकारों को वेद यूं बताता है:—

"गोमायुरेको अजमायुरेकः पृश्निरेको हरित एक एषाम्। समानं नाम बिभ्रतो विरूपाः पुरुत्रा वाचं पिपिशुर्वदन्तः" (ऋ० ७।१०३।६)

अर्थ—इन विद्वानों में एक (गोमायुः) वेदवाणी को उत्तम रीति से प्रवचन करता, दूसरा (अजमायुः) अजन्मा आत्मा, परमात्मा संबन्धी, तीसरा (पृश्निः) प्रश्नोत्तर में कुशल, चौथा (हरितः) ज्ञानों का ग्रहीता होता है। वह सब ही एक समान ब्राह्मण होते हैं, परन्तु विविध ज्ञानों को धारते हैं। उपदेश करते हुए नाना प्रकार की वाणी को प्रकट करते हैं।

ब्रह्मयज्ञः—अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः (मनुः अ० ३ श्लो० ७०) वेद पढ़ाना ब्रह्मयज्ञ है। इस का आधार—**"त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय। त्वं नो देवतातये रायो दानाय चोदय"**—(ऋ० १०।१४१।६)

अर्थ—(अग्ने) हे ज्ञानवान् (अग्निभिः) ज्ञान प्रकाश के करने वाले विद्वानों से (नः) हमारे (ब्रह्मयज्ञं) वेद, ज्ञानरूपी यज्ञ को (वर्धय) बढ़ा (त्वं) तू (नः) हमें (देवतातये) विद्वानों के हितार्थ (रायः दानाय) नाना धन ऐश्वर्य देने के लिये (चोदय) प्रेरित कर। **"इमं यज्ञमिदं वचो जुजुषाण उपागहि"** (ऋ० १० । १४० । २) अर्थात्—इस वेदवाणी की इच्छा, प्रेम करता हुआ इस स्वाध्यायरूपी यज्ञ को प्राप्त कर।

यहां पर कोई शंका कर सकता है कि ऋ० १० । १४१ । ६ में "अग्निभिः" अग्नियों द्वारा ईश्वर का पूजन होता है, परन्तु अर्वाचीन आर्य "विद्वानों से" कैसे अर्थ करते हैं?

उत्तर—यहां पर अग्नि = ज्ञानवान् चेतन के अर्थ में ही सही है। क्योंकि वेद बतलाता है—**अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव** (१० । १४१ । १) हे ज्ञानवान्! (इह) यहाँ पर (नः) हमें (अच्छ वद) भली प्रकार उपदेश कर (प्रत्यङ् नः) हमारे सामने (सुमना भव) कल्याणकारी मन वाला हो। यदि जड़ = ज्ञानरहित होता तो उपदेश करना और उत्तम मन वाला होना असंगत हो जाता है। इस ब्रह्मयज्ञ का दूसरा नाम ऋषियज्ञ भी है। ब्रह्मसत्र भी है।

इसी में सन्ध्योपासना भी होती है। उपस्थान मन्त्र चार हैं, (यजुः ३५ । १४ ; यजुः ३३ । ३१ ; यजुः ७ । ४२ और यजुः ३६ । २४) जिनका हम नित्य प्रति प्रातः सायंकाल में ध्यान करते हैं। प्रथम मन्त्र में 'स्वः' के स्थान पर ऋ० १ । ५० । १० पर 'ज्योतिः' आता है। दूसरे मन्त्र के अन्त में ऋ० १ । ५० । १ में 'स्वाहा' जोड़ा हुआ है। अन्तिम मन्त्र में यदि ऋ० ७ । ६६ । १६ की दृष्टि से देखा जावे तो **'शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्'** इतना पाठ अधिक है।

अग्निहोत्रः—यह यज्ञ अथर्व काण्ड १९ अनु० ७ । मं० ३ । ४ के आधार पर प्रातः सायं दोनों कालों में यजु० अ० ३ मं० ९ । १० में आये मन्त्र पढ़ २ कर सामग्री घृत से अग्नि में आहुतियाँ देकर किया जाता है। इस क्रिया का मुख्य उद्देश्य तृप्ति करना तथा जल वायु की शुद्धि करना और रोगों की निवृत्ति है। दोनों में **"ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा......ओं आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा। ओं सर्वं वै पूर्णं ँ स्वाहा"** पढ़कर भी आहुतियां दी जाती हैं।

इसी भौतिक यज्ञ द्वारा—**ऋतस्य नाभिरमृतं विजायते...प्रीणन्ति तं नरो हितमव मेहन्ति पेरवः** (ऋ० ९ । ७४ । ४) अर्थात् (ऋतस्य नाभिः) अन्न का मूल आश्रय (अमृतं) जल (विजायते) विशेष रूप से उत्पन्न होता है...(नरः) जलग्राही किरण (तम् प्रीणन्ति) उस जल को वायु में तृप्त पूर्ण कर देते हैं (पेरवः) किरणें जलपान करते (हितम्) वायु में धरे (अव मेहन्ति) नीचे वर्षा रूप से गिराते हैं।

"दिवि स्वनो यतते भूम्योपर्यनन्तं शुष्ममुदियर्ति भानुना। अभ्रादिव प्र स्तनयन्ति वृष्टयः..." (ऋ० १० । ७५ । ३)।

अर्थ—भूमि के ऊपर आकाश में मेघ व्यापते हैं, सूर्य प्रकाश द्वारा अनन्त बल = जल ऊपर उठता। मेघ से वृष्टियाँ बरसती हैं।

अग्निमादित्यः सायं प्रविशति तस्मादग्निर्दूरान्नक्तं ददृशे। उभे हि तेजसी संपद्यते उद्यन्तं वादित्यमग्निरनु समारोहति। तस्माद्धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे इति तित्तिरिश्रुतेः। **'अग्निर्वर्चं इति ब्रह्मवर्चसकामस्येति** (का० ४ । १४ । १५) **सूर्यो वर्च इति ज्योतिः सूर्य इति वा प्रातरिति** (का० ४ । १५ । ११) 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' समाना जुः प्रीतिः यस्यासौ सजूः। प्रातः सूर्य उच्यते ॥

पाक्षिक यज्ञः—(१) अमावस वाला दर्श कहाता है। 'दर्शयागे त्रीणि हवींषि सन्ति' (का० २।१।२)। इसमें तीन आहुतियां—ओं अग्नये स्वाहा। ओं इन्द्राग्नीभ्यां स्वाहा। ओं विष्णवे स्वाहा—डाली जाती है।

(२) पूर्णमासी का पौर्णमास कहाता है। इस याग में 'इन्द्राग्नीभ्यां स्वाहा' के स्थान पर 'अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा' पढ़ कर आहुति दी जाती है।

ब्रह्मयज्ञ (वेदों का स्वाध्याय, सन्ध्योपासना) और अग्निहोत्र ये दोनों यज्ञ ब्रह्मचर्य आश्रम में आवश्यक हैं।

इन दोनों यज्ञों के साथ २ गृहस्थी के लिये तीसरा पितृयज्ञ (जिसमें श्राद्ध तथा तर्पण), चौथा वैश्वदेव और पांचवां अतिथियज्ञ करना यथाशक्ति आवश्यक है। जीवित माता पिता आदियों की सेवा अन्न जल तथा फल से तृप्त करना श्राद्ध तर्पण करना पितृ यज्ञ है।

(यजुः २।३४, १९।३९)

बलिवैश्वदेव यज्ञः—अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने। रायस्पोषेण समिषा सदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम (अथर्व० काण्ड १९ अनु० ७ मं ७) भूतानि बलिकर्मणा (मनुः ३।८)।

अर्थ—सब प्राणियों पर बलि = अन्न समर्पित करके उपकार किया जाना उचित है। अतिथि यज्ञ—"नृनन्नैः" अन्न द्वारा सत्कार।

यह पाँचों महायज्ञ गृहस्थ में चक्की, चूल्हा, बुहारी, जल स्थान आदि द्वारा जो गृहस्थियों से हिंसा (पाप) होते हैं उनके निवारणार्थ किये जाते होते हैं।

ब्रह्मपारायण यज्ञः—वेद का आदि से लेकर अन्त तक स्वाध्याय (पठन पाठन) करना ही है। न कि प्रत्येक वेद मन्त्र से आहुति देना। शौनक मुनि ऋक् प्रातिशाख्य में स्पष्ट रीति से वर्णन करते हैं कि:—

"पारायणं वर्त्तयेद् ब्रह्मचारी गुरुः शिष्येभ्यस्तदनुव्रतेभ्यः। अध्यासीनो दिशमेकां प्रशस्तां प्राचीमुदीचीमपराजितो वा। एकः श्रोता दक्षिणतो निषीदेद् द्वौ वा भूयांसस्तु यथावकाशम्। ते ऽधीहि भो इत्यभिचोदयन्ति उपसंगृह्य सर्वे॥"

अर्थ—ब्रह्मचर्यधारी गुरु के व्रतों के अनुकूल व्रतधारी शिष्य लोग वेदों का पारायण करें। एक दिशा में पूर्व वा अपराजिता दिशाओं में ऊँचे आसन पर गुरु जी बैठें। दक्षिण में एक या दो शिष्य बैठें। यदि अधिक स्थान हो तो अधिक भी। वे सब ब्रह्मचारी शिष्य एकत्रित होकर प्रार्थना करें कि श्रीमन् गुरुवर पढ़ावें।

सूक्ष्म रूप से जो नैतिक यज्ञ करने चाहियें! उनका वर्णन किया गया। शेष नैमित्तिक अनेक यज्ञों का वर्णन पुनः किया जायगा॥

वैदिक काल का जीवन

(लेखक—श्री दीवान रामनाथ जी कश्यप, धर्मशाला, कांगड़ा)

'आर्गनाइज़र' देहली से एक साप्ताहिक पत्र निकलता है, उसमें अच्छे २ विद्वानों के लेख भी आते हैं। उसका प्रचार अधिकाधिक हिन्दू-समाज में है। १५ अगस्त ५५. के वार्षिक विशेषांक में श्री डा० कुहनन राजा का एक लेख "वैदिक काल का जीवन" शीर्षक से ही निकला। आप मद्रास प्रान्त के बड़े उच्चकोटि के विद्वान् हैं। आपने संस्कृत और वैदिक साहित्य के कई ग्रन्थ सम्पादित किये हैं।

यद्यपि आपकी तुलना में मैं आपके लेख के विपरीत कोई तर्क उठाने के योग्य नहीं हूँ तो भी आपका लेख पढ़ कर मेरा हृदय अन्तस्तल तक छिद गया। इसलिये इस सम्बन्ध में मुझे कुछ लिखने का विचार उठा है।

अच्छा तो यह होता कि बनारस और गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के विद्वान् इस विषय में विवाद के मार्ग पर अग्रसर होते। परन्तु मुझे पहले का अनुभव है। जब पं० श्री सातवलेकर ने वेदों में से ऐतिहासिक बातें निकालीं। और वेद साहित्य के कोटि के विद्वानों के समक्ष यह बात रखी तब यह उत्तर मिला था कि बहुत प्राचीन काल से ही वेदों पर इसी प्रकार आक्रमण होते आ रहे हैं। महर्षि

स्वामी दयानन्द ने इस सम्बन्ध में बहुत कुछ ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका में लिख दिया है, जो वेदों को ठीक समझना चाहते हैं, वे उससे समझ लेंगे।

अन्त में मेरे निवेदन पर श्री पं० जयदेव शर्मा चतुर्वेद-भाषा-भाष्यकार ने "क्या वेद में इतिहास है"? नामक छोटी सी पुस्तक लिखी और उसका प्रकाशन भी हो गया। जिससे वेदप्रेमी लाभ उठा सकते हैं।

इसके अतिरिक्त हिन्दूधर्म दर्शनों का सागर है। इसके मानने वाले इतने सहिष्णु हैं कि कोई भी जो चाहे बातें बना सकता है, वह चाहे जैसा मान सकता है, वह चाहे जिस मन्त्र वा श्लोक की चाहे जैसी व्याख्या कर सकता है, उससे कोई पूछने वाला नहीं है।

यदि इसी प्रकार के आक्षेप कुरानशरीफ पर होते या इस्लाम धर्म पर होते जैसे कि वेदों पर किये जा रहे हैं तो मुसलमान लोग उस आक्षेप्ता को चौराहे पर संगसार कर देते।

२. प्रो० श्री कुहनन राज ने अपना लेख बड़े अच्छे ढंग से शुरु किया। जैसे—"वेद अनादि हैं। उनको किसी मानव ने नहीं रचा है।" इत्यादि परन्तु थोड़ी ही देर में लेखक महोदय वेदों के कर्त्ता परमेश्वर को भूल कर वेदों के कर्ता पर ऐसे २ दोषारोपण कर दिये जिनकी कल्पना नहीं हो सकती।

मुझे ऐसे परमेश्वर से कोई आवश्यकता नहीं है जो कम से कम २५ मन्त्रों में तो कहता है कि गौ की हिंसा मत करो, उसको किसी प्रकार का दुःख मत दो। और फिर वही आज्ञा देता है कि गौ का मांस खाओ और उसका मांस अग्नि में आहुति करो और वातावरण को गन्दा करो। ऐसे विरोधी मन्त्रों वाला वेद एक कौड़ी काम का नहीं है।

३. श्री डा० राजा ने अपने लेख में ऐसी २ बातें लिख कर उनकी पुष्टि में कोई वेद मन्त्र वा उसकी प्रतीक नहीं दी, इसलिये उनका उत्तर देना या विवाद चलाना बहुत कठिन है। गोमांस-भक्षण बतलाने वाले मन्त्रों की दूसरे प्रकार की व्याख्या भी सुगमता से की जा सकती है, जैसा कि कुछ विद्वानों ने किया भी है, जिनको वेदों के सम्बन्ध में प्रामाणिक माना जा सकता है।

साधारणतः श्री डा० राज का सारा लेख सामान्य तौर पर लिखा गया है, जिन पर विवाद करना भी एक प्रकार से मेरे जैसे के लिये पहाड़ से माथे की टक्कर लेना है। तो भी मेरा लिखना पुष्ट प्रमाणों पर आधारित होगा।

४. श्री प्रो० राज लिखते हैं—"वेदों के मन्त्र' जैसे हमें वर्त्तमान में मिलते हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि वाजपेय और सौत्रामणि यज्ञों में शराब (मद्य, अल्कोहल) की देवताओं के लिये आहुति दी जाती थी, और लोग पीते भी थे। पहले मद्य सोम के साथ आहुति की जाती थी और बाद में बिना सोम के भी दी जाती थी।"

डा० राज के इन शब्दों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि वेदों में मद्य के प्रयोग की आज्ञा है। ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों के अतिरिक्त मैंने और इस प्रकार के वेदों पर ग्रन्थ नहीं देखे हैं। इसलिये मैं यज्ञ-पद्धतिओं के सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकता। वेदों में सोम का उल्लेख अवश्य है। जैसे ऋ० १। ९१। १–१५ ॥ ऋ० ५। २६। २ ॥ सोम एक लता है। उसका उद्भव भी पर्वतों में है। अन्य बहुत से मन्त्रों में सोम का अर्थ परमेश्वर है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में सोम को पुरुष और स्त्री को सुरा कहा गया है। इसलिये केवल ऐसी यज्ञ-पद्धतियों के आधार पर वेदमन्त्रों में आये सोम सुरा पदों से शराब लेना किसी प्रकार भी ठीक नहीं है।

५. गृह्य-सूत्रों और मीमांसा के आधार पर डा० राज ने पशुओं का हनन और उनका मांस खाने की बात लिखी है। तो भी आपने वेदमन्त्र एक भी उद्धृत नहीं किया। परन्तु जरा देखें तो कि वेद-मन्त्र पशु मारने और मानव के भोजन के सम्बन्ध में क्या कहते हैं।

ऋग्वेद (३। ५०। १) कहता है "पृणताम् एभि-रन्नैः" इन अन्नों से उदर-पूर्त्ति और तृप्ति करनी चाहिये। ऋ० १। ११४। १० में लिखा है—"आरे ते गोघ्नम् उत पुरुषघ्नम् ॥"

गौ आदि पशु और मनुष्यों का हनन करने वाले को दूर करो। ऋ ५। ३४। २ ॥ में "सहस्रभृष्टिम् उशना वधं यमत् ॥" बुद्धिमान्, वश में करनेवाला राजा उस पशु-हत्या को रोके, जिसमें हजारों जीव भूने जाते हों।

ऋ० ८।६।७ में अहिंसा का उपदेश दिया गया है।

ये मूर्धानः क्षितीनाम् अदब्धासः स्वयशसः।
व्रता रक्षन्ते अद्रुहः ॥

जो मनुष्यों में शिरोमणि प्रमुख लोग हैं, वे हिंसक न हों, वे यशस्वी, उत्तम कर्म करने वाले जीवों की हत्या करने की इच्छा न करें, द्रोही न हों।

वास्तव में बात यह है कि वेद-मन्त्र प्रभुवाक्य हैं। उन्होंने गृह्य सूत्रों और मीमांसा आदि मानव रचनाओं का कोई उत्तरदायित्व नहीं लिया है। वे बहुत बाद बने हैं और उनमें धूर्तों ने बहुत प्रक्षेप भी किया है।

६. हमारे बहुश्रुत प्रोफेसर श्री राज कुमारिल और शबर स्वामी के आधार पर कहते हैं कि वेदों में अच्छे और बुरे सभी प्रकार के सुख भोगों का वर्णन है। पर दौर्भाग्य से उक्त प्रोफेसर जी ने एक भी वेद-मन्त्र उद्धृत नहीं किया। मैंने चारों वेदों का हिन्दी भाषान्तर का पारायण किया है। मुझे साहसपूर्वक कहने का अधिकार है कि चारों वेदों में एक भी स्थल में बुरे ऐश भोगने की बात नहीं है। मैं जानता हूँ कि उक्त प्रोफेसर का इशारा किस स्थल पर है। परन्तु मैं श्री प्रोफेसर जी से नम्र निवेदन करूँगा कि वे विदेशियों की दूषित व्याख्याओं का आधार क्यों लेते हैं? जब आपका विश्वास है कि वेद नित्य हैं, वे मानवरचना नहीं हैं, तब क्या विदेशियों के अनुवादों को अशुद्ध और कपोलकल्पित नहीं माना जा सकता? आप अपने वेदों पर अयुक्त संदेह क्यों करते हैं? या फिर वेदों पर से श्रद्धा छोड़िये और उनको जाने दीजिये। दो नावों पर चढ़ना ठीक नहीं है। वहाँ प्रभु परमेश्वर, सर्वशक्तिमान्, बुरी बातों का उपदेश नहीं कर सकता। यदि किसी ज्ञानग्रन्थ में बुरी बातें हैं तो वह ईश्वर-प्रदत्त नहीं है। श्री स्वामी दयानन्द और पं० श्री जयदेवशर्मा दोनों ने हमें स्पष्ट बतला दिया है कि वेद क्या है? उन दोनों ने अपने ग्रन्थ संसार के सामने रख दिये हैं कि लोग स्वाध्याय करें और मनन करें।

वह व्याख्या क्यों न स्वीकार की जाय, जिससे नित्य वेदों का गौरव बढ़े और जिसको मानव दूषित न कर सके। और कोई खास तरह का अर्थ खेंच लेने का कोई प्रश्न नहीं उठता। वेद के विद्वानों का वह विश्वास है कि—

संस्कृत भाषा तीन प्रकार की है

(१) वैदिक, जिसका अध्ययन पाणिनि, और महाभाष्य के व्याकरण ग्रन्थों और निरुक्त निघण्टु के अनुसार होना चाहिये।

(२) दूसरी लौकिक संस्कृत, जिसका अध्ययन लौकिक व्याकरण और अमरकोशादि की सहायता से होता है।

(३) तीसरी आयुर्वेदिक संस्कृत जिसका अध्ययन भावप्रकाश आदि वैद्यक निघण्टुओं के आधार पर होता है।

संक्षेप से मैं अपना अभिप्राय यों प्रकट कर सकता हूँ कि—जैसे धात्री शब्द है जिसका अर्थ धाय है। आयुर्वेद में इसको आँवला कहते हैं। इसी प्रकार 'गो' शब्द भी वेद में सब स्थानों पर गाय का ही वाचक नहीं है। उसके पृथ्वी, किरण, सूर्य, वाणी अश्व आदि अनेक अर्थ हैं। लोक में ही 'गो' शब्द वाणी, पृथ्वी के भी वाचक प्रयोग में आते हैं। इस एक शब्द ने ही वेद-मन्त्रों की व्याख्या में बहुत सी दुविधा उत्पन्न कर रखी है।

७. मानव भोजन में गोमांस के सम्बन्ध में प्रो० राज जी लिखते हैं—"मीमांसा की परम्परा यही है, कि यह नियम वेदों के मन्त्रों की व्याख्या के लिये लागू करना चाहिये कि वेद के शब्दों का वही अर्थ लेना चाहिये जो उनका साधारण लोक भाषा में अर्थ है।" परन्तु वेद के विद्वान् इस प्रकार की परम्परा या नियम को कभी स्वीकार नहीं करेंगे और वे जो मानते हैं उसकी पुष्टि में वे बहुत से प्रमाण उद्धृत करेंगे। यद्यपि मैं स्वयं वैसा नहीं कर सकता हूँ। वेदों के लिये भी यह न्यायसंगत नहीं होगा और न अन्य ग्रन्थों के लिये ही कि उनकी व्याख्या बाद के बने ग्रन्थों के समान की जाय। मैं एक मन्त्र जानता हूँ जिसका अभिप्राय है कि वेद अपने शब्दों की स्वयं व्याख्या करता है और मैं उसको स्वयं ठीक मानता हूँ। और गोहत्या और मानव-भोजन के लिये भी वेदों का ही अनुशीलन करना चाहिये। मैं निम्नलिखित पते देता हूँ।

(१) यजुर्वेद १।१॥ २०।१८॥ २५।४॥ २६।१९॥ २०।७२॥ १२।७२॥ ११।७३॥ इसी प्रकार

(२) ऋग्वेद ७।४१।३॥ ७।४७।७॥ ८।१०१।१५॥ १।११४।८॥ और

(३) अथर्ववेद ६।५९।३॥ १८।४।२०॥ और इसी प्रकार अन्य भी अनेक स्थल है।

मैं चाहता हूँ कि मैं मूल मन्त्र उद्धृत करके उनका अनुवाद देता। परन्तु मुझे आशा नहीं कि सम्पादक महोदय इतना स्थान पत्र के स्तम्भों में मुझे दे भी सकेंगे। परन्तु उक्त पतों के मन्त्रों का यही अभिप्राय है कि हम मानव लोक गौ का दूध उपयोग करके बलवान् और उत्तम प्रजा प्राप्त करने में समर्थ हों। मानव लोग गौ का पालन करके

सम्पन्न होते हैं, गौ मारने योग्य पशु नहीं है। गौ निरपराध जन्तु (अनागाम्) है। गौ का पालन और देख रेख हमें अपनी कन्या के समान करनी चाहिये। गौ ने इस जगत् में कोई पाप नहीं किया। इसलिये उसको नहीं मारा जाना चाहिये।

सा गाम् अनागाम् अदितिं वधिष्ट। ऋ०।

गौ को उसके स्वेच्छानुसार घूमने देना चाहिये। उसे बाँधना नहीं चाहिये। गौ से शस्त्र को दूर रखो। गौ के पास शस्त्र मत ले जाओ। गौ को मारने वाले को समाज से बाहर निकाल दो। केवल दुष्ट बदमाश लोग ही गाय को हानि पहुँचा सकते हैं। यदि तुम गाय को मारोगे तो हम तुम्हें गोली से उड़ा देंगे।

यदि नो गां हंसि···सीसेन विध्यामः। अथर्व०।

जो गाय को लात से मारता है उसका मैं पूरी तरह से नाश करूँगा। केवल पतित आदमी ही गौ का मांस खाता है। वह भी एक दिन ही जीता है। कल को वह भी मरेगा।

गौ कहती है—बच्चे मेरा दूध पीकर जल्दी बोलना सीख जाते हैं, मैं विद्वानों के हितार्थ आई हूँ मेरे में देवताओं के सब गुण हैं। जो मुझे मारता है उसने, पहले अपने आत्मा का हनन किया है।

इन उपरोक्त उद्धृत मन्त्र-प्रतीकों के अतिरिक्त यदि मीमांसा कहती है कि गोमांस खाना और यज्ञों में आहुति देनी चाहिये तो वेद इसके उत्तरदायी नहीं हैं। वास्तव में तो मैं भी नहीं कह सकता कि मीमांसा क्या कहती है? क्योंकि मैंने उस पुस्तक को देखा भी नहीं। परन्तु वेद स्वयं अपने आप अपने प्रभुवाक्यों के सम्बन्ध में निर्देश करता है।

विद्वान् प्रोफेसर ने स्वयं भी कुछ विचार बिन्दु उठायें हैं, जैसे (१) शिकार करना और प्रतिस्पर्धी दौड़ें। इत्यादि।

रथों के सम्बन्ध में वेदों में बहुत कुछ है, परन्तु चारों वेदों में शिकार के सम्बन्ध में कोई बात नहीं है।

सन्यास के सम्बन्ध में ऋग्वेद १०। १५। १४ मन्त्र उद्धृत किया जा सकता है। परन्तु उस मन्त्र में स्पष्ट नहीं है। अभी मैं कोई उद्धरण तुरन्त नहीं बतला सकता। इस पर भविष्य में विचार करेंगे।

श्री डा० राज से मेरा अन्तिम जोरदार निवेदन है कि यदि वे ठीक २ वेद-मन्त्रों की व्याख्या देखने के लिए तीव्र उत्सुक हैं तो उन्हें जिज्ञासु के समान भ्रमण करना चाहिये, जैसे महर्षि दयानन्द ने भ्रमण किया था। वह अपने समय के संस्कृत के अपूर्व विद्वान् थे तो भी उनको अपने कुछ संदेह थे जिनको दूसरा कोई नहीं जानता। उन्होंने काशी में बड़े २ विद्वानों से शास्त्रार्थ किये। मथुरा में उनका दण्डी विरजानन्द ने पथप्रदर्शन किया। श्री दण्डी जी ने दयानन्द को पढ़ाने से इनकार कर दिया था जब तक वे सिद्धान्त कौमुदी जैसे अनार्ष ग्रन्थों को यमुना में नहीं फेंक देंगे। अगले दिन उन्होंने इस बात की आवश्यकता अनुभव की यमुना में वे सब पुस्तकें फेंक दी जांय और फेंक दीं। तभी विरजानन्द जी ने उनको तीन वर्ष तक पढ़ाया। और दयानन्द ने वेदों का प्रकाश देखा।

राज जी, आप भारत के एक उज्ज्वल रत्न हैं। जो ज्ञान आपके पास है, आप उसके धनी हैं। उस धन को आपसे कोई छीन नहीं सकता। परन्तु वेदों का ज्ञान वेदों के विद्वानों से ही प्राप्त हो सकता है। बनारस में श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु एक महापुरुष हैं। ऐसे लेख जो आप 'आर्गं नाइजर' में छापते हैं, इनसे आपको कीर्त्ति मिलने वाली नहीं है। यदि आप भारत में अमर होना चाहते हैं तो आप अंग्रेजी में वेदों का अनुवाद कीजिये, और आप हिन्दू धर्म और वेदों की सेवा कीजिये। आप ऐसे पुरुष हैं, जो इस बड़े काम को कर सकते हैं। यदि आप पूर्वोक्त समस्या पर परामर्श करना चाहते हैं तो आप हिन्दी संस्कृत में लिखें, और बनारस की वेदवाणी पत्र में लेख दें। वेदों के विद्वान् अंग्रेजी को व्यवहार में नहीं लाते॥
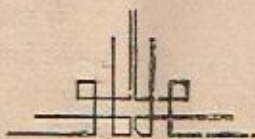
पाणिनीय व्याकरण की रचना का वैज्ञानिक रहस्य

[लेखक—श्री पं० ब्रह्मानन्द जी स्नातक गुरुकुल हरपुरजान-बिहार]

महाकवि माघ ने कहा है—

"अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना ।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा ॥"

इस श्लोक को यदि उपमानोपमेयव्यत्यय से पढ़ें, तो ऐसा होगा—

"अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना ।
राजनीतिरिवाभाति शब्दविद्या ह्यपस्पशा ॥"

प्रस्तुत में इस श्लोक से इतना ही आशय ग्राह्य है कि शब्दविद्या पस्पशा अर्थात् अष्टाध्यायी पर पतञ्जलिकृत महाभाष्य की भूमिकारूप पस्पशाह्निक के बिना प्रकाशमान नहीं होती। यह बात सभी रचनाओं के सम्बन्ध में समान रूप से घटित होती है। किसी भी रचना को पढ़कर यदि हम यह न समझें कि वह रचना किस विज्ञान के आधार पर बनाई गई है, तो हम उसमें गम्भीरता से प्रवेश नहीं कर सकते तथा न उस रचना का वास्तविक आनन्द ही प्राप्त कर सकते हैं। महाभाष्य में कहा है—

"यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥"

अर्थात् बिना तत्त्व समझे पढ़ा हुआ भस्म में दिये हुए इन्धन के समान प्रज्वलित नहीं होता। पुनश्च—

"चत्वारि वाक्परिमिता पदानि,
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति,
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥"

अर्थात् अविद्वान् पुरुष वाणी के चतुर्थांश ध्वनि का ही प्रयोग करते हैं। परा, पश्यन्ती और मध्यमा रूप वाणियाँ, जो कि हम लोगों के अन्दर अव्यक्त रूप से विद्यमान हैं, उनको वे नहीं जानते।

पुनश्च छान्दोग्योपनिषद् में कहा है कि—

"यदेव श्रद्धया विद्ययोपनिषदा करोति तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति ।"

अर्थात्—"जो कार्य्य श्रद्धा विद्या एवं रहस्य-ज्ञान-पूर्वक किया जाता है वही विशेष फलदायक होता है।"

स्वामी रामतीर्थ ने जापान में भाषण करते हुए कहा था कि यद्यपि आप लोग वेदान्त के अनुसार आचरण करते हैं किन्तु वेदान्त का विज्ञान नहीं जानते, अतः पूर्ण सफल नहीं हो सकते। पुनश्च महाभाष्य में कहा है कि—

"एवन्तर्हि नापि ज्ञाने धर्मो नापि प्रयोगे। किन्तर्हि ? शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देन ।"

अर्थात्—"न केवल शब्दों के ज्ञान में धर्म है और न केवल प्रयोग में। किन्तु ज्ञान-पूर्वक प्रयोग में धर्म है।" इत्यादि बहुत से प्रमाणों से रहस्य-ज्ञान-पूर्वक अध्ययन की विशेष सफलता सिद्ध होती है।

पाणिनीय व्याकरण की महत्ता न केवल भारतवर्ष में अपितु विश्व में विदित है। इस पाणिनीय व्याकरण के पूर्व भी संस्कृत-भाषा के बहुत से व्याकरण बन चुके थे। यह पाणिनीय व्याकरण में प्रदर्शित आचार्य्यों के नामों से प्रतीत होता है। तद्यथा-१—सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे। २—तृषिमृषिकृशेः काश्यपस्य। ३—अवङ् स्फोटायनस्य। ४—गिरेश्च सेनकस्य। इत्यादि। किन्तु आजकल भारतवर्ष में पाणिनीय व्याकरण का इतना अधिक प्रचार हो गया है कि अन्य सभी व्याकरण लुप्तप्राय हो गए हैं। इसी व्याकरण को अत्यधिक महत्त्व-पूर्ण समझ कर इस पर विभिन्न आचार्य्यों ने वार्त्तिक तथा भाष्य बनाये। जिनमें कात्यायन का वार्त्तिक तथा पतञ्जलि का महाभाष्य आजकल प्रचलित है। महाभाष्य के 'भारद्वाजीयाः पठन्ति" इत्यादि वाक्यों से यह विदित होता है कि कात्यायन के अतिरिक्त भी वार्त्तिककार हुए थे। आज यह व्याकरण अपनी टीकाओं के सहित अत्यधिक विस्तृत है। अतः यह व्याकरण किस विज्ञान के आधार पर बनाया गया है, यह विषय अवश्य ध्यान देने योग्य है। महाभाष्य ने इस व्याकरण के सूत्रों के प्रत्येक पद की गम्भीरता से परीक्षा की है। तथा इस के महत्त्व से प्रभावित होकर एक स्थान पर कहा है—"सामर्थ्ययोगान्नहि किंचिदत्र पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात् ।"

महाभाष्य (६ । १ । ६९ इको यणचि)

अर्थात् सामर्थ्य के योग से मैं इस शास्त्र में कुछ भी अनर्थक = निष्प्रयोजन नहीं देखता। अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय, प्रथम पाद के प्रथम सूत्र 'वृद्धिरादैच्' के महाभाष्य में पतञ्जलि कहते हैं—

[टा. पृ. ३ का शेष]

ग्राहकों को वेदवाणी के अन्य ग्राहक बनाने को कहा गया है। इस प्रसंग में मेरा सम्पादक जी से नम्र निवेदन है कि वे एक पत्र अनु सचिव उत्तर प्रदेशीय सरकार, शिक्षा विभाग' को लिखें जिसमें यह प्रार्थना की जावे कि अन्यान्य पत्र-पत्रिकाओं की भाँति वेदवाणी पत्रिका को भी सरकारी विद्यालयों के पुस्तकालयों में पठनार्थ निर्धारित करने की कृपा की जाय; क्योंकि उक्त विभाग द्वारा ऐसी बहुत सी साप्ताहिक मासिक पत्रिकायें बराबर स्वीकृत की जाती है। यद्यपि संदेह है कि अंग्रेजी द्वारा ही अथवा कल्याण समझाने वाले संबंधित अधिकारी इस पत्रिका की विशेषता को न समझ सकें अथवा अवहेलना करें, फिर भी एक बार प्रयत्न करके देखिये क्या उत्तर मिलता है।

जयदत्त शर्मा, शक्तिसदन पु. कि. लखनऊ

इस विशेषाङ्क में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा की गयी वेदभाष्य की शैली और उनकी सम्मतियों की सप्रमाण और सयुक्तिक आलोचना की गई है। पं० भगवद्दत्त रिसर्चस्कालर के लेख चिरकालिक अध्ययन और गम्भीर अन्वेषण के पश्चात् लिखे गये हैं। पाश्चात्यों की नकल में कुछ भारतीय विद्वान् भी बेसिर पैर की बातें कहते और लिखते रहते हैं। इन सब का निराकरण भी तत्काल होते रहना चाहिये। प्रस्तुत अंक इस दिशा में स्तुत्य प्रयत्न है। इस अंक का और इस पत्रिका का हम विस्तृत प्रचार चाहते हैं!

सम्पादक 'सफल जीवन' बेयर्ड रोड देहली

वेदवाणी के विशेषाङ्क पाश्चात्य-मत-परीक्षणाङ्क

पर

माननीय विद्वानों और पत्रकारों की सम्मतियाँ

वेदवाणी का विशेष अंक मिला। आप के परिश्रम को देख कर प्रसन्नता हुई। इस अंक द्वारा अति महत्त्वपूर्ण विषय की चर्चा को आप सामने ले आए हैं। अगले वर्ष फिर इसी को आगे बढ़ाया जाय तो खोज का मार्ग प्रशस्त होगा। वस्तुतः यह क्षेत्र मनोवेगों की उष्णता का नहीं, शान्ति से विचार करने का है। वेदों के अनेक शब्द अतिगूढ़ हैं। वेद-विज्ञान सृष्टि-विद्या के अर्वाचीन विज्ञान की तरह ही गूढ़ातिगूढ़ है।

वासुदेवशरण अग्रवाल—बनारस

मैंने विशेषांक देखा। बहुत ही सुन्दर आकर्षक और सारगर्भित लेख-मालाओं से ग्रथित है। इस युग में वैदिक सन्देश जनता तक पहुँचाने का उदात्त कार्य जो आपने प्रारम्भ किया है—उसमें यह विशेषाङ्क एक विशेष स्थान और महत्त्व रखता है। आपका अपना लेख तो ऐसा है जो पृथक् पुस्तकाकार प्रकाशित होना चाहिये।

परमानन्द—नाभा

वेदवाणी का वेदाङ्क प्राप्त हुआ, तदर्थ हार्दिक धन्यवाद। उत्तम लेखसंग्रह को देखकर प्रसन्नता हुई। मैं इससे लाभ उठाने का यत्न कर रहा हूँ।

धर्मदेव विद्यावाचस्पति—हरिद्वार

सं० २०१२ का अष्टम वर्ष का 'वेदवाणी विशेषाङ्क' पढ़ा और बहुत सी शंकाओं का समाधान पाया—हृदय में शांति हुई। ऋषियों मुनियों पर भी दोषारोपण करने वाले, लाञ्छन लगाने वाले, एवं च पण्डितमानी पाश्चात्य और तदनुगामी पौरस्त्य वेद-शास्त्र के विचारकों के सम्बन्ध में उत्पन्न भ्रान्ति दूर हुई और अपने अवश्यमादरणीय सम्मानार्ह पूर्वजों के विद्वानों के प्रति श्रद्धा बढ़ी। इसके लिये प्रत्येक वेदवाणी का पाठक, नहीं तो, मैं अवश्य आप सब महानुभावों का कृतज्ञ एवं ऋणि हूँ। विशेषकर सर्व श्री पं० भगवद्दत्त जी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, पं० वीरेन्द्र जी शास्त्री, पं० रामशंकर भट्टाचार्य, आचार्य वैद्यनाथ जी शास्त्री प्रभृति विद्वानों की विद्वत्ता शास्त्रों का गहन-परिशीलन और तदनु प्रबल युक्तियों से पाश्चात्यों की मिथ्या धारणाओं और स्वदेश की भी यज्ञों में पशु वध, नरबलि इत्यादि प्रचलित अवैदिक भ्रान्तियों के खण्डन-मण्डन की प्रतिभा वस्तुतः प्रशंसनीय है। परं इन सबसे विशेषाङ्क का अन्तिम लेख, जो पूज्यपाद सम्पादक जी के बड़े भारी प्रयत्न का परिणाम है उनकी वेदादि शास्त्रों के प्रति कितनी लगन है इसका प्रत्यक्ष परिचायक है। आप सबको मेरा बहुत २ नमस्कार है—इसी विशेषाङ्क में कहीं २

[शेष पृष्ठ २१ पर देखो]

ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन

पर

हमारे प्रेमी पाठकों के उद्‌गार

"इस बार आपने इस ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण बहुत ही उत्तम निकाला। इसके लिये आप व ट्रस्ट बधाई के पात्र हैं। वास्तव में ट्रस्ट ही महर्षि दयानन्द का सच्चा उत्तराधिकारी है जो ऋषि के सिद्धान्तों का प्रचार करके ठोस काम कर रहा है।······इस राम लाल कपूर ट्रस्ट को ही सच्ची परोपकारिणी सभा कहना चाहिये, जो इतने उत्तम व सस्ते ग्रन्थ ऋषि की अन्तिम इच्छानुसार निकाल रहा है। इसके संस्थापक कौन थे और संचालक कौन है? ट्रस्ट के बड़े ग्रन्थों में ट्रस्ट का परिचय देना जरूरी है।······यह ट्रस्ट तो आर्य समाज की लाज रखने वाला है, जो ठोस कार्य कर रहा है। परमात्मा इस ट्रस्ट की दिनोदिन उन्नति करें॥"

जगदीशसिंह गहलोत एम० ए० क्युरेटर म्युज़ियम—जयपुर

"ऋषि के पत्र और विज्ञापन का द्वितीय संस्करण देखकर महान् हर्ष हुआ। पं० भगवद्दत्त जी आदि आप सब लोगों ने महान् तप और त्याग से यह कार्य संपन्न किया है, जिसके लिये सारा आर्य जगत् कृतज्ञ रहेगा। मुझे तो पुस्तक का नाम भी जब याद आता है, माथा उनके चरणों में झुक जाता है। अगर ऐसी पुस्तक विलायत में छपी होती तो १००) कीमत होती और लाखों की संख्या में छपती और लेखक को कई उपहार मिलते। पं० युधिष्ठिर जी ने उस पर मेहनत करके पुस्तक में मानो जान डाल दी है।······आपने २ पृष्ठ लिखकर और भी उपयोगिता बढ़ा दी है।······इसकी एक २ कापी (हर घर नहीं तो) हर समाज में जरूर होनी चाहिये"।

योधाराम—देहली

संपादक, प्रकाशक व मुद्रक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, बनारस।

ॐ

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ८] [अङ्क ७

इस अंक में पढ़िये

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

सहसम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक

वैशाख २०१३, मई १९५६
दयानन्दाब्द १३१
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५६

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) बनारस नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
" " वी० पी० से ५॥)
" " विदेश में ६)
इस अंक का ।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—**वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) बनारस नं० ६**

ऋग्वेद ओ३म् यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद अथर्ववेद

सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष ८ } काशी, वैशाख सं० २०१३ वि०, मई १९५६ ई० { अङ्क ७

स्तुति-विषय

अनन्त और अपार प्रभु

न यस्य द्यावापृथिवी अनु व्यचो न सिन्धवो रजसो अन्तमानशुः।
नोत स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यत एको अन्यच्चकृषे विश्वमानुषक्॥

ऋग्० १।४।१४।१४

न द्यावा पृथिवी न सूर्य, आकाश
न सिन्धवः[1] (न आकाशस्थ) जल

रजसः[2] (एवं) लोक लोकान्तर
अनुव्यचः[3] सकल वस्तुओं में पूर्ण

अर्थबोधक टिप्पणी—

१. स्यन्दन्ते प्रस्रवन्त्युदकान्यस्मिन्निति सिन्धुः—उ० १।११. Sea : ocean : river—आप्टे.
२. रज्यति तत् रजः। लोकः। सूक्ष्मधूलिः। स्त्रीपुष्पं। गुणो वा—उ० ४।२१७ air : atmosphere, a division of the world : cloud or rain water—आप्टे.
३. fr. व्यच् = व्याजीकरणे—तुदा० to deceive : surround : pervade—आप्टे.

यस्य[४]	तथा व्याप्त परमात्मा के
अन्तम्[५]	शक्ति-विस्तार को
आनशुः[६]	पा सकते हैं
उत न	और न
स्व	अपनी
मदे[७]	तेजी में
वृष्टिं युध्यत	युद्ध में शीघ्र शीघ्र हथियार फैंकने वाले सिपाहियों की तरह बूँदों की बौछार करने वाला बादल

(अस्य अन्तम् इस सर्वोपरि की शक्ति को पा सकता है

आनशुः)	(यह इतना महान् है कि)
एकः	अकेला ही
आनुषक्[८]	(सर्वत्र) व्याप्त होकर निरन्तर
अन्यत् विश्वं	अपने से भिन्न सारी प्रकृति और जीवों को
चकृषे	अनेक रूपों तथा अवस्थाओं में निरन्तर ले जाता रहता है

ऋषि-व्याख्यान—

हे परमैश्वर्य्ययुक्तेश्वर ! आप इन्द्र[१०] हो। हे मनुष्यो ! जिस परमात्मा का अन्त[११] इतना है, यह न हो, उसकी व्याप्ति का परिच्छेद[१२] (*इयत्ता*) परिमाण[१२] कोई नहीं कर सकता। *"न यस्य द्यावापृथिवी अन्तमानशुः"* तथा दिव अर्थात् सूर्य्यादिलोक, सर्वोपरि[१३] आकाश तथा पृथिवी—मध्य निकृष्ट[१४] लोक—ये कोई उसके आदि अन्त को नहीं पाते; क्योंकि *"अनुव्यचः"* यह सबके बीच अनुस्यूत (परिपूर्ण) हो रहा है। तथा *"न सिन्धवः रजसः अन्तमानशुः"* अन्तरिक्ष में जो दिव्य जल तथा सब लोक सो भी अन्त नहीं पा सकते। *"नोत स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यत"* वृष्टि-प्रहार से युद्ध करता हुआ वृत्र (मेघ) तथा बिजली गर्जन आदि भी ईश्वर का पार[१५] नहीं पा सकते। हे परमात्मन् ! आपका पार कौन पा सके ? क्योंकि *"एकः"* एक अपने से भिन्न सहाय-रहित स्वसामर्थ्य से ही *"विश्वम्"* सब जगत् को *"आनुषक्"* आनुषक्त अर्थात् उसमें व्याप्त होते और *"चकृषे"* (कृतवान्) आपने ही उत्पन्न किया है, फिर जगत् के पदार्थ आपका पार कैसे पा सकें ? तथा *"अन्यत्"* आप जगत् रूप कभी नहीं बनते, न अपने में से जगत् को रचते हो किन्तु अनन्त अपने सामर्थ्य से ही जगत् का रचन, धारण और लय यथाकाल[१६] में करते हो, इससे आपका सहाय हम लोगों को सदैव[१७] है।

४. सर्वैः पदार्थैः सक्तो भवतीति यद्। स्वद् यत् तद् ब्रह्मणः त्रयाणि नामानि—उ० १। १३२.
५. अमति गच्छतीति अन्तः। नाशः, समीपं, तत्त्वस्वरूपं, मनोहरं वा—उ० ३। ८६.
६. fr. अशूङ् = व्याप्तौ संघाते च—स्वा०। अश = भोजने—क्र्या०।
७. ardent passion : fride—आप्टे.
८. uninterruptedly.
९. विश्वं जगत्—उ० १। १५१
१०. इन्द्र हो = अनन्त ऐश्वर्य से युक्त हो
११. अन्त = शक्ति की सीमा
१२. परिच्छेद परिमाण = सीमा
१३. सर्वोपरि = सबसे बड़ा
१४. निकृष्ट = vile—near. शारीरिक वस्तुयें नजदीक हैं और गिराने वाली भी हैं।
१५. पार = totality of anything—विद्याशक्ति आदि का पूर्ण ज्ञान
१६. यथाकाल = ठीक समय में
१७. सदैव है = सदा प्राप्त हैं एवं सदा वाञ्छनीय हैं।

प्रत्येक हृदय में प्रभु का वास

[ले०—श्री पं० श्यामबिहारीलाल जी वानप्रस्थ, ज्वालापुर]

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसंविवेश ॥ यजु० ३२-११

(परीत्य, भूतानि) जो परमात्मा सब प्राणियों में सब ओर व्याप्त होकर (परीत्य, लोकान्) लोकों में चहुँओर व्याप्त होकर (परीत्य, सर्वाः, प्रदिशः, दिशः, च) सब उपदिशाओं दिशाओं और ऊपर नीचे व्याप्त होकर (ऋतस्य, आत्मानम्, अभिसम्, विवेश) सत्य के अधिष्ठान को चारों ओर से भले प्रकार प्रवेश करता है। (प्रथमजाम्, उपस्थाय) प्रथम उत्पन्न चारों वेदों को पढ़ व सेवन कर (आत्मना) हे विद्वन्! अपनी शुद्ध आत्मा से उसको प्राप्त कर, साक्षात् कर।

मन्त्र पर विचार-धारा

इस मंत्र की स्थिति यह है कि कोई योगी किसी विद्वान् को उपदेश कर रहा है कि जो प्रभु (परीत्य, भूतानि) सब प्राणियों में चहुँ ओर व्याप्त है। जीवों में प्रभु की व्याप्ति निरर्थक नहीं है। वहाँ स्थित वह उनके कर्मों चेष्टाओं का साक्षी हो रहा है और साथ ही भोगों को भी भुगवा रहा है। "ऋतं पिबन्तौ" शब्दों से कठोपनिषद् के अन्दर यही भाव दर्शाया गया है। आगे मुण्डकोपनिषद् में "अन्यः अनश्नन् अभिचाकशीति···" कह कर महर्षि अङ्गिरा ने यही भावना उद्बोधित की है। इस प्रकार प्रभु कर्म व भोग दोनों का साक्षी है।

(परीत्य, लोकान्) जो सब लोक लोकान्तरों में सब ओर व्याप्त है। जो कुछ वहाँ घटित हो रहा है उसे देखता है। भूगोलों के अन्दर जो स्वाभाविक अति तीव्र गतियाँ हो रही हैं, उनका आदि कारण वही है। "तद् उ न अत्येति कश्चन" कठोपनिषद् में कहकर यम ने नचिकेता को ब्रह्म की महिमा समझाई है कि कोई लोक प्रभु की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता। क्या सामर्थ्य कि कोई गोला ईशनिर्धारित मर्य्यादा का अतिक्रमण कर सके। जिस गोले की जो परिधि है, उसके बाहर वह कदापि नहीं जा सकता। इन भूगोलों में जो हलचलें जैसे भूकम्प, ज्वालामुखी पर्वत का विस्फोट बवण्डर, वज्रपात, ओलावृष्टि आदि २ घटनायें होती हैं, वह उसी के भय से होती हैं।

(अस्य भयात् सूर्यः तपति) उस प्रभु की आज्ञा से सूर्य तप रहा है इत्यादि भावनायें कठोपनिषद् में प्रदर्शित हैं। (परीत्य, सर्वाः, प्रदिशः, दिशः, च) वह सब उपदिशाओं, दिशाओं और ऊपर नीचे व्याप्त है। इन दशों दिशाओं में जो कुछ हो रहा है, उसका संकेत उसी की ओर से है। दिशाओं के समस्त व्यापार, चेष्टायें, और क्रियायें उसी के साक्ष्य में हो रही हैं। ऐसा जो सर्वव्यापक प्रभु है, उसके दर्शन का स्थान कहाँ है? बाहर तो उसका दर्शन संभव नहीं। वह तो बाहर भी है पर जीवात्मा शरीर के बाहर नहीं है। अतः बाहर जीव को प्रभु का दर्शन कैसे संभव है? प्रभु का दर्शन वहाँ बन सकेगा जहाँ द्रष्टा व दृश्य दोनों एक स्थान में हों।

वह है हृदय गुहा। "वेनः गुहा निहितम् तत् पश्यति" यजु०३२ के ११वें मंत्र के एक खण्ड में स्पष्ट बताया गया है; परन्तु प्रत्येक हृदय में प्रभु का दर्शन संभव नहीं। उसी हृदय में ईश-दर्शन होते हैं जो ऋत व सत्य का अधिष्ठान (आधार) बन जाता है। सत्य का आश्रय स्थान हो जाता है। जो सत्य की मूर्ति हो जाता है। सत्य में प्रतिष्ठित हो जाता है। जिसका मन, वचन व कर्म तीनों सत्य से युक्त हो जाते हैं। "तेषाम् एव एष ब्रह्मलोकः येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्" कहकर यही भाव प्रश्नोपनिषद् में दर्शाया गया है। ऐसे सत्य-मूर्त्ति में प्रभु दर्शन

देते हैं। (ऋतस्य, आत्मानम् , अभिसम् , विवेश) कहकर वेद ने यही भावना व्यक्त की है।

जो सत्य व्रत को धारण करता है, उसी को प्रभु का दर्शन होता है यह बात यजुर्वेद में भी उपदिष्ट है। "श्रद्धया सत्यम् आप्यते" सत्य के धारण करने से सत्य-स्वरूप परमात्मा प्राप्त किया जाता है। इस लक्ष्य को दृष्टि में रखकर वेद ने उपदेश किया है कि मानव सत्य-ग्रहण का व्रत लें। "अनृतात् सत्यमुपैमि" में यही शिक्षा है। केनोपनिषद् के अन्दर भी कहा गया है कि ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये "सत्यमायतनम्" सत्य आधार है। जो सत्य को अपना आधार बना लेगा उसी को ब्रह्मज्ञान उपलब्ध होगा। ऋषि विद्वान् को बता रहे हैं कि (प्रथमजाम्, उपस्थाय) वेद-चतुष्टय को पढ़कर, समझकर और आचरण में लाकर (आत्मना) अपने शुद्ध स्वरूप से उसको प्राप्त करो। परमात्म-प्राप्ति का प्रमुख साधन वेदाध्ययन है, चारों वेदों का साङ्गोपाङ्ग पठन है। गुरुसेवा में रहकर चारो वेदों को पढ़ना चाहिये, फिर जीवन को उनके साँचे में ढाला जाये। इसीलिये ऋषि दयानन्द ने आर्य्य समाज के नियमों में वेद-पाठ को परम धर्म ठहराया है। मनु महाराज ने भी वेदपाठ पर बड़ा बल दिया है। वेद बुद्धि का देवता है। इससे सत्त्वशुद्धि होती है। वह सूक्ष्म व कुशाग्र बन जाती है। आत्मतत्त्व जैसी निर्मल हो जाती है। तभी कैवल्य-पद प्राप्त होता है। यही मानव-जीवन का सार है। सफलता भी यही है। यही कृत-कृत्यता की चरम सीमा है। इसी अवस्था में ध्येय व परम शान्ति की उपलब्धि होती है॥

नामकरण संस्कार का महत्त्व तथा उससे शिक्षाएं

[ले०—*श्री महात्मा प्रभुआश्रित जी महाराज, रोहतक*]

प्यारे महानुभावो ! आप इस नामकरण संस्कार के समय पता नहीं क्या प्राप्त कर रहे होंगे ? मुझे तो एक शिक्षा प्राप्त हो रही है। क्या शिक्षा ?

नाम को तो एक है, पर हैं चार प्रकार की शिक्षाएँ।

चार प्रकार की शिक्षा—(१) परमात्मा ने जब सृष्टि के आदि में अपने आपको प्रगट किया अथवा सबसे पहला रूप जो प्रगट किया, वह था माता पिता का और जीव को पुत्र के रूप में प्रगट किया। अन्य सब सम्बन्ध पीछे के हैं, जैसे इस नन्हे शिशु को अपनी माता पिता का सत्य ज्ञान नहीं परन्तु माता पिता को ज्ञात है कि यह हमारा पुत्र है। ऐसे ही आदि सृष्टि में भी चाहे मनुष्य और पशु सब जवान उमर के पैदा हुवे, तब भी अपने माता पिता (प्रभु) का ज्ञान न था, प्रभु को ही था।

(२) जैसे इस अपने सम्बन्ध अथवा दूसरे का सम्बन्ध भ्राता, भगिनी का, धन, वस्तु का ज्ञान माता स्वयं कराती है। ऐसे वह परम पिता परमात्मा मङ्गलमयी माँ के रूप में अपने ज्येष्ठ पुत्र ऋषियों को अपना तथा अपनी सम्पत्ति, जगत्, जगत् व्यवहार का ज्ञान स्वयं कराता है।

(३) तीसरी शिक्षा मानव जन्म का उद्देश्य बिलकुल स्पष्ट हो गया, इस नाम के रखने वाले मन्त्र से—अर्थात्

कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि।
यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनाऽतीतृपाम।
भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याम सुवीरो वीरैः
सुपोषः पोषैः॥ यजु० ७। २९॥

अर्थात् चार प्रकार का तो ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य का धर्म है और तीन प्रकार का कर्म करना कर्त्तव्य है। इन तीन लोकों में ऐसा धर्म और कर्म कर लेने पर फिर जन्म मरण के चक्र में नहीं आयगा।

<u>चार प्रकार का ज्ञान</u>

(i) कोऽसि—तू कौन है ?

(ii) कस्योऽसि—कहाँ से आया है?

(iii) कस्यासि—तू किसका है?

(iv) को नामासि—तेरा नाम क्या है?

संसार का उपकार करना मुख्य धर्म है—तीन प्रकार का कर्म जो तीनों लोकों भूर्भुवः स्वः में व्याप्त हो जाय, जैसे यज्ञ भूर्भुवः स्वः तीनों लोकों को व्याप्त कर लेता है, ऐसा कर्म यज्ञमय जीवन है।

विचारने की बात है कि प्रजा, सुप्रजा—वीर, सुवीर पोषक, सुपोषक क्यों कहा? यह तीन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण रूपों को बताते हैं। वह अपने लिये तो प्रजा, वीर, पोषक तो होंगे ही परन्तु सुप्रजा, सुवीर सुपोषक नहीं। अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहें, अपितु संसार का उद्धार करने वाले हों और संसार का उपकार करना ही अपना मुख्य धर्म समझें। इसी का नाम यज्ञ रूप से व्याप्त होना है। अपना काम करने से अपने में व्याप्त और जिस लोक का काम करे, उसी लोक में व्याप्त हो गया।

यह यज्ञ २ प्रकार के हैं—आपूर्त्त और इष्ट। आपूर्त्त से भूः लोक और इष्ट से भुवः स्वः लोक की व्याप्ति, तृप्ति होती है।

(४) चौथी शिक्षा जो मुझे आज मिली है, वह यह है कि माता अपने बच्चे को कभी त्याग नहीं करती। केवल २ अवस्थाओं में उससे पृथक् हो जाती है।

(i) जब बच्चा सो रहा हो।

(ii) जब किसी और को अवलम्बन बना लेता है। उसका मन और दिल उसी अवलम्बन में पचे जाता है।

अवलम्बन बदलता है—सोते समय तो उसे ज्ञान ही नहीं, परन्तु जागते समय मन को कोई अवलम्बन चाहिये। मन बिना अवलम्बन के एक क्षण भी नहीं रह सकता। यह एक प्राकृतिक नियम है। जब बच्चे का किसी खेल में मन लग जाता है, वह उसका अवलम्बन बन जाता है। माँ खिलौना अथवा बाजा उसे दे देती है, बच्चा उसी में मस्त हो जाता है, वह माँ को भूल जाता है और माँ उसे छोड़ कर और काम में चली जाती है।

जब बड़ा हुआ तो अवलम्बन और भी बदलता और बढ़ता गया और उतनी २ देर के लिये माँ छूटती गई। जब धन अवलम्बन बना तो दिनभर माँ से गैरहाजिर। जब स्त्री और बच्चे अवलम्बन बने तो २४ घण्टे गैरहाजिर, फिर कभी २ मेलाप होता है।

जीव और परमेश्वर की यही अवस्था है—ठीक इसी प्रकार जीव और परमेश्वर की बात है। पशु तो सोए हुये पुत्र हैं और मनुष्य जागते हुये पुत्र हैं। परन्तु मन का अवलम्बन धन, जन, मान बन जाने से आज हम मङ्गलमयी माँ से पृथक् वास कर रहे हैं।

संस्कार का लक्ष्य तो मन, बुद्धि को संस्कृत करना है। मन तो बिना अवलम्बन के रहता नहीं और बुद्धि ने उसी का सोचना है जिसका मन को अवलम्बन है। चाहे मन में माता को बिठाए, चाहे स्त्री को, चाहे धन को बसाले, चाहे दानपुण्य, मान को बसाले चाहे प्रभु नाम को।

प्रभु हमें सुमति दें कि हम अपने उद्देश्य और सच्चे अवलम्बन को अपना सकें॥

वेद में ऋत

[ले०—श्री लालचन्द जी मेरठ]

(२)

ऋत का अवलंबन दृढ़ है और सर्वश्रेष्ठ है। जिसने ऋतपालन करने का व्रत लिया है, उसमें आत्मबल का विकास होता है। आत्मबल महाबल है। आत्मशक्ति महाशक्ति है। परम ऋतावान् परमात्मा है, जो शाश्वत् काल से अपने नियमों का पालन कर रहा है। इसी लिए तो सृष्टि रचना में तथा विश्वशासन में सुव्यवस्था है और सौन्दर्य है। ऐसी सुव्यवस्थित शासन-शैली, जिसमें दया और न्याय प्रेम और सत्य एक साथ अनुपम सौन्दर्य लिए हुए प्रकट रहें हों, अवश्य एक परम चैतन्य और नियामक सत्ता का कार्य है। वह सत्ता सब में ओत प्रोत है। इसलिए वह सत्ता निराकार और निर्विकार होनी चाहिये। शाश्वत् सनातन परमतत्त्व ही में यह सामर्थ्य है कि वह सब में रहे और निर्लेप रहे। आत्माओं पर वातावरण और संस्कारों का प्रभाव पड़ता है, पर उस परमतत्त्व पर किसी का प्रभाव नहीं पड़ता। वह सदा एक रस रहता है। उसमें विकार नहीं होता। वह परमतत्त्व सबका नियामक है और उसमें अनन्त धारणा शक्ति है, तभी तो वह सारे विश्व को धारण किये हुए है। यह विश्व निराधार नहीं है। इसका आधार एक परमतत्व है, जो सारे विश्व का सूत्रात्मा है। जिसमें सभी पदार्थ चर अचर हैं और वह स्वयं सबमें व्यापक है, सभी में विद्यमान है। सभी के हृदयों में वह रम्यमान होकर वह सिद्ध कर रहा है कि वह किसी से घृणा नहीं करता, सबका मान रखता है, तभी तो वह हृदयविहारी सबके साथ है। पर उसका साथ ऐश्वर्यवान् इन्द्र जीवात्मा ही अनुभव करता है, जिसने उस परमात्मा के गुण स्वयं धारण किये हैं। वह परमतत्त्व सभी में विराजमान है। परम ऋतावान् होने से भगवान् सदा से ऋत का ही व्यवहार किये जारहे हैं। वे अपने नियम-पालन में दृढ़ हैं।

वह यज्ञ-पुरुष इस ऋत रूपी सूर्य द्वारा हमारे जगत् को जीवन प्राण दे रहा है। सूर्य में प्रकाश और जीवन-शक्ति उसी परम शक्तिमान् की है। वायु में गति उसी परम वेगवान् की है। जल में तृप्ति और शान्ति उसी पूर्ण और स्वयं तृप्त महादेव की है। विद्युत् में चमक और गति उसी ने दी है। वह ही परम देदीप्यमान स्वयं ज्योतिस्वरूप है। सबका आश्रय वही एक भगवान् है। वह सब में ऋत रूप से विराजमान है और ऋत ही की प्रेरणा दे रहा है। जो व्यक्ति उसकी प्रेरणा को सुनता है, उस प्रेरणा का आदर करता है और तदनुसार जीवन व्यवहार करता है, उसका अभ्युदय और कल्याण साथ साथ होता रहता है।

मानव की जीवन ज्योति का पूर्ण विकास जीवन और ज्योति के केन्द्र सच्चिदानन्द भगवान् के साथ मेल अनुभव करने से ही संभव है। इसका साधन ऋताचार ही है। ऋताचार वह संयत रहन-सहन और जीवन व्यवहार है, जो कि भगवान् के अनुकूल है। अनुकूल जीवनचर्या ही भगवान् का प्रेम पाने का साधन है। भगवान् का प्रेमपात्र बनने से किसी प्रकार की भी न्यूनता नहीं रहती और मनुष्य में विघ्न बाधाओं को नष्ट करने की दिव्य शक्ति अनुभव होती है।

एक शक्ति है जो आत्मा में निहित है, जिसका उद्घाटन करना हमारा ध्येय है। उस महाशक्ति के उदय होने से मनुष्य में पाप का दमन करने का सामर्थ्य हो जाता है। शक्तिमान् मनुष्य उस शक्ति का संचय ऋताचार से करता है। सत्य, न्याय और प्रेम का आचरण मानव को सशक्त और पावन बना देता है। उसमें अन्यजनों को सुधारने की क्षमता हो जाती है। ऋत का निरन्तर आचरण करने से जो सामर्थ्य प्राप्त होता है, उसमें जो उत्साह और साहस उदय होता है, तथा जो उसमें चरित्र बल होता है, वह बल ही मनुष्य को समाज-सुधार के पवित्र कार्य में सफल करता है। चरित्र-बल का सदुपयोग यही है कि मनुष्य में अन्य जनों के सुधार करने की भी योग्यता हो जाय। वह पाशविक बल नहीं होता। इसमें विनय, नम्रता और शिष्ट व्यवहार के साथ मनुष्यों को अपने ध्रुव सत्य की ओर आकर्षित किया जाता है। उनके मस्तिष्क तथा हृदय दोनों को प्रभावित करके उनमें असत्य को त्याग कर सत्य को ग्रहण करने में रुचि उत्पन्न की जाती है। अनृत को त्याग कर उनमें ऋत में जीवन-समर्पण की प्रेरणा दी जाती है और उनमें उन्हें मोह अन्धकार के आवरण से निकाल कर ज्योति के तेज आलोक की झलक दिखाई जाती है। समाज-सुधार

के लिये तो ऋतावान् ही समर्थ है। ऋत में अनुपम क्षमता है। ऋत में महान् शक्ति है, ऋतावान् में अतुल उत्साह और साहस होता है। वह अमृत का विरोध सफलता-पूर्वक कर सकता है। परम ऋतावान् और ऋत के अटल सृष्टि-नियम निभाने में सुप्रसिद्ध भगवान् ही साधक का आदर्श होना चाहिये। उसी परम देव के कर्मों में एक सुख ऋत भी है, जो व्यापक गुण है। साधक का उद्देश्य भी भगवान् है और आदर्श भी भगवान् ही है। धैर्य से आत्मविश्वास धारण किये हुए भगवान् के अनुकूल कार्य करता हुआ साधक पूरी लग्न से उन्नति के पथ पर चलता रहे तो साध्य प्राप्ति निश्चित होती ही है।

ऋताचारी व्यक्तियों के लिए वेद में मिलकर कार्य करने का आदेश है—

ऋतावाना निषेदतुः साम्राज्याय सुक्रतू।
धृतव्रता क्षत्रिया क्षत्रमाशतुः ॥

ऋ० ८। २५। ८॥

सत्य न्याय को जीवन व्यवहार में निभाने वाले, व्रत धारण करने वाले, दुखियों का त्राण करने वाले, वीर जन साम्राज्य के लिए उत्तम कर्म करने वाले एक भावना से मिलें और बल ऐश्वर्य को प्राप्त करें।

ऋताचारी को उचित है कि वह सत्य कहे पर मधुर वाणी से कहे। वेद में कहा है—

ऋतस्य जिह्वा पवते मधु प्रियं
वक्ता पतिर्धियो अस्या अदाभ्यः।
दधाति पुत्रः पित्रोरपीच्यम्,
नाम तृतीयमधि रोचने दिवः ॥

ऋ० ९। ७५। २॥

ऋताचारी की वाणी अति उत्तम हृदय को तृप्त करने वाले आनन्दमय अमृतस्वरूप ज्ञान को बहाती है, ऋताचारी की वाणी में अद्भुत माधुर्य और रस होता है, जो हृदयग्राही होता है। सब ही को अपनी ओर आकर्षित करता है। उसकी वाणी में सत्ज्ञान होता है, और प्रेम तथा सौहार्द की भावना व्यक्त होती है। इस सत्य वक्ता की वाणी को कभी दबाया नहीं जा सकता। वह बुद्धि का स्वामी होता है। सब कुछ जो कहता है सही कहता है। वह सदा हितकारी तथ्य ही कहता है। ऐसा सत्याचरण करने वाला व्यक्ति अपने माता पिता से भी बढ़कर सबसे अपार दिव्य प्रकाश से युक्त दिव्यधाम में, दिव्य-स्थिति में, ज्योतिर्मय कान्ति वाला यश पाता है। ऋताचारी व्यक्ति अपने सदाचार और उत्तम गुण कर्म स्वभाव से सभी भद्रजनों में आदर पाता है।

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीः
ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।
ऋतस्य श्लोको बधिराततर्द
कर्ण बुधानः शुचमान आयोः ॥

ऋ० ४। २३। ८॥

ऋत की ही सनातन से चली आई सत्य ज्ञान पूर्ण वाणियें हैं। ऋत का धारण और मनन सारे पापों का नाश करता है। ऋत का सुन्दर वचन बहरे कानों तक को छेद देता है। ये वचन उत्तम बोध प्रदान करते हुए मनुष्य को पवित्र कर रहे हैं।

ऋत के मार्ग को भली प्रकार देखकर उस पर चलने से जीवन उन्नत होता है। वेद में कहा है—

ऋतस्य पन्थामनुपश्य साधु
अङ्गिरसः सुकृतो येन यन्ति।
तेभिर्याहि पथिभिः स्वर्गं
यत्रादित्या मधु भक्षयन्ति,
तृतीये नाके अधिविश्रयस्व ॥

अथर्व १८। ४। ३॥

ऋत के मार्ग को, सत्कर्म की विधि को, यज्ञ की जीवन-चर्या को, भली प्रकार समझ, जिस यज्ञमय जीवन को अपने आचरण में उत्तम कर्म करने वाले अपनाते हैं, जिस मार्ग से शुभ कर्म करने वाले जाते हैं। भले लोगों को, सुकृत्य करने वालों को, आदर्श मान कर मनुष्य भले ही काम करे और ऋजुमार्ग से चले, जिससे अपना भला हो और साथ सबका मंगल हो। उन यज्ञ मार्गों को अपनाकर उस सत्य न्याय को जीवन व्यवहार में लाकर मनुष्य आनन्द प्राप्त करें और परम उत्तम स्थिति को प्राप्त होवें। ऋत पथ ऐसा उत्तम है कि उससे मनुष्य समर्थ होता है। उससे वहां अखंड ब्रह्मचारी अखण्ड व्रतधारी नित्य कर्तव्यरत रहते हुए सुमधुर अमृत का आनन्द भोगते हैं। ऋत मार्ग पर चलता हुआ मनुष्य

प्रसन्न रहता है और यशस्वी होता है। मनुष्य परम उत्तम अमृत लोक में, स्वर्ग में परम आनन्द की स्थिति में रहे। ऋत पथ में परम सुख है परम शान्ति है।

उषा के पहले जागकर भगवान् की आराधना करने के बाद शुभचिन्तन करने से कल्याणकारी संकल्प उदय होता है। इस भाव को कैसी सुन्दरता से वेद में दर्शाया है—

ऋतस्य रश्मिमनुयच्छमाना
भद्रं भद्रं क्रतुमस्मासु धेहि।
उषो नो अद्य सुहवा व्युच्छ
अस्मासु रायो मघवत्सु च स्युः॥
ऋ० १।१२३।१३॥

हे उषा! तू सूर्य की किरण के अनुकूल प्रकाश फैलाती हुई उसमें सत्यज्ञान के पावन प्रकाश को अति सुख और कल्याणजनक यज्ञरूप धर्माचरण सत्कर्म को हममें धारण करा। उषा से पहले भगवान् के गुणों का चिन्तन मानव हृदय में और मन में उत्तम भाव और संकल्प उदय करता है। हे उषा! तू आज उत्तम समर्पण की भावना से युक्त हमारे बीच से अज्ञान अन्धकार को नाश कर और हममें सब प्रकार के सामर्थ्य में गतिशील धन हो। हमारा धन गतिशील हो। उससे हमारा तथा समाज का अभ्युदय हो। हमारा धन, ऐश्वर्य बने, अपने धन पर हमारा अधिकार हो, हम धन के स्वामी हों। हमारा ऐश्वर्य हमें समर्थ बनावे और हम समर्पण करने वाले तत्परता और लग्न से कार्य करने वाले हों। अपने धन पर अपना स्वत्व हो, हमारा धन हमारे लिए बल, शक्ति, उत्साह, साहस, पराक्रम और उन्नति का साधन बने। हम सब प्रकार के ऐश्वर्यों के स्वामी हों, साधन-संपन्न हों।

ज्ञानवान् मनुष्य ऋत की योग्य प्रेरणाओं से सबका सच्चा हित करे। वेद में कहा है—

ऋतस्य वा केशिना योग्याभिः
घृतस्नुवा रोहिता धुरि धिष्व
अथावह देवान् देव विश्वान्
स्वध्वरा कृणुहि जातवेदः॥
ऋ० ३।६।६॥

हे प्रज्ञावान मनुष्य! तू संयमी परस्पर स्नेही, अनुरागरत सन्तानों वाले स्त्री पुरुषों को परिवारों को, ऋत की योग्य प्रेरणाओं से सर्वहितकर सर्वमंगल के कार्यों में नियुक्त कर, और हे दिव्य गुणधारी मनुष्य! तू सारे दिव्यजनों को उत्तम उद्देश्य तक ले आ और उन्हें उत्तम रीति से परस्पर की हिंसा से रहित सौम्य स्वभाव वाला बना।

पूजनीय ज्ञानीजनों से ही ऋत के मार्ग का ज्ञान होता है, यह भाव वेद ने कैसे सुन्दर शब्दों में दर्शाया है—

ऋतस्य वो रथ्यः पूतदक्षान्
ऋतस्य पस्त्यसदो अदब्धान्।
ताँ आ नमोभिरुरुचक्षसो
नृन् विश्वान्व आ नमे महो यजत्राः॥
ऋ० ६।५१।९

हे पूजनीय ज्ञानशील जनो! मैं उत्तम मार्ग में गमन करने का इच्छुक आपको जो न्याय और सत्यमार्ग में चलने वाले हैं, पवित्र कर्म करनेवाले हैं, सुन्दर स्वभाव वाले हैं, बिना संकोच के सत्य न्याय का आचरण करने वाले दूरदर्शी विवेकी हैं, सभी को जिनमें दूसरों को सन्मार्ग पर चलाने का सामर्थ्य है, श्रद्धा से नमस्कार करता हूँ।

धर्मपथ के पथिक को धर्मात्मा लोगों के पास पहुँचना चाहिये और उनसे विनय से, नम्रता से, सच्ची जिज्ञासा से सत्ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। जो अनुभवी हैं, जिन्होंने सत्य न्याय का स्वयं आचरण निरंतर किया है, वे ही सत्य न्याय पर जिज्ञासु जनों को चला सकते हैं। जिनके व्यवहार में ऋत और सत्य है, जो सबसे धर्मयुक्त प्रेम व्यवहार कर रहे हैं, वे ही धर्ममार्ग पर अन्य लोगों को चलाने में समर्थ होते हैं॥

शान्ति कैसे प्राप्त हो ? (वैदिक दृष्टिकोण)

[लेखक—श्री पं० सत्यभूषण जी वेदालंकार, एम. ए., जाट वैदिक इंटर कालेज, बड़ौत]

आज संसार के सभी लोग सुख, शान्ति चाहते हैं, सबका उद्देश्य सुख, शान्ति है। संसार का शायद ही कोई व्यक्ति, समाज व राष्ट्र हो जो दुःख चाहता हो, परन्तु सुख, शान्ति की प्राप्ति के लिये जो साधन किये जाते हैं, क्या उनसे वास्तविक शान्ति उपलब्ध हो सकती है? क्या वर्तमान जगत् इस प्रकार के ऐहिक भौतिक साधनों से उस चरम शान्ति के लक्ष्य तक पहुँच सकता है? सांख्यकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—"अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः" आधिदैविक, आधिभौतिक, अध्यात्मिक तीनों प्रकार के दुखों की आत्यन्तिकी निवृत्ति मनुष्य का अत्यन्त पुरुषार्थ है। तो क्या इस दुःख निवृत्ति के लिये केवल भौतिक सुख साधन ही पर्याप्त हैं? यह एक गम्भीर प्रश्न है, जिसका उत्तर आधुनिक ज्ञान विज्ञान के शिखर पर आसीन पाश्चात्य देशों के पास नहीं है। इसके साथ ही कुछ लोगों का यह विचार भी है, कि यह प्राकृतिक जगत् सर्वथा मिथ्या है। "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" हम इस विचार को आर्य संस्कृति के दृष्टिकोण के अनुसार अदूरदर्शितापूर्ण समझते हैं। फिर सत्य क्या है? किस विचार-धारा पर चलने से मनुष्य को आनन्द की प्राप्ति हो सकती है? वैदिक दृष्टि-कोण के अनुसार प्रकृति को साधन मानकर उसका भली भांति उपयोग करते हुए प्रकृति से परे आत्मतत्त्व को जानकर परमात्मा तक पहुँचने से ही परम शान्ति उपलब्ध हो सकती है। आत्मतत्त्व प्रकृति तथा शरीर के समान एक यथार्थ सत्ता है। प्रकृतिवादी केवल प्रकृति को चरम लक्ष्य समझता है, पर आत्मवादी प्रकृति से परे भी आत्मा की सत्ता को स्वीकार करता है। इस कारण उपनिषद् के ऋषि ने पुकार पुकार कर कहा है—आत्मा वा अरे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। इसका यह मतलब नहीं, कि आत्मवादी प्रकृति की सत्ता को स्वीकार ही नहीं करता, मानता ही नहीं; परन्तु उसका कथन है, कि प्रकृति और शरीर की सत्ता है, पर उनका उपयोग साधन के ही रूप में करना चाहिये, साध्य के रूप में नहीं। शरीर, प्रकृति आत्मा नहीं है, आत्मा का साधन है। जैसे रथ पर चढ़ने वाला रथ से भिन्न है।

"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु"।

आत्मा को रथी जानो, शरीर को रथ। मकान में बिस्तर बिछा हुआ हो, तो क्या समझा जायगा? बिस्तर बिस्तर वाले के सोने के लिये है, या किसी अन्य के लिये। सांख्यकार ने यही उदाहरण देते हुए कहा है, कि जैसे बिस्तर पर सोने वाला बिस्तर से अलग है, ठीक इसी प्रकार आत्मा शरीर से, प्रकृति से अलग है। आत्मा भोक्ता है, शरीर भोग्य है। आत्मा रथी है, शरीर रथ। अतः यह स्पष्ट है, कि शरीर आत्मा के भोग का साधन है, साध्य नहीं। शरीर मकान है, आत्मा उस मकान का मालिक है, स्वामी है। पर हम मकान को ही मकान का मालिक समझे बैठे हैं। अतः ऋ० १। १६४। २०। में प्रकृति, पुरुष तथा आत्मा का वर्णन करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्यो अभिचाकशीति ॥

एक साथ रहने वाले दो मित्र—पुरुष और परमात्मा—एक प्रकृति रूप वृक्ष का सेवन कर रहे हैं। उनमें से एक इस वृक्ष का रस ले रहा है, दूसरा इसे न खाता हुआ केवल उदासीन भाव से देखता ही रहता है। मनुष्य प्रकृति को ही साध्य समझ कर अपने को मिटा रहा है। वेद कहता है, नहीं, प्रकृति एवं शरीर को साध्य नहीं, साधन समझो। संसार के भोगों को भोगते हुए भी जल-कमल के समान निर्लिप्त रहो।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

आत्मा द्रष्टा है, परन्तु जब संसार के दृश्यों में फंसकर अपने को भूल जाता है, तो दृश्य बन जाता है, आत्मा श्रोता है, मन्ता है, पर संसार के मधुर शब्दों को सुन कर तथा आकर्षक विचारों में लीन होकर श्रव्य तथा मन्तव्य बन जाता है। ठीक यही दशा आजकल संसार की है। साधन को साध्य समझ लेने से सुख, शान्ति की उपलब्धि कहां? यह मकान मेरा है, धन दौलत मेरी है, इसे साध्य समझ लेने की भावना ने हमें पंगु बना रखा है। प्रकृति

का, शरीर का हमारे ऊपर पूरा आधिपत्य है। वेद कहता है, कि प्रकृति का, शरीर का भोग करो, पर साधन के रूप में, साध्य रूप में नहीं। गीता के शब्दों में—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते॥

आत्मा को प्रकृति के आश्रय की आवश्यकता है, पर वह अपने को प्रकृति ही न समझने लगे। इसी कारण वेद का कथन है, "तेन त्यक्तेन भुंजीथाः" संसार का उपभोग करो त्याग-भाव से। अतः आर्यों का यह नियम था, कि जीवन के पचास वर्षों के पश्चात् वे वानप्रस्थ वा संन्यास धारण कर लिया करते थे। परन्तु आज हमने इसे भौतिक शरीर, प्रकृति को ही आत्मा समझ रखा है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि किसी चित्र को देख कर कोई पुरुष उसे ही वास्तविक समझ ले। अतः यदि सुख, शान्ति की इच्छा है, तो वेद का यही उपदेश है, कि प्रकृति से परे आत्म-तत्त्व को जानो, प्रकृति को साधन समझो, साध्य नहीं॥

"इदन्न मम" का तात्त्विक विवेचन

[ले०—*श्री आचार्य वैद्यनाथ जी शास्त्री पोरबन्दर*]

आज से कुछ समय पहले श्री पं० ऋषिमित्र जी शास्त्री ने मुझसे अनुरोध किया कि मैं 'इदन्न मम' के विषय में अपने कुछ विचार प्रकट करूँ। यही अनुरोध मेरे परममित्र श्री पं० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति, विद्यामार्तण्ड और सार्वदेशिक धर्मार्य सभा के मंत्री द्वारा दुहराया गया। समयाभाव से मैं कुछ लिख नहीं सका। परन्तु आज "सार्वदेशिक" के सह सम्पादक श्री पं० रघुनाथ प्रसाद जी पाठक की प्रेरणा मिली कि मैं सार्वदेशिक के लिये कोई लेख भेजूं। साथही यही प्रेरणा आदरणीय श्रीमान् सम्पादक जी वेदवाणी की भी मिली कि वेदवाणी के लिये लेख भेजूं। इन सब विद्वजनों की इच्छाओं के पूर्त्यर्थ यह लेख आज मैं लिखने को उद्यत हुआ हूँ।

"इदन्न मम" विहित है या नहीं, इस विषय पर अनेक बार विचार चल चुका है और अब भी स्यात् विचाराधीन है। इस विषय में कुछ पंक्तियाँ यहां अपेक्षित हैं। हवन करते समय स्रुवा में बचे हुये घृत को पृथक् रखे हुए पात्र में छोड़ना चाहिये या नहीं, यही लेख का विवेचनीय विषय है।

यज्ञ का पारिभाषिक स्वरूप और 'इदन्न मम' की कल्पना

यज्ञ और याग दोनों ही शब्द 'यज्' धातु से बने हैं—इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। जब कोई कहता है कि अमुक व्यक्ति यज्ञ करता है तब 'स यजति' अथवा "देवदत्तो यजति" के रूप में यजति क्रिया का प्रयोग देखा जाता है। इस 'यजति' का क्या अर्थ है, इस पर यज्ञ-सम्बन्धी शास्त्रों में विचार मिलता है। इन शास्त्रों के अनुसार 'यजति' का अर्थ द्रव्य (सामग्री आदि) देवता (वेदमंत्र या इन्द्र आदि) और त्याग (अग्नि में प्रक्षेप) इन तीनों से सम्बन्ध रखता है। याग शब्द भी इसीलिये ऐसे अर्थ को ही प्रकट करता है। वस्तुतः याग वह है, जिसमें हवि आदि द्रव्यों से इन्द्र, वायु, सूर्य आदि देवता एवं वेदमंत्रों के उच्चारण के साथ अग्नि में प्रक्षेप अर्थात् त्याग किया जावे। कात्यायन श्रौतसूत्र[1] १।२।१–२ में लिखा है कि अब यज्ञ की व्याख्या करेंगे और वह यज्ञ द्रव्य, देवता और त्याग से सम्बन्ध रखता है। आगे पुनः कात्यायन ने १।६।६ में[2] लिखा है कि देवता, आह-

१—यज्ञं व्याख्यास्यामः, द्रव्यं देवतात्यागः। का० श्रौतसूत्र १।२।१–२॥
२—न देवता-अग्नि-शब्दक्रियाः परार्थत्वात्। का० श्रौ १।६।६॥

क्योंकि मंत्र और क्रियाओं के स्थान में कोई प्रतिनिधि नहीं हो सकता है। इन्हें तो करना ही पड़ेगा। आगे चलकर २।२।२७ पर[1] टीकाकार लिखता है कि मन्त्र सर्वत्र स्वाहाकारान्त ही पढ़ना चाहिए। होम पक्ष में 'इदं जातवेदसे इदन्न मम" ऐसा त्याग करना चाहिए। पक्षान्तरों में यज्ञ का अभाव होने से त्याग नहीं करना चाहिए। 'अच्युत ग्रंथमाला' से छपे हुये शतपथ ब्राह्मण की भूमिका के २६ वें पृष्ठ पर विद्याधर शर्मा लिखते हैं कि "[2]देवता को उद्देश्य में रखते हुये अग्नि में प्रक्षेप-विशेष द्रव्यत्याग का नाम याग है। मीमांसा में भी याग का अर्थ करते हुये जैमिनि ४।२।२८-२९ पर लिखते हैं कि [3]यजति का अर्थ द्रव्य, देवता और क्रिया के समुदाय में चरितार्थ है। जुहोति का अर्थ आसेचन से अधिक है। अर्थात् याग और होम का भेद है। यहां पर ऐसा समझना चाहिए कि आहवनीय आदि अग्नि में छोड़ी हुई हवि का जो प्रक्षेप है, वही होम कहा जाता है। वह दो प्रकार का है—प्रधान होम और अङ्ग होम। "अग्निहोत्रं जुहोति" प्रधान होम है और अपने फल उद्देश्य से विहित है। इनमें प्रक्षेपमात्र ही धातु का अर्थ नहीं है, किन्तु प्रक्षेप, उद्देश्य, त्याग तीनों ही अर्थ हैं। होम में भी ये तीनों अंश होते हैं और याग में भी। परन्तु याग में तीनों अंशों के होते हुये भी प्रक्षिप्त-विशिष्ट द्रव्यत्याग की विशेषता है। होम में जहां तीनों अंशों की समप्रधानता है, वहां याग में प्रक्षेप की अङ्गता (अप्रधानता है) और शेष दोनों की समप्रधानता या प्रधानता है। यही होम और याग का भेद है। अतः यह स्पष्ट है कि याग का अर्थ देवता, द्रव्य और त्याग का समुदाय है। इस त्याग को जतलाने के लिये "इदन्न मम" की प्रक्रिया बर्ती जाती है। 'इदं जातवेदसे इदन्न मम' का अर्थ है कि यह त्याग जातवेदस के निमित्त है, मेरा नहीं। आहुतिप्रदान के निमित्त एवं मंत्र में आये देवता के नाम लेकर त्याग की प्रथा इसी आधार पर होने लगी, ऐसा मालूम पड़ता है।

"इदन्न मम" से जलपात्र में शिष्ट घी छोड़ने की प्रथा कैसे पड़ी—

"पाकयज्ञेष्ववत्तस्यासर्वहोमः, हुत्वा शेषप्राशनम्" अर्थात् पाकयज्ञों में सब होम नहीं किया जाता। हवन करके बँचे हुए का प्राशन किया जाता है। कात्यायन के इस वचन से होम से बँचे हुये का प्राशन सिद्ध होता है। पारस्कर गृह्यसूत्र १।२।१२ में लिखा है कि यज्ञ करके शेष को खाया जाता है। इस सूत्र पर हरिहर[4] लिखते हैं कि अग्नि में डालकर खाता है। यहाँ पर प्राशन का उपदेश होने से खाने योग्य की आकांक्षा है; तो क्या वह हुतशेष है, या अन्य कोई वस्तु? उत्तर है कि पाकयज्ञों में सबका होम नहीं होता। हवन करके शेष का भक्षण होता है। ऐसा ही कात्यायन का मत है। स्रुवा से ग्रहण किये हुए होम-द्रव्य का सब हवन करने का निषेध होने और हवन से बँचे का प्राशन विहित होने से ऐसा ही प्रतीत होता है। सारी आहुतियों का स्रुवा में बँचा होम द्रव्य 'संस्रव' रूप में प्रसिद्ध है। यह एक पृथक् पात्र में डाला जाता है और वह खाया जाना चाहिए। इस पर गदाधर

१—मंत्रश्च सर्वत्र स्वाहाकारान्त एव पठनीयः। होमपक्षे इदं जातवेदसे इति त्यागः कार्यः। पं० विद्याधर गौड़।

२—तत्र यागो नाम—देवतोद्देशेन अग्नौ प्रक्षेपविशिष्टो द्रव्यत्यागो यागः। सर्वत्र हि यजतिचोदना चोदितस्थले यथा "सोमेन यजेत" इत्यादौ यजिधात्वर्थः-कश्चित्प्रतीयते, तस्मिन्नेव वाक्ये तदुद्देशेन किञ्चिद्द्रव्यमपि विधीयते। वाक्यान्तरेण च देवताया अपि विधानमस्ति। तत्र तां देवतामुद्दिश्य तस्य द्रव्यस्य यस्त्यागः। "इदमिन्द्राय न मम" इत्यादिरूपो मानसिकव्यापारः स एव यागपदार्थः।

३—यजति चोदना द्रव्यदेवताक्रियं समुदायं कृतार्थत्वात् तदुक्ते श्रवणाज्जुहोतिरासेचनाधिकः स्यात्। मीमांसा।

४—यज्ञं हुत्वा प्राश्नाति। पा० १।२।१२

५—अग्नौ प्रक्षिप्य प्राश्नाति भक्षयति। अत्र प्राशनोपदेश-सामर्थ्यात् प्राश्यमाकांक्षितम्, तत्किं हुतशेषः अन्यद्वा किञ्चित्। उच्यते "पाकयज्ञेष्ववत्तस्यासर्वहोमः॥ हुत्वा शेषप्राशनम्" इति कात्यायनवचनोक्तेः स्रुवेणावत्तस्य होमद्रव्यस्य सर्वस्य होमनिषेधाद् हुतशेषस्य प्राशनविधानात्। सर्वासामाहुतीनां होमद्रव्यस्रुवे ऽवशेषितं संस्रवत्वेन प्रसिद्धम् पात्रान्तरे प्रक्षिप्यते तत्प्राश्यम् इति। (पा० १।२।१२ पृ० १५, १६ वें० सं०)

अपने भाष्य में लिखता है कि¹ परिस्तरण बर्हि से हवन करके दूसरे पात्र में स्थापित होम-शेष द्रव्य को खाता है।……स्रुवा आदि से जो ग्रहण किया है, उसका हवन करके कुछ बचा करके दूसरे बर्तन में रखना चाहिए।

पुनः अपनी पद्धति में हरिहर² कहता है कि "प्रजापतये स्वाहा" ऐसा मन से ध्यान करते हुए आघार करता है। 'इदं प्रजापतये' ऐसा कहकर त्याग करके हुतशेष को एक दूसरे पात्र में डाले। इन्द्राय स्वाहा करके इदमिन्द्राय ऐसा कह कर त्याग करके वैसा ही करे। परन्तु यहां पर ही अपनी पद्धति में गदाधर इससे विलक्षण लिखता है। वह कहता है कि मनसे पूर्वाघार करे। "इदं प्रजापतये स्वाहा" इदं प्रजापतये न ममेति—ऐसा कहकर त्यागान्त से अग्नि में द्रव्य को छोड़े। पुनः उसी स्थल पर इदं³ प्रजापतये न ममेति⁴—ऐसा कहकर त्याग करने को लिखता है। इस पर हरिहर ने पात्र में छोड़ने को लिखा है। हरिहर के अनुसार होम से स्रुवा में शेष रहे द्रव्य का पृथक् पात्र में छोड़ना प्रकट होता है और गदाधर के अनुसार इदन्न मम से त्याग करके अग्नि में छोड़ना विदित होता है। इस प्रकार यह यहाँ पर सुतराम् स्पष्ट है कि "इदन्न मम" से हवन करने से बचे हुये द्रव्य को पात्र में छोड़ने की प्रथा का उद्भव "त्याग" की धारणा को लेकर किया गया।

इस विषय में महर्षि दयानन्द के विचार

महर्षि दयानन्द ने इस विषय में क्या लिखा है, इसका यहां पर दिग्दर्शन कराया जाता है। आचार्य ने संस्कार-विधि के गर्भाधान प्रकरण में पृ० ३५ (शताब्दी संस्करण ग्रन्थमाला) पर लिखा है कि यदस्य कर्मणो अत्यरीरिचम्० इस मंत्र से एक स्विष्टकृत् आहुति घृत की देवें। जो इन मंत्रों से आहुति देते समय प्रत्येक आहुति के स्रुवा में शेष रहे घृत को आगे धरे हुये कांसे के एक पात्र में इकट्ठा करते गये हों—जब आहुति हो चुके तब उस आहुतियों के शेष घृत को वधू लेके स्नान के घर में जाकर उस घी का पग के नख से लेके शिरपर्यन्त सब अङ्गों पर मर्दन करके स्नान करे।

पुनः पृष्ठ ३३ पर आचार्यवर लिखते हैं कि बीस आहुति करने से यत्किंचित् घृत बचे वह कांसे के पात्र में ढांक के रख देवें। इसके पश्चात् भात की आहुति देने के लिए यह विधि करना। अर्थात् एक चांदी वा कांसे के पात्र में भात रखके उसमें घी दूध और शक्कर मिला के कुछ थोड़ी देर रख के जब घृत आदि भात में एक रस हो जाय पश्चात् नीचे लिखे एक एक मन्त्र से एक एक आहुति अग्नि में देवें और स्रुवा में का शेष आगे धरे हुये कांसे के उदकपात्र में छोड़ता जावे। पृ० ३५ पर लिखते हैं कि सबको विदा कर स्त्री पुरुष हुतशेष घृत भात वा मोहनभोग को प्रथम जीम के पश्चात् रुचिपूर्वक उत्तमान्न का भोजन करें॥

यहां इन प्रमाणों से दो बातें प्रकट होती हैं। प्रथम-जो "इदन्न मम" करके स्रुवा में बचा घृत है, उसे उपयोग में लाना। दूसरी बात यह है कि हवन करने से हवन के पात्र में बचे हुये का अर्थात् हुतशेष का भक्षण करना। ऋषि के सन्दर्भों से यह नहीं प्रकट होता है कि "इदन्न मम" बोलकर के पात्र में छोड़ा हुआ शेष ही हुतशेष है। वस्तुतः यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि स्रुवा से बचा हुआ द्रव्य अलग है और हुतशेष अलग है। हुतशेष वह है, जो यज्ञ करने से द्रव्यवाले पात्र में शेष रह गया है। 'इदन्न मम' बोलकर अलग पात्र में छोड़ा जाने वाला द्रव्य नहीं। संस्कारविधि के पृ० १४८-१४९ के उनके लेख से भी यही निर्देश मिलता है। वे लिखते हैं—तत्पश्चात् जो ऊपर सिद्ध किया हुआ ओदन अर्थात् भात है, उसको एक पात्र में निकाल कर उसके ऊपर स्रुवा से घृतसेचन करके घृत और भात को अच्छे प्रकार मिलाकर दक्षिण हाथ से

१—परिस्तरणबर्हिस्तेनैव हुत्वा पात्रान्तरस्थापितहोमशेषद्रव्यम् भक्षयति। प्राशनस्य प्राप्तत्वाद् बर्हिर्होमोत्तर-कालविधानार्थग्रहणम्। शेषरक्षणं भक्षणञ्च श्रौतसूत्रे उक्तमस्ति। पाकयज्ञेष्वावृत्तस्यासर्वहोमः, हुत्वा च शेष-प्राशनम्। स्रुवादिभिर्यद् गृहीतं तद् हुत्वा किञ्चित् परिशेष्य पात्रान्तरे स्थापनीयमित्यर्थः………आज्यं द्रव्य-मनादेशे जुहोतिषु विधीयते। मन्त्रस्य देवतायाश्च प्रजापतिरिति स्थितिः॥ छान्दोग्यपरिशिष्टे कात्यायनोक्तेश्च॥

२—"प्रजापतये स्वाहा" इति मनसा ध्यायन्……आघारयति। इदं प्रजापतये इति त्यागं कृत्वा हुतशेषं पात्रान्तरे क्षिपेत्। इन्द्राय स्वाहा इदमिन्द्रायेति त्यागं विधाय।

३—मनसा पूर्वाघारः। ओं प्रजापतये स्वाहा। इदं प्रजापतये न ममेति त्यागान्ते अग्नौ द्रव्यप्रक्षेपः।

४—बर्हिर्होमे स्वाहेति, इदं प्रजापतये न ममेति त्यागः।

[illegible] भात दोनों जने लेके इनमें से प्रत्येक मंत्र से [illegible] ४ स्थाली पाक अर्थात् भात की आहुति [illegible] शेष रहा हुआ भात एक पात्र में निकाल [illegible] और दक्षिण हाथ रख के इन तीन मंत्रों [illegible] कर कर उस भात में से प्रथम थोड़ा सा [illegible]—इत्यादि। यह शेष रहा हुआ ही वस्तुतः हुत-[illegible] जा सकता है। अतः यह भली प्रकार स्पष्ट [illegible] चाहिए कि हुतशेष का अर्थ 'इदन्न मम' पात्र [illegible] द्रव्य नहीं; अपितु उसका पात्र में बचे हुये घृत आदि [illegible] है।

उपसंहार

ऊपर इस विषय के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण दिये गये, अब इनसे क्या परिणाम निकलता है, इस पर विचार किया जाता है। प्रथम बात तो यह यहां पर निश्चित समझनी चाहिए कि "इदन्न मम" से पात्र में पृथक् स्रुवा से बचे घी के छोड़ने की प्रथा यज्ञ के त्यागभूत अङ्ग पर आधारित है। वह करना चाहिए या नहीं, इस पर विचार अपेक्षित है। पौराणिक विद्वानों के दो दृष्टिकोण ऊपर दिखलायी पड़े। उनमें गदाधर का विचार है स्रुवा में बचे द्रव्य को पृथक् पात्र में रखा जावे और हवन के बाद शेष खाया जावे। परन्तु ऐसा लिखने पर जैसा पहिले लिखा गया है गदाधर पद्धति में इससे कुछ थोड़ा विपरीत लिखता है। वहां वह ऐसा लिखता है इस "इदन्न मम" त्याग करके अग्नि में द्रव्य छोड़े। इसमें पूर्व बात से विलक्षणता मालूम पड़ती है। अर्थात् एक स्थान पर वह स्रुवा से बचे को पात्र में छोड़ने को कहता है और दूसरी जगह त्याग करके अग्नि में छोड़ने को कहता है।

हरिहर सभी आहुतियों में स्रुवा में बचे को "इदन्न मम" पृथक् पात्र में रखना मानता है और उसका भक्षण मानता है। उसका मत सर्वत्र एक सा है। परन्तु इन दोनों अग्नियों का यह विचार कात्यायन के श्रौतसूत्र ६ । १० । २६-२७ के "पाकयज्ञेष्ववत्तस्यासर्वहोमः, हुत्वा च प्राशनम्" आदि वचनों पर आधारित है। इसलिए इस प्रसंग में इन वचनों का विचार आवश्यक है। वस्तुतः कात्यायन का वचन सर्वत्र [illegible] यह विधि लागू करने का द्योतक नहीं मालूम पड़ता। क्योंकि उसमें "पाकयज्ञ" पद पड़ा है। अर्थात् यह विधि पाकयज्ञों में ही बर्ती जाने वाली है। यह पक्ष अग्निहोत्र में भी जाता है। क्योंकि अग्निहोत्र भी श्रौतकर्म है। गृह्याग्नि पर जो स्मार्त यज्ञ होते हैं, वे सब पाक यज्ञ हैं। उनमें स्रुवा में लिए हुये सम्पूर्ण द्रव्य का होम नहीं करना चाहिये। बचे हुये का भक्षण विहित है। परन्तु "प्रतिहोमं भक्षणार्थं किञ्चित् परिशेषणीयम्" अर्थात् प्रत्येक होम में भक्षणार्थ कुछ बचा लेवे—यह कोरी पौराणिक कल्पना है। हां पाकयज्ञ में प्रत्येक आहुति में कुछ शेष रखे, यह ठीक है। उससे अन्यत्र यह ठीक नहीं मालूम पड़ता है। हरिहर का यह कहना कि इस "इदन्न मम" से त्याग में छोड़े हुये से बचे हुये पात्र में अलग स्रुवा से चुवाये हुये द्रव्य का नाम स्रवभाग या संस्रवभाग है, यह भी ठीक नहीं। संस्रवभाग इससे पृथक् वस्तु है। उसका ऐसा मानना ग़लत है। कात्यायन "संस्रव-भाग" का अर्थ इस प्रकार करते हैं। स्रुचो प्रगृह्णाति सꣳस्रवभागा इति (का० श्रौ० ३ । ६ । १७)। अर्थात् यदि स्रुवा में आदि में घी लगा हुआ रह जावे तो सꣳस्रव-भागा इस यजुर्वेदीय (२ । १८) मंत्र से स्रवभाग की आहुति देवे। इसके देवता विश्वेदेव हैं। परन्तु यदि संस्रवान् बचा हो तभी, नहीं तो नहीं। टिप्पणी में श्री विद्याधर शर्मा लिखते हैं—**अतश्च यत्र कर्मणि पूर्वकृतहोमसम्बन्ध्याज्यं पात्रे संलग्नं भवति, तत्र सर्वत्रापि अयं होमो भवत्येव। स्रुक्स्थस्याज्यस्य पूर्वमेव निरवशेषितत्वात् संस्रवाणां न यागाङ्गत्वम्**—कात्यायन श्रौत। अर्थात् जहां पर पूर्वकृत होम-सम्बन्धी घृत पात्र में लगा हुआ रह जाता है, वहां पर सर्वत्र यह स्रवभाग होम होता है। स्रुवा के घी के पहले ही समाप्त हो जाने से संस्रव को याग का अङ्ग नहीं कहना चाहिए। इसलिए यहां यह पूर्णतया स्पष्ट है कि "इदन्न मम" से स्रुवा से बचे हुये अलग पात्र में छोड़े गये घृत को संस्रव नहीं कहा जा सकता। यदि वह संस्रव भाग है, तो फिर वह तो आहुति दे दिया जावेगा फिर खाने के लिये क्या रहेगा ?

यहीं पर गदाधर और हरिहर आचार्यों के विचारों के विवेचन से यही परिणाम निकला कि वे कहीं पर तो सही हैं और कहीं पर ग़लत। परन्तु उन्होंने अपनी जो भी कल्पना की है उसका आधार कात्यायन को माना है। कात्यायन पाक यज्ञ में ही ऐसा विधान करते है। अतः यह निश्चित है कि पाकयज्ञ में ऐसा करना चाहिए, अन्यत्र नहीं। इसके अतिरिक्त यज्ञों में इस प्रकार की कल्पना कोरी पौराणिक है।

दूसरी बात यह है कि यागों में त्याग की प्रधानता है। अतः वहीं पर "इदन्न मम" से यह त्याग की विधि वर्ती जाती है, सर्वत्र नहीं। इसके अतिरिक्त यह त्याग-विधि वहीं पर "इदन्न मम" के साथ वर्ती जाती है, जहां देवता का नाम स्पष्ट करके आहुति दी जाती है। कहीं कहीं पर मंत्र ही होते हैं और इदन्न मम का वहां प्रयोग भी नहीं होता। फिर वहां पात्र में घृत कैसे छोड़ा जा सकता है? जैसे सायं प्रातः काल में "सूर्यो ज्योतिः" और अग्निर्ज्योतिः से आहुतियां दी जाती है, परन्तु इनमें देवता के नाम से "इदन्न मम" का प्रयोग नहीं है। यहाँ पर इदन्न मम की विधि भी नहीं चलायी जा सकती। अतः जहाँ पर इदन्न मम से अलग पात्र में स्रुवा के शेष घृत को छोड़ने की विधि हो, वहां पर वैसा करना चाहिए। जहां पर नहीं है, वहाँ पर नहीं।

ऋषि दयानन्द ने भी जहां पर करना आवश्यक था, वहाँ पर "इदन्न मम" से वैसा करने को लिखा है। जहां पर नहीं, वहां पर नहीं लिखा। अतः मन्तव्य यही है कि जहां पर ऋषि ने "इदन्न मम" बोलकर स्रुवा में बँचे घृत को दूसरे पात्र में छोड़ने और उसके प्रयोग करने को लिखा है वहां करना चाहिए। जहां पर नहीं लिखा है, वहां पर नहीं करना चाहिए। जैसे ऊपर दिये गये गर्भाधान संस्कार में उन्होंने ऐसा करने को लिखा है, अतः वहां करना चाहिए। सामान्य प्रकरण या दैनिक यज्ञ आदि में ऐसा करने का विधान नहीं किया है, अतः यहां पर नहीं करना चाहिए। आशा है आर्यसमाज के विद्वान् इस पर विचार करेंगे। मैंने यह निर्देशमात्र करके अपने मित्र आर्य मनीषियों तक इसे पहुँचाना अपना कर्तव्य समझा। *

सम्पादकीय कुछ प्रासङ्गिक विचार

* इस विषय में विस्तार से तो पुनः कभी समय मिलने पर लिखने का विचार है। प्रकृत में इतना ही पर्याप्त होगा कि (१) विद्वान् लेखक ने अच्छे ढंग से इस विषय को उपस्थित किया है। विद्वान् इस विषय पर अपने विचार उपस्थित करें।

(२) प्रकृत में यह विषय पारस्कर गृह्यसूत्र द्वितीय कण्डिका में है। प्राशन का विषय श्रौतसूत्रों में भी है। पारस्कर गृह्य सूत्र पर कर्क–जयराम–हरिहर–गदाधर–विश्वनाथ कृत पांच भाष्य वा टीकायें हैं। इनमें कर्काचार्य को छोड़ कर अन्य सबने प्रकृत हुतशेष भक्षण के विषय में लिखा है। संवत् १९८६ वि० में श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई में छपे उपर्युक्त पांचों भाष्य सहित पारस्कर गृह्यसूत्र में निम्न प्रकार हैं—

(i) पृ० १२ पर कर्काचार्य ने तो कुछ लिखा नहीं।

(ii) जयराम का लेख पृ० १६ पं० ५ पर इस प्रकार है—"शेषप्राशनस्य कर्माङ्गत्वेन विधानात्, अप्राशने च कर्मणि वैगुण्यात् नात्र कर्माधिकारनिवृत्तिः" ॥

पुनः पृ० १७ पर—"पूर्वाघारमाघारयति प्रजापतये इति त्यागं कृत्वा हुतशेषं पात्रान्तरे निक्षिपेत्...... सौम्ययाज्यभागं हुत्वा इदं सोमायेति स्वयं यजेत्...यथा दैवतं स्वत्यागं च कृत्वा स्थालीपाकस्य जुहुयात्"। पृ० १८ पं० १३ "बर्हिर्होमं च कृत्वा संस्रवस्प्राश्याचम्य···"।

(iii) गदाधरभाष्ये—पृ० २५ पं० १३ (क)—"बर्हिर्हुत्वा प्राश्नाति—परिस्तरणबर्हिर्हस्तेनैव हुत्वा पात्रान्तर-स्थापितहोमशेषद्रव्यं भक्षयति। प्राशनस्यं प्राप्तत्वात्।······शेषरक्षणं भक्षणं च श्रौतसूत्र उक्त-मस्ति। पाकयज्ञेष्ववत्तप्यास्यासर्वहोमो, हुत्वा शेषप्राशनमिति। अस्यार्थः—पाकशब्देन च स्मार्तहोम उच्यते। तत्र होमार्थं यदवत्तं गृहीतं तस्य असर्वहोमः कर्त्तव्यः। स्रुवादिभिर्यद् गृहीतं तद्धुत्वा किञ्चित् परिशेषपात्रान्तरे स्थापनमित्यर्थः। सर्वहोमान् हुत्वा पात्रान्तरस्थापितसर्वशेषाणां प्राशनमिति" ॥

(ख) पृ० २१ पं०२० पुनः—गदाधरः—"मनसा पूर्वाघारः। ॐ प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये न ममेति त्यागान्तेऽग्नौ द्रव्यप्रक्षेपः। सर्वत्र त्यागान्ते द्रव्यप्रक्षेपः।......सर्वत्र होममन्त्रेषु अनाम्नातोऽपि स्वाहा-कारः कार्यः। सर्वत्र मन्त्रवत्सु जुहोत्युपदेशादित्युक्तत्वात् ॥

(ग) पुनः पृ० २१ पं० २२—"बर्हिर्होमः स्वाहेति, इदं प्रजापतये न ममेति त्यागः। ततोऽवत्तशेषप्राशन-मिति" ॥

(iv) विश्वनाथ-भाष्ये—पृ० ३८ पं० ३२—"बर्हिर्हुत्वा प्राश्नाति–पाकयज्ञेष्ववत्तस्य सर्वंहोमो हुत्वा शेष–प्राशनमितीत्यस्यानुवादोऽयं प्राश्नातीति" ॥

इन चारों भाष्यकारों ने मूल के आधार पर स्पष्ट ही हुतशेष को पृथक् पात्र में रखने और उसका प्राशन भक्षण लिखा है। उपर्युक्त उद्धरणों से इस विषय में कुछ भी सन्देह नहीं रहता ॥

गदाधार भाष्य पृ० ३१ पं० २० का जो यह आशय समझा जाता है—कि "हरिहर के अनुसार होम से सुवा में शेष रहे द्रव्य में पृथक् पात्र में छोड़ना प्रकट होता है, और गदाधर के अनुसार 'इदं न मम' से त्याग करके अग्नि में छोड़ना विदित होता है"। इसमें हमारा कहना है कि—"इदं प्रजापतये न भवति त्यागान्तेऽग्नौ द्रव्यप्रक्षेपः" का यह अर्थ है कि द्रव्य का प्रक्षेप (घृतादि का अग्नि में डालना) कब करो यह बतलाया, कि स्वाहा की समाप्ति पर द्रव्य-प्रक्षेप न करके 'इदं न मम' उच्चारण के पश्चात् द्रव्य डालने का विधान किया गया है। उसके पश्चात् हुतशेष-प्राशन का स्पष्ट उल्लेख है ही। इसका यह अर्थ नहीं कि त्याग के अन्त में—अर्थात् स्वाहा पर द्रव्य-प्रक्षेप कर, इदं न मम से त्याग कर अग्नि में डालना नहीं–अपितु स्वाहा पर द्रव्य-प्रक्षेप न करके 'इदं न मम' स्वत्वत्याग के पश्चात् ही अग्नि (अग्निकुण्ड में) द्रव्य का प्रक्षेप करे—ऐसा अर्थ है। अर्थात् हुतशेष का प्राशन सर्व सम्मत है ॥

श्रौत सूत्रों में हुतशेषप्राशन

१—(i) कात्यायनश्रौतसूत्रे—'पाकयज्ञेष्ववत्तस्यासर्वंहोमः ॥ का० ६ । १० । २६ ॥ हुत्वा शेषप्राशनम् ॥ का० ६ । १० । २७ ॥

(ii) देवयाज्ञिकभाष्ये—पृ० २३०–२३१—"होमार्थमवत्तस्य घृतचर्वादेः सर्वस्य होमो न कर्त्तव्यः। किन्तु किंचिदवशेष्य प्रत्याहुतिपात्रान्तरे समापनीयम्...... तस्य हुतशेषस्य प्रत्याहुतिपात्रान्तरे स्थापितस्य होमकर्त्रा प्राशनं कर्त्तव्यम् ॥

(iii) पं० विद्याधरगौड़भाष्ये तु (पृ० २४०)—"प्रतिहोमं भक्षणं किञ्चित् परिशेषणीयम्।...... सर्वहोमान्ते आज्यादीनि प्राश्नीत, हस्तहोमे न शेषप्राशनमिति सम्प्रदायः।"

२—आपस्तम्ब श्रौतसूत्रे २ । ६ । ८ (i) बर्हिवा पूर्णमासे व्रतमुपैति ॥ २ । ६ 'व्रतोपायनमशनमित्येके ॥ ८ ॥ धूर्तस्वामिभाष्ये पृ० ३७०—अशनमग्न्यन्वाधानमित्युत्तरे त्रयः पक्षाः क्रमविधिप्राप्ताः ॥

यहां आपस्तम्ब में कुछ भिन्नता है। कात्यायन का वचन स्पष्ट है कि हुतशेष का प्राशन होना विधि है। ऋषि दयानन्द के मत में तो केवल गर्भाधान संस्कार में ही उक्त विधि होनी उचित है। यह तो स्पष्ट ही है। इस सम्पूर्ण विषय पर हम अपने विचार पुनः किसी समय उपस्थित करेंगे ॥

ब्रह्मदत्त जिज्ञासुः
सम्पादक वेदवाणी

कर्म का सिद्धान्त

[लेखक—श्री पं० गंगा प्रसाद जी उपाध्याय एम० ए०]

[जनता में 'कर्म' के विषय में बहुत मतभेद है, इस लेख में मैं अपने विचार व्यक्त करता हूँ। विद्वानों से प्रार्थना है कि वह इसकी खुले दिल से मीमांसा करें। मैं कृतज्ञतापूर्वक उन पर ऊहापोह करूंगा—गं. प्र. उ.]

प्रश्न (१)—कर्म के सिद्धान्त का मूलाधार क्या है ?

उत्तरः—कर्म के सिद्धान्त दो दार्शनिक सिद्धान्तों पर आधारित हैं। प्रथम जीव कर्म करने में स्वतंत्र और फल पाने में अपने कर्म के आश्रित हैं। दूसरा फल का दाता ईश्वर है, जो अपनी व्यवस्था के अनुसार जीव के किये हुये कर्मों के अनुपात से फल देता है।

प्रश्न (२)—ईश्वर न्यायकारी है, या दयालु ? और उसकी दया या न्याय का कर्म के सिद्धान्त से क्या संबन्ध है ?

उत्तरः—ईश्वर न्यायकारी है; क्योंकि ईश्वर जीव के कर्मों के अनुपात से ही उनका फल देता है न्यून या अधिक नहीं।

परमेश्वर दयालु है, क्योंकि कर्मों के फल देने की व्यवस्था इस प्रकार की है जिससे जीव का हित हो सके। शुभ कर्मों का अच्छा फल देने में भी जीव का कल्याण है और अशुभ कर्मों का दण्ड देने में भी जीव का ही कल्याण है। इसलिये कर्म-फल का सिद्धान्त ईश्वर को दयालु भी प्रमाणित करता है और न्यायकारी भी। दया का अर्थ है जीव का हितचिंतन। और न्याय का अर्थ है उस हितचिंतन की ऐसी व्यवस्था करना कि उसमें तनिक भी न्यूनता या अधिकता न हो।

इसको दूसरे प्रकार से सोचिये। यदि जीव के कर्मों की अपेक्षा अधिक फल दिया जाय तो जीव को अशुभ कर्म करने में उत्साह बढ़ेगा। इससे जीव का अनिष्ट होगा। यह दया न होगी और न न्याय। क्योंकि इससे जीव का अहित होगा। जिस काम का परिणाम अहित हो, वह न तो दया है और न न्याय। अमुक कर्म का कितना फल होना चाहिये, इसका ठीक ठीक परिगणन न्याय है। और इस परिगणन का उद्देश्य जीव का हित है, यह है दया। न्यायाधीश दया से प्रेरित होकर न्याय करता है। वह समझता है कि यदि न्याय न करूंगा तो अहित होगा। यह अहित ही निर्दयता है।

कल्पना कीजिये कि एक परीक्षक परीक्षार्थी को उसके कामों से अधिक अंक दे देता है, मूर्ख लोग इसको "दया" कहेंगे। परन्तु प्रथम तो यह अन्य परीक्षार्थियों के साथ अन्याय है और उनके साथ निर्दयता भी। दूसरे इस परीक्षार्थी के साथ भी निर्दयता हुई; क्योंकि उसका स्वभाव बिगड़ गया। ईश्वर दयालु भी है और न्यायकारी भी। इस लिये वह कर्मों का फल उनके अनुपात से ही देता है, कम या अधिक नहीं।

प्रश्न (३)—जीव का हित क्या है ? और उसके कर्मों का इस हित से क्या सम्बन्ध है ?

उत्तरः—जीव का हित है अपने स्वरूप को पहचानना। जीव संसार में आकर अपने स्वरूप को भूल जाता है वह अपने को जड़ या जड़ पदार्थों के आश्रित समझ लेता है। इस बेसमझी से जो कर्म किये जाते हैं, वे अशुभ होते हैं। क्योंकि जितने अधिक ऐसे कर्म होते हैं उतना ही जीव उनमें फँसकर अपने स्वरूप को अधिक भूल जाता है। परन्तु जितने कर्म ऐसे हैं जिनसे उसको अपने स्वरूप का परिज्ञान हो, वे शुभ हैं।

प्रश्न (४)—जीव शुभ या अशुभ कर्म क्यों करता है ?

उत्तरः—कर्तृत्व जीवका स्वाभाविक गुण है। वह बिना कुछ किये रह ही नहीं सकता। जैसे आग कभी अपनी गर्मी को छोड़ नहीं सकती।

प्रश्न (५)—जब कर्तृत्व जीव का गुण है तो वह अशुभ कर्म क्यों करता है ?

उत्तर—कर्म के लिये ज्ञान चाहिये। जीव स्वभाव से अल्पज्ञ है। उसको पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये ज्ञानप्राप्ति की आवश्यकता है। यथार्थ ज्ञान न होने से वह भूल कर बैठता है। जैसे छोटा बच्चा दीपक की लौ पकड़ कर अपना हाथ जला बैठता है।

प्रश्न (६)—ईश्वर की व्यवस्था जीव के कर्म-फल द्वारा उसके हित, अहित का कैसे सम्पादन करती है?

उत्तर—यह तो प्रत्यक्ष है कि हमारी भूलें हमको सचेत करती हैं। एक बार जल कर बच्चा दुबारा दीपक की लौ नहीं पकड़ता, क्योंकि उस के अज्ञान में कुछ कमी हो गई। ऐसा ही सब कर्मों का हाल है।

प्रश्न (७)—परमेश्वर कर्मों का फल किस रूप में देता है?

उत्तर—कर्मों का फल तो अन्ततोगत्वा सुख या दुःख के रूप में ही होता है। परन्तु इस सुख या दुःख को देने के अनेक निमित्त हैं। वह निमित्त न सुख हैं न दुःख, परन्तु सुख या दुःख के साधन अवश्य हैं। यह जानना कठिन है कि अमुक निमित्त कब दुःख का साधक है और कब सुख का। यह व्यवस्था जटिल है। पूर्ण रूप से उसे ईश्वर ही जानता है। परन्तु विद्वान् भी अपने अनुभव से तर्क द्वारा इसको जान सकता है।

प्रश्न (८)—बात स्पष्ट नहीं हुई। उदाहरण से समझाइये?

उत्तर—सिर दबाना एक निमित्त है। इससे सुख और दुःख दोनों हो सकता है। समय और परिस्थिति के अनुसार ही इसका निर्णय होगा। इसी प्रकार बहुत सी घटनायें हैं, जो कभी एक मनुष्य के सुख का साधन होती हैं और कभी दुःख का और कभी एक मनुष्य के सुख का साधन होती हैं और दूसरे के दुःख का। ऐसे उदाहरण सबको मालूम हैं।

प्रश्न (९)—ईश्वर जीव को उसके कर्मों का फल देता है अथवा अन्य जीवों के कर्मों का भी?

उत्तर—ईश्वर जीव को उसी के कर्मों का फल देता है अन्य का नहीं। क्या परीक्षक परीक्षार्थी के अतिरिक्त किसी अन्य परीक्षार्थी के किये हुये कामों के लिये भी अङ्क देता? ऐसा करना तो अन्याय होगा। अर्थात् कर्म किया देवदत्त ने और उसका फल मिले यज्ञदत्त को। यह दया भी न होगी, क्योंकि जीव के भविष्य-निर्माण का आश्रय दूसरे व्यक्ति पर होगा। यदि एक जीव के कर्मों का फल दूसरे को मिलने लगे तो व्यवस्था भी न रहेगी। अन्य जीव तो असंख्य हैं। किस किस के कर्मों का फल किस किस को दिया जायगा? यदि सोहन के काम पर मोहन को अङ्क दे दिये गये तो सोहन के साथ अन्याय होगा। अतः ईश्वर किसी को उसी के कर्मानुसार फल देता है, दूसरे को नहीं।

प्रश्न (१०)—क्या ईश्वर की कर्म-फल के सम्बन्ध में कोई नियत व्यवस्था है या ईश्वर जब जैसा चाहे करता है?

उत्तर—ईश्वर की सभी व्यवस्था नियत और अपरिवर्तनशील हैं। उसमें किंचित् भी अदल बदल नहीं होती। समस्त जीवों को उसी व्यवस्था के अनुसार फल मिलता है।

प्रश्न (११)—यदि व्यवस्था-रूपी मशीन पूर्णतया नियत है तो ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता? सृष्टि-क्रम हमको व्यवस्था की सूचना तो देता है; परन्तु ईश्वर को तो हम नहीं देखते? हमको प्रयोजन व्यवस्था से है, व्यवस्थापक से नहीं, यदि ईश्वर को न भी मानें तो व्यवस्था वैसी ही रहेगी। उसमें परिवर्तन न होगा।

उत्तर—यह ठीक है कि व्यवस्था निश्चित और अपरिवर्तनशील है। परन्तु जो मनुष्य व्यवस्था को स्वीकार करता और व्यवस्थापक को छोड़ देता है, वह अज्ञान का दोषी है। अज्ञान बड़ा भारी दोष है। इसका परिणाम बुरा होता है। व्यवस्थापक को भूल जाने से व्यवस्थापक के गुणों के लिये भी प्रेम नहीं होता। जो मनुष्य व्यवस्थापक-शून्य जड़ व्यवस्था को मानते हैं, वह अपने चेतन स्वरूप को भूल कर जड़-बुद्धि हो जाते हैं। उनमें व्यवस्थापक के शुभ गुणों का संचार नहीं होता।

यह माना कि व्यवस्था के अनुसार जीव को अपने कर्मों का उतना ही फल मिलेगा, चाहे व्यवस्थापक पर विश्वास किया जाय अथवा नहीं। परन्तु व्यवस्थापक के न मानने से अथवा उसे भुला देने से सबसे बड़ी हानि यह होगी कि जीव की गुणशीलता कम हो जायगी और जीव के भावी ज्ञान तथा कर्म पर उसका प्रभाव पड़ेगा। न्यायाधीश तो न्याय ही करेगा, चाहे दूसरा उसके व्यक्तित्व को स्वीकार करे या न करे। परन्तु तात्कालिक कर्म-फल की प्राप्ति के अतिरिक्त न्यायाधीश के व्यक्तित्व का सम्पर्क भी एक चीज़ है, जिससे वह मनुष्य वंचित रह जायगा जो केवल तात्का-

लिक न्याय से ही सम्बन्ध रखना चाहता है और न्याय की पृष्ठ पर न्यायाधीश को देखना नहीं चाहता।

कालिदास के काव्यों से कालिदास बड़ा है। काव्यों से कालिदास की उस महत्ता का भी परिचय मिलता है, जो काव्यों से कहीं उच्चतर है। जो मनुष्य काव्यों मात्र को जड़ समझकर कालिदास के निज गुणों का पता लगाना नहीं चाहता, वह अधूरा है और प्रमुख लाभ से वंचित रह जाता है। यह ठीक है कि ईश्वर हमारे किये हुये कर्मों का उतना ही फल देगा कम या अधिक नहीं, परन्तु ईश्वर के व्यवस्थापक होने का विश्वास जीव में अन्य गुणों के धारण करने की योग्यता भी प्राप्त करायेगा, जो उसके भावी कामों पर प्रभाव डालेगी। ईश्वर को भूल कर केवल जड़-व्यवस्था को मानने वाले जड़वादी होकर अन्ततोगत्वा जड़ात्मक हो जाते हैं। और उनमें आध्यात्मिक सम्पर्क की कमी हो जाती है।

प्रश्न (१२)—क्या ईश्वर हमारे समाज के किये हुये शुभ या अशुभ कर्मों का हमको फल नहीं देता?

उत्तर—समाज तो आपका स्वयं नियत किया हुआ है। आपकी अपनी कल्पना या व्यवस्था के अनुसार आपके समाज की भी सीमा है। समाज में तो अनेकों व्यक्ति होते हैं। अतः यदि समाज के शुभ या अशुभ कर्मों का आपको फल मिलने लगे तो घोर अन्याय हो जाय। प्रथम तो हर व्यक्ति का वश नहीं कि समाज के अन्य व्यक्तियों पर आधिपत्य कर सकें। जिस पर मेरा वश नहीं, उस के कर्मों का फल मुझे क्यों मिले? ईश्वर की व्यवस्था, ईश्वर के न्याय और ईश्वर की दया तीनों में ऐसी बात बाधक होगी। अतः कर्म-फल का सिद्धान्त यही बताता है कि तुम जैसा करोगे वैसा पाओगे। 'तुम' का अर्थ है 'तुम व्यक्ति' न कि तुम से अन्य व्यक्ति। चाहे वह आपके समाज या देश के हों चाहे बाहर के।

प्रश्न (१३)—क्या हम नहीं देखते कि हमारे मित्र हमको विपत्ति में सहायक होते हैं और हमारे शत्रु हमारे दुःखों को बढ़ाते हैं?

उत्तर—यदि आप ईश्वर की व्यवस्था और ईश्वर के न्याय पर विश्वास रखते हैं तो मानना पड़ेगा कि आपको आपके ही कर्मों का फल मिलेगा, अन्य किसी का नहीं। वह व्यवस्था व्यवस्था नहीं कहलायी जा सकती, जिसके भीतर बिना दोष के कोई आपको सताने में सफल हो सके या कोई मित्र आपको वह चीज़ भी दिला सके, जिसके आप अधिकारी नहीं।

प्रश्न (१४)—आप हमारी आँखों में धूल डालना चाहते हैं। क्या हम नित्यप्रति नहीं देखते कि मित्र हमारा हित करते हैं और शत्रु अहित?

उत्तर—बिगड़ने की कोई बात नहीं। सोचिये! या तो यह मानिये कि ईश्वर की व्यवस्था इतनी अधूरी है कि कोई व्यक्ति को वह सुख या दुःख भी प्राप्त करा सकता है जिसका वह अधिकारी नहीं, अथवा यह मानिये कि संसार में कोई न व्यवस्था है न व्यवस्थापक, अंधेर नगरी है, जिसकी लाठी उसकी भैंस।

प्रश्न (१५)—हम ईश्वर की व्यवस्था को भी स्वीकार करते हैं और मित्र या शत्रु के हित तथा अहित को भी।

उत्तर—इन दोनों भावनाओं का समन्वय कैसे होगा?

प्रश्न (१६)—यह समन्वय तो स्पष्ट है। यदि कोई शत्रु हमारा अहित करेगा तो ईश्वर उसे दण्ड देगा। इस प्रकार शत्रु का अहित भी सिद्ध हो गया और ईश्वर की व्यवस्था भी।

उत्तर—आपने व्यवस्था का अर्थ ही नहीं समझा। जिस समय किसी शत्रु ने आपका अहित किया, उस समय आप उस अहित के अधिकारी थे या नहीं? यदि अधिकारी थे तो शत्रु के अहित करने का प्रश्न नहीं उठता। और यदि अधिकारी न थे और आपको दुःख मिला तो इसका अर्थ यह है कि बिना कुकर्म किये हुये भी दुःख मिल सकता है। इससे ईश्वर की कुव्यवस्था का परिचय होता है। उस सरकार को आप अच्छा नहीं कह सकते, जहाँ चोरियाँ अधिक हो सकती हों, चाहे चोरों को घोर दण्ड ही क्यों न दिया जाता हो।

प्रश्न (१७)—तो क्या आप यह नहीं मानते कि मित्र हित करते हैं और शत्रु अहित।

उत्तर—हमारे मानने का प्रकार दूसरा है। हमारे सिद्धान्त में मित्र हितचिन्तन कर सकते हैं। हित करने का भरसक यत्न भी कर सकते हैं। इसी प्रकार शत्रु अहित-चिन्तन भी कर सकते हैं और अहित करने का भरसक प्रयत्न भी कर सकते हैं, परन्तु ईश्वर की सुव्यवस्था के कारण न तो शत्रु ही अनधिकृत अहित करने में सफल

हो सकता है, न मित्र अनधिकृत हित करने में। हम नित्य देखते हैं कि हमारे मित्र और स्वजन हमारा भला चाहते ही रहते हैं, फिर भी हमको दुःख मिलता है। और हमारे शत्रु नित्य हमारे दुःख के साधन जुटाते रहते हैं फिर भी हम दुःखों से बच जाते हैं।

हमने प्रश्न सात के उत्तर में स्पष्ट कर दिया है कि हमारे मित्र या शत्रु हमारे सुख दुःख के कारण नहीं, निमित्त मात्र हैं। कारण और निमित्त में भेद है। निमित्तों का रूपान्तर हो सकता है। कारणों का नहीं। एक साधारण लौकिक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। यदि किसी विशेष चोरी की सजा ६ मास की क़ैद है तो क़ैद का कारण यह चोरी है। जेल कानपुर की हो या फैज़ाबाद की वह निमित्त मात्र है। फल का कारण तो नियत कर्म ही है। फल-प्राप्ति के रूप या निमित्त अनेक हैं। जो निमित्त और मूल कारण का भेद नहीं समझते, वे उलझनों में पड़ जाते हैं।

[अब आगे पढ़िये—देश और जाति के कर्मों का कर्म-फल कैसे मिलता है? जीव कर्म करने में स्वतन्त्र फल पाने में परतन्त्र का क्या मतलब है? क्या मनुष्य ईश्वर के हाथ में खिलौना है। जीवों में बुद्धि भेद क्यों? पशु भोगयोनि व कर्मयोनि?]

प्रश्न (१८)—लोग कहा करते हैं कि जैसे व्यक्ति के कर्मों का व्यक्ति को सुख या दुःख मिलता है इसी प्रकार देश या जाति के कर्मों का देश और जातियों को सुख या दुःख मिलता है।

उत्तर—यह बात बिना विचारे मोटे रूप से कह दी जाती है। यह भी कारण और निमित्त के अविवेक से होता है। जैसे मेरे शरीर में मेरा जीव है या आपके शरीर में आपका, उसी प्रकार देश के शरीर में देश का जीव या जाति के शरीर में जाति का जीव नहीं। न कोई ऐसा जीव है, जो सामूहिक जीवों का प्रतिनिधि कहा जा सके। अर्थात् जैसे व्यक्तियों के शरीरों में व्यक्तिगत जीव हैं उसी प्रकार देश में रहने वाले दस करोड़ या एक जाति में रहने वाले दो करोड़ जीवों का कोई एक विशेष जीव नहीं, जिसको परमात्मा उस के कर्मों के अनुसार फल दे सकता हो। हम ऊपर कह चुके हैं कि देश या जाति की सीमा कल्पित है। जिस को आज आप अपना देश या जाति कहते हैं, वह कल बदल जाती है। यह सीमायें प्राकृतिक या ईश्वरकृत नहीं। मनुष्य की कल्पनाकृत हैं। कर्म-फल व्यवस्था मनुष्य की कल्पित नहीं। यदि कल्पित होती तो मनुष्य कभी ऐसी व्यवस्था न बनाता। कर्म-फल का सिद्धान्त तो नैसर्गिक और अटल है। वह मनुष्य की मनमानी बात नहीं।

प्रश्न (१९)—संसार में बहुत से लोग हैं, जो कर्म के सिद्धान्त को भूल-भुलैया कहते हैं और उस पर विश्वास नहीं रखते।

उत्तर—मूल सिद्धान्तों से तो कोई इनकार नहीं करता। सब मानते हैं कि जो जैसे करता है, वह वैसा पाता है। नास्तिक से नास्तिक लोग भी सदाचार की इस मौलिक भित्ति का निषेध नहीं करते। यदि यह सिद्धान्त न माना जाय तो संसार का एक मिनिट भी काम नहीं चल सकता। हाँ शाखारूप में जो प्रश्न उठ खड़े होते हैं, उन प्रश्नों का भिन्न भिन्न लोग भिन्न भिन्न उत्तर देते हैं। कुछ लोगों ने कुछ कल्पित धारणायें बना रक्खी हैं। वे धारणायें उनको ठीक सोचने में सहायता नहीं देतीं। अर्थात् यदि किसी ने पहले से यह मान रक्खा है कि ईश्वर नहीं है, या जीव अजर, अमर या अजन्मा नहीं है या पुनर्जन्म नहीं होता तो इन कल्पनाओं की उपस्थिति में उस में आगे कर्म के सिद्धान्त को मानने में बाधा पड़ेगी। परन्तु फिर भी उसे इतना तो मानना ही पड़ेगा कि शुभ कर्म का फल अच्छा होता है और अशुभ का बुरा। संभव है कि शुभ-अशुभ कर्मों के लक्षणों में वह भेद करे, परन्तु कर्म-फल के मौलिक सिद्धान्त तो सर्वतंत्र ही हैं। एक नास्तिक भी अपने पुत्र को खोटे कर्म करने पर सजा देता है और कहता भी है कि "तूने अपराध किया। तुझको दण्ड मिलेगा।" यह भी तो कर्म-फल ही है।

प्रश्न (२०)—जीव कर्म करने में स्वतंत्र है और फल पाने में परतंत्र है, इसका क्या अर्थ है।

उत्तर—इसका अर्थ यह है कि किसी काम के करने में जीव को पूर्ण अधिकार है कि उसे करे, या न करे उलटा करे, मैं बोलूँ या न बोलूँ अपशब्द बोलूँ। इन तीनों बातों का मुझे अधिकार है, परन्तु जब बोल चुका तो काम हो चुका। परिस्थिति मेरे हाथ से निकल गई। उसका परिणाम मुझे भोगना पड़ेगा। यदि मुझे कोई बात कहनी चाहिये थी और मैं समय आने पर चुप रहा तो भी मुझे उसका फल भोगना पड़ेगा। यदि मैंने झूठ बोला या किसी को

गाली दे दी तो उसका भी दुष्परिणाम भोगने में मैं परतंत्र हूँ। काम की पूर्ति के पहले तो मेरा अधिकार था। अब जगत् के व्यवस्थापक के हाथ में चला गया। मैं सर्वथा परतंत्र हूं। गीता में यही कहा है कि—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्म-फलहेतुर्भूः मा ते संङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
(गीता)

अर्थात् मनुष्य का कर्म करने का अधिकार है। कर्म ज्यों ही समाप्त हुआ, उसका फल कर्म करने वाले के हाथ से निकलकर ईश्वर की व्यवस्था का अङ्ग बन जाता है। आपको अधिकार है कि आप आम बोवें या जामुन। परन्तु जब आम बो चुके तो जगत् नियन्ता की व्यवस्थानुसार आम के बीज से आम के ही अंकुर, आम के ही पत्ते, आम के ही फूल और आम के ही फल निकलेंगे, जामुन के नहीं। आप तो काम करने के पश्चात् ही परतंत्र हो जाते हैं। अतः आपको चिंता उसी समय तक करनी है, जब तक काम समाप्त नहीं हुआ। उस के पश्चात् कर्म-फल की चिंता व्यर्थ है। आम का बीज बो कर शीघ्र में जामुन के पत्तों की इच्छा निरर्थक है। इसलिये न तो कर्म-त्याग से काम चलता है और न कर्म के पश्चात् फल की चिंता से। कर्तव्य कर्म का न करना भी अशुभ है और उलटा करना भी अशुभ।

प्रश्न (२१)—मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र तो नहीं है जगत् के बनाने वाले ने मनुष्य को परिस्थितियों से इतना जकड़ दिया है कि उनके विरुद्ध मनुष्य कुछ कर ही नहीं सकता। अतः मनुष्य को 'स्वतंत्र' कहना मिथ्या है। हमको व्यर्थ ही स्वतंत्र स्वतंत्र कह कर हमारे कर्मों के लिये दण्ड दिया जाता है। मनुष्य प्रपंच के हाथ में खिलौना है। हम दैव के हाथ की कठपुतली हैं। वह जैसे नाच नचावे।

उत्तर—यह ठीक नहीं। आप थोड़ा सा अपने जीवन पर विचार कीजिये। क्या कभी आप के मन में किसी काम के करने की भावना उठती है? क्या कभी आप के हृदय में यह प्रश्न उठता है कि मैं अमुक काम करूँ या न करूँ? और क्या आप परिणामों पर विचार करके बुद्धि से तोल कर यह निश्चय नहीं करते कि मैं ऐसा करूँगा ऐसा न करूँगा? यदि ऐसा करते हैं तो सिद्ध है कि आप कर्म करने में स्वतंत्र हैं। आप के समक्ष एक ही मार्ग नहीं अनेक मार्ग हैं और उनमें से निर्वाचन करके केवल एक ही मार्ग को ग्रहण करते हैं और शेष को छोड़ देते हैं।

प्रश्न (२२)—हमारी बुद्धि हमको सदा सन्मार्ग पर तो नहीं ले जाती।

उत्तर—इससे क्या? यह तो आपका काम है कि बुद्धि को किस प्रकार प्रयुक्त करें। केवलमात्र बुद्धि का प्रयोग ही आप की स्वतंत्रता का द्योतक है।

प्रश्न (२३)—क्या ईश्वर ने किसी को अच्छी और किसी को बुरी बुद्धि देकर हम से विवेक की स्वतंत्रता छीन नहीं ली? यदि हमको श्रेष्ठ बुद्धि मिलती तो हम कभी असन्मार्ग का अवलम्बन न कर सकते।

उत्तर—परमात्मा ने अकारण ही आपको बुरी बुद्धि नहीं दी। आपने अपने विवेकशून्य कर्मों से भी बुद्धि को भ्रष्ट कर दिया। जो तराजू आपको मिली है, यदि वह आपकी असावधानी से टूट जाय तो दोष किसका? फिर भी आप की तराजू आपके हाथ में है। आप बुद्धि के प्रयोग करने के अधिकार से कभी वंचित नहीं किये जाते। जब आपको मालूम हो जाय कि तराजू में विगाड़ आ गया है तो आप उसे बना या सुधार सकते हैं। हर मनुष्य अपनी बुद्धि को ज्ञान, क्रिया तथा सावधानी से उत्तरोत्तर उत्कृष्ट बना सकता या विगाड़ सकता है। शराब पीने से बुद्धि बिगड़ती और घी दूध आदि के उचित प्रयोग से बढ़ती है। अतः बुद्धि के तारतम्य का दोष जगत् के नियन्ता पर लगाना दोष है।

प्रश्न (२४)—जब हमारी बुद्धियां भिन्न भिन्न हैं तो कर्म भी भिन्न भिन्न होंगे और फल भी भिन्न भिन्न। फिर स्वतंत्रता कैसी?

उत्तर—यह ठीक है कि तीव्र बुद्धि वाला मनुष्य जो कर्म कर सकता है उसे मन्दबुद्धि नहीं कर सकता। परन्तु मन्दबुद्धि या तीव्र बुद्धि वाले मनुष्य के समक्ष निर्वाचन करने के लिये कई मार्ग खुले होते हैं या नहीं? यदि होते हैं तो स्वतंत्रता सिद्ध है। एक चींटी भी जानती है कि उसके समक्ष कई मार्ग हैं। वह सोचती है और एक मार्ग पर चल देती है। इसी प्रकार पशु-पक्षियों का हाल है। आपके आँगन में आने वाले कौए या अन्य पंक्षी भी सोचते और एक मार्ग को छोड़ कर दूसरे का अवलम्बन करते हुये प्रतीत होते हैं। अतः सिद्ध है कि वे कार्य करने में

स्वतंत्र हैं। आप किसी कुत्ते को अपने स्वामी के साथ सड़क पर चलता हुआ देखें और निरीक्षण करें। आप को ज्ञात होगा कि कुत्ता निरन्तर सोच रहा है कि अब क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये।

प्रश्न (२५)—आप तो पशु-योनियों को भी कार्य्य की स्वतंत्रता देते हैं। हमने तो सुन रक्खा है कि पशु-पक्षी भोग-योनियाँ हैं, कर्म-योनियाँ नहीं।

उत्तर—आप ने ठीक सुना है। परन्तु अर्थों के समझने में भेद है। जीव का कर्तृत्व तो स्वाभाविक गुण है। वह उससे किसी दशा में भी नहीं छूट सकता। जहां कर्तृत्व है, वहां कर्म की स्वतंत्रता है। पशु भी भूल करते हैं और उनको दण्ड भी मिलता है। और दण्ड को पाकर वह सचेत भी हो जाते हैं। भूल करना, दण्ड पाना, दण्ड पाकर सचेत हो जाना यह तीनों बातें पशु-पक्षियों में पाई जाती हैं और यह तीनों उनकी कर्तृत्व की स्वतंत्रता का प्रमाण हैं। केवल एक भेद है। जहाँ तक सामाजिक नियमों का सम्बन्ध है पशुओं में कर्तव्यता का अभाव है। क्योंकि उनकी बुद्धि का विकास उतना नहीं होता कि सामाजिक कर्तव्यों को समझ सकें। यह बात मनुष्य के बच्चों पर भी लागू होती है। बच्चे यद्यपि मनुष्य-योनि हैं, तथापि उनका उत्तरादायित्व कई शर्तों में होता ही नहीं। गधा भूल करता है तो दण्ड पाता है, बच्चा भी जब भूल करता है तो दण्ड पाता है। गधा दण्ड पाकर अपने को सुधार लेता है। बच्चा भी दण्ड पाकर अपने को सुधार लेता है। परन्तु जिस सीमा को पार कर के सामाजिक, नागरिक तथा धार्मिक कर्तव्यता और उत्तरादायित्व का आरंभ होता है, वह पशुओं और बच्चों में नहीं होती। इसका यह अर्थ नहीं कि कर्तव्यता का सर्वथा अभाव है। सीमाओं में भेद है। अतः पारिभाषिक अर्थों में कहा जाता है कि पशु-पक्षी भोग-योनियां हैं कर्म-योनियां नहीं। जहां करने, न करने, उलटा करने के तीन मार्गों में से एक के चिह्न पाये जावें, वहाँ सर्वत्र जीवत्व और उत्तरादायित्व है। अतः कर्तव्यता माननी चाहिये। कर्तव्यता सापेक्षिक वस्तु है। वह जीव के बौद्धिक विकास के आश्रित है। कर्तव्यता का पालन आगे के विकास का साधन होता है। इस प्रकार कर्म-फल की शृङ्खला निरन्तर जारी रहती है। यह उन्नति की सीढ़ियाँ हैं। हर डण्डे पर पैर रखने से आगे का चढ़ना सुगम हो जाता है। इसी प्रकार हर कर्म्म से ज्ञान की वृद्धि होती है और उस ज्ञान-वृद्धि से कर्तव्यता की सीमा बढ़ जाती है॥ [क्रमशः]

सप्तसिन्धु सूक्त

[ले०—*श्री पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार, गाजियाबाद*]

वेद में इतिहास बताने वालों ने बहुत दूर दूर की कौड़ियाँ ली हैं। कोई वेद में आर्य और दस्यु दो जातियों का इतिहास बताते हैं; जिनमें से आर्यों का रङ्ग गोरा तथा नाक नोकीली थी तथा दस्युओं की चिपटी नाक तथा काले रङ्ग का बताते हैं। कोई-वैदिक लोग मध्य एशिया से आये-ऐसा बताते हैं। कोई पूर्व से पश्चिम की ओर आये ऐसा बताते हैं। परन्तु इन सब लाल बुझक्कड़ों की छलाङ्गें जिस खूंटे से बन्धी हुई हैं, वह ऋग्वेद के दशम मण्डल का ७५ वां सूक्त है, जिसे सप्तसिन्धु सूक्त भी कहते हैं। इन विद्वानों का कथन है कि इस सूक्त में सिन्धु, गंगा, यमुना सतलुज आदि नदियों का वर्णन है और क्योंकि सबसे पहिले सिन्धु का वर्णन है, इसलिये आर्य लोग मध्य एशिया के निवासी थे और सिन्धु पार करके भारत में आये। हमें आज इस बात की पड़ताल करनी है कि इस सूक्त में कहीं नदियों का वर्णन है भी वा नहीं? किन्तु अभी हम अभ्युपगमवाद से मान लेते हैं कि इस सूक्त में नदियों का ही वर्णन है, तब यदि इसमें नदियों का ही वर्णन हो तो इन बातों का समाधान नहीं होता।

प्रश्न (१) यदि इस सूक्त में नदियों का वर्णन है तो सिन्धु के ठीक पश्चात् गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री का वर्णन कैसे आया? क्या आर्य लोगों ने सिन्धु पार करते ही एक लम्बी छलाङ्ग मारी और फिर वह उल्टे चल पड़े।

गङ्गा के पश्चात् यमुना, यमुना के पश्चात् सरस्वती, फिर शुतुद्री यह क्या गोरखधन्धा है ?

"फिर क्या सप्तसिन्धुवादी यह भी बतलाने की कृपा करेंगे कि वह सिन्धु नदी कौन सी है, जो गोमती में जा मिली है[1] ? फिर वह तमाशा और देखिये कि सायण तो 'क्रुमुम्' को गोमती का विशेषण बताते हैं और वह महापुरुष इसमें क्रुमुम ढूंढ रहे हैं। फिर क्रुमुम् का गोमती से क्या सम्बन्ध है, यह सारे इतिहासकार शीर्षासन करके भी नहीं बता सकते। कहाँ सिन्धु, कहाँ क्रुरम और कहां गोमती। बलिहारी है इन लाल बुझक्कड़ों की लीला की।

अब जरा सिन्धु नदी की ओर आईये। इसका वर्णन वेद के ही शब्दों में लीजिये।

स्वश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासा हिरण्ययी सुकृता वाजिनीवती। ऊर्णावती युवतिः सीलमावत्युताधि वस्ते सुभगा मधुवृधम्। ऋ० १०, ७५,८.

इसका सायणकृत अर्थ सुनिये।

यह सिन्धु (स्वश्वा) शोभनाश्वोपेता—अर्थात् सुन्दर घोड़ों वाली है। (सुरथा) अर्थात् सुन्दर रथों वाली है। (सुवासाः) सुन्दर वस्त्रों वाली है। (हिरण्ययी) सोने के भूषणों वाली है। (सुकृता) सुकृता (वाजिनीवती) अन्नवती (ऊर्णावती) ऊनवाली है। क्योंकि उसके किनारे ऊन भी होती है, जिसके कम्बल बनते हैं। (युवतिः) नित्यतरुणी है अर्थात् उसमें सदा जल भरा रहता है। (सीलमावती) सीलमा एक पौदा है, जिससे हल जोतने की रस्सी बनती है, वह भी उसके किनारे होती है। (उत) और (मधुवृधम्) निगुण्डी आदि मधुवर्धक औषधियों से (अधिवस्ते) वस्त्र की तरह आच्छादित रहती है। अब भला कोई सायण से पूछे रथ घोड़े वाली कौन सी नदी होती है ? उत्तम वस्त्र कौन सी नदी पहनती है ? ऊन किस नदी में रहती है ? इन सब के उत्तर में कहा जायगा कि उसके किनारे रथ घोड़े होते हैं। सो यह तो सबही नदियों के किनारे होते हैं। अच्छा फिर हिरण्ययी सोने के आभूषणों वाली यह विशेषण नदी में कैसे चरितार्थ होगा ? कहा जायगा कि उसके किनारे रहने वाले लोगों के पास बहुत से सोने के आभूषण होते हैं।

अच्छा यह सब विशेषण तो खेंच तान कर किसी प्रकार सङ्गत कर भी लिये जावें, किन्तु एक विशेषण यहाँ ऐसा है, जिसको सायण चुपचाप एक घूंट में पार कर गया है। वह (सुकृता)—अच्छी प्रकार तय्यार की गई—है यह विशेषण नहर का तो हो सकता है, किन्तु नदी का तो कभी भी नहीं हो सकता। नदियाँ सुकृता किसी प्रकार भी नहीं कहला सकतीं। यह विशेषण तो किसी शिल्पी द्वारा निर्मित पदार्थ का ही हो सकता है, जिसकी ओर इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में आया हुआ कारु शब्द निर्देश कर रहा। स्तोत्रकर्ता को भी कारु इसी लिये कहते हैं कि यह भी एक प्रकार का शिल्पी है। एक और शब्द इस सूक्त में ऐसा है, जो नदियों के वर्णन से मेल नहीं खाता वह शब्द है (मरुद्वृधा) निरुक्तकार इस शब्द की व्याख्या करते हुये लिखते हैं "मरुद्वृधाः सर्वा नद्यो मरुत एना वर्धयन्ति।" सारी नदियें मरुद्वृधा हैं; क्योंकि मरुत् इनको बढ़ाते हैं। इसीलिये दुर्गाचार्य ने "मरुद्वृधे" विशेषण सब नदियों का माना है।

अब देखना चाहिये पवन नदी का विशेषण कर्ता है। वह नदी कैसे करेगा ?

इस प्रकार हमने देख लिया कि यहाँ नदियों का वर्णन किसी प्रकार भी नहीं हो सकता ? हाँ, किसी प्रकार किस रूप में नहरों का वर्णन तो हो भी सकता है, परन्तु वह गौण रूप में ही होगा। इस सूक्त में मुख्यरूप से किसका वर्णन है, यह बतलाने वाला एक शब्द इस सूक्त में पड़ा हुआ है। वह शब्द है (आजौ) युद्धे—अर्थात् युद्ध में। इस सूक्त का अन्तिम मन्त्र इस प्रकार है—

सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनं तेन वाजं सनिषद-स्मिन्नाजौ। महान् ह्यस्य महिमा पनस्यतेऽदब्धस्य स्वयशसो विरप्शिनः॥

[यह लेख बहुत ही उपादेय, योग्यतापूर्ण एवं मननीय है—सम्पादक]

१—ऋ. १०, ७५, १६।

आचार्य विष्णुगुप्त का एक स्वप्न

[लेखक—श्री प्रोफेसर परमानन्द जी शास्त्री एम० ए० गवर्मैण्ट कालेज, नाभा]

(१)

[illegible] या क्षत्रियत्व की भावना को दबा कर [illegible] आम्भि ने सिकन्दर की विजय-पताका के सामने आत्मसमर्पण कर दिया था। केकय राज को नीचा दिखाने की नीच कल्पना ने उसको यवन राज के चरणों में नत-मस्तक कर दिया। आर्यों का जातीय गौरव अब उसमें न था। यवन राज की प्रचण्ड प्रतापाग्नि से वह पोरस और केकय राज को भस्मसात् करना चाहता था।

उसने आगे बढ़कर सिकन्दर का अभिनन्दन किया। सिन्धु नदी को पार कर सिकन्दर ने बड़ी धूम-धाम से तक्षशिला में प्रवेश किया। उसके अभिनन्दन के लिए सभी आयोजन किये गये। स्थान-स्थान पर पुष्प-मालाओं से विभूषित द्वार बनाये गये। पताकाएँ और पुष्प-शृंखलाएँ लटकाई गईं। नगर के प्रमुख नागरिक और कुल-मुख्यों ने अपने हाथों से यवनराज की आरती उतारी। दो योजन की दूरी पर सिकन्दर को लेने के लिए आम्भि की आज्ञा से मौर-सेना के लोग आगे खड़े थे।

सिकन्दर दो सप्ताह तक्षशिला में रहा। उसे अपनी विजय-यात्रा की थकान मिटानी थी और भावी आक्रमणों के लिए योजनाएँ तैयार करनी थी। यवनराज के असभ्य सैनिकों के कारण तक्षशिला में आतंक छा गया। आमोद स्थानों-उद्यानों-उपवनों में यवन सैनिकों का बोल बाला था। मधुशालाओं और मदिरा का राज्य हो गया। रूप-जीविकाएँ उन्हें प्रसन्न करने में व्यस्त थीं। आम्भि का आदेश था कि जो गणिका यवनों से घृणा करेगी, उसे पाँच सहस्र का कार्षापण दण्ड और एक सहस्र कोड़े लगेंगे।

यवनों की उद्दण्डता से सभी हैरान और व्यथित थे। कोई आवाज उठाने का साहस नहीं रखता था।

(२)

मगध के मौर्य वंश का राजकुमार चन्द्रगुप्त इसी अवसर की प्रतीक्षा में था। एक दिन प्रातः काल जब सिकन्दर तक्षशिला में वन-विहार के लिए निकला तो चन्द्रगुप्त उससे मिलने के लिए आगे बढ़ने का यत्न करने लगा। सैनिकों को उसके तेजस्वी भाल को देख कर उसे रोकने का साहस नहीं हुआ। वह आगे बढ़ गया। अंग-रक्षकों ने उसे रोकना चाहा। परन्तु अग्नि-ज्वाला की तरह धधकते हुए इसे राजकुमार ने उद्दीप्त स्वर में कहाः—

"मैं राजकुमार हूँ। यवनराज से बात करना चाहता हूँ।"

"तुम्हें यवनराज से क्या कहना है?"

"यह मैं उन्हीं से कहूँगा। राजकुमार साधारण सैनिक से बात नहीं करते।"

"तुम्हारे लिए यह समय नहीं" सैनिकों ने कहा।

"अंग रक्षको! मेरे साथ राजोचित सम्मान के साथ बात करो। मैं मगध का राजकुमार हूँ। मुझे अभ्यास नहीं कि गुरुजनों के अतिरिक्त अन्य कोई मुझसे "तुम" कहकर बात कर सके।"

सिकन्दर इन बातों को सुन रहा था। उसने सोचा कि इस राजकुमार से भी कोई प्रयोजन सिद्ध हो सकता है। क्योंकि यह भी तो कुलाँगार आम्भि के ही देश का वासी है। सिकन्दर ने आज्ञा दी कि आज मध्याह्नोत्तर इस युवक को मेरे सामने उपस्थित किया जावे।

(३)

नियत समय पर चन्द्रगुप्त सिकन्दर के सम्मुख उपस्थित हुआ।

"मौर्यगण का राजकुमार यवनराज को प्रणाम करता है।" चन्द्रगुप्त ने गर्वित मुद्रा में कहा।

"स्वागत हो राजकुमार! बतलाइए मुझसे आप क्या चाहते हैं?" सिकन्दर ने उत्तर दिया।

"महाराज! मगधराज ने मेरी मातृ-भूमि को पद-दलित और पराजित कर रखा है। मेरी पूज्य माता को उसने अपने अन्तःपुर में दासी बना लिया है। मैं इस अपमान के प्रतिशोध के लिए आपसे अभ्यर्थना करता हूँ।"

"संसार में पराजितों का कोई सम्मान नहीं होता। उनके साथ ऐसा व्यवहार होना उचित है।"

"तो क्या आप विश्व के शिरोमणि भारतवर्ष को इसी लिए आक्रान्त करना चाहते हैं?"

"इसमें पूछने की क्या बात है? सभी पराजित देश और अभिभूत जातियाँ इसी व्यवहार को पाती हैं।" अभिमान सहित सिकन्दर ने कहा।

"तो क्या आप यह भी उचित समझते हैं कि मेरी माता का दासी जीवन उचित है?" चन्द्रगुप्त ने उत्तप्त होकर पूछा।

"सहस्रों राजकुलों की भद्र महिलाएं यवन देश में दासी का जीवन क्या नहीं बिता रहीं? मेरे साथ ही यहीं अनेकों ऐसी किङ्करियाँ हैं जो कलतक राजवंश की महारानियाँ थी।"

"मैं तो यवन देश को सभ्य और उदार हृदय समझता था।" चन्द्रगुप्त ने विस्मय से कहा।

"इसमें असभ्यता या अभद्रता क्या है? निर्बलों और पराजितों को अपमानित करना ही तो शूरता या न्याय है।"

"तो क्या आप भी भारत के जनपदों को पराजित करके उनकी सती-साध्वी भद्रमहिलाओं और राजकुमारियों के साथ ऐसा ही व्यवहार करना चाहते हैं?"

"परास्त देशों की और गति क्या होती है, राजकुमार?"

"परन्तु यह तो बर्बरता और हृदय-हीनता है—यवनराज।"

"यह वीरता है। यही साहसिकता है।" सिकन्दर ने अकड़कर कहा।

"पर मैं तो आर्य-महिलाओं के इस अपमान को कभी सहन नहीं कर सकता। मेरे गुरु आचार्य चाणक्य ने क्या ठीक कहा था—तुम्हें अपनी माता के दासी-जीवन से जो खेद या व्यामोह है, वह स्वाभाविक है। पर भोले चन्द्रगुप्त उस दिन की कल्पना करो, जब इस देश की लाखों महिलाएं विदेशी यवनराज की पराधीनता में दासी-जीवन को व्यतीत करेंगी। हाय वह कैसा भयंकर समय होगा। आचार्य की बात को न मानकर मैंने कितनी मूर्खता की।"

बात को टालते हुए सिकन्दर ने फिर पूछा—"मौर्य राजकुमार मुझसे क्यों मिलना चाहते थे?"

चन्द्रगुप्त ने संभलते हुए कहा—"मगध राज के विनाश के लिए यवनराज की सहायता प्राप्त करने के लिए मेरी भावना थी कि जब आपकी सेनाएँ मगध को पराजित करने के लिए बढ़ें तो मैं उनका नेतृत्व करूं। जब पाटलीपुत्र का पतन हो जाय तो नन्द के अपमान को अपनी आंखों से देखूँ। जब नन्द-कुल की रानियां बन्दी बना कर दासी के रूप में बेची जायें तो उस दृश्य को देखकर हृदय की ज्वाला को शान्त करूं। पर यवनराज! आज आपने मेरी आँखें खोल दी हैं। आचार्य विष्णुगुप्त का उपदेश मेरे कानों में आज सुनाई दे रहा है। हाय, यवन-सेनाओं की इस विजय से आर्य जाति का कितना भयावह अपमान होगा। आर्य धर्म और संस्कृति का भीषण विध्वंस होगा। मगध राजवंश अपना है—अपना देशवासी है। उससे मेरी शत्रुता है। पर आर्यों की इस महा-महिमामयी भारत वसुन्धरा के अपमान की कल्पना करना मेरे लिये असह्य है।"

सिकन्दर ने आवेश में आकर आम्भि से पूछा—"यह आचार्य विष्णुगुप्त कौन है?"

गान्धार-पति आम्भि कुछ कहने को ही था कि कुमार चन्द्रगुप्त ने तड़ित्-घोष से कहा—"इस महाप्रतापी विश्वविख्यात गुरु के विषय में किस ढंग से आप बात कर रहे हैं, यवनराज! अपने गुरु के अपमान को मैं सहन नहीं कर सकता।"

"पकड़ लो इसे, जाने न पावे यह उद्दण्ड, इसे बन्दी बना लो" सिकन्दर ने क्रोध में आज्ञा दी।

"यवनराज में क्या शक्ति है जो स्वाधीन भारत के राजकुमार को पकड़ सके।" ऐसा सिंहनाद करते हुए चन्द्रगुप्त ने छिपी कटार को निकालते हुए कहा। "किसमें साहस है जो सिंह के मुँह में हाथ दे सके?" कटार घुमाते हुए चन्द्रगुप्त यवन सैनिकों के बीच से निकल गया। सारे सैनिक हतभ्रम होकर वहीं खड़े देखते रहे।

(४)

लज्जित होकर सिकन्दर ने फिर आम्भि को पूछा—"कौन है यह विष्णुगुप्त और कौन है यह उद्दण्ड साहसी युवक?"

हाथ जोड़ कर महाराज आम्भि कहने लगे—"आचार्य विष्णुगुप्त तक्षशिला के विश्वविख्यात आचार्यों में सर्व-प्रमुख हैं। भारत के सभी राजकुमार या अमात्य उसके शिष्य हैं। यह युवक भी उनके शिष्यों में से एक हैं।"

"आचार्य विष्णुगुप्त को मेरे सामने पेश करो" मदान्ध सिकन्दर ने कहा।

"वे मेरे भी गुरु हैं, महाराज।"

"कुछ भी हो, उसे बन्दी बना कर मेरे सामने लाओ।"

"वह अब मेरी तक्षशिला में नहीं हैं।"

"वह अब है कहाँ?"

"सम्भव है मगध को गये हों।"

"किस प्रयोजन से।"

"उनकी कल्पनायें कि हिमालय से लेकर आसमुद्र इस भारत भूमि को एक राजनैतिक सूत्र में पिरोया जाय। इस प्रकार यह भारत-धरणी विश्व की शरण होगी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे पूर्व की ओर गये हैं।"

"तुमने इतने खतरनाक विद्रोही को कैद क्यों नहीं किया?"

"यह असम्भव था, यवनराज! अग्नि-ज्वाला को कौन रुई के ढेर में लपेट कर रख सकता था? गान्धार की प्रजा ही क्या सारे भारतवासी विद्रोह कर देते हैं। इस लोकोत्तर नररत्न में वह शक्ति है कि सम्मुख कोई आंख नहीं उठा सकता? मैंने तो इसी में कुशल समझा जब वे तक्षशिला छोड़ गये। उनके यहां होते हुए गान्धार की प्रजा यवनराज की अधीनता कैसे मान सकती थी?"

(५)

चन्द्रगुप्त वितस्ता पार कर गया। तीर के समान तेज चलता हुआ वह जा रहा था—केवल एक उद्देश्य सामने था—शीघ्रातिशीघ्र पाटलीपुत्र पहुँचना और आचार्य विष्णु-गुप्त की कल्पनाओं द्वारा भारत माता का अभिपूजन।

वैदिक विनय

[*अर्थात्—वैदिक दृष्टिकोण, स्वानुभूति, शब्दसाक्षी, तथा विनय के आलोक में दैनिक-सन्ध्या]

[ले०—श्री पं० लाजपतराय जी एम० ए० डी० लिट् देहली]

'विततो देवयानः'

दिव्य ज्योति ! जग, राह दिखाना
सन्ध्योदय में मुझे जगाना ।।

अन्ध तमस आंखों को घेरे,
सुन 'पुकार' मन इत-उत हेरे... ।
जीवन-पथ पर प्रथम चरण हैं
उठे, बढ़ रहे...क्यों ? किस ओर ?

× × ×

पहले भी नर सफल रहे हैं ।
हां, आकर्षण खींच रहे हैं
मुझे स्वर्णयुग के...। प्रभु ! रण में
वर्तमान के रहूं विभोर ।।

× × ×

धूलिसात् मुझको कर देना ।...
कृपा तुम्हारी अन्तर्बल से,
पाप-शापमय विषम, विरोधों
से निकलूं ऊपर की ओर ।।

× × ×

हे अदृश्य ! तुम दायें आओ,
मुझे पथिक-बल, संबल ला दो ।
दुनिया की ऊबड़-खाबड़ में
किधर चलूं मैं अन्ध, विभोर ?

× × ×

उदयमार्ग पर नम्र भाव से,
निरभिमान, मैं बढ़ूं चाव से ।—
अहंभाव-रत देख, गिराना,
प्रभु ! मुझपर विद्युत् की 'कोर' ।।

× × ×

किन्तु, आत्म-उन्नति के क्षण में,
चकाचौंध के नव-प्रतरण में,
मुझे सहाय हो, ज्योति तुम्हारी,
—मधुर-सुधा वर्षा हो भोर ।।

× × ×

ज्ञान, ज्योति, अमृत की नाना
नव-किरणों की सञ्जीवनि में
—तज लघुताएं सारी छिन में—
मन, जागृत, डूबे मस्ताना !

* कई अंशों में असहमत होते हुये भी उपयोगी होने से यह लेख प्रकाशित किया जा रहा है—सम्पादक ।।

I

वैदिक दृष्टि-कोण

[पाँच 'दृष्टि-विषय' तथा 'पञ्च इषवः'—(१) संगति (बाह्य रूप)-संगति ('आन्तर दर्शन')-सावित्री-प्रणव (२) यज्ञदृष्टि (३) भावना (४) मनसा-परिक्रमा (५) साष्टाँग]

१. संगति—बाह्य रूप

वैदिक सन्ध्या को ऋषि दयानन्द ने सात भूमिकाओं अथवा अंगों में निबद्ध किया है :—

(१) आचमन
(२) इन्द्रिय-स्पर्श
(३) मार्जन
(४) प्राणायाम
(५) अघमर्षण
(६) मनसा-परिक्रमा
(७) उपस्थान

इन्हीं सात अंगों में सन्ध्या की परिपूर्णता तथा आन्तरिक संगति निहित है।

२. संगति—'आन्तर दर्शन'

(१) सन्ध्या के लिये उपयुक्त स्थान तथा समय का निर्देश करते हुए स्वयं वेद ने कहा है—

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम् ।
धिया विप्रो अजायत ॥

अर्थात् 'देवीरभिष्टये आपो' की जल-धाराएँ सचमुच की धाराएँ हैं, जिनके स्नान-पान से मनुष्य अपने अन्दर एक नवीन वातावरण की-सी स्फूर्ति का अनुभव करता है।
—आचमन

(२) उसका अंग-अंग इस नवीन स्फूर्ति से नव-जीवन पाता है। —इन्द्रिय-स्पर्श

(३) दैवी सञ्जीवनी का मूर्त प्रतीक बनी सावित्री अपनी सप्तरश्मिमय पूर्णता में मनुष्य की देह में अवतरित होती है। —मार्जन

(४) उसकी देह अब उसकी कहां !—वह तो अब देवपुरी अयोध्या है। —प्राणायाम

(५) इस दैवी पुनर्जन्म में मनुष्य के अन्दर 'सृष्टि' की सम्पूर्ण प्रक्रिया की आवृत्ति होती है !
—अघमर्षण

(६) किन्तु मानव मन अभी कुछ देर से अन्धकार में भटकता है। —मनसा परिक्रमा

(७) सूर्योदय के साथ उसकी आत्मा अहंकार अन्धकार से मुक्त होकर दिव्य अन्तर्ज्योति के दर्शन पाती है।
—उपस्थान

३. सावित्री

(क) सन्ध्या की यह अन्तर एवं बाह्य संगति संक्षिप्त रूप में वैदिक 'सावित्री' में प्रस्तुत हुई है। वैदिक आख्यान-कारों के अनुसार सावित्री की सात व्याहृतियां हैं—भूः, भुवः, स्वः आदि।

(ख) एक और दृष्टि से वही गाथाकार सावित्री की तीन महाव्याहृतियां बतलाते हैं। इसके अनुसार सन्ध्या की भी 'तदनुरूप' महाभूमिकाएँ होनी चाहिएं—i. आचमन से अघमर्षण तक (१-५) भक्त का दैहिक अर्थात् आधि-भौतिक पुनर्भव होता है; ii. मनसा-परिक्रमा (६) में मानसिक अर्थात् आधिदैविक पुनर्भव; और iii. उपस्थान (७) में अतिमानस अर्थात् आध्यात्मिक पुनर्भव। प्राणि-विज्ञान में i. जन्म, ii. संघर्ष तथा iii. शान्ति की क्रमिक संगति शरीर, मन तथा आत्मा से शृङ्खलित होती है।

(ग) आचमन से उपस्थान तक सन्ध्या के सात सोपान हैं, या यों समझ लें कि तीन पड़ाव हैं। वही सात सोपान या तीन पड़ाव, इस प्रकार, सावित्री में पुनः संक्षिप्त रूप में उपसंहृत हुए। इसी भाव-संगति से सावित्री का क्रम-प्रस्ताव उपस्थान के अनन्तर आता है। सावित्री में सन्ध्या का 'संहार' भी है, 'तुरीय' पाद भी—दैवी विहार भी, क्योंकि सावित्री सन्ध्या के तीन पदों का ध्येय है, लक्ष्य है, अंतिम पड़ाव है, मंज़िल है। अर्थात्—

१. सन्ध्या का उपसंहार है—सावित्री के तीन चरण।
२. सावित्री का उपसंहार है—भूः, भुवः, स्वः की तीन व्याहृतियां।
३. और सावित्री का यह उपसंहार स्वयं, और भी संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत हुआ है 'प्रणव' की तीन मात्राओं—अ-उ-म्—में।

४. प्रणव

जिस प्रकार 'सावित्री' सन्ध्या का उपसंहार भी थी, उत्स भी; उसी प्रकार 'प्रणव' सावित्री का उपसंहार भी है, उत्स भी। 'प्रणव' स्वयं सन्ध्या–सावित्री–ओम् तीनों का 'तुरीय' चरण है—अतिमानस स्वः है, प्रकृति से परतर' ('पुरुष') है, हमारी पार्वती-वृत्तित्रयी की 'शिव-तर समाधि है।

'प्रणव' का शब्दार्थ है—नमस्कार, आत्म-समर्पण। दैहिक, मानसिक तथा आत्मिक—त्रिविध पुनर्जन्म के अनन्तर 'नमस्कार' द्वारा नवस्फूर्ति के उसी परम स्रोत = (आपः) को, अन्त में आत्मार्पण।

१. आचमन से उपस्थान तक मनुज का (त्रिविध) पुनर्जन्म होता है।

२. सावित्री में पुनर्जात जीव का नवजीवन आरम्भ होता है।

३. और नमस्कार में पुनर्जात का जीवन-स्रोत की संजीवनी-धाराओं में लय।

जीवन-लीला में कितनी सरलता है। दुविधा को उसमें अवकाश ही कहां है ? 'पार्वती-परिणय' का यह अभिनय दिन में कम से कम दोबार हमारे अन्तर्नेपथ्य में रोज होता है—हम खुद ही तो मूर्त कैलाश हैं, प्रतिमूर्त हिमालय हैं !

...सन्ध्या का उपक्रम 'आपः' से हुआ था, और 'आपः' मयोभुवः हैं; सो, सन्ध्या (की स्वानुभूति) का अन्त भी 'मयोभवाय च' में ही अर्थात् 'आपः' में ही हो रहा है। यही सन्ध्या की पूर्वापर संगति है।

५. यज्ञ-दृष्टि

सन्ध्या का परिगणन दैनिक पञ्चमहायज्ञों में हुआ है। सन्ध्या-वन्दन के साथ हमारे दैनिक जीवन का आरम्भ होता है, और सन्ध्या के साथ ही दिनान्त। प्रातः की सन्ध्या, दूसरे शब्दों में, दिन की शुभ प्रगति के लिये प्रार्थना है; और सायं की सन्ध्या दिन की शुभ समाप्ति पर धन्यवाद। सुबह और शाम मनुष्य की आत्म-निरीक्षण की घड़ियाँ होती हैं। सन्ध्या 'आत्म निरीक्षण' यज्ञ है।

आचमन से लेकर उपस्थान (के चार मन्त्रों) तक आत्म-दर्शन का, देवपूजा का संकेत है; गायत्री में सावित्री के अन्तर्धान का, संगती करण का; नमस्कार में आत्मार्पण का, दान का।

यह ब्रह्मयज्ञ है, आत्म-विकास का अभ्यास है—सान्त से निरन्त होने की दिशा में प्रयास है। अब देह में मानवीय हीनताएँ नहीं रहीं, वह देहपुरी बन चुकी है—ओं खं ब्रह्म ! मन अपनी प्राकृत द्वेष-वृत्ति से मुक्ति पा चुका है। आत्मा ने 'योऽसावादित्ये पुरुषः' के दर्शन कर लिए हैं। मनुष्य की निजी शून्यता (खं) आकाश की व्यापकता से, निरन्तता से (ब्रह्म से) एकीभूत हो चुकी है। सावित्री के वरेण्यं[१] भर्गः[२] = ब्रह्म[२] वर्म[१] ममाऽन्तरम्' को हम ध्यान-धारणा-अर्पण द्वारा आत्मसात् करते हैं—हम भी सावित्री की भांति स्वतः पर्याप्त हो जाते हैं, आत्मनिर्भर हो जाते हैं। आत्मविकास और आत्मविश्वास एक ही वस्तु के, स्वानुभव के दो नाम हैं। इसे ब्रह्मयज्ञ कह लो, ब्रह्मचर्य कह लो, गीता के शब्दों में ब्राह्मीस्थिति (की स्थितप्रज्ञता अथवा अविचाली समता) कह लो—बात एक ही है, क्योंकि यह अणु से निरन्तर भूमा, अतो ज्यायांश्च पूरुषः, बनने की अन्तर्मेधी वृत्ति है, नमः शान्ताय तेजसे, की सतत स्वानुभूति ही है, बस।

और ब्रह्मयज्ञ का मुख्य उपलक्षण है—स्वाध्याय = आत्मनिरीक्षण, आत्मार्पण : एक शब्द में 'विनय' : know thy self surrender thyself आत्म-बोध का अर्थ ही है अपनी हीनताओं का बोध, तभी तो हम परम-आत्मा के चरणों में आत्मसमर्पण करके—अर्थात् अपना आपा खोकर, अपनी-ही छुपी-सोई निरन्तता का स्वानुभव करते हैं। वेद में इसी प्रसुत 'मानवी' (अन्तः शक्ति) को सावित्री कहा गया है, 'सावित्री' के प्रथम दर्शन का रूप लौकिक व्यवहार में प्रस्तुत करना हो तो, वह है नववधू के मुख का शारद- शुभ्र निपूत में प्रथम निरावरण दर्शन है ! परन्तु वह पहली झलक हमारे अनुभव का एक सतत निमेषोन्मेष बन जाय, शिव की नित्य सहचरी अर्धाङ्गिनी बन जाय, इसके लिए साधना की आवश्यकता है। इसी सिद्धि के लिए ही 'सन्ध्या' साधक के हाथों में एक अमोघ साधन है, साधना अस्त्र है।

आत्मनिरीक्षण, स्वाध्याय, सन्ध्या–तीनों पर्यायवाची शब्द हैं। मनुष्य की सत्ता ही क्या है ! परन्तु कितनी अद्भुत सचाई है कि ज्यों-ही हमने अपनी लघुता का साक्षात् कर लिया, हम झट खं से ब्रह्म बन जाते हैं। सन्ध्या की दृष्टि हृद्गत करने का अभिप्राय है आत्मार्पण के सूत्र को जीवन में क्रियात्मक रूप देना, उसे आत्मसात कर

लेना, अपनी बिखरी शक्तियों को अपव्ययित, न होने देना, उन्हें समेट लेना। संभवतः इसीलिए गांधी जी को परमेश्वर का साक्षात्कार इतना सुगम प्रतीत होता था—"बृहद् आकाश के संमुख तुम अपनी लघुता का अनुभव कर लो, बस—अब तुम लघु नहीं रहे, तुम भी प्रभु-से महान् बन गये हो। परमेश्वर के दर्शन का मार्ग कितना सरल है!" ब्रह्मविद्या इस स्वानुभूति के सिवाय और कुछ नहीं है।

\+ \+ \+

६. भावना

सन्ध्या के शब्दों में भावना को अधिगत करने के लिए हमें कुछ सामान्य, आधारभूत नियम ध्यान में रखने पड़ेंगे:—

(१) 'सन्ध्या' का अर्थ है—सन्ध्या-वन्दन। सो, सन्ध्या में किसी प्रकार के दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक दृष्टिकोण को कोई अवकाश नहीं।

(२) 'वैदिक सन्ध्या' ऋषि दयानन्द की कृति है—अर्थात् यह कोई वैदिक क्रम-बद्ध सूक्त न होकर, ऋषि दयानन्द द्वारा किसी अभिप्राय से कुछेक वैदिक मन्त्रों तथा सूक्तों का पुनः सम्पादन है। सन्ध्या के शब्दार्थ करते हुए हम *अर्थ का अनर्थ कर सकते हैं, यदि हम ऋषि के अभि*प्राय को भूल बैठें। 'वैदिक सन्ध्या' के सम्पादन में ऋषि का अभिप्राय क्या था?

(३) ऋषि का अभिप्राय सन्ध्या की प्रस्तावनाभूत सात भूमिकाओं में हम ऊपर निर्दिष्ट कर आये हैं।

(४) 'बाह्य रूप' में प्रतिच्छादित इसी अभिप्राय को सन्ध्या का सूत्र समझते हुए हमने 'तदनन्तर' सन्ध्या की 'अन्तः-संगति' उपस्थित की है। 'आन्तर दर्शन' में सन्ध्या का मुख्यभाग 'उपस्थान' है, द्वितीय सोपान 'सावित्री' है, तथा तृतीय 'नमस्कार'।

(५) ऋषि दयानन्द वेद के सूक्तों को तीन दृष्टियों से आंकते हैं। व्याख्याकार प्रायः ऋषि के इस मौलिक सिद्धान्त का आश्रय लेते हुए सन्ध्या के मन्त्रों के साथ अत्याचार करते आये हैं। ऋषि का 'अर्थ' एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। 'उषा' सूक्त उषा-परक है। सम्पूर्ण सूक्त की संगति 'उषा' के कविदर्शन में है। प्राकृतिक उषा के आधार पर सूक्त का अर्थ हृद्गत करके पुनः उसकी भावना को किसी भी क्षेत्र में घटाया जा सकता है—किसी भी क्षेत्र को उषा की काव्यमयता से सरस किया जा सकता है। इसी प्रकार सन्ध्या के, पूरी सन्ध्या के, अर्थ (प्रथम) सन्ध्या-वन्दन की दृष्टि से साम करके, अनन्तर उसे (सन्ध्या को) किसी अन्य क्षेत्र में अवतरित किया जाय—तभी आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक दृष्टिकोण संगत रहेंगे। अन्यथा नहीं।

(६) 'सन्ध्या के कुछ सन्दिग्ध स्थल हैं—

प्राणायाम-मार्जन—जिसमें भूः, भुवः, स्वः आदि सावित्री की सात व्याहृतियां हैं, सविता की सात व्याहृत = विभक्त रश्मियां हैं, *न कि यान्त्रिकों तान्त्रिकों के सात लोक।* साङ्गोपाङ्ग सावित्री 'कामिनी' चक्र के अंग-अंग में, अणु-अणु में अवतीर्ण हो रही है। वैदिक अवतारवाद अथवा मूर्तिपूजा का रूप यही कुछ है—**पुनातु**: देवी सावित्री मेरे इन रोम-कूपों की राह (**मार्जन**) से प्रविष्ट होकर मुझे स्फूर्तिमय कर दे अपनी दिव्यता से भर दे!

अघमर्षण—सूक्त के ऋषि का नाम है। सूक्त का देवता है **भाव-वृत्त**, अर्थात् सर्गोदय अथवा सृष्टि-परम्परा का चक्र। पार्थिव देह जब देवपुरी बन गई, तब उसमें दैवी भाव का वह सृष्टि-चक्र चलेगा ही। वह अनिवार्य है। *अन्यथा, प्रक्रिया अपूर्ण रहेगी। अथर्व के ऋषि ने संभवतः* 'दन्दह्यमान नीहारिका' (पुरुष) के प्रथम (क्रान्त) दर्शन किये थे, और वह 'दर्शन' करते ही उसने अपने अन्दर पाप-पुंज को दाह होते, भस्म होते अनुभव किया था—इतनी विशद, पावन, पावक दृष्टि थी। वह अध्यात्म शक्ति की उपलब्धि से पूर्व वह तपोदाह, यह यातना, यह दुघ-मर्षण अपरिहेय है। इस स्वानुभव का एक स्फुलिंग ही नेत्र-हीन मन की आँखें खोल देने को, पाप-भावनाओं को भस्मसात् कर उसे लघु-भार, नम्र बना देने को, उसमें अद्वेषिता, अस्मिता-वृत्ति, समता-भाव आहित करने को पर्याप्त है।

मनसा-परिक्रमा—के तो शब्दार्थ ही हैं मन का भटकना, आत्मा की खोज में 'बाहर' निकलना। देह तो भक्त की देव-पुरी बन गई, किन्तु मन उसका अभी अन्धकार में ही है। उसकी अपनी ज्योति का प्रकाश है कितना? मानसिक विकास कुछ समय चाहता है। किन्तु पहली चिनगारी में भी, उसकी भी 'नीहारिका' की उद्भव-वह्नि की घोरता है। सहसा मन की आँखें बन्द हो जाती हैं, और अरे—यह क्या लोकलोकान्तर फूट उठे?—अन्त-

शून्य होते ही, उसके सम्मुख आत्मा की अनन्त ज्योति, 'अवस्थान' में, तन्वं विसस्रे !

सावित्री-नमस्कार की युक्ति साधना की युक्ति है—'मङ्गलाचरण' की (प्रथम) दिव्यानुभूति को, शिव-पार्वती के अविनाभाव नित्य-युगल की भांति, नित्य-साक्ष्य करने की साधना है। सावित्री निरावरण नृत्यमयी हो उठी है (बृहद्, नहीं) तो क्या सत्यवान् उसके संमुख अपना आपा छुपाये रख सकता है ? कब तक······? परमात्मा का अर्थ है परम आत्मा, अर्थात् 'परस्मिन् (सर्वात्मना अर्पितस्य) आत्मनोऽनुभूतिः'। दो की सतत-जागरूकता में जो 'सवितेव व्यरंसीत्' की स्वानुभूति साधारणीकृत है, उसका हेतु निर्व्यामोह नहीं होता, अपितु 'दो' की एकाग्र स्पर्द्धा-मुक्ति का वह नैसर्गिक आत्म-प्रसाद होता है। आत्मबोध इत्थम् आत्मविस्मृतेरेव सिध्यति, नो इतरथा।

(७) वेदमन्त्रों तथा सूक्तों के विशेष-विशेष शब्दों के अर्थ में भी व्याख्याकारों की 'गतानुगति' वृत्ति की अपेक्षा आध्यात्मिक स्वानुभव तथा आन्तरिक तुलना की परम्परा-दृष्टि अधिक स्वाभाविक एवं युक्ति-युक्त रहेगी। उदाहरणार्थ वरेण्यं[1] भर्गः[2] = ब्रह्म[2] वर्म[1] = शान्तं[1] तेजः[2] = शिवं[2] वर्चस्[1] ; cf. तत्त्वं पूषन् अपावृणु।

\+ \+ \+

७. मनसा-परिक्रमा

'वैदिक सन्ध्या' का सबसे दुरूह स्थल है—'मनसा परिक्रमा' का अथर्ववेदीय सूक्त। जिस प्रकार प्राणायाम-मन्त्र ऋषि दयानन्द की 'कृति' है, उसी प्रकार 'मनसा-परिक्रमा' का अन्तर्निवेश भी (सन्ध्या में) उन्हींकी निजी कल्पना थी। 'सनातनी सन्ध्या' में इन छः मन्त्रों का सन्निवेश न होने से, हमें इस सूक्त के 'विनियोग' के विषय में भी कुछ नहीं मालूम। किन्तु यहां भी यदि व्याख्याकारों की 'पौराणिकी' (परम्परा) से मुक्ति पा ली जाय, और अन्तस्तुलना एवं आध्यात्मिक स्वानुभूति का मार्ग मान लिया जाय, तो वह स्थल भी संभवतः, हमारे लिए उतना दुर्बोध न रह जाय। बाल्बोधे च प्रवर्तमानस्य बोधिसत्वस्य, तद्यथा—

(१) सूक्त का नाम है 'मनसा-परिक्रमा'—

[परि-क्रम्, beat about (the bush), if moses' 'fie in the bush'] मानव-मन का अन्धकार में भटकना, आत्मा की खोज में ('बाहर') खाक छानते फिरना !

(२) 'ध्रुवा' दिक् इस बात की द्योतक है कि सूक्त की दिशाएं भौगोलिक नहीं हैं। 'उदीची' की शब्दसाक्षी के रहते इन्हें दायें-बायें नहीं किया जा सकता। 'प्राची' आदि के अधिपति अग्नि आदि की 'व्यञ्जना' स्पष्ट है। परिगणित दिशाओं के देवता, कम से कम प्रस्तुत स्थल में, पौराणिक नहीं हैं।

(३) मन अभी अविकसित दशा में है। सूक्त की दिशाएँ देह के 'देवानां पूः' बन जाने के उपरान्त, विकास-पथ पर अग्रेसर मानव मन की 'दशाएँ' हैं। मन को दिशा-बोध नहीं, वह अपना 'स्वामी' आप नहीं; वह 'अतिमानस' की निरन्तर खुल रही, उसे अधिपतिवत् अभिभूत कर रही, ज्योतियों के अधीन है। 'रक्षितारः' उसके प्रगति-मार्ग में बाधा बन कर आ खड़ी, उसे बेरती हुई-सी (मानो) उसे आकुल कर रही 'राक्षसी'—शक्तियां हैं। और 'इषवः' इस अन्धकार के बाधक-आवरण में से, बाधाओं को चीर, उसे 'तमसस्परि उत्तमं ज्योतिः' की ओर ले जाने वाली दैवी प्रेरणाएँ हैं।

परन्तु मन है कि बहिरंग विश्व में भटकता—इतराता अन्त में, अन्तर्मुख होकर (अकस्मात्) आत्मा के उदित स्वरूप 'तत् चक्षुः शुक्रं' के दर्शन कर पाता है। यह कैसी राह है, बाहर निकले थे और रास्ता जितना ही लम्बा (तय) करते चले कि अन्दर आ पहुँचे ?—पूर्वमन्त्र के 'इषवः' परतर मन्त्र की दिक् से शृङ्खलित हैं।

(४) सूक्त के प्रथम तथा अन्तिम मन्त्र पर एक दृष्टि डालें, तो मनसा-परिक्रमा की 'प्रगति' स्पष्ट हो जाती है; वह है—प्राची से ऊर्ध्वा की ओर अथवा (१) अग्नि से बृहस्पति की ओर : 'असतो मा सद्गमय'; (२) असित रश्मि से श्वित्र की ओर : 'तमसो मा ज्योतिर्गमय'; (३) आदित्याः से वर्षम् की ओर : 'मृत्योर्मा अमृतं गमय'। और यही वैदिक स्तुति-प्रार्थना-उपासना का सूत्र है तथा सार है।

\+ \+ \+

८. साष्टांग

ब्रह्म-यज्ञ में पूर्णरूपेण 'इदं न मम' की भावना द्वारा आत्मसमर्पण होता है—'प्राणायाम' द्वारा देह का, 'त

वो जम्मे दध्मः' द्वारा मन का, और नमस्कार' द्वारा चिदानन्द आत्मा का।

इस प्रकार ब्रह्मयज्ञ की 'विनय'-साधना ने साधक के द्वैधीभाव को, शिव-पार्वती की पार्थिव युगल-भावना को क्रमशः 'शिवतर' करते करते एक रूप कर दिया, मनुष्य से देव कर दिया। आत्मसमर्पण का ध्येय देव बन जाने पर भी पूर्ण नहीं हो जाता। देवों को भी आहुति बनना पड़ता है—देवमेध की यह परम्परा 'देवयज्ञ' अर्थात् 'अग्निहोत्र' में परिरक्षित है॥

वैदिक विनय

II

स्वानुभूति

['विगृह्य चतुरः पदः'—१. आचमन-इन्द्रियस्पर्श-मार्जन-प्राणायाम-अघमर्षण २. मनसा परिक्रमा—३. उपस्थान ४. सावित्री-नमस्कार]

गिरि-गुहाओं की रहस्यमयता, नदी-निर्झरों का कलकल तथा संगम, और आकाश की व्यापक शान्ति—यह मनुष्य लोक नहीं, पृथ्वी नहीं; क्षणभर के लिए, मानों, द्युलोक में, स्वर्ग में आ पहुँचे हों!

१. आचमन

कलकल बह रही इन दैवी धाराओं में हम स्नान करते हैं, दो घूंट पी जाते हैं—हमारी, मानो, अन्तस् और बाह्य में कायापलट हो जाती है! ऐ प्रकृति की गोद में बहरही दिव्य धाराओ! तुम्हारा यह दिव्य वातावरण, तुम्हारी यह स्वर्गिक अनुभूति, मुझे अन्दर-बाहर, सदैव, आदिष्ट किये रखे!

२. इन्द्रियस्पर्श

मैं अपने अंग-अंग में एक नवीन स्फूर्ति का अनुभव कर रहा हूँ। वाणी मूक है, उसकी अनुभूति अनिर्वचनीय है। प्राण स्तब्ध हैं, वो किसी दिव्य शक्ति के अधीन हैं। आँखों ने कुछ-और ही देख लिया है। कानों ने कुछ अनाहत-सा सुन लिया है। नाभि मेरी अब किसी और ही 'जीवन' का, किसी और ही 'सर्गोदय' का, केन्द्र बन चुकी है। हृदय में नवीन भावनाएं है, नवीन संचार हैं। मेरा कण्ठ क्या मेरी इस नवीन अनुभूति को मुखरित कर सकेगा? और मेरे ये हाथ, और ये मेरी भुजाएं?—'हन्ताऽहं पृथिवीमिमां निदधानि इह वा इह वा'?

३. मार्जन

सकल जीवन के एकमात्र स्रोत, सविता, की यह सञ्जीवनी—सावित्री अपनी शतरश्मि-मयी विभवपूर्णता के साथ मेरे अंग-अंग में, मेरे अणु-अणु में अवतीर्ण हो रही है।

४. प्राणायाम

मेरी देह अब मेरी कहां?—'देवानां पूः' अयोध्या है!

५. अघमर्षण

अरे, मेरी देह में पुनर्निर्माण की यह प्रक्रिया उसी प्रकार घटित हो रही है जैसे सर्गोदय वेला में आदि-तत्त्व 'तपस्' से प्रसूत सृष्टि-चक्र :—

कहते हैं प्रारम्भ में सब कुछ एक रूप था—'तपोमय' था। वह आदि-तत्त्व 'तपस्' दो उप-तत्त्वों में विभक्त हो गया—ऋत तथा सत्य में, गति तथा स्थिति में। गति का आदि रूप महारात्रि था, और स्थिति का आदिरूप महासमुद्र। इन अव्यक्तों के द्वैध से एक ओर दिन, रात, वर्ष का विभाजन हुआ, और साथ ही साथ, दूसरी ओर, चन्द्र-सूर्य आदि ग्रहोपग्रहों का। दिवस्, पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष इस सम्पूर्ण गति-स्थिति चक्र के तीन सोपान = स्वर्ग बन गये। इनका ध्येय था, अन्ततोगत्वा, अपने उसी आत्मस्रोत में, 'स्वर' में लीन हो जाना।

+ + +

६. मनसा-परिक्रमा

देह तो मेरी देवपुरी बन गई, किन्तु मेरा मन?—वह तो अभी तक अन्धकार में भटक रहा है।

ऐ मेरे अन्तस् में विद्यमान छोटे से दीप! मुझे आगे ले चलो। मैं अन्धकार में घिरा पड़ा हूँ। मुझे राह दिखाओ, 'संसार-यात्रा' में मेरे ये प्रथम पग हैं।

मुझे बल दो, अनुभव दो कि मैं दुनियाँ के टेढ़े-मेढ़े रास्तों को तय कर सकूँ। मुझसे पूर्व भी तो कितने ही इस 'भव-सागर' को तर चुके हैं।

[illegible] के [illegible] में मुझे उलझाओ नहीं। [illegible] के इन [illegible] पर मेरे संमुख परदा गिरा दो। [illegible] जीवन-संघर्ष से जूझना है।

[illegible] मैं निरन्तर उन्नति के मार्ग पर बढ़ता चलूँ। [illegible] है। वहाँ अभिमान मुझे छू जाय, मुझ पर [illegible] दो—

[illegible] में मिला दो। बस, बीज की वही अन्तः- [illegible] की विरोधिनी शक्तिओं की बाढ़ के बावजूद [illegible] है, मुझ में अवशिष्ट रह जाय।

[illegible]। परन्तु विस्तृत आकाश को चकाचौंध से भर देने वाले तुम्हारे इस दैवी प्रकाश को मैं सहन न कर [illegible]। ऐ मेरे मानस-नभ को चकाचौंध कर देने वाले '[illegible]मानस' सूर्य! क्षण-भर सही, अपनी इस असह्य उज्ज्व-[illegible] को मेरे लिये मृदुता में परिणत कर दो।

···मुझे राह नहीं सूझती। मुझमें आत्मबल नहीं। [illegible]-बाधाएं मुझे सब ओर से घेरे हुए हैं। मुझे उबारो। इस 'चतुर्विध' व्यापक व्यामोह में मैं अपने को और भी [illegible] पाता हूँ। आज मैं अपनी हीनताएं स्वीकार करता हूँ।···सावित्रि! तुमने मेरी देह को, मेरे प्राणों को तो [illegible] बनाया; अब जरा मेरे मन को भी देव-मन्दिर [illegible]ओ—उसमें भी आप आ बसो!......

७. उपस्थान

हम अन्धकार (के गह्वर) से ऊपर उठ आये। सूर्योदय की प्रथम किरणों में स्नान करते हुए हम सावित्री के वन्दनीय स्वरूप की ओर बढ़ चले। सूर्योदय आत्मोदय का प्रतीक है।

इन्द्रिय-इन्द्रिय आत्मा को इस प्रकार हाथों में उठाये फिर रही है जैसे किरणें सूर्य को। आत्मा ज्योतिस्वरूप है, वह सूर्य है—उसका कर्तव्य है कि वह विश्व भर के अन्धकार को दूर कर दे—कृण्वन्तो विश्वमार्यम्।

दीप से दीप जग उठे—अब एक दीप कहाँ, एक सूर्य कहाँ? संसार ज्योतियों का पुञ्ज बन गया है। दिवस में, अन्तरिक्ष में, पृथ्वी में—सर्वत्र—प्रकाश ही प्रकाश है। इन दीपमाला-सी ज्योतियों की ओट में, इस सोना बिखेरती झिलमिल में, ज्योति-ज्योति का वह अजस्र, अक्षय्य स्रोत, वह आदि-अभ्युदय, स्वयं, लुप्त हो गया है, चराचर की बाह्य मोहनी—से, मानो, ढक-सा गया है—हिरण्मयेन पात्रेण!

जीवन-लीला का वही एक स्रोत, सच पूछो तो, हमारे जीवन का अन्त है, एकमात्र निलय है, हमारा परम ध्येय है, लक्ष्य है। हाँ, दैवी द्युति का वही परम स्रोत, वही स्वतः प्रकाश उद्योत हमारी इन्द्रियों का, हमारे चिन्तन का, हमारे अध्यात्म का स्रोत एवं अन्त है—सावित्री!

\+ \+ \+

८. सावित्री

सावित्रि! तुम्हारे इस अक्षय, स्वतः-पर्याप्त, शान्त ब्रह्मतेज के हमने दर्शन कर लिये। ध्यान, धारणा एवं अर्पण द्वारा हम उसे आत्मगत करते हैं कि वह हमारे शरीर की, हमारे मन की, हमारे आत्मा की प्रसुप्त यज्ञिय वृत्तियों को—देवपूजा, संगतिकरण, दान की प्रवृत्तियों को जगा दे···हमें सतत जागरूक कर दे। हमें आत्मार्पणमय कर दे।

९. नमस्कार

जीवन के चतुर्मुख—प्राकृत तथा अतिप्राकृत—आनन्द की स्रोत, सावित्री की दिव्य प्रेरणामयी इन ज्योतिर्धाराओं को हमारा प्रणाम। सावित्री को हमारा आत्मार्पण स्वीकार हो। देवी का वरद हस्त···उसका शिवतर, तुरीय, दर्शन स्वरूप हम पर सदा बना रहे, माँ का छायामय हाथ हम पर सदा छाया रहे।

ज्ञान, ज्योति, अमृत की नाना
नव-किरणों की सञ्जीवनि में
—तज लघुताएँ सारी छिन में—
मन, जाग्रत, डूबे मस्ताना!

'वैदिक विनय' III

शब्द-साक्षी

[दिग्दर्शन—❀ आलोक ❀—सञ्जीवनी—I आधिभौतिक क्षेत्र : १. दिव्यता की अनुभूति—२. दिव्यता का स्पर्श—३. दिव्यता का अवतरण—४. दैवी भाव—५. 'दैवीसृष्टि' का चक्र II आधिदैविक क्षेत्र : ६. देवलोक के पथ पर III आध्यात्मिक क्षेत्र : ७. देव लोक की छायायें IV अतिमानस क्षेत्र : ८. देवलोक—९. देवतात्मा]

❀ आलोक ❀

'सन्ध्या' के अर्थ सर्वसाधारण स्तुति प्रार्थना उपासना समझते हैं। किन्तु वैदिक परम्परा में 'सन्ध्या' के दो पर्याय और भी हैं—**ब्रह्मयज्ञ, स्वाध्याय**। स्वाध्याय, अर्थात् आत्मचिन्तन, आत्मार्पण! आत्मचिन्तन तथा आत्मार्पण द्वारा ही मनुष्य मन की सीमाओं को पार करता हुआ 'अतिमानस' क्षेत्र में प्रविष्ट होता है, मानव से अतिमानव बन जाता है, देवलोक का अधिकारी बन जाता है।

'आत्मचिन्तन' वाद-विवाद की अपिवा शब्दजाल की वस्तु नहीं है। **स्वानुभूति** ही उसका एकमात्र बीज, मूल एवं विकास-हेतु बन सकती है। स्वानुभूति के सातत्य से पुनः **दृष्टिकोण** स्थापित होता है। 'दृष्टिकोण' (१) (अनुसन्धान के लिए) नियम निर्धारित करता है; 'स्वानुभूति' (२) पथिक को विचलित नहीं होने देती; और **'शब्द-साक्षी'** (३) अन्त में प्राचीन परम्पराओं को इन कसौटियों पर कस कर उन्हें हमारे लिए पुनः नवीन, युगानुकूल, कर देती है। इस प्रकार ऋषियों का वह आदि अनुभव हमारे संमुख अपने उसी प्रथम रूप में आ जाता है—**उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे !**

'सन्ध्या'का मूल सार, अभ्युदय तथा सिद्धिप्रद सावित्री मन्त्र है। वैदिक परम्परा में **'सावित्री'** के तीन चरणों का साक्षात्कार प्रसिद्ध है, किन्तु उसके **'तुरीय'** पाद को दर्शन, अर्थात् अदृश्य माना गया है।

स्वानुभूति के अन्तर्दर्शन में वह भी सुगम है, सुबोध है। मानव प्रकृति का बहिरंग रूप है—मनुष्य की त्रिगुणात्मिका वृत्ति : **तमोरूप** (अन्नमय), **रजोरूप** (प्राणमय) तथा सत्त्व-रूप (मनोमय) माया-विमुग्धता। **पुरुष** इस त्रि-वृत प्रकृति से परतर है—वह अति-मानस है, विज्ञानानन्दमय आत्मा है। अदिति से परतर वह 'आदित्य' है—**योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम्**। 'स्वानुभूति' आत्मा अर्थात् 'तुरीय' के बिना संभव कैसे हो सकती है? आत्मानं विद्धि। आधुनिक युग में श्री अरविन्द ने इसी स्वानुभव के पुनरुज्जीवन द्वारा, कितने सुन्दर रूप में, और कितना विशद, अर्वाचीन दर्शन की परिभाषा में, प्रस्तुत किया है!

'वैदिक सन्ध्या' में हमें सावित्री के 'चतुष्पाद' दर्शन हुए हैं। **'मनसा-परिक्रमा'** तक सावित्री की प्रकृति उपस्तुत है—**अन्नमय, प्राणमय, मनोमय** प्रकृति **'उपस्थान'** में **विज्ञानमय**, तथा **'सावित्री-नमस्कार'** में आनन्दमय पुरुष-आत्मा उसी सावित्री ही के तो दो 'दर्शन' स्वरूप हैं।

× + ×

'सन्ध्या' का स्वरूप अर्थात् 'सावित्री' का स्वानुभाव, आत्मानन्द—स्वानुभूति से अभ्युत्थित होना चाहिए। और इसीलिए, अनुभूति के शब्दविकास में मूल मन्त्रों में क्रिया का रूप मुख्यतया भूतकालिक है। वहां—स्वानुभव में तथा स्वानुभव के प्रस्ताव में दिव्यता का दैवी (अर्थात् अतिमानस जीवन का) दर्शन, स्वाङ्गीकरण तथा विकास क्रमिक है। परन्तु साधारण जन की पूजा-बुद्धि को ध्यान में रखते हुए हमने शब्द-साक्षी को प्रार्थना एवं विनय के रूप में प्रस्तुत किया है।

× × ×

लोग साधारणतः—

१. 'गायत्री' से सन्ध्या का आरम्भ करते हैं;

२. 'अघमर्षण' तथा 'उपस्थान' के अनन्तर 'शं नो देवीः' के साथ पुनः आचमन करते हैं; और

३. गुरु-मन्त्र के पश्चात् 'समर्पण' ऋषि के शब्दों—**'हे ईश्वर दयानिधे, भवत्कृपया अनेन जपोपासनादिकर्मणा धर्मार्थकाममोक्षाणां सद्यः सिद्धिर्भवेन्नः'**—करते हैं। हमारी भावना-दृष्टि में यह सब विनियोग-क्रम निरर्थक है; उसी प्रकार ४. 'ऋषि के आदेशानुसार' **मनसा-परिक्रमा से पूर्व गायत्री द्वारा अनुध्यान भी** ॥

श्रीरामलाल कपूर ट्रस्ट का सस्ता और सुन्दर प्रकाशन

आर्य जगत् को यह जानकर महती प्रसन्नता होगी कि रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर ने अपना प्रकाशन कार्य कुछ वर्षों से पुनः पूर्ववत् भले प्रकार प्रारम्भ कर दिया है। निम्न पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं—

१—**सन्ध्योपासनविधि**—ऋषि दयानन्दकृत भाषार्थ, दैनिक हवन और भजनों के सहित। यह अब तक ३०५००० तीन लाख पाँच हजार छप चुकी है। घटाया हुआ मूल्य −)।

२—**व्यवहारभानु**—ऋषि दयानन्दकृत। बालकों को व्यवहार की उचित शिक्षा देनेवाला अपूर्व ग्रन्थ। यह ग्रन्थ प्रत्येक आर्य बालक-बालिकाओं के विद्यालयों में पाठ्य पुस्तक रखने योग्य है। मू० ≈)॥

३—**ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्मचरित्र**—ऋषि दयानन्द ने अमेरिका निवासी आल्काट महोदय की प्रेरणा से अपना कुछ वृत्तान्त लिखकर उन्हें भेजा था, जिसका अंग्रेजी अनुवाद उन्होंने थियोसोफिकल नामक अपने पत्र में छापा था। आर्यसमाज के उद्भट विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्तजी ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। ऋषि दयानन्द के प्रसिद्धि में आने से पूर्व की घटनाओं का यही एकमात्र प्रामाणिक लेख है। मूल्य ।≈)

४—**हवन-मन्त्र**—प्रार्थना, स्वस्तिवाचन, शान्तिप्रकरण, बृहद् हवन और भजनों से युक्त। मू० −)

५—**आर्याभिविनय**—ऋषि दयानन्दकृत (प्रथम और द्वितीय संस्करण से मिलाकर अत्यन्त शुद्ध और सुन्दर छापा गया है। संदिग्ध स्थलों पर टिप्पणियाँ दी गई हैं)। मूल्य ।≈)

६—**आर्योद्देश्यरत्नमाला**—ऋषि दयानन्दकृत। शुद्ध, सुन्दर तथा सटिप्पण संस्करण मूल्य −)

७—**पञ्चमहायज्ञविधि**—ऋषि दयानन्दकृत। " " " " " मूल्य ≡)

८—**उरुज्योति अर्थात् वैदिक अध्यात्म-सुधा**—श्री डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल लिखित। वैदिक अध्यात्म विषयक उच्चकोटि का श्रेष्ठ ग्रन्थ। कागज छपाई श्रेष्ठ और सुन्दर। सजिल्द ३) मात्र

९—**ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास**—लेखक-श्री पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक। ऋषि दयानन्द के सभी मुद्रित और अमुद्रित ग्रन्थों के विषय में पूर्ण जानकारी देनेवाला अपूर्व ग्रन्थ। प्रचारार्थ मूल्य में भारी कमी की गई है। **घटाया हुआ मूल्य** बढ़िया सं० सजिल्द ४), साधारण सं० अजिल्द ३) मात्र

१०—**अष्टाध्यायी मूल** (सूत्रपाठ) अत्यन्त शुद्ध पाठ डाक व्यय ≈) मूल्य ॥)

११—**ऋग्वेद-भाषाभाष्य-प्रथम भाग** (जो वेदवाणी में क्रमशः छपता रहा) मूल्य २॥)

१२—**विशेषाङ्क**—वेदवाणी के इस वर्ष का विशाल विशेषांक "पाश्चात्य-मत-परीक्षणाङ्क" है। इसमें अनेक उच्चकोटि के गवेषणात्मक वेदविषयक मौलिक लेखों का संग्रह है, जिनमें भारत के उच्चकोटि के विद्वानों द्वारा पाश्चात्य स्कालरों के सिद्धान्तों तथा विचारों की बहुत गवेषणा तथा योग्यतापूर्ण आलोचना की गयी है। मूल्य १)। गत तीन वर्षों के वेदाङ्कों का मूल्य भी घटाकर प्रति अंक १) कर दया है।

१३—**वेदवाणी की पुरानी फाइलें**—वर्ष २ अङ्क १० मूल्य २॥), वर्ष ३ अङ्क १० मूल्य २॥), वर्ष ४ अङ्क १० मूल्य ३), वर्ष ५ वेदाङ्क सहित ४), वर्ष ६ वेदाङ्क सहित ५)। वर्ष ७ अंक ११ वेदांक सहित ४॥) ७वां अंक नहीं है। थोड़ी प्रतियाँ शेष हैं, शीघ्रता करें।

डाक व्यय सबका पृथक् होगा। बड़ा सूचीपत्र बिना मूल्य मंगवावें।

रामलाल कपूर एण्ड सन्स, पेपर मर्चेण्ट

गुरु बाजार, अमृतसर। नई सड़क, देहली। बिरहाना रोड़, कानपुर।

वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस (मोतीझील) बनारस नं० ६।

संपादक, प्रकाशक व मुद्रक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, बनारस।

ओ३म्

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ८]   ❀   [अङ्क ८

इस अंक में पढ़िये

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु   व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

ज्येष्ठ २०१३, जून १९५६
दयानन्दाब्द १३१
वेद तथा सृष्टि संवत १९७२९४९०५६

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) बनारस नं० ६

वार्षिक मूल्य-भारत में ५)
„ „ वी० पी० से ५॥)
„ „ विदेश में ६)
इस अंक का ।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास **प्रथम** तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। **पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥**

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है और वर्ष का प्रथम अङ्क **विशाल विशेषाङ्क** के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ व ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख **'सम्पादक वेदवाणी'** के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। **विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है।** विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—**वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) बनारस नं० ६**

ऋग्वेद　ओ३म्　यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद　अथर्ववेद

सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष ८ } काशी, ज्येष्ठ सं० २०१३ वि०, जून १९५६ ई० { अङ्क ८

आर्याभिविनय से

टिप्पणि कर्त्ता—विन्ध्यवासिनी प्रसाद अनुगामी

प्रार्थना-विषय

प्रभो ! विज्ञान शौर्य आदि दो।

ऊर्ध्वो नः पाह्यंहसो निकेतुना विश्वं समत्रिणं दह।
कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे विदा देवेषु नो दुवः॥ ऋ० १।३।१०।१४॥

(भगवान्)	आप	अंहसः[3]	भूल एवं दोषों से तथा दुःख के कारणों से
ऊर्ध्वः[1]	उच्चतम उत्कृष्टता पर हो	नः	हमें
केतुना[2]	स्वच्छ ज्ञान तथा स्वच्छ ज्ञान से युक्त मनुष्यों के उपदेशों द्वारा	निपाहि[4]	सदैव अलग रखो
		विश्वं[5]	सकल

अर्थबोधक टिप्पणी

१. high : superior : elevated—आप्टे.

२. केतवः प्रज्ञानानि—दया० यजु० ७। ४१। केतुरिति प्रज्ञानामसु पठितम्। निघ० ३। ९, निशामयति श्रावयति वा स केतुः उ० १। ७४ learned person : brightness : clearness.

३. अमन्ति प्राप्नुवन्ति दुःखं येन तत्। पापं वा—उ० ४। २१३.

४. fr. पा=रक्षणे—अदा०।　५. all : whole—आप्टे.

अत्रिणं[6]	हानि पहुँचाने वाले, आध्यात्मिक आधिदैविक, आधिभौतिक वस्तुओं को	ऊर्ध्वान्	(यथा संभव) बहुत बड़ी
सम् दह[7]	चिन्तित करो, दुःखी करो अथवा नष्ट कर दो	कृधी	ऊँचाई पर करो, पहुँचा दो
चरथाय[8]	बिना रुकावट सब जगह आने जाने के लिये तथा सब वस्तुओं की प्राप्ति के लिये (एवं)	नः	हमें
जीवसे	उस आने जाने तथा प्राप्त वस्तुओं से स्वस्थ मजबूत बनने के लिये	विदा[9]	(सत्य) विद्या बुद्धि से सम्पन्न कर
नः	हमें	देवेषु[10]	अनेक गुणों के प्राप्त करने वाले, उन्हें परोपकार में लगाकर, उत्कृष्टता प्राप्त करने वालों के बीच में रखकर
		दुवः[11]	दुःखों को दूर करो एवं सुख से समृद्ध कर आदरणीय बनाओ।

ऋषिव्याख्यान—

हे सर्वोपरि विराजमान परब्रह्म ! *"ऊर्ध्वः"* सबसे उत्कृष्ट हमको कृपा से उत्कृष्ट गुणवाले करो, तथा ऊर्ध्व देश में[12] हमारी रक्षा करो। हे सर्वपापप्रणाशकेश्वर ! हमको *"केतुना"* विज्ञान अर्थात् विविध विद्यादान देके *"अंहसः"* अविद्यादि महापाप से *"निपाहि"* नितरां पाहि—सदैव अलग रखो। तथा *"विश्वं"* इस सकल संसार का भी नित्य पालन करो। हे सत्यमित्र[13] न्यायकारिन्! जो कोई प्राण *"अत्रिणम्"* हमसे शत्रुता करता है, उसको और काम क्रोधादि शत्रुओं को आप *"सन्दह"* सम्यक् भस्मीभूत करो[14] (अच्छे प्रकार जलाओ)। *"कृधी न ऊर्ध्वान्"* हे कृपानिधे ! हमको विद्या, शौर्य, धैर्य, बल, पराक्रम, चातुर्य, विविध धन, ऐश्वर्य, विनय, साम्राज्य, सम्मति, सम्प्रीति, स्वदेशसुख-संपादनादि[15] गुणों में सब नरदेह-धारियों से अधिक उत्तम करो तथा *"चरथाय जीवसे"* सबसे अधिक आनन्दभोग, सब देशों में अव्याहत गमन (इच्छानुकूल जाना आना) आरोग्यदेह, शुद्ध मानसबल और विज्ञान[16] इत्यादि के लिये हमको उत्तमता और अपनी पालना युक्त करो[17]। *"विदा"* विद्यादि उत्तमोत्तम धन *"देवेषु नः दुवः"* विद्वानों के बीच में प्राप्त करो अर्थात् विद्वानों के मध्य में उत्तम प्रतिष्ठायुक्त सदैव हमको रक्खो ॥

---

६. अत्ति भक्षयतीति अत्री। पापं वा—उ० ४। ६८.

७. to burn : to destroy : to pain : grieve—आप्टे.

८. going : life : a way—आप्टे.

९. knowledge : understanding—आप्टे. fr. विद्=ज्ञाने—अदा०।

१०. fr. क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु। दिवा०, दिवि=प्रीणनार्थः—भ्वा०। देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा—निरुक्ते.

११. fr. दुवस्=परितापपरिचरणयोः—कंड्वा०, to honour—आप्टे, दुवस्यतेति नमस्यतेति—श० ब्रा० ६।८।१।६.

१२. ऊर्ध्वदेश में=ऊँचाई पर पहुँचने पर

१३. सत्यमित्र=हितकारी मित्र

१४. भस्मीभूत करो=ऐसे दुष्टों के भावों को, कार्यों को कुण्ठित करो, विवशता में उसके शरीर को नष्ट कर दो।

१५. साम्राज्य, सम्मति, सम्प्रीति, स्वदेशसुखसंपादन=एक विश्व शासन, एक राय, विश्वप्रीति एवं स्वदेश की सुख समृद्धि स्थापन में।

१६. विज्ञान=निर्भ्रान्त ज्ञान

१७. उत्तमता और अपनी पालनायुक्त करो=श्रेष्ठ गुणों से युक्त करो एवं आप भी निरन्तर रक्षा पालन करते रहो।

संसार चक्र (कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता)

(लेखक—श्री मास्टर मातुराम जी आर्य, रोहतक)

इस संसार में सृष्टि के सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार मनुष्यों में पाये जाते हैं। (एक) कभी किसी ने नहीं बनायी। सदैव से स्वाभाविक रूप से अनादि काल से चली आ रही है। (दो) आस्तिक बुद्धि के जन जो यह जानते और मानते हैं कि यह जगत् प्रवाह से अनादि (रात के पीछे दिन दिन के पीछे रात वत्) कल्प कल्पान्तरों से किसी नैमित्तिक सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, ज्योतिःस्वरूप, न्यायकारी, धाता, विधाता, कर्मफल प्रदाता, व्यवस्थापक, सच्चिदानंद-स्वरूप, सर्वज्ञ, अनन्त, नित्य शुद्ध-बुद्ध, अखण्ड, नित्यमुक्त, अजन्मा, अजर, अमर, सर्वान्तर्यामी सत्ता द्वारा रचा, धारण किया जाता तथा अपने मूल प्रधान कारण में लीन हो जाता है।

प्रत्यक्ष है कि यह जगत् परिवर्तन शील, विकारी अतएव विविध प्रकार का है। कभी कारणरूप कभी कार्यरूप में प्रकट होता रहता है। जड़ चेतन दोनों सत्ताएँ नित्य हैं। जड़ साम्यावस्था कारणरूप से विषमावस्था कार्य रूप होता है तो किसी चेतन सत्ता के निमित्त से होता है। अन्यथा नियमपूर्वक कभी नहीं हो सकता। जड़ सत्ता में संयोग, वियोग दोनों प्रकार की स्वाभाविक शक्ति नहीं पाई जाती है। कार्य किसी नैमित्तिक कारण का सूचक है। यदि चुम्बक में अपनी ओर लोहे को खेंचने की स्वाभाविक शक्ति हो तो बिना वैभाविक अन्य शक्ति के परे नहीं हट सकता। संयोजक बिना मिलाप की अवस्था होती नहीं। संयोगज अवस्था अनित्य हुआ करती है। वैसे ही वियोगज भी। यह कहना निराधार नहीं है कि कोई चेतन शक्ति जड़ में प्रेरक है। प्रमाण—

"तद्यदभ्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्" (ऋ० १०। ८२। ४) अर्थात् (तत्) उस उपादान जड़ पर (यत् अधितिष्ठित्) जो अधिष्ठाता = अध्यक्षवत् विराजता है वही परमेश्वर (भुवनानि धारयन्) लोकों को धारण करता है। "तदेजति" (यजुः ४०। ५) वही परमात्मा जड़ को कम्पन देता = प्रेरणा करता है।

प्रश्न—क्यों जी! इससे तो यह प्रतीत होता है कि वह उपादान कारण में विद्यमान नहीं है। अतएव सर्वव्यापक भी नहीं।

उत्तर—वह परमेश्वर बाहर भीतर सब स्थानों पर है देखियेगा—"इयं मे नाभिरिह मे सधस्थम्" (ऋ० १०। ६१। १९) अर्थ—(इयम्) यह प्रकृति (मे नाभिः) मेरा आश्रय (इह मे सधस्थम्) इस में ही मेरा अन्य जीवात्माओं के साथ रहने का स्थान है। मानों एक प्रकार से यह प्रकृति अलंकार रूप में शरीर-वत् है।

"यन्मातरं च पितरं च साकमजनयथास्तन्वः स्वायाः" (ऋ० १०। ५४। ३) माता-पिता अर्थात् नर-नारी वर्ग दोनों, तुझ परमेश्वर को (साकम्) एक साथ (स्वायाः तन्वः) अपने प्रकृति रूपी देह में से (अजनयथाः) उत्पन्न करने होते हैं।

स्वीकार्य ही है कि जड़ = उपादान कारण स्वयं सुव्यवस्थित प्रबंधक के बिना कार्य रूप में नहीं आ सकता। यदि कोई न माने तो पानी, आटा, लकड़ी, अग्नि आदि के भिन्न २ रहते हुए बिना प्रयत्न के कर्ता अपना पेट भर कर दिखलावे अथवा रंग, ब्रुश, आधारपत्र, भित्ति होते हुए स्वयं चित्र बेल बूँटा बना हुआ दिखलादे। साधारण घटनाओं के निमित्त भी बिना चेतन शक्ति कार्य नहीं बनते तो भला यह विश्व, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ब्रह्माण्ड कैसे बन कर तैयार हो सकते हैं? मानना उचित है कि यह पक्ष एक अत्यन्त युक्ति शून्य और हीन ही है। भला कोई पूछे कि बिना माता पिता रुपी सांचे के सन्तान रुपी सिक्के किस कारखाने की पौद हैं? कोई अपने मन को प्रसन्न करने को कहले कि सूर्य, चन्द्र आदि जड़, परमाणुओं में स्वाभाविक संयोग शक्ति से बन गये तो विचारणीय विषय बना रहता है कि संयोग सामर्थ्य के होते हुए ये इतनी दूरी पर क्यों? यह केवल प्रस्तावरूपेण बताया गया। संसार के सामने प्रश्न रखा हुआ है:—

(१) सृष्टि को परमेश्वर ने किस वस्तु से किस समय और किस लिये बनाया?

(२) ईश्वर सब में व्यापक है या नहीं?

(३) ईश्वर न्याय कारी और दयालु किस प्रकार है?

(४) वेद के ईश्वरोक्त होने में क्या प्रमाण है?

और (५) मुक्ति क्या है और किस प्रकार मिल सकती है?

आस्तिकों में भी एक पक्ष कहता है कि केवल एक मात्र सर्वशक्तिमान् सत्ता थी। उसने निजी सामर्थ्य से जगत् को रच डाला। यदि उस शक्ति का जग रचने का स्वभाव नहीं है तो इस चेष्टा का प्रेरक कौन है? वह प्रेरक नित्य है या अनित्य? यदि नित्य है तो असंख्य बार रचते रहना चाहिये। यदि अनित्य है तो कहां से आ उपस्थित है? शक्तियों के प्रभाव का किसी आधार पर पड़ना आवश्यक है। तो केवल एक मात्र शक्तिमान् सत्ता की शक्तियों का प्रभाव किस आधार पर पड़ता रहता है? यदि कहो कि नित्य आधार तो कोई नहीं है। तो उस शक्तिमान् की शक्तियों का सिद्ध होना असंभव हो जाता है। इस लिये यह पक्ष सत्य नहीं। बुद्धि को स्वीकार नहीं। यदि कोई अद्वैतवादी जगत् को मिथ्या मानने वाला यह कह भी दे तो चेतन से चेतन सत्ता का बनना कार्य कारण दो रूपों में एक सत्ता को मानना युक्ति शून्य और अनवस्थादोष का कारण बनता है। कार्य अनित्य होता है। सो बुद्धिपूर्वक तथा युक्तियुक्त पक्ष सत्य यही है कि परमेश्वर अपनी सत्ता से भिन्न स्वयंसिद्ध नित्य सामग्री को प्रयोग में लाता रहता है और संसार को रचता, धारण करता तथा प्रलय करता रहता है।

प्रश्न—तो उस जड़ सामग्री का क्या नाम है और उसके होने में क्या प्रमाण है?

उत्तर—उस जड़ सामग्री का नाम **तम, स्वधा, सलिल, अजा, पिशङ्गिला, वृक्ष** आदि कहाता है।

आपः—(१) **"तमिद् गर्भम्प्रथमन्दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे। अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः"** (ऋ० १०। ८२। ६ व यजु० १७। ३०) अर्थ—(यत्र) जिस ब्रह्म में (आपः) कारण मात्र प्रकृतितत्त्व (प्रथमम्) अनादि (गर्भ) प्रकृति को (दध्रे) धारण करते हुए (विश्वे देवाः) सब शुद्ध आत्मा (समगच्छन्त) मिलते हैं (अजस्य) अनुत्पन्न अनादि के (नाभौ) बीच में (अधि) सर्वाधिष्ठाता (एकम्) एक अद्वितीय (अर्पितम्) स्थित है (यस्मिन्) जिसमें (विश्वानि भुवनानि) सब लोक (तस्थुः) विद्यमान हैं। (तमित्) उसी को ब्रह्म जानो।

(२) **"आपो ह यद् बृहती विश्वमायन्गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्"** (ऋ० १०। १२१। ७) अर्थ—(यत्) जो (विश्वम्) व्यापक (ह) सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व (बृहतीः आपः) बड़ी आपः = प्रकृति की महत् विकृतियाँ (आयन्) प्राप्त (गर्भं दधानाः) गर्भ = हिरण्मय अण्ड को धारती हुई (अग्निम्) अग्नि तत्त्व को (जनयन्ति) प्रकट करती हैं। सर्गारंभ से पूर्व ईश्वर की समकालीन भिन्न सत्ता "अम्भस् = अप् भस्"—गहनं **गभीरं अम्भः आसीत्** (ऋ० १०। १२९। १) अर्थात् गहन जिसमें किसी पदार्थ का प्रवेश न हो सके ऐसा "आपः" तत्त्व विद्यमान था। कुरान शरीफ़ वालों को सूरह मोमनून आयत तेरहवीं में सुलैतः की माहियत पर वैदिक तत्त्व = "सलिलम्" सलिल = व्यापक गतिमत् तत्त्व से तुलना करनी उचित है (ऋ० १०। १२९। ३)।

तमस्—"अग्रे तमः आसीत्" = सर्ग से पूर्व तमस् था वह सब (तमसा गूहम्) तमस् से व्याप्त था।

पिशङ्गिला—"अजारे पिशङ्गिला श्वावित्कुरु पिशङ्गिला" (यजुः २३। ५६) अर्थात् (अरे) हे नर! (अजा) जन्मरहित प्रकृति (पिशङ्गिला) कार्य रूप जगत् को प्रलयकाल में निगलने वाली है।

स्वधा—"स्वधया तदेकम्" (ऋ० १०। १२९। २) अर्थात् (तत्) वह (एकम्) एक परमेश्वर था स्वधा शक्ति के साथ।

जिस प्रकृतिरूपी "वृक्ष" का वर्णन महर्षि दयानन्द जी महाराज ने ऋ० १। १६४। २० के आधार पर दो भिन्न २ चेतन सुपर्ण सत्ताओं के सम्बन्ध में किया है उसी की व्याख्या बाईसवें मन्त्र में स्पष्ट की गई है कि—

वृक्ष—"यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधिविश्वे। तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद" अर्थात् जिस जड़ प्रकृति रूप वृक्ष पर (मध्वदः) मीठे कर्म फलों का स्वाद लेने वाले (सुपर्णाः) ज्ञानी जीव गण (निविशन्ते) आधार पाते और (अधिसुवते च) सन्तति उत्पन्न करते उसको (स्वादु) मीठा उत्तम (पिप्पलम्) आनन्द फल (आहुः) बताते हैं।

यह उपरोक्त (आपः, तमस्, पिशङ्गिला, स्वधा, वृक्ष आदि) मूल—प्रधान उपादान कारण को बतलाने में साधक है। जो कि आगे चलकर कार्य रूप में वायु, अग्नि, जल, पृथिवी आदि पञ्च महाभूतों के नाम से जाने जाते हैं। इन

की विकृतियों के द्वारा ही परमात्मा संसार को रचता है, धरता और नियत समय पर प्रलय करता है।

प्रश्न—सर्व प्रथम सृष्टि कौन सी है ?

उत्तर—ईश्वर, जीव तथा प्रकृति तीनों नित्य स्वरूप से सत्=नित्य और अनादि हैं। इनके मेल से सृष्टि रचना, स्थिति और वियोग से विषमावस्था से पुनरपि साम्यावस्था में होते रहते हैं। ईश्वर का कर्तृत्व, प्रकृति का कर्मत्व तथा जीवात्माओं का कर्म तथा कर्म फल भोग आदि स्वाभाविक होने से ये अवस्थाएँ बनती रहती हैं। इसी लिये यह जगत् प्रवाह से अनादि है। सृष्टि के पीछे प्रलय, प्रलय से पूर्व सृष्टि प्रवाह से होती चली आती है। सर्वप्रथम सृष्टि का बताना बनता नहीं है।

प्रश्न—इसमें क्या प्रमाण है कि ऐसे ही होता रहता है ?

उत्तर—(१) "पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानिविश्वा। तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः"(ऋ० १।१६४।१३) इसमें चक्र बराबर घूम रहा है। (सनात् एव) सनातन नित्य अनादि काल से ही (न शीर्यते) चला आता हुआ नहीं घिसता है।

(२) "सनेमि चक्रमजरं विवावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति। सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा" (ऋ० १।१६४।१४) अर्थ—(सनेमि अजरं चक्रं विवावृते) नित्य दृढ़ चक्र बराबर घूमता है। (दश युक्ता) पञ्च भूत तथा उनकी पाँच तन्मात्राएँ सब मिलकर (वहन्ति) इस जगत् को धारण करते हैं। (तस्मिन्) उसी नित्य चक्र पर (विश्वा भुवनानि) सब लोक (आ अर्पिता) स्थित हैं। इस लिये कहना होगा कि चक्र में यह बताना कि कौन सी प्रथम वा अन्तिम-सृष्टि—नहीं बनता।

प्रश्न—अच्छा बताइये कि सृष्टि कब रची जाती है ? प्रमाण बतायें।

उत्तर—"सुभूः स्वयम्भूः प्रथमोऽन्तर्महत्यर्णवे। दधे ह गर्भमृत्वियं यतो जातः प्रजापतिः" (यजुः २३।६३) अर्थ—(यः) जिस (सुभूः) भली प्रकार से विद्यमान (स्वयम्भूः) अनादि=उत्पत्तिरहित (प्रथमः) सृष्टि से पूर्व जगदीश्वर (महति) विस्तृत (अर्णवे) आपः=परमाणुओं के (अन्तः) बीच में (ऋत्वियम्) समयानुकूल (गर्भम्) बीज को (दधे) धारण करता है (ह) वही उपासना योग्य है।

प्रश्न—वैदिक धर्मको छोड़कर इस उपादान कारण का कहीं चिह्न भी नहीं मिलता।

उत्तर—कुरआन शरीफ़ से ज्ञात होता है कि उपादान कारण ही सृष्टि के रचने में सहायक है। देखो सुरहुर्रहमान १४-१५ आयत खलिकल इन्साने मन ? में बताया कि पैदा किया इन्सान को बजने वाली मिट्टी से जो मानिन्द ठीकरे के होती है। इसी प्रकार से पैदा किये जिन्न शोले वाली अग्नि से। इस बात पर कि—मिट्टी और आग किस उपादान कारण से पैदा हुए ? चुपचापी है। इससे यह परिणाम निकलता है कि ये अनुत्पन्न और अनादि नित्य हैं।

प्रश्न—सुना जाता कि वैदिक धर्म में ईश्वर पूर्ण, अकाम, धीर है। तो फिर संसार क्यों रचा जाता है ?

उत्तर—"पृथ्वीममर्तिं सृजान आ नृभ्यो मर्तं भोजनं सुवानः" (ऋ० ७।३८।२) अर्थात् मनुष्य जो कुछ कर्म करते हैं उनके फल बनते हैं उन फलों को भोगना होता है। ईश्वर न्यायकारी (अर्यमा) और दयालु-करुणेश (ऋ० १।१००।७) है ईश्वर की व्यवस्था द्वारा मनुष्यों को कर्मों के फल भोगने पड़ते हैं। "मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्" (ऋ० १०।१२५।४) अर्थात्—जो विविध प्रकार के तत्त्व ज्ञानों को देखता जो प्राण लेता है जो उपदिष्ट ज्ञान का श्रवण करता है वह मुझ ईश्वर से दिये गये (अन्नम्) अक्षय कर्म-फल का भोग करता है। कर्म करने के लिये भी शरीर धारण कराया जाता है।

प्रश्न—कर्म भोग करने के लिये जीव स्वयं पर्याप्त है ? ईश्वर की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—जड़-ज्ञान शून्य कर्मों को निमित्त माना जाता है फल भोग के लिये परन्तु किस प्रकार के कर्म का क्या फल होता है यह जानना और फिर फल भुगतवाना किसी चेतन का काम है। प्रत्येक जीव सर्वज्ञ नहीं। न ही पूर्ण समर्थ है। अपने लिये जीव कर्म फलों के भोगने के लिये भोगायतन रचने में असमर्थ है। कोई जीव अपना अगला शरीर कैसे बना सकता है ? किसी न्यायकारी अध्यक्ष के द्वारा ही अगला जन्म पाने के लिये गर्भ में भेजा जाता है। (देखो ऋ० ४।२७।१)।

प्रश्न—कोई चेतन सर्वव्यापक कैसे हो सकता है ? इसमें कोई वेद समर्थक भी नहीं।

उत्तर—यह तो सत्य है कि कोई चेतन जीव स्वरूप से सर्वव्यापक नहीं हो सकता परन्तु जो चेतन स्वरूप से ही नित्य सर्वव्यापक है उसके सामने क्या कठिनाई है ?

(१) "विश्वा भुवना वितिष्ठे" (ऋ० १०।१२५। ७) अर्थात् समस्त लोकों में व्याप्त हूँ।

(२) "पञ्चस्वन्तः पुरुष आविवेश तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि" (यजुः २३।५२) अर्थ—पञ्च भूतों वा सूक्ष्म मात्राओं में पूर्ण परमेश्वर व्यापक है और वे पञ्च मात्राएं पूर्ण पुरुष के भीतर स्थापित हैं। जो लोग चेतन को अणु = परिच्छिन्न तथा एक देशी मानते हैं वही तो सर्वव्यापकता न मानते हुए नकार करते हैं सर्वव्यापक चेतन सत्ता से। यही कारण है कि वे ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता नहीं मान सकते। यदि भगवान् सर्वगत न होता तो संसार में भुवनों का प्रबन्ध कैसे करता।

प्रश्न—अच्छा तो इसका क्या आधार है कि भविष्यत् में इसी प्रकार सृष्टियां रची जाती रहेंगी ?

उत्तर—(१) बुद्धि तथा युक्ति मानती है कि प्रत्येक कार्य अनित्य होता है इस लिये किसी समय में अपने कारण में प्रलीन हो जायेगा।

(२) "न प्रमिये सवितुर्दैव्यस्य तद्यथा विश्वं भुवनं धारयिष्यति। यत्पृथिव्या वरिमन्ना स्वङ्गुरिर्वर्ष्मन्दिवः सुवति सत्यमस्य तत्" (ऋ० ४।५४।४) अर्थ—(दैव्यस्य सवितुः) सूर्यादि के उत्पादक परमेश्वर का (तत् न प्रमिये) वह सामर्थ्य कभी नष्ट नहीं होता (यत्) जो (विश्वं भुवनम्) सारे उत्पन्न जगत् को धारता है और आगे को भी धारेगा और शिल्पी के समान भूमि और आकाश पर सब कुछ रचता है। (तत्) वह सब संसार रचने का सामर्थ्य (अस्य) इस परमात्मा का (सत्यम्) सत्य है।

प्रश्न—ईश्वर न्यायकारी है और दयालु है। सो कैसे ?

उत्तर—क्या यह प्रत्यक्ष नहीं देखते कि जगत् में जीव भिन्न २ प्रकार के कर्म करते हैं और कोई सुखी है और कोई दुःखी ? कर्मभेद फलभोगभेद का सूचक होता है। संसार में विचित्रता कर्मों की विचित्रता पर ही तो देखी जाती है। कपिल आचार्य जी ने इसी भेद के आधार पर कहा "कर्मवैचित्र्यात्सृष्टिवैचित्र्यम्" (सांख्य दर्शन अ० ६ सूत्र ४१)। उस प्रभु की दया कितनी अनोखी है कि जहां कर्मफल भी भुगतवाता है वहां कर्त्ता जीवों का सुधार भी करता है। गत जन्मों की दुर्बुद्धियों तथा संस्कारों को भुलवाने में अनेक प्रकार की व्यवस्था करता है।

प्रश्न—वेदों का उदाहरण बार २ दिया जा रहा है। परन्तु यह तो बताइये कि यह ईश्वरोक्त भी हैं?

उत्तर—निश्चित् रूप से वेदों का ज्ञान निर्भ्रान्त, शुद्ध, पवित्र, सृष्टिक्रम के अनुकूल तथा अविरुद्ध और ईश्वरीय गुण, कर्म तथा स्वभाव के अनुकूल, आप्त पुरुषों के आचार तथा रागद्वेष से रहित, न्याय तथा उपकार, दयापूर्ण है। भगवान् की रचना भूगोल है। इसके अनुकूल उसका ज्ञान है विपरीत नहीं।

यथा—नर नारी के मिलाप से सन्तान का जन्म सृष्टिक्रम के अनुकूल परन्तु केवल नर से या नारी से बिना संयोग के असंभव है। यदि किसी ईश्वरीय ज्ञान कहाने वाली पुस्तक में असंभव बातें हों वह पुस्तक सृष्टिक्रम के विरुद्ध अमान्य है। बिना उपादान कारण के केवल जीवात्मा या ईश्वर से जगत् का प्रादुर्भाव नहीं होता। यदि इसके विरुद्ध बातें कहीं कही जाती हों, तो वे स्वभाव के विरुद्ध तथा असत्यपूर्ण होती हैं। अत एव इस प्रकार की दृष्टि से वेद ही ईश्वरोक्त हैं अन्य ग्रन्थ नहीं हो सकते ॥

वेद में ऋत

[ले०—श्री महाशय लालचन्द जी, मेरठ]

ऋताचारी मनुष्य ऋतमार्ग पर चलता हुआ उत्तरोत्तर उन्नत होता रहता है। ऋताचारी पाप से अलग रहता है वह पाप की कीचड़ में नहीं फँसता इसलिए उसे विषाद में नहीं होता। उसे यह निश्चय होता रहता है कि उसका प्रत्येक कार्य भगवान् के अनुकूल है और भगवान् उससे प्रसन्न हैं और उसे दिव्य ऐश्वर्य दे रहे हैं वह साधन संपन्न है। ऋताचारी मनुष्य मिताहारी और मधुरभाषी होता है उसके व्यवहार में मृदुता और ऋजुता होती है, ऐसे मधुर प्रेमपूर्ण मनुष्य के व्यवहार में आकर्षण होता है वह सबका प्यारा हो जाता है। वह किसी से घृणा नहीं करता वह किसी से ईर्ष्या नहीं करता, वह द्वेष मिटाता है उसके कारण मेल होता है सामंजस्य होता है। उसका जीवन ऐसा सुन्दर हो जाता है कि वह पावन बन जाता है और जो लोग उसके सम्पर्क में आते हैं उनमें जीवन ज्योति का प्रसार होता है। ऋताचार से अन्तःकरण में प्रकाश रहता है। ऋताचारी व्यक्ति युक्त आहार विहार करता हुआ निरोग रहता और सुखी रहता है तथा अन्यलोगों के सुख की वृद्धि करके प्रसन्न होता है।

ऋताचरण में जो माधुर्य और आकर्षण है वह अनृत से संभव ही नहीं। अनृत से, ढोंग से, मिथ्याचार से चाहे कोई धन इकट्ठा करले, पर वह यदि ऐश्वर्यवान् होना चाहता है तो ऋताचार ही से होगा। ऋताचार से मनुष्य को दिव्य संपद् की प्राप्ति होती है और वह सदा प्रसन्न रहता है। ऋताचारी व्यक्ति उदार होता है उसमें संकोच नहीं होता संकीर्णता नहीं होती। ऋताचारी व्यक्ति में धर्म मर्यादाएं पूर्ण होती हैं। जीवन का आनन्द और परमसुख ऋताचार से सुप्राप्य है। जो अनृत व्यवहार से रुपया इकट्ठा करके सुखी होना चाहते हैं वे भूल में हैं। विवेकी मनुष्य ऋत और अनृत की परीक्षा करके ऋत को ग्रहण कर लेता है और अनृत को त्याग देता है—

वेद में कहा है—

ऋतावानः प्रतिचक्ष्यानृता पुनरात
आतस्थुः कवयो महस्पथः।
ते बाहुभ्याम् धमितमग्निमश्मनि
नकिः षो अस्त्यरणो जहुर्हि तम्॥ ऋ० २।२४।७॥

ऋतावान ऋत का आचरण करने वाले क्रान्तदर्शी ज्ञानी जन अनृत जीवन को अनृत व्यवहार को विवेकपूर्वक पूर्ण निरीक्षण करके त्यागकर वहां बार बार महान् पथ अर्थात् धर्म मार्ग पर चलते हैं, वे बाहुबल से जलाई अग्नि को, जो पत्थरों को रगड़ने से निकाली गई है यह अचेतन अग्नि रमण करने योग्य नहीं है, यह देख कर इसे त्याग देते हैं।

स्थूल अग्नि चेतन शक्ति नहीं है। यह अग्नि परम चेतन शक्ति परमात्मा के स्थान पर पूजा के योग्य नहीं है, ऐसा जानकर उसकी भगवान् के रूप में पूजा नहीं करते। भौतिक अग्नि की अपनी उपयोगिता है, इसे वे भली प्रकार जान लेते हैं, पर ज्ञानीजन इसे पूजनीय और उपासनीय परम देव नहीं मानते। आग्नेय शक्ति अद्भुत है, विलक्षण है, पर जो चेतन जीवन ज्योतिरूप अग्नि देव आत्मा है, अथवा जो परम ज्योति रूप प्रकाश स्वरूप व्यापक परमात्मा है, अथवा जो अपने अन्तरात्मा में संकल्पाग्नि है इनका स्थान यह स्थूल अग्नि नहीं ले सकता। आत्माग्नि स्थूल अग्नि से भिन्न है, वह अमर सत्ता है, यह तथ्य ऋताचारी ज्ञानीजन भली प्रकार जानते हैं।

ऋतेन ऋतं धरुणं धारयन्त
यज्ञस्य शाके परमे व्योमन्।
दिवो धर्मन् धरुणे सेदुषो
नृन् जातैरजातां अभि ये ननक्षुः॥
ऋ० ५।१५।२॥

जो सबके धारक, सबके आश्रय, सत्यन्यायमय तेज को नियम से धारण करते हैं, वे समन्वय से प्राप्त शक्तिशाली पद पर स्थित होकर परम उत्कृष्ट स्थिति में परम पद में प्रसिद्ध लोगों के साथ साधारण लोगों को भी प्राप्त होते हैं। न्याययुक्त आचरण वाले, सद्भावों वाले तथा सुनियमित जीवन व्यवहार करने वाले महानुभाव जनता से अपना संपर्क बनाए रखते हैं। वे सत्यन्यायशील धर्मात्मा लोग धर्ममूर्ति ऋत के प्रतीक होकर सबको आश्रय देते हैं। ऋत व्यवहार करने वाले धर्मशील महात्मा लोग किसी से भी घृणा नहीं करते। वे उदारचरित सबसे मिलते हैं और सबको हित की प्रेरणा दिया करते हैं।

ऋतेन ऋतमपिहितं ध्रुवं वां
सूर्यस्य यत्र विमुचन्त्यश्वान्।
दश शता सह तस्थुस्तदेकं
देवानां श्रेष्ठं वपुषामपश्यम् ॥
ऋ० ५।६२।१॥

ऋत से ऋत आच्छादित हो सत्यज्ञान सत्यव्यवहार में दिखाई दे। मनुष्य का व्यवहार सच्चा हो तभी समझना चाहिये कि उसने सत्यन्याय का ज्ञान प्राप्त किया है जहां तेजस्वी व्यक्ति का संकेत होता है उसके आदेश के अनुकूल सैकड़ों शक्ति और वेग सम्पन्न लोग कार्य करते हैं। नेता अवश्य ऋताचारी हो तो उसमें से सूर्य की भाँति सैकड़ों रश्मियां निकलती हैं और प्रकाश फैलाती हैं। ऋत की महती शक्ति है ऋत का व्यापक सामर्थ्य है। साथ ठहरे हुए उस एक को ही दिव्यजनों में श्रेष्ठ मनुष्य देहधारियों में मैं देखता हूँ।

जिसकी ध्रुवनीति है, जिसका आचरण शुद्ध है, जिसके जीवन में नियमों का पालन हो रहा है ऐसे व्यक्ति का प्रभाव व्यापक होता है और उसकी दृढ़नीति से जनता में विश्वास और सामर्थ्य उदय होते हैं।

ऋतेन देवः सविता शमायत
ऋतस्य शृङ्गमुर्विया वि पप्रथे।
ऋतं सासाह महि चित्पृतन्यतो
मा नो वियौष्टं सख्या मुमोचतम् ॥
ऋ० ८।८६।५॥

ऋत से सविता देव सबको शान्ति प्रदान करता है। ऋत के बल से ही सर्वप्रेरक जगदीश्वर सबका कल्याण करता है। ज्योतिःस्वरूप ऋत के तेज को बहुत अधिक विकसित करता है। जगत् में सुन्दर रचना और सुन्दर व्यवस्था द्वारा वही महा प्रभु ऋत का विस्तार करता है। वह अनन्त परमेश्वर स्वयं अपने ऋत रूप नियम को दृढ़ता से पालन करता हुआ ऋत को फैलाता है। भगवान् के सुन्दर और कल्याणमय कार्यों को अनुभव करके मनुष्य भी अपना जीवन सुनियमित और सुन्दर करें। ऋत ही बड़े बड़े विकट शत्रुओं तक को पराजित करता है। हे भगवन्! हमें अपनी मित्रता से विमुक्त न करो, हमें कभी परित्याग मत करो।

ऋतेन देवीरमृता अमृक्ता
अर्णोभिरापो मधुमद्भिरग्ने।
वाजी न सर्गेषु प्रस्तुभानः
प्र सदमित्स्रवितवे दधन्युः ॥
ऋ० ४।३।१२॥

ऋत से ही दिव्य शक्तियाँ अमृततुल्य हो सृजन की क्षमता वाली होती हैं। भगवान् के सुनियम से सुव्यवस्थित दिव्य शक्तियाँ सृजन और निर्माण करने में समर्थ हैं। उनकी कोई हिंसा नहीं कर सकता, वे अमृक्ता हैं ? अहिंसित हैं। हे अग्ने हे जीवन प्राण के संचालक ज्योतिर्मय देव! मधुर गुणों से और शान्तिमय जीवन से प्रजाएँ कर्तव्य को धारण करें और सन्तानों के हेतु अच्छे प्रकार अर्चित होकर पूरी तत्परता से और लग्न से समर्पित होकर अपने अपने कर्तव्यों को पूरा करें।

ऋतेन हि ष्मा वृषभश्चिदक्तः
पुमाँ अग्निः पयसा पृष्ठ्येन।
अस्पन्दमानो अचरद्वयोधा
वृषा शुक्रं दुदुहे पृश्निरूधः ॥
ऋ० ४।३।१०॥

तेजस्वी मनुष्य ऋत से प्रकाशित होकर सुखों की वर्षा करने वाले मेघ के तुल्य उदार बल वीर्य से युक्त होकर स्वावलंबी आत्मविश्वासी आत्मनिर्भर अपनी शक्ति में निश्चय वाला, धर्म मार्ग से विचलित न होकर, ज्ञान बल और दीर्घ जीवन को धारण करता हुआ गमन करता है। परम उदार वह व्यक्ति सूर्य के समान तेज को दोहन करे।

तेजस्वी व्यक्ति अपने ऋताचार से तेज और ओज को प्रकट करता है। वह कभी भी धर्म मार्ग से विचलित नहीं होता। उसकी शक्ति का रहस्य उसका धर्माचरण ही होता है।

ऋतेनाद्रिं व्यसन् भिदन्तः
समङ्गिरसो नवन्त गोभिः।
शुनं नरः परि षदन्नुषा-
समाविः स्वरभवज्जाते अग्नौ ॥
ऋ० ४।३।११॥

तेजस्वी ज्ञानी पुरुष सत्य ज्ञान और सत्य न्याय से मोह अन्धकार को विशेष रूप से दूर करते हैं, अपनी वाणियों से उपदेश करते हैं, मोह अन्धकार को अपने ज्ञान प्रकाश से

[illegible] मित्र करते हैं। नेता सुखपूर्वक उषा समान प्रकाश [illegible] हैं, जैसे ज्योति के उदय होने पर प्रकाश स्वयमेव [illegible] है।

[illegible] स विन्दते युधः सुगेभि र्यात्यध्वनः।
[illegible] मित्रो वरुणः सरातयो यं त्रायन्ते सजोषसः॥
ऋ० ८। २७। १७॥

न्यायशील स्नेही श्रेष्ठ जन उदार प्रीति युक्त होकर जिसकी सहायता करते हैं वह बिना युद्ध के ही ऐश्वर्य पाता है और उत्तम सुखप्रद यानों से मार्ग को जीता जाता है।

जिस व्यक्ति की ऋताचारी स्नेही श्रेष्ठजन सहायता करते हैं वह ऐश्वर्य पाता है और उसका जीवन मार्ग सुखद हो जाता है।

ऋतस्य हि वर्तनयः सुजातम्
इषो वाजाय प्रदिवः सचन्ते।
अधीवास रोदसी वावसाने
घृतैरन्नैर्वावृधाते मधूनाम्।
ऋ० १०। ५। ४॥

सत्य ज्ञान सत्य निर्णय और दिव्य ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाले सामर्थ्य की कामना करते हुए उत्तम ज्ञान और तेज से सुप्रसिद्ध उत्तम जीवन व्यतीत करते हैं, सूर्य के तेज को धारण करने वाले सर्वाधार परम पूजनीय परम प्रभु के दिव्य तेज को धारण करने वाले, परम तेजस्वी भगवान् के आश्रय में रहने वाले नाना प्रकार के ऐश्वर्य तेज और सामर्थ्य से अपने अन्दर दिव्य शक्तियों की वृद्धि करते हैं।

ऐसे दिव्यजनों में ही सर्वमङ्गल की भावना उदय होती है। इनमें मानसिक संतुलन होता है। वे हर्ष में आपे से बाहर नहीं होते और शोक में दुखी नहीं होते। वे न्यायशील ऋतावान् लोग विश्व के रत्न होते हैं। विश्व भर को ऐसे महानुभावों पर गौरव होता है। इनके विपरीत वे जो इन्द्रिय लोलुप हैं जिनकी इन्द्रियां स्वच्छन्द हैं वे चाहे दिखावे के लिए अपनी मान प्रतिष्ठा के लिए कितने भी द्रव्ययश करें, दान दें, उनमें सच्ची सर्वहित की मङ्गलकामना उदय ही नहीं होती। ऋतावान् लोग केवल अनृत से मिथ्याचार से विरोध करते हैं वे स्वयं सत्पथ पर ही सदा चलते हैं सदा ऋत मार्ग का ही अनुसरण करते हैं और भूले भटके लोगों को भी सन्मार्ग पर चलाते हैं।

वेद में विशद रूप में अनेकों मंत्रों में ऋत की महिमा कही गई है मैंने तो इस लेखमाला में बहुत थोड़े ही मंत्र दिये हैं। जिज्ञासु सज्जन वेद में जीवनमार्ग को उज्ज्वल और सुशोभित करने वाले बहुत से रत्न पाएंगे॥

कर्म का सिद्धान्त

[लेखक—श्री पं० गंगा प्रसाद जी उपाध्याय एम० ए०]

(गतांक से आगे)

[जनता में 'कर्म' के विषय में बहुत मतभेद है, इस लेख में मैं अपने विचार व्यक्त करता हूँ। विद्वानों से प्रार्थना है कि वह इसकी खुले दिल से मीमांसा करें। मैं कृतज्ञतापूर्वक उन पर ऊहापोह करूंगा—गं. प्र. उ.]

(प्रश्न २६)—जब समस्त सृष्टि ईश्वर की व्यवस्था के आधीन है और हम सब भी सृष्टि के अंग हैं तो सत्यासत्य कर्तव्या-कर्तव्य, कर्म और भोग की विवेचना की उलझनों में क्यों पड़ना? होगा तो वही जो ईश्वर की व्यवस्था के भीतर है।

उत्तर—ईश्वर की व्यवस्था जड़ और चेतन के लिए एक सी नहीं है, सृष्टि की जटिलतम समस्या यह है कि जड़ और चेतन में भेद किया जाय। ईश्वर की व्यवस्था जहाँ तक जड़ चीजों पर पूरा आधिपत्य रखती है वहाँ चेतन चीजों को अपने कर्म क्षेत्र में पूरी पूरी स्वतंत्रता भी

है। सृष्टि के निर्माण में चेतन शक्तियों का पूरा पूरा साझा है। नैसर्गिक शक्तियों का चेतन शक्तियाँ निर्वचन पूर्वक-प्रयोग किया करती है। चींटियों के चिटोहर, बया के घोंसले, भेड़ियों की मांदें, और सहस्त्रों अन्य जीवों की बनाई हुई चीजें यही बताती हैं कि चेतन जीव ईश्वर-नियंत्रित नियमों का निरन्तर विवेचना पूर्ण उपयोग किया करते हैं और सृष्टि में परिवर्तन किया करते हैं। सभ्य जातियों के नगर, सड़कें आदि इस बात की सूचना देते हैं कि जिस सृष्टि में हम रहते हैं वह केवल ईश्वर निर्मित ही नहीं है उसमें मनुष्य तथा अन्य प्राणियों का भी साझा है। बया जो घोंसला बनाती है उसमें घोंसला निर्माण की कला चाहे कितनी ही स्वाभाविक और स्वतंत्रता शून्य अथवा शिक्षान-पेक्षित क्यों न हो उसकी सामग्री के जुटाने आदि में पक्षी को पर्याप्त निर्वाचन करना पड़ता है। अतः जीव को कर्म करने में स्वतंत्रता सुरक्षित है। सृष्टि के प्रयोजन ही दो हैं। जीव का भोग और जीव का कर्म। सृष्टि इन दोनों प्रयोजनों के लिये सर्वथा उपयुक्त है। भोग का परिणाम है बौद्धिक विकास। उस विकास का प्रभाव पड़ता है कर्तव्यता के निर्वाचन पर। उससे उत्पन्न होते हैं कर्म्म, कर्म्म के अनुकूल होता है भोग। यह शृङ्खला कल्पित नहीं है अपितु सहज ही में जानी जा सकती है। बच्चा उत्पन्न होते ही भोग पाता है। भोगों से उसकी बुद्धि का विकास होता है, उसी के अनुसार वह निर्वचन करके कर्तुं, अकर्तुं अन्यथा कर्तुं की स्वतंत्रता का प्रयोग करता है, हर कर्म पीछे से भोग उत्पन्न करता है। उस भोग से आगे का विकास होता है। यह चक्र कभी बन्द नहीं होता, हम केवल इस चक्र से घबड़ाने या उस पर विश्वास न करने या उसकी ओर से आँख मूंद लेने मात्र से इस चक्र से छुटकारा नहीं पा सकते। हाँ हम चक्र को समझकर यदि हम ठीक रीति से अपने कर्तव्यों का पालन करें तो अवश्य ही हमारी उन्नति हो सकती है। परिस्थितियाँ कितनी ही निश्चित क्यों न हों उस निश्चितता के भीतर भी जीव की स्वतंत्रता की गुञ्जायश है। जेल में कैदी पूर्ण रूप से कैदी है फिर भी कैदी को कैद करने के लिये जो काम दिया जाता है उसके करने में वह अपना विवेक प्रयुक्त कर सकता है। अच्छा करने पर अधिकारी संतुष्ट रहते हैं। अन्यथा उनकी अप्रसन्नता और कभी कभी दण्ड भी प्राप्त होता है। अतः सिद्ध है कि जेल का कैदी भी कर्म करने में स्वतंत्र और भोग में परतंत्र है। स्वातंत्र्य और पारतंत्र्य की सीमायें अवश्य भिन्न हैं। और होनी भी चाहिये क्योंकि यह भी तो कर्मों का फल है। श्रेष्ठ पुरुषों को लोक में भी निकृष्ट लोगों की अपेक्षा अधिक स्वतंत्रता रहती है। पुलिस चोर पर दृष्टि रखती है साह पर नहीं, यह सब मानवी कार्य्य नैसर्गिक नियम का अनुकरण मात्र हैं।

(प्रश्न-२७)--आप तो स्वतंत्रता और परतंत्रता दोनों से चिपटे हुये हैं, या तो यह मानिये कि संसार की समस्त चीजें किसी नियन्ता के वश में हैं उसके विरुद्ध पत्ता भी नहीं हिल सकता या यह मानिये कि जीव कर्म्म करने में स्वतंत्र है। दो परस्पर विरोधी बातें कैसे ठीक हो सकती हैं?

उत्तर:—जिनको आप परस्पर विरोधी बातें कहते हैं वह परस्पर विरोधी हैं नहीं। केवल समझ का फेर है। भिन्नता और विरोध के अर्थों में भेद है। पीलापन और लाली परस्पर विरुद्ध नहीं लेकिन अंधेरा और उजाला परस्पर विरुद्ध हैं। जहाँ और जब उजाला होगा अंधेरा न होगा। इसी प्रकार जीव की स्वतंत्रता की सीमा है और ईश्वर के नियंत्रण की भी सीमा है। जरा सा विचार कीजिये। आप बोलते हैं, आपकी जीभ आपके आधीन है, आप उस जीभ से शुभ और अशुभ दोनों बोल सकते हैं। कभी आज़मा लीजिये। ईश्वर का जीभ पर इतना नियंत्रण है कि आप उससे स्वतंत्रता पूर्वक काम ले सकें। जीभ पर आपका तो कोई नियंत्रण नहीं। आपने उसे बनाया नहीं न आपके हाथ में है कि उस जीभ में कोई दोष आ सके। फिर भी वह आपकी जीभ है। आप उसको अपनी इच्छा के अनुसार प्रयुक्त कर सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि आप किसी सीमा तक ईश्वर के नियंत्रण में हैं और किसी सीमा तक स्वतंत्र हैं। यह स्वातंत्र्य और पारतंत्र्य आपकी स्वयं अनुभूति है आपकी कल्पना नहीं। एक उदाहरण लीजिये:—एक नदी है। उस पर पुल बँधा हुआ है। उस पुल के दोनों तरफ आदमी के क़द के बराबर ऊँची ऊँची बाड़ लगी हुई है। आप चलने में स्वतंत्र भी हैं और परतंत्र भी। उन बाड़ों के बीच आप मजे से चल सकते हैं दौड़ सकते हैं। परन्तु बाड़ों को पार नहीं कर सकते। जिसने पुल बनाया उसने आपको एक सीमा तक स्वतंत्रता दी। उसके बाहर परतंत्र कर दिया यह सब आपकी भलाई को दृष्टि में रख कर किया गया। इसी प्रकार नियन्ता ने भी सृष्टि की ऐसी

[illegible] की कि आपके स्वातंत्र्य और पारतंत्र्य दोनों [illegible] रहे। यह नियंता की बुद्धिमत्ता और आपके [illegible] का द्योतक है। आप सर्वथा परतंत्र होते तो आपका [illegible] न होता। आपको अपनी बुद्धि के प्रयोग का कोई [illegible] न मिलता? यदि आप सर्वथा स्वतंत्र होते तो आप [illegible] करके भी भला फल चाहते। दूसरी बात यह है कि [illegible] एक नहीं है। सबको पूर्ण स्वतंत्रता देना कल्पना मात्र है। एक की स्वतंत्रता दूसरे की परतंत्रता का कारण हो जाती है। सड़क पर यदि सभी यात्री पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त कर लें और उसका प्रयोग करने लगें तो एक गाड़ी, दूसरी गाड़ी से टकरा जाये अतः स्वतंत्रता की सीमा भी होती है।

एक और उदाहरण लीजिये:—परीक्षार्थी परीक्षा में बैठा हुआ है। प्रश्नपत्र और उत्तर पत्र उसके हाथ में हैं। वह स्वतंत्र है कि किसी प्रश्न का जो चाहे उत्तर दे। परन्तु दूसरे परीक्षार्थी से बात नहीं कर सकता, स्वतन्त्र भी है और परतंत्र भी। स्वातंत्र्य और पारतंत्र्य की सीमायें हैं। यह दोनों बाते परीक्षार्थी के हित को दृष्टि में रख कर नियत की गई हैं। परीक्षार्थी जो लिखेगा उसका फल अङ्क रूप में पाने में वह परतंत्र है, परन्तु परीक्षा के समय भी नियत सीमा के भीतर है। आप क्या कहेंगे? परीक्षार्थी पूर्णतया स्वतंत्र है या पूर्णतया परतंत्र। दोनों में से एक भी नहीं। जब जीव अनेक हैं तो वे पूर्णतया स्वतंत्र नहीं हो सकते। हाँ केवल एकदशा में हो सकते हैं। अर्थात् जब उन जीवों का विकास इतना उच्चतम हो जाय कि वह तंत्र या नियम को स्वयं समझने लगे और उनका उल्लंघन करें ही नहीं। यदि सब परीक्षार्थी अत्यन्त विश्वास पात्र हो जाँय तो निरीक्षकों की आवश्यकता न पड़े। यदि सभी जीव पूर्ण ज्ञानी या मुक्त हो जाँय तो किसी को किसी से डर न रहे। यदि सभी नागरिक पूर्ण शिक्षित और विचारशील हो जाँय तो सड़कों की मोड़ों पर पुलिस के पहरे की आवश्यकता न हो। फिर तो सृष्टि की ही आवश्यकता न पड़े परन्तु जिस सृष्टि की हम विवेचना कर रहे हैं उसमें अल्पज्ञ जीव हैं जो विकास के भिन्न २ स्तरों पर हैं अतः उनकी स्वतंत्रता और परतंत्रता की भी सीमायें हैं और वह सीमायें कर्मवाद को पुष्ट करती हैं उसको काटती नहीं।

(प्रश्न २८)—परमात्मा ने ऐसा जीव क्यों बनाया जो कर्म करने में स्वतंत्र है? यदि हमको यह आजादी न होती तो हम पाप न करते और दुःखरूपी फल के भागीदार न होते।

उत्तर:—आपने अधूरी बात सोची। यदि स्वतंत्र न होते तो पुण्य भी न करते और सुख भी नहीं मिलता। परीक्षार्थी स्वतंत्र होता है तभी तो अच्छा परचा करने पर पुरस्कार पाता है। अन्यथा पुरस्कार कैसा?

दूसरी सोचने और याद रखने वाली बात यह है कि कर्मवाद जीव को ईश्वर द्वारा उत्पन्न नहीं मानता। यदि ईश्वर ने जीव को बनाया होता तो बीसियों उलझनें उत्पन्न हो जातीं अर्थात् जीव के अस्तित्व, उसके कर्मों, उसके स्वातंत्र्य आदि का उत्तरदायित्व केवल ईश्वर के ही सिर होता। ईश्वर ने हमको पाप करने में सशक्त बनाया ही क्यों? यदि ईश्वर हमारी जीभ को ऐसा बनाता कि वह सच बोलने के लिये ही खुलती, झूंठ के लिये खुलती ही नहीं तो हम झूंठ बोल ही न सकते।

(प्रश्न २९)—आपने तो गजब कर दिया। क्या जीव ईश्वर का बनाया नहीं? यह तो ईश्वर पर दोष लगाना है।

उत्तर:—गजब नहीं। तथ्य यही है। किसी युक्ति से इससे भिन्न बात सिद्ध नहीं होती। यदि ईश्वर जीव को बनाता तो दोषी ठहरता। क्योंकि यह समस्त सृष्टि उसके बनाये हुये जीवों के लिये होती। प्रश्न होता कि जीव को बनाया ही क्यों? अपने लिये या अन्य के लिये। अन्य कोई था नहीं अतः अपने लिये। तो ईश्वर स्वार्थी सिद्ध होता। जो ऐसा मान बैठे हैं (बहुत से आस्तिक इसी भ्रम में हैं) वे यह नहीं बता सकते कि ईश्वर ने ऐसी दुःखमयी सृष्टि क्यों बनाई। इसी प्रकार जो लोग जीव को ईश्वर का केवल अंश मात्र मानते हैं वह भी कर्मवाद पर पूर्ण विचार नहीं करते। जीव को ईश्वर के अंश मानना तो ईश्वर को अखंड और अखंडनीय मानने से इनकार करना है। यह दोष ईश्वर पर लागू होगा। ईश्वर का एक अंश पाप करे और दूसरा उसका दण्ड दे। बेटे ने दावात की स्याही फैला दी। बाप ने उसके चाँटा मारा। दोनों ही ईश्वर के अंश थे। ऐसी काल्पनिक बात तो कल्पना मात्र है हम वर्तमान सृष्टि की बात नहीं सोचते। काल्पनिक सृष्टि की बात करते हैं।

(प्रश्न ३०)—आपकी यह बात विचित्र सी लगती है।

उत्तर:—विचित्र सी इसलिये लगती है कि लोगों ने विचित्र विचित्र कल्पनायें कर रक्खी हैं। वे वातावरण में फैली हुई हैं। अतः उनसे भिन्न तथ्य को लोग विचित्र कहते

हैं। आप सोचिये और शास्त्र का अध्ययन कीजिये तो आप सत्यता को जान सकेंगे। हम तो ऐसी बात कह रहे हैं जिसको आप युक्तियों के आधार पर सोच सकते हैं।

क्या केवल एक ही सत्ता मानकर आप इस प्रपञ्च की व्याख्या कर सकते हैं। यदि आप अपनी सृष्टि बनाना चाहें तो जिस प्रकार हो सके अपने मन की संतुष्टि कर लें। परन्तु यदि इस वर्तमान सृष्टि के मूलाधार में जो तत्त्व हैं उनकी खोज करना चाहते हैं तो आपको इस परिणाम पर पहुँचना पड़ेगा कि जीव एक अनादि अजन्मा सत्ता है। उसी के लिये सृष्टि रची जाती है। यदि जीव अजस्र न होता तो भी सृष्टि की आवश्यकता न होती यदि अनादि न होता तो न जीव के निर्माण की आवश्यकता थी न सृष्टि की। यदि सर्वज्ञ ईश्वर न होता तो सृष्टि को जीवों की आवश्यकताओं की अपेक्षा से बताता कौन। अन्यान्य धर्म वालों ने जो ईश्वर से इतर किसी सत्ता को अनादि और अमर मानना ईश्वर का अपमान समझते हैं ईश्वर का स्वरूप भी अपने मन से घड़ा और सृष्टि का स्वरूप भी। अपने स्वरूप को तो वह भूल ही गये। उन्होंने ईश्वर विश्वास के अत्युक्ति-पूर्ण अभिमान में यह भी न सोचा कि यदि हम न हुये तो धर्म की किसको और क्या आवश्यकता? यदि मैं स्वतंत्र अजर अमर और अजन्मा आत्मा नहीं तो अध्यात्म का क्या अर्थ? जो लोग कर्मवाद में उलझनें पाते हैं वह इसी कारण कि उन्होंने जीव के अजत्व और अमरत्व को नहीं समझा। यदि जीव की उत्पत्ति मान ली जाय तो उत्पत्ति का सहचर सुख या दुःख बिना किसी कर्म या कारण के प्राप्त हुआ मानना पड़ेगा इससे कर्म-फल-वाद की जड़ कट जायेगी और यदि एक बार कर्म-फल-वाद रूपी वृक्ष की जड़ कट गई तो भविष्य में सदाचार की भी जड़ कट जायेगी। फिर शुभाशुभ का कोई आधार ही न रहेगा। सत्यं शिवं सुन्दरम् का न कोई स्वरूप रहेगा न आधार। ईसाई मुसलमान आदि धर्मों के यूनानी दर्शनकारों के अनुकरण से जीव को अनित्य और उत्पत्ति वाला मान लिया गया। इसके दुष्परिणाम यह हुये कि जीव की स्वतंत्रता नष्ट हो गई। जीव ईश्वर के हाथ का खिलौना बन गया। सृष्टि उत्पत्ति के लिये कोई युक्तियुक्त कारण नहीं रहा। ईश्वर जो चाहे सो कर सकता है ऐसा मान लिया गया, फिर भी अपने धर्मों द्वारा उत्पत्ति शुभाशुभ के पचड़े से छूट न पाये और मनघड़न्त युक्तियों से समाधान करना पड़ा। वह भी समाधान न था अपितु तसल्ली मात्र थी। न तो कर्म-फल-वाद माने बिना आचार-शास्त्र की नींव सुदृढ़ हो सकती है और न जीव को अनादि और कर्म करने में स्वतंत्र माने बिना कर्म-फल-वाद की पुष्टि हो सकती है।

(प्रश्न ३१)—क्या किसी दूसरे के किये का फल अन्य को नहीं मिल सकता?

उत्तर:—आपको क्या अच्छा जँचता है।

(प्रश्न ३२)—हम तो देखते हैं कि दूसरे के उपकारों का फल हम भोगते हैं।

उत्तर:—यदि किसी के किये का फल किसी अन्य को मिल जाय तो क्या आप उसे न्याय कहेंगे? और क्या इससे आचार की व्यवस्था ठीक रहेगी?

(प्रश्न ३३)—हाँ! यदि मैं धन कमा कर किसी अन्य को दे दूँ तो इसमें किसी का क्या बिगड़ता है? जिस लाभ का मैं स्वयं उपभोग करता उसको मैंने दूसरे को दे दिया।

उत्तर:—तो क्या आप यह मानना पसन्द करेंगे कि एक आदमी अपने शुभ कर्मों के फल दूसरे को दे सकता है।

(प्रश्न ३४)—मेरा यही तात्पर्य है।

उत्तर:—और क्या मैं अपने अशुभ कर्मों का दुःख भी दूसरों को दे सकता हूँ?

(प्रश्न ३५)—इससे तो अनर्थ हो जायेगा शुभ कर्मों का सुख रूपी फल तो लोग दूसरों को देना कम पसन्द करेंगे परन्तु अशुभ कर्मों का दुःख रूपी फल तो सभी दूसरों को देना चाहेंगे। और उनको लेना भी कोई स्वीकार न करेगा।

उत्तर:—बस समझ के देखिये कि आपका सिद्धान्त कितना अव्यावहारिक, कितना हानिकारक और कितना तथ्य शून्य है। इसलिये, यही मानना ठीक है कि कोई व्यक्ति कभी किसी अन्य के किये न तो शुभ कर्मों का फल प्राप्त कर सकता है न अशुभ कर्मों का दण्ड। ईश्वर उसी को दण्ड देता है जिसके खोटे कर्म हैं और उसी को सुख देता है जिसके अच्छे कर्म हैं। यदि ईश्वर यह आज्ञा दे दे कि कुछ लोग अपनी इच्छा के अनुसार अपने शुभ कर्मों द्वारा उपार्जित सुखों को दूसरों को दे सकते हैं और

राजे महाराजे अपनी समस्त प्रजा के शुभ कर्मों का एक भाग तो अवश्य ही अपने लिये सुरक्षित कर लें परन्तु ऐसा नहीं होता है।

(प्रश्न ३६) आपकी युक्ति का तो हमारे पास कोई काट नहीं परन्तु आप की बात जी में चुभती नहीं।

उत्तर:—आपत्ति क्या है ?

(प्रश्न: ३७) हम रोज देखते हैं कि एक मनुष्य दूसरे को सुख भी देता है और दुःख भी। सुख देने वाले को श्रेष्ठ, भद्र तथा धर्मात्मा कहते हैं। दुःख देने वाले को दुष्ट और अधर्मी कहा जाता है। यदि एक आदमी दूसरे को सुख या दुःख न दे सकता तो संसार में दुःख होता ही नहीं। न आचार शास्त्र के नियत करने की आवश्यकता होती।

उत्तर:—आपने आधी बात सोची। एक देशीय धारणायें अधिकतर भ्रान्तिमूलक होती हैं ?

(प्रश्न ३८) कैसे ?

उत्तर:—यह तो ठीक है कि मैं स्वार्थवश किसी को दुःख देने का इरादा कर सकता हूँ या प्रेम अथवा मोहवश अपने किसी सुख को दूसरे के अर्पण करने का विचार कर सकता हूँ। परन्तु उस इरादे का फलीभूत होना तो मेरे अधिकार में नहीं है। माता नहीं चाहती कि उसके बच्चों की भूलों का बुरा फल उनको मिले। वह अपने शुभ कर्मों का सुख भी अर्पण करने को उद्यत है और बच्चों के अशुभ कर्मों का दुःख भी अपने ऊपर ले सकती है। परन्तु क्या मातायें इस शुभ विचार की पूर्ति में सर्वथा और सर्वदा सफल होती हैं ? क्या हम जिस जिसका अहित चाहते हैं उसका उतना अहित भी हो जाता है ? यदि ऐसा होता तो सृष्टि अनाचार और अराजकतासे भर जाती। अशुभ चिंतन और उस चिंतन से उत्पन्न हुये (किसी सीमा के भीतर) कर्म तो सम्भव हैं, परन्तु उनसे दूसरों को हानि पहुँच ही जाय यह अवश्यम्भावी नहीं है। और न हमारे हाथ में यह है कि सबके साथ परोपकार करने में सफल ही हो जाँय ?

(प्रश्न ३९) यदि साफल्य का विश्वास न हो तो न कोई परोपकार करने में दत्तचित्त हो न अनुपकार करने में। मुझे जब आशा हो जाती है कि अमुक को सुख या दुःख पहुँचा सकूंगा तब ही उस कर्म के करने में मेरी प्रवृत्ति होती है अन्यथा नहीं।

उत्तर:—सबकी प्रवृत्तियाँ भिन्न होती हैं, या एकसी ?

(प्रश्न ४०) इस प्रश्न से आपका क्या प्रयोजन है ? प्रश्न स्पष्ट कीजिये।

उत्तर:—क्या सब अन्य मनुष्य मेरे लिये एक सी ही प्रवृत्ति रखते हैं या भिन्न-भिन्न ? क्या सब लोग मेरा उपकार ही करना चाहते हैं या कुछ उपकार या अनुपकार।

(प्रश्न ४१) भिन्न-भिन्न ! मेरे मित्र मेरे साथ उपकार करना चाहते हैं और शत्रु अनुपकार।

उत्तर:—तो फिर आपको उपकारों का फल मिलेगा या अनुपकारों का ?

(प्रश्न ४२) यदि अनुपकार करने वालों का प्राबल्य हुआ तो मैं दुःखी हूँगा और उपकार करने वालों का प्राबल्य हुआ तो सुखी हूँगा।

उत्तर:—यह ईश्वर का न्यायपूर्ण राज तो नहीं हुआ। यह हुआ जिसकी लाठी उसकी भैंस। ईश्वर ऐसी अराजकता को कैसे सहन कर सकता है ?

(प्रश्न ४३) वह अनुपकार करने वालों को दण्ड देगा जैसे राजा की ओर से घातक को फाँसी होती है।

उत्तर:—इसको फिर सोचिये। आपने जो दृष्टान्त दिया उसके पूरे अर्थों पर विचार नहीं किया।

(प्रश्न ४४) कैसे ?

उत्तर:—क्या घातक को फाँसी देने से मरने वाले के दुःख में कमी हो जाती है ?

(प्रश्न ४५) घातक भावी अत्याचारों के करने और दूसरों को दुःख देने से रोका जा सकता है।

उत्तर:—यह तो दूसरों की बात कह रहे हैं। मैं पूछना चाहता हूं कि यदि 'अ' ने 'ब' को मार डाला और 'अ' को फाँसी हो गई तो 'ब' को क्या मिला ? 'ब' को बिना कर्मों के मौत की सज़ा क्यों मिली ? जिस राज्य में बिना पाप किये हुये भी किसी को किसी साधन द्वारा अनुपार्जित दण्ड या दुःख मिल जाय उस राज्य को अच्छा तो नहीं कहेंगे ? राज्य का केवल यही तो कर्तव्य नहीं है कि पापी को दण्ड दे। उसका यह भी कर्तव्य है कि जो पापी नहीं है उसको सज़ा न मिले। या किसी प्रकार भी न दी जा सके।

(प्रश्न ४६) क्या हम देखते नहीं हैं कि अच्छे से अच्छे राज्यों में भी बिना अपराध के दुष्टों द्वारा लोगों को पीड़ा पहुँचती है और अपराधी दण्ड पाते हैं।

उत्तरः--हाँ देखते हैं, परन्तु यह तो मानवी सरकारों की अपनी अल्पज्ञता और निर्बलता है। मानव शासक का ज्ञान भी सीमित है और बल भी सीमित। अतः उसे पता नहीं चलता कि 'अ' 'ब' को मारने का इरादा कर रहा है। यदि मालूम हो जाय तो 'अ' को रोकने का अवश्य प्रबन्ध किया जाय। ईश्वर तो सर्वज्ञ और सर्वशक्त है अतः उसके ज्ञान वा नियंत्रण से कोई बच ही नहीं सकता, जो आंशिक *साम्राज्य में तो कल्पना में भी नहीं आ सकती।* अतः अन्ततोगत्वा यही मानना पड़ेगा कि न तो कोई अकारण किस को दुःख दे सकता है न सुख।

(प्रश्न ४७)—कारण तो होता है परन्तु दूसरों के इरादों और कर्मों के रुप में।

उत्तरः—नहीं। यहाँ 'कारण' से हमारा तात्पर्य स्वकृत कर्मों से है। अर्थात् जब तक 'अ' के अच्छे कर्म या बुरे कर्म नहीं होते 'अ' को सुख या दुःख नहीं मिल सकता। ईश्वर का न्याय यही चाहता है। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी होगा अन्याय है। यदि ईश्वर शासक है और पूर्ण शक्तिमान्, पूर्ण ज्ञानी और पूर्ण हितैषी शासक है तो उसके शासन में तीन बातें अवश्य होनी चाहियेः—

(१) कोई अपने कुकर्म के बिना दुःखरुपी दण्ड न पा सके और अपने सुकर्म के बिना सुखरुपी पारितोषिक भी न पा सके।

(२) यदि कोई किसी के साथ बुरा करना चाहे तो उसे दण्ड मिले, यदि कोई किसी के साथ भला करना चाहे तो उसे पारितोषिक मिले।

(३) व्यवस्था पूर्ण हो और सबके हित की अपेक्षा से की गई हो। हितों से अनपेक्षित न हो।

कमजोर और अल्पज्ञ शासक भी इन्हीं तीन बातों का ध्यान रखते हैं परन्तु अल्पशक्ति होने के कारण उनसे या तो भूल हो जाती है या वह सावधान होते हुए भी कर नहीं पाते। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वहितैषी ईश्वर में यह प्रश्न नहीं उठते। कर्म-फल व्यवस्था ईश्वर की ओर से है। मनुष्य केवल एक छोटी सीमा तक उसका पालन करता है।

(प्रश्न ४८) भाग्य प्रधान है या पुरुषार्थ ?

उत्तरः—पुरुषार्थ प्रधान है क्योंकि भाग्य भी तो पुरुषार्थ का ही फल है। जब तक कर्म न हो तब तक फल की प्राप्ति हो ही नहीं सकती।

"कर्म प्रधान विश्व कर राखा।
जो जस करै सो तस फल चाखा॥"

पुरुषार्थ कर्म है, भाग्य फल !

(प्रश्न ४९) तो पुरुषार्थ करते रहना चाहिये।

उत्तरः—यह ठीक है, परन्तु प्रश्न यह है कि पुरुषार्थ क्या है और क्या पुरुषार्थ नहीं। हर एक कर्म जो मनुष्य करता है पुरुषार्थ नहीं है न पारिभाषिक अर्थ में कर्म ही है।

"किं कर्म किम कर्मेति........; (गीता)

बहुत से लोग कुकर्मों को भी पुरुषार्थ समझते हैं। एक परीक्षार्थी का उदाहरण लीजिये किसी परीक्षा में उत्तीर्ण होना फल है जिसके पाने के लिए उसे यत्न करना है। उसका समस्त विहित विधान के अनुसार सावधानी से निरन्तर अध्ययन करना पुरुषार्थ है। अनिष्ट विधियों से परीक्षा भवन में नकल करना, परीक्षक को धमकी देना उसपर दबाव डालना या अन्य चालाकियां करना क्रियायें (कर्म) तो हैं परन्तु उनको शुभ कर्म या पुरुषार्थ में नहीं गिन सकते। संसार में यह बड़ा भ्रम फैला हुआ है कि प्रत्येक चालाकी, मक्कारी और दगाबाजी को पुरुषार्थ समझकर लोग बुरे कर्मों में उलझे रहते हैं। उनका फल बुरा होता है। प्रायः सर्वसाधारण में तद्बीर और तकदीर के विवाद चलते रहते हैं। प्रायः चालाकी से की हुई दौड़ धूप को तद्बीर या पुरुषार्थ समझ लिया जाता है। रिश्वत देना तद्बीर, झूठ बोलना तद्बीर, चालाकी चलना तद्बीर। जो रिश्वत न दे या चालाकी न चले उसको कहेंगे कि "वह सोता रहा, इसने तद्बीर तो की नहीं। बिनापुरुषार्थ किये भी फल मिल सकता है क्या ?" इस प्रकार संसार में शुभ कर्म को पुरुषार्थ नहीं समझा जाता। इसी कारण पाप में प्रवृत्ति बढ़ती है और वह दुःख मूलक भी होती है। वस्तुतः कर्तव्य परायणता पुरुषार्थ है। अन्य सब अपुरुषार्थ या असली तद्बीर का उल्टा मात्र।

(प्रश्न ५०) कर्तव्य क्या है अकर्तव्य क्या है ?

उत्तरः—एक उदाहरण सोचिये। राजभक्ति क्या है और राजद्रोह क्या है ? राज्य का शासन जिन मूल तत्त्वों के आधीन है उनका सहयोग करना राजभक्ति और उनके विपरीत आचरण राजद्रोह है। राज्य कर्मचारियों को अनुचित रिश्वत देना राजद्रोह है क्योंकि यह उन मूल तत्त्वों के विपरीत है जिसपर शासन आधारित हैं। राजा की खुशामद

[illegible] राजद्रोह है क्योंकि शासन का मूल तत्त्व राजा के स्वेच्छाचरण की संतृप्ति पर आधारित नहीं है। कमजोर और स्वार्थी राजे कभी कभी असली राज्यभक्ति को राजद्रोह और राजद्रोह को राजभक्ति समझ लेते हैं। परन्तु है यह समझ का फेर।

इसी उदाहरण को विश्व पर घटाइये। विश्व के शासन के कुछ मूल तत्त्व हैं। और उनका असली प्रयोजन है जीवों का हित। अतः उन मूल तत्त्वों के साथ सहयोग करना कर्तव्यता या शुभकर्म है। और उनमें विघ्न डालने का विचार करना अकर्तव्यता या अशुभकर्म है। इसी को पुरुषार्थी और अपुरुषार्थी कहेंगे। पुरुषार्थी का शाब्दिक अर्थ यह है 'पुरुष का अर्थ' अर्थात् 'जीव का हित' जीव का हित भी वह नहीं जो जीव चाहे। मनुष्य चाहता तो बुरा भी है और भला भी। हित है अन्तिम आध्यात्मिक उन्नति का विकास। अतः यह सिद्ध हुआ कि हमारा जो कर्म हमारे विश्व के आध्यात्मिक विकास में सहायक हो वही पुरुषार्थ है और जो बाधक हो वह अपुरुषार्थ। बच्चा रोग में अनिष्ट चीजें खाना चाहता है। उनको जुटाना न तो बच्चे का हित है न अर्थ। अतः जो बच्चे की इच्छा पूर्ति को ही उसका हित समझता है वह भूल करता है।

(प्रश्न ५१) कर्म का फल किस रूप में मिलता है?

उत्तर:—फल के केवल दो ही रूप हैं सुख या दुःख। शुभ कर्मों का फल सुख है अशुभ का दुःख। चिरस्थायी और दुःखरहित सुख को आनन्द कहते हैं। स्वर्ग वह अवस्था है जिसमें सुख ही सुख हो, नरक वह अवस्था है जिसमें दुःख अत्यन्त अधिक हो।

(प्रश्न ५२) यदि आत्मा का विकास या उन्नति ही सृष्टि का प्रयोजन है तो सुख या दुःख का आत्मविकास पर क्या प्रभाव पड़ता है?

उत्तर:—सुख आत्मा का भोजन है, और दुःख औषधी, सुखी होकर आत्मा इष्ट काम करने में उत्साहित होता है और दुःख उसको अनिष्ट काम करने से रोकते हैं। इस प्रकार सुख या दुःख दोनों आत्मविकास के साधन हैं।

(प्रश्न ५३) क्या सुख पाकर मनुष्य आलसी, घमंडी, असावधान तथा प्रमादी नहीं बन जाता और क्या दुःखों से मनुष्य को निराशा, मनोदौर्बल्य तथा आत्मग्लानि नहीं होती।

उत्तर:—कभी कभी ऐसा होता है कि बुद्धिमान् मनुष्य अपने को इस दुर्गुण से बचाता है। परन्तु यदि सुख का सर्वथा अभाव हो तो जीवन कठिन हो जाय। दुःख भी एक सीमा से बाहर असह्य हो जाता है।

पुस्तक-परिचय

१—वेद का राष्ट्रीय गीत—

लेखक श्री० पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति, आचार्य गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार।

पृष्ठ संख्या २५० । मूल्य ५)

अथर्ववेदान्तर्गत भूमिसूक्त (अथर्व० १२ । १) की यह राष्ट्रीय भावनापूर्ण सुन्दर-सरल सुबोध व्याख्या है। यह पुस्तक भारतीय कालेजों में वेद विषय के पाठ्यक्रम में रखने के योग्य है। इससे छात्रों को वेद की उदात्तभावनाओं का परिचय मिलेगा। ऐसी व्याख्यायें निस्सन्देह वेद के गौरव को बढ़ाने वाली हैं। शिक्षा विभाग को ऐसे उत्तम ग्रन्थों को प्रोत्साहन देना चाहिये॥

लगभग ९८ पृष्ठ की भूमिका में विद्वान् लेखक ने वेद और ब्राह्मण-वेद और यास्कीवेद और पाणिनि पतञ्जलि आदि अनेक विषयों पर उपयोगी प्रकाश डाला है। हमारी दृष्टि से यदि फुट नोट में उस २ विषय में अन्य वैदिक विद्वानों के विचार को पाठक देखें, ऐसा नाम तथा पता का निर्देश होता तो और भी अधिक अच्छा होता। इसमें उदारता से काम लिया जाता तो वेद का अनुशीलन करने वालों को अधिक लाभ होता। जहां पं० सातवलेकर [illegible] संहित के विषय में लिखा, वहां वेद के प्रत्येक वि[illegible]

जी रिसर्च स्कालर आदि का निर्देश होना भी उचित था। जिनके भिन्न भिन्न ग्रन्थों से कुछ अंश लिया जाये, उनका नाम अवश्य देना चाहिये ॥

विचारों में कुछ भिन्नता रहना स्वाभाविक है। ग्रन्थ जिस दृष्टि को रख कर लिखा जाता है यह विदित होने पर ग्रन्थ का अर्थ समझ में आ सकता है।

वेद में राजनैतिक सिद्धान्तों के विषय में लेखक की वर्षों से आस्था है तदनुसार ही यह ग्रन्थ तय्यार हुआ है। आर्यसमाज, आध्यात्मिक तथा वेद के वर्त्तमान स्कालरों की दृष्टि से भी लिखे जाने की आवश्यकता है।

हमारी दृष्टि में इस ग्रन्थ का मूल्य भी २॥) रुपये से अधिक नहीं चाहिये।

ग्रन्थ उपादेय तथा पठनीय है। वेद प्रेमी सज्जनों को इसे अवश्य पढ़ना चाहिये ॥

प्राप्तिस्थान—प्रकाशन विभाग-गुरुकुल काङ्गड़ी–हरिद्वार

२—सांख्य दर्शन—

ब्रह्ममुनि भाष्य—यह ग्रन्थ श्री० स्वामी ब्रह्ममुनि जी (आर्यवानप्रस्थाश्रम) ज्वालापुर का है। इसमें सांख्य दर्शन के सूत्रों की सरल और सुबोध व्याख्या संस्कृत में की गई है। 'सांख्यकर्त्ता कपिल मुनि ईश्वरवादी थे' विद्वान् लेखक ने इस पर बहुत उपयोगी प्रकाश डाला है ॥ पीछे वाला विद्वान् पहिले के विद्वानों के किये परिश्रम से लाभ उठाता है। यह स्वाभाविक है, उठाना ही चाहिये।

आर्यसमाज की दृष्टि से यह भाष्य परीक्षाओं में रखने योग्य है। यह भी विदित रहे कि इसके लेखक को वेदान्त दर्शन भाष्य संस्कृत में लिखने पर उत्तर प्रदेश राज्य ने पारितोषिक दिया है, जहां आर्य समाज की संस्थाओं की ओर से इस ग्रन्थ का सम्मान नहीं हुआ जो होना चाहिये ॥

लेखक के सब विचारों के साथ चाहे कोई सहमत न हो, पर उनके विचारों से सांख्य दर्शन का अनुशीलन करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य लाभ उठाना चाहिये। जिन सज्जनों ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में आर्थिक सहायता दी है, उन्हों ने बहुत अच्छा काम किया है। ऐसे उपयोगी कार्य में सहयोग अवश्य देना चाहिये ॥

प्राप्तिस्थान—'राजपाल एण्ड सन्स' काश्मीर गेट-देहली ६— मूल्य १॥)

३—क्या वेद में इतिहास है ?

लेखक—पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार—अजमेर।

अङ्गरेजी राज्य के प्रभाव से विदेशियों को अपना गुरु मानकर विदेशों से डाक्टर आदि की उपाधियां प्राप्त कर भारत में राज्य की ओर से चलाये जानेवाले समस्त संस्कृत विभागों पर एक प्रकार से योरुप रिटर्नों (योरुप आदि से डाक्टरादि की उपाधि लेकर) का ही एक मात्र अधिकार दृष्टि गोचर होता है। अब भारत में इनके अनुगामी शिष्य बहुत मात्रा में तय्यार हो चुके हैं। अङ्गरेज़ चले गये पर विदेशियों के ये शिष्य अपने योरुपीय गुरुओं से भी एक कदम आगे चलने का यत्न करते हैं।

इन सब लोगों ने कालेजों और विश्वविद्यालयों में वेद पढ़ने वाले प्रायः सब के हृदय में यह बात बिठा दी है कि वेद में व्यक्तिविशेषों का इतिहास है। ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका तथा वेद भाष्य द्वारा इस मिथ्या प्रवाद का घोर खण्डन किया।

इस विषय में अनेक आर्य विद्वानों ने लिखा है। श्री० पं० जयदेव जी विद्यालंकार आर्यसमाज के एक सुयोग्य विद्वान् हैं। इन्हों ने भी योग्यता पूर्वक वेद में इतिहास विषयक यह पुस्तक लिखी है। हम लेखक के साथ सहमत हैं कि भिन्न २ दृष्टियों से इस विषय पर आर्य विद्वानों को लिखना चाहिये। साथ ही हम यह भी कहेंगे कि ऐसा लिखना चाहिये जो एक विरोधी विचार वाला भी हमारी युक्ति और प्रमाण को देखकर हृदय में स्थान दे।

यह पुस्तक श्री० पं० सातवलेकर जी के एक लेख के उत्तर में योग्यता पूर्ण ढंग से लिखी गई है। वेद में इतिहास विषय पर यह उत्तम प्रकाश डालती है ॥

[शेष टा० पृ० ३ पर]

वैदिक विनय

[ले०—श्री पं० लाजपतराय जी एम० ए० डी० लिट्, देहली]

[गताङ्क से आगे २]

सोम

सन्ध्या के लिए उपयुक्त स्थान तथा समय का संकेत देते हुए वेद में कहा है:—

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्
धिया विप्रो अजायत ॥

सञ्जीवनी

(गिरीणाम् उपह्वरे) गिरि-शृङ्गों की उदात्त रहस्यमयता के वातावरण में (नदीनां च संगमे) तथा नदी-निर्झरों के संगम में, संगीत में (धिया) मानव बुद्धि एवं अन्तःकरण में (विप्रः) दिव्यता का प्रथम स्पन्दन (अजायत) हुआ था।

—ऐसी वेद के 'नित्य-इतिहास'कारों की परम्परा है।

पार्थिव जीवन में दिव्यता का आधान करने के लिए दो-घड़ी भर, सन्ध्याकाल की दो घड़ियों में, 'पर द्रष्टा' के सम्पर्क में आ लेना पर्याप्त है। इन्हीं दो घड़ियों में—नदी-निर्झरों के कलकल में, आकाश की उन्मुक्तता में, गिरि-गुहाओं की रहस्यमयता में—आत्मा तथा परमात्मा का, दिन और रात की भांति, समागम होता है। यह सन्ध्या-वेला है—दैवी जीवन में उदित तथा लीन होने की वेला है।

१. आचमन

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभि स्रवन्तु नः ॥

दिव्यता की अनुभूति

(देवीः आपः) दैवी सञ्जीवनी से भरपूर, ये कलकल बह रही धाराएं (नः) हमें, (अभिष्टये पीतये) स्नान तथा पान द्वारा, (शं भवन्तु) दिव्यता से व्याप्त कर दें। (शंयोः नः) स्वर्गिक जीवन के उत्सुक हम पार्थिव जनों को (देवीः) अपनी दिव्य सञ्जीवनी से (अभि) अन्दर-बाहर, सदा (स्रवन्तु) आविष्ट किये रखें।

दैवी जीवन के लिए, निस्सन्देह, दिव्यता की छत्र-छाया में दो घड़ी आ जाना ही पर्याप्त है। किन्तु इससे तो आत्मिक संतोष नहीं प्राप्त होता। भक्त प्रकृति की गोद में ...[2]ज्योतिर्मय, रसमय, अमृतमय—बह रही इन धाराओं का 'संयोग' अपने जीवन के कण-कण में तथा क्षण-क्षण में अनुभव करना चाहता है। वह इस कायाकल्प की क्षणिक अनुभूतिमात्र को नहीं, एक सतत आवेश को, एक सदा-बहार सरूर को (स्वाङ्गीकृत करना) चाहता है।

२. इन्द्रिय-स्पर्श

वाक् वाक्। प्राणः प्राणः। चक्षुः चक्षुः। श्रोत्रं श्रोत्रं। नाभिः। हृदयम्। कण्ठः। शिरः। बाहुभ्यां यशो बलं करतल करपृष्ठे ॥

दिव्यता का स्पर्श

(वाक् वाक्) हमारी वाणी दिव्य वाणी के सम्पर्क में हो। (प्राणः प्राणः) हमारे प्राण दिव्य प्राणों के सम्पर्क में हों। (चक्षुः चक्षुः) हमारी आँखें दिव्य ज्योति के सम्पर्क में हों। (श्रोत्रं श्रोत्रम्) हमारे कान दिव्य अनाहत के सम्पर्क में हों। (नाभिः, हृदयम्, कण्ठः, शिरः) और हमारे नाभि, हृदय, कण्ठ तथा मस्तक को भी [दिव्यता छू जाय सही]! (बाहुभ्यां यशः) दैवी स्पर्श के इस संचारी भाव से हमारी भुजाओं में यशस्विता तथा ओजस्विता आ जाये। (करतल-करपृष्ठे बलम्) हमारी हथेलियों में [हमारे रोम-रोम में दिव्यता] हस्तामलकवत् आ बसे—मेरी देह का अणु-अणु शक्ति का एक उद्दल पुञ्ज बन जाय।

दिव्यता हमारे अंग-अंग को छू जाती है। यह दैवी आवेश हमारे अन्तर में दैवी कायापलट का श्रीगणेश है—अन्तस् तथा बाह्य में एक नवीन स्फूर्ति का संस्पर्श है, एक नवल अनुभूति का 'अन्तः-करण' है।

३. मार्जन

भूः पुनातु शिरसि। भुवः पुनातु नेत्रयोः। स्वः पुनातु कण्ठे। महः पुनातु हृदये। जनः पुनातु नाभ्याम्। तपः पुनातु पादयोः। सत्यं पुनातु पुनः शिरसि। खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र ॥

---

१. अभिष्टये < अभि √अश्, व्याप्तौ घेर लेना, सब ओर से व्याप्त कर लेना, आविष्ट कर लेना ॥
२. आपो ज्योती रसोऽमृतम् ।

दिव्यता का अवतरण

दैवी सञ्जीवनी का एकमात्र स्रोत, सावित्री···अपनी सप्तरश्मिमयी* विभवपूर्णता के साथ तथा बहिर्व्योम में अन्तर्भूत अपनी विश्व-व्याप्ति के साथ···हमारी देह में अवतीर्ण हो—पुनातु = बाह्य रोमकूपों में—से छनती हुई, अपने विशुद्धतमरूप में, हमारे अन्तर्व्योम में, हमारे अन्तःकरण में समा जाय। (भूः शिरसि पुनातु) उसकी दिव्य सत्ता हमारी शिराओं में प्रवहमान एक धारा बनकर आ बसे। (भुवः नेत्रयोः पुनातु) उसकी दिव्य ज्योति एक अनुपम छटा बनकर इन पार्थिव आंखों में समा जाय। (स्वः कण्ठे पुनातु) उसका दिव्य स्वर, रस, राग हमारे इस पार्थिव कण्ठ को अनुरसित करदे। (महः हृदये पुनातु) उसकी दैवी उदात्तता हमारे मानव-हृदय में बस जाय। (जनः नाभ्यौ पुनातु) उसका दिव्य 'अमृत-रस' हम मर्त्यों की जननशक्ति में 'सञ्जीवनी' बनकर रम जाय। (तपः पादयोः पुनातु) मां का वह *दिव्य श्रम तथा सेवाभाव हमारे थकते* चरणों में नवजीवनी, तप की [सोने को कुन्दन बना देने वाली] अभिनवता, अनुभावित कर दे। (सत्यं पुनः शिरसि पुनातु) सावित्री की वह 'सत्य' को स्वतः-प्रत्यक्ष करने की, आत्मसात् करने की क्रान्तदृष्टि, हम मनुजों की अल्पज्ञता में अपनी स्वाभाविक ज्ञान-बल-क्रिया सहित समाविष्ट हो जाय, हमारी बुद्धि में नवीन प्रेरणा भर दे। (ब्रह्म सर्वत्र खं पुनातु) मां का वह पूर्ण स्वतोविकास हमारी अपूर्णताओं के बीज में, सञ्जीवनी के समान, अन्तर्मय हो जाय—हमारे अणु-अणु को 'भूमा' कर दे।

दिव्यता, अमृत, सञ्जीवनी का एक मात्र प्रतीक है—सावित्री। भूः, भुवः, स्वः आदि सावित्री की सात 'व्याहृतियां' हैं—'संभक्त' सूर्यरश्मि की सात विभक्तियां हैं, सप्त-रंगिनी किरणें हैं, जो प्रकृति के पत्ते-पत्ते में हरियाली भरती हैं। अमृत अथवा सोम पहाड़ों पर नहीं, हमारे चारों ओर—सभी कहीं प्रवाहित हो रहा है। हरितो हरयो वा अश्वा सूर्यस्य सवितुः सप्त। यह हरियाली क्या है?—वैज्ञानिकों के अनुसार वह पत्तों की अन्तःशक्ति है, सूर्य की किरणों से—जीवन की उद्भावना द्वारा स्वतः (discty ?) संगृहीत रस है, क्लोरोफिल है, जिसे निज संजीवनी के रूप में अन्तर्भूत करके ये वनस्पतियां पुनः विश्व को उपभोग्य—सामग्री के रूप में उपहृत कर देती हैं। हमारी ·· ·· में प्रवहमान रक्त उसी का परतर स्वरूप ही तो है:—

अविर्वै नाम देवता येन आस्ते परीवृता।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः॥

परन्तु मनुष्य को अपने तईं यह वैज्ञानिक प्रक्रिया अभी आत्मसात् करनी है। जिस क्षण यह स्वानुभूति हमारे जीवन का सतत अंग बन जायगी, हम अमर हो जायेंगे—हमारे ये 'मर्त्य' अंग अन्तर्धान हो जायंगे, सावित्री के सप्तर्षि अपनी 'ब्राह्मी भूमिका' के साथ—अपने पूर्ण दैवी नेपथ्य में हमारे अंग-अंग को आत्मसात् कर लेंगे, हम सावित्री-'सुत' हो जायंगे।

हमारी यह मरणधर्मा देह सप्तसिन्धु है, सप्तमुखी द्वारिका है। काव्यकारों की 'कविता-कामिनी' की भांति सावित्री इस अन्तःपुर में आकर हमें नवतर भावनाओं से संचरित कर देती है, आविष्ट कर देती है—असुरों पर सावित्री के देव (७) विजयी हो जाते हैं, और यह प्राणस्थली हमारी क्षणात् देवपुरी देवानां पूः बन जाती है। 'अन्तःकरण' का अर्थ है—देवों के प्रवेश से *मन-मन्दिर का देव-मन्दिर* बन जाना!

बाह्य इन्द्रियां हमारे 'दर्शन' की साधिका हैं—उन्हीं के द्वारा हमने सावित्री का साक्षात्कार तथा संगतिकरण करना है। 'वधू के स्वप्नों में लीन' कन्या की भांति, सावित्री स्वयं सप्त-पदी के लिए कितनी उत्सुक है!—परन्तु बोधिसत्त्व उसके बायें रहे, तभी तो वह (अग्निपरिक्रमा के) दो क्षण पश्चात् स्वयं, भक्त की 'वामा' होगी : और वधू के अनावृत मुख के प्रथम दर्शन मात्र से जब बोधिसत्त्व 'बुद्ध' बन जायगा, आप्त्य 'आप्त' हो जायगा। साधक 'सिद्ध' बन जायगा। साधना की यही स्वाभाविक परिसमाप्ति है।

सावित्री हमारी अर्धांङ्गिनी है, हमारी सतत सहचरी मां है, सहधर्मिणी है—परन्तु पहले हम सत्यवान् हों, तभी! सावित्री का हमारे अंग-प्रत्यंग से वही सम्बन्ध है, जो काव्य में कवि का कविता-कामिनी से है, जो गाथाओं में शिव (संकल्प) का पार्वती से है, जो दर्शनों में पुरुष का प्रकृति से है—

'कान्तासंश्लिष्टदेहोऽप्यविषयमनसां
यः परस्तायतीनाम्' !
त्वामग्ने पुष्करादधि अथर्वा निरमन्थत।
पुरुषविधाः स्युः (यास्क)।

ऋषि की कवि-दृष्टि 'सावित्री' के निरासक्त आसक्ति की सर्वाङ्गता का निष्कयुक्त सम्बन्धः 'पुरुषविद्य' साक्षात्कार में अन्तर्गूढ़ है !

४. प्राणायाम

भूः । भुवः । स्वः । महः । जनः । तपः । सत्यम् ॥

दैवी भाव

हमारी देह पार्थिव न रहे, देव-पुरी बन जाय।

अब हम अपने में नहीं रहे; सावित्री के वश में हैं। सावित्री के दिव्य 'स्वप्न'-रूप का - मोहिनी का, उसकी दिव्य ज्योति का—आंखों का, उसके दिव्य कण्ठ-स्वर का—अनाहत का, उसकी पयस्विनी छाती का—फैली बाहों का, उसकी 'पुराने को नया कर देने की' सञ्जीवनी का—काया कल्प का, उसके तपोरूप का—रजो भूसरित चरणों का, सत्ता के मूल में बैठने वाली उसकी क्रान्तदृष्टि का—काव्यमय जीवनी का हम पर जादू चल चुका है।

हमारी देह अब हमारी कहां ?—'देवानां पूः' अयोध्या है, देवताओं की अमर स्वर्गपुरी है। सावित्री के सेवाव्रती, पतित-पावन चरण, सावित्री की चित्त चोर चुप्पी ही अब हमारा एकाश्रय है।

धन्य है सावित्री का सप्तच्छद, सप्तर्षि रूप—'सुदर्शन चक्र' !

i. वेद में सावित्री का ऋषि विश्वामित्र है :—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मैवाऽभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

अर्थात् अभेद-भाव की प्रथम स्वानुभूति ही अध्यात्म क्षेत्र में 'सावित्री' कहाती है।

ii. 'पौरुषेय' आख्यानों में—सावित्री की सात व्याहृतियां 'पृश्नि' तथा 'सविता' की सात पुत्रियां हैं। अर्थात्, thes are the seven colours composing the whiteray of the sun (सविता), so shewn ater diffraction (व्याहृति) through a prison ('पृश्नि')।

iii. 'पुराण तथा इतिहास' में सावित्री 'सत्यवान्' की सहधर्मिणी है—जो उसे ब्रह्मचर्य-व्रत के मिथ्याव्यामोह से, यम-बन्धन से, मानो मौत से मुक्त कराकर अमर कर देती है। It is the truth-seekers inspiration that maketh fersti (?) immortality of the mortal man.

तीनों दृष्टियों का अधिगम एक ही है—अन्तः समता, जिज्ञासु-वृत्ति द्वारा प्रश्न की समाधि, बिखरी बहिर्मुख शक्तियों का समाहार द्वारा अन्तर्मुखीकरण। प्रश्न तथा पृश्नि (prison) क्रमशः अध्यात्म तथा भौतिकी में 'ऊहापोह' के प्रतीक हैं : सत्य का 'दर्शन' इसी विश्लेषण द्वारा ही तो साध्य होता है—

व्यूहरश्मीन् समूह... ।
सत्यधर्माय दृष्टये ॥

अपने इस बिखरे हुए रश्मि जाल को, माया जाल को मेरे सामने से समेट लो—

मृत्योर्मा अमृतं गमय ॥

५ अघमर्षण

ऋतं च सत्यं चाऽभीद्धात् तपसो अध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधत् विश्वस्य मिषतो वशी ॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥

'दैवी सृष्टि' का चक्र

पार्थिव देह में सावित्री के सप्तर्षि-देवों के अवतरण के अनन्तर हमारी पार्थिव वृत्तियों का आमूल दैवीभाव संभव हो। हमारे इस दैवी पुनर्भव में सर्गोदय की पूर्ण प्रक्रिया की आवृत्ति हो। (अभि-इद्धात् तपसः) एकमेव-अद्वितीय आदि-तत्त्व 'तपस्' से जिस प्रकार सर्गोदय की उषा में (ऋतं च सत्यं च अजायत) आदि-गति तथा आदि-स्थिति का उद्भव हुआ था—सावित्री के देदीप्यमान तपोरूप द्वारा हमारे इस पार्थिव शरीर में दिव्य गति-स्थिति का अभ्युदय हो, आधान हो। (ततः रात्री अजायत, ततः अर्णवः समुद्रः अजायत) सर्ग-प्रक्रिया में गति-स्थिति ... अर्थात् उस आदि-द्वैत की भांति, हमारे देवोदय में ...

तथा दिकाल के प्रतिरूप अव्यक्त-महार्णव तथा अव्यक्त महासमुद्र का अन्तर्धान हो, आधान हो—हमारे अन्दर दैवी—'उदय का श्रीगणेश हो। (वंशी धाता) सावित्री की आवेश-मयी 'अन्तः करण' द्वारा अभिभूत कर लेने वाली, 'संजीवनी' शक्ति, 'प्रेरणा (विश्वस्य मिषतः) हमारे नवल सर्गोदय के निमेषोन्मेष में, दैवी-चक्र के आविर्भाव में प्रवर्तन में (समुद्रात् अर्णवात् अधि) स्थिति एवं दिशाबोध के प्रतीक उस अव्यक्त-महासमुद्र के साथ (अहोरात्राणि, संवत्सरः विदधत् अजायत) गति एवं कालबोध के प्रतीक दिन रात, वर्ष का यथोचित, व्यक्त-सम्बन्ध विहित कर दे स्थापित कर दे (यथापूर्वम्) प्रक्रिया-क्रम के अनुसार, द्वैधीभाव में, हमारी इस लघु देह में भी (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य तथा चन्द्र आदि ग्रहोपग्रहों की, और (पृथिवीं च अन्तरिक्षं च दिवं च) पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा दिव् की त्रिलोकी की (अकल्पयत्) काव्य-कल्पना, दैवी लीला प्रस्तुत हो। सत्व-रजस्-तमोमयी प्रकृति में, हमारी, स्वतो विकास की वह आदि-परम्परा (अथो स्वः अकल्पयत्) नित्य, निरन्तर अपने उसी 'आदि-स्रोत तथा अन्तिम-विलय' की ओर—उन्मुख, प्रवहमान, प्रस्तुत रहे। हमारी प्रकृति, हमारी ये पार्थिव प्रवृत्तियां—सदा आत्माभिमुख रहें, पुरुष-प्रवण रहें उदयोन्मुख रहें।

सावित्री हमारे 'पिण्ड' को देव-पुरीवत् स्वीकृत करके 'ब्रह्माण्ड' वत् सक्रिय कर दे। हमारी गति-स्थिति, हमारा उठना-जागना, हमारे स्वप्न-कल्पना-कृति, हमारे अणु-परमाणु ग्रहोपग्रहों की दैवी लीला से स्फूर्त हो उठें—हमारे अन्दर सृष्टियों का सतत विकास—विलय होता रहे, हम क्षण-क्षण देव से देवतर होते जायं, आत्मबोध अधिगत करते हुए सावित्री-रूप होते जायं।

सृष्टि की परिपूर्ण प्रक्रिया का समाधान आज विज्ञान में आइन्स्टाइन का 'सापेक्षवाद' (सिद्धान्त) करता है। प्रकृति का स्वरूप हर क्षण हमारे संमुख बदल रहा है—गति स्थिति में परिवर्तित हो रही है, और स्थिति गति में। दोनों के परस्पर विनिमय का नाम ही जीवन है। वर्तमान नक्षत्र-लीला, स्थिति का निरन्तर संहार करती हुई, 'अनन्त' गति की ओर अग्रसर है। जब 'अनन्त गति' का यह ध्येय 'पूर्ण' हो जायगा, सृष्टि 'प्रलय' रूप में परिणत हो जायगी। किन्तु उसी क्षण वह अनन्त गति', चक्रनेमिक्रमेण, नूतन सृष्टि के अणुओं-परमाणुओं का निर्माण शुरू कर देगी। अगली प्रलय का स्वाभाविक रूप होगा—शून्य गति, अनन्त स्थिति अर्थात् पिछली प्रलय का प्रतीप रूप। और जन्म तथा मृत्यु, मृत्यु-तथा-जन्म का यह चक्र अबोध चलता ही रहेगा। 'तपस्' तथा 'स्वः' इस प्रवाह के दो छोर हैं, अपितु सन्धियां हैं—ताप तथा शान्ति, पार्थिव बहिरता तथा आत्मिक अन्तःसमता।

गति-स्थिति के अतिरिक्त एक और द्वैध, सर्ग-लीला में, देश तथा काल का अविभाज्य युगल है। रात्रि तथा समुद्र दोनों के 'अव्यक्त' उपलक्षण हैं।

स्वानुभूति के क्षेत्र में यह प्रकृति की त्रिवृतता तथा पुरुष की स्वात्मनिर्भरता का अविभाज्य युगल है। इस अविभाज्यता को आइन्स्टाइन ने भौतिकी में 'संसार' (Contimrum ?) का नाम दिया है। पूर्व के ऋषियों ने आत्मा की नित्यता को आवागमन का अश्रान्त पथिक बताया है। मनुष्य की सारी दौड़-धूप का लक्ष्य आत्मबोध ही तो है—प्रकृति तथा पाशव सृष्टि का अभ्युदय—निःश्रेयस है मनुष्य, और मानव-मन का अभ्युदय—निःश्रेयस है स्वः = आत्मा। हमारे आख्यानकारों ने कभी इसे शिव-पार्वती का रूपक दिया है तो कभी सावित्री सत्यवान् का; कभी शची-इन्द्र का, तो कभी यम-यमी का। वेद के अन्तस्-तत्त्व को पाना हो तो बस इस संकेत को न भूलिये, कदापि न भूलिये—वेदों का गूढ़ार्थ आपके आगे हस्तामलकवत् स्वतः प्रकाशित हो जायगा, बालबोध की सरल वस्तु बन जायगा, स्वतः प्रमाण हो जायगा।

६. मनसा-परिक्रमा[1]

(i)

प्राची दिक्। अग्निः अधिपतिः।
असितो रक्षिता। आदित्या इषवः ॥

१ 'मनसा-परिक्रमा' की आपूर्ण ऋषि-दृष्टि के लिये तथा पूर्वापर संगति के लिए, पहले, दृष्टिकोण तथा स्वानुभूति का एकबार 'अनु-दर्शन' आवश्यक है—विशेषतः दोनों में क्रमशः, ७ तथा ६ अंश का। या फिर, कार्डिनलन्यूमैन की कविता—'लीड काइण्डली लाइट, लीडदाऊ मी ऑन, लीड थ्रू दि एन्सर्कलिंग ग्लूम, फास्ट कम्ज़ द ईवन-टाइड'—के भावार्थ को निरंतर अपने संमुख रखें।

'नेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो' में बहुवचन से लक्षित होता है कि 'तं वो जम्भे दध्मः' तक के पद्यांश की संगति

(अग्निः) ऐ मेरे अन्तःकरण में विद्यमान नन्हे-से ज्योति-कण ! (अधिपतिः) तुम्हीं हमारे एकमात्र संबल हो। (प्राची दिक्) मुझे आगे की ओर ले चलो। (असितः रक्षिता) अन्धकार मुझे सब ओर से घेरे हुए है। (आदित्याः इषवः) जीवन-यात्रा में मेरे ये प्रथम पग हैं, इन्हें राह पर ही रखना फिसलने भटकने न देना।

सावित्री के देवों ने देह को देवपुरी बना लिया। देवपुरी में पुनः देवों की पूर्ण सर्गोदयलीला भी हो ली। यह तो हुई अन्नमय तथा प्राणमय कोशों की। 'अन्न' प्राण का आधार भी है, अनासक्त 'अभ्युदय' भी। 'प्राण' मनोमय का आधार तथा अभ्युदय है। मनोमय की आधार-भूमि से पुनः आत्मा की शान्त-ज्योति का अभ्युत्थान होगा तब कहीं दैवी भाव की यह प्रक्रिया पूर्ण होगी। अभी तो

मानव मन विकास-पथ पर अग्रसर है। अभी उसे जिस ज्योति की दर्शनानुभूति हुई है, वह स्वयं कणमात्र है—वह उसे रास्ते के दो-कदम भर दिखा सकती है, बस। वह पहला कदम आगे बढ़ता है (१), उसकी अन्तरात्मा उसे बल प्रदान करती है (२)—उसका हाथ पकड़ कर उसे आगे ले चलती है। और इस प्रकार ज्योति की एक चिनगारी (१) आत्मबल, संकोच, नम्रता, निश्चय (२–५) के स्वानुभव-रस द्वारा अन्त में इसी निर्बल मन को ज्योति का एक भास्वर पुंज (६) बना देती है : बलहीन मनोबल को आत्मदर्शन के 'दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता यदि भाः सदृशी स्यात् सा' रस के लिए सबल कर देती है—

नाऽयमात्मा बलहीनेन लभ्यः।

(ii)

दक्षिणा दिक्। इन्द्रोऽधिपतिः। तिरश्चिराजी रक्षिता। पितर इषवः ॥

(इन्द्रः) ऐ मेरे अन्तस् में विद्यमान, मुझ 'निर्बल के बल' ! (अधिपतिः) मैं तुम्हारे आश्रय में हूँ। तुम्हीं तो मेरे 'राम' हो। (दक्षिणा दिक्) मेरे लड़खड़ाते कदमों को एक 'टेक' दो—मुझे आत्मानुभव दो, आत्मबल दो, आत्म-संबल दो। (तिरश्चिराजिः रक्षिता) दुनिया की टेढ़ी मेढ़ी राहें, ये चालबाज़ियां, मुझे, जैसे, एक गोरख-धंधे में से खींच रही हैं। (पितरः इषवः) मुझ से पूर्व भी तो कितने ही [पूर्व-ज] इस (संसार-) यात्रा को सफलतापूर्वक तय कर चुके हैं। समय-समय पर उनके उदाहरण मुझे दिखाते रहना।

किसी काम में पहली-पहली बार घुसने के लिए आत्म-बल, आत्माऽनुभव तथा पुरखाओं के उदाहरण (यात्री के लिए) पर्याप्त सहारा होते हैं।

(iii)

प्रतीची दिक्। वरुणोऽधिपतिः। पृदाकू रक्षिता। अन्नमिषवः ॥

(वरुणः) ऐ मेरे अन्तर्मय के झीने-से आवरण। (अधिपतिः) मैंने तुम्हारा ही पल्ला पकड़ा है। (प्रतीची दिक्) प्राचीन युग की, स्वर्ण युग की मुझे झांकियां दिखाओ तो सही, किन्तु (पृदाकुः रक्षिता) उसके आकर्षणों में मैं कहीं ऐसा न उलझ जाऊँ कि फिर बाहर निकल ही न सकूं। (अन्नम् इषवः) मुझे तुम अन्न की समस्या में वर्तमान के जीवन-संघर्ष में उलझने जूझने की राह ही दिखाना—मुझे प्रतिगामी न होने देना, मुझे अर्वाङ्मुखही व्यस्त-व्यापृत निरत रखना।

घूंघट का पट *आत्मा पर से उतारना होगा*, किन्तु वही पट (तत्क्षण) उन्नति पथ के प्रतिरोधी आकर्षणों एवं प्रलोभनों पर डाल देना होगा। यही वैदिक 'तथागतों' का 'मध्यम मार्ग' है। यही हमारे आन्तर आवरण की स्वतः पर्याप्तता ❀ है—प्रतिबन्ध तथा प्रेरणा द्वारा—उभयविध उपयोगिता है।

(iv)

उदीची दिक्। सोमो ऽधिपतिः। स्वजो रक्षिता। अशनिरिषवः ॥

('मनसा-परिक्रमा') सूक्त का, अन्त्य भाग है। 'अनुप्रास-पाद' की युक्ति ने अथवा भक्तों की 'आरती-बुद्धि' ने इसे मन्त्र-सन्धान में टेक की भांति हर मंत्र के साथ जोड़ दिया है। हमें इसका अर्थ भी 'परिक्रमा' के अन्त में ही युक्त जँचा है, यहाँ इस 'ऊर्ध्वा दिक्' की प्रस्तावना के अन्त में ही केवल एकबार संलग्न कर दिया गया है।

❀ वरेण्यं भर्गः। तत् त्वं पूषन् अपावृणु ॥

(सोमः) ऐ मेरी अन्तर्ज्वाला के लाजभाव! (अधिपतिः) अब मुझे तुम्हारी ही एक शरण है। मुझे तुम नम्रता का पाठ पढ़ाना। (उदीची दिक्) वर्त्तमान के सतत-प्रगतिशील पथ पर, उभय पक्षे (स्व-जः रक्षिता) ज्यों-ही मुझे अहंकार छू जाय, अहं भाव की मोहिनी मुझे आविष्ट करने लगे, (अशनिः) मुझे बिजली के कोड़ों की मार से सही राह पर ले आना—मेरे अभिमान को धूलिसात् कर देना।

'उन्नति' का मूल मंत्र है—'नम्रता'।

(v)

ध्रुवा दिक्। विष्णुरधिपतिः। कल्माषग्रीवो रक्षिता। वीरुध इषवः॥

(विष्णुः) ऐ मेरे अन्तराल में प्रसुत मेरे 'वामन' रूप, मेरे हृदय की धरती में चुपचाप पड़े बीज! (अधिपतिः) तुम्हीं अब मेरा एकमात्र, अन्तिम, अवलम्ब हो। (ध्रुवा दिक्) मेरे धूलिसात् हो चुकने पर भी तुम तो अवशिष्ट रहोगे-ना, स्थिर बने रहोगे-ना? (कल्माषग्रीवः रक्षिता) धूल, कूड़ा-करकट, विपुल चट्टानों के भार के नीचे दबा हुआ भी मैं (वीरुधः इषवः) बीज की भाँति ही विरोधों की बाढ़ को 'लताओं की-सी मृदुता' से चीरता-फाड़ता, तुम्हारी ['यज्ञ शेष' मयी] अन्तः शक्ति द्वारा ऊपर निकल आऊं: वामन से विष्णु बन जाऊं! बस, इतना स्वत्व मुझमें अवशिष्ट रहने देना।

बिजली (अशनि, 'उदीची दिक्' में) झूठे 'स्व' पर, स्व-प्रवचनीय पर, स्वज पर गिरी थी। अहंकार का वह 'हिरण्मय' आवरण छिन्न हुआ कि झट से 'वामन' विष्णु बन कर उदित हो गये, बीज वृक्षरूप में फलित हो गया, आत्मा का अदम्य बल द्यावा-पृथिवी-अन्तरिक्ष में विक्रान्त हो गया—अतो ज्यायांश्च पुरुषः।

(vi)

ऊर्ध्वा दिक्। बृहस्पतिरधिपतिः। श्वित्रो रक्षिता। वर्षमिषवः॥

(बृहस्पतिः) ऐ मेरी अन्तर्गुहा में छुपे बैठे मेरे लोक-लोकान्तरों के एकमात्र स्वामी! (अधिपतिः) मेरे स्वामी भी तो तुम्हीं हो।—मेरा आपा और कौन है? (ऊर्ध्वा दिक्) मुझे उबारो। (श्वित्रः रक्षिता) किन्तु तुम्हारा यह चकाचौंध से अंग-अंग को भर देने वाला प्रकाश तो मुझे जैसे अन्धा-ही कर देगा (वर्षम् इषवः) मुझे तो बस, तुम्हारी एक कृपा छोर ही पर्याप्त है। अपनी दया-दृष्टि की 'एक बूंद' भर मुझे प्रसादित कर दो, ना,? मेरे देव!

मेरा कण-भर जीवन-सार!

❀ ❀ ❀

(i–vi)

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो—नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो—नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः—तं वो जम्भे दध्मः॥

(तेभ्यः अधिपतिभ्यः नमः) कितनों की महानता के आगे मैंने अपनी तुच्छता अनुभव की! कितनों का मैंने निराश्रयता में, आश्रय लिया! (रक्षितृभ्यः नमः) कितने गोरख-धन्धों में मैं उलझा, लड़खड़ाया! (इषुभ्यः नमः) कितने-ही 'तिनकों' ने मुझे डूबते से बचाया—दिक्-व्यामोह में मुझे सहारा दिया, राह दिखाई! (एभ्य नमः अस्तु) इन आश्रयों ने, इन संकेत मार्गों ने, इन गोरख-धंधों तथा अड़चनों ने भी मेरे अहं-भाव को नम्रता का 'स्व-भाव' पढ़ाया; इन्हो ने ही तो मुझे यहां तक पहुँचाया है।......(यः अस्मान् द्वेष्टि) कोई हमसे द्वेष करता है, तो (यं च वयं द्विष्मः) किसी से हम द्वेष करते हैं। यह द्वेष-वृत्ति ही हमारे पतन का, हमारी तुच्छता का मूल कारण है। (तं वः जम्भे[1] दध्मः) सो, हम द्वेष मात्र को, वैयक्तिक तथा सामाजिक द्वेष भावना को, मानव मन की क्षुद्रता अपिवा तुच्छता को, तुषों की मुट्ठी की भांति, अपने अन्तर की अतिमानस-ज्योति की शान्तिमयी ज्वालाओं के अर्पित करते हैं—और, आत्मदर्शन के मार्ग पर नम्रता एवं लघुता के साथ, लघुभार यात्रियों की भाँति, अग्रसर होते हैं।

१ 'जम्भे' का शब्दार्थ (लौकिक संस्कृत में) है दाढ़ में मुख में; किन्तु वेद में 'जम्भे' का संकेत 'हविर्भुक्' अग्नि की ज्वाला-जिह्वाओं के संबन्ध में ही होता है—अग्निर्जम्भैस्तिगितै रत्ति भर्वति (?)।

७. उपस्थान

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥

देवलोक की छाया में

(देवत्रा) देवी सञ्जीवनी के साक्षात्कार में (तमसस्परि) अन्धकार गह्वर से ऊपर उठकर (स्वः पश्यन्तः वयम्) आत्म-ज्योति की खोज में निकल-चले हम (उत्-उत्तरम्-उत्तमम् ज्योतिः अगन्म) ऊंची से ऊंची भूमिकाओं में पहुँचें—अन्तर्मुख हो, अन्तर्ज्योति के अन्तर्दर्शन कर सकें : अपने ही हृदयान्तराल के अन्तः पुर में आत्मा-वधूका अनावृत मुख देख सकें प्रत्यक्ष कर सकें देवं सूर्यम्' जैसे बाह्य जगत् के ज्योतिःपुञ्जों में शीर्षण्य सूर्य-ज्योति का हमारी पार्थिव आँखें।

ज्योति की तीन भूमिकाएं होती हैं—तमोमय, रजोमय, सत्त्वमय; आधार भूमियां होती हैं। अन्नमयकोश प्रधान-तया, तमोनिधान है, प्राणमय रजस् का तथा मनोमय सत्त्व का धाम है। इन तीनों क्षेत्रों से विमुक्त आत्मा की ही, दर्शनों में, क्षेत्रिय अपित्रा 'क्षेत्रज्ञ' संज्ञा होती है। प्रकृति में द्युति-पुरुष = आत्मा = स्वः की होती है, अन्यथा वह अन्धकारमय है, रजस्वल है, मन की भांति अंधाधुंध दौड़ने वाली है! शिव-पार्वती की सम्पूर्ण लक्षणा-व्यञ्जना प्रकृति-पुरुष के इसी नैसर्गिक सम्बन्ध का 'मूर्त्त-रूपक' है; परन्तु तृतीय नेत्र को तथा चन्द्रकला को तथा गंगा को हमारे आख्यानकारों ने शिव के मस्तक में आहित किया है पार्वती की 'प्राकृतिक' वासना में नहीं। शिव, स्वः में 'शान्त तेजः' की तमोहर-शान्तिप्रद वृत्ति 'निर्वाण' बन कर शब्द-ग्रथित है। श्री अरविन्द के 'अतिमानसयोग' में यही ऋषिदृष्टि पुनः आवाहनमय हो उठी है—उनकी अनुभूति में 'ऊर्ध्वादिक्' के स्वानुभव की इति-श्री 'रोहात् प्रत्यवरोहश्चिकीर्षितः' की उदारता में, 'यज्ञिय' दानशीलता में निहित है। 'उपस्थान' का अर्थ है—गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट ब्रह्मचारी की भांति—लोक संग्रह के हित 'अच्युत' स्थिति से किञ्चित् च्युत होना, द्युलोक से पृथ्वी पर उतर आना, 'अवतार लेना'!

(ii)

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥

(उ) अरे! (जातवेदसं[1] त्यं देवम्) प्रकृति के पुतलों से परतर[1] उस दिव्य आत्म-तत्त्व को (केतवः) हमारी ये पार्थिव इन्द्रियां उसी प्रकार (उत्) हाथों में उठाये-उठाये (विश्वाय दृशे वहन्ति) विश्व की परिक्रमा करें, गली-गली फेरी लगायें (विश्वाय दृशे केतवः सूर्यम्) जैसे 'सहस्राक्ष' विश्व (कमल) के संमुख किरणें सूर्य को [उठाये-उठाये इस जगती की नित्य परिक्रमा करती हैं]।

किरणें प्रतीकमात्र हैं; अमृत का, सञ्जीवनी का स्रोत 'सूर्य' है। इन्द्रिय-बल का मूल उसी प्रकार आत्मा है। ऋषियों की क्रान्त-साक्षी के अनुसार सूर्य में तथा हमारी इस देह में एकही परम तत्त्व आत्मा है—योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्।

(iii)

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥

(आत्मा) अन्तर्ज्योति (देवानाम् अनीकम्) ज्योति के पुतलों का झुरमुट बनकर (उत् अगात्) उदित हो, ऊपर को उठे, हमारी पार्थिव वृत्तियों का अभ्युत्थान करे। (अग्नेः मित्रस्य वरुणस्य) प्रकृति के तमोमय-रजोमय सत्त्वमय कण-कण में (चक्षुः उत् अगात्, आप्रात्) एकमात्र आन्तर द्युति बनकर अभ्युदित हो, व्याप्त हो जाय—मानों (जगतः तस्थुषः च आत्मा सूर्यः) चराचर विश्व का जीवन स्रोत सूर्य (पृथिवी अन्तरिक्षं द्यावा आप्रात्) निखिल ब्रह्माण्ड को त्रिलोकी को, अपने प्रकाश से व्याप रहा हो!

(चित्रम्) बलिहारी इस स्वतः प्रकाश की! मेरे अन्तर्जग का अणु-अणु ज्योतिर्मय नक्षत्रों की क्या सुन्दर विहार स्थली बन गया है!

वह परात्पर ज्योतिः 'स्वतः प्रकाश' ही क्या—'स्वः' ही क्या, जो प्रकृति की त्रिगुणात्मकता में, प्रकृति के कण-कण में अन्दर-बाहर, रम न जाय? आत्मा-परमात्मा 'विश्वरूप' के आन्तर तथा बाह्य निदर्शन ही तो हैं:—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्यात् भासस्तस्य महात्मनः ॥

१ जात-वेदसम् = जात-वेधसम् = प्रकृति-वेधसम् जात-जात के अर्चनीय (√ विध्, पूजायाम्)—अर्थात् प्रकृति से परतर पुरुष को, आत्मा को।

(iv)

तत् चक्षुर्देवहितं पुरस्तात् शुक्रमुचरत् । पश्येम शरदःशतम् । जीवेम शरदःशतम् । शृणुयाम शरदःशतम् । प्रब्रवाम शरदःशतम् । अदीनाः स्याम शरदः शतम् । भूयश्च शरदःशतात् ॥

(तत्) आत्मज्योति ही (देवहितं चक्षुः) हमारी इन्द्रियों की साधन-ज्योति बन कर (पुरस्तात्) हमें आगे ही आगे ले चले—(उत् शुक्रं चरत्) सूर्य की भांति हमारे उदय-पथ को निरन्तर उज्ज्वल करती चले। (पश्येम) आत्मज्योति की छाया में अग्रसर होते हुए हम (शरदः शतम्) सौ वर्ष की अपनी पूरी आयु (अदीनाः स्याम—जीवेम, शृणुयाम, प्रब्रवाम) अविकल अङ्गों से, अविकल इन्द्रियों से जियें और भोगें—संगीतमयता से, काव्यमयता से गुजार दें, और (प्र) उत्तरोत्तर उदयमार्ग पर, सतत, बढ़ते चलें। (शरदः च शतात्) सौ ही क्यों?—सौ से भी अधिक साल हम स्वस्थ रहें—(भूयः) हम अमर बन जायें।

आत्मा के उत्थान में हमारा उत्थान है, आत्मा के अधःपतन में हमारा पतन! आत्मा की आवाज़ को दबा देना हमारे लिए मृत्यु है, आत्मा की श्रुति[1] में आत्मा के अभ्युत्थान में हमारी अमरता है—क्योंकि आत्मा ही तो एकमात्र अमरण-धर्मा 'अक्षर' है। उद्यानं ते पुरुष नाऽवयानम्।

८. गायत्री

भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

देवलोक

(भूः, भुवः, स्वः) ब्रह्माण्ड में सत्वमयी-रजोमयी-तमोमयी प्रकृति का निसर्ग है, और पिण्ड में अन्नमय-प्राणमय-मनोमय प्रकृति का। किन्तु (देवस्य सवितुः वरेण्यं भर्गः) सूर्य तथा आत्मा का स्वतः पर्याप्त दैवी प्रकाश (तत्) प्रकृति के इन त्रिविध बन्धनों से निर्मुक्त कोई परतर वस्तु है। सावित्री दोनों-ही का प्रतीक है—और दैवी जीवन की स्रोतस्विता से भरपूर है। (धीमहि[2]) ध्यान, धारणा तथा अर्पण की त्रिविध अर्चना द्वारा हम सावित्री के (तत्) उस अन्तर्धान की, अन्तर्ज्योति की शान्तिमयता को आत्मसात् करें (यः) जिससे कि वह हमारी बाह्याऽन्तर सूत्र-वृत्ति [प्रवृत्ति] बन कर (नः धियः[2]) हमारी यज्ञिय भावनाओं को—हमारी देवपूजा, संगतीकरण, दान वृत्तियों को (प्रचोदयात्) सतत जागरूक रखे, सदा-सक्रिय रखे।

जागृति, उदय, प्रगति, उन्नति चाहने वाले के लिए एक ही मार्ग है—आत्मानुदीपन।

रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।

स्वयंवर के लिए उत्सुक कन्या के हृदय में भेद भावना को अवकाश कैसे मिल सकता है? कहां मिल सकता है?—वह मां बनने चली है, जगदम्बा बनने चली है—

वह उर विशाल, यह व्योम तंग!

i अभेद-भाव की इस प्रथम स्वानुभूति को ही वेदों में 'सावित्री' कहा गया है। वेद में सावित्री का ऋषि विश्वामित्र है—

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मैवाऽभूद् विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनु पश्यतः ॥

ii. 'पौरुषेय' आख्यानों में सावित्री की सात व्याहृतियां 'पृश्नि' तथा 'सावित्री की सात पुत्रियां हैं। अर्थात्—these are the seven colours composing the white ray of the sun (सविता), so shewn after diffracton oiradion (व्याहृति) through a prison (पृश्नि)।

iii. 'पुराण तथा इतिहास' में सावित्री 'सत्यवान्' की सहधर्मिणी है—जो उसे ब्रह्मचर्य-व्रत के मिथ्या व्यामोह से, यम बन्धन से, मानो मौत के मुख से मुक्त करा कर अमृत कर देती है। It is the truth-seeker's inspiration that ferst maketh immortal of mortal man!

---

१ उद्यानं ते जातमन्धसो दिविसद् भूम्या ददे। उग्रं शर्म महि श्रवः ॥

२ धीमहि, धियः ∠ √ ध्या, ध्याने : √ धा, धारणे : अधि √ इ, अध्यर्पणे। cf. √ यज्, देवपूजासंगतिकरण-दानेषु। ३. परं = तत् सावित्रीम् ⚘…… [⚘ वरेण्यं = स्वयंवर के लिए उत्सुक]

तीनों दृष्टियों का अधिगम एक ही है—अन्तः समता, जिज्ञासु वृत्ति द्वारा प्रश्न की समाधि, बिखरी बहिर्मुखी वृत्तियों का समाहार द्वारा अन्तर्मुखीकरण। प्रश्न तथा प्रिज़न (prison) क्रमशः अध्यात्म तथा भौतिकी में 'ऊहापोह' के प्रतीक हैं : सत्य का 'दर्शन' इसी विश्लेषण द्वारा ही तो साध्य होता है—

व्यूहरश्मीन् समूह······
सत्यधर्माय दृष्टये ॥

अपने इस बिखरे हुए रश्मि-जाल को, माया-जाल को मेरे सामने से समेट लो—

मृत्योर्मा अमृतं गमय ॥

९. नमस्कार

नमः शंभवाय च मयोभवाय च ।
नमः शंकराय च मयस्कराय च ।
नमः शिवाय च शिवतराय च ॥

सावित्री के (शंभवाय शंकराय नमः) अन्न-तमोमय प्राकृतिक अमरता के स्रोत तथा प्रदाता स्वरूप को हमारा प्रणाम ! (मयः-भवाय मयः-कराय नमः) प्राण-रजोमय प्राकृतिक अमरता के स्रोत तथा प्रदाता स्वरूप को हमारा प्रणाम ! (शिवाय नमः), सत्त्व-मनोमय प्राकृतिक अमरता के स्रोत तथा प्रदाता स्वरूप को हमारा प्रणाम ! (शिवतराय नमः) और इस त्रिगुणात्मिका प्रकृति से परतर 'अतिमानस' अमरता के स्रोत तथा प्रदाता को हमारा प्रणाम !

शं, मयः, शिव, शिवतर क्रमशः सावित्री के चतुष्पाद् हैं। शमद्रिः, आपो हि ष्ठा मयोभुवः, तन्मे मनः शिव-संकल्पमस्तु, शिवतरं पुनरतिमानसम् ।

दिव्यता अपि वा सावित्री-दर्शन की प्रथम अनुभूति हमने 'शंनो देवी रापो' में 'दूरात्' की थी। और 'आपः' को ही—'मयोभुव आपः'—हमारा आत्मार्पण हो रहा है। सन्ध्या में यह 'आदिरन्त्येन सहेता' संगति ही भक्त तथा भक्ति की सूत्रान्तरात्मा है।

वेदों में सावित्री के पुत्रों को 'अमृतस्य पुत्राः', 'त्रित आप्त्य', 'अपां-नपात्', 'अदिति-सुत' कितने ही नामों से सम्बोधित किया गया है। यह प्रत्यक्ष ही प्रकृति के पुत्र किन्तु प्रकृति से निरासक्त—'और' परतर पुरुष का ही तो 'अर्थान्तर-न्यास' मात्र है।

परन्तु आप्त्य से आप्त बनने का, बोधिसत्त्व से बुद्ध बनने का, मनुज से ('अतिमानस') देव बनने का एक ही मार्ग है—सावित्री के चरणों में चतुर्मुख 'प्रकृत्या पुरुषेण च', आत्मार्पण। सावित्री 'ब्रह्मा' की पुत्री भी है, 'ब्राह्मणों' की माता भी—क्योंकि पूर्णता प्रकृति-पुरुष के चतुर्विध एकीभाव में निहित है। पूर्णता की इसी निर्देशिका को आत्मसात् करने के लिए 'ब्रह्मयज्ञ' को नित्य-नैमित्तिक कर्मों में समाविष्ट किया गया है। 'आत्मानं विद्धि' का, स्वानुभूति का एक ही रूप है—'सावित्री' का साक्षात्कार : **स्वाध्याय = आत्मचिन्तन + आत्मसमर्पण।** यज्ञ वृत्ति का अर्थ है 'यज्ञशेष' पर खुद का गुज़र करना—**इदं न मम,** क्योंकि आहुतियों का आधान तो हम सावित्री के 'वैवस्वत' ज्वालामय मुख में ही करते हैं॥

फैली हुई उदार दिशाएं
हैं मेरी अम्मी की बांहें !

'वैदिक विनय'

(iV)

विनय-दृष्टि

'वैदिक विनय' ऋषि दयानन्द द्वारा सम्पादित 'दैनिक सन्ध्या' का राष्ट्रभाषा में काव्यान्तर है।

वैसे तो प्रस्तुत 'विनय' सर्वसाधारण के लिए ही लिखी गई है—विशेषतः वैदिक संस्कृत, वैदिक संस्कृति तथा वैदिक परम्पराओं से अनभिज्ञ जन-साधारण को दृष्टि में रखते हुए, कि मूल के अभाव में भी प्रार्थना-उपासना में (उपासक की) वैयक्तिक बुद्धि एवं भावना का सहयोग संभव हो सके; परन्तु आशा है, विद्वज्जन को भी इससे कुछ-न-कुछ आलोक मिलेगा।

'वैदिक सन्ध्या' का उपास्य देव कौन है !—[illegible] ही इष्ट से प्रार्थनादिक का एक-[illegible]

सरलता का, यदि भक्ति की निरर्थकता अथवा बुद्धि-निरपेक्षता का नहीं, द्योतक है। प्रस्तूयमान स्वानुभूति-प्रमाणित 'दृष्टिकोण' में वैदिक उपासना की उपास्य देवी 'सावित्री' है; और 'शब्दसाक्षी' भी इसी आशय की समर्थक है। ऋषि की 'नवधा भक्ति' को काव्य की भाषा में इस प्रकार संगत किया जा सकता है:—

आधिभौतिक क्षेत्र

आचमन	दिव्यता की अनुभूति
इन्द्रियस्पर्श	दिव्यता का स्पर्श
मार्जन	दिव्यता का अवतरण
प्राणायाम	दैवी भाव
अघमर्षण	'दैवी सृष्टि' का चक्र

आधिदैविक क्षेत्र

मनसा परिक्रमा	देव लोक के पथ पर

आध्यात्मिक क्षेत्र

उपस्थान	देवलोक की छाया में
गायत्री	देवलोक
नमस्कार	देवात्मा

क्या वैदिक स्तुति-प्रार्थना-उपासना में मूर्त्तिपूजा[1] तथा अवतार-भाव वर्जित है। 'वेदाभ्यास जड़-पुराण पुरुषों; की बात छोड़ दीजिये; 'मार्जन, प्राणायाम' में साक्षात् सावित्री का 'मूर्त' दर्शन एवं 'अवतरण' स्पष्ट है। ऋषि की आर्ष कला, रसिकता एवं कवित्व बुद्धि को हृद्गत करने के लिए यही एक स्थल पर्याप्त है। साहित्यदर्पणकारों ने जिसप्रकार कविता कामिनी के दर्शन किये थे, उसी प्रकार आदित्य ब्रह्मचारी ने सावित्री-कामिनी के अवतरण को स्वयमनुभूतिगत किया था—पुनातु शिरसि! किन्तु व्याख्याकार 'सन्ध्यावन्दन' में आज तक भटकते ही चले आये हैं—फकत एक शब्द की वैदिक विभावना को सही-सही न समझ सकने के कारण। वेद में 'पवित्र' का अर्थ है 'छलनी' और पुनातु ('शिरसि' आदि में सप्तमी विभक्ति का निर्देश स्पष्ट है') = रोम-कूपों में से छनती हुई देवपुरी में अवतरित हो।

...'प्राणायाम' में तो सचमुच भक्त का यह (पार्थिव) अर्चामन्दिर देव-पुरी बन चुका है, जिसके प्रसंग में 'पुनातु शिरसि' आदि विधेय अब व्यर्थ है!

वैदिक भक्ति का यह 'दैवीकरण' सूत्र हाथ में आते ही अब, न मनसा-परिक्रमा दुर्बोध रह जाती है, न सावित्री के 'तुरीय पाद' की समाधि।

ऋषि-दर्शन की छाया में एवं-परिमार्जित यह रूपान्तर अर्पित किया जा रहा है। जिन्हें भाषा अथवा भाव-गत कुछ भी सन्देह शिष्ट हो, उन्हें वाचो-युक्ति-अर्थ **'स्वानुभूति' 'दृष्टिकोण'**, 'शब्दसाक्षी' के प्रकरणों में उल्लिखित समाधान-संकेत पर्याप्त होने चाहिएँ।

अन्यथा, वस्तुतस्तम्—'वैदिक सन्ध्या' ऋषि दयानन्द की कृति के रूप में, भक्तिप्राण अनुसन्धित्सुओं के लिए एक गम्भीर-सरस 'अनुसंधान एवं साधना' पद है। परन्तु अनुसन्धान की संभाव्य उपलब्धियों से प्रस्तुत प्रथम-दृष्टियां व धारणायें अयुक्त सिद्ध नहीं हो सकतीं, प्रत्युत वे और भी संपुष्ट-समर्थित ही होंगी, क्योंकि हमारी प्रस्तावना में साधन—'विनय' को अपेक्षित ऋषि-दृष्टि तथा स्वानुभूति के अतिरिक्त अन्य सब वर्ज्य, त्याज्य रहे हैं।

संक्षेप में—**'सन्ध्या'** के प्रत्येक मन्त्र का दृष्टिकोण मूलवेद में कुछ (प्रसक्त) रहा हो, 'वन्दना' में वह सम्ध्या की अनुमोदना का, अन्वर्थता का ही (हो सकता) है—अर्थात् पृथ्वी तथा द्युलोक की सन्धि-वृत्ति, क्षितिज-अनुभूति पार्थिक तत्त्वों के दैवीभाव द्वारा (दिन और रात की भांति) आत्मा-परमात्मा की संयम-भूमिका है यह सन्ध्या तथा सन्ध्या-वेला!

'सावित्री' सन्ध्या की उपास्य देवी है; सो, 'सावित्री' तथा 'नमस्कार मन्त्र' शायद सन्ध्या की साधना के मौलिक भाग नहीं हैं। 'उपस्थान' तक 'सावित्री' की सप्तपदी सिद्ध हुई है। वह मनसा-परिक्रमा की 'प्रदक्षिणा' के अनन्तर 'वामा' बनी है। 'गायत्री' में वह सत्यवान् सावित्री के 'वरेण्यं भर्गः' से अन्तर्वर्ती है' 'नमस्कार' में वह शान्त है—'सद्यो-

[1] यहां मूर्तिपूजा और अवतार भावना से लेखक का अभिप्राय पौराणिक मूर्तिपूजा का अवतारवाद नहीं; तथा प्रकृत में प्रचलित मध्यमकालीन काव्य भावना के अनुसार यह प्रकृत लेख है। वेदकाव्य की दृष्टि इससे कहीं ऊपर है।
—सम्पादक वेदवाणी॥

...भूता कन्यका' गृहस्थ के नये सुख-स्वप्नों में विभोर-सी आत्म-विस्मृत-सी !

किन्तु इस संपूर्ण स्वानुभव की पृष्ठभूमि एवं पुरोभूमि है 'उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्' का वातावरण।...

सञ्जीवनी

गिरिशिख—छाया-प्रद, उदात्त बल।
निर्झरिणी—रसमय, प्रवाह कल॥
गुहा—शान्त, निर्मल अन्तस्तल।
नभ-श्री—श्यामल, व्याप्त स्वप्न-मल॥

—नहीं धरा; अतिपार्थिव-सा यह कोई लोक नया है।
धुँधियाली में ज्योतिर्मय, सखि, उदयोन्मुख रवि-दीप नया है॥

किसी दैव-से नवल स्पन्द से
मेरी निष्क्रियता में हास:—
सान्ध्य क्षितिज-रेखा पर उगती
पूर्वाशा में पुष्पित हास!!

सोम

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम् धिया विप्रो अजायत॥

आधिभौतिक क्षेत्र

१. दिव्यता की अनुभूति

दैवी सञ्जीवनी से उद्वल, रसमय, स्वर्मय[3] बहती धारो।
दिव्य अंश निज तनिक मुझे भी बहिरन्तस् में देती जाओ।
दैव-स्वप्न में मेरे भर दो निज स्पन्दन, आवेश—
पार्थिवतत्त्वों में मम नूतन, दैवी द्युति-कण करें प्रवेश॥

आचमन

शं नो देवीरभिष्टये आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभि स्रवन्तु नः॥

२. दिव्यता का स्पर्श

रसना में मम 'शब्द-ब्रह्म' का हो अभिय आधान।
प्राणों में अनुप्राणित कर दो नव जीवन, नव प्राण॥
अन्तर्मुख, मुकुलित नेत्रों को प्रकटें दिव्यलोक, आलोक।
कर्ण-कुहर में संश्रय पावे दिव्य, अनाहत गीत अशोक॥

नाभि केन्द्र हो, हृदय भावना-भूमि, कण्ठ संगीत यंत्र हो,
और शिराएँ स्पन्दन, माध्यम,
संक्रम-सरणी, प्रक्रम, विक्रम'''
नव-सञ्जीवित, नव-प्राणित, नव स्फूर्ति-विभव का। क्रिया-तंत्र हो
भुज-बल में, अंगुलि में, कर में
(कर्म-क्षेत्र में ब्राह्मधर्म-सम)॥

इन्द्रिय-स्पर्श

वाक् वाक्। प्राणः प्राणः। चक्षुः चक्षुः। श्रोत्रं श्रोत्रम्।
नाभिः। हृदयम्। कण्ठः। शिरः।
बाहुभ्यां यशो बलं करतलकरपृष्ठे॥

३. दिव्यता का अवतरण

ऐ सञ्जीवनि की प्रतीक,
सावित्रि! आज 'अन्तर्मय' होवो।

मिट्टी की इस क्षुद्र देह में उतर, देवि क्षण पार्थिव हो लो।
अंग अंग में व्याप्त हो, प्रिये, मेरे पाप-मलीमस धो दो॥
नतशिर हो तव चरणों में मैं, देवि, तुम्हारी सत्ता जानूँ।
तेरी दैवी द्युति को भरभर, धन्य नयन ये पार्थिव मानूँ।
तव शब्दों में शब्दार्पित 'पा', निज नीरव अनुभव पहचानूँ॥
निरन्तता तव सीमित कर लूँ लघु हिय के इक लघु स्पन्दन में।
नित नूतन सर्जन, उद्भव हो, गर्भित मेरे अन्तस्तल में।
मातृचरण-रज की पावनि से भर दूँ 'पावक'-रस कणकण में॥
अमल किरण मय सत्-अनुभव के नवल पुञ्ज में बुद्धि जगे मम—
विस्तृत जगती की झिलमिल में, बन्धन-भव में अविचल निर्मम!

मुक्त व्योम को भर लूँ अपने
अणु से अणुतर हृदय-व्योम में!!

मार्जन

भूः पुनातु शिरसि। भुवः पुनातु नेत्रयोः।
स्वः पुनातु कण्ठे। महः पुनातु हृदये।
जनः पुनातु नाभ्याम्। तपः पुनातु पादयोः।
सत्यं पुनातु पुनः शिरसि। खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र।

१, २ किन्तु (निशामुख में) 'निमेष' के अनुरूप काव्यान्तर होगा—
ज्योतिर्मय में धूमिल पड़ता अस्तोन्मुख-रवि-दीप नया है (२)। सान्ध्य क्षितिज-रेखा पर बुझती निमिष-निशा [illegible]मलि तथा (२)॥
३. स्वरमय, ज्योतिर्मय

४. दैवीभाव

अंग अंग, कण कण को कर लो,
देवि, तुम्हीं मम अन्तर्व्याप्त !
अमृत-संजीवनि की प्रतीक, हे
देवि, आज अर्चा में आत...!!
धन्य-धन्य सावित्रि-कामिनी...सतरश्मिमय-विभव-भामिनी !

प्राणायाम

भूः । भुवः । स्वः । महः । जनः । तपः । सत्यम् ।।

५. 'दैवी सृष्टि' का चक्र

अहो ! क्षुद्र मिट्टी के तन में
आज देव उतरे, सखि, 'मन्मय'—
नवल सर्ग है, नवल उषा है, नवल स्वप्न ज्यों होते सक्रिय !
नव रति, नव स्थिति के नव द्वन्द्वों ने पृथ्वी को किया देव-प्रिय !!
नवल व्योम है, नवल काल है—नवल दिवस, नव याम ।
नवल उदधि-माला में सीमित नवल जगत्, जगती (स्वर्धाम)।।
मुझमें आन समाये पृथ्वी, अन्तरिक्ष, दिव् लोक ।—
सोपानों का अद्भुत तांता किस अदृश्य को अभिमुख, ओत !
आत्मोदय-लीला सी तन में
देवों की, सखि, मम कण-कण में
नक्षत्रों का तन्त्र—नृत्यमय,
अहो ! क्षुद्र मिट्टी के तन में !!

अघमर्षण

ऋतं च सत्यं चाऽभीद्धात् तपसो अध्यजायत ।
ततो रात्री अजायत ततः समुद्रो अर्णवः ।।
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधत् विश्वस्य मिषतो वशी ।।
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं च अन्तरिक्षमथो स्वः ।।

आधिदैविक क्षेत्र

६. देवलोक के पथ पर

(i)

नवजीवन-यात्रा के दीप,
अन्तर्द्युति मय यात्रा-दीप !
तुम ही, प्रिय, पथ-दर्शक मेरे; तमोजाल, प्रिय, मुझको घेरे ।
मेरे गिरते कदमों को, प्रिय, तुम्हीं थामना; बने हमेशे
मुझको पग पग पर टोकें, प्रिय !
मुझे ले चलो तुम, अतो, प्रिय !!

मनसा-परिक्रमा

प्राची दिक् । अग्निरधिपतिः । असितो रक्षिता । आदित्या इषवः ।।

(ii)

तुम ही तो मेरे अन्तर्बल,
तुम, प्रभु, मुझ निर्बल के संबल ।
अपना बल, अनुभव, संबल दो, प्रभु ! बन दक्षिण हस्त—
जग के वञ्चक, कुटिल, प्रलोभक मार्गों से मैं बचूं; प्रशस्त
पुरखाओं के दर्शित पथ पर
बढ़ूं निरन्तर—अग्र, अग्रतर !!

दक्षिणा दिक् । इन्द्रो ऽधिपतिः । तिरश्चिराजिः । पितर इषवः ।।

(iii)

हाय ! पूर्वजों का स्वर्णिम युग,
जन अबोध का भ्रामक वह युग
मुझे विवश, आकर्षित करता, युग 'अतीत' में निगडित करता !
देव, मुझे, बस, 'वर्तमान' के जीवन-रण में उलझाओ, हां !
ओझल कर दो, ढक, अतीत को—
मेरी आंखों से ओझल, हां !!

प्रतीची दिक् । वरुणो ऽधिपतिः । पृदाकू रक्षिता । अन्नमिषवः ।।

(iv)

वर्तमान ही में उन्नति-पथ
मेरा, अनुभव-प्राप्त परम 'तत्' !
शान्त, दीप-ज्वाला सम विनयी, बढ़ूं, अनुद्धत, प्रगति-मार्ग पर।
अहंकार पर टूटे बिजली, मेटे मुझको धूलिसात् कर ।।
विनय-भाव ही मुझे परम है—
'एक विनय में लाख विजय है' ।।

उदीची दिक् । सोमो ऽधिपतिः । स्वजो रक्षिता । अशनिरिषवः ।।

(v)

अहंकार के तमोभार में
धूलिसात् मैं दबा...मृत्युमय...

बीज शक्ति (वामन) सम निकलूँ, कंकड़-पत्थर में से निकलूँ—
उठ-उठ, गिर-गिर ऊपर आऊं: सूर्योन्मुख क्षण-क्षण में उभरूं...

अमृत-कण से अ-मृत, विष्णु बन,
विषम-विरोधों में उठ जय-मय !!

ध्रुवा दिक्। विष्णुरधिपतिः। कल्माषग्रीवो रक्षिता। वीरुध इषवः ॥

(vi)

मुझे ज्योति की इक कणिका ही
परम आप्ति है—एक बूंद ही...!

जल-थल, नभ में व्याप्त, नभस्थल ज्योति स्रोत क्या सख तुम्हारा ?
—हम पार्थिव जन के दो नैनों को दीपक-कण एक तुम्हारा

परमाश्रय है, मृदुल सौम्य वह—
सह्य, प्रसादित, हे ज्योतिर्मय !!

ऊर्ध्वा दिक्। बृहस्पतिरधिपतिः। श्वित्रो रक्षिता। वर्षमिषवः ॥

❀ (i–vi) ❀

निर्दिक् में, बीहड़...विघ्नों में
मुझ निराश्रय का कौन सहारा ?

मुझ में यात्री-बल कितना था ? मुझे पराजय-जय आशंका..!!
निर्बल के बल, राम ! तुम्हारी जय हो, जय हो, जय हो, जय..जय!!

निष्फलता से, हीन भाव से
मुझको, मेरे राम, उबारो !
फल, निष्फलता, मेरा आपा—
सब कुछ ही, प्रभु, हुआ तुम्हारा।

असत्, तमस् से और मृत्यु से सत्य, ज्योति, अमृत की राह—
अग्नि, असित, आदित्य रूप से ज्ञान, ज्योति, अमृत की राह

मुझको दिखला दो, हे देव !
हे सवित्रि रूप, मम देव !!

तेभ्यो नमो ऽधिपतिभ्यो—नमो रक्षितृभ्यो, नम इषुभ्यो, नम एभ्यो ऽस्तु। यो ऽस्मान् द्वेष्टि, यं च वयं द्विष्मः—तं वो जम्भे दध्मः ॥

आध्यात्मिक क्षेत्र

७. देवलोक की छाया में

(i)

सावित्री के गृह को अभिमुख,
तमो जलधि में से ऊपर उठ, 'परम' लक्ष्य में लीन एकटक—
पृथ्वी से उठ अन्तरिक्ष में, सूर्य लोक में आ पहुँचे हम :

पार्थिव नयनों को ज्यों रवि-द्युति,
अन्तर्मुख को त्यों अन्तर्द्युति
सावित्री का साक्षात्कार !

उपस्थान

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥

(ii)

किरण-किरण के मृदुल हाथ पर सूर्योदय का सुन्दर रूप !
इन्द्रिय-इन्द्रिय में प्रतिछायित सावित्री की छटा अनूप !!

आन्तर, बाह्य विश्व-प्रांगण में
सूर्य-द्युती की आभा द्युतिमय !!

सखि ! अन्तर्जग, बाह्य विश्व में सावित्री का अर्चा-मन्दिर—
क्षुद्र व्योम बंधता जाता है मां की विस्तृत छाती में घिर !

जागृति', ऊषाओं की झिलमिल !!

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥

(iii)

जल, थल, अन्तरिक्ष में व्यापक सञ्जीवनि का परमस्रोत, सखि !
एक परम द्युति-पुञ्ज सा बना, उठ आया क्या वह संमुख, सखि ?

कण कण में वह द्युति को वितरे,
स्वतः पूर्ण, अग-जग में बिखरे !!

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥

(iv)

दैवी द्युति की, देव दृष्टि की, दैवी जीवन...दैवी श्रुति की
शब्द-ब्रह्म की, दैव विभव की, अक्षय-अमृत दैवी कृति की

एकोद्भव वह ज्योति अनूप—
एकान्वय, सावित्रि...अ-रूप !

वही परम-पद का आधार, जग का इक उद्भव-लयसार !!

तत् चक्षुः शुक्रमुच्चरत् !

पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्।
शृणुयाम शरदः शतम्। प्रब्रवाम शरदः शतम्।
अदीनाः स्याम शरदः शतम्। भूयश्च शरदः शतात्॥

८. देवलोक

सत्व[1]-रजस्[2]-तममयी प्रकृति
से पर-तर 'एकं तत्[4]'
स्वान्तर्भूत सावित्रि-देव
के हे मती द्युतिमत्—
देव! तुम्हारी शान्तज्योति-मय
रूप-माधुरी से विमुग्ध
हम ध्यान[1], धारणा[2] अर्पण[3] की
प्रीय त्रिविध अर्चना से विबुद्ध,
जग दैवी लीला में, नव-प्रेरित हो,
भागी हों सत्[1]-चित्[2]-आनन्द[3]
मय (कन्या[1]-गर्भित[2]-जननी[3]
सम)-त्रि-वृत प्राकृतिक स्पन्द!
ज्योति दो हमें, हे प्रभु! आप्त[4]!—
हम आप्त्यों को कर दो आप्त[4]!!

गायत्री

भूर्[1] भुवः[2] स्वः[3]

तत्[4]—सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि,[1-3]
धियो[1-3]यो नः प्रचोदयात्॥

साधना-पथ का पथिक आखिर सिद्धि-शिखर पर पहुँच ही जाता है, साधक 'सिद्ध' बन ही जाता है—बोधिसत्व 'बुद्ध' बन ही जाता है।

'साधना-पथ' लौकिक त्रिगुणात्मिका—साधना की त्रिवेणी है। गाथाओं-पुराणों में इसे पार्वती-शिव का रूपक दिया गया है, तो दर्शनों में प्रकृति-पुरुष का। प्रकृति के बन्धनों से विमुक्ति सिद्धि का 'पद' ही तो गायत्री का 'तुरीय, पद है: पहले जो 'त्रि-त आप्त्य' था, अब वही 'अ-त्रि आप्त' है: निस्त्रैगुण्य = निर्द्वन्द्व = निर्बाध = निर्वेद आकुल आत्मा को, खैर से, शान्ति मिली है।

वेदों में सत्व-रजस्-तमस् की त्रिगुणात्म वृत्ति का प्रतिरूप है इडा-सरस्वती-मही और साधना के लिए शब्द हैं धीः-धीमहि—१. √ध्या, ध्याने; २. √धा, धारणे; ३. अधि-√इ, अध्ययने: एकही धातु के अन्तर्गत— √यज, देवपूजा-संगतिकरण-दानेषु।

९. देवतात्मा

पार्थिव[1] कण[2] में बद्ध प्रभो, सावित्रि[3] रूप हे तुम्हें प्रणाम!
पार्थिव जीवन[4] में संचारी, पयस्वला मां, तुम्हें प्रणाम!
पार्थिव संकल्पों[5] में कल्पित, शुद्ध-बोध हे, तुम्हें प्रणाम!
अतिपार्थिव[6] अमृत-रस- स्नेही आत्मानन्द हे, तुम्हें प्रणाम!

नमस्कार

नमः शंभवाय च मयोभवाय च।
नमः शंकराय च मयस्कराय च।
नमः शिवाय च शिवतराय च॥

[लेखक महोदय ने सन्ध्या के मन्त्रों पर अपने विचारानुसार प्रकाश डाला है। कई महानुभाव इससे सहमत न होंगे। परन्तु सब प्रकार के पाठकों के रुचि भेद के होते हुये भी बहुत सी उत्तम भावनायें इससे प्राप्त की जा सकती हैं—
सम्पादक वेदवाणी]

१ प्राकृत = सत्व रजस्तमोमय २ शम् (अद्रिः) ३ रश्मिः ८ सवितुः सुता ४ आपो हि ष्ठा मयोभुवः ५ तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु, ४०, ६ अति-मानस ८ शिव-वर

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट का नवीनतम उपयोगी प्रकाशन

वैदिक ईश्वर-उपासना

या

उपासना-योग

इस लघु पुस्तिका में ईश्वरोपासना की वैदिक विधि बतायी गयी है, जिसको वर्त्तमान युगनिर्माता परमयोगी महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने महामुनि पतञ्जलि के योगदर्शन तथा अपने अनुभव के आधार पर ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में उपासना-योग प्रकरण में लिखा है। एक साधारण व्यक्ति के लिखने तथा एक योगी के अपने अनुभव के आधार पर लिखने में बहुत भारी अन्तर होता है। एक श्रवण तक पहुँचा है, दूसरा श्रवण-मनन-निदिध्यासन और साक्षात्कार कर चुका है। दोनों में आकाश पाताल का भेद है! बस इस लघु पुस्तिका की यही विशेषता है। उपासना-योग में चलने वाले, ईश्वरोपासनाविधि के जानने के इच्छुकों के लिए निश्चय ही यह पुस्तक परमोपयोगी है।

इसका प्रथम संस्करण २००० छपा था, जो कि तीन मास में हाथों हाथ बिक गया।
अब इसका पहले से भी सुन्दर, संशोधित तथा परिवर्धित संस्करण प्रकाशित हुआ है॥

पुस्तक की विशेषतायें—

※ सुन्दर, नया टाइप, आकर्षक दुरंगी छपाई ※ बढ़िया ह्वाइट प्रिण्ट २८ पौण्ड का कागज
※ आर्ट पेपर पर दुरंगा तथा सुन्दर कवर ※ मुख पृष्ठ पर ऋषि दयानन्द का भव्य चित्र

मूल्य एक प्रति ≈) सैकड़ा १५)

प्रचारार्थ ग्राहकों को कमीशन काटकर १ प्रति ≈)॥ तथा सैकड़ा १२॥) में दी जायेगी।

ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन

इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, जिसमें ५०० पत्र और विज्ञापनों का संग्रह था, का प्रथम संस्करण रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा सन् १९४६ के अन्त में लाहौर से प्रकाशित हुआ था, जिसकी ८०० प्रतियाँ देशविभाजनकाल (१३ अगस्त १९४७) में जला दी गईं। अब पुनः बड़े प्रयत्न और महान् व्यय से इसका परिवर्धित तथा परिशोधित संस्करण तैयार किया गया है। इस बार इसमें लगभग २४४ पत्र विज्ञापन तथा पत्र पारसल सूचनाएं बढ़ी हैं। कई आवश्यक परिशिष्ट भी नये जोड़े गये हैं। इसलिये यह संस्करण उनके लिये भी अत्यन्त ग्रहीतव्य बना है, जिनके पास प्रथम संस्करण विद्यमान है।

ग्रन्थ २८ पौण्ड के बढ़िया कागज तथा $\frac{२० \times ३०}{८}$ बड़े साईज में लगभग ६०० पृष्ठों में छपा है।

नया टाईप व उत्तम छपाई मूल्य ७), वेदवाणी के ग्राहकों के लिये मूल्य ६)

मिलने का पता—**रामलाल कपूर एण्ड सन्स पेपर मर्चेण्ट**

गुरु बाजार, अमृतसर। नई सड़क, देहली। बिरहाना रोड, कानपुर।

वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस ६।

श्रीरामलाल कपूर ट्रस्ट का सस्ता और सुन्दर प्रकाशन

आर्य जगत् को यह जानकर महती प्रसन्नता होगी कि रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर ने अपना प्रकाशन कार्य कुछ वर्षों से पुनः पूर्ववत् भले प्रकार प्रारम्भ कर दिया है। निम्न पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं:—

१—**सन्ध्योपासनविधि**—ऋषि दयानन्दकृत भावार्थ, दैनिक हवन और भजनों के सहित। यह अब तक ३०५००० तीन लाख पाँच हजार छप चुकी है। घटाया हुआ मूल्य –)।

२—**व्यवहारभानु**—ऋषि दयानन्दकृत। बालकों को व्यवहार की उचित शिक्षा देनेवाला अपूर्व ग्रन्थ। यह ग्रन्थ प्रत्येक आर्य बालक-बालिकाओं के विद्यालयों में पाठ्य पुस्तक रखने योग्य है। मू० =)॥

३—**ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्मचरित्र**—ऋषि दयानन्द ने अमेरिका निवासी आल्काट महोदय की प्रेरणा से अपना कुछ वृत्तान्त लिखकर उन्हें भेजा था, जिसका अंग्रेजी अनुवाद उन्होंने थियोसोफिकल नामक अपने पत्र में छापा था। आर्यसमाज के उद्भट विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्तजी ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। ऋषि दयानन्द के प्रसिद्धि में आने से पूर्व की घटनाओं का यही एकमात्र प्रामाणिक लेख है। मूल्य ।=)

४—**हवन-मन्त्र**—प्रार्थना, स्वस्तिवाचन, शान्तिप्रकरण, बृहद् हवन और भजनों से युक्त। मू०–)

५—**आर्याभिविनय**—ऋषि दयानन्दकृत (प्रथम और द्वितीय संस्करण से मिलाकर अत्यन्त शुद्ध और सुन्दर छापा गया है। संदिग्ध स्थलों पर टिप्पणियाँ दी गई हैं)। मूल्य ।=)

६—**आर्योद्देश्यरत्नमाला**—ऋषि दयानन्दकृत। शुद्ध, सुन्दर तथा सटिप्पण संस्करण मूल्य –)

७—**पञ्चमहायज्ञविधि**—ऋषि दयानन्दकृत। " " " " " मूल्य ≡)

८—**उरुज्योति अर्थात् वैदिक अध्यात्म-सुधा**—श्री डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल लिखित। वैदिक अध्यात्म विषयक उच्चकोटि का श्रेष्ठ ग्रन्थ। कागज छपाई श्रेष्ठ और सुन्दर। सजिल्द ३) मात्र

९—**ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास**—लेखक-श्री पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक। ऋषि दयानन्द के सभी मुद्रित और अमुद्रित ग्रन्थों के विषय में पूर्ण जानकारी देनेवाला अपूर्व ग्रन्थ। प्रचारार्थ मूल्य में भारी कमी की गई है। **घटाया हुआ मूल्य** बढ़िया सं० सजिल्द ४), साधारण सं० अजिल्द ३) मात्र

१०—**अष्टाध्यायी मूल** (सूत्रपाठ) अत्यन्त शुद्ध पाठ डाक व्यय =) मूल्य ॥)

११—**ऋग्वेद-भाषाभाष्य-प्रथम भाग** (जो वेदवाणी में क्रमशः छपता रहा) मूल्य २॥)

१२—**विशेषाङ्क**—वेदवाणी के इस वर्ष का विशाल विशेषांक "पाश्चात्य-मत-परीक्षणाङ्क" है। इसमें अनेक उच्चकोटि के गवेषणात्मक वेदविषयक मौलिक लेखों का संग्रह है, जिनमें भारत के उच्चकोटि के विद्वानों द्वारा पाश्चात्य स्कालरों के सिद्धान्तों तथा विचारों की बहुत गवेषणा तथा योग्यतापूर्ण आलोचना की गयी है। मूल्य १)। गत तीन वर्षों के वेदाङ्कों का मूल्य भी घटाकर प्रति अंक १) कर दिया है।

१३—**वेदवाणी की पुरानी फाइलें**—वर्ष २ अङ्क १० मूल्य २॥), वर्ष ३ अङ्क १० मूल्य २॥), वर्ष ४ अङ्क १० मूल्य ३), वर्ष ५ वेदाङ्क सहित ४), वर्ष ६ वेदाङ्क सहित ५)। वर्ष ७ अंक ११ वेदांक सहित ४॥) ७वां अंक नहीं है। थोड़ी प्रतियाँ शेष हैं, शीघ्रता करें।

डाक व्यय सबका पृथक् होगा। बड़ा सूचीपत्र बिना मूल्य मंगवायें।

रामलाल कपूर एण्ड सन्स, पेपर मर्चेण्ट्स.

गुरु बाजार, अमृतसर। नई सड़क, देहली। बिरहाना रोड, कानपुर।

वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस (मोतीझील) बनारस नं० ६।

[पृ० १६ का शेष]

आर्य समाज और ऋषि-भक्त श्री० दीवान रामनाथ जी कश्यप की गहरी भावना का यह परिणाम है। नहीं तो यह पुस्तक नहीं छपती ॥

प्रत्येक आर्य को ऐसी पुस्तक स्वयं पढ़नी चाहिये और कालेज में पढ़ने पढ़ाने वाले छात्रों तथा अध्यापकों तक पहुँचानी चाहिये।

प्राप्ति-स्थान—आर्य साहित्य मण्डल अजमेर, मूल्य २॥)

४—ईशोपनिषद् भाष्य

लेखक श्री० पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति—प्रकाशक गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार। $\frac{20 \times 30}{16}$ पृष्ठ संख्या १५० मूल्य २)

विद्वान् लेखक के भारतीय साहित्य के व्यापक और विवेचनात्मक अध्ययन का यह द्योतक है। उपनिषदों पर अनेकविध टीकायें व्याख्यायें मिलती हैं। इसमें एक नया ही ढंग और प्रकाश पाठक को मिलता है। विवेचनात्मक पढ़ने वालों के लिये यह एक बहुत उपयोगी व्याख्या है ॥

प्रत्येक भारतीय को इसे अवश्य पढ़ना चाहिये ॥

प्राप्ति-स्थान गुरुकुलकांगड़ी हरिद्वार ॥

५—षड् दर्शन-समन्वय

लेखक श्री० स्वामी ओमानन्द जी तीर्थ। $\frac{20 \times 30}{16}$ पृष्ठ संख्या ३०० ।

षड् दर्शन परस्पर में विरुद्ध हैं इस आधुनिक वाद का जो कुछ काल से चल रहा है, इसमें निराकरण किया गया है। विद्वान लेखक ने पातञ्जल योग प्रदीप की भूमिका में यह विषय लिखा था। कुछ विशेष परिवर्धनों के साथ यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। दर्शन के विद्यार्थियों के लिये यह बहुत उपयोगी ग्रन्थ है। इसमें वर्णित सब विचारों के साथ सहमत न होने वालों को भी यह ग्रन्थ विवेचनापूर्वक पढ़ना चाहिये ॥ जिससे दर्शनों में प्रचलित विरोध की उनकी विचारधारा वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर सकें ॥

प्रत्येक पुस्तकालय में यह ग्रन्थ अवश्य रहना चाहिये ॥

प्राप्ति स्थान—आर्य साहित्य मण्डल अजमेर—मूल्य २)

६—भारतवर्ष का सांस्कृतिक इतिहास

लेखक पं० भगवद्दत्त रिसर्चस्कालर पूर्वी पटेल नगर—देहली। $\frac{20 \times 30}{16}$ पृष्ठ संख्या २०० ॥

"यह ग्रन्थ बहुत ही योग्यतापूर्ण-प्रामाणिक इतिहासयुक्त भारतीय संस्कृति के प्रायः सभी अंगों पर बहुत रोचक ढंग से उत्तम प्रभाव डालने वाला है। हम समझते हैं इसमें ऐसे विचारों और भारतीय उत्कृष्ट भावनाओं का समावेश है जो आबालवृद्ध प्रत्येक भारतीय के लिये अनिवार्यतया जानने के विषय हैं। इस एक ग्रन्थ के पढ़ लेने से भारतीयता के सभी अंगों का मौलिक वा आधारभूत ज्ञान पाठक को हो जाता है।

२५४ विषयों का यह एक अपूर्व संग्रह है, जिस पर २५४ अध्याय बन सकते हैं ॥

यह ग्रन्थ हाई स्कूलों वा कालेजों में भारतीय संस्कृति के ज्ञान एवं भारतीय इतिहास के मूलाधार भूत पाठ्यक्रम में रखा जाने योग्य है। इस से भारत के प्रत्येक पुत्र और पुत्री को अपनी प्राचीन परम्परा का शुद्ध ज्ञान और अपनी संस्कृति का गहरा और यथार्थ ज्ञान प्राप्त होगा। यदि एक दो पीढ़ी हम अपने पुत्र पुत्रियों को ऐसे आवश्यक विषयों का ज्ञान अध्ययन काल में ही दे सकेंगे, तब कहीं दो चार पीढ़ी में विदेशी राज्य से हत-बुद्धि भारतीय अपने पूर्वजों के यथार्थ गौरव को समझने में समर्थ होगा। हम विद्वान् लेखक को ऐसे सुन्दर-गम्भीर और आवश्यक विषय पर इतना सरल लिखने पर हार्दिक बधाई देते हैं। और सब प्रान्तों में यह पुस्तक पाठ्यक्रम में रखी जावे इस पर पूर्ण बल देते हैं ॥

प्राप्ति स्थान—अत्तरचन्द कपूर एण्ड सन्स-काश्मीरी गेट—देहली मूल्य)

वेद का पढ़ना पढ़ाना सुनना और सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है ॥

आर्य साहित्य मण्डल लि० अजमेर

की कुछ प्रसिद्ध पुस्तकें

चारों वेद सरल हिन्दी अनुवाद सहित-सम्पूर्ण १४ जिल्दों में, मूल्य ८४)

उत्तम छपाई, बम्बई निर्णय-सागर टाइप, सफेद चिकना कागज, डबल क्राउन १६ पेजी के सुलभ आकार में। इष्ट मित्रों के लिये पवित्र उपहार, पुस्तकालयों और घर की आलमारियों का सुन्दर भूषण, विवाहों और अन्य धार्मिक अवसरों पर देने के लिये आदर्श भेंट, छात्रों के लिये पवित्र पारितोषक और नित्य आत्मिक आनन्द तथा उत्तम स्वाध्याय का अपूर्व साधन।

सामवेद १ जिल्द ६), अथर्ववेद ४ जिल्द २४), यजुर्वेद २ जिल्द १२), ऋग्वेद ७ जिल्द ४२), प्रत्येक जिल्द पूरे कपड़े की बंधी हुई सुनहरी अक्षरों सहित है।

(१) [illegible] जीवन चरित—स्व० श्री बाबू देवेन्द्रनाथ जी मुखोपाध्याय द्वारा संगृहीत वं श्री पं० घासीरामजी एम. ए. एल. एल. बी. मेरठ द्वारा अनूदित। दोनों भाग सजिल्द व अनेकों घटनापूर्ण चित्रों से युक्त। कवर पर महर्षि का तिरङ्गा चित्र आर्ट पेपर पर मूल्य ६) प्रति भाग, दोनों भाग १२)

(२) पातञ्जलयोगप्रदीप—ले० स्वामी ओमानन्द जी तीर्थ। इस ग्रन्थ में योग दर्शन, व्यास भाष्य, भोजवृत्ति और योगवार्तिक का भी भाषानुवाद दिया गया है। योग सम्बन्धी यह अपूर्व पुस्तक है। २०×२६=८ पेजी, पृष्ठ ८००, सजिल्द व सचित्र मूल्य १२) रु.।

(३) सन्मार्गदर्शन—ले० स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज। लेखक की हिन्दी में लिखी हुई यही एक मात्र पुस्तक है, शेष सभी पुस्तकें उनके व्याख्यानों तथा उपदेशों के संग्रह मात्र हैं। बुक साइज ६०० पृष्ठ सजिल्द मूल्य केवल ४) रु.।

(४) वेदांग-प्रकाश के शुद्ध संस्करण—संधिविषय ।।।), आख्यातिक ४), धातुपाठ ।≈), वर्णोच्चारण-शिक्षा ≈)।।, नामिक ।।≈), सौवर ।), पारिभाषिक ।।≈), गणपाठ आदि अन्य भाग भी छप रहे हैं।

(५) महाभारत-शिक्षा-सुधा—ले० स्वामी ब्रह्ममुनि जी। महाभारत की उत्तमोत्तम शिक्षाओं का विशद एवं मार्मिक विवेचन तथा आर्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन। सुन्दर तथा रंगीन गेट अप मू० १।।)

(६) जीवन की नींव—ले० सम्पूर्णनाथ 'हूक्कू' सेवक। तप तथा त्याग का जीवन बनाने के साधनों से युक्त। मू० २)

(७) सत्संगयज्ञविधि—ले० धर्मेन्द्र शिवहरे—सत्संग में यज्ञ करने में पूर्ण रूप से सहायक। प्रत्येक विधि क्रम से दी गई है और मंत्रों का सरल हिन्दी में अनुवाद दिया गया है। प्रचारार्थ मू० ।-)

(८) दयानन्द वाणी—ले० रमेश चन्द्र शास्त्री, भूमिका लेखक पूज्य स्वामी ध्रुवानन्दजी महाराज। इस पुस्तक में लेखक ने महर्षि के वचनों व उपदेशों को उत्तमोत्तम ढंग से संगृहीत किया है। टाइप बड़ा कवर दो रंगों का, पृष्ठ संख्या २४० मूल्य केवल १।।)

(९) सरल सामान्यज्ञान भाग १ से ४—ले० डा० सूर्यदेव जी शर्मा, एम० ए० साहित्यालङ्कार। सामान्य ज्ञान-सम्बन्धी सभी विषय सरल भाषा में दिये गये हैं। स्कूलों में पढ़ाने योग्य है। मूल्य भाग १—।), भाग २—।≈), भाग ३—।≥), भाग ४—।।)

अन्य पुस्तकें—यजुर्वेद मूल गुटका १।।), सामवेद गुटका १।।), आर्यपर्वपद्धति १।।), वेदोपदेश १) स्वस्थजीवन १।) युद्धनीति और अहिंसा १।), वैदिक अध्यात्मसुधा ।।≈), दयानन्दवचनामृत ।≈), धार्मिक शिक्षा भाग १ से १० भाग ५), जीवन पथ ।।), संस्कारविधि ।।।≈)

आर्य साहित्य मण्डल के हिस्से खरीदकर वेदप्रचार तथा आर्थिक दोनों लाभ उठावें। प्रत्येक हिस्से का मूल्य १०) रु. (पांच हिस्से से कम नहीं दिये जाते)।

विशेष विवरण तथा अन्य पुस्तकों के लिये बड़ा सूचीपत्र मुफ्त मंगावें

संपादक, प्रकाशक व मुद्रक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, बनारस।

ॐ

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ८] ❀ [अङ्क ६

इस अंक में पढ़िये

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

आषाढ़ २०१३, जुलाई १९५६
दयानन्दाब्द १३१
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५६

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) बनारस नं० ६

वार्षिक मूल्य-भारत में ५)
वी० पी० से ५॥)
" " विदेश में ६)
इस अंक का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास की प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ।|) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ व ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जावेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—**वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) बनारस नं० ६**

ऋग्वेद ओ३म् यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद अथर्ववेद

सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष ८ { काशी, आषाढ़ सं० २०१३ वि०, जुलाई १९५६ ई० { अङ्क ९

आर्याभिविनय से

टिप्पणिकर्त्ता—विन्ध्यवासिनी प्रसाद अनुगामी

प्रार्थना-विषय

अदिति की स्तुति

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः।
विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम् ॥ ऋग्० १।८।१६।१०॥

(हे ईश्वर) हे ईश्वर
(भवान्) आप
अदितिः[1] असीम सदा प्रसन्न और उत्तमोत्तम विद्या से युक्त हैं (एवं)

द्यौः[2] सबको प्रेरणा, प्रकाश, ज्ञान तथा शक्ति देने वाले हैं
(भवान्) आप
अदितिः सर्वत्र विद्यमान (एवं)

अर्थबोधकटिप्पणी—

१. (अ) ज्ञानस्वरूपः—दया० यजु० १ । १४.

(आ) न दीयते खण्ड्यते बध्यते बृहत्त्वात्। boondless; unlimited, inexhaustibly; entire, happy, pious—आप्टे.

(इ) अदितिरेव आदित्यः = उत्तम कक्षा के विद्वान्—दया० ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका.

२. द्योतन्ते लोका अस्यां वा यया द्योतते सा द्यौः—उ० २ । ६७.

अन्तरिक्षं[३]	सूर्य पृथिवी के बीच में हैं, उनके भीतर भी ओतप्रोत हैं तथा पृथिवी आदि सांसारिक पदार्थों की तरह ह्रासवाले और नाशवान् नहीं हैं। वस्तुस्थिति यह है कि आपका ही मन इच्छा सर्वत्र काम कर रहा है
(भवान्)	आप
अदितिः	सदा रहने वाले (एवं)
माता[४]	हमारा मान्य करनेवाले तथा निर्माणकर्त्ता हैं
(स एव ईश्वरः)	वही स्वामी परमात्मा
पिता[५]	(हमारा) पालनकर्त्ता तथा रक्षा करने वाला है
स (च)	और वही
पुत्रः[६]	शुद्धताई का प्रेरक तथा प्यार करने वाला है
(भवान्)	आप (ही)
अदितिः	सदा रहने वाले तथा एकरस (एवं)
विश्वेदेवाः[७]	समस्त चमकने वाले गुण कर्म स्वभाव से युक्त तथा सब कुछ देने वाले हैं
(भवान्)	आप
अदितिः	व्याप्त (एवं)
पञ्चजनाः	पाँचों प्राण अर्थात् प्राण अपान समान उदान व्यानादि शरीरस्थ वायु में पांच प्रकार की क्रिया उत्पन्न करने वाले हैं ॥
(भवान्)	आप
अदितिः	सदैव
जातम्[८]	उपलब्ध है
(भवान्)	आप
अदितिः	परिवर्तन रहित तथा बराबर रहने और कार्य करने वाले हैं (और)
जनित्वम्[९]	सृष्टि के आदि काल से लेकर अब तक हमारी उत्पत्ति के मूल कारण हैं ॥

ऋषि व्याख्यान—

हे त्रैकाल्याबाध्येश्वर[१०] ! "अदितिर्द्यौः" आप सदैव विनाशरहित तथा स्वप्रकाशस्वरूप[११] हो। "अदितिरन्तरिक्षम्" अविकृत[१२]—विकार को न प्राप्त—और सबके अधिष्टाता[१३] हो। "अदितिर्माता" आप प्राप्तमोक्ष जीवों को अविनश्वर—विनाशरहित—सुख[१४] देने और अत्यन्त मान करनेवाले[१५] हो। "सः पिता" सो अविनाशीस्वरूप हम सब लोगों के पिता—जनक—और पालक हो और "स पुत्रः" सो ईश्वर आप मुमुक्षु[१६] धर्मात्मा और विद्वानों को नरकादि दुःखों से [हटाकर] पवित्र और त्राण—रक्षा—करने वाले हो। "विश्वे देवा अदितिः" सब दिव्यगुण—विश्व का धारण, रचन, मरण, पालन आदि कार्यों को करनेवाले अविनाशी परमात्मा आप ही हैं। "पञ्चजना अदितिः" पाँच प्राण जो जगत् के जीवन हेतु वे भी आप के रचे और आप के नाम भी हैं। "जातमदितिः" वही एक चेतन ब्रह्म आप सदा प्रादुर्भूत हैं, और सब कभी प्रादुर्भूत कभी अप्रादुर्भूत—विनाशभूत—भी हो जाते हैं। "अदितिर्जनित्वम्" वे ही अविनाशीस्वरूप ईश्वर आप सब जगत् के (जनित्वम्) जन्म का हेतु हैं, और कोई नहीं।

३. अन्तरा द्यावापृथिव्योः क्षान्तम् अवस्थितं भवति or अन्तरा इमे द्यावापृथिव्यौ क्षियति निवसति or शरीरेष्वन्तः अक्षयं न पृथिव्यादिवत् क्षीयते—निरुक्ते.
४. मानयति सत्करोति इति माता। उत्पादिका वा—उ० २। ९५.
५. fr पा = पाने—भ्वा०, रक्षणे—अदा०। to nourish, to govern—आप्टे.
६. पुनाति पवित्रम् करोतीति पुत्रः। आत्मजो वा—उ० ४। १६५.
७. (अ) fr दिवु = क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु—दिवा०.
(आ) देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा—निरुक्ते ७। १५.

(शेष टिप्पणियां आवरण पृ० ३ पर)

कर्म-दर्शन

[श्री डा० मंगलदेवशास्त्री एम. ए. भूतपूर्व प्रिंसिपल ग. सं. का. बनारस]

कर्ममार्गस्य श्रेष्ठत्वम्

कर्ममार्ग की श्रेष्ठता

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः"
(यजु० ४० । २)

अर्थात्, तू इस संसार में कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा कर।

केवल शुष्क ज्ञान या निरीह शुभ-संकल्पों से ही मनुष्य अपने जीवन को सफल नहीं बना सकता। उनकी वास्तविकता की परीक्षा कर्म की कसौटी पर ही हो सकती है। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नीचे के पद्य में किया गया है:—

नैव चिन्तनमात्रेण कार्यं सिध्यति किंचन।
श्रेष्ठत्वं कर्ममार्गस्य श्रुतौ तस्माद्विधीयते ॥१॥

केवल सोचने मात्र से कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता इसीलिये ऊपर दी हुई श्रुति में मनुष्य के लिए कर्म-मार्ग के श्रेष्ठत्व का विधान किया गया है।

अदीनाः स्याम

हम अदीन रहें

"अदीनाः स्याम शरदः शतम्।
भूयश्च शरदः शतात्।" (यजु० ३६।२४)

अर्थात्, हम सौ वर्ष तक और सौ वर्ष से भी अधिक काल तक बराबर अदीन रहें।

हम जीवन के महत्त्व को समझें और दीनता के भाव से अपने को दूर रखते हुए सदा उन्नति-पथ पर आगे बढ़ते रहें—इसी विषय के प्रतिपादनार्थ नीचे का पद्य दिया जाता है:—

दृष्ट्वाप्यनन्तप्रसरां मानवी गतिमात्मनः।
आश्चर्यं मूढतादोषाद् दीनं हीनं च मन्यते ॥१॥

मनुष्य आत्मा की (अथवा अपनी) प्रगति या उन्नति के अनन्त प्रसार (= विस्तार) को देख कर भी आश्चर्य है, अज्ञान के दोष के कारण, अपने को दीन और हीन समझता है।

व्याख्या

मनुष्य प्रायः अपने मनुष्यत्व की महत्ता या गौरव का अनुभव नहीं करता। प्रकृति तथा परमात्मा ने उसे दृश्य जगत् के समस्त प्राणियों से ऊँचा स्थान दिया है। उसकी इस महत्ता के मूल में उसकी वह स्वाभाविक प्रवृत्ति है जिसके कारण वह सदा अपनी वर्तमान स्थिति से ऊँचा उठना चाहता है।

उसकी इस स्वाभाविक प्रगतिशीलता के क्षेत्र का विस्तार अनन्त है। मनुष्यजाति के इतिहास में किसी भी मनुष्य ने किसी भी क्षेत्र में बड़ी से बड़ी उन्नति का जो मार्ग प्रदर्शित किया है वह मार्ग प्रत्येक मनुष्य के लिए खुला है। कम से कम ईश्वर ने उसमें ऐसी योग्यता और शक्ति दी है जिससे वह क्रमशः उस मार्ग पर आगे बढ़ सकता है।

शास्त्रों में मनुष्य द्वारा इन्द्रत्व, ऋषित्व, महर्षित्व, बुद्धत्व आदि महान् पदों की प्राप्ति के वर्णन दिये गये हैं। यहाँ तक कि मनुष्य ब्रह्मत्व [आनन्द] को भी प्राप्त कर सकता है। ये सारे वर्णन वस्तुतः, इस सृष्टि में मनुष्य का अत्यन्त उत्कृष्ट स्थान है—इसी महान् सिद्धान्त की व्याख्या-रूप हैं।

परन्तु मनुष्य इस महान् सत्य को भूल कर प्रायः अपने को कितना तुच्छ, कितना दीन-हीन, समझता है और कितनी यातनाओं को उठाता है! कितने अनर्थ करता है!

जैसे एक करोड़पति का बालक, अपनी स्थिति को भुला कर, दर दर भीख मांगता फिरे, ठीक वही दशा संसार में प्रायः मनुष्यों की है। मनुष्यत्व के नाते अपनी स्वभाव-सिद्ध महत्ता को भुला कर वह अपने को प्रायः दीन और हीन समझता है। आत्म-गौरव और सदभिमान को छोड़ कर जहाँ वह एक ओर अपनी ही दुर्बलताओं और दुर्वासनाओं का दास बन जाता है, वहाँ दूसरी ओर दूसरों के सामने, जिनको अपनी अस्थायी और तुच्छ सफलताओं का उन्माद

नियन्तुर्जगतां पत्युस्तिष्ठेद् विश्वासमाश्रितः

भगवान् में विश्वास

"सः......याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् ।"
(यजु० ४०।८)

अर्थात्, हमारे जीवन के ईश्वर-प्रदत्त पदार्थों में योग्यता और औचित्य का आधार होता है।

मनुष्य को कर्तव्य-बुद्धि से कर्म करते हुए उसके फल को समस्त विश्व को नियन्त्रण में रखने वाले कारुणिक भगवान् के निर्णय पर ही छोड़ देना चाहिए। किस कर्म में किसी फल के देने की कितनी और कैसी योग्यता है, इसका निर्णय कर्म करने वाला स्वयं नहीं कर सकता।

इसी विषय का प्रतिपादन नीचे के पद्यों में किया गया है:—

कर्तव्यं कर्म कुर्वन्तो यावद्धि पुरुषायुषम्।
वर्तेरन् मानवाः सर्वे इत्येषा वैदिकी श्रुतिः ॥१॥

मनुष्यों को अपने जीवन-पर्यन्त कर्तव्य कर्मों को करते रहना चाहिए—ऐसा वेद[1] में कहा गया है।

समुद्योगपरैर्भाव्यं जीवने मानवैः सदा।
परमुद्योगसीमाया धीमान् ध्यानं न विस्मरेत् ॥२॥

मनुष्यों को जीवन में उद्योग अवश्य करना चाहिए। परन्तु बुद्धिमान् मनुष्य को यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि फल के विषय में उद्योग की अपनी सीमा भी होती है। अर्थात्, किसी उद्योग का अभीष्ट फल अवश्य ही होगा, या सदा एक-सा ही फल होगा, यह नहीं कहा जा सकता।

गर्भागतस्य सर्वस्य स्वीययत्नानपेक्षया।
ते ते भावा नियम्यन्त एतत् कस्य तिरोहितम् ॥३॥

गर्भावस्था में आये हुए प्राणी की अनेक बातों का नियन्त्रण, अपने यत्न के बिना ही, किसी दूसरी शक्ति द्वारा होता है, यह किससे छिपा है?

स्वास्थ्यं बुद्धिस्तथावस्था संपत्तेरथवेतरा।
शरीरस्याकृती रूपं पितरौ च कुलं तथा ॥४॥

सर्वस्यापि जनस्यैतज् जीवनेऽतिप्रभावकृत्।
तथापि सर्वे एवात्र विषये विवशा ध्रुवम् ॥५॥

स्वास्थ्य, बुद्धि, संपत्ति, दारिद्र्य, शरीर की आकृति, रूप माता पिता और कुल—इन सब का मनुष्य के जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। तो भी, जन्म के समय इनके विषय में सब कोई विवश होते हैं।

अभिप्राय यह है कि जन्म के समय मनुष्य के स्वास्थ्य, बुद्धि आदि कैसे हैं, इसमें उसका यत्न कुछ नहीं होता। स्पष्टतः इनका नियन्त्रण किसी दूसरी शक्ति द्वारा होता है। और उस नियन्त्रण को बरबस सब को मानना ही पड़ता है।

एवमुद्योगकालेऽपि तत्फलं प्रत्यनुत्सुकः।
नियन्तुर्जगतां पत्युस्तिष्ठेद् विश्वासमाश्रितः ॥६॥

इसी प्रकार उद्योग करते समय भी मनुष्य को चाहिए कि वह, उसके फल के सम्बन्ध में उत्सुकता और उद्विग्नता को छोड़ कर, सबको नियन्त्रण में रखने वाले विश्वपति भगवान् के विश्वास के सहारे पर ही रहे।

वर्तमानेन संतुष्टस् तथाप्युन्नत्यभीप्सया।
समुद्योगपरस्तिष्ठेत् फलं न्यस्य परात्मनि ॥७॥

मनुष्य को वर्तमान से सन्तुष्ट रहते हुए भी उन्नति की इच्छा से उद्योग में तत्पर होना चाहिए। साथ ही उसे उद्योग के फल को परमात्मा पर छोड़ कर रहना चाहिए।

तदेतज्जीवनस्याहू रहस्यं परमं बुधाः।
तज्ज्ञात्वा येऽनुवर्तन्ते भवबाधास्तरन्ति ते ॥८॥

विद्वानों के अनुसार जीवन का परम रहस्य यही है। इसको समझ कर जो इसका अनुसरण करते हैं वे सांसारिक यातनाओं को पार कर जाते हैं।

मानवेन प्राप्तकालं विधीयताम्

प्राप्तकाल कर्तव्य

"कस्तद्वेद यदद्भुतम्[2] ।" (ऋग्० १।१७०।१)

अर्थात्, जो अभी होने को है उसको कोई नहीं जानता।

(शेष पृ० १९ पर)

---

१. तु० "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः" (यजु० ४०।२)।

२. अद्भुतम् = अभूतम् (निरुक्त १।६)।

नियन्तुर्जगतां पत्युस्तिष्ठेद् विश्वासमाश्रितः

भगवान् में विश्वास

"सः......याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् ।"
(यजु० ४०।८)

अर्थात्, हमारे जीवन के ईश्वर-प्रदत्त पदार्थों में योग्यता और औचित्य का आधार होता है।

मनुष्य को कर्तव्य-बुद्धि से कर्म करते हुए उसके फल को समस्त विश्व को नियन्त्रण में रखने वाले कारुणिक भगवान् के निर्णय पर ही छोड़ देना चाहिए। किस कर्म में किसी फल के देने की कितनी और कैसी योग्यता है, इसका निर्णय कर्म करने वाला स्वयं नहीं कर सकता।

इसी विषय का प्रतिपादन नीचे के पद्यों में किया गया है:—

कर्तव्यं कर्म कुर्वन्तो यावद्धि पुरुषायुषम्।
वर्तरन् मानवाः सर्वे इत्येषा वैदिकी श्रुतिः ।।१।।

मनुष्यों को अपने जीवन-पर्यन्त कर्तव्य कर्मों को करते रहना चाहिए—ऐसा वेद[1] में कहा गया है।

समुद्योगपरैर्भाव्यं जीवने मानवैः सदा।
परमुद्योगसीमाया धीमान् ध्यानं न विस्मरेत् ।।२।।

मनुष्यों को जीवन में उद्योग अवश्य करना चाहिए। परन्तु बुद्धिमान् मनुष्य को यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि फल के विषय में उद्योग की अपनी सीमा भी होती है। अर्थात्, किसी उद्योग का अभीष्ट फल अवश्य ही होगा, या सदा एक-सा ही फल होगा, यह नहीं कहा जा सकता।

गर्भागतस्य सर्वस्य स्वीययत्नानपेक्षया।
ते ते भावा नियम्यन्त एतत् कस्य तिरोहितम् ।।३।।

गर्भावस्था में आये हुए प्राणी की अनेक बातों का नियन्त्रण, अपने यत्न के बिना ही, किसी दूसरी शक्ति द्वारा होता है, यह किससे छिपा है?

स्वास्थ्यं बुद्धिस्तथावस्था संपत्तेरथवेतरा।
शरीरस्याकृती रूपं पितरौ च कुलं तथा ।।४।।

सर्वस्यापि जनस्यैतज् जीवनेऽतिप्रभावकृत्।
तथापि सर्व एवात्र विषये विवशा ध्रुवम् ।।५।।

स्वास्थ्य, बुद्धि, संपत्ति, दारिद्र्य, शरीर की आकृति, रूप माता पिता और कुल—इन सब का मनुष्य के जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। तो भी, जन्म के समय इनके विषय में सब कोई विवश होते हैं।

अभिप्राय यह है कि जन्म के समय मनुष्य के स्वास्थ्य, बुद्धि आदि कैसे हैं, इसमें उसका यत्न कुछ नहीं होता। स्पष्टतः इनका नियन्त्रण किसी दूसरी शक्ति द्वारा होता है। और उस नियन्त्रण को बरबस सब को मानना ही पड़ता है।

एवमुद्योगकालेऽपि तत्फलं प्रत्यनुत्सुकः।
नियन्तुर्जगतां पत्युस्तिष्ठेद् विश्वासमाश्रितः ।।६।।

इसी प्रकार उद्योग करते समय भी मनुष्य को चाहिए कि वह, उसके फल के सम्बन्ध में उत्सुकता और उद्विग्नता को छोड़ कर, सबको नियन्त्रण में रखने वाले विश्वपति भगवान् के विश्वास के सहारे पर ही रहे।

वर्तमानेन संतुष्टस् तथाप्युन्नत्यभीप्सया।
समुद्योगपरस्तिष्ठेत् फलं न्यस्य परात्मनि ।।७।।

मनुष्य को वर्तमान से सन्तुष्ट रहते हुए भी उन्नति की इच्छा से उद्योग में तत्पर होना चाहिए। साथ ही उसे उद्योग के फल को परमात्मा पर छोड़ कर रहना चाहिए।

तदेतज्जीवनस्याहू रहस्यं परमं बुधाः।
तज्ज्ञात्वा येऽनुवर्तन्ते भवबाधास्तरन्ति ते ।।८।।

विद्वानों के अनुसार जीवन का परम रहस्य यही है। इसको समझ कर जो इसका अनुसरण करते हैं वे सांसारिक यातनाओं को पार कर जाते हैं।

मानवेन प्राप्तकालं विधीयताम्

प्राप्तकाल कर्तव्य

"कस्तद्वेद यदद्भुतम्[2] ।" (ऋग्० १।१७०।१)

अर्थात्, जो अभी होने को है उसको कोई नहीं जानता। (शेष पृ० १९ पर)

---

१. तु० "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" (यजु० ४०।२)।

२. अद्भुतम् = अभूतम् (निरुक्ते १।६)।

मोक्षप्राप्ति के उपाय

मृडा सुक्षत्र मृडय

[ले० श्री पं० जगदीशचन्द्र जी शास्त्री आचार्य, उपदेशक महाविद्यालय यमुना नगर, पंजाब ।]

मोक्ष के साक्षात् साधनों का वर्णन ऋग्वेद के कई सूक्तों में उपलब्ध होता है, एक स्थान पर तो मोक्ष का सांगोपांग और पूर्ण वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया गया है। आज हम एक छोटा सा प्रकरण, विचार के लिये प्रस्तुत करते हैं जिसमें मुमुक्षुत्व पर बल दिया गया है और त्याग के महत्व पर ध्यान को आकर्षित किया गया है, बात यह है कि जब तक मोक्षप्राप्ति की सच्ची अभिलाषा न हो और दुःखदायी बन्धनों को तोड़ फैंकने की शक्ति न हो तब तक मोक्ष की चर्चा का कोई मूल्य ही नहीं है, जो लोक दुःख से दुःखित हुए २ दुःख के कारणों का समूल उन्मूलन करने के लिये सर्वथा उद्यत हों और सच्ची शान्ति तथा परम सुख को प्राप्त करने के लिये शिरधड़ की बाजी लगाये बैठे हों ऐसे त्यागी मुमुक्षु-जनों के कल्याण के लिये ही वेद का उपदेश, कर्तव्य पथ का प्रदर्शन करता है। ऋग्वेद के ८९ वें सूक्त में इसी प्रकार के परमहितकारी उपदेश हैं।

इस सूक्त के चार मन्त्रों के अन्त में "मृडा सुक्षत्र मृडय" यह वाक्य दुहराया गया है, अर्थात् हे सुख स्वरूप सच्चे संरक्षक प्रभो! मुझे भी सुखी करो।

पहला मन्त्र इस प्रकार है।

मो षु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम्।
मृडा सुक्षत्र मृडय ॥ १ ॥

(१) राजन्! वरुण! हे परमेश्वर आप राजा हो आप का शासन महान् है। आप के राज्य नियमों को तोड़कर कोई भी व्यक्ति सुख और शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

भगवन् आप वरुण भी हो। चाहे कोई कितना भी आप से विमुख क्यों न हो, एक न एक दिन उसे आप की सत्ता के आगे शिर झुकाना ही पड़ता है। यह हो नहीं सकता कि आप की पावन शरण में आये बिना किसी को शान्ति प्राप्त हो सके। आप दुःखों तापों और क्लेशों से सदा दूर रहते हो अतएव अपनी शरण में आने वाले भक्तों के भी ताप सन्ताप दूर करते हो, मैं भी आपकी शरण में आया हूँ।

हे वरुण! दुःख निवारक प्रभो! प्रार्थना यह है कि—

(२) अहम् मृन्मयं गृहं मा उ सुगमम्—

मैं मिट्टी के बने इस शरीर रूपी घर को कभी भी सुख दायक समझ कर न प्राप्त करूं।

यह शरीर मिट्टी का है और मिट्टी में ही मिल जाता है। जो लोक इसके इस मृन्मय रूप को न समझ कर इसे ही अपनी आसक्तियों का केन्द्र मान बैठते हैं उनको भी यह मिट्टी में मिला देता है।

परमेश्वर को वरणीय सच्चा वर, वही स्वीकार कर सकता है जो शरीर की आसक्ति से परे हट चुका हो, जिसको शरीर का वास्तविक मृन्मय स्वरूप समझ में नहीं आया वह स्वप्न में भी ईश्वर का वरण नहीं कर सकता।

एक ओर दुःखों क्लेशों से दूर रहने वाला दुःख-निवारक भगवान् वरुण है। दूसरी ओर दुखों की खान मिट्टी का शरीर है। यमाचार्य के शब्दों में एक ओर श्रेयस् है दूसरी ओर प्रेयस् है। हमने दोनों में से एक को वरण करना है और वरण करके अपनी बुद्धि का भी परिचय देना है। किसी ने कहा है—

मनुष्य का यह देह क्या है जिस पै फूला है जहां।
खून का गारा है इसमें और ईंटे हड्डियां।
एक मिट्टी की इमारत एक मिट्टी का मकां॥
मौत की विकराल आंधी इससे जब टकरायेगी।
देख लेना, यह इमारत धूलि में मिल जायेगी॥

यह धूलिसात् और भस्मसात् हो जाने वाला सदा परिवर्तनशील दुःखों का एक मात्र आश्रय यह शरीर,

सुन्दर चमकीली और प्यारी काया के रूप में हमारे पास है, हम इसके वास्तविक स्वरूप को न देखकर बाह्य सौन्दर्य पर लट्टू हो रहे हैं और इसके भोगों में आसक्त होकर रोगों में जकड़े पड़े हैं परन्तु फिर भी इस मिट्टी के घर को ही सर्वस्व समझ रहे हैं।

इस सूक्त का ऋषि वसिष्ठ है हम लोगों की अवस्था से वह व्यक्ति बहुत ऊँचा उठा हुआ है। उसकी दृष्टि बड़ी विशाल है। उसका तत्त्व दर्शन वास्तविकता पर अवलम्बित है और इसी लिये वह ऋषि है। उसने दोनों में से एक को—वरुण को चुन कर अपने जीवन का उद्देश्य बना लिया है, वह शरीर के मोहनीय और शोभनीय रूप पर आसक्त नहीं हुआ। उसने शरीर पर एक दृष्टि डाल कर ही कह दिया था कि अरे मिट्टी के मैले कुचैले शरीर! चल दूर हो मेरी आंखों से, मैं तेरे साथ नहीं रहूँगा, तू मिट्टी का है मैं चेतन हूँ, तू उत्पत्ति विनाश वाला है और मैं अज अविनाशी अमर तत्त्व हूं—तेरा मेरा कैसा मेल, तेरा मेरा कैसा साथ? मैं तो अविनाशी चेतन प्रभु के साथ रहूँगा।

उच्चकोटि का तत्त्वदर्शी ही ऐसा कह सकता है। जिस व्यक्ति ने काल के विकराल गाल में प्रति दिन समाते चले जाने वाले अज्ञानी समाज को दुःख दारिद्र्य और दुरित की दुरवस्था में दुःखी होते देखा और स्वयम् भी अनुभव किया वह शीघ्रातिशीघ्र दुःखों की खानि से निकल कर दुःख निवारक भगवान् वरुण की शरण में आया और वैदिक दृष्टि से वही वसिष्ठ कहलाया। योग दर्शन के आविष्कारक महामुनि पतञ्जलि ने इस तत्त्व का साक्षात्कार किया था और सर्व साधारण को प्रेरणा की थी कि—

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः। योगदर्शन।

अर्थात् इस शरीर को जितना भी शुद्ध किया जावे उतना ही इससे घृणा उत्पन्न होती है और दूसरे शरीरों को भी स्पर्श करने की इच्छा नहीं रहती।

इतने पर भी जो लोक काया के गीत गाया करते हैं वे व्यासभाष्य में लिखे योगी जनों के तत्त्व दर्शन का मनन करें, भाष्यकार व्यास देव जी कहते हैं कि—

स्थानात् बीजादुपष्टम्भात् स्यन्दनान्निधनादपि।
कायमाधेयशौचत्वात् पंडिता ह्यशुचिं विदुः॥

स्थानात्—इस शरीर की रचना माता के गर्भ में होती है और गर्भ स्थान चारों ओर मल मूत्र से घिरा हुआ है।

बीजात्—शरीर का बीज, पिता का वीर्य और माता का रजस् हैं।

ये दोनों भी अपवित्र हैं अतः अपवित्र कारणों से उत्पन्न हुआ शरीर भी अपवित्र ही है।

उपष्टम्भात्—शरीर का आधार अस्थियें, मांस, रुधिर और मज्जा मेदस् आदि हैं। यदि ये न हों तो शरीर का भवन कभी स्थित नहीं रह सकता। ये भी अपवित्र ही हैं।

स्यन्दनात्—शरीर के अंगों से जो तत्त्व बाहिर निकलता है वह भी अपवित्र ही है यथा—मल, मूत्र, स्वेद, कफ, सिनक आदि।

निधनात्—अन्त वेला में मृत्यु हो जाने पर शरीर की अपवित्रता सर्वथा स्पष्ट हो जाती है, यदि अग्नि में भस्म न करें तो थोड़ी ही देर में दुर्गन्धित हो जाता तथा कीड़े पड़ जाते हैं।

इस प्रकार अस्थि मांस के विकार मृन्मय शरीर को ही जो लोक ममता और अपनी आसक्ति का केन्द्र बना लेते हैं, वे वरुण से विमुख होकर कष्ट पर कष्ट उठाते हैं।

(२) **सुक्षत्र मृडय**—हे भगवन् आप भली भांति संरक्षण कर सकने में समर्थ हो, कृपा करो मुझे दुःख से निकाल कर सुखी करो।

जो व्यक्ति शरीर की आसक्तियों से परे हट जाता है—परमेश्वर उसके दुःखों को दूर कर देता है। सुन्दर और बढ़िया तथा अत्युत्तम संरक्षण उसी ज्ञानी को प्राप्त हो सकता है जो मृन्मय गृह की आसक्ति का त्याग करके भगवान् वरुण का वरण करने में विलम्ब न करे।

मन्त्र कहता है कि जब तक शरीर सम्बन्धी अज्ञान में आसक्त रहोगे, तब तक परमेश्वर के सुदृढ़ संरक्षण और निरतिशय आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकोगे।

दूसरा मन्त्र और भी अधिक आवश्यक कर्तव्य की ओर संकेत करता है—

यदेमि प्रस्फुरन्निव दृतिर्न ध्मातो अद्रिवः।
मृडा सुक्षत्र मृडय ॥२॥

हे अद्रिव—पर्वतों के स्वामिन्! मैं दृति के समान फूल कर अभिमान में चूर हुआ फिर रहा हूं। हे रक्षक प्रभो मुझे सुखी करो।

(४) दृतिः ध्मातः न—जैसे चर्म की बनी हुई फुटबाल आदि वस्तु थोड़े से वायु या या जल को पाकर फूल जाती है। और ठोकरें खाती है वैसे ही—

(५) यत् प्रस्फुरन् इव एमि—मैं भी फूला फूला फिर रहा हूँ। अहंकार के कारण फूं फूं कर रहा हूँ।

चर्म के बने हुए फुटबाल या गेन्द में वायु भर जाती है तो वह अपने स्थान से हिल जाता है और थोड़ी सी क्रिया से गति मान् होकर कहां का कहां ठोकरें खाता है। वैसे ही मनुष्य भी अभिमान में चूर होकर बड़े २ उत्पात मचाता है और अनेक प्रकार की दुर्गति को प्राप्त करता है, संसार का इतिहास रावण, दुर्योधन तथा सिकन्दर जैसे अहंकारियों के कुकृत्यों और उन के भयंकर परिणामों से भरा पड़ा है।

मन्त्र कहता है कि वास्तविक सुख और शान्ति तभी प्राप्त हो सकती है जब अहंकार और अभिमान को त्याग दिया जावे। त्यागने का उपाय भी मन्त्र बता रहा है। पहिला उपाय तो यह है कि पूर्ण गम्भीरता के साथ हम यह चिन्तन करें कि फुटबाल या मशक के समान, फूल जाने से ठोकरें और दुर्गति ही प्राप्त होती है अतः अहंकार नहीं करना चाहिये। दूसरा उपाय है परमेश्वर की महिमा का चिन्तन करना यथा—

(६) अद्रिव ! हे परमेश्वर आप का ऐश्वर्य महान् है आप सकल ब्रह्माण्ड के स्वामी हो।

चाँदी, सोना और हीरे मोती आदि बहुमूल्य पदार्थ पर्वतों के गर्भ में निवास करते हैं। इन सब पर्वतों का एकमात्र स्वामी अद्रिवान् भगवान् है। पर्वतों के अधिपति परमेश्वर में तो सुवर्णादि के अनन्त भण्डार होते हुए भी यत्किंचित् क्षोभ की मात्रा तक नहीं है परन्तु मनुष्य कहलाने वाला प्राणी परिमित धन सम्पत्ति को प्राप्त करके ही अहंकार की मूर्ति बना फिरता है। ऐसे अहंकारी और अभिमानी को सोचना चाहिये कि परमेश्वर के सामने मेरी क्या अवस्था है। ऊँट अपने को बड़ा ऊँचा और दूसरों को नीचा समझता है परन्तु जब वह गगनचुम्बी शिखरों वाले पर्वतराज की तलहटी में पहुँचता है तो उसका अभिमान चूर २ हो जाता है। परमेश्वर के सामने मनुष्य की भी यही अवस्था होती है।

अद्रिव का दूसरा अर्थ यह भी है कि-परमेश्वर किसी भी परिस्थिति में द्रवीभूत या विचलित नहीं होता है। जो मनुष्य इस गुण को धारण कर लेता है वह भी निरहंकार होकर शान्ति प्राप्त कर सकता है।

वह व्यक्ति अपने आप को कैसे सुरक्षित और सुखी समझ सकता है। जिसके पीछे अहंकार जैसा बलवान् शत्रु लट्ठ लिये फिरता हो। इसलिये मन्त्र कहता है कि अहंकार को भी अपना शत्रु समझो और उससे बचने के लिये अहंकार को चूर चूर कर देने वाले परमेश्वर की शरण ग्रहण करो।

तीसरा मन्त्र तीसरे दोष को दूर करने की प्रेरणा करता है यथा—

क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे।
मृडा सुक्षत्र मृडय ॥ ३ ॥

हे महनीयकीर्ते! शक्तिहीन और दीन होने के कारण मैं अपने उद्देश्य से भ्रष्ट हो चुका हूँ। आप मुझे पवित्र करो हे महान् संरक्षक प्रभो मुझे सुखी करो।

(७) समह ! हे महिमामहान् भगवन्! देखिये, दीनता क्रत्वः प्रतीपं जगमा—मैं आत्मविश्वास से हीन होने के कारण कर्तव्य पथ से भ्रष्ट हो चुका हूँ और अपने उद्देश्य से विपरीत जा रहा हूँ।

मनुष्य जन्म किस लिये मिला था और इसको प्राप्त करके क्या करना कर्तव्य था—इस पर कुछ भी हमने विचार नहीं किया अपितु अपने उद्देश्य से विपरीत दिशा में ही चलते चले गये। हमको अपनी गुप्त शक्तियों का कभी ध्यान भी नहीं आया और हमने अपने उद्धार का कभी संकल्प भी नहीं किया। दीन हीन और क्षीण होकर तिनके के समान वायु के झोंके के संकेत पर इधर उधर नाचते रहे। सदा परमुखापेक्षी पक्षी के समान पराधीन बने रहे।

मन्त्र कहता है इस दीनता और शक्तिहीनता का त्याग करो और आत्मविश्वास की भावना से भरपूर होकर अपने बन्धनों को स्वयं काटो, अपने परों को स्वयं हिलाओ और पुरुषार्थ करके सुख के धाम परमेश्वर के पास पहुँचो, यह मत समझो कि कोई तुमको अपने कंधे पर बिठा कर वहाँ पहुँचा देगा—वहाँ अपने आप और केवल अपने बल पर ही पहुँचा जाता है। श्री कृष्ण जी ने कहा था—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥गीता॥

अपने आप अपने आप का उद्धार करो, किसी दूसरे के द्वारा तुम्हारे आत्मा का उद्धार नहीं हो सकता। अपना आप ही अपना बन्धु है और अपना आप ही अपना शत्रु है।

आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास का महत्व समझा कर वेद एक और उपदेश देता है जो चौथे मन्त्र के द्वारा कहा गया है।

अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम्।
मृळा सुक्षत्र मृळय ॥ ४ ॥

मैं अथाह जल के मध्य में खड़ा हुआ हूँ फिर भी मुझ स्तोता भक्त को प्यास लगी हुई है। हे संरक्षक प्रभो मेरी रक्षा करो। आनन्द स्वरूप भगवन् मुझे शान्ति प्रदान करो।

(८) अपां मध्ये तस्थिवांसम् जरितारम् तृष्णा आविदत्—

मैं प्यासा हूँ और अपनी पिपासा को शान्त करने के लिये परमेश्वर से पानी माँग रहा हूँ। एतदर्थ परमेश्वर की अनेक प्रकार की स्तुति प्रार्थना और उपासना भी कर रहा हूँ फिर भी मुझे सुख शान्ति प्राप्त नहीं होती। आश्चर्य यह है कि प्यास को दूर करने वाला और सुख शान्ति का सागर मेरे चारों ओर लहरें मार रहा है।

मंत्र कहता है अज्ञान की कितनी विचित्र करामात है—थैला कंधे पर है और ढँढोरा नगर में पीटा जा रहा है। "पानी में मीन प्यासी" वाली बात है।

सबसे दुःखदायक घटना तो यह है कि परमेश्वर की सत्ता स्पष्ट है और उस पर विश्वास नहीं जमता, दुःख निवारक पास खड़ा है और उसका विचार न करके घोर क्रन्दन किया जा रहा है।

मन्त्र कहता है अरे ओ दुःखी प्राणियो! क्यों बिलख बिलख कर और सिर पीट पीट कर रो रहे हो! दुःख दूर करने वाला आनन्दघन प्रभु तो तुम्हारे पास विराजमान है।

वास्तविक सुख और सच्ची शान्ति प्राप्त करने के लिये वेद ने जो उपाय समझाये हैं उनमें ये चार ही मुख्य हैं—

(१) मृन्मय शरीर में आसक्ति का त्याग। (२) अभिमान का त्याग। (३) दीनता का त्याग और चौथे नास्तिकता का त्याग।

उपनिषत्कार मुनिजनों ने इसी को संक्षेप में कहा था—त्यागेनैकेन अमृतत्वमानशुः अर्थात् एकमात्र त्याग के द्वारा ही मोक्ष या सच्चे सुख की प्राप्ति होती है।

तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये। छांदोग्य। इसको तभी तक देरी है जब तक यह त्याग नहीं करता—त्याग करते ही आनन्द की सम्पत्ति तत्काल प्राप्त हो जाती है॥

आरण्यकों की वेद भाष्य शैली*

[श्री० सुधीर कुमार गुप्त, एम. ए., शास्त्री, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, एन. आर. ई. सी. कालिज,
तथा संयोजक, वेदसम्मेलन, खुरजा उ० प्र०]

आरण्यकों का स्वरूप

१. जैसा पहले कहा जा चुका है आरण्यक ब्राह्मणों के ही अन्तिम भाग हैं और उनके विषय को ही आगे बढ़ाते हैं। इसी लिये बौधायनधर्मसूत्र ने इन्हें 'ब्राह्मण' नाम दिया है।[1] इन्हें 'रहस्य ग्रन्थ' भी कहा गया है।[2] इस नाम का आधार इन कृतियों का विषय ही प्रतीत होता है क्यों कि पूर्वलिखितानुसार[3] ब्रह्मज्ञान आदि के रहस्यों का व्याख्यान इन कृतियों में किया गया है।

आरण्यक पद का अर्थ—ब्रह्मज्ञान का व्याख्यानग्रन्थ

२. सायण के अनुसार जंगलों में पढ़े और पढ़ाए जाने के कारण आरण्यकों को आरण्यक नाम मिला—

अरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यते।
तथा—
अरण्याध्ययनादेतत् आरण्यकमितीर्यते।
अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते ॥[4]

सायण की यह कल्पना ठीक हो सकती है, परन्तु 'अरण्य' को पारिभाषिक पद मानना उचित प्रतीत होता है। इस पद को अमरकोष के टीकाकारों और उणादिसूत्रों ने ऋ (जाना) से व्युत्पन्न बताया है—

(i) अर्यते। ऋ गतौ। अर्तेर्नित् इत्यन्यः।[5]
(ii) इयृति भ्राम्यन्त्यत्रारण्यम्।[6]
(iii) ऋच्छन्ति गृहाद् गच्छन्ति यत्र तदरण्यम्।[7]

शतपथ ब्राह्मण में 'अरण्येनूच्यः' (पुरोडाशः) को 'वाक्' बताया है।[8] अतः अरण्य का अर्थ 'ज्ञान' किया जा सकता है। यदि ऐसा मान लें तो 'आरण्यक' का अर्थ 'ज्ञानविशेष'—'मोक्षदायक (?) ज्ञान'—'ब्रह्म ज्ञान' आदि का व्याख्यान ग्रन्थ होगा। सम्भवतः इसी लिये ऐतरेय आरण्यक के अवान्तर भाग भी आरण्यक कहलाते हैं। तैत्तिरीय आरण्यक में इन्हें अरण कहा गया है। आरण्यकों के रहस्य ग्रन्थ कहलाने का कारण भी यही अर्थ प्रतीत होता है।

वेदव्याख्यानशैली ब्राह्मणों के समान

३. ब्राह्मण ग्रन्थों का भाग होने के कारण आरण्यकों की वेदव्याख्यानशैली ब्राह्मणों की शैली से भिन्न कैसे हो सकती थी। अतः यहां भी ब्राह्मणों के समान ही निर्वचन और वेदभाष्य मिलते हैं।

ब्राह्मणों के व्याख्यान सिद्ध और पाठकों को ज्ञात अभीष्ट

४. यही नहीं। आरण्यकों में ऐसे स्थल भी मिलते हैं जहां पर ब्राह्मण ग्रन्थों के अर्थ को सिद्ध और पाठक को ज्ञात मान कर वेदव्याख्यान किया गया है।

५. उदाहरण के लिये—ऐतरेय आरण्यक में त्रिष्टुप् छन्द के चारों पादों और विराट् के तीनों पादों से क्रमशः पशुओं और लोकों की प्राप्ति बताई है।[9] इन दोनों अर्थों

---

* यह लेख लेखक की कृति 'वेदभाष्यपद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन' का एक अध्याय है।

१. बौधायनधर्म सूत्र ३।७।७।१६ ; वैसा० पृष्ठ १५०। २. गो० २।१०; बौधायनधर्मसूत्र भाष्य २।८।३; वैसा० पृष्ठ १५०। ३. देखो ऊपर अ० २।९; ३ अ० वैसा० पृ० १५०; ऐ आ० १।१।१, टीका का श्लोक ९; मूलका-पाठ 'पठ्यं स्याद्' है, जो ठीक प्रतीत नहीं होता। देखो वही, पृ० २, पाटि० ४. तै० आ० भाष्य, श्लोक ६,। ५. अकोसु० ४।१। ६. अकोउ०, ४।१। ७. द उ० ३।१०२। ८. श० ९।३।२।४। ९. तु० क० इस्तच्युती जनयन्तेति (ऋ० ७।१)—तानि चत्वारि च्छन्दांसि भवन्ति चतुष्पादा वै पशवः पशूनामवरुद्धये, इति। तानि त्रीणि छन्दांसि भवन्ति। त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोका एषामेव लोकानामभिजित्यै, इति। ते द्वे छन्दसि पशवो भवतः प्रतिष्ठाया एव द्विप्रतिष्ठो वै पुरुषश्चतुष्पादाः पशवो यजमानमेव तत् द्विप्रतिष्ठं चतुष्पात्सु पशुषु प्रतिष्ठापयति, इति ॥ ऐ० आ० १।२। इस पर सा० भा० भी देखें।

के मूल में ब्राह्मणों के व्याख्यान--'पशु त्रैष्टुभ हैं; यह लोक विराट् है' आदि हैं।[१०]

दृष्टिभेद से विभिन्न आरण्यकों में अर्थभेद

६. आरण्यकों का ऐसा मत प्रतीत होता है कि वेद-मन्त्रों के व्याख्यान एक से अधिक किए जा सकते हैं। जिस प्रकार की दृष्टि व्याख्याता की हो वैसा ही व्याख्यान वेदमन्त्रों का होगा। यही कारण है कि ऐतरेय और शांखायन आरण्यकों के व्याख्यानों में अन्तर पाया जाता है।[११] शांखायन आरण्यक ऐतरेय आरण्यक के विषयों का आगे विस्तार करता प्रतीत होता है। अतः उसके समझने के लिये अनेक स्थलों पर ऐतरेय आरण्यक के ज्ञान की आवश्यकता प्रतीत होती है।

प्रयोगकाल में मन्त्रों के क्रम में परिवर्तन से प्रकरणविशेषों में अर्थ करने पर क्रम में परिवर्तन करने की छूट का संकेत

७. ब्राह्मणों और आरण्यकों में कतिपय स्थल ऐसे मिलते हैं जिन में प्रयोग काल में मन्त्रों के क्रम में परिवर्तन कर दिया जाता है। पहले मन्त्र पीछे और पीछे के मन्त्र पहले पढ़े जाते हैं। यथा--ऐतरेय आरण्यक के मत में 'महाव्रत' में पुष्टिकाम व्यक्ति 'विशो विशः'[१२] सूक्त के पाठ में पहले 'आगन्म वृत्रहन्तमम्'[१३] इन तीन मन्त्रों को पढ़ता है, पीछे 'विशो विशः'[१४] इन तीन मन्त्रों को पढ़ता है।[१५] इसका एक मात्र कारण प्रकरण में भाव को संगत करना ही है। मन्त्रों का जो अर्थ होता है वह महाव्रत के प्रयोग में सूक्त के क्रम से संगत नहीं होता। अतः आरण्यक ने क्रम बदलने का निर्देश किया है।

८. इससे ज्ञात होता है कि आरण्यककार विभिन्न प्रकरणों में वेदमन्त्रों के व्याख्यान या विनियोग में अर्थ और क्रम में भेद करना आवश्यक मानते हैं।

मन्त्रों की दार्शनिक पृष्ठभूमि के आधार पर व्याख्यान

९. मन्त्रों के आध्यात्मिक व्याख्यान में उनकी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि के ज्ञान की भी परम आवश्यकता है। आरण्यकों ने इस सिद्धान्त को अपनाया प्रतीत होता है। वहां पर 'आपो ह यद् बृहतीर्गर्भमायन्' मन्त्र के भाष्य में पहले उसके दार्शनिक तत्त्व का विस्तार किया गया है, फिर मन्त्र दिया गया है।[१६] इस शैली से मन्त्रगत अलंकार का तत्त्व बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार के व्याख्यानों में आरण्यक यह भी व्यक्त करते प्रतीत होते हैं कि अलंकार या आख्यानयुक्त वर्णन शैली मात्र हैं। उन वर्णनों को वृत्तात्मक मानना अभीष्ट नहीं, प्रत्युत उनके पर्दों के पीछे निहित गूढ़ तत्त्व को ही ग्रहण करना अभीष्ट है।

विशेष से सामान्य की प्रतीति

१०. आरण्यकों के वेदमन्त्रों के व्याख्यान से ऐसा ज्ञात होता है कि वे मन्त्रों में प्रवृत्त विशेष कथनों से सामान्यभाव के कथन में भी विश्वास रखते हैं। उदाहरण के लिए 'कामस्तदग्रे समवर्तत' मन्त्र का सृष्टिप्रकरण के साथ-साथ मानव की सामान्य कामनाओं के सम्बन्ध में भी व्याख्यान किया गया है कि मानव जिस विषय की कामना करता है, उसको वाणी और कर्म से सम्पन्न करता है। इस तत्त्व का ज्ञाता अपनी कामनाओं को प्राप्त करता है।[१७]

११. इस मन्त्र के इस व्याख्यान से एक और निष्कर्ष निकलता है। मन्त्र में तीन लङ् लकार के प्रयोग हैं। श्री मेक्डोनल के मत में लङ् लकार वृत्तात्मक भूत का द्योतक है, उसका वर्तमान का सम्बन्ध नहीं।[१८] परन्तु आरण्यक इस व्याख्यान में यह इंगित कर रहा है कि यहां सामान्य अर्थों में लङ् लकार वर्तमान काल का द्योतक है, इसमें भूतकाल का तत्त्व नहीं है।

---

१०. तु०क०—त्रैष्टुभाः पशवः। कौ० ८। १:१०। २। अयं वै लोको विराट्। श० ७। २। २। २३।
११. उदाहरण के लिये दोनों में महाव्रत का विवेचन देखा जा सकता है। १२. ऋ० ८। ७४। १।
१३. वही, मं० ४। १४. वही, मं० १। १५. ऐ आ० १। १। १; पृ० ६ और उस पर सामा०।
१६. तै आ० १। २३; पृ० ८८-८९। १७. वही, पृ० ८६। १८. वै० ग्रा० २१३ बी।

है।[३२] अतः इस मन्त्र के रचयिता दो बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में आरण्यक ऋषियों को मन्त्रव्याख्याता मान रहे प्रतीत होते हैं। इसका एक और भाव भी हो सकता है। मन्त्रों से सम्बद्ध ऋषि उनके रचयिता वा द्रष्टा व्यक्ति-विशेष नहीं, प्रत्युत मन्त्र के विषय के द्योतक हैं। पूर्व लिखित ऊपर के वर्णन से भी इस निष्कर्ष को पुष्टि मिलती है। स्थिति कुछ भी हो, यह सुव्यक्त है कि मन्त्रों से सम्बद्ध ऋषि आरण्यक की दृष्टि में मन्त्ररचयिता मानव विशेष नहीं हैं।

अग्निपद सूर्य का वाचक

१९. आरण्यक के मत में 'चित्रं देवानामुदगादनीकम्' मन्त्र में आठ सूर्यों का प्रतिपादन है।[३३] इस मन्त्र में 'अग्नि' पद भी सूर्य के नामों में आया है। अतः अग्नि सूर्य का वाचक है।

गौरी का अर्थ वाणी

२०. आरण्यक अनेक बार मन्त्र दे कर उसके विषय का निर्देश करते हैं। जैसे 'गौरी मिमाय'[३४] मन्त्र में आरण्यककार 'वाणी' का वर्णन मानते हैं।[३५] अतः मन्त्रस्थ गौरी पद वाणी का वाचक है।

मन्त्रों में पदों का प्रयोग पारिभाषिक

२१. आरण्यक ने कतिपय मन्त्रों की व्याख्या उनके विषय की विस्तृत विवेचना द्वारा की है। एक मन्त्र[३६] के विषय में बताया गया है कि पूर्व रूप माता, उत्तर रूप पिता, और संहिता रूप प्रजा सब एक पदवाच्य हैं, क्योंकि यह सब कुछ ही माता, पिता और प्रजा हैं। इन सबका पर्यवसान अदिति में होता है। जो यह सब कुछ है जो यह विश्व है।[३७]

२२. इसी प्रकार प्रजापति में पूर्व रूप जाया, उत्तर रूप पति, संहिता रूप पुत्र, सन्धि रूप रेत और सन्धान रूप प्रजनन का पर्यवसान होता है। प्रज्ञा, श्रद्धा, कर्म और सत्य का देवस्व में पर्यवसान होता है।[३८]

२३. एक अन्य मन्त्र[३९] के व्याख्यान में माता की वाणी और वत्स को प्राण बताया है। वाणी से ही वेदों, छन्दों और मन्त्रों की योजना होती है। पढ़ने और बोलने में प्राण वाणी में स्थित होते हैं, तब वाणी प्राणों का आस्वादन करती है और सोने तथा चुप होने में वाणी प्राण में स्थिर होती है। इस प्रकार दोनों परस्पर में आस्वादन किया करते हैं।[४०]

२४. इस प्रकार के वर्णनों से ज्ञात होता है कि आरण्यक यह विश्वास करते हैं कि वेदमन्त्रों में प्रयुक्त पद विशिष्ट परिभाषाएं हैं। उनका व्याख्यान पारिभाषिक रूप में ही करना चाहिये। प्रचलित शाब्दिक अर्थ में नहीं।

२५. इस निष्कर्ष की पुष्टि ऐसे स्थलों से होती है जहां मन्त्रों का व्याख्यान करते समय प्रमुख पदों के विशेष अर्थ दिये गये हैं। ऐसे कतिपय अर्थ ये हैं।—

१. वाग्वै धीघृताची।[४१] २. अन्नं वा इषः।[४२]
३. वाग्वै धियावसुः।[४३] ४. अग्निर्वा अन्नादः।[४४]
५. पुष्टिर्वै विशः।[४५] ६. पुरुषो वै नदः।[४६]
७. आपो वा ओदत्यः।[४७] आपो वाव योयुवत्यः।[४८]
आपो वाव वेनवः।[४९]

इस प्रकार के उदाहरण पर्याप्त मात्रा में संगृहीत किये जा सकते हैं।

आरण्यकों के वेद-मन्त्रों के व्याख्यान निर्वचन द्वारा

२६. आरण्यकों के उपरोक्त तथा अन्य वेद व्याख्यानों के अध्ययन से एक निष्कर्ष निकलता प्रतीत होता है कि आरण्यक वैदिक पदों का व्याख्यान निर्वचन के आधार पर करते हैं। उदाहरण के लिये—'एवा ह्येवा' मन्त्र के व्याख्यान को लें। इसमें 'एव' का आदित्य और सर्व, इन्द्र का सूर्य, पूषा का चन्द्रमा और देवाः का नक्षत्र अर्थ किया है। मन्त्र में अग्नि, वायु, इन्द्र, पूषन् और देवों को 'एवा' बताया है।[५०] यहां पर सायणभाष्य ने 'एव' को गत्यर्थक √इ से व्युत्पन्न मानकर 'अयनशील' और 'एवाः'

३२. देखो ऋग्वेदमूलसंहिता में प्रदर्शित इस मन्त्र का ऋषि। ३३. तै आ० १।७; पृ० २०। ३४. ऋ० १।१६४।४१; अथ० ९।१०।२१; १३।१।४२; नि० ११।४०; तैब्रा० २।४।६।११। ३५. तै आ० १।९।४। ३६. ऋ० १।८९।१०। ३७. शा० आ० ७।१६। ३८. वही, ७।१७। ३९. ऋ० १०।११४।४। ४०. शा० आ० ७।१९ ४१. ऐ आ० १।१।४। ४२. वही। ४३. वही। ४४. वही, १।१।२. ४५. वही, १।१।१ ४६. वही, १।३।५। ४७. वही। ४८. वही। ४९. वही। ५०. तै० आ० १।२०। इस मन्त्र का स्रोत अज्ञात है।

का 'प्राशव्य काम' अर्थ किये हैं।[५१] इस धात्वर्थ से ही 'एव' शब्द अग्नि, वायु, इन्द्र, पूषन् और देवों का वाचक होता है, क्योंकि अग्नि और वायु में गत्यर्थ की प्रधानता है, इन्द्र में परमैश्वर्य प्राप्ति का गुण है। पूषन् में पुष्टिकारकत्व के कारण और देवाः में दीप्ति अर्थ के कारण प्राप्ति अर्थ की प्रधानता भासित होती है। पूषा अपने पोषक गुण के कारण ही चन्द्रमा का द्योतक हो सकता है। नक्षत्र द्योतनशील होने से देव हैं और सूर्य अपनी ऐश्वर्यशीलता[५२] के कारण इन्द्र है।

२७. इसी आधार अर्थात् निर्वचनों की भित्ति पर ही 'चित्रं देवानामुदगादनीकम्' के आरण्यक प्रदर्शित[५३] विभिन्न प्रकरणों में अर्थ संगत हो सकते हैं। ये प्रकरण महदुक्थ, महाव्रत, अन्तरिक्ष, द्युलोक, अग्नि, वायु, चन्द्रमा, नक्षत्र, जल, औषधि, सम्पूर्ण भूत, अक्षर और ब्रह्म हैं। इसी प्रकार आरण्यकों में विभिन्न प्रकरणों में एक ही मन्त्र के विभिन्न अर्थ दिये गए हैं।

आरण्यकों में निर्वचन

२८. आरण्यकों में सीधे निर्वचन भी दृष्टिपथ में आते हैं। इनकी संख्या बहुत अधिक तो नहीं जान पड़ती, परन्तु जो हैं, वे आरण्यकों की वेदार्थ शैली में निर्वचन की अनिवार्यता को प्रकाशित करते हैं। उदाहरण के लिये—ऋषिवाचक कश्यप का निर्वचन—कश्यपः पश्यको भवति। *यत्सर्वं पश्यतीति सौक्ष्म्यात्*[५४]—*दिया गया* है। इस निर्वचन से इस पद का सूर्य और ऋषि दोनों अर्थ सुगमता से उपलब्ध हो जाते हैं।

२९. महाव्रत को यह नाम वृत्र को वध करने के कारण इन्द्र की महिमा से प्राप्त हुआ है—इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा महानभवद्यन्महानभवत् तन्महाव्रतस्य महाव्रतत्वम्।[५५]

३०. वायु को प्रेंख नाम प्रेंखन—पवनकर्म के कारण प्राप्त हुआ है—अयं वै प्रेंखो योयं पवत एष ह्येषु लोकेषु प्रेंखते इति तत्प्रेंखस्य प्रेंखत्वम्, इति।[५६]

अतिथि 'पद' है

३१. इस सम्बन्ध में अधोलिखित संदर्भ बड़ा महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह निघण्टु के ऐकपदिक के पदसंकलनों के अभिप्राय पर प्रकाश डालता प्रतीत होता है। इसमें अतिथि शब्द को 'पद' कहा गया है और उसका गुण 'गति' बताया गया है—'अतिथिमिति पदं भवति।.......ईश्वरोतिथिरेव चरिद्रोः।...यो वै भवति यः श्रेष्ठतामश्नुते स वा अतिथिर्भवति।[५७] चरण, श्रेष्ठताप्राप्ति और सत्ता (का ज्ञान)—सब √अत (निरन्तर गति से चलना) धातु से सिद्ध होते हैं और 'पद' के अर्थ ज्ञान, गमन और प्राप्ति हैं। तो क्या निघण्टु के ऐकपदिक के शब्द भी 'पद' के पर्याय हैं?

मन्त्रार्थ की अनेकविध प्रक्रिया

३२. आरण्यक मन्त्रों के अनेक प्रकार के अर्थों में विश्वास रखते मालूम होते हैं क्योंकि पूर्व प्रदत्त उदाहरणों के साथ-साथ तीन व्याहृतियों के अधिलोक, अधिज्योतिष, अधिविद्य, अधिप्रजा और अध्यात्म अर्थ दिये हैं।[५८]

वेदार्थ प्रणाली की सतत धारा

३३. उपरोक्त विवेचन से यह सहज ही जाना जा सकता है कि आरण्यकों ने प्राचीनतम वेदार्थ पद्धति का ही अनुसरण किया और विस्तार किया है। यद्यपि यहां निर्वचनों की संख्या अधिक नहीं है तो भी आरण्यकों के व्याख्यान पदों के निर्वचनों से अनुप्राणित हैं। छन्दों, देवताओं और ऋषियों के वाचक पदों के भी निर्वचन या उनसे सम्बन्धित अर्थ दिये गए हैं। इन अर्थों में आरण्यकों का झुकाव अध्यात्म की ओर विशेष है। इस कारण इनमें छन्द, वाक्य, प्राण और ब्रह्म—इनकी विद्या का ही विशेष विस्तार किया गया है और तत्सम्बन्धी वेदमन्त्रों की ही व्याख्या दी गई है।

[लेख योग्यता पूर्ण—उपादेय और वेदार्थ विषय में अति सहायक है। विद्वान् लेखक वेदवाणी के पाठकों तथा वैदिक विद्वानों के अति धन्यवाद के पात्र हैं। ऐसे लेखों से रिसर्च स्कालरों को बहुत प्रकाश मिल सकता है। यूनिवर्सिटियों में वेदविषय में ऐसे लेख पठनपाठन में रखने योग्य हैं— सम्पादक]॥

---

५१. वही, पृ० ७७। ५२. तुक० उ० २।२४; द उ० ८।४२; पहले पर दयानन्दभाष्य और दूसरे पर भोजवृत्ति भी देखें। ५३. शा० आ० ८।४-५। ५४. तै आ० १।८। ५५. ऐ आ० १।१।१। ५६. वही, १।२।३। ५७. वही, १।१।१। ५८. तै आ०

हिन्दू-सभ्यता-पर्यालोचना

[डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी एम. ए. डी. लिट्. की वेदविषयक भ्रान्तियों की समीक्षा]

[लेखक—वैदिकगवेषक श्री० शिवपूजन सिंह कुशवाहा 'पथिक' बी. ए. कानपुर]

डॉ राधाकुमुद मुकर्जी एम. ए. पी. एच्. डी., डी० लिट्. एम. पी. इतिहास के प्रकाण्ड विद्वान् माने जाते हैं। आपने "हिन्दू सिविलिजेशन" [Hindu civilization] नामक एक विशालकाय ग्रन्थ आंग्ल भाषा में लिखा है जो आगरा विश्वविद्यालय के बी. ए. की पाठ्य-सूची में भी था। इसका आर्य भाषा में अनुवाद श्री वासुदेव शरण अग्रवाल एम. ए. काशी विश्वविद्यालय, काशी ने किया है जो "हिन्दू-सभ्यता" के नाम से सन् १९५५ ई० में श्री गोपीनाथ सेठ, नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित होकर राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड बम्बई से प्रकाशित हुआ है। वेदों के सम्बन्ध में मुकर्जी महोदय के विचार अत्यन्त सङ्कुचित, पक्षपातपूर्ण और पाश्चात्यों के लेखों की नकलमात्र हैं। इस लेख में श्री मुकर्जी महोदय के विचारों का वैदिक दृष्टिकोण से परीक्षण अनिवार्य है जिससे साधारण जनता को कोई भ्रम उत्पन्न न हो। प्रायः सभी ऐतिहासिक विद्वान् वेदों से पूर्व 'प्राग् ऐतिहासिक काल' का वर्णन करते हैं। पर ऐतिहासिकों की यह कल्पना सर्वथा ही निराधार और कपोल-कल्पना है। पं० भगवद्दत्त जी बी. ए. ने इस मत का प्रबल खण्डन किया है। आप लिखते हैं:—"वाङ्मय ही बताता है कि कथित Prehistoric (प्रागैतिहासिक) युग का भारतीय इतिहास में अस्तित्व नहीं है।[1]

डॉ० मुकर्जी—आप सिन्धु सभ्यता को अनार्यों की देन मानते हैं (पृष्ठ ३२)

समीक्षा—सिन्धप्रान्त के मोहेंजदड़ों की खुदाई में बहुत सी सामग्रियाँ प्राप्त हुई हैं जिनको देखकर ऐतिहासिकों ने अपनी भिन्न २ कल्पनाएँ की हैं। कोई सभी सामग्रियों को ऋग्वेद से सिद्ध करता है, कोई द्रविड़ों की देन बतलाता है, कोई सुमेरियन सभ्यता बतलाता है, पर आज तक ये ऐतिहासिक विद्वान् किसी भी निर्णय पर नहीं पहुँचे हैं और न भविष्य में पहुँचेंगे। जब वहां के विशाल नगर, पथ, पशु, पक्षी, आभूषण, शस्त्रास्त्र सभी का वर्णन ऋग्वेद में है तो वह आर्यों की देन के सिवाय और क्या हो सकती है ?

डा० नरेन्द्र नाथ लाहा एम. ए., पी. एच. डी., पी. आर. एस. का कथन है कि—

"...सिन्धु उपत्यका के विशाल नगर हमारी आँखों के सामने हैं, जिनका समय पुरातत्त्वविदों ने ईसा से ४००० वर्ष पूर्व स्थिर किया है। कई सीलें तो इससे भी पुरानी हैं, उनके समय का अभी अन्दाज ही कोई नहीं लगा पाया है ! यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि, यह काल निर्णय भी स्वयं उन्हीं पाश्चात्य विद्वानों का किया हुआ है, जिनकी दृष्टि में भारतीय आर्यों का भारतवर्ष में आगमन और उनके वेदों का निर्माण ईसा से केवल १५०० वर्ष ही पूर्व की बातें हैं !!"[2]

लाहाजी के लेख से प्रगट हो गया कि सिन्धु सभ्यता के काल की कल्पना केवल पाश्चात्यों की है जो सर्वथा ही भ्रमपूर्ण है। न तो आर्य कहीं बाहर से आए और न वेदों का निर्माण ईसा से १५०० वर्ष पूर्व हुआ। यह तो भारतीय इतिहास को भ्रष्ट करने की चाल है।

डा० लक्ष्मणस्वरूप जी एम. ए., डी. फिल्० (आक्सन) इस मत का स्पष्ट खण्डन करते हुए लिखते हैं:—

"...ऋग्वेदकाल मोहञ्जोदारो नगर की स्थापना के काल से बहुत प्राचीन है।...भारत की सभ्यता ही प्राचीनतम सभ्यता है। हम निःसंकोच कह सकते हैं कि, संसार की सभ्यता का उद्गम स्थान भारत ही हो सकता है।"[3]

---

१. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास "प्रथम भाग" प्रथम संस्करण, पृ० ३३८

२. मासिक पत्रिका "गङ्गा" का "पुरातत्त्वाङ्क" प्रवाह ३ जनवरी १९३३ ई० तरंग १, पृष्ठ ६२ "सिन्धु-उपत्यका की सभ्यता और मोहञ्जोदारो" शीर्षक लेख।

३. वही, पृष्ठ ६८-६९ "मोहञ्जोदारो" शीर्षक लेख।

अतः वैदिक सभ्यता से पूर्व सिन्धु सभ्यता बतलाना मिथ्या है।

डॉ० मुकर्जी—पृष्ठ ३६, ३७, ३८ में कोल, मुण्डा, निषाद, भील, कुरुम्ब आदि जातियों का वर्णन करते हुए उनको भारत के आदि निवासी बतलाते हैं।

समीक्षा—भारतीय इतिहास को भ्रष्ट करने के लिए यह भी पाश्चात्य ऐतिहासिकों की एक चाल थी जिससे यह सिद्ध हो सके कि भारतवर्ष में आर्य बाहर से आए और यहां के आदि निवासियों को मारकर जंगलों में भगाकर स्वयं राज्य करने लगे।

समीक्षा—आर्यों से पूर्व आर्यावर्त में कोई भी नहीं रहता था। महर्षि दयानन्द जी लिखते हैं:—"...इसके पूर्व इस देश का नाम कोई भी नहीं था और न कोई आर्यों के पूर्व इस देश में बसते थे। क्योंकि आर्य लोग सृष्टि की आदि में कुछ काल के पश्चात् तिब्बत से सूधे इसी देश में आकर बसे थे।"[४]

महर्षि के इस लेख से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि आदिवासियों की कल्पना ऐतिहासिकों का भ्रममात्र ही है।

पं० जगत्कुमारजी 'शास्त्री, 'सिद्धान्त भूषण' अपने "छोटा नागपुर निवासी उरांव, मुण्डा आदि जातियाँ हिन्दू ही हैं" शीर्षक लेख[५] तथा श्री शीतल प्रसाद वैद्य अपने "सन्थाल आदि जातियाँ हिन्दू हैं" शीर्षक लेख[६] में प्रबल पुष्ट प्रमाणों तथा उनके रीति-रस्मों से सिद्ध करते हैं कि वे हिन्दू हैं।

राजर्षिमनु का मत—

"शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥ ४३ ॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥ ४४ ॥
मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥४५॥
[मनुस्मृति अ० १०]

अर्थ—ये क्षत्रिय जातियें क्रियालोप से और (योजन अध्यापन प्रायश्चित्तादि के लिए) ब्राह्मणों के न मिलने से लोगों में धीरे २ शूद्रता को प्राप्त हो गईं ॥ ४३ ॥ (यथा) पौण्ड्रक, औड्र * द्रविड़, काम्बोज (कम्बोडियन), यवन (यूनानी), शक (सीथियन), पारद, पह्लव (इरानी), चीन (चीन देश के निवासी), किरात, दरद (काश्मीर प्रान्त में), खश (आसाम प्रान्त के निवासी) ॥ ४४ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों की (क्रियालोप से) अधम जातियें म्लेच्छ भाषायुक्त वा आर्यभाषायुक्त "दस्यु" कही गई हैं ॥ ४५ ॥"

श्री कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास का मत—

"यवनाः किराता गान्धाराश्चीनाः शबरबर्बराः।
शकास्तुषाराः कङ्काश्च पह्लवाश्चान्ध्रमद्रकाः।
चौड्राः पुलिन्दा रमठाः काम्बोजाश्चैव सर्वशः।
ब्रह्मक्षत्रप्रसूताश्च वैश्याः शूद्राश्च मानवाः ॥ १४ ॥
[महाभारत, शान्तिपर्व, राज-प्रकरण, अ० ६५] †

अर्थ—यवन, किरात, गान्धार (कन्धारी), चीनी, शबर (भील), बर्बर (अफ्रीकन), शक, तुषार, कंक, पह्लव, आन्ध्र, मद्रक, चौड्र, पुलिन्द, रमठ, और कम्बोज आदि संसार भर की जातियाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चारों वर्णों से उत्पन्न हुई हैं।

"क्षत्रियाश्च ते धर्मपरित्यागाद्
ब्राह्मणैश्च परित्यक्ता म्लेच्छतां ययुः।"
[विष्णु पुराण ४।३]

तुलना करो प्रो० शिवदत्त ज्ञानी एम. ए. कृत "भारतीय संस्कृति" द्वितीय संस्करण पृष्ठ ४२ जिसमें उन्होंने स्पष्ट लिखा है। "...निष्पक्ष वृत्ति से इतना तो कहा जा सकता है कि सिन्धु संस्कृति को भारतीय आर्यों से पृथक् करना कोई सरल काम नहीं है"—लेखक

४. सत्यार्थ प्रकाश, अष्टम समुल्लास। ५. साप्ताहिक पत्र "आर्यमित्र" २९ अक्टूबर १९३६ ई०, पृष्ठ ११, १२।

६. वही, १२ सितम्बर सन् १९३५ ई०, ७–८।

* परलोकवासी, पुरातत्त्वज्ञ, श्रोत्रिय पं० छोटेलाल शर्मा, एम० आर० ए० एस० ने अपनी पुस्तक "सहस्रखण्डीजाति निर्णय" द्वितीय भाग, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४१७ से ४२६ तक अनेक प्रबल पुष्ट प्रमाणों से चौड्रों को क्षत्रिय सिद्ध किया है—लेखक—

† "सत्य निर्णय" हिन्दी संस्करण (१९३२ ई०, देहली) पृष्ठ १९४ से उद्धृत।

अर्थात्—सब क्षत्रिय ही अपने धर्म और ब्राह्मणों के त्याग से म्लेच्छ बने हैं।

इन उपर्युक्त प्रमाणों से महर्षि दयानन्दजी के लेख की पुष्टि होती है और जिनको ऐतिहासिक विद्वान् आदिवासी कहते हैं वे भी सभी आर्य ही हैं। अतः डा० मुकर्जी का मत कपोलकल्पित है।

आप 'भारत में आर्य' का वर्णन करते हुए पृष्ठ ६८-६९ में लिखते हैं:—

"······इस विषय में भारोपीय या भारत-जर्मनीय भाषाओं में प्राप्त सामग्री के आधार पर कुछ अनुमान ही लगाया जा सकता है।······

डॉ० गाइल्स के मतानुसार (कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया भाग १, अध्याय ३) वृक्ष, वनस्पति और पशु-पक्षी-सम्बन्धी ऊपर की साक्षी से (१) भारतवर्ष, (२) पामीर प्रदेश, जो आरम्भिक निवास के लिए बड़ा अनुपयुक्त है, (३) यूरोप के उत्तरी मैदान जहाँ पहले घने वन थे, (४) रूस के दक्षिणी मैदान और (५) उत्तरी ध्रुव, ये प्रदेश मूल आर्य-वास-स्थान नहीं हो सकते। उनका सुझाव है कि हंगरी, आस्ट्रिया और बोहेमिया वाला यूरोप का टुकड़ा ही वह प्रदेश था।"

समीक्षा—डॉ० मुकर्जी और पाश्चात्यों के चरण-चिह्नों पर चलने वाले अन्य भारतीय ऐतिहासिकों ने आज तक यह निर्णय नहीं किया कि आर्यों की आदि जन्मभूमि कहाँ थी। सबों ने अपने २ अटकलपच्चू सिद्धान्तों को रक्खा है और खेद है कि ये ही भ्रान्तिपूर्ण सिद्धान्त भारतीय सन्तानों को पढ़ाए जाते हैं।

इसके सम्बन्ध में मैंने "भारतीय इतिहास और वैदिक काल" शीर्षक लेख[७] में पूर्ण रूप से विचार करते हुए वैदिक प्रमाणों से सिद्ध किया है कि आर्यों की आदि जन्मभूमि "त्रिविष्टप" (तिब्बत) है।

मुकर्जी—"···अतः उचित उपपत्ति से लगभग २५०० ई० पू० में ऋग्वेद का काल मानना होगा" [पृष्ठ ७१].

समीक्षा—यह भी आपकी कल्पना और पाश्चात्यों की नकल है।

मैंने आपके इस मत की आलोचना प्रबल पुष्ट प्रमाणों से अपने लेख "वेदकाल निरूपण में पाश्चात्यों की भ्रान्तियाँ" शीर्षक लेख[८] में की है और सिद्ध किया है कि वेद आदि सृष्टि में प्राप्त हुए हैं और ईश्वरीय ज्ञान हैं।

मुकर्जी—पृष्ठ ७१-७२, कुभा, क्रुमु, गोमती, सुवास्तु, सिन्धु, परुष्णी, प्रभृति नदियों का नाम ऋग्वेद से दिखलाते हैं।

समीक्षा—वेदों में भूगोल, इतिहास नहीं हैं जो इस प्रकार क्लिष्ट कल्पना डॉ० मुकर्जी करते हैं। किसी वैदिक विद्वान् के पास बैठकर वेदों को पढ़ें तो उनकी वास्तविकता का बोध हो। इस मत का खण्डन मैंने अपने "भारतीय इतिहास और वैदिककाल" शीर्षक लेख[९] में किया है। मैंने निरुक्त आदि के प्रमाण से प्रदर्शित किया है कि इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना प्रभृति नाड़ियों का वर्णन है न कि भौतिक नदियों का।

मुकर्जी—पृष्ठ ७२ में—"······ऋग्वेद में दाशराज्ञ (७।३३।२, ५।८३।८) अर्थात् दस राजाओं के युद्ध का वर्णन है जो भरतों के राजा सुदास के साथ हुआ······।

समीक्षा—ऋग्वेद में दाशराज्ञ युद्ध की कल्पना भी विदेशी ऐतिहासिकों के मस्तिष्क की उपज है। इस दाशराज्ञ युद्ध का प्रबल खण्डन मैंने "भारतीय इतिहास और वैदिक काल" शीर्षक लेख[१०] में तथा अपनी पुस्तक[११] में किया है।

वास्तव में 'दाशराज्ञ' का अर्थ है—"दाश" शब्द 'दाशृ दाने' धातु से व्युत्पन्न होता है और 'दाशानां राज्ञे'

७. देखो—मासिक पत्रिका "वेदवाणी" काशी, वर्ष ३, आषाढ़ २००८ वि० अङ्क ९ पृष्ठ ११ से १६ तक तथा अंक १०, पृष्ठ १५.—लेखक।

८. वही, वर्ष ८, नवम्बर दिसम्बर १९५५ ई०, अङ्क १, २, "पाश्चात्य-मत परीक्षणाङ्क" पृष्ठ १२९ से १३४ तक—लेखक।

९. वही, वर्ष ३, श्रावण २००८ वि०, अङ्क १०, पृष्ठ १५ से १९ तक।

१०. वही, पृष्ठ १९ से २० तक तथा अङ्क ११ पृष्ठ ८ से ११ तक।

११. "भारतीय इतिहास और वेद" पृष्ठ ३-४ (जयदेव ब्रदर्स, बड़ौदा द्वारा प्रकाशित प्रथम संस्करण)।

ऐसा समास है, जिसका तात्पर्य है—देने वालों के राजा के लिए अर्थात् दानियों में श्रेष्ठ के लिए।'

मुकर्जी—पृष्ठ ७६ में "······'परिवार में अगम्यागमन जैसे पिता-पुत्री का सम्बन्ध अथवा भाई-बहन का सम्बन्ध किसी प्रकार विहित न था।"

पुनः इसी पृष्ठ की पाद-टिप्पणी में लिखा है—ऋग्वेद १०।१०।१० में उन पूर्व युगों की (उत्तरा युगानि) का एक संकेत है जब बहन के अयोग्य (अजामि) विवाह अर्थात् भाई के साथ सम्बन्ध कर लेती थी।"

समीक्षा—वेद मंत्रों और प्रकरण को न समझने के कारण कैसी भयङ्कर भूल हो सकती है इसका ज्वलन्त उदाहरण डॉ० मुकर्जी की पाद-टिप्पणी है। जब आप ऋग्वेद से यह दिखलाते हैं कि भाई-बहन का सम्बन्ध विहित न था और पुनः पाद-टिप्पणी में समर्थन करते हैं। इससे तो यह सिद्ध होता है कि आपके मत में वेद मन्त्रों में परस्पर विरोध है। देखिए वेद मंत्रों में परस्पर विरोध नहीं है, क्योंकि ऐसी त्रुटियाँ पौरुषेय ग्रन्थों में हो सकती हैं न कि अपौरुषेय ईश्वरीय ज्ञान वेदों में।

ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त १०, मंत्र १ से १४ तक में कहीं भी भाई-बहन के विवाह का संकेतमात्र भी नहीं है, वरन् मंत्र १२ में स्पष्ट लिखा है कि—

"न वा उ ते तन्वा तन्वं सं पपृच्यां
पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्।
अन्येन मत्प्रमुदः कल्पयस्व न
ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत्॥"
[ऋ० १०।१०।१२]

अर्थ—"(वा उ) यदि ऐसा ही विकल्प है अर्थात् तू मुझे भाई और अपने को बहन समझती है तो भी (ते तन्वा) तेरी देह से मैं (तन्वं न सं पपृच्याम्) अपने देह का सम्पर्क न कराऊँ क्योंकि (यः स्वसारं निगच्छात्) जो भगिनी का संग करे उसे भी (पापं आहुः) पापी कहते हैं। (अन्येन मत् प्रमुदः कल्पयस्व) तू मुझसे भिन्न के साथ नाना प्रमोद कर। हे (सुभगे) सौभाग्यवती! (ते भ्राता) तेरा भरण पोषण करने वाला पति पुरुष भी भाई के समान ही (एतत् न वष्टि) ऐसे संग की कामना नहीं करता।"[१२]

इस वेद मंत्र में भगिनी से संग करनेवाले को पापी कहा है। आप ऋ० १०।१०।१० से भाई-बहन का विवाह सिद्ध करते हैं—अतः पूरा मंत्र देकर अर्थ किया जाता है:—

"आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि
यत्र जामयः कृणवन्नजामि।
उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्य-
मिच्छस्व सुभगे पतिं मत्॥"

अर्थ—"(ता उत्तरा युगानि आ गच्छान्।' वे नाना उत्तम से उत्तम वर्ष प्राप्त हों (यत्र) जिनमें (जामयः) अपत्य उत्पन्न करने में समर्थ कन्याएँ, बहुएँ (अजामि कृणवन्) निर्दोष सन्तान उत्पन्न करें।······" ॥[१३]

अतः आप का सिद्धान्त अत्यन्त निन्दनीय और त्याज्य है।

मुकर्जी—पृष्ठ ७९—"दस गायों को देकर इन्द्र की एक प्रतिमा लेने की बात एक मन्त्र में कही गई है (क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः, ४।२४।१०)।"

समीक्षा—इस मंत्र से इन्द्र की एक प्रतिमा खरीदने की कल्पना भी आप की विचित्र है। वेदों में किसी भी प्रकार के प्रतिमा पूजन व क्रय करने का वर्णन नहीं है।

आपने जो अर्थ किया है वह भी निरुक्त, निघण्टु के सर्वथा ही विपरीत है। उस मंत्र का अर्थ यों है—"(मम) मुझ प्रजा के (इमं इन्द्रं) इस ऐश्वर्यवान्, शत्रु हन्ता राजा वा सेनापति को (दशभिः) दश (धेनुभिः) गौओं के तुल्य दसों पृथिवियों से या दस गुणा भूमि से भी (कः) कौन (क्रीणाति) खरीद सकता है।"···[१४]

'इन्द्र' का अर्थ ऐश्वर्यवान्, शत्रु हन्ता राजा, सेनापति पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ ने किया है जो उचित है। इसके अतिरिक्त इन्द्र के परमेश्वर, सूर्य, वायु, विद्युत्, किसान प्रभृति कई अर्थ होते हैं।[१५]

---

१२. पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार कृत ',ऋग्वेद संहिता भाषाभाष्य" षष्ठ खण्ड, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ-४६६।

१३. वही, पृष्ठ ४६५।

१४. वही, तृतीय खण्ड प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ४९९-५००।

१५. देखो मासिक पत्र "दयानन्द-सन्देश" दिल्ली, मई १९४८ ई० पृष्ठ २३९ से २४४ तक।

इस मन्त्र में 'प्रतिमा' का वर्णन कहाँ है ?

मुकर्जी—पृ० ८७—"इस विशाल साहित्य अथवा मन्त्रों के तरल समुदाय में से पूजा उपासना के लिए एक सुलभ संग्रह की आवश्यकता थी; यों ऋग्वेद संहिता का जन्म हुआ। उसी में से उन्हीं नियमों के अनुसार साम, यजु और अथर्व ये तीन, अन्य वैदिक संहिताएँ बनीं।"...

समीक्षा—ऋग्वेद में से ही साम, यजु, अथर्व संहिताएँ बनी, आपकी यह कपोलकल्पनामात्र है। चारों वेद सृष्टि के आदि में अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा ऋषियों के द्वारा प्राप्त हुए। जैसे उस समय मिले थे वैसे आज भी वर्तमान हैं, उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन आजतक नहीं हुआ है।

मुकर्जी—पृष्ठ ८९—"ऋग्वेद में पुरोहितों के उदाहरण ये हैं—विश्वामित्र और वसिष्ठ त्रित्सु वंश के भरत राजा सुदास के पुरोहित (३।३३।५३; ७।१८); कुरु श्रवण राजा का पुरोहित (१०।३३) और शान्तनु का पुरोहित देवापि (१०। ९८) उसका मुख्य कार्य राजा के घर में पुरोहिताई करना था।"

समीक्षा—वेदों में किसी व्यक्ति विशेष का वर्णन नहीं है। वेदों के सभी शब्द यौगिक हैं अतः आपकी यह कल्पना भी त्याज्य है।

मुकर्जी—पृष्ठ ८७—"सर्वप्रथम ऋग्वेद के छः ऋषि......गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वसिष्ठ। उनके बनाए हुए मन्त्र ऋग्वेद के मण्डल दो से सात तक छः विभागों में संगृहीत कर दिए गए, जिन्हें उनके 'कुल-ग्रन्थ' कहा जा सकता है।"......।

समीक्षा—ऋग्वेद ईश्वरीय ज्ञान है, न कि ऋषियों के बनाए हुए हैं। विदेशियों के लेखों को पढ़कर आपने यह कल्पना की है। ऋषि वेदमंत्रद्रष्टा हैं, न कि बनाने वाले। मैंने इस मत का खण्डन अपनी पुस्तक[16] तथा श्रीयुत पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक ने अपनी पुस्तक[17] में किया है।

मुकर्जी—पृष्ठ ९१—"अन्ततः ऋग्वेद मृत्यु के अनन्तर होने वाले उस जीवन में विश्वास करता है जो यम से अनुशासित लोक में प्राप्त होता था।"

समीक्षा—आपका यह स्वकीय मत नहीं है पर मैकाडानल-कीथ के मत हैं, जिनकी चर्चा उन्होंने अपनी पुस्तक "वैदिक इण्डैक्स" में की है एवं "कैम्ब्रीज हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया" अध्याय ४, ५ में है।

स्वयं वेदों को स्वाध्याय करके न समझना और विदेशियों के चरण चिह्नों पर चलना बुद्धिमानी नहीं है।

क्या आप बतला सकते हैं कि यम से अनुशासित लोक कौन सा है ? 'यम' क्या है ? इसके लिए वेद में आता है कि—

"यमेन, वायुना। सत्य राजन्" [यजु० २०।४].

इत्यादि वेदवचनों से निश्चय है कि "यम" नाम वायु का है। शरीर छोड़ वायु के साथ अन्तरिक्ष में जीव रहते हैं और जो सत्यकर्त्ता पक्षपात रहित परमात्मा "यमराज" है वही सब का न्यायकर्त्ता है।[18]

---
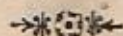
१६. "भारतीय इतिहास और वेद" प्रथम संस्करण, पृष्ठ ७ से ९ तक।
१७. "क्या ऋषि वेदमंत्रों के रचयिता थे ?"
१८. सत्यार्थप्रकाश एकादश समुल्लास।

[पृष्ठ ५ का शेष]

'ऐसा हुआ होता तो ऐसा होता', 'भविष्य में कदाचित् ऐसा हो' इस प्रकार के संकल्प-विकल्प मनुष्य के कार्य में कितनी बाधा डालते हैं, यह सब कोई जानते हैं। कर्मशील व्यक्ति को इस व्यर्थ के संकल्प-विकल्पमें न पड़ कर अपना कर्तव्य करना चाहिए। इसी का प्रतिपादन नीचे के पद्य में किया गया है:—

यदतीतमतीतं तत् संदिग्धं यदनागतम्।
तस्माद् यत्प्राप्तकालं तन् मानवेन विधीयताम्॥१॥

जो हो चुका वह तो हो ही चुका। जो आने वाला है वह सन्देह-ग्रस्त है। इसलिए मनुष्य को वही काम करना चाहिए जिसका संबन्ध वर्तमान से है।

पुस्तक-परिचय

(गताङ्क से आगे)

७—महर्षि दयानन्द और महात्मा गान्धी

लेखक—पं० धर्मदेव विद्यावाचस्पति। २०×३०/१६ पृ० १८२ हैं। मूल्य २) कुछ अधिक है।

पुस्तक के नाम से ही प्रतिपादित विषय स्पष्ट है। भारत स्वतन्त्र होने पर जिन भारतीयों को महात्मा गान्धी के विचारों का ज्ञान है, इस पुस्तक से उन्हें ऋषि दयानन्द के विचारों का ज्ञान भी होगा। साथ २ विचार करने से लाभ भी अधिक होगा। ऐसी पुस्तकें पाठ्यक्रम में रखने योग्य हैं। विद्वान् लेखक कांग्रेस विचारधारा में आस्था रखते हैं। उधर आर्यसमाज में भी इनकी पूरी निष्ठा है। बहुत स्वाध्यायशील और विद्वान् हैं।

इस ग्रन्थ के पृ० ७६-७७ में ऋषि दयानन्द प्रदर्शित "सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिक धर्म जिसको सदा से सब मानते आये, मानते हैं और मानेंगे भी, इसीलिये उसको सनातन नित्य धर्म कहते हैं कि जिसका विरोधी कोई भी न हो सके…" इन उदात्त भावनापूर्ण शब्दों की तुलना में लेखक को महात्मा गान्धी का इसी के समान कोई उद्धरण दिखाना चाहिये था। हमारे विचार में ये विचार दयानन्द की संसार को एक अपूर्व देन है। इससे भी उनका महान् ऋषित्व प्रकट होता है। महात्मा गान्धी की विचारधारा तो इस ओर रही, पर इतना स्पष्ट और निर्दुष्ट बोध बहुत कम आचार्यों ने दर्शाया होगा। अगले संस्करण में इस पर आशा है विद्वान् लेखक ध्यान देंगे॥ मूल्य २)

प्राप्ति स्थान—वैदिक साहित्यसदन लालदरवाजा सीताराम बाजार देहली॥

८—वैदिकधर्म परिचय

लेखक—पं० जगदेवसिंह शास्त्री। वैदिकधर्म के अनेक सिद्धान्तों का परिचय इस पुस्तक से प्रश्न उत्तर रूप में मिलता है। स्कूलों में यह पुस्तक पाठ्यक्रम में रखने योग्य है॥

प्राप्तिस्थान पूर्ववत्— मूल्य ॥=)

९—आपबीती जगबीती

लेखक—पं० नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ एम० ऐल० ए०। विषय नाम से ही स्पष्ट है। यह ६० पृष्ठ की पुस्तिका बहुत रोचक ढंग से लिखी गई है। पढ़ने वालों को विशेषतया छात्रों को इससे कई प्रकार की प्रेरणा मिल सकती है। 'मैं आर्य समाजी कैसे बना' यह प्रकरण ढूँढने पर भी नहीं मिला। यह भी आना चाहिये था॥

प्राप्तिस्थान—नरदेव शास्त्री एम० ऐल० ए० महाविद्यालय—ज्वालापुर मूल्य ≈)

१०—मेरे संस्मरण

लेखक—श्री० मूलराज जी०बी०ए०बी० टी०। २०×३०/१६ पृष्ठ संख्या ५१०। यह लेखक का यद्यपि व्यक्तिगत जीवन है, पुनरपि इसमें आर्यसमाज वा प्रतिनिधि सभा पंजाब, गुरुकुल विभाग के अनेक अधिकारियों-नेताओं-कार्यकर्त्ताओं का किया गया उल्लेख चित्रों सहित आ गया है। लेखक आर्य समाज के सच्चे भक्त-सेवक और कार्यकर्त्ता २५–३० वर्ष से चले आ रहे हैं। इनके जीवन से नवयुवकों को कई अंशों में प्रेरणा भी मिल सकती है। बहुत प्रयास और समय लगाया गया है। इसमें ९४ चित्र हैं जिनमें बहुत से आर्ट पेपर पर हैं। यह पुस्तक पाँच खण्डों में पूरी हुई है।

मेरी दृष्टि में यदि इस पुस्तक का चतुर्थभाग व्यक्तिगत जीवन सम्बन्धी घटनाओं के लिये रहता, शेष पृष्ठों में पंजाब के आर्य समाज वा आर्य प्रतिनिधि सभा लाहौर का इतिहास वा संस्मरण लिखा जाता तो अधिक लाभ होता॥

लेखक का भारी साहस है जो इतना रुपया व्यय करके यह ग्रन्थ छापा।

आर्य पुरुषों विशेष कर पंजाब के आर्य पुरुषों के लिये यह पुस्तक पढ़ने और मनन करने योग्य है॥

प्राप्ति स्थान—पंजाब पुस्तक भण्डार—दरियागंज देहली॥

मूल्य ५)

११—क्या राम सेना बन्दर थी

लेखक—पं० रघुनाथ दत्त बन्धु शास्त्री—१६ पृष्ठ की इस लघु पुस्तिका में रामायण के प्रमाणों सहित यह सिद्ध किया गया है कि राम सेना बन्दर न थी। विद्वान् लेखक ने बहुत अच्छी तरह यह बात सिद्ध करके दिखाई है।

इन पुस्तकों का प्रचार अधिक से अधिक होना चाहिये। बिना मूल्य सप्रेम भेंट—

प्राप्तिस्थान—ठाकुर दत्त धर्मार्थ ट्रस्ट—देहरादून॥

१२—ईशावास्योपनिषद्

ऋषिदयानन्द कृत भाषाभाष्य सहित—सम्पादक पं० रघुनाथ दत्त बन्धु शास्त्री—

यह पुस्तक आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता-विद्वान्-दानी श्री० पं० ठाकुरदत्त जी शर्मा आविष्कारक अमृतधारा-देहरादून ने अपनी स्वर्गीया सहधर्मिणी श्रीमती पूर्णदेवी जी की स्मृति में प्रकाशित की है। इसके दूसरे भागमें इस उपनिषद् पर प्राप्त होने वाले सभी भाष्यों को देने का यत्न किया गया है। इससे इस विषय में एक स्थान पर सब प्रकार की विचार सामग्री संग्रहीत कर दी गई है।

स्वर्गीया देवी जी की भावनानुसार ऋषि दयानन्द कृत यजुर्वेदभाष्य का ४० वाँ अध्याय (भावार्थ) दिया गया है। आरम्भ में श्री० पं० जी ने अपनी धर्मपत्नी के विषय में कुछ संस्मरण भी दिये हैं, जिन्हें पढ़ कर प्रत्येक पाठक को एक विशेष प्रेरणा मिलती है। उक्त देवी जी वास्तव में बड़ी धार्मिका-पतिपरायणा-और चुपचाप सेवा करने वाली आर्य देवी थीं।

प्रेमोपहार में यह पुस्तक दी जाती है।

प्राप्तिस्थान—श्री० पं० ठाकुरदत्त शर्मा वैद्य—अमृतधारा भवन देहरादून॥

१३—संध्या (आर्यों की दैनिक उपासना)

लेखक—श्री० चन्द्रानन्द जी वानप्रस्थी (भूतपूर्व श्री० चान्दकरण शारदा-अजमेर)। २०×३०/१६ पृष्ठ संख्या १२० यह पुस्तक हमें बहुत अच्छी लगी, क्योंकि इसमें ऊपर ऋषि दयानन्द कृत सन्ध्या पूरी दी गई है। नीचे टिप्पणी में अन्य विद्वानों के अर्थ भी दर्शाये गये हैं। भूमिका में उपयोगी विचार उपस्थित किये गये हैं। उपासना विषय में उपासक के लिये सरल और सुबोध ढंग से व्याख्या या उद्बोधन करने का यत्न किया गया है। मूल्य कुछ अधिक प्रतीत होता है॥

पुस्तक उपादेय पठनीय है॥

प्राप्तिस्थान—शारदा भवन अजमेर मूल्य १)

१४—लक्ष्मीदेवी-अभिनन्दन ग्रन्थ

सम्पादक श्री० पं० हरिशंकर जी शर्मा। २०×३०/८ पृष्ठ संख्या २००। यह ग्रन्थ स्नातिका-मण्डल कन्या गुरुकुल हाथरस की ओर से श्रीमती लक्ष्मीदेवी जी मुख्याधिष्ठात्री कन्या गुरुकुल हाथरस की सेवा में भेंट रूप समर्पित किया गया है। इसमें कुलमाता लक्ष्मीदेवी जी के विषय में स्नातिकाओं द्वारा श्रद्धा रूप कुछ लिखा गया है तथा शिक्षा सम्बन्धी कतिपय अच्छे लेखों का संग्रह है। कन्याओं की शिक्षा के लिये प्रत्येक आर्य को माता लक्ष्मी देवी के प्रति कृतज्ञ होना चाहिये, जिन्होंने अपना सारा जीवन इस कार्य में समर्पित कर दिया और इस संस्था को चला रही हैं॥

ग्रन्थ उपादेय है। मूल्य ३) [illegible] अधिक है। [illegible] से भले ही प्राप्त हो सकता है॥

आर्यसमाजों वा पुस्तकालयों में यह ग्रन्थ रखने योग्य है॥

प्राप्तिस्थान—कन्या गुरुकुल हाथरस (अलीगढ़) मूल्य ३)

हमारे सहयोगी

मासिक पत्र

सार्वदेशिक—यह पत्र ३१ वर्ष से आर्य समाज की शिरोमणिसभा आर्यसार्वदेशिक सभा—बलिदान भवन-देहली से प्रति मास प्रकाशित होता है।

इसके सम्पादक मन्त्री सभा ही रहते हैं (चाहे वह सम्पादन कला के ज्ञाता हों या न हों) वास्तविक सम्पादक (सह सम्पादक) श्री० पं० रघुनाथ प्रसाद जी पाठक हैं जो अच्छे आध्यात्मिक लेखक भी हैं। वैदिकधर्म सम्बन्धी उत्तम लेखों का संग्रह रहता है। आर्यसमाज की सामूहिक

गति विधि का भी इसमें परिचय मिलता है। प्रत्येक भारत वासी को विशेषकर प्रत्येक आर्यसमाज को इसे अवश्य मंगाना चाहिये॥ पृष्ठ संख्या ४८। वार्षिक मूल्य ५)

प्राप्तिस्थान—सार्वदेशिक-बलिदान भवन-देहली ६

गुरुकुल पत्रिका—गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार द्वारा ८ वर्ष से प्रकाशित हो रही है। इसमें वैदिकधर्म सम्बन्धी उच्च कोटि के लेखों का संग्रह रहता है। तथा गुरुकुल सम्बन्धी समाचार भी रहते हैं। कांग्रेस सम्बन्धी विचारों को इसमें अधिक स्थान दिया जाता है। आर्यसमाज सम्बन्धी लेखों वा विचारों का इसमें अधिक स्थान चाहिये। ब्रह्मचारियों के संरक्षक इसके अधिक ग्राहक हैं। गुरुकुल सम्बन्धी जानकारी तथा वैदिकधर्म के परिचय के लिये भारतीयों को इसे अवश्य पढ़ना चाहिये। पुस्तकालयों में यह पत्रिका अवश्य रहनी चाहिये॥

पृष्ठ संख्या ३२ वार्षिक मूल्य ४)

प्राप्तिस्थान—गुरुकुल पत्रिका—गुरुकुलकांगड़ी हरिद्वार

आर्य सेवक—आर्यप्रतिनिधि सभा मध्य प्रदेश का यह मुखपत्र है। श्री० प्रो० इन्द्रदेव सिंह आर्य एम.एस.सी. इसके सम्पादक हैं। मध्य प्रदेश की दृष्टि से यह पत्र ५५ वर्ष से बहुत अच्छा कार्य कर रहा है। आकार प्रकार यद्यपि छोटा है। पर आकर्षक है और देश जाति के लिये उपयोगी विचार इस में रहते हैं। मध्य प्रदेश के निवासियों को इसे अधिक प्रश्रय देना चाहिये। भारत की आर्य समाजों को भी इसे मंगाना चाहिये। परस्पर आर्यों का सम्बन्ध इसीसे सुदृढ़ होता है।

पृष्ठ संख्या २० वार्षिक मूल्य केवल २)

प्राप्तिस्थान—आर्य सेवक-नागपुर॥

आर्य शक्ति—यह पत्र आर्यसमाज फोर्ट बम्बई से ३ वर्ष से चल रहा है। आकर्षक तथा आर्य भावनाओं से भरा है। इसके सम्पादक श्री० पं० रुद्रमित्र शास्त्री हैं। बम्बई प्रान्त में प्रत्येक आर्य को इसे अवश्य पढ़ना चाहिये। भारत की बड़ी २ समाजों में यह अवश्य आना चाहिये। आर्यसमाज का वहां पर क्या काम हो रहा है, इसका परिचय प्रत्येक आर्य को रखना चाहिये। हम चाहते हैं कि केवल बम्बई नगर में ही इसके ग्राहक पूरे हो जाने चाहियें॥

पृष्ठ संख्या २० वार्षिक मूल्य ३) है

प्राप्तिस्थान—आर्य समाज फोर्ट बम्बई १

वेद प्रकाश—यह पत्र श्री० गोविन्दराम हासानन्द आर्य—के सम्पादकत्व में ४ वर्ष से नई सड़क देहली—से प्रकाशित होता है। इसमें ऋषि दयानन्दकृत ग्रन्थों को सर्वसाधारण तक पहुँचाने में बहुत प्रशंसनीय कार्य हो रहा है। लेख वैदिक धर्म की भावनाओं का प्रचार करने वाले होते हैं। प्रत्येक आर्य समाज तथा आर्य पुरुष को इसे अवश्य मँगाना चाहिये। प्रचार की दृष्टि से यह उपयोगी पत्र है॥

पृष्ठ संख्या २४— वार्षिक मूल्य २)

प्राप्तिस्थान—गोविन्दराम हासानन्द-नई सड़क-देहली

सविता—यह पत्र ९ वर्ष से वैदिक संस्थान अजमेर की ओर से श्री पं० विद्यानन्द विदेह जी के सम्पादकत्व तथा व्यवस्था में निकल रहा है। वेदमन्त्रों के आश्रय से उत्तम विचार पाठकों को मिलते हैं। जहाँ तक साधारण जनता का सम्बन्ध है, यह पत्र बहुत उपयोगी साहित्य दे रहा है, जिसके लिये हम इसका प्रचार चाहते हैं। जो लोग यह समझते हैं कि व्याकरण-निरुक्तादि वेदाङ्गों के ज्ञान के बिना वेदभाष्य किया जा सकता है, हम उसको मिथ्या वा दम्भ समझते हैं। संस्कृत न जानने वाले भी कहने लगे हैं कि वेद का अर्थ हम कर सकते हैं, यह सब मिथ्यावाद है। इसकी प्रशंसा वा सहयोग शास्त्रानभिज्ञ ही कर सकते हैं। हां ऋषि दयानन्द के किये अर्थों को लेकर सरलता से समझाने का कोई भी यत्न करे, वह प्रशसनीय है। इसमें सविता की नीति से हम सहमत नहीं। पिछले वर्ष जो विशेषाङ्क निकला उसे देखकर हमें बड़ी निराशा हुई। यदि सविता अपनी पहिली नीति पर ही आरूढ़ रहे तो यह बहुत उपयोगी कार्य कर सकता है।

यह सब होते हुये भी हम सविता का प्रचार चाहते हैं॥

पृ० संख्या ९६— वार्षिक मूल्य ३)

प्राप्तिस्थान—वेद संस्थान-कैसरगंज-अजमेर॥

Vedic Digest-(वैदिक डाइजैस्ट) यह पत्र श्री० पं० आनन्दप्रिय जी [illegible] साहित्याचार्य के सम्पादकत्व में बड़ौदा से प्रकाशित होता है। यह बहुत प्रशंसनीय आयोजन है। वैदिक भावनाओं और सिद्धान्तों को अंग्रेजी पढ़ने लिखने वाली जनता तक पहुँचाने की बहुत आवश्यकता है। इसमें अंग्रेजी में उत्तम आर्य विचार ऊँची भावनाओं को उत्पन्न करने वाले दिये जाते हैं। अंग्रेजी वालों तक आर्य विचार पहुँचाने के लिये भारत की बड़ी २ समाजों को यह पत्र अवश्य मँगाना चाहिये। और सर्वत्र पुस्तकालयों वाचनालयों में इसे पहुँचाना चाहिये। इस पत्र द्वारा आर्य समाज के प्रचार की भारी कमी की पूर्त्ति हो सकती है॥

पृष्ठ संख्या २०×३० / ८ के ४० पृष्ठ—वार्षिक मूल्य ५)

प्राप्तिस्थान—Vedic Digest–वैदिक डाइजैस्ट—आत्माराम रोड-बड़ौदा

साहित्यप्रचारक-पुस्तक विक्रेता-बड़ौदा—

यह ८ पृष्ठ का मासिक पत्र ५ वर्ष से निकल रहा है। इसमें आर्य समाज सम्बन्धी विज्ञापन तथा पुस्तकों का परिचय मिलता है। श्री० शान्तिप्रिय जी इसके संचालक हैं। यह व्यावहारिक दृष्टि से बहुत उपयोगी और आर्य समाज का प्रचारक है। आर्य पुरुषों को इससे लाभ उठाना चाहिये॥ वार्षिक मूल्य १)

प्राप्तिस्थान—जयदेव ब्रादर्स-आत्माराम रोड-बड़ौदा॥

सुधारक—यह मासिक पत्र ३ वर्ष से गुरुकुल झज्जर (रोहतक) की ओर से प्रकाशित होता है। इसमें आर्य-समाज वैदिक धर्म की दृष्टि से तथा वैद्यक दृष्टि से अच्छे लेख रहते हैं। गुरुकुल के वातावरण में ही इसका प्रचार अभीष्ट प्रतीत होता है। जनता में आर्य भावना के जो भी विचार पहुँचें अच्छा है। हरियाणा प्रान्त की जनता को इसमें पूरा सहयोग देना चाहिये॥

पृष्ठसंख्या २४— वार्षिक मूल्य २)

तपोभूमि—माण्डलिक आर्य प्रतिनिधिसभा—मथुरा द्वारा प्रकाशित—३ वर्ष से यह पत्रिका प्रकाशित हो रही है। १२ पृष्ठ की यह पत्रिका आर्यसमाज की दृष्टि से प्रकाशित हो रही है। माण्डलिक आर्यसमाजों को इसमें सहयोग देना चाहिये—इसके सम्पादक [illegible] [illegible] २० है। [illegible]

साप्ताहिक सहयोगी

आर्यमित्र-लखनऊ—यह आर्यसमाज का ५८ वर्ष का पुराना साप्ताहिक पत्र है। एक प्रकार से सारे आर्य समाज में प्रमुख पत्र यही समझा जाता है। इसमें वैदिक धर्म सम्बन्धी उत्तम धार्मिक जीवनोपयोगी लेख रहते हैं। साथ ही उत्तर प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा (जिसका कि यह पत्र है) सम्बन्धी सूचनायें भी रहती हैं।

इसके द्वारा आर्यसमाज का बहुत प्रचार हुआ है। कुछ समय से इसमें कभी २ जाने न जाने कुछ गैर जिम्मेदारी के लेख भी अधिकारियों की जानकारी के बिना ही छपते रहते हैं। पुनरपि यह पत्र बहुत ही उपयोगी कार्य कर रहा है। दुःख का विषय है कि इसका दैनिक संस्करण भारी घाटा सहकर बन्द हो गया। योग्य कार्य कर्त्ताओं के होते हुये ऐसा कैसे हुआ, इसका हमें आश्चर्य और दुःख है।

इससे आर्य समाज के कार्य को भारी क्षति पहुँची है। हमारे विचार में आर्य पुरुषों को (व्यक्तिगत रूप में) दैनिक आर्य मित्र अवश्य चलाना चाहिये। समाजों द्वारा चलना कठिन है कोई आर्य पुरुष ५ वर्ष तक चला कर पीछे सभा को दे दे।

एक प्रकार से आर्य समाज में दैनिक चलने की सम्भावना ही जाती रही, ऐसा प्रतीत होता है।

हम चाहते हैं साप्ताहिक आर्यमित्र न केवल उत्तर प्रदेश में ही, अपि तु भारत के सभी प्रान्तों की सब आर्यसमाजों तथा आर्य पुरुषों को मँगाना चाहिये। प्रत्येक नगर वा ग्राम के वाचनालय वा पुस्तकालय में यह अवश्य पहुँचना चाहिये। वार्षिक मूल्य ८)

प्राप्तिस्थान—५ मीराबाईमार्ग-लखनऊ॥

आर्य—जालन्धर—यह साप्ताहिक पत्र ३६ वर्ष से आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की ओर से निकलता है। इसके सम्पादक भी मन्त्री सभा ही होते हैं। जिसकी तुक ठीक मालूम नहीं होती। सब मन्त्री तो सम्पादक बन नहीं सकते। आर्य समाज में यह भी एक विचित्र प्रणाली है। अच्छी नहीं प्रतीत होती। वर्त्तमान में इसके सम्पादक

श्री० पं० यशः पालजी सिद्धान्तालंकार हैं। इस पत्र में भी आर्यसमाज के प्रचार की दृष्टि से वैदिक धर्म सम्बन्धी अच्छे लेख रहते हैं। गम्भीर शास्त्रीय लेख स्वभावतः कम ही रहते हैं। इसका प्रचार पंजाब में जितना चाहिये, उतना नहीं। हर एक आर्य समाज और आर्य पुरुषों को इसे मँगाना चाहिये।

हम चाहते हैं इसका अधिक से अधिक प्रचार हो॥
वार्षिक मूल्य ६)

प्राप्तिस्थान—'आर्य' गुरुदत्तभवन जालन्धर—

आर्य जगत्—जालन्धर—यह पत्र आर्य प्रादेशिक सभा की ओर से प्रकाशित होता है। १७ वर्ष से हिन्दी में (आर्य गजट का रूपान्तर) छप रहा है। इसके अवैतनिक सम्पादक श्री० प्रो० रामचन्द्र शर्मा एम० ए० हैं। इस पत्र में भी आर्यसमाज वैदिकधर्म के विचारों के लेख रहते हैं। आर्य समाजों और आर्य संस्थाओं सम्बन्धी सूचनायें भी रहती हैं। हम चाहते हैं कि इस पत्र का पंजाब में अधिक से अधिक प्रचार होना चाहिये। ताकि आर्य समाज की ध्वनि जनता में अधिक से अधिक मात्रा में पहुँचे।

प्राप्तिस्थान—आर्य जगत्-निकट कचहरी-जालन्धर—
वार्षिक मूल्य ६)

उर्दू के आर्य साप्ताहिक

आर्यवीर (उर्दू) साप्ताहिक-जालन्धर

यह पत्र २९ वर्ष से निकल रहा है। इसके सम्पादक पं० मेहरचन्द शर्मा आर्यवीर एक त्यागी—सच्चे निर्भीक आर्य हैं। निर्भीकता में इसका प्रथम नम्बर है। आर्य समाज और आर्य पुरुषों को इसकी पूरी सहायता करनी चाहिये। जिससे यह वैदिकधर्म की निरन्तर सेवा करता रहे॥

प्राप्तिस्थान—आर्यवीर-अड्डाहोशियारपुर-जालन्धर—
वार्षिक मूल्य ६)

आर्य गज़ट—जालन्धर—श्री० दुर्गादास शर्मा के अतुल उत्साह और सम्पादकत्व में यह साप्ताहिक जालन्धर से निकलता है। आर्य समाज में यह पत्र ७१ वर्ष का सबसे पुराना है। इसके सम्पादक महात्मा हंसराज तथा श्री महात्मा आनन्द स्वामी जी भी रह चुके हैं। इसमें प्रचार की दृष्टि से आर्य समाज वैदिक धर्म सम्बन्धी अच्छे लेख निकलते हैं। सम्पादक की वैदिक धर्म में निष्ठा इससे विदित होती रहती है।

उर्दू पढ़ने वाले आर्य पुरुषों को इसे पूरी सहायता देनी चाहिये॥

प्राप्तिस्थान—आर्यगजट जालन्धर—वार्षिक मूल्य ६)

रिफार्मर—यह साप्ताहिक पत्र पहिले लाहौर से निकलता था। अब दीवान हाल देहली से प्रकाशित होता है। इसके सम्पादक श्री० विद्यार्थी जी बी० ए० सच्चे आर्य वैदिक धर्म में निष्ठावान् हैं। इनके रग रग में आर्य समाज के लिये सच्ची भक्ति है। यह पत्र २९ वर्षों से प्रकाशित हो रहा है।

इसमें कुछ समय से आर्य समाज के रत्न, योग्य विद्वान् श्री० पं० गङ्गाप्रसाद जी उपाध्याय के लेख छपते रहते हैं। हम इस पत्र की हर प्रकार से सफलता चाहते हैं। वैदिक धर्म का सच्चा प्रचार करने वाले आर्य जनता के धन्यवाद के पात्र हैं॥

प्राप्तिस्थान—१३ दीवानहाल देहली—
वार्षिक मूल्य ६)

[शेष अग्रिमाङ्के]

विशेष सूचना—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र विज्ञापन अलग एक बृहद्ग्रन्थ के रूप में 'रामलाल कपूर ट्रस्ट' द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं। ऋषि के इन पत्र तथा विज्ञापनों के विशेष स्थलों पर कुछ अत्यावश्यक सामग्री टिप्पणी रूप में संग्रहीत की गई है। यह सामग्री उक्त ग्रन्थ के साथ प्रकाशित नहीं हो सकी थी। उसें हम अब वेदवाणी में क्रमशः परिशिष्ट रूप में प्रकाशित कर रहे हैं। इन परिशिष्टों पर पृथक् पृष्ठ संख्या दी जा रही है, जिससे कि पाठक इन फर्मों को पृथक् पुस्तक का रूप दे सकें॥ —सम्पादक वेदवाणी॥

परिशिष्ट (२)

'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' के परिशिष्टों का परिचय

'वेदवाणी' के पाठकों को विदित है कि श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट ने 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' नामक बृहद् ग्रन्थ पहिले लाहौर में सन् १९४६ में छापा था। पाकिस्तान बनने पर १३ अगस्त १९४७ को इस ग्रन्थ की ८०० प्रतियां (सारे मकान तथा सब स्टाक के साथ) जला दी गई थीं। अब पुनः बड़े प्रयत्न और व्यय से इसका परिवर्द्धित तथा परिशोधित संस्करण छप चुका है। अनेक परिशिष्ट उक्त ग्रन्थ के साथ तय्यार हुये हैं, जो ऋषि के जीवन तथा उनके पत्रों पर बहुत ही सुन्दर और गहरा प्रकाश डालने वाले हैं। ग्रन्थ का आकार बहुत बढ़ जाने से मूल्य भी बहुत बढ़ जाता। इसी कारण ये परिशिष्ट इस ग्रन्थ, में उस समय हम चाहते हुये भी नहीं छाप सके। इन परिशिष्टों का संग्रह बहुत मूल्यवान् और उपयोगी है, अतः इन्हें हम अब प्रतिमास "वेदवाणी" में पृथक् संख्या देकर छाप रहे हैं जिससे पाठक इसे पृथक् पुस्तकाकार भी संगृहीत कर सकें। 'ऋषि के पत्र और विज्ञापन' पुस्तक को साथ रख कर ही इन परिशिष्टों से पूरा लाभ उठाया जा सकेगा, पाठक इन फर्मों को सम्भाल कर रखते जावें, अन्त में पुस्तक बन जायेगी ॥

निवेदक
ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
सम्पादक "वेदवाणी", बनारस नं० ६ ॥

पृ० २ पंक्ति ६—तत्रोपनिषन्मन्त्राणां व्याख्यानमस्ति—वेदान्तसूत्रों की रचना प्रधानतया औपनिषद वाक्यविवेचना के लिए हुई है। अत एव ऋषि दयानन्द ने वेदान्त सूत्रों के अध्ययन से पूर्व दश उपनिषदों का अध्ययन आवश्यक माना है। देखो सत्यार्थप्रकाश समु० ३, पठनपाठनविधि।

---

१ प्रो० मनोमोहन घोष ने श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा के विविध पाठों और व्याख्याओं का सम्पादन करके 'पाणिनीयशिक्षा' नामक ग्रन्थ 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी' से प्रकाशित किया है। उसकी भूमिका में कल्पित श्लोकात्मक शिक्षा को वास्तविक और ऋषि दयानन्द द्वारा प्रकाशित असली सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा को दयानन्द-रचित सिद्ध करने की धृष्टता की है। हमने उसकी समालोचना 'वेदवाणी' सं० २०१२ माघ, वर्ष ८ अंक ४, में प्रकाशित की है। देखो पृष्ठ १८ ॥

परिशिष्ट (२)

मूल पाठ पर अवशिष्ट टिप्पणियां

[लेखक—युधिष्ठिर मीमांसक]

पृष्ठ १ पंक्ति १२—शिक्षा वेदस्था—यहां शिक्षा से अभिप्राय पाणिनीय शिक्षा से है। पाणिनीय शिक्षा के नाम से श्लोकबद्ध एक शिक्षा प्राप्त होती है। इस श्लोकबद्ध शिक्षा के दो पाठान्तर हैं। एक ऋग्वेदीय, दूसरा यजुर्वेदीय। ऋग्वेदीय पाठ में ६० श्लोक हैं और यजुर्वेदीय में ३५ श्लोक। कई लेखकों के मतानुसार पाणिनि के अनुज पिंगल ने किसी पाणिनीय शिक्षा के आधार पर इसे श्लोकबद्ध किया है। यह शिक्षा वस्तुतः पाणिनीय नहीं है। वास्तविक पाणिनीय शिक्षा सूत्रबद्ध थी। उस के अनेक सूत्र व्याकरण के प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। इस सूत्रबद्ध शिक्षा का एक मात्र खण्डित हस्तलेख ऋषि दयानन्द को सं० १९३६ को प्राप्त हुआ था और उसे उन्होंने आर्यभाषा व्याख्या सहित वर्णोच्चारणशिक्षा के नाम से प्रसिद्ध किया था[1]। देखो हमारा "ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास" पृष्ठ १५५–१५८, "संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास" पृष्ठ १६०–१६१ तथा "शिक्षा शास्त्र का इतिहास" (यह अभी अप्रकाशित है)।

यतः वास्तविक पाणिनीय शिक्षा ऋषि दयानन्द को सं० १९३६ में प्राप्त हुई, अतः यहां (सं० १९२७ के इस विज्ञापन में) ऋषि को श्लोकबद्ध पाणिनीय शिक्षा के नाम से जो ग्रन्थ प्रसिद्ध है, वही अभिप्रेत रहा होगा। अष्टाध्यायीभाष्य जिस की रचना ऋषि दयानन्द ने श्रावण वदी २ सं० १९३५ (१५ अगस्त १८७८) से कुछ पूर्व की थी (देखो ऋ० द० ग्रन्थेतिहास पृष्ठ ११४–१२०) उस के प्रारम्भिक भाग में भी इसी श्लोकबद्ध पाणिनीय शिक्षा के वचन उद्धृत हैं। सौवर की भूमिका में याज्ञवल्क्य शिक्षा का श्लोक भी उद्धृत है। अतः यहां यह भी सम्भव है कि किसी ग्रन्थविशेष की ओर संकेत न होकर सामान्य शिक्षा-शास्त्र की ओर संकेत हो।

पृष्ठ १ टिप्पणी २ पर—इस विषय पर विशेष विचार हमने "वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन" नामक महत्त्वपूर्ण निबन्ध में किया है। देखो 'वेदवाणी' (मासिक-काशी) वर्ष ६ अंक ४ पृष्ठ १९ टि० ४।

पृष्ठ २ पंक्ति ५—द्वादश-उपनिषदः—पृष्ठ ३६ पं० २, ३ में दश उपनिषदें गिनाई हैं, उन में ईश श्वेताश्वेतर और कैवल्य की गणना नहीं है। दश संख्या की पूर्ति के लिए 'मैत्रेयी' को सम्मिलित किया है। पृष्ठ १९ पं० १९ में ईश की गणना करके १० संख्या बताई है, वहां मैत्रेयी नहीं गिनी गई। सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों में इन्हीं दश उपनिषदों को प्रामाणिक माना है।

पृ० २ पंक्ति ६—तत्रोपनिषन्मन्त्राणां व्याख्यानमस्ति—वेदान्तसूत्रों की रचना प्रधानतया औपनिषद वाक्यविवेचना के लिए हुई है। अत एव ऋषि दयानन्द ने वेदान्त सूत्रों के अध्ययन से पूर्व दश उपनिषदों का अध्ययन आवश्यक माना है। देखो सत्यार्थप्रकाश समु० ३, पठनपाठनविधि।

---

१ प्रो० मनोमोहन घोष ने श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा के विविध पाठों और व्याख्याओं का सम्पादन करके 'पाणिनीयशिक्षा' नामक ग्रन्थ 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी' से प्रकाशित किया है। उसकी भूमिका में कल्पित श्लोकात्मक शिक्षा को वास्तविक और ऋषि दयानन्द द्वारा प्रकाशित असली सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा को दयानन्द-रचित सिद्ध करने की धृष्टता की है। हमने उसकी समालोचना 'वेदवाणी' सं० २०१२ माघ, वर्ष ८ अंक ४, में प्रकाशित की है। देखो पृष्ठ १८॥

पृष्ठ २ पंक्ति ७—कात्यायनादीनि सूत्राणि—इन से अभिप्राय वेदाङ्गान्तर्गत कल्प-शास्त्र से है। कल्प शास्त्र के तीन भेद हैं—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र।

पृष्ठ २ पंक्ति ९—वेदानुकूला तर्कविद्यास्ति—नामिक की भूमिका में महाभाष्य से उद्धृत पाठ के 'वाकोवाक्य' पद का अर्थ भाषा में "दर्शनशास्त्र" किया है। हमारा विचार है वहाँ भी ऋषि दयानन्द का अभिप्राय तर्कशास्त्र=न्यायदर्शन से ही होगा।

पृष्ठ २ पंक्ति ११—शिष्टानां जनानां............—सम्भव है यहाँ पर उद्योगपर्वान्तर्गत विदुरनीति में निर्दिष्ट पण्डितों और मूर्खों के लक्षण अभिप्रेत हों।

पृष्ठ २ पंक्ति १२—एकविंशति शास्त्राणि—यह सामान्य गणना है। पूर्ण संख्या ४ पृष्ठ ७ पंक्ति ४, ५ में २६ ग्रन्थ गिनाए हैं। इसी लेख में पृष्ठ १० पं० ५ में २० ऋषियों के बनाए और ४ "वेद" इस प्रकार २४ ग्रन्थ लिखे हैं। सम्भव है यहां २२ के स्थान में २० लेखक प्रमाद से हो गया होगा।

पृष्ठ २ टिप्पणी २ पर—चौदह विद्याओं का निर्देश वायुपुराण अ० ६१ श्लोक ७८ में भी है।

पृष्ठ ३ पंक्ति ६—चौरी—संस्कृत भाषा में 'चौरी' पद चोर की स्त्री और चोरी दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। चोरी अर्थवाला चौरी पद 'चोरस्य भावः चौर्यम्-ष्यञ् प्रत्ययः (अ० ५।१।१२४) स्त्रियां षित्वात् ङीष्' से बनता है।

पृष्ठ ४ पंक्ति ३—श्रेष्ठोपमायोग्यस्य गङ्गादत्तशर्मणे—कुशलार्थक स्वस्ति पद के योग में अष्टाध्यायी २।३।७३ से षष्ठी और चतुर्थी विभक्ति होती है। परन्तु महाभाष्यकार ने कहा है—**एकस्याकृतेश्चरितः प्रयोगो द्वितीयस्यास्तृतीयस्याश्च न भवति। तद्यथा गोषु स्वामी अश्वेषु च** (महा० २।१।४०) अर्थात् किसी एक शब्द के योग में दो तीन विभक्तियों का विधान किया भी हो, तब भी एक वाक्य में विभिन्न विभक्तियों का प्रयोग नहीं हो सकता। यथा अष्टा० २।३।३९ से स्वामी शब्द के योग में षष्ठी और सप्तमी का सामान्य विधान होने पर भी एक वाक्य में 'गवां स्वामी अश्वेषु च' ऐसा प्रयोग नहीं होता। ऋषि दयानन्द महाभाष्यकार के इस नियम को नहीं मानते। वे प्रायः एक से अधिक विभक्तियों का विधान होने पर एक ही वाक्य में विभिन्न विभक्तियों का प्रयोग करते हैं। यथा—**सर्वज्ञत्वेन**.........**श्रोतृत्वेन सर्वाधारकत्वेनान्तर्यामितया**.........**शोधकत्वेन सर्वस्य मित्रत्वाच्च** (ऋग्भाष्य १।१०।९ भावार्थ, इसी प्रकार देखो यजुर्वेद भाष्य २।७॥३।२५ का संस्कृतभावार्थ) यहां हेतु में एक ही वाक्य में तृतीया और पञ्चमी का निर्देश किया है (पाणिनीय लक्षणानुसार हेतु में पञ्चमी प्राप्त नहीं है, परन्तु प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में हेतु में पञ्चमी का प्रयोग प्रायः देखा जाता है)। ऋषि दयानन्द का एक वाक्य में विभिन्न विभक्तियों का प्रयोग करना महाभाष्यकार के मतानुसार युक्त न होने पर भी प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के अनुकूल होने से शुद्ध है। यथा—शतपथ ब्रा० १।१।२।७ में लिखा है—**अनस एव यजूंषि सन्ति, न कौष्ठस्य न कुम्भ्यै।** इस वाक्य में **चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि** (अष्टा० २।३।६२) सूत्र से विहित षष्ठी और चतुर्थी दोनों का एक साथ प्रयोग हुआ है। अतः ऋषि दयानन्द की संस्कृत भाषा को समझने के लिये पाणिनीय व्याकरण और उस की व्याख्याओं के अतिरिक्त अति प्राचीन आर्ष वाङ्मय का भी गहरा अनुशीलन करना चाहिये। पाणिनीय व्याकरण तो अपने समय का सबसे अन्तिम आर्ष व्याकरण है और वह भी प्राचीन व्याकरणों की अपेक्षा पर्याप्त संक्षिप्त है (देखो हमारा "संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास" प्रथम भाग अ० १ पृष्ठ १–४१)। अथवा यह भी सम्भव हो सकता है कि महाभाष्यकार का उक्त वचन एकदेशी हो।

पृष्ठ ५२ विज्ञापनपत्रमिदम्—यह विज्ञापन पत्र मूल रूप से ऋषि दयानन्द ने संस्कृतभाषा में लिखा होगा, क्योंकि इस काल तक ऋषि दयानन्द भाषण तथा शास्त्रार्थ संस्कृत में ही किया करते थे। यह संवाद निश्चय ही संस्कृत भाषा में हुआ था, यह बात इस विज्ञापन में संस्कृत भाषा में उद्धृत वाक्यों और पद प्रयोगों पर किये गये विचार से

दृढ़ होती है (देखो पृ० ८ पं० ५ में संस्कृत के वाक्य में २ बार लिखे 'एव' शब्द के नियम से)। यह मूल विज्ञापन ऋषि का अपना लिखा हुआ है, किसी दूसरे ने इस शास्त्रार्थ को लेख बद्ध नहीं किया। यह बात इसमें स्थान स्थान पर प्रयुक्त 'मैं' 'मैंने' (पृष्ठ ६) 'मुझ से' (पृष्ठ ७) आदि प्रयोगों से स्पष्ट है। यह भाषानुवाद किसका किया है, यह अज्ञात है।

पृष्ठ १० पंक्ति ५, ६—वेदादिक २० बीस सनातन ऋषि मुनियों''''''तथा परमेश्वर के किये ४ वेद''''''—यहां २४ ग्रन्थ कहे हैं, परन्तु इसी विज्ञापनपत्र में पृष्ठ ७ पं० ४, ५ में २६ ग्रन्थ गिनाए हैं। सम्भव है, यहां २२ के स्थान में २० भूल से लिखा गया होगा। पृष्ठ १, २ में एकविंशति (२१) शास्त्र गिनाए हैं।

पृष्ठ १२ पं० २—सब नष्ट हैं—यहां 'सब भ्रष्ट हैं' पाठ चाहिये।

पृष्ठ १३ पं० २३, २४—परन्तु जहां जहां''''''अन्यत्र नहीं—तुलना करो सत्यार्थप्रकाश समु० १ तथा आर्याभिविनय उपोद्घात प्रकरण।

पृष्ठ १३ पं २७,२८—निरुक्त में भी यह लिखा है कि (यत्र देवतोच्यते तत्र तल्लिङ्गो मन्त्रः''''''—यह निरुक्त का वचन नहीं है, मीमांसा के 'अपि वा शब्दपूर्वत्वात् यज्ञकर्म प्रधानं स्याद्, गुणत्वे देवताश्रुतिः (९।१।९) सूत्र के अनुसार मीमांसकों का सिद्धान्त है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ ६० संस्क० ४ (वेदविषयविचारे) में **'अथातो दैवतम्''''''''''''तद्दैवतः स मन्त्रो भवति'** (नि० ७।१) के व्याख्यान में लिखा है—**"अतः किं विज्ञेयम्—यत्र यत्र देवतोच्यते तत्र तत्र तल्लिङ्गो मन्त्रो ग्राह्य इति"**। इससे यह भी सम्भव है कि यहां भी ऋषि दयानन्द ने निरुक्त के उक्त वचन का स्वशब्दों में अनुवाद किया हो।

पृष्ठ १६ पं० ३२—जब चित्त प्रत्येक चेतन से ही''''''''''—यहां 'जब चित्त प्रत्येकतानता से ही''''''''''ऐसा पाठ चाहिये।

पृष्ठ १९ पं० १९—दश उपनिषद्—यहां पूर्व पृष्ठ २ सम्बन्धी 'द्वादश उपनिषदः' की टिप्पणी देखें (पृष्ठ १ पर)।

पृष्ठ २१ पं० १२—जिन को दूर छोड़ने को कहा कि न इन को पढ़े न पढ़ावें—यह संकेत सत्यार्थप्रकाश समु० ३ में लिखित पठनपाठनविधि की ओर है।

पृष्ठ २३ पं० १९—दो जिल्द ऋग्वेद के—सम्भवतः यह मैक्समूलर सम्पादित पदपाठयुक्त मूल ऋग्वेद के पुस्तक रहे होंगे।

पृष्ठ २३ पं० २४—कितने अध्याय तक—अर्थात् कितने समुल्लास तक।

पृष्ठ २४ पं०—१२ श्रीरस्तु—श्री शब्द का प्रयोग अगले पूर्ण संख्या १४, १५, १६, १७ में भी है। यह श्री शब्द से पौराणिक मङ्गलाचरण अभिप्रेत नहीं है। क्योंकि मङ्गलाचरण रूप में प्रयुक्त 'श्री' शब्द का खण्डन इस पत्र लिखने से पूर्व रचे गये सत्यार्थप्रकाश (प्र० सं०) के प्रथम समुल्लास में ऋषि दयानन्द कर चुके थे। इस बात की पुष्टि श्री शब्द के साथ प्रयुक्त 'अस्तु' पद से भी होती है। पूर्ण संख्या १८ में 'श्रीयुक्ताः सन्तु' पाठ भी इसी अभिप्राय की ओर संकेत करता है। यदि यहां पौराणिक मङ्गलाचरण अभिप्रेत होता तो केवल 'श्री' शब्द का प्रयोग होना चाहिये था।

पृष्ठ २५ पं० ५—संस्कार की चोपड़ी—अर्थात् संस्कारविधि। गुजरात में पुस्तक को चोपड़ी कहते हैं।

पृष्ठ २५ पं० ५—और नियमों की भी—आर्यसमाज के नियमों की पुस्तक। इसका उल्लेख पूर्ण सं० १९ (पृ० २७) के पत्र में भी है।

पृष्ठ २५ पं० ९—सत्यार्थप्रकाश का भाग अभी एक एक रुपये मिलता है—वेदान्तिध्वान्तनिवारण प्रथम संस्करण के अन्त में छपी पुस्तक विक्रय सूचना में सत्यार्थप्रकाश दूसरे भाग का मूल्य भी १) रु० लिखा है। देखो 'हमारा ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' परिशिष्ट ७ पृष्ठ ९०।

पृष्ठ २६ पं० २—'आकृष्णेनेति' मन्त्र के अर्थ हमारा—यह मन्त्रार्थ 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' परिशिष्ट १ में पूर्ण संख्या ६०६ (पृष्ठ ४८५) पर छपा है।

पृष्ठ २६ पं० २७, २८—मुम्बई में चैत्र शुद्ध ५ शनिवार के दिन.........समाज का.........आरम्भ हुआ—इस विषय में 'वेदवाणी' वर्ष ६ अङ्क ५, ८, ११ में हमारे लेख दर्शनीय हैं।

पृष्ठ० २८ पं० ७—आर्याभिविनय के दो अध्याय—आर्याभिविनिय में अध्याय नहीं हैं, प्रकाश हैं। इस पत्र से यह भी ज्ञात होता है कि आर्याभिविनय ६ अध्यायों या प्रकाशों में पूर्ण होने वाला था, परन्तु किन्हीं कारणों से २ ही अध्याय या प्रकाश बन कर रह गये। इस बात की सूचना आर्याभिविनय की उपक्रमणिका के पांचवें श्लोक की भाषा से भी मिलती है। आर्याभिविनय के विषय में अनेक ज्ञातव्य विषयों का उल्लेख हमने 'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' नामक ग्रन्थ में (पृष्ठ ६९–७९ तक) किया है। आर्याभिविनय का जो संस्करण रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित हुआ है, वही प्रामाणिक और शुद्ध है। अजमेर मुद्रित संस्करणों के पाठ अनेक स्थानों पर भ्रष्ट तथा त्रुटित हैं।

पृष्ठ २९ पं० १ लश्कर में—अर्थात् छावनी (पूना छावनी) में।

पृष्ठ ३१ पं० ७—श्रीयुत लालजी—यह व्यासोपनाम पं० बैजनाथ शर्मा का पुत्र था। इसी के उद्योग से आर्याभिविनय और संस्कारविधि के प्रथम संस्करण छपे थे। देखो ऋ० द० ग्रन्थेतिहास, परिशिष्ट २ पृष्ठ ३०, ३२।

पृष्ठ ३१ पं० ७—लक्ष्मणशास्त्री—यह व्यक्ति संस्कारविधि और आर्याभिविनय के प्रथम संस्करणों का संशोधक था। देखो ऋ० द० के ग्रन्थों का इतिहास, परिशिष्ट २, पृष्ठ ३०, ३२।

पृष्ठ ३४ पं० २३—यथाशक्त्या—अव्ययीभावश्च (अष्टा० २।४।१८) सूत्र के अनुसार नपुंसकलिङ्ग और **अव्ययीभावश्च** (अष्टा० १।१।४१) से अव्यय संज्ञा होने से 'यथाशक्ति' प्रयोग होना चाहिये, परन्तु ये दोनों नियम प्रायिक हैं। महाभाष्य १।१।२६ के **'यथाप्राप्तश्चेक् श्रूयेत'** वाक्य में 'यथाप्राप्तः' पद का प्रयोग इनके प्रायिकत्व में ज्ञापक है। काशिका ३।३।१३५ में प्रयुक्त 'यथाप्राप्तस्य' के व्याख्यान में हरदत्त ने 'यथा येन प्रकारेण प्राप्तं प्राप्तिर्यस्येति बहुव्रीहिः, अव्ययीभावे त्वम्भावः स्यात्' लिखा है, वह सब आधुनिक लक्षणैकचक्षु वैयाकरणों की क्लिष्ट कल्पना मात्र है।

पृष्ठ ३६ पं० २, ३—......केन ये दश उपनिषद्—यहां सबसे मुख्य ईश उपनिषद् को छोड़ दिया है। इसका कारण यह है कि मूल ईशोपनिषद् माध्यन्दिनी मूल यजुःसंहिता के अन्तर्गत है, अतः उसका वेद में ही अन्तर्भाव हो जाता है। उसकी पृथक् गणना की आवश्यकता नहीं रहती। इस बात का संकेत ऋषि दयानन्द ने राजा शिवप्रसादजी के नाम लिखे पत्र (पूर्ण संख्या २३० के पृष्ठ १८६) में किया है—**"मैं वेदों में एक ईशावास्य को छोड़ कर अन्य उपनिषदों को नहीं मानता"**। इस विषय में पृष्ठ १८६ की टि० १ भी देखें।

पृष्ठ ३८ पं० २१—यास्कमुनिकृतनिघण्टोः—निघण्टु यास्क-मुनिकृत है, यह बात ऋषि दयानन्द ने निघण्टु की भूमिका में भी लिखी है। आधुनिक विद्वान् निघण्टु को यास्क की कृति नहीं मानते। श्री पं० भगवद्दत्त जी रिसर्चस्कालर ने आधुनिक विद्वानों के इस मत का खण्डन और ऋषि दयानन्द के मत का मण्डन अनेक अकाट्य प्रमाणों से किया है। देखो वैदिक वाङ्मय का इतिहास—'वेदों के भाष्यकार' नामक भाग, पृष्ठ १८१–१९५।

पृष्ठ ३८ पं० २६—सर्वत एवापोभिः—वैदिकवाङ्मय में 'अप्, अप, अपस्' ये समानार्थक तीन शब्द प्रयुक्त होते हैं।

पृष्ठ ३९ पं० ५—**इन्द्र नाम है सूर्य का, सो निघण्टु में लिखे हैं**—यह भाषा की पंक्ति संस्कृत पाठ के विपरीत है। संस्कृतपाठानुसार यहां 'वराह अहि वृत्र असुर ये चार मेघ के नाम निघण्टु में लिखे हैं' ऐसा पाठ होना चाहिये।

पृ० ३९ पं० ६—**जब त्वष्टा जो सूर्य है अर्थात् मेघ**—यहां 'अर्थात्' के स्थान में 'वह' पद चाहिये।

पृ० ३९ पं० १४—**इस से मेघ का नाम त्वष्टा है**—यहां 'त्वष्टा' के स्थान में 'त्वाष्ट्र' पद चाहिये।

पृ० ३९ पं० २५—**इत्यादि बहुत कथा**—अर्थात् विषय।

पृ० ४० पं० १४—**अद्यतन शब्द से**—अद्यतन (आज) शब्द की व्याख्या प्राचीन ग्रन्थों में दो प्रकार की देखी जाती है। एक '**आन्याय्यादुत्थानादान्याय्याच्च संवेशनादेषोऽद्यतनः कालः**'। अर्थात् न्याय्य प्रातः काल उठने के समय (ब्राह्ममुहूर्त) से न्याय्य सोने के समय तक का काल अद्यतन कहाता है। इस लक्षण में प्रायः रात्रि के १० से प्रातः ४ बजे तक के काल की गिनती अद्यतन में नहीं होती। दूसरा लक्षण—'**अहरुभयतोऽर्धरात्रमेषोऽद्यतनः कालः**' है। तदनुसार अर्धरात्रि पर्यन्त काल अद्यतन कहाता है (ये दोनों लक्षण काशिकावृत्ति १।२।५७ में लिखे हैं)। आजकल के पाश्चात्य विद्वान् भी द्वितीय लक्षण को मानते हैं, रात्रि के १२ बजने के उत्तर क्षण से वे तारीख बदलते हैं। भारतीय ज्योतिषी सूर्योदय क्षण से लेकर अगले सूर्योदय के पूर्व क्षण तक अद्यतन काल मानते हैं। यद्यपि यहां ऋषि दयानन्द ने अद्यतन की व्याख्या द्वितीय लक्षणानुसार की है, परन्तु अनेक पत्रों में भारतीय ज्योतिषियों के व्यवहारानुसार भी निर्देश किया है। (देखो पूर्ण संख्या ४२३ (पृष्ठ ३४१ "अब इन्दोर से आज दो बजे रात्री की गाड़ी······")।

पृष्ठ ४० पं० २८—**आर्य धर्म में श्रद्धावान् हुए**—भारतसुदशाप्रवर्तक मई १८८३ के अंक में पं० कालूराम जी के विषय में लिखा है—"वर्तमान में आठ सहस्र मनुष्य इन के उपदेश पर पूर्ण प्रीति रखते हैं"।

पृष्ठ ५६ पं० १०—**उव्वट और रावण के भाष्य**—यह रावण दाक्षिणात्य पण्डित था, लंकेश नहीं। रावणकृत ऋग्वेद के पदपाठ का सम्पूर्ण हस्तलेख फर्रुखाबाद निवासी पं० केशवदेव निर्मल के घर में विद्यमान था। उसमें से ७ वें अष्टक का पदपाठ, जिसके अन्त में साक्षात् रावण का नाम निर्दिष्ट था, ३ मार्च सन् १९२७ को महाशय मामराजजी ले आये थे। वह श्री पं० भगवद्दत्त जी रिसर्चस्कालर, तात्कालिक अध्यक्ष लाहौर दयानन्द कालेजस्थ लालचन्द पुस्तकालय, के पास रहा। तत्पश्चात् डा० लक्ष्मणस्वरूप जी अध्यक्ष ओरियण्टल कालेज लाहौर को फोटो कराने के लिये दिया गया। उन्होंने उसका फोटो कराकर पञ्जाब विश्वविद्यालय लाहौर के पुस्तकालय में रख दिया, परन्तु मूल हस्तलेख उनसे खोया गया। उक्त फोटो भी विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के सहस्रों हस्तलेखों के साथ लाहौर (पाकिस्तान) में ही रह गया। उसकी कोई भी प्रति अब अन्यत्र नहीं है।

सायण, महीधर, उव्वट और रावण कृत वेदभाष्यों के लिये श्री पं० भगवद्दत्त जी कृत 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' का 'वेदों के भाष्यकार' नामक भाग देखना चाहिये।

पृष्ठ ५८ पं० २५—**वेदभाष्य में शब्दों के इतिहास को खोलता है**—अमुक शब्द का अमुक अर्थ क्यों है ? इस रहस्य को ऋषि दयानन्द ने शब्दों के यौगिक अर्थ करके दर्शाया है। उसी की ओर यह संकेत है। अति प्राचीन काल में संस्कृत के समस्त नाम पद यौगिक अर्थात् क्रियानिमित्तक ही माने जाते थे। शब्दों को रूढ मानने की कल्पना बहुत उत्तरकालीन है। विक्रम से कई शताब्दी पूर्व के कातन्त्र व्याकरण के रचयिता ने संस्कृत के पाचक याजक आदि सभी कृदन्त शब्दों को वृक्ष आदि के समान रूढ मान कर उनका प्रकृति प्रत्यय विभाग ही नहीं दर्शाया। देखो हमारा "वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन" नामक लेख, 'वेदवाणी' वर्ष ६ अंक ७ पृष्ठ १९, २०।

पृष्ठ ६६ पं० २४—**वेदभाष्यभूमिका अब लगभग समाप्ति को आ रही है**—यहां भूमिका की छपाई से अभिप्राय है, लेखन बहुत काल पूर्व ही समाप्त हो चुका था।

पृष्ठ ६७ पं० २८—पहुँचना लिखा है—इससे आगे जोड़ें —"जालन्धर के शास्त्रार्थ में भी १३ सितम्बर को ही जालन्धर पहुँचने का उल्लेख है।"

पृष्ठ ६९ पं० ५—विज्ञापन पौष या माघ मास में दिया जायगा—यह विज्ञापन पूर्ण संख्या ६७ पृष्ठ ८४, ८५ पर छपा है।

पृष्ठ ७२ पं० १—अल्प ज्ञान वाले बच्चे भी बिना किसी सहायता के समझ सकेंगे—इस से स्पष्ट है कि ऋषि दयानन्द ने अपना वेदभाष्य सीधी और सरल भाषा में रचा है, रहस्यमयी भाषा में नहीं रचा। अतः 'ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य को समझना साधारण व्यक्ति का कार्य नहीं' इत्यादि कहकर उसे मध्यकालीन साम्प्रदायिक आचार्यों के ग्रन्थों के समान रहस्यमय बनाना ऋषि दयानन्द के अभिप्राय के विरुद्ध है। परन्तु यह भी ध्यान रहे, जब तक ऋषि दयानन्द की वेदार्थशैली और भाव को हृदयंगम न कर लिया जायेगा, तब तक सरल शब्दों में प्रतिपादित वेदार्थ भी समझ में कदापि न आवेगा।

पृष्ठ ७२ पं० १०—अगले मास में प्रकाशित की जायेगी—यह सूचना (विज्ञापन) पूर्ण संख्या ६७ पृष्ठ ८४, ८५ पर छपी है।

पृष्ठ ७८ पं० ९—मेरे दूसरे पत्र—अर्थात् पूर्ण संख्या ५७, ५८ के।

पृष्ठ ७९ पं० ७—पौष कृष्ण ७ का—अर्थात् २६ दिसम्बर बुधवार सन् १८७८ का।

पृष्ठ ८१ पं० ५—एक विज्ञापन दिया जायगा—यह पूर्ण संख्या ६७ पर छपा है।

पृष्ठ ८६ पं० २४—नोटिस दिया था—यह संकेत पूर्ण संख्या ६७ के विज्ञापन की ओर है।

पृष्ठ ८९ पं० २१—वेद ईश्वर की सब सत्यविद्याओं का कोश—कई लोग आर्यसमाज के तृतीय नियम **"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है"** इसमें **'सब'** पद को प्रक्षिप्त मानते हैं, वे वस्तुतः भ्रान्त हैं, यह इस वाक्य से तथा पूर्ण संख्या ८६ (पृष्ठ ९६ पं० ३) के **'सर्वसत्यविद्याकोशेषु वेदेषु'** वाक्य से स्पष्ट है। अतः तृतीय नियम में उल्लिखित 'सब' पद ऋषि दयानन्द का ही रखा हुआ है, यह निश्चित है।

पृष्ठ ९९ पं० ११—प्रश्नोत्तर हलधर—यह पुस्तक हमें उपलब्ध नहीं हुई। इस विषय में हमारे **'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास'** नामक ग्रन्थ में पृष्ठ १७५, १७६ देखें।

पृष्ठ ९० पं० २३,२४—दयानन्दसरस्वतिस्वामिनः—यहां **'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्'** (६।३।६३) इस पाणिनीय सूत्र से ह्रस्वत्व जानना चाहिये।

पृष्ठ ९६ पं० ३—सर्वसत्यविद्याकोशेषु—तुलना करो **'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है'** आ० स० नि० ३। इसी पृष्ठ की पूर्व पृष्ठ ८९ पं० २१ पर लिखी टिप्पणी देखें।

पृष्ठ ९७ पं० ५—स्वाहया—स्वाहा शब्द निपातों में गिना जाता है। परन्तु यह नाम और निपात दोनों प्रकार का है। तुलना करो—**'स्वाहयेव हविर्भुजम्'** (रघु० १।५६)। इस प्रकार के अन्य भी अनेक उभयविध शब्द संस्कृत भाषा में देखने में आते हैं।

पृष्ठ ९७ पं० २२—मान्यकर्त्रीं—ऋषि दयानन्द सर्वत्र (यथा यजुर्वेदभाष्य २।१०,११ के संस्कृत भावार्थ में) (संस्कृत तथा भाषा में भी) मान शब्द के स्थान में **'मान्य'** शब्द का व्यवहार करते हैं। यह **'मन ज्ञाने'** से भाव में ण्यत् प्रत्यय होकर बनता है। इसका गुजराती और राजस्थानी भाषा में प्रयोग इसी प्रकार होता है। **'मानमर्हति मान्यः'** तद्धित प्रत्ययान्त **'मान्य'** शब्द ण्यत् प्रत्ययान्त मान्य से पृथक् है।

पृष्ठ ९७ पं० २५—अश्वेष्वग्न्यादिवेगवत्सु पदार्थेषु—यहां अश्व शब्द का अर्थ वेगवान् पदार्थ किया है। यह अर्थ **'अश्व शीघ्रगतौ'** धातु से **'अश्वति वेगेन गच्छति इत्यश्वः'** निष्पन्न होता है। अश्व वस्तुतः मूल धातु

है। इस प्रकार की वृक्ष पुष्प आदि अनेक मूल धातुएं काशकृत्स्न और पाणिनीय धातु पाठ में उपलब्ध होती हैं। महाभाष्यकार ने भी अनेक नाम-धातुओं को पक्षान्तर में मूल धातु ही माना है। देखो महाभाष्य अ० ३ पाद १ सूत्र ८, ११। 'अश्व इवाचरति अश्वति' बनाने में लक्षणाकृत महादोष उपस्थित होता है। अतः ऐसे प्रयोगों की सिद्धि के लिये इन्हें मूल धातु मानना ही युक्त है।

पृष्ठ ९९ पं० ११-१२—मया'''वेदविरुद्धमतखण्डनवेदान्तिध्वान्तनिवारण'''ग्रन्था निर्मिताः—इस वाक्य से स्पष्ट है कि वेदविरुद्धमतखण्डन और वेदान्तिध्वान्तनिवारण ग्रन्थ ऋषि दयानन्द के रचे हुये हैं। इस विषय में विशेष हमारे ऋ० दयानन्द ग्रन्थेतिहास में देखो।

पृष्ठ १०१ पं० १४—तद्यथा सेयं—ये 'तद्यथा' पद अस्थान में पढ़े हैं। अगली पंक्ति के 'संक्षेपतो लिख्यते' पद से परे पढ़ने चाहियें।

पृष्ठ १०१ पं० १६—सुगन्धियुक्तैर्नवीनैः शुद्धैर्वस्त्रैः—यद्यपि पाणिनीय व्याकरण ५।४।१३५ के अनुसार 'सुगन्धि' पद सुगन्धयुक्त द्रव्य के लिये व्यवहृत होना चाहिये, तथापि सुपूर्वक चौरादिक णिजन्त गन्ध धातुसे 'अच इः' (उ० ४।१४८) से भाव में इ प्रत्यय होकर सुगन्धि शब्द सुगन्ध के अर्थ में उत्पन्न होता है। यह आज भी हिन्दी भाषा में इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। ऋषि दयानन्द ने अन्यत्र भी सुगन्ध अर्थ में 'सुगन्धि' शब्द का प्रयोग किया है। यथा—सुगन्धि-पुष्टि-मिष्ट-बुद्धिवृद्धि-शौर्य-धैर्य-बल-रोगनाशकरैर्गुणैर्युक्तानां द्रव्याणाम् (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ २६६ सं० ४, पञ्चमहायज्ञविधि देवयज्ञ के अन्त में)।

पृष्ठ १०१ पं० २४—यजुर्वेदस्यैकोनचत्वारिंशाध्यायस्थं प्रतिमन्त्रमुच्चार्य—यजुर्वेद के ३९ वें अध्याय में १३ मन्त्र हैं। परन्तु संस्कारविधि में ५–९ तक ५ मन्त्रों को छोड़कर शेष ८ मन्त्रों के प्रतिवाक्य भेद करके ६३ आहुतियां देने का विधान किया है। इससे स्पष्ट है कि यजुर्वेद के मूल पाठ में जितने भाग पर एक संख्या दी जाती है, वह पूरा भाग भी एक मन्त्र माना जाता है और यज्ञकर्म में उसके अवान्तर वाक्यों के लिये भी मन्त्र शब्द का व्यवहार होता है। इसी प्रकार यजुर्वेद अ० ३ मं० ९-१० के अवान्तर ७ विभाग करके, उनके पृथक् पृथक् अंश के लिये मन्त्र शब्द का व्यवहार संस्कारविधि आदि के अग्निहोत्र प्रकरण में किया है।

इन प्रकरणों से एक बात और भी स्पष्ट होती है कि जिन मन्त्रों वा मन्त्रांशों से आहुति देनी हो, उनमें यदि 'स्वाहा' पद पठित न हो तो आहुति देते समय स्वाहा पद पढ़ा जाता है, परन्तु यदि मन्त्र या मन्त्रांश में स्वाहा पद पठित हो, तो पुनः स्वाहा पद का उच्चारण नहीं किया जाता। देखो संस्कारविधि अग्निहोत्र प्रकरण—विश्वानि देव, अग्ने नय सुपथा मन्त्रों के मूल पाठ में स्वाहा पद नहीं था, जोड़ा गया। यां मेधां मन्त्र तथा सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा आदि मन्त्रांशों में जहां मूल पाठ में स्वाहा पद विद्यमान था, वहां उसी से आहुति प्रदान को गतार्थ मान लिया गया, पुनः स्वाहा पद नहीं जोड़ा। इसलिये ब्रह्मपरायण आदि यज्ञों के समय स्वाहान्त मन्त्रों में दुबारा स्वाहा लगाने की जो परिपाटी चल रही है, वह ऋषि दयानन्द और याज्ञिक परम्परा के विरुद्ध है, यह स्पष्ट है।

पृष्ठ १०९ पं० २३—मेरी समझ में—यहां मेरी से अभिप्राय स्वामी जी का अपने से है। इसलिये इस विज्ञापन पर स्वामी जी के हस्ताक्षर न होने पर भी यहां छापा गया है।

पृष्ठ १३२ पं० १५—संसेधनीयानि—कई लोग इसे अपपाठ समझते हैं उनके मत में 'संसाधनीयानि' पाठ होना चाहिये। परन्तु यह बात अयुक्त है। ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेद भाष्य २।१७ तथा ३।१६ के भावार्थ में भी 'संसेधनीयः' पद का प्रयोग किया है। यजुर्वेद भाष्य के तीनों हस्तलेखों में दोनों स्थानों पर यह पाठ है। इससे यह सुनिश्चित है कि यह प्रमाद पाठ नहीं है। श्री स्वामी जी महाराज ने यह प्रयोग 'षिधु शास्त्रे माङ्गल्ये च' भौवादिक धातु से बनाया है।

पृष्ठ १३२ पं० १७—प्रीति—नपुंसक लिङ्ग में प्रयोग माना है।

पृष्ठ १३२ पं० १७—**स्थानभृत्यप्रबन्धं च**—प्रबन्ध शब्द घञ्प्रत्ययान्त पुल्लिङ्ग माना जाता है, परन्तु महाभाष्यकार के अनेकत्र प्रयुक्त '**सम्बन्धमनुवर्तिष्यते**' प्रयोग के अनुसार इसे भी नपुंसक लिङ्ग में साधु समझना चाहिये। आगे '**कार्यः**' क्रिया का निर्देश है। ऐसा विलिंग निर्देश इसलिये किया है कि ऋषि दयानन्द प्रबन्ध शब्द को पुल्लिंग और नपुंसक लिंग दोनों प्रकार का मानते हैं। यद्यपि आधुनिक वैयाकरणों के मतानुसार एक वाक्य में विलिंग प्रयोग नहीं होना चाहिये, तथापि प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे प्रयोग बहुत से उपलब्ध होते हैं। '**वेदाः प्रमाणम्**' यह इस विषय का प्रधान वाक्य है। इसमें लिङ्ग और विभक्ति दोनों की भिन्नता है। '**प्रमाणं परमं श्रुतिः**' (मनु० २।१३) में भी यही विलिंगता है। प्रमाण शब्द नित्य नपुंसक लिंग है, ऐसा मत भी युक्त नहीं, क्योंकि मीमांसा भाष्य (१।३।३) में '**प्रमाणायां स्मृतौ**' प्रत्यक्ष स्त्रीलिंग का पाठ उपलब्ध होता है। इसलिए लिंग के विषय में '**लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिंगस्य**' महाभाष्यकार का यह वचन ही शरण है।

पृष्ठ १४२ टि० २ के अनन्तर—हमें उपर्युक्त पूर्ण संख्या १६५ का अधिकार पत्र नकली प्रतीत होता है। उसके तीन कारण हैं। प्रथम स्वामी जी ने पूर्ण संख्या २९९ (पृष्ठ २५६) में लिखा है—"**मेरठ में मूल जी ठाकरसी के सामने जहां आप भी सामने बैठी थीं, एच० एस० करनैल ओल्काट साहब को मैंने कहा कि आप ने बंबई की कौंसिल में मेरा नाम सभासदों में क्यों लिखा**"। इसी बात की ओर पूर्ण संख्या ४०० पृष्ठ ३२० पर किया है। इनसे स्पष्ट है कि स्वामी जी ने थियोसोफिकल सोसाइटी का साधारण सभासद होना भी स्वीकार नहीं किया था, फिर भला वे प्रधानाध्यक्ष कैसे बन सकते थे। दूसरा—इस अधिकार पत्र पर २ मई १८७९ तारीख दी है, परन्तु पूर्ण संख्या २९९ तथा ४०० के पत्रों में जिस घटना का उल्लेख है, वह मेरठ की है। मेरठ स्वामी जी महाराज ३ मई ७९ को पहुँचे थे। आल्काट और मैडम ब्लेवेस्तकी दोनों ४ दिन स्वामी जी के साथ रहे थे। इसलिये यदि स्वामी जी ने मेरठ में ही थियोसोफिकल सोसाइटी का सभासद बनने का प्रतिवाद किया था, तो भला एक दिन पूर्व उनका थियो० सोसा० का प्रधान बनना कैसे सम्भव हो सकता है? स्वामी जी महाराज ने पूर्ण सं० २९९ तथा ४०० में मेरठ की जिस घटना का उल्लेख किया है, उसका संकेत उक्त अधिकार पत्र के तीन दिन पश्चात् अर्थात् ५ मई १८७९ (पूर्ण संख्या १६७) को लिखे पत्र में भी है—"**थियोसोफिकल सोसाइटी में जो हमारा नाम लिखा गया है, यदि तुम उस पत्र को (जिसमें नाम लिखने का उल्लेख है) भेज देते तो हम साहब को दिखा देते। परन्तु जुबानी जो साहब से कहा गया तो उन्हों ने उत्तर दिया'''''आगे ऐसा न होगा''' '''''इस वृत्तान्त को जब मूल जी भाई आवेंगे तब तुमको समझा देंगे।**" तीसरा—यदि यह अधिकार पत्र वास्तविक होता तो उसी समय प्रकाशित किया जाता। २८ मार्च १८८२ में जब कि स्वामी जी ने कर्नल ओल्काट आदि की धूर्तता के कारण उनसे, सम्बन्ध विच्छेद की घोषणा कर दी, तो उसके बाद इसे क्यों छपवाया गया। इस अधिकार पत्र के ऊपर जो नोट दिया है उसमें लिखा है—'मूल जी ठाकरसी ने कहा है कि उन्होंने स्वामी जी को इस पत्र का अनुवाद सुनाया था, तब उनके सम्मुख ही स्वामी जी ने अपने हस्ताक्षर कर दिये थे। यह लेख भी नितान्त मिथ्या है, क्योंकि जब स्वामी जी महाराज ने अपने लिखे की पुष्टि में (पू० सं० १६७ का पत्र) मूलजी ठाकरसी के नाम का उल्लेख किया, तब करनैल ओल्काट ने भी मूलजी ठाकरसी की झूठी गवाही झूठे पत्र में छाप दी।

पृष्ठ १४६ पं० ५—**लेक्चर छपवाकर**—कर्नल आल्काट ने मेरठ में अंग्रेजी में एक व्याख्यान दिया था, उसे बंबई जाकर छपवाकर भेजने के लिये बा० छेदीलाल को कह गये थे। उसी की ओर यह संकेत है। यजुर्वेद-भाष्य अङ्क १५ (आषाढ़ १९३६) के अन्त में पुस्तकों का जो विज्ञापन छपा है उसमें संख्या २१ पर 'अमेरिका वालों का लेक्चर' का उल्लेख है। यह मेरठ में दिया गया उक्त लेक्चर ही प्रतीत होता है।

पृष्ठ १६४ पं० २, ३—**६ अङ्क में विज्ञापन दिया था**—यह विज्ञापन पूर्ण संख्या १७४ पर छपा है।

पृष्ठ १६१ पं० २४—**सपुत्रो भूत्वा**—यहां '**तत्पुत्रो भूत्वा**'—पाठ चाहिये। भाषा में भी ऐसा ही अनुवाद है।

८. ready at hand—आप्टे.
९. parents—आप्टे.
१०. त्रैकाल्याबाध्येश्वर = भूत भविष्य वर्त्तमान किसी भी समय में किसी भी रुकावट से अलग.
११. स्वप्रकाशस्वरूप = अपने ही द्वारा ज्ञानवान् क्रियावान्.
१२. अविकृत = परिवर्त्तन रहित.
१३. अधिष्ठाता = स्वामी, ruler.
१४. अविनश्वर सुख = वह सुख जिसमें ह्रास नहीं वरन् उत्तरोत्तर वृद्धि ही है ।
१५. मान करने वाले = आदर करने वाले.
१६. मुमुक्षु = ह्रास एवं दुःख रहित सुख चाहने वाले.

संपादक, प्रकाशक व मुद्रक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, बनारस।

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ८] ❀ [अङ्क १०

इस अंक में पढ़िये

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु : व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

श्रावण २०१३, अगस्त १९५६
दयानन्दाब्द १३१
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५६

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) बनारस नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
वी० पी० से ५॥)
" " विदेश में ६)
इस अंक का ॥)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास की प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) बनारस नं० ६

ऋग्वेद · ओ३म् · यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद · अथर्ववेद

सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष ८ } काशी, श्रावण सं० २०१३ वि०, अगस्त १९५६ ई० { अङ्क १०

आर्याभिविनय से

टिप्पणीकर्त्ता—विन्ध्यवासिनी प्रसाद अनुगाम

प्रार्थना-विषय

सत्पुरुषों के शरण प्रभो!

त्वम् सोमासि सत्पतिस्त्वं राजोत वृत्रहा।
त्वम् भद्रो असि क्रतुः॥

ऋग्० १।६।१९।५॥

त्वम्	आप
सोम[1]	प्रत्येक क्षण प्रत्येक वस्तु से अभीष्ट सार लेकर उसको उचित स्थान देनेवाले, हमारी बड़ाई, वृद्धि के कारण, तथा एतदर्थ साधक-साधनों के मूल स्रोत
असि	हैं
सत्पतिः[2]	(इतना ही नहीं) उन्नति के सत्यमार्ग पर चलने वालों के दुःखों को दूर करने तथा उनके आगे बढ़ने में सहायक
(असि)	हैं

अर्थबोधक टिप्पणी—

१ शिल्पविद्यासम्पादितरसेनानन्देन वा युक्तः—दया० यजु० १।४। सत्यं श्रीः ज्योतिः सोमः—श० ५।१।२।१० सवति ऐश्वर्यहेतुर्भवतीति सोमः। कर्पूरः चन्द्रमा वा—उ० १।१४०। उत्तमपदार्थसमूहः—दया० यजु० ४।२०.॥

२ fr. पा = पाने—भ्वा०, पा = रक्षणे—अदा० to nourish ; to govern—Apte.

त्वम् आप
राजा शासक
उत तथा
वृत्रहा[3] पर्वत के समान विपत्ति को, आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक शत्रुओं को, शरीर, इन्द्रिय मन बुद्धि चित्त अहङ्कार के अन्धकार को, प्राकृतिक विषमताओं, अधिक गरमी सरदी, भूकम्पादि को तथा कष्टदायक मनुष्यादि प्राणियों और सर्प व्याघ्रादि पशुओं को वश में करने वाले, अथवा नष्ट करने वाले एवं पृथिवी से वाष्परूप में जल खींचकर उसे मेघरूप देने, फिर उस मेघ को वर्षा में परिवर्तित करने वाले।
(असि) हैं
त्वम् आप
भद्र[4] सर्वोच्च हैं एवं ऊँचाई देने में परम सहायक
(असि) हैं
(तथा) और
क्रतुः असि मन बुद्धि चित्त अहङ्कार संबन्धी प्रकाश, ज्ञान, निश्चय, योग्यता, क्रियाशीलता, धर्म, सचाई में पूर्ण हैं, एवं हम सब को भी वैसा ही बनानेवाले हैं

ऋषि-व्याख्यान—

हे सोम, राजन् सत्पते परमेश्वर! "त्वम् सोम असि" तुम सोम (सर्वसवनकर्त्ता) सबका सार निकालने हारे,[6] प्राप्यस्वरूप, शान्तात्मा हो तथा "सत्पतिः" सत्पुरुषों का प्रतिपालन करनेवाले हो। "त्वम् राजा" तुम्हीं सबके राजा "उत" और 'वृत्रहा" मेघ के रचक धारक और मारक हो। "त्वम् भद्रः" भद्रस्वरूप, भद्र करने वाले और "क्रतुः असि" सब जगत् के कर्त्ता आप ही हो॥

३ वृत्रं हन्ति इति वृत्रहा। वर्त्तते सदैवाऽसौ वृत्रः। मेघः। शत्रुस्तमः। पर्वतश्चक्रं वा—उ० २। १३.
४ भन्दते कल्याणं करोतीति भद्रः—उ० २। २८.
५ यः क्रियते यया करोति वेति क्रतुः। प्रज्ञा यज्ञो वा—उ० १। ७६: power : ability : intelligence : plan : determination : will : efficiency : inspiration—आप्टे.
६ सबका सार निकालने वाले=सार निकालने की क्रिया को चलाने और इस प्रकार जगत् का पालन करने वाले यथा नीबू के योग्य पृथिवी से खटास लेकर उसमें खटास रखने वाले, नारंगी के योग्य पृथिवी से खटास और मिठास खींचकर उसमें ठीक मात्रा में इन तत्त्वों को रखने वाले, पृथिवी से जलीय अंश रूपी सार को उड़ाकर उससे बादल रचने, उसे वर्षारूप देने, अंत में बादलों को भी विनष्ट करने वाले॥

[पृष्ठ ३ का शेष]

अन्तिम पांचवां भग भगवान को भजमान् बताता है। आप संसार की सेवा करते हो। स्वामी होते हुये भी सेवक हो। आप से बड़ा सेवक जीवों का कौन है। आप की सेवायें अपार अगणित हैं। उन से जीव का उऋण होना भी कठिन है। दुनिया में भी व्यक्ति सेवा से ही भगवान् बनता है। योगिराज श्री कृष्ण, महर्षि दयानन्द और महात्मा गान्धी जी सेवा से ही महान् बने।

इस प्रकार जीव ने प्रथम बुद्धि याची। आगे जीव प्रभु से कहता है कि यदि किसी कारणवश वर्त्तमान मानव शरीर में मेरा मोक्ष न हो तो ऐसे परिवार में जन्म दो जो सम्पन्न हो। जहां मुझे उत्थान का प्रत्येक अवसर मिले। तीन साधनों से सम्पन्न मैं उत्पन्न होऊँ। गो, अश्व, उत्तम माता पिता आचार्य्य व नेताओं से युक्त परिवार, देश व राष्ट्र में मैं उत्पन्न होऊं। जहां मुक्ति के सब साधन जुट जावें। आगे प्रभु से और बल पूर्वक याचा गया कि आप ऐसा विधान व वायुमण्डल बनावें जिससे उत्तम धन के स्वामी व विद्वानों से युक्त हम हों। हमारी जीवन यात्रा का नेतृत्व अच्छा हो। जिससे "अध्वनः पारं विष्णोः तत् परमं पदम् आप्नोति" का वाक्य चरितार्थ हो जावे। कितनी स्वर्णमयी भावना इस मंत्र के भीतर निहित है॥

ऐश्वर्य के दाता ! हमें सुबुद्धि दो !!

[लेखक—श्री० पं० श्यामविहारी लाल वानप्रस्थ, ज्वालापुर]

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः । भग प्र नो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥

॥ यजु० अ० ३४ मंत्र ३६ ॥

अर्थः—(भग) हे ऐश्वर्य युक्त ! (प्रणेतः) उत्तम नेता (भग) हे ऐश्वर्य के दाता (सत्यराधः) सत्य के द्वारा सिद्ध होने वाले (भग) सेवनीय व पूजनीय (नः, इमाम्, धियम्) हमारी इस बुद्धि को (ददत्, उत्, अव) देते हुये उत्तमता से रक्षा कीजिये (भग) हे विद्यारूपी ऐश्वर्य के प्रदाता प्रभो ! (गोभिः) गौ आदि पशुओं (अश्वैः) घोड़े आदि और (नृभिः) उत्तम नेताओं के साथ (नः) हमको (प्र जनय) प्रकट कीजिये । (भग) हे सेवा करते हुये प्रभो ! हम (नृवन्तः, प्र स्याम) प्रशस्त मनुष्यों वाले अच्छी प्रकार हों, ऐसा विधान कीजिये ॥

मंत्र पर विचार धारा

यह मंत्र यजुर्वेद के ३४ वें अध्याय में आया है और ऋग्वेद में भी आया है । इसकी भावना यह है कि मानव के बहुमूल्य चोले में आया जीव जब प्रातः ब्राह्म मुहूर्त्त में जागे तो प्रथम वृत्ति चित्त में क्या उठनी चाहिये । ऐसी वृत्ति प्रथम उठे जो उद्देश्य की पूर्त्ति की साधिका बने । मानव शरीर में सौभाग्यशाली जीव दो लक्ष्य लेकर आता है । एक तो भोगों की समाप्ति । दूसरा अपवर्ग का अर्जन । इन दोनों में भी प्राथमिकता निःश्रेयस की प्राप्ति ही है । यह सब दर्शन एक स्वर से मानते हैं कि मोक्ष की उपलब्धि तत्त्वज्ञान से होती है । सांख्य दर्शन तो स्पष्ट "ज्ञानान्मुक्तिः" "बन्धो विपर्ययात्" कह कर तत्त्व-ज्ञान से मोक्ष और अविद्या से बन्ध बताता है । प्रकृति व पुरुष के निश्चयात्मक ज्ञान से मोक्ष होता है, ऐसा इस दर्शन का मत है । योगाचार्य्य महामुनि पतञ्जलि भी द्रष्टा व दृश्य के संयोग का हेतु अविद्या मानते हैं । "तस्य हेतुरविद्या" सूत्र २४ साधन पाद । "तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्" सूत्र २५ साधन पाद । अविद्या के दूर होने पर संयोग की समाप्ति होती है । संयोग की समाप्ति ही जीव का मोक्ष है । यही कैवल्य है । इस प्रकार यह दोनों दर्शन (सांख्य व योग) अविद्या से बन्ध मानते हैं और विद्या से मोक्ष । इसी प्रकार न्याय व वैशेषिक सोलह अथवा छः पदार्थों के तत्त्व बोध से मोक्ष की उपलब्धि अपने शास्त्र में प्रतिपादन करते हैं । जब ज्ञान से मोक्ष है तो जागने पर प्रथम बुद्धि की याचना प्रभु से युक्ति युक्त है, उपर्युक्त है ।

हेतु स्पष्ट है । यह मेधा ही तो मोक्षदायिनी है । इसी की प्राप्ति व रक्षा संसार से उबारती है, तारती है । अतः जीव की यह मौलिक प्रार्थना जागरण समय उपयुक्त ही है । इस मंत्र में प्रभु के सम्बोधन के लिये सात शब्द हैं । पांच वार तो केवल एक शब्द 'भग' आया है । 'प्रणेतः' व 'सत्यराधः' यह दो शब्द और हैं । पांच वार 'भग' की पांच पृथक् भावनायें हैं । प्रथम भग की भावना यह है कि हे प्रभो ! आप सकल ऐश्वर्य से युक्त हो । दूसरी वार भग कह कर जीव कहता है कि जहाँ आप सकल ऐश्वर्य से युक्त हो वहां ऐश्वर्यप्रद भी हो । आप उदार हृदय से पात्र को अपने ऐश्वर्य का भण्डार खोल देते हो । आप कृपण नहीं हो । केवल हमारे पात्र बनने की देर है । तीसरे भग का भाव यह है कि आप भजनीय पूजनीय सेवनीय हो । आप की वेदोक्त आज्ञा का समझना व पालन ही आप की सच्ची सेवा व पूजा है । चौथे भग में प्रभु को विद्या ऐश्वर्यप्रद कहा गया है । आप वह वस्तु देते हो जो जीव को इस अथाह संसार सागर से तारती है ।

[शेष पृष्ठ २ पर]

अतिथि सेवा

[ले०—श्री स्वा० गंगा गिरि जी महाराज (आचार्य गुरुकुल महाविद्यालय, रायकोट)]

"वैदिकधर्म" यज्ञप्रधान है। प्रत्येक वैदिकधर्मी के लिए (१) ब्रह्मयज्ञ, (२) देवयज्ञ, (३) पितृ-यज्ञ (४) बलिवैश्वदेवयज्ञ (५) अतिथि यज्ञ—ये पांच महायज्ञ नित्य कर्त्तव्य कर्म हैं। शास्त्रों में इनके न करने पर पाप माना गया है। इन्हीं ५ यज्ञों में 'अतिथि यज्ञ' है। जिसके न करने पर गृहस्थ पाप फल का भागी बनता है। अथर्ववेद का १५ वां काण्ड अतिथियज्ञ की महिमा को द्योतित कर रहा है। प्राचीनकाल में आर्यों का अतिथि यज्ञ जगत् प्रसिद्ध था। इस विषय में वेद की आज्ञा गृहस्थों के लिए निम्न हैं:—

हिरण्यस्रगयं मणिः श्रद्धां यज्ञं महो दधत्।
गृहे वसतु नो अतिथिः॥ अ० १०।६।४।
तस्मै घृतं सुरां मध्वन्नं क्षदामहे।
स नः पितेव पुत्रेभ्यः श्रेयः श्रेयश्चिकित्सतु,
भूयोभूयः श्वः श्वो देवेभ्यो मणिरेत्य॥
अ० १०।६।५।

इन मन्त्रों का पदार्थ:—

(हिरण्यस्रक्) सुवर्णमालाधारी (मणिः) मणि समान अर्थात् अत्यन्त आदरणीय (अयं) यह (अतिथिः) अतिथि (श्रद्धां) श्रद्धा को (यज्ञं) यज्ञ परोपकारादि शुभ कर्मों तथा (महः) पूज्यता को (दधत्) धारण करता हुआ (नः) हमारे (गृहे) घर में (वसतु) रहे।

(तस्मै) उसे (घृतं) घृत (सुरां) अर्क और शर्बत (मधु अन्नं) मधुर पदार्थ, नाना प्रकार के अन्न (क्षदामहे) हम भेंट करते हैं। (सः) वह (मणिः) आदरणीय उपदेशक अतिथि देव (एत्य) आकर (पिता इव) जैसे पिता (पुत्रेभ्यः) पुत्रों के लिए वैसे (नः) हमें (भूयोभूयः) बारंबार (श्वः श्वः) कल कल अर्थात् निरन्तर (देवेभ्यः) दिव्य गुणों के लिए (श्रेयः श्रेयः) प्रत्येक प्रकार के कल्याण का (चिकित्सतु) ज्ञान करावे।

ऊपर के मन्त्रों में अतिथि के सम्बन्ध में जो निर्देश हैं उन्हें समझ लिया जाय तो अतिथि का महत्त्व सरलता से हृदयंगम हो सकता है। अतिथि को 'हिरण्यस्रक्' कहा है। अतिथि को हिरण्यस्रक् अर्थात् सुवर्णमालाधारी होना चाहिए। इसके दो भाव हैं। (१) अतिथि के गले में लोग बहुमूल्य सुवर्णमाला डालें अर्थात् नाना बहुमूल्य पदार्थों से अतिथि का सत्कार करें। दूसरा भाव यह है कि अतिथि 'हिरण्य' है अर्थात् हितरमणीय पदार्थों की माला वाला हो=जनहित के अनेक साधनों से वह संपन्न हो। समय समय पर वह लोगों को हित-कारी मनोहारी उपाय बतलाकर उनका कल्याण करे। मणिः—हीरा आदि। 'अतिथि स्वयं मणि हो' मणि की भाँति बहुमूल्य हो। ज्ञान ध्यानादि दुर्लभ साधनों वाला हो। लोग उसका समादर करें। स्वयं श्रद्धालु हो, औरों में श्रद्धा पैदा करने वाला हो। स्वयं सत्कर्म करता हो औरों को सत्कर्म की प्रेरणा करता हो, उसके आचार विचार व्यवहार को देखकर मनुष्य उसके श्रद्धालु बनें। उसे अपना पूज्य देव मानें, वह लोगों से इस प्रकार स्नेह रखता हो जैसे पिता अपने पुत्रों से प्रीति रखता है और बार २ लोगों को उत्तमोत्तम कल्याण के साधनों का प्रेम से उपदेश करे। इस अंतिम निर्देश में एक ऐसी बात कही है जो बहुत ही मनन करने योग्य है। हितो-पदेष्टा जनता को अपनी संतान समझे। पितृ तुल्य स्नेह करता हुआ संतान को हितोपदेश करे। कदा-चित् इस वैदिक निर्देश के आधार पर ही आज कल भी लोग सन्यासी को बाबा जी कहते हैं। अथर्ववेद १५-११-१२० में अतिथि सेवाका प्रकार भी बताया है:—

"तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहाना-गच्छेत्"। १। "स्वयमेनमभ्युपेत्य ब्रूयात् व्रात्य क्वाऽवात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु, व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु, व्रात्य यथा ते वशः तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्तु"। २।

तो यदि ऐसा व्रत विभूषित विद्वान् अतिथि जिसके घर पर आ जावे वह स्वयं उठ कर उसके पास जाकर कहे हे—व्रात्य! कहाँ रहे? व्रात्य! जल पीजिए! व्रात्य! जो आप को प्रिय लगे वैसा ही होगा। व्रात्य! जो आप की इच्छा है वह होगा, व्रात्य! जो आप की कामना है वही होगा। इन मंत्रों में अतिथि को व्रात्य कहा गया है। और अथर्व १०-६-४ में उसे हिरण्यस्तव कहा गया है। दोनों का तात्पर्य एक है। अतिथि के आने पर वैदिकों को बहुत प्रसन्नता होती थी जैसाकि अथर्व १५-१०-१-२ में कहा है।

"तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर्गृहानागच्छेत्" । १ । 'श्रेयांसमेनमात्मनो मानयेत्'।

जो ऐसा व्रतों से सुभूषित विद्वान् अतिथि जिस राजा के घर पर आवे, वह राजा अपना कल्याण समझे। सचमुच वह भाग्यशाली है, जिस घर पर ऐसा विद्वान् सत्य उपदेष्टा आए। वह वीतराग सन्यासी ही हो सकता है। ऋषि दयानन्द जी अतिथि का अर्थ बताते हैं कि "अतिथि वह होता है जिसकी आने की तिथि निश्चित न हो अर्थात् जो अकस्मात् धार्मिक, सत्योपदेशक, सबके उपकारार्थ सर्वत्र घूमने वाला, पूर्ण विद्वान् परमयोगी, सन्यासी, गृहस्थ के यहाँ आए"। सत्यार्थ० १९८ श० सं०। अतिथि की उपयोगिता के विषय में लिखते हैं। "जब तक उत्तम अतिथि जगत् में नहीं होते तब तक उन्नति नहीं होती है—उनके सब देशों में घूमने और सत्योपदेशों से पाखंड की वृद्धि नहीं होती और सर्वत्र गृहस्थों को सहज में विज्ञान की प्राप्ति होती रहती है और मनुष्य मात्र में एक धर्म ही स्थिर रहता है। बिना अतिथियों के संदेह निवृत्ति नहीं होती, संदेह निवृत्ति बिना दृढ़ निश्चय भी नहीं होता। निश्चय के बिना सुख कहाँ"? स० प्र० ११९ श० सं०॥

ज्ञानातिरिक्तवस्तुसदसद्विवेचनम्

[*श्री पं० शंकरदेव जी आचार्य गुरुकुल चित्तौड़*]

ओ३म् ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्
यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति
य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥

मन्त्रार्थः—जिस व्यापक अविनाशी सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर में सब विद्वान् और पृथिवी सूर्य आदि सब लोक स्थित हैं कि जिसमें सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है, उस ब्रह्म को जो नहीं जानता वह ऋग्वेदादि से क्या कुछ सुख को प्राप्त हो सकता है? नहीं, किन्तु जो वेदों को पढ़ के धर्मात्मा योगी होकर उस ब्रह्म को जानते हैं, वे सब परमेश्वर में स्थित होके मुक्ति रूपी परमानन्द को प्राप्त होते हैं॥

'विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः'—आत्मा पृथक् है, मन पृथक् है, इन्द्रियाँ पृथक् हैं, शरीर पृथक् है इत्यादि पदार्थों का साक्षात् ज्ञान और वह भी इतना दृढ़ कि कभी भी मिथ्या ज्ञान से पराभूत न हो अर्थात् मन इन्द्रिय और शरीरादि में कभी भी आत्मबुद्धि न हो, तो ऐसे ज्ञान को विवेकख्याति कहते हैं और वही मुक्ति का साधन है॥ 'विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः'—इस सूत्र की व्याख्या में व्यास जी लिखते हैं कि जैसे वर्षा ऋतु में तृणाङ्कुरों के फूटने से अंकुरों के बीज की सत्ता का अनुमान होता है वैसे ही मोक्षमार्ग की चर्चा सुनने से जिसके रोमहर्ष और अश्रुपात देखे जाते हैं, उस पुरुष में भी विशेष ज्ञान रूप कारण से उत्पन्न होने वाला अपवर्गभागीय कर्म (मोक्षमार्ग की ओर प्रवृत्त कराने वाला कर्म) है, ऐसा अनुमान होता है, उस पुरुष की आत्म-भाव-भावना स्वाभाविकी होती है और अन्य पुरुष अविद्यादि दोषों में फंसे होने के कारण तत्त्व निर्णय करने में रुचि नहीं रखते, किन्तु व्यर्थ दुराग्रह पक्षपातादि में प्रवृत्त होते हैं। आत्मभाव-भावना क्या वस्तु है इसको दिखाते हैं—पहिले मैं कौन था और क्यों था? जो

यह प्रत्यक्ष दीख रहा है यह क्या है ? यह दृश्यमान जगत् क्यों है ? आगे हम कौन होंगे और किस प्रकार से होंगे ? यह जो आत्मभाव-भावना है सो तत्त्वदर्शी पुरुष की सर्वथा निवृत्त हो जाती है क्योंकि यह सब अविद्या के कारण मन की विचित्र अवस्थाएँ हैं। किन्तु अविद्या के न रहने पर शुद्ध पुरुष का मन की इन अवस्थाओं से सम्बन्ध छूट जाता है। ऐसे पुरुषों को कि जिनके अविद्यादि क्लेश नष्ट हो चुके हैं, उनको क्षीणक्लेश, कुशल या चरमदेह (अर्थात् जिनका यह अन्तिम शरीर है) कहते हैं।

कणाद ऋषि भी कहते हैं—'**धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्**' पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा (जीवात्मा और परमात्मा) और मन इन ९ द्रव्यों का और इनके ही सामान्य और विशेष, जो २४ प्रकार के गुण अर्थात् किस २ द्रव्य में कौन २ गुण है इत्यादि षट्पदार्थों का, धर्मविशेष के अनुष्ठान से उत्पन्न होने वाला जो तत्त्वज्ञान, उससे ही निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। वेद ने भी यही कहा है।

"**तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**'—महान् जो पुरुष, अज्ञान से रहित, आदित्यवर्ण अर्थात् ज्ञानस्वरूप, उसको ही जानकर मनुष्य मृत्यु के दुःख से बच सकता है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मसे अतिरिक्त अन्य पदार्थ भी हैं किन्तु उनके ज्ञान होने पर भी जब तक ब्रह्म, जो महापुरुष उसका ज्ञान न हो तब तक कभी मनुष्य का जन्म सफल नहीं हो सकता। वेदों में मूल रूप से तीन पदार्थों का अलङ्कार रूपेण वर्णन है। यथा—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखायः समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' ॥

अर्थ—(द्वा) ब्रह्म और जीव दोनों (सुपर्णा) चेतनता और पालनादि गुणों से सदृश (सयुजा) व्याप्य व्यापक भाव से संयुक्त (सखायः) परस्पर मित्रता युक्त, सनातन, अनादि हैं और (समानं वृक्षं) वैसा ही अनादि मूल रूप कारण और शाखा रूप कार्य युक्त वृक्ष अर्थात् जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न भिन्न हो जाता है, वह तीसरा अनादि पदार्थ है, इन तीनों के गुणकर्म और स्वभाव भी अनादि हैं। इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है वह इस वृक्ष रूप संसार में पाप पुण्य रूप फलों को (स्वाद्वत्ति) अच्छी प्रकार भोगता है और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को (अनश्नन्) न भोगता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है, जीव से ईश्वर और ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न स्वरूप तीनों अनादि हैं। ऐसा वेद में स्पष्ट कहा है। और '**इयं विसृष्टिर्यत आबभूव**'—यह सृष्टि जिसमें द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक और पृथिवी लोक हैं, इन तीन प्रकार में अनन्त लोकों का वर्णन है, जैसे पृथिवी में बड़े २ पर्वत समुद्र नदी वृक्ष वनस्पति आदि ओषधियों, अनेक प्रकार के ग्राम्य, आरण्य, मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमि, कीट आदि अनेकों प्रकार के अवान्तर भेदों का वर्णन वेदों में विद्यमान है।

'**सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्**'—और जिसको वेद इन शब्दों में कहता है कि '**याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्**' अर्थात् परमात्मा ने जीवों के कर्मानुसार जिस जिसके जैसे जैसे कर्म थे वैसे २ ही सर्वज्ञता से कर्त्तव्य पदार्थों को रचा। जब वेद इस सृष्टि के लिये इन शब्दों में कथन करता है तो फिर नवीन वेदान्ती लोग प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् का अपलाप करते हैं अर्थात् स्वप्न के पदार्थों की तरह जगत् भी असत्—अविद्यमान है, कहते हैं। शङ्कराचार्य्य वेदान्त २।१।४ सूत्र के भाष्य में लिखते हैं कि—

'**ब्रह्मास्य जगतो निमित्तकारणं प्रकृतिश्च**'—ब्रह्म इस जगत् का निमित्त और उपादान कारण है फिर दूसरे स्थान पर कहा कि यह ब्रह्म का रूप भेद अविद्या कल्पित है। ऐसा स्वीकार करने से अविद्या कल्पित रूपभेद से सावयव ब्रह्म नहीं हो जाता है। पारमार्थिक रूप से सर्वव्यवहार से अतीत विकारादिरहित ही विद्यमान है। मिथ्या ज्ञान से किया हुआ (वे० २।१।२२) जीव का संसारी होना, ब्रह्म का सृष्टि कर्त्ता होना, इस सारे भेद व्यवहार के सम्यक् ज्ञान से बा[illegible] होने से, अभाव होने से किस से सृष्टि, किससे दुःखादि करने आदि का दोष आता है ? अविद्या से सामने उपस्थापित नाम और रूप से किया हुआ कार्य और कारण संघात जो उपाधि अविवेक से की हुई भ्रान्ति है। जिसमें दुःखादि हैं वह संसार यथार्थ में नहीं है, ऐसा हम बहुत बार कह चुके हैं। अविद्यात्मक जो उपाधि उससे परिच्छिन्न जो जीव उसकी अपेक्षा से ही ईश्वर का ईश्वरत्व और सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्त्व है, यथार्थ में विद्या के द्वारा हटा दी गई है सर्व उपाधि जिसमें, ऐसे

आत्मस्वरूप में ईशितृत्व ईशितव्यत्व सर्वशक्त्वादि संगत नहीं होते'।

इसी प्रकार बौद्धों का भी एक भेद है जिसके मत में कार्य कारण रूप सभी पदार्थ असत्, चित्तमात्र कल्पित, स्वप्न के पदार्थों के तुल्य हैं। बाह्य वस्तुओं की प्रतीति मात्र की सत्ता है यथार्थ में न कार्य है, न कुछ कारण। जैसा *कि इन वचनों द्वारा प्रकट करते हैं—*

'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥
यथा रथादयः स्वप्ने भान्त्येव नैव सन्ति वै।
तथा जाग्रदवस्थायां भूतानि च न सन्ति वै॥

न प्रलय है न उत्पत्ति, न कोई बन्धन में है, और न कोई मोक्ष का साधन करने वाला है और न कोई मुक्ति चाहने वाला है और न कोई मुक्त हुआ। जैसे स्वप्न में रथादि प्रतीत ही होते हैं, किन्तु होते नहीं, वैसे ही जाग्रद् अवस्था में भूतादि कुछ भी नहीं हैं। इसी पूर्व पक्ष को योग भाष्य में व्यास जी इन शब्दों में लिखते हैं—

'नास्त्यर्थो विज्ञानविसहचरोऽस्ति तु ज्ञानम् अर्थविसहचरं स्वप्नादौ कल्पितम्, अनया दिशा ये वस्तुस्वरूपमपह्नुवते ज्ञानपरिकल्पनामात्रं वस्तु स्वप्नविषयोपमं न परमार्थतोऽस्तीति। (यो० द० ४। १४)॥

ज्ञान के विना अर्थ नहीं देखा जाता किन्तु अर्थ के विना ज्ञान स्वप्न में देखा जाता है। जब अर्थ के विना भी ज्ञान रह सकता है तो जाग्रद् अवस्था में भी अर्थ के विना ही विविध प्रकार का ज्ञान ही है। एक बात और भी है कि ज्ञान और अर्थ भिन्न २ काल में प्रतीत नहीं होते। एक साथ ही दोनों की प्रतीति होती है अर्थात् ज्ञान के प्रतीति समय में अर्थ की भी अप्रतीति होती है और अर्थ के अप्रतीति काल में ज्ञान की भी अप्रतीति होती है। यदि यह ज्ञान और अर्थ पृथक् पृथक् होते तो इनकी प्रतीति भिन्न भिन्न होती इससे भी ज्ञान से पृथक् अर्थ की सिद्धि नहीं होती। जैसे अर्थ और ज्ञान में जो भेद प्रतीति है वह भ्रम ही समझना चाहिये। जैसे दो चन्द्रों की प्रतीति है यथार्थ चन्द्र एक ही है और यदि कोई कहे कि इन में परस्पर भेद है जैसे पर्वतज्ञान, सूर्यज्ञान, चन्द्रज्ञान, [illegible] ज्ञान आदि, क्यों प्रतीत होते हैं, तो यह सब अनादि वासना से प्रतीत होते हैं। जैसे स्वप्न में विना अर्थ वासना की विचित्रता से ज्ञान की विचित्रता को सभी स्वीकार करते हैं, किन्तु अर्थ भेद से ज्ञान वैचित्र्य विज्ञानवादी स्वीकार नहीं करते क्योंकि वे बाह्य अर्थ मानते ही नहीं, इससे भी बाह्यार्थ का अभाव सिद्ध होता है।

समाधान—ते तथेति। अपने महान् स्वरूप से सामने प्रत्यक्ष उपस्थित जो वस्तु उसके स्वरूप को ग्रहण *करके भी, अप्रमाण स्वरूप जो विकल्पज्ञान* * उसके द्वारा वस्तुस्वरूप को निषेध करने वाले क्योंकर यथार्थवादी हो सकते हैं? इस प्रकार तो अनृत उन्मत्तप्रलापी भी यथार्थवादी कहला सकते हैं।

बाह्यार्थ का निषेध क्यों ठीक नहीं इस पर पतञ्जलि मुनि लिखते हैं—

'वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः'। कै० पा० सू० १५॥ वस्तु के एक होने पर भी उसके विषय में चित्तों में भेद होने से चित्त और वस्तु पृथक् पृथक् हैं ऐसा बोध होता है। व्यास जी इस सूत्र के भाष्य में इस प्रकार लिखते हैं—अनेक चित्तों की आलम्बनीभूत एक वस्तु भी होती है (जो वस्तु चित्त के सामने होने पर जिस वासना को प्रकट करती है वही वस्तु इस वासना की आलम्बन कहलाती है)। वह एक वस्तु न तो एकचित्त की कल्पनामात्र है, न ही अनेकों चित्तों की कल्पना मात्र है किन्तु उस वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता है। क्योंकि एक वस्तु से ही धर्म के कारण धर्मात्मा को सुख प्राप्त होता है, और अधर्म के निमित्त होने पर पापी को उसी से दुःख प्राप्त होता है, और एक ही वस्तु अज्ञानी को मोह का कारण बनती है और तत्त्वज्ञानी को उसी वस्तु से उदासीनता होती है। अब बताओ कि किसके चित्त से? धर्मात्मा के चित्त से या पापी के चित्त से? अज्ञानी के चित्त से या तत्त्वज्ञानी के चित्त से? क्योंकि अन्य के चित्त से कल्पित वस्तु से दूसरे के चित्त में उसका ज्ञान नहीं होता। इसलिये वस्तु और ज्ञान का ग्राह्य और ग्रहणभेद है अर्थात् इन्द्रियों द्वारा अर्थ के साथ सम्बन्ध होने पर ज्ञान होता है। इसलिये ज्ञान और अर्थ एक कभी नहीं है। अपितु स्वर्थ ही शब्द और ज्ञान का आलम्बन है। वासना का आलम्बन भी अर्थ ही है।

नाभावोऽनुपलब्धेः॥ वै० २। २। ३०॥ जो यह कहा कि अर्थ के विना भी ज्ञान में वैचित्र्य वासनावैचित्र्य

---

* शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः॥

से हो सकता है, इसका उत्तर है—तुम्हारे मत में बाह्य अर्थों की अनुपलब्धि होने से वासना की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती तो वासना का वैचित्र्य कैसा, और जब न वासना सिद्ध हुई न उसका वैचित्र्य, तब वासनावैचित्र्य से ज्ञान-वैचित्र्य वैसा ही है जैसी आकाश, पुष्पों की माला। क्योंकि भिन्न भिन्न अर्थों की उपलब्धि से ही भिन्न भिन्न वासना होती हैं। अर्थों की अनुपलब्धि में किस निमित्त से भिन्न २ वासना होगी। व्यास जी लिखते हैं—

'यस्तु श्वेतोऽर्थः स शब्दप्रत्यययोरालम्बनीभूतः' जो श्वेतरूप अर्थ है वही श्वेत शब्द के प्रयोग का और श्वेताकार ज्ञान का निमित्त है और ज्ञान आत्मा में होता है यह तीनों शब्द, अर्थ, ज्ञान एक दूसरे से भिन्न हैं, जैसे ज्ञान तो आत्मा का गुण है और शब्द आकाश का गुण है और अर्थ बाह्य पदार्थ होते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, इत्यादि।

प्रश्न—किन्हीं का यह पक्ष भी है कि—

'ज्ञानसहभूरेवार्थो ऽभोग्यत्वात् सुखादिवत्' ज्ञान के समय ही अर्थ होता है, भोग्य होने से सुखादि की तरह अर्थात् जिस समय हमको सुख दुःख प्रतीत होते हैं उस समय उनकी सत्ता होती है, जब प्रतीत नहीं होते सुख दुःख भी नहीं होते। इसी प्रकार सभी पदार्थ प्रतीति से पूर्व नहीं होते और प्रतीति के बाद भी नहीं रहते।

उत्तर—इसका उत्तर इस योग सूत्र द्वारा दिया गया है—

"न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्" यदि एक विज्ञान के साथ ही वस्तु होती है तो ज्ञान के नष्ट हो जाने पर बिना प्रमाण के ही वह वस्तु कैसे नष्ट हो गई और ज्ञान होने पर वह वस्तु पुनः कैसे उत्पन्न हो गई क्योंकि प्रत्येक वस्तु अपने अपने कारण से उत्पन्न और नष्ट होती है, जैसे मकान, पत्थर, मिट्टी आदि के यथावत् संयोग करने से बनता है और मिट्टी पत्थर आदि के अलग करने से नष्ट होता है। इसलिये भोग्य होने मात्र से ज्ञान-काल ही में वस्तु की सत्ता मानना आगे पीछे नहीं, यह बात प्रमाण विरुद्ध है।

और भी, वस्तु के सामने का भाग ही दीखता है पृष्ठादि पीछे का भाग नहीं दीखता तो फिर पृष्ठादि के न होने से उदरादि का भी ग्रहण न होना चाहिये किन्तु ग्रहण होता है इसलिये पृष्ठादि भाग भी न दीखने पर भी अवश्य है। इसलिये ज्ञान न होने से पूर्व और ज्ञान के न रहने पर भी वस्तु की सत्ता का निषेध नहीं किया जा सकता है। इसलिये ज्ञान से भिन्न अर्थ सभी पुरुषों के लिये है। चित्तों की स्वतन्त्र सत्ता प्रत्येक पुरुष के लिये अलग अलग है और चित्त और अर्थ के साथ सम्बन्ध होने से जो ज्ञान होता है वही पुरुषों का भोग है। न्याय दर्शन में भी बाह्यार्थ निषेध का निम्नप्रकार से पूर्वपक्ष उठाकर खण्डन किया है।

प्रश्न—जो आप ज्ञान की सत्ता के द्वारा 'ज्ञान के विषय हैं' ऐसा मानते हो सो यह आपकी मिथ्याबुद्धि है। यदि यह बुद्धि यथार्थ होती तो बुद्धि से ही विवेचन करने पर वस्तुओं की यथार्थता जानी जाती किन्तु—

'बुद्ध्या विवेचनात्तु भावानां याथात्म्यानुपलब्धिस्तन्त्वपकर्षणे पटसद्भावानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धिः'। न्या० ४। २। २६॥ जैसे कपड़े में से एक एक तन्तु अलग करने पर कपड़ा कोई अलग वस्तु उपलब्ध नहीं होती जिसको कपड़ा समझा जाये। जब तन्तुओं से अलग कपड़ा कोई वस्तु नहीं फिर भी जो 'कपड़ा' ऐसा ज्ञान होता है वह मिथ्या ज्ञान ही है। इसी प्रकार जगत् के सब पदार्थों का विवेचन करने से ज्ञान होता है कि यह जगत् भी कोई वस्तु नहीं है।

उत्तर—'व्याहतत्वादहेतुः'। ४। २। २७॥ जब ज्ञान से अतिरिक्त कोई अर्थ ही तुम नहीं मानते तो फिर बुद्धि के द्वारा पदार्थों का विवेचन करने पर पदार्थविषयक प्रतीति मिथ्या सिद्ध होती है, ऐसा कहना परस्पर विरुद्ध है। यदि बुद्धि से पदार्थों का विवेचन करते हैं तो इसमें तीन वस्तुएँ आती हैं—एक विवेचन करने वाला (कर्ता), दूसरी जिस बुद्धि से विवेचन करता है वह (करण) और तीसरी विवेचन क्रिया। जब तुम्हारे कहने से ही तीन वस्तुएँ सिद्ध होती हैं तो फिर जब कोई पदार्थ ही नहीं है तो विवेचन किसका और यदि बुद्धि से विवेचन करते हो तो सर्वपदार्थों का अभाव न हुआ। और जो तन्तुओं से अलग कपड़ा कोई नहीं ऐसा कहते हो तो इसका उत्तर है 'तदाश्रयत्वादपृथग्ग्रहणम्' ४। २। २८॥ उत्पन्न हुआ द्रव्य जिन कारण द्रव्यों से मिलकर बनता है उन कारण द्रव्यों के आश्रय में ही उसकी उपलब्धि होती है, अर्थात् वह कार्य द्रव्य कारण द्रव्य के आश्रित ही रह सकता है पृथक् नहीं। और जिन पदार्थों

[क्रमशः]

कर्म का सिद्धान्त

[लेखक—श्री पं० गङ्गा प्रसाद जी उपाध्याय एम० ए०]

(अङ्क ८ पृ० १५ से आगे)

प्रश्न ५४—परमात्मा दयालु होकर भी असह्य दुःखों को क्यों देता है ?

उत्तर—दयालु ईश्वर प्रिय जीव को अशुभ कर्मों से छुड़ाना चाहता है। जब दुःख असह्य हो जाते हैं तो जीव को मूर्च्छा आ जाती है। मूर्च्छा में असह्य से असह्य दुःख सह्य हो जाते हैं। परन्तु दुःखों की विद्यमानता अशुभ कर्मों को छुड़ाने में सहायक होती है। दुःख और सुख दोनों आत्म-विकास पर प्रभाव डालते हैं। यद्यपि यह प्रभाव बहुधा अदृष्ट और अमीमांसनीय रूप में होता है। इसको आप एक मोटे उदाहरण से जान सकते हैं। याद रखिये कि उदाहरण मोटा है। इसको इतना ही समझिये। शरीर में स्वस्थता और रोग दोनों ही जन्म के आरंभ से ही लगे रहते हैं। इन दोनों का शरीर के विकास पर प्रभाव पड़ता है। स्वस्थता अपनी शैली से शरीर का विकास करती है और रोग अपनी शैली से अनिष्ट पदार्थों को शरीर से निकालने में सहायक होते हैं। स्वस्थता और रोग दोनों ही शारीरिक विकास के लिये आवश्यक हैं। ऐसे ही सुख दुःख के ऊपर घटाइये।

प्रश्न ५५—सुख और दुःख का जीव के ज्ञान-स्तर से भी सम्बन्ध है या नहीं।

उत्तर—है। आत्मा केवल सुख या दुःख का बंडल ही तो है नहीं। आत्मा के गुण तो हैं छः। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान तथा प्रयत्न। आप इनके द्वन्द्वों को एकीकरण करके तीन भाग कर सकते हैं। अर्थात् कर्तृत्व, ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व। जीव ज्ञाता भी है, कर्त्ता भी है और भोक्ता भी। ज्ञातृत्व ज्ञान का सूचक है। कर्तृत्व कर्म या प्रयत्न का, सुख और दुःख भोक्तृत्व का। इच्छा और द्वेष को सीमान्त प्रदेश समझिये। अर्थात् उनमें सुख के भोगने का ज्ञान और प्रयत्न दोनों विचित्र रूपेण सम्मिश्रित रहते हैं। इन छओं से मिल कर एक स्तर (level) बनता है। यह स्तर उत्तरोत्तर वृद्धि या ह्रास को प्राप्त हुआ करता है, जो जीव के ज्ञान और प्रयत्न के स्तर पर निर्भर रहता है। परन्तु ज्ञान और प्रयत्न दोनों पर सुख और दुःख का प्रभाव पड़ता है।

प्रश्न ५६—प्राणी को किस चीज से दुःख होता है और किस से सुख ?

उत्तर—दुःख और दुःख के साधनों में भेद है। इसी प्रकार सुख और सुख के साधनों में। एक वस्तु न दुःख-दायक है और न सुखदायक और उसी से सुख भी मिलता है और दुःख भी। संसार में यह भी एक गुण है जिसके पास सुख के साधन अधिक हों उसे सुखी समझ लिया जाय और जिसके पास वह साधन नहीं हैं उसको दुःखी। प्राणी झोपड़ों में सुखी और महलों में दुःखी देखा जाता है। अत्यन्त रोगी को भी सुख की नींद सोता पाते हैं और पूर्ण स्वस्थ को भी चिन्ता-ग्रस्त देखा जाता है। अतः ऊपरी उपकरणों को देखकर सुखी या दुःखी समझ लेना भूल है। सुख और दुःख आन्तरिक हैं बाह्य नहीं। एक ही घटना एक प्राणी को सुख देती है और दूसरे को दुःख। 'अ' की मृत्यु से उसके मित्र दुःखी होते हैं और शत्रु सुखी। एक प्रकार की घटना कभी मुझे दुःख देती है और कभी सुख। अतः बाह्य साधनों का जुटाना ही पर्याप्त नहीं है। आन्तरिक वृत्ति भी होनी चाहिये। इन वृत्तियों के निर्माण में ज्ञान प्रयत्न और सुख दुःख सबका हाथ है।

प्रश्न ५७—यदि सुख का उपकरण सदा सुख नहीं देता अथवा दुःख का उपकरण सदा दुःख नहीं देता तो उनको सुख का उपकरण या दुःख का उपकरण क्यों कहते हैं ?

उत्तर—इसका कारण यह है कि साधारण परिस्थिति में यदि वृत्तियां सामान्य रहें तो उन उपकरणों को सुख या दुःख की उपलब्धि में लागू किया जा सकता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि ऐसा हो ही जाय। रोटी से पेट भरता है और स्वास्थ्य उपलब्ध होता है परन्तु रोग भी हो सकता है। अतः कारण और उपकारणों में सदा विवेक करना आवश्यक है। केवल उपकरणों को जुटाने मात्र से सुख या दुःख नहीं मिल जाता। अतः उपकरणों को जुटाते समय यह भी देख लेना चाहिये कि उनसे सुख मिलता है या नहीं। इसी प्रकार दुःख के उपकरणों की प्राप्ति मात्र

से घबरा नहीं जाना चाहिये। दुःखों के घोर से घोर उपकरणों को भी अपनी मानसिक वृत्तियों द्वारा सुख का साधन बनाया जा सकता है। जैसे विष यद्यपि मृत्यु का उपकरण है, तथापि बुद्धि के प्रयोग से वह रोगों की निवृत्ति का उपकरण बन सकता है।

प्रश्न ५८—मृत्यु सुख है या दुःख ?

उत्तर—मृत्यु न सुख है और न दुःख। यह सुख का उपकरण हो सकता है और दुःख का भी। किसी मनुष्य या प्राणी को मरते देख कर यह नहीं समझना चाहिये कि उसमें उसका अनिष्ट है। मृत्यु है क्या ? एक शरीर से जीव का निकलना और दूसरे शरीर में प्रवेश करना। हम जब एक मकान को छोड़कर दूसरे में जाते हैं या कोट उतार कर दूसरा पहनते हैं तो उससे सुख भी हो सकता है और दुःख भी। जब एक पदाधिकारी एक पद से दूसरे पर जाता है तो यदि वेतन-वृद्धि या पद-वृद्धि होती है तो उसे प्रसन्नता होती है। यदि वेतन में कमी या पद छोटा हो तो दुःख होता है। इसी प्रकार मृत्यु के पश्चात् हमको कैसा शरीर या कैसी परिस्थिति मिले, उसी को देख कर तो हम यह कह सकते हैं कि मृत्यु अच्छी हुई या बुरी।

प्रश्न ५९—फिर मृत्यु को लोग भयानक क्यों समझते हैं और मित्रों की मृत्यु पर इतना रोना पीटना क्यों होता है ?

उत्तर—प्रथम तो साधारण प्राणी को वर्तमान परिस्थिति से मोह हो जाता है। अतः वह इसको छोड़ना नहीं चाहता। दूसरे भविष्य की बात जानता नहीं। उसे सन्देह होता है कि न जाने आगे क्या हो। उसमें ईश्वर-विश्वास की कमी होती है। जो जीव यह समझ ले कि ईश्वर जो करता है भले के लिये करता है तो जीव को मरते समय भी संतोष हो।

दूसरे लोग मृत्यु पर इस लिये रोते हैं कि उनका अपना स्वार्थ होता है। पत्नी पति की मृत्यु पर या लड़के बाप की मृत्यु पर इस लिये रोते हैं कि उनका जीवन का साधन चला गया। इस रोने पीटने से यह सिद्ध नहीं होता कि मृत्यु से मरने वाले का अहित ही हुआ है। जो लोग जीव की चेतन सत्ता पर विश्वास नहीं करते और जीवन को केवल जड़ ही समझते हैं, उनको तो यह कहने का अधिकार ही नहीं कि मृत्यु से मरने वाले की हानि होती है। दीपक की जो लौ बुझ गई उसका हित क्या और अहित क्या। परन्तु जो जीव को चेतन मानते हैं उनको विचारना चाहिये कि मृत्यु न केवल दुःख का कारण है न केवल सुख का। न केवल उन्नति का है न केवल अवनति का। जीव मर कर मुक्त भी हो सकता है और कीट पतंग का जीवन भी प्राप्त कर सकता है।

प्रश्न ६०—किसी को मार डालना पुण्य है या पाप ?

उत्तर—केवल मार डालने मात्र से पुण्य या पाप की व्यवस्था नहीं की जा सकती। फाँसी देने वाला मनुष्य फाँसी देते समय न पुण्य करता है और न पाप। हाँ, एक प्रकार से वह अपना कर्तव्य पालन करता है। जिसकी आज्ञा से फाँसी दी जाती है उसके पुण्य-पाप का मापदण्ड उसकी अपनी कर्त्तव्यता है। बिना कर्त्तव्यता के किसी को मारना पाप है।

II

प्रश्न ६१—क्यों ? किसी को क्या पता कि मारने वाले की यह मृत्यु सुख और उन्नति का कारण हो।

उत्तर—कोई किसी को उन्नति या सुख पहुँचाने के लिये मारने का प्रयास नहीं करता। वह तो स्वार्थवश उसकी स्वतंत्रता को नष्ट करना चाहता है। इसलिये उसके प्राणों के पीछे पड़ा है। किसी की स्वतंत्रता का बाधक होना पाप है, क्योंकि यह ईश्वर की सृष्टि के उद्देश्य से विरुद्ध है।

प्रश्न ६२—ईश्वर प्राणी को क्यों मारता है ? उसको पाप क्यों नहीं लगता ?

उत्तर—ईश्वर अपने स्वार्थ के लिये किसी को नहीं मारता। ईश्वर मारता ही नहीं जिलाता भी है। यदि वह मेरे इस जीवन का अन्त करने के लिए मृत्यु देता है तो दूसरे जीवन के आरम्भ के लिये जन्म भी देता है। जो डाकू मेरे कपड़े उतार लेता है वह पापी है, क्योंकि उसने अपने स्वार्थ के लिये मुझे पीड़ा दी है। परन्तु जो मेरी माता मेरे पुराने कपड़े उतार कर नये पहनाती है वह दयालु है, डाकू नहीं।

प्रश्न ६३—तो क्या सब प्राणियों का मारना पाप है ?

उत्तर—सब का, जो स्वार्थवश मारे जाते हैं।

प्रश्न ६४—मछली, बकरी, मुर्गी आदि का भी जो खाने के लिये मारे जाते हैं ?

उत्तर—अवश्य। क्योंकि यह स्वार्थ के लिये मारे जाते हैं।

प्रश्न ६५—हम तो इनको मार कर ईश्वर का अनुकरण करते हैं। ईश्वर भी मारता है और हम भी।

उत्तर—कदापि नहीं। ईश्वर जिलाने के लिये मारता है। आप अपने स्वार्थ के लिये मारते हैं।

प्रश्न ६६—जब मृत्यु न दुःख का कारण है और न सुख का तो मारना क्यों पाप है ?

उत्तर—मृत्यु दुःख का निमित्त भी हो सकता है और सुख का भी। परन्तु मारने वाले की इच्छा तो स्वार्थ-सिद्धि और शत्रुता को ही प्रकट करती है। अतः पाप है।

प्रश्न ६७—गीता में लिखा है:—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनो ऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत।
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥
(गीता २। १८,१९)

अर्थ—ये शरीर अनित्य हैं। जीव नित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन युद्ध कर।

जो आत्मा को मारने वाला या मरने वाला मानते हैं वे दोनों अज्ञानी हैं। जीव न मारता है न मरता है।

यदि ऐसा है तो किसी प्राणी को मारने में पाप नहीं। हम मछली के शरीर को ही तो मारते हैं। मछली के जीव को तो नहीं।

उत्तर—ऐसा मानने से तो महा अनर्थ हो जायगा। गीता का उपदेश तो केवल रणक्षेत्र के लिये था, जहाँ अर्जुन युधिष्ठिर की आज्ञा से लड़ने गया था। यदि ऐसा उपदेश प्रत्येक चोर डाकू या घातक को दिया जाय तो घोर आपत्ति आ जाय। जो कोई मेरा धन चुरा लेता है वह नित्य आत्मा को मार तो नहीं सकता। परन्तु स्वार्थवश मुझे पीड़ा पहुँचाता है, अतः दण्डय है। इसी प्रकार मछली को मारने वाला स्वार्थवश मछली के जीव को पीड़ा देना चाहता है। अतः पापी है क्योंकि उसकी इच्छा है कि एक प्राणी की वस्तु को हर के अपने पेट की पूर्ति की जाय। किसी वाक्य का अर्थ प्रकरण को देख कर निकालना चाहिये। दुर्भाग्य का विषय है कि रणक्षेत्र में दिये जाने वाले उपदेश को हर परिस्थिति में लाकर कुछ का कुछ परिणाम निकाला जाता है।

यह माना कि आत्मा अमर है। परन्तु यह भी तो ठीक ही है कि यह अमर आत्मा सुख और दुःख का भागी होता है। अतः जो उसको दुःख देना चाहते हैं या उसकी स्वतंत्रता को छीनना चाहते हैं, वे पाप करते हैं। कल्पना कीजिये कि मोहन नाम का विद्यार्थी आज दिन के १० बजे एम० ए० की परीक्षा में बैठने जा रहा है। यदि कोई कुन्दन नामी पुरुष उस को सड़क पर पकड़ कर के आधा घण्टा रोके रक्खे तो वह पाप का भागी होगा या नहीं ? वह यह नहीं कह सकता कि मोहन तो अमर ही है। मैंने उसके अमरत्व में बाधा नहीं डाली, और न वह यह कह सकता है कि कौन जानता है मोहन परीक्षा देता और विफल हो जाता। क्योंकि कुन्दन का विचार दूषित है। अतः अपराध है।

III

प्रश्न ६८—मृत्यु का समय मरने वाले के कर्मों पर निर्भर है या अन्य किन्हीं कारणों पर भी ?

उत्तर—केवल मरने वाले के कर्मों पर।

प्रश्न ६९—पिछले कर्म्मों पर या वर्तमान या अगले कर्म्मों पर ?

उत्तर—पिछले कर्म्मों पर।

प्रश्न ७०—अच्छे कर्म्मों पर या बुरे कर्म्मों पर।

उत्तर—कहीं अच्छे कर्मों पर कहीं बुरे कर्मों पर। स्थिति का परिवर्तन दुःख का हेतु भी है और सुख का भी। अच्छे कर्म्मों का परिणाम सुख और बुरे का दुःख है।

प्रश्न ७१—यह कैसे मालूम हो कि अमुक मृत्यु का परिणाम सुख होगा या दुःख ?

उत्तर—मनुष्य इस बात को नहीं जान सकता। मृत्यु के पश्चात् की बात परोक्ष है। इसको तो ईश्वर ही जानता है। उसी की व्यवस्था से संसार चलता है।

प्रश्न ७२—सब लोग अपने मृत पूर्वजों को स्वर्गीय (स्वर्ग को जाने वाला) मरहूम (रहम किया गया) मगफूर (बरकत किया हुआ) कहा करते हैं। क्या यह सब स्वर्ग को जाते हैं ?

उत्तर—मित्रों और सम्बन्धियों की यह भावनायें उनकी हितैषिता की सूचक हैं, न कि उनके भविष्य-दर्शकत्व की। यह कौन कह सकता है कि मेरा बाप मरकर किसी निकृष्ट योनि को प्राप्त नहीं हुआ। हमारे शब्द हमारी शुभ भावनाओं को प्रकट करते हैं। इससे अधिक कुछ नहीं।

प्रश्न ७३—क्या मेरी मृत्यु मेरे पिछले कर्म्मों के आधार पर न होकर मेरे शत्रु की कुभावना या निर्दयता के कारण भी हो सकती है ?

उत्तर—नहीं। मृत्यु के निमित्त तो बहुत से हो सकते हैं, परन्तु कारण नहीं। यदि एक के कर्म दूसरे की मृत्यु के कारण हो सकें तो ईश्वर की न्यायव्यवस्था में बाधा पड़ जाय। पूर्ण, पूर्णज्ञ, और पूर्ण-शक्त ईश्वर की व्यवस्था में किसी के कर्म किसी अन्य को फल नहीं दे सकते। ऐसा मानना अन्याय होगा।

प्रश्न ७४—निमित्त और कारण का भेद समझ में नहीं आया। जो घटना किसी कार्य से ठीक पूर्व हो उसको निमित्त भी कह सकते हैं और कारण भी।

उत्तर—ऐसा मानना भूल है। हर एक कार्य से पहिले असंख्य घटनायें हुआ करती हैं। उनको कोई कारण नहीं मानता। कल्पना कीजिये कि दत्तू डाकू को कई हत्याओं के फलस्वरूप फाँसी दी गई। फाँसी लगी १० अक्टूबर को ८ बजे प्रातः काल। हत्यायें हुई तीन साल पूर्व। फाँसी क्षण से पूर्व उस फाँसी के स्थान में तथा अन्य स्थानों में लाखों घटनायें हुई। फाँसी देने वाले ने गले में रस्सी डाली, कई सम्बन्धी रोने लगे। जेल के डाक्टर ने परीक्षा के लिये तैयारी की। और बीसियों घटनायें तत्क्षण हुई। क्या उनको आप फाँसी का कारण कहेंगे ? कदापि नहीं। फाँसी देने वाले ने जो क्रियायें कीं वह फाँसी का कारण नहीं। हाँ, निमित्त अवश्य हैं। जो फाँसी का मूल कारण है वह फाँसी के क्षण से बहुत पुरानी बात है। अन्य बहुत सी घटनायें हैं जैसे—कौवे का बोलना या जेल के किसी कुत्ते का भौंकना जो न निमित्त हैं न कारण। अतः किसी क्रिया से पूर्व जो घटनायें घटित हुई वह तीन प्रकार की हो सकती हैं। कारण हों, निमित्त हों या न कारण हों न निमित्त; अपितु उस कार्य्य से सर्वथा असम्बद्ध।

एक और दृष्टान्त लीजिये। मोहन डाकिये ने आप को ५०) का एक मनीआर्डर दिया। उसी क्षण या केवल एक क्षण पूर्व आप का कुत्ता भौंक पड़ा। अब प्रश्न यह है कि आप की धन-प्राप्ति का कारण क्या है ? कुत्ते के भौंकने का धन-प्राप्ति से कोई सम्बन्ध नहीं। मोहन का आना निमित्त मात्र है। मनीआर्डर भेजने वाले का काम मनीआर्डर की प्राप्ति का मूल कारण है।

IV

प्रश्न ७५—क्या निमित्त बदल सकते हैं ? अर्थात् क्या एक कार्य्य के कई निमित्त हो सकते हैं ?

उत्तर—अवश्य। यह संभव था कि मनीआर्डर मोहन डाकिया न लाता बलदेव डाकिया लाता। इससे आप के कर्म-फल में कोई बाधा न पड़ती। पचास रुपये के दस दस के पाँच नोट न होते पाँच पाँच के दस या एक एक के पचास नोट होते। आप के लिये परिणाम एक सा ही था। निमित्त को कारण समझ लेने से बहुत सी भ्रांतियाँ पैदा हो जाती हैं।

प्रश्न ७६—हिरोशिमा में अमेरिका वालों का बम गिरा और लाखों मर गये। बम इनकी मृत्यु का कारण था या निमित्त ?

उत्तर—कारण तो मरने वालों के कर्म ही थे। बम निमित्त था।

प्रश्न ७७—फिर अमेरिका वालों का क्या दोष ?

उत्तर—दोष यही है कि उन्होंने निमित्त को कारण समझा। यदि कारण न समझते तो बम फेंकने का इरादा भी न करते।

प्रश्न ७८—तो क्या इन सब लाखों आदमियों ने पाप किये थे जिन का फल एक साथ मृत्यु हुई ?

उत्तर—संभव है कि किसी के शुभ कर्म हों और किसी के अशुभ। इस का परिणाम तो मनुष्य की सामर्थ्य के बाहर है। यह कोई निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकता कि जितने मरने वाले थे उन सबको अच्छी योनियाँ मिलीं या बुरी ही। जो जीव की नित्यता पर विश्वास नहीं रखते उनको तो यही मानना चाहिये कि मरने वाले झंझट से

छूट गये। वह अभाव को प्राप्त हो गये। यद्यपि है यह सिद्धान्त अयुक्त ही। परन्तु जो मानते हैं कि मृत्यु के पश्चात् जीव रहता है उनके पास ऐसा कोई प्रमाण नहीं कि मरने वालों का भविष्य बुरा हुआ या भला। संभव है कि बहुत सों का बुरा हुआ हो और बहुत सों का भला। रहीं एक साथ अचानक मृत्यु की बात! यह प्रश्न भी हमारी अल्पदर्शिता के कारण होता है। संसार में करोड़ों प्राणी हर समय मरते रहते हैं। एक नगर के बूचड़खाने में एक ही दिन प्रातः काल हज़ारों जानवरों की मृत्यु हो जाती है। और एक दिन में एक देश में न जाने कितने मनुष्य मर जाते हैं। भेद केवल इतना है कि एक स्थान पर जो हुआ वह हमारी आँखों के समक्ष हुआ?

प्रश्न ७९—कहते हैं कि ईश्वर की इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता।

उत्तर—पत्ता हिले या न हिले परन्तु झूठे की जीभ तो बिना ईश्वर की इच्छा के ही हिल जाती है। यदि ईश्वर की इच्छा से ही झूठा झूठ बोलता हो तो उसको झूठ बोलने का पाप क्यों लगे? यदि एक चोर किसी के बाग में चोरी करने जाय और आम के वृक्ष को हिलाकर आम तोड़ लावे तो आम के समस्त पत्ते भी ईश्वर की इच्छा के बिना हिल सकते हैं। इससे सिद्ध होता है कि यद्यपि पत्ते आदि जड़ चीजें स्वयं नहीं हिलतीं और न किसी चेतन मनुष्य, पशु, पक्षी के हिलाने से हिलती हैं, तथापि यह कहना ठीक नहीं कि कोई पत्ता बिना ईश्वर की प्रेरणा या इच्छा के नहीं हिलता। जब कोई जड़ वस्तु किसी अन्य चेतन की प्रेरणा के बिना हिलती पाई जाय, तब समझ लेना चाहिये कि यह ईश्वर की प्रेरणा से हिली है।

प्रश्न ८०—यदि चेतन क्षुद्र जीव ईश्वर की प्रेरणा के विरुद्ध भी चीज़ों को हिला डुला सकते हैं तो ईश्वर की व्यवस्था कहाँ रही?

उत्तर—इससे ईश्वर की व्यवस्था में बाधा नहीं पड़ती। हम पहले इस बात को स्पष्ट कर चुके हैं कि ईश्वर की व्यवस्था ही ऐसी है कि किसी जीव के उचित स्वातंत्र्य में बाधा न पड़े। यदि जीवों का उचित स्वातंत्र्य बाधित हो गया तो मानो न्याय-व्यवस्था भी नष्ट हो गई और यह सृष्टि कर्म-क्षेत्र न रहकर कठपुतली का खेल हो गया।

प्रश्न ८१—आपने 'उचित' स्वातंत्र्य क्यों लिखा? क्या अनुचित स्वातंत्र्य भी होता है? और क्या ईश्वर की व्यवस्था 'अनुचित' स्वातंत्र्य को घटने नहीं देती?

उत्तर—हाँ स्वातंत्र्य अनुचित भी हो सकता है। उसको स्वातन्त्र्य न कहकर उच्छृङ्खलता या अनियन्त्रण अथवा अनियमता कहते हैं। इसका एक स्थूल उदाहरण देश के राजनीतिक शासन में दृष्टिगोचर होता है। हर शासन में जनता को कुछ न कुछ स्वतंत्रता प्राप्त है। परन्तु ऐसे भी लोग हैं जो शासनभंजक (lawless) हैं और उनको दण्ड मिलता है अथवा उनकी स्वतंत्रता छीन ली जाती है। इसी नियम को सृष्टि के साथ भी लागू कर सकते हैं।

V

प्रश्न ८२—स्वतंत्रता कब उचित होती है, कब अनुचित?

उत्तर—सृष्टि के निर्माण का उद्देश्य है जीवों का विकास। विकास के लिये ऐसी परिस्थिति चाहिये जिसमें जीव अपनी बुद्धि को लगा सके। अर्थात् जिसमें उसे यह सोचने का अवसर मिले कि क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये। यदि मनुष्य अपनी इस स्वतंत्र बुद्धि को यथेष्ट रीति से प्रयुक्त करता है तो उसकी परिस्थिति शनैः शनैः विशद होती जाती है। परन्तु यदि वह बुद्धि को निकृष्ट रीति से प्रयुक्त करता है तो स्वतंत्रता तो रहती है परन्तु वह स्वातंत्र्य परिस्थिति को नित्य प्रति दूषित करता रहता है। इस सृष्टि की व्यवस्था में हर एक बात की सीमा है। जब स्वातंत्र्य इस सीमा को पहुँच जाता है कि आगे जीव की स्वतंत्रता अन्य जीवों की परतंत्रता का कारण बन सके तो स्वतंत्रता छीन ली जाती है। सृष्टि का नियम कहता है "बस यहीं तक! आगे नहीं।" आप इसको कई प्रकार के उदाहरणों से जाँच सकते हैं। आप को मिठाई प्रिय है। आप खा सकते हैं। कितना? जितना जी चाहे। आप स्वतन्त्र हैं मिठाई की मात्रा को निर्धारण करने में। एक लड्डू खाइये, दो खाइये, चार खाइये। आपके समक्ष लड्डुओं का थाल रक्खा है। आप को मज़ा आ रहा है। आप खाते चले जा रहे हैं। पेट तन गया। परन्तु आपका खाना बन्द नहीं हुआ। सृष्टि का नियम आप को पूर्ण स्वतन्त्रता दे रहा है, आप को वह रोकता नहीं परन्तु एक ऐसी सीमा आ जाती है कि आप

अति कर गये। भीतर से ऐसा प्रतीत हुआ कि किसी ने लड्डू का मज़ा कम कर दिया। लड्डू वही हैं। परन्तु मज़ा चला गया। अब आप चाहें भी तो नहीं खा सकते। सृष्टि के विधान ने आप को परतंत्र कर दिया। इस लिये कि आपने अनुचित स्वतंत्रता को काम में लाना चाहा।

इतिहास बताता है कि बहुत से डाकुओं ने बचपन से छोटे छोटे कामों में स्वतन्त्रता का अनुचित प्रयोग किया। वह बढ़ते गये। पहले ठग बने, फिर छोटे डाकू, फिर बड़े आक्रमणकारी, फिर देशों को नष्ट करने वाले विजेता। यह सब स्वातंत्र्य के कारण हुआ। परन्तु एक सीमा आई। कुदरत ने कहा "बस, आपकी परीक्षा हो चुकी। अब हम आपको एक इंच बढ़ने न देंगे।" अब उनका पतन आरंभ हुआ। जो नैपोलियन कहा करता था कि "असम्भव" मूर्खों के कोष में ही मिल सकता है वह जब सेण्ट हैलीना के छोटे और कष्टप्रद टापू में कैद था तो उसे मनमाना खाना भी नहीं मिल सकता था। स्वतंत्रता के प्रेम ने उसको उच्छृङ्खल कर दिया। वह बढ़ा तो देश की स्वतंत्रता को हाथ में लेकर और मरा दीन होकर। इसी प्रकार छोटी बड़ी बहुत सी मिसालें हैं जो बताती हैं कि जीव स्वतंत्र अवश्य है, परन्तु स्वतंत्रता की सीमा है। जब बच्चा चाकू से अपनी नाक काटने लगे तो पिता हाथ से चाकू छीनने के लिये मजबूर हो ही जायगा। परीक्षा-भवन में परीक्षार्थी परीक्षा-पत्र को लिखने में स्वतंत्र है, मेज़ तोड़ने में नहीं। स्वतंत्रता के भी नियम हैं।

प्रश्न ८३—वह स्वतंत्रता कैसी जिसकी सीमा निर्धारित हो? वह तो आगे चल कर परतंत्रता हो गई।

उत्तर—आप सोचें। जब हम कहते हैं कि आप कर्म करने में स्वतंत्र हैं तो "आप" से हमारा तात्पर्य केवल आप से नहीं है। आप सब जीवों से है। हर एक को पूर्ण स्वतंत्रता मिल नहीं सकती जब तक स्वतंत्रता की सीमा बाँधी न जाय। कल्पना कीजिये कि हर मनुष्य को हर समय बिना रोक टोक सड़क पर से गुज़रने की आज्ञा दी जाय और एक ही समय दो मनुष्य उस अधिकार का प्रयोग करना चाहें, तो क्या परिणाम होगा? आप दोनों परस्पर टकरा जायेंगे, और आप दोनों की स्वतंत्रता आप दोनों की परतंत्रता का कारण बन जायेगी। जिसको आप स्वतंत्रता कहते हैं वह स्वतंत्रता न रह कर घोर रूप होगा निकृष्टतम परतंत्रता का। सोहन कहेगा "मोहन मुझे चलने नहीं देता।" मोहन कहेगा "सोहन मुझे चलने नहीं देता।" यह है स्वातंत्र्य का दुरुपयोग और सृष्टि-क्रम आप के हित के लिये ऐसी स्वतंत्रता की रोक करता है। इस लिये जब तक मनुष्य स्वतंत्रता का सदुपयोग करता जाता है वह स्वतंत्र ही रहता है।

प्रश्न ८४—मृत्यु अकाल होती है या सकाल?

उत्तर—अकाल और सकाल का तात्पर्य क्या? सब क्रियायें या घटनायें काल की अपेक्षा रखती हैं।

प्रश्न ८५—किसी युवक की मृत्यु को देखकर लोग कहा करते हैं कि अमुक मनुष्य की अकाल मृत्यु (untimely death) हुई।

उत्तर—हर एक मनुष्य "काल" शब्द का प्रयोग अपने हितों की अपेक्षा से करता है। एक पत्नी के लिये पति का वियोग 'अकाल' (untimely) है चाहे उसकी मृत्यु ८० वर्ष की अवस्था में ही क्यों न हुई हो। शत्रु की मृत्यु कभी अकाल नहीं कही जा सकती। वह जितनी जल्दी मरे उतना ही उचित समझा जाता है। एक साठ वर्ष का युवराज अपने ८५ वर्ष बूढ़े राजा बाप के जीवन को 'अकाल' समझता है मृत्यु को नहीं। बच्चे जो माँ बाप के सामने मरते हैं उनकी मृत्यु अकाल ही समझी जाती है।

VI

प्रश्न ८६—नहीं नहीं। हमारे प्रश्न का आशय कुछ और ही है।

उत्तर—आशय को स्पष्ट कीजिये।

प्रश्न ८७—क्या प्रत्येक प्राणी की मृत्यु का समय और निमित्त परमात्मा की ओर से पहले से इस प्रकार निश्चित होता है कि उसमें किसी अन्य प्राणी के लिये परिवर्तन करना असम्भव है? अर्थात् कल्पना कीजिये कि यज्ञदत्त ने क्रोध में आकर देवदत्त को अपनी तलवार से किसी जंगली वृक्ष के नीचे मार डाला। क्या ईश्वर का यह निश्चय था कि देवदत्त उसी दिन उसी मूहूर्त्त में उसी तलवार से

उसी वृक्ष के नीचे उसी परिस्थिति में यज्ञदत्त मारेगा और यज्ञदत्त स्वयं या अन्य कोई प्राणी उस मृत्यु को हटा नहीं सकता?

उत्तर—आप ने प्रश्न उठाया 'काल' शब्द से। अब उसमें कर्त्ता उपकरण, स्थान, परिस्थिति सबको शामिल कर लिया। हम ऊपर लिख चुके हैं कि निमित्त को कारण मानना अयुक्त है। आज एक मनुष्य हवाई जहाज के फटने से मर जाता है। सौ वर्ष पूर्व हवाई जहाज न थे। अतः ईश्वर 'हवाई जहाज़' को मृत्यु का अवश्यम्भावी कारण या साधन कैसे बनाता। मृत्यु तो तब भी होती थीं परन्तु हवाई जहाज़ द्वारा नहीं। इसी प्रकार यदि यज्ञदत्त किसी जहाज़ में बैठा समुद्र यात्रा करता होता तो क्या केवल मरने के लिये उड़कर वृक्ष के तले आना आवश्यक होता? कदापि नहीं। इसी प्रकार केवल मृत्यु ही तो एक घटना नहीं है। घटनायें बहुत ही हैं। उन सब के लिये क्या आप यह प्रश्न करेंगे कि अमुक घटना अकाल हुई या सकाल? कल्पना कीजिये कि मुझे आपने आज दावत खिलाई। क्या यह दावत अकाल थी या सकाल? अर्थात् क्या परमात्मा ने पहले से यह निश्चित कर दिया था कि आप अपने कमरे में मिर्जापुर के कालीन पर बिठाल कर अवश्य ही सण्डीले के लड्डुओं से दावत देंगे? और इसमें से किसी अंश का न करना किसी व्यक्ति के लिये संभव न होगा?

प्रश्न ८८—आपकी इस लम्बी चौड़ी व्याख्या का निष्कर्ष क्या निकला? आपने तो एक दावत की बात छेड़ कर हमारे मौलिक प्रश्न को खटाई में डाल दिया।

उत्तर—ऐसी बात नहीं है। हमने एक समानान्तर घटना इस लिये दी है कि आप को ठीक ठीक सोचने में सहायता मिले। प्रत्येक फल कर्म के अनुसार होता है। निमित्त नहीं। एक घटना के लिये अनेक निमित्त हो सकते हैं। उनका सम्बन्ध अन्य परिस्थितियों से होता है। जैसे एक मनुष्य ने एक मास तक सरकारी नौकरी की। नौकरी कर्म है। वेतन फल है। वेतन नोटों के रूप में भी दिया जा सकता है और चाँदी, सोने तथा अन्य धातु के सिक्के के रूप में भी। यदि आप विदेश में चले जायें तो उस देश के सिक्के के रूप में भी। हाँ इतना आवश्यक है कि वेतन आपकी ही नौकरी का हो अन्य की नौकरी का नहीं और आपको ही मिले अन्य को नहीं। उपकरण भिन्न होते हुये भी आप के फल के विषय में समान मूल्य ही रक्खेंगे।

प्रश्न ८९—स्वतंत्रता किस को कहते हैं?

उत्तर—जिसके आधीन शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तः करणादि हों......।

अपने सामर्थ्यानुकूल कर्म करने में जीव स्वतंत्र परन्तु जब वह पाप कर चुकता है तब ईश्वर की व्यवस्था में पराधीन होकर पाप के फल को भोगता है। इसलिये कर्म करने में जीव स्वतंत्र और पाप के दुःख स्वरूप फल भोगने में परतंत्र होता है। (सत्यार्थप्रकाश समुल्लास, पैरा ३८)।

VII

प्रश्न ९०:—योग दर्शन में कर्म के विषय में दो सूत्र दिये हैं।

> सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।
> ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्॥
>
> (योगदर्शन साधन पाद सूत्र १३, १४)

कर्म का मूल रहने पर जब वह पकता है तो जाति या जन्म, आयु और भोग के रूप में आविर्भूत होता है। यह जन्म आयु और भोग, पुण्य और पाप की अपेक्षा से सुख और दुःख रूपी फल वाले होते हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है कि कर्म का फल सुख दुःख है या जन्म जीवन की इयत्ता, और भोग। दूसरा प्रश्न यह है कि भोग सुख और दुःख से इतर क्या वस्तु है? अथवा भोग का ही नाम सुख और दुःख है? तीसरा प्रश्न यह है कि यदि कर्म का फल सुख या दुःख ही है तो 'जाति' और 'आयु' कहने की क्या आवश्यकता थी? चौथा प्रश्न यह है कि क्या जाति, आयु, और भोगों के पिछले कर्मों के अनुसार नियत होने पर आगे को स्वतंत्र कर्म करने का कोई असर रहता है या नहीं? क्या हमारा प्रत्येक कर्म केवल भोगों के भोगने का ही एक प्रकार मात्र है? इनको समझाइये।

उत्तरः—जाति, आयु और भोग यह तीनों तो 'जीवन' के ही एक प्रकार के अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं। मैंने मनुष्य, कुत्ता, या बिल्ली के रूप में जन्म लिया। यह हुई जाति अर्थात्

एक विशेष योनि में मुझे डाला गया। मैं कुछ समय इसी योनि में रहूँगा। यह हुई आयु। दस वर्ष या साठ सत्तर वर्ष। इस आयु में मुझे भिन्न भिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ होंगी। यह हुये भोग। भोगों के हुये दो रूप सुख या दुःख। परन्तु हमारी सब अनुभूतियाँ दुःख या सुख ही नहीं हैं। यद्यपि उनमें दुःख और सुख का समावेश रहता है। जीव केवल दुःख और सुख का ही भोक्ता मात्र तो है नहीं। कर्तृत्व और ज्ञातृत्व भी उसका गुण है। हम कुछ न कुछ ज्ञान प्राप्त करते रहते हैं। वह ज्ञान सुख या दुःख से इतर वस्तु है, यद्यपि एक ही प्रकार के ज्ञान से हमको कभी सुख और कभी दुःख होता है। एक मोटा उदाहरण लीजिये। कल्पना कीजिये मुझे यह ज्ञात हुआ कि मेरे खेत में दस मन गेहूँ उत्पन्न हुआ। इस ज्ञान से मुझे दुःख और सुख दोनों हो सकता है। यदि मैंने सुना कि समस्त गाँव वाले किसानों के खेत में केवल पाँच मन ही हुआ और मेरे में दस मन। तो मुझे सन्तोष होगा कि मेरे खेत की उपज कम नहीं है। यदि यह पता चले कि मेरे पड़ोसियों के खेत में १५ मन हुआ तो मुझे कुछ दुःख होगा कि मैं पीछे क्यों रह गया। यह "दस मन उपज" का ज्ञान तो एक सा ही रहा, परन्तु उसने कभी सुख और कभी दुःख उत्पन्न कर दिया। इसके अतिरिक्त हम कर्म भी निरंतर ही करते रहते हैं और उनसे कभी सुख और कभी दुःख होता है। हमारे शरीर में पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ है। भोगेन्द्रिय कोई अलग नहीं। फिर भी हर कर्म और हर ज्ञान कभी सुख और कभी दुःख रूपी फल वाले होते हैं। इस प्रकार यद्यपि पुराने कर्म हमको जाति, आयु और भोग के रूप में फलित दृष्टिगत होते हैं। परन्तु यह तो जीवन का ही विस्तार है। इनके अतिरिक्त जीवन स्वयं एक अलग उद्देश्य रखता है। वह है कर्म और ज्ञान का। कहा गया है कि ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती (ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः)। ज्ञान का अर्थ है अज्ञान या अविद्या का नाश। इसकी दूसरी अर्थापत्ति है—अपने स्वरूप का ज्ञान या अपने स्वरूप के विषय में अज्ञान की निवृत्ति। यह ज्ञान की उपलब्धि और अज्ञान की निवृत्ति बिना कर्म किये तो होगी नहीं। कुछ कर्म तो करने ही पड़ेंगे। अतः जीवन का मुख्य उद्देश्य हुआ स्वतंत्र कर्म और उनसे उत्पन्न होने वाले ज्ञान या ज्ञानशक्ति। इसलिये जहाँ कर्म के विपाक का रूप जाति, आयु और भोग बताया वहाँ यह तो जीवन-रूपी साधन के अङ्गों का वर्णन किया। जीवन के उद्देश्य का वर्णन नहीं किया। इस लिये योगदर्शन में शिष्य को सतर्क करने के लिये अगला सूत्र पढ़ाः—

VIII

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। (योगदर्शन २। १५)

अर्थात् ज्ञानी मनुष्य के लिये तो यह सुख-दुःख फल वाले जाति, आयु और भोग भी दुःख ही हैं। अर्थात् ज्ञानी इनसे सन्तोष नहीं करते। इस सन्तोषाभाव के चार कारण बताये गये (१) परिणाम—अर्थात् यह सदा एक-रस रहने वाले नहीं। इन का ठीक ही क्या है जो इनको सन्तोष का साधन समझा जाय। (२) ताप—इनका सुख भी दुःख—मिश्रित है। (३) संस्कार—यह मन पर प्रभाव छोड़ते हैं और मन की वृत्तियों को रंजित करते हैं। (४) दुःख—इनसे साक्षात् दुःख होता है। इनके अतिरिक्त आयु का समस्त वस्तुओं के साथ सतोगुण, रजोगुण, और तमोगुण सम्बन्धी प्राकृतिक गुण-विरोध लगा हुआ है। अतः मनुष्य को इनसे सन्तुष्ट न रह कर कुछ ऊपर उठना और अन्तिम ध्येय की ओर सोचना है। साधनपाद में आगे चल कर सूत्रकार ने विभिन्न साधनों का उल्लेख किया है, जिससे मनुष्य यहीं तक न रह जाय।

[क्रमशः]

आवश्यक सूचना

समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो-दो प्रतियां आनी चाहिये। नहीं तो समालोचना नहीं हो सकेगी। प्रेषक महानुभाव कृपया इस बात का ध्यान रखें॥

एक प्रति आने पर केवल प्राप्ति-सूचना ही दी जायेगी॥ सम्पादक "वेदवाणी"

युगान्तर-निर्देश

* 'भाषा के इतिहास की युक्ति' *

[लेखक—श्री पं० लाजपतराय जी एम० ए० देहली]

[आचार्य* ने युगान्तर-निर्देश कर दिया; अरे कोई तो सच्चा भारतीय आत्म-गौरव से स्पन्दित हो जाय—उठे, और उठ कर, अपने अक्षत यौवन से, इस दैवी अनुप्रेरणा से मां के मुरझाये मुख को स्मितिमय कर दे, अपनी कर्मठता से नव-जन्म दे जाय। अरे, एक-ही सही? —लेखक]

१८ वीं सदी के अन्तिम दशक को विश्व के इतिहास में सदा एक युगान्तर-रेखावत्, एक युग-सन्धिवत्, स्मरण किया जायगा। १७९० में पाश्चात्य विद्वानों को सर्वप्रथम, संस्कृत तथा संस्कृत-वाङ्मय के दर्शन हुए। भाषा, वाङ्मय, धर्म तथा गाथा—सभी दृष्टियों से संस्कृत की परिपूर्णता एवं अन्तर्गर्भितता; 'अक्षय्यान्तर्भवननिधि'-ता को देखकर पश्चिम चकित रह गया। और, तभी, संस्कृत के अनुकरण-अनुप्रेरण पर यूरोपी भाषाओं के प्रथम-व्याकरण ही नहीं लिखे गये, अपितु (तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, गाथा-विज्ञान तथा धर्मविज्ञान पर आधारित) **सम्पूर्ण तुलनात्मक अध्ययन** का श्रीगणेश ही, सच पूछिये तो, संस्कृत के इस 'आकस्मिक' (!) आविर्भाव से हुआ!

संस्कृत का आविर्भाव, इस प्रकार, अनुसंधान के लिए, विशेषतः पुरातत्त्वविदों के लिए तथा प्रागैतिहासिक †गवेषकों के लिए, एक महान् वरदान बन कर आया। किन्तु, प्रायः एक शती ही की अवधि में यह युगान्तर प्रायः समाप्त-सा दीखने लगा—

'तरुण वैयाकरणों' का एक समूह जर्मनी में उठा, और उठते ही—'फिलौलोजी' की वयःसन्धि से—उसने घोषणा कर दी कि संस्कृत को विश्व की (आर्य) भाषाओं की जननी मान सकना अब असंभव है। प्रस्तुत निष्कर्ष की परिपुष्टि में उन्होंने निम्न युक्तियां दीं—

१. स्वरों की दृष्टि से, प्रागैतिहासिक आर्यभाषा के a e o में से केवल a ही संस्कृत में अवशिष्ट रह गया है, जब कि ग्रीक, लैटिन आदि पश्चिमीय वर्ग में आज भी तीनों 'मूल स्वर', यथापूर्व, सुरक्षित हैं।

२. घोष ऊष्म वर्णों का संस्कृत में नाम शेष भी नहीं!

३. वर्गों के घोष महाप्राण 'वर्ण' यद्यपि संस्कृत में ही सुरक्षित हैं, चवर्ग तथा टवर्ग की 'व्यभिचारी' लीला द्वारा संस्कृत मूल भाषा से दूर-प्रच्यवित हो चुकी है। यही नहीं,—

४. मूल कवर्ग के तीन भेदों, c k q, को भी संस्कृत ने, विस्मृत ही नहीं, विनष्ट कर दिया है।

कृत, क्लृप्त, गत, हत आदि शब्दों की सिद्धि ब्रुगमान ने विशुद्ध **स्वर-व्यत्यास** की युक्ति पर कर दिखाई। पश्चिमीय भाषाविज्ञान में युगान्तर तरुण ब्रुगमान की इस नूतन 'व्याकरण' दृष्टि से ही आया। अब भाषाविज्ञान के ध्वनि-अध्याय को विज्ञान की परीक्षणात्मकता पर जाचा जाने लगा, और परिणाम निकला कि "ध्वनि-नियम निरपवाद लागू होते हैं"। 'अस्ति' में यदि मूल धातु, तदनुसार, √अस् नहीं थी, तो क्या थी। भाषाविज्ञान ने उत्तर दिया √es। और इस प्रकार, भाषाविज्ञान अपिवा भाषा-विकास अपिवा भाषा इतिहास की युक्ति सम्पूर्ण मानव-इतिहास एवं मानव-विचारधारा के अविशृखलित-इतिहास की समस्याओं के समाधान के लिए, तथा इतिहास की विनष्ट युग-सन्धियों के लिए, एक अकाट्य युक्ति एवं साधन के रूप में प्रयुक्त होने लगी।

२

ध्वनि-परिवर्तन के नियम निरपवाद लागू होते हैं—वर्तमान भाषाविज्ञान की आधारशिला में सबसे मजबूत ईंट यही एक सिद्धान्त है। और सिद्धान्त की क्रमिक-प्रतिष्ठा की भी अपनी-ही कहानी है। जार्मानिक भाषाओं के अन्तर्यामी-सूत्र का ऋषि हुआ है—ग्रिम। ग्रिम के नियम में आये दिन कुछ न कुछ अपवाद उठ खड़े होते

* पूज्य श्री पं० भगवद्दत्त जी वैदिक रिसर्च-स्कालर के अभिनव ग्रन्थ रत्न 'भाषा का इतिहास'—ओरिएण्टल बुकडिपो, दिल्ली ६ पर एक दृष्टि।
† यह पाश्चात्यों की निराधार कल्पना है, वस्तुतः प्रागैतिहासिक कोई काल नहीं है।

उनमें से एक अंश का समाधान ग्रासमैन ने, तो शेष का वर्नर के व्यापकतर 'स्वर-नियम' ने। इन दोनों पूरक उप-नियमों के अनन्तर अब ग्रिम-नियम में कोई अपवाद शेष नहीं रह गया है, जो असमाधेय हो। आज ग्रिम-नियम सर्वथा-निर्दोष है। इतना ही नहीं, एक विद्वान (Diez) ने तो 'रोमान्स' भाषाओं की ध्वनियों को भी एक प्रकार के 'ग्रिम-नियम' में ही 'नियमित' पाया है। इस लम्बे अनुसन्धान तथा पर्यवेक्षण का निष्कर्ष इसके सिवा और क्या हो सकता था कि ध्वनि-नियमों में अपवाद की गुंजाइश नहीं। जहां-कहीं शुरुशुरू में हमें कोई दोष-सा दिखाई देता भी है, उसका कारण शायद हमारी आंखों से ओझल होता है: धैर्यपूर्वक अनुसन्धान में लगे रहने से वह भी क्रमशः—स्पष्ट हो उठेगा। कर्मण्यवाधिकारस्ते!

ग्रिम-नियम की परीक्षा में भाषाविदों के गवेषणाऽभिनिवेश से जो एक निष्कर्ष, निरपवादतर रूप में, प्रस्तुत 'सामान्य-नियम' की पुष्टि के अतिरिक्त, स्वतः-प्रसूत हुआ, उसकी ओर प्रायः भाषाभिज्ञों का ध्यान, विषय के औचित्य के साथ, नहीं गया। वर्नर का स्वराघात-व्यत्यय नियम असिद्ध ही रहता यदि 'आर्यभाषा' का मूल स्वर-बल संस्कृत में, और संस्कृत में ही, अ-क्षत सुरक्षित न मिलता अर्थात् स्वराघात की अप्रत्याख्येय युक्ति का वह आधार जिसपर आधुनिक भाषाविज्ञान का सारा दारोमदार है—संस्कृत (वैदिक) के अभाव में, संस्कृत के अतिरिक्त, उसकी पुष्टि, समर्थना असंभव थी।

३

और दुःख की बात इस सम्पूर्ण अनुसन्धान में यही रही है कि संकट आने पर भी वैज्ञानिकों की दृष्टि संस्कृत की निजी परम्पराओं की ओर नहीं गई। जिस संस्कृत 'बाला' की 'पहली नजर' एक स्वतन्त्र (भाषा) विज्ञान की जननी बन जाय, सम्पूर्ण तुलनात्मक विज्ञान की शाखाएं प्रशाखित कर दें, क्या उसके अपने दार्शनिकों, वैज्ञानिकों, प्रातिशाख्यों की सब स्थापनाएं—याद रहे 'तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्'!—एकदम निरर्थक हों, यह सम्भव है? और ऐसी निरर्थक, कि उन्हें, देखे बगैर ही, तिरस्कृत कर दिया जाय?—

क. १ इन्द्रियनित्यं वचनम्। शब्दो नित्यः।

२. अर्थनित्यः परीक्षेत। नैकपदानि निर्ब्रूयात्। व्युत्पत्तौ वाक्यस्थं पदम्। यथार्थं विभक्तीः संनमयेत्। अत्र—इतिहासमाचक्षते; अथाऽपि ब्राह्मणं भवति; इति विज्ञायते; इत्यपि निगमो भवति।

३. स्फोटः। शब्दशक्तयः। योग्यता-आसत्ति-आकांक्षादयः 'प्राणाः'। परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीति चत्वारि रूपाणि वा अभ्युदयक्रमा वा वाचः।

४. अथ द्वादश वा अष्टादश वा दोषा-उच्चारणे भाषाविकारे हेतवः संभवेयुः। (पृ० ४२)

ख. क्या यास्क के निर्वचन 'अवैज्ञानिक' हैं?

'अर्थनित्यः परीक्षेत' के अनुसार 'भक्ष्य' अन्न की व्युत्पत्ति √अद् से ही होनी चाहिए और 'उद्भिज्-भेद' अन्न की √नम् से।

ग. १. क्या यास्क में तुलनात्मक दृष्टि का अभाव था?—'शव' की व्युत्पत्ति निरुक्त में 'शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेषु' से की गई है। जन-जनपद-जनभाषा की 'स्थिरता'-युक्ति से कम्बोज—गलचा-भाषावर्ग का प्रदेश है, उत्तर की ओर, जहाँ आज भी √शु धातु का क्रियार्थक प्रयोग उसी पुराने अर्थ में (cf. शुद) होता है!

२. सहस्र शब्द का निर्वचन यास्क ने √सह् से किया है, और लिथुआनियन में 'thonsand' शब्द का मूल अर्थ 'mighty hundred' है।

३. यास्काचार्य ने एक स्थान पर 'रोदसी' का अर्थ 'रुद्र की पत्नी' किया है। क्यों?—क्योंकि पदपाठ में वह 'इति' द्वारा प्रगृहीत नहीं है! एक और स्थान पर निरुक्तकार का निर्वचन 'समद्' के सम्बन्ध में पदकार से भिन्न है। संभावनाएँ तीन हैं—स ऽ मद, सम-अ, सम्-ऽ अद; परन्तु प्रकरण की कसौटी पर तो इनमें से एक ही सही उतरेगी, ना? नराः, नृत्यन्ति कर्मसु—मनुष्य वह, जो जीवन में रस ले सकता हो!

घ. १. ऋक्प्रातिशाख्य ने 'आत्मन्' के म् तथा न् के बीच एक प् श्रुति के दर्शन किये थे। अर्वाचीन परीक्षणात्मक भाषाविज्ञानियों के यन्त्र उसे अधिगत कर सकने में सर्वथा-असमर्थ हैं! किन्तु आत्मा, अत्ता, अप्पा, आप, अम्मा प्रभृति के विभेद अन्यथा किसी भी प्रकार समाधेय नहीं।

२. क्या ए, ओ का मूल उच्चारण a-i, a-u था? क्या 'इको यणचि' के प्रवचन के अनन्तर 'एचो ऽयवायावः' में 'दीर्घ-सूचिता', निरर्थकता, व्यर्थता के दोष आ जाते हैं? कम से कम भवेत्, ओम् की उच्चारण-परम्परा में अद्यावधि कोई दोष, विशेष आया हो—न बुद्धि मान सकती है, न दिल।

४

प्राचीन मनीषियों के सम्बन्ध में, प्रस्तुत पृष्ठभूमि के अभाव में, कोई भी मत निर्धारित कर लेना कहां तक युक्ति-संगत है?—इसे स्पष्ट करने के लिए केवल एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा—

'सूर्यग्रहण' के संकेत में ऋग्वेद के सूक्तों से स्पष्ट है कि पुरन्दर=इन्द्र (भिन्द्र) का अर्थ है—अन्धकार के घटाटोप को छिन्न-भिन्न कर देने वाला, सूर्य। और सूर्य-ग्रहण का कारण है, वृत्र=वृक=चन्द्रमा। और यास्क की 'प्रथम' व्युत्पत्ति है—वृकश्चन्द्रमा भवति, आव्रश्चनात् ज्योतिषां (सूर्यस्य)!

……भूमि को फाड़ते हुए वही वृक पुनः 'लांगल' बन जाता है! परन्तु आधुनिक 'तुलनात्मक निर्वचन-विशारद' यास्क की इस सीधी-सी युक्ति को समझ सकने में असमर्थ हैं।

ख. योगी अरविन्द ने एक स्थान पर लिखा है: "लौकिक संस्कृत में वृक का अर्थ किया जाता है—wolf, भेड़िया। किन्तु वेद में इसका अर्थ √व्रश्च् से, फाड़ने से, सम्बद्ध था। कहीं पर उसका शब्दप्रयोग विशेषण के तौर पर हुआ है तो कहीं संज्ञा के तौर पर, कहीं वह भेड़िया है तो कहीं राक्षस, और कहीं शत्रु! अर्थात् कोई भी फाड़ देने वाली ताक़त 'वृक' कहला सकती है।

"इसी प्रकार चित् का अर्थ भेद बाहुलक-मय है: आदौ तावत् धातुमात्रकम् (ज्ञानार्थे), ततः संज्ञा—ज्ञानम्, ज्ञाता, जानाति, ज्ञान-सम्बन्धिनी क्रिया, सज्ञानं (क्रिया-विशेषणम्)...इत्येवमादि।" (पृ० ६९)

इस संस्कारविहीनता के कारण (पृ० ३८) पाश्चात्य भाषाशास्त्री कम-से-कम वेद के रहस्योद्घाटन में तो नितान्त असमर्थ हैं—रहे हैं और रहेंगे। भाषा के क्षेत्र में ही लीजिये—निदर्शनार्थ—

१. लुङ् लकार के भेद मैकडानल आदि ये करते हैं—a, s, sa, is, sis, aorist: जब कि पाणिनि के अनुसार is, sis प्रत्यय के अंग हैं और क्स, सक् प्रकृति के। इसी प्रकार, इट् भी धातु का ('आकार' से उद्भूत 'क्लीब' वि-स्वर) अंग न होकर प्रत्यय का अंग है; और तुक् उपसर्ग का आद्यन्तौ टकितौ। पाणिनि ने प्रत्याहार-सूत्रों को तथा इत्संज्ञा-प्रकरण को यूं ही आहित नहीं कर दिया था। सम्पूर्ण अष्टाध्यायी की यह मूल भित्ति है। उदाहरणानि—अकार्-षी-त्; अ-घुक्ष-त; भव्-इतुम्; आच्-छाद्य।

पाणिनि के व्याकरण-विन्यास को स्वाभाविक न समझ कर, कृत्रिम कह देना—अपनी-ही बेसमझी का, अपनी ही वि-कृति का, सबूत देना है!

ग. भारतीय 'वैदिक' परम्परा में वेद के सूक्त अपौरुषेय हैं, त्रिकाल-वस्तु हैं। और पश्चिम के भाषाविदों की तुलनात्मक युक्ति भी यही कहती है कि वेद का मुख्य काव्य स्वर tense का नहीं moods का है। क्या, दोनों, एक-ही बात को दो (भिन्न-भिन्न?) प्रकार से नहीं कह रहे? वैदिक मन्त्रों का, किसी भी वैदिक मन्त्र का, अर्थ हमें स्पष्ट नहीं हो सकता जब तक हम प्रसंग में अन्य वैदिक 'अनुच्छेद' का वह आदि वातावरण (mood) स्वानुभूति-साधना द्वारा अपनी अन्तर्भूमि में, पूरा-पूरा, उतार न लें।

५

भाषाविज्ञान के नियम, विशेषतः 'मिथ्या-सारूप्य' (analogy) का महानियम, सर्वसाधारण के लिए शायद सही हों—वे शायद युग-प्रवाह को सही-सही प्रस्तुत भी करते हों; परन्तु युग-निर्माता कविजनों के विषय में क्या कह सकते हैं ये भाषाशास्त्री? रवीन्द्र ने जो युग-निर्माण किया, वह मात्र लोक-वाङ्मय का स्वाङ्गीकरण नहीं था—अपितु वह लोक-वाङ्मय का, लोक-कला का 'संस्कार' भी था: प्राचीन 'संस्कृत' शब्द में यही भावना निहित थी। वेद को सृष्टि के आदि में देखने वाली वह ऋषि-दृष्टि शब्द-ब्रह्म से युगाभ्युदय, सर्गोदय की 'प्रत्यक्ष' साक्षी थी। हिन्दी आधुनिक कविता में भी, कहीं-कहीं, वही सर्गोदिति (शक्ति एवं भावना) सतत है:—

१. विपुल तान सी उठती आई
श्रीअरविंद-समिहित समाधि से!

२. उषित—वलि के मृदुल भाल पर
दैवी-सी इक सुमधुर संस्मिति !

रेखाङ्कित शब्दों को व्याकरण द्वारा अथवा भाषा-विज्ञान द्वारा अभिमत कर सकना शायद, असंभव नहीं तो, दुष्कर हो—खींचातानी लगे; किन्तु 'पदे-पदे यत् नवता-मुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः'—नवीन-साहित्य नवीन-भावना से ही नहीं, नवीन-रूप से भी परिपोषित होना चाहिए। भारतीय वाङ्मय में, प्राचीन तथा नवीन वाङ्मय में, जो-कुछ भी हृदयहारी है, वह संस्कृत-जन्य इसी 'नवाधान'—कन्याबल के कारण ही है। भाषा-विद् कहते हैं—संस्कृत मर चुकी; जब कि सत्य यह है कि जब भी हमारी आधुनिकता में कहीं मृत्यु के क्षण आते हैं, हम सदैव संस्कृत तथा वेद की ओर ही मुखापेक्षी हुए हैं। संस्कृत, मरी हुई भी, हम से अधिक सजीव है, वृद्धा भी अ-क्षता हैं, नित्य-तरुणी है, संजीवनी है, सावित्री है।

पश्चिम की अस्त-वेला में उषा की नवलता नहीं है, वह रस नहीं, वे संस्कार नहीं, वे 'प्रथमानि धर्माणि' नहीं—और परिणाम स्पष्ट है, कि कविसम्प्रदाय की उक्तियों को संस्कारविहीनता के कारण, समझने में कितनी ही बार उन्होंने अर्थ से अनर्थ ही किया:—

कुमारीपादघातेन म्रियते तत्क्षणात् फणी! (पृ० ४८)

अर्थात् घी-क्वार की (१) जड़ के रस में (२) रासायनिक विधि द्वारा (३) सीसा (४) तत्क्षण भस्म हो जाता है (५)। पांच शब्दों का यह सीधा-साधा वाक्य था, अर्थ भी सरल—अप्रच्छन्न; किन्तु हमारे घरों में, माताओं में क्या प्रसिद्ध है!

६

तो, क्या विकासवाद के संमुख नतमस्तक होकर अपनी मौलिक, समृद्धतम स्थिति को, स्वर्णयुगीनता को, हम तिलांजलि दे दें—भुला दें? संस्कृत के क्रमशः-संकोच की 'ऐतिहासिकता' को ही अपना सर्व-स्व समझ लें?...तो, क्या भाषाविज्ञान की 'अकाट्य' (?) युक्ति के आगे सिर नवाते हुए मानलें कि हमारे पूर्वज असभ्य थे, और क्या प्रत्यक्षीकृत राष्ट्रिय एकता के बावजूद भारत सचमुच आर्य-द्रविड़ दाक्षिणात्य-उत्तरापथी दो जाति-देशों में 'संभक्त' है? (श्री अरविन्द, पृ० १००)

यदि विकासवाद के खण्डन के लिए एकही युक्ति पर्याप्त हो, तो भाषा की विकास की कसौटी पर उस भगीरथ स्थापना को श्लाइखर ने कभी का आमूल उत्खत कर ही दिया था (पृ० ४)!

जिन शब्दों को संस्कृत से सर्वथा-विलुप्त समझा जाता है, वे भी, 'मूल' स्वराघात की भांति, कहीं-न कहीं—लोक परम्परा में, 'आदिवासी' मूलभाषाओं में, आज भी सुरक्षित पड़े हैं। अनुसन्धान के लिए परस्पर-स्पर्धा की तो गुंजाइश ही नहीं है—क्षेत्र इतना विस्तृत है तथा आमन्त्रणमय है: cf une in ऊन-विंशतिः!

'विशुद्ध भारतीय परम्परा' वैदिक भाषा को दैवी भाषा मानती है—"वह मनुष्यों द्वारा कभी बोली ही नहीं गई"। और आर्यभाषा के—'दैवी वाक्' के नहीं—उत्तरोत्तर विकास में महाभारतकालीन तथा 'उत्तर-पाणिनि' संस्कृत दो भेद हम सदा से मानते आये हैं (पृ० ५)। परन्तु भाषाविकास के लिए म्लेच्छ, अपभ्रंश, आसुर तथा प्राकृत पदों के विभाजन का चित्र प्राचीन व्याकरणों में एकमति से प्रस्तुत हुआ है (पृ० २४)। क्या यह सब निरी कपोलकल्पना थी?

किस प्रकार दृष्टिदोष से वेदार्थ में वेद का अनर्थ उपस्थित हो सकता है, आचार्य के उद्गार हैं—

"भारतीय विद्वानों का मत था कि सृष्टि बनते समय हिरण्यगर्भ अर्थात् 'महदण्ड' से जब पृथ्वी पृथक् हुई, तो वायु और महानात्मा के योग से सलिलव्याप्त आकाश में जो आदि ध्वनि हुई, वह भूः ध्वनि थी। प्राण का इसी ध्वनि की उत्पत्ति में योग था, अतः भूः का स्वाभाविक अर्थ 'प्राण' हुआ। इसी ध्वनि से भूमि अस्तित्व में आई, अतः भूः का अर्थ भूमि हुआ। भूमि अस्तित्व में आई, इसलिए—भूः का धात्वर्थ 'सत्तायाम्' हुआ। यह भूः पहला उत्पत्तिस्थान था, अतः संस्कृत वैयाकरणों ने सम्पूर्ण धातुपाठों का आरम्भ √भू से किया है।" (पृष्ठ ६३)

"वैदिक विचारक विद्या के गंभीर रहस्यों को समझकर आदि मानव को परमज्ञानी मानते हैं। तनिक विचारो—वर्तमान सारा ज्ञान भी (उसी) महान् आत्मा की विभूति का फल है। उसी महान् आत्मा के साथ अपने मन के संयोग द्वारा उन महान् ज्ञानियों ने आकाश में व्याप्त (दैवी) श्रुति को सुना। उसी श्रुति में और उससे लिये गये लौकिक शब्दों में शब्दार्थ का सम्बन्ध नित्य था।" (पृ० ६४–६५)

७

मूलभाषा के अधिगम से 'मूल संस्कृत' तथा उसके उत्तरोत्तर संयोग, विकिरण, समन्वय की इतिकथा सुगम हो जाती है। परन्तु इसके लिए सर्वप्रथम मानव-इतिहास की एक प्रामाणिक-अविच्छिन्न तालिका अपेक्षित है। पृ० १०७-११० में आचार्य ने वह भी प्रस्तुत कर दी है। किस प्रकार देव, दानव, असुर, दैत्य (Titans) पूर्वे देवाः, उत्तरे-देवाः—दिग्दिगन्त में फैलते गये, संस्कृत से क्रमशः विकृत होते गये। इसकी कहानी अभी अनुस्यूत होनी बाकी है, किन्तु उसके संकेत-सूत्र पण्डित जी को ऋषि-दृष्ट हो चुके हैं, "कालकेय दानव के वंशज 'कैल्ट' उपजातियों के मूल पुरुष थे। और निकुम्भ की सन्तान हैं आज कल के ऑस्ट्रियन (Njemaz) !"

भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न, प्रथम, सृष्टि की उत्पत्ति तथा विकास तथा उत्तर-विकिरण से संपृक्त है। विप्रलम्भ नाम ही संयोग की आकांक्षा का है। परन्तु यह आकांक्षा उठ ही कैसे सकती है यदि किसी 'पूर्वलोक की स्मृति' रह-रह कर समय-समय पर उठती न रहती हो ?

ग्रन्थ का आनुषङ्गिक उद्देश्य पश्चिम की तथाकथित 'वैज्ञानिक' धारणाओं में पैठ चुकी एकांगिता का रहस्योद्घाटन करना था। परन्तु इस बहिरंग वृत्ति का मुख्य प्रयोजन शायद भारतीय तरुणों में आत्मबोध, आत्मगौरव, आत्मबल प्रेरित करना था। पण्डित जी के निर्देशन में अधिकारी विद्यार्थियों की एक टोली उठे और लोकैषणा से सर्वथा विमुक्त होकर वैदिक रहस्यों, तथा भारतीय परम्पराओं में अभिरक्षित मानव-इतिहास में आत्माहुत, उत्कृष्ट भावनामय, स्फूर्तिशाली, एक-उद्देश्य अधिरति से, प्रत्युच्छ्वास से पण्डित जी की पश्चिम वयस-में तारुण्यरस भर दे—ग्रन्थ का युगान्तर-निर्देश इसी ओर है।...

आचार्य ने युगान्तर-निर्देश कर दिया; अरे, कोई तो सच्चा भारतीय आत्मगौरव से स्पन्दित हो जाय—उठे, और उठकर, अ-क्षत यौवन से, इस दैवी अनुप्रेरणा से—माँ के मुरझाये मुख को स्मितिमय करके, अपनी कर्मठता से नव-जन्म दे जाय। अरे, एक-ही सही !

वेदों में विज्ञान की झलक

[लेखक—श्री भिषग्वर कुँवर भानुमदन जी कलकत्ता]

आज का वैज्ञानिक समाज ईश्वर-कृत वेद पर आपत्ति उपस्थित कर रहा है कि वेद में अटम बम्ब तथा हाईड्रोजन बम्ब के विषय में क्या है। यदि आप यह कहें कि कुछ मालूम नहीं तो वेद सर्वविद्या सम्पन्न नहीं। इन वैज्ञानिकों की जानकारी हेतु ये कुछ वाक्य लिख रहा हूँ।

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसो ऽध्यजायत। इस मन्त्र का भावार्थ आप जानते ही हैं। परमेश्वर की ज्ञानमय अनन्त सामर्थ्य से कार्यरूप प्रकृति उत्पन्न हुई। इसमें दो कथन हैं (i) परमेश्वर की अनन्त सामर्थ्य (ii) कार्य-रूप प्रकृति।

मन्त्र में कहा ऋत, सत्य और अनादिविधाता तीन मुख्य कारण, जगत् उत्पत्ति में बने। ऋत और सत्य से तप की उत्पत्ति हुई।

वैज्ञानिक कहते हैं No two elements combine to from a compouud, without the generation or eleminatin of heat. तत्त्वतः ऋत तथा सत्य से अग्नि उत्पत्ति। यह भी कह दिया। ऋत तथा सत्य अवस्थाविशेष में कार्यरूप (Active state) में थे। जिनके मेल से तप (अग्नि) (heat) की उत्पत्ति संभव है, यही वैज्ञानिकों का मत है, Two elements never combine unless these

are in Active state, अर्थात् यह साईंटिस्ट कहते हैं कि दो मूल पदार्थ मेल नहीं खाते, जब तक वह कार्यरूप अवस्था में न हों।

ततः रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः फिर प्रलय की उत्पति और फिर समुद्र (जल) मन्थन होता है।

विचारणीय प्रश्न है कि वेद ने अग्नि के बाद प्रलय की उत्पत्ति और पुनः जल का आगमन कहा। निःसंदेह ऐसा ही हुआ क्योंकि जब ऋत और सत्य कार्यरूप अणु अवस्था (Atomic active state) में मेल खाया तो जलता हुआ तथा भस्मीकरण वाष्प अवस्था पैदा हुई। यह सचमुच प्रलय रूप धारण किये हुआ जगत् था। पुनः शीतावस्था को जगत् प्राप्त हुआ तो जल बनकर समुद्र रूप को धारण कर लिया।

मेरा ऊपर कथन से अभिप्राय यह है कि ऋत हाईड्रोजन (Hydrogen) को और सत्य आक्सीजन (Oxygen) को कहा। यह दोनों (Active state) कार्यरूप परमाणु (Atomic) अवस्था में अनादि काल से विद्यमान थे। तीसरा अनादि काल से ओ३म् (परमात्मा) कर्ता। जब (Active atom of Hydrogen) ऋत के परमाणु (Active atom of Oxygen) सत्य के परमाणु से मेल खाया तो अग्नि की उत्पत्ति हुई वैज्ञानिक (Scientist) कहते हैं। The earlier creation of the universe happened to be in the atomic state and in the active atomic state, when the active atoms Combined heat was generated and the universe attanied the gaseous state.

आप को यह मालूम है कि जल में दो परमाणु ऋत (Hydrogen) और एक परमाणु सत्य (Oxygen) होता है। ऋत (Hydrogen) हाईड्रोजन को ही कहते हैं। और सत्य Oxygen आक्सीजन को ही वेद ने कहा है। इसको वेदवाणी के आगामी संस्करण में अवलोकन करें।

[विद्वानों के विचारार्थ हम इस लेख को प्रकाशित कर रहे हैं। अन्य विद्वान् भी इस विषय पर प्रकाश डालें— सम्पादक]

प्रत्रिका परिचय

हमारे अन्य सहयोगी

हिन्दू-जालन्धर यह साप्ताहिक पत्र उर्दू में ३२ वर्ष से चल रहा है। इसके संचालक सच्चे देशभक्त-त्यागी-दूरदर्शी नेता भाई परमानन्द जी थे। यह पत्र देश और जाति की बहुत गहरी सेवा कर रहा है। इसके लेखों में आर्य जाति के लिये एक तड़प है। भारतीय संस्कृति के प्रति श्रद्धा है। यह पत्र इतना आकर्षक होता है कि पाठक इसे पढ़े बिना छोड़ता नहीं। इसके सम्पादक देशभक्त पं० धर्मवीर जी एम० ए० हैं। हर एक भारतीय को अपनी सच्ची राष्ट्रीयता का ज्ञान प्राप्त करने के लिये इसे अवश्य पढ़ना चाहिये॥

प्राप्तिस्थान—"हिन्दू" जालन्धर तथा नई देहली

वार्षिक मूल्य १२)

भारतीय संस्कृति सम्मेलन—यह मासिक पत्रिका भारतीय संस्कृति महासम्मेलन देहली—की ओर से प्रकाशित होती है।

देश के मनीषी दूरदर्शी—भारतीय संस्कृति के सच्चे उपासक—कांग्रेस के उच्चतम नेता—माननीय श्री पुरुषोत्तम दास जी टण्डन द्वारा भारतीय संस्कृति की प्रबल ध्वनि कई वर्षों से उठाई जा रही है। जिसमें भारतीयता में विश्वास रखने वालों की गहरी निष्ठा है। जिसका प्रारम्भ देश के उद्भट विद्वान्-कर्मयोगी-संस्कृत के ऊँचे विद्वान् श्री० पं० केदारनाथ जी सारस्वत द्वारा प्रयाग कुम्भ के अवसर पर हुआ। यह पत्रिका उक्त सम्मेलन की भावनाओं का प्रचार करने के लिये त्रैमासिक रूप में १ वर्षों से देहली से प्रकाशित हो रही है। इसके सम्पादक श्री० पं०

लीलाधर पाण्डेय शास्त्री-साहित्याचार्य हैं, जो भारतीय संस्कृति में निष्ठावान् और संस्कृत के योग्य विद्वान् और बड़े गम्भीर लेखक तथा विचारक हैं, बड़ी योग्यता से इसका सम्पादन कर रहे हैं।

हम चाहते हैं कि भारतीय संस्कृति से प्रेम रखने वाला प्रत्येक भारतीय इस पत्रिका को अवश्य पढ़े। राष्ट्र में भावनाओं का प्रचार करने की बड़ी आवश्यकता है। इस कमी को यह पत्रिका बहुत उत्तम रीति से पूर्ण करती है॥

प्राप्तिस्थान—भारतीय संस्कृति सम्मेलन
१७२ डी-कमलानगर-देहली

वार्षिक मूल्य २)

संस्कृत रत्नाकर—अखिल भारतवर्षीय संस्कृतमहासम्मेलन की ओर से यह संस्कृत की मासिक पत्रिका $\frac{20\times30}{16}$ के ४० पृष्ठों में देहली से प्रकाशित होती है। सुन्दर सचित्र-बढ़िया छपाई। इसमें विविध विषयों में संस्कृतभाषा के उत्तम लेख-रहते हैं। इसके सम्पादक संस्कृत के महाविद्वान्-संस्कृत लेखन के पथप्रदर्शक-त्यागी गम्भीर विचारक-सुरभारती के सच्चे उपासक-काशी में उदात्त भावनाओं के लाने में जीवन लगा देने वाले-अनुपम-अनुभवी कर्मवीर पं० केदारनाथ जी सारस्वत हैं। जिनकी संस्कृत में लेखनी अद्वितीय है। यह पहिले वर्षों तक "सुप्रभातम्" के संस्थापक संचालक-सम्पादक रहे हैं। हम चाहते हैं कि यह पत्रिका संस्कृत प्रेमी प्रत्येक भारतवासी तक पहुँचे। संस्कृत महासम्मेलन को चाहिये कि वह इसे स्थायी बनाये॥

प्राप्ति स्थान—संस्कृत रत्नाकर कार्यालय—
१७२ डी० कमलानगर-देहली

वार्षिक मूल्य ५)

सफल जीवन—यह मासिक पत्रिका ३ वर्ष से नई देहली से प्रकाशित हो रही है। इसके सम्पादक श्री० पं० दीनानाथ जी सिद्धान्तालंकार तथा श्रीमती कमला अग्रवाल हैं। इसमें शिक्षात्मक तथा सांस्कृतिक लेख रहते हैं। जानकारी के अनेक विषयों के लेख भी रहते हैं। स्वतन्त्र भारत में ऐसे लेखों की बड़ी आवश्यकता है। भारतीय जनता को ऐसे मासिक पत्रों को पूरा सहयोग और प्रोत्साहन देना चाहिये। जीवन की सफलता के लिये यह सफल जीवन अवश्य जानकारीप्रद सिद्ध होगा ऐसा हम समझते हैं॥

पृष्ठ संख्या ४८—   वार्षिक मूल्य ७)

प्राप्ति स्थान—'सफल जीवन' कार्यालय—९४ बेयर्ड रोड, नई देहली

सम्मेलन पत्रिका—प्रयाग-यह त्रैमासिक पत्रिका ४२ वर्षों से हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की ओर से प्रकाशित हो रही है।

इसमें प्रायः लेख खोजपूर्ण, उच्च कोटि के होते हैं। रिसर्च करने वाले विद्वानों की दृष्टि से इस पत्रिका का स्थान बहुत ऊँचा है।

पृष्ठ संख्या ८०—   वार्षिक मूल्य ८)

प्राप्ति स्थान—हिन्दी साहित्य सम्मेलन-प्रयाग

सरस्वती विहार—नागपुर—सम्पादक श्री० डा० रघुवीर जी एम० ए० एम० पी०। यह पाक्षिक पत्रिका रिसर्च (खोज) करने वाले विद्वानों की दृष्टि से देश विदेश की अनेकविध जानकारी देती है। ऐसी पत्रिकाओं को पुस्तकालयों में विशेष स्थान मिलना चाहिये।

डा० रघुवीर देश के उच्च कोटि के विद्वानों में हैं॥

पृष्ठ संख्या $\frac{20\times30}{16}$ १६ पृष्ठ। प्राप्ति स्थान—इण्टरनैशनल अकेडिमी आफ इण्डिया-नागपुर

आर्थिक समीक्षा—यह $\frac{20\times30}{16}$ के ३६ पृष्ठ की पाक्षिक पत्रिका है जो अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की ओर से नई देहली से ५ वर्ष से प्रकाशित हो रही है।

इसके सम्पादक श्री० हर्षदेवजी मालवीय हैं। इसमें राज्य तथा कांग्रेस की दृष्टि से ज्ञातव्य विषयों में अनेक उपयोगी लेख होते हैं, जिनकी जानकारी प्रत्येक भारतीय को रहनी चाहिये। देश की प्रगति जानने के लिये यह पत्रिका परमोपयोगी है। पृष्ठ संख्या ३६—   वार्षिक मूल्य ५)

प्राप्ति स्थान-अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी जन्तरतन्त्र रोड-नई देहली

धर्मदूत—महाबोधि सभा-सारनाथ की ओर से प्रकाशित—सम्पादक श्री भिक्षु धर्मरक्षित। बौद्धधर्म के

प्रचार की दृष्टि से यह प्रामाणिक पत्रिका है। इसमें महात्मा बुद्ध-सम्बन्धी अनेक शिक्षाप्रद लेखादि रहते हैं। धार्मिक भावना की दृष्टि से कोई कोई लेख बहुत अच्छे होते हैं। पृष्ठ संख्या २४ वार्षिक मूल्य ३)

प्राप्तिस्थान—धर्मदूत-सारनाथ-बनारस

शान्ति सन्देश—अखिल भारतीय सन्तमत सत्सङ्ग भागलपुर द्वारा प्रकाशित। सन्तमत के धार्मिक विचारों से युक्त ३२ पृ० की यह मासिक पत्रिका है।

प्राप्तिस्थान—शान्ति सन्देश-पो० झण्डापुर (भागलपुर) वार्षिक मूल्य ४॥)

गोरक्षण—गोरक्षा के विषय में उपयोगी साहित्य इस पत्रिका द्वारा प्रकाशित हो रहा है। गोरक्षा के सम्बन्ध में हो रहे कार्यों की वास्तविक जानकारी भी मिलती है। ऐसी पत्रिका को जनता का सहयोग अवश्य मिलना चाहिये। हम इसकी पूरी सफलता चाहते हैं। यह ४ वर्ष से रामनगर बनारस से प्रकाशित होती है॥

इसके सम्पादक श्री० प० महेशदत्त शर्मा, पं० सरयूनारायण एम० ए० ऐल० ऐल० बी० द्विवेदी हैं।

पृष्ठ संख्या १६ वार्षिक मूल्य ३)

आयुर्वेद महासम्मेलन पत्रिका—यह सम्मेलन की मुख्य मासिक पत्रिका है। ४४ वर्ष से यह चल रही है। यह पुरानी पत्रिका है। इसमें आयुर्वेद-सम्बन्धी अनेक उच्चकोटि के लेख रहते हैं, जो खोज की दृष्टि से बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। इसका सम्पादन देश के अनेक प्रौढ़ विद्वानों द्वारा हो रहा है। यह उपादेय है। पुस्तकालयों में अवश्य आनी चाहिये॥

पृष्ठ संख्या ४८— वार्षिक मूल्य ५)

प्राप्ति स्थान—आयुर्वेद पत्रिका कार्यालय—महालक्ष्मी मार्केट—चाँदनी चौक—देहली

पृष्ठ १७७ पं० ८—शनीवारे—यह शनिवार के अर्थ में दीर्घ ईकारवान् स्वतन्त्र शब्द है। छन्दोनुरोध से यहां दीर्घ नहीं हुआ है। अन्यथा कवि की काव्यशक्ति की हीनता-द्योतन के साथ साथ इसे अपशब्द भी मानना पड़ेगा। अमरकोश (२।६।१) में पुरुष समानार्थक दीर्घ ऊकारवान् पूरुष को स्वतन्त्र शब्द माना है। अष्टाध्यायी की प्राचीन अनुपलब्ध भागवृत्ति में लिखा है कि जिन पूरुष नारक आदि शब्दों में काशिकाकार 'अन्येषामपि दृश्यते' (६।३।१३७) से दीर्घत्व मानता है, वे वस्तुतः स्वतन्त्र दीर्घोपदेश संज्ञा शब्द हैं, क्योंकि उक्त सूत्र उत्तरपद परे रहने पर दीर्घत्व का विधान करता है। 'पूरुषः, नारकः' में उत्तरपद परे नहीं है (अनेनोत्तरपदे विधानादप्राप्तिरिति पूरुषादयो दीर्घोपदेशा एव संज्ञाशब्द इति भागवृत्तिः) देखो हमारा "भागवृत्ति-संकलनम्" (६।३।१३७)।

पृष्ठ १७९ पं० ११—प्रतिवाद के रूप में भेजा था—मिस्टर बाल के नाम का उक्त पत्र पूर्ण संख्या २०७ पर छपा है।

पृष्ठ १८३ पं० ८—लाट साहब ने........उत्तर नहीं है—देखो पूर्ण संख्या २१५ की पत्र-सूचना।

पृष्ठ १९७ पं० २४, २५—अनुवाद सन् १८८० या ८१ में—पं० गोपालराव हरि देशमुख के ३ दिसम्बर १८८० के पत्र से ज्ञात होता है कि इस पत्र का अंग्रेजी अनुवाद ३ दिसम्बर १८८० से पूर्व प्रकाशित हो गया था, देखो म० मुंशीराम सम्पा० पत्रव्यवहार पृष्ठ २५०।

पृष्ठ १९८ पं० २२—इस वास्ते........सलाह है—इस बात का उल्लेख मुंशी बख्तावरसिंह ने ऋग्वेद और यजुर्वेद (दोनों) के अङ्क १५ के आवरण पत्र पृष्ठ ३ के निवेदन में किया है। वह लिखता है—'स्वामी जी ने लिखा है कि पहिले अङ्क बहुत दिनों के पश्चात् निकला था, इसलिये अब के एक ही शीघ्र भेज दिया जाए तो अच्छा है"।

पृष्ठ १९९ पं० ९—रसीद अढ़ाई सौ की छापी है—देखो यजुर्वेदभाष्य अङ्क १४, आवरण पृष्ठ २।

पृष्ठ १९९ पं० १०—पन्द्रहवें अङ्क में तीन सौ का अङ्क लिखकर .....भूल से लिख दिया—बख्तावरसिंह ने यह शुद्धीकरण ऋग्वेदभाष्य और यजुर्वेद भाष्य के अङ्क १५ आवरण पत्र पृष्ठ २ पर किया है।

पृष्ठ २०१ पं० ३०—५०० वेदभाष्य बनवाने........—इस पत्र में अनेक व्यक्तियों द्वारा वेदभाष्य बनवाने के लिए चन्दा देने का उल्लेख है। यह सब चन्दा आर्य समाज फर्रुखाबाद के मन्त्री बा० कालीचरण के ५ जून १८८० के विज्ञापन के अनुसार प्राप्त हुआ था। कालीचरण जी का विज्ञापन यजुर्वेदभाष्य तथा ऋग्वेद के १४ वें अङ्क के आवरण पत्र पृष्ठ ३ पर छपा था। हम उसे परिशिष्ट ३ पृष्ठ १५ पर दे रहे हैं, वहां देखें।

पृष्ठ २०६ पं० २१—उसके उत्तर में........लिखा—यह प्रथम पत्र पृष्ठ ९० पर छपा है।

पृष्ठ २०६ पं० २२—डिपलोमा........—इसका निर्देश पूर्ण संख्या ८६ के (पृष्ठ ९६ पं० ६) तथा पूर्ण संख्या ८८ पृष्ठ १०२ के पत्र में है।

पृष्ठ २०६ पं० २८—इस पर मैंने पत्र लिखा—यह पत्र पूर्ण संख्या ८६ पृष्ठ ९५ पर छपा है।

पृष्ठ २०७ पं० १६—तीसरे पत्र में—यह पत्र हमें प्राप्त नहीं हुआ। उसका सारांश इसी विज्ञापन में पृष्ठ २०६ पं० २८ से पृष्ठ २०७ पं० ३ तक छपा है। यह सारांश हम ने परिशिष्ट १ में पूर्ण संख्या ६२४ पर दिया है।

पृष्ठ २१५ पं० ३—छाप दो सतरहवें अङ्क के अन्त में कि "जिस का......जायगा"—यह " " संकेतबद्ध अंश, सतरहवें अङ्क के अन्त में जो विज्ञापन छपा है, उसमें नहीं छपा।

पृष्ठ २१५ पं ८—ये बात तीन वार लिख चुके हैं—प्रथम वार जिस पत्र में यह बात मुं० बख्तावरसिंह को लिखी थी, वह पूर्ण संख्या २५१ पर छपा है। उसके बाद श्रावण वदी १ (२२ जुलाई) से श्रा० वा० ३० (५ अगस्त) के मध्य में दो बार जिन पत्रों में लिखी गई, वे पत्र हमें प्राप्त नहीं हुए।

पृष्ठ २३४ पं० २—हमने कई बखत लिखा है—इस विषय का एक पत्र पूर्ण संख्या २७२ पर छपा है। वह भाद्र सुदी ४ अर्थात् इस पत्र से चार दिन पूर्व का है। श्री बा० दुर्गाप्रसाद के नाम लिखे जितने पत्र इस संग्रह में छपे हैं, उनमें पूर्ण संख्या २७२ का पत्र प्रथम है। परन्तु इस लेख से अनुमान होता है कि इससे पूर्व भी कुछ पत्र स्वामी जी ने श्री बा० दुर्गाप्रसाद के नाम लिखे थे, जो हमें प्राप्त नहीं हुए।

पृष्ठ २४० पं० १७ से आगे—यहां पूर्ण संख्या २८१ से आगे पूर्ण संख्या २८७ का पत्र छपना चाहिए। विशेष विचार पृष्ठ ३४४ की टिप्पणी में देखें।

पृष्ठ २४२ पूर्ण संख्या २८३—यह पत्र सूचना अस्थान में जुड़ गई है, और इस पर अनुमान से जो ५, ६ अक्टूबर तारीख दी है, वह भी अशुद्ध है। इस पत्र की सूचना सेवकलाल के १२ अक्टूबर के पत्र में मिलती है (देखो म० मुंशीराम सम्पा० पत्र० व्यवहार पृ० २४५)। यह पत्र मेरठ से डाला गया है, परन्तु पत्र पहुंचने का पता (मुंशीपत्र पृ० २४८ पर) मुजफ्फरनगर का लिखा गया है, अतः निश्चय ही यह पत्र मेरठ से उस समय डाला गया होगा, जब वहाँ से मुजफ्फरपुर जाना निश्चित हो गया होगा। मेरठ में स्वामी जी ८ जुलाई से १५ सितम्बर १८८० तक रहे, तत्पश्चात् १५ सितम्बर से २ अक्टूबर तक मुजफ्फरनगर रहे, तत्पश्चात् पुनः २ अक्टूबर को मेरठ पहुँचे, परन्तु उसके अनन्तर वे मेरठ से सीधे सहारनपुर गये। इस यात्रा क्रम से यही निश्चय होता है कि यह पत्र १५ सितम्बर से पूर्व भेजा गया होगा। भाद्र सुदी ८ रविवार १९३७ (१२ सितम्बर १८८०) को बा० दुर्गाप्रसाद फर्रुखाबाद को लिखे गये पूर्ण संख्या २७६ के पत्र में लिखा है—'मुम्बई में पण्डित के विषय में हमने पत्र लिखा। वहाँ से रुपये आ गये वा नहीं। सेवकलाल के इस पत्र में भी शीघ्र २४१ रु० फर्रुखाबाद भेजने का उल्लेख है (पृष्ठ २४७)। अतः यह पत्र निश्चय ही १२ सितम्बर से पूर्व का है। अतः इसे पूर्ण संख्या २४७ के आगे जोड़ना चाहिये। सेवकलाल कृष्णदास के पत्र पर 'आश्विन शुक्लपक्ष भौमवार सं० १९३६ = १२ अक्टूबर १८९०' छपा है (पृ० २४५) यहां आश्विन शुक्ल ९ चाहिये। सं० १९३६ गुजराती पञ्चाङ्ग के अनुसार है, उत्तर भारतीय पञ्चाङ्गानुसार १९३७ है, सन् १८८० चाहिये।

पृष्ठ २४४ पं० १५—से आगे—पूर्ण संख्या २८६ के आगे पूर्ण संख्या ३१६ पर छपा पत्र छपना चाहिये था, परन्तु पूर्ण संख्या ३१६ के पत्र पर तिथि न होने से कापी तैयार करते समय यह बात हमारे ध्यान में नहीं आई। मुद्रण काल में पूर्ण संख्या ३१६ के नीचे टिप्पणी में हमने इसकी सूचना दे दी है। देखो पृष्ठ २६५ टि० २ का कोष्ठान्तर्गत हमारा परिवर्धित पाठ।

पूर्ण संख्या ३१६ के पत्रानुसार ला० रामशरणदास के नाम का एक पत्राशय बनाकर परिशिष्ट १ पूर्ण संख्या ६६५ पर दिया है, उसे पूर्ण संख्या ३१६ वाले पत्र से पूर्व जोड़ना चाहिये।

इसी पृष्ठ में पं० १६ से पूर्ण संख्या २८७ का जो पत्र छपा है, उसे पृष्ठ २५० पर पूर्ण संख्या २२१ के आगे ले जाना चाहिये, क्योंकि हमें उक्त पत्र आश्विन बदी १४ सं० १९६७ (३ अक्टूबर १८८०) का प्रतीत होता है, आश्विन शुक्ल १४ (१७ अक्टूबर) का नहीं।

पृष्ठ २४५ पं० ४—७—पूर्ण संख्या २८८। यह पत्राशय दयानन्दमुखचपेटिका पृष्ठ २६ पर भी छपा है।

पृष्ठ २४५ पं० २०—पं० गोपालराव हरि को हम अलहदे पत्र लिखेंगे—यह पत्र लिखा गया वा नहीं, इसकी कोई सूचना उपलब्ध नहीं होती।

पृष्ठ २४७ पं० २६—कृपाराम मन्त्री······—यह पत्र स्वामी जी का लिखवाया हुआ है, देखो ऋषि दयानन्द का पूर्ण संख्या २९२ पृष्ठ २५० पं० २० का "मैं इसका उत्तर इससे पहले पत्र में लिखा चुका हूँ" लेख। इसीलिये यह पत्र इस संग्रह में छापा गया है।

पृष्ठ २६२ पं० २३—कल एक पत्र भेजा था—देखो पूर्ण संख्या ३१० का पत्र।

पृष्ठ २६३ पं० ६—कई बार लिखा—इस विषय का ऋषि दयानन्द का कोई पत्र उपलब्ध नहीं हुआ।

---

१ देखो परिशिष्ट संख्या ६।

पृष्ठ २८२ पं० ९, १०—पूर्ण सं० ३४३—यह पत्रसूचना अस्थान में जुड़ी है। ८ मार्च १८८१ के सेवकलाल कृष्णदास के पत्र से ज्ञात होता है कि यह रजिस्टर्ड पत्र उन्हें ७ मार्च को मिल गया था। (देखो म० मुंशी० सं० पत्रव्यव० पृष्ठ २५१)। अतः यह पत्र सम्भवतः ४ मार्च को भेजा गया होगा। इसलिये इसे पूर्ण संख्या ३४० के आगे जोड़ना चाहिये।

पृष्ठ २८५ पं० १०—दांत की ओषधी—इस ओषधी का उल्लेख पूर्ण संख्या ६०० के ओषधिपत्र में संख्या ३० पर भी है। वहाँ 'पपरिया कत्था' के स्थान में 'सफेद कत्था' लिखा है।

पृष्ठ २९० पं० ४—उपसभा में—इस उपसभा और इसके सभासदों का उल्लेख पूर्ण संख्या २३९ के पत्र (पृ० १९३) में है।

पृष्ठ २९३ पं० ६—आप के पास भेजते हैं—ये हिसाब के कागजात अगली पूर्ण संख्या ३६० पर पृष्ठ २९५—२९८ तक छपे हैं।

पृष्ठ २९८ पं० १०—तुम्हारी सोसाइटी के सभासद हैं—या तो इस पत्रांश के मुद्रण में कुछ अशुद्धि हो गई है, या यह पत्रांश भाई जवाहरसिंह का कल्पित है (उन का ऐसा एक पत्र पूर्ण संख्या ५७८ पर छपा है), क्योंकि ऋषि दयानन्द के पूर्ण संख्या २९९ के पत्र (पृष्ठ २५६) तथा ४०० के विज्ञापन (पृष्ठ ३२०) से स्पष्ट है कि वे थियोसोफिकल सोसाइटी के कभी सभासद नहीं बने। इतना ही नहीं, जब उन्हें बिना स्वीकृति के सोसाइटी का सभासद बना लिया, तब उन्होंने कई बार नाम काटने को लिखा, यह भी पूर्ण संख्या २९९ के पत्र और ४०० के विज्ञापन से स्पष्ट है। इस परिशिष्ट के पृष्ठ ८ पर पृष्ठ १४२ के विषय में लिखी गई टिप्पणी भी देखें।

पृष्ठ ३१७ पं० २१, २२—(आर्य का) जैसा नोटिस लिख भेजें छाप देना—इसी आशय का निर्देश पूर्ण सं० ४४३ (पृ० ३५९ पं० ३०, ३१) में भी है।

पृष्ठ ३१८ पं० ४—पूर्व पत्रों में उत्तर माँगा है—यह संकेत किन पत्रों की ओर है, यह अज्ञात है। सुन्दरलाल जी के नाम दो पत्र पूर्ण संख्या ३७९, ३८६ पर छपे है। प्रतीत ऐसा होता है कि इन मुद्रित पत्रों के अतिरिक्त भी कुछ पत्र स्वामी जी ने पं० सुन्दरलाल जी को भेजे होंगे, वे हमें प्राप्त नहीं हुए।

पृष्ठ ३२२ पं० २५-२६—कोट हूमीलाल·········गोत्र कोटहूमीसिंह—कूतूहूमीलालसिंह के वर्णन के लिए देखो म० मुंशीराम सम्पा० पत्रव्यवहार (पृष्ठ १२१)। इस ने लाहौर आर्यसमाज में योगविद्या का अचम्भा दिखलाने के लिए अपनी अंगुली कटवा ली थी।

पृ० ३३३ पं० ३—नाटक—इस विषय में पूर्ण संख्या ४५४, ४६१ के पत्र तथा पृष्ठ ३६६ की टिप्पणी २ भी देखें।

पृ० ३४० पं० १०—श्रीयुतमहाराजाधिराजभ्यो·······—यहां 'राजाहस्सखिभ्यष्टच्' (अष्टा० ५।४।९१) से समासान्त टच् प्रत्यय प्राप्त है, परन्तु 'विभाषा समासन्तो भवति' (महाभाष्य ६।२।१९७) इस परिभाषा से नहीं हुआ। महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में टच् प्रत्यय रहित नकारान्त राजन् शब्द के प्रयोग प्रायः उपलब्ध होते हैं। देखो हमारा 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' पृष्ठ ३१।

पृ० ३४० पं० १२—गोकरुणायुक्त रजिस्ट्री पत्र—इस पत्र में महाराजा शाहपुराधीश द्वारा ४०००० चालीस हजार मनुष्यों की सही कराई गई थी। देखो पूर्ण संख्या ४२२, ४३५ का पत्र।

पृ० ३५९ पं० ३०, ३१—आर्य पत्र लाहौर और देशहितैषी का·········नोटिस·········एक बार छाप देना—इस आज्ञा के अनुसार आर्य पत्र लाहौर का विज्ञापन ऋग्वेदभाष्य के ४८, ४९ (सम्मिलित) अंक के आवरण पत्र पृष्ठ ४ पर छापा गया था। देशहितैषी का नहीं छपा। सम्भव है सम्पादक ने भेजा ही न हो। पृष्ठ ३१७

पं० २१, २२ पर भी आर्य का नोटिस छापने का उल्लेख है। प्रतीत होता है, उस समय उक्त नोटिस छपने के लिये नहीं आया।

पृ० ३६२ पूर्ण संख्या ४४७ के विषय में—इसे पूर्ण संख्या ४४४ के आगे जोड़ें। भूल से अस्थान में जुड़ गया है।

पृ० ३८३ पूर्ण संख्या ४७०—इस पत्र की सूचना २० फरवरी १८८३ के पत्र में है। देखो म० मुंशीराम सम्पा० पत्रव्यवहार पृष्ठ ३२६—३२८। यह पत्र अस्थान में जुड़ा है, इसे पूर्ण सं० ४७४ के अनन्तर जोड़ना चाहिये। यह सम्भवतः १५, १७ फरवरी को लिखा गया होगा।

पृ० ३८५ पूर्ण संख्या ४७७—यह पत्र २० फरवरी १८८३ के उत्तर में लिखा गया है (देखो म० मुंशी० पत्रव्यवहार पृष्ठ ३२६—३२८)। अतः इसे पूर्ण संख्या ४७५ के आगे जोड़ना चाहिये।

पृ० ३८५ पं० २१—रामनाथ कौन है ...... हमारे साथ कब रहा—इस रामनाथ को बा० दुर्गाप्रसाद जी ने फर्रुखाबाद से श्री स्वामी जी महाराज के पास लेखक के रूप में भेजा था। यह स्वामी जी महाराज के पास भाद्र शु० ७ शनिवार सं० १९३७ (११ सितम्बर १८८०) को मेरठ पहुँचा था। देखो पूर्ण संख्या २७६ का पत्र पृष्ठ २३३, २३४।

पृ० ३९४ पं० ८—जैसा इस को शोध के भेजते हैं ......—यजुर्वेद अ० १३ मन्त्र ४७–५१ तक के भाष्य को पुनः संशोधन के लिए शाहपुरा भेजने से विलम्ब होने के कारण यजुर्वेद भाष्य का ४६–४७ (सम्मिलित) अंक कुछ देर से प्रकाशित हुआ था। इस की सूचना मुं० समर्थदान ने इसी अंक के आवरण पत्र पृष्ठ ४ पर इस प्रकार दी थी—वेदभाष्य के प्रिय ग्राहकों से निवेदन है कि कई कारणों से श्री स्वामी जी महाराज के पास से वेदभाष्य के पत्रों के आने में देर हो गई, इससे यह अंक समय पर न निकल सका। और इस के निकलने में देर होने के कारण से ऋग्वेद का अंक भी १ अप्रेल को नहीं निकल सकेगा, कुछ पीछे से निकलेगा ....।"

पृ० ४१३ पं० १८, १९—हमने पहले ही लिखा था ...... बन्द कर देंगे—देखो पूर्ण संख्या ४४५ का पत्र, पृष्ठ ३६१।

पृष्ठ ४१६ पं० १४, १५—लिखा था ...... बन्द कर देंगे—देखो पूर्ण संखया ४४५ का पत्र पृष्ठ ३६१।

पृ० ४१६ पं २२—समर्थदान को हमने लिखा है—देखो पूर्ण संख्या पूर्ण ५१० का पत्र पृष्ठ ४१३।

पृ० ४१७ तं० ३—चिट्ठी भी हमारी इसी के पास होगी—अर्थात् पूर्ण संख्या ४४५ का पृष्ठ ३६१ पर छपा पत्र।

पृ० ४१८ पं० १—पहिले पत्र में लिखा था—देखो पूर्ण संख्या ५०७ का पत्र।

पृ० ४२४ पं० ४ वेदभाष्य के टाइटल पेज पर जोधपुर का नोटिस—यह नोटिस यजुर्वेद भाष्य के ४८, ४९ (सम्मिलित) अंक पर इस प्रकार छपा है—"विदित हो कि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी इन दिनों में मारवाड़ देश के जोधपुर नगर में विराजमान हैं।"

पृ० ४२४ पं० ८—निम्नलिखित समाचार वेदभाष्य से टाइटल पर छाप देना—यह समाचार ऋग्वेद भाष्य के ५०, ५१ (सम्मि०) अंक के आवरण पृष्ठ ४ पर छपा है।

पृ० ४२५ पं० २-५——इन पंक्तियों में जो पत्र छपा। वह शाहपुरा नहीं भेजा गया था क्योंकि महाराजा नाहरसिंह ने ज्येष्ठ कृष्ण [३०] सं० १९४० [५ जून १८८३] के पत्र में लिखा है—"जिस आदमी के विषय में आपने फरमाया था वो अभी तक नहीं आया, आये पर उसके विषय का हाल लिखुंगा।"

इसी प्रकार ऋषि दयानन्द के ज्येष्ठ सुदी ५ सं० १९४७ [१० जून १८८३] के पत्र से प्रतीत होता है कि उक्त तिथि तक जवाहरसिंह के शाहपुरा पहुँचने की उनको सूचना नहीं थी। स्वयं जवाहरसिंह ने भी ५ जून १८८३ को रूपाहेली स्टेशन (जहां से शाहपुरा जाना होता था) पर पहुँचना लिखा है (देखो म० मुंशी० सम्पा० पत्रव्य० पृ० १३७)। अतः उक्त पत्र या तो लाहौर भेजा गया था, या जवाहरसिंह ने इसे स्वयं बनाया है। आगे के कुछ पत्रों के विषय में भी हमें यही सन्देह है, क्योंकि जवाहरसिंह ने स्वयं कई नकली पत्र बना लिये थे [देखो पृष्ठ ४६३ टि० २]।

पृ० ४३२ पं० २०-२२—यह समझो......छापना ठीक नहीं—इसी पत्र के अनुसार मुंशी समर्थदान ने इसी आशय का उक्त विज्ञापन ऋग्वेदभाष्य ५०, ५१ (सम्मिलित) अंक के आवरण पत्र पृष्ठ ४ पर छापा था।

पृ० ४३९ पं० ४—घड़ी एक आई, या दो—पुरोहित उदयलाल को घड़ी भेजने के लिये सेवकलाल कृष्णदास को भी लिखा था और गोपालराव हरि देशमुख जब जोधपुर में स्वामी जी से मिलकर (जून ३।४ १८८३) बम्बई लौटे, तब उनसे भी घड़ी भेजने को कहा था। दोनों ने घड़ी भेजने की सूचना अपने अपने पत्रों में दी। देखो म० मुंशीराम सम्पा० पत्रव्यवहार (पृ० २४२, २४३, २७४) अतः स्वामी जी महाराज को सन्देह हुआ कि घड़ी एक भेजी गई और दोनों ने उसकी सूचना दी, या दोनों ने अलग अलग घड़ी भेजी।

पृ० ४४० पं० २७, ३३—कुतुहूबीलालसिंह......लाहौर में अपनी अंगुली कटवा के अंग भंग हो गया—इन दोनों के वर्णन के लिये देखो मुंशीराम सम्पा० पत्रव्यवहार पृ० १२१।

पृ० ४४४ पं० १—प्रधाना......महाभाष्य—यही पाठ महाभाष्य के नाम से ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका वेदविषयविचार प्रकरण (पृष्ठ ४४ संस्क० ४) में उद्धृत है।

पृ० ४४५ पं० १६—मेरे भेजे पत्र को—यह संकेत पूर्ण संख्या ५५२ की ओर है।

पृ० ४५५ पं० १०—मान्य-पत्र की नकल—शाहपुराधीश ने ऋषि दयानन्द को जो मान्य-पत्र दिया था, उसकी ओर यह संकेत है। यह पत्र परिशिष्ट ३ पृष्ठ २० पर छापा।

पृ० ४५५ पं० १२—निज पत्र के विषय में लिखा था—इसका संकेत पूर्ण संख्या ५६४ के पत्र के अन्त में भी है।

पृ० ४६० पं० २४—लिखितव्य—आधुनिक वैयाकरण लिख धातु में गुणनिषेध करने के लिये गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन् ङित्" (अष्टा० १।२।१) सूत्र में 'कुटस्य आदिः कुटादिः' ऐसा भी समास मानते हैं।

॥ इति युधिष्ठिरमीमांसकसंकलितं द्वितीयं परिशिष्टं समाप्तम् ॥

परिशिष्ट ३

ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन से संबद्ध आवश्यक सामग्री का संकलन

[संकलयिता—युधिष्ठिर मीमांसक]

पृष्ठ ५३, पूर्ण संख्या ३९ के पत्र और टिप्पणी ३ पर—

प्रतीत होता है, श्री देवेन्द्र बाबू ने दीनानाथ गांगोली को ऋषि दयानन्द के पत्रों के विषय में कोई पत्र लिखा था। दीनानाथ के पास ऋषि दयानन्द का पूर्ण संख्या ३९ वाला अंग्रेजी का एक पत्र था, उसे श्री देवेन्द्र बाबू को भेजते समय उसी अंग्रेजी के पत्र पर दीनानाथ ने निम्न पंक्तियां बंगला भाषा में लिखी थीं—

श्री श्री दुर्गाशरणम्
नमस्कारं ते निवेदनमिदम्

दयानन्द सरस्वती महोदयेर एक खनि मात्रो पत्रो पाइयासी ताह पठैलम् अवश्य तिनि अन्यो कोनो व्यक्ति र द्वारा यह इंग्रेजी ते लिखइया लोइआ छीलैन य ते ताहार साखोर आछे आशाकरी अपनी भला आछन

बसम्बद्ध
श्री दीनानाथ गांगोली
हालीशहर बंगाला
२४ पौष १३०२[1]

[भाषानुवाद]

हमारा नमस्कार, निवेदन है कि दयानन्दसरस्वती महोदय का एक मात्र पत्र हमको मिला, वह आपको भेजता हूं। यह पत्र किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा अंग्रेजी में लिखा है और उसमें उसके हस्ताक्षर हैं आप अच्छे होंगे।

पृष्ठ २०१ पूर्ण संख्या २५१ पत्र संख्या १९५—इस पत्र में वेदभाष्य के सहायतार्थ दो पण्डित रखने के लिये विभिन्न व्यक्तियों से प्राप्त हुए चन्दे का उल्लेख है। इस पत्र को समझने के लिये इसकी पृष्ठभूमि जाननी आवश्यक है। वह पृष्ठभूमि इस प्रकार है—

ऋषि दयानन्द २० मई १८८० = वैशाख शु० ११ सं० १९३७ को सातवीं (फर्रुखाबाद के इतिहासानुसार पृष्ठ १३५, वस्तुतः ९ नवमी) बार जब फर्रुखाबाद पधारे थे, तब उन्होंने २७ जून के व्याख्यान के अन्त में —"वेदों का महीधरादिकों ने अशुद्ध अनर्गल अर्थ करके देश में भ्रान्ति फैलाई। वेदों का शुद्ध व सत्यार्थ शीघ्र होना आवश्यक है" इत्यादि कहकर वेदभाष्य के कार्य की शीघ्र संपादन के लिये प्रबन्ध करने को कहा (फर्रुखाबाद का इतिहास पृष्ठ १३९)। इसके उपरान्त ही तत्काल १३५०) रु० एकत्रित हो गये (फर्रु० का इति० पृष्ठ १४०) और इस कार्य की पूर्ति के लिये श्री कालीचरण मन्त्री आर्यसमाज फर्रुखाबाद ने ५ जून १८८० को एक विज्ञापन प्रकाशित किया, जो ऋग्वेद और यजुर्वेदभाष्य के अंक १४ के आवरण पत्र पृष्ठ ३ पर इस प्रकार छपा था—

---

१ वि० सं० १९५२, सन् १८९५। श्री महाशय मामराज जी द्वारा प्राप्त।

विज्ञापन

आर्य समाज फर्रुखाबाद की ओर से

"सब आर्यसमाजों और २ सज्जनों को विदित किया जाता है कि जो वेदभाष्य श्रीयुत स्वामी जी महाराज हम लोगों के परम उपकार के वास्ते कर रहे हैं और जिसके सत्य अर्थ का प्रकाश शीघ्र ही हो जाना अवश्य है और यह बड़ाभारी काम है एक के पूरा करने का कभी सम्भव मालूम नहीं होता। देखिये अकेले स्वामी जी ने गत वर्षों में अतिपरिश्रम किया कि जिससे महा दारुण रोग उनको हुआ कि जिससे शरीर बचना भी असम्भव होगया[1], परन्तु ईश्वर की कृपा से वे सब रोग निवृत्त हो गये अब हम सब लोगों की यह सम्मति है कि प्रशंसित महाराज के पास दो पण्डित ऐसे योग्य और विद्वान् सब समाजों की ओर से नियत किये जावें कि वे भी वेदभाष्य के श्रम का कुछ बोझ उठा लेवें, जिससे स्वामी जी का भार हलका हो जावे अर्थात् कम श्रम करना पड़े, और वेदभाष्य शीघ्र ही बन जावे। क्योंकि उसके न होने से अंधकार मनुष्य के हृदय में छा रहा है और नाना प्रकार के परस्पर विरोधी मतों में स्थित होकर महाहानि सुखों की करली और करते जाते हैं वह कभी न छूट सकेगी। अर्थात् एक मन्त्र का भी भाष्य रह जावेगा तो सम्भव है कि अविद्वान् लोग उसी का उल्टा सूधा अर्थ समझाकर मनुष्यों को बहकावेंगे और अपना मतलब साधेंगे। इस वास्ते सब आर्यसमाजों को निवेदन किया जाता है कि यथाशक्ति इस काम में सहायता करनी उचित है। दो पण्डित विद्वान् १००) रु० मासिक व्यय से कम पर नहीं मिल सकते और सम्भव है कि जो उसकी सामग्री शीघ्र जुड़ जाये तो छः वर्ष में सम्पूर्ण चारों वेदों का भाष्य हो जा सकता है। तो इतने व्यय का भार हम सब समाजों और २ लोगों को उठा लेना अशक्य नहीं है। इस समाज से भी यथाशक्ति द्रव्य का प्रबन्ध किया जायेगा। और जिस २ समाज या मनुष्य ने जो कुछ भेजना हो वह निम्नलिखित नियमानुसार पत्र द्वारा इस समाज को अथवा श्री स्वामी जी महाराज को एक मास के भीतर उत्तर भेज दें।

हम आशा करते हैं कि इस परम उपकारक विषय में कोई भी सज्जन यथाशक्ति प्रयत्न करने में आलस्य न करेगा। जो यह काम इस समय में भी पूरा न हुआ तो फिर इसका होना अतिदुर्लभ है, क्योंकि ऐसा परोपकारी श्रेष्ठ गुणयुक्त विद्वान् और दयालु दूसरा कौन है जो इसको पूरा करे। इससे यह सर्व हितकारी कार्य अवश्य कर्तव्य है।

१—एक वर्ष का व्यय प्रथम ही देना होगा फिर इसी क्रम से प्रतिवर्ष छठे वर्ष पर्यन्त लिया जावेगा।

२—यदि कोई पांच वर्ष का व्यय एकबार भेज देवेगा तो उससे छठे वर्ष की याचना न की जावेगी, किन्तु उसके व्याज से पूरा हो जावेगा।

३—जो समाज वा मनुष्य जितना देवे वह एक वर्ष से कम न देवे अर्थात् जितना महावारी देवे उसका १२ गुणा करके वर्ष के आदि में भेज दिया करे। यह चन्दा छः वर्ष के पीछे नहीं लिया जावे।

---

१. यह महादारुण रोग भयानक अतिसार था। यह कष्ट लगातार कई मास तक रहा। इसका उल्लेख ऋषि दयानन्द ने स्वयं पूर्ण संख्या १५३–१८३ तक के कई पत्रों में किया है। सम्भव है इस रोग से शरीर बचने की असंभावना देखकर ही ऋषि दयानन्द ने अत्यन्त भयानक अवस्था में अलीगढ़ जाकर ठा० मुकुन्दसिंह आदिके नाम मुख्तियारनामा रजिस्ट्री करवाया। यह मुखतियारनामा पूर्ण संख्या १७३ पर छपा है। रजिस्ट्री कराने के लिये ऋषि दयानन्द रोगकी अधिकता के कारण कचहरी में न जा सके। रजिस्ट्रार ने अपना आदमी उनके स्थान पर भेजकर उनका बयान लिया। इसका उल्लेख उक्त मुख्तियारनामे की रजिस्ट्री-पत्र के अन्त में रजिस्ट्रार के लेख में किया है। देखो यही पत्रव्यवहार पृष्ठ १४८। शरीर की अचानक ऐसी दुरवस्था को देखकर ही ऋषि दयानन्द ने इसके कुछ काल के अनन्तर ही १६ अगस्त १८८० को मेरठ में अपने "स्वीकारपत्र" (वसीयतनामा) की भी रजिस्ट्री करवा दी। यह स्वीकारपत्र इसी ग्रन्थ में पूर्ण संख्या २६४ (पृ० २१७) पर छपा है। जीवनचरित्रों में इस दारुण रोग का साधारण सा उल्लेख तो है, परन्तु मुखियानामे का उल्लेख ही नहीं है।

४—इसके धन व्यय का हिसाब वर्ष २ के अन्त में आर्यसमाज फर्रुखाबाद भेज दिया करेगा। छठे वर्ष के अन्त में जो व्यय करके बच रहेगा वह यथासंख्य सब देने वालों का अंश लौटा दिया जायेगा

५—इस व्यय में जिस किसी देने वाले को कभी शंका पड़े तो आर्यसमाज फर्रुखाबाद से प्रत्युत्तर मंगवा सकते हैं।

६—इस पत्र का उत्तर वा धन प्रदान जो कुछ जिसको भेजना हो वह बाबू दुर्गाप्रसाद कोशाध्यक्ष आर्यसमाज फर्रुखाबाद के पास एक मास के भीतर भेज देवे।

ह० कालीचरण मन्त्री आर्यसमाज फर्रुखाबाद, ५ जून १८८०।

पृष्ठ २०८ पं० २०, २१—चारों वर्षों के पृथक् २ चन्दा का विज्ञापन ·····भेज दे। यह विज्ञापन यजुर्वेदभाष्य अंक १६, १७ (सम्मिलित) के आवरण पत्र पृष्ठ ४ पर निम्नप्रकार छपा था—

बड़ाभारी विज्ञापन

(अवश्य देखने योग्य)

१—सब सज्जनों को विदित हो कि अब वेदभाष्य के छपने और प्रकाश करने का प्रबन्ध अच्छे प्रकार हो गया है, सो अब प्रतिमास अंगरेजी की पहली तारीख को यहां से डाक में डाला जाया करेगा।

२—जिन महाशयों के पास पहिली तारीख से १० दिन के भीतर वेदभाष्य न पहुँचे तुरन्त हमको पत्र लिखें, नहीं तो फिर आगे को कोई दोष हम पर न लगा सकेगा।

३—ईश्वर की कृपा से इन दो १६,१७ अंकों के साथ तीसरा वर्ष सम्पूर्ण हो गया, अब १८ अंक से नये चौथे वर्ष का आरम्भ होगा, सब सज्जनों को उचित है कि इस अगले वर्ष का चन्दा ८) रु० दोनों वेदों का हमारे पास भेज दें। पिछले तीन वर्षों का चन्दा १७) रु० होता है, सो जिन्होंने कुछ नहीं दिया वे १७) रु० और जिन्होंने कुछ दे दिया है वे १७) रु० में से जितना दिया है उतना निकालकर बाकी का चन्दा हमारे पास शीघ्र भेजदें।

४—जो ग्राहक इस मास सितम्बर में ही अपना पिछला हिसाब दाम[1] २ भेजकर न चुका देंगे, तो हमको उनके नाम नादिहंदों[2] में लिख कर वेदभाष्य में छापकर प्रकाशित करने पड़ेंगे।

इसलिये उचित है कि जैसे सभ्यता पूर्वक हम सब ग्राहकों के पास ३ वर्ष से बराबर वेदभाष्य भेज रहे हैं, वैसे ही वे भी शीघ्र दाम भेज कर हिसाब चुका दें।

५—अब चौथे वर्ष का हम नया रजिस्टर बना रहे हैं कि जिसके अनुसार सब ग्राहकों के नाम छापे जावेंगे, यदि किसी को वेदभाष्य न लेना हो तो १५ सितम्बर तक हमको लिखें नहीं, तो फिर बराबर एक वर्ष तक लेना और दाम देना पड़ेगा।

हस्ताक्षर बख्तावरसिंह, मैनेजर वेदभाष्य, बनारस।

पृष्ठ २२७ पं० १६-१९; पृष्ठ २३१ पं० ९-१० में उल्लिखित—मुंशी इन्द्रमणि के मुकदमे का वृत्तान्त[3] जो ऋग्वेदभाष्य अंक १६, १७ (सम्मिलिन) के आवरण पत्र २, ३,४ पर छपा था। वह इस प्रकार है—

मुंशी इन्द्रमणि जी के मुकद्दमे का वृत्तान्त

तीस वर्ष हुए होंगे एक किसी मुसलमान ने हिन्दूओं के खण्डन में एक किताब "बद हिन्दू" बनाकर छपवाई थी, उसमें देवता अवतार आदि की निन्दा सर्वथा प्रमाण शून्य लिखी थी उसके उत्तर में किसी हिन्दू ने एक

---

१ अर्थात् दमड़ी दमड़ी २ अर्थात् न देने वालों की सूची में।
३ इस विषय में इस ग्रन्थ के पृष्ठ १९६ पं८-१४ तथा पृष्ठ २३७ पं० ३८ श्लोक १-१७ भी द्रष्टव्य हैं।

संपादक, प्रकाशक व मुद्रक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, बनारस।

ओ३म्

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ८] ❀ [अङ्क ११

इस अंक में पढ़िये

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

भाद्रपद २०१३, सितम्बर १९५६
दयानन्दाब्द १३१
वेद तथा सृष्टि संवत् १९६०८५३०५६

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) बनारस नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
वी० पी० से ५।ऽ)
" " विदेश में ६)
इस अंक का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास की प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ॥) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी १) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ व ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) बनारस नं० ६

(पृ० २४ का शेष)

शास्त्री रिटायर्ड चीफ जज भारत आदि के भाषण समय समय पर हिन्दी तथा संस्कृत में होते रहे। शास्त्री जी के भाषण संस्कृत में होते थे। शास्त्री जी को हिन्दी पर पूरा अधिकार था। आप हिन्दी में भी अधिकारपूर्वक भाषण देते थे। प्रायः अनेक जगद्गुरु शंकराचार्यों द्वारा संचालित सभाओं वा यज्ञों में शास्त्री जी के भाषणों का विशेष प्रभाव होता था। आप को संस्कृत से इतना गहरा प्रेम था कि जब यह स्वयं अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने में लगे हुए थे, वह नवयुवक संस्कृत पढ़ने वाले छात्रों की सहायता करते रहते थे। वह आडम्बर प्रिय वा महत्त्वाकाङ्क्षी नहीं थे, बहुत ही सरलजीवन थे। उनकी सेवाओं से प्रसन्न होकर भारत सरकार ने उन्हें १९४१ में "महामहोपाध्याय" की पदवी से तथा महामहिम शङ्कराचार्य कांचाकाम कोटी पीठ ने "शास्त्ररत्नाकर" की उपाधि से विभूषित किया।

स्वर्गीय महामना मदनमोहन मालवीय जी अनेक अवसरों पर हनुमान घाट में इनके घर पर शास्त्री जी की माता को श्रद्धाञ्जलि भेंट करने के लिए आया करते थे जिसने कि इतना महान् विद्वान् रत्न उत्पन्न किया और जो स्वयं बड़े ऊँचे विचार की थीं और जिन्हें स्वयं वैदिकयज्ञों का बड़ा अच्छा ज्ञान था।

एक बार जयपुर में एक बहुत भारी ८० वर्षीय प्रज्ञाचक्षु बहुत योग्य और प्रसिद्ध विद्वान् के गृह पर शास्त्री जी पहुँचे। शास्त्री जी जब उनसे आज्ञा लेकर चलने लगे तो वह वृद्ध विद्वान् खड़े हो गये और इन्हें सीढ़ियों के द्वार तक छोड़ने आये। शास्त्री जी ने उनसे न उठने की प्रार्थना की क्योंकि शास्त्री जी उनसे आयु में बहुत छोटे थे। उस महाविद्वान् ने कहा कि यतः आप बहुत योग्य और अपूर्व विद्वान् एवं सरस्वती के अवतार हैं, अतः आप का उचित सत्कार होना चाहिए।

शास्त्री जी का शिष्यवर्ग

(१) पण्डित द० त० ताताचार-संस्कृतरीडर, वेङ्कटेश्वर ओरिएण्टल इन्स्टीच्यूट-तिरुपति।

(२) पण्डित प० न० पट्टाभिरामशास्त्री-संस्कृत विभाग कलकत्ता यूनिवर्सिटी।

(३) पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु-मोतीझील बनारस।

(४) पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक-वैदिकरिसर्च स्कालर देहली।

(५) पण्डित अ० रामनाथ शास्त्री-रिटायर मीमांसा प्रोफेसर वेंकट ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट-तिरुपति॥

(६) पण्डित सुब्रह्मण्यशास्त्री विश्वविद्यालय काशी—इत्यादि॥

ऋग्वेद ओ३म् यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद अथर्ववेद

सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४ ॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष ८ } काशी, भाद्रपद सं० २०१३ वि०, सितम्बर १९५६ ई० { अङ्क ११

आर्याभिविनय से

टिप्पणीकर्त्ता—विन्ध्यवासिनी प्रसाद अनुगामी

प्रार्थना-विषय

हम न्यायकारी हों, हमारा स्वराज्य उन्नत हो

ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयतु विद्वान्।
अर्यमा देवैः सजोषाः ॥ ऋग्० १।६।१७।१

दण्डान्वयटीका

(हे सर्वशासक परमेश्वर)	हे प्राणी अप्राणी प्रत्येक प्रकार की वस्तुओं के नियन्ता ईश्वर	वरुणः[3]	सर्व्वोच्च सांसारिक राजाओं से भी बढ़कर अन्नादि देने फिर भी न्यायरक्षादि करने के गुणों से पूर्ण अतएव उनके लिये भी आदर्शस्वरूप
(भवान्)	आप		
ऋजुनीती[2]	उत्कृष्ट अनुकूल गुणग्रहण करने तथा "सत्यं शिवं सुन्दरं" के मार्ग पर सीधे ले जाने वाले		

अर्थबोधक टिप्पणी—

१ अर्जयति सञ्चिनोति गुणानिति ऋजुः। कोमलो वा (handsome : agreable , pleasing) उ० १।२७.

२ नीति = course of life.

३ (अ) वृणोति व्रियते वा असौ वरुणः। वरुणः = न्यायकारी—दया० यजु० ६।२२.

मित्रः[४] सबसे स्नेह करनेवाले, हृदय से सबसे प्रेम करने वाले
विद्वान् अनेक विद्याओं के विज्ञान से युक्त
अर्यमा[५] (पूर्ण स्नेह की भावनाओं से युक्त होते हुए भी) अपने स्वामित्व के कर्तव्य को जानने वाला परमन्यायप्रिय
(विद्यते) हैं (आपसे विनती है कि)
नः हम सब मनुष्य देहधारियों को
नयतु (गुण ग्रहण करने, श्रेष्ठ बनने, स्नेह करने, विज्ञानी होने एवं न्यायकारी बनने के मार्ग पर) ले चलो

(वयम्) हमलोग
देवैः[६] उत्तम गुण कर्म स्वभाव को अपनाने वाले
(दीक्षिताः) और वैसा ही दूसरों को भी बनाने वाले महात्माओं के साहाय्य से उत्तम गुणों में—मुख्यतया आपको ही सर्वोपरि जानने मानने में—कुशल तथा दृढ़प्रतिज्ञ होकर
सजोषाः[७] ऋजुनीती, वरुण, मित्र विद्वान् अर्यमा स्वरूप
(स्याम) आपके साथ बने रहें, आपको अपनाये रहें और आपसे ही सर्व-प्रेम का नाता जोड़े रहें॥

ऋषिव्याख्यान

हे महाराजाधिराज[८] परमेश्वर[९]! आप "नः" हमको "ऋजुनीती" सरल शुद्ध कोमलत्वादिगुणविशिष्ट[१०] चक्रवर्ती राजाओं[११] की नीति[१२] को "नयतु" कृपादृष्टि से[१३] प्राप्त करो। आप "वरुणः" सर्वोत्कृष्ट होने से वरुण हो, सो हमको वरराज्य, वरविद्या, वरनीति[१४] देओ तथा "मित्रः" सबके मित्र शत्रुरहित हो, हमको भी आप मित्रगुणयुक्त न्यायाधीश[१५] कीजिये, तथा आप "विद्वान्" सर्वोत्कृष्ट विद्वान् हो, हमको भी सत्यविद्या से युक्त सुनीति देके साम्राज्याधिकारी[१६] सद्यः[१७] कीजिये तथा आप "अर्य्यमा" (यमराज) प्रियाप्रिय[१८]

वरुणो देवानाम् राजा—शत० १२।८।३।१०। वरुणः = सम्राट् सम्राट्पतिः श० ११।४।३।१०. वरुणो = अन्नपतिः श० १२।७।२।२० अपानो वरुणः—श० ८।२।४।६ दुःखेन आच्छादकस्य तिरस्कर्त्तः—दया० यजु० ५।३९.
(आ) वरुणो वा एतं गृह्णाति यः पाप्मना गृहीतो भवति। वरुणेनैवैनम् वरुण्मान् मुञ्चत्यन्तो भवत्यन्तत एवैनम् वरुणपाशात् प्रमुञ्चति—श० १२।७।२।१७.

४ मेद्यति स्निह्यति स्निह्यते वा स मित्रः। मिनोति मान्यम् करोतीति मित्रम्। सुहृद्रा—उ० ४।१६४.
५ अर्यम् स्वामिनम् मिमीते मन्यते, जानातीति अर्यमा—उ० १।१५९. a bosom friend—आप्टे.
६ (अ) क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु—दिवा०।
(आ) देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा—निरुक्त ७।१५.
(ई) देव = विद्यायुक्तशुद्धव्यवहार०—दया० यजु० ४।२०.
७ fr. जुष् = प्रीतिसेवनयोः—दिवा० परितर्कणे : परितर्पणे—चुरा० to be fond of—आप्टे.
८ हे महाराजाधिराज = हे राजाओं के राजा
९ परमेश्वर = सबसे बड़े अधिष्ठाता
१० कोमलत्वादिगुणविशिष्ट = अनुकूलता-प्रसाद-सौन्दर्यादि गुणों के स्थापन में अतीव कुशल.
११ चक्रवर्ती राजाओं की = सम्पूर्ण संसार के शासन कर्त्ताओं के sovereignrulers of the world.
१२ नीति = कार्यविधि : course of action.
१३ कृपादृष्टि से = दया करके
१४ वरराज्य वरविद्या वरनीति = संसार का एक श्रेष्ठतम शासन (world sovereignty) एक सर्वोत्तम उद्देश्य ज्ञान (wrold is constitution aim of creation) तथा सर्वोच्च कार्य प्रणाली (excutive policy)
१५ न्यायाधीश = ऋग् यजु साम अथर्व ज्ञान के अनुकूल शासन कार्य में निष्णात
१६ साम्राज्याधिकारी = संसार के एक गणतन्त्र शासन में रहने के योग्य एवं ऐसे स्वराज्य की प्राप्ति
१७ सद्यः = शीघ्रातिशीघ्र
१८ प्रियाप्रिय को छोड़कर = without any partialety : पक्षपात छोड़कर

[शेष पृष्ठ ७ पर]

मुक्ति क्या है और किस प्रकार मिल सकती है ?

[ले०—श्री मास्टर मातुरामजी आर्य, रोहतक]

इस विषय पर ईसाई, मुसलमान, जैन तथा वैदिक धर्मियों ने अपने अपने दृष्टिकोण से प्रकाश डाला है। प्रथम दो मतावलम्बियों ने मोक्ष (Salvation) को नजात कहा है। किससे छूटना ? इसका सन्तोषजनक कोई उत्तर नहीं मिलता। शब्द 'न जात' का अर्थ होता है—'नहीं पैदा हुआ'—परन्तु इनके यहां तो जिस आत्मा (Soul) की मुक्ति मानते हैं। उसे हादिस (Created out of nothing)-अभाव से भाव—नास्ति से अस्ति-बताते हैं; जो कि असंभव है। जो हादिस है वह उत्पत्ति तथा अन्त वाली होने से अनित्य ठहरती है। तो इस प्रश्न का उत्तर कुछ नहीं बनता कि नजात प्राप्ति किसको होती है। इसी प्रकार इस्लाम का यह सिद्धान्त कि खुदा जो कुछ जब भी करना चाहे कर देवे, जीवों के कृत कर्मों का फल देना न देना ऐन खुदा की इच्छा पर है, खुदा की जात को अविश्वस्त बना देता है, परन्तु मनुष्य तो इस विश्वास पर कर्म करे कि इन कर्मों का फल नजात नसीब होगी—जहां उनके कथनानुसार अति सुख भोग होता है—और अल्लाह मियां की इच्छा यह हो जावे कि कर्मों का फल बस नहीं देते तो बताइये ऐसी अवस्था में किस मनुष्य का कर्म करने का उत्साह हो सकता है और दृढ़ निश्चय किस आधार पर हो सकता है ? अस्तु ! यह तो ऐसे प्रश्नों के उत्तरों का भार उन ही लोगों पर है।

जैनों का पक्ष आश्चर्यजनक है। वह जीव को स्वभाव से सर्वज्ञ, अनन्त आनन्द, अनन्तवीर्य वाला मानते हैं। साथ यह भी कहते हैं कि जीव राग द्वेष मोह आदि से मलीन, अशुद्ध बन जाते हैं। कर्म बन्धनों के हट जाने पर निर्जरावस्था में मोक्ष-प्राप्ति हो जाती है। कर्म जड़ और जीव स्वभाव से शुद्ध, चेतन हैं। शुद्ध, स्वरूप, सर्वज्ञ, चेतन जीव को जड़ कर्म अकारण ही बांध लेते हैं। अनादि काल से कर्मों का जीवों के साथ लिपटना होने के कारण से स्वाभाविक बन जाता है। ऐसी अवस्था में बंधन का छूटना असंभव है। अतएव मोक्ष नहीं हो सकती, क्योंकि जीव और कर्मों का सम्बन्ध अकारण हुआ २ है। जो आप ही आप चिपट जावे उसका छूटना कैसे हो ?

वैदिक धर्म की दृष्टि से मुक्ति क्या है ? छूटना। कौन छूटता है और किससे छूटता है ? जो छूटना चाहता है। वह कौन ? जीवात्मा। किससे अज्ञान, अविद्या से। क्या यह बधन है ? हां, देखिए वेद बताते हैं कि—अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्यस्मान्निधयेव बद्धान् (ऋ० १०। ७३। ११) —हे प्रभो ! (ध्वान्तम् अप ऊर्णुह) तू हमारी अविद्या अज्ञान को दूर कर (चक्षुः पूर्धि) ज्ञान चक्षुओं को पूर्ण कर (निधया इव बद्धान्) बंधे हुए पक्षियों के तुल्य (अस्मान्) हमें (मुमुग्धि) बंधन से मुक्त कर। तो पता चला कि जीवात्मा बधन में है। परन्तु यह कैसे बंधा ? प्रकृति (सत्त्व रज, तम,) से। प्रकृति क्यों बांधती है ? जीवात्मा अल्पज्ञ है, पूर्ण ज्ञानी नहीं। अज्ञानता-अविद्या द्वारा प्रकृति से संयोग होता है—तस्य हेतुरविद्या-(योग साधन पाद सूत्र २४) अविद्या किसे कहते हैं ? उत्तर—अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या (योग साधन पाद सूत्र पांचवां) अर्थात् अनित्य में नित्यता, अशुचि में शुचिता, दुःख में सुख अनात्मा में आत्मपन जानना अविद्या है। दूसरे शब्दों में यथार्थ स्वरूप से विपरीत समझना अविद्या है। तो बंधन (अविद्या) का हटाना—दूर करना—मोक्ष प्राप्ति का साधन है। अतएव विवेकी बनना आवश्यक है। जड़ को जड़ और चेतन को चेतन जानना, मानना तथा अनुभव करना बंधन से छुड़ाने वाला है। देखिये कि अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते (यजुः ४०। १४) जो जड़ पदार्थों के समूह का सहारा लेकर पुरुषार्थ करते हुए मृत्यु को पार कर यथार्थ विद्या से अपने स्वरूप या परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

अदेवाद्देवः प्रचता गुहा यन्प्रपश्यमानो अमृतत्वमेमि।
शिवं यत्सन्तमशिवो जहामि स्वात्सख्यादरणीं नाभिमेमि
(ऋ० १०। १२४।२)

अर्थ—(देवः) ज्योतिः स्वरूप (अदेवात् प्रचेता) अदेव प्रकाश ज्ञान रहित देह = शरीर से अपने आप को अलग जानता हुआ (गुहा यन्) बुद्धि = अन्तर्हृदय गुफा में जाता हुआ (प्र-पश्यमानः) भली प्रकार ज्ञान द्वारा अनुभव करते हुए (अमृत्वम् एमि) अमृत रूप को

मुक्ति क्या है और किस प्रकार मिल सकती है ?

[ले०—श्री मास्टर मातुरामजी आर्य, रोहतक]

इस विषय पर ईसाई, मुसलमान, जैन तथा वैदिक धर्मियों ने अपने अपने दृष्टिकोण से प्रकाश डाला है। प्रथम दो मतावलम्बियों ने मोक्ष (Salvation) को नजात कहा है। किससे छूटना? इसका सन्तोषजनक कोई उत्तर नहीं मिल्ता। शब्द 'न जात' का अर्थ होता है—'नहीं पैदा हुआ'—परन्तु इनके यहां तो जिस आत्मा (Soul) की मुक्ति मानते हैं। उसे हादिस (Created out of nothing)-अभाव से भाव—नास्ति से अस्ति-बताते हैं; जो कि असंभव है। जो हादिस है वह उत्पत्ति तथा अन्त वाली होने से अनित्य ठहरती है। तो इस प्रश्न का उत्तर कुछ नहीं बनता कि नजात प्राप्ति किसको होती है। इसी प्रकार इस्लाम का यह सिद्धान्त कि खुदा जो कुछ जब भी करना चाहे कर देवे, जीवों के कृत कर्मों का फल देना न देना ऐन खुदा की इच्छा पर है, खुदा की जात को अविश्वस्त बना देता है, परन्तु मनुष्य तो इस विश्वास पर कर्म करे कि इन कर्मों का फल नजात नसीब होगी—जहां उनके कथनानुसार अति सुख भोग होता है—और अल्लाह मियां की इच्छा यह हो जावे कि कर्मों का फल बस नहीं देते तो बताइये ऐसी अवस्था में किस मनुष्य का कर्म करने का उत्साह हो सकता है और दृढ़ निश्चय किस आधार पर हो सकता है? अस्तु! यह तो ऐसे प्रश्नों के उत्तरों का भार उन ही लोगों पर है।

जैनों का पक्ष आश्चर्यजनक है। वह जीव को स्वभाव से सर्वज्ञ, अनन्त आनन्द, अनन्तवीर्य वाला मानते हैं। साथ यह भी कहते हैं कि जीव राग द्वेष मोह आदि से मलीन, अशुद्ध बन जाते हैं। कर्म बन्धनों के हट जाने पर निर्जरावस्था में मोक्ष-प्राप्ति हो जाती है। कर्म जड़ और जीव स्वभाव से शुद्ध, चेतन हैं। शुद्ध, स्वरूप, सर्वज्ञ, चेतन जीव को जड़ कर्म अकारण ही बांध लेते हैं। अनादि काल से कर्मों का जीवों के साथ लिपटना होने के कारण से स्वाभाविक बन जाता है। ऐसी अवस्था में बंधन का छूटना असंभव है। अतएव मोक्ष नहीं हो सकती, क्योंकि जीव और कर्मों का सम्बन्ध अकारण हुआ २ है। जो आप ही आप चिपट जावे उसका छूटना कैसे हो?

वैदिक धर्म की दृष्टि से मुक्ति क्या है? छूटना। कौन छूटता है और किससे छूटता है? जो छूटना चाहता है। वह कौन? जीवात्मा। किससे अज्ञान, अविद्या से। क्या यह बंधन है? हां, देखिए वेद बताते हैं कि—**अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्यस्मान्निधयेव बद्धान्** (ऋ० १०।७३।११)—हे प्रभो! (ध्वान्तम् अप ऊर्णु ह) तू हमारी अविद्या अज्ञान को दूर कर (चक्षुः पूर्धि) ज्ञान चक्षुओं को पूर्ण कर (निधया इव बद्धान्) बंधे हुए पक्षियों के तुल्य (अस्मान्) हमें (मुमुग्धि) बंधन से मुक्त कर। तो पता चला कि जीवात्मा बंधन में है। परन्तु यह कैसे बंधा? प्रकृति (सत्व रज, तम,) से। प्रकृति क्यों बांधती है? जीवात्मा अल्पज्ञ है, पूर्ण ज्ञानी नहीं। अज्ञानता-अविद्या द्वारा प्रकृति से संयोग होता है—**तस्य हेतुरविद्या**-(योग साधन पाद सूत्र २४)। अविद्या किसे कहते हैं? उत्तर—**अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या** (योग साधन पाद सूत्र पांचवां) अर्थात् अनित्य में नित्यता, अशुचि में शुचिता, दुःख में सुख अनात्मा में आत्मपन जानना अविद्या है। दूसरे शब्दों में यथार्थ स्वरूप से विपरीत समझना अविद्या है। तो बंधन (अविद्या) का हटाना—दूर करना—मोक्ष प्राप्ति का साधन है। अतएव विवेकी बनना आवश्यक है। जड़ को जड़ और चेतन को चेतन जानना, मानना तथा अनुभव करना बंधन से छुड़ाने वाला है। देखिये कि **अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते** (यजुः ४०।१४) जो जड़ पदार्थों के समूह का सहारा लेकर पुरुषार्थ करते हुए मृत्यु को पार कर यथार्थ विद्या से अपने स्वरूप या परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

अदेवाद्देवः प्रचता गुहा यन्प्रपश्यमानो अमृतत्वमेमि।
शिवं यत्सन्तमशिवो जहामि स्वात्सख्यादरणीं नाभिमेमि
(ऋ० १०।१२४।२)

अर्थ—(देवः) ज्योतिः स्वरूप (अदेवात् प्रचेता) अदेव प्रकाश ज्ञान रहित देह = शरीर से अपने आप को अलग जानता हुआ (गुहा यन्) बुद्धि = अन्तर्हृदय गुफा में जाता हुआ (प्र-पश्यमानः) भली प्रकार ज्ञान द्वारा अनुभव करते हुए (अमृत्वम् एमि) अमृत रूप को

प्राप्त हो जाता हूँ (यत्) जब मैं (अशिवः) अकल्याण = दुःखदायक बंधन को (जहामि) तजता हूँ (स्वात् सख्यात्) अपने मित्रभाव से मैं (सन्तम्) सत्स्वरूप (अरणीम्) अरणी के तुल्य (शिवम्) कल्याणकारी (नाभिम्) मूल कारण प्रभु को (एमि) प्राप्त हो जाता हूँ।

तो इससे स्पष्ट हो गया कि अमृत पद पाने का मनुष्य जड़ तथा चेतन में पूर्ण रूप से विवेक बुद्धि प्राप्त करके अधिकारी बनता है।

प्रश्न—क्यों जी ! अविद्या से हानि क्या होती है ?

उत्तर—इसी से तो मनुष्य पापी बनता है। भाव मलीन हो जाते हैं। यूं कहना उचित है कि मानसिक दुर्वृत्तियां मनुष्य को बंधन में जकड़े और फंसाये रखती हैं। रजोगुणी वृत्ति में काम, क्रोध आदि पाप में प्रवृत्त करते हैं। तो विचारणीय है कि सुख प्राप्ति के लिये क्या कर्तव्य है ?

मित्र भाव करना और द्वेषों को हटाना उचित है। **विश्वा द्वेषांसि जहि** (ऋ० ८ । ५३ । ४) अर्थ—सब द्वेषों = वैरभावों को छोड़ दो। यह कैसे हो ? अहिंसा व्रती बनने से। अहिंसा क्या है ? किसी प्रकार भी मन, वचन, कर्म से किसी प्राणी को दुःख न देना अहिंसा है। क्यों जी ! यदि यही धर्म है तो दण्डनीति राजा को पापी बनाती है ? भाई न्यायकारी राजा लोग प्रजा के कर्मों को ध्यान में रखकर दण्डनीय लोगों को दण्ड देते हैं। यह उनपर उपकार है क्योंकि राजा प्रजा की भलाई चाहते हैं। अपराधी को अपराध करने से रोकने के साधनों में से एक साधन दण्ड-नीति है। इससे भविष्य में अपराधी का उपकार होता है। अपनी आत्मा के प्रति भी अहिंसा करना धर्म है, क्योंकि यदि अपनी आत्मा का हनन किया जावे तो तमोगुणी = अज्ञान अन्धकार वाले लोकों को आत्महिंसक प्राप्त होता है। न्याय करना अपनी आत्मा की रक्षा करना है। अन्याय करना आत्महनन है। अहिंसा धर्म है यथा—

यन्नूनमश्यां गतिं मित्रस्य यायां पथा।
अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे॥

(ऋ० ५ । ६४ । ३)

अर्थ—(अस्य प्रियस्य अहिंसानस्य मित्रस्य) इस प्रिय अहिंसक मित्र के (शर्मणि) शरण में (यत् गतिम्) जिस गति का (सश्चिरे) लाभ करते हैं (नूनम्) निश्चय से उस (गतिम्) सद्गति को (अश्याम्) प्राप्त करूँ मैं भी (मित्रस्य पथा) स्नेही के सन्मार्ग से (यायाम्) गमन करूं।

कदा ते मर्ता अमृतस्य धामेयक्षन्तो न मिनन्ति स्वधावः (ऋ० ६ । २१ । ३) अर्थात् (स्वधावः) स्वयं धारण शक्ति के स्वामिन् (मर्त्ताः) मनुष्य (अमृतस्य ते धाम) तेरे अमृत धाम = मोक्ष पद के लिए (इयक्षन्तः) प्राप्त होना चाहते हुए (कदा) कभी भी (न मिनन्ति) हिंसा नहीं करते।

अद्रुहः प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् वत्सं न पूर्वे आयुनि जातं रिहन्ति मातरः (ऋ० ९।१०४।१) अर्थ-(अद्रुहः) द्रोह न करने वाले = प्रेमीजन (मातरः) ज्ञानी लोग (जातम् वत्सं न) नवजात बछड़े के (न) समान (इन्द्रस्य) भगवान् के (प्रियम् काम्यम्) प्यारे कामना करने योग्य स्वरूप को (रिहन्ति) आस्वादन करते हैं। आनन्द लेते हैं। ईश्वर ने जीवों को कल्याणकारी संकल्पों को करने की प्रेरणा तथा शिक्षा दी कि—**युयोता शरुमस्मदां आदित्यास उतामतिम्। ऋधग्द्वेषः कृणुत विश्ववेदसः** (ऋ० ८।१८।११) अर्थ-हे (विश्ववेदसः) सब ज्ञानों के दाता (आदित्यासः) आदित्यवत् ज्ञान तथा उपयोगी पदार्थों के लेने वाले पुरुषो (अस्मत् शरुम्) हम से पीडादायक भाव (उत) और (अमतिम्) अज्ञानता को (युयोत) अलग करो (द्वेषः) वैर भाव को (ऋधक् कृणुत) अलग करो। इनसे विश्वप्रेम की डोरी लम्बी होती जाती तथा आत्मा का दूसरी आत्मा के साथ प्रेम सम्बंध होता जाता है। मूर्खता (अज्ञानता) का नाश ज्ञान द्वारा संभव है यथा प्रकाश से अन्धकार नष्ट होता है। इसी कारण वेद में कहा है कि:—

विद्वांसः पदा गुह्यानि कर्तन येन देवासो अमृतत्वमानशुः (ऋ० १०।५३।१०) हे विद्वानो (गुह्यानि पदानि) बुद्धिगम्य ज्ञानों का (कर्त्तन) सम्पादन करो (येन) जिससे (देवासः) ज्ञानी लोग (अमृतत्वम्) अमृत = मोक्ष पद को (आनशुः) प्राप्त करते हैं।

प्रश्न—वह कौन से बुद्धिगम्य ज्ञान हैं जिनसे अज्ञानता दूर हो जाती है ?

उत्तर—(१) सत्यज्ञान (वेद):—

ऋतेन देवः सविता शमायत ऋतस्य शृङ्गमुर्विया वि पप्रथे। ऋतं सासाह महि चित्पृतन्यतो मा नो वि

यौष्टं सख्या मुमोचतम् (ऋ० ८।८६।५) अर्थ-(देवः सविता) तेजस्वी परमात्मा (ऋतेन) सत्य = तत्त्वज्ञान द्वारा (शमायते) शान्ति प्रदान करता है (ऋतस्य शृङ्गम्) सत्य का अन्धकार नाशक प्रकाश रूपी शस्त्र (उर्विया पप्रथे) खूब फैलता है (ऋतम्) सत्य (महिचित् पृतन्यतः) महान् विरोधियों को भी (सासाह) हराता है। (नः) हमें (मा सख्या वियौष्टम्) मित्रता से अलग मत करो (मा वि मुमोचतम्) अपने से अलग मत करो।

(२) सत्कर्म—तव क्रतुभिरमृतत्वमायन् (ऋ० ६।७।४) अर्थात् (तव) तेरी आत्मा तेरे (क्रतुभिः) यज्ञ, दान, सत्संग, जितेन्द्रियता, ब्रह्मचर्य वेदाध्ययन आदि शुभ कर्मों द्वारा ही (अमृतत्वम् आयन्) अमरता को प्राप्त होती है।

कौन प्राप्त होते हैं ? देवाः = दानी पुरुष।

(३) तपः—मित्रमहो··स्वैस्तपा तपिष्ठ तपसा तप स्वान् (ऋ० ६।५।४) हे (मित्रमहः) मित्रों वाले तू (तपसा) तप = धर्मानुष्ठान से (स्वयं) (तपस्वान्) तपस्याचरणवान् (तप) तपस्या कर।

प्रश्न—तप क्या है ?

उत्तर—ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपः (तैतिरीयापनिषत् प्र० १० । अध्याय ८) सत्य ज्ञान वेदाभ्यास, सत्याचार, सत्संग, शान्तता, दमनता (इन्द्रियों का) ये सब तप बताये गये हैं। मनु० अ० ११ श्लोक २३५ की दृष्टि से ब्राह्मण का तप वेदाभ्यास, क्षत्रियों का तप प्रजा की रक्षा, वैश्य का तप व्यापार और शूद्र का तप द्विज मात्र की सेवा करना है। वर्णाश्रम के अनुसार स्व स्व धर्म का अनुष्ठान तप है। कर्त्तव्य धर्म पालन ही सुख तथा मोक्षप्रद है। वेद ने बताया है कि बिना तपस्या के परमात्मा नहीं मिलता। देखियेः—

अतप्ततनूः न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत (ऋ० ९।८३।१) अर्थ-जिसने (अतप्ततनूः) अपने को ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण, शम, दम, योगाभ्यास, जितेन्द्रिय, सत्संगादि तपश्चर्या से तप्त नहीं किया, वह (आमः) कच्चा, अपरिपक्ववीर्य और मतिवाला (तत्) उस ब्रह्म को (न अश्नुते) नहीं प्राप्त होता (शृतासः) तपस्या द्वारा पका हुआ है वह (इत् वहन्तः) तपोधन (तत् सम् आसत) उस ब्रह्म को प्राप्त करते हैं।

यही भाव अन्यत्र मिलता हैः—त्वं तपः परितप्याजयः स्वः (ऋ० १०।१६७।१) अर्थ-(त्वम्) तू (तपः परितप्य) खूब तप करके (स्वः) आनन्द (जयसि) प्राप्त करता है। तप-(मानसिक, वाचिक तथा शारीरिक) भली प्रकार विस्तारपूर्वक जानकारी के लिये श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १७ श्लोक १३ से १५ तक द्रष्टव्य है। तप कितना आनन्ददायक है !

यदा घोरासो अमृतत्वमाशतादिज्जनस्य दैव्यस्य चर्किरन् (ऋ० १०।९२।३) जिस समय घोर तपस्या कर्त्ता पुरुष अमृत तत्त्व को प्राप्त करते हैं, उसके अनन्तर ही दिव्य गुण युक्तों में व्यापक परमात्मा की वे गुण स्तुति करते हैं।

प्रश्न—तप कैसे होता है ?

उत्तर—तपो ह जज्ञे कर्मणः (अथर्व० ११।८।६) तप कर्म से उत्पन्न होता है।

(४) ब्रह्मचर्य—वि मुचध्वमश्वान् (ऋ०१।१७१।१) अर्थ-(अश्वान्) इन्द्रियों को (विमुचध्वम्) भली प्रकार वश में करो।

स वाजं यातापदुष्पदा यन्त्स्वर्षाता परिषदत्सनिष्यन्। अनर्वा यच्छतदुरस्य वेदो घ्नञ्छिश्नदेवां अभि वर्पसा भूत् (ऋ० १०।९९।३) अर्थ-(स वाजं याता) वह मनुष्य ऐश्वर्य प्राप्त करने वाला है (अप-दुःपदा) दुःख रहित (यन्) जाता हुआ (स्वः साता) सुख लाभार्थ (परि सदत्) सर्वत्र होता है (यत्) जो (अनर्वा) अहिंसक = मित्र (शत दुरस्य वेदः) सैकड़ों द्वारों वाले प्रभु के ज्ञान को (सनिष्यन्) सेवन करना चाहते हुए (वर्चसा) विद्याबल से (शिश्नदेवान्) मूलेन्द्रिय सम्बंधी कामना युक्त भावों को (घ्नन्) विनष्ट करता हुआ (अभिभूत) सामर्थ्य वाला हो।

प्रश्न—ब्रह्मचर्य का क्या लाभ है ?

उत्तर—ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः (योग साधन पाद ३८ सूत्र) ब्रह्मचर्य व्रत धारण से वीर्य = बल प्राप्त होता है। यदि जितेन्द्रिय होवे तो शारीरिक बल और यदि वेद ज्ञान प्राप्ति का व्रती हो तो ब्रह्म = वेद बल प्राप्त हो जाता है। ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति (अथर्व ११।५।१७) ब्रह्मचर्य रूपी तप से राजा अपने देश की रक्षा करता है। इसी प्रकार से—ब्रह्मचर्येण

तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत। इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् (अथर्व० ११।५।१९) अर्थ–ब्रह्मचर्य व्रत के प्रभाव से विद्वान् ज्ञानी मृत्यु को पार कर जाते हैं और ब्रह्मचर्य द्वारा ही परमात्मा ब्रह्मचारी विद्वानों को सम्पूर्ण सुखी करता है।

(५) ईश्वर-भजन—यह किस साधन से सिद्ध होता है ?

उत्तर—तव क्रत्वा सनेयं तव रातिभिरग्ने तव प्रशस्तिभिः। त्वामिदाहुः प्रमतिं वसो ममाग्ने हर्षस्व दातवे (ऋ० ८।१९।२९) अर्थ–(अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप प्रभो! (क्रत्वा) उत्तम कर्म = यज्ञ, सत्संग, तप, वेदाध्ययन आदि से (तव सनेयम्) मैं तेरा भजन = सेवा करूँ (रातिभिः) निर्बलों दुःखियों और अधिकारियों को सहायता = दोनों द्वारा (तव सनेयम्) तेरा भजन करूँ और (प्रशस्तिभिः) गुण, यशोगान, स्तुतियों द्वारा (तव सनेयम्) तेरा भजन करूँ (वसो) हे सबको बसाने वा सब में वास करने वाले प्रभो! (त्वाम् इत् प्रमतिम्) तुझे सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी (आहुः) पुकारते हैं (अग्ने) हे ज्योतिः स्वरूप! (मम दातवे) मुझे देने के लिये (हर्षस्व) प्रसन्न, उत्साहित कर। इससे लाभ क्या ? ईश्वरीय भाव आत्मा में परोपकार, दान, गुण प्रशंसा से आते जाते हैं और ईश्वर से वास्तविक मित्रता बढ़ती जाता है। ईश्वर सबकी रक्षा करता है। यह कैसे ?

उत्तर—प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभिस्तिरते वाजभर्मभिः। यस्य त्वं सख्यमावरः (ऋ० ८।१९।३०) अर्थ–(अग्ने) हे प्रकाशक! (वाजभर्मभिः) ज्ञान, अन्न आदि भरण पोषणकारी (सुवीराभिः) उत्तम शूरवीरों से (तव ऊतिभिः) तेरी रक्षाओं से (सः प्रतिरते) वह बढ़ता जाता है (यस्य सख्यं) जिसकी मित्रता को (आवरः) तू स्वीकार करता है। निर्भीकता, हर्ष और प्रेम प्राणियों के दुःखों को दूर कर सेवा करने से आत्मा बलवान् बनता है।

(६) दान—जो पदार्थ अपने से अलग किया जा सकता है, वह आत्मा (self) का खण्ड नहीं। जो "मैं" है वह "मेरा" से जुदा है। परन्तु "मैं" निरवयव अखण्ड और एक रस आत्मा है। दान में यही शिक्षा भरी पड़ी है। अर्थात् "मेरा" जब "मैं" से अलग हो जाता है तो जो कुछ अलग होता जाता है वह अनात्मा = जड़, अविद्या ममतोत्पादक प्रकृतिरूपी आवरण है। जब आवरण हटता है तो आत्मा निर्मल स्वच्छ तथा प्रकाशयुक्त होता जाता है। सब प्रकार की अशुद्धियां दूर होती जाती हैं। अतएव वेद बताता है कि—हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते (ऋ० १०। १०७। २) सुवर्ण आदि रमण योग्य पदार्थों को अपने से अलग कर डालने वाले = दानी लोग अमृत = आनन्द प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार से—दक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन् (ऋ० १०। १०७। ७) अर्थ–(यः) जो (दक्षिणा अन्नं ददाति) अन्न उत्पादक अन्न दान करता है वह (नः आत्मा) हमारा आत्मा "स्व" बन कर (वि जानन्) विशेष ज्ञानी होकर (दक्षिणां वर्म कृणुते) दान को कवच (Armour) रक्षक–कष्टों का निवारक बनाता है। दानी न मरता है, न नीच गति को प्राप्त होता है। न कभी क्लेश में पड़ता है। "एतत्सर्वं दक्षिणेभ्यो ददाति"—दानी लोगों को सारी उत्साह शक्ति ही देता है। दान से आत्मिक शक्तियां जागरित तथा विकसित होकर सुखदायी होती हैं। वेद विद्या आत्मदान श्रेयस्कर तथा अविद्या रूपी तम की नाशक है।

(७) ईश्वर-स्तुति, प्रार्थना व उपासना—ईश्वर के गुणों का कीर्तन, उन गुणों को अपनी आत्मा में धारण करने के लिए भगवान् से सद्बुद्धि, धारण शक्ति तथा श्रद्धा का दान मांगना उचित है। ऐसा करने से परमात्मा में प्रीति, बढ़ना, निरभिमानता का होना तथा उपासना द्वारा दोनों की गुणों के आधार पर समानता होने से सख्य = मित्र भाव होना आदि लाभ होते हैं आत्मिक उन्नति साहस तथा योग द्वारा उपासना से आनन्द वर्षा आदि होते हैं। भक्ति का रंग चढ़कर आत्मा मस्त और मोक्ष पद का अधिकारी हो जाता है।

(८) वेदाध्ययन (ज्ञान-सम्पादन)

पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः सम्भृतं रसम्। तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम् (ऋ० ९। ६७। ३२) अर्थ–जो ऋषियों द्वारा ज्ञानमय = पावमान = पवित्र कर्त्री ऋचाओं का अध्ययन करता है (सरस्वती) वेदवाणी ज्ञानमय प्रभु (तस्मै) उसे दूध, घी, मधु, जल के तुल्य ऐश्वर्य बल, आनन्द और अभ्युदय प्रदान करता है।

प्रश्न—क्या ईश्वर तथा जीव मिल जाते हैं ? हां वेद बताते हैं कि:—

विद्या का आदर्श (Ideal of Knowledge)

[लेखक—श्री डा० विश्वनाथ प्रसाद जी वर्मा एम० ए० (पटना) एम० ए० (कोलम्बिया-न्यूयार्क), पी० एच० डी० (शिकागो), प्रोफेसर राजनीति पटना विश्वविद्यालय]

विद्यातत्त्व का तात्पर्य संसार की विविधता के बीच एकत्व का दर्शन करना है। संसार के स्वरूप का ज्ञान करने के लिये दो बातों की आवश्यकता है।

१. बाह्यरूप से इसके नानात्व का ज्ञान (Concept of Multiplicity)—यह बात समस्त इतिहास, भूगोल, विज्ञान के ज्ञान द्वारा प्राप्त होगी। प्राकृतिक वस्तुओं का ज्ञान इन सब शास्त्रों द्वारा होगा। (अपरा विद्या)।

२. किन्तु इस नानात्व में व्यापक चिरंतन अद्वैत सत्य—एक सत्—का दर्शन करना मानव जीवन की उच्चतम अभिलाषा है। यह बात धार्मिक तत्त्वों के साक्षात्कार से प्राप्त हो सकती है। (परा विद्या)।

धर्म की उत्पत्ति मनुष्य के हृदय में व्याप्त समस्त सत्य को प्राप्त करने की दृढ़ जिज्ञासावृत्ति में होती है। यूरोपीय आदर्श मानव जीवन की बाह्य आवश्यकताओं को बढ़ाकर इस पवित्र संकल्प का दमन करता है। भारतीय आदर्श समस्त वस्तुओं को अनासक्ति की दृष्टि से देखना बताता है। आज यूरोपीय सभ्यता का दीवाला हो गया है। पश्चिम के दार्शनिक—उदाहरणार्थ शापनहावर, एमर्सन, आल्डुअस हक्सले (Aldous Huxley) गीता, उपनिषद् की शिक्षा को मानने लगे हैं। भारतवर्ष के ऋषियों का कथन है कि समस्त सांसारिक विद्याओं की उन्नति हो, किन्तु आत्मा का दर्शन ही अंतिम लक्ष्य हो। इतिहास का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं, वह तो राष्ट्र के आत्मा का दर्शन कराने के लिये ही हो। भूगोल के नामों को रटने से तात्पर्य नहीं—प्रकृति की वस्तुएँ मनुष्य की यथोचित आवश्यकताओं को पूर्ण कैसे करेंगी, इसका ज्ञान करने के बाद मनुष्य समस्त संसार घूमकर विधाता की रचना-शैली को देखे। गणित के साध्यों (Formulas) का असली रहस्य है भौतिक (Concrete and Physical) से अभौतिक (Abstract and Conceptual) की ओर जाने में मनुष्य की बुद्धि का प्रशिक्षण करना।

इस उच्च आशय को रखकर शिक्षा-प्रणाली का विकास करना चाहिये। आत्मा समस्त ज्ञान का स्रोत है। बाह्य साधनों से आत्मा के आवरण को हटाना है। अतएव शिक्षण कला गम्भीर तथा उत्तरदायित्वपूर्ण शास्त्र है। मनुष्य को समझना है कि परमात्मा की सर्वश्रेष्ठ रचना—एक जीवित आत्मा को सत्य मार्ग पर चढ़ाना अत्यन्त कठिन कार्य है। प्राचीन काल में विद्या एक तप का विषय था। आज रुपये ने हमारे आत्मा को चूस लिया है।

महात्मा योगिराज कृष्ण ने गीता के त्रयोदश अध्याय में ज्ञान की परिभाषा दी है। उसपर मनन तथा परिशीलन करने से प्राचीन आदर्श को हम पा सकेंगे। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र, द्रोणाचार्य तथा हनुमान, लक्ष्मण आदि ने जिस आदर्श से अनुप्राणित होकर समस्त शारीरिक, बौद्धिक, आत्मिक शक्ति की पूर्णता प्राप्त की थी, वही हम लोगों का आदर्श होना चाहिए।[1] केवल पोथी रटने से कुछ प्रयोजन नहीं। "विद्या हि का ब्रह्मगतिप्रदा या" ऐसा शङ्कर आचार्य का वचन है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ऋषि दयानन्द ने विद्या के व्यापक, समन्वयात्मक तात्पर्य का ग्रहण किया[2] है। इस भारतीय आदर्श को अवश्य अपनाना चाहिएं।

---

१ नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥ (मुण्डकोपनिषत् ३।२।४) उत्तिष्ठित जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवायो वदन्ति ॥ (कठोपनिषत् १ । ३ । १४)

२—वीर्यादिरक्षणेन भोजनाच्छादनादिसुनियमेन ब्रह्मचर्यसुसेवनेनायुर्बलं कार्यम्। निरन्तरविषयासेवनेन सदैव सौन्दर्यादिगुणयुक्तं स्वरूपं रक्षणीयम्, सत्कर्मानुष्ठानेन नामप्रसिद्धिः कार्या। सद्गुणग्रहणार्थमीश्वरगुणानामुपदेशार्थं कीर्त्तनं, स्वसत्कीर्तिमत्त्वं च सदैव कार्यम्। प्राणायामरीत्या प्राणापानयोः शुद्धिबले कार्ये। चाक्षुषं प्रत्यक्षं, श्रोत्रं शब्दजन्यं अनुमानादीन्यपि प्रमाणानि यथावद्वेदितव्यानि, तैः सत्यं विज्ञानं च सर्वथा कार्यम्।..ऋतं ब्रह्म सर्वदैवोपास्सनीयम्। सत्यं प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः परीक्षितं यादृशं स्वात्मन्यस्ति तादृशं सदा सत्यमेव वक्तव्यं मन्तव्यं च। इष्टं ब्रह्मोपासनं सर्वोपकारकं यज्ञानुष्ठानं च, पूर्तं तु यत्पूर्त्यर्थं मनसा वाचा कर्मणा सम्यक् पुरुषार्थेनैव सर्वैस्तु संसारैश्रोभयानुष्ठानपूर्विः कार्येति। (महर्षि दयानन्द—ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका)

ज्ञानातिरिक्तवस्तुसदसद्विवेचनम्

[श्री पं० शंकरदेव जी आचार्य गुरुकुल चित्तौड़]

(२)

(गताङ्क से आगे)

और जिन पदार्थों में आश्रय और आश्रित भाव नहीं होता उनका पृथक् ग्रहण होता है, जैसे घट और पट में आश्रय और आश्रित भाव नहीं है। इनका पृथक् पृथक् ग्रहण होता है। अतीन्द्रिय परमाणुओं के अतीन्द्रिय होने से उनका तो प्रत्यक्ष होना सम्भव नहीं। उनसे उत्पन्न जो यह जगत्, इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किया जाता है वही तो इस बुद्धि के द्वारा जाना जाता है, जो परमाणुओं से भिन्न पदार्थ है। और भी—

'प्रमाणतश्चार्थप्रतिपत्तेः'। न्या० द० ४। २। २९॥ अर्थ का यथार्थज्ञान प्रमाणों से होता है। बुद्धि से पदार्थों का ज्ञान होने से पदार्थों की सत्ता सिद्ध है। जो पदार्थ है और जैसा है, और जो नहीं है और जिस प्रकार से नहीं है, यह सब प्रमाणों से ही जाना जाता है। जैसे वस्त्र है, पहनते हैं, उसके द्वारा शरीर की शीतातप से रक्षा होती है—यह सब प्रत्यक्ष प्रमाण से जाना जाता है। जैसे वन्ध्या के पुत्र नहीं, खरगोश के सींग नहीं, इन सबका न होना भी प्रमाणों से ही जाना जाता है। और जो प्रमाणों से ज्ञान प्राप्त किया जाता, है इसी को पदार्थों का विवेचन कहते हैं। इस विवेचन से सर्व शास्त्र, सर्वकार्य और देहधारियों के सभी व्यवहार सम्बन्धित हैं। परीक्षा करने पर ही बुद्धि से निश्चय होता है—अमुक वस्तु है, अमुक नहीं है। इस प्रकार सर्व जगत् और जगत् के पदार्थ नहीं हैं, यह सिद्ध नहीं होता। यदि सर्वं नास्ति इसमें प्रमाण है तो आपने प्रमाण की सत्ता स्वीकार करली और इस प्रकार आपकी 'सर्वं नास्ति' यह बात कट गई और यदि प्रमाण नहीं है तो 'सर्वं नास्ति' इसकी सिद्धि कैसे हुई। यदि कहो कि बिना प्रमाण के ही 'सर्वं नास्ति' की सिद्धि है, तो 'सर्वमस्ति' की सिद्धि भी क्यों नहीं हो सकती ?

प्रश्न—यदि कहो कि जैसे स्वप्न में पदार्थ नहीं होते और पदार्थों के होने का अभिमान होता है, वैसे ही न प्रमाण हैं और न प्रमाणों से जानने योग्य कुछ है; किन्तु प्रमाणों और प्रमेयों का मिथ्याज्ञान होता है, जैसे मृगतृष्णा में जल प्रतीत होता है किन्तु जल नहीं होता। ऐसे यह सब संसार भ्रममात्र है।

उत्तर—'हेत्वभावादसिद्धिः' न्या० द० ४। २। ३३॥ स्वप्नावस्था में जैसे वस्तु के न होने पर भी वस्तु की प्रतीति होती है, वैसे ही यह प्रमाण और प्रमेय भी मिथ्या हैं अर्थात् नहीं हैं। यह तो स्वप्न का आपने दृष्टान्त मात्र दिया है हेतु कोई नहीं दिया। बिना हेतु के दृष्टान्त मात्र साधक नहीं होता। यदि दृष्टान्त मात्र से सिद्धि होती है तो यह भी दृष्टान्त दिया जा सकता है कि जैसे जाग्रदवस्था में पदार्थों की प्रतीति होती है और वे पदार्थ भी होते हैं ऐसे ही प्रमाण और प्रमेय भी सत्य हैं। और जो यह कहा कि स्वप्नावस्था में पदार्थ न होने पर प्रतीत होते हैं इसमें भी कोई हेतु नहीं दिया। यदि यह कहो कि जागने पर स्वप्न के पदार्थ उपलब्ध नहीं होते, तो जो पदार्थ जागने पर उपलब्ध न होने से नहीं होते—अर्थात् जो पदार्थ उपलब्ध होते हे उनकी सत्ता सिद्ध होती है। तभी तुम उपलब्ध न होने से स्वप्न के पदार्थों का निषेध कर सकते हो। अन्यथा उपलब्ध होने और अनुपलब्ध होने पर अर्थात् दोनों अवस्थाओं में पदार्थों का अभाव मानेंगे तो जागने पर स्वप्न के पदार्थ उपलब्ध न होने से नहीं यह व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि उपलब्धि और अनुपलब्धि तुम्हारे पक्ष में दोनों समान हैं, अतः अनुपलब्धि में पदार्थ की अभावसाधकता न बनेगी।

स्मृतिसंकल्पवच्च स्वप्नविषयाभिमानः—जैसे मनुष्य पूर्वानूभूत वस्तु का स्मरण और संकल्प करता है तो जैसे स्मरण होने से या संकल्प से पूर्वानुभूत पदार्थों का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार स्वप्न भी जाग्रदवस्था में अनुभूत पदार्थों का ही होता है। कभी जन्मान्ध को रूपस्मरण या रूप का स्वप्न नहीं होता। इसलिए स्वप्न के दृष्टान्त से भी सर्वपदार्थों का अभाव सिद्ध नहीं होता। और जो स्वप्नावस्था और जाग्रदवस्था दोनों में ही प्रतीत पदार्थों का अभाव मानता है तो उसका यह कहना कि **'स्वप्नविषयाभिमानवत्-अयं प्रमाणप्रमेयाभिमानः'** स्वप्न की तरह यह प्रमाण और प्रमेय ज्ञान मिथ्या ज्ञान है—

यह अनर्थक है; क्योंकि वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य पदार्थ मानता ही नहीं है तो यह जाग्रदवस्था है, यह स्वप्नावस्था है, यह भेद ही नहीं बनता; क्योंकि जिस अवस्था में अर्थ है वह जाग्रत अवस्था और जिसमें ज्ञानमात्र के अर्थ नहीं, वह स्वप्नावस्था। जब भेद ही सिद्ध नहीं कर सकता तो स्वप्नावस्था के दृष्टान्त से जाग्रदवस्था के पदार्थों का भी अभाव कैसे सिद्ध कर सकता है ? स्वप्नज्ञान मिथ्या क्यों कहा जाता है ? जैसे एक मजदूर जब सो गया और वह स्वप्न देखता है कि मैं भारत का राष्ट्रपति बन गया। किन्तु जागने पर अपने को सेठ जी की भैंसों के लिये घास खोदने के स्थान पर उद्यत पाता है—तब कहता है स्वप्नविषयाभिमान झूठा था। अन्यार्थ में अन्यार्थ का ज्ञान ही तो मिथ्याज्ञान है। जैसे रात्रि के समय में लकड़ी में पुरुष का ज्ञान होता है। यदि पुरुष की सत्ता कहीं भी न हो तो लकड़ी में पुरुषज्ञान किसी प्रकार संभव नहीं हो सकता, इसी प्रकार जाग्रदवस्था में पदार्थों का ज्ञान होने से ही वहाँ रात्रि के कारण अन्य में अन्य का मिथ्या ज्ञान हुआ। यहाँ स्वप्नावस्था के कारण अन्य में अन्य का मिथ्या ज्ञान हुआ। सो यह मिथ्या ज्ञान तत्त्व ज्ञान से नष्ट हो जाता है। जैसे दिन में लकड़ी में जो पुरुषज्ञान था, वह नष्ट हो जाता है; किन्तु लकड़ी और पुरुष रूप पदार्थों का अभाव नहीं होता। इसी प्रकार दूर से सूर्य की किरणों के जब भौम ऊष्मा के साथ मिलने पर हिलती हुई किरणों में जल ज्ञान जो मिथ्या ज्ञान सामान्य के ग्रहण से उत्पन्न होता है। सूर्य की किरणों और जल का सामान्य धर्म जो शुक्ल रूप है उसी से किरण में दूर से भ्रम उत्पन्न होता है और समीप में जाने से वह मिथ्या ज्ञान नष्ट हो जाता है। भूमि की ऊष्मा के साथ मिली हुई किरणें नष्ट नहीं होतीं। इसी प्रकार सोकर उठने वाले का भी मिथ्या ज्ञान जागने पर तत्त्वज्ञान से नष्ट हो जाता है। यदि सब पदार्थों का अभाव ही हो तो न मिथ्या ज्ञान ही हो सकता है और जब कोई तत्त्वपदार्थ भी न हो तो तत्त्वज्ञान कैसा। और कहीं पर किसी समय किसी को (अर्थात् सर्वत्र, सर्वदा, सर्वेषाम् न भवति) होने से मिथ्याज्ञान भी जहाँ पर जिस समय जिसको निमित्त प्राप्त होने पर ही होता है। जैसे बाह्य पदार्थों का अभाव सिद्ध नहीं होता, इसी प्रकार मिथ्या बुद्धि का भी अभाव नहीं, क्योंकि मिथ्याबुद्धि का निमित्त उपलब्ध होता है और मिथ्याबुद्धि की सत्ता भी उपलब्ध होती है। **'तत्त्वप्रधानभेदाच्च मिथ्याबुद्धेर्द्वैविध्योपपत्तिः।** न्या० द० ४।२।३७॥ जिस पदार्थ में मिथ्या ज्ञान होता है, वह तत्त्व और जिस विषय का ज्ञान होता है वह प्रधान, तत्त्व और प्रधान के भिन्न २ होने से दोनों का जो समान धर्म उसके ग्रहण होने से उनका जो वैधर्म्य उसके ग्रहण न होने से मिथ्याबुद्धि उत्पन्न होती है। जिन पदार्थों में सादृश्य नहीं होता, उनमें अन्य का अन्य में मिथ्याज्ञान भी नहीं होता है। जैसे काक में बैलविषयक मिथ्याज्ञान किसी को भी नहीं होता सादृश्य के ग्रहण न होने से। इसलिये सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, जल, तेज आदि में सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, जल तेज आदि बुद्धि मिथ्याज्ञान नहीं; किन्तु तत्त्वज्ञान है; क्योंकि तत्त्व और प्रधान के सामान्य ग्रहण के अभाव से यह तत्त्वबुद्धि ही है, इसलिये प्रमाण प्रमेयादि मिथ्याबुद्धि हैं, ऐसा मानना सर्वथा अयुक्त है।

उपर्युक्त प्रमाणों से जब विज्ञान के अतिरिक्त अन्य पदार्थों की सत्ता सिद्ध है, इसलिये जिस पदार्थ के साथ चित्त का सम्बन्ध होता है, वह पदार्थ ज्ञात होता है और जिस पदार्थ के साथ चित्त का सम्बन्ध नहीं होता वह अज्ञात होता है। इसी को व्यास जी लिखते हैं—**'वस्तुनो ज्ञाताज्ञातस्वरूपत्वात् परिणामि चित्तम्'** अर्थात् जिस वस्तु के आकार का चित्तवृत्तिरूप परिणाम हो गया, वह ज्ञात और शेष अज्ञात। किन्तु आत्मा इससे विपरीत है। जैसा कि पतञ्जलि मुनि लिखते हैं—**'सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्'** क्योंकि आत्मा अपरिणामी होने से सदा चित्त की वृत्तियों का साक्षी है, कभी ऐसा नहीं होता कि चित्त का परिणाम (चित्त की वृत्ति) किसी विषय का हो और आत्मा न जाने। इसी से आत्मा अपरिणामी सिद्ध होता है। यहाँ कोई ऐसी शङ्का कर सकता है कि—

प्रश्न—आत्मा के मानने की क्या आवश्यकता है, चित्त ही को सर्व विषय ज्ञाता माना जावे और अपने आपका भी ज्ञाता हो, जैसे अग्नि अन्य पदार्थों का भी प्रकाशक है और अपने आपका का भी प्रकाशक है, इसी प्रकार चित्तमात्र से कार्य चल सकता है, आत्मा को पृथक क्यों माना जावे ?

उत्तर—इस पर पतञ्जलि मुनि कहते हैं—**'न तत् स्वाभासं दृश्यत्वात्'** जैसे इन्द्रियों का ज्ञान इन्द्रियों को नहीं होता, ऐसे ही रूपादि विषयों का ज्ञान रूपादियों को नहीं होता, पृथिवी पर्वतादि का ज्ञाता इनसे पृथक् होता है। तब चित्त या ज्ञान स्वयं ज्ञाता नहीं हो सकते और अग्नि

का जो दृष्टान्त दिया, वह भी ठीक नहीं; क्योंकि अग्नि अपने अप्रकाशित स्वरूप को प्रकाशित नहीं करती। क्योंकि प्रकाश वहीं पर होता है जहाँ पर प्रकाशक और प्रकाश्य दोनों का संयोग हो। संयोग दो या दो से अधिक होने पर होता है। अपने आप में संयोग नहीं होता। यदि कहो कि स्वाभास का यह अर्थ है कि चित्त या वृत्ति किसी दूसरे से ग्रहण नहीं की जाती–जैसे आकाश अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है, दूसरे में स्थित नहीं–इसी तरह चित्त भी स्वप्रकाशस्वरूप है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि जब कोई प्राणी यह अनुभव करता है कि—मैं डर गया—मैं क्रोध में आगया—मैं किसी राग में फंस गया और फिर डर को, क्रोध को और राग को दूर करना चाहता है तो इसका यह अर्थ हुआ कि अपने आपको ही नष्ट करना चाहता है; क्योंकि उनके यहाँ चित्त से अतिरिक्त दूसरा है ही नहीं और जो स्थिर आत्मा मानता है वह अपने चित्त में जो क्रोधादि का ज्ञाता है, उसको दूर करना चाहता है। यह बात संगत हो जाती है। विज्ञानवादी को अन्य भी दूषण है। वह यह कि विद्यमान वस्तु का प्रत्यक्ष होता है, जो उत्पद्यमान और विनश्यदवस्थ विज्ञान उत्पन्न हो रहा है वह अपने को ग्रहण नहीं कर सकता; क्योंकि क्षण मात्र में वह नष्ट हो जाता है। हाँ यदि यह कहो कि पूर्वचित्त को उत्पन्न हुए बाद के चित्त ने ग्रहण किया तो भी ठीक नहीं इसमें दो दोष आते हैं. एक अनवस्था दूसरा स्मृतिसंकर। स्थिर आत्मा के होने से तो इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से ज्ञान हो जाता है। क्षणिक विज्ञानवादी के मत में पूर्व विज्ञान को उत्तर विज्ञान ने जाना, उसको भी फिर उत्तर विज्ञान ने। इसी प्रकार की परम्परा प्राप्त होती है। ज्ञान परिनिष्ठित ज्ञान नहीं होता। आत्मस्थिरता-पक्ष में अर्थज्ञान से संस्कार और संस्कार से अर्थ स्मरण होता है किन्तु क्षणिकवादी के मत में परिनिष्ठित ज्ञान नहीं होने से ज्ञानधारा के होने से न संस्कार न स्मृति सम्भव है। और अभ्युपगम से स्मृति मानें तो भी अनेक ज्ञान होने से अनेक स्मृति प्राप्त होंगी। निश्चय रूप से एक स्मृति का होना भी असम्भव होगा। आत्मपक्ष में यह शङ्का हो सकती है कि चित्त का जो अर्थाकार में परिणाम होता है, वही ज्ञान कहलाता है; किन्तु आत्मा तो अपरिणामी है, उसको अर्थज्ञान कैसे होगा? यद्यपि आत्मा अपरिणामी है, अपने रूप से चलायमान भी नहीं है, फिर भी विविध प्रकार के जो बाह्य पदार्थ-उनके रूप में परिणत होने वाला जो चित्त उसका सदा ज्ञाता, द्रष्टा है। इस बात को योगसूत्र और भाष्यकर्ता व्यास जी बड़े अच्छे प्रकार से कहते हैं, जैसा कि 'द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्' जैसे चित्त का अर्थाकार परिणाम होता है ऐसे ही द्रष्टा जो चेतन''तदाकार भी चित्त का परिणाम होता है, इसी को चित्त का उपराग कहते हैं। इसलिये चित्त सर्वार्थ है। व्यास जी इस प्रकार व्याख्या करते हैं।

'मनो हि मन्तव्येनार्थेनोपरक्तं ततः स्वं च विषयत्वात् विषयिणा पुरुषेण आत्मीयया वृत्त्याभिसम्बद्धं तदेतच्चित्तमेव द्रष्टृदृश्योपरक्तं विषयविषयिनिर्भासं चेतनाचेतनस्वरूपापन्नं विषयात्मकमप्यविषयात्मकमिवाचेतनं चेतनमिव स्फटिकमणिकल्पं सर्वार्थमिति उच्यते'।

अर्थात् यहाँ चित्त को ही मन कहा है, मन ही जानने योग्य वस्तु के आकार को ग्रहण कर स्वयं पुरुष के द्वारा (विषय) ज्ञात होने से जानने वाले पुरुष के साथ आत्मसम्बन्धी वृत्ति वाला होकर, सम्बन्धित होने पर यह जो मन ही पुरुष और बाह्यार्थ के स्वरूप को धारण कर''अर्थ और पुरुष के रूप की तरह प्रकाशित चेतन और अचेतन के स्वरूप को प्राप्त हुआ, ज्ञेय होने पर भी जानने वाले की तरह प्राप्त हुआ। स्फटिक मणि की तरह से—जैसे स्फटिक मणि के पास दो तीन प्रकार की वस्तुओं के रखने से वह मणि दो तीन प्रकार की प्रतीत होती है, ऐसे ही यह मन भी सर्व प्रकार के स्वरूप को धारण करता है। चित्त की इसी प्रकार की अवस्था को न समझने से कुछ लोग चित्त को ही चेतन मानने लगे, आत्मा की सत्ता को भूल गये। जैसे अग्नि के होने से लोहा गरम हो जाता है, किन्तु लोहा आग ही नहीं हो जाता। कुछ लोग मानने लगे कि बाह्य जगत् या जगत् के पदार्थ कुछ नहीं, चित्तमात्र ही हैं—क्षणिक विज्ञान ही है। इसी को व्यास जी इन शब्दों में लिखते हैं—

'तदनेन चित्तसारूप्येण भ्रान्ताः केचित्तदेव चेतनमित्याहुः, अपरे चित्तमात्रमेवेदं सर्वं नास्ति खल्वयं गवादिर्घटादिश्च सकारणो लोक इति–।' अनुकम्पनीयास्ते, कस्मात्? अस्ति हि तेषां भ्रान्तिबीजम्। सर्वरूपाकारनिर्भासं चित्तमिति'।

व्यास जी कहते हैं ये लोग दया करने योग्य हैं जो चित्त को ही चेतन मानते हैं, इससे अतिरिक्त आत्मा का

निषेध करते हैं, दूसरे वह लोग भी दया के पात्र हैं जो यह कहते हैं कि कारण से उत्पन्न होने वाले जगत् या जगत् में गौ अश्वादि या घट पटादि कुछ नहीं हैं। चित्तमात्र ही सब कुछ है। क्यों ये अनुकम्पा के पात्र हैं? इसको बताते हैं।—इनको भ्रान्ति में डालने वाला कारण है—कौन सा कारण है? 'सर्वरूपाकारनिर्भासं चित्तम्' जैसे अनेक वेष बदलने वाला मनुष्य दूसरों को अन्यथा निश्चय करा देता है। वैसे ही यह चित्त भी सर्व प्रकार के रूपों वाला होकर दीखता है। क्या कभी आप स्वप्न में हाथी को देख रहे होते हैं तो क्या हाथी उस समय होता है। नहीं केवल चित्तवृत्ति ही को हाथी के रूप में आत्मा साक्षात् करता है। ऐसे ही ध्यानावस्थ योगी जब बाह्यवृत्तियों का अवरोध करता है—चित्त स्थिर होता है—उस अवस्था में 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' उस समय यह चित्त द्रष्टा आत्मा या परमात्मा के स्वरूप का चेतन प्रतीत होता है जैसा कि कहा भी है 'न पातालं न च विवरं गिरीणां नैवान्धकारं कुक्षयो नोदधीनाम्। गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं बुद्धिवृत्तिमविशिष्टं कवयो वेदयन्ते'—जिस गुहा में ब्रह्म स्थित है वह गुहा कौनसी है—वह न पाताल है—न पर्वतों वाली गुहा है—न अन्धकारही गुहा है और न समुद्रों की तह ही गुहा है, फिर वह गुहा कौन है—बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां अर्थात् चित्त वृत्ति से भिन्न कोई गुहा नहीं है। इसको क्रान्तदर्शी विद्वान् जानते हैं। जो चेतन और बाह्य अर्थों को चित्त से अतिरिक्त न माननेवाले हैं, उनको भ्रम में क्यों माना जावे? यथार्थ ज्ञानी क्यों न माना जावे, इसको भी दिखाते हैं

'समाधिप्रज्ञायां प्रज्ञेयोऽर्थः प्रतिबिम्बीभूतस्तस्यालम्बनीभूतत्वादन्यः स चेदर्थश्चित्तमात्रं स्यात्, कथं प्रज्ञयैव प्रज्ञारूपमवधार्य्येत, तस्मात् प्रतिबिम्बीभूतोऽर्थः प्रज्ञायां येनावधार्य्यते स पुरुष इति'।

चित्त की समाधि अवस्था में प्रतिबिम्बित हुई जो वस्तु अनुभूत होती है। जानने योग्य अर्थ ही प्रतिबिम्बित हुई वृत्ति का आलम्बन है। जो कि अर्थ प्रतिबिम्ब से अन्य है। यदि वह अर्थ चित्तमात्र ही हो तो किस प्रकार अपने रूप को समझें। जैसे आँख अपने आपको नहीं देख सकती, किन्तु दर्पण की आवश्यकता होती है। इसलिये चित्त में प्रतिबिम्बित अर्थ जिसके द्वारा जाना जाता है, वह पुरुष है। उपर्युक्त कथन में चेतन से अतिरिक्त चित्त और बाह्य पदार्थ सिद्ध किये गये हैं। ऐसा ही स्वामी शङ्कराचार्य जी ने भी वेदान्त दर्शन २।२।२८ से २।२।३२ तक बाह्य अर्थों की सत्ता न मानने वालों का खण्डन किया है और यहाँ तक उनको कहा कि "पहिले पूर्वपक्ष किया—'ननु नाहमेवं ब्रवीमि न कञ्चिदर्थमुपलभे किन्तूपलब्धिव्यतिरिक्तं नोपलभ इति ब्रवीमि' मैं ऐसा नहीं कहता कि किसी पदार्थ को नहीं जानता, किन्तु ऐसा कहता हूँ कि ज्ञान से अतिरिक्त अर्थ को नहीं जानता। शङ्कराचार्य जी कहते हैं 'बाढमेवं ब्रवीषि निरङ्कुशत्वात्ते तुण्डस्य' हाँ तुम ऐसा कहते हो तुम्हारे मुख के बिना अङ्कुश के होने से। इतना होने पर भी अन्यत्र अनेक स्थलों पर ब्रह्मातिरिक्त सब का अभाव प्रतिपादन किया है, अविद्या कल्पित कहा है। यदि इनके अनुसार सब अभाव ही स्वीकार किया जाये तो वेदान्त दर्शन के इस प्रकरण का कोई प्रयोजन ही नहीं सिद्ध होता। इसलिये ये पक्ष वेदशास्त्र और युक्ति सभी से विरुद्ध होने से तत्त्वज्ञान न होकर मिथ्याज्ञान बढ़ाने वाले हैं। और मिथ्या ज्ञान ही सब दुखों का मूल है॥

कर्म का सिद्धान्त

[लेखक—श्री पं० गङ्गा प्रसाद जी उपाध्याय एम० ए०]

(गताङ्क से आगे)

IX

प्रश्न ९१—कुछ लोग आयु की इयत्ता वर्षों पर और कुछ श्वासों पर मानते हैं। इसका क्या अर्थ है?

उत्तर—यह दोनों बातें हमको काल्पनिक प्रतीत होती हैं। न तो योगदर्शन में ही सूत्रकार ने इसको स्पष्ट किया है। न अन्य शास्त्रों में इसका कोई उल्लेख है। यह प्रतिपत्ति कहाँ से प्रारम्भ हुई यह कहना कठिन है। संभव है अकाल मृत्यु और निश्चित काल मृत्यु का प्रश्न उठने पर भिन्न भिन्न मत वालों ने ऐसी कल्पना की हो। जिसको वर्षों की इयत्ता कहते हैं वह तो सर्वथा बाह्य वस्तु है। वर्षों की माप सूर्य, पृथिवी, चन्द्र आदि के भ्रमण पर आश्रित है। और जिस को वर्ष कहते हैं, वह किसी अर्थ में केवल एक दिन ही कहा जा सकता है। यदि अपने जीवन को एक इकाई माना जावे तो कीट-पतंगों का समस्त जीवन

हमारे एक दिन के बराबर होगा और यदि उनके जीवन के माप के लिये कोई और माप-दण्ड रक्खा जाय तो उन के जीवन भी वर्षों और युगों में विभक्त हो सकेंगे।

श्वासों पर (यदि श्वास से अर्थ प्राण और अपान मात्र की क्रिया का है) जीवन की माप का आश्रय तो और भी अर्थ-शून्य प्रतीत होता है। श्वास जीवन की एक क्रिया-मात्र है और वह भी एक क्रिया। यह क्रिया भी केवल भौतिक क्रिया। जैसे सायकिल के पहिये की हवा। यह ठीक है कि सायकिल के पहियों में जब तक हवा है तभी तक सायकिल चलेगी। परन्तु हवा सायकिल के जीवन का न उद्देश्य है न मापदण्ड। कहीं कहीं कहा गया है कि प्राण ही जीवन है। यह उसी प्रकार का कथन है जैसे कोई कहे कि हवा ही सायकिल है। यह उपचार की भाषा है। कुछ लोग समझते हैं कि यदि हम श्वास रोक लें तो जीवन बढ़ा लेंगे। यदि ऐसा ही तात्पर्य होता तो जाति और आयु के साथ 'भोग' क्यों लगाते? वहाँ तो कहा है कि कर्म का विपाक तीनों चीज़ों से संमिश्रित है—जाति, आयु और भोग। यदि कोई कहे कि श्वास को रोक कर हम मृत्यु को भगा देंगे जैसे यदि आप सायकिल को पकड़ कर खड़े हो जाँय तो हवा न निकलेगी तो इससे उद्देश्य तो पूरा नहीं हुआ। यदि सायकिल के रोकने से पहिये की हवा सुरक्षित भी रही तो इससे क्या होता है। दूसरे यह भी प्रश्न है कि श्वास को रोक कर हम आयु को बढ़ा भी सकते हैं या नहीं। यह एक अंश में ठीक हो सकता है सर्वांश में नहीं। श्वास-प्रश्वास की स्वस्थता तो एक चीज़ है और रोक कर खड़ा हो जाना दूसरी चीज़। श्वास अधिक चले वह भी रोग है। श्वास रुके वह भी रोग। इस लिये श्वास के नियंत्रण (नियमित करने) से स्वास्थ्य अवश्य अच्छा होगा परन्तु जीवन की इयत्ता की निश्चिति केवल स्वास्थ्य से ही न होगी। और भी इसके निर्धारण के कारण हो सकते हैं। यदि जीवन पिछले जन्म के कर्मों का भोग मात्र ही हो, तो कहना चाहिये कि जाति, आयु और भोग को सर्वथा निश्चित रूप से पा कर हम ने अपने पके हुए कर्मों का फल प्राप्त कर लिया और हम इन तीनों बातों से जकड़ गये। फिर कर्म के स्वातंत्र्य का तो अवसर चला गया। और कर्म-स्वातंत्र्य का बाध पिछले कर्मों की फल-प्राप्ति का उचित साधन नहीं कहा जा सकता। समस्त कर्म-फल-वाद का सिद्धांत अन्ततोगत्वा हमारी मोक्ष-प्राप्ति को प्रभावित करने के लिये हैं। कर्मों का फल बदला लेने या किसी कल्पित कानून की सन्तुष्टि के लिये नहीं है। हम ऊपर कह चुके हैं कि दुःख दवा है और सुख गिज़ा (भोजन) है। दवा और गिज़ा दोनों का एक अन्तिम ध्येय है, वह है स्वास्थ्य। भोजन सीधा स्वास्थ्यकर है और ओषधि रोग दूर कर के स्वास्थ्य देती है। परन्तु अन्तिम उद्देश्य है दोनों का स्वास्थ्य। इसी प्रकार पिछले कर्मों के विपाकस्वरूप जो हमको जाति आयु और भोग प्राप्त होते हैं और यह तीनों ह्लाद (सुख) और ताप (दुख) से ओत प्रोत होते हैं तो इस सुख और दुःख के अतिरिक्त इस जीवन का एक और उद्देश्य भी होना चाहिये वह है कर्त्तव्य-पालन और सम्यक्-ज्ञान-उपलब्धि का स्वतंत्रता-पूर्ण अवसर। जिस जीवन में यह चौथी बात नहीं उसको कर्मों का फल कहना ठीक न होगा। सांख्य ने कहा कि "अथ त्रिविध-दुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः" अर्थात् तीनों प्रकार के दुःखों की निवृत्ति ही पुरुष के जीवन का वास्तविक अर्थ (पुरुषार्थ) है और योग ने इन सुख आदि को भी योगी की दृष्टि में दुःख ही बताया। यह भी यही प्रकट करता है कि योगी को इस जन्म में न केवल सुख और दुःख ही भोगना है अपितु इनके स्वरूप को समझ कर अनागत दुःख (इस क्षण के पश्चात् आने वाले दुखों) की निवृत्ति का प्रयास भी करना है। यह प्रयास उसी समय ही हो सकेगा, जब हम पिछले कर्म्म से सर्वथा जकड़े न हों और हमको उनके घटाने बढाने का भी अवसर हो।

प्रश्न ९२—यदि ऐसा है तो फल की निश्चितता में बाधा पड़ेगी। इससे ईश्वर का नियम टूटेगा। हम बबूल का बीज बोकर भी आम ले सकेंगे। यह तो कर्म्म के सिद्धान्त का पोषण नहीं अपितु उपहास हुआ!

उत्तर—फल की इयत्ता और फल का स्वरूप न समझने के कारण ऐसी आपत्ति उठाई जाती है। बबूल का बीज बोकर आम तो प्राप्त नहीं किये जा सकते परन्तु बबूल के वृक्ष के संरक्षण और पालन पोषण में भिन्नता लाने से बबूल के काँटों से होने वाले हानि लाभ में तारतम्य लाया जा सकता है। यह ईश्वर के नियमों का उल्लङ्घन नहीं, अपितु उन्हीं के अनुकूल चलने का परिणाम-मात्र होगा। जो समझते हैं कि हम सर्वथा परतंत्र है, वह भी भूलते हैं। हमारे जीवन की तीन चीजें हैं: प्रवृत्ति, संयति और प्रयति।

प्रवृत्तिः संगतिश्चैव तृतीया प्रयतिस्तथा।
आद्यौ द्वे तु पराधीने ह्यन्त्या स्वातंत्र्यमीहते॥

प्रवृत्ति (tendency) एक प्रकार का स्वभाव है, जो पिछले कर्मों के अनुसार हमको मिलता है, भिन्न भिन्न योनियों में जन्म लेने वाले जीवों की भिन्न भिन्न प्रवृत्तियां होती हैं जो उनके पिछले जन्म जन्मान्तरों के कर्मों से बनी होती हैं। दूसरी चीज है संगति (society), जब हम इस संसार में जन्म लेते हैं तो एक विशेष प्रकार के वातावरण (environment) में अपने को पाते है, यह वातावरण भी आवरण है, हम इसके लिये पराधीन हैं। जो कर्म हम कर चुके उसके ही अनुसार हमको यह संगति मिली। चोरी करने से जब चोर जेल में आता है तो यह दोनों चीजें साथ लाता है, चोरी की प्रवृत्ति—नम्बर एक। जेल की संगति—नम्बर दो। चोर को स्वतंत्र घूमने के लिये सड़क पर छोड़ा नहीं जा सकता और न उसकी प्रवृत्ति बदली जा सकती है। यह ठीक है कि इस विशेष संगति का उद्देश्य तो प्रवृत्ति-परिवर्तन ही है। परन्तु यह चोर के अधिकार में नहीं कि संगति को बदल दे। अब तीसरी रही प्रयति (will) इसमें चोर भी सर्वथा स्वतंत्र है। उसको कर्त्तुं (करने) अकर्त्तुं (न करने) और अन्यथाकर्त्तुं (उल्टा करने) की पूरी स्वतंत्रता है। वह जेल में रहकर उसके वातावरण का अपने ऊपर प्रभाव कम कर सकता है। उसी जेल में कड़े से कड़े नियमों का सत्यता से पालन करते हुये लोग अपने अपराधों का प्रायश्चित्त कर साधु बन सकते हैं और उसी जेल के उसी वातावरण में खोटी प्रवृत्ति के लोग बिना संकोच गहरे से गहरे पाप करने की प्रवृत्ति को बढ़ा सकते हैं। इस पर प्रयति को प्रवृत्ति और संगति दोनों से घोर युद्ध करना पड़ता है। और प्रवृत्ति और संगति दोनों में परिवर्तन होना कठिन हो परन्तु असम्भव नहीं है, और जब हम प्रवृत्ति और संगति को किसी अंश में भी अपने वश में कर सकते हैं तो मानों हमने अपने भोगों पर भी कुछ न कुछ आधिपत्य पा लिया। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हमारी ज्ञान-पूर्वक प्रयति हमारे इस जन्म में होने वाले दुःख और सुख में भी परिवर्तन कर सकती है। यद्यपि कठिनता के साथ। इससे ईश्वर के कर्म-फल के सिद्धान्त के अटल होने का खण्डन नहीं होता। क्योंकि कर्मों का फल अगले कर्मों के स्वातंत्र्य को नहीं छीनता; अपितु आगे के शुभ कर्म पिछले अनिष्ट भोग के काठिन्य को कोमल बना देते हैं। यह परिवर्तन थोड़ा नहीं है। जिस चोर के हाथ में हथकड़ी पड़ी हुई है उसको यदि ज्ञान हो जाय और वह यह समझने लगे कि मेरे पापों का प्रायश्चित्त हो रहा है तो वह चाहे अपनी हथकड़ियों को तोड़ न सके फिर भी वे हथकड़ियां आन्तरिक दुःख को घटा देती हैं। और उसके विपरीत मनोवृत्ति वाला कैदी जेलर से लड़कर अपने क्लेश को बढ़ा लेता है। यह दूसरी बात है कि दण्ड की अवधि कम या अधिक न हो सके।

प्रश्न ९३—मैं एक सीधा प्रश्न करना चाहता हूँ। मुझे जाति, आयु और भोग पिछले कर्मों के फल स्वरूप तदनुसार ही मिले हैं। क्या मैं इस जन्म में कोई ऐसा कार्य कर सकता हूँ, जिससे इन तीनों में परिवर्तन हो सके?

उत्तर—प्रश्न इतना सीधा तो नहीं है। न उत्तर ही इतना सुबोद्धव्य है। फिर भी सोचना चाहिये। पहली बात लीजिये। कर्मों के तीन भाग किये जाते हैं—सञ्चित, क्रियमाण और प्रारब्ध। वह कर्म जो अभी फल नहीं दे रहे हैं। कालान्तर में फल देने के लिये सुरक्षित रक्खे हुये हैं। दूसरे वह कर्म जो किये जा रहे हैं। तीसरे वह कर्म जो फल देने के लिये पक गये हैं और उनका फल मिलना आरम्भ हो गया है। इस जन्म में हम उन कर्मों का फल पा रहे हैं जो प्रारब्ध हैं अर्थात् पक कर तैयार हैं। कुछ ऐसे भी पिछले एक जन्म या कई जन्मों में किये हुए कर्म होंगे जो अभी पके नहीं और जिनका फल आजकल हमको नहीं मिल रहा। कचहरियों के अभियोग (मुकद्दमों) का दृष्टान्त ले लें तो यह कह सकते हैं कि अदालत में अभी बहुत से ऐसे मुकद्दमे हैं जो भविष्य के लिये डाल रक्खे हैं। जब पक जायेंगे तब उनको लिया जायेगा। कुछ का फल सुना दिया गया और जैसा जिस प्रकार दण्ड उचित समझा गया दिया जा रहा है।

यदि वृक्ष के फल का दृष्टान्त दिया जाय तो यों कहेंगे कि एक वृक्ष का फल प्रत्यक्ष रूप से हमारे समक्ष है। हम फल पा रहे हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जिनके पकने में बहुत समय लगेगा।

इससे एक बात स्पष्ट है। भिन्न २ कर्म पकने के लिये भिन्न २ समय लेते हैं। कोई दो मास में पकता है जैसे पालक का शाक, कोई तीन चार वर्ष लेता है जैसे अमरूद, नारंगी और कुछ बहुत अधिक समय लेते हैं जैसे

कटहल। यदि ऐसे कर्म हैं जो दो तीन जन्मों में पक सकें तो ऐसा कर्म क्यों नहीं जिसके पकने में तीन चार मास ही लगें और उसका फल उसी जन्म में क्यों न होना चाहिये। आपकी धारणा के अनुसार तीन अवस्थायें ध्यान में आ सकती हैं:—

(१) एक जन्म के कर्मों का फल अवश्य ही उसके अगले जन्म में मिल जाय। जैसे जनवरी की नौकरी का पूरा वेतन फरवरी में मिल जाता है।

(२) कुछ कर्मों का फल अगले जन्म में मिले और कुछ ऐसे भी कर्म हों जिनका फल तीन चार जन्मों के पश्चात् मिले।

(३) कुछ ऐसे भी कर्म हो जिनका फल उसी जन्म में मिल जाय।

आप पहली दो बातों को तो मानेंगे ही फिर तीसरी को क्यों न मानें? इसके मानने में क्या आपत्ति है?

प्रश्न ९४—इससे योगदर्शन के सूत्र का विरोध होगा जिसमें लिखा है कि जाति, आयु और भोग कर्म के विपाक पर मिलते हैं। यहाँ 'जाति' शब्द 'जन्म' का द्योतक है। अतः सिद्ध है कि हम अपने इस जन्म के किये हुये किसी कर्म का फल इस जन्म में नहीं पा सकते।

उत्तर—योगसूत्र में यह तो नहीं कहा गया है कि इस जन्म के किये कर्म का फल इस जन्म में मिल ही नहीं सकता। वहाँ 'जन्म' को नहीं अपितु कर्म के विपाक (पक जाने को कारण बताया गया है। सब कर्म एक ही काल में नहीं पकते। भिन्न २ कर्मों के विपाक के लिये भिन्न २ काल—परिमाण की आवश्यकता होती है। हाँ यह अवश्य है कि जो जन्म हमको इस समय मिला है उसके कारण वह "कुछ कर्म" होंगे जो इस जन्म से पूर्व किये गये। 'कुछ' शब्द का प्रयोग आवश्यक है क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि इस जन्म के होते ही पिछले सब कर्मों का भुगतान हो चुका और अब कोई कर्म भोग के लिये शेष नहीं है।

प्रश्न ९५—सूत्र में केवल एक 'फल' न कहकर जाति, आयु, भोग तीन शब्दों का प्रयोग क्यों किया?

उत्तर—यह अच्छा प्रश्न है। इसके विषय में कुछ ऊपर भी कहा जा चुका है। हमको केवल फल ही नहीं भोगना अपितु कर्म भी करना है। पिछले कर्मों का फल भी इसलिये नहीं मिलता कि हम उसको भोग कर बैठ रहें और हमारे जीवन (अस्तित्व) का अन्त हो जाय। सान्त कर्मों का फल अनन्त तो नहीं होगा। फल भी इसी लिये दिया गया है कि वह उच्चतर कर्मों के करने का क्षेत्र तैयार कर सके। अतः जाति या जन्म का अभिप्राय है उन परिस्थितियों से जिनमें हमको आगे काम करना है। लोग जन्म और जाति का संकुचित अर्थ लेते रहे हैं अर्थात् कुत्ता, बिल्ली, साँप या मनुष्य की योनि मात्र। वस्तुतः यह योनियाँ भी परिस्थिति का एक अंग मात्र हैं। परिस्थिति में अन्य कई चीजें शामिल हैं जो सब 'जाति' के अन्तर्गत गिननी चाहिये। 'आयु' का अर्थ काल की 'इयत्ता' है। और भोग का अर्थ है उन परिस्थितियों का हमारे मन पर प्रभाव जिसका सहयोग या असहयोग (आनुकूल्य या प्रातिकूल्य) करके हमको अगला कर्म करना है। भीरु लोग दुःख या आपत्ति की अनुभूति से दब कर बैठ रहते हैं और कर्तव्य-च्युत हो जाते हैं। वीर पुरुष उनका सामना करके आगे चल पड़ते हैं।

प्रश्न ९६—जब जाति आयु और भोग नियत हो गये तो हमको इनके बदलने का प्रयास करना व्यर्थ है। जो होना है सो होकर रहेगा। उसमें रत्ती भर भेद नहीं हो सकता। यदि हमारे भाग्य में है कि हमारी एक स्त्री मर जाय और दूसरी से विवाह हो तो होकर रहेगा। यदि स्त्री के भाग्य में वैधव्य बदा है तो वह विधवा होगी। यदि हमारी मृत्यु ४० वर्ष की आयु में होनी है तो होगी चाहे हम कुछ भी क्यों न करें। तुलसीदास जी स्पष्ट कहते हैं:—

"हानि लाभ जीवन मरण यश अपयश विधि हाथ"

उत्तर:—आप अपने प्रश्न को सीधे मार्ग पर न चला कर इधर उधर ले गये। हमने पिछले प्रश्नोत्तरों में बहुत कुछ स्पष्ट कर दिया था और आपने स्वीकार भी कर लिया था। अब फिर आपने उस निश्चय के विरुद्ध वही पुरानी अनिश्चित बातें पकड़ लीं।

तुलसीदास तो केवल यह कहते हैं कि हानि, लाभ, जीवन, मरण, यश अपयश को देने वाला ईश्वर है। वह यह नहीं कहते कि ईश्वर अपनी इच्छा मात्र से जो चाहे दे देता है। ईश्वर फल का दाता है परन्तु कर्म के अनु-

सार ही हानि लाभ भी आप के कर्मों से और यश, अपयश भी आप के कर्मों से। यह तीनों द्वन्द्व अर्थात् हानि लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश केवल फल के रूप मात्र है।

दूसरी मुख्य और नोट करने की बात यह है कि फल की इयत्ता पिछले कर्मों पर रख दी गई। यह तो नहीं कहा कि नये कर्म इयत्ता में भेद नहीं डाल सकेंगे। यह तो आपने कल्पना से जोड़ लिया। यदि पिछले कर्म ही होते और नये कर्म का सर्वथा अभाव होता तो फल उतना ही रहता, अधिक न रहता परन्तु जीव का कर्तृत्व तो कभी नष्ट नहीं होता। यदि शुभ कर्म न करेगा तो अशुभ करेगा। कर्तव्य न करना भी उतना पाप है जितना अकर्तव्य का करना। इसलिये जब आप नये कर्म करते हैं और उनका विपाक भी उनकी अपेक्षा से होता रहता है तो पिछले कर्मों से कमाये हुये फलों की इयत्ता में भी भेद हो ही जाना चाहिये। न्याय और तर्क से यह सिद्ध होता है। यदि आपकी पहली स्त्री मर गई तो उसके मरने में आप के तथा उसके कर्मों के आधार पर! परन्तु आपका दूसरा विवाह करना तो आपका कर्म है। आप इसको जान बूझकर कर रहे हैं। चाहे करें, चाहे न करें। इसलिये यदि इस नये कर्म का आप पिछले भोग से सम्बन्ध लगाकर अपनी वासना के लिये बहाना ढूँढना चाहते हैं तो यह बड़ी भूल है।

प्रश्न ९७—तो क्या हम अपने भोगों में परिवर्तन कर सकते हैं?

उत्तर:—चाहें तो कर सकते हैं। या यों कहना चाहिये कि अवश्य कर सकते हैं और करते रहते हैं। एक लौकिक उदाहरण लीजिये। मैंने मार्च भर नौकरी की। पहली अप्रैल को २००) रु० वेतन रूप में मिला। मार्च की नौकरी कर्म थी। २००) रु० वेतन उसका फल है। इसको आप जाति, आयु और भोग तीनों ही कह सकते हैं। क्योंकि यह रुपयों की प्राप्ति एक अंश में परिस्थिति, काल और सुख दुःख तीनों का ही विधायक है। इन दो सौ रुपयों को यदि मैं बुद्धिमत्ता से व्यय करूँ तो उनसे बहुत से आगे होने वाले शुभ कर्मों का साधन उत्पन्न कर सकता हूँ और यदि उसी दिन जुआ खेल कर हार जाऊँ तो आज ही जाति, आयु और भोग तीनों को गड़बड़ में डाल सकता हूँ। यह दो सौ रुपये की इयत्ता ठीक २ मेरी पिछली कमाई का फल थी। यदि केवल पिछली कमाई का ही होता और किसी प्रकार मेरे भविष्य का उत्तरदायित्व या कर्तृत्व मुझसे छीन लिया जाता और मैं ऐसी अवस्था में डाल दिया जाता कि कर्तुं अकर्तुं और अन्यथाकर्तुं के सर्वथा अशक्त होता तो २००) रु० की इयत्ता में कमी या बढ़ती न होती। परन्तु यह तो मेरे स्वाभाविक अधिकार पर कुठाराघात होता। कर्तृत्व और उसका उत्तरदायित्व मेरा जन्म सिद्ध नहीं अपितु नैसर्गिक अधिकार है। यह दो सौ रुपये दिये ही मुझे इसलिये गये हैं कि अगले कर्मों के लिये क्षेत्र बना सकूँ। अतः मेरे अगले कर्म इस इयत्ता को भी कम या अधिक करेंगे। इयत्ता फल की है। फल से उत्पन्न होने वाले कर्मक्षेत्र की नहीं। इसलिये मुझे अधिकार है कि मैं उस फल से अपने क्षेत्र को उत्कृष्ट या निकृष्ट कर सकूँ। ईश्वर ने पिछले कर्मों का फल देकर मेरे स्वातंत्र्य को छीना नहीं अपितु स्वातंत्र्य के प्रयोग के लिये साधन उत्पन्न कर दिया। मेरा अधिकार है कि आज दुर्व्यसनों में फँसकर दो सौ रुपयों को नष्ट कर दूँ और कल से भीख माँगता फिरूँ। अथवा इस प्रकार से व्यय करूँ कि कल कई गुने अधिक साधन प्राप्त हो जायें। इसी प्रकार पिछले जन्म के कर्मों द्वारा जो मुझको जाति, आयु और भोग की प्राप्ति हुई उसको मैं वर्तमान जन्म के आचरणों द्वारा घटा बढ़ा सकता हूँ। इसीलिये वेद तथा शास्त्रों में आयु की वृद्धि, उन्नति की वृद्धि और सुख की वृद्धि के साधन दिये जाते हैं। और मृत्यु, रोग, ह्रास तथा दुःख के कम करने के भी साधन दिये जाते हैं। समस्त आचारशास्त्र की भित्ति ही इस सिद्धान्त के ऊपर है कि हम आयु, वातावरण तथा सुख में वृद्धि कर सकते हैं। किसी शास्त्र में ऐसा नहीं लिखा कि आयु नहीं बढ़ सकती, परिस्थिति नहीं बदल सकती, भोगों में परिवर्तन नहीं हो सकता। योगदर्शन का जो सूत्र इस प्रसंग से सम्बद्ध है उस सूत्र में ऐसा नहीं है, न अगले किसी सूत्र में इसका उल्लेख है। विभूतिपाद में जो विभूतियाँ दी हुई हैं उन सबका प्रभाव जाति आयु और भोग की प्राप्ति हुई तो उनका न्यून या अधिक होना भी रोक दिया गया। एक बात तो आप प्रत्यक्ष देख सकते हैं। कर्मों का फल सुख या दुःख के रूप में होता है। सुख या दुःख मानसिक वस्तु है शारीरिक नहीं।

(क्रमशः)

ज्ञानी और योगी लोग इस मानसिक दुःख को ज्ञान द्वारा कम कर सकते हैं और मूर्ख बढ़ा सकते हैं। जिस पुरुष ने वैराग्य द्वारा अपने मन को वश में कर लिया, वह घोर से घोर दुःख को असह्य से सह्य बना सकता है।

प्रश्न ९८—संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध कर्मों का क्या अर्थ है और इस विभाजन का आधार क्या है ?

उत्तर—जो कर्म मनुष्य करता है वह वर्तमान में क्रियमाण हैं, जो कर्म बिना फलित हुये इकट्ठे हो जाते हैं उनको संचित कहते हैं। संचित कर्मों में से जिनका विपाक हो जाता है अर्थात् जो पक कर फल देने लगते हैं उनको प्रारब्ध कहते हैं। जो कर्म मैं इस समय अर्थात् वर्तमान में कर रहा हूँ वह क्रियमाण है, थोड़ी देर में यह वर्तमान काल भूत काल बन जायेगा, उस समय यह क्रियमाण कर्म संचित हो जायेंगे। संचित का अर्थ है इकट्ठा किया हुआ (सम् + चित)। हमको फल इन्हीं संचित कर्मों का मिलेगा। परन्तु समस्त संचित कर्म एक से नहीं होते, न उनका फल एक ही समय में मिलता है। मोटे रूप से आप समझ सकते हैं कि पालक का साग बोने से दो मास में फल मिल जाता है। अमरूद का बीज बोने से कई वर्ष में फल लगता है। कटहल का बीज बोने से मुद्दत फल पाने की और भी अधिक हो जाती है। आप किसी को गाली देवें तो वह तुरन्त आपको गाली देगा या तमाचा मारेगा। यदि आप उसका माल छीन लें तो पुलिस में रिपोर्ट होगी और सजा पाते एक साल लग सकता है! यदि आप किसी को मार डालें तो सम्भव है कि आपको फाँसी पाने में दो तीन वर्ष लग जांय। इसी प्रकार कर्मों की व्यवस्था है। जो कर्म हमारे संचित हैं उनमें से दैवी मर्य्यादा के अनुसार कुछ का फल अभी मिलेगा कुछ का दो चार वर्ष में और कुछ का जन्म जन्मान्तर में। यह जान सकना मनुष्य के लिये कठिन है कि किस कर्म का फल कब मिलेगा; क्योंकि यद्यपि समस्त संचित कर्मों का लेखा सूक्ष्म रूप में हमारे अन्तः पटल पर अंकित है; परन्तु हम सबको पढ़ नहीं सकते। जिस प्रकार समस्त संचित ज्ञान का जो हमारे अन्तः पटल पर एकत्रित है प्रत्यक्ष ज्ञान हमको हर समय नहीं होता, कालान्तर में कुछ की स्मृति आ जाती है और कुछ की नहीं। इसी प्रकार यह भी है। जब कर्म पक कर फल देने लगते हैं तो उन्हीं का नाम प्रारब्ध हो जाता है अर्थात् क्रियमाण कर्म का अन्त संचित हो जाता है और संचित में से जो जो कर्म फल देने लगते हैं उनको प्रारब्ध कहते हैं। हमारा अधिकार क्रियमाण कर्मों पर है। चाहे करें चाहे न करें। परन्तु जब तीर कमान से निकल गया तो वापिस नहीं आ सकता।

"अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्"
(गीता, शिवपुराण)

क्योंकि वह संचित है। संचित कर्मों में किस कर्म का विपाक कब होगा यह ईश्वर की व्यवस्था से होता है, अर्थात् संचित कर्मों के पुंज में से कब कौन सा प्रारब्ध बन जायेगा। प्रारब्ध को लोग 'तक़दीर' कहते हैं क्योंकि इसमें 'कुदरत' अर्थात् ईश्वर का हाथ है। हम विवश हैं। लेकिन इस तक़दीर का मूल निमित्त तो तदबीर अर्थात् क्रियमाण कर्म ही थे।

वस्तुतः क्रियमाण कर्म ही कर्म है। क्योंकि कर्त्ता का स्वातंत्र्य क्रियमाण में ही विद्यमान है। ज्यों ही वह संचित हुआ, कर्म की वास्तविक परिभाषा से बाहर हो जाता है। उसे कर्मों का लेखा कह सकते हैं, कर्म नहीं। और प्रारब्ध कर्म नहीं अपितु फल है। अर्थात् वह पक कर फलरूप में परिवर्तित हो चुके। उसको कर्म केवल इसलिये कहते हैं कि फलों का मूल कारण हमारी दृष्टि से ओझिल न हो जाय और यह न समझ बैठें कि हमारे सुख या दुःखों का हमारे कर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्न ९९—हम तो सुनते आये हैं कि हमारे पिछले जन्मों का फल इस जन्म में मिल रहा है और इस जन्म के कर्मों का अगले जन्म में मिलेगा।

उत्तर—आपने जो सुना वह एक अंश में ठीक है लेकिन आधी सचाई है, आधी निराधार कल्पना है। सचाई इतनी है कि इस जन्म में जो फल सुख या दुःख रूप में हमको मिल रहा है वह सभी इसी जन्म के कर्मों का नहीं है। इसमें बहुत कुछ पिछले जन्म या जन्मों का भी है, और जो कर्म हम इस जन्म में कर रहे हैं वह सभी इसी जन्म में फलीभूत न हो सकेंगे। कुछ अगले जन्मों के लिये भी संचित रहेंगे।

निराधार कल्पना इतनी है कि इस जन्म में हमारे इस जन्म में किये हुए किसी कर्म का फल न मिलेगा। समस्त कर्मपुंज भविष्य के लिये इकट्ठा रहेगा।

इस निराधार कल्पना का एक दुष्परिणाम यह हुआ है कि हम भाग्य-वादी हो गये हैं। हम समझते हैं कि इस जन्म में हमको जो दुःख या सुख मिलना है उस पर इस जन्म के कर्म कुछ प्रभाव नहीं डाल सकते। दूसरा जन्म इतनी दूर है कि उसका भय कम हो जाता है। जब बच्चा जानता है कि कई छोटी बुराइयों की सजा माता पिता तुरंत दे देंगे तो वह डरता है। देर में दी जाने वाली बड़ी सजा का भी इतना भय नहीं होता जितनी तुरन्त दी जाने वाली छोटी सजा का। जिस काम के फलस्वरूप मुझे चालिस वर्ष पीछे पचास हजार मिलेगा उसका आकर्षण इतना नहीं होता जितना आज सायंकाल को मिल जाने वाले ५०) रुपयों का होता है।

प्रश्न १००—कुछ भोगवादी ऐसा कहते हैं कि जो कर्म फल की आकांक्षा से किये जाते हैं वह कर्म नहीं अपितु भोग हैं। जैसे मैंने नौकरी की यह कर्म है। उसका वेतन १००) रु० मिला। यह है फल। इन १००) रुपयों से मैंने बाजार में जाकर भोजन वस्त्र खरीदे। यह कर्म नहीं अपितु फल अर्थात् भोग के ही सिलसिले का एक अंश है। इसी प्रकार हम जितने कर्म अपने स्वार्थ के लिये करते हैं वह सब भोग के ही अन्तर्गत आ जाते हैं। कर्म वही है जो हम अपने स्वार्थ के लिए नहीं अपितु परार्थ के लिये कर्तव्य समझकर करते हैं।

उत्तर—यह क्लिष्ट कल्पना है। यथोचित बात नहीं। जो कर्म केवल परार्थ के लिये ही किये जायेंगे और कर्तव्य समझकर ही किये जायेंगे, यदि वही कर्म समझे जाँय और उनके अतिरिक्त और क्रियाओं को कर्म की कोटि से निकाल दिया जाय तो अशुभ कर्म तो कोई भी नहीं रहेगा। एक कर्म होगा और दूसरा फल—जिनको हम अशुभ कर्म कहते हैं, वह भोग के सिलसिले का ही एक अंश होंगे। चोर कहेगा कि मैंने चोरी न तो परार्थ के लिये की न कर्तव्य समझकर। मुझे भोग की आकांक्षा थी। उस भोग की पूर्त्ति के लिये ऐसा किया। इससे समस्त कर्तव्य शास्त्र ढोंग हो जायेगा।

वस्तुतः जो क्रियायें हम स्वतंत्रता से कर सकते हैं और जिनके करने न करने या उल्टा करने का हमको अधिकार होता है वह सब, चाहे छोटी हों चाहे बड़ी, कर्म की कोटि में आती हैं। हाँ, जो क्रियायें हम पूर्ण विवशता से करते हैं और जिनके होने में हमारा किंचित् भी अधिकार नहीं वह फल की निमित्त मात्र हो सकती हैं क्योंकि उनको हम नहीं करते, कोई कराता है। कल्पना कीजिये हमको कोई जल पिलाता है। हम पीते हैं। हमको अधिकार है कि न पियें। तो इस जल का पीना कर्म है। परन्तु यदि हम बेहोश पड़े हैं और कोई चिकित्सक हमारा मुँह यन्त्रों से खोल कर पानी डाल देता है तो भोग का निमित्त मात्र होगा और यह क्रिया दूसरे की होगी अपनी नहीं क्योंकि हमने नहीं की। इसके किसी अंश पर हमारा अधिकार नहीं है।

प्रश्न १०१—हम कोई काम स्वतंत्रता से नहीं करते। परिस्थिति करा लेती है। हम परिस्थितियों से जकड़े हुये हैं। हमारे वश में छोटी सी चीज भी नहीं है। स्वतंत्रता नाम मात्र की है। ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध पत्ता भी नहीं हिल सकता।

उत्तर—क्या हमारी इच्छा भी परवशता के आधीन है?

प्रश्न १०२—हाँ। दो मनुष्य दो प्रकार की इच्छा करते हैं। एक चोरी की और एक धन की रक्षा की। चोर के जीवन की परिस्थिति बताती है कि चोर अन्यथा कर ही नहीं सकता था। और धन का स्वामी धन की रक्षा की इच्छा अपनी परिस्थितियों के कारण ही करता है। संसार का नियम अटल है। कोई टाल नहीं सकता। अतः स्वतंत्रता की दुन्दुभी बजाना व्यर्थ है। जब स्वतंत्रता नहीं तो क्या कर्म फल? क्या कर्तव्य और अकर्तव्य? क्या शुभ और क्या अशुभ?

उत्तर—क्या स्वातंत्र्य की इच्छा भी परिस्थितियों के कारण ही होती है? यदि स्वतंत्रता कोई चीज नहीं तो हममें स्वतंत्रता की इच्छा क्यों उत्पन्न होती है? और हम दूसरे मनुष्य के कर्मों के विषय में यह क्यों कहते हैं कि इसने यह भूल की। इसको ऐसा करना चाहिये था? या हमको अपने कर्मों पर पछतावा क्यों होता है कि यदि अमुक कार्य हम न करते तो अच्छा होता?

यह सम्भव है कि आज्ञा के विरुद्ध पत्ता भी न हिले। लेकिन जब हम झूठ बोलने के लिये अपनी जीभ हिलाते हैं तो ईश्वर की आज्ञा से नहीं; अपितु अपनी स्वतंत्रता से। इसीलिये झूठ बोलकर हम स्वयं भी समझते हैं कि

हमने अशुभ किया और दूसरे भी हमारे विषय में ऐसी ही धारणा रखते हैं। इससे स्पष्ट है कि परिस्थिति का सिद्धान्त सीमित है असीम नहीं। आत्मतत्त्व परिस्थिति से कुछ ऊपर है। हमारी परतंत्रता एक अंश तक सीमित है सर्वांश में नहीं। यह ठीक है कि हम जो चाहें सो नहीं कर सकते, न चाहे जब चाहें तब कर सकते हैं और न जिस प्रकार चाहें कर सकते हैं। आँखों से सुन नहीं सकते। न कानों से उतना सुन सकते है जितना कि कभी कभी चाहते हैं जो हमको प्रिय लगे, अर्थात् इस अंश में हम परिस्थितिबद्ध हैं। परन्तु परिस्थिति भी तो सीमित है और उसमें हम परिवर्तन कर सकते हैं। दूर की चीज देखने के लिए उपनेत्र या अन्य यन्त्र बना सकते हैं। भीषण दृश्यों से आँखें मींच सकते हैं। हम अपनी परिस्थितियों को तोड़ने या कम करने के लिये सदा इच्छुक रहते हैं। यह हमारी नैसर्गिक प्रवृत्ति है। कैदखाने का कैदी भागने का अवसर तकता ही रहता है। यदि परिस्थितियाँ ही सब कुछ होतीं तो ऐसी प्रवृत्ति कदापि न हो सकती। यही प्रवृत्ति हमारे पुरुषार्थ की मूल है। हमको विश्वास है कि यदि हम हाथ पैर मारेंगे तो कदाचित् बन्धन से छूट ही जायेंगे। इसी का नाम है आशा। जब मनुष्य सब चीजों को खो देता है तब भी आशा जीवित रहती है। आशा क्या है? अपने पुरुषार्थ पर विश्वास।

प्रश्न १०३—सायस या विज्ञान से पता चला है कि सृष्टि के सभी नियम अटल हैं। कोई तोड़ नहीं सकता। एक त्रिभुज के तीन कोण मिलकर सदैव १८०° के होंगे। जल सदैव हाइड्रोजन के दो और आक्सीजन के एक अणु से मिलकर बनेगा ($H0_2$)। इसी प्रकार बहुत से नियम हैं जिनको कोई मनुष्य अन्यथा नहीं बना सकता। जैसे जड़ जगत् के अटल नियम हैं, इसी प्रकार चेतन जगत् अर्थात् प्राणिशास्त्र या मनोविज्ञान के भी नियम हैं। इन्हीं का नाम है परिस्थिति। फिर कर्म करने में स्वतंत्रता कहाँ रही? जैसी परिस्थिति होंगी वैसे हमारे विचार होंगे, वैसे वचन और तदनुकूल ही कर्म। इस प्रकार जिसको हम स्वतंत्रता कहते हैं वह भी परतंत्रता ही हैं, और जिसको हम चेतन कहते हैं वह भी जड़ का एक परिवर्तित रूप है। इस प्रकार कर्म का सिद्धान्त विज्ञान के सर्वथा विरुद्ध है। यदि प्रकृति के नियम अटल हैं तो भी विरुद्ध, और चलायमान हैं तो भी विरुद्ध; क्योंकि यदि प्राकृतिक नियम चलायमान लिये जाँय तो उनको नियम ही नहीं कह सकते और न यह निश्चित हो सकता है कि अमुक कर्म का अमुक ही फल होगा।

उत्तर:—यह ठीक है कि प्राकृतिक नियम अटल हैं और यह भी ठीक है कि चेतन प्राणियों के शरीरों द्वारा जो हम क्रियायें देखते हैं उनमें से अनेक ऐसी हैं जिन पर उनका वश नहीं है। वह अवश्यम्भावी है; परन्तु फिर भी यह कहना ठीक नहीं कि चेतन प्राणियों को उन पदार्थों से काम लेने में कुछ भी स्वतंत्रता नहीं।

यह ठीक है कि पानी के बनाने में हाइड्रोजन और आक्सीजन का अनुपात निश्चित है, परन्तु उसी अनुपात से हम कितना पानी बनावें या न बनावें, यह हमारे अधिकार में है। प्राकृतिक नियमों की धारा अवश्य एक नियम के वशीभूत होकर बहेगी; परन्तु उन्हीं नियमों के आधार पर हम उस धारा की दिशा भी बदल सकते हैं। जंगली देशों की नदियाँ एक ही ओर बहती हैं। सभ्य और शिक्षित जातियाँ अपनी स्वतंत्र बुद्धि से उनकी दिशाओं को बदल कर नहरें निकाल देती हैं। प्राणी वर्ग ने अपने क्षेत्र में कितना परिवर्तन किया है, इससे हम अपनी आँख नहीं मीच सकते। अन्यथा सभ्यता और असभ्यता में कोई भेद नहीं रहे। समस्त जगत् के त्रिभुजों के लक्षण एक से हैं। परन्तु सब प्राणियों का तो एक सा हाल नही हैं। बुद्धि अर्थात् निर्वचन करने की योग्यता मनोविज्ञान के अध्ययन का एक विशेष अंग है। इसके नियम गणित, भौतिकी या रसायन के नियमों से भिन्न हैं। मैं और आप एक ही प्रकार नहीं सोचते और न एक सी परिस्थितियों का एक सा ही प्रयोग करते हैं।

जिस विषय पर हम वाद-विवाद कर रहे हैं उस पर भी भिन्न भिन्न सम्मतियाँ हैं। ऐसा क्यों? यदि सृष्टि प्राणियों को सोचने की स्वतंत्रता न देती तो यह भिन्नता भी न होनी चाहिये थी।

विज्ञान या सायंस के साथ ही उसका अनुगामी कला या आर्ट भी तो है। यह कला मानवी या प्राणिवर्ग की देन है। अतः कर्म या अकर्म और विकर्म का प्रश्न तो बना ही रहता है।

प्रश्न १०३—कर्म भी तो एक प्रकार की गति ही है।

उत्तर:—आपने ठीक कहा। यह गति है परन्तु "एक प्रकार की", जिसका कर्त्ता है चेतन। प्रत्येक गति कर्म नहीं है। मैं कलम से लिख रहा हूं। यह गति है। परन्तु कलम की प्रत्येक गति को तो लेखन कला नहीं कह सकते। लेखन चेतन-कृत कर्म है। उसमें चेतन कर्त्ता का उत्तरदायित्व ही कर्म-फल के सिद्धान्त का प्रस्तोता है। विज्ञान का समझना और उसके अनुकूल कला का आविष्करण यह सब चेतन का काम है।

प्रश्न १०४—मनुष्य ही चेतन है कि अन्य प्राणी भी?

उत्तर—अन्य प्राणी भी। कुत्ते, बिल्ली, चींटी, कीट, पतंग यह सब चेतन हैं; क्योंकि यह करने न करने और उल्टा करने में समर्थ हैं। इनमें स्वतंत्रता है।

प्रश्न १०५—हम यह सुनते आये हैं कि मनुष्य कर्मयोनि है और अन्य प्राणी केवल भोग योनि। यह कहाँ तक ठीक है?

उत्तर—जहाँ तक हमारे सामाजिक नियमों का संबन्ध है, यह ठीक है। इन नियमों के अनुसार तो मनुष्य के नवजातक या अल्पवयस्क बालक भी कर्मयोनि में सम्मिलित नहीं समझे जा सकते। यदि एक बच्चा किसी बड़े पुरुष के वस्त्रों पर पेशाब कर दे या उसकी डाढ़ी मूँछ पकड़ ले तो उसको कोई अपराधी या दण्ड्य नहीं समझता। क्योंकि बच्चे की बुद्धि अभी विकसित नहीं हुई। परन्तु क्या आप उसको भोग योनि कहेंगे? यदि ऐसा हुआ तो मनुष्यों में भी कर्म-योनि और भोगयोनि की भेदक भित्ति स्थापित करनी पड़ेगी। पागल मनुष्य भोगयोनि कहलायेंगे, वस्तुतः बद्ध अवस्था का कोई जीव चाहे मनुष्य हो चाहे क्षुद्र योनि, भोग और कर्म दोनों योनियों से मुक्त नहीं हो सकता। कर्तृत्व और भोक्तृत्व यह दोनों जीव के स्वाभाविक गुण हैं। इनके आविर्भाव और तिरोभाव में सापेक्षिक न्यूनता या आधिक्य हो सकता है, परन्तु इनका सर्वथा लोप नहीं होता। यदि कुत्ते, बिल्लियाँ, बन्दर केवल भोगयोनि हों, कर्मयोनि न हों तो वे अपने कर्मों के उत्तरदाता भी न होंगे। फिर आप उनको काम बिगाड़ने पर मारते क्यों हैं? और वह आपकी मार से डर कर अपने व्यवहार में भिन्नता क्यों प्रकट करते हैं? यदि बन्दर कर्मयोनि न हो तो उसको नचाया नहीं जा सकता, यदि कुत्ता कर्म योनि न हो तो वह चौकीदारी नहीं कर सकता। यदि घोड़ा कर्मयोनि न हो तो स्वामिभक्त नहीं बन सकता। इसी प्रकार क्षुद्र से क्षुद्र जन्तुओं का हाल है।

इनके भोग योनि कहने का अभिप्राय केवल इतना है कि सभ्य मानव समाज के 'समाज-क्षेत्र' में केवल मनुष्य को ही कर्मयोनि कहा गया है और वह भी विकसित-बुद्धि मनुष्य (बालिग आदमी) को। यह परिभाषा कानून (law) की है। दर्शन (Philosophy) की नहीं। कानून में पागल, नाबालिग, या मस्तिष्क के रोगी या अविकसित-बुद्धि वाले मनुष्य को भी कर्म के उत्तरदायित्व से मुक्त किया गया है। सर्वथा वह भी नहीं। केवल कानूनी-सीमा तक। अर्थात् आप अपने तीन वर्ष के बालक को भी चोरी करने पर मार सकते हैं। और उस मार से उसका सुधार हो सकता है। परन्तु न्यायालय में उसे चोरी के लिये न कारागार होगा न जुर्माना। यही हाल इक्के के टट्टू का भी है। अत्यन्त क्षुद्र जीव न्यायालयों के क्षेत्र से बाहर हैं। उन पर उनका वश नहीं। अतः दण्ड-शास्त्र (Penal Code) उनके लिये नहीं हैं। जहाँ तक कर्म के उत्तरदायित्व का प्रश्न है विकास की आयु (बालिग होने की अवस्था) भी भिन्न भिन्न मानी गई है। अठारह वर्ष का बालक अपराधशास्त्र (criminal Code) के अनुसार बालिग है। परन्तु सम्पत्ति-शास्त्र (माल के मामले) में नाबालिग है। यदि वह चोरी करेगा तो दण्डनीय होगा। परन्तु यदि अपनी सम्पत्ति बेचेगा तो वह असंगत समझा जायेगा। इससे स्पष्टतया सिद्ध है कि स्मृतिकारों ने जहाँ कर्मयोनि और भोगयोनि की मीमांसा की है वह केवल मानव-समाज के शासन के हेतु है। वह कर्मफल के दार्शनिक सिद्धान्त पर लागू नहीं होती। कानून के विषय में भिन्न २ जातियों, सभाओं वा देशों में उत्तर-दायित्व (बालिग होने) की आयु भिन्न भिन्न है। भारत-वर्ष के हिन्दूला में विवाह के विषय में स्त्री पुरुष कब कर्म-योनि में प्रविष्ट होते हैं, यह एक टेढ़ी समस्या है। बालकपन में विवाहे जाने वाले तो पशुवत् भोगयोनि में ही गिने जायेंगे; क्योंकि उनको करने न करने और अन्यथा करने का कुछ भी अधिकार नहीं। कहीं कहीं तो लड़के लड़कियों को बेचा भी जा सकता है। अतः इस सम्बन्ध में समाजशास्त्र और दर्शनशास्त्र में विवेक से ही काम लेना

पड़ेगा। समाज व्यक्तियों को बहुत सी बातों में अपने अनुशासन-क्षेत्र से बाहर समझता है, और उनमें हस्तक्षेप नहीं करता। इसका यही अर्थ है कि उन बातों में व्यक्ति समाज के लिये उत्तरदाता नहीं। यद्यपि परमात्मा के प्रति या सृष्टिक्रम के लिये उत्तरदाता है।

प्रश्न १०६—कर्म-फल के सिद्धान्त और कारण-कर्म के सिद्धान्त एक हैं या भिन्न? यदि भिन्न हैं तो इनमें परस्पर कोई सम्बन्ध भी है या नहीं, है तो क्या? नहीं तो कैसे?

उत्तर—कारण-कार्य का सिद्धान्त और कर्म-फल का सिद्धान्त एक नहीं। परन्तु उनमें सादृश्य अवश्य है। जिस प्रकार विशेष कारण से विशेष कार्य होता है और विशेष कार्य का विशेष कारण होता है, उसी प्रकार विशेष कर्म का विशेष फल होता है और विशेष फल विशेष कर्म का ही परिणाम होता है। तथापि कारण-कार्य का सम्बन्ध विशेषतः जड़ जगत् से है। और कर्म-फल के सिद्धान्त का जड़-जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं। जड़ जगत् में गति या क्रिया होती है; परन्तु हम उसको कर्म नहीं कह सकते। न उसके विषय में गीता के वह श्लोक लागू कर सकते हैं जैसे 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इत्यादि। और न योग दर्शन के 'सति मूले तद्विपाकः' आदि सूत्र। आग से धुँआ उत्पन्न होता है। आग कारण है धुँआ कार्य। मिट्टी से घड़ा उत्पन्न होता है, मिट्टी कारण है घड़ा कार्य, परन्तु आग से धुँआ उत्पन्न होगा ही और मिट्टी से घड़ा बनेगा ही। यह नहीं कहा जा सकता कि आग को धुँआ बनाने का अधिकार है या मिट्टी को घड़ा बनाने का। आग के वश में नहीं है कि धुँआ न बनावे। मिट्टी के वश में नहीं है कि घड़ा न बनावे। मनुष्य के वश में है कि चोरी करे या न करे। अतः चोरी मनुष्य का कर्म है और चोरी का दण्ड उस कर्म का फल। कार्य में कारण व्यापक रहता है, जैसे घड़े में मिट्टी, या कंगन में सुवर्ण, या धुयें में आग। परन्तु फल में कर्म व्यापक नहीं होता। कारण और कार्य का घनिष्ठ सान्निध्य है, कर्म और फल का नहीं। जहाँ जहाँ धुँआ है वहाँ वहाँ आग है। परन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता है कर्म को शुभ या अशुभ नहीं कह सकते।

सादृश्य यह है कि कारण कार्य से पूर्व होता है और कर्म भी फल से पूर्व। जैसे कार्य से पूर्व होने वाली प्रत्येक फल से पूर्व होने वाली क्रिया भी उस फल का कर्म नहीं है। एक मनुष्य मर गया। यह दुर्घटना एक कार्य है। उसके मरने से ठीक पूर्व लाखों अन्य घटनायें हुईं। कुत्ता भौंका, वृक्ष के पत्ते हिले, घड़ी का घंटा बजा, रेलगाड़ी आई, छत गिरी परन्तु मृत्यु का कारण केवल एक था छत का गिरना। दूसरी सैकड़ों घटनायें मृत्यु के कारण न थीं। इसी प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि मृत्यु रूपी फल छत गिरने रूपी कर्म का फल था। क्योंकि छत का गिरना मरने वाले का कर्म नहीं था। मृत्यु रूपी फल किसी अन्य ही का रहा होगा, जो उसी मरने वाले व्यक्ति से सम्बन्धित होगा।

कारण-कार्य और कर्म-फल के सिद्धान्तों में इतना सादृश्य है कि बहुधा हम एक दूसरे को मिला देते हैं। कारण-कार्य के निर्धारित करने में भी बहुधा भूलें होती हैं। बहुधा हम पहली किसी घटना को पिछली घटना का कारण समझ लेते हैं। जैसे हम किसी मुकदमें के लिये कचहरी जा रहे थे। घर से चलते समय किसी ने छींक दिया। हम मुकदमा हार गये। हम कहते हैं कि छींक हार का कारण थी। यह सर्वथा गलत है। सम्भव है कचहरी का फैसला बहुत पहले ही हो चुका हो और हमको केवल पता न हो। इसी प्रकार किसी शत्रु ने कहा "अमुक का बेटा मर जाय" अकस्मात् बेटा मर गया। उसने सोचा कि शत्रु का कोसना कर्म था और बेटे का मरना फल। इस प्रकार के टौने टोटके, कोसा कासी प्रायः होते रहते हैं। साधारण जनता में और काव्यों में इनका प्राचुर्य है। राजा दिलीप ने कामधेनु को या स्वर्गीय गौ को प्रणाम नहीं किया। गौ ने शाप दिया। इसका फल हुआ यह कि दिलीप के सन्तान नहीं हुई। यहाँ न तो कार्य-कारण का सम्बन्ध दीखता है, न कर्म फल का। जैसे बहुधा सार्वजनिक कल्पनायें अवैज्ञानिक अथवा अदार्शनिक होती हैं, उसी प्रकार कवियों की कल्पनायें भी। राजा पुरूरवा उर्वशी के वियोग में विलाप करता हुआ हंस को चलते देखता है और कहता है "रे हंस तू उर्वशी की चाल को चुरा लाया है। बता तो कि उर्वशी कहां है?" यह काव्य-कल्पना ही तो है। मोह है, अज्ञान है। न विज्ञान है, न दर्शन।

क्रियमाण कर्म के आरम्भ से लेकर उसके पकते पकते प्रारब्ध तक पहुँचने और फलीभूत होने तक बहुत सी घटनाओं का सिलसिला रहता है, जिनमें कारण-कार्य सम्बन्ध रहता है। परन्तु वह एक दूसरे का फल नहीं होती।

उदाहरण के लिये नीचे लिखी घटनाओं पर विचार कीजिये :—

१—मोहन ने गोपाल के घर में चोरी की।
२—दो सौ रुपये उसके हाथ लगे।
३—उसने इन रुपयों के बदले आटा, घी, शक्कर खरीदे।
४—उसके परिवार ने उसको खाया।
५—सबने मिलकर इस सुख को भोगा।
६—गोपाल ने पुलिस में रिपोर्ट की।
७—पुलिस ने जाँच के लिये आदमी लगाये।

८—जाँच चार मास तक होती रही, तब पता चला कि मोहन ने चोरी की है।

९—उसपर अभियोग चला जो चार महीनों तक जारी रहा।

१०—अन्त में अभियोग सिद्ध हुआ और न्यायाधीश ने उसे एक साल का दण्ड दिया।

११—मोहन को पुलिस के लोगों ने कारावास में भेज दिया।

संक्षेप के लिये हमने सैकड़ों घटनाओं के केवल ११ विभाग कर दिये हैं। वस्तुतः चोरी कर्म है और कारागार फल। शेष सैकड़ों घटनाओं में से कुछ तो कुछ का कारण थीं कुछ असम्बद्ध भी रही होंगी। जैसे परिवार का हलवा खाना और पुलिस की रिपोर्ट। परन्तु इनमें से किसी का कर्म और फल का सम्बन्ध नहीं था॥
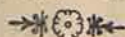
कर्म का सिद्धान्त

[ले०—श्री पं० गंगा प्रसाद जी रिटायर्ड चीफ जज जयपुर]

वेदवाणी के गत वैशाख के अंक से पूर्वोक्त विषय पर एक उत्तम लेखमाला श्री पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय जी की प्रकाशित हो रही है। विषय महत्व का है। मैं भी अपने कुछ विचार प्रकट करूँगा।

आर्य समाज का सिद्धान्त है कि ईश्वर, जीव, व प्रकृति अनादि हैं और सृष्टि प्रवाह से अनादि है। ईश्वर का उद्देश्य सृष्टि के रचने में जीवों को पुनर्जन्म के द्वारा उनके कर्मों का फल भुगाना और आध्यात्मिक उन्नति का अवसर देना है।

सांख्यतत्त्व के अनुसार प्राणियों की १४ प्रकार की सृष्टि है। एक मनुष्य, ५ इससे नीचे की जो तिर्यग् योनियाँ कहलाती है, और ८ मनुष्य से ऊँची जो दिव्य योनियाँ कहलाती हैं। तिर्यग् योनियाँ ये हैं—(१) उद्भिज (२) स्वेदज, (३) अंडज (जलचर), (४) अंडज (खेचर) और (५) जरायुज, इन सबमें विकास (Evolution) द्वारा जीव उन्नति करता है। ८ दिव्य योनियाँ इस प्रकार हैं, (१) पितृ, (२) गांधर्व (३) दैव, (४) इन्द्र, (५) प्राजापत्य, (६) ब्राह्म, (७) विदेह, (८) प्रकृतिलय। मनुष्य योनि में जीव को जितना आनन्द मिल सकता है उससे सैकड़ों व लाखों गुना अधिक इन योनियों में मिलता है। इसकी व्यवस्था तैत्तिरीयोपनिषद् की आनन्द वल्ली में की गई है। कोई विद्वान् इनको मनुष्य योनि की ही विशेष अवस्था मानते हैं। पर आनन्द मीमांसा में जिस प्रकार इनका वर्णन है, उससे यह मानना अधिक युक्त प्रतीत होता है कि ये जीव की ही मनुष्य से इतर व उच्चतर अवस्थायें हैं। पुराणों में ये स्वर्ग की अवस्थायें मानी गई हैं, और यह सिद्धान्त है कि जीव एक नियत समय तक इन योनियों में रह कर अपने कर्मानुसार फिर लौट कर मनुष्य योनि में आता है। मोक्ष का साधन मनुष्य योनि ही से है। यही बात गीता के अ० ८ में कही गया है।

"आ ब्रह्मन् भुवनाल्लोका पुनरावर्तिनोऽर्जुन!
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥"

(अर्थ) हे अर्जुन इन सब लोकों से, ब्राह्मलोक तक जीव फिर लौटता है। पर जिसने मुझ को पा लिया, (गीता की भाषा में ब्रह्म को पा लिया), उसका फिर जन्म नहीं होता। इन दिव्य लोकों का वर्णन तैत्तिरीयोपनिषद् के ८ अनुवाक् में है और बृहदारण्यक उपनिषद् के अध्याय ४ में है। यह विषय शतपथ ब्राह्मण में भी आया है।

(३) बृहदारण्यक के अ०४ के ४ ब्राह्मण में ये वचन है—"तद् यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुते, एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्य अविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते, पित्र्यं वा, गंधर्वं वा, दैवं वा, प्राजापत्यं वा, ब्राह्मं वा अन्येषां वा भूतानाम्"।

(अर्थ) जैसे स्वर्णकार पुराने स्वर्ण की मात्रा लेकर अन्य नवीनतर व कल्याणतर रूप बनाता है, इसी तरह यह आत्मा इस शरीर को नष्ट करके, अविद्या को पार करके अन्य नवीनतर और कल्याणतर रूप को धारण करता है—चाहे पितृ लोक में, वा गंधर्व लोक में, वा प्रजापति लोक में, वा ब्राह्म लोक में, अथवा अन्य भूतों में॥

इससे उपनिषद् का यह भाव प्रतीत होता है कि पुनर्जन्म में जीव साधारणतया नया शरीर तो धारण करता ही है, पर वह पहले शरीर की अपेक्षा श्रेष्ठतर होता है जो कल्याणतर शब्द का अर्थ है। यह वचन बहुधा इसी भाव को प्रकट करने वाला समझा जाता है। यह अर्थ युक्त भी है। श्री अरविन्द ने सृष्टि का उद्देश्य जीव की आध्यात्मिक उन्नति ही माना है। थियोसोफिकल सोसायटी का भी यही मत है मैं आशा करता हूँ कि श्री पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय जी वा अन्य अन्य आर्य विद्वान् विचारपूर्वक इस पर अपना मत प्रकट करेंगे॥

सम्पादकीय—

मीमांसा का सूर्य अस्त हो गया

म० म० श्री० अ० चिन्नस्वामी शास्त्री जी का निधन

समस्त भारत में यह घटना बड़े दुःख और शोक से सुनी जायगी कि ११ अगस्त १९५६ शनिवार के दिन कलकत्ता में भारत की एक विभूति के रूप में प्राचीन संस्कृत वाङ्मय का, विशेषकर वेद, श्रौत और मीमांसा का सूर्य अस्त हो गया। अर्थात् महामहोपाध्याय श्री अ० चिन्न स्वामी शास्त्री का देहावसान हो गया। आप मद्रास से अपने चतुर्थ पुत्र का विवाह करके अपने द्वितीय पुत्र के पास कलकत्ता में ठहरे थे। लगभग २ वर्षों से आप को पक्षाघात का भयङ्कर आक्रमण हुआ, जिसमें भगवान् की अपार कृपा से आप बहुत कुछ ठीक हो रहे थे। थोड़ा थोड़ा चलने फिरने भी लगे थे। मद्रास में इन्हें पीलिया रोग का भी कुछ २ आक्रमण हुआ। कलकत्ता में बढ़ गया। सब प्रकार उपचार किया गया। ३-४ दिन पहले से उनका बोलना बन्द हो गया था। देहान्त से पूर्व सब पुत्र देहली-काशी आदि से कलकत्ता पहुँच गये थे। आपकी धर्मपत्नी जी भी मद्रास से कलकत्ता पहुँच गई थीं। आप की आयु ६७ वर्ष की थी। आप अपने पीछे धर्मपत्नी, पाँच पुत्र और चार पुत्रियां छोड़ गये हैं। प्रभु उन्हें सद्गति तथा सन्तप्त परिवार को शान्ति प्रदान करें।

समस्त भारत में आप संस्कृत के बहुत ऊँचे विद्वान् थे। वेद-श्रौत और मीमांसा के आप मर्मज्ञ थे। इन तीनों विषयों में आपकी योग्यता अपूर्व थी। काशी में मीमांसा का वास्तविक वा गहरा ज्ञान जितना इनको था, उतना किसीको विगत ४० वर्षों में देखने में नहीं आया। गुरु परम्परा से वेद और श्रौत का पूरा ज्ञान होने के कारण ही आप मीमांसा के मर्मज्ञाता थे। मीमांसा के सभी अंगों पर आपका पूरा अधिकार था। छात्र वा प्रोफेसर को जैसे साइंस का क्रियात्मक (Practical) ज्ञान न होने से केवल पुस्तक (किताबी) ज्ञान तो होता है पर वास्तविक ज्ञान से वह शून्य ही रहता है, इसी प्रकार का मीमांसा का किताबी ज्ञान ही प्रायः सर्वत्र देखने में आता है। वेद-श्रौत और मीमांसा का मर्म जानने वाले ही इस बात को जान सकते हैं। श्रद्धेय श्री० अ० चिन्न स्वामी शास्त्री जी को यह सब विषय हस्तामलक था। हमारी दृष्टि में मीमांसा का इतना गम्भीर ज्ञान रखने वाला विद्वान् काशी में तो है ही नहीं, समस्त भारत में भी नहीं—ऐसा हमें अनेक स्रोतों से ज्ञात हुआ। इसी से सहसा कहना पड़ता है कि भारत में मीमांसा का सूर्य अस्त हो गया। इसमें कुछ भी भावावेश या अत्युक्ति नहीं है।

आप जहां इतने बड़े विद्वान् थे वहाँ आप बहुत ही सरल-व्यवहारकुशल और उदार थे। श्रद्धेय स्वर्गीय मालवीय जी के सम्पर्क में तथा हिन्दूविश्वविद्यालय में लगभग २७-२८ वर्ष मीमांसादि पढ़ाने के कारण आपने अनेक सुधार के कार्यों में पूरा सहयोग दिया। भारतरत्न श्री डा० भगवान् दास जी की अध्यक्षता में तथा श्री डा० मंगलदेव जी शास्त्री प्रिंसिपल ग० सं० का० के मंत्रित्व में सन् १९३८ में होने वाली गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज की पाठ्यक्रमादि की कमेटी में आप प्रमुख सदस्य रहे। और उसके सुधारों में आपका पूरा हाथ रहा—यह एक बड़ी भारी क्रान्ति थी जिससे देश को महान् लाभ हुआ। इसके आधार पर ही उत्तरप्रदेश सरकार ने काशी ग० सं० कालेज का पाठ्यक्रम चलाना आरम्भ किया। इसकी पृष्ठभूमि सन् १९३८ में ही बनी थी जिसमें अनेक विद्वानों का सहयोग था।

श्री० शास्त्री जी ने बड़ी उदारता से हिन्दू विश्वविद्यालय में स्त्रियों को वेद पढ़ाने के अधिकार की स्वीकृति सहर्ष दी थी जिसकी चर्चा काशी में पर्याप्त रही। सन् १९४८ में आर्यन् कान्फ्रेंस (आर्य महा सम्मेलन कलकत्ता) में होनेवाले आर्य-विद्वत्-सम्मेलन में आपने "देवतावाद" पर अद्भुत और अपूर्व भाषण देकर भारत के विद्वानों को चकित कर दिया था कि यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र' 'इषे त्वोर्जे" का 'शाखा' देवता नहीं, अपितु शाखाछेदनादि में यह मन्त्र विनियुक्त है। उनका यह भाषण कलकत्ता के पत्रों में तथा काशी के "सुप्रभातम्" आदि में भी छपा था।

ऐसे अपूर्व विद्वान् का उठ जाना स्वतन्त्र भारत की एक ऐसी क्षति है जिसका पूर्ण होना अति कठिन है।

अब हम शास्त्री जी का संक्षिप्त परिचय देते हैं जिससे उनके सम्बन्ध में कुछ जानकारी भारतीयों तक पहुँच सके—

श्री शास्त्री जी का संक्षिप्त परिचय

महामहोपाध्याय शास्त्ररत्नाकर पण्डित अ० चिन्न स्वामी शास्त्री जी का जन्म मई १८९० ई० में मण्डकोलत्तूर जिला उत्तरीय अरकाट (मद्रास प्रान्त) में हुआ था। आप के पूज्य पितृदेव का नाम श्री अप्पा स्वामी अधियार था। शास्त्री जी का विवाह सन् १९०६ में हुआ। आपके ५ पुत्र और ४ पुत्रियाँ हैं।

शिक्षा—आपने अपने पूज्य पिता जी (जो वेदविषय में प्रामाणिक माने जाते थे) से कृष्ण यजुर्वेद तथा काव्य पढ़ा।

(२) श्री० स्वर्गीय पं० वेङ्कटरमण शास्त्री जी से गुरुकुल प्रणाली से काव्यशास्त्र का ऊँचा अध्ययन किया।

(३) मैलापुर (मद्रास) संस्कृत कालेज में संस्कृत के महाविद्वान् श्री महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री-महामहोपाध्याय चन्द्रशेखर शास्त्री तथा महामहोपाध्याय वेङ्कट सुब्बा शास्त्री से अनेक विषयों का अध्ययन किया। इनमें अन्तिम म० म० श्री वेङ्कट सुब्बा शास्त्री जी इनके मीमांसा शास्त्र के गुरु थे। दक्षिण भारत के महान् उपकारी श्री बी० कृष्ण स्वामी ऐयर द्वारा संचालित मैलापुर संस्कृत कालेज के आप द्वितीय बैच के छात्रों में थे। संस्कृत कालेज का अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् आप अपने प्राचीन गुरु श्री० म० म० वेङ्कट सुब्बा शास्त्री जी से अपने एकमात्र सहपाठी महामहिम जगद्गुरु शंकराचार्य काञ्चीकाम कोटी पीठ के साथ मीमांसाशास्त्र का विशेष अध्ययन करते रहे, जब से कि वे पीठ के अध्यक्ष नियत हुए॥

यतः शास्त्री जी को संस्कृतविद्या, वेदशास्त्रों तथा प्राचीन संस्कृति के बहुत ऊँचे संस्कार मातृकुल तथा पितृकुल दोनों से पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुए थे, इसी से शास्त्री जी न केवल वेद, श्रौत एवं धर्मशास्त्रों का अनुपम ज्ञान रखते थे, अपितु वेदमन्त्रों के सस्वर सच्छन्द शुद्ध उच्चारण में भी निपुण थे।

इनकी नियुक्ति निम्नाङ्कित संस्थाओं वा कार्यों में निम्न समय पर हुई—

(१) मीमांसा के प्राध्यापक-महाराजा संस्कृत कालेज तिरुवयम १९१४-१९१८।

(२) प्राध्यापक तथा अध्यक्ष मीमांसा विभाग-काशी हिन्दू विश्वविद्यालय १९१८-१९३६।

(३) अध्यक्ष धर्मशास्त्र विभाग-मीमांसा विभाग-काशी हिन्दू विश्वविद्यालय १९३६-१९३८।

(४) वाइस प्रिंसिपल धर्म विज्ञान (Theology) विद्यालय हिन्दू विश्वविद्यालय काशी १९३८-१९३९।

(५) प्रिंसिपल, प्रौफेसर वेदान्त तथा मीमांसा श्री वेङ्कटेश्वर ओरियण्टल-संस्कृत कालेज तिरुपति १९३९-१९४०।

(६) प्रिंसिपल धर्मविज्ञान विद्यालय (College of theology) काशी हिन्दूविश्वविद्यालय १९४०-१९४७।

(७) लेक्चरर संस्कृत विभाग कलकत्ता यूनिवर्सिटी १९४७-१९५१।

(८) रिसर्चस्कालर- स्मृति पुराण-गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज कलकत्ता १९५१-५४।

सदस्य अनेक परीक्षक समिति हिन्दू विश्वविद्यालय काशी
सदस्य शिक्षाबोर्ड आन्ध्र यूनिवर्सिटी
सदस्य संस्कृत शिक्षाबोर्ड लखनऊ यूनिवर्सिटी
मनोनीत सदस्य संस्कृत शिक्षाबोर्ड गवर्नमैण्ट संस्कृत कालेज पाठ्यक्रम-सुधार कमेटी उत्तर प्रदेश १९३८॥
सदस्य उत्तर प्रदेशीय सरकार द्वारा नियुक्त संस्कृत शिक्षाबोर्ड
सदस्य—बंगीय संस्कृत शिक्षाबोर्ड-बंगाल सरकार।
परीक्षक—अनेक विश्वविद्यालयों के अनेक विषयों में तथा सदस्य परीक्षा समिति।
प्रधान—भारतवर्षीय देवभाषा परिषद् (१९३६-१९४८)
प्रधान—भारतवर्षीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन (१९४५)
प्रधान—मीमांसा विभाग ओरियण्टल कान्फ्रेंस (१९४८)

प्रकाशन

स्वनिर्मित—मीमांसा न्याय प्रकाश पर 'सारविवेचनी' टीका विधितत्त्वसंग्रह-तौत्तर सिद्धान्त रत्नावली-शाबर भाष्य पर टीका-वैदिकयज्ञ मीमांसा, यज्ञतत्त्व प्रकाश।

सम्पादित—मीमांसा कौस्तुभ ३ भाग।
आपस्तम्ब गृह्यसूत्र-आपस्तम्ब धर्मसूत्र-बौधायन धर्मसूत्र-बृहती-ताण्ड्यमहाब्राह्मण २ भाग।

शास्त्री जी भारत में अनेक बड़े बड़े यज्ञों के अध्यक्ष रहे। यज्ञों के संचालन के लिये अनेक राजा महाराजा उन्हें बुलाते थे। आप उन गिने चुने विद्वानों में से थे जिन्हें संस्कृत एसोसियेशन बिहार की ओर से मिथिलेश-महेश लैक्चर्स के लिये बुलाया जाता था, जिसमें महामहिम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद पं० जवाहरलाल नेहरू तथा श्री पतञ्जलि

(शेष टा० पृ० २ पर)

किताब "रद्द मुसलमां" बनाई फिर उबेदुल्ला नामी मुसलमान ने एक किताब "तोफेतुलहिन्द" बनाकर छपवाई उसमें देवता आदि की अतीव निन्दा भरी है, मुसलमानों ने इस किताब के अनुसार जगह २ हिन्दुओं के सम्मुख देवता आदि और हिन्दू मत की निन्दा करनी आरंभ की। इससे बहुधा मूर्ख हिन्दू मुसलमान हो गये, तब मुंशी इन्द्रमणि ने अपने मतानुयायियों की रक्षा के लिये उस किताब के उत्तर में एक किताब "तोफेतुलइसलाम" बनाई और वह आगरा लाहौर, गुजरांवाला, बुलन्दशहर, मुरादाबाद आदि में छपकर प्रसिद्ध हुई। फिर मुरादाबाद के मुसलमानों ने "एजाज़ मुहम्मदी" और "हिदयेतुलइइसना" दो किताब बनाईं। इनमें हिन्दुओं के देवताओं की बहुत बुराई प्रमाण शून्य लिखी और छापकर प्रसिद्ध की। इनके उत्तर में मुंशी इन्द्रमणि ने "हमलः हिन्द" और "समसाम हिन्द" दो किताब बनाईं। वे १६ वर्ष हुए मेरठ में, फिर १२ वर्ष हुए मुरादाबाद में मुद्रित हुईं। इन किताबों के छपने से आज तक कहीं हिन्दू मुसलमानों में कोई उपद्रव नहीं हुआ फिर मुसलमानों की ओर से मौलवी मुहम्मदअली तहसीलदार विस्तारी जिला मुरादाबाद ने इन दोनों किताबों के उत्तर में "सीतुल्लाजव्वार" नामी एक किताब बनाकर बरेली में छपवाई। इसमें हिन्दुओं के देवता और मुंशी इन्द्रमणि को निरी गालियां ही भरी हैं। फिर मुसलमानों ने और भी कई किताब "लब्जतुलहिन्द, तेग़ फकीर बर गरदन शरीर, हक़गोई शरह, सलोई" आदि बनाई। जिनमें हजारों गालियां देवता और अवतारों को लिखी हैं। मुंशी इन्द्रमणि ने इन किताबों का उत्तर तो नहीं लिखा केवल अपनी पहिली दो बार की छपी हुई हमलः हिन्द समसाम हिन्द को तीसरी बार छपवाया। मुरादाबाद के एक मुसलमान ने द्वेष करके अपने अखबार जामशमशैद १६ मई सन् ८० में लिखा कि इन किताबों के छपने से यहां के मुसलमान बिगड़ रहे हैं कोई इन्द्रमणि को मार डालेगा। सरकार इन किताबों को जलवा दे। इस पर गवर्नमेण्ट से एक चिट्ठी सत्य निर्णयको साहब मजिस्ट्रेट के नाम आई। उन्होंने वह चिट्ठी डिपटी इमादअली को सौंपी। डिपटी इमादअली तो मुंशी इन्द्रमणि के जानी शत्रु और अपने मत के अतीव पक्षपाती हैं। साहब बहादुर को इस विषय में खूब ही समझाया और इन्द्रमणि की ओर अपने निर्णयपत्र में पूर्ण दोष आरोपण किये। अब तो प्रायः मुसलमानों ने नगर में कहना प्रारम्भ किया कि इन्द्रमणि को कठिन होगा। अभी साहब बहादुर ने गवर्नमेण्ट की चिट्ठी का उत्तर नहीं लिख था कि मुंशी इन्द्रमणि ने एक अरजी डाक के द्वारा साहब मजिस्ट्रेट के पास भेजी कि इस विषय में मुझको बुलाकर निर्णय किया जाय।

२१ जुलाई साहब बहादुर किसी कारण से रयासत रामपुर को पधारे, वहां के राज्याधिकारी पुरुषों ने साहब बहादुर से इन्द्रमणि के विषय में बहुत कुछ कहा और उन्हें महा कोपित कर दिया, साहब उसी दिन रामपुर से लौट आये, २२ तारीख कचहरी में जाते ही मुंशी इन्द्रमणि को दफ़ा २९२ और २९३ ताज़िरात हिन्द का दोष लगाकर वारण्ट के द्वारा कचहरी में बुलाया। हम नहीं जानते जब कि मुंशी जी आप अरजी दे चुके थे कि मुझे बुलाया जाय, फिर साहब बहादुर ने प्रथम ही वारण्ट की क्या आवश्यकता समझी। क्या साहब बहादुर को मुसलमानों की प्रसन्नता और मुंशी साहब की जो कि हिन्दुस्तान भर में एक प्रतिष्ठित पुरुष हैं उनकी अप्रतिष्ठा ही करनी स्वीकार थी परन्तु कोर्ट इंस्पेक्टर साहब जो वारण्ट लाये थे मुंशी साहब को अपनी सज्जनता के कारण प्रतिष्ठा सहित ही साहब की कचहरी में ले गये और मुंशी साहब के पहुँचते ही बाबू नरेन्द्रचन्द्र और बाबू बैजनाथ वकील भी अदालत में पधारे। साहब बहादुर ने मुंशी साहब से कहा कि तुमने "हमलः हिन्द वा समसाम हिन्द" में अमुक २ बातें कहां से लिखीं? उत्तर दिया कि अमुक २ किताब से लिखी हैं और मैंने ये किताबें मुसलमानों की बनाई हुई किताबों के उत्तर में लिखी हैं, कुछ दिन का अवकाश मिले तो सबका प्रमाण दूंगा, वकील भी अवकाश ही की प्रार्थना करते थे, परन्तु साहब ने इस पर कुछ ध्यान न किया और यह आज्ञा दी कि हम २५ को सरकारी गवाही सुनेंगे और २६ को मुकदमा करेंगे एक घण्टे के भीतर १०००) रु० जमानत के दो। एक घण्टे में १०००) रु० जमानत की आज्ञा भी मुंशी साहब को बंदीग्रह भेजने की सूचक है, क्योंकि मुंशी साहब धनाढ्य तो हैं नहीं, केवल विद्या में प्रसिद्ध हैं, परन्तु ईश्वर को मुंशी साहब की बात रखनी थी; किसी पुरुष ने अपने पास से १०००) रु० जमानत का दे दिया।

२३ जुलाई को तातील थी २४ को मुकदमा पेश हुआ। साहब बहादुर ने कहा कि हमने "हमलः हिन्द व समसाम हिन्द" पर २ आक्षेप रक्खे, इनका उत्तर दो—

(१) "मेहर" को खर्ची क्यों लिखा ?
(२) मरियम के विषय में जो लिखा है कहां से लिखा ?
(३) आईशा और संग असवद की कथा कहां से लिखी ?

प्रथम बाबू बैजनाथ ने "शरह मुहम्मदी" का तरजुमा बाबू श्यामाचरण का किया हुआ जो कानून सरकारी है दिखाया कि इसमें भी 'मेहर' को खर्ची लिखा है, फिर मुंशीजी ने दूसरे प्रश्न का उत्तर कुरान के "सूरह तहरीम" में में दिखा दिया, इस पर अंग्रेजी कुरान भी देखा गया उसमें भी वही अभिप्राय निकला। तीसरे आक्षेप के विषय में मुंशीजी ने निवेदन किया कि "हिन्दयेतुल इसनाम" वालों ने एक कथा शिव पारवती की महा निन्दित लिखी है वह "रद्द हिन्दू" में से लिखी है उसके उत्तर में जो कुछ "रद्दमुसलमा" वाले ने लिखा था वही "रद्दमुसलमां" में से मैंने लिखा है। फिर मुंशीजी की ओर से दरखास्त गुज़री कि हमारे पास इस समय कुरान के सिवाय और किताब नहीं है और हमलः हिन्द समसाम हिन्द में मुसलमानों की किताबों से लिखा है। १५ दिन का अवकाश मिले तो सब किताब तलाश करके प्रमाण दिया जाय और गवाहों के नाम सम्मन जारी कराये जायं। यह दरखास्त नामंजूर हुई। फिर बाबू बैजनाथ ने दूसरी दरखास्त गुजारी कि हुक्म नामंजूरी दरखास्त की नक़ल मिले कि हम अपील करें और मुकदमा मुलतवी रहे। यह भी नामंजूर हुई और जो कुछ मुंशी साहब तथा वकीलों ने निवेदन किया साहब ने कुछ न सुना और ५००) रुपये मुंशी इन्द्रमणि पर जुरमाना कर दिया और सम्पूर्ण 'हमलः हिन्द व समसाम हिन्द' मकान मुंशी साहब के से कोर्ट इंस्पेक्टर को भेजकर मंगाली और फड़वा डालीं।

महान् शोक है कि यह वादानुवाद मुसलमान और हिन्दुओं में ३० वर्ष से हो रहा था और प्रथम मुसलमानों ने ही हिन्दुओं के खण्डन प्रमाण शून्य किताबें लिखी थीं, जिनसे हिन्दू मत की बड़ी निन्दा और हानि हुई कि बहुधा हिन्दू उनकी मिथ्या बातें सुन कर मुसलमान हो गये। उनको तो आज तक कहीं सरकार ने कुछ नहीं कहा और मुंशी इन्द्रमणि ने अपने मत की रक्षा के लिये उन किताबों का उत्तर प्रमाण सहित लिखा और अब केवल वह किताबें जो पहले दो बार मुद्रित होकर प्रसिद्ध हो चुकी है और जिनसे आज तक कहीं कोई उपद्रव भी नहीं हुआ तीसरी बार छपवाई तो ५००) रु० जुरमाना हुआ और किताबें फाड़ी गई। इस मुकदमें में साक्षात् मुसलमानों का पक्ष हुआ। इस मुकदमे को सुनकर नगर २ के हिन्दुओं में हाहाकार हो रहा है। हिन्दू मुसलमानों में यहां विरोध हो गया। हम न्यायशील गवर्नमेण्ट से प्रार्थना करते हैं कि यह शास्त्रार्थ जिस प्रकार ३० वर्ष से हो रहा है और हिन्दू ईसाई मुसलमान आज तक जैसे अपने मत के प्रतिपादन और परमत के खण्डन की किताबें लिखने में स्वतन्त्र हैं उसी प्रकार हिन्दुओं को रक्खें। नहीं तो जिन २ मुसलमानों ने हिन्दुओं के खण्डन में किताबें लिखी हैं और देवता अवतार आदि की वृथा निन्दा की है उनको भी दण्ड दे।

पृष्ठ ३९२ पं०, २१—एक मान्य-पत्र मुझको दिया—

पृष्ठ ४१७ पं० ११-१३—जो मुंशी समर्थदान ने मान्य-पत्र के साथ छापा है, सो अच्छा है। क्योंकि इतने लेख के विना मान्य-पत्र का अर्थ लोगों की समझ में नहीं आता। इतना लेख अवश्य होना था।

मुंशी समर्थदान का प्रारम्भिक लेख और मान्यपत्र यजुर्वेदभाष्य अंक ४७, ४९ (सम्मिलित) के आवरण पत्र ३ पर इस प्रकार छपा था—

विज्ञापन

सब सज्जनों को प्रकट हो कि श्री स्वामी जी महाराज श्री महाराणा जी के उदयपुर में ७ मास तक विराजमान रहे। उस समय श्रीमान् उदयपुराधीशों ने स्वामी जी महाराज को मान-पत्र दिया, सो सब लोगों के अवलोकनार्थ प्रगट किया जाता है—

भूल सुधार

गत जुलाई ५६ के नवम अंक में 'पुस्तक-परिचय' में 'तपोभूमि' मासिक पत्रिका की समालोचना छपी है। उसमें हमने केवल फैरवरी के अंक के आधार पर ही पृष्ठ संख्या १२ तथा मूल्य ३) वार्षिक क्रम से दिया है। पर वस्तुतः ऐसा नहीं। अतः पाठक उसमें निम्न सुधार करलें—"तपो भूमि की पृष्ठ संख्या प्रायः २०–२२ तक रहती है। और इसका वार्षिक मूल्य २) है"। —सम्पादक "वेदवाणी"॥

संपादक, प्रकाशक व मुद्रक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, बनारस (वाराणसी)।

ॐ

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ८] ❀ [अङ्क १२

इस अंक में पढ़िये

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

आश्विन २०१३, अक्तूबर १९५६
दयानन्दाब्द १३१
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०५६

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) बनारस नं० ६

वार्षिक मूल्य-भारत में ५)
" " वी० पी० से ५।=)
" " विदेश में ६)
इस अंक का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास की प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ॥) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है ॥

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) बनारस नं० ६

ऋग्वेद ओ३म् यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद अथर्ववेद

सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष ८ } काशी, आश्विन सं० २०१३ वि०, अक्टूबर १९५६ ई० { अङ्क १२

आर्याभिविनय से

टिप्पणीकर्त्ता—विन्ध्यवासिनी प्रसाद अनुगामी

प्रार्थना-विषय

जिसका प्रभु सखा उसे दुःख कहां ?

त्वं नः सोम विश्वतो रक्षा राजन्नघायतः।

न रिष्येत् त्वावतः सखा॥ ऋग्० १।६।२०।८

दण्डान्वयटीका

हे सोम राजन्	हे सब, प्राणों से युक्त एवं प्राणरहितों के भीतर घुसकर उनके गुण-दोषों को समझने वाले शासक	विश्वतः	(लुके छिपे एवं प्रकट) सब
त्वम्	आप	अघायतः[2]	कष्ट पहुँचाने वाले अतः स्वयं दुःख के भागी जनों से
		नः	हमलोगों को

अर्थबोधक टिप्पणी—

१. नि:० (derived from) षुञ = अभिषवे (extraction or pressing out)—स्वा०। षूङ् प्राणिगर्भविमोचने अदा०। षूङ् प्राणिप्रसवे—दिवा०।

२. नि:० अघ = sin, grief—आप्टे.

[शेष पृष्ठ ४ पर]

अहो, मैं क्या था, क्या हो गया !

[ले०—श्री पं० रामनाथ जी वेदालङ्कार, गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार]

[प्रायः व्यक्तियों, जातियों और देशों के जीवनों के इतिहास में उत्थान और पतन के उलट फेर होते रहते हैं। जो आज शिखर पर आरूढ़ है वही कल भूमि पर गिरा हुआ दृष्टिगोचर हो सकता है। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने उज्वल भूत को स्मरण कर वर्तमान को भी उज्वल बनाने का प्रयत्न करें। इसी भावना को जागृत कराने वाला एक वैदिक वर्णन यहाँ दिया जाता है। यह किसी व्यक्ति विशेष का इतिहास नहीं है, किन्तु शिक्षा देने के लिए रचा गया एक काल्पनिक चित्र है—लेखक।]

मित्रो ! आओ, आज मैं तुम्हें अपने अतीत और वर्तमान की कथा सुनाऊँ। मैं किस प्रकार एक उन्मुक्त पक्षी की भाँति स्वच्छन्द आकाश में विहार किया करता था और अब पर-कटे पक्षी की तरह ऊपर से नीचे गिरा पड़ा हूँ, वह सब कहानी तुम्हें कहूँ।

प्र मा युयुज्रे प्रयुजो जनानां,
वहामि स्म पूषणमन्तरेण।
विश्वे देवासो अध मामरक्षन्,
दुःशासुरागादिति घोष आसीत् ॥

ऋग्० १०।३३।१

एक दिन था जब कि मैं कटिबद्ध होकर कार्यक्षेत्र में उतरा हुआ था। मेरे अन्दर अपार उत्साह था, असीम क्रियाशक्ति थी। प्रयत्न, प्रयत्न और पुनः प्रयत्न, बिना लक्ष्य पर पहुँचे दम न तोड़ना-यही मेरे जीवनमार्ग का पाथेय था। जो भावनाएँ मनुष्य को प्रयत्न में प्रेरित करती हैं वे मेरे अन्दर उमड़ उमड़ कर उठती थीं। मैं अपनी वर्तमान अवस्था से ऊँचा उठूँ, यही भावना मेरे अन्दर हिलोरें मारती थी। मैं सोचता था कि भूमि से मैं अन्तरिक्ष में उड़ जाऊँ, अन्तरिक्ष से द्युलोक में पहुँच जाऊँ और द्युलोक में भी अपनी उड़ान को विराम न देकर उससे भी आगे स्वर्लोक की यात्रा में संलग्न हो जाऊँ[२]। मैं सोचता था कि मैं अहर्निश आगे बढ़ता रहूँ, जो मेरे बराबर के हैं, उनसे आगे निकल जाऊँ और जो मुझसे आगे हैं उन्हें भी पीछे छोड़ दूँ[३]। मैं चाहता था कि मैं विद्या में सर्वोपरि हो जाऊँ, अध्यात्मज्ञान में सर्वोपरि हो जाऊँ। इस प्रकार की मनुष्य को उच्चता की ओर प्रेरित करने वाली महत्त्वाकांक्षाओं से मैं प्रेरित था।

इसीका परिणाम था कि मैं अपने अन्दर 'पूषा' को धारण किये था। मेरे हृदयाकाश में मानो सदा परिपुष्ट सूर्य उदित रहता था। मेरे अन्तस्तल का एक एक कोना परिपुष्ट सूर्य की रश्मियों से प्रकाशित रहता था। कहीं भी अज्ञान, अविवेक, मोह, तामसिकता, ईर्ष्या, द्वेष, भय आदि के अन्धकार की सत्ता नहीं थी। साथ ही 'पूषा' नाम से स्मरण किये जाने वाले सर्वात्मना परिपुष्ट तथा सर्वपोषक अजर-अमर-अक्षय भगवान् को भी मैं सदा अपने हृदय में बसाये रखता था। प्रतिपल, प्रतिकार्य में उन 'पूषा' प्रभु को मैं स्मरण रखता था।

उन दिनों कभी मैं अपने आपको अरक्षित अनुभव नहीं करता था। सब दिव्य गुण, सब देवजन और सब

---

१. (जनानां प्रयुजः) मनुष्यों को प्रयत्न में प्रेरित करने वाली भावनाओं ने (मा प्रयुयुज्रे) मुझे प्रयत्न में प्रेरित किया हुआ था। मैं (अन्तरेण) अपने अन्दर (पूषणं वहामि स्म) परिपुष्ट सूर्य को धारण किये रहता था, या 'पूषा' प्रभु को धारण किये रहता था। (अध) और (विश्वे देवासः) सब दिव्य गुण, सब देवजन तथा सब दिव्य प्राकृतिक पदार्थ (माम् अरक्षन्) मेरी रक्षा करते थे। जहाँ कहीं मैं जाता था, वहाँ (दुःशासुः आगात्) 'यह दुर्जय पुरुष आ गया है' (इति घोषः आसीत्) यह आवाज़ उठती थी।

२. पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्। दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्।

३. आमुहि श्रेयांसमति समं क्राम।

प्राकृतिक दिव्य पदार्थ (विश्वे देवासः) मेरे रक्षक बने हुए थे। मेरे अन्दर विद्यमान अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान आदि दिव्य गुण पाप, अनाचार, अनैतिकता आदि के बड़े से बड़े आँधी-तूफानों से मेरी रक्षा करते थे। साथही देश में रहनेवाले सब मनुष्य देवजन भी मेरी रक्षा के लिये उद्यत थे। मुझे अपनी रक्षा की चिन्ता स्वयं नहीं करनी पड़ती थी, किन्तु मुझे अपना महान् नेता मान कर देशवासी ही मेरी रक्षा के लिए चिन्तित रहते थे। मुझे जरा सा सिर दर्द होने पर देश के बड़े बड़े चिकित्सक अपनी सेवाएँ देने के लिए मेरे पास दौड़े चले आते थे। मुझे जरा से धन की आवश्यकता होने पर देश के बड़े बड़े धनपति अपनी समस्त पूँजी मेरे चरणों पर न्यौछावर करने के लिये लालायित रहते थे। मुझे जरा सा शत्रु-भय होने पर बड़े-बड़े वीर योद्धा मेरे लिए प्राण अर्पित करने को तैयार रहते थे। ऐसा गौरवमय मेरा जीवन था। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक पदार्थ रूपी जो तीसरी श्रेणी के देव हैं, वे भी मेरे रक्षक बने हुए थे। सूर्य, वायु, अग्नि, पर्वत, नदी, समुद्र, बादल आदि किसी भी पदार्थ की शक्ति नहीं थी कि मुझसे विद्रोह करे। ऐसा महान् मेरा व्यक्तित्व था कि ये सब मानो मेरे अनुचर बने हुए थे।

इस प्रकार के महान् अद्वितीय गुणों से अलङ्कृत मैं जहाँ भी जाता था वहीं मेरा स्वागत-सत्कार होता था। लोग मेरा जय-जयकार करते थे। 'दुःशासु आगात्' 'दुःशासुः आगात्'—'स्वागत हो इस दुर्जेय का' 'स्वागत हो इस दुर्जेय का' यही नारा सबके मुखों से सुनाई पड़ता था। और जहाँ मैं पहुँचता था, वहाँ के दुर्जनों के चेहरों पर भय के चिह्न दिखाई देने लगते थे। और उनके मुखों से भी 'दुःशासुः आगात्', 'दुःशासुः आगात्',—'अरे, यह दुर्जेय आ पहुँचा', 'अरे, यह दुर्जय आ पहुँचा', ऐसे भयमूलक शब्द निकलने लगते थे। और मैं दुर्जनों को विदलित करता हुआ, सज्जनों को हर्षित करता हुआ अपनी ऊर्ध्वारोहण की यात्रा में प्रवृत्त रहता था।

यह है मेरे अतीत जीवन की एक झाँकी। पर अब? अब तो यह सब कहानी एक कहानी ही रह गई है।

सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः ।
नि बाधते अमतिर्नग्नता जसुर्वेर्न वेवीयते मतिः॥२॥

अब तो मेरी ऐसी अवस्था है मानों मैं किसी विस्तीर्ण सरोवर से निकलकर एक सीमित कुएँ के अन्दर जा पड़ा हूँ। सरोवर में मैं स्वतन्त्रतापूर्वक विहार कर सकता था, वहाँ कोई रुकावट नहीं थी। किन्तु इस कुएँ में तो चारों ओर ईंटों की पक्की दीवार है। ये ईंटें मुझे बुरी तरह संतप्त कर रही हैं। जिस प्रदेश में मैं निवास कर रहा हूँ वह प्रदेश ही कुआ है, और चारों ओर स्थित विविध जड़-चेतन पदार्थ उस कुएँ की ईंटें हैं। ये मेरे चारों ओर स्थित पदार्थ मुझे उसी तरह संतप्त करते हैं जैसे अनेक पत्नियों वाले पुरुष को वे पत्नियाँ सताती हैं। जैसे अनेक पत्नियाँ पुरुष को अपनी-अपनी ओर आकृष्ट करती हैं, पर सुख नहीं दे पातीं, वैसे ही चारों ओर स्थित ये विविध पदार्थ भी अपनी ओर आकृष्ट करके मुझे सुख से वंचित रखते हैं। कभी मैं जिह्वा से स्वादिष्ठ पदार्थों की ओर आकृष्ट होता हूँ, कभी आँख से सुन्दर वस्तुओं की ओर आकृष्ट होता हूँ। इस प्रकार संसार के विविध विषय मेरी इन्द्रियों को अपनी-अपनी ओर खींचते हैं। और उसका परिणाम होता है संताप। विषयों की ओर खिंचा हुआ मैं निरन्तर संतप्त हो रहा हूँ।

विषयों में पड़कर मेरी बुद्धि भी भ्रष्ट हो गई है। जहाँ पहले मेरी बुद्धि का सिक्का सब कोई मानता था और मैं अपनी बुद्धि के बल से लोगों की जटिल से जटिल समस्याओं को सुलझाकर उन्हें चमत्कृत कर देता था, वहाँ आज मैं मतिहीनता से पीड़ित हो रहा हूँ। यदि मैं किसी को अपनी बात सुनाना चाहता हूँ तो संसार मुझे मूर्ख कह कर मेरी बात की उपेक्षा कर देता है।

नग्नता भी मुझे व्याकुल कर रही है। पहले मैं भूखों को भोजन देता था, नंगों का शरीर ढकता था,

४. (पर्शवः) कुएँ की ईंटें,—संसारकूप के पार्श्वस्थ पदार्थ (सपत्नीः इव) एक पति वाली स्त्रियों के समान (मा संतपन्ति) मुझे सता रहे हैं। (अमतिः) मतिहीनता (नग्नता) नंगापन, (जसुः) क्षीणता—निर्धनता और निर्बलता (नि बाधते) पीड़ित कर रही हैं। (वेः न) पक्षी के समान (मतिः वेवीयते) मेरी मति काँप रही है—फड़फड़ा रही है।

किन्तु आज मैं स्वयं भूखा-नंगा हूँ। मैं आज निर्धन हूँ, निर्बल हूँ, क्षीण हूँ। आज मेरी मति काँप रही है। जैसे बाज के आगे चिड़िया भय से फड़फड़ाने लगती है, वैसे ही विपत्तियों को सामने देखकर मेरी मति भी भय से फड़फड़ा रही है।

अब मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, अपनी दीन दशा किसके आगे निवेदन करूँ?

५मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो। सकृत् सु नो मघवन्निन्द्र मृडयाधा पितेव नो भव॥ ३॥

हे इन्द्र! हे प्रभो सब स्थानों पर भटक कर अन्त में मैं तुम्हारी ही शरण आया हूँ। मेरी दशा की ओर दृष्टि तो डालो। जिस प्रकार आटे से पान कराये गये सूत को चुहियें खा जाती हैं, उसी प्रकार मुझे विविध आधियाँ, विविध मानसिक चिन्ताएँ-खाये जा रही हैं। इस चिन्ता रूपी चुहियों से खाया जाकर मैं निरन्तर जर्जरित हुआ जा रहा हूँ। हे देव! तुम तो शतक्रतु हो, बड़े से बड़े विकट कर्मों को अनायास ही सम्पन्न कर देने वाले हो। तुम्हारी कृपादृष्टि होने पर पंगु पर्वत को लाँघ सकता है, अंधा देखने की शक्ति पा सकता है, गूँगा वाचाल हो सकता है, रंक राजा हो सकता है। तो फिर मुझ दीन की दशा को सुधारना तुम्हारे लिए क्या कठिन है।

हे प्रभो! तुम 'मघवा' हो, अपार ऐश्वर्य के राजा हो। अपने ऐश्वर्यों के एक-दो कण मुझ पर भी बखेर दो। मुझे मतिहीन से मतिमान् कर दो, नंग्न से वस्त्राभूषित कर दो, निर्धन से धनवान् कर दो, निर्बल से बलवान् कर दो। हे देवाधिदेव! एक बार फिर अपनी कृपादृष्टि को मेरी ओर फेर दो। अपने स्तोता को फिर से सुखी कर दो। मेरे पिता बन जाओ। पिता की तरह मुझ अबोध शिशु के सब अपराधों को भुला कर मेरे रक्षक और परित्राता हो जाओ।

मैं अपनी वर्तमान अवस्था से तंग आ गया हूँ! व्याकुल होकर पुकार मचा रहा हूँ। मेरा उद्धार करो। मेरा उद्धार करो!!

---

५. (शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्मों को करने वाले प्रभो! (ते स्तोतारं मा) तेरे स्तोता मुझको (आध्यः व्यदन्ति) चिन्ताएँ खाये जा रही हैं (मूषः न शिश्ना) जैसे चुहिए आटे से पान कराये गये सूत को खा जाती हैं। (मघवन् इन्द्र) हे ऐश्वर्यों के रजा प्रभो! (सकृत् नः सु मृडय) एक बार तो मुझे सुखी कर दे। (अध नः पिता इव भव) और मेरे लिए पितृतुल्य हो जा।

[पृ० १ का शेष]

रक्ष	बचाओ
(तथा)	और
त्वावतः सखा	जो आपका स्नेही बनकर रहता है अर्थात् आपसे स्नेहबन्धन अनुभव करता है वह क्लेश
न रिष्येत्[3]	नहीं पाता है

ऋषिव्याख्यान—

हे "सोम राजन्" हे सोम राजन्नीश्वर! "त्वम्" तुम "अघायतः" जो कोई प्राणी हममें पापी पाप करने की इच्छा करने वाले हों, "विश्वतः" उन सब प्राणियों से "नः" हमारी "रक्ष" रक्षा करो। "त्वावतः सखा" जिसके आप सगे मित्र हो "न रिष्येत्" वह कभी विनिष्ट नहीं होता, किन्तु हमको आपके सहाय से तिलमात्र[4] भी दुःख वा भय कभी नहीं होगा। जो आपका मित्र और जिसके आप मित्र हों उसको दुःख क्योंकर हो॥

---

३. निः० रिष्=हिंसार्थः—भ्वा० : to hurt : to harm : to destroy : to give offence : to meet with a reverse or misfortune—आप्टे

४. तिलमात्र = ज़रा भी

दार्शनिक-धारा—

सांख्य की ग्यारह इन्द्रियां और वेदान्त

[ले०—विद्याभास्कर श्री पं० उदयवीर जी शास्त्री, बीकानेर]

सांख्य के तेरह करणों में ग्यारह को 'इन्द्रिय' माना गया है। इनमें पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और एक आन्तर इन्द्रिय है। इनमें श्रोत्र त्वक् चक्षु रसन घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा वाक् पाणि पाद पायु उपस्थ पाँच कर्मेन्द्रिय हैं। ये दस बाह्य इन्द्रिय कही जाती हैं। इसी अपेक्षा से एक आन्तर इन्द्रिय मन है। इनके इस नामकरण का मुख्य आधार अपने ग्राह्य विषयों के साथ सीधा संपर्क होना कहा जा सकता है। यथाक्रम इनके विषय हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग, आनन्द, स्मृति। पहले पाँच यथाक्रम ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं, श्रोत्र आदि से शब्द आदि का ज्ञान सम्पन्न होता है, ये ज्ञान के बाह्य साधन हैं। किसी भी ज्ञान के पूरा होने के लिये सबसे पहला पग इन साधनों का अपने विषय के साथ सम्बन्ध होना है, जो निश्चित रूप से बाहर का संसार है। इसके अनन्तर आन्तर साधन अपना कार्य करते हैं, तब ज्ञान पूरा हो जाता है।

आन्तर साधनों के तीन स्तर हैं। जो विषय बाह्य इन्द्रिय से गृहीत होता है, उसका मनन [तर्कवितर्कात्मक अथवा संकल्प विकल्पात्मक विचार] मन से, अभिमान अहंकार से तथा निश्चय बुद्धि के द्वारा होता है। यह ज्ञान का अन्तिम स्तर अथवा पग है। यहाँ ज्ञान पूरा हो जाता है। ज्ञान के इस क्रम में मन जो कार्य करता है, उसके आधार पर उसे केवल 'करण' कहा जा सकता है इन्द्रिय नहीं, क्योंकि उन उन विषयों के साथ उसका कोई सीधा संपर्क नहीं, प्रत्युत बाह्य इन्द्रियों के द्वारा ही वह सम्पन्न होता है। आन्तर करण होने से इसकी गणना अन्तःकरणों में की गई है।

वचन आदि अगले पाँच विषय यथाक्रम कर्मेन्द्रियों के हैं। ज्ञानेन्द्रियों के कार्यक्रम में जिस आनुपूर्वी को हमने परिलक्षित किया है, कर्मेन्द्रियों के कार्यक्रम में उससे कुछ विपर्यय देखा जाता है। ज्ञानेन्द्रियों में पहले, इन्द्रिय का विषय के साथ सम्बन्ध होता है, तब इन्द्रियों के साथ सम्बद्ध मन अपना कार्य करता है, फिर अहंकार और अन्त में बुद्धि निश्चय करती है। पर कर्मेन्द्रियों में यह क्रम परिलक्षित नहीं होता। वहाँ जिस क्रिया का अनुष्ठान करना होता है, उसके अनुकूल संस्कार अथवा वासना किसी उद्बोधक निमित्त के द्वारा मन में स्मृति रूप से उठ आती है, और मन उस भावी क्रिया के विषय में संकल्प विकल्पात्मक विचार प्रस्तुत करता है, अहंकार अभिमान तथा बुद्धि उसका निश्चय कर डालती है। अनुकूल स्मृति के उद्बोध से लेकर क्रियानुष्ठान के निश्चय तक अन्तःकरणों का कार्यक्रम यथापूर्व रहता है। निश्चय के अनन्तर चेतन आत्मा की प्रेरणा से वह कर्मेन्द्रिय क्रियानुष्ठान में तत्पर हो जाती है, जिसका वह विषय है। ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों के कार्यक्रम में इतना अन्तर है। यह इन्द्रियों की अपनी विशेष रचना तथा ज्ञान व कर्मरूप विलक्षण विषयों की स्थिति पर आधारित है।

ग्यारहवां विषय स्मृति है। किसी भी विषय की स्मृति, तद्विषयक संस्कार अथवा वासनाओं के आधार पर प्रकाश में आती है, संस्कार अथवा वासनाओं का आधार चाहे जो हो, पर स्मृतिरूप में प्रकट होने के लिये उनका सीधा संपर्क मन से होता है, इसलिये स्मृति के प्रकाशन में मन इन्द्रिय रूप से उपस्थित होता है। स्मृतिविषयक अभिमान और निश्चय अहंकार तथा बुद्धि के द्वारा पूर्वक्रमानुसार ही होते रहते हैं। 'मन' अन्तःकरण होते हुए इसी कारण 'इन्द्रिय' कहा जाता है। ज्ञान और कर्म के रूप में अपनी विलक्षणता के आधार पर समस्त विषय ग्यारह वर्ग में सीमित हैं। उनके ग्रहण व अनुष्ठान के लिये ग्यारह इन्द्रियों का अस्तित्व सम्पन्न होता है। ज्ञान कर्म के रूप में विषय की न्यूनाधिकता न होने से इन्द्रियों की न्यूनाधिकता संभव नहीं। सांख्य में नियत रूप से ग्यारह इन्द्रियों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है।

गौतम-कणाद ने छह इन्द्रियाँ स्वीकार की हैं, उन्होंने कर्मेन्द्रियों को इन्द्रिय नहीं माना। केवल ज्ञानसाधनों को इन्द्रिय संज्ञा दी है। उनका कहना है, कि कर्म के साधन स्थूलशरीर के अवयवमात्र हैं, उनके अतिरिक्त यहाँ किसी अन्य इन्द्रिय नामक तत्त्व के अस्तित्व की संभावना नहीं करनी चाहिये। केवल ज्ञानसाधन, बाह्यगोलकों के पीछे अपना अतिरिक्त अस्तित्व रखते हैं, जिनको इन्द्रिय कहा

जाता है। सांख्य की दृष्टि से कर्मसाधन शरीरावयवों के पीछे भी इन्द्रियों का अस्तित्व है। वस्तुतः जिन शरीरावयवों को कर्मसाधन कहा गया, वे उन इन्द्रियों के बाह्य गोलक-मात्र हैं, पीछे बैठा इन्द्रिय उनके द्वारा क्रियानुष्ठान का साधन बनता है। यह केवल रुचि की बात कही जा सकती है, कि कोई ज्ञानसाधनों को इन्द्रिय माने, कर्मसाधनों को न माने। पर वस्तुस्थिति इसका साथ नहीं देती। ज्ञानसाधनों की तरह कर्मसाधनों को भी इन्द्रिय मानने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये। अन्य भारतीय साहित्य भी इस तथ्य की विस्तार के साथ पुष्टि करता है।

भगवद्गीता में **'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि'** यह वाक्य केवल ज्ञानेन्द्रियों का निर्देश करता है, यह बात अगले श्लोकों से स्पष्ट है। इसका यह अभिप्राय न समझना चाहिये, कि गीता ने छह इन्द्रियों का ही अस्तित्व स्वीकार किया है। क्योंकि अन्य प्रसङ्गों [१३। ५] में इन्द्रियों की नियत ग्यारह संख्या का स्पष्ट उल्लेख है। प्रायः समस्त भारतीय साहित्य के द्वारा इस तथ्य का प्रतिपादन, सांख्य-निर्दिष्ट तत्त्वविषयक वस्तुस्थिति को और अधिक प्रकाश में ले आता है। चाहे वह प्रतिपादन स्वतन्त्र रूप से माना जाय, अथवा सांख्यविचारों के प्रभाव से।

वेदान्त सूत्र [२। २। १०] के भाष्य में आचार्य शंकर ने सांख्यसिद्धान्तों के प्रत्याख्यान-प्रसङ्ग से इन्द्रिय विषयक सिद्धान्त में परस्पर विरोध होने की आपत्ति प्रस्तुत की है। आचार्य ने लिखा है, कि 'सांख्य में परस्पर विरोधी मतों को मान लिया गया है। कहीं सात इन्द्रियों का वर्णन है तो कहीं ग्यारह का। कहीं महत् से तन्मात्र की उत्पत्ति का निर्देश किया गया है तो कहीं अहंकार से। कहीं पर तीन अन्तःकरणों का वर्णन है, तो कहीं एक का।' इस विप्रतिषेध के आधार पर आचार्य ने सांख्य सिद्धान्तों में उपहासपूर्वक उपेक्षा की भावना प्रदर्शित की है।

उपनिषदों में संसार के सर्गसम्बन्धी उल्लेख परस्पर अति विभिन्न रूप में उपलब्ध होते हैं। ब्रह्म-सूत्रकार और सूत्रों के भाष्यकार स्वयं आचार्यशंकर ने बहुत विस्तार और आरभटी के साथ उन उपनिषद् वाक्यों के समन्वय का प्रयत्न किया है। फिर भी यह निश्शङ्क तथा निर्बाध रूप में नहीं कहा जा सकता, कि वह समन्वय सर्वथा यथायथ हो सका है। उसका कारण है—ब्रह्मसूत्रों का जो व्याख्यान आचार्य शंकर ने किया है, उससे सर्वथा भिन्न व्याख्यान अन्य आचार्यों ने किये हैं। इनमें से सूत्रकार का आशय कौन सा है, इसका निर्णय करने के लिये आज तक कोई कसौटी काम नहीं दे सकी। यह भी संभव है, कि कदाचित् उनमें से एक भी व्याख्यान सूत्रकार के आशय के अनुकूल न हो। क्या अब हम इस प्रकार के विप्रतिषेध के आधार पर वेदान्त के मूल सिद्धान्तों को असमञ्जस कह सकते हैं ? और क्या उन व्याख्याकारों के परस्पर मतिविभेद के आधार पर सूत्रकार ऋषि का विप्रतिषेधमूलक उपहास किया जा सकता है ? आचार्य शंकर के ही शिष्यों अथवा अनुयायियों ने अनेक परस्पर विरोधी मतों का उपपादन किया है, क्या उससे आचार्य के प्रतिपादित मूल मत पर चोट दी जा सकती है ? स्वयं आचार्य ने उक्त सूत्र के प्रसंग से दो पग आगे ही बौद्धमत खण्डन के अवसर पर कितने बलपूर्वक यह नहीं लिखा—**स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम्** [२। २। २९]। क्या आचार्य सचमुच स्वप्न को स्मृति मानते हैं ? क्या आचार्य ने सर्वथा अपने मन्तव्य के विरुद्ध स्वयं इसको नहीं लिखा ? आचार्य के ग्रन्थों में ऐसे अनेक प्रसंग दिखाये जा सकते हैं। क्या यह अपनी आँख का शहतीर भी न दीखने की बराबर नहीं है ?

आचार्य शंकर के उपपादित समन्वय की यथार्थता और सूत्रकार का वही आशय होने की वास्तविकता, बौद्ध-मत प्रत्याख्यान में आयोजित सूत्रों के व्याख्यान से स्पष्ट हो जाती है। वेदान्तदर्शन के इन पन्द्रह सूत्रों का बौद्धमत खण्डन की दृष्टि से जो व्याख्यान आचार्य शंकर ने प्रस्तुत किया है, और उसमें प्रत्याख्यान की जिस रीति का आश्रय लिया गया है, सूत्रकार का सर्वथा वही आशय था—यह उपपादन करना अत्यन्त कठिन है। यह ठीक है कि बौद्धदर्शन की उन परिभाषाओं और आन्तरिक विभेदों के स्पष्टतया प्रकाश में आ जाने पर आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव हुआ, पर बौद्धदर्शन की वह सब स्थिति उसी रूप में सूत्रकार व्यास ऋषि के सम्मुख तो नहीं मानी जा सकती। इससे स्पष्ट है—व्याख्याकार ने अपनी भावना व जानकारी को आयासपूर्वक उन सूत्रों में से खींचने का प्रयत्न किया है। कम से कम यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है, कि इस प्रसंग में व्याख्याकार ने जिस ध्वनि को प्रस्फुटित किया है, सूत्रकार का वैसा आशय नहीं कहा जा सकता। सूत्रकार, बौद्धदर्शन की उन परिभाषाओं तथा अवान्तर विभेदों से सर्वथा अपरिचित था, जिनका उद्घाटन व्याख्याकार ने सूत्रों के आधार पर उस रूप में किया है।

सांख्य प्रत्याख्यान के जिस प्रसंग के आधार पर हम यह विवरण दे रहे हैं, उसको भी देखिये। इन दस सूत्रों [२।२।१-१०] में कापिल सांख्य सिद्धान्तों का प्रतिषेध किया गया बताया जाता है। इन सूत्रों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यह है, कि चेतन की सहायता या प्रेरणा के विना प्रकृति में कोई क्रिया नहीं हो पाती। चेतन निरपेक्ष अर्थात् चेतन पुरुष से अपरिगृहीत अथवा अननुगृहीत प्रकृति में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, जो सांख्य में प्रतिपादित की गई है। पर वस्तुतः देखा जाय, तो प्रतिषेध का यह आधार ही अशुद्ध है। क्योंकि कपिल प्रकृति में चेतन-निरपेक्ष प्रवृत्ति मानता ही नहीं। प्रत्युत सांख्य की परम्परा में आचार्य वार्षगण्य का ऐसा मत है। कपिल के सूत्रों से तथा महाभारत आदि में वर्णित कपिल मत सम्बन्धी अन्य प्राचीन उल्लेखों से यह स्पष्ट है, कि वह प्रकृति के अधिष्ठाता एक चेतन को स्वीकार करता है [सांख्य सूत्र १, ६१ ॥ पञ्चशिखसूत्र ३], इसके विपरीत आचार्य वार्षगण्य के एक सन्दर्भ से यह स्पष्ट है, कि वह चेतन पुरुष से अपरिगृहीत प्रधान में स्वतन्त्र अबुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति मानता है [सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० ५१०, पं० १]। वार्षगण्य के इस सिद्धान्त को बौद्धकाल के प्रारम्भिक दिनों में कपिल अथवा कापिल सांख्य के नाम पर आरोपित किया गया, या ऐसा समझ लिया गया। परिणाम यह हुआ, कि अनन्तर काल में यह सिद्धान्त कपिल का समझा जाने लगा। ऐसे समय में आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखा, और इस सिद्धान्त का प्रत्याख्यान कपिल अथवा कापिल सांख्य के नाम पर किया। निश्चित ही सूत्रकार व्यास के समय कपिल अथवा कापिल सांख्य के सम्बन्ध में यह भावना अविद्यमान थी। इसलिये यह कहा जा सकता है, कि सूत्रकार का आशय इन सूत्रों के द्वारा वार्षगण्य-मत के प्रत्याख्यान का प्रतिपादन करना रहा हो, अथवा विशुद्ध भौतिकवाद के प्रत्याख्यान की ओर इनका संकेत हो, जिसे आचार्य बृहस्पति आदि ने स्वीकार किया है, पर आचार्य शंकर के व्याख्यान में जिनका गन्ध भी नहीं है। इस दृष्टि से वस्तुतः ब्रह्मसूत्रों को अभी और अधिक विचारने की बड़ी आवश्यकता है।

आचार्य शंकर ने जिस रीति पर सांख्य सिद्धान्तो में परस्पर विप्रतिषेध का उल्लेख किया है, उसकी एक साधारण झलक हमने वेदान्त तथा स्वयं आचार्य के व्याख्यानों में प्रदर्शित की। पर दूसरे की आँख का तिनका दिखाकर अपनी दृष्टि को सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता। आचार्य ने सांख्य के इन्द्रिय-सम्बन्धी सिद्धान्त पर जो आपत्ति की है, उसका विवेचन होना चाहिये।

सबसे पहली आपत्ति यह है, कि 'सांख्य में कहीं सात और कहीं ग्यारह इन्द्रियों का वर्णन है', ग्यारह इन्द्रियों का वर्णन अभी पीछे दिखाया जा चुका है, यह सांख्य का स्पष्ट सिद्धान्त है, पर सांख्य में सात इन्द्रियों का उल्लेख आज तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ। यद्यपि अन्तः करण के सम्बन्ध में वार्षगण्य तथा पतञ्जलि आदि आचार्यों का कपिल से नगण्य सा मतभेद है, जो मूल सिद्धान्तों में किसी प्रकार के विरोध का उद्भावक नहीं समझा जाना चाहिये। तथापि इन्द्रियों के सम्बन्ध में—विशेषकर उनकी संख्या के सम्बन्ध में—किसी आचार्य का का कोई मतभेद प्रकट में नहीं आया। कापिल सांख्य दर्शन तथा अन्य सांख्याचार्यों के ग्रन्थ और उपलब्ध सन्दर्भों में कोई ऐसा संकेत नहीं, जहाँ सात इन्द्रियों का उल्लेख हुआ हो। फिर भी आचार्य के लेख पर उँगली उठाना कठिन कहा जा सकता है। शास्त्र का क्षेत्र अति महान् है। संभव है, उसने कहीं ऐसा देखा हो। कम से कम हम उसमें साक्षी नहीं दे सकते।

सात इन्द्रियों की संख्या—पाँच कर्मेन्द्रिय, एक ज्ञानेन्द्रिय केवल त्वक्, तथा एक आन्तर इन्द्रिय मन की गणना करके—पूरी की जाती है। एक ज्ञानेन्द्रिय त्वक् के माने जाने का विवेचन गौतम के न्यायसूत्रों [३।१।५२-६२] में उपलब्ध होता है। वहाँ पूर्वपक्ष रूप में एकमात्र ज्ञानेन्द्रिय त्वक् बताकर अन्त में पाँच बाह्य ज्ञानेन्द्रियों के सिद्धान्त का निर्णय किया है। इस प्रसङ्ग से यह स्पष्ट नहीं हो पाता, कि एक मात्र त्वक् ज्ञानेन्द्रिय माने जाने का सिद्धान्त किसी आचार्य का था, अथवा ज्ञानेन्द्रियों की पाँच संख्या को स्पष्ट व परिपुष्ट करने के लिये गौतम ने ही पूर्वपक्षरूप में इस वाद की कल्पना कर ली। इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है, कि पाँच ज्ञानेन्द्रियों के स्थान पर एक मात्र त्वक् ज्ञानेन्द्रिय माने जाने की उद्भावना की गई है। उसके साथ पाँच कर्मेन्द्रिय तथा एक आन्तर इन्द्रिय मन मिलाकर इन्द्रियों की सात संख्या पूरी होती है। पर सांख्य के साथ उसके किसी प्रकार के संपर्क का पता नहीं लगता। इसलिये यह विरोधप्रदर्शन सर्वथा निराधार है।

आचार्य शंकर की दूसरी आपत्ति है—'कहीं महत् से तन्मात्रों की उत्पत्ति का उपदेश है, कहीं अहंकार से।' इस विषय में कपिल का एक निश्चित मत है—अहंकार से तन्मात्रों की उत्पत्ति होती है। उसका कोई अन्य ऐसा लेख नहीं, जो इसके विरोधी अर्थ का प्रतिपादन करता हो। महत् से तन्मात्रों की उत्पत्ति का वर्णन उन आचार्यों ने किया है, जिन्होंने अहंकार नहीं माना। इनमें वार्षगण्य को योगव्याख्याकार पतञ्जलि तथा पञ्चाधिकरण आदि का करण नाम लिया जा सकता है। जिन आचार्यों ने महत् से तन्मात्रों की उत्पत्ति मानी है, तथा अहंकार को करण भी स्वीकार किया है, उनमें योगसूत्रकार पतञ्जलि और भाष्यकार व्यास का नाम उल्लेखनीय है। अभिप्राय यह, कि कपिल के अपने लेख में कोई ऐसा विरोध नहीं है, जिसमें उसने स्वयं एक स्थान पर महत् से तथा अन्य स्थान पर अहंकार से तन्मात्रों की उत्पत्ति मानी हो। अन्य आचार्यों ने तत्त्वों के उत्पत्तिक्रम में यदि कोई ऐसा मत प्रकट किया है, जो कपिल के विचार के अनुकूल न हो, तो इस मतभेद के आधार पर दोनों को असंगत नहीं माना जाना चाहिये। वस्तुस्थिति का विचार करना आवश्यक है। यह संभव है, उन दोनों में से कोई निश्चित रूप से सच्चा हो। यदि इस प्रकार के विभिन्न विचारों के आधार पर दोनों को असत्य माना जा सकता है, तो किसी भी स्थिति में किसी वस्तु का, विचार का, शास्त्र का, सत्य माना जाना संभव नहीं। मतिभेद प्रत्येक स्थान में उपस्थित रहता है। यह मानव स्वभाव है। इसलिये सचाई को जानने के लिये हमें वस्तु-स्थिति तक पहुँचना आवश्यक है।

सत्य के अन्वेषक को यह परखना होगा, कि मूल उपादान तत्त्व जब किसी विशेष कार्य के रूप में परिणत होते हैं, तब किन अवस्थाओं को पार करके ये उस रूप में आये हैं। कपिल ने अध्यात्म और अधिभूत सर्ग को जिस रीति पर प्रस्तुत किया है, उसकी नियमितता व व्यवस्था को देखते हुए यह धारणा होती है कि तत्त्वों के रचनाक्रम सम्बन्धी उसके निर्देश सचाई के अति समीप होने चाहियें। वार्षगण्य आदि जिन आचार्यों ने महत् से तन्मात्रों की उत्पत्ति का संकेत किया है, उन्होंने प्रकृति के आद्य परिणाम महत् की रचना के अनन्तर प्रकट में आनेवाले तत्त्वों को दो वर्ग में बाँट दिया है—अविशेष और विशेष। सांख्य में इन पदों का परिभाषा के रूप में प्रयोग हुआ है। आद्य कार्य के अनन्तर प्रकट में आने वाले जो तत्त्व अपने आगे तत्त्वान्तरों को उत्पन्न करते हैं, उनका नाम "अविशेष" तथा जो अन्तिम तत्त्व हैं, "अर्थात् जो आत्मलाभ के अनन्तर आगे अन्य तत्त्वों के उत्पादक नहीं होते, वे 'विशेष' कहे जाते हैं। अहंकार और पांच तन्मात्र ऐसे तत्त्व हैं, जो आगे तत्त्वान्तरों को उत्पन्न करते हैं। अहंकार से समस्त इन्द्रियाँ तथा तन्मात्र से स्थूलभूत परिणत होते हैं, इसलिये ये 'अविशेष' हैं। इन दोनों की यह समान संज्ञा है। वार्षगण्य आदि आचार्यों ने संभवतः इस समानता के आधार पर अहंकार और तन्मात्र को समान कोटि में वर्णन कर दिया हो। इस रचनाक्रम में यह एक साधारण व्यवस्था भी स्पष्ट होती है, कि आद्यकार्य महत् से अविशेष तथा अविशेष से विशेषों की उत्पत्ति हो। कपिल के रचनाक्रम में अहंकार से विशेष [इन्द्रियां] और अविशेष [तन्मात्र] दोनों की उत्पत्ति कही जाती है। एक अहंकार दोनों रूपों में परिणत होता है, यह कथन उस व्यवस्था के सामने कुछ अटपटा सा लगता है, जहाँ वार्षगण्य आदि आचार्यों ने महत् से अविशेष एक ओर तथा अविशेषों से विशेषों के उत्पादन का निर्देश किया है।

वस्तुतः महत् से छह अविशेषों की उत्पत्ति का निर्देश शाब्दिक व्यवस्था को ही स्पष्ट करता है, केवल समान संज्ञा के आधार पर तत्त्वनिर्देश की यह व्यवस्था बांधी गई है। तत्त्वों के रचनाक्रम की वास्तविकता से इसका कितना ताल-मेल है, यह विचारणीय है, मूल उपादान तत्त्वों से तन्मात्र के उत्पादन तक अन्तराल में जितने अनिवार्य परिणति-स्तर आते हैं, उनकी उपेक्षा किया जाना शक्य नहीं। अहंकार अध्यात्म सर्ग में सन्निविष्ट है, तन्मात्र से अधिभूत सर्ग का प्रारम्भ होता है। महत् से तन्मात्र सर्ग मानने वाले आचार्यों को भी यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं, कि तन्मात्र सर्ग से पूर्व ही अहंकार की रचना हो जाती है। अभिप्राय यह, कि पहले महत् अहंकार रूप में परिणत होता है, अनन्तर तन्मात्र रूप में। अब यह देखना चाहिये, कि महत् अहंकार द्वारा तन्मात्ररूप में परिणत होता है, अथवा सर्वथा स्वतन्त्र रूप से?

द्वितीय विकल्प का तात्पर्य यह है, कि महत् से तन्मात्र परिणाम होने में अन्तराल के वे परिणति-स्तर उभरने नहीं पाते, जिनको रचनाक्रम में 'अहंकार' नाम दिया गया है, क्या यह संभव है? कपास से वस्त्र तैयार किया जाता है,

कपास को ओट धुन कर रुई बना उसके अनतिदीर्घ धागे तैयार किये जाते हैं, जिनका नाम 'अंशु' है। उन्हें जोड़कर और अधिक लपेट देकर अतिदीर्घ धागे बनते हैं, जिनको 'तन्तु' कहा जाता है, तन्तु का विशेष आतान वितान वस्त्र-रूप परिणाम है। यह स्पष्ट है, कि कपास अथवा रुई से सीधा सर्वथा स्वतन्त्र—अन्तरालवर्ती परिणति स्तरों की उपेक्षा करके—वस्त्र परिणाम संभव नहीं। यही स्थिति महत् से, तन्मात्र के उत्पादन में है। फलतः प्रथम विकल्प के अनुसार यह स्वीकार किया जाना चाहिए, कि महत् अहंकार के द्वारा तन्मात्र रूप में परिणत होता है। ऐसी स्थिति में चाहे महत् से तन्मात्र की उत्पत्ति कही जाय अथवा अहंकार से, इसमें कोई विरोध नहीं है। वस्त्र की उत्पत्ति कपास से कही जा सकती है, रुई से और तन्तु से भी। इन तीनों रूपों से वस्त्रोत्पादन का निर्देश करने वाले व्यक्तियों में कोई असत्य नहीं। बस थोड़े धैर्य के साथ वास्तविकता की ओर लक्ष्य करने की अपेक्षा रहती है। फलतः आचार्य शंकर का सांख्य-सिद्धान्त में यह विरोध प्रदर्शन सर्वथा शिथिल है॥

[वेदवाणी के पाठकों का सौभाग्य है कि उन्हें समय २ पर ऐसे योग्यतापूर्ण-विवेचनात्मक-दार्शनिक लेख पढ़ने को मिलते हैं। प्रकृत लेख में विद्वान् लेखक ने आचार्य शंकर के लेख पर बहुत योग्यतापूर्ण, विवेचनात्मक तथा सफलतापूर्वक विचार उपस्थित किया है। जो विद्वान् चाहें इस विषय पर "वेदवाणी" में अपने विचार उपस्थित कर सकते हैं—सम्पादक]

"कर्म के सिद्धान्त" लेख के विषय में निवेदन

वेदवाणी अङ्क ८।११ सितम्बर १९५६ के पृष्ठ २२ पर श्री पूज्यवर श्री पं० गंगा प्रसाद जी एम. ए. चीफ़ जज टिहरी का एक लेख कर्म के सिद्धान्त पर छपा है। श्री पूज्य पं० जी आर्य्य समाज के चिरसम्मानित प्रसिद्ध संवृद्ध नेता हैं। मेरा अध्ययन अपेक्षतः अत्यन्त अल्प और सीमित है। अतः प्रचुर अध्ययन के पश्चात् ही अपने विचार प्रकट कर सकूँगा। इस बीच में मैं अन्य विद्वानों से प्रार्थना करता हूँ कि वह अपने विचार प्रकाशित करें जिससे मुझे अपने विचारों के लिये सामग्री मिल सके। इसमें सन्देह नहीं कि भिन्न भिन्न तिर्यक् और दिव्य योनियों की बात थियोसोफिकल सोसायटी, श्री अरविन्द घोष तथा कई पौराणिक गाथाओं के अनुकूल है। परन्तु यह सोचना है कि आर्य्य समाज के दृष्टिकोण से इसकी कहाँ तक संगति बनती है।

निवेदक

गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०

इलाहाबाद

आचार्य शंकर की दूसरी आपत्ति है—'कहीं महत् से तन्मात्रों की उत्पत्ति का उपदेश है, कहीं अहंकार से।' इस विषय में कपिल का एक निश्चित मत है—अहंकार से तन्मात्रों की उत्पत्ति होती है। उसका कोई अन्य ऐसा लेख नहीं, जो इसके विरोधी अर्थ का प्रतिपादन करता हो। महत् से तन्मात्रों की उत्पत्ति का वर्णन उन आचार्यों ने किया है, जिन्होंने अहंकार नहीं माना। इनमें वार्षगण्य को योगव्याख्याकार पतञ्जलि तथा पञ्चाधिकरण आदि का करण नाम लिया जा सकता है। जिन आचार्यों ने महत् से तन्मात्रों की उत्पत्ति मानी है, तथा अहंकार को करण भी स्वीकार किया है, उनमें योगसूत्रकार पतञ्जलि और भाष्यकार व्यास का नाम उल्लेखनीय है। अभिप्राय यह, कि कपिल के अपने लेख में कोई ऐसा विरोध नहीं है, जिसमें उसने स्वयं एक स्थान पर महत् से तथा अन्य स्थान पर अहंकार से तन्मात्रों की उत्पत्ति मानी हो। अन्य आचार्यों ने तत्त्वों के उत्पत्तिक्रम में यदि कोई ऐसा मत प्रकट किया है, जो कपिल के विचार के अनुकूल न हो, तो इस मतभेद के आधार पर दोनों को असंगत नहीं माना जाना चाहिये। वस्तुस्थिति का विचार करना आवश्यक है। यह संभव है, उन दोनों में से कोई निश्चित रूप से सच्चा हो। यदि इस प्रकार के विभिन्न विचारों के आधार पर दोनों को असत्य माना जा सकता है, तो किसी भी स्थिति में किसी वस्तु का, विचार का, शास्त्र का, सत्य माना जाना संभव नहीं। मतिभेद प्रत्येक स्थान में उपस्थित रहता है। यह मानव स्वभाव है। इसलिये सच्चाई को जानने के लिये हमें वस्तुस्थिति तक पहुँचना आवश्यक है।

सत्य के अन्वेषक को यह परखना होगा, कि मूल उपादान तत्त्व जब किसी विशेष कार्य के रूप में परिणत होते हैं, तब किन अवस्थाओं को पार करके ये उस रूप में आये हैं। कपिल ने अध्यात्म और अधिभूत सर्ग को जिस रीति पर प्रस्तुत किया है, उसकी नियमितता व व्यवस्था को देखते हुए यह धारणा होती है कि तत्त्वों के रचनाक्रम सम्बन्धी उसके निर्देश सच्चाई के अति समीप होने चाहियें। वार्षगण्य- आदि जिन आचार्यों ने महत् से तन्मात्रों की उत्पत्ति का संकेत किया है, उन्होंने प्रकृति के आद्य परिणाम महत् की रचना के अनन्तर प्रकट में आनेवाले तत्त्वों को दो वर्ग में बाँट दिया है—अविशेष और विशेष। सांख्य में इन पदों का परिभाषा के रूप में प्रयोग हुआ है। आद्य कार्य के अनन्तर प्रकट में आने वाले जो तत्त्व अपने आगे तत्त्वान्तरों को उत्पन्न करते हैं, उनका नाम "अविशेष" तथा जो अन्तिम तत्त्व हैं, अर्थात् जो आत्मलाभ के अनन्तर आगे अन्य तत्त्वों के उत्पादक नहीं होते, वे 'विशेष' कहे जाते हैं। अहंकार और पांच तन्मात्र ऐसे तत्त्व हैं, जो आगे तत्त्वान्तरों को उत्पन्न करते हैं। अहंकार से समस्त इन्द्रियाँ तथा तन्मात्र से स्थूलभूत परिणत होते हैं, इसलिये ये 'अविशेष' हैं। इन दोनों की यह समान संज्ञा है। वार्षगण्य आदि आचार्यों ने संभवतः इस समानता के आधार पर अहंकार और तन्मात्र को समान कोटि में वर्णन कर दिया हो। इस रचनाक्रम में यह एक साधारण व्यवस्था भी स्पष्ट होती है, कि आद्यकार्य महत् से अविशेष तथा अविशेष से विशेषों की उत्पत्ति हो। कपिल के रचनाक्रम में अहंकार से विशेष [इन्द्रियां] और अविशेष [तन्मात्र] दोनों की उत्पत्ति कही जाती है। एक अहंकार दोनों रूपों में परिणत होता है, यह कथन उस व्यवस्था के सामने कुछ अटपटा सा लगता है, जहाँ वार्षगण्य आदि आचार्यों ने महत् से अविशेष एक ओर तथा अविशेषों से विशेषों के उत्पादन का निर्देश किया है।

वस्तुतः महत् से छह अविशेषों की उत्पत्ति का निर्देश शाब्दिक व्यवस्था को ही स्पष्ट करता है, केवल समान संज्ञा के आधार पर तत्त्वनिर्देश की यह व्यवस्था बांधी गई है। तत्त्वों के रचनाक्रम की वास्तविकता से इसका कितना तालमेल है, यह विचारणीय है, मूल उपादान तत्त्वों से तन्मात्र के उत्पादन तक अन्तराल में जितने अनिवार्य परिणति-स्तर आते हैं, उनकी उपेक्षा किया जाना शक्य नहीं। अहंकार अध्यात्म सर्ग में सन्निविष्ट है, तन्मात्र से अधिभूत सर्ग का प्रारम्भ होता है। महत् से तन्मात्र सर्ग मानने वाले आचार्यों को भी यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं, कि तन्मात्र सर्ग से पूर्व ही अहंकार की रचना हो जाती है। अभिप्राय यह, कि पहले महत् अहंकार रूप में परिणत होता है, अनन्तर तन्मात्र रूप में। अब यह देखना चाहिये, कि महत् अहंकार द्वारा तन्मात्ररूप में परिणत होता है, अथवा सर्वथा स्वतन्त्र रूप से?

द्वितीय विकल्प का तात्पर्य यह है, कि महत् से तन्मात्र परिणाम होने में अन्तराल के वे परिणति-स्तर उभरने नहीं पाते, जिनको रचनाक्रम में 'अहंकार' नाम दिया गया है, क्या यह संभव है? कपास से वस्त्र तैयार किया जाता है,

कपास को ओट धुन कर रुई बना उसके अनतिदीर्घ धागे तैयार किये जाते हैं, जिनका नाम 'अंशु' है। उन्हें जोड़कर और अधिक लपेट देकर अतिदीर्घ धागे बनते हैं, जिनको 'तन्तु' कहा जाता है, तन्तु का विशेष आतान वितान वस्त्र-रूप परिणाम है। यह स्पष्ट है, कि कपास अथवा रुई से सीधा सर्वथा स्वतन्त्र—अन्तरालवर्त्ती परिणति स्तरों की उपेक्षा करके—वस्त्र परिणाम संभव नहीं। यही स्थिति महत् से, तन्मात्र के उत्पादन में है। फलतः प्रथम विकल्प के अनुसार यह स्वीकार किया जाना चाहिए, कि महत् अहंकार के द्वारा तन्मात्र रूप में परिणत होता है। ऐसी स्थिति में चाहे महत् से तन्मात्र की उत्पत्ति कही जाय अथवा अहंकार से, इसमें कोई विरोध नहीं है। वस्त्र की उत्पत्ति कपास से कही जा सकती है, रुई से और तन्तु से भी। इन तीनों रूपों से वस्त्रोत्पादन का निर्देश करने वाले व्यक्तियों में कोई असत्य नहीं। बस थोड़े धैर्य के साथ वास्तविकता की ओर लक्ष्य करने की अपेक्षा रहती है। फलतः आचार्य शंकर का सांख्य-सिद्धान्त में यह विरोध प्रदर्शन सर्वथा शिथिल है॥

[वेदवाणी के पाठकों का सौभाग्य है कि उन्हें समय २ पर ऐसे योग्यतापूर्ण-विवेचनात्मक-दार्शनिक लेख पढ़ने को मिलते हैं। प्रकृत लेख में विद्वान् लेखक ने आचार्य शंकर के लेख पर बहुत योग्यतापूर्ण, विवेचनात्मक तथा सफलतापूर्वक विचार उपस्थित किया है। जो विद्वान् चाहें इस विषय पर "वेदवाणी" में अपने विचार उपस्थित कर सकते हैं—सम्पादक]

"कर्म के सिद्धान्त" लेख के विषय में निवेदन

वेदवाणी अङ्क ८।११ सितम्बर १९५६ के पृष्ठ २२ पर श्री पूज्यवर श्री पं० गंगा प्रसाद जी एम. ए. चीफ़ जज टिहरी का एक लेख कर्म के सिद्धान्त पर छपा है। श्री पूज्य पं० जी आर्य्य समाज के चिरसम्मानित प्रसिद्ध संवृद्ध नेता हैं। मेरा अध्ययन अपेक्षतः अत्यन्त अल्प और सीमित है। अतः प्रचुर अध्ययन के पश्चात् ही अपने विचार प्रकट कर सकूँगा। इस बीच में मैं अन्य विद्वानों से प्रार्थना करता हूँ कि वह अपने विचार प्रकाशित करें जिससे मुझे अपने विचारों के लिये सामग्री मिल सके। इसमें सन्देह नहीं कि भिन्न भिन्न तिर्यक् और दिव्य योनियों की बात थियोसोफिकल सोसायटी, श्री अरविन्द घोष तथा कई पौराणिक गाथाओं के अनुकूल है। परन्तु यह सोचना है कि आर्य्य समाज के दृष्टिकोण से इसकी कहाँ तक संगति बनती है।

निवेदक

गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०

इलाहाबाद

सैद्धान्तिक चर्चा

'सत्यार्थ प्रकाश' का १३वां १४वां समुल्लास महर्षि दयानन्द जी की कृति है

[ले०——वैदिकगवेषक श्री पं० शिवपूजन सिंह जी 'पथिक' बी. ए. कानपुर]

'सत्यार्थ-प्रकाश' का प्रथम संस्करण सन् १८७५ ई० में प्रकाशित हुआ था। उस संस्करण में १२ समुल्लास थे। द्वितीय संस्करण सन् १८८३ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके बाद के सभी संस्करण द्वितीय संस्करण की प्रतिलिपि हैं। द्वितीय संस्करण में १४ समुल्लास हैं। १३ वें समुल्लास में क्रिश्चियनमत-समीक्षा और १४ वें समुल्लास में यवनमत-समीक्षा है। कुछ ईसाई व मुसलमान आपत्ति करते हैं कि १३, १४ समुल्लास स्वामी दयानन्द जी की कृति नहीं है, वरन् उनके अनुयायियों ने ईसाई व मुसलमानों से द्वेषवश लिखकर उसमें मिश्रण कर दिया है। इस लेख में मैं यह ऊहापोह से प्रदर्शित करना चाहता हूँ कि १३ व १४ समुल्लास महर्षि दयानन्द जी की ही कृति है।

सत्यार्थ प्रकाश का जो प्रथम संस्करण था उसमें शीघ्रता के कारण १३ व १४ समुल्लास रह गए थे।

माघवदी २ सं० १९३१ को महर्षि की ओर से लाला हरिवंश लाल, जिनके प्रबन्ध में 'सत्यार्थ प्रकाश' का लिखा गया पत्र पं० लेखरामजी कृत उर्दू भाषा के 'दयानन्द चरित्र' में संग्रहीत हुआ है। उसमें लिखा है:—

"आगे मुरादाबाद में कुरान के खण्डन का अध्याय शोधने के वास्ते गया रहा, सो शोधके आपके पास आया कि नहीं ? जो न आया हो, तो राजा जयकिशनदास जी को लिखो, जल्दी छापने के वास्ते भेज देवें। और बाइबिल का सब अध्याय शोध करके छाप दो।"[1]

इस पत्र में कुरान व बाइबिल दोनों के खण्डन-मण्डन छापने का स्पष्ट उल्लेख है। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि महर्षि दयानन्द जी ने १३ व १४ समुल्लास अवश्य लिखा था। सम्भवतः शोधने में विलम्ब होने और 'सत्यार्थ प्रकाश' की माँग अधिक होने के कारण प्रथम संस्करण में ये दोनों समुल्लास मुद्रित नहीं हो सके।

श्रीमती परोपकारिणी सभा, अजमेर ने अत्यन्त प्रयत्न करके 'सत्यार्थ प्रकाश' प्रथम संस्करण की पाण्डुलिपि राजा जयकृष्णदास जी के पौत्र राजा ज्वाला प्रसाद जी से प्राप्त करके उसका फोटो करवा लिया है। उसमें १३ वें समुल्लास में कुरान की समीक्षा और १४ वें में ईसाई मत की समीक्षा है।[2]

महर्षि जी की अन्तःसाक्षीः—'सत्यार्थ-प्रकाश' के प्रथम संस्करण के दशम समुल्लास के अन्त में महर्षि जी लिखते हैंः—"इसके आगे आर्यावर्त्तवासी मनुष्य, जैन, मुसलमान और अंग्रेजों के आचार, अनाचार, सत्यासत्य मतान्तर के खण्डन और मण्डन के विषय में लिखा जायगा। दूसरे

१, पं० लेखराम जी कृत 'महर्षि दयानन्द' उर्दू प्रथम संस्करण, पृष्ठ २३४। तुलना करो, श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक कृत "ऋषिदयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास" प्रथम संस्करण, पृष्ठ २२; श्री महेश प्रसाद जी मौलवी आलिम फाज़िल कृत "स्वामी दयानन्द और कुरान" द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १७; श्री [illegible] बहावलपुरी कृत "सत्यार्थ-प्रकाश आन्दोलन का इतिहास" द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १३-१४; मासिक "श्रद्धानन्द" दिल्ली, वर्ष १७ फरवरी १९४५ ई० संख्या ५ पृष्ठ६; अर्द्धमासिक "सुधा" लखनऊ का "दयानन्दाङ्क"- वर्ष ७, खण्ड १, अक्टूबर १६ सन् १९३३ ई० संख्या ६, पृष्ठ ४८३-४८४।

२. "ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास"—पृष्ठ २२।

(१२ वें) समुल्लास में जैन मत के खण्डन और मण्डन में लिखा जायगा। तीसरे (१३ वें) समुल्लास में मुसलमानों के मत के विषय में खण्डन और मण्डन लिखेंगे। और चौथे (१४ वें) में अंग्रेजों के मत के खण्डन-मण्डन के विषय में लिखा आयगा। सो जो देखा चाहे खण्डन और मण्डन की युक्ति, उन चार समुल्लासों में देख ले।"[3]

वर्तमान सत्यार्थ प्रकाश में भी उपर्युक्त बातें कुछ हेरफेर के साथ पाई जाती हैं।

भाद्रपद, शुक्लपक्ष संवत् १९३९ में महर्षि दयानन्द जी संशोधित सत्यार्थ-प्रकाश की भूमिका में लिखते हैं:—

"यह ग्रन्थ १४ (चौदह) समुल्लास अर्थात् चौदह विभागों में रचा गया है। इसमें १० (दश) समुल्लास पूर्वार्द्ध और ४ (चार) उत्तरार्द्ध में बने हैं। परन्तु अन्त के दो समुल्लास और पश्चात् स्वसिद्धान्त किसी कारण से प्रथम नहीं छप सके थे, अब वे छपवा दिये हैं।"

'सत्यार्थप्रकाश' नवमसमुल्लास में मुक्ति के विषय में लिखते हुए महर्षिजी कहते हैं:—

"जैनी (१२) बारहवें, ईसाई (१३) तेरहवें और (१४) चौदहवें समुल्लास में मुसल्मानों की मुक्ति आदि विषय विशेष कर लिखेंगे।"

'सत्यार्थप्रकाश' द्वादश समुल्लास के अन्त में महर्षिजी लिखते हैं:—

"......इसके आगे ईसाइयों के मत के विषय में लिखा जायगा।"

'सत्यार्थप्रकाश' त्रयोदश समुल्लास की अनुभूमिका में महर्षि जी लिखते हैं:—

"......देवनागरी व संस्कृत भाषान्तर देखकर मुझको बाइबल में बहुत सी शङ्का हुई है, उन में से कुछ थोड़ी सी इस १३ (तेरहवें) समुल्लास में सबके विचारार्थ लिखी हैं।..."

इन उपर्युक्त पाँच स्थलों पर महर्षि दयानन्दजी ने १३ वें और १४ वें समुल्लास की चर्चा की है। अतः विरोधियों के आक्षेप सर्वथा निराधार हैं कि ये दोनों समुल्लास उनकी कृति नहीं है।

महर्षि के एक पत्र में, जो दानापुर आर्यसमाज के मंत्री बाबू माधोलाल को भेजा गया था, निम्नाङ्कित उल्लेख मिलता है:—

"The 'Kuran' in nagri is entirely ready but has not been printed yet."[4]

अर्थात्—"नागरी में कुरान सम्पूर्ण तैयार है, परन्तु अभी छापा नहीं गया।"

१९२५ ई० में श्री धर्मपालजी का सत्यार्थप्रकाश के १४ वें समुल्लास की जब्ती का आन्दोलन इस आधार पर चलाना कि यह समुल्लास महर्षि जी का लिखा हुआ नहीं है सर्वथा भ्रमपूर्ण था, इसलिए डॉक्टर किचलू और मौलाना मुहम्मद अली ने धर्मपाल के स्वार्थपूर्ण एजीटेशन को अपने लेखों द्वारा दबा दिया था, क्योंकि श्री धर्मपाल का प्रयोजन केवल यह था कि वह जब्ती का जोश दिलाकर मुसलमानों को लूटे और सच्चे मुसलमान होने का प्रमाण दे सके।

मौलाना मुहम्मद अली ने कहा था:—

"सत्यार्थप्रकाश स्वामी दयानन्द की बहुमूल्य कृति है। और स्वामी दयानन्द आर्यों के गुरु हैं।......उनकी रचना सत्यार्थप्रकाश की भी वह असीम प्रतिष्ठा करते हैं और उसको धार्मिक ग्रन्थ समझते हैं। एक धर्म और जाति के बानी की किसी रचना पर गन्दे विचारों का प्रकाश कभी अच्छा परिणाम नहीं उत्पन्न कर सकता।......असंभव और व्यर्थ माँग को उपस्थित करके हिन्दू पत्रों को निमन्त्रण दिया गया है कि वह कुरान पर भी कुछ लिखें[5]।"

महर्षि दयानन्द जी के दो पत्रों की साक्षी:—

आश्विन बदी ८ सोमवार सम्वत् १९४०। (२४ सितम्बर १८८३ ई०) का मुन्शी समर्थदान के नाम पत्र:—

"......और सत्यार्थप्रकाश जो कि १३ समुल्लास ईसाइयों के विषय में है, वह यहाँ से चले पूर्व अथवा मसूदे पहुँचते समय भेज देंगे।"......[6]

आश्विन १३ शनि सम्वत् १९४० (२९ सितम्बर १८८३ ई०) का मुन्शी समर्थदान के नाम पत्र:—

"एक भूमिका का पृष्ठ और ३२० से लेकर ३४४ तक तौरेत और जबूर का विषय सत्यार्थप्रकाश का भेजते हैं, सम्भाल लेना।......[7]

इन प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि 'सत्यार्थप्रकाश' का त्रयोदश और चतुर्दश समुल्लास महर्षि दयानन्दजी की ही कृति है।

---

३. वही, पृष्ठ २१। ४. "स्वामी दयानन्द और कुरान" पृष्ठ १७। 'सुधा' का 'दयानन्दाङ्क' पृष्ठ ४८४।

५. पं० नरेन्द्र जी कृत "महर्षि दयानन्द और चौदहवाँ समुल्लास" प्रथम संस्करण, पृष्ठ १९।

६. पं० भगवद्दत्तजी बी०ए० द्वारा सम्पादित "ऋषि दयानन्द सरस्वतीके पत्र और विज्ञापन" प्रथम संस्करण, पृष्ठ ५०४।

७. वही, पृष्ठ ५१२।

यज्ञों द्वारा संस्कृति का विकास

[ले०—श्री पं० बिहारीलाल जी शास्त्री काव्यतीर्थ, बदायूँ]

हमारे यज्ञ एक जातीय प्रदर्शनी के रूप में होते थे, यह हम इससे प्रथम लेख में संकेत कर चुके हैं। यज्ञों में नट, नर्तक, कलाविद् जन आते थे। उन्हें सादर बुलावा दिया जाता था। यह पता वाल्मीकि रामायण, महाभारत के यज्ञों के वर्णन देखने से लगता है। जब महाराज दशरथ ने अश्वमेध करने का निश्चय किया तो जहाँ यज्ञ-कर्मज्ञ ऋषि मुनि और शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों को बुलावा दिया, वहाँ कलाकारों को भी बुलाया। देखिये:—वाल्मीकि रामायण बालकांड सर्ग १३ वाँ श्लोक ६ से ८ तकः—

ततोऽब्रवीद्द्विजान् वृद्धान् यज्ञकर्मसु निष्ठितान्।
स्थापत्ये निष्ठितांश्चैव वृद्धान् परमधार्मिकान्॥
कार्यान्तिकाञ्छिल्पकरान् वर्धकीन् खनकानपि।
गणकाञ्छिल्पिकांश्चैव तथैव नटनर्त्तकान्॥
तथा शुची ञ्शास्त्रविदः पुरुषान् सुबहुश्रुतान्।
यज्ञकर्म समीहन्ताम् भवन्तो राजशासनात्॥

वसिष्ठ जी ने आज्ञा दी कि राजा के आदेश से आप लोगों को सब काम करना चाहिये और इन लोगों को आने को आदेश दिया:—

यज्ञकर्मज्ञ वृद्धजन, स्थापत्य कला में निपुण इञ्जीनियर, मजदूर, अनेक प्रकार के शिल्पकार, बढ़ई, खनक, ज्योतिषी नट, नर्त्तक।

श्री राम ने जब अश्वमेध यज्ञ किया तब भी नट नर्त्तक बढ़ई और काम करने वाले बुलाये गयेः—

"तथैव तालावचरास्तथैव नटनर्तकाः"
"कर्मान्तिकान् वर्धकिनः"

उत्तर कांड सर्ग ९१ श्लोक १५ और २४ के टुकड़े।

"कथयन्तः कथा बह्वीः पश्यन्तो नटनर्त्तकान्" सभापर्व अध्याय ३३ श्लोक ४९। इन प्रमाणों से हमें अश्वमेध का कुछ कुछ आभास हो सकता है। ये यज्ञ एक बड़े मेले के रूप में होते थे। पशु, पक्षी, सरीसृप, कीड़े मकोड़े सब की प्रदर्शनी होती थी।

यज्ञवेदी में ईंटे लगती थीं। आकाशस्थ ग्रहों के वेध चक्र बनते थे। खगोल भूगोल के मानचित्र आदि बनाए जाते थे। अतः रेखागणित, ज्योतिष का आविष्कार और विकास यज्ञों द्वारा हुआ। यज्ञों में शास्त्रार्थ भी चलते थे। वाल्मीकि रामायण और महाभारत में इस बात का उल्लेख है:—

कर्मान्तरे तदा विप्रा हेतुवादान् बहूनपि।
प्राहुः सुवाग्मिनो धाराः परस्परजिगीषया॥

वा० कां० सर्ग १४ श्लोक १९

इन शास्त्रार्थों के द्वारा तर्क शास्त्र और दर्शन का विकास होता रहता था। काव्य-चर्चा, नाटक और नृत्य भी होते थे। इससे ललित कलाओं का विकास होता था। सबसे प्रथम नाटक "अमृतमंथन" असुरों पर इन्द्र की विजय के स्मारक रूप में इन्द्रयाग में ही खेला गया था। भरतनाट्य शास्त्र में इसकी चर्चा है।

अयं ध्वजमहः श्रीमान् महेन्द्रस्य प्रवर्त्तते।
अत्रेदानीमयं वेदो नाट्यसंज्ञः प्रयुज्यताम्॥

पशु पक्षियों के स्वभावों का ज्ञान अर्थात् उनके 'देवताओं" का ज्ञान यज्ञों में किया जाता था। प्राणी शास्त्र, वनस्पति विज्ञान, कृषि के सूत्र यज्ञों द्वारा निर्णीत हुए। खनिज पदार्थ भी यज्ञ में लाये जाते थे, अतः भूगर्भविद्या का विकास भी यज्ञों से हुआ। यजुर्वेद को ध्यानपूर्वक पढ़ने से पता लगता है कि पृथिवी के नाना पदार्थों का ज्ञान यज्ञों में करना पड़ता था। ऋतु-संबन्धी जानकारी के विना ये यज्ञ हो ही नहीं सकते थे। पदार्थों के गुण यज्ञों द्वारा जाने जाते थे। आयुर्वेद का काम भी यज्ञों में पड़ता था। जैसे आजकल की प्रदर्शनियाँ ज्ञान बढ़ाने और उद्योग विकास के लिये होती हैं; इसी प्रकार यज्ञ भी देश की सर्व प्रकार की उन्नति के लिए हेतु रहते थे। यज्ञों में वीणा पर सामगायन होता था, अतः गायन कला का विकास भी यज्ञों से हुआ। यज्ञों का वर्णन पढ़ने से ज्ञात होता है कि आर्यों की सामाजिक स्थिति कितनी सुंदर और आमोदप्रद थी। आर्य संस्कृति और ज्ञान विज्ञान उच्च सीमा पर पहुँच चुका था। राम के यज्ञमें वाल्मीकि के शिष्य, के रूप में उनके पुत्रों ने ही वीणापर रामायण का गान किया था। यज्ञ केवल पारलौकिक धार्मिक विधि मात्र ही नहीं थे। धार्मिकत्व को केन्द्र बनाकर

ऐहलौकिक उन्नति इन यज्ञों की परिधि थीं। यज्ञों द्वारा दान से संपत्ति-वितरण कर आर्थिक संतुलन भी ठीक रक्खा जाता था। अतः राजा महाराजा सेठ साहूकारों के लिये यज्ञ करने आवश्यक थे।

यज्ञों द्वारा जहाँ प्रकृति को विकृत होने से रोका जाता था वहाँ समाज को भी स्वार्थपरता, असहयोग आदि से बचाकर सहयोग और उपकार की उदात्त शिक्षा दी जाती थी।

यज्ञों का समय निश्चित करने के लिये अच्छी ऋतु हो, दैवी उपद्रवों की आशंका न हो, यह सब जानने के लिये ग्रहों की ठीक ठीक स्थिति और किस ग्रह का क्या क्या प्रभाव वायु पर, मेघ पर और पृथिवी पर पड़ेगा यह सब जानना पड़ता था। ज्योतिर्विद्या के विकास के मूल कारण यज्ञ ही रहे थे। अश्वमेध में निर्बाध विचरने के लिये घोड़ा छोड़ा जाता था। यदि कोई उसे रोके तो उससे लड़ना होता था। अतः अश्वमेध करने को एक सुसज्जित सेना का होना आवश्यक था। अस्त्र शस्त्रों के नये नये आविष्कार यज्ञों की रक्षा के लिये होते रहते थे।

यज्ञों में अन्नाहुतियाँ भी होती थीं। अग्नि में गेहूँ आदि के पड़ने से उसकी सुगधि और खिलनेको देखकर उसकी उत्तमता, अधमता जानी जाती थी। पुनः अच्छे से अच्छे अनाजों के उत्पादन की विधियों पर विचार कर अन्नोत्पादन में वृद्धि की जाती थी। इसकी शिक्षा यजुर्वेद १८ वें अध्याय में है।

'व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ यजु० १८-१२

"मेरे उपर्युक्त अन्न यज्ञ से कल्पित हों, अर्थात् समर्थ हों, बढ़ें"। यज्ञ का अर्थ है संगतिकरण। वैज्ञानिक-संगतिकरण से अन्नों में बहुत विकास किया जा सकता है। अन्न फल फूल आकार में बड़े, गुणों में उत्तम, संख्या और परिमाण में अधिक किये जा सकते हैं। यजुर्वेद का यह पूरा २२ वाँ अध्याय यही उपदेश दे रहा है कि यज्ञद्वारा संगतिकरण द्वारा अन्न, पशु, आदि पदार्थ किस प्रकार बढ़ाये जा सकते हैं। इस अध्याय में राष्ट्रोपयोगी प्रायः सबही पदार्थों का वर्णन है। यज्ञों में एकत्रित विद्वान् लोकहित, राष्ट्रहित, राजकल्याण, राष्ट्र के गुणदोष, अपने गुणदोष सबही पर विचार करते थे। ये यज्ञ एक बड़े सम्मेलन होते थे। इनमें लौकिक पारलौकिक सबही विषय विचारे जाते थे। यज्ञ का ही बिगड़ा रूप फारसी में "जश्न" है। ईरानी आर्य "जश्न" करते थे। जश्न केवल मनोरंजन का ही अर्थ रखता है। पर यज्ञ शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। जश्नों के समय आर्य लोग यज्ञ के महत्व को भूल गये थे। यज्ञ केवल देवताओं की पूजा मात्रार्थ में रह गये थे। धीरे धीरे तो पशुबलि और कुर्बानी चल पड़ी। ज्ञान का स्थान अज्ञान ने ले लिया। यह सब वेद विद्या को भूल जाने का परिणाम था। आजकल फिर यज्ञों की प्रथा उभरी है। पर ये यज्ञ एकदेशीय ही हैं। इनमें वह महत्व नहीं रहा जो आर्य यज्ञों में था। आर्य यज्ञों के द्वारा आर्य संस्कृति, विद्या, कला कौशल सब की चरमोन्नति हुई। उसी रूप में—राष्ट्रिय सम्मेलन और प्रदर्शनियों के रूप में यदि यज्ञ होने लगें तो इनका वास्तविक उपयोग हो सकता है। ये लाभदायी सिद्ध हो सकते हैं।

"दशमेऽहि पुराणमाचक्षीत" इस सूत्र से प्रकट है कि अश्वमेध में पुराने इतिहास और कथायें भी सुनाई जाती थीं। इतिहास भूगोल का अटूट संबंध है। अतः ये यज्ञ, इतिहास सम्मेलन, भूगोल सम्मेलन, दर्शन सम्मेलन, विज्ञान सम्मेलन आदि विविध सम्मेलनों का समूह होते थे। इन सम्मेलनों के द्वारा परस्पर विवाद से नये नये निर्णय होते रहते थे। आर्य संस्कृति परिमार्जित, विकसित होती चली जाती थी। इन यज्ञों के द्वारा आर्य धर्म का रूप विकसित हुआ, चमकीला हुआ। आर्यों का कला कौशल, ज्ञान विज्ञान, दर्शन सब कुछ निखर गया। अतः उसमें अब काटछाँट की गुंजाइश नहीं है। त्रिकालाबाध्य सत्य सनातन ज्ञान यज्ञों द्वारा आर्य ऋषियों ने खोज लिया है। आर्य संस्कृति इसीलिए अविच्छिन्न सोम की संस्कृति है। विश्ववारा और प्रथम है। आर्य संस्कृति के प्रसार में लोकहित निहित है। आर्य संस्कृति सोम संस्कृति है। उग्रता रहित, निर्मल शरदिन्दुसम सुखदायक है। क्योंकि यज्ञ से आविष्कृत हुई है। वेदभगवान् कहते हैं यज्ञ से ही—**तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः समानि जज्ञिरे**········सब ज्ञान विज्ञान यज्ञ से प्रकट हुआ। वह यज्ञ पूजनीय प्रभु हैं, जो यज्ञों के यज्ञ पूज्यों के पूज्य हैं। तस्मै यज्ञरूपाय नमः॥

सम्पादकीय—

कुछ विशिष्ट

आर्य पुरुषों का निधन

गत कुछ समय में आर्यसमाज के कुछ ऐसे विशिष्ट पुरुषों का निधन हुआ है जिनको वैदिक धर्म-आर्य समाज-ऋषि दयानन्द में जीवन भर अटूट श्रद्धा रही और जिन्होंने अपनी गहरी सेवाओं द्वारा भारत माता तथा विशेष कर आर्य समाज का मुख उज्वल किया। उनका परिचय निम्न प्रकार है—

(१) श्री चौधरी जयदेवसिंह जी मेरठ

श्री चौधरी जयदेवसिंह जी एडवोकेट मेरठ—मन्त्री आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश—इनको आर्य सिद्धान्तों-आर्य समाज-ऋषि दयानन्द में गहरी श्रद्धा थी। आप आर्य समाज के एक बड़े ही उत्साही कार्यकर्त्ता थे। मेरठ के आर्य पुरुष इनके कार्यों से भली भाँति परिचित हैं। आर्य सार्वदेशिक सभा में आप प्रमुख भाग लेते रहे। इनके परम मित्र श्री बा० कालीचरण जी आर्य मेरठ को चाहिये कि वह इनके विषय में आर्य मित्र द्वारा विशेष परिचय आर्य जनता को दें॥

(२) श्री बा० मदनमोहन जी सेठ

श्री बा० मदनमोहन जी सेठ एम० ए० रिटायर्ड जज—आपका जन्म बुलन्द शहर में सम्वत् १९४१ में हुआ था। आप छात्रावस्था से ही बहुत तीव्र बुद्धि और होनहार थे। १९०८ ई० में आपने एम० ए० पास किया। सन् १९११ में आप आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के मन्त्री बने। सन् १९१२ में गुरुकुल वृन्दावन का महोत्सव बड़े समारोह से इनके मन्त्रित्व में हुआ जिसमें श्री स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराज तथा श्री स्वा० विश्वेश्वरानन्द जी-स्वामी नित्यानन्दजी पधारे थे। इन पंक्तियों के लेखक ने यहीं प्रथम बार इन्हें देखा था। बड़े हँसमुख और प्रभावशाली थे। इन्होंने "Arya Samaj is not a Political Body" तथा "An open letter to morley" ये दो कृतियाँ लिख कर उस समय आर्य समाज का बड़ा भारी काम किया था। मुंसिफ और जज बनने पर ये प्रार्थना पत्र हिन्दी में लेते थे और अपना फैसला भी हिन्दी में लिखते थे। जो उस समय एक असम्भव सा कार्य समझा जाता था। वर्षों तक आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के मन्त्री तथा प्रधान पद पर रहे। आर्य सार्वदेशिक सभा के मुख्य कार्य-कर्त्ता तथा परोपकारिणी सभा अजमेर के कई वर्ष तक सदस्य रहे। "आर्यमित्र" को दैनिक बनाने में आपने विशेष यत्न किया, पर दुर्भाग्यवश इसमें पूर्ण सफल न हो सके। आर्य समाज-वैदिक धर्म में आप पूर्ण निष्ठावान् थे। ऐसे योग्य नेता के चले जाने से आर्य समाज की महती क्षति हुई॥

(३) श्री बा० मथुरा प्रसाद जी शिवहरे अजमेर

(३) आप फतेहपुर (उत्तर प्रदेश) के रहने वाले थे। आपको स्वदेशी से बड़ा प्रेम था। आर्य समाज में आये तो दृढ़ आर्य बने। वैदिक यन्त्रालय अजमेर के मैनेजर बन कर आपने उसकी आय १००) से १०–१५ हजार रुपये मासिक कर दी। आप बड़े ही उत्साही-व्यापार-कुशल-मिलनसार और गम्भीर विचारक थे। आर्य साहित्य मण्डल की स्थापना और सञ्चालन इनके पुरुषार्थ का ज्वलन्त उदाहरण है। आर्य समाज के प्रचार की गहरी लग्न आप में थी। इसके लिये यह अपने को खतरे में भी डाल लेते थे। चार आने में सत्यार्थ प्रकाश इन्होंने ही दिया। 'वैदिक जीवन' और 'महिला' पत्रिकायें घाटा डालकर भी दो वर्ष तक चलाते रहे। आपने कांग्रेस के खादी कार्य में बहुत सहयोग दिया। आदर्श नगर अजमेर के संस्थापकों में आप मुख्य थे। ऐसे उत्साही आर्य पुरुष बहुत कम देखने में आते हैं॥

(४) श्रीमती पूर्णदेवी जी
(धर्मपत्नी श्री पं० ठाकुरदत्त जी शर्मा अमृतधारा भवन—देहरादून)

श्रीमती पूर्णदेवी जी तथा उनके पतिदेव पं० ठाकुरदत्त जी शर्मा—अमृतधारा–लाहौर (देहरादून) को पंजाब का एक २ आर्य पुरुष जानता है। इस अपूर्व क्रियाशील दम्पती को देख कर प्रभु की सृष्टि में अद्भुत चमत्कार और उसकी महिमा का भान होता है। आप पतिपरायणा,

धर्मनिष्ठा, सन्ध्याहवनादि नित्य कर्मों में बड़ी अनुरक्त, भक्ति भाव–सत्सङ्ग–स्वाध्यायादि में तत्पर, पति के साथ महात्माओं के दर्शन–सामाजिक कार्यों में सेवाभावयुक्त, विधवा दीन दुखियों की सेवा में सदा कटिबद्ध, स्त्री जाति के उद्धार में सचेष्ट, सदाचार की मूर्त्ति एवं कोमल-हृदया थीं।

इन्होंने २७) रुपये में अपना एक आभूषण बेचकर पं० ठाकुरदत्त शर्मा जी को 'अमृतधारा का आविष्कारक' ही नहीं बना दिया, अपितु एक महादानी भी बना दिया। २७ लाख रुपया तो सम्भवतः श्री ठाकुरदत्त जी ने दान कर दिया होगा। ऐसी सौभाग्यशालिनी देवियाँ भारत में होती रहें तो यह देश संसार में एक बहुत ऊँचे, अपने प्राचीन आदर्श पर आ सकता है। इनके निधन का पता पंजाब से दूर रहने के कारण इन पङ्क्तियों के लेखक को बुद्धजयन्ती पर हुआ। हम यही कह सकते हैं कि हे अन्तर्यामिन् देव! हमारे भारत में ऐसी सात्विक–पवित्र–धर्मशीला नारियाँ अधिक संख्या में उत्पन्न हों जिससे देश का वातावरण सात्विक बन सके॥

(५) श्रीमती चन्द्रप्रभा विद्यालङ्कृता
(पुत्री स्व० आचार्य रामदेव जी)

यह पुत्री एक सच्चे आर्य की पुत्री होते हुये जन्म से ही आर्य न थीं अपितु कर्मणा भी आर्य थीं। वैदिक धर्म में अटूट श्रद्धा–ऋषि दयानन्द और आर्य समाज के प्रत्येक-कार्य में अतीव उत्साह—गम्भीर विचार–स्त्री जाति के उत्थान में सदा प्रयत्नशील–विदुषी और वक्ता थीं। कई सन्तानों की माता होने पर भी पढ़ने में सदा तत्पर रहीं, जिसे देख कर आश्चर्य होता था।

नारी जाति के कल्याण में यह देवी बहुत कार्य कर सकेंगी ऐसी आशा थी। पर स्वास्थ्य ने इनका साथ नहीं दिया। यह दुर्भाग्य की बात रही। इनकी बहिन सीतादेवी बी एम० एल० ए० पंजाब, तथा भाई पं० यशःपालजी सिद्धान्तालङ्कार—छोटी बहिन दमयन्ती आचार्या कन्या गुरुकुल देहरादून हैं। यह परिवार आर्य समाज तथा देश सेवा में तत्पर है। चन्द्रप्रभा इस परिवार में एक उद्भट रत्न थीं। हम आशा करते हैं कि इनकी पुत्रियों में कोई अपनी माता के पदचिह्नों पर चल कर आर्य विदुषी बने॥

(६) मास्टर कमला प्रसाद जी आर्य—सतना

ये सज्जन रीवा तथा सतना में अध्यापक थे। सच्चे आर्य, वैदिक धर्म, आर्य समाज, ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तों में परम निष्ठावान, स्वाध्याय शील, सदाचारी, ईमानदार, बहुत परिश्रमी और त्यागी थे। आर्ष ग्रन्थों में अटूट श्रद्धा होने के कारण इन्हें अष्टाध्यायी पूरी कण्ठस्थ थी। दो वर्ष अवकाश में यह मेरे पास अष्टाध्यायी पढ़ते रहे। इन्हें देखकर काशी के कुछ विद्वान् चकित रह गये। स्वयं ही नहीं, इन्होंने अपनी सब पुत्रियों को भी अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कराई और आर्य सिद्धान्त पढ़ाते रहे, जिनमें दो तीन तो बहुत योग्य और होनहार हैं। इनका पुत्र १० वर्ष का है, जिसने काशी के अनेक विद्वानों और ७० आचार्यों को कठिन से कठिन सिद्धि सुना कर चकित कर दिया। यह बालक पाणिनि महाविद्यालय काशी में है और वेदमन्त्रों पर बिना रटे अष्टाध्यायी के आधार पर स्वर लगाता है, जिसे देख कर काशी के विद्वान् आश्चर्यचकित हो रहे हैं। यह सब उक्त मास्टर जी की आर्ष ग्रन्थों में गहरी भक्ति का ही परिणाम है। इस सबमें उनकी धर्मपत्नी धर्मशीला, श्रीमती हरदेवी जी आर्या का मुख्य हाथ है जिनके अपूर्व त्याग, तपस्या, पति के वचनों में पूर्ण भक्ति, अतीव श्रम के कारण इन बच्चों के योग्य बनने की आशा प्रतीत होती है। प्रभु उक्त मास्टर साहब की हार्दिक अभिलाषा को पूर्ण करे। ऐसे अद्भुत व्यक्ति आर्य समाज में कम देखने में आते हैं॥

(७) श्री नागरमल जी आर्य-झरिया

इनका निधन ३ मई १९५६ को झरिया में हुआ। आपका जन्म माघ संवत् १९४६ में फतेहपुर जि० जयपुर में हुआ था। पं० अयोध्या प्रसाद आर्य अध्यापक से आपने शिक्षा प्राप्त की। १५ वर्ष की आयु से ही आर्य समाज के सिद्धान्तों से इन्हें प्रेम हो गया था। रामगढ़ के प्रसिद्ध योगी महात्मा कालूरामजी (जो महर्षि दयानन्द के वयोवृद्ध शिष्य थे) के उपदेशों का इनके जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। सन्ध्या, हवन, प्रचार, स्वाध्याय में इनकी बहुत लग्न थी। आर्य समाज के विरोधियों द्वारा उपद्रव करने पर इन्हें गिरफ्तार भी होना पड़ा, परन्तु इसका उलटा प्रभाव हुआ। वही विरोधी आर्य समाज के भक्त बन गये। २८ वर्ष की आयु तक जन्म भूमि में रह कर व्यवसाय के सम्बन्ध में कलकत्ता रहे, फिर झरिया आगये। यहाँ पहिले कुलियारी

का काम किया, पीछे सोने चाँदी की दुकान करते रहे। मारवाड़ी होते हुये इन्होंने सारे मारवाड़ी समाज में सर्वप्रथम मारवाड़ी विधवा से विवाह किया, जिस पर कलकत्ते में एक भारी आन्दोलन विरोध में खड़ा हुआ। पर इनकी दृढ़निष्ठा से विरोधी अनुकूल बन गये। मारवाड़ी जाति के इतिहास में यह घटना सदा स्मरणीय रहेगी। इसमें झरिया के प्रसिद्ध दानी आर्य श्री हरदेव दास जी का सहयोग इन्हें सदा प्राप्त रहा। इसके पश्चात् सैकड़ों विधवा, अनाथों, तथा अन्य देवियों की विधर्मियों से रक्षा, तथा शुद्धि इनके द्वारा हुई, जिसमें ला० वलीराम जी तनेजा, श्री लोकनाथ जी साहू, श्री गुरुदयाल जी अग्रवाल आदि का पूरा सहयोग रहा। आर्यपत्र पत्रिकाओं से इनको बड़ा प्रेम था। "वेदवाणी" मासिक पत्रिका से इन्हें विशेष प्रेम था। मृत्यु के अन्तिम श्वासों में ८ घण्टे पूर्व आपने "वेदवाणी" मासिक के पन्ने जो उसी दिन प्राप्त हुई थी, उलट कर देखे, यद्यपि पढ़ने और सुनने की सामर्थ्य उस समय उनमें नहीं थी। गुरुकुल तथा आर्यसमाजों के उत्सवों पर बहुत ही भावपूर्ण भजन वह बोलते थे और उत्सव को सफल बनाने में पूरा परिश्रम करते थे। प्रायः सभी आर्य संस्थाओं को धनवाद, झरिया से सहायता कराने में अग्रसर रहते थे। दीन दुःखियों की सहायता करते रहते थे। आर्य प्रतिनिधि सभा बिहार के सक्रिय सदस्य रहे। आपने सन् ४२ के काण्ड में बड़ा काम किया। उनके एक भजन 'ये मत कहो कि जग में कर सकता क्या अकेला, लाखों में काम करता है सूरमा अकेला" ने सारे झरिया को उक्त आन्दोलन में अग्रसर कर दिया था। प्रभु विश्वासी, सदाचारी, खद्दरधारी, मधुर भाषी, मिलनसार, दैनिक अग्निहोत्र-सन्ध्या-स्वाध्याय के पक्के तथा सात्त्विक उत्तम गायक थे। कष्ट पड़ने पर सबके हां पहुँचने वाले थे। धनवाद हिन्दूमिशन, झरिया धनवाद गोशाला, आर्य-प्रतिनिधि सभा, बिहार मारवाड़ी सम्मेलन झरिया तथा बिहार राज्य, आर्य समाज झरिया के ये मुख्य कार्यकर्त्ता रहे। समाज सेवा ही इनके जीवन का लक्ष्य रहा। हमें इनके सात्त्विक-भावपूर्ण भक्ति और वैदिक धर्म में निष्ठापूर्ण भजन सदा स्मरण रहेंगे। प्रभु इनके पुत्रों को आर्यधर्म में पूर्ण निष्ठा प्रदान करे॥

(८) श्री स्वामी सत्यानन्द जी आर्यसमाज पहासू

आप लगभग १४ वर्ष से आर्य समाज मन्दिर पहासू जि० बुलन्दशहर में रहे और आप का निधन भी यहीं हुआ। पितृनाम ला० टूकी राए था, जन्मस्थान नगलिया उदयभानु पो० अर्नियां जि० बुलन्द शहर था। आप पहासू से दो मील फ़ज़लपुर ग्राम में प्राइमरी स्कूल के प्रधानाध्यापक थे। छोटे भाई और उनकी धर्मपत्नी की मृत्यु पर त्यागपत्र दे दिया था। पं० मुकुन्ददेव जिज्ञासु एम० ए० शास्त्री तथा पं० रामप्रसाद जी मन्त्री आर्य समाज इनसे दर्जा ४ तक पढ़े थे। सच्चे आर्य पुरुष मुंशी नारायणसिंह जी प्रधान इनके सहपाठी थे। १४ वर्ष पूर्व पहासू आर्य समाज में स्वयं संन्यास ले लिया था। आर्य समाज के अधिकारियों, विशेष कर मन्त्री पं० रामप्रसाद जी तथा उनके परिवार ने अन्त तक इनकी बहुत प्रशंसनीय सेवा की, जिसके लिये वे अति धन्यवाद के पात्र हैं। इनका देहावसान ३ मई १९५६ को प्रातः ४ बजे हुआ। आयु लगभग ७५ वर्ष की थी॥ वैदिकधर्म, आर्य समाज और ऋषि दयानन्द में पूर्ण निष्ठावान् थे।

अपूर्व दान

ऋषि दयानन्द प्रदर्शित आर्ष पाठविधि में इनकी अपूर्व निष्ठा थी। इसी से प्रेरित होकर आप ने मुझे मार्च ५६ के प्रारम्भ में बीमारी से शारीरिक अवस्था बहुत शिथिल हो जाने पर अन्त समय में विशेष परामर्श के लिये बुलाया। कार्यव्यस्तता के कारण मैं न जा सका। पुनः शीघ्र आने के लिये पत्र लिखा तो मैं १८ अप्रैल १९५६ को पहासू पहुँचा और २-३ घण्टे ही वहाँ ठहर सका। उनकी अवस्था अति क्षीण हो चुकी थी। उन्होंने कुछ रुपया नकद तथा अन्य सुवर्ण आदि मेरे हाथ पर रख दिया, कि यह आप आर्षपाठविधि में छात्रवृत्ति के रूप में लगा दें। मैंने सब आर्य पुरुषों के सामने उनसे कहा कि आप यह धन स्थानीय आर्य समाज पहासू के ही किसी कार्य में लगा दें तो उन्होंने कहा कि नहीं, मैं यह बात आप की भी न मानूंगा। यह तो अष्टाध्यायी महाभाष्यादि आर्ष ग्रन्थों में छात्रों की वृत्ति रूप में ही लगेगा। ब्याज का ढंग हो जावे तो और अच्छा, नहीं तो जैसा आप उचित समझें। तब मैंने यह सब स्वीकार कर लिया। यह धन उनके पास उनके प्राविडेण्ट फण्ड का तथा मकान की बिक्री तथा भाई की धर्मपत्नी के भूषणादि का था। प्राप्त धन का विवरण निम्न प्रकार है—

(१) १०००) एक हजार रुपया नकद नोट (२) ४॥ तोला (२ रत्ती कम) सोना, इसके पश्चात् श्री० स्वामी जी

का निधन हो जाने पर आर्य सदस्यों के विशेष आग्रह से बुलाने पर मैं २९ मई १९५६ ई० को पहासू पहुँच सका। आर्य पुरुषों द्वारा ला० मुंशीलाल जी से निम्नलिखित धन तथा अन्य वस्तु और प्राप्त हुईं—(३) ५४४) पाँच सौ चवालीस रुपये नकद, (४) ८) आठ रुपये की चाँदी की चवन्नी अठन्नी (५) ५२ तोले चाँदी की तगड़ी (जिसका दाम ७१) रु० प्राप्त हुआ)। इस प्रकार दो सहस्र से ऊपर सब प्राप्त हुआ। २५०) और एक प्रतिष्ठित आर्य पुरुष के पास हैं जो प्राप्त होने शेष हैं, सो हो जायेंगे।

इस प्रकार के सात्त्विक दान से मुझे भी आश्चर्य तो हुआ। न जाने कितने आर्य पुरुषों का धन समय पर ध्यान न देने और अपने सामने व्यवस्था न करने से नष्ट हो गया या अयुक्त हाथों में पड़ गया। आर्ष पाठविधि के कई प्रेमियों की ऐसी गति हुई। इस दृष्टि से यह दान सात्त्विक कहा जा सकता है॥

उपर्युक्त कुछ विशिष्ट आर्यपुरुषों के विषय में मैंने जानने का यत्न किया। जहाँ तक और जब ज्ञात हुआ हमने कुछ लिखने का विचार किया। विशेष कारणों से कुछ विलम्ब हुआ। हमारी दृष्टि में ऐसे आर्य सज्जनों के जीवन से अन्य जनता को पर्याप्त प्रेरणा मिलती है, इसी विचार से ये पंक्तियाँ लिखी गई हैं। न जाने और कितने ऐसे आर्य पुरुष होंगे (जिनका हमें परिचय नहीं)। सज्जन आर्य पुरुषों का कर्तव्य है कि वे ऐसे विशिष्ट आर्य पुरुषों के सम्बन्ध में आर्य पत्र पत्रिकाओं में संक्षिप्त परिचय प्रकाशित कराते रहें, जिससे आर्य पुरुषों में धार्मिक भावनाओं के प्रति प्रेरणा उत्पन्न होती रहे क्योंकि यह भी वैदिक धर्मप्रचार का एक उत्तम साधन है॥

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

(सम्पादक वेदवाणी)॥

वेदवाणी का अष्टम वर्ष

इस अङ्क पर वेदवाणी का ८ वाँ वर्ष समाप्त हो रहा है। ट्रस्ट द्वारा संचालित होने में ५ वाँ वर्ष। इस वर्ष में "पाश्चात्य-मत-परीक्षणाङ्क" एक विशेष उपक्रम कहा जा सकता है, जिसमें पर्याप्त लेख इस प्रकार के छपे, जिनमें इस विषय पर विविध दृष्टियों से प्रकाश डाला गया। जिस पर हमारे अनेक ग्राहकों तथा विद्वानों ने बहुत सन्तोष और प्रसन्नता प्रकट की। यद्यपि हम तो इसे एक उपक्रम ही समझते थे और समझते हैं, आगे बहुत कुछ होना चाहिये। रिसर्च खोज की दृष्टि से यह अङ्क आशा से अधिक सफल रहा। ऋषि दयानन्द प्रदर्शित वेदार्थ की प्रक्रिया के अनेक गम्भीर बातों के विषय में भिन्न २ विद्वानों ने बड़े परिश्रम और योग्यता से सामान्यतया वेदवाणी में, विशेषतया "विशेषाङ्क" में लेख भेजने की कृपा की। जिसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं और आशा करते हैं कि ये महानुभाव भविष्य में भी ऐसी कृपा करते रहेंगे। लेख लिखने में कितना परिश्रम और कठिनाई होती है, इसे जो स्वयं लेखक है वही यथावत् समझ सकता है। अपने २ विषय के विद्वान् की योग्यता वा प्रौढ़ता का ज्ञान तथा उसका मूल्य उसके लेख से उस २ विषय के विज्ञ विद्वानों द्वारा ही यथावत् आंका जा सकता है। आध्यात्मिक लेखों का महत्त्व आध्यात्मिक भावना वाले पाठकों को भी ठीक २ पता लगता है। वैदिक रिसर्च (खोज) सम्बन्धी लेखों का ठीक २ मूल्यांकन इस विषय के विज्ञ विद्वान् ही पूरा २ कर सकते हैं। कुछ सामान्य पाठक भी रहते हैं, उनकी दृष्टि से भी कभी २ हमें न चाहते हुये सामान्य लेख देने पड़ते हैं, जिनमें सामान्य शक्ति वा बुद्धिवाले ग्राहकों को भी कुछ न कुछ सामग्री मिलनी चाहिये, ऐसा प्रयत्न हमारा बराबर रहता है। जहाँ तक हम जानते हैं, वेदवाणी के सभी अङ्कों में इन दृष्टियों का समावेश अवश्य रहता है। यह तो है कि कभी कम कभी अधिक, ऐसा तो होता रहता है।

वैसे तो हम प्रकाशस्तम्भ (Light house) आर्ष ग्रन्थों, विशेषकर ऋषि दयानन्द कृत ग्रन्थों को समझते हैं। सच्चा प्रकाश तो हमें उन्हीं से मिलता है। मनुष्य कृत होने से हम अपनी 'वेदवाणी' को भी गौण ही समझते हैं। ऋषि दयानन्द कृत भाष्य का समझ कर स्वाध्याय करने वालों के लिये हम 'वेदवाणी' अनिवार्य नहीं समझते। अनिवार्य तो हम ऋषि दयानन्द कृत ग्रन्थों के अध्ययन को ही समझते हैं, चाहे वह कितना छोटे से छोटा ग्रन्थ हो। हम वेदवाणी में सन्ध्यादि की व्याख्यायें वा आर्याभिविनय आदि

की व्याख्यायें छापते हैं, पर हम मूल में ही पूर्णास्था अनिवार्य समझते हैं। कभी २ ऐसा भी होता है कि अङ्गरेज़ी पढ़े लिखों की दृष्टि से ऐसी व्याख्यायें हम छापते हैं, ताकि भारतीय संस्कृति से दूर पहुँच गये ऐसे कुछ अङ्गरेज़ी पढ़े लिखों को भी कुछ लाभ हो जावे। कभी २ उक्त व्याख्याओं में हमारी पूरी सहमति नहीं भी होती, तो भी हम छापते उपर्युक्त दृष्टि से ही हैं। ऐसा वेदवाणी के पाठकों को समझना चाहिये। वैसे ये व्याख्यायें सामान्य दृष्टि से बहुत लाभ कर हैं।

वेदमन्त्रों की व्याख्याओं में हम ऋषि दयानन्द कृत मन्त्रव्याख्या को वर्त्तमान में सर्वोत्कृष्ट मानते हैं। कोई व्याख्या ही न करे, सो भी नहीं। पर ऐसी व्याख्याओं को हम हेय समझते हैं, जो ऋषिव्याख्या से हमें दूर ले जावें। उदाहरणार्थ ऋषि दयानन्द कृत सन्ध्योपासन विधि में जो हिन्दी में मन्त्र का अर्थ वा अन्य निर्देश लिखे हैं उनका ज्ञान प्रत्येक आर्य को हो, यह हम आवश्यक समझते हैं। उसकी जगह यदि कोई दूसरी सन्ध्या पुस्तक होती है (चाहे वह मेरी ही लिखी हो या किसी की भी हो) तो हम उसे हेय ही समझते हैं। हाँ उसमें सहायक हो तो उपादेय है। आजकल के वेदार्थ प्रक्रिया के मूलभूत सिद्धान्तों से अनभिज्ञ वेदभाष्य करने का जो उद्घोष करते हैं, हमें इसे अनधिकार चेष्टा ही समझते हैं। हम समझते हैं कि ऐसी व्याख्यायें ऋषि कृत व्याख्याओं के समझने में (गहरी दृष्टि से विचारने पर) बाधक ही सिद्ध होती हैं। जिन्हें कुछ ऋषि कृत ग्रन्थों के न जानने वाले वा ऋषिव्याख्या की गहराई को न समझने वाले विद्वान् कहे वा समझे जाने वाले वा उनके अनुगामी ही कहते सुनाई देते हैं, जिन्होंने किसी भी आर्षग्रन्थ को विधिपूर्वक नहीं पढ़ा होता॥

यदि कहा जावे कि ऐसे व्यक्ति संख्या में बहुत अधिक हैं, इसलिये उनकी बात ठीक है, तो वेद को न जानने वाले न समझने वाले अवैदिक विचारों से परिपूर्ण अनेक मासिक पत्रों वा व्याख्याओं के प्रशंसक वा अनुगामी न जाने ३५ करोड़ में से पौने ३५ करोड़ निकलें। उनकी बात कदापि ठीक नहीं हो सकती।

हम कहना यह चाहते हैं कि ऋषिकृत ग्रन्थों के सामने हम इन मासिक पत्रों को उतना महत्त्व देने को तय्यार नहीं हैं। चाहे वह वेदवाणी ही हो। यह ज्ञानवृद्धि में साधन भले ही कही जा सकती हैं। ऋषिकृत ग्रन्थों का स्थान नहीं ले सकतीं।

इतना होने पर भी ज्ञानवृद्धि में यह बहुत सहायक हैं यह हम निश्चय से कह सकते है। हमारा इस वर्ष का पाश्चात्य-मत-परीक्षणाङ्क अवश्य इस कोटि में आता है और हमारे ग्राहक प्रायः ऐसा समझते हैं।

अष्टम वर्ष का सिंहावलोकन

आध्यात्मिक वैदिक रिसर्च (खोज)—वैदिक सिद्धान्त विमर्श आदि ८ वें वर्ष के लेखों की सूची हमने पृथक् दे दी है। उससे यह स्पष्ट है कि आध्यात्मिक वा धार्मिक लेखों में कुछ लेख तो उत्कृष्ट अवश्य कहे जा सकते हैं। शेष लेख भी सामान्य दृष्टि से प्रेरणा देने वाले अवश्य हैं। हमारे बहुत से ग्राहकों की इच्छापूर्ति वा उनके लिये विविध दृष्टियों से प्रेरणादायक कहे जा सकते हैं, जो कभी २ लिखते रहते हैं कि हमें कोई २ लेख बहुत ऊँचे विचारों के होने के कारण समझ में नहीं आते। हमारा विशेष यत्न रहता है कि आध्यात्मिक लेख उच्चकोटि के वेदवाणी में छपें। पर निरन्तर यत्न करने पर भी जितनी मात्रा में हम ऐसे लेख चाहते हैं, उतने दे नहीं पाते। कारण केवल ऐसे लेखक-महानुभावों से लेखों का प्राप्त न होना ही है, यद्यपि हम उनसे निरन्तर लेख भेजने की प्रार्थना भी समय २ पर करते रहते हैं। आध्यात्मिक वा धार्मिक लेखों की संख्या इस वर्ष ३० रही। जिनमें १५ लेख तो उत्कृष्ट कहे जा सकते हैं।

वैदिक रिसर्च (खोज) सम्बन्धी लेखों की इस वर्ष पर्याप्त संख्या रही, जिसका प्रतिपादन हम ऊपर कर चुके हैं। वैदिकखोज सम्बन्धी ३९ लेख हैं। निश्चय ही इनमें ३० लेख उत्कृष्ट कहे जा सकते हैं। तथा ९ साधारण। इनसे अधिक नहीं तो इतना तो हम कह सकते हैं कि हमने ग्राहकों के पास इतनी सामग्री संगृहीत कर दी है जिससे कम से कम उनका ५) रुपये वार्षिक शुल्क तो निश्चय ही सार्थक हो जाता है। वे इसमें घाटे में नहीं रहे। यह बात हम अपने ग्राहकों के आधार पर ही कह रहे हैं। इस वर्ष के विशेषाङ्क की बिक्री वर्ष भर तक पर्याप्त मात्रा में हुई है, गत वर्षों से अधिक हुई है। उसके आधार पर ग्राहक भी बहुत बने हैं। पिछले विशेषाङ्कों की मांग भी बराबर है।

वैदिक सिद्धान्त विमर्श वा खोज सम्बन्धी २३ लेख इस वर्ष छपे हैं। इनमें कई लेखों से विशेष जानकारी पाठकों को मिलती है।

दर्शनादि विषयक लेख विशेष ध्यान से पढ़ने योग्य हैं। इनमें कई में गहरे विचार उपस्थित किये गये हैं जिससे आर्य सिद्धान्तों की श्रेष्ठता पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध में हमें बहुत लेख मिल सकते हैं, पर हम अपने ग्राहकों की दृष्टि से बहुत अधिक लेख इस विषय में नहीं देते हैं। यदि हमारे पाठक हमें ऐसे लेखों की संख्या बढ़ाने को लिखेंगे तो हम इस विषय में और भी प्रयत्न करेंगे।

इस प्रकार इस वर्ष के सब लेखों का विवरण इस प्रकार है—

(१) आध्यात्मिक वा धार्मिक लेख ३०। (२) वैदिक रिसर्च (खोज सम्बन्धी) ३९। (३) दर्शन इतिहासादि विषय के ५। (४) आर्य सिद्धान्त विमर्श वा खोज सम्बन्धी १६ सर्वयोग १०० रहा।

यह प्रयास कहां तक सफल रहा, इसमें वेदवाणी के प्रेमी ग्राहक ही यथावत् कह सकते हैं।

लेखक महानुभावों से नम्र निवेदन

यह है कि वे कभी २ ऐसे लेख भेजते हैं जिनमें आध्यात्मिक या वैदिक रिसर्च वा आर्य सिद्धान्त विमर्श सम्बन्धी लेख न होकर आर्य समाज यह नहीं करता वह नहीं करता—ऐसी बातें ही अधिक रहती हैं, जिनसे पाठकों की जानकारी कुछ नहीं बढ़ती, वा परस्पर झगड़े बखेड़े के लेख रहते हैं। यद्यपि हम उन लेखों के साथ कभी २ सहमत भी होते हैं, पर वेदवाणी में ऐसी चर्चायें चलना वेदवाणी की नीति के अनुकूल न होने से, हम ऐसे लेखों को छापने में असमर्थ रहते हैं। ऐसे तथा कुछ लेख बहुत ही साधारण कोटि के होते हैं, उन्हें भी हम 'वेदवाणी' में नहीं छापते। इस पर कुछ लेखक महानुभाव बहुत रोष भी प्रकट करने लगते हैं। ऐसे महानुभावों से हम नम्रतापूर्वक अपनी विवशता के लिये क्षमाप्रार्थी हैं। मांगने पर उनके लेख हम वापस भेज देते हैं, जो स्वयं भेजे होते हैं। मंगाये गये अस्वीकृत लेखों को हम सदा वापस भेज देते हैं। एक और निवेदन करना है कि बहुत से लेख ऐसे अवसर पर पहुँचते हैं, जब हमारी सामग्री पूरी हो चुकी होती है, दूसरे तीसरे मास में भी उनकी बारी नहीं आ पाती, इस पर लेखक महानुभाव बुरा मानने लगते हैं कि हमारा लेख नहीं छापा इत्यादि। आध्यात्मिक लेख तो जब भी प्राप्त हों हम उसे छापने का पूरा यत्न रखते हैं, पर उच्चकोटि के हों तभी।

लेखक महानुभावों से हम यह भी निवेदन करेंगे कि वे अपने प्रमाणों को अवश्य अच्छी तरह देख कर ही लिखने की कृपा किया करें। कई प्रमाणों तथा उनके पतों को ही ठीक करने में वेदवाणी कार्यालय वालों को बहुत परिश्रम पड़ जाता है। हम चाहते हैं कि वेदवाणी में वेद-मन्त्र सस्वर छापे जावें, हमें कई लेखों में स्वर स्वयं देना पड़ता है, समयाभाव से सबमें कर नहीं पाते।

अतः लेखक महानुभाव स्वयं ही स्वर दे दिया करें तो अच्छा हो। स्वर विषय में अगले वेदाङ्क में एक बहुत उप-योगी और योग्यतापूर्ण लेख छप रहा है उससे पता लगेगा कि मन्त्रों पर स्वर रहना कितना आवश्यक है। 'व्याकरण शास्त्र न जानने वाले विद्वान् ही ऐसी उट्टङ्कनायें उठाते रहते हैं कि स्वर का क्या काम है? ऐसे महानुभावों की सेवा में हम यही विनम्र निवेदन करेंगे कि भला सन्ध्या जैसी पुस्तक में या संस्कारविधि के मन्त्रों पर ऋषि दयानन्द ने स्वर लगाना क्यों आवश्यक समझा? आप को यदि स्वर नहीं आता, तो सीख लें। हम तो अष्टाध्यायी पढ़ने वालों को १५ दिन में स्वर सिखा देते हैं। स्वर को लोगों ने हौआ बना रखा है, है कुछ भी नहीं, थोड़ा यत्न कर लेने की आवश्यकता है।

समयाभाव से हम वेदवाणी के सब लेखों पर स्वर नहीं लगा पाते, इसी कारण हम अपने लेखकों से ऐसा करने के लिये विनम्र निवेदन कर रहे हैं।

ग्राहक (ब्रह्म) की उपासना

हमें कुछ वर्षों के वेदवाणी कार्य से अनुभव हुआ कि "संसार में सबसे बड़ा वा कठिन काम" अपने ग्राहकों को प्रसन्न रखने का है। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि संसार की तीन चौथाई विषमता (खुराफ़ात) ग्राहकों को बनाये रखने में प्रतीत होती है। ५) रुपये क्या देते हैं एक महान् उपकार करते हैं !!! वेदवाणी बराबर रजिस्टर से मिलाकर भेजी जाती है, न पहुँचने पर सूचना आने पर पुनः भेज दी जाती है। कई २ महानुभाव तो दूसरे तीसरे मास निद्रा से जागकर लिखते हैं कि हमको इस मास की वेदवाणी नहीं पहुँची, उस मास की भी नहीं, उससे पहिले मास की भी नहीं। भला बताइये इसमें वेदवाणी कार्यालय वालों का क्या दोष। १० ता० तक वेदवाणी न पहुँचने पर आप को सूचना देनी चाहिये। सूचना पहुँचने पर तत्काल

भेज दी जाती है। दो मास या ३ मास पीछे कहाँ से भेजें। यदि नयी होगी तभी भेजी जा सकेगी। अतः ग्राहकों से निवेदन है कि वे १० ता० तक वेदवाणी न पहुँचने पर तुरन्त)॥। का पत्र लिख दें, उन्हें वेदवाणी अवश्य भेजी जायगी, पीछे तो समाप्त हो जाने पर असमर्थता है, कुछ प्रतियाँ सैट के लिये भी हमें रखनी पड़ती हैं।

डाकखाने वालों का भ्रष्टाचार

यह भी विदित रहे कि सार्टिङ्ग में वा डाकखानों में बाबू लोग समाचार पत्रों पर पैसा कभी खर्च नहीं करते, जैसे धोबी कपड़े कभी नहीं सिलवाता—नित बढ़िया २ कपड़े पहिनता है, वे कहाँ से आते हैं, हमारे आप के कपड़े ही तो पहिनता है। एक बार एक का कपड़ा रख लिया, दूसरी बार दूसरे का—ऐसे ही डाकखाने के बाबूओं का हाल है। समाचार पत्र पढ़ता तो हर एक बाबू है, पर डाक में आये समाचार पत्रों को ले लेता है। जब पढ़ लेता है, तो बड़ी कृपा की, भूल न गया तो दूसरे दिन की, नहीं तो कभी २ तीसरे दिन की डाक में रख के भेज देता है। इसका लाख यत्न करने पर भी कोई उपाय नहीं। पोस्टमास्टर जनरल को लिखते रहें, फल कुछ नहीं हो पाता। यह भी एक नैतिक भ्रष्टाचार है। इसी से कभी २ हमारे आनेवाले दैनिक पत्र दो दो-तीन तीन इकट्ठे डाक में पहुँचते हैं कभी २ गुम भी हो जाते हैं। पोस्ट इसपेक्टर दफ्तरी कार्यवाही करने वा खानापुरी करने के लिये दिखाने को कुछ दौड़ धूप भले ही कर दें, पर पतनाला वहीं का वहीं रहता है, लाभ कुछ नहीं। इसका एक उपाय अवश्य है कि डाकखाने के अधिकारियों को कई एक सज्जन उक्त डाकखाने की रिपोर्ट दो चार बार करने से उसे डर हो जायगा और जब उसका रिकार्ड खराब हो जायगा तो उसको दण्ड भी दिलाया जा सकता है। पर इस काम में कुछ समय लगाना पड़ता है और कुछ परेशानी भी उठानी पड़ती है। जो कभी २ उठानी भी चाहिये। वेदवाणी के ग्राहक इस बात पर अवश्य ध्यान दें। जब वेदवाणी न पहुँचे पोस्टमास्टर जनरल को रिपोर्ट कर दें। पहिले मास न पहुँचने की रिपोर्ट का उल्लेख भी कर दें।

यदि 'वेदवाणी' कार्यालय से किसी प्रकार के अनुचित व्यवहार की बात हो तो ग्राहक महानुभाव "सम्पादक" को भी लिख सकते हैं। वैसे कार्यालय के कार्यकर्त्ताओं की कठिनाई का भी उन्हें ध्यान रखना चाहिये।

वी० पी० न लौटा दें, पहिले मना कर दें

ग्राहकों से एक और नम्र निवेदन हम पुनः करते हैं। कि वे कृपा करके जब उनके पास चन्दा समाप्ति की सूचना पहुँचे तो कृपया मनीआर्डर फार्म भर कर अपना वार्षिक शुल्क भेजने का कष्ट करें।

यदि नहीं चाहते तो उसी समय पत्र लिख देना चाहिये कि हम इस कारण से ग्राहक नहीं रहना चाहते वेदवाणी न भेजें। यदि उनकी तरफ से कुछ भी सूचना नहीं आती तो यही समझा जाता है कि वी० पी० से वेदवाणी भेजी जावे। इसी से तब वी० पी० भेजी जाती है। उधर डाकघर (पोस्ट आफिस) में अब नये नियम के अनुसार वी० पी० या तो ग्राहक अपने यहाँ पहुँचने पर तत्काल रुपये देकर छुड़ा ले, या फिर डाक घर में वह वी० पी० नियमानुसार ३-४ दिन तक ही रह सकती है अधिक नहीं। वह वी० पी० डाक खाने में अपना आदमी भेज कर ही छुड़ानी पड़ती है। उसमें भूल हो जाने पर जब नहीं मँगा पाते, तो वी० पी० लौट आती है। वेदवाणी कार्यालय को इसमें ॥=) घाटा प्रति ग्राहक पर पड़ जाता है। ऐसी लौटने वाली वी० पी० अधिक संख्या में होने पर कार्यालय को उतना ही अधिक घाटा पड़ जाता है। इस घाटे को हमारे ग्राहक महानुभाव ही बचा सकते हैं, यह भी वेदवाणी की बड़ी सहायता है।

ग्राहक (ब्रह्म) की सेवा हर प्रकार करने का पूरा प्रयत्न किया जाता है, पर इसकी भी कोई सीमा होनी चाहिये। देश स्वतन्त्र हो गया है, हमारे देश का नैतिक स्तर अब कुछ ऊँचा होना आवश्यक है। तभी भारत संसार में अपना पहिला स्थान प्राप्त कर सकेगा। आशा है, हमारे इस निवेदन पर अवश्य ध्यान दिया जावेगा॥

वेदवाणी में ग्रन्थों की समालोचना

यह काम हमारे जैसों के लिये एक बहुत ही अप्रिय और कठिन काम है, ऐसा अनुभव में आ रहा है। पहिले तो हर एक पुस्तक की दो प्रतियाँ अवश्य आनी चाहियें। एक प्रति समालोचना करने वाले विद्वान् को दी जाती है। दूसरी कार्यालय में रहती है। इस विषय का यही सार्वत्रिक नियम है।

हमें इस कार्य में कठिनाई यह प्रतीत हुई कि यदि तो हम लिख देते हैं कि यह पुस्तक बहुत अच्छी है—योग्यता से लिखी गई है—इसमें कोई आपत्तिजनक बात नहीं-सुन्दर

है—इसका खूब प्रचार होना चाहिये' इत्यादि तब तो समालोचक का पिण्ड छूट जाता है। रुपया दो रुपया की पुस्तक भेज कर लेखक यह समझता है कि समालोचक को इसका मूल्य चुकाना चाहिये, वह इस तरह कि उसकी प्रशंसा ही करे। कहीं न्याय दृष्टि से उसके विचारों या अन्य विषय में उसकी छपाई कागजादि वा उसके मूल्य आदि पर कुछ लिखा नहीं कि वह उसे अपना शत्रु समझने लग जाता है। इन बातों को देखकर समालोचक समझता है कि मैं अपने शत्रु क्यों बनाऊँ। अतः वह अपना पिण्ड छुड़ाना चाहता है और लेखक की चाही हुई समालोचना ही लिख देता है। मेरी दृष्टि में आजकल ९०% समालोचनायें तो ऐसी ही होती हैं।

इस सबसे विपरीत कोई अपनी सच्ची समालोचना (चाहे वह लेखक की दृष्टि में ठीक न हो) लिखता है तो लेखक महानुभावों को बुरा नहीं मानना चाहिये।

हाँ! विरुद्ध भावना से की गई समालोचना तो अनुचित है ही—पर अपने विचार के विपरीत समालोचना देखकर समालोचक की भावनाओं को दूषित समझ लेना भारी भूल है। हमारे लेखक महानुभाव हमारी इस कठिनाई को सदा ध्यान में रखें। हम सद्भावना से ही कुछ लिखने का यत्न करते हैं, इतना हम कह सकते हैं॥

इस वर्ष ट्रस्ट को विशेष दान

इस वर्ष में एक सज्जन-आर्य-दानी महानुभाव ने, जो अपना नाम प्रकट करना नहीं चाहते, श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट को ३६००) तीन हज़ार छः सौ रुपये दान रूप में दिये हैं जो वैदिक साहित्य में आध्यात्मिक-वा वेद सम्बन्धी सरल पुस्तक वा जीवन को प्रेरणा देनी वाली धार्मिक पुस्तकों के छापने के लिये है। जिसमें ऋषि दयानन्द कृत 'वैदिक-ईश्वर उपासना वा उपासना योग' ७००० छापी गई है जो समाप्त हो रही है। जिसका तीसरा संस्करण पुनः निकलने वाला है। इसकी वा आगे की पुस्तकों की बिक्री से जो रुपया आवेगा; उसमें आगे और पुस्तकें छपती रहेंगी। हम चाहते थे कि उक्त दानी आर्य पुरुष के नाम से उक्त माला निकाली जाती, पर इसको भी उन्होंने स्वीकार नहीं किया। यदि कोई सज्जन उत्कृष्ट आध्यात्मिक छोटा या बड़ा ग्रन्थ ऋषि दयानन्द प्रदर्शित सिद्धान्तों की दृष्टि से लिखें, तो हम ऐसे ग्रन्थ का सहर्ष स्वागत करेंगे। 'सम्पादक' वेदवाणी से उक्त महानुभाव पत्रव्यवहार कर सकते हैं।

वेदवाणी ८म वर्ष के दानी

इस वर्ष में वेदवाणी के प्रेमी महानुभावों ने वेदवाणी के नये ग्राहक बनाने में पूर्ववत् प्रयास किया, जिसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं। आगे भी यह यत्नशील रहेंगे, ऐसी आशा करते हैं। इनसे अतिरिक्त निम्नलिखित महानुभावों ने ८म वर्ष में वेदवाणी के लिये दान दिया—

१०) श्री० शङ्कर गौड़ जी देहली
१०) श्री० स्वामी ब्रह्मानन्द जी वैदिक भक्ति साधना आश्रम रोहतक।
५) श्रीमती लाजवन्ती देवी जी देहली।
१) राजेन्द्र जी बुलन्दशहर।
२०) माता लाजवन्ती जी मेरठ।
५) जितेन्द्र कपूर लन्दन।
५०) श्री० शुक्लादेवी जी (मदनलाल कपूर जी) लुधियाना।
१००) श्री० लक्ष्मी देवी (श्रीचन्द्रखेड़ा) जी धनवाद।

२०१) जोड़

"वेदवाणी" की ओर से हम इन दानी महानुभावों का धन्यवाद करते हैं। और आशा करते हैं कि आप महानुभाव आगे भी वेदवाणी का ध्यान रखेंगे। अन्य दानी-धर्म प्रेमी भारतीय संस्कृति में निष्ठावान् महानुभावों से भी निवेदन है कि वे वेदवाणी के इस पवित्र धार्मिक सात्विक कार्य में सहायता प्रदानकर पुण्य के भागी बनें।

अन्तिम निवेदन

जहाँ तक हमारा ज्ञान वा अनुभव है उसके आधार पर हम इतना तो कह सकते हैं कि एक नहीं, अनेक वेद सम्मेलनों पर दिये गये भाषणों वा पढ़े गये लेखों की अपेक्षा वेदवाणी के एक विशेषाङ्क में कहीं अधिक सामग्री पाठकों को मिलती है। आर्य समाज तथा आर्य समाज के बाहिर के विद्वानों को वेदार्थ की अनेक समस्याओं के हल करने की सामग्री 'वेदवाणी' में पर्याप्त मात्रा में मिलती है। इस दृष्टि से आर्य समाजों, आर्य पुरुषों का 'वेदवाणी' को प्रोत्साहन देना एक भारी कर्त्तव्य है। अपने यहां के स्कूलों-कालेजों-कन्याविद्यालयों-पुस्तकालयों तथा वाचनालयों को वेदवाणी अपने व्ययसे मंगाकर देनी चाहिये और विशेषाङ्क देश विदेश विद्वानों को भेंट में देने चाहियें। जिससे ऋषि दयानन्द प्रदर्शित मन्तव्यों वा शिक्षाओं का अधिक से अधिक प्रचार हो॥

अष्टम वर्ष के लेखों की सूची

१—अध्यात्मिक

२—वैदिक विवेचन (खोज)

३—दर्शन-इतिहास-राजनीति

४—वैदिक सिद्धान्त विमर्श (खोज)

५—संस्कृत भाषा (विना रटे संस्कृत)

(शेष टाईटिल पृ० ३ पर)

वैसा मान लिया। जो पक्षपात को काम में न लावें तो वकील, मुख़्तार इसकी साक्षी दे सकते हैं। साधारण लोगों के पास जब कोई सर्कारी काराज़ वा ख़त पत्र जाता है तो बेचारे उसको लिये मारे २ फिरते हैं। जो दैव से फ़ारसी पढ़ा मिल गया तो मिल गया, नहीं तो दस २ पाँच २ कोस जाकर पढ़वाते हैं और वह भी ख़ाली हाथ नहीं, किन्तु दे लेकर अपना काम साध लेते हैं। यह फ़ारसी पढ़े जैसा रात दिन बोलते हैं वैसा भी नहीं लिखते। लिखने के समय निरी फ़ारसी छौंकते हैं (मानो इनकी जन्म घुट्टी फ़ारसी ही है) और क्यों न फ़ारसी बघारें, इसी में तो उनकी बड़ी जीत है। बात २ में लोगों को मूँडते और ज़रा २ से लिखने पढ़ने का बहुत कुछ माँग लेते हैं जो यहाँ की ठेठ बोल चाल में लिखें तो ओलट ही क्या रहे और किस मिष से लोगों को ठगें। निदान कहाँ तक लिखा जाय, इस उर्दू का दफ्तरों [में] प्रचार होने से बड़ी २ बुराइयाँ और लोगों की हानि हुई और होती हैं। उदाहरण एक नहीं हज़ारों दे सकते हैं। इसलिये यह तीन काल में पढ़ने और दफ्तरों में प्रचार पाने योग्य नहीं।

और यह भाषा तो जो कुछ है सो है ही, परन्तु इसके अक्षर, जिनमें वह आजकल लिखी जाती है बहुत ही निषिद्ध है। उन्होंने रहा सहा लोगों का मठ मारा है।

इन फारसी अक्षरों की लिखत को पढ़ने वाले केवल अंधे की लाठी के समान टटोलते चलते हैं और जो कुछ पढ़ते हैं उसको प्रसंग से निकालते हैं और प्रसंग के विना कोई किसी के लेख को निर्भ्रम और ठीक नहीं पढ़ सकता। और दूसरी भाषा के शब्दों का लिखना पढ़ना तो मानों असम्भव ही है और जो किसी ने टूटा फूटा लिख भी लिया तो पढ़ने में कदापि शुद्ध नहीं आता, कुछ का कुछ मुँह से निकल जाता है। बहुतेरे नागरी, संस्कृत और अंगरेजी के शब्द इनही अक्षरों के प्रताप से बिगड़ गये, जिनको सुनकर हँसी आती है। यह कुछ लिखने पढ़ने वालों का दोष नहीं है, किन्तु अक्षर ही ऐसे हैं कि फ़ारसी के अनंतर और किसी भाषा के शब्द उनमें शुद्ध नहीं लिखे जा सके। और जो सच पूछो तो फ़ारसी का भी निर्वाह यथावत् नहीं होता, क्योंकि प्रथम तो साकिन्, मुतहर्रिक आदि का भेद पढ़ने के समय और अलिफ़, ऐन और ते, तोय ط ت और से, सीन स्वाद ص س ث और हे, हे ه ح और ज़ाल, ज़े, ज़्वाद, ज़ोय ظ ض ز ذ का भेद लिखने के समय पूर्वस्मरण और लुग़ात की क़िताब के विना स्पष्ट नहीं हो सकता॥

दूसरे इन अक्षरों में अलिफ़, ऐन, वाव, ये ی و ع ا ये चार स्वर हैं, जिनमें से ऐन ع अरबी में ही आता है और वाव, ये ی و व्यञ्जन का भी काम देते हैं और ज़ेर, ज़बर, पेश ये اَ اِ اُ चार स्वरों के संकेत और उनकी मात्रा हैं जो बहुधा लगाई नहीं जाती। इनही स्वर और संकेतों से सारे स्वरों का खैंच तानकर उच्चारण करते हैं।

तीसरे इनकी बनावट और मिलावा भी बहुत ही भ्रमणीक है। जैसे बे, पे, ते, से ث ت پ ب और जीम, चे, हे, ख़े, خ ح چ ج और दाल, ज़ाल ذ د और रे, ज़े ز ر और सीन शीन ش س और स्वाद, ज़्वाद ض ص और तोय, ज़ोय ظ ط और ऐन, ग़ैन غ ع और काफ़, गाफ़ گ ک की बनावट और मिलावट में और फ़े, क़ाफ़ ق ف और बे, पे, ते, से, नून, ये ی ن ث ت پ ب की केवल बनावट में नुक़्तों और शोशों के सिवाय कुछ अन्तर नहीं अर्थात् जब ये दूसरे अक्षरों से मिलाये जाते हैं तब सब का रूप एक सा दिखाई देता है, जो चाहो सो पढ़ लो। यदि पढ़ने वाले के भाग्य से नस्तालीक़ ख़त (जिसमें पूरे २ अक्षर और नुक़्ते और शोशे लगे हुए होते हैं) हाथ का लिखा हुआ वा छपा हुआ तो उसने पढ़ लिया, नहीं तो माथा पकड़ कर रह गया, परंतु हरकात के विना उच्चारण तब भी ठीक न होगा॥

इस नस्तालीक़ ख़त में प्रायः पुस्तकें लिखी जाती हैं और वह मनमानी घसीट जिसमें रात दिन लोग चिट्ठी, पत्री आदि निज के और सर्कारी काम करते हैं, उसका पढ़ना अलबत्तह कुछ काम रखता है। ऐसे वैसे का काम नहीं जो पढ़ सके, बैठा सिर धुना करता है। उसके बांचने में अभ्यास करने के लिये लोग पढ़ने पढ़ाने से भी अधिक श्रम करते हैं। जब भी यह लिखत बहुत सोच विचार और पूर्वापर के सम्बन्ध से जों तों कर पढ़ने में आती है और

यथार्थ में वह अक्षर और लिखित तो ऐसी नहीं कि जिसको कोई पढ़ सके, केवल पढ़ने वाले के अभ्यास की बात है। ऐसी लिखत को पढ़ कर सुनाने के लिए लोग पहले से देखभाल रखते हैं और फिर भी जो शब्द पढ़ने में नहीं अाते उनकी जगह और का और सुना देते हैं। इन अक्षरों में जब फ़ारसी ही की यह दुर्दशा है तो और भाषा की तो क्या कथा, जो लिखने में ही नहीं आती। यद्यपि फारसी वालों ने यहां की बोल चाल के लिये टे, डाल, ड़े ٹ ڈ ڑ नये अक्षर घड़े तो भी यहां की भाषा का यथोचित निर्वाह नहीं हो सकता। इस लिये उन्होंने बहुतेरे यहां की बोली के शब्दों को अपने ढंग पर बना लिया। जैसे ब्राह्मण को बिरहमन और दक्षिण दकन आदि। निदान इस शिकस्त खत में वही शब्द पढ़ने में आते हैं जो ज़बान पर चढ़े रहते हैं और उनमें भी जो बहुधा एक ही प्रकार से लिखे जाते हैं दुब्धा में डालते हैं और जहां इतर भाषा का शब्द आया और मुँह से कुछ का कुछ निकला, देखो जैसे नांव, गांव, ठांव कभी ठीक नहीं पढ़े जाते हैं॥

निदान इन फारसी अक्षरों और उनकी लिखत की कहां तक बुराइयां लिखी जायं, उनसे इस देश के लोगों की बड़ी भारी हानि है। नित नये जाल बनते हैं, रात दिन लोग धोके खाते हैं। जरा २ से लिखवाने पढ़वाने के लिये गिड़गिड़ाते फिरते हैं। सर नामह उठवाई और कलम पकड़वाई के लिये नित उठ लुटते हैं। पृथिवी भर के लोगों की यही परिपाटी है कि जहां बालक पांच सात वर्ष का हुआ और उन्होंने उसको पहिले मातृभाषा लिखानी पढ़ानी आरम्भ की और जब वह उसमें प्रवीण हो गया और गणित, भूगोल इतिहास आदि विद्या सीख चुका तब उसे की रुचि के अनुसार इतर भाषा और विद्या सिखाते हैं। यहां कुछ काल से एक निराली ही चाल पड़ गई है अर्थात् जब तक बालक मां बाप की गोद में खेलता और तुतलाता रहा तब तक तो मातृभाषा सीखता रहा और जब पढ़ने लिखने के योग्य हुआ तब ही मुल्ला और मियां जी को सौंप दिया गया और यह गीत कि

करीमा बबख़्शाय बर हालमा। कि हस्तम असीरे कमंदे हवा॥

गाने लगा और यह राग केवल जीभ तोड़ने और गला फाड़ने के लिये होती है, क्योंकि वह अवस्था तो ऐसी है ही नहीं कि दूसरी भाषा सीख सकें और उसके भार को उठा सकें, परवश विचारे शिथिल और मन्द होकर अधम रह जाते हैं। न अपनी भाषा जैसी चाहिये आई, न दूसरी जो मारपीट करके। बहुत हुआ तो दोनों भाषा का सार यह याद रहा कि

अय अकरीम बख़्शीश कर ऊपर हाल हमारे के। कि हूँ मैं कैदी हवा और हविस का॥

बस यही मुंशी लोगों की सारी ऊमर की मेहनत का निचोड़ है, जिसको उन्होंने अदालतों और दफ्तरों में फैला रक्खा है और केवल इतनी ही करतूत पर आपे को बड़ा मान्ते हैं और जान्ते हैं कि इल्म है तो फारसी और सदा घमड से यह पढ़ते हैं कि

क़लम गोयद कि मन शाहे जहानम। क़लम कस रा बदौलत मे रसानम॥

और कौतुक यह कि जरा २ से लड़के छाती पर हाथ रख कर रसिक शेर पढ़ते हैं और ठंडी सांसे लेते हैं और आपे को सवारने और वेश बनाने में वेश्या को मात करते हैं। विचार करने का स्थान है कि जिस भाषा का ऐसा बुरा गुण हो, वह क्या शिक्षा देने और प्रचार पाने योग्य है? कभी नहीं॥

निस्संदेह यहां तक हो सकता है कि जो भाषा ऐसी क्लेश साध्य हो और उसमें निरे अवगुण भरे हों उसको लोग पढ़ते पढ़ाते ही क्यों हैं? तो इसका समाधान यह है कि न उसमें सर्कारी काम काज होते, न लोग उसको अंगीकार करते। कदाचित् प्रतीत न हो तो देख लीजिए, जो लोग अपनी लड़कियों की शिक्षा चाहते हैं, वह सब नागरी पढ़वाते हैं। और कोई उनसे कहे भी कि अजी आप तो उर्दू फारसी जानते हैं, लड़कियों को क्यों नहीं सिखाते तो तुरन्त उसके उत्तर में यही कहते हैं कि उनको कौन सी नौकरी चाकरी करनी रह गई। और जी में यह भी जान्ते हैं कि उर्दू, फारसी पढ़ कर लड़कों की क्या दशा हुई जों लड़कियों की होगी। वास्तव में पेट ऐसा ही है जो कुछ नहीं करना है, उसके लिये करना पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि उर्दू, फारसी वही लोग पढ़ते पढ़ाते हैं जो अदालतों से संबंध और प्रयोजन रखते हैं। शेष सब गुणग्राही पहले अपनी मातृभाषा सीखते हैं। देखिये इस देश

में हजारों पटशाला और पाठशाला हैं, जिनमें लाखों लड़के नागरी पढ़ते हैं। यदि अपनी मातृभाषा में रुचि न होती तो कौन पढ़ता ॥

इस लेख से हमारा यह प्रयजन नहीं है कि अपनी मातृभाषा के सिवा कोई कुछ न पढ़े, किंतु बड़ा मनोरथ यह है कि प्राथमिक शिक्षा हमारी मुख्य नागरी में हो, तदनन्तर जिसकी जो रुचि हो उसके अनुसार संस्कृत, अंगरेजी और अरबी आदि पढ़े, और जब तक अपनी भाषा में निपुण न हो ले तब तक दूसरी भाषा में शिक्षा न दी जाय। इस नियम के विना जो कुछ हानि हुई, उसकी साक्षी बहुधा फारसी और अंगरेजी वालों की बोल चाल और उनके अनुवाद दे रहे हैं। हां रहा, इसका वर्त्ताव, वह तबही हो सकता है जब सर्कारी दफ्तरों में नागरी का प्रचार हो। निदान कहां तक वर्णन किया जाय, नागरी भाषा और उसके अक्षरों से जो कुछ प्रजा का लाभ है उसको सब जान्ते हैं। यहां तक कि विदेशी लोग भी सराहते और उसके पढ़ने में उद्यत हैं। तथा च अभी इंगलिस्तान के कमिश्नरों ने सिविल सर्विस की परीक्षा में उर्दू की जगह नागरी को आवश्य [क] और प्रधान ठहराया है। इसलिये आशा है कि हमारी प्रार्थना भी अवश्य सफल होगी ॥

अलमिति

आर्य समाज मेरठ के एक सभासद ने लिखा मिति माघ वदि १२ रविवार सम्वत् १९३९ विक्र०

कानपुर निवासियों द्वारा प्रेषित निवेदन-पत्र[१]

अशेषगुण सम्पन्न महामान्य महामहिम श्रील श्रीयुक्त सरऐल्फ्रेड कामिन्स लायक के, सी, बी, सी, आई, ई पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध के लफ्टिनेण्टगवर्नर महाशय प्रबल प्रतापेषु।

सविनय निवेदन मिदम्।

हम रईस प्रार्थी जिला कानपुर के आप से विनय करते हैं कि हम लोगों की दीन दुर्दशा पर ध्यान दीजिये ! न्यायशीला सर्कार की यह इच्छा है कि प्रजा को कष्ट किसी प्रकार से न हो। हम लोगों को मूर्ख न रहने देना और हमारी साधारण भाषा में शिक्षा देना यही न्यायशीला सरकार अंग्रेज का मत चला आया है। हमलोगों को बहुत आनन्द हुवा कि जब सर्कार से शिक्षा कमीशन के बैठने की आज्ञा हुई। यह सोचकर कि अब हमलोगों की दीन दशा पर शिक्षा कमीशन अपना मत आप तक यथोचित प्रकाश करेगी। पर बड़े शोक की बात है कि हमलोगों के विषय में अर्थात् जो जो हम आपके प्रार्थियों ने पुकारा था कुछ ध्यान न दिया गया। यहां पर हिन्दी उर्दू की जगह यने देवनागरी अक्षर फ़ारसी अक्षरों की जगह सब सरकार के दफ्तरों में हो जाते, यही हमलोगों की पुकार थी। जो जो बुराइयां उर्दू के जारी रहने से होती जाती हैं उनके वर्णन करने का आपके सामने जो खुद भलीभांति जानते हैं, कुछ प्रयोजन न था। पर हमलोगों को उर्दू से बहुत दिक्कत उठानी पड़ती है। इससे आपसे, जो हमारे पिता सदृश हैं, संक्षेप में कहते हैं।

---

१ यह निवेदनपत्र नीले रंग के फुलस्केप कागज पर ४ पृष्ठों में ग्रेट टाइप में छपा है। यह श्री महाशय सोमराजजी द्वारा हमें प्राप्त हुआ। मूल उनके संग्रह में सुरक्षित है।

(१) १८५४ ई० के डिस्पैच में इस बात पर बड़ा जोर दिया गया था कि लोगों को साधारण शिक्षा उनकी अपनी बोली में देनी चाहिये। उर्दू कि जिसमें आज तक उत्तर हिन्दुस्तान में शिक्षा दी जाती है लोगों की बोली नहीं है। हमारी मातृभाषा और देशी बोली जो हमारे घरों में स्त्री पुरुष लड़के बाले नित्य प्रति बोलते चालते हैं, हिन्दी है, किन्तु उर्दू नहीं है। हम लोगों को हमारी मातृभाषा में शिक्षा नहीं दी जाती है। हमारी प्रथम शिक्षा हिन्दी ही के द्वारा उचित है और सर्व साधारण मनुष्यों में हिन्दी ही के द्वारा शिक्षा फैल सकती है।

(२) हिन्दी याने जो हम लोगों की बोली है और देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती है बंगाली गुजराती मरहटी की तरह संस्कृत की एक शाखा है। पर बँगाल, गुजरात और महाराष्ट्र देशों में उनकी प्रत्येक भाषा दफ्तरों में प्रचलित हैं और सर्वसाधारण को शिक्षा इन्हीं में दी जाती है। इस लिये हम आप से प्रार्थना करते हैं कि उसी तरह यहाँ पर भी दफ्तरों में देवनागरी अक्षरों में लिखा पढ़ी होवे।

(३) शिक्षा कमीशन की रिपोर्ट से यह प्रत्यक्ष प्रकट होता है कि हिन्दी के द्वारा प्रथम शिक्षा चाहने वाले अधिक मनुष्य हैं, क्योंकि दो लाख मनुष्यों के अनुमान से दो सौ मेमोरियल इसी प्रयोजन से शिक्षा कमीशन की सेवा में पहुँचे। और उर्दू को केवल लाचार होकर इस कारण सीखते हैं कि देश के दफ्तरों में उर्दू लिखी पढ़ी जाती है और उर्दू का जो कुछ प्रचार हुआ वह तभी से हुआ है जब से यह दफ्तरों की बोली ठहराई गयी है।

(४) हिन्दी में बहुत सुगम शब्द जो सबको समझ पड़ते हैं, होते हैं और देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती है। उर्दू में आधे से अधिक फारसी और अरबी के शब्द बोले जाते हैं, जो सबकी समझ में नहीं आते। केवल फारसी और अरबी पढ़े मनुष्य समझते हैं और यह फारसी और अरबी अक्षरों में लिखी जाती है।

(५) मुसलमानों के राज्य के पहिले यहाँ पर इन्हीं देवनागरी अक्षरों में काम होता था।

(६) यद्यपि मुसल्मान और सर्कार अंग्रेजी ने उर्दू को दफ्तर की भाषा बनाकर इसकी पाठशाला बिठा कर इसके फैलाने के बड़े २ उपाय किये तथापि सर्वसाधारण मनुष्यों ने इसको अङ्गीकार न किया और न करना चाहते हैं। केवल बड़े २ नगरों में कुछ लोग उर्दू बोलते हैं शेष सब हिन्दू मुसलमान गाँवों और कसबों में हिन्दी ही बोलते चालते हैं। जब कभी कोई सर्कारी कागज उर्दू में लिखा हुआ उनके पास पहुँचता है तो उसके पढ़ाने को गाँव गाँव भटकते फिरते हैं। हिन्दी में यह कष्ट कभी नहीं देखने में आ सकता, क्योंकि हर एक गाँव और कसबे में एक दो आदमी हिन्दी पढ़े लिखे होते ही हैं।

(७) शिक्षा विषयक डैरक्टर साहब की रिपोर्ट से और मर्दुमशुमारी की किताबों से यह साफ निश्चय हो जायेगा कि अब भी लाखों हिन्दू मुसल्मान सहस्रों ईसाई हिन्दी पढ़े हुए हैं। बड़े २ नगरों में उर्दू पढ़े केवल वही मनुष्य हैं जो कचहरियों में नौकरी चाहते हैं वा जिनका काम कचहरी में पड़ता है।

(८) ईसाई लोगों की पुस्तकें इन्हीं देवनागरी अक्षरों में उपदेश के लिये बनी हैं। इससे साफ प्रकाश पाया जाता है कि हिन्दी जानने वाले लोग बहुत हैं।

(९) प्रेसिडेण्ट शिक्षा कमिशन श्रीमान् हण्टर साहब ने लाहौर में अपनी वक्तृता में कहा था कि मेमोरियल अधिकतर हिन्दी के लिये दिये गये हैं और विपक्ष में बहुत कम। और जिन्होंने हिन्दी के वास्ते दिया है वह सर्व-साधारण लोग हैं और जिन्होंने उर्दू के लिये दिया है वह सर्कारी नौकर हैं। और जिनको सर्कार अमला क्लास कहती है। इस से भी साफ जाहिर है कि हम सब लोग हिन्दी ही चाहते हैं।

(१०) मुफस्सिल में जो तहसीली और हलका बन्दी पाठशाला जारी हैं उनमें अधिकतर हिन्दी ही पढ़ाई और लिखाई जाती है। इस विषय में इंस्पेक्टरों और डैरेक्टर स्कूल से पूछ लिया जाय और नार्मल स्कूलों में भी ज्यादा हिन्दी में ही शिक्षा दी जाती है। इसलिये आप से प्रार्थना करते हैं कि सर्कार का बड़ा लाभ होगा, यदि दफ्तरों में हिन्दी जारी करने की आज्ञा दी जावे, नहीं तो इतना रुपया जो इन मदर्सों में खर्च होता है व्यर्थ जाता है।

(११) जो सर्कार यह चाहती है कि सर्कार की शिक्षा सर्वसाधारण मनुष्यों में फैल जाय, सर्कार की प्रजा सभी लिखी पढ़ी हो जावे, गाँव का गँवार कचहरी का कागज ऐसा ही पढ़ ले जैसा अब कचहरी का कागज कचहरी वाला पढ़ सकता है तो सर्कार का यह प्रयोजन हिन्दी को सर्वसाधारण के लिये प्रथम शिक्षा बनाकर अंग्रेजी के साथ इसको दूसरी भाषा नियत करने में सिद्ध हो सकता है। साधारण शिक्षा का प्रचार उर्दू के द्वारा कभी नहीं हो सकता।

(१२) दफ्तरों में फारसी और अरबी अक्षरों के स्थान में देवनागरी अक्षर कर देने की जितनी आवश्यकता समझी गई है उनमें बड़ी आवश्यकता यह है कि जब दफ्तरों में देवनागरी अक्षरों का प्रचार हो जायेगा, सर्वसाधारण में शिक्षा फैल जाने का आप ही एक कारण हो जायगा। और दफ्तरों में देवनागरी अक्षरों का प्रचार बड़ी सुगमता के साथ हो सक्ता है। वही नौकर, वही परवाना, वही रूबकार हिन्दी में लिखे हुए को छः महिने का समय पाकर सीख सक्ता है, क्योंकि देवनागरी अक्षर बड़े सुगम हैं और बड़ी जल्दी आ सक्ते हैं।

(१३) हम लोग आपसे प्रार्थना करते हैं कि सेण्ट्रल प्राविन्सेज़ अर्थात् मध्यदेश में और बिहार में जहाँ कि अभी हाल ही में हिन्दी जारी हुई है और जिला तराई और राज्य रीवां वहाँ भी हिन्दी का प्रचार कर दिया गया है आप सब रिपोर्ट इस संक्षेप से देखें।

(१४) देवनागरी अक्षर ऐसे सुगम हैं कि हिन्दू मुसल्मान ईसाई तीन दिन में ४८ अक्षर और १२ मात्रा सीख कर लिखने पढ़ने लगते हैं और ६ महीने में तो इतना अभ्यास हो सक्ता है जैसा अब कचहरी वालों को उर्दू अक्षरों के लिखने पढ़ने में छः वर्ष लगते हैं।

(१५) सब हिन्दू मुसल्मान अपनी बही खाता देवनागरी व उसी के अदल-बदल के अक्षरों में लिखते हैं।

(१६) पटवारियों के कागज अधिकतर इन्हीं देवनागरी अक्षरों में लिखे जाते हैं।

(१७) उर्दू अक्षरों में बड़े २ दोष हैं। अलग २ अक्षरों का जो उच्चारण होता है वह उनको शब्द में मिलाने से और का और हो जाता है। लिखा कुछ जाता और पढ़ा कुछ जाता है। एक बिंदु के छोड़ने वा जोड़ देने से इधर का जगत् उधर हो जाता है। अब उर्दू में जाल तो बड़ी सुगमता से होता है और सर्कार कुछ बंन्दोबस्त नहीं कर सकती। इस लिये आप से प्रार्थना करते हैं कि जड़ ही को काट डालिये ताकि फिर पेड़ अर्थात् उर्दू ही नहीं रहेगी तब जाल काहे को होगा और सर्कार का एक बड़ा भारी उपकार होगा। उर्दू अक्षरों में बहुतों का उच्चारण एकसा और सूरत भिन्न २ होती है।

(१८) उर्दू अक्षरों में तीन मात्रा और ३३ व्यंजन हैं। देवनागरी अक्षरों में १२ मात्रा और ३३ व्यंजन हैं, मात्राओं में तीन भेद ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत। यही कारण है कि अरबी तुर्की अंग्रेजी किसी बोली का शब्द हो जैसा उच्चारण होता है वैसा ही देवनागरी में लिखा जाता है, तैसा ही पढ़ा जाता है। उर्दू में एक शब्द कई २ प्रकार पढ़ा जाता है। आप से प्रार्थना करते हैं कि नकशा देखिये, जिसमें यह थोड़ा सा प्रकाश किया गया है कि किस तरह उर्दू कई तरह से पढ़ी लिखी जाती है।

शब्द ।	उर्दू में कितने तरह से पढ़ा जा सकता है ।
१—निरंजन	निरज्जन, बिरहमन
२—प्यारेलाल	प्यारेलाल, बिहारीलाल
३—वचन	थम्मन, भम्मन, वचन
४—साहेब दर्या पार होंगे किश्ती मौजूद रहे	कसबी मौजूद रहे ।
५—नबात सुफेद	बनात सुफेद ।
६—सुरैथा	मुड़ैना, मुरनिया, मुरंथा, मुरंतिया, मुरटा, मुहना, मरहटा ।
७—आलू बुखारा	उल्लू बिचारा ।
८—वेनी ने मारा	नवी नैं मारा, तैंने मारा ।
९—पारबती	नारायनी ।
१०—तमस्सुक	नमक, तमक ।
११—होली फुकवा दो	होली फिकवा दो
१२—एक साहब 'छतमरा पट्टी दनका' को	'जमराही डंका' पढ़ते थे
१३—और 'खुगौर कुहनह' को	चुकर घंट

(१९) जब शिक्षा कमीशन इलाहाबाद में मयोहाल में बैठी थी तब प्रेसीडेन्ट ओनेरेबिल डाक्टर हण्टर साहेब को कहना पड़ा था कि हिन्दी की पश्चिमोत्तर प्रदेश में बड़ी चाह है ।

(२०) उसी समय ओनेरेबिल जस्टिस् सय्यद महमूद ने भी कहा था कि यद्यपि मैं मुसल्मान हूँ लेकिन यहां के लोगों की राय प्रकाश करता हूँ वह सब लोग यही चाहते हैं कि हिन्दी सब जगह प्रचलित होवे और उर्दू जो टेढ़ी-मेढ़ी लिखी जाती है मेरी राय में न रहनी चाहिये ।

(२१) आपसे प्रार्थना करते हैं कि हिन्दी के जारी होने के लिये कमिशनर मेजिस्ट्रेट और सेशन्स जजों की राय ली जावे ।

(२२) शिक्षा कमीशन के साम्हने लगभग ४० आदमियों ने पञ्जाब से शिक्षा विषय साक्षी दी थी और उसमें से आधे से ज्यादह पुरुषों ने उर्दू के स्थान में हिन्दी प्रचलित करने के लिये जोर दिया था, विशेष कर पञ्जाब के लार्ड पादरी ने भी इस पर अच्छी तरह साक्षी दी थी ।

(२३) अब आप से हम लोगों की यही प्रार्थना है कि आप ऊपर की लिखी हुई बातों और शिक्षा कमीशन की रिपोर्ट पर विचार करते समय हिन्दी पर पूरा २ ध्यान दीजिये और हिन्दी और देवनागरी अक्षरों को कचहरियों में वर्तने की आज्ञा दे दीजिये। और हम सब लोग आप की प्रजा आपके चिरंजीवी होने की विनय करते हैं ।

परिशिष्ट ५

ऋषि दयानन्द के वास्तविक चित्रों का वर्णन

[श्री महाशय मामराज जी आर्य, (खतौली जि० मुजफ्फर नगर) द्वारा संकलित]

ऋषि दयानन्द के पत्र विज्ञापन के पृष्ठ ४१६ तथा जीवन-चरितों से स्पष्ट है कि ऋषि दयानन्द के चित्र (फोटो) कई स्थानों पर लिये गये थे। हमारे २० जुलाई सन् १९२६ से फरवरी १९५३ तक के लगभग २७ वर्ष के अन्वेषण में ऋषि दयानन्द के जो वास्तविक (असली) चित्र हमारी दृष्टि में आये, उन का वर्णन नीचे किया जाता है—

१—छाती के नीचे वस्त्र लपेटे हुए आसन से बैठे—ऋषि दयानन्द संवत् १९२४ (= सन् १८६७) के कुम्भ के मेले में हरिद्वार जाते हुए मेरठ में ठहरे थे। उसी समय उनका यह चित्र लिया गया था। चित्र से भी ऋषि दयानन्द की आयु ३५-४० के मध्य की प्रतीत होती है, और मुखमण्डल बड़ा तेजस्वी है। मुझे यह चित्र सन् १९२६ में ऋषि दयानन्द के पत्रों का अन्वेषण करते हुए मेरठ से मिला था।

इसकी प्रतिकृति 'आर्यगजट' (उर्दू लाहौर) सं० १९८३ के ऋष्यङ्क में प्रकाशित हुई थी। श्रावणी सं० २०१० के 'वेदप्रकाश' देहली के 'श्रीमद्‌यानन्द-ग्रन्थ-संग्रह' नामक विशेषाङ्क में भी मैंने ऋषि के अन्य ५ असली चित्रों के साथ छपवा दिया है।

२—सर्वस्व त्यागी दण्डधारी खड़े हुए—ऋषि दयानन्द का यह चित्र विक्रम सं० १९२४ (= सन् १८६७ ई०) में हरिद्वार के कुम्भ (जहाँ कुटिया पर पाखण्ड-खण्डनी पताका लगी हुई थी) के अन्तिम समय में लिया गया था, ऐसा पुराने आर्य व्यक्तियों से ज्ञात हुआ है। इसी चित्र के आधार पर चित्रशाला पूना द्वारा एक बड़ा चित्र छपा था। यह मैंने २५ दिसम्बर १९२६ को फर्रुखाबाद के महाशय चुन्नीलाल जी आर्य (वृद्ध) के पास देखा था। इसकी रंगीन बड़ी पूना की छपी हुई प्रति मेरे पास भी है। इसी प्रकार का चित्र बा० रामविलास शारदा ने "आर्य धर्मेन्द्र जीवन में प्रकाशित किया था। आर्य समाज लखनऊ के इतिहास में भी ऐसा चित्र लगा हुआ है।

इसी प्रकार का छोटा सा पुराना असली प्लेट से उतारा गया चित्र २१ सितम्बर १९२६ को मैंने मेरठ सदर में बाबू आनन्दीलाल जी मास्टर (मन्त्री आर्यसमाज सन् १८८०) के पुत्र बाबू जीवनलाल जी के पास देखा था। उसे वे वास्तविक बताते थे। माँगने पर उन्होंने वह चित्र नहीं दिया। तत्पश्चात् जीवनलालजी के पुत्र से सन् १९४५ई० में मैंने उसे प्राप्त किया *। इसी मेरठ वाले छोटे चित्र जैसा ही एक पुराना चित्र श्री पं० शीतलाप्रसाद जी पुस्तकाध्यक्ष आर्यसमाज फर्रुखाबाद के पास सुरक्षित था। उसे मैंने १३ जनवरी सन् १९२७ को देखा था।

---

१. इसी विशेषाङ्क में श्री० स्वामी विरजानन्द सरस्वती का भी एक चित्र प्रकाशित हुआ है। इसे मेरे जोधपुर निवासी मित्र प्रसिद्ध इतिहासज्ञ ठाकुर जगदीशसिंह जी गहलोत (क्यूरेटर म्यूजियम जयपुर) ने अलवर राज्य के प्राचीन चित्र संग्रहसे प्राप्त किया था। मूल चित्र पर श्री स्वा० विरजानन्द सरस्वती का नाम अङ्कित नहीं है। अलवर नरेश के यहाँ श्री स्वामी विरजानन्द जी कुछ समय रहे थे, अतः उन्होंने इस चित्र को श्री स्वा० विरजानन्द जी का समझा है। वस्तुतः यह चित्र उनका नहीं है। इसमें 'यज्ञोपवीत' का चिह्न अत्यन्त स्पष्ट है। सन्यासी शिखा सूत्र से विहीन होते हैं। चित्र को गहराई से देखने पर विदित होता है कि यह जटा जूट लम्बी डाढ़ी वाले यज्ञोपवीतधारी किसी ब्रह्मचारी का है। सन्यासी का नहीं। यु० मी०।

* इस चित्र को मैंने 'मुरारी फाइन आर्टप्रेस दिल्ली को १५ मार्च १९५३ को अनेक चित्रों के साथ 'एलबम' बनाने के लिये दिया है।

३—समाधि दशा में कौपीन मात्र धारण किये—यह चित्र लगभग सं० १९२५ (=सन् १८६८) का है। इसमें ऋषि दयानन्द चौकी पर समाधि मुद्रा में कौपीनमात्रधारी नग्न बैठे हुए हैं, पास में दण्ड रक्खा हुआ है। छोटे बालों की डाढ़ी पर भस्म लगी हुई है। यह चित्र फर्रुखाबाद में गंगा के तट पर लाला श्यामलाल सिरगोपाल जगन्नाथ की बड़ी विश्रान्त पर लिया गया था, ऐसा कहा जाता है। यह चित्र मुझे ऋषि दयानन्द के पत्रों का अन्वेषण करते हुए ३१ जनवरी १९२७ को रायबहादुर लाला दुर्गाप्रसाद † के पुत्र बा० चन्द्रप्रकाश जी से (उनके चित्रों वाली पुरानी एलबम में से) मिला था।

४—कुरसी पर वस्त्र पहन कर बैठे हुए—यह चित्र आश्विन सं० १९३१ (=अक्टूबर सन् १८७४) में श्रीमान् कृष्णराव जी गोलवल्कर एक्स्ट्रा असिस्टेण्ट कमिश्नर जबलपुर ने ऋषि दयानन्द को अपने स्थान पर ले जा कर और अपने यहां से वस्त्र पहना तथा कुरसी पर बैठाकर खिंचवाया था❀। इस चित्र में पास में टेबुल के सहारे मुड़ी मूठ की बेंत रक्खी है। इस चित्र को श्री देवेन्द्र बाबू ने स्वयं वहां जाकर देखा था। देखो उनके द्वारा संकलित और आर्य साहित्यमण्डल अजमेर द्वारा प्रकाशित जीवन चरित पृष्ठ २८१। इस चित्र का वास्तविक कांच का प्लेट उनके पुत्र मनोहरकृष्ण गोलवल्कर ने आर्य समाज जबलपुर को सौंप दिया है। उसी प्लेट से उतारा हुआ चित्र मैंने २० जनवरी १९४४ को बा० दीनानाथ चड्ढा (इछरा—लाहौर निवासी) जबलपुर वालों से रत्नपुर (महा कोशल की प्राचीन ऐतिहासिक राजधानी) जि० बिलासपुर सी. पी. से विष्णु महायज्ञ तथा हिन्दू महासभा के अधिवेशन के अवसर पर प्राप्त किया था। इसी चित्र से बना हुआ चित्र 'दयानन्द स्मृतिग्रन्थ' में वैदिक यन्त्रालय अजमेर ने लगाया है।

५—राजकोट (सौराष्ट्र) में उतारा गया—ऋषि दयानन्द का एक चित्र पौष शुक्ला ५ मंगलवार सं० १९३१ (=१२ जनवरी १८७५) को राजकोट (सौराष्ट्र) में लिया गया था। देखो श्री देवेन्द्र बाबू सं० जी० च० पृष्ठ ३२१। यह हमारे देखने में नहीं आया।

६—कुरसी पर बैठे हुए सामने के भाग का—यह चित्र सं० १९३१ (=सन् १८७५) में गिरगांव बम्बई में उतारा गया था। इसमें ऋषि दयानन्द कपड़े पहने हुए कुरसी पर बैठे हैं, सिर पर साफा बंधा हुआ है और साथ में मुड़ी हुई बेंत भी है। इसे श्री स्वा० सत्यानन्द जी ने बम्बई से खोजा था। इस चित्र के फट जाने से पैर का कुछ भाग नष्ट हो गया है। इसी चित्र से श्री स्वामी सत्यानन्द जी ने ब्लाक तैयार कराकर श्रीमद्दयानन्द-प्रकाश के प्रथम संस्करण में लगवाया था। यह पुस्तक लाहौर के दयानन्द कालेज अन्तर्गत लालचन्द पुस्तकालय में थी। वहां से श्री पं० भगवद्दत्तजी की कोठी सी ब्लाक नं०९ माडल टाऊन में लाई गई और देश विभाजन कालमें वहीं नष्ट हो गई।

७—पगड़ी बांधे, वस्त्र पहने, कुरसी पर बैठे हुए—यह चित्र सं० १९३२ (=सन् १८७५) में दूसरी वार बम्बई गमन के अवसर पर बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि ने तैयार किया था। इसका उल्लेख श्री देवेन्द्र बाबू सं० जी० च० पृष्ठ ३३६ में मिलता है। हरिश्चन्द्र चिन्तामणि ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य के प्रबन्धकर्त्ता थे (रकम उड़ा लेने के कारण स्वामी जी ने उन्हें हटा दिया तो वे विद्रोही बन गये)। इस चित्र में ऋषि दयानन्द एक ओर मुँह किये पगड़ी आदि वस्त्र धारण किये हुए कुरसी पर बैठे हैं। इस से दूसरा चित्र बनाकर श्री देवेन्द्र बाबू ने अपने 'दयानन्द चरित' (संक्षिप्त जी० च०) में जो जालन्धर से सन् १९१२ में छपा था, लगाया था। उसी बम्बई वाले चित्र से अमरीका की "वाटर बरी कम्पनी' ने 'बस्ट' (छाती तक का) चित्र टीन पर छपवाया था। उस 'बस्ट' चित्र को डा० गोकुलचन्द नारङ्ग (लाहौर) ने सन् १९१० के लगभग अपनी छोटी अंग्रेजी पुस्तक 'लूथर आफ इण्डिया'

† ये ऋषि दयानन्द के अनन्य भक्त थे। ऋषि दयानन्द का इनके साथ बराबर पत्र-व्यवहार रहता था। इस पत्र और विज्ञापन संग्रह में इनके नाम लिखे हुए ऋषि दयानन्द के अनेक पत्र छपे हैं।

❀ गोलवलकर जी के जिस स्थान पर यह चित्र खींचा गया था, उसे मैंने ऋषि दयानन्द के पत्रों तथा चित्रों का अनुसंधान करते हुए सन् १९४५ में जबलपुर जाकर देखा था।